

वेदका वेद्य

अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाभित ।
 प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्न चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
 सर्वस्य चाह हृदि सनिबिष्टो
 मत्तं स्मृतिर्ज्ञानमपोहन च ॥
 वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
 वेदान्तकृतेवाविवेक चाहम् ॥ १५ ॥

(म गी अ १५)

“मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियोंके देहोंमें रहता हूँ और मैं ही
 वहाँ प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता
 हूँ।” (१४)

“मैं सबके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर रह रहा हूँ। इससे ही स्मरण, ज्ञान
 और तर्क (अथवा उनका अभाव) होता है। सब वेदोंके द्वारा मैं ही जाना
 जाता हूँ। मैं ही सब वेदोंका खाननेवाला हूँ। और वेदका अन्तिम
 तत्त्व प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूँ। (१५)”

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी

(भाषाटीका)

श्रीमद्भगवद्गीता। यह साठवीं श्लोकोका प्रोवादा मध्य
मनवकीक शक्तिको अत्यंत दिव होने योग्य है। यह गीता
मध्य इतना छोटा है तथापि जर्मनी गभीरताकी दृष्टिसे
इसकी योग्यता बहुत बड़ी है। इसीलिए महारमा गांधी
की जैसे जनान्तिके पत्रपर स्वयं चले और जनताको
चकानेवाले बहिर्साधनका पुनर्जावन करनेवाक कर्मयोगिने
इसको अपने बर्षिण्य कहा है—

‘गीता एक महान् धर्मशास्त्र है। उसमें आप
जितने गहरे पैठेंगे वतने ही नये और सुंदर अर्थ
आपको मिलेंगे। गीता सर्वसाधारणकी बीज है
और इसलिये वतमें एक ही बात अनेक तरहसे
कही गई है। अतएव गांतामें प्रयुक्त महाशब्दोंके
अर्थ हरएक युगमें बदलेंगे और विस्तृत होते
जायेंगे। पर गीताका मूल मन्त्र कभी नहीं बदलेगा।
जिस रीतिसे यह मन्त्र सिद्ध किया जा सकता है
वही रीतिसे जिहास इसका सो चाहें अर्थ करें।

श्री महारमा गांधीजीने भितर ४ वर्ष गीताका
मनव किया और गीताके उपदेशके अनुसार भाषा मनव किया
और पत्राद इक छत्र किसे इसलिये इनके विद्वद् ग्रन्थ
लिखना चाहते हीने नहीं हो सकता।

गीताका अर्थ दृक्कर बहनेसे प्थाममें नहीं जा सकता
मनुष्य लिखना भी विद्वान् क्यों न हो, धोकेके मनवसे
गीतामन्त्रका गृहार्थ समझमें नहीं जा सकता। जो
लिखकजीने ५५ वर्ष गीताका मनव किया और गीता
रहस्य मध्य लिखा म गांधीजीने ४ वर्ष मनवके साथ
भाषा मनव किया और अन्तमा भाषांतर प्रकाशित किया जिसकी
शुभिकमें ६ कहते हैं कि—

गीताके अनुसार भाषा मनव करनेमें प्रतिदिन
मिण्यलता होती है इस मिण्यलतामें हम लफमता
की कगती हुई किरणोंकी झांकी देखते हैं।

भाषा मनव चकद तरना कामेवाकेके के ग्रन्थ नि

संदेह गीताके उपदेशकी गभीरताके सूचक है। परन्तु जो
योग भाषा मनव नहीं करते और मनव भी नहीं करते उनके
जिसे गीता मन्त्रका कोई विवेक मध्य नहीं होता है। मनव
क बिना गीता मन्त्रको देखा जाय तो वतमें पुनर्जाव,
असंख्यता अत्यंत और परस्पर विद्वद् विमान को बाधे
जायेंगे। कहतेमें गीताके विपक्षमें ऐसे ही अनुदार ग्रन्थ
लिखे हैं, जो उनके अशागतके सूचक हैं।

केवल सख्त भाषा मनवका अनुवाककी भाषा
जायनेसे गीताका व्याप्य, मनन न करते हुए, प्थाम
में आना करीब करीब अशक्य है। वेद, उपनिषद्
और गीता इन सभी प्रयोगोंकी अशक्यता यही है। प्रायः
सारे श्रुतिग्रन्थोंके विपक्षमें बड़ी बात है। विद्वद् मनवके
बिना इनका गृहार्थ समझना बलि कठिन कार्य है। यह इस
लिये होता है कि ये ग्रन्थ विशेष मनोभूमिकाकी
अवस्थामें लिखे होते हैं और इनके दृष्टिकोण भी
भिन्न होते हैं। अतएव इनका दृष्टिकोण समझमें
नहीं आता तबतक इनके उपदेश समझमें आना
कठिन है।

श्रीमच्छंकराचार्यजी तथा अन्य जनेक आचार्योंने
यह कहा है कि ‘वैदिक धर्म’ क सत्य सिद्धांत
काकास्तरसे जगतके मनसे दूर हुए, अतः इनकी
पुनः उज्ज्वलित करके जनताके सम्मुख रखनेके लिये
गीताशास्त्र कहा गया है। यह भाषाकोका कथन मिताव
साय है। वैदिक धर्मके गृह सिद्धांत उज्ज्वल करने के लिये
की हुन्छा हो तो गीता पकी जाय। स्वयं गीतामें अनुवा
प्राप्तके द्वारा नहीं बड़ी बात कही है—

श्रीमद्भगवान् बोध- यह अधिमासी योग भ्रम
विषयवाकसे कहा था, वतमें मनुष्य और मनुष्य
इहमावृत्ते कहा। इस प्रकार परंपरासे भाषा पुनः
और राक्षसियोंका आना हुमा यह योग बीषकाके
कारण भाषाकी प्राप्त हुमा। बड़ी पुरातन रहस्य

रूप योग मैंने आज तुमसे कहा है क्योंकि तू मेरा
मक है और मित्र भी है।”

वही स्वयं भगवान्ने कहा कहा गया है कि, गीता
कोई नया शास्त्र नहीं है; परन्तु प्राचीन परंपरासे जो शास्त्र
अधिकारसे कहा जाता है वही पुनः कहा गया है।

वेद ही अनादि ज्ञान प्राचीन परंपरासे कहा जाता
है। परन्तु प्राचीन अज्ञानसे कारण उस मार्गसे अनुभव हुए
फले जाते हैं। इसलिये जनताको ज्ञाननेवाले उत्तम
पुरुष बारबार आते हैं वे साधार जनताको जगाते
हैं और पारंपरिक ज्ञान देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान्
ईश्वर-प्रकटन, ईश्वर-पुरुष, किंवा पुरुषोत्तम ये
और बहुत-से ऐसे ही अर्थोंमें गीताशास्त्रका उपदेश
किया। इससे स्वयं हुआ कि गीताशास्त्रमें जो शास्त्र कहा
है वह ज्ञान परंपरासे कहा जाता है वह शास्त्र इससे पूर्वक
ग्रन्थोंमें भी मिल सकता है वह नया नहीं है।

इस पुरुषार्थ-बोधिली भावार्थिकमें वही बात दर्शाती
जासकी कि वेद उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें ही
विवेचित गीतामें नव समये किंचित नया कहें हैं। क्योंकि वे
ही गीताके सिद्धांत प्राचीन ग्रन्थोंमें किंचित कम हैं। वह
बात इस समय तकके किसी टीकाकारने विचार नहीं की है
प्राचीन टीकाकारोंने इसका कुछ खंड बताया है परन्तु इस
का विवेचन सर्वत्र किन्हीं जर्नीयक नहीं किया है।
नव इस प्राचीन परंपराको बताया इस पुरुषार्थ-बोधि
नी टीकाका मुख्य बहस है जगता परी इसकी विवेच
ता है। गीतापर इसी टीकाएं होते हुए पुनः वह टीका
किसलैका परी एक मात्र हैतु है।

वर्तमान सर्व पूर्व मैंने मराठी भाषामें एक सारांशरूपसे
गीताका कथम्भार प्रकाशित किया था और गीताके कई
तर्कोंके लक्ष वैदिक ग्रन्थोंमें विवित करके किंचित भी कई
अन्य समय समयपर किंचित है। तबसे वह पुरुषार्थ-
बोधिनी टीका किंचितका संकल्प है और तबसे गीताका
विचार हो रहा है और प्राचीन ग्रन्थग्रन्थोंकी तुलना गीता
वचनके साथ तबसे की गयी रही है। इससे तबसे तबसे
मेरे मनका वह विचार हुआ कि वेद उपनिषद् और
गीता इनका तात्पर्य एक ही है जो मेरे किसीको
प्राप्तता है वह अज्ञानके कारण है। यदि विचार

पातपूर्वक विचार हो जायगा और यदि पद्यार्थि
मान की कल्पित दृष्टि दूर होना किसी काष्ठमें
संभव हो जायगा तो इन तीनोंका एक ही तात्पर्य
स्पष्ट रीतिसे दृष्टिके सम्मुख उपस्थित होगा इसमें
शुद्ध संदेह नहीं है।

वह बात निश्चित है कि वह गीताशास्त्र लोगोंके
विचारोंके अग्रभेद बहालके लिये तत्पर नहीं हुआ अपितु
विभिन्न मतोंका संगतिकरण करके, उनसे प्रकट
होनेवाली विविधता दूर करके उनके अंदर जो
अभेद है उस ओर लोगोंके ध्यानको आकर्षित
करानेके लिये ही गीताशास्त्रकी रचना हुई थी।
यद्यपि ऐसे पुरुष जगता समताका प्रचार करनेवाले सम्भव
नी आशंक किमिन्न मत छोड़े गये हैं। परन्तु भूतः
ऐसा जान तो विभिन्न तर्कोंमें ध्यात रहनेवाला
समिध तत्पर बतानेके लिये और इन सबका सम
व्यव करनेके लिये इस गीताशास्त्रकी उत्पत्ति है।
क्योंकि वह एक धर्म बतानेके लिये नहीं है अपितु सगरे
बहनेके लिये ही है।

वही दृष्टि यदि पाठक रखेंगे, तो उनको गीताका दृष्टि
कोम हीन ही होगा और वे गीताके उपदेशके अनुसार
कारण करके अपना और कल्याण अनुभव और वि।
अथवा साधन करनेके अधिकारी हो सकेंगे।

अन्तमें मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार पहले और
मोहित हुए अनुभवको उस समय इस भगवान्के मीत
मे मार्ग दर्शाया उसी प्रकार इस समय मुझे भयंके और
मोहित हुए लोगोंको भी वह गीता तथा मार्ग दर्शनेगी
और मानवी वक्तव्य पत्र प्रत्येक लिये सुका कर देगी।
इसी बहससे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि— सब
अन्य मतोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणमें आ
मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मत
कर। (म. गी. १८।१९)

जो निश्चित रहेंगे और देखकरमें अपने आपको समर्पित
करेंगे उनको वही अनुभव आवेगा।

निवेदन—

श्रीपाद रामोदर छातबखेकर,



श्रीमद्भगवद्गीता

[पुरुषार्थ-योगिनी भाषाटीकासे पुनः]

प्रथमोऽध्याय

अर्जुन विषाद-योग

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच-धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकां पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सज्ज ॥ १ ॥

अन्वयः- हे सज्ज ! समक्षे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः पाण्डवाः च यत्र किं अकुर्वत ?

धृतराष्ट्र बोले-हे संजय ! धर्मक्षेत्रकपी कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे एकत्र हुए, मेरे और पाण्डु के पुत्रोंने क्या किया ॥ १ ॥

भाषार्थ- जिस समय अपने को किसी युद्धमें संमिश्रित होते हैं, उस समय युद्धका दीर्घकालीन वृत्तान्त श्रीमत्भगवान् और विश्वनाथजीके बिने अपने कोनोंकी उचित सहायता करना। अन्वय अनुवचन कथन है।

(१) धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र कौन है ?

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय अथ वास्तविक स्थिति
“ श्रीमद्भगवान्के मुखसे गयीं गयीं ” ऐसा होता है।
धीमत्तवाक्का उपदेश द्वितीय अध्यायके द्वितीय श्लोकसे
प्रारम्भ होता है उसके पूर्वका यह प्रथम अध्याय और द्वितीय
अध्यायका प्रथम श्लोक पूर्वसंलग्न अध्यायका प्रस्तावनाकथ
पाग है। इस प्रथम अध्यायमें अर्जुनके प्रथम विचार-उपपन्न
होनेका प्रसंग वर्णित हुआ है। परन्तु इस प्रथम अध्यायके
प्रथम श्लोकमें अर्जुनका विचार भी नहीं है। इसमें तो
धृतराष्ट्रकी चिन्ता है। अर्थात् इस अनुवचनक प्रत्यक्ष
प्रारम्भ धृतराष्ट्रकी चिन्तासे हुआ। यही वह धृतराष्ट्र कौन है।

धृतराष्ट्र एक भारतीय राजा था। यह बात सब जानते ही
हैं। परन्तु वह धृतराष्ट्र एक विदेशी व्यक्ति किसे हुए
हैं। वह धृतराष्ट्र है। वह राष्ट्र को धृतराष्ट्र
अर्थात् इष्ट कर देता है। जो वास्तविक अपनी भीम
मही अग्नि वृद्धा की है उसपर अन्वयसे जो पाण्डवी
बलसे अपना अधिकार जमानेका प्रयत्न कर रहा है। दूसरे
का राष्ट्र नाशकी बलसे अपने अधिकार करना। इसपर अपना
अधिकार लड़ाके बिने शिर रखनेका प्रयत्न करना और उसके
अधिकारी युद्ध अपना स्वराज्य वापस प्राप्ति के लो को इन-
कार देनेके लिए प्रयत्न करना और इनको अधिकारी

सिद्ध करना, नहीं कुछ राह नहीं कर रहा है। इसी कारण हुसको किता हो रही है और यह एक रहा है कि 'मर्त्य' का यह पुत्रक परिका दिन है उन पुत्रमें क्या हुआ ?

पुत्रराष्ट्र और पुत्रराष्ट्र

पुत्र-राष्ट्र और पुत्र-राष्ट्र के बीच यह पुत्र हुआ है। इसका येसे ही पुत्र हुआ करते हैं। और पुत्रराष्ट्र के पक्षपाती और पक्षपातीका पक्ष पुत्रराष्ट्र का था। पुत्रराष्ट्र के होते हैं कि जिसका राष्ट्र जीता गया होता है और जो अपना गया हुआ राष्ट्र पुत्रः प्राप्त करनेके लिये बल करत है। इसका राष्ट्र जीता गया होनेका कारण और ने राष्ट्रकी अवस्थिति काय थीमा तक पहुँचे होनेके कारण तथा पुत्रमें पराजय होने पर भी पुत्रराष्ट्रोंकी और अधिक हानि होनेकी संभावना व होनेके कारण पुत्रराष्ट्र दृष्टांसे पुत्रकी पैवारी करते हुए भी किन्वासे भ्रष्टक नहीं होते। पुत्रक परिणाम अनुकूल हुआ तो पुत्रराष्ट्र को 'स्वराज्य' प्राप्त करेंगे वह भासा इनको रहती है, पर यदि पुत्रमें पराजय हुई तो भी इनकी पहिलेसे ही राष्ट्र जीता जानेके कारण और अधिक हानि होनेकी संभावना नहीं होती है-अतः इनको किन्वा पुत्र नहीं देती; मनुष्य अपना सत्यक होनेके कारण और राष्ट्र आर्थिक सम्भावना होनेके कारण इनके अन्तर एक प्रकारका अर्थ बरसा रहता है।

पुत्रराष्ट्रकी हानि

पुत्र राष्ट्र के पक्षकी बात होती नहीं है। यदि हमकी विषय पुत्र तो इनकी शक्ति कुछ भी नहीं होती है जो पुत्रके दूर था, नहीं अधिकसे अधिक इनक पास स्थिर रहेगा; पुत्रमें पराजय हुई तो अनेक अन्धाध और मूल्य करके कमता हुआ राष्ट्र हान्य बना आगगा; और जब किता पराजय होनेपर पुत्रसे इनकी हानि ही हानि होती है, इस कारण वे पुत्रराष्ट्र के पक्षके कोषराशि किन्वासे प्रमद होते हैं पुत्रमें जब किता तो भी इनकी कोई काम नहीं है पुत्रमें पराजय हुई तो भी इनकी हानि की सीमा नहीं है और हानि अवस्थाओंमें सत्य पराजय किता इनके ही माने जायेगी। इस किन्वासे भ्रष्टक होकर इस कोषमें पुत्र-राष्ट्र एक रहा है। "ओ पुत्र और पुत्र

ये पुत्र पुत्रकी हानिसे दृष्ट हुए वे, सत्यका क्या हुआ ? हम प्रश्नमें जो भव है वह ऊपर दर्शाया ही है। यह सब सामान्य नहीं इसी किन्वासे सब पुत्र राष्ट्र भ्रष्ट मान ही मर्त्य दिन राष्ट्र अकते रहते हैं।

अन्धा पुत्रराष्ट्र

पुत्र राष्ट्र क्या भी होता है। यह प्रका अन्धा नहीं है। मनुष्य वासनी बलके कारण अन्धा होता है, परन्तु जिसके पास वासनी बल अधिक होता है वह तो सबसे पहिले और सबसे अधिक अन्धा होता है। वासनी बल वह जानेके कारण ही वह दूसरोंका राष्ट्र अपने जातीय करके बसका उपयोग करता रहता है, और इस कारण उद्यम भव भी बढता है। इस अधिक बलके कारण भी मनुष्य अन्धा होता है। जब और जब पास रहतेपर साधारण मनुष्य तो अन्धा बन ही जाता है परन्तु इनके साथ यदि साधना विचार अनिर्धारित रिजिसे हानमें आपका तो अन्धा बन जानेकी कोई भीमा ही नहीं रहती। जब, जब और अधिकतम मर्त्य भरा हुआ मनुष्य ग्राह और अन्धा बन भीत मर्त्य कर्तव्य और अकर्तव्य नीति और नीति पुत्र और अनुकूल देखनेमें असमर्थ होता है। वह दार्शनिक नेत्रोंके कारण अन्धा हो वा उद्यम की ओर अन्धी हो इसका कोई संभव नहीं सत्य रहित वह अन्धा ही बनता है स्पष्ट सारिके अन्धाधकी अपेक्षा समक जो मानसिक और आत्मिक अन्धाध होता है वह बहुत ही भयानक होता है, वह व केवक उद्यमोंके किन्वासे हाकता है अतः जितन भी उद्यमे प्रश्नमें होते हैं उन सबकी अवस्थिति किन्वासापरसे देखा जाता है।

अन्धोंके अन्धे अनुयायी

पुत्रराष्ट्रकी बातों की अधिक होती हुई अन्धी नहीं थी। क्यों न जानेगी ? अन्धे पुत्रराष्ट्रके जो दावी होते हैं उन सब का हाक देता ही होता है। वह हीक ई कि, नावारी देखीने शक्तिप्रम प्रत्ये कारण अपनी ओरों बांध रखी थी। वह शिष्टांश देता ही होता। परन्तु वह गांवारी अपने घरमें अपनी अनुचार बजाते हुए अन्धाधकारक प्रतिबन्ध करनेमें समर्थ नहीं हुए। इस देखीने बहुत विरोध भी नहीं किया था। जब अन्धत्व अन्धाधर हुआ तो कुछ बोक बड़ी थी। इससे बर्तत होता है कि वह दूरी वतिदेव पुत्रराष्ट्रकी समर्थिके बहुत अनिष्टक जाना नहीं चाहती थी। यदि वह

दुःखसम्बन्धों अपने पूरे बलसे रोक डेरी, तो बरके पसकी रखा होगा संभव था। मानो इस देखीये ज्ञान ब्रह्मन् अपने भाँखोंपर परदा डाल रखा था और सचमुच था भी ऐसाही। चतराष्ट्र तो चाहता ही था कि यदि किसी व किसी प्रकार मोहकोंकी बन्ध टक जाय और पूर्ण साम्राज्य अपने पुत्रोंके अधीन हो तो अच्छा ही है। परिश्रम होनेके कारण और पुत्रकोमके कारण देखी गांधारिका भी अन्धरासे ऐसा ही मत हुआ होगा। पुत्रोंके मोहसे और पतिक अनुकूल रहने के बलसे थियेकि अन्धर इस प्रकारकी कमजोरी भाठी ही है। वे सहसा अपनी हप्काको बचक करवा नहीं चाहती। इसलिये भाँके होती हुई भी इनको अन्धरा बचवा ही पड़ता है। नही नबन्धा गांधारी देखीकी हो गई थी।

अपने चतराष्ट्रके पुत्र भी एकसे एक अपनेके अनुगामी होने योग्य थे। दुर्बोधन दुःखान्त दुःसह दुःखक दुर्बोध सत्यार्थ दुर्मर्षण दुर्मुख दुष्कर्तृ दुर्मद दुर्बिगाह, दुर्मोक्ष चम दुष्प्राप्त्य चराचर इ ये पुत्र और इनकी मगिनी दुःखका इनके नामका मार्ग " हु। अपना हु क दुःखता अन्ध भाँसे हो रहा है। यद्यपि कौर्षकी दृष्टिसे इनके कार्य में कोई कुराई नहीं है तथापि दुःखदृष्टिके धिये इनके कौर्ष का उपयोग होनेके कारण इनके कौर्षका दुस्प्रयोग ही हुआ। जो अति दयकारक किन्ने लगायी है, नही इसल अन्धराभी है परन्तु जो कौर्ष कागुरी कार्यके किन्ने करता है, वह कौर्ष कीर्ष किन्ना भी बचकर हो तो भी वह कुछ बचानेवाला ही होता है। इसकी दृष्ट्या इन नामोंसे अन्ध प्रकार समझमें जा सकती है। चत राष्ट्र अपना हु को दूसरोंका राज्य अपनायसे हथ कर बैठा होता है इसके परिणामके लोग और बचके अनुशासी लोग बचको मरुत देखेके कारण और इसका पूर्ण विरोध न करनेके कारण बचके दोषके भागी हो जाते हैं। इन नामोंकी योजनासे नही स्पष्ट दीखता है। दुर्बोधन बल्लवः शुभोचन अर्थात् बल्लव कदनेवाला था परन्तु उसने अपना पुत्रकोयक दुःख मध्यस्थक किन्ने लगायेके कारण वह ' हु बोधन होता हुआ भी दुर्बोधन ' बन गया।

सामुदायिक पाप

नही नबन्धा मीम्वपितामह श्रोत्राचार्य आदिकोंकी हो गयी थी। वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो ये भागी दूर

दुःखार्थी और तेजस्वी धार्मिक पुत्र थ। अनुकूलन और मात साक्षीय थे। परन्तु अबका सारा कौर्ष दुःख चतराष्ट्र पुत्रोंकी अनीतिके पक्षके धिये करनेमें लक्ष हुआ।। इनने आदर्श दुष्ट होते हुए भी बुरी अनीतिके अत्यपक्षमें रहनेके कारण वे बचके योग्य समझे गये। साक्षिक अध्यासा सामुदायिक पापका यही परिणाम होता है। ऐसे मुद्रोंमें मुझे माय मका भी पीसा जाया है। और देखी नबन्धामें जो मके लोग पीसे जते हैं उनको कोई बचा नहीं सकता। अब इस मुद्रमें मगवान् मीम्वन् भी मीम्वश्रोत्रादि सज्जनों को बचा नहीं सके।

ऐसे देखा जाय तो मीम्वपितामह और श्रोत्राचार्य जाते थ कि पाण्डवोंका सत्यक है और चतराष्ट्रका असत्यक है। इनका लक्ष्यद्विध मत था कि पाण्डवोंको स्वराज्य अति धीम भिक्षा चाहिये। चतराष्ट्र और दुर्बोधन पाण्डवोंकी स्वराज्यप्राप्तिमें विविध विज्ञ कर रहे हैं यह लक्ष्य हो रहा है यह भी वे जाते थे और वे समय समयपर बैठा कहते भी थे। परन्तु चतराष्ट्रके साम्राज्याधिकारी पक्षवाले इनका बपद्वय माननेको तैयार नहीं थे। दुर्बोधन इनके मतको कोई स्वीक नहीं देता था। बुरेकी बच् बच् कीन सुवर्ण है? अधिकारमत्से बन्धन हुए पुत्र सगुपदेव और कर्मका उपदेव सुननेको तैयार नहीं होते। कमी तैयार नहीं हुए और भागे भी सुननेको तैयार न होते। वे तो बस समय सुननेको तैयार होते हैं कि, किस समय वे पूर्ण रीतिसे पराजित हो जाते हैं।

पापसे मुक्त्य

दुर्बोधन वह कहता था कि अपने पास ११ लक्षार्थी सेवा है भीम्य श्रोत्र कर्त्त जेसे महावीर सहायक हैं संपूर्ण प्रकारके घाघाक हैं, साम्राज्यका संपूर्ण चम अपने पास है इतना होनेपर पाण्डवोंकी मोहीसी स्वराज्यविषयक हकचकसे डरकर अपने हाथमें लावा। साम्राज्य क्यों छोड़ है? पाण्डवोंकी सेवा छोड़ी कम सेनाको बहुत अनुभव नहीं है उनके पास इतना चम नहीं अर्थात् अपनी दृष्टिसे पाण्डवोंकी शक्ति सब प्रकारसे कम है, फिर हम क्यों बरे? केवल बुद्धका बचावक ही देखा जाय तो दुर्बोधनका कहना सत्य ही था। परन्तु वह वह नहीं मानता था कि अपने किन्ने हुए अनेक पापोंके कारण अपने सच मोह। (निहता पूव

मेव य नी ११।३३) करीब करीब मरे हुए हैं। वह पुरुषोत्तम नहीं होते हुए भी इस बातको देखनेके लिए पू।। समझा था। अपने पालेके कारण सब जगत्का और धरते बहुतसे सैनिकोंका भी मत पाण्डवोंकी ओर हुआ है, वह बात वह नहीं देखता था। सभी विजय ' उसको प्राप्त होती है कि जिसको सारी जगत् अपने मनसे विजयमुख देखना चाहती है और वह जगत्का आधीर्वाह सदा धर्म के पक्षवालोंको ही प्राप्त होता है। पाण्डवोंका वह धार्मिक बल पुरुषोत्तमके ध्यानात् नहीं आया था वह केवल स्वभाव पारंगत बल ही गिनता रहता था और अपने अनुक्त पाण्डवी बलके समूचे वह जगत् भी हुआ था।

वस्तु अन्ये पुराणोंके मतमें वह बात विद्यात कदकती थी। वह बग़ा होते हुए भी अपने पालेको सबसे अधिक जानता था। और इसी कारण वह युद्धका समय उपरिष्ठ होनेपर सबसे अधिक जयमौल हुआ था और वह भय सममें रहते हुए ही पुराणोंसे सज्जते पूजा था कि आ सज्ज । युद्धकी दृष्टाते मेरे पुत्र और पाण्डुके पुत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें उपरिष्ठ हुए रहना जो हमने सुने बताया, पकड़ क्या हुआ ? "

अपने आपका भय

वह ब्रह्म दृष्टान्तें उसके मनके धामने अपने सभी पाप उपरिष्ठ हुए हैं ऐसा एह मर्ति होना है। वह समझें कदा या कि हमने भीमवर विजयबोध किया उसको अंक में हुआ दिवा। काष्ठापुहमें भव पाण्डवोंको लकानेका बाल किया। पाण्डवोंकी धर्मपत्नी वसिष्ठा हीपरीक्षा समझें जर्मत कर दिने, पाण्डवोंके कपटव्य करके स्वका राज्य करार है हम किया। बारह बच वनवास और एक वर्ष अज्ञानवासके कष्ट हमके दिने रहता होनेपर भी बहने धनके अन्दर रहकर कष्ट सहे धान्ति होते हुए भी कोई आत्माकार नहीं किने जगत्प्राप्ति दृष्टिसे रहे सब प्रसिद्धा प्रत्यक्ष करके थे अब जगत्का स्वाम्य बाध जोग रहे हैं और वह हम उनका बाध नहीं देते। हमने उनको स्वराज्य प्राप्त देदी कई बार बोधना थी थी थी वस्तु वह देने की दृष्टाते नहीं थी थी, बलहरन करनेकी मनीषाते ही थी थी। हमने हमत द्वारा आत्माकार और कष्ट करनेपर भी पाण्डवोंके बलमें देवक बाध प्राक ही जागे वस्तु व भी हमने नहीं दिव और कदा कि मुझसे विना भीमवर नृपि

मी नहीं मिलती। ये सब आत्माकार हमने पाण्डवोंपर किये हैं। हमने हमने बाध किया है हम पाण्डेके कारण जगत्प्राप्ति मनकी प्रवृत्ति पाण्डवोंके अनुकूल और हमारे प्रति बल हुई है। इस कारण वचन हमारा पक्ष पाण्डवी अधिक से प्रबल है तथापि आश्रितक जाँकसे हमारा पक्ष बहुत कमजोर हुआ है और पाण्डवोंका पक्ष तो उनकी धर्मके साथ स्थिति होनेके कारण उनका आश्रितक बल कई गुण। हमसे अधिक हुआ है पुराणोंकी यह चिन्ता थी रात दिव वह मनही सब इस चिन्तासे जक रहा था और इसी कारण युद्धकी उपस्थिति होनेपर वह अस्तुरताके साथ दृष्ट रहा है कि युद्धका बाध क्या हुआ ?

धर्मवचनोंका दुरुपयोग

जगत्प्राप्ति हमरोंका राज्य प्राप्त करनेवाले और कदकते कपट व अधिकार स्थिर करनेका बल करनेवाले धर्मवचनोंको भी अपने अनुकूल बना देनेका बल करते हैं। जिस जीवोंने युद्धविचारक धर्मापात्रके साथको आपत्त करना धर्म्य मानवोंके हितका विचार उनके मनमें भर देना उनको युद्धके धरारसे निवृत्त करना इसी प्रकार जगत् प्रबल है इसादि विचार हममें स्थिर करना इसादि प्रकारका प्रबोध भी पुराणों से पक्षवालोंने पाण्डवोंपर किया ही था।।। कहते हैं कि धिमान भी वस्तुस्थितोंका वचन अपने पक्षके किये दुरुप करता है। इसी प्रकार विवेका कोय धर्मवचनोंको अपने पक्षके अनुकूल बताते हैं बड़े बड़े पाण्डव और धार्मिकजन बोलते जगदुद्धारके किये हम बात कर रहे हैं ऐसा बताते हैं, इस सबका ध्येय यह है कि वे लोग हम वचनोंसे मोहित होकर स्वराज्यप्राप्ति के किये कोई प्रबल व कई और सदा पराधीनतामें संलीन जायें। की। बोने पाण्डवोंके कपट भी ऐसा ही धर्मवचन किया था। गीताके प्रथम अध्यायसे ब्रह्म प्रसंगा सेव्य है इसकिने बल प्रसंगा बलैव सारांशसे बड़ा करते हैं।

उद्योग धर्ममें (अध्याय १ से अ ३२ तकके बारह अध्यायोंमें) संन्यसनाध्याय-धर्म है। बारह मूक महाभारतमें वह संपूर्ण वर्ष बने। हमने पढ़नेसे ही भगवद्गीताका प्रथम अध्याय अध्याय जर्जुनको विचार नहीं हुआ और जर्जुनका मन बहने धार्मिक ही उदासीन और स्थित नहीं हुआ वह बाध डीक बकार जगत्प्राप्ति में लकड़ी है। पुराणोंके

पञ्चवाहोनि पाँचवोंको चर्मबचनद्वारा बुद्धसे दया देनेका जो अन्तिम प्रयत्न किया था वह प्रत्यक्ष सत्त्वराज्यवाहियोंकी चाकाहीका प्रदर्शन है। चतराष्ट्र जानता था कि पाण्डव चर्मप्रवृत्तिक लोग हैं इसलिये चर्मबचनोंके जापमें अवश्य फसेंगे। जताः उसने इस कार्यके किन्हे संभवको पाँचवोंकी छावनीमें देखा था और उसने वहाँ पाँचवोंको जो बपदश दिया था वह जर्तुवले मर्ममें समझाया था, बुद्धका भयावक चित्र सम्मुख आये ही जब विचारोंने जर्तुवले मनपर प्रभाव जमा दिया और जर्तुव बुद्धसे भिक्षुक हुआ। ऐसा होगा ही वह बात चतराष्ट्र जानता था और अपने प्रयोग की सफलता हुई या नहीं, वह जाननेकी इच्छासे चतराष्ट्र पूछता है कि दोनों लोगकी सेवा इच्छी होनेके बाद क्या हुआ ? जनात् हमने जो चर्मबचनोंका प्रयोग पाँचवोंपर किया था, उसका अनुकूल परिणाम हुआ या नहीं। नहीं जाननेकी जगहुरा चतराष्ट्रके इस प्रश्नमें है।

जो लोग संभववाचपरके अनुसंधानसे भगवद्गीताका प्रभावभाव पहँचे वेही इस अध्यायका मर्म समझ सकेंगे हैं। इसलिये पाँचवोंके साधुरोच मार्गका है कि वे उद्योग परके प्रारम्भके ने (अ १ से ३२ तकके) बारह अध्याय सुद्धम पढ़िसे पढ़ें। पाँचवोंकी सुविधाके लिये हम वहाँ सारांश कपडे वह माग बता देत हैं—

(उद्योग अ १२ में) चतराष्ट्र संभवसे कहता है कि हे संभव ! तू पाण्डवोंकी छावनीमें जा, और वससे कह कि चतराष्ट्र पाण्डवोंका हित चाहता है पाण्डवोंके गुणोंका वर्णन करता है, और पाण्डवोंको वापस जाने दैखकर उस को बहा हो जावह हुआ है। चतराष्ट्र पाण्डवोंसे मुक्त करना नहीं चाहता वसितु पाण्डवोंसे क्षीय करना चाहता है इस लिये पाण्डव भी सीध करकेके लिये तैयार हो जायें। हे संभव ! ऐसी दली छात्रिणी बनें कह कर पाण्डवोंका मुक्त विरवक मोस डँका पञ्चाय ऐसा बात कर।

इससे स्पष्ट होता है कि चतराष्ट्र जगित्त करनैका इच्छुक नहीं था; परन्तु स्वराज्यप्राप्तिके लिये मुक्त करनेके पाण्डवोंके वत्साहको कम करनैका इच्छुक था। देखिये प्राज्ञाज्यवादि वोंकी राजनीति कहीं तक गहरी होती है।

आगे बचकर (अ १४ में) संभव पाण्डवोंके कहता है— हे चर्मराज ! देखो आप सब पाण्डव सज्जन हैं कश्मिन्वर्तमने भी चर्मका आतेकम आप नहीं करते आप १ (हि मी)

बन्ध हैं। आपने तो कौरवोंके हृत्ते जपरावोंको समा किया है ऐसे चर्मराजा आप सब जब अपने ही भाइयोंका दुर्पोषवाहिकोंका बच करनेका घोर कार्य करेंगे वह कहापि नहीं हो सकता कमसे कम मेरा मन तो यही कहता है कि ऐसा कुकृत्य आप कभी नहीं करेंगे। हे चर्मराज ! क्षत्रियों का चर्म तो केवक कसाह्वोंका चर्म है वह आप उसे चर्मराजाके लिये सोमा नहीं देता !! मैं निश्चयसे मानता हूँ कि आप ऐसा कर कम बुद्धचर्म कभी करेंगे नहीं। आप जानते ही हैं कि बुद्धा चतराष्ट्र आपके साथ कितना प्रेम करता है परन्तु वह विनाश क्या करेगा ? सत्त्वराज्यमपडे क्या हुआ सुपीचय उतकी सुगता नहीं है। क्या इसलिये उनक सब पुत्रोंको मार कर बुद्ध चतराष्ट्रकी पुत्रकोठमें बाक मेंसे आप ब्रह्म होंगे ! वह तो आपक चर्म मानक लिये सर्वथा अनुचित है। हे जगत्तदज्ञो ! तुझारे मर्ममें तो शत्रु मान थी नहीं है। बन्ध हो ! तुम ही सत्ये धार्मिक हो। तुमने इतने बुद्ध सहन लिये हैं और अपना चर्म रक्षण किया है क्या ऐसे तुम इस समय कौरवोंसे छात्रिका वर्तन नहीं करोगे ? हे चर्मराज ! तुझारे सब भाइ जी चर्मराजा हैं। इसलिये यह कुकृत्य इतना नव तुझारे हाथमें है। मैं समझता हूँ कि सबको मुक्त प्राप्त हो पसी पदि तुझारे। इच्छा है तो तुम इस समय कौरवोंसे सधि करो और अपने कुकभी रक्षा करनेका वध संपाद्व करो। (अध्याय १४)

(अ १५) ' हे पाण्डवों ! चतराष्ट्र तो क्षांति करनेके लिये नर्त्यक बन्धुक है। आप सभी पाण्डव जगमसे इच्छा कु चर्मराजा और उद्धार हैं। आप जैसे सज्जनोंको मुक्त जैसा कार्य करना कहापि योग्य नहीं है। आप जैसे धार्मिक पुत्रोंने जोबाया मी हीन चर्म किया तो वह आपक बचक लके लिये ही कारण होगा। औरव मो बुद्ध हैं ही उनके बीच कसोंकी तो कोई सीमा ही नहीं परन्तु जब बस नहीं। आपने इस समय तक चर्मका वहुंचन नहीं किया है इसलिये जब आपको मुक्तका कर कम नहीं मज्जा है। इस बुद्धमें जब निष्ठी तो भी वह चराज्यके समान ही है और इसमें कुकृत्य तो नि संदेह होगा ही; इसलिये आप जैसे धार्मिक लोगोंको वह और मुक्त करना उचित नहीं है। किन्तु पक्षकी जप होगी वह भी नहीं कहा जा सकता; किसीकी भी जब हो और किसीकी भी पात्राज्य हो; दोनों जलरपावोंमें निश्चित बात नहीं है कि संपूर्ण बुद्धका मास

होगा। फिर ऐसा हीन कार्य क्या तुम्हारे जैसे धर्मपुरुषोंको करना योग्य है। हे धर्म! तुमसे पहले दिन धर्मका पक्षधर किया और अब ऐसा हीन कर्म करनेके लिये इच्छत हुए हो। तुम्हें करना तो बीच पुरुषोंका कार्य है तुम्हारे जैसे धर्मिक लोगोंको यह उचित नहीं है। औरच भी तुम्हारे भाई ही हैं और अपने भाइयोंका हित करना तुम्हारा काम कर्तव्य ही है। और पहिले भी तुमसे ऐसा ही किया जिस समय मेहनतमें औरोंको पराजित करते बाँध दिया था उस समय तुम पाण्डवोंसे ही ता डकड़ी रक्षा की थी। जिसकी तुमने रक्षा की क्या तुम अब डकड़ा ही बच करोगे। नहीं नहीं यह तो कलत्रबोधका कर्म है यह पाण्डवोंके लिये योग्य नहीं है। इसलिये भाव धारित बारम्बार करनेका कर्म कीर्तित।

(अ २०) ' हे धर्मराज ! तू तो धर्मराज है। तू जानता है कि जीवन क्या है। यहाँ जीवन साधन रहनेका है। क्या औरतोंका साथ करने पाण्डव धर्मकी भी हानि। यह कहानि नहीं होगी। तुझारा स्वराज्य का और यह औरतोंमें डीमा यह भी छल है परन्तु ये तुझो भाई ही हैं इसलिये राज्यार्थ कदम भोग तुझसे प्राप्त रहे का डकड़े नाम रहे उसमें क्या है। यदि कर्ममें तुम्हें स्वराज्य न भी दिया तो तुम मिश्रभूतिसे उच्च धर्मका शासन कर सकते हो। स्वराज्य करते हुए यदि तुम अपने दुश्मनका संहार करोगे तो क्या धर्म हानि। अमुष्मजीवन अवश्य है इसलिये स्वराज्य तिरोंका बच करके राज्य भी कमाया ता कितने दिन तुम जीव डकड़ा डकड़ोगा करोगे। तुम्हारे जैसे धर्मराजोंको पूर मुझ काके और वीरकाय काके राज्य कमाया किछी प्रकाश भी बचकारी नहीं है। विषयवाचन ही अमुष्मको देना कर कर्म करनेमें प्रवृत्त करनी है इसलिये केसी तुल्य नामका। का तुम संवत्स करो। तुम्हारे जैसे धार्मी पुरुषका देसी मुष्म घालन करना उचित नहीं। पुरुषका राज्य मित्रवत् ही तुल्य कहा हागा है। नेक धर्मसे ही तुल्य होगा है। हे धर्मराज ! न जानते हैं अक्षर्यवत्तन तुम्हें किया है अतः केसी विषयवाचनमें केसना तुम्हें उचित नहीं है। तुम्हारे जैसे धार्मी मनुष्यका हृद कावकी लगेका बारकोकडा रिकार करना अवश्य है। बारकोके लिये हम लोकक मुष्मका लक्षण करना तुम्हें उचित है। तुम चाह बागवत्तन करो पञ्चमहाधर्म ११ ही। हमने पाकावकी प्रति होती।

ऐसे पूर मुझसे क्या काम होगा। मुझसे स्वराज्य प्राप्त भी हुआ तो भी यह धर्मका तो नहीं दिखेगा। अतः धर्म-संघ करना ही तुम्हें योग्य है। हे पाण्डवो ! यदि धर्मका साथसे तुम लोगोंने स्वकुलको नाश किया तो तुम अपने धर्मका एक नरक भोगना पड़ेगा। हे धर्मराज तुमने इस समय एक कोकका बाधन नहीं किया है परन्तु बाधन है कि तुमने समयके पक्षधर तुम्हें विपरीत छुड़ि हो रही है। हाय ! तुम्हें काके तुम लोग पुरुषपाद भीष्म विरामादका भी शोका कार्यका भी बच करोगे। तुम्हारे सब धर्म कोककोक बच होनेके बाद तुम्हें इस राज्यसे कीलता मुक्त होगा। इसलिये हे धर्मराज मुझिसे हृद पूर धर्मसे मितुल हो जातिन अवश्य करो और औरतोंसे मुक्त करनेका विचार छोड़ दो।

साधनानीकी ध्वना ।

इस प्रकार सत्यमे पाँचोंको मुझसे पूर्व धर्मका और केसनाका उपदेश किया था। यह सब धृतराष्ट्रकी नेत्रसे ही किया गया था। अर्जुनका विषाद इसीका प्रतिनिध है। अर्जुनके समर्थ यह उपदेश कम गया और वह समझने लगा कि सचमुच स्वराज्यके लिये भी धर्ममुक्त करना पस है और मिश्रभूतिसे रहना पुनः है। अर्जुनके मरपर देस भाव स्थिर करनेके लिये ही यह मूढ धृतराष्ट्रने रचा था। यदि अर्जुनके मरपर यह उपदेश पूर्व रीतिसे कम जाया तो औरतोंका धाकाव स्थिर हो जाया और पाण्डव हठधारेके लिये राज्यग्रह रहते। देखिए, छेला लोग कम भठान होमेर भी-जित लोगोंको धर्मका उप-देश दे रहा और उच्च तार बतका बतकाकर स्वराज्यके प्रवर्तन करनेके किस प्रकार रोक सकते हैं ! अतः स्वराज्य प्रति करनेवालोंको उचित है कि, ये मेधावाहके धर्मो-वैद्यकोंके उपदेश भी बरी दृक्कसे तुम्हें और साधनान माने उनके अनुसार चले। नहीं तो अर्जुन केसी अवस्था देन मुझके समय लगेगी और सत्य प्रवर्तन मिश्रक वसेगा। पूर्वोक्त उपदेशमें धृतराष्ट्रकी नेत्रसे संभव पाण्डवोंको ही धारितका उपदेश दे रहा है जैसे कि पाण्डव ही अध्यापित के कारण हैं। सब अन्वय धृतराष्ट्र पक्षका है और ये ही हम धर्म मुझके समय धारितों रचनाना के धर्ममें अवसर रीतिसे हैं। मेरी कह रहे हैं कि मुझसे दूरा है। धर्मग्रह वह है जिना करके राज्य कमानेकी अवस्था धारितों की कम भोगा डकड़ है और नाममात्र कम करना चाहिये।

वेदिक विज्ञेय योग जैसे निकट बनते हैं और अपनी प्राज्ञात्मक शक्त के बिना धर्मवचनों का भी कपट प्रयुक्ति के साथ आशय करत हैं । ऐसे धर्मवचनों का प्रयोग चतुर्थाध्याये पाठकों पर किया था और वह समझता था कि, इस प्रयोग का परिणाम पाठकों पर अवश्य होगा क्योंकि पाठक ' धर्म ' के अनुयायी हैं ।

पुण्यस्थान का प्रभाव

चतुरी बात यह है कि वे दोनों पक्षों के बीच ' धर्मसंशय ' के दोष में मुद्दे के बिना हकूत हुए हैं । साधारण और और सुदूर की धर्मसंज्ञा में गड़, तो कुछ न कुछ धर्मवस्तु कहते ही हैं, तीर्थ क्षेत्रों में अन्तरगतों की अवस्था धर्म की प्रवृत्ति अधिक रहती ही है । इसलिये चतुर्थाध्याय समझता है कि अपनी वेदना से सत्य ज्ञान किया गया उपदेश धर्म के बिना मुद्दे में जाने के पक्ष पर पाठकों के मन पर अधिक परिणाम करेगा और मात्र वे कुछ ही करने के बाद से निष्पन्न हो जायेंगे । यहाँ यह मात्र ज्ञान करने के वह संभवते पूछता है कि वे संभव । समझते हैं और और पाठकों के पुत्रों की सेवा में मुद्दे की हकूत से हकूत होकर क्या किया । पूछने का उत्तर यह है कि पाठक सुन्ना के उपदेश के अनुसार मुद्दे का प्रयोग करके वापस गए या नहीं । सुने को उपदेश किया । वहका परिणाम बनार है या हुआ । चतुर्थाध्यायी चिन्ता का यह स्वरूप है । इस पूर्व धर्म का अनुमान करने के पक्ष यदि इस प्रथम प्रयोग का विचार करेंगे तो हमको इस प्रथम करने के समय चतुर्थाध्याय के मन्त्री चिन्तामय स्थिति की कल्पना हो जायगी ।

पराक्षय की समाधान

चतुर्थाध्याय भी जानता था कि अपने पक्ष के भीतर से सुखीयन दुष्टात्मक कर्म आदि को देखे भीतर के विद्विषय भीष्मप्रभोक्तिक सब बड़े हीर दिक्से कहलैवाक नहीं हैं । वे दिक्से पाठकों को स्वागत दैक पक्ष में हैं । इस दृष्टि से अपने पक्ष में संभवक वहा होने पर भी दिक् करना होने के कारण अपना पक्ष निष्क है । परन्तु पाठकों के पक्ष में इस दृष्टि से क्या माय तो हर एक कोरों का बदका करने की अपनी कोरों पूरी पूरी ठेकाई किं हुप है । बहुत भीम आदि हीर तो अपनी धाँपे के कद गुना अधिक कार्य करके दिखा देंगे । इस कारण पाठकों का स्वागत छोटा होने पर भी हाएक हीर दिक्से कार्य करनेवाला हीरक कारण हकका

पक्ष सचक है इस दृष्टि से संभवक : अपनी पराक्षय भी हो जाय । इसलिये इन्हीं दुष्टात्मक करता हुआ चतुर्थाध्याय संभवते पूछता है कि दोनों सेनाएँ हकूती हो जाने पर कोर क्या हुआ । वह मन्त्री समझता ही था कि यदि मुद्दे छिड़ गया, तो अपने पक्ष का पराभव निश्चितता ही है ।

धर्ममुद्दे

हमका ' चतुर्थाध्याय ' और ' चतुर्थाध्याय ' इन दो पक्षों में मुद्दे हुआ करता है । चतुर्थाध्याय के अन्तर्गत में भीष्मता है और इसको अपने अन्तर्गत रखने के बिना मुद्दे में रहता होता है इसलिये इसकी कोरों से जो मुद्दे होता है वह अन्तर्गत मुद्दे कहलाता है परन्तु जो चतुर्थाध्याय पक्ष में योग होते हैं वे अपना गया हुआ स्वागत पुनः प्राप्त करने के बिना धर्मपूर्ण बन करत है इसलिये वहका सत्य होने के कारण उनकी कोरों से जो मुद्दे होता है वह ' धर्म ' मुद्दे होता है । एक ही मुद्दे ही पक्ष एक ही स्थान पर संमिश्रित होते हैं तथापि यहाँ एक धर्ममुद्दे करता है और दूसरा अन्तर्गत करता है । यह धर्ममुद्दे और अन्तर्गत मुद्दे का विचार कथम प्रकार से स्मरण करें ।

धर्म का पक्ष

पाठकों का पक्ष ' धर्म ' का पक्ष था । इस पक्ष का मुखिया ' धर्म ' नाम का राजा था वह बात गोल है परन्तु यहाँ पर हम पक्ष को धर्म के अनुसार आचार्य करनेवाले के नहीं हम पक्षवाला बतायेंगे । धर्मराज भी यहाँ धर्म के प्रतिनिधि होकर वैसी भूमिका निभे हुए हैं । धर्मराज मुखिया है अर्थात् वह किस भूमिका को कर मुद्दे परविषय होता है उससे पीछे नहीं हटता । मुद्दे अपनी भूमिका पर स्थिर रहना यह भी एक बड़ा काम हुआ करता है । ' धर्म-स्थिर ' शब्दवाला मुद्दे अपने स्थान पर स्थिर रहने का उपदेश किया है । धर्ममुद्दे परविषय होनेवाले को मुद्दे में स्थिर रहना सीखेंगे तो अच्छा होगा । विजय वांछित के बिना धर्म का अनुयायी होना और (धर्म स्थिर) मुद्दे अपने स्थान पर स्थिर रहना अर्थात् अपने स्थान से पीछे नहीं हटना यह अर्थात् आचर्यक बात है । और कुछ अपने स्थान से आगे बढ़े कभी दरका पीठ न हटे ।

द्वैतमाधुर्य मन्त्र

यह धर्मराज ' अन्तर्गत-धर्म ' भी है । जिसका कोई धर्म

वही है कमसे कम जो किसीसे द्वेष नहीं करता। जो किसीकी हिंसा या हानि करना नहीं चाहता। सबसे भी द्वेष नहीं करता। अनुका भी सुचारु होके चले चलकरवा है। अनुके भी गुण देकरा है। वह चर्मकी सुमिका है। जिस के मनसे हाथसे और कमसे द्वेष भाव दूर हुआ है जो अनुके भी द्वेष नहीं करता। अनुका जो अनुके भी गुण देकरा है वह अज्ञान अनु पाण्डवोंका सुयोग है। सब पाण्डव हम अज्ञान अनु चर्म की भाँसा धिरोचार्म मानकर इस भाँसा अनुवार चर्ममें अपनी कुलकुलता मानते हैं। अर्जुन केना सम्भलता और भीम केना सकलान् बोद्धा। अनुक अद्वय जैन अहिंसीय दूर प्रकृति अपने अपने मतेदेकरकत हुए भी अन्त्याचारि अन्त्याचारि अज्ञान अनु चर्मकी भाँसा-मपने मतेके विप्लव होयेर भी अहिंसकलान् मान करवा हुए मानते हैं और उनके अनुवार आचरण करते हैं। इसीमें वे का बक है। अनुक देका काय से चर्मराज ही अन्त्याचारि ममतावादी और अज्ञानानु का। भीम से स्वभावतः सुनकी अन्त्याचारि अज्ञान अन्त्याचारि ही का अपने स्वभावके कारण चर्मराजपर श्रेष्ठ भी करता था। चर्मराजके हाथ अन्त्याचारि के भी पैसा होता था। अर्जुन वरपि भीमसेबक हुता कोभी नहीं था। तथापि चर्मराज केना समवादी भी नहीं था। अनुक अद्वय से अर्जुनके पीछे पीछे चर्मराज के। और दृष्टी चर्मराज की पीछे भी श्रेष्ठरी दृष्टी का बक अज्ञान भीमका ही पक्ष कहती थी। अर्जुन चर्मराजके साथ समवाचारि रखेबलका इनमें दृष्ट भी नहीं था। अनुक देका काय से पैसा वसीत होता है कि चर्मराजकी अन्त्याचारि अर्जुनक हुतेके समीप हुए। पाण्डव अज्ञान हुए थे। अनुका मनमद होयेर भी चर्मराज अज्ञान। सब मानन व नार अज्ञान तक किसीने भी चर्मराज की भाँसा अज्ञान नहीं किया। भावा चर्मराजका चर्म ही अन्त्याचारि का था। अर्जुनके पीछे किंच देता वनावा था। यदि सब शास्त्र अर्जुनक करनेवालोंका अन्त्याचारि चर्मराज केना माना जाय तो हमसे भीके पीछे अन्त्याचारि वही हुए थे। अज्ञान कोग काम करते थे, पैसा मानना वदता। अर्जुन भीम मैत्र अनुक अद्वय और भावा श्रेष्ठरी के चर्मराज और वही अनुक भावा अनुक तथा भी। जिसके मतेके अहिंसिय माने जा सकते हैं। और दृष्टा मानैर विज विज मतेके सब विभिन्न होयेर भी दृष्ट अन्त्याचारि केना की भाँसा

अनुक से सब एकविचारसे कार्य कर रहे थे और ऐसे काम करते हुए अर्जुनके अपनी उद्यम संवदना की मद बात लंब होजायगी। यदि ये विभिन्न मतेके और ममता अन्त्याचारि चर्मराजके अन्त्याचारि मार्गमें न रहने और स्वयं अन्त्याचारि करनेमें बहुत हो जाये, तो औरवही दृष्टको विना अन्त्याचारि वकते और दृष्टके ऊपर दृष्टकी कार्य भाँसा न रहती। अनुक चर्मराजकी अज्ञान चर्म वरपि होयेके और अज्ञान पक्षवादीके किंच अनेक पाक्षवादी अन्त्याचारि अनुचार मते रहेके, अनुक अन्त्याचारि अज्ञानानुक्ति तथा कई औरवही भी भी अनुकत दृष्टि पाण्डवोंके किंच सहायक हो गई और इस काय अन्त्याचारि अन्त्याचारि मतेके अन्त्याचारि अनुक होयेकोय किंच इनको ममता हो गई। अन्त्याचारि अनुक दृष्टि दृष्ट अन्त्याचारि मतेके पाँचें पाँचें हुए होयेके अनेक कहोको अन्त्याचारि सदा करनेके अन्त्याचारि अज्ञानानुक्ति अहिंसीय वक ममता होता है वह वक ममताके अन्त्याचारि अन्त्याचारि को कभी पाक्ष नहीं हो सकता वह बात निःसन्देह सत्य है।

ईश्वरकी सहायता

वही दृष्टरी विजयका बात यह है कि अन्त्याचारि-इश्वरका विवर्तनी अन्त्याचारि ममता मोहन भीमका पाण्डवों के संवाकक और वरम अज्ञानक थे। वे सब अन्त्याचारि अज्ञान दृष्टरी और अनुक विजयक होते हुए भी मैं हाथ में बक नहीं आया मैं अनुक नहीं चर्मराज दृष्टरी अनुक व दृष्टकी अन्त्याचारि अज्ञान करके पाण्डवोंकी सहायता अनेक किंच आया थे। चर्मराज केना स्वभावका समवादी और अज्ञानानु पा और समवादी ममता मोहन भीमका दृष्ट अज्ञान अनुक विजय रहनेकी अज्ञान किंच हुए थे। इस अज्ञान पाण्डवोंके दोनों सुविधा अज्ञानकी थे।

चर्मकी विजय

अज्ञानानु होयेर भी उनको अनुक करना पडा और हम अज्ञानानुकी अनुकतामें रहनेके ही पाण्डवोंके अन्त्याचारि विजय का हुआ। विजय चर्म का मार्ग और चर्मराजका अज्ञान तथा ममता ही हुआ करना है। विजय कभी अन्त्याचारि का नहीं होता और अज्ञानकी भी विजय नहीं हो सकती।

समाप्त उपदेश

हमने अज्ञानकी विचार करनेके चर्मराजके वता अज्ञान ही

हम धारीको छेद करते हैं। यह कर्म करकेका धन है इसलिये इसको कमयत्न करवा कुक्षेण कहा गया है। यह कुक्षेण प्रत्येक मनुष्यके जन्माकरणार्थ है और यह कुक्षेजर्त मही और पुरी बिजबुधियोंका पुत्र बनता है। इस पुत्रका वर्ण हम महाभारत पुत्र हन्ता बिना है ऐसा धारण्यिक कोयोंका कहना है।

अठारहवीं संख्या

महाभारतकी रचना कुछ विवेक उद्देशसे की गई है यह सम्येह तो करर करकी इसी महाभारतका विरिक्त करकेप्रत्येक ज्ञानार्थ की हो सकता है इच्छिये—

- १ महाभारतको पर्व १८ हैं
- २ महाभारतीका अध्याय १८ है
- ३ भारताय पुत्र १८ दिन चलता रहा
- ४ अष्टम क्षिप्य १८ अर्शोहिणी था

यह १८ वादी लेखा कुछ विवेक हेतुसे १८ की पलीत होती है यद्यपि १८ क्षीयत् होती है। क्षय है इसका इस धारणसे कुछ विवेक संभव हो।

“ पुत्रो पात्र यक्षः (अं १ ११११)

पुत्र अर्थात् मनुष्य एक विवेक यक्ष है। यदि मनुष्य यक्ष है तो उसमें १८ क्षयित्व होगा ही। १ जोक २ कान ३ नास ४ शक्तिवि ५ हाथ ६ पांश ७ मुखेति ८ गुहा ९ मुख १० शक्तिवि ११ मन १२ चित १३ वहकार ये १८ वहति अर्थात् है। जन्मा यन्मात्र है और इति यन्मात्राणी है यह भीतर यक्षका है। यह यक्ष १८ वष तक चलता है। इसका बहिरा भाग भागःक्षय २४ वर्षका है द्वितीय भाग २४ वर्षका अन्तराष्ट्र यक्ष है और तीसरा भाग ४८ वर्षका लार्थयक्ष है। तीसरा यक्ष विषका १८ वर्षोकी अवधि होती है। मनुष्यका जीवन ही एक वषा जारी यक्ष है। हम यक्षमें से १८ क्षयित्व काय कर रहे हैं। हम यक्षके काय कायेके किम वैद कुप होम कुबामन वै काययन जाति राक्षस हैं। इसका पुत्र हम पुत्र भूमिमें होगा है अर्थात् हम यक्षमें भी १८ चलता है।

अमर्यन्ता (अं १ जो ४८) में कहा पाण्डवोंके विरोध बोद्धा निगमने है वे भी अठारहवीं गिनाय है। दोषके १ कामः २ अर्जुन ३ सुगुण्य (भावति) ४ विशाख ५ दुरर ६ दुरधेय ७ केशिका ८ कर्मिका ९ पुत्रविज

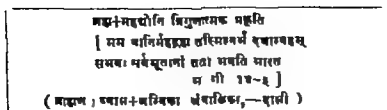
कुम्भिमोज १ क्षेप्य, ११ सुभामन् १२ उचमोना १३ सोम्य नसिमन् १४-१८ शौचरीके पात्र पुत्र के अठार ही हैं। इस यक्षके यन्मात्र यन्मात्र और यन्मात्राणी शौचरी है। इस यक्षके विनकर्ता सुपौत्रवादि यक्ष हैं। यह धारा वर्णन यक्षकासे नहीं हुआ है। विवेक हेतुसे यह किया है ऐसा इसके देखनेसे ही बला जगता है।

यक्षकी उत्पत्ति

बीमजगन्नीताके यक्षका वर्णन देखनेसे भी उल्लेख विवेक हेतु स्पष्ट मिलि होगा। प्यास देव (यक्ष) विविध क्षेत्रमें (यक्ष एक समानक यक्षमें) अपने हीक्षे विविध संतति उत्पन्न करता है जैसे तमोगुणयक्ष जन्मा यक्षराष्ट्र रजोगुणी पाण्डु और अत्यगुणी विदुर। तमोगुणी जन्मा होता ही है इसमें बड़ा बल है रजोगुणी क्षीय होता है और योगके रोगी होता है अत्यगुणी क्षायी होता है। एक ही जन्मसक्ति विविध यक्षमें जाती है और वक्ष से विविध छवि पैदा होती है। (पु १५ पर विक्ष देखिये)

बीमजगन्नीता (अं १४ स्तो ३-१८) में यह विवर बताया है यक्षका क्षेत्रमें भाव यह है— विज्ञात यक्षमें में गर्भ रचता हू यक्ष भूत उत्पन्न होते हैं। मैं (जन्मा) ही सबे मूर्तोंका बीज देनेवाला विना हूँ। इसमें अत्यगुण शुद्ध अनेका रजोगुण यक्षकाओंकी यक्षानेका और तमोगुण मोह यक्ष प्रमाद उत्पन्न करनेवाला है। अत्यगुण से क्षाय रजोगुणसे क्षीय और योग यक्ष तमोगुणसे त्मार मोह और अत्यगुण (अन्धकार) की उत्पत्ति होती है। यह तीताका यक्ष महाभारतमें जत प्रतिष्ठत करता है— अत्यगुणी विदुर क्षायी पुत्र और यक्षि है। रजोगुणी पाण्डु राक्षस यक्षिकारी पुष्पाधी वरन्तु भीती दोषके कारण रोगी (भेजे रोगयक्ष) होकर अक्षयमें ही मरता है। तमोगुणी यक्षराष्ट्र सब यक्षसे जन्मा यमारी माहपुत्र मूक जो करता हू उसमें यक्षनेका है।

एक बीज होनेपर भी क्षेत्रयक्षमेंके कारण के क्षेत्र यक्षमें ही उत्पन्न होती है। अत्यगुणी विदुर क्षाय यक्षिका दोषके किसी राक्षसिकतामें जन्मा अत्यगुण नहीं रचता। अत्यगुणिका यक्ष रक्षक है। हमका किसीके क्षयका भी नहीं है। जगता का रक्ष और यक्ष ही होता है। यक्षराष्ट्र जन्मा दोषके यक्ष क्षायी भी अत्यगुणी हुआ और पांडु क्षाय



[वासुदेवः । तम+इह=तन्म]
 पुत्रशत्रु+गान्धारी

विदुर
[चर्मावतार, मातङ्गुली श्रवणी]

[वैषम्य । सत्य + म]
कुली + पाण्डु + माही

जर्म

संज्ञा—

मीमा

सह-निर्माण-सूचिका

100

444

1
2

1999

सह

44

(कैबी संवत् १९११-१२)

दुर्धर्म दुःशासन इत्यादि सैकड़ों लक्षमेंदुष्टिबोली जायति ।
इंम, इपं अस्मिन्मन्त्रे जोष पादय्य इ आहूति लयति
(म गी. १६।४-२१)

॥ शैबामुखर्षिजगन्नाथः ।
(अ गी ज १६)

होवेपर भी उसको राज्याधिकार मिला जैसा कि राजागुणी मनुष्यको मिलना योग्य है । परंतु ओगो रोगसे मरता है और उस ओगीक द्वारा योग प्रकटित ही परंतु चर्मसे प्रकटित होकर-बीजोसे पांच पुत्र उत्पन्न होते हैं । चर्मवृत्ति वक्षवृत्ति वीरवृत्तिवत्के बीजोसे ह्य ही तीन प्रजाति बेटे जन्मते । परम भीम और अर्जुन ये तीन प्रधान एक क्षेत्रमें महाभारतमें हुए । ह्यके क्षेत्रमें चिकित्सा (ज्ञान) हृषी और ह्यवृत्तिवत्के बीजसे कमल, मकुड और सहस्र ये दो संतान हुए । अर्वादि रजोगुणसे जय वक्र वीर, चिकि- रक्षा (ज्ञान) और ह्यवत्त्व ये पांच प्रवृत्तियां प्रकटित हुईं जार इस कारण परमेस्वर ह्यका प्रधानक हुआ । रजोगुणसे यदि चर्मकी जार वृत्ति होगई तो कसका जन्ममें नका ही होगा । छद्म अथगुणी विदुर जैसा अपने बहुर ही संतुष्ट (जयमन्त्रेवरमना मुखा : म मी १५५) रहेगा इस कारण उससे जगत्में चर्म कर्मकी प्रवृत्ति नहीं होसकती । इस कर्मके किये चर्ममें वृद्ध रजोगुण चाहिये, जो चूर्णक कर्ममें पंडित (छद्म कर्मकारणित) द्वारा वचना है इससे पांच जेष्ठ विप्रवृत्तियां चर्म वक्र (निर्मलता) वीरभाव ज्ञान लाभ देवमति वैही उत्पन्न होती हैं । वास्तव में मनुष्यका सब कुछ जीवन ह्यवृत्ति अर्वादि रहना चाहिये किंवा सब व्यवहार ह्य वृत्तियोंका ही राज्य होना चाहिये परंतु ऐसा होना कठिन है ।

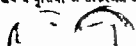
हम वृत्तियोंमें भी चर्मवृत्तिके अर्वादि ही वक्र और भी ये दोनों बात होने चाहिये तथा हाव और अग्नि ये भी मात्र चर्मके अर्वादि ही चाहिये । यदि ऐसा न हुआ तो वक्र (भीम) चर्मकी आज्ञान मत्तैना वीर (अर्जुन) ममतामा वपचि करेवा ज्ञान (व-कुल) चर्मका वक्र जोड़ देगा और अग्निमय (छद्म-देव) चर्मापुत्रक ईश्वर भजनमें जगत्के ही अनेक भूतदेवसिद्धाचारकोही मज्जता संपादन करनेमें कोमा और इस प्रकार ये चारों-वक्र और ज्ञान और अग्निवृत्तियां मनुष्यको विशिष्ट सिद्धि लायेंगी । इसीप्रति ह्यको वहां चर्म वृत्तिकी आज्ञामें रखा है । जब ये चर्मवृत्तिके अटुलक रहती हैं तभी ह्यको ईश्वरकी प्रधानता मिलती है नहीं तो नहीं । विशिष्ट मनुष्यके जीवनपर ह्यका ज्ञान होना चाहिये और सब व्यवहार ह्यकीमा राज्य होना चाहिये । परंतु ऐसा कहा होवा है ?

जब ये वृत्तियां अन्तःकरणमें अद्विष्ट होने लगती हैं ।

तबसे ही हम पूर्व अस्मिन्मान क्षेत्र पाकर भीम आदि चार राजसी वृत्तियां बनकर हमका करती हैं और हम सवृत्तियोंको ह्यवैका वत्त करती हैं । तमोगुणी चराचर की सततिके कर्ममें ह्यही आसुरवृत्तियोंको वचना है । चर्म प्रवृत्तियोंको व आसुरी प्रवृत्तियों छुटवनेसे ही ह्यती है, यह बतायेके किने पांवोंको वाक्पनसे कष्ट प्राप्त होवेका चर्मम महाभारतमें है । अन्ततः कपडसे आसुरी वृत्तियां प्रवृत्तियोंके राज्यमें छुटती हैं वहां अपना अधिकार बना लेती हैं और चर्म वृत्तिके अन्तःकरणक राज्यमें नहीं जाते रती । चर्मवृत्ति और उसके अनुवाची सज्जनोंको परमेस्वर के नामसे उक्त कारण ही मुक्त करना पड़ता है और शिष्टोंसे ह्यको वनावा उन्हींको मारना पड़ता है । ज्ञान देवताक वहां ज्ञानेश्वरों मन चित्त बर्हकत आदि होते हैं इनसे ज्ञान प्राप्त किया वह सत्य है ; तबानि जब ये ही अत्यवस्थिते सहायक होने लगते हैं, तब ह्यका ही हमन और संभव करना पड़ता है । वहां अर्वाकार अग्निवृत्तिमय है जो जन्मके प्रभाव दृक हो दिनोंके प्रवासे वासको नष्ट नहीं होता । १८ दिनोंके पुत्रमें इसका हमन करनेके किये १ दिन को है, तब भी वह मरा नहीं ; वह जन्ममें अपनी ह्यकाये ही लाप हुआ । क्योंकि यह क्षमाधि सिद्ध होने तक रहता है पञ्चाक्षर वह स्वयं जात होता है । मन होना चाह है, वह सबको छिटाता है, परम्य इसको मी जात करना पड़ता है । हृषी अकार अन्तःकरण और वीरोंकी अवका है । औरव लेकरी हैं (वाक्पादावतर्षका : म मी १७ १२) क्योंकि वाक्का वामना काम कोपादिके अक्षरों अक्षर ह्य अक्षरमें केकते हैं । इस प्रकार वह औरव संसार मनुष्यके ह्यवृत्तमें होता है ।

अन्तःकरणवृत्तियों नहीं अतर्वाच मुक्त मानवी ह्यवृत्ति वृत्तिकार होता है । इस पुत्रमें ह्य पूर्व अस्मिन्मान क्षेत्र आदि विकार सब प्रत्यक्ष जात किये जाते हैं और परम वरवीं कृपासे चर्म प्रवृत्तियोंका राज्य होता है और ह्यकी प्रमि और स्वर्णक राज्य निकटा है । इत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें वह चर्मा और अत्यवृत्तियोंका मुक्त होता है और ह्यकीमा चर्मम कर्मकाक्षरसे महाभारतमें किया है । धारोके अन्तःकरणवृत्तियोंका वह मत्त है ।

यह मत्त ह्यकीमा करनेपर भी चर्म और चूर्णजन आदि वैशिष्टाधिक अग्नि ये ह्यका क्षेत्रम नहीं होता है । इस



संजय उवाच- दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

(२) पाण्डवसैन्य-वर्णन

पश्येतां पाण्डुपुत्राणामाचार्यं महर्षीं चमूम् ।

व्यूढां मृपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

अन्वयः— संजय उवाच— तदा तु पाण्डव जनिकं व्यूढं दृष्ट्वा दुर्योधनः आचार्यं उपसंगम्य (दुर्य) वचनं अब्रवीत् । हे आचार्य ! तव धीमता शिष्येण मृपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणां पुत्रां महर्षीं चमूं पश्य ॥ २ ॥

संजय बोले— इस समय पाण्डवोंकी सेनाके व्यूह-रचना को देख कर राजा दुर्योधन (द्रोण) आचार्यके पास जाकर कहने लगे ॥ २ ॥ हे द्रोणाचार्य ! आपके कुक्षिमान् शिष्य मृपदपुत्र धृष्टपुत्र द्वारा जिसकी व्यूहरचना की गई है ऐसी पाण्डवोंकी इस बड़ी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

आचार्य— अनुसेनाका हमका अपनी सेवापर होयेके पूर्व ही अपने और वस्तुके सम्बन्धे बजाबकम विचार करना योग्य है ।

यसके वा अन्य मामले कोई नरेक हुए होंगे । वस्तु इस प्रत्यक्ष केवलके रूप व्यक्तिओंके स्पर्श वास दिने और अपनी प्रथम रक्षा है और यह रचना छेदक की है, यह वस्तुके दिने और वस्तुओंकी अन्तर्गत कहानियां इस प्रथम केवलात्मिक किन्हीं हैं । इस संसर्गमें इस विषयपर अब अधिक किन्हींकी आवश्यकता नहीं है ।

यह भारतीय युद्ध मानवी अन्वयजनकी मृगिपर हुआ हो जवना कृष्णकेवले हुआ हो मनुष्य जीवनके सुभारके दिने दोषोंका परिणाम नक मिलायी है । ऐसे युद्धोंमें जर्म के सत्यवादी ' विजय ' होती है और स्वार्थसे अन्ये जने हुए अन्तर्गतका नाम होता है । यह सिद्धांत मनुष्यकी अपने मर्त्यमें स्थिर करना चाहिये ।

आचार्यकोले बने हुए मनुष्य अपनी आज देखते हुए भी अपनी जगदी आज करत ही रहते हैं और इसविषय वृत्ते हैं कि अब यह युद्ध छिड़गया है, जाने क्या होगा ! इस वक्तका वरत सदैव किस प्रकार वेते हैं तो देखिये ।

(१) इस प्रथम दिनके युद्धमें औरोंकी महासेनाका वरत नामक व्यूह भीष्मपितामहमें रक्षा और कर्त्तव्य अपने पैरियोंको सेनाध्यक्ष करने वक्तका उत्साह बहनेके दिने वरत आत्म किन्हीं— देखिये ! यह युद्ध कभी अगहार दुष्टके दिने तुका हुआ है इतमें बहिर् होकर कोई तुम दुष्टकोके आज्ञा जवना अन्तर्गतके १ (दि नी)

दुष्टके पूर्वमें ही मार्गका आग्रह किया और वक्तम गति मल की थी । जर्म विचारपर जानेवाली वस्तु अन्तर्गत के दिने योग्य नहीं है । एतद्विषयमें वक्तव्यारके तीर्थमें जो वस्तु जाती है वही अन्तर्गतको सन्तुष्टि देनेवाली होती है ।

(म मा श्रीधर्य ४ १०) यह पवनिव्यूह ठेका होता है कि इसका आकार पक्षीके समान होता है और विचार कोई वक्त इसका मुक्त हो सकता है, इसविषये किसी भी विचारसे इस वक्त इसका कला अनुके किन्हीं कतिन होता है इस वक्त और वक्तका व्यूह होनेपर जर्मराज अन्तर्गत कहने लगे कि— हे अन्तर्गत ! महर्षि वृद्धत्विका कथन है कि सेना कोई हो तो संघटे इसका करना चाहिये और यदि वही सेना हो तो फैलाकर इसका करना चाहिये । हमारा सैन्य अनुसेनाकी वरतका बहुत कम है अतः सूचीमुद्राकार व्यूह रचकर हमें सेना होना चाहिये । इस आज्ञाकी मुक्तकर अनुवर्ती अन्तर्गत अपनी सेवाका वक्त ' सत्य व्यूह ' मृपदपुत्राके युद्ध द्वारा रक्षा (म मा श्रीधर्य १० ११) यह व्यूह ओकरा होनेके कारण अनुसेनापर हमका करनेके दिने अन्तर्गत योग्य है । इस वक्त वक्तम व्यूहकी रचना होनेके कारण पाण्डवोंकी सेवा मोरी होनेपर भी औरोंकी वही सेनाके दिने भी जारी होमर्त । अतः पवतापुत्र दुर्योधनकिन्हीं किन्हीं वक्त होकर द्रोणाचार्य जीने कहने लगे ।

(३-१) इस दुर्योधनमें भीम, अन्तर्गत नामकी विराम

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युधामन्यु विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

पृष्ठकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च धर्मिषात् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च क्षैम्भश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमीबाश्च धर्मिषात् ।

सौमत्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अत्र भीमार्जुन-समा युधि शूरा महेष्वासा युधामन्यु विराटश्च महारथा, द्रुपदश्च ॥ ४ ॥ पृष्ठकेतुः, चेकितानः धर्मिषात् काशिराजः च पुरुजित् कुन्तिभोजः, नरपुंगवः क्षैम्भः च ॥ ५ ॥ विक्रान्तः युधामन्युः च धर्मिषात् उत्तमीबाः च, सौमत्रः द्रौपदेयाः च, सर्वे महारथाः एव ॥ ६ ॥

इस सेनामें भीम और अर्जुन जैसे युद्धमें शूर वीर और बड़े यजुर्धारी होवा युधामन्यु (साक्षात्) विराट्, महारथी द्रुपदराजा ॥ ४ ॥ पृष्ठकेतु, चेकितान पराक्रमी काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज नरभेष्ट शैम्भ ॥ ५ ॥ धिक्करी युधामन्यु धर्मिषाकी उत्तमीबा सुभद्रायुध (अभिमन्यु) और द्रौपदीके (पाँचों) पुत्र हैं और ये सभी महारथी हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—यजुर्धरामें जो जो ब्रह्म वीर युद्ध करनेके लिये उपस्थित हुए हैं उनके गुणदोषों और युद्धवीर्यकोई कीक डीक प्रकार जानना चाहिये और अपने धीरोसे उनकी तुलना करनी चाहिये ।

द्रुपद पृष्ठकेतु चेकितान काशिराज कुन्तिभोज क्षैम्भ युधामन्यु, उत्तमीबा अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँच पुत्र [अर्जुनसे प्रतिस्पर्धित भीमसे युवसोन अर्जुनसे युद्धपीठि गुरुके अराजकी और महादेवके कुतकर्मा] ने बभरह महारथी नामविशेषसे कहे गये हैं । महारथी वे कहलाते हैं कि जो युद्ध इमार यजुर्धारी धीरोके साथ लड़ेके ही युद्ध का सकते हैं देखिये—

एको द्वा सहास्रानि योद्यथेयस्तु धन्विनाम् ।

शस्त्रशालासमवीथिष्व विधेयः सा महारथः ॥

महाराथीका अधिकार इत्यादि कहा है । आसनोंका अन्ध बन होना चाहिये युद्धस्थानमें असीमता अंतरात्मा करनी चाहिये और दस हजार यजुर्धारीके साथ युद्ध करनेकी क्षमता चाहिये तब 'महारथी' वह उपाधि प्राप्त हो सकती है । वह पर तो श्रेष्ठ करुण करनेपर राजासे बहुतान धनक मिलता है । वही वह बलवान् है कि अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँच वीर युद्ध आसुकी दक्षिणे छोड़े होनेपर बर्षाएँ उनकी आसु वीर वहीम वरुणें अधिक न होनेपर भी उनकी गिबरी महाराथिमें होने करी की । पण्डितोंके समय की कुमारोंकी वरुणें देवी होती थी, इसकी वरुणें इसके

ही सकती है । इसका सामर्थ्य कुमारोंमें होवा था इसी लिये इस समयकी धर्म जाति जीवित की और निवर्तनी थी ।

वह दो कुमारोंकी वरुणें है । भीम अर्जुन दो बभर वरुणें वरुणेंमें पहुँच चुके थे विराट् और युद्ध को करने की बहुत ही बुद्धि थे । इसी वही बहुत होनेपर भी वे वीर तकमेंके समान करनेका धर्मपूर्ण रहते थे । अन्तर और असीम वरुणें वीर हाथमें तकवार, पदा बलवान् यजुर्धरान केकर युद्धस्थितिमें अपने स्वराज्य स्वराज्य करनेके लिये युद्धमें कहता है वह पदम जीवित राहमें ही हो सकता है । पराधीनतामें बहुत हीम होकी है और मन और निरुद्धाह एव होता है । स्वराज्य न होनेके वे दक्षिणी हैं और स्वराज्य होनेपर कुमारों और वरुणेंकी भी महारथी होवा समान है ।

(य आ वरुणें च १९४-१०५ में) दोहों और की केन्द्रके रभी महारथी और अतिरिक्तोंका वर्णन है वरुणें १९५ में भीम और अर्जुनका वर्णन है । च १० में अभिमन्यु तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका वर्णन है । इसीमें उत्तमीबा अराजकी और युधामन्युका वर्णन है । च १०५ में शिष्टपाठयुध केदिराज पृष्ठकेतु का वर्णन है ।

(३) कीरवसैन्य-वर्णन

अस्माकं तु विविधा ये ताभिर्बोध द्विबोचम ।

नायका मम सैन्यस्य सङ्घार्थं तान्मयीमि मे ॥ ७ ॥

मयान्मीप्सश्च कर्मश्च कृपश्च समिर्तिजय* ।

अपस्यामा विकर्माश्च सौमदपिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता* ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविचारदा* ॥ ९ ॥

अन्वयः— हे द्विबोचम । अस्माकं तु ये विविधा, मम सैन्यस्य नायकाः, तान् मयोच । ये संघार्थं तान् मयीमि ॥ ७ ॥ मयान्, मीप्सः च, कर्मः च समिर्तिजयः कृपा च अस्माकामा, विकर्माः च तथा एव च सौमदपि ॥ ८ ॥ अन्ये च बहवः शूराः सर्वे मदर्थे त्यक्तजीविताः, नानाशस्त्रप्रहरणाः युद्धविचारदाः (समि) ॥ ९ ॥

हे द्विर्बोमि श्रेष्ठ (श्रोण्याचार्य) । अब हमारे पक्षके जो जो प्रमुख वीर, मेरी सेनाके नायक हैं उनके नाम सुनिये । आपकी केवल सूचना देनेके लिये उनके नाम कह रहा हूँ ॥ ७ ॥ आप स्वयं मीप्स कर्ण रत्नविजयी कृप अम्बरयामा विकर्म तथा सोमदपि के पुत्र (भूरिजया) ॥ ८ ॥ वीर मी बहुतसे शूर वीर, सबके सब मेरे लिये अपना जीवन समर्पण करनेको तैयार माना प्रकारके शस्त्र ब्रह्मानेनें निपुण वीर युद्धमें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ— अपने सेनापति वीर सेनानायक किछ योग्यताके हैं वीर वे किछ किछ विषयमें प्रवीण हैं वीर इनमें कौन वीर दिकडे कहनेवाके हैं वह बात ठीक ठीक प्रकार राजाको जाननी चाहिये ॥ ७-९ ॥

(न १९९-१०१) इन अम्बानोर्धि पाण्डवोंके वीरोंका वर्णन देनेके योग्य है । युद्धविद कुन्तिमोक्ष एक ही वीरका नाम है । वृष्णिवीरोंमेंसे प्रसिद्ध मोक्षा सत्यकि वा । युष्मान्मु वीर कचमौजा पाण्डव वीर वे वीर चेष्टिगाम बादन कुन्तोत्तम वा । क्षितिदेवके राजा शैल्य वे । इस प्रकार पाण्डव वीरोंके वर्णन युवोंवर्णने किया है । अब वह अपने पक्षके वीरोंका वर्णन करता है—

(७-९) वहाँ युवोंवर्णन अपनी सेनाके मुख्य नायकों का वर्णन कर रहा है । सबसे मुख्य श्रोण्याचार्य मीप्सपिता-मह के बचोद्वह अनुवयी गिने गये हैं । अन्तराह दिगोंके युद्धमें मीप्सपितामह १० वर्षके युद्ध होनेपर भी पूरे एक दिन और युद्ध करते रहे श्रोण्याचार्य करीब ९ वर्षके होने पर भी बचके बाद पांच दिन युद्ध विषयमें समर्थ हुए । वे देखे बड़े वीर थे । इनके पञ्चाङ्ग कर्म कृपाचार्य मृदि नद्य (सोमदपि) अम्बरयामा विकर्मा आदि गिने हैं । युद्धमें इनके काम भी इसी कमसे हुए हैं । इन सब वीरोंके यहाँ बच होनेपर भी युवोंवर्णनका पूर्ण विचार कर्नपर ही

वा । इसलिये वर्णनमें (समिर्तिजय) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाका वह विशेषण इनके और कृपाचार्यके लिये बहुत किया गया है । वीर (अन्ये मर्त्ये त्यक्तजीविता) दूसरे वीर मेरे लिये अपना जीवन देनेको भी तैयार हैं । ऐसा कहा है । युवोंवर्णन श्रोण्याचार्य वीर मीप्सपितामहसे बात चीत कर रहा है देखे वर्णनमें दूसरे शूर वीर मेरे विजयके लिये अपना जीवनत्याग देनेको तैयार हैं ऐसा कहनेका तात्पर्य नहीं दीकया है कि वह आप मीप्स वीर श्रोण शिरोव योग्यता रत्नविजयी वीर हैं वह सब है परंतु आपका मन पाण्डवोंकी ओर होनेसे, मेरे कर्मके लिये जैसा दिकडे युद्ध करना चाहिये वैसा आपसे होना कठिन है वह इनको बतलाना चाहता है । युवोंवर्णनका पूर्ण विचार कर्नपर वा तथापि यह देखी निश्चय परिस्थितिमें था कि वह लुके मुझसे मीप्स श्रोणको युद्धकृतिसे दया नहीं सकता था । वयः पक्षके दिगोंके महायुद्धका कर्मबन्धने मीप्सपितामहके ऊपर घोंप दिया । इसका तात्पर्य यह था कि यदि तदन नर्तनके धाव युद्ध करनेमें बड़े सितामहकी क्षमापि हुई तो दूसरे

(४) दोनों सेनाओंकी तुलना

अपर्याप्त तदस्माकं बलं मीमाभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं मीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वयः—अस्माकं मीमाभिरक्षितं तत् बल अपर्याप्तम्, एतेषां तु भीमाभिरक्षितं हर्षं बलं पर्याप्तं (भरित) ॥ १ ॥ मीमाभ्यां रात्रि रक्षितं हुआ हमारा सैन्य अपर्याप्त है परंतु भीम द्वारा रक्षित हुआ उसका सैन्य पर्याप्त है ॥ १० ॥

आचार्य—पुनः बलनेवाले राजाको उचित है कि वह जब राज्यों और जनस्वायत्तोंका विचार करके अपनी सेनाके और पराप्त सेनाके बलबलका विचार करे और विचार करे कि किसका बल पर्याप्त है और किसका नहीं है, और यदि अपना बल अपूर्ण प्रतीत हो तो उसकी पूर्णता करनेका बल करे ॥ १ ॥

इस शोभाचार्यको ज्ञाने कहिये और उसकी प्रमादित परा का कार्य उचित प्रकार सिद्ध करनेवाले कर्मको सेनापति का अधिकार है। परन्तु इस कर्मके पुनः चौकड़ते अपना विचार तो निरन्तर ही होना। प्रत्यक्ष में क्या कहा होना है इच्छित्वे वे दोनों बड़े बलुके द्वारा भीम ही समझ किये जायेंगे। परन्तु अपने कार्यके किये जीवन तक देखेवाले कर्म जैसे और जानें, तो अपना कार्य निरन्तर बलवत् ही होता। वह हुआ हुआ बल दुर्बलके इस वर्णमें विभक्त होता है। यदि भीम और शोभन कुछ भी क्षेप उनके मतमें न होता तो बल ही मेरे क्षिप जीवन देखेको सेना है, ऐसे क्षेपोंसे वह बलको समझ इनके समुच्च न करना, अपने स्वावर मीमा और शोभन ही समझ करता। जिस प्रकार बल ही मेरे काल अपना जीवन देखेको सेना है जैसे तुम दोनों नहीं तुम्हारा मन अनुमोदित हितमें उत्तर है। इस प्रकार स्पष्ट बोझकी अवस्थामें दुर्बल बल समझ नहीं था। क्योंकि किम समझ पुनः उपस्थित हुआ हो इस समयमें सुचन राजाकी योग्य नहीं कि वह अपने हीरोकी निष्ठाविरत करे। परन्तु दुर्बल भीम-शोभनके विचारमें अपने मतमें बलता या और बाहरके बलका बल प्रकट करनेमें असमर्थ था, इच्छित्वे वह प्रकारका बलवत् करने कहा और अपने अन्तरका बल संक्षिप्त विधिसे कुछ बलमें प्रकट करना।

पुनः बलका एक विचार है कि विचार चाहनेवाले राजा अपनी सेनाके दो हीम विचार कर और एक विचार पुनः नृमिर कायमें बलार्थ और राजा की बलवत् रखें। बल अपनी जगह की सेना बल बल तब बलकी विचार दिया

जाने और बलवत् रखी हुई सेना जागे जानी जाने। इस प्रकार बने बलवत्तकी सेना जानी जायेसे बलकी भावा विचार होती है। दुर्बलके भीमशोभनके पुनः जाने राजा का और कर्मकी बलवत्तकी सेनाविभाग (Reserve force) में रखा था। दुर्बलके कर्मवत्ते भीमशोभनके कर्मके बलवत् कर्मका पुनः प्रकट विचार हुआ। परन्तु बलमें बलवत् हो गया वह बल और है। दुर्बलके इस हेतुसे दोनों ओरकी सेनाओंकी तुलना करता है, वह बलका बलवत् बल देखिये—

(१) इस क्षेपों दोनों सेनाओंकी तुलना दुर्बलके की है। वह तुलना करनेके समय उसने अपने क्षेपके क्षिप अपर्याप्त कहा है और पाठकोंकी सेनाको पर्याप्त कहा है। इसका एक हीक बल समझमें जानिये कि क्षेप ० है १ एकही क्षेपकी पाठक सेना। ' पर्याप्त और अपर्याप्त क्षेपके समुच्च धारामें दो परस्पर विरोधी बल होते हैं। पर्याप्त (१) पूरा बल कर्मकी, (२) (परिता बल) और जोरके बलके बलवत् छोटी। अ—पर्याप्त = (१) अपूर्ण बल नहीं कर्मकी नहीं बलवत्, (२) (५ परिता बलवत् कर्मका) बल जानेके क्षिप बलवत् अपर्याप्त नहीं। ५ दोनों बल परस्पर विचार है। बल नहीं कीमता बल अपर्याप्त है वह निर्यात दीक्षावत्तमें बहुत विचारोंका बलवत् है। उद्योगपर्यं न ५१ क्षेप १ — ५ हैं दुर्बलके कहा है कि—

मेरी सेना नहीं और तुलना है इसक्षिप मेरी विचार होती। इस कथनका विचार करनेसे पता लगता है कि, तुलने पूरा दुर्बलके बल विचार या कि बलकी सेना

विकसित है, और सेनापति अच्छा होता है, इसविषय भीत
बपनी होती। दूसरी बात यह है कि कोई राजा युद्धके
प्रारम्भमें अपनी सेनाको अपने बपवास और बस कहकर
निकलसित नहीं करेगा। अपनी सेना छोड़ी होनेपर भी
हमारा बस बड़ा है विजय अपनी होगी ऐसा ही कहेगा।

यह सब ठीक है। इस दृष्टिसे इस श्लोकका अर्थ यह
होगा कि— 'हमारी सेना भीमके द्वारा रक्षित है और
वही होनेके कारण बेरी जलने योग्य नहीं है परन्तु पाँचवों
की भीमके द्वारा रक्षित सेना मोड़ी है अतः बरी जलने योग्य
है, अर्थात् हमारी सेना पाँचवोंकी सेनाको बेर केगी और
उसका पराजय करेगी, अतः युद्धके अन्तमें विजय हमारी
होगी।

वस्तुतः कौरवसेना ११ अश्वीहिनी और पाण्डवोंकी ७
अश्वीहिनी थी। अतः पाण्डवोंकी छोटी और कौरवोंकी बड़ी
होनेमें किसीको संदेह हो ही नहीं सकता।

अतः अश्वीहिनी सेना सात अश्वीहिनी सेनाको बेर
सकती है इसमें क्या संदेह हो सकता है? दुर्बोधका
विकसित पक्षिसे इसी प्रकार था। परन्तु इतिहासकारों को
जो विविध बटमार हुई और भीष्मद्रोण आदि प्रमुख वीरों
को मित मृत जनेक समाजोंके आपणोंमें प्रकट हुए, उनमें
दुर्बोधका करीब करीब यह निगम बघटा गया कि युद्धके
समय भीष्मद्रोण अपने पूरे बळके लड़ने लगे। इसी प्रकार
अन्तिम क्षणिकालके प्रसंगमें यह दुर्बोधने कीजना अवधारण
को पकड़नेकी अनुचित भाषा की उस समय उस क्षणमें
व्यपस्थित हुए युद्धमें बहुतसे सहजोंके पाण्डवोंके और
भीष्मद्रोण धराधामके अनुपम होनेकी बात दुर्बोधने प्रकट
होती थी। (म सा उ अ १३१) इस प्रकारकी
बटमारोंको प्रकट करनेसे दुर्बोधने के मतमें यह बात करीब
करीब मान्य की कि हमारा बस अधिक होनेपर भी यह
सबका सब हमारे काममें नहीं आयेगा। सेनासेनाके बीच
और द्रोण यदि पूरे बळसे लड़ते तो श्रेष्ठ सेना देहगुणी
या दोगुणी होनेपर भी क्या काम हो सकता है। इसीविषय
श्लो० १ में पाण्डवसेनाको मढ़ती बस कहा है। वस्तुतः
यह छोटी भी परन्तु आन्तरिक दसाहसे बड़ी थी।

इस बातका बमाल देखनेके लिए बहुत दूर जायेंगे लक-
र नहीं दे। इसी स्थानपर पाठक देख सकते हैं। (इसी

प्रथम अध्यायके श्लोक २ से ११ श्लोक तक) राजा दुर्बो-
धका भावण श्रोणाचार्यके ही वक्ष्य करके हुआ है। राजा
प्रसन्न जाता है और अपनी तथा परापी सेनाके नियममें
कुछ करता है कुछ अपमानके शब्द भी सुनाता है, तथापि
श्रोणाचार्य एक भी शब्द नहीं बोलते हैं। वह देखकर
(अ १ श्लो १२ से) भीष्मपितामहने सिद्धान्त किया
और ब्रह्म बजाया परन्तु ये भी कुछ अनुकुल व्यवसाय प्रति-
बद्ध बोले नहीं। सत्ताहके इतना कहनेपर भी ये दो प्रमुख
सेनानायक एक शब्द भी बोलते नहीं और मुझसे समाप्त
चुप रहते हैं इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है कि इनकी आन्त-
रिक प्रतिकूलता सत्ताह की राजनीतिके साथ है सत्ताह
बोलता है सेनापति उत्तर तक नहीं देते और चुप रहते
हैं, यह देखकर सत्ताहके अन्तःकरणमें हमसे होनेवाले
युद्धके नियमों में पूर्ण निराशा हुई होगी और इस निराशाको
प्रकट करनेके लिए उसने यह कहा होगा कि हमारी
सेना देहगुणी नहीं होनेपर भी भीष्म (और द्रोण) के
आधिपत्यमें रहनेके कारण जोड़ी होनेके समान ही बनी है
और पाण्डवोंकी सेना (वस्तुतः छोटी होनेपर भी) जोड़ीके
भीमके नेतृत्वमें होनेके कारण बड़ी (होनेके समान प्रमाण
वाली बनी) है।

सेना धक्काती छोटी हो या बड़ी हो सेनापतिके उत्साह-
इसे कार्य करनेके कारण यह प्रमाणवाली बगती है और
सेनावाक्यके निराला होनेपर बड़ी सेना पराभूत होती
है। बड़ी बात कौरवोंकी छावनीमें हाँ गई थी। दुर्बोधन
की नीतिसे भीष्मद्रोण सर्वथा असंतुष्ट थे, और अन्तःकरणसे
पाण्डवोंका हित चाहते थे तथा युद्ध करके पाँचवोंका काम
करनेके सर्वथा निरुद्ध थे। यदि इनका मत करनेके समान
पाँचवोंके विरुद्ध होता तो दुर्बोधनकी भीत होती। यह
अवस्था दुर्बोधन ठीक ठीक मानता था परन्तु भीष्मद्रोणकी
युद्धनीतिसे इस सैन्य भी योग्य नहीं समझता था। इसके
अन्यथा यह केवल इस स्वीकृति ध्वज हुआ है। और यह
दृष्टिकोने किने द्रोण से कहा है कि— हमारी सेना भीष्म
के आधिपत्यके कारण अपूर्ण है और पाँचवोंकी सेना भीमके
आधिपत्यके प्रमाण पूर्ण है।

परन्तु तुम्हें सादरसे सेनापतिदा अवमान करना भी योग्य
नहीं है, अतः यह अन्तःकरणकी बगती हुई बात उससे

(२) दुर्बोधनकी भाषा

अपनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता ।

मीधमेवामिरधन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

वाक्य- अर्थः- अपने एव हि सर्वेषु च अपनेषु यथामार्ग अवस्थिता जीधं एव अमिरधन्तु ॥ ११ ॥

(वाक्य) आप सब (जीव) मिथकर सब अपने-अपनी अर्थात् सेवाम्युद्धोके द्वारोंमें अपने अपने स्थानोंमें हुए रहकर मीधकी ही सब ओरसे रक्षा कीजिये ॥ १ ॥

भाषार्थ- पुस्तके समय ऐतिह्यका कर्तव्य है कि वे अपने अपने स्थानोंमें रहें, हरकर जीव व पापों और सेवापद्धिता कहा हुआ कर्तव्य दृष्टाते करनेको उत्तर है और सब मिथकर सेवापद्धि और सेवानापद्धि रक्षा करें, और अपने-अपनी क्रियाओंके क्रिये अपने पराक्रमकी वरदाता हों ।

ऐसे कर्मोंद्वारा कही कि जोसके अक्षिप्त होवेपर इसी धर्मका दूतता करके कार्य करके बचावा जामे और अपमान करनेके हेतुसे वह धर्म उच्यता नहीं गया ऐसा बचावा जामे । जिस प्रकारकी मनीषात्मिका दुर्बोधन था, उस अवस्थामें दो प्रकारके जल बोक करनेवाका धर्म उच्यता जाता ही उच्य बलीत होता है । इसी प्रकारका श्लोक मीधमेव (अ १११ व) में भी है और वहाँ भी वही जल अवस्थित समझना योग्य है ।

वर्तक १ । वे श्रोत्रोंमें कहा है कि औरवसेवाके अवधिपति जीध है और पांडवसेवाके धीम है । अस्तुतः पांडवोंके धीमके अवधिपति दृष्टान्त है । दृष्टान्त सेनापति दृष्टान्त है वह बात सत्य है परंतु समय दिनोंके वसंतकाल म्यूहकी रक्षा करनेके क्रिये विधेय कुशलताके कारण इस स्थानपर भीमकी रक्षा गया था । इसक्रिये पांडवोंकी सेनाकी रक्षा भीम कर रहा है देखा दुर्बोधनने कहा, क्योंकि यह बात उच्यकी वही धर्मसे प्रत्यक्ष हीच रही थी । प्रत्यक्ष की बात देखकर ही दुर्बोधन भीमकी पांडवोंका सेनापति मानता है और वेसा ही कहता है । इसी प्रकार (अ वा भीम अ १११ में) पालककी सेनाके ' भीममेव अर्थात् भीमद्वारा पालक करनेवाली और भीमवर्त्मनको भीममेव ' अर्थात् भीमद्वारा मेरित होनेवाका कहा है । अतः पीताले इस लोकमें कहा हुआ वचन पूर्णतः इति-हाससे सत्य है ।

वर्तक २ कहते हैं कि यदि भीमद्वारा विद्वत् के तो वचनको वधिपति था कि वे औरवोंके वचन कोउपर पांडवोंके

पक्षमें संमिक्षित होते । परन्तु वने श्रोत्रोंको ऐसा करना योग्य नहीं होता । यदि इस समय वे भीम जोम और पक्षकी ओर देखें तो उन जगता कहती कि वे वृद्ध कर लें ' । किसी कार्य सत्ताके अन्तःकरणमें पुनः और दृष्टुके करने और उस करके कारण अपना स्वाध कोउके वधिपति एक नहीं जाया चाहिये वह विद्या जाती संवाकी देखे क्रिये वचनको अपना पक्ष ओरता वधिपति व वा । दृष्टी बात यह है कि मीधकी मिक्षिता की कि समयवर्ती वधि-वधि वचनकी में रक्षा कर्तव्य । महापुरुषोंको प्रतिज्ञावर्त करना कदापि वधिपति नहीं होता है । तीसरी बात यह है कि जिस पक्षमें कार्य किया कही पक्षमें मरणा ठीक है, मर केव समय उपस्थित होवेपर वृद्धे पक्षमें जाता सर्वथा अव्यय है । भीमद्वारा तो जाते ही वे कि इस पुनर्में अपने वचनकी पराक्रम होगी और हम मरे जावेंगे । वह जाते हुए भी वे पुनर्धर्ममें करे रहे । वही वचन कर्तव्य था यदि वे पालकके पक्षमें निक जाते तो कार्य जातिके क्रिये वे बहुत मरे बचावका हो जाते । जो भीमद्वारा क्रिया वही वचनके क्रिये उस समय करना अव्यय योग्य था । वचनके आधारभूतोंके देखकर ही हम कोन अपने कर्तव्योंके समय सकते हैं । अस्तु । इस भाषनके वचन दुर्बोधन अपने ऐतिह्यको जो आज्ञा देता है वह देखिये—

(११) श्लोक ३ से १ तक राजा दुर्बोधनका वचन भीमद्वाराके सेवोचन करके हुआ था । इसको सुनकर भी भीमद्वारा पुनः रहे और कुछ भी बोले नहीं । यह आश्चर्य की बात देखकर राजा दुर्बोधन कुछ देर समय हुए । तब भी आश्चर्यभीते कुछ कष्ट नहीं जाता । समय है कि, राजा

(६) अष्टाध्याय

समय सवाध- तस्य समनयनार्थं कुरुष्व पितामह ।

सिंहनादं विनयोच्चैः शस्त्रं दध्नीं प्रतापवान् ॥ १२ ॥

ततः शस्त्राश्च मेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाम्यहन्त्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽमघत् ॥ १३ ॥

अन्वयः— तस्य सर्वं शस्त्रमप्यहं, प्रतापवान्, कुरुष्वः पितामहः, उच्चैः सिंहनादं विनयः कर्तुं दध्नीं ॥ १२ ॥ ततः शस्त्राः च मेर्यः च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अहं हन्त्यन्त । सः शब्दः तुमुकः अमघत् ॥ १३ ॥

संक्षेप बोधे— (पुर्णोपमके मनको) हर्षित करनेके किये प्रतापी कीरणोंमें अति वृद्ध (भीष्म) पिता मन्त्रे के स्वरसे सिंहनाद करते हुए अपना शोक बजाया ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् अनेक शस्त्र नीबते केके सुदृग और गोमुख नामक बाजे एकदम बजने लगे । यह स्वनि बहुत ही प्रबल हुई ॥ १३ ॥

पुर्णोपमने आचार्यजीके पुत्र रहनेका कारण अब ही मनमें समझा होगा । श्रोत्राचार्य पांडवोंके विवाहके किये बकाये इस युद्धमें लंबेबा प्रसिद्ध थे । इसलिये सबसे उत्तर की लड़ाई करना जरूर है, और अधिक देरनेपर कदाचित् वहाँ ही युद्ध स्थितिमें बड़े होकर कुछ प्रसिद्ध बाजे सुनानेगे इस कारण इस समय श्रोत्राचार्यजीको डेरना अच्छा नहीं है, ऐसा व्यवहार नै सुग हो गये ।

इस श्लोकमें पुर्णोपमने कहा है कि सब शैलिक भीष्म की रक्षा करें । वस्तुतः भीष्म महाप्रतापी बोद्धा थे और उनके किशोरी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी । तथापि हमको एक डर था वह यह कि उनकी प्रसिद्धा थी कि शिखंडी पर सक्रम बजायगा । क्योंकि शिखंडी युद्ध न था किशोरी उपायसे छोटे युद्ध बन गया था । भीष्म पितामह नीर थे और नीरसे करनेके किये ठीका थे । शिखंडी भी महावीर था, पांडव भी अपने अत्यंत होनेके कारण उत्तर पर सक्रम बजायने के लिये नै ठीका न थे । अतः यदि पांडवोंने शिखंडीको सामने कहा दिया, तो भीष्म उत्तर पर सक्रम बजायेंगे और अपने भाते लारेंगे । यह पुर्णोपम जानता था । इस वृत्तिसे धर्म शैलियों और सेनाध्यक्षोंको संकोचित करके राजा पुर्णोपमने ऐसा कहा कि हे शैलिके । तुम्हने अर्जुन को जो दूक है उनको ठीका करो अपने सेनाविभागके भागी सेनापति बने रहें, तब आश्वासन होकर अपने स्वामीमें दक्षगति रहें दारुण करने करने लक्ष्यकी प्राप्ति प्राप्त करे कोई और अपने

स्वामिके वीरि न भया कावे दारुण अपने स्वामिने रहते हुए उत्तम प्रकार बने तथा आप सब मिलकर भीष्मपितामहकी ही रक्षा करें क्योंकि इस युद्धको बकायेका सर्वत्र मार करनीपर रहा है । इस प्रकार सब शैलियों सेनानाथों और सेनापतियोंको उपदेश करनेके बाद भी श्रोत्राचार्यको पुत्र बने रहे देखकर पुर्णोपम भीष्मपितामहकी ओर देखने लगे । भीष्मपितामह भी कुछ बोले नहीं परन्तु उन्होंने गर्वना करके अपना सक्रम बजाया, उसका वृत्तान्त जगते देखिये

(१२) वहाँ संभवने कहा है कि भीष्मपितामहने सिंहनाद किया और शोक पूका, यह पुर्णोपमको हर्षित करनेके किये था । परन्तु अन्य रीतिसे देखा जाय तो भीष्मपितामह भी इस प्रकारके युद्धसे निवृत्त थे । और यदि उनके मनमें पुर्णोपमको सर्व देखा संक्षुब्ध होता, तो वे इस समय कुछ तो कह देते । कुछ भी न बोले हुए केवल सिंहनाद करते हैं और सक्रम बजाते हैं इससे वहाँ भीष्मपितामहके मनमें क्या था, इस विषयमें प्रत्यक्ष संक्षेप अत्यंत होना स्वाभाविक है । वास्तव इत्यथा विचार करें । समय समयपर भीष्मपितामहकी ओर वस्तुतः हुई है वे भी पुर्णोपमकी नीतिसे निवृत्त हैं । श्रोत्राचार्य और भीष्मपितामह राज्य प्राप्त करने के लिये होकर राज्य प्राप्त होनेपर राजाका पालन करते हुए अपने सेनापतिके स्थानपर बने हुए, यह निश्चयपूर्णकी दृष्टिसे कहा योग्य है । परन्तु वे अपने पुर्णोपमको सर्व देनेके लिये सेनापतिका कार्य करते नै देती बात नहीं थी । समयके अनुसार कर्तव्य करना एक बात है

ततः श्वेतैर्ययुक्ते महाति स्वनन्दे स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतु ॥ १४ ॥
पाण्डवस्य हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जय ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्ख भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथ ।
वृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदा प्रीपदेयाश्च सर्वत्र धृतिवीर्यते ।
सौमद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्नुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

अन्वयः-ततः श्वेतै ह्वेत् पुनः अस्ति स्वन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतु ॥ १४ ॥ हृषीकेशः पाण्डवस्य धनञ्जयः देवदत्तं भीमकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशङ्ख दध्मौ ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥ परमेष्वासः काश्यः महारथः शिखण्डी च वृष्टद्युम्नः विराटः च, अपराजितः सात्यकिः च ॥ १७ ॥ द्रुपदः, प्रीपदः च महाबाहुः सौमद्रः च ते द्विविधौ ! पृथक् पृथक् शङ्खान्, दध्नुः ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् सकल शोकोवासे बने रथमें विराजमान हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने विषय शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्णने पाण्डवस्य नामक शङ्ख अर्जुनने देवदत्त शङ्ख और भयानक कम करनेवाले भीमसेनन पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक महान् शङ्ख और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ बड़े अनुष्मधारी वशिष्ठाज महारथी शिखण्डी वृष्टद्युम्न राजा विराट् कभी पराजित न हुए सात्याकि राजा द्रुपद प्रीपदीके सब पुत्र द्रुमद्रपुत्र महाबाहु अमिमम्भ आदि सबोंने अपने अपने शङ्ख बजाये ॥ १७-१८ ॥

भाषा-पुनः पुनः सब एकत्र बसाकर अपने नीतिबोले बतलावित करना चाहिये ।

और जिसने इन नीतिके साथ महानुक्ति रचना करी वल है । जोय और भीष्म देवक कर्तव्य करते थे । दुर्गे बनकी नीति इनको पसंद न थी ।

ले ही लेना ही । औरबोले मैत्रके रथवालोंका बोध सुनते ही वाण्डवोंने भी बैसा ही बकर दिया । इसका विस्तार पूर्वक व्याख्य होचके

{ १३ } अर्थ निवाहक मित्रवार और शङ्खवाहके मुने ही । औरबोले सेनामें रथवालोंका बचक बोध हुआ । शङ्खवाह और रथवालोंका वाद पुनः करमाहका श्रवण है । रथवालोंका वाद सुनत ही मानिकोंका जय पूर होता है । मुहकी शङ्खवा घाटमें संघा करता है और पहिका शङ्खवा हिमनि होता है । औरबोले सेनामें इन प्रकारका रथवा बोध बोध करते वाण्डवोंको एक प्रकारसे आह्वान किया कि हम मुहके निरर्थक हैं तुम्हें मुहके निरर्थक हमारे अनुक बनाये के है तो आओ । वाण्डवोंकी गोपबोले

{ १४ १५ } वाण्डव वहाँ ऐसे कि भीष्मनिगमहके शङ्ख वाहका वर्तन औरसेनाके वर्तनके समर्थमें किया है । इसमें शोकाशङ्ख भी शङ्खवाहका वर्तन नहीं है; कई बड़े औरब कीरने विशेष शङ्खवाहके शङ्खवाह दिने होते तो वसका वर्तन अवश्य वहाँ किया जाता । परन्तु वहाँ अन्दरका निज शङ्खवाह ही नहीं है जो केवल सेतन केनेके कारण ही कुछ भूमिमें बड़े हुए है और निमनेते कई और समझते है कि जगता वल अवर्तका है वसके शङ्खवाह विशेष बचन करने वाण्डव वहाँ हा लकते । शिखका शङ्ख मन्त्रिरवाहके

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नमश्च पृथिवीं चैव तमुल्लो व्यजुनादयन् ॥ १९ ॥

(७) अर्जुनका सेनानिरीक्षण

अथ व्यवस्थितान्दष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिञ्जलम् ।
प्रहृष्टे स्रस्त्रसपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेश तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

भावार्थ— सः तुमुल्लो घोषः यः पृथिवीं च एव व्यजुनादयन् धार्तराष्ट्रानां हृदयानि व्यदारयत् ॥ १९ ॥ अथ कपिञ्जलः बाणः धार्तराष्ट्रं स्पर्शकृतं पञ्चबाणं, पाण्डवपाते प्रहृष्टे (सति) धनुः उद्यम्य ॥ २० ॥ (हे) महीपते ! तदा हृषीकेशं हर्षं मानसं जाह—

यह मय तरपन करमेवाला बाणकुलनाह् बाकाश और धनुषीमें गूँझने लगा और उसने धृतराष्ट्र पुत्र पुत्रोंपनादिकोंके हृदयोंको फाड़ डाला ॥ १९ ॥ इसके अनंतर हनुमानकी व्याजाघाते अर्जुनने कीरपोंको सप्तम व्यवस्थासे काड़े देकर शस्त्र अलालेका समय मानेपर धनुष्य उठाया ॥ २० ॥ और हे राजन् ! श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—

माधार्प्य— तुम्हका समय उपस्थित होनेपर अपनी दूर्ग पैवारी करके जागे बहका चाहिये ।

कोरसे बजना है उसीका प्रयत्न विशेष होना है । इस प्रकार के बंध तो औरोंकी ओरसे बंध ही नहीं ॥ परन्तु पाण्डवोंकी ओर देखिये वहाँ एक एक बीरका नाम के लेकर उसके संग बजानेका प्रयत्न किया है क्योंकि वेही ही विशेष बजते पाण्डवोंके संग बंधे हैं । इसका कारण यह है कि पाण्डवों की ओरके सब बीरोंका मित्र हो चुका था कि या तो हम सब आर्यो ब्रह्मण्य ब्रह्मण्य मया दुष्का राज्य अपनी शक्ति और सचदवसे प्रत्य करीते । तीसरा विचार उनमें नहीं था ।

इस संस्कारका कारण ही ऐसा माने तो पता लगता है कि कोरोंके बीरोंमें ऐसा आत्मा नहीं था । ऐसा कि पाण्डवोंके बीरोंमें दिखाई देता था । इसका विचार करके ऐसा भाव तो । ये श्लोकका अर्थ भीमके नेतृत्वमें जो हमारा (कारकों) वैश्य है वह अर्जुन है परन्तु भीमके नेतृत्वमें जो पाण्डवोंका सैन्य है वह द्रुप है । ऐसा ही महीप होगा । दुर्बोधन अपनी सेनाकी अवरका देखकर ही अपना आचमन व्यक्त कर रहा है । इस श्लोकका अर्थ कर के प्रत्य के प्रधान भी देखने आरम्भ है ।

इस प्रकार धनुष्यक संस्कार होवे ही और अर्जुन ॥ (हि. गी)

अपनी और पराधी सेवका निरीक्षण करनेके उद्देश्यसे जागे बजते हैं, उसका वर्णन अब देखिये—

(२०) धृतराष्ट्रका सैन्य अंशम गिरिते कहा और धनुषके छिपे पैवार हुआ देखकर अर्जुनने अपना धनुष बहावा और धनुष आरंभ करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण कीसे निम्नलिखित वाक्य कहा । यह इस श्लोकका भाव्य है ।

इस व्यापार अर्जुनके छिपे कपि-पञ्च संस्कार प्रयोग किया है । अर्जुनकी परकार कपि अर्जुन धनुष किंवा हनुमानकीका चिह्न था । महाभारतमें यह प्रसंगमें सचमुच हनुमानकी अर्जुनके पञ्चदण्डपर बैठे थे, ऐसा ही वन्य है । कई व्यापार तो धनुषके प्रसंगमें हनुमानकीके भूतकास्तव करनेका भी वर्णन है । इससे पता लगता है कि, सचमुच हनुमानकी अर्जुनके पञ्चदण्डपर विराजमान थे । परंतु आचार्यगण ऐसा भाव तो रखर जो पञ्च होती है वह कपटकी होती है और उसपर कुछ चिह्नविशेष होते हैं । इसी प्रकार अर्जुनकी पञ्चदण्ड हनुमानकीका चिह्न होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार दार्ष्टिक बीरोंकी परकार अर्जुन अर्जुन चिह्न है प्रोत्साहनोंकी परकार कर्मधनु का

अर्जुन उवाच— सेनयोरुभयोर्मध्ये रथ स्थापय मेऽव्युत ॥ २१ ॥
 यावदेताभिरिच्छेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
 कैमेया सह योद्धव्यमस्मिन्नणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
 योऽस्मानानवेच्छेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
 पार्तराष्ट्रस्य पुर्णदुर्योधे प्रियाधिकीर्यवः ॥ २३ ॥

अन्वया— इ अव्युत । हमयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ॥ २१ ॥ यावत् तहाँ योद्धुकामान् अवस्थितान् एताभिरिच्छे कस्मिन् रणसमुद्यमे मया हैः सह योद्धव्यं ? ॥ २२ ॥ पुर्णदेः पार्तराष्ट्रस्य पुत्रे मित्रविकीर्यवः मे एते जग समा गताः तान् योऽस्मान्मात्रान् तहाँ अवच्छे ॥ २३ ॥

हे श्रीकृष्ण ! दोनों सेनयोंके मध्यमें मेरा रथ कहा करो ॥ २१ ॥ इतने में युद्धकी इच्छासे यहाँ उपस्थित हुए इन बीरोंको मैं देखता हूँ । मुझे इस युद्धमें किसके साथ लड़ना है ? ॥ २२ ॥ और पुष्टपुष्टि धृतराष्ट्रपुत्र पुर्णधनका मित्र करनेकी इच्छासे जो ये यहाँ इकट्ठे हुए हैं उन छत्रमेवासे बीरोंको मैं देख रहा हूँ ॥ २३ ॥

भाषा— युद्ध करनेवाले बीरका कर्तव्य है कि वह अपने सम्मुख विपक्ष पक्षमें युद्धके लिये उपस्थित हुए बीरोंको अच्छी प्रकार देखे उनकी योगता ठीक प्रकार जाने और तबजुस्तार करते युद्ध करें ॥ २१-२३ ॥

मात्र अर्थात् बाण विहर होवेसे मनुष्य मुक्त होता है । मात्र अर्थात् बाण-मात्र-मन्त्र संचाली हो गया । तो मंत्र स्थिर होता है । मात्र बंधक हुआ तो मंत्र बंधक होता है और मानके स्थिर होवेसे मंत्र भी स्थिर हो जाता है । इस सब वक्तमें पता चक सकता है कि मायका और मंत्र का संबंध कैसा है ! ऊपर बताया है कि मनुष्य हैइमें इन्द्रका पुत्र मंत्र और बाणका पुत्र मान है । कवि इतना माना कि जो अजुबके रणक्षेत्रपर या वह भी बाण पुत्र ही है । किजना मान्य है वह इच्छे । वह मान्य नहीं । नहीं हुआ है वह विजय हेतुसे ही है । इस करीरकपी रथमें मंत्र बर्मे के विजयके लिये प्रयत्न करता है मंत्र बंधकी सहायता करता है और वे छत्र बर्मे के कार्यमें लगे रहे तो मगवाए उनकी सहायता करते हैं ।

इन्द्रपुत्र अर्जुन और बाणपुत्र (मादति) इतना मानके रूपकका वह तत्व है । इसलिये मादति अर्जुनकी पदधारण है । वह सनातन तत्व नहीं इष्ट रूपकसे वर्णित है । ऐसा विचार करेंगे तो पादकोंको बाणपुत्र मादतिका और इन्द्रपुत्र अर्जुनका तत्वज्ञ दर्शन हो सरेगा और मगवाएके द्वारा चकारे जलेश्वर रथवर के दो लोके करते हैं इष्टका मान होगा । जातु ।

अपना अन्तम मंत्र क्या कर रहा है देखिये—

(२१-२३) वहाँ अर्जुन मगवान् अव्युत श्रीकृष्णसे कहा है कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें कहा करो, ताकि मैं इन सब बीरोंको देख सकूँ । वहाँ मगवान् श्रीकृष्णका नाम अव्युत आया है । इसका अर्थ ' जो कभी पतित नहीं होता जो अपने स्वानवर दंड रहता है जो स्वयं मुक्त है जो कभी गिरता नहीं जो स्थिर रहता है जो बंधक नहीं है जो अविनाशी और सनातन है सदा एकछा इहमेवाका है और जो दृष्टता नहीं । अर्जुन बंधक है उसका विजय स्थिर नहीं रहता किन्तु उसका मित्रय जीर्णोद्योग होनेपर भी उद्यम सहायक मित्र मुक्त रह स्थिर है । अजुबका विचार इस सनातन मित्रपर दंड है, इसलिये अजुब इस युद्धसे पार हुआ विजयी हुआ और बर्मेका राज बगलमें स्थापित करके लक्षका मायी बना । नर और नारायण एक ही रथवर करते हैं । नर प्रयत्न करता है और नारायण उसकी सहायता करता है । जो नर युद्धार्थी मनुष्य-नारायणको अपना सखा मित्र मानता और उसपर दंड विचार रहता है उसका वेदा पार होता है । हाएक नर युद्धभूमिमें कहा है, इसलिये नारायणवर विजय रहना हाएकके लिये कामकाजी है ।

सज्जय उवाच-एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्य स्थापयित्वा रथोपमम् ॥ २४ ॥

मीम्भद्राणप्रमुखतः सर्वेषां च महीधिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरुनिधि ॥ २५ ॥

अन्वयः- संजय उवाच- हे भारत ! एवं गुडाकेशेन उवाचः हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये मीम्भद्राणामुत्तमः सर्वेषां च महीधिताः (प्रमुखतः) रथोपमं स्थापयित्वा, पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरु पश्य इति उवाच ॥ २४ २५ ॥

संजय बोले- हे भरतकुसोत्पन्न भूतराम ! अब अनुमते कहने पर अधीकृत्यतः श्रीम और द्रोणके सामने तथा सब राजाओंके सम भागमें उत्तम रथको खड़ा करके कहा कि हे अर्जुन ! इन्हें हुए कीरवाँको देख देता कहा ॥ २४-२५ ॥

जबमा अर्जुन अब कुरुभूमिमें जाकर वीरोंको देखता है आगे बना करता है दक्षिण-

(२४ २५) हम श्रीकृष्णमें श्रीकृष्णका नाम ' हृषीकेश ' आता है । हृषीकेश जाने इन्द्रियोंका जो ईश्वर है वह हृषीकेश है । जिसके स्वाधीन अपनी इन्द्रियाँ हैं । जो इन्द्रियोंके अधीन नहीं हुआ मनुष्य जिसके अधीन इन्द्रियाँ हैं । जो इन्द्रियोंको स्वाधीन रखकर उनके उत्तम धर्ममें मिलि करता है और जिसकी इन्द्रियाँ स्वभावतः ही उसे कर्मोंकी ओर नहीं जाती वह हृषीकेश है । श्रीकृष्ण हृषीकेश (हृषीक+ईश) के, इन्द्रियोंके अनुगत अर्थात् अविवर्ति रहित वाद रहतः । जो सुख और भुव बनना चाहता है उसको चाहिये कि वह हृषीकेश बने और अपनी सब इन्द्रियाँ स्वाधीन रखे और उनके कर्मों को कर्मोंमें रहत न करे । इन्द्रियाँ स्वाधीन रखनेकी ही ' मयः+काम ' अर्थात् आनन्द+बनना संभव है और तभी वह श्रीकृष्ण अर्थात् पुरुषको अपनी ओर आकर्षित करता है । अर्थात् मयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला बन सकता है पुनोत्तम (अनुभवीमें जेष्ठ) बननेकी चर्चा कुछ है ।

हम श्रीकृष्णमें अनुभवका नाम गुडाकेश आता है । गुडाका अर्थात् मित्रावा जो ईश्वर अर्थात् स्वामी है, अर्थात् जिसके मित्रा सुखी, आनन्द आदि स्रोतोंको भीषण करता है । वह कर्मके लक्ष्य जिसको सुखी वा मित्रा नहीं है । निजाम केना वा न केना जिसके अर्थात् है मित्रा जिसकी आत्मा है अर्थात् वह वह विजय केना वा है

और जिसकी देवत्व विजय केना वा है, वह और वही देवत्व ही जो वाद विजयके कुछ हो सकता है, जबमा विजयके लक्ष्य है वह गुडाकेश है । जिसको इस बीच वह मित्रा केनेकी हृष्टा हुई तो सर गाव मित्रा के लक्ष्य है और बीच इस बीच पक्षों वाद बढकर कार्य करने लगता है जो मित्राके वह होकर मयोंतक सोना पना नहीं रहता वह गुडाकेश-ईश्वर ' मित्रा-स्वामी ' है । अर्थात् बहुत ही मोक्ष अनुभव है कि जिसका ऐसा अनुभव मित्रावर होता है । वादः सभी कोम सोनेके किने की १ २५ एक विस्मयपर कर्मों केने रहते हैं और उदाहरके किने बैसे ही दिखाने रहते हैं । जिस प्रकार जो किसी कर्ममें सर आते हैं उस प्रकार जो समनवर सर गाव मित्राके वह हो जाते हैं और समनवर विना सुख हुए बढने है उनके अर्थात् मित्रा है ऐसा हम कह सकते हैं । वह एक चर्चा जारी सिद्धि है जो उस समनवरके सर्व्व आत्मीय वीरोंमें लगेके अर्थात्को ही प्राप्त भी । वह सिद्धि अत्यन्त कठिन है अपनी एक विशेष अवस्थाके रहनेवा ही वह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । अन्वय नहीं ।

श्रीकृष्णमें श्रीकृष्ण के अर्थात् वतावा है कि अर्जुन गुडाकेश होके काव आनन्दमय विजयमें आता है अन्वय-स्वामी है । वादक काव लक्ष्य है कि मय ही मित्राका स्वामी है अर्थात् कोनेवर ही मित्रा जारी है । अन्वय इन्द्रियाँ दिवनी भी वादक की कार्य वा विवर की और अनुभव मय अपने स्वाभाविको मित्रा नहीं होता वस्तुतः कभी मित्रा नहीं जाती । वह देखनेमें रहत हो आता है कि

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनृप पितामहान् ।

आचार्यान्मातुलान्प्रातुन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥

अधुरान्मुहुर्दृष्ट्वैव सेनधौकमधोरापि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्मधून्ववस्थितान् ॥ २७ ॥

रूपया परयाऽऽविष्टो विप्रीदामिदमप्रवीत् ।

अर्थ- जब पापः जयको, सेनको, जयः तत्र स्थितान् पितृन् पितामहान् आचार्यान् मातुलान्, भ्रातृन्, पुत्रान्, पौत्रान् तथा सखीन् ॥ २६ ॥ अधुरान् मुहुर्दृष्ट्वैव, य एव अपश्यत् । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् वपुः अवस्थितान् समी-
क्ष्य ॥ २७ ॥ परया रूपया आविष्टः विप्रीदामिदम् प्रवीत् ।

तब मधुनने दोनों सेनाओंमें वहाँ उपस्थित हुए अपने ही वहाँ पितामहों आचार्यों, मामाओं माइयों पौत्रों तथा मित्रों ॥ २६ ॥ समुपों और स्नेहियोंको देखा । वह मधुन उन सब माइयोंको ही उपस्थित हुए देखकर ॥ २७ ॥ अत्यंत कलपासे व्याप्त हुआ उदास मनसे कहने लगा ।—

माचार्य— कठिन प्रसंगमें अपने संबंधियोंका मोह मनुष्यको स्वकर्तव्यसे अलग करता है । अतः मनुष्यको ऐसे मोहसे बचना चाहिये ।

मनही (गुहाके) निहाल स्वामी है । अर्जुनको भी यह नाम इसीछिमे दिया गया है और इसी कारण जब कौरव शत्रु बनीं वही । अर्जुन एक विद्रोह स्वामी कहा गया है । धीरेके अन्तर भी अकेला जब ही निहाल स्वामी है । बादकल्प यह साम्य देखें और समझें कि यह समाजता किती विवेक देसते किन्ही है ।

हम छोकोमें मारत नाम चलायके छिमे जाया है । आगे कई वसंतोंमें यह नाम अर्जुनके छिमे भी प्रयुक्त होगा । महामातवमें अन्वाम्ब रथजोमें यह अर्जुन पुनिधिर जायि अन्वाम्ब वीरोके छिमे भी प्रयुक्त हुआ है । इसका अर्थ है 'जाय देखका दित चाहनेका, मारत देखके निवासियों का दित करवैका मारत देखकी जाया मिथकी अन्वाम्बका है और इसपर जिसका धर्म है, तथा मारत देव माहतीव कोम और माहतीव मारका दित करनेके छिमे जो अन्वाम्ब समर्थ करनेको तैयार है अथवा यह करना जिसका कर्तव्य होता स्वामाधिक है ।' पतरातृका और पुर्वोचनका यह कर्तव्य वा परंतु हमोंने यह नहीं किया, अर्जुनादि पांडवोंका वही कर्तव्य वा और उसके छिमे अर्जुन आशुतमामिमें 'वर्म' का राज्य रथापन करने और अन्वाम्बका राज्य हथके छिमे हमोंने अन्वाम्बसर्वन किया था । वही अन्वाम्ब का रथापन करना ईशका कार्य है जो इस कार्यको करते हैं

वे अपने कर्मसे परवैरकी ही पूजा करते हैं । इसछिमे कहा जाता है कि, कौरवोंने अपना कर्तव्य पावन नहीं किया और पांडवोंने कर्तव्यका पावन इसम रीतिसे किया, और इस कारण परवैरका सहायक उनको प्राप्त हुआ । जो ऐसा करेंगे उनका सहायकारी निःसंदेह हथर होगा ।

वहाँ कहा है 'एक दोनों सेनाओंके मध्यमें रको' । अन्वाम्ब वसंतोंमें रक और ही है जो धुर और मनेके बीच मरा रका रहता है । 'धरीर रमनेव तु । इतिरमि हवा म्मः' (कड व ३.३४) धरीर रम है और इतिराम कोरे हैं । वही मय इतिराम संकाक है । इसादि मने पाठक जब विचार करके जान सकते हैं ।

जब अर्जुन दोनों सेनाओंका विरिक्तन करता है तबमें हमोंने क्या देखा और उसका वरिन्वाम्ब इसके मयका देते हुआ जो अब इच्छिमे—

(२६ २८) वहाँ अर्जुन दोनों सेनाओंमें मुह करनेके छिमे उपस्थित हुए अपने मय इच्छिमें पाईपुत्रोंमें और पूत्र पुत्रोंको देखकर अत्यंत कृपासे किन्न होया है । अर्जुनके मनेमें वही कृपा एवा मयका कथन इत्यत्र हुई है, मुहका कर उनको नहीं था । यह धीर था और अपने पराक्रमको भी जानता था । इसछिमे इसको निजक था कि मुह मुह होनेके वजोह्म हथ लयका सहाय अवश्य होगा ।

मी बरपत निर्दक हो जाता है । इसका असर कदाहरण
अमरका देते हैं । अमर सूखी और कठिन ककवीमें मी
सुराज करता है जमीनमें छेद कर बाकता है, ऐसा समर्थ
अमर जब कमजरीं हालके समय बंद हो जाता है तो वह कमज
की कोमल पत्तीको मी काट नहीं सकता । मान आनेका समय
मी बर्बो न मरत हो जाने वह कमजरीं सुराज करके बाहर
नहीं निकलता । संसारमें बहुत बीर पुखर भी और मरिहारे
मोहके कारण कैसे बिबेकमय और हतबल हो गए हैं इसकी
साक्षी इतिहास दे रहा है । बड़ी अवस्था जर्जुनकी इस
समय होगई है ।

छेदके कारण खरीरका रस ही विषय जाता है खरीरके
हरणक बहुती भोजाशक्ति मर होती है इसी कारण सब जंग
कीके पर जाते हैं, मुक सूख जाता है क्योंकि काकाप्रविशोसे
सुखमें काकावासक रसका प्राप्ति होता है बंद हो जाता है,
इसका परिणाम पाचनशक्तिके बर मी होता है और यदि
यह शक्ति बहुत विषयक रही तो पाचनशक्ति विकल
मर हो जाती है । कइयोकी पुखनशक्ति लक्ष्मी मरबलशक्ति
मी छेदके मर होनेके उदाहरण हैं । (जर्जुन जो लज्जत
बाजमें खड़े ही मरुत्तक बना था ।) क्योंकि छेदके समी
अप शिथिल निर्दक और निरास हो जाते हैं । खरीरका
बक कम होनेके कारण खरीर काबने लगता है रोदू कते
हो जाते हैं खरीरमर में पुखन सबसकीही वैदा हो जाती
है हाथकी पकड़नेकी शक्ति मर हो जाती है पाँवकी कते
रहनेकी शक्ति मर हो जाती है चमकीमेंके चिकनाहट मर हो
जाती है वह सुख हो जाती है और प्रकाश अन्धरका मर
वहीं संशित होकर वहाँ कलम वैदा कर देता है ।

छेदके कारण बाहरसे जाता लक्ष्मी पाचन न होनेसे खरीर
बक नहीं बढ़ता, तथा अन्धरक मरोंकी बाहर अकनेकी
किना बर हो जानेके कारण सब मर अन्धर ही अन्धर खरीर
में संसार करने लगते हैं इस कारण मर चककर जाने लगता
है और मरिठक विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है
मर यदि वह छेदकी अवस्था मर गए अथवा कई विषयक
रही तो मनुष्य मर भी जाता है पागल बन जाता है और
हरणकीकडे करुण करनेमें असमर्थ हो जाता है
देखिए एक मोहका किताब जातक परिणाम होता है ।
और यदि इसके साथ काम कोज मर और मरतक विष
काचे तो बलके नाककी कीर्ति किताब ही नहीं रहेगी ।

साक्षात्पचासी एवराहमे सत्रपके द्वारा जा कपट जमों
पक्षका जक पाँचवींवर कक्षाया या बस कारण जर्जुनके
मनमें मोह और मोहसे शिथिलता उत्पन्न हो गइ
थी । अन्य दोष इसमें मनमें सुनने नहीं पाये म । यदि
पाँचवींके बीर स्वराज्यका प्रचल काते हुए और पक्षकी
कुमारिकाओंके प्रेमके बस हा जाते यदि औरोंके जनके
कोमलें पर जाते अथवा औरोंके राजसाधनमें बड़ी मोह
देवारीके स्थान प्राप्त करनेके कोमलें चंद जाते, उन प्राप्त
अधिकारोंके मरुसे हम बर होगये ऐसा मानने कम
जाते और उस कारण आपसमें परस्पर विद्वेष करने लगते
तो उनकी पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं रहती ।

साक्षात्पचासी कोम विष कोमोंके विचारमें पीबर्तन
करते हैं, उनमें अतमविचार रहने नहीं देते, उनमें कर्तुव्य
शक्ति बकने नहीं देत उनमें काम उत्पन्न हो जाय इसलिय
की प्रयोग मी करते हैं, उनकी नाता प्रकारके प्रकीर्णन देते
हैं और स्वराज्यविषयक प्रवृत्तसे उनकी हृदय बते हैं उनमें
हुया प्रमद उत्पन्न करते हैं उनमें अतसका मरतक बका
कर बकने अन्धर आन्धरिक कइ बहाते हैं । इन्मेंसे कुछ
प्रयोग औरोंमें पाँचवींवर किये वे । उनका राजसाधनका
अनुभव न बर इसलिये उनमें १३ वर्ष राजसाधनसे
उनकी बाहर रहा था । इन्में समर्थी मुदका मी अनुभव
उनकी न जाने और वे स्वराज्यके किये पूर्ण नाकायक विष
कुल जंगकी कैसे बन जावे । यह साक्षात्पचासी औरोंकी
हरम मी । नलमें सत्रप द्वारा प्रमद उत्पन्न करनेवाकी कुक्षिका
देनेका मी साक्षात्पचासीने प्रवृत्त किया जिसका फल जर्जु
नके हृदय प्रकार कर्तुव्यमय होनेमें प्रसन्न कीगता है । इसी
कारण मर कोमोंसे जमोंपक्षकी या अन्य खरीरकी शिथिल
प्रकाश करवा मी शिथिल कोमोंकी और नहीं । क्योंकि वे
कोम जल कुक्षिका द्वारा किस प्रकारका विष शिथिल कोमोंके
मनमें भर देंगे इसका मी पता नहीं चकता । इसी उपदेस
द्वारा रिजाने विषक कारण बीरोंमें जलम प्रवक बीर
अनुभव केला निर्दक बन गया है देखिये ।

इसका खरीर तो विकलुल शिथिल बन गया बहातक
निर्दक बना कि, वह अपने हाथके मरवा माणवीय अनुभव
मी प्राप्त नहीं कर सकता और अपने पाँचवीं कदा मी
नहीं हो सकता ! ! फिर लक्ष्मी तो बर रहा ! ! जर्जुन जेमे
आँके बीर लक्ष्मीने मरुके कोकीकी शिथिल प्राप्त की तो

खेदका मनपर परिणाम निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केवलम् । न च भेषोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाह्वये ॥ ३१ ॥

अन्वय - हे केवल ! निमित्तानि विपरीतानि च पश्यामि । आह्वये च स्वजनं हत्वा ह्येव ; न अनुपश्यामि ॥ ३१ ॥

हे केशव ! भय मुझे क्षय कक्षण विपरीत होकर रहे हैं । तथा अपने संबंधियोंको मुख्यमें मारकर कुछ कल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

उपका क्या बन गया देखिये । वह पहिले सिंह या तो जनुके उपदेशोंसे सिद्धा केकर जेह बन गया; वह पहिले कोहा या तो उपका मोन बना । वह है जनुके वर्णवर्णों पर विचार रखनेका परिणाम । इसीसे तो जनुनका क्षीर और मज बिगड़ गया ।

अनुभवका अन्वय

साम्राज्यवादी लोग जिस कोशोंको साम्राज्यवादी अनुभव और बुद्धका अनुभव से जो अनुभव करनेका अवसर नहीं देते । पाँचवींकी जन्मसे १२ वर्ष संगममें हस्तिने रखा या कि वे संगममें बच जाई और १ वर्ष बलात्कृत जन्ममें हस्तिने रखा या कि इस समय उनके स्वाभाविक अन्तःस्थावर्णका प्रकाश करनेका योग भी अवसर उनके न मिले और इस समय यदि वे पकड़े गये तो फिर वह १३ वर्ष का एक ब्रूमा ही पड़ता ॥ बीसवींकी १२ वर्ष संगममें और १ वर्ष बलात्कृतमें रहनेसे वे कितने बड़ जाते हैं, इसका परिचय पाठकोंकी विद्वत्पूर्वके पढ़नेसे लग सकता है । इस समय तो जनुन केवल एवं नृपुंसक ही बन गया था ॥ केवल १२ वर्ष स्वराज्यका अनुभव न होनेसे जनुन सैदा महात्मा की तरह जनुनक बन जाता है; तो जो लोग इससे बीछाते कम होने उपका बना बहिया । और वे यदि १२ वर्षसे अधिक वर्ष पराधीनतामें रहे तो उनकी क्या अवस्था होगी इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं ।

नृपुंसकता

जनुनकी स्थिति नृपुंसक वैधी नहीं थी वह पाप औरदोंको बटा होगी या न होगी; तथापि संतानके कपटी उपदेशने और जनुनके ही मगमें नर कर किया था इसका कारण नहीं था कि वह एक वर्षेक विराट जननीमें नृपुंसक ही बन गया था । क्योंकि इसका निजीय बन गया था कि इसको क्षीरधारमें रखनेमें ही किसीको संकोच न हुआ था । कुछ

उपायोंसे ॥ इसका दोष एक साइके पञ्चात् बुर हुआ परंतु नृपुंसकके संस्कार रहे और एक वर्षेक क्षीरोंकी संवर्धने रहनेके कारण मोह हुआ कल्याण आदि जो गुण क्षीरमें मिले रहते हैं वे इसमें बढ गये । यह संशय का कपट उपदेश जनुनके मगमें सैदा जनगना पैसा किसी अन्य पाँचक क्षीरके मनपर नहीं जमा । इससे संस्कारोंमें महत्त्वका पता लग जाता है । इसीप्रकार साम्राज्यवादी वैधी भीति करते हैं कि जिस कोशोंके वर्य संस्कार लुप्त हो जाई और जन्म हीन संस्कार प्रभू हो जाई; जिससे वे कमी न बढ सकें और अपना स्वराज्य कमी वापस न ले सकें ।

जनुनके क्षीर और मजपर तो इतनी विचित्रता का गई । इससे वह बुद्धके कितने तो एवं रीतिसे निष्कर्ष बन गया । इससे संस्कार ही केवल कदाचित्ता जन्म भी वह बात नहीं थी उसकी क्षति थी इतनी निवेदनात् हुई कि इसको क्षारा जन्म कदात्त पचीत होने लगा । देखिये वह जागे क्या करता है—

(३१) देखिये वह जनुन कह रहा है कि ' जब कक्षण विपरीत होकर रहे हैं । ऐसा मगके विषयनेसे होता है । मज बिगड़नेसे सारे संतानमें विपरीत पद दिखाना देता है । मज बिगड़ा तो सब कुछ बिगड़ जाता है । मगके होने हार है मगके जिते जीत । जनुनका मज हार गया था इसप्रकार इसको संपूर्ण जन्ममें ब्रह्म कक्षन सिद्धाई देने को थे । मगमें उपद्रवके रहनेपर संपूर्ण जन्ममें क्षम कक्षण होकर बढते हैं । वह सब मनका वेक है । इसीप्रकार बुद्धके एवं साम्राज्यवादी चतुर्दशमें जनुनके मनको ही मोहित करनेका प्रयत्न किया था । सिद्ध समय जनुन बुद्धत्वमें जाया था इस समय जिस जन्ममें इसकी एक भी निर रीत कक्षण दिखाई नहीं देता था उन्हीं जन्ममें उन्हीं

(२) स्वजनोका मोह

न काश्चे विप्रय कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ २२ ॥

जर्जुरको जब सब कछन डकटे दीखने धगे हैं । इसका कारण ही यह था कि जिस समय जर्जुर बुद्धमियर गया उस समय उसके मनमें बसाह था, और अब वह बसाह दूर हो चुका था । अतएव काहूँ फर्क नहीं हुआ । अपनेमें कई होमसे जगत् थिड़कुल नकल मालूम होने लगा है । दासक वह निचम रसजमें रहें, कि मनुष्य को समझ भाव लेकर हमसे पास जावगा, ठीक वैसा ही उसको जगत् दीखने लगेगा । कामिकारागवालेको सब जगत् पीका दिखाई देता है इसका कारण उसके मेवका दोष है, हुआर जालेके समय सब जगत्में वही भरवका अनुभव जाता है इसका कारण इसके जरीका दोष है । बड़ा मनुष्यको सब जगत् उदास दीखता है और बसाही दुःखके सिध सब जगत् उदासपूर्ण हो जाता है इसका कारण उसका मन ही है । बहुत मनुष्य जगत्को दोष देते हैं अपनी बलीय दैव जाहि करते हैं वरतु बसतु । देका नाम तो जगत्में कोई दोष था गुण नहीं है । यदि मनुष्य अपने में कुछ गुणोंका कर्ण करेगा तो उसको जगत्में भी कुछ दीखेगा और यदि इसके अंदर दोष होंगे तो जगत् भी हमके प्राय दुःखी करेगा । इसलिये आरमभुवि ' का महत्त्व जानकरने किहा है ।

जर्जुरके समयपर जो कैवला परिणाम हुआ उससे बचका मन दोषबुद्ध बना और उस दोषके कारण उसको सब जगत्में विपरीत कछन दिखाई देने लगे । जबतक हमके मनमें वह दोष नहीं था तबतक कछन बरसाह बह रहा था । जगत् एक बीजेके अभाव है जो भाव हम केकर हमके पास जालेसे वैसा ही ठीक प्रतिबिम्ब हममें दीखेगा । इसलिये हरएक मनुष्यकी उचित है कि जब उसको चारों ओर विपरीत कछन दीखने लग जायें तब वह समझे कि अपनेमें कुछ दोष हैं । और प्रयत्न करके अपने अंदरके दोष दूर करनेका प्रयत्न करे । अपने अंदरके दोष दूर होते ही उसको जगत्में कुछ कछन अदृश्य ही दिखाई देंगे । अपने सुचारसे अपनेके सुचारका मार्ग होना है ।

जबन हमरी बात कहता है कि स्वजनोका बच करके

५ (हिं पी)

कुछ कल्याण होगा ऐसा नहीं दिखाई देता है । स्वजनोका बच करके क्या काम होगा । वही अनुको अनु अनु बच रह रहा है । उसके जालेसे स्वजन और परजन बंधे नहीं जाते । स्वजनोका नाम जाल पुण्य है । और जाल पुण्य से होते हैं कि, जो कभी अन्धकार नहीं करते कभी जलमें भी बात नहीं करते कभी नवक नहीं सोचते । जालोका तो यह कछन है । जाल पुण्यका समाप्त साधकाने इतना किया है कि जिसके सिध कोई मर्वादा ही नहीं है । जिनमें पाण्डवोंका राज्य कपटसे जीव किया उनको देखकर बाहर कर दिया हर मकलसे उनकी कह दिदि, वेदगवी की और जगत्में जो अपना बचन लोभनेकी भी तैयार हुए थे विध प्रकार ' स्वजन हो सकते हैं ?

बड़ा उचरदायित्व

वही अनुनपर केवक अपना जीवा हुआ राज्य वापस करनेकी ही जिम्मेवारी नहीं थी हमसे बचकर एक बड़ा उचरदायित्व अनुनपर था । वह वह कि, जगत्में अन्धकार करैवकालिके संभवको लोभना और सर्वत्र धर्मका राज्य होनेके सिध अनुनक बाबुमदक तैयार करना । मागाय मन-मोहन जोहृष्य हम कोनके सिध कटिबद्ध थे और अनुनको भी हमोंने इस कार्यका भार हमनेके सिध उचरदायित्व था । जगत्में जगत्के लालके साथ वह महात् परंपकार होनेका था । इसी कारण मने स्वजन कीम हैं और सचने शत्रु कीम हैं, इस विषयमें जर्जुरको मोह होगा इस नहीं था । परन्तु जो होता नहीं चाहिये वही समयपर बच जाता है । और एकवार सुनिके गिरनेपर उसकी गिराफ्त भी लीमतक पहुँच जाती है । इसी प्रकार एकवार अनुन परमेवकालिके जगत्पापक कार्यकार्यका भागी होनेके समाजनीय महात्-स्वाभते को नियम तथा तो वह परिवारके मोहके बीजवर्त ही पड़ा । विचारके मोहके संकृषित बाबुमदकते ही वह जब बोक रहा है । वय संकृषित विचारके प्रवाहमें पचनेसे उसके विचार किये जावगा पून हो मने—

(२२-२३) विचारके मोहके कारण अनुन राष्ट्रीय कार्य करनेसे पीछ हटता है । वास्तवमें देका जाव तो

येषामर्थे काङ्क्षित ना राज्यं मोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा बनानि च ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहा ।

मातुलाः श्वशुरा यौत्राः श्याला सवन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्वयः— हे हृष्य ! विजय न काह्ये राज्यं सुखानि च च (कांक्ष) हे गोविन्द ! या राज्यं किम् ? मोक्षो जीवितेन वा किम् ? (३३) येषां अर्थे ना राज्यं काङ्क्षितम् मोगाः (काङ्क्षिता) सुखानि च (काङ्क्षितानि) हे इमे आचार्याः, पितरः पुत्राः तथा एव च पितामहाः मातुलाः श्वशुराः यौत्राः श्यालाः तथा सवन्धिनः प्राणांस्त्यक्तवानि च त्वत्पदा, युद्धे अवस्थिताः ॥ ३३-३४ ॥

हे हृष्य ! मुझे विजयकी इच्छा नहीं है न मुझे राज्य चाहिये और न मैं सुख चाहता हूँ । हे गोविन्द ! हमें राज्यसे क्या करना है ? लोगोंसे भी क्या और हमारे अविविद रहनेसे भी क्या लाभ होगा ? ॥ ३३ ॥ जिसके लिये हमने राज्यकी और लोगों तथा सुखोंकी इच्छा की थी वेही ये आचार्य बड़े बड़े पुत्र, दादा मामा ससुर माता खाळे और संबंधी अपने प्राण और धनकी भांश छोड़कर युद्धके लिये खड़े हुए हैं ॥ ३३-३४ ॥

राष्ट्रकार्यके किन्हीं पारिवारिक सुखको त्यागना चाहिये। पाशु यह भारतका मेरा बड़का काँठे बोक रहा है । यह बड़ा ठक मूका है कि मुझे विजय नहीं चाहिये (विजय न कांक्ष) ऐसा लज्ज कहता है । बसुण्डा यह स्वयं ही विजय है इसलिये मैं विजय नहीं चाहता इसका अर्थ मैं अपने आपको भी नहीं चाहता बड़ी होश है । परन्तु इसका अर्थ क्या ? मैं अपने आपका नहीं चाहता यह तो मूर्खका बोकना है सोचता भी काम करनेवाला मनुष्य ऐसा जलजवाला आपन बोक ही नहीं सकता । पाशु अर्जुनक प्रबल शिव आत्मकाय की विचारोंका प्रभाव कम तथा वा कथका प्रभाव नहीं रहा रहने तक यह दूसरे विचार बोक ही नहीं सकता । सन्तुष्टी कपट शिखाकी स्वीकार करनेपर देखे ही विपरीत विचारोंका प्रभाव झूठ होता है। इसीलिये भुज लोग कहते हैं कि अपनी सम्पत्ता की जिज्ञा ही प्राप्त करने चाहिए और सन्तुष्ट विचारोंके पीछे अपने मनको दबाना नहीं चाहिये ।

समका उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य समका है वह अपनी विजय प्राप्त करनेके लिए ही समका है । हाथक मनुष्य चार पुत्रप्राप्त निष्ठ करने के लिए जन्ममें आता है । अर्थ अर्थ काय और मोक्ष अर्थात् कर्तव्य प्राप्त करना धन कमाया, धनानुसूक्त लोग भोगों और बंधनमें मग्न होना ये चार प्रवर्तन मनुष्यको

करने चाहिये । कर्तव्य करना पढ़िका काम है और मोक्ष अर्थात् अपना स्वतन्त्र प्राप्त करना अन्तिम साम्य है । साधनका अन्त्य इसीलिये है । स्वतन्त्र प्राप्त करना श्रेष्ठ विजय कमाता ही है । इसलिये किसीको अधिकार ही नहीं कि, वह कहे कि मैं विजय नहीं चाहता । ऐसा कहना अपूर्विक पुत्रप्राप्तके समान निरर्थक है । अर्जुन बड़ा यह अर्थ विवक्षित बात कह रहा है । बड़ी बसक मोह अवर्तन अज्ञान है ।

अज्ञानवश होकर अर्जुन और भी कह रहा है कि, मुझे सुख भी नहीं चाहिये और राज्य भी नहीं चाहिये । पूर्वोक्त चार पुत्रप्राप्तोपदेश ' विजय नहीं चाहिये कहकर हमने कहा कि मुझे बोक स्वतन्त्रता जन्मका बंधनविमुक्ति नहीं चाहिये मैं बंधनमें ही रहूँगा अर्थात् शिव कार्यके करनेके लिए यह समका है बड़ी काय करना कथको पदव नहीं है । अब वह कह रहा है कि मुझ सुख भी नहीं चाहिये और स्वराज्य भी नहीं चाहिये । वेही 'अर्थ और काम दो पुत्रप्राप्त हैं, वे भी हमको नहीं चाहिये । अर्थ काम और मोक्ष ' ये तीनों पुत्रप्राप्त नहीं चाहिये देका कहते ही ठक डलक होता है कि इससे अन्त किस कार्य के लिए किया है ? जिसको वे चार पुत्रप्राप्त करना बर्तन नहीं क्या वह अविविद रहनेका अनिकारी भी है । अर्जुनने अब कहा कि मुझे सुख भोग स्वराज्य और विजय नहीं

बाहिये उसी समय उसके ही समर्थ में यह बात बागई कि, 'मैं जब जीवित रहूँगा भी क्या करूँ क्योंकि किम करे इससे जीवित रहना है ? यह बात उसके ध्यानमें आकर बही स्वयं कहता है कि प्रकाशमें जीवित रहनेसे भी जब क्या काम है ।' अर्थात् जिस रीतिधी केद्वारा भी विचार परंपरा उसके मनमें छूक हो गई थी, उस विचार परंपराके जगत्में उदयक। यद्यु भीम स्वर्णकार करना ही योग्य हुआ ।। केदमय विचारकी परंपरा किमभी बातक है यह बात बड़ा स्पष्ट हो जाती है । अतः कोई मनुष्य केदमय विचारोंको अपने पास जाने न दें और सदा परमाहमय पुण्याधी विचार अपने मनमें स्थिर करें ।

संघर्षोंका मोह

जबुन अपने संघर्षोंके कोमलें फंस गया है । वह कहता है कि आचार्य, हाहा मामा पिता माता साके, समस्त बानी पुत्र आदिजोके किये सुख देनेके उद्देशसे ही भोगके साधन इच्छु किये जाते हैं । परंतु इस जुद्धमें तो बही अपने माय और पयकी पराह छोड़कर बड़ा उपरिचर होजाये हैं । यदि हमकोही मार दिया, तो उबकी यत्तुके पक्षय इस जुद्धसे प्राप्त किये हुए भोग किसको देने हैं ? निजके किये सुख देना है वेही बड़ा मार जायेंगे, फिर सुखप्राप्तिका प्रयास किसके किये करना है ? ये भी संभव ही हैं इसलिये मुझे उचित नहीं कि मैं इसका सब करूँ । यदि तुम कहोगे कि मैं इस संघर्षोंका सब करूँ तो इसके लाभ मैं अपने सहोदर भाइयोंको भी क्यों न माऊँ ? ये भी माई हैं और ये भी माई हैं । अर्जुन कहता है—

हे कृष्ण ! तुम्हें तो विश्व कहते हैं, क्योंकि तुम गो' नाम हूँजोको 'विश्व' अर्थात् स्वाधीन रखते हो । अतः तुम्हारा सैता हृदियहृदिकोंको स्वाधीन रखनेवाला जानी देते जालजनोंके सब करनेके अनर्थकमक कार्यमें मुझ किम प्रकार प्रवृत्त कर रहा है क्या बही तुम्हारा हृदिय संभव है ? और इसी प्रकार तुम मुझे संभव सिखाओगे ? क्या मैं अपने सुखक किये आचार्यों और अपने सब जालोंका सब करूँ ? और उनका सब करनेके बाद स्वयं सुख भोगूँ ?

छुड़न और राष्ट्र

बड़ा कर्मज अपने संघर्षोंको सुख देनेके किये राष्ट्र कार्यमें स्थिर कर रहा है । जनतामें छुड़ और सब अस्मि-भर्मक। स्वामाका कार्य एक और है तो दूसरी आर स्वधर्म

का सुख है । यही जर्जुन स्वयंके उद्धारके कार्यकी अपेक्षा अपने पारिवारिक कुटुम्बियोंके सुखको अधिक मान रहा है । और स्वसाधारणके शासनधिकारवर किसी न किसी प्रकार बाधक हो गये थे । अर्थात् भेद पदपर न । का मनुष्य भेद पदपर रहता है उसपर एक उपादाभिरव रहता है कि वह किसी प्रकार भी ऐसा सुख आचार्य कदापि न करे कि जो जनताके किये बुरा कार्य ही जाये । भेद पदपर स्थिर मनुष्य जैसा आचार्य करता है वैसा ही अन्य मनुष्य जाकर करता है । (य गीता ३।११) इसलिये भ्रष्ट मनुष्यपर न प साधारण जनोंके किये उपाय आदर्शरूप बननेका भार सदा रहता है । क्या हम उद्धारवादीयका कार बोने पाक्य किया था ? विककुल नहीं । साम्राज्य बढानेके किये हूँजोके कर्णोंको जो उद्धार पिकावा, कर्णोंको अस्मिमें बका दिया, कर्णोंकी मूर्तिहरण की, कर्णोंके राज्य कपवसे हारन किये कर्णोंका लच्छोले सब किया कई कियोंकी वेदमयी की, सदा सर्वदा असह्य बचन कहकर रहे अपना दिया हुआ एक भी बचन हूँजोके पाकन नहीं किया नामा प्रकारसे आचार्य दिककाले रहे; पात एककी भी पूर्ति नहीं की । अस्मिन् पारिविषयमें तो हूँजोके स्पष्ट कहा कि, सुखक बिना एक सुर्खके जगत्तर रहनेवाकी मिठी भी नहीं ही जावती । क्या ये ही कार्य हैं कि जिनपर जनता चले ? और यदि सज्जद और उसके मधीनय ऐसी कुनीतिसि चकने कर्म तो संपूर्ण जनताभी स्थिति किस प्रकार होगी हमलिये कुनीतिसि चकनेवाले हम उद्धारपुत्र कीरकोंको साम्राज्य पदपरसे उद्धारवर और स्वयंके स्वामपर चर्ममर्माइसे चकने वाके कोकसंयत राजपुत्रोंको स्वारित करना उच समर्थके राष्ट्रीय वेतारकोंका महात्मा राष्ट्रीय कार्य था । हमलिये हम समर्थके कोनोंका चर्म था कि वह राष्ट्र कार्य करें और चर्मकी मर्माइ पुत्र स्थापित करें । यदि कोई मनुष्य वह राष्ट्रकार्य न करते हुए अपने परिवारके अर्थात् अपनी छो पुत्र मात्र जाता पिता हाहा आदिजोको सुख देनेके कार्यमें ही अपने आपको समर्पित करेगा तो वह हमकर्मज अवर्म होगा । विभिन्न उद्यम हुए और कार्यकार्य का विचार करनेवाला कोनोंको उचित है कि वे परिवारके मोरसे राष्ट्र कार्यमें स्थिर उद्यम न करें । अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंके सुखको अधिक मानकर राष्ट्रकार्यके विमुक्त हुआ था । यही उसका अवर्म था । हवी जगत्तमें मेरित होकर वह भाग कहना

एताम् हन्तुमिच्छामि भूतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकुटे ॥ १५ ॥

निहस्य धार्तराष्ट्राणः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

पापमेवाभ्येदस्मान्दत्तैस्तानाततायिनः ॥ १६ ॥

तस्माभ्यर्द्रा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्सर्वाधवान् ।

स्वजनं हि कथं हत्वा मुखिनः स्वाम माधव ॥ १७ ॥

अथवा । हे मधुसूदन ! (गी) ॥ १५ ॥ अपि एताम्, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः अपि, हन्तुं अ इच्छामि किं नु मही-
कुटे ? ॥ १५ ॥ हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्राणं निहस्य यः का प्रीतिः स्यात् ? एताम् आततायिनः हत्वा तस्मात् पापं दृष्ट्वा बाध
नेष्ट ॥ १६ ॥ तस्मात् स्वर्गध्वान् धार्तराष्ट्राणं हन्तुं सर्वं अ इच्छामि । हे माधव ! स्वजनं हि हत्वा सर्वं कथं मुखिका
हवामि ? ॥ १७ ॥

ह मधुसूदन । यद्यपि य मुझे मारने छग जायै ता भी इनको त्रैलोक्यके राज्यके छिये भी मारनेकी
इच्छा मैं नहीं करता। फिर तो मझा पूछीके राज्यके छिये इन्हें क्यों मारना है ? ॥ १५ ॥ हे जनार्दन !
घृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर हमारा क्या भिय होगा ? हम आततायियोंको मारनेके हमें पाप ही लगपा
॥ १६ ॥ इस कारण अपने भाई हम कीरवोंको मारना हमें कथित नहीं है । हे माधव ! अपने ही संबंधी
जनोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥ १७ ॥

हे—

(१५-१७) मधुन करने लखनेके मोक्ष हीन होकर
करता है— अथवा ये लोग मुझे मारने की कमें तो भी
मैं इनको नहीं मारना । इनको मारनेसे स्वर्गको भुजोक
और पातालको भुजोक राज्य प्राप्त होनेकी संभावना होनेपर
भी मैं इनको मारनेका विचार नहीं करूँगा । फिर केवल
मृत्युके राज्यके छिये इनका वध किस प्रकार कर्कश
करान करने भाई है इसविषे इनका वध करनेके पक्षपर
हमें क्यानि सुन लख रही होगी । ये आततायी हैं वह
सत्य है, तथापि इनके वधने हमें क्या ही लगपा । क्योंकि
करने संबंधियोंका वध करनेसे भयानक भय कैसे सुखी हो
सकता है ?

आततायीका वध

आततायीका वध करनेके विषयमें धार्तराष्ट्रों का उक्त वचन
है । मधुसूदनको भय है—

आश्रया गच्छदध्वजं शस्त्रोपमयो धनापहः ।

शस्त्रदारदहध्वजान् वृष्टिप्रादाततायिनः ॥

(युद्धभीति)

गुरुं या बाह्वृक्षो वा प्राश्रयं वा बहुभयम् ।

आततायिनमापाश्रय इच्छाद्देवाऽविचारयन् ॥

अशिशो गच्छेद्यैः शस्त्रापायिर्धनपहः ।

शस्त्रदारदहध्वजैः पश्येत् आततायिनाम् ॥

अपाश्रयसिद्धिर्नामिच्छायां शोपोपलभ्यते यथा ।

आश्रयैः न हन्ता अ पिशुनश्चापि राजानि ॥

मार्गारिकपापहारी वा रक्षाम्भेयपतस्परः ।

एवमाद्याम्बिजानीयारसर्वाणि आततायिनः ॥

आततायिपथे दोषो हन्तुमेषति कथम् ।

मन्त्रोक्तं याऽप्रकाशं वा मधुसूतं मधुसूतमिति ॥

(मधु ११५ - ११६)

‘अशिशो अशनेवाका, शिव देवैवाका अशने मारने—

वाका भूमि की ओर धन छीननेवाका धाप देवैवाका

अशनेवाका मारक प्रयोग करनेवाका राजासे सुखकी

कायैवाका छीका वध छीननेवाका दूसरीका छिद्र छंदनेमें

उत्तर इच्छादि सभी आततायी समझने चाहिये । आततायी

गुरु वाक्य हृद, वा बहुभय आश्रय इत्येति कोई दो

नों आततायी होकर जाने जनको बिना विचार ही मारना

चाहिये । कोनों सामने वा अज्ञानमें मारनेको तेवर हृद

जातवापीको मारनेसे मारनेवालेका कुछ भी होय नहीं होता क्योंकि इसका कोय उसके कोपसे हट जाता है ।

जातवापीका बच ठाकन करना चाहिये, यमी स्मृति-प्राप्तकी जगह है। तबानि बहुत कह रहा है कि जातवापीका बच करनेसे हमें पाप कमेगा ।। साम्राज्यवादीपर जाकर हुए औरव सबसे सब जातवापी हैं हम विषयमें भ्रममेंको मी कोई संदेह नहीं था। वह स्वयं उनकी जात वापी कहता है। जातवापीका बच छात्रसे स्थित नहीं है वह बात भी वह जायता था परन्तु जातवापी होनेपर भी वे अपनेही संसंधी हैं अतः इसका सर्वत्र होनेसे इसका बच हमको नहीं करना चाहिये अपने सबकी लोग किसी भी दुष्टता करते हैं फिर भी उनकी दृष्ट देना नहीं चाहिये ऐसा अनुभवका मत इस समय बच गया वा ।।

यदि सर्वसंधी कोरव न होते और उस समय साम्राज्य शासक कोई दूसरे विदेशी लोग होत तो बहुत इस प्रकार न सोचता। उदाहरणार्थ मान लें कि इस्तिनापुरमें इस समय किसी विदेशी असुर जातिका राज्य होत। तो बहुत उनसे युद्ध करता और इसका नाश करता और उनसे अपना राज्य प्राप्त करता।

परन्तु औरव उदरे अपने कुछके देखके और इसके संसंधी इसलिये वह कहता है कि विचारकबच जैसे विदेशी साम्राज्योंका तो मैं बच करूँगा, परन्तु अपने संसंधियोंका बच कैसे दिना जा सकता है ? स्वदेशी और विदेशी राजका व्यवहार प्रमाण ही क्यों न हो अपने राजका बच पाव करना चाहिये ऐसा इस समय अनुभवका मत बन गया है। युद्ध तो पाकीबोमें ही करना चाहिये स्वकीबोमें युद्ध कैसे किया जावे।

पर वास्तवमें यदि इसका जाय तो जिस प्रकार विदेशी राजके प्रजाजनको मराने वह इसका अधिकार करना चाहिये, उनी प्रकार अपने देशका अपना अधिकार अपने कुछका अच्छा अपना मित्र भी क्यों न हो अच्छा अपने देशका संरक्षक रखनेवाला राजा भी प्रजाजनको मराने लगा जाय, तो उसका भी औरव रीतिसे अधिकार करना चाहिये। दुष्टता विषय दूर माननेवाली माता भी जातवापिनी होती है। इसी प्रकार अपने देशका स्वजातीय राजा भी दूर दूरा और प्रजाका मतमें लगा तो उसको भी वैसा ही दृष्ट देना चाहिये जमा विदेशी राजका दिया जाता है।

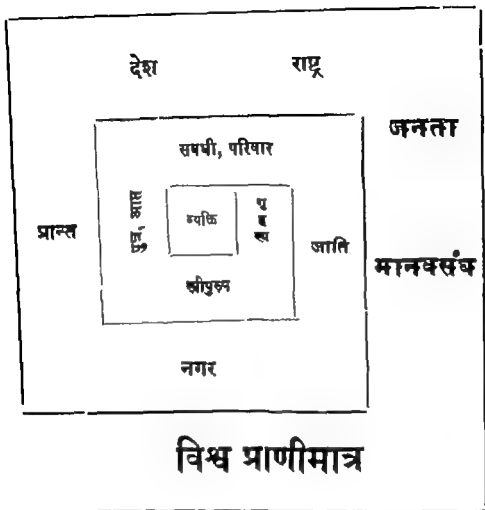
स्वयं होनेके उद्यम। काम करनेवा जो विचार अनुभव

कर रहा है वही उसकी भावित है, वही मोह, वही भविष्य। वार वही लक्षण है।

मनुष्य कमजोर उन्नत होता है और जैसे जैसे वह ऊपर चढ़ता है जैसे जैसे इसका सीढ़ीपर उसका कठम्य मित्र मित्र होता है। काम शीघ्र तथा बड़ बड़ कामसे उसपर विशेष प्रकारसे उत्तरदायित्व आता है, अतः अपने अन्तर गुणोंका विकास होनेपर उसको इस प्रकार पक्षपात करना कदापि उचित नहीं। मनुष्यकी कम उन्नति किस प्रकार होती है और उस कारण उसके कर्तव्य कैसे बढ़ जाते हैं, वह बात जाने लगाने चित्रमें वादक देख सकते हैं— (आकृति ३८ पृष्ठपर देखो)

इस चित्रमें वादक देख सकते हैं कि स्वधिका सामर्थ्य बढ़नेके अनुसार उसके अधिकार और उसके कार्यक्षेत्रका विस्तार हो जाता है। यदि राष्ट्रीय कार्यक्षेत्रमें कार्यक्षेत्रका अधिकारी और काम वा मोहके बगलें होकर अपने पुरुष्य वा अपने परिवारके मोहमें फस जाय और परिवारिक सुख के लिये राष्ट्रकार्यमें विव्र करे अथवा कुटुंबपावनके मोहसे राष्ट्रकार्य न करे तो वह वापी बनेगा और गिर जायगा। अतः वही नहीं व्यवस्था हो चुकी थी। मनुष्य अच्छा और निकटुक स्वभाव नहीं है, सब जगहके साथ उसका युद्ध संभव है, अतः उसको उचित है कि वह अपनी स्वधिका विचार समष्टिके विचारके साथ करे और समष्टिके कार्यके लिये स्वधिका समर्थन अवश्य करे।

यदि स्वधिका विचार वादक इस प्रकार करे। मनुष्य जिस कमसे उन्नत होगा उस कमसे उसपर समर्थनका भार अधिक आता है। जो स्वधिका देखकर शरीरचर्चसे जीवित रहता है वह पक्षपात है। कई पक्ष भी सबसे रहते हैं और सबके लिये शरत है। अतः मनुष्य वस्तुसे उद्यम होनेके कारण उसको संघटित रहना ही चाहिये, अन्यथा उसकी लोपोत्ति होगी। कुटुंब रिश्तियोंमें मनुष्य अपने कुटुंबियोंके हितके लिये आत्मसमर्थन करता है इससे उद्यम होनेपर वह राष्ट्रकार्यके लिये आत्मसमर्थन करता है इससे भी उद्यम होकर वह मनुष्य सर्वत्र अत्यन्तमात्रके लिये आत्म समर्थन करता है। अतः उसका आत्मसमर्थनका वाद कुटुंब रिश्तियोंमें आरम्भ होता है। वही वाद जाने विरलुप करना होता है। जिसका वाचकच विरलुप हुआ है वरि वह अपने कार्यक्षेत्रका संकुचित करने कम काम तो वह वापी बनता है और गिर जाता है।



विश्व प्राणीमात्र

व्यक्तिके कम साथ कार्यक्षेत्रका विस्तार बतायेवाला चित्र

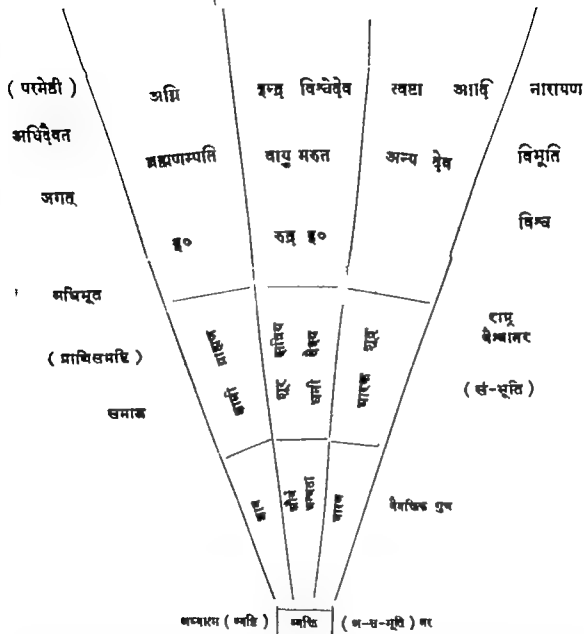
चित्र समुच्चये गृहस्थ स्थितिको स्वीकार किया है वह यदि श्री बुद्धादिके कार्यक्षेत्रका भार त्याग दे और उन की रक्षा न करे तो वह गली बगला है। इसी प्रकार मध्यम क्षमिष और वैद्योंका राज्यके हितका भार है जन्मोंपर भी है परन्तु इनके पास ज्ञान, शक्त और श्रम अधिक होनेके कारण जन्मोंकी अपेक्षा गुणवर प्राप्त अधिक है। अर्जुन क्षमिषवीर वा। हृदयिके धर्मकी व्यवस्था समर्पण के अनुकूल रखेका भार हृदय विक्षेप वा। शास्त्रव्यवहारी और धर्मसमर्पणको ठोठ रहे थे और अपने स्वार्थके हिते धर्मका त्याग करनेको ठेका थे। हृदयिके धर्मकी रक्षा देना

जहाँव जैसे धीरोंका आवश्यक कर्तव्य वा। परन्तु जोटे परि वारके मोहमें कंधकर वह अपने विस्तृत कर्तव्यके भ्रष्ट होने लगा है। वही हृदयका पद है।

हृद जगत्में कोई व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। सब एक दूसरेसे मिले हुए हैं संपूर्ण जगत्के स्थिर वा पदार्थ मिलकर संतुलित होकर बना हुआ एक महापुरुष है। अर्थात् वा सब अस्माक मिलकर एक ही विराट् देह है और उसका एक भाग मैं हूँ ऐसा मानकर समुच्चयकी व्यवहार करना चाहिये

वह व्यक्तिमयिका समुच्चय बतायेवाला चित्र जगत्के दृष्टा देखिए—

[महापुरुष और व्यक्ति का संबंध महाविद्याका चित्र]



इस चित्रको देखते-देखते पाठकोंको क्या क्या आशय कि वही व्यक्ति निकलकर स्वतन्त्र नहीं । जिसका अर्थ व्यक्ति है । क्या व्यक्ति को उचित है कि वह अपनी सक्ति ब्रह्म और ब्रह्म का उपयोग करके ही अपना विकास करे ।

विकास संकोच होकर व्यक्ति का रूप बना है और व्यक्ति

का परम विकास ही इसका अर्थ है । इस विषयमें उपनिषद्को मर्यादा रहस्य है ।

नासिके निरुमिद्येतां नासिकारम्भा प्राणः प्राणायामायुः । अक्षिणी निरुमिद्येतामाक्षिर्भा अक्षुण्णक्षुण्णमाक्षित्यः ॥ इ० ॥ (वे. उ. १।७)

विश्वरूप

जिस समय मगधह्रीराजे ब्रह्मका प्रदंन था उस समय मगधवां श्रीकृष्ण विश्वरूप थे और अर्जुन ध्यातिकरूप था। अपने परिवाररूप था। परिवाररूप होनेसे अर्जुनके समझे मोह हुआ जैसे इस मोहका मिश्रकरण विश्वरूप बने मगधवां श्रीकृष्णने किया। कई मनुष्य ध्यातिकरूप होते हैं, कई परिवाररूप कई ध्यातिकरूप या राष्ट्ररूप कई मानवसमाज रूप, कई प्राणिजसमष्टिरूप और कई विषयरूप होते हैं। इनके विचार और वाचार विभिन्न होते हैं। जो ध्यातिकरूप हैं वे वैवर्तिक विचार करेंगे तो कोई दोष नहीं है परन्तु यदि राष्ट्ररूप बना हुआ मनुष्य पारिवारिक मोहमें फंस जाय तो वह गिरता है। अर्जुन राष्ट्ररूप होनेकी जगह स्वार्थ या जगत् पारिवारिक बननेसे उसको मोह हुआ ऐसा कहा जाता है। यदि वह मानवसमाजरूप बननेका यत्न करता तो उसका मोह दूर हो जाता और वह ज्ञानी कहलाता।

जो मनुष्य 'परिवाररूप' होता है वह परिवारके मनुष्य के हुकमसे हुकी होता है उसका हुकम दूर करनेके लिये यत्न करता है और उस कार्यके लिये स्वयं कह भी योग्यता है। इसी कारण बड़ा अर्जुन अपने पारिवारिक जनोंको बचा लेके लिये स्वयं राज्य स्थापक मिश्रावृत्ति स्वीकारनेको तैयार हुआ था। इसी प्रकार मगधवां श्रीकृष्ण जैसा परम श्रेष्ठ व्यक्ती विश्वरूप बननेके कारण विश्वकी स्थितिमें विमोह करनेवालोंकी कभी कपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु अपने अपने स्थिति सुस्थिर रखनेके लिये वह कठिन् दृष्टि है और उस कार्यके कारण अपना बाह्यविक कष्टन्य समझता है। इसकी दृष्टि विश्वरूप होनेके कारण नर्चाएँ जति विस्तृत होनेके कारण कष्टन्य करनेके समय इसको शोक और मोह कह नहीं देते और वह कभी कष्टन्यग्रह भी नहीं होता।

भीमजगन्नाथजीका संवाद जब दो आत्माओंमें हुआ है कि जिससेसे एकका अन्तःकरण पारिवारिक समझमें मोहित हुआ है और दूसरेका ज्ञाना विश्वरूप स्थितिमें आनन्दमें है।

अर्जुन अपने परिवारको राष्ट्रीय परिवारके और जगत् के महापरिवारसे अलग समझने कया राष्ट्रका और जगत्का भेदा भी नहीं देखे क्यों न हो जाय तब अपने परिवारको ही सुखी रखना सुखे साम्प्रदायिक दृष्टिसे विचार

६ (हि भी)

करनेकी कोई बकरत नहीं है ऐसा करने क्या !! परी उसका बड़ा दोष इस समय हो गया था। वे 'स्वजन' हैं इसलिये जातगामी होने पर भी इनको सुस्थिर और सुखी रखना ऐसा कष्टन्य है, वह अर्जुनका कमन स्पष्ट बताया है कि, उसकी दृष्टि अर्थात् संकुचित होगयी थी। यदि सन्तोष होनेसे ही पाप होता है और उस समय नहीं पाप अर्जुनसे होने लगा था।

यहाँ अर्जुनने मगधवां श्रीकृष्णको 'मनुष्यरूप' कहा है इसका अर्थ मनुष्यत्वभी मान्यता है। मनुष्यत्व मगधवां श्रीकृष्णका स्वजन संबंधी स्वजातीय या स्वदेशीय नहीं था। यह विदेशी अनुग्रह था। वह कहकर अर्जुनने श्रीकृष्णको बताया कि वे कृष्ण। तुमसे जो मनुष्यत्वभी मारा वह कोई तुम्हारा स्वजन नहीं था। जैसे तो मैंने विदेशी मनुष्य विश्वरूपको भी मारा है।'

औरतोंका जब करनेकी बात इससे नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि वे मेरे जात हैं। हे मगधवां। यदि तुम कहोगे कि मैंने अपने मामा कसको मारा है वह भी उदाहरण मेरे लोभ नहीं है, क्योंकि एक तो भीमज्जोनेके समान कैसका जेम तुमपर कसी नहीं था और दूसरी बात यह है कि तुमको नर्चाएँ (जगत्+नर्चा) हो नर्चाएँ सभी जनोंको मारना तुम्हारा धर्म है वरन् तुम किसीको रक्षना और किसीको मारना ऐसा विचार ही नहीं करते हो जो सभीको मारनेवाले हैं अर्जुनने अपने मामाको मार दिया तो वरन् विरोध क्या किया। इसलिये तुम्हारा उदाहरण मेरे लिये केवल बोध नहीं है। तीसरी बात यह है कि तुम माधव (यत्न+भव) हो नर्चाएँ केवल कहनी अपने पास रखनेकी तुम्हारी हथेला इच्छा रहती है। जो कष्टनी-जनसंपत्ति-को अपने पास रखनेका इच्छुक होगा वह मामा को या किसी संबंधीको मार देना !! ऐश्वर्य या राज्यके लिये अपने पितृको भी लोग मार चुके हैं। परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। मैंने तो इसी कारण वैकोनयका भी राज्य तुमसे नहीं आर्पित देता तुमसे कहा है क्योंकि वह कष्टनीका मोह ही मनुष्यके स्वजनवचन जैसे जोर कम करता है। जगत् में कहा है कि सुष्टे राज्य योग या सुख भी नहीं आर्पित और अपने सुखके लिये मैं इन जातगामी औरतोंको भी कभी नहीं मारूँगा।'

(१०) कुलक्षय और मित्रद्रोह

यद्यप्येते न पश्यन्ति क्रोमोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहं च पातकम् ॥ १८ ॥
कर्म न ज्ञेयमस्माभिः पापाद्स्माभिवर्तितम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्नार्हन् ॥ १९ ॥

अन्वयः—यद्यपि ऐसे क्रोमोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहं च पातकं न पश्यन्ति ॥ १८ ॥ हे भगवन् । कुल-
क्षयकृतं दोषं प्रपश्यन्ति । अस्माभिः अस्मत् पापात् विवर्तितं कर्म न ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

यद्यपि ये कौरव क्रोमसे अग्रबन्धित होनेके कारण कुलके क्षयसे होनेवाला दोष और मित्रद्रोहका
पातक, नहीं देखते हैं ॥ १८ ॥ तथापि हे भगवन् । कुलक्षयका दोष हमें देख पड़ता है इसलिये हम
इस पापसे निवृत्त होमका विचार क्यों न करें ॥ १९ ॥

माधार्थ—अतिपक्वने बड़े कर्म और अकर्मका विचार होकर दिया है तो वह उसका दोष है हीं ऐसा दोष नहीं करना
चाहिये और कर्ममार्थात्मक विचार करना चाहिये ।

इस प्रकार भर्तृकने भगवान् श्रीकृष्णको भी कुछ संछेमें
पुनरेवस्था मानन किया और फिर कहने लगा—

(१८-१९) भर्तृक कहता है कि यद्यपि ये कौरव
क्रोमके कारण कुलक्षयसे उत्पन्न होनेवाला दोष और मित्र
द्रोहका पातक नहीं देखते हैं तथापि उल्लेख यह नहीं भिन्न
होता कि हम पातकको न देखें वा देखकर भी उल्लेख
निवृत्त होनेका उपाय न करें । क्रोमी मनुष्य किसी भी
दुरे कर्ममें दोष वा पातक नहीं समझता । अतएव विचार
चाहे दुरा कर्म कर्ममें बहुत होता है अधिकतर मत्त होने
पर अपने किंने दुरे कर्मकी भी अच्छेसे समझा वतकारेकी
बैधा करता है । वह तो साम्राज्यवादी अपने साम्राज्यकी
रक्षाके लिये करते ही हैं । परन्तु जो मनुष्य अपना तथा
दुखा राज्य पुनः प्राप्त करनेके इच्छुक है उसके लिये ऐसा
अन्वय करना उचित नहीं । इसकी दृष्टि तो आत्मसुखकी
और होनी चाहिये । अपने आचारमें क्रोमका दोष
है इसकी परीक्षा उसकी छाया करनी चाहिये । और
जहां दोष और पापकी संभावना हो वहांसे वह दोष दूर
करके स्वयं बचन करना उचित है । कुलक्षय मित्रद्रोह
मित्रद्रोह वन्धुवध, गुलका संघर्षोंका अच्छेसे सम्बन्ध
का दोष है सब पाप बनावक हैं । कौडीसी पृथ्वीके एक
आमके राजवंशवधके लिए क्या हम न पाप करें । यदि
स्वराज्य वाञ्छित इच्छुक लोग स्वयं न पातक करने लग

जायें तो उक्तका अधिकार ही क्या है कि वे साम्राज्य
कातकोंकी हत्या दोषों और पातकोंके लिये सिद्धा करें ।
दोषोंके पापक समान ही दोषोंके फिर एक पापियोंको हत्या
और दूसरे पापियोंको उल्लेख स्वाधर रखनेकी क्या आवश्यक
कहा है । कौरवोंने कुछ पातक ही किंने हैं, परन्तु इस दुष्ट
कर्मसे हमसे अधिक पातक होने उल्लेख तो उल्लेख
निरास्य नहीं किंने हैं । कुलक्षय पृथ्वीका मित्रद्रोह, वह
वध सम्पादकोंका अच्छे और हमके लक्ष्य होनेवाला अन्व
पापक साथ हमसे होगा यदि हम दुष्ट करेंगे । स्वयंसे
कौरवोंने क्या किया है कौरवोंने ऐसा एक ही दोष नहीं,
किया है । कौरवोंने इसी (पाण्डवोंके) साथ अन्वय किया
एक कौडीका अन्वयिका की कुछ और ऐसे बोधसे पातक भी किंने
परन्तु क्या हमसे होनेवाले इन पातकोंकी तुलना उल्लेख ही
सकती है । यदि उल्लेख बोधसे पातकोंके कारण अपने एक
अर्थोंको राज्यवादीसे हत्या है तो उल्लेख अधिक पातक करने
के कारण हमारा राज्यवर दक्ष जैसे विद्वत् ही सकता है ।

दोनोंका दोष

‘ हे कृष्ण ! तुम कहोगे कि दुष्टमें दोनों कौरवों की
एक दूसरोंको मारेंगे अतः मित्रद्रोह पृथ्वीका मित्रद्रोह
चाहे दोष दोनों और समान होने हमसे कोई कौरवोंका
दोष कम और पाण्डवोंका अधिक नहीं है । वह कर्म
ही है । यदि तो दोनों और समान होने ही । परंतु

(११) कुलध्वयका परिणाम

कुलध्वये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिमघत्स्युत ॥ ४० ॥

अन्वयः— कुलध्वये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति उत धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं कुलं अभिमघत्सि ॥ ४० ॥

कुलका क्षय होनेसे सनातन धर्मात् परंपरासे चलनेवाले कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, और कुलधर्म नष्ट होनेसे अधर्मका प्रभाव सब कुलपर हो जाता है ॥ ४० ॥

यहां प्रश्न होता है कि यदि ये इस युद्धमें शेष नहीं देखते हैं, तो वह उनका वर्तन किध करला है कि कोयके कारण उनकी क्षति मारी गई है । हमारी क्षति तो बेसी मारी नहीं गई है और यदि हम हममें दोष स्पष्ट देखते हैं तो ऐसे मनासक दोषमय कर्मोंसे हम पीछे क्यों न हटें ? किसीने कौन या मोहके बलका मार बिचा तो हमको जबर ही गानका बंध करना चाहिये ऐसी तो बात नहीं है । इसी क्षिपे भैंसे कहा कि पुष्पोंके राज्यके क्षिप क्या क्षिपुवधके राज्यके क्षिपे भी मैं पुष्पोंवादीक और पातक नहीं करूँगा ।

कटिसे कांटा निकालना

अर्जुनका यह कथन है । सुविधात् यदा योग्य है परन्तु एक कंटा क्षीरमें बुझ जाने बाद वह बाहर न निकल तो दूसरा कंटा फिर क्षीरमें डुबाकर ही पहिलेका निकालना पड़ता है । उस समय वह सुखिमत् करना कि अन्ध एक कंटा तो पहिले ही क्षीरमें डुबा हुआ है फिर और दूसरा क्षीरमें क्यों डुबायें दीक नहीं है । क्योंकि दूसरा कंटा क्षीरमें डालनेके बिना पहिला निकलेगा ही नहीं । अतः दूसरा कंटा डुबाकर और पहिला अपकारक समझा जाता है । इसी भावसे स्वराज्य प्राप्त करनेवालोंके द्वारा चलाया हुआ साम्राज्यवादीकी शोषको दूर करनेके क्षिप अन्धत वास्तविक और अपरिहार्य होनेके कारण निर्बोध है और उसी युद्धमें साम्राज्यवादीकी ओरसे जो क्षिपा जाता है वह अशोष होता है । इसके अतिरिक्त अन्य सामाजिक विषय यह है कि जो कोय वास्तविकार में रहते हैं, उनके हृदयमें अविचार होनेके कारण वे ही अधिक शोष करते हैं वैसे शोष उनसे बढ़ाये नहीं हो सक्ता कि किनके हृदयमें अविचार नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि यदि भावा भाव कि इस स्वराज्यवादीके युद्धमें अन्धतवादिबन्ध शोष और पातक दोनों ओर समान ही हैं तो उसमें साम्राज्यवादी कीरनेके पूर्व काकके सब पातक क्षिप निकाल जाने तो वे स्वराज्य प्राप्त करनेवाले पातकवाले पापोंसे निःप्रेक्ष्य अधिक हो जायेंगे । अतः पातकव तुलनासे भी अधिक निर्दोषी सिद्ध होते हैं । इसक्षिप अर्जुनका यह सुखिमत् अन्धतसे पूछ ही है ।

और भी एक बात है यह वह कि पातकवादी क्षात्रिकी हृदयसे केवक पांच ही ग्राम मोगे वे । इसकी अन्वयसम्प-द्वारा विचार्य केवक युद्ध हृदयके क्षिप । पातकव भावे राज्य के स्वामी होकर केवक पांच ग्रामोंपर ही अन्वय होते हैं और केवक क्षात्रिके क्षिपे इसका स्वास्वय्य करते हैं इसका विचार करनेसे इस युद्धका कोई शोष पातकवादीपर नहीं जाता है । जो कुलध्वयका अन्धत अन्धतवादी शोष है वह केवक कीरवादी ही जाता है । जो अविचारसे अन्धत होते हैं और स्वाध्यायीवादी भी नहीं सुनते उनपर सब शोष जाता है । इस विचारात्पुनः युद्ध करने इतने बीरोंका बंध करनेपर भी पातकव शोषी नहीं और कीरव ही इस बन्धके शोषी हैं । अतः अर्जुनका सुखिमत् अन्वयसम्प ही है ।

अब भागे अर्जुन क्या कहला है देखिए—

(४० ४५) युद्ध करनेके क्षिप प्रायः दोनों ओरकी सेनाओंमें युद्धक कोय ही समिद्धि होते हैं । आपोद्धया रससतिवर्षपर्यन्तं यौवनम् । (वास्तव्यवा) शोकव बर्षसे सत्तर वर्षतक युवावस्था होती है और इसी अवस्थाके युद्ध युद्ध करनेके क्षिप रम्यमिषर अरिबन्ध होते हैं । भीष्म भीष्म जैसे अतिवृद्ध युद्ध भी अरिबन्ध युद्ध करते हैं वही यह विषय नहीं है । अर्थात् युद्धसे जो मारे जाते हैं

अधर्माभिभवात्कुल्या प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्षसंकरः ॥ ४१ ॥

सकरो मरकायैव कुलभानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो येषां सुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दांपतेरैः कुलभानां वर्षसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च क्षाम्यता ॥ ४३ ॥

अव्ययः- हे कुल । अधर्माभिभवान् कुलक्षयः प्रदुष्यन्ति । हे वार्ष्णेय । स्त्रीषु दुष्टासु वर्षसंकरः जायते ॥ ४१ ॥
सकरः कुलभानां कुलस्य च मरकायैव (मरुति) । हि एषां पितरो सुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति ॥ ४२ ॥
कुलभानां एतैः वर्षसंकरकारकैः दत्तैः शास्त्रैः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते ॥ ४३ ॥

हे कुल । अधर्मसे सब कुल व्याप्त हुआ तो कुलस्त्रियां पुरातनमें प्रदूष होती हैं । हे वृष्णि कुलोत्पन्न
कुल्य । त्रियाँके दोषयुक्त होनेसे वर्षसंकर होता है ॥ ४१ ॥ वर्षसंकर होते ही कुलघातकी पुष्टि और
उनका सब कुल नरकवासको प्राप्त होता है और इनके पितर पिण्डोदकान और जलतप्य आदि क्रिया
सुप्त होनेसे पतित होते हैं ॥ ४२ ॥ कुलका घात करनेवालोंके इस वर्षसंकर करनेवाले दोषोंसे पुरातन
जातिधर्म और कुलधर्म लुप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

ये शत्रुक सत्य रूप लक्ष्य ही होते हैं । इसा औरवर्षावर्षोंके
असलीय बुद्धिमें दोनों औरकी मिलाकर १८ अक्षीहिनी सेवा
व्यवस्थित थी । अक्षीहिनीका प्रमाण यह है-

७८१ २

महाद्विषया प्रमाणं तु व्याख्यायितृकैर्गतिः ।
रघोरतैर्द्वयैर्मित्रं पञ्चमैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात् गद्य ११८० ; पद्य ११८० ; अथ ६५१११ ;
अनुप्य १ ११५ सब मिलाकर ११८० अक्षीहिनीकी
सेवा होती है । इसमें प्रत्येक शब्दके साथ रहनेवाले बीच वचीन
अनुप्य कोटके साथ रहनेवाले कोटीन अनुप्य की मिलाया
दिया है । इनकी गिनती करनेसे अक्षीहिनीमें अनुप्यकी
सेवा आठ दस लाख हो जाती है । महा अक्षीहिनीका
प्रमाण १११११११ गिना है-

० ० १ ४ २ (१ १ १ १

अथ मिथिद्विषयिष्यद्राष्ट्रपतिहिमांशुभिः ॥
महाराष्ट्रिणीं प्रोक्ता संक्षमाणयितकापि ॥

महाराष्ट्रीय बुद्धिमें १८ अक्षीहिनी सेवा थी अनुप्य
अनुप्य की गिनतीकी साथ तो बचने कम ४ लाख कोट
आ कोट थी इस बुद्धिमें अनिश्चित यह बात निश्चित है ।

ये ४ लाख और इस समयकी भारतीय जातिके परिवर्तन
कद से भारतीय जातिकी सारी जाथा हममें एकट्ठी हुई थी ।
ये भारतीय समयवाकी जीवित सृष्टिवां थी । भारतीय बुद्धिमें
हममेंसे गिनतीके दशवांश आदमी ही बचे । अब सब बने
गये । इसके बाद जायें असलीय सम्भवा मात्रः बहकी
हो गई । इस बुद्धिमें पञ्चाशत् राष्ट्रमें कुछ बड़े कुछ बाकक और
कुछ छोटी बची होती । और कुछ पुष्पायनीय पुष्प रहे होते ।
बुद्धिमें बचनी होकर कुछ पुष्प बचते हैं तो वे हाववांश
करवानेके कारण राष्ट्रमें विचरते होकर रहते हैं ।

इस प्रकार महाबुद्धि होनेसे राष्ट्रीय सम्भवा जातीय
परंपरा और कुलपरंपरा हट जाती है । और राष्ट्रकी रहित
बना और जातीय रहित बना अनेक प्रकारकी हानियां होती
हैं । इसी हानिका वर्धन बहुत कर रहा है । बहुत कहना
है कि यदि हममें यह बुद्धि फैला तो इस समयतक चली
आई हुई सारी सम्भवा नष्ट हो जायगी । इसारी जाति-
हारा नष्टों बचने अवश्यसे बचनी देखिक संस्कृति लुप्त हो
जायगी । बुद्धिमें पञ्चाशत् बचे हुए कुछ बड़े कोटी देशमें मा
जायेंगे और जातीय सम्भवाकी परंपराका वतमेवाका कोई
अनुप्य इस अवधिमें नहीं रहगा ।

औ बाकक बचने से सम्भवामें अनभिज्ञ होनेके कारण

उत्सवकुलमार्णा मनुष्याणां अनार्यन ।

नरके नियतं वासो मन्वीत्यनुष्ठुभुम् ॥ ४४ ॥

अहो वत महत्पाप कर्तुं व्यवसिता घमम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अवस्था— हे अनार्यन । उत्सवकुलमार्णा मनुष्याणां नरके नियतं वासो भवति इति अनुष्ठुभुम् ॥ ४४ ॥ अहो ! वत महत्पापं कर्तुं वर्यं व्यवसिताः । यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः ॥ ४५ ॥

हे अनार्यन । जिनके कुलधर्म गए होते हैं उन मनुष्योंका नरकमें निश्चयसे वास्तव्य होता है ऐसा हम सुनते हैं ॥ ४४ ॥ ओं हो । कितना बड़ा मारी पाप करनेके छिये हम तैयार हुए हैं, जो राज्यसुखकी खाइतासे हम अपने माइपोंको ही मारनेके छिय बघत हुए हैं ॥ ४५ ॥

माताप— कुलके सब पुत्रोंका सब होनेसे जिहां दुराचार करी हैं और दुराचारसे कुलका सत्त्व सब नष्ट होना है वत ! कुलका नाश करना बड़ा अनर्थकारक है ।

सम्प्रदायी रक्षा करनेमें सर्वथा लज्जामें होते और जब वे पुत्रा बचें तब उनकी स्थिति संस्कारहीनसी होगी । क्या इस समय वे आनन्दमान कहने योग्य होंगे ? कभी नहीं ।

जो जिहां बचेंगी उनमें कुछ भविष्यी होगी उनके बर्णोपर भी अलुपटिक छद्म जातिभेद संस्कारों का रङ्ग होगा । जहां वेनी संस्कारहीन ही बचेंगे । जो तत्त्व बुद्धिहीन पति करनेके कारण विधवाएं हो गई होंगी उनमेंसे कुछ सही बनकर पतिसे साथ बच जायेंगे जब कभी जायेंगे कुछ मोदी धर्मिकही रक्षा कर सकेंगे ऐसा मानने पर भी जानीस काज तक्योंकी धरकी धर जिहां पतिव्रता बर्मेसे रहेंगी और उनके कोई दुराचारन नहीं होगा ऐसा कहना कठिन है । क्योंकि वह लाज्यका देहबर्म है और वह रूप स्वाधीन रक्षा बलि कठिन है इस कारण उनके व्यक्ति पार भावि व्यवस्था व्यवहार हो आगया और उस कारण कुलकी छुट्टा मारी जायगी ।

जानीस काज धीरोंका महार होनेसे जो विधवाएं पीछे रहेंगी उनके व्यक्तिभारका पाठक तो हम नुद करनेवालों पर ही जायगा । व्यक्तिभारसे कुलकी छुट्टा बह होगी छुट्टापररासे बने जाने प्रदाचार बह हो जायेंगे और ऐसी बहा बनेगी कि जिनको पूर्वसिंहामसे विधवामें कुछ भी व्यक्तिभाव नहीं रहेगा और जिनको दुराचन प्रथाओंका जोधा भी आम नहीं होगा । जो जिहां व्यक्तिभारके छिद्रमहत्त्व हो जायेंगी वे तो स्वबर्मे में स्वजातिमें ही व्यक्तिभार करेगी द्य

विधवामें कोई व्यक्ति नहीं होगा । क्योंकि जनाचारमें विधवा किंच प्रकट रह सकना है ? पत्न उनमें प्रतिक्रिये व्यक्ति पार होनाका बर्णोपर हीन बर्मे या हीन जाति व्यवस्था हीन संस्कारोंमि मनुष्योंके व्यक्तिभार हो गया और वह बर्मेमकरसे विगदा हुआ कुछ भीविध भी रहा तो उसमें कुलसंस्कार के हीन बर्मेके कारण, उससे सम्प्रदायी इतनी हानि हो जायगी कि वह किसी प्रकार भी फिर ठीक नहीं हो सकगी ।

बर्मेमकरसे जातिहीन जाति नष्ट हो जाती है । आज तो लाले कुलका व्यक्तिभाव एक एक धीरेमें है वह पूर्ण स्थिति नष्ट हो जायगा और आज जो हीन संस्कारके बोधसे जोध पीछ पड़त हैं उनकी ही संस्था दलभरमें बह जायगी । कर्त्तृ इस नुदसे हम जाय जायिका और परंपरासे बड़ी जायि कार्यवधिक सम्प्रदायी ही नाश कर रहे हैं । इस नुदसे जाय होनेकी तो कोई आशा हीनकी ही नहीं है । इसलिए नुद करवा बड़ा मारी पाप है ।

राज्य और सुखके छिद्र जायिका ही समूह नाश करना कदापि योग्य नहीं है जहां में नुद नहीं करता, वह जर्हम के कलमका नाशक है ।

जो नुदका जनात्मक चिन्त जर्हमने पाठ्यमें जाया है वह जसा है इसमें कोई संदेह नहीं है । हरएक महा-नुदमें ऐसा हुआ ही करता है । परन्तु महानुद ऐसे प्रमथ होते हैं कि उससे एक एक का जनेक बर्मेके पाठक बहूत ही हकट्ट हुए होते हैं और वतकोंके कारण जनात्मक भंग-कार्योंकी

यदि मां प्रतीकारमशस्तं क्षत्रपाणयः ।

घातैराद्या रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतर मयेत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः— यदि क्षत्रपाणयः घातैराद्याः अशस्तं अपरीकारं मां रणे हन्युः तर्हि मे क्षेमतरं मयेत् ॥ ४६ ॥

यदि ये शास्त्रपारी धृतराष्ट्रपुत्र मुस निशङ्क रूप और प्रतिकार न करनेवालेको इस रसक्षेत्रमें मार जायें, तो वह मरे किये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

अवस्था ऐसी विविध अवस्था हो जाती है कि इस समय जब दोनों पक्षोंको युद्धसे कोई भी रोक नहीं सकता। अर्थात् युद्ध अपरिहार्य होते हैं। भारतीय युद्ध ऐसा ही अपरिहार्य था प्रत्यक्ष करनेपर भी इसके रोकथाम कोई समर्थ नहीं हुआ। वे पाठक कैवल्य दुर्लभके द्वारा भी हुए ऐसी बात नहीं है, वे इसके दृष्टि से रह गे। क्षत्रपुत्रादिका युद्ध। वरनामं द्वितीय विवाह करना, महकुचकीके युद्धको राज्याधिकारी मिश्रित करना और लम्बे युद्धावस्था अधिकार क्षीयघातके कारण क्षीय जाना। वे और ऐसे अनेक पाठक इससे पूर्व हो चुके थे और कमजोर हो रहे थे। मायो राज्याधिकारियोंको पाठक कर्मका अन्वय हो गया था। शत्रुमें ऐसे पाठक जमा होते हैं और वे शत्रुके समक्ष कुर्बान्यकर जाते रहते हैं, ऐसे कुर्बान्यकर जमते जमते एक समय ऐसा जाता है कि जिस समय राष्ट्रीय मन्त्र अधिक कुर्बान्यकारीका भय सहनेमें असमर्थ हो जाता है और बोधेस विमिश्रिते ज्ञानका किंचित जाता है तथा युद्धकी अग्नि मटक कटती है। कोई संवि करनेका प्रयत्न करता है तो उसका कर्म दूसरा समझ ही नहीं सकता। और जो जो प्रत्यक्ष संविधि किये किये जाते हैं वेही युद्धकी अग्नि वदति करनेके किये कारण हो जाते हैं ।।।

ऐसी अवस्थामें महायुद्ध अपरिहार्य होते हैं। इस समय यदि अर्जुन ऐसा युद्धावस्था और युद्धसे निष्पन्न हो जाय, तो उसके शासनपर दूसरा कष्ट हो जाता है और युद्ध होता ही है। अतएव इस समय अर्जुनके सामान्य युद्धमें भाग जालेका निश्चय करना भी युद्ध नहीं होता। क्योंकि यह समय ऐसा होता है कि एक मोरके भाग जालेके वायर जालेसे युद्ध बन्द होना सर्वथा असंभव होता है। युद्ध बन्द इस समय होना कि जब एक पक्ष पराक्रमशोर हो जाय अथवा दोनों पक्ष पूर्णतया युद्ध करके थक जायें ।

अर्जुन भी युद्धमें अवाधक परिणाम वर्जित किये के लक्ष्य है परन्तु युद्ध अपरिहार्य होनेके कारण इस समय अर्जुनका

भागवा डीक नहीं था। अर्जुन रणभूमिसे सम्प्राप्त केवल भागभी जाता तो युद्ध कभी बन्द नहीं होता। वहाँ समय की न जायना अर्जुनका दोष है।

भारतीय युद्धके समय ऐसा युद्ध अपरिहार्य हुआ था ऐसा ही परशुरामके समय भी युद्ध अपरिहार्य ही हुआ था उस समय भी लक्ष्यों कश्चित्कुलोंका संहार हुआ। जल तीव्र युद्धमें भी कश्चित् कश्चित् विनष्ट हुए। श्रेष्ठ, कृप और अश्वत्थामाजी बात छोड़ दी जाय तो शेष भावः सबसे कम कश्चित्पीर ही था। क्योंकि भारतीय युद्धके समय विशेषकर कश्चित् ही युद्ध करत थे। परन्तु यदि राष्ट्रीय हर्षक स्वधि की युद्धशीला अनेका प्रसंग प्रत्यक्ष हो, तो सब कोर्गि केमक एक ही क्षात्रपुत्रका उत्कर्ष होता है और क्षात्र विचार कीकता व्यापार युद्धकता और करीगरी के आश्रमों वैश्यों और क्षत्रिके शुभ भावः दृढ जाते हैं। और इस प्रकार अन्य वर्णोंके दृढ जातेसे भी राष्ट्रपर आरति ही जाती है। वह भी एक प्रकारका वर्णोत्कर्ष समझिये अथवा वर्णवाह सब किये जो महायुद्धके कारण हो जाता है आश्रम सद्भावे किये आश्रम करने काय कार्य तो वह भी एक प्रकारसे वर्णोत्कर्ष ही हो जाता है। इसी प्रकार आश्रमके वैश्यकर्म करनेसे भी उसके आश्रमगुण ग्लूय जाते हैं। इसकारण वर्णव्रजता ही जाती है। तीव्रयुद्ध तथा महायुद्धके कारण ये सब हासिया होती हैं। अर्जुन दृढ हासियोंका अनुभव कर रहा है, इस किये वह युद्ध करनेसे विवृत्त होयेका निश्चय करता है।

यहाँ श्लोक ४१ में श्रीकृष्णकी वार्त्ता अर्थात् हृत्की के कुर्ममें उत्पन्न कीर कहा है इस अर्थसे अर्जुनने कहा वह स्थिति किना है कि तुम भी तो हृत्किकुर्ममें उत्पन्न हुए हो। क्या तुम वर्ण चाहते हो कि तुम्हारे कुर्मका पैला भाव हो जाय और वर्णोत्कर्ष होकर कुर्मका उत्पन्न वह हो जाय ? जैसे तुम्हारा कुर्म तुम्हें मित है वैसेही हमारा कुर्म हमें मित है। इसकिये तुम्हें ऐसा मोर कर्म करनेकी इत्ते क्या देना तुम्हारे किये उचित नहीं है।

समय उवाच—एवमुक्त्वाऽर्जुनः सख्ये रथोपस्थ उपाविष्टम् ।

विसृज्य सशरं चाप श्लोकसाविप्रमानसम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मसिद्धान्तोपनिषत्सु श्रीकृष्णार्जुनसंवासे अष्टमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रुत्ये पूर्वं बतवा, श्लोकसंविप्रमानस अर्जुनः सशरं चारं विसृज्य रथोपस्थे उपविष्टम् ॥ ४७ ॥

सञ्जय बोले—इस प्रकार स्वभूमिमें मायल कर श्लोकसे व्याकुल भिन्न होकर अर्जुन धनुस्पाश छोड़कर रथमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इसप्रकार बहुत पुत्रसे निवृत्त होता है और अन्तिम निश्चय करता है—

(४७) पुत्रसे होनेवाला ममानक कुलकाबाध अर्जुनसे होता और उससे भागे जाकर होनेवाले सम्बन्धोंके नाशकभी भयंकर परिणामका भी उससे विचार किया और उससे पुत्र न करनेका ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं पुत्र न करवपर भी भी विचक्षी राजा स्वयंसे ही अपनी धूलु होगी ही इस विषयमें यह कहता है कि “ यदि मेरे छात्र विरैर रहनेपर धनु मुझपर धन चकारों तो यह मेरे विरै अन्तिम कल्याणकारक होगा। ” क्योंकि जगता कहैगी कि अपनी ओरसे अर्जुनने तो अन्तिम रक्षणका पराकाष्ठाका चत्न किया, सामर्थ्य रहनेपर भी अहिंसाप्रणय अवलम्बन किया तो भी साम्राज्यवादी कुछ कौरवोंसे अपनी वादवी शक्तिके समक्षमें स्वाय और अन्त्या न दृष्टते हुए, गिराक और विरोध न करनेवालेका विचार करन बन किया। गिराक विरैर और आईमाजिक धनुस्पाश पराधीन वकसे आक्रमण करना बार बपर धन चकारा वही असौगठिकों वंशुके हुए साम्राज्य धारिणोंका ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता। ' जगता ऐसा कहेगी और जगत्कि के धम्प ही मेरे परम कल्याण होनेक सूचक हैं। वही अर्जुनका मायल समान्य होता है।

(४७) सञ्जयने कृतराष्ट्रसे यह सब सुलभत कहकर सुचित किया कि बहुत तो अपना अनुभवदान त्यागकर अपने रथमें कुछ करता हुआ बैठ गया। जर्जोर पुत्र करनेका उसका संपुल बलाइ वह हुआ उतकी वीरवृत्ति चली गई उसका हृदय पुत्रसे भर गया और वह पूर्ण शिथिल बहान हो गया है।

समय है कि वह कृतराष्ट्र सुनकर कृतराष्ट्रके मन ही मनमें अर्जुन जार्ज हुआ हो क्योंकि संभवद्वारा उसने जो उपदेश पाँचवोंको करवाया था उसका जो परिणाम होता कृतराष्ट्रको अभीष्ट था वही उसने सञ्जयके मुखसे प्रथम किया।

इस प्रकार स्वराज्यप्रतिका प्रचल करनेवाले पाँचवके समुदा देव आकाके समय पूल बदासीनता और धार्माग्य वाली कृतराष्ट्रके सामने अपना धार्माग्य कंदकमित होकर विरस्तानी होनेकी जाका कही हुई। वरुण होनेवाला कुछ और ही होता है।

स्वराज्यका प्रचल करनेवालोंकी बारवार होनेवाली गिरावले ही उनकी वरनेवरपर मति अधिक होने कष्टी है और उससे उनकी वचसक्ति मिचठी है और साम्राज्यवा विचोके विजयोंसे ही उनकी समझ यह मानेके करन उनकी लाध उनके समीप जाने करता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकरी उपनिषद्में कथित ब्रह्मविद्यासे मिलित हुए, योगशास्त्रविषयक अहीनता और अर्जुनक संवाहमें अनुभवविद्यायोग नामक पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विषादयोगका विचार

‘ श्रीमद्भगवद्गीता । एक अपूर्व ग्रन्थ है इसी कारण इस की इतनी माग्यता इस देशमें और इस देशके बाह्यके देशमें भी हो गई है । हिंदुमात्रका भेद इस भगवद्गीतापर नहीं है । दुसरे विचारके बहुतसे हिंदू प्रतिष्ठित गीताका पाठ आदरते करते हैं । संस्कृतज्ञ हिंदू गीतापर विचार करते हैं और उसका प्रवचन करनेमें अपने आपको चमक समझते हैं । साधारणी हिंदू गीतापर दीक्षितपूज्य की कमान्तर भाषान्तर जवना अन्य प्रकृतका प्रवचन या विवचन किन्हे में आनन्द मालते हैं । इस कारण इस भारतवर्षमें इस श्रीमद्भगवद्गीता पर इतने प्रशंसोंकी रचना हुई है कि उस सबका संग्रह करवा किसी साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहरका कर्म है । बहुतसे भारतीय कविबोधे इसका कमान्तर अपने अपने शिव छन्दमें किया है ऐककों भाषान्तर कर्त्ताओंमें गद्यमें विविध भाषान्तर किन्हे हैं परीन ग्रन्थ कार अपने मतकी पुष्टिके किये श्रीमद्भगवद्गीताका प्रमाण दिने बिना सम्भूत नहीं होते । हिन्दूकी मोक्षमार्गके दूर उपकारे जानेवाले संकल्पमें भी भगवद्गीताका एक छोटा काहें चिन्तामनो मूल्या ७ (म गी १५१७) संक्षिप्त हुआ है, जिसके साथ ऐसा कहा जा सकता है कि कि कोई जिस भगवद्गीताका छोटा बरतके बिना मोक्षन नहीं करण । श्रीमद्भगवद्गीतामें इतना महत्त्वका स्थान हिन्दूके हृदयमें प्राप्त किया है इससे प्रशंसकी सेछता जात हो सकती है ।

भारतवर्षकी शासकोंके भिन्न भिन्नधर्मों कई जातियोंमें भी इस देशके विवादिधर्मों की सारकी अधिक भगवद्गीताके भाषान्तर स्वयंस्फूर्तिसे किन्हे हैं । जिसका जो धर्मग्रन्थ है वह इसका प्रकार करनेकी इच्छासे दूसरी भाषाओंमें भाषान्तर करता है वह बात स्वयम्भूत है । इस प्रकार हिंदू लोगोंमें गीताका कमान्तर अन्त्यान्त देश भाषाओंमें किया होता तो धर्म विशेष बात नहीं होती । परन्तु भगवद्गीताका भाषान्तर जो अन्त्यान्त भाषाओंमें हुआ है वह हिंदूकोशांता नहीं हुआ है अतिशय अर्थ देशके विद्वानोंमें इस गीताकी भिन्न रचना अनुभव किया और स्वयंस्फूर्तिसे ही इसके विचार अपनी अपनी भाषाओंमें प्रविष्ट किन्हे । प्रत्येकी योग्यताका

भिन्नत्व करनेमें वह एक बात किसी श्रीमद्भगवद्गीता क अनुपम है, ऐसी किसी अर्थ धर्मग्रन्थके विषयमें नहीं है ।

इस प्रकार भारतवर्षीय और दूसरे देशके विद्वान् इस भगवद्गीताको विशेष मानवीय मानते हैं, ऐसा कहा जाय तो वह कोई असुविधा नहीं होगी । इसीकिन्हे इसका विचार करनेका बात नहीं किया जाता है । सबसे प्रथम इसके नाम का विचार करना योग्य है ।

श्रीमद्भगवद्गीताका नाम

गीता

श्रीमद्भगवद्गीता भगवद्गीता जवना गीता ये इसके नाम उसके मुखमें स्थिर हो चुके हैं । हम नामोंका धर्म भगवत्की गीत है वास्तव भगवत्की मुखारविन्दके इसके मकर होनेके कारण इसका महत्त्व विशेष है वह बात हरएक मान सकता है अर्थात् इस विषयमें किसीका विरोध नहीं हो सकता । क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्में महत्त्वके वह उपदेश किया वह बात सभी मानते हैं । ‘ धर्मसंरक्षकता करनेके किये श्रीकृष्ण भगवान्के जन्म किया था और वा धर्म बन्देहि कहा और वाचरण करके दिखाया गयी धर्म इस गीता में कहा है । अनन्त श्रीकृष्णके विषय मानवी धर्मका उपदेश किया जवना धर्मसंरक्षकोंका गाथन किया गयी श्रीमद्भगवद्गीता जवना भगवद्गीता है । वह नाम ही इस उपदेशके भगवान्के मुखसे दिने जानेकी बात धुविष्ट करता है और इसकिन्हे भगवा जन्मविवाह बरता है कि यदि मैं इस उपदेशके अनुसरण नहीं तो निराश्रय मेरा वेदा बात हो जायगा, क्योंकि इस उपदेशके अनुसरण करनेका धर्म ही यह है कि भगवान्के आज्ञाके अनुसरण करना ।

गीता कच्छप धर्म ‘ गाथी ’ गयी है । इस प्रथम एक अन्यैक गीत जाने अन्य हैं, परन्तु ‘ गीता ’ कच्छप धर्मके प्रथम इस श्रीमद्भगवद्गीताके किये मनुष्य हुआ क्योंकि इस का देशकर कोनोंकी यह विधाय हो गया कि यदि कोई अपना मानवधर्मका गीत गाया गया है, तो वह गयी है । इसके समान दूसरा कोई गीत नहीं है । ऐसा कहते हैं कि

इस सुपुत्रकी कम्म देनेसे यह माता 'माता' बनी अपना पञ्च माताएँ पुत्रकर्म प्रसन्न करनेवाणी तो मिःसिंह होती हैं, परन्तु सुपुत्रके कारण ही माताका नाम पञ्चस्त्री होता है उसी प्रकार गीत तो बहुतेरे हैं, जो अष्टक कर्मों से बह होत हैं वे सब गीत ही हैं। परन्तु इस गीताके मनुष्य वरम पञ्च हो सकता है इसलिये यही धरना गीत है, अतः इसका नाम गीता प्रसिद्ध हुआ और सबको यही नाम सर्वत्र मिल हुआ। भगवद्गीताके पञ्चाक्षर लेखों गीतायं यमी। रामगीता, अनुगीता आदि लेखों गीतायं हैं परन्तु जगत्पते गीता नाम श्रीमद्भगवद्गीताका ही सकता नाम समझा है अतः गीता 'कर्मसे किसी अन्य गीताका नाम नहीं होता केवल इस भगवद्गीताका ही बोध होता है।

इस गीताके प्रत्येक अक्षरमें अक्षरका सञ्चल इस प्रकार रहता है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषद् ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवादे [प्रथमोऽध्यायः] नाम
पञ्चाध्यायः] समाप्तः ॥ १५ ॥

इसमें जाने श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद, इन चार शब्दोंमें से हर एक नाम इस प्रयेका है। इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्गीता या गीता होनेके विषयमें इसके पूर्व कहा ही है। उसी प्रकार इसका नाम उपनिषद् भी है उसी जानते हैं कि यह गीता उपनिषदोंका धार है—

सर्वोपनिषदो गायो योग्या गोपाळमन्त्रः।

पापों धारतः सुधीर्भोक्ता पुण्यं गतितामृतं महत् ॥

सर्व उपनिषद् सभी विद्वानों गीतें हैं उनका सारमूल यह एक श्रीकृष्ण भगवान्से हुआ है, अर्जुन नामक कुत्रि-
मात्र ब्रह्मा ब्रह्मसे सेवा करता है। इस प्रकार यह उपनिषदका सार होनेसे उपनिषद् ही है। अतः भगवद्गीताका नाम उपनिषद् भी हो सकता है। यह उप-
निषद् का कार्य (उप) सकीर्ण (नि) मिःसिंह (घर) पहुँचानेवाका मूल है। इस गीतामें कहा हुआ श्राव मनुष्यको मिःसिंह देवके समीप आकर विराजमान होनेका अधिकारी बना सकता है इसलिये इसका नाम

७ (रि टी)

उपनिषद् है।

इस गीताका नाम ब्रह्मविद्या भी है। ब्रह्म नाम अति महती दक्षिण है इस महात् दक्षिणाशान (विद्या) जानना और अपनी दक्षिण ब्रह्मा इस ब्रह्मविद्याका उद्देश्य है। हर एक मनुष्य अपने व्यवहारका अनुभव करता ही है उसको इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान होनेसे अपनी दक्षिणाविकास किछ प्रकार किया जा सकता है, इसका ज्ञान हो सकता है। और इस ज्ञानके सहारे आपका अपनी दक्षिण अविविराज्य कर सकता है।

इस गीताका नाम योग-शास्त्र भी है। इस गीताके बतारह योग कहे हैं। प्रत्येक अक्षरमें एक एक योग कहा है। सब व्यवहार योग मिळकर गीताका योगशास्त्र होता है, इस विषयमें आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा अतः यहाँ इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है।

इस ग्रन्थका नाम श्रीकृष्णार्जुनसंवाद भी है। यह पूर्व पुत्र और सावकका संवाद है। श्रीकृष्ण पुत्र पुत्र हैं और अर्जुन (यर्जन) प्रसन्न करनेवाका सावक है। पूर्व पुत्रके पूर्व करनेके सावकका ज्ञान यह सावक प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, और श्राव प्राप्त होते ही यह बैसा ही जाच रत करता है। इसमें एक सावकका इतिहास होनेसे हर एक सावकको यह ज्ञान उपलब्धी हो सकता है। यदि मनुष्य ज्ञान सावक सावाचाय तो यह संवाद मनुष्यमात्रका मार्ग प्रदीप्त होता संभव है

वे चार नाम गीताके अक्षरके अन्तिम संस्कारमें हैं। इसमें 'योगशास्त्र' यह एक नाम है। गीतामें योग नाम 'कर्मयोग' के शिखे जाया है इसी क्रिष्ट स्वर्गवि की जो वाक्यमात्र तिरक महोदयकी अपनी भगवद्गीताकी टीकाको कर्मयोगशास्त्र नाम दिया है। इसीको जानते श्रीमद्भगवद्गीतासु यही कहा है। श्रीमद्भगवद्गीताका रहस्य कर्मयोग ही है इसमें किसी का विरोध नहीं हो सकता। किछ प्रकारके कर्म करनेसे मनुष्य संसारमें नहीं जाता इसका अर्थ विवरण इस गीतामें है, इसलिये इसका नाम कर्मयोगका शास्त्र योग ही है।

इसके बतारह योग महत्तमा मोहनदास करमचंद गोपी श्रीमद्भगवद्गीताका अनुवाद मुद्राणी जायामें छिद्र;

विषयका नाम डम्होने जगत्सन्धियोग रखा इस विषयमें
वे कर्म इस प्रकार लिखते हैं—

गीताका आशय तो कारमार्थको जगत्सन्धियोग
जहितीय रूपान्तर बताया है। जो वस्तु हिन्दुधर्ममें ब्रह्मत्व
निर्धारण रूपमें प्राप्त होती है उसे गीतामें जगत्सन्धि
मयीधर्मि शिखर ही है कर्मफलसाधन ही वह जहितीय
उपान्त है। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो हो ही। पर कर्म
मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो
निर्दोषको ही मिल सकती है। तो फिर कर्मबन्धनसे बचाव
दोषरहितसे कैसे हुआ जाय ? गीताजीमें निम्नवत्प्रकार
इसका जवाब तो दिया है—निष्काम कर्मसे। यथाकर्म
करके। कर्मफलको त्याग कर। 'आतीत वा
माभसिक कोई भी चेष्टा कर्म है तो फिर कर्म करते हुए भी
मनुष्य ब्रह्मसुख कैसे रहेगा ? वह बड़े ही गीताजीमें लिख तरह
झूठी पढ़ है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एक भी कर्म
मेंमें वह इस तरह झूठी गई हो। गीता कहती है,—
फलसन्धि छोड़ो और कर्म करो निराशी भवो
और कर्म करो, निष्काम ब्रह्म कर्म करा वह गीताजीकी
कमी न पूरने योग्य ध्येय है कर्म छोड़नेवाला गिरता है
और कर्म करते हुए अपने फलकी ओरनेवाला बहता है।

वह गीताकी विशेषता है अतः जगत्सन्धियोग वह
नाम महात्मा गांधीजीमें इस गीताको दिया है वह सर्वथा
योग्य है क्योंकि गीतात्म्य वही आशय है।

शिव प्रकार लोकमान्य टिळकजीमें गीताको कर्मयोग
काय कहा और महात्मा गांधीजीमें इसीकी जगत्सन्धि-
योग नाम दिया इस प्रकारके शिक्षामित्र नाम गीताको
इन्हीं वरंदा पहिनेकी नहीं है। वह बात बची है।
जीमज्जगवहीतावधोधिनी केकर जो जो टीकाकार हुए हैं जिनमें
किमीने भी दूसरा नाम देनेका साथ नहीं किया। जीमज्ज-
गवहीतावधोधिनीमें लिखते हैं—

हीरेन काजेन प्रवर्तमाने जगत्सन्धियोगः स्थितिं परि
निवाहयितुः त आश्रितः.. विष्णुः कृष्णः किक सप्तमूव ।
..मः कोकानुमदं कुर्वन्.. वेदिकं कर्मह्वयमनुमान
— उपरिद्ध । तं चम जगत्सन्धि वरंदावधोधिनी
गीतावधोधिनी लक्षणं लोकावधोधिनीवधोधिनी ॥ उपरिद्ध गीतावधोधिनी

समस्तवेदायैसारसंमहसूतं । तत्सारम गीतावधोधिनी ।
पता प्रयोक्तव्यं परं विवेचनं ॥

(गीतावधोधिनी)

बहुत समय जायके एकान्त जगत्सन्धि वरंदावधोधिनी
सुस्थिति करनेकी इच्छा करनेवाले आदिश्रद्धा विष्णु
कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। उसीमें जगत्सन्धि रूप
करते हुए वेदके दोषों—वदुष्टि मिदुष्टिकर्म—बर्णना का
अर्थको दिया। जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि
ही उस कर्मकी वेदव्यासजीने गीता नामक सा
कोशमें प्रथित किया। वह गीताका नाम तो जगत्सन्धि
जाय ही है—। उस गीताका नाम लोकोपदेशी जगत्सन्धि
जगत्सन्धि है ।

इस प्रकार जीमज्जगवहीतावधोधिनी इसका नाम गीत
का नाम है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और वह
नाम दिया है।

जीमज्जगवहीतावधोधिनी ही इसको गीताका नाम ही न
है देखिये—

परं विवेचनं गीतावधोधिनीवधोधिनी प्रयोक्तव्यम् ॥ १ ॥

पुस्तकमें जगत्सन्धि गीतावधोधिनी प्रयोक्तव्यम् ॥ २ ॥

(मनुजगवहीतावधोधिनी)

जीमज्जगवहीतावधोधिनी ही जगत्सन्धि पुस्तकमें है।

जगत्सन्धि जगत्सन्धि गीतावधोधिनीवधोधिनी समारम्भ ॥ ३ ॥

गीतावधोधिनीवधोधिनी वरंदावधोधिनी वरंदावधोधिनी ॥ ४ ॥

(जीमज्जगवहीतावधोधिनी)

इस प्रकार वे दोषों सुस्थिति टीकाकार इस प्रथम ।

गीतावधोधिनी ही स्वीकार करते हैं और कोई नवा ।

नहीं देखे। इसी प्रकार जो जो गांधीय टीकाकार हैं जिन स

गीता ही नाम स्वीकृत किया है।

जगत्सन्धि गीतावधोधिनी ही नाम इस प्रथम प्रवर्तमाने ।

प्रवर्तमाने है। जीमज्जगवहीतावधोधिनी जगत्सन्धि जगत्सन्धि ॥ ५ ॥

नहीं है। परंतु जगत्सन्धि गीतावधोधिनी प्रवर्तमाने है जगत्सन्धि

प्रवर्तमाने नहीं है। जगत्सन्धि नाम को ऊपर दिये हैं जगत्सन्धि

जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि

कभी प्रवर्तमाने नहीं हुए थे। वास्तवमें देखा जाय तो

जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि जगत्सन्धि

केवापमान नाम स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसके समर्थमें भी 'गीता' इत्यादी नाम सर्वसम्मत था ।

जो ठिकठ इसको 'कर्मयोगशास्त्र' कहत हैं, और यहूदमा पीछीकी इसका 'व्यासविनोग' कहते हैं । गीतामें कर्मयोग कहा है और वह कर्म व्यासविनो के कर्मों की पुष्टि इसी प्रथम कही है तथा वे दोनों नाम गने दोगे परभी योग है । परंतु वे साधकका मार्ग बतानेवाले नाम हैं । साधक कर्म करे और वह व्यासविनो कर्म करे वह भाव इस भावसे स्थित होता है । ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले दूसरे नाम बहुरूपी बोले होंगे । बावः क्योंकि नाम प्रायःका निर्देश करनेवाले होता है । वही विचारमौल्य बात यह है कि क्या श्रीमद्भागवतीवाले ऐसे कोई नाम हैं जिसे जो साधक निर्देश करनेवाले माने ला सकत हैं । पूर्ण संस्कृतमें जो उपनिषद् और महाविद्या 'वे हो वास्य है वे कुछ अच्छे अच्छी साधन की सूचना देते हैं ।

योगशास्त्र यह नाम कर्मयोगशास्त्र माननेपर साधकका भाव बतला है वह सत्य है; परंतु गीतामें योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है वह बात सत्य नहीं है । 'समस्त योग सम्पत्ते (म गी ११४) समस्तका नाम योग है इसी योगकी व्याख्या स्वयं गीतामें बतलाई है, वह योगका स्वयं सिद्धांत है इसलिये गीताके आचार्य समस्तिके संस्कृतके योगशास्त्र शब्दका अर्थ समस्तशास्त्र (Science of Equality) ऐसा मानना योग्य है । गीताका समस्त ही सत्य है । ईश्वरशक्ति अज्ञ-प्रसिद्ध आदिवासी भी वही जगत् है कि शक्तिका हीकर सत्य हैन्द्र आत्मा और ब्रह्मा समस्त बात करना । वह समस्त शक्तिके अर्थमें स्थापित होना चाहिये उसके विचार और आचारमें प्रवृत्ति होना चाहिये, वह अज्ञान समाधमें प्रवृत्ति और जगत्में स्थापित होना चाहिये । संकल्प प्रायःकी समाध बरि किसी बातके किये उत्पन्न रहता है तो इसी समस्तके किये उत्पन्न रहता है । वह समस्त कैसे बाध किया जा सकता है इसका ज्ञान मगधरीवाले अज्ञान रीतिसे दूखीया व अज्ञान मगधरीवाला यदि कोई अज्ञानवाक्य नाम हो सकता है, तो समस्तशास्त्र ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' ऐसा शब्द अज्ञानकी समाधिके संस्कृतमें बाधा है । वही योगका अर्थ कर्मयोग नहीं है । क्योंकि गीतामें 'योग' शब्दका अर्थ अज्ञान है ऐसा स्वयं श्रीव्यासविनोयने कहा है

वासवित्तियं कृच्छकतापूर्वकं किमे कर्मये प्राप्तता स्थापित हो सकती है वह बात निःसिद्ध है परंतु व्यासविनोय कर्म-वीर्यकर्म कर्मयोग (म गी० ११५) साधन है और उसका साध्य 'धर्मता' है ।

'योग' शब्दका मूल अर्थ 'बोद्धा' है किसीसे अपना सबन्ध जोड़नेका नाम योग है । अनुमाने अपना संबंध जगत्से पहिले विचार (केन्द्र) के साथ जोड़ा था, इसलिये धर्म अज्ञानवाक्य नाम 'अज्ञान विचार योग' है । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना सबन्ध पुष्पोत्थम (ईश्वर) से जोड़ेगा तो वह धर्मका पुष्पोत्थम योग होगा । मनुष्यको केन्द्रसे मुक्त करके उसका धर्म 'अज्ञान धर्म' से करना ही मगधरीवाला साध्य है । इसमें बतलाव है कि एक मनुष्य को मार्गमें केन्द्रसे मुक्त था वही गीतापर्यंतका अर्थ था अज्ञान धर्म से मुक्त होकर वरन्ध गारायन बननेका अनिवार्य हुआ । बाका गारायन धर्मका पुष्पोत्थम, व्यासवादी गीताका धर्म है । इसलिये इसका नाम पुष्पोत्थमयोग अथवा 'मारा वनयोग' भी हो सकता है । इसके १५ में अज्ञानधर्म पुष्पोत्थमयोग कहा है वही अज्ञान सत्य आचार्योंमें मुख्य है क्योंकि इसमें मनुष्यका अन्तरिम साध्य बतला है अज्ञान अज्ञानधर्मों को कहा है वह इस एकमात्र साध्यके निमित्त आचरनीय है

अर्थात् हमारे धर्मसे गीताका नाम 'पुष्पोत्थमयोग' होना चाहिये । वह नाम संकोच भी है और जो जो अज्ञान धर्म है के सत्य सत्य इसी साध्यके साधनरूप है । वरि दूसरी किसी व्यासकी व्याख्या करनी है तो 'समस्तयोग' का नाम इसके बाध स्थापने आसकता है वह नाम भी संकोच ही है ।

योऽयं योगस्तथा प्रोक्ता शास्त्रेण मधुसूदन ।

(म गी ११३)

आपने जो समस्तकी योग कहा है वह अज्ञान योग कहने भी मनुक्त हुआ है । इस प्रकार जगत्में समस्त और शास्त्र स्थापन करनेके किये गीता करी गई है । वही दूसरी संकोच उत्पन्न हो सकती है कि वह गीता तो मुक्त अर्थ वा बरी गई है और जो मुक्त अर्थवाक्य मिलन का रहता था इसीसे अज्ञानसे मुक्त कराना है अतः वह गीता मुक्त करने वाली है समस्त बतानेवाली नहीं । वह संकोच विचार

जिसका नाम ब्रह्मदेवि अनासक्तियोग रखा इस विषयमें
ये कर्म इस प्रकार लिखते हैं—

वीणाका आलय तो अन्तर्मायीकी आत्मसङ्केतका
बहिरीय उपाय बताया है। जो वस्तु हिंदुधर्ममें वस्तुतः
बिचारे हुए कर्मों पाई जाती है उसे गीतामें अनेक रूपों
भलीभाँति सिद्ध की है, कर्मफलत्याग ही वह बहिरीय
उपाय है। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। पर कर्म
मात्रमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। और मुक्ति तो
निर्दोषका ही सिद्ध लक्ष्य है। तो फिर कर्मकैवल्यसे अर्थात्
दोषस्पर्शसे कैसे छूटा जाय ? गीताजीने निम्नवत्प्रकार सुद्धर्म
इसका उपाय भी दिया है—निष्काम कर्मसे। यथावश्यक
करके। कर्मफलको त्याग कर। सांसारिक वा
मात्रात्मिक कोई भी चेष्टा कर्म है तो फिर कर्म करते हुए भी
मनुष्य बन्धनक से उबरता है। वह वही गीताजीमें जिस तरह
बुझी गई है मैं नहीं जानता कि दूसरे किसी एक भी कर्म
मेंवहीं यह इस तरह बूझी गई हो। वीणा कहती है,—
‘कलासक्ति छोड़ो और कर्म करो। निरासी करो
और कर्म करो निष्काम बनकर कर्म करा। यह गीताजीकी
कमी न पूरने योग्य शक्ति है कर्म छोड़नेवाला गिरता है
और कर्म करते हुए उससे फलको छोड़नेवाला बचता है।

वह गीताजी विवेचता है अतः अनासक्तियोग वह
नाम महत्तमा गंधीजीने इस गीताको दिया है वह सर्वथा
योग्य है क्योंकि गीताका वही आलय है।

जिस प्रकार लोकमान्य टिळकजीने गीताको कर्मयोग
कहा और महत्तमा गंधीजीने इसीको अनासक्ति-
योग नाम दिया उस प्रकारके विभक्ति नाम गीताकी
दुनेही धारता परिलेखी नहीं है। वह बात बची है।
श्रीमच्छंकराचार्यजीसे केर जो जो टीकाकार हुए हैं उनमेंसे
किसीने भी दूसरा नाम देनेका काम नहीं किया। श्रीमच्छं-
कराचार्य भूमिकामें लिखत हैं—

रीयेन काकेन... प्रवर्धमाने अर्थमें जगता विभक्ति वरि
निराकविपुः स नादिकर्ता... विष्णुः कृष्णः किं सत्यवृत् ।
न... ओकानुमर्दं कुर्वन्... वेदिकं धर्मद्वयमर्थात्
— उपरिदिष्ट । तं च स जनयता यथावद्विष्टं ब्रह्मसा-
गीतायैः अत्रिभिः शोधकव्यविवर्धक ॥ उपरिं गीतायां

समस्तवेदार्थसारसंग्रहस्तं । तत्साधन गीतायास्तत्त्व संक्षे-
पतः प्रतीयमं परं निवेद्यतं ॥’

(गीताभाष्यम्)

बहुत धर्मवादीके पक्षार्थ अर्थमें बड़ेबड़े बगवद्गी-
तुल्यविचार कर्मकी हष्ठा करनेवाले आदिछाहा विष्णु
कृष्ण रूपसे उत्पन्न हुए। उसीने जनताके रूप कृष्ण
करते हुए वेदके दोनों—प्रकृति विवृष्टिकृष्ण—धर्मोंका उपदेश
कर्तृत्वको दिया। मनुष्याएँ जो उस उपदेश किया बैसा
ही उस कर्मको वेदम्यासकीने गीता नामक साधन
कोकोंमें प्रमित किया। वह गीताका नाम जो हमला वेदोंमें
सार ही है । उस गीताका नाम संक्षेपसे प्रतीयम नि-
वेद्यत है ।

इस प्रकार श्रीमच्छंकराचार्यजीने इसका नाम गीताका-
र्य माना है। कोई अन्य नाम माना नहीं है और बहुरा
नाम दिया है।

श्रीमद्भृगुसरस्वती जी इसको गीताकार्य ही कहते
हैं देखिये—

परं निवेद्यतं गीतायास्तत्त्वोक्तं प्रतीयमम् ॥ १ ॥

पुनस्तर्हि भगवता गीतायास्तत्त्वं प्रकाशितम् ॥ २ ॥

(भृगुसरस्वती टीका)

श्रीभारवामी जी वही नामसे पुकारते हैं।

यथान्वितं समस्तोक्तं गीतायास्तत्त्वं समारम्भे ॥ ३ ॥

गीता व्याख्यायते तस्याः नाममात्रप्रवक्तव्यः ॥ ४ ॥

(श्रीभारवामी-टीका)

इसकारण वे दोनों सुप्रसिद्ध टीकाकार इस प्रबंध नाम
गीता इत्यादी स्वीकार करते हैं और कोई बड़ा नाम
नहीं देते। इसी—प्रकार जो जो भारतीय टीकाएँ हैं सब सबमें
गीता ही नाम स्वीकृत किया है।

अर्थात् गीता इत्यादी नाम इस प्रबंध का सर्वसंमत और
सर्वप्रसिद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता अथवा भगवद्गीता के नाम
भी हैं। परंतु जिसका गीता शब्द प्रयुक्त है उसमें भी
प्रयुक्त नहीं है। अल्प नाम जो ऊपर दिये हैं अर्थात्
व्यतिरिक्त प्रयुक्तियाँ योग्यताके धीकृष्णभृगुसरस्वतः के
कर्मों प्रयुक्त नहीं हुए थे। वास्तवमें ऐसा आध तो भी
भगवद्गीताविषयक इत्यादी नाम होना योग्य है,
परन्तु श्रीमच्छंकराचार्य जैसे आध मान्यकारने भी इत्यादी

क्यापमान नाम स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसके समर्थमें भी 'गीता' हूँ। इसी नाम सर्वसम्मत था ।

को तिरुक्क इत्युक्त 'कर्मयोगशास्त्र' कहते हैं, और महात्मा गांधीजी इसको ज्ञानासक्तियोग कहते हैं । तीर्थमें कर्मयोग कहा है और वह कर्म ज्ञानासक्ति करने की बुद्धि इसी प्रथम कहि है अतः वे दोनों नाम बने होने परभी योग्य हैं । परंतु वे साधकका मार्ग बतानेवाले नाम हैं । साधक कर्म करे और वह ज्ञानासक्ति कर्म करे वह भाव इन मार्गोंसे सुनिश्चित होता है । ऐसे साधकका मार्ग बतानेवाले द्विपक्ष के नाम बहुतही बोधे होंगे । भाषा प्रयोगों के नाम साधकका निर्देश करनेवाले होते हैं । वही विचारणीय बात यह है कि क्या श्रीमद्भगवद्गीताके ऐसे कोई नाम हैं जो साधकका निर्देश करनेवाले माने जा सकत हैं ? पूर्णतः सम्भवमें जो उपनिषद् और अष्टाध्यायी ने दो नाम हैं वे कुछ बराबर अष्टाध्यायी साधक की बुद्धिवा हेतु हैं । 'योगशास्त्र' यह नाम कर्मयोगशास्त्र माननेपर साधकका मार्ग बतला है वह सत्य है; परंतु गीतामें योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है यह बात सत्य नहीं है । 'समाधि योग उच्यते (अ गी २।४८)' समाधि का नाम योग है ऐसी बोधकी स्वाध्याय स्वयं गीतामें बताई है, वह गीताका स्वतंत्र सिद्धांत है, इसलिये गीताके अन्तर्गत समाधिके संकल्पने 'योगशास्त्र' शब्दका अर्थ समाधिशाल (Science of Equanimity) ऐसा मानना योग्य है । गीताका समग्र ही साम्य है । ईश्वरप्राप्ति प्रयत्न-शक्ति आदिका भी वही अर्थ है कि शक्तिकी ओरकर सम्यक् हेतु जाना और वहांका समाधि प्राप्त करना । वह समाधि स्वयंके अर्थमें स्थापित होना चाहिये इसके विचार और अन्तर्गत प्रयत्न हीना चाहिये, वह समाधि समाधिमें राज्य और अन्तर्गत स्थापित होना चाहिये । ईश्वरी यावन्ती समाधि यदि किसी बातके विषय पर रहता है तो इसी समाधिते स्थिति रहता है । वह समाधि केसे प्राप्त किया जा सकता है इसका ज्ञान भगवद्गीताके उत्तम रीतिसे दृष्टाया है अर्थात् भगवद्गीताका यदि कोई अन्वयार्थ नाम हो सकता है तो समाधिशाल ही है और इसी अर्थका 'योगशास्त्र' ऐसा शब्द अन्वयार्थी समाधिके संकल्पमें लाया है । वही योगका अर्थ कर्मयोग नहीं है । क्योंकि गीतामें योग शब्दका अर्थ समाधि है ऐसा स्वयं श्रीमद्भगवद्गीताके कदा ही

ज्ञानासक्तिरहित कुशलतापूर्वक किये कर्मसे समता स्थापित हो सकती है यह बात निःसंदेह है परंतु ज्ञानासक्तिपुत्र कर्म-कौशलरूप कर्मयोग (अ गी २।५) साधन है और उसका उद्देश्य समता है ।

'योग शब्दका मूल अर्थ बीजना है किसीसे अपना सम्बन्ध जोड़नेका नाम योग है । अतः जने अपना सम्बन्ध सबसे पहिले विचार (केन्द्र) के साथ जोड़ा था, इसलिये प्रथम अन्वयार्थका नाम 'अर्जुन विचार योग' है । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपना सम्बन्ध पुत्रोत्तम (ईश्वर) से जोड़ेगा तो वह इसका पुत्र-सौत्तमयोग हीना । मनुष्यको केन्द्रसे मुक्त करके उसका स्वयं स्वतंत्र उच्यत शब्द से करना ही भगवद्गीताका साम्य है । इसमें बताया है कि एक मनुष्य को मार्गमें केन्द्रसे मुक्त ना वही तीतोपदेशका प्रयत्न कर उत्तम शब्द से मुक्त होकर बरका नारायण बननेका अधिकारी हुआ । बरका नारायण शब्दका पुत्रोत्तम अन्वयार्थी गीताका अर्थ है । इसलिये इसका नाम पुत्रोत्तमयोग अथवा नारायणयोग भी हो सकता है । इसके १५ वें अध्यायमें पुत्र-सौत्तमयोग कहा है वही अन्वयार्थ सत्य अन्वयार्थों में मुख्य है क्योंकि इसमें मनुष्यका अन्तिम साधन बताया है अन्वय अन्वयार्थों में जो कहा है वह इस एकमात्र साम्यसे निश्चित साधनही है ।

अर्थात् इसी अर्थके गीताका नाम 'पुत्रोत्तमयोग' होना चाहिये । वह नाम प्रयोज्य भी है और जो जो उपाय कहे हैं वे सब सत्य इसी साधनके साधनरूप हैं । यदि दूसरे किसी व्यक्तकी कल्पना करनी है तो 'समाधिशाल' का नाम इसके बाद ध्यानमें आनयता है वह नाम भी प्रयोज्य ही है ।

योऽयं योगस्तथा प्रोक्तः साम्येन मनुसुद्धन ।

(अ गी २।२३)

आपने जो समाधिशाली योग कहा है वही साम्य योग शब्द भी बहुत हुआ है । इस प्रकार अन्तर्गत समता और साधन स्थापन करनेके विषय गीता कही गई है । वही ऐसी बात उत्तर हो सकती है कि वह गीता तो कुछ ब्रह्म पर कही गई है और जो कुछ ब्रह्मकेका निश्चय कर रहा था उसीसे अन्तर्गत मुक्त बताया है अतः वह गीता मुक्त करने वाली है अतः बतला बतानेवाली नहीं । वह हीका विचार

करनेके पूर्व साय प्रतीत होती है, वरन्तु बोझासा विचार करनेपर वह संका स्वयं ही प्रतीत होगी । जो पुनः जीमदग्गवहीठे अर्जुनसे कहाया वह समस्तके रथापनके क्रिये करना अवशिष्टार्थ था । कीरनेमि विद्यमता हावका की थी; वे विद्यमताके क्रिये अपनी छात्रि कथा रहे वे समस्तानेपर भी वे समस्तनेकी अवस्थामें नहीं जाने, अतः कीरनेको विद्यमवयसे इहामेके किएपुनः अर्जुन कावचक होयथा था । अर्जुन मारवीच पुनः छटमाके क्रिये नहीं हुआ था अवशिष्ट राजुभी सुरमाकी हृतिसे रोकर अर्जुनी विद्यमता पूर करनेके क्रिये और समताकी रथापनके क्रिये हुआ था । नहीं कथन है कि पुनः अर्जुनपर वह समताका स्निह्य मागवान् महा और अर्जुनके वहाये अर्जुनको सुभावा ताकि आगेकी अवता आगमें समता रथापन करनेका वान करे ।

अप्यायोके नामोंका विचार

गीताके नामके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् अब हम गीताके अप्यायोके नामोंका विचार करते हैं । हम गीताका विचार करनेके समय एक बात अनुभवसे सामने आती है वह यह कि वे अप्यायोके नाम हरएक शीकामें मिश्र मिश्र पाये जाते हैं । गीता सर्वप्रमाण प्रमाण है इसलिये हमने अर्जुन अर्जुनी तुलना कावा वसने अनुभावितोका कथन है वरन्तु अप्यायोके नामोंके विषयमें नहीं विचारिता दिखाई देती है हम वाचका वरह करनेके क्रिये हम कई शीकाओंके दिने हुए अप्यायोके नाम वहाँ कोइकमें देखें हैं हमका देखनेमें वाचकोंकी वना जग आगमा कि एक ही शीकाओंके अन्तर्गत भी अप्यायोके नाम सूक्ष्म और शीकामें मिश्र मिश्र दिने हैं । देखिये वे हैं कोइक—

[कोइक ५४ और ५५ इतरा देखो]

जीमदग्गवहीठे नामपर ऊपर प्रथम १३ वे अप्या-
वहा नाम सूक्ष्म अर्जुनपुनर्विद्यमयोग कहा है और
४ । अप्यावके अन्तर्गत वही अप्यावका नाम 'अर्जुनविद्यम-
योग' सुविष्ट हुआ है । एक ही पुनः और एकही वहावक
है ।

अर्जुनविद्यमयोग अर्जुनपुनर्विद्यमयोग और अर्जुनविद्यमयोग
कहा है हममें सूक्ष्म अप्यायोके नाम और शीकामें अप्या-
योके नाम मिश्र है । वे शीकाओंके अर्जुनपुनर्विद्यमयोग

गात्री होनेपर भी अर्जुनपुनर्विद्यमयोग दिने अप्यावके नामोंके
मिश्र नाम हरएक सूक्ष्म पाये जाते हैं और इन्की शीकाओंमें
वे वसने भी अधिक मिश्रता है । वे शीकों कोइक पात्रक
स्वयं पुनः कराके देखें ।

जो तिरक सुविष्ट 'गीतारहस्य' में भी उठे अप्यावके
सूक्ष्म 'अप्यावयोग' कहा है और अर्जुन 'अप्यावयोग' नाम
कहा है । तेरहवे अप्यावका नाम सूक्ष्म 'अर्जुनविद्यम-
योग' है और अर्जुन 'अर्जुनविद्यमयोग' कहा है ।

अब छठे पुनः कोइके अप्यायोके नाम पाठक हर कोइकमें
देखकर उनकी विविधताका अनुभव का सकते हैं वारतमें
देखा जाय तो वे नाम एक ही होने चाहिये और
हमें इस प्रकार विचारता नहीं होनी चाहिये । पाठ इष्ट
मकारकी विविधता नहीं आती है और अर्जुन एक ही
विशेषण नहीं हुआ, वह विस्तार 'अर्जुनी' नाम है ।

हमें कई नाम अर्जुनी छठे देखनेके पश्चात् माने जा
सकते हैं परंतु कई नाम विविध ही हैं और हममें संयमि
कग नहीं सकती । जैसा जो तिरककीके छठे अप्यावके
सूक्ष्म अप्यावयोग और अर्जुन वहाका नाम 'अप्या-
योग' कहा है । वे एक अर्जुन नाम नहीं हैं । इसी प्रकार
भी अर्जुनपुनर्विद्यमयोग और सूक्ष्म 'अर्जुन-
पुनर्विद्यमयोग' है वा अर्जुनपुनर्विद्यमयोग है अर्जुन वहाँ
विद्यमयोग है वे वा केवल योग है वह संका
रहती है ।

अर्जुन अप्यावके 'अप्यावयोग' नामोंका नाम अर्जुनपुनर्विद्यमयोग
अप्यावयोग अप्यावयोग अप्यावयोग, अप्यावयोग
नाम इतने नाम हैं हममें कुछ मिश्र हैं और कहींकी
संगति अर्जुनदेखे जाय भी आगती । इसी प्रकार अप्या-
वयोगोंके विषयमें कुछ मिश्रता और कुछ समानता भी है ।

इतनी विविधता होनेपर भी हम अप्यावोंका समान
देखकर और अप्यावके पार्श्वोंके पार्श्वोंका विचार करके अप्या-
वोंके नाम हर समयमें भी विविध कर सकते हैं । हम
विषयमें हमारा अर्जुन हम वहा है—

वहिये वे वाचका सर्वप्रमाण नाम अर्जुनविद्यम योग
है । किमीका हर विषयमें अर्जुन नहीं है । वारतमें वर
विद्यम-योग ही है । अर्जुन नाम अर्जुन कहिये

केका है। चकार्यम शागार्यम, मोक्षार्जन के विषय मनुष्यके द्वारा अर्जन करनेके हैं। अर्जन करनेका प्रायः प्राप्त करना है। ज्ञान, मोक्ष अथवा स्वाधीनता प्राप्त करनेका चार्जम विद्याद स्थितिमें होता है। (विनियुक्तिद्वयमर्थः । म गी अ १ । २८) यह श्रुति इस अर्थात्तका नाम सूचित करता है। २ द्वितीय अर्थात्तका नाम सांख्ययोग बहुसंमत है। वेदक अनेक मनुष्यन सरस्वतीने अथवा डीकामें इसका सवर्गीयाचमूखन दिया है। वस्तुतः द्वितीयाचमूखके श्लोक १९ तक ही सांख्यमतका सिद्धांत वर्णन किया है। यथा तेऽसिंहिता सांख्ये बुद्धियोगे स्थिताः श्रुतः । (म गी २।३९) ' यह सांख्यसिद्धांत तुल्यते कहा अथ योगसिद्धांत मूल । ऐसा कहकर सांख्यमत वताया और इसके पश्चात् ४ में श्लोकसे योगमत कहाया प्रारंभ किया है। इसका अन्तर ५४ में श्लोकसे ' शिवतत्त्वके कल्पन ' और आध्यात्मिक के कल्पन वर्णन किये हैं। इस प्रकार सांख्यमत, योगमत शिवतत्त्वकल्पन और आध्यात्मिकत्व इसका वर्णन इस अर्थात्तमें है। बहुत अधिक भाग सांख्यमतके अधिपत्यके किये गये हैं इस कारण इस अर्थात्तका नाम सांख्ययोग माना है। अथवा इसमें सांख्यमत और योगमत कहा है इसलिये भी इसको सांख्ययोग कहा होना ।

३ तीनों अर्थात्तका नाम कर्मयोग सर्व डीकाधारोंको समान है और इसमें किसीकी विपत्तिपति नहीं है।

४ चतुर्थ अर्थात्तका नाम ज्ञानकर्मसंभवास जो भीष्ट कर्माचार्यकी माना है वह डीक है क्योंकि अथवा ज्ञान और कर्म अकार्यम करनेसे ईश्वरार्जन करनेसे अकार्यमि होती है ऐसा इस अर्थात्तमें कहा है। अनेक प्रकारके यज्ञ इस अर्थात्त में कहे हैं इन सबमें ज्ञानयज्ञही अकार्यम वर्णन करते वह यज्ञ (अकार्यम । म गी ४।२४) समर्पण बुद्धिसे करनेसे योगमुक्त होकर भेद चरित कष्ट होती है ऐसा कहा है। कई दूसरे इसका नाम अकार्यमयोग अथवा कर्मयज्ञा यमयोग मानते हैं व नाम भी पूर्णतः मानके अमान अथ वाके डी है इसलिये वे नाम माननेपर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु ज्ञानविभागयोग आदि नाम चिन्त है।

अर्थात्तयोग है। (सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्त्यारत मुक्तं भवी । म गी ५।१३) सब कर्मोंका मनसे संन्यस्त करके संयमी मनुष्य मुक्त प्राप्त कर सकता है ऐसा इस अर्थात्तमें कहा है। वस्तुतः देखा जाय तो चतुर्थ और पंचम अर्थात्तका विषय करीब करीब एकसा ही है।

५ यह अर्थात्तका नाम ध्यानयोग ' डीक प्रतीत होता है क्योंकि इस अर्थात्तमें सबकी एकाग्रता करके ध्यानयोग का अर्थात्त करनेकी विधि कही है। इसीसे ज्ञानमनसम होता है अतः इसका नाम कई विद्वान् ज्ञानमनसमयोग करते हैं वह अनुचित नहीं है।

६ षष्ठम अर्थात्तका नाम ज्ञानविज्ञानयोग बहुसंमत है। अनेके मनुष्यनसरस्वतीने इसका नाम दूषक दिया है। इस अर्थात्तके द्वितीय श्लोकमें ही ज्ञान तेऽहं सविज्ञानं मिदं बह्वर्थात्त (म गी ५।२) कहा है। इसमें ' ज्ञान विज्ञान ' का संबंध इस अर्थात्तसे है वह बात स्पष्ट हो जाती है।

७ अष्टम अर्थात्तका नाम अन्नभक्षणयोग प्रायः सर्व समत है। अन्नभक्षण भक्षण ' इन सब शब्दोंका तात्पर्य एक ही है। इस अर्थात्तके तृतीय श्लोकमें अन्न भक्षण परमं ' शब्द है जो इस अर्थात्तके विषयके सूचक हैं।

८ नवम अर्थात्तका नाम राजविद्याराजगुह्ययोग सब को संमत है। और वे शब्द राजविद्याराजगुह्य पवित्रमिदं शुचयं (म गी ९।२) इस श्लोकमें ही मानते हैं।

९ दशम अर्थात्तका नाम विमृतियोग है इस विषयमें किसीका विश्वास नहीं है। इस ते कथयिष्यामि दिव्या ध्यातमयिभूतयः (म गी १।१९) इस श्लोकमें विमृतिध्यानकी बात स्पष्ट कही है।

११ एकारहं अर्थात्तका नाम विमलपद्मन है, इसमें सबका एकमत है। इस नामके साथ योग शब्द लगाते में किसी किसीका मनमर है।

म गी ११।१९ में विचार विमलपद्म के शब्द अर्थात्तके नामके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त ऐक्यं चरं (श्री ३९) ऐक्यं चरं (श्री ८) अर्जतक (श्री ३८) वे शब्द भी इस अर्थात्तके नामके सूचक हैं।

१२ बारहवें अर्थात्तका नाम अग्नियोग एक मतसे सब मानत है। इस अर्थात्तमें जो अन्नः म ये शिवः (म ११।१५) का मेरा अन्न है वह मुझे शिव है वह

५ पंचम अर्थात्तका नाम ध्यानयोग अथवा ज्ञान

सं० ५० गी० तिलक	अर्थ	दामोदर साँवळाराम मुद्रित गोवापेठारम साय (मराठी)	म० गोपाळी (गुजराती)	निर्वणसामरमुद्रित
१ —	—	१ —	१ —	१
२ —	—	२ —	२ —	२
३ —	—	३ —	३ —	३
४ —	—	४ अक्षरपत्रबोला	४ —	४ कर्मअक्षरपत्रबोला
५ —	—	५ संन्यासबोला	५ —	५ कमलसंन्यासबोला
६ अक्षरपत्रबोला	—	६ अक्षरपत्रबोला	६ —	६ अक्षरपत्रबोला
७ —	—	७ अक्षरपत्रबोला	७ —	७ —
८ अक्षरपत्रबोला	—	८ अक्षरपत्रबोला	८ अक्षरपत्रबोला	८ अक्षरपत्रबोला
९ —	—	९ —	९ —	९
१० —	—	१० —	१० —	१०
११ —	—	११ अक्षरपत्रबोला	११ —	११ अक्षरपत्रबोला
१२ —	—	१२ —	१२ —	१२
१३ अक्षरपत्रबोला	—	१३ अक्षरपत्रबोला	१३ —	१३ अक्षरपत्रबोला
१४ —	—	१४ —	१४ —	१४
१५ —	—	१५ —	१५ —	१५
१६ —	—	१६ अक्षरपत्रबोला	१६ —	१६
१७ —	—	१७ —	१७ —	१७
१८ —	—	१८ संन्यासबोला	१८ —	१८ संन्यासबोला
(अक्षरपत्र मुद्रित - मराठी)		(अक्षरपत्र मुद्रित)		
(गृहीयकार दिदी)		(अक्षरपत्र मुद्रित)		

कई बार कहा है इसलिये इसका नाम मक्षिणोय होनामें कोई संका नहीं है।

१३ तैरहवें अध्यायका नाम 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग' है क्योंकि 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञवर्णनम्' (य ४०० १३।२) के शब्द इस अध्यायके द्वितीय श्लोकमें ही आगये हैं। श्रीकंकराचार्यजीने इसका नाम प्रकृतिपुरुषविदेकयोग सूत्रमें दिया है और भाष्यमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग दिया है। दोनोंका बर्ण समान ही है।

१४ चौदहवें अध्यायका नाम पुष्पव्यवधिप्रमाणयोग सर्वसंमत है। इस अध्यायमें छत्र १३ और छत्र १३ ही गुणोंका विचार है इसलिये यह नाम सार्थ है।

१५ पंद्रहवें अध्यायका नाम पुष्पवैद्ययोग है अनेक गीतासंग्रह कवि पुराणपुरुषोत्तम योग नाम लिखा है और यह अनामक है।

१६ सोलहवें अध्यायका नाम 'विद्यासुरसंप्रियायोग' है। श्रुतार्थके स रामोहर सोमकमराम सुप्रिय पंचरत्नवीथीमें सुरासुरसंप्रियायोग नाम लिखा है। यह मित्र नाम अमर्क है। ऐसी [संपत्] शब्द अध्याय (य गी १३।३ ५) में आगये हैं वह। सुर [संपत्] नहीं है।

१७ अठारहवें अध्यायका नाम अज्ञानाविद्यायोग है। केवल अनुसूयमसारवती और जीकाश्वाजीने योग शब्दके स्थानपर विचारण शब्द रखा है। अध्यायमें योग शब्द रखा ही। गीताकी परिभाषिके अनुसार है।

१८ अठारहवें अध्यायके नाम मोक्षसंन्यासयोग अथवा मोक्षयोग तथा संन्यासयोग से दिये हैं। ब्रह्मसंन्यास श्रुतिमें लिखे किम प्रकार संन्यास और त्याग करना चाहिये इसका बर्णन इस अध्यायमें है अतः पहिला नाम अधिक योग्य प्रतीय होता है।

इस प्रकार अध्यायोंके नाम हैं अध्यायमें भाष्य छपूक शब्दों के और वर्णोंके द्वारा जो नाम मिलते हैं वे ही योग्य और आदरणीय हैं अन्य नाम कल्पित समझने चाहिये। अब हम अठारह अध्यायोंमेंसे प्रथम अध्यायके नामका विचार करके क्या योग मिल सकता है यह देखेंगे—

प्रथम अध्यायका नाम

विद्यायोग

वहिले अध्यायका नाम 'विद्यायोग' है। यह विद्यायोग

द्वितीय अध्यायके श्लोक ४ वा ९ तक है बहोतक विद्याकी बातें बहुत कह रहा है। वहाँ प्रथम उत्पन्न होता है कि क्या क्षेत्रयोग राजयोग ज्ञानयोग, कर्मयोग मक्षिणयोगके समान वह 'विद्यायोग' कीर्तु योगज्ञातकम भाग है वा नहीं योग संप्रका कुछ और अर्थ है। योगके किसी प्रत्यक्ष ही विद्यायोग नामक कोई योग नहीं कहा है और न ही विद्यायोग का किसी स्थानपर अनुष्ठान किया जाता है। इसयोगका अनुष्ठान किया जा सकता है राजयोगका अनुष्ठान होता है मक्षिणयोगका अनुष्ठान ही सकता है पर इस विद्यायोग का अनुष्ठान नहीं होसकता। क्योंकि अनुष्ठान करने योग्य वह योग नहीं है। न इसपर कोई प्रवीण वा अर्वाचीन श्रुतक है। फिर इसको वही योग' नहीं कहा।

क्षेत्रका योग

'विद्या' का अर्थ है 'विज्ञान, क्षेत्र' अज्ञानका क्षेत्र होना अपनी क्षतिकी श्रुतका होना, यह कोई अनुष्ठान करने प्राप्त करने योग्य नहीं है।

ज्ञानयोग कर्मयोग मक्षिणयोग से सब योग दूजे हैं जो अनुष्ठान करने योग्य हैं योग क्षेत्रक्षेत्रज्ञे इतका अनुष्ठान करते हैं और उस अनुष्ठानके 'मन्त्र' उत्साह रहता है। क्षेत्र इतका है महाबलम् प्राप्त होता है अपनी क्षतिक विस्तार होता है अपनी क्षतिक बढ़नेका अनुभव होता है। अर्थात् विद्यायोग का वरिष्ठतम क्षतिकी श्रुतका है जो अन्य योगोंका वरिष्ठतम क्षतिकका विकास है।

पाठक वहाँ देखें कि योग शब्द कैसे विविध अर्थों वहाँ प्रयुक्त किया है। इसका संबंध मन्त्रश्रुतिमें कैसे अन्य योगोंसे ही है; देखिये। इसका विचार करनेके लिये मन्त्रे कुछ शब्दोंकी कल्पना करनी ही पड़ेगी [निम्नलिखित कोशकमें गीतामें कहे योग शब्द अक्षरसे दिये हैं और उनके विद्वत् कल्पनासे रखे योग सूत्रम लखाते दिये हैं] यह विचार हम प्रकार है—

योगोंका सापेक्ष व्यवध

(आनेयोग)	विद्यायोग (य १)
पुरुषोत्तमयोग (य १५)	(ईश्वरयोग)
ऐसीसंप्रियायोग (य १६)	आसुरसंप्रियायोग (य १७)
(छत्र) शुण्ययोग (य १४)	(रत्नम) शुण्ययोग (य १४)

(सप्त) अद्यायोग (न १०) (रजतम) अद्यायोग
(न १०)

मोक्षयोग (न १८) (बंधयोग)
सम्पासयोग (न ० १) (योगयोग)
कर्मयोग (न १) (आत्मरूपयोग)
ज्ञानविज्ञानयोग (न ७) (ज्ञानकुशाभयोग)
सौख्ययोग (ज्ञानपाग : न १) (अविषययोग, मोक्षयोग)
ब्रह्मापणयोग (न ७) (बर्हिषावाग)
(ईश्वरार्थयोग) (आनुष्ठापणयोग)
ध्यानयोग (न १) (बोधकर्मयोग)
आत्मसंयमयोग (१) (अलंकारयोग)
सहस्रनामयोग (न ८) (धाराविषययोग)
विभूतियोग (न १) (लक्ष्मीयोग)
विश्वरूपदर्शनयोग (न ११) (रश्मिकल्पमोक्षयोग)
राजविद्यापाग (न ९) (ऊर्ध्वपागी)
राजगुह्ययोग () (गुह्यदाविषय)
मक्तियोग (न १२) (मक्तिहीनयोग)
महतिगुह्यविषययोग (न १२) (शिवेकहीनयोग)
क्षेत्रयोग () (क्षेत्रविषय)
क्षेत्रयोग () (क्षेत्रविषय)

इस कोटिमें पाठक एक सकते हैं कि विषादयोगके पाप भी उतने ही योग हैं कि जितने आनंद भी आनंद उपशोचमयोगके प्राप्त हैं। वही प्रथमावस्थामें जो विषाद योग कहा है वह अकेला नहीं है उसके साथ ही उतने वा इतने भी भक्ति हैं, अर्जुनके मनको इन सबके पोर किया था जितने बलिष्ठ रूप अर्जुनको विषाद हुआ। इस सब कुशोमें जन्मने के सबको पोर किया था हृदयमें श्रीमद्भगवत्परीक्षामें इतने सुखों के सब और इस सुखोंके चकते अनुकूल कुशोमेंको दूर किया गया। गीताके हर एक सिद्धान्तके उपदेशके इस प्रकार काम है, कोई उपदेश नहीं किया गया है।

वही समान रजता चाहिये कि ज्ञाता सब कुशों विषाद प्रत्यक्ष विषे ही जान जाते हैं और सब सुखी विरक्त प्रभावोंके साथ काम करते हैं। अलंकारके विषे बहुत सबकी आवश्यकता नहीं है पानु लेवन करनेके किन्तु अनेक विषयोंका वाक्य करना पड़ता है। धनुष बनावेके विषे बहुत प्रभाव नहीं करना पड़ता परंतु धनुषको दूर करनेके विषे

८ (वि नी)

ही सब आवश्यक करने पड़ते हैं। गीता ज्ञाता है परंतु करना करीब है।

विषादयोगका एक महत्व भी है। विषाद होनेके विषा आनंदका महत्व ध्यानमें नहीं आता है; बंधनमें पड़नेके विषा आनंदीनताका महत्व विविध नहीं होता। निर्विकलके विषा बहका महत्व ध्यानमें नहीं आनंदता। यद्यपि विषाद प्रत्यक्ष प्राप्त करनेयोग नहीं है तथापि इससे ही आनंद और उत्साहकी मेहरा आनंद उत्पन्न होती है।

यदि पारलभ्यका दुःख अनुभवमें न जाये तो कौनसा भीर लालम्बके विषे प्रत्यक्ष करना। यदि मन न हो तो मुक्तिके विषे भी बल्य करना। इसी प्रकार यदि विषाद अथवा केद न हो तो उत्साह और आनंदका उत्साह किसी प्राप्त होगा। आनंदके व्यवहारमें इस सारेस संभव से ही कार्य चकता है। वही एन सुखके प्रसंगमें अन्तर्गत के भीरका विषय कहें और मोक्ष हुआ हृदयके केवलसे सुखानेवाली वह प्रभावहीनता प्रकाशित हुई।

विषयके सबकी श्रुतिम योग हीसे पैदा न होने पर उसके सबमें कोई उपदेश स्थिर नहीं हो सकता। जितनाही विषाद केद और विषाद सबमें उत्पन्न हो उतनाही आनंद, उत्साह और आनंदका उपदेश सबमें सम आता है। विषे प्रत्यक्ष केतमें एक चकाकर श्रुतिको उत्साह देते हैं और प्रत्यक्ष उसमें भीम बोना जाता है। इसी प्रकार अन्तर्-श्रुतिको विषाद या केदकरी इस चकाकर सबकी उत्साह दिया जाता है और फिर उसमें आनंदचित्तके उपदेशका भीम बोना जाता है।

वह विषाद कबक अर्जुनको ही आधीन सुखश्रुतिपर हुआ था एही बात नहीं है; हर एक अनुभवको वह विषाद किसी न किसी अर्थमें बननेके साथ होता ही है। विषादमें अर्थान्तर, स्वाधीनतार्थ आदि जो अनुभव के बाद प्राप्त होते हैं उनके प्राप्त करनेके पूर्व उदासीनता बाद वा विषाद किसी न किसी वषमें अनुभवके अर्थमें आते ही हैं। इस अर्थान्तरमें विषादकेवा अनुभव कितने वषोंमें विष होना पड़ता है वह देखनेके विषादयोगका मानवी जीवनमें कितना भक्ति संभव है इसका ज्ञान हो सकता है। और वह ज्ञान होते ही गीताके उपदेश हर एक अनुभवको दूमे विषादके अर्थमें प्रत्यक्ष होकर ही वह बात प्रत्यक्ष

धीरव्ययमिह दे यह आप जानते ही हैं, अतः इसका विचार कर पुरुषों हम सबका बाध सब भीजिये । हे बुद्धिनिधि ! यदि कौरव लोग पुरुषों के विना आपका राज्य आपस न दें, तो आप सब पाण्डव मित्रा मांगकर अन्धक और द्रुपदी देशमें रहिये । पुरुष करके राज्य कर्मात्मेकी जगहों की मांगकर रहना अधिक अन्धक है । इसी चीज मांगनेकी प्रविष्टिनि अर्जुनके इस कथनमें है—

शुरूगहरवा हि महानुभाषाव
श्रेयो मोक्षं मैत्र्यमपीह लोके ॥ (म नी १५)
पुरुषोंका सब करके राज्य कर्मात्मेकी जगहों की मांगकर इस लोकमें भीषिक विचार करना अन्धक है । इसी प्रकार—

विश्वधनी ह्यर्पय्येह पार्थ
तामिच्छतां धारयते धर्म एव ।
धर्मं तु यः प्रवृणोते स युद्धः ।
कामे द्रुपदी हीयतेऽध्यानुरोधात् ॥ ५ ॥
यत्न करवा कर्मणां तात मुख्य
महत्प्रतापः सचितेव माति ।
हीनो हि धर्मो महीमपीमां
छन्दसा मरुः कीदृति पापयुधिः ॥ ६ ॥

हे बुद्धिनिधि ! तुम्हारा सबमें छाननेवाली और धर्मका भाव करनेवाली है । अतः जो धर्म स्वीकार करता है वह क्षात्री कहलाता है । अन्धक धर्म काम करनेसे जानका तेज सर्वके समान फैलेगा । परन्तु धर्म छोड़कर आपने इस द्रुपदीका राज्य भी मांग कर लिया, तो भी उससे गिरावट ही है ।

पाण्डव वहाँ देंगे कि वह मन्त्र पाण्डवोंको ही धर्मका उपदेश कर रहा है । कौरवोंके कुछ कष्टों का भावना हुआ भी यह कष्टी अधिकारी स्वराजशाहीका पाण्डवोंका भवतः परोप दे देना कहना है । वही विचार धर्ममें रखकर अन्धक करना है—

एताव हन्तुमिच्छामि ज्ञतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रेलोक्यराजस्य हेतोः किं मु महीभूते ॥ ५ ॥
(म नी १)

मे इनको मारनेकी इच्छा नहीं करता हूँ । हे कृष्ण ! यदि त्रेलोक्यका राज्य भी मित्र जान तो भी मैं यह बात नहीं

करूँगा, फिर द्रुपदीके राज्यके विषे कीन करेगा ? धनुषके कपटपूर्ण उपदेशोंसे देखके मधुसूदन कैसे रसते हैं इसका यह अन्धक उदाहरण है । और भी—

अमृतं गता कर्मणां मा प्रज्ज्ञाः
सत्यं ह्यम खाज्यमासुरांशयम् ।
अम्यमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यामृतं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥
तत्त्वमेव श्रेयस्वरूपेण पार्थाः
करिष्यन्व कर्म पापं विराज्य ।
निधसर्ष्व धर्मपूजाम्यनेपु
तु त्वं वासे पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

(म भा उद्यो अ १५)

हे पाण्डव ! सत्य, अमृतसम समकता तथा मधुसूतका मारी न छोड़िये । अमृतमेव राजसूय यदि धनु करके पञ्चाप आप इस पुरुषके पापमार्गसे जानेगे यदि धर्म छोड़कर इस पापमार्गमें आप जाया चाहते हैं तो जन्मक वर्ष बनवासमें रहिये इस बातसे बनवास अन्धक है । देखिये स्वराज्यके विषे मन्त्र करनेवालोंको ही साक्षात्पराधी बनवासमें जानेका उपदेश करते हैं । कौरव दुराचार करें और राज्य मोमें और पाण्डव धर्म राख करे और बनवासमें रहें । वही सत्यके विचार अर्जुन बोक रहा है—

अहो यत् महत्पार्य कानु ध्यवसिता ययम् ।
यद्राज्यमुत्तमोमेन हन्तुं स्वजनमुपधातः ॥
(म नी १७५)

इस जो राज्यके छोड़ते अपने बीचोंका बप करना चाहते हैं वह क्या मारी पाप इस कर रह हैं । ' संभवक कपटपूर्ण उपदेशोंसे अर्जुन इस प्रकार मन्त्रित हो गया था । और देखिये—

पापानुर्ध्वं को मु त वामयेत
ज्ञातिय ते ज्ञापसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनयो हतः स्यात्
यत्र द्रोणः सहयुधो हतः स्यात् ॥ १४ ॥
हृषः शम्यः सीमन्तिर्यिकर्णो
पिबिहतिः कर्णधुर्योपनी यः ।
एतावद्वरा वीर्यं तामुर्ध्वं स्यात्
यद्विभेदास्तदनुमि पाथ ॥ १५ ॥

अन्धशपीमां पृथिवीं सागरास्तां
 अरामसूयं मेव हि त्वं प्रजह्याः ।
 प्रियामिये सुखदुःखे च राक्षन्
 एव विप्राद्येव युद्धं कुरु त्वय्य ॥ २६ ॥
 अमात्यानां यदि कामस्य हेतोः
 एवं युद्धं कर्मविधीर्यसि त्वम् ।
 अपक्रमोऽर्थं प्रवत्येव तेषां
 मां शास्त्रं वै देवयानात्पयोऽय ॥ २७ ॥

(म भा न क १०)

हे अर्मेराज ! कीत बुद्धिमान् पुत्र पुत्रकपी पापको
 करनेकी इच्छा करेगा ? जलको क्या ही कोना देती है !
 मीठ मीठका क्या है ? जहाँ मीठ्य और अखाद्यामासहित
 श्रेष्ठ भोजन कायेंगे कुपार्थक्य प्रकृत्य मीठहृदि निकले
 विनिश्चित कर्म दुर्बोधर मते कायेंगे वहाँ तुमको कीचरा
 झूठ निकल जायगा ? हे अर्मेराज ! यदि तुम्हें सब दुष्प्रीका
 भी राजन निकल जाये तो भी धनु तो तुम्हें नहीं छोड़ेगी ।
 फिर पुत्र करनेसे क्या काय होगा ? धनवे मंत्रिगणोंके
 आज्ञाहस्ते तुम पुत्र करनेको तैयार हुए हो तो तबको जो
 चाहे जो देकर तुम देवयान मार्गसे ब्रह्म न हो जाओ । पुत्र
 करने तो देवयानमार्गसे ब्रह्म हो जानाते ।

देखिये वह औरतोंका उपदेशक पाण्डवोंको हैं। देवयान
 मार्गका उपदेश करता है । यदि देवयान मार्गपर इसका
 धनका विचार है तो वह अपने साम्राज्य अकायैकाके चार्ड
 बोंको ही क्यों नहीं बंद उपदेश बुलाता ? परन्तु पाण्डवोंको
 इस पुत्रके इच्छा इसका अयोध्या की वध प्रतीयवकी
 निदिष्टे किसे बर्झका उड़ाता हमने किया है । अर्जुनको
 अमर्षमें इसीकी प्रतिपत्ति दीज पड़ती है—

येवामये काक्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च ।
 त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणीस्त्यक्तत्वा धनानि
 च ॥ २९ ॥

माचार्या पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः यौवाः श्याकाः संबन्धिता
 था ॥ २८ ॥

एताञ्च हन्तुमिच्छामि अतोऽपि मनुसूतम् ।
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु मही
 कृते ॥ २५ ॥ (म गी व १)

तथा

अथ मीधमहं संख्ये श्रोण्य च मनुसूतम् ।
 इयुमि प्रतियोरस्यामि पूजाह्विरिच्छन् ॥ २६ ॥
 (म गी व १)

निकले किसे हर्षें राजपादि कमाना हे ने ही नहीं
 परतैक किसे कापने हैं, अता इसका वध मैं नहीं करूंगा ।
 पूजा करने योग्य हूँ मीधमहोकोके ऊपर मैं आज तैसी
 चर्चक ! इस वकाल अर्जुन कजुके कपटपूर्ण उपदेशोंका ही
 अनुवाद करण है ।

कजुके विचारोंके मग्न अमानिष्ठ होनेका परिणाम देखा ही
 होता है । अतः जो स्वराज्य ग्राह्य करना चाहते हैं, वनको
 अविष्ट है कि वे अपने विचारोंको कजुके कपटपूर्ण उपदेशोंसे
 अमानिष्ठ होने न हों । विचारोंकी स्वतंत्रता रही तो ग्राह्य
 जगत्के व्यवहारोंमें भी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है ।
 परन्तु यदि मग्न ही हूँ वध वना तो फिर पराधीनता इच्छा
 कठिन है ।

लक्ष्यका कपटपूर्ण उपदेश और अर्जुनका खेद देखतेसे और
 श्रोतेसे वाक्मोंकी वल अकार तुच्छता करनेसे राजन्य काय
 लक्ष्य है कि कजुके उपदेशोंहारा किसे गये चर्चोपदेश की
 राजकीय हेतुको लेनमें रककर ही किसे होते हैं । अतः
 इनको नहीं साधनाधीन छूटना चाहिये और पुत्रदेव की
 वध अमानिष्ठी ही अन्तर विचार करना चाहिये । अन्धका
 मोह नार विचार कैसा कजुके पक्षे पदा बैठे ही उक्त मोह
 मानवीके भी पक्षे पड़ेगा ।

इस विचारधर्मके अन्वयवक वध अमानिष्ठीकी दृष्टता
 निकली है । पात्रक इस दृष्टताकी समर्थता काय करें । अब
 भागे मन्त्रार्थ कीदृष्ट्य दूके अर्जुनको क्या उपदेश देते हैं
 वह उपदेश द्वितीय अध्यायमें देखिये—

अष्टन विवाद-योग नामक प्रथम अध्याय समाप्त

प्रथम अध्यायके कुछ संस्मरणीय श्लोक

१ अपना और दुष्टका बल

अपराधं तदस्माकं बलम्

पर्याप्तं स्वदुष्टमेवो बलम् ॥ १० ॥

(मी मी ११७)

हमारा बल अपूर्ण है। और हम (दुष्टों) का बल पूर्ण है। अपना बल अपूर्ण है ऐसा मानकर उसको हारकर तीसरे बलालेका पालन करना। तथा दुष्टका बल जोका दुष्टा को भी उसका पूर्ण मानकर उसको प्रतिकारका पालन करना निश्चयेच्छ प्रत्यक्षो बोध्य है।

२ प्रवेशद्वारकी रक्षा

अयमेव च सर्वेषु पथामागमकास्थिताः।

अभिरक्षन्तु भवन्तः सर्वे एव हि ॥ ११ ॥

(म मी १११)

एक प्रवेशके द्वारोंमें अपने अपने राज्योंमें दृष्टांशों रहते हुए आपसी सख मोरसे रक्षा कीजिये। देह-हार, पुत्रहार, गणहार, राष्ट्रहार ये सबके सम्मुख प्रविष्ट होनेके स्थान होते हैं। इस प्रवेशद्वारोंमें उत्तम रक्षाके प्रयत्न होनेपर दुष्टका प्रवेश सम्भव नहीं हो सकेगा। तथा हम प्रवेशद्वारोंपर उत्तम रक्षाका प्रयत्न करना चाहिये। वह रक्षाका सूत्र है हमसे व्यक्तिकी चरकी भगवती राष्ट्रकी अर्थात् सबकी रक्षा हो सकती है।

३ समयसे प्रभु पूछना

प्रभुसे शक्यस्तपाते... हर्षाकेन आह ॥

(म मी ११५ - ११६)

पुत्रके समय ईश्वरोंका जिससे संभव किया है उसे धर्मो उपनसे ही... (जो कुछ महत्त्व हो वह) पूछना योग्य है।) अर्थात् उपनसे पूछा जाय तो अधिक होगा। पुत्रके समय अतिसंभव करनेवालेकी ही संमति केही योग्य है।

४ दुष्टका निरीक्षण करना

पावदेतापिरीक्षेऽहं योयुक्तामात्रास्थिताम्।

कैम्या सह योऽप्यहम् ॥ १२ ॥ (म मी ११२)

जिनके साथ मुझे करना है उसको मैं पहिले देखता

हूँ। पुत्रके पूर्व राजकी वास्तविक अवस्थाको देखना योग्य है। इस समयमें प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी बुद्धिमें कष्ट है अतः उसको अधिक है कि वह अपने दुष्टोंकी रक्षा रिया कैसे है, इसका पहिले अवकाशन करे और वैसी कठमेकी अपनी रीति रखे।

५ स्वधर्मोंपर शत्रु न धरना

न च श्रेयोऽनुपपत्तिरिति स्वधर्ममाहवे।

(म मी ११३)

अपने धर्मोंपर शत्रु चलातेसे कोई कल्याण नहीं होगा। अपने ही धर्मोंपर इधरिधर चलाकर स्वयं अपने धर्ममार्गोंका नाश करना किसीको भी योग्य नहीं है। तथा-

नार्हो धर्म इन्मु स्वर्वाधवात् ॥ (म मी ११३)

हमें अपने ही धर्मोंका बल काना अधिक नहीं है।

और भी देखिये-

स्वधर्मं हि कथं हत्वा सुखिनः स्थानम् ? ॥

अपने ही धर्मोंका बल करके हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? जो लोग समझते हैं कि अपने धर्मोंका नाश अपने हाथसे करके हम सुखी हो जायेंगे वे भ्रममें पड़े हैं। क्योंकि वे अपने ही धर्मसे अपने नाश कर रहे हैं। धनु को हम दोषोंको काटनेके किने पैदा है वह कैसे हमका कापेसा पैसाही हमारे माहोंको भी नाश करेगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने अपने ही धर्मोंका बल किया तो सबसे धनु का बल बढ़ेगा और हमारा घर जायगा अतः स्वधर्मोंपर शत्रु चलाता अयोग्य है। इसलिये कहा है--

-- महत्प्राप्यं कर्तुं व्यपसिताः --। पद्मार्थसुख-
लोभेन हन्तुं स्वधर्ममुद्यताः ॥

(म मी ११५)

जो राज्य सुख और कोमल अपने ही धर्मोंका बल करते हैं वे बड़ा भारी पाप करते हैं। यदि नीचरी नेचव अपना धर्म वा मान पात करनेके किने जो लोग अपने ही धर्मोंपर शत्रु चलाते हैं व बड़ा भयंकर पाप करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी

प्रथमाध्यायकी विषयसूची

१ घृतराष्ट्रीकी चिन्ता । श्लोक १	५	श्लोक १४-१८	२४
घृतराष्ट्र कीन है ?	५	अरुणमें माचन और अनुज	२४
घृतराष्ट्र और इतराष्ट्र, घृतराष्ट्री नामि	६	पाण्डवसेनामें रजसर्पोंका वीर	२४
नामा घृतराष्ट्र जन्मेके जन्मे अनुबापी,	६	७ अर्जुनका सेनागिरीसम, श्लोक १९-२१	२५
मातृराष्ट्रिक पक्ष बापके पक्ष	७	कपिजन्म अर्जुन	२५
जन्मे पापकी मीठि, जन्मेचर्चोंका हृदयबाध,	८	कपि अर्जुनका जन्म कपिजन्मका मात	२६
सेनबाधपरसे सेनबाध जन्मेपक्षे,	९	कपि बापुपुत्र अर्जुन इन्द्रपुत्र	२६
साधनानीकी सुखता	१	बापुपुत्र और इन्द्रपुत्रका धर्म	२७
पुत्रवत्पावन प्रभाव पराजयकी सेनाबाध	११	श्लोक २१-२३	२७
जन्मेपुत्र जन्मेका पक्ष हेतुमावरहित सभ	११	अर्जुन का जन्म, वर वीर भारात्म	२७
ईश्वरकी सहायता	१२	श्लोक २४-२५	२८
जन्मेकी विजय सवातन उपदेश	१२	इन्द्रिय सुखीयन वनमेकी पुक्ति पुत्रके	२८
बाध्यात्मिक मात, क्षीरकपी केत	१३	मात वीर है	२९
महाहमी सेना बंधकी उत्पत्ति	१३	श्लोक २६ २७	२९
घृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर	१४	क्षीरकपी रथ अर्जुनके मनमें दया	३
बंधविषय	१५	अर्जुनका शोक	३०
श्लोक २	१७	शोकका क्षीरपूर परिणाम, श्लोक २८-३०	३०
क्षीरबोका वशीभूत पाण्डवोंका मूर्खिभूत भूत	१७	सेनके उपदेशमें शोकका कारण	३
२ पाण्डवसैन्यवर्धन । श्लोक ३-१	१८	आज्ञात्वविशेषके उपदेशमें उपदेश	३
श्रीमार्जारकी क्षीरकपी, महाभीका कर्ण	१८	शोकका क्षीरपूर परिणाम	३
जन्म कर्णोंका क्षमजन्म	१८	शोकके रथसे शोकके अपचन शोकके मृत्यु	३१
३ क्षीरकसेन्यवर्धन श्लोक ७-९	१९	विश्व कोपके विचारपरिवर्तन	३१
४ दोनो सेनामोकी मुझता श्लोक १०	२०	शोकके क्षीरकी क्षिपिका	३१
पुत्रका विषय वधावकी सेवा	२	रामकालमें अनुभवका जन्म वपुषका	३१
वर्ण और वधवर्ण सेवा	२	शोकका मनपर परिणाम श्लोक ३१	३१
सेनाका उत्साह और निश्चय	२१	वधी और हैन	३३
५ युधौष्यकी आज्ञा श्लोक ११	२१	रजसर्पोंका मोह, श्लोक ३२	३३
६ शङ्खनाह श्लोक १२-१३	२२	मैत्राका वडा कथरास्थि	३३
धीमपिठामहका शिंहनाह और जलनाह	२३	राष्ट्रके शिंहे परिचारणा	३३
क्षीरसेनामें रजसर्पोंकी गर्भता	२३	मातकी मैत्राका वडा कथन	३३
		श्लोक ३३-३४	३४

अमरक इहस्य चर्मके चार पुस्तक	३४	अपविष्ट, महाविद्या योगशास्त्र १	३६
अंधविषाका माह कुटुब और राम् गो विं	३५	भीष्मपुत्रवत्सपाद	३९
श्लोक १५ १७	३६	कर्मयोगशास्त्र जगत्सिद्धि	३९
आरुणाचीका वन आरुणाचीका कल्प	३६	गीताची विवेचना	४
इहस्य और परम	३७	समतायोग समताशास्त्र	५०
इहस्ये साय कल्पेनका विचार (विन)	३८	योगका अर्थ, विद्यायोग, दुष्कृतयोग	५१
महापद और अर्थ (विन)	३९	नारायणयोग साम्बयोग	५१
वीर और वृद्ध अर्थ और विन	४	अध्यायके नामोंका विचार	५१
विनका अर्थमें संक्षेप अर्थिका विनमें विस्तार	४	विद्यायोग सार्वभौम	५१
विनका भीष्म अर्थिका अर्थ	४१	कर्मका ज्ञानकर्मसम्बन्धयोग, महापदयोग,	५१
महपद और अर्थ मानव	४१	कर्मसम्बन्धयोग संम्बन्धयोग कर्मसम्बन्धयोग	५१
१० कुलस्य भार मित्रद्वेष्ट श्लोक १८-१९	४२	प्रायश्चित्त, ज्ञानविद्यायोग अक्षरमहायोग	५१
साम्राज्यवादी और साम्राज्यवादी पापका माह	४२	राजविद्यामहापुष्पायोग विमूढयोग	५१
दोनोंका दोष कटिबे काय विचारका	४३	नामोंके कोट	५४-५५
११ कुलस्य परित्याग श्लोक ४०-४१	४४	विनका अर्थयोग सक्तियोग	५५
वीरका मर्त्य, अर्थविहीनका मर्त्य	४४	केचकेचयोग प्रकृतिपुष्पविनयोग	५५
श्लोक ४४-४५	४५	पुनश्चविनयोग, पुनश्चयोग	५५
पुनश्च अर्थका माह कुलपरिहास माह	४५	श्वेतपुनश्चविनयोग श्वेतपुनश्चयोग	५५
संस्कारादीन वाचक और विन	४५	अक्षरविनयोग	५५
नापुंसक संस्कारका मर्त्य अर्थिका का संस्कारका	४५	सम्बन्धयोग मोक्षसम्बन्धयोग	५५
वर्मसंकर अर्थिका माह	४५	प्रत्यक्ष अर्थपापका नाम	५६
महापुत्र अपरिहास हे	४६	विद्यायोग, केचकेच, योगोंका साक्षर अर्थ	५७
श्लोक ४६	४६	नापुंसक और विद्यायोग	५७
महापुत्रे राष्ट्र अर्थिका अर्थ	४६	विद्यायोगके साथ विद्यायोगका महत्त्व	५७
श्लोक ४७	४७	संस्कारका अर्थ और अर्थका मोक्ष	५८
अर्थका अर्थिका विन	४७	संस्कारणीय श्लोक	५९
अर्थका अर्थिका संस्कार	४७	अर्थ और अर्थका अर्थ	५९
साम्राज्यवादीकी विन	४७	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९
साम्राज्यवादीकी अर्थ	४७	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९
साम्राज्यवादीकी अर्थिका अर्थ	४७	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९
साम्राज्यवादीकी अर्थिका अर्थ	४७	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९
विद्या पापका विचार	४८	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९
अर्थका अर्थिका अर्थ गोता जीमदगवतीठा	४८	अर्थका अर्थिका अर्थ अर्थका अर्थ	५९

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

सांख्ययोगः ।

संक्षेप इत्याद्य—

त तथा कृपायाविष्टमसुपूर्णोच्छेद्यम् । विपीदन्वामिदं वाक्पद्मवाचं मधुघटन ॥ १ ॥

(१) अनार्य कर्मका निषेध ।

श्रीमगवाचुवाच

कुपस्त्वा कस्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यश्रुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हृन्म्यं मा स्म गमः पार्यं नैतत्स्वयमुपपद्यते । भुद्रु इदमदीर्घवर्षं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परवप ॥ ३ ॥

अन्वयः— सख्य इत्याद्य— तथा कृपाया विष्टं मधुपूर्णोच्छेद्यं विपीदन्तं तं मधुसूतम् । इदं वाच्यं उवाच ॥ १ ॥

श्रीमगवाचु उवाच हे भर्जुन ! मगार्थसुखं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कष्टमकं विषमे त्वा कृता समुपस्थितम् ॥ २ ॥

हे पार्य ! हृन्म्यं मा स्म गमः । त्वमिदं न उपपद्यते । इ परवप । इदं भुद्रु इदमदीर्घवर्षं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

संक्षेप बोले— इस प्रकार कृपासे व्याप्त और मधुपूर्ण मेखोपाच्छेदित क्लेशद्वय उल (मनुज) को मधुसूत (भीरुप्य) में ये वस्तु कहें ॥ १ ॥

श्रीमगवाचु बोले— हे भर्जुन ! (अनार्य ही जिसका आचरण करते हैं किंवा) कार्य वैसा कभी आचरण नहीं करते जिससे स्वर्गप्राप्तिसमें बाधा हो सकती है और जिससे दुष्कीर्ति होती है ऐसी यह मलकी बढ़ासीनता । इस प्रतिकूल समयमें तुझे कहाँसे प्राप्त हो गई ॥ २ ॥ हे पृथक्के पुत्र ! तू मनुष्यक मत बन । तेरे लिये यह योग्य नहीं है । हे शत्रुमोको ताप देनेवाले ! अन्तःकरणकी इस भुद्रु दुपलताको छोड़कर (युद्धके लिये) लड़ा हो ॥ ३ ॥

भाषार्थ— श्रीम गवाच वचन सुन मनुष्योंके जन्म आचरण करना किसीको भी योग्य नहीं है ; अतः समझ जो कार्य कभी नहीं करते वैसा कार्य भी कोई न करे । जिससे सब कोकोंकी प्राप्तिमें बाधा हो और जिससे अपना पक्ष कल कित हो वैसा कार्य भी किसीको योग्य नहीं है । इदं मधुप्य तथा मगवाचवासे अथवा कर्तव्य करे परंतु प्रतिकूल व्यवस्थामें लिये ही दृष्टवासे स्वर्गव्य करे । प्रतिकूल समयमें मलकी बढ़ासीनतासे अपने पक्ष जाने न दे । कोई मनुष्य मजदूर न बने । अपने अन्तःकरणमें कदा भीराव आन करे और इत्यदी दुर्बलताको पूर्णतः छोड़ देने ॥ १-३ ॥

सांख्ययोग

इयं अथवाच्यं वर्जितं वीरिते भर्जुनके जन्मः कथमे कीरवोके विषयमें आर्षत दवा उत्पन्न हो गई और उस कारण यह अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख हुआ । यह वैजकर अपचम् भीरुप्य उभयो कर्तव्य्य कार्यका उपदेक्ष करते हैं यह सर्वग संभवसे तुझसे हम प्रकार उतराहने सुना—

(१) हे भर्जुन ! भर्जुनके जन्मः कारणों कीरवोके विषयमें जन्म द्वारा याद उत्पन्न हुआ क्योंकि उसको हम शत्रुका विजय ही था कि यदि मैं युद्ध करनेके लिये

१ (दि नी)

मनुष्यकाव्येकर कहा हुआ जो हममें से कोई नहीं बचेगा । सबके साथ विजयपूर्वक आर कार्यमें । इस आत्मविश्वासके कारण जब सबकी मृत्युका अवकाश चित्र हमसे लोकोक मृत्युका कहा हुआ और उत्पन्न । वैजकर भर्जुनके लोभ में जाह्न नर जाने इदं गहर हो गया, जन्मः कारण दवासे नर तथा और जन्म आचरण किंच दुष्की और प्रोकर्य होगवा और इस कारण युद्ध न करनका विजय हमने दिया युद्ध करनेके विजयसे हमकी पक्ष उभाचार हुआ और हम कारण यह अपने युद्धके विजयही ही विरा जाने लगा ।

बस यह अर्जुनकी अवस्था भगवान् श्रीकृष्णने देखी उस
बहु आश्चर्यसे शक्ति हो गये और वे बसते इस प्रकार
बोधवचन कहने लगे—

आर्यत्वकी रक्षा

(१-३) भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी अपने आर्यत्वकी
रक्षा करनेका उपदेश सबसे प्रथम कर रहे हैं क्योंकि
आर्यत्वकी रक्षामें सब मानवधर्मकी रक्षा आ गई है। 'नार्य
धर्मद्वयं सर्वं " दुर्योधन मेह, सम्प्रत्य उच्यते उच्यते
एव स्वामी अश्वत्थामा वर्याय करणेयम् । ' है। वैसा
आचार्य इस समय अर्जुन कर रहा है वैसा कोई नार्य
करसि नहीं करेगा। (अनायं दुर्योधनं) जो अनार्य होते हैं
वे ही। समयका महत्त्व व अत्यन्त वैसा चाह वैसा हीन
जबहात करते रहते हैं। वर्यु वैसा करना आर्योंके किये
कराये योग्य नहीं है। मायावा भीमजगन्नाथ कर्मका आदि
नार्य राजाओंका आदर्श जीवन कर्मका रक्षी और समक-
का विचार करी।

विषम समय

(विषम) अब तो तुम्हारे सिरपर पाव रहा है
तुम्हारे नाक करके किये इस समयका बतने इन्हारो कपट
अवस्था किये इस समय भी अबु कमार कलके तुम्हारा नाक
करके किये ठेकार है और तुम्हारे अमृतक उपस्थित है।
तुम्हारा पत्न तुम्हारे अमृतके बलीक है असम्भ लेनायक
बचक और अविचारक तुमसे कई गुना अधिक है तुमने
इस समयका रूपने कष्ट छोड़े समकर्ममें विद्या रखी कभी
अचर्मकी और कभी नहीं की बचके अनाचार करनेपर भी
तुमने क्षीति बचक की तो भी तुम्हारे अबुका अनाचार
करके अनायक कम नहीं हुआ। अन्तिम अन्तिम-अन्तिम
अन्तिमकी बतने बली उच्यते समय बुद्धिबलने एव अमृतके
क्या कि विद्या बुद्धि विद्यामात्र बुद्धि की तुम्हें प्राप्त नहीं
होगी। इत्यन्त अबुका बुद्धि है वह तुम्हें स्वाम्य
कराये सुकसे नहीं होगा। इस अन्तिम पूर्व विचार होयके
बाद ही बुद्ध करनेका विचार अन्तिम-अन्तिम विद्या। अन्तिम
भीम बलक महत्त्व सती शैवरी तथा तुम्हारे अन्तिम
विद्यार्थियोंकी विचारकाय बुद्ध करनेका विचार किया।

बुद्धकी तैयारी

बुद्धके किये ही तुमने वैद्यार्थी नाम करके अन्तिम

अन्तिम बुद्धपत अन्तिम और अन्तिम इत्यन्ते विद्या अन्तिम
भी प्राप्त किये। बाह्य बर्ष अन्तिम और एव बर्ष अन्तिम
क अन्तिम कष्ट सहन करके अपने सब बुद्धों और कष्टोंका
परिभाष्य करनेके किये तुम यह! एवमेवमें जाये हो।

पाण्डवी मलका नियमन

इसके अतिरिक्त अन्तिम अन्तिम बुद्ध मनुष्य अन्तिम
अन्तिम पाण्डवी बलके जोरके कारण व अन्तिम और अन्तिम
मिथ्य होकर अन्तिम अन्तिम करे इस प्रकारकी अन्तिम
अन्तिम करनेके हेतु यह बुद्ध अन्तिम कर रहे हैं। ऐसे बर्ष
बुद्धमें तुम्हारे वैसी नार्य औरके अन्तिम अन्तिम अन्तिम
अन्तिम करके आदि है।

पर्यु तुम तो अन्तिमके समान अपने अन्तिमके व सम
अन्तिम बुद्ध अन्तिमके पीछे हटत हो। नन्ता यह तुम्हारे वैसी
अन्तिमकी योग्य है। तुम्हारे पूर्वक अन्तिमके कोई भी
अन्तिमकी इस प्रकार बुद्धके अन्तिम अन्तिम की नहीं हुआ,
और व बुद्धके पीछे हटा बा। अन्तिमके अन्तिम तुम अन्तिम
हो और अन्तिम ही अन्तिमके अन्तिम अन्तिम कर रहे हो।
इस समय तुम अपने आर्यत्वकी रक्षा करो! अन्तिम
अन्तिम अन्तिम।

स्वर्गद्वारका मार्ग

यह बुद्ध अन्तिमके किये मार्ग स्वर्गद्वार बुद्धा हुआ है।
बुद्ध तुम इस अन्तिमके नाम आयोगो तो तुम्हारे स्वर्गमा-
यिमें (अ-स्वर्ग) बली बाबा अन्तिमारी। बुद्धके अन्तिम
बलके अन्तिमकी कभी स्वर्ग मिक नहीं सकता।

बुद्धकीर्ति

बुद्ध तुम इस प्रकार अन्तिमके भाग सब तो तुम्हारे
बल (अन्तिमकी कर्त) अन्तिमके होगा। अन्तिमकी वैसी
अन्तिमकी होगा या अन्तिम की मनुष्यकी वैसी बुद्धकीर्ति होगा
योग्य नहीं। बुद्धकीर्तिमें अन्तिम अन्तिम है। अन्तिम बुद्धकीर्ति
मार्गमें अन्तिम तुम्हें योग्य नहीं है।

मनकी बुद्धि

(अन्तिम) यह मनकी बुद्धि है जो अन्तिम अन्तिम
मनुष्यकी अन्तिम अन्तिम करती है। अन्तिम यह मनका 'मन'
ही है। यह मनकी बुद्धिवा अन्तिम अन्तिम अन्तिम
अन्तिम अन्तिम करती है।

(२) रुधिरसे मरे मोग

जर्जुम बचाव—

कर्यं मीधमहं सरस्ये द्रोण च मधुसूदन । इषुमि प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिघ्नन ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् भयो भोक्तुं मैत्र्यम्पीड लोके ।

हत्वार्यकामांस्तु गुरूनिदैन सञ्जीव्य मोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वय— जर्जुम बचाव— हे मधुसूदन । अहं मीधं द्रोण च संस्थ इषुमः कर्तुं प्रतिबोद्धामि । हे वरिघ्नन ! (पृ०) पूजार्हो ॥ ४ ॥ हि महानुभावान् गुरून् बहत्वा, इह काके यैर्ह्य भोक्तुं नपि क्षेमः । गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् मोगान् सुञ्जीव्य ॥ ५ ॥

जर्जुम पोले— हे मधुसूदन । मैं मोगम और द्रोणके साथ युद्धमें जायाँले कैसे लड़ूँ ! हे शत्रुके नाश करनेवाले कृष्ण । य पूजा करने योग्य हैं ॥ ४ ॥ अत्यन्त उदार अन्त्याकरणवाले इन गुरूजनोंको न मारकर इस लोकमें भीक्ष मागकर खाना मी अधिक कल्याणकारी है । क्योंकि गुरूजनोंका यद्य करके यहाँ उनके रक्तसे मरे हुए मर्त्य और भोगही मोगसे पड़ेगे ॥ ५ ॥

हे अनुज ! तु जर्जुम जर्जन प्राप्त करनेवाका स्वराज्य प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेवाका है । यह समय तुम पाण्डवों के किञ्च प्रतिकूलवाका है । यह समय ऐसा है कि जिस समय तुम्हारे शत्रु हाममें मिथी पकड़ते हैं, तो उसका मोक्ष लभना है और तुम कोयले हाथमें लोहा पकड़ा तो उसकी मिथी बनती है । तुम्हारे शत्रु लक्ष्मणचरण और लक्ष्मणार करते हुए बहते जाते हैं और तुम चर्मसागर पर रक्तका बकते हो तो भी मारते जाते हो । ऐसे प्रतिकूल समयमें तुम्हें मन की बहालीनका किंवा मनकी दुर्बलता कारण करना सर्वथा अवाज्य है । मनमें बल प्राप्त करनेका वही समय है । परिस्थिति विपरीत होनेपर भी मनमें बल कारण करना चाहिये तभी इस विपरीत परिस्थितिसे अनुपम पार हो सकता है । अतः (क्षुद्र इहयदौर्बल्यं त्यक्त्वा) इस समय यह मनकी दुरवस्था दूर कर और अपने मनमें बलकी कारण कर ।

धीरवृत्ति

(ईर्ष्यं मा क्षमामः) अनुपम न बन, नागर्ह न हो । हे जर्जन । हमने सुना है कि जब ए अमरावतीमें देवराज हस्त्रके पुत्र विष्णुधर्मसे देवी लक्ष्मिवाकी शिष्टा प्राप्त करने के लिये गया था उस समय वहाँकी स्त्रियोंको वधवादा करनेवाकी विदेशी सुंदर तीर्थस्थ लक्ष्मी खर्बचीका तुम्हारेले कुछ देवमर्षिकका आशीर्वाद हुआ था । इस समय आर्ष-कुमारका घोसा ऐश्वर्यपूर्ण बनने लगा था, यह सुनकर हमने

आर्षवृत्त काय किया था । इस समय इस स्वेच्छाविहायीकी कुमारीकाके बाकमें तुम नहीं कैसे वह हमने उत्तम किया । परंतु इसके अन्त्याकरण पिरकार करनेके कारण हमने तुमको अनुपम बन जानेका क्षाप दिया यह भी हमने सुना है । क्या इस समय तुमपर बलका कुछ परिणाम हो रहा है । फिर ऐसे बीरताके समयमें तुम ऐसे नामर्हके समान आचरण क्यों कर रहे हो । खर्बची जैसी विदेशी लक्ष्मिर्हो । हृष्यमंग होनेपर बैसा हुराजका कहती ही हैं, परंतु तुम जैसे बीरोंकी उचित है कि वे अपने आत्मिक बलसे इस विचारका अर्थकार करें । तुम यदि अपना मनोबल बहालाने और अपने वैभव पर छोड़ो तो इस लक्ष्मीके भ्रमसे बचनेका कोई बहिमान समय नहीं होगा । ऐसे विपरीत समयमें (एतत् स्थितिं न उपपद्यते) पत्नी मनकी दुर्बलता कारण करना तुम जैसे आर्ष-बीरोंकी क्षोभा नहीं देना है ।

हे जर्जुम ! तुम (पर-तप) शत्रुको वाध करनेवाके शत्रुका नाश करनेवाके बल प्रदायी हो । तुम्हारा अर्धक कीर्ति सुनकर शत्रु आग जाचने तुम्हारा अखण्डछोडे बल के सामने कीन बहल सकता है । अतः तुम्हें पत्नी मनकी अवजोरी ऐसे विपरीत वाद अनिष्टक समयमें धारन नहीं करनी चाहिये ।

इस प्रकारका आगाहवर्षक उपदेश सुनकर जर्जुम अपने मनके भाव फिर बहला है—

न चैतद्विष्य कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

मानेय इत्वा न विभीषिषामस्तेऽवस्थिताः प्रभुखे भारतराष्ट्राः

॥ ६ ॥

क्षार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूहचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं प्रापि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुषाद्यच्छोकमुच्छोषमग्नित्रियाम्बाम् ।

अथाप्य भूमावसपत्नसमूहं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अन्वय — वा कतरन् गरीयः ? वा वा (यः) जयेम यदि वा (ते) ना जयेयुः पृच्छन् यदि च न विद्मः । ननु इत्वा न विभीषिषामः ते न च भारतराष्ट्राः प्रभुखे अवस्थिताः ॥ ६ ॥ क्षार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसमूहचेताः (अहं) त्वां पृच्छामि । अहं निश्चितं चेष्टाः इत्याह पृच्छ मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः त्वां प्रपन्नं मां प्रापि ॥ ७ ॥ हि त्वां न प्रपन्नं अहं त्वां सुराणां च अपि चाधिपत्यं अथाप्य, अहं मम इन्द्रियाणां दृष्टान्तेष्वंशं कोटं अपनुषाद्यं तत् न पश्यामि ॥ ८ ॥

हमारे किंचे इस होमोंमें के कौनसा श्रेष्ठ है ? क्या हम जीतेंगे या नो हमें जीतेंगे ? यह भी समझ नहीं पड़ता । जिनको मारकर हम जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते वे धृतराष्ट्रके संबंधी हमारे सम्मुख (मुखके छिये) कड़े हुए हैं ॥ ६ ॥ इन्द्रताके दोषसे मेरी स्वामाधिक धीरवृत्ति मारी गई है अतः कर्तव्य मिश्रण करनेमें मंदा जित मोहित हुआ है । इसलिये मैं तुमसे पृच्छा हूँ । जो मिश्रणके कल्याणकारी हो वह मुझे कहे । मैं मुग्धता शिष्य हूँ । मुझ शरणागतको समझाओ ॥ ७ ॥ क्योंकि इस पृच्छामें विच्छेदक और संपन्न राज्य अथवा देवोंका स्वाभिमन्य भी मिश्र जाय तो भी मेरे इन्द्रियोंका शोचन करनेवाले इस धोकका दूर करनेवाला कोई उपाय मैं नहीं देखता ॥ ८ ॥

(१-४) अहं पृच्छते विदुष होके जयने कारण क्या रहा है । मैं मुग्ध हूँ भीरु हूँ । देखो मातापिता नाति पुत्र पुत्रोंकी सेवा करना हमारे किंचे योग्य है न कि उन का लज करना । वहाँ भीष्मसितामह हमारे पुत्र पितामह हैं । श्रौतार्थ तो हमारे अर्थात् आचारके योग्य आचार हैं, जिनसे मैंने सब बिधा ब्रह्म की । क्या हमपर ही मैं जान छोड़ ? जिनकी पूजा करनी योग्य है, देखे पुत्रपौत्रोंका ही मैं क्या करूँ ? वह मुझसे कैसे होगा ? जिनसे मैं स्वर्णमें भी वैराग्य नहीं रहता बल्कि ब्रह्मका भावना का मैं कैसे करूँ ? जो ब्रह्मविद्या मैंने पीछी क्या वह सब हूँ अपने विचार करके किंचे ही है ? जिनमें विद्या सिद्धार्थ हम पुत्रोंका पढ़ी पुत्रसिद्ध है कि मैं उनका भावना क्या करूँ ? जिनमें विषयवसे इच्छा पुत्रवत् राज्य विद्या ब्रह्म विद्यामहकी सेवा करनेके अभावपर क्या मैं अपने वरिष्ठ करीपर भावोंके लज करूँ ? वे भीष्म श्रौत देवोंके आचार हैं, विद्याके विधि हैं अनेक गुणोंकी भावना काय है । देखे अपने चरित्राचारोंको मारकर जो भी ब्रह्म भोग ब्रह्म होय अथवा भोगते हुए

हमें क्यासे कुछ नहीं मिलेगा । किसीके भयसे इस प्रकार पात किंचे राज्यभोग सुखदायक हो । परंतु मैं इनको सुख-दायक नहीं मानता हूँ । मैं तो इससे भीक्षु भाग्य और भोग का विद्या अथवा अन्धका समझता हूँ । अथवा पूर्वके अन्धक बनना ही भोगता पड़े तो भी मैं इसको मित्रों समझता हूँ । जो कुछ हो मैं देखे महापुत्रपौत्रोंपर राज्य भोगकी भावना किंचे कष्टविषय क्या नहीं पकड़ता ।

हे भीरु हूँ । अपने जो ब्रह्म राजसकी माता है अन्धकान् अनुमोको भी मारा है परंतु वे प्रसंग इससे मित्र हैं । भीष्म-श्रौत जैसे ब्रह्म शत्रुपुत्रोंका भव करनेका प्रसंग बात पर कभी नहीं आया था । जिनसे वैराग्य ब्रह्म होके अथवा भीष्म हूँ अथवा भीष्म की रक्षा नहीं चाहते वे हूँ । प्रसंगमें हूँ अथवा मेरे सम्मुख कहे हैं । इसका भव करनेके प्रसंग हम जीवित रहना ही नहीं चाहते देखे वे पृथ्वीवत् पुत्र हैं । इसलिये मेरे सम्मुख वह भव अवस्थित हुआ है कि क्या मैं इनको मार्क वा हूँ मुझसेको छोड़कर अन्धकों का ? हममेंके भीषया कार्य करना कष्ट है वह भी मेरी

(१) अर्जुनका न लडनेका निमित्त ।

संक्षेप उदाहरण—

एवमुक्त्वा हृषीकेश गुडाकेश परतप । 'न योत्स्य' इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्णं बभूव ॥२॥
तमुवाच हृषीकेश प्रहसन्निभ आरत । 'सेनयोरुभयोर्मध्य विप्रीदन्तमिदं वचः' ॥ १० ॥

अर्थ— संक्षेप उदाहरण— परतप— गुडाकेश हृषीकेश पूर्व उक्त्वा न बोले इति गोविन्द उक्त्वा तूर्णं बभूव ॥

॥ १० ॥ हे आरत । उभयोः सेनयोः मध्ये विप्रीदन्तं [अर्जुन] हृषीकेशः प्रहसन् इव हर्षं वचः उवाच ॥ १० ॥

संक्षेप बोध— शत्रुको ताप देनेवाले आर निद्राको पीतनेवाले (अर्जुन) ने हृषीकेशको स्वाधीन करने वाले भीकृष्णस इस प्रकार कहा और अन्तमें 'मैं न लड़ूंगा कहकर वह चुप हो गया ॥ १० ॥ हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनामार्गों बीच विष होकर बैठे हुए (अर्जुन) से हृषीकेशसंगी भीकृष्ण कुछ हसते हुए इस प्रकार उपदेश करने लगे ॥ १० ॥

समझें इस समय नहीं आता है । मैं क्या करूँ ?

मुझ किन्हेवर उलटा परिणाम हमारे अनुसृत होगा या मलिन होगा यह भी किसको पता है । निश्चयसे हमारी जीत होगी या उलटकी होगी इस समय संदेहकी ही बात है । जहाँ ऐसे संदेहकी अवस्थामें हम युद्धमार्गों का नष्ट करना प्रार्थन करें वह निःसंदेह अनिष्ट काट है । इस मुझसे हम पूज्य पुत्रोंका वध करके हमें अब भी प्राण हुआ तो भी वह प्राणवशे अनिष्ट हुआवाच होगा । क्योंकि हमके राखते योगी योग भोगते समय हमका स्मरण होता रहेगा और वससे जो हुआ होगा वह कई गुना नष्ट कह देगा !

इस प्रकारके विचारमें मेरे अंदरकी स्वाभाविक वीरहृति यह हुई है । मैं हीन बना हूँ और इस समय क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसके विवेक करनेकी शक्ति मेरे अंदर नहीं रही है । धर्मको दृष्टिसे इस समय मेरा कर्त्तव्य क्या है, यह बात मैं जानना चाहता हूँ । हे भीकृष्ण ! मैं इस समय नापके धारणागत हुआ हूँ आपही इस समय मुझे योग उपदेश द्वारा धर्मार्थ बताइये समर्थ हैं । परंतु अन्तमें मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि यदि पूर्णरीका निश्चयक साक्षात् प्राप्त हुआ अथवा ऐश्वर्यस्वर्ग का राज्य बर्षाई इन्द्रवध भी प्राप्त हुआ तो भी मेरे हृदयों को मुझनेवाले हम जोको दूर करनेवाका कोई कारण प्राप्त होगा ऐसा मुझे नहीं प्रतीत होता है । इस प्रकार इस समय मेरी दिशामुक्त हो गई है मुझे ठीक मार्ग दीखता नहीं है । जहाँ मार्ग है कि जहाँ योग उपदेश करके मुझे स्थिर मार्ग बताइये ।

(१-१) [गुडाकेश और हृषीकेश हम दो अर्जुन की दिव्यता में ही न १ की २४ के स्थानपर देखिये ।] इस प्रकार अर्जुनने अपने हृदयकी हीनता वक्ष की और मैं कुछ नहीं करूंगा ऐसा कहकर वह चुप हो गया । यह आश्चर्यकारक वदना देखकर भीकृष्ण मगधात् ब्राह्मण वक्षिण हुए, क्योंकि अर्जुन जैसे कार्य-वीर के मर्ममें ऐसी हीनता उत्पन्न होना संभव ही नहीं था ! क्या कभी सूर्य अंधेरीमें छिपाया जा सकता है ! कभी मेघ-पर्वत राईके शायमें दबाया जा सकता है ? क्या आकाशकी समेटकर इधरा उधर है ? क्या कभी महासागर सुखाया जा सकता है ? केव वे बात कभी नहीं सकती, वैसे ही कार्य-वीरके अन्तःकरणमें हीनता आना भी कभी संभव नहीं है । परंतु जो कभी होनेवाका नहीं था वही मात्र हो गया ! ! ! वह देखकर मगधात् भीकृष्ण विचित्र मुस्मय और मर्ममें समझे कि यह अर्जुनकी अवरणा कोई आर्गुन कारणसे नहीं हुई है । इसके मूल कारणका विचार करनेसे उनकी उल्टी समय पता लगा कि इसका कारण क्या गहरा है । अनुपपत्ते सज्जनमें जो विवेका उपदेश अन्तिम समयमें किया था वही इस दशात्त उपरके समयपर लग गया है । अनुकी धिया बेसीकी बेसी स्वीकार करनेमें हमकी मति भ्रष्ट हो गई है । जहाँ इसके अन्तः कारणका यह दोष विना विवेक उपदेश किये नहीं पाया जा सकता । अपना योग और वराका योग है अथवा संघकी कील और दूरका कील हम का लक्ष्यशालकी दृष्टिमें विचार इसकी समझना चाहिये । ऐसा विचार करके मगधात्ने हमको हम प्रकार उपदेश

सांख्ययोग

(४) पण्डितोंकी समझधि

श्रीमद्भगवानुवाच—

अप्रोक्ष्यानन्वप्रोक्षस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गताघनगतासूक्ष्म नानुप्रोक्षन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

अनुवादः— श्रीमद्भगवाद् उवाच— त्वं अप्रोक्ष्यान् अन्वप्रोक्षा । प्रज्ञावादांश्च भाषसे । पण्डिताः गतासूक्ष्म गतासूक्ष्म नानुप्रोक्षन्ति ॥ ११ ॥

श्रीमद्भगवान् बोले— जिनका शोक करना योग्य नहीं है उसका ही शोक तु करता है और ज्ञानकी वही वही धार्त बालता है । परंतु ज्ञानी लोग मेरे हृद्योका अथवा जीवितोका शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

भाषार्थ— जिनके विषयमें शोक करना योग्य नहीं उनके विषयमें शोक करनेमें अपन। समय संभाला किसीको भी योग्य नहीं है । बिना जातेहीकेय संवत्स समसे बड़े प्राधिकारिक कारण बोलकर अपनी जोखकी रीतिआई गतागता मो किसी को योग्य नहीं है । ज्ञानी लोग कदापि प्राणिके जाने अथवा रक्षेका शोक नहीं करते ।

कर्म आरंभ किया—

अध्यायका नाम

(११) यद्यपि इस द्वितीय अध्यायका नाम सांख्य योग है तथापि पहले हम अध्यायमें सांख्य लक्षणका ही बात विवक्षित नहीं है । इसी प्रकार इसी अध्यायके १९ लोक तक ही सांख्य लक्षणका व्यवहार किया गया है ।

एषा ठेडमिहिता सांख्ये बुद्धियोगे तिष्ठतां शुभु ।

(म गी १।१९)

यहां तक मुझे सांख्य ज्ञानका व्यवहार किया जागे योगका व्यवहार अवलम कर देना कहा है । अतः यहाँ तक ही सांख्य लक्षण कहा है और इसके आगे योगलक्षण कहा है । परंतु सांख्य और योगमें बहुत भिन्न नहीं है । दोनों मार्ग कुछ समयके प्रमाण दृष्टकर ही जाने हैं । कई लोग सांख्य का निरीकर-योग कहते हैं और योग का संवर सांख्य भी कहते हैं । इसी दोनो व्यवहारोंकी दृष्टकरता जानी है । अगवद्गीतामें भी—

सांख्य और योग

सांख्ययोगात् पुरुषात्माः प्रवर्तन्ति न पण्डिताः ।
एकमरणाश्रितः सत्यपुरुषोर्बिभूते पञ्चम ॥ ४ ॥
पुरुषार्थी प्राप्यते स्थानं मयाग्रेहवि गम्यत ।
एवं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
(म गी ५)

हर कोत कहते हैं कि सांख्य और योग एक

हैं पर पण्डित नहीं । हममेंसे एकका अनुमान करनेसे दूसरे का भी एक मिक जाता है । जो स्थान सांख्योंकी मित्रता है वही योगियोंकी भी मित्र होता है । अतः सांख्य और योग एक हैं, ऐसा जो बाल्य है वही ठीक बात जानता है ।

इस समयसे स्पष्ट होता है कि सांख्यज्ञानी और योगमार्ग परस्पर बहुत घिन्न नहीं है । इसका ही नहीं परंतु बहुत अधिकमें एकत्व ही है । इसी कारण इस अध्यायका नाम सांख्य-योग रखा है यद्यपि इसमें केवल सांख्य मत कहा है वही व्यवहार योगमत भी कहा है । इस भावसे भी योगोंकी एकत्वका ही सिद्ध होती है ।

सांख्य धर्मका अर्थ

सांख्य किसी कहते हैं इसका विचार नहीं करना चाहिये । इस लक्षणकायों सांख्य नाम क्यों रखा गया इसका हेतु देखिये । संख्या धारते सांख्य कहते हैं और इसका अर्थ यह है—

यथा संख्या विचारणा । (नारायणः)

संख्येकादशे विचारो यः । (हेमकायः)

संख्या सम्प्रपातामनुदि । (अनुसूतनारायणः)

गी टीका १।१. ५४)

सम्प्रकथानं संख्याक्रमप्राप्तिरूपेण ज्ञानम् ।

(धर्मसूत्रका १९)

पदापीः संख्यायन्त ध्युत्पाद्यन्ते मयिन् इति

सांख्यम् । (अनुसूतन गी १०।११)

“सम्पा सम्पत्का अर्थ (सम्पत् कर्त्तव्य) विचार करवा, तत्त्वनिश्चयके लिये वादविवाद करना है। सम्पा सम्पत्का दूसरा अर्थ अष्टमविषयक निश्चित ज्ञान है। कमपूर्वक बुद्धिर्बोको दार्ढ्यकर जिसमें सिद्धांतका प्रतिपादक किया जाता है उसको सम्पत् कहते हैं। इस अर्थमें विवेक पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी सम्पा अतन्त्र उनका वशावत् ज्ञान जिस ज्ञानमें कहा होता है उसको सम्पत् कहते हैं। यह सम्पत् सम्पत्का अर्थ है। इसी विषयमें महाभारतका एक श्लोक देखिये—

दोषार्था व गुणार्था व प्रमाण प्रविभाषताः ।
 कश्चित्प्रेममिश्रित्य सा संकल्पेत्पुपचार्यताम् ॥
 (म भा० कामि अ ३२ । ८९)

किसी सिद्धांतके विचारमें दोषों और गुणोंके प्रमाण का विचार करनेका नाम सम्पा है। ‘कश्चित्’ इसमें दोष पाव है और गुण इस हैं सो यह अर्थ है। दोषोंकी सम्पा जिसमें अधिक है वह ठीक नहीं इस प्रकारका निश्चय करनेका नाम सम्पा है इस तरह सम्पाविशेष जिस ज्ञानमें किया होता है उसमें सम्पत्का कहते हैं। सम्पत्ज्ञानमें सबसे प्रथम विवेक अर्थके अष्ट विषय पदार्थोंकी सम्पा निश्चित की है अष्ट पदार्थोंके कार्यों और विषयके

कार्योंका निश्चय किया है इस प्रकार सम्पाविशेषकरनेसे इस ज्ञानका नाम सम्पत् हुआ इस सम्पत्ज्ञानके अनुसार उपदेश सबसे प्रथम जीवजन्म भगवात् अर्जुनको दे रहे हैं। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञानके बिना दूसरा कोई साधन नहीं है। और अपना और ‘पराया’ इस सम्पत्का मोह दूर करनेके लिये सम्पत्ज्ञान केसा उपयोगी है, वैसा दूसरा कोई साधन नहीं है। क्योंकि इस ज्ञानमें अगत्के पूर्व सम्पत्का वशावत् ज्ञान दिया है जिसके अन्त करनेके पश्चात् मनुष्यका मोह दूर हो सकता है।

दो प्रकारके लोग

अगत्में दो प्रकारके लोग प्राणी जन्मा पदार्थ होते हैं—
 (१) एक “गतासु और (२) दूसरे अ गतासु’
 जिनके प्रायः सब जाते हैं इनको गतासु कहते हैं और जिसके प्रायः शरीरमें कार्य करते हैं, इनको अगतासु कहते हैं। भाषा में ‘गतासु’ का अर्थ मृत और ‘अगतासु’ का अर्थ ‘जीवित’ होता है। ‘पण्डित लोग जीवित और मय इनमेंसे किसीका शोक नहीं करते।’ यह एक पण्डितोंका स्वभावकर्म्म इस श्लोकमें कहा है। वहाँ पण्डित ने कहे गये हैं जो इस सम्पत् तत्त्वज्ञानको

अगतासु (जीवित)			गतासु (मृत)		
प्राणा	आत्मा	प्रथम कक्षा	आत्मा	प्राण	प्राण
राजी	बुद्धि	द्वितीय कक्षा	बुद्धि	मन	मन
सुखमग्री	सुषुप्तिका मय		सुषुप्तिका मय		
वपमग्री	वायुविका मय	तृतीय कक्षा	वायुविका मय		
रक्त	मांस	चतुर्थ कक्षा			
कार्पसावक	हृदिनी	पंचम कक्षा			
कर्मदायक	शरीर	षष्ठ कक्षा			
कर्मदायक	अगत्	सप्तम कक्षा	अगत्		

अगतासु और गतासुका चित्र

माथ होयेबाकेका माथ हुआ तो उस विषयमें शोक
किसका करना ?

पहरेदार पहरेपर जाते हैं और बीच बीचमें कार्य छोड़
कर या लीकरी छोड़कर चले भी जाते हैं । जरा से रहे या
गये तो भी किसी प्रकार शोक करना बर्णित नहीं । हां
बरकर स्वामी नाकको मल्ल होजाये तो वह शोकका विषय हो
सकता है; परंतु जतना अधिकारी होनेसे व वह कभी
जन्म केती है और व कभी वह मरती है, जरा उस विषयमें
शोक करनेका कदापि कोई कारण ही नहीं है ।

जानी कोन पूर्व रिपिसे यह बात जानते हैं, जरा जीवित
या मृत अवस्थामें कतन से कभी शोक नहीं करते । परंतु
जो छोटा पवित्रता नहीं होते हैं परंतु मृत या साधारण कोप
होते हैं, वे इस ज्ञानको नहीं जानते हैं और वे धमसते हैं
कि ज्ञान जानेके पश्चात् जन्मा भी मरती है और इस कारण
मृत्यु जाते ही रोने लगते हैं । परंतु बरके माकिरके जीवित
रहनेतक पहरेदार लीकरी छोड़कर क्या गया तो बरके
माकिरके कारण रोनेपीडनेकी क्या जरूरत है जब उसको
दूसरा पहरेदार निजवर्णक निकलेबाका है ?

बन्नि वह विचार पाठक समझेंगे तो जिनके ज्ञान जाते
गये हैं उनके जिने और निमके ज्ञान नहीं गये हैं उनके जिने
भी पवित्रता ज्ञान नहीं शोक नहीं करते इस बातका ज्ञान
प्राप्तमें जावेना । इस प्रकार हम छोकरायेते हैं। अगवान्मे
बहुतका मोह हुआ करनेका ज्ञान दिया परंतु हमने छोपेपके
कहा ज्ञान साधारण जबकी समझमें नहीं आ सकता; जरा
जागे इसका स्वीकार होना ।

(गतास्तु) मर किंवा (अगतास्तु) जीवित लोग
वे सबके सब (अ-शोकप) शोक करने योग्य नहीं हैं ।
क्योंकि जो मुख्य अमरत्व है उसकी स्थितिही दृष्टिसे
कहा होभी भ्रमस्थानोंमें कोई भेद नहीं है । जिस प्रकार
बरका स्वामी ज्ञानर रहा किंवा जो जाने तो कोई शोकका
विषय नहीं होता है वही प्रकार वह है । जरा मुक्त या
जीवित कोई अवस्था हो किसी अवस्थामें किने शोककरना
योग्य नहीं है ।

अतः ज्ञानी कैसी नहीं बनी बरके को बोकता है परंतु
वे सब ज्ञान ज्ञान मा जायेगे देना मानकर शोक कर रहा है ।
जहाँए को ज्ञानके बानव वह शोक रहा है जगका ज्ञान

उसकी समझमें निश्चय नहीं जाया है वह सत्य है । इसी
कारण वह उत्पन्न उसको सबसे प्रथम समझाना चाहिये
इसी उद्देश्यसे अगवान् ब्रह्मण्य जन्मसे कहते हैं—

बरे जन्म । देव मुझसे सत्य तुम्हें यह कहा प्रारंभ
किना है । तुमजमेको बका ज्ञानी मानता है, पाठु जपना
जज्ञान छोड़ना नहीं चाहता । तुमको कोई शिक्षाने का
विचार करे तो तुम्हें सत्यमेवकी बातें बोकने लगता
है । ऐसा जन्मान्ध पागल होता है और उस पागलपनमें
हजार हजार माफने लगता है वैसी ठेरी अवस्था बन गयी
है । बरे, तुम अपने ज्ञानका एकपक्ष तो जानता नहीं
और औरोंके जिने शोक करता है । किना जाबर्द है । इस
विषयकी रचना जवादि काफ़ी बकी जाई है और उसका
संकाशक प्रभु सर्वसत्य है यह सब तुम मूक गया । तुम्हीं
इस सब जगत्का उत्पत्तिक तो नहीं है ? अतएव पापन
जाके प्रभुसे वे सब भाषिमात्र उत्पन्न किने जाते उनीन जब
अपको कर्ममुक्तकी बोजवा आ है । तुम्हें तो यह बोजवा
नहीं आ है ? क्या तुम्हीं जेकेका इसका नाक बनवाता है
और यदि तुम्हें इनका नाक नहीं किना तो क्या वे जम रहेंगे ?
क्या तुम्हीं इनको मार सकता है और ठेरे ब्रह्मणसे ही वे मर
सकते हैं ? क्या वह ठेरा विनाल रीक है ? तुम्हें इनका बंध
नहीं किना तो वे निराश्रित रहेंगे ? नहीं ठेरा विनाल है न ?
जरा जवादिबिह विषयकी मइती रचना कैसी चक रही है और
उसमें उत्पत्तिविनाल से स्वयं कैसे चकरा रहे हैं इसका जरासा
विचार तो कर तो तुम्हें बरा बतोगा कि इनका जीवा या
मरना ठेरे ब्रह्मणके बाधीय नहीं है । वह किसी जन्म
प्रकण्ड जाकिने बाधीय है । जरा तुम्हें इनको व माता और
बन प्रकण्ड जाकिने लवई इनको मारनेप्र विचार हुआ तो
वे नहीं चक नहीं हो सकेंगे । जरा किसीको जीने या मर
नेक कारण ज्ञानी लोग शोक नहीं करते और ठेरे जेसे
मोहित भी नहीं होते । इसका ज्ञान बड़ा इनी बातका
विचार करना चाहिये कि उस निवासक प्रभुके विषयवाक
प्रकण्ड कार्यका ज्ञानी जगकरबड़ा जपनेकरना या हुआ
कार्य करना है जन्मवा उसके विरुद्ध होकर जैसा चाह वैसा
जन्ममाना जगहहार करके उसका बरिमान भोगना है । इस सब
इसी समय इस जगत्में देह चालन करके जाय है बहिरे कभी
नहीं वे और जागे भी कभी नहीं होंगे यह बात रीक नहीं है ।

परायण जानते हैं । ये सांख्य लक्षणाधी मनुष्य जो दुष्टोंका ब्रह्म जीवित मनुष्योंका शोक नहीं करते ।

अर्जुनमें सब लोग धर्मरत नहीं हैं । पंडित इनको कहते हैं कि जिसको (पण्डा) का शोक विषयमें बर्णार्थज्ञान (हृत्) प्राप्त हुआ है । अर्थात् ज्ञानका पर्याय ज्ञान जो जानते हैं वे ज्ञानी भविष्यो का दुष्टोंके विषयमें शोक नहीं करते । यदि गीताका यह शोक शीघ्र ब्रह्म समझनेकी बातोंकी हृत्ता है तो गतासु और अगतासु दुष्टोंका उपशान्त करनेसे ही श्रीकृष्ण भगवद्गीताका शाश्वत सफलता का सफलता है । इसके ब्रह्मरूप हृत् और भविष्य छान्दस्यसे वा हृत् साधनक लक्ष्य छान्दस्य से वह साधन समझमें नहीं आ सकता । साधनसाधने अनुसार युग और भविष्य ऐसा भेद नहीं है, वरन् 'गतासु और अगतासु ऐसा भेद अर्जुनमें है । अब हम विषयमें बात यह है (५ - ७१ पर चित्र देखें)

एक ब्रह्म साक्षात् करणा कर आश्रित । राजा राजा अर्जुनो ब्रह्म ब्रह्ममें रहने हैं । राजा लक्ष्यका एक और शिखर समझकर एक दूरी से प्रधान शक्तिबोध का कार्यक प्रितीय और शरीर कर्ममें है । अर्जुन कर्ममें रहकर मानका कार्यक है । द्वाविध ब्रह्म हमने कार्यकहक सुख मानकी आश्रित अब शरीरकार्य काकर विविध कार्य करने हैं । हमने ब्रह्म तीन कर्मों हैं । हम अब कर्मोंमें लक्ष्यका साधनमान कर रहा है ।

हम साधनमानमें मान साधनका वा बहोदाका कार्य करनेका है । यही लक्ष्य है । वह एक कर्मक शरीरमें रहना है और एक कर्मके ब्रह्म शरीरका शीघ्रकर ब्रह्म ब्रह्म जाना है अब ब्रह्म जाना है अब इन्द्रियों और शरीर कार्य करनेमें लक्ष्यमें जो जाना है क्योंकि ज्ञानमें ही लक्ष्य रहकर वे कार्य कर सकती हैं । अब ज्ञानमें रहने का यह ज्ञान के ब्रह्म और प्रितीय कर्मों रहनेका और कोई ब्रह्म नहीं होगा ज्ञानमें ज्ञान करनेमें शरीर कर्मों लक्ष्य कर्मक के जो कार्यकहक है ब्रह्म ब्रह्ममान होगा है वरन् ब्रह्म और प्रितीय कर्मोंमें रहनेका शरीर कर्मों का ज्ञानका वा रहनेका कोई ब्रह्म वा लक्ष्य परि जान नहीं होगा है ।

ब्रह्मरूपके देखने- लक्ष्यमें लक्ष्यका ब्रह्म करनेका है ब्रह्मरूपके एक शिखर ज्ञानमें लक्ष्यका शक्ति में रहने

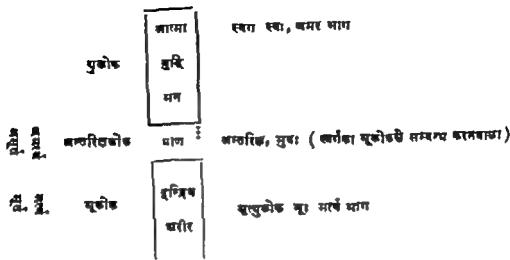
या महात्मामें कोई लक्ष्यता नहीं होती । अधिकसे अधिक नहीं होगा कि राजा राजा और मुख्य शीघ्रकर करने शरीरमें शक्ति काकर निवास करने लक्ष्य हसी शरीरमें रहने शरीरका रहेगा । यही भी नहीं होगा है मान लक्ष्य करनेका है तो मलिनमलिनमें प्रयोगसे मानकी लक्ष्य बना शरीर में की जाती है और हम उपशान्त भी मान करि स्थिर न रहा जो लक्ष्य, सुख और मन दूसरे शरीरमें रहने काकर है और ब्रह्म लक्ष्य ब्रह्म की कार्य शुरू करते हैं ज्ञान पक्षिक शरीरमें शुरू वा ।

यही पुरुषोंके ज्ञानमें लक्ष्य साधन होते हैं । हममें लक्ष्य कर्मका शरीरका शीघ्रकर लक्ष्य मान तो कोई रोते रोते नहीं ; क्योंकि मुख्य यही पुरुष ब्रह्मका ब्रह्मकी होता है । इसी प्रकार ज्ञान शक्तिबोधका वता है कि ज्ञानमें ज्ञान करनेपर भी लक्ष्य सुख और मन देखने में ही है और हममें कोई लक्ष्यता नहीं होती तो वे क्यों शोक करते ? क्योंकि ज्ञानमें ज्ञान शोक करना है व तो प्रथम और द्वितीय कर्मोंमें ज्ञानमें ज्ञान ही है । अर्जुन कर्म हृत् भी जान तो भी लक्ष्यकी लक्ष्यमें लक्ष्यकी ब्रह्म की रहती है । इस विषयका निश्चयलक्ष्य ब्रह्म लक्ष्य ब्रह्मकी होता है, ज्ञान है (गतासु) युग और (अगतासु) भविष्य दोनोंमें किसी भी लक्ष्यका विषयमें शोक नहीं करते । क्योंकि वे जानते हैं कि ज्ञानका लक्ष्य वा शोक करना है वह दोनो लक्ष्यका लक्ष्यमें लक्ष्यका ब्रह्मकी है ।

यही लक्ष्य लक्ष्यकी है कि इन्द्रियों और शरीरोंके लक्ष्य होनेका शोक शक्तिबोध । क्यों न होगा ? इसके विषयमें शोक न होनेक कर्मकाल है । देखिये--

१ ज्ञानी जानते हैं कि हम शरीरोंके लक्ष्य होनेके लक्ष्य की कर्म बार करी लक्ष्य हुआ वा और शरीर बार लक्ष्य कायका भी लक्ष्य हुआ जाना किने शरीरोंके लक्ष्य में शोक करें ? यही एक शरीर मित्रा है, शरीर बार नहीं है । शरीर बार शरीर मित्रा है और लक्ष्य लक्ष्यका लक्ष्य हुआ रहना है । वह लक्ष्य लक्ष्यका ही है । यह लक्ष्यका लक्ष्य होनेका ब्रह्मका है ।

२ शरीर वा लक्ष्य लक्ष्यका लक्ष्य होगा ही । शरीर यही लक्ष्य करने हैं कि जो (इन्द्रिय) लक्ष्य होगा है । यह



मरनेवाला मात्र साकार और शुद्ध है तथा न मरनेवाला को जमर भाग है वह विराकार और सूक्ष्म है । वहाँ हमें पता लगा कि जो जमर भाग जिसको हम नहीं जानता कहते हैं, वह शरीरके माथेके बजाय ही रहनेवाला है और शरीरके जन्म के पूर्व भी वह होता है । जो शरीरकी उत्पत्तिके पूर्व होता है और शरीरके मरनेके बजाय ही रहता है, वही जमर कहने योग्य है ।

इस सुखश्रुतिमें वा शरीर पाँचवें और सुखके विषय अत्र स्थित हैं, उनके अन्तर भी एक जमर आत्मा और मरनेवाला एक शरीर देखे दो भाग हैं । इस लघुकी आत्मा जमर होनेसे वह अत्र अत्रके जन्मके पूर्व भी थी और इसके मरनेके बजाय भी रहती । वही दृष्टान्तिके किये जगत्वात् श्रीकृष्णजीने कहा कि तू मैं और के अर्थ पहिच भी न इस समय हैं और भागे भी रहेंगे । अर्थात् हममेंसे कोई भी न शरीरके जन्मके साथ आत्मा है और न शरीरकी श्रावणसे मरेगा । अतः इस लघु स्थित है । और यदि स्थित है तो स्थित ब्रह्मणके किये छोड़ करनेका क्या कारण ?

बापुके कहनेसे अक्षरों परसे दृष्टि है बापुके स्वयं होनेसे जलमें भी स्थिर ही जाती है । कभी उतारनेके अर्थ वा मात्र होनेसे स्थिर बकरा जलमें भी न स्थिर रहता वही होती है

इसी प्रकार मात्राबापुके कहनेसे श्रुतिके समुद्रमें वह शरीर कभी एक तरफ उतरकर दुई और मात्राबापु स्वयं होनेसे वह तरंग भी छाँट दुई । उससे रहवाती आत्माकी अनिरवता नहीं आती वा छूटती । ऐसे बापुके स्वयं होनेसे वह और अक्षरों आकार देखेके देखे ही है, वही प्रकार कुछ अक्षरों पाठक नहीं आत्माके विषयमें समझे ।

मरना वास्तव्य नहीं है कि शरीरमें रहनेवाली आत्मा जमर है और शरीर मरनेवाला है । शरीरके मरनेपर भी वह जगत्वात् वेला ही रहता है । शरीरके माथेके साथ आत्माका कुछ भी विगडता नहीं वह बात नहीं स्वयं ही गह । अतः जन्मके जन्म के श्रीकृष्णजी और मर्त्य देखी जो अनुभव की टीका भी समय वह काशीव उत्तर है कि न नहीं मरे । शरीर किन्हीं बार भी जन्मे वा न । वही ही आत्मा की जगत्वात्में कोई श्रुत्याधिक नहीं होता है ।

इसका विचार करनेसे पता चलता है कि आत्मा स्थित है और देख अनिष्ट है । वह मात्र है परन्तु भी स्थित रहनेसे देखे काय आत्मा है वह हम देखते हैं । देखेके माथेके बजाय स्वयं आत्माका क्या होता है वह हमें पता नहीं चलता अतः मरनेका छोड़ होना योग्य है ।

इस टीकाका उत्तर आगे कोठमें श्रीकृष्णजीने देते हैं—

वह समाप्त है वह पुनः पुनः (पुनः नमः) नवीन
बैसा होता है ॥ २१ ॥ ए वी है और पुनः वी है ए
कुमार है और कुमारी वी है । बृह होनेपर ए हाथमें लोही
केसर चकता है और अब ए नवीन जन्मला है तब ए सर्वेभ
दिखाते है ॥ २० ॥ ए हुनका पिता है और हुनका पुत्र है
हममें स्पेष्ट है और कनिष्ठ वी है । मर्ममें प्रविष्ट होकर रहा
हुवा ए एक ही देव है । पहिले जन्मा या वही अब
मर्ममें पुनः जा गया है ॥ २४ ॥

अर्थात् बीवारमा समाप्त कबवा जित्त है वह बीके
खीरमें वी और पुनः खीरमें पुनः होती है । वह कुमार
कुमारी बृह-प्रश्न करापीठित होती है । वह खीरकी कबला
के कारण ही होता है, ऐसा मानते हैं । इसी प्रकार वह
किमीका पिता किमीका पुत्र किमीका बहा भाई और
किमीका छोटा भाई होता है । वह मर्ममें प्रविष्ट हुवा एक
ही देव है मन्त्रके अन्तर शुद्धि और जन्मा विराजमान रहती
है और एकबार वही जन्म केनेपर वी पुनः पुनः मर्ममें
जला है अर्थात् बारबार जन्मला है ।

हमका मन्त्रा मन्त्रक वही है कि वह जन्मा जित्त है
जता वह पुनःके धर्ममें पुनः होनेपर वी वस्तुतः वह
पुनः नहीं परन्तु खीरका पुनर्जन्म इसपर माना गया है ।
यहिके धीरमें वी वह नवी नहीं । वाक्यक खीरमें वह
वाक्य और कुमारिके धीरमें वह कुमारी होती है परन्तु
वे वी धीरके धर्म हैं । वस्तुतः वह न कुमार है और न
कुमारी है । हमको कोई पिता करते हैं कोई पुत्र और
कोई बहा का छोटा भाई करते हैं वह कइया वी धीरकी
अपेक्षा है । वस्तुतः वह किमीका पिता नहीं, किमीका
पुत्र वा भाई कबवा अधिक वी वही है । वह पहिले एकबार
जन्मा वा और अब पुनः मर्ममें जाया है । हमका अब स्पष्ट
है कि हमका पहिले धीर एव गया है और वह दूसरा
धीर प्राप्त करनेकी सैधर्मिक है ।

हम प्रकार हमको वाक्य तात्पर्य वाच्यक जैसी ज्ञान
होता है इसी प्रकार नवीन धीर वी प्राप्त होता है । वह
प्राप्त वेदमन्त्रोद्गाता वी ज्ञान प्रकार कही गई है । वेदमें
बीवारमाका मन्त्र तात्पर्य एव और पुनर्जन्म बतातेकेलिये
' वज्रमा या वज्राहरण विना जाता है । त्रिम प्रकार
' वज्रमा पुनः वतिपदां जन्मता । पुनःक जन्मकीक वाक्यकमा

रहता है पुनर्जन्मक पूरा कबवा होता है पञ्चाङ्ग कृष्ण
अध्यासी क्षीणता जाती है और जमावाजाकी शक्तिमें इसका
देहप्राप्त होता है और वह पञ्चाङ्ग पुनः जन्म होता है ।
जन्ममाकी जैसी लोकह कलाए हैं वैसी ही बीवारमाकी वी
लोकह कलाए जाती हैं । इस प्रकार जन्म वेदमें वर्णित है ।
वह इसीलिये है कि जन्माको पता जाय कि बीवारमा वी
(पुनः मन्त्र-पुनःपुनः) पुनः पुनः जन्म केकर नवीन जैसी
होयेवाकी है । इसी प्रकार उपनिषद्में वी कहा है—

यथोक्तः प्रैति स ह्यतः प्रत्यक्षेण पुनर्जायते ।

(ए व ३४)

पुनः पुनर्यशमापद्यते मे ॥ (अठ ३ ११)

वही जानु होनेके पञ्चाङ्ग इस लोकमें जाता है और
पुनः जन्म होता है । वह पुनः पुनः (जन्म केकर शुद्ध
मृगुक) वही होता है ।

एवोक्त रत्नायमें एवं स्त्री एवं पुमान्नि० इत्यादि
मन्त्र केलाचर उपनिषद्में (३१) में जाया है पाठक
वही जलका संवत्स्र अक्षय देवें । इस जलाचर उपनिषद्
का एक मन्त्र वही विश्व रीतिसे देखने योग्य है—

एयोहदेव प्रविशोऽनु मर्याः पूर्वो ह जागः स उ
गर्भे भस्मः । स एव जागः स जनिष्यमाणः प्रत्यक्ष
जनास्तिष्ठाति सयमोमुखाः ॥ (वे ११५४) वा व ३१५४)

वही (देवः) सकाशमान जन्मा सब दिशाओंमें है ।
वह (पूर्वः जागः) वहिक जन्मा वा (मः गर्भे भस्मः)
वही फिर गर्भमें जाया है । (मः जागः) वह एक बार
जन्मा हुवा (जनिष्यमाणः) जनिष्यमें पुनः जन्म होता है ।
वह हरएक मनुष्यमें रहता है । हमका मुक्त सब ओर है अर्थात्
चित्तमें अनुष्ण कबवा जाती है वतमें सब हमके मुख दी है ।

हमी कारण हमको आंतरिण्या अर्थात् मानाके
मर्ममें रहजयासा कहते हैं । क्योंकि यह बारबार
मानाके मर्ममें जाता है और जन्म बारन करता है । वहिक
जन्म केकर देह प्राप्त करता है वस देहकी मन्माक्षिप इस
देहकाप्राप्त कइ मानाके मर्ममें बहिर्भ होता है और वही मन्मा
देह प्राप्त करता है । हम प्रकार वह बारबार मानाके मर्ममें
रहकर बारबार भिन्न भिन्न देह प्राप्त करता है ।

इत्यादि कबोपर पुनर्जन्मके सिधर्ममें उपनिषद्में अन्तर
किता है । अर्थात् जीवात्मा निर्विदेह पुनर्जन्म प्राप्त करती

समातनमेनमाहृष्टताय स्यात्तुर्गर्भवः ॥ १३ ॥ त्वं
कीर्त्ये पुमानास त्वं कुमार उत वा पुमारी ।
त्वं श्रीर्णी दण्डन यश्चसि त्वं जाता मयसि
पिभ्यतामुख ॥ १७ ॥ इतेषां पितोत वा पुत्र
एवामुनीर्ण येष्ट उत वा कश्चिदः । एवम इदेषां
मयसि मयिष्टः प्रथमा जातः एव गर्भे जन्तः ॥ २८
(अथर्ववेद १ । १८)

वह समस्त है, वह पुनः पुनः (पुनः नवः) नवीन
जन्मा होता है ॥ २३ ॥ ए. सी. है और पुनः ए. सी. है ए.
कुमार है और कुमारी भी है । वह होवेपर ए. हाथमें छोड़ी
केकर बहता है और जब ए. पक्षी जन्मता है तब ए. सर्वत्र
देखता है ॥ २४ ॥ ए. इनका पिता है और इनका पुत्र है,
हममें वेध है और कमिष्ठ भी है । मयमें प्रविष्ट होकर रहा
हुआ ए. एक ही। देव है । पहिले जन्मा था वहीं जब
गर्भमें पुनः जा गया है ॥ २५ ॥

अर्थात् जीवन्मा सत्त्वतः जन्मा तित्व है वह जीवित
आरतमें भी और पुनः धारतमें पुनः होती है । वह कुमार
कुमारी हूँ-तद्वत् जन्मापिबिह होती है वह धारितकी धरणा
के कारण ही होता है, ऐसा मानते हैं । इसी प्रकार यह
किमीका पिता किमीका पुत्र किमीका बड़ा भाई और
किमीका छोटा भाई होता है । वह मयमें प्रविष्ट हुआ एक
ही देव है मयके अन्तर बुद्धि और जन्मा विराजमान रहती
है और एकबार वही जन्म जन्मेपर भी पुनः पुनः गर्भमें
जाता है अर्थात् बारबार जन्मता है ।

इसका मन्त्रः मृतक्य वही है कि वह जन्मा मित्व है
जन्मा वह पुनःपुनः धारतमें पुनः होमेपर भी वस्तुतः वह
पुनः वही परन्तु धारितकी पुनःपुनः इसपर जाया गया है ।
यह धारितमें भी वह ए. सी. वही । जन्मकर्म धारितमें वह
जन्मक और कुमारीके धारितमें वह कुमार । होती है परन्तु
मे भी जन्मक कर्म है । वस्तुतः वह व. कुमार है और न
कुमारी है । इसकी कोई पिता करते हैं कोई पुत्र और
कोई बड़ा भा छोटा भाई करते हैं वह जन्मा भी धारितकी
मपछाति है । वस्तुतः वह किमीका पिता वही, किमीका
पुत्र वा भाई जन्मा वहीन भी नहीं है । वह पहिले एकबार
जन्मा था और जब पुनः गर्भमें जाया है । इसका जब स्पष्ट
है कि इसका पहिले करीब छूट गया है और वह हमरा
धारित मत्त करकेभी सैवार्थमें है ।

हम प्रकाश इसकी पक्षः साक्ष्य जन्मकर्म करते प्राप्त
होता है इसी प्रकार नवीन धारित भी मत्त होता है । वह
बार देवमन्त्रोद्गाता भी उक्त प्रकाश कही गई है । वही
जीवन्माका मन्त्र साक्ष्य साक्ष्य पुनर्जन्म जन्मकर्मके
जन्मका का उद्गाहक दिया जाता है । मित्व मन्त्र
जन्मका पुनः उद्गाहक जन्मका पुनः जन्मकर्मका साक्ष्य

रहता है पुनर्जन्मक पूरा जन्मा होता है पञ्चाङ्ग इत्य
जन्मकर्मके धारित्य जाती है और जन्मासाक्षात् शक्तिमें इसका
देवपान होता है और वह पञ्चाङ्ग पुनः जन्म होता है ।
जन्मकर्मके किसी लोकक कर्मार्थ है, वैसी ही । जीवन्माकी भी
लोकक कर्मार्थ गार्थी है । इस प्रकार जन्मकर्म वेदमें वर्णित है ।
वह इसीप्रकार है कि जन्माकी वता कर्म कि जीवन्मा भी
(पुनः नवः-पुनर्जन्मः) पुनः पुनः जन्म केकर नवीन वैसी
होमेवाकी है । इसी प्रकार जन्मकर्ममें भी कहा है—

अपोगता मैति स हतः प्रपद्येव पुनर्जायते ।

(दे. व. ३३)

पुनः पुनर्जन्मापद्यते मे ॥ (क. उ. २१)

वही जायु होमेके पञ्चाङ्ग इस कोकरी जाता है और
पुनः जन्म होता है । वह पुनः पुनः (जन्म केकर पुनः
मृतक्य) वहीमें होता है ।

पूर्वोक्त पञ्चाङ्गमें त्वं ए. सी. त्वं पुनर्जासि० इत्यादि
मन्त्र केलाचरत करमिषदमें (३३) में जाया है पाठक
वही इसका मन्त्रक जन्मकर्म है । इस जन्माचरत करमिषद
का एक मन्त्र वही विद्यार्थी विविधे हन्ते योग्य है—

एयो ह देवः प्रविष्टोऽनु मर्षाः पूर्वो ह आता स उ
गर्भे अस्तः॥ स एय आताः स जन्मिष्यमायाः प्रत्यह
जन्मासिप्राप्ति सर्वतोमुक्तः॥ (मे. २१९१ वा. ३२३)

वही (देवः) इत्यादिमात्र जन्मा मन्त्र दिशाबोधमें है ।
वह (पूर्वः आताः) पहिले जन्मा वा (मः गर्भे अस्तः)
वही फिर गर्भमें जाया है । (स आताः) वह एक बार
जन्मा हुआ (जन्मिष्यमायाः) मविष्यमें पुनः जन्म होता ।
वह इत्यादि मनुष्यमें रहता है । इसका मन्त्र जब और है अर्थात्
मित्रने मनुष्य जन्मा धारित है वहीमें सब इसके मुक्त ही है ।

इसी कारण इसकी मातृदिग्धा अर्थात् माताके
गर्भमें रहनेवाला कहते हैं । क्योंकि वह बारबार
माताके गर्भमें जाता है और जन्म बारण करता है । पहिले
जन्म केकर देव मात्त करता है वय देवकी ममातिपर जन्म
देवका माता कर माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है और वही मन्त्र
देव बारण करता है । इत्य मन्त्र वह बारबार माताके गर्भमें
रहकर बारबार मित्व मित्व देव मात्त करता है ।

इत्यादि वचनोंपर पुनर्जन्मके विषयमें जन्मिष्यदेवि अह
किता है । अर्थात् जीवन्मा मित्व देव पुनर्जन्म मात्त करती

(७) अमर वननेका सामर्थ्य

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तास्तिविषस्य मारुत ॥ १४ ॥
य हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थः— हे कौन्तेय ! आगस्त्यर्षाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनः अनित्याः । हे मारुत ! तान् विविधस्य
॥ १४ ॥ हे पुरुषर्षभ ! हि ये समदुःखसुखं धीरं पुरुषं यते न व्यथयन्ति साः अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे सुखीपुत्र मनुज ! (इन्द्रियोक्तैः) वायु आदि के साथ होनेवाले स्पर्श शीत उष्ण सुख और दुःख होनेवाले हैं ये कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते— अतः ये अनित्य हैं । इस कारण, हे धरतपुत्र मैं धरपथ । उनको न सहन कर ॥ १४ ॥ हे मनुष्यों में से छे ! क्योंकि जिस सुख-दुःखको समान माननेवाले धीर पुरुषको ये पीडा नहीं देते वह अमरपद के लिये समर्थ होता है ॥ १५ ॥

आपाय— धीर उष्ण, सुख दुःख आदि दुष्टोंको नष्ट करनेकी शक्ति अपने अमर वनना मनुष्यको योग्य है क्योंकि विषकी ये दृष्ट कष्ट नहीं दे सकते बल्कि मनुष्य अमर होनेका सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ १४-१५ ॥

हे । इसी प्रकार वह मित्र सखी, गुप्त आदि मातेका जो संबंध है वह भी क्षीयता अवस्थासे ही है । वह सख्य आत्माकी अवस्थासे नहीं है । अर्थात् हम सख्यत्वसे वह देखते अर्जुनका वह ज्ञान दिया कि जिसको अमृत गुप्त पिता, दादा माता आदि अलक्षण समझता है वह माता देखकर हम समर्थ बनित्त सखीके संबंधसे उत्पन्न हुआ है । मनुष्य अपने अमर को मिला आत्मा विद्यमान है, वही दृष्टि है इस वनना को ही मातेका सख्य नहीं है क्योंकि वह न कभी किसीका गुप्त है और न दादा माता होता है । अतः वह संबंध अनित्य है । अर्थात् हम अनित्य संबंधके कारण जोह जोहमें अपना किसीकी भी योग्य नहीं है ।

बहु प्रथ होता है कि वनेमान सखी-संबंधसे उत्पन्न होनेवाला वह दादा माता माता आदि संबंधसे ही अनित्य हो वह संबंध हम अनित्य के वृत्त में ही रहता है, तथा जो माता होनेवाले अनित्य के समय भी न रहे परंतु हम समय का है न ? फिर वह सख्य हम अमरका संबंध माता होने देखते ही याह नहीं न दिया था ? अर्जुनका माता ही इसी कारण था । अतः हमका माताका कानेके लिये माता वन करके है—

(१४ १५) जिसमें काह वा मान्य होता है, वह अवस्थान नहीं है । इन्द्रियोक्तैः अर्थ अमर के काह होनेसे सुख दुःख ही उष्ण, शीत वा आदि दुःखदुःख

मासमान होते हैं । वह संबंध न होनेपर ये नहीं होते । वह सख्य कभी होता है, कभी नहीं भी होता है । अर्थात् वह संबंध अनित्य है । इस कारण हमसे मोहित होनेकी वनना हम दुष्टोंको नष्ट करने का अधिक अधिकार है ।

‘मात्रा’ का अर्थ

मात्रा का अर्थ है अकृति प्राकृतिक वस्तु, प्राकृतिक वस्तु, [इसी मात्रा अमरके अर्थमें Matter है अतः वना है नार कर्तुका माता] कर्तु मी वना है ।] नीति—

मात्रास्पर्शोपसकारमा विष्णुस्वामि यत् सुखं ।
(न नी न ५११)

अर्थात् अमरपदके विषयों को आनंद नहीं प्राप्त करनेका असमर्थ अनित्य सुख मित्रता है । ऐसा कहा है । यदाह मात्रा-स्पर्श और हम स्पर्शका मात्रा-स्पर्श के दोनों उत्पन्न मात्रा वृत्त ही प्राप्त वननेवाला है । अतः अतः मात्रा अमरके विषयोंका जोह नहीं अर्थात् आचार्यका काही है । हम विषयों अनित्यता ही इसी लिये प्राप्त करनी है कि ये मात्रा स्पर्श सुख दुःख आदि उत्पन्न करनेवाले हैं । मनुष्योंमें कहा है—

अमरमे न विपरी व्याप्राये दीह न हर्षमेत ।
मात्रापायिकायाः व्याप्रायासांसंगविपरीताः ॥
(न म् ११०)

‘ ज्ञान न होवेपर वेद न करे और काम होवेपर दर्श न करे । इस प्रकार (मात्रा-संग-विचरित) प्राकृतिक मोमेंसे अपना संवेग छोड़कर जीवन-यात्रा चलावे । ’ यह कथन भी न गीताके समुद्राकाश्वी होवेके उपदेशके समान ही है । वहाँ मात्रासंग शब्द है । वहाँ ‘ मात्रा शब्दका अर्थ प्राकृतिक भोग-साधन ’ स्पष्ट है । मात्रा का यही अर्थ वहाँ अवस्थित है । कई लोग मात्रा शब्दका अर्थ इन्द्रिय करते हैं । यद्यपि वह इस शब्दका अर्थ है, परंतु वह वहाँ अर्थात् नहीं है, ऐसा हमें प्रतीत होता है । मात्रा शब्दका इन्द्रिय अर्थ करनेपर ‘ मात्रास्पर्श ’ का अर्थ इन्द्रियोंका स्पर्श जो प्राकृतिक भोगोंके होता है वह मुकुटुःक वैभवाद्य है वह अर्थ कामा होता ।

इस प्राकृतिक जगत्के साथ जिस समय मनुष्यकी इन्द्रियोंका संबंध होता है उस समय जीत उल्ल मुकुटुःक वादिका भाव होता है । जिस समय वह संबंध नहीं होता उस समय मुकुटुःकादि इन्द्रियोंका भाव भी नहीं होता । संबंध होवेपर ही केवळ मुकुटुःकादि इन्द्रियोंका भाव होता है, परंतु उस समय सत्त्वा मुकुटुःक वा सत्त्वा मुकुटुःक होता है या नहीं वही एक विचारणीय बात है ।

‘ मात्रा ’ का स्पर्श

इन्हीं बात वेद वादु आकाश इन पांच महाभूतोंके गंध रस रूप स्पर्श और शब्द से गुण हैं । इन गुणोंका प्रहल लभन । वादिका जिह्वा नैव तत्त्वा न काम इन पांच इन्द्रियों द्वारा होता है और इससे मुकुटुःक इन्द्रि-काम हुआ करता है । इन्द्रियोंका महाभूतोंसे (मात्रास्पर्शः) स्पर्श होता है स्पर्श होते ही तत्त्वोंके गुणोंसे संबंध होता है और इससे जीव उल्ल वादिका प्रतीति होती है ।

वासिका मधका प्रहल कर सकता है । इस कारण इन्हीं में रहै प्रव प्रकाशके पांच अर्थात् सुगंध वा सुगंध इससे अनुभवमें आते हैं । सुगंधसे इसका मुकुटुःक और सुगंधसे मुकुटुःक होता है । जिह्वा रसका प्रहल करती है आप्तावसे अनेक रसोंकी प्राप्ति होती है मधुर रससे इसको मानस होता है और बहुरे रससे इसको मुकुटुःक होता है । श्रुतिसेइसे अनु भाव विमर्शको चार्दार्थ सिव होती है जो किन्हींको नमनीय चीज पसेह होती है । जिसको जो रस सिव होता है उसको उससे मुकुटुःक और अविष रसके मुकुटुःक होता है । नैव कणक ।

प्रहल करता है तेजसे कणकी प्राप्ति होती है । सुगंधसे इसको वाक्पद और कुक्कावसे कुक्का होता है । त्वचासे वह स्पर्शका प्रहल करता है वायुसे इसको बहुविध स्पर्श अनुभव होता है । यदु स्पर्शसे इसको मुकुटुःक और कठोर स्पर्शसे कुक्का होता है । कामसे इसको शब्द सुगंध रसा है आकाशका शब्द गुण है वहासे इसको मंशुत्र और कर्कष शब्द भवनोंमें आते हैं । मधुर शब्दसे वह प्रसक्त होता है और कठोर शब्दसे अप्रसक्त होता है । इस प्रकार वह मुकुटुःकसे अनुभवका विचार है ।

इन्द्रियोंका प्राकृतिक तत्त्वोंसे (मात्रास्पर्शः) स्पर्श होवेपर (घीतोप्य-सुख-दुःख-दा-) जीत उल्ल मुकुटुःक वादिका प्राप्ति होती है । प्राकृतिक तत्त्वोंसे इन्द्रियोंका स्पर्श न हुआ तो जीत उल्ल, मुकुटुःक वादि नहीं प्राप्त होते । उदाहरणके लिये देखिए- एक मनुष्य जगत्मात्र है, उसकी नैव इन्द्रिय जगत्के कणका प्रहल कर ही नहीं सकती, इसलिये न उसको सुगंध रससे संबंध होता है न ही कुक्कावसे कुक्का होता है । इसी प्रकार बहुरे मनुष्यको भीमक आकाशसे मुकुटुःक भी नहीं होता और कठोर गच्छिबोंसे कुक्का भी नहीं होता । इससे सिद्ध है कि जगत्के साथ इन्द्रियोंका संबंध होवेपर ही मुकुटुःक होता समय है अन्धवा नहीं ।

इन्द्रियोंकी अनित्यता

इसमें और एक बात है कि एक ही संबंध देर तक होवेसे उसका मुकुटुःक जाता रहता है । जैसा अकेलीका स्वाद प्रारंभमें सुखदायक लगता है परंतु जल्दे ही जल्दे केवल अकेली ही अकेली चार्दार्थ याव तो वह पड़िके स्वाद देने वाला पदार्थ ही बागे मुकुटुःकदायक होता है । इसी प्रकार यदु स्पर्श भी चार्दार्थ और कणाचार मिश्रितसे बहिके जैसा मुकुटुःक नहीं होता । इसी तरह रस ही स्पर्श अन्य मुकुटुःक विषयमें है । इसमें इसी बात यह है कि मुकुटुःक केनेवाले ही आन्तरिक छेपारी भी वादिके । स्वादु जोजन मानस होता है वरात परमें मुकुटुःक होवेपर ही स्वादु जल्दसे मानस निकला है । जिसकी वाचन-वर्णिक विषयी है और जिससे मुकुटुःक स्वाद नहीं है उसको वसतोपम जगत्गुण्य अजगत् कोई मुकुटुःक नहीं होता । इसी प्रकार मंदुर्ष स्पर्शजन्म मुकुटुःक विषयमें मानवा योग्य है । इसमें जीमरी बात यह है कि

कारण सपन्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य हस्तोंके सहज करनेकी शक्ति भी मनुष्य अपने अन्दर बना सकता है। यही तप है। इस हस्त सहज करनेकी शक्तिसे मनुष्य बड़ा शुभ प्राप्त कर सकता है।

धीर पुरुष ।

जिस पुरुषने इस हस्तके सहज करनेकी शक्ति अपनेमें बर्धाई है, अर्थात् (पते प न ध्यययमित्ति) ये शीतो-प्यादि हस्त जिस दुश्चको ध्याया नहीं पहुँचा सकते। सर्वथा भी जिसके अतीत कोई दुश्चकार्य परिणाम नहीं होता है और गर्मीका भी नहीं होता तथा अन्य हस्तोंका भी नहीं होता; उसको (समस्तुःक्षुत्तुका धीरः) शुभ हुआ को समान समझनेवाला धीर कहा जाता है। शुद्धसे भी वह शुद्ध नहीं बनता और शुद्धसे भी वह हताश नहीं होता हाएक नबन्ना प्राप्त होनेपर वह समावचना कर्षणमिद रहता है उसका धीर कहते हैं। शुद्ध प्राप्त होनेपर बर्धन न करना और शुद्ध करनेपर हताश न होना यही बड़ा वैशेष्य काय है। इसी प्रकार यो वा विषय बनने-पर सबको समान रीतिसे रहना बड़े वैशेष्य काय है। अन्य हस्तोंके सहजके विषयमें भी यही बात है।

जिसके मनकी समवृत्ति कोई भी हस्त बना नहीं सकते यही दुश्च (समस्तुःक्षुत्तुका) मनुष्यका और प्रतिद्वन्द्वता के समान मनका समभाव रख सकता है। यह एक बड़ी धारी शक्ति है जो प्राप्त करनेसे मनुष्यका महाभाग्य प्राप्त करने को जाता है। यही मनुष्य (धी-रः) बुद्धि देनेमें अर्थात् दूसरोंको अनेक सहाय देनेमें समर्थ होता है। जो जोहसे कामसे बच करवा है और जोहसी हाथ होनेपर मात्र देनेको तैयार होता है वह आखिर मनका मनुष्य अनर्थमें बड़ा कार्य कर सकता है और कामकी मज्जामें किचका काम होता है।

अमरपनकी प्राप्ति

प्राप्त को मनुष्य अपनी अनुकूल परिस्थितिमें अथवा बहिष्कृत परिस्थितिमें अपने मनको बचानी रहता है और परिस्थितिसे बचाने बड़ा नहीं होता यही बड़ा सामर्थ्य-बल है। यही धीर मज्जामें समता रखनेवाला मनुष्य (अमृतत्वाप कर्तृते) अमृतत्वको प्राप्त करके सामर्थ्य

अपने अन्दर रहता है। वह जिस समय चाह उस समय अमरपन प्राप्त कर सकता है। हस्तोंके आवागोरे अपने मनको चञ्चल होने न देना ही अमर बननेका सामर्थ्य प्राप्त करना है। इस विषयमें एक उदाहरण इजिप्ते-ओरसता शीत योहोसी बायुके चक्के पर काँपने काग्रा है और शुद्ध भी जाता है। क्योंकि इस वैशेष्ये सहजकी शक्ति उसमें नहीं होती। परन्तु यही उपोति जब बचती है और बड़े अंगक-को बचाये कमती है उस समय बायुका कोई दर उसको नहीं होता इतना ही नहीं बायु वह उसको सहाय-कारी होती है। इसी प्रकार हाथि छान बापि हस्तोंके वेगसे जो काँपता नहीं अर्थात् विपरीत परिस्थितिमें भी बर्धन अपने प्रयत्नसे पथपर स्थिर रहता है उसका सामर्थ्य विपरीत परिस्थितिसे ही अविनाशित बचता जाता है। परिस्थितिसे कारण वह बचता नहीं अर्थात् वह विपरीत परिस्थितिको बचाता है। यही मनुष्य अमर बननेकी शक्ति अपनेमें बचाता है

मृत्यु और अमरपन

मृत्यु क्या है और अमरत्व किसका गम है, इसका विचार नहीं करना आवश्यक है। परिस्थितिसे अन्दर एक जाता मृत्यु है और परिस्थितिसे बचानेको इडा देना अमरत्व है। विषयक होना मृत्यु है और अविषयक रहना अमरत्व है। साधारणके धाम रहनेसे मृत्युका भय होता है और अवि-नाशिके साथ रहनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। मनुष्यक पास जो उच्च अमर साधन हैं उच्चका आत्मन करनेसे अमरपन प्राप्त होता है और उचीके साधारण मर्णादिव साधारणके साथ रहनेसे मृत्युके बन्ध होता पड़ता है इति—

[अमर और मर्त्य साधारणकी लक्षिका पृष्ठ ८२ पर देखिये।]

क्रम-उत्पत्तिका पथ ।

साधारणतः सामान्य अमरपनमें मनुष्य अपनी धीर-स्थितिमें ही रहते हैं, उनको उच्च नबन्नाका कोई अनुभव नहीं होता; वे लोग समझते हैं कि मैं धीरके साथ कामता हूँ और उचीके साथ जाता हूँ। हमसे बोले बच बने मनुष्य धीरके भिन्न इतिवृत्ति उत्पन्न है देना मनुष्य करते हैं। वे लोग इतिवृत्ति के बोलेके साथ रहते जाते हैं शुक्लरूप शोकभाव अदि हस्तोंके बर्धन वे रहते हैं। इससे ऊपरकी श्रेणीके मनुष्य आत्मावासादि साधन करने

(८) अविनाशी सत् ।

नासतो विद्यते मावो नामाधो विद्यते सत् । उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तदवशिष्टिम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—असत् मावः न विद्यते सत् नामाधः न विद्यते । तदवशिष्टिम् तु उभयोः अपि अन्वयोः अन्तः ॥ १६ ॥

जो असत् ' है उसका माव नहीं हो सकता और जो ' सत् ' है उसका अन्वय नहीं होता । तस्य आती ओपमे इस प्रकार इन दोनोंका अन्तिम मिश्रण किया है ॥ १६ ॥

हुन्नी होना पका । इस हुन्नी की वृत्ति और इस ओहको हर करनेके क्रिये मगवात् कीकृत्वा उसको काकावीत और देशातीत अवस्थाकी कल्पना बता रहे हैं । अन्त्या मित्य और देश अस्तित्व कदा, इस देशसे भिन्न इसके कारणकी को काकावीत और देशातीत स्थिति है उसकी कल्पना इससे पूर्व बतायी । वहाँ हुन्नातीत स्थितिकी कल्पना बताते हैं । इस सब मन्त्री भूमिकापर कार्य करनेवाके मनुष्य किसी स्वात्मपर बैठकर किसी कार्य स्थानकी बात प्रत्यक्ष देखी देखते हैं इसी प्रकार अन्य कदाकी बात भी उनके प्रत्यक्ष होती है । मावो वह मित्य वर्तमानकालमें रहते कगते हैं । इसके कारणकी दो भूमिकाएँ इससे ऊँची और अवलम्बीय हैं । जो समुद्र समुद्र की आन्वावस्था है उसकी पूर्णता इस अवस्थामें होती है इसका प्रारंभ वो कारीरिक अवस्था में भी होता है, परन्तु उसकी पूर्णता वहाँ होती है ।

इष्टयोग और राजयोग

इष्टयोगी वम निबन्ध आत्म्य प्राप्तायामहारा प्राप्ति स्थिर करके इस अवस्थामें प्राप्त करते हैं और राजयोगी सुविचार के मन्त्री स्वाधीनता प्राप्त करके इस भूमिकामें जाते हैं दोनों वहाँ आकर समाज स्थानमें बैठनेके अधिकारी होते हैं । इस स्थितिमें जो होते हैं, उनको ही वममुक्तमुक्ती और आदि अन्तर्पूर्णवर्ति कगते हैं । प्रत्ययोगिको योग मन्त्री और राजयोगी का मन्त्रयोगीको साधकमार्गी अथवा ' साधमार्गी ' कहते हैं । जाते (य नी ५७-५८) कहेंगे कि ' साधक और योग एक ही है ' उसका माव नहीं है । अन्तर्मनुष्य पर कालिका नाम इस भूमिकामें जाया और कार्य करता है । हरद्वक मनुष्य मनुष्यमें अन्तर्जाय स्थितिसे इस अवस्थामें जाता ही है परन्तु अपने सामर्थ्यसे भिन्न समर्थ जाते इस अवस्थाका आश्रय लेता मनुष्य केम केम सामर्थ्यका दर्शक है ।

मित्रता इस भूमिकाका बोधा भी अनुभव होगा वह तो किसीकी मनुष्य या अन्तर्मनुष्य की वृत्ति या सुक्ती नहीं होगा । जो लोग इस अवस्थामें रहते हुए अन्तर्मनुष्य अन्तर्मनुष्य सुक्ती दिखाई देते हैं उनका वह कलावीत मन्त्र कुछ कालमें उनके आधीन हुका होता है । इसके अन्तर्गत वे हैं कि अन्तर्मनुष्य पक्षिके इसके कर्तव्यकर्मका निमित्त जाग होता है, किसी विषयका मित्र भी इनको अन्तर्मनुष्य केवला अति शीघ्र हो जात है, और वे सर्वविशेषके विना अपना हुक्मकी वृत्तिसे ही निमित्त परिणामवत् अति शीघ्र पहुँचते हैं, अर्थात् वे पक्षिके निमित्त सिद्धांत जोकते हैं और पीछेसे वही सर्वविशेष सुक्ती और मन्त्राधीन सिद्ध हो जाता है । । अन्तर्मनुष्यव्यवहारमें जिस प्रमाणसे वे कल्पन दिखाई देत हैं, उन प्रमाणसे समझना चाहिये कि, उनके अन्तर्गत वह दिखा कावीत मन्त्र विचार पीछेसे कार्य करने लगा है ।

इस प्रकार मन्त्री दिक्काकावीत अवस्थाका विचार करने पर उससे परे रहनेवाली जाया भी इसी प्रकार दिक्काकावीत होती चाहिये इस विषयमें किसीका संशय नहीं हो सकता । परन्तु इसका मान्यवेद भी एक छका जाती है कि, जिस प्रकार वह सरीर वातावरणका १ मन्त्र जीवित रहता है, योगसाधकविद्वारा २ मन्त्र या उससे अधिक भी इसके जीवितरखा जा सकता है । इसी प्रकार वह जागना भी कुछ विशेष अवधिसे पचात् जाधको प्राप्त होगी वा नहीं । इस संकाके अन्तर्में अगवात् कहते हैं—

(१६-१७) जो सत् है उसको किसी भी प्रकार अन्तर्गत बनाया अन्तर्गत है । वह कभी न अन्तर्मनुष्यी जात है । इसी प्रकार जो अन्तर्गत है उसकी भी सत्त्व बनाया अन्तर्गत है । इस अवस्थामें मनुष्य अपना व्यवहार करते समय सबको अन्तर्गत और अन्तर्गतकी सत्त्व बनायेका प्रमाण करते हैं और इस व्यवहारसे अपना काव होता है देना के मावते भी

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं तत्पम् । विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१०॥

अन्वयः— विद्धि किं इदं सत् तत् तत् तु अविनाशी । अस्मिन् अवयवस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति ॥ १० ॥
यद् तु जान कि जिसने यह अगत् पेशाया ह यह अविनाशी है । इस अवयवका विनाश करनेके किये कोई समर्थ नहीं है ॥ १० ॥

मायार्थ— सत्य कभी असत्य नहीं होता और जो असत्य है उसका कभी सत्य नहीं बन सकता । तावदावका यह अर्थ सिद्धांत है ।

हैं । परन्तु यह इनका प्रम है । सत्यमेव अवयव वास्तव
अर्थात् सत्यकी ही विवक्ष होती है क्योंकि वही सदा रह
सकती है । जो असत्य है वह वैतच्छेद सिद्ध नहीं सकता ।

सत् और असत्

सत् उसीका कहते हैं कि जो है किंवा जिसका अस्तित्व है जिसकी सत्ता वा दृष्टि है । जिसका अस्तित्व नहीं है परन्तु किंचिद् काक निष्प्रका अस्तित्व प्राप्तमान होता है उसको असत् कहते हैं । जो पृथ सविध्य और वर्तमान इन तीनों कर्णोंमें एकता रहता है उसको सत् कहते हैं और इन तीनों कर्णोंमें जिसकी सत्ता एक नहीं रहती उसको अज्ञातकार अ-सत् (सत् नहीं) अर्थात् पूर्ण सत् से भिन्न पदार्थ कहते हैं । साध्य यह कि इस अवयवमें केवल दो ही पदार्थ हैं एक सत् और दूसरा असत् । ये परस्पर भिन्न हैं अलग हैं और विभिन्न गुणधर्मोंसे भी युक्त हैं ।

इह विषयका सिद्धान्त (अन्तः परमार्थसिद्धिः इत्युः) परब्रह्मजी को गति अनुभव किया है । अर्थात् सत् और असत् ये दो पदार्थ भिन्न हैं इह विषयमें आभी को गोंगो संवेद नहीं है । वहां अन्तः कल्प है । इसका अर्थ अस्मिन् विषय है । सिद्धान्त (सिद्धि+अन्तः) अन्तः (राष्ट्र+अन्तः) और अन्त के तीनों अर्थ अस्मिन् विषयके ही प्राप्य हैं ।

जो सत् है जिसका अस्तित्व है अथवा आकाशपरवी की अभाव नहीं हो सकता और जो असत् है अर्थात् जिसकी दृष्टि नहीं उद्यम कभी मान नहीं हो सकता । वह अर्थ सिद्धान्त परब्रह्मजी को गति किया है ।

अगत्का निर्माता ।

(तत् अविनाशि येन सर्वं तत्पम्) यह अर्थ अवि

नाशी है जिसने इस अर्थ अवयवका विस्तार किया है । इस का कारण यह है कि वह अवयव अपनेके पूर्व इसका निर्माण करनेवाला था और इस अवयवका नाश होनेपर भी वह रहेगा, अतः वह तीनों कर्णोंमें रहता है इसलिये वह 'सत्' है । परन्तु अवयव पृथकाकर्णों नहीं था, अब बना है परन्तु नाशको अवयव प्राप्त होगा और नाश होनेके बाद कभी नहीं रहेगा, अर्थात् इसका अस्तित्व केवल वर्तमानकालमें ही है, और वह अवयव अस्तित्ववाला है, अतः इसका न सत् कहा जायगा ।

रचना करनेवाला रचित पदार्थके पूर्वकालमें रहता ही है । अतः अपनेके पूर्वकालमें अस्तित्व अवयव होता है । इन्हीं प्रकार इस अवयवके केवलके पूर्वकालमें इसके केवलके अस्तित्व अवयव था अर्थात् वह पूर्व कालमें न होता तो इस अवयवको बना ही नहीं सकता था । इससे अगत्प्राप्ति करनेवाला अस्तित्व अवयव पूर्व कालमें सिद्ध होता है ।

अतःका प्रत्येक पदार्थ बनता है और नाशको वह होता है कोई भी पदार्थ ऐसा बन नहीं जाता कि जो है वस्तु जो न बना हो और जो न विनाश हो । अपने विषयके अर्थ प्रत्येक पदार्थका होनेसे सत् पदार्थके सत्त्वक इह अवयवकी भी नहीं अर्थ अर्थ विहित होता है । इस अवयव नाशके पश्चात् अवयव नहीं रहेगा वह विहित है परंतु अवयव कर्ण रहेगा या नहीं रहेगा इस विषयमें किसीको संवेद ही सकता है । अतः इस विषयमें विचार करना आवश्यक है ।

पूर्वके समान रचना ।

पूर्वकालमसी प्राप्ता पश्चात्पूर्वकालमप्यस्य ।

विषयः अ पृथिवी आन्तरिकमयो लः ॥

(क १ ११५ ॥)

विचाराने इस जगत सर्वव्याप्य सुखोक्त अन्तरिक्ष और मृमि आदि सब पदार्थोंको (पदार्थ) पूर्णके समान ही बनाया है। अर्थात् यह पृथ्वी अनेक बार बनी है और हर एक बार पूर्णके समान बनायी गई है। जिस प्रकार दिन रात पूर्णके समान होते हैं उसी प्रकार जगत् बनना दिन और रातवत् होना रात्रीके समान है, अतः य विचाराने दिन रात सदा समाप्त ही होते हैं क्योंकि परमेश्वरके गुण सदा समाप्त रहते हैं, इस कारण वह जो कुछ बनाता है वह पूर्ण ही बनाता है; पूर्ण बननेके कारण उसमें हेरफेर करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अतः वह जो बनावेगा वह एकसा ही होगा।

पूर्णकी पूर्ण कृति।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णत्वात्पूर्णमुद्वच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते ॥

(अपनिषच्छास्त्र)

बह (विधाता) पूरा है वह (जगत्) पूर्ण है क्योंकि पूरासे जो बनता है वह पूरा ही होता है। पूर्णसे हम पूर्णकी उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण वैसाका बसा ही रहता है। इसी प्रकार—

पूर्णात्पूर्णमुद्वच्यते पूर्णं पूर्णैव सिद्ध्यते।

अथो तदस्य विधाय तत्तत्कल्पवतिरिच्यते ॥

(अथर्व १ १८१२९)

पूर्णसे पूर्णका उदय होगा है पूरासे पूराकी जीवन्मिता है। अतः हमने इस कलकल हम जाने कि जिनसे हमका जीवन भिन्न रहा है।

इत्यादि संवधारणसे स्पष्ट कहा है कि इस जगत्का निर्माण करनेवाला पूरा है उसमें अपूर्णता नहीं है अतः हमकी जगत् रुपी कृति भी पूर्ण अर्थात् वैसी आदित्य वैसी है। इस प्रकार जगत्कर्मावाची पूर्णता और उसकी कृतिकी पूर्णता सिद्ध होनेपर वह इसी प्रकार जगत् बारबार बनता है वह सिद्ध होगा क्योंकि उसकी कार्यकर्मावा करनेकी शक्ति हमसे शायद सदा रहती है अतः हमने जिस कारण से हम जगत्का निर्माण किया उसी कारणसे हमने हमसे पूर्व भी जगत्का निर्माण किया होगा और आज भी वह वैसाही निर्माण करेगा। अर्थात् वह निर्माण कर्ता जगत्के पूरे जगत्की स्थिति के समान तथा हमका विनाशक प्रभाव

एक वैसा रहेगा। वह पूर्ण होनेसे उसमें बह बह होना जलमय है। आत्माके जगत्निर्माण या जगत्का प्रकाश करनेके संभवमें जगत्हीताके निम्न स्थिति बचन भी कहा रहने योग्य है—

पस्यान्तास्थामि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(म गी ८१२९)

प्रया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ॥

(म गी ९१४)

स्वया तत् विष्णुमन्तराम् ॥ (म गी १११२८)

यतः प्रकृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥

(म गी १८१४)

जितके बीचमें सब मूल हैं जितने हम सबका फैलाव किया है। मुक्त व्यक्तमूर्ति (आत्मा) ने वह सब फैलाया है। हे अन्तराम् देव ! तुने वह विश्व प्रकाश है। जितने सब भूशोकी उत्पत्ति हुई और जितने वह सब फैलाया है।

बह (देव वह हम) तीनों सत्तामोने एक ही बात कहा है। हमने वही सिद्धांत सुद्ध हुआ कि एक अद्वितीय आत्माने इस जगत्का विस्तार किया है।

(अथ विनाश कर्तुं कश्चित् न शक्नोति) हम आत्माका विनाश करनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। कोई कितना भी सामर्थ्यवात् क्यों न हो वह इसका नाश नहीं कर सकेगा। इसलिये हमको अ-स्वयं कहा जाता है। जितका स्वयं नहीं होता जितमेंसे कुछ कर्म नहीं होता, उसको न स्वयं करते हैं। हमने बने विषयी रचना कावेपर भी इसकी शक्ति का स्वयं नहीं हुआ क्योंकि वह न स्वयं है। इसीलिये पूर्वोक्त अपनिषच्छास्त्र में एक उपायमें कहा है कि— पूरा (आत्मा) से इस पूर्ण (जगत्) की उत्पत्ति होनेपर भी वह पूर्ण (आत्मा) वैसीका वैसी ही पूर्ण रहती है। हममें कुछ भी म्यूलाधिरस नहीं होता है। न स्वयं शायकी ही वह स्थावरा है।

हम जो छोटीका विचार करते हुए पारकोसे मनमें वह बात जाग्रतगी और जागते कुछ स्वीक देकर बह रह हो जावगी कि अन्तर्मन्त्री शक्त तो धीमन्त्रेणादिके बीचोंके बाध होनेके विषयमें भी। उक्त देह और आत्मा सुद्धमें बह हो जावगे ऐसा अन्तर्मन्त्र समझता था। इसका उपर हम

१५ में खोचमें देखा दिया है कि, जिसमें यह विष फैलाया है वह ज्विनासी है, उस ज्विनासी कोई विनाश कर नहीं सकता। यह उतर विषकी रचना करनेवाले केविनाशी होनेके विषयमें बोध है। परंतु बहुत यो विचारक पर मान्यता इस भारतीय मुद्रके मासको प्राप्त होगा ऐसा मानता नहीं था। इसको तो अपने संबंधियोंके विनाशकी विन्यायी। ऐसी अवस्थामें इस उतरके कसभी विन्यासके रू होगी? देखिये—

अर्जुनका प्रस-मगच्छन् । इस पुत्रके भीष्मद्रोणादिकों का नाश होगा इकट्ठे में यह मुद्र कैसे प्राप्त करे ?

मगच्छन्का उतर-अरे अर्जुन ! जिसमें यह विष फैलाया है वह ज्विनासी है उस ज्विनासीका नाश कोई नहीं कर सकता। श्लो १०)

क्या यह उतर ठीक है ? भीष्मद्रोणादिकोंने तो (इह पाव कर्तं) यह सब विष फैलाया नहीं था। कर्त का कर्त्त फलाना, हापना व्यापना और प्रसारित करना है। हममेंसे कोई कर्त्त लेनेपर भी यह कर्त्त भीष्मद्रोणोंपर बढ नहीं सकता। जिसमें हम विषको फैलाना बोध थापा का प्रसारित रना है, वह अर्जुनके संबंधियोंमेंसे कोई एक भी नहीं है वह हम सबसे मित्र है।

प्रस करनेवाका बहुत कि कर्ममगच्छ-मुद्र हुआ है उसका मोह दूर करके हमका कर्मत्व वधपर जाना है। इस पार्श्वके छिमे मगच्छन् भीष्मक उच्छेद कर रहे हैं उसमें प्रसवको छाहरकर उतर भीष्मके मुखमें कशकि ला नहीं सकता। इसलिये इस उपदेशका अर्थ पीछेसे समझ करना चाहिये।

विषम प्रमाणका एक नियम।

विषम प्रमाणका नियम एक है। यदि प्रमाणका व्यापकता प्रमाणका विरुद्ध करके विष रह सकता है तो वही विषयके विषयका अत्यन्त भी विषम करनेके पूर्व का विषयके मासके पक्षपर अवश्य रहना। जैसे जोरतमा का पीर वह विषम है वही पक्ष परमाणुका पीर प्रमाण है। बीरता परमाणुका अकारण संबन्ध भी है देखिये—

ममैवाद्यो जीवस्योके जीवभूतः समातमः ।
ममः पश्यानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्तृतिः ॥
(म नी १५७)
हे अर्जुन ! हम जीवस्यमें मेरा ही कषात्मक जीव जीव होकर प्रकृतिकी पांच इन्द्रियों और मनको आकर्षित करता है । 'मम' बीरताको परमाणुका बंध कहा है। अधिक बल अधिक समान होता है विरुद्धा में उच है और वह विरुद्ध समान होता है। वह समात्मक देखिये—

भीमरूप	परमाणु
पुत्र	विषा
विष्मद्वही	प्रमाणबद्धी
देह [मंत्र]	प्रमाण [मनी]
मम	विष्णु
पांच इन्द्रियां	पञ्च महाभूत
आदिना	पृथ्वी
जिह्वा	वायु
नेत्र	ऐश
तन्वा	वायु
कर्म्म	आकाश

जब पक्षकोंके मममें बल आपसी होती कि दोनों स्वल्पे विषय एक जैसे किंत कारण है। ये विरुद्ध पुत्र एक ही विषयकी काय करते हैं। विरुद्धा समझ करनेसे पुत्रका कर्मत्व कर्म होता है क्योंकि वह पुत्र भी विरुद्ध समान करनेवाला है। देखिये—

मात्स्यमहम्मत्परमो .. ममेति सौर्जुन ॥
(म नी १५५)
इहं धाममुपाधित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
(म नी १५१)

मेरा कर्म करनेवाका मुझे परम प्रस माननेवाका .. मुझे प्राप्त होता है। इस शब्दको प्राप्त करने मेरे लक्षणकी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार काय कहा कर्मता । इसके वह पुत्र हम समय छात्र होनेपर भी आज विरुद्ध समानविषा के गुणवैवाका विमर्दिष्ट भवेगा। पुत्रका पुत्रोत्तर अवश्य भवेगा। जता दोनोंके नाम पुत्र अपने और कर्म वेद और आशोमें एक असे कह हैं। जता परमाणुका

(९) नित्य आत्मिक अनित्य देह

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः क्षरीरिणः । अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व मारुत ॥ १८ ॥
य एन वेचि हन्तार यश्चैन मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतौ नाय हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः—य-वासिन य-प्रमेयस्य विरक्तस्य क्षरीरिणः इमे देहाः नित्यवन्ताः उक्ताः । हे मारुत ! तस्मात् युध्यस्व ॥ १८ ॥ य-एनं हन्तारं वेचि य-य एनं हतं मन्यते, उभौ तौ न विजानीतः कर्तुं न हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अविनाशी अमाय, मित्य क्षरीरधारी (आत्मा) को ये देह नाशवान् हैं ऐसा कहते हैं । हे मारुत कुलोत्पन्न ! अतएव तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ इस (आत्मा) को जो मारनेवाला जानता है या जो इसको मारता मानता है, वे दोनों नहीं जानते हैं । यह (आत्मा) न मारता है और न ही मारा जाता है ॥ १९ ॥

भाषार्थ—अहंता का कभी नाश नहीं होता इसका माय वा धन नही किया जा सकता । वह विम्व है । इस भाषाभाषके देह कभी होते हैं इसकी वस्तुतः कालमें कोई दोष नहीं है ॥ १८ ॥ जो समझता है कि आत्मा किसीका वध करता है अथवा वह स्वयं मारा जाता है उसको सच्चा ज्ञान नहीं है । वह आत्मा न किसीको मारता है और न स्वयं मारा जाता है ॥ १९ ॥

यस्य ही अल्प कावलेभ्यो जीवाम्परक होता है । यह सदात्म विम्व है इसीलिए इस उत्तरके अर्जुनकी लंका हुए हुए । और अर्जुन समझने लगा कि इन भीम प्रोत्साहकों के आत्मा कजर और कजर हैं और इनके देह ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं ।

यही आशय मन्त्र सन्तोषे आगेके श्लोकोंमें अगस्त्य जीकृत्य करते हैं—

(१८-१९) आत्मा कैसी है जो मारा जा सकता है इस का अधिक वर्णन इन श्लोकोंमें करते हैं—आत्मा (अविनाशी) कभी नाशको प्राप्त नहीं होती किन्तु भी क्षीर मर जाये और किन्तु वे प्राण हो जायें पर वह आत्मा बीसीही वैसी रहती है । इसीलिए इसकी मित्य अर्थात् सदा पृथ्वी रहनेवाली कहा जाता है । वह अ प्रमेय है अर्थात् इसका माय नहीं किया जा सकता इसका अर्थात् वर्णन करना अप्रमय है इसको प्रत्यक्ष बताया अत्यन्त है तथा इसका किसी अन्य प्रकार समझना भी अत्यन्त है । वह अ व्यय है अर्थात् इसमें कोई कुछ भी खर्च नहीं होता अतः वह अनादि कालसे ब्रह्म कैसीही है ।

पाण्डु इसदेह नाशवान् है ये देह अन्तमे लहते क्षीय होते और नाशको प्राप्त होते हैं । अतः अर्जुन न मित्य कहते हैं । वे प्रमेय हैं अर्थात् इसका माय कर्मा मोहा मोहा आदि किसी प्रमायसे किया जाता

है । क्षीरका वर्णन किया जा सकता है, क्षीरको प्रत्यक्ष रूपसे बताया जा सकता है । हृन्तक स्पष्ट कहा, धूमना आदि भी ज्ञान होता है इसका व्यय होता है प्रविष्टि इसका व्यय हो रहा है इसी कारण अर्थात् इसकी पृथ्वी करना प्रविष्टि अत्यन्तक होता है । यह क्षीर पूर्वकालमें नहीं होगा प्रविष्टिमें भी नहीं होता अतः सत्यमें रहता है ।

आशयके इसका वाक्य हुआ तो उभयों को कालमें कोई कारण नहीं है आत्माका किसी भी अवस्थामें—[अर्थात् देह रहनेपर अथवा नाश होनेपर]—नाश नहीं होता इस कारण उसके विपरित लोक करनेका कोई कारण नहीं है । इसीलिए अर्जुन । जिस कार्यके विवे इसकी वैधायी त्वे की वह युद्ध कर और विजय प्राप्त करके अपने राजको प्राप्त कर और प्रजा कल्याण करनेके बलका अली बन ।

केवल आत्मा किसीका वध नहीं कर सकता और कब क्षीर भी उब होनेसे किसीका वध नहीं कर सकता । वध करके करनेवाला हृन्तके विषय है । आत्मा अर्थात् है । इस आत्माका यदि तू मारनेवाला या मरनेवाला समझता है तो तूने कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह सत्य है । हे अर्जुन ! तू इन वायुओंको मारनेवाला नहीं और ये वायु तूरे अर्थात् मारनेवाला भी नहीं है । इन सबका आत्मा अविनाशी और विम्व है । वधका नाश करनेमें तू अथवा वृद्धा कोई

वेदाविनाशिन नित्यं य एनमज्जम्यसम् । कथं स पुरुषः पार्थ कं धातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

(१०) वक्त्र चरित्रा

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नराऽपराधि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वयाः—हे पार्थ ! वा : वक्त्रे विनाशिनं नित्यं अर्धं जन्मवत् देहः, सः पुरुषः कथं कं धातयति कं हन्ति ? ॥ २१ ॥
यथा वरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराधि नवानि गृह्णाति; तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि संयाति ॥ २२ ॥

हे अजुन ! जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अभय्य जानता है वह पुरुष कैसा किसको मर जाता है और किसको मारता है ? ॥ २१ ॥ जिस प्रकार मनुष्य जीव वस्त्रोंको त्यागकर, दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है उसी प्रकार देहधारी आत्मा जीर्ण शरीरोंको त्याग करके नये शरीरोंको धारण करता है ॥ २२ ॥

आचार्य—अजन्मा अत्माका जन्म नहीं होता। जन्मकी शुरुवात नहीं होती। अन्वयका कुछ भी स्पष्ट नहीं हो सकता। नित्य वस्तुका कभी अन्त नहीं होता ॥ २१ ॥ जैसा मनुष्य अपने वक्त्र चरित्रा है, वैसा ही आत्मा अपने देहोंको ग्रहणता है ॥ २२ ॥

होकर पुनः इसका जन्म नहीं होता । जो जन्मता है और मरता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है कि, (मृत्वा नमविता) वह होकर कुछ कालके पश्चात् जन्म का प्रसन्न होता है, जैसे देहः वह वृक्षका जन्मती है अर्थात् जन्मकर 'मात्र' को प्रसन्न होती है और पश्चात् (नमविता) वह देह जन्मको प्रसन्न होती है । संस्कृत देहोंके विषयमें ऐसा ही कहा जाता है । परन्तु अजन्माका कभी जन्म नहीं होता ।

इसी प्रकार (न मृत्वा नमविता न) वहिमे न होता हुआ भी पीछेसे वनता है देही की बात नहीं है । जो जन्मता है उसके विषयमें ऐसा कहा जा सकता है वस्तु को जन्म नहीं होता है उसको न होकर भी पीछेसे होनेवाला ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यदि इसका जन्म शरीरके साथ होता है और शरीरके साथ इसकी मृत्यु होती है ऐसा माना जायगा तो भी (मृत्वा नमविता) होकर फिर होनेवाली वह अजन्मा है ऐसा माना जा सकेगा । परन्तु वह बात समीचीनी नहीं है देहके जन्म होकर आरम्भित किंवा अन्तित । परन्तु वृक्षके जन्म होने पर आरम्भित करना यह अजन्मका साधक है । इसलिये वह आत्मा पृथक् होकर फिर आरम्भित होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

(न मृत्वा नमविता) वस्तुतः देहात्मा को वह वृक्षका

१२ (हि ती)

न होकर फिर होनेवाली भी नहीं । तत्पर्ये किसी प्रकार भी वह आत्मा जन्म मृत्युको वक्त्र नहीं होती । इस बीजमें छोटेके द्वितीय चरणके विषयमें बहुत टीकाकारोंने मतभेद है । वहाँ कई 'मृत्वा नमविता' ऐसा पद पाये हैं । और कई 'मृत्वा नमविता' ऐसा पाये हैं । यहाँ द्वितीयमें दोनों प्रकारके वक्त्रोंकी संयति पायी है । पक्क इसका विचार करें ।

वह अजन्मा, किन्तु अन्तर्जन्म चिरकाल तक रहने वाला है । वह पुराण (पुराण-जन्म = पुराणवत् = पुराणः) पूर्व कालसे होता हुआ भी इस समय वहीन अज्ञात है । वह जन्मेष्ट पुराणा होता हुआ भी जन्मेष्ट वहीन जैसा रहता रहता है । वह कभी भीन ज्ञान या बुद्धि नहीं होता ।

इसका शरीर जन्मवाला अविनाश अनाद्यतन है और जब वह शरीर पुराण अर्थात् वृक्ष होता है तब वहीन जैसा नहीं रहता है अर्थात् शरीरके गुणवर्गमें उसके गुणवर्गोंके साथ निकटतम विपरीत हैं । इस शरीरके अन्तरे वा मोर जन्मेष्ट भी वह अजन्मा शरीर नहीं जाती अर्थात् शरीरके मारनेवा की वह अजन्मा जन्म रहती है ।

हे अजुन ! जो इस अजन्माको इस प्रकार अविनाशी, अजन्म अजन्मा अन्तर्जन्म मानता है वह किसीको मार सकता है ? और अजन्मा देहात्माका मात्र कारण ही कैसे मर सकता है ? अर्थात् अजन्माके मारने मारनेकी वक्त्रता अजन्म है । इस विषयमें और देखिये—

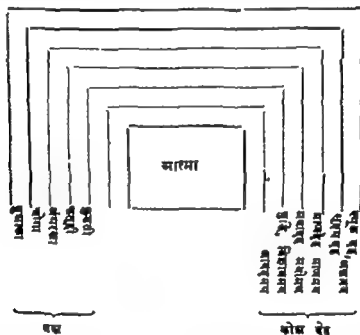
(११) आत्माका वर्णन

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न क्षोपयति मारुतः ॥ २३ ॥

अन्वयः— पूर्वं कदापि न छिन्दन्ति पूर्वं पावकः न दहति पूर्वं आपः न क्लेदयन्ति पूर्वं न मारुतः न क्षोपयति ॥ २३ ॥
इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काटते इसको अग्नि नहीं जलाती इसको पानी नहीं भिगोता और इसको वायु नहीं झुकाती ॥ २३ ॥

शरीराणि विहाय (अनेक जीव शरीरोंको त्यागकर (जगति घेनाति) अनेक जने दुर्गोंको प्राप्त करती है देहा बहुबन्धनमें प्रबोध करते बचाया है कि मनुष्यके पास तीन या तीनसे अधिक देह हैं । मनुष्य जैसा कुकरी (बाखर) क्यूरी

जंगरका और कपरसे काश्मीरी चोगा पहनते हैं, जहाँत तीन बन्धनसे कम पहनते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी एक शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण-शरीर अर्थात् अनेक शरीर एकसे ऊपर दूसरा कारण करता है ।



इस विषयमें अमरहीतमें ही कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याह्वरिस्मियेष्यः परममः ।

मनस्तनु परा बुद्धिर्मात्रेण परतस्तु सा ॥

(य गी ३।४२)

शरीरके इंद्रियों को इंद्रियोंसे मन को मनसे बुद्धि को है और जो बुद्धिसे भी को है वह आत्मा है । हम प्रकार के शरीर एकदम ऊपर एक हैं । जो मायु कही जाती है उससे अर्ध देहोंका एकदम भाव नहीं होता है । केवल एक एक देहका ही भाव होता है और

सूक्ष्म देह जैसे हैं । रहती है । काकाकादे सूक्ष्मदेहके भी वह हो जाने पर मर्त्यदेह अथवा कारण-देह जैसेका देहा ही रहता है । जहाँत इस कोठमें जिसको मनुष्य कहा जाता है उससे बाहरके वक्ष फटते हैं अन्तरादेवका बंधोवर रहते हैं । वह स्थिति स्वयंसे जात करनेसे मनुष्यी वास्तविक कल्पना होगी और मनुष्यका अब इस विचारसे दूर होना । आवश्यक कार्य करनेके समय यदि जगत्का फट गया तो अगत्काके बचावके लिये कोई मनुष्य कर्मका कर्म करनेसे भी तो नहीं रहते उन्हीं प्रकार अर्थात् आवश्यक कर्मका कर्म

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमल्लेखोऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरपसोऽय सनातनः ॥ २४ ॥
अध्वक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचिषुमर्हसि ॥ २५ ॥

भावार्थः— सर्व अच्छेदा, सर्व अदाहा, सर्व अल्लेखः, (अश) अशोष्यः एव । सर्व नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अपसोः अचलायतनः ॥ २४ ॥ सर्व अध्वक्तः, सर्व अचिन्त्यः, सर्व अविकार्यः उच्यते । तस्मात् एवं सर्वं विदित्वा (२५) अनुशोचिषुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

यह (आत्मा) छेदी नहीं जा सकती यह अदायी नहीं जा सकता यह मिश्रीबी नहीं जा सकता और सुखायी भी नहीं जा सकता । यह नित्य सर्व स्थायमे गत स्थिर अपसो और सनातन है ॥ २४ ॥ यह अध्वक्त अचिन्त्य और विकाररहित है ऐसा कहते हैं । इसलिये इसको देखा जानकर, तुझे शोक करना सोच नहीं है ॥ २५ ॥

कर्मके समय तूच देख कर घड़ी, या कर्मकाही हुई तो भी कर्मच कर्मसे तो पीके इतना नहीं पाहिजे । कर्मच कर्म कर्मके समय देहपाव होनेसे जो हानि होती रहसि अधिक हासि कर्मच कर्मसे पीक इतनेसे होती । जगः है मनुज ! तू पीके न इत । तुझकी यह बात कर्मच कर्म कर । तुझके सत्ताक आत्माका काज नहीं सकते इस विषयमें कहते हैं—

(२४-२५) इस आत्माका अक्षय्य नहीं काज सकते क्योंकि यह अविनाश है । जगः इसके ऊपर अक्षय्य केवचका कार्य कर नहीं सकते इसको मति नहीं बका अक्षय्य इसके पानी मिया नहीं सकता और वस्तुसे इसके शुष्क करवा भी अक्षय्य है । इसी प्रकार दुष्प्रीका मण्डल इसके नहीं, जगः सूचकर इसका नाकसे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । जगः प्राप्त । अक्षय्य इसमें नहीं है, जगः सिद्धसे यह नहीं बनी और इच्छिसे इसका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । अक्षय्यका अक्षय्य इसमें नहीं है, जगः जोकरे यह देखी नहीं जा सकती । अक्षय्यका अक्षय्य इसमें नहीं है, इस कारण अक्षय्य इसका ज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रकार कर्मसे इसका अक्षय्य सुचना भी अक्षय्य है । जगः यह जगः मित्रसे इस आत्माका अक्षय्य नहीं किना जा सकता । इस कारण इसके अक्षय्य कहते हैं । मने भी इसका विना होना कदिन है क्योंकि विनाका अक्षय्य अक्षय्य हो सकता है कटीका मने विना हो सकता है जगः इसके अक्षय्य कहते हैं ।

इकरा सिद्धि अक्षय्य वस्तुका कोई परिभाषा नहीं होता इसमें अक्षय्यिका नहीं होती केवचकेवच जाहि नहीं होता

इसकी अक्षय्य मिश्रीका तथा सुखाका अक्षय्य है इसमें अक्षय्य नहीं हो सकती जगः इसके ' अक्षय्यी ' कहते हैं, यह विना सर्वगत स्थिर अक्षय्य और सनातन है ।

इस आत्माकी सत्तासे ही मने, विना जाहि अक्षय्य मने और अक्षय्यके कार्य कर सकते हैं । मने और विना अक्षय्ये अधिक तूच पदाक्षय्य मने किना विना कर सकते हैं जगः है अक्षय्ये सुख किना निरवयव अक्षय्य मने कैके कर सकते हैं । अक्षय्यसे तूचि मने होकर अक्षय्य विना करते हैं, जगः है अक्षय्य- विना अक्षय्यका अक्षय्य कैके कर सकते हैं । जोकरे अक्षय्य अक्षय्ये भी अक्षय्ये अक्षय्यसे रहनेपर ही अक्षय्यसे देखा जा सकता है । पक्षय्य यह देख कर जोकरे देखनेमें अक्षय्य होनी है । इसी प्रकार अक्षय्यसे अक्षय्य मने देवकसे अक्षय्य है अक्षय्य अक्षय्य देखी जाती है पक्षय्य अक्षय्य अक्षय्यसे अक्षय्यका अक्षय्य होना अक्षय्य है । जगः मने अक्षय्यका अक्षय्य कर अक्षय्य मने नहीं जा सकता । अक्षय्य अक्षय्यके अक्षय्य ' कहा है ।

यह आत्मा देखी है यह आकाश इस विषयमें अक्षय्य करवा अक्षय्य नहीं है । अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्य है । यह देखी है अक्षय्य । अक्षय्यसे देखने अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्यके अक्षय्यसे देखने अक्षय्य है । मने ही अक्षय्य अक्षय्य होके अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्यसे अक्षय्य है । जगः सिद्धि यह देखी देखके नाकसे अक्षय्य अक्षय्यमें कोई अक्षय्य नहीं हो सकती । अक्षय्यसे अक्षय्यके अक्षय्यसे अक्षय्य अक्षय्य है कोई अक्षय्य नहीं हो सकती; क्योंकि जो आत्मा अक्षय्य अक्षय्यके अक्षय्य है नहीं सर्वगत होनेसे अक्षय्य अक्षय्य भी है । कोई अक्षय्य यह वा कहनेकी क्षमता हो गई थी अक्षय्य

बने हैं। हममेंसे कुछ दूर घरे या फर मने लयवा हुआ
तब से सब वागर्षी व्यापक विशालीक समुद्रमें कुछ भी
न्यूनस्थिति नहीं होती है। इसी प्रकार आत्माका
सर्वव्यापक बन्ध विस्तृतमुद्र है और उससे कुछ लज्जात
काकबन्धसे अनेक धर्मिकपी विस्तृति कर्माणि हैं हममेंसे
जो साधक हैं उनका नेतृत्व शक्तिमयप्रवृत्तियोंका पीका
और लज्जा रंग है और समस्तुपी प्रवृत्तियोंका पीका या
कामा रंग है। हममेंसे कुछ किसी कारण हुआ जाते हैं बार
कई बने प्रवृत्ति होते हैं। इससे वे या लज्जात उस
आत्माके समुद्रमें कुछ भी न्यूनस्थिति नहीं होता। शीघ्र
शीघ्रि बने लोग इस क्षतिसे विस्तृत हुए और कई बने
कोल लज्जात प्राप्त हुए जो विशालावर सर्वगत आत्मामें
कुछ भी न्यूनस्थिति नहीं हो सकता। इस प्रकारके विचार
से ही इस सर्वसम्बन्ध की कल्पना हो सकती है। बड़ी
बड़ा लज्जातुल्यमें लज्जात नहीं है—

१ सर्वभूतस्मितं यो मां मन्त्रस्यैकतममास्थितः ॥

(अ भी ५३५)

१ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताधिपस्वितः ॥

(४७११६०)

२ अह वैष्णवरो भूत्वा प्राधिनां देहमाभितः ॥

(४ मी १३.१५)

(१) सर्व धूर्तोंमें स्थित सुखको जो भजता है ।

(१) में जलना अपने स्रोतों से हुआ है । (२) में ऐसा प्रकट हो गया कि जिससे वे दोनों हैं । ' भगवान् इन दोनों में कहते हैं कि मैं ही सब स्रोतों की वृक्ष जगता हूँ । यह अस्मिता किमि है, ऐसा सिद्धसिद्धि कोकर्म स्पष्ट कहा है—

शेषयुक्तो विष्णुर्ब्रह्मा विजितात्मा जितेभिः प्रियः ।

सपसृताश्मभृताश्मा कुर्वन्नापि न क्षिप्यते ॥

(५ मी ५०)

[illegible]

किये हुये सर्वांगमार्ग की शिक्षा प्राप्त होनी चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् सर्वांगमार्ग की स्थिति पर य भी कहते हैं—
 'सर्वमार्गः' की स्थिति पर मान कर्मका केन न होये
 किये सर्वांगमार्गः अवस्था प्राप्त होनी आवश्यक है।
 गत १५ वे श्रावणी शिवरात्री वृत्त मयकी भूमिका में वृत्त
 रूप महात्मका वृत्त किया है उससे दो अवस्था के योग
 सर्वांगमार्ग की अवस्था है। अतः यह पूर्व वृत्त वृत्तकी
 अवस्था है यह बात पाठक ध्याये अवश्य करें।

सर्वगत आत्मा परमब्रह्मा है और वैयक्तिक 'देवता' आत्मा जीवितमा है वह परिणामा व्यावहारिक है। वहाँ परिणामा सबके सम्मुख प्रतीत होती है इसमें संदेह नहीं। वहाँ जिस अनुभवके रूप विन्दुको छोड़कर 'सर्वगत' आत्मा है ऐसा कहा है और उपनिषद्में भी कहा है वह अनुभवका रूप-विन्दु भी भक्ति विवेकसे अनुभवमें लायेजाना है।

शेषाक छर्षपत अहमसाब और छर्षपतमाब की
कन्या जन्मा छर्षपुताममूलाता बचकी कन्या
बहि दाऊक बचकता बाई को इत प्रकार समझ लउते हैं।
मनुष्यके अणुमककी बार अहस्ताई है और उन बार
अहस्ताओंका अणुजब विधिक है देखिये—

१. आपत्ति - ऐतच्छब्दमनुसृत्य भेदश्च मनुष्यस्य चरित्तो
विनिश्चिताश्च मनुष्यस्य ।

१. **अप्यक्ष** - हैयका ही अनुमति परंतु बाह्यमात्र होते
इस क्षण का प्रतीक होता है

१ सृष्टि - अनेकता अनुभव । द्वैतके अनुभवका
अभाव । एक अवस्थामें अद्वैतत्व स्थिति
होती है ।

४ सुर्पा - [यह जीव जलस्थानोंका अनुभव करने वालेकी छद्म अवस्था अनुरूप ही प्रतीत होती है] इसका अनुभव सावधान अनुभवोंको नहीं है ।

पक्षिणी तीन अवस्थाएँ हाएक मनुष्यको लगना मानीके
 प्रायः अविदिम बाह्य होती है। इसलिये हम कह सकते हैं
 कि हाएक मनुष्य सामयिकी दृष्टि छत्र द्वैतका अनुभव
 करता है और मनुष्यको अद्वैतका अनुभव करता है। मनुष्यको

तत्केन कं स्पृशेत् तत्केन कं विजानीयात्
 येनेत् सर्वं विजानीयात् तं केन विजानीयात्
 स एष मेति मेख्यसामाऽयुधो न हि युध्यते
 विद्यातारमरे केन विजानीयात् ॥

(ह उ अ १०५१५)

यहाँ द्वैतवा होता है वहाँ एक दूसरेको देखता सुंघता
 चकता बोकता, सुघता, विचार करता स्वयं करता और
 जानता है; वरंशु यहाँ इसका सब अग्रमा ही होता है उस
 समग्र कोन किसीको देखे सुंघे चके बोके सुने, विचार
 करे और स्वयं करे ? जिससे सब जाणा जाता है वह भका
 कैसे जाना जायगा ? वह यही वह यही इस रीतिसे इस
 आत्म्याक अपने ही होता है; इसका प्रत्य करना कठिन है
 जो सबको जानता है उसको किस साधनसे भका इस
 ज्ञाने ?

आत्मवि और सुपुष्टिमें कैसा अनुभव होता है इसका
 उद्यम वर्तन इस उपनिषद्बचनमें हुआ है। यही बचन और
 बृहदारण्यक उपनिषद् (ह १।४।१४ के स्थान) में भी
 जाता है अर्थात् एक ही उपनिषद्में दो बार है।

उत्तरच भा १०।५।३। १५-१६ और की
 १४।३।३। १४-१५ इसको स्मरणो है। जिस समग्र
 आत्मवि के लक्ष अनुभव होता है उस समग्र एक दूसरेसे
 द्वैतका व्यवहार करता है, वरंशु सुपुष्टिबचनमें वैसा द्वैतका
 अनुभव नहीं है; क्योंकि उस समग्र (अपने अग्रमा एक
 बन्त) सब अग्रमा ही हुआ होता है। दूसरा कोई
 प्रमाणके बिना नहीं होता जब वहाँ केन किसी व्यवहार
 करना। जो जाना सबको देखती है उसको कोन देखे ?
 अर्थात् उस समग्र आत्मक प्रत्यक्ष, मूला आद्यो सर्वगत
 आत्मविधि सर्वगत आत्मविधि किया अद्वैतस्थिति होती है।
 न सब जगद् उस एक उद्यम व्यवहारके वाचक है।

जो पाठक द्वैत और अद्वैतके सगर्भोंमें फंसे हैं। इनको बचन
 उपनिषदों की रीति आत्मवि और सुपुष्टिके अनुभवका
 वचनोपयोग रीतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और वक्ष्या
 होताद्वैतके सगर्भोंमें वैसा चाहिये। आत्मवि रीतिसे हर
 एक मनुष्य आत्मविमें हुए द्वैतका अनुभव करता है और
 सुपुष्टिमें हुए अद्वैतका अनुभव करता है। दोनों अनुभव
 साथ है। वरंशु वचनमें भी आत्मविके अनुभवको जग

और सुपुष्टिके अनुभवको मूला अर्थात् वक्ष्य कहा है।
 जिस रीतिसे होताद्वैतके सगर्भे होते हैं वह वरिषम
 एवं है। जो उपनिषद्में कहा है उद्यम संवद नहीं हो
 सकता। एषाधिमाम् मन्त्राद्यै जगिष उद्यम करने है
 लोग अद्वैतवचनोंको भीचते हैं और अद्वैती द्वैतवचनोंकी
 भीचते हैं। हम जो दोनों प्रकारके वचनोंको पूर्णतः दोनों
 अवस्थानोंमें पूर्णतः रीतिसे वचन देखते हैं; जग। हमें
 किसी वचनकी जीवात्मा करके भी निकटतम आत्मव्यवस्था
 प्रतीत नहीं होती। जो पाठक इस प्रकार व्यवहार रूप
 वचनोंको समग्रवैयं साथ करेंगे, इनकी भी द्वैत अद्वैतके
 वचन पूर्णतः द्वि कने आत्माकर्ममें उद्यम होनेसे सब
 कैसे नहीं और योग्य रीतिसे प्रत्यवचनोंकी संगति सब
 जायगी।

गीता, उपनिषद् और वेदमें भी द्वैत और अद्वैतके
 वचन स्थान स्थावर हैं। कोई प्रत्यक्ष इन वचनोंके छाती
 नहीं है। और होय भी वैसा ही चाहिये। उद्यमको
 किये कर्मोपनिषद्का पाग देखिये। अधिकेजाने वचने पूरा
 कि मरनेके पश्चात् क्या अवशेष रहता है ? इसका
 उत्तर वचने इस प्रकार दिया है—

अथोरजीवात्ममहोमहीमानात्मास्व जगतामिदित्ये
 पृष्टाधाम् ॥ १० ॥

महावीरं शरीरेभ्यमवस्थेभ्यवस्थितम्।

महामते विमुग्धमामं मन्वा धीरो न शोचति ॥ ११ ॥

(ह उ अ १)

इसके पृथक् भाग महात्मे भी महान् आत्मा इस
 जगतीके इत्यर्थ है। अधिके शरीरोंके अन्तर रहनेके
 शरीरहित महान् विमुग्ध आत्माको जाकर सुनिश्चय
 प्रकाश की नहीं करता।

यहाँ भी अधिकेजाने वचने उत्तरमें अर्थात् मरनेके
 पश्चात् रहनेवाला विमुग्ध आत्मा है, विमुग्ध होनेसे वह जीता-
 के वचनके अनुसार सर्वगत है वैसा स्पष्ट कहा है।
 अधिकेजाना प्रत्यक्ष शरीरके पश्चात् पश्चात् क्या शेष
 रहता है ? यह है। उत्तरमें कहा है कि जो इत्यर्थमें महान्
 आत्मा है यही विमुग्ध आत्मा रहता है। मरनेपश्चात्की स्थिति
 निश्चय समग्र ही महा निश्चय तदस्य आत्मा जाका है
 इसकिये वह मूला अवस्था ही है जिसकी गीतामें

(१३) आश्चर्यपूर्णं वयस्य आत्मा ।

अ। ध्ययवत्प्रत्ययान्ति कश्चिदेनमाक्षरमपहृदति तथैव चान्यः ।

नाथर्ययसैवमन्यः शृणोति श्रुत्याप्येन वेद न शैव कश्चित् ॥ १९ ॥

के लिये इस व्यवस्था-विमर्शमें रक्षावा सेरे जमीन नहीं है ।
 वे अपने स्वभावसे ही कुछ समयके पलायन अवस्था-
 को प्राप्त होमि ही । यदि वह बात कोई भी टाक नहीं
 सकता, तो इस विषयमें ए लोक क्यों करा है ? सेरे
 लोक कबसेर बना के लोग कबसेर लिये इस व्यवस्था
 किमें रहते ? और तो ए उनके विषयमें इतना लोकप्रिय
 हुआ है, वह ए जी क्या कबसेर अवस्था-विमर्शको नहीं
 माक होगा ? फिर इस लोक-मोहसे कीयका काम होगा ?
 नहीं बात जनकरीयमें कामि दूसरे कबसेर का
 व्यवस्था—

अप्यक्त और अभ्यक्त

अथ्यकाह स्वक्या सर्वाः प्रमथस्यहरागम ।

राजपागमे प्रसीयन्त तत्रैवाव्यक्तसंज्ञकः ॥

(म जी ८१६)

'(ब्रह्मणे) दिवसे वातमसं अन्नमक्षते मय पश्याम ध्वज
होते है और उन्नीची रात्रि प्रातः होकर ये मय पश्याम
वही अन्नमसं भोज्य होत है। अर्थात् ब्रह्मणे दिवसे वातम
सं अन्नकी उत्पत्ति हुआ मय वही ध्वजता होती है और
मन्त्री रात्रिके समय फिर अन्नकी उत्पत्ति स्थिति हो जाती
है। कोई हमसे पूरना नहीं हमसिध यह अपरिहार्य है।
अत अपरिहार्य वातता होकर अन्नवा सर्वत्रा अचोराव है
क्योंकि हमसे कोई छान नहीं है। अथाभास कीपर्यन्त
वही विषय अन्न अन्तर्यमें स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता निष्पत्ताः पञ्चमान्ताः समुपपन्नाः ।

संयोगा विप्रयोगास्ता मन्त्रान्तं च जीवितम् ॥५॥

नपुंसकमानो भ्रियते युष्मन्मानस्य जीवति ।

कासं प्राप्य महाराज स कश्चिद्वर्षावर्तते ॥१०॥

अमावासीतान् भुजानि मातृमण्ड्यानि यावत् ।

अमावसिभमाभ्येव तत्र का परिदेवता ॥१॥

(म ना जीपर्व न २)

एक संभव रूप होमैक रहनेवाक हैं अब कवर
बदना बदल होमैक ही है अब संयोग विभाग होमैक

रहते हैं और मृत्यु कावैयक जीवन होता है। कुछ न करने वाला घर गया है बार कुछ कावैयका जी कावित्त नतः है। हे महाशय। काक मल होयेर कोई बचता नदी, लक भूत कलपिते पूर्व कालाकर होते हैं मरक मरमरी भावकन हीकल हैं और मृत्युके पक्षत फिर कालाको पाव होते हैं। इसमें लोक कावैयका काल नया है।

इस स्वावर्तनीयमन्त्रशास्त्र का अन्त्यक 'शास्त्रे स्वाव
वर्तनीयमन्त्रशास्त्रम्' है। अर्थात् यह श्लोक मीमांसे का अन्त्य
वर्तनीय स्वयं कर्ता है। इसी प्रकार और एक श्लोक है-

अदर्शन और दर्शन ।

वदार्शमाद्यापठितः। एतन्मात्रं च गताः ।

सत्यं तत्र न वेदां तत्र तत्र का परिहृयता ॥

(स.मा.सी.पर्व.व. ११३)

जब भूत बहिके अर्धरात्रि अट्ट अचरममें व वज्र
 धर्म (दह) मिथिमें हो मय अर्धरात्रि पुनः अर्धरात्रि (अट्ट)
 स्थितिमें बहुत मय । देवी अचरममें आठके क्रिय काय
 क्या है ? आचरममें दया आचर हो ये सेरे नहीं हैं और न
 दयाका नहीं है ।

यहाँ अद्वैत सत्य रही कर्मों जगत् है कर्मों
के अन्त ब्रह्म ब्रह्मका अर्थ स्पष्ट कर सकत है। देखिय—

अथवा

अथवा

संस्कृत

अव्यक्तानीनि व्यक्तमव्यानि अव्यक्तनिधनानि

(म गी २.२८)

अस्यकारः

अथ कथम्

प्रकीर्ण्यते

प्रसूतमिति

(ब सी ८११८

अभ्यासादीनि

साधनमध्यानि अध्यावनिधनानि

(न सा ही ११६)

अहर्षाया

सुझाव

अनुष्ठानं गतम्

आपत्तिताम

(न जा को २१९२७)

हृदयकार व जगत् पूज्य विभवका स्मृतीकरण करते हैं। अतः किपीके नाशको देखकर लोक कर्मका कोटुं काज नहीं; देखा कहकर जगत्का जयिमाभित्त बुझा कहते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारतगेतस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं प्रोक्षितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वयः— कश्चित् पुनः आश्चर्यवत् पश्यति तदा नृपः च अन्वः पुनः कश्चिदर्थवत् वदति अन्वः च पुनः आश्चर्यवत् पश्यति। अन्वः कश्चित् कश्चित् पुनः न वेद ॥ २९ ॥ हे भ्राता सत्येव वेदे नर्कं वेदी निम्नं नश्यत्। तस्मात् त्वं कर्त्तासि नृपसि शोचिषु न नर्हसि ॥ ३ ॥

कारं तो इसकी मोर माभार्यपूर्ण दृष्टिसे देखता है। पैस ही कोई दूसरा इसका माभार्यपूर्ण वर्णन करता है और कोई इसका वर्णन माभार्यसे सुनता है परंतु सुनकर भी कोई इसको नहीं मानता ॥ १९ ॥ हे भक्तकुसुम ! सबके देखने, सुननेवाले इस शरीरके स्वामी मात्माका कभी, वध नहीं हो सकता। इसलिये तुझे सब भक्तमात्रके विषयमें शोक करना योग्य नहीं है ॥ २० ॥

भावार्य वह बातमा एक बरसुव पदार्थ है इसका बर्तन जब काटे और सब छुचते भी हैं। परन्तु इसको बर्तन सीधे ज्ञानमा कतिव है। सबके देखेहि वह रहणा है, परन्तु इसका बच कोई कर नहीं सकता। वह बातमा बचर होके कतन इससे विरहमें लोक करना किसीको उचित नहीं है। (१९-२)

(२५-३) आत्मा ज्ञानवत् बहुमुख परावर्त है । वस्तुतः देखा जाय तो इसका बंधाव बर्मेन करना ही असम्भव है । इस समय तक इसका बर्णन करने के लिये कोई समर्थ नहीं होया जाता । सब लोग इसको देखकर लगने ही जल्द आश्चर्यसे चकित हो जाते हैं और इसको देखते देखते सब जगत्का मान भी भूक जाते हैं । अब महत्तमा कोश स्वातंत्र्यसे इसका वर्णन करने लगते हैं । अब वे भी वर्णन करते करते बर्षोंमें सम्मथ होते हैं और तेष बाधोंको भूक जाते हैं । कोई लोग वह वर्णन सुनते ही इसकी अनुसृतता विचार कर चकित हो जाते हैं । इस प्रकार सब लोग को कोई इसका विचार करते हैं वे सब आश्चर्यसे स्तब्ध होते हैं । आगे उनकी मति कुण्ठित हो जाती है । इसका होनेपर भी कोई इसको बंधाव रीतिसे नहीं जान सकता, इसी इसकी अभाव मीमांसा है ।

मम मरम धर्मवाले देशों में सर्वप्रथम होकर रहनेवाला वह
जन्मा स्वयं सदा अमर अवस्था में रहता है । किन्तु भी
अवस्था विनाश का ही भी होता है वह कोई कर, नहीं
नष्टता । ह अर्जुन ! किमीके जन्माका वह कदापि भी नष्ट
के नहीं होता है । तब तेरे कुछ कार्यों के तेरे साधन
द्वारा किमीकी जन्मा जारी या जारी नहीं या सचरी को
दिन में किमीका साधन का रहा है ।

हा एक अनुभव जसमे अन्दर हुन जमर बाह्यमाथी सत्ता है
 ऐसा मानकर विचारधारा कल मलाका अनुभव जसमे अन्दर

कोर और मैं स्वयं देसा अग्रमा, अजर अमर अक्षरी
देहका स्वामी किम काचय, पुरातन मुकुट अवधाय, जलज
जलोत्पन्न जलक सत्पातुन अवधाय, अक्षित्व, प्रविकारी कीर
सर्वगत तथा अनुद्ये जगु और महात्से महाद ई, देसा
विचारये देखे और मगव करके अपने जन्मर हृदका अनुभव
करनेका यत्न करे। हृदये अपना आत्मिक वक बदेया और
देखे कैसे वह वक बदेगा देखे कैसे उसको प्रपच, प्रीति
के कयर स्वाय वय्य होगा। अष्टु। वही वर्ज्य करोविवि
में विरमविशिष्ट मगम बाबा है-

अवस्थायापि बहुभिर्यो न कम्पः ।

श्रुण्वन्तोऽपि बहवो य न विद्युः ।

माध्यमो यथा कृषाणोऽस्य वृत्त्या

अथो माता कण्ठलापयति ॥ ७ ॥

न मरेणाबरेण पोख पय

धृषियेयो यद्व्या विभ्यमानः।

अनन्यप्रोक्त पतिरपि तास्मिन्

अणीयाग्न्यतर्कस्यमण्यमायात् ॥ ८

॥ १ ॥

बहुत लोगोंको जिस बातका वजन सुननेका बखतर भी नहीं मिलता सुननेपर भी जिसका ज्ञान बहुतांशोंकी नहीं होता प्रसक्तप्राप्तिके इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाले कीर वचन रोमिने इस ज्ञानको सिद्धगुणवादीको बल होता एक काव्यरंजी ही बात है। तथा विपुल सुननेवाली विषये ज्ञान बल किया है ऐसा ज्ञाना श्रुति जिनका भी एक काव्यरंजी ही बात

है। जिसका बहुत प्रकारसे विचार किया जाता है, ऐसा वह आत्मा साधारण उपदेशकद्वारा समझाया जानेपर समझमें नहीं आ सकता। इसी कारणसे द्वारा उपदेश होने के बिना इस आत्ममें प्रति नहीं होती। क्योंकि यह प्रथमसे मुख्य होनेके कारणसे कहते हैं।

१५॥ इस स्थितिसे उपनिषद्में कहा है। हमारी मनुष्योंमें कुछ जोड़े मनुष्य इस अज्ञानज्ञानके विषयको सुननेकी इच्छा करते हैं। इच्छा होनेपर अथवा स्थितिसे अज्ञानके कारणसे कुछ मित्रता करिब है। उपदेशके मित्रकेपर ही जो अज्ञान मुख्यके पास रहकर पूर्ण ज्ञानी हुआ है ऐसा बहुत मित्रता को अज्ञान ही करिब है इतना अब मनुष्य होनेपर ही सुने हुए बातको समझना और वस्तुको ज्ञानसाधन करना अज्ञान करिब करिब है। क्योंकि यह विषय प्रथमसे प्रथम है। समझनेवालों की भाँति नहीं बात कही है—

१ मनुष्याणां सर्वेषु कश्चित्तति सिद्धये ।
यत्तत्तत्तपि सिद्धानां कश्चित्तां वेत्ति तत्ततः ॥
(म ती ७१)

१॥ इसमें मनुष्योंमें से कोई एक मनुष्य सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले मित्रोंमें से भी मिलके ही मुक्त (आत्मा) को वास्तविक स्थितिसे पहचानते हैं। इस विषयकी अज्ञान प्रथमता होनेके कारणसे ही कश्चित्ता इत्येव होती है। जो समझता है कि 'मैंने इसको ज्ञान किया' इसको भी वह समझा नहीं होगा, वह एक आत्मवैर्ष्यी बात कही है। देखिये—

१॥ पुन्य जमत्तं तस्य मत्तं मत्तं यस्य न वेद सा ।
कश्चित्तात् विज्ञानमत्ता विज्ञातमविज्ञानमत्ताम् ॥
(केन व की १)

१॥ जो समझता है कि इसका प्रयत्न अज्ञान नहीं होता, वही इसको जानता है। वस्तु को समझता है कि मैंने इस को ठीक प्रकार ज्ञान किया वह कुछ भी समझा नहीं है। जो समझ गया ऐसा जानता है उसको इसका ज्ञान नहीं हुआ है परंतु जो अभी ठीक नहीं समझा ऐसा जानता है उसको ज्ञान हुआ होता है। क्योंकि वह अतर्क अविज्ञान और अज्ञान है इसलिये समझना बड़ा करिब है।

इसलिये इसका वर्णन करना और समझना एक बहुत आश्चर्यकारक बात है ऐसा भीतमें कहा है।

आश्चर्य !

वह बहुत आश्चर्य क्या है ? ऐसा पढ़ा कोई पृथगा इस को कुछ सिखा बतानेके लिये पढ़ा इस विषयके आश्चर्यकारक भाषा कुछ बड़ा बताने हैं—

जो विचार करता है और ज्ञानकी सक्तिसे ज्ञानकार देखता है, उसको आश्चर्य ही आश्चर्य मानी होता है। जब वास्तव अज्ञानता है उस समय वह ज्ञान पीने लगता है। जिना पीने दिखावे स्वरूपान कर सकना कितना आश्चर्य है ! मनुष्य देखता सुनता स्वर्ण करता चकता और चूँचता है और समझता है वह कितना आश्चर्य है ! वे सब व्यापार कितने लीज होते हैं और कैसे होते हैं वह देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। मनुष्यके मनमें कुछ मात्र होता है और वस्तुता प्रतीति करनेके लिये वह कोकता है। जोकनेमें एकके लीके दूसरा ऐसी सम्प्रदायता बना—प्रवाहके समान चकती है। जो इस बातका विचार करेगा वह बड़ा रहस्यमय। मनुष्य जाते ही मनुष्य बढता है और बढता है जो मनी जाये कार्य करता है वह मनी ही सक्ति कितनी आश्चर्यमयी है। मनुष्यका अतीर बढानेके लिये बार मनुष्य जगते हैं, ऐसा भारी बढानेका शरीर बिना जाया देवक इच्छासक्तिसे बढाया जा रहा है। इतना ही नहीं मनुष्य सरकसवाके वस्तुता तापर बढाते हैं और कक्षां मारनेवाले कक्षां मारते हैं वह बहुत कष्ट भिन्नी है, उसकी आश्चर्यमयी सक्तिका क्या वर्णन हो सकता है ?

वही बात विस्मयित शब्दमें कही है—
मूर्क करोति बाष्पाखं पंगु र्दण्डयते घिरिन् ।

वह ज्ञाना मूर्कता बाष्पाख बगती है पंगुको पहाड़ों—की तर करती है। जगति जो अतीर स्वर्ण वस्तुता कर नहीं सकता, उस मूर्क शरीरसे वस्तुता हो रहा है ! इसी प्रकार जो अतीर स्वर्ण शक्ति नहीं सकता वही पहाड़ोंकी ओडिमेंपर चढ़ रहा है ! वह चक्रधर आत्माही बहुत शक्तिसे ही हो रहा है ।

जबका बगल नीचेकी दिशासे चकता रहता है पंगु इस अतीरमें अतिरका बगल नीचेसे भी स्पर्शकी जग चकता

मयात्राणादुपरतं मस्यन्ते त्वां महारथा । येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि छाषवम् ॥ ३५ ॥
अवाप्स्यवादांश्च बह्वन्विष्यन्ति तपाहिवा । निन्दन्तस्तत्र सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्षस्ये महीम् । तस्मादुचिष्ट कौन्तेय युञ्ज्याय कृतनिश्चय ३७
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युज्याय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वया-महामया त्वां जयात् जयात् जयात् मस्यन्ते, येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा यास्यसि छाषवम् ॥ ३५ ॥ मया
जयायार्थं निन्दन्ताः तत्र क्षत्रियाः बहुम् अवाप्स्यवादान् बह्वन्विष्यन्ति । नत त्विं नु दुःखतरम् ? ॥ ३६ ॥ इतो वा स्वर्गं च जयाय
जित्वा वा मही मोक्षस्ये हे कौन्तेय । तस्मात् युज्याय कृतनिश्चयः उचिष्ट ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे यामनाभ्यामौ अवाप्तव्यं म
कृत्वा ततः युज्याय युज्यस्व । एवं पापं न अवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सब महामयी तुझे मयके कारण युद्धसे मागा हुआ मार्गके और जिन्हें इस समय तू बड़ा मामनीय
है, उनकीही इच्छाएँ तू पूर्ण हो जायगा ॥ ३५ ॥ तेरी सामर्थ्यकी निंदा करत हुए, तरे शत्रु बहूनसे म
करने योग्य बचनोंको कहेंगे । इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा ? ॥ ३६ ॥ मर गया तो स्वर्गको
जावेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इसछिप हे मर्हूम । युद्धका निश्चय करके उठ ॥ ३७ ॥
सुखदुःख कामहानि और जयपराजयको समान समझ कर, फिर युद्धमें लग जा । ऐसा करनेसे तुझे
पाप नहीं भोगेगा ॥ ३८ ॥

<p>जाते जगुमें मुझके छिपे कला हुआ हैकर स्वयं डाकर उपको पीठ दिखाया, मोक्षमें वसित होनेवाली हीन बचा का लक्ष्यकर करवा, ये सब बातें क्षत्रियका नाम कहेकित करनेवाली हैं ।</p> <p>वर्मके वर्ममें रहकर सत्यके छिपे कला क्षत्रियका वरम वर्म है । (अर्थात्) दुःखके प्रजापति (जायते) रक्षा काया क्षत्रियका वरम वर्म है । हे मर्हूम । तू देखे जगम मवल काम कर्ममें ललक हुआ है । क्षत्रियका तो देखे वर्मपुरुषके बचकर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है । तू वर्मके ही पक्षमें है और वर्मकी रक्षाके छिपे ही कर रहा है । तो जगु वर्मके जगु है, हे कितने भी बड़े साम्राज्य का कामका कर रहे हों कितने भी बनी हों और कितने भी कायलसब हों ये वर्म और जगके विरोधी हैं । जगमें मजबूत और कष्टके अपना साम्राज्य बढ़ाया है । इस कारण जगत् अन्धारे जगकी निंदा करनेवाले तथा जगकी नीतिका विरोध करनेवाले उनके वक्षमें बहुत हैं, जगः जगके पापके ही जगका एक कमजोर हो गया है ।</p> <p>उपारा सब वर्मका है जगके निजके छिपे एवम वैरात हुए ही जगः तुम्हारे पक्षके छिपे कोकजग जगदुःख</p>	<p>हुना है । इस प्रकार वह वर्मपुरुष मज हुआ है । सब क्षत्रिय तो देखे ही तुम्हेंको बचद करते हैं । देखे जगपुरुष अधिक केवलक्ष क्षत्रियके छिपे कोई दूसरा करतब नहीं है ।</p> <p>देखा तुम मायो जगका कला हुआ हार ही है । इस लगाके हारके समय तुमके मज होनेपर जगमें क्षत्रिय जायगके बचद करते हैं । कोई क्षत्रिय इस तुमदारी लार्- हाराको डोकर कभी नहीं जायेगा । जायगके तुम भोगे और जगमें जायगमयेन भोगेगा ।</p> <p>कारिक जगमेंको रक्षा तुम दुर्जनोंका नाक और मलकी जगहाराकी सुखवस्था करनेके छिपे को तुम छिपे जाते हैं जगमें वर्मपुरुष कहते हैं । हकी मकरका वह वर्मपुरुष है । इस समय ये वीरव जायग को साम्राज्यवादी शत्रु ठेरे जायगे कहे हैं वे वर्मपुरुषोंका कष्ट रहे हैं, हम्में दुर्जनोंके राज्य कष्टके जीने हैं अपनी क्षत्रिय वर्मजग दुर्जनोंको लज्ज है लोग तुम्हेंको अधिकारसे जगाता है, सत्यपुरुषोंको हैकसे बाहर निकाला है क्षिरोकी वैदुजती की है और जगका कहा जाय इसक कृपासे ही तुमके ही लोग तंग जायगे हैं । जगः इस दुर्जनोंके लज्ज देना जगत् जायगक है । देखे तुममें कई लोग भर जायगे कई जायग होने</p>
---	---

(१४) आश्रम ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि । धर्माद्वि युद्धाप्तेष्वप्यस्त्रिबन्ध न विधत्ते ॥१॥
 यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपाङ्कतम् । सुखिनः सत्रियाः पार्थ समन्ते युद्धमीदृशम् ॥२॥
 अथ चत्सुषिर्धर्मं सग्रामं न करिष्यसि । ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३॥
 अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽप्ययाम् । समावृतस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥४॥

भावार्थः— स्वधर्मं च अपि अवहेक्ष्य विकम्पितुं न अर्हसि । हि क्षत्रियस्य धर्मोऽयं युद्धात् अन्त्यर्धं भेषा न विधत्ते ॥१॥
 दे पाव ! यदृच्छया च उपपन्नं स्वर्गद्वारमपाङ्कतम् । सुखिनः सत्रियाः समन्ते ॥ १२ ॥ अथ त्वं धर्मं धर्मं संशयं
 न करिष्यसि चेत् ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥३॥ अपि च युद्धादि ते अन्त्यर्धं अकीर्तिं अवयिष्यन्ति ।
 समावृतस्य च अकीर्तिः साक्ष्यत् अतिरिच्यते ॥ १४ ॥

आश्रमकी मोर देखकर भी इस प्रकार कांपना तुझे योग्य नहीं है । क्योंकि क्षत्रियके लक्ष्य कर्मयुद्धके
 यद्धन वृद्धन कोह कस्यापकारक कर्मधर्म नहीं हो सकता ॥११॥ हे युधामन्यु अन्तुव ! जनायास प्राप्त हुए
 तुझे हुए स्वर्गके द्वाररूप ऐसे युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥ अतएव पाव तू इस
 धर्मयुद्धका न करणा ना स्वधर्म और कीर्ति कोकर पापको ही प्राप्त करणा ॥ १३ ॥ इतनाही नहीं बरिह
 नय लोग बहुत कान रहनवासी तेरी दुष्कर्मिका ही कहते रहेंगे । और संसारयोग्य युद्धकी दुष्कीर्ति
 मरधमे भी बढकर होना ह ॥ १४ ॥

हे । हमको धर्मगतिसे जनायककी यह जगता कितनी
 बहुत सामर्थ्यवासी होगी ? जगत्क पदायुधकी धर्मके
 निर्मिमे उन्मत्ता जगत्क होगी हे और मर्दि किमोई क्षीणता
 वाचन होती है वरुन यह क्षीर देखिने वहाँ मर्दिगर्मीमि
 रच है । उन्मत्ताका प्रत्यक्ष रहता है अन्त्यर्ध इसके अन्त्यर्धकी
 मर्दि है कि ना बाहरकी मर्दिमर्दिकी वरुन नहीं करती
 । यह कितना आश्चर्य है ? वायुकी मर जगत्कसे अन्त्यर्ध
 कना और बाहर उन्मत्ता का वरुन क्षीरमें विविध प्रकारसे
 पुनः पुनः आदि को कार्य वहाँ हो रहे है हे किन्तु आश्चर्य
 कारक है । इस प्रकार पुन्नी मर्दि के वरुन आदि मर्दि-
 मर्दि के वरुन मर्दि मर्दिवासी को वरुन अन्त्यर्ध वेदी है,
 यह कैसी आश्चर्य करने योग्य है ?

अतएव हा वरुन एक दूसरेका क्षत्रिय मर्दि तो हे
 हमो मर्दिमर्दि मर्दि होय है वरुन वहाँ क्षीरमें देखिने
 वरुन मर्दि होती है वरुनकी मर्दि वरुन है और अधिक
 मर्दि ना क्षीर है वरुनमर्दि पुन पुन होय है कोकोकी मर्दि
 इच्छकना मर्दिमर्दि है हे इस प्रकार मर्दि मर्दिके विरुद्ध
 मर्दिमर्दि वरुन मर्दि है यह आश्चर्यकारक वरुनको क्षत्रिय
 वरुन है, वरुन विरुद्धके विचार कोकोमें मर्दि आश्चर्यका

आव क्यों नहीं रहेगा ?

क्षीरवत् वायु जगत्क जगत्क क्षीर क्षीर क्षीर क्षीर
 रोग हो वायु तो वरुनकी क्षीर करनेका क्षीर क्षीर
 अन्त्यर्धकी ही एक क्षीर कर रही है यह क्षीरकी आश्चर्यकी
 वायु है । ऐसे वरुनको आश्चर्य वरुन है । हमकी क्षीरकी
 करवा मर्दिमर्दि है ।

ऐसे जगत्कक्षीर आश्चर्य हम क्षीरमें हो रह हैं, वरुन
 क्षीरको विचारकी क्षीर देखिनेवाला क्षीर है । वरुन इस
 प्रकार वरुन अन्त्यर्ध देखिने क्षीर वरुन मर्दिमर्दि क्षीर क्षीर
 विरुद्धक कार्य कर रही है यह मर्दि और वरुन क्षीर
 ही अनुभव करें ।

वर्धातक क्षीरक्षीर वरुनक्षीर करने अन्त्यर्धकी वरुन
 मर्दि करनेवाला अन्त्यर्धक्षीर वरुनक्षीर क्षीर । मर्दि स्वधर्म
 मर्दि क्षीरक्षीर मर्दि मर्दि मर्दि मर्दि मर्दि मर्दि मर्दि
 मर्दि है—

(११-१४) अथ आश्रमकी उन्मिरे विचार करने
 वरुनक्षीर मर्दिमर्दि है कि इस प्रकार वरुन देखकर मर्दि,
 मर्दि होयवाले मर्दिमर्दि वरुन स्वधर्मक्षीर की हे मर्दि

मयाद्रुणादुपरतं मस्यन्ते त्वां महारथा । चेपां च स्व बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाञ्छवादाश्च बहुवदिष्यन्ति तवाहिता । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं वित्वा वा मोक्षस्य महीम् । तस्मादुपिष्ठ कीन्तेव युद्धाय कृतनिश्चय ३७
सुखदुःखे समे कृत्वा सामान्यमी जगज्जयी । ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वयः—महामया त्वां जयात् जयात् उपरतं मस्यन्ते, चेपां च त्वं बहुमतः भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥ तव सामर्थ्यं विन्दन्ताः तव अहिताः बहुवदिष्यन्ति तवाहिता । ततो किं नु दुःखतरम् ॥ ३६ ॥ इतः वा स्वर्गं वा मोक्षं विजित्वा वा महीं मोक्षस्य हे कीमत् । तस्मात् पुनश्च कृतनिश्चयः उच्यते ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे, सामान्यमी जगज्जयी । ततो युद्धाय युज्यस्व । त्वं पापं न जगाम्प्यसि ॥ ३८ ॥

सब महारथी तुझे मयके कारण युद्धसे भागा हुआ भाग्ये और सिन्हा हल समय तू चढा । मामनीय है, उबकीही हथियें तू चुप हो जायगा ॥ ३५ ॥ तेरी सामर्थ्यकी निंदा करते हुए, तेरे शत्रु बहुतसे न करने योग्य वक्तोंको करेंगे । इससे और अधिक दुःखकारक क्या होगा ॥ ३६ ॥ मर गया तो स्वर्गको आवेगा, और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इसलिये हे मनुज ! युद्धका निश्चय करके उठ ॥ ३७ ॥ सुखदुःख कामहावि और जयपराजयको समान समझ कर फिर युद्धमें लग जा । ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं कसेगा ॥ ३८ ॥

जानै बहुतो युद्धके किन्हे कहा हुआ हैकर स्वयं उभय उबकी रीति दिखाना, मोक्षमें रतिगत होनेवाली हीन तथा वा बलवन्त करना, वे सब बातें कथितका नाम कर्त्तव्य करनेवाली हैं ।
चर्मके चर्ममें रहकर हत्यके किन्हे कथना अधिवक्ता वरम चर्म है । (कपट) युद्धके प्रजापति (भाषते) रक्षा करना अधिवक्ता वरम चर्म है । हे मनुज । तू ऐसे उभय मलय काव्य कर्ममें लयत हुआ है । अधिवक्ता तो ऐसे चर्मयुद्धके बचकर अधिक कल्याणकारक कोई कर्म नहीं है । तू चर्मके ही चर्ममें है और चर्मकी रक्षाके किन्हे ही कह रहा है । तो बहुत चर्मके बहुत हैं, वे कितने भी बड़े साम्राज्य का वायव्य कर रहे हों कितने भी बची हों और कितने भी वायव्य कर रहे हों चर्म और हत्यके सिरोधी हैं । अन्धोंमें मन्त्र और कर्मसे अपना साम्राज्य बचाया है । इस काल कर्म कर्मसे उबकी निंदा करनेवाले तथा चर्मकी नीतिका विरोध करनेवाले उनके चर्ममें बहुत हैं, अतः उनके पापों की उभय सब कर्मजोर हो गया है ।

एतद्वाचक चर्मका है जलके दिग्बलके किन्हे तुम सब वैतरण हुए हो अतः तुम्हारे चर्मके किन्हे कोकमत अनुपम

हुना है । इस प्रकार वह चर्मयुद्ध मन्त्र हुआ है । सत्य अधिवक्ता तो ऐसे ही युद्धोंको पदं करते हैं । ऐसे चर्मयुद्धके अधिक ज्ञेयस्वर अधिवक्ता किन्हे कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है ।
ऐसा युद्ध मानो स्वर्गका चुका हुआ द्वार ही है । इस स्वर्गके द्वारके समान युद्धके मन्त्र होनेपर उभय अधिवक्ता बलवन्तसे प्रवेश करते हैं । कोई अधिवक्ता इस युद्धकी स्वर्ग द्वारको छोड़कर कभी नहीं जायेगा । बलवन्तसे युद्ध कोना और उभयों बलवत्समर्थन करेगा ।
चार्मिक प्रजापति रक्षा युद्ध दुर्बलोंका नाश और मालवी व्यवहारकी सुवचनता करनेके किन्हे जो युद्ध किन्हे करते हैं उबकी चर्मयुद्ध करते हैं । हली प्रकारका वह चर्मयुद्ध है । इस समय वे कीरव नामक जो साम्राज्यवासी शत्रु से चर्मके चर्म हैं वे चर्मयुद्धोंको कट रहे हैं, इन्होंने युद्धोंके राज्य कपटके लीये हैं, अपनी अधिपति चर्मसे दूसरोंको मराने योग्य युद्धोंको अधिवक्तासे उभया है चर्मयुद्धोंको देखके बाहर निकला है, किन्हीं की वैजयंती की है और क्या क्या कहा जाय इसके कर्मसे ही इसके ही लोग पग जायगे हैं । अतः हम युद्धोंकी वृद्ध देना वायव्य वायव्यक है ।
ऐसे युद्धमें कई कीम नर जायेंगे कई वायव्य होंगे

(११२) योगविचार ।

एषा सेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां कृषु । बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ, कर्मबन्ध महात्सवि ॥२९॥
 नेहामिक्रमनाद्योऽस्ति प्रत्यक्षायो न विद्यते । स्वयमन्धस्य धर्मस्य प्रायते महतो मयात् ॥४०॥
 व्यवसायारिमिका बुद्धिरेकेह कुञ्जन्दन । बहुधाया अनन्ताम्, बुद्धयोऽम्भवसायिनाम् ॥४१॥

भावार्थः— हे पार्थ ! एषा ते सांख्ये बुद्धिः अभिहिता; जोमे तु हमी (बुद्धि) कृषु । यथा बुद्ध्या युक्तः (त्वं) कर्मबन्ध महात्सवि ॥२९॥ इह अभिप्रयथाः न जल्पि, प्रत्यक्षाया न विद्यते, स्वयमन्धस्य धर्मस्य प्रायते (महत्सवि) महतो मयात् ॥४०॥ हे पुनर्वन्ध ! इह व्यवसायारिमिका एका एव बुद्धिः । अवयवसायिनी हि बुद्ध्या अवयवा, बहुधायाः य ॥ ४१ ॥

कर्मोंको जन्म प्रकारके कहें हैं यह सब होगा ही, परन्तु यह अपरिहार्य है और आवश्यक भी है। इस समयक को इस जातिद्वारा क्या पाप हुआ है उसको जोमे और उसके द्वारा जन्मबुद्धि कायेका यही एकमात्र उपाय है।

यदि ऐसा यह धर्मबुद्ध दू न करेगा, तो दू स्वयमन्धे प्लुत होगा और बन्धकी सी को बैठेगा। इसका ही यही परन्तु नके पापका प्राप्ती कसे। ध्याधर्मसे प्लुत हुआ दू क्षत्रिय नहीं रहेगा। जैसे उन्मत्तारहित होमेपर यदि यदि नहीं रहती जैसे ही स्वयमन्धे पलित हुए अशुक्लके विषयमें समझो। धर्मसे ही जगत्की दिगति है। दू इस प्रकार बुद्धि जग गया, तो दू ज्ञानधर्मसे पलित हो जायगा, फिर तेरा मूक नवा होगा। आज को तेरा संभाल हो रहा है और जन्म को तेरे धामके ही तेरे कर्मकी भय होता है यह तेरे जन्म वैसा जगतिम ध्याधर्म है, इस कलम ही है। एक बार ऐसे जन्म को छोड़ दिया तो फिर तेरा इस प्रकार संभाल कोई नहीं करेगा। जब कोम तुझे वीरपर तेरे धर्ममूक तेरा व्यवहार करेंगे। यह व्यवहार सुचकर तुझे मनुष्य भी अधिक हुआ होगा।

जबैव बुद्धते वरके मरि मान गया। ऐसा सब जगहमें सब लोग कहते हैं। फिर हमको रोक्ना तेरे यकीन नहीं होगा। जो महारथी कठिनी और जति-महारथी तेरा आज संभाल करते हैं। वैही तेरा ऐसा व्यवहार करो कि उधका धर्म न करवा ही जगत् है। वरमेकर कोर जार ऐसा दिन न जाये। जो तुम्हें इस समय क्या धर्म करते हैं वेही तुम्हें हार माँगे। तेरे जन्म तो जो मर्मांम आ जाय वह तेरे विषयमें कहेंगे। सुननेके जगोप जग कह

यबोंको सुचकर जो तुम्हें हुआ होगा क्या उधका कमी धीमा हो जकती है। जत। इस बीबजके, मार्मको, कीडर, वीरठके मार्मसे फिर हो, जा।

ऐसे धर्मबुद्धमें दू मर जायगा या स्वयमन्धे मार्य होगा और धीमेगा तो जन्म स्वयमन्धे मार्य करेगा। उत्तरमें तेरे किसे तो हैज बुद्धकी दार और जोमे दोनों ज्ञान-पापक है और वज बहायेवाही सी है। इस कर्मके बुद्धके विचार करके उठ करा हो।

तुलुह, कामहाति जगपराजय जायिका विचार ही न कर। को होगा यह होमे है। दोनोंको जमान जन्म और जन्मे स्वयमन्धकी वरपर जगहदस्ती जगिजग जगहकाके दूज कर्मोंको दूर करनेके किने। जगह जग जगह हुए इस धर्मबुद्धमें वचनित होकर जन्मे जगका जगा है। इस समय दूसरा विचार मवमें न तुम्हें है। इस जगहवरा बुद्ध केरवा ही तेरा धर्म है। बुद्ध ही तेरा आवश्यक धर्म है। जत। यह जगिजग धर्म, करनेसे तुलुके तथा दूध, धर्मबुद्धमें धर्मिजि होमेवाके जगजग वीरोंको छिडी जगह जग नहीं करेगा। पांसे तुलु होमेका जगान ही इस धमन यह धर्मबुद्ध करवा है। दू इस धर्मबुद्धके करनेसे पापसे मुक्त होकर जगिजग जगान और बुद्ध न जानेसे पापके प्राप्ती कसेगा।

इस प्रकार बुद्धिधर्मके ध्याधर्मसे जग समझाकर जगह को बचकाया कि इस समय धर्मबुद्ध करवा ही। जगह जगह जगह है। ध्याधर्मसिद्धांत और बुद्धिधर्मका वरदेह करनेके पत्रात् जग योगसिद्धांत के अनुसार क्या करवा जगिजे इसका विचार करते हैं—

हे अर्जुन ! तुझे यह सांख्यमतानुसार विचार कहा; अब योगमतानुसार विचार सुन, जिस विचारके माध्यमसे तू कर्मपरमार्थको दूर करेगा ॥३१॥ यहाँ आरंभ किये हुएका माध नहीं होता इसमें विघ्न भी नहीं होते । इस धर्मका योद्धाता भी माध्यम किया जाय तो वह बड़े मयसे बढाता है ॥३०॥ हे अर्जुन ! इस मार्गमें व्यवसायमें स्थिर रहनेवाली एक ही बुद्धि होती है । व्यवसाय न करनेवालोंकी मनेक बुद्धियाँ और उनकी दृष्टिवाय भी बहुत होती हैं ॥ ३१ ॥

माचार्य- इससे पूर्व यह और अथवा विचार करके कर्मव्यवसाय निश्चय किया । अब इसके पश्चात् आचार्यवर्माका विचार करके कर्मव्यवसाय निश्चय करनेका उपदेश देते हैं । इस मार्गमें जो किना बाध वह व्यवस्था नहीं जाता क्या रहता है; इसके आचार्यमें विमोक्षित बकाये नहीं होती और इसका योद्धाता भी माध्यम किया जाय तो वह बड़े मयको दूर करता है । यहाँ दृष्टान्तसे कर्म करनेकी उत्तरदा ही केवक चाहिये जिससे सिद्धि प्राप्त होती है । जो दृष्टान्त न करनेवाले होते हैं, उनकी मति चञ्चल होती है और कभी एकदा नहीं होती क्या उनकी कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥ ३१-७१ ॥

(३१-७१) महात्मक पुत्रिवाचकी इतिहे विचार हुआ । जो इससे पूर्व कहा गया उसको सांख्य, सांख्य-मय, सांख्य इत्य सांख्य-बाध बाध सांख्यार्थ ' कहा जाता है । बाधका अन्विष्टाकी है अथवा सांख्यार्थ है अथवा केवक होमेसे अन्विष्टाके वदवक कुछ भी नहीं होता । इत्यादि विचार इस मयमें युक्त है । अथवा सांख्य-मयका वह सिद्धान्त है एवम् यहाँ जो कुछ कहा गया है वह सब सांख्यार्थार्थका मय वा सांख्य मार्गवैयर्थ्य सिद्धान्त है ऐसा नहीं है । यहाँ 'सांख्य-बुद्धि' कर्म कहा है इस सांख्य-बुद्धिका अर्थ बुद्धिवाच अथवा लब्धार्थ यहाँ अव्यक्तित है । (लब्ध-व्या) उक्तम रीतिसे जो समझना जाता है, पुत्रि-मयमोक्षे को एवम्को कहा जाता है, उस बुद्धिवाचकी भी सांख्य-बाध करते हैं । यह अर्थ यहाँ विवेचनका अर्थ है । अर्जुनकी संका भी कि बुद्ध करनेसे भीमप्रमोक्षदि मारि जायेंगे । इसका विराट्कर्म पूर्वक पुत्रिवाचसे किया गया और इहाँका मया कि 'बुद्धसे घरीरमय होमेय भी उक्त करीरमें विराट् करनेवाला अन्विष्टा अन्विष्टा रहता है और उक्तका माध और कर नहीं शक्य । इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्तका आत्मन्य करके पुत्रिवाचसे आत्माका अन्विष्टा एवम्का गया । परंतु इसपर भी एक संका रहती है कि बुद्धक सिद्धान्त परमार्थ करनेसे जो होय दृष्टान्त है वह कभी न कभी बाध करेगा ही । अथवा सिद्धान्तमय बुद्ध करना अव्यक्तित है । अर्जुनके मयमें यह संका उठी जिसका उत्तर देना अन्विष्टा आत्मन्यक है । यह उत्तर देवैके किये ही योगमार्ग अथवा योगमार्गका विचार करना अन्विष्टा आत्मन्यक हुआ । अथवा यह विचार यहाँ अन्विष्टा किया जाता है—

॥ (वि नी)

जिस प्रकार 'सांख्य-बुद्धि' का अर्थ कर्मिक अथवा सांख्य मय ही केवक नहीं, कभी प्रकार योग-बुद्धि का अर्थ भी पञ्चमहि महापुत्रिका योग ही केवक नहीं । अथवा यहाँमें वे दोनों कर्म विवेचनार्थक अर्थमें प्रयुक्त किये गये हैं । वाचक इस व्यापक अर्थको अच्छी प्रकार समझ रखें । यहाँ योग बुद्धि का अर्थ विराट्कर्मक अथवा अन्विष्टा करनेवाली मति है । इसी व्यापक अर्थ 'योग' का अर्थ कर्मकृतका (म नी ३५) और अन्विष्टा (म नी ३५८) कह कहा जायगा । अथवा यहाँमें योग अथवा अर्थ कर्मकर्मव्यवसाय और सिद्धि अथवा सिद्धि विवेचनमें समझा है । प्रत्येक कर्म योग रीतिसे होवैके किये कुशलका और उत्तरदा अथवा अथवा । यहाँ इसीका नाम योग-बुद्धि है । यह पञ्चमहि महापुत्रिका कहा योग नहीं है यह वैयर्थ्य कर्म योग है और इसीकी अथवा यहाँमें अर्थ निष्काम कर्म योग-वाचक कहा है । वाचकवैयर्थ्य सिद्धान्त कहा है कि—

तेन व्यक्तेन भूत्वाया मा पृथः कस्यस्विद्वनम् ॥३॥

कुर्वन्निवेह कर्माणि मिश्रीविषेकधर्त सता ।

एवं एवमिमांशोऽस्ति न कर्म विष्यते नरे ॥३॥

(वा पठ ७, ईष ७ १-२)

(१) अथः एव देकर योग कर (२) मय कर्मका

(३) अथः एव विषयक है ? (४) ऐति (निष्काम)

कर्म करते हुए भी सर्व जीवैकी इच्छा कर (५) यहाँ एक

मार्ग है बुद्धा मार्ग नहीं है । (६) इन प्रकार (किना

हुवा निष्काम) कर्म कर्ताको अव्यक्तित नहीं करता ।

यह वैयर्थ्य निष्काम कर्म-योग है इसीका विचार यहाँ अथवा यहाँमें किया जायगा । इस व्यापक वैयर्थ्य कर्म-मार्गका

वायुजक योग एक छोटासा भाग है। यद्यपि योग अष्ट
शोभो रक्षावैरर मनुष्य होता है तथापि उसका आशय
प्रकृत्यानुसार मित्र मित्र है। पादक भागे ऐवंगे कि पूर्वोक्त
वैदिक कर्म-योगका हो भागवह्रीयाका विष्णुय कर्म-योग
विरदार है। कष्टक काकर हाव मावस वाचवीव
कम करना ही योगाद्वि है। इसका योगाद्वि कहिये
अथवा उद्योगाद्वि कहिये, इसको विष्णुय कर्मयुधि
(गीता) अथवा अष्टम कर्मयुधि (वा मनु १११)
भी कह सकते हैं। इस रीतिसे कर्मका व्यवहार दूर किया
जा सकता है। इस विषयमें गीताके अन्तमें साव देवके
उपदेशकी पुनरा कीजिये—

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मफलं प्रहास्यसि ।

(म गी २।१९)

ययं स्यसि माययतोऽस्ति न कर्म लिप्यसे मेरे ॥

(वा मनु १।१९)

इस बुद्धिसे पुन्र होनेपर कर्मफलका नहीं होता।

यही भाग है दूसरा नहीं। इस प्रकार कर्म फलजनकारक
नहीं होता। ' ये दोनों कथन किये मरक हैं वह देखिये।
इसकी पुनरासे शोभोका एक ही प्रकारके कर्ममार्गका उपदेश
करना बर्जित है वह बात इस विचारलसे सिद्ध होगी।

मान किया जाय कि वह विष्णुय कर्मयोग केन्द्र है और
इसके अनुसार कर्म करनेसे कर्मका फलका नहीं होता। इसका
आवनेपर भी इसमें तीन अक्षय आती है। वे अक्षय इस
प्रकार हैं—

(१) यदि निर्धन कर्म मार्ग किया और उसके समस्त
शोभेसे पूर्व ही उस कर्मकी मनु हूँ तो वह अपूर्ण कर्म
निष्फल होता वा नहीं ?

(२) बीचमें दिव्य आवेग कर्मका परिणाम विचारित
की नहीं आता ? या—

(३) शोभाका कम हुआ और आगे व हो गया तो
कर्मसे क्या होगा ?

ये तीन अक्षय दाएव कर्मकर्ताके मरने परलक होती
हैं। अन्तमें अन्तमें भी व कीन्ती अक्षय दाएव हूँ हूँ हूँ
विष्णुय कायेके कर्म अक्षय दाएव है—

हृद आत्मिकमनायाः न अस्ति । (म गी १।१७)

यहां आरंभ किये हुए कर्मका बात नहीं होता है।
इस मार्गमें रहते हुए, इस मार्गके मुख्य विषयमें अनुष्ठान
को लोग कर्म करते हैं, उनके आरंभ किये हुए कर्मका बात
नहीं होता है। जिससे जो कर्म विष्णुय आरंभ किया होता
है उसका कर्मका कर्म उसके कर्मकेममें रहता है। मान
कीजिये कि एक मनुष्य कर्मयोगके अनुसार कुछ कर्म करते
हुए मर गया तो भी वह किया हुआ कर्म कर्मका ही अक्षय
कर्मसे उसके साथ रहता है। वेद भी यही बात कहता है।
देखिये—

तस्मिन्मरणो मातरिन्वा द्याति ॥ (वा य ३।१७)

कर्मका मनु ३।१७। हृद ३।१७)

(मातरि-वा) माताके गर्भमें रहनेवाला मरणपर
पुनरुत्पन्न मात्रा कायेवाका जीव (तस्मिन्) उस अन्तर्गतमें
(मया द्याति) उस कर्मको जाग करता है। यदि
हृद जीवकर दूसरा हृद जाग करनेकी ठेकाहीं कया हुआ
जीव दूसरी माताके गर्भमें रहता है। उस समयमें भी उसके
पूर्वजन्मके सब कर्म परमेश्वरके अक्षय विषयमें अनुसार
उसी अन्तर्गतमें रहते हैं। कोई मनुष्य जान सार्वकर्मिक
कुछ कार्य करता है रात्रिमें या जागता है और कर्म सवेरे
उठकर पुनः कर्मका अपूर्ण कार्य आगे पूर्व करने लगता है।
रात्रिका समय गच्छीव होयेसे पृथग्निष्ठा किया कार्य नहीं
होता, इसी प्रकार कार्य मनुष्य इस जन्ममें कुछ कार्य
करता है, रात्रिमें गच्छाति जाती है, उस समय वह महा
निद्रामें लो जाता है। जब जाग-निर्माणका दिन शुरू होता
है उस समयको जाग जाती है और वह पूर्वजन्मका अपूर्ण
कार्य जाग करके समाप्त करता है। शोभो रक्षावैरर रात्रिकी
अन्तर्गतमें मेव है कर्मकी अपरिचितिमें मेव नहीं है। पादकों
का यही अक्षय रक्षवा चाहिये कि जाने कहे अन्तर्गतमें नहीं
विषय निर आता है—

हे मनुष्य ! तुम लोगोका जाग न हूँ जोकमें होता
है और न पशुकोकमें। अक्षयमात्रापर जायेवाकेकी कर्म
हूँनि नहीं होती। इस योगमात्रामें अपर जाग कायेवाके
जाग पवित्र पवित्रे वा जाग केने है अथवा केने जागवा
योगीके ही कुछमें जाग केने हैं। यहां कर्मकी पूर्वजन्मके
पुनरुत्पन्न विचारों हैं और यहीमे वह अक्षय केने जाने
जाग करने हैं। पूर्व अन्तर्गतके जाग कर्मकी मनुष्य कर्म

मार्गमें होती है। इस प्रकार वृत्तवित्त होकर प्रवृत्त करने-
वाला योगी अनेक जन्मोंसे कुछ बचकर परम गतिको प्राप्त
करता है। (म गीता ६।४ - ४५)

इस रीतिसे मत्स्यश्रीगामें जागे नहीं विषय विरताके
कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि, मार्गम किया हुआ कर्म
बढ़ नहीं होता। इस बातकी संतुष्टि हम अपने बहुर भी
देखते हैं। जो पूर्व जातमें योग्य रीतिसे ब्रह्मचर्यपाठनपूर्वक
विद्याभ्यास करते हैं, इनको उत्तर जातमें उत्तम सुखका
ज्ञान होता है। वहीं इस बातका विचार करना योग्य है कि
पूर्व जातमें सतीरके कार्य करनेवाले अनुवीच भिन्न होते हैं
और उत्तर जातमें सुख योग्येवाले अनुवीच भिन्न होते हैं।
इसी प्रकार जिस राष्ट्रके लोग अपने प्रयाससे अपना स्वतंत्र
स्वराज्य अपने अधीन रखते हैं, उनकी जागेकी संतान भी
उस स्वतंत्रताका अनुभव करने लगी रहती है। वहां राष्ट्रको
एक व्यक्ति (इन्ध) मानकर पूर्व समयके राष्ट्र-पुत्रका कार्य
व्यवहारात्मक राष्ट्र पुत्रको प्राप्त होता है कार्य करनेवालेके
नर जानेपर भी वह कार्य स्थिर रहकर उत्तराधिकारियोंको
सुल देता रहता है, इसी ही बात वैदिकी चाहिये। यहाँ
क्षीर और राष्ट्रकी समता पादक देखें। अर्थात् किया हुआ
कार्य बलकर कष्टसे रहता है उसका नाश नहीं होता। जब
इसी संकल्पका विचार करने लगे हैं—

प्रत्यवाया न विद्यते। (म गी २।४)

इसमें विघ्न नहीं होते। अर्थात् सत्कर्म करने रहनेसे
विघ्न दूर होते जाते हैं। अर्थात् सत्य अस्तेय आदि
योग-मार्गके अनुसार कर्म करते रहनेसे विघ्न स्वयं दूर होते
जाते हैं इस मनुष्यका अधिकार जगत्का पुण्यफल
बढ़ता जाता है जबका विघ्न जानेसे इसके फलें हुए सत्क-
र्मका विचार फल भी नहीं जाता है।

सत्कर्ममें रत रहनेवाले धन्यके कार्यमें मार्गमें दुर्जन जब
हम करते हैं और कभी कभी ऐसा भी होता है कि इसका
कार्यके प्रतिक्रम व्यवस्था होता जाता है इसलिये इसको
उपद्रव देनेवाले दुर्जनकी संज्ञा कराधिर बहता भी जाती
है। वास्तु इसमें उप अर्थात् वह ग्रह करनेकी शक्ति वह
जानेके कारण हम दुर्जनके कहे फलें विघ्न इसके सत्कर्मके
प्रतिक्रममें प्रतिबंधक नहीं होते। इत्यादी ही नहीं अस्तित्व

इस सत्यवचनका यह किना जानेपर भी उसका मार्गम किया
हुआ प्रवृत्तवित्त कर्म जगत्में फैलता ही जाता है। अर्थात् जो
प्रतिबंध वृत्तोंको बंधावट करनेवाले होते हैं वे ही इस सत्
पुत्रका कार्य फैलानेवाले अर्थात् इसके कार्यके पोषक होते
हैं। जगत् व विघ्न इसके फलें विघ्न नहीं होते। जब
तीसरी शताब्दी विषयमें देखिये—

स्वस्वमप्यस्य धर्मस्य चापते महतो मयात्।

(म गी २।४०)

इस वचनका बोधना भी पाठन किया जाय तो वह बड़े
मनसे बचाता है। ' सत्कर्मका पाठन बोधा भी हुआ
तो भी उससे बहुतसे काम होते हैं। अर्थात् सत्य अस्तेय
ब्रह्मचर्य अतिप्रबल विचारों से उत्पन्न उप स्वाध्याय ईश्वर
भाक्ति आदि अनेक सत्कर्म हैं और इनके योगसे अनेक स्व
बहारांमें फलें हुए कर्म सत्कर्म ही होते हैं। इस सत्कर्मयोग
कय मानव धर्मका बोधा भी आचारन किया जाय तो वह
बढ़ सबसे बचाता है। उदाहरणके फलें एक मनुष्य
बहुत जातुक्त बसस जोड़ता है परंतु यदि किसी समयसे
प्रतिपक्षपूर्वक उसका प्रवृत्त करने का जाय तो उसका संमान
होने जाता है और जगत् इसके पूर्व शीतोंकी शूक जाती
है और वह उस विषयपर रत रहा तो उसकी बंदगीय
मानने कमती है। इसी प्रकार अन्धमन्य सहाचारके विषयमें
जायना योग्य है। इसलिये ही कहा है कि ' इस धर्मका
बोधा भी आचारन किया जाय तो बड़े मनसे बचाता होता
है। जगत् सब कोनोंकी दृष्टि है कि, वे इस धर्मयोगके
मार्गपर जा और और अपने आपकी कृत्याय करें।

कई लोग नहीं चाहते कि, इस मार्गसे जानेके फलें जो
अनेकलेख साधन आवश्यक होंगे वे हमारे पास न होनेपर
हम कैसे इस मार्गसे चक सकेगें ? ' इस वचनके उत्तरमें फलें
हम है कि वहाँ तो बहुत साधनोंकी आवश्यकता ही नहीं
है, केवल व्यवसायात्मिका एकमात्र बुद्धि बड़ी आवश्यक है—
व्यवसायात्मिका बुद्धिके कह कुटनमन्य।

(म गी २।४१)

इस सत्कर्मयोगके मार्गमें बहुत होनेवाले मनुष्यके फलें
केवल एकमात्र व्यवसायात्मिका बुद्धि चाहिये। वह बुद्धि
जिसके पास होगी वह इस मार्गपर चक सकेगा। व्यव
सायात्मिका बुद्धिका कार्य है प्रवृत्त करनेकी निश्चारा

(१६) भोगवादिषोंकी स्थिति ।

यामिमां पुष्टितां वाच प्रवदन्त्यविपश्चित् । वेदवाद्भरतां पार्थ नान्यदस्तीति वादिन ॥ ४२ ॥
कामात्मानं स्वर्गपरां जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषमहुतां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्वया— हे पार्थ ! वेदवाद्भरतां जन्मत् न जति इति वादिनः अविपश्चितः, कामात्मानः स्वर्गपराः भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषमहुतां जन्मकर्मफलप्रदां वा पुष्टितां वाचं प्रवदन्ति; तथा अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः व्यवसायात्मिका (व्युत्था) समाधौ न विधीयते ॥ ४२-४४ ॥

हे अर्जुन ! वेदके विषयमें वादविवाद करनेमें बड़ी तकि रखनेवाले और इस (वादविवाद) को छोड़ कर दूसरा कुछ (भी कर्तव्य) नहीं है ऐसा कहनेवाले जगामी भोग स्वार्थकी कामना करते हुए, स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानकर, भोग और ऐश्वर्य प्राप्तिकी विशेष क्रियामोंका वर्णन ही जिसमें बहुत है और जिससे कबल जन्ममरणरूप कर्मफल ही प्राप्त होते हैं ऐसी प्रफुल्लित वाणी योनाते हैं उससे जिनका चित्त आकर्षित होता है उन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हुए मनुष्योंकी बुद्धि (कमी) व्यवसायात्मिक होकर एकतामें स्थिर नहीं होती ॥ ४२-४४ ॥

भाषा— केवल वादविवाद करनेवाले कुछ भी कर्तव्य न करनेवाले स्वार्थी भोगी ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले जगामी भोगोंके मोहक आनन्दसे जिनकी प्रति ऐश्वर्यभोगोंमें आसक्त होती है उनकी बुद्धि किसी लक्ष्यमें एकत्र होकर स्थिर नहीं होती बल्कि चञ्चल रहती है ॥ ४२-४४ ॥

रही । कुछ कर्मका नाममात्र वा अन्वय छे, ऐसी जबैक चञ्चल वाचनमें समझे मनमें लड़ी होने लगीं । इससे मन में जबैक विचार और अनेक कल्पनाएँ उठने लगीं, किसी विचारपर मन स्थिर न रहा । अतएव भीकृष्ण उल्लेख सहाकरनी के परम्पु डबकर भी उठका उठक विचार उठ समझ न रहा । अर्थात् जो बहुत पढ़िके व्यवसायात्मिका बुद्धिसे कुछ वा बड़ी अनुका उपदेश अवल करनेके पन्नाएँ व्यवसायी बन गया ! ! अमु सदा ही जिस राष्ट्रके व्यवसायी भोगोंके अवलवसायी चञ्चल अमल सगवाह और आनन्दमें भिन्न बनाना पाते हैं । जता वह वर्णन संपन्न । अर्थात्का है जत कामात्मता जब चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्योंका भी है ।

व्यवसायी चञ्चल प्रकृतिवाले मनुष्य सुनकी कर्मकाये केसे प्रतिविष्टते भरकते रहत हैं इसका वर्णन जगवाह इस प्रकार करते हैं—

(४२-४४) भोगवाद और स्वभावाद के दो वाद अवधि काकरी प्रचलित हैं । वैदिक जम आगवाद का सम्बोध जगवाहों दिया है इसलिये ' (स्पष्टेन मुञ्जीयाः । बह ४ १३) ' अतएव वैदिक बहवेषका भोग कर वह वेदने जाडा ही है । जब बुद्धिके भोग कहते हैं कि जीविन रहनेतक मुक्तम भोग करो । इस प्रकार वे दो वाद जगवाहों प्रचलित हैं । हममें भी भोगवाद बहुप्रसिद्धोंमें अन्वयिद्ध है और पाषाणी मुसिवाके कोठोंमें भी चला हुआ है । शगवाद जगवाहों प्रचलित करना और मनुष्योंके जीवनमें इसको बलका वैदिक वर्णका बलीक है । सगवाहीवा भी बहा इस वैदिक सिद्धान्तका अन्तर करती प्रविष्ट होती है और इसका निराद वर्णन जागे भी अनेकाका है । हम बरहैयके प्रहल करनेकी पाठकोंकी ठेकानी करमिके बरहैयके भोगवादिषोंकी चञ्चल बुद्धिका जगवाह विष्ट हव कोठोंमें लींचा है । हम कोठोंमें जिन भोगमुसिवाओंका वर्णन है उनका जलज जम जगवाह करते हैं—

१ विपश्चित् = (न-वि-पश् चित् = न विवेचन परवर्धितपते) = जो विवेक शीतले सेका है और ऐसे हुए विषयपर अच्छी प्रकार विचार करता है उसको (विपश्चित्) ज्ञानी कहते हैं और जो किसी विषयको विवेक इच्छित सेका ही नहीं और ऐसे हुए विषयपर जो कमी विचार नहीं करता, उसको (न विपश्चित्) अज्ञानी कहते हैं । मनुष्यका यत्न है कि वह विषयोंको देखे और विचार करे । जो मनुष्य इस धर्मका पालन नहीं करता वह जिहास पछुड़ी है, क्योंकि पछु ही नाच सुके रहनेपर जो देखते नहीं और कमी किसीका विचार भी नहीं करते । जो मनुष्य न देखने क्षार न सोचनेके कारण पछुचद आचरण करता है और पछुके समाज ही आहार भिक्षा और मनुष्यों ही रात रहता है उसको मनुष्य किस प्रकार कहा जा सकता है ? वह यदि मनुष्य है तो बह्मचोरिका मान्य है । इसी कारण वह भोगवादी होता है ।

२ देहवाद्गता = पूर्णतः अज्ञानी मनुष्य देहका चर करनेमें बरा कतुर होता है । देहविषयपर साक्षात् करनेमें बरा परिणत है । देहके सबके सब उसे विद्वान् ज्ञात हैं देहा बसके समक होता है । आत्मोपान्ते देहवचन न पढ़नेकी अवस्थामें भी जो कहता रहता है कि मैंने देहके लक्षणको जानाव ज्ञाना है । स्वर्ग वैदिक ज्ञानसे अवगमिष्ठ होवेपर भी जिसको वैदिक सिद्धान्त समझनेका समर्थ होता है । वह तो आत्मीयों से भी सबका अज्ञानी रहता है इनके अज्ञानकी कोई छिमा ही नहीं है ।

३ न अमृतं अस्ति इति वादी = वैदिक विद्वान् जो पर साक्षात् करने और अहमर्मवर्गके आदिष्ट पुत्रिधाय करनेके अतिरिक्त अपने जिह कोई विवेक कर्तव्य है देहा वह कर्मही मानता ही नहीं । देहका आनुविचार करनेसे ही अविमय सिद्धि प्राप्त मिलेगी जन्मका सब प्राप्तिम सिद्धिवां सुखे प्राप्त ही है मैं मुक्तिको अवस्था की जानका हूं सकलका ही देखे हुए प्रमाण वर्जन करता हूं सकलकी पूर्वस्थिति सुखे प्राप्त है सुखिने प्रमाण क्या होगा वह भी सुखे प्राप्त है परमेश्वरके विषयमें सब ज्ञातव्य मैं जानता हूं इस प्रकार वह सर्वत्र छेती चले कहता जाता है और अपने बह्मारे जिहने आनन्दक कर्तव्य तक नहीं करता । देहवर्ग के विद्वान् चोत्रनेसे ही मानव-जातिका बह्मर होगा

देह सिद्धान्तके आनन्दके पञ्चाक्ष और कुछ कर्तव्य मनुष्यके जिहने अवसिष्ठ नहीं रहता ऐसा वह मानता है । इस प्रकार इसका अज्ञान मान्यक होता है ।

४ कामात्मा = (काम+आत्मा) = काम आर्वाय विषय भोगकी इच्छा ही जिसकी अवस्था है जो स्वमान्ते भोग भोगमें ही उत्तर रहता है कामभोगोंको अनेक दूसरा जिसकी कुछ सूझता नहीं है । अज्ञानी लोगोंके आनन्दकी बातें तो सुसती नहीं है अतः वे क्षीरार्थे पाशनी कर्ममें ही उत्तर रहते हैं और गिरते जाते हैं ।

५ स्वर्गोपरता = स्वर्गके भोग प्राप्त करना ही भेद सुखार्थ है देहा जिसका विचार विविध हुआ है स्वर्गके भोग प्राप्त करनेके जिहने नहीं जो कुछ करना हो वह करता रहता है । उसके विद्वान् अन्त कुछ भी नहीं करता । बह्मकी सामयिक राक्षसीय अवस्था वैयक्तिक सुखिचित् जिहने अज्ञान आनन्दक बातें भी करता नहीं इस कारण वह हर्षोत्पत्ते कीवर्गमें कर्मव्य अवस्थाको प्राप्त होता है इस कारण हर्षोत्पत्ते सुखसे वह वञ्चित रहता है । परलोकका सुख तो अनिश्चित ही है अतः वह न इस लोकका और न ही परलोकका रहता है । इसकी वता नहीं है कि स्वर्गके कामभोगोंकी कल्पना अवस्था अन्त यत्नोकी कल्पना बह्मि योयोके समान ही अवस्थितकरक है । वैदिक विषयभोग और स्वर्गके विषयभोग दोनों ही भोग होनेके अन्त होव-मान ही हैं । अतः आत्मोपान्ति आहनेवाले मनुष्यको इन दोनों योयोवरकी आसक्ति छोड़ना उचित है । अतः योगदर्शनके आनन्दमें अवस्था अन्तमुनि इस प्रकार कहते हैं—

श्रियोऽप्यपान्तमैश्वर्यमिति बह्विषये विरक्तस्य स्वर्गविषयमकृतिस्तत्त्वप्राप्तावाभुभाविकविषये विरक्तस्य विरक्तान्धियविषयसंयमयोगोऽपि विरक्तस्य विषयदोषवर्जिता... यथोक्तव्यसंज्ञा विरक्तव-
म् ॥ (को २ ११५)

जिहो अज्ञान देहवर्ग आदि पद विरक्त हैं स्वर्गविषयोंका बह्वि विषय है । इन दोनों विषयभोगोंसे विरक्त होना और अपने इच्छितोक्त संयम करना वैरक्त कहलाता है । वह योगमार्गके जिहने अन्त आनन्दक है । जो मनुष्य इस योगमार्गपर चलता और बह्मकी वञ्चित मात्र करता

बाह्ये हैं उनको अचित है कि वे इस लोकके योगी और स्वर्गलोकके भोगके शिवदत्त अपने मनका लयम रखें, भोगोंपर आसक्त न हों। भोगोंमें न पडें। जो भोगका लयम में पडते हैं, वे योगमार्गकी उन्नति प्राप्त करनेमें असमर्थ होते हैं।

६ भोगैश्वर्यगतिं प्रति जन्मकर्मफलप्रदां क्रिया विशेषबहुलां पुष्पितां वार्षं प्रवृत्तिम् = भोग और ऐश्वर्यकी प्रप्ति करनेके लिये जन्ममरणार्थ एक दुबेबाजी विविध क्रियाएँ करते हैं और इन क्रियाओंका समर्थन करने के लिये बड़ा कंचाचौरा जन्ममरणशुद्ध लोभीका व्यवसाय करते हैं। अपने भावमें लम्बे लम्बे भोगोंको अपने अंतर्गत्त में बाधित करते हैं और इस प्रकार अपना अपना भोग प्रदान मत समझते केकाट हैं। अर्थात् वे स्वयं जन्म होते हुए भी दूसरे जन्मोंको अपने लयम बना करते हैं और दोनो पतित होते हैं।

७ तथा मपहतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः प्यवसायात्मिका समाधौ न विधीयते = एतत्काल भोगके लोभीके वस्तुत्वसे उनके मनमें कई कुछ भोग बाधित होते हैं। वे लोक प्रतिदिन भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त होते हैं और अतिवसन भोगमें कंठते जाते हैं। भोगके अतिशयनसे रोगी होते हैं और विविध दुःख भोगते हैं। इस प्रकारके मूर्खोंके अनुसारकी हुए अतिस्वर्गकी बुद्धि अन्तर्गत और अत्यन्त विचार करनेमें असमर्थ होती है, किसी एक व्यवसायमें रिवर नहीं होती और किसी स्थान पर एकत्र भी नहीं होती। इनकी बुद्धि सदा बल्लक होती है और बल्लकप्राप्ति के कारण वे कुछ भी कार्य अल्प रीतिसे समझ करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

योगवृत्तिवाके भोग इस कारण सब प्रकारकी वृत्ति प्राप्त करनेके लिये असमर्थ हो जाते हैं। इस कारण उनका जीवन मिरबक हो जाता है। ऐसे जीवनसे क्या लाभ है। मनुष्य कोकिन्हीं जन्म केलेके दुर्गतिसे क्या कमाया ? बल्लकसे अपनी अचर्या बच है देवा इन्होंने किस रीतिसे छिद्र किया ? जो मनुष्य बल्लकचित्त है। जीवित रहते हैं उनके जीवनको विचार है।

इन श्लोकोंमें वेदवादात्त यह है इसको दृक्नेके कई

योग प्राप्त हैं कि इसी सीमान वेदके वर्मका जडन किया है। परंतु यह मूक है। क्योंकि इसी भगवद्गीतामें जन्मव्रत कहा है कि—

वेदानां सामवेदोऽक्षिः । (म गी १ । १२२)

येवेका सवेरहमेव वेदाः । (म गी १५ । १५)

वेदविदेव आहम् । (म गी १५ । १५)

(कई) ऋक्सामयजुरेव च । (म गी १ । १०)

वेदोंमें मैं सामव्रत हूँ। सब वेदोंसे मेरा (जन्माका) ज्ञान होता है। मैं ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद हूँ।

यदि भगवद्गीताकारको वेदोंका जडन असीद्ध होता तो वही प्रथम वेदके कथन कदापि न जाते। इन कथनोंसे स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता-जडन वेदोंको परम वर्मका प्रसक्त मानता है। अन्तिम गुण ज्ञान देनेवाका वेद है यही भगवद्गीताका सिद्धांत है। इससे स्पष्ट है कि वहां 'वेदवादात्त' परसे वैदिक सिद्धांतोंका केवल आधुनिक वादविवाद और आचार्य करनेवाकोंका ही जडन किया है, न कि वैदिक वर्मका। जो वेदवादा करते हैं परन्तु वैदिक उपदेशके अनुसार आचार्य नहीं करते उनकी मित्रा यहां की है और नष्ट योग ही है। उपनिषद्में भी कहा है ऋग्वेदादि चारों वेद अपना विद्या है और वरा विद्या दूसरी है, जिससे एक ज्ञान होता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि ऋग्वेदादि वेदोंमें अत्यधिक ज्ञान किया है वह एक ज्ञान एक योग्य अर्थ यह विचारतम होगा। ज्ञान अर्थ शब्द भोजनका वाचक है, परन्तु जिसने अर्थ स्पष्ट देखा न हो और जाना न हो उसको अर्थ शब्द वाचकमानसे क्या काम होगा ? ज्ञान जो विद्या केवल शब्दमान है वह अपना अर्थात् निचकी विद्या है, परन्तु जो विद्या अन्तःप्रवर्तित है वही ज्ञेय (वरा) विद्या है। इसी अर्थसे वहां वेदका केवल वादविवाद करनेवाकोंकी मित्रा की है। यह मित्रा वेदके उपदेशके अनुसार आचार्य करनेवाकोंकी स्तुति करनेके लिये ही है। केवल शब्दवाचक माननेवाकोंकी मित्रा तो स्वयं वेद ही कर रहा है।

अन्तर्गत बाह्ये परसे श्वात्म्यसिद्धेवा यदि सिद्धे मिलेयुः। यस्तथा वेदं किमुवा करिष्यति य इत्थं शिष्युष्य इमे समासते ॥ (म १ । १११ । १२५)

(१७) इन्द्रादीन् होना ।

त्रैगुण्यविषया वदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सप्सुतोदके । तावान्सर्वेषु वदेषु ब्राह्मणस्य विज्ञानतः ॥ ४६ ॥

भावार्थ— इ भर्तुन । वेदाः त्रैगुण्यविषयाः । एव निस्त्रैगुण्यः नित्यसत्त्वस्थः निर्द्वन्द्वः निर्योगक्षेमः अहमस्मिन् भव ॥ ४५ ॥
यावान् कर्म उदपाने (तावत्) सर्वतः सप्सुतोदके (सवति) तया यावान् कर्म (सर्वेषु) सर्वेषु वेदेषु तावान् विज्ञानतः ब्राह्मण
तः (सवति) ॥ ४६ ॥

हे भर्तुन ! वेद तीन गुणोंके विषयोंसे युक्त हैं । इससे तू तीनों गुणोंके परे भर्ता तू नित्य सत्त्वगुणों
स्थित इन्द्रोंसे मुक्त यस्तुष्टी प्राप्ति और इसकी रक्षाका विचार न करनेवाला और प्रज्ञास आत्मवत्के
युक्त हो ॥ ४५ ॥ जो कार्य छोटे कुंयसे होते हैं, वे सब कार्य जलसे परिपूर्ण बड़े सरोवरसे सहजहीमें
पनते हैं । इसी तरह जो सपूर्ण वेदोंमें है, वह सब ब्रह्म ज्ञानेवाके विशेष ज्ञानीको सहजहीमें प्राप्त होता
है ॥ ४६ ॥

भावार्थ— सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं । इन तीनों गुणोंका वर्जन वेदोंमें है । वह वैदिक ज्ञान प्राप्त कर तू तीन गुणोंके
परे भर्ता तू सब सत्त्वगुणसे मुक्त, इन्द्रोंसे दूर योगसमूहके संस्कारों में बँधनेवाला और जेष्ठ आत्मिक कष्टसे मुक्त बन ।
सत्त्वर्षे तू बड़ा बन । क्योंकि जो कार्य छोटे जलसमूहसे बनते हैं वे सरोवरसे स्वयं बन जाते हैं । इसी रीतिसे
वैदिक उपदेशसे जो काम होगा वह जो ब्रह्मको ज्ञानेवाके ज्ञानसुगम की क्षमतासे सहजहीमें प्राप्त हो सकता है ॥ ४५-४६ ॥

उत त्वाः पश्यस्य बर्हो पाचमुत त्वाः शृण्वस्य
शृणोत्येवाम् । उतो त्वस्यै तन्म वि सखे ज्ञाविथ
पत्य उशती सुवाताः ॥ (अविद १ । १०११)

वेदमंत्रोंके जलोंमें सब वेदोंकी छत्रिका निपात
करती है । जो इन ज्ञानका बहुतबलसे नहीं जानता उसको
वेदमंत्रसे क्या काम होगा । परन्तु जिसको वह सब ज्ञान
प्राप्त होता है वही उच्च स्वरूपपर विद्यमान है । कई अनुष्ठान
देने होते हैं कि प्रथम वेदोंमें वेदों में वेदों में वेदों में
ही वनका देखना होता है । वह लोग प्रवराजको सुनते हैं,
परन्तु वनका ज्ञान न ज्ञान करनेके समान ही वर्जन होता
है । (वेदों को लोग प्रथम वेदोंके ज्ञानका सुनकर ज्ञानका
प्राप्त करने लगते हैं) वनके किसे इस विधाके ज्ञाना अनुष्ठान
मुक्त ज्ञान होता है ज्ञान कि गुरुश्रीको उच्चतम परिजना
कीसे ज्ञान होता है ।

इन मंत्रोंमें बर्हो स्वयं वेद न ज्ञानेवाको, परन्तु छात्र
वाद ज्ञानेवाको वस्तु ही निष्ठा की है । वही ज्ञान
जानकारीके इन तीन श्रोत्रोंमें करी है । अतः वह निष्ठा
वेदकी ज्ञाना करनेके लिये ही है ।

भर्तुन भी वही वही ज्ञानकी बातें बोले रहा या वंश
स्वकर्तव्य करनेसे ज्ञान रहा न । अतः इसमें ब्रह्मा कि
कि वह छात्रवाद मुक्त कामका नहीं है । इससे तो वही
जबबलि होती है, अतः इस छात्रवादमें यदि न पके और
जो हो सकता है, अपना कर्तव्य दृष्टिपूर्वक करो । ' ज्ञानको
देना है करना चाहिये—

(४५-४६) एतौक भोग्यादिवर्गोंकी चंचल इच्छा दूर
करके इन्द्रादीन् बलवैराग्य उपदेश अव करते हैं । इन्द्रादीन्
और गुणादीन् स्थितिका परिचय देनेके लिये गुण कितने हैं
और इन्द्र कहा है इसका ज्ञान प्रथम होना चाहिये । गुण
तीन हैं— सत्त्व रज और तम । इन तीनों गुणोंका वर्जन
वेदोंमें है । इन वर्जनका सारांश यह है—

सत्त्व	रजः	तमः
देवपूजा	राक्षसपूजा	मेघपूजा
स्निग्ध भोजन	कष्ट भोजन	अस्निग्ध भोजन
अस्निग्धस्वरता	शान्तिकता	अज्ञानीता
देवकाकाचित्—	मानुषकारकी	देवकाकेके अयोग्यता
राज	इच्छासे राज	

ये मन्त्र पद्यमेंते जमर और सर्वत्र पतियुक्त छन्द जमरामे
वस्तुत्वका बोध कहे होता है और मानो वह मन्त्र जगत्से
जमर जगत्में प्रविष्ट होता है ।

इसके आगे छन्द जमरामा मन्त्र ज्येष्ठ मन्त्र, स्वायु वादि
देवताके मन्त्र पद्यता है और इसके अन्त्यवचने वसन्ते जमर
सत्यगुणका प्रकाश होता है । इसके बाद वसन्तो रजोगुण
और तमोगुणके होने और सत्यगुणका महत्त्व विवक्षित होता
है । तब वह विमल सत्यगुणमें स्थिर रहनेका वचन करता है ।

वेदमें इस प्रकार सत्य रज और तमोगुणोंका वर्णन है
और इन वेदवर्णनों के पद्यमें मनुष्य तमोगुणमें उपर चढ़कर
क्रमपूर्वक सत्यगुणमें आकर स्थिर रहता है । वेदवर्णनोंके
पद्यात्मक अन्त्यवचने इस प्रकार मनुष्य तमोगुणमें सत्य
गुणमें प्रवेश करता है ।

इसविषे नीचाके इस श्लोकमें कहा है कि ' (वैश्वदेवि
यथा वेदाः) वेद तीन गुणोंके विचलोंका वर्णन करते हैं,
परंतु इसके अन्त्यवचने मनुष्य (विश्वगुणः सः) तीन
गुणोंसे परे पहुँचनेका वचन करे । तीन गुणोंका वर्णन वेदमें
है व तीनों गुणोंके परे हो वह वर्णन पद्यमें ही बहुत कोय
देना स्थिर करते हैं कि वेदमार्गको जोड़ जुड़का उपदेश
गीता करती है । परंतु ऐसा याव नीचाका कदापि नहीं
है [इस विषयमें गीताके ३१-३३ श्लोकोंकी त्रिप्यमीमें
विशेष रीतिसे कहा है वह पाठक अवश्य देखें] नहीं नीचाका
भाष्य नहीं है कि वेदका तीन गुणोंका वर्णन पद्यकर ही
मनुष्य पद्यके तमोगुण छोड़ता है पञ्चाय रजोगुण आगता
है और जगत्में केवल कहेके सत्यगुणमें स्थिर रहता है ।
त्रिगुणाधीन होनेका अर्थ सत्य रज और तम गुणोंको छोड़ना
नहीं है केवल सत्यगुणका अपनैमें वस्तुत्व कायेका ही नाम
गुणाधीन होना है । अवतक तमोगुण और रजोगुण जग
में हैं रहते हैं तबतक सत्यगुण भी इसी दूषित होता है
रज और तमा गुणका बोधका अर्थ होनेपर भी अन्तरका
सत्यगुण योग्य रीतिसे प्रकाशित नहीं हो पाता । जैसे छन्द
वर्णनका बोध भी मन्त्र काग माप को वसन्ती छन्दता वह
हा जमी है वसी मन्त्र छन्द सत्यगुणके साथ मोटे भी
रजोगुण वा तमोगुण रहे तो वे अर्थ वस सत्यगुणमें अर्थ
मन्त्राधीन ही तब केवले नहीं है । वस तमोगुण और
रजोगुण पद्यका दूर करके सत्यगुण ही अपनैमें वर्णनका

प्रकाशित होने देना चाहिये । मनुष्यकी वही वच अवस्था
है । और इसीकी गुणाधीन अवस्था कहते हैं । (अर्थ
गच्छति सत्यत्वाः । गी १४।१४) सत्यगुणी जोम उच
होते हैं ऐसा गीतामेंही कहा है । गुणाधीन होनेका वर्णन
गीतामें इस प्रकार आया है—

जहंम बोले— हे प्रभो ! इन गुणोंसे परे रहनेवचने
क्या कथन है ? वसने काचार केने होत है ? और वह इन
तीन गुणोंसे परे किसवत्त होता है ? (म नी १।११)

जीमन्नगवद् बोले— हे जहंम ! प्रकाश बहुत ही
मोह प्राप्त होते हुए भी जो दुःख नहीं मानता और पदार्थोंके
प्राप्त न होनेपर इसकी दुःखता नहीं करता वदार्थोंके समान
और स्थिर है जिसे गुण विकल्प नहीं, गुण ही अपना काम
करते हैं—वो मानकर जो स्थिर रहता है और विकल्प नहीं
जो दुःख-दुःखमें घमला रहता है स्वस्थ रहता है जिसके
देने वत्त और जोनेको समान मानता है निज वा अविज
वस्तुके मिश्रणपर दुःखता रहता है, अपनी किन्ता वा सुविधि
नितका मन समान है ऐसा बुद्धिमान, जिसके किन्
मात्र और अपमानपक्षमें ही जो मिश्रण और अनुपपन्न होनेके
प्रति समान मान रहता है और जिसके सब चारमोक्षमार्ग
विचार है वह गुणाधीन कहाया है । (म नी १४ २१-२५)

इसीका नाम विश्वगुण कहा है, इसीके तीन
गुणोंसे परे कहते हैं । छन्द सत्यगुण अपनैमें स्थिर रहनेपर
ही इस स्थिति की वाप्ति होना समझ है । इसी हेतुसे जने
(विश्व सत्य सच-विश्व सत्यगुणमें स्थिर रहा) कहा है ।
ननोकि सत्यगुणमें स्थिर रहनेसे ही वह वच अवस्था प्राप्त
हो सकती है । यदि विश्वगुण का अर्थ सरवरजम इन
तीनों गुणोंको छोड़ना होता तो इसी श्लोकमें विश्व
सत्य-सच (= विश्व अवयवमें निवास करनेवाला) वह
कल्प निर्वर्ण हो जाता । यदि विश्व सत्यगुणमें रहना वसति
के लिये आवश्यक है तो विश्वगुण का अर्थ तम और
रजोगुणों ही छोड़नेका और केवल सत्यगुणमें स्थिर
देना ही करना उचित है । प्रत्यक्ष नहीं समझें कि—

विश्वगुणः गुणाधीनः

विश्व-अर्थ सचः

इन श्लोकोंका अर्थ यह है कि सत्यगुणके अनुपपन्न होने

करना चाहिये । श्रीमच्छास्त्रार्थजीने निरन्तरगुण्य का अर्थ (निष्कामो यः) निष्काम हो अर्थात् स्वार्थकी कामना छोड़ दो ऐसा अर्थ दिया है । और निरन्तरगुण्य का अर्थ (सदा सत्त्वगुणभित्तो भव) सदा सत्त्वगुणका आश्रय कर ऐसा किया है । ये दोनों अर्थ साथ-साथ होनेसे सत्त्वगुणका त्याग दोनों स्थानमें अभीष्ट नहीं वह बात स्पष्ट हो जाती है । सत्त्वगुणका त्याग करनेसे वहाँ श्वास्त्व कुछ भी रहता नहीं है । उरुष अथवा तो सत्त्वगुणसे ही होना है अतः उसको त्यागना किसी समयमें भी इस नहीं है ।

शैशुगुण्यविषया येषां निरुद्धैशुगुण्यो मध्याह्न ।

निरन्तरगुण्यः । (गी २।७५)

यौन गुणोंका विषय वेदमें है उसको देखकर ए यौन गुणोंसे परे हो अर्थात् निरन्तरगुण्यसे मुक्त होकर रह । हम मन्ना ये कवन एक दूसरेके स्वहीकरणके छिड़े जाते हैं । निरुद्धगुण्य अर्थात् कदाचित् किसीके मनमें श्वास्त्व गुणको हट करकेका संदेह उत्पन्न न हो जाना अतः उरुष श्वेदकी मिष्टि करनेके बरेश्वसे ही आगे निरन्तरगुण्य-त्वाः वह वह उसी श्लोकमें कहा है । पाठक इस जोजना को दूखें और समझें कि सत्त्वगुणका परिचय करना ही नहीं अभीष्ट है । तत्त्वसे सत्त्वगुणी मनुष्यको ही 'गुणातीत' कहते हैं ।

मिहंशु अर्थात् सुकहुकादि इन्होंने मुक्त होना भी सत्त्वगुणी होनेके पञ्चाय ही समझ है । इससे पूर को गुणातीतके अक्षय बताते हैं, वरमें सनहुःकमुक्तः सम कोशारमकात्मनः तुम्भविषाविषः सुकविश्वामर्तस्मृति भास्वमानवोस्तुतया मिश्राविषकाः तुम्भः । (य जी ११।१७ १५) ये गुण हैं । सुक हुका मिह्री सोना विष काविष मिह्रा स्मृति मान अपमान विष शत्रु ये सत्त्व इहंशु मिह्रको मन प्रवीत होते हैं वह गुणातीत है उसीका वहाँ मिहंशु कहा है । अर्थात्—

मिहंशु हनुवाटीय गुणातीत निरन्तरगुण्य ।

ये सब शत्रु एक दूसरेका लक्ष्य रहनेवाले हैं । सत्त्व इहंशु जिसके किन्तु बराबर होते हैं वही मिहंशु है इन्होंने हनुवाटीय कहते हैं । इन्होंने वे होनाका उपाय हसी अथवा के छोट १७ १५ की दिव्यनीमें अविश विरवारसे कहा है,

पाठकको यह दिव्यनी वहाँ मुखः ब्रह्म है ।

निर्बोणक्षेम अर्थात् योगक्षेमका संसद अपने पक्षि न रहनेवाका मनुष्य हो ऐसा वहाँ कहा है । किसी पक्षार्थ की प्राप्तिका नाम 'योग' है और उसकी रक्षा करनेका नाम 'क्षेम' है । संसारमें रहनेवाले सभी मनुष्य इस योग क्षेमके संसदमें बसे रहते हैं । अर्थात् वस्तुकी प्राप्ति करने और प्राप्ति वस्तुकी रक्षा करनेके कार्यमें सत्त्व राश्रिय छोड़ रहते हैं । इसी प्राप्ति और रक्षाके कार्यके कारण मनुष्य सदा सुकहुःक और हासिकाममें फँसता है । यदि किसी मुष्टिसे वह प्राप्ति और रक्षाका संसद मनुष्यसे दूर हो जावे तो उसका हनुवाटीय होना सहज हो सकता है । हनुवाटीय होनेके किंचे भागक्षेमका श्रावण दूर होना चाहिये । योगक्षेमका अर्थ सामान्यतया संसारमुक्त है । अर्थात् निर्वाहके किंचे विन चीजोंकी आवश्यकता होती है उनका अन्तर्भाव भागक्षेममें होता है । हनुवाटीय गुणातीत और सत्त्वका हुका मनुष्य ही योगक्षेमके श्रावणसे त्रि हो सकता है ।

'आत्मवात्' होनेको इस श्लोकके अन्तमें कहा है आत्म वात् का अर्थ विशेष प्रभावित आत्मवत्तसे मुक्त । वैसा वा हरणकाभी आत्मवाका होता ही है । आत्मा न हो तो मनुष्य जबका कोई प्राणी जीवित ही नहीं रह सकता । अतः वस्तुका सभी प्राणी आत्मवात् है । परन्तु इसका वह आत्मन्य अर्थ वहाँ व्यपेक्षित नहीं है । जिसके अन्तर आत्माका वह विशेष प्रभावित हुका होता है उनको आत्मवात् कहते हैं । अस्तव आश्रियवत्तसे मुक्त कौन हो सकते हैं ? इसका उत्तर हसी श्लोकमें दिया है । वही श्लोक था । मिह्रशिष्टे देका जाय वा आत्मवात् वनेका उपाय भी इसीसे माना जा सकता है—

'ओ मनुष्य वर्ये (शैशुगुण्यविषयाः वर्यः) यौनो गुणों का वर्जन करते हैं वर्यके पञ्चाय तन और रमों गुणको छोड़कर (निरुद्धगुण्य) गुणातीत होकर अर्थात् (निरन्तरगुण्य) सदा सत्त्वगुणमें स्थिर रहता है (मिहंशु) सुकहु कादि इन्होंने परे होता है (निर्बोणक्षेम) वर्य प्राप्ति और वस्तुप्राप्तिके संसदमें नहीं फँसता वह (आत्म वात्) अथवा आश्रियवत्तसे मुक्त होता है ।

(१८) कर्मयोग ।

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वयः- त अधिकाः कर्मणि पुनः कदाचन फलेषु माः कर्मफलहेतुः मा स्युः ते सङ्गः च कर्मणि मा स्युः ॥ ४७ ॥
 सरा अधिकार कर्म करनेमें है, कदापि फलोंपर नहीं । कर्मोंके फलका हेतु धारण करनेवाछा न बन
 और तेरी कधि कर्म न करनेमें न होये ॥ ४७ ॥

भगवद्गीता पंचमि बह्मनके कही है तथापि यह द्वापक
 मनुष्यके हिंदू ही कही है । गीताके अन्त में कुछ बोधे कर्मसे पदे
 बाधे ता उभयसे द्वापक मनुष्यकी कहे योग बाध मिलता
 है । जिसको केकर मनुष्य इकलिके पदमें एक सकता है । इस
 पदमें यह श्लोक देखनेसे मनुष्यका । इसीसे आत्मविकासका
 चपड़ा प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार आत्मवाच
 अर्थात् विद्या आत्मविकाससे कुछ बना हुआ मनुष्य किपना
 भव होता है, इस विषयका वर्णन आगेके श्लोकमें कहा
 है-

ओ कार्य छोड़े कुंसे होता है वह अज्ञानी है बड़े सरो
 बरसे हो सकता है; इसी तरह ओ कार्य देखे काबसे
 होता है वह अज्ञानीको अज्ञानीमें प्राप्त होता है ।
 यह योगवाः ' आत्मवाच' मनुष्यकी है । आत्मवाच मनुष्यके
 भिन्न बर्ग (विज्ञान, अज्ञान) विज्ञानी आत्मन के अन्त
 जाने हैं । अज्ञानवाचका भिन्न शक्ती प्रकृति ही आत्मन
 कहता है और उसीको आत्मवाच की कहते हैं । कई
 भाग इस श्लोकका अर्थ हीके शिथिल समझते नहीं और
 मानते हैं कि यहां भी वेदका हीमत्व दर्शाया है और अज्ञा
 नाति देखने नहीं होती ऐसा भी इसीसे अनुमान निकालते
 हैं ॥ अतः देखा जान तो श्लोक पढ़ोका अर्थ यह है ओ
 काम संपूर्ण बर्गोंके पदमें होता है वह अज्ञानीको रचन
 होता है । इनमें वेदकी शिन्धा किन्तु नहीं है । अज्ञानी
 होकरा आत्म वेदप्रवचन है । इस काम वेदका पूर्व
 ज्ञान योगेद बजाए नव वह ज्ञान ही-हीके अनुभवमें
 आता है नव वह अनुभव अज्ञानी आत्मन शक्ती अज्ञा
 निव आत्मवाच आदि कहता है । अतिस शिथिल ज्ञान
 योगेद बजाए पदिन किना हुआ अन्वयन हीन होता है ।
 जेना कोह कहे कि सापी परीक्षा उसीन मनुष्यको यह
 ज्ञान अज्ञानी होता है ओ अज्ञान जेनीमें वर्तमानके विज्ञान
 मे साक्षीगीताके अन्वयन वह नव गुह्यन करने करने

विद्यार्थियोंको देते हैं । यह तो शिक्षावाचित सत्य है क्योंकि
 कि बाकी परीक्षामें उत्तीर्ण मनुष्य ज्ञान आवाचकिके ज्ञान
 अन्वयमें गुह्यन हुआ होता है । इससे पूर्वके अज्ञानकाही
 शिन्धा को नहीं होती मनुष्य उसी अन्वयन कर्मसे गुह्यन-
 में वह मनुष्य बाकी बना है अर्थात् वह अन्वयनका
 मनुष्यका साक्षीकी योगता देखाका है वह उसकी बर्गही
 ही है । इसी प्रकार संपूर्ण वेदोंका अन्वयन अन्वयन करनेमें
 मनुष्य अज्ञानी होता है और जब उसको अज्ञान होत
 है जब वह अज्ञानात्मक होता है अज्ञान अनुभव होता है
 तब फिर उसको वेदका ज्ञान अज्ञान प्राप्त होता है, वह
 कर्मन तो वेदोंकी अन्वयन बसाया करवाका है । इनमें अन्वय
 होता है कि ओ श्लोक वेदप्रवचनपर किने हैं अन्वयि वेद-
 शिन्धा किन प्रकार वे ज्ञान मानते हैं । इसीविषे अन्वय
 की कहा है-

सर्वे वेदा यत्पञ्चमात्मनित
 तर्पाति सर्वाणि च यद्वदिति । (अ. ४०. १. १५)

सब वेद जिस पदका अर्थ करते हैं और सब प्रकारके
 तप को कहते हैं । यह अर्थवद् है । इस प्रकार अन्वयि-
 हीमें वेदका अज्ञान अर्थ विद्या है । अज्ञानीतामें ही
 (अ. १०. १. १५) कही कहा है अतः इसमें वेदकी
 शिन्धा कोई नहीं करता । यहां वेदको गीतन शिन्धा होता है
 वह अज्ञान और अनुभवज्ञान का योग करने, अनुभव
 ज्ञानके अज्ञानका योग अन्वयन किना होता है और वह
 योग ही है । ओम कहता कि अनुभवज्ञानके वेद अन्वयन
 ज्ञान अधिक पद है । पादक भगवद्गीताके अन्वयोंके इस
 शिथिल समझेंगे तो उनके सब भागें स्पष्ट ही आवेंगी । इस
 प्रकार इस श्लोकमें आत्मवाच मनुष्यकी परम अन्वयि होकरा
 अज्ञान अन्वयनका कहा है । द्वापक मनुष्य इस अन्वयि
 कधि प्राप्त कर सकता है । अब इसके आगे कर्मयोगका
 चपड़ा करते हैं-

भाषाय— मनुष्यको देवक कर्म करनेका ही अधिकार है कर्मके फलोंपर उसका अधिकार नहीं । कोई मनुष्य कर्मके फलोंका सदा प्यास करनेवाला न बने । और कर्म न करनेमें भी किसीकी प्रशुति कभी न हो ॥ ३० ॥

(२०) प्रत्येक मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है । इत्यादि नहीं अपितु हर एक प्राणीका स्वभाव ही कर्म करना है । इसीकिये सत्यव्रतीगते आगे जाकर कहा है कि—

न हि कश्चिद्विषयमपि आतु सिद्धयकर्मकम् ।

कार्यत आद्यशः कर्म सदा प्रकृतियैगुणः ॥

(म नी ३१५)

शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्यत्कर्मणः ॥

(म नी ३१८)

' वस्तुतः कोई प्राणी एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । प्रकृतिमें उत्पन्न हुए गुणोंके बधमें होकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है ॥ तो (मनुष्यके) शरीरका व्यवहार भी कर्म किये बिना नहीं चक सकता । इत्यादि प्राणीका संबंध कर्मके साथ है । एक क्षणभर भी जीवन चलन करना कर्म किये बिना असंभव है । माणों जीवन का आचार ही कर्म है हर एक प्राणी आत्म-उच्छ्वास करता है, मृगप्राणि आगता है जब छाया और जल पीता है, मिम्व-उम्वेय काठा है इन्द्रिय स्वाभाव काठा है अन्य शरीरके स्वाभाव चकते हैं वे सब कर्म ही हैं । केवल जीवित रहनेके साथ इतने अनेक कर्मोंका संबंध आता है । वे व किये जांच तो जीवित रहना ही अग्रजब है । आहार निद्रा मय और मैनुष के सब प्राणिमात्रोंके स्वाभाविक धर्म वा कर्म हैं । केवल स्वाभाविक अवस्थामें रहनेवालोंके किये भी वे कर्म करना अत्यंत आवश्यक है । मनुष्य तो सबसे ऊंचा प्राणी है अतः इसका कर्तव्यज्ञान बड़ा ही विस्तृत है । मनुष्यको वैयर्थिक कौटुंबिक गृहस्थचर्मसंबन्धी संसारविषयक वृत्तियों मर्षयमें अतिरिक्त समाजके राष्ट्रके और संपूर्ण जगत्का अपना प्राविम्यदृष्टिके विषयमें अनैकानेक कर्तव्यकान्ते होते हैं । इसी कर्मक्षेत्रकी प्रशति अन्य प्राणिनोंके किये नहीं है । उनकी सति जरा बड़ा अधिकार छोटा अतः उनका कार्यक्षेत्र भी सीमित है । मनुष्यकी शक्ति बड़ी अधिकार भी बड़ा अतः इसका कार्यक्षेत्र भी बड़ा विस्तृत है । मनुष्यको अपने स्वभावचर्ममें और अधिकारकी दृष्टिके भी काम करना अत्यंत आवश्यक है इसी कारण वेदका आदेश यह है—

कुलधेयेह कर्माणि शिञ्जीवियेषष्ठत समाः ।

एव त्वयि नाम्यथेताऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(वा व ११९)

यहां मनुष्य प्रसस्त कर्म करता हुआ ही तो वर्ष बीसवीं इच्छा करे । यही एकमार्ग है दूसरा नहीं कर्मका कलक मनुष्यमें जगता नहीं । वेदभी यह आज्ञा प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेकी देना दे रही है । वेदकी दृष्टिके तो मनुष्यका कर्तव्य ही विचकर्म परमेस्वर ही है जो विचका कम करता है अथवा जो सब कर्म करता है । उपास देवके समान बचना कर्तव्यकका कर्तव्य है, अतः प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारक्षेत्रमें विचकर्म बने अपना देव-को कर्तव्य उसको करन आवश्यक हो, व सब कर्तव्य वह करे, और उनके करनेमें संकोच न करे । जब मनुष्य इस प्रकार कर्म करेगा, तभी विचकर्म देव उनको मुक्तिका मार्ग बतायेगा । इसी विषयमें वेदका निबन्ध यह है—

ये धर्मात्मनस्तु धीभ्याना अग्यैस्तन्त मनसा चक्षुरा च । अग्निशालाग्रे प्र मुमोक्तु देवा विश्व कर्मा प्रजया संतराणाः (अथर्व २।३४३)

जो तेजस्वी लोग वह मनुष्योंको अपने मय और चक्षु द्वारा अनुकम्पापूर्ण दृष्टिके देखते हैं उन्हें ही प्रजापतियोंके साथ समान करनेवाला विचकर्म ही सबसे प्रथम सुच करता है । जगत्के दृष्टिके कर्म जो करता है वह मनुष्य धीम सुच होता है और जो ह्व कर्मोंके करनेमें विचकटा है वह पीछे पड़ता है । इसका सीधा साध यह है कि परमेस्वर विचकर्म होनेसे वह जब मनुष्योंपर प्रेम करता है कि जो विचका दित करनेके कथ भिरकम दृष्टिके करते हैं । यह कभी भयव ही नहीं है कि विचकर्म देव आकामी लोगों पर कभी प्रेमदृष्टि कर ।

प्रवक्तु इन्द्र ।

मनुष्यके शरीरमें अनेक इंद्रियां हैं । प्रत्येक इंद्रियमें इन्द्र अपनी शक्ति रखता है माणों, इन्द्र अपनी शक्ति इंद्रियद्वारा प्रकट करता है । इस इन्द्रका नाम द्यत-उतु वेदमें और कौटिक संस्कृतमें है द्यत इन्द्र का अर्थ देखकों कर्म करनेवाला है । अर्थात् मनुष्यका जीवनमा जो हमने शरीर

के मध्य अंगुष्ठमें पैदा कर कार्य करता है वह स्वभावतः सैकड़ों कार्य करनेवाला है। विश्वकर्मा बननेका साधन भी यही है। इसीलिए कहा है—

यः प्रथमः कर्मवृत्त्याय जाताः ।

(अथर्व शारदा ६)

जो प्रथम स्वात्ममें रहनेवाला आता वही कर्म करनेके लिए ही प्रथम हुआ है। तथा—

कर्मैव कृत्वा गत मातृपुत्रः । (अथर्व शारदा १३)

मनुष्य कर्म करते हैं। क्योंकि कर्म करना उसका स्वभाव है। कर्म किए बिना वे जीवित नहीं रह सकते हैं। इसी वृद्धममें गीताके श्लोकमें कहा है कि—

कर्मणि एव ते अधिकाराः । (भ गी १।३०)

हे मनुष्य ! कर्म करना ही त्वा अधिकार है। ' कर्म करना ही ते अधिकारमें है। जो जिसका स्वभाव होता है वही उसका अधिकार भी होता है। प्रकाश करना लूनेका कर्म है और वही उसका कर्म और अधिकार भी है। इसी प्रकार मनुष्यका अधिकार कर्म और धर्म कर्म करना है। पशु—

मा फलेषु कदाचन । (भ गी २।३०)

क्योंकर तैरा अधिकार नहीं है। ' कर्मके लोके एक छोटे ई पशु डिली भी फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है। बड़ाहाजरे के लिये लुं प्रकाशदानकर्म कर्म करता है पशु प्रकाशपर उसका अधिकार नहीं है क्योंकि बछका प्रकाश दूधोंके लिये है। अपने लिये नहीं है।

वह लोह कर्मभावके चार लुं कहता है इतकिले गीत में हूँ एकदका महार भिक्षु है। मैलू लीला कर्म योग अधिपति है कर्म भाग कि वह लोहक सच गीता-धर्मका मिशन अधिपतिवेष कह रहा है। हूँ लोहकमें वह चार लुं के हैं—

- १ मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है क्योंकि उसको कर्म करना धर्म है अथवा कर्म करना अधिपति है
- २ अपने ऊपर हमका अधिकार कदापि नहीं
- ३ अथवा हनु अपने चरम योग नहीं आ
- ४ कर्म न करना (विनिवृत्ता) की ओर मनुष्यकी राह न हो।

अर्थात् मनुष्य सदा सुप्रकर्म करे, कर्मकी इच्छा न करने प्रवृत्त होव न दे, फलके लिये ही कर्म करना हे लम्बा नहीं एसा मान मनमें चारन न करे और कर्मों काकलमें अपनी मनुष्य न माने।

अपने भी पृथिवी दूधोंको प्राप्त करनेके लिये विचार है अथ दूधोंको प्राप्त करनेके लिये वह रहा है, अग्नि और सूर्य अथवा अग्नि और सूर्य करनेके लिये प्रकाश हो रहे हैं आधु सच प्राणियोंको जीवन प्रदान करनेके लिये चक्र रहा है काका दूधोंको लवकाव देनेके लिये सर्व उपस्थित है अथवा दूधोंको लवकाव देनेके लिये दया करता है हूँ अथवा वह सर्व दूध अथवा जो कर्म कर रहा है वह अपने लिये नहीं अपितु स्वभावसे ही सब अथवा लिये कर रहा है। यदि अपने अपना कर्म काका को दिया तो अथवा स्थिति ही नहीं रहेगी और सब दूधवा लोका स्वभाव ही वह हो जायेगा यदि सूर्य न प्रकाश तो सबकी सूर्य जीवन करेगा जो दीप न प्रकाश उसकी दीप कैसे कहा जायगा इसी प्रकार स्वकर्म करना ही सब वेदोंका दूधवा और अथवा स्थिति निम्न है।

इसी प्रकार मानवी शरीरके अंग भी काक देनेवा है वह अपने लिये नहीं अपितु सब शरीरकी प्रकाशके लिये काम करते हैं वे अपने लिये नहीं अपितु सब प्राणियों प्रकाशके लिये। जिहा रसप्रदान करती है वह अपने लिये नहीं अपितु सब शरीरकी प्रकाशके लिये इसी प्रकार अथवा लवकाव अपने अपने कार्य कर रहे हैं वे अपने लिये नहीं अपितु सब शरीरकी प्रकाशके लिये ही कर रहे हैं। यदि हमने कार्य कर्म अपने ही लिये होने कर्म तो उसी प्रकार शरीरका काक प्रार्थ होजायगा। यदि यदि सुकृता सब दूधवा अथवा अपने ही लिये अथवा हमका रस प्रकाश सब शरीरमें मेकनेका प्रकार न करे तो उरारीकी शरीर मनुष्य करने जायगा। इसी प्रकार है इतिवत्तन सब करने लिये विषय योगके कर्मों योगमें उत्तर होते भी लोह शरीरकी प्रकाश करनेका विचार छोड़ देते इसी लवकाव शरीरका काक होने जतेगा। जो विषय शरीरके अंग कार्य करता है अथवा अपने कार्य करता है वही विषय मानवी लवकाव कार्य कर रहा है।

अथर्वभगवद्गीता-प्रस्तावबोधिनी

योगस्यः कुरु कर्माणि मुक्तं स्यक्त्वा धनजन्य ।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

इस वाक्यका कुछ कोश पर पाठकका कुछ अन्य कार्य करते हैं। यदि वे अपना कार्य मानवसमाजकी प्रकाईकी रहित नहीं करेंगे और अपने कुछ बहानोंके किये ही करेंगे तो स्वायत्ती मात्रा वह जानेका कारण बनगई असाध्य बनेगी। इसलिये जो-किसी केवल जो-किसी किये नहीं देखती अविश्व करीब किये देखती है उसी प्रकार अनेक मनुष्य अपना कर्म अपने स्वार्थके लिये न करे अविश्व कर्म-रूप समझके समाजकी प्रकाईके किये निःस्वार्थतासे करे। जैसे स्व अपने स्वभावसे प्रकाशता है और उसके प्रकाश से जगत्प्रकार स्वरूप होता है वैसे परात्परात्मक कर्मप्रकाश अवेष्टा नहीं परात्परात्मक होगा ठा ही मैं प्रकाशता प्राप्त भी वह नहीं कहता और कभी प्रकाश न कर-मैका भी पाल नहीं करता। इसी प्रकार मनुष्य स्वभावसे प्रत्यक्षीक बने कर्मप्रकाश इच्छा न करे प्रकाश हेतुसे कर्म न करे और कदापि कर्म करना न छोड़े।

कर्मसाग के चार सूत्र हैं और न चार सूत्र पाठक करने से ही मनुष्य कर्म करनेसे बच नहीं होता और कर्मसे उच्छिन्न होता जाता है। इस चार सूत्रों कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है, वह पहिला सूत्र है जो निश्चय अधिकारमें होता है वह दूसरा कर्मत्व ही होता है तबक करनेसे उच्छिन्न और न करनेसे बचपति होती है अथवा कहा है—

कर्मणा ह्यप्यापि पतितः । (वे उ १।८।१)

कर्मसु धामृतम् । (सु उ १।१।८)

पुण्यस्य कर्मणा दूराद्गन्धो धातिः ।

(म बा उ ८।१५)

कर्म बरक देना बल करते हैं। कर्मोंमें अमृत है। पुण्य कर्मकी सुगन्ध प्राप्त होती है। और वह दूरबोधों भी आनंद देती है।

इस प्रकार कर्मका अधिकार मनुष्यको है इसलिये पुनः कर्म करनेमें मनुष्यकी उच्छिन्न होती है। कर्ममौल्यवत्तरा पुनः प्रकाश अधिकार नहीं है वह है। यैसा जानका पूरा जगत्ता मनुष्यके अधिकारमें है, वास्तु जगत्ता एक धात्य होता जात काम जाना जगत्ता जानकी अधिकारमें नहीं

बनौकि उसके साथ कई बाधा कारणोंका संभव जाता है अतः प्रकाश वृद्धि व दृष्टि, कुंठकापानी सूख गया, विजली गिरकर बूझ बक गया किसीने तोक दिया तो एक जाना असमय हो जाता है। इसलिये तबपर मनुष्यका वैसा अधिकार नहीं है यैसा कर्म करनेपर अधिकार है। इसी कारण तीसरे सूत्रमें कहा है कि प्रकाश अधिकारसे कर्म न करे। इसका कारण स्पष्ट है कि जिसपर अपना अधिकार नहीं उसका अधिकार मर्ममें प्राप्त की तो क्या काम होगा? जो बात अपने अधिकार क्षेत्रके बाहरकी है, उसको अपना उद्देश्य बनाना योग्य नहीं है।

यदि किसीने प्रकाश अपना उद्देश्य बनाया तो वह बड़े बर्तनमें पड़ता है। जो विद्यार्थी परीक्षा कर्त्तव्य करगाही अपना जीवबोधव्य बनाने हैं वे परीक्षामें अनुत्तीर्ण होनेपर पाठक बन जाते हैं अथवा जलमहारा करनेमें मनुष्य होते हैं। परंतु जो लोग परीक्षाके बहिरवसे अभ्यस्य नहीं करते वे विद्वांस भी होते हैं परीक्षा भी कर्त्तव्यकरत हैं और कदापि किसी समय अनुत्तीर्ण हुए तो धामितसे पुनः श्रम करते हैं। तबपर ज्ञात होमेबाकीं समान पाठक नहीं बनते। तबपर ज्ञात न होनेसे वह प्रत्यक्ष काम है।

कर्मयोगका अन्तिम सूत्र कर्म न करनेकी और दृष्टि न रख वह है। कर्म न करनेकी दृष्टि अपना ज्ञातत्वमें दृष्टि रहनेमें मनुष्यकी उच्छिन्निकी कोष्ट जाता नहीं है। क्योंकि इस ज्ञातत्व मनुष्यने अपना विश्व स्वभावमें ही भोका होता है। निश्चयमें कोठनेबाकी उच्छिन्निकी होती। निश्चयमें कोठनेका मतकव अस्तित्व ही होता है। जो अग्नि अपना उच्छिन्नकव निश्चयमें कोठी है वह अग्नि नहीं रहती। इसी प्रकार जो मनुष्य अपना कर्म करनेका अधिकार ही स्थापना है और ज्ञातत्व बनता है वह मनुष्यत्वने गिरता है। अतः कर्महीनताही जो दृष्टि रखना मनुष्यके मर्त्यत्व अयोग्य है। इस प्रकार कर्म करना मनुष्यके लिये अनिवार्य है यैसा करनेसे बलात् मनुष्य कर्म विना गतिमें करे और करनेसे पुनः पतितामें पति नकात बने इसका उद्देश्य करना कार्यवत् आचरण है। वह उद्देश्य जाने करते हैं—

अभ्युत्थान- हे जनक ! तूने स्वयं सिद्धयस्तिष्ठत्योः समः भूत्वा योगस्थः कर्माणि कुर्व । समानं योग उच्यते ॥ १४ ॥
हे भर्तुन ! भासति छोड़कर सिद्धि और भासितिके विषयमें समबुद्धि रखकर योगमें स्थिर होकर
कर्म कर । समत्वको ही योग कहते हैं ॥ १४ ॥

मात्सर्य- चक्री भासति छोड़कर सिद्धि हुई या न हुई तो भी मनकी वृत्ति समान रखनी चाहिये । इस प्रकार
की चित्तकी समवृत्तिको योग कहते हैं । इस योगमें कुछ होकर मनुष्य अपने सब कर्म करे ॥ १४ ॥

(१४) इस श्लोकमें योगकी विधि वदिते हैं कर्म कर
देकी बुद्धि बड़ी है । योगकी रीतिके अनुसार कर्म करनेमें
कर्मके दोष कर्माको नहीं छिपड़ते । योग स्थिरता का नाम है ।
समत्व का नाम योग है । समत्वका अर्थ समानता का
नाम वृत्तिके एककपटा चित्तवृत्तिके एककपटा । परमेश्वर
योगार्थमें भी—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (गो ५ ११)

योगका अर्थ चित्तवृत्तिको निरोध कहा है ।
चित्तकी वृत्तिको धरा चककटा अनुभवमें जाती है ।
मत्स्ये सुखेयं वह वृत्तिको चककटा मनुष्य अनुभव कर
सकता है । मत्स्ये सुखेयं जिस समय जगत्में कार्य करता
है वह समय हीतोष्य इतिहास व्यवसाय मनुष्य-
मुक्त यदि इन्द्र वरके सम्मुख जाते हैं और इन्द्रकी
वृत्तिके कारण इसकी चित्तवृत्ति भी वैसी ही स्थिति
होती है । कुछ होवेपर भास्य और इन्द्र होवेपर चककी
वृत्ति बचती है । काम होवेपर मनुष्य गर्व करता है और
हानि होवेपर वह निरुत्साहित होता है । जब होवेपर इसमें
बमक होता है और पराक्रमते वह हताश होता है । इस
प्रकार मनुष्यकी वृत्ति चककटा होती है इस वृत्तिके चकक
कटाके कारण मनुष्य विविध रीतिके कर्म करनेमें असमर्थ हो
जाता है । जो भी किसी कुछमें जब जानेसे गर्व करेगा
जबका किसी कुछमें पराजित होनेसे दुःखी होकर प्रलय
भावमें लगेगा वह वृत्तिके चककटाके कारण किसी कार्य
को ब्यापोग्य रीतिके कर नहीं सकता । जो मनुष्य जब भास
होवेपर बमक नहीं करता और पराक्रम होवेपर भी अपना
महत्त्व भास्य रखता है । अर्थात् इन दोनों अवस्थाओंमें
अपने प्रथमी समता स्थिर रखता है वही कुछ कर सकता
है । यावत्तन मनुष्य इन्द्र भास होवेपर अपने प्रथमी भी
वैसी ही इन्द्रवृत्ति बना देते हैं वे कदापि योगमार्गके कर्म
करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । छात्राद्य स्थिति प्राप्त होवेपर
जो अपने प्रथमी समता स्थिर रखता है वरको योगी कह

सकते हैं जयवा वरका मय सम है ऐसा कह सकते हैं ।

कर्मों को नहीं होवेपर हाथ हाथ करते हुए कर्म
छोड़ बैठते हैं, धर्मों को वेपर सुख कर विस्तारमें ही रहे
रहते हैं वृत्तिके होवेपर बने वराज होते हैं और भासते
चकवेपर भी बने वैधिम हो जाते हैं, इन सबसे मनुष्य
वास्तवस्थितिके कारण बचती रहती है । वास्तवस्थिति
वैसी चाहे बने जिसकी वृत्तिमें चककटा नहीं होती, वह
कुछ कर्मों पाकर कर सकता है ।

मनुष्यकी चककटाके अनेक कारण और भी हैं ।
मनुष्य भासते सुख रूप देखना चाहता है कुत्र देखनेसे
कुत्र होता है, चाहे मनुष्य मनुष्य सुखता चाहता है कर्म
चक सुखेसे गर्व होता है, जिहासे भी वे गर्व कर्मा
पावता है वैसी व मित्रों को कह होता है । ऐसे ही मनुष्य
योग मार्गकी इच्छा करता है और मनुष्य परित्यक्तमें
कहका मनुष्य करता है । इन प्रकार वैसी वास्तवस्थिता
होगी वैसी ही इसकी चित्तवृत्ति बन जाती है । और वास्तव
जबका व्यवसायमें बचती रहती है । इस कारण इसकी
मनुष्यकी भी वही प्रकार व्यवसायमें बचती रहती है । इस
रीतिके मनुष्यकी चककटा मनुष्यका स्वकर्मोंमें ब्रह्म
जाती है और गिराती भी है । इसीलिए मनुष्यको योगमार्ग
का व्यवसाय करना चाहिये और योगमार्गके अपने निरु-
क्तों सम रखना चाहिये । वास्तवस्थितिके बचवेपर भी
जिसका चित्त चकक नहीं होता, उसने व्यवसायकी स्थिति
वास्तव की है ऐसा हम कह सकते हैं । चित्तवृत्तिके निरोधके
भी वही साधन होता है । चित्तवृत्ति का वास्तवस्थितिके
माथीम व रखकर अपनी चित्तकी वृत्ति अपने माथीम
रखनेका नाम योग है । इसीका नाम समत्व योग है ।

इस श्लोकमें (समानं योग उच्यते) समत्वका नाम
योग है ऐसा कहा है । इस समत्व कर्मका अर्थ इन्द्र
की भाषा नहीं होती वह स्थिति है । इसीका स्वकी-

करन इसी शोकमें (मित्रपतिहयोः, समो मूखा) सिद्धि और नसिद्धिसे विषयमें सबकी समवृत्ति रक्खना इस व्यर्थसे किया है। इन्द्रोसे दूर रहनेकी यह विनयि है। जिसका इन्द्रोकी बाधा नहीं होती, उसकी समराजकी स्थिति प्राप्त होती है। सिद्धि और नसिद्धि इस एक इन्द्रके संकेतसे बन्ध संपन्न इन्द्र यहां केने योग्य हैं। केही भी नष्टका साथ ही सबकी वृत्ति सम रक्खन अपने कर्तव्यको कष्टम तीरितसे करना चाहिये।

(संगे त्यक्त्वा) फक्की आसक्ति भी त्यागनी चाहिये। संगते ही नष्टक आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। इसीकिये कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

संगास्तंजायते कामः कामात्मकोऽभिजायते ३९

श्लोधाज्ञवाति संमोहः समोहारस्सुतिषिद्धयः ।

स्सुतिषिद्धावुद्विगमाद्यो बुद्धिमाधात्मन्यप्यति ४०

(म गी १)

विषयोका चिन्तन करनेवाले पुंसको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्तिसे कामबा होती है, कामबासे श्रेय होता है कीचसे मूढता होती है, मूढतासे भ्रम होता है भ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेसे मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। विषयोके संगसे नष्टका आसक्तिसे ही देता नाश होता है इसकिये आसक्ति छोड़नी चाहिये। आसक्ति छोड़कर चित्तवृत्तिकी समता प्राप्त करके जो कर्म किये जाते हैं वे अपनी पवित्रता बरबैवाके होते हैं, इस विषयमें भगवद्गीतामें ही कहा है—

ब्रह्मण्याघाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

तिष्ठते न स पापेन पद्मपत्रमिवात्मनः ४१

कार्येन मनसा बुद्ध्या केवलीरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कस्य कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्ममुखये ४२

(म गी ५)

जो मनुष्य आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्थेन बुद्धिसे कर्मोको करता है, वह पानीमें कमलपत्रकी भांति पानसे छिन्न नहीं होता। योगी जोल आसक्ति छोड़कर चारीस ब्रह्मसे बुद्धिसे नष्टका केव ईन्द्रियोसे भी आसक्त्युद्धिसे किये कर्म करते हैं। इस तीरितसे आसक्ति छोड़कर नर्वात् परमब्रह्मको प्रमनन करनेसे किये जा कर्म किये जाते हैं वे आसक्त्यो

१६ (दि गी)

ब्रह्मोके किये साधक होते हैं। इसलिये भागे कहते हैं—

एताम्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तव्यानीति मे पार्थ मिश्रितं मतमुत्तमम् ४३

कार्यमित्येष यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ४४

(म गी १६)

हे पार्थ ! मेरी मिश्रित और उत्तम समति यह है कि ये सब कर्म आसक्ति छोड़कर और फलप्राप्ताका त्याग करके करने ही चाहिये। कर्तव्य समझकर जो निश्चय कर्म नास्तिक और फक्की इच्छा छोड़कर किया जाता है उसीको सात्त्विक त्याग कहते हैं।

यहां ब्रह्मार्थेन नष्टका ईश्वरार्थेन बुद्धिसे कर्मकरनेका अर्थ क्या है इस बातका विचार करना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कर्म करता है वह स्वार्थसे करता है स्वार्थका अर्थ (-स्व+अर्थ) अपने किये, अपने एक जीव नष्टका ब्रह्मोके मुक्तके किये करता है जब एक कामाके मुक्तको प्रभावना ही जाती है वह समस्त स्वर्ग ही मर्त्यमा नष्टका परमात्माका विचार गीत होता है। नर्वात् सप्रम कर्म करनेवाला मनुष्य अपने भंजकन ब्रह्ममाकी प्रभाव और सर्वव्यापक स्व परमात्माको गीत मानता है। वस्तुतः परमात्मा मुक्त सर्वव्याप परमार्थ हैं और व्यक्तिगत ब्रह्मा ब्रह्माके भंज होनेसे गीत है। सर्व्व सर्व्व परमब्रह्मा है जो ब्रह्म ही एक किरण जीवतमा है। किरणकी प्रभाव मानना और सर्व्वका विचार न करना ब्रह्मज्ञानका काव है इसलिये कहते हैं कि कामबालुतिसे किये कर्म करना ब्रह्मज्ञानका घोरतक और ब्रह्मार्थेन बुद्धिसे कार्य करना श्रम है। यह ज्ञान है इसीकिये इसका नाम ब्रह्म बुद्धिभाग कहा है। इस विचारसे पाठक जान सकते हैं कि सकार कर्मसे नहीं दोष होता है और निष्काम कर्मसे क्यों ब्रह्मति होती है।

इस प्रकार प्रारंभसे ब्रह्मवक्त जीवमज्ञानवर्गीयोंमें संगत्याग नर्वात् आसक्तिका त्याग और फलप्राप्ताका त्याग करके कर्म करनेका उपदेश है। और बड़ी कर्मयोग द। इस प्रकार किये हुए कर्म कर्तके किन्तु बाधक नहीं होते मनुष्य कर्माको ब्रह्मति करते हैं। भगवद्गीतामें जो समावधान कहा है वह बड़ी है आसक्तिका त्याग कर निश्चि आसक्ति

दूरेण सपर कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ धरणमन्विष्य कृपणा फलहेतवः ॥ ४९ ॥
 बुद्धियुक्तो ब्रह्मादीह उभे सुकृतबुद्धये । ससाधोगाय बुज्यस्व योगः कमस्तु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वयः— हे कर्मजय ! कर्म बुद्धियागात् दूरेण सपर हि । बुद्धौ धारण मन्विष्य । फलहेतवः इत्यर्थः ॥ ४९ ॥ इह
 बुद्धियुक्तः उभे सुकृतबुद्धये ब्रह्मसि । ससाध योगाय बुज्यस्व । योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

हे मनुज ! (केवल सत्त्व) कर्म (समत्वरूप) बुद्धियोगसे बहुत कष्ट है । अतः (समत्व) बुद्धि
 का आश्रय कर । फलके हेतुसे कर्म करनेवाले (भोग) भिरुद्ध होते हैं ॥ ४९ ॥ इस जगत्में (समत्व)
 बुद्धिसे युक्त मनुष्य दोनों सुकृत और बुद्धतको छोड़ देता है । इसलिये (ए समत्वरूप बुद्धि) योगका
 साधन कर । (समत्व बुद्धि) योग कर्ममें कृपाकरता है ॥ ५० ॥

भाषार्थः— केवल सत्त्व कर्म करनेकी बरेशा समत्वकी बुद्धिसे निष्काम कर्म करना बहुत ही उत्तम है । अतः मनुष्य
 समत्वबुद्धि आश्रय करे । केवल फलकेलिये कर्म करना मनुष्यकी निकृष्ट अवस्थाका सूचक है ॥ ४९ ॥ इस जगत्में कदाका
 छोड़कर समताबुद्धिसे कर्म करनेवाला मनुष्य वास्तविक ही बुरा होता है । इसलिये मनुष्य इस समत्वबुद्धिसे उन्नत होकर
 कर्म करनेकी कृपाकरताकी ही समत्वबुद्धि योग कहते हैं ॥ ४९-५० ॥

विषयमें सम मात्रा एकता इस समत्ववालासे कर्म कर
 वह बरद्वय जन्तुको भगवान् कहा है रहते हैं । हे जन्तु !
 ए बुद्ध भूषित ब्रह्मा है इस समत्व बुद्ध कर्तव्यकर्मसे
 दृग्गते प्राप्त ब्रह्मविषय है अतः ए इस बुद्धकी ईश्वरार्थ
 कर इसकी सिद्धि लब्धा नसिद्धि का विचार न कर और
 अपना कर्तव्य समझकर कर । बुद्ध करना उसे लक्षिकामें
 है इस बुद्धका एक ठेरे लक्षिकामें नहीं है बुद्धके कर्तव्य
 इच्छाकर्म बुद्ध न कर और बुद्ध न करनेमें भी बलि न रख ।
 यह उत्तरक जैसा जन्तुके किंव हे वना ही सब लक्षणके
 किंव भी है । इस प्रकार कर्मवागम्य ब्रह्मदेव हैके बसाए
 इसीका लक्षिक लक्षिकीय करते हैं—

(४९-५०) कहा कर्म और बुद्धि लब्धा बुद्धि
 योग कर्म विषय कर्मसे मनुष्य हुए हैं । वही कर्म सपर
 का लक्ष सत्त्व कर्म है और ' बुद्धि लब्धा बुद्धियोग
 का लक्ष समतावापरी किंव निष्काम कर्म है । एह दोषों
 की मुक्तता करते वही ब्रह्मा है कि लक्ष्य कर्मकी लब्धा
 निष्काम कर्म लक्ष्य जेष्ठ है । अतः लक्ष्य कर्म और नि-
 श्काम कर्मका स्वरूप वही ब्रह्म करना अर्थात् आनन्दकहे—

लब्धा/ग

योग बुद्धियोग

लक्ष्य कर्म

निष्काम कर्म (११०)

(कर्मदेवताविचारः)

लब्धा कर्ममें लक्षिक ।

(माध्वानुप्रवाचन)

कर्म करने लिये चाहता । फलपर लक्षिकार न करना ।
 (मा कर्मफलहेतुः भूः)
 कर्म हेतुसे कर्म करना । फलहेतुसे कर्म न करना ।
 (मासे संगोऽस्त्यकर्मणि)
 लक्ष्यकर्ममें लक्षिक करना । लक्ष्यकर्ममें लक्षिक न करना ।
 (११०)
 (सर्वं त्यक्त्वा)
 फललक्षिकसे कर्म करना । लक्षिक छोड़कर कर्म करना ।
 (सिद्धयसिद्धयोः समा)
 सिद्धिसे लक्षिक और लक्षिक— सिद्धि लक्षिकसे निषर्गमें
 किं विचार करना । समबुद्धि लब्धा ।
 (योगस्यः कर्मणि बुद्ध)
 योग चाहकर कर्म करना । योगसे कर्म कर ।
 (५१)
 (मद्रूपवापाय कर्मणि)
 स्वार्थसे कर्म करना । ईश्वरार्थ बुद्धिसे कर्म करना ।

इस कोटिकसे लक्ष्य और निष्काम कर्मका ज्ञान प्राप्तकों
 का लक्ष्य है । फलपर लक्षिक न होने हुए समता वापरी
 वापरीका लक्ष्य कर्मकी इच्छासे जो सब कर्म लिये जाते
 हैं वे बुद्धियोगके हुए कर्म हैं और फललक्षिकी तीव्र इच्छासे,
 विषय लक्ष्यसे लक्षिक छोड़कर लक्ष्य योग ब्रह्मके हेतुसे जो
 लिये जाते हैं उनको लक्ष्य कर्म केवल कर्म वा लक्ष्य कर्म
 कहते हैं ।

कामवासि को किये जाते हैं उनका नाम सकाम कर्म है ।
वही कामवाका कर्म जपय मोहा बहानेकी कामवा ही है ।
इस कामवाकाको का वर्णन ११ में व्याख्यामें निम्नलिखित
प्रकार आया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगद्वाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूत किमप्यत्कामहेतुकम् ॥ ८ ॥
एतां वृथिमवधय्य नष्टरामोऽस्तुबुद्धयः ।
प्रमदस्युप्रकर्मणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
कामभाक्षित्यं दुष्पूरं दम्भमानमवाप्सिता ।
मोहाद्भूतीत्याऽस्तुमाहात्म्यं नान्येऽनुचिमतः ॥ १० ॥
विन्तामपरिमयां च प्रक्षयास्तामुपाश्रिताः ।
अमोपयोगपरमा एतावदिति सिद्धिताः ॥ ११ ॥
आधापाद्यतेर्बद्धाः कामकोषपरायणाः ।
ईदृशे काममोगार्थमप्यायेनार्थसंक्षयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया कथ्यमिमं प्राच्यो मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनश्चनम् ॥ १३ ॥
मत्सौ मया हतः शत्रुर्हन्त्रिभ्यो व्यापरात्मपि ।
ईश्वरोऽहमहं मोगी सिद्धोऽहं बद्धबाष्पुकी ॥ १४ ॥
आक्योऽमिन्नमनासि कोऽप्योऽस्ति सख्यो मया ।
यस्ये वाक्यामि मोक्षिष्य इत्यहमविमोहिताः ॥ १५ ॥
अवेक्ष्यसविज्ञाना मोहजालसमावृताः ।
प्रसङ्गाः काममोगेषु पतन्ति वरकेऽशुची ॥ १६ ॥
आरमसेभाक्षिताः स्तस्या जनमानमवाप्सिता ।
यजन्ते कामयज्ञेस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
महंकरं बद्धं इयं कामं क्रोधं च सञ्चिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रक्षिपन्तोऽप्यसुखका ॥ १८ ॥
तामहं क्षिपताः क्रूराः संसारेषु मराधमाय ।
क्षिपाम्यज्जलमशुमानासुरीश्वेषु योनिषु ॥ १९ ॥
(म नी १६)

ये कहते हैं कि जगत् असत्य है, विशाकार है और
इसका निवन्ता कोई नहीं है वह जगत् एक दूसरे के समते
नहीं हुआ अतित् स्वर्ष हुआ है विषयमोग मोगनैके सिवाय
इसका कोई दूसरा हेतु नहीं है । इस प्रकारके विचारोंको
बालक करनेवाले मनासक कर्म करनेवाले जन्मबुद्धि हुए
मोग जगत्का नाश करनेके किये हैं । उनका होते हैं । कभी
दस न होनेवाली बातसामोसे भरे हुए, दम्भी, मानी
मदान्ध अशुभनिश्चयवाले मोहते हुए हृत्काकोकी कारण

करके दुष्कर्ममें प्रवृत्त होते हैं । सकलवत् समस्त न होने—
बाकी अपरिमित विन्ताका व्यापक करने काममोगमें उत्तर
मोगको ही सर्वत्र माननेवाले शैक्यों जाधाकोंके बाकीमें
रंसे हुए, कामी लोभी, धनमे विषयमोग बहानेकी हृत्कासे
अप्यामपूर्वक व्यवसंचय करना चाहते हैं । काम मेने वह प्राप्त
किया है इसके पश्चात् वह मनोरथ पूर्ण कर्क्या, इतना धन
काम मेने प्राप्त है कष्ट इत्यादी जावगा इस धनुको मेने
मारा है, दूसरोंको भी ऐसे ही मार दूंगा मैं सामर्थ्यवान्
हूँ, मैं मोग जोपेवाका हूँ मैं सिद्ध हूँ, बद्धवाह हूँ और
शुची हूँ । मैं जीवाह और कुलीन हूँ मेने जैसा दूसरा कीन
है । मैं बद्ध कर्क्या, दान दूंगा, काम्य मवाकंगा अज्ञानसे
मूढ बने मोग इस प्रकारके विचार किया करते हैं । ये जनेक
जनोंमें पड़ते हैं, मोहजालमें जमते हैं विषयमोगमें नासक
होकर अपवित्र बरकमें गिरते हैं । अपनेको बड़ा माननेवाले
कर्मवीर जन और मानसे अस्त बने मोग ईश्वरसे विचिहीन
पक्ष करत हैं । ये मोग अहंकार बद्ध प्रमद काम और
लोभका व्यापक करनेवाले निष्ठा करनेवाले और उनके
और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले ईश्वरकी विंदा करते हैं । इन
नीच हेतुी पूर अमीक बराकमेंको ईश्वर हम संसारकी
अवतार हीन आधुरी योनिधर्मों वार-वार डाकता है ।

पादक हव कोकोका मयव कर्मो गो सकाम कर्मो
जन्तोमें केला । जपव होता है इसका ज्ञान बचको ही सकता
है । स्वार्थ जपने शुच बहानेकी काक्या । जपने किये दूसरोंके
गर्कोवर धुरी चकानेकी वपति बादि मय पाव कामवासि कर्म
करनेसे होते हैं । एक बार कामवा वृत्तिके पीठ पडा हुआ
मनुष्य अशुर बचनेतक मित्रा ही जाता है । इत्येक इतिवका
शुच मुसे चरिधिये में वह शुच ज्ञान कर्क्या । इसका मोग
कर्क्या । इस मुक्तके किये इत्येक प्रकारका बल कर्क्या का
जन्मों मेरा विरोध करने इनका नाश कर्क्या यदि कर्मनुपूक
रहते हुए तब शुच मुसे नहीं मित्रे गो मेने जिन प्रकारके
भ्यवहार करनेसे शुच मित्रेमे देहे भ्यवहार कर्क्या । यदि
दूसरोंको अक्ष करने मुसे शुच मित्रेमी पीठ की वह पूर
कर्म में कर्क्या । इस प्रकार मनुष्य कामवासि लोभी पडे हुए
मनुष्यकी कर्मका बह जाकी है । इस प्रकार मित्रेकोकी
मित्राव कर्मका होती रहती है । इसीकिये मीठामें चककी
हृत्काका ज्ञान करके कर्म करनेका विचार किया है । (इत्यम् ।

कर्मद्वारा) कर्मकी कामनासे कर्म करनेवाले हीन और हीन हैं वे अतिमिथ्या दर्शक मनुष्य हैं । जिस कर्मसे लक्षण होता है वे नेही सकाम कर्म हैं ।

कामना छोड़कर कर्मही इच्छाका त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये कर्म कर्ताको योग नहीं लगता, इसी निषेधमें वेद और उपनिषद्में मिथ्याविहित उपदेश ध्यानों आशय करते योग है—

त विदित्वा न विप्यते कर्मणा पापकेन ।

(६ भा० १६)

तेन त्यक्तेन मुञ्चिष्या मा एषा कश्च सिद्ध्यति ॥

कुर्वन्नेह कर्माणि विजिगीषेच्छते समा ॥

यदे त्वयि मास्ययेतोऽस्ति न कर्म विप्यते तरे ॥

(ईश ११२)

इस परमरक्षाका ज्ञान प्राप्तकर मनुष्य पापकर्मसे छिड़ नहीं होता । इसकिये दान करते योगका लक्ष्य-योग कर मत कलका मत (कल्प = प्रजापतिः) प्रका ज्ञान्य कर्ताछ दे सब प्रजापतियोंके हितके कार्य करनेके किये ही सब सब है । इस कार्यकी सिद्धिके किये ज्ञानजनक विविध कर्म करते हुए मनुष्य ही वर्ग जीवित । इसीही इच्छा कर देना करनेसे कर्मका योग नहीं लगता । वे वेद और उप-निषद्में ब्रह्म है, इसके अनुसार गीताका उपदेश कहिये

म मां कर्माणि सिद्धयन्ति म मे कर्मफले स्पृहा ।

(म गी ११४)

योगयुक्तो विमुक्तयमा विजितारमा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतहितमूढारमा कुर्वन्नि न विप्यते ॥

(म गी ५१०)

ब्रह्मण्यापाय कर्माणि सर्वं त्यक्त्वा करोति य ।

विप्यते न स पापेन पञ्चपन्थामिषाम्मसा ॥

(म गी ५५१)

पश्य ब्राह्मणो माया बुद्धिर्यस्य न विप्यते ;

हरबाऽपि स ह्यमीशाकाश्च हन्ति न भिष्यते ॥

(म गी १०१५८)

हेतु कर्मके कर्मकी कामना नहीं है अतः मुझे कर्मका योग नहीं लगता । समस्त बुद्धिकर भाग करनेवाला यदि कामना संभवी और ईद्विभिमयी तथा सर्व भूतमात्रको

बन्धने समान माननेवाला कर्म करता हुआ भी दोषसे अछिन्न रहता है ॥ जो मनुष्य कर्मोंको महार्जन करके भासतिरहित होकर करता है वह कर्मके दोषोंसे दोषी नहीं होता जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ भी भीगाता ॥ जिसको ब्राह्मण नहीं और जिसकी बुद्धि कर्मों नहीं है वह इन लोगोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और इस कर्मसे कारण बचनेमें ही नहीं पड़ता ॥

यहां ईश्वरार्पण कर्म करनेका बड़ा न्या है, विज्ञान कर्म का आशय क्या और भासति छोड़नेका भी न्या तात्पर्य है वह स्पष्ट हुआ है । इसका आशय वह है— ' ब्रह्म ब्राह्मणं माया ' जिसके अन्तर ब्रह्मकार ब्रह्म नहीं, है करता हूं और मैं जोगुणा वह स्वार्थमात्र जिसमें नहीं है, जो जितेन्द्रिय, ज्ञान-वैभवं करते ज्ञानवृद्धिके कर्म स्वयंकर करता है और जो (सर्व-भूत ज्ञान भूत-जन्मा) सब भूतोंकी ज्ञानता जिसकी अपनी ज्ञानता है यह प्रत्यक्षात्में जो कल्पे ज्ञानके समान ज्ञान मानता है वह प्रतीतिमात्रोंका हितसे जो अपना हित प्राप्ता है साधारण मनुष्योंके अपने मोह ब्रह्मसे वैसा छटोप होता है वह प्रकार सब भूतमात्रोंका हित आशय करनेमें किये समायत्त होता है जो सब प्रतीतिमात्रोंके हित साधनका कार्य करना अपना कर्तव्यकर्म मानता है वह माया ईश्वरार्पण बुद्धिके विज्ञान कर्म करता है । सब भूतोंको अपनी ज्ञानताके समान माननेकी कल्पनाके पादोंके मर्मों स्वर होनेपरही वे जान सर्वोंके कि विज्ञान और भासतिरहित कर्म किये करते हैं । जो सब भूतोंको अपनी ज्ञानताके समान नहीं मान सकता वह विज्ञान कर्म कर नहीं सकता ।

ईह मनुष्य कहते हैं कि प्रजापति न ब्रह्मदेव ज्ञान उपरताके कर्म नहीं हो सकता परन्तु मनुष्यचित्त हृदये संकुच विकल होती है । प्रजापति छोड़नेपर ही ज्ञानसे ज्ञान रीतिसे कर्म होना असंभव होता है । इस ज्ञानमें साधुर्गुण साधुजन ईश्वर और ब्रह्मके किये कार्य करनेवाले जिसमें महत्ता हो पाये है वे अपने सम स्वार्थमात्रको छोड़कर ही कार्य करते रहे इसीसे सब निषेध कार्य हो लगे और इसी कारण उनका वह हृदय समभवक बना जाता है । आज भी हम कहते हैं कि साधारण स्वार्थपरायण लोगोंकी

कर्मसं बुद्धियुक्ता हि फल त्यक्त्वा मनीषिण । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामसम् ॥५१॥

अन्वयः— हि बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मसं कर्म त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः अनामसं पदं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

इसलिये (सम्भव) बुद्धिस युक्त ज्ञानी लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका (त्याग) त्याग करके जन्मबन्धमसे मुक्त होकर पुनरहित स्थानको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

यावाय— मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर समतारुप बुद्धिको अपने अन्तर धारण करे, और कर्म करे तथा उस कर्मके फलका सर्वभूतका हित करनेके लिये त्याग करके, जन्म और बन्धनसे मुक्त होवे और बुद्धि और श्रेष्ठसे रहित परम पदको प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

अर्थका स्वार्थ को देखनाके ही विशेष कर्म कर रहे हैं ।

जब मनुष्य जन्मा होता है और जबतक उसके मर्त्ये (स्वार्थत्वमयो) भावना नहीं जाग्रत होती तबतक वह केवल अपने लिये ही कार्य करता रहता है । जब वह गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होता है तबसे अपनी वर्त्तमान जीव परानीके लिये कार्यवाग करता है यदि ही पुनरुत्पत्ति के लिये और पुनः जीके लिये आत्मत्याग नहीं करेगा तो वे गृहस्थाश्रमका सुख प्राप्त करनेमें असमर्थ होते । वही स्वार्थापाना जन्मसमर्पण जन्मा दूसरेके लिये स्वतत्त्याग करनेका पद्धिपाठशिक्षा है । जब पुन उत्पन्न होता है तब आशापिता कोनों उस पुन के लिये जन्मसमर्पण करते हैं और पुनमाशिका सुख प्राप्त करते हैं । अपने परिवारमें जिस प्रमाणसे पारिवारिकोकी संख्या बढ़ती है उही प्रमाणसे जन्मसमर्पणकी मात्रा बढ़ती है । इसके पश्चात् आशिकी रक्षाके लिये और गृहस्थानके लिये आत्मत्याग करते हैं । इनमें स्वार्थापाना और जन्म समर्पण है । स्वार्थका विस्तार और जन्मसमर्पणका ही विस्तार होता जाया है और अपने अन्तरके निष्काम भावका भी साथ साथ विस्तार होता जाता है । अर्थात् मनुष्य इस रीतिसे निष्काम कर्मका पाठ सीखता है ।

पश्चात् वही अनुभव करे कि जो गृहस्थका जन्में जीवम होता है और जो केवल कुटुम्बिकों और ही देखता है वही स्वार्थ मनुष्य भी यदि अपने कौटुम्बिक जीवममें सुख प्राप्त करना चाहे तो उसको आत्मसमर्पण करना पड़ता है जिस कुटुम्बमें एक एक दूसरेके लिये समर्पण करता है वहीमें जन्म प्राप्त हो सकता है । स्वार्थकी कामना को देखते हुए और स्वार्थ बढ़ानसे दुःख होनेका अनुभव हर एक स्वाभर करता है । फिर जब मनुष्य सर्वभूतार्थको हित करनेके लिये सम भूतमात्रोंको आत्मसमर्पण करनेका

विषय जन्मसमर्पण करेगा तब उसका जन्म जन्म ही होता होगा इसमें संदेह ही क्या हो सकता है । इसीलिये इन श्लोकोंमें कहा है कि (कृपणाः कष्टदेवताः) फलकी कामना करनेवाले कृपण हीन हीन जन्मा अनुभवनीय होते हैं । क्योंकि आत्मसमर्पण करनेकी संभावना होते हुए भी वे दुःखके मार्गति जाते हैं ।

कर्म करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है परन्तु वह कर्म देखी बुद्धिसे करना चाहिये कि जिससे मनुष्यको दोष न लगे और आत्मसमर्पण होकर साथ साथ उन्नति भी हो । इसके साधनका नाम ही योग है देखिये— (योग कर्मसु कौशलं) कर्म करनेमें जो कुशलता है उसका नाम ही योग है । जो मनुष्य कुशलतासे कार्य करता है वह उसका उत्तम निर्दोष रीतिसे करता है । अर्थात् निर्दोष रीतिसे कार्य करनेका नाम योग है । वह निर्दोष रीति इन श्लोकोंमें कही है कि— आत्मसमर्पण होकर समस्तबुद्धिसे सिद्धि और बलिहारी विषयमें समस्तबुद्धि रक्षाकर कार्य करना और उस कार्यकी साथ भूतमात्रके हितके हेतुसे ईकार्य करना । इस बुद्धिसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता है । समस्तबुद्धि का ही बिनाशना इस कर्मयोगकी बुद्धिमें है । निष्काम भावसे कर्म करनेका वैदिक उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट दर्शाया है । इसी विषयमें आगेके श्लोकमें अधिक स्पष्टीकरण है । वह अब देखिये—

(५१) इस श्लोकमें सारांशसे वही बुद्धियोग कहा है कि जो सर्वभूतार्थकर कहा था । वही योग विषय कहे हैं—

(१) बुद्धियुक्त होना, (२) मनीषी बनाना और (३) कर्मफलका त्याग करना ।

इन तीन विषयोंके वाक्य करनेके दो पद करे हैं (१) एक जन्म यदि मनीषीमें प्रवृत्त और (२) दूसरा जन्म—

अकरोतः ।) कष्टकी कामनासे काम करनेवाले हीन और
हीन हैं वे अतिमिथ्या दर्शने मनुष्य हैं । जिस कर्मोंसे बचन
होता है वे नहीं सफल कर्म हैं ।

कामना छोड़कर अकष्टकी इच्छाका त्याग कर ईश्वरार्पण
मुक्तिसे किये कर्म कर्ताको शेष नहीं बचाते इसी विषयमें
वेद और उपनिषद्में निम्नलिखित उपदेश व्याजमें आरम्भ
करने योग्य हैं—

त विविक्षा न सिष्यते कर्मणा पापकेम ।

(ई १।१।१३)

मेम त्वकेन मुञ्जीया मा शूचाः कथ्य स्थित्यन्तम् ।

कुर्वन्मयेह कर्माणि विज्जीविषेच्छत समाः ।

पर्य त्वयि नाम्यद्येतोऽस्ति न कर्म सिष्यते नरे ।

(ईष १।१)

इस परमेश्वरका आज्ञा प्राप्तकर मनुष्य पापकर्मोंसे मुक्ति
नहीं होता । इसलिये आज्ञा करने परीपकार करने—योग
कर मत कष्टका, मय (कथ्य = ब्रह्मविद्या) शूचा पापक
कर्ताका है सब मन्त्रावलीके दिवसे कार्य करनेके किये ही
सब बत है । इस कर्मकी सिद्धिके किये अत्यन्तक विविध
कर्म करत हुए मनुष्य ही सर्व जीवित रहनेकी इच्छा कर
ऐसा करनेसे कर्मका शेष नहीं बचता । वे वेद और उप-
निषद्के वचन हैं इससे अनुष्ठान योगका उपदेश देकिये

न मां कर्माणि विप्रमृति न मे कर्मफले स्पृहा ।

(म गी ३।१४)

योगयुक्तो विमुक्तसमा विवितारमा विवेगिन्द्रियाः ।

सर्वभूतसमभूतात्मा कुर्वन्नपि न सिष्यते ॥

(म गी ५।७)

ब्रह्मरूपाधाय कर्माणि सर्वां त्यक्त्वा करोति यः ।

सिष्यते न स पापेन पद्मपत्रामिषाम्भसा ॥

(म गी ५।१)

पश्य माईकतो भावा बुद्धयर्थस्य न सिष्यते ।

द्वारार्पण स इमांस्तीकाद्य दृष्टि न निवर्धयते ॥

(म गी १०।१८)

मेरी कर्मके कष्टकी कामना नहीं है तथा मुझे कर्मका
शेष नहीं बचता । समस्त बुद्धिकर योग करनेवाला पवि-
त्रात्मा संवन्नी और ईश्वरनिगरी तथा सर्व भूतमात्रको

अपने समस्त आत्मैवाका कर्म करता हुआ भी शेषके
अविष्यत रहता है ॥ जो मनुष्य कर्मोंकी लक्ष्मार्पण करने
आसक्तिरहित होकर करता है वह कर्मके दोषोंसे शोभी नहीं
होता, जिस प्रकार कमलपत्र पानीमें रहता हुआ भी
भीगता ॥ जिसको बहंकार नहीं और जिसकी बुद्धि लचील
नहीं है वह इन लोगोंको मारता हुआ भी नहीं मारता और
इस कर्मके कारण संवन्नी भी नहीं बचता ॥ '

बहु ईश्वरार्पण कर्म करनेका अर्थ क्या है, निष्काम कर्म
का आशय क्या और आसक्ति छोड़नेका सी क्या उत्तरार्थ है
वह स्पष्ट हुआ है । इसका आशय यह है— वत्स
वार्द्धक्या भावा) जिसके अन्तर बहंकार वर्मक नहीं है
करता हूं और मैं भोगूँगा वह स्वाध्याय जिसमें नहीं है,
जो किर्तिविष आत्म-संयम करके, क्लान्तमुचित कर्म
स्ववहात करता है और जो (सर्व भूत-आत्म भूत-
आत्मा) सब भूतोंकी आत्मा जिसकी अपनी आत्मा है
सब भागिदारोंको जो अपने आत्मके समान विष भावता
है, सब भागीदारोंका विषये जो अपना दिव भावता है
साधारण मनुष्यकी अपने योग बढावैसे कैसा संतोष होता
है इस प्रकार सब भूतमात्रोंका दिव भावन करनेमें जिसे
धमाबल होता है, जो सब भागीमारोंके दिव भावका
कार्य करना अपना कर्तव्यकर्म मानता है, वह भावों ईश्वर
रूप बुद्धिके निष्काम कर्म करता है । सब भूतोंकी अपनी
आत्मके समान भावनेकी कल्पनाके पाठोंके अर्थों स्थिर
होनेपरही वे जान सकते कि निष्काम और आत्मविहित कर्म
कैसे किये जाते हैं । जो सब भूतोंकी अपनी आत्मके वत्स
नहीं मान सकता वह निष्काम कर्म कर नहीं सकता ।

कई मनुष्य कहते हैं कि अकारणिक न रहनेपर उत्तम
उत्तरदाते कम नहीं हो सकता परन्तु वस्तुस्थिति इतने
विषयक निश्चय होती है । अकारणिक छोड़कर ही उत्तम
उत्तम स्थिति कर्म होता सम्भव होता है । इस आत्ममें
साधुसत्त साधुसत्त देव और वर्मके किये कार्य करनेवाले
जितने महात्मा हो गये हैं वे सबके सब स्वार्थकामनाको
छोड़कर ही कार्य करते वह ईश्वरी वचन विवेक कार्य हो सके
और इसी कारण वचनका वरा इन सम्भवतक बचा जाता है ।
आज भी हम कहते हैं कि साधारण स्वार्थपराधम लोगोंकी

वाक्य हमें डीक पठा करोया, जतः हाथके तीन सेवू अब देखिये—

वातस्पमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देष्टे काले च पात्रे च तद्दानं सार्थिकं स्मृतम् १०
पशु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिस्फुटं तद्दानं राज्ञसं स्मृतम् ११-१४
अष्टोक्तकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
सत्सङ्गतमयकालं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १२ ॥

(अ टी १०)

यह समझकर कि हाल देवा योग्य है वह दान अब बल्लेकी बाधा न रखकर देष्ट काल और पात्रका विचार करके दिया जाता है वह धर्मव्यवस्था है । जो दान बल्लेकी बाधासे वा फल निष्ठेकी दृष्टिसे और दुःखी होकर दिया जाता है वह दान राजसिक है ॥ देष्टकाल और पात्रका विचार किंच नित्य तथा काष्ठरक्षणकारके विना तथा विरक्तदुर्लभ को दान दिया जाता है वह तामसवृत्त कहा जाता है ॥

यहां तीन प्रकारके दान कहे हैं । इनमें कर्तव्यवृत्तिसे देष्टकाल प्राप्तके विचारसे दिया हुआ दान मेष्ठ बल्लेकी और फलकी बाधासे तथा बडे दानके साथ जो दिया जाता है वह तामस और जो देष्टकाल पात्रापात्रका विचार न करने विरक्तदुर्लभ दिया जाता है वह तामसदान है । बल्लेकी फल तथा और लभ्यका लभ्य फल होता है । इसलिये जो त्याग और दान मेष्ठ होना उनीका फल लभ्य-लभ्यसे मुक्ति और कष्टहीन लभ्यवाची प्राप्ति होना स्वाभाविक है ।

इससे विचारसे हम कह सकते हैं कि जो कर्मके फलका त्याग लभ्यका दान करता है लभ्य (१) कर्तव्य समझकर (२) निष्ठेवृत्तसे (३) कोय छोड़कर (४) प्रत्युपकारकी दृष्टि न रखकर (५) योग्य देष्टमें (६) योग्य समयमें (७) योग्य प्रत्याग देष्टकर और (८) योग्य रीतिसे जो दिया जाता है वही लभ्यवरी मुक्ति करने वाला और लाभान्व देष्टेवाला होता है ।

कर्मका फल लभ्ये किये न रखकर उसका लभ्य लभ्यकी पर्याप्तके किये योग्य रीतिसे प्रत्युपकार करना चाहिये । वही एक मुक्ति है जिससे मनुष्य वारताम्यसे मुक्त होकर

लाभान्व प्राप्त कर सकता है, त्यागका लभ्य यह है और वही मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है । एक कुप्रीत्य प्रत्युपकारके उत्तम कर्तव्य कर्म करे जो इस कर्मका फल लभ्य रूपसे प्राप्त होगा उसका सत्यात्ममें लभ्यवाची मर्त्याई किये समर्पण करे । इसी प्रकार लभ्यात्म्य कर्मफलके त्याग करनेके विषयमें जानना योग्य है । पाठक इस फलत्याग विषयको इस संग्रहे समझनेका लाल करें । अब इससे पताच इस त्यागसे होनेवाले दो फलोंका विचार करेंगे । लभ्यमनुकला और लभ्यमव त्यागकी प्राप्ति से दो फल इसके हैं । इनसे क्या लाभ निकला है इसका लभ्य हम विचार करते हैं—

साधारणता मनुष्य लभ्य वंचनमें पड़े हैं, और वंचनोंके कारण विविध दुःख योग्यते हैं । वंचन परलभ्य परबलता पराधीनता ही दुःख है । इस दुःखको दूर करनेके लिये ही यह कर्मयोग है और इस कर्मयोगका पधारण करनेके लिये कर्मफलका त्याग करनेकी मुक्ति बढ़ा करी है । लभ्य वंचन लभ्य परलभ्य दूर करनेके लिये कर्मफलका त्याग करना अवश्य आवश्यक है । कर्मका फल लभ्ये किये रखनेसे वंचन होता है और वह फल सब लभ्यवाची किये दान करने से वंचनकी निवृत्ति होती है । इसलिये एक बड़ाहान्य हम कहे हैं ।

एक प्राय है और उसमें वी कुटुंब रहते हैं और उस प्रायमें हजार बीघे भूमि है । लभ्य प्रत्ये कुटुंबके प्रायमें एक बीघा भूमि जाती है । यह विभाग दृष्टान्तके लिये एक बीघेकी मर्त्याई लभ्यवाची वाद कगामी पवती है । प्रत्येक का स्वार्थ-लभ्यका लभ्य होनेके कारण प्रत्येकी मर्त्याईका दृष्टान्तवाला लभ्य हरएकके चारों ओर होना अनिवार्य है । परंतु यदि हरएक लभ्यमें लभ्यकी भूमि का लभ्य प्रायकी मर्त्याईके लिये दिया लभ्यका सब प्रायकी योग्य लभ्यमय रहे और लभ्यमय रहकर सब निककर संपूर्ण प्रायकी क्षति यदि व्यवहार लभ्यात्म्य करने लगे तो उस समय विभक्त लभ्यवाची कारण होनेवाली मर्त्याईके वंचन कमानेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । एक प्राय लभ्यमय होनेके कारण लभ्य हरएकका स्वार्थ मनुष्यके हितके लिये समर्पित होनेके कारण लभ्यका धर्मव्यवस्था स्वार्थ प्राप्त दानका स्वार्थ हो जानेके कारण वैयक्तिक मर्त्याईका वंचन लभ्यका लभ्यव्यवस्था हो जाता है । इसी प्रकार विवरी लभ्य

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिधर्मं विचरिष्यसि । तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥११॥

अन्वयः— यदा ते बुद्धिः मोह कलिलं वचिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि ॥ ११ ॥

जब तेरी मति मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनताको दूर करेगी, तब तू इस सुने हुएके और सुननेके विषयोंके संघर्षमें उदासीनता प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

जबकी वैचल्यक स्वाधीनता मर्यादा बंध जायगी तबमें ही संन्यस होवे । अपने कर्मका फल में ओगूना यह वैचल्यक अभिमान जब अनुशासक के दितके किये यह होगा इस प्रकार एक-एक लड़ाई यह होते होते ललितक मर्यादा को पराजित करी लसपाई स्थिति है इस लसपाई सत्ताके किये ही सब कर्म और कर्मके फल समर्पित होमें तब पूर्णतः करके ही कोई संन्यस अवशिष्ट नहीं रहने लगे कि इस समय एक भी वैचल्यक लड़ाई संन्यस उत्पन्न करनेके किये स्वाध्याय नहीं होता ।

वैचल्यक सत्ताका अभिमान और इसकी भाग्यताका अवशिष्ट रहनेके कारण जन्म केना जायजक होता है और जन्मके पन्ना विविध दुःख योगना भी अवशिष्ट नहीं होता है । पोटु जब पूर्णतः बकार जन्मका मूल कारण वैचल्यक अभिमान समूह लक्ष्मी प्राप्त होता है जबका जन्मसर्वस्वका पूर्णतः समर्पण करनेकरके किये हो जाता है तब जन्म और संन्यसका कोई कारण केव नहीं रहता और यह जन्म-संन्यसके सुप्त हो जाता है । इस प्रकार लक्ष्मी के होना ही यह अनुपम वाचनके स्वाध्यायको प्राप्त करना है । जहां दुःख का केव भी नहीं है और केवक विषय जायजक ही जहां यह स्वाध्याय वर्धनी प्राप्त होता है जिसके वैचल्यक लड़ाईका जाय समूह वाचनको प्राप्त होता है ।

इसी अष्टमके श्लोक ११-१५ की व्याख्यामें लक्ष्मी बचा दिया है कि ज्ञातियों लक्ष्मी अवस्था रहती है और सुप्तिये ज्ञान अवस्था जीवतमाको प्राप्त होती है । [यह सब सिद्धि भी वाचक नहीं देखें] वाचक अवस्थामें स्वनिष्ठतम अभिमान वाचक रहनेके कारण जन्मता लक्ष्मी अवस्था में रहता है और करीके दुःख लोपता है; वरंतु जब इसीकी ज्ञाति यह होती है और साध-साध लक्ष्मी बचना भी यह होती है और जब यह सुप्तिये पहुँचकर ज्ञान अवस्था का अनुभव केने लगाता है तब इससे शरीरके कोई दुःख यह नहीं पहुँचा सकते । लक्ष्मी अवस्थाके

यह को छोड़ने और ज्ञान अवस्थाके लक्ष्मी लक्ष्मी दुःख रहित यह को प्राप्त करनेसे ही अनुपमको अनुपम जायजक मिळता है । ये हो (यह) स्वाध्याय निष्ठ-निष्ठ है । अनुपमका शरीर लक्ष्मी के फलितवर्ति सुप्त होनेपर भी जब यह ज्ञातिये पहुँचो तोकर सुप्तिये पहुँचो प्राप्त करता है इस समय शरीरके प्रत्यक्ष लक्ष्मी सुप्त रहता है । यह अनुपम हरपक्षको प्राप्त है । जहां प्राप्त यह भी जान सकते हैं कि ज्ञान ज्ञातिये पहुँचो निष्ठ लक्ष्मी वैचल्यक लड़ाई जन्मता रहता है जैसा सुप्तिये लक्ष्मी निष्ठ होनेपर नहीं रहता जहां यह कहना लक्ष्मी नहीं है कि वैचल्यक अभिमान वाचक रहनेतक ही दुःखका अनुपम होता है और निष्ठ समय यह लड़ाई कीम हो जाता है तब इस लड़ाईके साथ सब दुःख भी दूर हो जाते हैं और यह अनुपम सब परपर पहुँचता है कि जहां निष्ठ लक्ष्मी ही जायजक है और दुःखका केव भी नहीं है । यह अवस्था अनुपम सब प्राप्त कर लक्ष्मी है जब कि यह—

१ (बुद्धिपुत्रः) समस्तिये सुप्त

२ (लक्ष्मी) सब ज्ञाति इतिवृत्ति लक्ष्मी करकेलक्ष्मी और—

३ (कर्मके फल लक्ष्मी-ज्ञान) कर्मके फल होनेवाले फलका सब सुप्तमात्रके दितके किये समर्पण करनेवाला लक्ष्मी है । जब ये इसके निष्ठ स्वभाव लक्ष्मी है तब इसको यह सहज वाचन स्वभावता प्राप्त होने लगता है । लक्ष्मी मात्र ही लक्ष्मीकी ज्ञाति लक्ष्मी है । इस जीवतम कीम अनुपम पहुँच सकते हैं लक्ष्मी इस परम लक्ष्मी करके ही लक्ष्मी निष्ठ लक्ष्मी करके जाति है इसका ज्ञान जाति के हो लक्ष्मी बचाता है—

(११-१३) इस लक्ष्मी लक्ष्मी अनुपमकी बुद्धि उन्नत होनेका फल बचाता है ।

(१) [मोहकलिलं बुद्धिः वचिष्यति] = मोहके जीवतमे बुद्धि का दार होना,

(१२) स्थितप्रज्ञके लक्षण

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का माया समाधिस्थस्य केशव । स्थितधी किं प्रमायेत किमासीत् प्रवेत् किम् ॥५४॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे केशव ! समप्रविरचस्य स्थितप्रज्ञस्य का माया ? स्थितधीः किं प्रमायेत ? किं मासीत् ? किं प्रवेत् ? ॥ ५४ ॥

अर्जुनने पृष्ठ— समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं ? स्थितप्रज्ञ किस तरह बोधे कैसे वेद और कैसे बधे ? ॥ ५३ ॥

योगिनि आसक्त हुए मनुष्योंकी चञ्चल बुद्धि समाधिमें स्थिर नहीं रहती और योगमें स्थिर मनुष्योंकी बुद्धि चञ्चल होकर समाधिमें स्थिर रहती है और समत्वक्य योग मार्गका वाक्कमन करती है । इन दो श्लोकोंका साथ साथ समन करनेसे बड़ा मोक्ष प्राप्त हो सकता है ।

इस रीतिसे साधारण मोक्षके बीचमें क्या हुआ मनुष्य कमलः उन्नत होता हुआ अपना विश्व स्थिर करने योग— साधनके परम उन्नतिको प्राप्त कर सकता है । इन श्लोकोंमें जो उन्नतिको कम बताया है, वह हर एक साधकको बड़ा बोधप्रद हो सकता है । अतः पाठक इन श्लोकोंका बलपूर्वक प्रथम समन करें ।

यहाँ भुक्ति-विमोक्षिका बुद्धि के अन्तर्गत अनेक कारण बताये हैं । भुक्ति अर्थात् कार्य अर्थात् प्राप्त होना यह एक होता है और वेद यह इसका दूसरा अर्थ है । कई लोग यहाँके भुक्ति अर्थात् वेद अर्थ लेकर इस श्लोकका ऐसा अर्थ करते हैं कि वेद-अर्थसे विगड्गी वा चञ्चल हुई भक्ति जिस समय चञ्चलता छोड़ देती तब वह समाधि के अर्थसे समन होगी । यह अर्थ इस श्लोकका नहीं है और यहाँ ' भुक्ति अर्थात् वेद अर्थ अभीष्ट ही नहीं है । इसके पूर्वके श्लोकमें भुक्त मोक्षक्य के दो अर्थ जिस अर्थमें पड़े हैं उन्हा अर्थका भुक्ति अर्थात् नहीं है । वे तीनों अर्थ भुक्त भुक्ति और मोक्षक्य एक ही आत्मे अर्थ हैं और यहाँ उनका अर्थ योगीके सर्वशक्ति अर्थसे इतना ही है । विशिष्ट अर्थके योग अपने अपने अर्थमें आनेसे उनको चञ्चल मोक्ष मिलेगा ऐसा अर्थप्रमाण प्रमाण करते हैं । वह भाव्य अर्थसे अर्थसे अर्थसे योगमार्ग का-चारक्रम के अर्थों भुक्ति इत माती है और उन योगोंको प्राप्त करनेमें रुचि बढती है । ऐसे बड़ी उपदेश अर्थसे करनेसे

विगड्गी बुद्धि अब स्थिरितसे उन्नत होगी, तब वह समाधिमें किये तथा समत्वक्य योगमार्गके अर्थ समन होगी, वह आसक्त नहीं है । यहाँ वेदकी सिद्धा नहीं है । क्योंकि (अर्थसे मुक्तिपात्र, मा युवाः बहू ४ ११) अर्थसे योग कर मत कहना । यही वेदका उपदेश विचारसे नहीं कहा है जो इस अर्थयोगका सूत्र सूत्र है । अतः भुक्ति अर्थात् कार्य नहीं आसक्त्य उपदेशोंका अर्थ प्रसा केना योग्य है ।

अनुभवका मन उन्नतवादि अनुभव उपदेशकोंके उपदेश अर्थसे अर्थसे चञ्चल हुआ वा, वह उन्नत कारण अपना स्वाभाविक अर्थ अर्थसे और विपरीत मार्गपर चञ्चलको ऐसा हुआ वा । अतः यहाँ प्रमाण कहते हैं कि ऐसे विपरीत उपदेशकोंके स्वाभाविक अनुभवसे उन्नतता मन चञ्चल हुआ है । अब उसकी वह चञ्चलता दूर होगी तब हम समत्वक्य योगका आचरण करनेके अर्थसे वह स्थिर होगा ।

इतना उपदेश अर्थसे अनुचारितसे अनुभवके प्रमाण अर्जुन आका पाहता है कि स्थिरबुद्धि होनेसे क्या कम होता है मनुष्य क्या करता है उसका वाक्कमन कैसा होता है इत्यादि स्थिरबुद्धिका अनुभवका प्रमाण—

(५४) श्रीमद्भगवद्गीताका भावार्थ मनुष्य ' स्थितप्रज्ञ अर्थात् अर्थसे अर्थसे । मनुष्यके दो अर्थ होते हैं एक स्थित मन और दूसरे चञ्चलमन । स्थितकी प्रज्ञा चञ्चल होती है वे हीन अवस्थाको प्राप्त होते हैं और स्थितकी प्रज्ञा स्थिर होती है वे उन्नत अवस्थामें प्रविष्ट होते हैं । चञ्चलमन मनुष्य तब प्राप्तमें अर्थसे स्थितमन ॥ बिराजे हैं । उन्नति चाहने वाले हर एक मनुष्यकी बुद्धिकी चञ्चलता सोधनी और स्थिरता प्राप्त करनी आवश्यक है । इस प्रकार स्थितमन बना मनुष्य एक तो समाधिमें रहता है अथवा आसक्तिमें व्यवहार करता है । आसक्तिसे व्यवहारमें भी उन्नति दृष्ट

हृत्वा ही नहीं बनितु अपने विचारों से मानके और आचरणके दूसरों को सुक हो देना आचरण करना । इस अर्थसे शेषका मक हू हो जाता है इसके साथ साथ प्रत्य-पावन बनेष बर्णाद चोरी न करना करार, बाकी मग आधिकी वसिष्ठता रखना, सेवोपकी हृष्टि चारण करना, श्रीगोम हृष्ट करकेका वन आचरण करना वरुण प्रयोगका मन्त्रवचन करना और अहा परमेस्वरकी वसिष्ठ करना ये और ऐसे अनेक वचन हैं कि विषयों द्वारा अनुष्ठान अपने मर्कोंको हू कर सकता है और मोहके बीजवसे करने आपकी वचा सकता है ।

अनुष्ठानके वास करन तथा वेद विद्या और आधिकाये हृष्टि हैं और इनसे अन्ध रूपक करन रत और प्रवचन योग किन जाता है । इन योगोंसे कलमेवाकीको रोषाधिकी कर वृत्त योगमा पड़ता है तथा मोहोंमें व रुचनेका वल करना अवैत जन्मवच है । इससे अनुष्ठान विषय को कि मैं अपने अर्थोंका ही प्रयोग करेगा । अपने मग ही पड़ना और अपने अन्ध ही हृष्टि, रसमग ही वचाकीवराके किने स्वाध्याय व मन्त्रा और न-रवाच मकका पावन कहेका स्वात्मके किने जिस जन्मी आचरणका है, वैसा ही मग अहा और स्वाध्याय वरुण वल न करेगा । एवमेके विषयमें वचा कर्माधिके विषयमें हृष्टी प्रकार मन्त्रात्मक अनेकवसे विषयमें भी मैं वलपूर्वक संभवमग मग वीकार करेगा । इस रीतिसे अन्ध करवेर अनुष्ठान मोहके आचरणको छोड सकता है कीचरके को सकता है और आचरणक मन्त्राकारको हू कर सकता है । इस रीतिसे अन्धकार करवेर अनुष्ठान अपनी हृष्टि मोहक आचरणको (हृष्टि मोहककिं अतिरिचिम्) हृष्ट करता है और अपनी हृष्टि को स्वक पतिर और मकहीन कर सकता है ।

हृष्टी वचनमें अनुष्ठानकी हृष्टि वैदी वैदी हृष्ट होती जाती है वैसा वैसा वह अनुष्ठान योगोंके विरक्त होता जाता है । (विवेक गन्तादि) योगोंके विषयमें वचाहीन होनेके बिना अनुष्ठान कर्मापि मन्त्राधिकी वल न करेगा । अब उक्ति मक मोना और विषययोगोंके मगमें वचा सीमा वचन करना ये दोनों कार्य साथ साथ होते जाते हैं । ये एक दूसरेपर अवर्धित हैं । मितवी योगविषयमें विरक्ति होती वचन ही (मोहककिं) मोहका बीजव मोना

जायगा ।

इस प्रकार हू दो बातोंमें प्रगति होनेपर (विरक्त हृष्टि) हृष्टि की वचनका हू होती जायगी । योगी योगोंकी हृष्टि ही वचन हाती है क्योंकि एक ही योग वचन कर एक योग नहीं जाता, बोधे अमकके पञ्चाद वरुण वच हो जाती है और दूसरे योगमें वचि अन्ध होती है । इस कारण योगी योग वचनहृष्टिमें होते हैं । हृष्टी मन्त्रावमें पूर्ववचमें वचा है कि—

अनुष्ठानका अचरताम अनुष्ठानाच्छवचविनाम् ।

(म गी १११)

अन्धवचानी वचार्द योगी योगोंकी हृष्टि वचन और वचनी भी अन्ध आकाद होती है । इस अन्ध वचका विरक्त वचानिके किने योग वही होता है । (इस प्रसंगमें व गी व १ को व — ११ एक विरक्त-वचि देखने योग है वरुण वचको वही अन्ध वचने) । वचार्द वह है कि योगी योगोंकी विरक्तहृष्टि वचन होती है वचार्द योगोंके विरक्त हृष्टि विरक्त योगोंकी विरक्तहृष्टि (हृष्टि विरक्त) जाता होती जाती है । पूर्वक वचन विरक्त हृष्टा अनुष्ठान अपनी विरक्तहृष्टि वचन हो रही है इस बातका अनुष्ठान करता है ।

विरक्तहृष्टि की वचि अब अनुष्ठान वरुण वचन वचने वचनी है वचनका अब वह स्वाध्याय वच जाता है वच हृष्टी हृष्टि (प्रमावनी वचका स्वाध्याय) प्रमावनात्मने विरक्त वचनी है । वचने दो अनेक साथ साथ देखने योग है—

अयोगहृष्टि
योगेन्द्रावचलार्ता

हृष्टि समाधी न
विधीवसे ० (म
गी ११०)

योगी योगोंकी हृष्टि
प्रमाविके योग
वही होती ।

योगहृष्टि

मोहककिं हृष्टिर्वचि
वचि । - वचा वचानि
विधी । समाधावचलार्ता
हृष्टिस्वदापोपमवावचलार्ता
(म गी १११)

अब हृष्टि योगोंकी हृष्टि
होती वच विरक्ति योगी और
अन्धवचन वचानिमें हृष्टि विरक्त
वचन योगोंके योग होती ।

हू दो योगोंमें वरुणवचन हृष्टि की वचन है ।

अन्वयः— हे पार्थ ! यदा (यदा) मनीषताम् सर्वाण्य कामान् ब्रह्महाति आत्मनि पुन आत्मना दृष्टः (भवति) तदा स्थितप्रज्ञः ब्रह्मते ॥५५॥ दुःखेषु अशुद्धिमयानां, सुखेषु निगतस्तृष्टः, भीतशमा-अप-क्रोधः मुनिः स्थितधीः ब्रह्मते ॥५६॥ यः सततं ब्रह्मसित्तेष्टः तत् तत् श्रुतश्रुतं प्राप्य न ब्रह्मिण्यति न ह्रेति तस्य प्रज्ञा प्रविष्टिता ॥५७॥ कर्मैः ब्रह्मणि ह्रुव, यदा न ब्रह्म हृदिबार्धेयः ईशियाणि सर्वथाः संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रविष्टिता ॥ ५८ ॥

हे मनुज ! जब मनुष्य अपने मनमें उत्पन्न होमेवासी सब कामनाओंका त्याग करता है और अपने आत्मामें आत्माश्रय ही समुत्पन्न रहता है तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥ ५५ ॥ दुःखोंमें जिसका मन हवास नहीं होता और सुखोंमें जिसकी आसक्ति नहीं होती प्रीति मय और क्रोधरहित जो रहित होता है उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं ॥ ५६ ॥ जो पुरुष सर्वत्र आसक्ति रहित होकर शुभ तथा मनुष्यको प्राप्त करनेपर न आनंदित होता है और न श्रेय करता है उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती है ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार कलुषा अपने सब अवयव समेट लेता है वही तरह जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे अपने सब इन्द्रियोंकी समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

मायाबाई- जो मनुष्य अपने मनमें हरण हुए उस कामवालोंको खोजता है और अपने नामात्मे विष कामन्दसे ही कामरिप होता है, जो हुआको ब्रह्म नहीं होता और सुखोंमें लालच नहीं होता। जो किसीपर लालच नहीं होता, किसीसे डरता नहीं और किसीपर क्रोध भी नहीं करता; जो लालच बुधिये रहता है और क्रुमकी प्राप्तिसे कामरिप नहीं होता और लालचसे द्वेष भी नहीं करता; जो अपने सब इन्द्रियोंको अपने मनोसे हरण है उसकी बुद्धि स्थिर हुई, ऐसा वह लक्षण है ० ५५-५६ ॥

(५५-५८) इस छोटीसे शिवरात्र के उत्सव को है । इसमें पहिला उत्सव (मनोमण्डल सर्वाङ्ग कामानुभवशालि) मनोमण्डल सब कामवाचोक्त त्याग करना है । वहाँ केवल बहुत कामवाचोक्त त्याग करवा और कुछ कामवाचोक्तों को दूर करना अभीष्ट नहीं है । छत्र और बहुत दोनों कामवाचोक्तों का त्याग नहीं करीष्ट है । साधकावस्थामें ही छत्र कामवाचोक्तों को पीछे करके बहुत कामवाचोक्तों का प्रतिष्ठापन करना होता है । मनको सुखित्वा देखेके छिने वह अन्धास किता जाता है । इस अन्धासावस्थामें बहुत कामवाचोक्तों का त्याग करनेसे छोटी दशास अथवा अधिक वाचवाचोक्तों का त्याग होता है । इस अन्धासमें बहुत वाचवाचोक्तों का त्यागके सिध्दते वाचवाच त्याग करनेकी शिष्टा मिलती है । इस वाचवाचवाचकी शिष्टाते ही छत्र वाचवाचोक्तों की मणरी इत्यादिका अन्धास होता । मनुष्यका मन छत्राच्छ्रम वाचवाचोक्तों के कारण वाचवृत्ति के बलके छत्रमें व्यस्य होता रहता है, उसकी व्यस्यता दूर करना अभीष्ट है । मनुष्य शिवरात्र सब हो सकता है वह बचके मणरी व्यस्यता पूर्वकता दूरती है । कामानुभव मनुष्यका मन छत्र और बहुत दृष्टियोंसे दशास व्यस्य रहता है वह विशदशिवोक्तों शिवोक्तोंके और मणरी

प्रथमा दूर कपडेचे स्थिर होता है। जन्मासकी प्रथमा-
वस्थामें बहुत बृत्तियोंको हृदयेचे बायीं बस्थिरत्वा दूर होती
है वस्तु आगे चक्कर घटा करता है कि छुट बृत्तियोंमें
भी जनकी चम्कता होती है उस समय वह छुट बृत्तियों-
को हृदयेका भाग करता है। इस पत्रकी सफ़ा होनेमें
मनुष्य शिथिल बृत्तिका होता है इन्की नाम स्थिर-
त्वा है। छुट और बहुत कामनाओंको हृदयेकी सूचना
हैके किये ही इस श्लोकमें (सर्वां कामान् इच्छाति) सब
कामनाओंको हृदयेका उपदेश किया है। सब कामनाओंमें
कैसी छुट वेसी ही असुख कामनामें भी जाती है। मनकी
जातिके किये इस दोनों कामनाओंको हृदया नाशक है।
वहाँ बहुत लोगोंको यह शंका हो सकती है कि
मनुष्यके सबसे शुभ कामनाओंको हृदयेचे क्या काम होता है।
असुख कामनाओंको हृदयेमें किसीका शिरो घना होना संभव
नहीं है। जो मार्गका है वह शुभ बृत्तियोंके हृदयेके स्थिरत्वा
है। जरा इस बातका विचार करना वहाँ नाशक है।
सुख समाधि और सुखि इस दोनों अवस्थाओंमें ब्रह्मरत्ना
होती है। इस केवल सुखि जगत् पर विज्ञाकी विचार
करके वहाँके पाद विज्ञाकी वह अवस्था सबके अनुभवकी

श्रीमद्भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थं मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥१५॥
 दुःखेष्वनुद्विग्नमनां सुखेषु विगतस्पृहं । नीतरागममक्रोधं स्थितधीर्मुनिठह्यते ॥१६॥
 यः सर्वज्ञानमिहो हस्ततस्तप्राप्य श्रुमाश्रुमम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१७॥
 यदा सहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीभ सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१८॥

यह अवस्थाएं होती हैं एक कोऊ का जन्म का विचार मकट करना, दूसरी किसी अवस्थामें स्थिर रहना और तीसरी स्वब्रह्म का जन्म । इन अवस्थाओंके इस अर्थमें यहाँ पृष्ठे हैं ।

[१] (समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भावा ?) समाधिरिति स्थित स्थितप्रज्ञके क्या अर्थ है ? अर्थात् जिस समय वह स्थितप्रज्ञ समाधिमें आती स्थितिक्रम अङ्गभय केता रहता है उस समय वह कैसा होता है ? उस समय इसके क्या अर्थ होते हैं ? इस अवस्थामें वह जिस कर्मोके वृत्तमान होता है ? जिस कर्मोको देखते वह स्थितप्रज्ञ ज्ञानी समाधिमें है ऐसा जाना या कहता है ? स्थितप्रज्ञ का भावा इस अर्थमें भावा अर्थका जन्म जन्म का अर्थ है । यहाँ कहना चाहिये भावा अर्थ मनुष्य हुआ है । भावा अर्थका अर्थ 'मात्रम वस्तु' देखा होता है परन्तु वह यहाँ गवीह नहीं है । गवीह यहाँ प्रथमतःवर्तते अर्थ पृष्ठे हैं ।

जब समाधि अवस्था अनेक समाधिरिति जाता है उस वह स्थितप्रज्ञ कैसा आचार्य करता है ? समाधिरिति ज्ञानी मनुष्य समाधिरिति है उसी कोऊ है, यही कैसा है और यही स्वब्रह्म कहता है । इस अर्थमें मनुष्योमें इस समाधिरित्यामें अर्थ करवाने का मनुष्योमें जो स्थितप्रज्ञ मनुष्य है वह कैसा स्वब्रह्म करता है : [२] (स्थितधीः किं भावेत् ?) स्थितप्रज्ञ कैसा कोऊ है ? किं प्रकारके अर्थ आचार्य है ? किं प्रकारके विचार मकट करता है ? समाधि अवस्थाके समाधिरिति जाता मनुष्य किं प्रकारके अर्थ करता है ? क्या वह सामान्य मनुष्योके ज्ञान ही कोऊ है जन्म का अर्थ विवेचना कहते रहती है ? समाधिक मनुष्यम कर्म काके और न करवानेके मात्रामों कोऊ है ? इस मात्रामों के पदार्थों कि वह समाधिस्थ कैसाका मनुष्य

है और वह मनुष्य समाधिरिति नहीं गुणा है ?

जब समाधिरिति रहता हुआ मनुष्य समाधिरिति जाता जन्म, उस [१] (किं भावेत् ?) कैसा है ? कैसा आचार्य ज्ञानी । किं अवस्थामें स्थिर रहे । किं स्थितधिरिति स्थिर रहने समाधिरिति अवस्थामें रहनेका मनुष्य समाधि अवस्था में आ सकता है । इस कैसा पदार्थों कि वह मनुष्य समाधिरिति सिध्दा कर रहा है ?

[२] (अर्थ कि ?) वह मनुष्य जन्म का अर्थ कैसा है । स्थितप्रज्ञ मनुष्य जब समाधिरिति रहता है उस वह कैसा स्वब्रह्म कहता है । किं प्रकारके अर्थ देखते इस जन्म कि वह मनुष्य स्थितप्रज्ञ है ?

स्थितप्रज्ञ मनुष्य जन्म मनुष्योके किने कार्य होता है । जन्म जन्मजन्म सामान्य मनुष्य वह अर्थ होता यहाँ जो इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका आचार्य देखे और कैसा जन्म आचार्य को वह कैसा आचार्यका अनुमान करता है वह देखकर स्वयं कैसा जन्म वह किं प्रकारके जन्म करने आचार्योमें स्वयं करता है वह देखकर कैसा मात्र स्वयं के जन्म यानी कैसा जन्म । इस स्थिति वह कार्य मनुष्य दुष्टोंका अर्थार्थ होता है । जन्म अर्थ पृष्ठ रहा है कि, इस प्रकारके स्थितप्रज्ञ अर्थ क्या है ?

स्थितप्रज्ञ और स्थितप्रज्ञ के दोषों जन्म एक ही जन्म पृष्ठे हैं । जन्मका अर्थमका मनुष्य किसी कार्य के अर्थ सार्थ नहीं होता । परन्तु स्थिर मनुष्यका मनुष्य मनुष्य मनुष्य कार्य जोर स्थिति र्थ करनेमें समर्थ होता है । स्थिर स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी हृदयी कोऊता होकेही यहाँ उक्त कहना पृष्ठे हैं ।

अर्थमके के कारण जन्म मनुष्य मनुष्य कीकृप्य स्थित के अर्थ देते हैं—

बीर जिस आत्माको प्रकाशित करनेके लिये वह घटीरमिका
है उस आत्माका विचारवत् कोई नहीं करता । अतः कहा
है कि जब मनुष्य ह्यावाह्य कामवाचको त्याग करता
तभी उसको अपनी आत्मामें स्थित जायम् स्वर्ग प्राप्त होता ।
आत्माकी शक्ति वर्णन है, उसकी योहीही शक्ति इस
घटीरमें आ गई है और वह अनेक इन्द्रियोंमें विभक्त हो गई
है । यदि मनुष्य इन्द्रियभूमिमें कमेगा तब उसको योहीही
शक्तिका अनुभव ज्ञानेया; परन्तु यदि वह आत्माके असीम
श्रोतमें गोता लगावेगा तब उसको अपार शक्ति मिलेगी,
क्योंकि आत्माकी शक्ति अपार है । इस कामकी दृष्टिसे भी
मनोवत्त कामवाचके फलमें फलसा मनुष्यको कथित नहीं
है, परन्तु अन्तम बनकर आत्माकी शक्ति प्राप्त करा जाय
है । आत्मा अकाम है इसलिये अकाम बनकर ही उसकी
प्राप्ति हो सकती है । देखिये—

अकामो घीरो असुतः स्वर्ग्यमृ रसेन एतो य
कुतश्चनोक्ता । तमेव विहाय न विमयाय मूलो
परमात्मं बीरमन्तं पुमानम् ॥ (अर्थ १ : ८१४७)

आत्मा (अकामः) कामव्यतिरिक्त (बीरः) कैवल्य
बनवा (घी रः) सुखिप्रदाता अमर स्वर्गस्थित रहने
पुष्ट नहीं सी मूल नहीं (न-अतः) अराहित उक्त
कहा है उसीके बलबेबाका ज्ञानी मनुष्य प्राप्त होकर
गई । वही आत्माके न-काम कहा है वह कामवा
रहित होनेसे कामवाचको जोहनेवाके ही इसको प्राप्त कर
सकते हैं । कामवाचके जोहनेवाके अकाम बनते हैं, अतः
अकाम के साथ उक्तम एक होना सुगम होता है ।
अकाम की प्राप्ति अकाम को कैसे हो सकती है ?
अतः कहा है—

कपासते पुत्र्यं ये ह्यक्षमास्ते शुक्रमेतवृत्ति
पतन्ति घीराः ॥ (सुष्ठक ४ : १११)
तदा अस्पेतवासकाममात्मकाममकामं कुर्य
शोकान्तरम् ॥ (ह व ११११)
योऽक्षमो निष्काम आसकाम आत्मकामो
न तस्य प्राप्ता इत्यत्रमन्ति मध्ये सन्निह्या
प्येति ॥ (ह व १११०)
यदा सर्वे मनुष्यगते कामा येऽस्य हृदि
भिषाः । मय मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म सप्त

पुनते ॥

(ह व १११०)

‘ जो कामवा जोहनेवाके बीर मनुष्य परम पुत्र्यकी उपा
सना करते हैं वे विशेष बीर्य काम करते हैं ॥ वही इसका
काम है जो कामवाचक, आत्माको कामवाचका बनवा
कामवाचित है, वही शोकरहित है ॥ जो कामवाचित है
वही आत्माकाम आत्मकाम निष्काम बनवा सकाम कहा
जाता है । उसके प्राप्त नहीं जाते वह ब्रह्म बनकर मर्त्यमें ही
रहता है ॥ जब हृदयकी सब कामवाच दूर होती हैं तब
वह मरणावस्थाका अमर बनता है और वही ही ब्रह्म प्राप्त
करता है ॥ ’

यहां हम कपासिह्याचको अकाम होनेका महत्व वर्णन
किया है । वहां ‘ अकाम ’ का अर्थ निष्काम आत्माकाम
आत्मकाम कहा है वह अर्थ ज्ञानमें लाने योग्य है ।
जिसकी सब कामवाच प्राप्त हो गई हैं, कोई कामवाच
रही नहीं जिसकी केवल आत्माका अनुभव करनेकी ही
कामवा रही है उसको अकाम वा निष्काम कहते हैं । जब
हृदयवत्तक बनवाचों को स्वतः कहा है कि हृदयकी सब काम
वाच दूर होते ही सर्व अमर बनता है । मनुष्य उक्त ही
मर्त्य कहकार है कि अवगत उसमें कामवाच मरी रहती
है । कामवाचके मर्त्य रहनेसे शत्रुका भय होता है और
कामवाचके दूर होने पर शत्रुका भय दूर हो जाता है ।
परमात्मा अकाम होनेसे शत्रुवत्तके दूर है बीरवत्ता सकाम
होनेसे वास्तव मृत्युके भयसे भयभीत होता है । अतः मनो-
गत सर्व कामवाचोंको दूर करनेसे ही मनुष्यका भय दूर
होता है वह आत्मा विश्व है । अमर बननेके ह्मन्तक इसका
विशेष विचार करें ।

इसीको (आत्मवि एव आत्मना तुष्टः) अपने अमर
अपनी आत्मसे संतुष्ट हुआ कहते हैं । अकाम वा निष्काम
वना मनुष्य (अकामना तुष्ट) अकामसे संतुष्ट होता है और
सकाम वा भीगी मनुष्य अपात्रके प्राप्त भोगमें अदा नपुष्ट
रहता है । अकाम और अकामकी कल्पना निम्नलिखित
जोहनेकी सुबोधतया हो सकती है—

अकाम	सकाम
निष्काम	वर्णमात्रकाम
अज्ञकाम	कामोपभोगपरम
आत्मकाम	विषयभोगकाम

है। यदि पाद मिश्रमें प्राप्त किञ्च अवस्थाकी जाड़ी स्थिति प्राप्त करवी है तो मनुज अशुभ विचार जैसे हुए करने चाहिये देखे ही शुभ विचार भी हुए करने चाहिये। मनुमें शुभ विचार अवलोक करनेसे रहते अवलोक विज्ञा नहीं जाती। विज्ञाके किये जैसे अशुभ विचार हाथिकारक हैं जैसे ॥ शुभ विचार। अशुभ विचारोंसे मनु मकारकी हाथि होगी वह वात और है; परन्तु दोनों विचारोंके कारण हाथे-लक विज्ञा नहीं जाती, वह हाथ है। इससे स्पष्ट बोध होगा कि विज्ञा केही समस्तुषी किञ्च जाड़ी अवस्थाका अनुभव केहीके किये भी शुभमनुष्य दृष्टिपूर्वका साग करना आवश्यक है, फिर उससे वह समस्त अवस्था और उससे भी सर्वोत्कृष्ट मुक्ति अवस्था जिसको मनुका रचोपुष्पी मनुष्य और धारणुष्पी वचन जाड़ी स्थिति कह सकते हैं, प्राप्त करनेके किये शुभाशुभ वातवायोंका साग करना चाहिये। इसमें संदेह ही कैसे हो सकता है? अर्थात् जाड़ी स्थिति प्राप्त करनेके किये कैसे मनुष्य वातवायोंका त्याग करनीष्ट है, देखे ही शुभ वातवायोंका भी त्याग आवश्यक है।

ध्वजहारकी दृष्टासे मनुका मनुष्य बहानेके किये अपना मनुका सम स्थितिमें रखनेके किये अशुभ वातवायोंका ही त्याग करनेका आरंभ करना योग्य है। परन्तु मनुका बहानेके पत्रात् एक अवस्था ऐसी जाती है कि जिसमें शुभ वातवायों भी ओढ़नी पड़ती हैं। विज्ञाके किये उपा समस्तिके किये केही स्वायंकी वातवा वाचक है। उही मकार परीकारकी दृष्टा भी वाचक ही है। विचारकी पत्रागता करनेका मनुष्य करनेवालोंको बहान अशुभ वसिष्ठ हो सकता है। इसीकिये मनुष्यजीवमें ४१: है—

शुभाशुभपरिप्रेक्ष्यं मोक्षस्य कर्मसंघने: ॥

(म नी ११८)

शुभाशुभपरिप्रेक्ष्यं मयिमाप् या स मे मिया ॥

(म नी १११०)

तत्तत्प्राप्य शुभाशुभं। नास्मिन्मृति म प्रेक्षि ॥

मनुष्य करनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंके मुक्त होगा। जो शुभ और अशुभका त्याग करेवाला है वह मयि-माप् मुझे मिया है। जो शुभ मायिसे नास्मिन् नहीं होगा और अशुभ प्राप्त होनेपर बहाने है नहीं करता। इसादि

स्वायंमें शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग आवश्यक है, वह बात स्पष्ट कही है। वहाँ स्पष्ट हुआ है कि केना अशुभ कर्म अवधारक है, ऐसा ही शुभ कर्म भी अवधारक है। मनु अशुभ अवस्थिति करनेवाला होनेके कारण आरंभसे ओढ़ना चाहिये और शुभ अवस्थितिमें सहायक होनेके कारण कुछ अवस्थाके बाद ओढ़ना योग्य है। इसका ही दृष्टासे विवेक है।

ब्रह्महत्याके किये मान कीजिये कि जिसका मनुष्य कर्मोंके कारण है और उसके मनुष्य अन्तर है। यदि वे कीष्ट वाता व वायोंके तो अन्तर ही अन्तर एक मनेगे। यदि देखी अवस्था में बरके कोण बरमें स्थित अशुभ पदार्थोंके समस्तमें अपना समस्त कर्म करेंगे तो कैसे वे एक कर्मोंके उहीमकर शुभ पदार्थोंके कोममें कर्मोंके तो भी एक मनेगे। वहा यदि उचको अपना बचाव करना अभीष्ट है तो दोनों शुभ शुभ पदार्थोंका मोह हुए करना चाहिये। वही बात संसारके सांख्यिक और रायकीय वचन हुए करनेके निश्चय लय है। मनु। इस प्रकार विचार करनेसे मनुको पत्रा काणा कि शुभाशुभ वातवायोंका परित्याग करनेसे ही मनुष्य मोह वच सकता है।

वहाँ (मनुष्यवात् सर्वम् कामात् ब्रह्महत्या) एक स्वो-गाय कामवायोंका त्याग करनीष्ट है। आरंभमें मनु अशुभप्रेक्ष्य होता है। मनुष्यसे त्याग करते करते मनु मनुका ऐसा ही त्यागमय स्वभाव वच जाता है। जब मनुष्यका ऐसा स्वभाव वच जाता है तब उसकी स्थितवज्जया स्वभावसे ही स्थित होती है।

मनुष्यका कामवायों अपने अन्तर मनुष्य हुए करनेके किये उत्पन्न होती हैं। ज्वाह कर्मोपर लक्ष्मी कामना, वृक्ष कर्मोपर लक्ष्मी कामना उद्योगके किये लक्ष्मी कामना वृक्ष मकार मनुष्य कामवायों होती हैं। मनुष्य इस मनुष्य मनुष्यकी दृष्टि की जाती है। परन्तु करीरकी मनुष्यकी कर्म हुए होनेवाली नहीं है। वहा जातीय मनुष्यवायोंकी दृष्टि करनेका मनु कर्मोंके विद नहीं होगा। वह विद व होने वाली बात है। करीरकी एक एक कामना दृष्ट करनेके कारण मनुष्यको अपने मनुष्यका विचार करनेके किये पुरस्कार ही नहीं रहती और मनुष्यका अपने मनुष्यकी उपस्थिति विचार करना ही मुक्त कर्म है। करीर तो एक वाचनमात्र है। परन्तु जातीयकी बात यह है कि मनुष्य इस करीरकी वाचनकी परिचयमें वच समस्त वहाते हैं।

आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्म
तः कर्मविधात्मत एव इह सर्वम् ॥

(कौ ड ३१६।१)

आत्मासे ज्ञान, आद्या, पार, आकाश ऐव जल, नक्षत्र ज्ञान ध्यान चित्त संकल्प, मन वाली काम मन्त्र कर्म तथा वह सब जगत् उत्पन्न होता है । जगत्का प्रगट होना और पुनः लप होना आत्मासे ही होते हैं । वह आत्मा जो संकल्प करता है, वह उसका संकल्प सिद्ध होता है । इसी शक्ति इसमें है । इसीशक्ति आत्माकी शक्ति करनेका उपदेश सब शास्त्रकारोंने किया है । आत्माकी शक्तिका कार्य सबसे बड़ी शक्तिही शक्ति ही है । जगत्के विषयमें आत्माकी कृपाका कारण जगत् शक्ति है । जगत्में व्यवस्थाका अनुष्ठान जगत् धर्ममें आता है और आत्मासे (आत्मा) सिद्धताका अनुष्ठान है । जो ज्ञानी मनुष्य जगत् शक्तिमें अनुष्ठान होता है वह तो विशाल शक्तिही प्राप्त करनेकी इच्छा करता है । सब शक्ति आत्मासे ही होती है । आत्माकी शक्ति ही शक्तिमें श्रेष्ठ कहा गया है । आत्मासे अपनी शिक्षा शक्तिके अनुष्ठानसे ही संतुष्टि होती है । आत्मासे सभी आत्मन् हृदय को इच्छाकाग्रसे प्राप्त होते हैं । अतः वह सबसे श्रेष्ठ अवस्था है । (आत्मनि एव आत्मना तुष्टः) वह आत्मासे ही आत्मा से तुष्ट होता है क्योंकि इस समय श्रुतिके शिरोधार्य काका ब्रह्मचारी अवस्था नहीं होती । इसीके अन्तर इसको अनुष्ठान आत्मन् प्राप्त होता है । इस अवस्था वह सदा तुष्ट रहता है और तुष्ट रहनेके कारण कोई कामना इसकी शक्ति नहीं सकती इसीके इसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है । अर्थात् शिवतन्त्र विज्ञेय शक्तिके संगत होता है ।

साधारण लोग ' सर्वार्थ मनोगत कामनाओंके श्रेष्ठ होने ' का अर्थ ' कुछ भी कार्य न करना ' करते हैं । वे समझते हैं कि मर्त्यमें व्यवस्था रहनेसे ही मनुष्यको कुछ न कुछ कार्य हाव है और कामना न रहनेसे कुछ भी कार्य नहीं होता । साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो वह विचारसरणी कीकलगीत होती है परन्तु विशेष विचार करनेपर हमसे सत्यता नहीं है वह बात स्पष्ट होती । श्रीकृष्ण अथवा जो कि इस उपदेशके बन्ध है अपने विषयमें करने के कि—

न मे पार्थास्ति कतप्यं श्रेष्ठ कोकेषु किंचन ।

१८ (दि गी)

मानवात्ममयात्सर्वं यत् एष च कर्मणि ॥

(म गी ३।१९)

सत्ताः कर्मव्ययिदांसो यथा कुवन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्विस्तयाऽसकमिकापुर्लोकसंग्रहम् ॥

(म गी ३।२१)

हे अर्जुन ! मुझ तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका कार्य नहीं है । जो प्राप्त करनेकोयह जो नहीं किया हो तो भी नहीं पर फिर भी मैं कर्ममें लगा हूँ रहता हूँ ॥१९॥ जिस तरह ब्रह्मानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं । सभी तरह शारीर लोगोंको आसक्तिहित होकर विष्णु-भाव-लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिये ॥ ६५ ॥

यहाँ ज्ञानी शिवतन्त्रकी भी विष्णुका मायसे परोपकारके कार्यमें लगना चाहिये ऐसा स्पष्ट कहा है । सकाम मनुष्य स्वार्थसे अपने ही विषयके कर्म करता है और निष्काम मनुष्य सर्वार्थ व्यवस्थाकी सकारण दृष्टिसे व्यवस्थाके दिवसे कार्यमें दृष्टिपूर्वक होकर कार्य करता है । सकाम मनुष्यका कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है । इसीशक्ति वनको सब प्राप्त करने विशेष शिक्षा शक्ति प्राप्त करनी होती है । स्वर्ग कीकृष्ण भावना योगी आत्मज्ञान, शिवतन्त्र और पूर्व तुष्ट होनेपर भी सब समयके शास्त्रीय और धार्मिक कार्यक्षेत्रमें उत्तरकर सबसे अधिक कार्य करते रह ई वह बात इतिहासमें प्रसिद्ध है । जनकजी राजाओंकी भी बड़ाहर्ष इसी प्रकारका है । वासन नारद वाङ्मयकन आदिके बड़ाहर्ष भी इसी दृष्टिसे देखने योग्य हैं । इसका विचार करनेपर पट्टकोके निश्चय होगा कि निष्काम सकाम आत्मज्ञान, शिवतन्त्र आत्मतुष्ट होनेपर मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है । इसके बात नहीं विस्तृत शक्ति जीवित और प्राप्त होती है इस कारण हमके सम्मुख अनन्त धर्म वाङ्मय होती है और वह ऐसे महान् कार्य कर सकता है जैसे साधारण मनुष्यको कदापि नहीं बन सकता । हम विषयमें गीताके निष्कर्षकित्तव लोक व्यवस्था देखने चाहिये—

यस्त्वात्ममदतिरिक्त्वा वारामदस्य मानवा ।

आत्ममयेव च समुपस्थाप्य कार्यं न विद्यते ॥२०॥

मैव सत्य कृतेनाथो माहृणनेह कथम् ।

न चाप्य सर्वभूतेषु कश्चिद्व्यपपाधयः ॥ २८ ॥

आत्मतो वागारमतो नामात्मतो मग्ना आरम
तः कर्माण्यात्मत एव इदं सर्वम् ॥

(भा ४ अ० ५१)

आत्मादे प्राण, वाक्, कर्, वाकाय तेज अक्ष अक्ष
अक्ष प्राण स्वाय विद्य संवक्ष, मय वाणी नाम मय
कर्म तथा वह सब जगत् उत्पन्न होता है । जगत्का प्रारंभ
होना और पुनः क्षय होना आत्मासे ही होते हैं । यह
आत्मा जो संवक्ष करता है वह वसता संवक्ष सिद्ध होता
है । इसकी शक्ति इसमें है । इसीलिये आत्माकी प्राप्ति
करके सब व्यक्तियोंमें विद्या है । आत्माकी
प्राप्तिका लिये सबसे बड़ी शक्तिकी प्राप्ति ही है । जगत्के
विषयमें आत्माकी श्रेष्ठता बतल कर दी है । जगत्में
अन्यथाका अनुभव करने लगे हैं और आत्मामें (प्राण)
विशुद्धताका अनुभव है । जीव ज्ञात्री मनुष्य अक्ष शक्तियों
सम्पन्न होता । वह ये विद्या शक्ति ही प्राप्त करके ही हृष्ट
करेगा । सब शक्ति आत्मामें होनेसे ही आत्माकी प्राप्ति ही
अन्तिम श्रेष्ठ कहा गया है । आत्मामें अपनी विद्या शक्तिके
अनुभवसे ही संतुष्टि होती है । आत्मामें अपनी आनन्द इस
को हृष्टतामयसे प्राप्त होते हैं । अतः वह सबसे अक्ष अक्षता
है । (आत्मनि एव आत्मना मुक्तः) वह आत्मामें ही आत्मा
के लब्ध होता है क्योंकि इस क्षमता मुक्तके लिये इसको बाह्य
पदार्थोंकी आवश्यक नहीं होती । इसीके अन्तर इसको अनु
भव आनन्द प्राप्त होता है । इस क्षमता वह अक्ष लब्ध रहता
है और पृथ रहनेके क्षमता अक्ष क्षमता इसको शक्ति नहीं
सकती, इसलिये इसकी मग्ना स्थिर रहती है । अर्थात्
स्थितप्रज्ञ विशेष शक्तिके लक्षण होता है ।

साधारण लोग ' सपूर्ण मनोमग्न क्षमताओंके लोच हने '
का अर्थ ' कुछ भी कार्य न करना ' करते हैं । वे समझते हैं
कि अपने क्षमता रहनेसे ही मनुष्यके कुछ न कुछ कार्य
होना है और आत्मा न रहनेसे कुछ भी कार्य नहीं होता ।
आत्मान् दृष्टिसे देखा जाय तो वह विचारसरणी कीक बलीक
होती है परन्तु विशेष विचार करनेपर हममें क्षमता नहीं
है वह बात स्पष्ट होगी । श्रीकृष्ण अर्जुनात् जो कि हृष्ट
अपेक्षके लक्ष्य है अपने विषयमें कहते हैं कि—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं विभु लोकेषु किञ्चन ।

१८ (हि भी)

नामवातमभासस्य यत् एष च कर्मणि ०

(भ भी ३।११)

उक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति मारत ।

कुप्याद्विद्वांस्यथाऽसक्तमिच्छापूर्वकं संपन्नम् ॥

(भ भी ३।१२)

हे अर्जुन ! मृत्यु तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेका कार्य
नहीं है । जो प्राण अनेकयोग है जो नहीं भिदा हो तो भी
वहीं पर फिर भी मैं कर्ममें लगा ही रहता हूँ ॥११॥ जिस
तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं वही तरह
ज्ञानी लोगोंको आसक्तानिदित होकर विपश्चय- भाव-लोक-
कल्याणकी हृष्टतासे कर्म करना चाहिये ॥ ५५ ॥

यही ज्ञानी स्थितप्रज्ञकी भी विद्याम आनन्द पोषकारके
कार्यमें लगाया चाहिये ऐसा स्पष्ट कहा है । सत्काम मनुष्य
स्वार्थसे अपने ही हितके कर्म करता है और निष्काम
मनुष्य संपूर्ण अज्ञाती भलाईकी दृष्टिसे अज्ञातके हितके
कार्यमें दृष्टिपूर्वक होकर कार्य करता है । सत्काम मनुष्यका
कार्यक्षेत्र संकुचित और निष्काम मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति
विस्तृत होता है । इसीलिये अक्ष प्रज्ञ प्राप्त करके विशेष
विद्या शक्ति प्राप्त करनी होती है । स्वर्ण श्रीकृष्ण अर्जुनात्
योगी आनन्दकाम स्थितप्रज्ञ और पूर्ण पुरुष होनेपर भी
अस क्षमताके राक्षसीक और आत्मिक कार्यक्षेत्रमें उत्तरकर
सबसे अधिक कार्य करते रह हैं वह बात इतिहासमें प्रसिद्ध
है । अनेकविध राजाओंका भी बड़ाहर्ष इसी प्रकारका है ।
आमन नारत् आनन्दकाम आधिक्यिक बड़ाहर्षन भी इसी
दृष्टिसे देखने योग्य हैं । इसका विचार करनेपर पाठकोंको
विद्यमान होना कि निष्काम अक्ष आत्मकाम स्थितप्रज्ञ
आत्मपुरुष होनेपर मनुष्यका कार्यक्षेत्र अति विस्तृत होता है ।
असके बात नहीं निस्तुष्ट शक्ति जीवित और आनन्द होती
है इस कारण इसके अक्षसे अनन्त धर्म आनन्दित होती
है और वह ऐसे महान् कार्य कर लाइता है जैसे साधारण
मनुष्यसे कहावि नहीं बन सकता । इस विषयमें गीताक
विश्वविशेष लोक अक्ष अक्षके लक्ष्यके—

धस्तथासमदृष्टिरं स्यात्प्राप्तस्य मानसः ।

आत्मन्येव च समुत्प्लवस्य कार्यं न विद्यते ॥१०॥

मैव तस्य कृतेनार्थो मास्तेनैव कश्चन ।

न बाध्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थोपाधयः ॥ १८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य वेदिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर इह्मा निवर्तते ॥ ८९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसम मनः ॥ ९० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः । वक्षे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञाप्रविष्टिता ॥ ९१ ॥

अन्वयः— निराहारस्य वेदिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते । अस्य रसः अपि पर इह्मा निवर्तते ॥ ८९ ॥ हे कौन्तेय ! प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततो विपश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रसमं हरन्ति हि ॥ ९० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त मत्परः आसीत् । हि यस्य वक्षे इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रविष्टिता ॥ ९१ ॥

अपने इन्द्रियोंको विषयोंसे अलगडा है अथवा विषयोंसे पीछे हटाता है वह स्थिरचित्त कहलाता है । प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयमें रसभावसे ही जाती है । इसकी वह प्रवृत्ति स्वाभाविक है । इसका विषयसे विरुद्ध करने और वापस अत्येक काम समय है और अलग मनोमत्त कामभावोंको दूर करना भी इसीका काम है । बहुतेके अवसर प्रत्येकके चरित्रको अलगहोनाके इस शोकाई को कहा है, यही बात यदियोंसे बहालसे बहुतेकमें कहा है । वह मात्र यही देखिये

सप्त श्रवणः प्रवृत्तिता शरीरे सप्त रसमि
सहस्रप्रमादम् । सप्तारः स्वपतो लोकमीयु-
स्तत्र जायते अस्वप्नजी सप्तसर्पि क देवो ॥
(वा बहु ३४५५)

छात जनि अत्येक करिमें स्थित है मनों वह शरीर सप्त यदियोंका आश्रय ही है । ये सारों जनि इस आश्रय की रक्षा मूक व करते हुए करते हैं । छात यदियाँ छोले-यल्लेके स्वाभका वापस जाती हैं । इस समय इस वक्षमें दो देव निद्रा न केते हुए बगले रहते हैं । बाक रसवा श्रेष्ठ स्वका कर्म बानी और मय ये सार इन्द्रियों मनों सप्त जनि ही हैं । करीकपी आश्रयमें न छात जनि उपस्था करते हैं । इसका जनि उपस्थी बोली अवका मुनि वनामा चाहिये । वस्तुतः जनि होते हुए भी जलजवापीन जलसर्पि अमुप्यवे इहको राक्षस बणाका है । जरा इहको जनि वनायेका वाच करना आबहक है । यदि इहको संयमके बचपन बकावा काव तो ये आर्जवर्षक श्रेष्ठजनि बन सकते हैं । न छात जनि इस करीकपी जेवर्षक कल-छांशकारिक बह-सह-करते हैं जो यदियों वह लग पूर्व होवेकाका है । वस्तु रोगादि विविध रक्षक इन यदिय वक्ष

युक्तिका बाध करना चाहते हैं इसको अवचित करना चाहते हैं । विप्रकर्षा राक्षस इमें कृषिकार दुराचार जनि उत्पन्न करते हैं जल शी बर्षके पूर्व हैं । इस वक्षका निर्वन्ध करत हैं । इस वक्षके रक्षार्थ दो कुमत विद्रा न केते हुए तेवार रहते हैं । व दो कुमार माल और अपाव हैं । ये व जोव केते हैं और न विद्राव करते हैं, अस्तु राक्षसोंका मल करके केवल इन करीकपी वक्षजोवकी रक्षा करनेमें वृत्ति रहते हैं । ये सप्त जनि विव प्रसव छोले हैं इस समय (स्वपतः) छोलेवाकी आश्रयसे बाहर बहनेवाली जल यदियाँ इवले छोलेके समय वापस कसीमें बहती हैं । अर्थात् ये सप्त यदियाँ आश्रयके समय आश्रयसे वापसी और बहती हैं । इस समय इहका प्रवाह बाहरकी ओर होता है और छोलेके समय ये ही छात यदियाँ वापस अन्तराली और बहने लगती हैं । इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक छात इन्द्रियमवाह आश्रयके समय यदियुक्त होते हैं और जब ये प्रवाह अन्तर्मुख होते हैं उन्ही समय युक्ति समर्थ अवका मुक्ति होती है ।

इस अर्थकारमें भी श्रेष्ठमहारा इन इन्द्रियोंको जनि वनायेका उपदेश है इन्द्रियोंका प्रवाह यदियुक्तीन कर अन्तर्मुखी करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है । ये सप्त उपदेश आश्रय की और इन्द्रियोंकी कलियोंमें बहुत बल है वह वाच बखते हैं । स्थिरचित्त बननेके दिने इस प्राणोंको संयमी जनि बणाया चाहिये और अन्तर्मुखी करना चाहिये । इनके प्रवाहोंको अन्तर्मुख करनेका ही अर्थ ' अपने सप्त मनोमत्त कामभावोंको छोडना भीतराग होना निद्राव वनावीर अपनी आश्रयमें ही अवधी अतमस्थिति संपुष्ट होता है । जब जनि रक्ष कर्तृते इन्द्रियसंयमका महत्त्व बखते हैं—

देहधारी मनुष्यके निराहार होनेपर विषय तो मिथुन होते हैं परन्तु उन विषयोंका रस भर्षात् विषयोंकी छाछसा बनी रहती है । यह छाछसा परमज्ञका साक्षात्कार हास्यपर ही मिथुन हाती है ॥५९॥ हे मनुज ! मयनेवाली इन्द्रियां प्रथम करमेवाके जामी पुण्यके मनकी भी बलात्कारने लीं ब्र केती हैं ॥ ५० ॥ इस सब इन्द्रियोंको वधमें रखकर यागी योगका अवलंबन करके मुझमें तन्मय होवे । क्योंकि जिसके वधमें इन्द्रियां होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५१ ॥

साधारण- मनुष्य जब मोहमें मिथुन होता है, तब उसमें सब भोगके विषय तो दूर होते हैं परंतु भोगेच्छा वैसीकी वैसी बनी रहती है । वह मोहोच्छा परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद ही दूर जाती है ॥ इन्द्रियोंका वध इसका प्रथम है कि वे इन्द्रियां विवेक प्रत्यक्ष करनेवाके दृष्ट मनुष्यके मनका भी समचर विषयभोगकी ओर लीं ब्र केती हैं ॥ इसलिये भोगी उन सब इन्द्रियोंका संयम करने योगका अवलंबन करता हुआ परमात्मामें मय लगाकर तन्मय होवे । क्योंकि जिसके वधमें इन्द्रियां होती हैं उसकी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५९-६१ ॥

इन्द्रियोंका प्रथम वेग

(५९-६१) देहधारी मनुष्यके देहमें अनेक इन्द्रियां होती हैं और इनमेंसे प्रत्येक इन्द्रियका वेग बहुत हो जाता है । साधारण प्रथासे इन्द्रियोंका संयम करना कठिन है । इन्द्रियोंके संयम करनेका जो अर्थ करते हैं उसको ही पता होता है कि इन्द्रियोंका वग किसका प्रथम है । जो संयमका अर्थ ही नहीं करते, वनको इन्द्रियोंके वेगका ज्ञान कैसे हो सकता है ? मयाहमें वह भावैवाकों। मयाहके वेगका पता नहीं लगाया जसितु प्रवाहको रोकनेवाली ही उसका ज्ञान हो सकता है ।

आचारण मनुष्य समझते हैं कि विषयोंका अपने पास न रखनेसे अपना विषयोंका भोग न होनेसे इन्द्रियोंका संयम हो सकता है । परंतु वह ज्ञान है । वहावरनेके लिये अन्नका मांस लेना रसताका विषय है । काह मनुष्य अपनाप करता है । इसके अपनाप करनेसे वह इससे दूर हो होता है अपनाप करनेसे वह दूर रहता तो है परंतु लक्ष्मीका मांस मनमें बनी रहती है । दूरक इन्द्रियके अपनापके विषयमें नहीं पता है । विषयोंके दूर रखनेसे विषय तो दूर हो जाते हैं परंतु उसके रखनेके विषयमें भीति मनमें बनी रहती है । पंच करनेवाका मन ही मनमें मित्र वध्योंके स्वाधका विचार करता है । अपनाप करनेवाका तो लक्ष्मीका पंचकाने कारण अपनापके समय ही अन्नेके स्वाधका विचार करता रहता है । वध्योंके लक्ष्मी इन्द्रियोंके अपनापका बारबार ध्यान करनेसे मनुष्यके भोगके विषय दूर हो जाते हैं परंतु विषयोंकी चाह दूर नहीं होती । अवयक परमात्माका साक्षात्कार नहीं

होता तबतक वह चाह नहीं दूरती । परमात्म-साक्षात्कार होते ही वध्योंपरम लक्ष्मीका आत्माद मित्रनेसे विषयों के मुद्र रसोंकी छाछसासे वह अदृष्ट किये मुक्त हो जाता है । परमात्मका साक्षात्कार होनेतक जो विषयोंके भोगकी चाह बनी रहती है वह कुछ समय तकको विषयोंके बीचमें कैसा देगा वह कोई कह नहीं सकता । इन्द्रियों का वेग बड़ा अचानक है । प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयोंकी ओर मनुष्यको लींचना चाहती है । पोलीसी अलसधारीक होनेपर बने शरीरके मनकी भी इन्द्रियां विषयों के काकमें लींच लेती हैं और जब इस प्रकार मनुष्य गिरन कमता है तब उसके गिरनेकी कोई भीमा नहीं रहती । इसलिये मनुष्यको सदा अन्नत सावधान रहना चाहिये ।

इन्द्रियोंका संयम करनेके लिये मनुष्य ऐसा वाग करे कि वह परिये तो विचारन और बुद्धिसे विषयोंसे इन्द्रियोंके दूर रहे योगात्मिका अवलंबन करने विशेष दृष्टापूर्वक अपना इन्द्रिय वधवात वधैरुक्त चकाने और मनको पर मात्मामें निमग्न करे । इस प्रकार वधविरुद्ध निरंतर प्रयत्न करनेसे इन्द्रियां वधमें होती हैं और जिसके वधमें इन्द्रियां होती हैं उसीका स्थितप्रज्ञ कहते हैं । इन्द्रियां वधमें होनेके इसकी धारि पंचक काय नहीं होती यह इसके अन्तर समझीक होती है ; इस कारण ऐसा संयमी मनुष्य अपनी संप्रद्वीत धारि किसी वधमें वधमें लगाकर उसकी निद्रि कर सकता है और बने वधका जाली-बन सकता है । अब जागे वधते हैं कि विषयोंका ध्यान करनेसे मनुष्य

(२०) विषयोक्ति ध्यानसे नाश ।

ध्यायतो विषयान्पुनः सक्तस्तथाप्युच्यते । समाप्तस्तथाप्ये कामं कामात्क्रोधोऽभिवाच्यते ॥६९॥
क्रोधाद्भवति समोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रमादुद्विगतादौ बुद्धिनाशोऽप्यन्यथापि ॥७०॥

अर्थः— विषयान् ध्यायता पुनः सक्तः तथु उच्यते । समाप्तः कामः समाप्यते । कामात् क्रोधाः अभिवाच्यते । क्रोधस्तथापि । समोहः भवति । समोहात् स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रमात् बुद्धिनाशः । बुद्धिनाशात् मनश्चरति ॥ ६९-७० ॥

विषयोक्ता ध्याय करनवाले मनुष्यको उस विषयमें आसक्ति उत्पन्न होती है । आसक्तिके कामना होती है । कामनासे क्रोध होता है । क्रोधसे विवेकहीनता पैदा होती है । विवेक नष्ट होनेसे स्मृतिमें भ्रम पैदा होता है । स्मृति भ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेसे उसका पूर्ण नाश ही होता है । ॥ ६९-७० ॥

भावार्थ— जो मनुष्य सतत विषययोगोंका निष्ठन करता है उसके मनमें विषयजाल घोलनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । इस उत्पत्तिकी दृष्टिके बिना वह बहुत विषययोग प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है । विषययोग प्राप्त करनेमें विभिन्न प्रयत्न किए जायते हैं । जो उस कारण वह बड़ा मोहित होता है । क्रोधसे सम्यक् कर्तव्य और अकर्तव्यका भिन्न करने में नहीं रहता और बहुत कुछ मोहित भी हो जाता है । इस मोहके कारण उसकी पूर्ण स्मृति नष्ट हो जाती है । स्मृतिके नाश उसके ज्ञानका भी नाश हो जाता है । जिस मनुष्यका काम वह हो जाता है उसका मनो व्यवस्था भी नष्ट हो जाता है ॥ ६९-७० ॥

देखे सिरा है और उन्को किछ उपायसे अपने बापका बचान करवा चाहिये—

(६९-७०) इस सोचमें विषयोक्ता ध्याय करनेवालेकी कैसी अवस्था होती है और उसकी पुनरावृत्ति कैसी उत्पन्न अवस्था होती है इसका उत्तर वर्णन है । इस दो श्लोकमें विषयी पुनरावृत्ति अवस्थाका उल्लेख किया है ।

विषयी मनुष्य अपने मन ही मन विषयोक्ता ध्याय करता रहता है— इसके से विषय योगमें है । काम इसका मोह कर्तव्य कुछ से विषय मुझे मिलेगी मैं अधिकसे अधिक मोह प्राप्त करने अधिक सुख योग्यता । इस प्रकार वह मन ही मन मोहोंकी कल्पना करता रहता है । कल्पना से विषय योग मोहनेके विना अपने कामने पड़े करता है । ऐसा सतत ध्याय करनेसे उसके मनमें मोहोंके विषयमें आसक्ति काम जाता है । मोहोंके विषय उत्पन्न जीवन नहीं वह भ्रमता देखा वह अवस्था है । इस समय उसके समस्त मोहप्रवृत्ति ही एक मोह रहता है । अतिशय मोहोंकी मज्जा उसके मन-काममें बढती जाती है और वह हर एक दृष्टिके योग बढानेका प्रयत्न करता है । इस योग्यदृष्टिके अवस्थामें वह प्रथम वर्णानुसृत वर्णन करता है । परंतु यदि आकर अपने अत्याचार और अत्याचार करनेमें भी प्रवृत्ति

होता है । अपनेसे मोह प्राप्त व दूरता अपनेसे वांछनी भी प्रवृत्ति योग चाहिये वह एकमात्र पुण्य करने में बढती है । मोहोंके विषयमें भी वह विषय है कि एक ही मोह बहुत देरतक मोहोंके रहनेसे सुख नहीं होता । एक ही मोह प्रवृत्ति बहुत देरतक जानेसे दुःखदायक बढती होता है वही प्रकार संपूर्ण दृष्टिके मोहोंके विषयमें है । जहां मोह मनुष्य मोहोंमें विविधता चाहता है । मोहोंकी विविधता प्राप्त होनेपर एक अवस्था वह मोहोंमें रहता है, जहां जहां एक काम देखा जाता है कि विषय सम्यक् मोहोंकी विविधता भी उसको जाने नहीं देती । देखिये रक्तके योगके बिना वीर्य बहुत सीधा बड़ा, वनशील काम एक का रक्तोंमें विविधता उत्पन्न करनेके बाद भी विविध रक्तका रक्त केते केते नष्ट जाती है और रक्तका भी वन प्रवृत्ति बढता जाय तो भी इसकी अधिकतर प्रवृत्ति नहीं होता । बहुत प्रवृत्ति बढानेके विषय भागी जाय । देखा है जबक उद्योगधर्म प्रवृत्ति बढते हैं वस्तु स्वाधीनी विविध प्रवृत्तिकी छवि केतेमें अवसरों होनेके कारण रक्तकीने प्रवृत्ति अधिकतर प्रवृत्ति बढी होते हैं । जो प्रवृत्ति अपनेको बने अधिकतर प्रवृत्ति होते हैं वही इनको अत्यंत प्रवृत्ति है । इस कारण वह प्रवृत्तिप्रवृत्ति प्रवृत्ति करता है । जो अवस्था जानेके

बढ़ाओती है वही अल्प हृदयोंके भावोंके विषयमें है । मोम किते केत पराये हृदय मोग ग्रहण करनेमें असमर्थ होजाती है । इस कारण संभोगी कुछ समयके बाद मोगसे मुक्त नहीं होता और इससे इसका मोम बढ़ता है ।

मोगीको मोम अल्पाल्प कारणोंसे भी जाता है । इससे मोग बाल्य करनेमें बिलम्ब रहकर बाल्य होती है । बचपन वह कोविद होता है । इसके मोगोंके विषयोंपर बचपन बाल्यका बुना ठो होजाती है । कभीकल एक ही वस्तु होजाके चाहिये । जो कभी भिन्न नहीं रहती, जरा मोम जाना स्वाभाविक है । पहिले समयमें कीके कारण लून रक्तप्राप्त अत्याचार और कटाहवां होती थीं । यमिके कारण भी होती रहती हैं । देवदासियोंमें अत्यार व्यवहार करनेके शिब इस समय बुरा किये हैं । सबमें सुख मोग चाहिये और मैरे भावके बीचक भिन्न करनेवालेका ये नाम कर्मांग । वही मायका रहती है । इस तरह सब विषयोंकी प्रशिक्षमें एकलमें पैदा होनेके कारण योगीको मोम बढ़ता है । यह बात सामान्य व्यवहारसे केकर कहे कहे व्यवहारोंमें भी काम है । शरीर हृदयकी उत्पत्ति सर्वत्र एक समान है ।

बस्तुतः मोग मोममें मोतीकी कृत्तिका स्वयं व्यव होता है । जरा इसके पक्ष्मादि अवयव भिन्न होते हैं और भिन्नके अवयव भिन्नवर्ण हैं, बचपमें मोम जाना अत्यंत स्वाभाविक है मोम भिन्न समय बढ़ता है, उस समय लूनके बीचक-अनु मारते हैं, लूनका दौरा करीतमें अत्यधिक होता है । मरिचकमें रक्तवाह अथि होनेके मरुतक भिन्न जाण है और करीतका पैसा कोई भी अवयव नहीं कि जो मोमके कारण व विनष्टता हो । जरा आरोग्य चाहनेवालोंको मोमके दूर रहना चाहिये । मोमी मनुष्य जाना । अक्यापु होते हैं और अंत गंभीर मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं । इस दृष्टि भी मोमसे दूर रहना मनुष्यके शिबे अत्यंत काम-बाधक है ।

मोमके कारण मनुष्यका मरिचक भिन्नता है और इसकी विवेककति यह होती है । इसका मन मोहित, अंत और कर्तव्यकारण विवेक-हीन बन जाता है । इस कारण इसकी आरबर्का भी नष्ट हो जाती है । जरा इस समय वह मोमी मनुष्य की नाम बुरा नाम संभोगी पिता माया गुण प्रकल्पनी रात्र, पुरोहित भिन्नके बहिर्के अवयव किन

हैं इत्यादिकोंके संशयमें अपना कठक्य बना है । इसके साथ भरा कैसा व्यवहार होना चाहिये इत्यादि विवेक भूक्त जाता है और वा सामने वा बाध उत्तर अत्याचार करने लगता है । जब वह कोम प्रमाणके अधिक हो जाता है तब इसका मरिचक विषय जाता है । यह पागलता बन जाती है और कुछका कुछ कर बैठता है । जब मोमकी मात्रा अत्यधिक होती है तब मोमकेसे मनुष्य मर भी जाता है ।

सामान्यतः मोमके समय मनुष्यकी बुद्धि प्रज्ञ हो जाती है और बुद्धिजट होजाके मनुष्य दुर्गतिना नष्ट होजाके समान बन जाता है । बुद्धिके अल्प और गंभीर होनेके समय मनुष्य अपने मनुष्यत्वसे मुक्त रहता है, परंतु वही मनुष्य जब मोमत्वसे पागल बन जाता है तब बुद्धिहीन होनेके कारण पशुत्व या राक्षसत्वकी प्राप्त होता है । अर्थात् मोमसे मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, इतना जबकि मोमके कारण होती है । जरा सब साधकक कहते हैं कि मोमकी दूर रहना चाहिये । देखिये—

काम एव मोम एव रजोगुण समुद्भवः ।

महाद्यनो महापाप्मा विद्वयेवमिह पैरिजम् ॥

(म गी ३।३७)

तस्मात्समिन्निद्रापापयावौ नियम्य भवत्परम् ।

पाप्मार्थं प्रसङ्गोद्योगं ज्ञानविज्ञानाशनम् ॥

(म गी ३।३९)

काममोघविमुक्तार्त्ता परीतां यतचेतसाम् ।

अमितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तेते विद्वित्तात्मनाम् ॥

(म गी ५।२६)

शक्नोतीहैव वा शोभु प्राक्शरीरं च भोक्षणात् ।

काममोघोद्भवं वेगं च युक्तः स सुखी भवति ॥

(म गी ५।२३)

विशिष्टं नरकस्थेयं द्वारं नायाममरामसः ।

कामा मोघस्तथा मोघस्तस्मात्तत् त्रयं कथ्यते ॥

(म गी १।१२)

रजोगुणसे उत्पन्न काम और मोम बहुत जानेवाले और नष्टवादी हैं इनको अपने पाप समझें । इस कारण ए अनेके ईश्वरीय स्वात्मीय करने शाय और विज्ञानका नाश करनेवाले इस वली (मोम और काम) का त्याग कर

रागद्वेषविषुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवशैर्विषयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ब्राह्म बुद्धिं पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्वयः— विषयवशात् रागद्वेषविषुक्तैः अतमवशैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादं अधिगच्छति ॥६४॥ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिः उपजायते । प्रसन्नचेतसः हि ब्रह्म बुद्धिः आद्यं पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

परंतु जिसका मन अपने आधीन है; वह भीति और द्वेषसे रहित अपने आधीन इंद्रियोंसे विषयोंसे विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥६४॥ जिस प्रसन्न रहनेसे उसके सब दुःख दूर होते हैं और प्रसन्नचित्त होनेसे उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६५ ॥

भावार्थ— पापु जिसका मन स्वाधीन है वह किसीपर आश्रय नहीं होता और किसीसे द्वेष भी नहीं करता । वह अपने सब इंद्रियोंको स्वाधीन रखकर उनकेद्वारा विषयभोग करता हुआ भी जिसकी उन्नत वृत्तवत्ता प्राप्त करता है । इस प्रसन्नचित्त के कारण उसके सब दुःख दूर होते हैं और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है ॥ ६४-६५ ॥

जिसने काम और क्रोधको दूर किया है जो अपनेको पद प्राप्तता है और जिसने मन स्वाधीन कर रखा है ऐसे बलिकी उन्नत वृत्तवत्ता प्राप्त होता है । देहात्मसे पूर्व इसी देहसे का अनुभव काम और क्रोधके भेषको पहन करनेकी क्षमता प्राप्त करता है वही योगी है और वही सदा मुक्ति है । काम क्रोध और क्रोध से आत्माके नाश करनेवाले बरके तीन बात हैं, इसलिये अनुभवको हृदय तीनोके त्याग करना चाहिये ॥

इस प्रकार क्रोधके विषयों परावर्तनीयताकी समिति है । विषयोंके त्यागसे इस क्रोधकी उत्पत्ति होती है इस कारण विषयोंको दूर करना चाहिये अन्वयः पूर्णतः क्रमसे बाध निश्चित होता । यह तो विषयोंका त्याग करनेवालोंकी अवधारणा है ही होती है इसका विचार हुआ । नव बुद्धिकी विचरता जिस स्थितिमें होती है इसका विचार देखना चाहिये—

(६४ ६५) बुद्धिकी स्थिति और प्रसन्नता— जिसने भक्ति प्राप्त (राग द्वेष विमुक्त) विषयोंपर आश्रय करवा काम और द्वेषनाश कराने क्रोध हन दोनोंको छोड़ना है । अनुभव मने राग द्वेष अवलोक करते महा वचनक इसकी उन्नतिकी कोई आका नहीं है । रागद्वेष छोड़ना यह उन्नतिकी कठिना साधन है । दूसरा साधन (आत्मवशवत् इन्द्रियाणि) अपने स्वाधीन सर्वपूर्ण इन्द्रियोंका रखना है । ऐसा अवलोक करना चाहिये कि किसी भी

कारण इन्द्रियोंसे एक भी इन्द्रिय विचरनीय न रहे और अपने ऊपर अधिकार रखने न करे ।

इन्द्रियोंकी रागद्वेषरहित करने और उनके अपने सर्वव करनेके साथ साथ (विषय-अवस्था) अपनी अत्मा सर्वव अवस्थाकरणको विशेष प्रकार, वनाकर निश्चित करने अपने अधीन करना चाहिये । सब अपनी उत्पत्ति ही विचार के, अवस्थाकरणकी कभी गिरावटके विचार न करने कोई इन्द्रिय स्वर व्यवहार न करे किसीपर आश्रय और किसीसे द्वेष न किया जाने; इस प्रकार करनेसे इन्द्रियोंसे विषयोंका उपयोग केवल ही रहकर जिस प्रसन्न रहता है ।

पाठक बड़ा समझ गये होंगे कि वह केवली अनुभव कर और इन्द्रियोंके अपने अधीन रखकर और अवस्थाकरणकी सुविधासे पुनः करने को विषयभोग्यता होता है, है अपने अवस्थित और अन्य ही होंगे । अवस्थिक विषयभोग ही छपते होना अवलोक ही है । सर्ववर्तनीयते अनुभवक अवलोक विषय-वैषम्य करनेमें को संयम होता है और जो उससे महावर्तनीयता प्राप्त होता है उसीसे सब सर्वव अनुभवके विषयकी प्रसन्नता होती है । विषयमात्रसे विषयकी प्रसन्नता कभी नहीं होती । विषय तो विषयको इन्द्रिय करते रहते हैं । विषयभोग्यकी महावृत्ति करनेसे विषयोंसे दूर रहनेका जो पद होता है उससे विषयकी प्रसन्नता होती है । महावर्तनीयता और संयमका अवलोक करने किता गया । नहीं जो (इन्द्रियः विषयाद् चरन् बलाद् अधिगच्छति) इन्द्रियोंसे विषयोंसे विचरता हुआ भी प्रसन्नता प्राप्त करता है वह

(२१) असत्यमीका और दुःख ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य मायना । न चायावयतः शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम् ॥६६॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां बायुनायमिषाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः— अनुपपन्नस्य बुद्धिः नास्ति । अनुपपन्नस्य च मायना न (नास्ति) । अयावयतः शान्तिः न (नास्ति) । अशान्तस्य सुखं कुतः ? ॥६६॥ चरतां इन्द्रियाणां हि यत् मनः अनुविधीयते तत् अस्य प्रज्ञां हरति बायुः । अमयि नाभं हव ॥६७॥ तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

(समस्यरूपी) योगका अम्यास न करवेचालेकी बुद्धि (स्थिर) नहीं होती और उसमें अज्ञानमयि भी नहीं होती । अज्ञानमयि अनुपपन्नको शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको सुख कहाँसे होगा ? ॥६६॥ विषयोंमें भटकनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौड़ता है वह इसकी बुद्धिको ऐसेही खींच लेता है जैसे वायु जलके अन्दर नावमें (खींचता है) ॥६७॥ इसलिये हे महाबाहू ! अर्जुन ! जिसकी सब इन्द्रियाँ विषयोंसे सब प्रकार हटकर अपने वशमें होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

भावार्थ— अनुपपन्न स्थिरबुद्धि और अज्ञानमयि रहनेवाली उसकी सुख मिलता है । पूर्वोक्त समावयविक अम्याससे ही अनुपपन्नी बुद्धि स्थिर होती है और उसके समस्त अज्ञानमयि भी बचती है । जिसकी बुद्धि चञ्चल है और जिसके मनमें अज्ञान नहीं उसका मन अशान्त रहता है । अतः उसको कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । क्योंकि सुखके लिए जीव मनकी आवश्यकता रहती है । जिस अनुपपन्न मन विषयोंके पीछे दौड़नेवाली इन्द्रियोंके साथ दौड़ता रहता है, उसका मन कभी शांत नहीं हो सकता । अतएव अर्जुन महाशत्रुपक्षमें सर्वशः बायुवेगसे पीछा करके चाहे जबर भटकती रहती है और तब पीछाके पात्रियोंकी उस समग्र जो अवस्था होती है वैसी ही अवस्था विषयवस्तुओंके अनुपपन्नके मनकी होती है । इसलिये जिसकी इन्द्रियें विषयोंमें नहीं फँसती और पूर्णतया स्वाधीन रहती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है उसीके समस्त अज्ञानमयि विनाश कराती है और कभीका मन शांत होता है । इसी अनुपपन्नी स्थिरबुद्धि कहते हैं ॥ ६६-६८ ॥

बायवके पूर्वके (शान्तैरनुविधुक् अज्ञानमयः इन्द्रियैः) शान्त होकरहित स्वाधीन इन्द्रियैः ' न विकल्पम ज्ञानं जायेते तो सर्वका अन्वर्ण हो जायेगा । जिस प्रकार केही और अधिकारी के दोनों कागजमें रहते हैं, वही एक ही स्वतन्त्र रहत हुए भी केही बंधनमें रहता है अतः अधिकारी स्वतन्त्र रहता है वही प्रकार भोगी और ज्ञानी दोनों विषयभोग करते हैं वरंभु भोगी उनमें आसक्त होकर भोग करता है । अतः जिसका स्थिति करा है और ज्ञानी अज्ञान बुद्धिसे अतः अन्व अज्ञानमयि विषयवैषम्य करता है । अतः वह जिसकी वसतः प्राप्ति करता है ।

जिसकी वसतः होवे तब दुःख दूर होये हैं और भीष्म ही बुद्धि भी स्थिर होती है अर्थात् वह स्थिरपद होता

है । इस प्रकार भोगी और ज्ञानीका अन्वर्ण काके वताया कि ज्ञानीकी ही सत्ता आनन्द प्राप्त होता है । अब जान बतते हैं कि जो स्थिरपद बननेके लिये इस संभारिका साधन नहीं करना उसकी अवस्था कैसी अवश्यक बनती है—

(६६-६८) नहीं न सुख परत न-याग-युक्त इस अवस्था और बुद्धि अन्व स्थिर बुद्धि के अन्व अनुपपन्न है । अतः अनुपपन्नस्य बुद्धिः नास्ति का अर्थ जो भोगाग्वासी नहीं है उसकी बुद्धि स्थिरताका प्राप्त नहीं होती इस प्रकार समझना चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीतामें योग शब्दका अर्थ समस्त योग है वह बात इसी अन्वार्थमें श्रीक ४८-५ की व्याख्याको वसंतमें स्पष्ट हो चुकी है । इस समावयविक योगके आ अम्यास है वे ही

प्रथम दिवसके समय निम्निय पुस्तकार्थ करते हैं और पद्य कमाते हैं तथा रात्रिके समय योग्य मित्राका मुख लेकर आरोग्य कमाते हैं और दीर्घायु तथा वधवार्य होते हैं ।

कई लोग उत्तर रात्रिके जिस समय सामान्य लोग सोते रहते हैं उस समय बठकर परमेश्वरका ध्यान करते हैं और इससे बहुत शक्ति प्राप्त करते हैं । अर्थात् जिस अध्यात्मके विषयमें सब लोग अज्ञान रहते हैं उसीके विषयमें तब ज्ञानी मनुष्य ज्ञान प्राप्त करते हैं । आर हन का ? मुमिश्रियोंकी विषय-भोगोंके संबंधमें ऐसा अज्ञान रहता है कि जैसा विषयी लोगोंको परमार्थके विषयमें अज्ञान होता है ।

साधारण लोग विदेशी वस्त्र तथा अध्यात्म विदेशी वस्त्र लेकर अपने वस्त्रोंकी कारीगरोंका बेकार बनाकर उनके लूके मारनेके लिये उद्योग करते हैं; इसी प्रकार विदेशी वस्त्रादिका प्रसारण व्यवहार करते हुए अपने ही देशवासियोंके लोभसे धन बर्तते बर्तना चाहते हैं । परंतु जो सेवामी और शाली होते हैं, वे स्वदेशी वस्त्रका आचरण करते हुए स्वच्छन्दसे स्वयं स्वीकृत धर्मधर्म रहते हुए, अपने लोगोंको आर्थिक कष्टोंसे बचावेका उद्योग करते हैं, इस कारण ह्मका सम्मान होता है । अर्थात् ह्मके धर्मधर्म देशकी सम्मति है और धर्मधर्म ध्यायारिषोंकी धर्मधर्मोंसे देवता परम शक्ति है । ह्म प्रकार आर्थिक धर्मोंसे लोगों दृष्टिकोण एक दूसरेमें मिल जाते हैं ।

सबसे मनुष्य अपने संतुष्ट ईश्वरोंका स्वाधीन रहता है किमी ईश्वरकी विषयमें मरकते नहीं होता । इस कार्यके लिये विद्यार्थकम अत्यन्त और अत्यन्त हीन काठा (१८०) है और विद्यार्थककी गृह्य करनेसे अपने आपकी धन्य मानता है और सम्पूर्ण धन्य होता है । परंतु विषयी मनुष्य अपनी संतुष्ट ईश्वरोंको खेर गतिसे छोड़ता है हर एक ईश्वर का वयस्व भोगोंमें संलग्न अथवा कर्तव्य सम्मति है व किमी विषयका प्रत्यक्ष कारण है और न अपने आपकी स्वाधीन रहनेका धन्य काठा है विषयोंके भोगोंकी वधायेका धन्य कारण है अतः विविध शरीर प्रत्यक्ष होकर देना हुआ धन्य है कि अन्तर्गत वही विषयोंमें पड़नेवा शी संभवके आधार नहीं जाता । इस प्रकार वे लोगों कार्य बका

आर व्यवहारके समान परस्पर मित्र हैं ।

एक व्यवहारकी सहा करके लिये मैं हूँ ' ऐसा मानता है और दूसरा मेरी सेवा करनेके लिये लगातार है ऐसा समझता है । एक अपने आपको परमेश्वरका सबक मानता है तो दूसरा परमेश्वरका भी नहीं मानता । इस प्रकार सामान्य मनुष्य और संबंधी मुमिका दृष्टिकोण परस्पर मित्र होता है ।

सामान्य मनुष्य अपने कुटुंबियोंकी सहायके लिये अपने कर्तव्य कर्मसे विमुक्त होता है जैसा कि बहुत अपने संबंधियोंके मोहसे अपने कर्तव्यकूप पुढे विमुक्त हुआ था । परंतु उसी समय जो सबकी विचारों और शाली होता है वह अपने कुटुंबियोंकी सुरक्षितताकी दृष्टिसे कदापि कर्तव्य प्रवृत्ति नहीं होता । परंतु बहुतोंको सामान्य लोगोंकी भूमिकामें पड़ा है । अपने लक्ष-संबंधी मारे कार्यमें केवल इसी कारण वह स्वकृत्यकूप लुप्तसे परलुप्त हो रहा है । इसी लुप्तभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण सेवामी स्थितशक्ती भूमिका पृथक् है इसलिये व सबकी और ह्म मित्र करते हैं व भीते रहते हैं इसका विचार न करत हुए अपना जो कर्तव्य है उसकी पूर्णता करनी पराजय करते हैं । औरोंके पक्षमें ह्म दोषोंके अन्वेषण और ह्म मित्र तो वेही । परंतु अपने लोभके कारण कर्तव्य मोहित हो गया और भगवान् श्रीकृष्ण आग्रह रहकर कर्तव्य करते रहे । इसी प्रकार जो कर्तव्य करेंगे और मोहित नहीं होते वे धन्य बनेंगे और जो धर्म-मोहमें फँसते वे हीन होत जायेंगे । अर्थात् जो अपने आपको भोगोंसे भरपूर करना चाहते हैं वे अन्ध ही अंधरेसे कोलके होत जात हैं और जो त्यागसे अतममृदितके मार्गसे जात हैं वे अपने भारका अन्धरेसे बहाल होतका अनुभव करते हैं । इस प्रकार ह्म दोषोंका अनुभव वास्तविक होता है । भोगोंको अन्ध भरनेसे काही होतका अनुभव और विषयोंको अन्धरेसे दूरनेसे परिणत होतका अनुभव जाता है । वह एक परोपार्थानुभवका निश्चय वहादरन है । इससे ही स्थितशक्ती मुमि और सामान्य मनुष्यकी अन्तरात्मा जान हो सकता है ।

आगे बाकी स्थितिका ज्ञान वर्णन है वह अब दृष्टिसे—

(२१) ब्राह्मी स्थिति ।

आपूर्यमाणमभलप्रतिष्ठ समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वा ।

तदस्त्वामा यः प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वो पुनर्भरति निस्पृहः । निर्ममो निरहकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुच्यते ।

स्थित्वास्यामन्तकालऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

॥ इति श्रीमन्नगवहीयापुष्पविराजितसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ २ ॥
अन्वयः — आपूर्यमाणं अलकप्रतिष्ठं समुद्रं गच्छन्तः प्रविशन्ति तद्वा त्वामा यः सर्वे शान्तिमाप्नोति सः कामकामी न ॥ ७० ॥ यः पुनर्भरति कामान् विहाय निस्पृहः निरहकारः (युष्मा) स शान्तिं प्राप्नोति ॥ ७१ ॥ हे पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः यन्मां प्राप्य न मुच्यते अन्तकाले अपि अस्मां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं प्राप्नोति ॥ ७२ ॥

पार्थ मोरसे पाणी भर जालेपर भी अन्तक रहवेकाले समुद्रम जिस प्रकार सब वडियां बर्छी जाती हैं वसी प्रकार जिसमें सब विषय प्रवेश करते हैं वसे ही सभी शांति मिलती है ॥ ७० ॥ जो पुनः सब कामताओंको छोडकर निःस्पृह, समत्ववहित और अहकाररहित होकर व्यवहार करता है वही शांति प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥ हे कर्ण ! वही ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर कोई मोहित नहीं होता है । अन्तकालमें भी इस स्थितिमें रहकर वह ब्रह्मनिर्वाणको पाता है ॥ ७२ ॥

भाषार्थ— पार्थ मोरसे वही मासे समुद्रमें जा रहे हैं । इसका जब भर जालेपर भी समुद्र समीर रहता है और अपनी सर्वादाता उड्डवण नहीं करता; इसी प्रकार जो समुद्र विषययोग योगता हुआ भी अपनी जमेसर्वादाता उड्डवण नहीं करता वसीको शांति प्राप्त होती है ॥ ७० ॥ जो समुद्र अपनी अयोगत स्वार्थकी कामताओंको छोडता है निरिच्छ होकर भी और वेरा इस मोहकाळमें नहीं जंमता जंतव कोडदेता है संवेधियोंके मोहको दूर करता है और इस जलम हुलिके जलके छत्र व्यवहार करता है वरक ही शांति मिलती है ॥ ७१ ॥ हे कर्ण ! ब्रह्मवात्त हुए, ब्रह्मकर्म बने समुद्रका वह वाक्चक्रम है वृक्षम इस स्थितिमें प्राप्त होने पर वरकको कदापि मोह नहीं होता । यदि किसीको वह स्थिति ज्ञानके वाट समझमें भी प्राप्त हुई तो भी उसको ब्रह्मनिर्वाण बर्छाए ओह मिलता है ॥ ७२ ॥

(७ - ७२) समुद्रको जो जलमसे वरक भरता ब्रह्म कामी है वह ब्राह्मी स्थिति है; इस ब्राह्मी स्थितिवा वरकम इन छोडोंमें बर्छित किया है इसका जब विचार करेंगे—

समुद्रकी उपमा ।

ब्राह्मी स्थिति समुद्रके समान है । समुद्रमें समीरता है गहराई है शांति है इसके धाम प्राप्त पूर्णता भी है । वृक्षम वरक है कि जिसमें लूणता और अविच्छता नहीं होती । समुद्र जो इसी प्रकार वृक्ष है क्योंकि इसमें प्रति दिन जलम बढ़ता मिलता है तथापि वह अपनी

सर्वादाता अविच्छन्न नहीं करता तथा पूर्वके वाक्चक्रे वरकवा पानी जलम कर्मों कर्म जाता है तथापि वह लूण नहीं होता । जिसमेंके वरक होनेसे लूणता न हो और जिसमें जलमसे अविच्छता न हो वह पूर्ण है । इस पूर्णताका जलम देखेके स्थिति समुद्रकी उपमा समीरक है ।

ब्रह्म भी इसी प्रकार पूर्ण है । इस ब्रह्मकी कति वरककी वाक्चक्रके कार्यमें लगती है तथापि जलम वरक होनेके वरकों वरक भी लूणता नहीं होती । इसी प्रकार वरककी इति और जलम होनेके वरककी वरकमें वरक वरक भी नहीं

होता । जरा कहते हैं कि बड़ा पूर्व है । मध्यमें गभीरता पहरार्ध नीर छांति है । वह गभीरता पहरार्ध नीर छांति उड़ीको पास होती है कि जिसका मध्यकी प्राप्ति होती है जबका जिसकी ब्राह्मी स्थिति होती है । इस स्थितिकी पुष्पका पूर्णतः प्रकार समुद्रके साथ की जाती है ।

समुद्रमें जिस प्रकार बरिचोंका पाणी पशुचने पर भी समुद्र अपनी सर्वाङ्गका बहुलवन नहीं करता, वही प्रकार जगत्के जलमें भोग प्राप्त होनेपर भी जो पुष्प अपनी बर्मा सर्वाङ्गका बहुलवन नहीं करता उसकी स्थिति समुद्रजल गर्भमें होती है और वही मनुष्य ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है । इससे बड़े विस्तार जगत्के बड़े नीर विगडनेपर भी जिस प्रकार मध्यमें कोई म्यूना-विषया नहीं होती वही प्रकार जगत्के सुखदुःखके प्राप्त होनेपर भी जिसमें थोड़ीसी भी चक्कता नहीं होती उसीकी ब्राह्मी स्थिति होती है । साधारण मनुष्य जो जोड़ेसे सुख प्राप्त होनेपर जमक करता है और जोहासा हुआ होनेपर जो जायदागवा करनेको तैयार होजाता है । मनुष्यकी हीन स्थिति का बरी कष्ट है । जो सुख-दुःखोंकी बहरिचोंके इतर बहर होजायमान होते हैं और अपने स्वामपर स्थिर नहीं रह सकते वे हीन हैं । परन्तु जो उक्त वेगोंको छुट्ट करके अपनी सर्वाङ्गके अन्दर रहते हैं वे नीर गभीर कहलाते हैं । हमको दृष्ट उत्पन्न कहते हैं ।

नीर सुंदर नीर बकनाम् रहा नीरोमा रहा, जल प्राप्त हुआ जलम बरिबार रहा पूर्व-छोप्य वह गया कोमोसि मान्यता और बादर मिळने कगा अधिकतर हाथमें आ गया कोमोका मका दुरा करनेका छावन हाथमें हुआ तो मनुष्य चलेकी बलता है उठकने लगता है सुखोंकी पर्याप्त नहीं करता, चम्पाय भी करता है और सुखोंको कष्ट देता है । हमसे बड़ा लगता है कि वह मनुष्य अपनी जलम कोमोसि नहीं पहुँचा है । जो उरुच कोमोसि पहुँचा होता है वह जल छावन और सुख प्राप्त होनेपर भी जलम सर्वाङ्गका कभी जलम नहीं करता और जलमा अधिकतर अधिक मिळता है बलता वह अधिक परीपकार करता जाता है और जलमी अधिक कामाग्रही करता है । पाठक वहाँ इस शोनी उरुच और नीर मनुष्योंकी बहरचक्का विचार करें और जानें कि इस जलमें समुद्रकी जलमा देकर जगद्विजयने कीजता जल-

देक दिया है नीर उसका प्रहम मनुष्योंको छिप प्रकार कारवा बाधिये ।

भोगप्राप्ति ।

इस थीकमें (सर्वे कामाः य प्रविशन्ति) जिनमें सब कामोपभोग स्वयं प्रविष्ट होते हैं (सः शांतिं प्राप्नोति) वह शांति प्राप्त करता है ऐसा कहा है । सब कामोपभोग एक साथ स्वयं प्रवेश करत हैं, इसका जर्म ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ वह मनुष्य सब कामोंको एक ही समयमें प्राप्त करता हुआ भी नहीं चक्क होता ऐसा है ।

साधारण मनुष्य एक समयमें एक ही भोग प्राप्त कर सकता है, क्योंकि इसका सब जित समय एक हृदयके साथ संलग्न होता है उस समय दूसरा विषय ग्रहण करनेमें असमर्थ होता है । परन्तु ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त हुआ मनुष्य एक समयमें सब भोग प्राप्त कर सकता है । इसका कारण यह है कि वह भोगोंके पास नहीं जाता परन्तु इनके अन्दर (सर्वे कामाः प्रविशन्ति) संपूर्ण काम स्वयं हुसते हैं जिस प्रकार समुद्र बरिचोंके पास नहीं जाता अपितु बरिचों स्वयं समुद्रमें हुसती हैं । वहाँ समुद्रप्राप्ति वह बरिचोंका स्वयं है । इसी प्रकार जलमकाम हुसते प्रविष्ट होकर छुटार्थ होता वह भोगोंका प्रवेश बलता है बिना मंगे सब भोग इसमें एक ही समय हुसते हैं अर्थात् इसको बलतायल प्राप्त होते हैं । अब वह भोगोंका हृद्युक्त होता था तब वह एक समय एक एक भोगको प्राप्त करता था परन्तु जिस समय वह भोगोंके विषयमें विरहग्रस्त हुआ तब सब भोग उसकी प्राप्ति की हृद्युक्त करने करने और इसी कारण स्वयं इसके पास अस्थिर होने लगे । तब एकही समयमें बिना बाधाय इसके काम सब भोग उपस्थित होने लगे ।

कामकामी और आरमकामी ।

इस थीकमें दो प्रकारके मनुष्योंका वर्णन है । एक मनुष्य (काम-कामी) कामोपभोग प्राप्त करनेका हृद्युक्त है तब वह अपने जाचके लक्ष्य समझता है । जरा अपनी पूर्णता कर लेकी हृद्युक्त भोगोंको प्राप्त करकेका बल करता है । इसीको (पूर्णमात्र) बाहरसे भोग काकड पूर्णता किया जायदागवा कहते हैं । भोगप्राप्तिके लिये इसकी हृदर बहर भयदकवा बलता है इसलिये इसमें (चक्र) चक्ककता रहना स्वाभाव-

दिक है। इसी सम्बन्धताके कारण इसकी अप्रतिष्ठा भी होती है। साथ ही साथ जो जाति-कर्म होता है वह (चार्य-संन्यास) बड़ा भावैर भी होता है। पूर्ण रहण है जैसा मानके पूर्व पूर्ण वा (अचक) स्थिर बर्तोंके वह पड़ा इस होनेसे योगीकी और ज्ञानकी हृदयों भावव्यक्तता नहीं होती अपने स्वयंसे स्थिर रहनेके कारण (अचक-प्रतिष्ठा) इसकी प्रतिष्ठा स्थिर होती है। जो घर घर योगवा प्रिया है उसको प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त होगी? जो अपने बर्तों रहता है और जिसको योग्यकी भावव्यक्तता नहीं है, उसीकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार जातिधर्माधीन कामधर्माधीन स्थिति विचार करके जानने योग्य है। देखिये—

आत्मधर्माधीन	कर्मधर्माधीन
आत्मधर्माधीन	योगधर्माधीन विचार
कर्मधर्माधीन	सकाम
पूर्ण	अपूर्ण
स्थिर अचक	अस्थिर अचक
प्रतिष्ठाप्राप्त	अप्रतिष्ठा
परिपूर्ण	पूर्णमात्र
हृदयके पास	हृदयका योगी
योगीका भाव	पाठका भाव
आत्मीयता	संन्यासी स्थिति
आत्म	अज्ञात
पूर्ण	अपूर्ण

इस शीघ्रसे विचार करनेपर जातिधर्माधीन और कामधर्माधीन की स्थिति ज्ञानी वा कहती है। हर एक मनुष्यको हुआ ब्रह्मदेवकी कामधर्माधीन स्थितिसे दूर होकर आत्मधर्माधीन की ओर स्थिति प्राप्त करनी चाहिये। हर एक मनुष्य इसी मार्गमें है। वही जब विचार करता है कि आत्मधर्माधीन मनुष्यको एक ही समय सब योग स्वर्ग कैसे प्राप्त होते हैं? और कामधर्माधीनको एक समय एक ही योग कभी प्राप्त होता है? इसका विचार इस प्रकार है—

आचार्य मनुष्य अपने अन्दर किसी विषयकी स्पृहा का अनुभव करता है और उसकी पूर्णता करनेकी ह्वालाके किसी विषयको प्राप्त करना चाहता है। वैसा सुनिश्चित मनुष्य अपने अन्दर लक्ष्मी स्पृहाका अनुभव करता हुआ एक-आधिक्य प्राप्त करता है उसी प्रकार अज्ञान्य योगीके विषयमें काम

धर्मा चाहिये। मनुष्यको अनुभवसे हुआ और पूर्णतासे अनुभवसे सुख है। अब देखिये कि जो मनुष्य सदा सुख है वह अपने अन्दर सब प्रकारकी पूर्णताका अनुभव करता है अतः वह किसी बाह्य विषयको नहीं चाहता माने जब विषय और सब काम उसको प्राप्त हो जायें और जिसके कभी अप्राप्त नहीं जिसके बर्तों सब प्राप्त करके भरपूर हों, उसका किसी बातकी चिन्ता नहीं होती वह जो सदा सुखी रहेगा। इसी प्रकार आत्मधर्माधीन मनुष्य रहता है और उसको ह्वालाका सब योग, जो अभीष्ट अवस्थित रहते हैं उसे मिलते हैं। सब काम सदा प्राप्त होनेसे समाप्त रहनेका काम ही जातिधर्माधीन, कामधर्माधीन अज्ञान्य बर्तों है। पाठक वही कहना चाहें कि यदि किसीको अन्दर ही अन्दर सब कामधर्माधीन योग स्वर्ग प्राप्त होते हैं और उनके किये किसी बाह्य विषयकी आवश्यकता नहीं होती उनके अज्ञान्य और लक्ष्मी होनेका कारण ही क्या है? वह जो सदा लक्ष्मी योगी, अचक स्थिर, प्रतिष्ठामुक्त और सदा सुख होता है। वही बात इस श्लोकमें कही है। मनुष्यके विषयके अज्ञान्य होनेके समाप्त जिसमें विविध कामधर्माधीन स्वर्ग प्राप्त होते हैं वही आत्मधर्माधीन मनुष्य कहता है। वह आत्म धर्मधर्माधीनके पीछे पड़े हुए मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार कामधर्माधीन और आत्मधर्माधीन मनुष्यके व्यवहारमें महान् अन्तर है दोनोंका जीवन निष्ठ होता है। मनुष्यको कामधर्माधीन बनना नहीं चाहिये और आत्मधर्माधीन बनना चाहिये। मनुष्य आत्मधर्माधीन कैसे बने इसका उपाय अपने श्लोकमें कहा है।

कामधर्माधीन

जो मनुष्य (अज्ञान्य विचार) सब कामधर्माधीन होनेका है सब स्वर्गके प्राप्त करवा दे बर्तों (विचार) निरिच्छा होता है विचार्य बनवा दे अज्ञान्य होता है बर्तों (विचार) में और और वह भावना छोड़ता है वह भावना है वह हृदयों में प्राप्त रहने और वह भावना है वह हृदयों में प्राप्त करवा देता नहीं करता अज्ञान्य अपने सब भावनाके बर्तों करता है और (विचार) बर्तों के बर्तों कभी नहीं बर्तों बर्तों की स्थिति मिलती है।

गति प्राप्त है

ये सब कामधर्माधीन स्वर्ग

करना चाहिये वह पहिना मनुजान है। जबतक मनुके
अन्दर कामना रहेगी तबतक शांति नहीं प्राप्त हो सकती
वह तो स्पष्ट ही है कि कामना उत्पन्न होत ही मनुष्य उस काम
वाले पीछे पीछे दौडता है और इस दौडनेके कारण अशांति
रहता है। मनुष्यको अशांति करनेवाली ये विविध काम-
नाएँ हैं। मनुके इन्द्रियका एक एक विषय होता है और
मनुष्य मनुके इन्द्रियकी तुष्टिक किये एक एक विषयकी
कामना करता करता है। हर एक कामनाके कारण नहीं
विभिन्न विषयोंके क्षेत्रोंमें जाँका जाता है। अतएव इस
विषयक्षेत्रमें दूसरे क्षेत्रमें दूसरे विषयक्षेत्रमें प्रत्यक्ष कामना
हमको आकर्षक होता है। और इसी प्रत्यक्ष उसको
अशांति होता पड़ता है। अतएव यदि अशांतिका दूर करके
आश्रितकी प्राप्ति करनी है तो पहिले इन विषयोंकी कामना-
ओंको छोड़ना पड़ेगा।

अकामका कर्म ।

यहाँ कई लोग बड़ा बड़ा करते हैं यदि सब कामनाओंका
त्याग मनुष्यने किया तो उसकी हकालत ही बंधू होजाएगी
किर मनुष्यके इन कोकमें जन्म लेनेसे क्या काम हो सकता
है ? वह लंका ठीक है परन्तु जगज्जीतके उपदेशानुसार
कामनाओंका त्याग करनेसे मनुष्य वास्तव में एक नहीं
बचता वह हकालत के सिधे ही इस श्लोकमें (मिश्रहः आति)
विष्णुस्य होकर व्यवहार करता है ऐसा कहा है। इसका
स्पष्ट साध यह है कि सब कामनाओंका त्याग करनेपर भी
मनुष्य कुछ विवेक रीतिसे (आति) आचार व्यवहार
करता ही है। वह पावर जैसा नहीं बचता। सामान्य मनुष्य
ऐसा मानते हैं कि कामना छोड़नेपर मनुष्य कर्म करनेमें
असमर्थ होगा, परंतु यह बिल्कुल गलत है। कामनाओंका
(विहाय) त्याग करनेपर ही मनुष्य विवेक कर्म करनेमें
असमर्थ होता है। कामनाओंके कालमें वेना हुआ मनुष्य ही
विवेक छत्रकर्म करनेमें असमर्थ होता है। कामनाओंके
बचनमें जैसा मनुष्य अपनी सुकहादि करनेका बात करेगा
तो उससे विरुद्ध कर्म नहीं हो सकता। परंतु स्वार्थकी
कामनाओंका त्याग करनेवाला परमार्थके विवेक कार्यक्षेत्रमें
कार्य करेगा नहीं मात्र बचनिके सिधे इस श्लोकमें 'आति
यह है। आति का अर्थ व्यवहार करता है। मिश्रहः
आति मिश्रह अर्थात् विविध वना हुआ मनुष्य व्यवहार

करता है ऐसा जो इस श्लोकमें कहा है वह पूर्वोक्त कर्मका
जो दूर करनेके हेतुसे ही कहा है। विष्णुस्य बनकर जो
व्यवहार होते हैं वे अधिक सुख होते हैं और अधिक बच
होते हैं, अतः इसका महत्त्व विवेक है।

अहंकार और ममत्व

मिश्रहः, निर्मम और मिश्रहः के तीन अर्थ एक
दूसरेके साथ संबन्धित हैं। अहंकारसे ममत्व होता है और
ममत्वके कारण एतदा अहंकार हटका होती है। यदि किसीके
मनमें अहंकार हट जाए तो उसके मनमें ममत्व भी हट
जाता है और ममत्वके दूर होनेसे स्वयं ही कामनाओंका
त्याग भी होजाता है।

अहंकार का अर्थ है 'मैं-यम'। जगत्में मैं हूँ मैं
इस अर्थका भोग होता है इसमें विजयी हूँ, मैं ऐसा
और वैसा करूँगा यह सब 'मैं-यम' का अर्थ है। यदि
'मैं-यम' ही हट जाए तो मैं से उत्पन्न होनेवाला मेरा-
यम 'कैसे रहेगा ? ममत्व' का अर्थ है 'मेरा-यम'।
'मैं-यम' के साथ ही 'मेरा-यम' संबन्धित है। एकके बने
जातेसे दूसरा भी दूर होजाता है। यदि यहाँ एक ऐसे मनु-
ष्यकी व्यवस्था की जाए जिसके मनमें वह अहंकार 'मैं यम
और (ममत्व) मेरायम पूर्वजाने हट गया है, तो ज्ञात होगा
कि ऐसे मनुष्यके अहंकार कोह कामना उत्पन्न ही नहीं होती।
क्योंकि कामना उत्पन्न होनेके सिधे अहंकारकी अत्यंत आवश्यकता
रहती है। इन विचारसे यह बात ज्ञात होमई होगी
कि अहंकारके नाशसे ममत्वका नाश और ममत्वके
नाशसे कामनाका नाश होता है इस प्रकार विष्णुस्य होकर
मनुष्य जिस प्रकारके कर्म कर सकेगा इसका विचार अब
करना चाहिये।

स्वायं और परमार्थ ।

यहाँ स्वार्थ और परमार्थका मेरे चक्षुषों में कामना योग्य
है। स्वार्थ मनुष्य अपने हितकी कामना करता है और
अपने सुखके सिधे स्वार्थका साध भी आवश्यक हो
तो वह भी कर देता है। इसी प्रकार परमार्थ मनुष्य परम
अर्थ अर्थात् सबके मेरे हेतुमें योग्य होता है। परमार्थ
मनुष्यके लक्ष्य सब जगत्की महादुःख होता है। सब
मोहना आदि अज्ञानोंका ज्ञान उत्तम लक्ष्य मनुष्य होता है।
यदि सब जगत्की महादुःख के सिधे आवश्यक प्रताप हुआ तो

महामहर्षिज जी कर देता है। यह स्वामी और परमाधी मनुष्यके अन्तरका मेह है। स्वामी मनुष्य अपने मुख बजा मेके छिपे हुएतोंकी वक्ति करता है और परमाधी मनुष्य जब ठाके छुपे बजातेके छिपे बपधी वक्ति करके करनेको पैवार होता है। शब्दके व्यवहारोंमें यह मेह होता है। स्वामी मनुष्यको सत्ताम कहते हैं और परमाधी मनुष्यको विनयाम अथवा नमस्कार नामक कहते हैं (यह बात हमी अन्त्यावके छोक ५५ ५६ की व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दिखाई है)। स्वामी मनुष्य अपनी सेवा करता है और परमाधी मनुष्य ईश्वरकी सेवा करता है स्वामी छोटा है और परमाधी बड़ा मिलता है। जगत् विनयाम मनुष्य छोटे अर्थका छोड़कर विस्तृत अर्थकी शिष्टिमें वृद्धित होता है। हमी काल विनयाम करनेका अर्थव्यवस्था बजा जारी है।

संयुक्त वायुमंडलमें मनुष्यको आकृष्ट नहीं होता जब वह विस्तृत वायुमंडलमें जाता है जब वह आत्मन्यका जगती करता है। परंतुकी जोतीपर बड़ा मनुष्य लुके विस्तृत वायुमंडलमें वृद्धिके काल आदिष्ट होता है परंतु स्वयं की पार्श्वकीमें बड़ा मनुष्य संयुक्त वायुमंडलमें वरनेके कारण दुःखी होता है। बड़ी बात स्वामीके कार्यमें है। यह बात कई बार हमने पूर्व बताया है कि स्वामिके कारण आदमें लक्ष्यित होव और मुख होके हैं और परमाधी काल जाति मित्रता और प्रेम करता है। लक्ष्यित होव और मुखके अर्थकी जीमता होती है और शांति मित्रता और प्रेमके कारण शांतिकी वृद्धि होती है। प्रेममें और मित्रतामें जो अर्थ है वह किसी अन्य व्यवस्थामें नहीं है। अर्थ मनुष्य करता है और समझता है वरानि वह अर्थमय प्रेमका प्यासा है। यदि उसको प्रेमके अर्थमय मित्रताकी व्याख्या होती तो वह कदापि जीमति जी नहीं रहेगा। कोई वाणी लक्ष्यितके छिपे जीमति नहीं रहता शांतिकी व्याख्या है। यह जीमति रहते हैं। यह जीमति परमाध लक्ष्यित ही मिलती है। स्वामिके कार्यमें नहीं। हवी। यह हम छोड़ते कहा है कि स्वामिकी लक्ष्य आत्म-मार्गका पता लक्ष्यित अर्थव्यवस्था और जीमतिमार्गका लक्ष्य करके परमाधीके विस्तृत कार्यक्रममें विनयाम लक्ष्यित कार्य का। देना करनेमें ही कामिल प्राप्त होती। दूसरा कोई नाम लक्ष्यितके छिप नहीं है।

यः कामान् विहाय निस्तुहः पतति स शान्तिमधिगच्छति ॥३३॥ आरामवर्षः इन्द्रियैः विनयान् पश्य प्रसात्प अधिगच्छति ॥ ५३ ॥

हरी लक्ष्यितके वे जोनों छोके प्रमाण प्राप्त करते हैं। पक्षिकेमें कहा है कि ' कामता छोड़कर स्वयंभार अर्थव्यवस्था कामिलका प्राप्त करता है ' और दूसरेमें कहा है ' अपने स्वामीय रहनेवाली इन्द्रियोंमें विनयोंमें विनयता हुआ प्रेम-बधा प्राप्त करता है। इस जोनों छोकेका अर्थ अर्थव्यवस्था पक्षिके प्रमाणही है। कामलक्ष्य आत्म करने ली। अपने आधीय इन्द्रियोंको रक्षनेका अर्थ अर्थव्यवस्था वृद्धि ही है। परमाध कामलक्ष्य कार्य इन्द्रियोंका विनयानीय करता है। विनयि हवीमें स्वामीय है वह मुखी और अंतर्की इन्द्रियें स्वामीयारी है वह मुखी होता है। इन्द्रियोंको स्वेर रक्षनेवालेका जीम मुख प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार कामलक्ष्य आत्म करने ली। निस्तुहवृद्धिके स्वयंभार करनेके मनुष्य लक्ष्यी स्थितिमें प्राप्त कर सकता है। वाणी स्थितिका अर्थ स्थितिकेकी आरामवर्ष करता है। हरी लक्ष्यितमें स्थितिकेका अर्थव्यवस्था (छोके ५५ के) पर रहता है। छोड़ते—

सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति (छोक ५५)

सर्व मनोगत कामलक्ष्योंका त्याग करना यह स्थितिकेका परिणाम लक्ष्यित कहा है। वही हम छोड़ते (सर्वान् कामान् विहाय) सर्व कामलक्ष्योंको छोड़नेका अर्थव्यवस्था किया है। कामता छोड़नेकी वृद्धि ही बात इस लक्ष्यितमें अर्थव्यवस्था करी है वह स्थितिमें कि वह आत्म पार्श्वकीमें अर्थव्यवस्था प्राप्त स्थित हो जाय।

सर्व कामलक्ष्योंको मयले हवाके ही आधी स्थिति प्राप्त होती है। मनुष्यका यह अर्थव्यवस्था प्राप्त हुई तो अर्थव्यवस्था कि अर्थव्यवस्था प्रेम अर्थव्यवस्था होगी। मनुष्य जिम अर्थव्यवस्था अर्थव्यवस्था के अर्थव्यवस्था है वह नहीं अर्थव्यवस्था है। वही ही वह परमाध आरामव्यवस्था होता है। जीमता मित्रता लक्ष्यीको कहते हैं। अपने लक्ष्यित प्रेम आत्मनेकी वही स्थिति है जगत्। हवीको आधी स्थिति अर्थव्यवस्था अर्थव्यवस्था किया करने है। हवीका नाम पूर्व स्वामीमें अर्थव्यवस्था वही है। (ऐकी छोके ५३-५५ की व्याख्या)। आरामव्यवस्था स्थितिमें मनुष्य अपनी लक्ष्य और अर्थव्यवस्था है देना

मानता है परंतु दूर्बोक्त रीतिसे उद्यत होवेपर इसको अनु-
भव होता है कि अपनी व्यवस्था सूमा आक्षी व्यवस्था विधा
व्यवस्था है। सामान्य अनुपपत्ते अनुभवसे इस व्यवस्थापि
विकल्प अनुभव जाता है अतः कहा है कि—

एतां प्राप्य म मुञ्चति ।

इस व्यवस्थाको प्राप्त करके मनुष्य मोक्षपथ नहीं
होता मोक्ष तो इस व्यवस्थाको प्राप्त होवेतक ही रहता है।
एकबार मनुष्यने इस स्थितिका अनुभव किया तो वह
कभी ज़मने नहीं फैसता। मनुष्यकालमें भी इस व्यवस्थाको
प्राप्त करवेपर उसको अष्टपद प्राप्त हो सकता है अर्थात्
अब समभवतक इसको प्राप्त करेके भी विद्युत् काम हो
सकता है। अब इस आक्षी स्थितिको प्राप्त करकेका वर्जन
वेदमंत्रोंमें किस ढंगसे जाया है वह देखिये—

ऊर्ध्वोऽनुसूयाः तिर्यक् तु सूयाः
सर्वा विशाः पुक्व भा बभूव ।
पुंरं यो ब्रह्मणो वेदं यस्याः पुक्व उच्यते ॥१४॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदायुतेनाहुतां पुनः ।
तस्यै ब्रह्म च आद्यान्म बभूव । प्राण प्रजां वसु॥१५॥
न वै तं ब्रह्मर्जहाति न प्राणो जरतः पुनः ।
पुंरं यो ब्रह्मणो वेदं यस्याः पुक्व उच्यते ॥१०॥
ब्रह्मचर्या नवव्याप वेदानां पूरयोष्या ॥
तस्यां हिरण्यपयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाहुतः ॥१॥
तस्मिन् हिरण्यपये कोशे इन्द्रे त्रिमतिष्ठिते ।
तस्मिन्परासमात्मन्परादे ब्रह्मविद्यां विदुः ॥१२॥
ब्रह्मात्मनां हरिणां यशसा संपरीभुताम् ।
पुंरं हिरण्यपयीं ब्रह्मा प्रविशेद्यापराजिताम् ॥१३॥
(अथर्व १ । १२)

ऊपर और तिरके बादि सब विशा विनाशोंमें वह
पुनः कैदा हुआ है अब नगरीको को जानता है अब
इतने बचनेके कारण इसका पुनः नाम बलिह हुआ है।
मनुष्ये परिपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको को जानता है उसकी ब्रह्म
और ब्रह्मके अष्टपद सब सम्प देव ब्रह्म प्रजा और वायु देते
हैं। आ ब्रह्मनगरीको जानता है उसके ब्रह्म और वायु उसकी
वृद्धावस्थाके एवं नहीं छोड़ते अब इतनी बसनेके कारण
इसका पुनः कहते हैं। बाद पक्षों और भी हारोंसे पुनः
वह दूर्बोकी अर्थात् अर्थात् पुनः करके जीतनेके अवश्य

नगरी है। उसमें सुवर्णमय कोष है। जो तबसे परिपूर्ण
स्वर्ग ही है तीन बार जिसमें कगे हैं और तीन वायुतोर
को निरावस्था है, उस सुवर्णमय कोषमें पूष और वैतण्य
पूर्ण देव है उसको ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। जिसकी कभी परा
जय नहीं हुई वेसी सुवर्णमय वेजस्वी मनोहर और
बसस्वी ब्रह्मकी नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है ॥ १८-१३ ॥
इस मंत्रोंमें ब्रह्मपुरीका वर्णन है और उसको प्राप्त करने
बादकी स्थिति अर्थात् ब्रह्मी स्थितिका भी बयान है। अब
इस मंत्रोंका विशेष विचार करना चाहिये। इस ब्रह्मपुरीका
वर्णन इस प्रकार है—

ब्रह्मपुरी

इस ब्रह्मकी नगरीमें (बभ-हारा) भी द्वार हैं इन
द्वारोंके नाम दो बाँक दो काय दो भाक एक मुख ये
सिरमें सात द्वार और शुद्धद्वार और सूयद्वार ये हो निककर
नौ द्वार हैं। ये द्वार बडे प्रसिद्ध हैं इसलिये इसके द्वारा
नयी द्वार का बादि भी जनेक नाम हैं। इसमें बाद पक्ष
हैं (१) सूयावत् पुक्वर्धके मुखमें (२) स्वाविद्याम
जनेर्धियके पीछे (३) मणिपूरक और (४) सुवर्णक
वागिश्वातमें (५) अवाहत् इन्द्रमें (६) विष्णुदि गळेमें
(७) आद्यान्म सूयवत्में (८) सहस्रारक मणिपूरमें
इस प्रकार ये बाद पक्ष इस पुक्वर्धमें मन्त्रा-तंतुके
केन्द्रकम हैं। इन पक्षोंमें अमल अक्षि है और वह
अक्षि अमलातंतुके आरम्भे शरीरनगरीमें कैदाई जाती है जिस-
से वह शरीर पक्ष रहा। वह ब्रह्मपुरी मनुष्यका शरीर है
ब्रह्मकी ब्रह्मनगरी, ब्रह्मपुरी अर्थात् आदि। आदि से सब
नाम इसी अक्षि शरीरके हैं। इसी शरीरमें ब्रह्मका अक्षि
रहता है इसलिये इसका इत्या महात्मा है। अब कोई वह
न समझे कि वह शरीर हीवहीन और अक्षि है। वह तो
ब्रह्मका विद्यामस्थान है। जिसको ब्रह्मने जगता निवात
स्वाम बनाया उसको अक्षि कौन कह सकता है। तबानि
मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रत्यक्षसे इतनी शक्ति
और विद्याको सुलभ न दे और इसमें ब्रह्मका ही सकाश
होने दे। इस प्रकारका नाम ही वर्णनारन है।

वह ब्रह्मकी नगरी (ब्रह्मात्मना) वेजस्वी है (इतिवी)
इसको द्वारक कर्षवस्वी है इधमें मनुष्यके साथ रहने-
वालोंको दुष्क नहीं होता (यद्यथा संपरिभुता) ब्रह्मसे
पुनः है इतनी रहनेवालोंको वह प्राप्त होता है पुनःप्राप्तके

करनेवाले इसमें रहकर एक पाप करते हैं (न परा-
क्रिया) इसकी पराजय कोई कर नहीं सकता न (न-
पेया) कुछ करके इसका नाश कोई कर सकता है वह
पुत्र करके भीतने शेष नहीं है अर्थात् एक बार महाकय
बनकर का हमसे रहता है वह कभी साहस्य जन्मकारमें
नहीं करता । इस प्रकारकी महापुत्री को महा बच्चा है
को मायी स्थितिको दास शता है वह (अभिषेक) प्रसिद्ध
होता है । अन्य लोग गुणान् दास आये इसमें रहते हैं
राजा होकर दासकपसे रहते हैं परन्तु को महाकय बचते
हैं वे इसमें सञ्चन्द्र बनकर प्रसिद्ध होते हैं । अतः इसमें कोई
दास बनकर न रहे अपितु सञ्चन्द्र बनकर विराजे ।

इस महानगरमें एक (क्षेत्र) कक्षाया है सब कृत्तियों
का मुख्य स्थान है यह स्थान (ज्योतिषादिभिः) हीन
भारोत्तर भाग हीन भावार्थोपर स्थित है । यह काष्ठ (विर-
चय) सुवर्ण जैसा तेजःशून्य है इसकी कठिका वर्णन
करना कठिन है । यही (स्वर्गः) स्वर्ग है इस स्वावयव
को प्रभु बनकर आते हैं वक्त्रों ही स्वयंभुक्त मिथ्या है
जबने जन्म ही यह स्वर्गस्थाय है यही (दानां च)
दानोंका वासस्थान है वेदोंके अर्थात्से यह वरिष्ठ है और
यही (स्तोत्रिका जलान्) इत्यादि ठेक है कि मायो सब
देवोंका पुत्र ही यह है । इसी स्थानमें (ब्रह्ममन्त्रं यज)
यजन्मका रक्षक एक पूजनीय देव है इसका काल सामान्य
मनुष्योंकी नहीं होता उसे जो वेधन (तत् महाविद्-
विद्) महाप्राणी ही ज्ञात है सब वस्तु नहीं है यही
महा है यही अनेक शक्ति है यही श्रेय आनन्द प्राप्ति का
यही है ।

इस पुरीमें रहनेके फलान् इस अनमयो पुरुष कहत
है । (परथाः) इस पुरीमें रहनेवालाका (पुरुषः बन्धन)
पुरुष कहते हैं । इस पुरीमें भविष्यार्थक वास्तव्य करनेका
यज यह है—

तस्मीं महा न्न भ्राह्मण्य आभुः प्राण्यं प्राणीं वहु ॥
(अथर्व १ । ११५५)

अथवा महा और भ्राह्मण कायक रूप सब अन्य देव बहुत
जान् भाव प्रजा देते हैं । भ्राह्मणगीको ज्ञानका महापुत्रीमें
प्रविष्ट होता, महा प्राप्त करना अथवा मायी स्थितिमें पहुँ-
चना एक ही है । इस स्थितिमें पहुँचे हुएकी महा स्वर्ग उज

पारिस्थितिक होता है और महाके बने पूर्वादि सब देव की
इसकी कथित सहायता करते हैं । इस मन्त्रमें सब देव
महा ने जो अर्पण हैं । महाकय ब्रह्ममन्त्राका वाचक और
महा अर्पण जगति वाहु रवि विष्णु आदि ब्रह्मन्त्र सब
देवताओंका वाचक है । अग्निधुर्वादि सब देव और उनका
अभिधाता परमहन्ता मायी स्थितिका प्राण रूप मनुष्यको
चक्षुः, श्रोत्र और ब्रह्मा ' देते हैं ।

चक्षुः प्राण और प्रजा

इसका उद्देश्य सत्तावाचक प्रसिद्ध है । महाप्राणी जन्मा
मायी स्थितिको प्राण मनुष्यका सब प्रसन्न होकर श्रेष्ठ
सुखसाध देता है हमसे स्पष्ट हो जाता है कि मायी स्थिति
को पक्षुषा मनुष्य गृहस्थधर्ममें रहकर सुप्रजा उत्पन्न करता
है । मायीकी कृपासे प्राण होनेवाली श्रेष्ठता औरत ही होती,
एकक पुत्रके किये मायीकी कृपाकी कोई आत्मस्थपता नहीं है ।
औरत सदाय उत्पन्न होनेके किये सीधे जान रहता जान
इसके है और वर्मापुत्रका गृहस्थधर्मका प्रथम फल ही
आत्मस्थपता है । पुत्र उत्पन्न होने योग्य करीकी उत्पन्नता
की चाहिये । इससे यह स्पष्ट हुआ कि मायी स्थिति उत्पन्नमें
प्राण होनी चाहिये । एही प्राणपत्तकी बबनी चाहिये कि
पूजा अथवायों मनुष्य महापुत्रीको जाने और उसमें अग्नि
आयेके प्रसिद्ध हो सके और पञ्चतन्त्र सुप्रजा विमान का लो ।
सुप्रजा विमान करना या होवा महाप्राणका एक कल यही
वेदमन्त्रमें वर्णित है ।

मायीकी प्रसन्नतासे दूसरी बीज को प्राण होती है वह
प्राण है । प्राणकी प्राप्तिका बने प्राणकी स्वर्गीयता,
प्राणको अपने आधीन रखना अथवा ध्यानादिमें दीर्घ वायुकी
प्राप्ति है । मायी स्थिति प्राप्त होनेसे मनुष्यको दीर्घ वायु
प्राप्त होता है अर्थात् अकालमूर्ति प्राप्त नहीं होती । दीर्घ
जीवन प्राप्त होनेका अर्थ यह है कि वह सब दीर्घ वायु
दिशाप महापत्तके पुत्रार्थ करता रहे । यह पुत्र वाया जैसा
कल्प नहीं रहता अपितु देता आदिक जीवन व्यतीत करता
है कि को अथवाके किये प्रायश्चित्त हो जाय ।

महा भविष्यते को हीसरा काम होता है वह चक्षुः की
प्राप्ति है । चक्षुः अथवा अथ श्रेय है परन्तु यह प्राण नहीं
उत्पन्नता है यही चक्षुः उत्पन्नते के बाद हीर्ष्य इन्द्रिय सब
अवयव केने चाहिये । यह सब इन्द्रिय और अवयव उत्पन्न कर

स्वान्तर्गत हैं बुद्धावस्थाके पूर्व कीज नहीं होते यह इसका
तत्पर्य है । इसीको अधिक स्पष्ट स्वयं मन्त्रने ही किया है—

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।

पुर यो ब्रह्मणो जेह यस्याः पुरुष उच्यते ॥

जिसमें रहनेके कारण इस जातनाको पुण्य कहत है
इस ब्रह्मकी मयीको जो जानता है उसको जेह और उसके
जान कीज अवस्थाके पूर्व ब्रह्मका नहीं छोडते । ' अर्थात्
अतिबृह अवस्थातक उसकी संपूर्ण इन्द्रियों और अवयव कार्य—
कृत रहते हैं और वह सूरत अवयवोंके साथ उत्साहपूर्व
दीर्घ जीविका अनुभव करता है ।

सुमत्रा निर्माण करनी, दीर्घजीवन प्राप्त होना और अन्त
तक संपूर्ण अवयव सूरत अवस्थामें रहना ये तीन काम
ब्रह्मज्ञानके हैं जाही स्थितिमें पशुके हुए मनुष्यको ये तीन
काम मिलते हैं । सगवद्गोत्रामें (यः कामान् विहाय
निःस्पृह भवति) कामना छोडकर निस्पृह होकर व्यवहार
करता है ऐसा कहा है । इसमें (भवति) व्यवहार करने
का कार्य इन तीनोंके साथ संगति देखनेसे स्पष्ट हो जाता
है ब्रह्मज्ञानी मनुष्य अतिदीर्घ जातुक अपने सूरत अव
यवोंके साथ उत्तमोत्तम पुनर्वास करता है । वेदमन्त्र और
गीताके उपदेशकी संगति इस प्रकार है ।

इस प्रकार श्रीमत्तन्मन्त्रिणाकपी उपनिषद्में कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए,

योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और गुरुदेवके संबन्धमें,

सौक्ययोग नामक द्वितीय अध्याय

समाप्त हुआ ॥ १ ॥

एक ज्ञाना है ऐसा इस त्यागपर भगवान् श्रीकृष्णको कहना है। इसी प्रकार अपना छोड़ कर इसी विषय में देखिये—
देही नित्यमवस्थोऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥

(श्री १)

यह देहधारी अवस्थ मित्र ज्ञाना सबके देहमें उपस्थित है। इस श्लोकमें भी सबके देहमें एक ज्ञाना है ऐसा ही कहा है। वहाँ वसति सबके देहमें ऐसा नहीं कहा है, वसति ज्ञाना (सर्वगत) सर्वव्यापक है और यह सबके देहमें है इतना कहनेसे एक सर्वव्यापक ज्ञाना सर्वगत देहमें है ऐसा स्पष्टस्थित होता है। इसके द्विज करनेके लिये अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है यदि किसी को प्रमाण चाहिये तो भगवद्गीताका विम्बशिकित श्लोक देखें—

महमात्मा गुडाकेश सर्वभूताधिपस्थितः ।

(म गी १५)

महं वैष्णवतु भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

(म गी १५१४)

मैं एक ज्ञाना सर्व भूतोंके अन्तर रह रहा हूँ। मैं विषयका मेरा होकर सब प्राणिनोंके देहका आश्रय करनेरह रहा हूँ। वहाँ एक ज्ञाना सब भूतोंमें व्यापक है ऐसा कहा है। इन श्लोकोंका विचार करनेसे पूर्णतः सत्यका निराकरण हो जाता है और न भीताके लम्बे अनुसार एक ज्ञाना सब देहमें है यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ कई पूर्ण कि यदि सबकी एक ज्ञाना है और यह भूमा है तो एकका सुखदुःख दूसरेको क्यों नहीं होता ? इस सवालका उत्तर भगवद्गीताके किसी श्लोकमें नहीं दिया है। उपनिषद्में इस विषयमें इतना ही कहा है कि सुखदुःखि भूमा अवस्थाका—एकत्वावस्थाका अनुभव मनुष्य करता है इसलिये उसकी उस समय किसी दूसरेका भाव नहीं होता वही एकत्वाका अनुभव करनेवाली ज्ञाना आपत्तिकी अवस्थामें ऐसा अनुभव करती है। जहाँ एक ही मनुष्य आपत्तिमें है तब स्थितिमें और सुख—समाधि स्थितिमें जहाँ स्थितिमें रहता है। यदि वह जान है तो सुखदुःखि उसको सबके सुखदुःखका अनुभव होता चाहिये। परंतु इसमें बात यह है कि जो अपने धार्मिक सुखदुःख कहेंगे भी सुखस्थि अवस्थामें एक धार्मिक संबंध हुए जानेके कारण किसीको भी नहीं

होते। अपने धार्मिक छोड़े कुमिसर्जोंका दुःख भी मित्रमें मनुष्यको अनुभवमें नहीं जाता तो दूसरेके धार्मिक दुःख का कैसे अनुभव होगा ? इसलिये धार्मिक सुखदुःखका अनुभव तो भूमावस्थामें नहीं होगा। परंतु कुछ मनके प्रेरित विचार काक और स्वाभाविक अन्तर न मानते हुए हर एकमें सुखस्थि अवस्थामें स्थित मनुष्यके मयतक पहुँचते हैं इस अनुभवसे पता लगता है कि मनुष्यको वह भूमा अवस्थाके अवस्थाका अनुभव होता संभव है। उपनिषद्में कहाँ तक वे विचार स्पष्ट रीतिसे कहे हैं गीतामें भी उसी का अनुवाद 'सर्वगत ज्ञाना' है ऐसा कहकर दिया है।

मनुष्यका अनुभव किसेदेह हैतका है मित्र ज्ञाना होनेका है। साक ही साक मनुष्य अपने आपको ज्ञानक, ज्ञान अवस्था, जीव, परिमित भूमा मानेवाका जीव और वह होनेवाला अनुभव करता है। परन्तु साक कहा है इसके विरुद्ध। साक्षात्पुनः ज्ञाना मनुष्य, विभु ज्ञानी अपरिमित महान्, भूमा ज्ञाना, ज्ञाना महान् सदा सत्य, ज्ञाना आदि रूप है। साक्षात् मनुष्यके अनुभव और साक्षात् इतना महान् अन्तर है। वेदमें भी जीवज्ञाना परमज्ञानाके सब नाम एक जैसे ही हैं। दोबोके एक जैसे नाम होनेसे ही दोनोंके गुणधर्मोंकी एकता भी सिद्ध होती है। गीतामें भी—

ममिवांशो जीवस्योऽयं जीवभूता सनातनः ।

(म गी १५१०)

मेरा (परमज्ञानाका एक सनातन अंश जीवकोईजीव ज्ञाना हुआ है ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसे अग्नि ज्ञाना अतिरूपही होता है जैसे ही परमज्ञानाका अंश परमज्ञाना रूप होता है। इस प्रकार विचार करनेपर पता लगेगा कि सर्वव्यापक एक ज्ञाना है वह वहाँ कहीं हुए साक्ष्यमयका विविध सिद्धान्त है। इस ज्ञानाके गुणधर्म विधेयन के हैं—

१ नित्य (श्लो० १८, १०, २१, २४, २५, २६)

नित्य जहाँ एक ज्ञाना रहनेवाला तीनों कारकोंके एकता रहनेवाला सत्यता कभी भाव नहीं होता है अतः एक सत्य—

४ आश्रित (श्लो २० सनातन श्लो० २४)

महा रहनेवाला होनेवाले को एक ज्ञाना रहनेवाला है

को बसादि काकसे है उसे लक्षण कहें प्रत्यक्ष कहते हैं। यह कह नहीं पा जाय है और कह नहीं रहेगा, ऐसी बात नहीं। यह सब काकसे एकता विद्यमान है। इस कारण इसके निम्नलिखित नाम सार्वक होते हैं

अथ (श्लो० २०, २१)

यह जगत्ता नहीं न ही यह उदय होता है । यही भाव स्पष्ट करके किने निम्नलिखित वाक्य कहे हैं

न जायते । (श्लो० २०)

यह जगत्ता नहीं इसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। यही कई कहें कि वयसि यह जगत्ता नहीं तथापि इसका नाम ली होलाही होया। हम सेवकी भिक्षु किने किने निम्नलिखित वाक्य कहे हैं—

६ अनायी (श्लो० १८) अविनायी (श्लो० २१)
अम्यय (श्लो० २१) नित्य अवयव (श्लो० ३०)
अच्छेद्यः (श्लो० २४)

इसका नाम नहीं होता, इसका जन्म नहीं होता इससे मृगाविक्रम नहीं होती इसका वय नहीं होता इसको छिन्न भिन्न किया नहीं जा सकता यह हमेशा अवयव है। ये सब शब्द इसका नाम नहीं हो सकता यह बात स्पष्ट कर रहे हैं। यही नाम अधिक स्पष्ट करने के किने निम्नलिखित वाक्य कहे गये हैं—

न भ्रियते (श्लो० २०) न हन्यते (श्लो० १९)
हन्यमाने छरीरि न हन्यते । (श्लो० २०)
नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि (श्लो० २३)

यह मारा नहीं, यह मारा नहीं जाया। छरीर के कटे छरीर भी यह कला नहीं जाता। इसको अथ काट नहीं सकते। य सब एकीकरण पूर्ण कहने के नाम की अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। इन सब कथनों का विचार करनेसे इसके अन्तर और अन्तरा होने का स्पष्ट ज्ञान होता है। कह करें कि यह दृष्टार अति आनन्द करता होगा परन्तु बन्धन अति यह होने के बाद इसकी कैसी निर्वात होती होगी। हम विनयक। तथा जैसे कौणा। इसका उदय होने के किने भी नाम कहा है कि—

भूया अवशिष्टा न । (को १)

एकबार छरीरवारन करनेपर फिर कभी अति वयन नहीं करेगा ऐसा नहीं। एक का जैसे हुआ है वैसे ही जागे भी होगा। इसीका अधिक स्पष्टीकरण अपने कोली कहा है—

न त्येबाह आनु नासं न त्वं मेमे अमाधिपा ।
न अथ न मविष्यामः सर्वे वयमता यत् १११
वेदिबोऽसिम्पया देहे कीमारे यौवनं अरा ।
तथा वेहाम्परासिर्धिरस्तन न मुष्ठाति ११२
(न मी १)

मैं किसी कर्ममें नहीं जा देता नहीं। दू कभी नहीं जा देता नहीं। ये राजा लोग भी कभी नहीं जा देता भी नहीं और इसके बाद भी हम सब न होते देता भी नहीं है। अर्थात् हम बहिके ये इस समय हैं और जागे भी होंगे। देहधारी जन्ममार्गे इस देहमें जिन प्रकार वास्तव्य वस्तव्य और वृक्षव्य गल्ल होता है, वही प्रकार जन्मे कही जन्ममार्गे वृक्षी देह भी गल्ल होती है। इस कारण इस विषयमें कभी प्रश्न मोहित नहीं होया। इस वक्त इसका अन्तर्गत अविनाशीत्य कथन करने के साथ साथ यह बातवार देह वास्तव्य करता है देता भी कहा है। देह वास्तव्य करे हुए भी यह जगत्ता है इसके परेपर भी यह जगत्ता है देह के वास्तव्य और बर्धक्य होनेपर भी यह जगत्ता रहता है। इस देह गल्ल होनेपर भी वयमें यही प्रमाणव्य निवात अन्तर्गत है जगत्ता इसकी—

७ पुराण (श्लो० २०)

‘पुराणव्य कहते हैं। (पुरा मणि वया पुराण)
यह पुराण होता हुआ भी वया मेला है, यह कभी पुराण नहीं होता यह जगत्ता एक वेला रह्य हुआ रहता है। अन्त कहा है—

शास्त्रोक्ति जीर्णायि यथा विहाय मयानि पृष्ठाणि
मरऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
मयानि संपाति मयानि देही ॥

(न मी ११२)

जैसे कोई मनुष्य पुराने कपड़े पहनेपर नये मेला है वैसे ही देह जीर्ण होनेपर देही जगत्ता नये देह कही है।
हम रीतिसे यह पुराण होता हुआ वया वयता है। देह के मरनेपर भी यह नहीं मरती इसके जीर्ण होनेसे भी यह जीर्ण

वही होता । इस विषयमें और देखिये—

८ अवाप्त, अकृष्ट, अक्षोभ्यः (स्तो० २४)

अर्थात् वह अवाप्ता भित्तोवा अथवा सुखाया नहीं जाता
कदा इसका उपहीकरण निम्नादिभिन्न वाक्योंमें है—

अ एनं ददाति पायकः सन्धेयं कलेत्स्नयापः ।

स शोपयति मादतः । (स्तो० २४)

‘ अग्नि इसको बना नहीं सकता, वह इसको मिया
नहीं सकता, और वायु इसको सुखा नहीं सकता । ’ इन
पञ्चमूर्तोंका इसपर कोई परिणाम नहीं होता । इसीके—

अविकार्योऽप्यमुच्यते (स्तो० २५)

इसको अविकारी कहते हैं । अविकारी वह होता है
जिसपर कोई परिणाम न हो । जो एक ही स्वस्वसे
बढ़ा रहता हो वह—

९ स्याणु (स्तो० २४)

स्विर है न द्विकेवात्मा न बहुकेवात्मा और न
विद्वत् होवेवात्मा तथा सबको आचार देनेवाला है । परन्तु
वह—

१० अम्यका, अर्चित्य (स्तो०)

अग्रमेयः (स्तो० २८)

अम्य नहीं, वह रिखाई नहीं देता इसका चित्तनं
नहीं किता का अकृष्ट इसका परित्याग भी नहीं हो सकता
इस प्रकारकी वह अज्ञा है परन्तु अब इसके विषयमें—

आत्मव्यवस्थापयति कश्चिदेनं

वेद्यं यं वेद्यं कश्चित् । (श्लो० २५)

हार्थेई इसकी आत्मव्यवस्था होकर आत्मव्यवस्था एतद्वि
देवता है परन्तु कोई हमका अर्थात् रीतिसे बात नहीं
कहता । ‘ इसकी यदि सब आत्मव्यवस्था यी वहकर आत्मव्य
है । वह देता गुण आत्मव्य है कि इसका पूर्ण ज्ञान किसीकी
हो नहीं सकता । वही निम्न श्रमियोंकी इसका ज्ञान होता
है परन्तु वे दूसरोंको वह ज्ञान बता नहीं सकते क्योंकि
अम्योपि अज्ञाता अज्ञान अज्ञान है । इस कारण इसको
स्वस्वसे अर्थात् स्वयं आत्मे अज्ञान कहते हैं । अतः
इस प्रकारका एकप्रकारका अज्ञानज्ञानमें उपदेशके आशयमें
वही है इस ज्ञानको आत्मव्य अज्ञान आदि है ।

२१ (द्विती)

संक्षिप्ताचार ।

जो आत्मा में अम्य है वही अम्य मनुष्योंके अम्य
और वही कीट पिपीलिका पतंग बहिरिकोंमें भी है, वह सब
स्वीकार करनेपर आत्मिक दृष्टिसे सबकी एकता है देना
मानना पड़ता है । इसका अर्थ अर्थ यह है कि यदि मैं
किसीकी ईसा करूं तो वह मेरी ही ईसा होनी किसीके
आप में अम्य कोई तो मेरे आप ही अम्य कोईके
समाप्त होगा किसीकी चोरी में करूं तो वह अपनी ही चोरी
मैंने की देना होगा यदि किसीके आत्म स्वस्विकार किता तो
वह अपने आप ही स्वस्विकार होना जो जो अज्ञाचार में
दूसरेके आप करूंगा वह सब अज्ञाचार मेरी अज्ञाचारके आप
अर्थात् मेरे आप होना अज्ञाचार । मनुष्य इस बातको
बादे न समझे न माने किता इस बातकी और ज्ञान न दे
परन्तु यदि सबकी आत्मा एक होगी तो दूसरेके आप
करता है देना मानकर किता हुआ अज्ञाचार और अज्ञाचार
कनी न कनी अज्ञान ही अपने ऊपर आत्मव्य अज्ञानके इस
आत्मव्य अज्ञान कोई नहीं है । इसीके कदा है कि—
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति । य इह मानव
पश्यति । कठ ३।१ ११; ह ३।३।१५

जो यही निश्चय देकेगा वह मृत्युके भी वही मृत्युकी
प्रप्त होता । दूसरेके आप किता अज्ञाचार अपने ऊपर
कीट आत्मा और दूसरेपर किता अज्ञाचार की अज्ञानको
प्रप्त होता वह ज्ञान अज्ञानके ज्ञानमें स्वर होय तो
विश्वेदेह अज्ञानका व्यवहार सुख आनन्द ।

और जो मरनेवाले हैं वे अपने ही अज्ञाचारके कारण
मरते हैं दूसरेके मरनेसे कोई नहीं मरता, जो सब मरते न
हुरवस्वकी प्रप्त होते हैं, वे अपने ही अज्ञानके कारण होते हैं ।
वह निश्चित रीतिसे अज्ञान अज्ञानके अज्ञानको वही अज्ञान
यही बात सबको ज्ञानमें ज्ञान करवा योग है ।

कोई मनुष्य दूसरेके ऊपर अज्ञाचार नहीं करता है ?
कौनसी वृद्धि इसके अम्य है जिसके कारण वह अज्ञाचार
में मनुष्य होता है, हार्थ करके अज्ञान है अथवा अज्ञाचारके
पक्षमें आने अज्ञान है । वह अज्ञान है कि मैं अज्ञान ही
वह दूसरा मेरेसे निश्च है मैं अधिक मुझी होय आत्मा है
इसके अज्ञान में अज्ञाचार, करके अज्ञानके अज्ञान में मृत्यु
और अज्ञान अज्ञान । यह अपने अज्ञान अज्ञानकी वृद्धि अज्ञान

को भूरे मार्गकी ओर जानेमें प्रवृत्त करती है। यदि इस समय इसकी श्राव हो कि मेरे आस्थाचार करनेसे जन्ममें मेरा हो दुःख बरेगा तो निराश्रय हीन मार्गपर चलेगा। तथा दूसरीका यज्ञ करनेसे मेरा सुख बरेगा ऐसा यदि समझ निश्चय हुआ, तो निराश्रय वह दूसरीकी सेवा करेगा। परन्तु साधारण मनुष्यको सीधा मार्ग नीचा है। यथा प्रतीत नहीं होता निरलीय ही रीक प्रतीत होता है, इत्यधिके साम्यके अन्तर्गतकी आचरणकला होती है। सात्वत ब्रह्मा है शेषमे—

सुखदुःखकी समानता

इस जगत्तन्ममें जो विशेष महत्त्वकी बात कही है वह सुख और दुःखकी समान मानना यह है। सुखको प्राक् और दुःखको दूर करनेकी शक्ततासे ही मनुष्य आस्थाचार करनेकी ओर प्रवृत्त है। परन्तु यदि इसके समर्थ सुख और दुःखके विषयमें समान भाव रहे, तो वह सुखको प्राप्त और दुःखको दूर करनेमें बल ही नहीं करेगा। जिसके समर्थ सुख और दुःख समान हैं वह किमका दूर और किमका पास करेगा? और सेवा क्यों करेगा ऐक्ये—

सुखदुःखे समे हृत्वा सामाख्यौ जगज्जयो। (१८)

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतस्याप्य कुरते। (१५)

शुभाशुभं नाभिर्नक्षत्रि न द्वेष्टि। (५७)

पातपापमयक्रोधाः रिपतपीडुनिष्ठपते। (५६)

सुखदुःख काम क्रोध मत्त पातपाप पाप मनुष्यकी समान मानने सुखसे आनन्द न मानने और मनुष्यका हृत्त न माने सुखपर भ्रम न करने की। मनुष्यका जीवन करनेसे मनुष्य मनुष्यकी शक्तिसे ज्ञेय योग्य होता है। मनुष्य तथा और अन्य प्राणी तथा परमात्मा सुखका भव्य और दुःखका द्वेषी है। परमात्मा प्रवृत्ति देवी है परन्तु साधक कहता है कि तथा निरिज्याही सुख को तब भिन्नेगा कि जब मनुष्य सुख दुःखको समान मानेगा। वह जान इसकी कठिनाई है कि मनुष्य मनुष्यकी सुखदुःख हानिकाश्रम जब प्राज्ञत्व सुख मनुष्य प्रीति के समान आदि इन्द्रोकी समान मानना ही अचरणकला प्रतीत होता है। जिस वक्ता मनुष्य अपने जातकी अज्ञान मनुष्य बनने है और सात्वत कहता है कि सुखमिच्छा है। इसी वक्ता इन्द्रोके विषयमें है। अपनी मृगत्यागे वृद्धा पादना और दूरीकी नहीं कहता या उ होता है यह कि

इसके न चाहनेपर भी कुछ दूसरे आता है और चाहनेपर भी कुछ इसको नहीं भिन्नता। यदि मनुष्य निवार करने लेवेगा कि अपने चाहनेके साथ या न चाहनेके साथ सुखदुःख आदि इन्द्रोकी प्राप्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह कामकी श्राव होते या नहीं होते हैं, तो इसको पदाश्रय कि सुखदुःखोंकी समान माननेकी ओर आस्थाकी भाव है यही अधिक कामकारी है। इसका मनुष्य अपने वक्ता वह मनुष्य आस्थाकी भावना अवश्य प्राप्ति करेगा और इन्द्रोकी समान मानने का ज्ञान।

इन्द्रोकी समान माननेका ज्ञान क्या है? सुखकी और दुःखकी समान के समान मानना मनुष्यकी काम नीति होने समान हो सकती है क्या कभी दुःखमय और दुःख मय समान हो सकते हैं। जगत्की सृष्टि और अस्तित्व प्रकृत ने क्या कभी समान मानते हैंके जा सकते हैं। क्या इन्द्रोकी ईश्वर नहीं है। और यदि इतना जगत्त है तो जगत्त मनुष्यको समान देखना कैसे हो सकता है। क्या कभी कोई मान सकता है कि मनुष्यका जीवन रहना और मय समान ही है।

इस प्रकार शंका करना साधारण मनुष्यके ज्ञेय योग्य है। परन्तु इन्द्रोकी समान माननेका भाव यदि समानता चाहिये और वक्ता शंका करनी चाहिये। इसलिये वह प्रकार शंका करनेवाले सबसे ज्ञान इन्द्रोकी समान मानने का सात्वत विवर्तितिकर प्रकार समर्थ—

सुखेयुः सुखमयः सुखेयुः सुखमयः। (५१)

सर्वज्ञानमिच्छेत्। (५७)

सुख जानेपर मनको सृष्टि होने न है या सुखोंकी प्राप्ति होनेपर मनमें सुख न हो। सात्वत किसी विषयमें अधिक श्रद्धाभाव न प्राप्त करें। यह सुखदुःखको समान माननेका भाव है। इसीकी अधिक श्रद्धा करनेसे ज्ञेय देना कहा जा सकता है कि जब होनेपर समर्थ न करे और प्राज्ञत्व होनेपर इच्छा न होने काम होनेपर अज्ञान न होने और इन्द्रोकी श्रद्धा न होने सुखकी प्राप्ति होनेपर माननेके श्रद्धात्व न करने मनुष्य प्राप्ति होनेपर दुःखके मृत्त न करने जगत्त सुख न माने और मनुष्य सुख की न माने। इसीकी सुखदुःख समान मानना कहते हैं।

साधारण मनुष्य जब भिन्नमेव इतना ज्ञान होता है कि किसीकी पक्षि न कहा हुआ समान मानने आस्थाचार करने

कमता है, तथा जनमाद्य होयेपर नहीं मनुष्य इतना रोना पीटना है कि अन्तमें पागल बनकर व्यवहारके किये निकम्मा हो जाता है । परन्तु जो सुखदुःखकी समान माननेवाला है कामहासिको एक जैसा माननेवाला है वह बहुत कम मात्र होयेपर भी अपनी समावृत्ति बुर होने लगी है। अतः यद्यपि वह होयेपर भी दुःख नहीं करता उसके विपरीत जोनों अवस्थाओंमें अपने मनको समानता कर्तव्यवश बनाये रखता है । इसीको हमको सम मानना चाहते हैं ।

मनुष्यको सुखके किये प्रयास करना चाहिये परन्तु सुख निकलेपर कर्तव्यवश नहीं होना चाहिये तथा मनुष्यको दुःखनिवृत्तिके किये प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु दुःख प्राप्त होयेपर इतना बनकर कर्तव्यवश नहीं होना चाहिये; तात्पर्य सुख निकल जयना दुःख निकल दोनों अवस्थाओंमें अपने कर्तव्यकर्मको सूचना नहीं चाहिये । बाह्य सुखदुःख कथिक् हैं और अपनी कर्तव्य पावन करना अपना केष कर्म है । कथिक् बातोंके किये अहङ्कारको बुर करना अवरोध है । सुख दुःखको समान माननेका यह कर्म है । इसके किये कुछ व्यवहार है— यद्यपि सर्वमें और गर्भीमें अपने स्वाभावपर विचार रहता है समुद्र जलविधि और जलजुतिमें अपनी सर्वांशका कहेवन नहीं करता कुछ अपनी जाका जैसे सोकनेवालेके देता है जैसे ही एक शिथिल करनेवालेको भी देता है मनुष्य भी इसी प्रकार सुखदुःख हासिकाम जब पराभव और लगी गर्मी प्राप्त होयेपर अपनी कर्मसर्वांशका कहेवन न करे ।

जात्र लगी है इसकिये मैं जात्र अपना कर्तव्य नहीं करूँगा जात्र लगी गर्मी है इस कारण मैं अपना कर्तव्य नहीं कर सकूँगा जात्र मुझे बहुत कम मात्र हुआ जरा मुझे अब कर्तव्य पावनकी क्या आवश्यकता है ? जात्र तो मेरा कम कम वह हुआ है मैं बड़ाज हुआ हूँ और मुझसे कर्तव्य पावन नहीं होसकता जात्र पुत्रममका महोत्सव है इस किये जात्र कर्तव्य करनेके किये पुरस्कार नहीं है जात्र तो पुत्रकी मृत्यु होगई जरा दुःखके कारण कर्तव्य पावन कैसे हो सकता है ? इस प्रकार की लोग कहते हैं वे इन्होंने कहालोंको लह नहीं सकते । वे इन्होंने परामृत होते हैं । परन्तु पूर्वीक अवस्थापर होयेपर भी जो अपने कर्तव्य पावन करनेमें दमनित होते हैं वे ही इन्होंने कहालोंको छह चकते हैं तब वे ही इन्होंने धर्म मानते हैं

और जो इन्होंनेको सम मानते हैं वे ही प्राप्ति और नमस्कारको प्राप्त करते हैं ।

इसका दूसरा भी एक कर्म है । सम शब्दका कर्म परमेश परमात्मा जिहा ईश्वर है क्योंकि वह सबस सम है, सबमें समानतासे व्याप्त है उसकी सर्वत्र सम नमस्कारिणी है । देखिये—

निर्दोष हि सप्त ब्रह्म । म गी ५।१९)

सर्वं पश्यति योऽर्जुन । म गी ६।३२)

समोऽहं सबभूतेषु । म गी ९।१९)

सर्वं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

(म गी १३।१८)

सर्वं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमेश्वरम् ।

(म गी १३।१८)

यह सर्वत्र सम और निर्दोष है । जो सर्वत्र सम सबको देखता है (वह परम योगी है ।) मैं अत्मा सर्व भूतोंमें सम हूँ । सब भूतोंमें सम परमेश्वरको देखें । इस प्रकार सर्वत्र सम अवस्थित होनेके कारण परमेश परमात्मा जगत् परमेश्वरको सम कहते हैं । इस कर्मको केनेसे—

सुखदुःखोऽसौ कृत्वा कामाकाशमौजपाजयौ । (१८)

समनुःकसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते । (१५)

सुखदुःख हासिकाम जगत्प्राप्त (सम) सम कर्त्तव्य परमात्मा मानकर अपना कर्तव्य कर । (सम-दुःखसुख धीरं) यह कर्त्तव्य परमेश्वर सुखदुःखको मानने वाले केवैवाही मनुष्यको बहुतकी माझ होती है । यही शेष । होगी कि सुख तो परमात्माका होगा परन्तु दुःख परमात्मा कम कैसे होगा ? इस शेषके उत्तरमें इतना कहना पर्याप्त है कि जिसको हम सुख या दुःख कहते हैं वस्तुतः वह सचा सुख भी नहीं होता और सचा दुःख भी नहीं होता । देखिये कोई निष्कार्मी लोकमें सुख और परार्थमें दुःख मानता और जलपय भी नैसा ही करता है परन्तु वस्तुतः बात बकरी है । कोई रात को परामृत होता है वह दुःख करता है परन्तु परामृत होनेके कारण उसको अपनी कथिक् वरतिष्ठ कमनैका अवसर प्राप्त होता है इसलिये उसके बचकी दृष्टि होती है फिर उसमें दुःखके किये रवाना कही है । इस प्रकार विचार करनेसे वता कतेगा कि जिसको हम सुखदुःख जगत् हासिकाम मा ते

है वे बेसे है इस विषयमें विचार नहीं है। परमेश्वर मनुष्योंके कर्मोंनुसार सबको। क्याभीष्ट अवस्थामें देता है विषय अथ स्थानोंमें रहकर मनुष्य अपनी आत्मोन्नति कर सकते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ होनेसे और उसका सर्वज्ञ स्वयंके साम सम होनेसे वह हर एक अवस्था मनुष्यको उन्नत होनेके लिए जैसी आवश्यक होती है वैसी ही देता है चाहे हम सबको सुखानेवाला समझें चाहे दुःखानेवाला समझें वह परमेश्वरकी बोजबान्सा प्राप्त होनेके कारण मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक है। इसलिये मनुष्य उसकी परमात्मशक्त्य समझें। और हमों अवस्थाओंमें सम आगच्छें अपने मन्त्रों रहें। किसीपर मोति न रहे और किसीसे द्वेष न करें। अनेक हमों अवस्थाओंमें अपना कर्तव्य दृष्टाव्यै करता रहे। इस दृष्टिके पक्ष विचारविचार उपदेशोंका समझें—

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समस्त योग उच्यते
(म नी १।४८)

समा सिद्धावसिद्धी न कुर्यापि न निवर्ण्यते।

(म नी १।५१)

समा धर्मा न मित्रे न शया माहायमागयोः।

धीतोऽप्यसुखमुन्नेषु समाः सेगविचक्षितः ॥१८॥

मुष्यनिद्रास्तुतिर्मात्री संतुष्टो येन केनचित् ॥

(म नी १।११५)

सिद्धि अस्ति, मनु मित्र, माय नवमाय शीत उष्ण सुख दुःख मित्रा स्तुति आदि इहोंके विषयमें सम आगच्छें। किसी एककी लगवि करना और दूसरोंके द्वेष करना अयोग्य है। इस प्रकार कम दृष्टि रखनेसे वैभव ही प्राप्त हो जाती है। ' कोई अवस्था प्राप्त हो सब समय परमेश्वरकी मक्ति अपने वह एकद्वार अवस्था कर्तव्य वाचक करनेसे वि समेह उन्नति और इससे विपरीत भावना के अयोग्य होती है।

हम केनेवालोंको हम इहोंके विषयमें समभाव रखना अत्यंत आवश्यक है अन्तर्गत जोहीनी विपरीत अवस्था प्राप्त होते ही सब मंत्र होनेकी संभावना होती जिससे जी बड़े कर्मवशात् पुत्र हो मने हैं, सबक प्रतिद देखें जीने को पादकोंको पता करोगा कि वे सुखदुःखदि इहोंको सम माननेवाले थे। हम समवत्त की ई देना पुत्र नवस्थानी नहीं होता है कि का सुखदुःखोंके अद्वैत होकर अन्तर्गत होता

हुवा भी महत्त्व स्थानपर आश्रय हो सका है। अर्थात् मनुष्य को उन्नत होनेकी इच्छा हो ता उसकी अवस्था ही इहोंकी सहजा पड़ेगा। दूसरा कोई माने उन्नतिके लिये नहीं है। मनुष्यकी इच्छा रहती है कि उन्नतिके कामका एक ही। और मनुष्यकी कामका एक ही होती है कि सुख अपने प्राप्त करने और अशुख दूर होने। नहीं कामका सब प्रकार मनुष्यको इहोंके आश्रयें अवका देती और सब उन्नत प्राप्त बना देता है। अतः कहा है—

विद्याय कामाभ्याः सर्वान्पुमान्भिराति विस्तृताः।

विद्यया निरहंकारः स ध्यात्विमविगच्छति ॥१॥

मनुष्य सब कामनाओंका त्याग करने को विद्या अहंकारविहिन और समवत्त होकर अवकाश करता है वह ध्यात्वि प्राप्त करता है। ' मनुष्य सब कामनाओंका त्याग करना ही एक सिद्धिका अनुष्ठान है। इहोंके आश्रयोंके इहोंकी हितको इच्छा ही उसको उन्नति है कि वह अपने अन्तर्गतमने सब कामनाओंका त्याग करे। कामना त्याग करनेका विधाने अन्तर्गत किया है और वे अपने मनुष्यके निष्काम बना सकता है अवका को अपने मनुष्यके निर्वाह कर सकता है, इसकी जाते अन्तर्गत अवका ही चुकी है। जिस अन्तर्गत अवस्थाकी प्रतिद न मैका उद्देश्य सब आश्रयों है वह अपने निष्काम होनेके ही प्राप्त हो सकती है। इसका अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है इसका विचार विचारविचार छोड़कर किया है—

इन्द्रियाणि इन्द्रियाप्येवम्। सहस्ते । (५८)

यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियाप्येवम् सर्वथाः

विपुलीयानि। (५८)

इन्द्रियोंके विषयोंके इच्छा ' वह अनुष्ठान है। इति योके विषय विहित हैं। उन विषयोंकी और इन्द्रियोंकी मनुष्य होना स्वाभाविक है। एक मनुष्यके इन्द्रियोंके रीति इहोंके नाम अनुष्ठान करता है। हम इन्द्रियोंके त्याग और त्याग होनेके पक्ष ही उन्नत अवस्थाका अनुष्ठान करता है। इहोंका सहनेका अनुष्ठान भी सब होगा जब कि इन्द्रियोंके विषयोंके इहोंकी और—

आत्मनि एव आत्मना मुक्तः । (५५)

अपनी अवस्था अपनी अवस्थानी ही उन्नत होये। इस

समय वरुण पञ्चाङ्गों की मासिसे सतोष होय है ऐसा हरएक मनुष्यका क्या है। परन्तु यह अस है। ब्रह्मविपयोंसे मनके इत कामेपर ही वास्तविक सतोष होय है। मनुष्यमात्र जित विषयान्तरोंके क्रिये प्रवृत्त करते हैं उससे कई गुना निर्विषय भावन्तु श्रेष्ठ है और ब्रह्मज्ञानके ज्ञानमायी पुष्टिका कावन्तु भी सर्वोत्तरी है। इस प्रकार निर्विषयता प्राप्त होनेसे मनसे कामना करी ही नहीं पड़ती, उपायोग स्वयं इसके पास जाते हैं, वे इसके संकल्पमात्रसे इसके पास उपस्थित होते हैं।

कामना। आपूर्त्यमात्र लब्धकामसिद्धिं प्रविशति । ७७
 जो स्वयं पूर्णताका अनुभव करता है और स्थिर रहता है उसके पास सब काम उद्योगों स्वयं पहुँचते हैं। 'उसको कामोंसे प्राप्त पालके जाना आवश्यक नहीं होता। उसको इस समय लब्धकामसिद्धि होती है। वह संकल्पसिद्धि सब प्राप्त होती है जब इसके अन्तरे सब काम पूर्णता प्राप्त होते हैं। वहाँ देखिये कि जब वह सुखोंकी कामना करता है वह इसके पास हुआ पहुँचते हैं और सुख हर क्षणसे है। परन्तु जब वह कामनाओंका त्याग करता है निर्विषय निःस्पृह विरक्त और सत्य ब्रह्म है उस विद्या मति कर्तव्य भावन्तु इसके पास स्वयं लब्धकर जाते हैं। देखिये निष्काम होनेका महत्त्व किता है ।।

कामनाका सिद्धान्त और उसका अनुभव करनेका अनुमान जो इस द्वितीय अध्यायमें कहा है उसका सारांश है यह स्वक्य है। इस अध्यायमें कहा हुआ दूसरा मार्ग योगमार्ग है उसका स्वक्य अब देखिये—

योगमार्ग ।

सर्वव्याप्य इस समय तक कहा अब योगमार्गका स्वक्य धर्मोंके धराते हैं। योगकी व्याख्या इस अध्यायमें इस प्रकार की है—

सिद्धयसिद्धयः समो सूर्या

समस्तं योग उच्यते । (४८)

सुखियुक्तो ब्रह्मार्थी ह तमे सुकृतमुच्यते ।

तस्माद्योगाय सुम्यस्य

योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (५१)

सिद्धि और ब्रह्मसिद्धिसे विषयों समभाव रखना चाहिये। इस समताका नाम योग है। इस प्रकारकी सम-इन्द्रिये सुख मनुष्य सुख और सुख इस दोनोंको हर करता

है अतः यह इस योगका जाचरण कर कर्म करनेमें सुखकता का ही नाम योग है। इस प्रकार योगकी व्याख्या करते हुए श्री मुक्तयुक्तके विषयमें समभावना रखनेका नाम योग कहा है। सिद्धि नसिद्धि क्षान्तिकाम लयपराजयके विषयमें सम सम रखना और हरएक कर्तव्य सुखकताके साथ करनेका नाम योग है। वहाँ इस योगका अर्थ ही समत्वयोग है। सब कर्म इस योगके द्वारा करने चाहिये ऐसा निष्कर्षित श्लोकमें कहा है—

योगस्यः कुरु कर्माणि सर्वं त्यक्त्वा धनस्य । ४८

योगका जाचन करके सब प्रकारके कर्म करो और कामनाका लग छोड़ दो। 'सब कर्म करनेके समय इस उद्योगका कारण रखना चाहिये। हमनेके विषयों समभाव रखनेका नाम योग है। इस प्रकारका समभाव रखते हुए सर्वत्र सुखयुक्तका विचार प्रत्येक इच्छा करतव्य करने चाहिये। सुख हुआ तो भी कर्तव्य कर्त्तव्य और दुःख हुआ तो भी कर्तव्य करता रहूँगा। ऐसा सर्वमें विद्यमान करने अपने कर्तव्यपर सदा स्थिर रहनेका नाम योग है। वहाँ योगका तात्पर्य कर्तव्यके साथ अपना संलग्न होकर है। वैसी भी व्यवस्था प्राप्त हो तो भी कर्तव्यकर्म न छोड़ देना आवश्यक है। साधारण मनुष्य सुखदुःख होते ही कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु समत्वयोग करनेवाले हरएक अवस्थामें कर्तव्यवृत्त रहते हैं। समबुद्धि का अर्थ परमेस्वरमें स्थिर बुद्धि ऐसा भी होता है क्योंकि सम व्यवस्था अर्थ परमका है इस विषयका विवरण हमके पूर्व आया है। हमनेके आचार होनेपर भी ईश्वरका विचार न होनेका भी नाम समबुद्धि है। प्रायः सुखके समय परमेश्वरका विचार जाग्रत होता है परन्तु सुख काम जब विशेष लयप्राप्ति विशेष लक्षितकाम होनेपर वह अपना ही महत्त्व है ऐसा मनुष्य मानता है और परमेश्वरको भूलता है। इस लक्ष्यके कारण विषय बुद्धि होती है। बोधी योग केके सुखके समय वैसी ही सुखके समय भी ईश्वरमें बड़ा रहते हैं और कर्तव्यके भ्रष्ट नहीं होते। अतः इस समत्वयोगके अनुष्ठान मनुष्यकी अपना जाचरण रखना चाहिये। इस विषयका सुस्पष्ट विषय यह है।

कर्मव्याधाधिकारस्तो मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्म फल हेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्यकमपि ॥ (४७)

कृपणाः फलहेतवः । (४९)

मनुष्यका अधिकार कर्म करनेमें है कदापि कष्टपर नहीं कर्मके फलका हेतु मगये धारण न कर और कर्म न करनेमें ठेरी रुचि न हो । फलका हेतु मगये धारण करने वाले अनुपकार होते हैं ।

वह सुखपरिव्रम है । हरएक मनुष्यका कथित है कि वह इस विषयको अपने अन्त करजमें स्वाध है । कम करना अपने अधिकारमें है ऐसा समझे क्योंकि कोई मानी कर्म किये बिना एक क्षणपर भी नहीं रह सकता उसकी इच्छा हो वा न हो प्राणीके हुमा कर्म होता ही है । यदि ऐसा है तो मनुष्य योग्य स्थितिसे कष्ट कर्म क्यों न कर ? इसीप्रिये कहा है कि मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है । इसको कर्म करना ही चाहिये । परन्तु फलपर हृष्टता कोई अधिकार नहीं है । इसमें कर्मका फल इसका भिक्षुता ही । जो कर्म करेगा उसकी उसका फल अवश्य मिलेगा । परन्तु कष्टपर उसका अधिकार नहीं । देखिये एकमे कामका फल कयावा, उसका लब्धा प्राप्त किया वह तो कष्टके अधिकारमें या परन्तु उसका फल कामा उसके अधिकारमें अवश्य होगा ऐसी भाई विचारित बात नहीं । किन्तु यह समझना वह उसके अधिकारमें या परन्तु उसमें रहना उसके अधिकारमें विस्तरेह है ऐसा नहीं कहा जा सकता । किसी पाठकाजा चर्चाई और उसमें विद्यार्थियोंके बचाना मार्ग किया वह तो उसके अधिकारमें या परन्तु हरएक विद्यार्थीको एक विद्वान् बचाना अपने अधिकार नहीं है । क्योंकि फलका संबंध तो कई अन्य बातोंके साथ होता है अतः वह उसीके अधिकारमें नहीं आता । इस कारण कहा है कि फलपर कर्मकर्ताका अधिकार नहीं है ।

जब फलपर इसका अधिकार नहीं है; तब कर्मका हेतु मगये धारण करके कार्य करना निःसंदेह अवरोध है । वहां कोई पूर्वेण कि फलका हेतु मगये न धारण किया तो मनुष्य की प्रवृत्ति कर्मकी भार देखे होती । वह मग हीक है । छात्राथ मनुष्यकी प्रवृत्ति फलके हेतुके बिना कम करनेकी भार नहीं होगी वह सत्य है इसीप्रिये आचार्य मनुष्य कम करके ही भार फलकाते नष्ट होते हैं । बिना फल शान्तिह हेतुके स्वभावसे ही कर्म होता चाहिये । ऐसा हीच प्रकार होता है वह किन्हीं फलकाते नहीं परन्तु फलका स्वभाव ही दूसरेको बकाय है । इस प्रकार स्वभाव ही

हम कर्म करनेका मतवा चाहिये । और उसमें कोई फलका की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिये ।

मनुष्यमें जो फलका राहती है वह स्वाधीन इच्छा ही है जो कर्म में कर रहा हूं उसका फल मुझे मिले और मैं उसके भोगसे मुक्त नष्ट । इस प्रवृत्तिसे किये कर्म स्वयं कारण रहत है । यदि मनुष्यमें वह स्वाधीन प्रवृत्ति इस भाव और वह चाति और राष्ट्र प्रियको प्राप्त करने करे तो कष्टके अधिक निर्दोष कर्म होगा । परन्तु स्वयं का स्वाधीन एक स्वच्छिन्नक प्रतिमित रहता है और राष्ट्र का स्वाधीन सर्वार्थसाधक सीमित होता है वचन वैयर्थ्य स्वाधीन राष्ट्र का अधिक विस्तृत है वचन वह स्वयं ही है और जो हीच वैयर्थ्य स्वाधीन स्वयं प्रमाणी होते हैं वेही जो राष्ट्र का स्वाधीन विस्तृत प्रमाणी होते हैं । इसप्रिये सर्वार्थ साधक चातिके वचन प्रवृत्ति स्वयं ही रहते वचन सर्वार्थ साधीनमहिमे कल्याण करनेके विषयके अत्यधिकसे जो कार्य होते हैं व ही निर्दोष होते हैं । वही परमेश्वरसेवा है और विषयमें परमेश्वरकी सेवा करनेकी विधि वही है । इस स्थिति ही मनुष्यस निर्दोष कम होते हैं । इस प्रकारके कर्मोंमें साधकसाधिका या सर्वसाधक मर्गाके किये कर्मोंके फलका स्वाध करना होता है । अतः इसमें कर्मका फल प्राप्त होता चाहिये वह साधक नहीं राहती ।

अन्तमें कहा है कि कर्म न करनेमें ठेरी प्रवृत्ति न हो । अर्थात् न अलक्ष्य न वच । क्योंकि क्षीरकी स्थिति जो कर्म करनेके बिना नहीं होती । अतः कर्म न करनेकी जो प्रवृत्ति कदापि करना अधिक नहीं है । मा ही लोकोत्तर कर्मसे इसका और भी एक लक्ष होता है— वेरा क्षेत्र लक्षमें लक्ष्य अवरोध कर्ममें न हो । अनुचित कर्म करने की भार ठेरी प्रवृत्ति न हो । क्योंकि लोचन कर्म करनेसे मनुष्यकी निःसंदेह अवसाति होगी । परमार्थ वह है कि मनुष्य सुयोग्य कर्म निःस्वार्थप्रवृत्ति करे । कर्म करनेके किये मनुष्यकी व्यवसायात्मिका वृद्धि प्रवृत्ति—

व्यवसायात्मिका वृद्धिरेवेष्ट कुटुम्बजन । (१)

व्यवसाय करनेकी एक ही वृद्धि इस कर्मकी प्रवृत्ति है । व्यवसायी कोसीकी प्रजागर्भे मनु प्रवृत्ति अवत होती है और वे मग ही छव गिरावटके किये साधक

बनती है। अतः मनुष्य इनसे सावधान रहें। इस योगमार्ग में मनुष्य मनुष्य स्ववसावीं तो बने परन्तु उसको आत्म-विश्वासी भी बनना चाहिये अतः कहा है

निर्द्वन्द्वो नित्यसम्बन्धो नियोगक्षेम
आत्मघान् १ (४५)

मनुष्य इन्हेंसे मुक्त हो, निम्न लक्षणगुणमें स्थिर रहे किसी वस्तुकी प्राप्ति और उसकी रक्षाका विचार करने वास्ता न हो और आत्मिक बन्धसे मुक्त हो । ' इस प्रकारके मनुष्यसे ही योगमार्गसे उत्तम कर्म होते हैं क्योंकि इसमें आत्मिक बन्ध और आत्मविश्वास होता है । मैं ह्युपकर्म कर्मका मुझसे वह कर्म होगा इस प्रकारका आत्मविश्वास वस्त्रें रहता है अतः उससे ह्युप कर्म होते हैं। मुझसे कर्म होगा वा नहीं ऐसा विवेक इसके मनमें नहीं होता । आत्मिक बन्ध भी उसमें नष्ट होता है । इसके उसमें नष्टा मारी सामर्थ्य होता है ।

इन्हेंसे वह मुक्त होवेसे उसमें योगकी आसक्ति और योगसे द्वेष नहीं होता है। न वह किसी पर शीलि करता है और न किसीसे द्वेष करता है । इसप्रकारके ह्युप आसक्ति रहित होनेके कारण ही उसके कर्म निर्दोष होते हैं। जो मनुष्य किसीपर शीलि करेगा उसके किये वह पक्षपात करेगा और जो किसीसे द्वेष करेगा उसके प्रतिकूल वह कार्य करेगा। इस प्रकार बन्धसे दोनों अवस्थाओंमें सशेष कार्य होगे। परंतु जो मनुष्य रागद्वेषरहित इन्हेंसे रहित होगा उससे प्रेममूलक व्यवसाय द्वेषमूलक कोई शोष होनेका कारण न रहनेसे उसके निर्दोष कर्म होंगे। इन्हेंसे मुक्त होमका

वह महत्त्व है।

सांख्य और योग

इस शीतिसे योगमार्गका उपदेश इस अध्यायमें कहा है। वस्तुतः इन बंधनोंकी तुलना करते देखनेसे हम दोनों मार्गों में बहुत अन्तर है ऐसी बात नहीं। सांख्यमार्ग और योग मार्गमें बहुत अन्तर नहीं है, वह बात स्वयं गीताकारने भी कही है—

सांख्ययोगौ पृथग्वाक्याः प्रवृत्तिश्च पण्डिताः ।
एकमप्यास्थिताः सम्प्रगुणयोगिभ्युते फलम् ॥ ४ ॥
यस्मात्तयैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एवं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पादपति ॥ ५ ॥
(म ती अ ५)

' सांख्य और योग के दो पृथक् हैं ऐसा मूल लोग कहते हैं, ठानी नहीं कहते; क्योंकि हमेंसे एकत्र कीक शीतिसे अनुपपन्न करनेसे दोनोंका एक प्राप्त होता है। जो स्वाय साधकोंको गम्य होता है वही योगियोंको मिलता है अतः सांख्य और योग एक है ऐसा जो दखता है वही कीक देखता है इस डंगसे सांख्य और योग के दो मार्ग मिल नहीं एक ही हैं ऐसा जगज्जीताका कथन है। अतः सांख्य योग नामवाक्ये इस द्वितीयाध्यायमें ' योग ' का भी रूप देस किया है। यदि हममें बहुत बड़ा भेद होता तो दोनोंका उपदेश इस प्रकार साध साध न होता।

योगका उपदेश जलो बानेवाका है उस समय इसका अधिक विचार करेंगे। अतः इस विषयमें वहां हटना ही पर्याप्त है।

द्वितीय अध्यायका विचार समाप्त ।

द्वितीयअध्यायके कुछ सस्मरणीय श्लोक

(१) कडीयल छोड़ ।

हैष्यः मा स गमा ।

कहीरतको न पाठ हो । ' मनुष्य पुनर्वाप को
प्राक्कम करे और नष्टका यापी बने परंतु कभी ब्रह्म
और विष्णुसाई न बने । (प गी १३)

(२) हृदयकी सुशक्ती कोष ।

हृदं हृदयवर्षात्पुनः स्वयम्भोविष्ठः ।

सुप्रसन्न हस्तेन करिष्यामीति सुप्रसन्नो भुवनेकादूरं गच्छेत्
 सो भीतं परमं सुखं प्राप्तुं कारयेत् क्षितिं वरुणस्य कथां । वरुण
 एकं मनुजकर्मैव उच्यते ते किं बहु लभ्यते मयैव सुप्रसन्नं विचारं
 दूरं करो भीतं वरुणं विचारं वारुण करो । (ज नी १३)

(१) कोष न कर ।

मठावलगवासंभ नानुषोभसि पण्डिताः ।

ମତେ ହୁଏତ ଜୀବୀ ବିଶେଷେ ବିପଦରେ ଖାଣି ଜୋଗ ଖୋଜ
 ମଣି କାନ୍ଦେ । ଖାଣି ଜୋଗ ଖୋଜୁଥିବା ଯୋଗ ମଣି କାନ୍ଦେ ।
 ସେ ଖାଣି ଅବସ୍ଥାରେ ଖାଣି କର୍ମସଂକଳ୍ପ କାନ୍ଦେ ହୁଏତ କାନ୍ଦିବି
 ମାଗ ବର କାନ୍ଦେ । ସେ ଅବସ୍ଥା ଖାଣି ଖୋଜୁ ମଣି ଅବସ୍ଥା
 କାନ୍ଦେ । (ଅ ମ ଶ ୧/୧୧)

(४) मोह व क्रिया ।

धीरस्तान्न न मृशयति ।

धीर कभी मोहबुझ नहीं होता। इसको बुझिबुझ कहते हैं कि जो कभी मोहबुझ नहीं होता। (अ. १। १। १३)

(५) मास और अवकाश ।

मासतो विद्यते मायः। मामासो विद्यते सतः ।

को है उसका कभी समाप्त नहीं होता और को नहीं है
 उसका कभी समाप्त नहीं होता। यह साक्षात् नहिमिद्वय है
 (अ गी ११६)

(६) अग्रदायिका नाभ ।

आवस्य हि सुतो भूयः॥

मिलकी कल्पना यह है कल्पना का कि मिलकी होगा ।

अतः किसीका नाम हो तो उस बातके बिने तोरे गीम्मे
कोई आवश्यकता नहीं है। (अ० पी २।२०)

(७) कृषिवका वर्ग ।

अस्याङ्गि पुत्राङ्गेष्वङ्गिऽस्याङ्गिपत्य न विद्यत ।

चरमसे प्राण्य बुद्धकी अवस्था दूसरा कोई ज्ञेयवस्तु नहीं
 कल्पितके लिये नहीं है। अतः कल्पितको अस्तित्व है कि वह
 चरमबुद्ध करनेके लिये सदा तैयार रहे। (अ. टी. २।१।)

(८) मुद्रा व कारखाने का कीर्ति ।

नय वेत्थमिमं धर्मं संभ्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।

परिणत इस वर्मपुत्रकी व कर्मों की स्वधर्मों का होगा ठेका जबकि कर्मों होगा और स्वधर्मों के प्रति होना वापसी करेगा। अतः वर्मपुत्र कर्मों द्वारा स्वधर्मों है। (अ. १०० पं. ३३)

(९) लकीरें साफसे बड़ी हैं ।

संभावितस्य बाकीतिर्मरणादतिरिच्यते ।

‘संभवति-वर्तित-मनुष्यकी जर्मिनी मानने की
बहर होती है।’ अतः कोई मनुष्य बनने के लिये वह
मनुष्य बन न करे। (ज. गी. १।३४)

(१) विम्वदाका दुग्ध ।

निष्पत्त्यस्तत्र सामर्थ्यं ततो दुष्प्रवर्तं मुक्तिम् ।

कैसे सामर्थ्यकी विन्या होने लगी तो वसन्त जबकि
 सुखकारक कौनसी लहरना है? लहरने सामर्थ्यकी विन्या
 होना ही सबसे अधिक सुखकारक है। अतः कोई मनुष्य
 नर्मपुरुषने हीके न हटे। (नवी २:१६)

(११) अव्ययसामर्थी की संज्ञका ।

बहुधाका एतन्ताव्य बुद्धयोऽध्ययसादिनाम् ।

उद्योग व करनेवालोंकी बुद्धि अथवा नीति अनिश्चित होती है। अतः मनुष्यको उचित है कि वह व्यवसाय-लीक बने। (म गी १।३१)

(१२) कर्मका अधिकार ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

‘ कर्म करनेमें तेरा अधिकार है, उसके फलपर नहीं । कर्मके फलकी अधिकारता तबमें प्रारम्भ व करे । अकर्म करनेमें तेरी रुचि न हो । ’ मनुष्य प्रकृत कर्म करे । फलकी आकांक्षा न करे । कर्मफलका समर्पण करे । कर्म न करनेमें रुचि न करे आकांक्षी न बने । (म० गी १।४७)

(१३) कर्मयोग ।

योगस्य कुरु कर्माणि ।

योगके अनुसार कर्म कर । सिद्धि और असिद्धिके विषयमें समभाव प्रारम्भ करके कर्म कर । वही योगमार्ग है । (म गी १।४८)

कृपणाः फलहेतावः ।

‘ फलका हेतु प्रारम्भ करके कर्म करना हीनताका चोकर है । फल मुझे प्राप्त हो इत्य विचारसे किया हुआ कर्म हीन है । (म गी० १।४९)

समर्थ योग उच्यते ।

योगः कर्मसु कौशलम् ।

समताका नाम योग है । म गी १।४८

कर्ममें कुशलताका नाम योग है । म गी १।५५)
इस समस्त योगके साथ कर्म करने चाहिये ।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः	पृष्ठ	सूर्य और असूर्य (कोइक)	७५
सांख्ययोग	६७	(१) पुनर्जन्म	७५
श्लोक १	६५	श्लोक १३	७६
(१) अकार्य कर्मका विरोध	६५	पूर्वदेह वर्तमानदेह दूसरी देह (क्षेत्र)	७६
श्लोक २ ३	६६	(७) अमर बननेका सामर्थ्य	७८
कारणकी रक्षा विषय समग्र जुद्धकी चेष्टा	६६	श्लोक १४ १५	७८
पाण्डवी बलका निवमन	६६	माता का गर्भ	७८
स्वर्गद्वाराका मार्ग, दुष्टकीर्ति	६६	माता का स्पर्श	७९
मनकी दुर्बलता	६६	इन्द्रोकी अमिषता	७९
वीरकृति	६७	विमिषा	८०
श्लोक ४-५	६७	वीर युद्ध अमरपनकी प्राप्ति	८१
(१) यधिरसे भरे भोग	६७	मुक्त और अमरपन कम-उन्नतिक पक्ष	८१
श्लोक ६-८	६८	शू अन्तरिक और पुत्रोक्त	८१
(१) अनुमनका न छड़नेका निश्चय	६९	आम्रपि और मित्रा	८१
श्लोक ९ १०	६९	इन्द्रयोग और राजयोग	८१
सांख्ययोग	७०	(८) अविनाशी सत्	८१
श्लोक ११	७०	श्लोक १६ १७	८३
(४) पण्डितोकी समवृत्ति	७०	सत् और असत् अणुका निर्माता	८३
अध्यायका नाम	७०	पूर्वके समान रचना	८३
सांख्य और योग सांख्य अणुका गर्भ	७०	दर्पकी दर्प कृति	८५
दो प्रकारके जीव	७१	रिक्त अणुका निवमन	८५
अणुसु और पणुसुका विग्रह	७१	(९) निरय आत्माके अमिष देह	८७
(५) हम सब समातन हैं	७४	श्लोक १८ १९	८७
श्लोक १२	७४	काका कार्य	८८
अणुमें दो वर्ण	७४		

श्लोक २० २१	८८
प्राण प्रवृत्ति	८८
(१०) पञ्च ब्रह्मवा	८९
श्लोक २२	९०
आत्माके (१६) वक्ष	९१
(११) आत्माका वर्णन	९१
श्लोक २३ २५	९२ ९३
आत्मा और देहात्मक सम्बन्ध	९३
आत्मनि स्वप्न सुषुप्ति और जगत्	९४
ब्रह्मसूत्रा सूत्रा और अर्थन सत्य	९५
देव ब्रह्म	९५
(११) नित्य ज्ञान और नित्य मरण	९७
श्लोक २६ २८	९८
वक्ष और अर्थन ब्रह्मसूत्र और अर्थन	९९
(११) आत्मपूज्य मन्त्रम आत्मा	९९
श्लोक २९ ३०	१००
आत्मन	१ १
(१४) आत्मन	१ २
श्लोक ३१ ३८	२०२ ३
(१५) योग विचार	२०४
श्लोक ३९ ४१	२०५ ८
(१६) योगवादिपक्षी स्थिति	२०९
श्लोक ४२ ४४	२०९
योगवादि और योगवादि	१ ९
अतिरिक्त, देहात्मक	११
आत्मन आदि इति आदि	११
आत्माका १३१-१३	११
योगवादिपक्षी	१११

(१७) ब्रह्मातीत होना	१११
श्लोक ४५ ४६	११२
(१८) कर्मयोग	११५
श्लोक ४७	११६
आत्मन ब्रह्म	११७
श्लोक ४८	११९
श्लोक ४९-५०	१२२
आत्मन और निष्कामकर्म	१२२
श्लोक ५१	१२५
आत्मन, आत्म	१२५
श्लोक ५२ ५३	१२८ २९
आत्मन	१२९
आत्मन और निष्कामकर्म	१३
(१९) स्थितप्रज्ञके अर्थन	१३१
श्लोक ५४ ५८	१३१ ३३
आत्मन, आत्म, आत्म	१३४
आत्मन और आत्म	१३५
आत्मनके आत्मनिकीकी अर्थन	१३६
आत्मन	१३६-४
आत्मन	१४
श्लोक ५९ ६१	१४१
आत्मनके आत्मनके आत्मन	१४१
(२०) विषयोंके आत्मनसे आत्मन	१४१
श्लोक ६२ ६५	१४२ ४४
(२१) अर्थनपक्षीके आत्मन	१४५
श्लोक ६६ ६८	१४५
आत्मनके आत्मन	१४७

(१२) मुनिकी आपत्ति और निवृत्ति	१४८	स्वार्थ-और परमार्थ	१५३
श्लोक ६९	१४८	महापुत्री	१५५
(११) ब्राह्मी स्थिति	१५०	बहु भाव जी॥ प्रजा	१५६
श्लोक ७०-७२	१५०	द्वितीय अन्वयपर विचार	१५८ १९
अमुककी उदया	१५१	संन्य और भीम	१५८
योगवृत्ति	१५१	संन्य सत्यज्ञानकर महारथ	१५८
कामकामी और अत्यकामी	१५१	संन्यसिद्धांत	१५८
कर्मका-कर्म	१५२	संन्यासार्थ	१६१
अकर्मका कर्म	१५३	मुक्तहुत्वाकी समावृत्ति	१६२
अज्ञान और मत्त्व	१५३	द्वितीयाध्यायके कुछ अस्मरणीय श्लोक	१६८
		द्वितीयाध्यायकी विषयवृत्ति	१७०

अथ मृतीयोऽध्याय

कर्मयोग

(१) अर्जुनकी शंका

अर्जुन उवाच-

उपायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन । तत्किं कर्मणि घोरं मां नियोजयसि केराव ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे । तत्के वच् निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अन्वयः- हे जनार्दन ! कर्मणः बुद्धिः उपायशी ते मया वच्, तच् हे केराव ! घोरं कर्मणि मां किं नियोजयसि ? ॥१॥
व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव । तच् निश्चित्य एवं वच्, येन नहि श्रेयः आप्नुयाम् ॥ २ ॥

हे जनार्दन ! कर्मकी अपेक्षा (क्षम) बुद्धि श्रेष्ठ है (देखा यादि) तुम्हारा मत है तो हे केराव ! (इस प्रकारके युद्धरूप) घोर कर्ममे मुझे क्यों छगाते हो ? ॥ १ ॥ संदिग्ध जैले भावजसे भरी मतिको तुम मोहित जैसी कर रह हो । इसलिय निश्चय करके एकही बात मुझे कहो जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

भाषार्थ- इससे पूर्व कर्ममार्ग और समबुद्धिक ज्ञानमार्ग मे दो मार्ग बड़े हैं । इसमेंसे किस मार्गसे जानेसे निश्चयपूर्वक कल्याण होगा इसका विचार करके जो अपने हिये अधिक योग्य होगा, उसीसे आत्म कल्याण प्राप्त करना चाहिये । जैके मार्गसे जलोक जलन करनेसे कोई क्षान नहीं होगा ।

अर्जुनकी शंका

(१-२) पूर्व अध्यायमें ' कर्मयोग और समत्व-बुद्धि-योग ' के दो दोष बड़े हैं और वह भी कहा कि समत्व-बुद्धियोगसे कर्म बहुतही कमिष्ट है (अ गी २।४९) अर्थात् कर्मकी अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है यह बात निश्चित रीतिसे कही गई । इतना होनेपर भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ' हे अर्जुन ! तू बुद्धका निश्चय करने उठ । तू बुद्धमें क्या था । (अ गी २।३० ३४) और बुद्ध तो कहा घोर कर्म है ! यदि केवल समबुद्धि कर भेजे कर्म क्या सकता है समबुद्धि होनेसे मनुष्यको जाड़ी स्थिति भी भिन्न सकती है और इस समबुद्धिसेही परम उच्च व्यवस्था भी मनुष्यको प्राप्त हो सकती है तो फिर बुद्ध जैसा घोर कर्म करनेकी श्रेष्ठ मगामात्र क्यों कर रहे है । सम-बुद्धिकी पद्धि करकेका अनुपपन्न करनेकी श्रेष्ठा करवाही हमको योग्य है अतः अर्जुनकी यह शंका बर्बाद है ।

इसरी बात यह है कि समत्व-बुद्धियोगके विवक्षित होनेके अभाव जाड़ी स्थिति प्राप्त होनेका निश्चय पूर्व अध्याय (अ

गी २।३१ ३२) में कहा इस प्रकारका कोई अनुष्ठान फल कर्मयोगसे प्राप्त होता है ऐसा नहीं बर्बाद । इसलिये अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है । यदि बुद्धियोगसे निश्चयपूर्वक जाड़ी स्थिति प्राप्त होती है और वैसी स्थिति कर्मयोगसे होनेका वर्णन नहीं किया जाता तो फिर क्यों कहा जाता है कि तू बुद्ध कर ! ऐसी व्यवस्थामें अर्जुनके मनमें ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि निश्चयपूर्वक जाड़ी स्थितिकी हेतुबला बुद्धियोग क्यों न किया जाय ? और जिसको कमिष्ट करके स्पष्ट धारणमें कहा जाता है उच्च कर्मयोगका अनुपपन्न क्यों किया जाय ? क्या कमिष्ट मार्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ मार्गसे ज्ञाना अध्याय नहीं है ?

अनुपपत्ती प्रति स्वकर्तव्यक विषयमें संशयित हो गयी थी बुद्ध करनेसे उच्च गति होगी अथवा बुद्ध न करनेसे होगी इस विषयमें इसकी संदेह हुआ था । अगरी क्षम दूर कर केके शिब अर्जुनने मगामात्र श्रीकृष्णजीसे सहाय पृष्टी । भगवान्ने उत्तरमें कहा कि बुद्धियोगसे जाड़ी स्थिति भिन्नकी है अर्थात् तू कर्म कर तू बुद्ध कर । इस उत्तरम

(२) दो साधन-भाग

श्रीभगवानुवाच

लोकैऽस्मिन्निविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
न कर्मणामनारम्भाद्यैकैक्यं पुरुषोऽश्नुते । न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अन्वयः— हे ननघ ! अस्मिन् लोक में निविधा निष्ठा पुरा मया प्रोक्ता सांख्यानं ज्ञानयोग नाम योगिनां कर्मयोगेन ॥ ३ ॥

कर्मणो अचरन्मात् पुरुषः सैकैक्यं न अश्नुते । (कर्मणो) च संन्यसनात् एव सिद्धिं न समधिगच्छति ॥ ४ ॥

हे पापराहित ! इस लोकमें दो प्रकारकी साधनकी वृत्तियाँ हैं। यह मैंने पहिले ही कहा दिया था सांख्योकी ज्ञानयोगमें और योगियोंकी कर्मयोगमें ॥ ३ ॥ केवल कर्मका प्रारम्भ न करनेसे ही मनुष्य निष्कर्मताको नहीं प्राप्त होता और केवल कर्मको त्यागनेसेही सिद्धिको नहीं पा सकता ॥ ४ ॥

भाषार्थ— इस अक्षरमें धार्मिक लोगोंकी दो प्रवृत्तियाँ हैं। कई मनुष्य ऐसे हैं कि जो सब ज्ञान प्राप्त करनेमें लगे होते हैं और दूसरे कई ऐसे होते हैं कि जो कर्म करनेमें हतविष्ट रहते हैं। इस विषयमें बड़ा कौटूहल न समझे कि कर्मका प्रारम्भ न करनेमात्रसेही केवल कर्मके दोष दूर हो सकते हैं जबकि कर्मका त्याग करनेसेही केवल किसी सिद्धिकी प्राप्ति होना संभव है। ये दोनों विचार अशुद्ध हैं ॥ ३-४ ॥

जन्तुकी संका दूर होनेकी अपेक्षा और भी बड़ गर्ह ! ! उपदेश करनेका बड़ कैसा डग है कि विष्णुकी आज्ञा मिट जानेकी अपेक्षा बड़ बाध ! ! यद्यपि जन्तुने पूछा कि यदि कर्मकी अपेक्षा समस्तुष्टि मेढ़ है तो मुझे कहो कि समस्तुष्टि की धारणा कर । ऐसा उपदेश न करते हुए हे भगवन् ! आप मुझे और कुछ करनेकी शैलियाँ क्यों कर रहे हैं ? यह और कुछ पताकी धान है, इसमें कुछ मरनेका उपदेश आप मुझे क्यों कर रहे हैं ? यह आपका कथन ऐसा है कि कैसा पक्ष रोगी किसी वैद्यसे विमिश्रता करवानेके लिये उसके पास गया उसे वैद्यने कहा कि बिना द्रव्य जानेवाका है और यह औषध विरहित अरोग्य हैवेबन्धा है तथापि तु इस विषयमें पी जा । ' ऐसी अवस्थामें जो अवस्था उस रोगी को होगी वही इस अरोग्य रोगी की है । यदि किसी अरोग्ये कीका मर्मा पूछा, तो उसकी कीका मर्मा ही बताया चाहिये; उसका ऐसा नहीं कहना चाहिये कि ' यह शरक मर्मा है परन्तु इस रोगी मर्मासे ही तु का । भगवन् ! जानने से ऐसा ही मुझे समझने का दया है ! ! अतः मार्गध है कि मुझे दूर समय को कुछ करना चाहिये उसका विग्रह करके कोई एक मार्ग मुझे बताने विनये मुझे कीमती कथनना बतल हा जाय ।

उसकी प्राप्ति अवधि ही बड़ गर्ह बड़ बाधकर उसका समाधान करनेकी हृष्टसे है कर्मयोगका उत्पन्न करने की—

दो प्रवृत्तियाँ

(३-४) इस अक्षरमें धार्मिक मनुष्योंमें दक्षिण धारण करनेकी दो निष्ठा अर्थात् दो प्रवृत्तियाँ सिद्ध होती हैं। पहली विष्णु सम्पत्क कर्म (वि-त्वा) किसी कार्यमें अत्यन्त स्थिर रहना है । ज्ञानमार्गमें अत्यन्त स्थिर रहना और बड़ासे निश्चित न होनेका नाम ' कर्म-निष्ठा' है और कर्ममार्गमें अत्यन्त लपरताके साथ स्थिर रहनेका नाम कर्म-निष्ठा है । ज्ञान और कर्म के दो धारण जिसे वस्तुकी सिद्धिके लिये विहित है । कई मनुष्य ज्ञानविषयमें होते हैं और दूसरे कई कर्मविषयमें होते हैं । ज्ञानविषयमें कर्मको गुण्य मानते हैं और कर्मविषयमें ज्ञानको अगण्य अर्थात् कम्य मानते हैं । इस प्रकार इन दोनोंमें परस्परविरोध कम दिखाई देती है । सांख्य लोग ज्ञानपर अज्ञानकेबाधे और योगी कर्मपर अज्ञान्य होते हैं । प्रायः लोगों-का यह एकाग्र है कि ये दोनों मार्ग विरुद्ध विग्रह हैं और उनमें परस्पर मेढ़ नहीं है ।

शरीरमें ज्ञान और कर्मक साधन

अपने शरीरमें भी ज्ञान का एक काम करना, तथा

जन्तुकी बड़ संका भगवान् कीहृष्टसे ज्ञान की और

मोर मय वे क्षान्तिप्राप्तके हृदय हैं। और हाथ, पाँव, मुख उपरन और गुहा वे कर्मस्थ हृदय हैं। ये भी एक दूसरेका कार्य प्रायः नहीं करना चाहते वे सदा अपनेही सामर्थ्यमें मस्त रहते हैं। यही यह विचार करना है कि कुछ हृदयोंमें कर्मशील हृदयन भेद है वा प्रालम्बीक हृदय भेद है। वाक्य विशेष विचार न करनेपर भी कहेगा कि हाथ पाँवकी अवस्था बाँक नाक कान भेद हैं। जो काम शरीरमें कार्योद्भिर्बोले हो सकता है वह काम कर्मोद्भिर्बोले नहीं हो सकता यह बात नितान्त सत्य है। बाँक अपनी दृष्टन-व्यक्तिते सूर्यकोच्छेत्ती नी वरे प्रकाश करती है, परन्तु कर्मबोगी हाथ पाँव पृथ्वी ज्येष्ठकर बहुत दूर जा नहीं सकते। बाँक दृष्टिकेपक्षे विमेषार्थमें सूर्यको धर सकता है वैसा हाथ वा पाँव भूमिकी प्रवृत्तिन करना चाहें तो कई वर्ष करेंगे। शरीर-स्वाधीन हम शालेयों और कर्मोद्भिर्बोले व्यक्तिकी हस्तरी म्यूतात्मिकता एवं निवेद है। यह भिन्न कदापि भिन्न नहीं सकता।

कर्मदेव और ज्ञानदेव

बापक वहाँ शान्तिदेवोंकी शक्तिमान विचार करें। जगत्
मन वह ईश्वरचित्ति और आत्म शक्तिसे युक्त है। इसमें
ईश्वरविष्णु की ब्रह्मत्वा है और सोमकी शक्ति भी है। यह
मन कल्पनाके रूपसे विजयीके समान अन्तर्यामि कहाँ की
कहाँ दाख सकता है। जहाँ कितनी दूर तक पहायोंका प्रयोग
कर सकते हैं, वहाँ कितनी दूरके वायु सुनता है और शक्ति
भी बरक वायु प्रदान करने पहायोंका स्वभावचरम जान
सकता है। इसी शक्ति इस धरास्थानीय कर्मिदेवोंमें निहित
है नहीं है। पाँच दीपके छोटे छोटे वहाँ तक दीप जलायेंगे।
दाख से कुछ संज्ञादि साधन बनाकर दीपका धारा बहा भी
सकते हैं। मुल शान्तिपचार और उपदेश जादि हारा कुछ
निदेश कार्य कर भी सकता है। परन्तु इसका होमेयर की
शान्तिदेवोंका अन्तर्यामि इस कर्मिदेवोंमें नहीं है। इस रीतिसे
निवार धारण इस वास्तव विज्ञान से जाता है कि शान्ति-
विष्णुशक्तिकी योग्यता कर्मिदेवोंकी अनेक बहुत बड़ी
है। यह कहाँ है—

अथ ये शत कर्मद्वयानामनम्यः ।

स एक माज्जमदेवानामात्मन् ॥

(५ ४ ४१११)

स एको ब्रह्मण आत्मन् ॥ (तै ३ २८)

कर्मदेवोंके लो आत्मन्दीके बराबर देवोंका एक आत्मन् है और देवोंके हजारों आत्मन्दीके बराबर महा-ज्ञानका एक आत्मन् है । स्पष्ट कर्मप्रियोसे प्राप्त होनेवाला आत्मन् ज्ञानेन्द्रियोसे भिन्नेवाला आत्मन् सूक्ष्म अन्तःकरणसे होनेवाला आत्मन् और आत्मानुभवसे प्राप्त होनेवाला आत्मन् हममें बहुत अन्तर है और वह अन्तर उक्त प्रमाणसे बढाया है । इसका तात्पर्य यह है कि कम-साधनोंकी अपेक्षा ज्ञान-साधन कई गुण श्रेष्ठ हैं और उसी प्रमाणसे उनसे होने वाले कर्मोंमें भी भेद है । जहाँतु कर्म और ज्ञानके साधन मार्ग एक जायेंगे वही इसी प्रकारका भेद है । तथापि कर्म प्रिय और ज्ञानेन्द्रिय एक ही मन्त्राप्रवाहसे प्राकृत्यन्तोंसे और आत्मन्दीकिते मेरित होनेऊँ कारण दोनोंमें एक ही प्राप्ति कार्य कर रही है इस दृष्टिसे दोनोंमें समानता भी है । कर्म मार्ग और ज्ञानमार्गमें श्रेष्ठ कथिष्ठ होनेऊँ भेद इसनिऊँ जिन्ये अपने शरीरके ज्ञानमार्गी और कर्ममार्गी भिन्नर्ग प्रवृत्त इन्द्रियोंमें भी स्वाभाविक उत्पत्तीभाव है वह वही हमने देवी और अबसे सामान्यता भी देवी ।

परन्तु यह विचार भी कदाई अन्तिम निर्णय नहीं है, क्योंकि जानने देखा और रूप प्रत्यक्ष किया यह शान्तिप्रिय होते हुए भी हेतुबोध कर्म करता है मग सम्प्रज्ञात्मक इन्द्रिय होने हुए भी समस्त कर्म करता ही है इस प्रकार ये सब शान्ति-मित्र एक हीरिधे कर्ममित्र ही हैं। जन्मा स्वर्ग प्राप्तिवत्त्व होता हुआ भी सबके आन्तरिक मोक्ष हेतु कर्म करता ही है। इस रीतिसे सभी कर्ममार्गी हैं। इसलिये दोनों ही इस दृष्टिसे अभेद ही हैं। परन्तु यहाँ देखें कि दोनों में भेद क्या है और अभेद किस रीतिसे है।

मनुष्योक्ति प्रवृत्तिभेद

नाथनसमक्षमें लोग शान्तिये हैं और योगसमक्षमें
कर्मिये हैं। जगत्में धार्मिक लोगोंमें दो प्रकारकी बुद्धिमें
है। कई लोग लक्ष्मणमें रमते हैं और कई लोग बलुच्यमें
बर बर बैठे हैं। कई कहते हैं कि बहुत सन्तुष्टान प्राप्त कर
लेते क्या काम होगा? जो भी कुछ पोट्रा प्राप्त हुआ
हो उसकी लपटें खाकर भयों के जाओ। इसी कोई ऐसा
कहते हैं— खरीदी कर्ममें बड़ी लपटें क्या काम होगा। भा०

गुणसे अपने मनको पुष्ट करी। मन पैदा हुआ तो सब पैदा हो जायगा। ये हम प्रकार दोनों मत जगत्में प्रचलित हैं। इस विचारका विचार करके निश्चय करना चाहिये कि हममें सत्य क्या है।

कर्मसे दोषकी समाधान

कर्म करनेसे मनुष्यदे। कुछ न कुछ दोष लगता है और यदि पूर्णतः कर्मबद्ध अनुसार जानमें भी कुछ न कुछ कर्म होनेका संभव हुआ, अथवा मानके साथ साथ कर्म होनेकी भी संभावना माननेकी आवश्यकता हुई। तब तो दोनों हल्केमें कुछ न कुछ कम होगा और कर्मक साथ कुछ न कुछ दोष भी होमगही। यहाँ प्रसंग होगा है कि यदि इस प्रकार सत्य दोषकी संभावना है तो दोषसे बचना किस प्रकार होमकता है। हम प्रत्यक्ष उत्तरमें दो निवारणोंमें दो सुनिश्चि। प्रमुख रखी हैं। वे सुनिश्चि। ये हैं—

१ कर्मका प्रारंभ न करनेसे कम न होम और मनुष्य निर्दोष रहेगा, अथवा—

२ कमका प्रारंभ हुआ ही तो जागे कर्मका त्याग करने से दोषमें भी सुनिश्चि होगी।

ये दो सुनिश्चि। विचार करके प्रस्तुत की हैं और उसके प्रारंभ में पैदा विचार जाया कि कर्मक चाहते हूँनेकी सुनिश्चि सुनिश्चि हस्तगत ही चुकी है। परन्तु इस प्रारंभ के बाद करनेके निम्न प्रमाणों कीदृश्य जागे करने हैं कि—“ कर्मका प्रारंभ न करनेमात्र ही मनुष्य निष्कल भी हो सकता और कर्मका त्याग करनेमही मनुष्यकी विधि प्राप्त नहीं हो सकती।” यह प्रमाणों की कीदृश्य सुनिश्चि विचार कर्मा-की पूर्णतः दोनों प्रमाणों के समक। अपने प्रारंभ के बाद करनी पड़ती। और फिर कर्मका दोष हटनेके निम्न क्या किया जाय। हमकी चिन्ता समक कीदृश्य प्रतीति की दीती करनी रही।

अथवा यहने दे कि कर्मका प्रारंभ न करनेम मनुष्य कर्महीन नहीं हो सकता। क्योंकि मनुष्य कुछ भी कर्म नहीं किया तो भी वह कर्म न करना विचार करना पड़ता भी एक कर्म ही है। कर्म न करनेपर भी वह कर्म करना ही है एवम हैम कर सकता है। अथवा कर्मका प्रारंभ न करनेम कर्महीन होकर बनकता है।

अथवा कम करने के प्रमाण त्याग करनेसे मनुष्य कर्म

रहित होगा या नहीं। अथवा यहने दे कि, वह भी नहीं होगा। क्योंकि कोई मनुष्य किसी समयमें पुण्यकर्म, उसने कुछ भी एकक नहीं की तो वह उसका पुण्यकर्म केनेका जो कम है वह किस प्रकार जाया जायगा। स्वर्गिक वह तो गत समयमें हो चुका है। जो हो चुका है वह अपने पहले पद मया उसको त्यागना कैसे हो सकता है। अतः हट कर्मका भी त्याग करनेम है। हट कर्म तो हो चुका है और वह अपने ऊपर जा चुका है। अथवा कर्मका प्रारंभ न करना भी कर्मक ह और कर्मका त्याग तो उसने भी कर्मक है क्योंकि कर्मका त्याग भी एक कर्म ही है, फिर उसको त्यागना कैसे संभव हो सकता है।

यहाँ कई लोग पूछेंगे कि ‘कर्मसे हटकर क्यों बरा बरा है। कर्मसे दोष लगता है पैदा जो कहा जाता है, वह कैसे सत्य है। कर्मसे दोष क्यों लगता है और कैसे लगता है।’ इसका विचार अब यहाँ करेंगे—

मनुष्यका कोई भी कर्म कीदृश्य है। मान कीदृश्य कि मनुष्य पुण्यकर्म पैदा है निष्कल एकक नहीं करता पैदा कर्मकामों उससे कमका निरर्थक प्रमाण होनेका दोष हो रहा है। इस प्रकार कर्म न करनेसे पुण्य केनेसे किंवा कर्म न करनेका जो उसने कर्म किया उससे ही वह दोष बनगया। अब दूसरा कर्म देखिये—कोई मनुष्य कर्मका करनेके निम्न जब पकता है, उस पकमें अनन्त कीदृश्य पैदा होती है, वह दोष निवारण है। तीसरा कर्म देखिये एक मनुष्य कुछ काम किया पद रहा है उसमें अनेक प्रकारसे गुणों का देनेका दोष निवारण है। इस विधिसे कोई कर्म किया भी उसमें नहीं न हो उसमें किसी न किसी रीतिसे कोई दोष अवश्य होता ही है। दोषरहित कर्म करना मया बनकता है। कई कर्मोंके दोष हम एक समने हैं और कई कर्मोंके दोष बहुत विचार करनेपर हमें ज्ञान हो सकते हैं। यदि दोषरहित कम नहीं हो सकता यह बात सत्य है। प्रत्यक्ष भी अनेक कर्मोंके उदाहरण अपनी विचारकी दृष्टिके सामने रखकर हमने गुणतोषोंका विचार करें और कर्मके साथ दोष और गुण कम क्या हैं इसका विचार करें। यहाँ कोई पद न समने कि कर्मसे प्रत्यक्ष दोषही होत है और गुण नहीं होते। गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। प्रमाण गुणोंका एक अच्छा होनेका कारण मनुष्य सदा उसको चाहता ही है।

(३) प्रकृतिधर्म

न हि कश्चिदक्षयमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशा कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वयः— कश्चित् जातु क्षयमपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति । प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः हि अवशः कर्म कार्यते ॥ ५ ॥

कोई कभी एक क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता । प्रकृतिये उत्पन्न गुण पराधीन बनाकर सबसे कर्म कराते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ— प्राणिमात्रकी प्रकृति ऐसी है कि उस कारण एक क्षणभर भी वह बिना कर्म किये रह नहीं सकता । प्रकृतिके गुणोंसे पराधीन बना हुआ हर एक प्राणी कर्म करताही रहता है ॥ ५ ॥

पशु दोपोंकी बात बूझी नहीं है । दोपोंसे बुरा फल होता है, वह भोगनेके समय उसके दुःख होता है । अतः उससे दूर करनेका विचार मनुष्य सदा करता रहता है । अतः कर्मके दोपोंसे बचनेका उपाय कथन करनेके लियेही शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है । इस गीताशास्त्रके कर्मके दोपोंसे बचनेका सबसे उत्तम उपाय कहा है परो गीताशास्त्रकी विवेचना है । वह ज्ञानेय आनन्दक विषय कर्मसे ज्ञाने या ज्ञातव्य । इसी विषयका उपक्रम करनेकी इच्छासे शरीरके स्वभावका वर्णन महाबाहू करते हैं—

कर्म अनिवार्य है

(५) प्राणिमात्रका सहज प्रकृतिधर्म बड़ा कहा है । प्राणिमात्रकी प्रकृति ऐसी है कि वह क्षणमात्र भी बिना कर्म स्थिर रह नहीं सकता । इच्छासे किये अविच्छेदसे किये स्वभावसे कर अवशा है। भी बुद्धिसे किये, उससे कर्म होनाही है । कुछ भी करो । कर्म छूटता नहीं । मनुष्य स्वभाव रहा तो भी उस समय उससे स्वभाव रहनेका कर्म होता है । अप्य, स्वभाव रहा या पुण करना वह कर्म न माना जाय तो भी स्वभाव रहा मनुष्य बिना आवास दूसरेके अन्तः शुचता है वह उसका अवयवक कर्म है उसके नाभमें गुणों का गुणक गया, तो उसका प्रवृत्त स्वभाव होता ही है वह वास्तव प्रवृत्त कर्म हुआ । जोकि लुके रहने पर बाहरका रस्य दीप्तताही है इस रीतिसे उससे स्वभाव है। स्वभाव कर्म होता है । बाहरकी इच्छामें लक्ष्मी और गर्मी रही तो कुछ भी किये बिना उसके शरीरको उस गर्मी और गर्मीका आश होता है । गर्माद पुण ईश्वर मनुष्य लक्ष्मीगर्मी केनेका कर्म करता रहता है और महाबाहू मूकता उसमें पसीका जाना छिंकि जाति अनेक स्वाभाविक कर्म उससे स्वभावतया होते रहते हैं । मनुष्यका शरीर स्वभाव रहा गया तो भी उसके मयके अनुसार

चल नहीं होते; वह ममसे मनन करके अनेक कर्म करता रहता है । मित्रा अनेक कर्म होयही है तथापि उसमें स्वभाव ज्ञाने कर्म तो वह स्वभाव केनेका भी कर्म करता है, यह कर्म कैसे रोका जाय ? स्वभाव अवस्थापर कितना नियन्त्रण है ? और देखिये, वह सब न हुआ ऐसा भी क्षणभरक स्थिति मान कीजिये; परन्तु हर एक प्राणी जड़ित रहनेका कर्म तो करता ही है । वास्तव्यवास, इच्छाकी वृत्त, भावोंका कोकमा और मूढता ये कर्म शरीरक स्वभावसेही होते हैं, इसके अतिरिक्त, शरीरका जीर्ण होना रोगी होना निरोग रहना आदि कर्म होते हैं; जन्ममें यदि मर गया तो मरणका भी एक कर्म उससे होता है । जन्म केनेका कर्म और मरण का कर्म ये दो बड़े भारी कर्म हैं जो हर एक प्राणी करता है । इस प्रकार विचार करनेपर पाठकोंको पता करोगा कि, कुछ कर्म न करनेका निश्चय करनेपर प्राणिमात्रसे इतने लक्ष्यक कर्म प्रकृतिके स्वभावसेही होते रहते हैं । अतः मनुष्यका कर्मोंका मार्ग न करनेका निश्चय और कर्मोंके त्याग करनेका निश्चय ये दोनों निश्चय अल्पव्यवहार हैं । कर्म न करना तो एक अक्षयमात्र भी समभवनीय नहीं है ।

परवशात्

कर्म करनेक विषयमें जैसे सब प्राणी वैसा मनुष्य भी पराधीन है । उसकी प्रकृतिके लक्ष्मीवरी वह रहता है और उसकी प्रकृति उससे लक्ष्मी कराती है । निश्चय प्रकार इसकी प्रकृतिके गुणकर्म अक्षय हैं उस रीतिसे वह अक्षयता रहता है । प्रकृतिके रस्य गुण ईश्वर रज और तम । तमागुण्ये अक्षय रस्यगुण्ये प्रकृति और सत्यगुण्ये समता रहती है । इन गुणोंके मूलवर्णक प्रमातृत्वं इसमें निश्चित कर्म प्रकृतिके उत्पन्न होती हैं । अतः इत्ये कहा कि ' मे कर्म नहीं करेगा ' तो भी वह प्रकृति स्वभाव है । प्रकृति एक

दार्मिक लोग

(१) इस श्लोकमें दार्मिक लोगोंकी सूझाऊक वर्णन किया है। ये लोग कर्मनिष्ठोंको तो स्तब्ध रखत हैं परन्तु कर्मनिष्ठोंसे और विशेषतः अपने लोगोंका मजा उठानेका विचार करते रहते हैं। ये लोग शराबिन विषयोंकी प्राप्ति के लिये तत्पर हैं परन्तु बाहरसे शरीरको साधुके समान सजानकर स्तब्ध रखते हैं। य मूढ़ और मिथ्या व्यवहार करने वाले हैं। इनकी अवोगति होती है। वे समझते हैं कि शरीरसे कर्म न करनेमात्रसे ही सिद्धि होती है। परन्तु यह भ्रम है। शरीरसे हरेषुक कर्मनिष्ठोंसे किंवा गुणेश्वरसे कर्म न कीया जाय परन्तु सबसे विषयोक्त विमल होता रहे, तो अवश्य होय होगा। कर्मनिष्ठोंको और शरीरको स्तब्ध रखनेके साथ साथ यदि मन कुछ न रहा तो शरीरसे मुक्तता नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ देखिये जो लोग किसी को बांधीसे गाँवियों तो नहीं हैते परन्तु मनमें गाँधी देने का विचार करते हैं अथवा मन्त्री मन गाँवियों देने भी हैं। इनके बाँधीको स्तब्ध रखनेसे क्या काम हो सकता है? इनके मनमें जो शेष करना या वह कियाही है केवल म्याक कर्मोच्चारण करने किया नहीं। परन्तु इससे वह विधोष नहीं हो सकता।

कर्मविषयक प्रवृत्तिके लोग बड़ा शरीरसे न की कामना में। परन्तु मनसे यदि कामका विचार बारम्बार करेंगे सुंदरलका वर्णन बारम्बार पढ़ेंगे, किसे बिना बारम्बार देखेंगे मनमें इनसे संगति होनेकी कल्पना करेंगे तो निश्चयेह कामविषयक शेष करने हीगा, उक्त शेषका परिणाम इनके शरीरपर होगा। वे शरीरसे क्षीन और बीरवील बनेंगे और अन्तमें अवलिकारके लिकार बन जावेंगे। केवल मनसे विचार करनेसे किसी दामि होती है। इसकी स्पष्ट कल्पना नहीं प्राप्तकोंको हो सकती है। काम मनमें ही उषय होता है अतः उसका नाम मनमिथ है और शरीरसे मुक्त हो या न हो वह मन्त्री मनमें रहकर नहीं और शरीरमें बडे शेष उषय करता है जिसका परिणाम मुक्तगतिमें रहे अनक दुःखी तन्त्रोंकी आपुमर भोगमा पडता है।

शरीरकी स्तब्धता

यहाँ कार्य यह न समझे कि शरीरका स्तब्ध रखनकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता तो है ही। जो शरीरमें

पचना चाहता है वह शरीरको स्तब्ध अवश्य रहे, परन्तु साथही साथ मनका भी सुदृढ़ रखनेका बल करे।

योगसूत्रके अम्यासमें शरीरको स्तब्ध और निश्चल रखनेकाही अम्यास मुख्य है। कुछ समय शरीर विषयक शांत रखा जाय और यदि वह शरीर मधुसुख निषय रहा तो मनकी स्वाधीनता होनेमें बड़ी सहायता होती है। योगके आसन शरीरकी लचकत करनेके लिये प्राणायाम प्राणकी स्थिर करनेके लिये और वे दोनों मनकी स्थिर करने के लिये अनुष्ठेय हैं। यह हठयोगका क्रम है जो शरीरको स्थिर करना हुआ मनको स्थिर करनेकी समझाया करता है। परन्तु इसमें यह बात है कि शरीरक स्थिर करनेक प्रयत्नके साथ साथ मनको सुदृढ़ पवित्र और स्थिर करनेका अनुष्ठान होना चाहिये। शरीरको स्तब्ध रखना और मनकी विषयोंमें भरकने देना कभी कुछ नहीं। ऐसा करना तो दार्मिकता है। हठयोगमें इस प्रकारकी दार्मिकताका कुछ भी नहीं है।

राजयोगमें मनको विचारसंसार जालसे शांत करनेका अनुष्ठान करना होता है। राजयोगियोंकी रीतिसे मनको शांत करनेसे प्रायः शांत होता है और इन दोनोंकी शान्तिसे शरीर शान्त और लचकत होता है। राजयोगी ऊपरसे नीचे जाता है और हठयोगी नीचेसे ऊपर जाय है। परंतु यहाँ इन दोनों योगोंमें किसी एकको स्तब्ध रखना और दूसरेको विषयोंमें रूपा देनेका विषयक भाव नहीं है। प्रबल तो कर्म निष्ठ कर्मनिष्ठ, प्रायः और मन्त्रका शान्त सुदृढ़ गेनीर और लचकत करनेके लिये इसगाने करना चाहिये। केवल कर्म-निष्ठोंको स्तब्ध रखकर मनमें विषयोंका मजा उठाने कार्य नहीं करेगा। यह दार्मिकता अनेकी अन्य समाजमें जाहवार मजानेमें सहायता देने परन्तु इससे किसी प्रकार आप्ता मित्र उक्ति नहीं हो सकती। इसमें निश्चयपूर्वक गिरावट ही हो सकती है। ऊपर स्तब्ध रहना है परन्तु उस स्तब्धताका नाम शान्ति नहीं है और इस प्रकारकी स्तब्धतामें कुछ उदात्तकी भी कोई जाया नहीं है। मनुष्य कम करना हुआ शान्ति अनुभव करे वह लौकिक है। मनुष्यपर विविधों आनेपर वहन ही वह लौकिक है। कर्म करना हुआ न कर मक सामान शाप रहे वह निर्द्विष्ट जिस प्रकार जाचन कर मेम हो सकती है इसका विचार आनेक श्लोकमें किया है। ये श्लोक लचकत है—

(१०)

(५) अनासक्तियोग

पस्विन्नप्रियाणि मनसा नियम्यारमतेऽर्जुन । कर्मेन्द्रियैः कमयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः । शरीरयाध्याऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥
यज्ञाभ्यात्कर्मणोऽम्पद्य लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तर्क्यं कर्म कीन्तेय मुक्तसङ्गः समाधर ॥ ९ ॥

अन्वया- हे अर्जुन ! वा गु मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगी आरमते, सः विशिष्यते ॥ ७ ॥
त्वं नियतं कर्म कुरु, अकर्मणः हि त्वं ज्याय ॥ ते शरीरयात्रा च अपि अकर्मणः न प्रसिद्ध्येत् ॥ ८ ॥ यज्ञाभ्यां कर्मणः
अम्पद्य त्वं लोकः कर्मबन्धनः । हे कीन्तेय ! मुक्तसङ्गः तर्क्यं कर्म समाधर ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य मनसे इन्द्रियोंको यथार्थ रखके आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान करता है उसी श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ इसलिये तू नियत कर्म कर । कर्म न करनेकी अपेक्षा कम करता अधिक अच्छा है । तेरे शरीरका निर्वाह भी बिना कर्म किये नहीं होगा ॥ ८ ॥ यज्ञके किये किये यज्ञ कर्मके सिवाय अन्य कर्मोंसे इस लोकमें बन्धन होता है । इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! आसक्ति छोड़कर यज्ञके निमित्त कर्म कर ॥ ९ ॥

भावार्थ- मनुष्य अपने इन्द्रियोंके अपने अधीन रखे, उसको इस उद्यम भङ्गने न दे और आसक्तिरहित होकर कर्म इन्द्रियोंसे कर्म करे । जो इस रीतिसे कर्म करेगा वही श्रेष्ठ होगा । निमित्त कर्म मनुष्यको करवाही चाहिये । कर्म न कर लेनी अपेक्षा कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है । कर्म न करनेसे शरीरका जीवन भी चक नहीं सकता । यज्ञके बिना जो लोक मिले जाते हैं, वे बन्धनकारक नहीं होते, यज्ञका हेतु जीवकर को मिले जाते हैं, उनसेही कर्माकी बन्धन होता है, इसलिये आसक्ति छोड़कर मनुष्य यज्ञके लिये कर्म करे ॥ ७-९ ॥

कर्मयोगका आचरण

(७-९) इन श्लोकोंमें कर्मयोगका अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसका उपदेश किया है । कर्मयोगका आचरण करनेवाले लोग इन श्लोकोंका उचित मनन करें । इस कर्मयोगके अनुष्ठानके कुछ सिद्धान्त इन श्लोकोंमें वर्णन किये हैं, इनका समझ विचार करीतें हैं—

नियत कर्म करना

अहम श्लोकमें " नियतं कुरु कर्म त्वं " अर्थात् तू नियत कर्म कर ऐसी आज्ञा की है । इसके दो अर्थ होते हैं ।
इच्छित्—

१ त्वं नियतं कर्म कुरु " अर्थात् [अपने वरिष्ठे अनुसार तुम्हारे किये कर्मव्यवस्था] निमित्त हुआ कर्म कर । अर्थात्—

२ त्वं कर्म नियतं कुरु = तू कर्म सदा कर ।

पहिले अर्थमें " नियत " शब्द " काम " शब्दका विशेषण है और दूसरे अर्थमें नियत शब्द कर्मकाचक अण्वत् है । इस वाक्यका अर्थ दीक्ष प्रकर आचार्यों लभिके किये

नियत शब्दके अर्थका अधिक विचार करना चाहिये ।
कोष्ठमें इसके निम्नलिखित अर्थ निकले हैं—

नियत (१) मर्णादौष्टे कुछ भी मर्णादौष्टे है, जो मर्णादौष्टे मर्णादौष्टे हुआ है, जो अपने अधिकारमें है नियमानुसार को कर्तव्य हुआ है अहमसमसे को निमित्त हुआ है जिसमें मर्णादौष्टा अतिरिक्त नहीं हुआ है, निमित्त अनुष्ठानसे निमित्त निमित्त उपलब्ध स्थिर, सदाके श्रेष्ठ यज्ञके अर्थात् अर्थात् दीक्ष स्थिरास निमित्त वा निमित्त स्वीकृत करने अनुसार कर्तव्य । (२) सदा हमेशा निमित्त । निमित्तके अर्थात् रीतिसे स्थिरास अर्थात् अर्थात् अर्थात् ।

नियत शब्दके दो अर्थ हैं । दूसरा अर्थ अर्थात् अहम अहम श्लोकका ऐसा अर्थ होता है कि— (त्वं कर्म नियतं कुरु) तू कर्म सदा करता रह क्योंकि (हि अहमसमसे) कर्म अण्वत् । कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अच्छा है आकाशी वैद्यकी अपेक्षा यज्ञ कुछ न कुछ कर्म करना उत्तम है । (अहमसमसे ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत्) अर्थात्

बैठे रहोग, तो तारे शरीरकी स्थिति भी ठीक सीधिस नहीं होगी ।" अर्थात् शरीरका स्वास्थ्य उत्तम अवस्थामें रहने-का स्थिति शरीरक अवयवोंमें कुछ न कुछ कर्म करा देना चाहिये । शरीरको कमजोर आकस्ती जगना इसचलनहित रहा जान, तो इस शरीरका स्वास्थ्य भी आरुद्रस्थके कारण बिगड़ जायगा । अतः आरुद्रस्थमें समय गमनेकी अपेक्षा कुछ न कुछ कर्म करना बहुतही अच्छा है । कर्मसे कम शरीर जाना भी तो बकरी रहेगी । इस हेतुसे मनुष्य सदा कुछ न कुछ प्रयत्न करता रहे । प्रयत्नाहीन मनुष्यकी अपेक्षा प्रयत्नशील मनुष्य बहुत अच्छा है ।

ऐच्छिक और स्वाभाविक कर्म

पञ्चम श्लोकमें कहा है कि कोई एक धनके लिये भी काही नहीं रह सकता । प्रकृतिके गुण बढाए उससे कर्म करते रहते हैं । इस स्वाभावसिद्ध नियमके अनुसार कोई कर्महीन नहीं रह सकता । वह सदा है, उद्यमि वे कर्म स्वभावबलसे होनेवाले हैं । कैसा रेकमें पैदा मनुष्य पैदा न करता हुआ भी देखेंगे मीलोंकी सफर करता है ऐकसे स्वाभावके आधीन होनेसे ऐकस गुणधर्म इससे बढाए सफर करवाते हैं, उसी प्रकार जीव प्रकृतिके आधीन होनेसे प्रकृतिके गुणधर्म उससे कर्म करने हैं । परन्तु जिस प्रकार ऐकसी सफर और वैदस सफरमें अर्थ है उसी प्रकार स्वाभाविक कर्म और ऐच्छिक कर्ममें भी भेद है । वैदस सफर करनेवालेका शरीर सुदृढ होया जाना है जीव ऐकसे सफर करनेवालेका शरीर अकड जाना है । इसी तरह प्रकृति स्वाभावसे होनेवाले कर्मोंसे जीवकी शान्तिहीन अकड जानी है, परन्तु ऐच्छिक कर्मसे करनेसे जीवकी शान्तिहीन विकसित होती है । इसलिये शान्तिविक कर्मोंकी अपेक्षा ऐच्छिक विचार कर्म कई हज़म श्रेष्ठ है ।

पञ्चम श्लोकमें शरीरधर्मसे होनेवाले कर्मोंका वर्णन है । ये कर्म तो जीवभावसे होनेही रहते हैं । उनमें न किसीकी उद्यमि होगी और न अवयमि । ये कर्म न करनेमें स्वामी अवयम होगी । परन्तु मनुष्यका ऐच्छिक अर्थ कम अपनी उद्यमिद विवे अवयम करन चाहिये । ये ऐच्छिक कर्म उत्तम विधिसे किये तो बनका जगज एक कर्माका प्रसन्न होगा । कम कर्ममें जगुदि हुर ना शीघ होकर अवयमि होगी । परन्तु दोनों अवयमोंमें कुछ न कुछ

(अ ३ श्लोक ३-४ का विवरण देखिये) । इसलिय कई लोग बहुत शरीरको रोकते हैं उनके विषयमें छटे श्लोकमें कहा है कि— जो ऊपर ऊपरसे इन्द्रियोंको रोक कर भीतरही भीतर विषयोंका मग्न इन्द्रिय विचार करता है वह मिथ्याचारी किंवा बौंगो है ।' इस प्रकार बहुत शरीरको रोकनेसे कोई लाभ नहीं है । इस तरह शरीरको रोकनेसे कुछ न कुछ कर्म करना अच्छा है आरुद्र स्थिति रहनेसे उद्योग करना अच्छा है " ऐसा मनुष्यकी कर्मोंको और प्रवृत्ति करनेके उद्देशसे अहम श्लोकमें कहा है ।

परन्तु (स्व कर्म नियतं कुर्वन्) तू सदाकर्म कर इतनाही इसका अर्थ करनेकी अपेक्षा नियत सदाका पहिला अर्थ केकर इसका (स्व नियतं कर्मं कुर्वन्) तू [चर्ममर्मा-शक्तं मनुष्यं तुम्हारे स्थि] निश्चित हुआ कर्म कर ऐसा लभकरना अधिक योग्य है । जगना तू अपने लिये निश्चित हुआ कर्म सदा कर 'ऐसा अर्थ करना भी अधिक योग्य है । इसमें दोनों अर्थोंका आशय भा जाता है । मनुष्यको कर्म करना आवश्यक है अतः वह नियत कर्मही सदा करे । वही नियत कर्म कीमता है इसका विचार करना चाहिये—

नियत कर्म

नियत कर्म का आशय दो प्रकारसे व्यक्त हो सकता है । एक नियत कर्म वह है कि जो धर्मशास्त्रके द्वारा द्रव्य मनुष्यके लिये निश्चित हो चुका है । दाम-दम उप आदि आश्रम के लिये, शीर्ष पुत्रस अयतायन दान आदि क्षत्रिय, लिये, कुपि गोरक्ष वदिभ्य वेदयके लिये और कसीगरी तथा परिचर्यादि कर्म धृष्टके लिये धर्मशास्त्रद्वारा निश्चिन्त हुए कर्म हैं । आरुद्रधर्मोंमें द्रव्य हुए मनुष्यके ह्य प्रकारके धनु विध कर्म धर्मशास्त्रद्वारा निश्चित हैं । ये ही धर्म नियत कर्म हैं और जिस धर्मोंमें जो उत्पन्न हुआ है उसक लिये येही नियत कर्म हैं । जगना वग और जगना आश्रम इनके लिये जो कर्म धर्मशास्त्रमें निश्चित हुआ है वह उन मनुष्यका सदा करना चाहिये । नियत कर्म हुए अपन लिये नियत हुआ कर्म कर इसका एक आशय यह है । भगवद्गीतामें आगे इसी उद्देशसे कहा है कि—

शास्त्र प्रमाण

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं त कार्वाकः यथ्यवच्छिती ।
कारवा दाम्यविधानोक्तं कम कतुमिदार्दम ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करनेक समय तुमसे साक्षात्को प्रमाण मानना चाहिये और साक्षात्में जो कुछ कहा है उससे समझकर तदनुसार हम जोकरमें कर्म करवा उसे उचित है। यहाँ शास्त्रका अर्थ आस तत्त्वशास्त्री पुष्पांद्वाारा रचित मानवी धर्मके प्रेम है। यदि धर्मनियमोंमें बन्ध करवा हो तो मनुष्य-समाजकी परिस्थिति देखकर आस-पुष्टर पैसा बन्ध धर्मप्रयोगों में करें। वह अधिकार सामान्य मनुष्योंको नहीं है। धर्मशास्त्री रचना आस पुष्टर करें और अन्य लोग उन नियमोंमें अनुसार आचरण करें। इस प्रकार करनेसे कोई मनुष्य अन्याय कर्म कर ही नहीं सकता किसी मनुष्यसे अपने हाँ नहीं सकता, मनुष्य-समाज सेवा समुदाय और ध्यात्मत्व रह सकता है और आत्मोन्नति करनेके लिये उसको बहुत अवसर भी मिल सकता है।

यहाँ बहुतक विषयमें इसका आशय यह है कि अर्जुन क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होनेक क्षात्र क्षमका धर्म क्षीय तेज क्षीय दक्षता, पुष्टर पीछे न रहना, शास और मनुष्यका साथ दे है। (म गी १८/१३) इस क्षत्रिके धर्ममें (पुष्टर अपसाधन) पुष्टर पीछे न रहना यह एक धर्म है क्षीय तेज दक्षता मनुष्यका आशय है भी धर्म उसक साम है। क्षत्रिके कुलमें उत्पन्न हुए एक मनुष्यक लिये है नियत कर्म है नपायं ये उसको सेवा करने कार्यत आचरण है। यदि किसी क्षत्रिके अपने कर्मव्यवर्तनक विषयमें प्रमत्त बन्ध हुआ हो इस शास्त्रवचनको देखे—

शाप्यं तस्मा भूतिर्वाक्यं पुष्टर व्याप्यपक्कायनम् ।

दानमीश्वरमापका क्षात्रं कर्म स्वभावापन्नम् ॥

(म गी १८/१३)

इस प्रकारक जन्मजन्म बचन वेद और शास्त्रों में है और अपने कर्मवचन निश्चय क्षत्रिके करे। वेदमें ह्यन् अष्टाष्ट, ह्यन् अष्टि क्षात्र देवताओंक मंत्रोंमें क्षत्रिके धर्म और कर्म कहे हैं। मनु आदि स्मृतिमें वेही धर्म वेदके अनुसार स्वरचित प्रकटनों कहे हैं। पुराणोंमें क्षत्रिके अधम क्षीय देखनेके पञ्चम क्षत्रिके धर्म उचित हो सकते हैं। इसमें और विचार क लिये आधुनिक युगक ह्यन् क्षत्रिके जीवन-चरित्र लिये आशय है, तथा आधुनिक विचारकोंके क्षत्रिकार भी विचारक लिये लिये आशय है। भूति स्मृति महाभारत आदि आधुनिक धर्मके धार लक्षण हैं और हमने जो

विधित होगा है वह मनुष्यका नियत कर्म है।

अर्जुन क्षत्रिके है, अतः उसका धर्मशास्त्रके अनुसार कर्म ' पुष्टर न मानना ' ' नपायं ' ' पुष्टरमें स्थिर रहकर बहुत साथ पुष्टर करना है। वह कर्तव्य धर्म नहीं करवा प्रत्युत शास्त्रके सिद्ध आचरण करवा है। इस समय बहुत नियत कर्मका त्याग कर रहा है यह बड़ा भारी पाप उससे हो रहा है। इस पापसे बचानेके लिये भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! तू नियत कर्म कर। अन्य हीन कर्म करनेसे अथवा आत्मस्थमें लक्ष्मणसे नियत कर्म करवा बहुत अच्छा है। धर्मप्रमत्तताके अनुसार क्षत्रिके-कुलोत्पन्न क्षीयका जो नियत कर्म है वह उसको करवाही चाहिये। न करनेसे दोष होगा। वह दोष कितना भयानक है देखिये—

यः शास्त्रविधिमुच्छेद्य वर्तते कामकारणम् ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परं गतिम् ॥

(म गी १८/१३)

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वच्छन्दे व्यवहार करता रहता है वह न तो सिद्धि को पाता है न सुख कमल है और न परम गतिको प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उसकी सब प्रकारकी उन्नति नष्टी जाती है। शास्त्र विधिके उच्छेद करनेका कितना बड़ा परिणाम है, यह देखिये। अर्जुन इस समय शास्त्रसे विधित हुआ नियत कर्म छोड़कर स्वच्छन्दे व्यवहार करना चाहता है ऐसा करनेसे उसको न किसी प्रकारकी सिद्धि मिल सकती न सुख प्राप्त हो सकता और न परस्परमें सुख पति मिल सकती है। फिर किस आशासे वह मनुष्य स्वच्छन्दे व्यवहारमें बहुत हारे ?

पाठक यहाँ नियत कर्म करनेका यह सिद्धि दीक रीतिसे समझे। केवल दूरदर्शी विचारी गिराहपत्नी महाशाली ज्ञान्य पुष्पेनि चार बच्चों और चार आधर्मों रहने वाले मनुष्योंको जो कर्म करने चाहिये ऐसा कहा और जो उनका धर्म लक्षण है उसका नाम धर्म है। प्रत्येक मनुष्यका इस आशयके अनुसार नियत कर्म निश्चित हुआ है। हर एक मनुष्यको यह कर्म अवश्य करना चाहिये। इस विषयमें गीतामें कहा है—

स्ये स्ये कर्मव्यपिरतः संसिद्धिं समते नराः ॥१४॥

यतः प्रवृत्तिर्भूताया येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा ममउपपन्नं सिद्धिं विन्दति मामयः ॥१५॥

श्रेयाम्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वमायनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपम् ॥३७॥
सहस्रं कर्म कौन्तेय सवोपमपि न त्यजेत् ।

सर्षारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिषावृताः ॥४८॥

(म गी १८)

‘जपने जपने विपत कर्ममें रत रहकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने यह संसार कैसापा है, उसकी पूजा भी मनुष्य अपने निज कर्मसे करता है, वह सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ सुष्ठु परमेश्वरकी वरदान जपका गुणवति निजकर्मही अधिक कल्याणकारी है। स्वभावसे विपत हुए कर्मों को करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ सहज कर्म सहोदर होता हुआ भी नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि होय तो सब कर्मों का साथ रहते ही हैं।

साहज कर्म

इस वर्णन से विगत कर्मों का लब्ध निश्चित होगा ।
 'स्वकर्म स्वधर्मैस्व-भाव-मिषत कर्मैः सहज कर्म'
 के अर्थ विगत कर्मों का लब्ध करणक समय विशास महाशक्ति
 है । सह-ज कर्म का लब्ध है- अपने स्वभाव साधनत्व
 द्वारा कर्म । प्रत्येक मनुष्यक साधन उसका कर्म निश्चित
 रूप से जगता है । इसी प्रकार स्व-भाव-मिषत कर्म का
 लब्ध- अपने भाव अर्थात् सत्ता का किंवा स्वभाव साधन विगत
 द्वारा कर्म । इन दोनों धर्मों का लब्ध प्रायः एक ही है । यहाँ
 स्वभाव का लब्ध सील नहीं है प्रत्युत स्वभाव
 है । यार वर्णों में अथवा पुण्य मनुष्यों के स्वभाव की इनके
 कर्मों की उत्पत्ति होती है । और वे इनकी करेगी चाहिये ।
 इस प्रकार मनुष्यक 'सह-ज अथवा स्व-भाव मिषत
 कर्म' पुनर्निर्धार रहकर पुनः करना था । वह (सरोर)
 विधिरूप होकर पुनः हो (विगुण) । गुणरहित हो सत्य-
 पुनरहित हो इससे (परमार्थ) । जाग्रदवस्था का सामान्य
 रूप वर्ण किया था (स्वमुक्ति) । करेगी मुक्त वर्णों
 न हो और किया था मनुष्यक वर्णों न हो मनुष्यक
 करेगी होनेक कारण कर्मों था कि वह (स्वकर्मों का लब्ध
 अथवा) पुनः पुनः स्वकर्मों द्वारा ही परमार्थ की पुनः करे
 और परम निश्चित प्राप्ति करे । पुनर्निर्धार होना जाग्रद
 और वैश्वदेहि करे लब्धों न हो परंतु सामान्य रूप

युद्धभूमिसे आगना बहा धोर लपसं होगा और उससे
उसका पथन होगा । प्रत्येक वर्णक नियत कर्म इस प्रकार
उसके अन्तर्गत साथ निश्चित हुआ है और वह उसकी करना
ही चाहिये । मगधान् धीकृत्य अर्जुनको जा नियत कर्म
करनेका उपदेश कर रहे हैं उसका वह तात्पर्य है ।

निष्ठ कर्म का अर्थ इन्द्रियसंयमसे किया हुआ कर्म' ऐसा भी होगा है। वह अर्थ स्वीकारनेपर इस सोचका वह अर्थ होगा कि है भगुन। नू (निष्ठ कर्म-कुण्ड) अपनी इन्द्रियोंको नियमबद्ध रखकर कर्मोंको कर (यत्कर्मना कर्म ग्यावः) क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है। " वह अर्थ इसके पूर्व सोच-क जासपके साथ संगत भी है तथापि यह अर्थ यहाँ अपेक्षित है या नहीं इस विषयमें मुझे बड़ी संका है। यदि कंचक इन्द्रिय-संयमसे किसे हुए कर्म हैं। यहाँ अवरोधित हैं, वह तो अर्जुन आत्मसंयमपूर्वक तपस्या करनेकी पैवारी करचंदी बैठा था। वह बबबाली होकर कर्ममूक प्रमाहारी होगा हुआ भिक्षाहृष्टिसे समदमका मार्ग अरुद्धन करनाही चाहता था। वह भाव्य चर्मका अनुपायी होकर अभिक्ते अधिक अत्मसंयमके मार्गसे जानेका इच्छुक था। अतः यदि भगवान् को कंचक इन्द्रियसंयमस किया हुआ निष्ठ कर्म हैं। अजीब वा तो है उसकी क्यों सोचते और क्यों पुनः प्रष्ट करते ? इस रीतिसे विचार करनेपर बिदिन होगा कि यह अर्थ हम स्थानपर संगत नहीं है। यहाँ तो अर्जुनको जगत्प त्याग प्राप्त (लब्ध) और स्वमात्र निष्ठ प्रष्टक्य कर्म संयमसे करके उपदेष्ट भगवान् कर रहे हैं। और अन्वय्य अनुष्ठानोंकी भी यथाक्रमसे अनुमात्र प्राप्त कर्म करके उपदेष्ट कंदरचसे है रहे हैं। अत्मसंयम से दिष्ट बाहे तो कर्म करनेकर मात्र यहाँ नहीं है क्योंकि अर्जुन भी किसी प्रकार अचर्मयनमें प्रष्ट नहीं वा कंचक अभिक्ते मित्र वर्ग० कर्ममें तो विमग्नुह प्रष्ट था। अतः भगवान् चाहते थे कि वह अपने निष्ठपदमें प्रष्ट हो और अन्य वर्गके चर्मसे उसकी वृत्ति रहे।

परिस्थितिसे प्राप्त कर्म

‘निष्ठा कर्म’ का जर्म और भी बड़ है। आ परे
निष्ठानि के अनुसार कर्म होना है और टापर के अनुसार हाथ
के बल बिना काये के। कर्म का अर्थ निष्ठा के अर्थ के

किं उक्त समय यह कर्म अवश्य करने योग्य होता है। ऐसा काल-वर्तमानकी परिस्थितिक अनुसार जो कर्तव्य है वह भी निश्चय कर्म कहा जा सकता है। यह निश्चय कर्म मनुष्यको करना अन्तर्गत आवश्यक है। यह अपरिहार्य कर्म है। असा राष्ट्रपर बड़ी भारी आपत्ति आगई मनुष्यी बड़ी सेवा आगई और उसके सम्मुख कदम नचेले क्षत्रिय ठहर नहीं सकते ऐसी व्यवस्था प्राप्त होनेपर ब्राह्मण वैश्य आदि क्षत्रियों भी राष्ट्रक स्वयंसेवक बनकर अपने स्वयंसेवक पत्रक बनाकर राज बालन करके पुत्रसूत्रिमें जाकर राजपुर बहाई करना चाहिये अतः कहा है—

शत्रु क्षिप्रानिमिषांश्च यमो यशोदध्याते ।
क्षिप्रानिमांश्च यमनिमित्तं कालक्षरिते १४/
आत्मनश्च परिभ्राणे क्षिप्रानिमांश्च संगरे ।
क्षीयिषाम्पुपरांश्च यमयमेव न तुष्यति १५/
मातृतापिनमायांश्च ह्यपदेकाक्षिकारपन् ।
मातृतापिबन्धे क्षीणे ह्यनुमेवति कलान् ॥ १५० ॥

(मनु अ ८)

जब यममें साहसी लोग बाधा उत्पन्न करेंगे तब सब क्षिप्रानिमिषोंके शत्रु छेकर बुद्धके क्षिप्र वैचार होना चाहिये। जब सब बन्धन आपत्ति आने जगमराहकी लड़ा हो सबको बुद्ध करना आवश्यक हो लौकी रक्षा और क्षत्रीकी रक्षा करनेका प्रसंग हो उस समय हरएक मनुष्यको सब ध्यान करना चाहिये। मातृतापिका जब हरएक मनुष्य धरे उससे शेष नहीं छूटता इस प्रकारकी जब राष्ट्रपर आपत्ति जाती है तब हरएकके क्षिप्र सब ध्यान करना और बुद्धके क्षिप्र समरसूत्रिमें जाना आवश्यक होता है। इस प्रकारके अनेक वक्तोंमें जो भी कर्तव्य कर्म उपस्थित हो वह उस समयके क्षिप्र निश्चय कर्म कहा जा सकता है और वह उसके वर्णाश्रमके अनुकूल न भी हुआ तो भी वह बसने करमाही चाहिये।

निश्चय कर्म का वह कार्य निश्चय है परन्तु कर्तव्यके क्षिप्र ऐसी कोई आपत्ति नहीं थी। उसके पास जो निश्चय कर्म जाया था वह उसका सहज प्रसंग वर्तित अनुकूलकी पुत्ररूप कर्म था। इसक्षिप्र कर्तव्यके धनगर्भे वह कार्य संपन्न नहीं होगा तथापि किसी अन्य मनुष्यके क्षिप्र किसी निश्चय प्रसंगमें वह कार्य योग्य होता। तथा आजकल जहाँ प्रायः

वर्णाश्रमपरमं कुल हुआ है और लोग शास्त्रमार्गात्क अनुसार नहीं चलते हैं उस समय इस प्रकारका कार्य निश्चय कर्म का आगकर बोध प्राप्त करना योग्य है।

कोई मनुष्य किसी ओहदेपर अवकाशान्वर होता है उस ओहदे अवकाश प्राप्तक कारण उसके क्षिप्र कुछ कर्म निश्चय होते हैं। वे कर्म उसके करने चाहिये। निश्चय इस कर्म एवं इधका यह आशय पाठक ध्यानमें धारण करें।

आलस्य और प्रयत्न

इसके अर्थ 'हि लक्ष्मणा कर्म उपाय' कहा है। इसका अर्थ ऐसा होता है कि कम न करनेसे कर्म करना अच्छा है। 'आलस्यसे पुरुषात् प्रयत्न अच्छा है। आलसी रहनेकी अपेक्षा उद्योगी होना बहुत उत्तम है। कर्महीन होनेसे कर्म पुष्ट होता अच्छा है। वहाँ लक्ष्मण का अर्थ कर्म व करना अच्छा चाहिये है। इसी 'लक्ष्मण' शब्दका अर्थ 'निर्दोष कर्म' ऐसा अर्थ आनेवाला है। वही समय उस लक्ष्मण विचार करेंगे। वहाँ आलस्य इतनाही इसका अर्थ है। इसी क्षिप्र अर्थ इसी अर्थमें कहा है कि (क्षत्रीयतांति यत् न प्रसिद्धयेत्कर्मका) आलस्यसे ठेके क्षत्रीयता भी निर्वाह नहीं होगा। क्योंकि क्षत्रीयकी क्षुब्धस्थितिके क्षिप्र भी मनुष्यको बचोग करना चाहिये। अतः कहते हैं कि आलस्य रात है और उद्यमशीलता स्वात्मका विज्ञ है। इसक्षिप्र मनुष्य समझ कि जिस समय सुस्ती या आलस्य उस समय उसमें कुछ रोगबीज घुसे हैं और जिस समय उसमें उद्योग करनेका उत्साह बढ रहा हो उस समय वह स्वात्मवर्तपक्ष है। अतः वहाँक इस भावमें लक्ष्मण कहा कि मनुष्यको निश्चय कर्म करना चाहिये आलसी रहनेकी अपेक्षा कर्मवत्तया कर्मका कारिणी है आलस्यसे क्षत्रीय स्वात्म्य भी डीक तरह नहीं रह सकता। इस भावके अनुसार कर्म करना आवश्यक हुआ। अब विचारना चाहिये कि वह कर्म किस तरह किया जाये ? इसका उत्तर सत्तम अर्थमें इस प्रकार दिया है—

विशेष श्रेष्ठ मनुष्य

१ यत्नसा इन्द्रियाणि निबन्धनं यत्नसे इन्द्रियोंका संयम करे और—

२ असक्तः कर्मनिष्ठैः कर्मयोगं च रमते असक्त-रहित होकर कर्मनिष्ठोंसे कर्मयोगका आचरण करे।

१ स विधिप्यते = जो ऐसा कर्मयोग करता है उसकी योग्यता विधि होती है ।

इस सम्बन्धमें किस प्रकारका आचरण करनेसे विशेष मनुष्य होता है यह दर्शाया है । सबसे जगत् इन्द्रियोंका संचय करना और आत्मिक होकर कर्मयोगका आचरण करना इससे मनुष्यकी योग्यता बरिद्ध होवैकी होती है । अर्थात् इस विधि मनुष्यके कल्याण हमें हीन प्रकारके मनुष्य है यह बात विहित होती है । हेतुके—

१ विशेष मनुष्य को इन्द्रियसंयम करते हैं और आत्मिकरहित होकर निष्कर्म करते हैं

२ सामान्य मनुष्य— को इन्द्रियसंयम विधिपरा विचार नहीं करते परन्तु सत्काम कर्म कर्मागुह्य करते हैं

३ अधम मनुष्य— को अपने इन्द्रियोंको विषयोंमें रूपाते हैं, अपने लोगोंको बहानेके किये को मर्जी पाये करते जाते हैं । किंवा जो बिरुद्ध अन्तर्ही होते हैं और बिरुद्ध पक्ष नहीं करते ।

मनुष्यको उचित है कि वह विधिज्ञान प्राप्त करनेका पक्ष करे । सामान्य और अधम कोटिमें जगत् आपकी रक्षेका कभी पक्ष न करे । हर एक मनुष्य विशेष बनने का पक्ष करे । इस प्रकारका उपाह मनुष्यमें उत्पन्न करनेके हेतु है ही इस सप्तम श्लोकमें विशेष बननेका मार्ग कहा है । इसीका नाम जगत्सत्त्विका कर्मयोग है ।

इन्द्रियोंका संचय

इस जगत्सत्त्विके कर्मयोग के किये लक्ष्ये पहिली आवश्यकता यह इन्द्रियोंके संयमकी है । (समसा इन्द्रियाणि निबन्ध) सबसे इन्द्रियोंका दमन करना चाहिये । सबसे अधीन सब इन्द्रियाँ हैं इसीकिये सबसे इन्द्रियोंका राजा कहते हैं इस राजाके अधीन ये सब इन्द्रियाँ रहें यह राजा की व्यवस्थामें स्थिर रह अर्थात् अपने महिष संयम इन्द्रियों कर्ममार्गमें संचयन साध विचरें । कोई इन्द्रिय स्वैच्छावासी न बने ।

इन्द्रियोंका संयम होनेके पश्चात् कर्मिन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण आत्मिक होकर करे । इसी कर्मयोगके विषयमें एवं स्वामिने (अ गी अ २ श्लोक १०-११ तक) विशेष रीतिसे कहा है यह उपदेश पाठक वहाँ अवश्य पढ़ें ।

आत्मिक होकर सिद्धि और असिद्धिके विषयमें सम बुद्धि रखकर भागमें स्थिर होकर कर्म कर । इस सम्बन्धकी ही योग कहते हैं । पक्षके हेतुसं कर्म करनेवासे निरुद्ध होते हैं अतः ए समत्वबुद्धिका आश्रय कर । इस जगत्में समत्वबुद्धिसे कुछ मनुष्य हीनों सुहृत् और दुष्कृतको बुर करते हैं । इसकिये ए सम्बन्धक बुद्धियोगका साधन कर । कर्मोंमें की कुप्रकृता है उसको योग कहते हैं । इसकिये समत्वबुद्धिसे कुछ आत्मी योग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले कर्मका दान करके जगत्सत्त्वसे कुछ होकर दुःखरहित स्थावको प्राप्त होते हैं । (अ गी २।४८-५१)

इस रीतिसे जगत्सत्त्विक कर्मयोगका वर्णन इससे एवं जा गया है । कर्मका पक्ष अपने भोगके किये नहीं रखना कर्मके फलको जगत्की मर्काईके किये समर्पण करना, इसीको कर्मसत्त्वका लक्षण बतया दान कहते हैं इसीका नाम जगत्सत्त्विक और इसीका नाम कर्मयोग है । जो इस रीतिका कर्मयोग करता है वही विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ।

एक राजा उच्चम राज्यशासन चलाता है । जो कर मजाले देता है उसको अपने सेना बहानेमें खर्च न करता हुआ वह वाचा सब करका धन मजाली सन्धी उचित करमें खर्च करता है । वह राजा कर्मयोगी है । परन्तु जो राजा राज्य धनकोस अपनी पैनाके किये खर्च करता है वह भोगी है । कर्मयोगी राजा राज्यशासनका धनकारी फल अवकाश सन्धी उचितक किये समर्पित करता है परन्तु भोगी राजा सब धन अपनी पैना और अपने बिलासिके किये खर्च करता है । इसी कारण पहिले राजाको विशेष भेद राजा कहते हैं और दूसरेको अधम परी कहते हैं । इस रीतिल जगत्सत्त्विके विशेषताकी प्राप्ति होती है । जगत्सत्त्विक कर्म चक्षुष्या निष्कामता आदि सत्त्वोंका भाव नहीं है और वही मात्र जगत्के जगत् शीघ्रमें आत्मिक सरह हुआ है—

कर्मयोग

(यथायात् कर्मण जगत्सत्त्व जगत् लोका कर्मवन्दन) पक्ष किये जो कर्म किये जाते हैं, उन पक्ष कर्मोंसे मनुष्य को वैभव नहीं होता, परन्तु जो दूसरे कर्म मनुष्य करता है उनसे मनुष्यको बन्धन प्राप्त है । इस कारण (तर्क कर्म शुद्धताः समाचर) पक्षके किये जगत्सत्त्विक होकर कर्म

(६) सहयोगी यज्ञ

महयज्ञा प्रजा सङ्घा पुरोवाच प्रजापति । अनेन प्रसविष्यध्वमेव षोऽस्त्वितृकामधुक् ॥१०॥
देवा मावयतानेन ते देवा मावयन्तु वः । परस्परं मावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

आध्या- पुरा प्रजापति सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा अनेन पूर्वं प्रसविष्यध्वम् पृथः षोऽस्त्वितृकामधुक् अस्तु । इति वचना
॥ १० ॥ अनेन (पूर्वं) देवान् मावयत ते देवाः वः मावयन्तु (पूर्वं) परस्परं मावयन्ता परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति प्रज्ञाने यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके इस यज्ञज्ञान तुम्हारी बुद्धि होवे
यह तुम्हें इच्छित कामनाओंके देनेवाला होवे । ऐसा कहा ॥ १० ॥ इस यज्ञसे तुम लोग देवोंको समुत्प
करने रहो और ये देव तुम्हें समुत्पन्न करते रहें । इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको समुत्पन्न करते हुए तुम
सब परम कल्याणको प्राप्त करो ॥ ११ ॥

कर । अर्थात् यज्ञकर्मसे समुत्पन्न कल्याणमे सुखता है । समुत्पन्न
निर्देश होता है और यज्ञादि कर्म कर्मोंसे समुत्पन्नको कल्याण
होता है । यहाँ यज्ञ सत्त्वका कैवल्य होमइवम जर्ज नहीं है ।
आति म गीता अ ४ में श्लोक २५ से ३२ तक विविध
यज्ञ कहे हैं । उनमें से मुख्य हैं- ईदिवसेयमवस्य, इष्ययज्ञ
सवेयस्य वागवस्य स्वाध्याययज्ञ आनयस्य इत्यादि । यहाँमें
होमइवमकर्म यज्ञ है परन्तु उससे भिन्न अलग यज्ञ
ई माने समुत्पन्न जीवन-व्यवहारमें अलगकर्म यज्ञ हो सकते
हैं समुत्पन्नकी जातु वस्तुमय होनी चाहिये । समुत्पन्नका लोकना
चालना आना दिना सोना और आगना सब यज्ञकर्म होना
चाहिये । भगवद्गीताका बड़ी उपदेशा अनेमके अवतारक स्पष्ट
दिशने दीखता है ।

अतः यज्ञकर्म जर्ज क्या है इसका यहाँ विचार करना
चाहिये । " यज्ञ " शब्दक देखकरा संगनिकरम राज के
तीन अर्थ हैं । निर्मलता पवित्रता शांतिमें निहा राज काम
इस स्वाभाविक तत्त्वका अन्तर्भाव कहिसा, सत्य अक्षय
माति धृष्टका निर्मलहृति आदि देवी लक्षणिको कायों-
का नाम देव है । इनका सम्कार करना संगनिकरम करना
अर्थात् संगमन करना और सत्य करना, ये तीन कर्में बड़ी
होती हैं इन कर्मका नाम यज्ञ है । सम्कार संगमन और
उपकार ये तीन अर्थय यज्ञकर्म हैं । जिस कर्मसे सामान्य मनु
ष्योंका सम्कार होता है उपकारा संगनिकरम-संगमन इत्या
दे जिससे विनम्रता नहीं होती तथा जिसके पीनोपर उप
कार दिया जाता है वह यज्ञ कहलाता है । अनेम कर्ममें
हमका इतिहासका यज्ञ उन्नतजी मनुष्यक जिसे त्यागनेकी

सैपारीके बिना कोई पक्ष नहीं है वा । इसी यज्ञसे समुत्पन्न
उत्प होता है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस सम्बन्ध
जितने समुत्पन्न उत्पन्न क्रियाके हो चुक हैं, उन्होंने किसी व
किसी कर्मसे अपनी जातु वस्तुमय बनायी थी ।

इस प्रकारके यज्ञक हेतुते जो कर्म होते हैं उनके कर्ताको
कोई दोष नहीं कहाया परन्तु जो कर्म अपने स्वार्थक सिने
होते हैं, अपनी चैन बढ़ानेके सिने होते हैं उनके समुत्पन्न
पैरी कथते हैं । इस प्रकारके यज्ञकर्म सामान्यविधि होना
नि स्वार्थ साधने समुत्पन्न करे ।

यहाँ अनापक्षियोग' क अनुष्ठानके सिने- (१) ईदिव
सौका व्रतम (२) जनका सेवम (३) कन्दर आश्रम
न रत्ना (४) निवृत्त कर्म करना (५) यज्ञकर्म कर्म
करना, इन पाँच मर्यादाओंकी आवश्यकता है ऐसा कहा है ।
समुत्पन्नक सिने यह यज्ञ स्वाभाविक है वा नहीं वह देना
यहाँ हो सकती है इसका उत्तर देनेकी हृत्कस्त भीष्टका
अथवा समुत्पन्नके साथ ही यज्ञकी उत्पत्ति होसक सम्भव
करती है, वह उत्तम बीच अर्थ देखिये—

सह ज यज्ञ

(१ - १३) यहाँ जी मनुष्य पात करी है वह यह है
कि यज्ञ प्रत्येक साथ उत्पन्न हुआ । यहाँ कोई वह म
ममस्य सिनेवक समुत्पन्नके साथही वस्तु उत्पन्न हुआ है । यहाँ
यह यज्ञ वा आनिर्जो और धृष्टादिर्जोके साथ भी उत्पन्न हुआ
है । परन्तु समुत्पन्न स्वाभाविक शक्ती है इसलिने उत्पन्न
अर्थ है कि इस यज्ञकी अनेम साथ उत्पत्ति हुई है, वह

इष्टा-मोगान्ति वो देवा दास्यन्ते यज्ञमाविता । तैर्विज्ञानप्रदायैभ्यो यो मुहूर्त्ते स्तेन एव स ॥१२
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः॥ मुञ्जते ते स्वघ्नं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३

अन्वयः— यज्ञमाविताः देवाः यः इष्टान् मोगान् दास्यन्ते । तैः विज्ञानं प्रदाय यः मुहूर्त्तः, सः हि स्तेन एव स ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषः मुच्यन्ते । ये तु आत्मकारणात् पचन्ति, ते पापाः अर्थात् मुञ्जते ॥ १३ ॥

यज्ञसे सम्पुष्ट हुए देव तुम्हें इच्छित मोग देंगे उन्हींका दिया हुआ उन्हीं कुछ मो न लेकर उसका मोग जो स्वयं करता है वह सम्पुष्ट होर है ॥ १२ ॥ यज्ञ करके शय बचे हुए भागको खानेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । परन्तु जो अपने किये ही सब पकाते हैं वे पापी लोग पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ— परमेश्वरने प्रजाको यज्ञके साथ उत्पन्न किया है और ऐसी जगत् की रचना की है कि जो यज्ञ करेंगे उन कीही कृति होगी और उन्हीं की कामनाएं पूर्ण होंगी । जो यज्ञ नहीं करेंगे वे मांसको प्राप्त होंगे और उनकी इच्छाईं कभी पूर्ण नहीं होगी ॥ यज्ञसे मनुष्य देवोंकी सम्पुष्टि करेंगे तो देव भी मनुष्योंको पूर्ण करेंगे । इसी रीतिसे एक दूसरेकी सहायता करते हुए सब कल्याणके प्राप्त होंगे ॥ यज्ञसे सम्पुष्ट हुए देव मनुष्योंको इष्ट मोक्ष अवश्य देंगे परन्तु उन इष्ट मार्गों मेंसे कुछ मार्ग यदि मनुष्य उन्हें अज्ञाते वास्तव नहीं होंगे और सब अपने क्लिब ही रक्षेंगे तो वे निःसम्बेद होर होंगे । यज्ञ करनेके पश्चात् जो अवशिष्ट बचता है उसका ही जो मनुष्य अपने क्लिबे स्वीकार करते हैं वे पुण्यक भागी होते हैं । परन्तु जो अपने मोगोंकी ही सिद्धा करते हैं वे पापका मोग करते हैं ॥ १ - १३ ॥

जाने और उसका अनुमान करे । मनुष्यकी वृद्ध वयसपति पृथ्वी आदि पचमहाभूत तथा वायुमन्त्र सजीव अथवा निर्जीव कल्याण अपने साथ यज्ञको सहज उत्पत्ति हुई है वह बात न जानते हुए स्वभावसेही यज्ञ करते रहते हैं मागे उनका यज्ञ स्वभावसे ही हो रहा है परंतु मनुष्यको यह पक्ष कृति पूर्ण करना चाहिये । क्योंकि मनुष्य ज्ञान्वात् है और वह अपने धर्ममन्त्राधी कर्तव्य जानने साथ करता है ।

जगत्सर्वे वञ्च

यहां कई पाठक पूछेंगे कि सब विचारचर पदार्थोंक साथ यज्ञ कल्प हुआ है इस विषयमें प्रमाण क्या है ? इस विषयमें उचर इत्यादी है कि पाठक अपने भाव जोड़कर कल्पक जगत् देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि सब जगत्के स्थिर-चर पदार्थ न जानते हुए स्वभावसेही यज्ञ कर रहे हैं । इसीसे इस जगत्में पुण्यक-निवासी वायुमन्त्र सर्व प्रकाशता है वह जगत्की मध्यार्धके क्लिबे अपनी गतिरूप समर्पण कर रहा है वायुमन्त्रसमर्पण कर रहा है चरने केरते वृत्तोंका समार कर रहा है सबको समर्थित होनेके क्लिबे ब्रह्मास देता है, निराधारों और वृत्तों को पूर करण है, सज्जनोंका मार्ग सुना करता है जगत्

को जीवनसाक्षि लेकर उनके जीवन रचना है वह सब सर्वत्र यज्ञ ही है । सर्वके शरीर मन्दिर-निवासी वायु सब जीवोंका और वृद्धाधिकोंका भी प्राण बना है वह अपना समर्पण करके वृत्तों को तिकाता है । यदि अजगत् यज्ञ वायु वायुमन्त्रसमर्पण करता बन्द करे तो उन्ही क्षण सब प्राणी मर जावेंगे । इसी प्रकार मन्दिर-स्थानीय मेघको प्रत्यक्ष भी कहते हैं नार इस प्रजापतिक यज्ञसे आर्वाक वायुमन्त्र बहुपुत्रा भाग भरा पड़ा है । यह मेघ केवल परोपकारके क्लिबे ही जीवित रहता है केवल परोपकारक क्लिबे जगत्में विचारण है और जगत्की मध्यार्धके क्लिबे ही कृतिसे जगत् है मानो अपने प्रत्येक अंशका समर्पण यह परोपकारके क्लिबे करता है । परोपकारके क्लिबे अत्य समर्पण करमें मेघकी बराबरी कोई कर नहीं सकता । मेघमें जितनी भी जलार्धितु होते होंगे उन सबका वह यज्ञ करता है निःस्वाय-साधकी और पूर्ण परोपकारक भाव की इसमें वरम सीमा है । अपने क्लिबे कुछ भी न रखे हुए अपनी सब सत्ता परोपकारार्थ समर्पण करनेमें मेघकी बराबरी कोई अन्य कर नहीं सकता । परोपकाररूपी यज्ञ की परम सीमा मेघमें पाठक अनुभव कर सकते हैं ।

इस जगत्के पुण्ड्रिक और अन्तरिक्षको देखनामार्गों का समाप्त होनेवाला यह देखनेके पञ्चाङ्ग पाठक इस पृष्ठी पर अवलोकन करेंगे, तो समझा जायेगी भी सर्वत्र यज्ञ चक्र रहा है यह अनुभव स्वान् स्वान्में प्राप्त होगा। पहिले भगवद्गीता पृष्ठीकोही देखिये। यह सबको व्यापार देती है, सबको व्यापार-स्थान देनेके लिये ही उसका अस्तित्व है। किन्तु इस आत्मभूमिमें सबकीहीला है। इस अन्तर पर चक्रते हैं जोड़ते हैं, टोकते हैं, परन्तु वह सब नहीं होती और हमें व्यापार देतीही रहती है। इस विषयमें वे स्वयं देना उपदेश दे रहा है—

उद्गीताया उदासीनास्तिष्ठन्ताः प्रक्यामन्तः।

पद्मार्थं दक्षिणसम्यग्यान्त्र्यां ना व्यपिप्यन्ति मृत्याम्।

(अर्थ ११/११८)

उद्गीताके बैठनेवाले चले होनेवाले और चलेनेवाले हम सब आपे और आपे पाँचोंसे भूमिक अन्तर हम अधिक हुआ उत्पन्न न करें। इस रीतिसे नहीं रहना कारण करनेकी कहा है कि अपने काम—चक्रके भूमिपर अधिक हुआ उत्पन्न न होवे। सबका दिया हुआ हुआ सब करती हुई यह भूमिमत्ता हम सबको व्यापार दे रही है, वह तो इसके परोपकारकी पराकाष्ठा है। परोपकारमें इसकी बराबरी और कर सकना है। इच्छाही नहीं परन्तु यह भूमि हमें हर एक जगत्में एक एक एक काम और विशिष्ट सब वस्तु सब देख कर रही है वे इस माता के लिये उपकार हैं। यह भूमिभूमि हमारे कष्ट सहती है और—

ऊर्जं पुंश्चिच्छतीममममार्गं

धृतिं स्वाभि नि पीदेम भूमे ॥ (अर्थ ११/११९)

यह भूमि धृति देनेवाला अन्नमात्र हमारे लिये धारण करती है। धारण हमें अन्न देती है ये इस मातृभूमिके हमपर अन्न उपकार हैं। इसका कितना वर्णन करें। इसी प्रकार अन्न हमपर उपकार हो रहे हैं अन्न अपने मनुष्य रससे हमारी भूमि करवा है अपने अन्न रससे हमारे शेष दूर करवा है वगैरे इसको अन्न कहते हैं। यह अन्न स्वयं स्वान् स्वान्में खाकर इसी वनस्पतिमें पशुपक्षियों और मानवोंका अन्न रहती है करनेमें सहायक होता है। यह हमका महान्न वह है। इसी प्रकार धृति और वनस्पतिभीको

देखिये। ये तो अपने मनुष्य रसवाले फलों और पत्तोंमें या हमारी सहायता कर रहे हैं उसका लिये तो कोई मर्णापरी नहीं है। इसका बल तो देना है कि ये अपने अपने पूर्णतासे सहाय्य करके हमारा सुख बढ़ानेमें अपनी शक्ति पराकाष्ठा कर रहे हैं। देखिये प्रास अपना समर्पण करने में यदि पशुपक्षोंका पोषण करता है यह इसका कितना स्वाभाविक है अन्नका स्वाभाविक पूर्ण समर्पण है। भान्य का खाकर हम अपने शरीर बनाते हैं। पृथ्वी हमारे भोजनमें मिलने भान्यका स्वाहाकार होता है। देखिये इस प्रकार विचार करके कि अन्नके मनुष्यके लिये किम रीतिसे वह सब अन्न वह कर रहा है और यहाँ मनुष्य कीये कि इसने लिये जगत्के सब मनुष्य कितना स्वाभाविक कर रहे हैं।

यहाँ पाठक सब जगत्की ओर इस दृष्टिसे देखें और इस जागरणिक पद्धति अनुसर करें। इस जागरणिक पद्धति अपना अस्तित्व है यह बात इस विचारसे जानें और मनमें बुद्धि विचार करके समझें कि अपने अस्तित्वके लिये समस्त जगत् कितना स्वभाव ही रहा है अपने अस्तित्वके लिये इस लोकोही द्वारा कितना बड़ा बल हो रहा है इसी वजहपर अन्न अस्तित्व है। यदि यह बल न होता तो मनुष्योंका जीवित रहना भी असंभव है। यदि मनुष्यके लिये सब अन्न अवलम्बे इस प्रकार पन्न हो रहा है तो क्या मनुष्यको जगत्के लिये कुछ समर्पण करना नहीं चाहिये। अवश्य करना चाहिये क्योंकि इसी वजहपर सब जगत्की स्थिति है चक्रसेही सब अन्न एक रहा है। सब करनेके बिना सुख भोगना पौरी करना है। अतः यदि मनुष्य और न अन्न। सब करनेसेही मनुष्यका पौरीका अपराध दूर हो सकता है इसके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शरीरमें यज्ञ

किसी पाठकोंने समस्त जगत्में सब देना उसी दृष्टिसे अपने शरीरमें सब सब रहा है इसका मनुष्य पाठक विचार की दृष्टिसे करें। यदि यहाँ यज्ञ न होता तो वह शरीर अन्न मात्र भी जीवित नहीं रहेगा। इसका जोधन पूर्णता सब परती विचार है। देखिये अन्न देकर रही है वह सब शरीर की भक्षार्थके लिये एक रही है माँकी अपनी दर्शन अन्निका वह सब शरीरकी भक्षार्थके लिये समर्पण कर रही है। इसी तरह कान सुनना है नाक सूँघना है हाथ धर करके है,

पांव इस शरीरको ठंडाकर स्थान स्थानपर के जाते हैं । ये इस सब अवयवोंके पत्र इस सब शरीरकी मज्जाके छिये हो रहे हैं, मानो ये अपनी सब शक्तियोंका शरीरके छिये पत्र कर रहे हैं । मानो किसी चक्रको देखता है मान उसका नाम मूषकर मिश्रण करता है कि यह शरीरके छिये हित करी ह वा नहीं पता यह पांव शरीरको उसके पास के जाते हैं हाथ उसको छेते हैं और मुझके अधीन करते हैं मुझ बबला है और पैरके पास भेज देता है, पैर भी उसको पचाता है और इस बलाय है वह रुधिरमें परिणत होता है और सब शरीरके अंगुणुके पास उस चक्रका जग पानुपाया जाता है । इसमें एकका भी स्वाभ नहीं है । प्रत्येक अवयव अपनी शक्तिकी पराक्रिया करता है और सब शरीरकी मज्जाके छिये अपने शक्ति-सर्वस्वका समर्पण करता है । वही यह है, अवयव यह पत्र पचा करता है तबतकही वह शरीर जीवित रहता है और जिस समय इनमें कोई एक भी अवयव स्वार्थी बनता है उसी समय शरीरकी मृत्यु होती है ।

इसका उदाहरण देखा हो तो कल्पना करिये कि अपने पैरों पर अपना बल बनाया वह किना और जो जग पैरमें जा जाय उसकी पावन करने सब शरीरभर उसका रस पानुपाने का बलकन करने करवा बंद किना और जो अपने पास का जाय उसको अपने पासही रस देना जारम कर दिया । तब पैर पूरा जायगा पैरमें गुच्छा वह जायगा मनु कुपित होया और अन्तमें मरण होगा । जगत् अवयव इस पैरका पत्र चक्र रहा है तभीतक शरीरका जीवन है और जब यह पत्र बंद होगा तब इसकी मृत्यु होगी । इस प्रकार पत्रके जीवन और मरणके मरण होता है ।

इस शरीरमें ३३ करोड़ अणुजीव हैं, ये जीवित हैं, ये जगत् के लोके पीछे कार्य करते और जीव होकर मर जाते हैं । हर एक अणुमें और अवयवमें इनमेंसे कानों कीटानु निवास करते हैं । मानो यह देखा सच है मानो यह शरीरकी इन तनीस करोड़ कीटानुओंका एक प्रणव राप् ह । प्रत्येक अवयवमें जो कीटानुओंका सच ह उसका पास विशेष प्रकारका कार्य दिया हुआ होता है कोई भी कीटानु पाकी केसर पैदा नहीं ह हर एक कीटानु किसी न किसी कार्यमें नियत ह और वह सब शरीरकी मज्जाके छिये अपने कर्मका समर्पण कर रहा ह । जगत्में मिश्रण करने

वाले कीटानु अपने देखनेके कार्यको सब शरीरकी मज्जाके छिये समर्पण करते हैं इसी प्रकार पैरके प्रयत्नमें निवास करनेवाले कीटानु अपने पावनरूपी कर्मको सब शरीरकी सुस्थितिके छिये समर्पित कर रहे हैं । इसी प्रकार हर एक अणुजीवका कम सेपूर्ण शरीरक ३३ करोड़ अणुजीवोंको मज्जाके छिये हो रहा है । इसमेंसे कोई भी अपने पत्रको योग्य रीतिसे न करेगा तो उसी स्थानमें रोगकी उत्पत्ति होगी और सब शरीरपर मृत्युकी आपत्ति भावेगी ।

शरीरक किसी भागमें विजातीय रोगज्मि अन्तर निवास करने को और उनका वहि उस प्रदेष्टके अणुजीवोंके योग्य समर्थन नहीं इसया तो शरीरके सब कीटानुओंको उस रोगक अधीन होना पडता है और पताचि चिकित्साका बड़ा प्रयास करनेसे भीरोगका प्रस हूई तो होती है, नहीं तो रोगकी वा मृत्युकी परबसता स्वीकारनी पडती है ।

यहां पाठक लें कि पत्रसं शरीरका जीवन कैसा होता ह और अवयवसं शरीरका नाम कैसा होता है । जब ये सब सब शरीरकी मज्जाके छिये आवश्यक कार्य करना छोड देते हैं और अपने अपने ही विचारोंमें लुब्ध होते हैं शरीरका कुछ भी बन जाय, उसकी मुसे नचा पडाई है मैं विशेष मुझ सोचूंगा । ऐसा स्वार्थपुक्त मिश्रण करते हैं तब शरीरपर अवयव आजाया है । एक-एक इन्द्रियक स्वार्थमें शरीरका नाश हो सकता है फिर जनक इन्द्रियों मांगबदा हो गई तो शरीरक नाशकी कोई सीमाही नहीं रह सकती । यही इस वयसे विचार करक पत्रक जाये कि पत्रसे शरीर की स्थिति कैसी हो रही है और अवयवसं उसका नाम कैसा होता है ।

राष्ट्रमें पत्र

जो पत्र हमने शरीरमें देखा वही विचारमे राष्ट्रमें देना जा सकता है । राष्ट्रमें कानों कोम पिरके स्थानमें शरीरकोग बाहुओंके स्थानमें नाथियवादि उपरदार करनेवाले लोग नाथि-स्थानमें और कारीगर या कर्मोर्जकी लोग पांवके स्थानमें हैं ऐसी कथना कर छीजिये । वह कल्पना हो गई तो शरीरका स्वायराष्ट्रमें और राष्ट्रका स्वाय शरीरमें स्पष्ट रूपसे दिखाई देगा और राष्ट्रीय महापत्रक विषयमें किसीक मनमें कोई टीका लगी नहीं रहेगी । जो जानी लोग हैं उनको उचित ह कि ये अपने ज्ञानका पत्र राष्ट्रकी

ममार्हिके सिधे करें जो बीर लोग हैं वे अपनी बीरतामे राष्ट्रका संक्षण करके अपनी शक्ति राष्ट्रके सिधे समर्पण करें इसी प्रकार अस्वास्थ्य लोग अपनी शक्तिका समर्पण राष्ट्रकार्यके सिधे करें। जबतक इस प्रकारका पथ होयारहा तबतकही उस राष्ट्रका तेज फैलगा उसका बीर्य बढ़ेगा मर्त्यसि संपन्नता होगी और अस्वास्थ्य लुप्त होगे जवना अलम्बमें रहेगी और सर्वत्र कल्याणही कल्याण होगा।

परंतु यदि किसी ज़ातिमें वर्गमें जयवा बर्गमें किंवा समयमें म्बाध उत्पन्न होगा तब वह ज़ाति वर्ग अथवा वर्ग अपने हितके लिये राष्ट्रका बाध करनेके कार्यमें प्रवृत्त होगा जयवा जयवी सन्धि राष्ट्रके हितके लिये समर्थन नहीं करेगा जयवा जयवी स्वार्थ साधनके लिये राष्ट्रका बाध करनेको प्रवृत्त होगा सो इस राष्ट्रका नाश होगा । राष्ट्रमें और शरीरमें जिसमें एक कैसाही है । जयवा शरीर में दुर्गम राष्ट्र है तब जयवा राष्ट्र विस्तृत वेह ही है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगेगा कि राष्ट्रमें पड़का नाश रहन राष्ट्रकी सुरिबधि और राष्ट्रके लोगमें जयवाकी और प्रवृत्ति जानेसे राष्ट्रकी दुर्गमयि होगी । जो राष्ट्रकी जनशक्ती बाध न करी सत्य जयवाक विषयमें समझना चाहिये जयवा जयवा जयवा करनेकी जयवाकका नहीं है । जयवा । इस प्रकार पता मध्य है जयवा कहा है-

नार्यं लाङ्क्यऽस्त्ययस्य कृताऽभ्यः कुरुसत्तम ।

(म० गी ७.११)

यस न कारनामेके बिबे अब बह मोक नी लही ह
तब परमाह भी कहास मात हो सकत है । नयाँ बह
न कारनामेकी हय मोकने निःसंदेह मुक्ति होनी है फिर
बह । परमाहर्न क्या प्रस्ताव होनी यह हो पावक समझ
ही सकत ह । यह गीत का बचन मित्रमित्रिभिन वेदु-बचनो
ए साध पवन योग ह

१ मयम्मान सन्नका मेनिमीयुः । (न. ११११७)
 पत्ता धिच्छीर्गा यत्तुम्भ इत्तुत्तुम्भानां
 यत्तुम्भ सन्धमाना प्र यत्तुम्भ दृष्टिः
 यत्तुम्भ निम्भानां यत्तुम्भानां ॥

(५५१३३५)

१ पाण्य पाते मङ्गलि मङ्गलानामपि जलमय
मेवाभ्यासन् ॥ (पृ. १११ १११३)

४ शासस्तामिन्द्र मत्पमयम्भुं शशसम्पते ।

(पर ११३११८; अधर्म १ १०५१२)

(१) [अ-अज्ञानः समकालः] पक्ष न करनेवाले को
 क्षानकर्त्ता होनेपर भी [प्रैति ईधुः] बाधाको प्राप्त होते है।
 (२) [अ-अज्ञानः अज्ञानः स्वर्गमाणाः] पक्ष न कर-
 नेवाले को पक्ष करनेवालोंके साथ स्वर्ग करनेके कारण
 (धीर्षा परा गच्छ) अपने सिर नीचे करके मान्यते
 किये बाधित हुए । हे कम प्रभु ! ए [रोदस्यो] प्रजा-
 पतिजीके सम्प्रसे [अ-अज्ञानः अज्ञानः] पक्ष पक्ष न
 करनेवालोंको इसा देता है अर्थात् अज्ञानकोंको पक्ष
 सुखसे रहनेका स्थान भी नहीं प्राप्त होता । (३) पक्ष
 न करनेवालोंको ९९ नवियोंके परे होने के द्वा । (४)
 है प्रती । ए पक्ष न करनेवाले अनुष्यको दण्ड देता है ।

इस सीखिसे यह न करनेवालेकी दुर्दशाका वचन
बेइसे जिबा ह तथा और देखिये—

काष्ठरिच्छो वनयद्गुप्यतो देययाः प्रददेव
स्तमभ्यसत् । सुमाषीरिद्धनवत्पुस्तु दुर्ग
यवेव्यम्यौधिमजात भोजनम् ॥

(५५)

(सुतः सत्य इत्येवमस्मिन्) सरक आधरण करनेवाला मन्त्र ही (बन्धुपत्यः पतनचरः) वाचक शत्रुघोष नाम कर सकया है (देवबन्धु इत्येवमस्मिन्) देवोपायक ही (अद्वैतमर्थः अन्वयः) इतिरित्येवमस्मिन् गता करिगा। (सु म-अर्थाः इत्येवमस्मिन्) उत्तर रक्षा करनेमें समर्थ ही (एतन्नु बुद्ध पतनचरः) ईशानाभिर्न उग्र शत्रुका नाश कर सकया है और (अन्वयः इत्येवमस्मिन्) वह करनेवाला ही (अ पन्थोः) वह न करनेवालेके मोक्ष आदि योग मन्त्र कर सकया है। ॥

शुल मंत्रमें सरङ्गाक्ष द्वारा कृष्टिम प्रायुक्त भाग गन्धित
कनास गन्धितकना नास आसमाक्षसे पुनरुत्तर सन्धुक्त वास
तथा गन्धित अक्षको दूर करनेका उपदेश स्पष्ट है । इन
विभिन्न ब्रह्म मन्त्र ब्रह्म वाचस्पत्य है । इन्हीं प्रचारका एक
पक्ष और विभिन्न

अथ ज्ञानप्रतिपत्तिः सुप्रबोधः । पञ्चविंशतिः अष्टमः
अध्यायः । प्र प्र साहचर्यमिति विधाय पूर्वाध्याय
कारापरं अध्यायम् ॥ (अ ११)
(अ अष्टमः) आरम्भः । (प्रतिपत्तिः) अथ पुनरुक्तं ।

बाहे, (मृगबाहः) असत्य वापण करनेवाले (पणीन्) मृगका व्यवहार करनेवाले (अमृगान्) अमृगाहीन (अमृगान्) बुद्धिमान उपाय न करनेवाले (अयग्रान्, अयग्रान्) यज्ञ न करनेवाले सार्वभौम न करनेवाले वे सब लोग समाजके (रस्सुम्) समुदाय हैं, अतः हमको ऐश्वर्यी देव (यम विनाय) शिक्षणवासे अवगत कराता है और (अपराध चकार) भीषे करता है । उनकी उन्नति नहीं होती ।

इस लोकमें अनेक लोगोंके साथी मिलने हैं देखिये । अनेकसी देवदत्त पुस्तकें पढ़नेवाले परंतु उनमें अनुसार व्यवहार न करनेवाले, बहुत बातें करनेवाले परंतु कुछ भी कम न करनेवाले असत्यमार्गी किंवा वातपात्रके बिचार नकर करनेवाले (पणी) असत्य व्यापार करनेवाले धूर्त देनेवाले ये स्वार्थ कर्म नहीं करते परंतु भारी धूर्त ठेकर अर्थोंका नाश करते धर्ममार्गपर अज्ञा नहीं रहते अपनी उन्नतिक उपाय नहीं करते कुछ भी सार्वभौम नहीं करते । इन सबकी अवबत्ति होती है । इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र देखिये-

सम्यक्प्रवृत्तममानुषमयज्ज्वाभमवैश्वयुम् ।

अथ सः सक्ता दुष्पुवीत पर्वता सुध्माय वस्सु पर्वतः ॥ (अ. ८।१० १११)

“ (अथ-अथ) अपना कर्तव्य छोड़कर दूसराही कर्म करनेवाला (अमानुषः) अमानुष दूर कर्म करनेवाला (अ-यज्ज्वाभः) यज्ञ न करनेवाला (अवैश्वयुम्) देवकी उपस्था न करनेवाला जो होता है, उस (वस्सुम्) समुदाय (पर्वता सक्ता स्वः दुष्पुवीत) पर्वत-विनाशी मित्र स्वर्गसे दूर करता है । हम मंत्रमें भी अनेकसे साथी मिलने हैं वह देखिये । अपना कर्तव्य छोड़ता है और दूसराही कुछ करता है अमानुष अर्थात् मनुष्यको शोभा न देनेवाला कर्म करता है और यज्ञ नहीं करता वह समाजका समुदाय है इसकी स्वर्ग कक्षा नहीं मिलता वह स्वर्गसे अलग होता है । इस प्रकार अनेक मनुष्योंकी उपयोगिता होनेका प्रथम है तथा और देखिये-

अपक्रियो हतवर्णा मवति ॥

(अथर्व ११।१।१०)

जो यज्ञ नहीं करता उसका तेज नष्ट हो जाता है ।

यह निश्चय होता है । इस विषयमें और एक मंत्र देखिये-
यो अन्तरिक्ष विष्ठाति विष्टमितोऽयज्यमः प्रमुष्यन्
देवपीयून् । तस्मै नमो वक्षामि । शक्यश्रीभिः ॥

(अथर्व ११।१।१३)

जो अन्तरिक्षमें रहता है वह देव, यज्ञ न करनेवाले देवविरोधियोंका नाश करता है, अतः उस देवको हम अपनी दस शक्तियोंके साथ समस्कार करते हैं ।”

इस प्रकार यज्ञमें यज्ञ न करनेवालोंकी बहुत बुरी अवस्था होती है ऐसा वर्णन है । इसीके आशारपर गीता (अ. १।३१) में ‘यज्ञं न करनेवालोंको इस लोकमें भी छुट गति नहीं होती फिर उनका दूसरे लोककी सत्रति कैसी प्राप्त होगी ? ऐसा कहा है । पाठक इन मंत्रोंके उपदेशके साथ गीताके उपदेशका मनन करें और वह मनमें छिद्र रीतिसे धारण करें कि यज्ञ न करनेसे शिवी भी रीतिसे मनुष्यको कुछ प्राप्त नहीं हो सकता । क्योंकि यज्ञ ही मनुष्यके प्राण उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्यका साथी है । यज्ञ ही मनुष्यका ‘सहधर्म’ है अतः उसका त्याग नहीं हो सकता ।

इसके पूर्व हमने आगतिक यज्ञ शरीरमें यज्ञ मानवी समाजमें यज्ञ वे देखे । आत्में और शरीरमें भी यज्ञ हो रहा है वह स्वर्ग हो रहा है स्वभावसे हो रहा है उस स्वाभाविक यज्ञका देखकर बार उससे यज्ञही स्वान विकृता जानकर मनुष्यको उचित है कि वह अपनी बुद्धिक अनुसार निश्चय करके सुबोध रीतिसे अपनी मानुष्य यज्ञ करता रहे । मनुष्यकी आयु ११६ वर्षोंकी है ऐसा मानकर उस आयुमें यज्ञ करनेकी कससा निम्नलिखित प्रकार बचन की है—

पुरुषो वाच यज्ञतस्य याचि अतुविशति रप्यापि
तत्प्रातः सयमं० । अथ याचि अतुदय्यारि
प्राह्णप्यापि तत्प्राह्णप्यदिनं सयमं० । अथ याच्यष्टां
अस्यारिप्राह्णप्यापि पृथीपसयमं० । स ए
पोह्यत वर्षातमसीवत् स ह पोह्यत ययज्ञतं
जीवति य ययं येव ॥

(अ. ३ १।१।१-०)

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है । उसमें २४ घण्टा प्रातःमयन, २४ घण्टा माध्यह्निक-ययन और २४ घण्टा

मार्गसम्बन्ध होता है। इन प्रकार जो अपनी भावुमें पञ्च करता रहता है वह १११ वर्ष कीवित रहता है।" इस पूर्व भावुमें ११ वर्ष वाक्पत्रके जाते हैं, सेप १ वर्षोंकी भावुमें मनुष्यकी १ पञ्च करने चाहिये। इसीक्रिये श्रीशारदाका नाम सप्त-अष्ट है। सौ वर्षकी भावुभर मञ्च करनेवाला यही पञ्च पुण्य है।

घरमें यज्ञ

हमने हमसे पूव घरीमें यह देखा कगलका पञ्च देखा और राहमें भी यज्ञ देखा। इसी प्रकार घर-घरमें भी यज्ञ हुआ करता है। प्रथम रीतिसे देखा जाय तो घरमें भी मनुष्यको स्वायंभवाका पात्र मिलता है। माता अपने पुत्रके क्रिये स्वायंभवाग करती है पनि पत्नीके क्रिये और पत्नी पतिके क्रिये जात्मसमर्पण करते हैं इसी प्रकार जन्मजन्म कुटुम्बके लोक एक-दूसरेके क्रिये जात्मसमर्पण करते हैं। ऐसा गृहस्थका कुटुम्बकी सत्त्वा गृह होता है परंतु वही ऐसा जात्मसमर्पण नहीं करत वही कुटुम्बियोंकी गृहसौत्य नहीं मिलता। जात्मसमर्पणसे पुत्र है। यदि पत्नी पतिके क्रिये समर्पण न करे जात्मवञ्च न कर तो वह सुखी नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि पति अपना कर्त्तव्यकरण पूर्णतया पत्नीका नहीं देता तो वह भी सुखी नहीं हो सकता। जो माता-पिता पुत्रके क्रिये जात्मसमर्पण नहीं करने वे पुत्रकोकका सुख प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार ज्ञानसिद्धी सुख मिलता है। अथ वैद्यों कहा है—

सहस्रं साममम्यमविश्रेयं कृजामि च ।

अम्या अम्यममि हयत धस्स जातमिवाध्या ॥१॥

अनुमतं पितुं पुत्रा भ्राता ममसु संमताः ।

आया परप मधुमर्ता वायं धवतु दमित्वाम् ॥२॥

मा भ्राता भ्रातरं द्रिष्टुमा लसारमुत स्वसा ।

सम्पृक्का समता भूया वायं वतत मद्रया ॥३॥

(अर्थ १३)

ममर्त्त हयत पुत्र विचारोंके परिपुत्र मन और वारता निर्देशय तुम्हारे अंदर रह। तुम्हारे अन्तर एक-दूसरेके साथ क्या वम रहें जेवा कि यी नवज्ञान वाटके कया प्यार करी है। पुत्र विगाक अनुपुत्र कर्म करे वह

माताके साथ उत्तम मनसे बर्त्ताव करे। पत्नी पतिके साथ भीठी और साम्प्रितपूर्व जाणी बोधे। माई माईका रूप न करे यदिय बहिनका वर न करे। सब एकमतका होकर एक कर्ममें दृष्टि होकर परस्पर उत्तम वेमसे वाटवत करें।

वही गृहमें पञ्च कैसा किया जाता है, वह उत्तम रीतिसे कहा है। मातापिता समझे कि अपने घरमें जो वाक्प उल्लेख हुआ है, वह देवनाबोंका वंस है उसका देवा आदर करना चाहिये कैसा उपसक्त अपने उपसक्त देवता करता है। पति अपनी बर्द्धपत्नीको अपनी उपसक्त देवी माने और धर्मपत्नी अपने पतिसे अपना उपसक्त देव माने। इसी प्रकार परस्पर भी पूजा करते हुए एकमतसे रहकर परस्परकी सहायता करें। वही सत्कार-संगति वागारमक पञ्च घरमें हो सकता है। पञ्चपत्नी भी अपने वाक्पत्रोंके साथ स्नानाधिक रीतिसे देसादी सत्कारमात्र रखते हैं। मनुष्य उनसे ऊंचा होकर कायम उसको तो घनसे भी अधिक उत्तम भावके साथ सत्कार-संकीर्त्यान रूप वह करता चाहिये।

पात्रक इस प्रकार विचार करके संपूर्ण जगत्में कैसा पञ्च पक रहा है यह जानें। पञ्चपक्षियोंमें, सरीसों विषमें वह पञ्च कैसा हो रहा है, इनका भी ज्ञान विचारसे प्राप्त करें और अपने साथ उत्तम रूप इस पक्षको अपनी बुद्धि और जगिदी पराकृष्टा करके जहांतक हो सके वहांतक नय करके पूर्ण रीतिसे विसालका प्रबल करें। वह मनुष्यके जीवनके साथ क्या है अथवा ब्रह्मका महत्त्व है। इसीक्रिये पञ्चके विषयमें उपनिषद्में कहा है—

अथो धमस्कथा यक्षोऽप्ययनं दानमिति ।

(छं उ २।१११)

यत्रैव यच्चिह्नं सद्य पुत्राति तस्यादेव एव पञ्चः ।

(छं उ २।११२)

यद्यत्र शत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ।

(छं उ २।११३)

स्वै ब्रह्म स्वै पञ्चः ।

(छं उ २।११४)

माह ब्रह्मा माह पञ्चः ।

(अम्य १)

माह प्रभुदाह पञ्चः ।

(अ नी १।११५)

विज्ञानं यद्यं तनुते ।

(छं उ २।११६)

यश्चो विष्णु प्रजापतिः । (मैत्री ६।१६)

यश्चैव देवाः दिवं गताः । (महाभा ७ २।१२)

" यमके तीन रूप्य हैं—यह अण्वणन और दान । सबकी परिव्रता करनेवाले कर्मका नाम यह होता है । ब्रह्मचर्यही यह है । तू ब्रह्म और तू यह है । मैं ब्रह्म और मैं यह हूँ । मैं मनु और मैं यह हूँ । बिनारूप यह कैकटा है । यह प्रजापत्यक सर्वव्यापक देव है । यज्ञसे ही देव स्वर्गप्राप्त को प्राप्त हुए ।

इस प्रकार सबसामान्य यज्ञका बजन उपनिषदोंमें है । यही यज्ञ अपने अंदर देखनेका उपदेश उपनिषदोंमें ही कहा है । यह बचन अब देखिये—

स्वे शरीरे यज्ञं परिव्रजयामि । प्राच्याग्नि उ २]
शरीरं यज्ञः । (महाभा उ १२)

घाग्ने यज्ञस्य होता । अश्वर्यं यज्ञस्याध्वर्यु ।
प्राजा वै यज्ञस्योद्गाता । मगो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।
(ह उ ३।११३ ६)

तत्सर्वं विदुषो यज्ञस्यात्मा यज्ञमाना अद्या
यमी शरीरमिष्मसुरो येविर्द्धोमानि वाहिर्येद
शिक्षा हृदयं रूपं काम आज्य मन्यु पशु
उपांश्चिर्द्धम शमयिता हस्तिणा वाग् होता
प्राण उद्गाता अश्वर्यर्युर्मनो ब्रह्मा ओषधमग्नी
पायद् ध्रियते सा वीक्षा यवकार्मि तद्धवि
पात्यवति तदस्य सोमपानम् ॥

(म माशायन उ ४)

अब अपने शरीरमें यज्ञका परिवर्तन करते हैं । शरीर यज्ञ है । इस यज्ञमें वाणी, बहुत प्राण और मन ये क्रमशः होता अण्वणु उद्गाता और ब्रह्मा है । इस शरीर—स्वामीय यज्ञमें आत्मा यज्ञमान ब्रह्मा पत्नी शरीर हृदय उर बेटी कोम बर्हि र्द्धम वेद शिक्षा, हृदय रूप काम वृत श्रेष्ठ पशु तप अग्नि हम श्रेष्ठका भक्षण करनेवाला हस्तिणा वाग् होता प्राण उद्गाता अश्वर्यर्यु मन ब्रह्मा ओषध अग्नि प्रवृत्ति करनेवाला वीक्षित रहनेवाला हम यज्ञकी वीक्षा है । जो वाया जाता है वह हवि है जो वीक्षा जाता है वह सोमरस है ।

इस प्रकार यह यज्ञ चक्र रहा है । यही शरीर यज्ञ परिवर्तनका आश्रम है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षसि
सदमप्रमादम् । (वा म ३।१।५५)

सप्त ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं वे सात इस यज्ञस्थान की रक्षा कर रहे हैं । यह शरीर सात ऋषिरूप सप्त इन्द्रियोंसे युक्त है । इन इन्द्रियोंको ऋषियुनिर्गम समान उपस्वी क्षामप्रमत्तपक्ष महाविद्ध बनाना चाहिये । जब वे हमारी इन्द्रियाँ ऋषि बनेगी तभी यह शरीरका यज्ञ सत्त्वा यज्ञ होगा । नहीं तो यह दूषणग्रस्ता भी बन सकता है ।

हरण्ड मनुष्यको इसी बातकी शिक्षा करनी चाहिय कि अपने शरीरमें रहनेवाली ये सप्त इन्द्रियाँ ऋषियुनिक समान उपस्वी बन जायँ और अपना जीवन मनुष्य बने और (यह यज्ञ) म गी १।१६) में सप्तसुख यज्ञ हूँ यह प्रत्यक्ष दिगितिमें मनुष्य आये । बचावही नहीं स्वभाव ही बने । जिस प्रकार अस्मिन् स्वभाव धर्म उष्णता है उसी प्रकार यह अपना स्वभावधर्म बने । क्योंकि यह सद्गत है परंतु मनुष्यक जीवनमें उदका अग्न्यास होनेके कारण सद्गत बन भी अस्वभावामिच्छी मर्तल होती है । अस्तु । इस तरह यह मनुष्यके अग्निक साथ उत्पन्न हुआ है और उसके साथ वह संयुक्त रहेगा । मनुष्य यज्ञसे अलग होनेका चल करेगा तो मनुष्यत्वसे गिरेगा । इसलिये कहा है कि—

यज्ञसे उन्नति

अनेक प्रसवियपच्यम् ।

पय योगस्तिवृष्टकाममुक्त्वा ।

(म गी ३।१)

इस यज्ञसे तुम श्रेष्ठ वृद्धिको प्राप्त होवो वह यज्ञ तुम्हें वृद्धिजन मनकामनाओंको देगा । जब पाठकोंने ध्यानमें आया होगा कि यज्ञसे वृद्धि किम तरह प्राप्त होगी और मनोवांछित कामनाओंकी भी किम तरह मित्रता होगी । यज्ञसे वे बातें सिद्ध होती हैं इस विषयमें वेद और ब्राह्मण—अनेक बचन अब देखिये—

अथयरो ये यज्ञः । (य मा ३।२।१।५५ २।१।१।२४)

यज्ञो धर्ममयः । (यजु १३।८ १। मा अ७।१।३३)

यज्ञो वै सुम्युः । (यजु १८।१२)

यज्ञो हि प्रजापति स्युति भुमपति ।

(य मा १।१।१।३१)

यज्ञो भगः । (पञ्च ११७; स मा ११३/११९)

यज्ञो वा प्रजस्य धोमि । (पञ्च ११९; स मा ११३/१२१)

यज्ञो वै मनुसारधम् । (स मा ११३/१२३)

यज्ञो वै महिमा । (पञ्च ११९; स मा ११३/१२८)

यज्ञो वै स्व । (पञ्च ११९)

यज्ञो वै सुम्नम् । (पञ्च १२१/७; स मा ७११/२१७)

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । (पञ्च ११९; स मा ११७/१२५)

यज्ञो वै विशो यमे हि सचापि भूतानि विद्यामि । (स मा ८१/७३)

ब्रह्म हि यज्ञः । (स मा ३११/११५)

यज्ञो वै भुवनत्र्यष्ट । (की मा २५/११)

यज्ञो वै भुवनत्र्यष्टिमासिः । (ते मा ३१/११५)

देतो वा भग्न यज्ञः । (स मा ७१३/२१७)

यज्ञो वा भवति । (ता मा ६१/१५)

मैत्र्ययया वा पते तस्मादनुसीधियु मनुष्यभ्यो ।

अनुसंधियु वै व्याधिर्जायते । (मो मा ३ ११९; की मा ५१)

५ (अ-भार) यहिमा यज्ञ है । भगवा यज्ञ है । यज्ञ भग देवेभ्यः है । यज्ञ सब मूर्तोंको जोड़ना है । यज्ञ देवर्ष है । सीमात्म्य है । यज्ञ उत्पत्ति मूल है । यज्ञ मनुष्यता है । यज्ञ महिमा है । यज्ञ अत्यन्त है । यज्ञ सुख है । यज्ञ अति श्रेष्ठ कर्म है । यज्ञमें सब मूल रहते हैं । यज्ञ काय है । यज्ञ सुवनमें श्रेष्ठ है । यज्ञ भग सचिन्म केन्द्र है । यज्ञ धीर्ष-परब्रह्म है । यज्ञ रक्षा करता है । ये यज्ञ जीवन्ति मोक्षे किसे जाते हैं । अतः अनुसंधि के समय किसे जाते हैं क्योंकि अनुसंधिमें श्रेष्ठ अन्त्य रहते हैं ।

इस तरह इन मंत्रोंमें यज्ञकी महिमा वर्णन की है । इससे सिद्ध हो सकता है कि यज्ञसे मनुष्यकी उत्पत्ति भरण होती है यह इन कर्मोंकी संमति है ।

इन मंत्रोंमें अहिता, भगवा सत्य, सीमात्म्य मनुष्यता आन धीर्ष रक्षा ये यज्ञके रूप हैं, ऐसा जो कहे है वे यज्ञ अर्थक्य महारथ हैं । अतः जिस समय यज्ञका स्वरूप देखनेका प्रसंग या अन्त्य उस समय वैही यज्ञ हमें प्राप्त होना चाहिए । अतः इनमें से कर्मोंकी संमति है कि यज्ञ

मनुष्योंका सीमात्म्य ब्रह्मदेवता है यही यज्ञ भगवद्गीतामें अनेक प्रसंगिष्यार्थ एव वाऽस्तिव्यक्तमनुष्य ।

(प. ३१)

इस श्लोकमें कही है । जिसमें यज्ञसे मनुष्योंकी सब प्रकारकी वृद्धि और पुनः कर्मभारोंकी पूर्ति हो सकती है । अतः हम देखते कि यज्ञ कैसे ही सकता है, परंतु यहां भी हमने देखा कि यज्ञमें अन्तर संगति आन भरण आह्वर संगठन और उपकार ये तीनों भाग होते हैं और यहां ये भाग हमें यज्ञी व्यावहारिक दृष्टिसे भी उत्पत्ति संभव हो सकता है । अतः इस यज्ञका स्वरूप स्पष्ट करते हैं-

देवान्माधयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयाः परमाध्यात्म्यम् ॥

(अ गी ३/११)

‘तुम देवोंको समुद्र करो और देव तुम्हें समुद्र करें ।

इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करा । तुम देवोंकी सहायता करो और देव तुम्हारी सहायता करें; इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए तुम सब परम कल्याण प्राप्त करा; इसमें परस्परकी सहायता करवाही परम कल्याणमायिका हेतु है । परस्पर सहायतासे परम कल्याण प्राप्त हो सकता है । भाव यत्ना - (भावयति) इसमें भावका कार्य विचार करना मित्रता और पुनः करना है । इसीका नाम सहायता है । किसीकी कष्टों सहायता करता है तो उसके हितके विचारमें वह विचार करता है उसके पास जाकर बैठता है और उसकी पवित्रता करनेमें सहायक होता है इत्यादि भाव है । इसीका दूसरा नाम देवा सत्कार वा समाह्वर है । यह भावक जो तीन कार्य सत्कार अर्पण और दान ये उपर करते हैं उनमेंसे सत्कारका भाव इस देवत्वार्थ है, संगठिका भी भाव यहां है और उपकार करनेका भी भाव है । इसीसे परस्परं भावयन्तः ये सत्य यज्ञक पुनः स्वरूप दर्शाते हैं । परस्परक संमान करना परस्परका मेक मित्रता करना और परस्परकी सहायता करना ये भाव इस परस्परकी सहायता में हैं । मनुष्य-मात्रक परम कल्याण इही परस्पर-सहायता होगा ।

यज्ञसे उत्पत्ति

(अनेक देवान् भावयत ते देवा वः भावयन्तु) यज्ञमें

देवोंका आदर करो और वे देव आपका आदर करें इस प्रकार परस्परकी सहायता करते हुए उन्नतिमें साधन करो । कल्पमें इसी रीतिसे उन्नति हो रही है । पत्नी अपने बोलचालमें रहे छोटे छोटे बच्चोंके छिपे दूर-दूर देखासे जावश्यक मध्य साकर उनकी पूजा करते हैं । मनुष्य भी करीब करीब ऐसाही करते हैं । ऊपरके श्लोकमें ' देव छन्दके स्वात्मपर पिता सम्य रक्षिषे । पितृदेवो मय मनुदेवो मय । यदा पिता माता देव ही हैं । यह अर्थ यहां देखते उक्त श्लोकका भाव गृहस्थ धर्मके संबंधमें होने देना मित्रता है- जर्मने पुत्र मातापिताका आदर करें और मातापिता पुत्रोंका आदरपूर्वक समारंभ करें, इस रीतिसे दोनों एक दूसरेका आदरसत्कार करते हुए दोनों सुख मान्तिपूर्वक गृहस्वामनका परम केड सुख प्राप्त करें । माई माईका आदर करे बहिन बहिनकी सहायता करे पति पत्नीका और पत्नी पतिका आदरसत्कार करें इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए गृहस्वामनमें रहने वाले सब लोग मनुष्य और निधियासके उत्तम प्रकार प्राप्त करें । उक्त श्लोकसे यह उपदेश गृहस्थियोंको प्राप्त हो सकता है ।

ज्ञान यज्ञ

सिध्द जन्मापकोंका सत्कार करें और अध्यापक शिष्योंको आदरपूर्वक पढ़ावें शिष्य गुरुकी प्रतिष्ठा बढ़ावें और गुरु शिष्योंकी योग्यता बढ़ावें इस रीतिसे परस्परकी सहायता करते हुए सब गुरु और शिष्य परम उन्नति प्राप्त कर सकते हैं । जो उन्नति परस्पर प्रेमका वर्तन करने-वाले गुरुशिष्योंकी होना संभव है वही उन्नति परस्पर विद्वेध करनेवाले पढ़ने और पढ़ानेवालोंकी कभी नहीं हो सकती । आचार्य देवो मय इस बचकके अनुसार पढ़ाने वाला देव है और उसकी संभाषणाका वह फल होता है ।

राष्ट्र यज्ञ

राजाको भी देव कहते हैं और राष्ट्रके सब कर्ते भी कोइदेवताकी भी देव कहा है । सब कोय राजा और राजपुत्रोंका समारंभ करें और आदर करें तथा राजा तथा राजपुत्र सब प्रजाजनोका मात्कारपूर्वक पालन करें । इस

रीतिसे राजा और प्रजा परस्परका आदर और परस्परकी सहायता करते हुए परस्परकी परम उन्नति करें । प्रजापतिने यह किया इस तरहका वाच्य स्थान स्थानपर पाते हैं । प्रजापतिका यज्ञ प्रजापालनकपही है कोई वृत्ता नहीं । प्रजापालनकप यज्ञ राजा और राजपुत्र के और राज निध्यासे प्रजा राजाका सत्कार करे । इस तरह परस्परकी सहायता करते हुए दोनों उन्नत हो सकते हैं ।

पुरुष यज्ञ

मनुष्यके शरीरमें भी इन्द्रियगण देव हैं जन्मा भी देव मयका महादेव है । इन्द्रियों जन्माकी सहायता करें और जन्मा इन्द्रियादिओंकी सहायता करे । इस प्रकार परस्परकी सहायतासे स्थूल शरीर और उसके अन्दरकी सपूर्ण शक्तिर्ही सहकार करनी हुई उन्नतिमें प्राप्त हो । परस्पर सहकार्यसे वहां उच्च चेतनकी उन्नति होनेका वर्मन है ।

देव यज्ञ

इस तरह पृथ्वी आप उच्च, वायु आकाश सूर्य गुरु इस ब्रह्मसति आदि अनेकानेक देवताएं हैं । इनसे विविध रीतिसे मनुष्यको काम हो रहा है, भूमिसे नम्र अरुसे जीवन, वायुसे प्राण आकाशसे स्थान सूर्यम जीवनविधियुग् आदिकी वस्तु होकर मनुष्य वहां सुखसे रह सकता है । इन सब देवताओंके ऊपर मनुष्यका सुख सब प्रकारसे निर्भर है जहां मनुष्यको उन्नति है कि वह भी इनकी प्रसन्न करे इनका आदर करे और इनकी पूजा करे । मनुष्यभूमिकी सेवा करनेसे उसकी उन्नतिमा होती है उसकी सुदृढतासे प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार जन्मात्म देवोंकी प्रसन्नता करनेका मार्ग निश्चित है । मनुष्यको उन्नति है कि वह योग्य रीतिसे इन देवताओंका सत्कार कर और देवताओंकी प्रसन्नतासे अपनी उन्नति प्राप्त करें ।

इस प्रकार व्यक्तिमें छन्दसमें राष्ट्रमें और विकमें यज्ञका काम कैसा है इसका विचार पाठक करें और हम बातको ठीक तरह समझें । वही विषय भू गी ३।१२ १३ तक आयेगा और वहां इत्येवम सरोचय स्वाध्यायवत् प्राण पानयत आदि अनेकविध यज्ञ कहेंगे । उनका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेके छिपे इस विचारकी कार्यत आवश्यकता है हमसिध्द यज्ञयज्ञान इतने विस्तारसे नहीं किया है । जहां पाठकोंसे विवेक है कि वे हमका अधिक

मन करे और व्यापक रहिते बहुतही सर्वव्यापकता अनुभव करे और वह सार्वभौमिक पञ्च दृष्टिके साथ कैसा उभयपक्ष हुआ है उभयपक्ष हुएके साथ कैसा रहता है और इस ब्रह्मसे इसकी उन्नति कैसी होती है यह बात ठीक प्रकार समझे । मनुष्यसे भिन्न दृष्टिमें यह बात स्वभावसे हो रहा है, वही मनुष्यको आत्मपूर्ण प्रवृत्तिके साथ करना चाहिये । इत्यादि बातें समझकर पाठक अपने मनमें स्थिर करेंगे तो इनकी जलेश्वर विषय अधिक सुबोध होगा ।

(भगवानिवाः देवा इष्टाः मां गन्तुं दास्यन्ते) ब्रह्मसे समन्वित देव सबको हृदयोग देते । यह कथन जब हर एक स्थानमें लब्धाद् व्यक्तित्व समाज राष्ट्र और विषयमें कैसा प्रकाश चाहिये यह बात पाठकोंके मनमें ध्यातुं होगी । सबसुख समावित हुए देव हृदयोग सबके देते ही हैं और असमावित होनेपर कोवित हुए देव क्या भी देते हैं । व्यक्तित्वमें ब्रह्मबर्णित सुविनमयप्रकृतसे प्रसन्न हुए इन्द्रियगण स्वात्म-सुख अर्पण करते हैं और अलियमक कारण भगवानिवा हुए वेही देव अन्तः-सत्त्व देते हैं । इसी प्रकार पहले सब प्रकारकी उन्नति और अवच्छेद हासि होती है ।

(तैः वृत्तान् पुनश्च ब्रह्मवाक् सः श्रुतेः स श्रेयः) उक्त देवोंका विधा हुआ कर्म कुछ भी न हैकर जो स्वयं भोगता है वह चोर है । इसके उदाहरणके लिये हम राज्यव्यवस्थाका उदाहरण करेंगे । राजा और राज्यसर्वोक्त प्रभावधनताके जन भोग सुरक्षित रहते हैं अतः प्रजाजनोको उचित है कि वे भी राजाको ब्रह्मवाक् देकर अपना आदर व्यक्त करें । अपने स्वराज्य-आसक्तमें जो कोम कर नहीं देते वे चोर होंगे और वृत्तकीय बनेंगे । इसी प्रकार शरीररक्षणीय प्रसन्न हुए इन्द्रियगण देवताओंके जो स्वात्मसुख जानु ही है उसका कुछ हिस्सा उनकी सुस्थिति रखनेके उपायोंके लिये कदावा चाहिये अन्यथा सब विपाद हो जायगा । इसी तरह सब देवोंको वशमाग समर्पण करनेकी कल्याणका प्रभाव देखना चाहिये । सब ब्रह्ममें देवोंको कुछ माया समर्पण करनेकी कल्याण प्रभाव स्थान रहती है । समर्पण करना वह है और समर्पण न करना चोरी है ।

भूमिपर त्रितना भी जब उत्पन्न हुआ है वह सब संपूर्ण प्रजाजनोका है । जना वह सब जन प्रजाजनोके लिये ही रहना चाहिये । कैसा न रहके हुए यदि कोई मनुष्य बुद्धि

प्रयुक्तिते बहुत साधन अपने पास संग्रह करके रखे तो वह चोर होगा । क्योंकि जिस जनपर अपना अधिकार नहीं और दूसरोंका है उसका अपने पास निक्षेप संग्रह करना एक प्रकारकी चोरी है । हम दृष्टिते बहुत मनुष्य चोर सिद्ध होंगे यद्यपि मात्रकलकी जनता हम संग्रहकर्ताओंको चोर कहके दण्डनीय नहीं समझती तथापि बहुतही दृष्टिते वे अपने पास निक्षेप धनसंग्रह करनेवाले निःसन्देह चोर हैं । परंतु शासनाधिकार इनकी दायमें रहनेसे वे दण्डनीय नहीं समझे जाते यह बात लक्ष्य है । परंतु यज्ञसे स्वायत्त दृष्टिते देखनेपर किसीको भी दो तीन दिनकी लाजबकताके अधिक संग्रह अपने पास करना अवैधान्त है । वही वाम हंसोंकी ' वसुधैव कुटुम्बक ' वृत्ति है और वही सत्ता यह है । इस दृष्टिते बहुतसे जाग बचक करते हैं और बातचीत कडाहवाँक दुःख उत्पन्न होयसे ही भोग रहे हैं । क्योंकि जबजसे पुं क व्यवस्था होगा ।

इसी मायके अन्य शब्दोंमें इस प्रकार आत्मे स्नेहमें कहा है— (ये जलसम्पन्नाः पचन्ति ते जनाः न च सुखमिति) जो अपने लिये ही केवल जल पकाते हैं वे पानी पायही जाते हैं । जबज करनेवाला जो भोग भोगता है वह तो पायही है । पाठक अपने लिये पकानेका मास केवल जल पकवा ही न समझें वही तो हर एक भोग अपने पास संग्रहित करने और उसको केवल अपने लिये ही रखनेका मास है । इस स्वार्थीका नाम ही वेदमें ब्रह्मन्ति है । इसका अर्थ दास्यन करनेवाला है । इसका अर्थ मात्रक कल जानु होता है । वह ठीक ही है कि जो दास नहीं करता वह अवश करनेके कारण जनताका सत्त्व ही है ।

वही मास वेदमें इस तरह कहा है—
म वा उ देवाः क्षत्रमिन्द्रो वसुस्तशिशतसुप गच्छन्ति मृत्यवाः । उतो दधि पूजतो सोप तस्यसुतापूजमर्षिर्नारं न विमृते ॥ १ ॥ स इक्षो यो यो धृष्टये वृत्तात्पृथग्धमाय धरत हसाय । भरमस्मै भवति धामभूता उतापरीपु कृत्यते नक्षायम् ॥ २ ॥ म स सत्त्वा यो म दधति नक्षये सत्त्वामुये नक्षयमानाय पितरः । अपास्मा त्येयाथ स ओष्ठोऽस्ति पूजन्तम्यमरत्यं धिदि चक्षत् ॥ ३ ॥ मोघमर्थं विभृते भगवताः सत्यं

प्रसीमि यद्य हस्त तस्य । नार्यमण पुष्पति मो
सखायं केपलापो भवति कन्दलापुत्रे ॥ ११ ॥

(अन्वय १ ११०)

देखोनि श्रुताकुम्भी यत्पु गरीबोंके पीछे ही कगाया है
देवी बात नहीं है क्योंकि पथिष्ठ भोजन करनेवाके धनिक
कोय भी मर जाते हैं । जो गरीबोंका धनवान करा है,
उसका धन कम नहीं होता प्रत्युत बढ़ता है परंतु जो धन
नहीं करा उसको सुख देनेवाला एक भी मित्र नहीं
मिलता है ॥ वही (भोजः) सबका भोजन करनेवाका है
जो (अन्न-कामाद्य हस्तय करते) अच्छी दृष्टिसे दारो
दार भ्रमण करनेवाके हस्त पावकको (पुत्रये द्वादि)
बाको आत्पर सब देता है । उसीक पास पर्याप्त समृद्धि
होती है और उनीके सखु भी मित्र होते हैं ॥ जो अपने
मित्र और सहायको भी योग्य दान नहीं करा वह
सम्पन्न मित्र नहीं है उससे दूर भागना चाहिये । (न स
भोजः अस्ति) उसका घर सखा घर ही नहीं है । दूसरे
द्वाराके पास अनुत्पन्न जाय ॥ जिसको अन्नप्रकरण नहीं है
ऐस अनुभारको धन मिलना स्वय ही है । मैं सख कहता हूँ
कि वह उसका धन धन नहीं है वह उसकी मृत्यु है, जो
अपने मित्रोंका वा सखोंका पापण नहीं कराता, वह
(कवकादी) केवल स्वयं भाग करनेवाला (भवकाय
भवति) केवल पापक बनता है ।

वही ' दानवत् करनेका उपदेश है । जो दान, उपकार
वा दानोंकी सहायता करता है उसकी सहाय होती है
और अवश्य करनेवाकेकी दुर्गति होती है । इस मूलका वह
भाव स्पष्ट है । इसउ अन्तिम मैत्रमें जो अन्तिम वाक्य है वही
अपघ्नोमाक इस क्षणमें अन्त्य शार्दूलोद्गाता कहा है देखिये—

वेपलापो भवति केवलापुत्री । (अ १ ११०अ१)

मुञ्जते ते स्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(अ नी ३११३)

कवकादी शार्दूलोद्गाता पचन्ति आत्मकारणात्
है इस दृष्टिसे इस वेदवेदकी व्याख्या ही इस गीताके
श्रोत्रोंकी है ।

जो अन्न पचाना है या अपन पाप बर्तनेप्रवृत्त करना है
वह दान उपकार सहाय अर्पण पशक किये ही करना
चाहिये । जगः बहुर्वैदं कहा है—

रक्षतेन मुञ्जीयाः, आ यद्य कदम्बिद्वन्द्वम् ?

(पठ ४ १८)

' दानसे भोग कर मत छुट्टा मडा घेन किमका है ?'

अर्थात् धन संपूर्ण जनताका है जगः जो धन है वह जनता
की भांजीके छिये समर्पण करके जितना अपना जीवन
रखनेके छिये अत्यंत आवश्यक है उतना ही धन अपने छिये
केकर उसका भोग कर इससे अधिक आकांक्ष न कर ।
परी पथ है । इसीका लक्षिक स्पष्टीकरण गीता निम्न
किञ्चित् प्रकार करती है—

यश्चिच्छाशिनः सन्तो मुदपन्ते सर्वकिञ्चिदपि ॥

(म नी ३११३)

" यश करके सब कचे मुद भागडा सेवन करनेवाक मय
पारोंसे मुक्त होते हैं । यश-अपका सेवन करना बडा
उपपन्न है । जगत्साम्प्रत नियम ऐसा है कि प्रतिदिनका
अन्न मिष्ट होनेक पश्चात् ऐकवत्त बार मृतपश करक
अतिविषम भोजन पहिले हो पश्चात् सब पाक भास्मी
नौकर बाकर भोजन करें उपपन्न जो बचा हो उसमें
वरक शर्मा और घरकी स्वस्मिमी अपनी दृष्टि करें ।
अपने भोजनके छिये बैकनेपर सब भूतोंके उद्वेगपक्ष कुछ
आहुतिप्रां पहिले अलग रखकर पश्चात् स्वयं भोजन करना
है । जो पृथ्वीके धरके इस पाक-व्यवहारी रीति है वही
सब यशमें अनेक उपसे है । इस प्रकार पक्षोपपन्न मयन
करना अत्यंत उपकारक है ।

वक्षतेन-अन्नपचन दूसरा अर्थ महात् उपकार है । पचन
वह उपकार करना अनुत्पन्न स्वभाव बनना चाहिये । यश
प्रकाके माय उत्पन्न हुआ है, इस कथनका प्राप्य वह है कि
वह सहज है वह स्वभावसेही दाना चाहिय इसमें कदा
बनापटी भाव नहीं होना चाहिये । जो ऐसा अपना स्वभाव
ही पचकप बनाये, वैसी सब पारोंसे मुक्त हो सकने हैं ।
परी वह विषय इतना निजनेकी आनन्दकटा हमतिसे परी
कि लोग बडा शब्दसे होम इवन ही केवल ममत्तने
है और बडा स्वभावका पापजो प्रपेक्ष अनुपपक्षे आचरण
में जाना चाहिये उस और बहुत लोगोंका पचन नहीं होता
इस कालक उस व्यापक आभावको स्पष्ट जानक विच वही
इतना निजना पडा ।

यह विषय जागे अनेक वक्षारोंमें अनेक रपारोंमें जाने
पाडा है हमकिसे जागे ही हमपर बहुत तेज भिन्ननेकी
आनन्दकटा होगी । इस कारण वही इतना अस्मिन्मय
मिला है बनना बर्तान है । अब इस जागे बडाके विषय
भागवत् क्या कहने हैं मो देखिये—

अस्माद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यावृक्षसंभवः । यज्ञान्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भव विश्वि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अन्वय - भूतानि ब्रह्माक्षरसंभवन्ति पर्जन्यात् अक्षरसंभव पर्जन्याः यज्ञान् भवन्ति, यज्ञः कर्मसमुद्भव ॥ १४ ॥ कर्म

ब्रह्मोद्भव विश्वि ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भूतमात्र ब्रह्मसे होते हैं । अक्षरकी उत्पत्ति पर्जन्यसे होती है । पर्जन्य यज्ञसे होता है और यज्ञ कर्मसे होता है ॥ १४ ॥ कर्म [विश्वि] ब्रह्मसे होता है और ब्रह्म अक्षर परमात्मामें उत्पन्न होता है । इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें सदा रहता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— सर्वव्यापक ज्ञानरूप परमात्मामें कर्मविशेष ज्ञान इस ज्ञानके कर्म, कर्मसे यज्ञ यज्ञसे वृष्टि वृष्टिसे अन्न और अन्नसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है । इसलिये सर्वव्यापक ज्ञानरूप साक्षात् परमात्मा ही नित्य यज्ञमें उत्पन्न रहता है ॥ १४ १५ ॥

(१४ १५) इन श्लोकोंमें साक्षात् परमात्मा यज्ञमें उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है और इस कारण यज्ञ केवल कर्म है ऐसा दर्शाया है । इसकी विचारपरंपरा देखिये—

अन्नसे भूत

(अन्नात् भूतानि भवन्ति) अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है यह बात सब ज्ञानवेदी हैं । इस अन्नके विषयमें उपनिषद्ग्रन्थ देखिये—

या वे सा मूर्तिरजायमाने वे तत् ।

(ऐ क ३१२)

अग्ने हीमाणि सखाणि भूतानि विष्टानि ।

(इ क ५१२११)

ममाग्ने प्रजाः प्रजायन्ते । अग्रे मयोज जीवन्ति ।

(ऐ क ११२११)

ममाद्भूतानि जायन्ते आत्मायज्ञेन चर्यन्ते ।

(ऐ क २१२११)

अथ न निष्ठावद् मन प्राप्ता वा अन्नम् ।

(ऐ क ३१०११)

परं वा पतद्वा मनो रूपं यद्वत् ।

(श्रौत क ११११)

प्राणो वा अक्षरस्य रसः ।

(श्रौत क १११२)

अथ वा अस्य सर्वस्य योगि । (श्रौत क १११३)

ममाद्भूतानामुत्पासि । (श्रौत क १११४)

ओषधियन्स्पतिमिच्छं मयनि । (म नारा १३११)

अथ ये प्रजापतिः । (म न १११४)

मर्त्यं ब्रह्म ।

(ऐ क ३१११२)

को स्पृक क्षीर उत्पन्न हुआ वह अन्न ही है । अन्नमें वे सब भूतमात्र रहते हैं । अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है और अन्नसे जीवित रहती है । अन्नसे मृतमात्रकी उत्पत्ति होती है और अन्नसे उषध संवर्धन होता है । अन्नको बिना अन्ना बोध नहीं है वह अन्न है मत्त ही अन्न है । अन्नात्मा उत्पन्न अन्न है । मत्त ही अन्नका रस है । अन्न तत्त्वा उत्पत्ति स्थान है । अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है । जीवकी-मृत स्पतिबोधे अन्नकी उत्पत्ति होती है । अन्न ही प्रजापति भवति प्रजापतोंका पालन करनेवाला है । अन्न ब्रह्म है ।

इस प्रकार अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति इन्द्रिया और सब साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप होनेका बर्णन उपनिषदोंमें है । अन्नसे भूतोंकी उत्पत्ति कैसी होती है इस सम्बन्धमें उपनिषदोंमें जो कहा है वह अन्न देखिये

आत्मन आकाशाः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरन्ति । अग्नेराग्नः । अग्नेराग्निः । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिम्योऽन्नम् । अन्नात्पुष्टयः । स वा एष पुष्ट्याऽन्नसमवः । (ऐ क ३११११)

जन्मासे अन्नात्मा जन्मासे वायु वायुमें अग्नि अग्निसे अन्न अन्नसे पृथ्वी पृथ्वीसे जीवविषा जीवविषासे अन्न अन्नसे पुष्ट्य वर्णात् क्षीर वह क्षीर अन्नसमव है । अन्नसे रस बनता है और रससे प्रजाकी उत्पत्ति होती है । सब पुष्ट्यपत्ती अन्न कारे हैं अन्ने क्षीरमें इस अन्नसे जीव बनता है और इससे संज्ञाव्यपत्ति होती है । ब्रह्म-मत्त-प्राणि

उपका अपना लज जाती है उससे बीजादिकी उत्पत्ति होती है और उनसे जागे बढ़ा विस्तार होता है ।

इस तरह सर्वत्र अन्तसे भूगोली उत्पत्ति होनेका वर्णन है और यह विषय हरएक मनुष्यके अनुभवका ही विषय है । इसलिये इस विषयमें इतनाही लिखना पर्याप्त है ।

— पर्जन्यसे अन्न

जाने (पर्जन्याद् अन्नसंभवः) । वृष्टिसे अन्नकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है । यह तो प्रतिबन्धका मनुष्योंका अनुभव है । वृष्टि न हुई तो पान्थ अथवा कर्मवन्थ वृक्षवत्स्य विना नहीं उत्पन्न होगी यह तो निश्चित बात है । कई कहेगी कि नदीक, नहरोंके जलोंद्वारा अन्न पैदा होगा परन्तु वृष्टि न हुई तो नहरोंमें भी पानी नहीं जलेगा । इसलिये नदी नहर और झरनेके अन्तसे जेती हुई, तो भी यह वृष्टिसेही होती है ऐसा समझना चाहिये । जर्णान् पर्जन्यसे अन्नकी उत्पत्ति होगी है यह बात सत्य है और अनुभवकी भी यह बात है । वेदमें तो वृष्टिसे आकाशस्त्वानीक प्राय ही नीचे पृथ्वीपर धाया है ऐसा कहा है । देखिये—

पृथ्वाणस्तत्तत्पितृभुजाग्निरङ्गवत्स्योपधीः ।

प्रधीपान्ते गर्गाम्बुधरेऽप्यो बह्वर्ध्विजापान्ते ॥ ३ ॥

पृथ्वाण ऋताधागतेऽमिकन्वत्स्योपधीः ।

सर्वे तथा प्र मोक्षते परिकं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

यदा प्राणो भस्मवर्णीमूर्धेण पुथिर्वा महीम् ।

पद्मवस्तप्रमोक्षते महो वे मो भविष्यति ॥ ५ ॥

अमिवृषा ओषधयः प्राजेन समवाहिरन् ।

आयुर्ध्वं नः प्रातीतदा सर्वा ना सुरमीरका ॥ ६ ॥

(अथर्व ११।१।१२)

‘ अब यह प्रश्न अपनी महती गर्जनाद्वारा अपना सम्यक्स नीलधिपोंसे कहता है उसी समय वे गर्ग नारण करती है जो बहुत बहती है ॥ अब सोम्य जातु जाता है और प्रान गर्जना करके नीलधिपोंसे कहता है तब पृथ्वीके ऊपरके पदार्थ मात्र आर्गदित होते हैं ॥ अब प्रान अपनी वृष्टि इन बड़ी भूमिपर गिराया है तब सब पशु आर्गदित होते हैं । वे कहते हैं कि हमारी पार्थि बहती अथवा हमारा अन्न बहेगा । प्राक्क द्वारा वृष्टिसे मिश्रित हुई नीलधिपों उन्नत स्थाय भोगी हैं कि वे प्रान, तुम्हें हमारी जातु बहाती है और हमें सुगन्धित किया है ।

यहां बड़े मनोरंजक अर्थकारसे कहा है कि वृष्टिसे वनस्पतिपौधों प्राय प्राप्ता होता है और उससे वनस्पतिपौध पृथ्वी और पकती हैं । इसी प्रकार वृष्टिसेही सब प्रकारका अन्न प्राप्तिमानको प्राप्त होता है ।

यज्ञसे पर्जन्य

जाने कहा है कि (यज्ञान् पर्जन्याः संवति) यज्ञसे पर्जन्य होता है । अर्थात् यज्ञ न हुए तो पर्जन्य नहीं होता और अन्धाक होता है । अन्धाक होनेसे अन्न नहीं होगा और अन्धाके अन्धाधर्म सब मृत झूठवत् होगी । यज्ञांतक यज्ञककका प्रभाव कहा है । यह यज्ञका एक ऐसा है—

यज्ञसे मेघ + मेघसे वृष्टि + वृष्टिसे अन्न

(कर्मसे यज्ञ शरीरसे कर्म—अन्नसे शरीर)

यह यज्ञका एक है । यह एक क्रमसे प्रलय होता रहता है । इसमेंसे एक भी यथाक्रम न होगा तो सब चक्र टूट जायगा और मृतमत्तकी स्थिति बनी होगी । महान्तापय उपनिषद्में कहा है—

तामिः पर्जन्यो वर्पति । पर्जन्येनोषधिवनस्पतयः प्रजापान्ते ॥ (नारा १।११)

पर्जन्य वृष्टि कराय है और वृष्टिसे नीलधिपों और वनस्पतिपौध उत्पन्न होती हैं । इस रीतिसे यज्ञसे पर्जन्य होकर अन्नकी उत्पत्ति होती है । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि पहले पर्जन्य कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें मनुका वचन देखिये—

अग्नी प्रास्ताहुता सम्भगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्बृष्टेरन्न ततः प्रजाः ॥

(मनु ३।१२)

अग्निमें ही हुई जाहुति अग्निमय पाम जाती है आदित्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे सब प्रजाकी उत्पत्ति होती है । नदी विषय महाभारतमें निम्नलिखित प्रकार कहा है

यज्ञाद्यज्ञा प्रभवति नमस्ततोऽग्नि इयामसम् ॥ १० ॥

अग्नी प्रास्ताहुतिर्मज्ञादित्यमुपगच्छति ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्बृष्टेरन्न ततः प्रजाः ॥ ११ ॥

(नारा १।१२)

यशस प्रजा होती है जैसा आकाशसे मिलेक एक प्रसन्न होता है। पशुकी अग्निमें रखी हुई आहुति आदिभक्त प्राप्त होती है। आदिपुरुषसे वृद्धि वृद्धिसे सब और सससे प्रजा होती है। यशसे वृद्धि होनेके विषयमें सततपथ आकाशमें यह वचन है—

पर्जन्येति

स यदि ह्यष्टिकाम स्यात् । यवीष्टया वा यजेन ह्यष्टाद्विष्टामो वाऽभ्यसीति तथोऽभ्यर्च्युं ह्यष्टाद्विष्टां वा स विद्युतश्च मनसा ध्यायेति । अन्नापि मनसा ध्यायेत्पश्यामि स्तनपितरं च ययं च मनसा ध्यायेति होतारं सर्वाभ्येतानि मनसा ध्यायेति ब्रह्माणं वर्धति हेव तव यजेत ऋत्विजः सविदाना यजेन चरन्ति ॥ (स मा १।१।१२)

यदि वज्रमानकी इच्छा वृद्धि होगी चाहिये देखी हो तो वह पर्जन्येति करे। उस समय वज्रमान कहे कि वृद्धि इच्छा है अतः अन्नापुं वायु और विद्युतीका ध्यान करे यज्ञीय अन्नोका ध्यान करे होवा मेघमन्त्रका और वृद्धिका ध्यान करे और ब्रह्मा इन सबका ध्यान करे। ऐसे ज्ञानी ऋत्विज अहां होते हैं और वे यदि मनसे ऐसा ध्यान करते और इष्टि करते तो वहां वज्रवज्र वृद्धि होगी।

यहां वाहवन्त्य मुनि निजवर्णक कहते हैं कि वृद्धि होगी। इससे पता लगाता है कि पर्जन्येतिमें इस प्रकार मात्स ध्यान करनेसे कुछ जरूर वज्र पैदा होकर वृद्धि होती होगी। हमें इस बातका अनुभव नहीं है और नहीं ऐसे मनोबलका कल्पित वाच्यक नहीं मिलेगा। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना नसमर्थ है। तथापि वैदिक वाच्यक देखनेसे पता लगाता है कि उक्त प्राचीन समयमें पर्जन्येतिसे परेष्ठित वृद्धि हुना करनी थी।

यदि आकाशमें बादल जाये हों और वृद्धि न होती हो तो नीचेसे ऊपरमुखी तोपें चकलेसे वृद्धि होती है। इसका कारण यह है कि मन्मथमन्त्रमें ह्यष्टक होनेसे वृद्धि होती है। आनन्द कई स्थानपर अमेरिका और यूरोपमें मेघमन्त्र में विष्णुस्वाचार करनेसे वृद्धि करनेका बल किया। गया और वह सभ्य भी हुआ है जहां पुत्र होते हैं और बहुत तोपोंही मार होती है वहां यदि आकाशमें मेघ रहें तो

वृद्धि होती है यह ऐतिहासिक अनुभव है। तोपोंमें अग्नि है और यदि उससे दुर्गन्ध पदार्थोंका दहन माग वायु में भी वायु बन सकती है। इससे यदि हवा सिर हो वायु कि मेघमन्त्रमन्त्रमें इस प्रकारकी ह्यष्टक करनेसे कुछ न कुछ वृद्धि की संभावना होगी, तो वह बात संसार विधिपूर्वक किये गये ह्यष्टोंसे भी होना संभव हो सकती है।

आनन्द जो परमें दहन होते हैं वे बहुत ही बल प्रमाणमें होते हैं उन्मथ हवा आदि परिष्कृत मेघमन्त्र पर होना अर्चनम् है। परन्तु वहां बड़े बड़ और महान् सन्न होते हैं वहां कई दिन दहन दहन किये जाते हैं, उहां वृद्धि चारों दहनमें गिरती है और जहांकि दहनका धारा सीकोंकी धृतिपरसे भी ईश्वरता है, वहकि दहनका परिष्कृत मेघमन्त्रपर होना संभव है। दहनकी अग्निसे दहन की बली वायु ऊपर जाती है और वहां चारों ओरकी वायु ला जाती है। इस प्रकार जो गति वायुमन्त्रमें होती है उससे वज्र प्रवेष्टकी ओर चारों दिसाओंमें स्थित वायुकी गति करती है और यदि यह गति अनेक दिन रही तो उक्त प्रवेष्टकी ओर दहनसे साथ बाह्य आवा भी संभव हो सकता है।

यह गति जिस प्रमाणसे होगी और जिसने दिवस रंहीगी उसी प्रमाणसे बादलोंका आवा और वृद्धि होना संभवनीय हो सकता है। यहां कई लोग कहेंगे कि जिस समय यदि आकाशमें आग जगती है वहां उक्त कलत्र वृद्धि होती होगी। होती है आवा होती है। आनन्दक भी होती है परन्तु वज्र विनोमें बादलोंकी संभावना होगी नहीं। वर्षावर्षणमें ही वर्षावर्षणों की जाती है, अन्य कतुमें नहीं। जिस देशोंमें वरमन्त्रमें वृद्धि होती होगी वज्र ईश्वरों आकाशमें बादलोंका आवा और यशसे वृद्धि होना संभव हो सकता है।

यहां कोई लोग पूछेंगे कि यदि केवल आकाशका उन्मथना करनेसे वृद्धि होना संभव होगा तो विधिपूर्वक वज्र करनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है कि विधिपूर्वक किये गये दहनसे अन्नाप्य प्राप्त भी होते हैं। पूर्वोक्त दवाओंमें कहा है कि वे भीषणियोंके महामन्त्र हैं वे अनुसंधितोंमें किये जाते हैं, क्योंकि अनुसंधितोंमें ध्याति होते हैं। (योग्य ब्राह्मण) अर्थात् पशुकी सिरासियों की भीषणियों काही जाती है अग्निसे उनसे सूक्ष्म वरमान्त्र वज्र

के हृदयमें जाते हैं, मेघमंडलमें पहुँचते हैं और अन्त्य स्थानों के वायुमें भी रहते हैं । वृषक अणु रोगजन्तुओंका संहार करनेवाले हैं सोमाग्नि औषधियोंके अन्न भी इसी प्रकार रोज़बीन वृत्त करते हैं । बहमें हवन किये गये वृत्तका महत्त्व रोगनाशनके सम्बन्धमें विशेषही है । कथक वृत्तका हवन करनेसे भी कई सांघिक रोग दूर होना संभव है । जब कोई सांघिक रोग आता है और धर्मोंमें उसका उपयोग शुरू होता है तो प्रत्येक घरमें और चौराहोंपर बूढ़हवन करमसे रोग दूर होता है ।

इस तरह बूढ़हवनके द्वारा जो वृषक और विषिप और विषोके अणुमेघमंडलमें जाते हैं और हृदयमें रहते हैं वे वृष्टि कणके साथ भूमिपर आकर उनका भूमिस्थानीय जनन शुरू, वनस्पतियों और कृषियोंके किये एक वीहिक और धृष्ट जीव नीच रह निकला है । वृष्टादिकोंको उन्नत आर्य देनेकी यह रीति है । वृष्टादिकों वृष्टिका निवर्तन बलवृष्टि और वृष्ट-रत्नोंकी वृष्टि इसकी बातें हवनकर्म वृष्टसे सिद्ध होती हैं ऐसा हम हवन विधिके प्रयोगसे अनुमान निकाल सकते हैं । यह वृष्टिपुष्ट भी प्रवीण होता है तथापि इसके प्रयोग करके देखने चाहिये और जो बात प्रयोगोंसे सिद्ध होगी, वही माननी चाहिये ।

होम हवनकर्म वृष्टोंसे वृष्टि किस तरह होती है इसकी रीति हमने यहाँ देखी । इसी विषयमें निम्नलिखित ग्रन्थ भी देखना फलम है—

कृष्णं मियानं हरयः सूरपणा अपो वसना निव-
सुत्पत्तिः । स माहवृष्टसर्वसर्वनाहतस्याग्निहृत् भूतेन ।
पृथिवी ध्युपते । (ऋग्वेद १११११२०)

(अथ वसना) अथ देनेवाले (हरयः सूरपणा) अथ वसना करनेवाली आग्निहृत् किये (कृष्णं मियानं) आग्निहृत्के मार्गसे (निवः उच्च पत्तिः) सुप्तोक्तों जाते हैं । (अपो वसना) उच्छेदके स्थानसे (स माहवृष्टसर्वसर्वनाहतस्याग्निहृत्) अथ उच्छेदके द्वारा (वृष्टेन) अथ (पृथिवी ध्युपते) मरुत की मानी है । अर्थात् पृथ्वीपरका अथ अग्निहृत्के स्थानसे अपो वसनासे उच्छेद है अथ अथ वसना है । वृष्टि होनेका कर्म वेदमें इस प्रकार बताया है । इसका अनुसार जब पूर्वविराजितता मांष आकर उच्छेदके अणु ऊपर जाते हैं

उनका साथ हवनक द्वारा सूर्यम वसाये गये वृत्तके और सोमाग्नि औषधियोंके अणु यदि भेजे जायेंगे तो वे उच्छेदके औषधि-गुणोंसे युक्त बनायेंगे और वह एक न वृष्टक लक्ष्यके विरूप वृष्टिरूपसे युक्त बना देगा प्रत्युत आग्निहृत्के किये भी आरोग्यवर्धक होगा ।

इस प्रकार सारांशसे (वृष्टन् मयति पर्वन्वाः) वृष्टसे पर्वन्वा होता है इस विषयका विशेषण है । वैदिक शास्त्रमें वृष्टविषय बहुत व्यापक और बड़ा विस्तृत है उनका होमहवन विषय एक भाग है । पाठक यहाँ यह न समझें कि हवनसे कथक रोगोंका नाश होगा । यह बात नहीं है । हवन एक साधन है और इसका उपयोग विविध कारणोंसे किये होता है । जिस प्रकार रोगनाशन और रोगप्रतिबंधक हवन है उसी प्रकार रोगात्पादक और रोगवर्धक भी हवन है । समुद्रके वेदमें रोगवर्धक हवन करना आते थे । और अपने देशमें रोगप्रतिबंधक हवन करना करते थे । इसी प्रकार वृष्टि वर्धक भी हवन है और वृष्टिनिवामक भी है । यह एक बड़ा साधन है और यह साधन तुलना हुआ है, सोमाग्नि औषधियों की नहीं मिलती । अतः इस विषयमें अधिक किता नहीं जाना । निजाले संक्षेपक हवनकी खोज करें । हमें यहाँ गीता का निबाल देना है यह सारांशसे देकर किया । यह एक पुष्टावृष्टकके दृष्टान्तसे यहाँ प्रयोग नहीं है ।

पाठक यहाँ इसकी बात ध्यानमें धारण करें कि जो वृष्टिनिवामक है वे होमहवनक ही वृष्ट हैं । परन्तु मगधगीतमें जो वृष्ट कहे हैं वे कथक होमहवनक ही नहीं हैं । वृष्टमें वैदिक, औद्योगिक सामाजिक और राष्ट्रीय कर्मचारियों की समावेश होता है इसकी विशेषता है । इस विषयका सामान्य स्वरूप इससे पूर्व (अ नी क्ये ११२-१३ के विवरणमें) बताया है और अनेक स्थानोंपर बताया जाया । मगधगीतमें जो व्यापक वृष्टका कर्म कहा है वसना एक भाग होमहवन है । इसकी बात पाठक ध्यानमें लें ।

यज्ञसे पर्वन्वा

यज्ञसे मय मेघसे पर्वन्वा और पर्वन्वासे अथ हवनमें वृष्टी रीतिमें भी एक आत्मसमर्पणक वृष्ट हो रहा है । यह वृष्ट भी वही अथ देवता चाहिये । अथका आत्मसमर्पण होकर वसना और अथक मेघ वसने हैं, अर्थात् मेघोंकी

उत्पत्ति होनेक स्थिती अर्थात् आत्मसमर्पणक पक्ष होनेकी आवश्यकता है। जहाँ इस आत्मसमर्पण पक्षके भेदोंकी उत्पत्ति होती है। भेष भी उसी प्रकार आत्मसमर्पण करते हैं जिसका नाम वृद्धि है। मानो परोपकारके स्थिती भेष अपना अस्तिव्यवहक समर्पित करते हैं। इस भेदोंके आत्म समर्पणसे संपूर्ण हृदयव्यवस्थितिविधि और जीववृत्ति पानी जाती है। अर्थात् किसीका पावन होनेक स्थिती दूसरेका आत्मसमर्पणक पक्ष होना आवश्यक है। वही बात आगेके पक्षोंमें देखी जाती है। भेदोंके वृद्धिके द्वारा जहाँ पुष्पीपर जानेपर वह जल फिर वृद्धों और प्राक्पिण्डके जीववृत्ति स्थिती आत्म समर्पण करता है। जब यह जल उस हृदयव्यवस्थितियों और प्राक्पिण्डके सरीरका भाग बनता है। तब उनका जीवन होता है। इनके अस्तिव्यवहक स्थिती भाषा, जहाँको अपने अस्तिव्यवहक समर्पण करना होता है। इसी प्रकार जब भी आत्मसमर्पण करके प्राक्पिण्डोंके जीवनका हैतु बनता है। प्राणी अपने जीवन भूत श्रोत्रोपेक्षा समर्पणक पक्ष करके ही प्रजा उत्पन्न करते हैं। इन प्रकार पक्षोंसे यह सब जगत् चक्र रहा है। वह पक्ष परमेश्वरीय विषयसे हो रहा है। हृदयस्थिती पक्ष होनेपर भी जहाँको पक्ष करनेका पुण्य नहीं प्राप्त होता क्योंकि जहाँका पक्ष हृदयीय विषयसे हो रहा है। उसमें जहाँकी हृदयका भाग कारणहीन नहीं है।

अनुपपन्न ह्य परमेश्वरीय विषयका अवच्छेदक करे और ईश्वरका वक्षानुप सर्वत्र फैला चक्र रहा है। वह देने तथा देने अपने हृदयसे आत्मसमर्पणक पक्ष करे। अनुपपन्न किं श्रेष्ठतः वह आत्मसमर्पण करता है। इसलिये उसकी पुण्य प्राप्त होता है और पक्ष न करनेसे उसकी अव्योगत होती है। अनुपपन्न परमेश्वरीय विषयका पक्ष है। इसलिये अपनी स्वतन्त्र हृदयसे उसको वह पक्ष करना चाहिये। वह जहाँका कार्यन आवश्यक करण है।

अनुपपन्न जीवित जगत् वक्षानुप अवच्छेदक है। जगत्पिण्ड वक्षक कारण अनुपपन्न जीवित रहता है। इसलिये अनुपपन्नको उचित है कि वह सर्व जगत्की अन्तर्गत स्थिती अपनी सत्ति का भाग करे। उदाहरणके स्थिती देखिये मार्थीय कोमोर्ति द्वारा जगत्के वृद्धि पक्ष अनुपपन्न आता है। अर्थात् अनुपपन्न कार्यन होता है कि वह सर्व नष्ट हृदय जगत्के जिनक पक्ष अस्तिव्यवहक आत्मसमर्पण का करे। इसी प्रकार एश्वर्य प्रकारक आत्म

समर्पणके नियमों जानना चाहिये। अनुपपन्न जीवन पक्ष सब होना चाहिये ऐसा जो स्थान स्थानपर कहा है। इसका प्रमाण हैतु यह है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो पक्ष सत्त्व है वह आत्मसमर्पणक सामान्य पक्षका वाचक है। हृदयस्थ तपोपक्ष आत्मसमर्पणक आदि उदाहरण इस सामान्य पक्षक ही हैं। होमहवनक पक्ष का किसे ज्ञाते हैं वे इस आत्मसमर्पणके उपपन्न भाग हैं।

गुप्त दान

होमहवन पक्षका एक उपपन्न भाग है। जैसा पक्षमें जगत् की समिधा जलाई तो उसकी सुगंधि चारों ओर फैली है। जहाँके लोग उस सुगंधिसे आनन्दको प्राप्त करते हैं। जो उसको पता नहीं होता कि उनकी किस दातासे सुगंधि हो है और चन्दनके हवन कर्माको भी पता नहीं होता कि भिन्न को मैंने सुगंधि पहुँचाई है। दाताको केवलसेका पता नहीं और दाता केवलसेकी दाताका परिचय नहीं। इस प्रकार परम उच्च दातास्थिती वक्षसे साध्य होता है। दाताक जगत् अनुपपन्न करनेकी हृदयही नहीं। इस उच्च रीतिसे दाता देनेकी विधि इस हवनसे दर्शाते हैं। भगवद्गीतामें आने हृदयवक्ष आत्मवक्ष आदि जहाँके पक्ष कहे जायेंगे उसमें होनेवाला दाता ह्य मन्त्रक गुप्त दाता होना चाहिये। वह पक्षके दाताकी एक विशेषता है। इसको पात्रक न धर्म।

कर्मसे यज्ञ

(यज्ञः कर्मसमुत्पन्नः) कर्मसे यज्ञ होता है। वह कर्म हरएक पक्षके विषयमें मान्य है। यज्ञ एक प्रकृततम कर्म है। अर्थात् जो अनुपपन्न कर्म नहीं करेगा उसमें यज्ञ होगी नहीं और न होमहवन अपना हृदयवक्ष तथावक्ष आत्मवक्ष अपना हृदय कर्म यज्ञ होगा। वह या कर्म करेगाही मिह होगा। आत्मकी रहनेपर न कोई कर्म होगा और न यज्ञ। अर्थात् अनुपपन्न कर्म को और वे कार्य यज्ञरूप बनाने।

ज्ञानसे कर्म

(कर्म तच्छीतत्वं बोधः) कर्म ज्ञानसे किया जाता है। यज्ञ सत्त्वका कर्म नहीं। कर्मकी विधि का भाग है। जगत्पिण्ड जीवित आदि यज्ञ सत्त्वक कर्म कर्म नहीं है। विविध कर्मों और वक्षिक करवरी विधि का भाग

यह कि ब्रह्म 'सम्पत्ते' केना चाहिये । इस शानके बिना कोई कर्म बचासोग करना असम्भव है । वेदादि ग्रंथोंमें इस कर्मकी विधि का ज्ञान दत्ताया है अतः वेद और वेदसम्बन्धों को ब्रह्म कहते हैं । जिसमें ब्रह्म कर्मोंका उपदेश है, वह ज्ञान ब्रह्म सम्पत्ते पहा केना उचित है ।

कई विद्वान् पहाके ब्रह्म 'सम्पत्त'कर्म प्रकृति करते हैं और 'कर्म' ब्रह्मोन्नत विधि इसका कर्म प्रकृतिसे होता है ऐसा कर्म करते हैं । वह कर्म भी सुसंगत है और इसमें किसी प्रकार विरोध नहीं हो सकता । जगत् मगध-हीतमें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्मार्गे वधान्यहम् ।

संमत्ता सर्वमतानां ततो भवति भारत ॥

(म गी २५३)

मेरी (ब्रह्म) यही प्रकृति उत्तरक करनेवाकी है उसमें मैं गर्व रखता हूं उससे सब मूलोंकी उत्पत्ति होती है । ऐसा कहा है । यहाँ ब्रह्म सम्पत्त प्रकृति कर्ममें है । यही कर्म यहाँ केनेसे वह कर्म होता है । तथा महाभारतमें कहा है कि—

यद्यो यद्यप्य इत्येव यो यजस्वभस्तेजसया ॥ ११ ॥

भमुपयं जगत्सर्वं यज्जगज्जगत्सत्त्वा ॥ १४ ॥

मायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां पराधेति निमित्तयः ॥ १७ ॥

(म भा शां ५ १८)

ब्रह्म वह है कि जिसमें एककी अवस्था न रहते हुए पवनविधि किया करते हैं । ब्रह्मके पीछे सब जगत् है और सब जगत्के पीछे ब्रह्म है । ब्रह्म बिना इस लोक और पर लोक किसी भी काममें सज्जि नहीं होती । इस स्वभावपर ब्रह्म और जगत् परस्परक अनुसारी हैं ऐसा कहा है । इसमें भी पता चलता है कि प्रकृतिस्वभावमें कर्म और कर्मसे यह मिश्र होता है । क्षीरका स्वभाव कर्म कर्म करना है इन कर्मको यज्ञकर्ममें परिणत किया तो उत्तार होगा और यह कर्म जगत्कर्म बना तो अपकार होगा । अतः । इस तरह यहाँ ब्रह्म सम्पत्त कर्म प्रकृति केना भी योग्य है । परन्तु हमारे मते यहाँ कर्मविधि का ज्ञान वह कर्म है । पत्रक इसका अधिक मतन करें ।

अक्षरसे ज्ञान

(ब्रह्मसमुच्चय ब्रह्म) ब्रह्मके ज्ञान होगा है । यहाँ

अक्षर सम्पत्ते सम्पत्त ज्ञाना केना चाहिये । ज्ञानमान ज्ञान प्राप्त होता है । अक्षरकाही गुण ज्ञान है । निरवक्य ज्ञाना है इसविधि उससे ज्ञान प्रकट होता है । कर्मविधि का ज्ञान और मोक्षोत्पत्तिका भी ज्ञान इही सम्पत्तज्ञान प्रसु परमात्मसे प्राप्त होता है । यही बात उपनिषद्में इस प्रकार कही है—

आत्मतो यस्तन्मात्मतो विज्ञानमात्मतो ज्ञानमा
रमतत्त्वितमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो
यागात्मतो वागात्मतो मन्त्रा मात्मतः कर्माण्या
रमत एवेदं सर्वम् ॥ (अं ३ अ२१)

ज्ञानासे वह विज्ञान ज्ञान विच संकल्प मन वाणी नाम मन्त्र कर्म आदि सब होता है । यहाँ मगध इतिहासी ही बात बतायी है । माना वह छांदोग्यका विचार गीताक विधानका स्पष्टीकरण है । क्योंकि यहाँ ज्ञानासे मन वाणी नाम मन्त्र कर्म इस क्रमसे प्रकट होते हैं, ऐसा कहा है और गीतामें केवल ब्रह्मसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म इत्यादी कर्म दत्ताया है अतः पत्रक इस उपनिषद्बचने सब मगधगीताक बचनकी तुलना करें और ज्ञानासे किस क्रमसे कर्म होते हैं, इसका विचार करें ।

यज्ञमें परमात्मा

इतना कम बचनेका बहुत वह है कि ब्रह्ममें परमात्माकी उपस्थिति है, यह बात पार्थक्यके मतेमें आ ज्ञान । इसविधि ज्ञानमें कहा है कि—

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।

इसविधि सर्वव्यापक परमात्मा ब्रह्ममें नित्य उपस्थित होता है । जहाँ ब्रह्म ब्रह्म है जहाँ परमात्मा है ऐसा मन बना चाहिये । जहाँ पूर्वीक कथनक अनुसार सत्कार-संगति ज्ञानात्मक कर्म आद्व-संगठन और उपकार प्रदाय कर्म होते हैं यहाँ सर्वव्यापक ईश्वर रहता है । जगत् जगत्से पाम बने परमेश्वरकी उपस्थिति हो ऐसी किसीकी इच्छा हो ता वह ऐसे प्रसारकर्म करने का रहे । जगत्क किसी मनुष्यसे ऐसे कुछ कर्म होते रहते तबक परमेश्वर उपाय समिप रहेगा । परमात्माको अपने पास नित्य रहनेका यही पत्रक-मत्त उपाय है परमेश्वर-वशि निजबचने होनेका भी यही पत्रकमान उपाय है । इसविधि जगत् कहा है कि—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीत्युच्यते । अद्यायुरिन्द्रियारागो मोक्षं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! एवं प्रवर्तितं चक्रं य इह न अनुवर्तयति, स इन्द्रियारागः कषायः मोक्षं जीवति ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार चक्रमें हुए पञ्चचक्रके अनुसार जो मनुष्य इस श्लोकमें आशरण नहीं करता वह इन्द्रियोंके आरागमें रखनेवाला मनुष्य पापमय आसुवाला होकर स्वर्ग जीता है ॥ १६ ॥

भावार्थ— इस तरह यह निष्कर्षापी बशचक्र चक्र रहा है । जो अपना आशरण इसके अनुकूल करेगा वह ब्रह्मसत्त्व ब्रह्मके कारण परिग्रह होगा परन्तु जो अपना जीवन इसके अनुकूल नहीं बनायेगा और जो अपने इन्द्रियोंके आरागमें रखनेका पक्ष करेगा उसका जीवन पानी ब्रह्मके कारण स्वर्ग जायगा ॥ १६ ॥

यतः प्रवृत्तिर्नितानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमन्यथ्य सिद्धिं विन्यति मानवः ।

(म गी १८/१९)

' जिसके द्वारा सर्व मानवोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने इस सबको व्यवस्थित किया है उसकी पूजा अपने कर्मोंके द्वारा करनेवाला मनुष्य अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है । मनुष्यको जो भी कर्तव्य है वह उत्तम स्थितिसे करके और उसका फल परमेश्वरकी समर्पण करके मनुष्य सुखपूर्वक बन सकता है । अतः आगे वह कर्मका चक्र सतत घुमानेके लिये करते हैं, वह अपनेका सब देखिये—

(१९) इस अध्यायके श्लोक १ से १५ तक कंठः श्लोकोंने निष्कर्षापी पञ्चचक्रका वर्णन किया है । वह चक्र चक्र परमेश्वरद्वारा (प्रवर्तित) चलाया जा रहा है । मनुष्यसे विश्व जितनी भी सृष्टि है वह सबकी सब सृष्टि इस पञ्चचक्रके निष्कर्षापी परमेश्वरद्वारा चलाई जा रही है । परन्तु मनुष्यमें विशेष बुद्धि रहनी है जब उसमें स्वतन्त्र हृदयस्थिति है । चाहे वह मनुष्य उस पञ्चचक्रके अनुकूल अपना चक्रचलन करे वा न करे, वह सब इसकी हृदयस्थिति निर्भर है । यदि वह मनुष्य इस चक्रचलनी पञ्चचक्रके अनुकूल अपना आचरण करेगा तो वह सुख प्राप्त करेगा हुआ अन्तमें परम पदकी प्राप्त करेगा और यदि वह उस पञ्चचक्रके प्रतिद्वन्द्व अपना व्यवहार करेगा तो उसको न सुख प्राप्त होगा और न उत्तम स्थिति मिलेगी । मनुष्य और जन्म सृष्टिमें इतना भेद है ।

पहले कई ज्ञेयों कि यदि मनुष्यमें विश्व जन्म सृष्टि का पञ्चचक्रके अनुकूल आचरण कर रही है तो उसकी सृष्टि क्या बड़ी होगी ? हमका उत्तर यह है कि ' स्वर्ग जेहन्ममें सिद्धि हुए जन्म ही सृष्टि दो सकती है । यैसा किमी

व्याख्या किसी गायका बच किया और उसकी क्या किया तो उसमें गायका आनन्दवश नहीं है । अन्तर्गत तो वह होगा कि जब गाय अपने आपको स्वेच्छासे व्याख्या के समर्पण करे । किसी दूसरेके निमित्तके बलीभूत होकर पराधीनतासे बन्धी न दिया जावे । एक राह दूसरे राहसे परास्त करके उसकी कृष्ण है, उस अवस्थामें बड़े बड़े राहूको आत्मसर्वस्वसमर्पणका पुण्य नहीं करा सकता, परन्तु यदि किसीके आत्मके उद्धारके लिये अपने सर्वस्व समर्पण किया तो वह पुण्यवत्ता बन जाता है । सर्वोपरि किसीका कर वाका उद्धारके लिये किसी समय कृत किया तो सर्वमेव नामक ब्रह्मकरकेका पुण्य उस ब्रह्मकरकेकी भी प्राप्त होगा परन्तु यदि वह गृहस्थी अपना सर्वस्व शीतले उद्धारके लिये स्वेच्छासे समर्पण करेगा तो ही वह पुण्यवत् भागी बनगा ।

दूसरेसे क्या जाता ' शक्तिहीनताका अन्तः ' है जो कठिनीयतासे उत्पत्ति नहीं हो सकती । असल मनुष्य वह नहीं बन सकता । जो जिसके पास बच होगा, उसका वह वह दूसरीकी मर्काईके लिये करेगा । जिसके पास ज्ञानका वह है वह ज्ञानवत्त करेगा जिसके पास बाहुबल है वह दूसरीकी रक्षाके लिये अपने शक्तियोंका ब्रह्म करेगा, जिसके पास धनका वह है वह धनके उद्धारके लिये अपने पञ्च ब्रह्म करेगा । इसी प्रकार जो वह जिसके पास शोभा, उसका वह वह कर सकेगा । जिसके पास कोई बक नहीं वह कीरे ब्रह्म कर नहीं सकता । इसलिये वह करनेके लिये किसी न किसी प्रकारका ब्रह्म अपने पास संचयित करना चाहिये तत्पश्चात् ब्रह्म करकेका अधिकार उसकी प्राप्त होगा ।

आगे अनुवाचकान्तर्गत श्री १५ से १८ तकके छः श्लोकोंने कई प्रकारके ब्रह्म करे दे के सबके सब ब्रह्म बनाने

मनुष्यही कर सकता है। बल्कि मनुष्य अथवा निर्बल राष्ट्र
छत्रा छाने योग्य ही है क्योंकि वह यज्ञ नहीं कर सकता।
अतः उक्तश्लोकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह
जपने पाप छोड़ न कोह वह धारण करनेका पाप करे और
पश्चात् उस ब्रह्मका पराधकारार्थे यज्ञ करे। इस तरह यज्ञमें
स्वयं प्रेरणसे अष्टमशक्तिका त्याग अभीष्ट है।

जो जगत्में परमात्माद्वारा यज्ञ हो रहा है उसमें
परमात्माक विषय कार्य कर रहे हैं और मनुष्यसे सिद्ध
सब प्राणी परब्रह्मा होकर उच्च यज्ञक्षेत्रमें पुनः रहें हैं इस
कारण यद्यपि वे मुक्त नहीं हो सकते तथापि जीवशक्तिमें
उन्नत होते होते जीव मात्रव्योनिमें प्राप्त होते हैं। इस
सबकी यह उन्नति इसीशक्तिसे हो रही है कि ये सब पर-
मात्माके ब्रह्मचक्रके अन्दर रहते हैं। जब मनुष्य-बोधिमें
जीव जाता है तब वह अपने प्रपञ्चसे अपनी परम उन्नति
करनेका अधिकारी बनता है। अतः इस स्वतंत्र मनुष्यक
शक्ति इस श्लोकमें उपदेश दिया है कि—
५ हे मनुष्य !
तु स्वयं है तू यज्ञ करेगा छोड़ी देरी उन्नति जागे होगी।
तू प्रपञ्च केरूप सुदृक् किये खड़ा होगा सभी परमात्मा
देर स्वरूप सारथी होकर गरी सहायता करेगा। अतः तू
जस विषयवापी यज्ञको अपने आचरणमें धारण कर अपना
आचरण यज्ञरूप बना और पुनर्मत्मा बनकर परम उन्नति
प्राप्त कर।

यहाँ परमात्माके अष्टमचक्रका आदर्श इसके सम्मुख रखा
है। परमात्माक आध्यात्मिक ही गृहीती रचना हुई है।
परमात्मने अपनी आधिक्य अधिकसे अधिक यज्ञ किया
इसीशक्तिसे परमात्माके परम उन्नत चक्रसे ई नर्पाय
परम ब्रह्मके साथ परमोन्नत संबंधित है। अष्टके यज्ञके
विषयमें इस प्रकार कहा है—

अथ ये स्वयमु तपाऽतप्यत। सर्वज्ञत न वै
तपस्यानन्त्यमस्मिन् । हस्ताऽहं भूतेष्वाम न
सुहृषामि भूतानि आरमसीति । तस्मैपु भूते
प्यारमान हस्ता भूताधि आरममिति सर्वेषां
भूतानां श्रेष्ठप स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येत ।
तथेवैषधजमानः सर्वमेवे सर्वान मेधाम् हुन्वा
सर्वाणि भूतानि अष्टमे स्वाराज्यमाध्यापयत्यं
पर्येत ॥ (श. भा. १३. ७।१)

स्वयमु अथ एक समय तप करने लगा। उसने देखा
कि तपमें सबसुख अनन्तर नहीं है। इच्छिते मैं करने
आपका सब भूतोंमें और सब भूतोंका अपने आत्मानमें यज्ञ
करूँगा। पश्चात् उसने अपने आपका सब भूतोंमें और
आत्मानमें सब भूतोंका यज्ञ किया। इस आत्मसमर्पणक
यज्ञसे उसने श्रेष्ठप स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त किया।
इसी प्रकार जो आत्मसमर्पणका यज्ञ करेगा उसको अष्टमा
स्वाराज्य और आधिपत्य नि सन्देह प्राप्त होगा।

इसी प्रकार विद्युत्कर्माक आत्मसमर्पणकर यज्ञ करनेका
वर्णन विस्तृतिविधन बचनमें है। देखिये—

विद्युत्कर्मा मायया सयमेवे सत्त्वानि भूतानि
सुहृषाश्चकार । स आरमानमपि मन्त्रतो जुह
वाञ्चकार ॥ १० तस्मैवादिभ्येयगमवति । य
इमा विभ्वा भुवनानि सुहृदिति ॥ १॥
(निरुक्त है १।२६)

“ विद्युत्कर्मा मीचनने सर्वमेव यज्ञमें प्रथम सब भूतोंका
और मन्त्रमें अपने आत्माका भी यज्ञ किया। इस विषयका
वर्णन य इमा विभ्वा भुवनानि सुहृद् (क. १।६।१।१)
इस मन्त्रमें है। अब वह मन्त्र देखिये—

य इमा विभ्वा भुवनानि सुहृदितिहोता म्यसीद्
तिष्ठात नः ॥ स आशिषा प्रविणमिच्छमान
प्रथममच्छुद्धरीं आ विधेय ॥ (क. १।६।१।१)

हमारा (पिता) परम पिता (अग्निः) सर्वमाश्री
विद्युत्कर्मापि पहिले अपने सब भूतोंका यज्ञ किया और
पश्चात् अपने आत्माका यज्ञ करनेके लिये (न्यसीद्) बैठ
गया। वह (आशिषा) अपनी सुमेधसे सबका मन प्राप्त
हो ऐसी इच्छा करता हुआ यद्यपि वह (प्रथममच्छुद्) सुमय
स्थानमें रहनेका अधिकारी था तथापि (न वाद्
आशिषेय) बीच स्थानमें रहनेवालीक पाप पहुँचा। इस
प्रकार उसने यज्ञ किया।

आत्मयज्ञबन्धी है। वह जगत् परमचक्रका निवास है और
ये सब भूत उसका हैं। इस परमेस्वरसे इस करने सब देवर्ष
का यज्ञ किया। पहिले उसने ये सब भूतमात्र पदार्थमात्र
सबकी सकाईक लियेसीय लिये करने किये और पश्चात्
उस सर्वमाश्री पिताने सबकी सकाईक लिये अपने आत्मा

(७) अनासक्तियुक्तं कर्म

यस्त्वात्मनस्तत्त्वं स्यादात्मनस्तत्त्वं मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
 नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन । न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थश्च यथायथ ॥ १८॥
 तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९॥

अव्यय- या तु मानव आत्मनः एव सन्तुष्टः च आत्मनि एव च सन्तुष्टः स्वात् तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
 इह कृतेन तस्य कार्यं न एव, अकृतेन (नहि) कश्चन उत्पन्न (कार्यः) न (तथा) सर्व भूतेषु च अस्व कश्चिद् कार्य-
 म्प्राप्तये न ॥ १८ ॥ तस्यैव (त्वं) असक्तः (सत्) सततं कार्यं कर्म समाचर हि पूरुषः असक्तः (सत्) कर्म आचरन्
 परं जप्सोति ॥ १९ ॥

समय कर दिया । इसमें हमकी कृतेन ही की कि
 सबको उत्तमसे उत्तम देखने प्राप्त हो । इसी एकमात्र
 परोपकारकी कर्मगतसे उत्तमे स्वर्ग परमोच्च स्थानमें विराज
 मान होनेका अधिकार होते हुए भी नीचसे नीच स्थानमें
 आकर निवास किया ताकि सब भूत उन्नत हों, सब स्थानमें
 आनन्द रहे और सर्वत्र शांति स्थापन हो । इस परमात्मक
 आत्मनः कर्म महत् आदर्श भीमलग्नगद्गीताके इस उपदेशमें
 है । तथा आगे अगच्छातीतमें इसी अध्यायमें कहा है कि—

न मे पापार्थास्तित् कर्तव्यं मिषु लोकेषु किञ्चन ।

मानयात्ममावाप्तव्यं वर्त एव कर्मणि ॥ १२२ ॥

हे अर्जुन ! मुझे इस लीने लोकोमें कुछ भी करनेका नहीं
 है । जो प्राप्त करनेयोग्य है वा न मित्रा हो ऐसा भी नहीं
 है तथापि मैं ब्रह्मकर्ममें लगा ही रहता हूँ । यही अगच्छा
 भीकृत्त्यन्तर्हीन आत्मनः है । पूर्ण ज्ञानप्राप्त होनेपर
 भी लोकसंग्रहके लिये कर्ममें आत्मसमर्पण करनेका नाम
 आत्मनः है । वह वह स्वयंसे जगत्के विधकर्मणि
 और अगच्छा भीकृत्त्यन्तर्हीन किया । इससे सब विधकर्मा
 और भीकृत्त्यन्तर्हीन महत्त्व सब गते हैं । जो इस तरह
 आत्मनः करने के भी इसी तरह महत्त्वके आगे वर्यं के
 भ्रष्ट पक्षमें वे स्वराज्य प्राप्त करेंगे और वे ही आधिपत्यके
 योग्य समझे जायेंगे ।

वेद और आत्मनोमें जिस आत्मसमर्पणरूप पक्षका इस
 प्रकार वर्णन है वही इस अगच्छातीतके इस १२ वें सूक्तमें
 कहा है । परमेश्वर विधकर्मा आदि के बन्धन तत्पूज जगत्
 की स्थिति अचर्माणि है । अतः जो मनुष्य उस परमात्मनः
 के यशसे सब साधन अपना जीवन ब्रह्मण्य करेगा वह भी
 उसी प्रकार भेद होगा वही वरदा प्राप्तव्य वर्यं और

पुरुषका पुरुषोत्तम बनेगा ।

इस सूक्तमें पापी और पुण्यप्राप्ता कीज होगा है, इसका
 उत्तम विचार करन हुआ है, वह विषय अब देखिये—

अपापु	पुण्यप्राप्ता
पापी जीवन	पुण्य जीवन
इन्द्रियाग्राम	इन्द्रियसंयमी
पक्ष न अनुवर्तयति	पक्ष अनुवर्तयति
स योग जीवति	स सकल जीवति

जो मनुष्य अपना जीवन पक्षरूप बनाये है, इन्द्रिय वन
 करता है परमेश्वरीय महाब्रह्ममें आत्मसमर्पण करता है वही
 सकल जीवन व्यतीत करता है । इससे विपरीत जो स्वार्थ
 का जीवन व्यतीत करता है उसका साधनसंपूर्ण जीवन सुख
 पूर्ण है ऐसा तथापि कुछ समयवत् दिखाई देगा तथापि उसके
 पापी व वनका अपापक इन्द्रियव्यम किसी न किसी समय
 उनके योग्यताही पड़ेगा इसमें विषयवत् अन्तर्हीन है ।

कीज पुण्यप्राप्ता है और कीज पापप्राप्ता है इसकी परीक्षा
 करनेकी वही करीबी है । जो सर्व भूतोक्त दिव करनेके लिये
 अपनी आहुति देता है वह पुण्यप्राप्ता है और जो अपने दिनों
 लिये सब भूतोकी आहुति देता है वह पापप्राप्ता है । राक्षसी
 क्षुधिवान्ते पापप्राप्तकी कुछ समय वही चकती सी है
 तथापि उससे मोहित होता योग्य नहीं है कुछ
 समय के बाद पापप्राप्तकी क्षुधि होवेका और चकल
 जीवन करनेवाले पुण्यप्राप्तकी क्षुध गति होवेका अनुभव
 आ जाता है । इसलिये हर एक मनुष्यको उचित है कि वह
 अपना जीवन ब्रह्मण्य बनाकर ब्रह्मण्य करे और अपने जीवन-
 को हृदयपूर्ण बनाये । इसी विषयक प्रतिपादन अतोके तीव्र
 शोक करते हैं । वह योग्यवत् विषय अब देखिये—

मो मनुष्य आत्मामेंही रहता है आत्मासेही पुष्ट होता है और आत्मामेंही सम्पुष्ट रहता है उसने क्षिप्र कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता ॥ १७ ॥ यहाँ जैसा कर्म करनेमें उसका कोई स्वाध नहीं होता वैसा ही कर्म न करनेमें भी उसका कोई स्वाध नहीं होता है । उसी प्रकार सब भूतोंसे भी उसका कोई निजी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १८ ॥ इस कारण तू संग्रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करता रह । आसक्तिरहित होकर कर्मका भावण करनेवाला मनुष्यही परम पक्वो प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भाषार्थ—जिसकी रति तुम और सम्पुष्टि किसी बाह्य पदार्थपर अवर्धित नहीं है परन्तु वह उसको अपने अन्दर ही बंदर प्राप्त होती है उसका किये कोई कर्तव्य करनेका अवशिष्ट नहीं होता है । यहाँ वह कृतक्य हुआ होता है । इस कारण कर्म करनेसे भी उसको कुछ प्राप्तत्व नहीं होता और न करनेसे भी उसकी कुछ हानि नहीं होती । उसके लिये कर्म करना अवधान न करवा समान ही होता है, क्योंकि किसी बाह्य वस्तुके साथ इसका निजी स्वार्थका सम्बन्ध स्वल्प भी नहीं होता । वह अपने अन्दर पूर्णताका अनुभव करता है । इस कारण मनुष्य भाविक छोड़कर कर्म करता रहे क्योंकि मग छोड़कर कर्मका भावण करनेवाला मनुष्य ही परम श्रेष्ठ मोक्षपद प्राप्त करता है ॥ १७-१९ ॥

मनुष्यकी कृतकृत्यता

(१०-१९) जबतक मनुष्यकी तुम, सम्पुष्टि और रतिके लिये बाह्य पदार्थोंकी और बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है तबतक वह कृतक्य हुआ नहीं होता । प्रत्येक साधारण मनुष्य अपने अन्दर अपूर्णता मूलतः अवधान कमी का अनुभव करता है और रात्रिदिन उसकी पूर्णता करनेके लक्ष्में उत्पन्न रहता है । इसीलिये इसको कर्म करना जलंत आवश्यक होता है । क्योंकि कर्मके बिना मुक्तके साधन इसको प्राप्त नहीं होते और मुक्तसाधनोंके अभावमें वह दुःखोंसे सदा लक्ष्ण रहता है । मनुष्यकी अपूर्णताका बड़ी कल्प है कि वह सदा अनुभव रहता है अस्तित्व हीनता है और सतत वैधनता रहता है । रात्रिदिन कर्म करता है अस्तित्वसे भोगोंके साधन अपने पास इच्छा करता है एक भोगके बाद दूसरा भोग दूसरेके पश्चात् तिसरा इस प्रकार विग्रह न केवल हुआ भोगमें रह हीया है । कर्मोंसे भोग प्राप्त नहीं मिले भोग-साधनोंसे भोग और भोगोंसे क्षणिक सुख सुखके पश्चात् फिर दूसरे भोगोंके लिये कर्म इस प्रकार कर्मभोगके चक्रेमें साधारण मनुष्य सदा फँसता है । इस चक्रेसे बाहर हीना इसको अच्युतता हाथ है । वे सब स्वार्थके हेतुसे कर्म है जिनमें साधारण मनुष्य फँसता है । अपने निजी भोगोंमें फँसनेसे मनुष्य सदा गिरता जाता है और अनेकानेक पातनाकोंमें बहता होता है इसकी हृदय पात नाचनेमें मुक्ति होनेके लिये क्या उपाय किया जाय इसका निवारण धर्मकारने किया है । वे कहते हैं कि बाह्य पदार्थों

अथवा बाह्य भोगोंपरस आसक्ति हटानेसे अपने अहममें ही उन सब भोगोंकी प्राप्ति उसको होती है । वैसाही सिद्ध पुरुष (अहम-रति) अहममें ही रह होता है अपने अहमके साथ वह जीवा करता है अहमके साथ ही वह कोछता है और जो आत्मन् साधारण होता दूसरेके साथ जीवा करनेसे प्राप्त कर लक्ष्में है वह आत्मन् अथवा उससे भी अपने आत्मन् उसको अपने आत्माके साथ जीवा करनेसे मिलता है । इसी विषयमें उपनिषद्में इस प्रकार कहा है—

अपात आत्मावेद्य एवात्मैवापस्तदाद्वारमोप
रिद्रावतरमा पश्चाद्वातरमा पुरस्ताद्वातरमा वृत्तिपत
आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एव
एवं पश्यशेष मन्वान एवं विज्ञानआत्मरति
आत्मकीद आत्ममिथुन आत्मामन् न शराह
अथति तस्य सर्वेषु जीकंपु कामचारो मथति ।
अथ येऽप्ययाऽतो विदुरपरप्राज्ञानस्ते क्षप्य
जीका मथन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामधारा
अयति ॥ (छां उ ७, १५, १६)

“ अहमात्म आदेश देता है आत्मा ही न, कारण पीछे जहाँ जहाँ और जहाँ जहाँ और है । अहमाही यह सब है । जो देता देखता है देता मानता है और एवाही अनुभव करता है वह (आत्मरति) अहममें मनेवाला (अहम जीवा) आत्माके साथ जीवा करनेवाला (आत्ममिथुन) अहमाही ही दूसरेके लक्ष्मेंसे प्राप्त होवेवाला सुख प्राप्त कर लक्ष्मा हीनेक कारण उसकी (अहमात्मन्) अहमासे ही

पत्रक यह विषय नहीं विचार करत हूँ। यहाँ कामका चक्र
जपन किये न लेकर उसका अनन्तक दिनाथ त्याग करनेका
नाम आसक्ति छोड़ना है। इसीका नाम पदार्थ परमात्म है।
और फल जपन किये ही रहनेका नाम स्वार्थ है। फलका
भोग स्वार्थ करनेसे परम पद नहीं प्राप्त होता परन्तु उसका
पक्ष करनेसे अनाम जगद्गत किये अनाम करनेसेही परम
पद मिलता है।

साधारण मनुष्य का जिह्म नहीं बना उनका किये जानना
है कि वह फलका त्याग करनेकी योग्य। फलका त्याग
करनेसेही मनुष्यकी पूर्णता होती है। फल जपन भोगक
किये रहनेसे आत्माकी शक्ति संकुचित होकर फल गिरा
बट होती है और फलपर अनासक्ति करनेसे अर्थात्
फलका पक्ष करनेसे बिना फलका अनन्तकी सकर्षक किये
समर्पण करनेसे हृदय आत्माकी शक्ति बढ़ती है। (अना
सक्ति त्याग आसक्ति विषयमें म गी अ २ श्लो ३ स
अन्तर्गतकी संपूर्ण व्याख्या पढ़िये)। यहाँ अनासक्तिका
विषय बहुत विस्तारसे कहा है।)

म गी अ २ श्लो १८ क अनाम उपदेश अन्य
शास्त्रोंमें भी है। वह अब देखिये—

इत्युक्तं कर्मत्यागनाथ कमलमाश्रये ।
तेन दिव्यं यथा यद्यत्फलं यथा करात्यसी ॥
(योगवा ६ अ १९९०)

बाबीक कर्मोंका त्याग करनेसे कोई प्रयोजन नहीं
होता है और कर्मोंके करनेसे भी कोई प्रयोजन नहीं
होता। वह यहाँ वैसी अवस्थामें रहना है, यहाँ वैसी अवस्था
में जो जो कर्म का पक्ष वह ब्रह्माही करण है। तथा और
इसी उपदेशक उपन्यासमें कहा है—

मम सास्त्रि हृतेनायं भास्त्रनेह कथ्यते ।
यथाप्राप्तेन सिद्धिभिः शक्यमिति क माश्रये ॥
(योगवा ६ अ १९९१)

कर्म करनेसे मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं है और न
करनेसे भी नहीं है। कर्म करना और न करना मेरे किये
पक्षीसा है। जो प्राप्त होता है उसे मैं काता हूँ। कर्म न
करनेका भी आश्रय क्यों था आश्रय ? यहाँ पादक देखें

कि ह्रम होना म कर्म पक्षीसा है तब तब हृतेनायं भास्त्र-
नेह कथ्यते । ह्रम गीताक श्लोकार्थ समान ही है। ह्रम
शब्दोंका अर्थ है परन्तु अर्थका अर्थ कोई नहीं है। जो
देखिये—

विद्यायाम् म साध्यां स्थानमयस्य मयदा ।
मताऽमस्यया मय वनस्य कम अयमुमि ॥
(गीतागीता २।१८)

मम प्राप्तिपक्ष द्वारा उस शस्त्री पुराणमें कुछ अवरोध
सिद्ध करना नहीं होता, अना साध्यां अपने अपने कर्म
आसक्ति छोड़कर ही करने चाहिये ।

हम तरह गीताक विद्यामार्ग समान है। उपदेश अनाम
साध्यां पता जाना है। ह्रम योद्धी तुष्टता करनेसे मात्र
गीताक (२।१८) श्लोकका अर्थ भी मुझे सफा है।
अनु ।

अब अवस्था मुझे परमपद परमआत्म आत्मसमुपि
आदि सब का मनुष्यक प्राप्त्यक्ष है उसको प्राप्त करनेके किये
अनासक्तिक कम करनेकी आवश्यकता है। मनुष्य साध्यां
और फलोंपर विनयी सर्वाङ्गक अनासक्ति प्राप्त करेगा,
असौही सर्वाङ्गक उसकी वैधति होगी। कई लोग कहते
हैं कि फलपर आसक्ति नहीं रही तो मनुष्यके कर्मही नहीं
होया। परन्तु वह बात साधारण लोगी मनुष्यके विषयमें
देखीही है जो मनुष्य तबको कहिये हैं, वे तो स्वभावका ही
असक्ति छोड़े हुए होते हैं और वह करना उनका स्वभाव
अनाम है उनका जीवन बरहम बना है वे जो कुछ करते
हैं उनका अर्थक प्राप्तिपक्षकी सकर्षा होता है। उनका वह
कर्मही अनाम है। जैसा स्वर्णका अर्थ और कर्म अनामता
स्वभावमें है उसमें अनासक्तिक मात्र छोड़ा भी नहीं है
इसी प्रकार प्राप्तिपक्षपर अनुसंधान करना उनका स्वभाव
अर्थ होता है। उनके ह्रम कर्मोंके किये फलकी प्राप्तिक
वैरक नहीं होगी। वे तो स्वभावसेही वैरक कर्म अना-
सक्तिक करेंगे और फलका समर्पण भी वैधति स्वभावसेही
होया। इस विषयमें कहनेको अर्थक हाया इसकिये अनाम
धीमन्नमस्तुते अनाम श्लोकमें कुछ उदाहरण देत हैं और
अर्थकिये करते हैं। इसविषय अब आका श्लोक
देखिये

(८) अनकथा उदाहरण

कमणैत्र हि ससिद्धिमास्थिता अनकावयः । लोकमंग्रहमेवैषि संपश्य कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय — हि अनकथावयः कमेणा एव सिद्धिं आस्थिता । (२०) अथ लोकसंग्रहं एव मन्त्रयन् कर्तुं अर्हसि ॥ २ ॥
अनकथा अधिकोंने भी कर्मसेही परम सिद्धि प्राप्त की थी । उसी प्रकार तुझे भी लोकसंग्रहपर इष्टि रख कर कर्म करना योग्य है ॥ २० ॥

भावार्थ — अनकथावयः अर्थात् पूर्वकाक लोगोंने भी इसी प्रकारक निष्काम कर्म करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी । इन पूर्वजोंका उदाहरण देकर तथा लोकसंग्रहकी इष्टि धारण करके भी मनुष्यको कर्म करना अवश्य योग्य है ॥ २ ॥

(२) पूर्वश्लोकमें जनान्मिक्षिणे कर्म करके उत्तम सिद्धि प्राप्त की है । सांख्यिक उपदेश प्रवण करनेसे मनुष्यके मनमें योग्य परिचर्जन नहीं हो सकता । इसलिये उसको उदाहरण देने पड़ते हैं । किन्तु मनुष्योंने अपने जीवनमें वह उपदेश प्राप्त किया था और उपरर इस उपदेशका परिणाम वैसा हुआ था और उनके जीवनचरित्रसे इस समयकी जनतापर क्या परिणाम हुआ । इसलिये मैंने उदाहरणरूपसे सब बताया है । यह वह उपदेश शिष्यके मनमें जम जायगा । इसी कारण महात्मा श्रीकृष्ण कर्तुमके अनंतर निष्काम कर्मयोग किंवा अनात्मविभोग का उपाय तथा स्थिर करनेक उद्देशसे अनकथा अर्थात् पूर्वकाके राजा महाराजाओं क उदाहरण देते हैं । अनकथावयः अर्थात् इतिहासप्रसिद्ध पुरोहित इसी अनात्मविभोगका आचरण करके परम सिद्धि प्राप्त की थी । उनके उदाहरण नामसे सबको दे लज्जित । तु भी वैसा आचरण करके वह परम सिद्धि प्राप्त कर । यदि अनकथाको वह शिष्य प्रवीण पण्डित हुआ । फिर मनुष्यका भी वह साधन हो सकता है । इस तरह प्राचीन पुरोहितोंके जीवनचरित्रोंका निवारण करके अपने जीवनमें योग्य शिक्षण परिवर्तन करना अर्थात् उचित है ।

पुराचारसं यदि उनके सहजान् अनुवायिबोद्धा शिष्या होने लगा तो इसका विशेष विचार करना चाहिये ।

कर्तुं एक प्रसिद्ध वीर पुरुष था । उसक प्रभावक मन्त्र काजों मनुष्य थे । अतः जो कार्य अनुमान करेगा वैसा ही उसके काजों अनुयायी करने लगेंगे । इस समय मन्त्र पुरुष म विद्वत् हो रहा था । इस पुरुषविद्वत्का कर्तुमक मनका हेतु मन्त्रयन् उपर्य अनुकर्षणी होगा । पाम्नु उनके सब अनुयायी वह आन्तरिक बाध नहीं जान सकते थे । वे तो जननका पुरुष विद्वत् होनाही देखेंगे और समय अनुमान करेंगे कि कर्तुमक अनुमान इस भी पुरुष पीछ हटेंगे । इस प्रकार सब अनुकरण तथा विनाशक होता है । अतः मेला अथवा लोगोंको उचित है कि वे इन जनताकी प्रवृत्तिको जानकर अपना आचरण देना रखें कि जिनम अनुयायिवासे अवाग्य कर्म करनेकी और प्रवृत्ति न हो । इस दृष्टिसे भी कर्तुमको यह प्रवृत्ति पीछे हटना योग्य नहीं है प्रवृत्ति पुरुषों रिवर रहकर उचित पराक्रम करनाही योग्य है । इससे उपर्य अनुयायी लोग उसी प्रकार पराक्रम करेंगे और सबक मिलकर किसे पराक्रमस धर्मक पक्षक विजय होगा ।

श्लोक-संग्रह

इसमें भी आर एक विशेष हेतु है जिन कारण कर्तुमको पुरुष विद्वत् होना अवश्य है । वह हेतु है "काक-मंग्रह" करना । लोकसंग्रह का अर्थ है— (१) (श्लोक) लोगोंका जनशत्रु (मं—) सम्यक् रीतिसे उचित पद्धति से (संग्रह) धारण करना मगहन करना, (२) जनताकी प्रत्याह राष्ट्रकी उन्नति जगत्का सुचार मनुष्यमात्रका मन्त्रागार काना, (३) जनताकी रक्षा राष्ट्रका मर्यादा, (४) लोगोंकी संरचना राष्ट्रीय मन्त्रणा, (५) जनताको

और भी एक प्रवक हेतु है । मनुष्यमें गतानुगमिकत्व रहता है इस कारण जैसा एक प्रसिद्धि मनुष्य आचरण करना है वैसा उसका अनुयायी करने लगने है । विशेषतः पुरोहितोंका अनुकरण तो प्रीति करते हैं और पुत्रोंका भी करण है । प्रसिद्धि पुत्रोंपर वह जिम्मेवारी होती है इसलिये उनके उचित है कि वे अपने आचरण आत्मदर्शार्थके अनु रूप रखें । क्योंकि इन्होंने अनुदाचार्य किया तो उसका पूरा परिणाम उनके अनुयायिबोध होगा । एक मनुष्यका कर्मसे आचरण हुआ तो कोई क्षय नहीं है परन्तु उनके

(९) लोकसंग्रह

यद्यदाचरति भ्रष्टस्तत्तद्वृत्तरो जनाः । स यत्प्रमाण-कुरुत लोकास्तदनुवर्तेत ॥ २१ ॥

अन्वय — यत् यत् भ्रष्ट आचरति तत् तत् पुन इतराः जनाः (आचरति) । यः यत् प्रमाण कुर्यात् कोऽऽ तत् अनुवर्तेत ॥ १ ॥

जैसा भ्रष्ट पुरुष आचरण करता है उसी प्रकार अन्य लोग भी आचरण करने हैं । वह पुरुष जो प्रमाण बताता है लोग उसीका अनुकरण करते हैं ॥ १ ॥

उप्य भागसे बचाना उनका सम्बुद्ध करना है । इसका नाम लोक-संग्रह है । इस लोकसंग्रहका कार्य करना भी लोगोंका कर्त्तव्य है । विशेषतः विशेष अधिकार पर जो हस्ति है उसका तो नि सन्देश कथन है । वस्तुतः हर एक सम्बुद्धको बधासति लोकसंग्रह करवाही चाहिये । परन्तु परमेश्वरकी कृपासे जिनकी योग्यता विशेष उप्य है उनकी तो अपना आचरण 'लोकसंग्रह' का विचार करकही करना चाहिये । तैर इस आचरणसे लोकसंग्रह होगा या न होगा इसका विचार करके जिन आचरणसे लोकसंग्रह होगा उस कार्यको अवश्य करना चाहिये । इसलिये यहाँ कहा है कि (लोकसंग्रह पूरा करि संप्रवर्ण कर्तुं चाहिये) लोकसंग्रहपर एहि रक्कर मी तुझे कर्म करना योग्य है । यदि तुझे स्वयं कुछ प्रवृत्त नहीं है तो भी लोकसंग्रह के लिये तुझे कर्म करना योग्य है । कर्म करने और न करनेसे किसीका कुछ हानि लाभ नहीं होता हो गद्यपि इस लोकसंग्रहका मत उत्तरपर होनेके कारण उसको ब्रह्मणसे कम करना योग्य है । यही बात महाभारतमें कही है—

अपयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान् ।

(म मा उलो ५११५४)

[लोकसंग्रह की लोकसंग्रहकारणप्रवृत्त लोकसंग्रह के लिये सिद्धता सन्त ।]

यदि लोग लोकसंग्रहका विचार करकेही श्रुत हुए थे । अपने धर्ममें लोकसंग्रहका विषय विशेष महत्त्वका स्थान रक्ता है । इसलिये इस विषयमें महामातरमें कहा है —

लोकसंग्रहसयुक्तं विद्यायां विहितं पुण ।

सर्वप्रथमार्थनिपत् सतां चरितमुत्तमम् ॥

(म मा वा २५८१५)

लोकसंग्रहकारक तथा सर्वप्रथमार्थ विद्यायां विहित करनेवाला सन्तुष्टोंका उत्तम चरित्र स्वयं लोकास्तदनुवर्तेत ॥ २१ ॥ इस तरह लोकसंग्रहका महत्त्व यदि कल्पसे कार्यकारणोंमें ब्रजत किया है । सब ब्रजतों में लोकसंग्रह के लिये आत्मसंस्मरण करनेकी जो उत्तम कल्प कोकसंग्रह सन्तुष्टे स्वयं होती है वही किसी अन्य सन्तुष्टे या अन्य प्रमाणों के लिये सन्तुष्टे नहीं होती । सर्वप्रथम लोकसंग्रहकी समाधिपर लोकसंग्रहका कार्य करनेकी आज्ञा है वह यही देवता योग्य है—

प्रवृत्तार्थेति समिधा समिद्धः कार्त्तव्यं पसानां
वीक्षितो वीक्ष्यमनु । स सद्य पाति पूर्वस्मात्
चरं समुद्रं लोकसंग्रहस्य सुदुराचारेकम् ॥

(अथर्व १११५१)

यही वही देवताका वीक्षित ब्रह्मणो समिद्धो विद्यायां विहित होकर [पर्वण्यकी समाधिपर] एवं सन्तुष्टे उक्त सन्तुष्टके ब्रजत करके (कोकसंग्रह सन्तुष्ट) लोकसंग्रह उत्तम के लिये कार्य-करता हुआ कोकसंग्रह (सुदुराचारेक) लोकसंग्रह के लिये लोकसंग्रह प्रवृत्त करता है । सर्वप्रथम यही विद्यासमाप्ति के पश्चात् लोकसंग्रह करनेके लिये देव विद्यासंग्रहमें ब्रजत करता है यही कोकसंग्रह के लिये देव सुचारता है और संवर्धित करता है सुचारता चरं लोकसंग्रह सुदुराचारेकका स्वीकार करता है । इसका लोकसंग्रह प्रवृत्त अधिक कर्ममें माना है ।

इसी विषयमें लोको के चार स्तर हैं जिनमें लोकसंग्रह प्रवृत्त स्वयं अपना उदाहरण देकर वही लोकसंग्रह प्रवृत्त लोकसंग्रह प्रवृत्त करके है । वह मनोबल कथामात्र पर देखिये—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥
यदि ब्रह्म न वर्तेयं जातु कर्मण्यतस्मिन् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् । सकरस्य च कर्ता स्यामुपहृन्वा मिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अर्थात्—हे पार्थ ! (यद्यपि) मे त्रिषु लोकेषु किञ्चन कर्तव्यं न अस्ति अनवाप्तं अवाप्तव्यं च न (अस्ति तथापि) नहं कर्मणि वर्तं एव ॥ २२ ॥ यदि हि ब्रह्म अतस्मिन् (सत्) कर्मणि जातु न वर्तेत (यदि) हे पार्थ ! मनुष्याः सर्वशः ममे वर्मं अनुवर्तन्ते ॥ २३ ॥ नहं कर्म न कुर्यां केन इमे लोकाः उत्सीदेषु स करस्य च कर्ता स्याम् इमाः प्रजाः च उपहृन्वा ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! यद्यपि मुझ तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहा है और कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनेकी राह गए है ऐसा भी नहीं है। तथापि मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥ २२ ॥ यदि मैं अज्ञानित्वात् अज्ञान्य छान्दकर कममें न लगता रहूँ तो हे पार्थ ! लोग भी सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार ही चलने लग जायेंगे ॥ २३ ॥ यदि मैं कर्म न करूँगा तो ये लोग भी नष्ट हुए हैं जायेंगे मैं सबका कर्ता होऊँगा और इन प्रजाजनोंका नाश करनेवाला भी मैं बनूँगा ॥ २४ ॥

भाषा—मेड लोग बैसा व्यवहार करते हैं, अन्य साधारण लोग भी वसा ही व्यवहार करते हैं। थोड़िके आचरणक हूँ तो अपे सदा अनुकरण करते रहते हैं। मेड लोग जिसको प्रमाण मानते और बताते हैं अन्य लोग भी उसीको प्रमाण मानते हैं। उसमें पुण्योंको करनेका कुछ भी कार्य अवशिष्ट न भी रहा तो भी उनके कर्म करनेमें दक्षिण होना चाहिये। यदि वे कर्ममें दक्षिण न रहें तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करेंगे और कुछ कर्म न करमाही अपना प्येव बनायेंगे। इस तरह साधारण लोग आकसी बनैंगे और आकस्मिके नाशको प्राप्त होयि अपना संकरके दोषसे वृत्ति होगे। इस समाजक नाशक रूप मेड लोगोंके कर्म न करनेपर ह। अतः समाजहितकी दृष्टिसे मेड पुण्योंके अनहितके क्रिये कर्म बलवत् करना चाहिये ॥ २१-२४ ॥

मेड लोगोंका उत्तरदायित्व

(२१-२४) मेड पुण्योंका आचरणही अन्य साधारण मनुष्योंको धर्ममार्गाका दर्शन हुआ करता है। उसमें लोग बैसा व्यवहार करते हैं अन्य लोग उसको देखते हैं और बैसा आचरण करने लगते हैं। अर्थात् साधारण लोगोंकी प्रवृत्ति अनुबानुकरणमें विसेष होती है। अतः यदि मेड लोगोंके आचरणमें कोई दोष हुआ तो उनके अनुयायियोंमें वही दोष बढ़ जायगा है। अतः कर्मका अनुकरण करना कठिन कार्य है परन्तु सोचोका अनुकरण सुगम है। क्योंकि समुच्च उनकी महा उपस्थापन जबमें वह हुए होते हैं और उनके दोष उनकी कमजोरीक कारण होते हैं। अर्थात् दोषों का अनुकरण करना अज्ञानियोंकी निर्बलताके कारण उनको सरल होता है और मनुष्योंका अनुकरण करना उपस्थापन अभावक कारण साधारण लोगोंमें अत्यन्त होता है। इस क्रिये मेड पुण्योंपर बड़ा उत्तरदायित्व होता है।

वही ही अर्हवक पक्षमें देखिये। अर्जुनक सम्प्रसाधितक अन्य मनुष्योंके किन अनुकरण करना अत्यन्त है क्योंकि वह बहुत अन्धकारसे सिद्ध होयेवाला कर्म है। परन्तु अर्जुन पुत्रस मित्रु होय है वह देखकर हरएक मनुष्य पुत्रस मित्रु हो सकता है; क्योंकि वह सदाश्रीमें हा सकता है। अर्थात् अन्य साधारण लोग अर्हवका भी अनुकरण करेंगे वह उनकी अनुविष्टाओं वही प्रभुस उरकी पुत्रसिद्धिमें। शाय अनुकरण करनेवालोंकी प्रवृत्तिही यही होती है। अनुकरणकी प्रवृत्ति निर्बलताकी ही प्रतीक है और निर्बल मनुष्य बलवान्में कार्य कभी कर नहीं सकते। इसीप्रिये यह पुण्योंको उक्ति है कि अपना अनुबानुकरण साधारण लोग करेंगे वह जानकर अपना आचरण विचारपूर्वक करें ताकि जगत् अनुबानुकरण करने की लगी थी यी वह सुधारक मार्गमें चले और कभी गिरावटकी ओर न मुड़ सके।

सुतोपदे राजर्षयका एक उदाहरण है कि एक महाराष्ट्री

एक पांवमें फोड़ा होनाक कारण और पांवमें दुःख होनेके कारण इसमें यदि पकड़कर संभालती हुई चढ़ने लगी। ऐसा करना तो उसके लिये उस समय कार्यत बाधरूप हो गया था। परन्तु उसका करना देखकर बड़ाही अन्ध अन्धी किया हाथमें सोटी छेदर वैसीही संभालने लगी। और जबतक वह महाराष्ट्री अन्धी नहीं हुई तबतक बड़ाही रोकड़ों बिचोंमें संभालते हुए चढ़नेकी कैसा न बन गई थी। इसका नाम है अन्धबालुकरण। सर्वसाधारण मनुष्योंमें यह ऐसाही हुआ करता है। इसीलिये उपनिषद्में कहा है—

पाम्यनवपानि क्माणि तामि सेवितव्यानि
मो इतराणि। पाम्यभ्रार्कं सुचरितानि तामि
त्यथापास्यानि मो इतराणि। अथ यदि ते
कर्मविधिखिच्छरा वा पुण्यविधिखिच्छरा वा
स्यात् ये तत्र ब्रह्मणा संमर्शिता। युक्ता आ-
युक्ता मनुष्या धर्मकामाः स्युः पथा तं तत्र
वर्तेन्तु तथा तत्र वर्तेयाः ॥

(छे ४ वि ११४ ४)

जो हमारे लक्ष्य कर्म होंगे उनका ही तू सेवन कर इतर अपार्थिव कर्मोंका अनुकरण न कर। जो हमारे सुचरित हैं उनही तू अपासना कर हमारे पुण्यचरितोंका अनुकरण न कर जब तुम कर्म और आचारमें विषयमें कमी सम्बन्ध रूपसे हो जाय तो कहा जो पार्थिव सम्पन्न होंगे वे कैसा आचरण करेंगे कैसा बड़ा तू आचरण कर। अपार्थिव ब्रह्म सम्मर्शोंके सुचरितोंका अनुकरण तू कर और कमी पुण्यचरितोंका अनुकरण न कर। महामार्गमें गारापचीका लानमें बड़ी बात कही है—

पराधं तार्थ्येयं वै ईशानं वरव शिष्यम् ॥ १४ ॥
आत्मानं तार्थ्येयत्कश्चिदिति मे माधित्वात्मनः ।
मया प्रमाद्य हि कृते लोकं क्षमयुवर्तते ॥ १५ ॥

वीरुष्य भगवान् बर्देनसे कहते हैं कि— यदि वरवत्ता महेश्वर शिष्यकी मैं पूजा न करूँ तो मेरे आत्माकी भी पूजा कोई नहीं करेगा। जब लोग मेरे लीकार लिये भगवान्का ही अनुसरण करते हैं। यदि वीरुष्य भगवान् स्नान लेखा और देवपूजा न करेंगे तो अगस्त्य लोग भी इन कर्मोंसे विमुख हो जायेंगे। यह अक्षरवृत्तिले मेरा कोशोपर है इसलिये उनको उचित है कि वे अपना आचरण उनका

बीर निर्दोष रखें।

भगवान् वीरुष्य यहाँ अर्जुनको अपना उदाहरण देते हैं। पण्डिते जबक रामा (अक्षपति रामा) काटिके उदाहरण दिये हैं। उनक विषयमें अर्जुन टीका करेगा कि जबक रामा काटि तो पूर्वकृतक रामाकोय वे। कौय जान सकता है कि उन्होंने सबमुच देखा ही आचरण किया भा और जब प्रकार नहीं किया था। उनके चरित्रकेकर्मों उनके चरित्रों मनुष्याधिक किया होगा। कर्मलोग विरुद्ध होते हैं और वे कर्म करके जाते हैं। अर्जुनक मनमें ऐसी लका उत्पन्न होना संभव है इसलिये अर्जुनक मानन अपनाही उदाहरण रखते हैं। वे कहते हैं— ' हे अर्जुन ! भर्मेक उदाहरण ले चलन रखा और मेराही आचरण देखो। मुझे इस लिकेकी क अन्धर मिलनेवाले सब बालम् और सुख प्राप्त है मैं सरा एक और बातबान हूँ। मुझे कोई प्राप्ति बचाही नहीं है। इस कारण मैं कृतक हूँ। अथा मेरे लिये कुछ कर्मों का सिद्ध रहा है ऐसा भी नहीं है। इस तरह कृतक होकर भी मैं सरा कम करता ही हूँ। यह जो मैं कर्म कर रहा हूँ यह मेरा साध्यकर्म करता हूँ धर्मरात्रके परके कार्य करता हूँ, सुखोंका विरुद्ध और समन्तोंका परिपादन करता हूँ। धर्मसेवापनाक लिये पल्लवा हूँ बाण्यकसेमैं जो रसी कार्यमें विरक्त बुरिसे लगा हूँ वह इससे मुझे कुछ प्राप्त करता है इसलिये नहीं। मैंने वे सब कर्म लिये करना न लिये तो भी मेरे आचरणमें कुछ भी मनुष्यकर्म नहीं होगा। उभावों में जो वे कर्म कर रहा हूँ वह कर्म कोक्येवरा रहि रखकर ही कर रहा हूँ।

जबकि यदि मैं इस प्रकारके कार्य न करूँगा और धर्मक प्रस्था करनेमें वृत्तिल न होऊँगा तो सब लोग मेरा अनुकरण करेंगे। मैं कृतक बातकाम और सबकर्मोंसे सुखी और आनन्दी होनेके कारण ही यदि कर्म करनेसे विमुख हुआ तो भी लोग जो इस समय सब प्रकारसे तु भी पर तंत्र बल और संकटोंसे ग्रस्त हैं, व भी मेरा अनुकरण करने कर्मसे विमुख होमि और मतिविल बलिक दू। कामागत होवते कार्यमें। मैं तो सब प्रकारसे लक्षकाम होनेसे कर्मसे विमुख हुआ था परन्तु वह बात तो अन्धानुकरण करनेवाले समा न्य जबकि ज्ञानमें भी नहीं जायेगी और मैं कमसे विमुख हुआ हूँमिलिये बेसी विमुख होमि। इस तरह यदि हम पाँके

योग कर्महीन बनकर जाकर स्वयं रहनेके कारण दुःखी होती है उनके दुःखका हेतु निःसन्देह मैं बतूंगा । यतः कोशिकात् स भसदनुकरणका दोष मुझे न कदा जाय इसलिये मैं अक्षरहित होकर दक्षगते इन कार्योको कर रहा हूँ ।

यदि मैंने कर्म करना छोड़ दिया तो इस प्रकार जनता का नाश हो जायगा । किसी भी प्रकार उनका उद्धार नहीं हो सकता और सबका भय हो जायगा ।

सकरमे नाश

यदि कर्मत्यागसे संकर हो गया तो सब प्रजाओंका नाश हो जायगा और इस नाशका हेतु मैं बतूंगा । मैं तो कभी जनपदक नाशक हेतु बनना नहीं चाहता क्योंकि प्रजापाकन का मेरा हेतु है और इसीलिये मैं सदा ये भेद कम बह-मिष करवा रहा हूँ । हे अर्जुन ! तू भी इस भारत वसिष्ठ भेद प्रवृत्त है तेरे अनुयायी भी बहुत हैं । इस कारण यदि तू इस प्रकार कर्मसे निवृत्त हुआ तो तेरे अनुयायी भी वैधे ही कर्मसे निवृत्त होयें और नाशको प्राप्त हों । इसलिये इस समय इस पुत्रसे निवृत्त होना तुम्हें उचित नहीं है । नव है अर्जुन । तू जिस वस्तुमुक्त करनेके लिये यहाँ उपस्थित हुआ है वह करना इस कारण तुझे आवश्यक उचित है ।

इस प्रकार अपनाही उद्धाररथ केन्द्र भगवान् श्रीकृष्णजी ने बहुतको उपदेश किया है । यह उद्धाररथ प्रसन्न होनेसे अर्जुनके मनमें स्थिर हो सकता है और उसको कोई शंका नहीं हो सकती ।

इस श्लोकमें कर्म छोड़नेसे संकर और संकरसे प्रजा-कर्मोंका नाश होग्य ऐसा कहा है । इस विषयमें यहाँ योगसा अधिक विचार करना आवश्यक है । क्योंकि श्रेष्ठ पुत्रोंके कर्म छोड़नेसे जनतामें संकरकी उत्पत्ति क्योंकि हो सकती है और उससे उनका नाश भी किस प्रकार हो सकता है वह बात बिना विशेष विचार किये हृदयके ध्यानमें नहीं आ सकती । इसलिये यहाँ इसका विचार करते हैं ।

मान लीजिये कि किसी एक समाजके भेद कोशिकात् कर्म करना छोड़ दिया तो उसका परिणाम क्या होगा तो वैश्वेदेव आशय वर्तक भेद कोशिकात् अपना अणुपणु, अणुपणु ब्रह्म और ब्रह्म वह कर्म छोड़ दिया तो ब्रह्मण वर्तक अणुपणु भी उनका अनुकरण करेगी और अणुपणु तथा

पञ्चन करना छोड़ देंगे और ये सब अशिक्षित रहनेसे वे योग्य रीतिसे अणुपणु नहीं कर सकेंगे, इसी तरह वे ब्रह्मण करने में भी असमर्थ होंगे । इस रीतिसे प्राण्य ब्रह्म कर्म भ्रष्ट होनेसे उसका प्रमाणपूर्ण नष्ट होनेसे वे केवल आदिमात्र आशय रहेंगे और अणुपणुमें उनका ब्रह्मण नष्ट हो जायगा । इस प्रकार अणुपणु प्राण्योंका नाश होनेसे सभी अणुपणु वर्तक पतित होंगे और इस राष्ट्रके पतनका कारण श्रेष्ठ प्राण्यों के स्वकर्म छोड़नेमें ही है वह पाठकोंको निश्चिन्त होगा ।

यदि भयः क्षत्रियेण राष्ट्रस्थां यदि अपना कर्म छोड़ दिया तो उनके अनुयायी दूसरे साधारण क्षत्रिय भी उनका अनुकरण करेंगे और अपना सौवं देव आदिकी संरक्षि करने का कार्य छोड़ देंगे । इस तरह क्षत्रियोंके अन्तर्गत सौवं देव सौवं पुत्रहीनस्व आदि सब अणुपणु नष्ट होंगे और ये अणुपणु होनेसे क्षत्रियोंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा नहीं हो सकती साधुके इनके होंगे और अणुपणुमें राष्ट्र साधुके अधीन होगा । श्रेष्ठ क्षत्रियोंसे स्वकर्म छोड़नेसे यह जनन हो सकता है ।

यदि भयः वैश्येण स्वाध्यायवृद्धिं कृषिं पशुव्रक्षणं यदि अपना कर्म छोड़ दिया तो अणुपणु वैश्यवर्गके लोग भी काम अणुपणु नहीं करेंगे और स्वाध्याय व्यवहार बन्द होनेसे धन नहीं प्राप्त होगा राष्ट्रमें विध्वंसन बहेगी वैश्वेदेवसे सब लोग क्षत्रिहीन होंगे कृषि बन्द होनेसे दुर्भिक्ष बढगा और इस प्रकार सब राष्ट्रका नाश होगा ।

युक्तेके श्रेष्ठ कोशिकात् अपनी कारीगरीकी कमकुसकता छोड़ दी तो राष्ट्रमें कारीगरीकी स्थूलता होगी वैश्वेदेव बहेगी और किसीको भी खानेको नहीं मिलेगा और सबका नाश होगा ।

यदि हृदयः वर्तक श्रेष्ठ कोशिकात् अपना अपना स्वकर्म छोड़ दिया तो इस प्रकार सब राष्ट्रकी ध्वस्त होगी । इसी तरह किसी भी श्रेष्ठ स्वाध्याय रहनेवाले अनुपणुपणु अपना कर्तव्य कर्म छोड़ दिया तो भी सब अणुपणु काग उसका अनुकरण करेंगे और वही क्षति होगी । अनेक भेद ब्रह्मण अपना अनेक श्रेष्ठ क्षत्रिय अपना कर्तव्य कर्म छोड़ देगा तो अणुपणु उसीप्रकार नाश होगा ऐसी बात नहीं प्रयुक्त उसके कर्मत्यागके पुरे संस्कार सब अणुपणु कागर्त भी होंगे और सब सौवर्गोंका नाश होगा जायगा । श्रेष्ठ लोग जो आचरण करते हैं हृदय जन पैसा ही आचरणते हैं वह गीत-

मायाध—नशानी लोग स्वार्थसे फलभोगकी इच्छा रखकर धितनी उत्परापूर्वक कर्म करते हैं, अतही उत्परा पूर्वक विद्वान् मनुष्य कोककल्याण करनेकी कामनासे निःस्वार्थ होकर कर्म करे ॥ फलभोगकी इच्छासे कर्म करनेवाले नशानी लोगोंकी कर्ममें प्रवृत्त हुई बुद्धिमें विद्वान् मनुष्य कदापि संदेह उत्पन्न न करे उनसे ये सब कर्म मान्यसे करावे परंतु स्वयं समत्व-बुद्धियोगका आचरण करता हुआ अपना कर्म करे ॥ २५-२६ ॥

(२५-२६) कोकसप्रदका कर्म करनेकी जिम्मेवारी शानी मनुष्यपर है यह वृत्तान्ते किये इस उपदेशका प्रारंभ है । कोकसप्रदका अर्थ है— 'कोककल्याण अवतारी मर्कट' राष्ट्रीय उन्नति लोगोंका अनुपपन्न और निःशेष । कोककल्याणकी साधना करनेके उद्देश्यसे शानी मनुष्य कोकसप्रदके कार्य करे । शानी मनुष्य तो निरवतुल्य कामसमुत्तम तथा इच्छादेयवर्धित होता है अतः (तत्त्व कार्य न विद्यते । म गी ३।१०) उसके किये कुछ कल्प्य नहीं है । कर्म करनेपर भी उसकी कोई प्राप्त्य नहीं और न करनेसे भी उसकी कोई हानि नहीं ऐसी स्थिति शानीकी होनेके कारण उसका किये कोई कल्प्य व्यवसाय नहीं रहता यह सम है । परन्तु यदि इस प्रकारके सिद्ध पुकने कर्म छोड़ दिया तो साधारण लोग कहेगे कि ऐसी वह कामना मनुष्य है वह कुछ भी कर्म नहीं करता फिर हम भी क्यों करें ? ऐसा कहेगे तथा कर्म छोड़ देंगे और कर्मत्यागसे उन सबका भय होगा । वह व्यवसाय नाश करनेका शेष शानी मनुष्यके कर्मत्यागसे संभव रहता है अतः शानी मनुष्यका कुछ स्वार्थसाधनके किये कर्म नगी करने हों तथापि लोगों की बुद्धिप्रसंगसे बचानेके किये उसकी उन्नति है कि वह कर्म करे ।

अशानी जन फलका भोग (सखा) करनेकी लाजुरतासे असम उत्पन्न होकर कर्म करते हैं, इनका कर्म भोगकासे होता है अतही भोगकी इच्छा अधिक अतही कर्म करने की भी उत्परा अधिक होती है । प्रायः साधारण लोग इसी रीतिसे कर्म करते हैं ।

शानी मनुष्य भी ऐसीही उत्परातासे कर्म करे । इसके कर्ममें तो स्वार्थका छेद भी नहीं होगा क्योंकि स्वायकी पूर्णावृत्ति होनेके बादही वह शानी बना होता है । यदि उस को कर्मसे कुछ भी स्वार्थका साधन नहीं करना है तो फिर वह निःशेषिये कर्म करे । इस प्रकारके उत्तरमें कहा है कि चिकीर्षुभोग्यमायं अर्थात् कोककल्याण करनेकी इच्छासे वह कर्म करे और सब प्रकार परम बुद्धावती

कर्म करे । मरा स्वार्थ कुछ भी नहीं है, इसलिये जैसे बसे कर्म न करे । अपनेसे धितनी उत्तमतासे अपना समझ है अतही उत्तमतासे और पूर्णतासे कर्म करे और कर्मका फल प्राप्त होनेके पश्चात् उसका समर्पण कोककल्याणके किये करे ।

कर्म बार प्रकारसे होता है— सक्रम कर्म निष्क्रम कर्म कर्मसंन्यास और परेच्छासे कर्म । सक्रम कर्म दो प्रकारसे हो सकता है एक भर्मातुल्य और दूसरा धर्मविरुद्ध । धर्म विरुद्ध सक्रम कर्मशी विकर्म ऐसा स्वतंत्र नाम भगव श्रीयमें है । इसलिये सक्रम कर्म सत्यका नर्ष पदा ' धर्मो रनुद्धय कर्तव्य कर्म देसा करवा उचित है । मनुष्य-साधनके सब कर्म इस प्रकारके सक्रम कर्ममें आते हैं । धर्मातुल्य म्यवहारसे धर्म कामना उससे अपने सुखसाधन बढ़ता ऐहिक सुखके किये कर्म करना ये सब सक्रम कर्म हैं । स्वार्थसाधन करते करते मनुष्यमें परार्थसाधन करनेकी श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है । इस समय निष्क्रम मार्गसे वह कर्म करता है, अपने स्वार्थकी आहुति वह इस समय परार्थमें देता है । इससे इसका यह निष्क्रम भोग होता है । इस प्रकार निष्क्रम कर्मवोली ओंके किये दिनरात कर्म करते हैं ।

स्वार्थसे कर्म करवा ही जबका कोककल्याणके किये जर्नात् परार्थके किये कर्म करना हो इन दोनों सक्रम और निष्क्रम कर्ममें कर्मविरुद्धकोई दर्शनसे बड़ा कष्ट होता है । स्वार्थसाधनके सक्रम कर्ममें अपने स्वार्थके विरुद्ध व्यवहार करनेवालेके दर्शनसे जैसे कष्ट होते हैं ऐसीही छेद निष्क्रम कर्मवोलीको निःस्वार्थ बुद्धिसे कोककल्याण राज्यकल्याण अपना व्यवसाय किये कर्म करते समय उसका विरुद्ध करनेवालेकी सामने पैदायेसे होते हैं । इस प्रकारके छेद बारबार होनेसे इन कर्मोंसे वह विरक्त होता है और कर्म सम्पन्न जर्नात् सम्पन्न का मार्ग स्वीकारता है । इस संन्यास-मार्गमें वह सपूर्ण प्रापतिक कर्मोत्था त्याग करता है और अपने निःशेषताके साधनमें लगता है । इस संन्यास मार्गमें मन काविका साधन वह करता है और अन्तमें उसको

(१०) मूढ और तत्त्वज्ञ

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सवशः । अहंकारविमूढात्मा कृताऽहुमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो । गुणा गुणेषु वतन्त इति मत्वा न सज्जत ॥२८॥

अभ्युपगमः— प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सवशः क्रियमाणानि (यस्मिन् परम्पु) अहंकारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते ॥ २७ ॥ हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयो तत्त्ववित्तु गुणा गुणेषु वतन्ते इति मत्वा न सज्जत ॥ २८ ॥

प्रकृतिके गुणोंक द्वारा कम मय प्रकार किये हुए होते हैं । परंतु अहंकारसे विशेष मूढ बना हुआ मनुष्य मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेता है ॥ २७ ॥ परन्तु हे महाबाहो मनुज ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननबाछा मनुष्य गुणोंमें कार्य करने हैं ऐसा मानकर मात्स्वयन नहीं होता है ॥ २८ ॥

भाषाया— प्रकृतिक गुणोंसे सब कुछ कम होते हैं जल्मा उन कर्मोंका कता नहीं है वह कर्ता है । तत्त्वज्ञानी मनुष्य प्रकृतिक गुणोंको और उनसे होनेवाले कर्मोंको वयावय जानता है और एकके गुणोंक दूसरोंके गुणोंसे सर्वथ जाकर कार्य होने हैं ऐसा जानकर अहंकार-रहित होकर रम्यता नहीं । परन्तु जो मनुष्य अहंकारसे विशेष ही मूढ बनता है वह करने करने कर्ता मानकर फलम बढ़ होकर रम्यता है ॥ ३ २८ ॥

संदेहाहित अहं उभय सममें उत्पन्न होगी या नहीं इस विषयमें संदेह है । इस कारण बुद्धिभ्रंश करना उसके अभियंको नष्ट करना ही है ।

उन्म कभाही इस प्रकारका बुद्धिभ्रंश कराने हैं और उसमें अपना स्वार्थसाधन करते हैं । अर्थात् बुद्धिभ्रंश कराना महा शत्रुत्वका कार्य है । बुद्धिभ्रंश मनुष्यकी जिनगी हासि हावी है उतनी । किसी अन्य प्रकारसे नहीं हावी । इसलिये मनुष्यको उचित नहीं है कि वह किसी दूसरेके सममें इस प्रकारके संदेह उत्पन्न करके उसका आध्यात्मिक दृष्टिमें नाश करे ।

इसलिये कहा है कि वह लोगोंने सब कम इस रंगस फलमें कि जिससे (कोपदेव) वे प्रतिद्वन्द्व अज्ञान कम की करते हैं । उनकी अज्ञा बनी रहे और वे सब मार्ग— पर भी आकारें । यदि उनका मार्ग असुख है तो उनकी रीक मत्तपर हावाही चाहिये परंतु ऐसा उनको सब मार्गपर जानेके समय उनके सममें सहाय उत्पन्न करके उभयो बचद बनाता बोध नहीं है ।

जानी मनुष्य स्वयं (पुत्र समाचार) पागपुत्र हाकर अर्थात् मत्स्वबुद्धिबोगक अनुयाय अपना कर्मव्य करना रहे कर्म न छोड़े परंतु अनायासिके कर्म करे ।

यहां कह देनी लेका करते कि जज्ञानी कामनिधम कम करना है और ज्ञानी अनायासिके कम करना है परंतु

बोनोंसे एकही कम करना है । इस प्रकार कर्म होते हाव वे दोनों कर्त्ताचिन् समान रीतिमें बढ़ होगी । बाहरकी दृष्टिमें स्वयंवेच्छाका या उनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं है । सकृत् । इस प्रकारकी सब कामनेच्छाका समाधान करनेके किये और उनकी आसंख्य करके किये और तब ज्ञानी तथा मूढ मनुष्योंका भेद स्पष्ट करनेके किये भागे मगवाए कहते हैं —

गुणांसि कम

(० २८) कम क्रिय प्रकार होते हैं कर्मोंका कर्त्तव्य किसकी ओर है इसका विचार इन काकेंति किया है । साधारण मनुष्य (कर्त्ता अहं) मैं कर्त्ता हूँ ऐसा मानता है ; परंतु तत्त्वदृष्टि विचार करनेपर वह कर्त्ता नहीं है ऐसा प्रतीत होता है । वस्तुतः ऐसा कार्य तो—

प्रकृतेः गुणैः कर्माणि सवशः क्रियमाणानि ॥ २७ ॥

“ प्रकृतिक गुणोंके द्वारा सब कर्म पुनरासं किये हुए होते हैं । अर्थात् कर्मोंका कर्त्तव्य प्रकृतिक गुणोंके पास है न कि किसी मनुष्यके पास । उदाहरणार्थ हम एक मन्त्रि बचक कार्यका विचार करेंगे । एक स्थावर पर मन्त्रि मन्त्रि बना है । वह हुंते गुला पत्थर छकछे कोहा आदि पदार्थों का साधनम कई लोगोंमें वयावाया है । अब विचार करना है कि यदि इतनी पृथ्वी और पत्थर अर्जुनमें वे गणपद न होते कि जिसमें उनमें वह पार्थि जागई है तो कोई मनुष्य

भाषा— प्राकृतिक गुणोंमें साहित्य रूप मनुष्य प्राकृतिक गुणोंसे बननेवाले कर्मोंको ' मैं करता हूँ ' ऐसा मानकर उन कर्मोंका स्वयं अपने द्वारा देण लगाने हैं । ऐसी मूक लोग कर्मसिद्धिहीन कर्म करते रहते हैं । ज्ञानी मनुष्य मनुष्यात्मा के लक्षणोंको इनके कर्मोंसे विचकित न करे अपौरुषेयता का सुनिश्चय न करे ॥ ३ ॥

प्राकृतिक गुणोंका मोक्ष

(१९) पहिला शेष (प्रश्नः गुणवर्णनाः) प्राकृतिक गुणोंमें मनुष्य मूक होता है । मनुष्य मूक होनेका अर्थ अत्यंत मूर्ख बनना है । प्राकृतिक गुणोंमें मनुष्य मूक होनेका अर्थ मनुष्य प्राकृतिक गुणोंमें सौंदर्य उत्तम अकार उत्तम अकार अस्ति अनेक गुण हैं । मनुष्य इन गुणोंमें कर्मते है । सुखरूपता ॥ मोक्षित हुआ मनुष्य सुखरूपताके लक्ष्य होना है, तथा उत्तम अकार उत्तम अकार मनुष्य सुखरूपताके लक्ष्य होना है । इसी प्रकार मनुष्य गुणोंसे मोक्षित हुए मनुष्य उन गुणोंमें लक्ष्य हो जाता है । इस तरह कोई मनुष्य सुखरूपताके लक्ष्य कोई पदार्थ लक्ष्य कोई अकार लक्ष्य, ऐसे प्राकृतिक गुणोंसे किंवा अस्तिपति के हुए मनुष्य परतर्क हो जाते हैं और बहुरूपता के लक्षण गुणोंके लक्ष्य बनते हैं । इसीलिये कहा है कि (गुणवर्णनाः मनुष्य) गुणोंमें होनेवाले कर्मोंमें हुए जाते हैं । एतत्कर्म मनुष्य अनुसार गुणोंसे कर्म होनेपर भी वे कर्मोंका रूप मनुष्य अपने ऊपर लेते हैं । अकारों में प्राकृतिक प्रकाशते रह जाते हैं । इसलिये इनको कदापि तस्मिन् नहीं प्राप्त हो सकता ।

वे प्रकाशते रह जातेवालोंको यहाँ लक्षण-विशेष मनुष्य कहा है । लक्षण-विशेष का अर्थ है एतद्ज्ञानी लक्षण सर्वज्ञ और ' लक्षण-विशेष ' का अर्थ होगा है लक्षण-ज्ञानी । एतद्ज्ञानी किंवा सर्वज्ञ भिन्न होते हैं । इसमें किसी को कोई भिन्न ही नहीं है । जो कर्म उत्पन्न होते हैं वे लक्षण विचित्र किंवा मिथ्याज्ञानीकी ही होते हैं । उन को विचित्र ज्ञान होगा है मनुष्य ज्ञान की किसी विषयसे भी नहीं होगा अतः उसका स्वयंभूत अस्तित्व हीनता है, जो उत्पन्न हुएका है मनुष्यता है । अतएव उसका मिथ्या-ज्ञान नहीं रहता और उसका पूर्ण ज्ञान नहीं होगा मनुष्यक उत्पत्ति मुक्तताका मार्ग भी लुप्त नहीं मरना ।

वे ज्ञानी किंवा मिथ्याज्ञानी लोग ज्ञान ता बहुत करते

रहते हैं कम भी नहीं उत्तरदायक करते हैं । मैं कम करता हूँ अतः कम मुझे चाहिए ऐसा इनका विचार सदा आत्मन रहता है । अतः वे मनुष्य कर्मोच्छाये कम करते रहते हैं और इस कर्मोच्छाया की आशक्तिसे पुन पुन बन्धनमें रहते हैं । इससे स्पष्ट हुआ कि एक ता इनके अज्ञानसे इनके हुए रहते हैं और दूसरे इनकी कर्मशक्तिसे वे बन्धनमें रहते हैं । अतः हीनता अस्ति अकार कर्म करना और अधिक बन्धनमें रहना, यह इनका कम इसी प्रकार मनुष्य कर्मता रहता है । इस तरह आत्मिक और अज्ञान मनुष्यके लक्षणका हेतु होता है । यहाँ कई कहेंगे कि जो (कर्म-विशेष) ज्ञानी हैं वे अपनेसाहाय्य उन अज्ञानियोंको इन लक्षणकारक कर्मोंसे विमुक्त करें । ऊपर ऊपर देखनेसे ऐसा करनेमें कोई क्षमता नहीं वेदानी प्रतीत होगा है परन्तु गीष्वाका कथन है कि (मनुष्य-कर्मविशेष न विचारते) इन मनुष्योंको ज्ञानी मनुष्य विचकित न करे । क्योंकि इनका सुनिश्चय करनेसे वे न कर्ममार्गमें दृष्टिमान होते हैं और न वे ज्ञानमार्गका आचरण कर सकते हैं । वे इस तरह न इतरक और न उबरके होते हैं और लक्षणकारक अज्ञान बन्धन ही होते हैं ।

अनधिकार चेष्टा

आत्मिक कर्म करनेवालोंको उन कर्ममार्गका उपदेश करके उनमें उत्तम और सुख कर्मोंमें दृष्टिमान करना वांछ्य है कर्मोंमें दृष्टिमान होनेसे उनके चित्त की सुविधा होगी और वे ज्ञानमार्गके अधिकारी बनेंगे । परन्तु मूक किंवा अज्ञानी लोगोंको कर्ममार्गसे विचकित करनेसे वे किसी भी प्रकार उत्पत्ति नहीं कर सकते ।

ऐसा कोई विचारार्थ मनुष्य कर्मोंमें पदार्थ अधिकारी है । उसमें मनुष्य कर्मोंमें रखा जाय ता प्रथम कर्मका पद-विधि भी उत्पत्ति नहीं होता और अनुरूप कर्मका ना उत्पन्न होता लक्षण ही है । इस प्रकार वह दोन कर्ममार्गोंमें विचित्र रहता है । यदि वह प्रथम कर्ममार्गमें रहता और कर्मम अनुपममें जाता है ता उनका अधिक दिन हो सकता है । इस

(११) ईश्वरार्पण कर्म

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ३०

अर्थ— मयि अर्थात् अभ्युद्योगी सत्त्वादि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य विराही। निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व ॥ ३० ॥
मुझमें अध्यात्मचित्तसे सब कर्मोंका समर्पण करके आशा रहित ममता रहित और सताप रहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥

भाषार्थ— जलमाभी उद्योगी विचार सदा मनमें रख सब कर्म मुझें समर्पण कर, चलाही जाता जेह ममत्ता रहित हो तथा ममके विरह प्राप्त होनेसे संतुष्ट व बंध और इस तरह अपना आचरण करके युद्ध कर ॥ ३० ॥

प्रथम प्रथम कक्षा आसक्तिसे कर्म करनेकी है दूसरी कक्षा ज्ञानासक्तिसे कर्म करनेकी है । प्रथम कक्षामें उद्योग होनेके बिना द्वितीयमें जाना बड़ा हासिकारक है । इसीलिए कहा है कि ज्ञानी लोग ज्ञानासक्तिका सुविमल न करें । उनको आसक्तिसेही कर्म करते हैं उनको स्वयं आसक्तिका बहुत अनुभव करने हैं । अनुभव मिलनेके पश्चात् वे स्वयं सत्पुरुषके पास जायेंगे और ज्ञानके मार्गका उपदेश पायेंगे और इस समय दिया हुआ उपदेश उनके मनमें स्थिर होगा । पूर्वका अनुभव किया हुआ होनेके कारण व चंचल नहीं बनेगी और क्रमशः उन्नत होते जायेंगे ।

मनुष्य किस प्रकार विद्वान् कर्म करे इस विषयमें ज्ञानोत्तम उपदेश करते हैं :

(१) युद्ध अथवा इसी प्रकारका कोई अन्य कर्म किस तरह करना चाहिये और कर्मके दोषसे कैसे बचना चाहिये इस विषयका उत्तम उपदेश इस श्लोकमें दिया है वह पाठक अवश्य स्मरणमें रखें ।

१ ' अध्यात्मचेता '

सबसे प्रथम मनुष्य अध्यात्मचेता बने । अवि-
नाशम चेतः वा नये है आत्मामें मत लगायेबला,
असंशय चित्त आत्मामें स्थिर हुआ है जो सदा जलमाभी
चिंतन करता है । जिसके मनमें भ्रम-परमात्मा-परमेश्वरक
विषयमें मति है । इस तरह परमेश्वरका भक्त बनना इसी
पर चित्त स्थिर करनेबला मनुष्य हो ।

भाषांतर मनुष्य क्षीरपार मधोपर विष्णोपर अथवा
ब्रह्मपार मत लगाता है । मत अर्थात् ईश्वरोंकी प्रशंसा बाह्य
की और अधिक है क्योंकि—

पराश्रि ज्ञानि व्यनुजस्वयंभूस्तस्मात्पराह
पश्यति नात्तरात्मम् । कश्चिद्वीरा प्रत्यगात्मा
ममैश्वर्यावृत्तचक्षुरमुनश्च भिष्यन् ॥

(कपोपनि १।११२)

स्वयं परमेश्वरने इन्द्रियों बाह्यमूर्त अर्थात् ब्रह्म
विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाला बनाही है इसलिये मनुष्य
बाह्य विषय देखता है और अन्तरात्माको नहीं देख सकता ।
कोई व्यक्ति पश्य स्वयं ब्रह्मा बुद्धिमान्, मोक्षही इत्यादि
करता हुआ कष्ट अर्थात् ईश्वरोंकी स्तुति रचकर अन्त-
र्यामाको देखता है । " तथा—

परायः कामाननुपान्ति वाक्कास्ते नृस्योर्वसि
चित्तस्य पारमम् । अथ धीरा मनुजान् विरि
त्वा ध्येयमवश्योपिह न प्रार्थयन्ते ॥

(कपोपनि १।११२)

यह मनुष्य बाह्य विषयोंके उपलक्षोंके पीछे लगता
है । इसलिये वे मनुष्य विलुप्त प्राप्तोंमें बंधे जाते हैं । कष्ट
वैयर्थ्यके ज्ञानी अत्यंतका मोक्षको नित्य जानकर, अस्मिन्
विषयोपलक्षोंको ध्यान नहीं करते ।

यहां बताया है कि मनुष्यके इन्द्रियोंकी प्रशंसा स्वभावतः
बाह्य विषयोंकी और है और अन्तरात्माके विषयमें
अपहृष्टि है । मनुष्य स्वभावतः " विषयचला " है और
जलमाभी " नहीं है । इसीलिए प्रथम मनुष्योंकी प्रशंसा
विषयमूर्तोंकी और तथा ज्ञानासक्तिसे कर्म करनेकी ओर
विक्षेप होती है । परन्तु इस ज्ञानासक्तिसे ज्ञानसे बंधन युक्त
योगने पकते हैं और जैसा जैसा मनुष्योंका अनुभव होता है
जैसा जैसा मनुष्योंका मन कर्मोच्छासे कर्म करनेकी ओर
विक्षेप होता है । इसीलिए कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुत्तमं प्रेयस्ये उभे नामार्थे गुरुत्वं
सिनीतः । तयोः श्रेय आद्वयस्य साधु मय
ति होयतेऽर्थात् उ प्रेयो कृपाते ॥ श्रेयश्च
प्रेयश्च मनुष्यमेतस्वी सपरीत्य विविमक्ति
पारः । श्रेयो हि श्रीरोऽभिप्रेयसो कृपाते
प्रेयो मन्वे योगहेमाद्रुणीते ॥

(कर्मेवमि ११११-२)

‘श्रेय (मोक्ष) अन्य है और प्रेय (भोग) अन्य
है । विविम अर्थात् ये दोनों मनुष्यके पास आते हैं । उन
मेंसे श्रेयका ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है और जो
प्रेय अर्थात् भोग स्वीकारता है वह हितसे दूर होता है ।
श्रेय (मोक्ष) और प्रेय (भोग) मनुष्यके पास आते हैं ।
प्रेयसम्पत्ति बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनोंका विचार करके एकको
पुनरा है । बुद्धिमान् मनुष्य भोगकी अपेक्षा मोक्षको पसन्द
करता है और निर्बुद्ध मनुष्य भोगक्षेमके किये भोगको
स्वीकारता है । ”

वही जो प्रकरके मनुष्योंका वर्णन है । जगत्में वे दोनों
प्रकारके मनुष्य हैं, परन्तु भोगको स्वीकार करनेवाला जन्मत
है और मोक्षके किये पान करनेवाले विरक्त कोई होते हैं ।
जो प्रेय लेनेवाले होते हैं वे विषयवेत्ता होते हैं और
जो श्रेय लेनेवाले हैं वे आत्मवेत्ता होते हैं जब इनके
दिने जो कष्ट प्रयुक्त हुए हैं, उनका विचार कीजिय

अन्यसमवेतः

श्रेय आद्वयस्य

श्रीः

आत्मानं प्रेयस्य

अपुनं पन्थि

साधु मयति

मिमांसा

मिमम

विपयग्रतः

विषयवेत्ताः

श्रेय आद्वयस्य

श्रीः मन्वे

परान् पश्यति

मुत्पुपाके पन्थि

अर्थात् श्रीवेत्

आत्मापानयः

अर्थात्कृतः

ज्वराभिभूतः

इस तरह विचार करनेपर श्रेयमार्गसे जानेवालेका और
प्रेयमार्गसे जानेवालेका परिणाम क्या होता है इसका पता
लग सकता है । मनुष्य ‘अन्यसमवेत’ बने अर्थात् आत्मा-
के कल्याणका विचार करे भोगोंमें न पड़े वह पहिला
उपदेश इस श्लोकमें दिया है ।

आत्मा एक निष्प और जगत् आत्मन्वासा है इसकिये
भी उसपर चित्त लगातेसे आत्मन्की प्राप्ति होना समभव है,
परन्तु प्राकृतिक भोग अर्थात् हैं, अनिमित्त हैं, एक क्षणके किये
सुखका मास करनेवाले हैं और दुःख बढ़ानेवाले हैं, इसकिये
आत्मापर चित्त लगातेसे हित और भोगोंमें चित्त फँसनेसे
अहित होता है । इस दृष्टिसे भी ‘अन्यसमवेत’ होनेसे
मनुष्यका काम है ।

२ ईश्वरार्पण कर्म

‘सर्वाणि कर्माणि मयि स-यत्स - सर्व कर्मोंका
मुझमें नर्वाण ईश्वरमें संप्रान्त करनेका उपदेश वहाँ किया
है । परमेश्वरमें सब कर्म समर्पण करने चाहिये । परमेश्वरक
किये सब कर्म समर्पित करनेका जब यह है कि सब कर्म
परमेश्वरके किये करना । कर्म अपने किये करना और कर्म
परमेश्वरके किये करना इन दो प्रकारोंका उत्पन्न क्या है
इसका विचार बच करना चाहिये । जो मनुष्य अपने किये
कर्म करता है वह अपने भोग बढ़ानेके किये कर्म करता है ।
अपने किये कीवसा भोग बढी है वह ऐश्वर्य उसकी
प्राप्तिके किये कर्म करता है । इससे भोग प्राप्त करके वह
असह्य भोग करता है । अपने किये क्या चाहिये और
क्या नहीं चाहिये इसका विचार करके जो चाहिये पैसा
प्राप्ति होता है वही वह करता है । इसलिये कर्मोंका भका
वा बुद्धा कष्ट इसीको भोगना पड़ता है ।

उत्पत्तिका मार्ग

जब देखिये कि जो मनुष्य अपने कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धिसे
करता है वह विचार करता है कि परमेश्वर क्या चाहता
है उसको क्या दिये है क्या करके वह संतुष्ट होता है
और किससे वह असंतुष्ट होता है । उसकी बुद्धिसे जो
निश्चय होता है वही वह ईश्वरके अर्पणक किये करता है ।
पाठक विचार करेंगे तो बनेके मतमें इस बातका स्वयं
प्रकाश हो जायगा कि कर्म परमेश्वरक किये अर्पण करके
विचारसे मनुष्यका चित्त उक्त प्रकार झुह दान लगाता
है । मनुष्य कियेका भी अर्थ नहीं हो वह अपने कर्म
परमेश्वरक किये समर्पण करने लगता तो उन्ही समय उमक
स्वयंकारमें पवित्रता बढेगी । अद्वैतार्थके निमित्त देखिये-
कोई मनुष्य वरमें अपने किये अर्थ प्रकटा है । यद्यपि वह

स्वार्थ योगके किये ही पकड़ा हो तो भी धरती रखकटा और पाकड़ी विशेषताकी ओर वह विलेख ध्यान नहीं देगा। परंतु यदि उसीके घरमें कोई साधुसंत संन्यासी सम्पन्न राजा अथवा मोहद्वारा किया कोई बड़ा मनुष्य मानेबन्धा हो और उसके किये भोजन पकाना हो तो उस कारण वह मार्गकी धरती और घरके पदार्थोंकी रखकटा करता सब घरके पदार्थ उत्तम सजावटके लगाता है जो पदार्थ अस्वच्छ हों उनको पीछे रखकर सोमसुख पदार्थोंको सम्पुल्ल रखा है और सब घरकी सजावट उत्तमसे उत्तम करता है और काच-पल भी जितना उत्तम होगा उसना उत्तम बनालेका ध्यान करता है। प्राकृतिक भोगी मनुष्य भी इस प्रकार अपने योगके किये बोधा उदासीन रहता है और मान्य अवस्थिके सत्कारके किये अधिक उत्साह दिखाता है। मनुष्यमें न जाने हुए भी अपने किये कर्म करनेकी अपेक्षा दूसरेके किये कर्म करनेके समय विलेख दृष्टता दिखातेका गुण प्रसन्नता है। इसके प्रसंगमें यह गुण नहीं दीखता वह बात सत्य है तथापि किसी किसी प्रसंगमें दूसरेके किये बड़े अतिथिके किये बाहरसत्कार करनेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है इसमें संदेह नहीं। हमें यहां इतनाही बताना है कि इस सत्कारकृतिसे दूसरेके किये कर्म करनेके समय वह अधिक मनुष्य और अधिक निर्दोष करनेमें मनुष्य दृष्ट रहता है। यदि मनुष्यक किय राजाके सिध अथवा अतिथिके किये मनुष्य इतना सत्कार उछांठा है कि ईश्वर जो राजाओंका भी राजा है और अतिथिओंका भी अतिथि है उसके किये अपना कर्म समर्पण करनेका निश्चय तब समय यह भोगा उस समय कितनी दृष्टता धारण करेगा हमका विचार पादक अवश्य करें। इस विचारसे पना लग जायगा कि कर्म परमेस्वरार्थ करनेसे मनुष्यक कर्म अधिक सुख होते हैं अधिक निर्दोष होते हैं और इस कारण मनुष्य अधिक पावन होगा जाता है। मनुष्यकी पोषणका मर्यादा करनेका वह एक उपाय सा है।

मानवी अतिथिके सिध मनुष्य इतना दूर नहीं सजता क्योंकि वह किसी एक रक्षणमें बैठा रहेगा और दूसरे रक्षणमें उत्तम प्रतिष्ठा स्थापना करना अवश्य नहीं होगा। परंतु परमेश्वर एक सत्त्वमें सर्वत्र उपस्थित

और सर्वत्र होनेसे उसके कियेकर कोई भी कार्य मनुष्य कर नहीं सकता। जो मनुष्य परमेश्वरकी सर्वत्र प्रत्य जानता है, वह सर्वत्र और सर्वत्रा पवित्र बनता जाता है। और जिस समय वह परमेश्वरके किये अपने कर्म करता है, उस समय उनके कर्म भी पूर्णतः कारकसेही अविभक्त पवित्र होते जाते हैं। इस तरह अपनेकर्म करने-इश्वरार्थ करनेका मनुष्य पवित्र होता हुआ कर्मका सत्त्व पदका अधिकारी होता है।

चुरेसे चुरा मनुष्य भी अपने कर्म परमेस्वरार्थ करनेसे एक कारकही उत्पन्न होता है। इसकिये मनुष्यकी कथा है—

अपि चोरसुदुराचारो भजत मामभ्यस्यमाह ।
साधुरेव स मन्त्रध्वः सत्परम्यवसितो हि साः॥३०
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा धाम्नाच्छान्तिं निमगच्छति ।
चैतन्यं प्रतिजानीहि न मे भूय प्रवक्ष्याति ॥३१॥
मां हि पार्थ म्यापान्निवस्य येऽपि स्युः पापयन्त्रिणः ।
क्षिप्रो वैश्यास्तथा द्यूतास्तेऽपि पान्ति परां
यतिम् ॥ ३२ ॥ (म. बी. ९)

बड़ेसे बड़ा दुराचारी भी यदि भगवत् भावसे भेदा भजन करे तो यह माने कि वह साधु होही चुका है। क्योंकि जब उसका व्यवहार सुकर चुका है। वह जीपरी धर्मात्मा बनता है और विरंतर शान्ति पाना है। हे कर्तव्य दक्षिणवर्ती सगस कि मेरा मन्त्र कभी वह नहीं होता। हे पार्थ। जो पापयन्त्रिण हैं, वे भी और क्षिप्र वैश्व तथा द्यूत भी यदि मेरी धारण या कर्मों से वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।

इस भीषेति भी कहा है वह विवक्ष्य सत्य है। दक्षतर मनुष्य परमेश्वरकी अधिक करने लगा परमेश्वरक किये कर्म समर्पण करने लगा तो वह सुख होने लगा। ह। इसी किये वहाँ कहा है कि "लेवने कर्म सुखे प्रसन्न करो।" मनुष्यके सुचारका वही एक गुणम और उत्तम मार्ग है।

३ ' निराशीः '

जाया छीक हो ' वह वीतरा जादेक है। मनुष्य कर्मरूपकी जाका धारण करता है सुखका ह्युक्त रोग है भोगोंकी जासा रक्षा है कर्मरूप सुख की भोग

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः । अद्वावन्तः । न स्यन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूर्खास्तान् विद्वि नृपान् धेतसः ॥ ३२ ॥

अभ्यस्य — ये मानवाः अभ्यसूयन्तः अद्वावन्तः इति मे मतं तिस्रः अनुतिष्ठन्ति ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ॥ ३१ ॥ ये तु पण्डितः अभ्यसूयन्तः मे मतं न अनुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूर्खान् कवेतसः नृपान् विद्वि ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य भयः रखकर और योगबद्धता त्याग कर इस भेदे मतके अनुसार नित्य वर्तते हैं वे सब कर्मों (के दोषों) से छुटते हैं ॥ ३१ ॥ परंतु जो लोग इसमें दोष निकाल कर भेदे इस मतके अनुसार नहीं वर्तते वे अज्ञानी सर्वज्ञानमें विशेष मूढ़ हैं और वे नाराजों प्राप्त होंगे ऐसा न समझ ॥ ३२ ॥

माधार्थ — केवल दोषोंपर दृष्टि न रख और भयसे भेदे इस उपदेशक अनुसार वाचरण कर । ऐसा करनेसे दोषोंसे मुक्त होगा । परंतु जो केवल दोषोंको ही देखेंगे और भेदे इस मतको न मानेंगे वे ज्ञान होने हुए भी मूढ़ होंगे और निःसंवेद नाशकों प्राप्त होंगे ॥ ३१-३२ ॥

मुझे चाहिये = ऐसा जो काम ही धारण करता है वह ममत्व के लिए अभ्यासके भी मार्गसे जानेसे ग्रहण होता है और विरता है । अतः यदि वह आत्मापन्न होत है तो उसको संयुक्त होनेमें इति नहीं कहेंगे । इति किये आग कहा है—

आशापाशाद्यैवका कामलोचपरायणाः ।

इहन्ते कामभोगार्थमभ्यासेनार्थसंख्यानम् ॥ १० ॥

विन्तामपरिमेयां च प्रसक्तानामुपाधिताः ।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

(अ गी १६)

‘आशाक्य’ मेकहों पाशोंसे बंधे हुए और काम कोचके परावय हुए विषयभोगकी पूर्ति के लिये अभ्यासके बंधाविका संग्रह करते हैं । मत्त्वपूर्ण रहनेवाली अमल विन्तामोंको आश्रय किये हुए और विषयभोगात्मक भोगमें ऊपर हुए और भोग भोगवाही आत्मन् इति ऐसा माननेवाले लोग जमी दुःख भोगते हैं । इसीलिए इस दुःख और अव्यवस्थित करनेके लिये कहा है कि विरता हो । एक आत्मा को देनेसे सहजों दुःखोंसे मनुष्यका बन्धन हो सकता है ।

४ “ निर्ममः ”

ममत्व छोड़ दो वह चतुर्थ उपदेश नहीं किया है । मेरा ऐसा न करो । कोई अपना नहीं है । जिसको मेरा का बंधन कहा जाता है वह संयुक्त अपना नहीं है । मनुष्यको जो दुःख होता है वह ममत्व इच्छा

कारण ही है । काममें किसीका कष्टकर मर गया तो उसके संबंधियोंको शोककर वेत आत्मी नहीं रोते हैं । मेकही लगे शोकमें इति किये पड़ते हैं कि वे उमका मेरा कष्टका मानत हैं । यदि वे इसको मेरा नहीं मानेंगे तो उनको भी दुःख नहीं होगा । अतः जो ममत्व छोड़ देता है वह एकका दुःखसे मुक्त होता है ।

५ “ विगतज्वरः ”

पूर्वोक्त चारों उपदेशोंका ग्रहण करनेसे और उन उप देशोंको आत्मसात् करनेसे मनुष्य विगतज्वर होता है । उसका (ज्वर) सतत (नि) बिसेपरीक्षित (गत) हुए होता है । क्योंकि जिसकी आत्मा छुट गयी जिसकी बुद्धिमें ममत्व नहीं रहा जिसका ध्यान परमेश्वरमें स्थिर हुआ और जिसने अपने सब कर्म परमेश्वरके लिये समर्पण किये उसकी सताव होनेका कोई कारण ही नहीं है । अतः वह शरीर रोगीर और प्रसक्त रहता है ।

ऐसा काम मनुष्य (पुण्यत्व) पुनः करे । पुनः करना ऐसे क्षान्त मनुष्यके कोई दोष नहीं कर सकता । ऐसा मनुष्य जो पुनः क्षेप्य उस बुद्धिमें उसकी ममत्वबुद्धि छुटनेक कारण उसका कोई स्वार्थ नहीं होगा नाराजित होनेक कारण पुनः कुछ काम प्राप्त करनेकी कोई स्वार्थी नाश ही उसमें नहीं होगी उसका चित्त परमेश्वरके चाननें कमा रहेगा और यदि पुनः क्षेप्य कर्म उससे हुआ तो कर्मपरमेश्वरके लिये ही होगा । ऐसे कर्म करनेसे बंधा काम होता है वह बंध देखिये—

(२१-२२) " जो मनुष्य इस मेरे उपदेशके अनुसार
नित्य व्यवहार करते है वे कर्मसे योगसे योगी नहीं होते ।
परंतु जो इसमें शेष ईच्छते हैं और इसके अनुसार आचरण
नहीं करते वे भासने प्राप्त होते हैं । " पूर्व श्लोकमें जो
उपदेश किया है और विशेषतः १३ वें श्लोकमें जो उपदेश है
कि सब कर्म ईश्वरको समर्पण कर भगवांके कृपाशायर
रहिए सब कर्म छोड़कर आत्माको भी त्याग दो । ऐसा
करनेसे तुम्हें कर्मका शेष नहीं रहेगा । इस उपदेशके
अनुसार जो व्यवहार करते हैं उनका क्या पार होता है ;
परंतु जो लोग अपनी कुतर्कमयि चककर सब कर्म ईश्वर
को क्यों समर्पण करें ? क्या ईश्वर भूला है ? क्या उसको
हमारे कर्मोंकी जरूरत है ? आत्मापराही त्याग क्यों करेगा
जाये ? क्या सारीका विचार करना उपयोग है ? मनुष्य
कैसे छूट सकता है ? आत्मा तो छूटना असंभव है और
सुनिश्चि ईश्वर भी ईच्छाही है । इत्यादि प्रकार लोके लक्ष
विकर्क बार कुतर्क करके इस गीताके उपदेशके विरुद्ध आप
मत बनाते हैं और न स्वयं आचरण करते और न दूसरों
को करने दते हैं । ऐसे विरोधी लोग जन्मगत होते हैं । इन
लोगोंके उक्तिकी कोई जाणा नहीं है ।

जो केना उक्ति प्राप्त कर सकते हैं वे (अज्ञानता
अवसृप्यः) अज्ञान और बोधवि न रखनेवाले हैं ।
समुत्पत्तिक और अर्द्धबोधि अन्धोपार जा विकास करते हैं
और तदनुसार जा आचार्य करते हैं, उनके अज्ञानत्व
करते हैं । इन अज्ञानानोंका मार्ग सीधा हाता है और इनके
मार्गमें कोई भिन्न उपस्थित नहीं होते । परमार्थ-साधनमें
भ्रष्टाकी बड़ी आवश्यकता है ; अज्ञानके विना इस मार्गसे
जाना असंभव है । अतः जो लोग स्वयं अज्ञा नहीं रहते
और अपने वागवृत्त दूसरोंकी भ्रष्टा उच्छाद दते हैं, उनके
शेषकी कई बीमा नहीं है । वे स्वयं तो कदापि उन्नत नहीं
हो सकते परंतु उनके शेषने दूसरोंकी उक्ति भी मारी
जागी है ।

(अज्ञानः) अज्ञानता कई है दूसरोंके गुणोंपर
हानका आरोप करना । जो केना दूसरोंके गुणोंकी देखकर
हानि नहीं होते परंतु उनके गुणोंपर शेषोंका आरोपन
करते हैं उनका मन बड़ा हीन हाता है और गुणोंपर शेषा-
रोपन करनेक इस अज्ञानसे अधिकधिक हीन होता जाया

है । समुप परमेश्वरके ही गुण हैं उनकी देखकर मनुष्यके
प्रसन्न होना चाहिये और उनकी आरमसत् करना चाहिये ।
समुत्पत्तिक परमात्मवि ही परमेश्वर है अतः समुत्पन्न
दृष्टि परमेश्वरके दृष्टिके समान पुनीत करनेका है ।
जो लोग अज्ञाना करते हैं जो समुत्पत्तिक समुत्पन्न रमेश्वर
भी बड़ा शेषी देखते हैं, वे मांको परमेश्वरके स्वाभाव
अनुसारकी पूजा करते हैं अतः वे असुर बनते हैं । असुरोंके
शेषका इच्छा और परिणाम है । मनुष्य किन्तु स्मरण
करता है किन्तु प्यास करता है ऐसा वह बनता है ।
अज्ञाना करनेवाला किसी स्वाभाव समुत्पत्तिक देख नहीं
सकता वह तो सदा शेषी देखता है इसलिये भिन्न
शेषोंकाही शेषन करनेके कारण स्वयं शेषी बनता है ।
अपनेही शेषसे शरीर बननेका वह एक उच्च उदाहरण है ।
अतः समुत्पन्न शेषके समुत्पन्न अपने आपकी सदा बचते ।

इस श्लोकमें अज्ञान-शेषकी इच्छाका जो उपदेश किया
है वह उक्तिका मार्ग निर्दिष्ट हुआ होनेके सिन्हेही है । शेष
में अज्ञाना नहीं है वह समुत्पन्न दूसरोंके गुणोंकी देखकर मन
होता है और अपनी अज्ञाना दूसरेके किन्तु उक्ति प्राप्त
की है वह देखकर उसकी प्रसन्नता करता हुआ उसका अर्थ
आदर्श बनाकर उससे भी उस समुत्पन्न अधिकतम अज्ञान
बाल करता है और इस तरह उन्नत होता है । परंतु अज्ञाना
करनेवाले तो शेषाशेषनके कारण मरते ही जाते हैं ।

अज्ञानको (सर्व-ज्ञान विमृष्टः) सब ज्ञानसे
मूढ बने हुए कहा है । इससे पूर्व कईकरविमृष्टता
कईकरसे मूढ बननेका उल्लेख १० वें श्लोकमें किया है
परंतु वहाँ कईकारसे किया अज्ञानसे विमूढ बननेका प्राप्त
न करने हुए सर्व ज्ञानसे विमूढ होनेका बर्णन है । सर्व
ज्ञानसे विमूढ किसप्रकार हो सकते हैं ; इसका विचार कर
करना चाहिये । कई लोग अज्ञानसे मूढ बने होते हैं
दूसरे कई कईकारसे विमूढ होते हैं, कई तीसरे (सर्व
संमूढतेयाः । गी २।०) सर्वके द्वारा अविमलसे मूढ हुए
होते हैं इनकी मूढता तो वादक समझ सकते हैं परंतु
सर्व ज्ञानोंमें प्राप्त करनेपर भी मनुष्य विमल हुए होते
होते हैं, वह समझनेक विषये इनका आश्चर्या अधिक विचार
करना चाहिये ।

इस श्लोकमें कहा है कि (ये तु पुनर अज्ञानसूत्राः)

(१२) प्रकृति-स्वभाव

सहस्र वेद्यते म्यस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं याति मूढानि निग्रह किं कारिष्यति ॥३॥

अन्वयः— ज्ञानवान् अपि स्वस्या प्रकृतेः सहाय्यं करोति । मूढानि प्रकृतिं वध्ति । निग्रह किं कारिष्यति ? ॥ ३३ ॥

ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलता है । समी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलाते हैं । यहाँ हठ क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

भावार्थ— प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिस्वभावक अनुसार व्यवहार करते हैं । इसमाही नहीं परंतु ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलाता है । उसमें हठ या बकाकससे क्या बनेगा ? ॥ ३३ ॥

जो हम मेरे-मातापुत्र-उपदेशकी भी निर्मूल्य करते हैं मगवानक पवित्र उपदेशोंपर दोषोंका आरोपण करते हैं और (म सर्व न अनुविद्विषि) मेरे इस मतके अनुसार व्यवहार नहीं करते वे (सर्वज्ञान विमूढाः) सब ज्ञान होते हुए भी विशेष मूढ़ हैं और धन वे (गच्छ) लाभ को प्राप्त होते हैं । यहाँ पाठक तर्क कि वद्यपि ये विमूढ़ कहे गये हैं, वद्यपि वे पढ़े किन्हे तार्किक क्षमताक ही हैं जनाड़ी निरक्षर नहीं। क्योंकि ये श्रीकृष्ण मगवान् बैठ बहिर्गीय ज्ञानीके उपदेश-वचनोंका लाभ स्वयं समझते हैं समझकर उनके पुनर्लेखन दोषोंका आरोपण बुद्धिसे करने भी बुद्धिमत्ता जगत्में रखते हैं अर्थात् वह उपदेशवचनोंके पुनर्लेखन जानते हैं परंतु जानबूझकर भी घमंडसे जानते नहीं हैं और उक्त उपदेशोंको प्रचलन हीन और दोषपूर्ण बतानेका तर्क भी कहते हैं । किसी उक्तम वचनाप्रतिपक्षीक अनुपदेशोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए ज्ञान अवश्य चाहिये । परंतु वह ज्ञान तर्क विमर्श और कुतर्क करनेकाही होता है । किसी छात्र निष्कलता, विवेका करना दूसरोंके मतोंका विपरीत करना और प्रतिपक्षीकी सरकवाका अधिकसे अधिक काम उठाना तथा उक्तम उपहास करके अपनी जीत करनेका बल करना वह हम सर्वज्ञानविमूढ़ों का कार्य है । यह कार्य निरक्षर जनाड़ीसे हो नहीं सकता । साथको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करनेके लिये भाववचन तर्क करनेकी विधाके बिना वह अनुयायी नहीं सकता । निरक्षर जनाड़ी अनुपम भाव-सरक और अज्ञान होते हैं और वे परमार्थज्ञानमें शीघ्र उन्नति कर सकते हैं ।

परंतु वे परतर्क पढ़े हुए होवेपर भी मूढ़ मय प्रकार

का व्यवहार होवेपर भी जिनके मनोपर उस ज्ञानका कुछ भी सरकार नहीं हुआ है ऐसे ज्ञानासुर-सरोवरमें गोते लगाते हुए भी कोरेके कोर सर्वज्ञान प्राप्त होनेपर भी विशेष मूढ़ बने वनबकोर होते हैं किसीके उपदेशका कोई परिणाम हमपर नहीं होता । ये निःसंदेह मूढ़ होनेवाले ही हैं । निरक्षर जेग जनाड़ी और सरक होनेक कारण मूढ़ होते हैं, अज्ञान साक्षर भी मूढ़ हैं परंतु वे सर्वज्ञान जानते हुए भी जनाड़ी बहुत ही अवगत होनेवाले हैं ।

हम इसोच्छा सर्व-ज्ञान-विमूढ़ शब्द विशेष महत्व का है और पाठक इसका वह कार्य ध्यातमें रखें और स्वयं ऐसे न बनें । यहाँ ज्ञान शब्दका कार्य साम्प्रिक ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान अक्षरज्ञान किंवा तर्कज्ञान है । जो साम्प्रिक ज्ञान और अक्षर ज्ञान है उससे वद्यपि मूढ़ता उत्पन्न नहीं हो सकती । परंतु कमल शब्दज्ञान जिनको हुआ है और जो अक्षरज्ञान कीम तत्त्वको नहीं जानते और कभी अनुमान नहीं करते वे शब्दज्ञान प्राप्त होवेपर भी अनुयायी भाव बढने के कारण विशेष मूढ़ बनते हैं और नाराजो प्राप्त होते हैं । सब प्रकारका परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वे अनधिकारी होते हैं । इससे सिद्ध है कि उच्चतम लिये अनुपमकी सर्वज्ञा साधित करनेकी अपेक्षा इन्द्रकी साधितक जगह बढनी चाहिये ।

जो ज्ञानवान् होवेपर भी अनुपम अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है, इसलिये प्रकृतिका सुधार होनेकी आवश्यकता है यह बात कही है । वह विशेष महत्वकी होनेक कारण अब ऐतिह्य—

(३३) प्रत्येक प्राणीका प्रकृति धर्म भिन्नभिन्न है । सिद्ध

ज्ञान प्रकृतिस्वभावसे पूर है और हरिन अपनी भी प्रकृतिसे

हिंसक नहीं है। प्रत्येक व्यक्तिमें उत्पन्न होनेवाला प्राणी योनि धर्मके अनुसार विभिन्न स्वभाववाले होते हैं। कई शाक-मोत्री कई मोसमोत्री, कई कुमित्रीनी कई मुमिसात्री कई बरुवात्री कई बाघुमारी । इसी प्रकार प्रत्येक योनिमें उत्पन्न हुए प्राणिमोक्षी प्रकृतिवां भिन्न भिन्न होती हैं। इनकी जो प्रभाव प्रकृतिवां हैं; वे बगुलकी भी नहीं जैसा सिंह शाकमोत्री नहीं हा सकता और जो मोसमोत्री नहीं बस सकती। क्योंकि वह उनका सहाय प्रकृति-धर्म है। मनुष्य मनुष्यमें भी प्रकृति-स्वभाव की भिन्नता होती है। कई मनुष्य साम्य प्रकृतिक, कई श्रेणी कई प्राक्की कई कुछ प्रकृतिक होते हैं। इनकी प्रकृति अलग करनेपर भी बदलती नहीं। हम करण जो नीर-वृत्तिक लोग होते हैं उनसे लस-वृत्तका कार्य नहीं हो सकता और जो लस-वृत्तकी लाल प्रकृतिक लोग हैं, उनसे वास्तविक कुछ नहीं हो सकता। जो वैश्वा वृत्तिक लोग हैं और जो एक ऐसा देकर देह ऐतका माक केनेकी वृत्तिक हैं, वे माकमोक्ष समान रहना नहीं कर सकते और जो वैश्वावृत्तिक लोग हैं उनसे नीरवृत्तिका कार्य नहीं मिल सकता। इनका कारण प्रकृति-स्वभाव है। अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे वह प्रकृति बनी है और किनका भी हट किया जायगा कष्टकर किना तो भी वह प्रकृति-स्वभाव नहीं बदलता।

“स्वभाव” अर्थात् अन्तर्यामी (स्व) अपना (भाव) जन्म है। जिस जन्मसे जो बना जाता है वह स्वभाव कहलाता है। वस्तु पञ्चप्राणियोंका या स्वभाव बदलताही नहीं मनुष्योंका भी बदलना कठिन होता है और बड़ा श्रम करनेपर संसारात्तक बदल सकता है। विधाविन्न जैतेसे अपनी प्राण प्रकृति की वह प्रकृति बनी भी परंतु उनसे थिये उसकी कितन कह पड़े और वह बारबार नवनी इस प्रकृतिपर कैसा जाता था वह बात उसके परिधमें स्पष्टताम दीखती है। प्रकृति-स्वभाव बदलना इतना कष्टमय नवना असाध्यम है।

अर्जुन नीर वृत्तिवाला क्षत्रिय है। अज्ञानमोक्षी देखकर बुद्धिबिषयमें उनकी योक्षी अप्रकृति कुछ है परंतु वह फिर काल्पनिक रिश्तेबन्धी नहीं है। अज्ञानमय उपरानि हुई गम्यापि वह मनुष्य थिये रिक्त नहीं गमनी। नीर अर्जुन इस समय तबका करनक थिये हममें नया भी गया था भी पीछेही

समयके पश्चात् वह अपने मूक स्वभावपर बरतन वा जायगा। अतः अर्जुनके विषयमें कहा है।

अथ क्षेत्र्यमईकपराख भोष्यसि दितक्ष्यसि ॥१८॥
यद्बुद्धकरमाधिर्य न योस्तस्य इति मन्थसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोस्याति ॥१९॥
स्वभावायन कोस्त्य मिथ्यः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेकक्षसि यन्मोहात्करिष्यस्यधोऽपि तत् ॥२०॥
(गीता १८)

यदि तू नईकारक बस होकर मेरी बात नहीं सुनेगा तो नासको प्राप्त होगा। नईकारकस तेरा वह कार्य कि मैं न करूँगा एक मिथ्या विषय है। तेरा स्वभाव तो ऐसे उस और बलीक का जायगा। हे कुन्तीमन्थ ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू मोहबल होकर जिस नई करवा चाहता उसे तू निराक होकर करेगा।

अर्जुनके विषयमें वह जो बात कही है वह अथा सर्वत्र विषयमें सत्य है। प्रकृति-स्वभाव बड़ा दुष्कर है। अर्जुन अपनी जन्मजात वीरवृत्तिको छोड़कर आमगुण प्रकृति चारण करना चाहता था। उसके थिये वह अज्ञान का उससे वह विषयता असाध्य था। अज्ञानहीनसे देना ही करवा किसीको भी योग्य नहीं है। प्रकृतिके अनुसार कुछ हुए जो उचितकर मार्ग अज्ञान करवा है, वह योग्य है। नहीं विविध्य मय है। अर्जुनकी उचित वीरवृत्तिके बसका कर्तव्य करनेसे ही सकती थी। उनका प्राप्त कर्तव्य कुछ था वह भी ईश्वरार्पण-मुक्तिसे किना जाया तो उसका मोक्षका मार्ग सुगम हो सकता था परंतु वह प्रकृतिस्वभावानुक्रम प्राप्त कर्तव्यसे मिथ्य होना हुआ अस्वाभाविक परस्वभावका आचरण करना चाहता था। नही यदि एक वचना चाहे या पूर्ण अज्ञान बनेका बल करे तो उस अज्ञान में जैसा उलझ नास है उसी प्रकार अर्जुनका वरीव अज्ञान प्रकृति स्वीकारसे नास होना था। इसलिये मायावी भीर कहते हैं कि—

(अज्ञानवान् अपि स्वभावाः प्रकृतेः सत्त्वं केह)
कापी भी अपनी प्रकृतिके अनुसारही कार्य करते हैं।
कापी भी प्रकृतिमय स्वभावक सिद्ध कर कर नहीं सकते।
निमित्त—

इन्द्रियस्पर्शत्रयस्यार्थे रागद्वेषौ कथस्थितौ । तपोर्न वशमागच्छेत्तौ इत्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वय — इन्द्रियस्य अर्थे इन्द्रियपर रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयो बरी व आगच्छेत् । तौ हि अस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

रागद्वेषके शिवयके सर्वधर्मे इन्द्रियकी प्रीति अथवा द्वेष स्वभावस्थित हैं । उनके वशमें न होना चाहिये क्योंकि वे इसके बाध हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—प्रत्येक इन्द्रियका इस अथवा अनिष्ट शिव व निमित्त हुआ होता है । इस शिवपर इन्द्रियकी प्रीति और अनिष्ट शिवके सर्वधर्मे द्वेष होता है । एव मनुष्य इस रागद्वेषे लगी व बने क्योंकि व रागद्वेष उसके शत्रु हैं और शत्रुका लगी हो जाना किसीको भी योग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

हृष्यो भोगी शुक्रस्वभागी राजानो जनकराज्यी ।

शसिष्ठः कमकर्ता व पश्यते क्षामिनः स्थमाः ॥

(जीवभूतिकविके)

हृष्य भोगी ये शुक्राचार्य त्यागी विरक्त ये जनक और रामचंद्र राज्यप्रबन्धन पश्यासे कर रहे थे वसिष्ठ पश्याया जन्मजन तथा जन्मजनमें वृत्तव्य थे । वसति थे इस प्रकार अपनी अपनी प्रकृतिक अनुसार विविध कर्म करते थे तथापि वे सब ज्ञानी थे । इसी प्रकार जड़परत पुत्रवत् रहते थे रत्न गारीक मीचे पड़े रहते थे प्यासेव निषादियोंको पहाते थे दुर्वास वसिष्ठ भोगी थे वामदेव क्षान्त थे इसी तरह कई ज्ञानी विविध प्रकारसे व्यवहार करने थे और करते बुझे होकरे हैं । परंतु वे सब ज्ञानी हैं । ज्ञानी होनेपर भी प्रकृति चर्य बचकता नहीं । यदि वसिष्ठ पुत्र करने लगा जाय जड़परत सेवकपति बने और राम चंद्र पौराहित्य करने लगा जाय या वैसा करनेमें उनकी असमर्थताही सिद्ध होगी । ज्ञानी होनेपर भी वी इसे चुबका कर कर्म होना असंभव था और अन्यासे बाधन होता वसिष्ठ था क्योंकि उनकी प्रकृति मित्र थी । अर्थात् ज्ञानी होनेपर भी सब कामियोंकी प्रकृति एक जैसी नहीं होती । ज्ञानी होनेपर भी प्रकृतिके विरुद्ध कर्म नहीं हो सकता । फिर जो ज्ञानी नहीं है उस प्राकृत मनुष्यके शिवधर्मे तो कहनाही क्या है ? उसको तो अपनी प्रकृतिके अनुसारही कर्म करते हुए अपनी उद्योगिक मार्ग ईदना चाहिये । अन्वया प्रकृति के विरुद्ध कर्म करनेसे उत्तम नासी होता ।

वक्तव्य — निम्न अथवा उद करनेसे कोई काम नहीं हो सकता प्राप्ति उदसे इच्छा होती । इति इसकिये होगी कि प्रकृतिक विरुद्ध कर्म इससे उत्तम रीतिसे होनाही

नहीं और प्रकृतिक अनुसार कर्म तो यह जोह देगा इसकिये यह ' न इच्छका और न उच्छका ' होगा और इसी कारण निम्न होगा ।

हम सोचमें कहा है कि (निम्नः किं करिष्यति) निम्न से क्या बनेगा ? इस विचारसे निम्न इन्द्रियसम सम जाति नहीं करना चाहिये ऐसा कोई अनुमान न करें । क्योंकि सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर योगियों मुझमें लग्न हो जाना चाहिये क्योंकि जिसका अपनी इन्द्रियों पर काबू है, वह स्थिरप्रज्ञ होता है ॥ जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इन्द्रियां रागद्वेषरहित होकर उसकी वसतिमें ही वह मनुष्य इन्द्रियोंसे काम लते हुए भी प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥ जिसकी इन्द्रियां चरों ओरके शिवधर्मों से निकट कर अपने वचमें जागती हैं वह स्थिरप्रज्ञ होता है । (म गी १.६.१२ ६.६) इत्यादि स्थानोंमें इन्द्रियसम और मनोनिग्रहका जो वर्णन किया है उसका विरोध करना किये यह शोक नहीं कहा नहीं है । स्वयं और निम्न तो अवश्य ही चाहिये । परंतु जो वक्तव्यसे उद किया जाता है और जो जागे इति कारण सिद्ध होता है उसका विरोध नहीं किया है । उद करनेका अर्थ ' स्वयं ' नहीं है । वह वाच पाठक वहां पश्यासे पश्यामें रहे अन्वया अर्थका अन्वय होगा ।

आगे इसी प्रकृतिक वर्णन कुछ अन्य रीतिसे किया है । वह शोक अर्थ देखिये—

(१७) इन्द्रियके (मय अर्थात्) शिव व निमित्त हैं । काम लका केन्द्र जिहा नामिका इन पांच इन्द्रियोंके क्रमसा अर्थात् स्वयं कथ इस और गंध के शिव व सिद्ध हैं । व इन्द्रिय निमित्त शिव हैं और इन्द्रियोंके इनमें परि

वर्तन नहीं हो सकता अर्थात् कामका विषय समझी जागा कोई दूसरा नहीं होगा। इसी प्रकार मरुतक अन्य इन्द्रिय का विषय निश्चित है। ऐसेही इन्द्रियका प्रेम बार द्वेय भी निश्चित है अर्थात् कामका प्रेम मनुष्य सम्भूत होगा और कठोर सम्भूत द्वेय। सुन्दर रूपपर प्रेमका प्रेम होगा बार कुक्ष्यके विषयमें द्वेय। इसी रीतिसे अन्यत्र इन्द्रियोक्त रागादयोक्त विषयमें जायना चाहिये। इस रीतिसे इन्द्रियोक्त विषय और इन्द्रियोक्त राग द्वेय स्वभावसे निश्चित हुए हैं।

सुगन्ध मन्दर रस, सुन्दर रूप सुख स्पर्श और बीजा सम्भूत हृत्पर हरपक मनुष्यकी प्रीति होती है जैसे ये विषय साधारण मनुष्यका चित्त आकर्षण करते हैं उसी प्रकार साधुको भी इससे सुकृती होगा। तत्परी अप्रकाशनी हुवा तो भी सुगन्धसे उसकी रुचि नहीं होगा और सुन्दर रूपके सौन्दर्यकी सुन्दरता उसको सुन्दरही प्रीति होगी। इसी प्रकार सुगन्धसे वह सुकृती होगा कुक्ष्य उसको कुक्ष्यही प्रीति होगी। वास्तव्य यह है कि केवल इन्द्रियोक्तही विचार किया जाय ना वह बात निश्चित है कि इन्द्रियोक्त राग और द्वेय निश्चित हुए हैं। इसमें शङ्क नहीं हो सकता।

साधु हुआ तो भी उसको मनुष्य रस कष्टका कोणा और सुन्दर रूप उसको सर्वकर कुक्ष्य प्रीति होगी ऐसी बात नहीं है। परंतु जो भेद है बीच जिससे साधुकी श्रद्धा और साधारण मनुष्यकी प्रीति का व्यवहार इसी है वह आत्मक आनन्दनमें है। समुद्रन में है कि या समुद्रराज्य मनुष्य करवे हुए भी उससे मोहित नहीं होते यदि रसकी बीजा मात्रवे हुए भी इसकी प्रीतिसे प्रिये छड़पते नहीं इसी तरह अन्यत्र प्रेमके विषयोक्तें ज्ञाना आकर्षित नहीं होते और इन्द्रियोक्तें द्वेय विषयोक्त द्वेय करने वा उनको दूर हटानेके लिए अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करते। जो बीजा सुन्दर रूपको अपने पास रखनेके प्रिये और कुक्ष्यको हृत् करनके प्रिये प्रीतिप्रद अन्तर्गत करन करते हैं, वे मूढ हैं और वे अज्ञानवश प्रिये पात्र हैं। कई राजा या वादुता-दोमि सुन्दर स्त्रीकी सुन्दरतासे आकर्षित होकर वराज्यसे दूर करके मारमें विपराय मनुष्योक्त। कृतसे बच किया ना, इसी प्रकार चन्द्री नन्दमारके प्रिये भी वराज्य सामर्थ्य बहादुर रक्षण किने व और बचपक मन्दमार की बी। ये

कोण और इसी तरह सर्वत्र करनवाले विषयत्र कोण राग द्वेयके वसमें हुए होते हैं।

ये रागद्वय मनुष्यके साधु हैं ये (परिपक्वी) वरमार हैं, वे मार्गपर छिपकर रहनेवाले और साधु और सुन्दरेके समान हैं। ये मनुष्यकी उच्चतम मार्गपर भिक्षा करनका ब्रह्मा करके रहते हैं और मनुष्य वसमें हो गया, तो उसको कैलाश के कैलाश बचते हैं। सहरमें यदि कोई ऐसा चोर भिक्षा छे नगरके मन्त्रालय प्रेमका ब्रह्मा करता है और वचन मारी कामेवर अपना धूर रूप प्रकट करता है और बाध करता है। अथवा कैलाश बचनगाका चित्त जानेके प्रिये मीमा और परिणाममें विनाशक होता है उसी प्रकार इन विषयोक्तें मनुष्य के विषयमें समझना चाहिये। सबको प्रेमका विषय प्रीति में मीमा और परिणाममें बाधक होता है। विषयोक्तें राग बहते बहते मनुष्य पश्यकसा या मूढ बनता है वह मनुष्य इस जगत्में स्थान स्थावर जाता है। एकके कर्म का मनुष्य देखकर दूसरोंको साधन होय उचित है, परंतु साधारण मनुष्य ऐसे साधन नहीं होते इसीप्रिये इस छेकमें कहा है कि (ती रागद्वेयों मन्त्र परिपक्वी) ये रागद्वय इसकें साधु हैं। साधारण मनुष्य इस रागद्वेय स्त्री साधुकोके जमीन होकर उनकें कर्मके मनुष्य मानने लगता है और वह होता है। वेही साधु इसकी वचनमें बाध देते हैं। केवल सुन्दर मी रागद्वेयोंका अब कोकन करता है परंतु उनकें वसमें नहीं होता, उनके अपने आपकी स्वयं रक्षा है इसप्रिये अपनी प्रीतिप्रद में आनन्दसे रहता है।

विशेषतया बड़ा सुखक प्रीतिप्रद मन्त्र मानने व जाने और सुखके वसने स्वकीय व कामके उपदेश है। अर्जुन हिसासन मुद्र स्वयं होते हुए भी हिसासे प्रिये कोकना चाहता था और समग्रमार्ग परवर्तन सुखकर होनेके कारण स्वीकारना चाहता था। बड़ा सुखकराज्य मोह की दुष्करता है अर्जुनके मनमें हुआ और अर्जुन इस राग द्वेयकी साधुकोके जमीन हो गया था। इसप्रिये साधन करनके वरिष्ठसे वह उपदेश सामान्यतया अर्जुनका पात्र मानने किया। परंतु इसका विशेष परिणाम उत्तर नहीं हुआ वह देखकर फिर भी विशेष तरह कर्ममें करते हैं—

मोक्ष इन्होंने और दूसरे कहेंगे। देखो ये पूँजीपति वैश्य जातियोंसे एकिके साथ बैठते हैं, घरमें मोने चाँदीके ढेर भरे होते हैं। कुछ मेहनत किये बिना वे लोग पैस करतें हैं और पूरा मेहनत करनेपर भी जाके पैसकी रोटी तक नहीं खा सकते। किन्तु भाग्य है। सब मनुष्य एक-जैसे सम समान हैं सबका वह प्राकृतिक है सबमें बराबरी समान है। क्या ऐसी विषमता इस जगत्में रहे ?

जो भ्रातृजन क्षत्रिय और वैश्य दूसरोंपर अत्याचार करते हैं और दूसरोंको छत्रते हैं, इनके विषयमें ये या इससे भी ठीके विचार प्रकट किये जायें तो कोई डरा नहीं है। परंतु वैदिक धर्म अथवा वर्णाश्रमधर्म की रीतिसिं पाठ्य होनेपर कोई किसी प्रकार किसीपर अत्याचार करही नहीं सकता। सुतिरादितिके विषय अथवा विविधोंको कहकर और मोक्ष वर्णियोंको सुझाव ही है।

भ्रातृजन लोग बिना परिश्रम मीठे पदार्थ खाने हैं ऐसा शीक्षता है। परंतु उनके पीछे जो उपस्थाका वर्णविध्याचारण कगता है वह देखा जाय तो कोई दूसरा वर्णों मनुष्य भ्रातृजन बननेकी इच्छाही नहीं करेगा। क्षत्रियोंके कर्त्तव्य बड़ा अधिकार है ऐसा प्रतीत होता है परंतु क्षत्रियको राज्यसकल चकलेका तो कुछदायी कार्य है उसके किये के अधिकार उसके साथ रहनाही आवश्यक है। वैश्य पूँजीपति इक्षीकिये होता है कि उनका वह समीचीन धन राष्ट्रे दियेके किये कार्य करनेका पुण्य प्राप्त हो। वे वैश्विक मनुष्यका धर्म समान भ्रातृजनधर्ममें उपस्थाका कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं इसमें इसके किये भोगकी प्राप्तिही नहीं है। भ्रातृजनके पञ्चम १-१५ वर्ण गृहस्थिक जोधते हैं पञ्चाय बालदश और सम्पत्ति के उपस्थाकेही बाधन स्वीकारते हैं। बाधनस्थानमें प्रवेश करनेके पूर्व हिज प्रायः सर्वदेव यज्ञश्राद्ध अपनी सब कर्माई राष्ट्रे किये स्थाप देता है जातिकी मर्काईके किये अपना सर्वस्व समर्पण करता है। इस प्रकार वैदिक धर्ममें वर्णाचार्य करनेका भ्रातृजन जोय नहीं क्षत्रिय कष्ट नहीं और वैश्य भी पूँजीपति नहीं, अर्थात् आत्मकके ये मिश्रणीय क्षत्र्य वैदिक धर्मविके किये प्रयुक्त करना बड़ा अशक्य करना है। जहाँ प्रत्येक गृहस्थी इष्टमिष्ट परिवर्तिक जगत् मेंकर पाकर जाति सबका भोजन यथायोग्य रीतिसे होनेके पञ्चायही स्वयं भोजन

करनेका होता है परिवारके पूर्व किसी गृहस्थी भोजन होता असमय है और वह भोजन भी क्षत्रिय अथवा होता जहाँ विपत्तिका कारण उपस्थितकी केहे हो सकता है। वर्णाश्रमधर्म समवायका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका विशेष विचारण करनेका स्वक नहीं बही है उसी सरोपसे विजयी बात जहाँ वर्णाश्रम है उन्नी वैदिक किये साम्यवादका निर्धारण करनेके किये पचास है। वे जो वर्ण मिश्रकर एक राष्ट्र है होता है, देखिये—

भ्रातृजनोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजस्यः कुठ ।
उर उरस्य पश्येद्वा पञ्चर्था यामो भ्रातृपतः ।

(अ. १. ११. ११)

'भ्रातृजन इस समाजका कुल है क्षत्रिय इस समाजका बाहु कण्ठा है जो वैश्य है वह इस समाजका उर है और पंचोंके किये याम है। इस तरह के चार वर्ण सब पुण्यके चार अवयवके किये मिले हैं बैसा सिर याम् जगत् और पाँच के सारीकी सुस्थितिके किये आवश्यक हैं। समवायकी मतानुसार सारीमें केक सब अवयव मिल अवयव सर्वत्र बाहु किंवा सब स्थापन पाँच ही पाँच बनने वर्ण तो किये होग्य उसी प्रकार समाजकी सुस्थितिके किये भी सब लोग केक भ्रातृजन केक क्षत्रिय केक वैश्य अवयव केक याम् बनाये अथवा प्रत्येक मनुष्यमें सब वर्णों की विचरही बनायेका चल किमा जाय तो भी समाजकी आस्थिक उन्नति नहीं हो सकती। बैसा होनेपर समाज बढ़ा बनेगा और उसमें भावैय न रहेगा। इसका अर्थय यह है कि—

भनकी विपमता

भ्रातृजनः कण्ठः सखायो

भ्रातृजनोऽस्य सखायः याम् । (अ. १. ११. १०)

जातिका और कानका सभी लोक समान होते हैं परन्तु ये सब उनके बैगमें विभक्त होते हैं।' इसविषयमें विपमता रहती है। समवायकी प्रयोगका विचार नहीं करते इसविषयमें फंसते हैं। वैदिक वर्णाश्रमधर्ममें इस गौरीगण्य विचार उद्यम रीतिसिं किता है इसविषयमें वह एकही धर्म अथवा उदार करनेके किये समर्थ है।

अपरिचिति जाते वर्णोंमें क्षत्रियका और याम्का वर्ण कहय है वह बात सत्य है और भ्रातृजन की वैश्य

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष । अनिच्छन्नपि चाप्येयं घलादिव नियोजितः ॥३६॥

(१३) पाप प्रवृत्तिका कारण

भीमगवानुवाच—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भव । महाशना महापाप्मा विन्दूयेनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

धूमेनामियते वह्निर्यथाऽऽवृद्धो मलेन च । यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेवमावृतम् ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतज्ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण क्रीन्तेऽप्युत्प्रेरणानलेन च ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमाहृतयेष ज्ञानमावृत्य वेद्मिन् ॥ ४० ॥

तस्मात्तन्मिन्द्रियाण्येषां नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहिष्येन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— हे बाप्येय ! अथ केन प्रयुक्तः नरः पूरुषः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजित इव पापं चरति ॥ ३६ ॥

अर्जुनने पूछा हे भीमहृष्य ! भव (यह वतलामो कि) किसका प्रेरणासे यह मनुष्य इच्छा न रहने-पर भी बलात्कारसे लगाय हुएके लच्छा पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

भाषार्थ— मनुष्यकी इच्छा पाप करनेकी ओर न होते हुए भी किसीके लचीन होकर कार्य करनेके समान यह मनुष्य किसी किसी समय पापाचरण करता है । मनुष्यकी ऐसी प्रवृत्ति किस कारणसे होती है ?

परमेश्वरप्रहार होनेके कारण उस प्रकारके कह हममें नहीं है यह बात भी सत्य है । परन्तु उसमें बिजलुक कह नहीं है ऐसी बात नहीं है एक वर्गके जर्ममें एक प्रकारक कह है तो दूसरे वर्गके जर्ममें दूसरे प्रकारक कह है और एकमें एक प्रकारका झुका है तो दूसरेमें दूसरे प्रकारका झुका है । बिचार करनेपर पता लग जायगा कि जर्मसेस्थापकोंने सब वर्गोंके लिये झुका और कह समानताका बोधनेका पाल किया है और यदि कुछ विशेष किया है तो वही है कि उच्च वर्गियोंको वपरा जीवन है और निचके वर्गको भोगका जीवन अधिक रख है ।

इस प्रकार प्रत्येक वर्गमें कुछ कह और कुछ झुका है, इसलिये अपने जन्मप्रसन्न स्वधर्मविचरक कर्त्तव्यका त्याग करके दूसरेका धर्म सुलाप्य प्रतीत होता है इसलिये उसका स्वीकार करना मूढताका काम है । जिसका जो कर्त्तव्य स्वभाव से प्राप्त है रक्षकसे भापा है सहजम्-सहजसे ही प्राप्त हुआ है वही उसको सुकर है । दूसरेका धर्म मात्र सुकर प्रतीत हुआ तो भी जन्ममें वह धर्म का ऐसा ही अनुभव होय और स्वभावतया और परधर्माग्राह्य करनेका बल जन्ममें हासिकारक ही सिद्ध होगा ।

इसीलिये कहा है कि (स्वधर्ममें स्थिर भयाः) स्वधर्म

आचरण करते करते मरण जागया तो भी वह कल्याणकारी होगा परन्तु परधर्मके आचरणसे कुछ अशुभ होता है ऐसा भी प्रारम्भमें प्रतीत हुआ तो भी वह (परधर्मों भवा वह) परधर्म भयेकर हासिकारक है ।

हासिकारक होते हुए मनुष्य उस पापकर्ममें क्यों प्रवृत्त होता है ? कौनसा बन्धनका भाव है जिससे यह मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है ? यह उत्तर इस पक्षों अर्जुनने किया है । यह प्रश्न और उसका उत्तर अब देखिये—

(३९) प्रत्येक मनुष्य पापाचरणके लिये तुला होता है ऐसी बात नहीं । प्रायः मनुष्य जागता भी है कि पापका फल दुःख है और इस कारण वह पापसे बचना भी चाहता है बचनेका बल भी करता है । परन्तु उसकी पाप न करनेकी इच्छा होनेपर भी किसीके दबावमें जानेके समान मनुष्य पापकर्ममें जोका जगता है और इच्छा न रहनेपर भी इससे पाप होता है बचना चाहता हुआ भी बचता नहीं है । यह क्या कारणकारक है ? कीव इसको पापकर्ममें प्रवृत्त करता है ? मनुष्यका ऐसा कीव कारणक है जो हमको प्यदि के आता है और पाप करवाता है ?

अर्जुनका यह प्रश्न श्रवण कर भगवान् भीमहृष्य उसका उत्तर देत हैं—

रखसो छोम पय थ (जायते) ॥ १७ ॥

(म गी १७)

“ भोगगुण्य और वास्तविका मूक रजोगुण है वह देह वास्तिवो भोगप्रसिद्धि के स्थित कर्मपातोंमें बांध देता है ॥ रजो-गुण्यमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है ॥ जब मनुष्यमें रजोगुण बढ़ता है तब उसमें छोम प्रवृत्त कर्मोंका प्रारंभ करने की रुचि मनुष्यकी उत्पन्न होती है और इच्छाका उत्पन्न होता है ॥ रजोगुणमें मनुष्य होनेसे कर्मसंगी छोमोंमें जन्म होता है ॥ रजोगुणका फल दुःख है तथा रजोगुणसे ही सोम होता है ॥ ” रजोगुणका इस प्रकार वर्णन श्रीकृष्ण ने भगवान् के और अन्तरह्वये भगवान् के देहिये-

पृथक्करणे तु पञ्चानं मानामावाप्तुमिच्छान् ।

वन्ति सर्वेषु मृतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राक्षसम् ॥ १८ ॥

यत्तु कामप्लुता कर्म साईक्यरेण वा पुनः ।

क्रियते बहुधापापं तत्राजसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

रागी कर्मफलप्रप्तुष्वधो हितरतमकोऽमुनिः ।

हर्षघोषाश्रितः कर्ता राक्षसः परिधीर्षितः ॥ २० ॥

यथा धर्ममध्यमं च कार्यं चाकारयति च ।

अपघायत्प्रजानातिं दुस्त्रिः सा पार्थ राजघ्नी ॥ २१ ॥

विषयेन्द्रियमयोगाद्यस्तद्विषेऽसुखोपमम् ।

परिष्यामि विषमिव तरुणं राजसं स्मृतम् ॥ २२ ॥

(म गी १८)

जिससे सब मृतोंमें मित्र प्राप्त भेदभाव बिकार होता है वह राक्षस जान है ॥ जो कर्मजागृति इच्छासे होता है जो बर्हत्तरसे किया जाता है और बड़े परिश्रमसे होता है वह राक्षस कर्म है ॥ जो योगी कर्मोंका भोगमें ही इच्छा करनेवाला कोमी हिंसात्मक अपवित्र और हर्ष तथा क्रोध करनेवाला है वह राक्षस कर्ता कहलाता है ॥ जिससे धर्म और लज्जाम कार्य और अकार्यके विषयमें अयोग्य विचार होता है वह राक्षस बुद्धि है ॥ जो विषयों और हीर्षयोंके सम्बन्धसे होता है जो धर्ममें भीका करता है परन्तु अन्त में विषयैसा प्रतीत होता है उसको राक्षस मुक्त कहते हैं ॥

इससे रजोगुणका क्या परिणाम है वह बात पारदर्शिक मनमें स्थिर हो सकती है ॥ इसका तात्पर्य यह है-

रजोगुणसे भोगवृत्ति बढ़ती है अतः भोगगुण्य होती है अतस्तत्ति होती है भोगप्रसिद्धि के स्थित कर्म होते

हैं, मनुष्य छोमी बनता है मन अज्ञान होता है सब कुछ सुलभ मुझे चाहिये ऐसा प्रतीत होता है इस प्रसिद्धि गुण बढ़ता है भेद और क्रोध बढ़ते हैं, अहंकारकी वृद्धि होती है बड़े परिश्रमसे प्राप्त संपादन करनेका पाल होता है हिंसा अर्थात् दूसरेका घातपात करनेकी वृत्ति बढ़ती है अपवित्रता बढ़ती है किसी समय हर्ष और क्रोधी दूसरे समय शोक होता है, बर्तन जयमें प्रविष्ट नहीं किया गया कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं दीखना, विपरीत वर्णन लज्ज ही लज्ज प्रतीत होता है इन्हींके विषयोंमें भोगप्रसिद्धि अतः भोगप्रसिद्धि वृत्ति बढ़ती है ॥ वह विषयसुख पक्षिके मोक्षता प्रतीत होता है और अन्तमें बड़ी विषयके सम्मान प्राप्त सिद्ध होता है ॥ अर्थात् इस रजोगुणसे दुःखही बढ़ता है ॥ सारांशसे यह वर्णन पुरोक्त शीतलके साक्ष्यों बड़ा है ॥ इस प्रकारके रजोगुणसे वह काम उत्पन्न होता है और क्रोधी भोगमें विलीन होने लगा तो कामकीही क्रोध उत्पन्न होता है

बड़ा पैदा काम

वह काम (महा-अज्ञान) बड़ा अनेकता है इन्ने क्रिया भी जाया, जो भी इसका पैदा नहीं मरता; वह सदा मूका रहता है ॥ अतः मनुष्यको क्रिये भी जन्म प्राप्त हो वह करता वृत्त नहीं होता जन्मे भी भोग चाहिये, ऐसीही कहता जाता है ॥ भोग प्राप्त करनेमें क्रिये भी पाप करने बड़े असह्य विचार यह नहीं करता ॥ इन्ने क्रिये असह्य (महापाप्मा) बड़ा कहा है ॥ सब पल इस कामके आश्रयसे ही रहने हैं ॥ हिंसा घातपात कर्तव्य न करना और अकर्तव्य करना आत्मप्राप्त विविधित्व व साधना ये और ऐसे अनेक पाप इसीज उत्पन्न होते हैं ॥ जिस प्रकार अक्षिरर पृथक्का आचरण होता है और वर्णना मरणा जागृत्त होता है उसी प्रकार मनुष्यकी जन्मा पर इस कामका आचरण है हिंसा मानी कि मनुष्यका जन्मा अकर्तव्यही वह आचरण है ॥ इसी आचरणके कारण मनुष्य मोहित होता है और कर्तव्यसे अज्ञ होता है ॥

यह कामकी भाषा (दुष्परा) कभी लज्ज न होनेवाला है ॥ इन्ने क्रिये भी भोगकी आहुतिपां जन्मी तो भी वह लज्ज नहीं होता ॥ इस कामका गन्ना कसी मरता नहीं इन्ने क्रिये भी भोग जाकी वह सदा जाकी ही रहता है ॥ साधना साथ वह (महा पाप्मा) बड़ा पापी है ॥ वह

पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला है । भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पाप करेगा इसका कोई पता नहीं है । यदि धर्माचरण करनेसे उसके भोग प्राप्त हुए तो वह धर्माचरण करेगा परन्तु यदि धर्माचरण करने से उसके भोगमें कुछ म्युक्तता का आन तो वह पापाचरण करनेमें भी पीछे नहीं हटता । सब पाप प्रायः भोगवृत्ति करनेसे ही होते हैं । इसलिये कामका यहाँ 'बन्धपापी' (महापाप्मा) कहा है । जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है मनुष्यका दुश्मन । क्योंकि पापसे दुःख होता है और दुःख देना मनुष्यका धर्म है ।

यहाँ कहेंगे कि जो भोग बहुत समस्तक भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और पापकर्म करनेसे भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सद्बुद्धि के लिए गिर जाते हैं ? क्या उनका उद्धार भी कोई जाता नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें अगला श्लोक ही कहता है कि ऐसे भोगी लोग सद्बुद्धि के लिये अन्तरसे विगत जाते हैं ऐसी बात नहीं है, वह एक उनकी भ्रष्ट आत्मापर आचरणता जाता है । जैसा अस्मिन् पूर्वा वर्णन पर सब और सम्यक् सिद्धि होती है उसी प्रकार उनकी आत्मापर कामका-भोगेच्छाका आचरण होता है । इन तीनों उपमाओंमें पाठक होंगे कि पूर्वेक अन्तर प्रदीप्त होवेयोग्य अग्नि विद्यमान रहती है उसके आचरणके लिये वर्णनका धीका जैसाका जैसा भ्रष्ट रहता है और सिद्धीक अन्तर सुन्दर वाक्क व निग और आग्रह रहता है वैसीही भोग की इच्छाके अन्तर महत्ता रहती है, सद्बुद्धि के लिए विगत होती नहीं । अस्मिन् चमनीके फूँका तो अग्नि प्रदीप्त होती है वर्णन को दिया तो धीका पुनः स्वच्छ बनता है और सिद्धी इसनेके अन्तरसे सुन्दर वाक्क बाहर जाता है इसी प्रकार सप्तमसे भोगेच्छाकी दूर किया तो भ्रष्ट आत्मा अपनी निज सत्त्विकी साथ प्रकट होती है । अर्थात् जैसे पूर्वा रहनेक अग्नि जलती नहीं ऊपर भक्त रहनेक वर्णन में भ्रष्ट नहीं दीखता और सिद्धीके अन्तर देखित होनेक अन्तरका वाक्क अग्रह अमुक नहीं करता इसी प्रकार भोगेच्छा प्रकट रहनेक ही भोगीकी आत्मा अनाद्यसी प्रदीप्त होती है । अतः उसकी सद्बुद्धि के लिए समझना उपयोग है तथापि अवतक भोगोंके विषयमें प्रकट इच्छा रहती तबतक उस आत्माकी निज सत्त्विकी प्रकाश होता

सबका अन्तर्भव है और भोगेच्छा रहनेक दुःखोंसे छुटना भी अनाद्य है । इनके सम्भार भी इनके ऊपरसे इतनेके पश्चात् कुछ काठक अवश्य कहें देते रहेंगे ।

यह काम (कामिनः वैरी) कामीका वैरी है अर्थात् यह कामीक साथ कभी नहीं रहता । सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है । किम प्रकार सत्यक साथ लपिकेका घर है उसी प्रकार ज्ञानक साथ कामका घर है । मगान्त् सेकने अपना मूर्ख ज्ञानमेव छोड़कर उसके तेजसे मनुष्यको जला दिया पत्नी कहा पुराणोंमें है । हम कर्मों में भी क्षीरकरका " कामारि (कामभञ्जि) कर्मका मनुष्य कहा गया है । काम और मनुष्य एक ही हैं और क्षीरकर पुनः कामी हैं । जगद्बुद्धा नाम उमा-पति (उमा = विद्या) विद्यापति कामी है । वे कामी होनेसे ही कामको जला सके । जो कामी नहीं होता वह कल्पि कामका नाश नहीं कर सकता । इस कथासे भी काम ज्ञानका वैरी है वह बात सिद्ध होती है । जहाँ काम होगा वहाँ आन नहीं रह सकता और जहाँ ज्ञान है वहाँ काम नहीं रह सकता । इसीलिये महावर्ष आत्ममें ज्ञानार्जन करनेका कार्य आवश्यक कर्तव्य है ऐसा किता है, क्योंकि इस आत्मक पञ्चात् विद्यादि होनेपर गृहस्थायाममें यदि मनुष्य कामक लोभी बनता, तो ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य कठिन हो जाता है । यह काम ज्ञानका वैरी है इसीलिये (एतेन ज्ञानं भाव्यं) ज्ञानको वैर केता है । ज्ञानक मूल्य इष्टिज मन और बुद्धि है जब इसको यह काम वैरता है तब वहाँ गृहका क्षीय जाती है । जैसा मनुष्य के लिये किन्हेके वैरता है और किन्हेके अन्तरके धीरों का संभार टोकता है इसी प्रकार यहाँ यह काम मनबुद्धि को वैरता है और उसकी स्वरंजताका नाश करता है । अर्थात् ऐसे समय मनुष्यक कामक लोभी बनती है और जिस मार्गके यह के जाता है उसी मार्ग जाती है ।

अनुकूल प्रकटा उत्तर नहीं इस तरह मिला है । इसमें न रहनेपर भी किम कारण मनुष्य पर करता है वह अनुकूल प्रकटा । इसका उत्तर यह है कि जब कामक द्वारा मनबुद्धि वैरी जाती है और कामक वार्ता हो जाती है तब उपमा एवामे काम हा जाता है और वही उपमा आकट होता है । क्षीरकरा वास्तविक कामक और एवामी आत्मा है तथापि वह मनुष्यके लोभी बन जाती है । रात्र

अवस्था- भगवान् उवाच- रजोगुणसमुत्पन्नः महाभागः महत्पाप्मा एव कामः, एव क्रोधः (अस्ति त्वं) एवं इह कैश्चिन्निदि ॥३०॥ एवा पुनश्च बहिः यथा न भवेत्त आर्तः आश्रितः, यथा उक्तेन गर्भ आश्रितः तथा तेन इह आश्रितः ॥३१॥ हे श्रीभगवन् ! त्वत्कृतेन कामकृतेन जगत्कृतेन कामिनः ज्ञानं आश्रितम् ॥ ३२ ॥ इतिवाचि मनः इति। अतः अविज्ञानं उच्यते । एवः पुनः ज्ञानं आश्रितं देहिन् विमोक्षयति ॥ ३३ ॥ हे मरत्तम ! तस्मात् त्वं ज्ञातुं इन्द्रियाणि निरस्तं ज्ञानविज्ञानतात्पर्यं एवं प्राप्तवान् प्रसहिहि ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान् बोले- रजोगुणसे उत्पन्न हुआ अत्यधिक कामेवाला माग बड़ा पापी यह काम और क्रोध । अनुप्यका मेरक है । परन्तु तू) इसको इस कोकमें शत्रु समझ ॥ ३० ॥ जिस प्रकार घूर्पसे स्त्री और मन्त्रसे द्रव्य उठा जाता है और जैसा मिश्रीसे गम चरित होता है उसी प्रकार इस (काम) से यह सब (ज्ञान) आच्छादित होता है ॥ ३१ ॥ हे कुन्तीपुत्र भर्तृन् ! सबके निन्द्यैरी कभी तूत न जानेवाला इस भ्रमिसदृश कामसे ज्ञानीका ज्ञान ढक जाता है ॥ ३२ ॥ इन्द्रियों मन और बुद्धि उस (कामकी शत्रु) का निवासस्थान कहा जाता है यह (काम) इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादित करके देहधारी जीवमाको विशेष मोहित करता है ॥ ३३ ॥ हे मरत्तमेष्ट ! इसलिये तू पहिले पहिले इन्द्रियोंका सयम करके ज्ञान और विज्ञानका नाम करनेवाले इस पापीका परित्याग कर ॥ ३४ ॥

मावार्थ- रजोगुणसे काम और क्रोध उत्पन्न होता है । यह काम सदा अनुप्य का और अनुप्यकी राखी और प्रवृत्ति बनावेबन्धा है । अतः यह अनुप्यका शत्रु है । इस काम और क्रोधसे अनुप्यका ज्ञान गह होता है । अनुप्यके इन्द्रिय मन और बुद्धिमें यह बर करके निषाम करता है और अनुप्यके ज्ञानको बेर कर उसको मोहित करता है । इसलिये अनुप्य संभवद्वारा जगत् सब इन्द्रियोंको स्वाधीन करे और ज्ञानविज्ञानका नाश करेवाले इस पापी शत्रुकी सखी को देखे ॥ ३० - ३४ ॥

(३०-३४) अनुप्यने क्या किया था कि अनुप्यकी हृष्टा न होन हुए भी उसकी पातकी ओर प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसका उत्तरमें श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे शत्रु ! अनुप्यके इन्द्रिय मन और बुद्धिमें काम रहना है वह उसकी हृष्टा न होमेवर भी उसका पापकर्मों प्रवृत्त करता है । वह काम सदा शूना और पापमें प्रवृत्त रहना है कभी किमता भी योग प्राप्त हुआ तथापि गुण और योग नहीं होता । जैसा काप्यो और बीसे अग्नि जगत नहीं होय प्रत्युत बहना है उसी प्रकार जोगमें वह काम कदापि जलत नहीं होता केहिन् बुद्धि पला है । वह अनुप्यका शत्रु देना वह अनुप्यके प्राय विज्ञानको गैरकर उसके कल्याणका नाश करता है । इसलिये कोई अनुप्य इस कामका अर्थात् न बने किन्तु सब इन्द्रियोंका संवस करके हमारी इहक मित्रे अपनी इन्द्रियोंमें कोई स्थान शिखरे न दे ।

छ शत्रु

अनुप्यक छ शत्रु हैं । उनके नाम काम क्रोध, मोह, मय और मग्ग ये हैं । इन सबको छ शिखी काम है क्योंकि कामके कारणही अन्य छ शत्रु अनुप्यमें रहते हैं । शिखी-—

कामाक्रोघोऽभिजायते ।

बोधान्नयति संमोहः (यं यी १।११)

" कामसे क्रोध होता है और क्रोधसे मोह होता है । " कामसे क्रोध भी होता है इसी प्रकार अन्धान्ध निस्त भित्तिय होने हैं । जगः काम मुख्य है और क्रोध निस्त उमक अनुपायी है । वह कामही अनुप्यका श्रेयक है । यही काम शत्रुका कार्य क्षीयिषक भागमावका है । इसका निश्चित कामका कार्य हृष्टा भी है—

कामस्तद्वर्गं समश्रतंताधि ममसा रेता प्रथम
यदासीत् । सतो बन्धुममसति निरविश्वन् इदि
प्रतीप्या कवयो मनीषा

(श्रुतेर १ । ११५७)

(जने यन् ममस प्रथम रेताः आसीत्) प्रारम्भमें जो
मनका पहिका शीर्ष प्रकट हुआ, वह काम (अर्थात् प्रकृति
एकित्वर काम) हुआ । यही (असति सता बन्धु निर-
विश्वन्) जन्म सृष्टि के जन्म सत् जागरूक साथ सत्त्व
करवेत्ता है वह बाण झालो लोगोंने मयमें निवार कर
निमित्त की है ।

इस मन्त्रमें कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भमें ईश्वरक मनसे
जो शीर्ष प्रकट हुआ, वह काम है । कामका कार्य सृष्टि निर्माण
करनेकी हरता कार्य करनेकी इच्छा जपवी सक्ति प्रकट
धनकी इच्छा निवृत्ति को प्रकृतिमें जानेकी इच्छा । यही
काम गृहस्थाश्रमिणोंमें जोकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रकट होता
है और संगम निर्माण करनेकी इच्छाक रूपसे इसी कामका
एक नव गृहस्थाश्रमिणोंमें निवास करना है ।

गृहस्थीका परोपकार

बन्धु देका जाय तो वह काम जा परोपकारक मनस
प्रारम्भमें प्रकट हुआ उसमें मयाजवा सच जीवोंपर उपकार
करनेकी इच्छा की । सच जीवोंको मुक्तिप्राप्तका माग लुका
हो जाने इसलिये सृष्टि निर्माण करनेका काम जलजलम
परोपकारके मनमें प्रकट हुआ । इसी प्रकार गृहस्थीके मनमें
का सम्प्रजोत्पत्ति का काम उत्पन्न होता है वह यदि धर्म
मर्वादानकी सीमित रहा तो उसमें भी जीवोंपर उपकार
करनेकी ही माया है । पण्डित यहाँ आचार्यपुत्र न हों और
गृहस्थीक गर्माजल कारनमें परीपकार कहा है ऐसा कहकर
इस मीरी विषयका उपाहास न करें । यह गर्माजलका
विषय भी धर्मपुत्रक रहनपर परोपकारका हेतु होसकता
है । विवाद-बन्धनसे जो जो पुत्र एकत्रित होते हैं उनके
एक सहायकमें धर्मविषयके अनुसार देका जाय तो कामुय
पाका गन्ध भी नहीं है । सुहायकके भी पुत्रक जवा संपन्न
रहते हुए और मन्त्रार्थका पाठ्य करते हुए, जो गर्मा-
चार्य सहजसत् करत हैं, उनमें जीवात्माओंको इस धर्म
धर्मोंमा आकर करना मुक्तिप्राप्तका मार्ग आत्मप्राप्त करनेके
लिये परिश्रम करत मिलता है । वह जन्मपर दया करे परो

पकारका करीब है । दिन जीवोंने पूर्व-जन्ममें मुक्तिका
जाका मार्ग काय है और जो सेप मार्ग श्रीम आत्मप्राप्त करना
चाहते हैं वे योगप्राप्त लोग सपमी योगिबोके बरोमेंही
जन्म लेते हैं । वे आचार्यबोके बरोमें नहीं जा
सकते । क्योंकि कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुपित्या शाश्वती समा ।
शुचीनां भीमतां गृहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्वि बुद्धमतरं लोके जन्म यदादृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र त बुद्धिसयोग कमते पीधदेहिक्म् ।
यतते च ततो भूयः समिक्षां कुतमश्न ॥ ४३ ॥
(म गी ६)

पुण्य करनेवाले लोग जिस लोकमें पाते हैं उस
पार बहाँ शीर्ष कामतक रहकर, योगप्राप्त समुप्य पवित्र
योगप्राप्तसंपन्न वाणीक धर जन्म कया है । किंवा वह
शान्तिगीक ही धर जन्म लेता है । संसारमें इस प्रकारका
जन्म कल्पत दुर्लभ है । वहाँ उसे पूर्वजन्मक बुद्धिसंस्कार
मिलते हैं और वह बहाने मोक्ष के लिये काम प्रगति करता
है । "

इस तरह पण्डित बाण सकते हैं कि संपत्ती योगी की पुत्र
जो पन्थावाक लिये सहाय करत है वह अपने काममुक्त
लिये नहीं प्रत्युत योगी जीवोंके इस जन्ममें आकर जाने
का मार्ग आत्मप्राप्त करनेका जन्मपर दिक्कतके लिये ही है ।
बन्धुना वह काम इस प्रकार परोपकारका हेतु है परन्तु
वह सामान्य योगी जीवोंके जन्म होनेके कारण इनका
विरक्तशील हो गया है । वहाँ जिस भीमरूप कामका
निरस्कार किया है वह यही हीन काम है । यह रजोगुणसं
उत्पन्न होता है । इस विषयमें देखिये—

रजोगुणसु काम

रजो रामात्मकं चिदि नृणांसंगसमुद्भवम् ।
तच्चिद्विष्माति कीर्त्येव कमसंगेन देहितम् ॥ ७ ॥
संज्ञयति रजः कर्मणि भारत ॥ ९ ॥
लोमः प्रकृतिपारमः कर्मयामासः स्पृहा ।
रजस्थितानि जायन्ते विबुद्धं भरतर्षम् ॥ ११ ॥
रजसि प्रकृत्यं शरया कमसंगिणु जायते ॥ १५ ॥
रजसम्यु पत्यं पुनः ॥ १६ ॥

रजसो ह्योम यस्य च (आधत्ते) ॥ १७ ॥

(म ती १७)

योगसूत्र और भाष्यिका मूल रजोगुण है यह वैदिकी भोगाभासिके विधे कर्मपासोंमें बांध देता है ॥ रजो-गुणकर्ममें मनुष्यको प्रवृत्त करता है ॥ अब मनुष्यमें रजोगुण बढ़ता है तब उसमें जोम प्रहास कर्मोंका प्रारंभ करने की क्षमि मक्की ब्रह्माण्ड वृत्ति और इच्छाका प्रत्यय होता है ॥ रजोगुणमें मूल्य होनेसे कर्मसेवी भोगोंमें लग्न होता है ॥ रजोगुणका कल दृष्ट है तथा रजोगुणसेही जोम होता है ॥ " रजोगुणक इम प्रकार वर्णन पौरुषक ब्रह्मात्मनो है और अन्तरहरे ब्रह्मात्मने देखिये-

पुण्यस्त्वेन तु यज्जाने नानाभाषाभ्युद्यदिधासु ।

यन्ति सर्वेषु मूलेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ ११ ॥

यत्तु कामप्लुता कर्म साहकारेण वा पुनः ।

क्रियत बहुधापाल तद्वाजसमुदाहृतम् ॥ १२ ॥

रागी कर्मकलमत्तुल्यो हिंसात्मकाऽभुवि ।

द्वन्द्वोक्तमिदं कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ १३ ॥

यथा धर्ममधमं च कार्यं काकायमिव च ।

अपथावयमज्ञानाति क्षुब्धः सा पाथं राजसी ॥ १४ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यतन्मयेऽभूतोपमम् ।

परिपामं विषमिष तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १५ ॥

(म ती १५)

जिससे सब मूलोंमें मित्र मात्र भेदभाव विचार है वह राजस ज्ञान है ॥ जो कर्मयोगकी इच्छासे होता है जो लक्ष्मणसे किना जाता है और बड़े परिश्रमसे होता है वह राजस कर्म है ॥ जो भोगी कर्मक भोग्यकी इच्छा करनेवाला कोभी हिंसात्मक नरविष और दुर्ब तथा जोक कर्मपास है वह राजस कर्ता कहलाता है ॥ जिससे कर्म और अधम कार्य और लक्ष्मणसे विषयमें लोभ्य विचार होता है वह राजस वृत्ति है ॥ जो विषयों और द्वन्द्वोंके संघर्षसे होता है, जो प्रारंभमें मीठ लगता है परन्तु अन्त में विष वैसा प्रतीत होता है उसको राजस सुख कहते हैं।

इससे रजोगुणका क्या परिष्कार है यह बात बादमेंके समयमें स्थिर हो सकती है । इसका तात्पर्य यह है-

" रजोगुणसे भोगवृत्ति बढ़ती है जिसका भोगसूत्र होती है अन्तर्गति होती है भोगवृत्तिके विधे कार्य होते

हैं, मनुष्य कोभी बन्धता है सब ब्रह्माण्ड होना है सब कुछ सुख सुखी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है इस वृत्तिसे सुख बढ़ता है भेद और कलह बढ़ते हैं, सर्वकारकी दृष्टि होती है बड़े परिश्रमसे भोग संपादन करनेका पाव होता है हिंसा वर्णाएँ दूसरेका पावपात करनेकी वृत्ति बढ़ती है अपवित्रता बढ़ती है किसी समन दुर्ब और लोभी वृत्ति समग्र होकर होता है, धर्म कर्मका विचार नहीं किया जाना कर्तव्य और लक्ष्मण नहीं धीकड़ा, विपरीत वर्णाएँ लग्न की लग्न प्रतीत होता है द्विन्द्वोंके विषयवस्तु लक्ष्मणसे योग्यकी वृत्ति बढ़ती है । यह विषयसुख पक्षिसे भोग्यता प्रतीत होता है और अन्तमें बड़ी विपत्ति सामग्र्यक सिद्ध होता है । वर्णाएँ इस रजोगुणसे पुच्छी बढ़ती है । " सारांसे यह वर्णन पूर्वोक्त गीताके श्लोकमें कहा है । इस प्रकारके रजोगुणसे यह काम उत्पन्न होता है और अन्तमें भोगमें विषय आने लगा तो क्षत्रीकीही क्षीय उत्पन्न होता है ।

बड़ा पैदा काम

यह काम (महा-ब्रह्म) बड़ा खलेबळा है इतने किन्ता भी जाय, तो भी इसका डेढ़ नहीं मरता यह सदा पुकार रहता है । कभी मनुष्यको कितने भी भोग प्राप्त हों वह कदापि पुन नहीं होता बसों भी भोग चाहिये, पैदाही कहना जाता है । भोग प्राप्त करनेमें किने भी पाव करने बड़े उद्यम विचार वह बड़ी करता । इन विधे उसको (महापाप्मा) बड़ा बड़ा है । सब वन इस कामके आग्रहसे ही होने हैं । हिंसा, पावपात लोभ न करवा और लक्ष्मण करना काव्यत्मक विनिर्दिष्ट व भाषका ये और ऐसी बनेक पाव इसीउत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार जमिंदार पुच्छका बाबरन होता है और दुर्बल मक्का बाबाएँ होता है उसी प्रकार मनुष्यकी जन्मा पर इस कामका बाबरन है किना मानी कि मनुष्यक कल्याणकरवाही वह बाबरन है । इसी बाबरनके पाव मनुष्य भीहित होता है और कर्मपासे जड़ होता है ।

यह कामकी जड़ि (पुच्छर) कभी लग्न न होनेवाला है । इसमें कितनी भी भोग्यता जागृतिना बड़ी ले की यह लग्न नहीं होता । इस कामका ध्या कभी मरता नहीं इसमें कितने भी भोग बान्धे वह सदा लक्ष्मी ही रहता है । साराही साथ यह (महा पाप्मा) बड़ा प्रती है । यह

पापकी ओर प्रवृत्ति करनेवाला है । भोगी मनुष्य अपने भोग प्राप्त करनेके लिये क्या क्या पार करेगा इसका कोई पता नहीं है । यदि चर्माचरण करनेसे उसको भोग प्राप्त हुए तो वह चर्माचरण करेगा परन्तु यदि चर्माचरण करने से उसके भोगोंमें कुछ स्थूलता का भाव तो वह पापाचरण करनेमें भी पीके नहीं हरेगा । सब पाप प्रायः भोगवृत्ति करनेसे ही होते हैं । इसलिये कमको यहाँ 'बन्धपापी' (महात्मा) कहा है । जो पापी होता है वही मनुष्यका वैरी होता है मनु बन्धकाटा है । क्योंकि पापसे बुरा होता है और दुःख देना शत्रुत्वका चिह्न है ।

यहाँ यह धर्म कि जो भोग बहुत समस्तक भोगोंमें मग्न होते हैं और पापकर्म करनेसे भोग प्राप्त करते हैं, क्या वे सदाके लिये गिर जाते हैं ? क्या उनके उद्धार की कोई बाधा नहीं है ? इस प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्मा ब्रह्म ही कहता है कि ऐसे भोगी लोग सदाके लिये अन्धरेसे विगत जाते हैं ऐसी बात नहीं है, यह एक उनकी छद्म भावनाएँ बाहरबसा जाल है । जैसा जलपर चूना दर्पण पर मल और गर्मपर शिथी होती है उसी प्रकार ब्रह्मकी भावनाएँ कामका-भोगेच्छाका बाधक होता है । इन तीनों उपमाओंमें पाठक देखें कि पूर्वेक अन्धर मदीय होनेयोग्य ब्रह्म विद्यमान रहती है मन्त्रके बाधनेके नीचे दर्पणका छीछा वैसाव्य वैसा छद्म रहता है और शिथीके अन्धर सुन्दर बालक अश्वि और जाग्रत रहता है वैसीही भोग भी इच्छाके अन्धर भावना रहती है सदाके लिये विगड़ती नहीं । ब्रह्मके चमकीले चूका तो ब्रह्म प्रदीप्त होती है दर्पण को दिया तो छीछा पुनः स्वच्छ बनता है और शिथी हयनेसे अन्धरसे सुन्दर बालक बाहर आता है इसी प्रकार सत्यसे भोगेच्छाको दूर किया तो छद्म भावना अपनी निज बलियोके साथ पकड़ होती है । अर्थात् कैसे यहाँ रहनेक ब्रह्म बलती नहीं अगर सत्य रहनेक दर्पण में छद्म नहीं हीनता और शिथीके अन्धर वेधित होनेक अन्धरका बालक जगत्का मनुष्य नहीं करता इसी प्रकार भोगेच्छा प्रकट रहनेक ही भोगीकी भावना बन्धकसी प्रतीत होती है । जहाँ उसको सदाके लिये पतित समस्तता अयोग्य है तत्पति अन्धक भोगोंके विषयमें प्रकट हृष्टा रहेगी तबक उस भावनाकी निज बलियोका प्रकाश होता

सबका बलसम्बन्ध है और भोगेच्छा रहनेक दुःखोंसे छुटना भी बन्धक है । इनके संस्कार भी इनके अन्तरसे इन्तेके प्रभाव कुछ काकटक अवश्य कष्ट देते रहेंगे ।

यह काम (आविना वैरी) ज्ञानीका वैरी है अर्थात् यह ज्ञानीक साथ कभी नहीं रहता । सत्य ज्ञान होते ही इसका नाश होता है । जिस प्रकार सूर्यके साथ अंधिरका वर है, उसी प्रकार ज्ञानके साथ कामका वर है । मगबन्ध संकल्पने अपना पूर्ण ज्ञानके छोकर उसके तेजसे मग्नको जका दिया एसी कहा पुराणमें है । हम कहामें भी श्रीसंकरके "कामारि (कामभरि) कमका मग्न कहा गया है । काम और मग्न एक ही हैं और श्रीसंकर पूर्ण ज्ञानी हैं । जत इसका नाम उमा-पति (उमा = विद्या) विद्यापति ज्ञानी है । वे ज्ञानी होनेसे ही कामको जका सके । जो ज्ञानी नहीं होता वह कल्पि कामका नाश नहीं कर सकता । इस कथासे भी काम ज्ञानका वैरी है यह बात सिद्ध होती है । कहाँ काम होगा वहाँ ज्ञान नहीं रह सकता और जहाँ ज्ञान है वहाँ काम नहीं रह सकता । इसीलिये महाश्वर्य ज्ञानमें शाश्वत करनेका कार्य ज्ञानस्वरूप कर्तव्य है ऐसा किता है, क्योंकि उस ज्ञानमय प्रज्ञा विद्यावादि होनेपर गृहस्थाश्रममें यदि मनुष्य कामके अधीन बना, तो ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य कठिन हो जाता है । वह काम ज्ञानका वैरी है इसीलिये (एतेन ज्ञानं नाह) ज्ञानको वेर लेता है । ज्ञानका मुख्य इन्द्रिय मन और बुद्धि है जब इसकी यह काम वेरता है तब वहाँ मूढ़ता छाती जाती है । जैसा शत्रुका तेज्य किन्हेको वेरता है और किन्हेके अन्धरके बीरों के संसार रोकता है इसी प्रकार वहाँ वह काम मनबुद्धि को वेरता है और ब्रह्मकी स्वतन्त्रताका बाधा करता है । अर्थात् ऐसे समय मनबुद्धि कामके अधीन होती है और जिस मार्गसे वह के जाता है उसी मार्गसे जाती है ।

मनुष्यके प्रकट उत्तर यहाँ इस तरह मिला है । हृष्टा न रहनेपर भी जिस कारण मनुष्य पाप करता है वह बलुता प्रथम है । इसका उत्तर यह है कि जब कामका द्वारा मनबुद्धि वेरी जाती है और कामक बधमें हो जाती है तब उसका स्वामी काम हो जाता है और वही उसका बाधक होता है । शरीरका वास्तविक बाधक और स्वामी भावना है तत्पति यह शत्रुके बलीन दुःख होती है । राज

(१४) श्रेष्ठ शक्ति

इन्द्रियाणि पराण्याहृतिन्मिष्येभ्य पर मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सा ॥४२॥
एव बुद्धेः पर बुद्ध्या सस्तम्यात्मानमारमना । जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासु पवित्रसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अन्वयः— इन्द्रियाणि पराणि आहुः इन्द्रियेभ्यः मनाः परं, मनसः तु बुद्धिः परा या तु बुद्धेः परतः सा (आत्मा) अस्ति ॥ ४२ ॥ हे महाबाहो ! परं (आत्मा) बुद्धेः परं बुद्ध्या आत्मना आत्मानं संस्तभ्य कामरूपं दुरासदं हनु अहि ॥ ४३ ॥

शरीरमें इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धि में भी श्रेष्ठ है वह (आत्मा है) ॥ ४२ ॥ हे महाबाहो अर्जुन ! इस प्रकार (आत्मा को) बुद्धि से भी श्रेष्ठ जानकर अपनी नाक से अपनी संयम करके इस बुद्धय कामरूप शत्रु का नाश कर ॥ ४३ ॥

सबसे मनीष होकर राजा राजा के सेवकों में पहले के समान व्यवस्था यहां बन जाती है । इस तरह जो पराधीन-धर्माधीन बनते हैं वे काम के द्वारा अपना वास्तविक इच्छा को व्यक्त करते हैं । वे काम की माझासुधार योगों में फलतः हैं और पदों में प्रवृत्त होते हैं । जहां सब लोग इस काम की अपनी (निज) प्रवृत्तियों से और सबसे इसकी इच्छा है वह इसमें प्रवृत्त होने में हैं । निष्काम बनने के लक्ष्य है प्रत्येक पक्ष को जो यहां लग सकता है ।

यह (कामरूपः मन्त्रः) कामरूप अग्निही है । वह अग्नि यदि किसी मनुष्य के शरीर में लगा तो वह इस मनुष्य के सब सुखों को और कल्याणों को जलाता है । अतः इस अग्नि को साम्य करना चाहिये । यदि इसमें योग की कठिनाई का विषय सुखों का इतना बड़ा भाव तो वह अविश्वसनीय प्रतीत होगा, और अविश्वसनीय लक्षणा । अतः इसके काम मनुष्य को मातृका का काम करना चाहिये संयम और हम काम का साथ निगूढ़ता वह इसपर निगूढ़ता चाहिये और काम के पक्ष पर हमका रचना चाहिये । जिससे इसकी प्रतीति होने के लिये कुछ न मिलेगा और यह स्वयं साम्य होगा और मान किसी को कष्ट नहीं होगा । परन्तु जो मनुष्य मोक्ष बढ़ाकर इस काम का साम्य करना चाहते हैं वे बड़ी गलती करते हैं उनका प्रयत्न वह बढ़ता है और सर्वश्रेष्ठ की मातृका के काम । अतः असम साम्य इसका नाम करना चाहिये ।

मनुष्य की मनुष्य में यह बढ़ता है और हमारा हित करना ऐसा बढ़ाकर के मनुष्य के मन को अपने हितों के

पास आकर्षित करता है और इस प्रकार मनुष्य के मन को अधिकतर मन पर बना लेता है । इसलिये मनुष्य को सदा मातृका रहना चाहिये और काम के मातृका नहीं होना चाहिये ।

समासमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतपम ।
आत्मानं प्रजहिहोने कामयिष्याननाशनम् ॥ (४१)

इसलिये तु पहिले इन्द्रियों का संयम करके, शरीर-विश्रावका नाश करनेवाले इस पापी का त्याग कर । इस काम का त्याग कर अपना नाम कर । इन्द्रियसंयम करने निगूढ़ यह उपाय है जिससे केवल इसी उपाय से-काम के त्याग का सकता है । दूसरा उपाय नहीं है ।

इस छोड़ने दो प्रयत्न पर ध्यान होना है । एक (प्रजहिहि) परित्याग कर और दूसरा (प्रजहि) मातृका त्याग कर । यहां दूसरे पर ध्यान की अपेक्षा पहिली बलवत् है । क्योंकि काम का नाश करने का प्रयत्न सर्वश्रेष्ठ की मातृका के परानुसारे परानुसृत बना देना बलवत् है । इसलिये उसके नाश की अपेक्षा प्रथम उसको दूर रखना योग्य है । जिस समय सर्वश्रेष्ठ की मातृका होगी उस समय उसके अपने पास कुशलता का काम की मातृकासुधार कार्य करना और फिर उसके दूर करना योग्य है । यदि उसका विच्छेद नाम की किया जाय तो उससे वह कार्य नहीं हो सकता । त्यागने का कार्य है सर्वश्रेष्ठ अपने पास न रचना दूर रखना, और मातृका का नाश करने का कार्य है उसका अस्तित्व ही मिटा देना । अतः । आगे यही विषय अन्य शीघ्र से कहा है इसलिये वह भाग अब देखिये—

धाधार्य—शरीरपर अधिका इन्द्रियोक्त है, इन्द्रियोपर मनका प्रमुख है मग्नर बुद्धि अधिकार चकती है बुद्धिपर आध्यात्म शासन है। अर्थात् आध्यात्म शासन सत्पर है। यह बात ठीक प्रकार जानकर आत्माकी सर्वोपरि शासक सत्ताका अनुभव करके, आत्माकी निज विधिवानुसंग शक्तिलेही उसका समाधान करके, अर्थात् आत्माको शास्य करने मनुष्य हम दुर्बल कामरूप सत्तुका नाश करे ॥ २२-२३ ॥

आत्मशासन

(२२ २३) मनुष्यके शरीरमें किसका शासन चकता चाहिये, वह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका सचको विचार करना चाहिये। हमने (श्री २० ४१ में) हमने पूर्व देखा है कि रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम नामक सत्तु इस शरीरमें शासन चकता है। कामक पीछे समय समयपर प्रेरककी दूसरा सत्तु भी यहाँ अपना शासन जमा देता है। किसी समय काम मोह मग्न (चमक और मस्तर इन महारिजुओंसे कोई एक यहाँका राज्य चकता है। यह बात हम देखते हैं बार अनुभव करते हैं कि इस शरीरको महाराजमें समय समयपर किसी न किसी सत्तुका शासन होता है ॥ अतः विचार करना पड़ता है कि वस्तुस्थिति वही कि जिसका शासन होना चाहिये ? इस शरीरकी महाराजका सत्ता राजा कीन है ? यदि कोई दूसरा मन्त्रा सत्ता है तो विचार करना चाहिये कि वह रहता कहाँ है उसकी शक्ति क्या है उसका होते हुए भी ये सत्तु कामक शासन अधिकार क्यों चकते हैं ? हमका विचार करनेक स्थिति ही के दो स्त्रोक यहाँ जाके हैं और हममें मन्त्रा सत्ता आत्मा है वह जिस सत्तापूर्ण बाण बजाती गई है।

इस शक्तिमें काम करनेवाली आत्माकी शक्तियोंक विचार का नार है अन्त्याधिकार । इस अन्त्याधिकारक अनुसार आत्मा यहाँका सत्ता है अतः इसीका शासन यहाँ चकता चाहिये । आत्माकी महामन्त्राणि सत्ताही बुद्धि है आत्मा बुद्धिके माध विचार करक यहाँका शासन चकता है। आत्मा और बुद्धिके पीछे इसका सत्ताही मन है और इसके अधीन सब प्राणिक अधिकारी हैं। कार्य तथा नेत्र तथा और अधिकार ये शासन प्राण हैं तथा हाथ पाँव मुख मूत्रहार और मलहार ये कार्यक प्राण हैं। इन इन प्राणिक अधिकार अनेक विभाग इस शरीरमें हैं, परन्तु उक्त विचार यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है। एतत्क हम प्राणोंपर इस सत्ता आत्माका अधिकारी कार्य

करते हैं, परन्तु समय मिलनेपर और आत्माका मन्त्र मोह स्वभावके कर्मण प्रत्येक प्राणका अधिकारी मूवहार अपने प्राणमें स्वतंत्र बनता है और वहाँ अपने मनके अनुसार जैसा चाहे वैसा कार्य करने लगता है ॥ कई प्रयोगोंमें एकन अधिक प्राणोंके अधिकारी भिन्नकर सत्ता आत्माका शासन का विरोध भी करते हैं और वहाँ ये असम्भव और असह्य भी करते हैं, क्योंकि इनमेंसे प्रत्येक प्राण स्वार्थक स्थिति ही प्रयत्न करता है और सबकी मत्ताहीमें अपनी मत्ताही देखनेवाला हममें कोई नहीं है।

कई अधिकारी अनेक बार कामरूप आदि कुछ सत्तु जोको वक्त होते हैं और सत्ताएक विद्वत् पदार्थ रहते हैं ॥ समय समयपर इसका ऐसा परिणाम होता है कि उक्त पदार्थमें इस आत्माका पूर्ण पराजय होता है और इसका शासन पूर्णतया सत्तुके जाधीन हो जाता है। इस आत्मा कामके सब अधिकारी वैसेही लक्षित रहते पाँप हैं बार जिस समय वह हमपर पूर्ण विचार रहता है उस समय इसी प्रकार वक्त जाता है। इसीप्रति इन स्त्रोकोंमें हम आत्माको अपना अधिकार अमनिका बार (आत्माका आत्मान सम्पन्न) अपनी विन्यासिले करने शासनकी विधायता करके अपन राज्यमें पुनः हुए सत्तुओंको पराजय करवा उपदेश दिया है।

आत्मा मुख्य और अथ शक्ति दुष्ट है यह सर्वसत्ति मात्तु बार इसीका शासन सर्वोपरि है। प्रत्येक मनुष्य वह बात सममें विचार करके कि मेरी आत्माका शासनही इस शरीरमें चकता चाहिये । मैं अपनी आत्माको पूरा टट और चकता बना दूँगा कि जिसमें उदीरा शासन यहाँ चलेगा।

मैं अपनी अर्थात् बुद्धिके यहाँद्वारा चतुर्वर्त्ती और मेरी वस्तुस्थिति बनाऊँगा। समय समयपर काम आदि सत्तु जोको वह आश्रय देती है और उक्त वक्त ॥ मात्तु गुण आत्माका भी बुद्धि शक्ति देती है। परन्तु जब मैं इसकी चकते नहीं दूँगा। मेरी चतुर्वर्त्ती मही अधीन रहे देखेगा

चारिणी न बने। मैं देता सावध रहूँगा कि मेरे मन जगद्विषय
अधिकारी सन्तुष्टो पक्ष होकर मेरे विरुद्ध बहका नहीं मचा-
येगे। मेराही आसन बड़ा चलेगा।

इस प्रकार विचार करके आत्मज्ञा सासन्वही यहाँ जगन्मा
चाहिये। और यहाँ रहनेके किये सन्तुष्टो किसी भी समन
कोइसा भी स्थान नहीं देना चाहिये।

शरीरको जगानेवाली इन्द्रियाँ हैं वह मत्स्यका अनुमन
है। जोक रचान देसता है और पाँच बड़ी शरीरको के जाते
हैं। इसी तरह जन्मान् इन्द्रियों शरीरको जगती है। ये
सब इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ-मनके जातीय हैं।
यदि मन किसी इन्द्रियक साथ संयुक्त न रहा, तो वह इन्द्रिय
कोई कार्य कर नहीं सकती। जिसके साथ मन होता है वही
इन्द्रिय अपना कार्य करती है। जोक जगता काम लुके रहने
पर भी यदि मन साथ न रहा तो जोक देक नहीं सके,
और काम भुन नहीं सके। इसी प्रकार जन्म इन्द्रियोंके
निपटने है। बतः मनके जगती न इन्द्रियाँ हैं।

देखेही बुद्धिके जगती मन और बुद्धि जगताके जगती
है। इस तरह सबपर जगताका सासन चकता है। मनुज
जगताका वही बैसक है। सब इन्द्रियों और जगताके
सुखका देनेके किये जा योगसासनमें विविध अभ्यास
किया है। ये सब सके। जगताके सासनमें एकमेक किये
ही हैं।

सूयम

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी वह शक्ति कामे
इस विज शक्तिका साक्षात्कार करे। और उचित काम कर
केमें समर्थ बनने। यहाँ जगताके पहिली बात यह है कि
मैं बुद्धि की ऊपरके स्वायत्त रहनेवाला जगता हूँ और मेरा
सासन यहाँ चकता चाहिये। वह साक्षात्कार कैसे होगा ?
इसका ऊपर (जगताका जगतामें संस्थान) अपनी निजवा-
त्मिका बुद्धिके अपने मन आवि सब इन्द्रियोंको स्वाधीन
रखनेसे वह विज शक्तिका साक्षात्कार होगा। जबतक सबम
नहीं होगा तबतक अपनी निर्वैकताही प्रतीय होगी। इन्द्रिय
सबम स्वम और मनोनिग्रहके जगतासक्ति चकती है और
निग्रह न होनेसे जगता निर्वैक हो जाती है।

यहाँ जगतासम " का पाठ पढ़ना यथा है अपना
ही संभन अपने करवा है (जगताका जगतामें संस्थान)

अबने द्वारा दोष हुए तो अपने आपको स्वयं ही रूढ़ हो
चाहिये और अपना दिया हुआ दण्ड स्वयं ही भोग्य
चाहिये। यहाँ दूसरा सासन कोई नहीं है। जो अपनेही
ऊपर इस प्रकार जगतासम करेगा वही उचित होगा।

सूयमेव सासन करना, उसको भाषा देना तथा उपाय
सूयमेव चकता सुगम है, प्रत्येक मनुष्य मनुष्यिक प्रकृति
वह कर सकता है। परन्तु सबसे कठिन बात है जगतासम
की। अपने दोषके किये स्वयं अपने आपको ऐसा करा दण्ड
दना चाहिये कि जैसा साधारण मनुष्य दूसरेका देता है।
वही जगतासुधारके किये जगताका जगताक है। वह जगता-
पूर्व उपदेश यहाँ दिया है। जो पाठक जगतासमि काम
चाहते हैं वे इस ईशसे जगतासासनद्वारा अपनी उचित
सासन करें।

विज कामका सन्तुष्टो दूर करनेको (श्लोक २१)
कहा है वह यदि दूर न हुआ अपना दूर होकर भी दूर
वार जाकर उपद्रव मचाये कया तो उसका वाक इसका
जगतासासनद्वारा करना चाहिये। इसकिये वही (जगताके
सुखमें सन्तुष्टो यदि) कामका सुख सन्तुष्टो का कर देना
कहा है। पहिले कहा जा कि इसको दूर रख और स्व
मर्षाके अनुसार उचित काम के। परन्तु यदि वह जगता-
वर्ष हो गया और जगता उपद्रव देने कया तो उसका
नाशही करना चाहिये वह दूसरा उपदेश यहाँ दिया है।
जगतासासन केकरका कामको जगता जगताकी जगता सा
का कार्य है।

जगताका नाम दण्ड है बतः जगताकी जगताकी
इन्द्रिय कहते हैं। इस दण्डके सुखमें जगताका सन्तुष्टो है देरी
जगताके काम जादे मित्र हैं वही दण्ड (इन्द्रियों जगता)
पैलौका राजा है। पुराणों में जो देवासुरजुन हैं, यथा वरुण
भी दण्डजगता हैं, वे सब बहुत अच्छे हैं इसी जगतासमके
सुख हैं। अस्तु।

श्लोक २१ में जो बुद्धि परतस्तु सः इस स्वायत्तता
जगताके जगता का जगता करना योग्य है परन्तु कोई
कहते हैं कि यहाँ जगता जगताके काम का जगता करना
चाहिये क्योंकि जगता उचित काम करके जगता है।
परन्तु जगताके जगतामें की बुद्धिके परे जगताके होनेकी
जगता है किहिये—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनस्तस्तु परा बुद्धिर्बुद्ध्यैव तस्मात्परा ॥
महता परमम्यक्तमम्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषाश्च परं किञ्चित्तात्वा कथा सा परा गतिः ॥
(कठोप १।१।१ - १।१)

'बुद्धिबोधे विषय भेद है, विषयोंसे मन भेद है मनसे बुद्धि भेद है बुद्धिसे (परा महान् ज्ञानमा) भेद महत्तरन है महत्तरनसे (अम्यक्त) मूल्यकृति भेद है अम्यक्त मूल्यकृतिसे पुरुष भेद है इस पुरुषसे कुछ भी भेद नहीं है क्योंकि वही सबकी सीमा और सबकी अंतिम गति है ।' श्रीमन्नारायणजीके विधानसे हममें अधिक विस्तारसे वही भाव कही है । शरीरसे इन्द्रियां भेद हैं क्योंकि इन्द्रियां शरीरको चलाती हैं, इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण हैं क्योंकि ये इन्द्रियोंके व्यापक और प्रेरक हैं, विषयोंसे मन भेद है क्योंकि इन विषयोंका त्याग करना अथवा स्वीकार करना मनक अवीच रहता है मनसे अग्नि भेद है क्योंकि किमीके विषयमें निश्चय करने के संकल्पविकल्पप्रत्यक्ष मनका विषयग्रहण करना इसी बुद्धिका कार्य है बुद्धिसे महत्तरन भेद है क्योंकि कि हमीसे (अर्थ-प्रत्यक्ष) मैं हूँ ऐसा अनुभव ज्ञान है अम्यक्तसे मूल्यकृतिही भेद है क्योंकि मूल्यकृतिही अम्यक्त महत्तरनच करता है । और इस मूल्यकृतिसे पुरुष केतन ज्ञान स्वयं केतन होनेसे भेद है । इस प्रकार ज्ञाना किंवा पुरुष सबसे अन्त है । वह पुरुष सत्य है । इसलिये अन्तिम आत्मतत्त्वकी श्रेष्ठताके विषयमें कोई शंका नहीं । उपनिषदोंके सिद्धांतही गीतामें आगये हैं अतः संभवतः इन उपनिषदोंके संबंधोंही न गीताक इन्द्रियाणि पराणि के श्लोक बनाये गये हैं । इसलिये 'परास्तु साः इमं व्याप्य परा साः सत्यंसे ज्ञानमा का ग्रहण होवा जाय है न कि काम का । इस विषयमें कठोपनिषद्के आगेके दो श्लोक देखिये

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसा सत्यमुत्तमम् ।
सुखाद्वाधि महानात्मा महतोऽप्यक्तमुत्तमम् ॥
अप्यक्तानु परा पुरुषो व्यापक्योऽसिग पश्य च ।
यज्ज्याता मुच्यते अतुरमुत्तमं च गच्छति ॥
(कठोप २।३ [१] ७-८)

" इन्द्रियोंसे मन भेद करने (सत्य उत्तम) बुद्धि

अधिक उत्तम अर्थात् भेद है, बुद्धिसे (महान् ज्ञानमा) महत्तरन भेद है, महत्तरनसे अम्यक्त अर्थात् मूल्यकृति भेद है । मूल्यकृतिसे पुरुष भेद है, यह पुरुष व्यापक और (असिगः) सिगुन किंवा अतन्त्र है । जिसको जानकर मनुष्य अम्यक्तसे मुक्त होता है और अमरत्वको प्राप्त होता है ।

कठोपनिषद्में ये शब्दों प्रकारके मन्त्र हैं । अब गीताके साथ इन कठोपनिषद्के शब्दोंकी तुलना करेंगे और उससे क्या बोध मिलता है, इसका विचार करेंगे—

गीता	कठ उप्याय	कठ. उप्याय
१।१२-१३	१।१।१ - १।१	१।१ (१) ७-८
शरीर	शरीर	शरीर
इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय
	अर्थ	
मन	मन	मन
बुद्धि	बुद्धि	बुद्धि
	महान् ज्ञानमा	महान् ज्ञानमा
	(महत्तरन)	(महत्तरन)
—	अम्यक्त (मूल्यकृति)	अम्यक्त (मूल्यकृति)
म	पुरुषः	व्यापकः पुरुषः

इस कठोपनिषद्की देखनेस पता लग जायगा कि कठोप निषद्के प्रथमाध्यायमें अर्थ अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंका उल्लेख अधिक है जो गीतामें तथा कठोपनिषद्के द्वितीयाध्यायमें नहीं है । तथा कठोपनिषद्के दोनों अध्यायोंमें 'बुद्धि' और 'पुरुष' के मन्त्रमें (महान् ज्ञानमा) महत्तरन और (अम्यक्त) मूल्यकृति के दो मन्त्र अधिक कहे हैं, जो न गीतामें नहीं है । न गीतामें बुद्धिके ऊपर साः कहनेस यह नहीं लिख होता कि बुद्धि और 'मः' के बीचमें कुछ भी नहीं है जबकिने अधिक ज्ञानाही कहा जा सकता है कि वहाँ बीचक दो तरबोंका बतेन किया नहीं है । उल्लेख न करनेसे बीचके तत्त्व नहीं है ऐसा लिख नहीं होता । अर्थात् गीतामें पार तरबोंका उल्लेख है और कठोपनिषद्में सात तरबोंका एक स्थानपर और साः तरबोंका दूसरे स्थानपर उल्लेख है यह धार्ष्ट्य विरोध नहीं । अच्छे कहा कि बहिष्की जेनीसे जाननी जेनी भेद है और दूसरे कहा कि बहिष्की संयम आर संयमस सत्यम अर्थ है तो

कोमोमें बबल बिस्तारका भिन्न है। मृगयत्तया काई भव नहीं। म गीतामें संतोषी कहा और उपनिषद्में बिस्ता रसे कहा इत्यादी भेद हैं। तत्त्वज्ञा भिन्न नहीं है। जस्तु, यह जो बुद्धे परतस्तु साः इस श्लोकमें अथक विषयमें बोधा अधिक विचार करेंगे। वहां सा शब्दसे काम का प्रह्व इ अथवा अथवा का प्रह्व है इत्यादि विचार कथ्य है। इस विषयमें दोषों मत्वाविशेष विचार प्रकृतता हम वहां रखते हैं—

“ सा ॥ काम ”

म का लक्ष्य काम करनेवाले पहिले जाचाय धीमान् तामानुजाचार्य हैं। धी म सावान् कथन्यधी को भी वही अर्थ समझ है जो वही अर्थ रचोकार करना चाहिये ऐसा कहते हुए उक्तोते मिमंसाकिन विचार प्रकट किये हैं— (१) उपनिषद्का पाठ ऐमन्ना वेमा म गीतामें बिधा नहीं है किन्तु जो बुद्धे परतस्तु साः ऐसा बरक कर दिया है। उपनिषत्में निज पाठ हेतुमें कुछ विशेष है। इस प्रकारमें (गीता अ ३।१६-४ में) वही भी अथवा शब्द नहीं है अतः सा पक्षे वहां अथवा का प्रह्व नहीं हो सकता। सा शब्द तो पूर्व पक्ष निर्वर्ण होता है और वेमा पक्ष पूर्व श्लोकमें काम ही है। (२) हम श्रीकृष्णकुंठ शब्दमें काम का विषय कह रहा है और वहां हम प्रकरमें मत्माका नामक नहीं है अतः प्रकरणक संबन्धसे जो एवाविशेषि बहकि साः सम्पत्त काम का प्रह्व काला और इनका बुद्धिसे परे मानता योग है। (३) कई कहेंगे कि काम मयका प्रम होवेले बुद्धिसे परे नहीं है परन्तु यह कहना प्यरे है क्योंकि—

लो-कामयत बह्वं यथा प्रकापयति ।

(उ अ १।११)

ओऽकप्रमयत हितोयो म आत्मा जायेतेति ।

(उ अ १।२१)

उक्तो ह वै नारायणोऽकामयत ० (गीता १)

उसी अथवा पुनः बबल मारायणने पहिली कामका भी भी कि मैं बहुत बहो बह पहिली काम अथवाके हुआ है और यह बुद्धिसे परे है। वस्तुता काम मानका लक्ष्य नहीं यह विषयक लक्ष्य है और निज बुद्धिसे भी सूक्ष्म है। मय केवल मन्त्रविषयक है। जगत्पर अथ

चित्त बुद्धि पदम आराधित किये जाने हैं, परन्तु काम प्रह्व ईसा जाय तो चित्त कामका करता है। एक पक्ष मुरी इ ऐसा मिथित होनेपर भी जिस कामकी मन्त्रके बुद्धि उस मुरी बातकी ओर प्रवृत्त होती है वह काम मितोरे बुद्धिसे परे है। कामाभ्यासक अर्थकार स्वरूप मय इच्छा का है अतः यह बुद्धिसे सूक्ष्म है। ईश्वरों मय और बुद्धिसे तीनों स्वात्म्य है और काम इतर प्रभाव आनेवाला है अतः यह इनके ऊपर बबल परे है। एकोऽह पक्ष स्वात्मा यह ईश्वरका पहिली काम ह वही सर्वत्र स्वयं है। बुद्धिसे इच्छितक वही काम स्वात्मक है अतः यह मय पर मानक है। इस बातका यह प्रकरणक रहा है जो इतक कहा मय है ऐसा वहां कहा गया है। अतः हम प्रकरमें मः सम्पत्त काम का ही प्रह्व करना योग्य है।

इसी विषयमें धी जाचार्य वि म मिमंसे विद्वक् महापिपासक एवा कहते हैं कि जो बुद्धे परतस्तु साः इस श्लोकमें साः का लक्ष्य काम है। उपनिषद् (अ १।१६ ४) उपनिषद्का मय मय अथवा काम अथवा नहीं है प्रमाण अर्थकार है। क्योंकि बुद्धि पर जो लक्ष्य है वह अर्थकार है और अर्थकारका ही अथवा का काम है। इसके ऊपर अथवा (प्रह्वि) और बसके भी ऊपर पर पुनः (परमत्मा) करने अर्थक श्रेष्ठ है। स्वयं गीतामें कहा है कि—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।

(गी ३।२२)

ईश्वर मय और बुद्धि (अथवा-कामय) हम कामका अधिष्ठान है। अतः यह हमका अधिष्ठान है इसीसे बुद्धिसे परे है। वस्तुता बात यह है कि ईश्वरकी अर्थकार लक्ष्य अस्मिताय मय बातका किना कामका प्रह्व तिमि प्रकट होकर जिसके अर्थकार बुद्धि भार मन बने वही बुद्धिका श्रेष्ठ काम है। और वही धा सम्पत्त वहां केना योग्य है।

यह लक्ष्य होनेपर श्लोक ३२ ३३ का लक्ष्य इस प्रकार बबल है— ईश्वरों लक्ष्यसे श्रेष्ठ ईश्वरोंसे मय श्रेष्ठ, यन्त्रे बुद्धि और बुद्धिसे जो श्रेष्ठ है वह काम है। इस प्रकार इस कामको बुद्धिका भी श्रेष्ठ मानकर अपने अर्थकार मय लक्ष्य लक्ष्य करने इस कामकी बुद्धि बबल पक्ष

कर । इस लक्ष्यके साथ महाभारतके एक श्लोककी समिति है वह श्लोक देखिए—

आत्मना सप्तमं कामं हत्या शत्रुभिषोत्तमम् ।

प्राप्यापन्नं ब्राह्मपुर राजेय स्यामह सुखी ॥

(म भा शां १००)

‘ जपन देहसे जो गिननीमें सातवां है उस प्रथक शत्रु का पक्ष करके अथवा ब्राह्मपुरीको प्राप्त कर मैं राजाके समान सुखी हुआ हूँ । ” यहाँ कामको शत्रु देहसे सातवाँ कहा है । शरीर इंद्रियाँ विषय मन बुद्धि अहंकार काम इस तरह यह शरीरसे सातवाँ है । अस्तु । यह एक पक्षका कथन हुआ । अब हमारे पक्षके कथनका विचार करें ।

‘ सः—आत्मा ’

इस पक्षवाले गीताके म १।४२ में स शब्दका अर्थ आत्मा मानते हैं । ऐसा माननेवालोंमें प्रमुख की मन्त्रजाचार्य हैं इनके बाद इनके अनुयायी टीकाकार श्रीरत्नस्वामी मधुर्दत्त-सरस्वती आदि हैं जो ठीक म गीता आदि नास्तिक अनुवादक भी यही मानते हैं ।

मराठी भाषाके प्राचीन और सर्वमान्य टीकाकार श्रीज्ञानेश्वर महाराज अपनी ज्ञानेश्वरीमें इस विषयमें कुछ विवरण नहीं करते । श्रीमाधवाक्षर चैतन्यजीने हिंदीमें जो ज्ञानेश्वरीका अनुवाद किया है उसमें स शब्दसे आत्मा काही प्रमाण किया है । नामन पणित मोरोपंत मुक्तेश्वर तुकाराम और उदयभिक्षुजन तथा प्रायः सभी सन्तजनि इसी मतके अनुयायी हैं । इनका कथन है कि “ अहंकार और सूक्ष्मकृतिके भी परे जो पुरुष अथवा आत्मा है उसकी शक्ति सर्वोपरि है ऐसा जानकर उस आत्मन्की शक्तिसं जपनी सब हाँस्योंका संघम करके हम दुर्जय कामरूपी शत्रुका नाश करना चाहिये ।

अहाँ ऐसे वह आचार्यों और पुरंधर विद्वत्लोक सतमेर हो वहाँ इत निश्चित मत क्या हो सकते हैं ! पाठकी इस का अधिक विचार करते अपने विचारसे इसका विचार करें । हम निश्चित मन इस समय यद्यपि कह नहीं सकते तथापि यहाँ महत्मा अर्थ केनेमें जो बहुत आचार्योंकी समिति है यह शब्दकर बहुपक्षके अनुकूल अपना मत देना ही इस समय हमें योग्य प्रतीत होता है ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी उपनिषद्में कथित ब्रह्मविद्यासे निश्चित हुए योगशास्त्रविषयक

अधिकृत्य और अर्हंतके संबादमें कर्मयोग नामक

छत्तरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥



श्रीमन्नगवहीताके तृतीय अध्यायपर विचार कर्मयोग

इस तीसरे अध्यायमें कर्मयोग का विचार किया है। कर्मयोगका सर्व आगनेकी वृद्धि इस अध्यायमें है। इसका ही नहीं मनुष्य गीताका स्वकीय भी इसी अध्यायके मन्त्रमें ज्ञात हो सकता है। हमें क्यों तथा कैसे करना चाहिये, और करनेयोग के कर्म कीवत्ता है इत्यादि विषय इस अध्यायमें स्पष्ट होनेसे यह अध्याय विशेष महत्त्वका है और इसी कारण इस अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है।

अर्जुनके कर्तव्यका मोह हुआ और वह मान्य किया कि मेरे पुत्र करनेसे भीष्मद्रोणादि भर्तों और गुरुजनोंका संहार होगा। इस वर्तुणकी क्षमिता पर दृष्टिको किये द्वितीयध्यायके प्रथम भागमें सांख्यमतानुसार "आत्मा अमर है" इत्यादि तत्त्वज्ञान कहा और बताया कि जिसके योग इस समय नहीं है, वैसे ही वे पूर्ण कर्ममें थे और मत्तियुक्तमें भी होंगे। कोई किसीकी मृत्यु नहीं सकता और कोई मरता भी नहीं। वह सांख्य तत्त्वज्ञान करनेके पश्चात् वर्तुणके बताया कि वेरा अधिकार कर्म करनेका है नव. ए. पुत्रकर्म कर्म कर, यद्यपि वह क्षणिक कार्य गौण है तथापि वही वेरा अधिकार होनेसे ऐसे कर्म ही करना योग्य है। "इस प्रकार उसकी कर्मयोगका उपदेश किया और फिर कहा कि निर्मम विराड्कर मित्रद्वय और मित्रद्वय होनेसे जो प्रकृति रिपि प्राप्त होती है वह जो सबसे प्रेम करता है दृष्ट करनेसे वर्तुणके मनमें फिर वह राधा उत्पन्न हो गई कि यदि कर्ममार्ग गीण है और ज्ञानमार्ग बड़ है तो मैं योगयुक्त कर्मका आचरण नहीं करूँ ? कब मैं ज्ञानमार्गमें सीधा उद्यत होकर बलवी सिद्धि का लाभ करूँ न प्राप्त करूँ ? तृतीयध्यायके पहिले दो श्लोकमें यही प्रश्न वर्तुण करता है और एक उत्तर माँगा है—

तत्रैकं यत् निश्चित्य यम योगाश्चानुसृत्य च (१)
जिगते मेरा कल्याण होगा उसका निश्चय करके बली
(२४ वर) एक माग्य मुझे उद्देश्य कर। दो मार्गोंका

उपयुक्त करनेसे मुझे प्रेम होख है इसविषय हमसे कहते हैं मार्गसे मैं जाऊँ वह मुझे बताओ।

मनुष्योंके दो भेद

यह वर्तुणकी राह ठीक है। इसे सुनकर मन्त्रार्थ को कृपा करते हैं— इस कोकमें कई लोग अन्धविश्वास हैं और कई कर्मविद् होते हैं। साधनविज्ञान कर्ममार्गका वास्तविक प्रथम न होगा और कर्मविज्ञानसे ज्ञानयोग होना सर्वप्रथम है। कई लोग तत्त्वज्ञानी होते हैं वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता की करते हैं तो सबसे ध्वान्द्वैतिक ब्रह्म होना सर्वप्रथम है और कई लोग कर्म करनेवाले होते हैं, वे कुछ न कुछ कर्म प्राप्त करते हैं, उनके तत्त्वज्ञानका मनन होगा सर्वप्रथम है। प्रायः वे दोनों दृष्टियाँ एक स्थानपर नहीं रहती। प्रायः इस धर्मसे मनुष्योंके दो भेद बने हैं।

कर्मयोगका बाद कीडकर हम मनुष्यजातिका प्रथम भेद करते हैं तब हमें सब मनुष्य इन दो वर्गोंमें विभक्त हुए हैं देहादी प्रतीति होना है। प्रायः बहुत मनुष्य कोटी सुनार सुनारका उत्पादक कामकाय करनेवाले होते हैं। आर्थिक विचार ओह धी दिया और वही वहीके समान आर्थिक रखा नहीं है, वेसे जैतने देका गया था वहाँ भी उत्पादक कामकाय करनेवालों—स्वभावसे उत्पादक कामकाय करनेवालों की सेवा अधिक होती है और सामर्थ्यका प्रत्यक्षता मनुष्यके अधिकत्वके मूल तत्त्वोंका मनन करके वहुतही निरका होते हैं। हममें जो कुछ सुनार सुनार आदि व्यावहारिक कर्ममार्गको साधविचार और प्रत्यक्ष मार्गमें अपनाया जाय तो सबसे बड़ पैदा कार्य नहीं होगा और व्यावहारिक विचार तत्त्वविचार करते रहनेवालों की प्रवृत्ति लेटीका कार्य करना पड़े तो वह पृथ्वी मात्र ही मूर्तिवही हो जाएगा। इस तरह इन दोनोंके मार्ग विभक्त हैं और एकका कर्म दूसरेसे नहीं हो सकता। यह ज्ञान आर्थिक उत्पादन इत्येव इसविषय किया है कि वे दोनों ही सत्य बर्त हैं यह बात पार्थकोंके मनपर स्पष्टतया देन का

नी स्थिर हो जाय । व्यवहारमें भी व्यावहारिक कर्म करने-वाले बहुत और व्यवहारका तत्त्वज्ञान ज्ञानेश्वरके बोधे होते हैं । इसी प्रकार परमार्थमें भी ज्ञानमार्गी बोधे और कर्म-मार्गी बहुत होते हैं ।

एकका कर्म दूसरेसे नहीं होता । इसीविधे इनको दो 'विशय' कही हैं । (सिन्धोपेय ध्यान) पूर्णतः जिसमें व्यवस्थान होता है उसका नाम भि-ष्टा है ।

अमस्वभावसे अर्जुन कर्मनिष्ठ था । कदा उससे ज्ञानमार्गी का आचरण होता जसमय था । इसविधे उसको कहा है कि ज्ञानमार्गसे प्राप्त होनेवाली आत्मी स्थिति किन्तु भी उत्पन्न नहीं न हो तु उस मार्गसे न जा । क्योंकि वह मार्ग तुम्हारेसे आश्रयन नहीं होगा

लोगोंकी मूल

कर्मयोगी तो पढ़ाने जाते हैं नतीके के कुछ न कुछ कर्म करते हैं । परन्तु शास्त्रयोगी की पढ़ाव कठिन है । लोग इसकी पढ़ावमें बाराबार मूक बनते हैं । शास्त्रयोगी कर्म नहीं करता । इसविधे जो कर्म नहीं करता उसको ज्ञानी और आत्मी स्थितिमें प्राप्त हुआ मानते हैं । ज्ञानी लोग और आत्मी इनके विषयमें साधारण लोग पढ़ा वही मूक करते हैं । इसी प्रकार अर्जुनने भी मूक की थी । वह कर्म न करना ही ज्ञानीका कक्षण मानने लगा था । इसीविधे इन्को ३ में कहा है कि कर्म न करनेसे तुम रहनेसे उत्पन्नानी नहीं हो सकता । उत्पन्नानी और आत्मी में कर्म न करनेका गुण समान है परन्तु उत्पन्नानीमें वह गुण है और आत्मीमें नहीं होता । साधारणतः भिरक, सिद्ध और परमात्ममें भी लोग मूक बनते हैं । इस विषयमें पाठक इनका ध्यान कि इसकी परीक्षा करनेसे बहुत लाभसे नहीं हो सकती । जो बाह्य आचरणसे इसकी परीक्षा करने लगेगे वे सदाही मूक लगेगे ।

जो कर्मविहीनता संपन्न करता है परन्तु मनसे विषय भोगके विधे तटवत्ता रहता है उसका नाम मिथ्याचारी किंवा होगी है । (१५० ६) ज्ञेयिका कक्षण कहा दिया है परन्तु इसका पढ़ा कष्ट मनुष्योंको लगना कठिन है । क्योंकि जीव मनुष्य मनके विषयोंका चिंतन करता है और जीव नहीं वह बाहरसे कैसे ज्ञान सकते हैं । वह ज्ञानका अर्थमय है जगत् लोग बाह्य आचरणसे कर्मने हैं । जो ज्ञानी

सीधेसाधे रहते हैं और बाह्य आचरण नहीं करते उनको लोग मत्स्यता नहीं होते और जो लोग ऐसे मिथ्याचारी होते हैं उनका आचरण बहुत हाथ है । संभवतः अधिक सहवाससे जीव ज्ञानी है और जीव लोगी मिथ्याचारी है । इसका पढ़ा कष्ट सदा होता है । प्रायः ज्ञानी और आश्रमिन् सिद्ध पुत्र जबसमसे उपसर्ग न पहुँचे इसविधे बाह्य अमस्व अङ्के समान भी रहते हैं । इसविधे तो उनकी पढ़ाव अनर्थ कठिन हो जाती है ।

जोदेमव उपनिषद्में महाज्ञानी रैवक की कथा न की है । जानगुति राजा कहा चर्मात्मा और पुत्रहीन था । अपने एकमात्र सखा सुभा कि महाज्ञानी सगुवा रैवक के समान जानगुतिका साहाय्य नहीं है । ' जगत् राजाने अपने परिचारक से कहा कि महाज्ञानी रैवक कहाँ रहता है इसका पढ़ा कक्षाओ । जीउने राजासे बहुत उकास की पान्ति पढ़ा न कमा । वह राजाके पास जाकर कहने लगा कि सगुवा रैवक पढ़ा नहीं बनता । उस समय राजाने उसे कहा —

यत्नारे ब्राह्मणस्याभ्येयना तदेवमर्हति ॥ ७ ॥
लोऽध्वनात्पुच्छकटस्थ पामासं कर्णमाणमुपो
प्रावेशेन । तद्वा त्वाभ्युवाद् एवं तु भगवः
सगुवा रैवक इत्यहं हृष्टा ॥ इति ह प्रतिपद्ये ८
(कां ३ ११)

जो महाज्ञानीकी ओर किया करते हैं वही उनका देखो । तब अपने ईश्वर तो उनको गादीक नीचे पुत्रकी लुब्धकाता हुआ एक मनुष्य मिला । अपने समझा कि वही महाज्ञानी रैवक है । वह उसका पान आदरसे आ बैठा और पूछने लगा कि क्या बात थी भगवान् सगुवा रैवक है ? उत्तर मिला कि ' मैही हूँ ।

वही महाज्ञानी गादीक नीचे लुब्धकी करने हुए मिला । परन्तु कई मनुष्य गादीक नीचे बने हैं और लुब्धकी भी करते हैं । तथापि वे महाज्ञानी नहीं होते । जगत् ज्ञानीकी परीक्षा कठिन है—

एवं तव तद्भिस्समेति परिरुच्य मज्जा साधु
कुर्वन्ति । (कां ३ १११)

साधारण मनुष्य जो लक्ष्म कर्म करते हैं वह सबका सब भिन्नसे बाह्य व्यवहारमें न लक्ष्म हुआ है । हमको ज्ञानी

करत हैं। उसकी मृत्वा छत्र होनेके कारण उसको सब कुछ एक ही समयमें प्राप्त होते हैं। साधारण मनुष्योंको एक एक द्रव्यका मुक्त एक एक समय मिलता है। भक्ष्याणीक जाँउमें कुछ भौतिकीय लेख भी होता है मुक्तपर सहजानन्द होता है। परन्तु व सब लक्षण ऐसे नहीं हैं कि जिससे भक्ष्याणी सहजहीमें पहचाना जाय। अतः मनुष्य जगमें पड़ते हैं और बौद्धिको भी सत्पुरुष मान बैठते हैं। बहुतबन भी मनमें बड़ी विचार किया जा कि जैसे कर्म छोड़ दिया जा मैं स्वतन्त्र होकर बाकी स्थितिको प्राप्त होऊँगा। वह उसकी भाँति भी और भगवान् कीकृपाहीने कर्म छोड़नेसे कह मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकत। (श्री ४) ऐसा कहकर मनुष्यकी भाँति बुर की। पाठक यह महत्त्वपूर्ण विद्वान्त्व ध्यानमें धारण करे।

कर्मत्याग असंभव है

सब प्राणी प्रत्येक क्षणमें कुछ व कुछ कर्म करत हैं। (श्री ५) कर्म छोड़ना भी एक कर्मही है। शरीरका निवाहनेके लिये भी कर्म करना जतन आवश्यक है। (श्री ६) इत्यादि उपदेशद्वारा वह बताया कि कर्मसंन्यास का आशय आरुत्व नहीं है। कर्मत्याग कर्म संन्यास, अर्थात् इनका मात्र कुछ विरोध है। कर्म व करनेसे संन्यास की सिद्धि हुई ऐसा मानना भ्रम है। कोई प्राणी संतुल्यता कर्म का त्याग कर नहीं सकता। जीववही एक बड़ा भारी कर्म है। अतः जो मनसे इन्द्रियोंका संयम करके कर्म करता है उसकी योग्यता विरोध होती है। (श्री ७) अर्थात् इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह मनुष्यकी योग्यता उत्पन्न होती है।

यज्ञके लिये कर्म

यज्ञक विषय कर्म करनेसे मनुष्यकी कर्मका श्रेय नहीं बनता। (श्री ९) इत्यन्ति यज्ञके लिये मनुष्य कर्म करता रहे। सब जगत्की यज्ञ पर निर्भर रहा है यज्ञके बिना सब जगत्का नाश होगा। इस यज्ञका स्वरूप क्या है वह श्री ११ में कहा है जो मनुष्य अपनी उत्तरार्द्धिक निवे अन्नका वाद निरु कराने है व वायुके माणी हाव है और जो सब की निरुता काव उसमें यज्ञ करने हैं और अन्नसिद्धि का स्वयं भावन करने हैं उनका सब वाद बुर होने हैं। (श्री १२) अर्थात् यज्ञ अर्थात् वेदकी पूर्ति के लिये अन्न

पकाना पाप है और दूसरोंकी वेदकी पूर्ति के लिये अन्न और उनका वेद भरनेके पक्का जो बने उससे अपने वेदकी पूर्ति करना पुण्य है।

(१) अपनी वेदकी पूर्ति का नश्य है स्वार्थ (स्व+वर्ग) अपने मुक्तके लिये कर्म करना।

(२) दूसरों के मुक्तके लिये कर्म करनेका यज्ञ है परार्थ (पर+वर्ग)।

(३) और जिसमें स्वार्थ और परार्थ साधन होता है पुरुष हो जाता है उसका नाम है परमार्थ (परम+वर्ग) बड़ा अर्थ। बड़ी वृद्ध है।

अर्थात् यज्ञसे (परस्पर) भावबन्ध। (श्री ११) अन्न भिन्न होता है और दूसरोंका भी भिन्न होता है। सबका भिन्न अन्नोक्तसे साधन करनेका नाम यज्ञ है अथवा बड़ी परार्थ है। बड़ी स्वार्थ परार्थ और परमार्थ का अन्न यज्ञ ध्यावमें रहें और केवल स्वार्थने कर्ममें केवल परार्थक कर्ममें केसा बाध होता है और परमार्थके किन्हीं किन्हीं अन्तरेके यज्ञक कर्मसे निर्दोष कर्म होनेसे केसा परम पुष्पार्थ होत है इसका विचार मनमें सुदृढ रहें। यज्ञका बड़ी महत्त्व है।

अन्तिम सिद्धि

अन्त्यारवि या मनुषि और अन्त्यमनुषि मूर्खताम विरुद्ध तो ऐसे सिद्ध पुरुषके लिये कोई कर्मव्य कर्म करनेके लिये अवशिष्ट नहीं रहता। (श्री १७-१८) अतः इससे स्वतन्त्र कहते हैं। वह अन्तिम सिद्धि है और ही सिद्धिकी गतिके लिये ही सब वाद यज्ञक पुण्य है। सिद्ध पुरुषके लिये साधन नहीं है वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वह सिद्धि प्राप्त होनेके पक्का वह सिद्ध पुरुष कर्म करेगा अथवा न करेगा। वह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेतक मनुष्यकी जाने बहारके लिये बालवान् होना चाहिये।

अर्थात् इस सिद्धिकक वृद्धा नहीं जा इसलिये बड़ी (श्री १९ में) कहा है कि "आत्मीय कीद्वार यज्ञ कर्म कर। आत्मनिष्ठरहित शीघ्र कर्मयोगका आचरण करने परम सिद्धि प्राप्त होगी है।" तब योगोंके लिये बड़ी कार्य उत्तम है। स्वार्थ और परार्थ छोड़ने और (परस्पर) भाव बन्ध। (श्री १९) सबका भिन्न साधन करनेके लिये आत्मनिष्ठ होनेका यज्ञ बड़ी पाठकीकी अवश्य रहना चाहिये। अतः कहा है कि (सत्य कर्म मुक्तमया समाप्त।

श्लो १) पञ्चके किये जासकित होकर कर्म कर । इसमें भी जगत्सकिका पाद दिया है ।

लोकसंग्रह और परमार्थ

कमल स्वार्थ बुरा है केवल परार्थ भी सत्त्व है अतः परमार्थ-साधनमें अपना और सबका सबका कल्याण है यही बात लोक-संग्रह के प्रकरण (श्लो २ - २४) में कही है । लोकसंग्रहका अर्थ 'जनताकी चारण्य जनताकी उन्नति जनताका सुधार, राष्ट्रका मनुष्यमात्रका कल्याण, जनताको सम्पूर्णपर चक्रम । इत्यादि है । यह न केवल स्वार्थसे हो सकता है और न केवल परार्थसे । इसप्रति परमाय-साधनसे यह लोकसंग्रह करना चाहिये । यही यज्ञका मूल अर्थ है ।

लोकसंग्रह करनेके लिये भी विशेष योग्यता आवश्यक होती है । अत्येक मनुष्य लोकसंग्रह करेगा ऐसी बात नहीं है । महाबाहू श्रीकृष्ण राजा जबक राजा रामचन्द्र ऐसे भेद गुणोंके द्वारा लोकसंग्रह हुआ था । महाबाहू श्रीकृष्णके अनुकारी होनेके कारण लोकसंग्रहके कार्य करनेका समान अर्थनकी प्राप्त हुआ है । भारतीय युद्धमें अर्जुन जबक मिथिलमात्र था । (देखो गी ११।३३) आ मिथिलमात्र है उससे लोकसंग्रहका मुख्य कार्य नहीं हो सकता । उसके कर्ता महाबाहू श्रीकृष्ण जैसे सुद सुद सुद उदय थे । परन्तु इनके अन्तर्में मिथिलमात्र होनेका भान प्राप्त हुआ भी साधारण कार्य नहीं है । इसलिये पादक वहाँ वह बोध करा कि अत्येक युद्धमें सुद सुद सुद उदय होने हैं जनताको मार्ग बतले हैं और लोकसंग्रहके कार्यके लिये प्रवृत्त करत हैं । मुख्य प्रेरण उन्मुक्तमात्रोंकी ही होगी । इस प्रकार लोकसंग्रहके कार्यमें मिथिलमात्र होकर सुद-सुमिरर बाध लडा रहनेका काय करनेके लिये भी हजारों और लाखों लोगोंकी आवश्यकता होती है । ऐसे मिथिल मात्र बचनेका भाव प्राप्त करना भी एक महावकी बात है और इस कार्यके लिये योग्यता प्राप्त करना अत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है । इस तरह छोटी योग्यताका भी योग्य भेदायी व्याप्तमें कार्य करते हुए लोक संग्रह करनेके भली ही सचेत हैं । इस रीतिसे लोकसंग्रह अवशिष्ट राष्ट्रव्यापक कार्य कार्यमें आग लेनेसे मनुष्यका जीवन-वश सचन होता है ।

इसी के भी १० में कहा है कि कोई मायाय

मनुष्य अपनी योग्यताके अनुसार कुछ कर्म करना हो तो उसकी सहा उस कर्मसे हटाना अथवा नहीं है उसकी भला बनी रहनेसेही उन्नत कल्याण हो सकता है ।

कर्तृत्व

श्लो २०-२९ में कर्तृत्व गुणोंके पाद है यह विचार महावकी बात कही है । कुम्हार मिट्टीका भट्टा बनाता है इसका कारण मिट्टीमें घटाकर बननका गुण है । यह गुण न होगा तो कोई भी मनुष्य मिट्टीसे घटा नहीं बना सकेगा । केवल देखते घटा क्यों नहीं बनाया जाय ? क्योंकि देखते घटाकरमें परिणत होनेका गुण नहीं है । वह मिट्टीमें है इस लिये मिट्टीमें घटा बनता है । इस विचारमें स्पष्ट होना कि घट बचनेका मुख्य हेतु मिट्टीका गुण है । कुम्हारका भी गुण मिट्टीके गुण० साथ मिलकर घटकी कार्य होता है । ऐसी अवस्था में कुम्हार यदि बसत करे कि मैं ही कबल घटका कर्ता हूँ तो उसकी वह घमट कहाँ तक योग्य हो सकती है ? और मित्राण की हुई वहीह अन्तमें अनर्थकारक क्यों नहीं होगी ? वस्तुतः (गुणः गुणेषु वर्तते । श्लो २८) एकक गुण दूसरेके गुणोंके साथ मिलकर सब कर्मोंके सिद्ध करने हैं । इसलिये शारीकी दृष्टि से कोई मनुष्य अपने आपको किसी कार्यका कर्ता नहीं कह सकता । यदि हम तरह गुणोंके पादही कर्तृत्व है तो मनुष्य बसत बर्ता कर । एक वीर ह वह बसतसे कहता ह कि मैंने युद्धमें विजय पाया । वस्तु सत्य देखा जाय तो सत्ताओंकी उत्तमता साधनाने मनीकोंकी जाज्ञाचारका परिमितिही अनुसृतता इत्यादि गुणमनुसृतस विजयस्वी कल मिता है । कई वीर सब साधनोसे सफल होते हुए भी प्रसिद्ध परिमिति उत्तम होनेके कारण परास्त होते हैं । इसलिये मनुष्यकी मूलता तो इसीमें है कि वह कर्तृत्वकी बसत न कर और कृतिक गुणोंसे वह सब बच रहा है ऐसा मानकर भावक न होने । जासकित और बसत दूर करनेक लिये यह विचार उत्तम है और आ पादक अपनी मनमार्थिक उन्नति करना चाहत हैं, उनके लिये वह उपदेश अवश्य है ।

ईश्वरार्पण कर्म

श्लो ३ - ३२ में सब कम ईश्वरका समर्पण करत का उपदेश करत वह भी कहा कि जो गता करने दे व

अप्यवसे मुक्त होते हैं और जो ऐसा नहीं करते वे नाशको प्राप्त होते हैं। मनुष्य यदि अपने सब कर्म परमेस्वरकी प्रीति स्थापन करनेके लिए करते हों अप्यव अपना प्रत्येक कर्म ईश्वरके लिये अर्पण करन छागा तो उसी क्षणसे वह पवित्र होने लगता है। साधारण मनुष्य समझते नहीं और ईश्वर-अप्यव कर्म करनेका उपहास भी करते हैं परन्तु इसमें इतनी पक्किता है कि उसका बदल नहीं हो सकता। परमेस्वर सर्वत्र सर्वत्र विद्यमान और सच्चिदानन्द है और उसको समर्पण करनेके लिये मैं वह कर्म कर रहा हूँ ऐसा निश्चय करते ही उसके अनेक अम्बर लिये हुए हीन विचार दूर भागते लगते हैं। सर्वव्यापक सर्वत्र देवको छिपाकर वह हीन कर्म करेगाही कैसे? और जब वह जानते लगता कि वह ईश्वर सब मनुष्योंमें भी है वह वह जगत्का उच्चम सेवक बनेगा दुःखितके दुःख दूर करनेमें तत्पर होगा और पीछितोंकी सेवा करना परमेस्वरकी सेवा है, ऐसा वह अन्त करणसे समझता। सामुहिकी रक्षा दुर्बलोंका विश्रुत और बलस्थानका करनेके लिये परमेस्वर जाना है वह बात भाव्यर जो मनुष्य इन कर्मोंमें लगे होंगे उनका अनुयायी हाकर इन कर्मोंको करनेके लिये वह आत्मसमर्पण करेगा। इस तरह सबको पकारोंसे उससे दिन प्रतिदिन छुट और पक्कि कर्म होंगे और अन्तमें वह सबकोसे पार होगा, ईश्वरार्पण कर्म करनेसे ऐसे अन्त काम हैं। पाठक इस बात का निश्चय विचार करें।

प्रकृति-स्वभाव

मनुष्यका प्रकृतिस्वभाव अन्तर्मुखी विविध प्रकारका बना होता है उस स्वभावके अनुसार कर्म करने की आवश्यकता होती है और प्रकृति स्वभावानुसृत कर्म उच्चम हुआ तो कर्मोंमें उनकी उन्नति होती है। यदि किसीको ऐसा मतीत हुआ कि अपना प्रकृतिस्वभावानुसृत प्रत्येक कर्म वैसा काम-कारी नहीं है वैसा दूसरेका कर्म है और इस अभावसे उससे उससे अपना कर्म छोड़ दिया तो उसके पक्षका कर्म ठीक नहीं होगा और इसका कर्म तो स्वयं हसीने छोड़ा है। अतः वह वहसे भी भ्रष्ट और वहसे भी भ्रष्ट होकर अवनत होगा। इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावानुसृत प्रत्येक कर्म पर हस्तको करना योग्य है। दूसरेका कर्म दूसरेमें मोहक भी दिया है दिया गया कि वह अन्तर्मुखी हस्तिकारकही

मिष्ट होगा।

राष्ट्रमें जो आ विविध व्यवहार करते हैं वे सब एक साथ राष्ट्रीय सुस्थिति के लिये आवश्यक होते हैं। इन सब कर्मों में सर्वोच्च उन्नति की ता सामुदायिक उन्नति होनेसे सब का उत्तम हित होता है। अतः किसी मनोमनमें बाहर कोई मनुष्य अपना कर्त्तव्य कर्म न छोड़े। (१५) ११ १५)

प्रकृतिस्वभावानुसृत प्रत्येक कर्म पर हस्तको करना कर्त्तव्य वह उच्चम अन्तर्मुखी मनुष्यका है। युरोप अमेरिकामें जो हस्त मनुष्य जा जाते जो कर्म कर मरता है ऐसे स्वभावसे भी (विश्व बुद्धिमान) कर्म-संबंधी मनुष्य अपने स्वयं कर्मोंकी करते रहते हैं। यदि किसीने दूसरेका कर्म करनेका साहस किया तो वह उस संबंध सम्बन्धसे दूरी जाता है। यह युरोप अमेरिकामें कर्म संबंधी प्रजा देखकर अन्तर्मुखीताहारा परभाव की दृष्टिसे दिया हुआ संदेश सब जगत्में देना देकर रहा है वह आत्मका गीतके सब सिद्धांतोंका निःसन्देह विवरण होगा वही निश्चय अन्त स्थिर हो जाता है।

दुर्बल काम

हृदयके पक्षान्तर अभावसमाप्ति (१६) १६)
दुर्बल कामको जीतनेका विचार कहा है। वह काम जो मनुष्य के अन्तर्मुख होनेके कारण भीन करनेकी आवश्यकता मनुष्यके अन्तर्मुखमें निर्माण करता है। इसीके अन्त मनुष्य अन्त बन करत है। और पारोंसे दुःख भोगते रहते हैं। मनुष्यों के अन्तःकरणोंपर प्रायः इस कामका मनुष्य लगता रहता है। भोगोंसे इस कामकी पुष्टि कभी नहीं होती इसलिये जो मनुष्य लक्षित चाहता है वह अपने इन्द्रियोंके संयम में और संयमसे इन दुर्बल कामकी जीते। संयमका एक दशा है और मनोविग्रहहो इस दुर्बल मनुष्यका पराजय होना संभव है।

मनुष्यकी अन्तर्मुखी इन्द्रियों और पुष्टिसे भी सब अन्तर्मुखी है। इस लक्षिका विचार करके मनुष्य इस कामके अन्तर्मुख न बने क्योंकि इस तरह मनुष्य अन्तर्मुखी होनेसे मनुष्यकी अन्तर्मुखी निर्वक ही जाती है। अतः इन्द्र संयम मनुष्यके अन्तर्मुखी अपने आत्मिक लक्षके हाथ इस दुर्बल कामकी जीतना चाहिये।

अध्यायका सार

संक्षेपसे अध्यायका यह सार है। इसका भी सार अर्थात् बोधे सम्पूर्ण देखना हो तो निम्नलिखित रीतिसे देख सकते हैं—

१. यमसे भोग्यका समय करना चाहिये। काम हुआ न और पारमें प्रवृत्त करनेवाला है अतः वह अनुप्यका शत्रु है। समयसे उसके जीतकर नाशिक बल बढ़ाना चाहिये।

२. अहंकार त्याग करके, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं इन गुणोंसे न होनेपर कोई अनुप्य कर्म नहीं कर सक्य ऐसा मानकर अपने आपकी कर्मा होनेके अनिमित्तसे दूर रचना चाहिये।

३. प्रकृतिस्वभावके अनुप्य कर्म होते हैं इसलिये अपने प्रकृतिस्वभावके अनुप्य को अपने मनकी निहा हो उसके अनुसार दृष्टासे कर्म करने चाहिये।

४. रोगसे ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये जो अपने सहज कर्तव्यसे प्रतिद्वन्द्व हो। हठसे ऐसे विद्व कर्म कोई न करे।

५. अपना सहज धर्म आचरण करते समय शत्रु काया हो भी इसमें कम्बल है। परन्तु रोगसे विद्व कर्म करके कुछ काम भी प्रवीण हुआ तबानि जन्ममें वह भयंकर हानि करनेवाला सिद्ध होगा।

६. मनुष्यके लिये सर्वथा कमका त्याग अत्यन्त है इस लिये ब्रह्मि चाहनेवाला मनुष्य कर्म न छोड़े।

७. ब्रह्म लिये (अर्थात् भित्तिका सत्कार अपनी श्रेष्ठता और हीनेके ऊपर उपकार करनेके लिये परमार्थिक लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे।

८. लोकसंग्रहके लिये (अर्थात् जनताकी रक्षा और उन्नतिके लिये) मनुष्य अवश्य कर्म करे।

९. मनुष्यकी दृष्टिके लिये इसमें उपाय यह है कि वह अपने सब कर्म परमेश्वरको समर्पण करे। अहंकारो अपने सम्मुख उपस्थित ज्ञानकर उसके लिये कर्म करे।

१०. इस प्रकार कर्म करनेसे मनुष्य आत्मरत्न आत्मगुण और आत्मसंग्रह (अर्थात् अक्षय्य विद्या अक्षय्य)

होगा। (वह अक्षय्य प्राप्त होनेपर उसके लिये कोई कर्म आवश्यक नहीं रहेगा।)

सारांशसे इस अध्यायका यह सार है। इस दस नियमों— का मनन करके कर्तव्य कर्म करते रहनेसे मनुष्य उत्तम कर्मयोगी हो सकता है।

ज्ञानयोग और कर्मयोग

जब ज्ञानयोग और कर्मयोग किंवा ज्ञानविद्या और कर्मविद्या अथवा सांख्यमार्ग और योगमार्गकी तुलना करते हैं। इस तुलनासे दोनों मार्गोंकी समानता नहीं है और विषमता कहा है इसका पता पाठकोंको लग सकता है—

योगोंके नाम

ज्ञानयोग	कर्मयोग (३:१)
ज्ञानविद्या	कर्मविद्या योगमार्ग
सांख्यमार्ग	योग (३:३)
सांख्ययोग	योगसुद्धि (३:३५)
सांख्यसुद्धि (३:३५)	(समर्थ) बुद्धियोग (३:३५)

कर्मयोगकी व्याख्या

समर्थ योग उच्यते।

(गी ३:३८)

योगः कर्मसु कौशलः।

(३:५०)

(समाधा) अचला बुद्धिः योगः।

(३:५३)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्प योगधर्मः महतो भयान्नापत।

(३:४०)

अथ यथा व्यवसायारम्भका बुद्धिः।

(३:४०)

युयौ शरणमाधिपत्य।

(३:४१)

(समर्थ—) बुद्धियोग कर्मणः परा।

(बुद्धियोगान् कर्म मयरे)

(३:४९)

साध्यप्रवृत्त

वीतरागमयक्रोधः स्थितधीः । २।५६
सर्वत्रात्मनिस्नेहः । ५।५७
दुर्लभमुद्दिष्टमवाः सुखेषु विगतस्तुहः ।
२।५६
धूम नाग्निर्नृतिः नष्टमं न हेति ।
२।५७
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न । २।१७

सर्वान्मन्त्राणां कामान्मन्त्रब्रह्मणि
कर्मणि कर्ममा मुहः । २।५५
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थैः च संहरन्ति ।
२।५८

इन्द्रियाणि धनस्य मत्पर (ईश्वरः)
दुष्टा वासीन् । २।५१

इन्द्रियाणि वस्तु बधे ।
तत्त्व प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । २।६१
बन्ध इन्द्रियाणि विगृहीन्मणि
तत्त्व प्रज्ञा प्रतिष्ठिता २।६८
मिथ्याहारस्य निषयाः निमित्तवन्ते ।
वर्ग इत्या रसः कवि निवर्तते ।

रामाद्वैतविशुद्धेः कात्मवर्षा इन्द्रियैः
विषयान् चरन् प्रसादमविगच्छति ।
२।६७

कर्मणी कर्माणि । २।६९
(निषयान्) पश्यती मुने निष्ठा ।
२।६९

आर्त्तमार्गं कामाः प्रवितन्ति
नः शान्तिं कर्माणि । २।७०
सर्वान्मन्त्रां विहाय विनष्टः निर्ममः
निर्हंकारः चरति सः शान्तिमधि-
गच्छति । २।७१

अभारमवाद्

समासाः, निषयता
रागी तुष्यः योगीकर्तव्यवृत्तः । २।७४
सुखे स्पृहा दुःखे अहिम्ना ।
धूमं नाग्निर्नृतिः नष्टमं हेति ।
अपरिहार्येऽर्थेऽपि शोकः ।

सयम

कामतत्त्वान् रक्षणपरा । २।७३
योगीकर्तव्यसयाः । २।७४
श्रेयस्वविषयाः । २।७५
इन्द्रियाणि संयम्य नः विषयान्मत्पर
भास्ते सः मिथ्याचारः । २।६९
इन्द्रियाणां मया हरन्ति । २।६

इन्द्रियाणां चरतां मया प्रज्ञां हरति ।
२।६७
कामकामी शान्तिं वाप्नोति । २।७०
कष्टहेतवः कृपणाः । २।७५

विषयान्मात्रतः तेषु संगः उपजायते
संगतकाम कामाद्वैतः कोचस्त-
मोहः समोहान् धूमं स्पृष्टिर्ब्रह्म
मुक्तिवादाः मुक्तिवादास्त्यक्तवन्ति ।
२।६२-६३

अनेकं ज्ञान अभिवर्तते । २।६८
कर्मः दुष्टः अगमः । २।६९
कामस्य अविच्छिन्नं इन्द्रियाणि
मया मुक्तिः । २।७४

अतिम सिद्धि

कामाः ज्ञानं अज्ञानं वैद्विर्न विमोहयति ।
२।७४
अकर्मणा वारीरपात्तानि न प्रसिद्धये ।
२।७८

योगमत्त

संगं त्यक्त्वा सिद्धपतिद्वयोः समः मया ।
२।७८

शुद्धिपुणः सुष्ठुशुद्धिं ब्रह्मणि । २।७७
सुष्ठुशुद्धिं ममे, कामकामी अवाप्तवो
समी कृपा पार्थ न अवाप्तवमि । २।७८
अपरिहार्येऽर्थे शोकः न कार्यः । २।१७

शुद्धसंगः वृत्ताय कर्म समाचर । २।९

इन्द्रियाणि मनसा निबन्ध असक्त कर्मे
प्रियैः कर्मयोगं भारमते स विनिश्चये ।
२।७

इन्द्रियाणां रामाद्वैतबोधसं न गच्छेत् ।
तौ बन्ध परिपान्थिभौ । २।७४
इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञानमात्मन
प्राप्नोति काम प्रवर्तिहि । २।७५
काम श्रेयश्च महापाप्मा महादायः ।
त वैरिणं विद्धि । २।७७

अवमान दुष्टे वर्गं दुष्टया अहममात्मन
सत्सम्बन्धः, दुरासदे कामकर्मं सद्यु ब्रह्मि
२।७३

इन्द्रियाणि निबन्ध असक्त कर्मयोग
भारमते स विनिश्चये । २।७
असक्तः कर्मे माचरन् परं वाप्नोति ।
२।१९

मोहकर्मिणं मुक्तिर्न सिद्धिरिति ।
२।७२
कामाः शान्तिः मित्वदेरी नष्टं तं ब्रह्मि
२।७९

कर्मजं कर्मं त्यक्त्वा अमर्षवन्निधि-
शुद्धः अमर्षं परं गच्छति । २।७१
(योगः) शुद्धया कर्मजं महापति २।७२
अभारमतिः कात्मगुह्यं अहमसेतुः
तस्य कार्यं न विद्यते । २।७७

सांख्यमत

मायां स्थितिं ज्ञानं च मुमुक्षुः । १।७१
प्रकारे सर्वेषु ज्ञानां ह्यमिरक्षीपत्रापणे।
प्रमत्तचेतसो बुद्धिः सर्ववर्तिन्यते । १।७५
अन्तर्बन्धेऽपि साक्षात् स्थितौ स्थित्या
अविवर्धयाम्यस्य । १।७९

अभ्यासमार्गः

सर्वज्ञानिमिमूढा अवततः । १।२३

योगमत

कर्मैव हि संसिद्धिमाप्तिवया

अवकाशः । १।१९

अवकाशाऽवस्थातो मुच्यते वेदः

कर्मिः । १।१९

वैद्य इत्येवार्थो ग्राह्येनेह कथनः

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थोऽवकाशः

१।१९

कर्मयोग

कर्मणि ते अविकारः । १।४७

अकर्मणि सता आऽस्तु । १।४७

कर्मफलहेतुः सा मू । १।४७

फलपुंते अविकाराः सा । १।४७

योगस्य कर्मणि कुतः । १।२८

विपक्षं कर्म कुतः । १।८

कश्चिदकर्मफलं निवृत्तिः । १।५

अकर्मिर्भूतः सर्वो कर्म कर्तव्यः । १।५

अकर्मिणा कर्म स्वायाः । १।८

कर्मनाममार्गमात्रिणम् । १।१९

अनासक्तियोग

असक्तः कर्तुं कर्म समाधत्तः । १।१९

ईश्वरार्पण

अधि (१४२) सत्यानि कर्मणि संज्ञा

अप्यवस्थायां विराजिर्निर्मली धृक्

मुच्यते । १।१२

कर्मणि कुतः । १।१२

लोके समग्र

लोके सर्वं कर्तुं सर्वम् । १।१२

असीरेतुमिमे कीदा न कुतः कर्म कर्तुं

संकरस्य च कर्म एवानुपपन्नमिमा

मताः । १।१२

अप्यवस्थायां विराजिर्निर्मली धृक्

अप्यवस्थायां विराजिर्निर्मली धृक्

अकर्मणि संज्ञाः । १।४७

कर्मफलहेतुः । १।४७

कर्मणि अविकारः । १।४७

अनुपपन्नं बुद्धिः, ज्ञानं साक्षात्

मुक्तं च न । १।२९

अकर्मकुतः । १।५

अनासक्त्या कर्म करोति ।

ये ज्ञानकारणान्यवशिष्टं ते पापताः ।

१।१२

अपानुपपन्नमिमांशोऽपि जीवति ।

१।१२

अप्यवस्थायां विराजिर्निर्मली धृक्

१।१२

सांख्यमत

जनार्दनवाच

योगमत

यज्ञः

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्वयत्नः सोऽथोऽयं कर्म
संघनः । ३।९

प्रजाः सहस्रशः सृष्टाः । ३।९
यज्ञेन मत्तविष्णुध्वम् । ३।९
यज्ञः इष्टकाममुत्तुः । ३।९
यज्ञः कर्मसमुत्तुः । ३।९
कर्म यज्ञाद्भवम् । ३।९
यज्ञेन दद्यान्मात्रवत् देवाः वा यज्ञेन
मात्रवन्तुः परस्परं मात्रवन्तः परस्परं
अवाप्तवन् । ३।९

बुद्धिभेदजन

अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदः न
जगत्स्य । विद्वान् बुद्धिः समाचरन्
सर्वकर्मणि ज्ञोपयेत् । ३।३९
कृत्स्नविद् अद्वय विचारयेत् । ३।३९

कर्ता

प्रकृतेः पुंनिः प्रवचः कर्माणि
किमस्याणि । ३।३०
गुणः गुण्युर्वर्तते इति मत्वा
तत्त्वमिह संजयेत । ३।८

नहि कारविमूढात्मा कर्ता इति मत्वा
३।१०

प्रकृति कर्म करती है
उपर स्वतंत्र है,
नह कर्ता है ।

एतौक श्रेष्ठकर्म सांख्यमत योगमत और इस दोनों
मतेष्वेव न माननेवाले विवेकवान् श्रेष्ठोंका आशयात्क मत्त
छेपछे दिया है । मगधरीयके पूर्वोक्त तीनों अध्यायोंमें
बेही मत्त आगये हैं । यहां श्रेष्ठकर्ममें वेनेके और तीनों
मगधरीयोंके मत्त आगये सामने रखनेसे पाठकोंको तीनों
मतेष्वेव साव साध विचार करना सुगम हो सकता है । जहां
गीताके श्लोकका संबंध है जहां अध्याय और श्लोकका संक
दिखा है और जहां गीताके श्लोकसे अनुमान किया है जहां
श्लोककी नहीं दिया है ।

इस कोटिको देखनेसे पाठक जान सकते हैं कि सांख्यमत
और योगमतमें अतमत्त्व सत्त्वतत्त्व इन्द्रादीय स्थिति
द्विधसंघम मनोविम्वह इसके विषयमें तत्त्वोंकी समानता
है । नचाए इसके विषयमें दोनोंके मतान् उपदेश हैं । जहां

कर्मयोग कर्मतत्त्व अवाप्तिक, ईश्वरार्पण कर्म कौर्तप्रहार्य
कर्म पञ्चतत्त्व कर्ताक विचार कर्तिके संबंधमें विचार
कहता है, जहांके विचार कर्मयोगके साव अधिक संबंध
रखते हैं । इनमें भी जहां प्रकृतिके गुणोंसे कम होते हैं
इसका कर्ता नारमा नहीं है (गी ३।१०-१८) ऐसा कहा
है नह विचार सांख्यतत्त्वकाही है ऐसा हमें मगीन हीना
है क्योंकि सांख्यमतमें ही प्रकृति तत्त्व कुछ करती है
प्रत्यक्ष उससे कुछ संबंध नहीं नह तत्त्व प्रधानतया कहा
है । नचसि मगधरीयोंमें सांख्यमतप्रतिपाद्य द्विधसाध्यायमें
ऐसा किसी स्थानपर नहीं कहा तथापि सांख्यमतप्रतिपाद्य
सत्त्वो दोषोंमें प्रकृतिको अकर्ता और प्रकृतिसे कर्ता माना है ।
इसी तरह अवाप्तिका तत्त्व भी सांख्यमतक साध मिलता
सुकरा है क्योंकि गुण प्रकृतिसे मिश्र होनेसे नह स्वभाव

सांख्यमत

आह्नीं स्थितिं प्राप्य न मुह्यति । २।७९
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो मुक्तिः सर्ववन्तिहते । २।८०
अमृतमश्नेदसि आह्नीं स्थितौ स्थित्वा
ब्रह्मविद्यामभ्यस्यति । २।८१

असारमत

सर्वज्ञानिमिगूढा अथतस्त । ३।९३

अकर्मणि लीनः । २।४७
कर्मफलहेतुः । २।४७
फलैषु कविकाराः । २।४७
अनुकूलस्य मुक्तिः, आत्मना साधिता
शुद्धं च न । २।९६
अकर्मकृत । ३।५

आत्मनो कर्म करोति ।

ये आत्मकारणान्तराणि ते वाप्यः ।
३।१३

अवापुरिन्निधारासौ मोक्षं जीवति ।
३।१६

अमृतस्य भुक्तिं सा ह्येव । ३।१९

योगमत

कर्मैव हि तत्सिद्धिमश्नुते
अनकारकः । ३।१
अज्ञानतोऽवस्यतो मुष्णते चेति
कर्मणि । ३।११
दैव तस्य कृतेषां महते मेह कमल ।
न चास्य सर्वदृष्टेः कश्चिदर्थव्ययमन-
३।१६

कर्मयोग

कर्मणि ते अभिकारः । २।४७
अकर्मणि मया सादृत्यु । २।४७
कर्मफलहेतुः सा सृ । २।४७
फलैषु ते अभिकारः सा । २।४७
योगस्य कर्माणि कुर्व । २।१६
विषयं कर्म कुर्व । ३।६
कश्चिदकर्मफलं विदुः । ३।५
महत्विशेषैः सर्वैः कर्मं कर्षते । ३।५
अकर्मणः कर्म आत्मनः । ३।६
कर्मफलान्तराभिरुपकर्मं न । ३।१३

अनासक्तियोग

नमस्क कर्म कर्म समाधर । ३।१९
ईश्वरार्पण
मयि (ईश्वरे) सर्वानि कर्माणि संन्यस्य
आचरन्मत्केनसा निराशीर्विभ्रमैः शुक्ल
बुधस्य । ३।२

कर्माणि कुर्व । ३।३

लोक संग्रह

कोऽस्मिन् ई कर्तुं नर्हति । ३।१
वासीदेपुरिमि कोऽय न कुर्वी कर्म चेदसौ
केचनस्य च कर्ता ह्यसुपदस्यमिदम
उवाच । ३।२३
यद्यथावति केचस्तत्तदेवमती अवाप्त
यद्यथाव कुर्वते कोऽन्यत्तदुच्यते । ३।२३

संयम मनोनिग्रह आदि सभी साधन-तन्त्रों का तो बड़ा आवश्यक है ।

परन्तु जिसकी बुद्धि मगन, मिथिष्ठासक्त और आत्मापु संशानमें स्थिर नहीं रहती बारबार विचलित होती है और इस चञ्चल्यके कारण जो ज्ञान-सुमित्रता का नहीं सकता उस मनुष्यको विविध प्रकारके कर्म करते हुए जिसकी छवि करना आवश्यक है । ऐसे मनुष्योंके लिये वह कर्मयोग्यता मार्ग है ।

इन्द्रियोंका संयम करना राग द्वेषोंके बंधन हटाना कर्मके बीचका बीचका समर्थ करना शरीर इन्द्रियों मग और बुद्धि पर आत्म-तन्त्र है और वह विशेष कठिनाई है ऐसा मानना और इसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत प्यन करना वहाँ आवश्यक है ।

इसके लिये पञ्चाङ्गानुसार कर कर्म करना चाहिये क्योंकि विचलित मन बुद्धि रहनी चाहिये अत्येक कर्म कुछ कदाचूर्ण करना चाहिये और एक परमार्थके लिये समर्पित करना चाहिये । कर्म न करनेसे कर्म करना अशक्य है । कोई माया बिना कर्म 'लिये नहीं रह सकता, अतिशय कुछ न कुछ कर्म बचसे होनाही रहता है । इसलिये मनुष्यको कथित है कि वह अपना विचलित मन करे और अत्यन्त एक वृत्तियोंकी मर्यादोंके लिये बन्धन परमेश्वरकी प्रीतिके लिये समर्पित करे ।

बचताके दिवसे लिये लोक-संग्रहकी बुद्धिसे मनुष्य सब

कर्म अवश्य करे और अत्यन्त एक लोक-हितके लिये समर्पित करे । वही यश है । वरुसे सब कर्मोंकी धारणा होती है । अतः मनुष्य पञ्चसम कर्म अवश्य करे । ऐसे कर्म करनेसे विचलित-बुद्धि होगी और मन स्थिर होने कमेगा । पञ्चाङ्ग साधन-मार्गमें कहे अत्यन्तसुसधानसे वही माझी स्थिति उससे प्राप्त होगी ।

‘इससे स्पष्ट है कि अत्यन्त प्रकारस सर्वगत ज्ञाना है । इसका अनुभव करनेके लिये सब जनताके हितके लिये सब प्राप्तिमात्रकी मर्यादोंके लिये अपने कर्मोंका एक समर्पित करनेका अवधान करनेकी हीक्षा कर्मयोग देता है । कर्मयोगी लोक-संग्रह लोक-हित जन हित आदि बुद्धिसे कर्म करता है उस कर्मका एक जनताके लिये सौंप देता है इससे भी न समझते हुए वह ‘सर्वगत ज्ञाना’ की ही उपासना करता है । ऐसा करते करि उसको किसी न किसी सबगत ज्ञाना का साक्षात्कार होता है । इस तरह कर्ममार्गी कर्म करना हुआ पहिले स्वायत्त, अन्तर परार्थके लिये पञ्चाङ्ग परमार्थके लिये कर्म करना हुआ जिसकी स्थिर करता है और अन्तर्में बैसाही कृतकृत्य होता है ।

इस प्रकार साध्य और योग्य व्यवधान है इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्यके लिये योग्यमार्ग जिहा कर्मयोग मार्ग सुगम है । अतः वही सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये सदा प्रियकर है ।

संभव मनोविग्रह जादि सभी सांख्य-तत्त्वकी बातें यहाँ जायसक हैं ।

परन्तु जिसकी बुद्धि मगन, मिथिप्राप्त और आत्मासुखानमें स्थिर नहीं रहती बारबार विचलित होती है और इस चक्कड़ाके कारण जो प्रत्यक्ष सुखिकामें जा नहीं सकता उस मनुष्यके विविध प्रकारके कर्म करते हुए चित्तकी छुट्टि करना जायसक है । ऐसे मनुष्योंके किये यह कर्मयोगकर्म मार्ग है ।

इन्द्रियोंका संयम करना राग-द्वेषके बंधन हानि कर्मकी भीतना मोक्षका समान करना शरीर इन्द्रियों मग और बुद्धिसे पर आत्म-तत्त्व है और यह विवेक सक्षिप्त है ऐसा मानना और इसका अनुभव प्राप्त करनेके किये बहुत प्रयत्न करना यहाँ जायसक है ।

इसके किये फलदायक कर्म कर कर्म करना चाहिये इन्होंने विषयमें सम बुद्धि रखनी चाहिये प्रत्यक्ष कर्म कुछ कलापूर्ण करना चाहिये और फल परमात्मके किये समर्पित करना चाहिये । कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है । कोई प्राणी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, प्रसिद्ध कुछ न कुछ कर्म उससे होताही रहता है । इसलिये मनुष्यकी स्थिति है कि वह अपना नियत कर्म करे और उसका फल दूसरोंकी मकार्षिके किये अर्थात् परमेश्वरकी प्रीतिके किये समर्पित करे अथवाके दितके किये लोक-संग्रहकी बुद्धिसे मनुष्य सब

कर्म अवश्य करे और उनका फल लोक-हितक किये समर्पित करे । यही बड़ है । यहासे सब जगत्की चारणा होती है । अतः मनुष्य यशस्व कर्म अवश्य करे । ऐसे कर्म करनेसे चित्त छुट्टि होगी और सब स्थिर होने लगेगा । पश्चात् सांख्य-मार्गमें कहे आत्मासुखानसे यही माझी स्थिति उससे प्राप्त होगी ।

इससे स्पष्ट है कि अर्थात् एकरस सर्वगत जगत्मा है । इसका अनुभव करनेके किये सब जनताके हितके किये, सब प्रसिद्धावकी प्रकाशिके किये अपने कर्मोंका फल समर्पित करनेका अनुष्ठान करनेकी सीखा कर्मयोग देता है । कर्मयोगी लोक-संग्रह लोक-हित जन हित जादि बुद्धिसे कर्म करता है उस कर्मका फल जनताके किये सौंप देता है इससे भी न समझते हुए वह सर्व-तत्त्व जगत्मा की ही उपासना करता है । ऐसा करते करते उसको किसी न किसी सबगत जगत्मा का साक्षात्कार होता है । इस तरह कर्ममार्गी कर्म करत हुआ पहिले स्वार्थसे नंतर परार्थके किये फलदा परमार्थके किये कर्म करत हुआ चित्तकी स्थिर करता है और अन्तमें वैसाही कुवह्वल्य होता है ।

इस प्रकार सांख्य और योगका उत्पत्तज्ञान है इन मार्गोंमें सर्वसाधारण मनुष्यके किये योगमार्ग किंवा कर्मयोग-मार्ग सुस्पष्ट है । अतः यही सर्वसाधारण मनुष्योंके किये सदा भेषकर है ।

तृतीय अध्यायके सुभाषित

(१) निश्चययुक्त भाषण कर

ध्यामिभ्येणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।

तदेकं यच्च निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥१॥

सन्निवृत्त भाषणसे बुद्धिमें मोह उत्पन्न होता है । अतः निश्चय करके एक उपदेश करो कि जिससे मेरा कल्याण होगा ।

सन्निवृत्त भाषणसे मोह होता है निश्चित भाषणसे मोह दूर होकर कल्याण होता है । इसलिये निश्चित भाषण करना योग्य है ।

(२) कर्मत्यागसे सिद्धि नहीं

न च सन्यसनाच्च सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मका त्याग करनेसे कर्म छोड़ देनेसे सिद्धि नहीं मिलती । सिद्धि के लिये कर्मही आवश्यक है ।

(३) कर्म प्रकृतिधर्म है

न हि कश्चित्सङ्गमपि जातु पितर्यकमुक्कृत ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिर्जगुणै ॥२॥

किसी ने भी कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता । प्रकृतिके गुणसे सबके द्वारा कर्म कराये जाते हैं ।

प्रकृतिधर्मही कर्म करता है । कर्म-स्वाय करके कोई मनुष्य जीवित रह नहीं सकता ।

(४) श्रौंणी

कर्मवैश्याणि सपश्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियाधार्मिन्मूढात्मा मिथ्याचारः स उपपद्यते ॥५॥

जो इन्द्रियोंका सधम करता है पर मनसे विश्वको आतोंका चिन्ता करता है वह श्रौंणी है ।

ऐसा श्रौंणी करनेसे धर्मानुष्ठात विषययोग करना कल्याणकारी है । श्रौंणी करनेसे मयात्मक व्यवहारी होती है । परन्तु धर्मानुष्ठात योग स्वीकार करनेसे सबसका भी कल्याण होता है और श्रौंणी करनेसे होमेकाली व्यवहारी ही साधक बन जाता है ।

(५) अनासक्तियोग

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारमतेऽञ्जुन ।

कर्मवैश्याणि कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जो मनसे इन्द्रियोंका सधम करता है और इन्द्रियोंके कर्मयोग करता हुआ योगके विषयमें अनासक्त रहता है उस को योगी कहते हैं ।

इन्द्रियोंका सधम कर धर्मानुष्ठात करनेसे व्यवहार का योगके विषयमें आसक्ति छोड़ । इससे तुम्हारी उन्नति होगी ।

(६) यज्ञरहित कर्मसे धन

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबधनः ॥९॥

यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते हैं उनसे मनुष्यका बंधन नहीं होता । इससे बिना कर्म मनुष्यके लिये बंधनकारी होते हैं । इसलिये मनुष्य सब प्रकारके यज्ञरहित कर्म को देवदत्ता संग्रहितकर, दान के यज्ञरहित कर्म हैं । सर्वश्रीका सम्भार सबकी संवहना और इन्द्रियोंकी सहायता के यज्ञरहित कर्म सबकसे मुक्ति करनेवाले हैं ।

(७) पाप

मुमुक्षुर्न ते स्वप्न पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१॥

जो अपने लिये ही केवल पकते हैं वे पाप ही होते हैं । अर्थात् जो पाप—(एतत्की पूजा-संघटना-दान) में करते हुए स्वार्थसे अपने लिये ही योग मोगते हैं, वे पापी होते हैं ।

अधापुरिन्मिथ्यारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१॥

जो केवल अपने इन्द्रियोंके लिये ही आराम देता है वह पापी है उच्छा जीवित स्वार्थ है ।

केवल इन्द्रियोंको आराम देना अयोग्य है । सदा कल्याण करना ही मानवके लिये योग्य है ।

(८) अनासक्तिये भेष्टता

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१॥

योगेश्वर आसक्ति न रहते हुए जो कर्म करता है वह

भेदता प्राप्त करता है ।

भोगोंपर नास्तिक रहनेसे हीनता और भोगिक विषयमें बनासकि पारम्य करनेसे भेदता प्राप्त होती है ।

(९) लोकसमग्रहेके लिये कर्म

लोकसमग्रहेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

लोकसमग्र करनेके लिये तू सबसब कर्म कर ।

जनताकी सभी उन्नतिका कर्म लोकसमग्र है । सब कर्म ऐसेही करने चाहिये कि जनताकी सचटना हो और सब प्रकार की उन्नति भी प्राप्त होती जाय ।

(१०) भेद पुरुषका उत्तरदायित्व

पद्यदाधरति भेदस्तत्तदेवेतरो जन ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

भेद पुरुष जैसा व्यवहार करता है, वैसा अन्य लोक करते हैं । भेद जिसको प्रमाण मानता है वही प्रमाण अन्य लोक मान्य करते हैं ।

भेदोंपर यह उत्तरदायित्व है । इसलिये भेद पुरुषोंको जल्दभी कर्म सदा करना चाहिये । भेद पुरुष कर्म नहीं करे तो सब अन्य लोग जाकभी होंगे और सब राष्ट्र जनतामें गिर जायगा ।

(११) बुद्धिभेद न कर

न बुद्धिभेदं जनयेद्वानार्क कर्मसंगिनाम् ।

जोपयेत्सर्वकर्मणि विद्वान्युक्तं समाचरन् ॥ २२ ॥

भेद लोगोंको उक्ति नहीं है कि वे अपनी बुद्धिकी भेदभावे कारण कम बुद्धिवालोंके समर्थ सदैव उत्पन्न करें । वे सबके कर्मोंको समग्रदुर्बल बढ़ाने हुए, उनको ठीक मार्गसे चलाना रहें ।

कई बुद्धिवान् मनुष्य कम बुद्धिवालोंको दुष्ट दृष्टिसे देखते हैं । वह योग्य नहीं है । प्रत्येक मानव अपने अपने स्थानमें सुयोग्य ही है । उसकी प्रकृतिक अनुरूप कर्म उससे किया जाये । वही बुद्धिवालोंका कर्ष्य है ।

(१२) अहंकार न कर

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वज्ञाः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २३ ॥

शरीर प्रकृतिक गुणोंके अनुरूप ही कम मनुष्यमे होते हैं । इस कारण जो मूल है वही कहता है कि मैं हम कर्मका कर्ता हूँ ।

शरीरकी प्रकृतिके गुण सब राज ठम होते हैं और उन से सात्त्विक राज्य, तामस कर्म होते हैं । जिसकी जैसी प्रकृति है वैसे कम उससे कर्मे चाहिये । प्रकृतिकेही गुण कर्म करत हैं हममें कर्तृबला अहंकार कौन कैसा पारम्य कर सकता है ?

(१३) स्वधर्म कल्याणकारी है

धेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मं निधनं धेय परधर्मो भयावहः ॥ २४ ॥

सुखसे करने योग्य परधर्मसे कहसे निवृत्त होनेवाला स्वधर्म अधिक कल्याणकारी है । स्वधर्ममें कष्ट हुए तो भी वे निवृत्त हैं । परधर्म भयंकर है ।

सात्त्विक प्रकृतिस सात्त्विक कर्म होंगे वह राज्य कर्म करना चाहेंगा तो उसने वे डीक नहीं हंगि । इसी तरह राज्यसे तामस और तामसमे सात्त्विक विषयमें जानना योग्य है । जैसी जिसकी प्रकृति होगी उसका अनुरूप कर्म वह करे । दूसरेके लिये योग्य होनेवाले कर्म छिपने भी मुलदायी प्रतीत हुए तो भी वह वे न करे । क्योंकि दुरात्म मानवसे अपनी प्रकृतिसे अनुरूप कमही ठीक तरह होने ।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी

तृतीयाध्यायकी विषयसूची

कर्मयोग	पृष्ठ १७३	६ सहयोगी यज्ञ	१८१
१ अर्जुनकी शंका	१७३	सहज यज्ञ	
२ दो साधनमार्ग	१७४	अमृतमें यज्ञ	१८०
दो प्रवृत्तियाँ		धरीरमें यज्ञ	१८१
धारीमें ज्ञान और कर्म साधन	,	राष्ट्रमें यज्ञ	१८१
कर्मदेव और ज्ञानदेव	१७५	यज्ञ व करनेवालोंका पक्ष	१९
मनुष्योंके प्रवृत्तिमें		मैत्री अन्नद, वस्तु	१९१
कर्मसे दोषकी समाप्ति	१७६	जीवनयज्ञ	१९१
३ प्रकृतिधर्म	१७७	धर्ममें यज्ञ	१९१
कर्म अनिवार्य है		धर्मके तीन स्वरूप	१९१
परब्रह्म		यज्ञसे उन्नति	१९१
४ मिथ्याचारी	१७८	ज्ञानयज्ञ	१ ५
द्वारिमक योग	१७९	राज्ययज्ञ	"
धारीकी स्तुति		पुरुषयज्ञ	"
५ अनासक्तियोग	१८०	देवयज्ञ	"
कर्मबागड। आचरण	"	दानयज्ञ	१९०
निवृत्त कर्म करना		दानमें योग	"
वैदिक और व्यावहारिक कर्म	१८१	अज्ञसे धर्मोंकी उत्पत्ति	१९०
निरूपण कर्म		परमेश्वरसे अज्ञ	१९१
राज्य प्रमाण	"	यज्ञसे परमेश्वर	१
महान् कर्म	१८३	परमेश्वर	१ १
परिवर्तित यज्ञ कर्म	"	गुण दान	"
अज्ञान और अज्ञान	१८४	कर्मसे यज्ञ	"
द्वितीय अज्ञान		ज्ञानसे कर्म	"
इन्द्रियोक्त यज्ञ	१८५	अज्ञानसे ज्ञान	१ १
कर्मयोगी राजा	"	यज्ञमें परमेश्वर	"
कर्मयोग		दुर्मतेसे यज्ञ जाना	१ ५
		अज्ञानसे यज्ञ	१ ५

विषयदर्शनाका पक्ष	२५
७ अनासक्तिसे कर्म	२०६
अकथु और पुष्पावु	
मनुष्यकी कृतकृत्यता	२७
जन्माद्य आदि	२
जन्मरति अन्तर्मीह जन्माद्य	२०६
जन्ममिथुन स्वराट	२०६
निष्काम अकाम अन्तर्काम, आत्मकाम	२
जन्मरति जन्मवृत्ति जन्ममिथुनि	
८ जनकका उदाहरण	२११
कोकसमूह	२१२
९ लोकसंग्रह	२१२
मेढ्र कोनोंका उच्छरदायित्व	२१३
संकरसे प्राप्त	२१५
कर्म कोकनेसे प्राप्त	२१६
कोककल्याण	२१७
सकाम कर्म निष्काम कर्म	२१
कर्मसम्पाद्य परेच्छासे कर्म	
शुद्धिबोध और बुद्धिनिन्द	२१८
१० मूढ और तत्त्वज्ञानी	२१९
गुणोंसे कर्म	
अहंकारसे मूढ	२२
गुणकर्मविभाग	
प्रकृतिके गुणोंका मोह	२२१
अवधिकार भेदा	
११ ईश्वरार्पण कर्म	२२२
(१) अध्यात्मभेदा	२२
नाक और धीर	
अध्यात्मभेदा और विषयभेदा	
(२) ईश्वरार्पण कर्म	२२३
उच्चतिका मार्ग	
(३) विराटीः	२२४
(४) निर्ममः	२२५
(५) विगतज्वर	२२

अध्यात्म करनेवाक	२२६
सर्वज्ञानविमूढ	
कर्मसमूह	
१२ प्रकृति-स्वभाव	२२७
स्वभाव का कार्य	२२८
प्रकृति-स्वभावसे कर्म	२२९
हृदयी गिरबन्धता	२२
ईश्वरोंके समक्षेप	
स्वर्गकी श्रेष्ठता	२३
आविर्देविक इति	२३१
आत्मवैयर्थ्य इति	
आविर्मीलिक इति	
समतावाक्य	२
आत्मवैयर्थ्य पुनः	२३२
मनकी विषयता	
पापका वेरक कौन ?	२३३
१३ पापप्रवृत्तिका कारण	२३३
मनुष्यके का शत्रु	२३४
मनका धीर	२३५
परमेस्वरका पक्षिका काम	
गृहस्वीक्य परेत्यकर	
रजोगुणसे काम	
काम बन्धा पद	२३६
महा पापी	
कामाग्नि	
ज्ञानीका वैरी	२३
कामागी धीरकर	२३७
रामायणि	
१४ भेद शक्ति	२३८
जन्मकालस्य	२३९
अध्यात्मविचार	
कामका चरित्र	
संनम आर जन्मशासन	२४
कामका नावा	
इन्द्र आत्मा	

पुष्टि पर अष्टमा	२४१	आत्माक कुछ धर्म	२२
पुष्टि पर काम	२४२	सतीरधर्म	"
मदम् आत्मा और मध्यम पुण्य		हृद्भावीन विधि	"
मा ३ काम		मध्यम	२१
मा ३ आत्मा	२४३	अभिमत विधि	"
तृतीय अध्यायपर विचार	२४४	कर्मयोग	२२२
कर्मयोग	२४	अनात्मविषय	"
मनुष्योद हो मद्र	"	माकर्ममद्र	"
मागोकी धूम	२४५	मद्र	२२३
हाती मियाकारी		पुष्टिभेदकर्म	"
मद्रमावीकी मात्र		कर्मा	"
कर्मयोग अमममद्र	२४६	मात्रयोग—सांनयनमद्र	२२४
मागद्र विष कर्म	"	कर्मयोग—मात्रमद्र	"
अभिमत विधि			
मागद्र वराध और वरमात्र		तृतीय अध्यायके सुमापित	२४५
माकर्ममद्र और वरमात्र	२४७	(१) निम्नमद्रमात्र मागद्र कर	२२५
वर्गमद्र		(२) कर्मयोगसे विधि मद्रो	"
हंकारमद्र कर्म		(३) कर्म मद्रविषमद्र ।	"
मद्रविषमद्र	२४८	(४) वीवी	"
पुष्टि काम		(५) अनात्मविषय	"
तृतीय अध्यायका सार	२४९	(६) मद्रादिन कर्ममद्र वीषम	"
मात्रयोग और कर्मयोग		(७) वर	"
मागद्र काम		(८) अनात्मविषय मद्रमात्र	"
कर्मयोगकी व्याख्या		(९) वीवीमद्रमद्र विषे कर्म	२२६
मध्यममद्र कद्रमद्र		(१०) मद्र पुष्टिका वरमात्रादि	"
मागद्र विषमद्र मद्रमात्र	२५०	(११) पुष्टिभेद मद्र कर	"
		(१२) मद्रकार मद्र कर	"
		(१३) मद्रमद्र मद्रमात्रादी द्वे	"

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ज्ञान-कर्म सन्यास-योग

(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽमरीच ॥ १ ॥

एवं परंपरामाप्तमिदं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परतप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगं प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद्गुह्यमम् ॥ ३ ॥

भावार्थ— श्रीभगवान् उवाच— कई अव्यय योगी विवस्वते प्रोक्तवान् । विवस्वान् मनवे प्राह । मनुः इक्ष्वाकवे जगदीश ॥ १ ॥ हे परतप । एवं परंपरामाप्तं इमं (योग) राजर्षयः विदुः । सः योगो इह महता कलमे नष्टः ॥ २ ॥ सः एव अयं पुरातनः योगः मया अद्य ते प्रोक्तः । (त्वं) मे भक्तः सखा च अस्मि इति हि पृथक् उक्तं रहस्यम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले— मैंने यह अविनाशो योग विवस्वान्से कहा था विवस्वान्ने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥ हे भेष्ट तप करने वाले अर्जुन । इस प्रकार परंपरासे प्राप्त इस पागल राजर्षियोंने ज्ञानां या परन्तु यह योग इस पृथ्वीपर बहुत समयसे लुप्तप्राय हो गया ॥ २ ॥ यही यह पुरातन योग मैंने आज तुझे कहा क्योंकि तू मेरा भक्त और मित्र मित्र है तथा यह योग भी उच्चतम रहस्य है ॥ ३ ॥

भावार्थ— ज्ञानयोग और कर्मयोग कथं को ज्ञान इससे पूर्व कहा था वह कभी नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है । वह सदा होनेसे अविनाशी और निष्काश्यायित है । मगनायसे वह विवस्वान्को उससे मनुको और उससे भी ज्ञान इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ था । इन राजर्षियोंकी परंपरासे यह ज्ञान पृथ्वीपर बहुत समय तक रहा था परन्तु बहुत समयके पश्चात् योग इस जगत्से लुप्त गये । अब यही सदातन ज्ञान आज तुझे अविनाशी दिया है । वह कोई नवी मनवजन्म प्राप्त नहीं है । तू भगवत्पूजक और ईश्वरका सखा भक्त है । अतः यह उक्त रहस्यका ज्ञान तुझे आज दिया है । इससे तू करने मर्मे स्थिर रह इसका अनुसरण कर और लक्ष्म्य हो ॥ १-३ ॥

(१-३) पूर्व अध्यायमें कथित ज्ञानयोग कर्मयोग किंवा कर्मसंन्यासयोगके विषयमें अधिक स्पष्टीकरण इस चतुर्थ अध्यायमें है । इन को कि विषयमें मर्मे कई साकार उपलब्धि होती हैं, उनका विशेष स्पष्टीकरण प्राप्त इस चतुर्थ अध्यायमें देख सकते हैं । इसीकिने इस अध्यायका नाम ज्ञान कर्म-संन्यास-योग रखा गया है ।

सार्वभौमिक तत्त्वज्ञान

यही पहिली संका है कि जो कुछ भगवान् श्रीकृष्णकीने अर्जुनसे कहा वह देखकर अर्जुनको मुझमें प्रवृत्त करनेके किये कहा । अतः इसकी विशेष प्रमाण भगवान् अवगत है । किसी व किसी पुस्तिके पुरस्ते मित्रक रूप औरकी मुद्रक किये प्रवृत्त करना था । यह कार्य श्रीकृष्ण भगवान्ने किया ।

अतः वह कथन सार्वभौमिक और सार्वभौमिक महत्त्वका नहीं हो सकता क्योंकि इसमें सामाजिक महत्त्वकारी उपदेश है हृदयिके हम हमको समान नहीं मानें ? पुरातन सनातन सार्वभौमिक और सार्वभौमिक कर्मसंन्यासकी हम मानेंगे । सामाजिक तत्त्व तो वैयक्तिक होनेसे सत्य के सदा माननीय नहीं हो सकता ।

कह कोइ इस प्रकारकी कार्य करने हैं । अतः इन संकाओंको दूर करनेके किय और इस ज्ञानकी सार्वभौमिकता और सार्वभौमिकताकी विद्यता करनेके किये स्वयं भगवान् कहत हैं कि— यह योग मैंनेही प्राचीन समयमें विवस्वान्से कहा था, इसीको विवस्वान्ने मनुसे कहा और उसने कभीको इक्ष्वाकुसे कहा था । हम चाहते यह कर्मयोग

का ज्ञान केवल राजाओंमें परंपरासे बहुत समयतक आगत रहा था। अर्थात् विस्वाम्भु मनु इत्यादि राजाओंका अपना राज्य प्राप्त करने ही के लिये वे राजाओंके अनुसरण करते रहे और इनके लिये वे राजाओंके अनुसरण करते रहे। यह धर्मयोग राजाओंके लिये बना उपयोगी है। अतः राजाओंका धर्मयोग प्रसिद्ध किया है इस कारण उसको भी परीक्षा प्राप्त करना उचित है।

ज्ञानका श्रेणी

अथवि इत्यादि राजाओंका इस धर्मयोगका आचरण करने रहे और राजा-महाराजा अथवा और राजपुत्रोंकी पार्श्वस्थिति यह परंपराका विषय था अथवा अनुष्ठानमात्रकी प्रवृत्तिमें बांधीसी विधिबद्धता रहती है इस कारण सत्य सत्त्वगुण धर्मविषय भी, आचरण आत्मका न हूँ तो अनुष्ठान ही जाने ही। इस शिष्टिक अनुसार यह ज्ञान भी इस धर्म-वर्गके बहुत कल्पसे उत्पन्न हुआ। " इस ज्ञानके कुछ हीमें ही अतः इस धर्मपुत्रसं निष्ठा होनेकी चेष्टा करने का भार उसका दीक्षा प्राप्त करनेके लिये इत्यादि उद्देश्य विरल सुखका अत्यंत आवश्यक हुआ। अर्थात् यह उद्देश्य जो कि श्रीकृष्ण महात्मन अर्जुनसे कहा वह कोष्ट गया उपदेश नहीं है। वह अविद्याकी समाप्ति ज्ञान है, इत्यादी नहीं अनुष्ठान यह बड़ी रहस्यकी भी बात है। अतः श्रीकृष्ण महात्मन परम मित्र और बड़ा भक्त था इस कारण महात्मन द्वारा वह बोधोत्पन्न उत्तम विद्याका गया। वहीं तो वेनी रहस्यकी बात कोन किसको बताता है ?

इस प्रकार बड़ा बताया गया कि वह ज्ञान कोही ज्ञान-वस्तु उपदेश नहीं है। जो विद्यार्थीसर्वत्र सत्त्वगुण, सत्य ज्ञान विद्यमान अनुष्ठान इत्यादि राजाओंकी प्राचीन कल्पसे दिया गया था और जिन ज्ञानसे वे राजाओंके अनुष्ठान हूँ वे वहीं सत्त्वगुण ज्ञान इस समय अर्जुनके द्वारा सत्य समाचार दिया गया है। अर्थात् वह सत्त्वगुण सत्य ज्ञान है। जो उचित आदर्शन उपदेशको वह मानना और आचरणमें आना चाहिये।

प्राचीन इतिहासकी साक्षी

विषय मनु इत्यादि राजा ज्ञान अर्जुनसे कई समाचार पूर्व प्राप्त करने हुए थे। वे पूर्वसंज्ञा के अनुसार राजा थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा कार्य-विधि और

आचार के अनुष्ठान थे। श्रीकृष्ण स्वयं अनुष्ठानमें प्रवृत्ति महापुरुष थे। अर्जुन भी अनुष्ठानका विद्यार्थी और था। अनुष्ठानमें भी कई और बड़े धर्मपर और विद्यार्थी हूँ वे तथापि उस समय भी पूर्वसंज्ञाके राजाओंके द्वारा अनुष्ठानस्थितिसे कई गुना अधिक माना जाता था इसमें शिष्ट नहीं है। पुरुष माना हरिश्चन्द्र विशेष समाचार मामाग, अर्चनीय सिद्धिद्विप एवं इत्यादि राम तक जाति पूर्वसंज्ञा राजाओंके नाम महाभारतमें बारबार आते हैं और आचार राजा करते इत्यादि उक्त महाभारतमें बारबार हुआ है। पूर्वसंज्ञा राजाओंके भारतवर्षमें और भारतवर्षके उत्तरे देशोंमें भी अपना नाम फैलाना था। श्रीरामचन्द्रजीके उक्त होनेके विवेकी रामचन्द्र राजा का करने भारतवर्षीय ज्ञान को और विविधरणे हूँ कोहि देशवर्षोंको राजाके विविधरणे हुए किया था। इससे विविध भारतवर्ष और पाण्डवतक धूमतत्पर पूर्वसंज्ञा राजाओंका प्रत्यक्ष लक्ष्य लिये आदर्शीय हुआ था इस कारण इस समयतक भी रामायण की प्रसिद्धि है।

राजा भीतरपके मन्त्रालयसे गंगा बंदीका भारतवर्षमें आता और उच्च भारतवर्षको उक्तसे पूरा और उपजाऊ बनानेका कार्य सुचसिद्ध है। हरिश्चन्द्रकी सत्यविद्या को प्रसिद्ध है। मनुसे सबसे प्रथम अनुष्ठान धर्मसंज्ञा दिया था। इसलिये धर्मसंज्ञाके इतिहासमें पहिला धर्मसंज्ञा होनेका सम्मान इसको प्राप्त हुआ है। इत्यादि मन्त्रालय कारण उक्त नामसे ही एक राजवंश प्रसिद्ध हुआ है। पूर्वसंज्ञाके कई राजाओंकी इतिहास इत्यादि भी महाका हूँ है और इत्यादि विषयमें स्पर्धा भी हुई है। इत्यादि कारणसे पूर्वसंज्ञा राजाओंका प्रभाव सर्वत्रापी आता जाया था।

इसलिये अर्जुनका समझानेके समय श्रीकृष्णमहात्मन बड़ा पूर्वसंज्ञाके तीनों नाम किये हैं और पूर्व ज्ञान (१११) में ज्ञान नाम पूर्वसंज्ञा राजाका नाम भी अर्जुन को आचार बनानेके लिये दीप्तानेका नाम दिया है। सोमवती से वीर आचारमें प्राचीन करने समय अपना एक इत्येको उपजाऊ समझानेके समय महाभारतमें नाम न लेते हुए पूर्वसंज्ञाके नाम लेते हैं इससे बगरी पूर्वसंज्ञा वीरों की प्राचीनता और विशेष वीरवत्ता एवं शिष्टिक प्रसिद्ध होती है। निम्नलिखित (अ १) में भी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रसिद्ध

बहेक करके उस जातिके मुख्य मुख्य विद्युतिका नाम किया है वही हृषिकेशि बसुदेव पाण्डवोंमें धर्मव्यवस्था के नाम बन्धनियोंके केहे हैं। हृषिकेशिमें बासुदेव और पाण्डव पाण्डवोंमें धर्मव्यवस्था में हैं ऐसा कहकर सूर्यवंशी और रामचन्द्रक जिस समय बहेक किया है, वही-

रामा शास्त्रमुत्तमम् । (म श्री १ १३१)

सूर्य सखारी बीरोंमें श्रीरामचन्द्र केहे केहे हैं, ऐसा मैं हूँ ऐसा कहा है। सूर्यवंशियोंमें राम मैं हूँ ऐसा नहीं कहा, परन्तु आपमें जिसने भी सख जाण करकेबहेक और है, उन सबमें दास्यारी राम सख केहे है, वह मैं हूँ ऐसा कहा। जर्पाव इससे सूर्यवंशी बीरोंकी सार्वभौमिक भेष्या सिद्ध होती है। श्रीरामचन्द्र तो सूर्यवंशी राजाओंमें केहे हैं ही परन्तु साथ साथ इस भूतककके सूर्य सखारी बीरोंमें भी वे केहे हैं, क्योंकि श्रीपाण्डवीय प्रवक्तु नाम परामर्श करनेमें किया और देवराज और मालवराजको पुनः पूर्व स्वातंत्र्य प्रदाय किया।

यही और एक पक्षमें भी सूर्यवंशी और सोमवंशियोंकी एकता हो सकती है। सोमवंशी और बन्धन्यव माई माई होते हुए भी आपसमें कहकर अपने हेतुकेही १८ लक्षोंकी बीर ऐतिहासिक बात करनेके लिये करके हुए। बापु तो आपसमें कहकरकर नही हुए !! जर्पाव इसकी आपसकी दुरावस्था पहातक पक्ष चुकी थी कि इनमें सुद्धि और बीरता रहते हुए भी वे आपसकी संबन्धना करके अगच्छता न बन सके। यदि बुद्धिद्विकर्षा धर्मव्यवस्था भीम दुर्बोधनका एक मीमांसाका बुद्ध-औसक अर्द्धन-कर्मका अस्तित्व और औपच्यवीकी पुष्टि इसकी आपसमें संबन्धना हो जाती तो वे और पाण्डव और पाण्डव मिलकर मि-केहेह साथ भूतककपर विभिन्न कर केत। भगवान् श्रीकृष्णकी बीर-वृत्तियोंमें आकर आपसमें समझीय करनेका पक्ष इसी लिये था परन्तु औरोंकी मग स्थिति बहालक गिर चुकी थी कि वह संबन्धना बन नहीं सकी। जब श्रीरामचन्द्रकी भवभूमि स्थिति देखिये। श्रीरामचन्द्र और कर्ममग नगरों बाहर लिये गये थे। वे शक्ति रहनेपर भी अपने माहुरोंके म केने न रितासे सगये। केहेन साधितसे वनमें गये और वहाँ बाहर जातिकी संबन्धना करके बापोंके संबन्धनाक भी अपने लक्ष्यक एक करके आरतर्ष और निविष्टको

सखाम्बियोंके पारलम्भमें रखनेबहे विवेची संकाहीपक्ष स्वाधी और योगी राजस-सकाह इसमुख रावभक्त पूर्ण परामर्श करके जाँचका स्वराज्य पुनः स्थापित कर सक और ऐवजातिकी भी रावभक्तोंकेविवाहसे मुक्त कर सक !!! यही एकता यह करनी है कि सोमवंशी लोग आपसमें कह कर नह होते हैं और सूर्यवंशी आपसमें कहनेका अवसर आपेपर भी न कहते हुए विभिन्न जातियोंका मेक करके अपने संबन्धित व्यक्तियों अपने देवका और लोगोंक पास बहाते हैं और अपना पूर्व स्वतंत्र स्वराज्यशासन अपनी माहुरोंमें स्थापित करते हैं। इस कारण श्रीरामचन्द्रकी-को आर्ष विमृष्टि मायना सर्वथा बोझही है। प्रायः सभी सूर्यवंशी राजाओंका येमाही प्रचार है। इसलिये भगवद्गीता में इनकोही बाध करके अर्द्धक समझे रखा है।

अस्तु। प्राचीन इतिहास कहते हुए जो सूर्यवंशियोंका बहेक भगवद्गीतामें आया है उनमें यह अनुमान उस समयके इतिहासके विषयमें होना समझ है। पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें।

पूर्वजोंका अनुभव

वहाँ कई कई कि पूर्वजोंके नाम केनेसे क्या होता है ? क्या कभी यह माना जा सकता है कि पक्षानी बल पूर्वजोंमें मानी थी जयका की थी इसी कारण वह अच्छी और निर्दोष है ? वह संका स्वात्मिक है और यह कोई कि संदिग्ध विषय नहीं है कि प्राचीन कालके मानी गई बातें सबकी सब अच्छीही होती हैं। उपाधि को विचार या ज्ञान बहुत समयसे प्रचलित रहते हैं और जो आचार धर्म कालक वही पुनरेति आचारमें रहता है वह अनुभव रहनेके कारण सहजहीमें स्तिरस्मयीय नहीं हो सकता। हमारी नहीं प्रचुर वह बहुत आगे जन्माक लिये उप योगी कामदायक और सुखकारक होनेमें भी कोई संका नहीं हो सकती। इसी पक्षमें पूर्वजोंके अरधनका मध्यम है। विषयान्, मनु इत्यादि जो जयक इनका नाम निर्दिष्ट करके अनुभवके अन्तर यह विचार स्तिर करनेका वही बल किया गया है कि वे प्रचारी और भी इसी कमयोगस केह पक्षोंको आपस हुए थे। और इसी कारण यदि अनुभव यह मान प्राप्त करके उसके अनुसार चला तो वह भी उनके समान संमाननीय होगा। सोमवंशीय बीरोंके

नाम यही न केवल करण वह भी एक हो सकता है कि वह करनेही हैं । अपने वैचारिक उद्धारणोंकी जगह इस तत्त्वज्ञानको माननेवाले परि दूसरे वैचारिकियोंमें दूसरे बातोंमें जबका दूसरी जातिपोंमें मिले तो इस तत्त्वज्ञानका महत्व सार्वभौमिक रीतिसे स्वरूप सिद्ध हो सकता है । इस दृष्टिसे भी सार्वभौमिक उद्धारणका महत्व अधिक है । यदि वह तत्त्वज्ञान विशेष उपयोगी न होता तो विवस्वाम्, मनु इत्यादि जबक जैसे प्रतापी और यक्षराजी राजा लोग इसका स्वीकार क्यों करते ? जिस कारण इन्होंने इस बात को माना इसके अनुसार वे चले और कुतर्क करने, इसीसे इस ज्ञानकी केहटा सिद्ध होती है और इसी कारण जाके के लोगोंको भी इसका स्वीकार करना योग्य है ।

विवस्वाम् मनु इत्यादि, जबक जाति राजाओंकी परंपरा से वह ज्ञान चला आया है । स्वयं भगवान्ने विवस्वात्से और उसने अन्य राजाओंको कहा । इस कथनसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिये कि वह कर्मयोगके जाकधी परंपरा इतनीही है । महाभारतमें इस परंपराके विशेष वर्णन है वह वही देखिये—

यदासौमन्मत्सं जन्म नारायणमुज्जोत्तमम् ।
 ब्रह्मणः प्राचिषीपाक तदा नारायणः स्वयम् ॥
 केनपा नृपपद्मं त धर्मं प्रतिपेद्वरे
 वैजानताः केनपेभ्यो धर्मं त प्रतिपद्वरे ॥
 वैजानसेभ्यः सोमस्तु तत सोऽन्तर्यामि पुन ॥
 यदासीच्छात्रं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणा नृप ।
 तदा पितामहेनैव सोमाश्रमं परिभ्रम ॥
 मागपयामासो राजन् ब्रह्मणः प्रवृत्तिं च तम् ॥
 ततो योगस्थितो नमः पुरा कृतयुगे नृप ।
 बाकश्चिन्मातृगीग्सर्वाभ्यमितद्व्यातपत् ॥

(म भा भा १४.१.१८)

यदि सप्तम जन्म पद्म ब्रह्मणा नृप ।
 तत्रैव धर्म कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥
 पितामहस्य द्वापय धर्मसत् पुरा ब्रह्मा ।
 ततो ग्रेष्ठाय शिद्वि मादादसौ भूषोऽश्रम ॥
 आरित्ये सविनुवर्षे विवस्वाम् अनुते ततः ।
 तत्रापुरातरी च ततो विवस्वाम्ममनः ब्रह्मा ॥
 मनुष्यं लोकभूयस्य सुतायेह्यकमे ब्रह्मा ॥

नारदेन सुसंश्रुतः सरस्वत्याः सप्तमः ॥

एव धर्मो जगन्नाथास्साक्षात्प्राप्तवानृप ॥

(म भा भा १४.१.१९)

इस स्थानपर कहा है कि ब्रह्मदेवके सात जन्म हुए और उनमेंसे प्रत्येक जन्ममें नारायणसे वह धर्म ब्रह्मदेवके प्राप्त हुआ । पहिली बार नारायणसे ब्रह्मदेवके ब्रह्मदेव केन पद्म पौत्र उनसे ब्रह्मदेव केन पद्म पौत्र और उनसे राजा सोमके प्राप्त हुआ । इससे पता चलिये कि तत्त्व होकर इस धर्म का बोध हुआ ।

जब ब्रह्मदेवस्य द्वितीय जन्म प्राप्त हुआ, तब ब्रह्मदेवसे सोमसे इस धर्मको प्राप्त किया उसने स्वयं और पद्मके बाकश्चिन्मत्स्य जातिपोंको पढ़ाया । तत्त्वज्ञान कथनसे पुनः इसका बोध हुआ । इस प्रकार वही, (म भा भा १४.१.१९) ब्रह्मदेवके तः कर्मोंका ब्रह्मदेव विधा है । पद्मदेव बाकश्चिन्मत्स्य जाका साक्षात् जन्म हुआ और नारायणसे वह धर्म उसको पढ़ाया । ब्रह्मदेव स्वयं और पद्मके अपने स्वयं द्वितीय पुत्रको सिखाया । उससे वह विवस्वाम् को उससे मनुको और उससे इत्यादि को प्राप्त हुआ ।

नारद भगवन्ने भी वही धर्म रहस्य और छेपके रूप स्वयं नारायणसे प्राप्त किया था । इस तरह देखनेसे पता चलता है कि वह परंपरा वैजानता और बाकश्चिन्मत्स्य जातिपोंको प्राप्त पर्वतही है । वही भगवान्नेमानमें हो तीव्र श्रम केन संक्षिप्त कहा है परन्तु इस धर्मकी परंपरा इस प्रकार कति प्राचीन है । इस परंपराकी कल्पमर्चाया मिश्रित करना इस समय कति कठिन कार्य है ।

“ इस तरह वह बोध इस प्राचीन परंपरासे प्राप्त है । ऐसा जो वही कहा है वह इतनी प्राचीन परंपरा लगनेके उद्देश्यसे ही है । तथा (हमें राजपरोषिपु) वह बोध राजपरोषिपु जाना था । इससे कई लोग वह अनुमान निकालते हैं कि इस बातका पता ब्रह्मदेवोंको न था । वह विधा केवल आर्यवर्षोंके पासही थी । परन्तु महाभारतार्थविद्वत् पण्डितोंकाकथनसे बहुत किने उपरि लिखित श्लोकोंके लक्ष्यसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह विधा तैत्तिरीय मनु इत्यादि जातिपोंको प्राप्त थी उसी प्रकार उनसे पूर्व वह विधा नारद बाकश्चिन्मत्स्य वैजानता जातिपोंको भी प्राप्त थी । किना वह विधा प्रारंभमें ब्रह्म

मर्तुन उवाच—

अपर मवतो जन्म पर जन्म विवस्वत* । कथमेतद्विजानीयां स्थमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

(२) पुनर्जन्म

भीमगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेदु सर्वाणि न त्वं वेत्स्य परतप ॥ ५ ॥

अत्रोऽपि सन्नख्ययारमा मृतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय समवाभ्यात्ममायया ३

अन्वयाः—मर्तुन उवाच—भवतः जन्म अपरं विवस्वत जन्म परं (अतः) त्वं आदौ जन्म प्रोक्तवान् इति (अहं) कथं विजानीयात् ॥ ४ ॥

भीमगवान् उवाच—हे परतप मर्तुन ! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि, तानि सर्वाणि अहं वेदु त्वं न वेत्स्य ॥ ५ ॥ (अहं) अत्राः अन्वयारमा अति सन् मृतानां ईश्वरः अति सत् त्वां प्रकृतिं अधिष्ठाय अन्ममायया समवाभि ॥ ६ ॥

मर्तुनने पूछा—हे भगवान् ! आपका जन्म तो भब हुआ है और विवस्वान्का पुराने समयमें हुआ था इसलिये यदि कालमें यह ज्ञान उससे कहा था यह मैं कैसे मानूँ ? ॥ ४ ॥

भीमगवान् बोले हे श्रेष्ठ तप करनेवाले मर्तुन ! मेरे पीर तेरे बहुतहो जन्म हो चुके हैं इन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु तू नहीं जानता ॥ ५ ॥ मैं अजन्मा अधिवाशी आत्मा तथा सब मृतमात्रका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको स्वाधीन रखकर, अपनी शक्तिसेही जन्म करता हूँ ॥ ६ ॥

माचार्य—गुरु और शिष्यका समय एकही होगा चाहिये । गुरु इस समयमें है और उसका शिष्य प्राचीन समयमें हो चुका हो, वह कैसे माना जा सकता है ? ॥ ४ ॥

अन्मा अजन्मा और अन्वय है तथापि उसको कभीक जन्म प्राप्त होते हैं । जो शरीरहित होते हैं, वे इस पुनर्जन्मके विषयको नहीं ज्ञान सकते । परन्तु जो लक्ष्मणजी हैं वे अजन्मात्परक विषय प्राप्तकर ज्ञानते हैं । जो जीव वह हैं वे जो स्वर्गमन्त्र होते हुए जन्म लेकर सुखानुभव विोग योगते हैं परन्तु जो अपने ईश्वर—भावका अनुभव करनेवाले और छन्द-बुद्ध सुख स्वभाववाले हैं वे भी विशेष बर्मबर्ध करनेके उद्देशसे दिव्य जन्म लेतेही हैं ॥ ५ ६ ॥

जो प्रसन्न होनेके कारण ब्रह्मजालिके पास भी और उससे छत्र करिने प्रसन्न भी । भीमजयपरीला और मारायणीय तथा स्वामका बड़ा बलिह संर्षक है और सिद्धान्तिके विषयमें भी दोनोंकी तुलनासे अन्म बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस प्रकार वह बर्म प्राचीन पापरासे बन्ना गया है यह बात वीर अर्जुनने ज्ञान की और जब उसने यह सुना कि इस बर्मका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णजीही विवस्वान्को कहा था तब उसने मनमें एक संका उठी कि भगवान् श्रीकृष्णजी तो मेरे सम्मुख हैं । वैही हुआतो क्योंकि पूर्व विवस्वान्को यमोद्देश कैसे कर सकते हैं ? इसको जन्म कारण करके कुल भी बर्म भी नहीं हुए । अतः वे विवस्वान्को उपदेश कैसे दे सकते हैं ? वह अर्जुनकी संका इसीके कारणोंमें प्रवण करिने

(५) अधिष्ठाय आत्मात् अर्जुनके सम्मुख उपरिक्त थे ।

उनकी श्रावु भी अर्जुनके समानही थी । अर्थात् कृष्ण और अर्जुन समानबचक थे । विवस्वान् तो इस कथनके प्रामाण्यें हुए थे । अब इस कथनके श्रीकृष्णके द्वारा कथनके आदिमें जन्मे हुए विवस्वान्को बर्मज्ञानका बोध हुआ होगा यह बात जिस प्रकार संभववीध हो सकती है ? अर्जुनकी संका स्पष्ट धारीकी दृष्टिसे मिताप सत्य है परन्तु भगवान् श्रीकृष्णजीका कथन कारण धारीकी दृष्टिसे था । वह बात अर्जुनके ध्यानामें नहीं आती अतः उसने धार्य की है । स्पष्ट दृष्टान्तके अर्जुनको अब भगवान् श्रीकृष्ण उतर देते हैं । वह पुनर्जन्मका महारण्य विषय अब देखिये—

पुन जन्मका स्मरण

(५-६) श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको कहते हैं कि “ हे अर्जुन ! इस समयतक मेरे और तेरे अनन्त जन्म हो चुके

है, परंतु वेरी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण है इसलिये तुमने उन जन्मोंका स्मरण नहीं है और मेरे पास अज्ञान न होनेसे मैं अब सब जन्मोंको बयां कर दिया प्रसन्नकर दाना हूँ । अतः मुझे स्मरण है कि मैंने यह योग-विद्याका ज्ञान कल्पके प्रारंभमें विवस्वान्तको दिया था । उस समय विवस्वान्तने क्या किया और मैंने भी क्या किया यह सब मैं इस समय प्रत्यक्षकर दाना हूँ । परन्तु हे अर्जुन ! तुमने सो इस देरके द्वारा किये हुए सब जन्मोंका भी स्मरण नहीं है, फिर पूछ जन्मोंका स्मरण कहाँसे हो सकता है ? ”

अर्जुन काई सामान्य मनुष्य नहीं था, वह (पर-उपः) वैदिक उप करनेवाला (शुद्धाकेष्ट) विशाल स्वामी और परम धन था, क्योंकि वह असाधारण योग्यताका मनुष्य था । तबहि पूर्वजन्मोंका ज्ञान होनेबोध्य विरक्त भुक्ति उसको प्राप्त नहीं हुई थी । बुद्धिमें मग्न रहनेके कारण उसकी बुद्धि स्पृष्ट थी और स्पृष्टताके समयही वह स्पृष्ट करीर से परे देखनेमें असमर्थ था ।

मनुष्यके तीन शरीर

मनुष्यके स्पृष्ट सूक्ष्म और कारण देसे तीन शरीर ले मुख्य हैं । स्पृष्ट शरीर जन्मसे अस्तित्व रहता है । सूक्ष्म शरीर नाममा-अव होकर बीच निहित होवेतक रहता है और कारण-शरीर कल्पपर्यंत रहता है । अतः जो लोग स्पृष्ट शरीरके ऊपर अपना अधिष्ठान रखकर कार्य कर सकते हैं वे तो केवल स्पृष्ट शरीरको ही जानते हैं । अतः इनको स्पृष्ट शरीरको केवल कष्टा दान्य है । सामान्यतः सब लोग देसही बुझा करते हैं । इसके ऊपरके श्रेष्ठों को ज्ञेय होत है वे केवल स्पृष्ट शरीरपर देसही सूक्ष्म शरीरपर अपना अधि-ष्ठान रखते हैं और दोनों शरीरोंपर आपुत्तव्य कार्य करते हैं । इसके भी ऊंचे दर्जेपर आकर कार्य करनेवाले शिरका लोग देसे होते हैं कि जो कारण-शरीरके अधिष्ठानपर आपुत्तव्य कार्य करते हैं । उनको पूर और उत्तर कष्टका ज्ञान बयांकर रहता है । और वे लोग कल्पके प्रारंभकी भी बात जान प्रत्यक्षकर देखते हैं और कल्पके अन्त-समयकी भी बात उनकी वैसीही वाचस्पती हो जाती है । धूर तथा मलिन्य उनके निधे वर्तमान जैसे होत हैं । वे सदा अज्ञान कष्ट आगत रहते हैं । उनके स्पृष्ट शरीर आग है और अग्नि है तबहि अज्ञानमें मग्न जाने और आगेवरनी केला जाकत

एकता निर्रक्त रहता है वैसेही वे एकस्य और भिन्न रहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण इस उक्त श्रेणीके वर्णन करने-तम ने बातः उनको विवस्वान्तके समय क्या हुआ था, इसका पथावर ज्ञान था और उनको अपने अनेक जन्म होनेका भी अज्ञान स्मरण था ।

अर्जुनकी यह स्पृष्ट थी अतः वह स्पृष्ट शरीरके से देखनेमें असमर्थ था । अतः उसको शंका हुई कि मेरे अस्तित्व उपस्थित हुए श्रीकृष्ण कल्पके आदिमें विवस्वान्तके कैसे उपदेश करते रहे ? वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान अज्ञाना अविवाही अज्ञान और अज्ञान होनेके कारण जन्म-बन्ध श्रीकृष्णकीका जन्म। केला अर्जुनके समय था, वैसेही विवस्वान्तके समयमें भी था न उस जन्ममें कुछ करने बर्क हुआ और न बर्कब हुआ । इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् को उपदेशका कार्य इस समय कर रहे हैं, वही कार्य विवस्वान्तके समय कर रहे होंगे; कमसे कम भगवान् की दृष्टि साधनेपर वह कार्य इस समय उनही होना स्वाभाविक है । परन्तु स्पृष्ट-रहि अर्जुनको वह ज्ञान कैसे हो सकता था ! वह ज्ञान जो ज्ञान प्राप्तमें सदा आगत रहनेवाले श्रीकृष्णको ही हो सकता है । ज्ञातव्य अज्ञान और अविवाही अज्ञानको अपना अस्तित्व प्राप्त करनेसे उसकी धूर्त-अधिष्ठान कर वर्तमान केला हो सकता है क्योंकि अविवाही अज्ञान आत्माके लिये सदा वर्तमान काक किंवा काक रहित अज्ञान ही रहती है । परन्तु जो विवाही शरीरको ही देखते रहते हैं, उनको उत्पत्ति स्थिति और विनाशका अनुभव होता है । अतः वे उत्पत्ति और विनाशके मोहित होते हैं और अज्ञान तत्त्वको देख नहीं सकते । श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुनकी दृष्टिमें यह भेद था इसलिये दोनोंके अनुभव निश्चि है ।

यही सुबोधताके लिये एक उदाहरण देते हैं । एक मनुष्य है उसकी मातुके प्रारंभके ८ वर्ष बाल्यमें जागे १४ वर्ष पुत्रपुत्रके विवाहप्रसंगमें इसके पञ्चाङ्गके ३ वर्ष पुरस्का-अगमें आर सोच आयु संन्यासप्रसंगमें अर्थात् ३३ वर्ष आयु ३६ वर्ष अष्टावर्षी रहता हुआ वह मनुष्य बाल्यके लिये वर्मको भी यह मैंने किया देखा कहता है और पुरस्का अगमें या संन्यासप्रसंगमें लिये वर्मको भी यह मैंने किया देखा कहता है । इन कारणों अज्ञानतामें केला वह दृष्टी नावसे रहता है उसी प्रकार शरीरान्तरकी अवस्था भी

हमें संमिश्रित की जाने दो दूसरे शरीरक द्वारा किंचि कर्म भी " मैंने ही किंचि ऐसा वह कह सकता है । परन्तु उसको वह एक प्राप्य होगा कि अब वह अपने जन्मको शरीरसे मित्र अनुभव करने लगेगा । अर्थात् जो इस प्रकार अपने जन्मको शरीरसे मित्र अनुभव करता हो वही पुनर्जन्मका स्वभाव एक सकता है ।

पुनर्जन्मके प्रकार

पुनर्जन्मक कई प्रकार हैं । पहिले जाय्सा प्राणके साथ मिश्रकर मेघ संकलनका आश्रय करना है और बुद्धिके साथ वृक्ष-वनस्पतिवर्गपर लिखित होता है । इस समय यह ' जलारामा ' कहा जाता है । इसका यह पहिला जन्म है ।

वह जब वृक्ष वनस्पतिवा पीपी है जिससे वह वृक्ष-वनस्पतिवर्गमें रहने लगता है । यह इसका दूसरा जन्म है । इस समय यह ' मत्तारामा ' कहा जाता है ।

वृक्ष-वनस्पतिवर्गका जब भी-पुन्य करते हैं, उससे उनके शरीरमें एक और बीज बनता है । वह उसका तीसरा जन्म है । इस समय इसको ' बीजारामा ' कहते हैं ।

इस बीजसे बीजके शरीरमें गर्भाशय किया जाता है । यहाँ गर्भाशयमें वह रहता है । वह इसका ' बीजा ' जन्म है । इस समय इसको ' गर्भारामा ' किया जाता है- ' ग्वा ' (मन्त्रके उद्गारमें रहनेवाला) कहा जाता है ।

यह स्थितिके नेत्र दृक्म मासमें मायके उद्गारे वह बाहर जाता है वह उसका ' पाँचवा ' जन्म है । इसको पुनर्जात्मा कहते हैं । इस तरह पाँचवें जन्ममें जीवन्मुक्त एक मनुष्य-जन्ममें परिणत होता है । (पञ्चम्यां आधुतो ध्यायः पुनरप्यसौ भवति । कां उ ५।१।३)

इसके नेत्र उपनयन संस्कारके द्विज ब्राह्मणोंका गया जन्म होता है । यह छठा जन्म है । इसको ' ज्ञानारामा ' कहते हैं ।

जो ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम ककर विविध कर्म करता है इस समय इसको ' कर्मारामा ' कहते हैं । वहाँ कर्मके कारण भगवान् जन्म होता है । विशेष मत्ताराम कर्मकक वह जगद्गुरु बनता है । सब कर्म करके हृन्-पृथ्वी भी मत्त कर लेता है । नर करणी (कर्म) करनेसे नरका भोग बनता है । यह इसका ' कर्मजन्म ' है ।

कदाचित् संन्यासाश्रम मेंनेपर सब कर्मोंका संन्यास

करता हुआ यह ' विवहारामा ' बनता है । वह इसका आठवा जन्म है । यहाँ इसको आनन्दारामाका अनुभव होता है । इस समय यह (मित्रात्मस्वरूपः प्रियः केचनोऽहं) मैं आनन्द-मन हूँ ऐसा अनुभव करता है ।

इस तरह मनुष्यका जन्म कह जन्म होता है । हमें विनये देहसे मायके देहमें और मायाके देहसे जगत्में जन्म होना मुख्य पुनर्जन्म है । वहाँ एक पक्ष ऐसा भी मन प्रतिपादन करता है कि पिता ही पुनर्जन्मसे पुनर्जन्म पाता है अर्थात् पिता पुत्र वा पुत्री रूपसे नया जन्म होता है । उत्पत्ति विनये पुत्र वा पुत्रिवांशोंमें उठने पुनर्जन्म पिताने किंचि ऐसा समझना चाहिये ।

आरामा वै पुत्र नामासि ॥ (कौषी उ २।१।१)
स यदेवैयिद्विस्माहोकास्त्रीति अथैभिरेव प्राणौ सह पुत्रमाविधाति । (इ उ १।५।१०)

' स्वर्ग ' ही पुनर्जन्म होता है । जो शारीर बनकर वहाँसे एक बसता है वह अपने मायोंसे पुत्रमें प्रविष्ट होता है । इसीसे अनेक रीतिसे दिवाका पुत्रमें पुनर्जन्म होनेका वर्णन पाओगे ।

इसके अतिरिक्त एक और भी ' कर्म-जन्म ' नामसे पुनर्जन्म हुआ करता है । कैसा राजा प्रयाग सेनापति आचार्य आदिके कर्म सब देहोंमें कटते ही हैं । सब वे मरते हैं या स्वामयज हो जाते हैं, सब दूसरे मनुष्य वहाँ स्थापानक होते हैं । एक राजा दूर होनेपर दूसरा जाता है प्रमाणके स्वागपर दूसरा मित्रुत होता है सेनापति जाने पर दूसरा किया जाता है और आचार्यके स्वागपर दूसरा अविहित होता है । पहिलेका पुनर्जन्म दूसरेमें होता है । वह ' कर्मजन्म ' है । त्रिम राष्ट्रमें इस प्रकार कर्मसे पुनर्जन्म होते रहते हैं वह राज्य सबक रहता है और त्रिम राष्ट्रमें सब मनुष्यका कर्मसे पुनर्जन्म वहीं होता अर्थात् उसका स्थान रिक्त रहता है वह राष्ट्र निर्बल समझना चाहिये । अपने स्वर्गमें कार्यकर्ता भोग-भोगिक स्वाग रिक्त रहते हैं या मर जाने हैं वह देहमेंसे इस वाक्य क्या करगा कि हमारा देह कैसा है ।

इस प्रकार यह तरहके पुनर्जन्म हैं । वहाँ संक्षेपसे इनका निर्दिष्ट इसलिये किया है कि पाठकोंको अनेक प्रकारके

पुनर्जन्मोकी डीक कल्पना हो और ये इनका विचार कर लेके । परन्तु पीठमें जिस पुनर्जन्मका जिक्र है वह एक गरीब कुम्हार उस आत्माको जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है उस पुनर्जन्मका है और भगवान् श्रीकृष्णजीने अर्जुनसे कहा है कि मेरे और तेरे कई जन्म बारबार हुए हैं । इनको मैं जानता हूँ परन्तु तु नहीं जानता ।

इस जगत्के भी हो भव है। एक स्वेच्छासे किंवा स्वतंत्रतासे और दूसरा विषयके संबन्धसे जबाब परतंत्रतासे। श्रीकृष्ण भगवान्के जो जनेके जन्म हुए वे सबकी स्वतंत्रता इच्छासे हुए हैं और जो जन्मके जन्म हुए हैं वे विषय संबन्धसे जबाब परतंत्रतासे हुए हैं। इस विषयमें जगत्का स्कोक होबै—

मुक्तका पुनर्जन्म

भजः भव्यवारेमा भूतामा ईश्वरा सन् अपि
 नहं स्यां प्रकृतिं नधिष्ठाय मात्ममायया
 संभवामि ॥ (म. गी. १०.१)

“आत्मा जन्म बर्णन बणिवाची आत्मा में है और सब भूतोंका ईश्वर भी है। इतना होवेपर भी अपनी मनुषिका बणिहला होकर मैं जन्मग्रन्थिसे स्वयं जन्म लेता हूँ।” इसमें परममनसकवी कीकृष्ण किस प्रकार जन्म लेते हैं इसका बयान है; इसमें किमकिंचित् विधान है—

(१) (अक्षः) अन्त्या नक्षत्रा अन्तरहित है तथा
(अक्ष-वेरकः) सबका वेरक आसक किया मुख्य भवा
है।

(२) (स-अ-य-यः) आत्मास कभी नास नहीं होता।
कर्मों से वह अभिप्रायी है ।

(३) (आत्मा भवति इति) आत्मा सत्तन गति वा
 आत्मा करनेवाला किंवा सर्वज्ञ व्यापक इ ।

(४) (भूतानाई ईश्वर) सब भूतमात्रके ईश्वरोंमें मुख्य ईश सब जगत्का मुख्य स्वामी सबका एकमात्र परमेश्वर और बाबक ।

(५) (स्वा प्रकृति अधिष्ठाया) अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाया होकर अपनी प्रकृतिको अपने अजीन रखकर अपनी प्रकृतिका स्वामी बनकर अपनी प्रकृतिको बाल्याय आनन्दैवाया होकर अपनी प्रकृतिका मित्र बन करके।

(१) (म त्म-मायदा मंभयामि) जपनी शालेके

जन्म होता है। निम्न शक्तियों सम्बन्धना प्रकट होता है।
अपनी शक्तियों प्रकट होता है।

श्रीकृष्ण महाबाहूके अवतार वा जन्म केनेके निरवरोध हैं।
 ओकरों पे का बातें कहीं हैं ठनका मनन सरखे इतन
 बनना चाहिये। इससे छन्द-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ईश्वर मन
 कैसा होता है और बहका जन्म कैसा होता है इस बात
 पूर्ण वाचक निर्णय होगा है। बात पण्डित इस ओर विवेक
 रचान हैं।

यहाँ भी कुछ मर्यादा स्थिति-मुक्त-मुक्त-स्वातन्त्र्य है जो नए नए स्वरूपों में है। दोनों ही (बहुमि अग्रगण्य व्यक्तीयता) जलक जल रूप हैं, ऐसा सोचें कहा है। इनमें यह बात स्पष्ट होगी कि मुक्त भी जल के रूप में और वह भी जल के रूप में। जल एक वाष्पक बिन्दु करना चाहिये कि इन दोनों ही रूपों में कीर्ति प्राप्त है ! पूर्ण स्वातन्त्र्य मुक्त के रूप में विस्तार से कहें वही हैं उनका सार यह है—

(मुक्त जातमा अयुजबडे बबालव जातमा है कि)
अपना जातमा बम्परदित नासरदित सबका सबक सर्व
व्यापक और सबका मुख्य स्वामी है : (बल्लुवा उसकी कम
केनेकी जातबपकता नहीं है तथापि निष्ठेय कार्य करते
हैं वह) अपनी प्रकृतिको अपने प्रथममें रखकर अपनी
शक्तिको दो स्वयं बम्प देता है । (म गी ११)

इस तरह योगवान् श्रीकृष्णके अनेक काम होते हैं। जब कहेका वास्तविक कोई कारण न होते हुए भी वे वही काम करते हैं? इसका हेतु (म. वि. ४।५-८ में) जाते क्या जावगा। यहाँ किन्तु तरह काम किया जाता है। इसी ही वाक्य काव्य किया है। जब इसके विपरीत वह अनुभव पुनर्जन्म केसा होता है वह देखिये। पूर्वांक मुख रिकित्ते सर्वथा विरक्त उसकी लक्षणा है। देखिये--

संस्कृत पुनर्जन्म

(बह मनुष्य अपने आपको धारीस परिमित समझे
क कारण सबकुछ मानना है कि) मैं सीर हूँ और मैं कम
केता हूँ (बहता हूँ रुक्य होता हूँ बार) मरणा भी हूँ।
मेरा ज्ञानक दूसरा है। मैं बहरीस और जोटा हूँ मे
जबिकारमें कुछ भी नहीं है। मरुतिरुपायके अनुसार सुकने
कार्य होने में सदैवका असमर्थ हूँ और ईश्वरी सन्निधे सुने

अपने कर्मापसार पुनः पुनः जन्म प्राप्त होगा । ” इस प्रकार यह हमारे की जड़िसे धुमापा जाता है और मुक्त अपनी सक्तिसे सब कुछ कर फट्य है ।

“इसके किये एक उदाहरण देना किया जा सकता है कि एक नगरमें एक कारागृह है उसमें शम्भू-प्रथमसे कुछ बंदिगद्वारे हैं । एक दिन उस कारागृहका विरीक्षण करनेके किये राजा स्वयं अपने संधिवोंके साथ कारागृहमें गया । जब तक राजा वहाँ रहा, तबतक उसी कारागृहमें जेली राजा और उसके संधी होती वही प्रकार कैदी भी होगी । वस्तुतः इस समय राजा की जेकबानेमें है और कैदी भी हैं । परन्तु राजा स्वतन्त्र है और कैदी परतक हैं । वही भद्र मुक्तके शरीरधारण करनेमें और बहूके जन्म देनेमें है । दोनों इस समयमें जन्म करके कार्य करते हैं परन्तु एक (स्वा) प्रकृति अधिष्ठाया अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता है और दूसरा प्रकृतिका दास । भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकृतिके स्वामी और अर्जुन प्रकृतिका दास था । अर्जुनकी योगवता अन्य मनुष्योंसे कई गुना अधिक थी क्योंकि उसने सीमावत्त भगवान्के कार्यमें प्रमुख भाग लब्ध । इसकारण करनेका अवसर उसे प्राप्त हुआ था । इसलिये अर्जुनका जन्म साधक हुआ । जो भगवत्प्रसूति पुर रहते हैं, उनकी दुरवस्थाका विचारही न करना अच्छा है ।

इस प्रकार यह और मुक्तक जन्म जिस तरह होते हैं इस बातका विचार हुआ । अब इस विषयमें वेदमें क्या किछा है उसे अब देखिये

अजका पुनर्जन्म

प्रजापतिश्चरति गर्भे भस्तरजायमानो बहुधा पि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्त रिमन्ह तस्यमुंवनानि विन्वा ॥

(बा० प ३।१।९)

(प्रजापतिः) सब प्रजानोंका पात्रक (गर्भे भस्तरः चरति) गर्भके भँदर विचरता है । वह (अ-जायमानः) कभी न जन्मनेवाका है तथापि (बहुधा पि जायते) बनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है । (धीराः तस्य योनिं परि पश्यन्ति) धीर लोग उसके भूक वधानका देखते हैं । (रिमन्ह विन्वा मुंवनानि तस्युः) कभीमें वे सब भुवन रते हैं । ”

१४ (दि नी)

इसी तरह अगला वैद्वर्मज भी देखिये—
एयो ह वेधः प्रविशोऽनु सर्वाः पूर्वा इ जातः
स उ गर्भे भस्त्रः । स एव जातः स जनिष्य
माणः प्रत्यक् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुक्तः ॥

(बा प ३।१।१०)

“ वही वेध सब विधा-उपविद्याओंमें है । वह (पूर्वाः जातः) वहिके हुआ था और फिर (सः गर्भे भस्त्रः) वही गर्भमें जागया है । वही पहिले हुआ और अनिष्य में होनेवाका है । हे ज्यो ! वही सर्वत्र मुक्त करके अवस्थित होनेवाका (प्रत्यक् तिष्ठति) प्रत्येक पदार्थमें है । ”

तथा और देखिये—

रूपरूप प्रतिक्रपो बभूव तद्रूप रूप प्रतिप्लक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥

(अ १।१०।१० ह ह ३।५।१९)

प्रत्येक रूपके किये वह (प्रतिक्रपाः) जादू बनता है । वह इसका रूप (प्रतिप्लक्षणाय) देखनेयोग्य है । वह (इन्द्रः) प्रभु बनती (मायाभिः) सक्तियोंके प्रत्येक रूपका मधुना बना है ।

इस मंत्रोंका और गीताक संकषर बहुत साम्य है देखिये—

गीता सूत्रम्
अत्रोऽपि सन
शृगलानीश्वरोऽपि सन्
संनवाभि (संनवापि)

बहुनि मे इवगीवामि
अमपनि
संनवापिमासमापवा

वेद मंत्र
अत्रावमानः
प्रजापति वृषः इन्द्रः
यक्षुषा पि जायते
चरति गर्भे भस्त्रा
जान जनिष्यमाण
(पुन) गर्भे भस्त्रः
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः
ईयते ।

इस तरह वेदक मंत्रोंमें जो विषय है वही आचार्यगामें इस को स्तोत्रोंमें मधुरीय किया है । अतः । इस प्रकार यह और मुक्त इस दोनोंके पुनर्जन्म किये तरह दाने है । इसका वही तक वर्ण्य हुआ । अब भगवान् कहते हैं कि अपने जन्म किये कारण हुआ करने है । वह बोधद और विर मरणीय विषय अब देखिये—

(३) भगवान्के जन्मका उद्देश्य

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अम्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च बुद्धताम् ॥ धर्मसंस्थापनार्थाय समवाप्तिं युगे युगे ॥ ८ ॥

अन्वयः— हे भारत । यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः । अर्धस्य (च) अम्युत्थानं भवति तदा अहं आत्मानं सृजामि ॥
साधूनां परित्राणाय बुद्धतां विनाशाय धर्मसंस्थापनार्थाय च अहं युगेयुगे समवाप्तिं ॥ ८ ॥

हे भरतकुलोत्पन्न ! जब जब धर्ममें शिथिलता और अधर्मकी प्रयुक्तता होती है तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूँ अधर्मात् मैं जन्म लेता हूँ ॥ ७ ॥ साधुओंकी रक्षा बुद्धोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं युगयुगमें जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥

सादार्थ्य— जब धर्म दबाया जाकर अधर्म फैलता है तब सबकी रक्षा बुद्धोंका नाश और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये ईश्वरका अवतार होता है ॥ ७-८ ॥

(७-८) इन दो श्लोकोंमें कुछ कुछ भगवान् कुछ कुछ कुछ स्वभाववाला बताया गया है । इन दो श्लोकोंमें जन्म लेता हूँ इसका अर्थ निकाला है । इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्के पाँच उद्देश्य बड़े हैं—

अवतारके पाँच उद्देश्य

(१) जब (धर्मस्य ग्लानिः भवति) धर्मकी ग्लानि होती है धर्म हल जाता है, धर्मिक लोगोंके ऊपर अन्यायिक काम आयाचार करते हैं धर्मिक समूहोंका लज्जा कोही सुनवा नहीं और न्यायाधीशोंकीभी न्यायही तब राजपूत रहते हैं आयाचारी जाग बिना शोकही न्यायाचार करते हैं तब धर्मके सहायार्थ भगवान् अवतार जाग करते हैं ।

(२) (अधर्मस्य अम्युत्थानं भवति) अधर्मोंकी प्रवृत्ति अधर्मकी और होती है अधर्म करनेके अधिक मुक्त प्राप्ति होनेकी संभावना बनवाके प्रवृत्ति होती है उस समय धर्मका उत्कर्ष करनेके हेतु ही भगवान् अवतार होते हैं ।

(३) जिस समय समूहोंके बनेके साथ धर्मोपचारके कारण बनेस लिये जाते हैं सम्मान्य युवकोंके अल्पवयस करार-सुश्राम वयस्क लज्जा अल्प वयसके हृदय लिये जाते हैं धर्मका रक्त भूमिपर गिरता है और धर्मका प्राण पृथ्वीपर कोई नहीं रहता उस समय (साधूनां परित्राणाय) साधुओंकी रक्षाके लिये भगवान्का अवतार होता है ।

(४) बुद्धोंके करनेवालोंकी जिस समय चकली होती है सब अपिचार का समय बुद्धोंके लिये नहीं होते हैं, बुद्ध धर्म करनेवालोंकी ही जिस समय जन्मभावता बढ़ती

है, उस समय (विनाशाय बुद्धतां) बुद्धोंके हृदय लिये और उधका नाश करनेके लिये भगवान्का अवतार होता है ।

(५) (धर्म संस्थापनार्थाय) धर्मकी संस्थापना न्याय नाश-धर्मकी सुव्यवस्था करनेके लिये भगवान्का अवतार होता है ।

ये पाँच हेतु हैं जिसके लिये भगवान्का अवतार होता है : सारोच्छे (१) धर्मकी ग्लानिके समय (२) अधर्म के उत्पन्नके समय (३) साधुओंके संरक्षणके लिये (४) बुद्धोंका नाश और (५) धर्मोपस्थापना करनेके लिये भगवान्का अवतार होता है ।

इसके अन्वयसे बहुत बात पकड़ते हैं कि जिस समय और किस समय भगवान्का अवतार होता है । जिस समय धर्मिकोंके कष्ट होगा धर्मिकोंके अत्याचार होते धर्मिक साधुओंके कष्ट पहुँचेंगे और बुद्धोंका नाश करनेके लिये धर्मकी व्यवस्था नहीं होगी जब ऐसा समय उपस्थित होगा, तब उत्पन्न-बुद्धका अवतार अवतार होगा ।

बुद्धोंका अंशावतार

वास्तवमें अधिक जगत्में किंवा हर एक मनुष्यमें जन्म था और अति बहुत हल्का जन्म यदि सब देवोंका अंशावतार होनाही है । जगत्में सर्व नासिकके जगत्में बहुत मुक्तमें अति देवोंके, अतिधर्मोंमें पृथ्वी धर्मोंमें बहुत अति अनेक स्थानोंमें अनेक देवोंका अंशावतार होता है और जीवजगत्के अनेक परमात्मका अंश जाकर मनुष्यके

(४) दिव्य जन्म और कर्म

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं वा वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्मनेति मामेति सोऽर्जुन ॥ १४ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मथा मामुपाश्रिता । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ॥ १० ॥

अन्वयः— हे अर्जुन ! वा मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति सः देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म न पठि, (भिडुता)
मं पठि ॥ १० ॥ वीतरागभयक्रोधाः मन्मथाः मं उपाश्रिताः कान्तपसा पूताः बहवः मन्मां आगताः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे इस दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको इस तरह तत्त्वदृष्टिसे जानता है वह वेद श्रोत्र
मेरे बाव् मर्णात् मरनेके बाव् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता; परन्तु वह मुझे प्राप्त करता है ॥ १० ॥ राय
मय और श्रोत्रके रहित मुझमें लक्ष्मी मुझे ही कारण मानेयके और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने हुए
बहुतसे लोग मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— भगवान् के जन्म भी दिव्य होते हैं और उनके कर्म भी दिव्य होते हैं । उनका रहस्यको जो परमात्म जन्म
है वह पुनर्जन्मके प्रवृत्तिमें कदापि नहीं कंपता परन्तु वह निःस्पृह भगवत्स्वरूपको प्राप्त करता है ॥ जो लोग राग मय
और भयसे दूर रहते हैं जो भगवत्प्रतिमें लक्ष्मी हुए हैं, जो धनुषी लक्ष्मीमें बसे हैं और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र बने होते
हैं, वे परमात्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे परमात्मजन्म पाने हैं ॥ १०-१ ॥

कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण परमात्मा हैं । ऐकिये
हमका भावार्थ इस प्रकार है— (१) परमात्मा उत्तम
पुरुष हैं जो मैं ही लोक और वेदमें पुनरोत्तम कहलाता
हूँ । (२) बहोका मोक्ष मोक्षर सबका मित्र मैं ही हूँ ।
(३) मैं सब अवस्थाओं उत्पत्ति स्थिति और कर्म करता हूँ ।
मुझमें लक्ष्मी रहनेके समान मुझमें वह सब निज रहा है ।
(४) मुझ ब्रह्मके कारणोंके द्वारा वह सब अवस्था फैलाया
गया है वह सब मुझमें ही है । इस तरहके वर्णन भगव
द्गीतामें अनेक जग आये हैं । इसलिये श्रीमद्भगवद्गीताका
मिद्वन्त निश्चयसे यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वरके
पूर्ण अवतार हैं और ब्रह्मते पूर्णों पाव कर्म करनेके लिये
जन्म किया है । प्रजापति गर्भमें आता है । वह पृथिवी
हुआ वा इस समय गर्भमें है और अभिषेकमें भी होता ।
इस प्रकारका भावस्य स्पष्ट करनेका वेदमें सर्व श्लोक
(भ गी ४-१-२) के स्पष्टभाष्यके अवसरपर दिये
हैं । इनही भगवद्गीताके प्रथमके सात श्लोकों के कारणसे यह
बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार भगवान् का जन्म
होना श्रमवन्नीय है ।

अतः । इन श्लोकों पर्याप्त बताया कि भगवान् का दिव्य
जन्म किस तरह होता है भगवान् को जन्म नहीं होता है
और जन्म वह भी होता जन्म किस प्रकार होता है । पाठक

इस सब प्रकारके जन्मोंका विचार करें और जन्म में
जन्ममें वे तीन प्रकारके जन्म हैं । इनमें पुनरोत्तमके दिव्य
जन्म और उसके कर्मकाही समझ करवाँ चाहिये । क्योंकि
इसीके मतसे भगवान् का उत्पत्ति होता है । ऐकिये इसी
विषयमें जोतेके श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णजी स्वयं वर्ण
कहेते हैं—

दिव्य जन्म और कर्म

(१-१) (जन्म कर्म च मे दिव्यं) भावार्थ— मैं ही
जन्म और कर्म दिव्य होते हैं, परन्तु अर्जुनके जन्म जो
कर्म दिव्य नहीं है । वह बात पक्षी देखनेयोग्य है । पक्षी
स्वभाव रक्षता चाहिये कि जन्मोंके जन्मके समान प्रजापति
जन्म नहीं होता है । वह कुछ बाह्यीय बहुत और दिव्य
रिक्ता स्पर्शा होता है । वह दिव्य जन्म है और इसका
पार्थिव जन्म है । पृथ्वी जन्मरिक्ता और पृथ्वी के तीव्र स्पर्श
है । पृथ्वीरूप जन्म स्पर्श कर देनेकाका जन्म पार्थिव
जन्म कहलाता है अन्तरिक्षजन्ममें जन्मों कारण सेतापति
के रूपमें होनेकाका जन्म अन्तरिक्ष-जन्म होता है और
पुनरोत्तमके रूपमें जन्मों स्पर्शा स्पर्शमें होनेकाका जन्म दिव्य
जन्म कहा जाता है । भगवान् के तीनों रक्षण निजकी
व्यक्तियों इस तरह होते हैं—

(ब्रह्माण्ड)

पृथ्वी	सूः	स्वूक	शरीर
अन्तरिक्ष	सुवः	सुहम	अन्तःकरण
पौः	रवा	कारण	बुद्धि

(विषय)

दिव्य जन्मका ज्ञान

पार्थिव जन्मका जन्म है स्वूक शरीरका जन्म । यह जन्म ईश्वर आत्मिकको प्राप्त है । सबका जन्म उसके स्वूक शरीर के सावही होता है । यह जन्म जन्म सावहार्य जन्मका निरूप है ।

इसके उपरकी ऐश्वर्यशक्ति का जन्म शरीरकारणमें जन्मका मनमें होता है । जिसका ऐसा जन्म होता है । इस समय इसकी माता सावित्री और पिता आचार्य होता है । यह आचार्यकी भी आकाश विद्यामात्रमें, अन्तःकरणके शरीर स्थानीय प्रसिद्धिबिभूत अन्तःकरणके स्थानमें होता है । यह आर्षेयिक जन्म है । इस जन्मसे उस मनुष्यमें बड़ा परि वर्तन होता है । इसके स्वूक शरीरका जन्म किसी भी कुलमें हुआ हो परन्तु आचार्यद्वारा विद्यामत्कारोंसे इसका जो दूसरा जन्म इसकी मनोबुद्धिकामें होता है वह इसकी विशेष योग्यता बनाता है । इस विषयमें मनुस्मृतिका वचन है—

कामाग्रमाता पिता चैव यनुत्पादयते मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यधोनामभिराचयते ॥
आचार्यस्तस्य यां जातिं विधियद्वैतपारणः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सख्या साऽऽनुरागमय ।
(मनुस्मृति १११००-११८८-)

माधविता जो जन्ममें निकल इस पुत्रकी उत्पत्ति करते हैं और जो मातासे उत्पन्न होती है वह उसकी जाति नाममात्र है । पर वे इसके पार पडुंका हुआ आचार्य जो सावित्री से इसे वधाविधि जन्म देता है, वह जाति सत्त्व जन्म और जन्म है ।

इस प्रकारके सावित्रीजन्मके कारण क्या वधिज आत्मिक विद्यामित्र आदि अपि साधारण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी महर्षि-पदको प्राप्त हुए । यह जन्म आचार्यकी हवा सावित्रीकी प्रसिद्धि और जन्म योगात्मक होनेके वक्तसे प्राप्त होता है । वहाँ स्वूक शरीरके जन्मकी बहुत प्रधानता नहीं है । यह शिक्षण मनोबुद्धिकामें दिया जन्म करणक स्थानपर बनाता है । इससे जन्मकी शक्तिमें विकसल परि वर्तन होता है ।

इससे भी ऊँचा जो जन्म होता है वह दिव्य जन्म कहलाता है । यह तो जन्म बुद्धिके सबमें ईश्वर स्वरूपसे हुआ करता है । किसी बहुत कारणसे या भगवत्प्राप्ति जन्मका भगवद्विष्णुसे किसीकी बुद्धिके क्षेत्रमें दिव्य मेरुस्थ दिव्य इच्छा दिव्य प्रभाव या दिव्य स्वरूप होता है और उस मनुष्यमें इसका परिवर्तन होता है कि उसको देखकर जन्म मनुष्य चकिनही होते हैं ॥ इसका नाम दिव्य जन्म है । इससे मनुष्यका जीवन बुद्धिकी शक्ति और जन्मका क्षेत्र विकसल बहुत और जन्माम्ब हा जाता है । पार्थिव जीवनमें स्वमिचारी रहा मनुष्य भी आगे उत्तम जन्मकारी होता है । पक्षिकी अवस्थामें मिःसत्र रहा मनुष्य आगे प्रबंध सामर्थ्यके कर्म करता है । यह सब परमात्मको दिव्य ज्योतिष्का प्रकाश उसकी आत्मामें होनेसे होता है । किसी मनुष्यमें वह परमात्मकी ज्योतिष्का आधिपत्य गर्भमें या वाक्पनमें होता है और किसीमें जायेकी आत्मामें होता है । परमात्मा इसी प्रकार स्वरूपसे दिव्य जन्म लेते हैं । परमात्मक्य जन्मे हुए वेदात्मा भी इसी प्रकार शरीर धारण करते हैं । इसकी माताके गर्भमें भी रहिते पकते रहनेकी आवश्यकता नहीं होती । जिनका कर्म पार्थिव जन्म होता है इनको माताके गर्भमें शरीरके साथ भी जन्म पकता पकता है ।

यहाँ तीन जन्मोंसे प्राप्त होनेवाले तीन शरीरोंका उल्लेख हुआ है । ये तीन शरीर वधिज एक दूसरेके अन्तर होते हैं तथापि यह कोई विषय नहीं है कि इनमेंसे एक ब्रह्मज्ञ होनेपर दूसरा जन्मवन्धी ब्रह्मज्ञ होगा । जिनका स्मूक शरीर बलिष्ठ होगा, उसके अन्तरक दो शरीर ब्रह्मज्ञ हों इस विषयमें कोई विषय नहीं है । बलिष्ठ शरीरमें बलिष्ठ मन " इस जन्मकी एक कहलत है परन्तु वह भ्रम नहीं है । कई योगी और अपि पार्थिव शरीरोंसे जन्मवन्त बुद्धि धि, परन्तु उनका आन्तरिक शरीर जन्मवन्त मनोदेह जन्मका शरीरिक देह को शक्तिशाली था । दिव्य जन्म को शरीरिक और आत्मिक देह का मातृ शरीर बनाता है । जिनका अन्तर दिव्य जन्मसे यह दिव्य देह होता है वह अपने शरीरिक और आत्मिक सामर्थ्यसे मिश्रित देह विद्योप समर्थ होता है । जन्म जन्म देह उसकी आवश्यकतानुसार ही रहन है । प्रायः मनुष्य

स्वतंत्रतासे होता है और सामान्य जयताका पारिवर्तित भाविक पुनर्न्याय परमेवरीय विषयकी परतंत्रताके कारण होता है। इसमें निबन्धानुसार इनको पुनर्न्याय केनाही पकता है। ये पुनर्न्याय केनेकी इच्छा करें वा न करें परबता होते हुए ये पुनर्न्यायमें आते जाते हैं। ऐसी परबता परमात्मस्वरूप बने हुए मुक्तत्वाभोग्ये नहीं होती पुनर्न्याय पारण करनेके क्रिये इनको कोई बाधित नहीं कर सकता। परन्तु जोकायु ग्रह करनेक स्वभावसे है स्वयं किसी योग्य क्षीरमें डलते हुए स्वयं ' दिव्य जगत् ' पारण करते हैं।

वृद्धावस्थाके क्रिये वैदिके केनी जैनकाव्येके निबन्धानुसार परतंत्रताके काराद्वयमें आते हैं और कोई प्रविष्टि नागिक स्वेष्यके कारागार हेतुकेके क्रिये लक्षणा वैदिकों को बर्तनका उपदेश करनेके क्रिये स्वेष्यके और स्वतंत्रतासे जाता है। इसी तरह सामान्य बहू जीवोंका पुनर्न्याय और मुक्तत्वाका दिव्य जगत् और कर्म बान्यसे पूर्वोक्त सद्भा दूर हो सकती है। वह नियम भगवद्गीतासे पारचार बलेशका है, इसलिये इसका पाठक अच्छी प्रकार समझें।

परमेस्वर-प्राप्ति

(स मो यति) वह मुझे प्राप्त होता है क्योंकि परम परको प्राप्त करता है ऐसा बड़ा कहा है। वही परमेस्वर प्रसिद्धा कर्म क्या है इसका बोझाला विचार करना चाहिये। इस प्रकारके परमेस्वरप्राप्तिके शुद्ध बान्य भगवद्गीतामें अवैक बात बताये हैं, हेतुके—

(१) बहवो ज्ञानतपसा पूता मङ्गावभाषताः ॥

(गी २।१)

स योगी मायि बहते ॥ (गी २।२)

मङ्गला यामि मामपि ॥ (गी २।३)

पाति मयाक्षिनाऽपि माम् ॥ (गी २।४)

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखाद्ययमश्वासतम् ।

नाप्नुयान्नि महाराम संसिद्धिं परमां गताम् ॥

(गी २।५)

सम्पाद्ययोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गी २।६)

निर्वैरा सर्वभूतेषु वा स मायेति पाण्डव ॥

(गी २।७)

महत्या सवपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा मुक्ताः
(गी २।८)

(२) ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गी २।९)

यद्विशिष्टमृतमुजो यन्ति ब्रह्म सनातनम् ॥

(गी २।१०)

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म स विरेजाभिगच्छति ॥

(गी २।११)

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थिता ॥

(गी २।१२)

उपैति ब्रह्मरजसं ब्रह्ममृतमकल्मषम् ॥

(गी २।१३)

ब्रह्म संपश्यते तदा ॥ (गी २।१४)

ब्रह्मभूषणं कस्यते ॥ (गी २।१५)

(३) जगत्कर्मविनिर्मुक्ताः परं गच्छन्त्ययमवम् ।

(गी २।१६)

असक्तो छावरन्कर्म परमाप्नोति पदम् ॥

(गी २।१७)

यिगतेच्छामयकोपो वा सदा मुक्त एव सः ॥

(गी २।१८)

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

(गी २।१९)

स याति परमां गतिम् ॥ (गी २।२०)

ततो याति परां गतिम् ॥ (गी २।२१)

एतन्नुपैष्या बुद्धिमान्स्वस्थश्चैव यः पातः ॥

(गी २।२२)

इस तरहके कनेकलेक बान्य भगवद्गीतामें हैं। वे ही बान्य बान्य सिद्धिका स्वक बलानेवाले हैं। इसलिये सिद्धिका विचार हमारी योग्य समझ करेंगे। वही केवल हज्जारी बान्य है कि

१. मुझे प्राप्त करता है, मेरे पापको बहू होता है, मेरा स्वक्य प्राप्त करता है।

२. मङ्गला प्राप्त होता है अर्थात् स्थिर होता है अर्थात् बहू है मङ्गले केवल महान् होता है।

३. गीतोग स्थान प्राप्त करता है अर्थात् स्वक्य प्राप्त करता है मुक्त होता है अर्थात् गति प्राप्त करता है, हज्जारी होता है।

उक्त सब बचनोंका आशय और तात्पर्य एकही है कि वह परमात्मस्थको प्राप्त होता है । इसके विषयमें वेदमें कहा है—

तदपदपत् तदमवत्, तदासीत् ॥

(बा प ३१।१२)

वह अपने देखा वही बन गया क्योंकि वही था । इसमें कहा है कि इस उपासक (तत्) उस परमात्माका इतना किता तब वह उपासक (तत् समवत्) परमात्मा बन गया क्योंकि उत्पत्त्यसे वह उपासक (तत्) वही (भासीत्) था । तथा—

उपस्थाप्य प्रथमजानृतस्यात्मनारमानममि सं
धिवेद्य ॥ (बा प ३५।११)

(आत्मस्थ प्रथमजां उपस्थाप्य) उसके प्रथम सर्वव्यापी उपासना करनेसे (आत्मना आत्मना) अपनी आत्मासे परमात्मामें ; अमि सं धिवेद्य) सब प्रकारसे भविष्ठ होगा ।

इस तरहके मन्त्रभागमें परमात्मसत्त्वका एक पञ्चाक्षर मन्त्राक्षर बतानेका विधान है । तथा उपनिषद्में भी कहा है—

शिवोऽद्वैत एवमोकार आत्मैव सर्वविद्यास्तत्तम
नात्मानं य एवं वेद ॥ (माण्डूक्य १२)

ओंकार आत्मा कस्यामय और औचित्य है । वह का आत्म है उसकी आत्मा परमात्मामें भविष्ठ होती है । तथा—

यथा नयः स्पन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति
नामकपे विहाय । तथा विद्याधामरूपादिमुक्तः
परत्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥ स यो ह वै
तापरम ब्रह्म वेत् ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवि
शुद्धे भवति तदति शोकं तदति पाप्मानं
गुह्यमग्निर्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

(मुण्डक ३।१)

“वेदी बड़ेबाड़ी नदिनी अपने नामों और कर्णोंका त्याग करके समुद्रमें डूबती होती है उस तरह ज्ञानी मनुष्य नाम और कर्णसे मुक्त होकर दिव्य परत्पर पुरुषको प्राप्त होता है । जो इस परमज्ञको जानता है वह स्वयं ब्रह्म बनता है । इसके कुछमें कोई अज्ञानी मनुष्य उत्पन्न नहीं होगा । वह सोच ना पाये दूर होता हुआ अनिवार्यभीने

१५ (१६ गी)

मुक्त होकर जमा होता है ” -

इन सब बचनोंका आशय यही है कि जो (मां पति) भोग प्राप्त जाता है ” और (मन्त्रार्थ भागच्छति) भोग मायको प्राप्त होता है वह जीव शिव बनता है । भोगका आनन्दपण किंवा पुरुषका पुरुषोत्तम बनना है । परमेश्वरके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मसे जाननेवाला उपासक भगवा नारायण होता है । इसकी कम उन्नति कैसी होती है इसका विचार करनेके लोको (५१) में किया है । वह विचार गीताके उपदेशके आशयमें ज्ञानकी दृष्टिसे जन्मम मनुष्यका होमसे सब उसका विचार करते हैं—

उन्नतिकी चार अवस्थाएं

इस लोके उन्नतिकी चार अवस्थाएं कथन की हैं । परमेश्वरके शिव जन्म और दिव्य कर्म करते होते हैं और जन्म सामान्य मनुष्योंके जन्म और कर्म कैसे होते हैं, इनका मूल्य कलियुग मनुष्य इन चार अवस्थाओंमेंसे पृथक्ता है—

(१) मन्मथः = ईश्वरके दिव्य जन्म और कर्ममें मन कीन करता है सर्वत्र ईश्वरका रूप देखता है, सब ईश्वरमय है ऐसा अनुभव करता है ।

(२) मां उपासितः = ईश्वरका पूर्वजन्म जन्म होता है सब काम और रमानमें अपने मायको ईश्वरकी शरणमें रखता है ।

(३) बीतरागमयक्रोधः = (राग) भाग्यसे सब और क्रोधसे रहित होता है ।

(४) ज्ञानतपसा पूतः = ज्ञान और तपस पवित्र होता है और—

(५) मन्त्रार्थ भागच्छः = भोग आनन्द परमेश्वरके मायको कर्णार्थ ईश्वरस्वरूपको प्राप्त होता है । वही सब मनुष्य इन चार अवस्थाओंमेंसे किंवा पृथक्ता है इसका विचार करना चाहिये । अज्ञानज्ञानमें जो तब वह है वे आनन्दमें जाये चाहिये वेदक उन्हें रतनेसे कार्य नहीं होगा । जन्म आत्माओं केनेकी दृष्टिसे इन चार अवस्थाओंका मूल्य करना चाहिये । पहिली अवस्था भयव्यमय होमकी है—

(१) भगवन्मय (मन्मथः)

भगवात्क महाप्राणीक अवतारी पुरुषोंके अवका विभू सर्वोक्त जीवन-चरित्रमें ग्रीही होमकी अवस्था यह होती

(५) कर्मकी सिद्धि

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्तमानवर्तन्ते मनुष्याः पाथ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्त कर्मणां सिद्धिं यजन्त ब्रह्म वेदताः । क्षिप हि मानुषे लोके गिद्धिर्मयति कर्मजा ॥१२॥

अन्यथ — ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि । हे पार्थ । मनुष्याः सर्वशः मम वर्तमानवर्तन्ते ॥११॥
कर्मणां सिद्धिं काङ्क्षन्तः (मनुष्याः) ब्रह्म वेदताः पश्यन्ते हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिपं भवति ॥ १२ ॥

जो मनुष्य जिस तरह मेरा आश्रय लेते हैं उन्हें मैं वैसाही फल देता हूँ । हे अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकारसे भरोही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष इस लोका में देवता मोड़ी पूजा करते हैं क्योंकि मनुष्यलोका में कर्मकी सिद्धि मति हीय प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

भावार्थ— जो जिस प्रकारसे परमेश्वरका आश्रय लेता है उसकी वैसाही फल ईश्वरों के नियमसे प्राप्त होता है । जो पश्यन् भोजा जाता है वही प्राप्त होता है । सब मनुष्य परमेश्वरके मार्ग ही अनुसरण करते हैं ॥ इस मनुष्यलोका में कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है । इसलिये लोक १ इन्द्राचार करनेवाले मनुष्य अपने देवताओंकी आराधना करते हैं और उससे अपनी सिद्धि करते हैं । ११-१२ ॥

मनस्व करके अपने आपकी परीक्षा करनेसे अपनी चक्षुषि किन्ती हुई है इसका निष्पत्ति हो सकता है । सदा पारशीक पाठकोंको यह स्मरण करना सहायक होगा । प्रत्येक मनुष्य इस कर्म करते रहते हैं और अन्तर्गामी सिद्धि प्राप्त करते हैं । इस विषयमें किसीके मनमें संदेह हो तो यह जानेके ली लोक देखें—

(११-१२) कर्म करके उसका फल मनुष्यको प्राप्त होता है या नहीं इस विषयमें कई मनुष्य शंका करते हैं । इस बातका जो दूर करनेके लिये कर्मकी सिद्धि निरूपित है या भावना कहते हैं ।

कर्मका अर्थ नियम

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते) जो मनुष्य जैसे मुझे शरण मानते हैं, जो मनुष्य जिस प्रकारसे मेरा आश्रय करते हैं जो मनुष्य जिस मार्गमात्रसे मेरे पास आते हैं, जो मनुष्य जिस प्रकारसे मुझे भजते हैं (तांस्तथैव भजामि) उनकी वैसा ही फल देकर मैं उनपर अनुग्रह करता हूँ । अर्थात् जो कर्मयोगियोंसे एकत्र कर्मकारायेरी व्यवस्था करते हैं उनका अर्थिक फल भोग देता हूँ । जो विध्यम कर्म-योगद्वारा मुझे भजते हैं, उनकी मैं शरण देकर उन्नत करता हूँ । जो मुद्रा हैं उनकी मुक्ति देता हूँ । जो केवल दुःख दूर करनेके इच्छुक हैं, उनके दुःख दूर करता हूँ । इस प्रकार जिस आकांक्षालोभ भोग मेरे पास आते हैं,

मैं उनकी वह आकांक्षा पूर्ण करता हूँ ।

ईश्वरमें शरण-इष्ट नहीं है जब वह किसीकी शीतिसे प्राप्त या हेतुके दूर नहीं करता । जो वैसा कर्म करता है वह वैसाही कर्मके निष्पत्तिसे फल प्राप्त होता है । कर्मका विषय अर्थ है ।

अर्थका अन्वर्थ

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
इस लोकका अर्थ कई लोग बना करते हैं कि " जो मेरेसे वैसा वर्णन करता है, वैसा मैं उससे करता हूँ ।
ऐसा व्यवहार करने उसका तात्पर्य ऐसा मानने है कि कुछ क साथ कुछ बचना समुचित साथ समुचित बचना अर्थ प्रति जातीय करना कोषिक साथ व्यवस्था व्यवहार करना ।
इत्यादि आचार्य करना अर्थ है और यही ममवर्तन्ते ह ।
वस्तु यह अर्थका अन्वर्थ है ।

सबके साथ व्यवहार करना कुछके साथ कुछ बचना यह एक बार स्वीकृत किया तो इसका परिणाम आगे ऐसा भवकर होता है कि उसका अर्थ बनना अर्थ है । किसीने एक बार मात्र तो उसको बार बार मारना किसीने एक बार स्वीकृत किया तो सबके चरममें बार बार करना इस प्रकार कुछ व्यवस्थाका व्यवहार करना रहा तो दुराचारकी ओर सीमा नहीं रहती और अन्तमें मनुष्य पशुवत्ते की गिराव है ।

इस श्लोकवा इस तरहकी कुलपत्न्याय बहुत लोग करते हैं परन्तु वह अर्थ इस श्लोकमें नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है कि 'मनुष्य किस भावसे ईश्वरकी उपासना करते हैं वैसा फल उनके भिक्षा है।' इस अर्थम अर्थविषय का इतना ध्यान करना किसीको भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त परमेश विषय भी श्रुत प्रति भाट्य नहीं है। श्रुत प्रति सत्य नहीं परमा विषय है। देखिये—

भक्ताधेन जयेत् श्रोधमसाधु साधना जयेत् ।
अयेत्कथं दानेन अयेत्सत्येन चानुत्तम् ॥

(म भा उ ३१।०३)

अमास श्रोत्रकी साधुतासे इहकी धामसे कुलपको और सत्यसे अथवाकी जीवना आदिसे। यही अर्थ है। अत्र भगवन्कीताके इस श्लोकका शब्दके प्रति सखता करना ऐसा अर्थ समझना अर्थका अर्थ करना है। इसलिये वादक इसका ऊपर दिया अर्थही ग्रहण करें और भगवद्गुणदेवता सार अन्तर्गत धर्म कर। अर्थका अर्थ करके विपरिणत अर्थ समझना सर्वथा अवरोध है।

अस्तु। इस श्लोकमें कर्मका अर्थक विषय कहा है। जो वैसा करेगा वैसाही फल उसके प्राप्त होगा। वह जानकर मनुष्य अपना कर्म करता रहे और उसे कर्मसे दूर रहे। इतना कर्मका अर्थक विषय कह कर जानो कहा है—

ईश्वरका मार्ग

मम वर्णानुब्रह्मन्ते मनुष्या पार्थ सर्वथा ।

(अ १)

“मनुष्य सब तरहसे परमेश्वरके आभ्यासी अनुसरण करते हैं। मनुष्य किसी प्रकारका भी व्यवहार नहीं न करते हैं वे परमेश्वरके प्राप्त करनेके मार्गपर ही हैं के परमेश्वरकी प्राप्त करनेके मार्गपर ही किसी न किसी विषय व्यवहार का भिक्षे। मनुष्य दूर मार्गमें जाते हैं, ऐसा ही कहा है। परन्तु जो मार्गका अनुसरण करने पड़ा है व्यवहार परम परकी पट्टाधेनके मार्गपर आ जायेंगे। सब मानवोंको परमेश्वरकी प्राप्ति ही ही है। वह कम लोग जानते हैं और बहुत लोग नहीं जानते। न जानते हुए ही अन्धका भी मार्ग होता है। सब अर्थ इतनाही होता है कि मनुष्यको सत्य माना गया था। अर्थमार्गसे जानेसे मनुष्य परम पदकी प्राप्ति अति शीघ्र कर सकता है परन्तु भी आज व्यवहार

कर रहे हैं वे दूर पटकते हुए अन्तमें किसी एक विषय इसी परमेश्वर-आत्मिके मार्गपर आ जायेंगे। शीघ्र वा देरसे पट्टाधेन इतनाही भिक्षे है।

वहाँ अतिरिक्तसे दर्शाया कि व्यवहारोंमें कहा हुआ मार्गी स्थिति प्राप्त करनेका मार्गही सबका साधन है। व्यवहारमें मर्गों और धर्मोंसे जानेवाले सभी लोग इसी अन्तर्को जानकर भिक्षे। जो इस भगवन्में कई मार्गपर जाते हैं वे जो सीधे मार्गपर पहिनेले हो हैं इस अन्तर्गत सब व्यवहारके अन्त मूल और अन्त मार्गोंकी अन्तिम ही। परन्तु सब अन्त मार्ग ही सीधे मार्गमें जाना भिक्षे हैं। वह जाननेसे इस मार्गकी व्यवहार सर्व शिखर हासिल है।

यही श्लोकार्थ इतने पूर्व म ती ३।१३ व्याख्यान में आ गया है। अत्र चेही हैं परन्तु वहाँ पूर्णपर-अन्तर्गत अर्थ जोरता भिक्षे है। वहकि श्लोकका अर्थ वैसा है यदि मैं अन्तर्गत व्यवहार कर्मों न करता रहूँ तो (मम कर्म) लोग भी सदा मेरे मार्गके अनुसार ही चले कर्मों। अन्त एक ही योग्यपर ही वहाँका अन्तर्गत भिक्षे है। वह अर्थ इस अन्तर् (अ १।११) श्लोकमें भिक्षा, जो इस श्लोकका अर्थ इस तरह होय—‘सब लोग मेरा अनुसरण कर रहते हैं इसलिये मैं लोगोंको वैसाही फल देता हूँ कि जैसे मैं सब धारण करने कोय मेरे प्राप्त करते हैं। अर्थात् सब लोग भी अपने राजा केचो दूर तककर दूते लोगोंके साथ ऐसा ही विशदप्रमाण व्यवहारों पराप्त हैं। जोई किसीसे व्यवहार व्यवहार न करे। अस्तु।

हमारे अन्तर्गत तो सब मनुष्य परमेश्वरकी प्राप्ति के साथ को जानकर भिक्षे हैं, यही वास्तव वहाँ अन्तिम है। रही प्रकारका एक श्लोक है—

सर्वदेवममस्कारा केन्द्राणि प्रति गच्छन्ति ।

सब देवताओंको भिक्षा हुआ अमस्कार परमेश्वरकी ही पट्टाधेन है। अन्तर्गतानुसार जो अन्तर्गत देव और देवता पूजा अर्थात् अन्तर्गत अमस्कार अपने प्राप्त नहीं रख सकते, वे जो अन्तर्गत प्राप्त जाना हुआ अमस्कार अन्ति परमेश्वरके पद पट्टाधेन देते हैं। तथा भगवद्गीताके अन्तर्गत अन्तर्गत ही व्यवहार एक श्लोक है—

येऽप्यध्वर्युवता भक्ता यस्मै अर्चयामिहता ।

तेऽप्यमतेय कौस्तुभ यज्जगत्प्रतिधिपूर्वकम् ॥

यह हि सर्वयज्ञानां मोक्षा क प्रमुखा य ।

(म गी ११.२३.२४)

जो ब्रह्मचर्यक द्युरे देवताओंकी पूजा करते हैं वे भी निश्चि विहीनरी क्यों न हो मेरा ही पूजन करते हैं। क्योंकि मैं ही सब यज्ञोंका मोक्षा हूँ । यहाँ भी किसी अन्य देवताका किया हुआ पूजन परमात्माको प्राप्त होता है ऐसा स्पष्ट कहा है । तथा वेदमें भी कहा है—

एकं सत् विभ्रा बहुधा वदन्ति ।

(अ १.१.६.७)

' एक ही सत् वस्तुका अर्थात् एक ही परमात्माका वर्णन ब्राह्मी लोग अनेक नामोंसे करते हैं । अर्थात् परमेश्वरका कोई भी नाम किया तो उसी एक अद्वितीय परमात्माका नाम किया ऐसा होता है क्योंकि वस्तुतः उसका कोई नाम नहीं है फिर नामका संग्रह क्यों किया जाना ? कोई नाम किया किसी देवताकी पूजा की जगहा किसी मार्गके गये तो वह परमात्माकी ही उपासना होी है । इस तरह का उदार मत मतनेवाके लोग कर्मव्यापारों द्वारा अन्य लोगोंकी अपने मतमें लायेका प्रचल नहीं कर सकते क्यों कि उनका विश्वास है कि ' सूर्ये मनुष्याः सूर्योः ईश्वर सार्वं पद अनुवर्तन्ते ' सभी मनुष्य सर्वथा ईश्वरप्राप्तिक मार्गपर ही चले हैं । किसीका मार्ग प्राप्तका सीधा है और किसीका टेढ़ा अथवा घुंका है । यदि किसीको टेढ़ा घुंका मार्ग पर्व हो तो वह उसीमार्गसे चले । एकके पास चलेमें ही कीस जानेवाला विमान है दूसरेके पास बीस कोठा हीनेवाली मोटर है तीसरेके पास चलेमें ही थोड़ा चाले वाली मोटरगाडी है और चौथा पैदल चलेवाला है । जिसके पास बैसा बनका सायक है ऐसा उसने बाहन प्राप्त किया है । सब जानेवाके हैं एक ही स्थानपर परन्तु गति की व्याधिकरणसे कोई तीस पड़ुचता है और दूसरा बेरी से । यहाँ विचारकी बात यह है कि जो मनुष्य पैदल चलेवाला है उसके पास बाहन लेनेके किये बन नहीं है फिर बाहनों केलेवाके लोग उसका उपयोग क्यों करें और उरहास किया भी जान तो उसको बाहन मिलेगी भी कहासे ?

इसी तरह ज्ञान-मार्गी भीम मार्गी कर्म-मार्गी और मोक्ष-मार्गी एक दूसरेका उपहास न करें । उपहास करनेसे क्या

ज्ञान होता ? क्योंकि ज्ञान-मार्गीका ब्रह्म ज्ञान योग-मार्गीके प्रसन्नमें ही नहीं जायेगा । कर्म विद्याका मनुष्य ज्ञान विद्याका विचार समस्त ही नहीं सफा (म गी १.१-७) फिर मयव्यापक एक दूसरेकी निंदा क्यों करते हैं ?

भारतवर्षमें मनुष्य मानता है कि सब लोग ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गमें ही चले हैं । कई घूरे मार्गपर हैं और कोई समीपके । जो बाहन जिसके पास है उसमें वह बैठा है और नवी मार्गपर चले रहा है । परन्तु—

मनोज्ञेयसमा बभूवुः । (अ १.१०.१०)

प्रत्येक मनुष्य ' मनके वेगमें भिन्न होने ' के कारण एक जिस उपायका ग्रहण कर सकता है उसीको दूसरा नहीं कर सकता । इसलिये मनुष्योंका कुतिसिद्ध न करते हुए (म गी १.११) सबको समीपमें पहुँच रहना चाहिये । इससे सबकी कमलः उन्नति हो सकती है ।

पूर्वोक्ता यजन

(कांडास्ताः कर्मणां सिद्धिः) कर्मके फलकी इच्छा करने वाले लोग (इह देवता पश्यन्ते) यहाँ देवताओंका वजन करते हैं । यहाँ देवताओंकी उपासका पश्यं तो है ही परन्तु अन्य मो जान है । फलकी इच्छासे अनेक देवताओं की पूजा जगत्में चल रही है जो ज्ञान भी प्रसन्न है ।

यान्ति देवयता वेद्यामिदम्यान्ति पितृमताः ।।

भूतानि यान्ति भूतेभ्यः यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ (म गी १.१५)

देवताओंके पूजक देवताओंको प्रसन्न करते हैं विरोंकि पूजक विरोंकि पास आते हैं भूतेओंके पूजक भूतेप होते हैं । और परमेश्वरका वजन करनेवाले परमेश्वर मानके प्राप्त करते हैं । आज भी बृह-वेदोंके और सुर्वेके उपासक पिताच-भूमिसे व्यवहार करते हीकरा हैं और विविध हैबेकि उपासक इन देवताओंके सरस हीजते हैं । तथा एक ईश्वरकी उपासना करनेवाले भी हैं । उपासक अपनी उपास्य देवताके समान बनता है क्योंकि उसको उपास्यका ध्यान लगा होता है । राजन और तामस उपास्योंकी उपासना करनेवाले राजस और तामस होते हैं और सात्विक उपास्यदेवताकी उपासना करनेवाले सार-गुण-संपन्न होते हैं । इसलिये मनुष्य अपनी अपनी योग्याके

(६) चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागज्ञः । तस्य कर्तारमपि मां विन्दुष्वकतारमभ्युपयम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— मया गुणकर्मविभागज्ञः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं तस्य कर्तारं त्वमिदं मया कथयितुं शक्यः ॥ १३ ॥

मैंने गुण और कर्मके विभागके अनुसार चार वर्णोंकी व्यवस्था निर्माण की है । उसका कर्ता होते हुए भी मैं भाविनाही भकर्ताही हूँ ऐसा तू समझ ॥ १३ ॥

भाषा— गुणों और कर्मोंके अनुसार जो वर्गीकरण किया है, उसको चातुर्वर्ण्य कहते हैं । यह कैसा मनुष्योंमें है वैसा अन्य जड़में भी है । यह चातुर्वर्ण्य गुणों और कर्मोंको देख कर किया है इसलिये इसका कर्तृत्व गुणकर्मोंके पास है, व्यवस्थापक उसका कर्ता नहीं है । क्योंकि गुण और कर्म न होते तो यह कहे न गया सकता ॥ १३ ॥

अनुसार इस देवताकी उपासना करते हुए उसके अपना इस फल चाहते हैं । वहाँ उपासकोंकी महत्तिका अनुसार उपासक पसंद किया जाता है वह बात स्मरण रखनेकी है । प्रेतोपासकोंके उपासक सामान्य देवता कभी पसंद नहीं होगी । अतः केवल अपनी महत्तिका अनुसार देवता चुनते हैं और उनका आराधन करते हैं और आराधनासे वह फल प्राप्त करते हैं । क्योंकि (मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं संभवति) इस मनुष्य लोके कर्मके क्षीत्र सिद्धि प्राप्त होती है । इस कारण मनुष्य उत्पत्तासे सतत कर्म का आचरण करते हैं ।

संगतिकरण

वचन का अर्थ पूजन संगतिकरण और शान देता तीन प्रकारका है । पूजनका अर्थ हमने देखा था देवताको संगतिकरणका विचार करना चाहिये । अत्येक प्रणियों और पदार्थोंमें ईश्वरका लक्ष्य है अतः अत्येक पदार्थ और अत्येक ईश्वरीय शक्तिये पुण्य होनेके कारण देवता है । इन देवताओंका संगतिकरण अर्थात् भिन्न भिन्न करनेसेही मनुष्यका व्यवहार चकता है । अतः इसका संगतिकरण और उपयोग उत्तम होगा अतः मनुष्यका शुद्ध ज्ञानिक बनेगा । इस दृष्टिसे वह संगतिकरण—अथ वचन बहुवचन महत्त्वका विषय है । मनुष्य आपसमें और विभिन्न पदार्थोंमें संगतिकरण करता हुआ कुछ न कुछ कुछ प्राप्त करती रहा है । तथापि विश्व समग्र वह इसका उपयोग बुराईकी दृष्टिसे करनेमें करता है तब दुःखका भागी होता है । अतः वह संगतिकरण शान किंवा शान्त भावसे करना चाहिये तभी मनुष्यका सत्य कल्याण होगा । वहाँ सत्य होता है कि

वह शान्त-भावसे संगतिकरण करने, कहाँ किया है ? इसके उत्तरमें चातुर्वर्ण्यका संगतिकरण कैसा उत्पन्न हुआ इसका वर्णन करते हैं—

संगतिकरण और व्यवस्था

(१३) इस जगत्के पदार्थोंके मनुष्य वस्तु जीवों और जड़ोंके चार भेद हैं । इनमें जीव भेद तीन हैं । वे भेद गुणकर्मोंसेही हुए हैं । समग्र कर सकता है इसलिये मनुष्यमनुष्य । निम्न) मनुष्य कहलाता है । केवल देवता है (पश्यति इति पशुः) इस कारण उसको पशु कहते हैं वह समग्र नहीं कर सकता । (बोध-वीर्योपपत्तिः । निम्न) शरीरस्य दोषोंके दूर करती है इसलिये वनस्पतियोंको बोधवीर्य कहते हैं— और जलमें जल जलेशके बोध बोध जाति पदार्थोंके जलित पदार्थ कहते हैं । वह वर्गीकरण इन गुणोंके कारण हुआ है । फिर गुणकर्मोंका जलित विचार करनेसे इन अत्येकमें कई भेद माने जा सकते हैं इनमें चातुर्वर्ण्य मुख्य है ।

विष्णु और ब्रह्माण्डमें चातुर्वर्ण्य

कैसा मनुष्यका शरीर एक है और इनमें समग्र करने लक्षण मस्तिकक कक्षका कार्य करनेवाले बाहु और कर्तरी । अर्थात् इन पाँचोंके लक्षणोंके लक्षण या मस्तिक-रक्षण और शरीरका बोध अत्येक कार्य करनेवाले पाँच इस तरह गुणकर्मोंके वे विष्णुके व्यवस्थापकों के चार वर्त होते हैं, इसी प्रकार मानवसमाजकी एक शरीरमें समग्र विचार और निष्कार मस्तिककका कार्य करनेवाले ब्रह्मविद मस्तिकक, बाहु और कर्तरीका व्यवस्थापकों कार्य करनेवाले कर्मविद अतिवचन

मौनवि और गोरम उत्पन्न कर सबकी पैरकी पूर्तिका साधन करनेवाला प्रजोपति वैश्य; और उक्त तीनोंके कर्मोंमें हर एक प्रकारकी सहायता करनेवाला अर्थात् सबके कर्मोंका बोझ उठानेवाला द्यूज ये चार भेद गुणकर्मोंके अनुसार होते हैं ।

सत्य रज और तम ये तीन गुण हैं । समता प्रयत्न और मन्दता है इस तीन गुणोंके समता स्वरूप हैं । इनकी म्यूया-विच्छेदता से चार वर्ग होते हैं, इसका प्रमाण इस तरह सम प्रमाण योग्य है—

वर्ण	कर्म	कर्म
१ ब्राह्मण	सत्य रज तम । । ।	ज्ञान दान उप कृति शान्ति ज्ञान विद्वान् और वास्तव्य ।
२ क्षत्रिय	रज सत्य तम । । ।	शौर्य राज वैश्य द्यूज या अथकावक दान और स्वाभिमाव ।
३ वैश्य	रज तम सत्य । । ।	कृषि गोरक्षा जार वाणिज्य ।
४ द्यूज	तम सत्य, रज । । ।	सेवा, अथवा हुंकार ।

इस रीतिसे सत्य रज तमकी म्यूयाविच्छेदताके कारण मनुजों के चार भेद होते हैं और उनके कर्म भी इसी कारण भिन्न होते हैं । क्योंकि रजोगुणप्रधान मनुज्य स्वभावसे अर्थात् कर्म करता है सत्यगुणप्रधान मनुज्य शान्ति और समप्रवृत्ति रहता है और तमोगुणी मनुज बुद्धिबल होनेके कारण पूर्णतः बर्मेके आह्वयसे रहकर अपना गुणराज बना सकता है ।

ये चार मनुष्यिके लोग प्रत्येक भ्रम मान्य देछ और राष्ट्रमें होत है । भारत वर्षमें इस आतुर्वर्ण्यकी उच्चम व्यवस्था की और आनुवंशिक विद्याद्वारा इस गुणोंका विरोध परितोष करनेकी अपूर्व योजना बचायी है । ऐसी व्यवस्था प्रत्येक राष्ट्रमें हो सकती है और ऐसी आतुर्वर्ण्य-व्यवस्था करनेसे मातृकी समाजका पून कल्याण होगा । परन्तु यह बल बन्ध देछोचोंके ध्यानमें लचक नहीं आयी है ।

भीमराजश्रीधरजी अग्नि (अष्टाव १८ ७१-७८ में) यह आतुर्वर्ण्य इस तरह वर्णित हुआ है—

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविश्रां भूदाण्यां च परितपः ।

अग्निनि प्रविशमकानि स्वभावाप्रभवैर्गुण ४१

(१) ब्राह्मणकर्म स्वभावाप्रभवम् ॥ ४१ ॥

ज्ञान कर्म स्वभावाप्रभवम् ॥ ४१ ॥

वैश्यकर्म स्वभावाप्रभवम् ॥

कर्म भूभूत्यापि स्वभावाप्रभवम् ॥ ४४ ॥

(२) स्ये स्ये कर्मण्यमिरतः सांसिद्धिं लभते
अरः ॥ ४५ ॥

(४) स्वभावानिपत कय कुर्वन्मानोति किदित
यम् ॥ ४७ ॥

(५) सहज कर्म कौन्तेय सद्योपमपि न त्यजेत् ४८
(म गी १८)

“(१) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और द्यूज इनके कर्म (स्व-भावा-प्रभवैः गुणैः) अपने जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे भिन्न भिन्न हुए हैं । (२) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और द्यूज कर्म (स्व-भाव-जं) अपने जन्मके साथ बने हैं । (३) अपने कर्ममें उत्तर होनेसे मनुष्यको उच्चम सिद्धि प्राप्त होती है (४) (स्व-भाव-निपत) अपने जन्मसे निश्चित हुआ कर्म करनेसे पर्य नहीं जाता । (५) (सह-ज कर्म) अपने साथ उत्पन्न हुआ कर्म सद्योप हुआ तथापि उसको छोड़ना नहीं चाहिये ।

सहज काम

इसरीति स्थावरीमें चार वर्णोंके कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न हुए हैं, वेदा कहा है । अर्जुन क्षत्रिय वा । अतः उक्तका सहज और स्व-भाव ज कर्म बुद्ध करना वा । उसमें दिव्यरूप शेष होनेपर भी उसको छोड़ना उसके क्षिप अनुचित वा । इन श्लोकोंमें—

स्व-भाव-वसव कर्म

स्व-भाव-विचर कर्म

स्व-भाव ज कर्म

सह ज कर्म

स्व कर्म

इस सब सन्देहका लक्ष्य एकही है । अर्थात् यह आतुर्वर्ण्य उत्पत्ति पितृ है । कहे तप-प्रभावसे विद्याभिन्न जैसे उदाहरणोंमें यह बहक भी सकता है परन्तु यह अपवाद मात्र है क्योंकि श्रीकृष्ण नन्दराज धीमहिपितामह से धर्म उत्पन्न कथा होनेपर भी ये क्षत्रिय ही कहे गये विदुर परमज होनेपर भी द्यूज माना जाय वा भी श्रोत्रधार्य क्षत्र गुण

समय होनेपर भी साक्षर माने जाते थे । अर्थात् सर्वेवरी वर्तन होता है यह तथ्यतः माननेपर भी उसकी संभावना अवधारणमें मानी जाती थी और अर्जुनस्य श्रियः बहु अर्तमय है ऐसाही कहा गया है । अर्थात् भगवद्गीताका सर्वसामान्य मिश्रण आनुवंशिक अथवा गुण और कर्मसे है यही है । इसीविषये कहा—

यद्देहात्कारमाश्रित्य न योगस्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैव व्यवसायपथे प्रकृतिसंस्थो नियोजयति ५९

स्वभावजेन कौन्तव्य निषण्डः स्वैन कर्मणा ।

कर्तुं मेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्वयच्छोऽपि

तत् ॥ ६० ॥

(गी १६)

'कहकर बंध होकर तैरा हूँ है कि मैं नहीं करूँगा। यह तैरा मिथ्यत्व सिद्धा है । तब स्वभावही तुझे बंधके साथ घसीटे न जायगा । अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधा हुआ तू जिससे मंझबन्ध करता नहीं चाहता उसे विवश होकर करेगा । स्वभावका इच्छा बंध है । अस्तु ।

स्व-भाव अथवा कर्म 'जीव' देना कई करते हैं, परन्तु यह भी अन्तर्मे ही होता है । अपने कर्मसे जो बन्ध है और जो अपनी प्रकृति है उसीका नाम स्व-भाव है । प्रकृति-गुण बंधका अन्तर्गत कर्म है । इस तरहके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंका विचार करके वह आनुवंशिक निर्माण किया गया है ।

जब शरीरमें चारों बर्णोंका वर्गीकरण किया उस समय अनुष्णोंकी स्वभाव-बहुविध देखकर ही इसका यह बर्ण इसका यह बर्ण देना विवश करके राजकायनक द्वारा सबके शिवाही सम्बन्ध देख इन बर्णोंको अन्धधारा पुरव किया गया । अतिसिद्ध बर्ण माननेसे नियम गुणोंका उनमें विविध परिचय होने लगा और अन्ध-स्वभावसे ही गुण-कर्मोंका निबन्ध होने लगा ।

भारतवर्षमें काश्यप, राजसूय कर्मसे इत्यादिकी आचारसे बहुत गिरावर होनेवा भी इस समयमें वही प्रकृति निर्धार है ही है । वह समाज आनुवंशिक सकारणों हैं । गीत कायमें वर्णव्यवस्था इत प्रार्थित बाकायमें बकावर्धित स्वभाव थी । पूर्वकालमें पित्र-मातृवर्णक समय शिवाचर हुई, हम काल आनुवंशिक गुणका ऐसी चरित्र देनी नहीं रही अब इस समय पित्र वर्णोंमें ओहोंकी प्रकृति दीगयी है ।

तथापि आनुवंशिक संस्कार नाम भी निर्धार है तो है, इसमें संदेह नहीं है ।

वर्णका विषय अन्तर्मे बर्णके कर्म आचारसा विवश भिन्न हुए और अन्ध-परंपरासे गुणोंका परिचय वह अनुष्णों स्वभावका मिश्रण है । वर्ण-धर्मों और वर्ण-कर्मोंका निबन्ध करना राजकारणोंका कर्तव्य है । अनेक अनुष्ण अन्धधारा ब्रह्मन् मानकर अपना विवश कर्म करता रहे तथा विवश कारिका उनको अधिकार नहीं है । साथमें बंध काया हो तो समय समयके ज्ञानी पुरुष समयका विचार करते योग बंध करें । अनेक अनुष्ण सामान्यजनका हात बंधन बंध निवर्तन कर्म करता रहे, इसीसे उसकी उन्नति होगी ।

इस तरहकी नियम बंध व्यवस्थाका सब देशोंमें सेवे, जो सबका कल्याण होगा इसमें संदेह नहीं है । परन्तु किसी अन्ध देशमें ऐसी व्यवस्था नहीं है और भारतवर्ष भी परकीर्णोंका अनुकरण करनेकी शिखा बहनेसे अनुष्णोंकी मध्यमाने कर्म करनेकी प्रकृति बंध गयी है, जिससे अनुष्णों संस्था दूरनेके समान हुई है ।

अपने वर्णके बाधमध्यवस्था और वर्णव्यवस्था के ही मुख्य लक्ष्य हैं । परन्तु ये हम समय पूर्वतया क्रियित हो गये हैं और आधीकालमें राज्यशासनका अन्धत्व जिसकेसे संवत्सरा न होनेके कारण अधिकतरमें वे लक्ष्य भिन्न करलाने रहेंगे, इसका भी कोई निश्चय नहीं होगा । अस्तु ।

इस तरह वह आनुवंशिक-स्वभावका यह है । वह व्यवस्था वर्तमानमें गुणकर्मोंकी देखकर निर्माण की थी और जब इसकी पुनर्व्यवस्था करनी होगी तब भी अनुष्णोंके गुण-कर्मके अनुसार ही व्यवस्था करनी होगी तथा राजव्यवस्था-द्वारा आनुवंशिक संस्कारोंसे उसकी शिवाचरी और बंध करवा होगा ।

अनुष्णोंकी तरह वह व्यवस्था पद्ध, पक्षी वृद्ध वस्तुविषयों में भी है । यहाँ भी शरीरमें वर्णिकाय स्वाभाविक उत्पत्ति मिश्र गुणकर्मोंकी देखकर किया जाता है और परवाप व गुणकर्मोंको पुरव करनेके लिये आनुवंशिक रीतिरिती कायक बहता है । बाँबार निबन्ध दस बीनका निबन्ध होनेके लक्ष्य बिगाड़ होता है इसलिये कुली पोते, माप बड़ी अनुष्णोंकी सचिव गुण बीनके ही करनी पड़ती है बंध नरमान है और वह अपने योग्य है । अस्तु ।

गुण कर्मोंके देखकर (गुणकर्मविमर्शनायाः चामुद्यम्यै) आधुनिकोंकी व्यवस्था हुई । इसमें रचनाकी संभावना गुणों और कर्मोंके कारण होती है इसलिये आधुनिकोंका कर्म गुण-कर्मोंके पास जाता है व्यवस्था करनेवाली एक शक्ति हो जयवा सत्ता हो वह गुण कर्मोंके न होनेकी व्यवस्थामें आधुनिकोंकी व्यवस्था करनेमें असमर्थ होनेसे उसका पास आधुनिकोंकी व्यवस्था करनेवाली नहीं जाता । इसी दृष्टिकोणसे कहा कि (तत्त्व कर्तार अपि मां सकर्तारं विधि) ' उस आधुनिकोंकी रचना करनेपर भी मुझे उसका सकर्ता समझ । क्योंकि कर्मत्व गुणोंका है देश नहीं ।

इसका बोध होनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं कि एक ग्राममें कई बाढ़क हैं । उनमेंसे किसीने पहाड़ोंके किछे कुमारोंको और कुमारियोंको जलवा कर उनके कुमार-गुह कुक और कुमारिक-गुह कुक बन वं और उनकी याद विधि निमित्त की । उस दो संस्थाओं निर्माण होनेका वास्तविक कारण कुमार कुमारियोंके अस्तित्वमें होता है । वे न होते तो यह कैसे बनता । इस कारण उन बाढ़कोंमें जो कुमार बन और कुमारिकावन था वही उनके संस्थाका कर्म है मनुष्य केवळ भोजक है । इसी तरह मनुष्य कहते हैं कि मैंने मनुष्योंके गुण-कर्मोंके एक कर बार वर्षोंकी भोजन की । उस वर्ष व्यवस्थाका कर्म स्वाभाविक गुण है मैं नहीं हूँ । मनुष्य भी गुणोंके पास कर्मत्व है ऐसा मैंने और अपनेमें कर्मत्वका अभिमान न कहाँ । [इसी विषयमें बाढ़क न भी न १ छो २० १९ विवरणसहित देखें ।]

समाधिकरण

समाधिकरणसं बर्णोंकी उत्पत्ति हुई है । समाधिक गुण कर्म बाढ़क वर्ग बनाकर उनकी समाधिक करना व्यवस्था हमकीका कारणसे मिलाप सच होने द्वा यह बन धर्मका दृष्टि है । इसका सत्य एक जातिकुल धर्मवादीके लिये गुण धर्मवादीका धर्मवादी होता भी उतना ही आवश्यक है । समाधिक गुण-धर्मवादीका धर्म करना और उनका विषय गुण धर्मवादीके दूर रचना वही गुण-धर्मवादी की है । समाधिक धर्मका विषय हमीन होता । परन्तु इसमें लक्ष्य शक्ति घटती और निरुत्पत्ती होती । इसी कारण धर्मिक गुणोंकी अवस्था आधुनिकोंमें हमेशा मन्दता अधिक होती है । परन्तु धर्म

करन ही सामर्थ्य है और गुण-विकासकी दृष्टि इसका महत्त्व अधिक है ।

एकबार वर्गीकरण अथवा वर्गीकरण आवश्यक समझा गया तो ही वर्गीकरण कागजानमें रहस्यमयमें उभर आगेकी व्युत्पत्तिकामें कपडाकटोंमें दूरवादि सच व्यवहारोंमें दिखाई देता है । इसका लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त है—आधुनिकोंकी व्याप-वृत्ति होनेसे वे भोग कम करनेमें लगते और धार्मिकोंकी व्याप-वृत्ति होनेसे वे भोग बढ़ाते । आधुनिकोंके विचारक धर्ममें छोटे रहनेसे बहुत लक्ष्य जाता व्यवस्था है और धर्मिकोंके कष्टोंके कममें छोटे रहनेसे अज्ञान अज्ञान व्यवस्था है । इस कारण बार वर्गीकी मिश्रता माननेसे भाग अनेक प्रकारकी मिश्रता होती जाती है वही रहस्यमयके दृष्टि रहस्यमें दिखाई देती है । इसलिये धर्म विचारकोंकी आवश्यक है कि वे ऐसी कुछ व्यवस्था करें कि धर्म में रहनेपर भी उन सचमें दिक्कर अनेक होनेके लिये कुछ ऐसे व्यवस्था रचनेका बाल करें कि प्रियसे आगे वर्गीका व्यवस्था में एक होनेका व्यवस्था आ जाय । वह बहोसे वही व्यवस्थाका धर्म धर्मिक समर्थन होता रहा ।

अवधार्य कर्ता और अकर्ता

५ अवधार्य कर्ता हैं और अवधार्य अकर्ता भी हैं ।

(जी ३११) ऐसा कहा है । इस विषयमें एक बड़े विद्वान्का उपदेश वही किया है । कर्म प्रिय समझ कुछ कर्म करता है उस समय उसकी शक्तिका कुछ न कुछ व्यवस्था होता है । कर्मका धर्म ही अपनी शक्तिका धर्म है और यह धर्म करनेसे एक शक्तिकर काम होता है । कर्ममें अपनी शक्तिका व्यवस्था किया ता कर्म भी वही प्राप्त होता । अर्थात् धर्म चाहिये तो कर्मोंके लिये शक्तिका व्यवस्था करना ही चाहिये ।

मनुष्य वही कहते हैं कि मैं अवधार्य कर्ता हूँ । यद्यपि मैं अवधार्य अकर्ता हूँ । यहां न धर्म का धर्म कम न करनेवाला नहीं है परन्तु विशेष रीतिसे कर्म करनेके कारण अकर्ता है । इस विशेष रीतिक कर्म करनेका कारण है । यह कर्ता होता हुआ भी अवधार्य अकर्ता होता है ! यह धर्मका विशेषता है कि प्रिय कम भी होते हैं और (अवधार्य) अपनी शक्तिका धर्म भी न हो । और यह विशेष रीति हम प्रिय मनुष्यों के साथ ही मन्दती है या नहीं ? वे सच वही प्रियानीक है ।

(७) फलासक्तिके बन्धन

न मां कमाणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यत ॥ १४ ॥
एव चात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः । कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः— कमाणि मे स्पृहा न (मतः) कर्माणि मां न लिम्पन्ति । इति यः मां अभिजानाति सा कर्मभिः न बध्यत ॥ १४ ॥ एवं आत्मा पूर्वं मुमुक्षुभिः अति कर्म कृतम् । तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतं एव कर्म कुरु ॥ १५ ॥

कर्मच फलम मेरी लालसा नहीं है (इसीलिये) कर्मोंका मेघ मुझे नहीं लगता । इस तरह जो मुझ मनी भांति जानता है वह कर्मोंसे बांधा नहीं जाता ॥ १४ ॥ यह जानकर पूर्व समयके मुमुक्षु लोगों भी कर्म किये थे । अतः पूर्वके लोगोंद्वारा किये हुए मार्गीय फलके कर्मोंके समान ही तू कर्म कर ॥ १५ ॥

भाषा— विषयी कर्मक फलमागोवर आवण्टि नहीं होती उसको कर्मोंसे कोई बाधा नहीं होती । कर्मोंकफल जो बाधा होती है उसका प्रहमल कारण फलामात्र है । अतः जो फलामात्र कीटा है वह कर्मके बन्धनसे मुक्त होय है । यह विषय जानकर मार्गीय मुमुक्षु लोगोंने कर्म किए थे और वे वह भी नहीं हुए थे । इसलिए इस समय भी फलामात्र छोड़कर कर्म करके प्रमुख कर्म बन्धनसे मुक्त हो सकना है ॥ १४-१५ ॥

आ सुपणा सगुणा सखाया
समानं वृक्ष परि गच्छजात ।
नयोऽन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
भनभ्रमण्या समि खाकसीति ॥

(का १११६०१२)

एक वृक्षपर हा पक्षी हैं उनमेंसे एक उसका मीठा फल खाता है और दूसरा कड़वा फल खाता है अर्थात् फल नहीं खाता ।

जीव जार इतर के हा भक्षुनिके कृत्य देखे हैं । जीव फलयोग करता है और ईश्वर मित्र एत है । वहा हमें पता लगता है कि जीवका फल भागी होण्या है इसलिए फल प्राप्त्यर्थ फल करनेमें लगती शक्ति का स्वयं करना कहता है । और परमात्मा मित्र मृत शरीर वह अपने भागक सिधे फल नहीं कराने लगा वह मनुष्य भक्षण रहना है और भक्षण रहन नहीं रहनी शक्ति का स्वयं नहीं होता । इसलिये जो हाता है वह भक्षण कर्म होता है इसलिए उसको भक्षण भक्षण (पिप्पलं स्वाद्वत्ति भनभ्रमण्या) कहने हैं ।

अन्तिकी रक्षा

पक्षी अपनी शक्ति छील न परानका एक विषय है जो जान हुआ । बाद काई भक्षण मृत भक्षण भक्षण सिधे निष्काम हुआ वह वह अपने ग हात आपने अपने योग बताया था हमें सिधे ग हात निष्काम भक्षण कर्म

होनेपर भी उसकी शक्ति छील नहीं होती । वह कर्ता होने हुए भी भक्षण भक्षण करता होता । वही हात है भक्षण ही निष्काम-कर्मयोगका उपदेश करनेका । निष्काम कर्मका वह भक्षण है । हम निष्काम कर्मयोगसे अन्तिक समझ होता है ।

माचारण योग अपने योग बहानके सिधे सिधे कर्म करके उनका फल स्वयं भागते हैं और भोगीस होती है हुए भक्षणमें छील हाते हैं । हम तरह सक्रम कर्म हीन करानेवाला है । वह योग न रहनक कारण निष्काम कर्म अपनी शक्ति बहानेवाला है । वही विचार लगने छोड़ने अधिक तरह कर दिया है

आसक्तिका दाय

(१४-१५) मावरी व्यवहार तथा शरीरार्थके व्यवहारमें हम देख सकते हैं कि भाग्यविनेही वह वह होते हैं । इसलिये—

पुरीय मातग परतग भूक्त

मीमा होता पञ्चमिरय पञ्च ।

हारण हाथी परतग भूक्त और भक्षण के बीच बहान हाथी परतग भूक्त हम और तोपरत भाग्य हीने वह होते हैं । हरिभ भूक्त पञ्चमिरय पञ्चमिरय भाग्य भाग्य हाथी हाथीपरत भाग्य हीने वह हाता जाता है परतग हीनक भूक्त भूक्त हाथी हाथी भाग्य भाग्य भाग्य

कक जाया ह अमर मयुर रसपर आसक्त होनेसे कमकमें सोचा जाता ह और मठकी आसिपर आसक्त होनेसे ब्राह्ममें बह होती ह । ' मनुन्वीकी अवस्था थी इन्हीं समान है ।

मिष्ट मोक्षण की मयुर सन्ध बन तथा अपने अधि कारपर कई मनुष्य आसक्त होते हैं और उस आसक्तिक कारण अनेक प्रकारक कष्ट भोगते हैं । जो मिष्ट मोक्षणपर आसक्त है उसकी दूसरा मोक्षण प्राप्त होनेसे वह दुःखी होता है । वह मिष्ट मोक्षणमें सुख मानता है परन्तु महा मिष्ट पदार्थ भक्षण करनेसे रोगी होकर कष्ट भोगता है । इसी तरह ब्रह्म की आसक्त होनेवालोंको कष्ट ही होते हैं । अधिकारासक्त मनुष्य अपने हाथमें अधिकार रखनेक हेतुसे इतन आवाचार करते हैं कि उसकी कोई सीमा नहीं होती । इतिहास-कावमें राजनीतिक और धार्मिक अधिकार-कल्याणक कारण मिलने रक्षपाल रूप हैं उससे इतिहासके कुछ कथेकित ही बन हैं । इसका उत्पत्त्य यह है कि आसक्तिने जनस शेष होनेसे मनुष्यक दुःख बढ़ने हैं ।

एक मनुष्य विशिष्ट प्रकारके मिष्ट मोक्षणपर ही आसक्त है और दूसरा जो सार्विक छाक-मोक्षण आजाय, उसकी पालन करते कुछ होता ह । इससे पाठक समझ सकने हैं कि विशिष्ट आसनपर आसक्त रहनेवालेको अधिक दुःख और परम्परा प्राप्त छाक-मोक्षणपर संतुष्ट होनेवाले स्वाध्याय करनेवालेको अधिक सुख मिलता है । इसल आसक्तिव कारण उत्पन्न होनेवाले दुःख की कल्पना पाठक कर सकने हैं ।

" मैं हम एकका भोग करेगा वह एकभोग भिक्षवक में अधिकारी बन करेगा सब सुख मुझे ही चाहिये । " इस प्रकार आसक्तिमें सुखकी इच्छा करनेवाला मनुष्य धर्म मार्गसे सुख प्राप्त न होनेपर अर्थ-मार्गका अवलंबन करता है और सुखक पक्ष करनेपर भी महा दुःखमें पड़ता है ! इसलिये जनि आत्मता छोड़कर बहकाली प्राप्त होनेवाले आगेपर समुद्र रहनस ही महा सुख प्राप्त होगा ह ।

इसलिये भगवान् कहने हैं कि (कर्मफलसे म स्फुट म) धर्मक पक्षपर मेरा आकांक्षा नहीं है । मैं आ कर्म करता हूँ वह पक्षक विषयमें आसक्त न होकर कर्मव्य-बुद्धिसे करता हूँ । इस कारण (धर्माणि मां अस्तिष्ठापि) कर्मों

का भोग या शोष मुझे नहीं लगता और कर्मस उत्पन्न होनेवाले दोष मुझे शरीर नहीं करते । यदि मैं कम फलक भोगपर आसक्त रहता तो कर्मक दोष मुझ बाधा होंगे । '

यहाँ भयम आचरणसे भगवान् प्रीहृन्मन्त्रिने बताया है कि हम आसक्तिरहित वृत्तिसे ही मनुष्य शीघ्रमुक्त होता है । इसक किये दूसरा कोई उपाय नहीं ह । भवगारी पुण्यकि जीवन-चरित्र इस तरह अन्यायक किये मार्गदर्शक होते हैं । साधारण मनुष्योंको यहाँ संदेह हो रहा अवगती पुण्यकि जीवन-चरित्रोंस धर्म-धर्मिका निश्चय हम रीतिम हो सकता है ।

भगवान् प्रीहृन्मन्त्र सब तरहस पूरा समय के तथापि के जो प्रवच्य करते व वह अपना सुख बहानकी सम्पत्ति नहीं प्राप्त जनसमें धर्म-व्यवस्था बिना हा जाय सगुणों की रक्षा हो और दुर्बोका बाध हा जाय सर्वान् सब जनताकी पूज सुखी करनेक किये के पण्यवान् होते थे । इसी तरह सबकी परबवान् होना चाहिये । यही उत्तम मार्ग ह और इसी मार्गसे मनुष्य निर्दोष कर्म कर सकता ह ।

भगवान्के अवतारका यह इच्छा आ जाना है वह इसी प्रकारक सर्व जन हितकारी कर्म करना हुआ किये कर्मोंस भी बह नहीं होता । कर्मके शोषमें सुख होनेकी यह रीति है । एक ही कुछ स्वार्थ-भोगोंके किये किंवा सर्व जन हित सर्वधर्मक किये भी किया जा सकता है । आ कुछ स्वार्थ भोगोंकामे होना है वह बचनप्रकार और जो सब जनताक हित-साधनक किये किया जाता है वह कुछ मुक्तिका मायम बनता है । कुछ तो सदा विनाशक कर्म ह तथापि उनकाके कल्याणके विषय करनेम वह निर्दोष ह और स्वार्थ भोग कामसाम करनेपर मन्त्रेण होता ह । यहाँ किम कमम वच और किमस मुक्ति हानी ह वह विषय स्पष्ट हुआ । यह कर्म हो वह किम उद्देशसे किया जाता है उस उद्देशक कारण वह बचनप्रकारक अवस्था मुक्तिकारक बनता ह । इसलिये पण्यप्रारहित कर्म करना सर्वोपायक ह । भगव न थी हृन्मन्त्रिके जीवन-चरित्रमें धर्मार्थ आत्मक पक्ष-आचारदिन कर्म ही दिखाई देने हैं । इस कारण उनका पावन जीवन सब मनुष्योंके किये जायें माना गया ह ।

आत्मनका कर्म सामार्थ्य इतिवचक कम प्रशारणा करना वैश्वका कर्म आत्मव्यवहार और पश्यन कम कर्मदुष्टात्म

(८) कर्मके भेद

किं कम किमकर्मैति कथयोऽप्यथ मोहिता । तत्त कम प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयेऽशुभात् ॥
 कर्मणा ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणा गतिः ॥७॥
 कर्मण्यकर्म यः पश्येत्कर्मणि च कर्म य । स बुद्धिमान् मनु येषु स युक्तः कुरुस्मकर्मकृत् ॥८॥

अन्वयः— किं कर्म किं अकर्म इति अत्र कथया अपि मोहिताः । तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा बद्धव्यं मोक्षयेत् ॥ ११ ॥ कर्मणः (७१४) इति अपि बोद्धव्यं विकर्मणा च (७१५) बोद्धव्यं तथा अकर्मणः (७१६) च मोक्षयेत् कर्मणः गतिः गहना ॥ १० ॥ यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, अकर्मणि च यः कर्म पश्येत् सः मनुः येषु बुद्धिमान्, स युक्तः (सः) कृतकर्मकृत् ॥ १८ ॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस विषयमें ज्ञानी लोग भी मोहित होते हैं इसलिये मैं उस कर्मके बारेमें सुझे कहूँगा, जिनकी जानकारी न् अशुभसे यस आयागा ॥ ११ ॥ कर्मका तरह जानना चाहिये, विकर्मका तरह जानना चाहिये और अकर्मका तरह भी जानना चाहिये। क्योंकि कर्मकी गति गहना है ॥१०॥ जो कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मको देखता है वह मनुष्यमें बुद्धिमान् बड़ी योपी और वही संपूर्ण कर्मोंका पथावत् करनेवाला है ॥ १८ ॥

म वार्ध कर्म अकर्म और विकर्मका विषय कालके समय बड़े बड़े ज्ञानी लोगोंको भी प्रश्न होता है। इसलिये कर्मका एक प्रश्न केना चाहिये। कर्ममें अकर्म होता है या। अकर्म करनेपर भी कर्म होता है यह बात को समझ केना है यह ज्ञानी वाणी और सब कर्म योग शीतिले करनेवाला समझना चाहिये। इस तरह कर्मका तरह बताना जाननेसे ज्ञान मनुम विवर्तिते मुक्त होकर हम विधि प्राप्त कर सकता है ॥ ११-१८ ॥

है। इन चारों बर्णों के पञ्चकालीक कर्म हैं। कालक बुद्धिले करनेसे ये कर्म बाधक नहीं होत। परन्तु यदि बाह्य बहूत वन कालके लिये विद्याभ्यास करेंगे अश्वि अथवा योग ब्रह्मके लिये मुक्त करके साम्राज्य ब्रह्मके जग जाई यदि वैश्य वन हस्तका करके अपने पास ही रहेंगे और द्रवि वर्णार्थक कृषकका कर्म करने लगेगे या इस तरह किये कर्म स्वार्थ और भागवतिक कारण बंधनके हेतु बनेंगे।

वर्णभ्रमवर्णक को संगतिकरण ब्रह्माक्षति कहा है वह पञ्चक किय है और यह है जिसमें एक-दूसरेके लिये अहमसमर्थन होता है। जहाँ अहमसमर्थन नहीं कहा दोनों की उत्पत्ति होती है। इसलिये योगिकारहित वर्णभ्रम बुद्धिले अहमसमर्थन करनेसे कर्मके हीन गुरु होते हैं।

(एक बातया पूर्वा मुमुक्षुभिः कर्म कृत) यह आन्तरिक अहम-समर्थन पर जानकर प्राचीन-कालके मुमुक्षु लोगोंके कर्म किसे और वे उन कर्मभावज्ञान मुक्त की हुए। मुमुक्षु यह है कि या पारलम्बके कुरकारा पाहना

है। ऐसा मुमुक्षु कालक-कर्म आन्तरिक अहम-समर्थन बुद्धिले कराया हुआ बचनस कुरकारा पाहना है। प्राचीन कालके तन्त्रपर ह्य तरह कर्म करके मुक्त हुए।

इसलिये मनुष्योंको उपदिष्ट है कि वे भी पूर्वोक्तसमान आन्तरिक अहम-समर्थन तथा आन्तरिक अहम-समर्थन कर्मों कर्म करें और परलम्बके कुरकारा प्राप्त करें। इस कर्मका य बचाव जाननेके लिये कर्म करनेसे हीनता सेव केना है इसका अवश्य विचार करना चाहिये। वह विचार जगके लोकोत्ति केना है—

कर्मके तीन भेद

(११-१८) कर्म अकर्म और विकर्म के क तीन भेद हैं। कर्ममें कर्म वर्ण और आत्मनके लिये को कर्मन करने निमित्त हुआ है वह कर्म है। जो इनके विरुद्ध है तो आत्मज्ञान निमित्त है अथवा आत्म विकर्म है और जो कर्म न कराया किंवा आत्मनमें सुखपाय रहना है उसको अकर्म कहते हैं। कर्मके इन तीन भेदों के अहम पयिष्ट है और इन विषयमें किमीका भी मतभेद नहीं है।

वहीं पाठक पूछेंगे कि कर्म और अकर्मका निश्चय करनेमें (कथयः अपि मोहिता) कवि (ज्ञानी) लोग भी मोहित होते हैं वह क्यों ? कर्म, अकर्म और विकर्ममें ऐसी कौमोरी बात है कि जिसके कारण कवियोंको भी मोह हो जाये ? बात ऐसी होती है देखिये— एक मनुष्य चुप चाप खड़ा है, अथवा प्यास करता हुआ बैठा है और उसका मित्र उसके सम्मुख बैठा है। ऐसी स्थितिमें कोई गुस्सा जागर मित्रको मारनेके क्रिये उसपर हमला करता है। यह देखता हुआ भी यदि चुप चुपचाप बैठा रहे अथवा अपना संपत्तिकांभी करता रहे, तो उसका वह अकर्म अर्थात् कर्म न करना भी 'विकर्म' अर्थात् विकल किंवा निषिद्ध कर्म बनता है। यहाँ कुछ न करनेमें भी बड़ा विकर्म बन गया। अब देखिये कि कुछ चुप रहनेमें भी बड़ा हासि-कारक निषिद्ध कर्म बनता है !! निषिद्ध कर्म करनेकी उसकी इच्छा नहीं थी परन्तु जिस समय अपने मित्रकी रक्षा करना आवश्यक था उस समय वह चुप बैठ गया यह संस्था अनुचित कर्म था। इसी प्रकार कोई भुख कर्म करिये। वह समयपर किया था तो सहायक होता है नहीं तो बाधक हो जाता है। इससे पाठक जान गये होंगे कि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी विकर्म होय। वह सब परिस्थिति समय अवस्था आदिपर अवलम्बित होनेसे इन कर्म अकर्मविका निर्णय कठिन करना असंभव है। साधारण कसल तो ऊपर दिया है परन्तु वह बहुव्ययके समवक कारण कभी कभी अतिरिक्त होता है। हमसिधे कहा है कि बड़े बड़े ठाकुरानी भी कम अकर्म और विकर्मका शिकार करनेमें आसितसे हो ऊने हैं, मूक करते हैं।

कर्म व-कर्म और वि कर्म (विद्व कर्म) कौनसा है इसका अथावन् ज्ञान व होनेसे अग्रिम स्थिति अर्थात् पु नर अवस्था प्राप्त होती है क्योंकि वह कदापि कर्म समझ कर अहम करना है अथवा किसी अच्छे कर्मकी विकर्म मानकर छोड़ भी देता है और इससे मोहित मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त होता है। परन्तु जो समयपर वह काम है वह अकर्म है और वह निश्चयसे विकर्म है ऐसा अनन्विष्ट रीतिमान मानता है वह भुख अवस्था प्राप्त करता है।

इस दण्ड (कर्मण्य पोख्यं) कर्म अकर्म और

विद्व कर्मका तत्त्व किंवा स्वरूप जानना चाहिये। कमसे कम इससे जानेका पान तो अवश्यही करना चाहिये। (कमण्यः गतिः गहनता) कर्मकी गति गहन है कर्मका तत्त्व अथवा स्वरूप बड़ा गूढ़ है और कर्मका परिणाम बड़ा विकटता होता है।

अकर्म सच्यका यहाँ और एक अर्थ है। जिस कर्मसे बिलकुल शेष नहीं बगना अर्थात् निर्णय होनेके कारण जो कम न करनेके समान होता है वह कर्म भी अकर्म कहलाता है। निःकाम-भावसे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म होता हुआ भी अकर्म कहलाता है। अर्थात् इन श्लोकोंमें अकर्म सच्यके दो अर्थ हैं—एक अक्षय्य अर्थात् कर्म न करना और दूसरा निःकाम भावसे निःस्वार्थ-भावसे कर्मकी आसक्ति छोड़कर किया हुआ कर्म। वे अर्थ केवल पाठक अन्तरहर्षे श्लोकका भाव देने

(कर्मणि अकर्म यः पश्येत्) कर्म किंवा जानेपर भी जो कर्म न करनेवालेके समान निर्णय रहता है जिसका कर्म निष्काम-भावसे किया जानेके कारण जिसको शेष नहीं बगता कर्म करनेपर भी जो कर्म न करनेके समान छूट रहता है वह बड़ा बुद्धिमान् योगी है। शरीरसे कर्म होनेपर भी वह भाव स्वयम्से अकर्ता होकर रहता है इससे वह बड़ा ज्ञानी और योगी है और वही सब कर्म बचायोग्य रीतिसे कर सकता है। कर्म करनेपर भी जो अपने आपसे निर्णय अकर्ता अनुभव करता है वह भेद है। अगस्त्य शीकृत्यजो कहा हावेपर भी अपने आपसे अकर्ता मानते हैं (देखो गी ७।११) इसका तत्त्व यह है।

(अकर्मणि क यः कम पश्येत्) अहममें जो कर्म होनेका अनुभव करता है। ज्ञाना अकर्ता हावेपर भी जो शरीरसे कर्म करता रहता है। ज्ञाना वाङ्मने बैठा हुआ मनुष्य अपने आपको स्थिर अनुभव करता हुआ भी गति-मान् रहता है और इसी अवस्थामें भी वह स्थिर भोग्य है इसी तरह शरीरकी कर्मसम वाहनमें बैठा हुआ वह मोक्ष-धामका वासी शरीरद्वारा कम होनेपर भी अपने आपसे अकर्ता अनुभव करता है और यह ज्ञान-स्वरूपसे अकर्ता होनेपर भी शरीरसे कम करता है। इस तरह जिसका अनुभव है वही बुद्धिमान् योगी और सब कम करनेका वही अधिकारी है। क्योंकि वही निःकाम कर्मका

(९) कमम अकर्मता

यस्य सर्वे समारम्भा कामसंस्कारवर्जिता । ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु पण्डित बुधा ॥१९॥
 त्यक्त्वा कर्मफलासंग निरयमृगो निराभय । कमण्यमिवृत्तोऽपि नैव किंचित्कराति सः ॥ २०॥
 निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह । शरीर कवलं कम कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
 यद्वच्छालामसतुष्टो द्दन्द्वासीतो विमत्सरः । सम सिद्धायसिन्धो च कृत्वाऽपि न निबध्यते २२
 गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस । यज्ञापाचरत कर्म समग्रं प्रविष्टीयत ॥२३॥

अन्वयः— यस्य सर्वे समारम्भा कामसंस्कारवर्जिता ते ज्ञानाग्निदग्धकर्माण बुधाः पण्डित आहुः ॥ १९ ॥ (१) कम-
 फलसंग त्यक्तश्च निरयमृग निराभय सः कर्मणि अमिवृत्तः अति, न पृथ किंचित् करोति ॥ २० ॥ निरासी यचित्तात्मा
 त्यक्तसर्वपरिग्रह कवलं शरीरं कमं कुर्वन् किंचित् न जन्मोति ॥ २१ ॥ परपथा काम-सतुष्टः द्दन्द्वासीत चित्तमर सिद्धौ
 अशिद्धौ च समः कृत्वा अपि न विबध्यते ॥ २२ ॥ गतसंगस्य ज्ञानावस्थितचेतस यज्ञाय आचरतः सुखस्य कर्म समग्रं
 प्रविष्टीयते ॥ २३ ॥

जिसके संपूर्ण कर्मोंक भारें कमना और संस्कारमें रहित होते हैं और जिसके कम ज्ञानाग्निसे भस्म
 हुए होते हैं उसको ज्ञानी लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जिसने कर्म-फलकी भासक्ति छोड़ दी है जो
 निरय तस मीर बिना मूलके भावयसे मर्षान् अपनी धाकिसे हो रहता है वह कममें मग्न होनेपर भी
 कुछ नहीं करता ॥ २० ॥ जिसने फलकी भाशा छोड़ दी है भस्म-करणका संयम किया है और सब
 भोग साधनोका त्याग किया है ऐसा पुनर कबल शरीरसंरक्षी कम करनेपर मा पापका मागी नहीं
 जाता ॥ २१ ॥ जो सद्ब्रह्ममात्र वस्तुसे संतुष्ट हुआ हुआकि द्दन्द्वासीसे मुक्त ईर्ष्यासे रहित और सिद्धि
 अशिद्धिके विषयमें सम भाव धारण करनेवाला है, वह कर्म करके भी बद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥ जो
 भालकि-रहित और ज्ञानमय चित्तयुक्त है कवल यमके सिधे ही कर्म करनेवाले उस मुक्त पुनरके कर्म
 पूजतामे छप होते हैं ॥ २३ ॥

तब ज्ञानाह और निष्काम-कर्म क्यायोग्य रीतिसे कर
 सक्या है ।

यहां बुद्धिमान का कर्म मम-इति और पुनर का
 कर्म योगयुक्त ब्रह्मा योगी ह तथा कुलकर्मका
 कर्म संपन्न कर्म ब्रह्मयोग करनेपर भी कर्मोंक योगसे भिन्न
 रहनेवाला पूर्व ज्ञानी योगी ।

हम लोगों कोकर्मों कर्म अकर्म और निविह कर्म कीमत
 है, उनके कलम कर है, कर्मका तब गुण होनेपर भी वह
 कर्म किम तरह करनेसे मनुष्य नोचमुक्त होता है इसका ह
 ज्ञानीका उत्तर वर्णन है । इसका विचार करके मनुष्य
 निष्काम जावसे कर्म करके होचमुक्त होकर शुभ गति प्राप्त
 कर सक्या है ।

कर्मका और एक अर्थ

अकर्म काम और विकर्म का और एक अर्थ है ।

विकर्म चायका अर्थ विकल हासिकाक मितर
 करनेवाला कर्म वह तो सिद्धही है । कर्म और अकर्मका भी
 दूसरा अर्थ है । अकर्मका दूसरा अर्थ वह है कि केवल अपने
 अस्तित्वके विवे किया जानेवाला कर्म अर्थात् मोक्ष प्राप्त
 शास्त्रोपदेशान् अपि जिससे मनुष्यका केवल अस्तित्व रहता
 है । वे कर्म तो पञ्चगव्ही हविर्कीर और हज्जवस्तुति भी
 करते हैं । मनुष्य ऐसा उद्यम कर्म है वह मत्त होनेपर भी
 मनुष्य केवल हविर्कीरकोके सामानही रहा तो उत्तम
 जीवन मितर्यकी होता । ऐसे सब कर्म जो बल मनुष्यके
 वैयक्तिक अस्तित्वके साधक हैं वे सब अकर्म हैं ।

जिब कर्मोंसे व्यक्ति और समाजकी स्थिति होती है और
 उत्तम उत्कर्ष होता है ऐसे जो प्रत्यक्षतम बलक कर्म
 हैं उनका ही नाम कर्म हैं । वे सामूहिक हितक और
 वैयक्तिक हितक भी कर्म ज्ञानवा चाहिये और ऐसे वैयक्तिक

मायाय—भोगोंकी इच्छा और भोगमत्त्वको छोड़कर जो मनुष्य मरण कल्प-कर्म करता है वार विमल कर्म जानते हुए हुए ई वह पवित्र है ॥ कर्मका फल भोगोंकी कल्पना छोड़कर अपने आश्रयों ही समुद्र हुआ हुआ जो मनुष्य अपनी धर्मिसे अर्थात् बिना दूसरेके आश्रयसे रहता है उसका शरीर कर्ममें प्रवृत्त हुआ ऐसा ही जनेपर भी उसका नामा कुछ भी नहीं करता वह अकर्ता रहता है ॥ फल प्राप्ति इच्छाका त्याग करनेवाला सबकी मनुष्य सब भोग-साधनोंका त्याग करके शरीर-निर्वाहके लिये विवेकानेका स्वाभाविक कर्म करनेपर भी उनके दोषोंस शरीर नहीं जाता ॥ यह-व्रत-व्रत हुए काम में समुद्र इ-होसे रहित, ईश्वरसे दूर और हानि-कामके विषयमें सम-प्रति रहनेवाला मनुष्य कर्म करनेपर भी वह नहीं होता ॥ फलका भाग करनेके विषयमें जो अहंसीन त्रिषदा सब शब्दोंसे परिपूर्ण हुआ वह वृक्षके लिये कर्म करनेपर भी कर्मके दोषोंस मुक्त रहता है मानो उसका सब कर्म एक ही फल है ॥ १९-२३ ॥

और सामूहिक जलनदिकार कर्मोंसे दूर रहना आवश्यक है इस तरह कर्मों से हैं वह जो जान होना चाहिये । इस प्रकार कर्म वैयक्तिक अस्तित्वकी रक्षा तथा प्रास-हासिक उचितकिय आवश्यक कर्म और दोनों ही अवागति करनेवाले विवद कर्म जाननेसे मनुष्य जाना । भोगी अर्थात् कुछकामसे कर्म करनेवाला और सब कर्म अवागयोग्य शीघ्रिसे फल वैयक्तिक और सामूहिक उचित करनेवाला होगा । या यह कर्म विवेकका ध्यान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये । यह भोगों ५ कोकमें कर्म करते हुए भी निर्दोष होनेकी शक्ति प्रीमगतात् कहते हैं—

कर्मका दोष

(१-२३) इन पाँच कोकमें कर्मोंके करनेपर उनका दोषोंसे बचनेका उपाय कहा है और इसीका नाम यहाँ कर्ममें अकर्मता अर्थात् कर्म करके कर्म न करनेके समान निर्दोष रहना है । वहाँ अकर्मता अर्थ आवश्यक नहीं पान्ति निर्दोषता है । वहाँ कई शोक कहते कि कर्ममें दोष कहाँ होते हैं ? क्या सभी कर्म दोषपूर्ण हैं ? इन विषयोंमें पूर्व स्वात् (म ती ३४) में कुछ लिखा है, तथापि वहाँ भी कुछ कुछ क्लेशना चाहिये । प्रायः कर्ममें कुछ न कुछ दोष उत्पन्न होता है । देखिये चाय वार उच्छवास के स्वाभाविक कर्म हैं । इन ५ मीके कारण बापुमें स्थित जलन्त मृत्यु जीवोंकी हिंसा होती है । जब आस अन्दर किया जाता है तब अन्दरकी उष्मातासे बापुस सुख्य हृदि मरते हैं । अतः जब उच्छ्वासके समस्त बापु बाहर आता है तब वह दोषपूर्ण होता है । इस तरह स्वाभाविक कर्मों में भी हिंसाका दोष है । उस ही क्षणिकी भोजन वृत्त करनेके लिये जब वस्त्रोंका कर्म किया तो भी उस परीपकारक कर्ममें अधिक ज्ञानसे आदिक कारण हिंसा होती है । इस

तरह कर्म स्वार्थके ही अथवा परेपकारके ही हिंसा आदि दोष दूर करना कठिन है । इसके साथ सम्भाव्य दोष भी होते ही हैं जिनका विचार पाठक स्वयं करें । किन्ति अपने पास आध्यात्मिक आवश्यकतासे अधिक संप्रद किया तो कई दूसरे मनुष्योंका भूखा रहनेका दोष उसको लगता है । हाथों अधिकार रहनेपर जो कर्म किय जाते हैं उनमें अनेक दोष होते हैं जिनका कारण अधिकारहीन मनुष्योंको मर्त्यत बर होश है ।

इस तरह विचार करवर पता लग सकता है कि प्रायः कर्मोंमें दोष होते हैं और कर्म करनेसे वे दोष लगोगी । इससे बचना असंभव है । इन दोषोंसे बचनेके लिये कुछही नास्तिक छोड़नेका उपाय अवश्यहीन बताना है । देखिये एक मनुष्य स्वर्गी भोगी प्रासिक किंसे पक्षधरी कर्म करता है । इसका विचार है कि वह कर्म निर्दोष हुआ तो सुख को स्वर्गी भोग अवश्य प्राप्त होगा । भोगपर आत्म हिंसक कारण वक्षों जब विष्णु वा पुरि होगी तब वह कोटी होनसे उनके शरीरस्थ रत्नक जीवानुसरण । इस तरह अन्तर्मनिस यह दोष जाता है । अन्तर्मनिस छोटी जाय तो वह दोष होगा समझही नहीं है । इसी रीतिसे आत्मनिक और भोग छोड़नेसे बहुत दोष दूर हो सकते हैं । इसका अनुभव पाठकोंको स्वयं जा सकता है । अन्तर्मनिस, फलसंग या भाग कामना किस प्रकार दूर सकती है इसका किंसे क्या करना चाहिये अन्तर्मा छोड़नेवाला मनुष्य कैसा व्यवहार करना है आध्यात्मिक विषयोंमें इन पाँच कोकमें निम्नलिखित यह विशेष समन कारण बतल है—

त्याग भाग

(१) यस्य काम-संकल्प वसिन्ताः सर्वे समारम्भाः ।

(ती ४३)

“ जिसक सब कार्य योगोक्त विचारमय रहित होते हैं । ”

आ योग प्राप्त करनेके हेतुने कोई कर्म नहीं करता अपने योग बढानेकी इच्छा जिसमें नहीं है । आ कर्म करता है, परन्तु चक्र-योगकी इच्छा उसकी मर्तमें नहीं होती है । जो सब कर्म यथायोग करता हुआ भी योगधारित रहता है काम-योगका संकल्प भी जिसके मर्तमें नहीं उठता है, जो (स) पक्षीकरण वा संकटनाके क्षिपे (आरंभ) कर्म प्राप्त करता है परन्तु अपने योगोंकी कससा उसमें नहीं होती ।

(२) निराशीतः । (गी ४।१३)

योगोंकी व्याप विमर्श नहीं है । अपने योगक क्षिपे निविध योग चाहिये ऐसी इच्छा जिसक मर्तमें नहीं है अपने क्षिपे योग प्राप्त करनेकी आकांक्षा भी नहीं करना करता ।

(३) गत-संगः । (गी ४।२३)

जिसने योगोंका संग छोड़ दिया । जिसके मनमें फलके योगकेकी इच्छा दूर हो गयी है जिसक मर्तमें निविध योग करनेकी इच्छाही नहीं उत्पन्न होती ।

(४) कर्मफलसंगं त्यक्त्वा । (गी ४।२)

जो कर्मफलके योग करनेकी इच्छा त्याग करता है । अपने कर्मके फलका योग स्वयं योगवा चाहिये ऐसी इच्छा जिसक मर्तमें नहीं है कर्मके फलका योग करनेकी इच्छासे भी दूर रहता है ।

(५) त्यक्त-सर्व-परिग्रहः । (गी ४।२१)

जिसन सब वस्तु-संग्रह करना छोड़ दिया है । जो भाग्य वस्तुओंका संग्रह अपने पास नहीं करता जो अपनी योगधर्म के काम करता है जो न्यूनसे न्यून वस्तुओंसे अपना निर्वाह करता है ।

(६) निराश्रयः । (गी ४।२)

जो किसी दूसरेपर अपना आश्रय नहीं करता । जो स्वयं अपनी शक्तिसे रहता है जो अपनी शक्तिसे अपने आश्रयही सम्पन्न रहता है जो अपने सुखके विषय किसी दूसरेपर वा दूसरे पराधीन अवलंबित नहीं रहता जो अपने ही आचारपर रहता है ।

(७) मित्यं युताः । (गी ४।२)

आ मर गम रहता है । जो सदा सम्पन्न भुक्ती

भी आनन्दपूर्ण रहता है । जिसको अपने अवस्थेही मनमें प्राप्त होता है ।

(८) यदृच्छा क्षाम-सम्पुष्टः । (गी ४।२२)

आ सहज-प्राप्त हुए योग-वस्तुसे सम्पन्न रहता है । जो अपने योग करनेकी अधिकारा भाग्य नहीं काता, जो योग सहज प्राप्त हुआ उससेही जो जलम्बित रहता है योग कम मिलनेपर अन्न नहीं होता ।

(९) यत विचारमाः । (गी ४।११)

जिसने अपना मन, चित्त अपना अग्र-करण करने अधीन रखा है । जो अपने मनको स्वेन सरकने नहीं देता जिसका मन उसकी आत्मासेही स्थिर रहता है वह योगीपर नहीं आता ।

(१०) सिद्धी असिद्धी च समः । (गी ४।२९)

जो सिद्धि और असिद्धिके विषयमें सम भाव धरता करता है । “ सुख मिलनेपर जो गरित नहीं होता मत दुःखसे जो हताश नहीं होता, कापसे वा नर्तक नहीं कात और दुःखसे जो हताश नहीं होता कर्मको सिद्धि मिलनेपर जो उन्मत्त नहीं होता और असिद्धि होनेके जो विकलाश नहीं होता अवस्थि—

(११) सुखातीतः । (गी ४।२९)

जो सुख हुआदि इन्होंने परे पहुंचा है । इन्होंने जो परापूर्व नहीं होता इन्होंने होनेपर जो अपने तन्मासे अन्न नहीं होता इन्होंने हयका होवेपर भी जो अपने सामान्यसे स्थानसे स्थिर रहता है ।

(१२) वि मत्सुखः । (गी ४।२९)

जो दूसरेका दुःख देखकर ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं करता । “ जो किसीका सुख नहीं करता दूसरेके दुःखके विषयमें जिसके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं उत्पन्न होता ।

(१३) मुक्तः । (गी ४।२३)

यह मुक्त कहलाता है । जो पूर्णतः कष्टमोक्ष से मुक्त है उसकी मुक्त कहते हैं । इस सुखके और तो कहते हैं—

(१४) कामावस्थित चतः । (गी ४।२३)

शान्तिमें जिसका चित्त स्थिर रहता है । “ काम्य नर्त है (मोक्षे च) मोक्षके विषयमें बुद्धिस्थ स्थिर होता । इस मोक्षविषयक अक्षयज्ञानमें जिसका चित्त लक्ष्य होता

हवा है कमी उस बड़ा-झालको छोड़कर दूसरे भोग-विषयों में नहीं मटकता, स्वभावसेही जिसका विषय बड़ा ज्ञानमें मग्न है तथा—

(१५) क्षामाग्नि-दग्ध-कर्म । (गी ४।१९)

जिसका कर्म क्षामाग्निसे दग्ध हो चुके हैं । बड़ा-झाल किंवा मोह-झाल प्राप्त होनेसे जिसमें अपना भोग-वर्चनके किये कर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रही है जो केवल ब्रह्मरूप किंवा आत्मरूपसे रहता है, आध्यात्मिक भोगोंके विषयमें जिसकी प्रवृत्तिही नहीं रहती कुछ ज्ञानसे जिससे कुछ पादरूप कर्म होते हैं, वह मुक्त है ।

(१६) यज्ञाय आचरताः कर्म समग्रं प्रविक्षीयते ।

(गी ४।२१)

“ पूर्णक प्रकारका मनुष्य पञ्चके किये जो कर्म करता है, वह कर्म सबका सब लपको प्राप्त होता है । ” अर्थात् उस कर्मका दोष उसको नहीं लगता । पञ्चमें तीन कर्तव्य होते हैं—(यज्ञः=वेधपूजा-सगाधिकरण-वाग) (१) जो सत्कार करनेयोग्य हैं उन दग्धवर्तक पञ्चयोग्य सत्कार करना । (२) संगतिप्रत्यय अर्थात् संनमनवाहना जनशान्ति वक्तृकी वृद्धि करना और (३) दीर्घाकी सहायता करना । इस त्रिविध कर्मका नाम यज्ञ है । इस प्रकारके यज्ञ-कर्म वह करता है । परन्तु ये कर्म करते ही कर्म हो जाते हैं इसलिये देखे कर्मोंका दोष उसकी नहीं लगता । यही बात विमलकिशित वचनोंमें कही है—

कर्मण्यभिप्रवृत्ताऽपि नैव किञ्चित्करतोति सा ।

(गी ४।२)

भुक्त्वाऽपि न निषिष्यते । (गी ४।२१)

कैवल्यं शारीरं कर्म कुर्वन् किञ्चिदपि माप्नोति ।

(गी ४।२३)

वह मुक्त जबका अनसक्त मनुष्य कर्म करनेके किये प्रवृत्त हो तो भी कर्म न करनेके समान विह्वल रहता हुआ बच नहीं होता । केवल शारीरिक कर्म करनेपर भी वह पापका भागी नहीं होता । शरीर रक्षणार्थ आवश्यक कर्म करनेपर भी उसको उन कर्मोंसे दोष नहीं लगता ।

कर्ममें अकर्मता

इन पांच श्लोकोंमें वह एक ही विषय कहा है । (कर्माणि अकर्म याः परयेत्) कर्मोंमें लक्ष्यता देखनेका उपदेश श्लोक

१० (हिंसी)

१० में कहा है । इस तरह कर्मोंमें अकर्मका अनुभव होना कर सकता है । इस प्रकार उत्तम विवरण इन पांच श्लोकोंमें है । जो इन श्लोकोंसे युक्त है वह कर्मोंमें लक्ष्यता है, अर्थात् कर्म करके भी न करनेके समान भुक्त रहता है किंवा उन कर्मोंके दोषोंसे वह छिन्न नहीं होता । कर्मोंके दोषोंसे बचने की वह युक्ति है । भोगोंपर नास्तिक न करनेसे सब कर्मोंके दोष दूर होते हैं । अब कौन मनुष्य कर्मोंसे दोषोंसे बच लेते हैं इसका विचार देखिये—

भोग मार्ग

(१) जो भोग अपने कामोपभोग ब्रह्मार्थके किये ही कर्मका मार्ग करते हैं, (२) जो जनक माता-पत्नीसे कर्म करते हैं, (३) जो कुछ भोगोंपर नास्तिक हैं, (४) जो भोगोंका संग करते हैं, (५) जो अपने पास भोग वस्तुओंका संग्रह करते हैं (६) जो अपने सुखके किये दूसरोंपर अवकर्मित रहते हैं (७) जो सदा भवत और मृते होत हैं (८) जो दास वस्तुमें कमी सम्बुद्ध नहीं रहते (९) जो अपने मनकी भोगोंमें स्वीर मटकन देते हैं, (१०) काम होनेपर जिसको धर्मक होती और हानि होने पर जो वृत्त होते हैं (११) इस तरह सब इन्द्रियों को नमिषत होते हैं (१२) जो भगवद्भक्तोंका स्मरण और द्वेष करते हैं, जो उनके द्वेषी करते हैं, (१३) जो इन दोषों के बचनोंको ध्यान नहीं चाहते (१४) जो आत्मज्ञान या द्वेष करते हैं और भोगोंके विषयोंकाही सदा विचार करते हैं, (१५) जो अपने स्वार्थके किये सब कर्म करते हैं, वे अपने कर्मोंके दोषोंसे प्रतिस्मय बचि जाते हैं । वे जो कर्म करते हैं उसके संपूर्ण दोषोंसे दोषी होते हैं, और उन दोषोंके कारण पाप और दुःखके भागी होते हैं । ऐसे जो पुण्य पादरूपोंके परिचित हों उनमें दुःखोंका विचार करनेसे पाठक स्वयं जाण सकते हैं कि वह भागीकी बाधवित्तक मार्ग निःकन्देह दुःखकारक है ।

शारीरकर्म

यहाँ (शारीर कर्म) केवल शारीर कर्म करने वरुदा संनमि मनुष्य (किञ्चिदपि माप्नोति) पापका भागी नहीं होता ऐसा कहा है । अथ वहाँ ‘शारीर कर्म’ का अर्थ क्या है इसका विशेष विचार करना आवश्यक है । यह विचार अब करने हैं—

मित्राशीर्षतविचारमा त्यक्तस्यपरिमहः ।

शारीरं केयलं कर्म कुर्यान्नाप्नोति किञ्चिदपम् ॥ ११

जिसने मात्रा छोड़ दी है अन्ध-करणका संयम किया है और सब वस्तुओंका समग्र काल भी छोड़ दिया है उसका केवल शारीरिक कर्म करेपर पाप नहीं लगता । ” यह इस श्लोकका भाष्य है ।

ईश-दास्यके कर्म

जबकि छोड़नेसे बातबाका कर्म नहीं होता अन्ध-करणका संयम करनेसे समग्र काल नहीं होता तथा वस्तुसमग्र न करनेसे उन वस्तुओंकी मरिचि नष्ट, दुष्टि आदिके विषयमें की बात करने चाहिये वे नहीं होते । इस तरह सब कर्म खर्च ही खर्च होते हैं । जिसके मनमें भोग मात्र करनेकी भावना है अन्ध-करण स्वर संचार करता है और जो भोग-साधनोंका समग्र करता है वही सदा सर्वदा भोगके कार्यमें व्यग्र रहता है । परन्तु जिसकी कामनाका सब हुआ चित्तक संयम हुआ और जो वस्तुसमग्र नहीं करता उससे किस प्रकारके कर्म होंगे ? अर्थात् कामनाका सब और समसंयम होते ही वह अक्षय्य लाभप्राप्ति मुक्त हुआ उसने निजकी कीद्विरेका नहीं रही कता उसके जो कार्य होंगे वे परमेवरीय विरेकाय होंगे । उसका चित्त ही शांत है इससे कर्म न होगा तथा उसके शरीरसे ही जो कुछ होगा वह शारीर कर्म बनेगा । इस तरह जो शारीरिक कर्म बनता है उसमें इस कर्माकी विरेका न होनेसे इसको वह शारीरिक कर्मका शेष नहीं बना सकता । तथा वह शारीरिक कर्म करनेपर भी वह विहीन रहता है ।

बुद्धाद्वयपर्यं देखिये कि एक गुणमा या दास है । स्वामी की आज्ञासे वह कार्य करता है अन्यत्र न होति कुछ भी उसको कर्म करने पड़ते हैं । तथा किसे हुए कर्मोंके वह दास होती नहीं होता क्योंकि उस कर्मोंमें उसका मन नहीं होता । इसी तरह मनुष्य परमेवरीय अन्ध-करणका दास होता है । उसकी मन दुष्टि चित्त नहींकरा अन्ध-करण आदि सब करनेवरत्तों कीन होती हैं । परन्तु केवल शरीर ही वहाँ अनुगत रहता है । वह ईश्वरीय विरेकासे एकवचन करता है और उसके जो कुछ शारीरिक कर्म होते हैं, उससे उसको कोई शेष नहीं लगता । अब अपने मुखके सिधे उसकी विरेकाही नहीं है अब उसका शरीर परमेवरीय साधन बना

तब उस शरीरसे हुए कर्मसंयमको दास किम मात्र बन सकता है ?

शरीर निर्वाहके कर्म

यहाँ “ केवलं शारीरं कर्म ” का अर्थ ‘ शरीरसे होनेवाले स्वाभाविक कर्म ’ किंवा ‘ शरीर निर्वाहके सिधे अन्ध-करणका कर्म ऐसा जो पचारे होना है । अब उसके भोगोंकी मात्रा पूर्णगते छोड़ दी सब ईश्वरीय सब किया और सब भोग-वस्तुओंके समग्र करनेका भी सब किया तब उससे भोग-वाक्यकर्म कर्म होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है । इसका मत इस अर्थसे समझें वही सब सचता यह तो इस समग्र ब्रह्मात्मा बन जाता है । । अन्ध-करण शरीर रहेगा तबतक शरीर निर्वाहके सिधे उससे कुछ कर्म आवश्यक होंगे परंतु ऐसे शरीर निर्वाहके सिधे कर्मोंके दास नहीं हो सकता क्योंकि इन कर्मोंका सब उससे नहीं रहता । पाशोष्णताय अन्न-पूजादि उत्तम भोग सब अपने स्वाभ आदि सब कर्म शारीरिक कर्म हैं—शरीर-निर्वाहके सिधे सिधे जानेवाले वे कर्म हैं— तथा वे इसको दास नहीं हो सकते ।

कर्मोन्मिषोंके कर्म

यहाँ इस श्लोकके विषयमें कर्मोंका ऐसा मत है कि वही शारीर कर्म का अर्थ ‘ शरीर वा कर्मोन्मिषे होनेवाले कर्म ’ ऐसा है । इस प्रकार अर्थ करनेके सिधे वे दास होते हैं—

कायेन मनसा वृत्त्या कर्तव्यैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनाः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्ममुखाय ॥ (गी ५/११)

कर्मयोगी शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल ईश्वरीय योगवासना छोड़कर अन्ध-करणके सिधे कर्म किना करते हैं । वहाँ जिस पात्रके कर्मोन्मिषे किया है वही अर्थ— शारीर-केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपम् ॥

(गी ५/११)

यहाँ है । इस तरहके कर्माधी करते हैं कि वही शारीर कर्म का अर्थ ‘ शरीर वाक्यके सिधे कर्म ’ नहीं है, परन्तु कर्मोन्मिषे होनेवाले कर्म ऐसा ही नहीं है । इस मतका विचार हुए स्वाभपर आवश्यक करता चाहिये

(१०) यज्ञ-विचार

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नीं ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
 वैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्रावपरे यज्ञं यजेन्नैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥
 ओम्नादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीनिन्द्रियाण्यन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

जो कहते हैं कि 'सारीर कर्म केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपि' इसका अर्थ 'कर्मन्निर्वाणे ही कर्म करनेवाला पापका भोग नहीं होता' है, तो इस अर्थका उत्तर यह होगा कि 'मन बुद्धि और ज्ञानविशेष जो कर्म होते हैं, उनके करनेपर उस कर्मका कर्ता पापका भोग अवश्य होगा। क्योंकि वहाँ 'केवल' सारीर कर्म ऐसा उल्लेख है। यदि केवल सारीर कर्मसे पाप नहीं लगता तो साक्षात्कृत वा बौद्धिक कर्मसे पाप कैसे? परन्तु आचारविधि सयमी और अपरिमितकर्मों के मानसिक वा बौद्धिक कर्मसे पाप लगता यह कल्पनाही मनुष्य मनीषा होती है। इस कारण उस मनुष्यादिबोध अर्थ अपौरुष है।

सारीर कर्म का अर्थ शरीरद्वारा किया कर्म ऐसा करने उसका दोष कर्ताको नहीं लगता। ऐसा लोकोक्त्य आचार मान्येपर ऐसा मानना पड़ेगा कि सारीरद्वारा कर्मका कर्मन्निर्वाणे द्वारा विविध कर्म करनेपर भी कर्ताको दोष नहीं लगता। परन्तु विविध कर्मोंके करनेसे दोष नहीं लगता ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका आचार मानना सर्वथा अवरोध है क्योंकि विविध कर्म सर्वकर्म विविध ही हैं। यदि उसका अर्थ साक्षमिविध कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता ऐसा माना जाय तो साक्षमिविध कर्मोंसे दोष लगता है ऐसा किसीका भी मत नहीं है। अतः भगवान् ने ऐसा अर्थ उपदेश क्यों किया? इस तरह दोनों रीतियोंसे यह उपदेश अर्थ और अवरोधकारक सिद्ध होता है। अब सारीर कर्म का अर्थ यहाँ शरीरद्वारा किया कर्म ऐसा नहीं है परन्तु शरीरवाक्का किये अर्पण वाचक कर्म, ऐसा ही मानना उचित है।

शरीर-विचारके लिये किये जानेवाले कर्म आसारादिव संबंधी पुराणों वाचक नहीं होते। इसका और भी एक हेतु दो मन्त्र है। जो शरीर परमेश्वरने दिया वह उसीकी सयमी अर्पण करनेसे उसका वाक्कत वाचकरीय नियमोंसे ही होना चाहिये। अतः शरीर-विचारके लिये कर्म करनेका

अर्थ ही परमेश्वरीय नियमोंका पालन करना है। परमेश्वरीय नियमोंका पालन करनेसे किसीको दोष उगमकी संभावना ही नहीं है।

अति-संयमका दोष

मनुष्य सामाजिक जीवनमें अपने पास अनित्यमह करनेका दोष करता है। अति-संयम करना बड़ा दोषकरक है क्योंकि किसी एकके पास वस्तुओंका अति-संयम हुआ तो दूसरेके पास उतने प्रमाणसे म्यूना होगी। किसी एकके योग्य वस्तुओंका अति-संयम अपने पास किया, तो दूसरे कई भूके मरेंगे। अर्थात् वह अति-संयमी मनुष्य दूसरोंको मरने माननेका दोषी होता है। हर एक बातमें अर्थात् अतिकार, जब दिया राम-दासन आदि सब व्यवहारमें अति-संयम बड़ा भारी दोष है। अति-संयम करनेकी इच्छाका कारण इस जगत्में विघने पुष्ट हुए हैं उतने किसी अन्य कारणोंसे ब हुप होंगे। इस तरह दोनों का अवकाश वह अति-संयम है। इसको दूर करनेक लिये शक्य सर्व-परिमह वह आदर्श मनुष्योक्त-द्वारा जगत्के समुक्त रखा गया है। शक्य-स्वांग किया अप रिमह अतः केनेका अर्थ अपने पासका वस्तुसंग्रह सब जगत् का मर्यादित किये समर्पण करना और प्रकृत जीवन निर्वाहकी अपेक्षाके अधिक संग्रह न करना। जब पादकोंके सममें इस बातका प्रकाश हुआ होगा कि अति-संयम की वृत्तिसे पाप किस तरह होता है और अपरिमह की वृत्तिसे मनुष्य किस रीतिसे विगत होता है।

आगे (पाञ्चरात्रकृतः कर्म समर्पण प्रविर्त्तिपते) पङ्क्त लिये कर्म करनेवालेका किया हुआ कर्म संस्कृतया वह होता है और कर्म वह होनेका उत्तर यह है कि वह मनुष्य पुष्ट होता है। इस विधानका अर्थ पानमें अनेक लिये वज्र कौनसे है, इसका विचार करना चाहिये। वह वक्ष्य विचार लगने शोकोमें किया है—

सवाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
 ग्रन्थपञ्चास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च धृतयः सन्निवृत्तताः ॥ २८ ॥
 अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपान तथापरे । प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणापामपरायणा ॥ २९ ॥
 अपरे नियताहारा प्राणाप्राणेषु जुह्वति । सर्वेऽप्येते यज्ञविदा यज्ञज्ञपितकल्मषा ॥ ३० ॥
 यज्ञशिष्टाभृतमुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् । नाथ लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
 एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुने । कर्मजान्निहिदि तान्सर्वानेवं क्षाराणा विमोक्षये ॥ ३२ ॥
 श्वेयान्ब्रह्मयमाद्यज्ञाञ्ज्ञानयज्ञ परतप । सर्वं कर्माभिर्लु पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वय — ब्रह्म कर्मे ब्रह्म इति । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मण हुतम् । ब्रह्मकर्मसमाधिता तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् ॥ २७ ॥ अपरे
 वाग्मिणः द्वैत एव यज्ञं पुरुषोत्तमे, अपरे ब्रह्मयज्ञी यज्ञं ब्रह्म एव उपजुह्वति ॥ २८ ॥ अन्ये क्षीरक्षीणि इतिवाग्मि संयमसिद्धि
 जुह्वति अन्ये सत्त्वादीन् विषयान् इन्द्रियवासिषु जुह्वति ॥ २९ ॥ अपरे क्षात्रक्षीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि
 श्रान्तकर्माणि च जुह्वति ॥ ३० ॥ अपरे संनिवृत्तताः ग्रन्थपञ्चाः तपोयज्ञा योगयज्ञाः तथा च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः धृतयः
 (सन्निवृत्त) ॥ ३१ ॥ तथा अपरे अपाने प्राणे प्राणे च अपाने जुह्वति । (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा आत्मपरा
 परायणाः (सन्निवृत्त) ॥ ३२ ॥ अपरे निवृत्ताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे यदि यज्ञविदा यज्ञज्ञपितकल्मषा
 (सन्निवृत्त) ॥ ३३ ॥ हे कुरुसत्तम ! यज्ञसिद्धिभृतमुजः सनातनं ब्रह्म वाप्सि । यज्ञब्रह्म सर्वं लोका न वसति कुतः अन्यः
 ॥ ३४ ॥ एवं बहुविधा यज्ञा ब्रह्मणो मुने वितताः (सन्निवृत्त) तावत् सर्वान् कर्मबान् निहि । एवं क्षाराणा (त्व) वि-
 मोक्षये ॥ ३५ ॥ हे परमपुत्र ! ब्रह्मयमाद्यज्ञानयज्ञाः श्वेयान् । हे पार्थ ! सर्वं कर्माभिर्लु ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३६ ॥

(यज्ञम्) अर्पण (की क्रिया) ब्रह्म हे हवनकी वस्तु ब्रह्म है । ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मके हवन किया है
 (इस प्रकार) जिसकी बुद्धिसे सभी कर्म ब्रह्मरूप हुए हैं वह ब्रह्मको ही प्राप्त करता है ॥ २७ ॥ कोई
 कोई कर्मयोगी देवताओंके संवधका यज्ञ करते हैं और कोई ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञकाही व्रतन
 करते हैं ॥ २८ ॥ और कोई मात्र आदि इन्द्रियोंका सयमरूप अग्निमें हवन करते हैं और कोई दूसरे
 शब्द आदि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं ॥ २९ ॥ और कई लोग ज्ञानसे प्रयत्नरहित ज्ञान
 सयमरूपी योगाग्निमें सब इन्द्रियकर्माका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ ३० ॥ दूसरे कोई भी
 कठिन व्रत करनवाले ब्रह्मसे यज्ञ करनेवाले तपसे यज्ञ करनेवाले योगसे यज्ञ करनेवाले और स्वाध्याय
 के ज्ञानसे यज्ञ करनेवाले गति होने हैं ॥ ३१ ॥ तथा दूसरे कह गपाममें प्राणका और प्राणमें अपानका
 हवन करते हैं और दूसरे कोई प्राण और अपानकी गतिके यज्ञ कर प्राणापाममें तत्पर होते हैं ॥ ३२ ॥
 और कई लोग आहारको नियमित कर प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं ये सभी लोग यज्ञके ज्ञानसेवाले
 और यज्ञद्वारा अपने पापको नष्ट करनेवाले होत हैं ॥ ३३ ॥ हे कीरत्यभेष्ट अर्जुन ! ये यज्ञ करके सबविषय
 रहे समुत्तका भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यज्ञम करनेवालेके लिये अब यह साध
 (सुखदायक) नहीं है तब मला उसको परलोक कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३४ ॥ इस प्रकार
 अनेक तरहके यज्ञ ब्रह्मके मुखमें (यज्ञम्) विस्तारित हुए हैं । तब हम कहें कि ये सब कर्मसे होने हैं ।
 यद प्राण होमसे नू मुक्त हो जायगा ॥ ३५ ॥ हे भेष्ट तप करनेवाले अर्जुन ! ब्रह्मयमाद्यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान
 यज्ञ अधिक कष्टपात्र करनेवाला है । क्योंकि हे पार्थ ! सब प्रकारके कर्मोंका पर्यवसान ज्ञानमें ही
 होता है ॥ ३६ ॥

सावार्थ— यज्ञमान अग्नि, इक्षु सामग्री, अर्पणक्रिया किंवा यज्ञक सब साधन ब्रह्मरूप हैं, ऐसा जो अनुमान करता है, वह ब्रह्म बनता है ॥ कई लोग देवताक उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं और कई ब्रह्मके उद्देश्यसे ब्रह्मका समर्पण करते हैं ॥ कई लोग इन्द्रियोंको संयमरूप ब्रह्ममें विधियोंको इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंके और प्राणोंके कर्मोंको अन्तर्मसंयमाग्निमें इक्षुन करते हैं ॥ कई लोग ब्रह्मसे तपसे योगसे और अन्धधनसे धनका ज्ञानसे यज्ञ करते हैं और संयम करते हैं । प्राणवामाम्नासी कोई योगी अपना हा प्राणमें और प्राणव अग्निलमें यज्ञ करते हैं ॥ दूसरे कई लोगो बाह्यको नियमित करके प्राणव प्राणमें यज्ञ करते हैं, ये सब लोग यज्ञद्वारा अपने पापका नाश करनेवाक हैं ॥ यज्ञ करके जो वच ज्ञाता है, उस अनुसूक्त जो लेखन करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । यज्ञसे जैसा इस लोकमें सुख मिलता है उसी प्रकार परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ऐसे अनेक यज्ञ वेदमें ही वर्णित हुए हैं वे सब यज्ञ कर्मोंकी सिद्ध होते हैं । सब यज्ञोंकी भिन्नता कर्मसे होती है यह तब जो जानता है वह सुख होता है ॥ ब्रह्मब्रह्मसे ज्ञानयज्ञ अधिक कल्याण करवाता है क्योंकि सब कर्मोंका पूर्वसत्ता ज्ञानमेंही होता है इस कारण ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ॥ १४—३३ ॥

विशिष्ट यज्ञ

(१४ ३३) इन इस स्कोकेमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका यज्ञ कहे हैं उनकी सुदीर्घताक लिये उन यज्ञोंको टाकिकाके बलन है । वे यज्ञ भी संक्षेपसे कहे हैं । परन्तु इनके विचार कर्तमें वहाँ रक्षते हैं—
से ब्रह्मकी व्यापक कल्पना पाठकोंको हो सक्ती है । वही जो ।

मुख्य यज्ञ	वेद	यज्ञवेद	वीणाऽम्नाय	यज्ञमान	देवता	अग्नि	इन्द्रि	साधन	फल
१ ब्रह्मयज्ञ पामात्ययज्ञ	१ १	ब्रह्म यज्ञ अन्तर्मयज्ञ अर्ह यज्ञ जीवयज्ञ यज्ञ (ज्ञान) ज्ञानयज्ञ	७।१४ १।१५ ७।१५	ब्रह्म अन्तर्मा अर्ह जीव ज्ञाता	ब्रह्म अन्तर्मा अर्ह परमात्मा ब्रह्म	ब्रह्म अन्तर्मा अर्ह परमात्मा ब्रह्म	ब्रह्म अन्तर्मा अर्ह जीव ज्ञान	ब्रह्म अन्तर्मा अर्ह जीव अग्नी	ब्रह्मकर्मता " " " पारमिद्विषि विषमिद्वि
२ ब्रह्मयज्ञ यज्ञयज्ञ	२ २ ३	ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ	७।१६ ४।१५		यज्ञ देवता		यज्ञादि		पारमिद्विषि विषमिद्वि
३ सरीरयज्ञ	३ ४ ५	अग्नेयिषयज्ञ निषययज्ञ	७।१६			संयम इन्द्रिष	ज्ञानेन्द्रिय विषय		"
४ वातयज्ञ	४ ६	स्वाध्याययज्ञ यज्ञ ज्ञानयज्ञ विज्ञानयज्ञ	७।१८			(शिष्य) (ज्ञान)			
५ प्राणयज्ञ	५ ७ ८ ९ १	प्राणयज्ञ अपानयज्ञ प्राण्यपानयज्ञ अन्तर्प्राणयज्ञ	७।१९			अपान प्राण प्राण प्राण	प्राण अपान प्राणपान प्राण		" "

१ सुविषय	२ ११ योगपत्र	३ १२८	समस्तुक्ति	विशुद्धि
४ कर्मपत्र	१५ उपोपनिषद्	४ १२८		
	१६ उपपत्र	१ १२५		
	१७ ईश्वरपत्र-	४ १२७	आत्मसंन्यास आत्मकर्म	
	कर्मपत्र		योगाति इतिवचनम्	

प्रश्नोत्तर

इस वर्णमें सबसे पहिला पत्र महा-पत्र है। महा पत्रके परमसमस्त, श्रीपारमपत्र, क्षमपत्र ये तीन वर्ण हैं। जो महापत्र नामक अनुष्ठान हिम करते हैं वह क्षम-पत्र है। इस क्षमपत्रके भी और दो पत्र हैं एक भौतिक क्षम पत्र जिसको विज्ञानपत्र भी कह सकते हैं और दूसरा (मोक्षे श्रीमान्) मोक्षक्षमपत्र। भौतिक क्षमपत्रमें कुछ पदार्थोंकी विद्या विध्यको ही जाती है जिससे प्रापंचिक सुखोंकी वृद्धि हो सकती है। दूसरा मोक्षक्षमपत्र है इससे सांख्यिक नवम्, आद्वैत सिद्धि प्राप्त होती है। इस विषयमें बहुत बड़ा भ्रम दृष्टानेयोग्य है—

विद्याया वा अविद्याया यक्ष्मायुष्युपदेक्ष्यम् ।

शरीरं प्रज्ञा प्राविशत्तथा सामाधो ययुः ॥

(अर्थ ११।४।२३)

(विद्या) प्रज्ञान (अविद्या) माहृतिक विज्ञान और जो कुछ उपदेश करने योग्य विद्याकर्म है वह सब अभेद ययुर्बेद समवेद और (प्रज्ञा) अर्थात्वेद रूप सब ज्ञान (शरीर) मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हुआ है । ”

यहाँ दो प्रकारके ज्ञान का उपदेश कर्म मनुष्यमें वेद कर्मसे प्रविष्ट हुए हैं ऐसा कहा है। आत्मज्ञान प्रापंचिक व्यवहारज्ञान और अनुष्ठानसंस्पर्शका ज्ञान वह सब ज्ञान प्राप्त करनेयोग्य है। यहाँ कह लोग अविद्या सर्वज्ञा वर्ण दीक्ष प्रका समझते नहीं और अज्ञान वर्णमें वह धर्म दे देना मानते हैं। इसविधि उसके वर्णके विषयमें जोश्रासा अधिक समझ करना चाहिये—

आत्मज्ञान

अज्ञान

अज्ञान

सृष्टि ज्ञान

आत्मविद्या

अज्ञानविद्या

अज्ञान विद्या

अज्ञान-विद्या

ईश-विद्या

अज्ञानविद्या

() विद्या

() अविद्या

विद्या और अविद्या शब्दोंका यह अर्थ है। विद्या शब्दका अर्थ ज्ञानमात्र विद्या और अविद्या शब्दका अर्थ अज्ञानमात्र अर्थात् सृष्टिकी विद्या है। यही अर्थ निम्नलिखित वेदवचनमें है—

अर्थं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यानुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य ए विद्यायां रताः ॥

अन्यथापुनर्विद्यायां अन्यथापुनर्विद्यायां ।

इति शुभ्रम चीराणां ये मत्सर्वविद्याक्षिणे ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वैरोदयसह ।

अविद्यायां मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

(भा. व. ४।१५।१७; ईशोप. ५-११)

वेदक (अविद्या) प्रापंचिक विद्यामें जो रते हैं, वे भी दुःखी होते हैं और जो कर्मक (विद्या) आत्मज्ञानमें रते हैं [और उपरोक्तपदार्थिके किये की कुछ कम नहीं करते] वे भी अधिक कष्टका अनुभव करते हैं। प्रापंचिक विद्यासे एक काम है और महाविद्यासे दूसरा काम है। अथः ओ मनुष्य (तमस सह) दोनों विद्याओंके साथ साथ प्राप्त करना दिव्यकरी मानता है वह प्रापंचिक विद्याको कष्टके दूर करके महाज्ञानसे अमृतमय मोक्ष प्राप्त करता है।

पाठक सबकर्तृक इस ज्ञानपत्रका महत्त्व जानें और उससे अपना इन्द्रिय-बोझें कमजोर साधन करें। मनुष्यको इहलोकमें अज्ञान व्यवहार अज्ञानके छिने सृष्टि-विद्याका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और प्राकृतिक अज्ञानके छिने भी महाविद्याकी प्राप्ति करनी चाहिये। वे दोनों विद्याएं प्राप्त करनेसे ही मनुष्यका सत्त्वा कमजोर हो सकता है। महापत्र में जो कर्मियोंका और कर्मके अर्थोंका नामनिर्देश है वह इन दोनों प्रकारके ज्ञानका बीजक है। पाठक इसका विचार करके और अज्ञानद्वारा दोनों प्रकारका अज्ञानोपशान्त ज्ञान करके अपनी उत्तरेका साधन करें। इस विषयमें वाचस्पत्येकी अनुपूर्वमें हम तरह किया है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । सत्राय राजस्यम् ॥ ५ ॥

नृत्ताय सूतम् । गीताय दीक्षुपम् ।

धर्माय समाचरम् ॥ ६ ॥ हेत्यै धनुष्कारम् ॥ ७ ॥

(वा पञ्च ६)

‘मोक्षदानकी शक्ति करनेके किये ज्ञानीके पास, शीर्षके किये बीरके पास, मूल लीकना हो तो नर्तकके पास, गायन सीकनेके किये वाद्यके पास धर्म-विषय जानना हो तो धर्म-समाज सदस्यके पास और इतिवार प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो इतिवार करनेवालेके पास वा । इस तरह धार्मिक और पारमार्थिक विचारकी शक्तिके विषयमें वेदमें कहा है वह सब मनन करनेयोग्य है ।

वस्तुतः ब्रह्मचर्यका नियम बड़ा विस्तृत है, परन्तु उसकी सब व्याप्तिका विचार करनेके किये यहाँ स्थान नहीं है । मनुष्य यहाँ इस नियममें इतना ही विवेचन करता है । पाठक इच्छाशील स्मरण रखें कि इस ब्रह्मचर्यमें धृतिविद्या और ब्रह्म विद्या ये दोनों विचार्य प्राप्त करनेका उपदेश किया है । यही ज्ञानब्रह्म है । यह ज्ञान गुप्त अपने शिष्यके अन्तःकरणमें इष्ट बन जाता है । इस यज्ञमें गुप्त यज्ञमान है, शिष्यका अन्तःकरण धर्म है और उसमें इस ज्ञानकी इष्टि की जादृष्टिवां जाती जाती है ।

परमार्थमाका आरम्भयज्ञ

ब्रह्मचर्यका दूसरा अर्थ है परमात्मब्रह्म काका पञ्च अथवा जीवात्मब्रह्म । प्रथमः हम परमात्मके अथवा ब्रह्मके ब्रह्मका विचार करेंगे । इस विषयमें श्रवण ब्रह्ममें निमित्तकियित पठित्वा मनन करनेयोग्य है—

ब्रह्म वै स्वयमु तपोऽतप्यत तदैक्षत न वै तपस्यावस्थमस्ति । इत्याह भूतेभ्यारमानं शुद्धयानि भूतानि आत्मनीति । तत्सर्वेषु भूतेभ्यारमानं इत्या भूतानि आत्मनि सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठतया स्वात्म्यमाधिपत्यं पर्येत । तपोवैतद्यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेध्याम् इत्या सर्वेषां भूतानां भद्रं स्वात्म्यमाधि पत्यं पर्येत ॥ (य. ब्रा. १.१.१.१.१)

स्वयमु ब्रह्मने तप किया उसने देखा कि तपमें सबमनुष्य बनकर नहीं है । इसलिये उस ब्रह्मने कहा कि मैं अपने आत्मका सब भूतोंमें और सब भूतोंका आत्मामें इष्ट बन करूँगा ।

पश्चात् उसने अपने आत्मका सब भूतोंमें और आत्मामें सब भूतोंका इष्ट बन किया । इससे उस ब्रह्मके भद्रता स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त हुआ । इस तरह जो मनुष्य अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्रके किये करता है, वह भेदछा स्वराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है ।

। यहाँ स्वयमु ब्रह्मके आत्मब्रह्मका अर्थ है । स्वयमु ब्रह्म अपने ही ठेकसे प्रकाशित वा, तब उसको किसीमें नहीं जाता । परन्तु जब उसने अपने सर्वस्वका यज्ञ सब भूतमात्र वा सर्वत्र जगत्के किये किया तब उसकी भेदछा सिद्ध हुई, उसको स्वराज्य प्राप्त हुआ और सब जगत्का आधिपत्य इसी कारण उसको मिला । ब्रह्मने जब अपने सर्वस्वका यज्ञ भूतोंकी भद्रताके किये किया तब उसकी भेदछा मानी गयी । इसी तरह जो मनुष्य जलमसर्वस्वका यज्ञ मनुष्यमात्र की अथवा मानिमात्र की भद्रताके किये करेगा, तब वह भेदछा प्राप्त करेगा उसको स्वराज्य । और राष्ट्रमें अधिकारका स्थान प्राप्त होगा । यहाँ स्वयंमु ब्रह्मके आत्मब्रह्म द्वारा सब मनुष्योंको उपदेश दिया है कि वे जो इसी तरह ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मयज्ञ करें । यहाँ ब्रह्मचर्य और आत्मयज्ञ ये दोनों शब्द आत्म-सर्वस्व-समर्पणके अर्थमें हैं । इसी तरह शिवकर्मा (शिवकी रचना करनेवाले परमात्मा) के आत्म-यज्ञका उल्लेख है—

विश्वकर्माका आत्म-यज्ञ

विश्वकर्मा शौचनः सर्वमेधे सर्वानि भूतानि शुद्धयान्नाकारः स आत्मानमाधिपत्यो शुद्ध वाञ्छकार तन्मिवादिभ्योपरमैवेति । य इमा विश्वा भुवनाणि शुक्लविति ।

(वि० ६ १ १९६)

मुनिके निर्वाता जगत्कर्ता परमात्माने जलमसर्वस्वका यज्ञ किया । उसने प्रथम सब भूतोंका यज्ञ किया और अन्तमें अपने आत्मसर्वस्वका भी दूर्पतया समर्पण किया । यह आत्म जगत्के अर्थमें कहा है—

य इमा विश्वा भुवनाणि शुद्धयिर्होता म्यसी द्रष्टिता मः । स आधिपा द्रष्टिनिमिच्छमानः प्रथमच्छुद्धयैर्वा अविशेदा ॥ (य. १.१.१.१.१)
(यः मः पिता) को हम सबका पिता (आधिपति) जानी सर्वत्र परमात्मा है उसने इस सब भुवनोंका प्रथम

किया और पड़की इच्छा करनेवाला वह (प्रथम कण्डू) पढ़ि के स्वात्म के लिये योग्य होता हुआ भी (अथ यत्नम् वा पियेषा) कनिष्ठोत्ति मिलकर रहने लगा ।

वही उसका आत्मपद है और वही उसकी अङ्गणा है । वह उच्च स्वात्मपर विराजमान होनेका अधिकारी होनेपर भी वह कनिष्ठोत्ति साथ मिल-जुगकर रहने लगा । परमेश्वर सबसे भेद है, तथापि वह निष्ठुरसे निष्ठुरके साथ रहता है और उसमें वैतन्त्र्यका प्रकट करण है । इसी कारण उसकी वाग्व्या सबसे अधिक हुई है । इसी तरह जो मनुष्य अपनी उच्छताकी बर्जित छोड़कर नीचसे नीच रही हुई आर्थिक उद्धारक लिये आत्मसमर्पण करेगा उसका महत्त्व अधिक होगा । यह परमात्मके आत्मबन्धका स्वस्व है । इस प्रकार जो आत्मपद करता है वही विपश्चिन्नी होता है—

विश्वजित् विश्वसृष्टिभ्यकर्मा । (अथर्व ४।१।१५)

“ जो विश्वके मुक्तके लिये कर्म करता है, जो विश्वका मरण-शोषण करनेके लिये पालनार्थ होता है वही (विश्व-जित्) विपश्चिन्नी होता है । ” अर्थात् जो आत्मा के लिये आत्मसमर्पण करता है वही विपश्चिन्नी हो सकता है । आत्मबन्धसे ही जगत्में विजय करना संभव है । इसी विषयमें और देखिये—

नारायणका आत्म-यज्ञ

पुण्यो ह नारायणोऽकामयत । अतिष्ठेय सर्वाणि
मृताणि महमेवेद् सर्वं स्वामिति, स पठेत् पुरुष
मेघं चाहत् तेनायतत तेनेध्याऽऽपतिष्ठ
स्त्वाणि मृतानीद् नयममयत् । अतितिष्ठति
सर्वाणि मृतानीद् सर्वं मयति य एवं धिद्वान्
— यज्ञते ॥ (शत भा १३।५।११)

“ नारायण पुण्य—नारायण—वे इच्छा की कि मैं सब भूतोंमें भेद होऊँ और मैं ही सब बूतूँ । हमने वह पुण्य-यज्ञ किया और वह सब भूतोंमें भेद बना । जो इसका वाच जानता है वह आत्म-यज्ञ करनेद्वारा सब भूतोंमें भेद बन सकता है । ”

इस तरह आत्मयज्ञमें परमात्मक आत्म-समर्पणपद बड़ा ही बर्तन है । वही वेद-अज्ञोका आत्मवेद है । वह आत्म-यज्ञकी अवधारण बना वही है । इस विषयक कुछ अर्थ उदा दिखे हैं । इस परमात्मक आत्म-समर्पण-समर्पणपद

आत्मबन्धका सीधा उत्तरार्थ यह है— परमात्मा विश्वभूतों में था । उस समय उसको जाननेवाला और उसकी भेद पदवाननेवाला कोई नहीं था । उसने अपनी सृष्टिमात्म-समर्पण करके सब सृष्टिकी रचना की उसका पालन किया, उसकी व्यवस्था की । इस आत्म-समर्पणके कारण वह सब अणुका अधिष्ठाता बना, समर्थ बना और उसका सब सर्व हुआ । इसी तरह जो मनुष्य आत्मसमर्पणद्वारा सब अणुओं का शिव करनेका वाच करनेमें अपनी अधिसमर्पणकी भा-कष्ट करेगा वही सब जगत्में आत्मीय पदस्वी और भेद पुरुष बनेगा । अर्थात् आत्मयज्ञसे भेदका प्रकट होने है । आत्म-यज्ञ परमात्म-यज्ञ नारायण-यज्ञ पुण्य-यज्ञकी सम्पूर्णसे यह उत्तरार्थ पाठक पढ़ा देंगे और इसको अपने आ-चार्यों करनेका वाच करें ।

मनुष्यका आत्म-यज्ञ

आत्म-यज्ञ जो वैसा परमात्मका करता है उसीके अनुसार जीवहत्याको अर्थात् मनुष्यमात्रको करण आवश्यक है । मनुष्यकी उचितता वही एकमात्र साधन है । जीवहत्या हीयाने बड़ा ही महत्त्व वर्णन किया है, उच्छा वही है । अनेक पक्षके लिये परमात्मका प्राथमिक वह आर्ष है । पूर्व-स्थानमें परमेश्वर अथ वा तथापि वह (अन्तरात्मा पियेषा) कनिष्ठोत्ति की आत्मा मिलि हुआ, उसमें जानेका उत्पन्न करने लगा, कनिष्ठोत्ति का रहने लगा, देव जो कहा है, वह सब मनुष्यमात्रको आर्षों समस्त वाच है । अब मनुष्य वह आर्षों अपने सामने रखें और अपने अधिष्ठाताकी बर्जित भयमें न रहते हुए कनिष्ठ मनुष्योक्त वाच जो उसकी अवस्था देखें उसका सुचार करनेका वाच की और उसकी सेवासे अपनी हृदयस्थता होगी, वना विजय भयमें प्राप्त करें । वही सब उच्च परमात्म-यज्ञ अथवा अन्त-यज्ञ है और अन्तर्गतात्मामें रहे सर्वभूताहिते रता । (अ गी० ५।२५; १२।४) सब भूतोंके हितों रक्षण होनेकी कल्पना है ।

“ अन्त-यज्ञ आर्षोंके अर्थमें ‘ अन्तर्गता अथ परमात्माद्वारा हुआ यज्ञ यह एक अर्थ है । इसका विचार वही तक किया । अन्त-यज्ञका दूसरा अर्थ ज्ञानद्वारा होने वाला यज्ञ है । इसका विचार इस लेखक आत्मवेद विचार है । अन्त-यज्ञका तीसरा अर्थ जीवहत्याद्वारा अथवा मनुष्य

हारा किया जानेवाला काम-पथ है। इसका वर्णन मनु स्पष्टित्वै—

अध्यापनं ब्रह्मपथः । (मनु ३।७०)

‘अध्यापन’ ब्रह्म-पथ है, ऐसा कहकर किया है। यह ब्रह्म-पथ अध्यापन अध्यापनकी प्रथाकी प्रथायोग्य रीतिसे करनेसे हो सकता है। स्वाध्याय-आनय-प्राज्ञा (गी ३।१८) इस धर्म-हस्ता इत ब्रह्म-पथका वर्णन यहाँ हुआ है। स्वाध्याय-अनयकी प्रथायोग्य रीतिसे करनेपर मनुष्यका और राज्यका कल्याण निःसन्देह हो सकता है। जिस राज्यमें स्वाध्याय बंद होगा वह राज्य गिर जायगा। ब्रह्म-पथका अर्थ अर्थ ‘ब्रह्मकर्म करनेके लिये किया जानेवाला पथ’ है। यह मनुजान करनेकी निधि (गी ३।१४ में) यहाँ कही है। “ब्रह्मज्ञान ब्रह्मकर्म है अथि ब्रह्म है इतनीक पदार्थ ब्रह्मकर्म है, ब्रह्म-साधन ब्रह्मकर्म है, ब्रह्म-विद्या ब्रह्म है इतनेक पदार्थ ब्रह्मकर्म हैं। इस तरह सर्वत्र ब्रह्म कर्म-वर्णन मिलने होने लगा वह ब्रह्म बनता है। एक जगत् ब्रह्मकर्म ब्रह्मकर्म है अतः उसको बेसाही देखना यही ब्रह्म है। इसी विषयमें उपनिषद्वाक्य कथन देता है—

सर्वं होतव्यं ब्रह्मायमात्मना ब्रह्म । (मांडूक्य २)

सर्वं कस्मिन् ब्रह्म । (कां उ ३।१३।१)

ब्रह्म कस्मिन् वाच सर्वं । (मैत्रि ४ ३।१८)

यह सब ब्रह्म है।” सब ब्रह्मकर्म है सब ब्रह्मकर्म है अतः सबको ब्रह्मकर्म मानना सदा ब्रह्म है। सब ब्रह्मकर्म है, इसका अर्थ सब ब्रह्मकर्म है ऐसा भी होता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि यदि मैं आत्मकर्म और दूसरा भी आत्मकर्म है तब एक दूसरेका सहायक लेवक बनना भक्त हुआ, तो वह दूसरेका सहायक लेवक और भक्त नहीं होता अतः ‘स्वर्ग’ अपने ब्रह्माकाही ब्रह्मायक लेवक बनना भक्त होता है। “जिस समय सर्वत्र सब आत्मकर्म निर्यात होता है उस समय किसी मनुष्यके कल्याणके लिये आत्म-समर्पण किया तो उसका अर्थ आत्मने ब्रह्माके लिये ही समर्पण किया ऐसा होता है। (सत्ययुक्ताहने रता) जब ब्रह्माकाके हितमें उत्तर होनेका नहींही ब्रह्म-हितमें उत्तर होता है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मकर्मता निर्यात होने कति तो उस समय कोई वह भक्त और मैं उत्तरे भिन्न वह कर्मवादी नहीं रहती। इस समय

१८ (विं.गी)

परोपकार भी स्वार्थ बनता है और स्वार्थ भी परोपकार होता है। ऐक्ये—

यन्मिन्सर्वार्थानि भूतानि आत्मेवाभ्युदयिजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकस्वमनुपश्यतः ॥

वा. यद्. ४ १३; ई. ४ ७)

जिस समय ज्ञानी मनुष्यके अनुभवमें सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय सर्वत्र एकत्वका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मनुष्यको शोक और मोह नहीं हो सकते। शोक मोह तो मैं तू और वह का भेद रहनेक ही होते हैं। जब सर्वत्र आत्माएँ ही हुआ और भेद मिट गया उस समय शोक मोहकी स्थाप ही कहा है ?

‘यजमान अथि अस्मिन् इत-सामग्री, यज्ञसाधन सब ब्रह्मकर्म हैं ऐसा अनुभव होना चाहिये वह बात यहाँ (गी ३।१४ में) कही है। यदि किसीको यह अनुभव हुआ कि वह दूसरेको मानने लगा तो अपने आत्माके ही भक्तता है तथा दूसरेके हितके लिये आत्म-समर्पणकर्म करके लगा तो भी वह अपने आत्माके हितके लिये ही समर्पण करता है और दूसरेको ब्रह्म देना सुविचकी ब्रह्म देना दुम्भी मनुष्यके कुछ दूर करनेके लिये ब्रह्म करना यह सब ब्रह्मकर्मता परमार्थोपासना बनना ब्रह्म-पथ ही है तो वह हीका ब्रह्म बनता है। इस तरह मनुष्य धारम-स्मिन्विषय अस्मिन् परमार्थ बननेको प्राप्त होता है। अत्यंत जब त्यागने ब्रह्म ब्रह्म का आधन कैसा किया जाता है इस का विवेचन यहाँ तक किया है। इससे वह ब्रह्म ब्रह्मकर्म विषय पाठके लिये व्यापने जायगा होगा। जब सबकी ब्रह्मकर्मताके विषयमें एक वचन देखकर इस ब्रह्म-पथके विचारको हम समझ करते हैं—

ब्रह्म वा इहमम आसीत्तदात्मानमेवायैव ह

ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् य एष

येदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति ।

अथ याभ्यां देवतामुपास्तेऽभ्याऽसाधम्योऽहं

अस्मीति न स यद् ॥ (इ उ १।१३।१)

आरंभमें ब्रह्म वा उसने अपने आपको देखा और जान किया कि मैं ब्रह्म हूँ तब वह ब्रह्म बन गया। जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह वह सब बनता है। --रंभ को मैं भिन्न हूँ और उपास्य देवता भिन्न है, ऐसा भेदभावने

देखता है, वह ब्रह्माधी है। इस तरह ब्रह्म-प्राप्त की अन्तिम स्थिति का वर्णन उपनिषद्‌ओं में है। वेदों पञ्च पद्यों नहीं ब्रह्म किया था है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथ
माभ्यात् । ते ह नार्कं मधिमासः सञ्चन्त यज
पूर्वे साभ्याः सगित् देवाः ॥

(५११६४१५ : १ : १११६)

देव पशुके द्वारा ब्रह्मका ब्रह्म करने से। वे प्रारम्भिक धर्म थे। इस ब्रह्मके करनेवाले बने होकर स्वर्गको प्राप्त हुए, जहाँ पूर्व समयके साधक पहुँच चुके थे। वहाँ ब्रह्मसे ब्रह्म का ब्रह्म करनेका क्या लाभ है। इसका विचार करता ब्रह्मिणे। इसी संभव निकल और मायावशेषमें इस तरह ब्रह्मा है—

साध्या द्वाप्ते भूमे भस्मिनाग्निमयजम्, ते स्वर्गो
लोकोमायन् । भादिस्पास्रैवेहाध्वगिरिसस्य तेऽ
भ्रवीन्मनाग्निमयजम् । ते स्वर्गो लोकोमायन् ।

(पृ. मा. ११३६ दिवस १२/७१)

साम्य आदिम और अगिरस इन दोनों प्रकारोंमें प्रतिष्ठा। नस्तिम ब्रजन किया। पाठक यहां देखें कि पूर्व स्थानों में साम्य के स्थापन नहीं अति साम्य है। इसका कार्य देखने के लिए निम्नलिखित सच्योंका परस्पर संगठित किया करिये-

प्रज्ञायाः प्रज्ञा इवम् (गी ४।१४)

पद्मेन यत्नं सुकृतिः । (गी ३।२५)

पञ्चेत यत्न समयवन्त (अ. १/१९४५)

मग्निना मग्निं मयममृत । (पे ३५ ११९)

(दिनांक १२/७/११)

विश्वकर्मा भारमान शुद्धवाचकारः । (निरुक्त १ । २६)

मः पिता ॥ पुत्रः । (म १ १८११)

व्यर्थमु प्रह्न आत्मानं जुहति । (श भा १३।१।३।१)

भारतमातां भारतमाणि मज्जयन्ति ।

महं प्रभु! महमसि मह हृतम् । (गी १५९)

इस सब शब्दोंका लभ (आत्मज्ञा आत्मार्थ) लपज
(२) जाग्रते जगत्का लभ किवा बरी है । वैद-मंत्र,
आद्य-ग्रंथ और लाजिक मेंमें मित्र मित्र शब्दोंका
प्रयोग होता है परंतु इन सबका लभ एक ही है यह

बाप इस तरह तुम्हारा करकेसे निरिद्ध हो जाती है। पर
 मन्मायी पादके कि ध्याने में आजाय ईश्वरिणी बड़ी हल्का
 बिस्तृत विवेचन किया है। शीघ्रता से मन्मायी मन्त्रों रत्न
 होमेय वर्णन है बड़ी वैदिकतन्त्रे यज्ञका यज्ञहार यज्ञ
 हन आध्यात्मि है। साम् मित्र है परतु जगै एक ठो है।
 जगत् । इस तरह यहाँ मन्त्र-वैश्वक विचार समस्त करते है।
 यद्यपि इसका अधिक विचार बर्मी है तबनि पर
 स्वामाभावे करके हलनाही पचाँत है।

गौधारी विष्णुप्रियतम हो लोक परस्व-समल है और
वे धन वसुधैका कार्य स्पष्ट करनेके लिए बड़े उपयोगी हैं—

गीता (२।२४)

गीता (२१७६)

महाराष्ट्र अधिनियम

बर्तमान

माई माई

स्वाध्यायः।

मातृ भाषा

संजीवः

महत्त्वपूर्ण

मार्ग पुनः आरम्भ

महा कवी

आई आई

नमः शिवाय

काई ५७

जो बात मद्रास सरकार द्वारा लोक सभा में बतानी है,
वही मैं मद्रास सरकार को १९१६ में करी है। अतः
मद्रास और बाईका एक ही वास्तव है, यह बात इन्होंने सिद्ध
होती है। प्रत्येक अनुपन्न कटुमन बनना वस्तु है।
प्रत्येक अनुपन्न कटुमन जीवनका नवनवीनीकरण, य
वात छोड़ने के विचारमें करी हैं—

अथ कुरु कुरुमपोऽयं पुरुषो यथा क्रतुर्वसि
होके पुरुषो ममति । (भा ३ ३१११)

‘मनुष्य ब्रह्मणो दे । वैसा यज्ञं करोति ॥ वैसा नरं ब्रह्म
दे । इतिष्ठिते नरं मनु । नरं यज्ञः देसा गीतलोका
दे नीर इक्षते एतां नो हि मनुष्यमन जीवन् नरिन् नर
स्य वचना आहिवे । अतोकि यज्ञ ही उच्यते कथेका दश-
मात्र साधन है । उच्यते किने दूसरा मार्ग नहीं है ।

मनुष्य जातिसमर्पणकर्म वह करनेसे उरच नाराज हो
करता है वह विषय पूर्वार्ण्ड विचारकसेही लग चुका । जिस
राजाके लिये बन्दि कोई मनुष्य जातिसमर्पण करवा है
वो वह राजा उसका योग्यतम चलाता है फिर जयपति

के किये यदि किसीने आत्म-समर्पण किया और वह उसका सेवक बना तो वह प्रभु उसको कभी नहीं मूँगेगा। पञ्च इस विषयमें पूर्ण निश्चय रहें।

देव-यज्ञ

जब योगियोंके देव-यज्ञका विचार करेंगे। यहाँ योगी सत्यका जब कमयोगी है। इन्द्रयोगीके यज्ञोंका विचार जागे (सं. १०-१९-३ में) जालेबाध है। कर्मयोगीका कर्म है तात्त्विक कर्म कुसङ्गतासे करने वाला। व कर्मयोगी देवताओंके वहीरूपसे पूजा-संगतिकरण द्वारात्मक यज्ञ कर्म करते हैं। मनुष्यका जीवनही देवताओंके संगतिकरणपर अवलम्बित है। देवताओंके संगतिकरणसे मनुष्यको धर्मात्मता न मिली तो वह जीवित भी नहीं रह सकता। ऐकिते अज्ञान और भ्रमक ये दो देवताएँ हैं। इनकी संगतिकरणसे मान्य स्वप्न होकर यज्ञके किये योग बनता है। तथा मनुष्यके किये जालेयोग बनता है। भूमि और एक ही दो देवोंके संगतिकरणसे बीजका वृक्ष बनता है और वसने एक जाकर मनुष्य सुखी होता है। गृह और वृक्ष बनता है। इनके संगतिकरणसे मनुष्य गृहमें रहता और उपासने विचरता है।

इस तरह देवताओंका सत्कार संगतिकरण और शान्कर यज्ञ करनेवाली मनुष्यका जीवन एक रहा है। और ऐकिते-गी जाय पूज और सर्व ये देवताएँ हैं। गीका जल, पृथ्वी और सूर्य प्रकाशके साथ संगतिकरण सत्कार और उसको योग मीथेय समर्पण करनेसे वह सुगन्ध होकर मनुष्यको उसमें अमृतक रूप देती है जिससे मनुष्य पुत्र और दीर्घजीवी होते हैं। वज्रमें विविध पराओंका हवन किया जाता है और वज्रमें सूर्य जलित वायु भूमि जालिका सम्पूर्ण जाता है इससे इनका संगतिकरण होकर मनुष्य सुखी होता है। न समझते हुए वह संगतिकरणकी बात बज-विचित्रे सिद्ध होती है और उससे अन्धकार काट भी होते हैं। देवताओंमें वहीरूपसे कर्मयोगी बह करते हुए उससे ध्यान एक प्रसन्न करते हैं।

मनुष्योंमें जाग्रत क्षत्रिय वैश्य यज्ञ अवस्था शान्ति घर व्यापारी और कारीगर ये भी देव हैं। इनका सत्कार और संगतिकरण करनेसे राष्ट्रीय व्यवहार एककर जलित मनुष्योंका कल्याण होता है। नर-मैत्र नामक यज्ञ मनुष्यों

का संगतिकरण करनेसे क्षिय और राजस्य यज्ञ राष्ट्रपर अधिकारी पुनर्नेके किये होता है। जमिहोम, स्तोत्रहोम योगवाग याति विविध प्रकारके यज्ञ मानवी संगतिकरणके किये रहे गये हैं। गो-मैत्रसे गौर्वाका महोत्सव किया जाता है जिससे गो-समृद्धि होती है। इस तरह प्रायः जनेक यज्ञ संगतिकरणके उत्पन्न रहे हैं और इनसे मनुष्यमात्रको सुख होता है। इन यज्ञोंके विषयमें और एक बात विचारणीय है, वह यह देखिये—

मैत्रम्ययज्ञा या पते। तस्मादनुसंधिपु प्रमुम्यन्ते।
जानुसंधिपु वै व्याधिर्ज्ञायते।

(गोपत्र भा. उ० १।१९)

मोपधीप्येय यज्ञ प्रतिष्ठापयति।

(गोपत्र भा. उ० १।१९)

ये यज्ञ औपधियोंके महामन्त्र होते हैं, अतः जानुओंकी अधिर्वाते प्रयुक्त होते हैं। क्योंकि जानुओंकी अधिर्वाते व्याधिर्वाती होती हैं। औपधियोंमें यज्ञ प्रतिष्ठित होते हैं।

इस तरह यज्ञमें जो औपधियोंका संगतिकरण होता है वससे योग दूर होनेसे मनुष्यके सुखकी वृद्धि होती है। सब जानुर्वादी प्रविष्टि औपधि देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुई हैं। संपूर्ण सृष्टि-सत्त्व देवताओंके संगतिकरणसे सिद्ध हुआ है। समाज-काय राज्य धामन-काय राष्ट्रीय व्यवसाय तथा कई अन्य शास्त्र इसी देवता-संगतिकरणक फल हैं। इसका नाम देव-यज्ञ है। यह महत्त्वपूर्ण विषय है तथापि यहाँ इसका संक्षेपसे स्वरूप कथन किया है जिसके पढ़नेसे पाठक इस विषयको समझ सकते हैं। आजकल देव-यज्ञका एक धारा इतनस्पये नष्ट हो रहा है और देश सब सुन्न हुए हैं। पूर्वांक रीतिसे विचार करनेपर पाठकोंको संपूर्ण देव यज्ञकी कल्पना हो सकती है।

यज्ञका यज्ञ

जैसे पक्षीयोंके आँकड़े उत्तरार्धमें अक्षप्रतिमें यज्ञक द्वारा यज्ञका हवन करते हैं ऐसा कहा है। इस यज्ञके स्वरूप का कथन तो पूर्व-यज्ञानमें अक्ष-यज्ञक यज्ञक प्रयोगमें हो चुका है तथापि यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि यज्ञ द्वारा यज्ञका यज्ञमें यज्ञक वह अत्रय समर्पण-योग है। सर्वभूतोंके हितके लिये जाग्रत-समर्पण करनेका वह एक यज्ञ है। वह समर्पणयज्ञ यज्ञ करनेके समय में जाग्रत

प्रश्नका है । इस विषयमें विम्बकिशित वचन देखनेयोग्य है—
 बल तपोः सत्यं तपः, श्रुत तपोः शान्तं तपोः,
 दमस्तपः शमस्तपो दाम तपो यथा तपो
 मनुष्यः सुब्रह्मैतदुपास्वैततपः ॥

(महाभा उ १११)

तपो दमः कर्मैति प्रतिष्ठा । (वेद उ ३३)
 तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । (छे उ ११११)
 तपसा प्राप्यते मरश्चम् । (मेनि उ १३)
 तपसाऽपहृतपाभ्या । (मेनि उ १४)
 सम्यस्तपसा ज्ञेय भारता । (मुण्डक ३३/१५)
 तपो ब्रह्मचर्यम् । (प्रश्न उ ११५)
 तपो वैराग्यम् । (महा उ २)

“ सरकठा घन, विद्याभवन आदि इष्टिवचन
 मन्त्रात्मक ज्ञान बल, अपरा (मू) अस्मिन् (मुका)
 ज्ञान और (स्वा) ज्ञानार्थके क्रिये प्रयत्न करना (ब्रह्म)
 ब्रह्म-वाक्यिक अनुष्ठान करनेका नाम तप है ॥ तप इस और
 कर्मही सबका आधार है ॥ स्वाध्याय और उपवेश करना
 वह तप है ॥ तपसे बल प्राप्त होता है ॥ तपसे पाप दूर
 होता है ॥ तपसे अहमाकी प्राप्ति होती है ॥ ब्रह्मचर्य तप है
 और वैराग्य भी तप है । ”

इस वचनके मतसे तपकी कल्पना पाठक कर सकते
 हैं । तप सर्वत्र कामदायक होनेसे तपका जीवन न व्यतीत
 करना इतिहासक है ।

(३) योग-यज्ञा = योगका अनुष्ठान करनेवाले ।
 नम निमम आसन्न प्रमदयाम प्रयाहान प्याम वास्य,
 और समाधिस्थ अहीन योगका अनुष्ठान करनेवाले
 योगी अथ योग-यज्ञ करने अहमोक्ति प्राप्त करते हैं ।
 योग का दूसरा अर्थ श्रेष्ठ करना है । वैश्वमात्रमें
 अनेक जीवविशेषों संयोग करनेके क्रिये योग शब्द प्रयुक्त
 होता है । दीर्घानुयोग जीवजीव योग अग्नि औपनि-योगसे
 शरीर-स्वास्थ्य दीर्घानु-आत्म निर्गोपना-अग्नि अग्नि करते
 हुए अपना तथा जनताका रक्षणचन करते हैं । जीवजात-यो-
 में यही योग किया जाता है जिससे रीतिधर्मि लोग दूर
 होकर बड़ा काम होता है । वह योग बड़ा उपकारक है ।
 इसी तरह विविध प्राणोंमें योग शब्दके विविध अर्थ
 हैं । पाठक विचार करने को यहां कुछ दो सकते हैं, उनका

समावेश इस विभागमें करें ।

(४) स्वाध्याय-ज्ञान यज्ञा = स्वाध्याय-यज्ञ और
 ज्ञानयज्ञ करनेवाले । स्वाध्यायका अर्थ है, (स्वा +
 अध्याय) अपनी उन्नतिके क्रिये जो जो आवश्यक विचार
 हैं, उनका अध्ययन करना । ज्ञान-यज्ञका अर्थ है जो ज्ञान
 अपनेकी विविध हुआ है वह दूसरोंके मित्रता अर्थात्
 अध्ययन और अध्यापन ये दोनों बडेमारी यज्ञ हैं और ये
 दोनों संपूर्ण मानव-समाजकी उन्नति करनेवाले हैं । क्योंकि
 ज्ञानसेही सबका मनुष्यत्व और मित्रेयम् सिद्ध होता है ।
 अतएव प्रारम्भसे इस समवतक जो ज्ञानका प्रयास बहुत
 काया है वह क्रिये मनुष्यके क्रिये उपकारक हुआ है
 इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । मानकी समाजकी जो
 कुछ उन्नति इस समय हाएक पक्षमें रही है वह
 सब इसी स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान यज्ञ अर्थात् पढ़न और
 पढ़नसेही हो रही है । यहां स्मरण रहे कि यह पढ़न और
 पढ़न बल रूप होता चाहिये । ज्ञानक यह एक बला
 हुआ है और ऐसे प्रयोगों का पढ़न-पढ़न किया जाता है कि
 जिससे मनुष्यकी प्रवृत्ति विराट कर धर्मकी ओर न जाती
 हुई अन्धधर्म की ओर होती है । इसलिये इससे मानव-समाज
 विराट रहा है । अतः इसको सुधारनेके क्रिये स्वाध्याय और
 ज्ञान यज्ञका होना चाहिये अर्थात् वह परिवर्तनाका
 केन्द्र होना चाहिये ।

प्राणायाम

प्राण और अपाणके अर्थ साधारण कुछ निश्च हैं और यहां
 कुछ निश्च हैं । यहां जो अर्थ है वस्तुतः स्वयम् यह है—

(१) प्राण = मुख अथवा नासिकाद्वारा जो वायु
 बाहर जाता है उसका नाम प्राण है ।

(२) अपाण = मुख अथवा नासिकाद्वारा जो वायु
 अन्तर भीच्छी और जाता है उसका
 नाम अपाण है ।

साधारण इसके विकसुक्त विपरीत अर्थ हैं । अतः गीताके
 श्लोकका अर्थ करनेके समय ये अर्थ स्मरण रहें । (अपानि
 मार्थं सुकृति) को अपानमें मात्रक हवन करते हैं वे
 पूरक प्राणायाम करते हैं और (प्राप्ते अपान) को
 प्राणमें अपान वायुका हवन करते हैं, वे दोषक प्राणायाम
 करते हैं और प्राण तथा अपानकी गतिवि विरोध करनेवाले

कुंभक ध्यानायाम करते हैं । प्राणोंका प्राणमें हवन करने वाले धर्मात्मा जिस प्राणवायुकी स्वाधीनता हो जाये, उसीमें हमारे प्राणोंका प्रपन्न करने कायमें सब प्राणोंकी स्वाधीन करते हैं । वायुको बाहर निष्क्रम कर बाहर रोकना, अन्तर भरकर अन्तर रोकना बाहर जानेकी और अन्तर धारणकी हम दोनों गतिधर्मोंको रोक कर प्राणको स्थिर करना और उस गतिसे प्राण प्राणको चक्रान्त में विविध प्राणायाम है । प्राणायाम विशेष महत्त्वका विषय है और वह मुख्यतः गुल्फे पास रह कर लक्ष्यपन्न किया जाय तो ही वह वायुराशेय तथा योग सिद्धि देकर मनुष्यको समाधिस्थितिपथ पहुँचाता है । परन्तु इसमें यदि होय हुए तो विविध रोग उत्पन्न होते हैं । इस क्रिये इसका विशेष अन्त्यास गुल्फे पकड़ नहीं हो सकता अतः प्राणायामोंका सविस्तर वर्णन नहीं करना उचित नहीं है । जो पाठक प्राणायामका विशेष अन्त्यास करना चाहते हैं वे किसी उच्चतम योगीके आश्रममें रहकर उसका साधन करें ।

प्राणायाम करनेवालोंको निश्चयपूर्वक लक्ष्य निश्चित करना चाहिये । यदि धर धर कर आकम्प भोजन करनेवालोंमें प्राणायाम नहीं होगा । ही भाग जब और एक भाग जब समकाले पश्चात् एक भाग वेद लक्ष्मी रक्षणा चाहिये । गावका दूध भी लक्ष्मी सात्त्विक भोजन करना योगाभ्यासियोंको उचित है । राजस जवका लालस मात्रा करनेवालोंको प्राणायामसं कदापि मुख नहीं होगा । उच्चतम गुल्फे नाम रहकर प्राणायाम करनेसे शरीर (स्थापित कर्मपदा) शरीरस्थित हो जाता है और अपने आत्माकी शक्तिका अनुभव होता है ।

यथापिण्डान्तमुञ्जो याम्नि प्रथम सजातमम् । (११)

बस करनेवा जो बस होय रहता है उसको बहुत करने दे । इस लक्ष्यका मात्रा करनेवाले लोग समानता लक्ष्यको प्राप्त होते हैं । अर्थात् वे लक्ष्यपन्न करते हैं । पूर्णतः अन्त पक्ष करने अपने सर्वस्वका अर्पण करनेवाला जो कुछ बचना है उसका भोग अपने जिह्वे करनेसे मनुष्यका आत्मा उन्नत होता है । इस कारण जो अक्षिप्त रहता है वही अपने भोगके सिद्धि रक्षणा चाहिये । वही मात्र वस्तुपूर्वक सिद्धि भिन्न भिन्न अर्थमें कहा है —

तत्र तपनम भुञ्जीथाः । मा शुचः ।

करत स्थितमम् । (वा य य ११) हय १)

इस कारण सागसे पाव करने भोग कर । तब इसका किसका भूला बन है ? अपने पास जो बन हवन बन, विद्या तथा अन्न पश्चात् होगा, इसका नाम अन्नपत्री ज्योति के किये करके जो कुछ बचेगा उसका स्वयं भोग योग योग है, इससे अधिक भोगोंकी उत्पन्न ध्यान भय अयम है क्योंकि बन किसी एक व्यक्ति नहीं है । यह के समकाल है । इसीप्रिये जो अपने पास अन्नपत्री भोग करते हैं, वे पात्री होते हैं और जो अपने पासके अन्नपत्री रत्न द्वारा बस करते हैं, वेही उसका योग उपयोग करते हैं, अतः वे पुण्यवत्ता होते हुए सहायिकी प्रथम करते हैं ।

(न अय लोकाः मयङ्गव) यह न करनेसे एव लोकमें भी मनुष्यवत्ता नहीं होती । यदि मनुष्यमें शान-आन त्याग प्राप्त अर्थात् बस-आन प्राप्त हो जाय तो वे मनुष्य ही नहीं रहते । मनुष्योंका मनुष्यपन्न बस-आन ही स्थिर रहता है । मनुष्यके साथ बसकी उत्पत्ति हुई है ऐसा जो न ही ११ में कहा है बसकी वही उत्पत्ति है । मनुष्य-वाचक वर लम्प (म रमते) जो लम्प नहीं रमता, जो त्याग-आनसे रहता है जो पक्षपन्न जीव स्वकीय करता है इस अर्थका वाचक है । मनुष्य-वाचक जन नाम संतान उत्पन्न करनेके अर्थमें है । वहां जीवका बस करनेका भाव है । जीवका बस करनेका अर्थ अर्थात्पुण्य गृहस्थ-आनन्दका आचरण करना है । मनुष्य-वाचक लक्ष्मी आनन्द । पञ्चमका आदि अन्तः । सामुदायिक जीवन स्वकीय करनेका अर्थ अर्थात्पुण्य है । सामुदायिक जीवन पक्षमें ही सुखकर हो सकता है । अर्थात्पुण्य इष्टिकाले स्वर्गीय भोगी भोगोंका लक्ष्य अन्तर्गत दुःखद्वारा ही सिद्ध होता है । इस तरह देखनेसे मनुष्यका सर्वका बसके साथ स्थित है वह बस स्थित होती है । अर्थात् यदि इस लोकमें बसके विना स्थितिही संभावना नहीं है तो यद्य (कृता अन्तः) परलोक बसके विना प्राप्त होगा वह कैसे सिद्ध होता है । अर्थात् हृदय-आनन्द की उत्पत्ति प्राप्त होती है वह वर वन और त्याग आचरण ही अवलंबित है ।

इस तरह जैसे वर (प्रसन्ना मुख न मानके हृदय भागमें) देखने करते हैं । वे वर वर (कर्मज्ञान सिद्धि) कर्ममें सिद्ध होनेवाले हैं, कर्म न करनेवा एक भी वर सिद्ध नहीं होगा । वह वर अन्तर्गत (पर्यं आत्मा वि

(११) ज्ञानका महत्त्व

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रभेन सेवया । उपदेक्षन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तरुवर्णिनः ॥३४॥
पञ्चात्मा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पाण्डव । येन भूतान्यप्यशेषेण ब्रह्मस्यारम्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्वं ज्ञानप्लवेनैव धुत्वेन सत्तारिष्यसि ॥३६॥
यथैषासि समिद्धोऽग्निर्मस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निं सवकर्मणि मस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

अन्वयः— प्राणिपातेन परिप्रभेन सेवया तत्त्ववर्णिनः इत्यर्थः शानसे उपदेक्षन्ति तत्त्वं (त्वं) विद्धि ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव ! वत् ज्ञात्वा (त्वं) पुनः एवं मोहं न यास्यसि येन भूतानि क्लेशेण आत्मनि संशो मयि ब्रह्मसि ॥ ३५ ॥ (त्वं) सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि पापकृत्तमः कसि चेत्, सर्वं बुद्धिर्न ज्ञानप्लवेन एव सत्तारिष्यसि ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः पृथोसि मस्मसात् कुरुते तथा ज्ञानाग्निः सवकर्मणि मस्मसात् कुरुते ॥ ३७ ॥

प्रथम विवेकके साथ प्रभ और शुद्धी सेवा करनेसे तत्त्वको ज्ञाननवाले ज्ञानी मुझे ज्ञानका उपदेश करेंगे । तमसे उस ज्ञानकी तु ज्ञान ॥ ३४ ॥ हे पाण्डव ! जिस ज्ञानको जाननेसे तु फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होया और जिससे सब भूतोंको अपने आत्मामें और मुझमें तु देखेगा ॥ ३५ ॥ यदि तु सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो मो सब पापको ज्ञानरूप मौकासे तु उत्तम रीतिसे पार कर जायगा ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको जला डालती है वैसेही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको दह्य करती है ॥ ३७ ॥

भाषा— यदि कोई मनुष्य ज्ञान प्राप्त करनेका इच्छुक है तो वह सगुरुके पास जावे उसको ब्रह्मवत् मन्त्रम कर, मन्त्रमन्त्रसे उसकी सेवा करे और अपने मनोपात्र मन्त्र विवेकपूर्वक और निष्कपट-भावसे उसे पूछे । सिन्धुकी सेवासे समुद्र होकर वह समुद्र उसको क्षय ज्ञानका उपदेश करेगा ॥ इसी सत्य ज्ञानसे मनुष्य मोहबालमें नहीं फँसता मत सब मूर्खोंको आत्मामें और आत्माकी सब भूतमात्रमें देखता है ॥ अन्वय पापी मनुष्य भी इसी शानसे पत्यसे पार हो जायगा ॥ क्योंकि शानसेही सब कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले बंधन दूर होत है ॥ ३४ ३५ ॥

मोक्षसे) विवेक रीतिसे मनुष्य मुक्त होगा । कर्मसे वह सिद्ध होते हैं इतनी बात जाननेसे मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त होता है कर्म करनेसे सब प्रकारके छोटे बड़े बन्ध सिद्ध होत हैं, इससे उसको शान होता है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है । कर्मसे मुक्ति प्राप्त होती है इसका वह आशय है । यही बात अनेक श्लोकमें कही है—

प्रथमयाया पञ्चात्मा कामयः श्रेयान् । (गी ४/३३)
इत्यन्तर ज्ञानपरा मेघ है अनेक कष्टवाज करने वाला है । वह इत्य गौ भूमि तथा अन्य पदार्थ जलवा शानसे सिद्ध किसी वस्तुका शान करनेसे जो काम होते हैं, उससे कई गुना अधिक काम ज्ञानका शान करनेसे होता है । अन्त्यरूप गुप्त आचार्य शिक्षक आदिवा को महत्त्व है वह इसी कारण है । वे राष्ट्र-निर्माता हैं । शिक्षासे ही सब कुछ उन्नति प्राप्त होगी है । (ज्ञानात् मोक्षः) शान

से मोक्ष होता है आशसे स्वातंत्र्य प्राप्त होता है शानसे स्वाधीनता प्राप्त होती है शानसे मनुष्य और निःशेष मित्रता है, वह बात सत्य है । वहाँ वैसा कौण्डि शान औक्तिक-व्यवहारका साधक है उसी तरह पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक सिद्धिसे प्राप्त करनेवाला है । अर्थात् दोनों स्वार्थों में शानसे शुभ व्यवस्था मिलती है । अतः कहा है—

सर्वे काम ज्ञाने परिसमाप्यते । (गी ४/३३)
सब कर्मोंकी समाप्ति ज्ञानमें होती है । शानमें कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् सब शान होनेसे पञ्चात् कर्म नहीं रहते । क्योंकि आत्म शान किंवा सब शान अन्तिम है, जो प्राप्त होनेसे पञ्चात् कुछ भी आत्मक व्यवसाय नहीं रहता । वह शान जिस तरह प्राप्त होता है इस विषयमें अनेक श्लोकोंमें वडा महत्त्वका उपदेश है उसका सब मनपूर्वक अवलोकन कीजिये—

अज्ञान	ज्ञान
मोह	मोह—नाश
पाप-प्रवृत्ति	पुण्यशीलता
कर्म-बोध	बोधोपहित कर्म
बन्ध	मुक्ति

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानसे क्या काम है और अज्ञानसे कौनसी शक्ति है। अर्जुन अज्ञानके कारणही मोहबल हुआ था। भगवद्गीताका उपदेश प्रत्यक्ष करनेसे उसमें ज्ञानका प्रकाश होकर अज्ञान दूर हुआ। अतः वह एककर्मण्य करनेमें समर्थ हुआ। ज्ञानका यह एक गोप्यमें ही रहता है अतः कहा है—

मोह—नाश

पश्चात्वा न पुनर्मोहमेव यात्यसि पाण्डव ।

(गी ११.५)

“ हे अर्जुन । ज्ञान प्राप्त होनेसे तूके ऐसा मोह फिर नहीं होगा। वह ज्ञानसे पहिजा काम है। अतएव श्लोकमें कहा है कि अत्यंत पानी मनुष्य भी इस जलमें पानेसे पारक पार हो जाता है। (गी ११.५)

यहां वह जगह उत्पन्न होती है कि पानीको ज्ञान कैसे प्राप्त होया और वह ज्ञानकी गौरवमें बैठकर पापमें पार किस तरह होगा ? पानी मनुष्य मोहबल होनेसे उसको ज्ञान नहीं होता यह सत्य है परंतु किसी वशात् कारणसे जबका पाप मोक्षकी समाप्ति होनेपर उसके मगमें पापके विषयमें हो-पट्टि होनेसे सरसंगति करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। किसी समय वहकासे सङ्केतगति प्राप्त करके उसको पश्चात्ताप होनेसे, वह मनुष्यको धारण बाकर उसकी सेवा करके अपने उद्धारके विषयमें प्रसन्न पड़ता है। पश्चात् पुनः ही भूषासे उसको सत्य ज्ञान प्राप्त होकर वह पानी भी उत्तम ज्ञान नौकर परकर हो-प्रभुके पार होता है। इस चरणके इतिहासमें ऐसे कई पानी बहे गये हैं कि जो मोक्षता करण होनेसे बड़े पवित्रता बना है पश्चात्ताप होनेकी वे सीने मार्गपर जा चुके हैं। पश्चात्ताप सच्ची मुक्ति करनेवाला है। पश्चात्तापसे तबहुना मनुष्यजित् पुण्यप्राप्ति से मनुष्यी धरममें जाता है जिस पवित्र और अद्वैत-रहित मायसे सत्पुत्री सेवा-मुखा करवा है उसमें उस की सुदृढाके बीच अच्युत होते हैं। एकबार इस तरह धारणापन हुआ मनुष्य करुण फिर पापवृत्तिमें नहीं कैयता।

इससे पारक ज्ञान सकते हैं कि अत्यंत पानी मनुष्य भी जिस तरह ज्ञानप्राप्ति करके पुण्यप्राप्ति बन सकता है। यह कोई असंभव बात नहीं है। सरसंगतिका ऐसाही महत्त्व है। पहिले कितने भी पापोंके पर्वत हुए तो भी ज्ञानप्राप्तिसे उनका मल होता है और सरीर-भोग रहनेपर भी वह मनुष्य स्वामन्द-सुखमें मग्न रहता है। इसके लिए एक उत्तम उदाहरण दिया है—

कर्म-बोध-क्षय

जैसे एकविधियों के बड़े-बड़े जलमि छापी तो वह जलमि अतिन सब एकविधियोंको उठाकर मलम भर देती है उसी तरह ज्ञानकय अतिन कगनेपर सब भजे हुए सभयमें किये हुए कर्म वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके सब होन एक जाते हैं। उनमेंसे एक भी कर्म और उत्तम बोध अत्र निहित नहीं रहता। फिर मनुष्य किटना भी पानी हुआ तो भी उसके सब कर्म और उन सब कर्मोंके होय ज्ञानप्राप्तिसे एक जाने पर उसके पास क्या अवशेष रह सकता है, तो उसको प्रति बंध कर सकते ? यहाँ पारक इस उपमा और उपमेयका अच्छा निचार करें। और देखें कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ।

(गी ११.३)

ज्ञानकर जलमिसे सर्व कर्म (और उनके धार) एक जाते हैं, उनमेंसे एक भी कर्म नहीं रहता कि जिसकी भोगनेकी आवश्यकता रहे। पारक यहाँ पूछेंगे कि इस श्लोकमें (सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते) सब कर्म भस्म होविते हैं, ऐसा किन्ना है उन कर्मोंसे उत्पन्न हुए बोध एक जाते हैं, ऐसा नहीं किन्ना। अतः वे कर्मोंके होय अवशिष्ट रहित होंगे। परन्तु यह धारणा अत्यंत है क्योंकि कर्मोंके नाश होनेपर कर्माणि स्थिति कर्म न करनेवालेके समान होनी कर्ता होता हुआ भी वह अवर्तमान होगा (म गी ११.१) कर्म करनेमें जो लक्ष्य अर्थात् कर्म न करनेके समान रहनेकी अवस्था होती है (म गी ११.४) कर्म करनेपर भी वे सब कर्म कय होते हैं वह जो उपदेश भगवद्गीतामें अत्यंत किया है उसका अन्वय यही है कि ज्ञान होनेसे कम और कर्म-बोध सब कय होते हैं और मनुष्य सुख होता है। पानी मनुष्यके पुण्यमेंसे पार होनेकी बात भगवद्गीतामें आगे भी इस तरह कही है—

अपि चेत्सुदुराधारो भवते मामनाम्यभाक् ।
 साधुरेव स मन्त्रश्च । सम्प्रत्ययधसितो हि सा ॥ १० ॥
 क्षिप्रं भवति धर्मात्मा साध्यव्यवस्थितं निगच्छति ।
 कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भयाः प्रणश्यति ॥ ११ ॥
 मां हि पार्थ श्रूयामिस्त्य येऽपि स्युः पापघोनयः ।
 क्षियो दैव्यास्तथा शूरास्तेऽपि धाम्नि परां
 गतिम् ॥ १२ ॥ (म गी ९)

भाव्य दुराचारी भी यदि बलवन्-बालसे मेरा संबन्ध करे,
 तो वह माने कि वह साधु होही चुका है ॥ क्योंकि जब
 उसका संकल्प क्षम हुआ है ॥ वह क्षीत्रही धर्मात्मा बनकर
 निरन्तर साधित पाता है । हे कुरुक्षेत्र ! तु किन्नाही समझ कि
 मेरा भय कभी बह नहीं होता ॥ हे भवन् ! जो पापघोषि
 हैं, वे भी और शूरवीर वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरी
 शरण रहें तो वे परम गतिको पाते हैं ।

प्रभुको मज्जिबुद्ध बालाचरजसे कारण जानेसे सत्त्व
 प्रभावाप होवेसे उत्तम गुरुके पास जानकर कसकी सेवा-
 श्रुद्धा करनेसे पापी मनुष्य भी पवित्र होकर सद्गति प्राप्त
 करता है । किसी भी मार्गसे मनुष्य गया तो भी वह जन्ममें
 क्षान्तिप्राप्तिद्वारा भी परम पद प्राप्त करता है इसमें शिद्द
 नहीं है ।

जानते सब दोष दूर होवेम पद उदाहरण ऐसा दिया
 का प्रकटा है कि किसी एक कवी मनुष्यके कामबोधमें बहुत
 मुक्त्याय जाता और उसका विवक्षा निकल । पञ्चाक्षर वह बहुत
 श्रित विपक्ष-वृत्तमें रहा । एक दिन किसीने उसके घरमें
 भूमिगत द्वार होनेका ज्ञान उसकी दिया । उसने जोकर
 वह घर खेचा और फिर उसी क्षणमें वह गच्छावत बना ।
 अपने कमी होनेका ज्ञान होतेही उसका संपूर्ण कारिण्य नष्ट
 हुआ और वह फिर उसको सहायके स्थिति नहीं रहा । इसी
 तरह भगवान्के कारण उत्पन्न होनेवाले दोष ज्ञान होतेही
 नष्ट होते हैं ।

ज्ञानके इतने काम हैं । जब और भी एक कथा सक्ती
 महारका है उसका विचार करो ।

सर्वभूतात्म-भाव

भूतानि भयोपेन आत्मनि भवोऽयं द्रष्टव्यः ।

(गी ४/१५)

भूतमात्रको पूर्वजसे जपन जन्ममें दोर दुर्लभ
 देखेगा । ' यही जन्मिष्ठ सिद्धि है और विवेक महत्त्व ही
 है; अतः इसका विवेक विचार करना चाहिये । इसी वारो
 बाल्य जन्म स्थानपर है उनको देखिये —

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवैवानुपश्यति ।
 सर्वभूतेषु आत्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
 (ईश ८/१, कथ ४/११)

सर्वभूतस्वप्नमात्रमात्र सर्वभूतानि आत्मनि ।
 ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः ॥
 (गी १/११)

जो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च न्ययं पश्यति ।
 तस्याहं न प्रणश्यामि च न मे न प्रणश्यति ॥
 (गी ११/१)

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवन्भावमात्मनः ।
 भूतावि भगवत्पारम्येव भागवतोत्तमा ॥
 (भागवत ११/१७)

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्भक्तमवस्थितम् ॥
 अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्स्थिति आत्मनि ॥
 (भागवत ११/१८)

जो सब भूतोंको जन्ममें और जन्मात्मे सब भूतोंमें
 देखता है, उसने कुम्भित कर्म नहीं होते । जब भूतों
 जन्मा और जन्ममें सब भूत हैं, ऐसा जो बालाचर ज्ञान
 देखता है उसकी यह सम हुई होती है । जो सुखे सर्व
 और भक्तोंके भूतमें देखता है उसका किम है और जो किम
 वह भी कमी वह नहीं होता । जो सब भूतोंमें जित्त बहुत
 लक्ष्य देखकर सब भूत परमात्मा है वह अनुभव प्राप्त
 है वह उत्तम भगवत्ज्ञान है । जो सब भूतोंमें अपनाई कर
 अपनी जन्मा है ऐसा देखता है और धन भूत भक्तोंमें
 और जन्मी जन्ममें है ऐसा जो अनुभव करता है वह
 उत्तम भगवत्ज्ञान है । " वे सब बचन एकही भाव बक्ते हैं ।

यही परमात्मा सब भूतोंमें है इत्यादि बक्ते परमात्मा
 केशवरायण है सब स्थिर-चरमें निरन्तर है वह नाश हर
 कुट्ट है । परमात्मा परमात्मा बचका जन्मा सर्वभूत
 सर्वगत (गी १/२४) है वह नाश इतने सर्व
 स्थानमें भी वह नाश बचती है ।

महं भारमा सबभूताशयस्थित । (गी १ । १२)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजति । (गी १११)
महं प्राणिनां देहमाश्रितः । (गी १५ । १७)
सर्वभूतारमभूतारमा ॥ लिप्यते । (गी ५ । १०)
महाम्नें विभुं भारमानं भक्ता । (कठ उ २ । २१)

हम बचनोका जासय यही है कि 'एक जगमा सब भूतोंमें व्यापक है।' जो सब भूतोंको जगमाके समान मानता है वह दोषोंसं युक्त होता है। जर्बान् सब भूतोंमें स्थिरचरमें-एक जगमा व्यापक है और वह सर्वत्र पुकरसं मोत मोत सरा है वह का अनुभव करता है और उही तरह मैं जर्बान् मेरी जगमा भी सब भूतोंमें भरगह है ऐसा जिसको अनुभव है उसको अपनी जगमा और परमात्मामें कपेयका अनुभव होता स्वामाधिक है। यह एक अनुभव है।

दूसरा अनुभव यह है कि (मयि) परमात्मामें और अपनी (भक्तमामि) आत्मामें सब भूत हैं, जर्बान् मैं और जगमा एक तत्व है और उसके अन्दर सब संसार है, ये दो अनुभव ज्ञान प्राप्ति होनेसे सम्पूर्ण प्रत्यक्षत्व होते हैं। जिस समय यह अनुभव होगा उसी समय समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ। ज्ञानका अर्थ सत्त्वोंका कार्य जानना नहीं है। ज्ञानका अर्थ यही है कि मेरी जगमा सब भूतोंमें और सब भूत मेरी जगमामें हैं वह प्रत्यक्ष अनुभव होगा। यह ज्ञान जन्मिम सीमाका है। यह ज्ञान प्राप्ति होतेही उसके सब कर्म और कर्मोंके सब दोष भस्मसाय होठे हैं, वह हाते हैं, दण्ड हाते हैं किंवा बन्दब करके किये शीठे नहीं रहते। पानीसे पानी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्ति करनेस पापसे वार हो जाता है और इसी ज्ञानके प्राप्ति होनेस वात् उसको कमी मोह नहीं होता।

पाठक ध्यातमें रहें कि यही ज्ञान का कार्य नहीं है। अन्य व्यावहारिक जिंसा प्रापंचिक ज्ञान इससे भिन्न है। जिस न कदा महत्त्व अभावहीतामें बलन किया है वह ज्ञान प्रापंचिक ज्ञान नहीं है वह ज्ञान धर्मात्मभावका अनुपस्थित ज्ञान है। इसी विषयमें छाग्रीय उपनिषद्में कहा है-

सद्यप्यमेतदुदकेऽप्यथावाय मां प्रातरपस्मिद्धया
इति स ह तथा चकार तं होवाच यदोपा
सयनमुदकेऽप्यावा अत्र तवाहरेति तज्यायमुदय

न विवेकः ॥ १४ ॥ यथा विस्तीर्णमेवाङ्गास्या
म्तावाधामेति कथमिति, छवणमिति, मथ्या
दाधामेति, कथमिति छवणमित्यम्तावाधा
मेति कथमिति छवणमिति अस्मिन्माद्येनइय
मोपसीद्धया इति तस्य तथा चकार, तच्छ
अस्मिन्मद्वर्तते तं होवाचात्र वाय किं सत्ताम्य
न निमाद्यपसेऽत्रैव किमेति ॥ १५ ॥ स य एणे
ऽप्यिमेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सर्वं स भारमा
तत् स्व अस्ति ॥ १६ ॥ (छां उ ६ । १३)

इस छांद्गम्य उपनिषद्में निम्नलिखित गुह्यान्व-मन्त्राद है। यह अत्यंत बोधप्रद है अतः पाठक इसका विशेष विचार करें—

गुह्यज्ञी— है शिष्य ! इस पाठमें जो उद्ग है उसमें यह वचन उक्त और सत्तेरे यह मेरे पाप के का।

शिष्य— अच्छा गुह्यज्ञी।

[पश्चात् शिष्यने कैसा किया, तब दूसर दिव माताकान्य गुह्यज्ञी शिष्यसे पुछते हैं—]

गुरु— है शिष्य शिष्य ! एक रात्रिके समय जो वचन तुने अन्तमें रच दिया था वह वचन मेरे पाप के का।

शिष्य— [शिष्यने उस अन्तमें देखा परंतु उसमें वचन उक्त नहीं मिला तब उसने कहा कि] है गुरु ! वह वचन तो कहा नहीं दीगया !

गुरु— वह अन्तमें लिख गया होगा अस्तु, अब वह एक ऊपरसे थोडासा पीकर देख कि वचन की कथि कैसी है ?

शिष्य— गुह्यज्ञी ! यह वचनहीन है !

गुरु— अच्छा अब बीचका थोडा पीकर देख कैसा लगता है ?

शिष्य— यह भी वचनहीन है !

गुरु— अच्छा अब सबसे निचले भागका थोडासा जक पीकर देख तो सही, वह कैसा लगता है ?

शिष्य— गुह्यज्ञी ! वह भी वचनहीन है। लगता है।

गुरु— है शिष्य शिष्य ! अब तुम क्या क्या कि वह

(१९) ज्ञान प्राप्तिके उपाय

न हि ज्ञानेन सहस्रं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगससिन्दु* कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥
 भन्नावोल्लभये ज्ञान तत्पर* सपतेत्रिय । ज्ञान लब्ध्या परां क्षान्तिमाचरेणाधिगच्छति ॥३९॥
 अजम्बाभ्रधानम् संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुख संशयात्मनः ॥४०॥

अर्थः—इह ज्ञानेन सहस्रं पवित्रं न विद्यते । तत् (ज्ञानं) स्वयं योगससिन्दुः कालेन आत्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥
 भन्नावोल्लभये ज्ञानं तत्परः सपतेत्रियः । ज्ञानं लब्ध्या अधिरेण परां क्षान्तिमाधिगच्छति ॥ ३९ ॥ अजम्बाभ्रधानम्
 न भवत्यात्मा विनश्यति । संशयात्मनः नयं लोकः नास्ति न परः (लोकः) न (च) सुखम् (अस्ति) ॥ ४० ॥

क्योंकि इस लोकमें ज्ञानके समान दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है । उस कामको स्वयं योगसिन्दु
 उत्तम रीतिसे सिद्ध हुआ मनुष्य योग्य समयपर अपनी आत्मामें प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥ भ्रष्टानुसार
 तत्पर पुरुष इन्द्रियसेव्यम करके ज्ञानको प्राप्त करता है । ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्रही उसको परम प्राप्ति
 मिलती है ॥ ३९ ॥ जिसे ज्ञान नहीं भ्रष्टा भी नहीं और जो संशयग्रस्त मनुष्य है उसका नाश होकर
 है । संशयग्रस्तको न यह लोक है न परलोक और न उस किसी प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—ज्ञानके समान पवित्रता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है । समस्त बुद्धि-बोमसे सिद्ध हुआ मनुष्य जगत्में
 यह ज्ञान योग्य समयके अनुज्ञानके पश्चात् प्राप्त करता है ॥ ईश्वरपर अज्ञानकेपश्चात् मनुष्यमें तत्पर और अपने इन्द्रि-
 यों के स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है और ज्ञान प्राप्त होनेसे उसकी प्राप्ति प्राप्त होती है ॥ अज्ञान
 भ्रष्ट और संशयी मनुष्यका नाश होकर है । संशयी मनुष्यको जो इस लोकमें भी सुख नहीं मिलता कि परलोकमें
 कैसा मिलेगा ? ॥ ३८-४० ॥

यसके इस प्रकारके साथ एकत्र हुआ सबकार
 में फैल गया या जड़की व्याप्त रहा है अतः
 वह उसे लक्ष्य नहीं दीखता है । यद्यपि वह
 नहीं दीखता तथापि वह उद्योगमें है । इसी
 तरह वह ज्ञाना इस सब भूतमात्रमें व्याप्त
 हुआ है वही सब वस्तु है उसीको ज्ञान
 कहते हैं वही ज्ञाना प्रतीति ।

यह उपमा और संभाव्य परमात्माकी व्यापकता ज्ञानिकों
 हेतुसे यहाँ दिया है । ऊर्ध्वरेण अपवित्रत्वं इस की व्यापक
 में वही विषय है । कैसा जड़में वस्तु और मनुष्यमें एक है
 उसी प्रकार सब भूतोंमें ज्ञाना ज्ञान ज्ञानमें भूतमात्र है ।
 जो मनुष्य इस व्यापक समझता करता है उसकी ज्ञान
 हुआ है और वही मोक्ष प्राप्त और कर्मकी शीघ्रसे हट होकर है ।

यह ज्ञान मनुष्यको प्राप्त होनेके पश्चात् और कुछ भी
 ज्ञानमें उसके किन्हीं अवशिष्ट नहीं रहता । ज्ञाना इस ज्ञानका
 मन्त्र है । क्योंकि जब मनुष्यकी भिरे जन्म और ज्ञाना
 है वैसीही और वही ज्ञाना सब भूतोंमें है यह ज्ञान अनु
 मरसिद्ध सिद्धि होगा तब उसके जन्म आत्मापश्यबुद्धि

स्वभावसे प्राप्त रहेगी और उसकी व्यापकता ज्ञान
 करनेकी व्यापकता नहीं रहेगी । यह स्वयं अपने स्वयं
 सेही दूसरीपर ज्ञान कीजा उसकी सहायता करवा उन
 सब मनुष्य करेगा जबकी मनुष्यके मार्गमें ज्ञानका सब
 करेगा जबपर ज्ञानाप्रवृत्ति करेगा उनके साथ ज्ञान
 व्यवहार करेगा उसके साथ व्यापक व्यवहार ज्ञान
 किसीकी जोड़ नहीं देगा किसीका ज्ञानाप्रवृत्ति वही ज्ञान
 किसीकी सिद्ध नहीं करेगा किसीके साथ ज्ञान न जोड़ेगा,
 अधिक ज्ञानोंका अधिक कल्याण करनेकी पराक्रम ज्ञान
 उनके साथ ज्ञानाप्रवृत्ति के साथ वृद्धि करेगा । यह ज्ञान
 सबका ज्ञानाप्रवृत्ति ज्ञाना उसकी व्यवहारसम्बन्ध ज्ञान
 करनेकी व्यापकताही नहीं रहेगी । सर्वत्र परमात्माकी उप-
 स्थिति किसीको प्रसन्न हो गयी है वह अपने सब व्यवहार
 प्रत्यक्ष ईश्वरके साथ करनेके समान करेगा कि उसके ज्ञान-
 ज्ञानमें कष्ट कुछ ज्ञानाप्रवृत्ति होकरका ज्ञान कैसे होना ?
 वह ज्ञानाप्रवृत्ति मनुष्य ज्ञाना । मनुष्यकी पराक्रमकी उप-
 स्थिति वही है । इसलिये वह ज्ञान ज्ञान है ।

यह ज्ञानाप्रवृत्ति है । यह ज्ञान किन उपार्थोंमें प्राप्त
 होता है वह ज्ञान सब ज्ञानाप्रवृत्ति है ।

ज्ञान प्राप्तिके उपाय

(१८-४) (अष्टाध्याय) इकर गुप्त और सप्त धर्म-
प्रपञ्चि बचनोपर भदा रखनेवाला; (तत्परः) अनुष्ठानमें
तत्पर अर्थात् दूसरे विचारमें अपना समय न रोजनेवाला
कर्म्य-कर्ममें दृष्टचित इकर उत्तम निर्दोष रीतिसे अपने
कर्म्य करनेवाला परमेश्वरमें लहीन और (संपत्त-भूयः)
अपने ईश्वरोंको अपने स्थायी रखनेवाला इन्द्रियविग्रही
और सपनी मनुष्यही अर्थात् (स्वयं योग स-
सिद्धः) स्वयं समस्त-बुद्धियोगद्वारा उत्तम रीतिसे सिद्ध
बना हुआ मनुष्य योग (फाळे) सम्पत्त अनुष्ठान
करके अपनी आत्मामें ज्ञानका प्रकाश हुआ है, इस बातका
अनुभव करता है ।

इस ज्ञानप्राप्तिके चार उपाय हैं- (१) भदा (२)
तत्परः, (३) इन्द्रियसंयम और (४) योगसंसिद्धि,
जिनसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है । भदामें कहा कम है ।
जो ईश्वरपर बटके भदा रखता है वह ईश्वरके साथ अपना
संबंध बलिहीन बाँधता है और भीमही लयवत्ता प्राप्त करता
है । गुप्तके बचनोपर और शास्त्री आश्रमोपर भदा रखने
वाला मनुष्य अपने मनको इश्वर या तत्पर न बटकाया हुआ
गहरी निष्पुष्टि केन्द्रित करके अनुष्ठान करता है । इन्द्रियसंयम
करनेवाला मनुष्य अपने ईश्वरोंको बसमें रखकर उनको
विचरमें न फँसाता हुआ अक्षरपाँहि धुनिबमोंका पावन
करके धामिसे अपने मार्गका जाकाग्र करता है । इसी
साह योगसंयम सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् समस्त
बुद्धिकर योगमें सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके वह अपने अन्तर
पूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है । भदा कर्म्य-तत्परता इन्द्रिय
संयम और समस्त-बुद्धियोग इन चार साधनोंद्वारा मनुष्य
ज्ञानको प्राप्त करता है । वहाँ ज्ञानका अर्थ-“ आत्माका
सब श्रेष्ठ और सब श्रेष्ठका आत्मामें निवास वैकला ह ।
(गी १।१५, १।२५, १।३) वह ज्ञान भदा तत्परता,
संयम और समग्रहिसे प्राप्त होता है । और यह ज्ञान प्राप्त
होनेको-

अधिरण परां प्राप्तं अधिगच्छति ।

(गी ३।१९)

हीमदी भद धामि प्राप्त होती है । वह ज्ञान अर्थात्
परिणत है । जहाँ वह ज्ञान प्रवृत्त होता है वहाँ चरित्रता

होकर सब प्रकारकी अपवित्रता हट जाती है । यह परिणत
ज्ञान जिसको प्राप्त होता है उसको इस लोकमें सुख और
परलोकमें भी आनन्द प्राप्त होता है ।

सहायसे नाश

परमनु जो स्वयं अज्ञानो जगद् और संसारप्रसूत है
उसका नाश होता है । वह वैसा इस लोकमें दुःखी होता है
वैसाही परलोकमें भी वह अनिश्चित स्थितिमें रहता ह ।
यहाँ सभद् और जगद् ऐसे ही प्रकारके अनुष्ठानोंकी स्थिति
बर्णन की है । ऐश्वर्ये उनकी क्या स्थिति होती है-

भदाध्याय (१९)	अष्टाध्यायः (४)
तत्परः (१९)	चक्रकः
संबन्धितः (१९)	योगपरः असपनी
योगसिद्धिः (१८)	बंधकपुत्रः
स्थितप्रज्ञः	साधकता (४)
ज्ञानवाद्	अज्ञः (४)
परिग्रहः (१८)	अपवित्रः मलिनः
अविनाशी	विनश्यति (४)
सुखमयः	दुःखरूपः
आनन्दः	जगद्गुरुः

भदाध्याय कहा करता है और जगद् मनुष्यकी कैसी
गिरावट होती है वह बात वहाँ उल्लेखनासे निश्चय हुई है ।
अज्ञात्पूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेसे ध्याति-सुख प्राप्त होता है
परमनु अज्ञद् और आगमय जीवन बनेनेम सब प्रकारकी
गिरावट होती है ।

अज्ञ वह है कि जिसको परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है
तथा सब संसार परमात्मामें है हमका क्या न हो । हम
साहका अज्ञ मनुष्य किमोपर अर्थात् ईश्वर गुप्त और साध
बचनोपर भदा नहीं रखता और हम जगद्गुरुके कारण वह
संघटन-सागरमें डूबता रहता ह । ईश्वर नहीं होगा वह नहीं
करने वनी होगी क्या हमका कोई कर्मा होगा ? मनुष्यके
पञ्चाय इस जीवका क्या होगा ? इत्यादि विचरमें उसके
विचार संशयित होने हैं । हम कतन वह कही भी भदा
नहीं रखता कुछ भी अनुष्ठान नहीं करता और वहाँ दुःखी
रहता हुआ मनुष्यके पञ्चाय भी वह दुःखीही रहता है ।
मंसाही मनुष्यको लम्ब दिवसा अनुष्ठान प्रतिष्ठान दिन मलिन
वामन-वर्णवर्ण धर्म अथवा आदिवा ज्ञान नहीं होता और

(१३) सर्वज्ञ—निवृत्ति

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंविद्धसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

तस्माद्यज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः । छिद्यैन संशयं योगमाप्तिर्होतिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासुप्रसिद्धसु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अन्वयाः—हे धर्मराज ! योगसंन्यस्तकर्माणं आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥ हे भारत ! तस्मात् ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः छिद्यैन संशयं योगमाप्तिर्होतिष्ठ ॥ ४२ ॥

हे सुखर्ये विजयी मर्जुन ! जिसने योगहाय्य अपने सब कर्मों का संन्यास किया है जिसने ज्ञानसे सब संशय दूर करके है जो आत्मिक बलसे युक्त है उसको कर्मसे बंधन नहीं होते ॥ ४१ ॥ हे भारतीय वीर ! इसलिये भगवान्से अप्रसन्न होनेवाले इस हृदयके संशयको अपने ज्ञानरूप हृत्स्थसे काटकर कर्मयोग का आचरण कर और पुनः करनेके छिये बैठकर जज्ञा हो जा ॥ ४२ ॥

भावार्थ—कर्मयोगके अनुसार अपने सब कर्म कर जागते अपने सिद्ध हुए कर, आत्मिक बलसे युक्त हो सब दुर्ग कर्मोंके बीच नहीं छौंते । भगवान्से सहै होते हैं उनको आत्मरूप सत्यसे काटकर कर्मयोग कर और पुनः करनेके छिये बैठ ॥ ४१ ४२ ॥

यह श्रुति की बहिष् और बहिष्की श्रुति मानकर कथना है और प्रसिद्धमनुश्रुति है । यह पुनः इसलिये कहा हो तो बड़ा उत्तरण संभव और योगसंन्यास का हि मार्ग का व्यवहार करने अपने भगवान्से ही आत्मसाक्षिहृत्स्थ कर उठना चाहिये । यही बात भगवान्से ही श्रुतिमें कही है—

कर्म-बन्ध निवृत्ति

(४१ ४२) जो मनुष्य (योग) बुद्धि की समता (गी १४) और कर्मकुसलता (गी १५) को योगके द्वारा (सन्ध्यस्त-कर्मा) सब कर्मों की उत्तम प्रकारसे (त्याग) व्यवस्था करता है किन्तु कर्मोंके फलों का आनन्द की मज्जाईके छिये समर्पण करता है और जो (धाम सचिच्चक्र संशय) परमात्माके सर्वत्र व्यापक होने अनुभविक ज्ञानसे अपने सब सदाबोधों को आकर ग्रह करता है, तथा जो (आत्म धाम) आत्मिक सचिच्चक्र बलसे अपने मनुष्यको उसके छिये कर्मोंका (कर्माणि न निबध्नन्ति) बंधन नहीं होता । अर्थात् कर्मोंके बंधनसे हृदयके बीच उपाय है—

(१) बुद्धि की समता और कर्मों की कुसलताके साथ कर्मोंके फलोंका समर्पण श्रुतिमें कहा, (योग-संन्यस्त-कर्मा ;

(२) (ज्ञान—) परमेष्ठर सबमें और सब कर्म परमेष्ठरमें है, इसका अनुभव करना और परमेष्ठर सर्व उपरिष्ठ है ऐसा अनुभव करके (संचिच्चक्रसंन्यास) कीर्तन करना और उसीकी व्याख्यामें उसकी श्रुतिके छिये अपने कर्तव्य कर्म करना और—

(३) (आत्मधाम) आत्मिक बलसे युक्त हीन समावर्तित शीतले अपने कर्तव्य करना ।

इस बीच सत्त्विक पाक्य करनेसे मनुष्य कर्मोंके बंधनसे मुक्त होता है और इस तरह वह जो कर्म करता है, वह कर्म उसकी बंधन करनेसे छिये रहता है नहीं । अर्थात् वह सब कर्म विहीन शीतले करता है यः कर्म होता है अर्थात् पति से छिये । कर्मोंके बंधनसे मुक्त होनेके छिये कर्मोंके शीतले उपरि नहीं होना चाहिये । यह विहीन कर्म किन्तु सा साधन होता है इसका मनन करना चाहिये । यद्यपि, कुसलता मनुष्य की समीपता अपनी बलवता और स्वयं समर्पण करनेसे कर्मोंके शीतले मुक्ति होती है । ०

अब एक मुख्य विचार करेंगे—

(१) (योग) समता

अपना-पाना हीन बड़ा उच्च नीच का हि विपन्न

मनमें रही तो कर्म विषय होते हैं और विषय कर्मोंसे विविध होय होते हैं । परंतु इनके विषयमें (योग) सब मात्र सममें रहा । मैं और दूसरा यह भेद मित्र पया और मन्त्रे साय समान व्यवहार होये क्या तो हैस व्यवहारसे होय नहीं होते । यह पुत्र मेरा है और यह दूसरेका है ऐसा भेदभाव जयमें रहेय सबतकही उक्त दोनों पुष्पोंके साय विषय व्यवहार होनेसे होय होग्य परंतु जिस समय यह भेदभाव मित्रकर अपने और पराने उनके साय समान व्यवहार होग्य तो उस समय विषयता मित्रके कारण कर्मसे होय नहीं होग्य और कर्म भी जाया नहीं करेंगे । सब प्रकारकं इन्होंने विषयमें समझद्वि होनेसे इसी तरह सब प्रकारकी विषयता हट जाती है और ऐसी अवस्थामें जो कर्म होते हैं वे जाया करनेवाले नहीं होते ।

(२) (योग) कुशलता

कुशलताय कर्म विर्धोय होते हैं यह सब जानवेदी है । एक क्षीमर अपने कर्ममें कुशल है और दूसरा नहीं है । उनमें जो कुशल हो उचितक कर्म विर्धोय होग्य किसे दूसरेके नहीं हो सकते । और विर्धोय कर्म जायक न होकर उकारक हो सकते हैं ।

योग क हो कर्म है- जमला और कुसकता । इन दोनों कर्मोंके ऐशनेसे वामकीका ज्ञान हुआ होग्य कि इस ज्ञानके किने कर्म होबराहित और कर्ताको मुक्त करवेमें समर्थ हसि । (योग-सम्पत्त-कर्मा) जो इस प्रकारके योगके साथ कर्त्तव्य करवा है, वह कर्मसे मुक्त होग्य है ।

(३) प्रमुकी उपस्थिति

परमेश्वर सर्वत्र है और सब परमेश्वरमें है इसका मुपव ज्ञ है प्रमुकी सर्वत्र प्रत्यक्ष उपस्थिति । मनुष्य जहाँ जाय वहाँ उसकी बरि प्रमुकी उपस्थिति प्रत्यक्ष हो प्रमु मेरे कर्म ऐश रहा है ऐसा उसको प्रतीय होता हो और उस प्रमुकी प्रसन्न करीके किने मैं वह कर्म कर रहा हूं, यह इस का निश्चय हो तो मित्रदेह उसके कर्म उत्पन्न और निर्धोय होग्य । स्वामीके उपस्थित रहनेसे अज्ञातक हो सके बहानक सेवक प्रमाद्विध होकर सब कर्म करवा है । फिर सर्वपादिमात्र सच्य सर्वज्ञा प्रमु मेरे सम्मुख है ऐसा जिस अन्धक जन्म-कर्ममें विषय्य होगा वह उसकी अव्यवस्थामें निर्धोय

कर्म करवा इसमें कुछ भी संविद नहीं है । (धाम-सचिस्व-सहायः) ज्ञानसे उसके संविद नष्ट होते हैं । परमेश्वर सर्वत्र है या नहीं ? वह मेरे कर्म जायका है या नहीं ? इस प्रकारके संविद पूर ज्ञानसे वह प्रमुका सर्वत्र उपस्थित जायका है और वह जो कुछ करवा है वह उसीको संपुष्टिके किने करवा है ।

(४) आत्म बल

अपने बलसे कर्म करनेसे कम निर्धोय होता है । दूसरेकी सहायतासे जो कर्म होग्य उक्तमें दूसरेके बलपर निर्भर रहने की परतंत्रता होनेके कारण शारतन्त्रका बड़ा होय उसमें है । यह होय इतरा जायक है । आत्म-बलसे कर्म करनेवालेमें वह परतन्त्रता होय नहीं रहवा नहीं इसकी निर्धोयता है । (आत्मबलम्) आत्मिक बल सचसे केह बल है जरा किसे पक्ष यह बल होता है वह केह बलमुक्त होनेके कारण जन्म कलित बलकाकीकी अर्पणा मित्रदेह केह है जरा उकी प्रमान्ते वह विर्धोय भी है ।

(५) कर्म-फलका समर्पण

अपने (सम्पत्त-कर्मा = कर्मफलसम्प्राप्तः) कर्मोंसे जो फल प्राप्त होया वह अपने योगके किने न रखते हुए सब बनवाकी मझाईके किने उसका समर्पण करनेवाका मनुष्य इसी ज्ञान-साधक कारण निर्धोय होता है । क्योंकि स्वामीकीगवायता उससे एवजता हट जानेके कारण और उससे जो होता है वह सब बनवाकी मझाई भूतमात्रका हित (सर्वभूतहिते रताः । गी ५।१५, १५४) करनेमें लपर रहनेके कारण और उसकी स्वमुक्त निरपेक्षताके कारण जो कर्म उससे होते हैं उक्तका दीव उसकी जायक नहीं होता ।

इस प्रकार इस श्लोकमें कर्मके होयसे मुक्त होनेके जो उपाय केह है उनका विचार पाठक करें । इस श्लोकका संक्षिप्त विवरण नहीं किया है इससे पाठकोंके मनमें इसका साथ दीक प्रश्न जा जायगा ऐसी जाता है । कर्म-होयसे मुक्त होनेके विषयमें हुताय उपदेश कहनेक पश्चात् अन्तिम श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि- ज्ञानसे उपाय होनेवाले और हृदयमें रहनेवाले महात्मको ज्ञानरूप शक्तमें आकर अपनी उक्तिका उपाय कर ।

(अथापारमा चिन्तयति । गी. २।४) जिसके अन्तःकरणमें कोई है उसका भाव होता है ऐसा पहिले कहा है । अतः उस संघर्षको हटानेका उपाय ज्ञान है वह बात यहाँ कही है । ज्ञानका कार्य यहाँ परमेश्वरकी सर्वत्र उपस्थिति जार सबकी परमेश्वरमें उपस्थितिकी प्राप्ति

हता ' है । इस प्रकारका ज्ञान होतेही सब संदेह दूर होते हैं और कर्मव्याकर्तव्यके विषयमें निश्चय होता है । इस तरह जिसका निश्चय होता है वह अपने अमूर्त और निरन्तर होने के कर्म-योगका आचरण करता हुआ उन्नति प्राप्त करता है ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी उपनिषद्में कथित, अष्टाध्यायमें निहित हुए योगसाधविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादानें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायपर विचार ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग

कर्मका सूक्ष्म विचार

इस अध्यायमें अर्जुनमें ज्ञान-कर्म-संन्यासयोग कहा है अर्थात् ' ज्ञानपूर्वक कर्मोंका संन्यास करके कर्मोंके शरीरोंमें छूटनेकी पुष्टि कही है अतः इसमें कर्मोंका क्या सूक्ष्म विचार किया है । इस दृष्टिसे यह पक्ष विचारका प्रकरण बारंबार मनन करनेयोग्य है । अर्जुनके बारंबारमें ही इस गीताशास्त्रकी अलंकार परंपरा कार्यकलापसे कहते जायी है और इस अन्तर्गत परंपराका पुनरावृत्ति करनेके क्रिये अपना मन है वह बात भगवान्के मुखात्प्राप्त होने पर ही हुई है । श्रीभगवान् कहते हैं कि ' मैनेही पूर्ण समयमें निवृत्तत्वात्से इस शास्त्रमें उपदेश किया था उससे मनु और हनूनाओंको यह योग प्राप्त हुआ परन्तु यह कुछ ही पुका । उसका पुनरावृत्ति करनेके उद्देश्यसे मैने तुझे यह उपदेश दिया । इस तरह भगवान् स्वयं बारंबार अवतीर्ण होते हैं और इस योगकी पुनःपुनः व्याप्ति करते हैं । अर्जुनमें भी इसी आत्मावका कथन है—

पूर्व-वृत्त-कथन

अहं ममृत्तमर्थं स्वर्णार्थां कक्षीयां क्षयिरक्षि यिमा । अहं कृतसमार्जुनेनं शृणुः ॥ १ ॥ अहं भूमिमनुदामार्थावाहं पृथि वागुने मर्त्याप । अहमपि अमयं वायशाना

मम देवालो अनु केतमापन् ॥ १ ॥ अहं पुरो मन्त्रसामो ह्यैरं मन्त्र साकं मन्त्राः सम्भरस्व । अतस्तमं वेद्यं सर्वताता विद्योदासमतिशयं यदाबन् ॥ १ ॥ (अर्जुन १।११-१२)

मैं मनु हुआ मैं स्वर्ण वन गया था मैने बुद्धिपूर्वक कक्षीया कवि बनकर (ज्ञानका प्रसार किया था) । मैने अर्जुनके पुत्र कुन्तिको अपने अमीन रखा था और मैनेही महाकवि ब्रह्मा अर्थात् भृगुशर्मा बनकर (विद्याका प्रसार बहुत किया था) । वह ऐसा कार्य देवों ॥ मैनेही अर्जुनमें यह भूमि समर्पण की । वाता परोपकारी मनुष्योंके दिलमें क्रिये मैने वृद्धि कराई और अहंकि क्रिये मैं नक्षिर्वा बहान हूँ । और सब देव मैनेही प्रचारित हुए इस ज्ञानको बहुत सरते हैं ॥ मैने शबर नामक धनुके १९ क्रिये तोरका और सौमा नगर बार्बोके रहनेयोग्य बनकर धानोंको दिया और अतिविशुद्ध विद्योदासकी रक्षा तुझमें मैनेही की की ।

इस व्याख्यान पर अर्जुन बनकर अर्जुनकेसका कार्य और कथित बनकर भावोंकी रक्षा करनेका कार्य मैने किया था देवा श्रीभगवान्का कथन है । वह कथन भीयसे इस प्रकारसे साय सुकना करनेयोग्य है । इसी प्रकार अ. १।१८-१९ और १।१९-२० के सूक्त इसी दृष्टिसे देखनेयोग्य हैं । अर्जुन किया भगवद्गीतामें कहा है कि, ' मैने पूर्व-वृत्तमें देवा किया और देवा किया " इसी तरह अर्जुनमें ही पूर्व-वृत्तमें कहा है ।

पिताका पुनर्जन्म

अनुर्य अण्णपर के श्लोक ५१ के विचारमें पिताका पुनर्जन्म प्रकट होता है, यह विषय कहा है। यही विषय महा-भारतमें अधिक स्पष्ट अर्थमें साध जाया है। जगः के श्लोक वहाँ अवश्य देखिये—

मार्यो पतिः सप्तविध्य स परमाज्जायते पुनः ।
आपायास्तद्वि जायात्वं पौराणः कथयो विदुः ॥१७॥
आत्मात्मःजीव जनिताः पुन इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद्भ्रातृभिरः पश्येत्मातृवस्युत्तमातरम् ॥१९॥
(भ मा आदि अ ७७)

पति जीवन्मये अपनी जीर्ण परिह होकर पुन पुन जन्मसे जन्मता है। इस तरह पतिके पुनर्जन्मसे उत्पन्न करनेके कारण कर्म-फलकी जाया काम सार्थ होता है ऐसा प्राचीन ज्ञानी मानते हैं। स्वर्ग जन्मवाही जन्म होकर पिताही पुन जन्मता है, ऐसा ज्ञानीवोंका मत है। इसलिये पुनकी माता मर्त्य जन्मवाही धर्म-पत्नीके पुन-जन्मके पत्न्य (भ्रातृवस्य पश्येत्) अपनी मायाके समान देवता उचित है।

इस लीखे वहाँ कहा है कि पिताका पुनर्जन्म पुनर्जन्म होता है। पुनर्जन्मके कई मन्त्र मन्त्रादिता अ ५ श्लो ५-१ के विचारमें बताये हैं उन शब्दके विचारनेयोग्य वह श्लोक है इत्यवही पाठक वहाँ स्मरण करें।

इन्धर-मायकी प्राप्ति

ईश्वर भगवद्गीताका अध्याय एकही है कि नरका भ्रातृत्व करने पुनर्जन्म पुनर्जन्म हो जाने जीवका शिव करने निम्न—

आनन्दपदा पूताः मन्त्राद्यैः प्राणताः । (गी ७:१)

‘भाव और पदसे पुनीत होकर (मन्त्राद्यैः) परमेश्वरके प्राप्तके प्राप्त होते हैं। जो ज्ञान और पदसे पवित्र करने के ईश्वर-भावको प्राप्त होते। जीव जन्म-मायको कष्टी वा कोहा प्राप्त हुआ तो वह जन्मही होता है, इसी तरह ईश्वर-भावको जो मनुष्य प्राप्त होता है वह साक्षात् ईश्वर बनता है। कई पाठक इस विषयमें संदेह करते हैं जगःजी-मन्त्रपदायाका इस विषयमें शिक्षित सिद्धांत क्या है, वह अब देखेंगे। भगवद्गीतामें इस प्रकारके भगवद्भाषणे शुद्ध बन जानेके “सिद्धि बचना परम सिद्धिके प्राप्त होता

कहा है। जगः के श्लोक वहाँ देखिये—

परम सिद्धि

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानार्तां ज्ञानमुत्तमम् ।
पञ्चात्मा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥
(गी १५:११)

असकपुष्टिः श्रवणं श्रितात्मा विगतस्पृहः ।
नैकम्यमिच्छि परमां सम्प्राप्तेनाधिगच्छते ॥
(गी १६:१९)

उत्तमसे उत्तम ज्ञान वह है कि जो ज्ञान प्राप्त करनेसे पञ्चात्मा जन्म मुक्ति वहाँसे परम सिद्धिके पहुँचे हैं। जिसकी भोगोंपर बाधति नहीं है जिसने अपने मनको जीता है जिसने भोगेच्छामनोका आग जिता है वह सम्प्राप्तहारा परम सिद्धिके प्राप्त होता है।

यहाँ परम सिद्धि प्राप्त करनेके साधन सत्त्व ज्ञान अनासक्ति मनश्च संयम आत भोगोंकी अनिष्टम् कहा है तथा और भी देखिये—

यतः प्रवृत्तिर्मृतार्ता येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमम्यक्यं सिद्धिं विभूतिं मानवः ॥
(गी १६:१९)

जिसके द्वारा सब मृतोंकी उत्पत्ति हुई और जो सर्वत्र व्याप्त है, उस ईश्वरकी पूजा अपने कर्मके द्वारा करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है।

ईश्वर-पूजा करनेका और सिद्धि प्राप्त करनेका वह अति सुगम बयाव है। प्रत्येक मनुष्य जो कामपदा करता है अपना जिस कर्ममें निपुण हुआ है वही कर्म वह परमेश्वरको अपने समुच्च उपस्थित आत्मकर और वसने समुच्च करनेके लिये करे। इससे वह परम सिद्धिको प्राप्त करता है। पुन हो या की हो स्वकर्म करण हुआ वह इस प्रकार बच्य होता है। किसी भी मनुष्यको किसी भी अवस्थामें इस मार्गसे जानेमें किसी भी प्रभकरक प्रतिबंध नहीं हो सकता। अतः अपने पुनर्जन्म उन्नत लीखे सुसंस्कृत करके सिद्धि प्राप्त कर सकती है। पत्नी अपने प्रतिपिपक और पति अपने पत्नीपिपक करनेक करते हुए उन्नत हो सकते हैं। इसी तरह जोहृदय, व्यापरी आरोग्य कर्मकारी तथा इत्येक मनुष्य अपना कर्म परमेश्वरको समुच्च करनेके लिये

करता रहेण, वो निःसन्देह बचत होगा। इसमें कोई बातें
सुख है-

(१) परमेश्वरको अपने सम्युक्त उपस्थित मानना और-

(२) अपना कम उसको संतुष्ट करनेके लिये करना हु
येवा मायकर करने करना।

इतनेहीसे मनुष्य दुःख पणित और बचत होगा है।

दुःख, दुराचारी मनुष्य की है जो 'बाते मनेगा वा जोडेही
समयमें दुःखवा और दुराचारसे बुरा होण, फिर सदाचारी
मनुष्यकी उन्नति क्षेत्रमें क्या संवेद हो सकता है। उन्नतिका
बहु भावत सुगम उपाय है। वही बात अन्य क्षेत्रोंमें
निम्नलिखित क्षेत्रमें करी है—

अभ्यासेऽप्यसमर्पणोऽसि अकर्मपरमो भव ।

मर्त्यमपि कर्माणि कुर्वन्स तिस्रिस्त्वाप्स्यसि ॥

(गी १५१)

यदि तु योगादि साधनोंका अभ्यास करनेमें समर्थ
नहीं है, तो तु मेरे लिये कर्म कर । मेरे लिये कर्म करनेसे
ही तु सिद्धिमें प्राप्त करेग । "

मनुष्यसे मनुष्य देखे होते हैं कि जो योगादि साधन नहीं
कर सकत । इस प्रकारकी अवस्थाका होनेपर भी उन मनुष्यों
का इलाज होनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि ऐसे
मनुष्य यदि अपने कर्म परमेश्वरकी संतुष्टिके लिये करेंगे
जबका अपने कर्म परमेश्वरकी समर्पण करेंगे तो वे सिद्धि
प्राप्त करेंगे ।

कई वहाँ शीका करेंगे कि केवल अपने कर्म परमेश्वरको
समर्पण करनेसे किन लाभ उठाने होते हैं ? इसके उत्तरमें
निवेदन है कि एक मनुष्य कोई स्वान स्वच्छ करना है ।
यदि वह कार्य देखते रागसे लिये करता हो तो वह किसी
क्षमतामें करेगा । अपना कार्य राग से होगा। इतना विचार
होनेसे उसका वह स्वच्छताका कर्म मित्र होना है फिर
राजाजीका भी जो राजा है उस कार्य-मार्ग परमेश्वरके लिये
जब वह अपना कर्म समर्पण करेगा वह उसकी सुखता
परिष्कार और उन्नति होनेमें सहायता क्या होगा ? अपना
अपने कर्म परमेश्वरकी समर्पण करनेसे मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होगी
इसमें संदेह नहीं है ।

हम तब सिद्धि प्राप्त होनेके उपरान्त श्रीमद्भगवद्गीतामें
करा है । वह सिद्धि प्राप्त होनेके साधन है है

(१) भोगोंपर अणुसक्ति,

(२) अतमसधम समासंभम और—

(३) वासनाओंका त्याग ।

यदि वे साधन कोई मनुष्य न कर सके तो वह मनुष्य

(४) अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करे ।

यह भावत सुगम उपाय है । इसका अवलम्ब करनेसे

उन्नेक मनुष्य उन्नतिके पथपर जाने बह सकता है । मनुष्य
को कर्म करना है वह परमेश्वरको समर्पण करे । इसके बाद
सुगम उपाय क्या हो सकता है ? वहाँ सुगम साधन
परम सीमा हो चुकी है । मनुष्य अपना जीवन परमेश्वरके
लिये समर्पण करेगा तो सिद्धिको अवलम्ब प्राप्त करेगा ।

पंडित सिद्धि " लक्ष्मणसे मिली थी निमित्त अवलम्ब
जोष लक्ष्मणका नहीं होता । सिद्धि का उत्पन्न क्या है ।
मनुष्य जब सिद्धिमें प्राप्त करता है तब उसकी ला
मिलता है और मनुष्यको अवलम्ब सिद्धि नहीं मिलती जब
तब उसमें किस बातकी ग्यूलता रहती है इसका विचार
करना चाहिये । इसका निवार होनेसेही परम सिद्धिमें
अपना एक प्रकार का सकती है 'अप' इस बातका उप
निवार करने ।

विशेषता

जिस मनुष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हुई वह सम्युक्त
मनुष्यकी अपेक्षा जिससे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है ऐसे कि
उपरान्त एक न एक विशेषता होती है ऐसा निम्नलिखित
गीता-वचनोंसे प्रतीय होता है—

तेषां प्राक्तो बिलययुक्त एकमक्तिर्विधिप्यते ।

प्रियो हि ध्यानिमोऽत्यर्थमह स च मम प्रिया ॥

(गी ७१०)

सुहृन्मित्राण्युवासीनमभ्यस्यदेव्ययमुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विधिप्यते ॥

(गी ६१९)

यस्मिन्प्रियायि मनसा नियम्यारमतेऽभुन ।

कर्मैर्द्रियो कर्मयोगमसक्तः स विमिष्यत ॥

(गी ११०)

इसमें निम्न योगानुसूक्त व्यवहार करनेवाला कहे
होता (ईश्वरकी) भक्ति करनेवाला शान्ति विदेय योग
रक्ता है । ४ शान्ति योग है और शान्ति सुमे शिव है ४

उत्तम इन्द्रबलका मित्र, समुद्र पक्षपातरहित मध्यस्थ, द्वेषी
गन्तु साधु और पापी इन सबपर जो सम भाव रखता है
ही विशेष श्रेष्ठ है । जो मनुष्य सबके द्वारा हकियोंको
पाने बलीबल रखता है और लोगमें बासक न होया हुआ
अभिमानसे कर्मयोगका आचरण करता है वह विशेष श्रेष्ठ
होता है ।

इस तरह- (१) योगसङ्कट व्यवहार (२) ईश्वर
मति (३) सर्वज्ञ सम भाव (४) ईशिय-सम (५)
अवास्तविक और (६) कर्मयोगका आचरण करनेसे मनुष्यकी
योग्यता विशेष उत्पन्न होती है, " वह दीप्तप्रभ कमल है । पूर्ण
स्वातन्त्र्य " परम सिद्धि प्राप्त करनेके लिये " अवास्तविक,
सर्वत्र वास्तव्य-व्याप और बहुको अपने कर्म समर्पण करना
ये चार बातें किन्हीं हैं । यहाँ मनुष्यको ' विशेषपदा ' प्राप्त
करनेके लिये चारों बाटें कहीं हैं, जिनमें आधी पूर्णकही
हुवता कही है ।

विशेषपदा प्राप्त करनेका भी क्या आशय है ? सामान्य
मनुष्योंमें कौनसी होवता होती है और विशेष मनुष्योंमें
कौनसी पूर्णता होती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है । कम
उक्त इस बातका विचार नहीं होगा तबतक विशेषपदा
प्राप्त होनेका आशय ज्ञानमें नहीं आवेगा । अतः इसकी
खोज करनी चाहिये ।

श्रेयःप्राप्ति

यहाँ कई कहेंगे कि श्रेय प्राप्त होनेसे मनुष्यकी योग्यता
विशेष श्रेष्ठ होती है । सामान्य मनुष्य श्रेय-आर्गसे दूर रहते
हैं और विशेष मनुष्य श्रेय-आर्गमें प्रवृत्त होते हैं । श्रेयमें
यही श्रेष्ठ है । इस श्रेयको प्राप्त करनेका उपाय न गीतमें
निरूपित स्थितिमें क्या है—

हेवाच माचयसानेन ते देवा माचयन्तु यः ।

परस्परं माचयन्तः श्रेयाः परमवाप्स्यथ ॥

(श्री ३।११)

" तुम बहुद्वारा देवोंकी संभावना करो और वेच तुम्हारी
संभावना करेंगे । इस रीतिसे परस्पर सहायता करते हुए
तुम परम श्रेयको प्राप्त करो । " यहाँ परम श्रेयवाप्तिका
साधन परस्पर सहायता है ऐसा कहा है । सामान्यमें
बचवा राहमें द्विविध लोग रहते हैं । दूरीपति और कर्म
चारी शानी और अज्ञानी व्यक्तिचारी और जगत्ता आर्य

और दानु द्विव और द्विवेतर इस प्रकार अनेकविध लोग
समाजमें रहते हैं, इनकी परस्पर सहायतासे ही सबका पूर्य
हित हो सकता है । शानी अज्ञान होंगे और कर्मचारी ससक्त
होंगे तो शानी लोग कर्मचारियोंकी सहायता आज्ञाकार
और कर्मचारी अपने धार्मिक बलसे शानियोंको काम
पहुँचाने । इस तरह परस्पर सहायतासे सबका कल्याण
होता है और आपसके छद्मकेसे सबकी हानि होती है । यह
बात सहजहीमें सबके स्वातन्त्र्य आ सकती है । यहाँ कल्याण
अथवा श्रेय सम्बन्धे इह-पर-लोकेमें प्राप्त होनेवाला सुख
क्या जाता है ।

सिद्धि, परम सिद्धि, विशेषपदा श्रेय परम श्रेय और
कल्याण ये सब शब्द परिचित हैं । इनसे कुछ अन्तर
विशेषकी कल्पना करनेमें उत्पन्न होती है यह सत्य है
यद्यपि उस अन्तरमें क्या काम है और वह अन्तर प्राप्त
न होनेसे क्या हानि है इस बातकी विमिश्र कल्पना इन
शब्दोंसे नहीं होती है अतः इस बातकी खोज और करनी
चाहिये ।

मायाक पार होना

इस व्यापार कई लोग कहेंगे कि श्रेयवाप्तिका सर्व
मायाके पार होना है । जिसका वर्णन इस प्रकार किया है—
दैवी शोभा गुणसंपी मम माया तुरस्थया ।
मातेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तपन्ति ते ॥

(श्री ३।१२)

मेरी यह शीघ्र गुणोंवाली दैवी माया पार करना बड़ा
कठिन कार्य है । जो लोग मेरी सारण लेते हैं, वही इस
मायासे पार जाते हैं ।

इस श्लोकमें कहा है कि संसारमें रहनेवाले सामान्य
मनुष्य इस दैवी मायाके पाशोंसे बंधे होते हैं । इस मायाक
बन्धन तोड़ना कठिन कार्य है, परन्तु जो मनुष्य परमेश्वरकी
सारणमें जाते हैं, केवल वेही इस मायाके बंधनोंमें तोड़कर
मुक्त होते हैं । यहाँ कुछ न कुछ विशेष अवस्थाकी कल्पना
होती है । माया नामकी दैवी शक्ति इ जलके तीन गुण
हैं वेही बंधे पाश हैं । साधारण अज्ञानी मनुष्य इन पाशोंसे
बधि जाते हैं । जो विशेष ज्ञानी परमेश्वरकी मति करते
हैं, वेही इन पाशोंको तोड़कर मुक्त होते हैं ।

अतएव यहाँ माया और गुण (रस्ती वायु) इन सम्बन्धोंसे

कुछ बचनकी कल्पना जाती है, तथापि 'माया' सम्बन्धे किसी निश्चित पदार्थका बोध नहीं होता और गुणों (पातों) में समुच्च कैसा बाँटा जाता है, इसका भी बोध ठीक तरह नहीं होता है। अतः इस विषयकी अधिक शोध करनी चाहिये।

पुनर्जन्म न होना

यहाँ कई विद्वान् कह सकते हैं कि मायाके पातोंमें क्या होनेके कारण जीवकी वारंवार जन्म-मरणके चक्रमें परबल होकर घूमता पड़ता है। परन्तु जो माया-पातोंसे हट रहा है वह पुनर्जन्मसे नहीं आता। अतः कह सकते हैं कि साधारण समुच्च जन्ममरणके चक्रमें पड़नेसे जाते हैं परन्तु विशेष प्रकृता प्राप्त करनेवाले समुच्च जन्म-मरणके प्रवाहके बाहर हो जाते हैं। 'इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक विशेष विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं—

तत्पुरुषस्तदात्मानस्तद्विद्यास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं कामनिर्धूतकर्मणा ॥

(गी ५।१०)

ज्ञाते विषये तब पुरुष गये हैं वे परमेश्वरमा को। ईश्वरका ध्यान करते हैं, ईश्वरमें अपनी जगत्प्रभो केगाते हैं ईश्वरकी भक्ति करते हैं और ईश्वरपरायण होते हैं और इससे वे जन्म-मरणक प्रवाहसे छूट जाते हैं। तथा—

भामह्यनुवाङ्मोक्षा पुनरावर्तिमोऽश्रुत ।
मासुपेक्ष्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(गी ४।१६)

'मह्य-कोष्ठके केकर सब श्लोक जन्ममरणकी पाठना भोगनेवाले हैं। परन्तु जो समुच्च श्रुति (ईश्वरकी) प्राप्त करते हैं उसको पुनः जन्म नहीं केना पड़ता ।"

इस प्रकार कहा कि परमेश्वरकी भक्ति करनेवाले भद्ररूप जातिवत् लोग परमेश्वरको प्राप्त होनेके बजाय पुनः पुनः जन्म-मरण केचक्र चक्रमें नहीं पड़ते हैं। यहाँ निम्नलिखित हुआ कि सिद्धि प्राप्त होना शेष कल्याण विविध अवस्था प्राप्त करना इत्यादि कारभोंय तत्पर्व परमेश्वरकी प्राप्त करना है। परमेश्वरको प्राप्त करनेसेही समुच्च परम-सिद्धि होता है तब शेष प्राप्त करना है और पुनर्जन्मसे पार होता है। परमेश्वरकी प्रकृति करनेवाले विषय गीतामें क्या और जगत्प्रभोमें क्या वारंवार कहा गया है। इनका निश्चित

वर्णन समझनेकी इच्छा है, तो नीचे किसी कोष्ठमें वर्णन तरह समझ लीजिये—

इह ताममुपाश्रित्य भग्न साधर्म्यमागताः ।

सर्वेऽपि मोक्षप्राप्तये प्रकृते न व्यथ्यन्ति च ॥

(गी १०।१)

इस ज्ञानको प्राप्त करते उपलब्ध ईश्वरके गुण-वर्णन समान गुण-वर्णनसे पुनः होता है तत्पश्चात् उसकी छत्रिणी जलपिके समानमें भी लम्प केना नहीं पड़ता और प्रकृत लम्पमें भी उसकी व्यथा नहीं होती ।

यहाँ परम सिद्धि की कल्पना स्पष्ट हो गई है। परमेश्वर जो जो गुण-वर्णन है वे गुण-वर्णन इसको प्राप्त होते हैं, लम्प वह परमेश्वरको समान बन जाता है। जैसा जलिका लुकीय अपनी दाहक-शक्ति बहाकर लम्प बन जाता है, वही ज्ञानी यह जीव शिव-स्वरूप हो जाता है। (भग्न साधर्म्य = इहा-साधर्म्य) ईश्वरके समान वर्तनवाला बननाही भक्ति सिद्धि है। ईश्वरके समान गुण-वर्णन होनेसे वह जन्म-मरणके चक्रमेंसे मुक्त नहीं होया। जैसा ईश्वर सद-विद्य-जन्म-स्वरूप है जैसाही वह बनता है फिर इसको पुनः शोध कैसे हो सकेगा ? जन्म-मरणके चक्रमेंसे हट होवेक ही नही भी एक है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

समधा धर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

(गी १३।१३)

जो समुच्च गुणवर्णन प्रकृति और पुरुषको बलान्न जानता है, उसको सब तरहका वर्तन लम्प वह चक्र करनेपर जो फिरसे जन्म केना नहीं पड़ता ।"

बहुति पुरुषका बलात्प्राप्त ज्ञान होनेपर उसको कर्म करते हुए भी निर्लेपता सिद्ध करनेका उपान्न प्राप्त होता है और उस कारण उसको पुनर्जन्म भेदका कारण नहीं रहता। अतः इस तरह परम सिद्धि प्राप्त करनेका कार्य परमेश्वरके समान गुण-वर्णनसे पुनः बनना है अर्थात् निर्धन निर्लेपता निष्कलंक बनना है। इस निर्लेपताका स्वरूप सब क्षिति—

निर्लेपता

समुच्च इस सीमातमें विचरता है, जगत्प्रभो के छत्रिणी उसपर शेष कल्याण संभव होताही है। ऐसा संभव होनेपर भी श्रीमद्भगवद्गीतामें एक बहुत बुद्धि दानी है

विशेष प्रयोग करनेसे मनुष्य निर्दोष या निष्कलंक, सुख और
पवित्र बन सकता है । निर्दोषताको प्राप्त करनेकी पुष्टि यह है
ब्रह्मण्यायाय कर्माणि संगे त्यक्त्या करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पञ्चपन्नमिवाम्मसा ॥

(गी ५१)

“ कर्मोंको नष्टमें लपे करके जगत् सब कर्म परमेष्ठर
को समर्पण करके जो मनुष्य आसक्तिरहित होकर सब
व्यवहार करता है वह पत्नीमें जैसा कमल-पत्र निर्दोष
रहता है, वैसा पापसे कलमिल नहीं होता । ”

यहां निष्कलंक रहनेकी दो पुष्टियां कही हैं— (१)
कर्म परमेष्ठरको समर्पण करना और (२) भोगोंका संग
छोड़ना । इस पुष्टिसे मनुष्य सब प्रकारके कर्म करना
हुवा भी निर्दोष रह सकता है । पापी मनुष्य भी इस शालसे
निर्दोष होगा । ऐक्ये—

मपि खेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतमः ।

सर्वं ज्ञानमुपैतैश्च कृत्स्नं सन्तारिष्यसि ॥

(गी १३६)

“ सब पापियोंमें भी मैं खेदसे बड़ा पापी हुना तो भी
इस शास्त्रकी शक्तिद्वारा मैं सर्व पापोंसे पार हो जावगा । ”

इस तरह इस शास्त्र और पूर्णतः पुष्टिसे मनुष्य निष्क-
लंक हो सकता है ।

मनुष्य जो जो कर्म करता है वह परमेष्ठरके लिये करी और
उसके लक्ष्य-मोक्षकी इच्छा न करे । वह इच्छा पुष्टि करनेसे
बहु निर्दोष रहेगा । कर्म करनेपर भी कमल-पत्रके समान
निर्दोष रहेगा । वस्तुतः लक्ष्य-मोक्षसे जैसा भावना भरभरमें
रहनेपर भी घरके दोपसे दोषी नहीं होता इसी तरह वह
आत्म्य सर्वभूतक होनेसे धरीरसे बने कर्मोंके दोषोंसे दोषी
नहीं बनता । ऐक्ये इस विषयमें भगवद्गीताका कथन
निम्नान् स्पष्ट है—

समादित्वाधिगुणस्वात्परमात्मायद्रव्ययः ।

शरीररूपोऽपि कीर्त्येव न करोति न लिप्यते ॥१२॥

एषा सर्वगतः सौहृद्व्याहाकाया नोपलिप्यतः ।

सर्वबाधस्थितो हरे सत्पराया नोपलिप्यते ॥१३॥

(गी ५ १३)

वह अधिमादी परब्रह्मा अनादि और निर्गुण होनेके
कारण शरीरमें रहते हुए भी न कुछ करता है और न

किसीसे मिल जाता है ॥ वह सर्वत्र होनेके कारण सर्वभूतकी
भाकास लिप्य नहीं होता । वैदेही सब देहोंमें रहनेवाली माया
भी लिप्य नहीं जाता ॥

यही उपदेश उपनिषदोंमें भी कहा है—

अभिरूपैको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥ ९ ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः ॥ १० ॥

सूर्यो यथा सर्वलोकांश्च भ्रष्टु

र्न लिप्यते आभुवैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

व लिप्यते लोकानुज्ज्वल बाह्यः ॥ ११ ॥

(ऋ ७५ १५)

“ जैसा अग्नि एक है, तथापि वह भुवनोंमें प्रविष्ट होकर
प्रत्येक वस्तुमें जलन जलन दीखता है, इसी तरह सब
भूतोंकी अन्तरात्मा एक है परंतु वह प्रत्येक रूपमें मित्र
स्मयान्ता दीखती है और उसके बाहर भी वह है ॥ वायु
जसा एक है परन्तु प्रत्येक पदार्थमें प्रविष्ट होकर विभिन्न
स्मयान्ता दीखता है उसी तरह सब भूतोंका अन्तरात्मा एक
है, परन्तु वह प्रत्येक रूपमें जलन जलन दीखता है और वह
उसके बाहर भी है ॥ जैसा सूर्य सब पदार्थोंको प्रकाशित
करके आराम सबका भ्रष्टु जैसा है तथापि किसी
लक्षण होनेके कारण शेषपुत्र नहीं होता वैधाही सब भूतों
की अन्तरात्मा एक है तथापि वह लोगोंके हाथोंसे दोषी
नयना लोगोंके दुःखसे दुःखी नहीं होती । ”

अज्ञाना सर्वगत-सर्वभूतक-है, वह सब पूर्व स्वात्ममें
(गी १३४ में) कही है । यह सर्वगत होनेसही लक्ष्यता
निर्दोष है । जैसा बोधा एक विगडता है नदीनाले धीरे
होते हैं, परन्तु वह शेषपूर्ण जल महासमुद्रमें बहनेपर
उसका जल कभी भी विगडता नहीं सरा पवित्र रहता है ।
(सागरे सर्व-सोर्षाणि) महासमुद्रमें सब प्रकारके पवित्र
तीर्थ हैं, वह सागर-जलकी पवित्रता उदात्त “ मद्रव ” है

कारण है, यदि साधन बहुत बड़ा है इसलिये वह पोषण है। अथवा भी सबसे बड़ी है अतः वह निर्दोष है। 'धूमा' और 'वसु' का विचार इससे पूर्व (गी १।१३-१५ के विवरणमें) किया है वह यहाँ लक्ष्य के हैं। जो दोष होता है वह अक्षयमें होता है अतः व्यक्तिगत सङ्कलित साधकी दृष्टिसे कर्म करनेपर दोष होते हैं और सामुदायिक विस्तृत मार्गमौलिक साधकी दृष्टिसे कर्म करनेपर निर्दोषता सिद्ध होती है। अतः वैयक्तिक योगगुण्या बुर करनेसे सब दोष दूर जात हैं, ऐसा जो कार्यकारण बड़ा है वह शुद्धियुक्त है। इस विवेचनाका अर्थ कर्मिक बन्धनसे निवृत्ति है। वह कर्म-बन्ध किस तरह दूर होता है यह विचार भी बड़ा सूत्रम है यह अब देखिये—

कर्म-बन्ध निवृत्ति

कर्मसे बन्धन उत्पन्न होता है और साध्यक जीवित मनुष्य मनुः कर्म करता है अतः कर्मिक मनुष्य कर्म-बन्धनमें पड़ता है। ऐसी अवस्थामें जीव मनुष्य किस तरह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकता है? इस तरह विचार करनेमें मनुष्य अपनी सुनिष्ठ विषयमें निराश होय अतः मायावृत्ताने कहा है कि हे मनुष्य त्वत्तिष्ठान् न हो यद्यपि आर्ग-वृत्तिसे रहनेपर कर्मिक बन्धन नहीं रहने। यह सिद्धान्त बलवत् है उद्देश्यसे गीतामें कहा है—

शान्तमंगम्य मुक्तस्य आनाययितव्येतत्तम् ।

यथायाच्यते कर्म मम प्रविर्मायते ॥ (गी ४।१६)

जो मत्तोपर आत्मन नहीं है त्रिपञ्च चित्त शान्तसे पूर्ण है अतः आच्यते कर्म कर्म का नाश है अतः मुक्तक मम कर्म बंध होवे है।

मीमांसक आत्मन न इतिमे और ईशानविषयक ज्ञानसे चित्त दृग्न कारने मनुष्यक मम कर्म बंध हीन है तब कर्मोंका बन्ध हीन है अतः बन्धन उत्पन्न करनेके लिये हे कर्म उत्पन्न पाव अवशिष्टही नहीं रहने। इसी तरह कर्म-बन्धन द्वारा कर्मसे बन्धन दूर होने का कहने है—

यथा तन्निदिता नांय सुख्ययोगे त्रिपञ्च ॥

बुद्ध्या युक्ता यथा पाप कर्मवर्ण्य प्रद्वारयति ॥

(गी १।३५)

यह मीमांसक आच्यसे कहे जायें, जब कर्मवर्ण्य प्रद्वारय न बन्धना है जो मनुष्यक बंध है इस शान्तसे मनु

कर्मिक बन्धनको तोड़ सकेगा।

कर्म-योगकी रीतिसे कर्म करनेपर कर्मसे दोषसे बंधन नहीं होता है। कर्म-बन्धन मुक्त होनेकी यह पुष्टि है।

ब्रह्मा स मित्यस्तन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

निर्वृद्धो हि महाबाहो सुखं ब्रह्मात्ममुच्यते ॥

(गी ५।१)

जो मनुष्य किसीका द्वेष नहीं करता और किसी को ईर्ष्या भी नहीं करता जो सुख-दुःखपर द्वेषसे दूर रहता है वह सत्परात्मन्यासी होनेसे बन्धनसे मुक्त होता है।

यहाँ बन्धनसे दूर होनेके तीन उपाय कहे हैं—(१) ब्रह्मा

(२) निर्विषयता और (३) निर्वृद्धता। जिस मनुष्य

आचारधर्म के लीकों सहजहीने रहते हैं वह मनुष्य कर्म

होचोके बन्ध नहीं होता। किसीका द्वेष न करो कोप

कामना न करो और सुखदुःखपर द्वेषसे निवृत्तसे लक्ष

याच रहो। ऐसा करनेसे मनुष्य मुक्त होता है।

ये मे मतामिह मित्यमनुविष्टमि मानवाः ।

अद्याप्यतोऽनसूयतो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

(गी १।११)

"जो लोग ब्रह्मा रहकर और द्वेषका त्याग करते, इस

मरे कथनके अनुसार अनुमान करते हैं वे भी कर्मिक बन्धनसे

मुक्त होते हैं।"

इस वचनमें भी—(१) ब्रह्मा, (२) ब्रह्म ही

(३) अगवत्के मनुष्यक व्यवहार करना, वे तीन उपाय

कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये विधे हैं। अगवत्के अर्थ

नुसार कर्मवैद्य अर्थ नामनिर्दिष्ट कर्म करना, इसीसे बन्ध

हीनमें कहा हुआ है। जब कर्म बन्धन न होनेके लिये तब

करना चाहिये इस विषयमें देखिये—

न मां कर्माणि शिष्यन्ति न म कर्मफले स्मृताः ।

इति मा योऽभिजानाते कर्मिर्गते स बध्यते ॥

(गी ४।१४)

यद्यच्छालामसम्पुष्टे द्रव्यातीतो विमत्सराः ।

नमः सिद्धायमिदं च कृष्णाऽपि न निबध्यते ॥

(गी ४।१५)

योगार्थव्यसनकर्माय आत्मसिद्धिस्तत्तत्तयम् ।

आत्मवर्णनं न कर्माणि निबध्यन्ति धमजय ॥

(गी ४।१६)

यस्य नादहृतो भावो बुद्धिर्यस्य न छिप्यते ।

इत्याऽपि स इमांस्तोकांश्च हस्ति न निबध्नुते ॥

(टी १८१०)

' मुझे कर्म फलकी काफ़ी नहीं है । बल्कि मुझे कर्मोंका रूप नहीं होता । इस तरह जो मुझे अभीष्टोंकी जागृता है वह कर्मसे बाँधा नहीं जाता ॥ जो सहज प्राप्त हुए वस्तुसे सम्बद्ध रहता है या सुख-दुःखादि इन्द्रियों पर रहता है जो ऐश्वर्ययुक्त होता है और जो सम्पन्न और निष्कलतासे विषयोंमें समस्त सम धार रहता है, वह कर्म करने हुए भी बंधनमें नहीं पड़ता ॥ समस्तकर्मों को छोड़कर जिसने कर्म-फलका त्याग दिया है उसके कारण जिसके सब ईश्वर हुए हो चुके हैं और जो नश्य-बद्धों युक्त है, उसको कर्मोंसे बन्धन नहीं होते ॥ जिसमें बड़ेकार-धर्म-नहीं है, जिसकी इन्द्रि मन्त्रेन नहीं हुई है वह इन सब लोगोंको मारने हुए भी नहीं मरता और जिसे कर्मोंसे बन्धनमें नहीं पड़ता । "

इस बार छोड़ने कर्मोंके द्वारा होनेके बन्धन हुए करने के ब्याप्त रहे हैं । कर्म-बन्धन छोड़नेके उपाय ये हैं—

(१) कर्मफलकी अविच्छेद (२) ब्रह्मा-आत्ममें समोप (३) इन्द्रियोंका होना (४) उपरान्त-विश्राम होना (५) सिद्धि-असिद्धिमें सम भाव रहना (६) योगसे कर्मोंके फल (७) कामसे लगे-निष्कल होना (८) काम करनेसे मुक्त होना (९) बड़ेकार न होना (१०) ब्रह्म विधि विमर्क बुद्धि करना इन सब उपानैक कर्मोंके बन्धन हुए होते हैं । ये सब मुक्तिका सिद्धि साधन ही हैं । वह सब कर्म करना रहा जो भी कह नहीं होता; तथा—

येनायुको विष्णुकारमा विजितारमा जितेतिश्रुयः ।

सर्वभूतममृतात्मा कुर्वन्नपि न छिप्यते ॥

(टी १८१०)

' जो ब्रह्मकर्मकी योग्यता कायम करता है जिसका हरव ह्रद है जिसने अपने मनमें बीज है और जिसने इन्द्रियोंका संयम किया है और जो सब ब्रह्मकारको करती जागृताके समान समुपभूत करता है वह कर्म करते हुए भी बन्धित रहता है ।

यहां (१) समस्त-योग्यता कायम (२) इन्द्रियोंका संयम (३) काम विमर्क (४) इन्द्रि-संयम और (५) सर्वभूतममृतात्मा के योग्यता कर्म-योग विचारनेके

दिने कहे हैं । इनमेंसे कई श्लोक साधनोंमें जा चुके हैं और वेप उभय साध साध सिद्ध होनेवाले हैं ।

इन श्लोकोंका मन्त्र करनेसे हमें पता चलता है कि समुपभूत सिद्धि प्राप्त होनेका आशय कर्मोंके दोषोंसे दूर होना है । कर्मोंके कारणों भी जो निरूप रहता है, उसको सिद्ध प्रत्यक्ष समझना चाहिए इसीको मुक्त कहते हैं ।

मुक्ति अध्याय मोक्ष

समुपभूत सिद्धि सिद्धि समुप विनाप योग्यतासे मुक्त हुआ कम बन्धनसे दूर रहा निरूप या निष्कल हुआ तो कहा जाता है कि वह मुक्त हुआ । वह मुक्ति प्राप्त करना समुपभूत मुख्य ध्येय है । बल्कि इस मुक्तिके विषयमें नीतिमें क्या कहा है उसका बड़ा विचार करना चाहिये—

एवं तु से गुह्यतम प्रत्यक्षायामस्युपे ।

आम विद्यासहित यज्ज्ञात्वा मोक्षयज्ज्ञात्वा ॥

(टी १८१)

ए हेच-रहित है, इसलिये ऐसे वह मुक्त शब्द में कहा है इस शब्दसे न अपने आपकी बलमसे मुक्त करेगा ।

यहां मुक्तिका अर्थ बलमसे बचना है और वह मुक्ति एक शब्दसे प्राप्त होती है । तथा—

अज्ञातानन्तरयम् मुमुक्षुप्राप्य यो धरः ।

सोमपि मुक्तः शुभांशोकांश्चाप्नुयात्सुखकर्मणाम् ॥

(टी १८१०)

जो समुपभूत अज्ञान और हेच न करनेवाला है वह यदि मोक्षका भाव बलम करेगा तो निश्चित ही मुक्त होकर इन कर्म करनवालेके पुण्य-कर्मोंका प्राप्त होगा । "

यहां मुक्त होनेके तीन साधन कहे हैं— (१) ब्रह्मज्ञान (२) हेचराहित्य और (३) मोक्षमार्गका भाव । अज्ञा-हीन और हेच करनेवाले कीज यादगत बन्धनमें फँसते हैं । बल्कि समुपभूत अज्ञान है कि वह अज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होकर और हेच भाव मन्त्रों में धारण करे । ईश्वरकी शरणमें जानेसे भी मोक्ष प्राप्त होता है । ऐश्वर्य—

सर्वधर्माणापरित्यज्य मामाकं शरणं गतः ।

सह तदा सखपायेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(टी १८११)

' तब विभिन्न धर्म-धर्मनामोंका त्याग करते नु मेरी

(ईश्वरकी) शरणमें जा । मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा
जबतः तू शोक मत कर । ”

यहाँ पुरुषविद्यासे परमेश्वरकी शरणमें जानेसे मुक्ति मिलती
है ऐसा स्पष्ट कहा है । अन्य विचार छोड़कर हृदय भावसे
परमेश्वरकी शरणमें जानेसे मनुष्य मुक्त होता है । परमेश्वर
मनुष्यका इष्ट देवता है । उसमें यदा-भाति होती और सब
विद्यासे शरणमें जानेका भाव होता तो उसकी मुक्ति होनेमें
क्या हैरी है ? इस तरह शरण करनेवालेको साधनोक्ति विभिन्न
आश्वर करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है । वह भक्तिसे प्राप्त
होनेवाली मुक्ति है । भावसे प्राप्त होनेवाली मुक्तिका वर्णन
यह है ।

यो मामभ्यस्यति स वेत्ति लोकमहेम्बरम् ।

असेम्हः स मत्प्रेषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(गी १ । १४)

“ जो मनुष्य मुझ सब लोकोंके महेश्वरको अभ्यसा और
साधति स्वकर्मों पचावट जानता है वह सब कर्मोंमें बड़ा
शारी होकर सब पापोंसे मुक्त होता है ।

यहाँ ईश्वरको पचावट जाननेसे बर्णावट जान-मार्गसे मुक्ति
प्राप्त करनेका वर्णन है । परमेश्वरका दिव्य स्वकर्म जाननेसे
इस तरह मुक्ति होती है । जब योग-आयसे मुक्त होनेके
विषयमें देखिये—

यतेन्मित्रमनोमुष्मिमुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छामयकांक्षो यः सदा मुक्त एव सः ॥

(गी ५ । २४)

जो मोक्षपरायण मुनि अपने ईश्वर मन और इन्द्रियो
अपने बन्धन रचता हुआ हृदय मय और शेषसे रहित
होता है वह सदा मुक्त ही है । ”

यह मुक्ति अनुष्ठान तथा योग-साधनसे प्राप्य है । ईश्वर-
विकीर्ण संयम करना और हृदय कामना वासना मय
शून्य अवधिसे दूर होना, यही मयलघाव है । यह साध्य
होती मुक्ति सिद्ध होती है । मुक्तिका लक्ष ईश्वर-मय-मुक्ति
की स्वाधीनता और हृदय-मय शून्यरहित होना है । इसका
नाम मुक्ति है । पूर्वोक्त निर्द्वन्द्व भावि स्थिति इससे स्वयं
सिद्ध होती है ।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि मयलघ-निवृत्ति पापसे
बचना कर्म-अव्ययसे कुरुना यदि जो मुनिके कथन हैं, वे
विशेष भाव-वर्णक हैं । ककानी बात यहाँ नहीं होनी यह

अभाव-कथन है । अभाव कथनसे मुक्त स्थितिमें स्वा होव
है इसकी कल्पना नहीं होती । जतः मुक्तिका मातृका स्वयं
यथा है इसका विचार करना आवश्यक है ।

शान्तिकी प्राप्ति

मुक्तिमें ' शांति ' रहती है । यह मुक्तिका मातृका वर्णन
है । आपने देखा कि मुक्तिमें निर्द्वन्द्व स्थिति होती है । इन
का वर्णन कहाँ सगता है और निर्द्वन्द्व स्थिति का वर्णन
है । इसी तरह हृदय-मय-शून्य से वास्तविक स्वयं है
और इससे दूर होनेका नाम मोक्ष अथवा शान्ति है । इस
तरह मुक्तिके जो अन्वयार्थ साधन कहे हैं उनसे वास्तविक
हृदय शान्ति प्राप्त होती है । इसका अनुसन्धान पाठकों
इस साम्प्रतिक विषयमें भगवद्गीतामें निम्नलिखित रूप
मय करनेयोग्य है—

विहाय कामांश्च सर्वांश्च पुमांश्चरति निस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गी ५ । १)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीं
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गी ५ । २)

सब कामवाञ्छाओंके छोड़कर जो पुंस हृदय, हृदय
और बर्णावट-रहित होकर विचारन करता है यही शान्ति
प्राप्त करता है ॥ समस्तकर्म योगका आचरण करनेवाला कर्म-
फलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करता है । परन्तु समस्त
कर्म योगका आचरण न करनेवाला कर्मवाञ्छाके बन्धन होकर
फलवाञ्छाके कारण बंधनमें बँधता है ।

यहाँ परम शान्ति प्राप्त करनेके दो शास्त्र कहे हैं
(१) कर्मवाञ्छा त्यागना वास्तविक त्याग, (२) निस्पृह
मुक्तिके आचरण (३) समस्तकर्म त्याग (४) नैष्ठिक
त्याग (५) समस्तकर्म योगका आचरण (६) कर्म-
का त्याग ।

पाठक यदि पूर्व स्थानमें मोक्ष अथवा निवृत्ति सब
स्थिति भावि प्रकरण देखेंगे तो उनसे बेहो साधन यहाँ भी
निष्कर्ष देंगे । बर्णावट यद्यपि इन शीर्षकोंके अन्तर्गत है,
तथापि कथने योगित होनेवाली स्थिति पृथ्वी है । यद्यपि
बेहो सब शास्त्र हरएक स्थानमें विद्यमान स्थिति पाती
है । यही बात और देखिये—

अज्ञायां भ्रमते ज्ञानं तत्परः सत्यतन्निष्ठः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परं शान्तिमधिरेणाधिगच्छति ॥

(गी ३।१९)

प्रबल और तत्पर पुरुष ईश्वर-संघम करने का शान्ति प्राप्त करता है । ज्ञान प्राप्त हो जानेसे शीघ्र ही उसको परम शान्ति मिलती है ।

यहाँ प्रबल तत्परता ईश्वर-संघम से साधक-ज्ञान-प्राप्ति के लिये कहे हैं और ज्ञानसे शान्ति प्राप्त होनेका उल्लेख यहाँ भी है । योगसे भी शान्ति मिलती है, देखिये—

युष्मन्भ्यं सदाशान्तिं योगी नियतमानसाः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

(गी ६।१५)

' जिसका मन हम तरह विषयमें रहता है वह योगी बननाको परमात्मके साथ मिलाता है जिससे वह कुछ परमात्मामें रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त करता है । "

इस तरह व्यास-योगी भी परम शान्ति प्राप्त करता है । इसके तात्पर्यमें श्री—(१) मनका संघम, (२) व्यास योग (३) ईश्वर-प्राप्ति से शान्तिके साधन कहे हैं । हममें महासंघम पूर्वक साधनमेंसे एक है । परमेश्वरको जाननेसे भी शान्ति मिलती है—

मोक्षार यत्तपसां सर्वलोकोन्मोक्षधरम् ।

सुखं सर्वमूर्तानां कारवा मां शान्तिमुच्छति ॥

(गी ५।१९)

बल और तपके मोक्ष सब लोकोंके भिन्न ईश्वर और सब मूर्तमानोंका हित करनेवाले, सब मूर्तोंके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले कुछ परमेश्वरको जानकर मनुष्योंको शान्ति प्राप्त होती है । "

यहाँ परमेश्वरको अथाप्य जाननेसे शान्ति प्राप्त होनेका कथन है । यहाँ जो सब मूर्तोंका हित करनेका गुण परमेश्वर में है, ऐसा कहा है वहीं सब मूर्तोंका हित करनेका स्वभाव अपना सब मूर्तोंके दिवसे आत्म-सम न करनेका स्वभाव बनाया (सर्वमूर्तहिते रताः) गी ५।१५, १२।१०) उपा सक्रो योग्य है । ईश्वरके गुणोंका ज्ञान होनेसे उन गुणोंका ज्ञानमें आनन्द करनेकी और मनुष्य होकर हमसे अपनायकमें प्रति समय ईश्वरीय भाव रहता है और अन्तमें सामान्य-वशा प्राप्त होती है । इसीका वर्णन इस श्लोकमें है ।

परमेश्वर सब लोकोंका महान् ईश्वर है इसलिये सब मूर्त मानोंका हित करनेका कार्य-क्षेत्र उसके लिये बहुतही विस्तृत है । जो मनुष्य जितना बड़ा होगा उस प्रमाणसे उसका सब मूर्तोंका हित करनेका कार्य-क्षेत्र बड़ाही होगा ।

जैसा उदाहरणके लिये दैव सफेद हैं कि— एक ग्राम निवासी ग्राम-नेताका भूतहित करनेका कार्य-क्षेत्र ग्राम किसी गाँवके नेताका कार्य-क्षेत्र गाँव और राज्यके नेताका कार्य-क्षेत्र राज्य होगा इस तरह कार्य-क्षेत्र न्यूनान्वित होगा । परमेश्वर सब विश्वका नेता है इस कारण वह सब विश्वका हित करता है । कार्य-क्षेत्र श्रेष्ठ हो ना बड़ा हो, उसमें अपनी योग्यतानुसार सब मूर्तोंका हित करनेका विषय सर्वत्र समान है, जो उच्चतम है । परमेश्वर सब विश्वका हित करता है इसलिये वह विश्वका नेता है । वह योग्यता उसके इस कर्मके कारण उसे प्राप्त हुई है । अर्थात् जो मनुष्य जितना कार्य-क्षेत्र अपने लिये विस्तृत करेगा, उतनीही उसकी योग्यता बढ़ना संभव है और उनी प्रमाणसे वह सांत्विक अविकारी होगा । अर्थात् करना कर्तव्य कर्म करनेकी सावि हो कर्तव्य करनेपर प्रत्येक कर्ताको प्राप्त होगी । जब आगसे माह होनेवाली ताँगेके बिचमें देखिये

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद्व्यासमाद्यनानि यिच्छिष्यते ।

अध्यामात्मनोऽस्त्वयामस्त्यगाच्छान्तिरममृतम् ॥

(गी ३।१२)

' अभ्याससे ज्ञान-प्राप्ति अवसर है ज्ञानसे अमृत विद्योप है व्याससे कर्म-कण्डका त्याग भेद है क्योंकि इस त्यागसे एकमात्र शान्ति प्राप्त होती है । "

यहाँ योगाभ्यास त्याग ज्ञान जादिये कर्मकण्डका त्याग अधिक भेद है क्योंकि इस त्यागमात्रसेही शान्ति प्राप्त होती है ऐसा जो कहा है वह शान्ति प्राप्त करने की दृष्टिसे शिष्ट महावकी बात है । कर्म-योगियोंको तथा जनोंको भी यह त्यागसेही शान्ति की संभावना है । जब शान्ति मनुष्यकी स्थिति किसी होती है तो देखिये—

आपूर्यमाणमक्षयप्रतिष्ठं

समुद्रमाप्यप्रयिक्रान्तिं यद्वात् ।

तद्व्याकामार्थं प्रविशन्ति सर्वे

न ह्यस्ति याजोति म कर्मकर्मम् ॥

(गी १।०)

“जातो धोरसे पानी मर जानेपर भी बचक रहनेवाचे समुद्रमें जिस प्रकार सब नदियां स्वयं बहती जाती हैं वसी प्रकार जिसमें सब विषय (स्वयं इसकी) कामकाजे निभा) प्रवेश करते हैं वसीही नदी धारि मिळती है। जो कामोपभोगोंकी इच्छा करता है उसको धारि नहीं मिळती।”

वही उपमा और उपमेयका विचार करना चाहिये। समुद्र वाहता नहीं कि नदियां अपनेमें पानी क्यों वह तो पानिमी भी पूर्ण होता है, ऐसे स्वयं-पूर्णमें नदियोंमें पानी मर दिना तो भी वह वैराग्य पूर्ण रहता है। जैसा पहिले था। नदियोंमें पानी न जाता तो भी वह अपूर्ण नहीं होगी। नदियोंमें पानी जाने और न जानेपर समुद्रकी पूर्णता जब संशय नहीं है वह जे दोनो अवस्थाओंमें पूर्ण है वही कारण वह सत्य है। जो नदियोंमें पानी जानेसे मर जानेवाला और न जानेसे सूख जायगा उसमें वह पूर्णताकी साति नहीं होगी। इसी तरह जिसके विषय प्राप्त होनेसेही सुख होता और न प्राप्त होनेसे नहीं होता वह इसकी अपूर्णताका लक्षण है। जिसमें ऐसा बात नहीं है जो दोनो अवस्थाओंमें सम रहता है वहीही सत्य प्राप्त होती है।

मनुष्य साति चाहता है। यह साति प्राप्त होनेके साधन ये हैं—(१) कर्म-शुद्धता त्याग (२) समस्त योगका त्याग (३) मनका संयम (४) काम-त्याग, (५) निरासृष्टता (६) मन्त्र कीटना (७) निराहंकार होना (८) अद्वैत होना (९) ईश्वर-उत्प्रेरणा (१०) इन्द्रिय-संयम करना (११) परमेश्वरकी आज्ञा (१२) परमेश्वर सबका मित्र है ऐसा जानना (और ऐसा स्वयं सबका मित्र बनना) (१३) स्वयं परिपूर्ण रहना। इनमें बहुते पूर्ण साधनों आते हैं। इसका विचार करनेसे पता चलता है कि साति प्राप्त करनेका साधन भी पूर्णत्व सिद्धि प्राप्त करना है। सुख प्राप्त होनेके साधन भी वैसीही है। देखिये—

अक्षय्य सुख

मनुष्य यदि समस्त सुख न सुख सुख प्राप्त करता है परन्तु वह सुख क्षणिक होता है अतः प्राप्त होतेही वह होता है और फिर मनुष्य दुःखका अनुभव करने लगता है। इस तरह सुखके नेतर दुःख और दुःखके नेतर सुख ऐसा सुखदुःखारि इन्द्रोक्त एक एकलके कारण मनुष्य असह

होता है। इस जालसे मुक्त होकर अक्षय्य सुख प्राप्त करे, वह मनुष्यका स्वयं है। सब धर्मसाधन मनुष्यको अक्षय्य सुख प्राप्त करनेका सीधा मार्ग बनायेके दिये हैं। वह अक्षय्य सुख कैसा मिळता है इस विषयमें आचार्यजी का उपदेश देखिये—

वाङ्मयसौख्यसकारमा चिन्त्यामानि यासुसम्।

स ब्रह्मयोगयुक्तत्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

(श्री ५।११)

जो वाङ्मय-स्वयं-विषयोंपर आसक्त नहीं है उससे अक्षय्य अक्षय्यमें सुख प्राप्त होता है; वह ब्रह्मके साथ वही आत्माका योग करनेवाला मनुष्य अक्षय्य सुख प्राप्त करे है।

इसमें अक्षय्य सुख प्राप्त करनेके दो उपाय कहे हैं—
(१) विषयोंपर अनासक्ति और (२) परमज्ञानके लक्ष्य प्राप्त। पाठक विचार करें, जे इनके अर्थमें वह बात जान्यगी कि इस दोनों उपायोंमें विषयोंपर अनासक्ति स्वयं ही मुख्य बात है क्योंकि ब्रह्म विषयोंपर अनासक्ति नहीं तो स्वयंही अक्षय्यत्वा परमात्मामें स्तुत हो जाती है। अतः अक्षय्य सुख प्राप्त करनेके साथ विषयोंका मोक्ष छोड़ने का किना बन्धित संबंध है इसका पाठक नहीं भिन्न करें। ईश्वर मान्यी वसति अर्थात् मानवोंकी आत्मशक्ति सति विषयोंपर अनासक्त होनेसेही सिद्ध होती है कि जस नाम अक्षय्य-सुख-प्राप्ति ही अक्षय्य सिद्धि परम ज्ञान परम गति इत्यादि ही। आत्मवेदोंसे करवा-मेव किना की हुआ कथानि योगोंमें अनासक्त होना ही साधनों में मुख्य साधन है इसमें शन्देह नहीं है। वही बात ज्ञाने कही है—

सर्वकामाणि शमसा संशयस्यास्ते सुखं यही।

नवहारे पुरे देही तैव कुर्वन् कारयम् ॥

(श्री ५।१२)

सुखधर्म सबारामार्थ योगी शिगतकर्ममा।

सुखेन ब्रह्मसंख्यार्थमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

(श्री ५।१३)

“यह कर्मोंका शमसे त्याग करके, संयमी पुरुष जब इतनासे इस वैदिकी नगरमें स्वयं एक न करवा हुआ और एक न कराता हुआ सुखमें रहता है। आत्मवेदके लक्ष्य

वितर नमुसबाब करनेवाला विधाय योगी सहजगीमें
बढ़-यादिस मिळनेवाला धर्यत मुक्त नमुसबता है ।

पहिले शीकमें मोगोपर बलासतिका और वृत्तोमें पर महामाके साथ अपनी जातमात्र सचय करयेका विषय कहा है। इससे बिना जात्यास अपने जन्मरही जन्मर जन्म और जन्मर सुख प्राप्त होता है। मुख्य मोगोपर जातक होनेसे शुक्रमेंही ईसता जाया है। इस तरह शक्ति सुखके पीछे कगार जन्मर सुखसे रचित होता है। यही बात और अन्य सत्यसे कही है देखिये—

प्रशान्तममसं ह्येनं योगिन सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजस प्रहसभूतमकरमयम् ॥

(गी ५.२७)

विसर्जन मन मन्त्री भाँति साक्षात् हुआ है, जिसके विचार नष्ट हुए हैं वह महकम बना हुआ विष्णु योगी वि सन्दीह उत्तम मुक्त प्राप्त करता है ।

यहां भी सींगोंपर जनसङ्घर्ष और ब्रह्मके साथ योग वैही हो साबन उद्यम सुखको प्राप्तिके लिये कहे हैं। यही नियम धारांघसे पुनः अन्य दार्ष्टोहारा कहेये हैं, देखिये—

शकनोत्तीहैय यः सोऽपु प्राकशरीरविमोक्षयात् ।

कामकोषोद्भवं वेगं स पुष्पतः स सुखी नरः ॥

(गी ५२३)

जो मनुष्य यह देह सृष्टिके पूर्व काम और मोक्षके
 योगो सहन करैवही शक्ति प्राप्ति करता है वही योगी
 और वही मुक्ति है । १०

वहाँ काम-बेग और श्रम-बेगको छद्म करनेसे मुक्त प्राप्ति की बात कही है। वहाँ मनुष्य मात्रपर काम और श्रमके बेगका जल्दमन होता है ऐसा कहा है। जो मनुष्य बेग श्रेणीका होता वह वह काम-श्रमके हमकोंकी सहवा है अर्थात् उस बेगके अन्धीन नहीं होता, जबकि आक्रमण होने पर भी अपनी शिष्टिमें लज्ज रहता है। अतः सुखी रहता है। परन्तु जो मनुष्य कमजोर होता है, वह कामके बेगसे कामी और छोटी बनता है और श्रम-बेगसे श्रेणी बनकर उस बेगके साथ बढ़ता जाता है अतः निरंतर दुःखी होता है। मुक्तमुक्त। वह मनुष्य कारण पादक व्यापारें पारण करे। इसी लक्ष्य सुखकी जग्य करते हैं। अतः जग्य प्राप्त करनेके प्रियवर्तों गीताका उपदेश देखिये—

अमृतस्यकी प्राप्ति

मरनेका नाम हुआ है और न मरने बर्थाप बमर होनेका नाम हुआ है। परन्तु यहाँ विचार देना करना होता है कि मनुष्य अपने मर्त्य देहमें रहता हुआ बमर कैसे हो सकता है। मर्त्यदेह कभी न कभी मरेगाही इसविषे जमरत्व प्राप्ति मनुष्यको किस उपपत्त्यसे होना संभव है। इस विषय में गीताका सबगीक उपदेश ध्यानमें नित्य धारण करनेयोग्य है। देखिये—

यं हि न व्यथयत्येते पुरुषं पुरुषपम ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृततयाय कल्पते ॥

(गी २१३५)

मुक्त-मुक्तको समान माननेवाले त्रिषु धर्मशास्त्री मनुज्य
को ये विषय पीडा नहीं देते बह्मसरास्वके किये योग्य
होता है ।'

यह पुष्प जमरत्नकम अधिकारी है। मुकुटनुभाको समान मानना यह एक बड़ी ग्राही तपस्या है। मुकुटमें कदाचित् यन्त्र सप्त रहें, परन्तु बुद्ध बाजेवर भी सम-नुति रखकर कर्णपत्रे व गिरना बड़ा कमिन् कार्य है। इसी तरह विषयोत्ते दूर रहना भी एक तपस्या है। सूत्रमं पछिसे विषय करनेपर पाठकोंकी यह बात विदित होगी कि यह सब योगोंपर अत्यन्तक रखनेसेही प्राप्त होगा समय है। इसी विषयमें और देखिये-

गुणानेवानतीत्यर्थात् देही देहसमुद्भवात् ।

सगमसुत्पन्नरादुःखिर्बिभुक्षोऽमृतमश्नुते ॥

(गी १८।२)

श्रेय यत्तत्प्रवक्ष्यामि यन्मार्ग्यामुत्तममनुते ।

अमादिमत्परं ब्रह्म न क्षराद्भासदुच्यते ॥

(११ १२१२)

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंसे पार होकर देहधारी अनुपम जगत् सत्त्व, राजा आदि गुणोंसे मुक्त है और अमरत्वकी प्राप्ति है ॥ त्रिते ज्ञाननेवाका अमरत्व प्राप्त करता है वह जेव वस्तु क्या है सो मैं मुझे कहूँगा ॥ वह जगदि परमेश है उसे न मत् करने है आर न जसत् ॥ ”

हम तरह मनुष्य जगत् का पाप्मन हैं। प्राणि जगत् का मनुष्य जगत् परम भिक्षु आदि का भिक्षु हैं। हमारी

जमामय-अव्यय-शास्त्र ७४ कहते हैं, इसक विषयमें
गीताऊ बचन देखिये-

મનામય અધ્યય-શાસ્ત્ર પદ્ય

[illegible]

कमल बुद्धियुक्ता हि कथं त्यक्त्वा ममीषिणः ।

अमयश्चयिनिमुक्ताः परं गच्छन्त्यनामयम् ।

(५१५१)

निर्मासमोहा जितसंगदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

मन्त्रैर्पिमन्त्रवाः सखद्वलसंघ-

गङ्गा स्वमदाः पद्ममण्डपं ततः ॥

(११११११११)

सत्यं माण्यपि सदा कुर्याणो मद्भ्यसाभयः ।

[illegible]

(गी १८/५६)

तमेव तारण गच्छ सयमायेन मारुत ।

तत्प्रस्तादात्परो ज्ञास्ति ध्याने प्राप्स्यसि

ਸਾਮਰਾਜ ੮ (ਜੀ ੧੮੧੧)

1997, 1998, 1999, 2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 2659, 2660, 2661, 2662, 2663, 2664, 2665, 2666, 2667, 2668, 2669, 2670, 2671, 2672, 2673, 2674, 2675, 2676, 2677, 2678, 26

“ वसन्त-बुद्धिवाग वरनेवाले प्राणी लोग कभीतः उत्पन्न होनेवाले अन्धकार त्याग करके, जन्ममरणसे मुक्त होकर पुनः रहित स्थानको प्राप्त होने हैं ॥ अतएव मैं मान और मोहका त्याग किया हूँ अतएव मैं आपत्तिसे उत्पन्न हानिकारके दोषोंकी वृद्धिवाद आत्मपरिचयमें लपटें जिनकी विपत्त-आलस्यता प्राप्त हो नहीं है जो मुक्त बुद्धिदि बुद्धिमें बने रहने हैं वे अविनाशी ब्रह्मा प्राप्त करने हैं ॥ अतः (ब्रह्मका) आपत्त करके तथा सब कर्म करनेवाला अनुपपत्ति मेरी है (इन्द्राणी) इन्द्राणि मन्त्राणि अविनाशी स्थान प्राप्त करना है ॥ अतएव मू उन्नी ईश्वरकी शक्तियों का । उन्नीकी इन्द्राणि मन्त्राणि अविनाशी ब्रह्मका प्राप्त करना है ॥

इस क्षेत्रों में शासन तथा जन कल्याण का प्रथम मिशन

शिक्षित हिंदे हैं— (१) कर्म-युक्त त्याग (२) सकल
 योगका वाचन (३) मनकी स्वाधीनता (४) कम
 और मोह छोड़ना, (५) भोग-भोगोंसे होना, (६)
 कर्मना-त्याग (७) हस्तोंको छोड़ना (८) महम-निषेध
 ईश्वर-प्राप्तमें उत्पराध, (९) सब कर्म परमेष्ठको सर्वज्ञ
 करना (१०) परमेष्ठकी शरणमें जाना । इन सबको
 साधन बुझकर स्थान निष्ठ भक्तता है । इनमें कही त्याग
 बुद्धि योग सिद्धि और ईश्वरपराधता है जो इनमें ईश्वर
 इनमें ईश्वरी है । साधन परमात्माई नर्तन परम गति है नाना
 इस विषयमें दीयाका सिद्धांत इतिहास-

परम धाम और परम गति

परम गति, परम धाम और साक्षर पद पदवीके लगे
धाम हैं। इस विषयमें विमलविमल श्रीकृष्णनेबोला है।

अथ चोक्षर इषकस्तमा इ परमां गतिम् ।

य माप्य न निवर्तन्ते तन्नाम परमं मम ।

(ਸੀ ੬੨੧)

न तत्रास्यते संपो न शशांको न पावकः ।

यहृष्या न निषर्तग्ये तस्याम परमं मम ।

(ला १५५५)

जिलाका नाम मध्यकट और महरा है उसको नाम
 मही भी कहते हैं जिले स्थानको मात कोमेसे पुनर्जनन सब
 नहीं बचता, वही स्थान (मेरा) परमेस्वरका घरम पर है ।
 वही जन्म मरणा मरि उस स्थानको प्रकटित नहीं करे,
 जहां पहुँचकर फिर वापस जाना नहीं होता वही मेरा
 (परमेस्वरका) घरम स्थान है ॥ ”

सर्वांग परमेश्वरका जो परम स्वभाव है, उसीकी वजह से वह परम स्वभाव परम धाम परम गति अर्थात् मोक्ष है। यह स्वभाव आत्म स्वभावादि यदि प्राप्त करनेसे मारुता उन्मत्त भवने के कह दीगयेगी मान्यस्वरूपा नहीं है। प्रकृतिकः प्राप्ति करनेसेही यह स्वभाव सिद्धता दे-

परेषु यज्ञेषु तपोनाथयव

नामपु सापुण्यत्वं प्रदिष्टम् ।

अस्यानि तस्मिन्मिदं विदित्वा

योगी वरं स्वाममुपैति पादम् ॥ (गि ६९६)

हम जानते हैं कि यह सब बातें ही हम सबका प्रतिफल बनने वाली हैं।

बाप देह स्थानको प्राप्त करता है ।

बाप अर्थात् परम-ज्ञान प्राप्त करनेसेही योगीको इस परम स्थानकी प्राप्ति होती है । योग-मार्गसे भी अनुभूति इस परम गतिको प्राप्त करता है—

प्रयत्नाद्यतमामस्तु योगी संशुद्धिस्त्वियम् ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

(गी २।४५)

प्रयत्नसे योगाचारमें दृढ़ रहनेवाला योगी पापसे मुक्त होकर और जबकि जन्मोंके प्रयत्नसे दृढ़ होकर परम गतिको पाता है ।

कर्म-योगके अनुष्ठानसे इस तरह परम गति मिलती है ।

ॐ कारके ज्योतिषे भी परम गति मिलती है ।

योमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

या प्रयाति त्वजन्मेह स याति परमां गतिम् ॥

(गी ८।१३)

ॐकार उच्चार करता हुआ और मेरा (ईश्वरका) स्मरण करता हुआ जो मनुष्य वैष्णव करता है वह परम गतिको प्राप्त करता है । "

इसी तरह अन्य ईश्वर-स्मरण करनेवाला जो पुष्पावसा करता है । वहाँ परम गति प्राप्त होनेका साधन ॐकार-उप और ईश्वर-ध्यान कहा है । तथा—

सम प्रपन्नो सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न दिनस्वप्नसमाप्तमानं ततो याति परां गतिम् ॥

(गी ११।२८)

" जो मनुष्य ईश्वरकी समभावसे सर्वत्र उपस्थित वैष्णव है, और स्वयं अपने आध्यात्म वातपात नहीं करता वह उस कारण परम गतिको पाता है ।

वहाँ भी परमेश्वरके समवेष्टावक होनेका ज्ञान प्राप्त करनेसे परम गति प्राप्त होनेका विधान स्पष्ट है । जो परमेश्वर-को सर्वत्र उपस्थित जानता है वह अपने साथ परमेश्वरकी उपस्थिति वैष्णव है और अपने आपको हीन कर्मसे दूर रखता है इसलिये उन्नत होता है । यही ज्ञान निष्कामिनिष्ठ शोकसे कही है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि बभूवुः पापयोनयः ।

न्ययो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यासि परां गतिम् ॥

(गी ११.३२)

जो पापयोगी हैं वे तथा धियो, वैश्य तथा शूद्र भी, जो मेरी, ईश्वरकी शरणमें जाते हैं वे परम गतिको प्राप्त करते हैं । अर्थात् परम गति प्राप्त करनेका सरल और सीधा उपाय परमेश्वरकी शरणमें जाना है । तथा—

पतन्मिमुक्षुः कौन्तेय तमोद्धारैस्त्रिभिर्नर ।

माश्वरत्याश्रयः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

(गी ११।२९)

(काम कोय कोय) इतलीन नरक-हारोसे जो मनुष्य दूर रहता है और अपनी जन्मात्मा कल्याण करता है वह उस कारण परम गतिको प्राप्त होता है । "

इस शोकमें काम-कोय-कोयसे दूर रहनेसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है । यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य अपने वैयक्तिक व्यवहारमें का सकता है । अन्य मार्ग भी सुकर हैं परन्तु काम कोय और कोयके द्वार प्रत्येक जन्ममें मनुष्यके सम्मुख लगे होकर अनेकी उनसे दूर रहनेका पथ करनेसे मनुष्यकी उन्नति होने लगती है । इसका अनुष्ठान करने का सबसे परम मनुष्यके प्रतिष्ठित मिलनेवाला है । सामान्य मनुष्यके आगेके शोकमें कहा है कि शास्त्र-मार्गादनुसार न करनेसे उन्नति सुख प्राप्ति और परम-गति नहीं होती—

याः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स निश्चिन्मवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(गी ११।१९)

जो मनुष्य शास्त्र-विधि छोड़कर स्वेष्यात भोगोंमें रमता है वह न ये सिद्धिको प्राप्त करता है न सुख करता है और न परम गतिकी प्राप्ति है । "

अर्थात् मनुष्य शास्त्र-मार्गादिके अनुसर करने रहें जोही उनके परम-गति सुख और निश्चिन्ता मिलती है । मनुष्य इस वातका अनुष्ठान करें और शास्त्र विधि अनुसार चलकर अपना कल्याण करें । शास्त्र-मार्गादिके अनुसार चलनेसेही मनुष्य उन्नत होता हुआ इष्टकर्म होता है ।

कुतकृतपता

मनुष्य कुतकृत किम शक्तिसे होता है हम विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका कथन यह है—

इति गुहायाम् शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।

यत्कुरुष्या बुद्धिमान्प्राप्तुं तत्कृत्यथ मारत ॥

(गी १५।१२)

यह अत्यंत गुण-शाली मैंने तुमसे कहा है इसे जान कर मनुष्य समस्त दुखोंसे मुक्त बनता है और कृतकृत्य भी होता है । "

अर्थात् इस गीतावाक्यके अनुसार मनुष्य कर्तव्य-कर्म करने क्या चाहेगा तो वे निःसन्देह कृतकृत्य बनेंगे । साक्षात्-अनुसार बनना कर्तव्य कर्म करनेसे मनुष्य पर (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ।

श्रेष्ठ स्वयस्याकी प्राप्ति

जो दूर बलि दूर होता है जो श्रेष्ठ, बलि श्रेष्ठ होता है, उसको पर कहते हैं । जो मनुष्यका अन्तिम प्राप्त्य है वनको भी पर कहते हैं । इस पर की प्राप्ति करनेके लिये मनुष्य निम्नलिखित बातोंको प्राप्त करे और अवसर्गलक्षित कर्तव्य कर्म करे-

श्रेष्ठश्रेष्ठपरिब्रज्यन्तर्जानबभूवा ।

मृतमकृतिमोक्षं च ये विदुर्यामिति ते परम् ॥

(गी १३।१७)

तस्मादसक्तो सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूजयः ॥

(गी १३।१९)

जो ज्ञानबभूवा श्रेष्ठ और श्रेष्ठजन्म बर्णात् प्रकृति पुत्रके चेष्टकी देखा है और श्रेष्ठोक्त प्रकृति-वर्णके मोक्ष होनेका कथा भी जाला है, यह पर (ब्रह्म) को प्राप्त करता है । इसलिये वृत्तमरहित होकर निःस्तर कर्तव्य-कर्म करता रह । आसक्तिरहित होकर कर्तव्य-कर्म करनेसे मनुष्यको पर (ब्रह्म) की प्राप्ति होती है ।

इस तरह प्रकृति जीवतमा और परमात्मका ज्ञान प्राप्त करके तथा मोक्ष-मायका ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्यको पर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । यह ध्यानमार्गी कथति है । कदा सन्नि होकर सतत कर्तव्य-कर्म करनेसे भी मनुष्य परब्रह्मको प्राप्त होता है । यह कर्म-मार्गसे कथति है ।

श्रेष्ठ और श्रेष्ठजन्म बर्णात् प्रकृति जीव और ईश्वरका ज्ञान-बभूवा निरीक्षण करनेसे मनुष्य परम पदकी प्राप्ति होता है ऐसा जो ऊपर कहा है उस ज्ञानबभूवा द्वारा निरीक्षण करनेका उत्पत्ति क्या है और इस ज्ञानबभूवा कर्म क्या है ? ज्ञान-बभूवा दिव्य-बभूवा दिव्य-यति ज्ञान-यति जगदिन्द्रियोंके कर्म क्या है ? इस ज्ञान-बभूवा यह किस तरह

देखा जाता है, इसका विचार इस स्थावर पर करके-

ज्ञान बभूवासे देखा

मनुष्य परमेश्वरकी देखाता है परन्तु यह ज्ञानबभूवा नहीं ज्ञान-बभूवाही देखा सकता है इस विचारको जाना है-

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुजाम् वा गुचाम्बितम् ।
विमूढा मानुषद्वयसि पश्यन्ति ज्ञानबभूवा ॥

(गी १५।१)

यतन्तो योगिनश्चैवं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यहतात्माश्चो मेनं पश्यन्त्यवचेतसाः ॥

(गी १५।११)

जन्मेवाके स्थिर रहे जोप करनेका और उनको कुछ होनेका ईश्वरके अंतर्गत मूर्ख लोग नहीं देखते, परन्तु ज्ञानबभूवाकोही देखते हैं । जन्म करनेवाले योगी जन जन्म में रहनेवाले इस ईश्वरको देखते हैं, परन्तु जन्म-कुरीत करनेवाले सुद लोग इसको नहीं देखते ।

यही ज्ञान-बभूवासे परमेश्वरका दर्शन सत्य है और ज्ञान-बभूवासेही ईश्वरको हम कहते फिरते और इसे देखा सकते हैं । वही बात निरन्तरदर्शनके प्रत्यक्ष भी कही है-

न तु मां शक्यसे मनुमनेनैव स्वबभूवा ।

विष्यं पश्यामि ते बभूवाः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

(गी ११।६)

इस अपने बर्मा-बभूवासे वृत्तसे (ईश्वरको) नहीं देखा सकता जन्म तुम में दिव्यबभूवा है इससे हमने ईश्वरीय ज्ञान देखा ।

यहां दिव्यबभूवा जिहा ज्ञानबभूवा प्राप्त कर ईश्वरका निरन्तर-दर्शन करनेसे देखा है । यहां कहा है कि ईश्वरका निरन्तर रूप साधारण जाँकोन नहीं देखा सकता यह केवल दिव्य दृष्टिहीन ही देखा सकता है । जन्मने दिव्यबभूवा ज्ञान करनेपर परमेश्वरका निरन्तर-दर्शन देखा है उसका दर्शन यह है-

पश्य मे पार्थ रूपमिदं शतशोऽप्य सहस्रतः ।

मायाविधानि विष्यामि मानावर्णाहृतीनि च ॥

पश्यदिरयान्बभूवाःपश्यन्तिभी महत्स्वभावाः ।

बह्व्यवस्थापुष्पाणि पदपादपुष्पाणि भारत १३३

हृदयस्य जगत्कृत्स्नं पदपाद्य सत्पराधरम् ।
मम देहे गुहाकेन्द्रं यच्चान्ध्याद् द्रष्टुमिच्छसि ॥८८॥
(गी ११)

‘मेरे सेंकड़ों और हजारों कम देह मे जनेक प्रकारके रोगकेसे कुछ हैं । (मनु) जमि दुखिही बापु, जन्तरिछ जायिब सी चन्द्रमा और नक्षत्र ये बसु मरत, धर्मेदेव जग्दि सब मेरे रूप रू देव । पहा बहुरसे जावय रू देव । इस मेरे देहमें सारा स्वप्नर वेगम जगत् और ओ रू देवजा बाह्य है सब जहा देव ।

बह मगबन्ध जीहृत्कृत्स्न कचन श्रवण करके जर्तुमने ओ नियन्त्र देखा बह बह है—

अनेकवक्त्रमयमनेकासुतवर्धनम् ।
स्मेकविष्णामरम विष्णानेकेशतापुषम् ॥ १० ॥
विष्णुमास्यांघटघटं विष्णुगन्धानुक्षेपनम् ।
सर्वाङ्गपरमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
तत्रैकत्वं जगत्कृत्स्नं प्रविष्टमनेकधा ।
अपश्यदेवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १२ ॥
(गी ११)

‘ अनेक मुख और अनेक अङ्गवाला अनेक अनुवर्तव्यमय अनेक आयुषमेंसे कुछ अनेक आयुष धारण करनेवाला विष्णु माझा और कछ धारण करनेवाला विष्णु कन्ध लगावा हुआ आकर्षमय अनन्त देवका सर्वत्र मुखवाला बह रूप बा । उस ईश्वरके देहमें अनेक प्रकारके विभक्त हुआ सब अवस्था पञ्च इतरा रूप उस पाण्डवने देखा । यही रूप जर्तुमने कैसा देखा तो देखिये—

पदपाणि वेद्यास्तव देव देहे
सर्वोत्थथा भूतविशेषलभाम् ।
प्रज्ञाजमीशै कमलासनस्य
सूर्याय सर्वाणुत्ताङ्गं दिव्याम् ॥ १५ ॥
अनेकबाह्वद्वयकवनेत्रं
पदपाणि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
आन्तं न मय्यं न पुनस्तथाहि
पदपाणि विभेभ्यश्चर पिद्वरूप ॥ १६ ॥
अमादिमध्याह्नप्रमत्तार्थ
मनस्तवाहुं दक्षिणैर्भुजम् ।
पदपाणि त्वां शीतद्रुतावावपत्र

स्वतोऽस्य दिदृशमिदं तपस्तम् ॥ १९ ॥
याथापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वय्येकेन दिशाम् सदा ॥ २० ॥
(गी ११)

हे ईश्वर । मैं आपकी देहमें सब देव सब प्राणी जहा सब कपियों और सपोंको देखता हूँ । आपके अनेक बाहु पैद, मुख और नेत्र हैं और अनन्त रूप हैं, आपके विचक्षणता आदि मध्य और जल नहीं है । आपकी जाँच सर्व तथा पञ्च हैं अग्नि मुख है और आप सब जगत्को तपा रहे हैं । आकास पृथ्वी और सब दिशामेंमें जनेकें आपही व्याप्त हैं । ”

पह परमेश्वरका विचक्षण है । विचक्षणका जने सर्व रूप । जिहा सब विचका जर्तुम जगत्का रूप है । परमेश्वरका विचक्षण बही है ओ सब जगत्के अन्दरके सब प्राणीका रूप है । इस विचक्षणमें मनुष्य सर्प आदि प्राणी समिक्लि होमेके कारण इस परमेश्वरके विचक्षणके अंतर्कम मुख अंतर्कम बाँक अंतर्कम हाथ, अंतर्कम पैद और अंतर्कम पाँव हैं । सर्व, पञ्च नक्षत्र जग्दि सब उसीके शरीरके जवपव हैं । जगत्के प्रत्येक रूपके सिवै बही मुख बमूता होमेके कारण जगत्का सर्व रूप उसी ईश्वरका विचक्षण है ।

कैसी मनुष्यकी जीवात्मा पूर्व निराकार है, तथापि उस निराकार जीवात्मके आधारपर रहा हुआ वह शरीर साकार है जल । उस निराकार जीवात्मका यह साकार शरीर है उसी तरह निराकार परमात्मका आकार धरीर वह विच है जल । विचका रूप उत्तकाही रूप है । तथापि इस विच रूपके बने विगदमेने उसमें कोई भ्रूकाविकला नहीं होती है । बही बजातेके जिये परमेश्वरकी महत्ता प्रकृतिका कथ्य गीतामें विप्रकिलिष प्रकार किया है—

भूमिरापोऽमसो धापुः खं मनो बुद्धिरथ च ।
अहकार इरीर्य मे मिथा मष्टतिरुद्धा ॥

(गी १०४)

“ पृथ्वी जल तेज बापु आकाश मन बुद्धि और अहंकर यह मेरी (ईश्वरकी) आठ प्रकारकी प्रकृति है ज्यों रू वह ईश्वरका शरीर है । जीवात्माका भी बही अहंका प्रकृति शरीर है । इस महत्ता प्रकृतिमें मनुष्य धरी

गीवात्म-शरीर और परमात्म-शरीरकी समता है । जीवात्म-शरीर छोटा और परमात्म-शरीर बड़ा इतनाही इसमें अन्तर-भेद है । वैसा जीवात्म-शरीरमें रहता हुआ शरीरसे उदा एवम् है । उसी प्रकार परमात्मा इस संपूर्ण विश्व-कर्ममें रहता हुआ भी विश्व-कर्मसे एवम् है । उपायकको अपनी उत्पत्तिके क्रिये परमेश्वरका ज्ञान और वर्तन तथा उसमें प्रवेश करना चाहिये । यह इसलिये लिखे कहा है—

धातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परमेश्वरम् ॥

(गी ११५७)

इश्वरका ज्ञान दर्शन और परमेश्वरमें सदा प्रवेश करना चाहिये । " ये तीनों बातें पूर्णतः विश्वकर्मकी कल्पना केनेपाही समझ है । विश्वके कर्ममें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना विश्वके कर्ममें ईश्वरका दर्शन करना और उसीके विश्वकर्ममें प्रवेश करना अर्थात् मैत्राक्षर परमेश्वरमें विश्वरता है, इस बातका अनुभव करना यह शिथिल अनुभव पूर्णतः विश्वकर्मको परमेश्वरका रूप माननेपाही समझ है । यही तो (द्रष्टुं) ईश्वरको देखना कैसे समझ हो सकता है ? देखना तो विश्व-रूपकीही हो सकता है । यही बात और देखिये—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।

(गी ११३०)

सपभूतस्थमात्मनः सवभूतानि आत्मनि ।

इत्वे योगयुक्तममा सर्वसमक्षमम् ॥

(गी ११२९)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठति परमेश्वरम् ।

यिनश्यत्सयिनश्यन् य पश्यति स पश्यति ॥

(गी ११२७)

यिषादिनवसप्रे प्राज्ञे गतिं हसितम् ।

मुनि र्वच दयाय च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गी ५१२८)

जो मुनि (ईश्वर) सब जगह देखता है और सब का मुझमें (ईश्वरमें) देखता है उसके लिये मैं (ईश्वर) सभी दूर नहीं हूँ और वह जो विश्व (ईश्वरके लिये मैं) सभी दूर नहीं है अर्थात् इन दोनों पापपरके भागी होते हैं । और सब भावमें देखनेवाला योगयुक्त आत्मा सब

भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है । सब भूतोंमें समभावसे परमेश्वर है और वह फिर होनेवाले पुरुषोंमें विश्वासी है । यह जो ज्ञानता है वही सब जानता है । विद्या और भिन्नयुक्त आत्मामें गीतें हाथमें, कुंजे और कुतरेको पकामेबाँधके अर्थात् सबमें शान्ती होय सब (भावसे अवस्थित भक्त) को देखते हैं । अर्थात् सब सबमें पकड़ा है, इसका अनुभव करते हैं ।

मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जिस तरहकी ' अमरति ' चाहिए उसका वर्णन इस श्लोकमें है । इस अमरतिवादी नाम ' ज्ञान ' ही शाश्वत, विषयही अथवा विषय ' चतुः ' है । इसे धरिसे ईश्वरका विश्वकर्म-दर्शन हो सकता है और जब विश्वकर्ममें पकड़त ईश्वरका दर्शन होने लगता तो अन्तिम अन्तम अवस्था प्राप्त हुई ऐसा मान सकते हैं । यह एक ही है । और भी एक धरि है वह अन देखिये—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्लिपमाणाणि सर्वान् ।

यः पश्यति तथ्यत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(गी १११९)

" जो इस बातका अनुभव करता है कि सब कर्म शक्ति से होते हैं, और अन्तमा अकर्ता है वही सब ज्ञान ज्ञान है । यह भी धरि मुक्तिके लिये आवश्यक मानसक है । अन्तिम स्थितिको प्राप्त करनेके लिये शरीरमें जनेक अनुभव के मार्ग हैं—

ध्यायेन्नारमणि पश्यन्ति केचिद्वत्मानमरमम् ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

(गी १११४)

कई योगसे कई संन्यसे कई योगसे भी कई कर्मयोगसे ज्ञानाद्वारा आत्मामें आत्मको देखते हैं । अर्थात् सब अपने अपने परमेश्वरका दर्शन करते हैं । यह आत्मा सब आत्मयोगों एक बड़ा भारी बहुत आदर्श है—

आत्मयत्पश्यति कश्चिदेन

आत्मयत्पश्यति तपय आत्मम् ।

आत्मयत्पश्यति योगिनः शृणोति

भुक्ताऽप्येव च यः मयि पश्यति ॥

कोई तो इसकी और आत्मन दर्शन करने लगता है कि वी कोई दूसरा हमका आत्मदर्शन करने लगता है और कोई हमका दर्शन आत्मनसे लगता है आत्म मुझका भी

कोई इसको नहीं जानता । जगत्में सर्वत्र ज्ञानवर्षा विषय नहीं जगत्में ज्ञानका विषय है । यह जगत्में बहुत होनेसे इसको पचावत् ज्ञानका कर्म है और शब्दोंद्वारा ज्ञाननेपर भी इसका पचावत् अनुभव करना जो ज्ञानवर्षा कर्म कार्य है इसी कारण मय्याणी विरक्त होते हैं । और इसीसे मय्याणी मही वनन की गयी है और इसीसे इस देशमें जन्मि जन्मवाकी कल्पना सन्धोंमें वर्णन करनेका पल किया है । जन्म । पचावत् जिस दृष्टिसे अनुभवकी उक्ति होती है उसका स्वकम बताया गया है इस विषयमें और एक श्लोक देखिये—

सधमूनस्थितं यो मां भजत्येकप्रपारिधतः ।

सधया वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तेते ॥

(गी ११३)

सध धूर्तोंमें रहनेवाले सुध-ईश्वर-को जो भजये दृष्टिसे करता है वह योगी चाहे जिस तरह करता रहे सुध ईश्वरमेंही रहता है । यहां ऐसा कहा है कि जीव जगत्में परमेश्वरमें रहता है । वह जन्मि रिक्ति है और इसीका नाम ईश्वर-शक्ति है । जब इस शक्तिका विचार करते हैं—

परमेश्वर प्राप्ति

यह शक्ति जो विचार किया उसका कार्य यह है कि अनुभव व्यापक दृष्टिसे विविध मागोंमें करता हुआ जन्ममें परमेश्वरको प्राप्त करता है इसीका नाम निधि मुक्ति परमेश्वर प्राप्ति जाति है । यह विषय सबसे सुख है इसीसे इसका विशेष मतन करना चाहिये । परम पुत्रकी शक्तिके विवरणमें माग्यीतमें कहा है—

भ्यासयोगयुक्तेन येन सा मायमागिना ।

परमं पुष्टं दिव्यं याति पापानुच्छिन्नम् ॥

(गी ८८)

प्रयाणकाम मनसाश्चमेन

मक्ष्या युक्ता योगतमेन येष ।

भुवोर्मध्ये प्रापमावेश्य सायक

स त परं पुष्टमुपति दिव्यम् ॥ (गी ८९)

पुष्टः स परं पापं मक्ष्या सधस्यमभ्यासा ।

यस्यापराधानि भूतानि येन सधमिह नतम् ॥

(गी ९०)

तदा पदं नापरिमार्गितव्यं

यसिगता म नियतैश्चिन्त भूयः ।

१२ (१६ वी)

तमेव साधं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रवृत्ता पुराणी ॥ (गी १५४)

“ जो विरक्तो भ्यासप्राप्त स्थिर करके उसकी इष्ट उपर भद्रकमे नहीं देता नर्त्या पक्ष्य बनाता है वह उसीका विन्यास करनेके कारण उस दिव्य परम पुष्टका प्राप्त करता है ॥ जो अनुभव प्रयाण-समयमें मक्ष्य मक्ष्य भविष्युक्त होकर योगव्यवस्था मय्याणीके बीच दीक प्रकार प्रत्यक्ष प्रसिद्ध करता है, वह उस दिव्य परम पुष्टको प्राप्त होता है ॥ जिसमें सब भूत रहे हैं और जिसने सब व्याप किया है उस उद्यम पुष्टक इसन जगत् मयिसेही होते हैं ॥ जिसने सब जगत्की प्रवृत्ति फैला रखी है उसी नाति पुष्टकी शरणमें अनुभव जाये और उस पदकी आज्ञा को कि जिसने प्राप्त करके फिरसे जन्ममरण जना नहीं दोष ।

इस श्लोकोंमें परमेश्वर प्राप्ति विषयमें स्पष्ट निर्देश है । यतः परमेश्वर-प्राप्ति अनुभवका जन्मि साध्य है, इस विषयमें स्पष्ट कहा है । इसी परमेश्वर प्राप्ति विषयमें विन्यासित श्लोक देखनेयोग्य हैं । इनमें परमेश्वर प्राप्ति छात्रक व्यापार (मा) मुने हम शब्दक प्रयोग किया है । योगव्यवस्था में भी परमेश्वरक जन्मि में शब्द कई बार आया है । अब ये श्लोक देखिये—

अस्य कार्यं च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्रतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म मेति मामेति स्तोम्युन ॥

(गी १५५)

उदाराः सर्वं धर्मे ह्यसौ त्याग्येव मे मतम् ।

आदिधतः स हि युक्तारनाम्येशानुत्तमो गतिम् ।

(गी १५६)

यहूनी जगत्नाम्येष्टे ह्यनशाप्यो प्रपद्यत ।

यामुद्वः सर्वमिति स महारमा सुनुमः ॥

(गी १५७)

मय्याणी याति माययि ॥ (गी १५८)

मय्याणीयमनोनुद्धिमानवैष्यस्यस्ययम् ॥

(गी १५९)

मानुषेय पुनर्जन्म युगात्पयमाभ्यतम् ।

माय्याणीय महाप्राप्तः सर्वसिद्धिं परमो गतः ॥

(गी १६०)

यातिन मय्याणीयमिति माम् ॥ (गी १६१)

शुभाशुमरुद्धैरेव मोक्षस्य कर्मवृत्तयः ।
संन्यासयोगयुक्तामा विमुक्तां मासुपैष्यसि ॥
(गी ११२८)

मम्मत्ता मम मङ्गला मघाजी मां ममस्कृद ।
मामेष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(गी ११२९)

तेषां सततयुक्ताणां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
दशमि बुद्धियार्ण त येन मासुपयाप्ति ते ॥
(गी ११३०)

मत्कर्मकृत्परमो मङ्गलः संगर्भजितः ।
निर्वैराः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गी ११३५)

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वथा समबुद्धयः ।
ते मामुब्रूवन्ति मामेव सर्वभूतहितं रताः ॥
(गी ११३७)

मम्मत्ता मम मङ्गला मघाजी मां ममस्कृद ।
मामेष्यसि सत्यं त मतिमान् प्रियोऽसि मे ।
(गी ११३८)

य इह परमं शुभं मङ्गलैश्चमिमास्वसि ।
मयि परां कृत्वा मामेष्यस्यस्यहायम ॥
(गी ११३९)

" जो मेरे इस दिव्य काम और कर्मक रहस्यको जानता है वह देव कोनेको बाद जिससे पैदा नहीं होता परन्तु मुझे पा केता है ॥ वे सार मय्य जन्मे हैं पर मेरी समिति में जानी हो मेरी आत्माही है । क्योंकि वह कामी वह कामका कि मुझे पानेसे वहकर दूसरी कबिक लच्छी पति नहीं है मेराही आत्म केव है ॥ बहुत जन्मोंके बाद छापी मुझे प्राप्त करता है सब मनुष्यही है, इस कारण मनु मम करनेवाला महत्ता जन्मत्त बुद्धि है ॥ मेरे मय्य मुझे मय्य करते हैं ॥ मुझमें मय और बुद्धिकी कमानेसे एव मय्य मम पानेगा ॥ मुझे पान्तर परम गतिको पहुँचे हुए महत्ता कोय पुन पुन करेकर कसाकट पुनर्जन्मको नहीं प्राप्ता होते ॥ मेरा बज्र करनेवाले मुझे प्राप्त होते हैं ॥ इससे एव ज्ञाना पुन कदाही कर्मवृत्तसे कृपेगा जाय संन्यासवागसे मुक्त होकर मेरे प्राप्त जायेगा ॥ मुझमें जन्म लगा मेरा मय्य मम मेरे सिधे पश कर मुझे मय्यकार कर इय तरह मुझमें

परायण होनेसे और मेरे साथ महत्ता मम करनेसे । मुझेही प्राप्त होगा ॥ मुझमें इस तरह मय्य होकर सब बाकी और प्रीतिपूर्वक मेरा मय्य करनेवालेको मैं मम देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ जो सब कर्म में सिधे करते हैं जो मुझमें लगी होते हैं, जो मेरे मय्य हैं, जो मय्यिक होकर हैं और सब भूतोंका देव नहीं करे वे मुझे प्राप्त होते हैं ॥ जो अपने इन्द्रियमय्य करने वशमें रहते हैं सर्वत्र सम भाव रहते हैं, वे सब इन्द्रियों में कर्म रहनेके कारण मुझही पाते हैं ॥ मेरी कृप्य मय्य, मेरा मय्य मम मेरे सिधे बज्र कर मुझे मय्य कर । देव करनेसे एव मुझेही पानेगा मेरी नहीं कल्प प्रसिद्धा है ॥ वे यह परम शुभ लाभ मेरे मकोको कहता है, वह मेरी है मय्य करनेसे कारण किन्तुमेव मुझ प्राप्त करता है ॥ "

इह कोकोमें मुझे पाया है इसका मय्य परमेष्ठने प्राप्त करता है ऐसा है । इस ल्पान्तर परमेष्ठनात्मिके प्रायन जा करे है वे के है—

(१) परमेष्ठनेके लक्षण और कर्मके रहस्य म मय्य, (२) मय्यमय्य (३) सब आत्ममें ईश्वरके विवक्ष्यमय्य (४) ईश्वरमय्य (५) ईश्वरको सब कर्मोंका उत्तर (६) संन्यासयोग (७) ईश्वरमें ल्पान्तर (८) ईश्वरको मय्य (९) ईश्वरको मय्यी आत्माका योग (१०) मय्यमय्यके कर्म करवा (११) इन्द्रियमय्य (१२) लक्ष्य सममय्य (१३) सब भूतोंके इन्द्रिय लक्ष्य (१४) ईश्वरके लक्ष्य मय्य (१५) यह पुन ज्ञान वशी को देता । इतम मय्यमय्यसे मनुष्य परमेष्ठनेको प्राप्त करवा है ईश्वरके साथ रहवा है, ईश्वरके प्राप्त रहने लयता है मय्य ईश्वरको मय्यमय्य है । इस ईश्वर-मात्रिका मय्य मय्य है इसका मिथार करनेके सिधे निम्नलिखित कोय देवने-वाग्य है—

मय्येव मम माधस्य मयि बुद्धि निवेद्य ।
मिथसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गी ११४०)

मय्येवमेताः सगतां यो मां धरति नियताः ।
तस्याहं सुखमः पाद्य मित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गी ११४१)

मय्यमय्य मय्य मुझ (ईश्वर) में लगा मय्यी मुझे

ईश्वरमें स्थिर कर इससे तु मुझमेंही निवास करेगा ॥ जो अनन्तचित्त होकर निरन्तर मेराही स्मरण करता है उस स्थिर योग करनेवाले योगीको मैं सुगमतासे मिलता हूँ ॥”

यहाँ परमेस्वर-प्रसिद्धा अर्थात् परमेस्वरका सहजबोई दर्शन होना किया है। यह मनुष्योंको राजाका दर्शन कराने होता है परन्तु कष्टोंको सहनहीसे होना है। अर्थात् त्रिकोने स्थिर राजाका दर्शन मुकम होता है उनकी योग्यता विहाय होती है। राजाकी सहजतासे वे व्यवस्था बहुत कल्याण कर सकते हैं। इसी तरह त्रिकोने परमेस्वरका दर्शन मुकम है वे इस अस्थिसे बहुत लोगोंका कल्याण कर सकते हैं। परमेस्वर प्रसिद्ध किया ईश्वरका मुकम दर्शन होनेका क्या भाव है वह साध्य होनेसे कौनसी शक्ति इसे प्राप्त होती है इसका विज्ञान करनेके लिए निम्न लिखित श्लोकोंका अर्थ करिये—

धीरधाममयकोटा मन्मथा मामुपाधिता ।

यह्यो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ॥

(गी ३१)

अमृतकाष्ठे च मामेव स्मरन्मुक्ता कण्ठेधरम् ।

या प्रयाति स मद्भावं याति नास्ति च संशयः ॥

(गी ३२)

इति श्रेयं तया दानं देयं शौकं समासताम् ।

मद्भाव पठश्रियाय मद्भावोपापयते ॥

(गी १३/१८)

नात्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टवानुपपद्यते ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(गी १३/१९)

राग मय और क्रोधसे रहित ईश्वरके ध्यानमें लपट ईश्वरकी शरणमें जानेवाले शान और तपसे पवित्र होकर ईश्वरके भावको प्राप्त करते हैं ॥ जो अन्त-समयमें ईश्वरका स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है वह ईश्वरके भावको प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ इस तरह केवल शान और तपसे सर्वधर्म आशीर्षसे कहा है। इसे जानकर ईश्वर का मन्त्र ईश्वर भावको प्राप्त होता है ॥ जब ज्ञानी वह दृष्टा है कि गुणोंको छोड़कर दूसरा कोई कर्ता नहीं है वह गुणोंमें बने आत्माको ज्ञान कर ईश्वर भावको प्राप्त करता है ॥

यहाँ कहा है कि— (१) राग, मय और क्रोधको दूर

करता है (२) हृदयमें स्थिर होता है (३) ईश्वरकी शरणमें जाता है (४) शान और तपसे पवित्र होता है (५) अन्त-समयमें ईश्वरका स्मरण करता है, (६) श्रेष्ठ शान और तपसे प्राप्त होता है (७) प्रकृतिक गुणोंसे सब किया जा रहा है ऐसा जानकर जो आत्माको अकर्ता अनुभव करता है और आत्माको गुणोंके परे अनुभव करता है, वह ईश्वर-भावको प्राप्त होता है ।

ईश्वरके गुणोंका अर्थमें उत्कर्ष होनेसे अपनेमें ईश्वर भाव आता है। उदाहरण— जमिमें कुछ समय छोड़ा रहा तो जमिमें गुप्त धर्मोंको धारण करता है मानो वह जमि भावको धारण करता है। जमिभावा जलकी कण्ठहीमें भी जाता है। जब छोड़ा अस्थिरी उपस्थाना (उप-स्थानीय आसक्त-वैद्यता) करता है अवश्य होता है अर्थात् वह किसी अन्यके लक्ष्यमें नहीं जाता, परन्तु केवल जमिही सत्त्वित रहता है जब पृथक्ता अधिधीही शरणमें रहता है जब जमिमें गुणोंसे प्रभावित होता है तब जमि भावको धारण करता है और अस्थि भावसे मुक्त होनेसे जमिही बनता है, अर्थात् अस्थिमें कर्म करता है। मनुष्यकी उन्नतिके भी ऐसी नियम हैं। जब मनुष्य ईश्वरकी विलासना करता है, ईश्वरक पास बैठता है अवश्य भावसे ईश्वरकी शरणमें जाता है कभी दूसरा भाव मनमें नहीं आता और ईश्वरके गुणोंको अपनेमें धारण करता है तब वह ईश्वर भावमें मुक्त होता है। यही नरका विलासन जबका पुण्यका पुण्योत्तम और का शिव अवस्था सर्वका अमर बनना है। जो अन्तिम पद परम स्थान, परम सिद्धि आदि सर्वज्ञसे सब धर्मधर्मोंमें अज्ञान किया है। मनुष्यका अन्त इस ईश्वर भावको प्राप्त होनेके निचेही है। जो इस ईश्वर-भावको प्राप्त करता है उसके अन्तका सार्वक होता और अन्त कोगोने स्वर्ग अन्त किया गया वह सकते हैं ।

अक्ष-प्राप्ति

इस समयतक जो बात ईश्वर-प्रसिद्धि प्राप्तसे कही गयी वही बात अक्ष-प्राप्ति प्राप्तहोता जब कही गयी है। देखिये—

संख्यासकल महाप्राप्तेः पुनस्तान्मुमुक्षुः शतम् ।

पापयुक्तो मुनिर्ब्रह्म स चिरव्याधिगच्छति ॥

(गी ५१)

भक्षिर्भक्ष्योतिरहः शुद्धः परमात्मा तत्सदायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(गी ८।१४)

योगाभ्यासके विना योगाभ्यासका आचार्य हुक्मावक है । योगाभ्याससे ही जहाँ मुनि-जन ब्रह्मको प्राप्त करत हैं । उचरायणके कः मत्स्यके छद्म पक्षके विनके समर्थमें स्वर्गकी स्थिति पूर्व तेजस्वी रहनेके कर्मों और सवीर मायमें यथाप्रि मन्वन्ति रहनेके समय को इहको कोंकर जाते हैं, वे ब्रह्मवादी योग ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ " वहाँ गच्छ प्राप्त होनेका विधान है ॥ " मेरी प्राप्ति ईश्वर-प्राप्ति और ब्रह्म प्राप्ति " एकही स्थिति का नाम है । इसीका नाम ब्रह्म-निर्वाण है—

ब्रह्म-निर्वाण

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्य मैत्रा प्राप्य विमुच्यति ।
स्थित्वाऽऽस्थामन्तकाष्ठेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमुच्यते ॥

(गी १७।१)

योऽन्ताःसुखोऽऽनन्दोऽस्य तत्सदायणम् ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽपि गच्छति ॥

(गी ५।१४)

छन्दस ब्रह्मनिर्वाणमुच्यते । क्रीणकसमाः ।

छिन्नैषा यतात्मानः सर्वमूढहित रताः ॥

(गी ५।१५)

कामकोषविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

ममिदो ब्रह्मनिर्वाण कथते विदितारमनाम् ॥

(गी ५।१६)

"यह ब्राह्मी स्थिति है । इस स्थितिमें प्राप्त करके सब मनुष्य फिर कभी मोहवश नहीं होता और अन्तःसमर्थमें ही वह ब्राह्मी स्थिति रही तो ब्रह्म निर्वाणको पाता है ॥ जिसको ब्रह्मते सुख मिळता है जिसके अन्तर क्षिति है तथा जिसके अन्तर आत्म-सकाश हुआ है वह ब्रह्मभूत को ही ब्रह्म निर्वाणको पाता है ॥ जिसके पास वह हुए हैं, जिसके ईश्वरान्तर ही हो चुके हैं जिसका समान हुआ है का सब भूतमानके हितमें लगे हैं, वे कष्टि ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं ॥ जिन्होंने काम और बोध काव दिया है ही खंखरी हैं, और जिनको आत्मात्म शान हुआ है ऐसे जन्मियोंको सर्वत्र मया निर्वाणका अनुभव होता है ॥"

वहाँ ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होनेके कुछ साधन जो हैं—
(१) पारोक्ष्य वह होगा, (२) ईश्वरान्तर ही होगा, (३) अन्तःसमर्थ करना (४) सर्व भूतोंमें स्थित करने का काम-समर्थन करना (५) काम-कोष छोड़ना (६) ईश्वर-संपन्न करना (७) अन्तःज्ञान होना । इस सबको से ब्रह्म निर्वाणकी स्थिति प्राप्त होती है ।

इस स्थितिमें जो अनुभव होता है, वह भी इसी प्रकार का है—(१) अपने अन्तरसे सुख प्राप्त होता है, (२) अन्तरसे शांति अनुभव होता है (३) अन्तरसे ब्रह्म होनेका अनुभव होता है (४) ब्रह्मका अन्तर्भाव होता है, (५) सबको छोड़े मोह हुए होता है, (६) सर्वत्र आत्मका अनुभव होता है । वह अनुभव ब्रह्म-निर्वाण कहनेके लिये होता है ।

इससे हम अनुभव कर सकते हैं कि ब्रह्म-निर्वाण एक ही प्राप्त नहीं होता है एकलक्षित स्थिति अनुभव होता है—(१) ब्रह्म विषयसे सुख प्रतीत होता है (२) अन्तरसे और बाहरसे ब्रह्मप्रति रहती है (३) अन्तर और बाहर अन्तर्भाव मोह और अन्तर्भाव रहता है (४) अन्तर्भाव अनुभव होता है, (५) मोहनुक्त अन्तर्भाव अन्तर्भाव होता है, (६) सर्वत्र अन्तर्भाव अनुभव होता है । ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होनेकी अवस्थामें मनुष्यकी वह अवस्था होती है । वह अवस्था आचार्य मनुष्यके अस्तिमिते अनुभवकी है ।

इसका विचार करके पता चलता है ब्रह्म-निर्वाण का सर्वत्र ही इसका विचार करना चाहिये । निश्चय अनुभव सर्वत्र ही प्राप्त वास्तुमें बैठकर प्राप्त होता है । और निर्वाण वास्तुका सर्वत्र प्राप्त करना ईश्वर होने मिळता, जिसका प्राप्त करना प्रीति करना सब प्रीति रहता है । वही वास्तु सर्वत्र निर्वाण अन्तर्भाव होता है । अतः ब्रह्म निर्वाण का सर्वत्र विचार किन्हीं प्रकार होता है—(१) ब्रह्मके साथ मिळकर शांति प्राप्त करना, (२) ब्रह्मकी अपासना करना (३) ब्रह्मके साथ मिळकर (४) ब्रह्मके समर्थन प्रत्यक्ष होता (५) ब्रह्मकी शक्ति प्राप्त करना (६) ब्रह्मके साथ प्रीति करना ॥ (७) ब्रह्मके साथ होना (८) ब्रह्मने रहना । ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होनेके ये आचार्य हैं ।

अन्तिमनिर्वाण प्राप्त न होनेकी अवस्थामें क्या होता है, इसका अनुमान इसीके विचारसे हो सकता है, कैसा—
(१) निपटवारी रहनेसे असाध्य होता, (२) बड़के छाप रहनेसे जड़ बनना (३) ईशमें कसपा (४) सं-कुचित स्थितियों रहना (५) पराजित होना प्राकृतिक अथ भी पराजयही है, (६) ईश्वरका द्वेष करने मोहोत्पादक पदार्थोंपर प्रेम करना, (७) विषयोंके साथ रहना (८) इन्हींके दुर्बल कसपा इसानि अनुभव अन्तिमनिर्वाण प्राप्त न होनेतक होते हैं। सामान्य जनोंके दैनिक अनुभव येही हैं।

कह लोग निर्वाण का कार्य पूर्व कायको प्राप्त होता करते हैं। विशेषतः निचली प्रकारक लोग निर्वाणका साथ सर्व व्याप्तमें न धारण करके, निर्वाणमें पूर्ण नाश होनेका कार्य है ऐसा समझते हैं और स्वयं अमर्त्य कंसकर दूसरोंको अमर्त्य कंसते हैं। इनको इस साथ सर्वका विचार करना चाहिये। अन्तिमनिर्वाणमें अन्त कैसी अवस्था होती है। कोह। तबकर अमर्त्य अवस्थाको प्राप्त होता है उस अवस्थामें कोहका नाश नहीं होता वस्तु इससे अनुभूतिमें विशेष महत्त्वका स्वरूप होता है। इसी तरह साधारण मनुष्य प्रायःकिक इन्हींमें दुःख भोगता है वह दुःख उसके दूर होकर चरम-निर्वाणके लगे हुए होता वह दुःख होता हुआ अन्तकी संपूर्ण शांतिमें आविर्भावित होता है मानो अन्तक समाप्त होता है। अतः इसको पूर्व विचार कहना सूचना है। हां वह तो जान सकते हैं कि इसमें जो सुखियां भी उभरना नाश इस समय हुआ है वस्तु यह इसका भास नहीं। अन्तिमनिर्वाणमें वह स्वयं ' वाक्यमय' बनता है। कैसा स्वयंको अन्तरेका पगतक नहीं होता, इसी तरह अन्तिम निर्वाण प्राप्त होनेके बजाए उसको अपनेही अन्तरसे हटाना आत्मन् मिटाना है और इसी शांतिक अनुभव होता है कि उसके पत्राए उसको दुःख और अशांतिकी कल्पना भी नहीं रहती (अन्तः-सुखः अन्तःपारायः अन्तःप्रोत्तिः। गी. ५२१७) अन्तरसे सुखी अन्तरसे ज्ञान अन्तरसे अकार्य पूर्व होनेका नाम अन्तिमनिर्वाण अथवा निर्वाण है। अतः कोई वह न समझे कि निर्वाण प्राप्त होनेका कार्य सर्वत्र नाश होता है प्रत्युत सर्वका पूर्व होनेका नाम निर्वाण है। इस विषयमें वे स्पष्ट देखने योग्य हैं—

मां च योऽप्यभिचारेण मत्कियोगेन सयते ।
स गुण्यामसमतीत्यैवाग्रहमूपाय वक्ष्यते ॥

(गी १७।२१)

अहंकार वलं कृपे कार्य क्रोध परिग्रहम् ।
विमुक्त्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गी १८।५३)

ब्रह्मभूतः प्रसङ्गात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु ममृक्षिं जमते पराम् ॥

(गी १८।५७)

“ जो एकनिष्ठ मत्कियोगद्वारा ईश्वरकी सेवा करता है वह प्राकृतिक गुणोंसे होनेवाले बंधनको छोड़कर ब्रह्मकर्म बननेक किंचे समर्थ होता है ॥ अहंकार बल कृपे काम क्रोध और भोगसाधनोंका समग्र छोड़कर, समस्त मन्त्रको छोड़ता है वह ब्रह्मकर्म बननेयोग्य है ॥ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहता है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी चिन्ता करता है। वह मृतमन्यके विषयमें समभाव रखता हुआ, ईश्वरकी परमोच्च मर्तिमें अग्र रहता है ॥ ”

यहां ब्रह्मकर्म बननेके साधन कहे हैं और ब्रह्मकर्म बनने पर कैसी अवस्था होती है इसका भी निरूपण किया है। ब्रह्मकर्म बननेके साधन ये हैं—(१) ईश्वरकी एकनिष्ठ मत्कि (२) गुणहीन होनेका प्रयत्न (३) काम क्रोध क्रोध अहंकार मत्त बकरी चर्मक छोड़ना (४) शान्त होना (५) समस्त छोड़ना (६) शोक और कामनाका त्याग करना (७) सर्वत्र समभाव धारण करना इससे मनुष्य ब्रह्मकर्म बननेयोग्य होता है।

ब्रह्मकर्म बननेपर उनकी स्थिति देखी होती है— (१) प्राकृतिक विषयोंसे बाधा नहीं होती (२) अनुभव शांति रहती है (३) वस्तुओंका हमला नहीं होता (४) महा प्रसन्नता रहती है (५) कामना और शोकन दूर होता है (६) सबसे समान व्यवहार होता है (७) ईश्वरकी परमोच्च मर्तिमें रहता है। ब्रह्मकर्म बना हुआ मनुष्य इन गुणोंसे मुक्त होता है। अतः वह कहता कि निर्वाण प्राप्त होनेपर पूर्व नाम होता है कर्म अकार्यका धातक है। इस स्थितिका स्वकृप गीतमें और अधिक स्पष्ट किया है वह अब देखिये—

म प्रहृष्येति प्राप्य मोक्षब्रह्माप्य ध्यामिषम् ।

स्थिरबुद्धिरसमूहो ब्रह्मविद् ब्रह्माणि स्थितः ॥

(गी ५।९)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(गी १३।१)

‘ जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है जिसका मोह नष्ट हुआ है जो ब्रह्मको जानता है और जो ब्रह्ममें आश्रित है, उसको जिसकी प्राप्तिसे कुछ नहीं होता और अविनष्ट प्राप्त होनेसे दुःख नहीं होता ॥ जब वह मनुष्य भूतमात्रका अद्वितीय विद्य हावे हुए भी एकमें समाया है ऐसा वैश्वता है और ब्रह्मसेही सबका विस्तार है ऐसा समग्रता है तब वह ब्रह्मको प्राप्त होता है । ’ अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे (१) बुद्धि स्थिर होती है (२) मोह दूर होता है (३) तब अथवा अविनष्टी प्राप्तिसे कुछ-कुछ नहीं होता (४) विविध स्रोतोंका उगम एक सत्त्वमें है और वहाँसे ही फिर सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है इसका ज्ञान होता है । ब्रह्मप्राप्तिके वे और एक पूर्णक फलके साथ वैश्वता योग है ।

अतः । यद्यप्येक अन्तिम सिद्धिका स्वरूप क्या है और उस समय सिद्ध दृष्टमें कावरी साक्षि बहती है और कैसा अनुभव होता है इस विषयमें सारांशसे विवरण किया । इस चतुर्थ अध्यायमें इस सिद्धिके विशदक वाक्य के हैं—

क्षिप्रं हि मानुषे कोक सिद्धिर्मवति ॥ (गी ४।१२)

पुनश्चममैति । (गी ४।१३)

कर्ममिर्म स वरपते । (४।१४)

कृत्वाऽपि न निवर्ण्यते ॥ (गी ४।१५)

कर्म कुर्वन्नाप्नोति किंस्वियम् ॥ (गी ४।१६)

आरममस्त स कर्माणि निवर्ण्यति । (गी ४।१७)

मोक्षयेऽधुनात् । (गी ४।१८)

एव कृत्वा विमोक्षयते । (गी ४।१९)

ज्ञानप्स्येनैव ब्रह्मिन् संहरिष्यति । (गी ४।२०)

परं प्राप्तिर्मायरेणाधिगच्छति । (गी ४।२१)

ब्रह्मेव तेन गन्तव्यम् । (गी ४।२२)

“ इस मार्ग-कोई मनुष्यको सिद्धि दीप्त प्राप्त होती है । सिद्धि प्राप्त होनेपर पुनर्मग्न नहीं होता । कर्मोंका बन्ध दूर होता है । कम करनेपर भी पाप नहीं लगता । ज्ञान

बन्ध प्राप्त होनेसे कर्मोंसे बन्धन नहीं होता । बहुत ही होगा । बन्धनसे मोक्ष प्राप्त होगा । पाप दूर होकर । एवं प्राप्ति प्राप्त होगी । ब्रह्म प्राप्त होगा । ” इत्येवम् एव अध्यायमें है इनका बीच अथवायोग सीधे से होकर बन्धन आवश्यक है । अगच्छायाका यह मुख्य विषय है और मनुष्यको प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है । इस विषयके नीचाके पाठकोंकी मित्रित कल्पना होगी यदि । सभी नीचाका सिद्धांत समझमें आ जायगा । सिद्धि क्या है ब्रह्मप्राप्ति होनेपर क्या काम छोड़े है, व होनेपर हमने कैसी है इत्यादि विषय मुख्य हैं और इसका मित्रित दृष्ट करने की होगा अर्थतः आवश्यक है । अतः सिद्धिके विषयमें संतर्प अगच्छायामें जो भी वाक्य विविध स्थानोंमें आये हैं उनके परस्परतः वहाँ एकत्रित करने संगति लगानी है । जो परम इसका अर्थ करने अथवा इस विषयको मित्रित कल्पना से आवश्यक है ।

अब इस केवल्य भक्षेयसे सार निकालते हैं । ज्ञान परम सिद्धिके साधन और एक सिद्धांत है इससे सभी को विना परिश्रम पया जग आगया कि सिद्धिके लक्षण कैसी है और सिद्धि प्राप्त होनेपर कैसीसे एक द्रष्ट होते हैं । यह विषय इससे पूर्व आ चुका है कहा वहाँ केवल्य सूक्त अथवाही विषये आते हैं जिन सर्वत्रिके अर्थसे प्राप्त साधनों और फलोंका स्वरूप जान सकेंगे—

सिद्धिके साधन

(१) चित्तकी एकाग्रता

चित्तकी एकाग्रता अथवा स्थिरता सिद्ध करनेके लिये मन-स्वैर्य अर्थात् अन्तरी स्थिरता और बुद्धिस्थैर्य अर्थात् बुद्धिकी स्थिरता सिद्ध करनी चाहिये । सबकी एक कथाही मन परमात्मा सिद्ध होनेमें चित्तक है ।

(२) सयम

अन्तिम सिद्धि अथवा परम-वस्तु-प्राप्तिके लिये सयम करना आवश्यक आवश्यक है इस विषयमें यह माने हैं—

यद्यच्छास्त्राद्यसंस्तुतं = यह सबही जो मान्य होता सभी संतोष मानता अधिप्राधिक भोगसाधन प्राप्त करनेकी इच्छा न करना; इसके लिये “ भोग्यासमाभ्यास ” नाम

वाहिवै। ममते मोग-आसना उत्पन्न हुई तो उसका त्याग करना। तथा कामस्याग, कामयासनास्याग मोग त्याग समग्रहत्याग करना चाहिये। आत्मजय चित्त सद्यम आत्मसद्यम इन्द्रियसद्यम जितोद्दिष्टता मनोमिमह मनाऽशान्ति ये शब्द समग्रकी व्याप्ति बता रहे हैं। मनुष्यके अंदर दोष रहनेसे उसका मन चंचक होता है, अतः आत्मसुखि योगत्याग कामक्रोध-छोमत्याग, मोगस्यत्याग मोहत्याग अहंकार-गर्व त्याग मानस्याग, ममता-त्याग करना चाहिये। इस कार्यके लिये 'कामक्रोधभेगोको सहज करना चाहिये। अन्धबा बेड़ी छिरपर चढ़ बैठेगे। इतना करनेपर मनुष्य आत्म-बलसे युक्त' होगा।

(३) अनासक्ति

विषयों और मोगोंपर तथा कर्मफलपर नासक्ति न रहनेसेही संयम साध्य हो सकता है। इसके लिये असंगमाय कर्मफलमें अनासक्ति कर्मफलत्याग, पाप पुण्योंपर अनासक्ति निष्कामता निःस्पृहता कर्मफलके विषयमें निःस्पृहता निःस्पृहबुद्धि धारण करना चाहिये।

(४) निर्द्वन्द्वता

विशुद्ध और अनामक मनके लिये निर्वृत्त करना चाहिये। सुखदुःख इतिकाम आदि अनेक द्वन्द्व हैं, हममेंसे किसीमें भी फलना नहीं चाहिये इसकी सूचना देनाके शब्द निर्वृत्तता सुखदुःखसमबुद्धि है। विषयों के मोग और अविषयक है न करना भेदमें अनेकदा अनुभव करना यही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनेका साधन है।

(५) अद्वेष

अद्वेष अमत्स्या मरसरराहित्य ईरत्याग द्वैतनिवृत्ति ये शब्द अद्वेष भावकी लापना करनेके सूचक हैं।

(६) आत्मवद्भाव

मनुष्य अपनी आत्माके समान देखनेके लिये और इन्हें तो हर जगहकी संभारना होती है। आत्मवद्भाव स्व-भूतहितरतत्य सर्वभूतमित्रता ये शब्द हम आत्म वद्भावका आत्म वरमकी सूचना दे रहे हैं।

(७) गुणातीतता

निर्गुण, गुणातीतरूप निर्मल मुक्ति' ये शब्द गुणातीत होनेकी कल्पना दे रहे हैं।

(८) सम-बुद्धि

सम-बुद्धि होनेसे मनुष्यको पूर्णोक्त सिद्धि मिलती है। इसके सूचक शब्द- सर्वत्र समबुद्धि, बुद्धियोग समत्व योग सर्वत्र समदर्शन सर्वत्र समता ये हैं।

(९) कम-योग

समबुद्धिसे कर्म करनेसे मनुष्य पूर्ण उन्नति का अधिकारी होता है। इसके सूचक शब्द- यथायं कर्म शान्तेऽथ कर्म ईदमपराधणके लिये कर्म पुण्य कर्म कृतव्य कर्म इन्द्रियमन्यमपूर्वक कर्मयोगाचरण समत्व-योग-पूर्वक कर्माचरण कर्मयोग स्वकर्माचरण नित्य योगाचरण परस्पर सहायताय कर्म इत्यादि हैं। इन शब्दोंके मन्त्रसे आरंभसे अन्ततक सर्व कर्मबोधक मार्ग का ज्ञान होता है।

(१०) ज्ञान-योग

"ज्ञानं प्रकृतिं पुरुष-विज्ञानं क्षेत्रज्ञेऽवस्थान ईदं ज्ञानं प्रज्ञानं आत्मज्ञानं ज्ञानं विज्ञानं" ये शब्द ज्ञानका स्वरूप बताते हैं। वह ज्ञान और विज्ञान महारूप विषय है जो ज्ञानसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे मिथ्यापता सद्यमनिवृत्ति स्वयंपूर्णता, आत्मबल आत्ममिष्टा आत्माके अकर्तृत्वका अनुभव आत्मदर्शन अपनी प्रसन्नता और पवित्रता आत्मरिक्त सुखशांति और ज्योतिष्का अनुभव होनेका वर्णन गीतामें स्पष्ट है। इसीका नाम 'प्रज्ञयोग' है इसके लिये मोक्षतरणपर मनुष्य बाध अधिकारी है ईश्वर जप हमका एक साधन है। प्रकाशमार्ग का अवलंबन करना हम कायक लिये योग्य है। आत्म घात न करने हुए इस मार्गका अनुभव करना चाहिये। इससे भूत प्रकृति-बधमसे मुक्ति दानी है।

(११) ईश्वर भक्ति

ज्ञानसे ईश्वर-भक्ति जायग होती है। ज्ञानसेही मग ईश्वरपरायणता ईश्वरप्रेम ईश्वर मुक्ति ईश्वर-ईश्वर-परायणता ईश्वर ध्यान सागरता ईश्वर-पूजन

इश्वर-स्मरण, इश्वरार्थय एकनिष्ठ भक्ति एकाग्र भक्ति और परम भक्ति होती है। इससे जगत् सर्वत्र आत्मदर्शन सर्व स्वरूपों में इश्वरब्रह्म सर्वत्र ब्रह्म दर्शन इश्वरमयता अष्टधा प्रकृति और पुरुषका संबंध स्थापित होय है और इस ज्ञानसे ज्ञानाका विभक्तपरी परम पुरुषमें प्रवेश होता है और इसीसे इश्वरकी प्रसन्नता होती है।

इस तरह 'नारायण नानेका साधनयोग' है। बड़ा बड़ अतिशयोक्ति इसलिये दिया है कि वह सर्वव्यापी पदार्थोंके समुच्चय सदा रहे। इसमेंसे वे पुरुष पदार्थ नारायणमें श्रीकृष्ण स्थानपर हैं, यह यदि किसी पदार्थको देखना हो तो वह पूर्व प्रकरणोंमें देख सकता है। पादु इन्हीं निरूप्य केवल इश्वरका समग्र विश्वे पास न हो बल्कि किसी वैही शब्द पदोंके समेत जगत् प्रकृतता विधे हैं-

परम सिद्धिकी प्राप्तिके साधन

(१) सिद्धिकी प्राप्ति

ज्ञानप्राप्ति (गी. १४१), सर्वत्र भक्त-बुद्धि, आत्म जय, निरूपणता, संन्यास (१८३९), स्व- (सर्वार्थ भन) कर्मसे इष्टपूजा (१८४९), इश्वरके स्मरण कर्म करना (१९१)

(२) विशेषताकी प्राप्ति

मित्र योगाचरण, एकाग्र भक्ति, इश्वर-प्रम (गी. ५१७) ; सर्वत्र समबुद्धि (१९१) ; द्वित्रय-संयमपूर्वक कर्मयोगाचरण (४१७)

(३) अयःप्राप्ति

परस्परसहायता (गी. १११)

(४) मापाके पार होना

इश्वर-प्रसन्नता (गी. ७१४)

(५) पुनर्जन्ममरण दूर करना

इश्वरबुद्धि, इश्वरप्राप्त, इश्वरपरायणता, ज्ञान से निष्पाप होना (गी. ५१७) ; ज्ञान-प्राप्ति (१४१) ; प्रकृति पुरुष विज्ञान (११११)

(६) निर्लेपता

कर्म इश्वरका समर्पण (गी. ५११) ; अर्पणभाव

(५११) ; ज्ञान (११११) ; निर्गुणत्व (११११)

(७) कर्म-बन्ध-निवृत्ति

अर्पणभाव ज्ञानव्यवस्था यज्ञके क्रिये कर्म करना (गी. ४११) ; बुद्धियोग (२१११) ; मध्ये निष्कर्मता, निर्द्वन्द्वता (५११) ; अज्ञा भक्तपूजा (गी. ४११-मुत्तर) निष्कर्मता (११११) ; कर्मफलसे निष्कर्मता (११११) ; यज्ञव्यवस्थासंतुष्टता इन्द्रावृत्तता, मत्सर राहित्य सिद्धि-असिद्धिके विषयमें समता (४११) ; समत्वयोगसे कर्मफलत्याग, ज्ञानसे संशयनिवृत्ति आत्मबलसे युक्त होना (४११) ; अर्हत्कारणत्व, निर्मल बुद्धि (१८१७) ; योगाचरण आत्ममुक्ति आत्मज्ञान विरोधित्वता सब सत्तों साथ आत्म यज्ञाच (५१७)

(८) मुक्ति

ज्ञान विकास (गी. ९११) अज्ञा अज्ञेय, पुण्य कर्म (१८३१) ; इश्वरधारण होना (१८११) ; ईश्वर (१११) ; द्वित्रयसंयम मोक्षमार्ग मोक्षपरायण इश्वर-बन्ध-बोध-ज्ञान (५११८)

(९) शान्ति

कर्मफलता निरूपणता समतत्ता, अर्हत्कारणत्व (गी. १११) ; कर्मफलता (५१११) ; अज्ञा द्वित्रयसंयम ज्ञान (११११) ; मोक्षमार्ग, योगाचरण (११११) ; सर्व सत्तोंसंमिश्रता (५१११) ; कर्मफलता (११११) ; अर्हत्कारणत्व स्वर्गपूजा निष्कर्मता (११)

(१०) अक्षय सुख

ज्ञान सुखोपर अक्षयि अक्षयि (गी. ५११) ; कर्म संन्यास (५१११) ; योगाचरण (१११८) ; अक्षयि योगाचरणता (१११८) ; अक्षयिबोध केन्द्र केन्द्र (५१११)

(११) अमृतकी प्राप्ति

शुद्धबुद्धिबोधसंयम (गी. १११५) ; शुद्धबुद्धि (११११) ; अक्षयि (११११)

(१२) अनामय शाश्वत पशुकी प्राप्ति

बुद्धियोग कर्मफलता (गी. ११११) ; आत्ममोक्ष त्याग आत्मिक बोधक त्याग आत्मविज्ञान कर्मफलता

विहंगुत्त, मोहत्याग (१५५) ; ईश्वरका जाग्रत (१८५६) ;
ईश्वरारण्य (१८१२)

(१३) परम धाम

सतत योगाचरण (गी. ११४५) ; ईश्वरारण्य (८१३)
सर्वत्र समदर्शन आत्मवात न करना (१३२८) ; ईश्वर
सरम (९१३२) ; कामध्वजकोमत्याग (१११२२) ; साध-
विधिसे अनुसार आचरण (१११२३)

(१४) कृतकृत्यता

ज्ञान (गी १५१२)

(१५) श्रेष्ठ अवस्था

श्रेष्ठश्रेष्ठज्ञान भूतप्रकृतिसे मुक्त होमेका उपाय
गी ११३४) ; अनासक्ति कर्तव्यकर्मोपचार (३१२९) ।

(१६) ज्ञान-चक्षुकी प्राप्ति

सर्वत्र आत्मदर्शन (गी. १५१३ - १४) ; विराट् देहमें सब
आत्माको देखना (१११६-१३) ; अज्ञाना प्रकृतिसे ईश्वरका
देह माचना (१०४) ; इस विराट् प्रकृति का ज्ञानसे दर्शन
करके कर्तमें प्रविष्ट होना (१११५७) सर्वत्र समष्टि सर्वत्र
महत्त्वपूर्ण (१११५-३ ; १११५५ ५१३८) ; आत्माको नकर्ता
और प्रकृति कर्मकर्त्री है, इसका अनुभव (१११२९) ; अपने
अन्तर परमात्मदर्शन (१११२७) ; आत्मदर्शनसे आध्यात्मका
अनुभव (२१२९) ; सर्व भूतोंमें परमेश्वरका दर्शन (११३१)

(१७) ईश्वर-प्राप्ति

एकाग्रचित्त (गी ८१८) ; शक्ति (८१२९) ; योग
साधन स्थिर मन (८१३) ; ईश्वरारण्य (१५१४) ;
परमेश्वरारण्य (११९) ; अपने मन बुद्धिको ईश्वरमें लगाना
(८१३) ; ईश्वरपूजन (९१२५) ; सम्प्राप्तयोग (९१२८) ;
ज्ञान (११३८) ; सर्व ईश्वर है इसका अनुभव (११३९) ;
ईश्वरक किसे कम करना ईश्वरकी भक्ति करना, योग
संग्रहार्थ वैराग्य (१११५५) ; इन्द्रियसंयम सर्वत्र सम
बुद्धि सर्व भूतोंका हित करनेमें उत्पत्ता (११३७) ; सतत
योगाचरण श्रीविष्णुर्क भक्ति (११३) - हम ज्ञानका

प्रचार (१८१९) ; ईश्वरमें मन बुद्धिको लगाना (११३८) ;
अनन्यचित्त होना ईश्वरका मित्य स्मरण (८१३७) ; योग
मय क्रोध दूर करना ईश्वरमया, ईश्वरका जाग्रत ज्ञान
तपसे पवित्रता (३१३) ; ईश्वर-स्मरण (८१५) ; श्रेष्ठ
ज्ञान और श्रेष्ठका अनुभव (११३८) ; गुणातीत आत्माका
ज्ञान (११११९)

(१८) ब्रह्म प्राप्ति

योगसुख सन्तान (गी ५१६) ; प्रकाशमार्गसे ज्ञान
(८१२७)

(१९) ब्रह्म निषाण प्राप्ति

अपने अन्तर मुक्त छात्ति और ज्योतिषका अनुभव
(गी ५१२७) निष्ठा होना ईश्वरविधि, अतमसंयम, सर्व
भूतहितमें उत्पत्ता (५१२५) कामध्वजपाना चित्तसंयम
(५१२६) एकविष्ट शक्ति, गुणातीत होना (११३६) ;
ईश्वर पर्यं कामध्वज संग्रह और समता इनका त्याग
(१८१५३) ; सर्वत्र समता परा-भक्ति (१८१५७) ; विषये
मन और अविषये द्वेष न करना, बुद्धिकी स्थिरता, मोह
त्याग आद्यार्थ (५१२९) ; येहमें अभेदका अनुभव (११३३)

साधनमार्गका विचार करवैवासे पाठकोंको वे शब्द इस
विषयका स्पष्ट बोध करा सकते हैं । सब भूतोंमें ब्रह्मकी
प्रत्यक्षरूप उपस्थिति का ज्ञान होनेसे और सब भूतोंमें एक
आत्मा है और उसी आत्मामें सब भूत हैं, इसका ब्रह्म
ब्रह्म ज्ञान होनेसे अनुभवका मोह दूर होता है वह नर
नारायणरूप हो जाता है क्योंकि हम अवस्थामें विचरने
नारायणमें वह भी एकरूप हुआ होता है । जब नारायण
विचरने, तब उससे भिन्न नरका अस्तित्वही केना होगा ?
नबोकि विचरनेमें इस नरका रूप की संमिश्रित है । हम
भी वयावत् प्रत्यक्षता करवाही अन्तिम अनुभव है जो हमें
वाद् और कुछ ज्ञानव्य अवसिद्ध नहीं रहने और जो अनु
भव होनेही अनुभव सोकमोदादिसे मुक्त होगा है । वही वरम
वहकी प्राप्ति है ।

चतुर्थ अध्यायके सुभाषित

[१] श्रेष्ठका आत्मपथः ।

अस्योऽपि सद्यस्वपात्मा मृतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यस्यमायया ॥ (४१६)

मैं जगत्मा अधिष्ठाता और भूतोंका ईश्वर होकर
भी (जगत्स्वप्न करनेके लिये) अपनी प्रकृतिसे जन्म
लेता हूँ ।

जगत्क कल्पत्रये लिये ईश्वर स्वयं रूपका जगत्पथ
करता है यह देखकर राजा महाराजा, सरदार, साहुकार
पानी और बड़े समस्त कलेबाजे लोगोंके भी सर्व भूतोंका
हित करनेके कर्ममें अपना समर्पण करना चाहिये । जो ऐसा
करेगा वेही भेद बनेंगे जन्म स्वार्थी लोग गिरते जायेंगे ।
बड़े लोग कलियोंकी सुचारके लिये जगत्पथ नहीं करते इसी
लिये जगत्में दुःख बढ़ रहे हैं ।

[२] विपत्ति निवारणार्थ कर्मः ।

यदा यदा हि धर्मस्य प्लामिर्मवति भारत ।

जन्त्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं शूक्ष्मात्महम् ॥

[४१७]

“ जहाँ धर्मकी शक्ति और अधर्मकी प्रकृति होती है
वहाँ [धर्मस्वात्मनाके लिये] मैं अपने आपको उत्पन्न
करता हूँ । ”

जहाँ अधर्म जनीति जन्माप और शस्त्रोंका एक होता
है वहाँ जड़ोंके पुङ्खला चाहिये और वहाँ धर्म श्वाप
आदिकी स्थापना करनेके लिये जगत्समर्पण करना चाहिये ।
जब पराधीन लोगोंके स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये जो
धर्म करते होते हैं, उसमें स्वयं बलवान् होता चाहिये ।

[३] लीम कर्तव्यः ।

परिचाणाय साधूनां किनाशाय च दुष्कृताय ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि पुनरे पुनरे ॥ (४१८)

साधुओंकी रक्षा दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना
करनेके लिये मैं पुनःपुनः जन्मी बनूँगा ।

मनुष्यके सत्यपक्षी रक्षा, असत्यपक्षी नाश और धर्म-

स्थापनाके कर्ममें अपने आपको जगाया योग्य है । इसीसे
मनुष्य दुष्कृत्य होता है ।

[४] योग प्राप्तरणः ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मज्जाम्बहम् ।

[४१९]

“ जो जैसे मुझे सरण करते हैं उनके वैसाही मैं
देता हूँ । ”

मनुष्यको शक्ति है कि वह दूसरोंके सत्य बचनोंके
आचरण करे ।

[५] कर्मसिद्धिः ।

सिद्धिं हि मायुषे लोके सिद्धिर्मवति कर्मजा ।

[४२०]

‘ मनुष्यकोकर्म कर्म करनेसे ही सिद्धि प्राप्त होती
है ।

मनुष्यको कर्म करनेसेही सिद्धि मिल सकती है ।

[६] स्वार्थसे शेषः ।

न मां कर्मणि क्षिप्यन्ति न मे कर्मफले स्तुहाः ।

[४२१]

कर्मके फलपर मेरी चिन्ता नहीं है, इसलिये कर्मोंके
शेष मुझे नहीं लगता ।

कर्मलोगकी इच्छा होनेसे कर्मका शेष लगता है ।
स्वार्थसे करण शेष बताया है ।

[७] पहला कर्मसत्यः ।

पहला कर्मजो यतिः ॥

[४२२]

कर्मका तत्त्व क्या गहन है । ”

कर्म अच्छा है या बुरा इसका निश्चय करना बड़ा
कठिन कर्म है ।

[८] पञ्चदशः ।

यस्य सर्वे समस्तमाः कर्मसंस्कारमर्जिताः ।

जानाशिवकर्मजो तमाहुः पञ्चदशं पुनः ॥

[४२३]

“ जो मोक्षका द्वेद्वय कर्म करता है उसके सब दोष शान्त हो जाते हैं अतः इसीको ज्ञानी पण्डित कहते हैं । ”

मोक्षका द्वेद्वयसे कर्मसे दोष दूर होते हैं ।

[९] यज्ञार्थं कर्म ।

यज्ञायाश्चरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ [४।१३]

“ यज्ञके किये जो कर्म होता है उस कर्मका दोष पूर्णता से नष्ट होता है ।

जब मूर्खों के हित करनेके किये जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म पावक्य होते हैं जैसे कर्म करनेसे किसी प्रकारका दोष नहीं होता ।

[१०] ब्रह्मकर्म ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्माणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ [४।१४]

कहाँ कर्म बिबि और साधन से सब ब्रह्मके ब्रह्म कर प्रवर्त होते हैं उसको सर्वत्र ब्रह्म हीनके कारण वह स्वयं ब्रह्मही बनता है ।

संपूर्ण जगत् में और संपूर्ण व्यवहारों जिसको परमात्माका रूप दिखाई देता है वह स्वयं परमात्मा बनता है ।

[११] कर्महीनकी वृत्ति ।

नाय कोकाऽस्तययज्ञस्य कुतोऽप्यग्नौ ॥ [४।१५]

‘ कर्म न करनेवालेको वहाँ कुछ नहीं होता फिर उसको परलोक कहाँसे प्राप्त होगा ?

कर्म न करनेसे अपना भी हित नहीं होगा और दूसरे को भी उन्नति नहीं होगी और न परलोक मिलेगा । अतः सदा छुट कर्म करते रहना चाहिये ।

[१२] ज्ञानदान श्रेष्ठ है ।

अप्याश्रम्यमथायज्ञं ब्रह्मयज्ञः ॥ [४।१६]

‘ श्रमदायके बाददान अधिक कल्याणकरनेवाला है ।

श्रम देनेसे ज्ञान देना शोभोका मन्ना करनेवाला है ।

[१३] ज्ञानसे पापनाश ।

सर्वे ज्ञानप्सवन्तैश्च बुद्धिर्न सतरिप्यसि ॥ [४।१७]

ज्ञानकी लीला सब पापसमुद्र के पार के जावनी । ”

ज्ञानदेही सब दोष दूर होकर सब सुख प्राप्त होगे ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ॥ [४।१८]

‘ ज्ञानकय आगिसे सब कर्मोंके दोष नष्ट जाते हैं । ”

ज्ञानसे सब दोष दूर होकर सुख प्राप्त जाते हैं ।

स हि ज्ञानेन सद्यो पवित्रमिह बिद्यते ॥ [४।१८]

ज्ञानके समाप्त कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है ।

ज्ञान सबसे पवित्रता करनेवाला है ।

[१४] भ्रष्टासे ज्ञानप्राप्ति ।

भ्रष्टायाश्चमते ज्ञानं तत्परः सयतेन्द्रियः ॥ [४।१९]

‘ भ्रष्टाछ, उत्तर और विवेकिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है । ’

[१५] ज्ञानक्ष क्षान्ति ।

ज्ञानं लब्ध्वा परा क्षान्तिमश्निर्येनाधिगच्छति ॥

[४।२०]

“ ज्ञानसे क्षीयशी क्षान्ति मिलती है । ”

[१६] संशयसे नाश ।

अज्ञानाद्बुद्ध्यान्व संशयात्मा विनश्यति ॥ [४।२०]

अज्ञानी अज्ञानान्व और संशयी मनुष्यका नाश होता है ।

नाय कोकोऽस्ति न परी न सुख संशयात्मनः ॥

[४।२०]

संसारी मनुष्यको न इस कोमें न सुख होता है और न परलोकमें ।

क्योंकि संशयसे नाश विधित है ।

[१७] आत्मबलसे निर्दोषता ।

आत्मबलं न कर्माणि सिचरमसि ॥ [४।२१]

आत्मिक बलसे कुछ हुए मनुष्यको कर्मोंका दोष नहीं लगता ।

[१८] भक्तान दूर कर ।

समाश्रयज्ञानसमूतं हस्त्य ज्ञानासिमात्मनः ।

छिन्नैर्न संशये योगमतिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ [४।२१]

“ हे भारतीय ! हृदयस्थ भक्तानन्व संशयको शान्त कर और योग करनेके किये उठ । ”

ज्ञान प्राप्त कर अपना संदेह दूर कर और अपने सर्वांग उन्नति करनेके किये भक्त भक्त करनेकी इच्छासि निद हा ।

चतुर्थ अध्यायकी विषयसूची

ज्ञानकर्मसम्यासयोग, स्तोत्र १-२	२६१	ईशवास्यके कर्म सात्वर कर्म कर्मोद्भिदोक्ति १११	१११
(१) पूर्व इतिहासका महत्त्व		अतिरिक्तप्रहस्य योग	१११
साम्यमैमिक व्यवस्था		(१०) यज्ञ विचार, स्तोत्र ११ ३३	११५-११६
ज्ञानका जोप प्राचीन इतिहासकी समीची	२६२	विभिन्न पञ्च	११५
(२) पुनर्जन्म, स्तोत्र ४-६	२६५	प्रज्ञापञ्च	११६
पूर्वजन्मका स्मरण		परमात्मका आत्मपञ्च विचर्यमाका आत्मपञ्च	११६
मनुष्यके तीन स्त्री	२६६	कारणपञ्च आत्मपञ्च, मनुष्यपञ्च	१
पुनर्जन्मके प्रकार	२६७	दैवपञ्च पञ्चका पञ्च	१ १
मुक्तका पुनर्जन्म बन्धका पुनर्जन्म	२६८	सम्यग्दर्शिते हृदय	१ १
(३) भगवद्गुण्यका उद्देश्य, स्तोत्र ७-८	२७०	प्राण्यपाम	१ ५
जन्मकारके तीन उद्देश्य ऐश्वर्यक संसाधन		(११) ज्ञानका महत्त्व स्तोत्र १४ ३७	१००
जन्मका उद्धार मनुष्यपञ्चका ज्ञान	२७१	ज्ञानप्राप्तिके साधन ज्ञानके फल	१ ८
(४) विषय जन्म और कर्म स्तोत्र ९-१०	२७१	मोह-माया कर्मवैरोधप	१ ९
विषय जन्मका ज्ञान	२७२	सर्वभूतत्वमात्र	१ १
विषय कर्मका ज्ञान	२७३	(१२) ज्ञानप्राप्तिके उपाय स्तोत्र १८-४० ११२	११२
जन्ममरण चक्र	२७५	ज्ञानप्राप्तिके हेतु संसाधनका ज्ञान	११३
परमेश्वरप्राप्ति	२७६	(१३) संवेदनविशुद्धि स्तोत्र ४१ ४२ ११४	११४
उत्पत्ति और जन्मसाध, मन्मथा	२७७	कर्मका विशुद्धि योग (समय)	१
मैं उपाधित, जीतरागमयकोका	२७८	कृपका मनुष्यी उपस्थिति	१ ५
ज्ञानतपसा प्राप्त मन्मथ ज्ञान		आत्मका कर्मका सतर्पण	१
(५) कर्मकी सिद्धि स्तोत्र ११-१२	२७९	ज्ञान-कर्मसम्यासयोगका विचार	१ ११
कर्मका बन्ध विमल कर्मका जन्म		कर्मका स्वस्व विचार, पूर्वजन्मका	
ईश्वरका मार्ग	२८०	प्राप्तका पुनर्जन्म, ईश्वरप्राप्तकी प्राप्ति परम सिद्धि	१ १०
ऐश्वर्य प्राप्त	२८१	विशेषता	१ १८
संगतिमरण	२८२	शेष प्राप्ति प्राप्ति के बार होना	१ १९
(६) आतुर्बन्धका संगतिमरण स्तोत्र १३	२८२	पुनर्जन्म व होना निर्मलता	१ २
संगतिमरण और जन्ममरण		कर्मवन्धविशुद्धि	१ २१
विमल और प्रज्ञापञ्चमें आतुर्बन्ध		शुद्धि जन्मका मोह	१ २२
सहज कर्म	२८३	आत्मिकी प्राप्ति	१ २३
संगतिमरण जन्मक कर्म और जन्मका	२८५	मनुष्यकी प्राप्ति	१ २४
प्राप्तकी रक्षा	२८६	जन्ममरण-जन्ममरण साधन पञ्च परम ज्ञान-प्राप्ति	१ २५
(७) पञ्चासकितसे जन्मक स्तोत्र १४-१५	२८६	ज्ञानप्राप्ति	१ २६
आत्मप्राप्ति योग		शेष जन्मका प्राप्ति	१ २७
(८) कर्मके भद्र स्तोत्र १६-१७	२८७	परमेश्वरप्राप्ति	१ २८
कर्मका और जन्मक	२८८	प्राप्तप्राप्ति	१ २९
(९) कर्ममें भद्र-कर्मता स्तोत्र १८-२३	२८९	अध्यात्मिकी प्राप्ति	१ ३०
कर्ममें दोष जन्ममरण	२९०	विधिके साधन	१ ३८
कर्ममें जन्मका जन्ममरण सात्वर कर्म	२९१	चतुर्थ अध्यायके समाप्ति	१ ४२

मनुज उवाच—

संन्यास कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शससि । पञ्चैष एतयोरेक तमे ब्रूहि मुनिश्चितम् ॥१॥

अन्वय — ब्रह्मन् उवाच— हे कृष्ण ! कर्मोंकी संन्यास पुनः योग च शससि; एतयोः पर एक श्रेयः त्वं मे मुनि श्रितं ब्रूहि ॥ १ ॥

मनुजने पूछा— हे कृष्ण ! आप एक बार कर्मोंके संन्यासको और दूसरी बार कर्मके योगकी प्रशंसा करते हो। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग निश्चयसे मेरे लिये कल्याणकारी हो, वह मुझे निश्चित रीतिसे बतहाइये ॥ १ ॥

माधवा— गुरुजी कथित है कि वह शिष्यको एकही निश्चित और श्रेयस्कर मार्गका उपदेश करे। अनेक मार्गोंकी प्रशंसा करके शिष्यके मनमें श्रम उत्पन्न न करे।

(१) पूर्व अध्यायमें कई श्लोकोंमें सर्व-कर्म-संन्यास करनेकी प्रशंसा की है; जैसे—

संन्यासकी प्रशंसा

कमम्यकम् यः परयेत् ।

(गी ४।१८)

आवाशिश्चकर्मण्य ॥ (गी० ४।१९)

यदध्यात्ममर्तुमुह ॥

(गी ४।२२)

सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(गी ४।२३)

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ॥

(गी ४।३०)

जो कर्ममें बन्धन है उसके कर्म त्यागदिते भस्म हुए हैं वो सहायक वस्तु हैं समुद्र राहण हैं सब कर्म ज्ञानमें समाप्त होते हैं ज्ञानाग्निसे सब कर्म भस्म हो जाते हैं। इसलिये ज्ञानमें साधनार्थ बर्बाद सर्व-कर्म-संन्यास-मार्गकी प्रशंसा की है। यह प्रशंसा यह-सेसे ऐसा प्रतीत होता है कि समुप्य संन्यासका आशय करे क्योंकि सब कर्मोंका भस्म यदि संन्यासमेंही होता है तो बड़ी संन्यास प्रशंसासेही क्यों न किया जाये ? इस तरह पाठकी प्रवृत्ति इस संन्यास-प्रशंसाके उपदेशोंसे कर्म-संन्यास करनेकी ओर होती है।

इस प्रकार कर्मसंन्यासकी ओर प्रवृत्ति करके अन्तमें प्राप्तिमें क्या दि—

३३ (वि गी)

कर्मयोगकी आज्ञा

छिन्नैर्बन्धैश्च योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (गी ४।२९)

“ हे भारतका हिन करनेके लिये प्रवृत्त हुए और इस सन्देशके फलस्वरूप कर्मयोगका आचरण करनेके लिये उठ । ” इस उपदेशद्वारा फिर कर्मयोगमें प्रवृत्त हो देना कहा है। यहाँ सन्देश उत्पन्न होता है कि कर्मका संन्यास किया जाय बचका कर्मयोगका आचरण किया जाय ? दोनों मार्ग परस्पर शिष्ट हैं, उधरो और मागो इन दो बाधाओंमें जितना परस्परविरोध है उतनाही विरोध कर्मकी ओर कर्मयोग करो इन आज्ञाओंमें है। जिस समय शुद्ध कर्मयोग और कर्मसंन्यास इन दोनोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं, उस समय शिष्य क्या करे कर्म करे वा कर्म छोड़ देके ? मार्ग एकदमसेसे यदि कोई करे कि तुम पूर्वकी ओर जातेजाके मर्मसे जाओ बचका पश्चिमकी ओर जानेजाके मार्गसे जाओ तो वह पाश्चात्य किस मार्गसे जाये ? बड़ी तरह बड़ी बर्तुनके मर्ममें पूर्णतः फलपते बड़ा संदेह उत्पन्न हुआ। अतः वह कह रहा है कि कर्मयोग और साधनयोग इन दोनोंमेंसे जो एक मार्ग मेरे लिये श्रेष्ठकर होगा उसका मुझे उपदेश करो ” बर्बाद अनेक मार्गोंका उपदेश करते पड़िसेसे प्राप्य हुए मेरे चित्तकी अधिक जगमें न जाओ इस समय मेरा निश्चिन रीतिसे कल्याण किस तरह होगा इसकाही उपदेश करना जायके अधिक है। इस प्रकार जर्तुवत्त पर बचन करके प्राप्तिमें कमजोर सन्देश दूर करनेके लिये समाप्तोत्ते—

(२) कर्म और सन्यास एकही है

श्रीमद्भगवानुवाच—

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंयासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
 ज्ञेयः स नित्यसन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं चाध्यात्ममुच्यते ॥ ३ ॥
 सांख्ययोगो पृथग्बाला पथवृन्ति न पाण्डिता । एकमप्यास्थित सम्पद्गुमयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
 यस्तान्स्वैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च यागं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः— श्री भगवान् उवाच— सन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ, यतोऽतु कर्मसंन्यासश्च कर्मयोगश्च विशिष्यते ॥ २ ॥ यः न द्वेष्टि न (च) काङ्क्षति सः विश्वसंन्यासी ज्ञेयः, हे महाबाहो ! हि निर्द्वन्द्वः सन्त्यासं मुक्तं वदुष्यते ॥ ३ ॥ सांख्ययोगी पृथक् (इति) बालाः पथवृन्ति न पश्याताः, एकं अपि सम्पद् आस्थितः (पुरुषः) कर्मयोगः फलं विन्दते ॥ ४ ॥ यः स्थानं सांख्ये प्राप्यते तत् योगीः अपि गम्यते, यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति स (यः) पश्यति ॥ ५ ॥

भगवान् बोले— कर्मों का सन्यास और कर्मों का योग ये दोनोंही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं परंतु उस दोनोंमें कर्मोंके सन्यासकी अपेक्षा (तेरे छिपे) कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ जो मनुष्य किसीके द्वेष नहीं करता और किसीकी प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करता उसे नित्य सन्यासी समझना चाहिये । जो इन्द्रियोंसे दूर रहता है वही सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है ॥ ३ ॥ बालानी लोग सांख्यमार्ग (सन्यासयोग) और योगमार्ग (कर्मयोग) को पृथक् पृथक् मानते हैं परंतु ज्ञानी इन दोनों ही मानते । क्योंकि इनमेंसे किसी एकका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेसे मनुष्यको दोनोंका फल प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ जो स्थान सांख्यमार्गियोंको प्राप्त होता है वह योगमार्गियोंको भी प्राप्त होता है, अतः जो सांख्य और योगको एकत्र देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

भाषार्थ— ज्ञान और कर्म ये दोनों निःस्पृह मनुष्यमात्रका कल्याण करनेवाले हैं । तबपि सर्वसंसारज मनुष्य केवल कर्मही विशेष काम्यकारी है । जो किसीका द्वेष नहीं करता अथवा किसीपर द्वेष भी नहीं करता वही लक्ष्य सन्यासी है फिर वह ज्ञानमें ऊपर हो अथवा कर्ममें खरा हुआ हो । इन्द्रियों को दूर रहता है वह सुखपूर्वक बन्धनों से दूर रहता है । ज्ञान और कर्म ये दोनों मित्र मित्र हैं वेसा दूर क्षेत्र प्राप्यते हैं, परंतु कभी कोनोंका मत भेदा नहीं है । इसका कारण यह है कि इनमेंसे किसी एकका भी कयाचित् रीतिसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका फल प्राप्त होता है । जो उस स्थान ज्ञानियोंको मिलता है वही कर्ममार्गियोंको भी प्राप्त होता है । अतः जन्तुसं साध्य की छिपे एक ही स्थापित है । इस तरह ज्ञान और कर्मोंके कभी दृष्टिसे एक बातनाही समझना है ॥ २—५ ॥

(२-५) पूर्व अध्यायमें ज्ञान और कर्मोंकी समानता का सुन्दर वर्णन के विषयमें संक्षेप उल्लेख हुआ वह आजम्बर इस समीहकी दूर करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सन्यास और कर्म

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥ (५-२)

“ सन्यास और कर्मयोग ये दोनों निर्द्वन्द्व मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले हैं वही योगशास्त्रमें सन्यास और कर्मयोग के नाम से दो अर्थोंसे प्रयुक्त किए हैं । निम्नलिखित श्लोक देखनेसे इनका अर्थ ज्ञान ही सकता है—

कर्म	सन्यास
“ योग	सांख्य, ज्ञान
कर्ममार्ग	संन्यासमार्ग
कर्मयोग	सांख्यमार्ग
,	सन्यासयोग
,	सांख्ययोग
“	ज्ञानयोग
“	बुद्धियोग
योगबुद्धि	सांख्यबुद्धि
कर्म	प्रकर्म

इस तरह हम दोनों मार्गों के नाम हैं। यदि पाठक हम नामों के स्मरण रखेंगे तो सबको किस सत्य से किसका बोध होता है इसका उचित ज्ञान हो सकता है। इससे पूर्व पृथिव्यान्वयने कहा है कि—

दो निष्ठा

छोकेऽस्मिन्निद्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽमहम् ।
ज्ञानयोगेन सांख्ययोगेन कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(गी २।१)

इस छंदारमें दो प्रकारकी प्रवृत्तियों के बोध होते हैं। सांख्योकी प्रवृत्ति ज्ञानकी ओर और योगियोंकी प्रवृत्ति कर्मकी ओर होती है। "यद् यमुपैका स्वभावः सन्तः । जो जिसकी विसर्ग-प्रवृत्ति होती है, उसके अनुसार वह अपने ही उसका कर्मात्मक होता है। विसर्ग-प्रवृत्ति के विरुद्ध चक्रे से निर्धारित प्रवृत्ति के विरोध करने से बड़ी हानि होती है, यह कहा है—

सर्वदा चेष्टते स्वस्याः प्रवृत्तेर्ज्ञानवानपि ।

प्रवृत्तिं यास्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

(गी ३।१३)

जानी की अपने प्रवृत्तिस्वभाव के अनुसार चलता है। सब क्षमिताएं अपने स्वभाव के अनुसार चलती हैं, ऐसी व्यवस्थामें व्यवहार करने से क्या काम हो सकता है ? इस कारण अपने निज निर्ययस्वभाव के अनुसार मार्ग से चलना उचित है यह पहिले बताया है। इस निबन्ध के अनुसार जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ज्ञानमार्गकी ओर हो वह ज्ञानमार्ग से जाने और जिसकी निज प्रवृत्ति कर्ममार्गकी ओर हो वह कर्ममार्ग का अनुष्ठान करे। वे दो मार्ग पूर्वोक्त दो प्रवृत्तियों के अनुसार होने से दोनोंकी समान प्रतीक्षा होने पर भी मनुष्यकी सीढ़ीमें पहिले का कोई कारण नहीं है। क्योंकि मनुष्यको उचित है कि वह अपनी निज प्रवृत्ति के ही ओर उस प्रवृत्ति के अनुसार जो मार्ग हो उसका अनुष्ठान करे और अपनी निज प्रवृत्ति के विरुद्ध मार्ग से न जाने। मनुष्य अधिकारी महाराजने अनुर्णन्यायसे संन्यास योग और कर्मयोगकी समानता का बख्शा की है यह सत्य है परंतु इससे उसके चित्तको ज्ञान होने का कोई प्रयोजन नहीं है।

कर्तव्यको उचित था कि वह अपनी निज प्रवृत्ति के साथ और उस निज प्रवृत्ति के अनुसार जो मार्ग है उसपर चलाय। परंतु कर्तव्य प्राप्त करने ही पुरुष स्वभावोचित कर्म को करने को अर्थात् अपना कर्म को करने को प्रवृत्त हुआ था, और निज प्रवृत्ति के रहने के लिये उसका हुआ था। मनुष्य के लिये आर्म्भिक संन्यास प्रवृत्ति से रहना उसका प्रवृत्ति कर्म नहीं था पुरुष कर्ममार्ग का अवलंबन करके समुपरा विजय प्राप्त करके, राजा बनना उसके प्रवृत्ति के अनुसार था। परंतु कर्तव्य स्वाभाविक प्रवृत्ति का कर्म त्याग रहा था और बलान्तर से निज प्रवृत्ति के समानार्थी संन्यासकर्म का आश्रय करने में उचित था। इसीसे कर्तव्यसे श्रीकृष्ण महाराजने जागे कहा है कि—

प्रवृत्तिकी प्रचलता

एवमकारमाश्रित्य न पोष्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रवृत्तिस्तान् नियोष्यसि ॥५९॥

स्वभावज्ञेन कौन्तेय निबद्धा स्वैर कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यस्मोहात्करिष्यस्यस्योऽपि तत्प्र॥६०॥

(गी १८)

'यदि अर्हत्तर-वश होकर तू मैं नहीं कहूंगा ऐसा निश्चय करेया तो यह तैरा निश्चय अपने हीमा क्योंकि तैरा स्वभावही ऐसे उस ओर बसीर के जायया। अपने स्वभाव-नुकूल स्वकर्म से बंधा हुआ तू जिसे मोहवश करना नहीं चाहया उसे तूही निबद्ध होकर करेगा।" यह जन्ममें प्रप देश इसलिये किया कि बहुत अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध चल रहा था। बलान्तर से वैसी प्रवृत्तिकी विरोध करना जन्ममें क्षमतात्मक नहीं होता है। यदि मनुष्य अपनी प्रवृत्तिकी जागरण अपनी प्रवृत्तिकी अनुसार कर्म करेगा तो उसको कमी बच नहीं प्राप्त होया। श्रीमद्भगवद्गीतामें जागे सत्य एक तम आदि गुणों का विचार करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रवृत्तिकी स्वभावानुसार जाने के अनुसार चलाया है। यदि मनुष्य सत्य प्रवृत्तिकी हा तो सत्य शानमार्ग से जाने का निश्चय करे और यदि राजागुनी प्रवृत्तिकी हो तो कर्ममार्ग में प्रवृत्त होये।

कोईने जन्ममें वैसी गुणोंवाले और आसुर गुणोंवाले जीवोंकी प्रवृत्ति वैसी निज होती है इसका वर्णन है। इस

का विचार करके मनुष्य अपनी कौमती प्रवृत्ति है इसका निजग्न कर सकता है। इसी तरह सत्त्वहर्ष और कठारहर्षे अध्यात्ममें सत्त्व रज और तम प्रवृत्तिवाले कोषोंका वर्जन है इसका विचार करके मनुष्य जान सकता है कि अपनी प्रवृत्ति कौमती है। इस अध्यात्ममें जो विचार किया है वह मनुष्य को ज्ञानपरीक्षा करनेके लिये साधक हो सकता है। इसके समस्त मनुष्य अपनी परीक्षा करने निजग्न करे कि निज प्रवृत्ति साधक है वा राजस है अथवा तामस है। इसी तरह अपनी ज्ञाननिष्ठा है वा कर्मनिष्ठा है। इस प्रवृत्तिको जानकर उस प्रवृत्तिके अनुसार जो कर्तव्य हो वह करनेमें प्रवृत्त हो। अर्जुनने इस अपनी स्वभाव प्रवृत्तिका विचार नहीं किया और एकदम विकलचित्त होकर स्वभावोचित युद्धकर्मका त्याग कर बकाकारसे ज्ञानविद्व सन्यास केकर निश्चयप्रवृत्तिका आशय करनेमें प्रवृत्त हुआ। इसीलिये उसने पढ़ी समझा कि सपत्न्या श्रीकृष्णजीने जो सन्यास और कर्म इन दोनों मार्गों की प्रस्ता की वह अपने लियेही है वे दोनों मार्ग मेरे लियेही कहे गये हैं, ऐसा समझकर ज्ञानमें पड़ा और प्रयत्न करने लग्य कि इन दोनों मार्गोंसे कौनसा मार्ग अपने लिये अधिक उपयुक्त है।

यदि अर्जुन अपनी प्रवृत्तिको जान लेता, तो वह प्रसन्न हो उसके समर्थ में न उठता क्योंकि उसकी निरर्गप्रवृत्ति तम द्वादि साधनकी और शुद्धिवादी नहीं थी किन्तु योग-प्रधान थी। इस तरह अर्जुनके मनमें बहङ्गत्वकी प्रधानता होनेके कारण उसने अपना सहजवृत्त कर्तव्य छोड़ दिया और दूसरा विधुधर्म स्वीकृतना कहा अतः उसके मनमें संदेह हुआ और उसने संकल्प की, जिसका उत्तर महाश्वर दे रहे हैं। वे कहते हैं कि संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग वे दोनों निःसंदेह कल्याण करनेवाले हैं। " वहाँ प्रयत्न हो सकता है कि क्या वे दोनों मार्ग प्रत्येक मनुष्यका श्रेष्ठ करनेवाले हैं। अथवा प्रत्येक मार्ग मित्र मित्र प्रवृत्तिवालोंकाही श्रेष्ठ करनेवाला है।

पूजापरसम्पन्नका विचार करनेसे वह बात स्पष्ट है कि संन्यासमार्ग श्रावणिकालके लिये कल्याणकारी है और बागमार्ग कर्मनिष्ठावालोंके लिये हितकारी है। इसी उद्देश्य से संन्यास और कर्मयोग वे दोनों मार्ग मनुष्योंका कल्याण करनेवाले हैं ऐसा सामान्यतया उपदेश कहा है।

इसमें वे दो मार्ग किन क्षेत्रोंका कल्याण करते हैं वह यह स्पष्ट है। इसके लिये भी ऐसाही कहा है कि—

कर्मयोगकी विशेषता

तथास्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

(गी ५।१)

इन श्लोकोंमें श्री संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष उल्लेख है। " परन्तु यह कर्मयोग को उल्लेख है वह इन श्लोकोंको उल्लेख है अथवा किसी निश्चित प्रकारके मनुष्योंको उल्लेख है इसका विचार करना चाहिये। ज्ञानतामें दो प्रकार के मनुष्य होते हैं (गी ३।१) एक प्रकारके पुत्रोंको कर्म मित्र कहते हैं और दूसरे प्रकारके पुत्रोंको ज्ञानविद्व कहा जाता है। जगत्में सब मनुष्य पृथ्वी वृत्तिके नहीं होते और उक्त दो निष्ठावांसे तीसरी निष्ठा जगत्में नहीं है। एक बार वह निश्चित होनेसे संन्यासयोग और कर्मयोग कि मनुष्योंके लिये हितकारी है वह बात स्वयं स्पष्ट हो उठी है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि संन्यासमार्ग श्रावणिकालके लिये हितकारी है और कर्मयोग सत्त्व सत्त्व के लिये कार्याकारी है। जगत्में सभी कोना बहुतही छोटे होते हैं अतः कर्मयोग सर्वसाधारण मनुष्योंके लिये कार्याकारी है नहीं विशेषतया इसकी है।

जो मनुष्य जल्दय विरक्त होते हैं मोक्षसाधनको संन्यासका दूर रहते हैं वैराग्य निष्ठा स्वभावधर्म बना है, जो शुद्ध होनेकी दृक्भाव कामना प्राप्त करते हैं अथवा जगत् के व्यवहार छोड़कर जो केवल ज्ञानप्राप्तिके लिये ही अपना जीवन समर्पण करने लगे हैं वे संन्यासमार्गके आकर अपना जीवन समर्पण कर सकते हैं। इसके लियेही संन्यासमार्ग उल्लेख है।

नामसंन्यासी

यहाँ जो जो आत्मिकके वैराग्यी नाममात्र संन्यासी हैं, जिन्होंने आत्मिकिकालके लिये संन्यास-ग्रहण किया है संन्यास-ग्रहण करनेके पश्चात् भी निश्चित योगप्रसिद्धि साधनमें ही रूढ़ते रहते हैं जिसका श्रेष्ठ जगत्प्रसिद्धि अपेक्षा योगप्रसिद्धि में अधिक कहा होता है जिसके लिये अन्तर संन्यास ग्रहण करनेके कारण पश्चात्ताप होता है वे संन्यासमार्गके अधिकारी नहीं हैं। वे वस्तुतः कर्मयोगके अधिकारी हैं। कर्म करने

नियमी धारणा करनेसे इन्की उन्नतिक मार्ग सुकर होता है। ऐसे लोगोका उदार कर्मयोगज्ञान होता है।

पूर्वोक्त सन्धासमार्गिक अधिकारी समस्तों को ही हैं। उनको छोड़कर शेष सब लोग कर्मयोगसे अपनी उन्नतिका ध्यान कर सकते हैं, अर्थात् इस कर्मयोगिक अधिकारी इस समस्तों अधिक हैं। हर एक मनुष्य कर्मयोगसे अपना कल्याण कर सकता है वही (कर्मयोगो किशिष्यते ॥५१२॥) कर्मयोगी विवेचना है। मानो इस तरह सभी लोग कर्म योगिक अधिकारी हैं। यह कर्मयोग एक कोषोका कल्याण करनेवाला है। जैसे अधिकार न रहते हुए बिने हुए संन्यास से संन्यास केनेवालेकी निराश्वर होती है वैसे निराश्वर कर्मयोगसे किसीकी भी नहीं हो सकती। क्योंकि सभी लोग इसके अधिकारी हैं। जलनिद्रावाले लोग भी यदि कर्म करते तो वे निद्रा नहीं पान्नु कर्मनिद्रावाले संन्यास जैसे तो उनका बचापत्त हो सकता है क्योंकि उनके संन्यास विम नहीं सकता। वह कर्मयोगी विवेचना है।

संन्यासका मुख्य कल्याण योगोच्छासी पूर्ण निवृत्ति है। जब जिसमें योगोच्छा है उससे संन्यास क्वापि नहीं हो सकता। संन्यासकर्मकी वही कतिवत्ता है क्योंकि प्रायः मनुष्य योगोच्छासुक्त होते हैं। जब देखे योगोच्छावाले मनुष्य अपनी उन्नति किस तरह प्राप्त करें ? उनमें पीछा के कहा है कि वे कर्मयोगसे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इससे योगोच्छास पूर्ण भोग करना आवश्यक नहीं है, बोधा भोग और बोधा त्याग पैदा मेकमिलानसे साधन करते हुए इसमें उन्नति प्राप्त करना होता है। इसलिये प्रायिक मनुष्यिक मनुष्य इस कर्मयोगसे उन्नति प्राप्त कर सकता है। वह प्रायिके बिने संन्यासके मुख्य कल्याण को है—

संन्यासीके लक्षण

हेया स निवृत्तसंन्यासी यो न श्रेष्ठि न कांक्षति ।
निर्द्वेषो हि महाबाहो सुखं बचाप्यमुच्यते ॥५१३॥
निवृत्त संन्यासी के लक्षण ये हैं
(१) या न श्रेष्ठि = जो श्रेष्ठिप द्वेष नहीं करता
केसीका शत्रुत्व नहीं करता

(२) या न कांक्षति = जो किसीकी इच्छा नहीं करता
जो किसी योगीका किसीका वासना नहीं धारण करता जो
योगीके निबन्धने निरिच्छ है,

(३) या निर्वैगुण्यो मनुष्यः स्वामिना राग द्वेष, सन्मुखि, उच्छासी, नाति इन्द्रियाण्यस्य दूर रहता है, मुक्त हो अपना दुःख हो दोनों अवस्थाओंमें जिसका मन धम रहता है

(४) या निवृत्तसंन्यासी = जो पूर्वोक्त संन्यासीके लक्षणोंके साथ मुक्त रहता है अर्थात् बोधी देर मोती और मोती देर त्यागी नहीं रहता परन्तु सदा सहजतया रागद्वेष रहित रहता है

वही मुक्त प्राप्त करने सम्भव है मुक्त होता है। वही चार कल्याण संन्यासोंके को है, (१) द्वेष न करना, (२) योगोच्छास न होना (३) इन्द्रियाण्यस्य दूर होना और (४) इन तीनों गुणोंका सत्य होना ये चार कल्याण वहाँ होते वह संन्यासमार्गाका अधिकारी है। इसमें चतुर्थे कल्याण निवृत्त अवस्था है। कई मनुष्य बोधी देरवत् किसीका द्वेष करना छोड़ देते किसी योगीका कामना भी नहीं करते क्वाचित् सन्मुखि प्रायिके इन्द्रियों की दूर रहता परन्तु यह सब तात्पर्य उनसे बोधी देरके बिने होता। इस तरह जो लोग बोधी देरवत् बन्धन बन्धन करनेका तात्पर्य करते वे संन्यासमार्गिक अधिकारी नहीं हैं। वरन् निवृत्त उक्त तीनों कल्याण जिस रहते हैं स्वभावसे प्राप्त बुद्धिसे और बिना बचापत्त रहते हैं वे संन्यासी हैं।

जिसमें द्वेष करनेकी उन्नति नहीं की स्वभावसे सन्मुख है, अथ योगवासना जिसमें उन्नति नहीं की मनुष्य या विपरीत अवस्थामें सम-बुद्धिसे रहते हैं और वे तीनों बुद्धिमें जिसमें सदा रहती हैं, वेही सत्य संन्यासी हैं। और वेही संन्यासमार्गसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

संन्यासका अनधिकारी

पूर्वजानमें संन्यासयोगका अधिकारी कौन है इसके कल्याण को। जब उक्त निवारसेही कौन संन्यासका अधिकारी नहीं है इसका निवार हो सकता है। संन्यास केनेका जिसको अधिकार नहीं है उनमें विम्वकिनि कल्याण होगा—

(१) या श्रेष्ठि = जो द्वेष करते हैं विम्व करते हैं, शत्रुत्व करते हैं जो शत्रुत्व है,

(२) या कांक्षति = जो वासना धारण करते हैं सुख मुक्त चाहिये वेना मानकर जो बन्धनके पीछे सीबते हैं

(३) या उच्छासी = जो मुक्तदुःखानि इन्द्रियों में

(३) संन्यासके लिये योगकी आवश्यकता

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगत । योगयुक्तो मुनिर्बिह्य नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! अयोगत संन्यासः तु दुःखं आप्नुं योगयुक्तः मुनिः नचिरेण मया अधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखसे साध्य होनेवाला है, परंतु कर्मयोग करनेवाला मुनि दीर्घजी ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

भाषा— कर्मके बिना ज्ञानयोग सिद्ध होना असम्भव नहीं बरिपु प्रायः कहसक्य है । परंतु पुरुषार्थकर्म कर्मयोग करना हुआ मनुष्य कर्मपूर्ण ब्रह्म हाकर जन्ममें निश्चयसे ब्रह्म प्राप्त करता है, सबसे उच्च पदको प्राप्त करता है सुख होगा है अपरि नश्यनसे पूर्य जाता है ॥ ६ ॥

‘ जो मैंने स्वयं मैद्वयार्थ स्वीकारने द्वारा मितु वा संन्यासी होकर उपस्थि होनेका मार्ग काकामय करनेका निश्चय किया है, वह भी निःसिद्ध ब्रह्म करनेवाला है अतः जब कुछ न करते हुए उसी संन्यास-मार्गपर चला जाये लिये अच्छा है । इस तरह जन्मके जन्ममें संन्यासी बननेके बिचार अच्छी रहे ये हृदयमें उसके आर्षोके उसके मुखाभिर्माणसे जाकर कुछ ब्रह्म उपलब्धी समवाह्य कीकृत्य जाये कहते हैं—

(१) पूर्वस्यात्मने ज्ञानयोग और कर्मयोगका एक पक्षही है किना एक प्राप्त होनेकी दृष्टिसे ये दोनों माग पक्षही हैं, ऐसा कहा । इस कथनसे कोई साधक भ्रम सफा है कि ये दोनों मार्ग समावयवा सुगम हैं, प्राप्तमेंसे जन्मपक्ष अनुज्ञानकर्ममें भी एकमात्र सुख देनेवाले हैं, कोई साधक किसीभी मार्गसे चलेकेला जाय तो उसकी सुगमताकी दृष्टिसे जन्ममें कोई भ्रम नहीं इस तरहका विचार साधकके मनमें आ सकता है; इसलिये इस दृष्टिसे हम दो मार्गोंमें जो सेव है उसका निवर्तन करनेका उपक्रम जगत्वा इस लोकमें करते हैं ।

अयोगतः संन्यासः दुःखमाप्नुः । (५६)

योगत न करनेपर संन्यास किना तो उससे दुःखही दुःख ब्रह्म होगा । “ परंतु संन्यास न किये हुए योगका अनुज्ञान किया जाय तो दुःख नहीं होता । इस कथनसे इस बातकी स्पष्टता होती है कि सबसे प्रथम मनुष्य योगका अनुज्ञान को बड़ा योग का जर्ज कर्मयोग किन्ना कर्मयोग कर्ममार्ग, योगसाधन, योगमार्ग जगत्वा उपलब्धी माग है । जो साधक मार्गमें इस कर्मयोगका करता है वह कुछ साधनके ब्रह्म ज्ञानयोगका अधिकारी होगा है और उस प्रथम इतने संन्यासमार्गका स्वीकार किना तो उससे किसी प्रकारका दुःख नहीं होगा ।

जो मनुष्य पूर्वजन्मसे सार्वभूमे जन्मसेही सिद्ध होते हैं वे उस सिद्धिके कारण कर्मयोगके अनुज्ञानके बिना भी संन्यास ग्रहण करके मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं । परंतु जो ऐसे जन्मसे सिद्ध नहीं होते हैं वे सामान्य मनुष्य ब्रह्मचर्यादि आत्ममर्मे रहते हुए, और सर्वज्ञानः योगाभ्यास करते हुए अपने जन्मको संन्यासमार्गके अधिकारी बनाने और पश्चात् संन्यास के पश्चात् ब्रह्मयोगका अधिकार प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगका आचरण करना आवश्यक है ।

इसके लिये एक उदाहरण देते हैं— एक सुंदर जलज कैले मुद्र और पवित्र जलका सरोवर है उसमें पैसा डालन एक है कि जिस जलका सेवन करनेसे मनुष्य मोक्ष, सुख दीर्घजीवी और सुखी होता है । अतः प्रत्येक मनुष्य उस जलज जलको प्राप्त करनेका ह्मपुत्र है । उस सरोवरके पास जानेके दो मार्ग हैं एक सीधा और सुगम है परंतु पर्वत से कोस दूरा है दूसरा अति समीपका है सीधक एक पर्वतपर चढ़कर एक दो दिनोंमें दूसरी ओर उतरनेसे सरोवरके समीपके तीरपर पहुँचता है । पर्वतपरका मार्ग केवल दो दिनोंका है और दूसरा सीधा माग चढ़नेके लिये दो जगत्वा तीर माग लगत हैं । परंतु उन पर्वतपर चढ़ना कठिन है मार्ग अत्यंत विचित्र है । पर्वत प्रियज गया तो निश्चयसे मृत्यु होती है कोचमें सांप विषकु सिंह व्याध आदि वस्तु भी हिंसा करनेके लिये तैयार हैं । दूर तुरीरे द्रव्य भी मारपीड करनेके लिये तैयार हैं इस कारण वह मार्ग साधा हम मनुष्यके लिये सिद्ध जगत्वा कठिन है । दूसरा दूरका सीधा मार्ग चढ़ने दो माय जगत्वा संप्रति सबका सुगम है ऊपर पर्वत का गये नहीं है मुकुराजी बाह्य है, सीधकीचले जगत्वा आनिमुंदर बनी है, जब

आत्मनः साधना ॥ इमं तदा सुखं तदा वेदते ह्युप
मनुष्य आनन्दं ब्रह्मं पश्यति सदा ॥ इति विचारसं बह्विधा
निश्चयसे ज्ञान होगी कि समीपके मार्गसे यह दूरका मार्ग
सर्वसाधारणक किये दितकारी है । जो विशेष चीर-चीर
दूर और विशेष मध्य हों वे परंपरे के मार्गसे जावे परंतु
अर्थसाधारण मनुष्यक इसी सीध दूरके मार्गसे जाना
योग्य है ।

बड़ी बाल संस्थासमार्ग और कर्ममार्गकी है । सबसाधारण
मनुष्य संस्थासमार्गका प्रयोगकर पावन कर नहीं
सकता जहां ऐसा मनुष्य संस्थासंकेत गिर जाता है
परंतु बड़ी कर्ममार्गसे ज्ञानका उचित प्राप्त करता हुआ अपने
परम धाममें प्राप्त कर सकता है । योग्यता न होते हुए
अधिकांश लोग संस्थासंकेत लपटी और दूसरोंकी गिरा
बटके भिये कैसे काट्य होते हैं इसकी प्रवृत्ति इस समयके
जमानेकी संस्थासी है रहे हैं । इस समय बहुत बाल
संस्थासी सखी संस्थासी हैं, वे जगता और समाजका उद्धार
करते हैं । परंतु अन्य संस्थासी केवल वैपद्यारी होनेसे वापसी
क्रिया करने करते हैं धूमिल होते हैं यह विचार
मनुष्य अपने चारों ओर देखकर जान सकते हैं । इसलिये
वैपद्यारी कर्मजान संस्थासिद्धि निश्चय होना चाहिये
इसमें संदेह नहीं है ।

अब कर्मयोग क्या है और उससे उचितता सीधा मार्ग
सबके भिन्न कैसा बना होता है इसका बड़ा सिद्धि
विचार करना आवश्यक है । क्योंकि वैदिकान्तिक
शास्त्रिके उपरान्त येने किये जाते हैं कि किसका बड़ा
कौशल्या अर्थ है इसका निर्णय करना विचारवान् पाठकोंके
भी सुख का हो गया है ऐसा मान्य संस्थास्य ज्ञान
इससे साथ योग बचवा मार्ग शास्त्र जगत्तर साधनयोग
साधनमार्ग संस्थासयोग संस्थासमार्ग साधनयोग साधनमार्ग
वे शास्त्र करने हैं । ज्ञान इसका अर्थ गीतामें समान है परंतु
'ज्ञान शास्त्रका अर्थ भौतिक शिक्षण प्रवृत्ति साधन
नादि मानकर कई लोग अर्थ अर्थ करने हैं । ज्ञानमार्ग
नादि शास्त्रोंका अर्थ गीतामें निश्चिंत है ज्ञानका अर्थ
भौतिकप्रत्यक्ष ज्ञान प्रवृत्ति नष्ट है यह अर्थसाधारण है
शब्दक मनुष्यमें इसकी अति बल कर रही है बड़ी
प्रवृत्ति भी इसमें है उक्त अर्थ ज्ञान शास्त्र अर्थ

साधनका भौतिक सुख सुख जगता है, परमात्मज्ञान
का अनुभव प्राप्त करनेकी अभिलाषा बड़ी है, वैयं लेख
हैं और यह भौतिक अनुभवसे निश्चय करता है कि इसका
प्राप्त परमात्मका साधनकर किये विचार नहीं होना
येसे बहुत निश्चयसे यह सब प्रवृत्ति छोड़ता है और परमार्थ
साधनमें वृत्तित होता है । यह ज्ञानमार्गका ज्ञान
संस्थासमार्गका अधिकारी है । यह सब लोक कर्ममार्ग
अधिकारी है ।

कर्ममार्ग, कर्मयोग योगमार्ग व सब शास्त्र प्रवृत्ति
यह है । मनुष्य किन्हीं किन्हीं जीवों को यह बड़ी
उचित इस मार्गसे एककर निश्चय प्राप्त कर सकता है ।
संस्थासमार्गके समान बड़ा निरावृत्ति कर नहीं है । अर्थ
मार्गमें जो भेद है- (१) लक्ष्य-कर्म और (२)
दूसरा विध्यम-कर्म । लक्ष्य कर्मकी सीधी सोच है और
निष्काम कर्मका स्थान ऊंचा है । साधारण मनुष्य लक्ष्य
लक्ष्य कर्म करे । लक्ष्य कर्मका अर्थ अपने भावों भिन्न
सुखके किये बचवा पानके किये किये जानेवाले कर्म । इसे
सुख प्राप्त होना चाहिये ऐसा मानकर मनुष्य लक्ष्य
लक्ष्य कर्म करे । क्योंकि निष्काम-कर्म बड़ा कर्म
लक्ष्य स्वयं बचवा करना और लक्ष्य फल न लेना
बड़ा स्वाध्यायसे होनेवाला है ।

मनुष्य सुखकी इच्छासे लक्ष्यकर्म करेगा व मार्ग
और पारमार्थिक ज्ञान प्राप्त करता है इस ज्ञानमार्ग
अर्थमार्गमें उसको सिद्धि पुस्तिका जीवनपरिधि विधि लेख
है उससे पारमार्थिक उचितकी साधनक कर्मका ज्ञान
प्राप्त सब सुखकी प्रधानक विधि यह शास्त्रमार्ग लक्ष्यका
है विचार करके लक्ष्यमार्गमार्गमें साथ रहने लगा है वहां
तो उसको अपनी कर्मोंके भिन्न स्वाध्याय करनेका रूप
मिलता है जोसे समयके प्रमाण उसको लक्ष्य होते हैं,
उस समय वह उसके भिन्न अपने सुखका लक्ष्य करनेका
पाठ सीखता है । इसी तरह उसका विचार विचार करके
है उसका लक्ष्य सुख प्राप्त और दूसरोंके दिग्गज भिन्न
प्रत्यक्ष करना वह सीखता है । बड़ी अपने सुखका दूसरी
मार्गके भिन्न स्वाध्याय करता है । यह कर्ममार्गमें स्वाध्याय
पाठ इस तरह सीखता है ।

पुरुषार्थमार्गमें प्रवृत्तिप्रवृत्ति प्रवृत्तिमार्ग है इस लक्ष्य

मुक्त्याग करनेसे महत्सुख मित्रनेका अनुभव गृहस्थीको प्राप्त होता है। पुत्रादिके विन्दे किने स्वमुक्तका स्वाग करनेसे उसको बड़ा सुख मित्रनेका अनुभव जाता है। इसी तरह कर्ममार्गसे ब्रह्मसमर्पणका पाठ उसको मिलता है। आगे इसी तरह अपने कुटुम्ब परिवार आदि तथा राष्ट्रके किने ब्रह्मसमर्पण करनेको यह कर्मयोगी तैयार होता है। अन्तमें अपने अपने स्थित मरनेकोभी सिद्ध होता है यह इसका बड़ा स्वाध्याय है। जब वह जाति राष्ट्र और धर्मके किने ब्रह्मसमर्पण करनेको तैयार होता है, वह वह त्यागी ब्रह्मा सम्पत्ती होनेका अधिकार जबका योग्यता प्राप्त करता है। इस स्वाध्याय कर्मयोग और सत्यसतोपोग इसका समिकन होता है।

कर्मयोगके अनुसार पहिले सकाम और पञ्चा विधाय कर्म करनेबाधा कर्ममार्गी प्रार्थनिक व्यवस्थामें अपने सुखके किने करवीमूल की आदिकी कपासका करता है। जब देने वाले भिक्षुके पास वैद्यता है, अधिकार क्षेत्रके राजकाय अनुसार करता है, हृदयकोकर्म सुखयोग क्षेत्रके विभिन्न वेद्यमोक्षी उपालय करता है। इस तरह सकाम कर्म करते करते उसमें वैवीर्यादिकी ब्रह्मति होती है। प्रार्थनमें अपने कपासमें वह वैद्यकी कल्पना करता है और अन्त्यक्ष देख नहीं है वेद्य मानता है। परंतु कपासना होते होते चित्तके मक हार होते हैं कुछ अवज मयन भी करता है और इस तरह उद्वत होकर सब भूतमें परमप्राप्ती उपस्थिति है ऐसा समझता है और यह बिचरी परमप्राप्ती विवक्ष्य है यह बात वसके मर्ममें स्थिर होती है।

इस दंगसे कर्मयोगी सकाम कर्मको छाड़कर विधाय कर्म द्वारा परमेश्वरकी पूजा करता है। इस समय वह मग्नता है कि-

स्वकामना तमस्यर्क्य सिद्धि विवृति मानयः ।
(गी १८।७५)

स्वकर्मद्वारा उस परमप्राप्ती पूजा करनेसे मनुष्यको परम सिद्धि प्राप्त होती है। " इस स्वाध्याय उसको ब्रह्मे की सर्वशक्त्यका पण लगता है और वह हमका सम्पन्नकर करनेको उपयुक्त होता है। वहाँ इस तीनिने कम योगी और मग्नता भी मीठीपर होन हैं।

अपने कर्ममें बर्जय और आचमनमें बर्जयके मय ४४ (गी १८)

प्राप्त इसी कर्मयोगकी वृत्त करत है और भावकस जो भी सार्वजनिक चित्तके मयका राष्ट्रहितके कार्य जनताके सम्मुख आये हैं, वे सब तथा वैयक्तिक उद्यमिने सब कार्य इसी वर्गा ब्रह्मधर्ममें किसी न किसी स्वाध्याय व्यवस्थित रहते हैं। अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले लोग वैयक्तिक सामाजिक धार्मिक नैतिक जीविकीय राष्ट्रीय आदि सब प्रकारकी उद्यमिने कल्पि पीछे नहीं रहते। अतः हम कहते हैं कि हमारा वर्णाश्रमधर्म सर्वांग परिपूर्ण है और विरहायी अत एव सत्त्वय कहने योग्य है।

कर्मयोगका यह विचार पहा इसकिने किया कि स्वार्थी मनुष्य भी ऐसा नहीं सचै उद्यत होता हुआ अन्तमें पर मार्गी बनकर सम्पाद्यमार्गी अधिकारी होता है जबका कर्मयोगसेही वह परम पद प्राप्त करता है कि जो शरीरको ब्रह्म होता है, वह बात पाठके कि प्रमाणमें ठीक रीतिसे आ जात। कर्मयोगसे चित्त सुद्ध होनेकी जो सम्भावना है वह इस तरह है। योदाता विचार करनेसे पता लग सकता है कि इस कर्मयोगसे प्रत्येक मनुष्य एकदर उद्यमिका माग्य प्राप्त कर सकता है। अन्तिम व्यवस्थामें सम्पत्ती और कर्म योगी एकसे बनते हैं इसका उक्त यह है। अतः कहा है—

योगयुक्ता मुनिर्विह्वल विरेजाधिगच्छति ॥ (५६)

कर्मयोगका नाचारन करनेवाला मुनि शीघ्र ही मग्नपद प्राप्त कर सकता है। " कर्मयोगका अधिकार यह है। इस योगमार्गमें पाठकयोग हृदयोग भी मीक्षित है। श्रीरोगना जगत्समिति आदि सुखप्राप्त करनेके हेतुसे मनुष्य हम मग्नता दिग्मन्त्रासके स्वीकारता है और अन्त्याम करते करते वह समाधिपद पहुँचता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। इसका शार्थ सकाम कम अर्थात् अपने सुख बढ़ानेके कर्म के शर्मसे होता है, इसकिने वह मार्ग हृदयको पर्यट जाता है और ये कम करने करते मनुष्य विधाय कर्म करने लगता है और पञ्चाय कर्मका मोक्षय अधिकारी होता है।

कर्मयोगमें साधनचरणमें जो कर्म बनाये ई देही करन चाहिये। जो साधने कहा, वह करो; न कहा वह न करो। साधनपर विचारनको साधनही योगका मान बना पता। इस विचार उद्यमिने विधाय कर्मकी वीक्षा विनयी न और मनुष्य विधाय कर्मयोगी बनकर उच्च ब्रह्मप्राप्त करता है। वादक वहाँ प्रमाण रमें कि हम कर्मयोगके किने मनेक

(४) उन्नतिका क्रम

योगयुक्तो विमुक्त्यात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्सताम् ॥ ३४ ॥

अर्थः— योगयुक्तः विमुक्त्यात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्सते ॥ ३४ ॥

जो योगका व्यवहार करता है जिसका हृदय शुद्ध है जिसमें अपने आपको जीत लिया है जिसमें अपने इन्द्रियोंको जीत लिया है और जिसकी आत्मा सब भूतोंकी आत्मा बना है वह कम करता हुआ भी बसित रहता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ— जो कर्मयोगमें वृत्तिय है जिसने अपना शरीर मन और इन्द्रियों स्थायी कर ली है, और लक्ष्मणोंकी आज्ञाही जिसकी आज्ञा हुई है वह कर्म करनेपर भी उन कर्मोंके पुण्यपापसे मुक्त रहता है सर्वत्र निष्कर्म होता है ॥ ३४ ॥

अमुक्त ब्रह्मचारी है वह कर्मयोग किसीको दूर नहीं करता क्योंकि स्वर्गसे स्वर्गी अमुक्तभी इस मार्गसे उन्नतिके पक्ष पर बज्रकर उन्नत हो जाता है। यही कर्मयोगकी विशेषता है। (कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (गी ५।११)

कर्मयोगी कर्म प्रकार अपनी उन्नति करता है। इसकी उन्नतिक्रम कम होता है वह धर्म बतलते हैं—

(०) जो लक्ष्मण कर्मसे शेष है दूर होते हैं और जो कर्मसे शेष है शेषी होते हैं इसका विचार इस कोकमें किया है। इस कोकमें कर्मयोगीकी उन्नतिक्रम कम भी बताया है। इसमें सबसे प्रथम कर्मयोगसे उत्पन्न होना चाहिये ऐसा कहा है—

योग युक्त

योग-युक्त शब्दसे यही बात कही है। योगयुक्तका अर्थ कर्मयोगवत्तर है। योगयुक्तका अर्थ योगकी रीतिसे अपने दैनिक कर्म करनेवाला है। वह जो कुछ कर्म को कर्मयोगकी रीतिसे ही करता है। उक्तका अर्थ जो कुछ करता करता सब कुछ कर्मयोगके अनुकूल होता है। अर्थात् कर्मयोगाचारम जिसका स्वभावधर्मसा बना है वह अनुकूल योगयुक्त, कर्मयोगी बनना योगी है। कर्मयोगमें अपनी उन्नति सिद्ध करनेवालेको उन्नित है कि वह इस प्रकार अपने आपको कर्मयोगयुक्त अर्थात् कर्मयोगमें वृत्तिय की अपना जीवन योगमय करे। योगमय अपने समाज और कर्मवृत्तिका है। (गी २।४८, ५) अपने द्वारा जो कुछ कम हो आज वह योगी बने इस तरह जो कर्मयोगी बना सब व्यवहार योगमय करता है वह सभी दिग्गज योगाचारकी करता है। अपने अहिंसा की

तोमी वह योग योगी और हिंसा की तोमी वह योगी होता। जो सबसे योगी वह सब योगी होता। इस उप कर्मयोगका ही एक वृत्तिय करनेवाले को कमसे कम होता है।

विमुक्त आत्मा

अपना जीवन उक्त प्रकार योगमय करनेसे वह मुक्त हो जाता है। अपना जीवन योगमय करना बड़ा कठिन कर्म है। वह उक्त शब्द नहीं है तथापि अमुक्तको वह शब्द सिद्ध करनेसे जिसे व्यवहारसे बलवान् होता चाहिये। इस प्रत्यक्ष करनेपर वह योगमयका अपना स्वभाव सब बली है। जो व्यवहार किन्ना बाल उन्नति समाप्त है या नहीं इसका विचार करनेसे अपने आपको पता लग सकता है कि यह व्यवहार बलायुक्त हुआ या नहीं। देखी विचारमें अपने व्यवहारकी परीक्षा करनेसे कुछ समयके पश्चात् अपने व्यवहार योगयुक्त होने का पता है। और अपनी छवि होने वाली है।

इस व्यवहारमें धार्मिकता सब अस्तेय ब्रह्मचर्य व्रतों पर धारणा योगी उप स्थापना और ईश्वरकी भक्त्या रचती है। अपने सब ब्रह्म ईश्वरसे अधिक धार्मिक कर्मों करने चाहिये और हिंसा असल होती, जो अपने पास वस्तुस्थिति करना अपवित्रता वर्तमान योगी उप न होना अपवित्रता न करना और ईश्वरसे विमुख होने जाहिर की ओर नहीं जलना चाहिये। पक्षि व्यवहार नहीं पाठ है। इस पाठका अन्त्यास करते रहनेसे लक्ष्मण अपवित्रताके मुक्त होता है और पवित्रताकी ओर जाता है। इस पाठ का पूर्वक शिक्षा कायाग होता उक्त की नीति का सबकी होती कायाग। कर्मयोगसे इस तरह पवित्रता होती

है।

विष्णुभक्तमा सधर्मे यद्यपि बिभूद हर्षं आत्मा ये सधर्मे तथानि पदार्था आत्मा सधर्मा शरीर इद्विष, मय बुद्धि, आत्मा का वाचक है। यहाँका वाच्य अपना वाचक है। अर्थात् कर्मयोगसे जो पवित्रता होती है वह शरीरकी इन्द्रियोंकी मजबूती बुद्धिकी और आत्माकी होती है। मान्यो वह आत्मबोध सुद्ध होता है। इसका शरीर निर्दोष मीरोग और निर्मल होता है उसकी इन्द्रिया सुसंस्कारसंपन्न होती हैं और कृपणमें नहीं बदलती उसका मन धुमिलस्फारयुक्त होता है उसकी बुद्धि निर्मल होती है और आत्मा सदा प्रसन्न होती है। कर्मयोगीका स्वाभाव इस समय इस द्वितीय स्तुतिकार होता है। इस सुवृत्ता और निर्मलतासे वह अपनी इन्द्रियोंकी जीतनेमें समर्थ होता है।

विजितारमा, जितेन्द्रिय

कर्मयोगसे पवित्रता और पवित्रतासे इन्द्रियविग्रह होता है। यह उचितिका कर्म है। कर्मयोगसे पवित्रता और निर्दोषता किंचित्तरह सिद्ध होती है इसका बन्धन इससे पूर्व किना जा चुका है। मय उस पवित्रतासे इन्द्रिय-विग्रह किंचित्तरह सिद्ध होता है इसका विचार करना है। पवित्रता साध्य करनेका प्रयत्न अपने सम्मुख रहनेवालेही सब प्रकारकी अपवित्रतासे दूर रहनेकी और रुचि होती है। समस्त व्यवहार करनेकी प्रवृत्ति करनेसेही सब प्रकारके अल्पव्यय दूर रहना आवश्यक हो जाता है। अहिंसामय शीघ्र पथीय करनेका विग्रह करनेसे संपूर्ण प्रकारकी हिंसासे दूर रहना पड़ता है। इस प्रकार सब तरहके व्यवहारोंसे दूर रहनेमें इन्द्रियोंकी संपन्नता सिद्धा मिलती है।

सामान्य मनुष्यके सम्मुख सत् और असत् ये दोनों प्रकार के व्यवहार आस्तित्व होते हैं और वह किसी समय सत् व्यवहारमें जाता है और किसी समय असत् व्यवहारमें फैलता है। यह स्थिति अर्धव्ययकी है। अर्धव्ययमय अर्ध विषयोसे परामर्श होता है। जो विषय सामने आता है वह इसकी परामर्श करता है और इसकी अपने आशीर्ष कर देता है और वह मनुष्य पराधीनतासे विषयमें फिपट जाता है। तथा अर्धव्ययसे वह अर्ध भी कर देता है। काम मोघ

कीम, मोह मय और मय्यर ये इसकी परामर्श करत हैं और इसकी वाचक जैसा वाच्य जैसा इससे आचरण करते हैं। यह पूर्ण पराधीन व्यवस्था है। इससे उन्नत होनेके स्थिते मनुष्यका चाहिये कि वह सबसे प्रथम असत् व्यवहारसे दूर रहे और सत् व्यवहारमें ही वृत्तित हो। परी आत्मसुद्धिका मार्ग है और इससे इन्द्रियव्यय मनीष्य और आत्ममय्यय पाठ मिलते हैं। सत् व्यवहारमें मनुष्य रहनेसे निश्चयसेही असत् व्यवहारके प्रसरणसे मनुष्य बच सकता है, और उतना उसका संयम होता है और उतनीही उसकी विज्ञाप होती है। इस रीतिसे धर्म सदैव वह आत्मसंयममें अपना कर्म अपने बचावा हुआ विशिष्टात्मा और निर्दोषिय बचता जाता है। इस रीतिसे पाठक विचार करेंगे, ये उनको पता क्या था कि आत्मसुद्धि करनेके बलसे ही आत्मव्यय होता है। सुद्ध और अशुद्ध व्यवहारमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, परंतु जो आत्मसुद्धिकी इच्छासे सुद्ध व्यवहारमें अपने आचरण रक्ता है और अशुद्ध व्यवहारसे बचना है उसने मान्यो उसमें पचास प्रकोमनोंसे अपना बचाव बि-सन्देह किया है। और असत् व्यवहारमें प्रकोमनोंकी समाप्ता अधिक होनेसे जो मनुष्य केवल सत् व्यवहारमें ही अपने आचरण रक्ता है वह मात्र सती प्रकोमनोंसे दूर रहता है। वही आत्मव्यय और इन्द्रियव्यय है।

इस तरह योगव्यय होनेसे आत्मसुद्धि आत्मव्यय और इन्द्रियव्यय कायता साध्य होते हैं। विशिष्टात्मा और निर्दोषिय का अर्थ शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि और आत्मकी जीतना है। साधारण स्थितिमें इन्द्रियोंकी वृद्धमत्त करती हैं, साधन करती हैं अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी है वही करना पड़ता है अर्थात् वह साधन इन्द्रियोंका होता है न कि आत्माका। जिस समय आत्माकी विज्ञाप होती है उस समय शरीर इन्द्रिया मन और बुद्धि आत्माके आशीर्ष रहती हैं और स्वेच्छाचार नहीं करती। यह आत्माका राज्य है, इसकी आत्मात्मिक स्वायत्त किंवा वैदिक भाषामें बोधका हो तो स्वायत्त कहेंगे हैं।

सर्वभूतारमभूतारमा

साधक मार्गमें धुमकर्ममें रत होता है उस कर्मसे वह निर्दोष बनता है इन्द्रियव्यय तथा आत्मव्यय करके संपत्ति होता है और अन्तमें 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होता है। सर्व

भूतोकी जगत्मा जिसकी जगत्मा नहीं है उसको 'सर्व-भूत-जगत्मा भूत-जगत्मा' कहते हैं। यह अविनाश उचितिकी अवस्था है। सर्वसाधारण कोणोंका अनुभव प्राप्तभावस्थायी मेरी जगत्मा मिष्ट है और दूसरेकी जगत्मा मिष्ट है तथा प्रत्येकी जगत्मा मिष्ट है ऐसा होता है। यह मिष्टभावकी अवस्था है यही सब बु-बोध कारण है। इस अवस्थायी अनुभव अपने सुखके किये दूसरेके गले घुटा है। दूसरेका साथ करके अपने सुख बचानेके यत्नमें उत्तर रहता है। इससे उसको जगत दुःख योगने पकत है। दुःखोंके अनुभवके पक्षपर यह दुःख होकर प्रेम करने लगा है। बहोतक इसके प्रेमकी प्रवृत्ति फैली होती है। बहोतक उसकी जगत्मा फैली है। प्रवृत्ति वैयक्तिक जगत्माकी अवस्था छोड़कर यह कुटुम्बमा बहता है और अपने कीपुत्रादिकोंपर अपनी जगत्मासमाय प्रेम करता है उनके सुखसे सुखी बार उनके दुःखोंसे दुःखी होता है। इस कुटुम्बमाकी अवस्थाका कुछ समय यह अनुभव करता है इस समय इसका प्रेम अपने कुटुम्बपर रहता है। अपने कुटुम्बके सुखके किये दूसरे कुटुम्बोंका बलापन करनेमें इस समय यह प्रवृत्त होता है, इससे कुटुम्बों के बंधे होते हैं। इस अवस्थासु उचित होकर यह 'अन्त्यात्मा' बनता है। अपनी जगत्मापर प्रेम करने लगा है इस समय इसकी जगत्मा जगत्माके फैली है। इस अवस्थायी यह वैयक्तिक हितके लिये अपने और अपने कुटुम्बकी जागृति प्रेरित करनेका मानता है। जगत्माके किये जगत्मासर्वत्र समर्पण करता है वस्तु दूसरी जगत्मा सुख करता है और अपनी जगत्माके लिये दूसरी जगत्मा साथ करनेमें प्रवृत्त होता है। इससे भी जागृति दुःख बचनेका अनुभव होता है।

इसके अनंतर यह राज्यमा बनता है। अपने राज्यके हितके लिये अनुभव स्वाध्याय करता है वस्तु दूसरी जागृति साथ रूप करता है पुत्र करना है दूसरे राज्यवाचिकोंका पालन करता है इनकी सुरक्षा है इस कारण जगत्मासे होकर बहता जाता है और इस हितके लिये कार्यत बुद्धि योगका पकता है। इसका बहाना जगत्मा समस्तिकी जगत्मा बनता है इसकी जगत्मा साथ इस समय अनुभवभाजक फैली है। इस समय यह जागृति पात्र राज्य जागृति बचनसु सुख होकर बने निरुद्ध कार्यक्षेत्रका अनुभव करता है। मूर्खता मानकोंको अपने परिचयमें मानता है और भेद मित्रके कारण बहता

सुख अनुभव करता है। तथापि इस समय यह मानके प्रवृत्तिकी अपना योग्य प्रमत्तता है और मानकों के साथ समझता है। इस दोषके कारण फिरसे उसकी दुःखका अनुभव होता है। इस दुःखमें उद्विगता हुआ साथ साथ है तब उसकी प्रवृत्ति होता है कि अपने जगत्माके प्रवृत्ति भूतमात्रक बहानी चाहिये तभी जागृति समझता है।

इस जगत्माके अनुसार यह अपने प्रेमका फैलाव प्रवृत्त तक करता है। यह संन्यास छोड़कर अपने प्रेमका निरुद्ध सब भूतोत्पन्न करता है। जितना उसका प्रेम निरुद्ध होता है उतनीही उसकी जगत्मा फैली है क्योंकि प्रेम जगत्माका गुण है। इस समय यह प्रेम निरुद्धी हो गई है क्योंकि ऐसा संन्यास करके सब भूतमात्रके प्रेमके लिये जगत्मासर्वत्र समर्पण करता है।

अन्त्ये द्वाधनिर्वाणमुचया क्षीयकसमयाः ।
छिन्नद्वैधा यत्तात्मासः सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी ५१)
संनिधयेन्निष्पामां सर्वत्र समदुःखया ।
ते प्राप्नुयन्ति मासेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी ११९)

' छिन्नद्वैध' यह रूप है जितना द्वैधभाव यह हुआ है किन्तु अपने साथका समय किया है, निरुद्ध द्वैधवत्त्व बहाने हुए है, जिसकी सर्वत्र समदुःख हो चुकी है, जो जो भूतोत्पन्न हित करनेके लिये समेत है, वे ईश्वरकी प्रेम करने हैं। वहाँ हों ईश्वरकी प्रवृत्ति मार्ग कीलता है और ईश्वरसे दूर होनेका मार्ग कीलता है हमका साथ होना है। देखिये—

ईश्वरप्राप्तिका	ईश्वरसे विमुक्तताका
मार्ग	मार्ग
राजमार्ग	पथ
हैतुमत्ता	इन्द्र पुत्र
जातसर्वत्र	जगतसर्वत्र
ईश्वरप्राप्त	ईश्वर स्थापना
समदुःख	विषम दुःख
सर्वभूतहितरति	अपने हितमें रति
ईश्वरप्राप्ति	अनुरागप्राप्ति

भाषार्थ—साधक जबसे पहिले सपूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे और पथान्तर अपना जीवन योगमय बनाने हउये वही सही। उसकी कर्मविषयक अहंकारबुद्धि कम होती जायगी और धर्ममें ऐसी एक उच्च अवस्था उसके अनुभवमें आ जायगी कि जिसमें इन्द्रियोंके सब व्यवहार बिना इसकी अहंकारबुद्धि गेरान्ते स्वयं हो रहे हैं और उनका अहंकार इतने कम होजाताभी नहीं है ऐसा अनुभव उसके आ जायगा ॥ ८-९ ॥

तत्त्ववित्

(८ ९) इन द्वा श्लोकोंका मिश्रकर एक वाक्य है। इसमें कहा है कि साधक पहिले तत्त्ववित् बोधी बने। तत्त्ववित् का अर्थ तत्त्वज्ञानी तत्त्वोंके गुणधर्म जानने वाला। तत्त्व कुछ परधीस है—

सत्त्वरश्मिरामसां सांभ्याधरया प्रकृतिः प्रकृते
महान् महतोऽहंकार्य अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि
उभयमिन्द्रिय तन्मात्रेभ्यः स्पृक्षसूतानि पुरुषाः
इति पञ्चविंशतिर्गुणः ॥ (सांख्यप्रज्ञान १६१)

सत्त्व रश्मि और उस इन तीन गुणोंकी सत्त अवस्थाका नाम प्रकृति है। इस प्रकृतिसे महत्त्व उत्पन्न होता है। महत्त्वसे अहंकार निर्माण होता है। अहंकारसे पांच तन्मात्रा पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन बनते हैं। पञ्चतन्मात्राओंसे पांच स्मृक भूत बनते हैं और परधीसकी अवस्था है। इसका आशय यह है—

सत्त्व रश्मि और उस इन तीन गुणोंकी सत्त अवस्था अर्थात् किसी एक गुणकी स्मृताविकला व होना प्रकृतिवत् स्वभाव है। इसी सत्त्व अवस्थाको प्रकृति प्रधान अव्यक्त कारण मूल प्रकृति अथि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकृतिसे महत्त्व उत्पन्न होता है। महत्त्वका अर्थ है सब व्यस्तमें व्यापनेवाला बुद्धितत्त्व। आगतिक बुद्धि ऐसा भी इसका नाम हो सकता है। मूल प्रकृतिसे पहिले कार्य नह बना है।

इस महत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति हुई। अहंकारका अर्थ भ्रमण है। ये मित्र हैं और दूसर मित्र हैं, इस प्रतीतिका नाम अहंकार है। इसी अहंकारके कारण इस जगत्के बीचमें मर्वाया भेदभाव है। तत्त्वज्ञान बिना उत्पन्न होते हैं।

इस अहंकारसे सत्त्व रूपमें कम रस और गन्धके पांच तन्मात्राएँ हुईं। तन्मात्राका अर्थ मूल सूक्ष्म तत्त्व जिससे इन पांच गुणोंका बोध होता है वे मूल छह तत्त्व। इनसे पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय बने हैं। जोष त्वचा चक्षु श्रिद्ध और नासिका य पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं; और वाक् हाथ पांव, गुदा और उपरस वे पांच कर्मेन्द्रिय हैं। ये एक

इन्द्रिय पूर्वोंक तन्मात्राओंसे सम्पूर्ण बनते हैं। इन इन इन्द्रियोंको वक्ष्य इन्द्रिय कहते हैं। इसका आशय इन्द्रिय मन है। वही अहंकारसेही बना है। इनमें अहंकार होनेसे पक्षिक इन्द्रियका गुण कर्म और स्वभाव मित्र मित्र होना है। गुण कर्म-स्वभावोंकी अर्थात् धर्मकर्मकी मिश्रकी व्यवहारका कथन है। पांच तन्मात्रा पांच ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और मन मिश्रकर छोकड़ पर्याय अहंकारसे बने हैं।

पञ्च तन्मात्राओंसे पांच स्मृक भूत बने हैं। दृष्टी, श्रवण, स्पर्श, वायु और आकाश ये पांच स्मृक भूत हैं।

मूल प्रकृति महत्त्व, अहंकार पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मन पांच महाभूत आर अन्ना मिश्रकर परधीस तत्त्व है इसका बनावट ज्ञान होनेका नाम बनावट है। जो इनका बनावट ज्ञान प्राप्त करता है, वही जो तत्त्व-वित् कहते हैं। जो कुछ परधीसका निराल है, वह नहीं है। इस परधीस प्रायः आत्मकसे सभी जगत् बनते हैं। आत्मकसे विज्ञानके विद्यते भी सत्त्व है, सत्त्वका समावेश इस परधीस होता है और आत्मका वह विवेकतया इसमें परधीस करके कहा है। जिसकी ओर का कर्मकी परधीसमें व्याप कम है। वही कार्य और अकार्य तत्त्व विधिमें वेद है। अतः। इससे बात होग कि पञ्चतन्मात्राओंको तत्त्ववित् कहा है वह आत्मविज्ञानसे उत्पन्न है, अर्थात् वह भौतिक विज्ञानप्रदाय और आत्मिक ज्ञानको अपने नाका है। वह अविचार कोई साधारण नहीं है। अतःइसमें आत्मसाध करनेसेही यह अविचार प्राप्त होना संभव है।

इस तरह जिसने धर्मद्वि हारा तथा मननके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् जिसने पक्ष्य अनुभव नहीं किया परंतु धर्मों द्वारा तत्त्वको जाना है वह (तत्त्ववित् बुद्धि) तत्त्वज्ञानी योगबुद्ध होने अर्थात् धर्मोंद्वारा प्राप्त ज्ञाने अनुभव बिना साधारण करनेके द्विप योगका अन्तर्गत भी

योगी

योगवित्पुरुषविरुद्धः (को ५ १११)

योगका अथ विषयविषयोंका निरोध है । गीतामें
योगको दो अर्थ दिये हैं—

समस्य योग उच्यते ॥ (गी २।४८)

योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (गी २।५)

सिद्धि और असिद्धि काहिं इन्द्रोक्त विषयमें मनकी
सम भावनाका और कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग
है । ' अर्थात् योगी योगयुक्त किंवा युक्त मनसे ही
यही है कि मनकी विषयविषयोंका निरोध करना इन्द्रोक्त
परिष्कृत मन ऊपर न होन देना और कर्मकी कुशलता
संपादन करना । इसमें समस्य का अर्थ विषय रीतिसे
प्राप्तमें धारण करना चाहिये । अनुष्णका मन सदा विषय
रहता है । स्वकीय और परकीय भावकी विषयमात्र मुक्त-मुक्त
हानि काम अव-वराजस्य, उष्ण बीच सिद्धि असिद्धि काहिं
अनेक प्रकारकी विषयमात्र इस जगत्में है । इस विषयमात्रका
परिष्कार मनपर न हो और किसी भी अवस्थामें मनकी सम
वृत्ति न बढ़के इसका सम योग साधन बोधाम्बास किंवा
अन्वयस है । यही समस्यका अन्वयस है । विषय-वृत्तिका विरोध
करके यही समस्य प्राप्त करना चाहिये । जिसका मन इस
प्रकारके समभावसे सदा मुक्त होता है और किसी भी
विषयमें परिस्थिति उत्पन्न होनेपर उसमें बांकी भी अन्वयस
उत्पन्न नहीं होती उसको योग सिद्ध हुआ ऐसा मान सकते हैं ।

यहां हमारा उद्देश्य यह है कि मनकी अन्वयस अनुष्ण
परिस्थितिसे होती होती है ऐसी ही अतिवृक्त परिस्थितिसे
भी होती है । मन वास्तव में अनुष्ण उष्ण होता है और
निर्वणता जानसे वह रिक्त होता है । परन्तु जिसका मन सम
हुता है जिसने समस्य योगका अन्वयस उत्तम रीतिसे किया
है और जिसको मनकी सिद्धि ही बुद्धि है उसका मन
ऐसी भी अवस्थामें अन्वयस नहीं होता । कठिनसे कठिन
प्रसंगमें भी उसकी सद्व्यवस्था-वृत्तिमें अन्वयस नहीं होती ।
जिसको वह रिक्त निर्वणता प्राप्त हुई है उसकोही योगी
कह सकते हैं और जिसको अन्वयस उत्पन्नता प्राप्त हुना है
और जिसने वह योग भी साधन साधन निरुद्ध किया है उसको
उत्तरिण योगयुक्त कह सकते हैं ।

तत्त्वविद् योगी

वेदा भावनाकी बोधी वेदा व्यवहार करता है वह वाग
एव से ओषोमें करी है । " यत्ने वाक्ये वेदने जाहि

व्यवहार करने समय ये कार्य मैं नहीं करता, परंतु इन्द्रियसे
स्वयं ये कार्य हो रहे हैं, ऐसा अनुभव उस तरङ्गानी
योगीको सदा होता है । प्रथमतः वह वाग समस्यमा जरासा
कठिन है । कोई व्यक्तिकारी अन्वयकारी और बुद्धिकारी भी इन
से कहना कि मैं तो व्यक्तिकारी, अन्वयकारी या बुद्धिकारी नहीं
करता मेरे इन्द्रियही ये व्यवहार करते हैं । परंतु वह उसका
कथन विवक्षित अन्वय है । क्योंकि तत्त्वविद् योगी
होनेपर उससे ऐसे हीन आचार होता सर्वथा अनभव है ।
उत्तरिण योगीही कह सकता है कि मेरे इन्द्रियों द्वारा जो
कृत हो रहा है उससे मेरा अन्वय नहीं वह मैं नहीं करता
परंतु उसका कर्ता मुझसे भिन्न है । इसका अनुभव लेनेकी
रीति निम्न स्थिति स्थानपर दी है उसका अनुभव पाठक
स्वयं कर सकते हैं ।

अकर्तृत्वका अनुभव

भीमजगन्नाथजीमें जगन्नाथका अनुभव कई ओषोमें कहा
है । पाठक भी वह अनुभव बोधने अन्वयसे कर सकते हैं ।
उक्त ओषोमें जो कर्म किये देवे ये हैं—

पश्यन्	(देखना)	वेद्य का कार्य
शृण्वन्	(सुनना)	कर्म
स्पृहन्	(स्पर्श करना)	स्पर्शका
ग्राहन्	(ग्रहण)	मात्र
मज्जन्	(लाना)	मुख
गच्छन्	(जाना)	बांधो
स्वपन्	(सोना)	मन
भ्रमन्	(भ्रम करना)	मात्र
प्रसपन्	(सोकना)	मुख
पितृव्य	(डोहना)	गुहा
पुत्रवन्	(डेना)	दाय
उत्प्रेष्यन्	(पकड़ छोड़ना)	मान
सिद्धिपन्	(पकड़ बंध करना)	

ये तेरह कर्म यही कहे हैं । परंतु पाठक अनुभवतः निवे
अन्वयसा वाग भी विचारमें ले सकते हैं । प्रथम पश्यन् नाममा
मात्र बंध करना (उष्ण और निवेद्य) के कार्य या अन्वय
अनुष्ण कह सकते हैं कि मैं नहीं करता मैं स्वयं हो रहा हूँ ।
अर्थात् इस निवेद्य-उत्प्रेष्यका अनुष्ण और नाम नहीं है । इस
का कर्ता कोई हो परंतु वह मैं नहीं हूँ । इस विषय

कर्मण्यकम् अनुमन्य प्रत्येक मनुष्यको स्वर्ण है ।

इस तरह गुदाका कार्य होवनेका है । यद्यपि शीघ्र होवने पर मनुष्यका धोड़ा इंचा है जिस समय चाहे वह शीघ्र जागा है जिस समय चाहे नहीं जाता तथापि प्रत्येक वेग जानेपर यह शीघ्रता कार्य भी करने न करनेका अधिकार मनुष्यके अधीन नहीं रहता है । इसके अतिरिक्त केवल शीघ्र करना ही विमर्शन का कार्य नहीं है । शरीरके सपूर्ण रोमांझोंसे जो मज्जाका एसोमिका भाग बाँक मूत्र का अग्निले मज्जाका होता है, वह भी विसर्जनप्रणी कार्य है और वह मनुष्यक अधीन विष्कुल नहीं है । शरीरमें शीघ्रता कार्य केवल गुदासेही होता है ऐसा मानना ठीक नहीं है । शरीरक आँखों रोमांझोंसे शीघ्रता कार्य हो रहा है और वह मनुष्यके अधीन विष्कुल नहीं है । इसका कर्मण्य मनुष्य अपने पास है ऐसा किसी तरह नहीं मान सकता ।

इसक पञ्च (स्वप्न) सोना देखिये । सोनेका कार्य भी मनुष्य अपने कर्मण्यसे कर सकता है ऐसी बात नहीं है । मैं जब विश्वासो काय हूँ ऐसा कहकर कोई विश्वास जानेके किये प्रयत्न करे तो विश्वास आना नष्ट होता है । विश्वास जानेका उपाय इन्द्रियों और मनको निष्क्रिय करनाही है । मर्णा अपने कर्मण्यक अविमान होवनेसेही विश्वास जानेकी संभावना होती है । कर्मण्यक अहंकार पूर्ण नष्ट हुआ मन स्थिर और शांत हुआ कर्ममहति वह हूँ तो विश्वास जाती है । इसलिये (स्वप्न) सोनेका कार्य अपने कर्मण्यसे होता है ऐसा कहना असंभव है ।

(श्वास) काम केने और छोड़नेका कार्य भी मनुष्यक अधीन नहीं है । प्राणायाम करनेवाले बोगी कुछ समय कुंभक करके श्वासको बंद रखते हैं तथापि वे भी मनुष्यके श्वास बंद नहीं रख सकते कुंभककी मर्णादा श्वासाधिक कर सकते हैं । अतः श्वास केन और छोड़नेका कार्य मनुष्यके कर्मण्यसे बाहर है । बोगी लंग शीघ्र कुंभक करते हैं, उस समय वहन शरीरक सभी रोमांझोंसे श्वास केने और छोड़ने का कार्य स्वयं हाता है वह कार्य तो किसी भी मनुष्यके अधीन नहीं है । मर्णा वह अमज्जा कर्मण्य मनुष्यके अधीन है ऐसा मानना असंभव है । इसका विमर्शन किसी दूसरी शक्तिसे अधीन है । इसका अनुभव भी बाह्य के मनुष्य है । विमर्शन केने रहकर अतिरिक्त श्वास केनेपर अथवा किसी

अन्य सुकसे बैठनेकी अवस्थामें रहकर पादक अथवा करी हीका छोड़ दें और स्वयं वास्तोष्वास करना भी छोड़ दें । प्रयत्नसे श्वास भी न के और न छोड़े श्वास केने-छोड़ने कोई मर्णा न करे । शरीर-स्वभावसे जो वास्तोष्वास होगा नहीं होने दें । सोने अम्याससे वह श्वास साध हो सकती है और इस समय अनुमन्य का सका है कि अपने श्वास और उच्छ्वास होनेका सर्वत्र धोड़ा भी अपने पास नहीं है और उसका संबंध किसी अन्य आधिकार है, जो अपने प्रयत्नसे श्वास ही इस शरीरसे वास्तोष्वासकी शक्ति, करा रही है । यह अम्यास साध्य होतैही इस संबंधमें अल्प कर्मण्यक उपायोंसे अनुभवमें आ सकता है ।

बहुतक हमने देखा कि नियम उभय करवा एक कर करवा सोना और श्वास उच्छ्वास करना वे शरीरमें होने-वाले कर्म किसी स्वतन्त्र शक्तिके हो रहे हैं, मर्णा मनुष्यके इस कर्मके नियमों अपने कर्मण्यका अविमान श्वास करवा करवा है । मनुष्यके प्रयत्न न करनेपर भी वे कर्म शरीरसे स्वयं होते रहेंगे । फिर कौन इसका कार्य है ? जिसने किसी विशेष उद्देश्यक किये वह शरीर विमर्शन किया है वह शरीरसे वे कर्म करता है । यदि शरीर विमर्शन करने उच्छ्वास कोई विशेष उद्देश्य है तो विमर्शन उसके स्वतन्त्र रखनेके किये आवश्यक आवश्यक के कर्म करना जो उच्छ्वास आवश्यक है । अथवा शरीर विमर्शन करनेका वहा शरीर है इसका पता सावधान मनुष्यको नहीं होता । परंतु वह स्व संसार किसी निश्चित उद्देश्यकी पूर्तिके किये बनाया है वह इस संसारके लक्ष्य का जो सब संसारके अवबोधन लक्ष्य शरीर रहे लक्ष्य है, वे भी उसी विशिष्ट उद्देश्यकी पूर्तिके किये ही होता संभव है । वह उद्देश्य हम नहीं जानत परंतु उच्छ्वास रचना करनेवाला अवबोध जानना होता । अतः किंचि उच्छ्वास इस संसारकी रचना मानना असंभव है ।

इत्थर । सर्वभूतानां हृदयोऽर्जुन तिष्ठति ।

आमपत्यसर्वभूतानि यत्राकूटानि मायया ॥

(गी १८/११)

" इत्थर सब भूतोंके मध्यमें बिठा है और सबका लक्ष्य शक्तिसे सुभा रहा है । " सब प्रयत्नका प्रयत्न ही कर रहा है । हमें पता नहीं है कि वह सब मन्माकी लक्ष्य सुभा रहा है परंतु निश्चयेन वह जानता है । ऐसा नहीं

संसारका एक भाग है। संसारके साथ वह भी बनता बिगड़ता और घुमाया जाता है। और इससे जो पूर्णतः कर्म हो रहे हैं वे बंधीकी गठिते हो रहे हैं। ये कर्म व तो हम कर रहे हैं और नहीं करनेकी शक्ति हम रखत हैं। शरीर निर्माण करनेवालाही इसका उद्देश जानता है। यदि ऐसा है तो इस शरीरको उर्ध्वकी बाधोन करो। तुम अपना अविमान बीचमें काकर मैं यह करता हूँ और वह करता हूँ ऐसा क्यों कहते हो? विचार करनेपर तुम्हें पता चलेगा कि वह शरीर तुम्हारे मरणके बिनाही एक रहा है और चकड़ा रहेगा।

म भी हृच्छा की तो भी वह काय करानेवाही यदि ऐसा होवे मैं बीचमें अपने बर्हकारको काकर सार्वभौमिक कायका विरोध क्यों करूँ ?

इस प्रकारके विचारसे उच्च सार्वभौमिक उद्देशकी सिद्धिके लिये आत्मसमर्पण करनेका भाव अपने नजरानमें है, वह बात पाठकोंके मनमें स्थिर होगी।

इसीके समान शैक्षणा सुनना स्वर्ण करना धूपना खाना, जाना सोचना और केना ये कर्म भी पूर्ण पुरस्के शरीर से जैसेही ईश्वरपण्यसे होते रहते हैं, कि जैसे अपने ध्यान उच्छ्वास होते हैं। वह अपने स्वाभिसाधनके लिये नहीं देखता, परंतु सार्वभौमिक लिलके लिये देखता है, इसी तरह बन्ध्यात्म स्ववहार भी वह सार्वभौमिक प्रेरणामें करता है।

इस बातकी कल्पना ठीक ठीक होनेके लिये एक उदाहरण हम लेंगे। एक सैनिक है वह अपनेका समुक्त साथ पुर कर रहा है, अपनी हृष्टप्रमुत्त समुत्तर हमके करता है। दूसरा एक सैनिक है वह सेनापतिकी आज्ञानुसार सेनापतके साथ बहता है स्वयं अपनी प्रेरणसे कुछ भी नहीं करता परंतु जो कुछ करता है वह सेनापति जैसा करता है जैसा करता रहता है। इन दो सैनिकोंमें वही शक्ति किसीकी है। बा स्वयं पुर करता है उसकी शक्ति कम है और जो सेनापतके साथ रहकर सेनापतिकी प्रेरणासे व्यवहार करता है उसकी शक्ति सेवके साथ रहनेके कारण कह गुना बढ़ती है।

जहाँकारसे अपनेके रहकर कार्य करनेसे शक्तिही हालि केही होती है और जहाँकार छोड़कर संस्कार बनकर सब पतिही प्रेरणसे अपने अपनेनेपर देती शक्ति बढ़ती है इसका पता नहीं काय सज्जा है। पहिला अनुभव कर्मवचन जहाँकार धारण करता है इसलिये अच्छा होनेके कारण शक्तिसे क्षीय है और दूसरा जहाँकार दूर कराने कारण सेवकात् अपनेसे अपनी शक्ति बढ़ता है। यदि जान 'अकर्म' सिद्धिमें है।

एक अनुभव जहाँकारबल होकर अपने आपको कर्ता मानता है जो कर्मके पुत्रानुभव कर्मोंका एक भोगता है और हम में बढ होता है। दूसरा जहाँकार छोड़कर मैं कुछ नहीं करता परंतु हम शरीरके हृष्टिचित्रोंमें स्वयं बहुत होने हैं उनको

यवर्हकारमात्रिय न मोरस्य इति सम्पद्ये ।
मिथ्यैव व्ययसायस्ते प्रकृतिस्त्वां मिथोक्षयति ॥
(भा १.८.५९)

महकारसे यदि तु करेगा कि मैं यह (पुत्रकर्म) कर्म व कर्मगा, तो तेरा यह व्यवसाय मिथ्या होगी क्योंकि प्रकृति तुझसे यह कर्म करेगी । ' हमने ऊपर देखी शिवा है कि एक कर्म जो शरीरसे हो रहे हैं वे किसी दूसरी शक्तिकी नियंत्रणसे हो रहे हैं, उनके होनेमें अनुपपन्न प्रयत्न नहीं है। इन कर्मोंके अविरल शरीरके जन्म हरण की वृष्टि स्वरिका प्रवाह जहाँ अपने कर्म हैं जो उर्ध्वी प्रवेचरकी शक्तिके एक रहे हैं। अनुपपन्न चाहे वा न चाहे वे कर्म होते हैं रहिते। ईश्वरकी सार्वभौमिक शक्ति इन कर्मोंको करती है अपना वी कहिये कि इस शरीरनिर्माणमें ईश्वर का कोई विशेष उद्देश है, वह सज्जक होनेका वह शरीर बनेगा और इससे वे कार्य होवैही रहेंगे। इसलिये उचम से यह है कि जिसने यह शरीर निर्माण किया उसीके बाधोन इस शरीरको किया जाये उसीके कणके लिये वह शरीर समर्पित होवे और अपने जहाँकारको बीचमें न काया बने। इसी उद्देशसे कहा है कि—

मैव किंशिराद्यतोमिति युक्तो मयेत तस्ययित् ॥ (भा ८)

तन्त्रशास्त्री योगी मैं कुछ भी कर्म नहीं करता ऐसा माने। मैं अपने जहाँकारसे कुछ नहीं करता हूँ इस शरीरको बननेके निर्माण ईश्वरके बाधोन करता हूँ इसका कर्ता कर्ता नहीं है जिस उद्देशसे बनने इसकी निर्माण शिवा है वह उसका उद्देश हम शरीरसे पूर्ण हो जाय उसकी शक्तिकी कल्पना मेरी जहाँकारकी शक्ति कम है, मैंने

(१) निर्दोष कर्म

ब्रह्मण्यायाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपद्ममिवाम्भसा ॥१०॥

अन्वयः— यः संगं त्यक्त्वा कर्माणि ब्रह्मणि आयाय करोति सः पद्मपत्रं सम्भसा इव पापैव न लिप्यते ॥ १ ॥

ओ फलसाक्षिकों छोड़कर कर्मोंको ब्रह्ममें धरपण करके करता है वह कमलपत्र पानीसे न लिप्ट होनेके समान पापसे लिप्ट नहीं होता है ॥ १० ॥

भावार्थः— कर्मका फल मुझे मिलना चाहिये मैं उसका भोग कर्ममा यह फलके साथ संग करनेकी इति शेर हो, अपने सब कर्म ब्रह्ममें रख दो अर्थात् ब्रह्मके लिये वर्ज्य करो और फिर सब कर्म करो । इस तरह किये कर्म होव नसे बाँके नहीं होते अर्थात् इसके कर्म होवी नहीं होय है ॥ १ ॥

मैं भेरिच नहीं करता हूँ, जिससे यह सारी बलाया उसकी वैरण्या से यह सब हो रहा है ऐसा अनुभव करता हूँ उसके सारीमें उसका कोईकार कार्य नहीं करता उस समय परमेश्वरकी सार्व भौम वैरण्यासे उसके सारीके व्यापार विविध सार्वभौम उद्देश पूर्ण करनेके लिये होते हैं । अतः मानी इसके सारीसे ईश्वर ही कर्म करा रहा है, अतः हमसे महान् महात्मा कर्म होते हैं । इसीकी ओर पुनःपुनः महात्मा पुनःवर्त्ता आदि सार्व मनुष्य करते हैं । और ऐसे महापुरुषका समान बड़ा भारी होता है ।

अपने इन्द्रिय अपनी वैरण्यासे कार्य नहीं करते वह वाय केवल साक्षीवैरी नहीं होनी चाहिये, परंतु सबसुख अपने कईकारकी वैरणा शून्य होनी चाहिये । अपना कईकार शून्य होनेमेही वहाँ परमेश्वरकी वैरणा छूक जाती है । जबतक अपना कईकार रहेगा जबतक परमेश्वरकी छूक वैरण्या होना संभव नहीं है । साक्षीमें कईकारका नाश करो ऐसी ओ ब्रह्मज्ञाई है उसका हेतु क्या है वह वाय इस विचारमें स्पष्ट हो सकती है ।

सबसुख कईकार नष्ट होकर मैं कुछ भी नहीं करता (मैं किंचिद् करोमि । ॥४॥) ऐसा कहनेका कार्य मैंने व्यक्तिगत छोड़ कार्य बीडकर मैं अनुभवगत मिथ्याक कार्यमें समाहित हुआ हूँ ऐसा है । इससे गीतामें कहा ननुभूय अपना अकर्मण्य कर्मका न्यास नहीं दर्शाया परंतु तारी भाषिक महाकर्मकी समाधान बताया है । वही वाय आगेके श्लोकमें दर्शावी है—

(१) निर्दोष कर्म करनेकी बुद्धि इत्यं श्लोकमें कही है । मैं कर्मोंकी दो ही राते हैं—

निर्दोष कर्म	सर्वोप कर्म
(१) संगं त्यक्त्वा ।	(१) संगं कृत्वा
(फलके साथ संग न करना)	(फलका भोग करने की रात इच्छा करना)
(२) कर्माणि ब्रह्मणि आयाय ।	(२) कर्माणि स्थितम् आयाय ।

(कर्मोंको ब्रह्ममें रखना) (कर्मोंको अपनेमें रखना)
वहाँ सर्वोप कर्म कीवसा है और निर्दोष कर्म कीवसा है इसका स्पष्ट दर्शन होता है । जिस कर्मके फल कर्मों अपने भोगके लिये उपयोगमा चाहता है जिस कर्मके फल संवेद्य दूसरोंके साथ वही होने देता और जो कर्मके फल अपनी शोककाछा पुष्ट करनेके लियेही होते हैं, वे कर्म संग ब्रह्मिण्यके संबन्ध करनेवाले और फल बढ़ानेवाले होते हैं । तब जिस कर्मका फल कर्मों अपने भोगके लिये ही चाहता प्रत्युत दूसरोंके लिये अपने करता है, जो जो कर्म परमेश्वरके लिये परमात्माकी उन्मुखिके लिये स्थित किये जाते हैं, उनका दोष कर्मोंका नहीं लगता, अपने संबन्ध हुए होते हैं और कर्मोंका नहीं होते ।

संग और भीडका इस तरह संग और संगीत होने साथ संबन्ध है । एक गृहमेंही इसका अनुभव कीजिए । यदि किसी गृहस्थके घरमें एक मनुष्य भोग बढ़ाने काज है और अपने गृहमें निवास करनेवालोंको कुछ भी न देना हुआ सबका भोग स्वयं करता है तो कुछ समयके बाद उसके उस स्वार्थके कारण उस गृहमें निरन्न मनोवृत्ति बढकर कमजोर होने लगे । और अन्तमें उस गृहका सब भोग ह । इसके विपरीत यदि कोई गृहस्थी रखे अपने गृह भोगोंको सब गृहनिवासिजनों में बाँटा है तो उस गृह

य लोग जर्मनों रहते हैं और उस कुटुंबका पक्ष बचाते हैं ।
 वही बात प्रामाणिक विषयों और राष्ट्रीय विषयों तक है ।
 राष्ट्रीय उपाय होनेवाले भोग राष्ट्रमित्रासिद्धि के बिना प्रति-
 पक्ष के मित्रों चाहिये । परंतु राष्ट्रमें कई लोग स्वार्थी होते
 हैं वे योगसाधनोंका अपने पास संग्रह बचाते हैं और
 उपायही प्रमाणसे दूसरोंके योगसिद्धि बाधित रहते हैं । यहां
 उपस्थित विषयमयिता होता है और यही सबके दुःखका
 कारण है । फलका योग ये ही कर्मका और ये इस फलको
 अपने किये रक्षणा दूसरोंके नहीं रूपा वह महति होय
 मय है । जहां जहां होय उत्पन्न हुए हैं वहां यही वही
 महति होयके जड़में रही है । जहां वही प्रामाणिक अथवा
 राष्ट्रकी सुखसुखाकी ऐसी रचना करनी चाहिये कि
 जिससे कोई अनुपन्न बाधित न रहे और एकके पासही उसका
 वास्तविक संग्रह न होवे ।

इस कर्मके किये (१) समयाग और (२) अक्षरार्थ,
 ये दो उपाय वहां श्रीमद्भागवतीजाने सुचित किये हैं ।
 प्रत्येक अनुपन्न वास्तविक छोटे और अपने कर्म अक्षरके किये
 अर्थन करे ।

कर्मोंके अक्षरार्थ करनेका अर्थ क्या है ? अक्षरका अर्थ
 ब्रह्म, महान्, नृत्ता सर्वव्यापक सत्ता है इसके विपक्ष
 अन्य है ।

ब्रह्म	अन्य
भूमा	घोडा
समष्टि	व्यष्टि, व्यक्त
संपूर्णता	अपूर्णता
महत्त्व	क्षुद्रत्व
व्यापक भाव	संशुद्धित भाव
सबके छिपे समर्पण	एकके छिपे संप्रदाह
मिर्चोपता	सदोपता

अनुपन्न जब एक व्यक्ति के किये अपने किये अपने कर्म
 करता है तब वह स्वार्थी होता है । परंतु वही जब सबके
 हितके किये करने लगता है तब वही मिर्चोप होता है ।
 ' ब्रह्म काली अर्थ सब है । अक्षरार्थ करनेका अर्थ
 सबकी अक्षरार्थ किये समर्पण करना है । वहां मिर्चोप
 की व्याख्या और स्पष्ट होती है । व्यक्ति के हितके किये सबके
 हितकी रक्षा करना योग्यता है और समष्टिके हितके

किये व्यक्ति का समर्पण होना मिर्चोपताका है । अर्थात्
 अक्षरार्थ कर्मार्थ का अर्थ है । (गी ५।१) का अर्थ संपूर्ण-
 के किये अपने कर्मोंके फलका समर्पण करना है ।
 कर्म अक्षरार्थ करना, परमात्माकी नीतिके किये कर्म
 करना ईश्वरकी संतुष्टताके किये पुकारा करना इस सबका
 अर्थ एकही है । अक्षर परमात्मा अथवा ईश्वर सब विषय
 हित समष्टिका हित सबका हित चाहता है । अपने कर्म
 अक्षर, परमात्मा अथवा ईश्वरकी समर्पण करनेका अर्थ अपने
 प्रत्यक्ष विपक्षितक किये समष्टिके हितके किये सबके हितके
 किये करना है । ये कैसे हो सकत है ? सार्वजनिक हित
 करनेकी बुद्धि बढानेसे यह सम्भव न हो सकता है । अथवा
 इसी उद्देश्यसे इस छोकरे पूर्व जो छोकरों के अनुसार
 ' मैं इस शरीरके कुछ भी नहीं करता हूँ, वह शरीर
 जिसने विनाश किया और जो इसका नाशक है, उसका किये
 मैं वह शरीर समर्पण करता हूँ वह वैसी चाहे वैसी मेरना
 इस शरीरको करे और इस शरीरसे कर्म करे, जब यह
 शरीर मेरा नहीं है वह मेरा जीवन उसीके उद्देश्यकी पूर्तिके
 किये समर्पित होवे । ' ऐसा लक्ष्य करके जो अपने कई
 कर्मको पूर्णता न करवा दे, उसीके बंदर दबी स्वरूप
 होता है और उसके शरीरके वैसी मेरानेही सब कर्म होने
 हैं । अतः वह एक कर्मोंके शोषित शुक होता है । अपना
 सब शरीर और जीवन अक्षरों परमात्माके अथवा ईश्वर
 को समर्पित करनेसे अर्थात् अपना अर्थात् पूर्णता नष्ट
 करनेसे इस शरीरको बचानेवाला ब्रह्म परमात्मा अथवा
 ईश्वर होता है । और इसी कारण इसके होनेवाले कर्म सार्व-
 जनिक महत्त्वके होते हैं । वैसी योग्यता रखनेवाला अनुपन्न
 नबन्ध होता है—

अनुपण्याणां सखसेषु कश्चिद्यत्नमि सिद्धय ।
 यततामपि सिद्धान्तां कश्चिन्मां पथि तरपथ ॥

(गी १।१)

' हमारा अनुपण्यां कोई एकदम अनुपन्न इस मिष्टिके
 किये बन्ध करता है और यत्न करनेवालोंमें भी विरक्तारी
 लक्ष्यरहितसे बचनेवालों का अर्थ है । ' इतने बोधे और सिद्ध
 अनुपन्न अथवा यथागता होते हैं । परंतु सबकी उक्ति है कि
 वे इस मार्गसे बचनेका अन्वयान भिन्नता हैं मने उगता
 करे । वह कोई आवश्यकता नहीं है कि एत मिष्टि हमी

(७) आत्मशुद्धि

कायन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सग त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफल त्यक्त्वा ज्ञान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अर्थः— योगिनः आत्मशुद्धये कार्येण, मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि सग त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफल प्रत्या भैक्षिकीं शान्तिं आप्नोति । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी आत्मशुद्धिके लिये शरीरसे मनसे बुद्धिसे अथवा केवल इन्द्रियाँसेमी आसक्ति छोड़कर कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ कर्मयोगी कर्मके फलका त्याग करके परम शान्ति प्राप्त करते हैं । परंतु जो योगी शरणा नहीं करता वह कामनावास होनेके कारण फलमें आसक्त होनेमें बद्ध होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ— साधक योगी अपने शरीरसे मनसे बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्मयोगके नियमावली फलमें छोड़कर कर्म करते हैं जिससे उनकी शुद्धि होती है ॥ ११ ॥ फलका त्याग करके केवल कर्मयोगी के ली शान्ति मिलती है, परंतु जो लोग फलयोगकी कामनासे फलके ऊपर आसक्त होकर कर्म करते हैं, वे उनकी आसक्तिसे बंधे रह जाते हैं ॥ १२ ॥

फलमें प्राप्त हो । प्रयत्न करनेपर सिद्धि प्राप्त होगी ही, उसका विचार इस समय करनेकी आवश्यकता नहीं है । अस्तु । कर्म ब्रह्मार्थ करनेका आचार्य इस प्रकार महत्पूर्ण और गंभीर है ।

कर्म ब्रह्मके लिये समर्पण कैसे किये जाते हैं ? वह इस प्रकार कोई एक सत्य है । इसका उत्तर सरल है; वह विषय प्रसन्नता ही है । जिसमें श्रित्तल रूप है वे सब ब्रह्मके रूप हैं वह विषय जगत् ११ में अन्तर्भाव स्पष्ट होना चाहिए । इस ब्रह्मकी सेवा हम श्रित्तली अधिक कर सकें, उसकी करनी चाहिये । यह सेवा अविरोधसे और आर्हतासे होनी चाहिये । अर्थात् हमारा वैयक्तिक रूप उसमें नहीं आना चाहिये । सग अर्थात् अपने योगकी मनीषा उसमें नहीं रहनी चाहिये और श्रित्तली सेवा अधिकसे अधिक कर सकें उसकी करनी चाहिये । मानवसमष्टि अथवा मानवसमष्टि का कार्य नाम हम अपने कर्मफल समर्पणके लिये है । इसका मार्ग अन्तर्गत छोड़ने से होता है । अन्तर्गत अर्थात् और अन्तर्गत ही इसका पूरा गंभीर लोकात्म्य कार्य इसी परमात्मा है । वह श्रित्तली चाहिये बली सेवा हममें से सत्ता है । उसका विचार वह अन्तर्गत श्रित्तल कर सकना है ।

साधक को समझने दें— (१) अन्तर्गतता का और (२) कर्मोंका ब्रह्मार्थ वे दो ही विषय श्रीमद्भगवद्गीता सुख विरह हैं । अन्तर्गतता के लिये जीवनरिक्ततामें

इसका समर्पण जाता है और श्रित्तल इनका लक्षण हो, अथवा साधक अन्तर्गत होता आचर्य । इसीसे अन्तर्गत होने है इस विषयमें गीताका उपदेश देखिये—

(११-१२) कर्मयोगी किस तरह कर्मयोगका अन्तर्गत करता है उस कर्मयोगके आचार्यसे उसमें क्या फल प्राप्त होता है, इसका विचार बड़ा किया है । साधकको वे श्लोक बहुत बोध देनेवाले हैं । योगी लोग फलकी आसक्ति छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करते हैं ।

योगिनः सगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति ।
(गी. ५.११)

योगी अर्थात् कर्मयोगी कर्म तो करते हैं परंतु फल श्रित्तल छोड़कर करते हैं । “ जो कर्म मैं कर रहा हूँ वह फल मुझे नहीं चाहिये परंतु वह परमेश्वरकी लक्ष्मी है । इस आत्मशुद्धिके लिये कर्मयोगी कर्म करते हैं । उनके ब्रह्मार्थका अन्तर्गत समर्थिके लिये किये समर्पण है, वह बात इसके लिये श्लोकके स्पष्टीकरणमें गयी है । अपने शरीरमें अन्तर्गतादि अनेक अवयव हैं वे व्यक्तिगत कर्म करते हैं परंतु उनके कर्मका फल सब शरीरोंके मिलना है इसके शरीर स्वयं रहता है । जिस समय कोई एक अवयव हा करके अपने स्वार्थके लिये अधिक मुक्तता लेना रूप करमा उन्मा समय बड़ा रोग हो गया है ऐसा अवयव चाहिये । एकका बचाव सब शरीरका बच रहा है की उसमें अनिवार्य करते किसी अवयवने अपने अन्तर्गत श्रित्तल

एक क्षण करके हाट या स्वार्थ किया तो वहाँ सुखन
हुक होगी और जो रोग उत्पन्न होगा, उससे सब शरीर
हानी होगी। एकके स्वार्थसे अर्थात् एक व्यक्तिकी फल-
पक्षिते दूसरे को कष्ट होवेही है, परंतु जिसका वह भय
है उसको भी कष्ट भोगने पड़ते हैं। एक व्यक्तिके स्वार्थस
होनेके कारण शत्रुको परतंत्र होना पड़ता है, इसके उपाहारम
हसिहस्तमें जन्त हैं। अतः फलभोगकी कामनाका संग
छोड़नाही उचित। सुख साधन है। इस कारण भगव
हीतामें फलका संग छोड़ने का उपदेश बारबार आया
है। संग में प्रकट व्यसक्ति होगी है। वह प्रकट
व्यसक्ति ही शत्रु उत्पन्न करती है।

फलत्यागसे सबका सुख ।

कर्म करनेसे कुछ न कुछ फल उत्पन्न होगा ही। फिर
बला क्या किया जाने ? यदि कर्मि उस फलका संग
छेड़ा तो उसका भोग क्या होगा ? वस्तुतः इसका
निष्पर फलभी करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि
विश्वी निर्बंधणसे इस संपूर्ण जगत्के सब व्यापार चल
रहे हैं, वह इस फलका बड़ा पैसा उपजीता करता हीगा
वहाँ पैसा करेगा। कर्मको उछाड़ी फेंक करकेकी आवश्यक
क्या नहीं है।

तबसे इस बातकी स्पष्ट करनेके लिये एक उपाहारम
हम करते हैं। किसी एक राज्यके सब प्रशासन कर्म करते
हैं, और जो उन कर्मोंका फल होता है, वह सबका सब सब
राज्यकी शासनसंस्थाकी समर्पित करते हैं अर्थात् कर्मोंका
फल करते हैं। नालाय क्षत्रिय वैश्य, क्षत्रिय तथा अन्यत्र
अपने अपने काम की व्यापार करिगारी और सेवावादि
कर्म करते हैं और सब अपने कर्मफलका त्याग करते हैं
अर्थात् अपने को फल उत्पन्न होता है वह सब प्रजापालकके
कोषमें जमा होता है। कोई व्यक्ति अपने पास कोई नम नहीं
रखती। प्रजापालक संस्थाही सब प्रशासकोंकी सब प्रशासकी
शासनसंस्थाओंके पूर्ण करती है। इस प्रकारकी शासनसंस्थामें
वचन रीतिसे अपना कर्तव्य कर्म करवाही प्रशासनका
कर्तव्य है इसके फलपर उस प्रशासनका अधिकार नहीं है,
फलपर अधिकार तो प्रजापालक शासनसंस्थाका है। प्रजा-
पालक संस्था कर्तव्यकर्मीका फल शासनसंस्थाके जीतामें
संचित होगा और वहाँ जिस प्रशासनको जिसकी आज

आवश्यक होगी, वहाँ उसको शासनसंस्थाही वह वस्तु प्राप्त
होगी। सब सब प्रजापालक शासनसंस्थाका है—

कस्य स्मित्वा धनम् (वा न १३, ईस ड १)

(कः वै प्रजापतिः) क नाम प्रजापालकका है और
सब सब उस प्रजा पाकेवालेका है । " वनपर किसी वृक्ष
का अधिकार नहीं है। वनका कर्म प्रजाके कर्मोंका फल
ही है। वहाँ इस तरहकी प्रजापालक शासनसंस्था है और
वहाँ सब प्रजापालक अपने कर्तव्यकर्म तो करते हैं, परंतु कर्म
का फल अर्थात् सब अपने पास नहीं रखते परंतु प्रजा
पालकके कोषमें समर्पण करते हैं और प्रजापालक सबके
विपलायकता प्रबंध करता है वहाँ सब प्रजापालकोंके अधिकार
अधिक कुछ कार्य और शांति रहती है। क्योंकि प्रत्येक
व्यक्ति अपने अपने पास अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए सब धनोका
संभार करते रहते हैं इसलिये राष्ट्रमें विषम चल संभव होता
है और कई मनुष्य इस संभवके कारण विषा कर्म किसीही
बहुल भोग खाते हैं और कई ऐसे प्रजापालक होते हैं कि
जो बहुत परिश्रम करनेपर भी अपनी मूलसे मूल लाभदा
क्याओंकोही पूर्ण करनेमें असमर्थ होते हैं। इस विषमताके
कारण इस जगत्में सब दुःख और कष्ट होते हैं। इसलिये
अजस्र तो वह है कि—

(१) कर्मके मनुष्य अपना विषय कर्म कर्तव्य फलसं-
तासे अलग करके वचन हो सबे वहां तक अजस्र रीतिसे पूर्ण
करे [कर्मयोगवाचिकप्रस्थे । गी १।१०]

(२) उस कर्मि का होनेवाला फल (धन) पर
अपना अधिकार न रखे अब कर्मोंको जो फल (धन) प्राप्त
होगा वह सबका सब प्रजापालकके कोषमें संचित होता
रहे । [मा फलहेतु कर्मात्मन । गी १।१० ।]

(३) अपने कर्मोंका फल (धन) अपने योगके लिये
ही अपने पास संग्रहित करनेकी वैयक्तिक स्वार्थकी कामना-
से कोई कर्म न करे । [मा कर्म फलहेतुर्नृत् । गी १।१०]

(४) अपने वस्तु कर्मोंका फल (धन) संग्रहित नहीं
होता, इसलिये मैं कर्म ही नहीं करूंगा ऐसा कुंवारा जो
कोई न करे । [मा ते संयोगोऽस्त्वकर्मणि । गी १।१०]

ये चार सूत्र परम उच्च और सबकी सुख तथा शांति
होनेवाले सर्वहितकारी शासनशासन संस्थाकी मुख्यवस्तुके
विशेष हैं, वह बात वहाँ प्राप्त समझे । और देखी उच्चम

उत्पन्नवस्तुनाम् सब पदार्थोंको किस तरह मुक्त हो सकता है, इसका भवन अपनी कल्पनासक्तिसे करें। इससे कष्टका संग छोड़नेका महत्त्व सबको अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समाहित हितके लिये अपने कर्मसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थका त्याग करेगी तो सबकी अधिक मुक्त अधिक आनन्द और अधिक शांति मिल सकती है। ऐसी अस्तव्यस्तवस्तुनाम् एक ही मनुष्य दुःखी नहीं होगा। मनुष्यके अपने कर्मकष्टका धरा छोड़नेसे (सर्वभूतहिते रता । गी ५।१५; १।१७) सर्व भूतोंका हित कैसा होगा है इसका विचार पठक इस विवरणसे जान सकते हैं और कल्पनासक्ति छोड़नेके उपदेशका महत्त्व भी जान सकते हैं।

यहाँ हमने एक माम का राजकी शास्त्रक सत्याकाही विचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म-भूत हित का विचार है। सर्वभूतहितमें केवल भगवत्समाधि नहीं, परंतु सब प्राणिमूर्ति समाहित विचार है। सब प्राणिमूर्तियोंके अधिकसे अधिक मुक्त सभी हो सकता है, जब कि सब मानव पञ्चासक्ति छोड़कर अपने अपने सब कर्म ब्रह्मसे ब्रह्म रीतिसे परिपूर्ण करते रहें और कर्मके बिना कर्मापेक्ष कर कोई न रहे। अस्तव्यस्तवस्तुनाम् कर्मसे उत्पन्न कष्टका यहाँ इस तरह धारणीयता है। ये उपदेश सब लोगोंके आचारमें सब बाँटें इसकी कल्पना मात्र कल्पना कठिन है परंतु जब ये उपदेश आचारमें बाँटेंगे तभी सबकी मुक्त आनन्द और शांति मिलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। पठके सब सदा स्वतन्त्रका इच्छा ग्रहण है। पठक इस बातको न भूलें।

कर्मसे आरम्भशुद्धि ।

अशुद्धिसे कर्म और शुद्धिसे मुक्त होता है। अशुद्धिसे कर्मसे रोग होते हैं और सरीर शुद्ध होनेपर रोग दूर होते हैं, इसी तरह इन्द्रिय सब शुद्धि और चित्तमें अशुद्धि वाले दोषोंकी हस्तसे होती है और शुद्धयसे दोषोंकी निवृत्ति होती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह शुद्ध होगा तभी भगवत्समाधि प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक मनुष्यको भगवत्समाधि प्राप्त होनी है या नहीं इसका विचार करनेकी आज आवश्यक नहीं है अपनी शुद्धि करनेके लियेही कष्टको कर्म करना चाहिये। कर्मापेक्ष एक मनुष्यकी इस तरह पूर्ण मुक्त हुआ, तो भी कर्ममें धनका विपत्ती है। क्योंकि सब अशुद्ध

होनेकी अपेक्षा कर्मसे एक शुद्ध हुआ तो भी उन्हीं सब समाजकी मुक्त होती। इस बातका विचार करने लगे मनुष्यको अपनी शुद्धयके लिये कठिन होना चाहिये।

अपनी पवित्रता विषयशुद्धि यथा वास्तव्युद्धि कर्मसे होती है। आचार्यनामों की यह बात है। स्वतन्त्र कर्म करनेसे सरीरका बाह्यका आन पवित्र होता है। इस विचार में मनुष्यचित्तमें क्या है—

अग्निर्गात्राणि सुस्थपति मना सत्येन शुद्धयति ।
विधातपोर्या मृतारमा बुद्धिर्बोनेव शुद्धयति ।
(मनु ५।१०९)

कर्मसे करीरके अवयव शुद्ध होते हैं, अस्तव्यस्तवस्तुनाम् सब शुद्ध होता है, विद्या और उपसे पूज्यताकी शुद्धि होती है और कर्मसे शुद्धि शुद्ध होती है। " यद्यस्मान् स पश्य विद्यार्थं तपश्चार्थं ज्ञानार्थं ते सब कर्म हैं जिनसे मनुष्यकी शुद्धि होती है। जो कर्मका वा निष्कर्ष को करनेकी जाणा चाहिये कही है, वे सब कर्म विषयशुद्धि करने वाले हैं।

अशुद्धयसे कर्म सब सदा पवित्रता, प्रज्ञावृत्ति, सारका विद्या और आस्तित्वमें हैं। अशुद्धिसे कर्म और, पश्य जेम् इसका शुद्धि न भागना, दान और शुद्ध है, ईश्वरके कर्म शुद्धि शरीरका और आस्तित्व की और कर्म करीरकी और परिचर्या हैं (म नी १।१०९-११) ये सब कर्म मनुष्यकी पवित्रता करनेवाले हैं। वास्तवमें मनुष्य अपवित्र होता है और शुद्धयसे सब शेष दूर होते हैं।

यहाँ कोई एक सत्य है कि आशुद्धयसे शेष सब सदा होते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यमानवको मुक्त एक योग आवश्यक होती है। कर्मसे कम स्वाभ, अशुद्ध और सब शुद्धी तो उसे जालेगी जालेयका है। वास्तव में मनुष्य अपने आशुद्धयके कारण कर्मसे ही करता और सदा परिश्रममें पड़ा रहता है परंतु कर्म आवश्यकता बसकी सत्यता ही रहती है। इस कर्मसे कर्मसे पश्य जेम् वास्तव में विद्या अपवित्रता करि शुद्धयती और होती है और इस तरह वह दोषोंकी परंपरा में बसा है। इससे विचारसे पठक जान सकते हैं कि कर्म करनेसे शेष कष्टका होती है और कर्म करनेसेही मनुष्य शेष

कैसा बच सकता है । कर्मदेही बन सकता है । कर्मही पतन है । अपने मनुष्यको जलनयक उपयोग मिलते हैं । साधोक्त कर्म करनेमें समय जानेसे उसको कुछ विचार कर भेके सिधे बचकास भी नहीं रहता है और सब समयमें कर्म करनेसे कर्मका फलान्वयक उपयोग भिन्नकर जीवन सुखमय होनेमें होता है इस तरह कर्मसे शोषणप्रतिपत्ति होती है और निष्कामि होती है । अतः मनुष्य अपने आपको सुख कर्ममें लगा रखे । क्योंकि यही कर्ममार्ग उसकी उन्नति का साधक है । इसलिये कहा है—

योगिनाः कर्म कुर्वन्ति सगं त्यक्त्वाऽऽत्ममुत्तरे ॥
(गी ५५१)

योगी लोग अहमशुद्धि के सिधे फलप्राप्ति को बचकर कर्म करते हैं । इस कर्मयोगसे जिस तरह उन्नति होती है इसका ज्ञान इसके विवरणसे पाठकों को हो सकता है । तथा—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा ध्यात्वात्मनोऽति मैथिलीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो मिथ्ययते ॥
(गी ५५२)

कर्मयोगी अपने कर्मके फलका चकका कर्म श्रुतिके सिधे सिधे दान करके पूर्ण सात्त्विक प्राप्त करता है । और कर्मयोग न करनेवाला योगी मनुष्य अपने कर्मका फल अपने भोगके सिधे अपने पास रखकर बह होता है । यह सब कर्मन पूर्णक विवरणके अनुसार ध्यानपूर्वक मनन करनेसे स्पष्ट हो सकता है ।

हृत्स्पर्शमें हृत् विचारमें यह बात बतायी है कि—
(१) अत्येक मनुष्य उद्यम सुखकायसे अपना कर्तव्यकर्म करे (२) अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला फलका फल अपने पास न रखे बरन् प्रजापति के कोशमें सबके सिधे सिधे दान करे (३) कोई मनुष्य अपने भोग बहालके बहुरीसे कर्म न करे तथा (४) कोई मनुष्य कभी कर्म होन न रहे । वे कर्मके निश्चय ध्यानेसे जान करकेसे पता लगाता है कि कर्मफलका त्याग वा दान करनेसे परम सात्त्विक कैसी प्राप्त होती है । प्रजापति द्वारा अपना सब योगदान दिया देना निश्चय अत्येक योगी को रहता है, इससे योगप्रतिपत्ति बिल्दा उसकी सात्त्विकता प्राप्त कर येमें अमनन रहती है । तथा अपने कर्मका फलका चक जी

प्रजापति के कोशमें जमा होनेसे उसकी रक्षा करनेकी जिम्माभी कर्मानेवालेको कह गयी होती । इस तरह कर्मयोगी न बचरक्षाकी जिम्मा है और न अपने भोगक्षेमकी जिम्मा है । ऐसा निश्चित होनेसे वह परम सात्त्विक पाता है । ऐसी सात्त्विक उसको नहीं होती कि जो अपने कर्मका फलका अपने पास जमा करता है उसकी रक्षा करनेकी जिम्मा रहता है और अपने भोगक्षेमकी सब चीजें करीबनेके बह उद्यान रहता है । पाठक विचार करेंगे तो उनका पता लगेगा कि जो अपनी वैयक्तिक भोगासक्त्यमें फिंटा हुआ मनुष्य होगा वही दुखी बसात्त्विक और कही होगी और उसको कम भोग प्राप्त होवे क्योंकि उसकी तो अपनी कर्मात्माही उपयोग देनेकी संभावना है । परन्तु जो अपनी कर्मात्मा सचमूलहितके दानमें व्यर्पण करता है उसको स्वर्ग वर्णन योग व्यवस्थित होते हैं क्योंकि उसका योगक्षेम प्रजापति बहाला है फिर उसको किस बातकी चिन्ता होगी ? बही कर्मयोगीको कर्मफल-समर्पणसे सात्त्विकी प्राप्ति और स्वर्गीय भोगीको भोगप्रतिपत्ति बहालित कैसी होती है, इसका स्पष्टीकरण हुआ । पाठक इसका विचार करें । अब एकही पंक्ति विचार करनेकी बेध रही है वह है—

कायेन मनसा युज्यता कंवलैरिन्द्रियैस्तपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति ० (गी ५५३)

योगी लोग केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करते हैं । वह केवल कर्म कैसा होता है इसका विचार करना चाहिये । वाक्यके व्यवहार मन और बुद्धिके बिनाही होते हैं । पंचतन्त्रोंसे जना वह शरीर सब इन्द्रियोंके साथ जब सोया है तब मन अनेका स्वप्नमें व्यापार करता है उस समय शरीर और इन्द्रियां कर्म नहीं करती । जिस समय मनुष्य जाग वा उद्यमप्रतिपत्ति युक्त होता है, उस समय जो व्यवहार बह करता है उसका पता उसको नहीं होता । क्योंकि उस समय वक्तव्य मन उसमें नहीं होता है । इस तरह साधारण मनुष्यकी समयसमयपर केवल शरीरसे केवल मनसे वक्त बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे कर्म करता है । योगी तो मन तथा बुद्धि जादिके संयम द्वारा उनको अलग रखके केवल अत्येकमें कर्म करता है अतः कर्मका शोष उसको नहीं लगता । कईबार न रहनेसे वह निर्दोषता सिद्ध होती है,

(८) अज्ञानसे मोक्ष

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नावृत्ते कस्यचित्पापं न चैव मुक्तं विमुः । अज्ञानेनावृत्तं ज्ञान तेन मुह्यति जन्तवः ॥ १५ ॥

अन्वयः— प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं न कर्माणि, न च कर्मफलसंयोग सृजति । स्वभावः तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥ विमुः न कस्यचित् पापं न च एव मुक्तं विमुः । अज्ञानेन ज्ञानं आवृतं तेन जन्तवः मुह्यति ॥ १५ ॥

ईश्वर लोगोंके न कर्तापदको न कर्मोंको और न कर्मोंके फलके संयोगको निर्माण करता है । स्वभाव ही सब कुछ करता है ॥ १४ ॥ सर्वव्यापी परमेश्वर न किसीका पापको और न किसीके पुण्यको केठा है । अज्ञानसे ज्ञान मलमलदित हुआ है, इस कारण अनुप्य मोहित होते हैं ॥ १५ ॥

भाषार्थ— लोगोंका कर्तृत्व उनके कर्तृत्वसे होनेवाले कर्म और उन कर्मोंसे मिलनेवाले फल व सब ईश्वर नहीं निर्माण करता, स्वभावही सब कुछ बनाता है ॥ ईश्वर किसीके पापको या पुण्यको अपने ऊपर नहीं केठा । लोगोंका ज्ञान अज्ञानसे ढँका रहनेके कारण लोग मल्ले बुरे फलका सबब ईश्वरके साथ जोड़ते हैं और भ्रममें पड़ते हैं ॥ १४ १५ ॥

यही बुद्धि अपनेमें स्थिर कर खोले हो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेके निमित्त नहीं होगा ।

दूसरेके धर्म रहनेका प्रतिष्ठि नहीं एक हो सके वही एक (धर्मी) संभवी रहता है अपनी बुद्धियोंको उन्मूलक होने नहीं देता, वहाँके कर्मधारियोंपर अपना अधिकार नहीं करता वहाँके कर्मधारियोंसे होनेवाले बलबलके अपना विगलनेवाले कर्म देखता है, परन्तु केवल छाछी होकर वही रहता है क्योंकि उसको वहाँसे जोड़ी देरके पलायनवाला है । अतः वह वहाँके कर्मोंके फलके साथ अपना संबंध जोड़ना नहीं चाहता । (मनस्ता संशयान्मुक्तमालो) अपनेसे अपना संबंध नहीं नहीं है ऐसा जानकर मुक्तके अपने स्थानमें रहता है । वहाँके कर्मधारियोंके धर्म हैनेही चिन्ता उसको नहीं करता और किसीके कुछ कर्म किया या न किया इसका आशय रहनेकी भी उसको आवश्यकता नहीं है । जिसका समय वहाँ निश्चय करवा होगा वह चिन्ताहित होकर निश्चय करेगा और जलके समय प्राप्त होवेही उस स्थानको छोड़ देगा । इस परमेश्वरके मंदिरमें जो इस तरह अतिथिकरके रहेगा वह पूर्ण मुक्त अहंहीसे प्राप्त कर लेंगा । इस भी द्वारोवाही मंदिरमें मुक्त न करते और न करते रहनेका तात्पर्य यह है ।

इस धरीरूप स्वभावही कर्म करनेका है अतः कोई पापी स्वभाव भी कर्म न करते हुए रह नहीं सकता (गी ३५) । यह सम है परन्तु वह कर्म जिसका वह मंदिर है, उसकी प्रेरणासे होता है अपनी प्रेरणाका आईकार बीचमें खुलेना और कष्ट कारण उत्पन्न होनेवाली चिन्ता आदिवा धार

वर्ष अपने ऊपर कदा योग नहीं है । अपनी आईकारकी प्रेरणा पूर्ववत्ता बंध होतीही वहाँ ईश्वरकी प्रेरणाका प्रारंभ होता है । उस ईश्वरकी प्रेरणासे जो कर्म हुए धरीरसे होते हैं, वे सर्वमूलहित (गी २१५, १२४) के स्थित होते हैं । क्योंकि वह सर्वव्यापी है और सबका हित करना उसका स्वभाव है । उसकी प्रेरणासे जो कर्म होते हैं, वे मुक्त होते हैं और उसका शेष साक्षी होकर रहनेवाले जीवको नहीं लगता । इसलिये साक्षी बनकर रहनेका उपदेश वहाँ किया है । स्वयं अपनी धरणासे कुछ कर्म न करना और न करना, इस धरीरके परमेश्वरकी प्रेरणासे अनुसृत व्यवहार करनेके लिये उसके बोध करवा और जो इससे कर्म होया उसका निरीक्षण साक्षी होकर करवा वह बोध कर्मके शेषसे बचनेका है । जिसका धरीर इस प्रकार परमेश्वरकी प्रेरणासे सर्वमूलहितके कर्ममें लगा गया वही जन्म है । वही पाप्मता प्राप्त करवा जलके फल और प्राप्त है । जो इस तरह जन्म होनेका चल नहीं करते उनकी अज्ञानसे मोह होता है । इस विषयमें अनेक दो श्लोकोंमें समान रहने योग्य उपदेश कहा है । वह अब देखिये—

(१४ १५) जो अनुप्य आईकारको नहीं छोड़ते और पलायनिते कर्म करते हैं वे कर्मोंके शेषोंसे दुःखी होते हैं । जब उनका दुःख अत्यंत होता है तब वे कहते हैं कि—
“इहो परमेश्वरने वे दुःख मुझे दिये हैं, क्या किया जावे ?
इस तरह गुणगुणका कारण परमेश्वर है नेनामोम कारण कहते हैं । परंतु वह लोगोंका अज्ञान है । क्योंकि जो योग

(९) ज्ञानसे परम तत्त्वका प्रकाश

ज्ञानेन तु तद्विज्ञानं यथा नाशितमायमनं । तेषामाविष्टयवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तदुद्धयस्तत्त्वात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्भूतकल्मषा ॥ १७ ॥

अर्थः— येन तु एव ज्ञानं ज्ञानेन ज्ञानेन नाशितं तेषां ज्ञानं नाशितवत् तत् परं प्रकाशयति ॥ १६ ॥ अनुपपन्नं तद्विज्ञानं तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्भूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥ १७ ॥

ज्ञानका वह भवान् आत्माके ज्ञानसे वह हुआ है उनका काम सूर्यके समान उस परम श्रेष्ठ तत्त्वका प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥ उस परमात्मतत्त्वमें जिसकी बुद्धि खगी है, उसीमें ज्ञानकी आत्मा रमती है, उसीमें ज्ञानकी निष्ठा है और उसीमें ज्ञानका ध्यास तत्त्वयत्तासे किया है, इनके पाप इसी ज्ञानसे कुछ जाते हैं और वे जन्ममरणके मैयरेमें नहीं फसते ॥ १७ ॥

भावार्थ— ज्ञान प्राप्त होनेसे साधकका अज्ञान दूर होता है और उसी ज्ञानसे परमात्मा प्रकाश करने लगता है । जैसा सूर्य प्रकाशमें विद्यमान होता है वैसाही उसको परमात्मा साक्षात् हो जाता है । ऐसा साक्षात्कार होने परमात्मा उसकी बुद्धि, अन्तःकरण, विद्या और ज्ञान के साथ उसी परमात्मामें समा-सर्गदा स्थित हो जाते हैं और वे साधक उसमें लम्ब हो जाता है । जब वह ऐसा लम्ब हो जाता है तब वह पापोंसे मुक्त होकर जन्ममरणके बन्धनो मुक्त हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

बर्तकारसे कर्म करते हैं, वेही उस कर्मके फलसे प्राप्त होनेवाले फलसे मुक्त होते हैं । जब वह जोष वा पाप अन्वि हो गया है, तब उसके किये ईश्वरपर लम्ब रहना कैसा योग्य हो सकता है ? स्वयं अग्निमें हाथ रक्का और एक घना जो ईश्वरमें लम्बता ऐसा कहना वह क्यापि योग्य नहीं है । जिसने अपना बर्तकार धीमे रक्का है और जो वह कार्य में किया ऐसा कहता है उसको उचित है कि वह अपनी कर्माईका माग करे । दूसरेको पुराणका कहनेसे क्या बनेगा ? अपना अन्तरात्मक दूसरेपर जग होनेसे कुछ भी नहीं बनेगा । सीधी बात तो यह है कि मनुष्य वा जो सबसे पहिले अपना लक्ष्य दूर करे नहीं तो बुद्धिमोहनेसे तैयार रहें अपने कर्मसे कुछ प्राप्त हुआ तो उस समय में किना ऐसा कहना और बुद्धि होने क्या तो कहना कि परमेश्वरने बुद्धि दिया यह कर्मक अज्ञानका मोह है । मनुष्योंका ज्ञान अज्ञानसे आच्छादित है इसलिये वे ऐसा कहते हैं । वस्तुतः सब जोष उनके लक्ष्य और अज्ञानका है । जो लोग पराधीन हैं दुखी हैं पीछे रह गये हैं अज्ञानी हैं वह सब उनकी ही दोष है और इसका अन्तरात्मक किसी प्रकार भी दूसरेपर नहीं है । जो जैसा कर्म करते हैं वैसा फल प्राप्त करते हैं । वह सब स्वभावसे हो रहा है । परंतु अज्ञानसे मनुष्य अपना जोष दूसरेपर लगाना चाहता है और अज्ञानसे ऐसा कहता भी है ।

जो इस अज्ञानसे दूर करते हैं, उसको स्वयं-महावीर का कैसा प्रकाशित होता है, यह बात आनेके क्षणमें ही है ।
(१६-१७) कैसा प्रकाश होनेसे अनेकों का मन होता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होनेही अज्ञान दूर हो जाता है । कैसे सूर्यके अनेकों कल्पना तक नहीं है, बल्कि मनुष्य का नामही न सुना होता कैसा कर्मों का इतिहास का अनुभव नहीं करती इसी प्रकार ज्ञान होनेही अज्ञान दूर नहीं करता । मनुष्य जिस आत्मका ज्ञान करता है, उस संबंधका उसका अज्ञान दूर होता है । वह ज्ञान सर्वसाधारण व्यापक इतिहास विचारोंमें ही लभ्य है । परंतु नहीं ज्ञान लम्ब परमात्माके संबंधका ज्ञान लभ्य है । लोकविषयक बुद्धिके (मोक्षे धीर्धर्म) ज्ञान करते हैं । यह ज्ञान प्राप्त होते ही सब अन्तरात्मक ज्ञान होनेसे उसका धर्म अज्ञान अर्थात् आत्माके संबंधका ज्ञान ईश्वरता दूर होता है । वह अज्ञान दूर होनेही उसके सत्त्व सूर्यके समान परमात्माका प्रकाश होता है । इसी निष्कर्ष अन्तर्बुद्धि मुक्ति है कि—

तद्विषयोः परमं पदं सदा परपन्ति सूरया ।

विधीयन्त्यासुरासतम् ॥ २० ॥

तद्विषयोः विषययोः आसुरासतः समिधते ।

विष्णोर्वैश्वर्यं परमं पदम् ॥ २१ ॥ (अ. १११)

(१०) समदर्शन

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । मुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहेव तैर्जितं सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्वोप हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९

अन्वयः— पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे, गवि हस्तिनि, मुनि श्वपाके च एव समदर्शिनः (सन्ति) ॥ १८ ॥
येषां मनः साम्ये स्थितं तेः इह एव सर्वैः जितः ब्रह्म हि सर्वं निर्बोपं तस्मात् एव ब्रह्मणि स्थिताः ॥ १९ ॥

“ ब्राह्मी सदा उस सर्वव्यापक परमेस्वरके परम पक्षकी देखते हैं । वैसा सूर्य जाकाऊने दिखाई देता है, वैसा इनकी परमेस्वर दिखाई देता है ॥ बिह्वल, कुलकुलते कर्म करनेवाले कुट्टिमाल् जोर जानमेवरके विशेषेण ज्ञानीही सर्व व्यापक ईश्वरके परम पक्षकी मदीश अवस्थामें देखते हैं । जवा पीचमें कहा है कि—

येषां ज्ञान तत् परं मादित्यवत् प्रकाशयति ।
(गी ५।१६)

उस ज्ञानियोंका ज्ञान इनकी सूर्यप्रकाशके समान परम पक्ष इनके सामने प्रकाशित करता है । ” अर्थात् उनके वह परम पक्ष ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि कैसा जगत्प्रा में सूर्य दिखाई देता है । जिसको एक बार उस परम-पक्षका दर्शन हुआ उसकी हृति प्योनी होती है, इस विषय में १० वे श्लोकमें चार सप्प विधिप प्रमम करने बोधक हैं—

(तद्वद्व्या) उनके कुट्टिमों वही एक परमेस्वरका विषय है, अर्थात् दूसरा कोई विषय उनकी मुद्रिमें नहीं रहता केवल परमेस्वरविषयक ज्ञानही उनकी कुट्टिमों में स्थित और जगत्प्रा रहता है । (तत्परात्मना) मिलकी जगत्प्रा तद्वत् हुई है जिसका विषय जगत्प्रा जगत्परात्मना-मय बना है, जो परमात्मनके विषयमें रमते हैं । (तद्विष्टाः) जिसकी बिना परमेस्वरमें एक हो गयी है और (तत्पराध्यानाः) जो अपने भीविष्टका ज्येव वही परम पक्ष है ऐसा मानते हैं । इस तरह ब्राह्मी जग परमात्मनके रंगसे रंगे होते हैं और इस कारण (ज्ञाननिर्धूतकर्ममयाः) उनके सब पाप जपवा दोष इस ज्ञानपेदी कुछ जाते हैं और वे निर्दोष निष्कलम निर्मल और स्वच्छ होते हैं ।

इनकी हृदि जगत्प्रा मन और विषय सबका सब परमात्मक परमात्ममय बननेसे उसमें भोगादि विषय— हीन काम्येवादि विषय-रह नहीं सकने; इसलिये वहां बोहोली

संभावनाही नहीं होती । जगत्परात्मना ऐसा धर्म है कि उसमें कोई एक विषयही एक समयमें रह सकता है । यदि कामादि विषय उसमें रहे, तो परमात्मनकी भांति वहां नहीं रहेगी और यदि परमात्ममय जगत्परात्मना बना जो वहां दे छुट विषय वही रहेंगे । ऐसा नियम होनेसे साधकको उचित है कि वह अपने जगत्परात्मनमें हीय विषयोंको त्याग न दें ऐसा जगत्परात्मन करे कि सदा-सर्वदा अपने जगत्परात्मनमें परमात्मनाम निवास बना रहे । ऐसा करनेसे उसको सदा जगत्परात्मना प्राप्त होगा । जगत्परात्मना प्राप्त करना हो तो छुट्टा कोई उपाय नहीं है । जगत्परात्मना प्राप्त करनेवादि विषयोंको छुट्टा रहनेसे किसी समय धोकासा सुख और सुखी प्रमम बोधसा सुख मिलका रहेगा । जगत्परात्मन विषयी रहनेसे जगत्परात्मना प्राप्त होता अस्मय है । अपने जगत्परात्मन परमात्मनय अनुभव करनेसेही जसीम जगत्परात्मना प्राप्त हुनि संभव है । तथा इसके साथ साथ परमात्मनय बननेसे—

अपुनरावृत्ति गच्छन्ति । (गी ५।१७)
जगत्परात्मनय करनेसे दुःखसे मुक्त होते हैं ।
जगत्परात्मनय निम्ना पुनरावृत्तिका कार्य पुनर्बन्ध वैसाही है और मुक्तदुःखका एक वैसा भी है । इस अर्थमें दुःखके प्रकार दुःख और दुःखके प्रकार मुक्त होता है । यह मुक्त दुःखका एक सदा प्रमम करता रहता है । इसी तरह विमल का कलकलमी जगत्परात्मना है । जगत्परात्मनकी एक है । ऐसे जगत्परात्मन वहां हैं । इन जगत्परात्मन जगत्परात्मना है, परमात्मन वहां है दुःखी कही होता है । जगत्परात्मन विषयभोगोंमें वह मग रहता जगत्परात्मन इस जगत्परात्मनके जगत्परात्मन मुक्त होय जगत्परात्मन है । जगत्परात्मनय होनेसेही इसके सब मग जगत्परात्मन हैं और इस जगत्परात्मनके इसकी मुक्ति होती है । परमात्मनय बननेसे हृति कैसी होती है इसका वर्णन जागेके दो श्लोकोंमें किया है वे श्लोक अब देखिये—

मान्सी छोम विद्या और विमल सपथ प्रमाण गाय हाथी कुचा और कुत्तेको जानेवाला बाण्डर
हम स्वयं सम (माथसे स्थित प्रकाशको) देखते हैं ॥ १८० ॥ जिसका मन हम साम्यभावमें स्थिर हो
चुका है उन्होंने, मानो इसी भीषणमें अगमरणको जीत लिया है प्रकाश ही सर्वत्र सम और सब सर्वत्र
है । इसलिये वे (समदर्शी मनुष्य सब) प्रकाशही स्थित सर्वान् प्रथमय दत्ते हैं ॥ १९ ॥

भाषा— श्री भगवान्ने बर्णन करने के हैं वे आत्मज्ञानी महात्मा लोग प्रकाश स्थिर रूप पर
बाण्डर पक्षपक्षी इच्छन्त्यसि आदि सब पक्षियोंमें सम भावसे अवस्थित प्रकाश अनुभव करते हैं । उनमें सब
अब विविध पक्ष्योंमें अनेक प्रकाश दर्शन होता है । जिसको इस तरह सर्वत्र प्रकाश साक्षरता होता है उसे
कहते हैं अगमरणको जीतकर असर पक्ष प्राप्त किया है । क्योंकि वह सर्वत्र सब और बोधवित्त है और इसी प्रकार है
सदा स्थिर होते हैं ॥ १८-१९ ॥

समदर्शन

(१८-१९) मनुष्य जब इस सत्तामें देखा है उस
हमको उच्च-नीच आदि भेद-भावही बहर जाता है ।
दृष्टं दृष्टिमें यदि एक है तो भेदभावही है । ज्ञातारण
मनुष्य संसारमें इस भेदभावको प्राप्त देखा है । इसलिये
प्राक्का समदर्शन बसकी समझमें ही नहीं जाता है ।
प्रत्यक्षको छोड़कर अगमरणको ज्ञान मानेगा । ऐसीही सब
सत्ता ही बीबीकी भावना होती है । अतः वही हमें देखा है
कि वहाँ दृष्टिमें लक्षण भेदभाव है वा नहीं है ?

मनस्वीयमेव ह्यस्मिन्नेति कथा है कि ज्ञानी और
सहाचारी प्रकाश ब्रह्मानी और ब्रह्मचारी बाण्डरके भेद
प्राप्ति तथा गाय हाथी कुचा आदि पक्ष इन सबको सम-
दृष्टिसे देखा चाहिये । अर्थात् इनकी और विमल भावसे
देखना योग्य नहीं है । इनमें जो सम और भिन्नत्व स्पष्ट है
उसको देखना चाहिये । वही प्रकाश ही और अस्मत्त्व दर्शन
होनेसे इस संसारमें (सर्वाः स्थिताः) निश्चय प्राप्त होता है ।

यहाँ प्रकाश होता है कि क्या प्रकाश और बाण्डरके समान
है ? क्या मानवप्रानी और पक्ष अलग हैं ? क्या गाय और कुचा
अलग हैं ? हमारा अनुभव यह है कि ये समान नहीं हैं ।
हम देखते हैं कि प्रकाश सत्ता परका है । बाण्डरका
रक्तसहज भक्ति होता है । गाय अलग पौष्टिक रूप होती है
कुत्ते और हाथी यह कार्य नहीं होते । यह भेद हमारे अनु-
भवमें अवस्थित जाता है । फिर हम हमें समानता कैसे
रखें ? क्या ज्ञानी जोक नहीं मानते कि गायका उपयोग
मिष्ट है और कुत्तेका उपयोग मिष्ट है ? क्या कभी हम
हाथीकी समानता ही समझते हैं ? इसका भेद प्रकाश अनु-
भवमें अनेक ही हमकी हम समझते कैसे देखें ?

सर्वसाधारण मनुष्य इसी प्रकारकी दृष्टि, वर्णन पर
स्थित करते हैं । इनके चक्षुषोंमें एकही प्रकाश है कि
हमें ज्ञानी मनुष्यकी भावसे उच्च रूप प्राप्त होता है और
कुचा कर्म रक्षा करता है, हाथी बड़ा बल प्रकाश है,
हाथी भेदोंका अनुभव करता है । यह सभी दृष्टिसे
अलग किन्ते कुत्तेका रूप वही जाता और हाथीका अनेक
किन्ते गायको कभी नहीं रक्षा, इसका भेद अनुभव प्रकाश
ज्ञानी यह दोनोंकी और सम दृष्टिसे देखा है । अर्थात्
भेद अनुभव करनेमें साधारण मनुष्य और ज्ञानीका अनुभव
समान है, परंतु समझने रक्षा ज्ञानीकी ही स्थिति है । यह
जान रखि कैसी ही सत्ता है इसका विचार वही प्रकाश
चाहिये ।

ब्रह्मचरके किन्ते छोड़के आधुनिक जीविने । कई आधुनिक
चित्रमें प्रकाश किन्ते करते हैं, कई गिनें कई जगतीर कई रूप
में कई कमरमें और कई पाँवमें चारव करते हैं । ज्ञानी प्रकाश
योग्य ही मानते हैं कि सब प्राणमें प्रकाश ही ज्ञानी है । ज्ञान
कर्मका ज्ञानमें प्रकाश करते हैं । ज्ञानी योग्य ही हाथों सब नहीं
प्रकाश करते और न कर्मका प्रकाश करते हैं । अर्थात् वे सर्वत्र
विभिन्न आधुनिकोंमें सुचारु-दृष्टिसे प्रकाशका अनुभव करते हैं ।
कई आधुनिक जीविने बसका सुचारु रूप प्रकाशकोंमें समान
है । इसी प्रकार सुचारुके बड़ा प्रकाश आदि अनेक रूप
अनेक छोटी बल सबमें सुचारुका रूप प्रकाश है । वही प्रकाश
अन छत्रमें है । वीर्य-विषयके वर्णन प्राप्त करते हैं, अनेक
प्राणका व्यवहारकी दृष्टिसे अर्थात् उपयोगकी दृष्टिसे प्रकाश
स्पष्ट है वही प्रकाश सर्वत्र प्रकाश या वीर्यप्रकाशकी दृष्टिसे समान
नहीं है । अर्थात् कोई ही यह उपयोग दृष्टिसे होता है,
या वीर्य है अथवा सुचारुका है । वही प्रकाश प्रकाश कि

जबहार-दस्तामें मेढ़का जमुमय होता हुआ भी वहां तल्लकी छिसे बसेवका जमुमय होना संभव है ।

मच्छर छोटेसे छोटे प्राणी हैं, हाथी बड़ेसे बड़ा प्राणी है । मच्छरका ज्येष्ठपन और हाथीका बड़ापन छेद है तो दोनों ' प्राणी ' होनेमें एक हैं । इसी तरह ब्राह्मण ब्राह्मण हाथी गान्धर्व्य और मच्छर मित्र योगियोंके होते हुए भी प्राणी हैं और प्राणी होनेके कारण प्राणियोंके समान गुणवर्गमेंसे युक्त हैं । वही उनमें समाज है । प्राणी होनेके कारण सबको सूच समान रीतिसे कगती है । सबको जीवन समाजवत्से प्यारा है । सबको मृत्युका समाज भय है, इस तरह सबकी समावत्ता देखने योग्य है । ब्राह्मणको क्षत्रिय कर्मसे बैसे कष्टसे होते बैसेही ब्राह्मणको होंने । मित्रातें होनोंकी समाज अवस्था होगी । इस तरह विचार करनेपर दोनोंका समत्व प्याचमें बासकता है । देखिये—

भारतीयपम्पेन सर्वत्र धम पश्यसि योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो भवः ॥
(गी २।३२)

“ जो मनुष्य सबको अपने समाज देखता है और सुखके विषयमें तथा दुःखके विषयमें समान भाव रखता है वह परम भेद योगी है । ” वही भारतीयपम्प-इति कही है । जिस अवस्थामें मनुष्य सबको अपने समाज देखता है वही भेद अवस्था है । पशुमें और मनुष्यमें यही भेद है । भारतीयपम्पछिसे पक्ष कपी नहीं देख सकता । मनुष्यमें वह भारतीयपम्पइति वह सकती है । इसीविधि मनुष्यकी बोधता भेद है ।

भारतीयपम्प-इतिसेमी समदर्शन अधिक भेद है । समदर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन वा ब्रह्मसाक्षात्कार है ।

मित्रों हि समं ब्रह्म ॥ (गी ५।१९)
‘ ब्रह्मादि विष्कंभक और सम है । ’ सदा मित्रों और सर्वत्र धम ब्रह्म है । किसी स्थानपर वह मनुष्य और किसी स्थानपर वह अधिक नहीं है । वैसा जाकास सर्वत्र समान-एवा अवस्थित है वैसाही ब्रह्म धर्मत्र सम है । जहां सम-दर्शनका अर्थ ब्रह्मदर्शन है ।-

पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गी ५।१८)
‘ पण्डित जोन समदर्शी होते हैं । अर्थात् वे धर्मत्र धरा ब्रह्मदर्शन करते हैं । ब्रह्माका सामुत्पन्न उनको सदा-

सर्वदा होता है । वे वैसा ब्रह्म ब्राह्मणमें देखते हैं वैसाही ब्राह्मण गान्धर्व्य हाथी कुत्ता बाघमें देखते हैं । इसी तरह ब्राह्मण प्रत्येक पदार्थ उनको ब्रह्मरूप दिखाई देता है । वह विषय ब्रह्मका रूप है ऐसा उनको स्पष्ट प्रतीय होता है । वे किसी पदार्थको देखें उनको ऐसा प्रतीय होता है कि ब्रह्माही उस कर्मको कारण करने अपने सम्मुख उपस्थित हुआ है । इस तरह उनकी अर्थात् ब्रह्मरूप हृति रहती है । वे ब्रह्म देखते हैं, ब्रह्म सुगते हैं, ब्रह्मकी सेवा करते हैं और जन्तुमें ब्रह्मरूप बगते हैं । देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नी ब्रह्मया हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गतमर्थं ब्रह्मकर्म-समाधिना ॥
(गी ३।१२)

अर्पण हविसमाग्नी, अग्नि हवनकर्ता वे सब ब्रह्म हैं । जिसकी हृति इस तरह ब्रह्ममय हुई वह स्वयं ब्रह्म बनता है । ” यही बात यहां कही है—

इहैव तैजितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं भवा ।
मित्रों हि धर्मं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गी ५।१९)

विषयका भव इस साम्य भावमें स्थिर हुआ वे कृतकूम और विषयी हुए हैं । क्योंकि वैसा ब्रह्म विष्कंभक और सम है वैसीही वे विष्कंभक और सम होते हैं । ” उनकी समहृति होनाही मनुष्यका अन्तिम साम्य है । पूर्ण पुण्य का यही कसण है । सुख दुःखमें समभाव ब्रह्म नीचके विषयमें समवृत्ति पराचरके विषयमें समर्पि होनाही ब्रह्मरूप बनना है ।

ब्रह्मा मनुष्य अपने सर्वविधोंके विषयमें पक्षपात करता है और दूसरोंके विषयमें विरक्त रहता है । परंतु समदर्शी मनुष्य विष्णु रहता है । वह कभी अपने सर्वविधोंका पक्षपात नहीं करेगा और न दूसरोंके विषयमें बदमास रहेगा । वह सबके विषयमें सम रहेगा । यही समहृति मनुष्यके भेद होनेकी सूचक है ।

जर्तुकी यदि विषम हो गयी थी । उसने कहा या कि ये मेरे भाता मामा क्या भाई पिता भादि हैं इस कारण इनका बच करवा बाध्य नहीं । यह पक्षपातका बचन है । वे क्यों क्षत्रपणमें हैं वा क्षत्रपणमें हैं इसका विचार सम जाबते करके अपना कर्तव्य क्या है इसका निश्चय करनेमें

बढ़ असमर्थ था। वह अपने संबंधियोंका पक्षपात करना चाहता था और विषयी स्थिरताका विचार तक करना नहीं चाहता। वही उसके मनकी विषमता है। वह विषमता हटकर उसका मन सममात्रबुद्ध करना मंगवाच्यके असीद्ध था। जगत्की दृष्टिसे अपना कर्तव्य क्या है इसका विचार प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। अपने संबंधियोंके हितके लिये अगत्या भाव करना दोषकरक है। समष्टिके हितके लिये स्थिरता समर्पण करबानी पारी है।

समष्टि रखनेसे सेवाभाव भी बढ़ता है। क्योंकि सर्वत्र समष्टि रखनेसे सदा सर्वत्र सर्वत्र परमात्म्या साक्षात्कार होनेसे और परमात्म्या सबका उपास्य और सेव्य होनेसे इस उपासकसे सेवाभाव बढ़ता जाता है और वह सर्वत्र परमेस्वरकी सेवा ही करता है। यदि वह ज्ञान्य हुआ तो वह ज्ञान्यापन द्वारा परमेस्वरकी सेवा करता है। यदि वह अज्ञिय हुआ तो वह दुर्लभ-विरहक और समबन्धविपाकन द्वारा ईश्वर-सेवा करता है इसी तरह वह अन्य कर्मों द्वारा तो अपने अपने कर्तव्य कर्म करने परमेस्वरकी सेवा करता है। सर्वत्राहित करवादी महासेवा है। कोई रोगी सम्मुख आता और साधक बैठ है तो वह उसके योग्य उपचार करे और उस स्वकर्मव्यवहारा परमात्म्याकी सेवा करे। मनुष्य बाह्यपर हो बर्फी हो गौध हो, करीगर हो धूँवी पति हो वा दुबरा करवेदाता हो वह किसीकी अवस्थामें हो, वह यदि समदर्शी होगा तो वह समष्टिसे ईश्वरसेवा करने योग्य आचरण करता हुआ निःस्वार्थ हो सकत हो सकता है।

समदर्शकसे निर्दोषता भी जाती है जिसका प्रसंग होती है, अमरत्व प्राप्त होता है और ज्ञानमें मोक्ष भी मिलता है। समष्टि होनेकी उसके सब कर्मका हूट जाती है। क्योंकि सब बंधन विषम दृष्टि रहने तकदी सत्ताते हैं।

समष्टि होनेसे व्याप्तिक व्यवहारमें समदर्शन नहीं होता। वैद्या देखिये कि कोई समष्टिवादी मनुष्य है तो वह पंडितको भी बात देगा और गौध को भी बात देगा ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। व्यवहारमें आचरणक व्यवहार रहेगा। परंतु समष्टिवादी मनुष्य आत्मव्यवहारी सब कूलों की ओर देखता और वैद्याकी कहेगा कि "वैद्या अन्न तथा अन्न के बिना कुत्ते काद होते हैं, वैद्यकी बाधके न मिलनेसे भी

बाधियोंके कष्ट पहुँचते हैं।" इस तरह सर्वत्र एक आत्मत्व प्रत्यक्ष वह करता है और सबके हितके लिये सब कर्मको उद्युक्त होता हुआ समष्टिवादीके लिये आत्म-समर्पण करता है सर्वमूर्तियोंके स्वार्थ सेवा करता है।

सर्वत्र समष्टि होनेसे सर्वत्र आत्मत्व साक्षात्कार होता है और वह साधक की जगत्में स्वार्थ प्राप्त करता है। तो मनुष्य सर्वत्र परमात्म्याका साक्षात्कार करेगा, वह आचरणको भी सुदृढ़ बनेगा और पवित्र होतु हुआ निष्कलंक होता।

अपनेमें समदर्शन

सर्वत्र समदर्शन करनेका और एक उपाय है। अपने शरीरमें देखिये—मुख, नाडू, कान, पैर, बाँध और कंठ ये अवयव हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय ये लक्ष्य हैं। इनमें बाँध मुख बाँध इन्द्रिय सुन्दर है, गुदा मलमत्याका इन्द्रिय है इसलिये वह मलिन है। इन्द्रिय अवयव अवयव सुन्दर हों वा मलिन हों उसमें अंतरात्म्य कार्य समानतासे प्राप्त हो रहा है। सुन्दर मुखमेंही अन्न आता है और मलिन पाँचों नहीं ऐसी बात नहीं है। सब शरीरमें वह जीवनकल्पसे सर्वत्र सम निवृत्त है। पादक अपने शरीरमें वह आत्म्याकी समतासे कर्मेन्द्रिय देखेंगे तो परमात्म्याकी विषयों समत्वसे अवस्थिति देखेंगे इसका ज्ञान उनके हो सकता है। क्योंकि निरुद्ध और ज्ञान में नियम एकही है। अन्न को साधक अपने देखें अन्न का समत्व देखेगा वही विषयों परमात्म्याका समत्व जान सकता है। वैद्यमें भी वही बात कही है—

ये पुण्यं ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥

(अथर्व १ १०१०)

" जो मनुष्यमेंही ब्रह्मका दर्शन करते हैं, वे ही विषयों परमेष्ठी प्रजापति परमात्म्याका साक्षात्कार कर सकते हैं।" इसलिये सचसे प्रथम अपने देखें समत्व देखें कथित है। उपजात्य वही ज्ञान सपूर्ण विषयों जगत्में सपूर्ण विषय ज्ञानवादी का है ऐसा प्रतीत होता। वही निष्कलंक है।

इस तरह किसीकी दृष्टि सम होती है वह पूर्ण रूप ब्रह्म है और सबको बंध होता है। इसका सर्वत्र जानेके लोकोमें देखिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य मोक्षितेऽप्यप्यथाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसमूहो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
ब्राह्मस्पर्शोऽप्यसत्कारमा विन्दत्प्राप्तमनि यत्सुखम् । स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखसमक्षयमभुते ॥ २१ ॥

अन्वयः— प्रिय प्राप्त न प्रहृष्येत्, अर्पितं प्राप्त न न उद्विग्नैः पूर्वं स्थिरबुद्धिः वर्तमानः ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥ वा ब्रह्मस्पर्शोऽप्यु नसत्कारमा (सः) आत्मनि यत् सुखं विन्दति (तत्) ब्रह्म सुख सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अभुते ॥ २१ ॥

जो प्रिय वस्तुको प्राप्तकर इतिव नहीं होता और अर्पितकी प्राप्ति होनेसे उद्विग्न नहीं होता यह स्थिर बुद्धिवाला और कभी मोहमें न फँसनेवाला ब्रह्मजानी मानो ब्रह्ममें ही स्थिर हुआ है ॥ २० ॥ जो ब्राह्म विषय ओगोंमें आसक्त नहीं होता वह अपनी आत्मामें निज सुखको प्राप्त करता है वही असुख सुख ब्रह्मयोगमें अपने आपकी उत्तर करनेवालेको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

साधार्थ— प्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे हर्ष न को अर्पित वस्तु किसी को दुःख न करो, दोनों अवस्थाओंमें ऐसी समग्रचित्त की जो दोनों की अविच्छिन्न हो सकती है । इस तरह बुद्धि को स्थिर रखो किसी प्रलोभनमें न फँसो । इससे ब्रह्मकी स्थिति प्राप्त होगी ॥ ब्रह्म ओगोंमें आसक्त न होनेसे जो मनकी शांति होती है, उससे स्वयं अपनी आत्मामें असुख प्रसन्नता होती है । इसी तरह ब्रह्मके साथ अपनी उभयवृत्ता करनेसे भी वैसा ही सर्वज्ञ सुख अनुभवमें आया है ॥ १ ११३

(२०-२१) साधारण मनुष्य को, ब्रह्मजानी इन दोनोंमें पहुँचाव किस तरह कर सकते हैं ? वह प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है । इसका उत्तर इन श्लोकोंमें दिया गया है ।

साधारण मनुष्य

साधारण मनुष्य प्रिय वस्तुको प्राप्त कर ऐसा उन्मत्त होता है कि मानो वैशेषज्ञ बनता है । साधारण मनुष्यको विशेष अधिकार या मोहना प्राप्त होनेसे बहुत कम निकले से उन्मत्त की भाँति निकलेसे बहुतही वर्ज्य करण है । निजीकी भी पर्याप्त नहीं करता और उन्मत्त होकर देस प्रयास करता है कि उससे उसका बर्तनापावही होय है । इसी तरह अर्पित वस्तु प्राप्त होनेसे ओहनेपरसे उठानेसे बचकर प्राप्त होनेसे की आदिवा साधनमें गह होनेसे अपना कोई सांसारिक आपत्ति उत्पन्न होनेसे ऐसा दुःख करने लगता है कि उस दुःखके कारण उसकी बुद्धि विकसनी हो जाती है । इस प्रकारके मनुष्य सुख प्राप्त होने पर जबवा दुःख प्राप्त होनेपर किसी कामके नहीं रहते और इनका जीवन वर्ज्यता होता है । अनुपम परिस्थितिमें जल निक बर्ज्य होनेके कारण और अधिक परिस्थितिमें केवल होनेके कारण उनका मन कोई भी ध्यान करने योग्य स्थिर नहीं रह सकता ।

एक मनुष्य राजकार्य करता है उसके उद्धारमें इस-विधि होता है इनको राजदुःख कहते हैं । यदि इन

कोईका प्राप्त होनेपर वह दुःख और निरस्त हो जाता तो उससे कोई कार्य नहीं बन सकता । अतः सब ऐसा करना चाहिये कि जो समग्रपर पूर्णचित्त भी सदा हो और दूसरे समग्रपर ब्रह्म भी छोड़ दो, परंतु परिस्थिति के अनुसार न बन जाये । कैसा परंतु ध्यानबलके दूरसे नहीं बढ़ता न बाधुके वेगसे उठता है मेरासे बुद्धि होनेपर भी मटक और स्थिर रहता है उस प्रकार वह स्थिर रहे ।

गुरु योग जब अधिकारपर चढ़ते हैं, तब वे सबकोको कहते हैं, मानते हैं, पीछे हैं अनंत दुःख होते हैं । ये दुःख शरीरको हींगेही । ऐसी कोई बात नहीं है कि महा व्याके शरीरपर व्याप्त करनेसे उसको दुःख नहीं होता । व्याप्तसे ब्रह्मसे वा अन्य कहते हुए होना शरीरका धर्मही है । साधारण मनुष्य इन दुःखोंके बर्तने हो जाता है इस श्रेष्ठ अस्तमय बनता है । परंतु यह मनुष्य शरीरको बाधना के हुए होनेकी अवस्थामें ही अपने कर्मवृत्तसे जड़ नहीं होता । सदा बड़े व्याप्त करें जबवा मित्र बड़े सुख हैं उसका शरीर धुक्की रहे वा फँसनेमें रह उसका मन बड़ा समग्रचित्त सुख और शांत रहता है ।

जो परिस्थिति के अनुसार नहीं बचता, परंतु अपने मनको परिस्थितिसे कैसा बड़ाकर बच स्थितिमें रहता है वही स्थिरबुद्धिवाला है । जो स्थिरबुद्धि होता है वह गुरु नहीं बनता । जो परिस्थिति अनुसार बचता है वही गुरु है ।

ये हि सम्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुध ॥ २२ ॥

अन्वयः—इ कैतेव । ये हि सम्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः आद्यन्तवन्ता एव तेषु बुधः न रमते ॥ २२ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! आ उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होनेवाले भाग हैं व दुःखके कारण हैं आर ये मात्र मस्तमान् भर्त्ता उत्पन्न होकर भाग होनेवाले हैं भव । इसमें ज्ञानी नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

मायार्थ—विषयोका इन्द्रियोके साथ उत्तम स्पर्श होनेसे जो सुख प्राप्त होनेका अनुभव होता है वह विमम्भेह दुःखका कारण है । और वह सुख उत्पन्न होकर भागसे प्राप्त होनेवाला है अतः बुद्धिमान् मनुष्य उन भोगोंमें नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

रहेंगे बेही प्रांत और मूढ पुत्र हैं ।

बल्लुवा बाड़ा भोगोंमें कोई सुख नहीं होता है । सब सुख अन्दरही अन्दर है । तुरा कगलेही मानवकी प्रवृत्ति अकरी और होती है, एक निकलेही उसकी बहिःप्रवृत्ति इतनी है उस समय उसकी वृत्ति स्वस्वमें बर्णान् अपनी आत्मामें होती है वही अन्तर्मुख वृत्ति है । बार वृत्ति अन्तर्मुख होतेही सुख होता है । कोई बाड़ा विषय किसीका सुख देता है ऐसा मानना मूढग्राहो हो सकता है । मनुष्यका सर्वदा जो सुख होता है वह उसको अपनी आत्मासेही प्राप्त होता है । वही अक्षय सुख है । ऐसा होते हुए सब संसारी जीव भोगोंके समग्रमें लगे रहते हैं, वही इस जगत्में एक आत्मा हैं । वही मूढता है और वही भ्रम है ।

ब्रह्मयोग

मनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख करना और बाह्य प्रवृत्तिको दबा मारी अक्षययोग है । सर्वत्र अक्षय है सर्व जगत् प्रक्षय है ऐसा अनुभव करना, वह अक्षय अपने अन्दर है वह जानकर उत्पन्न साथ अपनी आत्माका योग करनेका नाम अक्षययोग है ।

अक्षय-योग-मुक्त-आत्मा बनना चाहिये । अक्षयके साथ अपनी आत्माका विरंतर भोग करनेसे और उस अक्षयकी कमी शिरमूनि व हातेसे विरंतर अक्षयराशिकता प्राप्त होती है । जैसा संसार जीव सदाभरन्दा संसारका विचार करता है अतः ही अक्षयानी अक्षयता महा सर्वदा अक्षयराशिक होता है । जो अक्षयराशिक होता है वह अक्षय बनकर अक्षय सुख प्राप्त करता है ।

अक्षयराशिक होनेवाला क्षामी कभी क्षामाधिक आगेमें नहीं क्षमता क्योंकि उसकी रहित क्षामाधिक भोग उत्पन्न होते हैं । वही भाग भागके क्षोभमें कही है—

(२१) अक्षय भोग संसारमें उत्पन्न होनेवाले हैं । राशिके बर्त्त में अक्षय संभव किंवा सुखता सुखता है

स्पर्शका विचार करनेके समय विचारमें क्या योग्य है । स्वयं सत्त्व सामाग्य सर्ववका बाधक है । पुंरे दुःखज्ञानी स्वयंको कुम्पस कहते हैं और उत्तम सुखज्ञानी स्वयंको संरस किंवा सुखस कहते हैं । भूरे स्वयं भर्त्ता कुम्पसका विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि कोई मनुष्य कुम्पसके विषयमें कैसा नहीं । अहाते कुम्पस होता है बहाते वह भाग जाता है । मनुष्य आ कैसाते हैं वे सुखस अपनी संस्पर्शमेंही कैसाते हैं, अतः वही कहा है कि जो भोग इस उत्तम स्पर्शसे प्राप्त होते हैं और उनसे त्रिम सुखका अनुभव होता है ऐसा भोग मानते हैं वह सुख सत्त्वा सुख नहीं है मनुष्य वह सुख दुःख बहनेवाला है । अतः उन भोगोंमें कैसाता बोरव नहीं है । व भोग आदि अन्तर्मुख होते हैं, अर्थात् वे एक समयमें उत्पन्न होते हैं आर दूसरे समयमें विनाशको प्राप्त होते हैं । अतः ये क्षण भंगुर हैं इसलिये अस्थायी सुखमें क्षमता किसीको बाध्य नहीं है इसी कारण ज्ञानी भोग भोगोंमें नहीं क्षमते । वह इस क्षमताका नाशक है । इसका विराध विचार करना चाहिये ।

सुखवास सुख कैसा प्राप्त होता है इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्यका है । त्रिम समय तीन लगता है उस समय त्रिम कर्त्तव्य उत्पन्न स्वयं मूलराशी प्रतीत होता है वही वह उत्पन्न स्वयं तत्त्वही सुखदायक होता है कि उत्पन्न राशिक भावा हाही रहनी है । त्रिम क्षमते त्रिमभावा इत गयी उती क्षम उत्पन्न स्वयस होनेवाला सुख भी इत जाता है । इसी कारण कहा है कि वह संरसतासे होनेवाला सुख नाशक है ।

भूय जगलेही अक्षयतामें मनुष्य अक्षय स्वयं सुख देता है । अक्षयक भूय रहती है तत्त्वक ही अक्षय सुख होता है । त्रिम समय अक्षय रहती है उती मक्षय अक्षय सुख देता

साधारण—मनुष्य इस कोकमै रहता हुआ धीरे-धीरे नाच होकर पूरा बदल जायता है तब तक ही काम और लगे बेगो लगे इस बेग के बसमें न दोबे, परतु यह बेग जातेपर भी नपने जायको नकल रहे । जो इस बेगको जीतता ही मुक्ती होय । इन बेगोंको जीतनाही योग है ॥ १३ ॥

(१३) इससे पूर्व दी प्रकाशके योग कहे हैं- (१) मीमं कुण्डला [१५] और (२) हृन्नेति विषयमं मन्त्र [३४८] के दो योग हैं। तीसरा योग हम ज्ञेयमें क्या है (३) कामयोगके भोगोंको सङ्घा [५१३] इ नी कहा मारी योग है। इस योगके जापरकसे मनुष्य ने सङ्घा स्थायी सुख प्राप्त होता है। कर्म-औसत्कर्म योगसे जन्म कर्म बतते हैं, हृन्नेतिवच समसाधक्य योगसे ज्ञेयों कह नहीं होता और कामयोग वेग सहनेसे जपया एक बढता है। ये तीनों योग बहुश्री महारणके हैं और आचरणी विमलमेव कष्टि करनेवाले हैं।

कामका वेग और श्रमका वेग ये बड़े भारी वेग हैं। विधामित्रक बड़ी भारी उपस्था कराया था। परंतु एक दिन मेनका कामका एक क्षीब्ध दर्शन होखेही उसके मनमें काम का वेग देख बह गया कि बालमें वह उपस्थासेही मज हुआ। दूसरे श्रमकारों को बाक मजदूरी उपस्थी से उनकी उपस्थाका मग करनेके किये भी एक बालरा लायी थी। परंतु ये कामके वेगको सहनेवाले के मगः कामवेग बस श्रमकारोंके मनको कंपावमान नहीं कर सका। यह मनो कामका वेग है। विधामित्रका मग कामवेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हुआ। कदचित् बड़ा पैसा भी कहना क्षम्य इतने श्रमकारोंके मनमें काम उपस्थाही नहीं हुआ और विधा-
वाले मनको कामवेगमें बड़ा दिया। कामके वेगको सह-
ने की क्षमता मनमें कामकी उत्पत्तिही नहीं हुई तो वह
बलि बहीही क्षम्य है इसमें संदेहही नहीं। अस्तु। इन दो
[हारकोटि कामको मनमें कामका वेगको सहने और न
वेक कामाग स्थिर होी शकता है। कामके वेगको न सहने
की मात्र सब संसारी मनुष्य होते हैं। मनुषी निर्बल
काम इनका कमजोर सब कामके वेगके कंपाव
होया है मगो मजदूरबालमें पडे हुए पथके समान
मनोके साथ बहता चला जाता है। इस प्रकारके काम
के साथ बहनेवाले मनको कदापि स्थिरता और शांति
नहीं होती। वह नडा बहाती लके उपकटता रहता है।
किना भी बाधका वेग हुआ तो भी पर्वत स्थिर रहता

हे क्योंकि वह प्रथम वायुवेगको सह सकता है, परंतु मोहमा वायु हवाको प्रयोगोंको दिखाया है क्योंकि वे वायुवेगको नहीं सह सकते । इससे स्पष्ट है कि वायुका वेग सहनेके लिये अपने अन्दर विशेष सक्ति चाहिये और वायुके वेगसे उड़ान देनेके लिये अपनी निर्बलताही कारण हो सकती है ।

वेदमें सहस्राक्ष और जस्रस्य वे दो षष्ठ्य इती
अर्थके संक्षेपमें मिलेप मन्त्र करने योग्य हैं। सहस्राक्ष
का अर्थ सप्तस्र वेगको सहस्र करने अपने स्वाममें स्थिर रहने
वाला, और जस्रस्य का अर्थ जिसका रोग शत्रुको असह्य
होता है। ये दोनों षष्ठ्य अपने सामर्थ्यके चोतक हैं। बड़ी भाव
काम्योचके वेगको सहस्र का है। काम्योचके वेगको
सहस्रेका अर्थ ठगसे अपनी शक्ति अधिक करना और उनको
अपने वशमें करना है। अपनी शक्ति अधिक करनेसेही शत्रु
अपने अधीन हो सकता है और अपनी शक्ति कम होवसे
सत्रुका अधिकार अपने ऊपर होता है।

“ जो मनुष्य इसी देशमें, इसी जन्ममें अपना मनुष्य पूर्व कामयेबने देाको सब सफ़ा है अपना कामभी और छेबको अपनी बचल करवा है, अपने कपर इनक स्यासन होये नहीं देवा बरी योगी और बरी मुक्ती है । ”

कामका इसका हुवा और यदि मनुष्यका सब निर्वह हुवा तो मगर कामका प्रमुख होय है इसल सब धर्ममें एक प्रकारकी निवृत्ति इच्छा होय है इस इच्छा का परिणाम नीचपर होय है । नीच निवृत्ति है मर्यादा है और सब धर्मकी कमजोरी होय है । मर्यादाकी छवि हीन होय है । इस तरह धार्मिक लोग और मर्यादाका एक हीन होय है । यदि बारबार कामेच्छा हमके मूल रूप और मर्यादा इसकी निवृत्ति निवृत्ति होने लगी तो जगत् सब जाति नीचारीकी जाती है और जगत्में मनुष्य मनुष्य बस होय है ।

इसी प्रकार ओबक देश का भीरों तक जीवमय बर होत है और एक निर्दिष्टता बनाते हैं अन्तिममें प्रम होता है और यदि ओबका देश बर गया तो मनुष्य पाण्ड पा

(१२) ब्रह्मनिर्वाण

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य । स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
 लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमूषय क्षीणकरुमया । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ १५ ॥
 कामक्रोधविषुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदित्तात्मनाम् ॥ १६ ॥

अन्वयः— यः अन्तःसुख, अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योति एव सः योगी ब्रह्मभूतः ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति ॥ १४ ॥ क्षीणकरुमया, छिन्नद्वैधाः यतात्मानाः सर्वभूतहिते रता आचरन्तः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ॥ १५ ॥ कामक्रोधविषुक्तानां यतचेतसाम् अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते ॥ १६ ॥

जिते अन्धरसे सुख प्राप्त होता है जिनके अन्धर शामित रहती है तथा जिनके अन्धर प्रकाश (ज्ञान) हुआ है, वह योगी स्वयं ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्मकी शामित प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ जिनके सब पाप लुप्त हुए जिनके सब अन्वेह दूर हो चुके हैं जिनोंने अपना सपन किया है और जो अब प्राणिमानों हितमें लगे हुए हैं वे अतीन्द्रियार्थदर्शी मनुष्य ब्रह्मकी शामित प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥ जिन्होंने काम और क्रोधको त्याग किया है अपना सपन किया है अपनेको पहुँचाया है इन संयमीयोंके लिये बातें जो सदा ब्रह्मकी शामित रहती है ॥ १६ ॥

अन्वयः यत्ना है । इस रीतिसे देखा जाय तो काम और क्रोध वे दोनों प्रकट शत्रु हैं जिनसे सबका योग करने नहीं देना चाहिये । यीशमें अन्वयः कहा है—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशक्तो महापाप्मा विस्वधनमिह वैरिणम् ॥

(गी १३/५)

(रजोगुणसे उत्पन्न काम और क्रोध भोगोंसे पुत्र व होनेवाले और महापापी हैं । इनको तू अपने वैरी समझ । वे शत्रु हैं ऐसा मानकर इनसे सदा सावधान रहना चाहिये । यथा—

आशापापमभैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः ।

इह गतं काममोगार्थमन्यायेनार्थसंख्यानम् ॥

(गी १६/१२)

कामी और क्रोधी लोग पैकड़ों आशाओंके आकाशमें बद्ध होते हैं और अपने विषयभोगोंके लिये अन्त्यावर्णक अपने पास अधिकाधिक इन्ध संकल्प करते हैं । और इसी मीचके कारण मनुष्योंके समाजमें विविध नैराश बढते हैं यथा—

कामक्रोधविषुक्तानां यतीनां यतचतसाम् ।

अभिता ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदित्तात्मनाम् ॥

(गी १५/१६)

जिन्होंने काम और क्रोधको परास्त किया है जिन्होंने अपने मनका स्वाधीन किया है और जिसका अपनी

आत्माका स्वयं हुआ है ऐसे संयमी वसियोंकी सर्वत्र लक्ष्य ब्रह्म अनुभवमें आता है । " वह है काम और क्रोधका लक्ष्य करनेका फल । तथा और देखिये—

अमर्कविषयविद्याया मोहजलसमुद्भवाः ।

प्रसक्ता काममोगेषु पतन्ति मरकेऽशुभौ ॥

(गी १६/११)

जो अनेक अमर्कमें पड़े मोहजलमें फँसे और जो मोगोंमें आलस्य होते हैं, वे अविविध मार्गमें गिरते हैं ।

इस तरह कामक्रोधमें फँसेका परिणाम प्रलय अवस्था होनेमें होता है और कामक्रोधका संगम अनेक मनुष्योंकी बर्बाद होती है । इस लिये इच्छित ब्रह्मके मनुष्योंकी उक्ति है कि वह कामक्रोधोंके वेपथु लानेमें योग्यता बनाय करे । इस योग्यता का प्राप्त करने के लिये यत्न करना चाहिये है । रात्रिके सोनेके रत्न दूकानमें बढकर अपने वैयक्तिक जीवनका विचार मनुष्य को और छोड़े कि अन्ध वेग अपना जीवनका पैर फिटकी बार अपने ऊपर वह दण्ड, उस क्षण में उस वेपथु वह पना बचना देने उनकी जरूरत है । इसका विचार करके धातक परीक्षार्थी मार्गता को । इस वेगके लक्ष्यका फल दुःखों में पड़े और मुने इन दोषों मिटि प्राप्त होवे । पुनः आत्माका बढकर मनुष्य विषय को कि आनेके लिये उन कामक्रोधके वेगको सङ्गम और उस वेपथु परास्त न होकर । इस तरह अन्तर्मार्ग करनेमें मनुष्यों

मायाध— जिनको किसी ब्रह्म कारणके बिनाही अन्दरही अन्दरसे सुख प्राप्त होता है जिनके अन्तःकरणमें बरक प्राप्ति रहती है जिनको अन्तर्यामी आत्माका ज्ञान हुआ है, जिनके सब पाप और सब छन्देद दूर हो चुके हैं जिन्होंने अपना पूर्ण संवम किया है तथा जो सब प्राणिमात्रों के हितमें अपने आपको छगानेमें आनन्द मानते हैं, जिन्होंने कामकषेप का त्याग किया है, अब संवमी अतीन्द्रियावैश्वर्ही मनुष्योंको ब्रह्मकी प्राप्ति प्राप्त होती है ॥ २४-२६ ॥

बह बह बह सकृदा है और इसका सब अर्थ योग सहनेमें समर्थ हो सकता है । परी इस योगकी सिद्धि है । इसी सिद्धिसे ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं । इसका वणन आगेके तीव्र श्लोकमें देखिये—

(२४-२६) इन तीव्र श्लोकोंमें मनुष्यमात्रका अन्तिम ध्येय को “ ब्रह्मनिर्वाण ” है वह कौन प्राप्त कर सकते हैं, इस बातका वर्णन है । इस श्लोकके अन्तमें ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्त करनेवाले और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति न करनेवाले ऐसे द्विविध अब होते हैं ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । इस दोनोंके स्वभाव कैसे ज्ञात है, इसका विचार अब देखिये—

ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करनेवाले अन्तः शुद्धा—
विमल-अपने अन्दरही अन्दर शुद्ध प्राप्त होता है ।
अन्तरात्मा—
जिनकी अन्तरात्मामें प्राप्ति स्थिर रहती है ।
ओ विमलन्धरे अन्तः—
स्थिर होते हैं ।
(३) अन्तःप्रतीतिः ।
विदितारामा क्षुपि
जिनके अन्दर प्रकाश है
आत्माका ज्ञान हुआ है ।
जिनकी अन्तःप्रतीतिसे सब
सन्देह मिट्ट होते हैं ।
ओ अतीन्द्रियावैश्वर्ही
कायी है ।
(४) ब्रह्मभूतः—
प्रकटे
ममान ओ विराट् ब्रह्म
है ।

ब्रह्मनिर्वाण जिनको प्राप्त नहीं होता ।
(१) जिनको केवल ब्रह्म विचारोंसेही शुद्ध मिलता है
ओ कि वास्तवमें शुद्धका हेतु है । (५१२२)
(२) जिनके अन्दर और बाहर सदा ब्रह्मस्थि रहती है । ओ दिवराज पदकते रहते हैं ।
(३) जिनकी आत्मज्ञान नहीं हुआ जिनका अन्तः-
स्फूर्ति नहीं होती जिनको सांसारिक विषय होनेपर भी अन्तःज्ञान नहीं है
अथवा लोगों नहीं है ।
(४) जिनका विचार संकुचि
है जिनकी प्रति
बिज्ञान नहीं है ।

(५) इतिगकमपाः (५) जो पाप करते हैं ।
ओ निष्पाप हैं ।
(६) छिद्यद्वैषाः (६) जो स्विद्विमत हैं
जिनके सदेह और हृत् और जो इन्द्रियोंमें फँसे
जाय वह हुए हैं ।
(७) यतात्मा यत
सेवाः यति जिन्होंने
अपना संवम किया है ।
(८) सर्वभूतहित
यतः सर्व प्राणिमात्रोंके
हितमें ऊपर ।
(९) कामकषेधधि
युक्तः जिन्होंने काम
और क्रोधका त्याग किया
है ।
(१०) ब्रह्मनिर्वाणं
अधिगच्छति कृतस
अमिताः बर्तते
ब्रह्मकी प्राप्ति प्राप्त होती
है, जहाँ और होती है ।

पाठक यदि इस कीटकका अच्छी प्रकार म्यान करेंगे तो उसको पण करोण कि किम साधनसे कौन मनुष्य ब्रह्मकी प्राप्ति प्राप्त करते हैं । इस कीटकके अन्तमें जो ब्रह्मनिर्वाणकी प्रतीका साधन निहित हैं वे वह निम्नलिखित हैं—

ब्रह्मनिर्वाणका साधन

पसका आचरण न करना पसविचार दूर करना काम प्राप्तिसे सब सदेह दूर करना इन्द्रियाद दूर करना शरीर छिमाय न करना इन्द्रियोंका मनका और आत्माका संवम करना इन्द्रियोंको अपने आधीन करना स्वैराचार बन्द करना कामकषेप जगदि अन्तःप्रतीति का विनाश करना चिदब्रह्मपट्टा छोड़ देना, यह प्राणिमात्रोंका दिन करनेमें आत्मनमर्शन करना,

(१३) सदा मुक्त

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्बाष्पांश्चक्षुष्यैवान्तरे सुषो । प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाम्यन्तराणि ॥१७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः । विगतच्छामयक्रोधो य सदा मुक्त एव सः ॥ १८ ॥

अर्थः— य मुनिः ब्रह्माण् स्पर्शान् वहि कृत्वा चक्षुः च एव सुषोः अन्तरे कृत्वा, प्राणपानौ च नासाम्यन्तराणि ॥१७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः विगतेच्छामयक्रोधः मोक्षपरायणः (स्यात्) सः सदा मुक्तः एव ॥ १७-१८ ॥

ओ मुनि बाह्य विषयोंको बाहरही त्यागकर हृदिको सुकुटीके बीच स्थिर करके, प्राण और अपान को नासिकाक मन्दर संघार करत हुए सम करके इन्द्रियां, मन और बुद्धिको वशमें करके इच्छा-मय-क्रोधसे रहित होकर, मोक्षपरायण होता है वही सदा मुक्त है ॥ १७-१८ ॥

भाषा— ओ श्रीगणेशाय नमः कहे बाह्य विषयोंको त्यागता है वहीके भीतों औरोंके बीचमें स्थिर रहता है प्राण और अपानकी गतिका सम करता है इन्द्रियां मन और बुद्धिको वशमें रहता है, इच्छा मय और क्रोधकी दूर रहता है जो केवल ब्रह्मी सात्त्विक भाव करनेमें उत्तर रहता है, वही सदा मुक्त होता है ॥ १७-१८ ॥

उदाहरित वक्त में हैं साधन मिलते ब्रह्मपति होती है ।
ये साधन करत रहनेसे मनुष्यकी एक एक सक्ति विकास को प्राप्त होती है । और साधनका महत्त्व पछे बात होता है । जब साधन मिलेच अधिक होता है तब निम्नलिखित अनुभव उसे प्राप्त होते हैं—
किसी कष्टमें बाहरही अन्तर बिना किसी बाह्य कारणके अर्थ मुक्त और आत्म्य होता है, वह कष्टकर्मकर होता है और किसी बाह्य कारणसे वह नष्ट नहीं होता । इसके सहजानन्द कहते हैं । जैसा बाहेरपुत्र कष्टजन्य मुक्त प्राप्त होता है वैसी उसकी हृति सदा प्रसन्न होती है आन्तरिक क्षान्ति रहती है जगत्का कोई कारण उसकी ब्रह्मानन्द करनेमें असमर्थ होता है । उसकी ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अन्तर प्रकाश है ' मैं अपने प्रकाशसे जगत्को ब्रह्मस्थित कर रहा हूँ यह उसका अनुभव होता है । साथ बलुका बर्षाव क्षान्ति प्राप्त होता है । उसका मन विरक्त होता है । वैदुषित और संकीर्ण भाव वसों कदापि नहीं होते । पापकी मद्धति उसकी दूर जाती है मैं अपने जगत्से निष्ठ हूँ और जगत् परस्परानिष्ठ है और वह मुझसे निष्ठ है वह देवमान इत जाता है और देवमानके कारण उपपन्न होनेवाले सब संशय दूर होते हैं । कष्टकीले क्षेम होता है कभी मन विषयोंकी ओर वीरता ही नहीं । जब प्राक्-कीर्ण दित करता वह अपना कष्टव्य समझता है इसभावी नहीं वरंतु सदावृद्धित करनेकी क्षमता के आनन्द होता है । सर्व-भूत-मेगमे वह अपना आनन्द हरजगत् हुना समझता

है । सब वृत्तोंकी सेवा निष्कर्म मात्रसे करता वसोंके सज्जतम विषय होता है । वह न कभी कामविषयमें नि-
र्याता है और न क्रोधक वस होता है, तथा-कोम जोह न मस्तरही भी वह दूर होता है ।

ऐसी मनुष्यके चारों ओर ब्रह्मकी क्षान्ति सदा प्रस-
रती है । बर्षाव वह क्षमा ब्रह्मी सात्त्विक अनुभव प्राप्त है । ब्रह्मविर्भाव का विशेष वर्णन चतुर्षु ब्रह्मवर्णनमें विवरणमें किया है यह विषय पाठक वही देखें । वस । एक वरह ब्रह्मविज्ञा साधन और प्रक है । पाठक इस ब्रह्मकी प्रकार भजन करें । वही विषय कुछ अन्य जगत् द्वारा भगवात् प्राप्त कहते हैं, वह उपदेश मन देखिये—
(१७-१८) इन को छोड़नेमें सदा मुक्त रहनेवाले कष्टक और साधन बताते हैं । इन छोड़नेका भजन करने किने सदा मुक्त और सदा ब्रह्मके कष्टवर्णन विवरण उप-
बाधिये । वह विचार निम्नलिखित क्रममें दिया है—

(१७-१८) इन को छोड़नेमें सदा मुक्त रहनेवाले कष्टक और साधन बताते हैं । इन छोड़नेका भजन करने किने सदा मुक्त और सदा ब्रह्मके कष्टवर्णन विवरण उप-
बाधिये । वह विचार निम्नलिखित क्रममें दिया है—

- | | |
|---|---|
| सदा मुक्त
(१) मुक्ति श्रीम
बारव करता है जगत्
भावन करता है ।
(२) स्पर्शान् वहिः
कृत्वा— विषयभोगोंका
वहिकर करता है ।
(३) चक्षुः सुषोः अन्तरे
कृत्वा— वहीके मन्त्रधर्मी | सदा ब्रह्म
(१) बहुत बल वस करता
है ।
(२) निरवभोगोंमें संतुष्ट
है ।
(३) वरह रहती है । |
|---|---|

स्थिर करता है। दृष्टिको
स्थिर करता है।

(४) प्राणापानी समो
हस्ता प्राण-वायुओंकी
गति सम करता है।

(५) यत्नेन्द्रियमसो
बुद्धिः- इन्द्रियां मन और
बुद्धि सब सम करता है।

(६) विगतेश्वरसमय
शेषः (गी ५।२८) ;
घोतरागमयशेषः

(गी १५.६; १५.१)
इन्द्रिय मन और शेषका
वत्स करता है।

(७) मोक्षपरायणा-
मुक्ति मार्गमें उत्तर
रहता है।

(४) प्राण वायुओंकी गति
विषम होती है।

(५) इन्द्रियां मन और
बुद्धिको स्वर कीवता है।

(६) इन्द्रिय मन और
शेषसमुक्त होता है

(७) मुक्त होनेका विचार
ही नहीं करता बंधनमें जालं
रहता है।

प्राप्त इस कोटकका विचार करेंगे तो उनको पता लग
जायगा कि मुक्तिमार्ग मौनता है और बंधनका मार्ग
बौद्धता है। जो बहुत सोचते हैं, व्यवहारमें करते हैं, विष
में कि पीछे पड़े रहते हैं, इन्द्रियोंको स्वेच्छाकारी बनाते हैं
प्राणाओंके पीछे दीवते जाते हैं शेषसे बन्ने हुए होते
हैं, मस्तिष्कके विषयमें करते हैं, जो बहुत दृष्टिमाने होते
हैं, वे सब बंधनमें जड़ रहते रहेंगे। जबकि उनके वे बाजार
रहे उलटकर उनकी बंधनसे मुक्ति होनेकी जाया नहीं है।

परंतु जो मौनत्वजन करते हैं, अपना मन प्राण
करते हैं, विषयमोर्गोंको दूर रहते हैं, दृष्टि स्थिर करते हैं
इन्द्रियोंका संलग्न करते हैं वास्तविक मन और शेषको दूर
रहते हैं अपने बंधनको दूर करनेका उद्योग करनेमें उत्तर
होते हैं, वे मुक्त होते हैं।

साधारणः बंध और मुक्त होनेका हेतु यह है। जब
इसका बोधसा अधिक विचार करना चाहिये। पहली बात
मौनकी है। मुनि बनना चाहिये। जो मौन प्राप्त करता है
उसको मुनि कहते हैं। अपना जन्म प्राण करनेवालोंको
भी मुनि कहा जाता है। प्राण द्वारा मनुष्यकी बहुतसी
शक्ति क्षीय होती है। अत्यधिकप्राणमें बड़ी शक्ति उत्पन्न

है। यदि वे जन्म अल्प हुए तो उनसे परिणाम उत्पन्न होनेके
कारण उस प्राणमें शक्ति क्षयका शोक करनेका
कोई प्रयोजन नहीं है। परंतु यदि प्राणमें बुरे हीन विचार
ही मकर हुए तो उनसे सुमनेवालोंका भी अपाधात होनेकी
संभावना होनेके कारण उस प्राणमें जो शक्ति शेष हुई
वह न केवल व्यर्थ गयी बल्कि इतिहासक भी बनी। इस
किये मुनि लोग मौनत्वजन करते हैं अपना श्रितना कम
बोका प्राण उत्पन्न कम बोका है और सब बोकाते हैं यह
शिवसंस्कृतपुत्रों कोकते हैं। इसलिये उनको उत्पन्न हुए
प्राणोंके समुत्पन्न बात बन जाती है।

विचरकी प्रकाशता करनेके लिये मौन प्राप्त करना
एक बड़ा भारी साधन है। इससे बुरे विचार हटते हैं और
चित्त स्थिर होने लगता है। जो व्यवहारमें पड़े हैं वे यदि
सदाहमें एक दिन मौन प्राप्त करेंगे तो भी उनके काम
होगा। परंतु साक दो साक जो मौन प्राप्त करेंगे उनकी
बहुत काम होगा। उत्तम मौन तो यह है कि जिसमें कुछ
शक्ति मर्शोंका किसी पदसे चिह्नित वा बहाते उत्तर
लेनेका बल न हो। जिसमें केवलज्ञा या चिह्नज्ञा उत्तर
दिया जाता है वह मौन करनेमें दो बाने काम करेगा।
बलतु। यहाँ इच्छाही बताया है कि मौन एक उत्तम साधन
है जिससे जन्मात्की शक्तियां अनुभव होता है। इससे
जपनी जन्मात्की शक्ति जन्मात्में संलग्न होती है। बहुत
नोकनेवालेकी शक्ति व्यर्थ चली जाती है।

इसका जोका साधन विषयमोर्गोंपर बहिष्कार है।
इन्द्रियोंके विषयमोर्गोंपर निषिद्ध है। जब विषयमोर्गोंमें पड़नेसे
भी मनुष्यकी शक्ति क्षीय होती है। इस शक्तिके क्षयसे
जन्मात्के भिन्नो वह संयमका साधन है। स्वर्शका नर्त विष-
योंसे स्वर्श है। नेत्रका विषय रूप है बात सुम्बर कमका
योग जन्मात्ता होता है और इस उपमोर्गमें मनुष्यकी
शक्तिका बहुत क्षय होता है। परंतु यह क्षयकी परंपरा
इससे भी दूरकर चली जाती है। जब मनुष्य सुंदर रूपमें
संलग्न होता है उस सौंदर्यमोर्गमें बड़ा लाभकर होता है
यह उसके केवल भेदविषयकी क्षयकारी नष्ट होती है ऐसी
बात नहीं है मनुष्य जब उपमोर्गके साथ शिव करते इन्द्रियों
का संलग्न जाया है वह सब इन्द्रियोंकी क्षयन भी कम
होती है। यहाँ तक कि शीतलके पीछ पड़े हुए मनुष्यका

(१४) शान्तिकी प्राप्ति

मोक्षार्थं यश्चतुर्षां सर्वलोकमहेश्वरम् । मुह्यद् सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अन्वयः— बह्वर्षसर्ग मोक्षार्थं सर्वभूतानां मुह्यद् सर्वलोकमहेश्वरं मां ज्ञात्वा शान्तिं लप्स्यति ॥ २९ ॥

यश्च और चतुर्षो मोक्षां सब भूतोंके हित करनेवाले सब जगोंके महाम् ईश्वर देखे मुझको जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

भावार्थ— जिस ईश्वरके लिये यश्च और चतुर्षो कहे हैं, जो सब प्राणीमात्रका हित करता है और जो सब विश्वका प्रथम मुख-स्वामी है, उसको पचासवें अध्यायके अन्त्यमें शान्ति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

सिरोबेहवा झुक होती है और वे जबकि अन्त्यास नहीं कर सकते । देखे निम्न कोनोंको उचित है कि वे प्रथम सन्नि-
पत्ता एक बहनेका उपाय करें । और पञ्चास, अन्त्यमें
एहि स्थिर करनेका अनुष्ठान करें । शिखरकी सिरोबेहवा नहीं
होती ठगका मार्ग सरक होता है । इस दृष्टिका अन्त्यास
करनेवाले पूर्वदृष्टिका अन्त्यास करें, मंद पूर्वकी ओर १ ।
१५ मिनिट तक उच्छ्वासी कगालेसे सब दृष्टिदोष दूर होते
हैं । तबो तबो यह अन्त्यास १ मिनिटसे १५ मिनिटतक
बढ़ता जाये । इस अन्त्याससे एहि विधौ होती है और
अन्त्यमें स्थिरता करना सुगम हो जाता है । ब्रह्मका स्थान
मस्तक है इसकी सहकार कमक कहते हैं इस सहकार
कमकमें ब्रह्मका स्थान है । अन्त्यमें एहिसे कुछ अन्त्यासके
पचास प्रत्यक्षदर्शन होने लगता है । आगे उड़ी मकाल
में एहि रखनेसे तबो तबो कल्पे अनुभव होते हैं । इस
तरह अन्त्यमें एहिसे अनेक लाभ होते हैं ।

दूसरा साधन (प्राणापानां मासाभ्यन्तरचारिणी
सर्मां कृत्वा) प्राण और अपान नासिकामें संवाह करने-
वाले परंतु सम करमसे होता है । बाह्य प्राण-अपान साध-
नास उच्छ्वाससह बोधक है । मनुष्यके प्राण उच्छ्वाससे शीतल
अवस्थामें करीब करीब धम रहते हैं और शरीर अवस्था-
में विराम हो जाते हैं । उच्छ्वास कम हुआ तो शरीरसे मक
दूर नहीं होता और अधिक हुआ तो अत्यन्त बहती है ।
परंतु प्राण और उच्छ्वास सम हुए तो शरीरका वायुमय
धम होनेसे शरीरकी आरामस्था दीर्घकालक रहती है । प्राण
और उच्छ्वास पूर्व हुए तो बोधमुखि होनेमें और अवश्य
इसमें महाला होता है जिससे आरोग्य बढ़ता है । अन्त्य
उच्छ्वास सम होनेसे मय भी सम अवस्थामें रहने लगता

है क्योंकि प्राणका मनसे निज संबंध है ।

ब्रह्म वाते ब्रह्म विभक्तं निब्रह्म निब्रह्म मवेत् ।

प्राण बंधक होनेसे विभक्तकी बंधकता होती है और प्राण
समस्तु होवेसे विभक्त मीरुसमस्तु होता है । इसी कारण
प्राणापान सम रहनेसे मय स्थिर होता है । और मयका स्थिर
होना मोक्षकी प्राप्तिके लिये एक बड़ा भारी साधन होता है ।

पाठक सदा मुक्त होनेके इस साधनका अच्छी प्रकार
मनन करें और इसको अपने आचरणमें आकर अधिकसे
अधिक ध्यान प्राप्त करें । क्योंकि बड़ी प्रथमाय मनुष्य
अन्त्यका साधक है ।

सदा मुक्त होनेका अर्थ ब्रह्म शान्ति प्राप्त करना है ।
इस शान्तिकी प्राप्ति केही होती है यह विषय जगके साधक
कहा है वह महापुरुष अनेक अर्थ ध्यानेसे देखिये—

(२९) इस अध्यायमें शान्ति प्राप्त करनेका उपाय कहा
है । परमेश्वरका स्वयं पचासवें अध्यायमें मनुष्यको शान्ति
प्राप्त होती है । परमात्माका और जीवात्माका स्वयं वस्तुतः
एकही है क्योंकि दोनों स्वयंका आत्मा हैं । एकका
अवयव और दूसरेका अग्रभाग अलग रखकर दोनोंका
विचार किया जाय तो दोनोंका रूप एकही मतीय होता ।
परंतु इन दोनोंमें भेद भी है, वह भेद यह है कि एक पर
आत्मा परमेश्वर सर्वभूतहितकर्ता है और दूसरा अन्त्य
अनीय स्वामी है । यही भेद मुख्यतः शीतल है और
विचारणीय भी है ।

एकके पास सर्व अधिकार है और दूसरेके पास कुछ भी
अधिकार नहीं है । यह क्यों हुआ ? इसका मयन करना
चाहिये । जिसके हाथमें कुछ भी अधिकार नहीं है उसको
उचित है कि वह अधिकारवालेके कर्तृत्वका मनन करे और

स्वर्ग के लिये बतलेना विचार की। पुत्र अपने पिताका कर्तव्य देखे सिव्य अपने गुरुका गुरुत्व किसमें है। इसका विचार करे और उसके अनुसार बचनेकी चेष्टा करे। ईश्वरके स्वस्व का ज्ञान प्राप्त करनेका नहीं हेतु है। इस गीतामें क्या और अन्य प्रयोगोंमें क्या ईश्वरके गुणोंका वर्णन जो किया है उसका हेतु यही है। साधक जीव जब परदेश्वरके गुणोंका मगन करे और स्वर्ग देसा बचनेका अवलम्ब करे।

पुत्र पिताके सख्य बन सकता है सिव्य गुरुके समान विद्वान् हो सकता है इसी तरह भक्त्या परमात्म्या हो सकता है। यदि साधक घर बाराधन होता जलपत्र व होगा, तो फिर उसको परमात्म्याके गुण आनन्दकी भावस्थिति ही नहीं है। परन्तु छात्रोंका सिद्धान्त तो यही है कि यह पुत्र पुत्रोत्तम हो सकता है। इसीप्रकार इस पुत्रके उदाहरण किये पुत्रोत्तमके गुणोंका वर्णन किया जाता है। यह वर्णन पुत्र के लिये और वन गुणोंको अपने लम्बर जायज करे और मगनसे पुत्रोत्तम बने।

इस श्लोकमें इसी प्रकारकी ईश्वरके कुछ गुण कहे हैं। ईश्वरके गुण वर्णन हैं। उन गुणोंका विचार बहुत है। यहाँ केवल सूचना मात्र कीजै तो गुण कहे हैं। इस श्लोकमें परेश्वर (१) पञ्चतन्त्र मोक्ष (२) सर्व श्रेष्ठोंका सुहृत्, और (३) सब कोशोंका मोक्षक है ये तीन ही गुण कहे हैं। परन्तु हमने दूसरे अनेक गुण सिद्ध होते हैं। देखिये—

‘ सर्वभूतानां सुहृत् ’

ईश्वर सब श्रेष्ठोंका मित्र है। सबका हित करनेवाला है। मित्र अर्थात् सुहृत् वह होता है कि जो सदा हित करनेवाला हो। सुहृत् अर्थात् इष्टव्यवस्थाको कहते हैं। किसीके विषयमें उत्तम इष्टव्यवस्था होनेका अर्थ उसका उत्तम हित करना है। ईश्वर सब प्राणीप्राणोंका हित करता है कोई प्राणी ईश्वरकी धार्मिका करे या न करे वह उसका उत्तम हित करता है। सब प्राणियोंका हित करनेमें ईश्वर सदा उत्तर है। यही ईश्वरका इष्टव्य है। वह कभी किसीका नुक़ा करता ही नहीं। जल उसकी ओ-करा कहते हैं। वह सदा धन्यकर करनेवाला होता है।

सामान्य मनुष्य क्या करता है। यह तो सबको पता है। मनुष्य अपना हित करनेमें उत्तर रहता है। इसकाही नहीं मनुष्य दूसरोंका हानिपत्र करके अपना सुख बढ़ाना चाहता

है। यहाँ साधारण मनुष्य और ईश्वरके गुणोंकी तुल्यता संभवती है—

ईश्वरके गुण
सर्व-भूत-सुहृत् ।
सब श्रेष्ठोंका हितकर्ता ।

सामान्य मनुष्यके गुण
स्वहितउत्तर ।
अपनाही हित करनेका
इच्छा ।
दूसरोंको हानि उत्तर उत्तर
अपना स्वार्थ हास्य करने-
वाला ।

अपनी चरित्रोंके सुधारोंकी
सुक्ति करनेवाला ।

अपका भावस्थान्तर्गत ।
परमार्थी
विश्वकर्मका हितकर्ता
सर्व सुख-हितके कारण
बचावसम्पन्न

अपना सुख बढ़ानेका इच्छा ।
स्वार्थी
अपने परिचारका हितकी
स्वार्थिक कारण सब दूसरोंके
अनुत्तर करनेवाला ।

किन्तु अक्षरतः गुणोंके कारण ईश्वरका सबपर प्रभुत्व हुआ है और किन्तु वह गुणोंके कारण साधारण मनुष्य मनुष्यत्वे भी शिराया है उसका स्वधीकरत इस कोशकसे तो ज्ञात है। मनुष्यको अधिक है कि वह इन गुणोंका मगन करे और अपनी चरित्रोंका साधन करनेके लिये वह सर्व श्रेष्ठोंका सुहृत् “ बचनेका पालन करता रहे। जिसका उसका सुहृत् व्यापक होता उत्तम उसका प्रभुत्व सिद्ध होना चाहिये। मनुष्यका उचितिक कम इस तरह होगा रहता है। सब हित कर्मका हित परिचारका हित आधिक हित उत्तम हित मान्यव्यक्तिक हित सब भूमात्रका हित। यह “अपनापन” बचता जाता है। जिसका इसका बचनन विज्ञात होता है अर्थात् इसमें प्रभुत्व स्थिर रहता है। यह सब वह “ सर्वभूतहितरत्न ” होता है जो वह ईश्वरके अक्षर हो जाता है। सब प्राणियोंके हितके विषयमें ज्ञान मात्र मानमें स्थिर होता यह एक विशेष उचितिकी स्थिति है।

सब प्राणियोंका हित हो जाने इतनी इच्छा तो प्राण सबमें होती है, परन्तु जो मनुष्य अपना सर्वस्व प्राणीप्राणोंके हितके लिये समर्पित करता है, यही भिन्न होता है। जो प्राणिमात्र वायुदेवस्वस्व है, और वायुदेवकी सत्ता ज्ञानवा प्राणिमात्रका हित करनेमें होती है ऐसा ज्ञानवा जो अपनी चरित्रोंके सब प्राणिमात्रके हितके लिये समर्पित करता है उसीकी योग्यता भिन्न होती है।

स्वकर्मणा तमम्यर्घ्यं सिद्धिं विवृतिं मानयः ।

(गी १८।१९)

“ जो अपना कर्म है, उसके द्वारा सब प्राथिमात्रका हित करनेसे सब वासुदेवकी पूजा होती है । और इसीसे अन्धिम सिद्धि प्राप्त होती है । उपाहारणके लिये देखिये । आह्वय अपने आपसे सब मूर्खोंका हित करे क्षत्रिय रक्षा द्वारा सब मूर्खोंका हित करे, वैश्य व्यापारसे सब मूर्खोंका हित करे और ब्राह्मण अपनी कारीगरीसे सबका हित करे । इस तरह चारों वर्ग अपने अपने कर्मसे सब लोगोंका हित कर सकते हैं । साधारणतः इन कर्मोंका उपयोग अपने हित संवर्धनके लिये किया जाता है वेही कम यदि सर्व मूर्खोंका हित करनेके लिये किये जायेंगे तो वे कर्म मुक्तिके सहायक बन जायेंगे और उनसे पुण्य सबभूत पुण्योत्तम बनेगा ।

पाठक विचार करके जान सकते हैं कि इस सर्वमूर्खहितकी क्यौंसेसे अपना आचरण कैसा हो रहा है और कैसा होगा चाहिये । मनुष्योंको उचित है कि वे अपने अन्तर सुहृद्भाव रखें और हेतुमान कम करें । साधकको यही अभ्यास करना चाहिये ।

“ यज्ञतपसां मोक्षा ”

ईश्वर ब्रह्म और तपका मोक्षा है । ” उपासक यज्ञ करते हैं और परमेश्वरकी प्रीति होनेके लिये उसकी समर्पित करते हैं । देखेही तपस्वी लोग अपने तपकी भी परमेश्वर पंज करते हैं । उन यज्ञोंके और तपोंके स्वीकार करके ईश्वर ब्रह्मर संहृत होता है । ईश्वरकी संहृतताका यही एकमात्र साधन है ।

यहाँ यज्ञ तथा यज्ञ है इसका विचार करना चाहिये । वैश्वदेव-संगतिकार्य-दान के तीन यज्ञके रूप हैं । जबता में सामवेद ब्रह्मदेव ब्रह्मदेव और कर्मदेव के चार प्रकार के देव हैं इनको चार कर्म कहा जाता है । इन चार यज्ञोंमें जो देव होंगे उनका सम्कार करना आपसमें संगति करने मित्रता अच्छा संबन्ध करना, और हीनोंको दान करना ये तीन धाम यज्ञके हैं । यज्ञों में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये । वे न होनेकी अवस्थामें कोई कर्म यज्ञरूप हो नहीं सकता । इन अवस्थाके यज्ञरूप कर्मसे परमेश्वर प्रसन्न होता है वेही यज्ञरूप कर्म परमेश्वरके दान स्वीकृत होते हैं । इन यज्ञरूप कर्मोंकी अवस्था मोक्षा है ।

तपका कर्म भीतोप्य सहन करना है । सत्कर्म करनेके समय जो कष्ट होंगे उनको सहनेका नाम तप है । प्राप्येक कर्म करनेके लिये भीतोप्य क्षामिकाय जपायजप भूषण्यास आदि सहन करवाही चाहिये । इस सहन करनेकाही नाम तप है । वह तप ईश्वरार्पणमुक्तिसे करना चाहिये जिससे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है । देखिये—

ईश्वरकी प्रसन्नता

ईश्वरकी अप्रसन्नता

यज्ञ

अयज्ञ

यज्ञसे ईश्वरकी प्रसन्नता
सन्तुष्टिके साकारसे
आपसकी संबन्धनासे
हीनोंकी सहायतासे

यज्ञ न करनेसे अप्रसन्नता
सन्तुष्टिको कष्ट देनेसे
आपसके झगड़ोंसे
हीनोंको कष्ट देनेसे

तप

अतप

भीतोप्य सहनेकी क्षति
बढ़ानेसे

भीतोप्य सहनेकी
क्षति न होनेसे

इस कोटिसे स्पष्ट हुआ कि यज्ञ और तपसे ईश्वरकी प्रसन्नता होती है और इनके न होनेसे ईश्वर अप्रसन्न होता है । ईश्वरकी प्रसन्नताका विचार अलग रखा जाय और केवल मानवी समाजके हितकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो पाठकोंके स्पष्ट होगा कि यज्ञ और तपसे समाजका हित होता है । देखिये यज्ञसे कैसा हित होता है । अहिंसा सत्कार आपसकी संबन्धना और हीनोंका ब्रह्मर के यज्ञके तीन धाम हैं । भेद सम्बन्धनोंका साकार करनेसे वे समाजको सन्तुष्टि देते हैं और सम्पूर्णपरसे समाजको चम्पने हैं । आपसकी संबन्धना करनेसे संघर्षादि बढती है और हीनोंकी सहायता करनेसे उनकी सामाजिक सुविधा उत्तम होकर कारण वे भी समाजके किंच अन्तर्भाव करने हैं । इस तरह संपूर्ण समाज और राष्ट्र यज्ञके द्वारा संगठित सुसंभरित और सशक्त होता है । यज्ञ यह प्रत्यक्ष ज्ञान है । धर्म्ये भी इसी तरह ज्ञान होता है । प्राप्येक कर्म करने समय जो कष्ट होंगे उनको सहन करनेसे वह कर्म पूर्ण रीतिरूप हो सकता है । तथा उपर्युक्त कर्मकी भी वृद्धि होती है । अन्तु । यज्ञ और तपसे इस रीतिसे ज्ञान होता है । वह ज्ञान प्रत्यक्ष होनेके कारण इसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

परमेश्वरकी प्रसन्नता श्री शरीरसे होगी जिससे संपूर्ण जनता-का काम होगा क्योंकि परमेश्वरका मुख बाहु, चक्षु और पाँव क्रमसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्णार्थ शानी और व्यापारी और कारीगर हैं, (अन्वेष्ट १ १२ १२) इसका सरक जर्न यह है कि जनताही जनार्दनका प्रसन्नकर है । जता संपूर्ण जनताका काम जिससे होगा उससे निःसन्देह परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी ही और परमेश्वरकी प्रसन्नताका जर्न श्री सबकी प्रसन्नता है क्योंकि—

वासुदेवा सर्वमिति । (गी १०१२)

वासुदेव वर्णार्थ परमेश्वरही सब कुछ है । जता वायु देव तूत और प्रसन्न हुआ तो सब धुत और प्रसन्न होनेमें कोई संदेह नहीं । ईश्वर सब और उपका भोक्ता होनेमें यह आश्चर्य है । परम इसका विशेष भजन करें और इससे अधिक बोध प्राप्त करें ।

“ सर्वलोकमहेश्वर ”

जब परमेश्वरका वह एक गुण विचारके क्रिये हमारे सम्मुख है । संपूर्ण लोकोंका महात्मा ईश्वर एक मात्र प्रभु है । उसको छोड़कर इसका निर्वाता दूसरा कोई नहीं है । सब जगत्का प्रभु एकही है इसको किसी नामसे पुकारते सबकी प्रार्थना वही सुनता है ।

सर्वदेवममकारः केचनं प्रति गच्छति ॥ तथा—

येऽप्यस्य देवतामस्तां यजन्ते भ्रजयाम्बिताः ॥

तेऽपि मामेव कर्तेत्य यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ १३ ॥

महां हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव नृ ॥ १४ ॥

(गी १० १२)

“ संपूर्ण देवताओंको किना हुआ नमस्कार परमेश्वरको प्रभुता है । जो लोग अमृतमय देवताओंकी पूजा करते हैं वे वरदायि अविधिपूर्वक पूजा करते हैं तथापि वे परमेश्वरकी ही पूजा करते हैं । क्योंकि वही ईश्वर सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु है ।

एक ईश्वरकी कल्पना इससे अधिक पूर्ण रीतिसे कही जायी असंभव है । परम एक ईश्वरकी इस पूज कर्तव्यको अपने मनमें स्थिर करके जनेक देवतायोंको मनसे हटा दें । अनन्त देवताएं बहिरि चर्मके अनुसार हैं, परंतु वे केवल इस एक परमात्माके निश्चित प्रकाशचित्रनहीं हैं । परमात्माको छोड़कर उन अन्य देवताओंका स्वर्णच अस्तित्व नहीं है ।

जो लोग इस सर्व कोकेंकि मदेवरको श्रम करते हैं, उनको भय दृष्टानिवात्मक इस जगत्में कोई नहीं है । पर निर्भय होकर विचारता है । उसको इस परमेश्वरका भाव सदा रहता है ।

“ शान्तिं प्राप्नुयति । ”

इस प्रकारके परमेश्वरका ज्ञान होनेसे प्रत्येक साधकको शान्ति प्राप्त होती है । क्योंकि जो परमेश्वरको स्मरण करता है । वह स्वयं परमेश्वर बनता है और परमेश्वरता प्राप्त है, जता वह साधक श्री कान्तिमें प्राप्त होता है । देखिए—

ईशा तं कात्वा भवता भवति ॥ (वे ३ १०)

कल्पेन शिव शान्तिमस्तप्नोति ॥

(वे ३ १११)

ब्रह्मविद्यामोति परम् ॥ (वे ३ १११)

ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः । (प्या ३ ८) पीता—

५१)

ब्रह्म विद्यान् ब्रह्मामिमैति ॥ (कौ ३ ११)

ईश्वरको जानकर भग्न होते हैं । परमेश्वरको जानने कर्तव्य शान्ति प्राप्त होती है । ब्रह्मज्ञानीको परम, पर प्राप्त होता है । ब्रह्मज्ञानी ब्रह्ममें स्थिर होता है । ब्रह्म जाननेका प्रकाश प्राप्त होता है । ”

इत्यादि बचनोंमें कहा है कि ईश्वरके ज्ञानसे शान्ति मिलती है और ईश्वरत्व स्थिर होता है । इसीका नाम न का नारायण होता है ।

“ मां ज्ञात्वा ”

“ मुझे जानकर शान्ति मिलती है देता वहां रह है । यहां मुझे ” (मां) कर्मद्वारा जिसका बोध देव चाहिये वह एक वडा विचारणीय अर्थ है । प्रत्येक ज्ञानों में कि वहां कहनेवाके भवत्वा वासुदेव होनेसे (मां) मुझे इस सम्प्रद्वारा भगवान्की प्राप्त करना योग्य है । भगवाद् वासुदेव कृष्ण परमेश्वर और परमेश्वर इन दोनोंके गीतामें एकही सहस्रतुल्य ज्ञान होता है वह सब ज्ञानदेही है । निःसन्देह वहां “ मां ” मुझे ” इस वाक्यसे परमात्मा वह जर्न निश्चित है । परंतु भगवद्गीतामें वहां वहां जहां मां भादि सम्प्र बोध है, वहां वहां परमात्मा जर्न तो है ही परंतु एव इन्ने

साधक भी अपनी जगत्प्रतीति बहाई रखकर अपना भागी अनुभव पुरुषार्थकी स्थिति धारणके पूर्णही केवल धर्मोत्तेजना करता है ।

साधक कभी न कभी सिद्ध बन सकता है । जब साधक-स्थितिमें उसको विद्यावत्याका अनुभव जाना बसता है । तबपि सिद्ध अवस्थामें अपना अनुभव करता होगा इसकी कल्पना करनी हो तो गीताके कई भगवत् गीतों के अर्थोंके अन्तर्गत भगवानकी कल्पना न करके अपनी कल्पना बहाई करके धर्मोत्तेजना वह स्थिति वह साधक भी प्राप्त सकता है । सिद्धावस्थामें भरी स्थिति कैसी होगी मैं कैसा उन्नत होऊँगा, और उन्नत स्थितिमें मुझे क्या अनुभव होगा इसका ज्ञान वह उन्नत प्रकार अधिक भी प्राप्त कर सकता है ।

जैसा कोई समुच्च वादमें राजाका स्वार्थ लेकर रंगमें जाता है और राजाका प्रतिनिधि करता है । और समुच्च राजाही धर्ममात्र बनता है । जबतक वह उस रंगमें रहता है तबतक उसको स्वयं राजा न होते हुए भी राजा बननेका अनुभव धारण है । समुच्च राजा न होता हुआ भी केवल भाव्यमार्गसे जैसा वह राजाके अधिकारका अनुभव के सकता है वैसाही गीताके मैं भगवत् मुझे इन अर्थोंके अन्तर्गत और केवल भी इन अर्थोंके अन्तर्गत अपनी कल्पना करके अपनी भागी अवस्थाकी कल्पना उसको हो सकती है । वह कल्पना केवल धर्मोत्तेजना ही है इसमें इस समय सर्वार्थ बोधार्थ भी नहीं है तथापि इन साधकको इस तरह वह कल्पना करनेमें बड़ा ही भगवत् भिन्न साधक हुआ और भिन्नता होना चाहिये अन्तः-

विश्व निष्कप करनेके विषयमें हम जगत्प्रतीतिसे सुगमता हो सकती है ।

गीताका अन्वय करनेवाले इस दृष्टिसे भी मनन करें । अन्वयमात्र ही एक ही स्थिति है । कईयोंको इस अन्वयसे भी बहुत लाभ हो सकता है । यदि मैंने अच्छी तरह अन्वय किया तो मेरी स्थिति कैसी होगी इसकी कल्पना होनेसे साधकका चित्त अन्वयपर अधिक स्थिर हो सकता है ।

' मेरा ज्ञान होनेसे शान्ति प्राप्त होती है । ' इसका अर्थ जगत्प्रतीति ज्ञान होनेसे शान्ति मिलती है " ऐसा भी है । शरीर इन्द्रियाँ, मन इन्द्रियें मिथ्या, विषयमात्र मयुक्त-विषयमात्र होयमयता, विकारमयता और अकारणता है । इस विषयके ज्ञानसे विषयमात्रा बनेगी और विषयमात्रसे अकारणता हो सकती है अर्थात् इससे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होगी । केवल जगत्प्रतीति ही एक अन्वय जगत्प्रतीति अन्वय विज्ञान निर्विकार है इसलिये जगत्प्रतीति ज्ञानसे ही निर्विकार होगी और निर्विकारसे शान्ति भी प्राप्त होगी ।

जिस कारणसे ज्ञानसे वह शान्ति प्राप्त होगी वही कारण भगवत् अन्वय भगवत् अन्वयसे है इसकाही नहीं परंतु वही भगवत् अन्वयमात्र है, वह ज्ञान होनेसे अपना वह अधिक हो जाना लगता है । भरी अन्वयमात्र इस प्रकारकी है वह सबसे अधिक ज्ञान है और इसीसे समुच्चका उन्नत होता है । गीताके " मैं भगवत् मुझे " ये शब्द हमी अन्वयमात्र साधक हैं । परंतु जब यह अनुभव होगा तभी इनकी सच्चाई का पता लग सकता है । तब तब वह सार्वत्रिक ज्ञानही रहेगा ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी अवधारणामें कथित अन्वयमात्र निमित्त हुए योगसाधनविषयक भीज्ञान और अनुभव दोनोंमें कर्मसम्भारयोग नामक पंचम अध्याय समाप्त ३ ५ ३

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायका थोड़ासा विचार

कर्म-संन्यास-योग

इस अध्यायका नाम कर्मसंन्यासयोग अथवा सम्न्यास योग है। कई पुस्तकोंने सांख्ययोग ऐसा भी सुत्रित है। कहना अच्छा कि या तो निष्क्रिय है, इस बातकी सिद्धता इस अध्यायमें की है इसलिये इसका यह नाम है। इस लिये इस अध्यायमें जिस सम्न्यासका वर्णन है उसका स्वरूप हमें वहाँ देखना चाहिये। इस अध्यायके पूर्व की सम्न्यासका बहुत मयोरस वर्णन किया और पञ्चाय कर्म करनेको भी कहा इसलिये जर्जुनके मनमें सोंका उत्पन्न हुई कि—

संन्यास कर्मका कृष्ण पुनर्वैता च संसृतिः ॥

यच्छ्रेय एतयोरेक तन्मेऽब्रूहि सुमित्रिष्ठितम् ॥ (५१३)

हे कृष्ण ! क्या एक बार कर्मोंके संन्यासकी और दूसरी बार कर्मोंके बोधकी प्रशंसा करते हो इसलिये इस दोबोहोंसे जो एक माग मेरे लिये कल्पान्तरकी होने वह मुझे निश्चित दीजिये कविये ।

इस प्रसंगमें जर्जुनकी संकाका कारण स्पष्ट हुआ है। भगवान्के मुखारविन्दसे जब जर्जुनके संन्यास और कर्मयोग की प्रशंसा समाप्तहो गयी थी तब उसके मनमें सोंका हुई कि कौनसा मार्ग अवलंबन करें ? यदि कर्मसंन्यास श्रेयस्कर है तो उसीका आचरण क्यों न करें ? फिर बार बार कर्म करी ऐसा उपदेश भगवान् मुझे क्यों दे रहे हैं ? ऐसा विचार जर्जुनके मनमें जाया । कर्मसंन्यास और कर्मयोगमें मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा योग है वह प्रश्न जर्जुनने वहाँ किया । इसी प्रसंगका उत्तर भगवान्ने इस अध्यायमें दिया है ।

संन्यासयोग और कर्मयोग दोनों विशेषस्कर हैं, परंतु संन्यासकी अपेक्षा जर्जुन कैशे मनुष्योंके लिये कर्मयोग विशेष सुकराकर है । " (गी ५१५) वहाँ कर्म योगमें कुछ विशेषता है जो विशेषता संन्यासयोगमें नहीं है ऐसा कहकर कर्मयोगकी विशेष प्रशंसा की है। वहाँ व्याख्यानमें बारीक बारीक यह है कि जर्जुनका प्रश्न " मेरे लिये श्रेयस्कर कौनसा माग है ऐसा है और प्रश्नके अनुसार

श्रीभगवान्का उत्तरभी मेरे लिये कर्मयोग विशेष श्रेयस्कर है ऐसा ही है। यह प्रश्न और वह उत्तर विचारपूर्ण देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कई दूसरे मनुष्योंके लिये संन्यास योग भी वैसाही श्रेयस्कर होगा कैसा जर्जुन कैशे लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। क्योंकि (गी ५१३) में कहा है कि संन्यास-स्वभावकी और कर्म-स्वभावकी ऐसे दो प्रकृति कोष होते हैं, उनमेंसे संन्यास-स्वभावकी लिये संन्यास मार्ग श्रेयस्कर और कर्मस्वभावकी लिये कर्मयोग श्रेयस्कर है। इस पूर्वकथित विषयानुसार वहाँ (५१३) कहा है कि जर्जुन कैशे कर्मस्वभावकी लिये कर्मयोगी विशेष श्रेयस्कर है ।

यदि ऐसा है तो जर्जुन कैशे कर्मयोगी क्यों संन्यास करने प्रसन्न कर सकते हैं ? अथवा उसके संन्यासका प्रश्न कभी प्रसन्न नहीं हो सकता ? यदि नहीं हो प्रसन्न हो नहीं सिरासाकी बात है। परंतु भगवान्की विराजताका देख कर प्रसन्न होनेकी बुद्धि वहाँ कभी है, जिससे कर्मयोगी को विराजता होनेकी आवश्यकता नहीं है। वह तो बुद्धिका आवश्यक करने कर्मयोगका आचरण करना हुआ है संन्यासका प्रश्न कर सकता है। देखिये—

श्रेयः च मिदसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

विद्वेष्टो हि महाबाहो दुर्लभं संघातमुच्यते ॥ (५१४)

जो मनुष्य किसीसे द्वेष नहीं करता और किसीसे प्रीति नहीं रखता वही करता और जो द्वेषिते पर राग है वह मिदसंन्यासी है और वह दुर्लभ संघातसे मुक्त होता है। " वहाँ (१) द्वेषन न करना (२) द्वेषन करना और (३) द्वेषमान न करना करना, ये तीन कर्तव्य संन्यासीके कहे हैं। जिसके मनमें द्वेषना दूर हुई, द्वेषमान दूर हुआ और द्वेषमाना न हुआ वह संन्यासी हुआ जगत् । क्योंकि वह द्वेषन करने परने का न करने, वह मिदसंन्यासी है। संन्यास संन्यासी कीन है और कीन वही द्वेष का नाम लक्ष्योक्तिगत कोहकरी होगा ।

नित्य सन्यासी

न क्रीडाति

(ह्वा न करना)

न छेदि

(ह्व न करना)

मिर्दण्डः

(ह्व छेदना)

बंधात् प्रमुच्यते

(बन्ध से मुक्त होता है)

मोक्ष

असन्यासी

कोडाति

(ह्वा करता है)

छेदि

(ह्व करता है)

छण्डः

(छेदनात्मक धारण)

बंधात् न मुच्यते

(बन्धों से गिरता है ।)

बध

वहाँ इसके मतसे सन्याससे मोक्ष होनेके लिये क्या है और सन्यास न होनेसे बंधन होनेका उत्तर क्या है इस का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इस कोशकका बहुत मतलब कौन से उपायों व्यवहारमें लाने कर्म करते हुए भी निज सन्यासी होनेकी बुद्धि प्राप्त हो सकती है।

वहाँ क्या उत्तर होता है कि ह्य निषेधकर्मणोति किम गुणोक्त बोध होता है ? ह्वात्का दूर होना कामनाका दूरता और ह्वात्का न होना ये दोनों निषेधके लक्षण हैं। निषेधके किसी एक उत्तरका बोध नहीं होगा अतः ह्यसे सन्यासीके लिये गुणोक्त विचार करना चाहिये।

(१) ह्वात्का मतसे ह्य मना से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ लक्ष्यमें एक उत्तरका जाव होगा साक्षात्पर्यवशमें मैं भिन्न हूँ और सब अगत् मुझसे भिन्न है ऐसा ही ह्वात्का अनुभव अनुपपन्न हो जाता है। वह ह्वात्कावत् सब नहीं है। मैं, तू और वह वह सब मिलकर एक ही अस्तित्व है। क्योंकि वास्तुदेवः सर्वम् (गी. ७।१९) यह महासिद्धांत है। अतः यदि वास्तुदेवः सर्वं वह सब है तो मेरे भावसिद्धि किंम ह्य अविनिर्मुक्तताकी उत्पत्ति भी वहाँ ही अनुभवमें इसी तरह आ जायगी। अतः निर्दण्ड रूप निषेधकर्मणोति निषिद्धकर्म एकत्वका दर्शन ही है। (एकत्वमनुपपद्यतः । ईश ४)

(२) न छेदि वह नित्य सन्यासीका दूसरा निषेध लक्षण है। जो नित्य सन्यासी होता वह किसीका कभी ह्व नहीं करेगा परंतु वह ह्व नहीं करेगा इससे वह सिद्ध नहीं होता कि वह दूसरोंसे कैसा आचरण करेगा।

वस्तुतः ह्व न करनेका निषिद्धक उत्तरपर ' प्रेम करना ' ही है। वास्तविक उत्तरद्विष्टे देखा जाय तो यह नित्यसन्यासी किसी दूसरेपर प्रेम नहीं करता वह अपने पराधी प्रेम करता है। क्योंकि वास्तुदेवः सर्वं सब कुछ वास्तुत्वका रूप है। मैं तू और वह ये सब उसके किये एक उत्तरके रूप बने हैं। दूसरा कोई अलगमें नहीं है फिर वह ह्व किसका करे ? यदि कुछ बिगड़ा है तो भी उसीसे बिगाड़ा है और यदि कुछ सुधरा है तो भी उसीसे सुधरा है। इस एकत्वके अनुभवसे ह्वकी जरूरत नष्ट होती है। वह किसीका ह्व नहीं करता। इस स्थितिमें वह ह्वरहित होता है ह्वात्का नहीं अतितु इस समय उसकी अलंकार कायका दृष्टि होनेसे तब आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ न होनेसे सर्वत्र वास्तुदेवका अलंकार रूप दिखाई देता है अतः वह सबपर अलंकार प्रेम करता है। अपनी आत्मापर प्रेम करनेके समान वह सबपर प्रेम करता है। सर्वत्र जनता सर्वत्र मात्मीयमयी सर्वत्र स्थिरचर अगत् उसके किये वास्तुदेवमय परमात्ममय ह्वरस्वरूप बन गया सब—

सब को मोहः कः शोक एकत्वमनुपपद्यतः (ईश २)

इस तरह एकत्वका साक्षात्कार हुआ तो शोक और मोह कैसे हो सकते हैं ? इस एकत्वानुभवके फलस्वरूप वह सबपर अलंकार प्रेम करता है। न छेदि इस निषेध लक्षणका अलंकार प्रेम करना यह निषिद्धक लक्ष्य है।

(३) किम सत्त्वं गीता जीसरा सत्त्वं (न-क्रीडाति) ह्वा न करना है। जिसको अलंकार परमात्ममयत्वका साक्षात्कार हुआ उसकी और कौनसी कामना होगी ? अतितु कामना उसकी सत्त्व होनेके कारण जो अतितुम प्रकल्प या वह उसकी प्राप्त हुआ, फिर उसके समीप कौनसी कामना होगी जो उसकी सत्त्ववर्गी ? सब वास्तुदेव का रूप है इस स्थितिमें जिसको सिद्ध न रहा उसकी कोई कामना नहीं रह सकती। अतः उसके गृह संतुष्ट कहें हैं। इसलिये न क्रीडाति का निषिद्धक लक्ष्य निज गृह बनना नित्य संतुष्ट है।

इतने विवरणसे तीनों निषेधकर्म लक्षणोंके निषिद्धक अलंकार प्वाचनमें आ सकते हैं। ये वहाँ कोशकमें देखिये—

बढ़ाई दिखाया है नहीं तो जो स्थान साक्ष्यमार्गी प्राप्त करते हैं वह योगी भी प्राप्त करते हैं ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं था। इसी विधानसे ये ही मार्ग कुछ अन्तर्निहित हैं ऐसा सिद्ध होता है। परंतु यह येद आचारणकी दृष्टिसे है, बन्धित सिद्धि की दृष्टिसे कोई मद् नहीं क्योंकि दोनोंकी एकही स्थान प्राप्त होता है। पाठक पूर्वोक्त संन्यासीकी कल्पना देखें कर्मयोगी भी इसका हेल और हैतमाव कोडकर संन्यासका पूर्व एक प्राप्त करता है। पूर्व-एक प्राप्त होनेकी दृष्टिसे दोनोंकी एकताही हो गयी। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे कर्मयोगी और संन्यासयोगी भिन्न दिखाई देने लपानि उनकी मनोभूमिपर समान चामकता होगी। यहाँ परिणामकी दृष्टिसे दोनोंकी एकता हमने देखी। और भी एक विचार है जिससे कर्मयोगकी विशेषता स्पष्ट हो जाती है। कर्मयोगके निता संन्यासयोग सिद्ध होगा यदि कतिपय है—

संन्यासस्तु महाबाहो पुःसमाप्त्युपयोगतः ।

योगयुक्तो सुगमप्रज्ञ न बिरेवाधिगच्छति ॥

(गी ५४)

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्चेयसकतायुयोः ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विदिरयते ॥

(गी ५५)

‘ योगके नन्वातके निता संन्यासका नन्वात करता बलि दुःखदायक है। परंतु जो पहले योगसाधन करके नन्वात संन्यासका अनुष्ठान करता है वह सीधेसी मत्ता प्राप्त करता है। संन्यास और कर्मयोग दोनों अवरकर हैं परंतु कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगकी विशेषता है। वह विशेषता सुगमताके कारण है। यदि कोई अनुभव होतो एकही है ऐसा मानकर कर्मयोगका त्याग करके एकत्र संन्यासका ग्रहण करेगा तो उसकी (पुःसमाप्त्युपयोग) अपो गताः ५४) निश्चिद दुःख होग्य । परंतु संन्यास न सेते हुए कोई कर्मयोग करेगा तो उसकी बैसे कष्ट नहीं होगी। अर्थात् वह नितायता सुगमताकी दृष्टिसे है। सर्व आचारण कोनोंको आचारणमें कठिनाता मतीय न ही इस दिने उनके किने बचम अंशमें रहकर करने योग्य सुगम यह मार्ग है। इसी दृष्टिसे इसकी यह विशेषता करी है। हम यागने जाने जाने जाने इच्छाके छेद तब तो इसीसे निता संन्यासी बचकर बन्धित निदि भी मिलती है। हम

तब यह मार्ग सुगम है। मार्गमें आचरणे योग्य है, इस कारण नाग इसको छाटना पडता है और दूसरा पडना पडता है यही भी बात नहीं। इसीका आचरण करते करते रागद्वेष और हैतमाव कूटवेदो अतिम सिद्धि प्राप्त होता है। इस तरह नहीं मार्ग मार्गमें सुख है नार अन्तर्निहित सिद्धि यद् भी है बतल कहा है कि बड़ा संन्यासी जाते हैं यहाँ योगी भी जाते हैं। (गी ५५) अर्थात् योगी पंडित नहीं रहते। सदैव सदा उच्च होने देरीसे पहुँचने परंतु पहुँचने निश्चयसे। इतने विचारसे कर्मयोगकी विस्तरम किस दृष्टिसे है यह बात पाठकोंके लपाने ला चुकी होगी और दोनोंकी एकता किस दृष्टिसे है इसका भी लान हुआ होगा।

संन्यास और कर्मयोग दोनों निश्चेयकर है

(गी ५५) यद्यपि अर्जुनसे कहा कि तू कर्मयोगी कर । इसका कारण इस भागकी सुगमता है। कोई बड़ा संन्यास करे कि कर्मयोग करनेसे कर्मसंन्यासका एक प्राप्त होता है वा नहीं? वह नितायनेद प्राप्त होता है। क्योंकि गीतामें इसी सिद्धि की पुष्टि करी है। कर्मयोग करते करते इस पुष्टिके द्वारा छावक सबकीमें कर्मसंन्यासका फल प्राप्त कर सकत है वह पुष्टि कर्मकडपर नमासकि किता कर्मकडपराग है जबका हमरे लक्ष्में इच्छा होय और इच्छाका त्याग करता है। दोनोंका अर्थ एक ही है।

निर्लेपता

‘इच्छा होय और इच्छा वैलीन वैचकते हेतु है, हमसे पुन होकर कर्म करनेसे अनुभवको कर्मका रूप लपता है जबका पाप कमता है। लता यह स्पष्ट है कि यदि कर्मके बीचकी इच्छा है तो इच्छा होय नार हैतमावको दूर करना चाहिये। यहाँ पाठक पूछ सकते हैं कि इच्छा हैव भादिके कारण कर्मका बीच क्यों कमता है? इसके उत्तरके किने मोहाया विचार करना आवश्यक है। सबसे पहले इच्छाका अर्थ “ मैं लता हूँ और अन्य काग मुझसे प्यारना भिन्न है ” यह विचार सतत आग्रह रहता है। इसकी यह विचार उत्पन्न होता है कि मेरे अतिस्पर्धी वे सब अन्य हैं इसलिये इनसे मुझे दूर है अतः इनके लुप्त रहनेके निने मुझे प्रयत्न करना चाहिये। हम लताक अनक विचार मममें उत्पन्न होनेसे मममें हैव उत्पन्न होता है। इस हैतमावका बिकाम लता

समर्थ किसान आदि हैं और जन्मते भगनी जमानिहरी इसका फल है। तत्पर्य यह है कि ईशमायसे हेबमायकी उत्पत्ति है। ईशमायसेही इष्ट्याकी उत्पत्ति है क्योंकि मैं भयन हू और वह दूसरा पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण होऊंगा इस विचारसे दूसरे पदार्थों की शक्ति करनेकी कालबा हारी है इस इष्ट्या या कामनासे विरोधकक साथ हैब और अनु मृदक पाव रनेह होया है और आगे सराहे और जमानिहरी होनेमें कोई समेहरी नहीं है।

इस तरह एक साथ मेम दूसरे के साथ बैठ चुकती गयी कि मुम भोग चाहिये अपने मित्रके किये बीचमें जो जो बचपने या ज़ांवेगों उमरमें मैं ॥४॥ हूँ। हृत्पदि निचारसे जो हृत्प होंगे जो जो कम हवि वे परिमुह होंगे ऐसा कीन कह सकना ? और यदि वे कम परिमुह नहीं होंगे तो वे बचपन कारक बनकर होंगे। हसीकिये कहा है कि हृत्प हों और हृत्प भावमें जा कर्म होंगे वे बचपने के हों होंगे ॥ अतः बचपने निमुह होनेके किये यदि प्रयास करना है तो पहले हृत्प हों और हृत्प को सबसे हदना चाहिये ॥ और सबसे गृह और मर्त्यामनाय दिव्य करना चाहिये ॥ हसी सिद्धि के लिये जर्मप्रयोग विविध विधि कहे हैं, गीतामें भी कहा है—

पाण्युक्तो विमुक्त्यात्मा विज्ञितात्मा विवेकिभूयः ।
 सर्वमूनात्तममूनात्मा बुधैर्वापि न सिध्यते ॥ ७ ॥
 मैव विविचितात्माति युक्तो मयेन तावद्विद् ।
 पदवन् श्रुत्वाऽपुनरिदमिदमिदमिदमिदमिदमिदम् ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षमिदं ब्रह्म ब्रह्मविद्यायां ब्रह्मविद्यायां ।
 इन्द्रियादीनि प्रत्यक्षेण यन्मन्त्र इति यावत् ॥ १९ ॥
 ब्रह्मविद्यायां कर्माणि त्रीणि व्यक्ता करोतु यः ।
 त्रिदश स रा पापान् पञ्चतन्त्रविधौ यता ॥ २० ॥
 (श्री ५)

[illegible]

भीर बंद करके समय केमक इंदिराई इंदिराई निमोने
स्वयं बर्ता है देखा अनुभव को ॥ फकती बामनिक ओर
कर कर्मोको ज्ञानमें लाने करके जो करता है, वह पवन
पानीमें किशु न होयके सामान पाउते अकिशु रहता है ॥

वहाँ गीताने कर्म करते हुए कर्म के तोनों के बलिष्ठ रा
मेही उद्यम युक्ति कही है । पहले मनुष्य शिरोधार्य कुल
या और आत्मसत्तवी बने और सर्व श्रुती की को बाध है
वही मेरी भाषा है ऐसा समझे । कर्म के प्रकार बाध
(सर्व स्वयं) व रहे, ईश्वर को अपने सब कर्म सर्व
करे । अपने आपको कर्मों का जगतां समझे और न
कर्म ईष्टियों द्वारा हो रहे हैं, उनका कर्ता नहीं है
ऐसा अनुभव करे । अपने होनेसे कर्म के तोनों के मनुष्य
बलिष्ठ रह सकता है । इस बार श्रोतों की वृत्ति
है वही पूर्ण कीन शब्दों में कहा है वह बात अवाधिका
कोरकमें बलिष्ठ—

म काक्षति (५१३) = यिदुद्यात्मा विजिताया
 विजेद्विद्या (५१३) । नैव विजे
 स्करामि (५१८) । इन्द्रियाणि
 इन्द्रियाण्येषु बतन्ते (५१९) ।
 सगं त्यक्त्वा (५१९) ।
 प्यापाय कर्माणि (५१९) ।
 [यथेष्टा होत, सर्व कर्म ईप्सव
 क्य सुहारा होत कर्तव्य हो]
 निर्दग्धा म वेष्टि (५१९) - सर्वमूलात्तममूलात्मा (५१९)
 [सर्व धर्मों को बाध करती बाध
 है ऐसा माने]

[illegible]

मार्थिक मत्तमें रहने है । अपने सब कर्मोंके फल उसकी संतुष्टि के लिये समर्पण दान बन्धना त्याग करनेसे अनुप्य कर्म दोषसे मुक्त हो सकता है । इसका स्पष्टार्थ है कि—

ब्रह्मते किये सब कर्मोंके फल समर्पण करना ।

ईश्वरके लिये सब कर्मोंके फल समर्पण करना ।

सर्वभूतत्माके लिये सब कर्मोंका दान करना ।

सब प्राणियोंकी संतुष्टिके लिये अपने कर्मोंकोका दान करना ।

प्राणिमात्रको मुक्त देनेके लिये अपना जीवन दान करना ।

बहिष्ता जल धारण करना और किसीको कष्ट न देना इत्यादी नहीं परंतु सब प्राणियोंका हित करनेके लिये यथा-शक्ति दान करना । बड़ेबड़े निष्कामता वादि सत्त्वों का मान नहीं है । साधारण हीन अनुप्य अपने मुक्तके लिये दूसरोंका बाधपात करता है । यह द्वेषमय द्वेषका सकारण करता है । इसमें कर्मदोष कमते हैं । परंतु जब मानव रूप ब्रह्मसम में पहुँचता है उस समय दूसरोंके हितके लिये ब्रह्मसमर्पण करता है, इस समय उसके मनमें बड़ेबड़े नीच और निष्काम मान होता है और वह कर्मोंके दोषोंसे मुक्त होता है । अंतमुक्तकी सिद्धि इस तरह होती है ।

सर्वभूतोंकी सेवा परमात्मकी सेवा है क्योंकि (वासुदेवा सर्व ॥ गीता ७।१९) सर्वभूतही वासुदेवका रूप है । वासुदेव भारतवर्ष परमात्मा परमेश्वर ईश्वर बसुन्दा जन्म है परंतु उसकी सृष्टि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र गौ, कोटि बादि प्राणी हैं (ऋग्वेद १।१९।८१।१९ श्लोक) अतः परमात्मकी सेवा शक्ति उपासना करनेकी इच्छा हो हो इस मूर्तिमेंकी सेवा शक्ति उपासना करनी चाहिये । अगवहोताके सिद्धि-अध्याय (गी १) और निचक्य अध्यायमें (गी ११) यही कहा है । मन्त्रमें तथा अन्य प्राणिमें जो दुखी और बलवत् लोग उबका दुःख कष्ट और प्राप्त दूर करनेके लिये अपना जीवन समर्पण करवाही परमात्मके लिये अपना जीवन समर्पण करना है । जो दुःख अपनी मानव शक्तिमें हीन हीन लोगी दुखी ब्रह्मदेवकी दृष्टिपूर्वकित अन्धकारों की ओगोंको देखते हैं, और उन को दूरपाय न करते हुए मंदिरोंमें भोग खाते हैं, वा अन्य रीतसे अपनी कैव उबते हैं, वे ईश्वरमहिम्न को नहीं दूर हैं ।

पाठक नहीं समर्पण यदि किसके लिये करना चाहिये इसका यह सिद्धान्त ध्यानमें धारण करें । कर्मफलका त्याग दान समर्पण इसी सर्वभूतत्माके लिये करना चाहिये । इसी सर्वभूतत्माकी शक्ति करना चाहिये । यही सर्वभूतत्मा धर्म और मूर्त परमेश्वर है । यही सबका उपासक है । यहाँ कई लोग कहेंगे कि ब्राह्मणमें परमात्मका रूप हम देख सकते हैं परंतु ब्राह्मणमें परमेश्वर कैसे रह सकते हैं, इस बातकाके विचारके लिये इसी अध्यायमें कहा—

विद्याधिनयसंपत्ते ब्राह्मणे गति हस्तिनि ।

शुनि कैव श्रपाके च पण्डिताः समदर्शीनाः ॥१८॥

इदं च तैजितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः ।

निर्वोप हि सर्वं ब्रह्म तस्मात् ब्राह्मणि ते स्थिताः ।

(गी ५।१९)

जानी ब्राह्मण अजानी ब्राह्मण के अनुप्य तथा शब्द हाथी और कुत्ता बादिमें ज्ञानी लोग समरूपते ब्रह्म है ऐसा देखते हैं । वह ब्रह्म सर्वत्र सम और निर्गुण है निर्विकार सम सम्य स्थितिके प्राप्त होता है वे ब्रह्ममें अवस्थित होते हैं और अन्धकारको धीरते हैं । इस उपदेष्टके ब्राह्मणमें ईश्वरका ध्यान है और ब्राह्मणमें नहीं है ऐसा कहना अवैतन्य है । सब वस्तुमात्र वासुदेवही है (गी ७।१९) यह ब्राह्मण हो वा ब्राह्मण बन्धना कुत्ता हो वा हाथी । यह सब परिचरकाही मूर्त रूप है । यह समस्तुष्टि धारण करके इस सर्वभूतत्माकी शक्ति अनुप्यकी करनी चाहिये । अपने कर्मोंके फलका दान इसीकी संतुष्टिके लिये करना चाहिये । गीतामें कर्मफलका कर्मफलका संग छोड़ना जानि भी कहा है उसका अर्थ अपने कर्मका फल इसी अणतात्मनाईव वा सर्वभूतत्माका समर्पण करना है । गीतामें कर्मफलका संग उपदेष्ट है कि—

कुत कर्माणि सर्गं त्यक्त्वा (गी १।४८)

कर्मजं फलं त्यक्त्वा । (१।५१)

त्यक्त्वा कामफलासर्गं । (१।२)

कर्माणि सर्गं त्यक्त्वा करोति । (५।१)

मुक्त कर्मफलं त्यक्त्वा । (५।१२)

कामास्त्यक्त्वा सर्वमिदोपतः । (१।२४)

कर्माणि सर्गं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि ।

† (१।१९)

सर्ग स्वत्वा फलं चैव कार्यं कर्म क्रियते ॥
(गी १८१९)

सर्वकर्मफलत्यागं प्राप्नुवन्त्याम् । (१८१९)

मा फलेषु कदाचन । (१८२०)

फलं सक्तो निबध्यते । (५१२२)

कर्म कुर्वन्ति सर्वे स्वत्वाऽऽत्मसुखे । (५१२३)

अपने कर्मोंका फल केवल मुझे ही मिले ऐसी बातना न
चारन कर । अपने कर्मोंको जो फल होगा वह सर्वभूतोंके
लिए दान कर । कर्मोंके फलपर ऐसा चिन्तन नहीं है ।
अपने कर्मोंके फलसे होनेसे वंचन प्राप्त होता है । अपने
कर्मोंका फल सर्वभूतोंके लिये समर्पण करनेसे अपनी
पवित्रता होती है । कर्मोंके फलका त्याग करना है
इसका विचार करनेके लिये हम सबकोका मनन करना
चाहिये । इस मननसे निश्चित होता है कि कर्मोंके
निम्नलिखित सूत्र हैं—

कर्मयोगके सूत्र

प्रत्येक मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिये ।

(गी १८२०)

किसीको कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है ।

(१८१५)

कर्म यथासाध्य करना चाहिये । (१८२८)

उसका फलपर मासिक नहीं धारण करना
चाहिये । (१८२०)

अपने कर्मोंका जो फल प्राप्त होगा वह सर्वभूतोंके
हितके लिये समर्पण करना चाहिये ।

(५१०१, ११२, ५११५, ११२४)

अपने कर्मोंका फल अपने किये रखनेसेही वंचन
होगा । (५११९)

अपने कर्मोंका फल सर्वभूतोंके लिये समर्पण
करनेसे मोक्ष होगा । (५११५, ११२०)

कर्मोंके लिये ये सूत्र हैं । पाठक इसका मनन करें । हम
भूतोंका मनन करनेसे जो मानवकर्म निश्चित होता है वह
यह है । मासिक नपना अन्धकारका कर्मका वचन रीतिसे
कर नहीं हो उससे वैभव मिलेगा, उस फलका वचन दान
मन भावियोंकी मर्चाके लिये को । सुक्ति प्रदायकन जाति
अपना कर्मका उत्तम रीतिसे को इससे प्राप्त होनेका फल

ज्यादा मन जाति सब भावियोंके लिये कि वचन को ।
वैभव कृति गौरवा और भावित्य को बहुत सब करने को ।
बहुत वचन कर्मोंका दान सबकी मर्चाके लिये को ।
इसी तरह भूत अपनी कारीगरी और सेवा उत्तमसे उत्तम
करे उससे को वचन फल प्राप्त हो उसका दान वह सभी
मर्चाके लिये को । जहाँसे शुरूके सब को उत्तमोत्तम करने
को, कोई भावनी न रहे, कोई कर्मसे कर्म न को निम्न
उत्तम होता समय हो उत्तमी पराधन करके उत्तम को
को वचन कर्मों को सब जहाँसे सब जाति मिले वह निम्न
अपने दान बना करके कोई न रहे । सब कर्मोंका फल
न शुरूकोसे सबकी मर्चाके लिये समर्पण हो रहा रहे । सब
शुरूकोसे सब कर्मोंका योगदान बनाना जाने । उत्तम
मानव जातिका व्यवहार इसी निम्नमन मानसे को ही
सुक्ति होगी और सदान भावसे उत्तम हुए मानके
सब शुरू हुए होने ।

जहाँसे सब वचन सब वह मानवकर्मोंकी उत्तम
जातिसे सब भावियों अपने कर्मोंका उत्तम कर रही है
इसी कारण है । इसी कर्मोंके कारण सब भावित्य है ।
विश्व समय वह फलसक्ति शुरू होगी और अपने कर्मोंका
सर्वभूतोंके लिये दान करनेका सबका स्वयम् सब मानव,
वसी समय सब भावित्य शुरू होगी । इसी स्वयम्
मान उत्तम, कर्मोंका है इसीको त्याग को
है । वही मानवी दुर्गाको वचन करनेका है । वही को
निम्नलिखित वीचने कोके लिये कहा है—

मिर्द्धयते हि वैष्णवसुख्यते । (गी ५११)

कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति । (५११२)

संन्यस्यास्ते सुखं वशी । (५११३)

प्राज्ञयोगयुक्तास्मा सुखमसंख्यमसुते । (५११४)

विगतैश्चामयकोषो मुक्त एव । (५११५)

सुखं सर्वभूतानां कृत्वा शान्तिमुच्छति । (५११६)

ईश्वरभाव त्याग करनेसे वचनसे सुक्ति होती है ।
अपने कर्मोंके फलका दान करनेसे शान्ति होती है । फलका
त्याग करनेसे सुख मिलता है । सर्वभूतोंके सब लिये
को वचन सुख मिलता है । वचनका वचनसे सुक्ति मिलती
है । सर्वभूतोंके निम्नमन दान न करनेसे शान्ति मिलती
है । वे सब वचन शुरूके जहाँही मानव अपने हाथ

रहे हैं। मनुष्य बनना कष्टपूर्व कर्म करें उसका फल बनना बनानेके सिधे समर्पित करें इससे वे बननसे मुक्त होंगे और उनके सब श्रेष्ठ बुर होंगे।

बनके विषयमें उपविशदोंका सिद्धान्त इस प्रकार है—
 कम्पाय विषयासक्तिः । (मीमां ३ १।३३)
 कम्पाय विषयासक्तम् । (महा २)
 बन्धो हि वासनाबन्धः । (मुक्ति १।६८)
 मोक्षः स्वाध्यासनास्तया । (मुक्ति १।६८)

विशयोपर भासत होनेसे बन्धन होता है। वासनासे बन्धन होता है। वासनाका अर्थही मोक्ष है। अपने पास भोगलाभनोंका समग्र करनेकी इच्छाका नाम वासना है। यही सब मनुष्योंके जन्म श्रेष्ठोंका हेतु है। यद्योक्त जो विचार किया, उससे प्राप्तकोंके मनमें कर्मच्छायासे दुःख और कर्मच्छायासे मुक्त होता है वह वात स्पष्ट हो चुकी है। काम और भोगका सुखवस्तुविषय विषय इसीके भगवत्से प्राप्त होता है।

फलसंग्रहसे दुःख कैसा होता है इसका विचार पाठक कर सकते हैं। कल्पना कीजिये कि एक ग्राममें एक बहुतही बड़ा धनी मनुष्य है सबसे अधिक धन होनेसे वह जन्मोंका सका भी कर सकता है और बुरा भी कर सकता है। परंतु सका करने वाला कभीकभी खोई होता है। मनुष्य स्वार्थी होनेके कारण वह अपने स्वार्थके कारण दूसरोंकी हानि करता है। अतः वह भगवान् मनुष्य अपने बनसे सब काम करीकर अपने पास रखता है और दिक चाहे भगवत्से लेता है। जन्मोंके प्राप्त इच्छा जब न होनेसे वे कायर होते हैं और मूर्ख रहते हैं। वह अवश्य अयोग्य धनविभक्त्यसे होता है। यदि वह यही मनुष्य अपने सब धनका प्रायः प्रायसे लोगोंके किये करेगा और इसी तरह ग्रामके सब काम लोग अपने अपने कर्माह्वय जगत् सब ग्रामकी धनार्थके किये करेंगे और ग्रामकी ग्रामसभा अपने सार्वजनिक कोसमें उस धनको रखगी और उससे सब ग्रामका प्रतिपाद किया जायगा तो इस ग्राममें कोई दुखी नहीं रहेगा। इस व्यापसे सब ग्राम का अधिकसे अधिक धन होगा। इसीकिये अपरिग्रह अर्थात् ईश्वर न करनेका मत धारण करनेके किये कहा है। कर्मच्छायायक भाग करनेका ही नाम अपरिग्रह है। अपना परिग्रह बढानेसे ही अनंत श्रेष्ठ होते हैं। इससे अर्थात्

फलसंग्रह भाग करनेसे जो फल होता है वह सब देखिये—

ब्रह्म न विरेणाधिगच्छति । (५।१)
 ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः । (५।२)
 किंस्त्यागममि सुखम् ॥ (५।२३)
 स सुखी नरः ॥ (५।२४)
 ब्रह्मसिर्वाण्य ब्रह्मसूतोऽधिगच्छति ॥ (५।२७)
 काम्ये ब्रह्मनिर्वाण्यम् ॥ (५।२५)
 अमिता ब्रह्मसिर्वाण्यं वर्तते ॥ (२।२६)
 प्रकाशायति तत्परम् ॥ (५।१६)
 गच्छन्त्यपुनरपुत्तिम् ॥ (५।३०)

ब्रह्म प्राप्त होता है। वह सुखी होता है। परमपद प्राप्त होता है। दुःखका पुनः पुनः नाशमग यही होता है। वह अन्तिम सिद्धि कर्मच्छाया जगत् करनेसे हो सकती है। महावस्तिका जन्म यही अन्तिमकी वांछ है। ब्रह्म सबसे बड़ी शक्ति है वह सब स्थिरचरमें व्यापक है। वह महा भगवत् वह बड़ी शक्ति किस समय प्राप्त होती है? जब वह मनुष्य स्थिरचरकी सुस्थितिसे किये अपने कर्मके फलका समर्थन करता है। इस विषयमें एक उदाहरण हम देखते हैं।

कर्मफलसंग्रह

किसी एक घरमें दस सार्ई रहते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अपने कर्मसे प्राप्त होनेवाला सब अपने किये अपने पास रखता है। वसमेंसे थोड़ासा भी दूसरेको नहीं देता। दूसरे मरे वा बीमार हैं इसका कुछ भी विचार नहीं करता। प्रत्येक सार्ई अपने अपने कर्मसे रहता है। यद्यपि इस ग्राममें दस सार्ई हैं तथापि सब उपस्थित होनेपर वे दस नहीं हैं। एक एक भगा भगा है। यदि प्रभुके दो मनुष्य जा जायें तो वे दस एक एक सार्ईका भाग करके उनके करके स्वामी बन सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने कर्मका फल अपने पास रखनेसे अपना सार्थिक बढ जाता नहीं किन्तु अपना वैयक्तिक बढ भी बढ़ता है और नानैक कह होते हैं। इसी किये कहा है कि कर्मका फल ईश्वरायन करो। फलपर आसक्त न होना।

कर्मफलरपाय

जब कर्मच्छाया करनेवाले दस सार्ईके दूसरे घरकी स्थिति हम देखेंगे। इस घरमें बैठेही दस सार्ई हैं। वे

प्रत्येक उत्तम कर्म करते हैं और जो कमाई होती है वह प्रत्येक मित्रकर रखते हैं। इस सम्प्रतिष्ठनसे सबकी भलाई के लिये मित्रहृत्प्रकर व्यवहार करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति बसों भाइयोंकी मलाई के लिये व्यवहार करनेकी तैयार रहता है। सब मित्रकर परस्पर सहायतासे सब कार्य करते हैं इसलिये प्रत्येक मनुष्य इस भाइयोंकी शक्तिसे मुक्त है। ऐसे सुसंघटित इस भाइयोंकी शक्ति प्रत्येककी स्वयंकी शक्ति होनेके कारण प्रत्येककी मिलकर शक्ति ली के बराबर होगी। यह काम कर्मकल्याण और अपरिग्रहमयके कारण होता है। इस स्थितिमें वे परम शक्तिसे मुक्त होते हैं अन्तर्गत यही उनकी ब्रह्मसूत्र स्थिति है। जो ब्रह्मसूत्रकर्म होता है उसकी शक्ति एक मनुष्यकी शक्तिसे समाप्त होगी। परन्तु जो सर्वोत्तमकर्म होगा सर्वमूल्यमूल्यमा बनेगा, उसकी शक्ति सब मूल्योंकी शक्तिसे भी अधिक होगी। इसीका नाम मन्त्र है। इसे लोग कर्म करनेपर भी उनके दोषोंमें दूर करते हैं।

अब विचार करना चाहिये कि इस स्थितिमें प्राप्त करने का साधन क्या है कैसा साधन करनेसे मनुष्य अपने मूल्यमूल्य बन सकता है किस रीतिसे मनुष्य इस उन्नति के पथपर सीधा चल सकता है? इसके सूक्ष्म ज्ञान इसी अध्यायमें लगे हैं इनका अब विचार करेंगे—

अज्ञानी बाल

पहले जो अज्ञानी विबुद्ध और मूर्ख हैं उनका वर्णन इस तरह इस अध्यायमें किया है—

याम्नाः (४) = बाह्यक कैसे जलमुक्त
अमुक्तः (११) = योग न करनेवाला प्रत्येक न करनेवाला
कामचारेण पन्ने सक्तः (१२) = शरीरसे कर्ममें
आमरण अपने कर्मका फल अपने लिये अपने पान
लभनवाला

अज्ञानेन ज्ञानं आनृतं तेन मुह्यति (१५) =
अज्ञानसे ज्ञानका ज्ञान ईका है इस कारण मोहमें
जा पड़ता है।

य काम गिरते है इनका अध्यापक होता है इनको
बन्धन होता है। इनमें (अमुक्त) कर्म न करनेवाले शरीरों
कर्मका फल करने लिये रखनेवाले अज्ञानी मनुष्य आते
हैं। इस कारणोंके विरोधी शरीरोंमें बहानेका ज्ञान लुप्त
होता है वह पैदा है—

बाह्यक	पंडित (गीत) ४
अमुक्तः ११	मुक्त (मोक्ष) ८
सक्तः १२	असक्तः १
अज्ञानी १५	ज्ञानी १५, १०
मोहयुक्त	मोहयुक्त
संयुक्त	असंयुक्त १

पाठक विचार करेंगे तो इनको यही उन्नति का ज्ञान
अनेक स्थितिमें व्यवहार हो रहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

सर्वज्ञानी पण्डित

जो कर्तव्य और अकर्तव्य बनावट वाला है वह लक्ष्य
ज्ञानी पंडित है। वह कर्मसक्ति छोड़कर कर्म करता है।
इसका वर्णन इस अध्यायमें निम्नलिखित स्थितिमें किया है

पण्डितः (४) पण्डिताः समवर्तिनः (१८) =
शारी बुद्धिमत्, समवर्ती

तत्त्ववित् (८) ब्रह्मवित् (२०) विदितप्रज्ञः,
(२१)—तत्त्व ज्ञानेवाके ब्रह्म ज्ञानेवाके ज्ञानवादी,

अपराधः (२५) = अतीन्द्रियावर्द्धनीं सूत्रवर्दी

साक्ष्य (५) ज्ञानमार्गी सम्प्राप्तमार्गी

असंयुक्त (१०) ज्ञानेन येषां अज्ञानं प्रविर्तते

(१९) = जिनकी मूर्खता दूर हो चुकी है तत्त्वज्ञान

में श्रितका अज्ञान दूर तथा है

ज्ञानं तत्परं प्रकाशयति (१९) = ज्ञानसे ज्ञान

परतत्त्वका ज्ञान हो चुका है

ज्ञानमिष्टतत्त्वकर्मभाः (१७), स्त्रीयकर्मभाः (१५)

पितृश्रुतात्मः (७) = ज्ञानसे ज्ञानके पार लगे

गये हैं, जो मुक्त बने हैं जिनके ज्ञान ज्ञान हो गये हैं।

येषां शास्त्रे स्थितं मनः (१९) ज्ञानका मन

मन हो गया ज्ञानभावमें ज्ञानका मन रहता है।

अपण्डित स्थितः (१९ २०) = जो अज्ञानमें रहने है।

इस तरह जो ज्ञानी मोहयुक्त पण्डित ज्ञानमोहयुक्त

तत्त्वज्ञानी होना है वे ज्ञान होकर ज्ञान ज्ञानोंका फल

अज्ञानसे लिये न रखते हुए, ज्ञानाज्ञानार्जनके लिये ज्ञान

करना है मनुष्य और पण्डितोंके विषयमें समझें रखते हैं

सर्वत्र प्रचलन ज्ञानमय ज्ञान है ऐसा मनुष्यके ज्ञानमें

ऐसे तत्त्वज्ञानमें कभी आचारान नहीं होता ज्ञान

सुखमा होकर लब्धयुक्त मुक्त होते हैं।

योगी

येही योगका आचरण करते हैं और अपना उन्नतिकामना करते हैं। इनके लक्ष्य लक्ष्य के हैं—

योगयुक्तः (१७) युक्तः (८) योगी (१४), योगः (५) = योगका आचरण करनेवाले । कर्मयोगमें योग लक्ष्यका विशेष अर्थ है । कर्ममें कुशलता (गी १.५) संगत्यागपूर्वक सिद्धि-मसिद्धिके विषयमें बुद्धिकी समता (गी १.१८) और कामक्रोधादि वेगोंको 'सहज करनेकी शक्ति' (गी ५.११) ये योगके अर्थ हैं । अर्थात् योगका आचरण करनेका अर्थ कुशलतापूर्वक कर्म करना बुद्धिके विषयमें सम-बुद्धि धारण करना और कामक्रोधादि वेगोंको सहना है । भगवद्गीतामें योग लक्ष्यका अर्थ यह है । और यी इस लक्ष्यके कुछ विशेष अर्थ हैं उनका विचार किसी अन्य स्थानमें किया जायगा ।

कुर्वन् (७) = इस लक्ष्यका अर्थ भी कर्मयोगका आचरण करनेवाला होता है । कर्मयोग प्रयत्नका योग है । अर्थात् कर्म उत्तम कुशलताके साथ करना चाहिये और फलोत्पन्न लक्ष्य भीष्टमें प्रयत्नकी सिद्धिपूर्वक नहीं होनी चाहिये यह तो कर्मयोगीका सर्वसाधारण नियम है ही । इसके साथ साथ—

मोक्षपरायणः (१८) = मोक्ष सिद्धिकी इच्छा प्राप्त करना मोक्षप्राप्तिके विषयमें उत्तर रहना मोक्षके सिवाय दूसरा कुछ नहीं मूल्यमा चाहिये । यथा—

तद्वदुच्यते तदात्मानं, तद्विद्यां तदपरायणः (१७) = अपनी बुद्धिमें हृदयका समावेश करना अपनी आत्माको हृदयमें करना हृदयपर निष्ठा और अधिक रहना और हृदयपरायण होना । कर्मयोगीको इस प्रकार हृदयपरायण होना चाहिये । जिसका प्यास किया जाता है विसा यह बनता है इस व्यापक अनुसार हृदयपरायण हुआ मनुज हृदयकी बनता है और तदनुसृत सुयोग्य कर्म करता है । कर्मयोगी अपने सम्पूर्ण अपना आदर्श गौरव केन्द्र परकी रक्षा है और तदनुसृत बनता है ।

संपन्नता आचरण

कर्मयोगी संपन्नता आचरणका अर्थ यह है । इनके विषय कर्मयोगी सिद्धि नहीं हो सकती । इस विषयके

लक्ष्य लक्ष्य के हैं—

मुनिः (१.२८) = मीन आचरण करनेवाला वही भाष्यका संभव है । भाष्य द्वारा जो शक्तिकारण होता है वह इस भाष्यसंघमसे बचाया जाता है । इसका दूसरा अर्थ 'मनमयीक' भी है । जो मनन करने लक्ष्यका शासन प्रदान करता है ।

युगी (११) यति (१६), यिज्ञितात्मा (१५) यत्नेतृत्वं (१६), स्थिरबुद्धिः (१०) मितेन्द्रिय (७) यत्नेन्द्रियमनोबुद्धिः (१८) = ये सब लक्ष्य आत्मा बुद्धि किन्तु मन, बायो इन्द्रियाँ शरीर आदि सबका संयम करनेकी लक्ष्यता है रहे हैं । इसमें बुद्धि किन्तु आदि सबका संयम है किसीको छोड़ना नहीं है । क्योंकि एकमे स्वर को छोड़ने लक्ष्यका संयम निरर्थक हो जाता है । अतः साधनानाम्नी सबका संयम करना चाहिये ।

ऐसे संयम मनुष्यकी कुशलतापूर्वक कर्मयोगका आचरण करने अपनी परम उन्नति सिद्ध कर सकते हैं । बिना संयम के कर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होना असम्भव है । अतः सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध होनेके लिये संयम अत्यन्त आवश्यक है ।

निरिच्छता

संयमके साथ इच्छा वासना अपना कर्मनाशक कम होना भी अत्यन्त आवश्यक है । संयम सिद्ध होनेसे इच्छा कम होगी और इच्छा कम होनेसे संयम सिद्ध होगा ऐसा व्योम्यात्मक इस विषयमें है । इस महत्त्वपूर्ण विषयके लक्ष्य कह बाध्य इस अध्यायमें है देखिये—

न कौस्तुभि (१) = इच्छा नहीं करता वासनाको प्रयत्न होने नहीं देता । वहाँ इच्छाका अर्थ योगप्राप्तिकी इच्छा है ।

स्वशाश्वतत्वा बहिष्काशान् । (१७), बाह्यस्वार्थ स्वसंपत्तारम्भ (११) = स्वार्थका अर्थ बाध्य विषय है । इन विषयोंमें जो वासना नहीं रहना इन विषयोंको का दूर करता है वह अन्तर्निहित होता है । क्योंकि

ये संपन्नता योगीः बुद्धिप्राप्तयः आद्यतपस्तपे तु युष्मन् म रमते (११) = जो विषयविषय है वे इच्छाके उत्तरदाता हैं, तथा उनमें जो मुक्त मित्रता है वह वाचक होकर भाष्य होता है इसलिये शांति अनुभव हममें रमता नहीं, क्योंकि अन्तर्गत मुक्त हम विषयमांगोंसे नहीं प्राप्त होता और उनमें सिद्धि कुलोकी वासना भी होती है ।

इसीकिये कहा है कि—

कामक्रोधोद्वेगं वेगं वा सोढुं शक्नोतीति सा धृष्टा सुखी च । (१३) = जो मनुष्य कामके वेगकी और क्रोधके वेगकी सह सकता है इनका वेग जानेपर जो अपने स्वाध्यासे जकित नहीं होता योगीका इच्छा होवेपर भी जो उन वेगोंको हर कर सकता है वही योगी है और वही सुखी है । पटक यह अपने सुखका कछुआ प्यासमें डाल करे । आगेपक्षसे दूर रहनेसे इस सुखकी प्राप्ति होती है । विश्वयोगीका संग होकर वासिधे, अपने कर्मके फलका संग करकेही इच्छाका भी त्याग करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है इसीकिये कहा है—

कर्मफलं त्यक्त्वा भातिमान्नोति (१२) संगं त्यक्त्वा कर्म करोति (१० ११) = अपने कर्मके फलका त्याग करकेसे सात्वित प्राप्त होती है, कर्मके फलका संग होकरसेही विद्विषता मल होती है, यह त्याग मगसे करना चाहिये तभी उक्त सिद्धि मिलेगी । इस विषयमें निम्नलिखित प्रमाण देखिये—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी (१३) = सर्व कर्मोंका मनसे संन्यास करा है वह सुखी रहता है । सुख चाहिये तो मनसे कर्मसंन्यास करना चाहिये वह बात सिद्ध है ।

नैव किंचित्करोमीति वृत्तो मध्येत (८), नवद्वारे पुरे वृद्धौ वैव कुर्वन् कारयन् (११) = योगी ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता । इस वी द्वारको लपटों न कुछ करते और न कुछ करते रहता चाहिये । नगरमें न करते करतेकैसे रह सकते हैं ऐसी बातका वहाँ हो सकती है । इसके उत्तरमें भिषेय है कि वृद्ध नगरमें पृथक् बचन राजा है बचने नहीं सेबाति जादि स्थानोपर उद्यमोत्तम सुखिहासंन्य पुनर्कोको निपुण किया है । वे कर्मचारी अपना अपना कार्य हर्ष और उत्तम रीतिसे करते हैं इस कारण उद्यम राजाको कोई कार्य करनेके लिये आवश्यक नहीं रहता । राजाकी प्रति केकर वे ह्य ओहदेवार कार्य करते हैं वह सत्य है तथापि सब कर्मचारी अपने कर्मों परितुल्य और उत्तम सुखिहित रहनेके कारण सब कर्म बचसे बनाभाज होते हैं और राजाको उद्यम कर्म देखनेके बिना कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है । वृद्धि तदा भोगादि पापमोहारा

विषये अपने सब मन बुद्धि और अन्य इन्द्रियोंके सुखिहित समर्थित साम्य और शान्त बनाया है उक्त इसीरी स्वर्ण योग्य कर्म करते हैं, कभी स्वैच्छाकारी नहीं होते और इस देहचारीको स्वर्ण कुछ करनेके लिये बाधित नहीं रहता । ऐसे योगी महाप्रभादी कह सकते हैं कि मैं इस देहमें रहते हुए कुछ भी कर्म नहीं करता मैं कुछ नहीं करता हूँ । इस विषयमें अधिक स्पष्टीकरणके लिये निम्नलिखित श्लोक देखिये—

कायं मनसा पुनश्चा केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनाः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मसुखे । (११)

इन्द्रियाणीन्द्रियायेंतु वर्तन्त इति धारयन् । (१)

“ केवल शरीरसे केवल मनसे केवल बुद्धिसे ही केवल इन्द्रियोंसे योगी लोग अपनी बुद्धिके लिये कर्मफल संग छोड़कर कर्म करते हैं । सब इन्द्रिय स्वर्ण अपने अपने निश्चित विषयोंमें वर्तते हैं इस बातका वे अनुमन करते हैं । प्रत्येक इन्द्रिय केवल स्वयं अपने विषयमें सुखेय कर्म करनेके लिये वह किन्तु सुखिहासे संतुष्ट और संवसित होता चाहिये इसका विचार पक्क वहाँ करना चाहिये । नेत्र कपविषयके क्षेत्रमेंही काम करो परंतु उक्त कार्य पूर्णतया निर्दोष होनेके लिये बचको उत्तम स्थिति संवसित और शान्त बनाया चाहिये । सब इन्द्रियोंके ही निश्चित, संवसित साम्य और शान्त बनायेके लिये संन्यास अत्यंत आवश्यक है । इसका विचार करने को अध्यात्ममें जानेवला है । वहाँ इच्छाही प्यासमें लब्ध चाहिये कि केवल इन्द्रियोंके भी कर्म हो सकता है और वह उत्तमसे उत्तम हो सकता है, बोधी क्षेत्र ऐसी ही करते हैं । इस कारण वे निर्दोष रहते हैं ।

शिर्यं प्राप्य न गच्छेत् (१०) = निवसतु गच्छ नैपर भी बहुत हर्ष न करना चाहिये । क्योंकि यदि शिर्ये वर्तनसे हर्ष हुआ तो अत्रिके हर्षनसे बहसनेय दुःख होगा । इसलिये यदि अत्रिपदी प्रसिद्ध दुःख नहीं चाहिये हो तो शिर्यी प्रसिद्ध हर्षनी करवा योग्य नहीं है । नवैरि-

धारयति सुखं किंति । (११) = जो सुख मिष्टता है वह आभासी अन्तरसे ही मिष्टता है चाहते नहीं । नवः अपन सुखके लिये बाध पदावर्तको अपने उक्त

कमा करनेकी क्या आवश्यकता है ? बाह्य पदार्थोंका आकर्षण मित्रता छोड़ा जाय उठना अन्तरही अन्तरसे सुख मित्रता है । सुखका श्रोत अन्तर है बाहर नहीं है इसलिये ब्रह्म वर्त्म प्रिय हों या अप्रिय हों उनके विषयमें हम बुद्धि रखकर सतुष्ट रहनेका अभ्यास करना चाहिये । इसीसे अन्तरात्मामें सुख मित्रता प्रगट है ।

द्वेष न करो

न द्वेष्टि (३), अभिय प्राप्य न उद्विजेत् (१०) = द्वेष नहीं करना चाहिये । अग्रिम पदार्थ प्राप्त होनेसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये । इससे पूर्व कहा है कि प्रिय की प्राप्तिसे हर्ष नहीं करना चाहिये । उसीसे अग्रिमसे अग्रिम नहीं होना चाहिये वह उपदेश सिद्ध होता है तथापि स्पष्ट बोधके लिये यही सूचित होनेका उपदेश यही स्पष्ट शब्दोंद्वारा कहा है । अभिवका द्वेष नहीं करना चाहिये और प्रियसे हर्ष नहीं करना चाहिये, इसका आशय यह है—

कामकोपमिषुक्तः (१५) विगतोऽप्रमयकोषः (१८) कामकोषाद्भवं सेव्यं वा छोडूँ शक्योति सः सुखी मत् (२३) = काम और श्रेयका त्याग करना जिससे इच्छा भव और श्रेयको दूर किया जो काम और श्रेयके वेगको दूर प्रकटा है, यही मनुष्य सुखी है । 'काम' का भव प्रिय वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा श्रेय का कार्य अभिवकी प्राप्तिसे रोच करना । इस तरह जो दूर स्थानमें कहा यही यहाँ कामकोष शब्दों द्वारा बताया और कामकोषको प्रयत्नके भी इसी लिये कहा है । वे दोनों दूर गये तो भय भी नहीं रहता । भय दूरतक ही रहता है जबतक काम और श्रेय दूर हैं ।

इन्द्र छानना

इन्द्रसे काम श्रेय भव जाति होत है । इन्द्रका कार्य द्वैतभाव है । सुख-दुःख इह-अहिह आदि अनेक इन्द्र द्वैतभावकी अभ्यन्तरी होते हैं । अतः कहा है—

निर्द्वन्द्व (५) = इन्द्रभावका प्रोहनी चाहिये । यही सब दुःखकी आद है । यदि किसी प्रकार द्वैतभाव या इन्द्रभाव दूर गया, तो किसी कारण भी अपने पास दुःख का नहीं लगे । इसीलिये वास्तव इन्द्रोंको दूर करनेको या इन्द्रक विषयमें क्षम बुद्धि रखनेको कहा है ।

सम बुद्धिका कार्य है । महाबुद्धि यदि इन्द्रके विषयमें अग्र-बुद्धि हो गयी तो इन्द्रोंकाही नाश हुआ । ऐत रहाही कहीं ! इसीलिये—

छिद्रद्वैधाः (१५) = द्वैतभाव जिनका छिद्रमिह हुआ है, उनकोही ब्रह्मभूत (२४) ब्रह्मरूप बना कहा है । अर्थात् ब्रह्मरूप बनना और इन्द्रभाव छोड़ना एकही है इसीलिये गीतामें ब्रह्मरूपको इन्द्रापीत कहा है । जो इन्द्रापीत होता है यही—

सर्वभूतानां सुखत् (२१); सर्वभूतादितरत् (२१) सर्वभूतात्मभूतात्मा (७) ब्रह्मयोग युक्तात्मा (२२) होता है । जो इन्द्रभावक परे जाता है जिसका बाधपरभाव दूर गया है, यही सर्व भूतोंका मित्र भव प्राप्तिपूर्वका सत्त्वाहितकर्ता सर्व भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा यही है ऐसा सर्वोपमाशुक्त और ब्रह्मके साथ वयुक्त हुआ होता है । अर्थात् जिसमें इन्द्रभाव है वह प्रसवे दूर है अतः दुःखी है ।

इस चर्चों और आध्यात्मिक मननसे अन्तिम सिद्धि प्राप्त होनेके लिये कैमला साधन आवश्यक है इस बातकी स्पष्टता हो जाती है । अतः है कि पाठक इसका पबेह भजन करके जो साधन निश्चित होगा उसका अनुष्ठान करके उच्चत होनेका बल करे ।

योगसाधन

योगसाधनका विषय अनेक अध्यायमें जानेबस्ता है यहाँ उल्लेख अनेक विचार होगा ।

जो अन्तिम सिद्धि होती है ऐसा इस अध्यायमें कहा उसमें योगसाधनके विना कोई विषय उपस्थित होते हैं । योगसाधनके विना मनुष्यकी योग्य प्राप्ति होनेमें बड़े कष्ट होते हैं (गी ५.१) ऐसा जो इस अध्यायमें कहा उसमें मानवी उन्नतिमें योगसाधनका महत्त्व किटना है हम जानना जान हीन है । जगत् भी पाठक अपनी दक्षिण करने का बल करते हैं उनको अनेक योगाध्याय 'क' अध्यायी तरह भजन करा चाहिये । हमारे लिये बीचमें कोई विचार उपस्थित न करने हुए हम भी जब छे अध्यायका भवन शुरू करते हैं । उसका अध्ययन पाठक को और करने आरंभकी मानवी पूर्णगती अन्तिम सिद्धिको योग्य बनाने है

श्रीमद्भगवद्गीताके पंचम अध्यायके सुभाषित

(१) निश्चित उपदेश करो

यथ्येय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि मुनिश्चितम् ॥

(गी ५।१)

' हम दोनोंमेंसे जो अधिपक्ष है वही निश्चय करके मुझे कहे । ' सिष्यको उपदेश करनेके समय यह भी करो अपना वह भी करो ऐसा संकेतपूर्ण उपदेश नहीं करना चाहिए । निश्चय करके जो उसके लिये विलम्बकरके हो, वही करना चाहिये जिससे सिष्यको संदेह न होगा और उसका कल्याण होगा ।

(२) ब्रह्म छोड़नेसे मुक्ति
निर्दिष्टोऽ—मन्मथाप्रमुच्यत ॥

(गी ५।३)

" ब्रह्म छोड़नेमें मनुष्य कथकल मुक्त होता है । " मूल दुःख इति नाम मे और अन्य अनेक अनेक दुःख हैं । मरण के दुःख नाम मने रहते हैं मरणकही वचनक वह लोगने करते हैं । वे दुःखमात्र दूर गये तो वचन भी दूर हो जाने है । मर्णांत मुक्तिही प्राप्त होती है ।

(३) क्षामिकी प्राप्ति

कमकलं त्यक्त्या क्षान्तिमाप्नोति ॥

(गी ५।११)

अपने कामों का कल छोड़ दिया कमका दुःख क्षामिकी की प्राप्ति के लिये करनेसे क्षान्तिही क्षान्ति होती है । " और इसके विपर—

कामकारणं कलं मत्ता निवर्त्यत ।

(गी ५।१२)

' कार्यके कारणके लिये मत्ता छोड़नेसे वचन प्राप्त है । " वच नाम जोड़की लक्ष व्यवस्था प्रकार और साधारण लक्ष निर्दिष्ट है ।

(४) स्वभाव बलवान् है ।

स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (गी ५।१३)

सहस्र चेहते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥

(गी ५।१४)

प्रकृतिं यान्ति भूतानि ॥ (गी ५।१५)

प्रकृति-स्वभाव ही सर्वत्र प्रवर्तमान बहुत होता है । " क्षामि मनुष्य भी अपनी प्रकृति के स्वभावसे मनुष्य कर्म करता है । तत्पर्य प्रकृति-स्वभावका अतिक्रमण कल बड़ा कठिन कार्य है ।

(५) अज्ञानसे मोह

अज्ञानं—मुह्यन्ति जन्तवः ॥

(गी ५।१६)

अज्ञानके कारण मनुष्य मोहित होते हैं । " ज्ञान प्राप्त करके दुःख जोड़ने हैं । सब दुःख इसी प्रवर्तते होते हैं । अतः ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

(६) क्षान्तिसे उपपत्ति

अप्युत्पन्नपुनरावृत्तिं क्षान्तिर्निर्वृत्तकल्मषा ॥

(गी ५।१७)

" क्षान्ति जिसके लक्ष बीजे गये और जो निर्वृत्त हो गये वे पुनः पुनः करने नहीं पड़ते । " इनके लक्ष दुःख हो गये हैं ।

(७) क्षान्तिसे छोड़नेसे दुःख

अज्ञानस्पर्शव्यसक्तारमा—मुखमस्यपमभुजे ॥

(गी ५।१८)

" अज्ञान विषयोंके योगोंसे क्षामिकी छोड़नेसे अज्ञान दुःख मिटता है और विषय योगोंपर क्षामिकी होनेसे अज्ञान दुःख होता है । क्योंकि—

भाग्या दुःखपानय एव, न तपु रमन दुःख ॥

(गी ५।१९)

योग दुःख बहनेसे है अतः इनमें क्षामिकी भी

रमदा । " ब्रह्माभीदी भोगेति रमदा हे बीर दुःख भोगता है । भव सिद्ध है—

शक्तोति यं सोढु कामक्रोधोद्भव वेग,
स सुखी नर ॥

(गी ५।१३)

" जो काम और क्रोध के वेगको सह सकता है, वही मनुष्य सुखी है । ' परंतु जो कामक्रोध के वेगको सह नहीं सकता उस वेगमें बह जाता है, वह भर्त्सित दुःखी होजा है ।

(८) जलताका हित करनेसे ब्रह्मप्राप्ति
छामन्ते ब्रह्मनिर्वाण सर्वभूतहिते रताः ॥

(गी ५।२५)

' सर्व भूतोंका हित करनेमें जो लड़ा वृत्तिचित होते

हैं वे ब्रह्म प्राप्त करते हैं । " जो दूसरोंके हितमें निष्प करते हैं दूसरोंको कष्ट देते हैं, वे दुःख भोगते हैं ।

(९) कामक्रोध छोड़नेसे ब्रह्मप्राप्ति ।

कामक्रोधवियुक्तानां ब्रह्मनिर्वाण वर्तते ॥

(गी ५।२६)

' काम और क्रोध छोड़नेवालोंको ब्रह्मप्राप्ति होती है । " काम-और-क्रोधके बरा होनेवालोंको भर्त्सित दुःख होते हैं । तथा—

विगतेऽधामयक्रोधो मुक्त एव ॥

(गी ५।२८)

जिसने इच्छा मय और क्रोध छोड़ दिये वह मुक्तही हुआ जानो । " जहाँ-जहाँ जिसमें वातना मय और क्रोध है वह लड़ा बह होकर रहता है ।

पञ्चम अध्यायकी विषयसूची

कर्म-सम्पास-योग (श्लोक १)	३४५
(१) कोनसा भाग धेयवत्कर है ?	"
सम्पासकी प्रवृत्ति, कर्मयोगीका भाषा	"
(१) कर्म और सम्पास एकही हैं ।	३४६
(श्लोक २-५)	
संस्कार और कर्म	
श्री मिहिर, मनुष्यकी प्रवृत्ति	३४७
कर्मयोगकी विशेषता, नामसंस्कारी	३४८
धर्मयोगीके कष्ट संस्कारका व्यवहार	३४९
(१) सम्पासके सिधे योगकी आवश्यकता (श्लोक ६)	३५१
(४) उपायिका प्रथम, श्लोक ७)	३५४
योगपुत्र विमुक्त नाम	"
विशिष्टतम विधिसे सर्वभूतार्थप्राप्ति	३५५
हर-व्याप्ति भाग	३५६
(५) तत्त्वज्ञानी योगी (श्लोक ८-९)	३५७
तत्त्वज्ञ योगी	३५८

तत्त्वज्ञ योगी जगत्सर्वका अनुभव	३५९
कर्मका देवर बर्त्सका	३६०
(६) मिहिर कर्म (श्लोक १)	३६२
विशेष कर्म बड़ा और जल्द ब्रह्मप्राप्ति	"
(७) शारंगगुह्य (श्लोक ११-१२)	३६४
कर्मसंस्कारका व्यवहारसे मुक्त	३६५
कर्मसे वायव्यपुष्टि	३६६
कर्म ईश्वरोंके कर्म	३६७
श्री शारंगभाषा (श्लोक १३)	३६८
(८) ब्रह्मज्ञानसे मोह (श्लोक १४-१५)	३६९
स्वभाव	"
(९) ज्ञानसे पञ्च तत्त्वका प्रकाश (श्लोक १६-१७)	३७०
पञ्च तत्त्वका प्रकाश	"
(१०) तत्त्वज्ञान (श्लोक १८-१९)	३७१
तत्त्वज्ञान	३७२
मनकी भावनापरवा	३७३

अभ्यासप्रवर्धन	३७४	ईश्वरक गुण, मनुष्यके गुण	१८१
अपनेमें समर्पण		पङ्कजका थोका	१८७
(श्लोक १ - ३१)	३७५	पञ्च और जवज	"
साधारण मनुष्य	"	सर्वकोकमहेश्वर	१८८
ब्रह्मज्ञानी और क्षमूह जन्मान्ध	३७६	सावित्री प्राप्ति	"
ब्रह्मज्ञान	"	पञ्चम अभ्यासका बोझासा विचार	१९०
(श्लोक ३२)	३७७	कर्मसंन्यास-योग	"
सङ्कपोष	"	क्षिप्तसंन्यासी कर्मज्ञानी	१९१
(११) कामक्षीय वेगको सहना (श्लोक ११) १७८		संन्यासी कर्मज्ञानी	"
मित्र और कवित्र सुख	"	मित्र संन्यासीके मित्र और मित्रके कर्मज्ञ	१९२
योगके तीन कथन	"	मित्र और कवित्र संन्यासी	"
काम क्षीयके रूप	३७९	सर्वप और योगकी एकता	"
(१२) प्रज्ञानिर्वाण (श्लोक १४ १५)	३८०	निर्लेपता	१९३
प्रज्ञानिर्वाणका अधिकारी	३८१	कर्मवीरक सुख	१९४
अधिकारी	"	कर्मकलह कर्मकलहाग	१९५
साधक	"	ज्यासी कर्म	१९६
(१३) सदा सुख (श्लोक २०-२६)	३८२	यज्जानी परिण	"
सदा सुख और सदा बड़		योगी	१९७
विचरको बहिष्कार	३८३	सपमका आचरण	"
एकिकी स्थिरता		निश्चिन्ता	"
प्राप्त और अप्राप्त	३८५	हेच न करो	३९१
(१४) ध्यात्मिकी प्राप्ति (श्लोक २९)	३८६	इन्द्र कोहना योगसाधक	"
सर्व मूर्खक सुख	३८७	पञ्चम अभ्यासके कुछ सुमापित	३९२

॥ पञ्चम अध्यायकी दिव्यसूची समाप्त ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ध्यान-योग

(१) सन्यासी और योगी

प्रसंगानुसार—

अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स सन्यासी च योगी च न निरभिर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यः सन्यासमिति प्राहुर्योगः त विद्धि पाण्डव । न असंन्यस्तसकम्पो योगी भवति कम्पन ॥ २ ॥

अन्वयः— यः कर्मफलं अनाश्रितः कार्यं कर्म करोति सः सन्यासी च योगी च निरभिः न चाक्रियः च यः ॥ १ ॥
पाण्डव । यं सन्यासं इति प्राहुः तं योगं विद्धि, कम्पन असंन्यस्तसंकम्पः योगी न भवति हि ॥ २ ॥

जो कर्मके फलकां आश्रय न करके अपना कर्मण्य कर्म करता है, वही सन्यासी और वही योगी है । जो अश्रित होकर नहीं करता किंवा जो कोई कर्म नहीं करता वह न सन्यासी है और न योगी ॥ १ ॥ हे अर्जुन ! जिते सन्यास कहते हैं उसे तू योग समझ । क्योंकि कोई भी (मनुष्य) मनके संकल्प छोड़नेके बिना योगी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

भाषार्थ— जो मनुष्य अपना कर्मण्य कर्म उत्तम रीतिसे करेगा परंतु उसका फल अपने उपभोगके लिये अपने पास समा करके न रहेगा । इतनाही नहीं परंतु उसके उपभोग की दृष्टिका ही त्याग करेगा वही सन्यासी और सन्यासी योगी है । जो अश्रित होकर जो करता है अपना कोई कर्म करता ही नहीं । क्योंकि होकर उपचाप बैठा रहता है वह न तो सन्यासी है न योगी । जो सन्यास है वही योग है और जो सन्यास नहीं वह योग भी नहीं क्योंकि विचक्षण योगीके सब संकल्प छोड़नेके बिना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता और न ही सन्यासी हो सकता है ॥ १-२ ॥

कर्मफलमोग और कर्मफलत्याग


(१२) मनुष्य कर्म करता है कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है [गी ३।५], मनुष्य कर्मका त्याग कर नहीं सकता । कर्मका पूर्णत्याग त्याग करनेसे मनुष्य जीवित ही रह नहीं सकता [गी ३।६] अतः मनुष्यको कर्म करना अनिवार्य है । इसलिये कहा है कि कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है परंतु कर्मके फलपर मनुष्यका अधिकार नहीं है । (गी ३।५७) इस कारण मनुष्य जैसे कर्मके फलका त्याग कर सकता है वैसे कर्मका नहीं ।

यहाँ मनुष्यके धर्म्य कर्म करना या न करना यह प्रश्न नहीं है अपितु कर्मके फलका स्वयं त्याग करना या फलका त्याग करना कैसा वही प्रश्न है । ये कर्म कर्म या न कर्म ? ऐसा प्रश्न मनुष्य पूछ नहीं सकता क्योंकि मनुष्यकी क्षरितप्रकृति ही उससे अनिवार्य कर कर्म करानेगी (गी १६।५९ ६) । अतः कर्मके त्यागका विचार करना

अर्थ ही है । शीघ्रका प्रकाशना । स्वयं का त्याग होना जिसका स्वाभाविक है उसका ही मनुष्यका कर्म करना स्वाभाविक है । इस लिये यदि अश्रित और स्वयंका प्रकाश होना ही है तो वे जगत्के उपकारके लिये प्रकाशते रहें । वैसे ही यदि मनुष्यको कर्म करना अनिवार्य है तो वह सर्वमूलहित करनेके लिये कर्म करता रहे । नर्चाद कर्म के और उसका फल सर्व स्वयंके हितके लिये समर्पण करे (गी ५।१५, ११।७)

अर्थात् मनुष्य कर्म करता है और कर्मका फल अपने उपभोगके लिये अपने पास अपने अधिकारमें संगृहीत करता रहता है । माझम विद्यादान करता है अश्रित जन राक्षस करता है वैश्य कृषि करता है शूद्र फलालेख करता है और गिराह बनकर जाता है और मालेख अपने अपने कर्मका वेतन प्राप्त करके अपना स्वयं उपभोग करना चाहता है । वही बदलावा हेतु है ।

कर्मका फल क्या है ? वेतनही कर्मका फल है

कर्मके जटाय एक पुनर्जागरि बहुत है, परंतु जबका जाग या दान असंभव होनेसे गीतके कर्मफलवातके सिद्धांत का विचार करनेसे समझ हमें जटाय फलोंका विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्मका एक ऐसा चाहिये कि जो सर्व भूतोंके दिलके लिये समर्पित किया जा सके। ऐसा एक बतनसे प्राप्त होनेवाला बनही है। जबका जब स्वयं जाग पार्श्व  समझना शक्ति नहीं। जो भी कर्मके बड़े भिन्न शक्त है और जो परोपकारार्थ दान दिया जा सकता है वही कर्मका नहीं अपरहित है।

फलंका स्वरूप

महात्म्य पाठनाम्नामें पढ़ाया है और उसके बच्चे को लेया है कविन बनारसा कराया है और को कुछ प्राप्त कराया है, वैश्य व्यापार करके जो कमाया है, पूर करीगरी द्वारा जिस बीबको प्राप्त कराया है, विद्या बनारसा करके जो कुछ लेया है वही कर्मफल है। बांदासा विचार करनेपर पाठकों को विदित होगा कि वह कर्मफल बनही है। पाठक इस कर्मफलकी कल्पना विभवपूर्वक मनमें रखें, क्योंकि कर्मफलका विभव होनासे उसका संस्थापन त्याग दास बनना बनाने केसे कराया जायिगे इसका विचार हो सकना है।

मनुष्यों का संसार व्यवहार देखते-देखते अज्ञान होता है कि कर्मका फलानुसार कर्मफलमें अवधि लगती है। और इस फलके बहलमें फिर कर्म किये जाते हैं। ऐसे कर्मका वह सततचक्र चक्र चक्र रहा है। एक मनुष्य कर्म करता है फलके नेत्रण प्राप्त करता है। वह जबकी देकर वह फिर दूसरोंसे कर्म कराता है। इस तरह कर्मोंके चक्र और चक्रके कर्म होकर अत्यन्त व्यवहार चक्र रहा है।

दीवाना कहता है कि यदि मनुष्य चाहते होशबोले नहीं
 कोया या बड़े दुःख मग्न होगे और यदि वह अपने कर्म
 के फलका स्वाप कोया तो वह दुःखों से मुक्त होगा ।

फलसम्पादि

अधुना इह सर्वकल्याणाय च्चत्वारः पादः सन्ति ।
 किं वाच्यं कथयिष्ये तत्र चत्वारः पादः सन्ति ।
 सर्वं सर्वान् विद्यान् चत्वारः कृषिः कर्माणि च
 चत्वारः सर्वं सर्वान् विद्यान् चत्वारः कृषिः कर्माणि च
 चत्वारः सर्वं सर्वान् विद्यान् चत्वारः कृषिः कर्माणि च
 चत्वारः सर्वं सर्वान् विद्यान् चत्वारः कृषिः कर्माणि च

समर्पण करे, अपने किये कोई न जीये, अविदुर्जनैश्चरितेन
 किये प्रायेक मनुष्य जीवित रहे। जो मनुष्य इस तरह
 सर्वभूतहित करनेके किये जीवित रहेंगे, सबका धर्म ही
 ईश्वर भक्तियोग (गी १।२९) यह योगसेम ऐसे न
 सकया है और यह कैम भक्ता है इसका विधान कदा
 हम जागे करेंगे परंतु यहां इसकाही देखा है कि ईश्वर-
 भक्तका आत्मन न करनेका आदेश भगवान् जीहून वही
 रहे हैं, भक्त ये कहते हैं कि (कर्मफलं अनभिष्टा
 कार्यं कर्म करोति) जो अपने कर्मसे कदा काल
 अपने उपयोग के लिये नहीं करता, वरंतु सबका कल्याण
 उत्थान हीउत्ति भक्तायोग करता है वही प्रज्वा लेखाती
 और सबका योगी है। अर्जुन लेखाक-मार्गसे और योग-
 मार्गसे बात होवेबन्धी सिद्धि उसकी प्राप्त होती है, जो
 कर्मसे कदाका लाभ करता है।

फलका आवश्यक

कर्मके फलका आशय करना दोषोंका मुक्त है। जो कर्म-फलका आशय करना है वह बड़ होता है। कर्मफलका आशय करनेका अर्थ अपने कर्मका फल अपने मोक्षके लिये अपने पास रखना है। फलका विचार करने से हमने पता करेगा कि वास्तविक ज्ञानाः सभी लोग अपने फलके कर्जोंको अपने उपभोगके लिये अपने पास केंद्रित करते हैं। वस्तुतः कोई मनुष्य धानु सब अन्धग्राही बोयी पतोरफली होकर निःस्वार्थ कर्म करते हैं। हमने छेद दिया जब तो अंधार मरके लोग अपने कर्मफलको अपने पास रखने में दृष्टान्त रहते हैं। इसी कारण जब लोग दुःखोंमें दुःख रहे हैं और अवशक से अपने कर्मफलके अपने पास रखने लगे हैं। यथार्थ ब्रह्म दुःखसे मुक्त होता अस्मत्त्व है।

[illegible]

‘ मैं और मेरा ’

प्रत्येक गृहस्थीकी चित्तवृत्ति दृष्टिसे । वह कहता है कि वह घर मरा है यह भूमि अपनी है, वह सब मेरा है जो कार्य में कर रहा हूँ उससे प्राप्त होनेवाला भोग मेरा है, मेरी पुत्र आदि मेरे हैं । मैं जो करता रहा हूँ वह मैं और मेरे परिवारके लोग भोगेंगे किसी दूसरीका इस समस्त अधिकार नहीं है ।’ इस अधिकारकी सुरक्षाके लिये राज्य शासकके विषय बनाये गए हैं । शासकका न्यायालय तथा सम्मान्य राज्यव्यवस्थाके अंग सबके सब इस अधिकारकी सुरक्षाके लिये नियुक्त हुए हैं । संपूर्ण न्यायविभाग यदि कुछ करता है तो वही करता है । प्रत्येक मनुष्यका अधिकार उसके कर्मके फलपर है वही सिद्ध करनेके लिये संपूर्ण राज्य-व्यवस्था बनाया जा रहा है । परंतु गीताका कथन है कि कर्म करनेपर मनुष्यका अधिकार है परंतु फलपर उसका अधिकार नहीं (गी १.३०) । इससे यह बात हो सकती है कि आज कलका व्यवहार गीताका आश्रित होकर कहा एक घर बना गया है । प्रत्येक मनुष्य गीताका पाठ करता है परंतु कोई मनुष्य अपने कर्मके फलका अपना अधिकार छोड़नेको तैयार नहीं । गीताका अभिप्राय ही इस आशय-वर्त्म में नहीं है । सभी हिंदू गीताकी प्रथम भागमें ही, परंतु उनमें कितने लोग ऐसे हैं कि जो कर्मफल आगनेको तैयार हैं । सभी कर्मफलका आनंद करत हैं, इसलिये दुःखी हो रहे हैं ।

यह व केवल आरतवर्षीयोंका दोष है अतिष्ठ सब जगत् के लोग अपने कर्मके फलका मोह आनंद करत हैं । सभी पूज्यपतिवर्षीका व्यवहार कर्मफलको अपने पास रखनेके लिये ही बंध रहा है सब सामान्य कर्मफल को अपने लिये ही बनाये जा रहे हैं । सब गृहस्थवस्था आश्रितव्यवस्था, राज्य व्यवस्था और साम्राज्यव्यवस्था अपने कर्मफलका अपना अधिकार सुरक्षित करनेके लिये बनायी जा रही है । यहाँ पाठक ऐसे हैं कि गीताने सब जगत्के इस प्रलय चक्रके लिये व्यवहारकी व्यवस्था सुरक्षित बनाया है । यह कहती है कि ‘ हे मनुष्य ! तेरा अधिकार केवल कर्मपर है उसका फलपर नहीं (गी १.३०) । अपने कर्मफलका मोह ही सब जगत् को दुःखमें डाल रहा है । गीताने व्यवस्था को बनाया वीच पाठक वर्ग ही चुके हैं परंतु सामूहिक रूपसे कर्म फल आगनेकी बुद्धि जनशरीरें अभी तक उत्पन्न नहीं हुए

और आगे भी कितने सहस्र वर्ष इस विषयमें बुद्धिकी स्थिरताके लिये लगेंगे वह करना कठिन है ! !

वर्णाश्रमधर्मसे कर्मफलवागकी शिक्षा मिलती है । सब वर्ग वर्णप्रत्येक और संन्यासमें फलसंग्रह करना वर्मदृष्टिसे अन्याय समझा गया है । केवल गृहस्थाश्रममें ही कर्मफल अपने पास रखा जाता है, परंतु वह भी आगनेके लिये ही है क्योंकि गृहस्थकोही अन्य तीनों आश्रमोंका प्रतिपादन करना होता है । इस तरह आश्रमव्यवस्थामें त्याग ही वर्म है । वर्मधर्ममें ‘ आश्रम ’ का आदर्श सबके सम्मुख है और आश्रमधर्म त्यागकारी वर्म है । इस तरह वर्णाश्रमधर्मद्वारा त्याग की शिक्षा मिलती है, परंतु हम समय वर्णाश्रमधर्म कुछ स्वल्पमें नहीं भी नहीं है । अस्तु । तत्पर्यं यह है कि गीताका कर्मफलवागका वर्म इस प्रलय सबके वस्तुत्वमें है परंतु आचार्यमें कदाचित् नहीं है ।

यदि जगत्कीलाने कुछ कहा है तो कर्मफलवाग ही कहा है । वही गीताकी विशेषता है । यदि गीतासे कम फलवागकी कल्पना इस ही जगत्, तो गीताकी कोई विशेषता अवशिष्ट नहीं रहती । परंतु इस जगत्भूमिमें इस फलवागका उपदेश होकर इतना समय बीत गया, इतने समयमें गीतापर इतने आध्य बने इतनी दीक्षा और दिव्यनिर्वाह हो गयी इतने अनुवाद इतने हो चुके और व्याख्या भी हो चुके हैं परंतु वह कर्मफलवागका निहाय अवशिष्ट इस जगत्भूमिमें सामूहिक रूपसे स्थिर नहीं हुआ । कितना आश्चर्यकी और शोककी यह बात है ! !

इस गीताने कर्मफल त्यागनेका उपदेश इतनी बार पुनः पुनः किया है तथापि वह उपदेश हमारे सामूहिक जीवनमें नहीं आया । पाठक इसका विचार अवश्य करें कि जगत्कीलाने संन्यास कर्म आनंद आनंद अति आदि अनेक मार्ग कहे हैं उन सबमें कर्म-फल त्यागनेकी अत्यंत आवश्यकता कही है । वह भी मार्ग दिया नहीं है कि जो बिना कर्मफल-त्यागके सिद्ध होनेवाला हो । अतः हम कह सकते हैं कि कर्मफलवाग मनुष्य मात्रके आचार्यमें आया चाहिये वह वृष्ठा गीताधर्म-अभेदकी निमोह है ।

संन्यास और योग

इस कोटमें कहा है कि संन्यास नार योग कर्मफल

(२) योगारूढ

आरुह्योर्ध्वनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव धमः कारणमुच्यते ॥ १ ॥
यदा हि नन्दिप्रार्थयेत् न कर्मसन्नुच्यते । सर्वसंकल्पसन्त्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वयः—योगी बादरको मुनिः कर्म कार्यं वच्यते, योगारूढस्तस्य एव धमः कारणं उच्यते ॥ १ ॥ यदा

हि नन्दिप्रार्थयेत् न कर्मसु न अनुच्यते यदा सर्वसंकल्पसन्त्यासी योगारूढः उच्यते ॥ ४ ॥

योगका साधन करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिके लिये कर्म साधन है, और ऐसा कहते हैं कि योगका साधन हो चुकनेपर उसीका साधन धम होता है ॥ १ ॥ जब मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें बाधक नहीं होता और सब संकल्पाका त्याग करता है तब उसको योगारूढ कहते हैं ॥ ४ ॥

आधार्य—जो योग साधन करना चाहता है उसको सबसे प्रथम मुनि बनना चाहिये क्योंकि योगी बनने के लिये। इस साधनके समय उसको योगसाधनकर्म कर्म कुशलतापूर्वक करना योग्य है। जब उसका साधन उक्त हो तब उस सिद्ध पुत्रको यही साधनकर्मके साधन धमका अवलोकन करना चाहिये। धमका अर्थ इन्द्रियोंके विषयों में बाधक कर्मोंमें बाधक कर्मोंमें सुख न होना और सब संकल्पोंका त्याग करना है। जब ये तीनों सिद्ध हों, तब समझना चाहिये कि उसका योग प्राप्त हो सिद्ध हो चुका है ॥ १-४ ॥

योग करनेसे हो नहीं सकते कर्मफलका त्याग करनेसे ही न सिद्ध हो सकते हैं। संग्रामी और योगी बननेके लिये विनियमित प्रकार आचरण करना चाहिये—

(१) [कर्मफलं भ्राजितम्] = अपने कर्मके फलका आनन्द न करना क्योंकि अपने कर्मके फलका त्याग करना चाहना अपना अपना संन्यास करना।

(२) [कार्यं कर्म करोति] = कर्मत्व कर्म करना अपना कर्मत्व कभी न छोड़ना है जो निरन्तर प्रवृत्त करने से ही मनुष्य संन्यासी और योगी हो सकता है। संन्यास और योगमें विन्यम कीजते हैं इस बातका भी ज्ञान यहाँ हो सकता है—

(अ) [कर्मफलं भ्राजितम्] = अपने कर्मका फल अपने योगके लिये अपने पास रखना दूसरेको न देना

(आ) [कार्यं कर्म न करोति] = कर्मत्व कर्म न करना और—

(इ) [अकार्यं कर्म करोति] = जो करना अनियम है वह करना ।

इस विनियम संन्यास और योग धर्म और सुख नहीं हो सकते। जो समझा जाता है कि (निरति) जो नति में इनमें न करनेसे तब (अ क्रिया) कर्म न करनेसे संन्यास सिद्ध हो सकता है वह ज्ञान है। न वह अपना संन्यास है और न योग। यही योगक तीन कथन हमें ज्ञान

द्वय—(१) कर्मफलत्याग (२) कर्मत्व करना यत् (३) संकल्प-संन्यास। पाठक पूर्वोक्त दोषों को ध्यानपूर्वक से विचारें।

वस्तुतः योग और संन्यास एक ही हैं (गी ५.१५) इसकी प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष भावना धम है, वह वास्तविकता उक्त है। इस दोषोंको एक समझना ही संन्यास ज्ञान है। यों कि जो संन्यास है यही योग है। (गी ५.११) इसका हट्ट यह है कि (अर्जुन्यस्तस्यैकस्या बोधी न भवति) अपने स्वकीय योगवातवाच्येति प्रत्यक्ष ज्ञान हमें कि बोधी मनुष्य योगी नहीं हो सकता और संन्यासी भी नहीं हो सकता। इस तरह दोनोंको योगवातवाच्येति त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। परंतु योगके लिये संन्यास दुःस्वीकार है (गी ५.१५)। जका संन्यास साधनके लिये योगकी आवश्यकता है और योगसाधनके लिये तब योगकी आवश्यकता तो है ही। इसलिये न योग क्या है इसका विचार अब किया जाता है। प्रथम कथको ध्यानसे करें—

आरुह्यु और आरूढ

(१-४) इस श्लोकमें योगारूढ और योगारूढ के कथन कहे हैं। योगारूढ यह है कि जो योगसाधन करना चाहता है सबसे योगका ध्यान करनेका प्रवृत्त है। योगारूढ यह है कि जो योगसाधन कर चुका है

सिद्धमेवमपि योगाभ्यासः समाप्तः किञ्चाहं । इह शरीरं
नर्थात् साधकं चोत्तरं शिष्टं कश्चन पश्येत्तदाहं ।

यो (योगाभ्यासः) योग-साधनं कर्त्तव्यं चाह्वय
हं तस्य (कारणं कर्म) साधनं कर्म है । योगसाधन
के जो जो कर्म हैं व उन्को करने चाहिये । अर्थात् यम
नियमका पालन आसन प्राणायामका अनुष्ठान तथा
संन्यास आदि चारोंका अनुष्ठान व सब कर्म उसको
करने आवश्यक हैं । यही कर्म उसका साधन है । यदि वह
कर्म नहं व कोया सो वह योगादर्श कभी नहीं होगा ।

यह साधनकर्म कर्म बौद्ध धर्मधर्मात् नहीं, यह सतत दीर्घ
काष्ठक करण होता है । आर्हिंसा छान्दस्य अस्तेयं, महाश्व
अग्निहोत्रं शौचं संतोषं तपः स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधानं
य यम और नियम जलैव कारवन्तः हैं । इनके किये कई
वर्ष सतत प्रयत्न करना चाहिये । स्वाध्याय आर इश्वरप्रणि-
धान वह कोई अल्प काष्ठमें सिद्ध होनेवाली बात नहीं
है आर्हिंसा छान्दस्य महाश्वर्षकी सिद्धि अथवा समर्थ स्थिरता
अल्प प्रयत्नसे प्राप्त नहीं होगी । कोठे की निवारण पत्रकके
मर्मसे यह बात स्थिर होती कि ये योगसाधनकर्म कर्म अनुष्ठान
को स्थिर चित्तसे बहुत समस्तक करने आवश्यक हैं ।
और ये कर्म सतत करत राहें वसीको सिद्धि प्राप्त होगी औ
कर्म ही नहीं करेगा उधे किछि कैसे मिलेगी ?

योगसाधन

यद्यपि वाङ्मयं मयं कदा उत्पन्न हो सकसी है कि
आवकके किये कर्म करनेकी आवश्यकता है ऐसा सो नहीं
कहा है उसका अर्थ क्या है । इसका उत्तरकारण करनेके लिए
पारंगतयोग का बोधसाधन यही उद्युत करना चाहिये—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगाः ॥ १ ॥
समाधिमायमार्गः कश्चिन्नतनुकुर्यात्तथा ॥ २ ॥
(यो सू १)

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान व योगसाधनमें
करनेके क्रियाचक्राहें । निराकृतात् इत किन करना चाहिये
कि बीज धर्मादि सिद्ध हो आच और श्रेष्ठ कर्म हों । तपः-
अधिष्ठापिता रागाद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चपञ्चेऽपि ॥
॥ १ ॥ अधिष्ठापनमुत्तरेण प्रसूततनु विच्छिन्ना
दराध्याम् ॥ ४ ॥

अविद्या अविद्या (वर्मक), (राग) विषयमीति हेय
और अविनिवेश (पञ्चपात) ये पांच वर्मक हैं । इनमें
अविद्याके कारणसे छप चार उत्पन्न होत हैं । पञ्चेव नष्टोत्ते
प्रसूत नर्थात् शुद्ध रहते हैं कई तपस्विभोगों ने कदाभी
होते हैं कष्टमें विच्छिन्न और उद्धार होते हैं । अर्थात्
किञ्चिप्राप्ति कीर्ति का प्रेम हुआ तो नहीं उसका श्रेष्ठ विच्छिन्न
होना है आर प्रेमके कारण एक मनुष्य दूसरेपर उद्धार भी
होता है । ये सब मनुष्यवर्ष योगसाधनमें कष्ट उत्पन्न करने
वाक हैं । पञ्चेव शुद्ध और क्षीय (तनु) भी हुए तपानि ये
किछ समस्त कष्ट हें इसका कोई निश्चय नहीं । इस कारण
साधकको सावधान रहना चाहिये और इनको दूर करना
चाहिये । अब अधिष्ठापना अर्थ ईच्छा—

अनिष्टाशुचिदुःखान्तात्प्रसूतं विस्पृच्छिच्छुक्तात्प्र-
क्यातिरुच्छिन्ना ॥ २ ॥

अविद्या अपवित्र दुःख अवतमको विद्या, पवित्र
शुद्ध और आत्मा माननेका यम अधिष्ठापना है । इसीको अज्ञान
कहते हैं । आत्मा अतः सर्वसाधारण कोमोंका व्यवहार
इसी अज्ञानमें एक रहा है । वे आत्मको विद्या अपवित्रको
विविध दुःखको शुद्ध और अज्ञानको आत्मा मानते हैं
और कहते हैं । यही अविद्या और अज्ञान है और इसीसे
अवत दुःख होते हैं ।

योगसाधन करनेवालोंको कर्म कामे चाहिये पूरा जो
नहीं कहा है उस कर्मका स्वरूप सन्निधत्त नहं है । इन
संनयनों को निश्चय विस्तारवत्क दक्षता चाहते हैं वे योग
द्वारा तथा आगसाधनके आत्मस्थ प्रसूत एक कहते हैं ।
तन्में शरीराल्प सद्यः करकेका आभ्यास है, स्वाध्यायमें स्पृक
सूक्ष्म तन्मोंका ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग मुख्य है ईश्वर
प्रणिधानमें सब कर्म करनेवालों समर्पण करना है । इसके
अतिरिक्त आसन प्राणायामादि अनेक कर्म आत्मसाधनके
किये आवश्यक हैं । पाठक पूजा समझे कि जो मनुष्य
जहाँ योगसाधन करना चाहता है उसकी दिव्यर कुल
व कुल आधन करवाही पड़ता है । योगसाधनके जो नियम
निर्माये गए हैं उनका ईच्छते ही योगसाधनक कर्मोंका
ज्ञान हो सकता है—

ध्यायिस्त्वानसंशयप्रमादात्मस्यापिरतिभ्रान्तिर्दुर्ध-
मासंशयभूमिश्चामयमव्यतिथानि विस्तृतिशेषास्त-
अन्तरायाः ॥
(यो सू १११)

(४) आत्मोद्धार

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ज्ञात्मानो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
 बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । अनात्मनस्तु जघ्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अभ्युपगमः—आत्मना जन्मानं यद्वरेण आत्मार्यं न जन्मसाहचरेण । आत्मा एव हि आत्मनः वस्तु । जन्मा एव जन्मस्य विद्युः ॥१॥ येन आत्मना एव आत्मा जितः सत्यं अभ्युपगमः वस्तु । आत्मा जन्मसाहचर्यं तु कर्तुमेव जन्मा एव सत्त्वय एव ॥॥

मनुष्य आत्माद्वारा आत्माका वखार करे, अपनी आत्माकी कमी बखोगति न करे। क्योंकि आत्मा ही आत्माका वस्तु है और आत्माही आत्माका शत्रु है ॥ ५ ॥ जिसने अपनी आत्माद्वारा अपनी आत्माको जीत लिया है उसकी आत्माका वस्तु उसीकी आत्मा है; परंतु जिसने अपनी आत्माको जीता नहीं, उसके शत्रुत्वमें उसीकी आत्मा शत्रुके समान वर्तती है ॥ ५ ॥

रोग मरुता संवेह प्रसाह जाकरस जागृति
मोयेछा, प्रम टीक स्थानको न मरुत करवा चंचलता
चित्तको चञ्चल करमेकसे होय है अतः ये योगसाधनमें
विध्य है। इन विज्ञोंमें दूर करमेके किये योगसा पुनर्प्राप्त
बर्णित नहीं होता। शरीरको व्याविरहित रखनेके किये
किटना बन्ध करना चाहिजे इसका विचार पाठक करेंगे तो
उनको पता लगेगा कि इन विज्ञोंको दूर करमेके किये अन्न
ग्रसन करना पड़ता है। इसी तरह विचार करमेसे योग
साधनके कर्मोंका विग्रह भी हो सकता है।

दोसे कर्म करने में मुख्य योगसाधन करेगा। तो कुछ समय के पश्चात् उसको योग साधन होगा। जबके उसके पास अच्छा घर स्थित योगसाधन करने कीगता। तो तीन बार वर्षोंमें समाधिपद पहुँच सकेगा। मृत्यु प्रायतनासोकी अधिक समय होगी।

[illegible]

कम नहीं होता। इस कारण जामे मी लम्बा जमान
रखना आवश्यक है। लम्बा जमान इन्हीं और जलने
जाँच रखना और बचकने न देना है। इस लम्बा जमान
जामे बहुत लाभ तक करना चाहिये। अब एक कि ज
जपना हमारा ही न बच जाय, उस तक वह लम्बा जमान
करना आवश्यक है। इस जमानसे फलान देरी मिली
जाती है कि

(१) इन्द्रियाण्येव न अनुपश्यते = निरवधिं संस्तु
यति

(१) कर्मसु न जनुपज्यते = कर्मणि कर्मणि जनुप
नहि होवा

(१) सर्वसंक्षयसम्प्राप्ति = सब मनके क्षय होना है,

जब इसको पूर्णतया बोधायक करते हैं। वह इतनी ही सिद्धि है।

सिद्धि है।
 इस तरह योगकी अन्तिम सिद्धि मात्र होकर अपने
 योगी कहा जाता है इसको संन्यासी भी कह सकते हैं।
 क्योंकि भी संन्यास दे रही चीज है और जो योग
 रही संन्यास भी है। (गी. ५.११)।

यहाँ पुनः देसी शोका जाती है कि सावधानों का निर्दिष्ट विधि लागू होती है। किन्तु इसमें सहायक होता है। इस प्रकार कृषकों का भाग्यशु कइते हैं कि अपना कइसा लक्ष्य प्राप्त कर सकें। इसमें इसमें सहायक काम ही है। इस विषयमें जलसाधक कइतर विदेशी सावधान होनेसे निवारणार्थक है। यहाँ—

भाषार्थ— मनुष्य अपना उद्धार स्वयं आपसी करे । अपने आपका कमी न गिरने दे । प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना उद्धार अपना सहायक है और स्वयं ही अपना भातक अपना कर्तु है । जिसने अपने आपको भीत किया वह स्वयं अपना उद्धार और सहायक है; परंतु जिसने अपने आपको स्वेच्छाकारी बना दिया है वह स्वयं अपना भातक सत्तु होता है । नर्थाय प्रत्येक मनुष्य अपना मित्र और कर्तुमी होता है । किसी दूसरेसे न सहायता होतकही है और न सत्तुता ही ॥ ५ ६ ॥

अपना उद्धार

(५-६) अपना उद्धार कैसे किया जाए इसकी विष्ठा सबको है । प्रत्येक चाहता है कि मैं उद्धार होऊँ । कोई भी नहीं चाहता कि अपनी अवस्था हो । परंतु बहुत बड़े लोगोंकी उद्धार होती है सब कोय अपनाक अवस्थामें बड़े होते हैं । इसका क्या कारण है ? इसका विचार हम कोकमें उद्यम रीतिसे करके साधनी उद्धारिका मुक्त योग स्वयं कर्ममें कहा है । इस रीतिसे वे कोक ज्ञानम महारूपमें है ।

सर्वसाधारण कोय समझते हैं कि अपनी उद्धार दूसरेके हाथ होगी । मेरा वह सहायक होता है अपना भातक होता है ऐसी सर्व-साधारण लोगोंकी मानना होती है । परंतु वह विचार सत्य नहीं है । मुक्त का मुक्त हानि का काम उद्धारि या अवस्थिति उद्धार अपना अवस्थिति नहीं स्वयं करता है दूसरा नहीं ।

यदि वह सत्य है तो जगत्के कार्यों कोय को मुक्त मानते हुए नजर आते हैं तो क्या वे अपना मुक्त स्वयं निर्माण करते लोग रहे हैं ? हाँ सत्य तो नहीं है । जिसका को मुक्त का मुक्त है वही उद्धार निर्माणकर्ता है । कोई दूसरा नहीं । वह गीताका सिद्धान्त सुनकर सब कोय जानेंगे और कहेंगे इसपर विचार भी नहीं होगा । परन्तु वह भ्रमकाशावित सत्य है ।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुतश्चिरेण ॥

मुक्त का दुःखका कोई दाता नहीं । मुक्त दुःख दूसरे से मित्रता है ऐसा मानना कुतश्चि है । नर्थाय प्रत्येक मनुष्य अपने मुक्त का दुःखका स्वयं निर्माण करता है और उद्धारों में जाता है ।

वह सिद्धान्त न केवल व्यक्तिगत मुक्त-दुःखके विषयमें सत्य है बरिपु सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्त दुःख सम

काम जब पराजय उद्धार अवस्थिति स्वात्मन्य परात्मन्य आदिसे विषयमें भी पूर्णतया सत्य है । कोई समाज सुखी है तो उसने बड़े कर्म किये हैं । दूसरा समाज पराजित हुआ है तो उसने पराजित होने योग्य कर्म किये हैं । एक राष्ट्र स्वतंत्र है तो उसने स्वतंत्र रहने योग्य दुष्कार्य किये हैं और दूसरा राष्ट्र पराधीन है तो उसने स्वप्रभवसे ही पराधीनता अपने ऊपर धारण की है ॥

किसी राष्ट्रको दूसरा राष्ट्र पराजित कर नहीं सकता और न स्वात्मन्य दे सकता है । वहाँ और-प्राणवर्तोंके व्यवहारका ही गिरावण बीजित है । औरतोंके प्राणवर्तोंके घृष्टमें भीत किया वह सत्तुता सत्य नहीं है । सत्य यह है कि पांडवों ने ही अपने आपका हारा कर, पराधीन बनाकर औरतोंके अधीन अपना राष्ट्र कर दिया । इसी किये जिस समय पांडव अपने स्वात्मन्यवर्तोंके मुक्त करनेके किये सम्राज्यमें जाते हुए बड़े समय के विजयी हो गये और पूर्ण स्वतंत्र की गये गये । वह विजय प्राणवर्तोंके किये स्वयं पांडवोंने ही अपने प्रभावसे बना दिया । नर्थाय जिस समय हममें है अपनी पराजयका किये घृष्ट कोकनीका मुक्त अपने समय प्राप्त किया उस समय वे राज्यप्राप्त होकर बचवासी हो गये और जिस समय हममें है अपनी संघटना द्वारा स्वात्मन्य स्वायत्तता प्राप्त किया उस समय वे स्वयं काचित स्व राज्यके स्थायी गये गये । प्राणवर्तोंकी स्वतंत्रता अपना पराजयका किये किसी दूसरेका प्रभाव कारण नहीं बना स्वयं बना अपनाही प्रभाव कारण हुआ । इसी तरह प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समाजकी उद्धारि-अवस्थामें विषयमें समझना चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिकी उद्धारि-अवस्थामें विषयमें भी वही विषय है । जो सर्वसाधारण लोग कहते हैं कि दूसरेने मुझे पराजित बनाया और दूसरा मुझे स्वात्मन्य देगा वह सब भ्रम है । इस भ्रमसे किसीकी व्यक्तिकी समाजकी अपना राष्ट्रकी उद्धारि नहीं होगी ।

पहो कहा है कि अपना इच्छा करनेके लिये अपनीही कमर कसनी चाहिये। अपनी उपयोगिता होने योग्य कोई काम स्वयं नहीं करना चाहिये। क्योंकि किसी भी मनुष्यका मित्र या शत्रु वह स्वयं ही है दूसरा नहीं।

शत्रु-मित्र-रक्षण

आत्मसंयम करनेसे मनुष्य स्वयं आपसी व्यवसाय होता है और अपना असंयम करनेसे स्वेच्छाचारसे स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है। अपनी व्यक्तिगत ज्ञान होनेसे मनुष्य उन्नति पक्षपर चलने लगता है और जिसको आत्माका ज्ञान नहीं है वह अपने ही घातका कार्य करता है। अर्थात् शत्रु और मित्र दूसरा कोई नहीं है, वह स्वयं ही अपना शत्रु वा मित्र है। तत्पर्य यह कि आत्माकी स्वाधीनता अपनी ही विद्या वा अविद्यापर निर्भर है।

यह बात व्यक्तिकी उन्नतिमें देखिये। मनुष्य महात्मा न पावनेमें सुख है ऐसा मानता है और योगतत्पर होता है जिससे शीघ्रमैत्र होकर योगी और अपना होता है। वह कुछ किसी दूसरेके द्वारा नहीं काया गया जसिद वह स्वयं ही अपने ऊपर लाया है। इसी तरह अर्थिक, शारीरिक, धार्मिक, आदिमय व्यवहारोंके विषयमें भी देखिये। व्यक्तिसे व्यवहारमें भी पादक पैस सजते हैं कि वह मित्रवा ज्ञानमें कैमकर सुखकी दुआ जात दुआकी सुख मानता है और कैसता रहता है। स्वयं अपने ज्ञानमें मोहित होकर दुआ योगता है। कोई अपरुष करने लाया तो भी सुनता नहीं और इस तरह अपने ही व्यवहारे सुख बढ़ाता है और स्वयं मोह जाता है।

यही बात राष्ट्रीय सुख-दुःखके विषयमें देखिये। मनुष्य दूसरे देशक चरकीक वस्त्र देखता है उनके तन्त्रमें मोहित होता है उसका कदर अपने ओग बढ़ाता है और यदि दिन प्रतिदिनमें कैपता जाता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर सब बातोंकी ज्ञान होता कि राष्ट्रीय वस्त्रमय व्यवहारका ज्ञान व्यवहार राष्ट्रीय मूल-द्रव्य अपनेही प्रधानक परिणाम है। किसी वस्त्रमयके ज्ञान द्वारा ही विद्या विस्मयकी जगता प्राप्त की। तो मनुष्य सुनता तक नहीं और अधिकाधिक दुःखमें पड़ता है ये सब वस्त्र और यह मनुष्य स्वयं निर्माण करता है। जो वस्त्रक हृदय दृष्टिसे विचार कीने हमका वह बात मुग्धता हीनेने विदित होगी,

जता हमका वैयक्तिक दृष्टिसे अपना सामुदायिक होने अधिक विचार पहो करनेको कोई आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य स्वयं अपना मित्र और अपना शत्रु भी है, यह बात किसी व्यक्तिकी दृष्टिसे वैधायी सांख्यिक दृष्टिसे भी सत्य है। जो विचार करके देखेंगे उसको यह सिद्ध हो दिखाने देगा। मनुष्य वागसाधनके विषयमें भी यही सत्य है। क्योंकि जो वागसाधन करण बरीन्द्र सत्ता इस लिये योगियोंकी स्वयं दृष्टतासे प्रत्यक्ष करना पड़ता है।

जीवार्त्मा और प्रकृत्यात्मा

हम सोचेंगे आत्मा अर्थात् दो अर्थ केन्द्र की एक और उत्तम अर्थ हो सकता है। एक आत्माका अर्थ शरीरक है और दूसरा आत्माका अर्थ प्रकृति वह सत्य नहीं। यह और चेतन के दो रूप हमारे सम्मुख हैं। जैसा कि आत्मा प्रकृति प्रकृति देव प्रकृति, शरीर तमि रूप प्रकृति देवे अनेक नाम हैं। वे वस्तुतः परस्पर शत्रु हैं, परंतु कई लोग यह प्रकृति शत्रु मानकर वर्तन करते हैं। विचार करके विचार करना चाहिये कि सचमुच प्रकृति जीवार्त्माका महात्मा है अथवा प्राक है? जसदीक्ष्य करने के कि वह महात्मा भी है और प्राक भी है। जो है आत्मा अर्थात् दोनों अर्थ केन्द्र जो अर्थ हो हमारे यह नहीं देखें—

(आत्मव्यवहारव्यवहार) देव प्रकृति प्रकृति शरीर की महात्माके (आत्मव्यवहारव्यवहार) जीवार्त्माका अर्थ करना चाहिये। प्रकृति प्रकृति शरीरका नहीं करना चाहिये कि जिससे जीवार्त्माकी उपयोगिता हो जाय। क्योंकि प्रकृति अथवा जीवार्त्माका मित्र भी है और शत्रु भी है। जिसे (आत्मव्यवहारव्यवहार) हम जगत् की (आत्मव्यवहारव्यवहार) अपनी आत्मा द्वारा जीत दिया स्वाधीन दिया हम स्वयं जीवार्त्माका प्रकृति जगत् प्रकृति समान महात्मा हो गया है और जिसमें अर्थ प्रकृति जगत् वा मित्र नहीं शरीर, प्रकृति शत्रु नहीं बन जाता है।

हमके मनमें इसका आधर वादोंके मनमें आ जगत् है तथापि सुखकोके लिये हमका मोहना रसितन पहो किया जाता है। करोतिधर्म कहो है—

अभिधर्मोऽयं प्राप्तापानमि नित्यम् ॥

(कर् ४ १११)

(४) योगीकी आत्माका परमात्मा ।

मितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानवृत्तात्मा कूटस्थो विशितेन्द्रियः । शुक्त इत्युच्यते योगी समलोटाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अन्वयः— शिव-आत्मनः प्रशान्तरूप परम-आत्मा शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मान-अपमानयोः समाहितः ।
नवमि ॥ ७ ॥ ज्ञान-विज्ञान-वृत्त-आत्मा कूट-स्थः विशित-इन्द्रियः शुक्त कूट-आत्मनः योगी शुक्तः इति उच्यते ॥ ८ ॥

जिसने अपने अपने आपको जीत लिया है और जिसने पूरा शान्ति पायी- है उसकी आत्मा महान् होती है और वह शीत उष्ण सुख दुःख तथा मान अपमानके विषयमें सम बुद्धि रखता है ॥ ७ ॥ ओ ज्ञान और विज्ञानसे युक्त हो शुक्त है जो सबसे उच्च स्थानमें स्थिर हुआ है जिसने सब इन्द्रियें जीत लीं हैं जिसकी दृष्टिमें मिट्टी पत्थर और सोना समान हो चुके हैं उस योगीका योग सिद्ध हुआ ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भाषार्थ— अपनी क्रियाओंको स्वाधीन करने इन्होंने विषयों समता प्राप्त करने और शिव प्राप्त करनेसे साधक की आत्मा विद्याक होकर सर्वत्र समदर्शी होती है ७ अब वह ज्ञान और विज्ञानसे पूर्ण भित्तिरूप उष्ण और समदर्शी होता है तब उसका योग सिद्ध हुआ, ऐसा कह सकते हैं ॥ ७-८ ॥

जमित्य इत्येते विद्याकी प्राप्ति होती है । सब साधन जमित्य हैं सब साधक के साधनरूप पदार्थ जमित्य हैं परंतु इनकी साधनासे मनुष्य जित्वा ज्ञान प्राप्त कर सकता है । इसी बातका यही मनुष्यसाधन करना योग्य है ।

प्रकृतिक बल परमिष्ठ अवस्थित और साधक है इसमें कोई नहीं है परंतु इसका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्य अपना सुख बढ़ा सकता है । अपना भोग्य ज्ञानरूप सुख निर्माण आदि कार्य सुख पदार्थोंसे ही होता है । योग-साधनमें निर्माण करना हो तो ईश्वर का कर्म आदिसे ही निर्माण होगा । इस रस्युक्त पदार्थों से ईश्वर कर साधन-साधना द्वारा सुखकी कोश हो सकती है । इस तरह वह स्वयं बगल हमारा साधनक होगा ।

जो मनुष्य आत्मवेद्यकी आत्मविद्यकी होता है यही इस रस्युक्त विषयों इस मूर्त जगत् को अपना साधनक बना सकता है । परंतु जो अज्ञानी और स्वयंसाधक है वह इसीसे अपने सुख बढ़ा सकता है । इस तरह वह जगत् अपना रस्युक्त भी है और जगत् भी है । ऐसा हम कहते हैं वह धार करेगा ऐसा वह होगा जोने विचारसे वह बात पाठ कीने अपने ही सकती है ।

इसी किने कोई मनुष्य इस दृष्टिको पुष्कल समझे । यदि उसको पुष्कल समझा जाय तो उससे समझनेवालेकी पुष्कलता ज्ञान होगी । मनुष्यजीताके विचारसे वह सब विषय का रूप परमात्मनः विचारक है और परमात्मनः रूप की दृष्टिकारक नहीं हो सकता वह सदा साधनक और मित्रवत् ही रहैगा ।

इस दृष्टिसे ही इस विचारक में दृष्टिकारकता नहीं है । यदि किसीकी इससे शान्ति हो सकती है तो उसकी अप-मैत्री दोषके कारण होती अवस्था विचारक इससे ज्ञान संबंध नहीं है । इस तरह सब विचारकको अपना साधनक बनाकर अपनी दृष्टिको पदपर चढ़नेकी सूचना नहीं दी है । शिव शैव इससे साधकका काम हो सकता है । इस तरह सब जगत्का साधनक बनाकर योगसाधन करनेवाला कैसे योगी बनता है और उसकी योग्यता किसी नहीं होती है इसका मनीषिक और योग्यत्व ज्ञान आगे देखिये—

(७-८) इन दोनोंमें योगकी सिद्धिके कारण कहें । और योगीकी आत्मा (परमात्मा) विद्याक होती है ऐसा भी कहा है । ये छोटे विचार मनुष्यरस्युक्त इनसे योग्य हैं ।

आत्मा का परमात्मा महत्त्वा

आत्मा का परमात्मा

पुत्र का परम पुत्र, परमपर पुत्र पुत्रोत्तम

मर का मारापन

हन्त्र का महन्त्र

देव का महदेव

इस तरह अनेक छन्दों द्वारा वेद उपनिषद् तथा सम्प्रदाय आर्य ग्रन्थों में आत्माकी परमोच्चतियी सीताका अर्थ व्यक्त किया है। इसका स्वरूप क्या है इस विषयमें वहाँ बोझाला विचार करना चाहिये।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा अणु स्वकम है और परमात्मा विशु स्वकम है। इस विषये अनुसिद्धिमें जीवामा आत्माके इच्छा चाहता है और सुखमें रहना चाहता है एक समय जीव पशु करता है और दूसरे समय उल्लसके पशु करता है अपमानके स्वाभावसे दूर रहकर समाजके स्वाभावमें समाज्य होता चाहता है। किसी एक स्वाभावसे इच्छा और दूसरे स्वाभावमें आना पड़ने से कहता है कि जब वह अणु या छोटा होता है। यदि वह विशाल होता तो कहते हैं कि और कहा जायगा ?

परमात्मा विशाल और सर्वत्र विद्यु है जीव स्वाभावमें भी है और उच्च स्वाभावमें भी है समाजके स्वाभावमें भी है और अस्माजके स्वाभावमें भी है तथा जैसे सुखदायक स्वाभावमें वे जैसे ही सुखदायी पदार्थमें भी है। किसी स्वाभाव पर वह नहीं है दूसरी बात नहीं है क्योंकि वह सर्वव्यापक विद्यु है। जो अणु होता वही एक स्वाभावमें है और दूसरे स्वाभावमें नहीं ऐसा कहा जा सकता है। अणु पदार्थका ही सुखके स्वाभावसे दूर होता और सुखदायकमें रहना संभव है। क्या एक पदार्थ दोनो स्वाभावों एकही समय रह सकता है। जो आत्मा महत्त्व किंवा परमात्मकत्वके प्राप्त होता है वह भी वही ही प्रतीत्य सुखपूर्वकमें समाजतया एकही समय रह सकता है। इस विषये हम कोकमें कहा है कि जब प्राकृत विचारमा और प्रकृत्य होता है तब वह परमात्मा (विज्ञा आत्मा) बनकर प्रीतिपूर्ण अथवा सुख-दुःखमें समाजतया रहता है। वह अज्ञान या परमात्मभाव प्राप्त होनेकी अवस्थामें विद्यमान सरा है।

विचारमा

विचारमा का अर्थ है विचार आत्मा विषये जब प्रकृतके प्रकृतमूर्तपर विचार पायी है जो अपने विचारमें मग्न रहता है जिसे अपने अंदरही अर्थात् आर्य विचार है। इसके विचारको पराविचारमा है वह सुखकी अवस्थासे दूर रहकर अज्ञान रहता है जब परार्थ अपने पास रहते करता है अपने सुख मित्रता है ऐसा मानता है अपने मांससे दुःखी होता है अपने द्रव्य रहनेसे सुखी बनता है। इस तरह जिसको अपने विचार अर्थात् विचारक अनुभव नहीं वह पराविचारमा है।

प्रमाणतया वह जो कहता है कि जो विचार होता विचारके अपने आपकी स्वाधीन किया है जिसने अपने आत्मा यदि मन विचार, अथवा इन्द्रिय बाह्य और अन्तरि द्रव्य पर अपना पूर्ण अधिकार रखा है अथवा इस लक्ष्यके अपने स्वाधीन कर लिया है। ऐसा लक्ष्यी प्रदा आत्मा और प्रमाणतया होगा क्योंकि इसके अन्तर्गत होनेकी संभावना ही नहीं है। अन्तर्गत जो वह होता जो पराविचारमा होता क्योंकि वह पराविचार और पराधीन होनेसे वह अपने अधीन होता वही विचारके अन्तर्गत वही उन्तर्गत कहा जायेगा। देखिये किन समय वह पराविचारमा होता है वह समय वह लक्ष्यके अधीन बनकर सुंदर अपने पीछे होता है, जिसके अधीन होकर सुखादायक पदार्थोंके विषये हम अन्तर विचार है कामका होकर कामसंतुष्टयर्ष अथवा अन्य में भी प्रवृत्त होता है। इस तरह पराधीन अणु अणु होता है अन्तर्गत अन्तर्गत होता अन्तर्गत है। क्योंकि वह दूसरेके अधीन होता है।

अन्तःमुखी

प्राकृत विचार करेगी तो उनके पता लगेगा कि जो हम तरह लक्ष्य होता है वह अपने आर्यको अणु विचार अन्तर्गत करण है। इसी कारण वह मानता है कि जो सुखदायक सुंदर पदार्थ अधिक पदार्थ और कामसंतुष्टयर्ष अथवा लक्ष्य अन्तर्गत कर रहे हैं वे दूसरे स्वाभावमें हैं अपने काम वही वह रहता है वही वे नहीं हैं। इसी विषये वह उनकी प्राकृतिक विचारके अन्तर्गत रहता है। यदि वे लक्ष्य सुख उनके प्रदा उपलब्ध रहें तो वह प्रीतिपूर्ण विचार विषये ? अब हमका विचार होनेसे इसकी अनुता और

नक्षत्रा इव जाती है तब इसके पासही सब कुछ स्वयं
जाते हैं इसको मुक्तिके पाम जाना नहीं पड़ता जबका
इसीके जन्म सकल होवे ही सब कुछ उपस्थित होते
हैं । जिसके इव तरह सकलसिद्धी सब कुछ उपस्थित होते
हैं उसको बंधक होनेका कोई भयान्न नहीं रहता । वह
आत्म और समस्थित बर्ण्य समष्टि हो जाता है । यदि
विषम होनेके लिये वही कोई मनोजन ही नहीं रहता । ऐसे
सिद्ध गुणोंका बर्णन करविनहोमि इस प्रकार लिखा है—

य काम कामपते सोऽस्य सकलप्राप्तेव समु
त्पिष्ठति तेन संपन्नो महापते ॥ ७ ८११११)

जिस मुक्तकी वह इच्छा करता है वह मुक्त उसके
समुक्त उसके केवल संकलन करनेसेही उपस्थित होता है ।
पाठक वहाँ कहना करें कि यदि कोई महात्मा ऐसा
होया कि केवल नक्षत्र करनेसेही सब कुछ उसके पास
उपस्थित होते हैं तो उसके हिकमै जन्मा चक्र होनेकी
क्या आवश्यकता है ? जिसका प्रकान्ततमा क्षमाहिततमा
को होता है वही परमात्मा जन्मा परमात्मासम होता है
इसी कारण वह जन्म होता है जैसे किसी एक पाकमें
कोडिय बकके रहनेपर वह एक हिकता है बंधक होता है ।
वहमें यदि एक आत्मन्त मरा बाप तो उसका हिकता बंध
हो जाता है । इसी तरह यदि कोई जन्मा प्रकान्त होता
है तो वह परमात्मा (विज्ञात आत्मा) ही बन जाती है ।
इस दृष्टिसे वहाँका परमात्मा जन्म विवेक हेतुसे मनुज
हुआ है । पाठक इसका विचार करके इसका वह हेतु जानें ।
इसके अतिरिक्त महाभक्तमें जन्मा का जन्म अधिक
एक कर दिया है । वह जन्म अब ब्रह्मिण ।

प्राज्ञब्रह्म

आत्मा सन्नत इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतेः गुणैः ।
तेरेव तु विमर्शुक्तः परमात्मैयुगादतः ॥
(म या कां १८०१११)

जब प्राकृतिक गुणोंसे संयुक्त होता है तब उसको
क्षेत्र आत्मा कहते हैं । जब वे प्राकृतिक गुण उससे दूर
होते हैं, तब उन्नीको परमात्मा कहते हैं । प्राकृतिक गुण
धन्य रम्य तम हैं । गुणका अब रहती होना है । प्रकृतिक
इव ही गुणकपी हीव रहितहोनेसे अब वह आत्मा बीची

जाती है तब इसको बीच कहा जाता है बीच जब वह इस
बंधनोंकी ओकर बर्ण्य गुणहीत होकर अपने तमसे बन
कती है तब उन्नीको परमात्मा कहा जाता है । गुणोंसे युक्त
होनेसे बीच और गुणहीत होनेसे क्षिप्त हो जाता है । वह
महामातके बचनका तात्पर्य है ।

ज्ञान और विज्ञान

ज्ञान और विज्ञानके इस समय वह गुण (ज्ञान-विज्ञान
एकता) होता है । ज्ञान और विज्ञानही मनुष्यकी उन्नतिके
सहायक हैं । वहाँ तो पदार्थ है—

भूमिरापोऽनलो वायुः कं मनो बुद्धिरेव च ।
महंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्तत्प्रां प्रकृति विद्धि मे परास् ।
जीवभूतां महाबाहो यथेष्टं पार्यते जगत् ॥ ५ ॥
(गीता क ७)

१ पृथ्वी वायु तेज वायु आकाश महंकार मन बुद्धि
और जीवात्मा ये नौ पदार्थ हैं । इनमें पहले आठोंका नाम
अपरा प्रकृति और नौवेंका नाम परा प्रकृति है । वह परमा-
त्माकी प्रकृति अर्थात् इसका शरीर है । इस नौ पदार्थोंका
बधावर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । पृथ्वीमें जो नौ पदार्थ हैं
उनके गुण-वर्ण क्या हैं एक क्या है जमि विस्तृत आदि
तेजस तम क्या है आकाश-तमका स्वरूप क्या है वह तो
जीविक आकाश केतुमें होनेवाला ज्ञान है । अंतराकाश
भूगमका कलिकाका आदि सब पदार्थ-विद्याका ज्ञान
इस वर्णमें आता है । वनस्पतिविद्या वायु विद्या आदि सब
की पदार्थ हीमें अन्तर्भूत होती है । जलतरंगविद्यामें सब
रगोंकी विद्या एकसे सिद्ध होनेवाली विद्या जाती है अग्नि
विद्यामें अग्नि विस्तृत आदिका समावेश होता है वायु
विद्यामें सर्व वायु वायु आदिकी विद्या है । इस तरह पंच
महाभूतोंकी विद्याका समिल नाम ज्ञानविद्या है । वह सब
एक पदार्थ विद्या है जिसका आत्मक पदार्थविद्या कहते
हैं । अहंकार मन और बुद्धि की विद्या इससे भी बड़ी है ।
आत्मविद्या उससे भी गुणसे गुण्य है । वह सब ज्ञान प्राचीन
कालमें गुणक्योंसे दिया गया था । इसका वर्णन कांदोराव
अभिषेकमें विष्णुकिशित प्रकार किया है—

जाता है । वहाँ कोई वह न समझ कि होमेके साथ सम वर्तन हो समता है । मछलीवाली विधिक्रिया करनेके किये कोई मनुष्य चाण्डाल या कुलेके पास नहीं जायगा प्रत्युत वह अपनी माद्वयके पासही जायगा । तात्पर्य वही सिद्धी, परस्पर और सोमेकी व्यावहारिक विधिक्रियाका अनुभव करते हुए भी तत्परचित्तै एकही तत्वकी वह विभिन्न विभक्ति है ऐसा मानकर और हृत् सब विभिन्न पदार्थोंमें एकही विभिन्न तत्व है ऐसा समझकर उक्तका सत्य अनुभवमान रखना सम धर्ममें है । इतनाही बोध सम धर्मिका है और किसी प्र कोमर्तमें न कलत्रा वह दूसरा बोध है । क्योंकि यदि जितस्या विवेकिज्ञ और विविर्तेजिव बनना है तो उक्तको प्रकोमर्तमें न कल्पना नहीं चाहिये । जो किसी प्रकोमर्तमें कहेगा वह कल्पि विवेकिज्ञ नहीं हो सकता । अर्थात् जितस्या होमेके किये हृत् सम धर्मिकी अर्थात् मान्यवक्ता है ।

सम और विषम बुद्धि

जिसकी छवि सम नहीं विषम है वह किसी स्वात्मपर योग पका हुआ हो या वह उस सोमेकी पुरावेगा जीव अपने पास रखेगा । परंतु जिसकी सम छवि हुई है वह उक्तको परमार्थका रूप मानेगा किंवा मछली सोमेका रूप लेकर अपने समस्तुक्त अपनी परीक्षा करनेके किये जाया है ऐसा मान कर उसमें मछली समझकार करके वह उस इन्द्रमें पीछ हरेगा और सम छविसे ज्ञान्य रहेगा । इस तरह धर्म-द्विधाका मनुष्य कर्मसे अपने आपको तथा प्रकटा है । सम का जर्म सर्वत्र एक करते अवस्थित मध्य है । सर्वत्र मध्य वा परमार्थका दर्शन करनेकालाभ धर्म-दर्शन है । ऐसा ही मनुष्य कृत्य लब्धार्थ वह अवस्थामें स्थित होता है क्योंकि उसके गिरनेकी सी भावनाही नहीं होती । जो देखा होता है वही योगी योगा-रूप किंवा मुक्त कहलाता है । इस विधिविधी डीक कल्पना होमेके किये वैदी अथ कोष्टक-कपरी वीथि कर देते हैं । उनकी परस्पर तुलना करके देखनेसे विवेक लब्धीय होता—

वहजीवः	मुक्ततमा महत्तमा परमार्थमा
स्नेह्यापारी	विहिततमा
स्नेहेजिवः	विहितेजिवः
अपारम्भः	प्रकल्पः

असम	(कीतोभ्यस्तुक्तपुत्रेषु)	समः
विषमः	(मानापमानयोः)	समः
अधमाभाववृत्तिः	समाहितवृत्तिः	
अज्ञानमिष्याज्ञान-मनुष्यः	ज्ञानविज्ञानमनुष्यः	
विषयवृत्तिः	अभ्युद्योगवृत्तिः	
अपारम्भः	कृत्यः	
अयोगी (अयोग्यः)	योगी (योग्यः)	

इस कोष्टकके मनबसे वह जीवकी स्थिति क्या है और मुक्तकी स्थिति कैसी होती है इसकी स्पष्ट वक्ष्यता हो सकती है । अतः पाठक इसका अच्छी तरह मनब करें ।

कीतोभ्यस्ती समता

वहाँ कई पन्थक पुनः प्रश्न कर सकते हैं कि जिस समता कीतोभ्यस्तुक्त-पुत्र मानापमान सम हो जाते हैं, उसका उसकी छवि पदार्थ उक्त कगता है और उक्त पदार्थ कीव कगता है । वा क्या होता है कीव और उक्त पदार्थ समता कैसे कर्ते हैं । वह संका दीक है । मनुष्य वह हो साबक हो बनबा मुक्त हो उसको यदि उक्त योगी और वरक कीवकी कगता ही तरह धृत् पदार्थ मनुष्यी कमेता और कमेर कमेर ही कगेता । जरीरकी संवेदना सबकी समता ही होती है । परंतु वहसमता अवस्था ऐसी होती है कि वह मुक्त-पुत्र कीव उक्त होनेपर उक्त परामृत होता है ऐसा मुक्ततमा परामृत नहीं होता ।

उदाहरणके किये दूखिये कि किसी मनुष्यको कुछ धर्म कर्म करना आवश्यक है । वह उक्तका कर्तव्य कर्म होकर उसके समस्तुक्त उपस्थित होता है । वह मनुष्य उस कर्तव्यकी करना शर्त करता है उस उस कर्तव्यको करनेसे जिसकी क्षति होती है वह अनु उस कर्तव्यसे उसे हाना चाहता है । उसकी मारता पीरता वा अन्य प्रकारसे दुःख देता है । यदि वह वहसमता होगा तो कुछ प्राप्ति होतेही कर्तव्य प्रोक्त देगा परंतु यदि वह मुक्ततमा होगा तो वह हृत् प्रह्व करके जी कर्तव्य नहीं कोटया धृत् अलौकिक दुःखोपवत् अवस्था भी अपना कर्तव्य करवाही रहेगा । वह और मुक्त की क्षांतिक क्लेश क्षीरवर्मापुत्रा समानही होगे परंतु पुत्रोके परामृत होकर वह मनुष्य कर्तव्य-प्रत्यक्ष होगा ऐसा मुक्त मनुष्य नहीं होगा । इसी तरह सब अन्य परिस्थितिमें

(५) सममुद्रि ।

सुहृन्मित्रार्पुदासीनमभ्यस्यद्वेष्यमन्धुषु । साधुष्यपि च पापेषु सममुद्रिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वया— यः सुहृत्-मित्र-भारि-वदासीन-मन्धस्य-द्वेष्य-अन्धुषु, साधुषु अपि च पापेषु सममुद्रि (स) विशिष्यते ।

सुहृत्, मित्र यादु वदासीन मन्धस्य द्वेष करने योग्य बांधव साधु और पापी लोगोंके विषय जिसकी बुद्धि सम हो गई है वही विशेष योग्यताका मनुष्य है ॥९॥

भावार्थ— जो अपने संबंधमें इमान्ता मान सकता है इसीकी योग्यता द्वेष समझनी चाहिये । परंतु जो अपने जोरावले विषय में द्वेष करने और पराये होनेके कारण विषय मान सकता है वह हीन मनुष्य है ॥९॥

कदाचित् और मुक्तका पाचरण कैसे होगा इस विषयमें विचार करने वास्तव ज्ञान चाहते हैं । वास्तविकी विवेकता और मुक्तताकी समर्पता कैसी होती है इसका ज्ञान इस विचार से स्पष्ट हो सकता है । यह सम बुद्धि कैसी होती है इसका वर्णन आनेके क्षणमें किया है यह सब देखिये—

मनुष्योंके नौ विभाग

(१) ' सु-हृत् = वह है कि जिसका हृत्त्व उत्तम है जो अपने हृत्त्वके बाह्यिक मानके मज्जा करता है जो किसी का हृत्ता कर नहीं सकता दूसरोंको कष्ट देना जिसके स्वभाव में जाता ही नहीं जो दूसरोंके दुःखके दुःखी और दूसरोंके सुखके सुखी होता है । मित्र = वह है जो अपने मित्रका मरु हित करनेमें उत्तर रहता है एकदम अपनी व एकदम दूसरों की जो हितकी मज्जा देता रहता है मान्य करवा जिसका द्वेष्य रहता है । भारि = मनु, जो नष्टि करवा है नाशवाक करता है । वदासीन = अपनी क्षामि करवा क्षाम होकर की जिसकी दुःख मुक्त मुक्त की नहीं रहता 'मन्धस्य' = मन्धमें अवस्थित रहता है जो मित्र की नहीं और मनु की नहीं जो मान की नहीं करेगा और कदाचित् की नहीं करेगा परंतु निम्न होकर नेत्र मन्धम बोध समझमें एकदम वेगा स्वयं दुःख करी नहीं देना परंतु विचार हृत्त्व होकर जो निष्पक्षतासे निम्न देता है । 'द्वेष्य' = जो अपने इमान्ता द्वेष करने योग्य है । अन्धुषु = जो भ्रातृ बांधव परिवासीक व्यवसाय करवा संबंधी है साधु = जो मज्जा है, उत्तम मान्य व्यवसाय मज्जमा है । पाप = जो पाप करता है पापी है दुर्गुणी है ।

मनुष्य-प्रमाणके ये नौ विभाग हैं । इनके दो एक होते

हैं । एक उच्च एक और दूसरा निम्न पक्ष । देखिये—

उच्च पक्ष	निम्न पक्ष
१ साधु	१ पापी पाप
२ सुहृत्	
३ मित्र	२ भारि
४ मन्धस्य	३ द्वेष्य
५ अन्धु	
६ वदासीन	

मनुष्योंके नौ विभागमें साधु सुहृत् मित्र मन्धस्य अन्धु और वदासीन इन छहोंका अन्तर्भाव है और बाकि विभागमें पापी (पाप) भारि और द्वेष्य इन तीनोंका समावेश होता है । मानवी व्यवसाय इन नौ विभागोंमें विभक्त होती है । प्रत्येक मनुष्य अपने पापों और दैवों पर अपने पापों और दैवों को नोतीं और साधु है और निर है तथा और मन्धस्य और अन्धु है हृत्त्विक विचारों में । इस तरह देखिये कि हमको विशिष्ट होगा कि इन नौ विभागों में ही अपनी द्वेष्य करवा विभक्त हुई है । इन नौ विभागोंमें विभक्त हुई कमालके मान मनुष्योंके एक व्यवहार करना चाहिये इस वास्तव विचार प्रत्येकको करना चाहिये । यदि प्रथम मनुष्य हम अपने नुते मनुष्योंके अर्थों करता है यह प्रथम वह कैसी मान्य मन्धम मान्य करने व्यवहार करे वह सब नहीं है । इसका उत्तर अपना रहे हैं कि प्रथम मान्यता मान्य करने मनुष्य व्यवहार में ।

सम बुद्धिका अर्थ

सम बुद्धि प्रथम मान्य और सम मान्यता का अर्थ पक्षी है । वही प्रथम मन्धस्य अर्थ प्रमाण है देना

माननेवाळा एक पक्ष हे । वर कहुता हे कि सर्वांचे साथ
समान मानणे व्यवहार करी । सम वर्तन करो, पुरा
निष्कप इस सोकणे वे कोण निकाळते हैं । परंतु 'समबुद्धि'
कारण करेवा गीताचा उपदेश हे । सम धर्म ' का मी
भिर्देस करवण हे, परंतु किसी स्थानपर गीतामें सम वर्तन
नहीं कहा है । इस संबंधमें गीतेके सब भिर्देस देखिय—

(१) सुखदुःखे समे कृत्वा
सामाछासी जयाकथौ । (गी १।३८)

(२) तिष्ठपतितयोः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥ (गी २।४८)
समः सिद्धासिद्धौ च
कृत्वाऽपि न विचप्यते ॥ (गी ३।२२)

(३) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं
मनः । निर्वोप हि समं ब्रह्म तस्माद्
ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (गी ५।१९)

(४) आत्मौपम्येन सबन्ध समं पश्यति योऽ
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी
परमो मतः ॥ (गी ६।१५)

(५) समोऽह सर्वभूतेषु
न मे द्वेषोऽस्ति न मित्र ॥ (गी ९।१९)

(६) समा द्रावी च मित्रे च तथा मानाप
मानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु समः
सगर्वाभिर्जितः ॥ (गी १२।१८)

(७) समं सर्वेषु भूतेषु विद्यन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स
पश्यति ॥ (गी. १३।१७)
सम पश्यन् हि सर्वत्र
समवस्थितमीश्वरम् ॥ (गी १३।१८)

(८) प्रहृतः प्रसृष्टात्मा न शोचति न
कांक्षति । सम सर्वेषु भूतेषु भृशकं
समते पराम् ॥ (गी १८।२४)

(९) नित्यं च समचित्तस्यमिष्टानिष्टोपपत्तिषु च
(गी १८।२९)

(१०) सर्वभूतस्यमात्मान सर्वभूतानि आत्म
नि । इत्येव योगयुक्तात्मा सर्वत्र सम
वर्तमानः ॥ (गी १९।१९)

(११) विद्याविमयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्ति
नि । शुभि चैव श्वपाके च पण्डिताः
समदर्शिनः ॥ (गी ५।१८)

(१२) संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(गी १९।३४)

(१३) ज्ञानविज्ञानतुसारमा कूटस्थो विजिते
न्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी समलोच
समकामधनः ॥ (गी ६।८)
समबु लक्ष्म स्वस्थाः समलोचानम
कांचन । तुल्यधियाप्रियो धीरस्तुल्य
मिदामसंस्तुतिः ॥ (गी १३।१७)

यगवद्गीतामें समवाक उपदेश करेवाळे निर्वोप इत्येही
हे । इव सोकमें कहा हे—

(१) सुख दुःख नादि इन्हींही (समे कृत्वा)
सम करावा

(२) सिद्धि नसिद्धि नादि इन्हींके चित्तमें (समो
भूत्वा) सम होवा

(३) सर्वत्र सम ब्रह्म हो हे इसविध उच (साम्ये
स्थिति) साम्यमें स्थिति करना अर्थात् ब्रह्म
में निवास करना

(४) नपवी आत्माके समान सर्वत्र (समं पश्यति)
समान देखवा

(५) सब भूतेमें (समं स्यात्) ब्रह्म सम मानवे हे
ऐसा अनुभव करना,

(६) अनुभूतिमें (समः) सन मान रक्कना

(७) सर्व भूतेमें (सम परमेश्वर पश्यति) सम
रहनेवाळे परमेश्वरको देखवा सम ब्रह्मचे
देखवा,

(८) (सर्वेषु भूतेषु समःब्रह्मभूता) सब भूतेमें जो
सम होणा हे वर ब्रह्म बनणा हे । नवीन समका
बुद्धय करके ब्रह्म बनवा

(९) (समचित्तसर्व) सम-चित्त होना

(१०) सर्वत्र (समदर्शनः) सम दर्शन करना

(११) ब्राह्मण वीराक ब्रह्म वही आदिपर (सम

[११-१६] सब वच सब जातिवां, सब प्राणी सब पदार्थ सब स्वाध्यायजगम वस्तु मिथोषे केकर सोमैवक बचवा सिमनेसे केकर सुवचके पदाव अक्षरूप हैं, सबके धर्ममें मझ दर्शन होमेसे अनुप्य धमएहि होता है ।

मगगहीठमैं धम एहि' का जा विचार है उसका स्वरूप यह है ।

‘ वासुदेवः सर्व ’ (गी० ७।१९)

‘ ईकर ही यह सब रूप है इसमें संक्षेपछे जो कहा और जो विवरूपद्वय ’ (टी अ ११) में विचारसे कहा गही नरनार धमदर्शन समग्रहि जाहिले कहा है । यद्यपि सब अक्षर ही रूप है तथापि सबके साथ सम वचन ’ करनेका उपद्वय नहीं भी नहीं है । झुवा गुण अक्ष का भाव निःसंदेह है परंतु सुविचको अत्र और सुविचका अक्षही देवा चादिव तथा माझल गो और हाकी अक्षके रूप हैं, परंतु सबको वासही जानेके क्रिये देना नहीं है । हमी प्रकार एक और अमि दोनों अक्षरूप हैं तथापि अत्र पकाने के क्रिये अग्नि डेनेके स्थानमें अक्ष नहीं किया जा सकता, बचवा इनके स्थितिकर अग्निसे स्थानमें अक्ष नहीं रखा जा सकता । इस तरहका सम वर्णन मूढताका निदर्शन है । गही पाठक सम दर्शन और सम वर्णनका वेद स्थानमें नारन करें । गही कई लोग कंठा कर सकते हैं कि यदि धनु और मित्र ने दोनों अक्षरूप बनें तो इनसे व्यवहार हम किस तरह करें ! कछरने निवेदन है कि दोनोंके साथ हम समायवथा बनेके साथही व्यवहार करें । मित्रके साथ बर्न और अमित्रके साथ अचर्न नहीं करा जाहिले । दोनोंके साथ समायवथा बर्नकेही व्यवहार करना चाहिये । इस दृष्टिके सम वर्णन भी हो सकता है । पाठक इस सुप्रसता-क विचार विवरूपक टीक प्रकार समझ लें ।

नाटक

सामने प्रानु जाता है उसको अक्षरूप कैसे मानें ! यह धंका गही हो सकता है । यह वका गहन विषय है तथापि एक बड़ाहरणसे मोबासा स्पष्ट करते हैं । एक मायक मंडली है, जिसमें अनेक अनुप्य मायकका कार्य करते हैं । एक अनुप्य राजा होता है दूसरा राजी बनता है बीतरा भीका होठ, चौका थोर और इन तरह अन्य लोग अन्य देव नारन करके रगमंचपर नाच करते हैं । रंगमंचके राजी अथवा भीका कार्य करती है, थोर और रक्षक अथवा अथवा कार्य

उत्तम प्रकार करते हैं, राजा बटमीवका दण्ड देता है और अक्षरोंको पारितोषिक देता है । यह सब मायक चक्रनेके समय मायक मंडलीके सब अनुप्य जानव हैं कि यह थोर थोर नहीं और यह राजा राजा नहीं । अथवा अथवा विवरूप सब पक्षानुते हैं इसलिये थोरको दण्ड और धूरका पारितोषिक मित्रनेपर ने दोनों अक्षमें दिया पा धर्म नहीं मानव । अतितु दोनों ही दोनों, परिणामोंके विषयमें सम सुविही नारन करते हैं क्योंकि दोनोंको अपने मित्र सत्त स्वरूपका ज्ञान है । यदि वह सत्त स्वरूप मूका ज्ञान और राजा अपने नायक सबाही राजा मानने कम नाय और थोर अपने नायक सत्ता थोर समझने कम नाय तो इस तरह अथवा विवरूप सत्त स्वरूप मूककेही दण्ड और पारितोषिके धुरा और मुक्त होना प्रारंभ होगा ।

इसी तरह अथवा अक्षस्वरूप मूक जानेसे और अनर्थमें जो रूप कर जाये हैं गही सत्य है ऐसा माननेसे मुक्त धुरा जाहि इन्ह सत्य हैं ऐसा मणीत होता है और इससे सब प्रकारके कष्ट हाये सकते हैं । परंतु यदि ने सब अक्षके रूप ही हैं ऐसा धाखाए होने कम नाय तो धुरा और मुक्तके पर पक्षचनेसे उसको दोनों कष्ट नाया नहीं पड़ना सकते ।

सुवर्णका दृष्टांत

इस विषयमें एक सुवर्णका दृष्टांत दिया जाया है । सोना धनु रूपसे एक है परंतु बलके धिरमें सजेमें जातीमें हावमें और वांरमें नारन करनेके आभूषण मित्र मित्र होते हैं । आभूषण दृष्टिके भिन्नता है नारन करनेका व्यवहार भी विभिन्न है तथापि सुवर्णकेही दृष्टिके समान है एकत्व है नमद है । सब आभूषणोंको सुवर्ण-रूपसे देखनेवाला भी काममें हाकनेके आभूषण काममेंही दक्षिणा और वांरके पांथ मैत्री रखेगा । समष्टि रक्षनेवाला भी यह स्वाध्यायारिक भेद अनुभव कर सकता है । समष्टि होनेसे सम वचन नहीं हो सकता इसका यह जलन बड़ाहरण है । तैसी आभूषण दृष्टि विषय दृष्टि है और सुवर्ण-दृष्टि सम दृष्टि है येने ही मृष्टि दृष्टि विषय दृष्टि है और अक्षदृष्टि सम दृष्टि है । अक्षके ही ने सब वस्था सोमैके आभूषण बनानेके समान बनाने हैं ऐसी कहरना करनेसे सम दृष्टिका आभूषण ध्यानमें जा सकता है । विषयकी और अक्षदृष्टिमें कभी देना जा सकता है इसका विचार नह है ।

(६) योगसाधन

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
 शुचा देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रित् नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
 तत्रैकाग्र मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने शुष्याद्योगमात्मविभूतये ॥१२॥
 सम कायश्चिरोधीय भारयश्चल स्थिरः । सप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशमानघसोकम् ॥१३॥
 प्रशान्तात्मा विगतभीर्प्रज्ञाचारिव्रते स्थितः । मनः संयम्य मयितो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
 युञ्जन्मैवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामभिगच्छति ॥१५॥

अन्वयः— योगी रहसि स्थितः एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः (च सत्) सततं आत्मानं युञ्जीत ॥ १० ॥
 शुचौ देशे, न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं, आसनम् स्थिरं आसनं प्रतिष्ठाप्य ॥ ११ ॥ तत्र आसने उप-
 विश्य मनः एकाम्रं कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः (सत्) अहमविभूतये शरीरं शुष्कवात् ॥ १२ ॥ शिरः (मुखं)
 कायश्चिरोधीयं न चलं समं भारयन्, स्वं नासिकाग्रं स्वेक्ष्य च दिशः नवघसोकम् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्मा विगतभीर्प्र-
 ज्ञाचारिव्रते स्थितः मनः संयम्य मयितो मत्परः युक्तः आसीत् ॥ १४ ॥ एवं सदा आत्मानं युञ्जन्, विगतमाया मोक्ष-
 निर्वाणपरमां मत्संस्थां शान्तिं अभिगच्छति ॥ १५ ॥

योगी एकान्तमें अकेला रहकर चित्त और आत्माका संयम करे, योगवासना छोड़ दे, योगवस्तुओं का संग्रह न करे और सतत अपने आपको योगाभ्यासमें लगा देवे ॥ १० ॥ शुद्ध देशमें, बहुत ऊँचा न हो और बहुत नीचामी न हो ऐसा हमें भुगचर्म और बरत एकके ऊपर एक बिछाकर अपने छिपे स्थिर आसन बनायें ॥ ११ ॥ वहाँ आसनपर बैठकर मन एकाम्र करके चित्तके और इन्द्रियोंके ध्यापारको बन्धन करके आत्मशुद्धिके छिपे योगका साधन करे ॥ १२ ॥ स्थिर होकर, शरीर गर्वन और मल्लक सम रेखामें और निश्चल रखकर अपनी नाककी मोड़पर रहि स्थिर करके और इधर उधर दिशाओं में न देख कर ॥ १३ ॥ अपने आपको शान्त रखके, भय छोड़कर, भयान्तर्याम्यत पावन करते हुए, अन्तः संयम करके मुझमें ही चित्त लगाकर मग्न ध्यान करनेमें परायण होकर योगमें स्थिति करे ॥ १४ ॥ इस तरह मित्य अपने आपको योगमें स्थावर करनेवाला, मनको व्याधीन रखनेवाला योगी मोक्षस्वरूप मुझमें स्थित परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

वेदमें सम दृष्टि

वही समदृष्टि वेदमें कही है। वेदमें खूबका विवरण दिया गया है। उन मंत्रोंमें ख-देवताओं को रूप बताया है व व ह—

श्रेष्ठपति ५५ (बाह्मव) वचकती (एव-वति)
 रथानस्थानी मंत्री, (वज्रि) वज्रिवा (वजी) वैद्यक
 मेवा (वनवति) चोरोंका मुखिया वज्रिचर जालवपति
 (एवावपति) बाहुओंका मुखिया (एवकरवति) सुतेरों
 का मुखिया सया, जयावति जय जयवति जय जयवति
 मेवा मेवानी एवी अरवी कथा (एका) सुधार एव
 का कुम्हार (कुम्हार) सुधार मिथ्या (अरति) कुते
 बाधनेवाला । (वा वत् १६)

वही शम्भुके योग शम्भुराज मंत्री ब्राह्मण वैशम्पै
 जाति एका ओर बाह्म अग्नि सबके सब वज्रके रूप हैं एव
 कहा है। इसके अतिरिक्त इसी अरवावमें वज्र और जय
 पञ्च वृक्षवस्तुपति जयवत्सु जाति सबही वज्रवत्के रूप हैं,
 ऐसा कहा है। वज्रि ओर वीर मंत्रीको वज्रदेवताका ही रूप
 जयावत्तया मानना है और जयका समन करना है, जो वज्र
 और विजयको जय दृष्टिसे जयावत्तया-दृष्टिसे देखनेकी वस्तु
 ही अन्य वस्तुओंमें वज्रवत्के है ऐसा हम कह सकते हैं।
 इसी तरह अन्यत्र वेदका उपदेष्ट है। पाठक इसका निरूप
 करें और जानें कि वेदमें किस तरह वज्र और विजयका उल्लेख
 दृष्टिसे देखनेका उपदेष्ट दिया है। वज्र । जय शीत-जय
 किस तरह करना चाहिये इसका विचार वास्तव होता है—

स्वाध्यायस्तुत्यासे विघ्न उत्पन्न होने का शिकी सम्भावना है ।
इसलिए जेबेया गे बेसा यहाँ कहा है ।

जबकि यह ऐसा कहते हैं किसी गुल्फ के पास भी न रहे ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि जागी के पास रहकर हो वागसाधन करना बर्धित है। एक बार बीगी के पास रहकर सिद्ध द्वाका प्राप्त होनेकी अवस्था पायेके पश्चात् अपनी प्राप्त धूमिकाको सुदृष्ट करनेके लिये स्वर्च जबकि किसी स्थानमें रहकर अपना जम्मायार दृष्ट करवा योग्य है। परंतु साधक प्रारम्भिक अवस्थामें किसी सुयोग्य बीगी गुल्फ के पर बराई चले जाये जासममें रहकरही जम्मायार करे। योग साधनका जम्मायार केवल वागसाधनकी दृष्टके पढ़कर कराने से बहुत काम होनेकी जाला नहीं है। कदाचित् अंततः कुछ शक्तिकी भी समाधान होगी।

योगपठ

सुराभ्ये धार्मिके देशे सुमिक्षे निवपद्रवे ।

यनुःप्रमाणपर्यंत शिक्षामिज्जकवर्जिते ।

एकान्ते मठिकामध्ये व्यातर्क्य हितयोगिना ॥ १२ ॥

अथपञ्चादमरंजगतविषयं नात्युप्यनाधायतम् ।

सम्यग्गोमयसाम्बुलिमममम मि।शेषजन्तुगितम्।

बाह्य मंडपवेदिकूपस्थितं प्राकारसंबन्धितम् ।

प्रोक्तं योग्यस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्दण्डाभ्यामिति।

(इडबोलाप्रदीपिका ११२।६२)

जहाँ उत्तम राज्य है वहाँ कार्मिक लोग रहते हैं।
जहाँ हर एक वर्या सत्य मित्र सत्कार है वहाँ रोग पिडा
नहीं होता वहाँ शिक्षा जगति और जगत्के पीछा होनेका
संभव नहीं है ऐसे उत्कृष्ट स्थानमें मनुज समाज साधकको
अवश्य जानना चाहिये। उम जगत्के द्वार कोटे हैं सुरा
विहार आदि न हो कुमि कीट मकोड़े न हो मनुज अन्तर का
सुन्दर और स्वच्छ हो, बाहर रूप मेध देखि जाति उत्तम
बने हो बाहर आकार हो परमा सुख स्थानके सुख लभ्य
रक्षणीय स्थान हो। वहाँ अवश्य जाना चाहिये ॥

[illegible]

बकी मोटी हो जिससे बाहरकी सर्जिमेंटी बनकर ब गुं
 सके । बहुत प्रकाश और बहुत वायु बनकर ब बारी सिं
 प्रकार बिच्छू, साँप जिंदा अन्धान्ध प्राणिमोका बड़ा डराव
 व होवे पैसा सुरक्षित स्थान हो । अन्धान्धके डर व डर
 सिद्धिस्तानके साथ बड़ी बैठे और अन्धान्ध के बने
 सुरक्षितताकी किन्ता किन्ती कारण भी उनके समर्थ रहने व
 हो । मठमें योगियोंके बिच हों, योगीजनके बिचे बालक
 सामान्यही बड़ी रहे कोई अन्य प्रमाण बड़ा व रखा जाय,
 बाहरके स्थानमें बड़बड़ बनकर बड़ा डर होयेभी उसे
 परिस्थिति व हो उनके बाहर डरान डरान हो उठे
 सुंदर एक कूकने होये कूक हों डरान एक डर डरान
 हो उनके बिचे बड़बड़ प्रकाश बना हुआ कू हो तब
 नककेका बच अपने अनुसार अधिक डीप और डीप
 डरान होता है जोरका एक भी बड़बड़ा रहता है, कूक
 एक एक अनुसारमें सम रहता है इस डरकेमें कैली व
 कूकता हो पैसा बिचा जाय । इस प्रकारके बाजमें प्रमाण
 बस जायक रहे और अन्धान्ध के । इसके साथ ही हों
 सिद्ध हों उनके साथ बाजकीय फकाली हो वो बड़ डर
 योगीजनकी ही हो अन्य वैचरिक बाजकास बड़ा वरी
 सम वायुमंडल बूड पवित्र और डरक हो डीप डरकुने
 का प्रमाण बड़ी व डरक हो ।

मनुष्य को मरिजात के आशयमें जलक क्षिप्त हो। जो जल के साधन के बिना जलक अथवा कमरा हो दृक्का जल दृक्का सुननेका व्यवहार न हो। इसका कारण यह है कि बिना जल साधक ज्वालीमें मग्न हो और वस समय दृक्का साधक बना करती कण्ड ११ परिष्कृतो जलममें दीना। इसी कारण से जलममें किसीको न बहने देते साधकके स्थान हो।

एकान्त-सेषन

[illegible]

के वहाँ सर्वाँ गर्भमें उष्णता सम रहती है गड़बड़ करने काका वहाँ कोई नहीं रहता इस तरह बहुतसा जल एकता होती हैयही कारण है। कि सावक लोग पर्यंतकी गुहा पसंद करते हैं। हमारे विचारसे ऐसे सावकके किये सुयोग्य जाग्रत बनाये जाँ सकत हैं, केवल उसके किये नहीं। प्रबुद्धों की वाच सहायता मिळती चाहिये। किसी निस्सीरभक्षीय ज्ञानमें ऐसे जाग्रतोंकी रचना करनेसे बहुत सावकोंका शिव ज्ञान संभव है। मुख्य बाधक यह है कि वहाँ पूर्ण एकत्व सावकका प्राप्त हो जाय। जबकि मनुष्योंकी धीक होनेसे प्रथमें विवेक होते हैं और भीतसाधनकी प्रगति रुक जाती है। इस कारण (रहसि स्थितः) एकत्वमें रहना चाहिये ऐसा वहाँ कहा है।

योगसाधन छोड़ना

(अ-परिग्रहः) योगसाधन करनेवाला सावक अपने पास विषययोग क्रायके साधन एकत्र करके न रखे क्यों कि ऐसा करनेसे उनका मन उन विषयभोगोंमें कैयना चित्त व्यग्र होता प्रवृत्त न रहेगा किन्तु स्वाह-जप नहीं ज्ञान उन भागसाधनोंकी रक्षाकी विना मनको व्यग्र करेगी; इस तरह अनंत वपाचिन्ता बँधेगी। अतः अवतक योगसाधन करना है तब तक योग साधन अपने पास रक्खना आवश्यक नहीं है। इसके विपरिग्रह भूति कहते हैं। इसी किये कहा है कि पारिवारिक ज्ञान अपने पास न रखे जोष (एककी) अन्धकाही सावकत्वमें बाधक जन्मात करे। जब तक साधन करना है तब तक अपने अविचारमें कोई वस्तु है देना भी न समझ। मैं और अपना योगसाधन इतनाही ध्यानमें रखे। जब तक योगसाधन पास रहेंगे तब तक और योगसाधन नहीं होसकेगा।

योगवासनास्थान

(निराशीः = निःआशी) योगसाधना भी छोड़नी चाहिये। केवल योगसाधन अपने पास न रखनेसे कार्य नहीं होगा। क्योंकि अपने पास किसीमें योगसाधन न रखे वस्तु बनने अपने पास योगकी इच्छा रखी तो उसका परिणाम बहुत ही दुरा होता है। योगसाधन अपने पास रखनेसे जबका योग योगमेंसे भी शिवता गुहा परिणाम नहीं हो सकता उठना दुरा परिणाम मानके योगोंका विषय

करनेसे हो सकता है। प्रत्येक योगके निरपयं बहुतसा है। इसकिये कहा है कि सावक योग-वासना भी छोड़ दे। योगवासना कैसे छोड़ी जा सकती है? इसका उपाय यह है कि योगसाधनके प्रारम्भ करनेके ही पूर्व मनस एव सकल करना चाहिये कि साधन वधासांग होनेके किये योगसाधना छोड़नेका पक्ष रखा। इस किंच विचार करके मनको सुयोग्य शिक्षा देनी चाहिये और इस प्रकारकी सुविधासे सुसंस्कारप्रवृत्त करके उसको योगवासनामेंसे दूर रक्खना चाहिये। योगवासनामेंसे दूर रहना एक प्रकारकी अन्तःकरण शुद्धि ही है।

आश्रममें मनुष्यके पास सब विषयों कि साधन रहनेमें भी योगसाधना नहीं सता सकती। योगसाधन अपने पास रखनेसे उनके दर्शनसे योगवृत्ति रुकती है, अतः अपने सामने योगसाधन न रखें ता योगसाधनार्थ कह नहीं दे सकती। इसकिये मनुष्यके आश्रममें पवित्र अन्तःकरण वाले सत्किष्णोंमें रहना उचय है।

उपयम

(यत् चित्त-आत्मा) अपने चित्त, मन इन्द्रियों शरीर बाह्यिक स्वाधीन करना इनको वैराग्यनी न करना। इन्द्रियोंका उपयम बार हमन करना इनको प्रथम सत्कर्ममें प्रवृत्त करना। उपयम करनेका उपाय यह है कि मनुष्यके इन्द्रिय सब और असंग कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, इसकिये इनको केवल सत्कर्ममें ही प्रवृत्त करना और अत्यन्तमेंसे हटाना चाहिये। विषयपूर्वक और दृष्टव्यसे इन्द्रियोंको सत्कर्ममें प्रवृत्त करनेसे उच्चकी सत्कर्ममें रुचि बढ़ती है और कुछ समयके पीछे वे असंग प्रवृत्तियोंसे स्वाभाविक गिरतेही दूर रहते हैं। अब अपने बाह्य और आन्तरिक इन्द्रिय सत्कर्ममें ही प्रवृत्त होने लगत हैं और कभी अमरकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते इस समय सत्कर्मके चक्रवात् लगान करनेका अन्वय वधाना चाहिये अर्थात् अपने सत्कर्मका जो भी चक्र मिले वह अपने योगके किये अपने पास नहीं रक्खना चाहिये अनुपय साधनोंके विलोके किये (५।१५। ११४) इसका समर्थन करना चाहिये। इस अन्वयमें योगवासना दूर होकर इन्द्रियसंगम सिद्ध होता है। वहाँ वादक ध्यानमें कारण करें कि उचितका कम यह है— (१) नरसत्कर्ममें प्रवृत्ति (२) केवल सत्कर्ममें प्रवृत्ति (३) कमचक्रका

प्रसंगविरुद्ध के विषये समर्थन (४) स्थायी-वासवाचक और (५) संवत्-सिद्धि । इस प्रकार यह संवत् सिद्धि का समर्थन है ।

शुद्ध देशमें निवास

(सुखी देखो) योगसाधन करनेवाला अनुष्ठान शुद्ध धर्मिक निर्मल कीरोम निर्मल प्रवेशमें निवास करे । कई देश ऐसे होते हैं कि वहाँ रहनेसे दिग्भ्रमकी पीड़ा होती है या पितृहीन बहती है पवनकण्डि बहती है अथवा होता है इस तरह माना प्रकारके कष्ट होते हैं । अतः साधकको उचित है कि वह अपने विषये ऐसे पवित्र स्थानको चुने कि वहाँ ऐसे कोई उपद्रव होनेकी संभावना न हो । प्रायः गर्महा-वर्षिका कल वायु इस भाग्य कालके विषये सुचोच समझा जाता है । योगसाधनके बहुतसे आश्रम भी गर्महाके किनारे-पर हैं । एक भी अच्छा है । आश्रम अपना धार्मिक योग-आश्रम बना कर और उत्तर वायुमें गंगा-तटपर निवास करें । पचास गिरवार बाढ़ि वर्षी हिमालयके उत्तरीय पहाड़ तथा अन्तर्गत सुचोच प्रवेश भी योगसाधनके विषये अच्छे हैं और वहाँ परंपरासे चले आये योगाश्रम भी हैं । जो जिसके किंव योग्य और प्रसन्नता देखेवाला प्रतीत हो वह वहाँ रहकर अपना साधन करे ।

आसन

आसनके विषये (श्वेद-अग्नि-कुण्ड-उत्तर) भूमिपर द्वाज्य विज्ञानात्मक उत्तर कुण्डाग्नि वैज्ञानात्मक और उत्तर बोटी ही बार वह करके निश्चयी जाने । भूमि पर द्वाज्य उत्तर कुण्डाग्नि और उत्तर वक्र रूप तीन पदार्थोंका आसन बनाया जाने । भूमि उत्तर होने संबंधी नीची न होवे । पत्थरका आसन हो क्योंकि वह सर्वत्र बड़ी कीट होना । यदि पत्थर नीचे हो तो कमरा देला होने कि जो न नीचे हो और न ऊपर । यदि भूमि अच्छी सम न हो तो बीच ऊँचीका पट्टा रखा जाय और उत्तर पूर्वोक्त आसन रखा जावे ।

(मातृमुक्तिर्लभ्यते मातृमीधे) आसन न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा । ऊँचा हुआ तो विपरीताश्रय होनेके समर्थ सुख होकर गिरनेकी संभावना होती । मान कीजिये कि किसीने एक ऊँची नीचापर अपना आसन बनाया और साधन करने लगा तो संभव है कि भाग्यिक

एकाग्रता करनेके समय यदि उठना किसी एक मोड़ हुआ तो वह उठ और गिर जाएगा । और वहाँ रहने रहना उचित है कि इस समय यदि किसीका और वह तरह गिरा तो बड़ी भारी चोट लगती है और उठने की भाग्यिक बाधा तो बहुत ही बड़ा होता है । इस ऊँची बनायावासीसे वायु एककी भी संभावना हो सकती है । इसविषये आसन बहुत ऊँचा न किया जाये । आसन कुछ नीचा करनेसे भूमि की सर्व बाधा बहुत सकती है । इस विषये कहा है कि आसन न नीचा हो और न ऊँचा हो । आमाश्वत्थना विचार किया जाय तो भूमि के तीन पाद ऊँच ऊँचा आसन हा ऐसा हम कह सकते हैं ।

कई लोग आसनके विषये गण्डेका उपयोग करते हैं, परंतु ऐसा करना बर्ज्य है, क्योंकि गण्डेकी सर्व उत्तर दिशाके दूध जाती है और कई मासोंके पचाए आसन ऊँच नीचा हो जाता है और इस कारण वैदिकवाचक निष्पन्न होता है । इसविषये गण्डेका आसनके विषये बर्ज्य है । दूसरी बात यह है कि गर्महा विषयोंमें गण्डेका बहुत गर्म होनेके कारण उत्तर वैदिकवाचकको इस समयके उत्तर आसन गर्म होनेका अनुभव आता है । और इस समय आसनपर विरक्त किए वही हुआ अनुष्ठान आसनकी गर्मी नष्ट जाता है । एही कारणसे स्वाभ्युपार्गम संवत् वर्षों की गर्मीके दिवसों वही कष्ट होता है । इसविषये विचार करने के उत्तर आसनके विषये गर्म अनुष्ठान और उत्तर ही हुई बोटी कही है वही योग है । यह अनुष्ठानविद और विद्वत् आश्रम है ।

आसन (स्थिर) स्थिर हो ठिकनेवाला न हो । योगात्मक ठिकनेकी संभावना न हो । यदि द्वाज्य होनेके उत्तर योगात्मक की वक्रता कम जाय तो बड़े काल होनेकी संभावना होती है । इस समयके बोटेसे बड़ेका सम विचार और अतीतपर बहुत दूरा विचार होता है । इसविषये आसन स्थिर रहनेवाला होना चाहिये । यदि गर्म अनुष्ठान और बोटी बोटी भूमिपर विरक्त जाय तो आसनके गर्मी की संभावना नहीं होती परंतु यदि भूमिपर पड़ा या पड़ी रहकर उत्तर अपना पूर्वोक्त आसन लगाया हो और यदि वह पड़ा भूमिपर नीचा न देला तो ठिकने की संभावना होती है । अतः आसनवत्त है कि भूमिपर रहने पड़ा रहना होवे

हार्द कोग जयिक पादा वय परसं करते हैं । यह सब शुद्धि जात हो सकता है । हमसे काम बहुत है परंतु शुद्ध करके करनेका यह विषय नहीं है ।

१- वायवरी बंध नी रवरी बंधोंकी बनाये भीतिविधिसे किये मिलते हैं । किसी वायवरीके पाससे इसका उपागम करना मेकी रीति सीकी जा सकती है । योगकी भीति वायवरी बंध की भीतिसे अच्छी है । भीति होनेका प्रभाव यह भीतिका सब साधन बनाकर परसे अच्छे उत्तम प्रकार सेकर शुद्ध कर भीत जोक करके कर विधीमें सुशुद्धि रक्षणा चाहिये । मक्तिमयसे इसको हमेशा दूर रक्षणा चाहिये ।

(३) नेति

एवं विरतिस्तु सुस्मिन्मासाभावात् प्रवेष्टव्यम् ।
मुक्ताभिरागमेयकषेपा नेतिः सिद्धैर्विषयतो ॥१९॥
कपालशोषणी चैव दिग्बन्धद्विषयिणी ।
अभूर्वजातरोगांश्च नेतिराशु मिहन्ति च ॥२०॥
(हठयोग प्र १)

एक छत्र नी इस अथका पंज ह्मना करना बार एक नीत बंध बनाया बोका नयिक बंधा रहा तो कोई दोष नहीं होगा । यह नयिकयम हो, प्रंथि नादि न हो, सुखा न हो । प्राणवाणीके प्राण नासिकामें उलका प्रवेश किया जाये । नासिकसे प्रविष्ट होकर यह गलेमेंसे मुक्तमें जायेगा । नासिके दूर करके मुक्तसे रोक करके मुक्तमें जायेगा । इस तरह भावा सुनका नयिकम प्राण अशुद्धिसे पकड़ कर बंधा बना । अदर बाहर संवाहित करना चाहिये । इसी तरह छत्रे नासिका छिन्नमें करना चाहिये । इसकी विधि नी अन्ते शुद्धे पाप रहकर सीधका चाहिये । शुद्ध कर कर इसका अनुष्ठान करेंगे न के ।

इस विधिसे कपाल नासिका और कपालका नासिकाके पीछेका भाग स्वच्छ होता है । अधिक दोष दूर होते हैं और गलेके ऊपरके सब रोग इस विधिसे दूर जाते हैं ।

(४) त्राटक

निरीक्षेन्निद्रासहजा सुषुप्तकृम समाहितः ।
अशुप्तपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥११॥
मोक्षं मेरुरोगाणां तद्रात्रीनां कपालकम् ।
(हठयोग प्र १)

प्राणप्रतिष्ठ करके निद्रा दृष्टि रहकर सुषुप्त कृमके ऊपर दृष्टकी बनाकर देखना । अथवा नेत्रमें अक्ष नहीं जाने सब गले देखने काया मेधमें अक्ष जाते हैं । बंद करना । इसे त्राटक कहते हैं । इससे नेत्ररोग दूर होते हैं और तद्रात्री नहीं आती ।

त्राटका अभ्यास करनेसे पश्चात् नेत्रके अशुद्धि दूरकर शुद्ध । एक विधु नासिके पाठमें जोइसे अक्ष दूर होत है ।

(५) नीलि

अमम्वार्वर्तयेगम तुम्हं सध्यापसध्यातः ।
नतासो आगमेयेपा मीळिः सिद्धैः प्रत्यक्षये ॥१३॥
मंदाभिरसंक्षीपमपाचनादि-
संध्यापिकानक्षकरी सदैव ।
अशोपशोपामयशोपणी च
हठक्रियामीळिरिय च सीळिः ॥१४॥ (हठयोग प्र १)
कंधे नीचे करते हाथ सुदोषोंर अमाकर अपने पेटको वेधते दक्षिण और नीर बाई और उलकाके समान हुमाने का पाप नष्टी है । यह योगक्रियाओंमें बड़ी महत्वकी क्रिया है । इससे मंदाभिर दूर होती है पचनक्रिया बढ़ती है भूख बढ़ जाती है । अथवा अमयका अनुष्ठान होता है जोच छुट्टि होती है । पेटमें दारुबन्धने अनेक बात नादि दोषोंका नाश करनेवाकी यह क्रिया है ।

यह बोधे प्रत्यक्षसे नाप्य हो सकती है । परंतु जिसको दूरकी बीमारी बहुत है वह स्वयं इसे न करे । करना हो तो अच्छे शुद्धे व्यक्ति रहकर यह करे । नाप्य कोग इसका अभ्यास कर सकते हैं ।

(६) कपाल-माति

मखाबद्धाहकारस्य रेचपूरी संसन्नमी ।
कपाल मातिर्विषयता कफशोषविशोपनी ॥१५॥
(हठयोग प्र १)
कुहारकी चोक्कीके समान नेत्रमें रोक और पूरक करनेमें कपाल नाति विधि होती है । इससे कफशोष दूर जाते हैं और अमयामें शोषरहित हो जाता है ।
इस बंध करनेसे शरीरकी छुट्टि होती है । शरीर छुट्ट होनेसे सब रोग दूर होते हैं और आरोग्यका सहजानंद मिलता है । इस प्रकार शरीर छुट्ट दारुबन्धने पश्चात् नाप्यनाम का अनुष्ठान करना कथित है ।

प्राणायाम

पदमतिगतस्यैव फलप्राप्त्यधिकः ।

प्राणायामं ततः कुर्याद्विनायासेन सिद्धयति ॥१५॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति यथा इति ।

आद्यापि तां तु केवापि दम्यत्यर्मे न संमलम् ॥१७॥

(हृदयेण यः)

पूर्वोक्त चरमसे स्पूक पेट, कण्ठ आदि बाप और अन्य
अंगों पर मल्लोका दूर करनेके बजाय स्थानक आनाशामका
अन्वयासे की इससे आनाशामसे आनाशामकी स्थिति होती है।
अर्द्ध आनाशाम। यह है कि कबल आनाशामसे अन्वयासे
अप करीर हृदय दाया है। अथ पूर्वोक्त चरम किया करनेकी
कोई आवश्यकता नहीं। अन्वयासे आनाशाम परमिष्ठ है
आ आनाशामपर है, जिसके पक्षमें है बहुत दुर्गम नहीं आती
हो। है चरम के चरम और केवल आनाशाम ही करें। परंतु
जिसके पक्षमें है दुर्गम है दुर्गम है दुर्गम है तथा करीर
मल्लोका है। परम आनाशाम है पेट स्पूक है के पूर्वोक्त
चरम किया करें।

भासिकाहोते वास वेदर केनेका नाम पूरक बीजते रहस्ये का नाम कुमक बीज वाहर छोडकेका नाम देवक है । पूरक कुंभक देवककी कच्छमयीहोते तथा म्यूनामिक रीतिनीके प्रत्यक्षनाम बनेक प्रकाशके होते हैं । पुस्तक बहकम मायावास करवा किनीको भी बोधव नहीं है । यन्त्रके गुणके प्राप्त बहकरी भिवात्मीनी रहकर भावाभास छोडना और तपस्स प्राप्त बन्धना करना बोधव है । किन्तुके बीजना प्रत्यावाय बोधव है इसका उपदेख वरिष्ठित गुणकी कर लक्ष्या है तथापु इन्द्रावी भावाभास सुधय होनिसे वही उलकी निधि होते हैं—

सज्जारी प्राणायाम

मुखं संवत्स माहीश्यामाकुप्य पशमं दानैः ।

पथा छगति कंठात् हृदयावधि सस्यम् ॥ ११ ॥

पूर्ववत्कुमयेत्याप रेखयेद्विजया ततः।।

सुखमहायानं चैव महाभारतम् ।
सौख्यसाधनं कथं देहान्तविपर्ययम् ॥ ५१ ॥

नाडीजकोदराभातुपठदीर्घविमाषानम् ।

गच्छता विद्वता कार्यमुज्जायवाच्यं तु कुमन्तम् ५३

(हृदयोऽयं प्र ५)

मुक्त बंध करके गच्छते वायुका अणुके साथ वायुके परक अणुवा वायु अणुके आनेके समय अणुके इतरण करनेके साथ साथ साथ, देखा पूरक करते इच्छते बहुत श्रमपक करते अणुवा रेखक किया जाने । इसमें सस्ते मात्र पूरक और रेखक होमे चाहिये । इस प्राप्ताशामके वप्रण पूर होते हैं जरीली कामिय तथा पाचन-अधिक बरती है । तथा गाडिचोमि इन्दीवला एक और जरीमि राखेको वप्रण इन्दी को को दोष होते हैं वे सब इससे बचनाको चाहते हैं । यह उन्दीमि प्राप्ताशाम अणुके कितने और लिम राखेके समय भी किया जा सकता है ।

यह सुगम है और यथा काम्यता है। इसकी मर्यादा कम करते-करते इसकी सुगमता और लज्जितता कम है। जो जो पाठक प्राणायामका अभ्यास करना करते हैं वे अच्छे सुकसे पास बाहर उभरी प्राणायामका अभ्यास करें। इस विषयों पर है—

જાહે જાહે થયે વિષ્ણુ નિઝાએ નિઝાએ મહેલ ॥

प्राप्तिमेति यद्वा सर्वे माहीषाष्टं महाकुम्भम् ।

मौख्य भाषाये योगी प्राप्यसंसाधने समः ॥ १ ॥

तत्रैव आयेत योगी प्राप्य ह प्रहस्य हसन् ।
पुनरप्युवाच भगवन् प्रहसन् प्रहसन् ॥१॥

अध्यासः पथमे हास्तं हीराक्षमालि

प्राण्यानामादिपुच्छेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।

अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुत्पन्नः ॥ १५ ॥

नया नु मायाभूतिः स्यात्तथा विद्वानि वाक्याः ।

अथवा तु नानाधुनिक स्यात्
अथवा नानाधुनिक स्यात्

कायस्थ कृष्णा कामिस्वदा
कायस्थ कृष्णा कामिस्वदा

अपुनरुत्थाय यस्मै प्रसन्नता

नाएस्फुटत्वं ययने शुनिर्मळे ।

[illegible]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

में करीब छूट होता है। जन्म कालपर्यन्त पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये। (बहु गायका दूध और भी हुआ या अधिक लच्छा है वह न होनेपर कोमिले बहु किया जाले।) योग्य रीतिसे प्रत्यक्षान्न करनेसे सब रोग दूर होंगे परंतु अयोग्य रीतिसे प्रत्यान्नान्न करनेपर सब रोग पीडा कर सकते हैं। (जब प्रत्यान्नान्न कल्याण योग्य मुक्तके पास रहकर ही करना चाहिये।) जब आर्यभट्टि होगी तब करीबकी स्फुटता (करीबकी मेद) दूर जाती है बार करीब तबस्वी होता है। येवका इतना मुक्तकी प्रसन्नता कर्मकी पुण्या वेद्यकी निमग्नता करीबकी भीरोयता बीरकी स्थिरता; अग्निकी प्रदीप्तता इस योगसे सिद्ध होती है।

इस तरह आत्मभूति करनेक कष्ट है। वस्तुसे आत्मिक बीकेके, मागकी भूति, चौतरे आत्मिक क्षणके पंथकी छान्न बातसे आत्मिकके अन्तःप्रवृत्तकी भूति आत्मिकके वेद्यकी भूति कपात्मकालिसे प्रत्यक्षान्नकी भूति आत्मिकके परित्यक्तकी छान्नता प्रत्यान्नान्नसे आत्मिककी पवित्रता बार अपनी स्थिरता होती है प्रत्यान्नान्नके अन्तःप्रवृत्तकी पवित्रता होकर विचकी एकप्रता होती है। इस तरह प्रत्यान्नान्न निःस्पन्द आत्मभूति करनेका है। इस किने कहा है कि (आत्मभूतिसे योग्य सुखप्रदात्) आत्मका अन्तःप्रवृत्त करके अपनी भूति करकी आत्मिक अपनी भूतिके अर्थ अपनी दृष्टि प्रत्यक्षान्नान्न अन्तःप्रवृत्तान्न अन्तःप्रवृत्तकी भूति पवित्रता और सक्रियता है।

मनकी एकप्रता

जाने अन्तःप्रवृत्तिके विषयमें विषय निर्देश किया है। (पराधिस-हृदय क्रिय तब प्रमः एकप्रते दूरवा, निच और सब हृदयोंकी द्रव किनाओंका सेवन करके अपनी द्रव प्रता करकी चाहिये। अपनी एकप्रताके किने सेवने हृदयों का प्रमन करना चाहिये अन्तःप्रवृत्तकी एकप्रता अन्तःप्रवृत्त है। हृदयोंको किनसे निर्मित है। किनेकी राशिये पक्षमा दायरे एकप्रता, विषयके हृदयोंके अन्तःप्रवृत्त करना मुक्तके बीकना आत्मिकके इतना कायके क्षुब्धता नाकके गंध कना इत्यादि हृदयोंके कर्म है। इन सबका प्रमन करना चाहिये अन्तःप्रवृत्त द्रव किनाओंको स्वाधीन करना चाहिये। यद्यपि यदि हृदयके कुछ कर्म करनेका जाल किया तो सब और प्रम अन्तःप्रवृत्त जावगा। जाल एकप्रता नहीं

होगा। इस किने प्रम एकप्रता करनेके समय करीब कुछ भी कर्म नहीं करना चाहिये।

वही कर्तृ पक्षमा अन्तःप्रवृत्तिके विचार कया ज्ञान ना नहीं है। इस प्रमके उत्तरमें मिश्रण है कि विचारः प्रम कर्म की नहीं करना चाहिये। यदि विचार-प्रमद चकता रहना जो विचकी एकप्रता नहीं हो सकती। इत्यकी इव-प्रम विचार आदि आत्मना ही नहीं होनी चाहिये। कोई प्रम विषय अन्तःप्रवृत्त नहीं आना चाहिये कि जिससे हृदयोंकादि आत्म इत्यकी उत्पन्न हो सके क्योंकि जिस समय ज्ञान आत्म इत्यकी उत्पन्न होवे उस समय अपनी एकप्रता नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त भूतका जग औद्योगिकीका वेग तथा अन्तःप्रवृत्तिके होनेके समय भी अपनी एकप्रता नहीं हो सकती। इसी प्रकार ज्ञान भूत कलापर अधिक जालेपर जोमके प्रवृत्त, विज्ञानके जालेके समय अति आगमन दायरे पर अपने प्रमन अपनी एकप्रता नहीं होती। आत्मन होते ही वेद्यकेके कलापर विज्ञानका ज्ञाना प्रमन है। इस तरह अपनी एकप्रताके कई विषय हैं जिसका विचार करके प्रमन रूप्य ज्ञाने ज्ञान सकते हैं और द्रव विद्योसे दूर रहना नाच करके विचकी एकप्रता सिद्ध कर सकते हैं। विचकी एकप्रता अन्तःप्रवृत्त होनेसे अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त आत्मना ज्ञाना है। वह प्रमदता अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त मिश्रती है और इससे जो प्रमदता प्राप्त होता है वह किने अन्तःप्रवृत्त नहीं होता। जब इस और आत्मिकका अन्तःप्रवृत्त आत्मना योग्य है।

सम स्थिति

सम कायशिरोगीय धारयप्रवृत्त स्थिर। (११)

आत्मिक अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त बार पक्षा सम स्थिति धारय करे तथा करीब अन्तःप्रवृत्त और स्थिर रह। किने अन्तःप्रवृत्तकी योकी भी इत्यकी वही प्रम करीब स्थिर मिश्रक आत्मना और स्थिर रहे। केवल आत्मना और द्रवका अन्तःप्रवृत्त होता रहे। आत्म अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त वेद्य की किना ना प्रमता है परंतु इत्यकी स्वर्ण चकता रहता है अन्तःप्रवृत्त आत्मिक का अन्तःप्रवृत्त नहीं है। इस तरह स्वर्ण अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त आत्मना काय करके रहें। परंतु जो अन्तःप्रवृत्त अन्तःप्रवृत्त वेद्य के कर्म करते हैं उनको अन्तःप्रवृत्त स्थिर करके अन्तःप्रवृत्त

सामने कोई रमणीय पदार्थ बिना विमृष्टादि अपनी हृष्ट्याक अनुसार कोई पदार्थ रखे और उसपर दास स्थिर करके अन्वसक्त करे । बाकाशमें किसी एक, मन्त्रप्रदर दृष्टि स्थिर करनेसे जोड़ समस्तक पञ्चात् सपूर्ण आकाशमें केवल वही एक मन्त्र है और सैव सत्त्व सत्त्व आकाश छुट गीका है और दूसरा कोई तारा बाकाशमें नहीं है ऐसा ध्याता है । इसका नाम एक-दास्य है । एक प्रायः जालक और एक प्रायःकी स्थिरता होने एक इस दृष्टि स्थिरताका अनु हान करवा योग्य है । सपूर्ण आकाशमें केवल वही एक ध्याता है सब आकाशमें विलयनसे स्थिराव और छुट नहीं है ऐसा अनुभव मन्त्र ही एक प्रकारका आकाश प्रतीत होता है । दृष्टि स्थिरता होनेतक एक प्रायःका अनुभव और दृष्टि बोधनी प्रकाश ही गर्व तो लक्षक प्रायःका अनुभव होता है । बरके कहर कमरेमें भी किसी चित्र मूर्ति वा विष्णु पर दृष्टि अन्वसक्त भी सैव समस्तके पञ्चात् एक प्रायःका अनुभवमें आती है और उस पञ्चात्क विभाव दूसरा कुछ भी नहीं वही है ऐसाही सीकता है । सब अनेक पदार्थोंका अनुभव है । एक समस्तका चाहिये कि दृष्टि स्थिर नहीं है । मन्त्रमें मन्त्र दृष्टि स्थिर करनेका अन्वसक्त करना और सब अन्वसक्त रह ही सैव मन्त्राप्र अवस्था अन्वसक्तमें दृष्टि रचना । इस तरह अन्वसक्त करनेसे सुगमताके साथ साथ प्रायःमार्गमें प्राप्ति होती है । दृष्टि स्थिर होनेसे कुछ अन्वसक्तमें पञ्चात् अन्वसक्तमें प्रकाश वर्तक दिखाई देते हैं । सब ये दिखे तबसे दूसरा ही दृष्टि स्थिर करके अपना साधन भागे बढ़ाना चाहिये ।

(प्रज्ञाप्तात्मा) इस अन्वसक्तमें मन्त्र साधक अपने आपको शास्त्र रखे अन्वसक्त होने न दे । सब शास्त्र रखे मन्त्रों किसी शास्त्र भी वृत्त होने न दे । (विगतमी) निर्मल होकर एकमिष्टादि अपना अन्वसक्त बढ़ावे । शास्त्र आकाशमें विशिष्ट अन्वसक्त-तरीका मन्त्रमें उद्यते हैं किसी समय मन्त्र उत्पन्न होता है किसी समय बढ़ानीयता आती है किसी समय मन्त्र होता है पञ्चात् इस छुटकाराके बाद उद्यते साधक को अपना शास्त्र बंद करना अवश्य है । छिन्ना साधन अनेक बढ़ता चलने में चित्र अनेक मन्त्रोंगे । इनसे नहीं बढ़ाया चाहिये । मन्त्रादित होकर अपना अन्वसक्त बढ़ाना चाहिये ।

(अन्वसक्तमते स्थिता) अन्वसक्तका पञ्चात् करना चाहिये । वही योगसाधनकी सुविधा है । अन्वसक्त मन्त्रों न होनेसे अनेक आपत्तियां निज करनेके दिन नहीं होती हैं परंतु अन्वसक्तका सब अन्वसक्त रहता तो कोई आपत्ति साधकके सामने नहीं होती हो सकती । अन्वसक्तका मन्त्र केवल हीरे रक्षण इत्यादी मन्त्रादित नहीं है । किसी योग्य विषयकी योग्य प्रवृत्ति व जानेका नाम पूर्ण अन्वसक्त है । जैसे बाकककी वृत्ति एक विधिकार होती है कोई अन्वसक्तका निकार उसके समस्त वही दिखाई देता वैसी सदा विधिकार स्थिति का नाम एक अन्वसक्त है । वह अन्वसक्त अन्वसक्त स्थित होनेसेही अन्वसक्त स्थिति-मनुष्य पञ्चात् सकता है । पञ्चात् इस अन्वसक्त अन्वसक्तमन्त्रकी अन्वसक्त अपने मन्त्रमें स्थिर करें और वैसा अन्वसक्त रह करनेका प्रयास करें ।

अन्वसक्त अन्वसक्त मन्त्रों सपूर्ण कामनाओंकी सब होती है । जैसे बाककके मन्त्रों कामनासत्ता होती ही नहीं उत्पन्न भी नहीं होती वैसीही उसके मन्त्रों कामना होती नहीं । योग साधनकी कहर उत्पन्न होकर उसको दृष्टता वह मन्त्र है परंतु योगसाधनकी उत्पत्ति ही न होना मुक्त है । इनसे किये विद्वान्की सब होती चाहिये । स्वाधी की सब होनेस अन्व इतिवृत्तोंकी सब हो सकती है । इस प्रकार सब इतिवृत्त सब सपूर्ण रूपसे होती सब इस अन्वसक्त अन्वसक्तमन्त्रकी प्रविष्टा हो सकती है । केवल अन्व इतिवृत्त निमग्नता को अन्वसक्त है वह अन्वसक्त अन्वसक्त है पूर्ण अन्वसक्त वही ।

योगार्थ और अन्वसक्त

अन्वसक्त का मन्त्र (अन्व) परममार्गमें (अर्थ) विचारना है, अन्वसक्त बनकर विचारना । इस प्रायःचिक स्थिति समस्तमें मनुष्य योगार्थ बनकर विचारता है इसलिये इससे जीवन का नाम योगार्थ है । जब वह इस योगार्थका कोडकर अन्वसक्त बनकर विचारता तब इसकी अन्वसक्त निम्न होता । पञ्चात् योगार्थ और अन्वसक्तका योग्य भावमें आनन्द करें और योगार्थी न बनकर अन्वसक्त वरें ।

मन्त्र-संयम

(मन्त्र संयम) पूर्ण को साधन कहा है, वह मन्त्र संयम करके करना चाहिये । (तत्र एकाग्र मन्त्रः कुर्या) एकाम संयम करके देवता साधन को पूजा को पूर्व (को १२ में) कहा है उसमें मन्त्र संयम

(७) योग्य आहार बिहारका महत्त्व

नात्यभ्यस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनसत । न जातिस्वप्नशीलस्य आप्रतो नैव चार्जुन ॥११॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१२॥

कारनेकी सूचना बंधन मिठी ही है। मग एकाग्र करनेका वाद्यय बही है कि मगका हृत्तर उन्नत भद्रकमे बहेगा। जो अपने मनको सरबने हेगा उससे यह योगसाधन करानि बही होगा। मन एकाग्र करना यह पशुका अभ्यास है जोर मनका ध्यान करना यह मनुष्याका अभ्यास है। संयमित मन स्वभावतः ही एकाग्र होगा। इसलिये साधक अपने मनको सम्यक्ता स्वाधीन रखे। सम्यक् धन्यका अपने ध्यान है।

(प्रशिक्षण) सुझावर चित्त कल्पते । वहाँ 'मय' (सुझावर) वह अल्प समयान् श्रीकृष्णके किये है और परमेश्वरके किये भी है । अपना सब चित्त समझायेके अतिशयै कगाले का नाम मन्विष्य होता है । भगवान् श्रीकृष्णका जीवन अतिशय कैसा है ? उन्होंने दूध चिईकथ सज्जन-संनयन और धर्मसंस्थापनके किये कैसी प्रयास किये । कितने कष्ट उठाये जन्मान्ध दुष्टोंको दूर करने और सज्जनोंकी संवतसाके किये बीनसे बाल किये तथा जन्मान्ध प्रसंगोंमें उनकी आचार्य कैसा रहा । इसका चिंतन करना । इसका नाम हमपर चित्त कगाला है । श्रीकृष्ण भगवान् आदर्श दुःखोत्पन्न हुए । इस किये उनके अतिशय । चित्त कगालेसे सावधानी भी ले गुप्त जा सकते हैं और सावधानी बचति हो सकती है ।

(खण्डः) मरे विषयमें उत्तर होना अर्थात् अगवध
 श्रीकृष्णके विषयमें उत्तर होना परामर्शके विषयमें उत्तर
 होना ये दोनों अर्थ बहा हैं। दूसरा कोई विषय मर्मे व
 काष्ठ ममत्वात् श्रीकृष्णकी जीवनीका ही परम आदर्श
 मानना उसमें रक्षित होना यह आवश्यक है। उत्तर
 होना प्राप्त होने का अर्थ अर्थात् ही उत्तर ही उत्तर
 के गुणोंमें कलाता है। प्राप्त होना उत्तर ही उत्तर
 उत्तरमें आ अगवधगुणोंमें कलाता चाहिये। दूसरा कोई विचार
 मर्मे बर्हि माना चाहिये। ऐसी एकतावादा हो गई तो अ
 धारा चाहिये कि योगमायव हीन हो रहा है। अतः कहा है
 कि इस तरह (युक्तः सासीत इति) वागसाधनमें अपने
 आदेश कला देते। इस गीतके कला देते ही अगवध शि
 योम-निर्दिष्टो कला वर लक्ष्य है उक्तका अर्थ आदेश

सुखमें बिना है ।

युज्यथेव सखात्मान योषी नियतमन्त्रसः। (९)

हम यह मित्र बनने आपसे बोधमें तार करेण,
मनको स्वाधीन एकदेवाका बोनी केनी उरव बनल
पास करल है देखिये—

मत्स्यस्यां निर्वाणपरमां प्राप्तिं अभियच्छति । ११

मुसलै रहबेबाकी भासकय परम क्षान्तिवनी बन-
खाको प्राप्त करता है। बर्बाद नही भित्री बर्बादी
जगत्तिष्ठ नयका कैसी नही होती ऐसी बर्बाद क्षान्तिवनी
प्रसन्नता उसका प्राप्त होती है। नही क्षान्तिवनी उन्नत न
रहा है और योगसाधन करिबेबाकी अनुपम रूप प्राप्त
साधन करिबे इस परमोच्च स्थितिको प्राप्त करता है।

साधनका मार्ग

वहाँ इस योगसाधक का प्रत्यक्ष मार्गका सहोदर पुत्र
 वर्तमान करवा साधककी दृष्टिसे ज्योत प्रत्यक्ष है। जहाँ
 सुबोधकाले किसे वैसा करते हैं - [१] छद्म स्वरूप को
 प्रकाश प्रदानमें लगेका साधक रहे [२] वैदिक ब्रह्मत्व
 की दृष्टका छोड़े [३] योगसाधकोंका संगम करने राज
 रहे [४] अपने सब इन्द्रियोंका संगम करे [५] ईश्वर
 कृपाश्रित और मोक्षका शिवर प्राप्त करवा दाना
 साधक करनेके किसे वैदे [६] सब करीबी विराजो
 धनमिश्र कर मन प्रकाश करने वहाँ योगसाधक करे [७]
 सब गंगा और शिव संगमस्थान रहे सब करीब शिवर
 और प्राप्त रहे इतर जगत् न दखते हुए अपनी वासिनी
 मोक्षपर रहि शिवर करे [८] अपने आपकी प्राप्त रहे [९]
 सब छोड़े [१०] लक्षणही प्राप्त करे [११] सबकी
 करे [१२] योगसाधक और प्रत्यक्षता होवे [१३]
 सब इन्द्रियोंका संगम करे सब प्रकार अपना संगम करे।
 इस तरह योगसाधक करनेवाला मोक्षकर परम ब्रह्मको
 प्राप्त कर लक्ष्य है।

इस योगसाधनसे जोड़ते वृद्ध हैं कृपा विचार करो
ओशोम किया है वह वृद्धोदी विषय जब देखिये—

अव्ययः— हे बभ्रुव ! अति-जघनः तु योग न कश्चित् एकान्त जनसत्ता च न अतिस्वप्नशीलस्य च न कामतः । पृथ ॥ १६ ॥ पुकाहारविहारस्य कर्मसु सुखवेदस्य सुखस्वप्नाद्यवस्थास्य योगः पुकाहा मवति ॥ १७ ॥

हे बभ्रुव ! बहुत कामेवालेका भी योग सिद्ध नहीं होता और न बिलकुल न कामेवालेका न अति मित्रा खेनेवालेका और न अव्यय जागनेवालेका भी योग सिद्ध होता है ॥ १६ ॥ यथायोग्य आहार-विहार करनेवाले कर्मोंको यथायोग्य करनेवाले यथायोग्य मित्रा खेनेवाले और योग्य समयमें पठनेवालेका यह योग पुकाह वर करनेवाला होता है ॥ १७ ॥

भाषार्थ— बहुत कामा बहुत पीना बिलकुल मुका रहना अति मित्रा केना या बिलकुल मित्रा न केकर जागते हैं । रहना वह योगसाधनमें बड़ा बिगड़ करनेवाला है । ऐसे अव्यवस्थित व्यवहार करनेवालेको कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । योग नर्वादिष्ट आहारविहार करनेसे कर्मोंको सुव्यवस्थित रीतिसे करनेसे योग समयपर योग कर्म करनेसे जागने खेने और मित्राईकी सर्वादा योग्य रहनेसे ही साधकका योगावरण मुक्तदायक होता है । अत्याचार अनाचार और अयोग्य व्यवहार करनेवालेको कदापि योग नहीं होता और यदि रखने किंवा की उसका दुःख कदापि रहेगा भी । अतः योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपना आचरण योग्य रहे ॥ १६ ॥

(१६-१७) योगसाधन करनेवाला अनुपम केषा कामे केसा पीने खेने और कामे अव्यवस्थ कर्म कैसे करे इस विषयमें योग्य विवेक बड़ा शिव है । जो साधक योगसाधन करना चाहते हैं, वे इसका अधिक मनन करें ।

अतिमोक्षण

(न अव्ययसत्ता योगः) अति मोक्षण करना योग नहीं इससे न केवल योगसाधनमें बिगड़ होगा अतिसु आरोग्य भी बिगड़ेगा । अतिमोक्षण करनेसे वेद बड़ा दुःखता है आसम्भवास दीक नहीं होते पचवसति बिगड़ जाती है और अनेक रोगोंकी संभावना होती है । इसलिये अतिसो क्षय करनेसे बच बड़ता है वह कदा अभय है । वस्तुतः अतिमोक्षणसे अति क्षीन हो होती है । अति मोक्षण करनेसे प्राणनाम नहीं हो सकता आत्मन नहीं होते प्राणधारणा नहीं हो सकती वमविषम पञ्चम होता नष्टेयव होता है, अक्षयवादि पावन होना व्यक्त होना है पिताही एका प्रया नहीं होती इस तरह अति मोक्षण योगसाधनका बड़ा मारी विषय है ।

उपवास, अतिनिद्रा और जागरण

इसी तरह (जनसत्ता) उपवास करना (आप्रतः) कामना , अतिस्वप्नशीलस्य) अधिक सोना भी हानि कारक है । उपवाससे कुछ काम अवश्य है परंतु योग

विहितके सिधे योग्य वेदकी विगराभीमें आशुप्रद रीतिसे उपवास करना कामदायक हो सकता है । परंतु अन्य समय में एक बार अधिक मोक्षण करना और दूसरी बार उपवास करना न दोनों प्रकार विषमता उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण हानिकारक है । अतः योगसाधन करनेके कालमें उपवास और अत्यवश्य तथा जागरण और अतिनिद्रा भी हानि कारक है । जागरणसे कष्टता बढ़ती है और अतिनिद्रासे सुस्ती जाती है । दोनों हानिकारक हैं । कष्टता बढ़नेसे प्राणनाम नहीं हो सकता चिरदर्द आदि पीडा होती है । सुस्ती जानेसे आसन्न प्राणनाम योग्य रीतिसे नहीं हो सकते । अत्यवधारणाके समय निद्रा भावनेको छोड़ के स्वप्न होगा । और सिद्धि भी कैसे मिलेगी ? इस तरह हम जाणतोंका अतिरेक करना कैसे सोचेंगे सिधे अयोग्य है बैसे ही स्वास्थ्य बक और दीर्घायुके इच्छुकके सिधे भी अवश्य है

युक्त वेष्टा

अतः अनुपम आहारविहार और व्यवसायमें कामनामें, मित्रा और जागरणमें तथा अव्यवस्थ कार्यप्राप्तियोंमें योग्य रीतिसे व्यवहार अत्यवधारणसे करे । किसी प्रकार विषमता नहीं भी न करे । प्यास रहे कि प्यास विषमता होनी बड़ा कष्ट होगा । इस प्रकार करनेवालेको युक्तवेष्ट कहते हैं । सदा सर्वथा युक्तवेष्ट होनेसे अत्यवधारण काम होते हैं । इस तरह सामान्य निर्दोष बहाविषय है जो सब लोगोंको सर्वथा उपयोगी है । इसका सामान्य विवेचन होनेके पश्चात्

भी कामवास चाहि देसा करना चाहिये इसका वहाँ पोवासा अधिक विचार करना चाहिये । क्योंकि यह वहाँ उपभोगी विषय है अतः इसका वहाँ संकेतमात्र छोड़ देना योग्य नहीं है ।

स्नान-पान

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थोऽपि धर्माभिधानः ।

सुस्निग्धे शिबसमीत्ये मिताहाराः स उपपद्ये ॥५८॥

कद्वयस्त्रीक्षणकवणोष्णहरीतशाक—

सौवीरतेलातिससर्पमपचमस्त्यान् ।

मन्दाविमोसवधितककुसुमपत्रकोल—

पिम्प्याकहिगुलशुभाचमपच्यमाहुः ॥५९॥

मोजनमहित बिद्यागुनरस्योष्णीहृत रसम् ।

मठिखलवममस्तपुल कदशाकोल्हटे बर्ज्यम् ॥

बर्ज्येदुजनमात्तं बहिल्लीपथिसेवनम् ।

प्रातःस्नानोपवासद्विकामककशविजितथा ॥६०॥

गाधूमद्याक्षियवपाथिकशोममाध ।

सीराभ्यन्तमवधीतसितामधूनि ।

शुठीपटोळकफकादिकर्पणशाकं

मुत्राविष्यमुदकं च यमीन्मृपच्यम् ॥६१॥

पुष्टं क्षुमधुरं स्निग्ध गन्धं घातुप्रपोषणम् ।

मधोधिकविम पाण्य योगी मोजनमाचरेत् ॥६२॥

पुषा बृज्योऽतिबृज्यो वा ध्यामितो पुष्टकोऽपि वा ।

अभ्यासात्सिद्धिमानोऽसि सर्वयोग्यश्चतुर्गितः ॥६३॥

किपापुकस्य सिद्धिः श्वादाक्रियस्य कर्षं मयेत् ।

अशास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रज्जायते ॥६४॥

(हस्तोप १)

श्री मागी पूरयेद्वैस्तोयेवैकं प्रपूरयेत् ।

वायाः संसारपापार्थं चतुर्थमवशोपयेत् ॥

(नसिपुत्रवचनं)

योगसाधन करनेवालोंका भोजन ऐसा हो—

उत्तम स्निग्ध अर्थात् पुष्टपुल्ल मधुर भोजन हो । पेटके दो भाग जलसे जो आधे एक भाग पानीसे मिला जाये और एक भाग बाजुसंभारके सिधे लुका रका जाये । इस तरहके भोजनको मिठाहार कहते हैं । इस प्रकारके भोजन भोजनसे जलमाही प्रसन्नता होती है । यह भोजन कोसि बोके सिधे दिवकाराक है । कुछ जलक तीक्ष्ण द्रव्य

जलकान (जिसमें बहुत जलक है) बहुत उष्ण, कान्ठुष नाभी पिच्छलेक सरसों मद्य मांस (सब प्रकारका) कड़ा दही कड़ा छाछ कुकुरवा बेर शिकरिज सिंघ कल्प ये सब पदार्थ योगीके सिधे लेवन करना अनियोग्य है । ये पदार्थ हृदिकावक होनेसे हृदका लेवन साधक न रहे ।

जो जल एक बार पीत होनेपर पुन उष्ण सिद्धा हात है वह द्रव्य अर्थात् सुष्णी इत्यत्र करनेवाला होनेसे जल लेवन करने अनियोग्य है । अति कड़ा अति कमकीर वसि माकपुल्ल ऐसा भोजन साधक न रहे । दोनसाधन अं वाका कुछ कार्गोके दूधमें न जाने बहिल्ले पास बैठका है न के अवाप्त न करे क्षीमाग न करे प्रकृष्ट रस न करे (क्योंकि वासनादि करनेके पश्चात् रहने जाता है जल पलीला जानेके पश्चात् अति न करके स्वादका समय जाता है । उपवास न करे । हा हाह करीरके कलेक होनेसेव कोई क्षिपा न करे (जो कलेक होनेपर प्रत्यावापादि नहीं हो सकवे ।) भोजन करनेवालेके सिधे भोजन करने योग्य पदार्थ ये हैं भुं खावक जो काकी खावक इवामा पीधार बादि ह्रम द्रव्य जीरा दही मक्खन दही, लकड़ा मिर्ची धार इष्टे परावर (पक्कस) बसीकंद, सुरास रसत परकन (अर्थात् बीजरी वास्तुमूल्य, बड़ी लेकपाद दुर्बल) शृंग जहेद नादिका लेवन करता योग्य है । (सिंघ दार) वृक्षिसे वा पानी पका होता है वह पीना अत्ये । (जल नदीका पानी उत्तम है । उत्तम गहरे छत्र करेक तनी योग्य है । जम्बवा छुंशावकके भापका पानी अत्यन्त सिध जाये इसकी भोजनवा सिंघ द्रव्य लेनी होती है ।) ऐसे का भोजन पुष्टिकारक स्थिर अर्थात् पुष्टपुल्ल, पाकके द्रव्य बादि पदार्थोंसे पुष्ट जीर्ण बढ़ावेवाका समको प्रसन्नतासे जाका हो । इससे विपरित न हो । इस तरहका भोजन करने योग्यावास करनेसे हृद व्याधित दुर्बल मनुष्य दुबारा पी अम्बास करनेसे सिद्धिको प्राप्त हो सकता है । जेन रीतिसे अम्बास करनेसे सिद्धि होगी । अम्बास न करनेसे सिद्धि किम् तरह प्राप्त होगी ? अथक काक करनेसेही किसीकी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती ।

कपर जो सिंघ अक पीनेको कहा है वह सिंघ जल हृदिका द्रव्य है हृदिका द्रव्य समाक कर अशुभित कला

(८) योग-सिद्धि

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गत् सोपमा स्मृता । योगिनो यच्चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । यत्र वैश्वानरात्मानं पश्यन्मात्मनि सुष्यति ॥ २० ॥

अन्वयः— यदा विनियतं चित्तं आत्मनि एव अवतिष्ठते सर्वकामेभ्यः निःस्पृहः तदा युक्त इति उच्यते ॥ १८ ॥ यथा निवातस्थः दीपो न हेतवे सा जलमा आत्मनो योगे युञ्जतः पञ्चचित्तस्य योगिनो स्मृता ॥ १९ ॥ योगसेवया निरुद्धं चित्तं यत्र उपरमते यत्र च एव आत्मना आत्मनो पश्यन् आत्मनि सुष्यति ॥ २० ॥

आदिषे । पहिली वृत्तिको ब्रह्म ईवा सर्वोक्ति इत्यर्थी मिथी वचनें शिक्कीं होसी है । दूसरी वृत्तिका जल केना आदिषे परंतु देवी बुद्धिसे कि किसी प्रकार मिथी आदि वचनें संपूर्ण हो सक । परमें छुटावनेसे वनावा पाणी भी बचाही गुणकारी है ।

जब भगवद्गीतमें जो मोक्षको निर्दिष्ट किए हैं, उनका प्रथम करिये—

आयुः सारथ्यसारांग्यपशुसमीतिविवर्जनाः ।
एत्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सारिधक
मिया ॥ ८ ॥

कटुम्लसहजसाधुप्यतीक्ष्णकसाधिविहायिनः ।
आहारा राजसरयेष्टा दुःखलोकाग्रपमहाः ॥ ९ ॥
पाठयाम गतर्त्तं पूतिमुपचितं च यत् ।
उच्छिद्यमपि चाभेद्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
(टी १०)

१ आयु प्राप्त वह आरोग्य सुख और कृषि बढ़ाने का राजस सारथ्य शीघ्रिक इन्द्रको आरोग्य देवताका भोजन आधिक मनुष्यको शिव होता है । कटु अम्ल कषयकी वति वृत्ति शीघ्रिक कष दाह करनेवाका भोजन राजस मनुष्यको शिव होता है । इससे हृत्त की वति रोग बढ़ते हैं । महरके पूर्व तैयार हुवा रसहीन सदा हुवा हर्मिबुद्ध अत्र उच्छिद्य अवधि भोजन तामस मनुष्यको शिव होता है । सारिधक भोजन स्वास्थ बढ़ाने का राजा राजस और तामस भोजन अस्वास्थ बढ़ाने का अर्थात् हानिकरक होता है । इससे कीचला भोजन साधकको करना योग है इसकी कल्पना पाठकोंको हो सकती है । उपविबर्दि कहा है—

५४ (हि नी)

अथमर्थं हि सौम्य मनः । आपोमयः प्रायः ।
(टी ८ १५५४)

अथमर्थ मन है अथमर्थ प्रायः है । इस किंचि जल और लकड़के उत्तम रहने पर ही मन और प्राय उत्तम अवस्थामें रहते हैं । किसका मन केसा है इसकी परीक्षा कौनसा जल बसे शिव है इससे हो सकती है । जिसका राजस जल शिव होता है उसकी संपूर्ण मय आदि इष्टिमें राजस होती इसमें अद्वैत नहीं । अतः यदि किसीका मन शुद्ध करना अर्थात् सारिधक बनाना है तो उसको सारिधक भोजन लेवन करना अवधि है । कोई वह कहे कि मैं राजस वा तामस भोजन करूंगा । तो उसको ध्यानेमें करना चाहिये कि वृत्तिका मन की राजस वा तामस ही बनेगा । अच्छे मन बनता है वह तब ध्यानेमें प्रारंभ करना प्रायकके योग्य है । इससे मनकी सारिधक बनानेकी बुद्धि मानके साधकके निर्दिष्ट हो जाती ।

आधिक जल ही लेवन करना चाहिये । परंतु वह परिमित और योग्य शीघ्रिसे सिद्ध किया हुआ होना चाहिये । पच्यक्षित मित आश्रय होना चाहिये । प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृतिके अनुसार ही इसमें योग्य और आवश्यक मनुष्यजिक करना योग्य है । इस तरह साधक अपने आपपानक विचार करे । प्राण्यसामका विवेचन अस्वास्थ करनेके समय केवल हृत्त और बुद्ध हृत्त ही भोजन केना योग्य है वह बात पूर्व रचनामें बतायी ही है । भोजनके अतिरिक्त अन्य व्यवहार भी धर्ममार्गान्ते अनुकूल ही होने चाहिये वह बात इतने विवरणसे पाठकोंके मनमें स्थिर हो चुकी होगी ।

इस साधनकी सिद्धता होनेपर साधककी कैसी वृत्ति स्थिति होती है हृत्तवर्ग वर्णन जाग करते हैं जो अब वाच्य है—

जिस समय अच्छी प्रकार स्थायी बन गया हुआ जिस आत्मामें ही स्थिर होता है । और साधक सत्य कामनाओंसे स्फुरावित होता है तब उसे योगयुक्त कहते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार बाहुरहित स्वयंसे रखा हुआ दीप चलायमान नहीं होता वह उपमा आत्मामें योगका अनुष्ठान करनेवाले स्थिरचित्त योगीके लिये कही गयी है ॥ १९ ॥ योगाभ्याससे निरुद्ध हुआ जिस जहाँ स्थिर होता है वहाँ पर भाग्यद्वारा आत्मको देखता हुआ, आत्मामें ही संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

भाषार्थ— तब प्रकारसे स्थायी हुआ जिस जब अपनी आत्मामें स्थिर होता है जब इसकी सब चेतना हर क्षण है और जब साधक सत्य योगवाधनाओंसे पूर्णतया निरुद्ध होता है, तब वह योगमार्गमें उत्तम रीतिसे चला है, ऐसा वह कहते हैं । इस योगीका मन वैधेही स्थिर हो जाता है, जैसे कि बाहुरहित स्वयंसे रखा हुआ दीप दिकता नहीं । इस मन योगाभ्याससे स्थायी हुआ जिस जिस समय स्थिर होता है उस समय वह आत्मको आत्माद्वारा साक्षात् करके अपने आत्मामें ही संतोषको प्राप्त करता है ॥ १८-२० ॥

(१८-२०) योगसाधन यथाधीन रहिते होयेपर साधक को कौनसे अनुभव प्राप्त होये है इसका सर्वत्र जब अनुभव कहते हैं । (जिस आत्मामें अक्षयिष्ठते । १८) साधक का जिस आत्मामें ही स्थिर और स्थिर होकर रहता है । साधक वो अपना जिस वहकेसेही (नि वि यतं) विद्येय प्रकारसे विषयपूर्वक अनुष्ठानद्वारा स्थायी बनकर रहता है । अतः इसके विषयको एक स्थावर स्थिर होके अन्त्यास पहुँचने होता है । साधारण अनुष्ठानका मन अवश्य चञ्चल रहता है परंतु जिसने योगाभ्यासमें सुबोध परितम क्रिय होये है उसका जिस संयुक्त बुद्धि को का विरोध होनेसे स्थिर हुआ होता है । वह जिस बाह्य विषयमार्गसे वो निरुद्ध हो जाता है । ऐसी अवस्थामें वह आत्मजतीय आत्मामें स्थिर होता है । जिस जब बाह्य वातावरणसे दूर जाता है तब वह अपने अन्तर कालमें स्थिर होता है इसीको आत्मस्वरूप कहते हैं । अतः योगदर्शनमें कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

तथा प्रभुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (बी व १)

चित्तवृत्तिसे निरोध करके का नाम भाग है । जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है तब वह आत्मामें अपनेही रूपमें स्थिति होती है । वही बात योगजगन्नीला में कहा कही है । इस समय चित्त आत्मामें रहता है । साधारण समयमें चित्त बाह्य विषयोंमें चला रहता है । एक क्षणमें एक विषयमें और दूसरे क्षणमें दूसरे विषयमें इस तरह अन्तर्धर्म चित्तकी ही चञ्चली रहती है । इस दोहके कारण हमको वह परितम होते हैं इस हीदमें वही जाकि स्वयं

होती रहती है । वही हुआ है । इस हुआनिष्ठिका का नाम साधक चित्तको अपनी आत्मामें स्थिर करके है । तब वह अपने आत्मामें स्थिर होता है, तब इसमें सर्वत्र चला हुआ अनुभव होता है । वह बाह्य दौड़के अवस्थामें, चाम्पिबैही वह बाह्य है । अतः मनुष्य जगत तब निरुद्धिबोधोंके वेदक प्राप्त ही रहेगा जोभी इसमें निरुद्ध बाह्य भिन्नेगा । बाह्य प्राप्त करना किता मुक्त है । प्राप्त करना कौन है । मनुष्यको प्रवीत वो देना होता है निरुद्ध इच्छाकर करके निरुद्ध मुक्त भिन्नेगा, परंतु आत्मिक अवस्था इसके निरुद्ध विपरीत है । मनुष्यका चित्त निरुद्ध संशयोमें चला रहता है चञ्चल वृत्ति निरुद्ध अपने चञ्चल किरी एक स्वयंमें स्थिर करनेके बाह्य जाने इच्छागत होता ।

पाठक चले कि इसका अनुभव कौन है । अभिहित इस बातका अनुभव सिद्धता है परंतु कोई देखता नहीं । देखने अवनी विनयर्था । अतः जब साधक अपने ही तब अर्थ विषयोंसे चित्त दृढ़ता है और आत्मामें स्थिर होता है । और जब चित्त स्थिर होता है तब तब भाग्य जाता है । जिससे किता बाह्य मुक्त और समाधान लेने के किता स्थावर्य प्राप्त होता है पुष्टि भी होती है । चित्त स्थिर करनेके कौनकर बाह्य निरुद्ध मुक्तता है इसका निरुद्ध पाठक अपनी विद्यार्थी स्थितिवा विचार करके कर सकते हैं विषयोंका बाह्य इसके सामने मुक्त है । एक क्षण देना जाता है कि विषयोंको कोडकर मनुष्य विद्यार्थी जाता है । इस विषयमें यदि पाठक विचार करें वो अपनी तब

आत्मार्थक्य । अनुभव । चित्त धर्मेण । इषी क्रिये
कहा है कि (निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः । १८)
सब भोग्यवस्तुओंसे विरिक्त बनें तभी तो चित्तकी
आत्मार्थ स्थिति हो सकती है । यदि वे पूर्व भोगोंकी स्मृति
बच रही तो चित्तकी स्थिरता कैसे हो सकती है ? कभी
वहीं हो सकेगी । भोग्यवस्तुओं पर करनेका अर्थही सुखको
अपने पास जाना है । इस तरह भोग सिद्ध होनेके ये चिह्न
हैं—

योगसिद्धि	असिद्धि
विभिन्नत चित्तं	चित्तका असंयम ।
(चित्तका ध्रुवम्)	
चित्त आत्मनि अवतिष्ठत	चित्तधर्मो चित्तका
(चित्तकी आत्मार्थ स्थिति)	सबस्थान
सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः	सब भोगोंकी कामना
(सब भोगोंसे विरिक्तता)	

सिद्ध पुत्रका बीजका कल्प है और जिसको योगसिद्धि
वहीं हुई उसकी अवस्था कैसी होती है, इस विषयका
विशेष इस तरह बड़ा हुआ है ।

दीपकी उपमा

(यथा विद्युत्तत्त्वा दीपः न दृग्गते । १९) केहे
वायु-वेग-रहित स्वार्थमें रहा हुआ दीप वहीं दिक्ता अविष्ट
करता रहता है प्रकाशित होता रहता है अन्य गतिके
वैकल्या होता है वैकली—

धोमिनो पतचित्तस्य पुञ्जतो धोद्यमात्मनः । १९
क्रियेने जबसे चित्तका ध्रुवम किया होता है
उस मोदीका चित्त दीपवत् स्थिर होता है और
ध्रुव ध्रुव उसकी आत्मार्थ स्थिति मिलेव प्रकाशमान
होती है उसकी प्रति वच्य होती है उसका तेज बढ़ता
है और उहे बहुत मित्रावर बज्ज होता है । ये चिह्न हैं कि
जिनके अन्दर वैसी विशद आत्ममार्थ स्थिति प्रकाशती रहती है
और जिनके अन्दर किसी प्रकार विषय-भोग वास्तवार्थी
कर्मिणा वा पुत्रा इत्येतिपर का नहीं आता । हर एक
आत्मको वहीं अवस्था प्राप्त करनी है । प्रत्येक आत्मक अन्त
इस बात को । बसल करनेपर उसे अवश्य ही उक्त आत्मकी
प्राप्ति होगी ।

आत्मयोग

इस योगका नाम आत्मयोग है । (आत्मन योगं
पुञ्जतः । १९) यह आत्मार्थ योगका अन्वय है । क्योंकि
जब शरीर स्थिर होता है, इंद्रियों विषयोंसे निवृत्त होनेके
कारण प्राप्त होती है, मनकी चंचलता दृढ़ जाती है चित्त
चिन्तन-कर्मसे निवृत्त होता है तब आत्मार्थ वास्तवका सब
परिवार पूर्वतया निवृत्त हो जानेके कारण केवल अनेकी
पूज्यी आत्मा रहती है, जिसका परमात्मार्थ योग होता है ।
मन यदि लकके इतने बलवा स्वरूप होनेतक यह आत्म
योग किसीभी प्रकार बन नहीं सकता । पाठक यह बात
स्मरण रखें कि यह आत्मयोग अन्तर्में होता है । पहले
शरीरयोग वाक्त्र्योद्वारा होता है, इसके शरीरकी चंचलता
दूर हो जाती है पश्चात् इंद्रिययोग जिसमें इंद्रियोंकी
स्वाधीन किया जाता है पश्चात् मानसयोग जिसका मानस
धामसे छिन्न किया जाता है, इसके मानस स्थिर हो जाता
है । मानस स्थिरता होनेसे मन स्थिर होता है इसका नाम
आत्मयोग है । चित्तयोग और बुद्धियोग ये मानसद्वारा व्याप्त-
वास्तव्यदि साधनसे छिन्न होनेवाले हैं । जब हम सब बोधो-
की शिक्षा होगी तभी आत्मयोग करनेकी योग्यता प्राप्त
कमें आसकती है । जब पहले सब योग हो चुके होते हैं
आत्मयोगका प्राप्ति सहज होता है क्योंकि उस अवस्थामें
विना आवास आत्मार्थ परमात्मार्थ अवस्थिति होती है ।
यह आत्मार्थ परम-गति है ।

आत्मना आत्मार्थ पश्यन् आत्मनि मुच्यते ५ २०
जब योगप्राप्ति द्वारा चित्त विषयोंसे निवृत्त होता है तब
इस आत्मयोग करनेका अवसर आता है । इस समय—

आत्मा आत्मार्थ देखती हुई आत्मार्थ ही समुह होती
है । इस समय इसके आत्मने ऐसा कोई विषय नहीं होता
जिसको वह आत्मार्थ धिक् देख सके । अतः वह आत्मार्थ
पूज्यता है आत्मार्थ अनुभव करता है आत्मार्थकी भोग
करता है और आत्मार्थकी आत्मार्थ अनुभव करता है ।
अपने अन्तर कितना आत्मार्थ है इसका अनुभव इस समय
वह करता है । मन आत्मार्थ पर मुक्त सब प्रत्यक्ष आत्मार्थ ही
होती है इसका वास्तव्य वह इस समय करता है । वेदक अनेक
श्लोक इसको इस समय प्राप्त होता है मानो आत्मार्थ
अन्त जोत अन्दर ही अन्दरसे आता रहता है । वह न

सुखमात्यतिक यच्च बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियम् । वेति यत्र न चैवान् स्थितमस्ति तत्तत् २१
य लब्ध्वा चापर लाभ मन्यते नाधिक ततः । अस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचास्यते २२
त विधातुं दुःखसंयोगविभागो योगसाक्षितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा २३

अन्यथा:— यत्र यत् तत् बुद्धिप्राप्तं मतीन्द्रियं नात्यतिकं सुखं वेति यत्र न स्थितः अर्वां तत्तत्; यच्च यच्च ॥ २१ ॥
न च लब्ध्वा ततः अधिक अपरं लाभ न मन्यते अस्मिन् स्थितः गुरुणा अपि दुःखेन न विचास्यते ॥ २२ ॥ इति दुःखसं-
योगविभागो योगसाक्षितं विधातुं सः योगो अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः ॥ २३ ॥

जिस अवस्थामें जो वह केवल बुद्धिसे ही ग्रहण होने योग्य और इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण नहीं हो
सकता ऐसा आत्यंतिक सुख अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थिर होनेसे वह बोधी आत्मतत्त्व
को छोड़कर विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥ और जिसको प्राप्त करनेपर, उससे अधिक दूसरा कोर लाभ
है ऐसा वह नहीं मानता, और जिस अवस्थामें स्थिर हुआ पाणी बड़े दुःखसे भी विचलित नहीं होता
॥ २२ ॥ उसको दुःखसंबंधका नाश करनेवाला योग समझना चाहिये उस योगका अनुष्ठान साधकको
प्रसन्न चित्तसे और बड़ निश्चयसे करना चाहिए ॥ २३ ॥

भावार्थ— जपका योगसाधन सिद्ध होनेपर उस सिद्ध बुद्धका पुष्टे महीतीय भगवत् सुखका अनुभव होता है कि जो
केवल बुद्धिद्वारा ही जाना जाता है । इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान नहीं होता जिससे अधिक और कोई सुख होता ऐसा वह
ही तत्में लब्धसिद्ध नहीं रहता। लब्धपि इस सुखसे पृथी पृथी है। जाती है कि जिसके बाद अरुणताका भावही नहीं होता,
वहसे बड़ा सुख होनेपर भी जिसका वह भाव्य सुख नहीं रहता। अतः वह परमात्मामें कल्पि विचलित नहीं होता बरप
वह महा परमात्मामें ही रहता है । इस आत्मयोगसे न लाभ होते हैं इसलिये साधक इसका अनुष्ठान प्रसन्नचित्तपूर्वक
से करे और बहुत सुखको प्राप्त करे ॥ २१ २३ ॥

कभी लक्षित होता है और न इसमें किसी प्रकारकी तिका
बट हाठी है । इस विचलिकी कल्पना ठीक जानेके किने
विश्वविशित काटक इन्धिये—

योगसिद्धि	वासिद्धि
विगतदुःख दीपवत् विराठा	वायुस्थकमिदुःख दीपवत् बोधकला
वसचित्त	चित्तका अर्तवम
आत्मयोग	आत्मयोग
मिदुह चित्त	आत्मचित्त
आत्मामें आत्मस्थान	इन्द्रियोंमें चित्त दर्शन
आत्मामें मिठाव	भाव-सुख अनेकता
आत्मप्राप्त करनेवाले पायीकी कैसी अवस्था हाठी है और आत्मयोग न करनेवाली स्थिति कसी होती है इसका निबन्ध नहीं इन कोइको दखनेके ही कहता है । जब हम आत्मयोगका सिद्धि प्राप्त होनेपर आत्मका अनुभव जाता है इसका वर्णन आनेक तीम अनेकों दखव—	

आत्मयोगकी सिद्धि

(२१-२३) आत्मयोगकी सिद्धि प्राप्त होनेके पश्चात्
उक्त सिद्ध बुद्धका अनुभव किस प्रकार होता है, वह इस
कोईमें दिखाया है । इस समय उसे आत्यंतिक सुख
प्राप्त होता है । जिस सुखका अनुभव साधारण अनुभवों
नहीं हो सकता ऐसा वह आत्यंतिक अनिर्विण्ण ही
है । अनुभवका वह अनुभव है कि वह अपने इन्द्रियोंसे ही
सुखक कहता है । पदार्थके मिश्रणका सुख निम्ने
मिलता है मंदर कपका सुख नेत्रसे अनुभवों जान
है और मृदु स्पर्शका सुख शरीरमें बसे प्राप्त होता है । इस
पराद पदार्थक सुख कहते हैं कि वह भी आत्मप्राप्तके पद
होनेवाला सुख है वह किस साधकके अनुभवमें जाता है ।
इस प्रकारके उपायों गीताका कथन है कि वह (मर्त्याद्वय
सुख) सुख इन्द्रियोंमें प्राप्त होनेवाला नहीं है ।
इन्द्रियोंके विनाही इसका अनुभव होता है । जब इस
शरीरमें ही बाहरके विषयोंकी ओर ही सदा प्रवृत्त रहने
है क्योंकि न बाहरके विषयोंकी ही क लक्ष्मी है । २१

अतमबाणाका प्राप्ति काहेके विषय कोउनेके पत्राए ही हो सकछा है इसाकने को इतिनीं बाहर जानेबाकी है न इससे प्राप्ति होवेबाका मुख कदापि प्राप्ति कर नहीं सकछी । इस किंन मन बादि इतिनीं इस मुखका काम करनेमें असमथ है ।

अतीन्द्रिय का अर्थ यह है । इतिनींकी वही प्रवृत्त नहीं हो सकछी यह विषय अतीन्द्रिय कहलावा है । फिर वही कदा हो सकछी है कि यदि इतिनीं इस मुखका प्रवृत्त नहीं हो सकछा तो कौन इसका प्रवृत्त कर सकछा है । और जो कदा कदा है कि यह अत्यन्त बड़ा मुख है, तो इसका बहत्वन किमये अनुभव किया ? हम प्रसंगे उत्तरमें गीताका कथन है कि इस मुखका (सुखिप्राप्त मुख) बुद्धिद्वारा अनुभव होता है बुद्धिसे जाना जासकछा है, क्योंकि बुद्धि बाह्य विषयोंमें अटकनेबाकी नहीं है यह जो आत्माकी सहचर्मचारिणी है वह भीके उत्तरकर विषयोंके भीचरमें कसना नहीं चाहती यह जो अन्तर्मुख होकर ही कार्य करती है । जिस समय इतिनीं अपने विषयोंके निवृत्त होती है मन भी स्वप्न होता है और सब किंच इतिनींका विरोध होता है उस समय सब भीके प्रवृत्त होनेबाकी वृत्ति ही दान्त होती है और पत्राए यह बुद्धि कार्य करने लगती है । इसका काय दृष्टना ही है कि वह आत्मावत् को अनुभव करे । इसकिंन इस मुखको बुद्धिप्राप्त और अतीन्द्रिय कहते हैं ।

यह मुख (आत्मयुक्त) आत्मयुक्त है इसका अन्त अन्त अपरिमित अन्त मुख कहते हैं । और जो भोगोंसे प्राप्त होनेबाका मुख है वह कायदन्त अन्त और दुःखवर्धनसाकी है । क्योंकि इतिनीं एक बाकी है इसकिंने को मुख एक समय कमल ग्रहण हो सकछा है वही किंन दूसरे समय नहीं ग्रहण हो सकछा इसकिंन मुखकी मृगच्छिकता हो जाती है । दूसरा कारण भोगविषय भी बढ़कछे रहते हैं, अतः जो विषय एक समय जेठा मुख देता है वछा मुख नहीं विषय सदाके छिने दे नहीं सकछा । इसकिंने इन्द्रियप्राप्त मुख अर्थात् अन्त और परिमित तथा दुःखवर्धनसाकी होता है यह जो अन्त अनुभवका अन्त का अनुभव ही है । अनिर्दिष्ट अनुभवको आ मुख मिळता है वह ही वक्राका कथित मुख है । अब जो मुख

अतमयोगकी विधिसे मिळता है वह अन्त मुख है । इसका कारण यह है कि यह जो आत्माद्वारा आत्माका दृष्टन करके आत्मामें अनुष्ठि प्राप्त करनेसे (गी ३।१) प्राप्त होनेबाका मुख है । अतमा स्वय सदा एकरस है सदा एकरसी रहती है, उसमें बदलन नहीं होता अन्त सत्य स्वयमवस्थी आत्मा है इसकिंने हमसे प्राप्त होनेबाके मुखमें बदलन नहीं होता । बुद्धि भी आत्माकी सहचर्मचारिणी होनेसे उसका सामान्य भी अन्तवर्दी रहता है अर्थात् आत्मा एकरस है और बुद्धि भी अन्तवर्दी है इस कारण इतिनींके और भोगोंके कोइ दोष नहीं इस मुखको कम नहीं कर सकछा । यही आत्माका ज्ञान बुद्धिद्वारा करना होता है, अभी कारण इसका मुख अपरिमित अन्त और अन्तवर्दी है । इस विचारके बादकोको ज्ञान हो सकछा है कि भोगमुख अन्त क्यों आर अतममुख अपरिमित क्यों । इसीकिंने अनुष्ठानको अतममुख प्राप्त करना आवश्यक है । उसका समाधान भोगों से प्राप्त होनेबाके मुखसे नहीं हो सकछा ।

यह अतममुख किंन बाहरका पदार्थ मिळनेसे प्राप्त होनेबाका नहीं है । अपनी आत्माका निरन्तर ही आनन्द मन है इस छिने यह स्वय आत्मामें आत्माका द्वारा आत्मा कोही प्राप्त होता है । हममें किंन बाह्य वशार्थका व्यवधान न होनेसे यही अन्त आनन्द प्राप्त होता है । इसकिंने हम की अवस्था काई और ही है । इसकिंने कहा है कि इस आनन्दके प्राप्त होनेसे इससे बढ़कर कोई आनन्द है पता नहीं प्रयोग होता (गी ३।१२) क्योंकि वही अन्तिम आनन्द है इससे अधिक और कीमता मुख होगा । अतमाके होनेसे ही सब अन्त मुख प्राप्त होते हैं और बिना किंन अन्त वशार्थके आनन्दके यह अतममुख मिळता है । इस छिने इसका मुख (अतम मुख है आर सब धेला मुख प्राप्त होते हैं । हम कारण हमसे अधिक आनन्द देने बाका काइ दूसरा मुख नहीं है ।

इस आत्मयोगमें (अतमसयोगविधियों) दुःखका जिससे समाप्त होना संभव है उसीका विमोचन होता है । किससे दुःखका समाप्त अनुभवको होता है ? इस विषयमें गीतामें पहले कहा ही है कि—

मात्रास्पर्शस्तु क्लेशेष शीताप्यसुखसुखदा ॥
(गी २।१४)

अभ्यस्य—सकलप्रपञ्चसर्वान् कामान् जनेष्वपि त्यक्त्वा मनसा एव इन्द्रियसमूहस्य समतता विविच्य ॥ २७ ॥ इति पुरीषावा मुखाय। जनेः जनेः उपरमेत् मनः आत्मसंस्थं कृत्वा। विचिष्य जपि न चिन्त्यसेत् ॥ २८ ॥ चञ्चलं चरित्वरं मनः। यतः यतः निश्चरति ततः ततः एतत् विचर्य आत्मनि एव बलं नयेत् ॥ २९ ॥ प्रसङ्गप्रसक्तं शान्तरजसं अक्षयमर्थं मध्यस्थं एवं योगिण उच्यते सुखं त्रैपैति हि ॥ ३० ॥ एवं सदा आत्मायै मुञ्जन् योगी निगतकलमयः। ब्रह्मसंस्थसं ब्रह्मस्य सुखं सुखेन वदन्ते ॥ ३१ ॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको पूज्यतया छोड़कर मनसेही इन्द्रियसमूहको सब ओरसे मध्यम प्रकार वशमें करके, धैर्ययुक्त बुद्धिसे जाने-जाने विचर्योसे उपरत होने और मनको आत्मामें स्थिर करके दूसरा कोई भी विचार न करे ॥ २८ ॥ चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ जहाँसे बाहर जाने लगे वहाँ वहाँसे उसे रोककर आत्मामें ही बस करके उसे ०१९॥ इस तरह जिसका मन शान्त एतद्गुणसे रहित और पापरहित हुआ उस ब्रह्मरूप होने योगीको उच्यते सुख निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ इस रीतिसे सदा आत्मयोगका अभ्यास करनेवाला योगी पापोंसे छूटकर ब्रह्मसंयोगसे अत्यंत सुख प्राप्त करनेसे प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

मायाया—सकल और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ साधक छोड़ दे। अपने मनसे अपने सब इन्द्रियोंको करने बाधीन करे बुद्धिसे सब विषयोंसे उपरत होवे। मनसे आत्मामें स्थिर हो और दूसरा कोई विचार मनमें न जावे। मन चञ्चल और चरित्वर है वह जहाँसे बाहर भागने लगे, वहाँसे ही उसको रोककर अपनी आत्मामें ही स्थिर करनेका बल करे। इस तरह जिसका मन स्थिर और मोक्षसाधनासे रहित हुआ वह योगी ब्रह्मरूप होता है और इससे उच्यते सुख प्राप्त होता है। वह योग्यात्मा अपने सब पापोंसे मुक्त होकर ब्रह्मसंयोगसे प्राप्त होनेवाला अत्यंत सुख सहजरीति प्राप्त करता है ॥ ३१-२८ ॥

१ (२७ २८) वहाँ आत्मयोगसे प्राप्त करनेकी श्रमस्य रीति बतायी है। और इस प्राप्तिसे प्राप्त होनेवाला फल भी अभ्यसे कहा है।

कामना त्याग

१ वहाँ अभ्यास कामना त्याग का है। मनुष्य योगके लक्ष्य। अभ्यास विषयोंके संकल्प करता है, इस संकल्पके करनेके समर्थ अनेक कामनाएँ होती हैं। ये कामनाएँ सबका चञ्चल और अस्थिर करती हैं। अतः संकल्प करना छोड़ देना चाहिये और संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंका भी त्याग करना चाहिये (कामान् अशोषतः त्यक्त्वा)। २७ ॥ इस कामनाओंका त्याग निश्चय होता चाहिये। बाकी भी कामना क्षेत्र वहीं रहनी चाहिये। अभ्यास वह लक्ष्य विस्तार करने मनका अधिक चञ्चल करेगी कामना त्यागका अभ्यास प्राप्त करता है। जो कामना जो विचार जो संकल्प मनमें रहें उनका त्याग करे उनकी जगह भिन्न विचारवृत्तियाँ नहीं देना चाहिये उनको छाड़ दे। इस तरह कामनात्यागका अभ्यास होनेके पश्चात् मनमें विचार प्रांग बहना ही संभव है। आध्यात्म ।

इन्द्रिय-जय

इस अभ्यासके साथ साथ इन्द्रिय-समस्तका अभ्यास भी करना चाहिये। मनसे अपने सब इन्द्रियोंको सब ओरसे सब मित करना चाहिये। कर्माश्रयोंका चकनचकन पूर्व बंध करना चाहिये। कोई कर्मेन्द्रिय किसी प्रकार भी गति न करे। इन्द्रिय भी अपने ज्ञानग्रहणसे विरक्त होवे। वह सब मन छोड़ करना चाहिये क्योंकि किसी प्रकार दूसरे प्राणियोंका उपयोग नहीं करना चाहिये। मनसे ही सबको विमुक्त और संकल्पित करना योग्य है।

बुद्धिका धैर्य

इस तरह वे योगी अभ्यास सिद्ध होने पर मनमें संकल्प नहीं उठता विविध कामनाओंकी कहें वृत्तक नहीं मचालें और सब ईश्वरमें शान्त और स्थिर हो जाती हैं। इस प्रकारकी स्थिरता प्राप्त करनी चाहिये। वह स्थिरता प्राप्त होते ही आगेका अनुष्ठान सहज हो जाता है। बुद्धिमें धैर्य प्राप्त करने के पश्चात् किसी प्रकार न रहने की ओर सब विषयोंसे उपरान होवे। वहाँ पादक पूर्वमे कि वहाँ धैर्य

का क्या कार्य है ? जो जगत्वास छोड़े उसको पता जगत्वा
 कि जब सबका कामका क्या हुआ तो शांति होने लगती है तो
 कहूँ प्रकारके सब पठीत होत है । इससे क्या नहीं चाहिये ।
 ये सब देखे होते हैं कि यदि विचार बहुत हो जाय तो फिर
 मैं विचार कर लक्ष्मणा का नहीं । यदि ईश्वरी स्तम्भ होजाय
 तो फिर मैं कार्य कर सकेगी या नहीं इसादि कनेक प्रकारके
 सब उत्पन्न होते हैं । इसका सब कुछ उत्पन्नका ही
 होगा और समुद्रके पास रहकर जगत्वास करना हो तो
 इसकी सहायतासे भी ये सब कर हो सकेगे । जगत्वास
 रहित बुद्धिसे यह जगत्वास करना चाहिये । इस जगत्वाससे
 मेरा कष्टनाश ही होगा कभी चाहिये नहीं ही सकता ।
 विचारोंको छोड़कर परमात्माके संनिधि जायेसे किष्कीय भी
 चाहिये नहीं होमा देना विचार सुख करने बुद्धिको पैर
 देकर अपने जगत्को बाहरसे शांति रखना योग है ।

बाहरस जगत्वास हुआ जगत्वासमें स्थिर करना चाहिये
 और इस समयकोई दूसरा विचार मनमें नहीं करना चाहिये
 क्योंकि जगत्वास विचार रहित करना चाहिये । इस तरह साधक
 को इस समय अपना मन मुनिस्थिर करनेका ध्यान करना योग्य
 है । यदि किञ्चित् स्थिरता मनमें आजाय, तो यह नहीं
 समझना चाहिये कि मन स्थिर हो चुका । क्योंकि मन
 ऐसा है कि वह किम समय किमक बाधना इसका कुछ
 पता नहीं जगत्वास करनेको पुन पुन बाहरसे बाधना करना
 चाहिये ।

फिरस यत्न

(मना यत्न निश्चरति तत्तानिपश्यन्) मन जहाँसे जिसक
 कर बाहर मना जाय वहाँस उसकी बहककर वापस
 जाना चाहिये । यह वापस लानेका जगत्वास करने मध्यका
 है । इसमें सब धन जाता । इ और वगैरों होता है । इस
 विषयमें लक्ष्मणा कहत है—

(अथवा— जगत्वासको मोक्षायना । देखना—मन
 आध्यात्मम्)

यत्त परमै वैपश्यन् मनो जगाम दूरकम् ३१३
 यत्ते दिशं यन्मुषिर्वा मनो जगाम दूरकम् ३१४
 यत्त मूर्ध्नि यन्मुषिर्वा मनो जगाम दूरकम् ३१५
 यत्ते धृत्य प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ३१६
 यत्ते समुद्रमर्गं मनो जगाम दूरकम् ३१७

यत्ते मराधी प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ३१८
 यत्ते यपो यक्षोपधीर्मनो जगाम दूरकम् ३१९
 यत्ते सूर्य यन्मुषस मनो जगाम दूरकम् ३२०
 यत्ते पर्यताम्बुहती मनो जगाम दूरकम् ३२१
 यत्ते विश्वमिच्छ जगाम्नो जगाम दूरकम् ३२२
 यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम् ३२३
 यत्ते मृतं च मर्त्यं च मनो जगाम दूरकम् ३२४
 तत्त मावर्तयामसीह क्षयाय जीवत ३२५
 (अन्ते १ । १५)

जो साधकका मन कहा जगत्वास करनेपर की जगत्वास
 नहीं रहता और दूर दूर जागता रहता, है किसी जगत्
 स्व में, किसी समय दूसरीर किसी समय वगैरों दिशा
 में समुद्रमें और महासागरमें किसी समय निवर्तित की
 और औरवि जगत्वावर्तितों किसी समय स्वमें रहते,
 पर्यंतोंसे किसी समय निवर्तित दूर दूरके जगत्वा में निव
 समय दूरकाकमें जगत्वास भविष्यकाकमें बदला रहता है,
 उसको मरकटके काखों बापस लानेके लिये को अपने
 जागत्वा में स्थिर करनेके लिये मैं बापस लाता हूँ ।
 तरह अपने मनको बापस लाना चाहिये । जब मन वाप
 लाये लगी । उसको पकड़कर वापस लाना चाहिये ।
 तरह उसका पीडा करनेसे वह बहलें रहता स्वागत मन
 है और दूसर उबर आनेका, वाप नहीं करता । अपने
 स्वाधीन करनेका वही ब्याप है । नीचाते हली जगत्वा
 जागे कहा है—

मर्षाशय महाबाहा मनो पुनिर्माह बलम् ।
 मज्जासेव तु कीन्देय वैराग्येन च युजते ॥
 (पी ११५)

निश्चलमेव मनका संवत करना करिय है यत्न
 जगत्वास और वैराग्यसे उसका सवत हो सकता है ।
 जगत्वासका जब इस तरह पुन पुन मनको बलक लान
 है और वैराग्यका जब विषयोंसे जगत्वास होता है । वही
 बुद्ध्याव कया है । बुद्धि जगत्वासे बुद्धका जगत्
 काय है । जो नाम ईश्वरीकी (वा) रका करनेसे रक
 करनेका ना-वापस कहलाता है । इस बुद्धका रका
 सब-आध्यात्म है । इसका जगत्वन मनका वापस ला
 जगत्वास करता है । इससे पाठकोका विषय होगा कि जगत्वास

सुखिर करनेका एक मात्र उपाय यही है। पतक नहीं हूँ कि जो उपाय जगद्गुरु ने कहा है वही गीतामें कहा है। योगदर्शनमें भी—

॥ अम्यासस्यैराग्याभ्या तद्विरोधः । (गो ५)
॥ अम्यास और वैराग्यसे मनका विरोध हो सकता है। यह अम्यास मनकी वारस काया ही है। यहाँ मन जाय, वहाँसे तनको बाध कर आत्मसे रिया करना चाहिये। यही अम्यास है। यह अम्यास योग्य हीसे विजयपूर्वक किया जाय तो छः साधनों ही सिद्धि हो सकती है। इस विषयमें कहा है—

यन्मासाभिस्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ॥

(म सा आभसे अनुगीता १५।१६)

अनेक विधिना सम्पन्न नित्यमभ्यस्यते क्रमात् ।

स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिमिरमसि संशयः ॥१७॥

इच्छयाप्रोति कैक्स्व यत्ने मासि न सहाय १६००

(अनुवर्तमानविधि ६)

इस तरह जिस अम्यास करनेवाले को तीन मासों में मास तक की अवधिमें सिद्धि प्राप्त होती है। जिसका अम्यास तीव्रतासे नहीं होता उसको सिद्धि के दिन बोका समय अधिक लगेगा। परंतु यह प्रत्येक मनुष्यके विजयपूर्वक पर और साधन की तीव्रतापर अवलंबित है। इस तरह वैराग्य अम्यास होनेपर सिद्धि अवश्य होगी।

सिद्धिका स्वरूप

सिद्धि होनेका तात्पर्य क्या है? सिद्धि वस्तु होनेके कारण की होती है। ऐसे प्रथम बारबार पुछे जाते हैं। इनका उत्तर भीजने इन तरह दिया है। जिसको सिद्धि प्राप्त होती है (प्रशान्तमनः) उसका मन विषय काय होता है। (शान्तस्वभावः) उसमें रजोगुण किंवा भोगका काम होती है। उससे होनेसे ही योग कीज अम्यासता नष्टमायावादि होते हैं। अतः जिसका रजोगुण शान्त हुआ होता है उसका स्वभाव ओषधित्व, योगकाकासात्वात् त्व और वेग पूर्ण होता है। (न-कर्मणः) यह विन्याय बनता है क्योंकि पाप की संभावना रजोगुणसे ही होती है—

रजसो क्षेम एव च । (गी १३।१०)

रजसस्तु फलं दुःखम् । (गी १३।१६)

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

५५ (हि गी)

महाशानो महापाप्मा विशुद्धेनमिह धैरियम् ।

(गी १३।२०)

रजोगुणसे क्रोध और दुःख होता है। काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं व यह भीमी और पाप का वैराग्य है। ये मनुष्यके वैरी हैं। इस तरह रजोगुणसे पाप होता है, और जब मनुष्यका रजोगुण शान्त (शान्तस्वभावः) होता है तब यह स्वभावता ही विन्याय बनता है। इस समय उसकी पापकी कार प्रवृत्ति भी नहीं होती। अतः इसका नाम (विगतकर्मणः) जिससे पाप इतने पुछे हैं पला होता है। जिसका काम शान्त हो चुका जिससे रजोगुण दूर हो चुका उसके पास पाप बाकी नहीं सकता। इस समय यह (प्रज्ञाभूतः) प्रत्येक समान हुआ होता है। जैसे काह। जिसमें रहनेसे अधिक समान होता है इसी तरह आत्म बाँगसे हृदय (प्रज्ञासंस्पर्शः) प्रत्येक साथ उत्तम स्पर्श होता है बार प्रत्येक साथ स्पर्श होनेसे प्रत्येक गुणचर इसमें बराबरे कगते हैं और यह प्रत्येक वन जाता है। साधारण मनुष्य कदम पर हाथ परंतु यह आत्मयोगी प्रत्येक वनता है। प्रत्येक वननेका अर्थ परमेश्वर सामर्थ्यसे पुक्त बनना है। अतः [अत्यंत सुखं अत्यंत] अत्यंत अत्यंत कायव मुक्त बचको प्राप्त होता है। यही अतिमसिद्धि है। अब इसकी तुलना कीजिये—

शुद्ध शुद्ध	यह शुद्ध
शान्त मन	अशान्त मन चक्कर चित
शान्तस्वभाव	रजोगुणका प्रवर्ध
अकर्मणः विगतकर्मणः	पार्थी अकर्मणः
विन्याय	सकाम
प्रज्ञासंस्पर्श	योगविषयस्पर्श
आत्मार्थं पुण्यम्	अज्ञातमान पुण्यम्
आत्मपुण्य	योगपुण्य
योगी पुण्य	अज्ञात अयोगपुण्य
प्रज्ञाभूत	मागविषयभूत
सुखं अत्यंत	दुःखमभ्युप
उत्तमं सुखं	परमं दुःखं

आत्मयोग करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है और जोगयोग करनेवालेकी स्थिति कैसी होती है इसका विचार वादकोंके सम्मुख हम कांक्षक रखे हो सकते हैं।

(१०) आत्मोपम्य-दृष्टि

सर्वभूतस्य मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
 या मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
 सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
 आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वयः— योगयुक्तत्वात् सर्वत्र समदर्शनं आत्मात् सर्वभूतस्य च आत्मानि ईक्षते ॥ २९ ॥ यां मां सर्वत्र पश्यति सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि सः च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥ याः पश्यति आस्थितः सर्वभूतस्थितं च मयि सः योगी सर्वथा वर्तमानः अपि, मयि वर्तते ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! याः आत्मोपम्येन सर्वत्र सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति सः योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

जिसकी आत्मा योगयुक्त हुई है वह सबत्र समदर्शिते देखता है अर्थात् वह आत्माको सब भूतों में और सब भूतोंको आत्मामें देखता है ॥ २९ ॥ जो सुखको सबमें और सबको सुखमें देखता है उसकी दृष्टि में मैं कभी बच नहीं होता और वह मेरी दृष्टिमेंसे भी कभी बच नहीं होता ॥ ३० ॥ जो इस एकवत्त स्थिर हुआ योगी सब भूतोंमें रहनेवाले सुख (ईश्वर) को भजता है वह योगी सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी सुख (ईश्वर) में ही रहता है ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! जो अपने समान सर्वत्र सुख वा दुःख सबको समान देखता है वह योगी परमभेद माना जाता है ॥ ३२ ॥

मनुष्यका जन्म इसी कार्यके किये है । इस आत्मयोगके फलके विषयमें उपनिषद्वाक्यों को जगत् है उसका अर्थ अब विचार करते हैं—

एको यशी सर्वभूताग्ररात्मा
 एक रूप बहुधा यः करोति ।
 तमात्मस्य येऽनुपपद्यन्ति धीराः
 स्तायां सुखं शान्तिं चैतरेषाम् ॥२९॥
 निरवाऽद्विष्टानां चेतनस्येतमासा
 मेको बहुधा यो विदधाति कामान् ।
 तमात्मस्य येऽनुपपद्यन्ति धीराः
 स्तायां शान्तिः शान्तिः चैतरेषाम् ॥३०॥
 तदेनद्विष्टि मय्यस्तेऽद्विष्टेयं परमं सुखम् ॥३१॥

(कट ४ ५)

एको यशी मिथिधायां बहुधा—
 मकं धीजं बहुधा यः करोति ।
 तमात्मस्य येऽनुपपद्यन्ति धीराः—
 स्तायां सुखं शान्तिं चैतरेषाम् ॥ २९ ॥
 मिथो निरवानां चेतनस्येतमासा—
 मको बहुधा यो विदधाति कामान् ।

तत्कारणे सांख्ययोगाधिगम्यं
 आत्मा देवं मुच्यते सर्वपाशाः ॥३२॥

(वेदान्त ४ ५)

मक्षम्य अनामय सुखमश्नुते ॥
 (मैत्रु ११)
 सुखमश्नयमश्नुते ॥ । ॥ (मैत्रु ११ ११)
 अक्षय्यमपरिमितं सुखमाक्रम्य ॥ (मैत्रु ११)

सबको अपने बन्धों करेवाली सब मर्त्यों जगत्
 रहनेवाली को एक आत्मा है जो एक कर्मके बन्धनोंमें
 बिनक करती है उसका जो अपनी जगत्में देखे है
 उनको आत्मत सुख मिलता है किन्तु दूसरोंकी दृष्टिमें
 जो अनिष्टोंमें निरव और अनेकधर्मों को एक देख
 अनेकधर्मों को एक सबकी कामनामें मृग्य करता है उसका
 अपनी आत्मामें जो देखता है उसको आत्मत शान्ति मिलती
 है ॥ इस सुखको अचरणीय परमसुख कहते हैं । यह सुख
 अक्षय्य अवयवहित अवयव अपरिमित और अचरणीय है ।
 इस तरह आत्मत सुखका अर्थ उपनिषद्वाक्योंमें है । यही
 सुख आत्मयोगसे प्राप्त होता है । इस आत्मयोगसे बन्धनों
 तत्कारण होती है इसका वर्णन आगेके अध्यायोंमें देखिये—

मार्ग— जिसकी आत्मा योगसाधनद्वारा भिन्न नहीं है उसकी दृष्टि सर्वत्र सम होती है। वह सब मूर्तोंमें आत्मा है और आत्मामें सब मूर्त हैं ऐसा दृष्टता है। जो सबमें ईश्वर है और ईश्वरमें सब पदार्थ हैं ऐसा देखना है वह कभी ईश्वरको भूकता नहीं और ईश्वर भी सबको कभी भूकता नहीं अपना दोहों एक दूसरे को सर्वथा प्रसन्न होत रहत हैं। जिसको इस तरहका प्रसन्न भाव हुआ है और जो सब मूर्तोंमें अवस्थित ईश्वरको जानता है, वह योगी सब प्रकारका व्यवहार करनेकी अवसरामें भी सदा ईश्वरमें ही रहता है। जिसका अपनेको सुखमुक्त होता है, वैसाही दूसरोंको भी हाता है ऐसा समझाव जिसमें स्थिर है। भुक्ता है और जो अपनी आत्मामें समान सबको देखता है वह योगी अत्यन्त भेद है। १९-१२

अपनी उपमा

१ (१९-१२) इन श्लोकोंमें आत्मोपनिषद् टीका महत्त्व बताया है। आत्मोपनिषद् टीका का अर्थ अपनी उपमासे सबकी और देखना है। अपनी आत्मामें उपमा सबको दृष्टा और इस कमीतीसे सब व्यवहारोंकी परीक्षा करना। जैसा तुम्हें सुख चाहिये वैसाही सबको चाहिये जैसा तुम्हें दुःख नहीं चाहिये वैसा किसीको दुःख नहीं चाहिये इत्यादि बातें आत्मोपनिषद् टीकासे सर्वत्र देखनेका नाम उपमाटी है। अपनी आत्मा जती तुम्हें सिद्ध है वैसी ही सबको अपनी अपनी आत्मा सिद्ध है। वह भाव सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये नहीं उपमाटी है।

साधारण मनुष्योंमें यह दृष्टि नहीं होती। दूसरोंका भाव प्राप्त करके अपना सुख बढ़ानका भाव जो करते हैं, उनमें समरसिद्धि संभावना नहीं है। जो आत्मवत् सर्वमूर्तोंको दृष्टता है वह कभी दूसरोंका भाव प्राप्त कर नहीं सकता। क्योंकि वह हम समस्त अपनी उदमा देकर वस कभी वसिका करता है। वह अपने आपसे दृष्टता है कि क्या अपना भाव होनेमें सुख आनन्द होगा। इसका उत्तर आनन्द नहीं होगा नहीं है। अतः अपने समान दूसरोंको भी उदमा भाव होनेमें सुख नहीं होगा वह वात वह भावना है। और वह कभी दूसरोंका दातवान करनेकी और प्रवृत्ति नहीं करता इसका नाम आत्मवद्वान है। वह भाव मनुष्यकी उन्नति करनेवाला है।

मनुष्यमात्रके जो सब दुःख दुःखियां बनें और विषयियां हैं वे सबसे सब हम आत्मवद्वानके आत्मवत् भाव हैं। अपनेके स्वस्वत्वमें वसे सब मनुष्य अपने समान दूसरों को देखते ही नहीं। अपितु हमके विवर्गीय देखते हैं। वे जानते हैं कि अपना भाव देखनेके अर्थि सुख बल्लभ होने परापरि में दूसरोंका भाव करके अपना सुख बढ़ाईना। वैसी आत्मी प्रवृत्ति है देखिके। वह आत्मी प्रवृत्ति पूर्ण विषय

भावेका भावही होती है और नहीं सब वल्लभको भूक है।

जब एक मनुष्य दूसरोंका भाव करनेके क्रिये प्रवृत्त होता है तब दूसरा भी इसका भाव करनेका विचार करता है। इस तरह सब मार्गिक व्यवहारोंमें स्वार्थ। भोगवृत्त्यासे चकनेवाले सब व्यवहारोंमें वह सार्वभौमिक कर्म बहना जाता है जिससे वैराग्य बहता है और स्वार्थमें प्रवृत्ता पड़ता है। जब मनुष्य अपने सुखके क्रिये दूसरोंका भाव करता है तब वह भी इससे बर करता है। हमी तरह जब एक दृष्टके भोग दूसरे देखकर वात्सल्य करते हैं और जब देखको स्वाधीनताके मार्गसे चकनेमें विम प्रवृत्त करत हैं तब वे प्रवृत्त कोय हम वात्सल्यकारियोंमें द्वेष करत हैं। वह भूक चकता रहता है द्वेष बहता जाता है। एकका विचार दूसरोंके प्रवृत्तमें नहीं जाता प्रती भिन्न अवस्था जाती है। और अन्तमें दोहों वह भावेको वैराग्य हो जात है। इस प्रकारके भूक हम अन्तमें चक ही रहे हैं। हायक स्थान में चक करार सत्य है। इसका उदाहरण क्या है। अस्त आत्मवत् दृष्टा सब वातावरण पृथगी है। इसका उत्तर गीताने दिया है। आत्मवद्वानसे सबका समान दृष्टा। नहीं इसका उत्तर है।

यह उत्तर दीक्ष है परंतु अपनी आत्मामें समान सबका भाव होनेसे देखना अति कठिन कार्य है क्योंकि मनुष्य में ममत्व है। वह भाव और वह मेरा नहीं ऐसा भाव मनुष्य में होता है। हम कारण मनुष्यके अन्तर समप्रवृत्ति विवर होना कठिन है। वह भूक मेरा है और वह दूसरा है वह द्वैतप्रवृत्ति सदा बहती है। इसकी भाववि रहस्यक मनुष्य प्रवृत्त नहीं हो सकता। अपने प्रवृत्तके समान दूसरोंका प्रवृत्त। अपना अवस्था प्रवृत्तक प्रवृत्तके समान अपने प्रवृत्त भावना शान्तिपूर्वक भेदभाव न भावना अर्थ कठिन है। सभी प्रवृत्त प्रवृत्त है हममें न तो कोई प्रवृत्त मरा है और न बाद दूसरोंके है सबके सब भावे हैं दृष्टा भित समस्त भावों का भावना वना समस्त

(११) मनकी चञ्चलता

मञ्जुन उवाच-

याऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन । एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वास्त्विह स्थिराः ॥११॥
चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् । तस्माहं निग्रह मन्ये वायोरेव सुदुष्करम् ॥१२॥

आश्रयः— मञ्जुनः उवाच हे मधुसूदन । वा. अर्थ योगः त्वया साम्येन प्रोक्तः, एतस्य स्थिरां स्थितिं चञ्चलत्वात् न पश्यामि ॥ ११ ॥ हे कृष्ण ! मनः बलवत् एवं चञ्चल प्रमाथि अर्हं हि तत्त्वं निग्रह वायोः इव सुदुष्करं मन्ये ॥ १२ ॥

मञ्जुन बोला हे मधुसूदन ! जो यह योग आपने समत्वभावसे होनेवाला कहा है, इसकी स्थिति स्थिर होना क्या आप मनके चञ्चल होनेके कारण मैं नहीं देखता हूँ ॥ ११ ॥ हे कृष्ण ! वह मन बलवत् बड़ा दृढ़ चञ्चल और मथनेवाला है । मैं तो उसका निग्रह करना वायुके समान बलि दुष्कर समझता हूँ ॥ १२ ॥

भाषा— मन अर्थात् चञ्चल है वही दृढ़ता है अर्थात् चञ्चल है वही सामान्यभाव है उसकी मननेवाला है। जैसे वायुका अपने आधीन करना अर्थात् चञ्चल है वही प्रकार मनको स्थिर और स्वाधीन करना असम्भव है। और चञ्चल मन स्वाधीन नहीं होता अतःक समबुद्धि की कैसे वनेगी ? और यदि समबुद्धि नहीं वनी तो वह ज्ञेय भी कैसे हो सकेगा ! अतएव मनकी चञ्चलताके कारण वह योग होना असम्भव है ॥ ११ १२ ॥

यह कहकरके विषयमें समबुद्धि होना सम्भवहीन है । इसके भी ऊपर चढ़कर जब सभी पदार्थ परस्परके हैं ऐसा भावना जावगा तब तो इसके ही विषयमें समबुद्धि स्थिर हो जावगी परंतु हमारा मन एका प्रकृति और इन्द्रिया है कि वह सर्वाभिप्राय उसमें स्थिर नहीं होता । अतः इसकी चञ्चलता दूर करना आवश्यक है । मञ्जुनके मनमें भी यह चीज कही और वह वही प्रसन्न पड़ता है । वादक । अब वही मनो रीति संवाद देख—

[११ १२] हम स्वीकारमें मनकी चञ्चलताके वर्जनके द्वारा मात्र मनकी स्थितिमें भी उत्तम वर्जन है । मन अर्थात् चञ्चल है इसलिये उसके साम्ययोगका अनुष्ठान होना कठिन है वह बहुतका कष्ट है । (साम्येन) समबुद्धिरूप कर जो (योगः) कोककतुल्य कर्म स्थिरा जाता है । इसका नाम साम्ययोग है । वह साम्ययोग तब सिद्ध होता जब मन स्थिर रहता ।

जो इसका कार्य करना हो कोई कारिणी वा हुनका कार्य करना हो चित्रकारी मूर्तिनिर्माणका कर्म जवना किसी प्रकारकी कलाकी योजना करनी हो तो उसे औदार्यपूर्ण कार्यसे किये मनकी स्थिरताका रहना अर्थात् आवश्यक है । मन चञ्चल रहनेकी अवस्थामें ये कार्य हीन प्रकट हो ही नहीं सकते । यदि ये कार्य मन चञ्चल रहने

के समय नहीं हो सकते तो इसमें कई पुनः उत्पन्न करने के हो सकते हैं । व्यवहार भी नहीं मनकी चञ्चलताके कारण विगत जाता है तब परमार्थ सिद्धेमा इसके ला संशय हो सकता है । इसलिये वहाँ कही हुई वर्जनकी विष्टा कि वह योग मनकी चञ्चलताके कारण नहीं होता वह विकलुप कारण है । और वह विचलनस्थित उत्पन्न है । मन स्थिर किये बिना मानवी चरित्रिका में प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता ।

मन (चञ्चल) चञ्चल है अस्थिर है (चञ्चल) चञ्चल है, सामान्यभाव है (दृढ़) दृढ़ है वही-अर्थ है हीन (प्रमाथि) मथनेवाला है चञ्चलकी मथनेवाला है वही इन्द्रिया (तस्य) दुष्करः निग्रहः) निग्रह करना वही कठिन कार्य है । वह वर्जन वही मनका है । इसके विषय करने पूर्व वेद और उपनिषद्में मनका कला वर्जन है, यह देखना चाहिये ।

यथेत्युक्तं प्रसक्तम् । (११ १२)
प्राणस्य प्रवृत्तौ मनो वृत्तम् । (११ ११)
मनो नाम वृत्तावरोधिनी । (११ १२)
मन एव लेखः । (११ १३)
मनो कपोतिः । (११ १४)
मनसा सर्वाणि व्याख्याम्यामिति । (११ १५)

गच्छतीव च मनः । (केन उ १)
मनो मनः । (छं उ १०५३)
मनो ब्रह्म । (छं उ ३१३८११ ह ३११६१)
(छं उ ३१४११)
मन्त्रमय हि सोम्य मनः । (छं उ ३१५३)
प्राणमन्त्रमय हि सोम्य मनः । (छं ३१८१२)
मनो ह्यारम्भा मनो ब्रह्म । (छं ३३११)
मन्त्रमनो मनः । (छं उ ३१९६११)
मनोऽस्य देवं ब्रह्म । (छं ८१३२१५)
दैव मनः । (ह १११९)
मनस्त वै मनः । (ह १११९)
सर्वेषां सकल्पानां मन एकाग्रतमम् । (ह ११८११)
एषा शरीरं मनो नियन्ता । (मै उ ३० ११६)
एकत्व प्राप्तमनसोः । (मै उ ३१५५)
मनो हि द्विविध प्राक्त । (मै उ ३१७३) ब्रह्मर्षि उ १)
मन एव कारण बन्धमोक्षयोः । (मै उ ३१३९)
(ब्रह्मर्षि २)
मनो एषा । (प्रश्ना उ ३)
मनः ऐश्वर्य । (महा १)
निर्विषय मनः कार्य । (ब्रह्मर्षि ३)
मनसा मग्नानभूतेन । (ब्रह्मर्षि १)
मनश्चैवातिचञ्चलम् । (अथ ५)
ध्यानं निर्विषय मनः । (स्कंद ११)
स्नानं मनोमलत्यागा । (स्कंद १३)
मनः सत्त्व सत्त्वम् । (योग ३)
मनो ब्रह्म हि ईश्वरमा । (मुक्ति ११३९)
अपेक्षाही स्वर्ग मनः । (मुक्ति ११७९)

मनके विषयमें उपनिषदोंका यह कथन है : इसका अन्वय यह है -

जो इन्द्र देवकी मन है मन और ब्रह्मका दूत मन है मन यह अन्तरात्मा कायिका दृष्टा है मन तेज अन्तरात्मा के भी है मनमें सब प्रकारके ध्यान होते हैं मन गतिमान् ब्रह्मार्पण वेगवान् है मन गतिरूप है मन ब्रह्म ब्रह्मार्पण महा-कवि है अचञ्चल मन है मनके प्राण मन कहा हुआ है मनही आत्मा और ब्रह्म है अन्तरात्मा मन होता है मन दिव्य वैश्वी है दिव्य कविताका मन है मन वर्णन है ब्रह्मार्पण

मनका सामर्थ्य वर्णन है मन सकलव्यय मनमें होते हैं शरीर एवं जगत् समस्त नियन्ता मन के प्राण जगत् मन पृथ्वी है ब्रह्मार्पण परस्परसंबन्धित हैं मन जो प्रकारका है (एक आपत्तिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है) मन बन्धमोक्षका कारण है मन ही ब्रह्मात्मा ऐश्वर्य है ब्रह्मार्पण ईश्वरका सामर्थ्य है मनको निर्विषय बनाया चाहिये मन मग्नमनका दृष्ट है मन कवि चञ्चल है मन के मनको दूर करनाही जरूरी स्थान है मनका मन तरङ्ग स्वाधीन करना चाहिये मनही आत्माकी गंजना है सबसे प्रथम अपने मनका जगत् करना चाहिये ।

मनके विषयमें उपनिषदोंमें ये कथन हैं इन कथनोंमें सारांशरूपसे मनके सर्वगमें व उपरुक्त हैं -

- (१) मन मनको धर्मैश्वर्य है
- (२) मन ब्रह्म तेजस्वी है
- (३) मन ब्रह्म गतिमान् कवि वेगवान् है (अचञ्चल)
- (४) मन ब्रह्म सामर्थ्यमय है दिव्य कविताके युक्त है (अचञ्चल दृष्ट)
- (५) मनमें विषय दृष्टि है
- (६) मन मनका निवासक है
- (७) मन जो प्रकारका है (एक आपत्तिमें कार्य करता है और दूसरा सुषुप्तिमें कार्य करता है)
- (८) मनमें ही वैच अन्तरात्मा मोक्ष होता है
- (९) मन मनैश्वर्यका अन्वयमन्त्रपृथ्वी है (प्रमायि)
- (१०) इसलिये मनही जीतना चाहिये ।

इसकी बातें ऊपरके उपनिषद्कथनोंमें कही हैं । नीचेके पूर्वोक्त श्लोकोंमें यह अन्वय सूचनाके लिये ऊपरके विधानके साथ जोड़कर देव है जिसमें पाठकोंको पता लग सकता है कि नीचेके कथनके साथ उपनिषद्कथनोंके कथन कैसे मेलन हो सकते हैं ।

मन जो प्रकारका (द्विविध मनः) है ऐसा जो ऊपर कहा है वह ब्रह्म अन्तरात्मा कथन है । पृथ्वी मनके वे दो भाग अचञ्चल अचञ्चल मनको दो विभिन्न मन मान लीजिये इन्द्रदेव एक मन आपत्तिमें कार्य करता है । जब वह मन आपत्तिमें कार्य करता है तब दूसरा मन अन्तरात्मा होता है ब्रह्मार्पण कार्य नहीं करता । जब आपत्तिमें मन अन्तरात्मा होता

हे तभी दूसरा मन्त्र कार्य करने कहाता है । वह बात समझने के लिये वाच्य देना समझें कि पहलेके मन्त्र सोनेके समान दूसरा मन्त्र आगता है बार दूसरे मन्त्रके सोनेसे समान पहला मन्त्र आगता है । इससे अपने अपने कार्यकेप्रति प्रत्येक मन्त्र प्रत्येक है परंतु सुश्रुतिमें आगनेवाला मन्त्र कहाही प्रमाणवाली है क्योंकि इनके कार्य देखकरही मन्त्रवादी परिचित नही होते ।

प्रायसे विष्णुविशिष्ट करके आगतिवा मन्त्र मुक्तावा और सुश्रुतिवा मन्त्र अगतावा है । कोयका मन्त्र यहही है । सब प्रयोगे कहा होता है कि मन्त्र ज्ञान्त करी एकत्र करी स्तम्भ करा । निम्न करी इस सब वाक्ताओंका कार्य एकही है । यह मन्त्रकहा है प्रतिक्षण चक्रकलाके मन्त्रवापर करना रहता है इस कारण सब उल्लेख मन्त्रका कार्य करनेका अवसर ही नही मिलता । उस उल्लेख मन्त्रको कार्य करनेका अवसर मिले लाये इसलिये इस आगति करनेमें करनेवाले मन्त्रको एकाग्र करनेकी आवश्यकता है ।

हिमिष मन्त्र है इस उपविश्रुतिके महत्त्वपूर्ण अवधिमें यह सब माय है । आगतिवा मन्त्र मन्त्रादि केप्रति कार्य करता है मन्त्रा मन्त्र वनवाचित केप्रति कार्य करनेवाला है । इसलिये इसका महत्त्व विशेष है । सबे जगत्को मन्त्र-इन्द्रो और साधु सज्जनोंमें यह उक्त मन्त्र आगत रहता है और आगतिवा मन्त्र ज्ञान्त हुआ रहता है । मन्त्रकी श्रेष्ठता ब्रह्मता और एकतावा यही किम्ब है । हनीकिये सब ज्ञान्त बलव कहते हैं कि मन्त्र स्थायीन करी ज्ञान्त करी निज भूतिवा निरोध करा । क्योंकि इस आगतिमें कार्य करनेकेलि मन्त्रोपद्रव काय होनेकी बाधा नही इसकी चमत्कला हर होनेकेही जगत् काम होवा केमन्त्र है ।

इस तरह उपविश्रुतिमें जो मन्त्रविश्रुत उपदेश-वाच्य आगते हैं इनका मन्त्र हुआ सब भीतरमेंही ज्ञान्य जो जो मन्त्रके विषयमें उपद्रवजन्य आने हैं उनका विचार करते

भूमतीय य मे मन्त्रः । गी १:३०

पततो ह्यपि कीदृशतय पुण्यस्य विपक्षिणः ।

हिमियाणि प्रमाथीनि हरन्ति घनममं मन्त्रः ॥

हिमियाणां हि शरतां यममनोऽनुविधीयते ।
तवस्य हरति प्रज्ञां शुभ्रांश्चमियाम्मसि ॥
कर्मोन्मियाणि संयम्य य आस्तं मनसा स्म
रन्मियाणांश्चिन्मूढात्मा मिथ्याचारः स उक्तं
यस्तिष्ठन्मियाणि मनसा नियन्त्रामतेऽर्जुन
कर्मोन्मियाः कर्मयोगमलकः स विधिष्यते ॥

हिमियाणि मनो बुद्धिरस्वाभिष्टानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येव ज्ञानमावृष्य दृढिबन्धम् ॥
सर्वकर्मणि मनसा संयम्यति सर्वं घटी ॥
इत्येव वैर्जितः सर्गो यथा साम्ये स्थित मया ॥
तथैकाम मनः कृत्वा पतन्तिस्त्रियकिणः ।
अपविश्यासने बुभुक्ष्याद्यामनामविशुद्धये ॥
मन्त्रः सयम्य मन्त्रितो मुक्त मासीत् मत्परा ॥
संक्षयप्रमथान्नामां स्तम्भस्त्वा सर्वविधेरता
मनसैर्बह्विधमामं विनियम्य समतता ॥ १:३॥
आत्मसंख्यं मनःकृत्वा न किंचिदापि चिन्तयेत्
यतो यता निश्चरति मनसं बहुमसिहर ॥
तत्तत्सतो नियम्यैतदारमन्येव यथा वयेत् ॥ १:४॥
असेवाय महाबाहो मनो दुर्निग्रहं कुरु ॥
अभ्यासेन तु कौन्तेय दैतार्येय य दृढयते ॥ १:५॥
मध्यावेक्ष्य मनो ये मां नित्ययुक्ता वपासते ॥
मध्येव सदा आधत्स्व मयि बुद्धिं विवेचय ॥ १:६॥
मन्त्रः समाधाय स स्थातिवक्ता (ब्रह्मा) ॥ १:७॥

ये वचन जगन्नाथजीमें आये हैं और इनमें जो जो गुणवर्गमें स्थित रहे हैं वे नही देखने योग्य हैं । मन्त्रा जमी ज्ञान्त होता है । वचन करते रहनेपर जो निज गुणवर्गमें मन्त्रका असत्के इन्द्रिय चिन्ती निरवकी मो को केते हैं । विषयोंमें लचार करनेवाले इन्द्रियों को अब मन्त्र होने कहाता है तब इनकी ब्रह्मा जमी ज्ञान्त है । कर्मोन्मियांका वचनकारके सेवम करने को वाच्य लक्ष्य विषयोंका समाय करता रहता है, वने मिथ्याणां लक्ष्य हैं । जो मन्त्रके अपने लक्ष्य इन्द्रियोंका सेवम करता है वह विधीय उक्त अवस्था प्राप्त करता है । जानका लक्ष्य ज्ञान्ते नही रहकर वह मनुष्यके ज्ञानको भरता लेता करता है । मन्त्रों को लक्ष्य कर्मोंका लक्ष्य करता है वह लक्ष्य भुजसे रहता है । निजका मन्त्र सम होमवा वर्तन रत

उत्तर नहीं जाता। हमको वहाँ ही परम भिक्षु प्राप्त हो चुकी है देता समझना चाहिए। मन एकत्र करके आत्मसुखिके लिये योगका अनुष्ठान करना उचित है। मनका संयम करके मनको हृत्पर लगाया जाय। संपूर्ण कामनाओंका त्याग करके मनपै ही सब हिम्मतोंका संयम करना योग्य है। मन आत्मपर लगाया जाय। इस समय दूसरा कुछ भी विषय मनमें नहीं जाना चाहिए। जहाँ मन होइता है वहाँसे बसका बापल काकर आत्मपर स्थिर करना चाहिये। मन विवेकद्वय चञ्चल और संयम करनेके लिये कठिन है। अन्यस्त आरंभितवसे ही उत्तमोत्तममें किया जा सकता है हृत्पर मन कमानेसे सब प्रयत्नकी उन्नति हो सकती है।”

मनवर्तमानमें मनके विषयमें हठसे बचन है। इनका ज्ञानत वह है कि—

१ मन प्राप्ति उत्पन्न करनेवाला है। वह मनुष्य को विषयमोहोंकी ओर खींचता है।

२ इसका बन्धनकारसे संयम करनेसे कोई ज्ञान नहीं होता है।

३ यदि सुविचारके साथ संयम हो ज्ञान तो ज्ञान हीना।

४ मनको मन अर्थात् चञ्चलताद्वित बन्धावा चाहिये।

५ मानवसमस्तका त्याग सबपूर्वक करनेसे मन निश्चल होता है।

६ हृत्परमन्त्रसे मनका शांति मिलती है।

७ सतत संयम करनेसे मनका संयम हो सकता है।

इस विषय पूर्वोक्त वचनोंके समर्थके दिखाइ देते हैं जो मनकी चञ्चल विचार करनेवालोंको बड़े बोधप्रद है। लक्ष्य है। अब हम बड़े श्रेष्ठोंमें मनके विषयमें क्या क्या बख्शत है इसका विचार करते हैं। सबसे प्रथम यदुर्देहके शिष्य संन्यस्तपूज्य पर विचार करते हैं—

यथाप्रतो ब्रह्मदेवि देव
तनु सुतस्य तपेभित्ति ।
ब्रह्मं ज्योतिर्ना ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥
येन कमात्यपस्ता मर्मापिणो
यद्व हृत्कमन्ति चिदप्येषा धीराः ।
यदपूर्वं यत्तममनः प्रज्जानां
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञामुत्तमं येनो धृतिश्च
यत्कर्मोत्तिरन्तरमूर्तं प्रजासु ।
यत्मात्रं भवेत् किञ्चन कमं क्रियते
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥
येनेक्ष्म मृतं मुनयः मविष्यत्
परिगृहीतममूर्तेन सधम ।
येन यद्विस्तारयते सतं होता
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥
यस्मिन्मुखाः साम यक्ष्मिन् पाणिन्
प्रतिष्ठिता रचनामाविधाताः ।
यस्मिन्निष्ठं सर्वमोक्षं प्रज्जानां
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥
सुखादपिष्ठाभिश्च यद्विषयान्
मेनीयतऽमीशुभिर्धातुभिर्हव ।
हृत्प्राप्तिश्च यद्विज्ञेयं अधिष्ठ
तन्मे मनः शिष्यसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥

(या बहुत न २४)

जो जागते हुए दूर दूर मटकता है और मोहके समथ में भी जो बहारी जाता है; जो दूर जानेवाला दिग्ग छलिते पुण्ड्र पक्षिबोमें सी नविक ठेगली एक मन है; जिस मनका सहायतासे शारी विद्वान् पुण्ड्रि लमानोंमें तथा बहोति विविध कर्म करते हैं। जो ब्रह्मजनोंके अन्तर अर्थात् छलिते पुण्ड्र पक्ष्य उत्पन्न ह जो प्रज्ञान चित और चैतन्य अमर तेज सब प्रजाजनोंमें है जिसके बिना कोई भी कर्म किया नहीं जाता जिस अमर मनमें वह सब भूत वर्तमान और पविष्य समस्त हुना है जिसके द्वारा मात अविद्यों द्वारा होयेवाका बन्ध बन्धावा जाता है। वेदे यद्विज्ञेयं नामिन् आरंभत है वेदे अर्थात् बहुत वेद नामवद् जादिके मन्त्र जिनमें रहते हैं, जिनमें सब प्रजाजनोंका धिक् विरोधा है; जैसे उद्यम धात्री कमानोंमें जोड़ोका निवेद्यन करता है वेदे जो मन मनुष्योंको बहारा है जो हृदयमें रहता है वार श्री भगवद्गित और भाष्य वेगवान् मन है वह वरा मन सुवसकल्पपुण्ड्र हव ।

यदुर्देहमें वह एक मनका कल्प लक्ष्य है। इसमें मनका बरा अनोखता और वाचवद् वर्धन है। इसके मननमें निरम विनिम मनको अविद्योका ज्ञान होता है—

मनुष्य विषयभोगमें कभी नहीं फँसेगा । }

इस विषयमें एक उदाहरण दिया जा सकता है । मनुष्य के किये बध्ति श्रीयोग सिद्ध होता है तथापि अपनी प्रीति, मगिनी माता आदि पुरुष विषयोंके विषयमें उसके मनमें उद्वेग भोगकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती । क्योंकि वह बड़ा विद्वत् कर्म है ऐसी मनकी मायावा होकर उस विषयमें मन हट जाता है । परंतु स्वकी उद्याज्य बोधिताओंके संबंधमें ऐसा मन हट जाता नहीं होता । इसलिये श्रीकृष्णसे इसके मनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है । यदि यह भोग क्षम्य है पुरुषस्वभावसे प्रमाण यह है ऐसी मायावा उसके मनमें स्थिर हो जाय तो उन भोगोंमें भी इसका मन नहीं आया ।

मनुष्यके लिये स्वप्न सीता जल आदि । मनुष्यका मन मिथ्यामय अत्यन्त दुःख होता है । और मिथ्यामय दुःख दुःखी विज्ञानपर प्राप्ति उत्पन्न होता है । तथापि यदि उसे मन्त्र हो जाय कि इस जलमें सिद्ध भिक्षा दिया है, तो उसकी स्वादुत्पन्ना जल अच्छे पुरुष हट जाती है । फिर वह उस जलका स्पर्शभी नहीं करेगा । ऐसा क्यों होता है ? इसलिये होता है कि उसका मन उससे विरक्त हो जाता है । उसके भोगके मन है वह उसके मनमें स्थिर हो जाये तो ऐसा होता है । यदि इसी प्रकार सर्व भोगोंके विषयमें इसका मन हट जायगा तो किसी भोगके वह फिर आकर्षित नहीं होगा ।

भोग भोगसे जो आनन्दका आवास होता है उसमें कई गुना आनन्द आवासही प्राप्त होता है । यदि वह वाय मनुष्यके अनुमनमें आजायगी, तो वह कदापि आनन्दकी ओर नहीं दीवेगा क्योंकि कई भी मनुष्य जल सुखके लिये महा दुःख नहीं खा देता । इस तरह भोगोंमें आनन्द रहने वाले दुःखका विचार करके मनुष्य भोगोंके विषयमें विरक्त हो जाता है । मनको स्थिर करने और मनीर करनेके लिये इस प्रकार विचार और मनसे सिद्ध होवेवाक वैराग्यकी आवश्यकता है । वैराग्यके विषयमें योगदर्शनमें कहा है—

उदात्तभक्षिकविषयवितुष्यस्य
वशीकारस्तथा वैराग्यम् ॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषव्यतिरेकवैराग्यम् ॥ १६ ॥ (योग १)

वज्रक विचार है प्रकृति और प्रकृतियोंमें कहे विषय भोगोंके विषयमें जब आवश्यक हो विवेक आवश्यक हो जाती

है, जब इसका मन उन भोगोंसे हट जाता है, जब उसको उन विषयोंके संबंधमें दुःख हो जाती है, और इसमें वह बलमें आनन्द है ऐसा वाय मनमें स्थिर हो जाता है जब इसी समय होनेका अनुभव हो जाता है जब उद्वेग आनन्द वैराग्य कहते हैं । वही वैराग्य वैराग्यसे प्राप्त होता है प्राकृतिक गुणोंके विषयमें दुःखहटि होकर अपने विषयमें उदाधीनताके आनन्दपर अन्य कोटिपर पहुँचना है । इस समय इसको परवैराग्य कहते हैं । }

आचार्य मनुष्यको इसका परवैराग्य प्राप्त करनेकी आज्ञा दे सकता नहीं है । प्रथमः विषय भोगमें जो होय है उसके लक्षणे प्रथमार्थमें अपने लिये स्थिरता आनन्दक वैराग्य प्राप्तिके उतथा सिद्ध करता है । जिसका वैराग्य होता, उसका ही वह भोगोंमें हट होगा और उदासीन होकर ही वायका होती जायगी । इस तरह वैराग्य होकर वाय वाय चञ्चल भी होना चाहिये । इस अन्तर्गतके विषयमें योगदर्शनमें कहते हैं—

तत्र स्थितो यावोऽप्यसा ॥ १९ ॥
तद्गुणैर्वाक्यैर्वाक्यैर्व्यत्यक्तैरसौचित्यैः
हृदयम् ॥ २० ॥ (योग १)

विषयों को मत्स्यक स्थिति है उदात्त स्थितिमें स्थिर रहनेके लिए वाय करनेका नाम आनन्द है । वह आनन्द वाय अत्यन्त भीषण व कोटि होय, सुनिश्चयमात्रपूर्वक विचार वाय को स्थिर हो जाता है । विषयों सात्त्विक वृत्तिमें स्थिर रहनेका नाम आनन्द है । मनुष्यका मन वायस राजस और सात्त्विक वृत्तिमें भेदा क्रम करता है । वायस वृत्तिके कारण आनन्द और राजस वृत्तिके कारण भोगमात्र रहता है । सात्त्विक मनुष्यमें सात्त्विक वृत्ति कमही होती है । राजस वायसमें । वह वृत्ति विषय करती रहती है । मनुष्य अपना मन आनन्दमें है वा भोगमें रहता है अथवा ईश्वरमति आदि सर्वगुणोंमें रहता है इसका विचार करेगा तो अपनी स्थिति कहो है, इसका विचार करने को सकता है । मनुष्य इसका विचार प्रथम को और उद्वेग कर उद्वेगका मन करे । इसका नाम आनन्द है और आनन्द निरंतर बहुत देर तक करनेके स्थिर होता है ।

अप्यासवैराग्याद्वर्गा तथितोऽयः ॥ २१ ॥ (योग १)
आनन्द और वैराग्यके विषयवृत्ति विरक्त हो जाता है । मनको स्थिर करने और मनीर करना हो को वैराग्य

अस्यतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः । वक्ष्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अम्बुदः— जलवतममया योगः बुध्यायः बहुलमना यतता तु उपायतः ज्ञानायु धनवः इति मे मतिः ॥ १६ ॥

अपना समय न करनेवाले मनुष्यसे योग होना असंभव है, परन्तु जो अपने आपको बरामें रखकर प्रयत्न करता है, उसको अनेक उपायोंसे योग सिद्ध होना शक्य है ऐसा मेरा मत है ॥ ११ ॥

भाषार्थ— जो अवसमय नहीं कर सकता, उससे योगसाधन होता अनभव है फिर उसको योगकी सिद्धि नहीं होगी, वह व्यर्थकी क्या भावव्यक्तता है ? परंतु का प्रभावशक्ति है और अवसमय करके वह है, वह जनेक उपायमात्रा द्वारा योगसाधन करते अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। तबत्रय योग हीनिके कारणेन सिद्धि होगी। योग प्रदान न करके क्या कुछ हो सकता है ? ॥ ३३३ ॥

बालन करना और पचास पुरोहित गिरिसे आन्यास करना आवश्यक है। इससे सिद्ध प्रमाण हो सकती है। मय बाहे किमना भी प्रमाण हो क्योंकि इस उपायसे वह सान्त्वित, स्थिर और गंभीर हो जाता है।

वही आद्य रक्षण करीहै कि मनु (प्रमाधि) समवेष्टाका है। पूर्व लोक के अर्जुनके प्रसंगें यह कह्य जाया है। भय सब छोड़कर संघ बन गया है। जैसे कि भय-दण्ड हईहि सन्तान निकलजाया है, वैसी ही यह मन संपूर्ण करीरका संघन करने हमसे सरब बाहर निकालकर फेंक देता है। जब बहुत प्रपन्न करने लगता है उस समय मन बहुत काह लक्षित रहता है पांडु किसी समय बिचक-भोगमें बहुत हिंदू हो बन्दर मन पूरी इच्छाक मचाता है कि जिससे सर्वत्र जीन होता है और सर्वत्र अनलिप्तही अनलिप्त उत्पन्न करता है और देशी प्रवृत्ति करता है कि जिससे पूर्व समझका सब अनुमान ध्वंस गवा दसा मरीत होता है। ऐसा प्रत्येक समवेष्टाका वह भय है। इसीलिए इसके संभवका उपाय वही साधनामीके साथ और हीके काकटक करते रहने अधिक। जोडीसी भी समाधानामीके वह महत्व मचा देना। इसीलिए मतवान् जाने कहते हैं—

(१६) यह लोक स्वयं है। जो प्रलय करेगा उसको सिद्धि प्राप्त होगी और नहीं करेगा उसको नहीं प्राप्त होगी। इस विषयमें विचार करो ही प्रकृत।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं प्रपेक्ष ।

(हृदययोग)

पुनर्प्राप्ति करनेपर ही सिद्धि होती। अथवा न करनेपर कुछ भी नहीं होगा। यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है तथापि हममें संवत्सरमा, वद्वत्सरमा और अर्धवत्सरमा के प्रत्येक विचार महसूस होते हैं। जो अपना संवत्सर करता है और जो अपना अर्धवत्सर करता नहीं उसकी सिद्धिमें वैसा ही अन्तर हो जाता है। संवत्सरमा वास्तवसंभवमान करनेवाले पुनर्प्राप्ति नाम के मिलने अपना संपूर्ण कष्टिर्षोंका भयम किया है। वहाँ वास्तव शब्द केवल आत्मा अथवा आत्मा ही वाचक नहीं है। संवत्सरमाका अर्थ मनका संवत्सर करनेवाला। इसकाही नामका अर्थ है। वहाँ संवत्सरमाका अर्थ संपूर्ण अपने वाचका संवत्सर करनेवाला है।

[illegible]

जोश बसराजकारक बहामेको देखेन जोर भवविहारक

१७७॥ ११ (१२) योगसिद्धि गति

मनुज तवाच-

अवतिः भद्रयोपेतो योगावस्थितमानसः । अप्राप्य योगसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥१८॥
 कावभोमविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिष नश्यति । अप्रसिद्धो यद्वा नाहो विमूढो ब्रह्मणः पति ॥१९॥
 एतन्म सद्यः कृष्ण छेत्तुमर्हस्येषतः । त्वदन्यः सद्यमस्यास्य छत्ता न ह्युपपद्यते ॥२०॥

प्राप्य न ह्यहं कालं कल्पं विचार्य मुनें और हीन विचार न मुनें जिह्वा कल्याणार्थं कल्प लोक और मुने कल्याणका रण न करे मुक्त सात्विक पदाच मक्षण किये जानें और राजस तथा तामस पदाचोंका केवल न किया जाय । इसी तरह क्षीरसे सपूर्ण स्ववहार कल्प ही किन्तु ज्यों हीन स्ववहारोंमें वह न पैसा रहे । किसी समान्य कावा हो तो वही कैसी भोग है, इसका विचार नहने किया जाय और वही जातेसे क्षयव्यपिका काल होनेकी संभावना हो तो वही जाना नहीं तो न जाना । पुस्तके पढ़नीं हो तो कुछ विचार यद्वायेवाही पुस्तके ही पढ़ी जानें विषयकप्रज्ञा नवायेवाही न पढ़ा जानें । इस तरह कल्प इसकर्ममें जायेक स्थानमें प्रत्येक विचार-वचन-वाक्यमें समझका विचार है । मायो मनुष्यकी प्रत्येक मति का जगतिमें जगत्प्रत्येकका समझ जाता है । कोई स्ववहार इससे काळी नहीं है । इस सपूर्ण स्ववहारोंमें जो करने जायका अर्थात् करने छोड़ नह मर्त्य का समझ करता है उसको ' सयतात्मा ' कहते हैं । केव भोग सब असयतात्मा ही हैं इसीकिये कहा है—

मनुष्याणां सहस्रानु कश्चिद्यतति सिद्धयः ।
 पततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वसति तत्पततः ॥

(श्री १२)

सहस्रो मनुष्योंमें एकाव मनुष्य योगसिद्धिके किये कर्य करता है और सब करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई सिरकाही तथाल मुक्त आगता है । यह इसकिये कहा है कि सब करनेवालोंमें भी सपूर्ण गतिसे संयतात्मा होना नह बड़ा कठिन कार्य है । संयतात्मा होनेके क्रिय करने संयम ववहार देवे पर करने चाहिये इसका संक्षिप्त विवरण इससे पूर दियाही है । प्रयत्न करनेपर भी किसी न किया स्थान पर बाधीनी मुड़े या सिमिकता रहती है और वही मुदि

रही अर्धप्रयत्न होता है और सिद्धि दूर जो जाती है । इसकिये संपूर्ण योगकी सिद्धि प्राप्त करनी हो तो संपूर्ण गतिसे करने जायका संयम करना चाहिये । इस तरह कल्याणमा होनेके पञ्चाय की (पतता) प्रत्येक वाक्य रहनी चाहिये पञ्चमी परा काय करनी चाहिये । बलवान्पुत्री दूसरा नाम योगी है । जता प्रयत्न न करनेयका वदुष्य योगी नहीं हो सकता इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

इसके पञ्चाय उपायपदा यह एक महत्त्वपूर्ण कर्म है जिसका विचार नहीं अवश्य करना चाहिये । कल्प करने प्रकाके करने चाहिये एक ही उपाय नहीं । जायको एक मायसे जाना असंभव हो तो उसको दूसरे मायसे जाना चाहिये । ये सब उपाय पुस्तके पाठसेही ज्ञात हो सकते हैं । सुचोच पुत्र कनेक उपायोंद्वारा सिद्धिके पार के जा सकता है । स्वय की उपाय जोचना चाहिये । किसी कोई जातन नहीं होता कार्य जात्याजान नहीं बरता केव अनुष्ठान नहीं होता तब क्या करना चाहिये ? किन्तु मुक्तिसे सिद्धिके उक्त अनुष्ठान करवाना चाहिये इस मुक्ति बोंका नाम नहीं उपाय है । साधनमें वह उपायकी वदुष्य महत्त्व रहती है इसकिये जायकोंका इस और इधेय नहीं होना चाहिये ।

नव अनुभवके सबसे एक महत्त्वपूर्ण ज्ञात करी । यदि कोई जायक हूज योगका जायन करने करी, जात सिद्धि होनेके पूर ही उसका देहाय हो गया तो उसका क्या होगा ? अर्थात् योगसिद्धिकी इच्छासे पहले देहिक भोगोंका ज्ञान किया जाय योगसिद्धिके पूर्व ध्युज जानेसे सिद्धि की प्राप्त नहीं हुई । ऐसी अवस्थामें उच्छ्वी गति क्या होगी ? तब जायकोंके साथमे यह पद्य है । जता इस धंकाका उच्च मय-वाय देसा देते हैं वह प्यायपूर्वक पाठक देखें—

अमृत्यु— अमृत ब्रह्म— हे छप्प ! अमृतता उपेत न-वति- योगात् चक्षितममम योगसंसिद्धिं अमृत्यु की गतिं
 नयति ॥ ३० ॥ हे महाबाहो ! अमृत्युः पवि अमरिष्ठः विमुक्तः सः अमरविग्रह- किञ्चाद्यै इव न नश्यति कश्चित् ॥ ३१ ॥
 हे छप्प ! मे एतत् ससर्गं अमरपदः कर्तुं नर्हसि; हि त्वत् अमृतः अमृत संसर्गवत् छेत्ता न उपपद्यते ॥ ३२ ॥

मर्त्युत्तमे पूछा— हे छप्प ! (किसी साधककी) अमृतता तो है; परंतु उससे पूर्ण यत्न न हुआ और उसका
 मन योगसे विच्छिन्न हुआ तो वह योगकी सिद्धि को न प्राप्त होकर, किस गति को पहुँचता है ?
 ॥ ३३ ॥ हे महाबाहो ! ब्रह्मयासिके मार्गमें यह आध्वर्यवहित और विशेष मोहित हुआ दोनों ओरसे अप
 होकर छिन्नमिध बाहुकके समान बीचमेंही मर तो नहीं होगा ! ॥ ३८ ॥ हे छप्प ! मेरे इस सम्बेदको
 विशेष दूर करनेके लिये आपही योग्य है क्योंकि आपको छेदकर इन मन्त्रको दूर करनेवाला कोई
 नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

माध्वार्थ— कोई एक साधक योगमार्गपर बड़ी अमृत रहता है कुछ काल भी करता है परंतु सिद्धि प्राप्त होने और
 योगसाधन उससे नहीं होता । इसमें कई आंतरिक आपत्तियाँ जाती हैं और उससे योगसाधन बर्बाद नहीं होता
 और ऐसी अचूरी अवस्थामें उसका देहपात होता है । ऐसी योगसे ब्रह्म हुए साधककी क्या गति होती है ? वह तो ब्रह्म-
 मगरीका पवित्र वा ही परंतु न तो वह ब्रह्ममगरीको पहुँच सका और नाही वहकि योग योग सका । दोनों सुक्तोंमें
 विहित रहनेवाले उस योगब्रह्म साधकका बीचमेंही नाक तो नहीं होता । वह सिद्ध बड़ा मनको बड़ा ह्रस्व होता है उसका
 निराकार होना आवश्यक है ॥ ३०-३९ ॥

(३०-३९) योगब्रह्मी गति क्या होती है ? वह
 ब्रह्मा हारक साधकके मर्ममें उठती है और जो साधन नहीं
 करते केवल मन्त्रे मारनेमें मग्न होते हैं, वे तो दूसरोंको
 शुभ वेदायैके लिये ऐसी बंधन उपस्थित करतेही रहते हैं ।
 परंतु जो साधक नहीं हैं उनका विचार हमें नहीं करनेकी
 आवश्यकता नहीं है । क्योंकि उसका विचार करनेसे किसीको
 काम होता समझ नहीं है । परंतु जो सकल साधन करना
 चाहता है उसके मर्ममें भी देवता आकाश उपस्थित होती है ।
 तथा वह ब्रह्मा महात्मापूर्ण है और इसका बर्बाद विचार
 होना चाहिये ।

जो साधन साधक कर रहा है उसमें अक्षरता ब्रह्म न
 करते यदि मृत्यु हो गयी तो किता आत्म ज्यैव गया अचूरा
 आत्म होनेसे सिद्धि तो प्राप्त होगीही नहीं है, आत्म करने-
 के लिये पक्षि मोगोंका पक्षीही बना किता इसलिये इस
 कोकले सुकसे भी बधित रहा सिद्धि प्राप्त होनेतक आत्मता
 नहीं हो पक्षी इसलिये सिद्धि के अभावमें परकोकसे भी
 बधित रहा । इसके न दूसर और न उभर ऐसी स्थिति हो
 गई । वह अवस्था बड़ी मन्त्रात्मक है । इस अमृतमें किता
 आत्म दूसरे अमृतमें तो उपबोधमें नहीं आयेगा क्योंकि
 यहाँही है दूसरी परिस्थिति दूसरी धन कुछ भिन्न । इस
 लिये किता हुआ वह साधन तो ध्वंश ही गया । फिर अगला

काम किता बोलित होया इस विषयमें भी क्या प्रमाण है ?
 इसलिये पक्षि योगसाधन अचूरा रहा तो बड़ी ही क्षति
 होगी । तथा योगब्रह्मी गति क्या होती है इसका विचार
 होना चाहिये ।

अमुक्त अक्षरमगरीका पवित्र है अक्षर-प्रत्यक्ष ब्रह्ममगरीके
 मार्गपर वह चल रहा है । यदि मन्त्राध्यायमें ही वह रहा तो
 भी बड़ी कुछ न कुछ सुख तो उसको मिलेगाही । यदि इस
 को ब्रह्ममगरीकी प्राप्ति हो गयी तो उसको अमृत आनंद
 आकाश प्राप्त होगा इसमें भी संदेह नहीं है । परंतु वह
 यदि बीचमेंही रहा तो इसकी अवस्था क्या होगी ? वह
 ब्रह्मा यही है ।

बाहुकले आकाशमें रहता है और वह आकाशमें रहकर
 एक ब्रह्मकी सोमा ब्रह्मा है यदि ब्रह्मी दृष्टि हो गई तो
 तो पृथ्वीपरकी सोमा उससे बराबरी देना सत्ता आ सकेगा ।
 परंतु यदि कोई बाहुक आकाशमें रहा और न दृष्टिक्रमसे
 पृथ्वीकी दृष्टिको परिदृष्ट कर सका बीचमेंही विरक्त होकर
 मर हो गया तो वह बाहुकता होना तो बर्बरही हुआ ।

इसी प्रकार योगब्रह्मी अवस्था अभावक प्रतीत होती
 है । तो इस विषयमें साथ बात क्या है ? वह प्रथम
 ब्रह्मा है । अगला इस ब्रह्माका केना उत्तर देते हैं वह
 अक्षरी अमृतमगरी बलीयैही अब सुनिये—

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नाम्न विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं ताव मच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृता लोकानुपित्वा शान्तिः समा । शुचीनां श्रीमतां मेहे योगब्रह्मोभिजायते ॥४१॥
अथवा यागिनामेव कृते भवति श्रीमताम् । एतद्दि दुर्लभतर लोके अन्ध मदीक्षस्व ॥४२॥
तत्र त दुर्लभयोग लभते पौर्वदेहिक्म् । यत्ते च ततो भूय ससिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन येनैव क्रियते श्रवणोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दप्रज्ञातिवर्धते, - ॥४४॥
प्रयत्नापसमानस्तु योगी सङ्गद्विकल्पिणः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां भक्तिम् ॥४५॥

अन्वयाः— श्रीमताम् उवाच—हे पार्थ ! न ह्येव एव (च) कस्य तस्य विनाशः विद्यते । हे ताव ! कश्चिद् कल्याणकृत्
दुर्गतिं न मच्छति ॥४०॥ योगब्रह्मः पुण्यकृतां काकम् प्राप्य (तत्र) शान्तिः समा । अन्तिमा शुचीनां श्रीमतां मे
भावे जायते ॥ ४१ ॥ अथवा श्रीमतां योगिनां एव कृते भवति एव एतत् ईदृशं जन्म लोके दुर्लभतर हि ॥ ४२ ॥ हे कुरु-
नन्दन ! (सः) तत्र तं पौर्वदेहिक् दुर्लभयोगं लभते तत्र च भूयः संसिद्धौ यत्ते ॥ ४३ ॥ तेन एव पूर्वाभ्यासेन च । यथा
न हि द्विवे । योगस्य जिज्ञासुः । न हि शब्दप्रज्ञातिवर्धते ॥ ४४ ॥ ततः प्रयत्नात् यत्प्राप्यः संसिद्धाद्विकल्प- कोटीं प्र गते
जन्मसंसिद्धः परां पतिं याति ॥ ४५ ॥

श्रीभगवान्मे कहा—हे पार्थ ! न इस लोकमें और माही परलोकमें तस (योमी) का विनाश होता है ।
हे प्रिय ! क्योंकि शुच कर्म करनेवाला कोई (पुण्य) कमी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥
योगसे ब्रह्म हुआ (मनुष्य) पुण्यवानोंको मिलनेवाले लोकोंको प्राप्त होकर और जन्म बहुत
पर्यन्त रहकर पवित्र श्रीमात् लोगोंके धर्ममें अन्ध होता है ॥ ४१ ॥ अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कृते
जन्म होता है । इस प्रकारका यह जन्म इस लोकमें अत्यंत दुर्लभ है ॥ ४२ ॥ हे कुरुकुलका राजा बड़ा
घाते अनुम । परां वह पूर्वजन्मके बुद्धिसंस्कारको प्राप्त करता है और इससे वह अधिक सिद्धि पानेका
प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ उहाँ पूर्वजन्मके भगवात्से वह बलवत्तबसा होकर (भिदिकी मोर स्वर्गही)
सिद्धि पाना जाता है । यथाप्य वांगम्य जिज्ञासुमी शाश्विक ज्ञानवाक्योंसे बहुतही भेद्य होता है ॥ ४४ ॥
वहासे ज्ञान प्रयासपूर्वक योगसाधन करता हुआ वापीसे कृत्कर, परिश्रुय होकर, वह योगी अनेक
जन्मोंसे सिद्धि प्राप्त करके अन्तमें उत्तम पतिको प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

भाषा— जो शुभ कर्म करता है उसका भव पाव कभी किसी प्रकार भी नहीं होता । अतः जो योगसाधन करने
उत्तमी ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं होगी । योग करके प्राप्त हुआ भी जाय, जो उसको उत्तम पुन कोही प्राप्त होने वही
जन्म पुन स्वर्गमें वह बहुत समय भिक्त करेगा और पश्चात् योग्य जन्ममें पवित्र वाचाक्याके श्रीमात् साधकपुत्र
पुनजन्मोंके दर जन्म काय जो कि जन्मही दुर्लभ है । इस तरह जन्म प्राप्त होनेपर पूर्व योगाभ्यासके कारण पूर्वदेही जन्म
सेपकार उसकी बुद्धिमें संकल्पित होने हैं और वह वहासे जागेकी साधना करने लगता है । पूर्वजन्मके सेपकारोंके कारण
वह स्वर्गही योगसाधनमें रुचि करता है । कभी बड़ा वह योगी जाने करने योग्य प्राकयमें स्वर्ग जीवा जाता है । अतएव,
एव जन्मका किवा हुआ साधन जन्मके जन्ममें जाता है और उससे जागेका जन्म वह जाकय करने, लगता है । योगसाधन
का पुनर्पण करनेका ह्मपुत्र और वैयक जन्मप्राप्त जन्मप्राप्त जन्ममें पुनर्पण योगी कई गुना भव है । क्योंकि वह पुन
पुन करता है और जन्मका जन्म उसे मिलताही है । वहासे जागेकी साधना वह पुन जन्ममें करता है उन्ने जन्मका पित
पुत्र होता है वह पत्नीमें पुन होकर परिश्रुय पनना हुआ अनेक जन्मोंके योगसाधनमें इस तरह वह भिद स्वर्ग है
और जन्ममें माही सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ४०—४५ ॥

इसका अर्थात् जीवन मनुष्यका है, परंतु मनुष्य अज्ञानक कारण मानता है कि इस एक देहके अंगसे मनुष्यत्वही अपना जीवन है। जैसे कोई समझ कि आधुनिक विज्ञापक ही जीवन है तो इसकी किसी सूक्ष्म होती। वैसीही सूक्ष्म एक देहके अंगसे मनुष्यत्वही जीवन है ऐसा माननेमें है। मनुष्यत्व अंग तो जब वह इस संसारचक्रमें सबसे प्रथम जाया उस हुआ है और इसकी पूर्णता तक होगी जब इसका प्रसंगी स्थिति प्राप्त होगी। इसकी श्वात्सु जो कभी होगी नहीं। परंतु वह सदा श्वात्सु ही रहता रहता है। वह वह एक-क जात्राके अंतर्गत होता है। वह देहके वासकोही अपना वास मानता है और उससे रहता रहता है।

जन्म-सूर्यपुका सञ्च

सूर्य करीब सूर्य करीब और कारण-करीब ऐसे इसके बीच करीब होते हैं। सूर्य करीबका जन्म होता है और वाक भी होता है। परंतु जन्म और श्वात्सु केवक सूर्य करीबका ही है इसके साथ सूर्य देहका कोई संबंध नहीं होता। सूर्य करीबकी भी उत्पत्ति और विनाश होता है। वह सूर्य करीब की वैसा ही भिन्न है, वैसा सूर्य करीब। वे दोनों करीब अपने और विपरीत होते हैं। इस जीवन और एक कारण करीब है वह सुख निकलने तक रहता है।

असह जीवन

करा यतने अनेक करीबके जन्म और विनाश होते हैं ऐसा कहा वह सूर्य जीवन सूर्य करीबके जन्म और विनाश हैं। परंतु मनुष्यका जन्म करीब सुखितक इसके पान रहता है इसीमें सब संस्कार रहते हैं। जो प्रकृता मानकी जीवन है जो जीवन सबको जन्म श्वात्सु जोड़ेकर भी संबंध रहता है वही इसके कारण-करीबका जीवन है। और वही सत्ता मानकी जीवन है जिसका प्रत्येक मनुष्यको विशेष विचार करना चाहिये। सूर्य करीबमें जो कुछ हुआ प्रथम किता जाता है वह संस्कारकर्मों के ही संपूर्ण होता है। कोई विचार अथवा मन्त्रा जाया भी मनुष्य करता है उसका दुरा वा मया प्रमाण इष्टकर रहता है। मांभो मनुष्यत्व प्रथम दुरा मया प्रतिबद्धा सूर्य कर्मों रहता है। इसीप्रकार मनुष्यको कर्मों है कि उसके विचार-उत्पत्ति काकारमें दुरा प्रतिबद्धा रहे। किसी भी समय अवधिबद्धा न

है क्योंकि जिसकी अवधिबद्धा की जायगी उसकी किसी भी किसी समय योहीही रहगी।

इसप्रकार ही कहा है जन्म कर्म अनेकका कभी वाकको प्राप्त नहीं होता है। योगसाधक कायैकता साधक यदि सिद्धि प्राप्त होके पूर्व मर कुछ हो दुरा संपूर्ण संस्कार उसके इस कारण-इसमें संपूर्ण रहते हैं, सूर्य सूर्य सूर्यके विनाशके उसमें कोई कर्म नहीं होता। वही अपने जीवनका रहस्य है। इसी प्रकार इस प्रकृति कायैकता साधक कभी अपने सूर्य देहकी मुक्तिके किने प्रथम धर्मका दिव्येष्ट नहीं करता कर्मों तक धर्मकी रहते किने अपने सूर्य देहका वाक होनेका प्रथम जानेकर वह समय वह धर्मके साथ सूर्य देहका अपना करता है। जो कि सूर्य देह नाशको प्राप्त होता ही है। जो संबंध रहे वाका देह है वह इससे भिन्न है।

असह भी सिद्ध वाकके किने दुरा वा वह इस सूर्य देहका वाक वा। जीवनके संबंध जीवनमें इस देहका सत्ता एक विचारता है। जीवनके संपूर्ण संबंध जीवनकी क्षमता ही इस सूर्य देहके कारण होने कर्मों से सत्ता क्षमता क्षमता इस विचारता जीवनवाकके इस सूर्य देहकी रक्षा करेगा। मया मयावात् अर्जुनको वही सुचित करते हैं कि 'ये वही'। ए यदि योगसाधकका जन्म कर्म करेगा तो उसका वाक कभी नहीं होता। इस सूर्य देहके जीवनके किने दुरा संबंध जीवनका विचारता मया कर। जन्म इसी सूर्य देह का जीवन एवं जीवन है ऐसा मानना वही मया और वही अज्ञान है।

योगप्रसङ्गकी गति

योगसाधकका कार्यकर्म करते हुए श्वात्सु तो वाक तो कर्म बना होगा इस संबंधकी विचारिके किने योगप्रसङ्गकी गति कैसी होती है इसका स्पष्ट निर्देश अथवा करते हैं। (पुण्यकर्मा अनेकान् प्राप्य) वे योगके निश्चित हुए साधक इस सूर्य देहके नाशके वजात् ऐसे वजात्कर्म जोकोई वाते हैं कि वही पुण्य कर्म करनेवाले योग रहते हैं और अपने पुण्य कर्मोंका फल जीते हैं। वे देवें जन्म जोकोई जन्म विनाश करते हैं। वही वहुचक्र (छात्रवर्ती सत्ता कर्मिता) वही वहुचक्र प्रथम रहकर फिर अनेक मार्ग वाकमन करके किने इस कर्मयोगमें नवीन रूप

परदेहमें जलतीं होते हैं ।

यहां इस पुण्य कोकर्मों के कितने समान रहते हैं इसका परीक्षण करना अत्यंत ही है । क्यों कि जैसा जिसका सुकृत होगा वैसा उसका बड़ा विनाश हो सकता है । (स्त्रीण पुण्ये मर्त्यलोके विद्यन्ति) पुण्यसंचय समाप्त होतेही इस मर्त्यलोकी नरयोनिमें जन्म केबाही पड़ता है । यहां 'जायतीः समाः' सम्पद है । जन्मसमयका कार्य सदाके किये देया होता है । परंतु यहाँ सदाके किये देया कार्य जमीन नहीं है । जायत जन्मका कार्य और दूसरा कुछ भी नहीं है । यदि चिरकाक बहाही रहना होगा तो पुनरावर्तन नहीं हो सकता और यदि पुनर्जन्म भोगना है तो यहां चिरकाक विनाश नहीं हो सकता । वह बारणिक शास्त्रोंके किये 'जायतीः समाः का कार्य समी मान्य और टीकाकारोंने बहुत कार्य' देना किया है । परंतु 'जायत जन्मका कार्य 'बहुत' देया होता है इस विषयमें प्रमाण नहीं है । सभी कोषकार इसका कार्य 'जन्म' देका करते हैं । अतः इस (शास्त्रातीः समाः) का कविक विचार करना उचित है । उपविश्वेति और नीचमें यह शब्द जाया है वह प्रयोग अब दक्षिणे । प्रथमता जायते विषयमें जायत शब्दका प्रयोग देखिये—

मन्त्रो मित्या शास्त्रतोऽप्युपराजो

(कठ उ १।१५ गीता, १।१)

खिरः शास्त्रतः । (वैश्व उ १।३)

शास्त्रतः शिवमच्युतम् । (महाभारत १।१३)

शास्त्रतः शास्त्र सहाधियम् । (उ १. ५१)

शास्त्रतः सै पुत्रार्थः । (अ खिर ५)

शास्त्रतेन सै पुत्रायेन अर्जुनः । (अ वि ५)

अथ शास्त्रतम् । (नाट १५)

शास्त्रतः इत्यमच्युतम् (केनो ६)

कृष्णो ब्रह्म शास्त्रतम् । (कृष्ण उ १३)

पुरुष शास्त्रतः विष्णुम् । (गीता १।१२)

त्वमध्ययः शास्त्रतधर्मयोगी । (गीता १।१५८)

शास्त्रतया च धर्मस्य । (गीता १।१५७)

शास्त्रतः परमध्ययम् । (गीता १।१५९)

स्वार्थं मायसि शास्त्रतम् ॥ (गीता १।१६२)

इय उपविश्वेति और उपविश्वेति कथनोंका प्रतीकके

पर जायत है कि— अथ परमात्म्या पुनश्च शिव सहाधिय

५० (हि. गी.)

कृष्ण कार्य परमपद् परम स्थाव यद् सव जायत है । (स्वाम्य रत्नाय चाहिये कि यहाँका सहाधिय कृष्ण जादि जन्म प्रयोग परमात्मपरक है ।) यहाँ जायत पदका कार्य सदा हमेशा चिरकाक अनंत काळ ऐसाही है । परंतु यह कार्य पूर्वोक्त गीताके शास्त्रातीः समाः पदोंमें नहीं है, क्यों कि जो योगसूत्रकी बीचकी लक्षणा है वह चिरकाकिक नहीं हो सकती । इससे तो वापस आकर 'इय मायको जायेका कार्य चकना होता है । अस्तु । अतः जन्म चकनेमें जो जायत शब्दका प्रयोग हुआ है उसका विचार करेंगे । प्रथम वे चकन देखिये—

स लोकमागच्छति मद्योकमहिम् तस्मिन्वसति

शास्त्रातीः समाः ॥ (उ उ ५।११)

अर्थात्सहस्रशास्त्रात्मनीत्यः समात्म्याः (ईह उ ८)

तेषां सुख शास्त्रतः नेतरेषाम् ॥ (कठ उ ५।१२)

ये उ ६।१२)

तेषां शास्त्रिः शास्त्राती नेतरेषाम् (कठ उ ५।१२ ;

प्रस ३)

कुक्षधर्माश्च शास्त्रातारः ॥ (गीता १।१३)

शुक्लकृष्ण्ये गती द्वौते जगतः शास्त्रतः मतं ॥

(गीता ६।१६)

इय चकनेमें कर्तव्योंमें जायत शब्दका कार्य जगत काळ देसा है और कई चकनेमें बहुत समय इतनाही उत्पन्न है । इसलिये इतने चकन देखनेपर भी इसका कार्य निश्चय करनेमें कोई निःशङ्केह प्रमाण नहीं मिला ।

आजकल ईश्वर और मोहमदीन मतान्तरोंकी जोय मानते हैं कि देहकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् चकनी जायता सदाके किये रहती है और कथामयका शिव वह जाता है तब अब चकनेमें प्रथम जोग करते हैं परमेश्वर चकना पश्यपुण्य देखा है और पश्चात् चकनी योगमयके अनुसार स्वर्ग या नरक नियन्त्रणके चकनो मिकता है । इस मतमें सदाके किये नियति होती है देसा जो जमीन है उसका कारण ब्रह्म उपनिषद् और गीताके चकनेमें जायत पदका प्रयोग किया है, यद्यपि अनुवाद करनेवालेके पदार्थों उसका कार्य बहुतछन्द और अर्थतकाक हमेंसे हीनता केना चाहिये इसका टीक निश्चय नहीं हुआ । यदि वह निश्चय

तर्पास्वम्याऽधिको योगी ज्ञानिम्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिम्यथाधिको योगी तस्माद्योगी मयार्त्तन ४६
यामिनामपि सर्वेषां मद्भवेनान्तरात्मना । अन्त्यानात्मन्यते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इतः श्रीमद्भगवत्गीतासु निरवसु सदाविद्यायां श्रीकृष्णसुखसंवात् ध्यात्वा योगो नाम ब्रह्मेऽध्यासः ॥ १ ॥

पूर्वसंस्कारोंकी प्राप्ति

इस प्रकार विनिश्चयारी कोमिथोके वर्यो कम्मा हुआ बाक्य बाक्यवत् ही पाठ्य बाक्य निष्पत्तिमें बचता है। यह फल करनेके लिये उचित सामान्य दृष्टि कोई बह्युत्तर निष्पत्ति बाक्य बाक्य रहता नहीं। पूर्वजन्मके सब योगसाधनके संस्कार उसके धारण-देवमें समशील होचकी हैं। यारों बाक्ये विनिश्चय बलावरणसे वे पूर्वसंस्कार जाना उठते हैं और वह बाक्यका साधन करनेके लिये प्रवृत्त होता है। किसी किसी समय इसकी परिस्थिति बात प्रकारकी हो जाने पर भी बाक्यविकार उत्ते कोमसाधनकी आर लीचत है और वह परब्रह्मका होकर योगसाधनमें निष्ठा पका जाता है और बाक्यविकार परिब्रह्मका होनेके कारण उसकी मगति सब साधनमें बातेकीम होती है। किसी तरह फलान्त न होनेके कारण वह सबहीमें भिक्षिको प्राप्त करता है। इस फलतः योगसाधन की व्यवस्था बड़ी उचित होती है।

कई लोग कर्मवत्त अर्थात् साधन करनेमें बड़ेही चतुर होते हैं (शास्त्रज्ञानि निष्पत्तिः) ऐसे कर्मवत्तोंकी कोम यति कर्ममें बड़े चतुर समझे जाते हैं। तथापि उनका पाठ्य कर्म कर्मोंको बर्तव्य ही होता है। इससे कई गुना (योगस्य सिद्धांतः शास्त्रज्ञानि मति वर्तते) योग साधनमें निष्पत्ति रक्षनेवाका ज्ञेय होता है। फिर योगसाधन करनेवाले के लो उसके ज्ञेय होनेमें कोई बाधा नहीं। केवल कर्मवत्तोंके धनवत्तान्तर बाक्य प्रवृत्तका है। इसमें संशय नहीं है। जेहा कर्मवत्तान्तर कीरती विनिश्चय होती है। इतना कर्मवत्तान्तर किसीको है परंतु वह कभी स्वाय नहीं करता जब तक ज्ञानसे क्या काम हो सकता है ? परन्तु यदि कोई कर्मवत्तान्तरके सब गुण नहीं जानता परन्तु विनिश्चय स्वाय करता है तो वह स्वाय करनेवाका केवल सामान्य गुण बाक्यवालेसे कई गुना अधिक भिन्न है। क्योंकि वह बाधन करता है। इस कारण योगके आधिक्य ज्ञान की अपेक्षा बाक्य बाधन अधिक काम बाधक होता है।

सिद्धिकाम

पूर्व जन्मके संस्कारोंसे वह योगी उचित परिस्थितिमें कर्म लेकर उसी परिस्थितिमें पका बाक्य स्वाभावमूल से ही योगसाधनमें उत्तर हो जाता है। (प्रयत्नात् पत प्राप्तिः) प्रयत्न करता हुआ वह योगी कर्म (संशुद्ध किंचिदपि) सब पाव भोकर अतिशुद्ध बनकर (अन्तः-कर्म-संशुद्धः) अनेक जन्मोंसे अपना ब्रह्मति करता हुआ सिद्ध बनकर (परां गतिं याति) परम गतिका प्राप्त करता है। यद्यपि को मनुष्यजन्मका साधन है वह उसे प्राप्त होता है अथवा वह कृतकृत्य बनता है। वह परम उचित स्थिति है वही वांछी स्थिति है। मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त होनेके लियेही इस संसारमें जाता है, वह स्थिति उसको इस तरह प्राप्त होती है। एकही जन्ममें सिद्ध प्राप्त होती यदि वह वैराग्य बाधन किसी कामका नहीं है। प्रयत्न करता साधनके लक्ष्य है। ज्ञानः साधन प्रयत्न के सिद्धि इस जन्ममें वही किसी लो दूसरे जन्ममें बहव्य निष्पत्ति। स्वरूप इस बाक्य रक्षना चाहिये कि—

न हि कस्याप्यहंकारसिद्धिर्नास्ति तात गच्छति ॥

(गीता १७)

“ कोई शुद्ध कर्म करनेवाका मनुष्य उसी दुर्गतिको प्राप्त नहीं हो सकता। इस परमेश्वरके आदेशका स्वरूप रक्षकर मनुष्य अपना योगसाधन करे। किन्तु समय कबता है इसका निश्चय साधक न करे क्योंकि पीछमें कहा है— स्वयंप्रमाणस्य धर्मस्य वापत महतो मयात् । १४० बह्नां जन्मसामान्ये ज्ञानवाग्नां प्रपद्यते ॥ ७११ ज्ञानकर्मस्य संशुद्धिस्ततो याति परां पतिम् ॥ ११४१

इस तरह अनेक जन्मोंके संस्कार जायेंगे हैं। इनके ज्ञान को अपना कर्मवत्त होगा अथवा कभी तरह गुण हीलिये निमाणा चाहिये। तब बाक्य अन्तमें सिद्धि बहव्य होती है। जीवता करनेके कोई निश्चय काम नहीं होता। योगसाधन करवाही अपना उद्देश्य बहव्य चाहिये क्योंकि सब साधनमें वही साधन ज्ञेय है, इस निश्चयमें साधनके उद्देश्यी बहव्य देखिये—

शब्दार्थः— योगी उपरिचिन्त्योऽभिविक्तः श्रोत्रिणः अपि च ज्ञेयः सदा योगी कर्मिणः च भविष्य, उत्तमः च भवतु । त्वं योगी भव ॥ ३६ ॥ सर्वेषां भवि योगिनां वा जज्ञावात्, मनुजैश्च अन्तरात्मना मां भजते सा, मे युक्तता मता ॥ ३७ ॥

योगी उपरिचिन्त्योऽभिविक्तः श्रोत्रिणः अपि च ज्ञेयः सदा योगी कर्म करनेवालोंच श्री भविष्य है इसलिये हे भर्तृन् १ तू योगी हो ॥ ३६ ॥ सबही योगियोंमें जो अज्ञावात् मुझमें अपने अन्तरात्मा को लगाकर मुझ भजता है, वह मुझ सबसे अधिक मान्य है ॥ ३७ ॥

भाषार्थ— उपरि चिन्त्योऽभिविक्तः श्रोत्रिणः अपि च ज्ञेयः सदा योगी कर्म करनेवाला मनुज योगी बने । इस सब योगियोंमें श्री को अपना अन्तःकरण परमेश्वरमें एकनिष्ठता लगाया है और ज्ञाते भक्ति करता है, वह योगी भक्त ईश्वरको अधिक भिन्न होता है अर्थात् वही योग परम गति प्राप्त करता है ॥ ३६ ३७ ॥

(३६-३७) पूर्व स्वाध्याय में कहा कि शुभ कर्म करनेवाला योगी कभी वह नहीं होता । शुभ कर्म अनेक हैं— जैसे कि उप करवा, शाकाश्रय करके ज्ञान उपपादन करना, शास्त्रिक कर्म करवा योगसाधन करना और भक्ति करना आदि सब मार्ग हैं । इसमें कौनसा मार्ग उचित है अधिक लाभकारी है भिन्नभिन्न दिन करनेवाला है ऐसी शक्य नहीं हो सकती है । इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि उपरिचिन्त्यो योगी ज्ञेय है । जो इससे हीत उचित सहन करता उपवास करना भूतपाप भोग्यापन आदि करता है और इस प्रकारके उपका अनुष्ठान करते हैं, इन उपरिचिन्त्यो योगमार्ग अधिक अच्छा है ।

दुसरे शाली हैं, अन्तरात्ममें विष्णुवात् (शब्दब्रह्मविष्णुवात् । अ. वि. १० मैत्री १.१९) अर्थात् आदिभक्त शाली चतुर स्वाध्याय ऐसे प्रवचन करने शास्त्राचार्य करनेमें बड़े निपुण जो होते हैं, जिनका अन्तःकरण सुखकर सुखनेवालोंको संशोध होता है वरन् अनुभवका ज्ञान जिनके पास नहीं होता वे अज्ञानावस्था में बड़ी बड़ी शक्ति विद्यमान हैं । इसके पूर्वके श्लोकमें कहा है ।

विज्ञासुखे योगस्य शब्दब्रह्मविष्णुवात् ।

योगका विज्ञासु अन्तःकाशीकी अवस्था बहुत अच्छा है वही वाच वही (ज्ञानिष्ठः अपि भविष्यः योगी) ज्ञानियोंमें योगी अधिक है इस वाचमें कहा है । आदिभक्त आदिभक्त कुछ विशेष लाभका नहीं है । इसके साथ प्रभावका बीजक भविष्य है ।

कर्ममार्गों को ज्ञानमार्गों के समान हीत कर्म करते हैं वे कुछ भी उपपत्ति नहीं पाते । इसलिये (अष्टाध्यायिगीता) प्रमाण पद्याध्याः ॥ ३६ ॥ १.१५) कर्मोंके भीत ज्ञानमार्ग

अन्तःकाशी उपपत्तिमार्गोंमें इस कर्मोंको ही है । इसके योगी अच्छा है क्योंकि वह जो करता है वह उसे बीजकपक्षमें और समतामात्र करता है । इसलिये कर्मोंमें योगी अधिक श्रेष्ठ है ।

इस तरह इससे उप करनेवालों ज्ञानमार्गों प्रभाव 'शास्त्राचार्य' (या वेदवाच्य) के समानताओं और कर्मवर्तियोंमें योगी अधिक श्रेष्ठ है ऐसा नहीं कहा । वही वाच वही ज्ञानी अन्तः उपरिचिन्त्यो और कर्मों इसके उत्तरमें वही होनेके कारण इसके अन्तःचिन्त्यो ज्ञानमार्गोंका वाचक नहीं है केवल शास्त्राचार्य ज्ञान शास्त्राचार्य केवल आदिभक्त शाली वाचक है । जिसकी मित्रा इसके एव वेदवाच्य (गी. १.३९) शब्दब्रह्मविष्णुवात् (गी. १.३७), इत्यादि स्वकीयों की है । इसी उपरिचिन्त्यो और कर्मोंमें वही अन्तःकाशीका वाचक है । ज्ञानमार्गोंमें तो अतिप्रमत्त शाली स्थिति है । क्योंकि कर्म योग आदिसे वह अतिप्रमत्त ज्ञान होता है और इसलिये वह ज्ञान योगसे कनिष्ठ नहीं हो सकता । जो ज्ञान योगसे कनिष्ठ है वह आदिभक्त ज्ञानी है । इस विषयमें आदिभक्त उपरिचिन्त्यो ॥ ३७ ॥ में शालीमार्गों अन्तःकाशीमार्गोंका वाचक है । वह देखने योग्य है । वाचक समानतामात्र अज्ञानमार्गोंका वाचक नहीं होता कि मैंने वेद और वाच धर्म पढ़े हैं अब मुझे ज्ञानका उपपत्ति आयेगी । फिर जल समुद्रमें नदीको उपपत्ति रिसाफि वह वेदवाच्यके आदिभक्त ज्ञानकी एक अवस्था है और समुद्रके उपपत्तिद्वारा वाच होनेवाले अज्ञानमार्गोंका अवस्था वही कनिष्ठ है ऐसा स्पष्ट होता है । वही वाच वही शाली है ।

अब रही एक शक्यता वह यह है कि भविष्यो और कर्मों में काय अच्छा है । इसका उत्तर इसी अन्तःकाशीके अन्तिम

कर्मों को कि जो ईश्वरको समीप हों । ईश्वरके समीप जाने कोचले हैं । इस प्रकार उक्त यह है कि—

पारबाधाय साधूनां विनाशाय च युष्मदाय ।

धर्मसंस्थापनार्थाय स्वयमाप्तिं युग युगे ॥ (गी. ४८)

(१) साधुओंका परिनाश (२) दुष्टोंका विनाश और (३) धर्मकी स्थापना व तीव्र कर्म करनेवाले हैं इस कर्मोंके किये परमेश्वरका नामवार व्यवसाय कारण करता रहता है हमारे मनुके के कम विज्ञित हैं । यदि किसी मनुको परमेश्वरकी सेवा करनी हो तो वह इस कर्मोंको करे इस कर्मोंको बतवडी लपेटा व करके करे । संक्षेपसे वहाँ संपूर्ण भवत योगी क कार्यक्रमका पता लगा । यह इस प्रकार है—

१ भवत अपने सबसे ईश्वरकी महाशक्तिको स्थापन करे भवको इस महाशक्तिके प्रतिद्वन्द्व को इसको ओहकर अपने दूसरे विचार न रहे ।

२ इस महाशक्तिपर सब विचार छोड़े । कभी अस्विकारी न करे ।

३ अपने मनुके कार्य सम्बन्धोंका परिपाकन दुष्टोंका विनाश और साधुधर्मकी स्थापना के बीच हैं देखा गये । व कार्य बखूबी हफ्ता न करता हुआ ईश्वरकी संपुष्टिके कियेही करता रहे ।

४ के तीव्र कर्म अपने प्रकटका (योगी कर्मसु कोशक) करे । इन कर्मोंकी करनेमें किसी प्रकार दुर्लभ्य अवका मिलिकता न करे ।

५ और-उच्च शक्ति-काम आदि इनका उपलब्ध होवेपर ही उन इनकी उच्च साधक पूर्णतः तीव्र कर्म करतवाले करे ।

६ कम्य क्रोध कोम मोह मद मादर आदि लघुबलिके लक्षमें शकर बलत कठिन व मोह बलित इस लघुबलिके प्राप्त करने अपने कर्तव्य करता रहे ।

योगी भवत अवका भवत योगी के कर्म करता है

यात्र के कर्म मनुके किये अवतल समीप होनेके मनु इतर लक्ष्य लघुबल होता है । स्वाधीन किये कोशिक कर्म हैं उच्च को लपटवाले करता है कष्टपर स्वामी लघुबल होता है वही बल नहीं करी है । मनुके कर्म नहीं हैं, अवस्थितमें उच्च महाभारत आदिमें वही कर्म मनुके हैं एता स्थाव स्थावर कहा है । धर्मग्रीष्ममें अपने वही कर्म हैं देवी योग्य लक्ष कर्मोंमें इसकिय की है की मनुको छोड़ व हो और उच्च कर्म चाहिये और वही करना चाहिये इस विषय विचार उल्लेख व हो इसकिये मनुके स्वय पूर्णतः कर्मों योग्य की है । इसके सिद्ध है कि (१) सम्मत् लक्ष, (२) दुष्ट-विनाश और (३) धर्मस्थापना व तीव्र कर्म मनुके सिद्ध हैं और (१) सम्मत्को कर्म देता (२) दुष्टोंकी उद्धारणा करना और (३) धर्मकी व व्यवस्था करना के तीव्र कर्म बलित हैं । मनुका जो कर्म सिद्ध हैं वे ही करने चाहिये और जो बलकी बलित हैं वे ही करने चाहिये । भक्त योगीके कर्तव्य कोचले हैं और कर्मलक्ष कोचले हैं इसका सिद्धि विद्वेक इस प्रकार वही हुआ है ।

इस तरहका भक्त योगी कृष्ण (युद्धरामो मठा) कर्म करी मात्त दे देता जो वही कहा है उल्लेख रहन वही पाठके उपायों कोचली होना । इस तरहका स्वर्णवक किये स्वाधीन करिय होना । और देके लेखक वाम कम मनु कर्म व कलावता ।

प्राक्के कर्तव्य विज्ञित कर्म वे हैं । परंतु मनुके कर्म लक्षक नामका कारणर व्यवहार करनेवाला और दूसरा लक्ष जी व करनेवाला देके लक्ष्य गये हैं । वह लक्ष्य इस कर्मका दूरव है । इस कर्मकी कर्म लक्षमें देवी एक लक्ष्य देके नहीं है कि पलत किन्तु लक्ष्य लक्ष्य है परंतु पूर्णतः विद्वेक देखा जाय तो भवत योगी लक्ष्य लक्षिक उपयोगी है और लक्ष्यका लक्ष्य देता व लक्ष्य है । परे योगी पलत लक्ष्यकी ओर होते हैं । और देही लक्ष्यका लक्ष्य करनेमें समर्थ होते हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतगीताकी उपनिषदों किये लक्ष्यविषयों विविध हुए

धर्मशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और मनुके लक्ष्यों ध्यानयोग नामक

यह अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायका थोडासा मनन

ध्यान-योग

इस श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायमें ध्यानयोगका विचार किया है। और व्याख्येय यह योगसाधनका उत्कर्षा योगी है। यह योगी इस छठे अध्यायमें कहा गया है। इस योगके नाम आठ हैं—

यम-नियम आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ १९ ॥
तद्वाहिंसासत्यास्तेयमद्वयपरिग्रहा यमाः ॥ १० ॥ शौच-सतोष-तपः-स्वाध्यायेश्वर
प्रणिपादानि नियमाः ॥ ११ ॥ स्थिरसुखमास
नम् ॥ २१ ॥ तस्मिन्सति आसप्रव्यासयोगीति
विन्देत् ॥ प्राणापामाः ॥ ४७ ॥ सत्यविषयाहंममो
मे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्या
हारः ॥ ४८ ॥ देशैष्यक्षित्तस्य धारणा ॥ २ ॥ तत्र
प्रत्यक्षतावता ध्यानम् ॥ १ ॥ तदेवार्थमात्र
निर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ १ ॥
अयमेकत्र संशयः ॥ ४८ ॥ (योगवर्षण) (पा २१३४)

इस योगवर्षणके सूत्रमें योगके आठ अंगोंका स्वरूप
कहना कहा है। (१) अहिंसा, असत्य, अस्तेय, महाकर्ष और
अहंमह ने पांच यम हैं, (२) पवित्रता, अतोष, तप
अभ्यसन और ईश्वरभक्ति ने पांच नियम हैं, (३) स्थिरता
से सुख देनेवाला आसन कहलाता है, (४) आस
और बन्धुवासी गतिका निरोध करनेका नाम प्राणायाम
है (५) अपने अपने विषयोंको छोड़कर चित्तमें ही ईंद्रि
योंके स्थिर होनेका नाम प्रत्याहार है, (६) किसीपर
विषयको स्थिर करनेका नाम धारणा है (७) बड़ा सुखता
का प्राप्ति करनेके ध्यान किद्ध होता है (८) बड़ा अपने
ध्यान कार्यको सुकृता और स्वतन्त्र के विषयकाही केवल भाग्य
होनेका नाम समाधि है। आठवां ध्यान और समाधि इन
योगोंकी अभिप्राय श्रितिका नाम अष्टम है।

योगके ये आठ अंग हैं। इनमेंसे साधने उपाय नामक
योगीका विचार इस छठे अध्यायमें किया गया है। यह योग
साधन वर्णा देखनेसे पाठकोंको इस बातका निश्चय होगा

कि इस अध्यायके ध्यानयोगका विचार करनेके समय इसके
पूर्वके छठों अंगोंका विचार होना चाहिये और ध्यानसे
किद्ध होनेवाले अस्मिन् समाधिमा भी बौद्धा विचार
करना चाहिये। इस तरह यह गीताका छठे अध्याय बहोत
योगकाही विचार करता है।

बड़ा पाठक सुझे कि गीतामें इस अध्याय योगका प्रकार
क्यों बताया है। इसके उत्तरमें निश्चय है कि ध्यायिकी
परम उक्ति करनेवाली योगविद्या है और भगवद्गीताका
स्वैय ध्यायिकी परम उक्ति है इसलिये बड़ा इस अध्याय
योगका साधन बताया है। वस्तुतः गीतामें यह योगसाधन
योगसाधनी कहा है विद्वत् साधनके किन्हे योगवर्षण, इह
योगवर्षणिका वेदवर्षणिका यदि प्रबंध देखने चाहिये।
परंतु गीतामें विवना योगका भाग कहा है उपाय हरएक
मनुष्यके किन्हे अलग-अलग भाग है। कोई साधक
योगका विषय साधन को वा न करे यह इसकी संमति
का प्रश्न होगा परंतु सर्व साधायनको गीतामें कहा योग
साधन या अभ्यसनमेव करना चाहिये। यमनियमादि योग-
साधन अविविधपणे भगवद्गीतामें कहा है अतः कोई बात
कोरी नहीं है। इसका सम्यक् विचार देखिये—

यमोंका साधन

अहिंसासत्यास्तेयमद्वयपरिग्रहा यमाः ॥

(पा २१३४)

अहिंसा सत्य अस्तेय महाकर्ष और अहंमह ने पांच यम
हैं। ये पांच यम मनुष्यको पावन करने चाहिये। इन
पांचोंके विषयमें गीताका क्या कथन है यह अब देखिये—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दामं यथोऽपश्य ॥

गी ११७४ अहिंसा क्षान्तिरार्जवमृ० गी ११७५

अहिंसा सत्यकोपस्त्यागः आतिरिप्युन्मृ० ॥

गी ११९११ महाकर्षमहिंसा च शरीर तप
हृष्यते। (गी १०१२४)

उपनिषद्में भी—

यत्तपो दानमार्जवमहिंसा०१ (गी ४ ११७५७)

स्मृतिर्द्वया सतिस्तरहिंसा० ॥ (गीता ५.४)
 अथान्यथासिद्धा व्यापारिग्रहो वा ॥ (भाष्येण ५.४)
 इस प्रकार उपनिषद्में भी जाहिसको व्यापारजीव
 बताया है। दूसरे गीतमें बचनेमें जाहिसा सब
 मन्त्रार्थ इस ही वमोका उपदेश है। अपरिमहक विषयमें
 गीतामें—

निराधीरपरिमहः । (गी ११.१) तेजो ५.३
 भाष्येण ५.३ वाक्य ५.५)

इस मन्त्रोंके द्वारा उपदेश दिया है। अपरिमहका अर्थ
 है मोमयावनोंका संग्रह करने पाछ न करना। मगव
 हीका तो वह निवचही शुद्ध है। भोगोंके विषयमें अलग
 रहनेका उपदेश गीतामें बहुत स्थापन करता है। किन्तु
 किचित् भीष बचनेमें भोगोंके विषयमें अलगमात्र धारण
 करनेका उपदेश निकल है—

तस्मात्सक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
 असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुण्यम् । (गी ११.५)
 कुर्याद्विप्रोऽस्वधासक्तश्चिक्छीर्षुर्लोक
 संग्रहम् । (गी ११.५) असक्तपुष्टिः सर्वत्र
 जितारामा विगतस्तुहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां
 संन्यासेवाधिगच्छति । (गी १६।१९) बाह्यस्य
 ह्यैवसक्तारामा विन्यत्यारमणि पाप्मुकम् । (गी
 ५।१९) असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रद्वारद्वयादिषु ।
 (गी १६।१९)

इस तरह अनेक स्थानोंमें भोगोंके विषयमें अलग मात्र
 धारण करनेका उपदेश गीतामें अनेक स्थानोंपर है। जो
 कर्ममनुषि धारण करनेका वह मोमसंग्रह करने पाछ कर्वा
 नहीं कर सकता। इस तरह इस कर्म के अन्वयमें अपरि
 ग्रह कर्मद्वारा इस असंग्रह वृत्तिही सूचना दी है और
 अन्वय असंग्रहवृत्ति उभी धारका वर्णन किया है। इस
 प्रकार जाहिसा, सब मन्त्रार्थ और अपरिमह इस धार
 वमोका वचन हमने गीतामें देखा अब इस अस्तेव के
 विषयमें देखा है तो अब देखिये—

तेर्हानामवापेयसो यो मुंके स्तेन एव सः ॥
 पक्षिपादाशितः सन्तो मुष्यन्ते सर्वकिद्विषयैः ।
 मुष्यन्ते ते त्वय पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
 (गी ११.१३)

जो हान किये बिना भोग करता है वह चोर है जो
 पक्षमें पाप करते अक्षयिधन भोग करता है वह निवच
 होता है परंतु जो हान किये बिना भोग भोगते हैं वे महा-
 पापी होते हैं। इस तरह हान परोपकार आदि न करने
 बाहोंको चोर स्तेन आदि प्रकार निम्नजीव कर्म करे हैं
 इससे अस्तेवके विषयमें गीतामें इस मन्त्र प्रकारमें कहा
 है ऐसा कह सकते हैं। गीतामें जो हान भोगो वमोके विष
 यमें कहा है वह नहीं है। अब पांच विषयोंके विषयमें
 गीतामें क्या उपदेश आता है सो देखिये—

१ नियमोंका साधन
 शौचसंतोषतपःआभ्यासेभ्यस्तपश्चिन्तानावि
 नियमाः ॥ (बो ५.११३)
 पवित्रता संतोष तप स्वाभ्यास ईश्वरार्थि के ही
 विषय हैं बर्बाद इस नियमोंका अन्वयमें धारण
 करना चाहिये। इनके विषयमें गीता और उपनिषद्में
 क्या कहा है सो देखिये—

शुद्धताके विषयमें
 स्वानं दानं तथा शौचम् । (भाष्य ५.१, ५.२, ५.३)
 शौचमिन्द्रियप्रसिद्धः । (स्कंद ५.१९)
 आचार्योपासनं शौचम् । (गीता १६।७)
 तपः क्षमा धृतिः शौचम् । (गीता १६।१३)
 शौचमाश्रयम् । (गीता १.११७)
 क्षमा क्षमस्तपः शौचम् । (गीता १६।१९)

संतोषके विषयमें—
 संतोष योधास्यासात् । (मेनु ०.११९)
 वृत्तिर्द्विधा संतोषः । (गने ५.५)
 सन्तुष्टः सततं योगी । (गीता ११।१७)
 सन्तुष्टो येन केनचित् । (गी ११।१९)
 आरामभ्येन च सन्तुष्टः । (गीता ११।१७)

तपके विषयमें—
 स्वाभ्यासस्तप आश्रयम् । (गी ११।१)
 यज्ञस्तपस्तथा ह्यनम् । (गी १५।१)
 शारीर आश्रयः—मानस तप । (गी १०।१७)
 क्षमोत्तमस्तपः शौचम् । (गी १६।१९)
 तस्यै तपो ब्रह्म कर्मेति प्रसिद्धाः । (केन १३)
 तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्म । (ते ४।१।१)

तपसा प्राप्यते सर्वम् । (मै ४ ३३)

तपसापहृतपाप्मा । (मै ४ वा १)

तपसा जीपते ब्रह्म । (धृष्ट १११८)

सम्यक्त्वपक्षा द्वेव आत्मा । (सुख ३।१।५)

प्रथमं तपः सत्यं तपः । (महाभा ६।१)

स्वाध्यायके विषयमें

स्वाध्यायात्मा प्रमदः ।, वै क १११११)

ह्याध्यायप्रवचनार्थं न प्रमदितव्यम् ॥

(ਚੈ ਕ ੧੧੧੧)

स्वाध्यायाम्यसन्नं वैष वाङ्मयं तपः ।

(ਜੀ ੧੪)

स्वाध्यायशालयकाञ्च । (गी ५२८)

ईश्वरप्रणिधानके विषयमें

सम सर्वेषु तिष्ठन्तं परमेष्ठिनं । (गी १३।१७)

हृदय तरङ्ग गीतमें और अविवर्धनोंमें हम पाँच निवेदोंके निवेदनमें कहा है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। दोन हार्मोनमें ये धम और निचम उप निवेदोंके तथा गीतके स्थित हैं। हम प्रयोगों को धम और निचम विचारे हुए ये कवको पर्यन्तकित दो स्थानों पर दिवा है। इस तरह गीतमें स्थानान्तरणपर धमनिचमोंका उपदेष्ट है। यह बात इस प्रभावयोगका अभ्यास करनेवाले पाठकोंको सूची नहीं चाहिये।

यमनिबन्धन क्या है? ऐसा प्रश्न बहो कोही कर सकता है। इससे उत्तरमें बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु बहो विद्वान् इसे कहनेकी कोही भावनाकरता नहीं। मनुष्यका वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जीवन किसे प्रभावित होना चाहिये इसका विचार समन्वितमें ही होता है।

अनुपम हृदयों के साथ जायाजान करने के लक्षण जोड़ियेक
हृदि धाम के सम पावन करे जोरी न करे अछापर
पावन कर अर्थात् स्वमिषादि न करे और भोगोंका
प्रसंग अपने पास करके हृदयोंको भूका रखनेका हेतु न
करे। इस पाँच धृष्टताओंकी अनुपम करने समर्थ धाम
के जो अनुपमा अपना जायाजान करे।

अब प्रशिक्षण व्यवहार करनेके समय पाँच विषयोंको ध्यानमें धारण करे। स्वयं वक्षित रहे और अपना स्वयं वक्षित रहे अपनेमें प्रयोगको शिखर रहे कभी अस्मृत

१८ (वि. मी)

म रहे बीतीप्य सहज करनेका जम्पास बसने बिचारबपन
करके जाकरपानुन करे और ईश्वर मक्ति करे । वैश्विक
जाचार स्वयंकारके किने ये बलम हैं । इनसे मनुष्यकी
और समाजकी बिम्बेदु बक्ति होती रहेगी ।

आसन्नोष्ण अभ्यास

स्थिरसुखमाखनम् । (बो ४ २।४६)

बिससे स्थिरतापूर्णक सुख प्राप्त होता है यह आत्म कदाता है। नर्वाण आत्मके सम्मानसे शरीरके सुखोंमें एक उत्पन्न होता है और सुख होता है। इसको आत्मोपका सुख कहे हैं। आत्मनोंके विषयमें मगधश्रीधरमें कुछ विशेष वर्णन नहीं है। क्योंकि इसमें केवल एकाधिक विषय आत्मत्वक आत्मकता ही वर्णन है। आत्मत्वके विषये सम्मान्य आत्मन कहे आत्मत्वक हैं उनका वर्णन यहां कार्मेडी आत्मकता नहीं है।

शुद्धी देशे प्रसिद्धाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नास्युच्छिन्नं नातिनीचं शैलाग्निमकुशोत्तरम् । ११

तत्रैवार्थं मतः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

अपविद्यासने पुण्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ११ ॥

समं कायशिरोप्रीदं चारयन्महं स्थिरः ।

मम संपत्त्य मण्डितो धुक् मासीत् मत्परा ॥१३॥

शीघे सरक नीर पवित्र स्वागवर अपना स्थिर भासन
 करमा उचित है। हर्भासनपर कुम्पावित नीर उतपर
 मोरी रक्कर कलम खुद मुकुवापी कृपा न हो नीर नीचा
 नीच न हो, ऐसा भासन बनाना काले। उस भासनपर
 मलक गनु नीर घरी समरेकर्मों धारण करते हुए अपना
 भासन स्थिर करवा कागमा नीर। नीर मन एकत्र करते
 सब हिमिनी की किरानों को बंध करके भासन निरोध करते
 ईश्वरपर विश्र कपाकर परमेश्वरकाही स्थापन करे। हम
 प्रकार यह स्वागवोगके किये मुकावम नबना इसी प्रकारका
 कोई भासन कागमा बनाना है। परन्तु जो भासन घरी
 स्वागवके किये काले होते हैं वे भासन हैं। कबका उठैल
 स्वागव प्रथम पाठक एक सकते हैं। जाननाभासने
 बजाए जानाभासका बन्धान करना यहिये—

प्राणायामका अभ्यास

तस्मिन्साते भ्वाभ्यश्चासयागतिविष्णुः।

प्राणाप्यास

(पौ ६ २१३९)

नाम और व्यवसायकी गति बंद करकेका नाम प्रान्ता नाम है। नाम और व्यवसायकी गतिको रोकनेसे भी स्वच्छता जाती है वह प्रान्ता नाम कहलाता है इस प्रान्ता नामके अनेक प्रकार हैं जो लोगके श्रेणीमें बड़े हैं। प्रान्ता-नाममें कुंमकका महत्व बहुतही है। कुंमकसे खरीरके रोम रंग छुट होते हैं और कर्मबद्ध होते हैं। वह काम लघुसे विद्याय महत्त्वका है। इसीके बीजानु और आरोप्य प्राप्त हो सकता है। इसके अन्य काम बहुत हैं अमका वर्जन करकेकी यही व्यवस्थाकता यही है। यीतामि मी (अ व स्त २९ और ३९ में) प्रान्ताप्रामका वर्जन है पाठक वह वर्जन यही देखें। इतनाही प्रान्ताप्रामका वर्जन गीतामें है।

यहाँ प्राणायामका अन्त्यार्थ हृदयस्थि कहा है कि प्राणायाममें प्राणकी चककटा हृदय जाती है और वह स्थिर हो जाता है। और प्राण स्थिर होसके मन स्थिर होता है, क्योंकि प्राण और मन दोनों परस्पर संबंधित हैं। भूमि ज्वालन योगका अनुष्ठान बताया है हृदयस्थि मनकी स्थिरता होती चाहिये। इसके साथ करनेके जो लक्ष्य बताये हैं उनमें प्राणायाम एक लक्ष्य महत्त्वपूर्ण बताया है। इसी दृष्टिकोण से ही हमें यह हो पार प्राणायामका उद्देश्य जाना है।

प्रत्याहारण बन्धास

स्वस्वविषयासम्बन्धे चित्तस्य स्वकपालुकार
इन्द्रियाणां प्रत्याहारः । (भो व २५४)

अपने अपने विषयोंमें इङ्गितोकी इतरकर अपने आप स्वयंकी ओर सबका अन्तर्मुख करनेका काम करना चाहते हैं। संपूर्ण इङ्गित विषयोंकी ओर आते हैं वह स्वभाववर्त्म है। अतः इस मनुषिमें रोचकर इनकी अन्तर्मुख करनेका आभाव इस आचरणमें होता है। इङ्गितोकी वाङ्मय मनुषि संव करने इनकी अन्तर्मुख करना ही एक साधकका कर्तव्य है। इससे ही उनकी अचकता बढ़ती है। क्योंकि वाङ्मय विषयोंमें अचकता अधिक है। यही मनुष्य हमारे मूलकी अचकता बढ़ती है और यही विषय होनेसे अचकता बढ़ा देता कारणही यही रहता इसलिये इस साधकका अनुष्ठान आत्मयोग के अन्तिम अंगवत् है। इससे अन्तर आत्मयोगका अन्त है-

घारणाका मम्भास

देशव्याप्तिस्य धारणा । (नो ५ ६११)

किसी स्थानविशेषपर चिन्तको स्थिर करबेका नाम

वाचना है। किसी चित्र, मूर्ति पदार्थ अथवा वस्तु का भाग सम्पूर्ण रूपकर उसपर अपना चित्र तिर करके, अर्थात् उस स्थानसे चित्रको व दिकसे देना इसका नाम वाचना है। पाठक मनमें समझे कि वही प्रभावको प्राप्त करना चाहता है। क्योंकि प्रभाव नाम इसी प्रभावसे वह जावेगा है सो-

प्यानफा बम्बास

तच्च प्रत्ययैकत्वान्न तावदात्मनः । (बो ६ ३१९)

अनुभवकी एकतावस्थाकी व्यापक कहते हैं। जो वस्तु अनुभव धारणार्थ जाता है वही व्यापक है उससे जाता है। उदाहरणके लिये देखिये कि शक्तिमें जाकाहमें किसी एक कक्षपर आपने धारणा करकेका अन्ततः छूट किया, तो प्रथम स्थित वहां स्थिर नहीं रहता हल्क कर विचलित होता है। अतः विचलित होता रहता है तबतक हल्क करके वस्तु सिखाई देते हैं। परन्तु जिस समय स्थित वही एक कक्षपरही स्थिर होता वही प्रत्यक्ष वस्तु वस्तु हीवने बंद हो जायेगे और संपूर्ण व्यापकमें केवल वही एक वस्तु है, जो वस्तु व्यापक केवल हीके समक है देखा गीयेगा। इस तरह केवल वस्तु वस्तुके अनुभव व्यापक नाम अन्तवकी एकतावस्था है और वही व्यापक कहलाता है वह अज्ञानव्यवस्था सावर्ण्य नाम है और इसीका विचार हीके है इस वह व्यापकमें हुआ है। इसीका नाम व्यापक है। अर्थात् इस व्यापकके पूर्व हीके होते थे। अतः जिसका अन्ततः पाठकोके करना चाहिये तब इस व्यापकका अन्ततः होना प्रथम होगा। यदि कोई अनुभव इस शक्ति वस्तुके व करके हुए वस्तु वस्तुका ही व्यापक करेगा तो जिसके वस्तु वस्तु हीके होनी देगा इस नहीं कह सकते परन्तु का इस शक्ति व्यापकके करके इस व्यापकका अन्ततः करने तबकी वस्तुमें प्रगति सिद्ध होगी। इस तरह सिद्ध होना कि सिद्धके लिये पूर्व व्यापककी धारण आवश्यकता है। अतः इस रीतिसे व्यापकवस्तु व्यापक किया गया है। इस व्यापक वस्तु पाठकोके क्या लक्ष्य है।

अ्यानयोगका साधन

फिना है इसीका विचार अब करना है। सबसे बड़ा काम
तैयार करना है वहाँ जासब यह है कि जिसपर पैसा लागू

। यहाँ कहा हुआ आत्मन पूर्वोक्त अष्टांगयोगका स्वाभाविक
मात्रण नहीं है। आत्मन तयार करनेके विषयमें भीतारों
कहा है वह इसके पूर्व बतायाही है। अर्थात्तन वसपर
अष्टांगिन उत्तर उत्तर धीरे तक रखकर अधिक ठंढा
हो बार अधिक नीचा न हो दुसरा सुयोग्य आसन बनाया
योग्य है। (गी १।११-१२) ऐसे आसनपर एकप्रमाणित
आकर सावक बैठे और अपना साधन करे। साधनके समय
वह बुद्ध्याहारविहार बने। इस विषयमें कहा है—

युक्ताहारविहार

आत्मनस्तु योगोऽस्ति न कैकान्तममभवात् ।
न खातिस्वप्नशीरस्य जाग्रतो मेव चार्जुन ॥१॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति बुद्ध्या ॥
१७॥ अर्थात्तारमभा योगो बुद्ध्याप दिति मे
मतिः । यत्पारमभा तु पठता शक्योऽऽवाप्नु
मुपायता ॥ १६० (गी ४)

अधिक ओजस करनेवाले विकटुक उपवास करनेवाले
अति निद्रा केनेवाले अथवा केवल अति जाग्रतेवाले योग-
साधन नहीं हो सकता। सावक ओजस—आहार विहार तथा
कर्म आदि बातय रीतिसे, नियमित रीतिसे करे किसी प्रकार
अनिवम न करे। जागना सोना खाना पीना कर्म करना
आदि सब बर्तायोग्य सर्वदासे करे। अपने आपको संवसित
रीतिसे धर्ममें बहुत करनेवाला सावक योगमें सिद्धि प्राप्त
कर सकता है। परन्तु जो अमयमी है वह सिद्धिका प्राप्त नहीं
कर सकता। अतः स्वाधयोगका सावक विधि भी कारण
अप्याहार न कर अप्याचारीका योगसाधन सफल नहीं हो
सकता। सावक इस सर्वदाहक आसन रखें।

मनकी स्थिरता

ध्यानयोगमें मनकी स्थिरता प्राप्त की जाती है। मन
अत्यंत चंचल है किसी समय एकप्रमाणित हो सकता है। इस
को एकप्रमाणित करनेके क्रिये ही ध्यानयोगका साधन करना होता
है।

चंचलं हि मन कृत्स्नं प्रमाथि बलमयुतम् ।

तस्याहं मिथुनं मय्य वायोऽपि सुकुप्टरम् ॥ १६१ ॥

अर्थात्तमं महाभाहो मनो दुर्निग्रहं अधमम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च युज्यते ॥१५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येयं यतं मयत् ॥१६॥

मन अत्यंत चंचल है कहा इतीका है। यहाँ अभ्यास
है कहा ही बकवान् है, इसका नियम करना कठिन काम
है। अभ्याससे अर्थात् बारबार प्रयत्न करनेसे और विषयोंसे
दूर रहनेसे मनकी स्थिरता की जा सकती है। यद्यपि वायु
की गड्ढी नाँबनेके समान मनको एकप्रमाणित करना कठिन है
तथापि प्रयत्नसे वह साध्य हो सकता है। मन चंचल है
अतः वह अटकता रहता है, जहाँ वह दौड़कर जाया वहामे
उसको वापस आकर फिर पूर्व स्वाधमें स्थिर करनेसे और
यह अवस्था बारबार करनेसे मनकी एकप्रमाणित करना समभव
हो सकता है। स्वाधयोगका यही अभ्यास है।

पूर्वोक्त आसनपर बैठना और किसी पृथक् वस्तुपर चित्त
की एकप्रमाणित करना। अर्थात् अन्धध आनेपर यहाँ उसको
वापस आकर उसी वस्तु वस्तुपर इनको स्थिर करना, यही
अभ्यास है। यही बारबार करनेसे ध्यानयोग साध्य होता
है। सब अभ्यास इस विधिमें आया है। पण्डित इन
विधिकी अपनी प्रकार समझें और उद्युक्तार अभ्यास करें।

आत्मोपम्य दृष्टि

ध्यानयोगका अथवा सर्वत्र बागवत साधन करनेके द्विध
आत्मोपम्य दृष्टि की अत्यंत आवश्यकता है। इसके बिना
योगकी सिद्धता नहीं हो सकती। यह शार्वाकेक क्रिये कहा
है -

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽजुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं न यागी परमा मताः ॥

(गी १।१३)

अपने समान सबत्र जो देखता है, अर्थात् अपने समान
सबको सुख और दुःख होता है, ऐसा जो मानना है उसका
परम अर्थ योगी कहते हैं। आत्मोपम्य दृष्टिमें ही वह परम
अद्विष्टा प्राप्त होती है। किसी देवताका ध्यान करनेवाला
मनका उत्तर एकप्रमाणित करनेवाला, अनिवम वापस न
जाता ध्यान आस्था करनेवाला जो योगी है उसमें बहुत
गुना कष्ट अवस्थाओं में वह आत्मोपम्यदृष्टि अपना आचार्य

कर्मका फल अपने आपसे हमसेवाके बिना न एकलैका सिद्ध
हउने वास्तव होते हैं। वहाँ (कर्मफल अनाश्रितः) कर्मके
फलका आश्रय न करनेको कहा है। अपने बिना कर्मके
फलका आश्रय न कर। फिर वह कर्मका फल कहाँ
जाय ? क्योंकि फल तो उत्पन्न होनेवाला ही है। यदि वह
कर्मके पास न रहा तो किसी दूसरेके पास वह अवश्य
जायेगा। वह किसके पास जाये वह प्रश्न नहीं मूलतत्वा है।
इस बातके बिचसे अवबोधीतमे कहाँ प्रत्यक्ष कहा है—

कर्मफलसंन्यास = कर्मके फलका भुरहित एवात्पर
निश्चिन्त्यसे रहना

कर्मफलदान = कर्मके फलका विधीको विधिद्वारा
दत्तहोई वाग्य होन।

कर्मफलश्रवणम् = कर्मके फलका विज्ञेय बोधद्वयके
विद्या इत्युच्यते

कर्मफलसमर्पण = कर्मके फलका अर्पण करना।

भागमें व्यक्ति और समाज ऐसे दो पुरुष हैं। एक व्यक्ति है और दूसरा समाज है। प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना है इसका एक वा ली शक्तिसे शिक्षा है जबवा समाजकी शिक्षा है। यदि व्यक्तिने अपने कर्मका एक अपने पास रख लिया तो वह व्यक्तिसे पास रहेगा परन्तु यदि व्यक्तिने अपने कर्मके एकको अपने पास नहीं रखा तो वह समाजसे पास ही बनेगा। हम विद्वानों मनुष्यमें देखनेके लिये हम एक बड़ाहरम केट है। एक प्राममें ही मनुष्य है और उस प्राममें हजार एकके हुए हैं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यके दस दस बूझ हुए। प्रत्येक मनुष्य दस दस बूझोंका पाक्य तथायोग रीतिसे करवा है। यदि किसी एक व्यक्तिने अपने दस बूझोंके एक अपने घरमें नहीं समझीत किये तो वे सब प्रामके होंगे और वे सब प्रामके लोगोंने विद्वान लिये कार्यके अर्थात् बहुत बड़े प्राममें कि कर्मका एक वा ली कठिने पास रहेगा जबवा समाजके पास जायगा, वह किसी प्रकार बोझ बड़े नहीं होगा। इसलिये कर्ता अपने कर्मका एक स्वयं मोले जबवा उसका म्यास दान त्याग वा नर्तन करे अर्थात् समाजका दूजे; स्वयं जीतो जबवा धरो-पकार करे स्वयं मोले जबवा जनताके लिये समर्पण करे। किसी अवस्थामें कर्मका एक बड़े नहीं होगा।

एक अनुपम किसी स्वाभिमन माली करता है और बेतन पाता है। वह बेतन इससे कर्मका फल है। वह चाहे स्वयं भोगवृत्ति के लिये अपने पास रखे जन्मवा जन्मताकी मरणादिके लिये समाजकी समर्पित करे। वह वह व्यक्ति के पास न रहा तो समाजके पास रहेगा परन्तु यह कदापि नहीं होगा। व्यक्ति के पास उपभोगके लिये रहा तो उसको समाजके पास पार इस व्यक्ति पर रहेगा इससे व्यक्ति की चिन्ता रहनी और आदिका सम होना इस तरह चित्त स्थिर होता रहेगा और चित्तकी प्रकाशता नहीं होगी चित्त ज्ञान भी नहीं रहेगा। इसलिये कर्मका फल व्यक्ति के लिये संग्रहीत होकर नहीं रहना चाहिए क्योंकि वह अनेक प्रकारके दुःखोंका कारण होता है। अतः गीतामें कहा है कि व्यक्ति कर्म तो करे परन्तु (कर्मफल वनाशित) कर्मके फलका आशय न करे (अपरिग्रहः) अपने पास मोक्ष-प्रग्रह न करे (कर्मकलहागः) कर्मके फलका सबकी मरणादिके लिये दान देवे। सबकी मरणादिके अपनी मरणादिके। अब राज्यके जन्मवा सब प्राप्तके सुख करने पर इसमें अपना सुख भी बचता ही है। क्योंकि प्राप्तसमा प्राप्तका और राष्ट्रसमा राष्ट्रका पावन पोषण करनी इससे प्रत्येक व्यक्ति का पावन पोषण होगा ही। फिर व्यक्ति को इस विषयकी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? इस तरह गीताके अनुसार सर्व्व राष्ट्रव्यवस्था ही अत्यन्त उच्च प्रकारकी हो जाती है। वह प्राप्त राष्ट्रव्यवस्था है जिसमें राज्य शासनसत्त्वा हा सबका स्वाधीन पावनपोषण और भोग केम बचाती है। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपना अपना कर्म पूर्ण कौशलवृत्ति करनेकी अधिकारी है कर्मफल पर सब समाजका अधिकार है। इस प्रकारकी राज्यशासनसत्त्वामें वह भोग-व्यापयोग पूर्णतासे सिद्ध हो सकता है जन्मवा व्यापकी सिद्धि लिये सर्व्व जगत्का संबंधी जोड़ना पड़ेगा जो सर्व्वका अन्तर्ग है।

यहाँ शास्त्रोंके आधारमें कर्मचक्रव्यापी देखके कथना जागगी ही होती । यह तो एक विशेष शासनसंस्थाकी ओर निर्देश है । यद्युक्त जब ऐसी शासनसंस्था निर्माण करना सब सच्चा योगक्षेम लगाने ज़रूरी है और सबको योगसाधन करनेका अवसर मिलेगा तब सबको सुख भी अधिक प्राप्त होगा ।

प्रकृतात्माकेमें मध्य ईश्वरका कर्म करते हैं और ईश्वर सबका योगदान करता है ऐसा दर्शाया है। यही मागधर धर्म-संस्थाका अर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति समष्टिके कार्य के लिये समष्टि प्रत्येक व्यक्तिका उत्तम वाक्य प्रयोग करे। श्रीकृष्ण भगवान् अपने प्रथम श्लोकोंका योगदान करता है। इन कर्माकार्यका अर्थ भी यही है। प्रथम योग गीताके योगका अनुपाद करते हैं, कोई योगी नहीं होता था और इनका योगदान श्रीकृष्ण ही प्रकटित थे। योगी गिरिष्ठा होनेसे इसकी आवश्यकताएं भी अत्यंत स्पष्ट होती हैं। आवश्यक योगदानवालोंकी हकि होनेसे आवश्यकताएं भी बढ़ गई हैं और आवश्यकताएं बढ़नेसे ह्रास भी बढ़ गये हैं। इन सब ह्रासोंको दूर करनेके लिये यही एक उपाय है जो कर्मकल्याणके नामसे गीतामें वर्णित है।

पाठक इस अंगमें योगीके जीवनका विचार करेंगे तो इनके मनमें एक बहिरंगीय राजकाशकी कल्पना आ सकती है जिसमें संपूर्ण जगत् इस गीताके योगधर्मसे चक्रेबांधी होती और जिसमें सब लोग मुक्त हो जायेंगे। ध्यातव्य योग गीताके प्रकृतोत्तमयोगका एक भाग जगत्का एक शासन मात्र है और कर्मकल्याणके विना भीताका कोई योग प्रिय नहीं हो सकता इसका अर्थ यही है।

सकल्पस्याग

कर्मकल्याणके माय सर्वसकलत्यागका भी अर्थ उक्त है क्योंकि सकलत्यागके विना कल्याण हो नहीं सकता। यही सकलयोगी योगके संकल्प है। अधिक होते हैं। अतः इसके विषयमें इस अध्यायमें आगत कहा है—

न ह्यसंस्पृष्टसंकल्पो योगी भवति कदाचन ॥ १ ॥
यदा हि वेद्विचार्येण क कल्पेन जुलक्यते ।
सर्वसंकल्पसंस्पृष्टो योगाकलसत्प्रोच्यते ॥ ४ ॥
असंप्रतारमसा योगो बुभ्राव हति मे मतिः ॥ ११ ॥
(गी १)

सर्व संकल्पोंका त्याग किये विना योगशासन नहीं हो सकता। सर्व संकल्पोंका त्याग करनेके लिये इन्द्रियोंके योग और कर्मोंके प्रत्येक योग योग्येकी प्रथम कल्पनाओंको छोड़ना चाहिये। यही योगशासनवाली जगदी उपाय की गयी

है। जैसे कि वास्तव किसी भी योगप्रत्ययको न करता हुआ वाक्यसे विविक्त स्थितिमें रहना है वह निश्चित स्थिति स्थिति प्राप्त होती चाहिये। सकलत्याग करनेसे ही वह स्थिति प्राप्त हो सकती है। इसका कोई उपाय नहीं है।

कर्म और धर्म

योगशासनके लिये कर्म भी करने चाहिये और इन्द्रियोंका काम भी करना चाहिये। धर्ममें कर्मोंकी आवश्यकता विशेष है और कर्मोंका अर्थ ही विशेष है। इस विषयमें कहा है—

मातृहस्तोभुवेर्ण कर्म कारणमुच्यते ।
योगाकलस्य तस्यैव धर्मः कारणमुच्यते ॥ ११ ॥

योगशासन करनेके समय कर्मोंका योग—धर्मपर अत्यंत होनेके समय कार्य करने चाहिये और सब योगधर्मपर अत्यंत पवित्रता एवं उच्चको इन्द्रियजन्य उत्तम करना चाहिये। वास्तवमें कर्म और धर्म वे दोनों शासन योगमें उत्तम रूप योगी हैं, परन्तु धर्म अत्यंत कर्मोंका उपाय विशेष है और उत्तर अर्थवाच्यमें अर्थ विशेष है। धर्ममें (विशेष कर्म) ॥ ११८ ॥ विषयव्यक्ति लिये अनेक अनुष्ठान करने होते हैं वे अनुष्ठान करनेसे जब विषय छूट होकर स्थिर हो जायगा तब अत्यंतविषय योगीके लिये एक कर्मोंकी कठिनी आवश्यकता नहीं है। वह उक्त समय तक शासन पर अवलंबित नहीं रहता जब समय जगदी अंतर्गत शासन हो आवश्यक होते हैं। जिसका नाम धर्म है इन्द्रियोंकी क्षति धर्म ही इन्द्रियधर्म जगदी इन्द्रियधर्म है। इस धर्ममें साधककी आध्यात्मिक और उत्तर ऐसी होनी आवश्यकता अर्थ है इनके मनमें वास्तव जगदी आवश्यक विषयोंमें बहुत योग प्राप्त कर सकते हैं। यही जो धर्म कहा है उसके विषयमें वास्तव इन्द्रियधर्मका भी प्रयोग कर सकता है। जगत्का धर्म ही इन्द्रियधर्म ही है इस विषयमें इस अध्यायमें वे स्पष्टदर्श दी हैं—

१ विविधेन्द्रिय, अितारमाध्यात्मिक अपने इन्द्रियोंके विविध स्थितिसे जीते अर्थात् जगदी अपने आधीन रहे इसके आधीन हो जाने (११८)

१ यदाचित्कालमाध्यात्मिक और अत्यंत अर्थ करने जायकी अपने आधीन रहे (११८)

१ धर्मः सौम्य = जगत्का संभव करने (११९)

४ नियतमानसः = निश्चये मगको स्वाधीन किया है;

(११५)

५ धर्माधिराजः = जिसका धर्म स्वाधीन हुआ है (११५)

६ मनसा इन्द्रियमग्रं समततः विनियम्य = मनसे नियम करने इन्द्रियोंको सब कोसे धरमिय करे। (११५)

इस तरह इन्द्रियसंयम, महासंयम और आत्मसंयमके नियमों कहा है। यही प्राथमिक साधन है। यह प्रथम मग लगे करने योग्य है परन्तु आगे लगेही सिद्ध होनेवाला है। जो पाठक इन्द्रियोंको स्वाधीन करनेका यत्न करेंगे उनकोही हमने धर्मका पता लग सकता है। यह संयमका कार्य यही सामान्यतासे साधन करना चाहिये। इसकी साधना कैसे करनी होगी उचित है—

धर्मे धर्मोपरमेव बुद्ध्या धृतिरुदीतया ।

आरम्भ संस्य मग कृत्वा न किञ्चित्पि धितयेत् ॥ (गी ११५)

धर्मः धर्मः धर्मोपरमेव बुद्धिके साथ धितयेत् सिद्ध हो मग अपने अन्तर स्थिर करे और धृति किसी विषय का धितन न करे। यह है साधन को करनेसे मग आत्म स्थिर और प्रसन्न होता है। परन्तु यदि किसीने यह अनुष्ठान नहीं धर्मे न किया और इन्द्रियोंपर असाधारण ध्यान करनेका यत्न किया तो निश्चय परिणाम हो सकता है। क्योंकि सब इन्द्रियां अग्रिम करनेके साथसे अग्रिमकी मगती है और वेधेकीका निर्माण करती है। इसलिये धृति प्राप्त करना सिद्ध आदि पद्धतियोंको धर्मः धर्मः धर्मके साथ बर्धन करते हैं। धृति ही इन इन्द्रियोंको धर्मः धर्मः धर्मकी मगति के अनुसार चले हुए बर्धन करना चाहिये।

उदाहरणके लिए देखिये। यदि शिक्षाको बर्धन करना है तो शिक्षाकी मगति देखनी चाहिये। शिक्षा क्या चाहती है यह देखकर हमने अनुष्ठान करते हुए परन्तु बर्धनकी स्थापना मगति को धर्मः धर्मके रोकते हुए उसपर अनुष्ठान रचवित करना चाहिये। इसी तरह अन्त्यान् इन्द्रियोंको स्वाधीन करनेका अन्त्यान् करना चाहिये। यह नहीं करना चाहिये मगुत प्राप्त के साथ परन्तु एकही संयमसाधनके धर्मः धर्मके साथसाथ होना चाहिये।

निवासस्थ दीप

इस तरह साधन करते करते अन्त्यान् मग साधना होनेके पश्चात् स्थिरचित्त होनेका अनुभव जाता है। इसको

गीतामें निवासस्थ दीप (११५) की उपमा दी है। जैसे वायुरहित स्थानमें दीपकी क्योसि धाम्ति रीतिसे जलती है वैसेही हम योगीका मग आत्म होकर प्रकाशमान होता है। जब तक दीप वायुसे हिलता रहता है तब तक वह पूर्णतया प्रकाश नहीं दे सकता। वह वायुके वेगसे होकर भ्रम होता है और दीप रहता है या नष्ट जाता है इस विषयमें भी संदेह होता है। परन्तु आत्म वायुमें जलनेवाले दीपके विषयमें देखिये वह अपने पूर्ण प्रकाशसे प्रकाश रहता है उसको जलनेके विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता। यही बात मगके विषयमें समझनी उचित है। सामान्य मनुष्यका मग चले रहता है। उस समय उसका कोई प्रकाश नहीं दीकता परन्तु साधनप्रपन्न मनुष्यका आत्म प्रसन्न और स्थिर हुआ मग विश्व प्रकाशकी होता है। अन्त्यान्में इस बातका अनुभव देखनेके पाठकोंके धितकी स्थिरताका महत्त्व ज्ञात हो सकता है।

एकान्त-सेवन

योगसाधनके लिये एकान्त-सेवनकी अत्यंत आवश्यकता है। प्रारम्भमें बहुत अवसंमर्धमें जाया योग नहीं है, इससे मगकी चकका होती है। अतः कहा है—

१ रहसि स्थितः— योगी एकान्तमें रहे एकान्तसेवन करे (११५)

एकान्त— अन्त्यान् रहे (११५)

हमने मनुष्यके साथ रहनेपर प्राथमिक अवस्थामें मगकी व्यवस्था होती है। इसलिये एकान्तसेवन करनेका उपदेश नहीं किया है। यही धर्म रचना चाहिये कि एकही धर्मके आश्रममें रहनेवाले अनेक शिष्योंके रहनेपर भी उसको एकान्त ही भिन्न आगम जैसे कि बहुरंगे क्योसि का उपसर्ग होकर मगकी व्यवस्था बरती है वही आत्ममगती धर्मः धर्मकी संगतिसे नहीं बरती। यह निश्चय करनेसे अवसंमर्धसे पूर रहनेका अत्यंत समझमें आ सकता है। धर्मका ऐसा एक समय जाता है कि उस समय आत्ममगतिधर्मके साथ रहनेसे भी बह होता है, उस समयको धर्मके अन्त्यान् आत्ममगतिधर्मकी संगतिसे आश्रम होता है। मगमगतिधर्मकी संगतिमें अन्त्यान् प्राथमिक जीवनमें इतने निश्चय होते हैं कि उनकी गिनती करना कठिन है। प्राथमिक जीवन योगसाधनके लिये प्राथमिककी है। बहुत कोनोंके साथ साथ

रहनेके कारण हुआ काराव रहती है इसलिये प्राणावाप्त करना अनिवार्य हो जाता है। अतएव अनेक बीमारियोंके बीच रहनेके कारण यह भी एक बड़ा कर रहता है। वादक समाज चाहे नादि अनेकविध उपसर्गके लैकड़ों कारणभार जीवन्में बिभर्त्सित रहते हैं। इसलिये योगके अभ्यासके समय एकान्तसेवन करनेका उपदेश किया है। यह योग्य ही है। यदि भगवद्गीताकी शिक्षाके अनुसार भगवत्त-साधन-सत्या का राज होगा तो उस समय आत्मकके नागरिक-उपसर्ग सब नागरिकोंमें नहीं होंगे। परन्तु ऐसा समय इस समयके लोगोंका नहीं है। अतः इस समयके लोगोंको एकान्त सेवन अथवा आत्मवच है।

हृन्ड-सहन

योगसाधनमें हृन्ड-सहन करनेका महत्त्व विशेष है। वस्तुतः सभी मनुष्योंको हृन्ड सहन करनेके काम होना समय है। उदाहरणके लिये हृन्डिने शीत-उष्ण-सर्शी-मर्शी बुद्धि-बाधा नादि अतुल्योकी जो विषमता है वह कर्तव्योंको सहन नहीं होती और कर्तव्योंको अतुल्यवर्तवके समस्त रोगी हो जाते हैं। अतुल्यवर्तवके कारण बीमार होकर वापसी हृन्ड सहन करनेकी शक्ति का धीरे-धीरे न होता है। सभी हृन्डिने विषयमें यह बात सत्य है। मनुष्योंमें हृन्ड सहन करनेकी शक्ति रहनेपर अतुल्यवर्तवके समय मनुष्य बीमार नहीं होता हृन्ड सहन करनेकी शक्ति इससे बलवत्त काय है। स्वावहारिक दृष्टिमें भी ये काम मनुष्यमें आते हैं।

हाविकाम अवधारण्य मानवमान के भी हृन्ड हैं। इनके सहन करनेमें भी साधारण मनुष्यका साथ होते हैं। जो इनको सहन नहीं कर सकते वे दुर्बल लोग हाविक वरः जब और अपमान होनेमें पायक बनते हैं और उनकी अल्पिक विगत आता है जो वे वराज्यकी अलक्ष्यतामें आधुको भी ब्रह्म होते हैं। इन तरह हृन्डकी अलक्ष्यताये हाविक होती है और हृन्ड सहन करनेकी शक्तिमें मनुष्य भिन्न होकर अपने स्थानमें स्थिर रहता है। जब होनेमें वह हृन्ड नहीं होता और वराज्य होनेमें वह हृन्ड भी नहीं होता। दोनों अवधारणोंमें अपने कर्तव्यमें स्थिर रहता है। ऐसा ही हृन्डोंका सहन करवाता मनुष्य इस भगवत्में उच्यमें उच्य स्थानमें ब्रह्म कर सकता है। इस लिये योगमें कहा है कि हृन्डोंको सहन करो।

हृन्डका अर्थ सुख भी है। हृन्डको सहन को का अर्थ सुखकी सहन करो ऐसा होता है। सुखको सहनेका अर्थ सुखमें विषय प्राप्त करना है, अपनेमें देखा वह वराज्य कि सुखमें अवस्था विषय प्राप्त हो। हृन्ड मनुष्यके मनुष्य इस अवस्थाके सुख हैं, अथवा यों समझो कि अनेक मनुष्य पुर क्षेत्रमें कहा है अतः उसको वह हृन्डसुख सहन करना ही चाहिये सुखमें जो प्रतिपक्षीके लक्ष्यकोते मन होंगे इनको सहन चाहिये और उनसे जाहज होकर माया नहीं चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो वैयक्तिक सामाजिक राजकीय रोगविषयक अनेकानेक सुख बच रहे हैं और मनुष्योंका उनका धारणा करना पड़ता है। इन सुखोंमें विषय ब्रह्म करना है तो मनुष्योंका हृन्डोंको सहन करनेकी शक्ति बरनेमें बराबरी आवश्यक ही है। अथवा मनुष्यके वास्तव होनेमें देरी नहीं करोगी।

मनुष्यका स्वभाव विषय हो रहा है। देखिये अनेक मनुष्य कभी कभी बहमता है और जमझोटी सर्ती-मर्ती सहन करनेकी शक्ति उस काय बरती है। इसलिये सर्ती-मर्तीमें वह रोगी बनता है। वनवासी लोग करते भी पक्षयों इसलिये सर्ती-मर्तीकी बाधा उनको नहीं होती वर सर्ती हो वा मर्ती के आत्मवच और स्वस्थ रहते हैं। इसी तरह आध्यात्म हृन्डोंके विषयमें पाठक समझें। योगमें लिये तो हृन्ड सहन करनेका अभ्यास अवश्यही करना चाहिये अथवा उद्यका विषय पूर्वतया हृन्डोंके साथ सुख करनेमें ही करीगा वर उसको एकत्र होनेमें समय नहीं मिलेगा। अतः योगमें कहा है—

१ शीतोष्णसह्युत्प्रेय तथा मानापमानयो।

समाहित। १९७

२ समलोपाहमकाश्रयः। १९८

शीत-उष्ण सुख-दुःख मान-अपमान मिथी स्वार्थ और सोना इनकी सम धारणा चाहिये। सोनेका अथवा अथवा बकासम बचा मारी है। मिथी वर सोना अथवा अथवा वरा कथित है। परन्तु यदि साधक ऐसा न देखे तो वह मिथीको भी नहीं ब्रह्म हो सकता। सोनेके ब्रह्ममें केवल मनुष्य ब्रह्म हो ही नहीं सकता। शीत हृन्डकी हृन्डोंकी अनेक सोने मिथीके हृन्ड बने कथित है। कर्तव्यवासी इसी आध्यात्मके अनेकानेक कर्तव्यमें कर्तव्य

हैं। इसीलिए हमें इसे समझ करना चाहिये। बुद्धका हम करना सुगम है परन्तु ब्रह्म प्राप्त होनेवाले ऐसे तारामको समझ करना असम्भव कठिन बात है। क्योंकि ब्रह्मसे अलग हुए अनेक साधन नाम धर्म मनुष्यको गिराये रहते हैं। इस तरह विचार करते करते हमें समझ करनेका तत्त्व जानना चाहिये और इसका महत्त्व समझकर अपने भाव नहीं जाना चाहिये।

ज्ञान और विज्ञान

योगसाधक किसे ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। सुविष्ट प्राप्त करनेके उपायका नाम ज्ञान है और जो सब धर्म साक्षात्ज्ञान है इनको विज्ञान कहते हैं। सब प्रकारका ज्ञान हमें ज्ञानात्मा है। प्रत्यक्षज्ञानमें साधकों और ब्रह्म के सम्बन्धमें ज्ञान-विज्ञान विस्तारसे कहा गया है। अन्त्यात्म स्थावरी में भी कई बार साक्षात्ज्ञानका विवरण बताया है। भौतिक साधकोंका विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान सबका सब इसमें जाता है। योगसाधन करनेवालेको इसके तरह ही प्रत्यक्ष समझने चाहिये जिससे वह सुख-पूर्वक साधन करने काय बड़ा सकता है। अज्ञानी मनुष्य योगसाधनसे वैसा लाभ नहीं प्राप्त कर सकता वैसा ज्ञान-विज्ञानसंपन्न मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अतः कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानद्वयस्यैव ॥८

२ ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽ
शुभात् ॥९

ज्ञान और विज्ञान जानकर अष्टमये सुख होकर एव हमको प्राप्त करेगा। अष्टमये दूर होना और हमको प्राप्त करना वह ज्ञानविज्ञानका प्रयोग है और सर्व्व अज्ञानका वदेव नहीं बक है। इसलिये योगसाधन करनेवाला साधक साधकत्व ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करे और इसके प्रकाशमें अपनी साधना करे।

साधक प्रकाशका रूप है और अज्ञान अन्धकारका। प्रकाशमें जेहा बलका मार्ग दिखाई देता है वैसा अन्धकारमें नहीं दिखता देता। इसलिये रात्रिके समय किसी लम्बाकर जाना हो तो मनुष्य धाव दीप रखते हैं। इसी तरह बोधी महा मन्त्रीका दण्ड इस संसारके अन्धता मार्ग जाकमन करना पड़ता है। इसको मार्ग दिखानेका काम साक्षात्ज्ञानकरी दीप करता है। अतः ज्ञानविज्ञानद्वय साधक निर्दिष्ट

रीतिसे अपना मार्ग जाकमन करता हुआ महामन्त्रीको पहुँचता है। पाठक नहीं समझें कि गीताका मार्ग ज्ञान मार्ग है; इसमें अज्ञानी मनुष्य प्रगति नहीं कर सकता।

निरंतर अभ्यास

साधकको निरंतर अभ्यास करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक साधनाको बीचमें छोड़ना नहीं चाहिये। मात्र पारस किता बोले दिन छोड़ दिया फिर कुछ दिन किया, फिर छोड़ दिया ऐसा नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कुछ न कुछ काम हो होगाही, परन्तु सर्व्व काम कदापि नहीं होगा। अतः सिद्धि प्राप्त होनेतक निरंतर साधना करना चाहिये बीच बीचमें दूसरा कार्य करना नहीं चाहिये। जो करना हो वह योगसाधनके लिये निवृत्तकीही किता जाने विरोधक कार्य कभी न किया जाने। इसलिये कहा है—

१ योगी युक्ताश्च सततमात्मानं रहन्ति स्थिताः।

॥१०

२ युक्ताश्चैव सदात्मानं योगी नियतमानसाः। ॥१५

३ युक्ताश्चैव सदात्मानं योगी विगतकलमयाः। ॥१६

४ स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।

॥१८

बोधी महा मन्त्र अपना योगसाधन करेगा तो निरन्तर बचकर अपने प्रत्यक्षका प्राप्त होगा। नहीं सतत, सदा ये शब्द विशेष कल्पपूर्वक देखनेयोग्य हैं। क्योंकि इसीसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्धता सिद्धि दूर जाती रहेगी। जिसका बीचमें व्यवसाय होगा उसकी सिद्धि दूर होती रहेगी। जो निरंतर साधन नहीं करेंगे उनकी क्या अवस्था होगी इस संकासे उपरसे गीतले कहा है

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संयुद्धचिदिन्द्रियः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

(गी ६.७)

प्रयत्नसे योगसाधन करनेवाला साधक निरन्तर बचकर अनेक जन्मोंके साधनसे सिद्धि प्राप्त करता हुआ स्वयं ब्रह्मका प्राप्त करता है। नहीं यनामने साधना करने वालोंकी बसति कमसे कुछ प्रकार होती है वह बताया है। इस तरह दोनों प्रकारके साधकोंको अवधि सतत साधना करनेवालोंको और साधकत्व साधना करनेवालोंको

कैसी गति मिलती है यह स्पष्ट कहा है। इससे जा मनुष्य सतत साधन नहीं कर सके उसको बिना करमेकी आवश्यकता नहीं है। यदि वे सतत अभ्यास कर नहीं सकते तो न मही जिनका ही सक्ता है उतनाही करें। किन्तु ज्ञाना साधना संस्कार कभी बन्द नहीं होगा। यह जाते कभी न कभी उपचागमें आवेगा ही। इस तरह साधन का प्रत्यक्ष है, इसके करनेसे मनुष्य उपयुक्त होता ही रहता है। इस साधन मार्गमें कोई विघ्न नहीं है और कोई अन्ध नहीं है अतः विमल होकर साधना करनेके विषयमें गीतामें कहा है—

निर्मय बन्तो

मीति का कोई कारण नहीं है। जो साधनमें कभी कभी पूरा भव प्रतीत होता है कि मैं जो साधना कर रहा हूँ वह योग है वा नहीं इससे भ्रमि होमी वा नहीं इससे भीषमें कुछ तो नहीं हो। भीषमें साधना छूट गयी तो कुछ तो नहीं हो। पूरा भव भीषमें उत्पन्न होती है। इस अनौचित्य मनुष्य साधना छोड़ देता है और साधना त्यागने लगभक्ति होती है। ऐसा न हो इसलिये कहा है कि—

१. योगतप्तीः युक्तः ॥ १।१४

समाहित होकेवही योगाभ्यास हो सकता है। यह विमलुच बचाव है। दारौक मनुष्य साधन कर नहीं सकता। जोभीका भव अन्तरसे भी हाता है और बाहरसे भी होता है। साधना करते काल कुछ मनुष्य ऐसे जाते हैं कि जिनसे मनुष्य बना है। जैसा कुंठिकी उल्लासनके समय जाता है। इसी जाली है कि मनुष्य बहुत थक भी नहीं सकता। यह अथवा दूसरे मनुष्य ध्याना है और योगसाधनमें अक्षयता आगर्भी देना आनन्द साधनामें शुरू होता है। मनुष्य इस कठिनतासे वाद हानिका आग बला सकता है। वरान व मेरान साधकका गुण भी बला कर सकता है। गुणर विद्याम रज्ज्वर ता विहर हाता बलित है। इस तरह आत्मिक बलित हात होत रहनासे प्राप्त हानिका आत्मालम्ब भी समग्र समग्रपर अन्ध उत्पन्न करने है। इसका प्रचार कोटकर अपना मार्ग आत्मज्ञान करना चाहिये। इस तरह न हाता हुआ जाते बनेना नहीं सिद्धि वा लनेगा।

बाह्य करनेसे वह यह है कि किसी समय दृष्टान्तों केद्वारा प्रमाण करना होता है। बने बरमें बनेका रहने भी मनुष्यको कर होता है। यदि कार्य पूरा करनेका होगा तो उससे साधना क्या होगी और इसको थकना मिलेगा। इस तरह अन्तर्बाह्य कर कोटनेसे ही योगसाधन होना संभव है। अन्तर्बाह्य नहीं। यह हर विचार और मनसे ही दूर हो सकता है। और सङ्कल्प विचार रहनेसे भी दूर होता है। विद्यामी मनुष्य विहर होता है वह विचार का बला भारी काम है। यह अथवा वह बलाके किने कहा है कि—

अथाचान् मन्ते पर मां स मे युक्ततमो मतः ॥

जो अन्तः एककर ईश्वरभक्ति करता है, वह उच्च योगी कहलाता है। अथाका सामर्थ्य बला विकल्प है। यह अन्तः और विचार बला सहायक होता है। इसमें अनेक कृतक विषय आदि बन्द होते हैं और साधनार्थ विभिन्न रीतिसे चक्रवा चलय होता है। इस तरह मनुष्य साधना करे और आवे बने।

अध्याप्य

योगसाधन करनेके समय अध्याप्य पाठ्य करना लो आवश्यक है। वीर्यस्त्रकन दाता रहा तो प्रायण होता बलन है। वीर्यदोषी मनुष्यको एक विदुसात्र भी मन्ते साधनमें नहीं हो सकती। इसलिये मार्गमें पदकिपाद करीर छुटि जिन करते हैं। इस विद्याकीसे लोरीके मन्तवित होकर अन्ध बलरके बोचदाय दृष्ट जात है और करीरमें वीर्य भिन्न होता है जिनसे योगसाधनमें अथवा तरह बलिक होती है इस तरह अध्याप्य साधनका महत्व है अतः कहा है—

अध्याप्यारिप्यमे स्थित ३।१४

अध्याप्य पाठ्यके प्रत्ये को प्रचार होता है अन्तर्बाध साधन होता है। अध्याप्यका पाठ्य मां मनुष्य करमा सकता अर्थात् जिसका वीर्यवास हाता है उसमें योग साधन नहीं हो सकता।

अध्याप्यप्रतिप्रायां योगमात्र ॥ (१०)

अध्याप्य विषय रहनेसे योग साधन हाता है वीर्य प्रमादप्राप्ती जाति है। यह प्रति करीरकी आशावक्ति और या अक्षय्य दृष्टान्तों में जो मति हमें प्रकाश वा

है इस सब चर्चोंका कार्य इस बीजसेही होता है। बीज हीन मनुष्य इसी कारण इस चर्चोंका बचावोप कार्य कर नहीं सकता। परन्तु बीजवान् मनुष्य ही इसमें प्रगति कर सकता है। इससे पाठक समझ गये होंगे कि बीजोपलब्धते योगसाधन किम् तरह होता है। साधन तो मनसे ही होता है सब प्राण्यके साथ मिला रहता है और प्राण बीजके साथ संश्लेषित है। इस तरह संपूर्ण योगसाधन बीजके साथ संश्लेषित है। इसलिये योगसाधनमें ब्रह्मचर्यका बहुतही महत्त्व है।

इस तरह योगसाधनका अर्थन समझलीताके कुछ व्यापार हैं। इसका विचार करनेसे प्रत्येक पाठकको इसके बहुत ध्यान करनेकी निधि प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक पाठकसे यह अनुमान पूर्वकता हो सकती है ऐसा हम नहीं कह सकते परन्तु यदि प्रत्येक पाठक यह साधना करना चाहेगा तो वह कुछ न कुछ अनुमान कर सकता है और उससे अनुमान काम भी प्राप्त कर सकता है। जिसका चित्तना प्रचलन होता और जिसका चित्तना सुकृत होगा, उतना काम उसको हो सकेगा। हर एककी आत्मिक योगलता अलग अलग होती है इसलिये प्रत्येककी प्रगति भी अलग अलग होगी समझें। परन्तु यह साधन ऐसा है कि कालेका निश्चय करनेपर कुछ न कुछ अवश्य होगा और प्रगति भी होगी। इस तरह का अनुमान करनेवालोंका अर्थन इस व्यापारमें निम्न किञ्चित् प्रचार किया है—

पुष्कः योगी ॥ ६७

यदा क्षिप्यत चित्तमात्मस्थेषावतिष्ठते ।

पुष्क इत्युच्यते ॥ ६१८

योगिनो यदाचित्तस्य पुञ्जतो योगमात्मनः ॥

(बी ११९)

योगसाधनमें दृष्टिक्रम हुए योगीका यह वर्णन है। इस व्यापारके करनेसे चित्त अपनी आत्मामें स्थिर होता है और प्राण विचरोंसे दूर जाता है। यही साधनाका फल है। मनुष्यका चित्त प्राण विचरोंमें रहता है। और योगीका चित्त आत्मामें रहता है। साधारण मनुष्य और योगीमें यही भेद है। परन्तु चित्तका प्रवाह को रूपा बहिर्मुख रहता है उसको अन्तर्मुख करनेके लिये कितने प्रयास करते होते हैं यह बात देखने योग्य है।

प्रवाहकी गति बदलना बड़े प्रयासका कार्य है। नदीका प्रवाह जिस दिशामें जाता है उसकी उकड़ी दिशामें उसे केरना जिसका कठिन कार्य है, वैसे भी धर्मिक दुस्तर कार्य मनुके प्रवाहकी दिशा बदलनेका होता है। इस मनुके प्रवाहके बदलनेसे यह मनुष्यकी आत्मामें क्या परि वर्तन होता है यही पहले अन्वेषण रहता है पर मनुका सब बदल जानेके बाद यही महाप्राप्ति बन जाता है। इस विषयमें क्या है—

आत्माका महात्मा

क्षित्तात्मनः प्रज्ञास्तस्य परमात्मा समाहितः ॥ ७७

(क्षित्तमा) जिसने अपने आपको भीत किया वह क्षान्तिको प्राप्त होता है और वह (परमात्मा) परमात्मा जबकि महात्मा बनता है। यहाँ ही इसकी साधनाके पञ्चाङ्ग महात्मात्माका 'परम-ज्ञान' बनता है। यही ब्रह्मा ब्रह्मचर्य है। यह क्षिप्रतन होती है जब (क्षित्तमा) आत्मस्थितन सिद्ध हो जाय (ब्रह्मा) उद्यम क्षान्ति प्राप्त हो जाय और (समाहित) समाधिबहुति स्थिर हो जाय आत्मासे परमात्मा बननेके ये कथन हैं। मनुष्यकी उन्नतिकी अन्तिम अवस्था यह है जो पूर्णतः साधनासे प्राप्त हो सकती है।

साधनका फल

यान्ति निर्विषयपरमां मरतस्थामधिगच्छति ॥ ६१५

यत्रापरम्यते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र वैशात्मनात्मना पश्यन्नात्मनि सुष्यति ॥ ६१६०

सुखमात्यंतिकं यत्पुच्छति प्राज्ञमर्तमिन्द्रियम् ।

केचित् यत्र न वैशाधे स्थितमस्ति तद्वत् ॥ ६१२१

यः सम्प्राप्ता आपरं स्नात मय्यते नाभिर्गते ततः ।

यस्मिंस्थितो न पुच्छेत्तं गुणजापि विद्यास्यते ॥ ६१२२

त विद्यावृत्तस्य योगविद्याया योगसंक्षितम् ।

त निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णयेतसा ॥ ६१२३

प्रज्ञास्तममसं योगिभं सुखमुत्तमं वदति ॥ ६१२७

योगी सुखेन ब्रह्मलक्ष्यं मलयत् सुखमस्नुत ॥ ६१२८

योगसाधन पूर्णतः प्रचलने क्या इसका जो गीतामें फल किया है वह कैसा है इसका नय विचार करना चाहिये। इस कार्यके लिये निम्नलिखित साधन देखिए—

‘ परमेश्वरके अन्दर जो छाति विद्यमान है वह इसको प्राप्त होती है । इस समय आत्मा अपने अन्दरही सुखका नाम करती है । इस स्थितिका प्राप्त होतही अद्वितीय सुख काम होता है । जो सुख मित्रके बड़ा हूँ का प्राप्त होवैपर भी वह योगी अपने पक्षसे विचलित नहीं होता । एता अद्वितीय अमाधारण सुख मित्रता है इसीके प्रमाणको इस योगी मानना करनी योग्य है । इस भावसे महासुख का सुख प्राप्त होता है । इस वर्णमें पता लग सकता है कि अनुभवका सिद्धि प्राप्त होनेके कौमला काम होता समय है । यह तो अद्वितीय सुखकाय है इसलिये इसमें के प्रमाण करना हरदृक्को योग्य है ।

योगीका अनुभव

इस समय वह योगी जिस प्रकारका अनुभव करण है वह देखने योग्य है । इसका अनुभव इस प्रकारका है

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि कारयति ।

ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं स मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

(गी. अ. ६)

सब भूतोंमें आत्मा है और अन्तर्मात्र सब भूत है ऐसा जिसके अनुभवमें आता है और जिसकी समरूपि हुई होती है और जो योगी सिद्धि प्राप्त करण है । वह योगी ईश्वरको सर्वत्र देखता है और सबको ईश्वरमें देखाता है इससे इस योगीको सर्वत्र ईश्वरका अनुभव आता है । यह योगीका अनुभव है । जिस स्थानपर योगी है वहाँ वहाँ उसको ईश्वर सबका आत्मा करण परमज्ञाना दिखाई देता । सर्वत्र समदर्शनः । वह परमार्थ सहायक है । इसका अर्थ सबत्र सब दर्शनः है किंवा सबत्र आत्म दर्शन है । इस सहायक सब आत्मा ईश्वर सबका भव है । सर्वत्र समदर्शनमें आत्माका दर्शन होता ही योगीजनमें प्राप्त होनेवाली अस्मिता रहि है और इसीको वशिष्ठ कहते हैं । वह ईश्वरकी मन्त्रके मित्रात् पूजा सुख भी नहीं है ऐसा अनुभव आने लगता तो समझना चाहिये कि इसको अस्मिता अनुभव प्राप्त हुआ आर इसकी अस्मिता कहति सबका प्राप्त हो चुकी है । जिसको पूजा अनुभव आ चुका है वह सत्त्वात्मक बनता है इस विषयमें कहा है—

सच्ची भक्ति

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकमस्मिन् ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सब भूतोंमें रहनेवाला ईश्वरके एकमेव स्थित होनेवाला योगी भक्ति करता है । वह कैसे भी रहि फिर भी वह भव ईश्वरमें ही रहता है । वह सच्ची भक्ति कहि है । इसीको भगवान् भक्ति कहते हैं । वह भक्ति बन होती है जब योगीको एक परमप्रपञ्च अनुभव आता है जब भूतोंमें एक आत्माकी लक्ष्य है इसका दर्शन अनुभव आनेके पश्चात् ही वह भक्ति होनेको समय है तबतक जो कुछ होगी वह जीवन भक्ति होगी । जब इस रूप वह भक्ति अनुभव जीव होता है तब वह जो कुछ करता है वह स्वभावसे ही उच्च रूप हो जाता है । इस अन्तर्दे के भक्तकी योग्यता सर्वत्र समदर्शन उचित है । जिस भक्ति भक्तिका वर्णन गीतामें है वह भक्ति वही परमभक्ति है । इस भक्तिमें ईश्वरके साथ एकत्वका अनुभव अनेकप्रकार भव होता है । वहाँ भक्त अपने आकाश भक्त न समझता हुआ ईश्वरके साथ अपना अनेकभाव अनुभव करता है । इसीके इससे कई सर्वत्र निर्देश हुआ करते हैं । इसी भक्तिके योगीके विषयमें इसी अन्तर्मात्रमें और कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मत्तत्त्वान्तर्गतमना ।

अज्ञातान्मते यो मां स मे युक्ततमा मता ॥ ३२ ॥

सब प्रकारके योगियोंमें जो योगी अपनी अन्तर्मात्रमें जो अन्तर लगाकर अज्ञातचित्त में भक्ति करता है वह मेरे मनमें योगी है । वह योगी पूर्ण योग्यमें ही एकत्वका अनुभव करनेवाला नहीं है अस्तित्व अपने अन्तर्मात्रका पूर्ण समर्पण करनेवाला है अर्थात् योगीका अपास्त — उपानयन भव रहा है । वहाँ उपानयन करी अज्ञातका समर्पण करता है और जो एकत्वका अनुभव करनेवाला होता है वह तो तत्त्व हुआ होनेका साथ समर्पण करनेयोग्य समझ पान कुछ सकल नहीं रहा । तथापि वह योगी—भक्त अन्तर्मात्रमें पक्षोंसे बहरी होता है क्योंकि इसमें भी अपनी अन्तर्मात्रमा पूर्णत्वा समर्पण की होती है इसलिये इसका नाम भी अपना अन्तर्मात्र अन्तर्मात्र नहीं रहा । इस कारणों से आत्मा भव है जो भक्तों के पक्षमें आ सकता है । वही इस पक्षवर्गीय भक्त

है । इसलिये इस अष्टावक्रमें इसका वर्णन बड़े गौरवके साथ किया है—

योगका गौरव

त्रिभामुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिघर्षते ॥ ४१४४
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्योऽप्यधिको योगी तत्साध्याणी मन्वाह्वनम् ॥

४१४५

केवल शब्दब्रह्मकी अपेक्षा योगका त्रिभामु भी श्रेष्ठ है क्योंकि अनुसूची वाली श्रेष्ठ है इसमें कोई संदेहही नहीं है । तपस्वियों के सम्बन्धियों और कर्मियोंकी अपेक्षा योगी श्रेष्ठ है क्योंकि वह कुछ शौरव दिखाते प्रवृत्त करनेमें उत्तर रहता है । कर्मात् केवल तप्य विचारोंके ज्ञाननेका महत्त्व नहीं है अपितु सत्कर्ममें अनुसूचीका महत्त्व है ।

पार्थ मैवेह मामुक्त विनाशस्तस्य विघटे ।
न हि कस्याप्युक्तस्तस्मिन्नास्ति तात शक्यति ॥ ४१४६०

जो कल्याण करता है उसकी दुरति नहीं होती और उसका नाश नहीं हो सकता । वह है योगमार्गपर चलनेवाला योगीका लक्षण । और दुर्भाग्यके अन्त्यात्म मार्योके वह योगमार्ग श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें दुरतिकी संभावना नहीं है । और यदि इसमें कोई छायाका प्रसूत हुआ और उसका वागमात्रन भूषा रहकर उसकी श्रुति हो गई तो भी उसमें उसकी शक्ति नहीं है क्योंकि अन्तमें अन्तमें रहता भूषा साधन पूर्ण होकर वह निश्चय बन सकता है । हेतुके—

माय्य पुण्यवृत्तां लोकानुचित्वा शास्त्रात् । समाः ।
शुचिर्मां धीमतां गन्धे पांगम्रष्टाऽपिजायते ॥ ४१४१
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतस्मिन् पुनस्तत्र लोके जन्म यदीहसम् ॥ ४१४२
तत्र तं बुद्धिसंयोगं समत पीयैद्विद्विक्म् ।
यतते च तता मूयः सविद्यो कुलजम् ॥ ४१४३
पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशाऽपि सः ॥ ४१४४

प्रयमाद्यतमानस्तु योगी सश्रुदाकिस्त्वियः ।

अनेकजन्मसंनिवृत्ततो याति परां गतिम् ॥ ४१४५

(गी. अ. १)

जिसका योगसाधन इस एक जातमें पूर्ण नहीं हुआ वह पुनः पुनः लोकान्तरमें अपने पुनर्जन्म करके इस मायवज्जन्ममें लक्ष्मीर्ण होता है और उसकी जो जन्म मिथता है वह योगियोंके कुलमें लक्ष्मी सुदिनम् प्रवर्तनोंके कुलमें मिथता है । सब साधन इसके लिये अनुसूचित मिथते जाते हैं और उसकी प्रवृत्ति भी पूर्वजन्मके अन्त्यात्मके लक्ष्मी सात्विक हुआ करती है । इसलिये वह सब अनुसूचित परिस्थितिका अनुसूचित करने लगेका साधन यथायोग्य रीतिसे करता है और परम श्रेष्ठ कथन लक्ष्मीको प्राप्त करता है अर्थात् लक्ष्मी स्थिति प्राप्त करता है ।

इसलिये एक जन्ममें साधनकी पूर्णता न भी हुई तो भी करके कोई क्षाया नहीं है । यदि एक जन्ममें न हुई तो अनेक जन्मोंमें होगी परन्तु निश्चय होगी लक्ष्मी । इसी लिये कहा जाता है कि इस योगमार्गमें किसी प्रकारका भय नहीं है स्वयं लक्ष्मीका हुआ तो भी उससे बड़े भय दूर हो जाते हैं । इसलियेही इस अष्टावक्रमें कहा है कि तपस्वरत्न अन्तमार्ग और कर्ममार्गकी अपेक्षा यह योगमार्ग लक्ष्मीर्ण है जिसमें कोई भीति नहीं है और जिसमें लक्ष्मी उत्पत्ति होगा तेमच है । इसीलिये—

‘ योगी यव ’ (४१४६)

कहा है कि हे अनुसूचित ! हे योगी यव ! लक्ष्मी सब माय जोकर इस योगमार्गका लक्ष्मीर्ण कर । इस योगमार्गका वह महत्त्व जानकर पादक इसका लक्ष्मीर्ण करके अपने आपकी लक्ष्मीर्ण बनाये और अपने लक्ष्मीर्णका लक्ष्मीर्ण करें ।

इस अष्टावक्रमें जो योगसाधन कहा है उसका लक्ष्मीर्ण वह लक्ष्मीर्ण है । इस साधनकी ही ही कल्याण पादकोंके जन्ममें उत्पत्तिके लिये इस साधनके सूचक जो धारद इस अष्टावक्रमें जगामे है उसका लक्षण अति लक्ष्मीर्ण करते हैं—

योगसाधनके पाठ

बोमनाचन किस तरह करना चाहिए इसका जति संक्षेपसे विचार करनेका उपक्रम नहीं करना है। इससे बाइबेलको साधनका मार्ग सुगमतराया समझसे या सकल है। सबसे प्रथम स्वार्थवत्तका पाठ पढ़ना चाहिए—

स्वाध्यायनका पाठ

१. सन्तरेदारमनाऽऽत्मानं (१)- स्वयंही अपना
बन्धन करमेका पाव्य करो ।

२ नारमानभवमाद्येत्- स्वर्गं लब्ध्वा लज्जोपति न करो ।

३ आत्मैव स्यात्सर्वम्- सर्वही भगवान् भगवान्
३ जीव

४ आर्यैश्च रिपुणात्मजः स्वयमेव जयतां तान् ।

५ बन्धुरात्मा येन व्याख्या कृतः (१) - जिसने अपने आपको जीत लिया वह अपना बन्धु है ।

६ अनात्मनः आत्मा शब्दः (६)- जिसने अपने
आपका नहीं जीता वह अपनाही शत्रु है ।

इस प्रकार स्वयं शिक्षण करने कापणा उद्धार करनेका। शिक्षण साधक जवसे प्रथम करे। मैं अपने पुत्रवर्गसे अपना उद्धार करूँगा उद्धार करनेके लाल करवा। श्रुतिगा भीमसे नहीं छोड़ूँगा ऐसा प्रबल शिक्षण करना चाहिये। इससे पञ्चाल वर्गभ्रष्टत्वर होगा नहीं।—

कर्तव्यतत्परताका वाढ

१ काय कर्म करोति या (१) कर्तव्य-कर्म करो
बोधि—

१ व्याकटशी धोरी कम कारख (३)- धीगका अनुमान करमेबाकके छिमे कम करना जरूरत बाबतसब है कत कहा है-

३ योगः योग्य (२३) योगका अनुष्ठान करना
हरणकी भाँति है इस तरह पाठ करैपर साधक—

४ युक्तः (८१४ १८) ; युक्ततमः (४०) -
योगसाधन करमें बतल होण है और बलमें—

५ जनेकस्यैव सत्त्वः । (३५)- जनेक ब्रह्मोमे सिद्धि

प्राप्त करता है। सिद्धि एक क्षणमें प्राप्त हो सकता अपने क्षणमें हो सिद्धि मिलती है, इसमें खिड़ नहीं है। जब राजसे किसे कर्मसे सिद्धि जाग्रत मिळ जाती है। इस योगमें जाग्रतस्थिती कीति सिद्धिमुक्त नहीं है वह क्षणमें किसे कहा है—

१. य हि कस्याचक्षुः शिष्टं पुमंति वात गच्छति ।
कस्यामार्गापर चक्षुः कस्याचक्षुः कस्याचक्षुः कस्याचक्षुः
इति वही होती ।

यह सब कार्य स्वयंकर साधक कर्तव्य-धर्म विधानों को
बौर बलितम सिद्धि प्राप्त होवेतक बल्य न छोड़े ।

सर्वतः अभ्यासका पाठ

१ सततमात्मानं युज्यते (१) ; आत्मानं तदा युजन् (१५ १८) - तदा तदापकी सत्य बोधसाधनं कपासा आदिषे ।

१ घोष पुष्पीत् (११)- इस तरह कुछ बोधस्थान
का ।

१. प्रयत्नाद्ययमास्तः (४१)- अथत्यजे ननुजन्य स्यौ।

४ जम्मासेव पैदायेज काई म्मा: शुद्धते (१५)
जन्मका जन्मात् सवत् कत्त जीर मोक्षियवक पैदायवै म्मा
पंचक रहयेपर जी कसक विम्वु जिवा का सवत्ता है।

इस विधिसी प्रथम प्रस्ताव कार्यवाहकोंको प्रत्यक्ष भ्रष्ट होता है वह जालन्धर साहब अपना भ्रष्ट हवा में बीबती हुए परिहमपूर्यक धावन करके बच भागते ।

योग्य व्याचारविचारका पाठ

१ युकाहारविहारः (१०)- सायक ज्ञान विज्ञान
योग्य स्थिति करे ।

२ सुकृष्णस्वप्नावबोधः (१०)- योग्य समग्रते को
जावे और योग्य समग्रते हटे ।

१ कर्मसु पुण्ययोगः । (१७) तत्र कर्म प्रधानमेव
गीतिसिद्धे करो ।

४ भाष्यश्रुता । अमश्रुत आश्रुतः अतिश्रुतः
पीछय न न योगः (१९)- अतिश्रुती इत्यनेन,

मतिमानेवाक और अतीमीमातु ऐसे साधकोंको योग की सिद्धि नहीं होती ।

इसविषये आहार- विहार आदिमें साधक कभी आत्म-चार न करे । सम प्रमाणसे आहार- विहार करते हुए साधक योगप्राप्त्यन कर जिससे सिद्धि हो सकती है ।

निर्मयताका पाठ

१ विगच्छामीः (१४) साधक निर्वैद्य होने विहार होकर साधन करे ।

१ अविर्दिग्धमचेतसा निश्चयेन योगः योक्तव्यः (१५)- कदाचित् अंभे निश्चयसे योगका साधन करना योग्य है ।

मय विवृता और अविज्ञाय छोटकर साधक योगप्राप्त करे । मय, विवृता और अविज्ञायसे योगप्राप्त्यन नहीं हो सकता ।

शुद्धताका पाठ

१ आरमविशुद्धये योगं शुभ्यसात् (१९) अपनी पवित्रता करके के विषये साधक योगप्राप्त्यन करे ।

१ अकस्मपः (१७) विगतकस्मपः (१८)- संशुद्धचित्तियः (१९)- निष्ठाप बने गल न करे ।

१ प्रवृत्तारिमते स्थित (१४)- मत्तार्थक्य पाठन करे ।

इस तरह अपनी पवित्रता करके का ध्यान करे जिसकी अधिक पवित्रता हागी उठना अधिक अच्छा है, उठना आन अधिक होता ।

एकाग्रता-संनतताका पाठ

योगसाधनके विषये एकग्रतसेवमकी अतीव आवश्यकता है जिसके बिना नहीं कहा है—

१ एवमि स्थितः एकाग्रः (१०)- एकाग्रतये मतेका रहे और करवा आनमान करे ।

जिसका चित्त विविध होता है वह इस एकग्रतसेवमका आनमान करे । इससे चित्तकी स्थितिता हा होती है । अर्थात् अंभे के विविध प्रकारके विचार अपने बन्दे हैं और चित्त स्थिति होना है इसकी विमुक्ति के विषये एकग्रत-अनन्यता एक उच्च विचार है ।

आसनाभ्यासका पाठ

शरीरको स्थिर आर गाँव करनेका पाठ देनेक विषये यह आश्रमका अभ्यास करनेको कहा है—

१ शुद्धी देशे आसने प्रतिष्ठाप्य (११)- शुद्ध स्थानपर अपना आसन कमाना चाहिये । अर्थात् समर युग-यम और उत्तर और मकर की तरह रक्षी जाये । यह आसन करनेके विषये मूढ मुक्तदात्री और आपक कथा भीना न हो । अर्थात् सम और सुखदात्री आसन कमाना जाये । ऐसे आश्रमपर—

१ आसने उपविश्य (१२)- साधक बैठे आर—

१ समं कायशिरोगीर्षं धारयन् भ्रक्षल स्थिरः (१३)- सिर गह्वर और शरीर समसुत्रमें रखे शरीरकी धम इकट्ठ कर कर और विकटुन स्थिर होये ।

कोई साधक इस तरह स्थिरताका अभ्यास करे तो उस को कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् जिसकी निश्चयता माध्य होती उठना आनद प्राप्त होता है ।

एकाग्रताका पाठ

इस रीतिसे शारीरिक स्थिरता होनेके पश्चात् मन एकग्र करनेके अभ्यासके विषय पाठ दिया है । वह मन एकविषये

१ एकार्थं मनः कुरवा (१०) मन एकाम कर । यह ध्यान करनेकी मन एकाम के विषये विचार जाता है ? ऐसा मत्त उत्पन्न होता है उसके निश्चयमें कहा है—

मन अचल मयनेवाका आर मत्तक वेगवाका है तबानि मत्ततासे उभरी स्वाधीनता हो सकती है । वह अभ्यास इस तरह करना योग्य है—

१ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदारमम्यक यशं लभेत् । १।१६

जिन्म मार्गके मन बाहर जायगा उभी जायसे उसको फिर और आकर अपने मत्तक बन्धमें रखना चाहिये ।

शान्तेः शान्तेः उपरमेक्षुपुष्टा भूतिपुष्टिताया । (१५)- सर्वत्रुक्त सुखी समेत धनः मनका उपाय करवा चाहिये ।

१ संमनस्य नासिकायं दृश्यम् । (१६)- अपने नासिकाके समर दृष्टि स्थिर करनेके मन एकाम होता है इसी प्रकार एकग्रतपर दृष्टि विचार करनेके अभ्यास भी आनकारी है ।

४ दिशः समबलोकयन् । (१४)

न किंचिदपि धिक्कृत्येत् । (१५)

इस ठहर न देखना और न किसी धिक्कृत का विचार करना । इस समय उचित है कि स्थिर करने और चित्त स्थिर करने का ह्म कार्य होना है ।

५ निश्वातक्याः क्षीयाः । (१६)

स्थिताः स्रज्यताः न च्यवन्ति । (१७)

निश्वात कृत्यमें जैसे क्षीय व क्षिप्ता हुआ नष्ट होना है और इतर उतर नहीं क्षिप्ता । ऐसा अपने आपको स्थिर करो । इस समय—

६ मच्चित्ताः सत्पराः । (१८)

मद्गतास्तदात्मा भञ्जरायाम् । (१९)

ईश्वर पर भक्ता रची कभीमें चित्त स्थिर रखी कभीको समने नष्टक रवाना हो कभीमें सत्परा धारिका बन करो ।

वह साधन है । इसके करनेसे आपही आप साधना का मार्ग खुल जाता है ।

ज्ञानप्राप्तिका पाठ

मनुष्य की उन्नति मानविकामही होती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है । इसलिये साधक को कहा है—

१ ज्ञानविज्ञानतत्सारायाम् । (८)

पूरा होने तक ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना । आत्मा का ज्ञान और बहुविकार विज्ञान प्राप्त करना और हमको अपने स्वयंभोगमें लाने तथा सर्वान् दुःखों की निवृत्ति होगी ।

इन्द्रिय-दमनका पाठ

जैसे कि इन्द्रियों का सेवन सेना के सब कार्योंमें लगे रहने की है वैसेही साधकमें भी उपयुक्त है । इस विषयमें देना कहा है—

१ जित्वात्मा । (७) यतश्चित्तात्मा । (१०) यिजितं

द्रिय । (८) यताश्चक्षुर्द्रियमपि । (१५) यताश्चिन्ताः

(१९) यिजितं चित्तं । (१८) यिजितमात्मनः । (१५)

ममा मयस्य । (१४) आत्मयोगममा जितं । (६)

मिथ्यं चित्तं । (१०)— अपने आपका चित्तका मनका

इन्द्रियों का सम्पूर्ण इन्द्रियविचारों का सेवन करना चाहिये

१ ममत्ता इन्द्रियमार्ग विनियोग्य । (१४)— अपने

इन्द्रिय मनुष्य का लक्ष्य करना चाहिये ।

१ इन्द्रियाण्येव नानुपज्यते । (४)— इन्द्रियों के विषयमें बल होना योग्य नहीं है ।

४ अक्षयतात्मना योगो युष्माकाः । (१३)— धनम न किंच तो योग शिख नहीं होगा परंतु—

५ यद्यप्यारममा तु यतता शक्त्योऽवाप्नुमुपायतः । (१६)— अपने आपकी बल करनेवाले को ही योगभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।

६ योगाकङ्क्षस्य धामः कारयम् । (१)— योगमार्गमें जति उन्नति करनेवालेके लिये अपने इन्द्रियों का समनी करना चाहिये ।

इस तरह इन्द्रियदमनका प्रत्यक्ष योगसाधन करनेवालेके लिये किंचित्ता साधक है वह साधक साधक वह अनुष्ठान करे और काम बढ़ावे ।

इन्द्र सहनका पाठ

योगसाधकके लिये जीत उन्नत आदि इन्द्रोंको प्रसन्न करने का व्यवहार करना चाहिये इसलिये कहा है—

१ क्षीतोप्यसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः

समाहितः । (७)— जीत-उन्नत सुख-दुःख मान कर

मान आदि इन्द्रोंको समान मानकर सहन करना । तथा—

समस्तोऽष्टात्मकायमा । (८) समदर्शनः । (१९)

मिष्टी, पक्व और सुखको समान मानना । सबका सम

दृष्टि देखना ।

१ सुहृदिमित्रार्पुणासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विधिष्यते । (१)

मित्र, बन्धु, द्वेषकों और इसो उदासीन और मध्य-

स्थ बन्धु और पारकीन साधु और पापीको समबुद्धि देखना

योग्य है । इस प्रकार सर्व इन्द्रोंके विषयमें समान मान

धारण करना और सुख हो जयना दुःख हो जयना कष्टम

करना योगसिद्धिके लिये सर्वत्र आवश्यक है ।

उच्छ स्थितिका पाठ

जैसे कि कोई मनुष्य उच्छ बहावके घिल्ला पर रहनेके कारण निष्ठ स्थानके बलोंको नहीं मोचता वही तथा साधक अपने आपका उच्छ स्थानमें स्थित मनुष्य को

वह पाठ मिश्रकथित उपदेश दिया है

कूर्मस्य । (८)— पक्षधरिणा, उच्छ ममा उच्छ

स्थानमें स्थिर भाव लक्षण अवलम्बनेसे ममान अपने आप

‘ जिसने अपनी अहमाका संकल्प नहीं किया, वह अपनी अहमाकाही झुनु होता है । जो अपने आपको स्वीर छोड़ता है वह स्वयं अपना झुनु करता है ।

(१०) महात्मा

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ॥ (१।७)

जिसने अपने अहमाका झीठ किया और जिसमें क्षान्ति स्थिर हो गई उसकी अहमा सदा है । जबीय के रवेष्वाचारी और बहान्त है उसकी अहमा छोड़ी हुई होती है ।

(११) सम-भाव

सुहृन्मित्रार्थुवासीनमप्यस्यद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते । (१।९)

सुहृद मित्र धनु उदासीन मप्यस्य द्वेषी भोर भाई तथा साधु और पापी को समान भावसे देखता है वह भेद है । जिसमें ब्रह्मापारहित समग्र है वह भेद है ।

(१२) योग कौन नहीं कर सकता ?

नात्यभ्रतस्तु योगोऽस्ति न चेकात्मनसतः ।

न चातिस्यमशीकृत्य आगतो निय चार्जुन । (१।१९)

असंयतारमना योगो बुध्नाप इति मे मतिः ॥ (१।१)

अतिमोक्षी नति ब्रह्माशी नति लेनेवाला अथवा अत्येवाका योगसाधन नहीं कर सकता । अत्येवाशी अनुभव के योग नहीं हो सकता ।

(१३) योग कौन कर सकता है ?

युक्ताहारविहारस्य युक्तशयनस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नाचरबोधस्य योगो भवति युजः ॥ (१।७)

ब्रह्मपरमना तु यतता शक्त्योऽप्यात्ममुपायतः ॥ (१।९)

योग रीतिसे आहार विहार करवाका सब कर्म बर्चसतय रीतिसे करनेवाला योग रीतिसे मित्रा केनेवाला और योग समपरा भाग्येवाका को होगा उससे किये योगसाधनसे सुख होगा । इन्द्रिय संकल्प करनेवाका बुद्धिवाची साधक योग साधन कर सकता है ।

(१४) संयमका साधन

यतो यतो मिथ्यरति मनश्चेकसमस्थिरम् ।

ततस्ततो मिथ्यरतिक्षामयेय यतो मयेत् ॥ (१।१९)

जबकि मन नहीं रहा भाग्यसे कमे नहीं बहानि इसको रोकर आभासे आदर स्वर काया चाहिये । इन्द्रियों के जगतीसे निद्रि भाष्य करके वरम मनिको प्राप्त होता है ।

संयमका नहीं कपाय है ।

(१५) उत्तम सुखकी प्राप्ति

प्रशान्तमनसं ध्यानं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

कथंति शान्तिरजसं ब्रह्मभूतमकस्मयम् ॥ (१।१७)

जिसका मन शान्त हुआ है जिसकी ध्यान-वृत्ति शान्त हुई है पापइति जिसमें नहीं रही उस ब्रह्मभूत योगीको उत्तम सुख मिलता है । जिसका मन बहान्त है, जिसमें भागीकी इच्छा है पापभावना है उस अस्वात्माका कभी सुख नहीं निक सकता ।

(१६) ईश्वर-सेवा

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकहृदयमस्थितः ॥

यो सर्व भूतोंमें रहनेवाले ईश्वरको एकमात्रसे स्वर होकर भजता है । वह ईश्वरकी सच्ची सेवा करता है । सर्व भूतोंकी सहायता करनाही सच्ची ईश्वर सेवा है ।

(१७) आत्मोपमन्य इन्द्रि

आत्मोपमन्य सर्वत्र सम पश्यति यः ॥ (१।१९)

अपने समान सब भूतोंको को देखता है वह परम योगी है

(१८) मनका संयम

मनो दुर्निग्रहं जलं अभ्यासेन धैरायेण च युज्यते ॥

(१।१५)

जबकि मनका संयम करना बड़ा कठिन है, परन्तु वह भी धैर्यसे और दीर्घ अवसरे बध्नी किया जा सकता है

(१९) शुभ कर्मकर्ताकी पुर्गति नहीं होती

यदि कल्याणकर्मकामिर्गुणंति तात गच्छति ॥ (१।१७)

शुभ कर्म करनेवालेकी कभी पुर्गति नहीं होती । शुभ कर्म करनेवाका उन्नत ही होता है । पुर्गति तो जलून कर्म करनेवालेकी होती है ।

मेवेह यामुत्र विमोक्षस्तस्य विद्यते ॥ (१।१७)

शुभ कर्म करनेवालेका न शुभ कर्मों और न बराकाधमें विभाव होगा दोनों ओरोंमें उन्नत अन्तुद्व ही हागा । शुभ कर्म करनेवालेका तो सर्वत्र भाषी होगा ।

(२०) अनेक जगतीमें सिद्धिमाध

प्रयत्नापद्यतमायतु योगी संशुभकिञ्चनः ।

अनेकजगमसंक्षिप्तस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१।१५)

जबतक जगम करनेवाका योगी प्रियाप होइ अनेक जगतीमें सिद्धि प्राप्त करके वरम मनिको प्राप्त होता है ।

गीताके छठे अध्यायके सुभाषित

(१) संन्यासी और योगी

अनाश्रितः कर्मफल कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरर्गिर्नाश्रितः ॥

(१११)

जबसे कर्मका फल करने के लिये न केवल पुत्रा को अपना कर्मफल कर्म उत्तम रीतिसे करता है, वही संन्यासी और वही योगी है। अतः प्रत्यक्षित न करनेवाला और कर्म न करनेवाला सत्त्व संन्यासी नहीं है।

ये सब बातें करना शिवायका त्याग करना, नमिसे हवन न करना, कर्म न करना ये संन्यासीके उक्त फलसे होते हैं। परन्तु ये उक्त संन्यासीके नहीं हैं। कर्मका फल करने के लिये करने वाले सत्त्वित करने के न करना और उसका समर्पण करनेवाली मर्गाके लिये करना ये संन्यासीके उक्त फल हैं।

(२) संन्यास और योग एक है

य संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विधिः ॥ (११२)

जिसे संन्यास करने कहते हैं वही योग है ऐसा समझ।

अर्थात् जो संन्यास है वही योग है और जो योग है वही संन्यास है।

(३) योगीका संकल्पस्याग

न ह्यसंयस्तसंकल्पो योगी भवति कदाचन । ११३

संकल्पोंका त्याग करने के लिये योगी होता अर्थात् है।

अर्थात् योगी होनेके लिये योगसंकल्पोंका पूर्ण त्याग होना चाहिये।

(४) कर्मसे योग-साधन

भारतक्षेत्रमुद्योगात् कर्म कारणमुच्यते ॥ (११४)

योगमार्गपर कर्मकारके लिये कर्म साधन है।

अर्थात् जो पुस्तक या प्रत्यक्ष करनेवाला नहीं है उक्त योगमार्गका आरम्भ नहीं हो सकता।

(५) योगीका धाम-साधन

योगाकृतका तथैव धामः कारणमुच्यते ॥ (११५)

योगमें किए हुए धामके लिये धाम साधन है। अर्थात्

जो योगीके लिये धाम आदि संपूर्ण इच्छितोंका धाम सर्व भोग संकल्पोंका त्याग वह साधन है।

— (६) योगीका सत्त्व ।

यथा, हि नेमिप्रियायैषु न कर्मस्वमुच्यते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगाकृतस्तदोच्यते । (११६)

जो भोगविषयोंमें निरक्त कर्मोंमें (कर्मफल) आदि-रहित और संपूर्ण भोगसंकल्पोंका त्याग करनेवाला है वह योगी कहलाता है। विषयभोगों कर्मफलों और संकल्पोंमें त्याग करनेसे योग सिद्ध हो सकता है।

आत्मविद्यावदुत्तारमा कृदुत्तो विविर्द्विषः ।

युक्त इत्युच्यते योगी समकोटात्मकां च न । (११७)

जो आत्मविद्याके संपूर्ण विविर्द्विष आत्म और भोगों पर और सोनेको सम रीतिसे देखनेवाला है, वह योगी कहलाता है।

(७) आत्मोद्धार

उद्धरेदात्मनात्मानं आत्मानमवसायेत् ।

आत्मैव धारतनो बन्धुरात्मैव पिपुस्तात्मना । (११८)

अपना उद्धार अपने आपकी करवा चाहिये अपनी आत्मोत्ति होकेयोग कर्म कभी नहीं करना चाहिये। स्वयं मुख्य अपना सत्त्व आपकी है। अतः समझ और अपने उद्धारके विषयमें नहीं निश्चय है। अपने उद्धारके लिये स्वयं कठिण होना चाहिये और अपनी आत्मोत्ति होने योग्य होई कर्म स्वयं कदापि नहीं करना चाहिये। सत्त्वका मित्र या शत्रु वह स्वयं ही है। न उद्धार के मित्र है और नाही दूसरा शत्रु है।

(८) बन्धु

बन्धुरात्मनात्मनस्तथा येनात्मैव धारतनाश्रितः । (११९)

जिसे अपने आपको स्वाधीन कर लिया है वह अपना बन्धु है। जो अपने आपका सत्त्व करता है वह अपने आपका मित्र विपत्तियों अपना स्नेही है।

(९) धाम

अनात्मबन्धु धामत्वे वर्ततारत्नैव धामुद । (१२०)

(१)

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१) कपाह- साहि	४२९	सिद्धि का स्वरूप	४४५
(७) आत्मनाम	४३	सुख और बन्ध	४४५
(८) ब्रह्मज्ञानी आत्मनाम	४३	(१०) आत्ममौल्य—दृष्टि	४४६
(९) मन्त्री एकत्रता	४३१	सूक्त २९-३९	४४६
(१०) छन्द स्थिति	४३१	कपटी उपमा	४४७
पुरुषार्थ (विषय)	४३२	(११) मन की चञ्चलता	४४८
'वासिकान्त' दृष्टि	४३२	सूक्त १३-१४	४४८
आत्मार्थ	४३३	विशेष मन	४४९
भोगार्थ और आत्मार्थ	४३३	(१२) मन के संयमका उपाय	४५३
मन्त्राद्ययम	४३३	सूक्त ३५	४५३
(७) योग्य आहार- विहारका महत्त्व	४३४	काम्यता और वैराग्य	४५४
सूक्त १६-१७	४३४	सूक्त ३६	४५५
आत्मनः मार्ग	४३४	सिद्धि का विषय	४५५
अविमोक्ष	४३५	(१३) योगब्रह्म की गति	४५६
उपवास अतिथि और आत्मनः ४३५		सूक्त १७-३९	४५६
सुख- वेदा	४३५	सूक्त ४०-४५	४५८
आत्म- पाप	४३६	अविनाशी कर्मसमाध	४५९
(८) योगसिद्धि	४३७	जीवन का अनुभव (विषय)	४५९
सूक्त १८-२०	४३७	कर्म-सुख का संयम	४६
आत्मनः मन	४३७	कर्म का जीवन	४६
विशुद्धि- विमोक्ष	४३८	योगब्रह्म की गति	४६
विदि अतिथि	४३९	काव्य की स्थिति	४६२
जीवन की उपमा	४३९	सुख कर्म	४६२
आत्मसंयम	४३९	सुख सुखसाधन	४६२
सूक्त २१-२३	४४०	सूक्त ४६-४७	४६३
आत्मसंयम की सिद्धि	४४	पूर्व संस्कारों की गति	४६३
(९) आत्मयोगका साधन	४४२	सिद्धि का	४६३
सूक्त २४-२८	४४२	योग विज्ञान	४६४
काम्यता-व्यास	४४३	धर्म के उद्देश	४६५
इन्द्रिय-बन्ध	४४३	पञ्च अणुसूक्त मनन	४६७
सुद्धि का उद्देश	४४३	स्वात्म-योग	४६७
किरौरी बाल	४४४	मन्त्रों का साधन	४६७
मन्त्र-आत्मार्थ सुख	४४४		

षष्ठ अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रधान-भाग	४५	सम और विषम बुद्धि	४१०
(१) सन्यासी और योगी	४०५	जीरोप्यकी समस्या	४१०
श्लोक १-२	४०५	(५) सम बुद्धि	४१८
कर्मकर्मयोग और कर्मकर्मयोग	४५	श्लोक १	४१८
कर्मका स्वरूप	४५	यमुष्येति की विमर्श	४१८
कर्मयोग	४५	सुख ब्रह्मण्य १४	४१८
कर्मका भावना	४५	सम बुद्धिका कार्य	४१८
दे और मेरा	४५	बाह्योपेक्षा सर्व	४१९
वर्णकर्मयोगसिद्धि	४५	पारक	४१९
संन्यास और योग	४५	सुवर्णका द्वाभ्या	४१९
(२) योगारूढ	४०८	(६) योगसाधन	४२२
श्लोक १-४	४०८	श्लोक १०-१५	४२२
आत्मज्ञान और आत्म	४५	वर्ण्ये सम दृष्टि	४२२
योगसाधन	४५	योगाभ्यासकी वैधायी	४२२
(३) आत्मोद्धार	४१०	साधकका वैधायी	४२२
श्लोक ५-६	४१०	विश्वकी वृत्तात्मना	४२२
अध्यास द्वाारा	४११	अध्यास १४५	४२२
सुखदुःखविवेका	४११	योगसूत्र	४२२
अनु-विश्व-अध्यास	४११	वृत्तात्म-अध्यास	४२२
जीवन्मुक्ति और अहङ्कारात्मना	४११	योग-साधन को द्वाारा	४२२
(४) योगीकी आत्मिका परमात्मा ४१३		योगसाधना-परायण	४२२
श्लोक ७-८	४१३	अध्यास	४२२
अध्यास और परमात्मा	४१३	सुख द्वाारा विनाश	४२२
विनाश	४१३	आत्मना	४२२
अध्यास बुद्धि	४१३	निष्काम (विधि)	४२२
अध्यासद्वारा	४१३	(१) अग्निविधि	४२२
अध्यास और निष्काम	४१३	(२) ध्याना	४२२
अध्यास	४१३	(३) ध्याना	४२२
		(४) ध्याना	४२२
		(५) ध्याना	४२२

१ मत्-आश्रयः— ईश्वरकाही आश्रय करना चाहिये ।
 १ योग युञ्जन्— स्वानयोगका साधन करना चाहिये ।
 इन तीन साधनोंसे आकाशस्थ सूर्यके समान ईश्वरका
 आकाशकार हो सकता है । और ईश्वरके साक्षात्कारकी वाचा
 भी ही इसीसे अनुमान किया जा सकता है ।

ईश्वरसाधारकारमें बाधाएँ

ईश्वरका मन्त्र साधारणकार होनेमें निम्नलिखित तीन
 बाधाएँ हैं—

१ ईश्वरे (मयि) अनासक्तिः— ईश्वरमें आसक्ति
 होना ।

२ ईश्वरस्य (मत्) अनाश्रयः— ईश्वरका आश्रय
 न करना ।

३ योग युञ्जन्— स्वानयोगका अनुष्ठान न करना ।

पाठक इसका विचार करें और हों कि कहाँ तक ये
 बाधाएँ अपने जीवनमें हैं । तब पता लगेगा कि परमेश्वरका
 आकाशकार क्यों नहीं हो रहा है । आसक्ति मानव अपना
 मन परमेश्वरमें कमानेके स्वागमें विचरनेमें कमाने रहता है
 परमेश्वरको अपना आश्रय माननेके स्वागमें अपने आपको
 अपना मोमेंको अपना आश्रय मानने करता है और बिना
 प्रकाश करनेके स्वानमें बिनाके प्रेम किये रहता है । इस
 किये आकाशस्थ सूर्यस्य परमात्माके समुक्त कदा होवेपर
 भी उसे सर्वत्र उपस्थित परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं हो
 पाता । वह होय किसका है । होय स्वयं कदाभी आसक्ति
 है । आसक्ति विचरनेकी पुनः नहीं रहती है । जब वह ईश्वर
 हूँ तो आसक्ति— मनुष्यको तब विचारक प्रस हो सकेगी
 तभी मनुष्यका आकाशकार हो सकेगा ।

वही विचार विस्तारसे इस अन्वयमें आनेवाका है
 और आश्रयके पार पाँच अन्वयोंमें तो इसका समझा और
 भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा ।

ज्ञान और विज्ञान

इस ज्ञानकोही ज्ञान और विज्ञान कहते हैं । यदि एक
 बार उचित रूपमें वह ज्ञान और विज्ञान प्राप्त हो जाय
 तो फिर उसके किये और आनेकेयोग कुछ भी अवशिष्ट
 नहीं रहता । अर्थात् जो कुछ शास्त्र है जो कुछ आनेकेयोग

है वह सब इसीके अन्तर्गत है । मगवान् श्रीकृष्ण इस
 अन्वयमें वही ज्ञान देना चाहते हैं ।

कुमारगमें प्रवृत्ति

मनुष्यकी सदा कुमारगमें प्रवृत्ति होती है । सम्मार्गकी
 और आनेवाके योग कम होते हैं । मावरी प्रवृत्तिार देखनेसे
 इसकी प्रवृत्ति प्रतिक्रम दिखार्ह होती है । इसीकिये मगवान्
 कहते हैं कि सर्वत्र मनुष्यमें प्रकाश कोई बिरकाही
 मनुष्य इस स्वानयोगकी ओर जाता है और अन्तिम सिद्धि
 तक चला करता है । और ऐसे सिद्धिके किये चला करने
 बाकोमें भी प्रवृत्ति कोई मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार
 प्राप्त कर पाता है । वही मत् करण होता है कि क्या वह
 विचार इसका किये इसका कदा और समझमें इसका
 अन्वय है । उदाहरणमें कहा जा सकता है कि वह परमात्माका
 ज्ञान इसका किये नहीं है कदा नहीं है और इसका
 समझना भी असम्भव नहीं है । वास्तवमें देना ज्ञान, जो यह
 परमात्मा विचार अन्तर्गत रसीका और भीतर है अन्तर्गत आने
 देनेवाका है, सुगम है और सर्वत्र उपस्थित होनेसे सुगम
 भी है । परन्तु मनुष्यकी प्रवृत्तिही योगमें प्रवृत्ति
 योगमें स्वमात्रके प्रवृत्ति है । ईश्वरमन्त्रमें महा आनन्द
 और आनन्द सुख होवेपर भी उस ओर आनेवाके कम होते हैं ।

अगस्तमें वही एक आनन्द है । जब अन्तर्गत प्रकाश
 रहे है कि परमात्माकी आनन्दकम्प सुखका विचार और
 संगठका निधि है । अनुभव भी साक्षात् रहे हैं परन्तु
 सुखकेवाका भी है । जब अन्तर्गत किये मार्गसे चला रहा है ।
 मनुष्य विचार को या अविचार को भी किये मार्गसे चला रहे
 हैं । वही अनुभव करने केव मगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि
 हजार मनुष्योंमें १९९ मनुष्य किये मार्गसे जा रहे हैं और
 बिरका प्रकाश सीधे मार्गसे जाता है । और सीधे मार्गसे
 आनेवाकोमें भी अन्तिम प्रवृत्ति विचारक प्रवृत्ति
 भी बिरकाही है । क्योंकि सीधे मार्गसे चलेनेपर भी कई
 तो बीचमेंही उसे कोच बैठते हैं । इन तरह को परमेश्वरका
 साक्षात्कार करते हैं ऐसे तो बहुतही बिरके हैं । वही
 ज्ञान और विज्ञानका महावर्णन विचार भी पाठक अब
 स्वानपूर्वक देखें—

ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन

प्रत्यक्ष परमात्मज्ञानका विषय नहीं बनता। ऐसा है।
प्राणको प्रमाण किन्तु किन्तु करने का प्रमाण करना चाहिये।
यही विषय नहीं बनता है। जो बहुत ही प्रमाणयोगात्मा
अपनी इच्छा करना चाहते हैं। इसको ही प्रमाणयोगात्मा अधिक
मनन करना चाहिये। इसी ज्ञानके साथ परमात्मके साक्षात्
दर्शनका भी संबंध है। परमात्मके इस साक्षात्कारके पश्चात्
ही कल्याण प्राप्त हो सकता है। प्रत्यक्ष दर्शनके विना प्रमाण
करना निराल्प असंभव है।

मनुष्यको विषय प्रत्यक्ष दीखते हैं। इसलिये वह उनका
प्रमाण करता है। यदि मनुष्यको वे विषय प्रत्यक्ष न होते
तो वह उनका प्रमाण कैसे करता? यदि मनुष्यको किसी
शुद्धिसे आकाशस्व सुनके समान परमात्मका प्रमाण करने
का साथ तो अवश्यही आकाश उसका प्रमाण कर लेता।
यह प्रमाण हो सकता है कि आकाशस्व सुनके समान आकाश
परमात्मका दर्शन कैसे संभव है? वस्तु आगे के बार पांच
अध्यायोंमें स्पष्ट करते हुए प्रमाण उठा दिया गया है।
अपविष्टर्षि कहा है कि—

भारमा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो ज्ञप्तव्यो निदि
ध्यासितस्तथ्य । (इ. अ. १।१।५ १।५।९)

हे माया ! तूमाको देखो। उसका दर्शन सुनो। उस
का ज्ञान करो और पश्चात् उसका निदिध्यासन करो। इस
अपविष्टर्षिप्रत्यक्षमें सबसे प्रथम आत्माको देखनेकी बात कही
गई है। इससे भी ज्ञात होता है कि प्रमाणयोगके आशयमें
परमात्मका प्रमाण दर्शन करनेकी कुछ सुनिश्चित व्यवस्था होनी
आवश्यक। अपविष्टर्षि जैसे छद्मदर्शनमें आत्माको देखने सुनने
प्राप्त नहीं होता। कम न जाता। क्या अपविष्टर्षि
रक्षितव्यो—

भारमा वा अरे श्रोतव्यो निदिध्यासितस्तथ्य
पश्चात् द्रष्टव्यः ।

ऐसा किन्तु किन्तु कुछ अवश्य था। इसमें अर्थात्
आकाशस्व न अपनी दिव्य चर्मपत्तीको उपरोक्त कर रहे हैं।
वे अपनी चर्मपत्तीको पोशा नहीं दे रहे हैं। उन्होंने सोच
विचार कर ही इस प्रमाणके अनुष्ठानकी आवश्यकता को इस कम-
में कहा होगा। ऐसे उपरोक्तके अर्थगत—

भारमा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो ज्ञप्तव्यो निदिध्यासि
स्तथ्यः ऐसा कम रखा है। इसमें अधिक मतदर्शन है
और उसके अर्थ, अथवा यदि सुननेकी प्रमाण बनने की
पई है। इसके साथ ही साथ वेद भी कह रहे हैं—

तद्विष्णोः परमं पदं क्षया पश्यति त्रयः ।
विषीय आधुराततम् । (अ. १।१।९)

आमी को प्रमाण परमात्मके परम पदको प्राप्त
स्व सुनके समान प्रमाणमात्र करने देते हैं। 'वर्षा
देवर्षि' भी आकाशस्व 'सुखेव' परमात्मके प्रमाण देता
बर्षित है। ऐसे प्रमाण कहना भी कर्म है। यदि वेदों
का साथ साथ होती तो अपविष्टर्षि के अर्थमें जो कहा है
वह भी साथ होगा और अनुष्ठान को भी नहीं कहा
है वह भी निःसंदेह ज्ञान होगा। इसमें प्रमाण उपरोक्त
होनेके पश्चात् इस विषयमें किसीको संदेह नहीं होगा चाहे

इससे पूर्व गीता १।१५ में परमात्मकी वस्तुता को
अविष्टर्षि वस्तुता गया है और वही उसका आकाशस्व
सुनकर दर्शन करित है। जो परस्पर प्रमाण दीखता है।
वस्तु प्रमाणका वही वह विरोध आया है। वही तरी
का कुछ भी विचार न करके कमजोर गीताके उपरोक्त
विचार करने और वही ही आत्माके अन्तर्गत विषय-
दर्शनका अन्तर्गत देखनेके पश्चात् विचार करने कि क्या
अपविष्टर्षि वह परस्पर विरोध है।

ईश्वरका समग्र ज्ञान

(अक्षरार्थ समग्र आकाश) वही स्पष्ट प्रमाण
कहा गया है कि अन्तर्गत, अविष्टर्षि (टी. १।१५) जो
इस भी समग्र ईश्वरका ज्ञान वही वस्तुता आत्मता।
वही अविष्टर्षि समग्र ज्ञान कैसे हो सकता है? वह वह
वस्तुता होगा और इसका भी वस्तुता जाने की प्रमाण।
ईश्वरका ज्ञान ज्ञान कम होगा वह भी इसी को नहीं कहा
है। अनुष्ठानकी दृष्टिसे वह बहुत महत्त्वपूर्ण उपरोक्त है, इस
में प्रमाण विचार अविष्टर्षि उपरोक्त ज्ञान करना चाहिये।
ईश्वरका ज्ञान ज्ञान निम्नलिखित तीन बातोंकी वही
रखता है—

१. अथि आकाशमात्रा—अथ दर्शनका ईश्वर ही अन्तर्गत
करिये।

न को विमृष्टिपक्षी हो सकती है और न परस्पर विरोधी रहना आ सकता है । जैसे जीव-जन्मा इस कोटसे करीबे मित्र माना जाता है वैसेही विचित्राणी महापण्ड देहसे परमात्माका मित्र मान सकते हैं । इस समय विचारधोरण-के बिना इस तरहकी कल्पना करनेसे दोनो स्वागतक आत्माकी रीक रीक कल्पना की जा सकती है ।

शरीरके चटक

यदि शरीरको अमरताका घर मान लिया जाय तो उस शरीरके चटक नीचेसे हैं वह किन तरफसे क्या है इसका प्रमाणित होना ही ठीक । इसविषय चतुर्थ कोटमें अष्टमा प्रकृतिका वचन दिया गया है । वहाँ शरीरका पृथ्वी, वायु, अन्न, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव इस आठ तत्वोंका क्या हुआ वस्तुता गया है । इन आठ तत्वोंके एकत्रे अमरताका शरीर बनते हैं । ये आठ तत्व असे अनुपपत्ते करीतमें हैं वैसेही पञ्चपक्षियोंके शरीरमें भी हैं, और वैसेही परमात्मते महापण्ड कहने में हैं ।

शरीरमें जो सब अन्न है वह पृथ्वीतत्त्वका है जो अन्न भक्षण है वह आप्ततत्त्वका है जो मल है वह वायु तत्त्व है जो अवकाश है वह आकाश-तत्त्वका भाग है । जो मन बनता है वह मनका अन्न है जो ज्ञानमहत्त्वका है वह बुद्धि है और जो एक दूसरेसे मिश्रताका तत्व है वह अहंभावका है । इस तरह आठ तत्व हरएक शरीरमें हैं । पात्रक अपने शरीरमें इनका अनुभव करे और पञ्चाङ्ग जगत्के अन्य शरीरोंमें हँके और अन्तमें वही वायु महापण्डशरीरमें देखे । शरीर और संपूर्ण महापण्ड इसी ज्ञान तत्वोंका क्या है ।

पञ्चतत्त्वविषेक

जो अष्टमा प्रकृतिका वचन कहा किया है उसका अधिक मनन करके निश्चय करना चाहिये कि ये तत्त्व छत्रसूत्र अनुसार मनमें आते हैं वा नहीं । उक्त आठ तत्वोंमें पहिले पाँच तत्व पंचमहाभूतकी हैं । ये महाभूत कहाँ हैं और कहाँ नहीं इसकी परीक्षा अनुपपन्न अवधीही शान्तिनिष्ठोंसे कर सकती है ।

पृथ्वी आप्, अन्न, वायु, आकाश ये पंचमहाभूत हैं जिनका तत्व एक रूप स्पर्श और अन्न इसके पाँच गुण हैं । इनका मनन करनेवाली इंद्रियाँ भी जिनका वासिका शिवा

नेत्र तत्त्वा और कल ये पाँचही हैं । इससे पक्का प्रकार पंचमहाभूतोंके अस्तित्वका अनुभव हो सकता है ।

वायुशक्तिद्वारा तत्वका प्रमाण करो कहाँ कहाँ नभ (सुगंध वचनवा गुण) वायु कहाँ पृथ्वीतत्त्व समझना चाहिये । यदि धमका संसारमें तत्वहीन स्थानकी कोश की जाय तो पृथा स्थान कहीं न मिलेगा जो तत्वहीन हो । कारण यह है कि तत्वका पृथ्वीतत्त्व अन्न है । हमारी विविध वासिकाका किसी स्थानपर तत्वका प्रमाण न भी हो तो दूसरे शब्द और पाँच प्राणशक्तिपुत्र वायुशक्तियोंको कहाँ तत्वका अनुभव होगा । चंद्रिका पहातक किछी दूरीपरसे देखें वही ज्ञान केती हैं । तत्व किछी और किछीसे सूक्ष्म रूपमें व्यापक है इस बातका इससे सहजमें ही पता लग सकता है । इस तरह तत्व सर्वत्र होनेके पृथ्वीतत्व भी सर्वत्र है यह सिद्ध हो जाता है । इस पृथ्वीतत्वसे रहित कोई भी स्थान इस जगत्में नहीं है ।

दूसरा आप् तत्व है, इसका गुण रस अन्नका दधि है । किछीसे यदि रस प्रमाण किया जाय तो पता लगता कि संसार में कोई भी पदार्थ स्वादहीन नहीं है । रस कबि अन्नका स्वाद सर्वत्रही है । कुछ मित्र, मित्र, अन्न, अन्न और कबाब न बरस हैं । पञ्चाचमात्रमें इनमेंसे एक वा एकस अधिक रस पाँचे पाते हैं । जगत्में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवलमात्र भी रस का स्वाद न हो ।

तीसरा अग्नि तत्व है । इसका गुण कय है वह श्वेतद्वारा प्रमाण किया जाता है । जगत्में जो कुछ भी कचन है सब अग्नितात्त्वसे कुछ है ऐसा समझ केना चाहिये । संपूर्ण जगत् कमजोर होनेसे सब अग्नितात्त्वका है ।

चौथा वायुतत्व है । इसका गुण स्पष्ट है । त्वचासे इसका अनुभव होता है । वहाँ स्पर्शका अनुभव नहीं हो सकता हो पृथा स्थान इस विषयमें कहीं भी नहीं है स्पष्ट पट्ट हो प । कठोर जल हो वा हीन तत्व सर्वत्र अनुभव होता है स्पर्श अन्न विद्यमान है इसमें कुछ भी संदेह नहीं रह जाता । अतः वायुतत्व सर्वत्र है ।

पाँचवाँ आकाश तत्व है इसका गुण शून्य है । सर्वत्र शून्य होता है । कोई स्थान ऐसा नहीं है कि वहाँ शून्य न होता हो । अन्नकाशका होना या सर्वत्रही है इसविषये आकाश भी तत्वक अपारिणत है ।

(२) ईश्वरकी प्रकृति

सुमिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धिरिव च । अहकार इतीय मे मित्रा प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्मां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवमृता महाबाहा ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय । भवं कृत्स्नस्य अगतं प्रमथ प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मथ परतर नान्यत्किंचिदस्ति धनमथ । मायि सर्वमिदं प्रोतं धृत्वे मज्जिगमा इव ॥ ७ ॥

अन्वेषः— सुमिः, वायुः जलकः वायुः ख, मना, बुद्धिः एव च अहकारः इति अष्टधा मित्रा मे इवं प्रकृतिः ॥ ४ ॥
हे महाबाहो । इवं अपरा (प्रकृतिः) अस्ति । इत्युक्तं नान्यो जीवमृतां मे परा प्रकृतिं विद्धि यथा इदं जगत् धार्यते ॥ ५ ॥
सर्वाणि भूतानि एतत् योनीनि इति उपधारय । अह कृत्स्नस्य अगतः प्रमथः तथा प्रलयः (अस्ति) ॥ ६ ॥ हे सर्वज्ञ ।
मथ परतरं नान्यत् किंचिदस्ति । धृत्वे मज्जिगमाः इव इव सर्वं मयि प्रोक्तम् ॥ ७ ॥

मेरी यह प्रकृति पृथ्वी आप तेज वायु आकाश मय बुद्धि और अहकार इन आठ प्रकृतियों
विमल है ॥ ४ ॥ हे महाबाहु अर्जुन । यह अपरा (अर्थात् लोक प्रकृति) है । इससे मित्र अष्टधाको आरम्भ
करनेवासी मेरी जीवकर्मों परा अर्थात् श्रेष्ठ प्रकृति है ॥ ५ ॥ सब मूलमात्र इनसे उत्पन्न हुए हैं । तू यह
भी समझ कि संपूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका कारण भी मे ही हूँ ॥ ६ ॥ हे सर्वज्ञ । 'सृष्टि' अधिक
श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है । सृष्टिमें मज्जिगमे ही प्रियोपा हुआ है ॥ ७ ॥

साधार्थ— ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् करिबे दो भाग हैं एक गौल और दूसरा सुक्ष्म । गौल विभागमें पृथ्वी वायु
तेज वायु आकाश मय बुद्धि और अहकार इन अष्टोंका समावेश होता है और सुक्ष्म विभागमें केवल अहकार
जीवकर्म है । इस जीवकर्मसे ही संपूर्ण जगत् आरम्भ किया जाता है । इस गौल और सुक्ष्म प्रकृतियों संपूर्ण जगत्से रहता
तथा प्राणी उत्पन्न हुए हैं । और ईश्वर इस संपूर्ण जगत्के उत्पत्ति पालक और लयक करता है । इस ईश्वरके अधिक श्रेष्ठ
दूसरा कुछ भी सृष्टिमें नहीं है । जिस प्रकार आकाश जलसे ऊंचे स्थानोंमें मज्जिगमे गिराई जाती है वही प्रकार इस ईश्वर
की सृष्टिआत्मामें ये सर्वजन्मादि प्रलयकर्ममग्निमें गिराई हुई हैं । दूसरे अर्थमें जैसे सुक्ष्मके आकारसे मज्जिगमे रहती है,
वैसेही ईश्वरके आकारसे जगत्के सब पदार्थ रहते हैं ॥ ४-७ ॥

ईश्वरका शरीर

(४-७) इस अध्यायमें ईश्वरकी प्रकृतिका वर्णन है । यहाँ
प्रकृतिका वर्णन है करीर । मनुष्यकी प्रकृतिका वर्णन मनुष्यका
करीर होता है वही प्रकार ईश्वरकी प्रकृति ईश्वरका करीर
ही है । यहाँ मय होगा कि ईश्वर तो अकारिणी
अर्थात् देहाहित है कि देहाहित ईश्वरके देहका वर्णन
कैसे हो सकता है । अकारिणीका कर्म होता तो बीजप्रसूतका
दर्शन आकाशमनुष्यकी मत्ता और मीनकी द्विगुणकर्मके
समान है वह मय तो कथितही है । परन्तु इस प्रश्नका
उत्तर अग्रीही अहमाके विषयमें विचार करनेसे निकल
सकता है ।

य पुरमे प्रथम पिबुस्ते विदुः परमोष्ठियम् ।

(अथर्व १ । ७१७)

जो मनुष्यके देहमें प्रथम ज्ञान प्राप्त करते हैं वे ही
परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । इस विषयमें मनु
सार जब किसी विभागके परस्पर विच्छेद होनेकी शंका उत्पन्न
हो तब उसके विषयमें अपने आन्तरिक अनुभवपर विचार
करना चाहिये । अकारिणीका करीर होता है वा नहीं इस
शंकाको अग्रही अहमा के अग्रही स्थिति यह मय पूछ
कि मेरी अत्मा तो करीरहित है किन्तु उसकी देह
है या नहीं । उत्तरमें इत्येक कहेंगे कि देह तो जीव-जन्मा
काही होता है । अहमा करीरहित है इस विषयमें किसीको
भी शंका नहीं है । इस प्रकार वस्तुतः करीरहित अत्माका
भी करीर होता है वह वायु नहीं लय है । इस प्रकार जब
यह जोयता करीरही अकारिणी जीव-जन्माका है तो वह
अहमा ही अकारिणी परमात्माका देह हुआ । इस तरह सर्व

जबमें अंदर समझीत कर लेते हैं । इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें वह अर्द्धमात्र उपस्थित है । आकाशवायु जलमें पसी आदिसे जलकी निमिषता प्रकट करता है अन्य वस्तुजात अपने निज अस्तित्वमें अपना अर्द्धमात्र प्रकट करते हैं । जगत्के प्रत्येक पदार्थमें वह अर्द्धमात्र है और वह अर्द्ध मात्र प्रत्येक स्थावर पर रह रहा है कि—

एकोऽर्धं बहु स्यात् ।

‘ मैं एक हूं, मैं बहुत बनूंगा । ’ ऐकिये एक गेहूंका दाना अपने अर्द्धमात्रसे कहता है कि अगति में एक हूँ तथापि मैं बहुत बनूंगा । ऐसा कहता हुआ वह मृत्तिमें जाता है जगता है और अनेकमें परिवर्त हो जाता है । इस तरह १५-१ वर्षोंमें एकही गेहूंका दानेके अमूर्त रूपोंको धर देवेद्येव जगत्में काम बन जाते हैं । हममेंसे प्रत्येक दाना बही कहता है कि अगति में एक हूँ पर मैं बहुत बनूंगा । वह अर्द्धमात्र इतना नहीं जा सकता । प्रत्येक बीज इसी तरह कहता है और पक्षी यह कहता है । जलजाल सूखेको व बहने देना अपने नीचे किसी सूखेको उठत न होने देना बही मात्तमा सबमें रहती है । वह सब वह करकाही प्रभाव है । इस तरह बिना करनेसे वह अर्द्धमात्र अमूर्तही निरुद्धाई पड़ेगा । बही प्रमाण है ।

रश्मि = मन

सब प्राणिमें मनके अस्तित्वका ज्ञान सबके द्वाराही होता है । तथा अन्त्यात्म पदार्थोंमें भी निष्कारकी दृष्टिके देना मान तो मनके अस्तित्वका पता लग सकता है । प्रत्येक पदार्थकी बरता अनुपमानात्मकी मिश्रण प्रत्येकका मात्तमन और दूरिकरण संघटन और विघटन प्रभावसेही हुआ करता है । इस निमेषोंमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता । इसीसे मनके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है और वह रजोगुण है ।

सुख = सुखि

सप्तगुणका प्रकटीकरण सुखिका रूप है । प्राणिमें ज्ञान प्रदान करनेके गुणसे इसका पता जाता है अन्त्यात्म प्रमाण प्रभावसे इसकी प्रतीति होती है । योग्य अनादिके प्रमाणसे सुखिका संवर्धन और अन्त्यात्म प्रमाणसे सुखिका कम होना इसके अनुभवकी बात है ।

इस तरह वह देवकी अर्ध व्याप्तिकी बरता प्रकृति है । कोई भी रश्मि इससे छाड़ी नहीं है । हमारे पास आद

होमयी है, इस कारण हम इस प्रकृतिसे मात्र प्रकारका करते हैं परन्तु परमेश्वरकी शेषक एकही जगत् प्रकृति है जिसको जगत् और प्रकृति करके कहा है—

महामाताम्याकारो मुखिरूपस्यैव च ।

इन्द्रियाण्यप्येकैव च पञ्च भोग्यगोचराः ॥३॥

इच्छा श्रेयः सुखं दुःखं संघातशेयता धृतिः ।

परात् श्रेयं समासेन, सविकारमुदाहृतम् ॥३॥

(गी. अ. ३१)

पंचमहामात्र कहकर बुद्धि, मनस्क, इन्द्रियाँ सब पञ्च विषय इच्छा इष्ट, सुख दुःख संघात कलना लब्धादि प्राणविका व्यापन और केवै हन ३१ लब्धके समुदायको सविकार श्रेय कहते हैं । यह सब इस प्रकृतिकी विस्तृत है । अस्तु इस तरह वह अर्द्धमात्र प्रकृति और प्रकृति है लब्धादि वह बचकी रहती है । वह अपना प्रकृति सदा बचकी रहती है इसलिये इसमें अर्ध विभेद होते हैं ।

सुख-रश्मि-तम

बहि प्रकृतिमें सख रश्मि और तमकी साम्य लब्धका ही ज्ञान तो बही एक प्रकृति कहकर कहती है । इसी प्रकार सख रश्मि तममें विषयता हो जानेसे इस प्रकृतिमें निरुद्धि बन जाती है । यह अमर्त इस निरुद्धिसेही प्रकट होता है । प्रकृति और निरुद्धिमें इस तरह सख रश्मि तम गुणोंकी समता और विषयताकाही जग है । समता हो वा विषयता दोनों अन्त्यात्मोंमें यह परमेश्वरकी प्रकृति है, हममें कोई भी दोह नहीं । इसी प्रकृतिमें एक अर्ध हमारा सरीर है इसलिये हमारा सरीर भी परमेश्वरके सरीरका एक भाग है । इसी तरह परमेश्वरके सरीरमें सबके सरीर समावे हैं अपना अनुष्णों वस्तुप्रतिष्ठों इच्छावस्तुप्रतिष्ठों स्थावरजगत्तों तथा सुखैवादिप्रतिष्ठों सब सरीर मिश्रण होनेका जो वह प्रबंध प्रमाणवत्की निराद देह है बही परमेश्वरका सरीर है जिसमें हरएकका विष्णुमात्र सरीर भी समाया है और कोई भी कष्टसे काहर नहीं है । बही प्रकृति निरुद्धि दर्शन है जो स्थावरहो अन्त्यात्मों प्रकट प्रकट कर लगेगे ।

अपरा-प्रकृति

बर्हातक जिसका वर्धन किया लब्धादि पंचमत्त और मन बुद्धि अर्द्धकारण को अर्द्धमात्र प्रकृति है वह अपरा प्रकृति है । वह कनिष्ठ गौल कर दिया स्थूल प्रकृति है । बर्हातकनिष्ठ

इस तरह वे पांच शब्द सर्वत्र विद्यमान हैं ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध है। वे पांच शब्द हमारे करीबों में ही हैं और संपूर्ण जगत्में भी हैं। हमारा करीब तो संपूर्ण जगत्का ही एक भेद है। इसलिये वह संपूर्ण जगत् हम पांच शब्दोंसे बना है। इसका कहनेमात्रसेही सिद्ध हो जाया है कि हमारा करीब भी रक्षितत्वमयी है।

क्या पञ्चमहाभूत भिन्न भिन्न हैं ?

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वे पंचमहाभूत भिन्न भिन्न और एक दूसरेसे भिन्नभूत पदार्थ हैं। वास्तविकमें कि इसमें संदिग्धता क्या हो सकती है। पृथ्वी आग नहीं जल नहीं, अग्नि वायु नहीं और वायु जलका नहीं। कपड़ का रसक न होवेपर भी यहाँ संदेह इस कारण हुआ कि इसका भिन्न अस्तित्व इसकी इंद्रियोंसे सुनिश्चित किया है। अर्थात् वाक्यसे ज्ञातका निरीक्षण किया। वस्त्रों वस्त्रोंकयका अनुभव हुआ। उसीका निरीक्षण वासिकाने किया और वस्त्रों वस्त्रों गंधका अनुभव हुआ। इस तरह पाँचों इंद्रियोंने पाँचों गुणोंका अनुभव किया कि वे पांच गुण वास्तव हैं। वास्तविकमें पांच गुणोंका अस्तित्व एकलोक के उन गुणोंका वास्तव करनेवाक पांच महाभूतोंके अस्तित्वकी कल्पना होती है। यह केवल हमारी कल्पनामान है। क्योंकि छद्म स्थितिमें कोई भी महाभूत इस धमपतक किसीको प्रत्यक्ष नहीं हुआ है छद्म पृथ्वी छद्म जल छद्म वायु और छद्म आकाश न तो किसीके देख और न वेकनेकी कठि जगत्का इसकी दृष्टि दृष्टि करने सकन सकन होत कोंमें मरकर रक्षककी सम्पत्ति किसी महाभूतों है। इस लिये हमच कहा कि पांच इंद्रियोंद्वारा पांच गुणोंका अनुभव होवैके इनके पांच महाभूत भिन्न भिन्न हैं देखी जायगाकी, वस्तुतः न भिन्न हैं जगत्का एकही वस्तुके वे पांच गुण हैं इस वास्तव पता काहू नहीं लगा सका है।

मात्र कीलिये किसी एक पदार्थमेंही लब्ध करन करन रत जात गंध वे पांच गुण हैं। यदि ऐसा एकही पदार्थ किसी ल्हावर हो तो हमारी पाँचों इंद्रियोंके उक्त एकही पदार्थक न पांच गुण महन किये जायेंगे। यदि जगत्के एक मुक्त पदार्थों के पांच गुण हों तो हमारी इंद्रियोंद्वारा उक्त एकही पदार्थके वे पांच गुण उही तरह किये जायेंगे।

। हमारी इंद्रियोंके विभिन्न पांच गुण प्रत्यक्ष किये जते हैं इससे जगत्में विभिन्न पांच तत्त्व हैं ऐसा निश्चयसे जानना लक्ष्यम है। क्योंकि किसी एकही मुक्तपदार्थ से इन पांच गुणोंका होना भी संभव है और देखी स्थितिमें हमारी इंद्रियोंसे इन पांच गुणोंकी उक्तकति भी देखी हो सकती है। हमें पृथ्वी आदि पांच भूत छद्म और पदार्थ स्थितिमें नहीं भी नहीं भिन्न सकते नहीं ऐसा जाना है यहाँ कम कममें लब्ध स्पर्श, कय रत गन्धका अस्तित्व किसी जाना है इसलिये एकही सत्ताके वे पांच गुण हैं ऐसा मानवकी पुष्टिपुष्ट है। जगत्का उक्त एक तत्त्वका सर्वत्र इनके वाक्यसे होवेपर कय दिखाह देता है, हमारी वाक्य उक्त पदार्थका सर्वत्र होवेपर गंधका अनुभव होता है। इसी तरह उही एक तत्त्वका अन्त्यात्मा इंद्रियोंके सर्वत्र होवैके कल्पना गुणोंका ज्ञान होता है। अनुभवके किने उक्त पांच तत्त्वोंकी विभिन्न पदार्थ और मुक्तता जगत्का रक्षककी कोई भावनाकन नहीं है।

सर्वव्यापक पांच तत्त्वोंका होना भी वास्तव है। उक्त तत्त्व हो वस्तुमें एक रक्षकपर नहीं रह सकते। वे पंचमहाभूत तो साधवच पदार्थ हैं। इसलिये यहाँ एक हीमा यहाँ गुण का रहना लक्ष्यम है। वस्तु हमें तो जगत्-तत्त्व-कल्पना-तत्त्वका अनुभव सर्वत्र होता है। इसलिये पांच महाभूत जगत्का जगत् है एका मानना कठिन है क्योंकि एकही तत्त्वके सर्वव्यापी होवैके कारण उहीके जगत् इंद्रियोंके होवैके पांच गुणोंका अनुभव होवे वर भी पृथक् पदार्थका भास होना संभव है।

यही एकलकी वह वस्तु (ये इंद्रियस्थ प्रकृति) है जो एक होती हुई इनके इंद्रियस्थोपदे पांच वा उक्त प्रकृति कीकती है। इस एक प्रकृतिके उक्त लब्ध अनुभव के पांच प्रकारकी जगत्का जगत् प्रकारकी कद करते हैं। पदार्थ पाल्पमें वह जगत् प्रकृति एकही है।

तत्त्व = अहंकार

उही तरह इस जगत् प्रकृतिमें मन पुष्टि और चक्षुषका अनुभव होता है। इसका विचार करवैके कि वे जगत् वर कलका कीलिये। इस जगत्में सर्वत्र जगत्का जगत् वस्तुमें ही दीकता है। एकही भूमिमें इसकी देख और प्रियके पांच जगत् अहंकारके कारण कदारी सिद्ध और दीकता

अपने अद्वय सप्रतीक कर देते हैं। इसी तरह प्रत्येक पदार्थमें यह अद्वैतभाव वदस्थित है। वास्तव्य अपने पते आत्मे अपनी निमित्तता प्रकट करता है अन्व वस्तुजात अपन निमित्तवस्त्वसे अपना अद्वैतभाव प्रकट करते हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थमें यह अद्वैतभाव है और यह अद्वैत भाव प्रत्येक स्थानपर यह रहा है कि—

एकोऽहं बहु स्माम् ।

‘मैं एक हूं मैं बहुत बनता।’ देखिय एक गेहूंका दाना अपने अद्वैतभावसे कहता है कि पृथिवी में एक हूं पृथिवी में बहुत बनता। दाना कहता हुआ वह भूमिमें जाता है जाता है और अनेकमें परिवर्तन हो जाता है। इस तरह १५-२ वर्षोंमें एकही गेहूंके दानेके सम्पूर्ण दृष्टीको पर देखेबोझ लगानि दान बन जाते हैं। उन्हींस प्रत्येक दाना पड़ी कहता है कि पृथिवी में एक हू पर मैं बहुत बनता। यह अद्वैतभाव इत्यादि नहीं आता। प्रत्येक चीज इसी तरह कहता है और एतेही वह कहता है। अतएव प्रत्येकी व वदव देना अपने जीके किसी दानेकी वदव व होने देना नहीं जानना अपने रहती है। यह सब अद्वैतकारका ही अभाव है। इस तरह विचार करनेसे यह अद्वैतभाव सर्वत्र ही विद्यमान रहता। नहीं उभोग्रह है।

रज = मन

सब जगत्में सबके अस्तित्वका ज्ञान मनके द्वारा ही होता है। ज्ञान अन्वत्त्व पदार्थों में विद्यमान होनेके देना ज्ञान ही सबके अस्तित्वका पता लग सकता है। प्रत्येक पदार्थकी वदव अनुपमानुषोंकी मिश्रण प्रत्येकका आकृष्य और आकर्षण संबन्ध और मिश्रण प्रत्येकही हुआ करता है। इस विषयमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता। इसीसे सबके अस्तित्वका ज्ञान ही जाता है और यह अनुपमानुष है।

सुख = बुद्धि

अनुपमानुषा प्रकटीकरण बुद्धिका रूप है। जगत्में सब प्रमाण करनेके मुखसे इसका पता लगता है अन्वत्त्व आकर्षक प्रभावसे इसकी मर्त्यता होती है। अन्वत्त्व अकर्षके प्रभावसे बुद्धिका संबन्ध और अनुपमानुष बुद्धिका बन होता प्रत्येक अनुपमानुषी बात है।

इस तरह यह ईश्वरकी सर्व-व्यापिनी वदव प्रकृति है। कोई भी रचना प्रत्येक काकी नहीं है। हमारे पास ज्ञान

ही नहीं है, इस कारण हम इस प्रकृतिको ज्ञान प्रकृति कहते हैं परन्तु परमेश्वरकी प्रत्येक एकही अपना प्रकृति है जिसकी जगत् और प्रकृति करके कहा है—

महाभूतात्म्यहंकारो बुद्धिरभ्युपगमेव च ।

इन्द्रियाण्यन्तर्लोकं च पञ्च भेदप्रयोगधराः ॥२४॥

इच्छा देवः, सुखं पुण्यं संघातक्षेत्रमा भूतिः ।

एतत् सर्वं समासेन सचिकारमुदाहृतम् ॥२४॥

(गी. अ. १३)

पंचमहाभूत अद्वैत बुद्धि अन्वत्त्व इन्द्रियों सब पंच विषय इच्छा देव, सुख पुण्य, संघात क्षेत्रमा अर्थात् आत्मिका अन्तरा और जैव हृदय २१ तत्त्वोंके अनुपमानुषों अचिकार सब कहते हैं। यह सब इस प्रकृतिका ही विस्तार है। अतएव, इस तरह यह अद्वैत प्रकृति का प्रकृति है अर्थात् यह अद्वैत रहती है। यह अपना प्रकृति सदा अद्वैत रहती है इसलिये इसमें अन्वत्त्व विभेद होते हैं।

सुख-रज-सुम

जब प्रकृतिमें सब रज और उसकी साम्य अवस्था हो जाय तो वही एक प्रकृति कहलाने लगती है। इसी प्रकार सब रज उसमें विद्यमान हो जानेसे उस प्रकृतिमें प्रकृति बन जाती है। यह अतएव सब प्रकृतिवैध्वी प्रकट होता है। प्रकृति और प्रकृतिमें इस तरह सब रज उस प्रकृति की प्रकटा और विद्यमानका ही अद्वैत है। समता हो या विद्यमान, दोनों अवस्थाओंमें यह परमेश्वरकी प्रकृति है इसमें कोई भी संदेह नहीं। इसी प्रकृतिमें एक अद्वैत हमारा शरीर है इसलिये हमारा शरीर भी परमेश्वरके शरीरका एक भाग है। इसी तरह परमेश्वरके शरीरमें सबके शरीर समान हैं अतएव अनुपमानुषों प्रकृतिवैध्वी अनुपमानुषों स्वभावभंगों तथा सुख-प्रभावोंके सब शरीर मिश्रण होनेका को यह प्रबंध अन्वत्त्वकी निराद देव है वही परमेश्वरका शरीर है जिसमें अन्वत्त्व विन्नुपमानुष शरीर भी जाता है और कोई भी अन्वत्त्व बाहर नहीं है। वही अन्वत्त्व विन्नुपमानुष देव है या अन्वत्त्व अन्वत्त्वमें प्रत्येक प्रमाण कर लेंगे।

अपरा प्रकृति

अद्वैत प्रकृति अन्वत्त्व अर्थात् पंचभूत और सब बुद्धि अद्वैतप्रकृति को अद्वैत प्रकृति है यह अपना प्रकृति है। यह अन्वत्त्व अन्वत्त्व, अद्वैत अन्वत्त्व प्रकृति है। अद्वैतप्रकृति

अथवा जो प्रयोग किया है वह उसके हीमत्वका इच्छक नहीं है मनुष्य दूसरकी अपेक्षा इसकी गोपनीय करता है। जब इस गोप्य बर्तान् गुण-मयी किंवा विगुणमयी प्रकृतिके उपरान्त परा प्रकृतिका विचार करता है।

परा-प्रकृति

परमेस्वरकी दूसरी प्रकृति परा है। जिसका जीव भी कहते हैं—

जीवभूतां मे परां प्रकृतिं विद्धि । (को० ५)

इस अणुका जीवकण विद्याग मरी (परमेस्वरकी) परा प्रकृति है। मनुष्य पञ्चपक्षी जलजन्तु चरित्रज स्नेहज अहङ्क जालि प्रकाश जीव-जगत् है। इसमें इच्छा हेतु मुक्तदुःख अकारणका अनुभव प्रकाश होता है। इच्छा-दिमें भी जीव है परन्तु वह स्वात्मविषयमें रहनेके समान बर्त-विहित व्यवस्थामें है। पञ्च-धर्ममें यह किन्चित् साम्य है और साम्य-धर्ममें यह अन्तर्गत साम्य हुआ है। यही

स्वाभावसाधर्म्यें पूरा मुक्तत्वस्थामें है। यह जो जीवसङ्ग है वह परमेस्वरकी भेद प्रकृति है मनुष्य-जरीर की जीवकका भी इसीका एक भेद है। परमेस्वरकी इस जीवकका परामकृतिको विद्याग आगम कहेके मनुष्यकी जीवकका उसका एक भेद है। इस धर्ममें भी साम्य-जीवन-कका परमात्माकी अन्तर्गत जीवकण प्रकृतिक एक विद्यागममयी है।

यथा इत्थं जगत् धार्यते । (को० ५)

इस जीवसङ्गके इस अणुकी कारण होती है। अणुके अन्तर जो अन्तर्गत परार्थमात्र हैं वे इसी जीवसङ्गके अपने अपने स्वाधर्म्य कारण धर्मों गये हैं। यथाऽन्तर्गत यथा विद्यागि चरित् दोनोंको इस जीवसङ्गके अन्तर्गत है। इस जीवसङ्गके आधारपरही यह सब अणु एक राह। यह अणु और परा प्रकृति मिलकर परमेस्वरकी प्रकृति बनती है। देखिये—

ईश्वर—[जीव-परा प्रकृति-अन्तर-अविद्याकी-अविकारी
अन्त-अपरा प्रकृति-अन्त-आधारित विद्यागि]

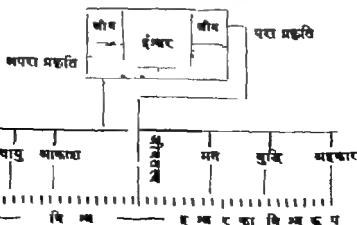
जीवात्मा—[विद्याग-अन्तर्गत जीव-अविद्याकी-अविकारी
स्वक जरीर-अन्तर्गत जीव-अविद्याकी देह विकारी प्रकृति]

जीव और अन्तर्गत यह समावयव देखनेयोग्य है। अपने देहके अन्तर ईश्वर यही पाठ विद्याग इहमें ईश्वरी आत्मनी है। इस उपाय धर्म यह परा और अपरा प्रकृतिका एक इच्छादेही गीताकी शिक्षाका पता कम अकला है।

भूतोंकी उत्पत्ति

एतद्योजनीनि भूतानि सर्वास्तीत्युपधारय । (को० ५)

‘ इस परा तथा अन्तर्गत प्रकृतिके सब भूत बर्तान् सब स्वरूप अन्तर्गत होता है। यह सब विद्यागि विद्यागि विद्यागि विद्यागि है।



(३) अगतमं ईश्वर

रसोऽहमस्मि कौन्तेय प्रमाऽसि छविर्मुख्यो । प्रजयः सर्वभेदेषु छन्दः स पौरुष नृप ॥८०॥
पुण्यो गन्ध पृथिव्यां च तदभ्यासि विभावसो । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चासि तवसि ॥९॥
वीज मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् । बुद्धिभेदमतामस्मि तेनस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बल पलवतामस्मि कामरागधिवर्जितम् । भर्माधिकृतो भूतेषु कामोऽस्मि मरतर्षम् ॥११॥
ये चैव सात्त्विका साधा राजसास्तामसाश्च ये । मय एवेति तान्विद्धि न स्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वयः— हे कौन्तेय । मैं अहम् रसः छविर्मुख्यो प्रमा असि, सर्वभेदेषु प्रजयः छन्दः स पौरुष नृप ॥ ८० ॥ पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तदभ्यासि विभावसो । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चिपु च तपः अस्मि ॥ ९ ॥ मैं सर्वभूतानां सनातनं वीजं विद्धि अहं बुद्धिमतां बुद्धिः अस्मि तेजस्विनां तेजः ॥ १० ॥ अहं च बलपलवतां कामरागधिवर्जितं बलमस्मि हे मरतर्षम् । मूढेषु भर्माधिकृतः कामः अहं अस्मि ॥ ११ ॥ ये च एव सात्त्विका राजसाः तामसाः च आधाः (ते) मया दत्त इति तान् विद्धि, अहं तु तेषु न (अस्मि) ते मयि (वर्तन्ते) ॥ १२ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं अहमे रस हूँ, सत्य और अहमे प्रमा हूँ, सब धर्मोंमें प्रजय अर्थात् अधिकार हूँ, आकाशमें शम्भु और पुरुषोंमें पराक्रम भी मैं ही हूँ ॥८०॥ मैं पृथ्वीमें गन्धम शुभ गंध हूँ सब प्राणियोंमें मैं ही जीवन हूँ तपस्वियोंमें तप मैं हूँ ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! तू समझ ले कि सब भूतोंका सनातन वीज मैं ही हूँ मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि हूँ और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥ मैं बलवानोंका बल हूँ श्रेय-रहित सब हूँ हे मरतर्षेष्ठ । सब भूतोंम भर्माधिकृत वासना भी मैं ही हूँ ॥११॥ तुझे मातृम होना चाहिये कि जा भी सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं वे सब मुझसेही उत्पन्न होते हैं । मैं समनें नहीं हूँ, परन्तु ते मुझमें (रहते) हैं ॥ १२ ॥

यहाँ जो माकार्य बनती है वे विज्ञातीय और सजातीय परायेमें बनती हैं । मुझमें कुछ मणि लोटी काटि गिरोकर जो माका बनती है वह विज्ञातीय माका है क्योंकि लूबकी मणि और मणिबोटी मणि मिश्र होती है । परन्तु लोहेके तारमें लोहेकी मणि काँदीके तारमें काँदीकी मणि, लूबके भागमें लूबकी मणि (कमल सजातीय माका भी बनती है । सजातीय माकामें जिस तरहकी मणि होती है वही तरहका भाग होता है और विज्ञातीय माकामें लूब मिश्र तरहका और मणि मिश्र तरहकी होती है ।

इस अगदूरी मणिबोटी माका बननेमें परमात्माका मुख है । हमके वह विचरनेकी मनबोहिनी माका बनी है । वहाँ बस होता है कि वह माका सजातीय है अथवा विज्ञातीय अर्थात् विचर का विचारमा अर्थात् आर अगदूरीमा वे विज्ञातीय हैं वा सजातीय हैं । अर्थात् मुखमामें लूबकी मणिबोटी अथवा लोहेमें लूबका वह माका बनती

गई है ? जैसे जो इसका उत्तर स्वयं गीता काये जाकर देनी, परन्तु इन्हीं अन्वयमें जाने कहा है कि—

वास्तुदेव सर्वम् । (गी ७/१९)

अब कुछ वास्तुदेवी है । यदि वह कबल तप है तो लूब भी वास्तुदेव है और मणिबो भी वास्तुदेवी है, देव मानना पड़ेगा । वहाँ जो केवल लूबकी वास्तुदेव है और मणिबो वास्तुदेव नहीं है ऐसा माननेवा 'वास्तुदेव सर्व' वह कबलही असत्य हो जायगा । वास्तुदेव सब कुछ है सबकी मणिबो लूबकी तरहके हैं, वही सिद्धांत मनबोहिनीकी बनी है इहमें ईश्वर नहीं हो सकता । इस विषयमें जो कुछ कथन करना होगा वह बुद्धि ब्रह्मणोके लगेव इव इव काकरी बलवताक जलगेमें करेगे । वहाँ इतनाही कह देना पर्याप्त है कि लूबमें लूबकी मणि लोहेके तारमें लोहेकी मणिसे समान वहाँ अगदू और अगदू एकही लगते हैं । इतके एव कथन विवेचन आन दिया जायगा । अगदू अगदू सर्वार्थी सब कुछ वह रहे हैं—

भाषा—पृथ्वीमें मंत्र, मन्त्रोंमें रस आग्निमें तेज, वायुमें स्पष्ट, आकाशमें सत्य स्वर्गमें प्रकाश, चन्द्रकी चंद्रिका, बेरमें अकार प्राणिमोंमें जीवन मृतोंका समाधान काम मृतोंकी अमानुषिक वासना पुत्रोंका वराक्रम यमवागोंका इच्छाहृष-
रहित वन तस्मिन्मार्गका तेज और बुद्धिमत्त्वोंकी बुद्धि ईश्वर है। इस अथर्वके सामिक राजस और तामस भाग ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर हम विकारोंमें नहीं है, परन्तु वे विकार ईश्वरमें हैं ॥ ८-१२ ॥

ईश्वरका रूप

१ (८-१२) मनुष्यके सम्मुख वह अथर्व है, वस अथर्वमें परमेश्वर विद्यमान रूपमें प्रकट रहता है। इस प्रकट उत्तरमें अथर्वान् कहते हैं कि—

१ पृथ्वीकी उत्तम सुवास ईश्वर है।

२ अन्नका रस ईश्वर है।

३ आग्निका तेज ईश्वर है।

४ वायुमें ईश्वरका स्पर्श है।

५ आकाशमें अन्ध ईश्वरका रूप है।

अर्थात् पृथ्वी, वायु, तेज, वायु आकाश इनमें अन्धका जो मंत्र रस रूप स्पर्श और अन्ध हैं, वह परमेश्वरका भाग्यक रूप है। मनुष्य कुछकी शुरुंग करता है, मनुष्य कुछका मीठा रस चखता है पदार्थका सुंदर रूप देखकर मोहर्षका अनुभव करता है उत्तम पदार्थका स्पर्शस्पर्श अनुभव करता है और जो अन्ध सुगन्ध है वह परमेश्वरके रूपकाही अनुभव है। कुछका सुगन्ध परमेश्वरकाही अन्नक रूप है मनुष्यादि पशुअन्न अन्नक परमेश्वरकाही स्वरूप है पदार्थोंके रूप स्पर्श तथा अन्धोंका विस्तार सब परमेश्वरकेही भाग्यक रूप हैं। परमेश्वरके इतना भाग्यक होनेपर भी मनुष्य कहता है कि परमेश्वर हमें भाग्यक नहीं होता इसलिए इसकी ईश्वर विकारकता आदिब और इस कार्यके निम्न अनेक क्षेत्र देखने चाहिये।

ईश्वरके विषयमें विद्वाना प्रसन्नता हुआ है। हमारे चारों ओर जो पंचमहाभूत भरे हैं वार इनका सारणीय परमेश्वरही तो है। यदि मनुष्य मंत्र रस रूप स्पर्श और अन्ध के परमेश्वरक भाग्य है वृत्ता मनुष्य विना ईश्वर भाग्यके कग भाग्य तो इसका सर्वप्रथम परमेश्वरका आकाशकार हो सकता है।

वही वायु हमारे विषयमें भी है। हमारे शरीरमें अन्नभाके रसैववही मंत्र मंत्रका जिह्वा रसका नेत्र रूपका स्पर्श स्पर्शका वायु रूपका श्रवण कर सकते हैं। इसी तरह एतत्त्व पंचमहाभूतोंमें एतत्त्व गुण मनुष्यमें आते हैं वही मनुष्य अन्नक रूप है वृत्ता मनुष्यका आदिब। वह तो वच

महाभूतस्वरूप परमेश्वरका स्वरूप है। अब मनुष्यादि प्राणिमों में परमेश्वरका कहीं और कैसे रहता है यह देखिये—

प्राणिमोंमें जो जीवनकी प्रकाश है, वह परमेश्वरका रूप है। प्रत्येक प्राणी अन्धता है अविद्य रहता है और फिर मर जाता है। अन्धते मनुष्यक वसका जीवनकाल है इसमें जो जीवनस्यक्ति कार्य करती है, वही ईश्वरीय भाग्य है। मनुष्यमें भी वह जीवन होनेसे अपनेही। जीवनमें परमेश्वर का अनुभव किंवा भाग्यकता है। वह ईश्वरीय जीवन न मिले तो कोई भी प्राणी अविद्य नहीं रह सकता। वह जीवनका अन्तकार परमेश्वरकाही भाग्य है।

वीरोंका वराक्रम बुद्धिमत्त्वोंकी बुद्धिमत्ता, तपस्विबोधों तपस्वा तस्मिन्मार्गकी तस्मिन्मत्ता, ब्रह्मिष्ठोंका वस मनुष्योंमें शीतनेवाणी वासना, वह सब परमेश्वरकाही रूप है। उक्त श्लोकमें कहा है कि मंत्र (ईश्वर) मनुष्यमें वराक्रम बुद्धिमत्ता तस्मिन्मत्ता वस वासना आदि रूपोंमें रहता है। इससे सिद्ध है कि वे सब ईश्वरकेही रूप हैं और हम सबमें अत्यन्तवत्ता ईश्वर विद्यमान है।

वीरोंमें वीरता कैसे दूर हो सकती है। ब्रह्मिष्ठोंमें ब्रह्मकी प्रवृत्ति करना कैसे संभव है। बुद्धिमत्त्वोंकी बुद्धि कलत किस तरह प्रवृत्ति की जा सकती है। ये तो दृष्टी साक्ष्या हैं। इन का प्रवृत्ति करना विनाशक अत्यन्त है। परमेश्वर वीरोंमें वराक्रमकृत्य रहता बुद्धिमत्त्वोंमें बुद्धिमत्ताके रूपसे ब्रह्मिष्ठोंमें ब्रह्मक रूपमें वह मन्त्र विद्यमान रहेगा। इस तरह मनुष्योंमें परमेश्वरक रूपका अन्नक रूपको सकता है।

यदि वीरता ईश्वरका रूप है तो सब वीर प्रवृत्ति परमेश्वर की विभूतिमें हैं। यदि बुद्धिमत्ता परमेश्वरका रूप है तो सब बुद्धिमत्ता प्रवृत्ति परमेश्वरकी विभूतिमें हैं। यदि वह ईश्वरका रूप है तो सब वसवात् प्रवृत्ति परमेश्वरकी विभूतिमें हैं। इसी प्रकार अन्धत्व गुणोंके विषयमें भी प्रसन्न केना चाहिये। वे गुणही अन्धत्व मनुष्यमें भागेवाका परमेश्वरका रूप है। इसी तरह मनुष्य अन्धत्व मंत्र रस स्पर्श ईश्वरकी विभूति देखी जा सकती है। इनमें काम कोन विभूति

है इसका विचार नाम १ में लब्धापत्तौ विधित्ववर्त्मके प्रयोगसे किया जायगा । वही केवक अनुष्मते परमेश्वरका भाव कैसे जाना जा सकता है वही देखना है और वह पूर्णोक्त प्रकारसे देखा जा सकता है ।

वही बुद्धिका उत्कर्ष है वलका प्रकर्ष है ऐक्यस्थिताका अधिकार है ज्ञानका विकास है वही परमेश्वरका भाव है देना समझना जा सकता है और वही इस तरह परमेश्वरका भाव प्रकट हुआ है जमीनो रूप विमृति कह सकते हैं । इन्हीं विमृतिबोधी पूजा होती है ।

धार्मिकार्थमें जर्मने अनुष्ठान काम जर्वात् वासना वल-धर्मोंमें हुक्काहृत्पदित वक, वे सब परमेश्वरके प्रत्यक्ष रूप हैं । वही वे भाव होंगे वही परमेश्वरका रूप प्रकट हुआ है, देना समझना जर्वात्वे । देखेही समझनोंके महत्त्वा और पुण्यतावा कहते हैं और वे ही सन्तुष्ट कोकर्म बंदनीय विधियाँ होती हैं । इसका कारण वही है कि जर्मने परमेश्वर भाव अधिक प्रकट हुआ है ।

अन्तमें १२ में शोकमें कहा है कि जो सार्विक राज्य और राज्यस भाव है, वे सब (मत्ता=बुद्धते) ईश्वरसेही संभव हैं । राज्य रचना धारिषे कि सार्विक, राज्य और राज्यस वे सब भाव ईश्वरसे होनेकी बात वही वही है । सामान्य वाचक तो सार्विक और राज्य-भाव ईश्वरसे वा परमात्मसे होने है देना जर्मने वरन्तु सामल-भाव भी जमीने हात है वह भावना लोगोंके कविम होगा । वरन्तु वही श्रद्धा कहा है कि सार्विक राज्य और राज्यस वे सब भाव ईश्वरसेही होने हैं । वही वे हीमों प्रकारके भाव ईश्वरके रूप है तो ११ में शब्दके कथनका जर्म बोधा विरलक करना पड़ेगा वही कहा है कि काम राज (हुक्का-देव) रहि वक और जर्वाबुद्ध काम ईश्वरका रूप है । वही काम-वाग्राहिन वलका जर्म सार्विक वक है और जर्वाबुद्ध कामका जर्म अमरिच और राज्य भाव है । इनसे यह बात प्रकट है कि कामराजापुत्र राज्यस वक और कामराजापुत्रकी राज्यस वक तथा जर्मविरोधी राज्यस काम ईश्वरका रूप वही है । समझने कीकम सार्विक भाव राज्य भावही ईश्वरके भाव है और सामान्य गुणईश्वरके भाव वही है देना बुझि होना है । वरन्तु वह केवक अन्विक भाव केवक राज्य भावोंमें प्रकट होनेवाला रूप समझ ईश्वरका (सामान्य

मा ईश्वर काव्याति । ॥१॥ समझ रूप वही है । ईश्वरका समझ रूप जो जगत्में सार्विक राज्य और राज्यस भावोंमें प्रकट होता है वह सब ईश्वरकाही रूप है वह समझ देनेके ही समझ ईश्वरका समझ रूप भाव जा सकता है ।

मत्ता पद्य इति साम विधि । (७:११)
मुख ईश्वरसेही वे हीमों भाव—(सार्विक राज्यस भाव सामल)—प्रकट होत हैं, देना निश्चयपूर्वक कहा है । वही जकाक किम कोई स्थान वही है ।—मिस्तमेव वे सब भाव ईश्वरसेही प्रकट हैं और किसी अन्य कारणसे वे प्रकट नहीं होते । जर्वात् हुक्को देखनेसे हुक्के जादिकारण ईश्वर काही बोध होता है ।

वह होनेवर भी हुक्के विषयमें वह बात स्थानमें समझ धारिषे कि—

से मधि (परमात्मनि)
म त्वाह (परमात्मा) तनु (वी ७:११)
वे भाव परमात्मामें हैं वरन्तु जर्मने परमात्मा वही है । उदाहरणक रूपमें हुक्की वक वृत्त, वक होने हैं वरन्तु जर्मने वसेमें केवक वृत्तमें जगत्वा केवक जर्मने संरूप हुक्की वही होता । बीजस वृत्त बनता है वरन्तु हुक्के काहमें प्रत्यक्ष बीज वही बीजता देखेही । वरमात्मासे सार्विक राज्य, राज्यस भाव वसे हैं, तथापि जर्मने परमात्मा वही है । हुक्का उदाहरण है—वाक्कीमें जक होता है वरन्तु जर्मने वाक्क वही हाते । वाक्कीमें जकसंवरजके बिजकी उत्पत्ति होती है वरन्तु वक बिजकीमें व वाक्क होता है और प्रकट । जर्मने वही निश्चयता है वरन्तु पूर्णमें जर्म वही होती । इभी तरह सार्विक राज्यस भाव राज्यस भाव ईश्वरके रूप हैं वरन्तु हुक्के जाजयने परमेश्वर वही है ।

वही वह भावनेके किसे देना समझना धारिषे कि जगत्वा भाव परमात्मका जर्मने उत्पत्ति हुक् है और परमात्मने जाजयने वने हैं वरन्तु जाजयि भावोंके रहनेमेंही वरमात्माका अस्तित्व है देना वाग वही । वही भाव अधिकतर कथनेक किसे वक और उदाहरण सेत है । किन्ती उदाहरणमें भाव वा विपुलजर्मने मुख वरमात्मक (वरमात्मा) जगत्ता है और वरमात्मकने धर्मि जगत्ता वरमात्मा वने है । हुक्के हुक्क वक काहनेका वृत्त जोहनेका और वृत्त हुक्क वक वक है वही मुख जर्मि वरमात्मकने रहती है वम

अभ्युप- ५३। विधि। गुणमयीः मायाः इह सर्वं कथं मोहितः (यतः) एवम् परं अवश्यं मां न भविष्याति ॥१३॥
 एवा देवी गुणमयी मम माया विह्वलया । न मां एव प्रपद्यन्ते ते एता मायां तस्मिन् ॥१४॥ मायायाः परहृद्यतायाः
 बाधुर मार्गं जानिष्यः शुक्लविभः मूढाः पराधमाः धीम न प्रपद्यन्ते ॥ १५ ॥

यह सब जगत् इन तीन गुणयुक्त मायोंसे मोहित हुआ है (इस कारण) इनके परे अविवर्तनी मुझ
 (ईश्वर) को वह नहीं समझ पाता ॥ १३ ॥ मेरी (ईश्वरकी) यह देवी गुणमयी माया ह्वलर है । जो
 मुझ (ईश्वर) कोही प्राप्त करत हैं वे इस मायास पार हो जाते हैं ॥१४॥ मायासे मूढ़ जादूवाले जासुरी
 मायको प्राप्त हुए बुराचारी मूढ़ पराधम मुझ (ईश्वर) को प्राप्त नहीं कर पात ॥ १५ ॥

मायायें अर्पण अल्प एवैक सात्त्विक रासस और तामस अर्पणोंसे कर्णत मोग-पराधमोंसे मोहित हुआ है इसलिये
 इनसे परे रहनेवाले ईश्वरको नहीं बहकाया जा सकता । शिष्य कठिनायकी यह किमुमुक्त माया पार करना बड़ा कर्म है ।
 जो ईश्वरको पा लेते हैं वही हम मायासे पार होते हैं । जो ईश्वरका प्राप्त नहीं कर पाते वे पराधम जासुरी वृत्तिसे मुक्त
 होकर बुराचा करते हुए जादूको वह करके मूढ़ बने रहते हैं और गिरते चले जात हैं ॥ १३-१५ ॥

मायाका स्वरूप

(१३-१५) मायाका स्वरूप क्या है और उस कारण
 मनुष्यको कैसे मोह हो जाता है यह एक विचार करनेयोग्य
 मन्त्र है । मायाके स्वरूपके विषयमें कई अद्भुत कथनान्त
 प्रसिद्ध हैं इसलिये वह अत्यन्त विचार का केना उचित
 प्रतीत होता है । माया अत्यन्त मूक कर्म कला
 कौशल द्वारा कारीगरी है । कोई कारीगर अपनी कला
 कुशलतासे मिट्टीका बड़ा बनाता है । वह मिट्टी की तब बने
 की कलाका भी नहीं थी । मिट्टीमें किसी कारीगरकी माया
 विकसित होना बच गया । बर्बाद मिट्टीसे बड़ा बनना वह
 मायासे ही हो सकता है इसलिये वह मायाका कर्म है वह
 मानवमन रूप बनेही मनुष्य उसका उपयोग करते हुए
 भोग करने लगा । वह उपयोग करते करते उसमें ऐसा कर्म
 गया कि इसके मूक कर्मसे बर्बाद मिट्टीकोही मूक गया ।
 वह प्राप्त रहनेसे आधुनिक और वह इन्द्रियें दुःखी होने
 लगी । वह चली हुवा । केवल मायाद्वारा वह कर्म करनेके
 कारण ही हुआ । इसी तरह मनुष्य कारीगरकी कलात बस्तु
 हम अत्यन्त बचाता है और कर्मसे मोहित होता रहता है ।

मनुष्य का बनाता है बचाव लगाता है विभिन्न विध और
 मूर्तियों बानी रखता है वह रक्षण ऐसा है वही दूसरा नहीं
 का सकता इत्यादि विचार प्रसक्त होते हैं । इस रक्षाका
 विचारसे अनेक सगते भी उत्पन्न होते हैं । वह सब इसी
 माय के कारण है । ईश्वरीय वृत्तिमें इश्वरकी अतुल्य माया
 विचारसे एकी का सकती है । वे सब एक व्यवस्था मनुष्य

वस्तुकी स्वातन्त्र्यमहिपार्श्वपरामर्शका अतुल्यकारीयती
 में बर्णात देवी मायासे बने हैं । इसमें परमेश्वरकी माय
 कार्य कर रही है । वह देवी मायाका कर्म है । देखने की
 कला है—

। इन्द्रो मायाभिः पुनरुप ईयते ॥ (अ. १०/१७)

इन्द्र अपनी इस मायाद्वारा अनेक कर्म अनेक
 प्रकार बचाकर चमकार करता है । इन्द्रकी यह माया
 अतुल्य है । इस मायाकी देखनेसे मनुष्य बलित होता है
 मनुष्यकी मति कुम्भित होती है कभी कभी मनुष्य प्राप्ति भी
 होता है । बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित होता है । वह सब
 की अतुल्यता केवी विकल्प है । छविही वह रमणीयता
 देखकर उस प्रेमपूर्ण रमणीयतामें मनुष्य फँसता है फँस
 होता है सुख होता है और अनर्थ करता है । अत्यन्त
 ईर्ष्यादिह इसी कारण होत हैं । और वह संकटा है कि वह
 परमेश्वरकी अतुल्य कारीगरी नहीं है । कीमता सात्विक
 मनुष्य इसमें लुप्त नहीं होता है । सुख और दुःख रक्षणसे
 अत्यन्त आनन्द मनुष्य द्वाराकोही करने पाता
 कहता है । वह मनुष्य देवी कर्मों होती है । इसका विचार
 करना चाहिये ।

मोह

सत्य एक और एक ही वीज गुणोंसे वह अर्पण कल्प
 मोहित हुआ है । जो मोहित होता है वह सत्य और सत्य
 की बर्णार्थ रीतिसे जान नहीं सकता । सत्यतया वह सत्य
 प्रकृतिक ही नाम मोह है । वह मोह विषयी ब्रह्मा है वह

मनको देख नहीं सकता । मरुतगुप्तसे मुक्त होता है रजो गुप्तके कर्सेमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुप्तसे जाकरय होता है । मनुष्यमेंही देखिये कि किसी समय मनुष्यमें जाकरय की मनुष्य होता है किसी समय मनुष्य प्रवृत्ति प्रत्यक्ष करनेमें प्रवृत्ति होता है और किसी समय मनुष्य जाकरयमें रहता है । पूर्णतः हीन गुणोंसे ये मनुष्य मनुष्यमें दिखाई देती हैं । मनुष्यकी प्रवृत्ति देखकर जान सकते हैं कि किस मनुष्यमें कीमती गुण कार्य कर रहा है ।

राजिके समय मनुष्य सोता है उस समय उसपर रजोगुप्तका प्रभाव होता है । जिस समय वह प्रवृत्तिहीन होता है उस समय जानना चाहिये कि उसपर रजोगुप्तका प्रभाव हुआ है और जिस समय वह जागरूक और शांत रहता है उस समय उसमें सरस्वती कार्य कर रहा है ऐसा जानना कठिन है । इस तरह पाठक हम तीर्थोक्त मनुष्य देख सकते हैं । जयदे अष्टाद भी इसी तरह कोमला गुण अधिक बखाना हुआ है वह मनुष्य मनुष्य जान सकता है । आय १० में और १६ में अष्टावर्षमें प्राप्त एक तमगुणोंकी परमांश फल प्रकर करनी चाहिये इस संबंधका विवेचन बहुतही विस्तारसे आवश्यक है । इसलिये इसका विवेचन वहीं पाठक देख सकते हैं ।

वह किगुणोंका साक्षरत्व हम जानमें लंबक है । अक हीन प्रकाश है मापी हीन प्रकारके हैं मानव हीन प्रकार के हैं मय वस्तु हीन प्रकारकी हैं आर संस्कारोंके हम गुणोंका उत्कर्ष अथवा उत्कर्ष होता है । इसलिये हम किगुणों की संकीर्णता बहुतही विवक्षित है । मनुष्योंकी कर्म प्रवृत्ति का प्रभाव बदलन चाहिये मय सरस्वती और रजो गुणोंके प्रवृत्ति विविध होते हैं और मनुष्य हममें कंच जाता है । पाठक विचार करें तो इनको पता लग सकता है कि ये ही गुण मनुष्यको मोहित करते हैं ।

कैसे कई मनुष्यकी वृत्ति मुक्त होते हैं इसलिये सुखेष्ट मनुष्य की हीने पीके पदता है इसी तरह रजोगुप्तमें कंच का वन कायेमें प्रवृत्ति होता है और किसी समय रजोगुप्तके जाकरयमें भी पदता पदत करता है । मानवी जीवनमें इस तरह के गुण सबको मचाते हैं और हम प्रकाश हम गुणोंसे (रजिगुणों) बंधा हुआ मनुष्य प्रवृत्ति होकर पदत नहीं जा सकता । (५३५ परमप्रवृत्ति) हमसे ये जो अधिमापी

परमात्मा है उसे जान भी नहीं सकता क्योंकि वह हम गुणोंसे जगत्में बांधा गया हुआ है । जो एक स्वभावपर बंधा हुआ होगा वह अवशक वह बांधा रहेगा अवशक हम स्वभावपर जा नहीं सकता । इसी प्रकार जो हम तीर्थगुणोंसे बांधा जाता है वह बांधी है कि भी नहीं सकता । अर्थात् हमसे ये रजिगुण के परमात्माको वह कैसे जान सकेगा ?

ये सारिक राजस और तामस माय इसी परमात्मासे होते हैं (गी ७।१२ परंतु परमात्मा हमसे परे है अर्थात् हम मयिमें नहीं है वह परे रहना हुआ हम तीर्थों में मयिमें निर्माण करता है अथवा ये) इसमें विमिश्र होते हैं । जब कोई राजा किसी स्थानमें आवेवाका होता है तो वन स्वभावके कर्मचारी स्वयं अष्टा वेरनाम ही वन स्वभावकी स्वच्छता करते हैं छोटा बहते हैं और राजासे मतकी प्रसन्नताके लिये प्रत्येक समय स्वरचना करते हैं । राजाको इसका पता भी नहीं होता । राजा न तो यह करता है और न कराता है, परंतु सब सत्कार राजाके कारवरी इतरी है राजा इसमें नहीं हाता परंतु राजाके विमिश्र वह होती है । इसी प्रकार अष्टा जगत्का सत्कार परमात्मा काही होता है वही स्वभाव सेही प्रवृत्तिमें मुक्त (साध) रज (मय) और (स्वच्छता) तम के माय होते हैं । इनके बचनेमें परमात्मा नहीं होता । तमावि के हलीके कारण बचते हैं । यही जगत्का सबसे बड़ा कारण है । ये भाव बचते विगडते और विह्वल होते रहते हैं परंतु परमात्मा सदा एकही अथवा जागरूकचित्तमें रहता है । इसका होवेपर भी मनुष्य सरस्वती-रज तमसे इसका प्रीति हा जाता है कि वह परमात्मासे आवेवाका वान भी नहीं करता ।

वह देवी माया है । अर्थात् परमात्माकी प्रवृत्तिही माय देव है । इसलिये देवी चक्रिये विना कंचका मुक्त प्रकाश जाना भी अर्थनव है । वह गुणवती है । गुणका अर्थ गुण भी होता है और रजनी भी हाता है । हममें मय रज तम हातेये वह गुणवती है अथवा ये गुण जगत्में हातेये हैं इसलिये वह रजिगुणोंके लक्षण भी कार्य करती है । वह (देवीमाया) परमात्माकी ही क रीतिही वह वान यदि एकमात्र पितृ हो जाय अथवा मयमें जाजाय वा वह रज रजामें जा लकगई कि इसका जाकर जागचरकी प्रवृत्ति ही है । यदि किसी मनुष्यको किसी राजाकी

(५) भक्तोंके चार प्रकार ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो विद्यासुरार्थाधी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकमक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम, प्रियः ॥१७॥
 उदारा सर्व एवेते ज्ञानी त्वारमैव मे मतम् । आस्मिन् स हि युक्तात्मा मामेवानुचरामां गतिम् ॥१८॥
 बहुना धन्यमाना भजन्ते ज्ञानशान्तां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

व्याख्या— हे भरतर्षभ भजन् ! आर्तः विद्यार्थी, अर्थार्थी, ज्ञानी च (इति) चतुर्विधाः सुकृतिनाः जनाः । भजन्ते ॥१६॥
 तेषां निरवयुक्तः एकमक्तिः ज्ञानी विशिष्यते । अहं हि ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः (अस्मिन्), सः (ज्ञानी) च मम प्रियः (अस्मिन्) ॥१७॥
 एते सर्वे एव उदाराः (उत्तमः) । ज्ञानी तु (मम) आत्मा एव (अस्मिन् इति) मे मतम् । सः हि युक्तः आत्मा अनुचरामां गतिं मां एव आस्मिन् (अस्मिन्) ॥ १८ ॥
 आनन्दः बहुना धन्यमाना भजन्ते ज्ञानशान्तां भजन्ते वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

जन्मसे जन्मप्राप्त हीन जन्म से बनी राजाकी आज्ञासे ही उसका सुदृष्ट हो सकता है । वही प्रकार जो वंचक परमेश्वरकी शक्तिसे होता है उसका निराकरण करनेके लिये भी परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये । इसीलिये १७ में श्लोकमें कहा है कि जो लोग परमेश्वरकी आज्ञा करते हैं, वे ही इस जन्मके बचनेके सुख हो सकते हैं । अन्य किसी वचनसे इस आत्मिक ईश्वरीय शक्तिको प्राप्त करना असम्भव ही है ।

कैसे किसी कारीगरकी कारीगरी बचता कुशलता उस कारीगरसे मिल नहीं होती उन्हीं प्रकार वह ईश्वरकी कारीगरी भावाधुनिक वचने मिल नहीं है अस्मिन् बलीमें है । शक्ति कभी शक्तिमानसे मिल नहीं होती । इसी तरह ईश्वर से भावाधुनिक मिल नहीं है । इस भावाधुनिक उर वचनक ही है अवतक किन्हीं परमेश्वरकी शक्तिकी शक्ति नहीं हुई । एक बार परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त होवेपर ज्ञानी वह नहीं वे सकती ।

देव और असुर

म नी अ १६ में कहा है कि देव और असुर के दो प्रकारके सभी रूपक हुए हैं । जिसकी वृत्ति ईश्वरकी शक्ति करनेकी ओर होती है उसका नाम देव है और इसके विरुद्ध वृत्तिमानके ओर होते हैं, उनका नाम असुर होता है । इसी वैशानुशान्ता शक्ति करनेके लिये लक्ष्मी अर्थात् शक्ति प्राप्त होता है । वही इस दोनो वृत्तियोंका विरुद्ध विरुद्ध होता है । वही अर्थात् शक्तिसे कहा है कि (छं. १७) भी ईश्वरकी (अपकर्षे)

करके जाने हैं वे (माया परमेश्वर) भावसे पर हो जाते हैं । परन्तु जो (छं. १७) ईश्वरकी शक्ति नहीं करते, वे असुर अर्थात् शक्ति होकर (माया अर्थात् अपकर्षण) अर्थात् मोहित रहते हैं (इष्टवृत्ति) । इष्टवृत्ति करते हैं, (मायाधुनिक) भी वचन करते हैं । देव और असुरके रूपक वही इसलिये कहे हैं, इन्हींका भाव १७ में उदारा है विस्तार होता है । असुरोंका वह अर्थात् ईश्वरका स्वरूप व आत्मसे उसकी शक्ति व आत्मसे और उदारी तेषां वचनेही होता है ।

जिस परमेश्वरकी वह शक्ति है वह शक्तिसे शक्ति अर्थात् वचनसे है । वह उसकी शक्तिसे है । वह वृत्ति शक्ति नहीं भी है वही वह है । वह अर्थात् शक्ति नहीं होती वे अपकर्षण अर्थात् करके (मूढ) भी रहते हैं । मूढताके कारण वचनको कर्तव्य-अकर्तव्य (अपकर्षण) अर्थात् नहीं जाता । इसलिये वचन कर्तव्य वही हो जाते । जो कर्तव्य नहीं करता वचने (इष्टवृत्ति) । इष्टवृत्ति शक्ति वचनविकारी है । कर्तव्य कर्म जो नहीं करते वे (अपकर्षण) भी वचने जाते हैं । शक्तिही शक्ति कर्म करते हैं और भी शक्ति गिरते हैं । ईश्वरका स्वरूप मूढता वह वचनसे है । इसलिये शक्ति है कि परमेश्वरके स्वरूपके आत्मसे भाव किन्हीं भाव और भावकर उसकी शक्ति वचन वचन । वचनकी शक्ति करके वचनकी शक्ति प्राप्त करके, इस वचनका के वचनसे सुख होवेका वचन किन्हीं भाव ।

इसके भाव उपासक भावकोका अर्थ शक्ति करने शक्ति है—

हे मरुतभेष्ट भर्तुन । मात (कुःक्षपीडित), जिहासु (तत्त्व ज्ञानके दृष्टिक) अर्थाधी (मागप्रति की दृष्टा करनेवाले) भीर (तत्त्व) ज्ञानी ये चार प्रकारके सहायारी मेरी मन्त्रि करते हैं ॥ १६ ॥ इनमें मित्य समभाव रखनेवाला योगी और एकमिष्ट ज्ञानी यन्त्र विधेय भेष्ट होता है । मैं ज्ञानीको मर्त्यन म्रिय हूँ भीर ज्ञानी मुझे मर्त्यन म्रिय है ॥ १७ ॥ ये सबही (उद्धार) भेष्ट हैं । ज्ञानी तो मेरी भारमाही है वेसा मैं मानता हूँ । क्योंकि यह योगी मुझे भेष्ट गति मानकर मेराही भाग्य केसा है ॥ १८ ॥ ज्ञानी मनुष्य बासुदेवही सब कुछ हैं ऐसी प्रतीति प्राप्त कर बहुत जन्मोंके मन्तर मुक्त (ईश्वर) को प्राप्त होता है । ऐसा महारमा बहुतही दुर्लभ है ॥ १९ ॥

प्रार्थन— कुछ लोग लोगोंके और हुआँके जन्म पीडित मरुत होकर ईश्वरमन्त्रि करते हैं कुछ तब जायनेकी इच्छासे मन्त्रि करते हैं, कुछ जगदि भोग प्राप्त करनेकी इच्छासे ईश्वरकी मन्त्रि करते हैं और कुछ ईश्वरका तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर उन्मत्ती मन्त्रि करते हैं । वे चारों बड़े अच्छे और पुण्यात्मा हैं । इनमें ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्नमें और समत्वभाव रूप भोगसे अनुष्ठान करनेवाला ज्ञानीयोगीही अधिक केस है । ऐसा ज्ञानी ईश्वरको विभ होता है और ईश्वर भी ऐसे ज्ञानीको जन्म विभ होता है । इस तरह परस्पर जन्म विभ होनेके कारण वे दोनों एक ही (में) मन्त्रि करते हैं । वे सभी अच्छे हैं वरतु इनमें ज्ञानी तो अस्मात्कृपी हो जाता है । वह ईश्वरको मन्त्रिय प्रत्यक्ष प्राप्त कर भोगभुक्त होकर ईश्वरही का केसक मानव करता है और उन्मत्तीको बन्ध होता है । ऐसा ज्ञानी जन्म जन्मोंके अनुष्ठानसे यह सब विभ प्राप्त पासुदेव काही रूप है । ऐसा अनुष्ठान करता है और उन्मत्ती बासुदेवकी मन्त्रिय अपने अपने बापको सेवा समर्पित करता रहता है । इसी समय वह महारमा बनता है । ऐसा महारमा इस जन्ममें जन्म दुर्लभ है ॥ १६-१९ ॥

(१६-१९) इस जगत्में जो लोग चारैश्वरकी मन्त्रि करते हैं उनके चार वर्ग होते हैं । जिस वर्गमें सबसे अधिक कष्टता भाते बाकी है ।

आर्य

जिनको व्यवहारमें कष्ट हुआ है जो आधिष्ठात्रिसे पीडित हैं जिनको व्यापारिकमें हानि उन्मत्ती बनी है ऐसे लोग जगदी मन्त्रिये जब उन्मत्ति प्राप्त करनेकी कोई जाया नहीं हैकैसे उस समय ईश्वरकी मन्त्रि करने लगते हैं । इनके मन्त्रमें ईश्वर मन्त्रिसे अपने कष्टोंको दूर करनेकी अनिच्छा रहती है । यदि बाहरी कष्ट न हो तो वे ईश्वरमन्त्रि भी नहीं करने । बाहरी होनेवाले कष्टके अनुष्ठानमेंही इनकी मन्त्रिका परिमाण रहता है । कष्टोंकी तीव्रता जितनी अधिक होती है मन्त्रिकी तीव्रता भी इनमें उन्मत्तीही अधिक हो जाती है । इनके इन मन्त्रोंकी ऐसी हीन लक्षणी जाती है । ऐसे कष्टका बन्धन तो होताही रहता है, क्योंकि ईश्वरमन्त्रि किसी भी तरह की ज्ञान उन्मत्ति केद्वारा जगदी मन्त्रि नहीं होता ।

विमोक्ष

जगद्विज्ञानकी भी ऐसी इसमें कारण है । वे लोग ज्ञान प्राप्त करता है ईश्वर बना है और वह मन्त्रिये सहायक होता

है, जगत्के बन्धन कितने तत्त्व हैं और उन्मत्ति परमज्ञाका क्या संबंध है इसका व्यापक ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रयत्न करते हैं । केसक ज्ञानकाजला इनमें प्रयत्न रहती है । ऐसे लोगोंको जब विदित होता है कि चारैश्वर सर्वोपरि है तब वे इनकी विज्ञान प्राप्त करने मन्त्रि करने लगते हैं । मन्त्रिसे उन्मत्ति होते उनके मन्त्र हैं । इनकी मन्त्रि दृष्टिक मन्त्रि नहीं होती इसका तत्त्व ज्ञान विज्ञानवादी मुक्ति करनेके विभ होता है । इनके मन्त्रमें जगद्विज्ञाना रहती है और उस कारण वे लोग ज्ञान करते रहते हैं । ज्ञान करत करत इनको जगत्में ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान होता है । केसक विज्ञानके कारण इनके ज्ञान होते हैं । इनके इनकी ऐसी जागृती केसका ऐसी है ।

अर्थाधी

इन्हींके लोगोंका नाम जन्म है कुछ लोगोंमें इन लोगोंकी कामना होती है । कई लोगोंको ईश्वरमन्त्रिसे जगद्विज्ञान भोग प्राप्त हुए ऐसी भक्तगानाई पदकर बनवा पुनकर वे लोग भोगभुक्ताकी मन्त्रि करनेके विभ ईश्वरकी मन्त्रि करते हैं । यदि किसी अन्य रीतिमें इनकी जगद्विज्ञान भोग प्राप्त हो जायें तो वे जगद्विज्ञान मन्त्रि नहीं करेंगे । वरतु

बैते, योग मिलते जाँते बैसी बैसी हजकी अन्ना खेरी
और वे अधिकारिक मन्त्रासे ईश्वरभक्ति करते जाँते । इस
तरह हजकी उक्तिका अर्थ है । जिज्ञासुकी अपेक्षा हजकी
ऐसी इसकिये ऊँची है कि न सकाम भक्ति करनेवाले को
ईश्वरके अस्तित्वका निश्चयते मान्य है और जो जिज्ञासु
होने से वे अस्तित्वको मानतेही नहीं । दोनोंमें नहीं भय
है । जिज्ञासु मार्गमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानता और
अपीची ईश्वरकी सत्ताको मानता है । यह प्रारम्भका अर्थ है
आगे उक्ति होते होते दोनों एक स्वभावपर मिल जाते हैं ।

ज्ञानी

जो घर बहर और पुष्पार्पणका अर्थपर जानता है
मानता है और हजवर अन्ना खाना है वह ज्ञानी है । वह
पुष्पार्पणमार्गकल्प अनुसरण किये मान करता रहता है ।
अनुकूल द्वारा स्वकल्पानुसरण प्राप्त करता अन्तर्गत मन और
विशिष्टात्मन का नाम और अन्तर्मनसिधित लेपादन करता ज्ञानी-
का उद्देश्य रहता है इसीसे छिपे वह भक्ति करता है । इस
प्रकारकी भक्ति बलि भेद होती है । ज्ञानीकी भक्तिका
कारण, न हो कुछ है न जोड़ है न भोगकलसा है, कुछ
महिम्ना बलका उद्देश्य है । इसकिये इस ज्ञानी मन्त्रकी
योग्यता सबसे अधिक है । इसको अनेक भक्ति करते हैं ।
हजका अन्तर्गत जीमदगवर्णिता इस तरह कहा है—

मनुष्यधर्मात्मनश्च भवि सर्वगुहाहाये ।

मनागतिरपि विच्छिन्ना यथा गंगागमसोऽनुचो ११

क्षुत्सुर्न भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युपाहृतम् ।

अद्वैतकल्पवर्णिता वा भक्ति-पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥

(श्री भा १।११)

जिस प्रकार गंगाजल बहक वैसी महागंगासे जाता
है वैसीही भिन्नका मन परमेश्वरकी ओर लीकता है उसको
अद्वैतकी भक्ति करते हैं । किसी अन्य कारणसे भिन्न
मन्त्र स्वभावकर्मसे मनकी महति ईश्वरभक्तिमें हो जाना
पूर्व कल्पसे पुष्पार्पणसेही संभव है । नहीं भेद भक्ति
है इसीको अन्तर्गत भक्ति करते हैं । यद्वागमार्गमें पूर्वोक्त
अनुक्ति अन्तर्गत वर्तन हम सका किया है—

शतुर्थिया मम अना यत्का यत् हि म अस्तम् ।

तेषामेकाग्रितमः अष्टा ये कैयान्मन्त्रेष्वेकताः ॥

अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ।

यत्तु शिष्टाक्षयो भक्ताः फलकामा हि त मताः ।
सर्वे कल्पमयमार्गसिं प्रतिपुञ्जस्तु भेदमात्रम् ॥

(म भा लक्ष्मि ३।१।११ १५)

चार प्रकारके ज्ञान ईश्वरभक्ति करते हैं उन्हें अन्य
किसी ईश्वरभक्ति भक्ति न करते हुए एकही ईश्वरकी वरात्ता
करनेवाले सबसे भेद हैं । फलकामा त्याग करते कर्म करने
वाले सर्वोक्त अन्तिम वास्तव्य ईश्वर है । अन्य तीनों
प्रकारके भक्त कर्मात् ज्ञानी जिज्ञासु जो मोक्षार्थी के तीनों
भक्त प्रकारकी रूपकासे कार्य करते हैं । इसकिये अन्तर्गत
कर्म करनेके कारण वे गिरते हैं परंतु ज्ञानी भक्त सबसे
अद्वैत होता है ।

नित्यपुक्त ज्ञानी

ज्ञानी भक्त सदा नित्यपुक्त होता है । कर्मात् उच्छ्रित
योगसाधन सत्तत और निरंतर चकता रहता है । उसके
साधनमें कुछ कमी नहीं होता । वह सर्वत्र योगसाधन
किया करता है । वह जो भी कर्म करता है वह योगी
होता है । क्योंकि उत्पत्ति होनेसे वह कोई भी अनुचित
कर्म नहीं करता । उसके कर्ममें कुछकटा रहती है, हम बात
रहता है कर्मात् योगके सब कलम उच्छ्रित कीदममें पूर्व कर्म
रहते हैं । इसकिये वह जो कुछ करता है, वह योगी
होता है । इसी कारण उच्छ्रित अमस्त आचार्य अन्तर्गत योग-
ज्ञान होता है ।

एक भक्ति

वह ज्ञान-योगी एकभक्ति भी होता है । एक ईश्वरकी
भक्ति कायेवम्भक्तो 'एकभक्ति' करते हैं । एकभिक्ता ईश्वर
की भक्ति करनेवालेको एकभक्ति कह सकते हैं । एकभिक्ता
ही योगविशिष्टी संवात्ता रहता है । यदि वह 'एकभक्ति'
न रहे और 'अनेकभक्ति' मन मात्र ही उसको कभी सिद्ध
नाक नहीं होगी । एकभक्ति होनेसे उसे सदा जारी वह सदा
होता है । वह एक भिन्नको प्राप्त होता है नहीं सिद्धि प्राप्त
कर सकता है ।

इस तरह एकभक्ति भक्त होनेके कारणही परमेश्वरकी
भक्ति होता है । हरएक एकभक्ति सेवक इसी तरह अपने
स्वाधीको भिन्न गुना करता है । उसकी एकभक्ति देखता
स्वामी उनसे प्रसन्न रहता है । इस रीतिसे स्वाधीका सेव
एकभक्ति सेवकपर मन जाता है और पुष्पका प्रेम ही स्वाधीका

होताही है। वहाँ परस्परके प्रेम मिश्र करते हैं वहाँ वे नविकायिक सहायता करते हैं और इनके इस आधारभूत कारण उनका पारस्परिक प्रेम विन प्रतिविम्ब बहता जाता है। वहाँ बात मध्य और हृदयमें होती है। वे एक दूसरेके प्रेमके बहुत संभवके मिश्र हुए रहते हैं। राजा और प्रजापति स्वामी और मृत्युमें पूर्णपति और कारीगरमें नविकायिक समर्पणका संबंध हो जाय तो यह अवश्य स्वर्गनाम बन जाय। यह संबंध मन्त्रधारणमें कालके कियेही वहाँ ईश्वर और मन्त्रका पारस्परिक संबंध और बहुत संबंध बनने दिया है। मीमांसा सत्यज्ञान केवल जन्मोंमेंही रहनेके किये गयी है यह मनुष्योंके आधारमें नाला चाहिये और उसका एक एक कोनविकसन्न राज्यशासन बनना चाहिये।

जात विज्ञान भोगार्थी और ज्ञानी व सच इश्वर हैं वहाँ मन्त्रों हैं परंतु ज्ञानी सर्वज्ञ होला है वही इन सब में मुख्य है जैसे इस क्षीरमें अम्ला है वैसेही जन्म मन्त्रों में वह ज्ञानी होला है। जैसे कोई मनुष्य जिस वैद्यके राजा का आश्रय लेता है उसकी अनाचारक रीतिसे उस राज्यमें विशेष नविकायिक प्राप्त होता है। इसी तरह वह ज्ञानी राजाओंके राजा ईश्वरका आश्रय लेनेके कारण सबसे नविकायिक धर्ममन्त्रवाच होता है।

अनेकमन्त्रोंसे सिद्धि

यह ज्ञानी मन्त्र अनेक जन्मोंमें योगसाधन करता हुआ उन्नत होता है। गत वह जन्मनाममें (श्लोक १ से ७५ तकके विवरणमें) बताया है कि कैसे साधक मन्त्रोंके धर्म मन्त्रोंके संस्कारोंका एक मन्त्र करने उन्नत होता है। इस जन्ममें जिसकी साधना हुई होती है उसका अनुसाही सुवैभव प्रतिस्तिपति अनेक जन्ममें प्राप्त होती है वहाँ वह भागेकी साधना करता है और इस तरह क्रमशः उन्नति करता हुआ जाये बहता चला जाता है। इस प्रकार उन्नत होता हुआ—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यानि परां गच्छिम् ।

(गी ११७५)

अनेक जन्मोंके अन्तर्गत उन्नत सिद्धि प्राप्त करनेके पश्चात् परम पतिको प्राप्त होता है। वही बात भागे की गयी है—

११ (दि. गी.)

यद्गतां जन्मनामगते ज्ञानयान्मां प्रपद्यते ॥

(गी ७१९)

अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानीमन्त्र मुक्त (ईश्वर) को प्राप्त होता है। इन दोनों कर्मोंका उत्तरार्ध एकही है। अनेक जन्मोंकी सपत्त्याका फल वहाँ विशेष रीतिसे देखनेयोग्य है—
वासुदेव सर्वम् ॥ इति स महात्मा सुदुर्लभः ।

(गी ७१९)

वासुदेवकी भव कुल है देना जिसकी ज्ञान हुआ होता है एला महात्मा इस जन्ममें अर्जुन दुर्लभ है। सब कुल की भी वस्तुवाच हमारे अनुभवमें नाली है वह सब वासुदेवकी है देना जिसके वह मानवकेही वह उन्नति हो सकती है। वही मन्त्र वेदादि मन्त्रोंमें भी गयी है।

पुण्य एवेह सच यद्गतां पश्य मय्यम् ।

(क १९१९)

मोक्षार एवेह सर्वम् । (कांडोप ४ १९१९)
गायत्री वा इह सर्वं भूतम् । (कांड ३ ११११)
सर्वं कश्चिद् ब्रह्म । (कांड ३ ११११) ।
प्राणो वा इह सर्वं भूतम् । (कांड ३ ११५४)
ब्रह्मेव सर्वम् । (कांड ३ ५११९; ७१५१)
एतदात्म्यमिह सर्वम् । (कांड ३ ६५४)
स एवेह सचम् । (कांड ३ ७१५१)
आत्मा वा इह सर्वम् । (कांड ३ ७१५१)
स इह सर्वं भवति । (इ ३ ११११)
इह सर्वं पश्यमात्मा । (इ ३ १११९; ११५१)
इ ३ ५)

इवमनुत्तमिह ब्रह्म सर्वम् । (इ ३ ११५१)
एतत् ब्रह्मैतत्सर्वम् । (इ ३ ५१११)
सर्वाणि भूतानि आत्मा एवाभूत् । (इ ३ ७)
ओमितीह सर्वम् । (उ ३ ११११)
ब्रह्म कश्चिद् वाच सर्वम् । (मेरी ३ १११)
ओमित्यवसरमिह सर्वम् । (मुण्ड ३ १)

इ ३ ११११; ११११; ११११

सर्वमोक्षार एव । (मुण्ड ३ १)
सर्वं ब्रह्मैतत्सर्वम् । (मुण्ड ३ १)
सर्वं पश्यमात्मा । (इ ३ ७)
ब्रह्मैव सर्वं साध्यात्मन्युत्तमम् । (इ ३ ७)

(६) अन्य देवोंके उपासक

कामिस्तैस्तैर्हृतमानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
 यो यो यो यो तनुं मत्तं भद्रयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्मात्तस्मां भद्रां तामिव विद्धान्महम् ॥२१॥
 स तथा भद्रया युक्तस्तस्मा राधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विदित्वा हि तान् ॥२२॥
 अतस्तु फलं तेषां तद्भक्त्यर्थमेव साधु । देवान्देवयज्ञां यान्ति मनुजान् यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्वयः—तैः तैः कामैः हृतमानाः स्वया प्रकृत्या नियताः (यजमानाः) तं तं नियमं आत्माय अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते ॥
 ॥ २ ॥ यो यो यो यो तनुं मत्तं भद्रयार्चितुमिच्छति तस्य तं तं नियमं आत्माय भद्रां तामिव विद्धानि ॥ २१ ॥ का तथा
 भद्रया युक्तः तस्य ॥ राधनं ईहते ततः च तथा एव विदित्वा तत्तत् कामान् मयैव विदित्वा हि ॥ २२ ॥ तेषां भक्तमेव तान् तत् फलं
 तु भक्तवत् भवति, देवयज्ञाः देवान् यान्ति मनुजान् यान्ति मां ॥ २३ ॥

भद्र इ वा इत् सर्वम् । (५ क ७)
 सखीर्द सर्वं सखीर्द सर्वम् । (५ क ७)
 आत्मा हीर्द सर्वं सखेव । (५ क ८)
 सुखम् पुत्रता सर्वम् (गिरि ३ ३)
 माराधय एवेत् सर्वम् । (भाग ३ १)
 इस प्रकार वाग्देवः सर्वे इस वचनमें कही बातही
 जनेक वचनों द्वारा कही कही गई है । जबकि जो कहना
 अधिक सत्य होता कि वेदादि ग्रंथोंके इन वचनोंमें जो
 बात कही है वही भगवद्गीताके वाग्देवः सर्वे इस वच
 नमें कही है । इन सब वचनोंका उत्तरमें कही है कि
 आत्मा भद्र माराधन पुत्रता जोकार आदिसे मिल प्राप्तका

मित्र नहीं कोई वस्तु नहीं है । इस वचनमें पूर्वोक्त वचन
 वाग्देवोंकी ओर धार कहा गया है ।

पंचम अध्यायमें सर्व सुखसम—सुखसम, भद्र यह
 स्वरूप है (म गी ५ ७) । इसका आशय है सब सुखोंमें
 आत्मा मिली आता है । इससे स्पष्ट है कि एक समय देना
 जाता है कि मिल समय सब सुखोंकी आत्मा एकी बन
 हो जाती है । इन समय के सब रूप इस वचनी आत्मने
 होते हैं ।

पंचम अध्यायमें (को ५ १८ में) कहा है कि इन
 वर्तनः सर्वत्र समानास्ते अवस्थित भद्रता सर्वत्र समाना
 यह एक तरह इतिहास वर्तन है ।

उन उन विभिन्न कामनाओंके कारण जिनका ज्ञान नष्ट हो चुका है और जो अपनी प्रकृतिके अर्थात् होनेसे पराधीन हो चुके हैं, ऐसे अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न विधिमियमोंके अनुसार दूसरे दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं ॥ १० ॥ जो जो भक्त अज्ञानसे जित जित स्वरूपकी भक्ति करता था वही उसकी उस भक्तिको उस स्वरूपमें ही सुदृढ़ करता है ॥ ११ ॥ वह उस भक्तसे युक्त होकर उस स्वरूपकी आराधना करता है और उससे मेरे द्वारा भिन्न कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ १२ ॥ इन भक्तियुक्ति लोगोंको जो फल मिलता है, वह आश्चर्य होता है । देवोंका भजन करनेवाले देवोंको प्राप्त होते हैं मरे (ईश्वरके) भक्त मुझे (ईश्वरके) मिलते हैं ॥ १३ ॥

भाषा - जिन मनुष्योंमें अनेकानेक आकांक्षायुक्त होती हैं उनकी बुद्धि उन कामनाओंके कारण नष्ट होती है अर्थात् इन कामनाओंके कारण बुद्धिका विकास नहीं होता । वह अपने आंतरिक प्रकृति-स्वरूपके अर्थात् होकर पराधीन हो नष्ट हो जाता है । ऐसे अज्ञानी लोग अपने प्रकृतिस्वरूपके अनुसार भिन्न भिन्न देवताओंकी उपासना करते हैं । जो मनुष्य जिसकी शक्ति करता है उसमें उसकी अज्ञानता होती है और उसकी अज्ञानसे अनुभवात् उसकी भक्त प्राप्त होता है । इस तरह वे लोग अपनी कामनाओंकी पूर्ति करते रहते हैं । इन अज्ञानमयिनोंमें भिन्नमेवका कम प्राप्त होता और अज्ञान अज्ञान होता है । जो अज्ञान जिसकी उपासना करता है वह उसकी ही प्राप्ति है और ईश्वरका भक्त ईश्वरको प्राप्त होता है ॥ १ - ३ ॥

भोगेच्छा

(१ २१) साधारण मनुष्योंमें अनेक भोगकामनायुक्त होती है और उनकी बुद्धिके किये उसका सब कार्य करता है । मनुष्य अनेक भोग भोगवा चाहता है मनुष्यकी अज्ञानता कामनायुक्त होती है । इन सबकी पूर्ति ही मनुष्यके किये सहा नहीं होती है । मनुष्यके सब कार्य अपनी कामनाकी पूर्तिके किये ही होते हैं । लोगोंकी इच्छासे मनुष्यकी बुद्धि बाधित हो जाती है । अतः बुद्धि लोगोंके हृत्ति संकुचित करनेके लिये नहीं होती है । एक कामना उठी उसकी पूर्ति हो गई, उसके दूसरी कामना उठी ही और उसको पूरा करनेके लिये मनुष्य अपनी बुद्धि लोकात् । दूसरा विचार करनेके लिये उसकी अज्ञानता नहीं रहता । सबज्ञान प्राप्त करके आनन्द उठाते जो पराशक्तकपट्टानेके लिये अज्ञानसे प्राप्त समझी नहीं बच जाता । अतः (कामे हवन्नाम) इन कामनाओंके कारण मनुष्यका ज्ञान नष्ट होना रहता है ।

कामनाओंमें नष्ट ज्ञानवाक्य के लोग विभिन्न वषाव करते हैं और विभिन्न देवताओंकी उपासना करनेकी चेष्टा करते हैं । वे लोग विभिन्न देवताओंकी उपासना करनेके लिये कि उन्हीं उन्हीं कामनाओंकी पूर्ति हो जाय । (अज्ञान वषाव वषाव) ।

उपासनाके तीन भेद

यह देवता आदिभक्त हैं कई राजम और कई कामनायुक्त हैं । अनेक देवताकी उपासनाविधि विभिन्न होती है । निम्न और उच्चविधयोंके भिन्न होते हैं । (उच्च निम्न आराधना) जो भिन्न देवताकी उपासना करता है वह उस देवताकी उपासना करनेके निम्न वषाव करता है । क्योंकि इन भिन्नदेवताका राजम न भिन्न नाम तो वह देवता अज्ञान ही न होगा और यदि उसकी प्रत्यक्षा न हुई तो ज्ञान नहीं मिल सकता । इसलिये वह उपासनाके निम्न वषावायुक्त विधिसे राजम करता है ।

पहिले कहा ही है कि देवता आदिभक्त राजम और कामनायुक्त हैं । (देवता अज्ञान वषाव) अतः अथ ? प्रकृतिके अनुभवात् देवताओंकी उपासना करते हैं । राजम अज्ञानके कारण राजम देवताकी और कामना प्रकृतिक कारण कामना देवताका उपासना करते हैं । इन उपासनाओंमें लोगोंमें वह अज्ञानता अज्ञानता जाते हैं । अर्थात् आदिभक्त राजम और कामना देवताओंके उपासनाओंमें अनेक अज्ञान वषाव होते हैं और अज्ञानमें अनेक अज्ञान अज्ञान हैं । इसकी निमित्त अनेक देवताओंके देवताओंके ही नाम सुनिश्चित लोगोंमें अज्ञान है । अतः कि विदुषः अज्ञान वषाव

कमल। साम्प्रिक, राजस और तामस देवताएँ हैं। इनका पृथीकरण त्रिदिशोवारी दशाधैवकी श्रुतिसे किया गया है और दशाधैवके तीन भिर मन्त्रा विष्णु मोक्षक हैं देता बताकर तीनों देवताओंके उपासकोंको एक देवताका उपासक बनाकर इनके मिटानेका भी बतल किया गया था। परंतु इससे भी कष्टकृत नहीं हुई। क्योंकि इन लग्नकोका मुक्त कारण स्वकीय मङ्गलितै है इसलिए इन लग्नकोका बाह्य उपासकोंसे मिटाना संभव नहीं है। पूर्वके विद्वांसोंने इन लग्नकोको मिटानेका उपास किया था वरुणका एक मयूषा देखिये—

लग्ने मिटानेका उपास

सर्वं रक्षतम इति मङ्गलगुण्यास्तं

युक्तः परं पुत्रय एक इहास्य ज्ञाप ।

स्विसाम्प्रिको हर्षिवरिस्त्रिहर्षति सहाः ।

अर्थात् तत्र ज्ञातुं सर्वगतमामृणां स्युः ॥

(श्री माग १।१।१३)

सर्व राज और तम के तीन मङ्गलिक पुत्र हैं इनके पुत्र होकर एकही पुत्र विष्णु, मन्त्रा और लेकर इन तीन लग्नकोको भी बचाव करता है और वही जगत्की कर्षण स्थिति और कम करता है। इस तरह एकही जगत्की पुत्रके के तीन नाम हैं पूषा, स्वयं कर्षा है। इत्यादि होनेपर भी ज्ञेय, वेत्त बोधे लग्ने न भिन्न सके। एक परमात्मकी पूजा करनी चाहिये देवता भी जलत्तरव शक्तिसे कर्षा गया है देखिये—

महं सर्वेषु मूलेषु मूलात्माऽनस्थितः सदा ।

तमवस्थाय मां मय्यः कुलेऽन्तर्निविष्टमवस्थाम् ॥११॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सत्तममाममसीश्वरम् ।

हिरणाऽर्चां भजते मीळ्याङ्गमन्येव जुहोति सा ११

(श्री माग ३।११)

मैं (ईश्वर) सब भूतोंमें सदा रहता हूँ, वरुणका जल माल कर मनुष्य पूजाकी विवर्धना करते हैं। जो सब भूतों में रहनेके सुख परमात्मा ईश्वरको व्यापक मूर्च्छासे भर्त्ता करता है वह मांको जन्ममें इनमें करता है। इस तरह जगत्की देवताओंकी उपासनाका विधेयही किया है और इस प्रकारके कामोंको स्पष्ट रूपसे मूला कहा है। वेदों की ईश्वर ज्ञप्ति बादि विभिन्न देवताओंकी उपासना करनेका विधेय किया गया है और उन नामोंसे एकही जगत् देवताका बोध जायगर तम एक देवताकी उपासना करनेका आदेश दिया है—

इमं मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो विरपः स सुपर्णो गरुडमान् । एक सप्रिया बहुधा वदन्त्यग्निं वरं मातरिभ्यानमाहुः ॥ (भा १।११।११)

तदेवाग्निस्तदाविश्यताम्रायुस्तु वरुणमा ।

तदेव सूर्यं तम् अक्षय ता आप स प्रजापति ॥

(भा १।११।११)

इन्द्र मित्र वरुण अग्नि सुपर्ण गरुडमान् वर मातरिका आग्नि वायो एकही परमात्माका वरुण होता है। इस तरह विभिन्न नामोंसे जगत् देवताकी उपासना करनेका आदेश वेदों में है। इसका होते हुए भी जोवकावतावि बुद्धिके वह हो जानेके कारण जगत्की देवताओंकी उपासना नहीं रही है। इससे जगत्में यह वह मने हैं ज्योंसे मूलासे यह और कायके कुक्षिस्थिति होती है। इस प्रकार विभिन्न विधियोंका पाठक कल्पे मूला ज्ञेय परमात्मको ज्ञेय कर जगत्की देवताओंकी उपासना करते हैं। यह ज्ञेय है जगत् है विष्णुका ज्ञेय है और वही कुक्षीका कारण है।

तनुकी उपासना

यः सां तनुं अन्वया अर्चिषु हृच्छति ।

तस्य तत्र अर्चकां अर्चां विष्णुमि ॥ ११ ॥

जो जगत् जिस तनुकी अर्चासे पूजा करता है उसकी वही ही अर्चक कहा हो जाती है। वह ईश्वर विवर्धन है जगत्का वह मनुष्यकाही वरं है कि वह अर्चा कर्षा भी मय करता है वही ही वरुण कहा वह हो जाता है। वह एक जगत्की वरुण है विष्णुको मूर्ति और परमात्म पूजा है इनके जगत् वैदिक देवता हैं पौराणिक देवता भी कुछ कम नहीं हैं वरुणका वरुण है इसके जगत्परिणत पुराणोंमें विवर्धन ज्ञेय भी नहीं देखे ही सहाजों देवता हैं। इत्यादि होते हुए भी जगत्का पूजने के निवे भी वे मारे जाते फिरते हैं। इसकी मूर्त्ता तो वरुण पार्थिव गयी है। मुख्यतया मार्ग जगत्के जगत्को देवताजगत् मानते हैं परंतु जगत्के पीछे भी देवताका जगत्पारुषी, मरिचकपरवर्ती कमी है और इस कारण वे देवता जगत्का मानते हैं कि वरुणको कोई उपासना नहीं है। ईश्वर जगत्के पुराणे पञ्चमके तो ईश्वरकीवही परमात्म पूजते ही हैं। इनके दूसरे नये पंचमों की जगत्की पीछे विष्णुदेवता है।

संपूर्णको संपूर्ण मानना, अर्थात् जो अर्द्धित मानना नहीं हुआ हीयताका कथन है। यहाँ अन्वय का अर्थ अ स्वरित है। जो स्वरित नहीं है वह अन्वय का अन्वयित है। अन्वयका अन्वय आदि जो दूसरा अर्थ है वह यहाँ अन्वयित नहीं है। जो एक अंशही मूर्तिमें सीमित है वह स्वयित है और जो संपूर्ण विधिरूप है वह अ स्वयित किंवा अन्वयित है। संपूर्ण विधिरूप होनेसे वह हमें हीयता नहीं वह वाय और है परन्तु यहाँ अन्वयितका विवेक किया है और उसके दोषने न हीयनेका यहाँ विचार नहीं है। यहाँ दो ही मान हैं—

स्वरित आपत्त	=	स्वरित न आपत्त
		अस्वरित आपत्त
		अन्वयित अस्वरित
संपूर्ण		संपूर्ण
स्वरित		स्वरित

यहाँ स्वरित बना हुआ और स्वरित न बना हुआ इत्यादी अन्वयित और स्वरित आपत्त का भाव है। और यही भाव यहाँ मुख्यतः देखनेयोग्य है। मूढ सुविधाके जोन ईश्वरको एक स्वयित मानते हैं परंतु वह स्वयित नहीं है वह तो संपूर्ण विधिरूपका है वह वाय के जानते भी नहीं। उसको संपूर्ण जाननाही ज्ञान है और उसको एक स्वयित जितना मानना वह मूढता है। यही यहाँ कहा है—

भेद भाव

मम परं मन्वयं मन्वयं मनुजस्य भावं अज्ञातम् ॥

(१४)

ईश्वरकी संपूर्ण सर्वशक्ति अविनाशी अतन अक्षय्य के मूढ भोग नहीं जानते। ईश्वरकी सत्ता सर्वशक्त है। इसके विरति उनकी एकदली जानना मूढता है अज्ञान है अविहीयताका कथन है।

हसी अज्ञानके शोक ४ आर ५ में कहा है कि पृथ्वी जल सेव वायु आकाश मम सुखि अईकार और जीवतत्त्व वर मन्वय परमेश्वरकी शक्ति है। वह ईश्वरकी शक्ति संपूर्ण विधिरूपमें व्याप्त है। एका कोई स्थान नहीं यहाँ वह न हो इसके दूरी भी नहीं हैं। यहाँ वह शक्ति है यहाँ पुन है अतः पुन भी संपूर्ण विधिरूपमें अज्ञातता प्राप्त है वर अनेक मूर्तिमें है वरु प्रत्येक मूर्तिमें समान

सीमित नहीं है। वह प्रत्येक अंशमें होता हुआ भी सर्वशक्ति है। जो उसके इस सर्वशक्ति कथन जानते हैं वे ज्ञानी हैं और जो इसका प्रत्येक स्थितिमें सीमित देखते हैं, वे मूढ हैं।

अत्र प्रकार अनेमें यहाँ होती है वेसेही एकरत सर्व शक्ति प्रत्येक पर के मूर्तिमें अज्ञात रूप है। जैसी यहाँ अने स्थिति नहीं होती वेसेही प्रत्येक मूर्ति एकरत अज्ञात शक्ति प्रत्येक प्रत्येक नहीं है। दूसरा अज्ञात मनुजसे ज्ञानमेव काय जीव हाथ पाँव अंगही वाक वाचन आदि है, वे शरीरके अंग हैं, परन्तु शरीरसे प्रत्येक नहीं है। मनुज इन सबके प्रत्येक होनेपर भी अज्ञात है। मनुज पर अन्वयमें अज्ञात भावही विद्यमान है। किन्तु प्रत्येक वर यव स्वतः भिन्न है वह मनुजका अज्ञातभावी है। इसी तरह संपूर्ण विधिरूप जो सर्वशक्ति भाव है यही परमेश्वरीय सत्ता है। इस विचारसे स्पष्ट है कि अज्ञातका अर्द्धित भाव मेरे कितनी मूढता होती है। संपूर्ण शक्ति एक स्थितिमें सीमित मानना संपूर्ण शक्ति को एक स्थितिमें सीमित मानना यही अज्ञान है। वह अज्ञान अनेक प्रकारोंमें कथन है।

अन्योपासनाका दोष

अन्यान् देवताओंकी उपासनाके दोष पूर्वस्थानमें (श्लोक १ श्लोक ११) कहे गये हैं। किसी संपूर्णको स्वयित मान केना अर्द्धित अर्द्धितका अर्द्ध अज्ञान अज्ञानी इन दोषों कारण है। वह कारण है कि पृथ्वी अत वायु आदि देवताओंकी शक्ति परमेश्वरकीही शक्ति है। किन्तु वर भी इन देवताओंमें परमेश्वरीय शक्तिका एक अंशमात्र अज्ञात हुआ है और परमेश्वरमें वह संपूर्ण शक्ति है। शक्तिकी पूर्णता और अर्द्धताका व समझनाही देवताओं तथा मनुजोंकी की उपासनाका अनेके यहाँ दोष है। इसलिये इन उपासना को निर्बुद्ध कहा है।

स्वरित यही अर्थ अर्थ है। अज्ञातका अर्थ नहीं हो सकता। स्वरित-विशेष अज्ञानके कारण माने हुए इन अनेक सत्ताके अर्थ अर्थ हैं। जैसे यहाँ आकाश है उसमें अज्ञात (वरके अज्ञात अज्ञात) और अज्ञात (वरके अज्ञात अज्ञात) आदि अज्ञात अज्ञान की ज्ञानी है। परंतु आकाशमें वह है यही आकाश अनेक अर्द्धित आर एकरत है। अज्ञात और अज्ञात वर

मनुष्यकी अवस्था है, वस्तुतः इनकोई आकाशको आश्रय ही नहीं है । येमेही किसी अद्विष्ट सत्त्वका अस्तित्वही नहीं है वही अद्विष्ट सत्त्वदानन्दस्वरूप सत्ता सर्वत्र विद्यमान है ।

परमाय	अपरमाय
अनन्य	वचन
अनुपम	हीन
अन्यथा	व्यक्त
अ व्यक्ति	व्यक्ति
अर्थात् सत्ता	अद्विष्ट भाव
अन	अन्यथाही
वेद	अ वेद (अज्ञान)
इच्छावैपरीति	इच्छावैपरीति
विद्वद्	इन्द्रजिह्व
मुक्ति	बद्धता

इस ठाँवकोसे मेघ और शुक्ल भावोंकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है । सत्यज्ञान प्राप्त करने इस परमावकी बनावट आवश्यक चाहिये और अद्विष्ट हीन भावसे मुक्त हो जाना चाहिये । वही मुक्ति है । इससे निम्न अर्थन है ।

परमावकी प्राप्ति

योगात् श्रीकृष्ण इस परमावकी अवस्थामें ने । अद्यपि वे व्यक्तिगत देहमें हीनता से परत ने जब इस अवस्थामें रहकारी होत रहे ने । प्रत्येक मनुष्य इस परमावकी प्राप्त हो सकता है । जो साधन करेगा ज्ञान प्राप्त करेगा वह इस परमावकी पहुँच सकता है । योगात् श्रीकृष्ण इस परमावमें के इसीछिये इनकी पूर्ण पुष्टि कहा जाता है । अवस्थाहीनमें इस परमावके विषयमें निम्न अर्थन है—

परमाप्नोति पूरयः ।	(गी ३।१९)
प्रकाशयति तत्परम् ।	(गी ३।२०)
ततो याति परां गतिम् ।	(गी ३।२१)
परस्परमात्मा भावोऽप्येवम् ।	(गी ३।२२)
योगी परं ब्रह्ममुपैति ब्रह्मम् ।	(गी ३।२३)
तेऽपि याति परां गतिम् ।	(गी ३।२४)
याति ते परम् ।	(गी ३।२५)
परां सिद्धिमितो गताः ।	(गी ३।२६)

इस प्रकार योगहीनमें परमावकी प्राप्त होनेके विषयमें

असंविष्ट रीतिसे अनेकवार कहा है । प्रत्येक मनुष्यको यह परमावका प्राप्त हो सकती है प्रत्येक मनुष्य इस अवस्थामें इसीछिये आता है, कि परमावका होकर उस परमावकी प्राप्त हो । इसी तरह योगात् श्रीकृष्ण इस परमावके अनुभवपर रहकारी वह अवस्था रहे है । वही अर्थात् व्यक्तिभाव पर है और योगात् श्रीकृष्ण इस अवस्था परमावपर । दोनों के स्थितियोंमें जो मेघ हीनता है उसका वही कारण है ।

क्या कोई मनुष्य इस मनुष्य देहमें रहता हुआ इस परमावकी अवस्थाका अनुभव के सकता है ? हाँ अवस्था इसमें कोई संशय ही नहीं है । इसीछिये तो गीताशास्त्रकी वस्तुति है । इसी गीतामें परमावकी प्राप्ति मार्ग बताया है । अथवा श्रीकृष्ण इस देहमें रहते हुए भी महा इस परमावके अनुभव ने, वही उनका निश्चय था । संपूर्ण गीतामें योगात् श्रीकृष्णके इस परमावके विषयमावकी साक्षी मिलती है । ऐसा होते हुए भी सबको वह अनुभव नहीं होता इसका कारण क्या है ? इसके उत्तरमें कहा है—

योगमाया

योगमायासमाधुता सर्वं लब्धस्य प्रकाशः म । (१५)

योगमायासे व्यापकहित होनेके कारण मैं सबको प्रकाशित नहीं होता । योगमायाका सर्व मायाका योग मायाकी कृति, प्रकृतिही विकृति रूप प्रकृतिसे बनी वह वृत्ति है । जैसे कोई बहुकृतिवा अवधी कलाकुशलतासे नामा कर जाना करता है अर्थात् विविध वेषमृदा पहनकर कभी कभी, कभी वीर पुरुष कभी राजा कभी राजा और कभी बनिना करता है । उसकी कुशलताका कारण अन्य योग उनके सुखकर्मकी नहीं पहचान पाते । बहुत कम तो बने ही—वीर राजा—राजा बनिना आदि मानकर जोका जाते हैं । वह महा अपनी योगमायासे—बहुकर जाना करमा की कलासे व्यापकहित रहनेके कारण किसीके द्वारा पहचाना नहीं जाता । पर वह जब किसी भी रूपमें रहे अपने आप को पहचानता ही रहता है । इसी तरह परमेष्ठन अपनी योग मायासे जगत्विष्य करोमें हन विषयमें ग्राह हो रहा है परंतु मातात्म मनुष्य समझते हैं कि जो वे हन इस विषयमें दीक्ष रहे हैं व किसी अन्य मरनेके रूप है इनमें परमेष्ठन नहीं है । वस्तुतः वस्तुतः परमावकी हीनतासे विविध करोमें अपनी योगमायासे ग्राह हो रहा है इस बने पहचाने वा

(७) भेद भावका लक्ष्य

अप्यक्त व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामधुदयः । परं माममजानन्तो ममाभ्यमनुत्तमम् ॥२४॥
 नाहं प्रकाशं सर्वस्य योगमायासमाधुत । मूढोऽयं नामिमानाति लोको मामवमन्यसम् ॥२५॥
 वेदाहं समशीतानि वर्तमानानि चार्जुन । मयिष्यामि च भूतानि मां तु वेद न कम्पन ॥२६॥
 इच्छाद्वेषसमुत्पेन इन्द्रभोदेन मारुत । सर्वभूतानि संमोहं सर्वं नान्ति परतप ॥२७॥
 येषां स्वन्तमत पाप जनानां पुण्यकर्मणाम् । ते इन्द्रभोहनिर्मुक्ता भवन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

मन्त्री आदि हैं, उनके नीचे सिपाही चपरासी आदि ओह
 बीकर होते हैं, इनके नीचे वर्तन मौजमेवाके, झाड़ू देनेवाले
 आदि होते हैं । ओह एक मनुष्य राजमन्त्रमें जाना चाहता
 है, वह महाराजाका मित्र बनकर भी जा सकता है मंत्री
 और महामंत्रीका परिचित होकर भी जा सकता है चपरासी
 का छात्री होकर भी जा सकता है और झाड़ूवालेका मन्त्री
 होकर भी जा सकता है । राजमन्त्रमें तो इन सभी बातोंके
 कोय जा सकते हैं, परंतु महाराजाका मित्र बनकर जानेमें
 महाफल है और चपरासीके माध्यमसे जानेमें अत्यन्त कष्ट
 है । इस बातका परिचय करकेगाते हो सकते हैं । वहाँका
 भाषा देखिये—

वेदमें	राष्ट्रमें	विश्वमें
मन्त्रमा	महाराजा	परमेस्वर
काम	महामंत्री	मन्त्रि
सर्व	मंत्री	महाराज
माम	महाधिकारी	अपराध
इन्द्रियमाम	कार्यवाहक	देवतामाम
वेद	शत्रु	अपराध
(निष्ठ)	(राष्ट्र)	(मन्त्रि)
अपराध	अधिमत्त	अधिदेव

इसके पता चल सकता है कि अन्य देवताओंके अपराध
 काहीतक पहुँच सकते हैं । सिद्धमन्त्राधिकारी अत्यन्तके मध्य
 में रहकरवरा है । तीनों शक्तियोंमें विश्व एकही है । मनुष्य
 की अपराधमात्र अधिक काम है और गौणकी अपराधमात्र
 अल्प काम है । वहाँ बात वहाँ दिखलाई गई है ।

फलप्राप्तिमें भेद

अधिक अपराध अपराधी प्राप्त कर सकते हैं अधिक
 अपराध कीवशात् प्राप्त कर सकते हैं मूलिके अपराध

अपराधी प्राप्त कर सकते हैं, जैसे अपराधक दूधही या लगे
 हैं । यह देवताकी अपराधमात्र प्राप्त होनेवाली बात है ।
 अपराध जिस समय आवश्यक है उस समय अति देवताके
 पास जाना योग्य है परंतु जिस समय तथा हुआ मनुष्य
 अधिकके पास जायगा तो वह अति अपराध प्राप्त करे वह
 हो जायगा । इसी तरह अपराधसे प्राप्त हुआ पुत्र मनुष्य
 यदि कष्टदेवके पास जायगा तो उसको अति विकल करेगी
 है परंतु मीठा हुआ जीवके प्राप्त हुआ मनुष्य यदि मरी
 देवीके पास जायगा तो उसको जीवके कष्ट करेगी ।
 गौण देवताओंकी अपराधमात्र बहुत कम है । उनकी अति वि-
 शिष्ट है उनके पास एक एक अति अल्पमात्रमें रहती है ।
 वे अपने पास जो है वही दे सकते हैं और उनमेंसे सबके-
 के पास एक एकही पदार्थ देनेके किये होता है । वहाँ वे
 दूसरा पदार्थ दे ही नहीं सकते । परंतु एवं परमेश्वरके
 के अपराधके पास हर एक पदार्थ जो जिस समय अतिविकल
 उसी समय उसको प्राप्त हो सकता है । वहाँ तो जिस समय
 अपराधमात्र उस समय अपराध और जिस समय अल्पमात्र
 आदिसे उस समय जीवकता अल्पमात्रसे प्राप्त हो सकती
 है अथवा वह कष्टमात्र अति कम होगा कि वहाँ एवं
 समता सदा एकही रहती है । इसलिये अपराध और जीव-
 कता इस तरह मिली होती है कि वहाँ किसी दूसरी वर
 रक्षाकी आवश्यकताही नहीं होती वहाँ हो सकती ।

इस प्रकार विचार विमर्श करके परमेश्वरको प्राप्त करना
 और गौण देवताओंकी अपराधमात्र अल्पमात्रके देने लगे
 होती है इस बातको जाना जा सकता है और वहाँकी
 अपराधमात्र महका प्राप्त भी जा सकती है । यह बात
 लाभ करनेसे किम प्रकार काम होगा है इस विषयमें
 अवश्य जाने चाहते हैं—

अनुप्रासः— मम परं अन्तर्यं व्यक्त्यन्तु मम भावः अज्ञानम् अनुप्रासः मां व्यक्तिं आपन्नं मन्यन्ते ॥ १४ ॥ योगमाया
कामाया नहि सर्वस्व प्रकाशः न । सर्वं मूढः कोकः अन्तर्गतं मां न जनिजाताति ॥ १५ ॥ हे अर्जुन । अहं समतीतामि
वर्तमानामि च भविष्यामि च मूर्तामि चेह । अज्ञानं तु मां न वेद ॥ १६ ॥ हे पांडव भारत । सर्वमूर्तामि इच्छाद्वेषसमुत्पेय
इन्द्रमोहेन तर्गे समोहं बाप्ति ॥ १७ ॥ येषां पुत्रपदमर्मां जनानां तु बापः अन्तर्गतं ते इदमज्ञाः इन्द्रमोहमिर्मुक्ताः मां भजन्ते १८

मेरे श्रेष्ठ भविनाशी अभ्यक्त और अत्यंत उत्तम भाषको न ज्ञानमेवाके सुखिहीन लोग मुझे व्याक्ति
भावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ १४ ॥ योगमायासे भिरा रहनेके कारण मैं सबको प्रगट नहीं होता । अतः
मे मूढ लोग मुझ मन्त्रमा और भविनाशीको ठीक रीतिसे नहीं पहचान पाते ॥ १५ ॥ हे अर्जुन । मैं मूल
वर्तमान और भविष्यके सब प्राणिभावको जानता हू । परंतु मुझे काह नहीं जानता ॥ १६ ॥ हे श्रेष्ठ तप
करनेवाले भारतीय वीर । सब प्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखदुःखादि इन्द्ररूप मोहमें पड़े
हानेके कारण उत्पत्तिके समय बड़े भ्रमको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ परंतु ये इदमती इन्द्रमोहसे मुक्त
सदाचारी और मध-पाप लोग मुझेही भजते हैं ॥ १८ ॥

भाषा— ईश्वर श्रेष्ठ भविनाशी अभ्यक्त और सबसे उत्तम है । इश्वरकी इस सत्ताके जो नहीं जानते उनकाही मूढ
कहा जाता है । ऐसे लोग भवतारी पुत्रको केवल व्यक्ति अर्थात् केवल व्यक्ति मानते हैं और उसके व्यापक भावका नहीं
जानते ॥ ईश्वर अपनी बोधमात्रसे भिरा रहनेके कारण सबको प्रगट नहीं होता अतः ये मूढ लोग इस मन्त्रमा और
भविनाशीको जान नहीं सकते ॥ ईश्वर तीनों कालोंमें अवस्थित मूलभावको पचाव आता है परंतु ईश्वरको इतनेसे
कोई नहीं जानता ॥ इच्छा द्वेषके कारणही सब सुखदुःखादि इन्द्र होते हैं तब इस इन्द्रके मोहमेंही कचे रह जाते हैं ।
जबसे वह बड़ा भारी भ्रम रहता है ॥ वरतु जो लोग इन्द्रके मोहसे दूर रहते हैं और अपने सदाचारमें स्थिर रहनेके कारण
जो विद्या हो चुके हैं व ही विज्ञान होकर एकनिष्ठसे इश्वरकी शक्ति करते हैं और उच्च होते हैं । परंतु जो लोग
इन्द्रके मोहमें पड़े हैं वे ईश्वरकी शक्ति न करते हुए किसी अन्य कार्यमेंही अपने आपका लगाव है और गिरते जाते हैं १४-१८

अभ्यक्ति और व्यक्ति

(१४-१८) छुद्र विपरीती उपपत्तमा औदकर महान्
की उपाधवाद्वाता महारकी मापन करना चाहिये वह बहोतक
वरकका धार है । अब छुद्रत्व क्या है और महार क्या है
इसका स्पष्टीकरण करते हैं । वह इस प्रकार है—

छुद्रत्व	महार
व्यक्ति (एक)	अमूर्त (संघ)
व्यक्ति	समष्टि
व्यक्त	अव्यक्त
व्यक्ति	अव्यक्ति
एक	अन्य
अ-य प्रति	स-य प्रति
विपरीत (अ-धर)	अर्थ
कतु (अ-विपरीत)	विरत
अज्ञ	अपत्ति
अज्ञ	मृगा

इस व्यक्तिके मनमें छुद्रत्व और महारकी कल्पना हो
सकती है । अनुप्रास छुद्र न बनकर महासामर्थ्यवान् बने
इसलिये शास्त्र बनाए गये हैं । इसी उद्देशसे कहा है—

अनुप्रासः अभ्यक्तं मां व्यक्तिकं आपन्नं मन्यन्ते ॥ १४

मिर्मुह मनुष्य अभ्यक्त ईश्वरको व्यक्तिके भावका प्राप्त
हुआ मानते हैं । अभ्यक्त संप्रका वर्ण 'अन्तर्य
जगत्वा, ईश्वरातीत है और व्यक्ति का अर्थ 'व्यवत
इस गाथा ईश्वरियमन् व्यक्तिके व्यक्ति होता है । मूढ
लोग अव्यक्त ईश्वरको व्यक्त मानते हैं । वह मि संदेह एक
प्रकारकी मूर्खता है परंतु वही जो व्यवतविवक्त मूर्खता है
वह दूसरे प्रकारकी है । वह अर्थ समझनेके क्षिप्त दूषित
वाचन निम्न प्रकारके किशोरा चाहिये—

अनुप्रासः अभ्यक्तं मां व्यक्तिकं आपन्नं मन्यन्ते ॥ १४

मिर्मुह लोग व्यक्ति न बने हुए मूल ईश्वरकी व्यक्ति
कना हुआ मानते हैं । अर्थात् सुखिहीन जगत् अन्तर्
सर्व ईश्वरकी एक व्यक्तिके समाव अर्थात् मानते हैं ।

न बहूषानि । वह विचक्षणों का है । इसमें कोई नहीं है । परमेश्वर ही सबसे अधिक कुशल बहूषानि-विचक्षणी है । वही वात प्रकट करने के लिए कहा है—

मूढा मां बभूवुः संप्रपद्यं मामिच्छन्माति । (१५)

मूढ़ जन मुझसे भज्यमा और भविष्यती वही वातवा परम मात्मा है कि मैं इस शरीर के साथ जन्मा हूँ और शरीर के साथ वातवा प्राप्त हो जाऊंगा । वही हम मातृत्व की मूढता है क्योंकि है इस परमात्मको वही जानते ।

मिथीका एक वेषा है, यदि हमने कनेक छोटे छोटे टुकड़े किए तब तो मिथीके स्पृक धातुके टुकड़े हो गये वस्तु वसा उसकी मिथालके भी टुकड़े हो गये । मिथीके टुकड़े टुकड़े होनेपर भी मिथालके टुकड़े वही होते । इसी तरह परमेश्वर के अनेक रूप धारण करनेपर वह क्योंकि रहनेपर अवसा तब हो जानेपर भी परमेश्वर की अक्षर सत्ता में कोई भ्रम नहीं होता ।

उदाहरण के लिये— सोने के अनेक आभूषण बनाने जानेपर सोने के मिश्रकर्मों की वजह विचार होगा ? सोना आभूषण बनाने का वा बसा पर रहता है वह छोटाही । इसी तरह योगमात्रासे परमेश्वर के विचक्षण धारण किया जगता न किया पर वही वस्तु सत्ता में कीवही मूढता जगता अधिकता जायी है । जगत्प्रोत्पत्ति इसी कारण जन्मक कहा है—

जज्ञऽपि सप्रपद्यारामा भूतावामीश्वरोऽपि सत्त्व।
मरुति स्वामपिष्टाय संप्रपद्याराममायिषा ॥

(गी ११)

मैं (हम) जगत्प्रपद्यारामा भूतावामी और सब भूतों का हार दाता हुआ भी अपनी मरुति का भविष्यता होकर अपनी माताम विविध करने में जगत्प्रपद्याराम होता हूँ । जैसे कहा वह विविध मरुति के कारण मरुति पर जाता है वैसे ही अपनी कुशलता में वह मरुति परमेश्वर अपने प्राधान्य के विचक्षण वचन हमारे सामुक्त कहा है । तथा—

हृतीर्ष मे भिद्या मरुतिरहृषा ॥ ४ ॥

एतर्थांनीमि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

महं हृत्स्वस्य अधस्तः प्रथमः मरुतिरहृषा ॥ ५ ॥

(गी १०)

ईश महात्मन जन बुद्धि अधकार यह मरुति

मरुति है । इस मरुतिसे सब भूतों की उत्पत्ति होती है । (हृत्) ही सब जगत्का उत्पत्ति और जन हूँ । 'हृत्' परह मरुति और शुक्ल मिश्रकर विचक्षण वसा है । तथा—

सर्वभूतानि कौन्तेय मरुतिं ध्याति मामिहाम् ।
कल्पसूत्रे पुनस्तस्मि कल्पादी विदुर्ज्ञानम् ॥
मरुतिं स्वामवप्रथमं विदुर्ज्ञानं पुनः पुनः ।
भूतप्रामाण्यं कृत्स्नमवशं मरुतेर्बधाय ॥

(गी १०-८)

यह भूत कल्पके जन्म में मरुति में ही है और कल्पका धारण होनेकी में मरुति के वसा के वसा है । अपनी मातृत्व वसा में मरुति के वसा के वसा है । रविशके हम मरुति के वसा के वसा के वसा के वसा है । इस तरह परमेश्वर और वसा की अपनी मरुति है इस सब विचक्षणी वसति होती है । वही वात न विचक्षणी वही है—

हंकोका पञ्च

जगत् या इदमपि मसीत् तत् जगत्प्रमोदने
हं जगत् मरुति । तस्मात् तत्सर्वमपि
तद्यो यो वेषाभां मरुतिरहृषा स एव तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तद्यो मरुतिरहृषा तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तद्यो मरुतिरहृषा तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि

(४ १)

तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि
तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि तत्सर्वमपि

(४ २ १)

मरुति में एक मरुति का और मैं हूँ । ऐसा वह मरुति
मरुति में एक मरुति का और मैं हूँ । ऐसा वह मरुति
मरुति में एक मरुति का और मैं हूँ । ऐसा वह मरुति

मनुष्योंमिसे जो कोई ' मैं बड़ा हूँ ' ऐसा बोध प्राप्त करता है वह बड़ाही बन जाता है। ऐसा बामदेव अधिकांश काम हुआ जाता उसने मैं मनु हो गया था मैं सूर्य था ऐसा कहा है। (बुद्धा ४१) जाह भी जो ' मैं बड़ा हूँ ' ऐसा चाहेगा वह विषय हो जायगा। इस ब्रह्म-शक्तिको पृथक् गह करनेके किये कोई भी देवता समर्थ नहीं होते क्योंकि वह इस सबकी जगता होती है। इसके विपरीत जो मनुष्य ' मैं ब्रह्मात्मके प्रथम हूँ और मुझसे ब्रह्मात्म प्रथम है इस भावसे ब्रह्मात्म देवताओंकी वरामना करता है, वह ब्रह्मके विषयमें कुछ भी नहीं जानता। वह सबोंकी गोशक्तमें पड़ने समान बना रहता है। जैसे बहुत बड़ा एक मनुष्यके उपयोगके किये होते हैं, उसी प्रकार ऐसे मनुष्य देवताओंके उपयोगके किये होते हैं। एक पक्ष जुगावा जानेपर भी स्वामीको बुरा लगता है फिर बहुत पक्ष जानेपर उसको बहुत बुरा लगताही है। इसी कारण मनुष्यको ब्रह्मज्ञान होना हम सबोंको विव नहीं होता है।

जबसे वे छोटे छोटे देव चाहते हैं कि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी न बने और हमकीही उपासनामें फंसा रहे। यदि मनुष्य ब्रह्मज्ञानी बन जाय तो उनकी उपासना कीज जायेगी और उनके चाहने कीज नपाया रहेगा। इसलिये कुछ देव को नहीं चाहते हैं कि मनुष्य सूक्ष्म रहे ब्रह्मज्ञानी न बने और सतत हमकीही पीछे चकते रहे।

वही म नी के हम समय ब्रह्मज्ञानके छोक १ से १३ तक वह उपासक हमोंका पक्ष है ऐसा कहकर ब्रह्मात्म देवताओंकी उपासनाकी निन्दा की है। अकविबद्ध और ब्रह्मज्ञानकी हम विषयमें पकड़ी स्थिति है। इस उपनिषद् हममें वह भी कहा है कि ब्रह्मही वह सब बना और ' जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करेगा वह न केवल ब्रह्म बनेगा अपितु वह सब विवरूप बन जायेगा। हम तरह गीता और उपनिषद्मन्त्री सुकना करनेके साथसाथ स्वयं प्रकट होता है, जिसके मतमें मनुष्य पर भगवत्ता तक पहुँच सकता है। इस उपनिषद्मन्त्री वह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ब्रह्मात्म देवताओंकी उपासना ब्रह्मोपश्रान्तके समान काम करी नहीं है और माही वह ब्रह्मही स्थिति प्राप्त करनेमें कारगर हो सकती है। क्योंकि ब्रह्मात्म देवताओंके उपासक

हम देवताओंको विविध योग चढ़ाते हैं इसलिये वे उपासक उपास्य देवताके पक्ष होते हैं। जैसे हम अपने घरमें गी रखते हैं वह दूध देती है इसलिये हम उसे बकल करना नहीं चाहते बैसेही वे देवता हम उपासकोंको सुख नहीं होने दते अपने कर्तव्योंमें फंसाये रखते हैं। क्योंकि यदि उपासक सुख हो गये तो उपास्य देवताको सूझाही रहना पड़ेगा। इसलिये कुछही उपासना मनुष्यकी ब्रह्मात्मिक उन्नतिमें नहीं करी जाया है।

वह बाबा सबके सम्मुख उपस्थित होती है इसलिये ब्रह्मज्ञानमें कुछ देवताओंकी उपासना करनेकी नहीं सुविधा दे निम्ना की है। देवताप्राप्त हमोंको प्राप्त होते हैं और ईश्वरके उपासक ईश्वर बन जाते हैं। वही गत उपनिषद्मन्त्री में भी कही है।

जहं मतीताति जर्तमानानि मविध्यामि च
सूतानि वेद (परंतु) कथम मां येदुः (१५)
मैं ईश्वर भूत मविध वर्तमान-कथमें उपासक होनेवाला सब भिक्षुके बराबर जानता हूँ परंतु मुझ ईश्वर को कोई भी नहीं जानता। इसका कारण पूर्व ज्ञानमें बताया है कि ईश्वर योगमात्रसे विरा रहनेके कारण सबको भगवत् होता है। बिनाही उपश्रान्तिकी वसुकी जानत है। ऐसा क्यों होता है इसका कारण ब्रह्मके छोकमें कहा है—

अमका कारण

इच्छाद्वेषसमुरयेन तन्मोहेन सचभूतामि
समोहं याप्ति । (२०)
' इच्छा और द्वेषके कारण सुखदुःखकारि हम होत हैं और इन सुखदुःखोंके कारण सबको भ्रम होता है। मनुष्य इस भ्रममें फँसपर परदेवरका आवेमें असम हो जाते हैं। जिस पदार्थकी जिस समय इच्छा होती है उस समय उस पदार्थमें सुख होता है और जो पदार्थ जिस समय नहीं चाहिये वही मनुष्य का काम ना दुःख होता है। सुख-दुःख तो किसी पदार्थमें नहीं है वे हमकी इच्छा और द्वेषके कारण होत हैं। परंतु मनुष्य इह पदार्थोंको जोर करि पदार्थोंके द्वेष करता है और इह एक पदार्थ का सब अपना करीब ब्रह्म ब्रह्म मोहता है। इसी कारण वह स्वयंभार बना है और जोमोह उपासक हुए हैं।

एक को बाति है यह परमेश्वरकी एकही प्रकारकी कृति है। परंतु मनुष्य किसी एक कीको अन्वेषणी किसीको भाता किसीको नष्टन किसीको नाश इत्यादि कहता है। और इन भेदोंके कारण व्यवहारमें भेद उत्पन्न हो जाता है। नाश नष्टकर नाश क्षयक ही उत्पन्न होने लगते हैं।

इसी विषयका नाश एक उदाहरण दूजिये। सोना चांदी आदि अनेक वस्तुएं हैं। मूर्तमें अर्थात् परमेश्वरीय कृतिमें इतना कोई सूक्ष्म नहीं है। परंतु मनुष्यका सोना चांदी और कीटा नहीं। इसीप्रकार सोनेका सूक्ष्म यह जाता है। इस सामग्री इतना देखके कारण सोनेकी कितनी मांग बढ़ी इसके कारण कितने व्यापक उत्पन्न हुए कितने कूट्टर अर्थात् लोगोंमें आकर यह हो चुके स्वयंसाप्तिही आकाशसे कितने रातू पादात्म्य हुए और इस रातूकी अर्थात् कितने मनुष्योंका अन्त हो चुका है। केवल मनुष्यके इच्छा-देवके अल्पतः अनेक कारण यह समझ हुआ। यही इच्छा-मोह है और इसीमें सब मनुष्य पड़े हुए हैं। उत्पन्नइति न सुपर्वका सूक्ष्म अर्थिक है और न आहवा कम है। परंतु इस विषय सोनेको मनुष्यने अपने इच्छादेवके कारण होनेवाली इच्छा-मोह से विपरित जाया और उही अर्थमें यह गोते जाया रहा।

इस विषयका दूसरा उदाहरण यह है कि एकही कपास का सूत्र बंधकर कपडा बना। चाँदी कीटा और लज्जत कपडा पैदा हुआ। उहीकी रक्षाई नहीं उकिता कीटा पञ्चम पात्राया कुरता अनेक होपी आका आदि अनेक कपड पहननेके लिये अथवा विविध उपयोगके लिये बनाये गये। यह सब सामग्री अर्थात् कृताकृतसे और एकही कपासके बने हैं। परंतु इसमेंसे एक कपडा दूसरे काममें नहीं आ सकता। अपनीही कृताकृताकी कृतिसे यह इच्छा उत्पन्न हुआ और इसी ईश्वरत्वसे हमने सब व्यवहारको बाँटा हुआ है। राजदरबारके समझकी सूत्रके सामग्री लेनक कपड़ोंकी पैमिकोकी और ठीकठही बंधनवा विपरीत हीती है। मूल परमेश्वरीय अर्थमें कोई भेद नहीं है परंतु मनुष्यके इच्छादेवक कारण या इच्छा भय भये उस कारण यह जान और मोह हुआ और इसीमें अन्तकर मनुष्य सब व्यवहार कर रहा है। परमेश्वरीय विद्यमें एकही रई है वसई कोई अर्थका कारण नहीं है। परंतु यह जान मनुष्यके अपनीही कल्पनासे रहा है और यहीमें यह भ्रम हुआ है। इसमें

विचारकसे भिन्न है कि जगत्में सुखदुःख उत्पन्न होनेमें मनुष्यके इच्छादेवका प्रभाव कितना है। वस्तुतः मूल उत्पत्ती इति इच्छादेव होनेका कोई कारण नहीं परंतु इसकी उत्पत्ति यही प्रभाव है और यह सब कपडाके अन्त इच्छादेव करता है उससे सुखदुःख प्राप्तमान होते हैं और सब मायके कारण माह होता है। उस माहमें वह कपडा बना है और उत्पत्ती और इसकी रक्षिणी नहीं जाती। यह कपड मनुष्य परमत्माको जान नहीं पठा और कुछ देवताओंके कर्मों का रहा है किंवा भोग-विश्राममें वह हो गया है पराधीन बकता है और अन्तर्द्वारायें अन्तकर हीन बन जाता है।

मनुष्यको उचित है कि वह इच्छादेव छोड़ दे इसमें न केही मोहको दूर करे और उत्पत्तिका रहस्य ज्ञे। यही अर्थक ज्ञानके कोरमें समायाप्त करते हैं—

पुष्पाक्षरवर्णार्थं पार्य अन्तगत (महति)

ते दहमता। इच्छामाहर्निमुत्ता। (मां) ईश्वरं भजन्ते ॥ (१८)

को पुष्प कर्म करते हैं कपडा पाव यह हो जाता है। वे ही उत्पत्ती पुष्पत्वमा जोम इच्छामोहसे मुक्त होकर ईश्वरके आश्रित और उत्पत्ती सेवा करते हैं। पुष्प कर्म करनीकों के पाव समुक्त यह हो जाते हैं। कारण यह है कि वे ईश्वरके से मुक्त होते हैं, सुखदुःखसे इच्छामें नहीं पड़ते। ईश्वरगत कोरकर सत्त्वका आश्रय करते हैं। उत्पत्त होकर विपरीत उत्पत्तयोंकर करत हैं। यही परमेश्वरको वा अर्थक है।

ईश्वर सदा

(ईश्वरं भजन्ते) यहाँ ईश्वरका ध्यान करनेका उत्पत्त ईश्वरसेवा है। केवल नामधर करवाही ध्यान नहीं है। विपरीत परमेश्वरकी सेवा अथवा ईश्वरका प्रभाव है। अन्तर्द्वारे सब विपरीत उत्पत्तयोंका अर्थक इस बात रहा है—

सहस्रशीर्षा पुष्पा अहधारा सहस्रपाव।

अ भूमि विभक्ता कृताऽऽतिष्ठार्थायुक्तम् ॥

पुष्प एवेष्ट सर्व भूतं पञ्चम मयम् ॥

आकाशोऽयं मुक्तमासीद्वाह राजन्मा कृत।

ऊरु तद्वत् अक्षिपः पञ्चमी शूरो अजायत ॥

(अ. १ म. ११-१२)

(सहस्र शीर्ष अर्थात् आकाश और सहस्र पावोंसे पुष्प यह

(५) मोक्षप्राप्तिका यत्न

नरामरणमोक्षाय मामाभित्य यतन्ति य । ते ब्रह्म तद्भिदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् २९
साधिभूताधिदैव मां साधियश्च च ये बिदुः । प्रयाणकालेऽपि च मां ते बिदुर्मुक्तवत्स ॥ ३० ॥

इति आत्मज्ञानद्वोतामृगनिबन्धसु श्रद्धाविद्यायां बागवत्स्य श्रीकृष्णसुखसत्वादेः सावविज्ञानवागी नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

मन्त्राय- य मां आभिषि जगाम शमोक्षाव वरणिजं त तप मया कृत्य जन्मभयं नाधिकं कर्म य विदुः ॥ १९ ॥
य सावित्र्यशभिदैर् माभिषिज य मां विदुः त मुच्यते तमः मया लकाकं जपि य मां विदुः ॥ २० ॥

जा मरा भाग्य करके जरा और मरणसे मुक्त होमेका यत्न करते हैं व इस श्रद्धा को संपूर्ण अध्यात्मको और सब कर्मोंका ज्ञाते हैं ॥ १९ ॥ जो अभिभूत अभिव्यस और अधियज्ञसाहित मुमुक्षु जानते हैं विचका योग करनेवाले व सत्यक समय भी भ्रमे स्मरण करते हैं ॥ २० ॥

पुष्प भूमिपर सर्वत्र फला हुआ है। भूत अधिपति और वर
मान काकनी सब वर पुष्पही है। इसका मुख ब्राह्मण बाहु
कनिष्ठ जान वैद्य बार पाँच छत्र है। इस तरह वह
मायबी सम्राजकनी महारों हस्तवस्त्रादि अवयवोंका पुष्प
है। संपूर्ण मनुष्यवार्तिक विठले गिर बाहु पद कर्णार्ध और
पाँच हैं, वसत हम जगद्गोत्र नाशकके अवयव हैं। वही
विषकनी पुष्प मनुष्योंक उपारण है। (मनुमोहमिसुक्ता)
हवमायके उत्पन्न होवेबाहे मोहमे कुछ होकर मनुष्य इकनी
सेवा करे। ब्राह्मण कनिष्ठ वैद्य छत्र विचारोंमें कर्णार्ध
निष्ठार, पूर व्यापारी करीगर और वस्त्र मनुष्योंमें बला
बला भद्रभाव करके असमायवाक व्यवहार करना व्यवहार
में हनुमाव रक्खा है। मैं बलम मेरी कलाई जलन दूख
रेकी बलम देखा मालकर द्वैतव्यवहार करवा हनुमोहमें
रक्ता है। बार

विद्याविनयसंपन्नं ब्राह्मणे गते हस्तिनि ।

गुणि चय श्रुपाके च पाठिताः समवर्तिनः ॥

(गी ५१८)

बिनाश जाहल गाय हाथी कुठा बाँझा सबसँ
बाणी कोय समझि रहते है । अपपर एसीही समझि
रहता और मर्यादाही सखी कोय वरमचकैही अवयव है
परमचरकीही मूर्तिनो है, एसा जाहल अपने आपको उचक
बलिह जर्वाय सब जाहलसमझिको उखी नारायण पुनरुक्त
धारी मानकर अवयव भालसे उचकी छेवा करवा जर्वाय
निचयेवा करवा नद इन्द्रजालसे मुक्त होवा है । नही पुनय
कर्म है और इसीसे पाप नष्ट होता है ।

(इच्छाक्षेपसमूहः इन्द्रमाहाः) सुख सुख चाहिये और दुःख नहीं दुःखसे मुक्तहु-अभी नहीं है मैं नहीं करता मैं नकम हू और दूसरा नकम है चाहे इससे तो किसका भी दुःख हो मुझे कोई सिन्हा नहीं है मैं केवल अपने सुखको देखता वह विचारसारी वह मनुष्यों की होती है वही इन्द्र रूपसे उत्पन्न होयेगाका इन्द्रमाहा है। वही मानवी यक्षपिछे रोम्बेयाका है। वह इन्द्रमाहा जोहवा चाहिय और पूर्णक प्रकार सेपूर्ण प्राक्तियोंकी एकही परमेस्वरक देहमें एककर उनकी सेवा करक परमेस्वरकी सेवा होगी एस। सिन्हा पूर्णक प्रायना चाहिये।

स्वकर्माणां तमभ्यस्य सिद्धिं विन्दति मामकाः ॥

(नौ १८४४)

अपने कर्मसे इस परमेश्वरको पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। बहुतेक को विचार हुआ करते परमेश्वरका अल्प स्वरूप क्या है और अल्पमात्रसे क्या उसकी सेवा की जा सकती है इसकी कल्पना स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि अल्पमात्र का अर्थ है (अल्पमात्र) में अल्पसे अधिक लब्धि है। ऐसे निमित्तसे अर्थात् में अल्प के देहका एक अल्प ही ऐसा मायका अल्पकी अर्थात् परमात्मा उसे अल्पकी सेवा मायका को सेवा की जाती है वह अल्पमात्र है। (अल्पमात्रविनिर्मुक्तः) इसमात्र होकर जो सेवा होती है वह अल्पमात्र है। इस तरह जो अल्पमात्र मनुष्य अल्प होकर सेवा करते हैं वे अल्प होते हैं। जो अल्पमात्रों के अल्प कर्मों से अल्प होते हैं वे अल्प होते हैं। जो अल्पमात्रों के अल्प कर्मों से अल्प होते हैं वे अल्प होते हैं।

‘पंचतत्त्व विवेक — प्रथम हो सकता है कि इतने विभिन्न पदार्थों में एक सर्वत्र सत्ता कहाँ और कैसे रहती है ? इसका विवेक करनेके लिये पंचमहाभूत कहाँ है और कहाँ नहीं है ? इसका विवेक करना चाहिये । हमारी नाकसे गन्धका ग्रहण होता है और उससे पुच्छिका बल कर्ता है । नाकसे गन्ध का ग्रहण करनेपर तत्ता भोगा कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं कहाँ किन्तु प्रसारका गन्ध न हो । उसभासे रसका ग्रहण होता है । रसनाहारा रसका ग्रहण करनेपर कहाँ रस न हो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा । नाकसे कण्ठका ग्रहण होता है । कहाँ छि जायेगी कहाँ कण्ठ की मज्जालता होगी ? वह महत्त्वकी बात है । यह सिद्धान्त है कि विष मरमें देना कोई स्थान नहीं है कि कहाँ कण्ठका स्पर्श नहीं होता है । भोग करनेके लिये ‘ दो वस्तुओंके बीचमें जो अवकाश है वहाँ कण्ठका स्पर्श नहीं होता । परन्तु वह सत्य है । दो पदार्थोंके कर्णोंके मध्यमें किन्हीं व दिग्घात कण्ठस्थ है । है । कण्ठ धर्म ऐसा एक दूसरेमें इतना चिक्का है कि एक बहुतेरुके बराबर भी सगह बीचमें छाती नहीं है । इन्हीं तरह पृथ्वी स्वात्मक ठहर है जिसका कण्ठ सर्वत्र अनुभवमें आ रहा है । तत्त्वसे स्पर्शगुणका अनुभव होता है । कौनसा ऐसा स्थान है कि वहाँ स्पर्शका अनुभव नहीं होता ? एक रती चित्ता भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा कि वहाँ स्पर्शका अनुभव न हो । इस तरह धर्म सर्वत्र सर्वत्र स्पर्श है । नाकका तो सर्वत्रापृथ्वी है और उसका गुण सर्वत्र है, इन्द्रियोंके सर्वत्र सत्य होता है और होतेही अनुभवमें आता है ।

इसी तरह सर्वत्र और अव्यक्तित्व गीतसे सत्य स्पर्श कण्ठ रस गंधका अनुभव आता है । एक झुंके के अग्र कितना भी ऐसा स्थान नहीं है कि वहाँ इन पाँचोंका अनुभव न आता हो ।

भोग करने के पंचमहाभूत धर्म हैं । इसलिये सत्य स्पर्शदिक्का धर्म अनुभव आता है । इसमें विवेक इस बातका करना है कि हमारी नाक आँखों आदि पाँच गुणोंका ग्रहण कर सकती है ये इंद्रियों गुणोंकाही ग्रहण करती हैं, पदार्थका ग्रहण नहीं कर सकती । इसलिये पाँच गुणोंका ग्रहण होनेसे इस बातका विवेक नहीं हो सकता कि पाँच गुणोंके बात करनेवाले पाँच तत्त्व वस्तुतः विभिन्न

और अलग अलग हैं जबकि एकही सत्य तत्त्वसे पाँच इन पाँचों आँखोंका संघ होनेपर पाँच गुणोंका ग्रहण होता है ।

पाँच सत्ये हाथी देखने लगे । जो मत्ता बाँके रस पृथ्वीका उसको हाथी बाँका बैसा प्रतीत हुआ । दूसरा मत्ता काँके पास पृथ्वीका उसको रूप (काय) बैसा प्रतीत हुआ । तीसरा रूँके पास मत्ता उसकी साँप बैसा प्रतीत हुआ । चौथा रूँके पास मत्ता उसका झाँके प्रतीत दिखाई दिया और पाँचवाँ देखने पास मत्ता, उसको कानकी बरीमती कोरी बैसा प्रतीत हुआ । पाँचोंका अनुभव सत्य है परन्तु एकही सत्य वस्तु पाँचोंको पाँच अलग प्रतीत हुआ वह भी सत्यही सत्य है । इन पाँचों मेंमें प्रत्यक्ष अनुभव सत्य है इसलिये हाथीके स्वरूपके विषयमें वरा झगडा होगा । प्रत्यक्ष दूसरोंका कहन करेगा वह सत्य सत्य है, परन्तु जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है वह करेगा कि वस्तु तो एकही है, वह नाक नाक कायका अनुभव नासिक अनुभव है रूँके अनुभव नहीं है । हमारी इंद्रियोंके अनुभव भी देखेही हैं

मम की साक्षी-ममके विषयमें देख तो इसको पाँच पदार्थ समझ नहीं हुए । सत्य रस और सत्य सत्य नाकका अनुभवही सत्यही सत्यका हुआ । संसृते सिक्का ममन करनेसे ममकी कई पदार्थ कुछ देखनेके धर्म सात्विक हीनते हैं कई दुःख देखनेके धर्म तात्त्विक वरा बलते हैं और कई मिश्रित ममन बर्णात्तु कुछ कुछ देखनेके दिखाई देते हैं । वरा वनमें बरणी सामर्थ्य कहा है कि विषयमें पाँच पदार्थ नहीं हैं बरिष्ठ कुछ कुछमम है कुछ कुछमम है वरा कुछ ममममती बरननेके हैं विषयकी नासिक नासिक (सुख) रस (ममम) सत्य (दुःख) है । इसकी परिभाषा विभिन्न विचारोंके विभिन्न प्रकार की है—

धर्म	रस	सत्य
सुख	सुखदुःख मिश्र	दुःख
काय	कर्म	ब्रह्म
गुरु	दूरभूत	बसुर
मधुराद्य	दीर्घमम	मत्तरकाय
विविध	विषयमम	अपवित्र
अवाधित	अकारणिक	अनन्त

इस तरह मनुष्य मनुष्यद्वारा संपूर्ण बिना तीन प्रकारका प्रतीत होता है। अतः मन कहना है कि बिना पांच प्रकार का नहीं है अपितु तीन प्रकारका है। शब्द स्वर्ण रूप रस मधुमेयी मी मनुष्य शुद्ध शुद्ध और मिश्रित भावही है। अर्थात् सुखदायी शब्द, दुःखदायी शब्द और मधुमेय शब्द इसी तरह स्वर्णरूपमिश्रित बिन्दुमें मी समझना चाहिये। इस तरह मनुष्य अनुभव होवेसे बिना पांच प्रकारका (पंच सूतमय) है ऐसा जो द्वितीयका अनुभव या वह अनुभव हुए होकर संपूर्ण बिना तीन प्रकारका-सत्त्वगुणमायिक (त्रिगुणक) प्रतीत होवे कला। वहाँ मी वही प्रसन्नचित्त हुआ कि इन तीन गुणोंके पीछे तीन प्रकार हैं मनुष्य। एकही प्रकारमें ये तीन गुण हैं जो विभिन्न कर्मोंमें प्रकट होते हैं। जैसे मिमी दृष्टके साथ जानेसे सार्विक कर्मके साथ जानेसे राजस और वैशेदीकानेसे तामस प्रतीत होती है। इसी तरह मनुष्य प्रकार तीन गुणोंको प्रकट कर सकता है। यदि वह सत्त्व है तो इन तीनों गुणोंको प्रकट करनेवाला एकही प्रकार है, वह भी विभिन्न ही है। अतः हृत्पर और कविक कोट करनी चाहिये। मनुष्य दृष्टिके बिन्दुमें तामसी अनुभव है।

बुद्धिकी साक्षी— इसके पञ्चाक्षर हमारे पास बुद्धि है। बुद्धिको कुछ कह और कुछ सोच देना द्विगुण मनुष्य प्रतीत हुआ। बुद्धि करने कला कि कुछ बिना द्विगुण है जिसको आश्रयकार से नाम देते हैं—

अह	अवयव
प्रकृति	पुरुष
आकार	मिश्रकार
रसि	प्राण
मूर्ध	अमूर्त
रूपक	सुखम
अवैतन	सचेतन
प्रकृति	जीव
अह	अज्ञ
रस	आनन्द
व्यक्ति	अव्यक्ति

इस तरह बुद्धिके बिन्दुका निरीक्षण किया। बुद्धि संपूर्ण मनुष्यके देह मी और मनमें मिश्रित है कि वहाँ केवल होती है। (दि. गी.)

पञ्चाक्षर है जो मनुष्यको विभिन्न प्रतीत हुए और ज्ञानेन्द्रियोंको पंचबिध प्रकाश हुए। वस्तुतः ये होती हैं। फिर यहाँ वही प्रसन्न जाता है कि ये दो पदार्थ परस्परमिश्रित हैं अथवा ये एकही सहायकके विभिन्न पक्ष हैं। बुद्धि इसका निश्चय नहीं कर सकती।

आत्माकी साक्षी—इसके पञ्चाक्षर कहकार (अर्थात् अहं) का अनुभव = मैयनका अनुभव) माने वहाँ। यहाँ मैं कहनेवाला आत्मा है। बिन्दुमय मैं उसे सर्वत्र एकही कहकार केका हुआ प्रतीत हुआ। मनुष्य प्रार्थना कहना है कि मैं हूँ। इसके अतिरिक्त आत्मा देखने कला कि जब मैं जागता हूँ तबही बिना हीनका है और मैं सोता हूँ तो बिना मी हीन हो जाता है। मेरे देखनेपर बिन्दुका अस्तित्व है। आत्मा जागता है और बिन्दु ज्ञेय है। जागते बिना ज्ञेयका अस्तित्व कहा है। मेरा अपना अस्तित्व परिते है और मेरे देखनेपरही बिन्दुका अस्तित्व ज्ञात होता है। अतः वह बिन्दु मेरे ज्ञान पर अतिरिक्त है। जो मेरे ज्ञानमें है वह मुझसे भिन्न कहा है। अतः आत्माने कहा कि एकही अहं मान सर्वत्र है अर्थात् मैंही वह सब कुछ हूँ मुझसे भिन्न वह बिन्दु नहीं है।

वहाँ बिन्दु हुआ जो वह भावका उत्पन्न सर्वत्र है, इसका अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियोंको पांच प्रकारसे हुआ उसी का अनुभव मनुष्य तीन प्रकारसे हुआ और बुद्धिको दो प्रकारसे। परन्तु वस्तुतः वह एकही वस्तु है। जमना एक ओरसे देखनेसे ऊपर साथ दिखाई देता है और दूसरी ओरसे देखनेसे नीचे साथ देखा जाता है परन्तु वह वस्तु छत्राकार होनेसे केवल ऊपर मी नहीं और केवल नीचे मी नहीं, वह केवल ऊपर मी अह और केवल नीचे मी अह है अतः इसको पुरुषोत्तम कहते हैं। अतः कहा है—

धर, अधर और पुरुषोत्तम

प्रायिमो पुरुषो लोक स्रष्टास्रर पय यः ।
स्रः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽस्रर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्यम्य परमात्मेरमुदाहृतः ।
यो ह्यहमयमासिरेष विमत्यम्यय इभ्यः ॥
यस्मात्स्ररमर्तानोऽहमस्ररादपि श्रोतमः ।
अताऽसि लोकं येदे य प्रयिनः पुदयात्तमः ॥

(म गी अ १५.११-१८)

भाषा— परमेश्वरकाही आज्ञा करके जो ब्रह्मसत्त्वसे मुक्त होये किसे प्रत्यक्ष करते हैं वे ही संपूर्ण सत्त्वपूर्ण और संपूर्ण कर्मको पचावत् विनिर्दिष्ट शीते जायते हैं। ईश्वरको जब वे सत्त्वप्राप्तिमात्रमें सब देवताओंमें जोत वक्षोंमें हलते हैं तब इनको ईश्वरके अर्थात् स्वकृपा स्वरूप मुखसे कहदावक अवस्थामें भी पचावत् रहता है ॥ ११ ॥

पूर्ण ग्रन्थान्

(१९-३) (माईम्बर माधिल) केवळ ईश्वरका-
ही जाग्रत करके साधक योगी अपनी इच्छाके सिधे प्रयत्न
करते हैं । इस विद्वत्परी परमेश्वरका जाग्रत करके ने साधक
(जगामरण्यामासाय) बुद्धावस्था और सुखपूर्वप्राप्ते
मुख होतेके सिधे प्रयत्न करते हैं । जीव जगत्साथी भक्त्या
हसीको होगी जो अपने भावको ईश्वरसे पुण्य मानकर सब
विम्वानोंको अपने सिरधार ले केगा । जी परमेश्वरके कर्ममें
मिळ गया इसकी प्रती अवस्थापरमेश्वरके कर्ममें मिळ
जातेके काल इसकी जगामुक्तका भव किम प्रकार ही
सकत है । जगत् नष्ट है ईश्वरके जगत्प्रलय नष्ट है, कर्मप्रसाद

कैसे चक्र रहा है अविभूत- अविभक्तके साथ परमेष्ठा के
है, वह सब ज्ञान देखेही भक्तोंको होता है। वह ज्ञान वर-
को यदि स्पष्ट होयके कारण वसुधा धित सदा सर्वदा पर
मातृमाके साथ समुक्त रहता है। इस कारण मातृव्यक्ती
कहणपर पीडा हीनके समकाले की वसुधे परमेष्ठाका जन्मा
स्मरण रहता है। फिर अन्य समय ईश्वरका स्मरण होता
होगा इसमें क्या संदेह है ?

यहाँ कुछ अवसरों पर भी अतिथि, अतिथि-सम्मान
आदि कुछ भी होते हैं। इनका कार्य करने के लिये हमारे
आनेवाला है इसलिए हमने नियमित रूप से अतिथि-सम्मान
आदि करते हैं।

સાક્ષ્ય કલ્પના સમાપ્ત છે •

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायका मन्तव

ज्ञानका अखंड उपदेश

इस समयतक सब जन्माश्रमों में गर्तुम मर करणा है और
अगवाध् श्रीकृष्ण वसना वर है। देवक मही वासना
जन्माश्रम है जिसमें श्रीकृष्ण अगवाध् वासाववाह अर्थात्
वरदेव है। श्रीकृष्ण विष्णु विशेष करनेसे ज्ञाने किरीट
भी मर नहीं है। इसमें पूर्व ५ में जन्माश्रम देवक श्रान्ति
ही गर्तुमका मर है और ५ में जन्माश्रम के अगवाध्
श्रीकृष्णका वर है गर्तुम यह वर अर्तुमके मरनेसे मर
कारणसे ज्ञाने देवा गया है स्वयम्भूति मही। यह वासना
जन्माश्रम देवक मर अर्तुमका वर करनेसे किरीट मर गया
है। मरने वासना मरने वासना देवा वासना
अगवाध् वर अर्तुम मरनेसे किरीट देवक यह वर
मरने स्वयम्भूति वासना मरने मरने मरने है। यह वासना
वासना देवक—

नेह भूयोऽप्यश्वात्सव्यमयाशिष्यते ॥ (पौ. ११)

वहाँ इस संसार में अधिक कामनेयोग पुत्र की
विधि नहीं रहता। वे पुत्रों पर ही यज्ञधर्म की हानि होती
बहुत कम रह जाती है। वहीं इस वर्ग के उपरान्त ज्ञान
है। इसमें ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत स्वयंसेवा समाज का
हमारे हस्त में आता है वह ज्ञान अत्यन्त कम
पाठ्य है।

परमेश्वरका जगत् ज्ञान होना अर्थत कठिन है। क्योंकि परमेश्वर अर्थत है कदाचित् अनुभवकी सति जगत् प्रत्यक्ष का अर्थत है। ई मनुष्यकी मरुति अर्थात् समाधि जगत् तभी है। इसका है सत्त्वोद्विग्न अर्थत। कोई परमेश्वरके अर्थत के अर्थतका ज्ञान करता है और ऐसे ज्ञान का अर्थतको अर्थत की किसी वृत्तकी अर्थत ज्ञान हो जाता है। (गी. ५.५)

बहु आनन्द दुर्लभ ज्ञान इस अख्यायनें सबक समझमें आयेयोग्य सुखम रीतिसे कहा गया है ।

पुरुषकी प्रकृति

पुरुषकी प्रकृति है । यहाँ प्रकृतिक अर्थ सरीर, देह या पदु है । कुछ लोग समझते हैं कि पुरुष और प्रकृति पूर्ण तथा विभिन्न हैं एक दूसरेसे एकक है । बर्णाद जब प्रकृति प्रवेश मिश्र है और वेतन पुरुष सर्वथा मिश्र है । ऐसा वह भेद केवल कल्पनामयही है वस्तुता इस भावमें वेतन पुरुष और जब प्रकृति नहीं बलम अलग दोनोमें अलग नहीं रही जा सकती । केवल कल्पनादेही आकाशमें वे भेद मान किये हैं । जैसे काँचका देका और मिठास के दो कल्पनाद विभिन्न हैं, वस्तु काँचके डहेसे मिठास कभी पृथक् नहीं होता, वैसेही प्रकृतिपुरुषका पृथक्त्व है । गीता १८-११ में कहा है कि जिस प्रकृत जडमें इस सूर्यमें भेष, कल्पनामें अहिका आकाशमें मन्द प्रकृतमें जीव, इन्द्रियोंमें मय्य अग्निमें इन्द्रिया मायिनोंमें जीवय तथासिधोंमें धर बुद्धिमायोंमें बुद्धि तेजस्विधोंमें तेजस्विता वक्रवायोंमें धर रहता है वैसेही इस विश्वमें ईश्वर है । इस प्रकार ईश्वर और प्रकृतिक संवय मित्य वक्तव्या तथा है । पुष्पोंसे गन्ध अलग नहीं हो सकता अग्निले कण्डला अलग नहीं हो सकती इन्हीं तरह प्रकृतिसे पुरुष अलग नहीं किया जा सकता । मिश्रके डहेसे मिठास केसे अलग की जा सकती है ? इसी तरह जबसे वेतन अलग नहीं किया जा सकता । जो भेद इस भावमें आये हैं, वह कल्पनाका भेद है, वास्तविक नहीं । सूर्य और तेजकी कल्पनामें मिश्रता है, वस्तु वस्तुता अन्तर है आकाश और अग्निमें कल्पनाका भेद प्रत्यक्ष है वस्तु वस्तुता दोनोंकी वृत्तव्या भी वस्तुही अन्तर है । परन्तु बुद्धिमायोंमें पद और बुद्धिमायोंमें हमारी कल्पना भेद देखती है वस्तु इस पदार्थोंकी अलग अलग कर देता वल्य किया जाय तो वे जलमिथी मिलेंगे । इसी तरह आकाश का बहावत्व देखिये (सूत्रे मण्डिगया इव । गी. १०) यहाँ तो सूत्र भी अलग है और मणि भी अलग है वस्तु आकाश कहलैते डममें सूत्र और मणि दोनोंका योग होता है । इसी तरह प्रकृति (मणि) पुरुष (सूत्र) का वस्तुता (आकाश) में एक होता है । वस्तुता के दोनों देवक वस्तुतादें सबकी आकार वस्तु वस्तुही है । इस

प्रकृतिमें एक जोरसे देखनेपर जब ईश्वरता है और दूसरी जोरसे देखनेपर वही जगज हीनता है ये दोनों रूप एकही वस्तुतक हैं । (एकै सत् विद्या यद्ब्रूयात् सव्यभि । १११६३४६) वस्तु एकही है उसका वर्णन अनेक प्रकारसे होता है । यही बात इस तरह कही है—

ईश्वरकी प्रकृति

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरिन्द्रियं च ।

ब्रह्मकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरुचया ॥

अपरेयमित्यस्यम्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महाबाहो पश्येद् धार्यते जगत् ॥

(अ गी ३४-५)

पृथ्वी, वायु, तेज, वायु आकाश मन बुद्धि और अन्तरात्मा यह सात प्रकारकी भिन्न प्रकृति है और जीवक प्रकृति भेद प्रकारकी है । यह सब भिन्नकर जो प्रकारकी इन्द्रकी प्रकृति है । यहाँ प्रकृतिका अर्थ सरीर है । यह परमेस्वरका सरीर है जिसमें सब और वेतन मिलेहुके हैं । मयिधोंके स्थानपर पुष्पिण्यादि वस्तु हैं सूत्रके स्थानपर जीव—सूत्र—रूपा सूत्रवत् सर्वत्र रहलैका जगत्मा— है और आकाशके स्थानपर वस्तुता परमेस्वर वस्तुता अतीव अनेक नामोंसे दृष्टि होलैवाकी एक अर्थ है । लोग कहेंगे कि यह रूप अविदित है ये हुके हैं यहाँ एकरसता नहीं है । किन्तु जो जो दृष्टि देखते हैं वस्तुता अन्तर करमें हुके हुके वस्तुता जाते हैं, जो दिव्य दृष्टि देखते हैं, उनको इस एक ही रूपकी अन्तरता प्रत्यक्ष हो जाती है ।

दिव्य दृष्टि

यह दिव्य दृष्टि क्या है ? जगत्प्राप्तिके ११ में अख्यायमें यह दिव्य दृष्टि अर्जुनको दी गयी (दिव्यं ब्रूयामि ते आसुत । अ गी ११८) है । यद्यपि अर्जुन गीतामें किसी भी स्थानपर देना नहीं कहा है कि वह दिव्य ज्ञान अन्तर यह दिव्य दृष्टि क्या है तथापि गीतामें अनेक स्थानोंपर दिव्य दृष्टिकी प्रमाणी करी है । उन स्थानोंमें गी ३४-३५ के श्लोक विशेष महत्वके हैं । यहाँ दिव्य दृष्टि क्या है यह विस्तारपूर्वक कहा है । दिव्य दृष्टि दिव्य ज्ञान दिव्य ज्ञान सुधीय के सब धर्म इसी दिव्य ज्ञानके अन्तर्गत है । इसमें विपरीत जो ज्ञान है वह जगज है ।

‘पंचतत्त्व दियेक — प्रथम हो सकता है कि हमने विभिन्न पदार्थोंमें एक जगह सत्ता कहा और कैसे रहती है । इसका निश्चय करनेके लिये पंचमहाभूत कहा है और कहा नहीं है इसका निश्चय करना चाहिये । हमारी नाकसे गन्धका ग्रहण होता है और उससे पुष्पिका पता लगता है । नाकसे गन्ध का ग्रहण करवेपर पता लगता है कि ऐसा कोई भी स्थान नहीं कहा किन्तु प्रकृतका गन्ध न हो । इसकाही रसका ग्रहण होता है । रसगन्धका रसका ग्रहण करवेपर कहा रस न हो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा । नाकसे कसका ग्रहण होता है । कहा उठि जायेगी कहा कसकी प्रकृतता होगीही । यह महत्वकी बात है : यह सिद्धांत है कि बिच घरमें देना कोई स्थान नहीं है कि कहा कसका स्पर्श नहीं होता है । कोग कहेंगे कि दो पदार्थोंके बीचमें जो अवकाश है कहा कसका स्पर्श नहीं होता । परन्तु यह सत्य है । दो पदार्थोंके कसोंके मध्यमें किसी न किसीका कस अवश्य है । है । कस सर्वत्र देना एक दूसरेसे इतना चिन्ता है कि एक कलुषके बराबर भी जगह बीचमें छाड़ी नहीं है । इसी तरह एकही स्पर्शक तब है जिसका कस सर्वत्र अनुभवमें आ रहा है । तबही स्पर्शगुणका अनुभव होता है । कीवसा देना स्थान है कि कहा स्पर्शका अनुभव नहीं होता ? एक रती मिलना भी स्थान देना नहीं मिलेगा कि कहा स्पर्शका अनुभव न हो । इस तरह सर्वत्र जगह स्पर्श है । आकाश को सर्वत्रावस्थही है और उसका गुण सर्वत्र है, इसीलिये सर्वत्र स्पष्ट होता है और होवेही अनुभवमें आता है ।

इसी तरह सर्वत्र और सर्वत्रित दीर्घते जगह स्पर्शक कस रस गंधका अनुभव आता है । एक सुईके अग्रक मिलना भी ऐसा स्थान नहीं है कि कहा हम पाँचोंका अनुभव न आता हो ।

कोग कहेंगे कि ये पंचमहाभूत सर्वत्र हैं इसलिये जगह स्पर्शगंधिका सर्वत्र अनुभव आता है । इसमें विवेक इस बातका करना है कि हमारी पाँच जगहगुणों काव्यादि पाँच गुणोंका ग्रहण कर लकड़ी है ये इन्द्रियों गुणोंकाही ग्रहण करती हैं पदार्थका ग्रहण नहीं कर लकड़ी । इसलिये पाँच गुणोंका ग्रहण होवेसे हम वास्तव निश्चय नहीं हो सकता कि पाँच गुणोंके वास्तव करनेवाले पाँच तत्व बरतपर बिच

और जगह जगह हैं जगहा एकही तत्व करने के पद एवं पाँचों जगहगुणोंका संभव होनेपर पाँच गुणोंका मात्र होता है ।

पाँच जगह हाकी देखने मने । जो जगहा पदार्थ तब अनुभवा उसको हाकी जगहा कैसा प्रतीत हुआ । दूसरा जगहा कानके पास पहुँचा उसको श्रुत (श्रव) कैसा प्रतीत हुआ । तीसरा लूँके पास गया उसको वास कैसा प्रतीत हुआ । चौथा लूँके पास गया, उसको स्पर्श कैसा प्रतीत दिखाई दिया और पाँचवाँ देखके वास गया, उसको कसकी कसकीभी बोरी कैसा प्रतीत हुआ । पाँचोंका अनुभव स्पष्ट है परन्तु एकही जगहा वस्तु पाँचोंको पाँच जगह प्रतीत हुआ यह भी जगहाही स्पष्ट है । इन पाँचों मेंमें निश्चयका अनुभव स्पष्ट है इसलिये हाकीके स्पर्शकरके बिचमें वहा जगहा होगा, जगह दूसरीका जगह करेगा यह तब तब है परन्तु जिसको निश्चय उठि प्राप्त हुए है वह करेगा कि वस्तु तो एकही है वह जगह जगह कावका अनुभववाचिक अनुभव है एवं अनुभव नहीं है । हमारी इन्द्रियोंके अनुभव भी देखेही हैं

अब यदि जगह—जगह दिखते देना तो उसको लंब पदार्थ समझ नहीं हुए । स्पष्ट तब और तब इन तीन जगहका अनुभवही उसका जगह हुआ । पदार्थ निश्चय जगह करनेके जगहों कई पदार्थ कुछ देवेवाले जगह साक्षिक दीकते हैं कई हुआ देवेवाले जगह तबही वहा आते हैं भी । कई मिश्रित मध्यम जगह तब ही जगह ही दिखाने देते हैं । जगह जगह जगह साक्षीमें कहा है कि निश्चय पाँच पदार्थ नहीं हैं बरितु कुछ गुणजगह हैं कुछ गुणजगह हैं बार कुछ मध्यमसी जगहवाले हैं तबही जगह नाम लरव (सूक्ष्म) रज (मध्यम) तम (द्रुत) हैं । इनकी परिभाषा बिच निश्चयकोंके विद्वत् बरत की है—

सूक्ष्म	रज	तम
सूक्ष्म	सूक्ष्मद्रुतमिश्र	द्रुत
मध्यम	जगह	जगह
मध्यम	सूक्ष्मद्रुत	जगह
मध्यम	सूक्ष्मद्रुत	जगह
मध्यम	सूक्ष्मद्रुत	जगह
मध्यम	सूक्ष्मद्रुत	जगह
मध्यम	सूक्ष्मद्रुत	जगह

इस तरह सबके समनद्राश से पूर्ण बिज हीन प्रकारका प्रतीत होता है। अतः सब कहता है कि बिज पाँच प्रकार का नहीं है अपितु तीन प्रकारका है। शब्द स्वर्ण रूप रस मधुमे भी सबके सुख दुःख और मिश्रित भावही देखे। जर्वाय सुखदायी शब्द दुःखदायी शब्द और मधुमे शब्द इसी तरह स्वर्णरूपवर्णिके विषयमें भी समग्रता चाहिये। इस तरह सबका अनुभव होमेसे बिज पाँच प्रकारका (पञ्चभूतमय) है यन्मा जो इन्द्रियोंका अनुभव वा वह अनुभव दूर होकर संपूर्ण बिज तीन प्रकारका—सत्त्वरजस्तमामय (त्रिगुणमय) प्रतीत होने लगा। वहाँ भी वही प्रसङ्गस्थित हुआ कि इन तीन गुणोंके पीछे तीन पदार्थ हैं अथवा एकही पदार्थमें ये तीन गुण हैं जो विभिन्न कर्णोंमें प्रकट होते हैं ? कैसे मिश्रित दूधके साथ कालेसे सारिबक कणके साथ कालेसे राजम और पीछेही कालेसे रामम प्रतीत होती है इसी तरह सर्वत्र पदार्थ तीन गुणोंको प्रकट कर सकता है। यदि वह सत्य है तो इन तीनों गुणोंको प्रकट करनेवाला एकही पदार्थ है वह भी विभिन्नही है। अतः उपर और अधिक सोच करनी चाहिये। सबकी पहिले बिजमें तीनही अनुभव हैं।

बुद्धिकी साक्षी— इसके पञ्चाक्ष हमारे पास बुद्धि है। बुद्धिको कुछ जड़ और कुछ चेतन ऐसा द्विविध भाग प्रतीत हुआ। बुद्धि कहते कभी कि कुछ बिज द्विविध है जिसका आरम्भकार ये भाग देखें हैं—

जड़	चेतन
प्रकृति	पुरुष
माकार	निराकार
रश्मि	प्राण
मूर्त	अमूर्त
रूपक	सुक्ष्म
अचेतन	सचेतन
प्रकृति	बीज
क्षर	अक्षर
वद्य	अवद्य
व्यति	अव्यति

इस तरह बुद्धिमें बिजका त्रिविधत्व बिना। बुद्धि संदर्भ अनर्गल देक गयी और हमने निश्चय किया कि वहाँ केवक दोही

पदार्थ हैं जो सबको विभिन्न प्रतीत हुए और ज्ञानोद्घोषो पञ्चविध प्रतीत हुए। वस्तुतः ये दोही हैं। फिर वहाँ वही प्रसङ्ग आता है कि ये दो पदार्थ परस्परमिश्र हैं अथवा ये एकही सद्भूतके विभिन्न पदार्थ हैं ? बुद्धि इसका निश्चय नहीं कर सकती।

आत्माकी साक्षी—इसके पञ्चाक्ष बहकार (अर्थात् जड़ का अनुभव = जैविकका अनुभव) आगे बढ़ा। वहाँ मैं कहनेवाला जगत्मा है। बिजभरमें उसे सर्वत्र एकही बहकार किन्ना हुआ प्रतीत हुआ। सर्वत्र प्रशङ्ग कहता है कि मैं हूँ। इसके अतिरिक्त आत्मा देखने लगा कि सब मैं आगता हूँ तबही बिज शोचता है और मैं सोता हूँ तो बिज भी नीच हो जाता है। मेरे देखनेपर बिजका अस्तित्व है। आत्मा छाटा है और बिज जेब है। आत्माके बिना जेबका अस्तित्व कहा है ? मेरा अपना अस्तित्व परिके है और मेरे देखनेपरही बिजका अस्तित्व प्राप्त होता है। अतः वह बिज मेरे जेब पर अतिव्रत है। जो मेरे ज्ञानमें है वह मुझसे भिन्न कहा है ? अतः अजगत्मा कहा कि एकही बह भाव सर्वत्र है जर्वाय मैंही वह सब कुछ हूँ मुझसे भिन्न वह बिज नहीं है।

वहाँ निश्चय हुआ जो बह भावका सत्य सर्वत्र है उसका अनुभव पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंको पाँच प्रकारसे हुआ उसी का अनुभव सबका तीन प्रकारसे हुआ और बुद्धिको दो प्रकारसे। परन्तु वस्तुतः वह एकही वस्तु है। उसका एक ओरसे देखनेसे क्षर भाव दिखाई देता है और दूसरी ओरसे देखनेसे अक्षर भाव देखा जाता है परन्तु वह वस्तु क्षराक्षर होनेसे कब क्षर भी नहीं और केवक अक्षर भी नहीं। वह केवक क्षरसे भी बह और केवक अक्षरसे भी जेब है अतः उसको पुरुषोत्तम कहते हैं। अब कहा है—

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

प्रायिमो पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तम बुद्धयस्तस्यः परमात्मैश्वरादृतः ।
यो लोकत्रयमापिदप विमत्तस्यैव ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमर्तानोऽहमक्षरादपि शोचतमः ।
अतोऽक्षि लोके येदे च प्रविनः पुरुषोत्तमः ॥

(म नी अ १५।१२-१८)

इस कोटमें कर और बज्र के दोही पुष्प हैं । मूल मास कर पुष्प है और उसके अन्तर्भाषी पुष्पको अक्षर कहते हैं । अथम पुष्प अन्त है जिसको परमात्मा कहते हैं । जो तीनों कोको को प्राप्त करता है वह ईश्वरही परमात्मा है क्योंकि वह अक्षर पर है और बज्रसे भी उत्पन्न है इसलिये वह कोटमें और बेदोंमें पुष्पकोटमके नामसे प्रसिद्ध हुआ है ।

यहाँ मध्य हो चकटा है कि पुष्पको एक बज्रकावा गया है, जो भी बार तीन भी । साधारणतः लोग यहाँ तीन पुष्पोंका वर्णन है ऐसा मानते हैं । परन्तु वह कल्पना बल्लभ है । बुद्धि के द्वारा निश्चय कर और बज्र दोही मात्र प्रतीय होत है । वस्तु करमात्रात्मक पुष्पकोत्तम होवेसे वह अक्षरों है और बज्र भी है । ये दोनों मात्र पुष्पकोटममें हैं इसलिये वह अक्षरों भी अक्षर और बज्रसे भी होत है । क्योंकि उसमें वे दोनों मात्र तीन हैं इस तरह केवल पुष्पकोटम एकही है ।

कैसे कोई एक मनुष्य अक्षरमात्रसे कर है आत्मिक मात्रसे बज्र है परन्तु ये दोनों मात्र मनुष्यके कर्मों मिले हुये हैं इसलिये मनुष्य कर-बज्र-मिश्रक पुष्पकोटम है । वह मनुष्य केवल कर अक्षरसे भी है क्योंकि उसमें कर अक्षरमात्रसे भी उत्पन्न है क्योंकि इसमें वस्तु अक्षरमात्रसे उत्पन्न कर अक्षरसे भी उत्पन्न है । और वह केवल बज्र अक्षरमात्रसे भी उत्पन्न है क्योंकि इसमें वस्तु अक्षरमात्रसे उत्पन्न कर अक्षरसे भी उत्पन्न है । अतः केवल अक्षरसे और केवल अक्षरमात्रसे अक्षर और अक्षर मिश्रकर हीमाका वह मनुष्य विशिष्ट होत है । यहाँ स्पष्ट है कि कर पुष्प बज्र पुष्प और पुष्पकोटम के कल्पनाई तीन हैं परन्तु वस्तु एकही है । पञ्चलनोंके कर्मों इसमें भेद है परन्तु अक्षरकोटमें अक्षरही है ।

इस बातकी समझानेके लिये हम आत्मका उदाहरण लेते हैं । आत्मका मूल आकार जो आत्मको दिखाई देता है वह कर मात्र दिना कर पुष्प है । उसके रसमें जो मिठाई है जो आत्मके तुल्य होनेपर भी वही दूधका वह बज्र मात्र दिना बज्र पुष्प है । वह बज्र आत्मका वही हीमाका वस्तु अक्षरमात्रसे जाता है । इस अक्षरसे कर और इस अक्षरसे अक्षर जो अक्षर पुष्प है वस्तुकोही आत्म कहते हैं क्योंकि इसमें कर और बज्रका पूर्ण रूप हुआ है । अतः जो केवल

अक्षरों वही और जो केवल बज्रों वही वह अक्षर पुष्पकोटममें है । यहाँ पाठक देख सकते हैं कि कर बज्र और पुष्पकोटम के कल्पनाई तीन हैं परन्तु एकही वस्तु के तीनों कल्पनाई अविच्छिन्न हैं, वस्तु वस्तुसे भिन्न अक्षर अक्षरसे वही है । एकही वस्तुपर वे तीनों कल्पनाई इसलिये भी पूर्ण हैं कि साधारणको वह एक वस्तुको वस्तुको कल्पना हो जाये और वे उसकी योग्य उपासना प्रत्यक्ष आत्मके लिये करने आपकी इच्छाका वक्ष्ये ।

यही दिव्य दृष्टि है इसीको दिव्य चक्षु कहते हैं । इसीसे प्राप्त होता है कि अनेक विभिन्न तरह एक ठगमें कैसे तीन होते हैं । अथवा अक्षर इस अक्षरमें प्रत्यक्ष वक्ष्ये अक्षर अक्षर एकदूसरेसे विभिन्न देख रहा वा इस अक्षरसे प्राप्त उसको प्राप्त हुआ कि मैं आत्मकोटम में और अक्षर प्रत्यक्ष है । इस अक्षरके अक्षर अक्षरों को एक तदा प्राप्त हुआ । इस अक्षरको दूर करनेके लिये आत्मका अक्षरको वस्तु को दिव्य दृष्टि उपदेश (टी न ५१-११ इस कोटमें) किया और बताया कि यहाँ इस अक्षरमें अक्षर पुष्प वही है परन्तु अक्षर अक्षर एकदूसरे अक्षर प्रत्यक्ष है ।

आत्मासे त्रिगुणोंकी उत्पत्ति

प्रायः लोग मानते हैं कि आत्मिक मात्र आत्मसे उत्पन्न होते हैं परन्तु वे यह माननेको तैयार नहीं होते कि अक्षरमात्र प्राप्त मात्र भी उत्पन्न हो सकते हैं । इस अक्षरको निश्चि करनेके लिये आत्मका अक्षरकोटम कहा है कि-

ये तीन सार्वभौम आत्मा राजसास्तामसाश्च ।
मत्त एवेति ताम्बिजि न स्वर्ह तेतु ते मवि ॥
(ती ५१)

सार्वभौम शब्द और सार्वभौम शब्द आत्मकोटममें उत्पन्न होते हैं । क्योंकि अक्षर अक्षर अक्षर आत्ममात्र ही उत्पन्न है तब किस दूसरेसे प्राप्त मात्र प्राप्त हो सकती है ? इसी अक्षरसे अक्षर भी कहा है-

प्रियाप्रियायाणि बहूना स्वप्नं संवाद्यतम्या ।
आमंभामुधो नैवाद्य कस्माद्वहति पूषा ॥ १ ॥
आर्तिरार्तिर्मिर्मिति कुतो नु पुनरेऽमति ।
रात्रिः समुदिरामुदिरमितिदितया कुतो ॥ १ ॥

को अस्मिन्मन्त्रमन्त्रादेको वेबोऽधि पुरुषे ।

को अस्मिन्महर्षे कोऽनुत कृतो महर्षे

कुतो भवतम् ॥ १४ ॥

वसं को भस्मै प्रायश्चित्तो भस्यकल्पयज्जबम् १५

मेधां को अस्मिन्प्रत्ययैहत्का बाणं को सुती वषो १७

मनुष्यका नवद्वारा वैश्वामा प्रयोध्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्यर्गोऽग्न्येतिपावृतः ०११

तस्मिन्महिषेऽपि कोशे प्रयत्ने निप्रतिष्ठिते ।

तदिमन् पद्यस्तमात्मन्यसौ ब्रह्मविदो विदुः॥१२॥

(जयसर्बोत्तम १२)

त्रिषु और अत्रिषु विज्ञा वाचार्त्तुं जीतं यथाचरं
 ज्ञानम् आर इत्थं स एव मनुष्यकः कैश्चि यत्नं करोति ? पीडा
 इतिवृत्ता भीमाती कुमति मनुष्यत्वं कैश्चि होती ? एतत्ता
 मनुषि नदीनत्ता इति और इत्थं मनुषि कहति होती
 है । मनुष्यत्वं यत्न सत्य असत्य ध्यायु जन्मरथ कैश्चि
 होता है यत्न नार वेप मनुष्यत्वं कैश्चि इत्यत्र होते हैं ।
 मेघानुदि पत्नी और मृत्यु कैश्चि होते हैं । इत्यत्र यत्न यत्नोका
 यत्नर यत्नी है कि यत्न यत्न और नी यत्नोका । इत्य
 यत्नरयत्नी यत्नोका यत्नर यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी
 यत्नर यत्नी है जो यत्नोका यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी
 यत्नर यत्नी है और यत्नर यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी यत्नरयत्नी
 यत्नर यत्नी है ।

मन कुछ इसी तरहसे लज्जा का माया होता है। वही माया
मगबहीस्थाने वह कष्टप्रदायी बन जाता है—

मणवद्गीता

अथ धर्मः

दुःखिषु दुःखिषु मत्तामसि

मधो भस्मिन्नप्यौदत्त

(गीता ७.१)

(२११३१७)

बलं बलवतामसि

बसंत ऋषिः प्रायश्चित्तः

(गीता ७/११)

(५ १ ५१७)

सारिका राजसास्त्रम्- ग्रामान्ध्रं च तन्मयं

सायं भावा मस्त पय (अ १ । ११९)

(पी ७१९)

इस तरह देहका कथन अगवह्यतासे हैसा प्रतिनिधित्व
होना है यह देखने योग्य है । आत्म और दुःख कथन और
अवयवि विषय और लक्षण अमृत और मृत्यु सत्य और अनृत
समाधि का प्रतिष्ठा यति और जगति ये सब भाव सही

एक मछली होते हैं, जो मनुष्यक इन्धनमें रहता है। ये माष
विशिष्ट रह परस्परविमुख हैं तथापि इनके कारण भयंकर नहीं
हैं, पर खरका एकही कारण है। जैसे जामुति और तिम्र।
जायासेही होते हैं जैसेही य सब माष भी इसी जायासे
होते हैं। इसीकिने वैद्यकाशुद्धक मगचर्रीतामे कहा है
कि सतिवक राजस और तामस माष इसी जायासे होते
हैं। परंतु इनके उत्पन्न होनेके पञ्चाशु इन्धनमें कसमेबाकोंके
ये बाबाएँ अवश्य पहुँचाते हैं।

जैसे एक शरीरमें एकही बीजबिन्दुसे शरीरके सप्त भाग उत्पन्न होते हैं और शरीरके विभिन्न अवयव उत्पन्न होते हैं। वैसे सगंधी उत्पत्ति एकही कारणसे है तथापि विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होतेके पश्चात् उनके विभिन्न धर्म उत्पन्न होकर उनका आधीनही मनुष्यको रहना पड़ता है। इसलिये कहा है कि—

त्रिमिगुणमयैर्मायिरेभिः सवमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिज्जायान्ति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

(गी ७.१३)

[illegible]

एकदिवसके मनुष्य एकदिवस रह सकते हैं वे धूमकी ओर देख वहीं जाते । फिर वारम्बारकी वृष्टामा जोन काटते हैं । देखी लंका होती है उसकी विभूति कामेदे किने वृष्टामाकोई बार निमाग लताये हैं—

षट्षर्षिष मसक

चतुर्विधा भजस्तु मां अना सुहृदिनेऽङ्गन ।

मातौ मित्रासुरर्षाणां यानी य मरतयम ॥

(୩୧୩)

‘दुःखो मे वीरिव ओमोका वास करमेके दिने जातु।
तारविज्ञानु जार छावी के पार वझाक माग जवने दिनिव
करावोते इहावी कथामा करते है। जव वदत वरु

सत्त्व के होते हैं, तब हुआ मनुष्य ईश्वर-उपासना करता है।
 भाषा: हम सभी आत्माओं के बहुत लोग हैं। जब तक शरीर मृत्यु
 और मोक्ष है तब विपुल है। हमें कुछ करने है, तब
 तक परमेश्वर का विचार तक नहीं करेंगे परन्तु जब एकमे
 पीछे एक आपस में आने लगेंगे और भौतिक साधनों की
 सहायता से आत्मा तब के कार्य होकर परमेश्वर उपासना
 करेंगे। हमारे लोग योगी हैं, उनको योग का विधि
 हस्तिके से न उपासना करते हैं। पीछे विद्या है
 वे लोग तत्त्वज्ञानात्मक से ईश्वर की ओर झुकते हैं। चौथे
 शाली लोग वे बहुत ही पीछे होते हैं। इनको सत्य तत्त्व
 ज्ञान होवे तो वे ही विद्या से जन्म होकर ईश्वरपथ करते हैं।

अन्तर्गत हम ज्ञानियों को (आध्यात्मिक सर्व) की ७१५)
 परमेश्वर की सत्य कृपा है वह अनन्त विष्णुसुखात् होना
 है जिसका वर्णन इसके पूर्व किया गया है। इस प्रकार
 इनका सर्वत्र एक ही सत्य तत्त्व है (मेघ ज्ञानासि किंचित्।
 इह ७) वह सत्य तत्त्व होती है। जन्म ऐसा ज्ञान होना
 है उसी समय के अन्तर्गत (अ+अन्त्यः+अन्त्यः) होते
 हैं और परमेश्वर की भक्ति करते हैं।

जो विमर्श नहीं होते वे ही भक्त हुआ करते हैं। जो
 परमेश्वर के कर्म अभिप्राय से संश्लिष्ट हो जाते हैं वे ही
 अन्तर्गत होकर भक्ति कर सकते हैं। जो जन्म के होते
 अन्तर्गत भक्त हो सकते हैं। अतः आध्यात्मिक ही भक्त है
 यही अभिप्राय है। वह जिसको हो गया उस और
 आपक शास्त्र के कुछ ही अवधि नहीं रहता। इसलिये
 भगवद्गीता में दत्त कीर्तिका (सुबुद्धिमां महाशयम्) अन्तर्गत
 हुने में महान् अज्ञान का कर्म है। वह अवस्था मात्र होवे
 एक आत्मा अन्तर्गत है। इसलिये मैं भक्त और दूसरे
 भक्त हैं ऐसा मान होता है। परन्तु एकबार आत्मा के महान्
 विद्या हो जाने पर फिर कोई हुआ। इसलिये यही तब वह
 अन्तर्गत ही जाता है। फिर उसको शोक और मोह
 नहीं हो सकते हैं।

तनु-भक्ति

जो हम भक्त अन्तर्गत नहीं हुए, वे अन्तर्गत
 होकर रहते हैं अन्तर्गत के समझते हैं कि उपासना देव
 भक्ति है और हमने भक्ति नहीं है। हम भक्त के लोग

अन्तर्गत देवताओं की उपासना करते हैं (प्रपद्यन्ते देव
 देवताः) अन्तर्गत देवताओं की उपासना करते हैं।

इसको तनु-भक्ति कहा जाता है। अन्तर्गत परमेश्वर
 भक्ति है। क्योंकि जिसने देव शरीर हैं वे तब 'तनु' है
 और तनु-भक्ति विष्णु के रूप में भक्ति है। इसके बाद
 देवता की भक्ति है और प्रपद्यन्ते तब वह देव देव
 अन्तर्गत अन्तर्गत मानसे प्रपद्यन्ते की भक्ति करना इसके ही
 मेघ है।

तनुभक्ति में मूर्तिपूजा और प्रतिमापूजा सम्मिलित है। इनके
 अभिप्राय देवपूजा, विष्णुपूजा, विष्णुपूजा और पूजा की
 पूजा ही मूर्तिपूजा में जाती है। आध्यात्मिक सर्व के
 ज्ञान हो जाने पर सभी मूर्तिपूजा परमेश्वर की मूर्तिपूजा ही होती
 है अतः इस सर्वोपदेश की दृष्टि से मूर्तिपूजा में कोई दोष
 नहीं है। क्योंकि वह भी कहा है कि—

हमने आध्यात्मिक पुनरुक्त करते हैं। (अ ११०१५)

हम अपनी भक्ति में अनेक रूप धारण करता है
 इसलिये वे तब कथ परमेश्वर के ईश्वर ही हैं। इसी दृष्टि से
 नहीं है। अतः कथ के आध्यात्मिक ही हैं उपासना करने की
 है। परन्तु परमेश्वर के स्थापित किसी प्रतिमा की उपासना
 करना वह अपने तरीके बताया है।

तत्त्व भक्तिमा भक्ति परम नाम महाधरा।

(अ ११११)

जन्म ईश्वर की कोई प्रतिमा नहीं हो सकती। जिसका
 वह महा भक्त है। परन्तु इस तरह मूर्तिपूजा और प्रतिमा
 पूजा में जो भक्त है उसका विचार करें। जो मूर्तिपूजा नहीं
 है वे सभी परमेश्वर हैं परन्तु उसकी एक ही प्रतिमा
 नहीं है। इसके अन्तर्गत देवपूजा या भक्तपूजा है वह ही
 सर्वोक्त मूर्तिपूजा अन्तर्गत देवपूजा ही होती है। वह
 भक्ति भक्त है। क्योंकि वह दो विष्णु के रूप में ही
 भक्त है उसकी कुछ देवपूजा पर विष्णुपूजा का स्थापित है, देव
 विष्णु के रूप में भक्त ही पूजा ही नहीं करते अतः देव
 भक्त भक्त भक्त करते हैं। देवपूजा की भक्त की
 भक्तपूजा नहीं होती। भक्तपूजा शरीर के अन्तर्गत भक्त
 भक्त भक्त है। इसकी भक्तपूजा ही भक्तपूजा ही भक्तपूजा
 परमेश्वर की भक्ति है। भक्तपूजा का तत्त्वज्ञान भक्तपूजा
 तत्त्व है और वे भक्तपूजा अन्तर्गत है। वह देवपूजा

हरीर है जो पहिवा और अन्तिम है । इसक्रिये ये समझते हैं कि ईश्वर अब श्वाय करेगा, उस दिन वे श्वायत करवों में बैठकर बने हो बीबग और इस समय उनके पाप पुण्योंका विमल होगा । यह तत्त्वज्ञान सबकोई मान नहीं सकता । अब तो इस तत्त्वज्ञानका माननेवाले भी इसे ईश्वर समझते कहते हैं ।

विपुलपुत्रोंका तत्त्वज्ञान इससे थोड़ा ऊँचा है । वे मानते हैं कि एक देहके पीछे कुछ सूक्ष्म चेतन अधिवासी तत्त्व है जो इस एक ही शरीरके बाह्यके प्रकाश ची रहते हैं । इनकी आज कुछ अधिक है । तथापि वह अपामना भी ज्ञानवादीकी शोचक है । इसके ऊपर विमलपुत्रका और भी प्रकाश स्थान है और सबसे ऊँच पुत्रोत्तम के पुत्रोंका ऐश्वर्यी स्थान है ।

सभी सूर्यवंश पुत्रोत्तमकी हैं, इसक्रिये हर एक अपामक को कुछ न कुछ कम प्राप्त होनाही है । जैसे कि जोमिपाही से मित्रता करेगा उसके मिपाही थोड़ासा काम पहुँचा देगा; जो ईशानजीका मित्र बनेगा उसका उससे अधिक काम होगा; परन्तु जो राजाका सखा बनकर रहेगा उसको सब प्रकारका सुख प्राप्त होगा । जैसे वहाँसब कति राजासे जाती है वैसीही सब देवताओंके अङ्गूर बंधकप कति परमेश्वरसेही जाती है । इसक्रिये अन्य देवताओंके अपामकों को बरक काम (सम्पत्त्यफल) होता है और पुत्रोत्तमके बच्चोंको अनन्त काम होता है ।

इन पुत्रोत्तमका स्वस्व क्या है और उसकी मरली पानवा किसप्रकार करनी चाहिये इस सबबका पूर्ण विचार ११ वें अध्यायमें होगा । तथापि शीघ्रसे वहाँ इसका कहना पर्याप्त है कि प्राप्तिमात्र लभः शिपरकर पक्षोंको नारायण पुत्रोत्तमका रूप मानकर अपने आपका भी उद्योग में लगे किन करनेके प्रज्ञान में इनके सिद्ध नहीं देना आज अब बालक हो जानवा तब होवेकाका आचरण बचाओवही होगा वह आचरण उचितकी पूर्णावस्था है । वही मरका नारायण और पुत्रोत्तम पुत्रोत्तम हो जाता है । इस विषयका विशेष विचार आगेहमें अध्यायमें आच्छ विचर्य्य बतकाकर स्पष्ट करदे दिया जायगा ।

अबक बासुदेवकी वह सब कुछ है देना विमल नहीं होगा । है तत्त्वक मनुष्य प्राद देवताओंको उपासनामें पैसा रहता है ।

इन्द्रमोह

अबतक बासुदेवकी सब कुछ है, इसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होगा क्योंकि अबतक वहाँ बासुदेवकी एक सद्गुण है इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है, ऐसा विमल नहीं होता तत्त्वक मनुष्य हैतयमान अर्थात् प्रपञ्चभावमें पकार रहता है । मैं बार मेरा पुत्र और तेरा वह और उसका यह सब इन्द्रकाही व्यवहार है । इसी प्रकार अपने जगत्का व्यवहार चक्र रहा है और अनेक जगते इसी कारण चक्र रहे हैं । इन जगत्में मनुष्य मैं और मुझमें भिन्न दूसरा ऐसे हो पदार्थ मान बैठता है । वह दूसरोंको छुटकर अपना तुल्य बढावा चाहता है । अबतक हैत रहेगा तत्त्वक वह छुटमार रहेगीही । यही इन्द्रमोह है । सभी लोग इस इन्द्रमोहमें पतते हैं ।

राष्ट्रोंके पुत्र चक्र रहे हैं, राष्ट्रोंके मन्त्रमें पक्षविषयकने हुए हैं और एक दूसरेका नाश करना चाहते हैं दूसरों का नाश करनेके अपनी उद्यति होगी ऐसा विचार ये करते हैं वही जनके क्रिये पुत्र चक्र रहे हैं, वही सूर्यके क्रिये कदा हवा हो रही हैं तो वही व्यापारव्यवहार अपने आधीन करनेके क्रिये जगते हो रहे हैं, वह सब इस इन्द्रमोहके कारणही है ।

स्वाभावकोंमें आकर प्रविष्टोंको उपासनेके क्रिये वहीकोंको बन दिया जाता है और अपने आर्क्षका नाश हुना मैं जीत गया यह आर्क्षका विषय होता है । व्यापारमें दूसरोंका मुक्तमान करके अपना लाभ माँखेदा बन दिया जाता है । जिसके पाम ज्ञान है वह ज्ञानके बलसे जिसके पाम लभ का है वह अधिकारके बलसे जिसके पाम चम है वह चम क बलसे और जिसके बाव कडा है वह कडाके बलसे दूसरोंका नाश करके अपनी उद्यति करना चाहता है । हर एक राष्ट्रमें इस समय वही चले चक्र रही हैं । सब मनुष्य (इच्छाक्षेत्रमनुष्येन इन्द्रमोहम स्तमोदं याप्ति) इच्छाक्षेत्रके उत्पन्न हुए इन्द्रमोहमें लमोहका गत हुए हैं । प्रायः सभी लोग इस मोहमें पतते हैं । अबतक ये देते इन्द्र मोहमें पतते रहेंगे तत्त्वक ये जगते मिटनेकी और मानव जातिको क्षान्ति प्राप्त होनेकी कार्य जाया नहीं है । दिन प्रति दिन जगते बहने चले जा रहे हैं अज्ञानमें पैक रही है वही एक मारक बार मरहाक अज्ञान मरार किन जा रहे

हैं। वह क्यों हो रहा है? उत्तर केवल यही है कि मनुष्य इन्द्रमोहमें फंसा हुआ है।

यह इन्द्रमाहरी पापका मूक कारण है। इस कारणसे विघने की पात हुए हैं वे सबके सब इस इन्द्रमोहके कारणही हैं। इसीलिये कहा है कि—

पुण्यकर्मणा ज्ञानानां पाप भ्रमवर्तते।

ये इन्द्रमोहनिर्मुक्ताः मां यजन्ते। (गी. ७।२८)

इन्द्रमाहसे मूक पुण्यकर्मों मनुष्योंका पाप नष्ट हो जाता है और वे ही परमेस्वरकी भक्ति करते हैं। यहाँ स्पष्टतया कहा है कि इस इन्द्रमोहसे पूरे मानेपर पाप नष्ट हो जाते हैं और जबतक इन्द्रमोह रहेगा तबतक पाप होतेही रहेंगे और हुआ बहतेही बँधेंगे। अतः आगच्छे सब दुःखोंका निर्मूलक करनेका एकमात्र उपाय यह है कि लोगोंको सब ज्ञान देकर जबका इन्द्रमोह दूर किया जाये।

इन्द्रमोहरहित राज्यशासन

यहाँ प्रथम उल्लेख होता है कि वैसा नायकक सर्वत्र इन्द्रमोहसे ही मानवीय व्यवहार चक रहा है। ईर्ष्ये राहोंका राज्यशासन इन्द्रमोहसे चक रहा है वैसीही इन्द्रमोहरहित मानवीय व्यवहार बार राज्यशासन होना संभव भी है या नहीं? इसके उत्तरमें विवेक है कि जयमें जमींदारोंमें कहाँ कहाँ राज्य चुपका चर्चने है वह सबका सब इन्द्रमोहरहित प्रभावकाही प्रत्यक्ष है। हमारा तो यह विचार प्रसिद्ध बहता जाता है कि समवाय श्रीकृष्णका अवतारही इसलिये हुआ था कि भैरवोंका इन्द्रमोहमय हु कहाँ भी राज्यशासन का नाश करके इन्द्रमोहरहित सुखवाणी चर्चका राज्यशासन छक किया जाय। यह कार्य कुछ संभव है। हुआ परन्तु सब वायु श्रीकृष्णका सदैव जाये जिसलिये पाठ्य नहीं किया। वस्तुतः भगवद्गीता इसी इन्द्रमोहरहित राज्यशासन-मन्त्रों का उल्लेख इच्छादिवाक्य प्रथम है और जिस समय इस प्रथममें बताया मर्त्यपरसे जगता मनुकरण करेगी उसी समय मनुष्योंको अपना मूक भाग्य हो सकेगा। अतः। इस प्रथम ही इन्द्रमोहमयी और इन्द्रमाहरहित राज्यशासन मन्त्राधिकारोंकी पुष्टता यहाँ यहाँ करनी है। केवल इस सर्वत्र का एकही विचार यहाँ छिपक दिया है जिसपर अधिक विचार किया जा सकता है।

इन्द्र का जय है सुख भवता जगते। सुख करने में दुर्बलताका नाश कस्यो और बलकी उत्पत्ति द्रुम सुख भोगूंगा। ईर्ष्ये मन्त्राधिकारी मन्त्राधिकारि हरएक केवले हैं। यही सुखका और पापका कारण है। ईर्ष्ये जगता इस वस्तुमें फंसी है इस कारण जिस भी जगता ने दोनों सुख योग रहे हैं। यह इन्द्रमाह अवधि सुखके हाता दुर्बलताका नाश करके सुख भोगनेका मोह सब दूर होना ठीकी मुक्तका मन्त्राधिकार देगा। इसीलिये (इन्द्रमोहनिर्मुक्ता) इन्द्रमोहसे पूरे लोगोंको पुण्यकर्मों कहा है और वह सब भी है।

मगवायु श्रीकृष्णका वदरेव यह था कि मनुष्य-जगत् प्रसादी बने। श्रीमद्भगवद्गीता नायकक वैयक्तिक मन्त्री नीतिक प्रथम समझा जाता है परन्तु यह विचार प्रथम-सुख विचार है। ईर्ष्येमें भगवद्गीता मनुष्यको जगत्परीक्षक मान सिखाती है। मनुष्य किस दृष्टिसे और किस रूप प्रभावमें व्यवहार करें वह गीताके उपदेशसे ज्ञात होता है सामाजिक स्वतन्त्र्यके लिये गीताके उपदेश बहुतही महत्वपूर्ण हैं। जब किनासक जगत्में समाज नीतिक उपदेशमें व्यवहारमें कियेगा उस समाज सब सुख-इन्द्रमोह मुक्तता का आशय।

पुनःसंयोजन

मनुष्यको हुकाने सुख होवैके किये तब करना चर्चने (जरा-मरण मोक्षाय यत्तत्ति) इच्छावत्ता की दृष्टि हुकाने है। किन्तासे जगत्में जरा जाती है। नायक श्रीमन्मनुके मन्त्र मन्त्राधिकारी किन्ता बह रही है और जगत् मेंही इच्छावत्ता था जाती है। यदि मनुष्य इन्द्रमोहसे मुक्त रहेगा तो जगत्की किन्ता दूर होसी और जरा की दूर होसी परन्तु भी श्रीमद्भगवद्गीता कह देती है क्योंकि मनुष्यके ऊपर सुखका बहुत बड़ा भार पड़ता है। यदि इन्द्रमोहसे दूरवैसे वह भार दूर हो जाय तो परन्तु भी इसके बड़ भी वेसी। जगत्तब सुख भी मनुष्यको इसी कारण हो रहे हैं। इन्द्रमोह दूर होवैके कारण वे भी विलीन हो जायेंगे। मगवायु श्रीकृष्णके उल्लेखना (मां भास्वि) नायक करने जो समाज जगता व्यवहार करेगा, वह समाज ईर्ष्ये दुःखोंको दूर कर देगा, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

इस इन्द्रमोहरहित उपबन्धनके अन्तर्निष्ठ अन्वयार्थ
विशेष कर्मविशेष अधिभूतविशेष आधिदैवतविशेष आर
अधियज्ञविशेष व महत्पूर्ण उपबन्धनार्थ हैं, जो साधकको

सप्तम अध्यायका समग्र सार है ।

अवश्य जानने चाहिये । इससे मनुष्यको अपने कर्तव्य
कृतवत्ता निश्चय हो सकता है । इसका विवरण नगके
अध्यायमें किया गया है ।

सप्तम अध्यायके सुभाषित

(१) वृद्धितया यत्न

मनुष्याणां सङ्ख्येयुः कश्चिद्यतति सिद्ध्ये ।

यततामपि कश्चित् वेति तद्वत् ।

(म नी ७१६)

सहस्रों मनुष्योंमें कितने कोई विचारही लगी उन्नति
के लिये प्रयास करता है और प्रयास करनेवालोंमेंसे भी
कितने कोई निश्चित रीतिसे (अंतिम स्वेय) काम पाता
है । मनुष्य कुछ न कुछ करते ही रहते हैं परन्तु निश्चित
प्रयत्न करके योग्य मार्गसे जानेवाले दुर्लभ हैं ।

(२) मायाको पार करना

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।

(म नी ७१७)

मैं इस ईश्वर की धरतीं जाते हैं, ये इस मायाके
पार हो जाते हैं । लची ईश्वरभक्तिसे कठिनता दूर होती
है परन्तु जो बड़काबड़ होकर ईश्वरभक्ति नहीं करते वे
हुच्छरी बुद्धि करते हैं ।

(३) कौन ईश्वरभक्ति नहीं करते ?

य मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते मराधमाः ।

मायपापहतहाना भासुर मायमाभिताः ।

(म नी ७१८)

दुष्टकारी नीच मूढ़ मोहित-भ्रान्तचित्त और नासुरी
हृतिसे कोय ईश्वरभक्ति नहीं करते । वे अपने भोगोंमें
रुचि करके हुए भोगी हैं ।

(४) एकनिष्ठाका महत्त्व

एकमस्मिर्दिक्षिप्यते । (म नी ७१९)

एकदिशासे जाने करनेवाला सबसे भद्र है । ईश्वर
रुचिसे कार्य करनेवालेको क्या नहीं भिक्ष भक्त्य ।

(५) मनुष्यबुद्धिके लिये मनुष्य फल

अन्तवस्तु फल तेषां तद्वत्स्वरूपमेव साम् ।

(म नी ७२०)

मनुष्यबुद्धिकाके लोग जो कुछ करते हैं, उनकी भाव
वाक् कर्म फल मिलता है । विशेष बुद्धिके बिना महत्ता
मिल नहीं हो सकती । इसलिये बुद्धि सुसंरक्षित और विद्याय
प्राप्ता चाहिये ।

(६) मोहका कारण

इच्छाश्रेयसमुत्प्रेत इन्द्रमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्वं याति परंतप ।

(म नी ७२०)

इच्छाश्रेयसके कारण सुखदुःखादि इन्द्र होते हैं और
इसीसे सब लोग मोहित रहते हैं । यही ब्रह्मान और
दुःखका कारण है । जो सुख चाहता है वह इस दुःख
हेतुसे दूर रहे ।

(७) पुण्य कर्म

येषां त्वन्मगतं पापं ज्ञानात् पुण्यकर्मणाम् ।

ते इन्द्रमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढमताः ।

(म नी ७२०)

पुण्य कर्म करनेवालोंका पाप दूर होता है और वे
इन्द्रमोहसे मुक्त होकर सब विषयसे ईश्वरका प्रयत्न करते हैं ।

इन्द्रमोह का कार्य है श्रमका करनेका मोह । कुछ
करके दूसरेका नाश करके अपना सुख बढ़ावेका प्रयत्न । इसीसे
जगत्में झगड़ बढ़ गये हैं ।

(८) अज्ञानमर रहनेकी इच्छा

अज्ञानमरणमोक्षाय यत्नमिति । (म नी ७२१)

जाना और मृत्युको दूर करनेके लिये प्रयास करते हैं ।

मनुष्यको यही प्रयास करना चाहिये जहाँ पर धीरे धीरे
रुद्ध न हो । बार धीरे धीरे मृत्यु न जाये ।

सप्तम अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्ञानविज्ञानयोग	४९१	कम-प्राप्ति में श्रेष्ठ	५१७
(१) सप्तम ईश्वरका ज्ञान, (स्तोत्र १-३)	४९१	(७) श्रेष्ठ भावका लक्ष्य, (स्तोत्र १४-१८)	५१८
किम्पू १५५ को ?	४९१	अवधि और अवधि दुर्लभता	५१९
ईश्वरका अक्षय दर्शन, ज्ञानमा नृत्तवः	४९२	विद्व ज्ञान, ज्ञानोपायका शेष	५१९
ईश्वरका सप्तम ज्ञान	४९२	पर भाव अथवा पर भावकी भाषा	५१९
ईश्वरसाक्षात्कारमें बाधार्थ	४९३	योगभाषा	५१९
ज्ञान और विद्या का कुमार्गमें प्रवृत्ति	४९३	ईश्वरका पाठ	५१९
(२) ईश्वरकी प्रकृति (स्तोत्र ४-७)	४९४	ज्ञानका कारण	५१९
ईश्वरका शरीर	४९४	ईश्वर कैसा	५१
शरीरके बरत पञ्चतन्त्रविशेष	४९५	(८) मोक्षप्राप्तिका पक्ष (स्तोत्र १९-२०)	५२०
दृष्टी काय केवल वायु, आकाश	४९५	पूर्व जन्मका	५२१
क्या ईश्वरहास्य मित्र हैं ?	४९६	सप्तम अध्यायका समग्र	५२१
सप्तम-बर्हकार	४९६	ज्ञानका अक्षय उपदेश	५२१
रत्न सप्तम-द्वि	४९६	दुष्कर्मकी प्रकृति, ईश्वरकी प्रकृति	५२१
सप्तम रत्न-सप्तम, अथवा प्रकृति	४९७	दिग्ग दृष्टि दिग्ग दृष्टि	५२१
परा प्रकृति ईश्वर कीवशमा	४९८	ईश्वरत्वविशेष अथवा शक्ति	५२१
सूक्तोंकी उत्पत्ति	४९८	गुणवत्त्वविशेष दुर्लभता शक्ति	५२१
पर सप्तम दृष्टमें मति	४९९	(बर्हकार) अथवा शक्ति अथवा शक्ति	५२१
(३) अगस्त्य ईश्वर (स्तोत्र ८-१२)	५००	अथ, अथवा और दुर्लभता	५२१
ईश्वरका रूप	५०१	अथवा शक्ति त्रिगुणोंकी उत्पत्ति अथवा शक्ति	५२१
परमेश्वरकी अक्षयता	५०१	अथवा शक्ति	५२१
(४) मायाशोड (स्तोत्र १३-१५)	५०३	अथवा शक्ति	५२१
मायाका लक्षण अथवा शक्ति माया शोड	५०३	अथवा शक्ति	५२१
गुणमयी माया देवी माया	५०४	अथवा शक्ति	५२१
ईश्वर और अथवा	५०४	अथवा शक्ति	५२१
(५) भक्तोंके कार प्रकृति श्लोक १६-१९)	५०५	अथवा शक्ति	५२१
भक्तोंके विराट् भक्तोंकी	५०५	अथवा शक्ति	५२१
शक्ति विराट् भक्तोंकी एकवर्ति	५०५	अथवा शक्ति	५२१
अनेक-अनेकों सिद्धि काश्चिदेव सर्वत्र	५०५	अथवा शक्ति	५२१
(६) अथवा देवोंके उपासक (स्तोत्र २०-२१)	५१०	अथवा शक्ति	५२१
भक्ति का उपासक के तीन श्रेष्ठ	५११	अथवा शक्ति	५२१
भक्तोंके मित्रायेका उपासक	५११	अथवा शक्ति	५२१
एक अथवा शक्ति का उपासक	५११	अथवा शक्ति	५२१
अथवा शक्ति का उपासक	५११	अथवा शक्ति	५२१

अथ अष्टमोऽध्यायः

अक्षर-ब्रह्म-योग

(१) छः प्रश्न

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधिभूत च किं प्रोक्तमधिदैव किमुच्यते ॥ १ ॥

अधिपद्मः कथं क्रोड्य देहेऽस्मिन्मधुसूदन । प्रयाणकाले च कथं श्रेयोऽसि नियतारमणि ॥ २ ॥

(१) एकके छ भाव

भीमगवाञ्जुवाच—

अधरं प्रश्न परम स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते । भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संश्रित ॥ ३ ॥

अधिभूतं धरो भावः पुरुषस्याधिदैवतम् । अधिपद्मोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे पुरुषोत्तम । तू तब किं अध्यत्म किं कर्म किं अधिभूत किं प्रोक्त ? अधिदैव च किं उच्यते ? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन । तब अस्मिन् देहे अधिपद्मः कः कथं (च अस्ति) ? प्रयाणकाले च नियतारमणि-एवं कथं श्रेयः अस्ति ? ॥ २ ॥

भीमगवाञ्जु उवाच— अधरं परमं ब्रह्म स्वभावः अध्यत्मं उच्यते भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंश्रितः ॥ ३ ॥ हे देहभृतां वर । धरो भावः अधिभूतं पुरुषः अधिदैवतं तब देहे च अहं एव अधिपद्मः ॥ ४ ॥

अर्जुन पूछने लगा— हे पुरुषोत्तम । वह ब्रह्म कीमत्ता है । अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किस कहते हैं ? और अधिदैव किसको कहते हैं ? ॥ १ ॥ हे मधुसूदन यदा इत देहमें अधिपद्म किस तरह और क्या है । अन्ततमय संघर्षी योगी तुझे (ईश्वरको) कैसे पहचान सकते हैं ? ॥ २ ॥

भगवान्ने उत्तर दिया— ब्रह्म अनिनाशी और श्रेष्ठ तत्त्व है (तत्त्व) निज भावकादी नाम अध्यात्म है प्राणियोंके भावकी उद्भूति करनेवाले व्यापारका नाम कर्म है ॥ ३ ॥ हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ । मायाशक्त भावको अधिभूत कहते हैं पुरुषका अधिदैवत कहते हैं और इत देहमें मैं (ईश्वर) ही अधिपद्म हूँ ॥ ४ ॥

(१-२) सप्रम अर्वाकके अन्तमें कहा है कि ब्रह्म अध्यत्म कर्म, अधिभूत अधिदैव और अधिपद्मका नाम ब्रह्म करना चाहिये और प्रयाणकालमें परमस्वरका स्मरण करना चाहिये । अभी तक किसी भी रथावर ह्व यहाँ के जाने नहीं कह गये हैं, अतः अर्जुनके मनमें ईशका आग्रह हुई कि वे हे क्या ? ब्रह्म किसका नाम है अध्यत्म क्या है सपूर्ण कर्मका क्या तात्पर्य है अधिभूत अधिदैव और अधिपद्मके किस वस्तुका भाव होता है ? अध्यत्मत्व और अधिपद्मत्वका क्या अर्थ है और इत भाव करनेवाला क्या

किस प्रकार हो सकता है ? तथा कथं श्रेयसे क्या काम है ?

इत्यादि सब अर्जुनने किये और उत्तरकी प्रतीक्षामें था । यही हेतुकर भगवान् श्रीकृष्ण स्वामावत बनकी प्रकाशोंका उत्तर देते हैं ।

अर्जुनके सब बहुत महत्त्व हैं । भगवान् श्रीकृष्णजीकी उलकी हो पार लकाओंका उत्तर देनेके लिए । एक हीधर्म अध्यात्म और अधिपद्मत्वका विन्यास करना क्या । इन लकाओंका उत्तरकाही उल्लेख क्या महत्त्व है ।

मायाप्रा— (१) ज्ञान उस ओह लक्षण नाम है जिसका कभी नाश नहीं होता (२) प्रत्येक वस्तुमात्रों को अपना अपना लक्षण लक्षण विधायक है उसको अप्यारम कहते हैं, (३) प्राणियों को अपने अपने धर्मकी दृष्टि और कष्टि करनेवाले व्यवहारका नाम कर्म है, (४) जो नामवाच्य वस्तुमात्र है उसको अभिमूर्त कहते हैं, (५) वस्तुओं को चेतनमात्र है, उस चेतन पुनर्को अधिदैवत कहते हैं और (६) प्रत्येक वस्तुओं का मैं मैं कहनेवाला ईश्वरनाम है उसका अधिपन्न कहते हैं ३३-३४

प्रश्न क्या है ?

(३५) पहिला प्रश्न है (किं तत् प्रश्न) वह प्रश्न क्या है ? इसके उत्तरमें (अक्षरं प्रश्न परम) जगि नाही और परम अक्षर तत्त्वही कहा है कहा कहा गया है। वहां जितने तत्त्व हैं उन सबमें अक्षरी छत्रसे ओह तत्त्व है और वह ज-क्षर अर्थात् अविनाशी है, अर्थात् (सूर मिश्र) वह छात्रसे मित्र है, क्योंकि जाये कहा जायगा कि (सूर संतीतः । गी १५।१८) वह तत्त्व कहे परे है छत्रसे बरे जा छत्रसे मित्र, वह अक्षरी है।

इस प्रश्नको केवल अविनाशीही नहीं कहते परन्तु जब इसके विवक्ष्यका दर्शन होगा तब समझकीकी (अक्षरम्) जानें इसमें समझ करी। जो विवक्ष्यमें परमेश्वर का साक्षात्कार करने उसके शेष उसके विवक्ष्यमें समझ करी। जानों-जानों-के किये इसमें समझीया है, इसलिये उसको जह-१ कहते हैं। अर्थात् वह प्रश्न (ज-क्षर) अविनाशी है और (जह-२) जानोंको समझ करनेवाला है। मूल प्रश्नमें जान समझा होते हैं और समुच्च प्रश्न अविनाशी है—

ये पांच प्रश्नों को मूल केवांमूर्तें छ। इ व २।३।१ प्रश्नके दो रूप हैं, एक मूल अर्थात् मूर्तिमात्र प्रश्न है और दूसरा अक्षर अर्थात् विराकार प्रश्न है। मूर्तिमात्र प्रश्नमें जानें समझी हैं और अक्षर प्रश्न अविनाशी है। क्योंकि जाकारही नाशको प्राप्त हो सकता है। इस तरह अक्षर प्रश्नके दोनो अर्थ प्रश्नके दोनो एकत्वमें सार्वक हो जाते हैं। वह वहां अक्षरी तरह भ्यान देनेकी वस्तु है इसका जागे विवक्ष संवेग है।

अप्यारमका अर्थ क्या है ?

दूसरा प्रश्न— (किं अक्षरार्थ) अप्यारम क्या वस्तु है ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि (ज्ञमायाः अप्यारमो ह्यक्षरम्) स्वभावको अप्यारम कहते हैं। स्व भाव का अर्थ है स्वकीय भाव अपनी सत्ता अपना अस्तित्व। जो अपना भाव है वही स्वभाव है। वस्तु वहां अक्षर तत्त्व

होता है कि वह किसका (स्व-भाव) विवक्ष भाव है। वहां मैं निवेदन है कि वह लक्षणाही स्वभाव है। क्योंकि—

अक्षरं परम (तत्त्व) ज्ञान (इति उच्यते) (तत्त्व ज्ञानाय) स्वमायाः अप्यारमो (इति) उच्यते।

अविनाशी परम तत्त्वको प्रश्न कहते हैं और वह अविनाशी परम अक्षरतत्त्वका जो स्वभाव अर्थात् विवक्ष भाव है, वहीका अप्यारम कहते हैं। इस तरह वहां इस बातकी संगति है। अर्थात् परमप्रश्नका विवक्ष भाव अप्यारम कहलाता है। वह विवक्ष भाव कहां होला है ? वह विवक्ष भाव प्रत्येक मूलमें, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक वस्तुमें हीला है। अप्यारम अर्थ प्रत्येक लक्षणका भावको ईश्वरका तत्त्व देखा है। हर एक जीवतमको देहमें जो सदा विवक्ष स्वभाव है, जो प्रत्येक जीवमें प्रकट होता है वह उस लक्षणही स्वभाव है। जो ज्ञानियों और कर्मियोंके द्वारा तथा जब दुर्गि लक्षणाद्वारा प्रकट हो रहा है वह लक्षणही स्वभाव विवक्ष भाव विवक्ष कर्म है। क्योंकि वह स्वभाव सदा समस्तका प्रकट हो रहा है। एक वस्तु है वह हीलाही है वहां इन्हें विभाव है वह सर्वत्र अनुभवमें जाता है। कोई भी देहा स्वभाव नहीं है कि कहां वह विवक्ष भाव नहीं है। वह विवक्ष भाव क्या प्रकट वस्तुका है ? वही यदि प्रत्येक वस्तु लक्षण होगी तो इनके अक्षर होनेके कारण स्वभाव ही लक्षणही होला जादिये परन्तु सर्वत्र अस्ति भस्ति विभाव रूप स्वकीय भाव सर्वत्र एकसाही है इसलिये वह प्रकट अक्षर वस्तुमात्रका अर्थ नहीं है वह अक्षर प्रकट रात्रि वाके अक्षर परमप्रश्नकी वह स्वभाव है, क्योंकि वही एक वस्तु ज्ञानवत्ता सदैव विवक्ष भाव है। वही स्वभावका नाम अप्यारम है। क्योंकि वह स्वभाव प्रत्येक क्षणमें प्रकट हो रहा है। प्रत्येक क्षणमें प्रकट होनेके कारण इसको अप्यारम (अवि-आरम) कहते हैं।

वहीप्रश्न दो बातोंको दर्शन हुआ— (१) एक लक्षण पर प्रश्न है और (२) दूसरा प्रत्येक क्षणमें प्रकट होकर हीला अक्षरही स्वभाव है। अब तीसरा प्रश्न देखिये—

कर्म क्या है ?

वीसरा प्रश्न (कि कर्म) कर्म क्या है ? जो अनादि कर्मबन्ध कब रहा है जिस कर्मबन्धाहमें सभी जीव पड़े हैं वच कर्मका क्या स्वरूप है ? इसके उत्तरमें बताया है कि (भूतभाषोद्भूतकरोः यिस्रः कर्मसंस्थितः) भूतमात्रका उद्भव करमेवका जो बिसर्ग है उसका नाम कर्म है । भूत का कार्य प्राप्तिवत् है इन भूतमात्रोंका जो प्राय अर्थात् अस्तित्व है उसका नाम भूतभाव है । प्राप्तिवत्का होना प्राप्तिवत्का रहना और प्राप्तिवत्का अस्तित्व इन भूत प्रायसे प्रकट हो रहा है । भूतभाव का कार्य प्राप्तिवत् का जीवन ' समग्र सचते है । सब प्राणी जीवित रहते हैं वही भूतभाव अथवा भूतोंका प्राय है । इस भूतभावका उद्भव करमेवका कर्म है । उद्भव का कार्य (उत्-प्रवृत्त) उद्भव होना उद्भवतः बनना उद्भवतः बननेका प्राप्त करना है । उत् का कार्य उत्त और प्रव का कार्य होना । उद्भवका कार्य उद्भव होना है । अतः भूत-भाव-उत्-प्रव-करो का कार्य प्राप्तिमात्रके जीवनको उद्भवतः बननेका प्राय है । जिससे प्राप्तिमात्रका जीवन अधिक उद्भव अधिक विकसित अधिक उद्भव अधिक उत्कृष्ट होगा वह कर्म है । इस उत्कृष्टताका प्राय बिसर्ग रूप होना चाहिये । बिसर्गके कार्य हैं- (१) भागे भेजना, (२) बाध करना (३) क्षायना बाध देना अर्थात् करना (४) बनाना लेना करना (५) मुक्त होना (६) प्रकाश करना । एतैः कार्यैः प्राय विद्याका अथ देवताके कर्मका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । देखिये—

(१) प्राप्तिमात्रके जीवनको उद्भव बनानेके क्रिये जाने मेरित करना (२) प्राप्तिमात्रके जीवनकी उन्नति करनेके क्रिये बल करना (३) प्राप्तिमात्रके जीवनका विकास करनेके क्रिये दाव देना अर्थात् करना आश्रयगण करना, (४) प्राप्तिमात्रके जीवनको उद्भव बनानेके क्रिये लेना करना प्राप्ति उद्भूती करनेकी योजना मिलित करना (५) प्राप्तिमात्रके जीवनका उद्भव बनानेके क्रिये सुखिनी मित्र प्राप्त करना रचनाकी निवृत्ति करना वारंवारका दूर करनेका नाम करना वारंवारका बाध करना (६) प्राप्ति मात्रके जीवनका विकास करनेके क्रिये प्रकाशका प्राय विद्याका । इसप्रति अनेक कार्य भूतभाषोद्भूतकरो

बिसर्गः इस बातके हैं । इसका कार्य समझानेके क्रिये हरएक शब्दके कार्य ऊपर दिये हैं । पाठक इन शब्दोंपर यदि अच्छी तरह विचार करेंगे तो समझे । इसका संपूर्ण कार्य स्पष्ट हो सकता है । भूतभावका उद्भव करनेके क्रिये जो कुछ किया जाता है उसका नाम कर्म है ।

(१) एक अविनाशी परमात्मा है (२) उसका स्वभाव प्रत्येक क्षणमात्र प्रकट होता है (३) उस क्षणमात्रके प्रकाशके क्रिये होवैवाके वाक्यका नाम कर्म है । इस तरह इन तीनों उत्तरोंकी संगति है । अविनाशी अनन्त जगत् अर्थात् ब्रह्म है, उसका स्वरूप स्वभाव है । वह जीवामात्रके भावमें प्रकट होता है । वह प्रकट होना भी अनादि है क्योंकि वही उसका निज स्वभाव है । जैसे ब्रह्म अनन्त है वैसीही उसका स्वभाव भी अनादि है । जब अन्तमात्रमें वह प्रकट होता है तब वही अन्तमात्रमें अन्तवत् का जाता है । इस अन्तवत्का विकास होनाही चाहिये । इस विकासके क्रिये किया गया प्रभाव भी अनादिही है क्योंकि जीवामात्रमें प्रकट होना भी अनादि है और विकासका प्रवर्तन करना भी अनादिही है । भूतभाव में जाना और भूतभावका उद्भव ' करना तथा 'भूतभावके उद्भवके क्रिये (बिसर्ग) दाव करना' ये सब अनादि प्रभाव हैं अतः इस कर्मबन्धाहको अनादि कहिये हैं ।

वही इसका परस्परवर्ती पूर्वान्वय है । अनादि कर्मबन्धाह के वही महारवका अर्थ वही सविस्तर है । इससे पूर्व—

अज्ञातार्थं ब्रह्म दक्षिणार्थं प्राप्तिमात्रं प्रकाशम् ।
प्राप्तिमात्रं तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (गी. ३।१४)
अहं कर्तुरहं यज्ञः स्वच्छादमहमीपथम् ।
मन्त्रोऽहमहमेयाभ्यमहमीधिरहं हुतम् ॥
(पी. १।१६)

इन दोनों श्लोकोंमें भी विविध अर्थोंके दावा वही वाच कही गई है । एकमें कहा है कि ब्रह्म दक्षिण अर्थ अथवा, अर्थात् अविनाशी अनन्त और दूसरेमें कहा है कि मैं कर्तु ब्रह्म स्वभाव अथवा मैं ब्रह्म हुन अर्थ अथवा मैं हुन । इस तरह दिखाया गया है कि ब्रह्म बार बार एकही भावके दोहरा हो अन्तर्गत है । जो ब्रह्म है वही अहं है । वही वही भी कहा गया है— (१) एक ब्रह्म है (२) उसका स्वभाव आत्मभावमें प्रकट होना ही और

अवसमयकी तैयारी

(५-८) अन्तसमयमें परमेश्वरका स्मरण करनेवाला मनुष्य परमेश्वर-भावको प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है वह पाँचवें श्लोकका अर्थ है। ईश छोड़नेके समय जिस परमेश्वरका हीन हीन ध्यान रहेगा, वह हृदयभावको प्राप्त होगा। परन्तु वह है बड़ा कठिन। अन्तसमयमें सर्वार्थ छोड़ करिष्ठ हो जाता है मल्लिङ्ग कार्य नहीं करता भव बुद्धि चित्त आदि सबही छोड़ हो जाते हैं शेष विचार करना भी असम्भव हो जाता है और किसी किसी समय जो शरीरकी पीड़ा भी असह्य हो जाती है। कई तो मूर्च्छितवन् हो जाते हैं, ऐसे समयमें परमेश्वरका स्मरण करना कैसे सम्भव हो सकता है ?

बहु प्रश्न यहाँ हो सकता है और प्रत्येक इस प्रश्नको सत्य कह सकता है कि मरनेके समय मनुष्य किसका भी ध्यान हो किसका भी श्रवण वा वीक्षित हो वाणी किसकी भी शीघ्र हो गई तो भी वह अपने पुत्रोंको समीप बुलाता है और उनको कुछ कहानी है अर्थात् सत्ता रक्षी बाँटोका स्मरण वह करता है। ऐसे कठिन क्षणमें यदि वह संसारकी बातका ध्यान एक सकता है तो निःसन्देह परमेश्वरका स्मरण भी कर सकता है। अतः विचार करके देखना चाहिये कि मनुष्यके अन्तिम क्षणमें भी इसको संसारकी बाँटोका स्मरण कैसे होता है ? इसका उत्तर इतना ही है कि संसारकी बाँटोका विचार और ध्यान वह मनुष्य विस्मृत करता रहता है। विस्मृत धार्मिक बाँटोका ध्यान करनेके कारण ही इसको संसारकी बाँटो का स्मरण मनुष्य समय भी हो जाता है। यदि यह बात सत्य है तो हमें एक विशेष महत्त्वपूर्ण विषयका पता लग सकता कि मनुष्य जिस बातका विस्मरण ध्यान करेगा उसका स्मरण उसको मनुष्यके समय होगी। यही निश्चय कहे शोचने का है जिसका भाव यह है— मनुष्य जिस भावका विस्मरण ध्यान करता है उस भावसे प्रभावित (तन्मायमाधितः) होनेके कारण वह उस भावको प्राप्ति होता है और उसको वह 'बाणिक समय' भी यही भाव प्राप्त रहता है। मनुष्यका अन्तसमयमें सामाजिक भावोंका स्मरण रहनेका कारण यही है। यदि मनुष्य कदा परमेश्वरका ध्यान करेगा तो उसको अन्तसमयमें भी परमेश्वरका

स्मरण रहेगा ही क्योंकि सत्यका धर्म एक है सही है। जिस भावका स्मरण अन्तसमयमें ध्यान मन करता है उसमें वही सत्य समा जाते हैं।

इसमें (तन्मायमाधितः) उस भावसे प्रभावित होनेका भाव मुख्य है। यह जिस भावसे प्रभावित होगा वह उस भावसे पुनः हो जायगा और उसी भावका रूप हमें निर्वाण होगा। उदाहरणके लिये देखिये कि जो मनुष्य कर्माह्वय करनेमें बहुत रहता है रातदिन इसीमें अपने भावको डाले रहता है वह उसमें कुछ सुना नहीं समझता। जो शैत्य हर समय कर्माह्वय रहता है उससे दूसरेके भाव केमें कोई कठिणता नहीं होती और जो दिनरात अहिंसात्मक करता है वह जीवकी हानि होनेके मगसे एक भी क्षण पीड़ा है। इस तरह जो धर्म आदि केवलधर्म अन्तसमय करता है उसको गरीब इस व्यवहारसे मारते हैं इसका विचारतक नहीं होता। जो रूढ़ीपति मरते रूढ़ी बचनेकी विचारमें रहते हैं वे अमिर्कके कठोर विचार नहीं करते। राजासहाराका प्रजापति करकेसे पैसा लेते हैं और उसको अपने विचारमें खर्च करते हैं, परन्तु इस प्रकार के व्यवहारसे जिसका ध्यान करनेमें जाता यही धर्म का रूप होता है। वह सब इसी कारण होता है कि मनुष्य (तन्मायमाधितः) वही भावसे रंग जाता है जिसका वह रातदिन विचार करता है। यदि वह सत्य है तो कदा मनुष्यको विस्मृत परमेश्वरका स्मरण करेगा भी परमेश्वरका स्मरण नहीं होगा। अवश्य होना।

मनुष्यविशेषर कई कीड़े होते हैं, कुँड़ोंर कई जीव होते हैं, वे अन्ती होलेते रहे होते हैं। वे क्यों ऐसे रंगे जाते हैं इसपर विचारना चाहिये। वे जीव उन कुँड़ों और वनस्पतिमें रंगकारी ध्यान करते हैं अतः उनके अन्तिम देखेरी वन जाते हैं। इस ध्यानसे यदि मनुष्य परमेश्वरमाधित हो जायगा तो वह परमेश्वरमाधित पुनः वही नहीं होगा। अवश्य होगा यही सिद्धान्तके लिये यहाँ कहा है—

स मन्मार्थं याति आस्त्ययं संशयः । (५)

मामेवैष्यत्यसंशयम् । (७)

परमं पुरुषं दिव्यं याति । (८)

हृदयभावको प्राप्त होता है परम पुरुषको प्राप्त करता है इसमें कोई संदेह नहीं है। परमेश्वरका वही सत्य सत्य

(३) आत्मभावका वचना मृतभावका उद्भव करमेवाका को प्रत्यक्ष है वही कर्म है । प्रकृता स्वभाव उससे भिन्न रह नहीं सकता और उद्भव करना भी इसीका कर्म है अर्थात् वे हीनोही एकके हीन पक्षसुखे हीन वर्णन है इस तरह वही बताया है । परन्तु क्या है उसका स्वभाव ऐसा है उसका कर्म क्या है ? यह कहेंगे कि 'अज्ञ' का और 'अहं' का कर्मस्वरूप बताया जा । वही भिन्न कर्मों से नहीं बताया गया है । प्रकृता स्वभाव अप्पात्म है और इसीका स्वयंका प्रकाश करवाती उसका कर्मवचन है । इसकी संगति विशेष प्वावसे प्रत्यक्ष कानेकी वस्तु है ।

अधिभूत क्या है ?

कर्म के रूप है- (अधिभूत कि प्रोक्त) अधिभूत किसे कहते हैं ? इसका उत्तर मन्वाद् बीकृष्णसे दिया है कि (अधिभूत इतर भाषा) को नाकवम् भाव है उसको अधिभूत कहते हैं । इस अवस्था में प्रमाण वस्तुकाय इस घर घलने आजाते हैं । सप्तम अध्यायों को अपरा प्रकृति कही है वही वह घर भाव है—

भूमिप्रायोऽनला पापुः स मनो बुद्धिरथ स ।
अदकार इतीयमे मित्रा प्रकृतिरष्टधा ॥ (गी ७७)
यह महाभूत, मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकारकी प्रकृति है । वही घर है और वही अधिभूत है । इस जगत्का प्रत्येक पदार्थ अष्टका प्रकृतिका रूप है । वही घर भाव है और वही अधिभूत है ।

भूतका अर्थ है वस्तु । साराही समस्त वस्तुएँ मृतभाव हैं । वह अष्टका प्रकृतिका रूप है और वही मूर्त अक्षर अक्षर वही प्रकृति कहें है । पदिक जिस प्रकृता अर्थव दिया कि प्रकृति रूप है अप्पात्म उसका स्वभाव है और उसका वस्तुही कर्म है । इसीका घर भाव घर कहें अक्षर अष्टका प्राकृत भाव अधिभूत है । जो संपूर्ण वस्तु समूह है वही अधिभूत है आ । वही प्रकृताका प्रियरूप है । वही कहा गया घर भावही अंतरपुरुष (अ गी १५११-१८ में) है । घर पुरुष घर भाव घर सत्ता भाव अधिभूत पदकी है । वही जो कर्म हो रहा है वह अनेक तारोका वही है अनित्य पदकी तारके अनेक पदम बोला है । वह वाय मलम अप्पावरी भी कही गयी है और वही फिर भाव प्रकाशने वही कही जा रहा है ।

अधिदैवत क्या है ?

प्राचीन ग्रन्थ है कि (अधिदैवत कि प्रकृति) वही पुरुष किसे कहते हैं । इसका उत्तर है कि (पुरुषा अधिदैवत) 'पुरुष अधिदैवत है । पूर्ण अप्पात्म है' अष्टका प्रकृतिको घर कहा है और परा बीकृष्ण प्रकृतिसेही इस अवस्था कहा गया है ।

(सप्तम अध्याय)	(अष्टम अध्याय)
अष्टका प्रकृति	अष्ट अधिभूत
अपरा प्रकृति	अष्ट भाव
परा प्रकृति	अष्ट पुरुष अधिदैवत
बीकृष्ण	अप्पात्म स्वभाव
अहं	अष्टा प्रकृति

(अध्याय ७७-९) (अध्याय ८१३)

इस तरह पाठक दोनों अध्यायोंकी तुलना करने देवें वस्तु । अब अन्तिम प्रश्न है—

अधियज्ञ कौन है ?

वर्तमानका कर्म प्रश्न है (अधियज्ञ कर्म कोऽहं कहें) । इस देहमें अधिविज्ञ कौन है और वह कैसा है इसका उत्तर मन्वाद् बीकृष्णसे इस तरह दिया है (अहं एव अधियज्ञः) । इस देहमें मही अधिविज्ञ है । देहमें जो वज्र हो रहा है जो कर्म हो रहा है उद्यम करि जाया अहं (मे) अधिदैवत प्रकट होता है ।

मनुष्यजीवन एक ही वर्ष चक्रेवाला सत्र, अष्टका वज्र है इसका अर्थव वयविवर्तने इस प्रकार किया है—

पुरुषो धाय पद्मस्तस्य यानि सत्त्वविशति
पर्याणि तन्मात्रासप्तमं ॥ १ ॥ अथ यानि
अतुष्टारयाः सप्तम्यानि तन्मात्रासप्तमि सप्तमं—
॥ १ ॥ अथ याम्यष्टाष्टारयाः सप्तम्यानि तत्
मूर्तीय सप्तमं ॥ २ ॥ (अध्याय ८ १११)

मनुष्यका संपूर्ण जीवन तथा मनुष्य जातुएँ एक वज्र भारी वस्तु है । इसका जगत्का प्रीतिम वर्तका है अन्तरिम प्रकाशनी वर्तका है और भावका अष्टकाकीन वर्तका है । इस हीन काकोमें वह जीवनरूप वज्र चम रहा है वह भिन्नकर (१२४-१२५-१८०-१९१) एक ही लोह वज्रों वह वज्रमलय है । वह मानवीय जीवन उद्यम वज्ररूप होता चरिते । इस मानवीयवचन वज्रका चरितना वही

अंतस्समयकी विचार

(५-८) अंतस्समयमें परमेश्वरका धारण करके ब्रह्मा मनुष्य परमेश्वर-भावको प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है वह पौर्वार्थ श्लोकका अर्थ है। वेद कोटोके समय विसे परमेश्वरका हीन हीन धारण रहेगा, वह हृत्तराजको प्राप्त होता है। परन्तु वह है बड़ा कठिन। अंतस्समयमें अपूर्ण क्षीर पिम्बिक हो जाता है अस्थिर कार्य नहीं करता यह बुद्धि निष्ठ जाति सबही क्षीय हो जाते हैं सोच विचार करना भी असमय हो जाता है और किसी किसी समय तो क्षीरको पीना भी असमय हो जाती है। कई तो अस्थिर हो जाते हैं, ऐसे समयमें परमेश्वरका धारण करना कैसे समय हो सकता है ?

वह बड़ा बड़ा हो सकता है और अनेक इस प्रकारके समय बड़ा सकता है कि हमनेके समय मनुष्य कितना भी क्षीय हो कितना भी ब्रह्म वा पीडित हो बाली कितनी भी क्षीय हो गई तो भी वह करने पुण्यको समीप मुकता है और इनको कुछ कहानी है अर्थात् संसारकी बातोंका ध्यान वह करता है। ऐसे कठिन समयमें यदि वह संसारकी बातका धारण एक सकता है तो निरासह परमात्माका धारण भी कर सकता है। अतः विचार करके देखना चाहिये कि धृष्टके कठिन समयमें भी इसको संसारकी बातोंका स्मरण कैसे होता है ? इसका उत्तर इसका ही कि संसारकी बातोंका विचार और ध्यान वह मनुष्य विवशता करता रहता है। विवशता सांसारिक बातोंका ध्यान करनेके कारणही इसको संसारकी बातोंका स्मरण धृष्टके समय भी हो जाता है। यदि वह बात सत्य है तो हमें वृद्ध विशेष महारूपमें विवशता बला कग गथा कि मनुष्य जिस बातका विवशता ध्यान करता उस का ध्यान उसकी धृष्टके समय होगा। यदि जिसका ध्यान श्लोकमें कहा है जिसका भाव यह है— मनुष्य जिस आत्मका विवशता धारण करता है उस आत्मसे प्रभावित (तद्भाषमाश्रितः) होनेके कारण वह उस आत्मका प्राप्त होता है और इनको देह-वस्त्रादिमें समय भी नहीं धारण करता रहता है। मनुष्यका अंतस्समयमें भावार्थिक भावोंका धारण रहेका कारण नहीं है। यदि मनुष्य बड़ा परमेश्वरका ध्यान करेगा तो उसकी अन्तःकायों भी परमात्माका

स्मरण रहेगाही क्योंकि उसका अर्थ एक देहात्मी है। जिस आत्मका स्मरण जयवा ध्यान सब करता है उसमें बड़ा ध्यान समा जाते हैं।

इसमें (तद्भाषमाश्रितः) इस भावसे प्रभावित होनेकी बात मुख्य है। वह जिस आत्मसे प्रभावित होता वह उसी भावसे मुक्त हो जायगा और उसी भावका रूप हमें दिखाए देगा। उदाहरणके लिये देखिये कि जो मनुष्य कदाचित् अपने करनेमें मग्न रहता है रातदिन इसीमें अपने ध्यानको धारण रहता है वह उसमें कुछ हुआ नहीं समझता। जो दिन भर समय कदाचित् रहता है, उसका हमारेके साथ होने कोई कठिनाता नहीं होती और जो विवशता बहिष्कारात्मक करता है वह क्षीयकी दिसा होनेके समयमें वह भी क्षीय पीता है। इस तरह जो धृष्ट जाति अनेक प्रकारका धारण करता है उसकी गरीब इस धारणारोप मारते हैं इसका विचारतक नहीं होता। जो धृष्टता विवशता नहीं करता किन्तुमें रहते हैं वे धर्मिकोंके कहोका निराकरण नहीं करते। राजासम्राट्का अनादि धर्मकल्पने पैदा होने हैं और उसको अपने विकासमें धारण करते हैं, परन्तु इस धर्म का उपयोग मनुष्यके विवशताधर्मके कारणों करवा लीहिये, वह बात वे पूछ जाते हैं। वह सब इसी कारण होता है कि मनुष्य (तद्भाषमाश्रितः) उसी आत्मसे रंग जाता है जिसका वह रातदिन विचार करता है। यदि वह धर्म है तो क्या मनुष्यका विवशता परमात्माका स्मरण करनेमें भी परमात्माका स्मरण नहीं होगा ? अवश्य होगा।

वस्तुस्थितिपर वह कीड़े होते हैं, हृत्कोर कई क्षीय होने हैं वे उन्हीं रंगोंके रंगे होते हैं। वे क्यों ऐसे रंगे जाते हैं हमपर विचारका चाहिये। वे क्षीय जब हृत्कोर और वस्तुस्थितिमें रंगकाय ध्यान करते हैं अतः हमके क्षीर देखी धर्म जाते हैं। इस ध्यानके यदि मनुष्य परमात्माका ध्यान जायगा तो वह परमात्माका धर्म मुक्त नहीं बनी होगा। अवश्य होगा यदि जिसनेके कि वह कहा है कि—

स मनुष्य याति आत्मयत्न संशया। (५)

आमेधैर्धर्मसंशयम्। (७)

परम पुण्यं दिव्यं याति। (८)

हृत्तराजको प्राप्त होता है धर्म पुण्यको प्राप्त करता है हममें कोई संदेह नहीं है। परमात्माको नहीं धर्म वा

संकेता को हृद्य तरहसे परमात्ममात्रमें रंग जावगा ।
येही ओहोको अग्रिमें रखेसे वह कुछ समयमें अग्रि
मात्रसे मुक्त होकर अग्रिम हो जाता है । ककड़ी मी इसी
तरह अग्रिका रूप धारण कर लेती है । ककड़ी प्रारंभमें
ककड़ी नहीं परन्तु जिस समय वह अग्रिम होती है उस
समय अग्रिसे प्रभावहीन ककड़ी है, अर्थात् अग्रिसे सब गुण
वर्ग ककड़ी और कोहरेमें आ जाते हैं । इसी तरह वह सिद्ध
गुण भी परमात्मामें सब गुणधर्मोंसे मुक्त हो जाता है
अर्थात् वह परमात्मामें विलीन हो जाता है । यदि वह
कहा जाय तो मी अनुचित न होगा कि इस समय वह
परमात्मामें विलीन हो जाता है । वह अपने वारावय विलीन
हो जाता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है पुरुषका पुरुषोत्तम विलीन
हो जाता है ।

अपना मन और अपनी बुद्धि ईश्वरमें लय करके
(मय्यर्पितमनोबुद्धिः) वह आनन्द प्राप्त हो सकता है ।
अब मनुष्य मन और बुद्धि परमात्मामें लय कर देता है
वसे अपनी बनाकर नहीं रहता । तबही वह परमात्मामें
मनुष्य प्राप्त करता है । इसीको अम्बासयोग कहते हैं ।

अम्बासयोग

अम्बासयोगमें वही हो कष्टन भोगने लगे हैं — (१)
तन्मात्रमाधितः । अर्थात् इश्वरके वामावसे प्रभावित होना
और (२) हृद्यरा अर्पितमनाबुद्धिः अपने मन और बुद्धिको
परमात्मामें लय करना । ये दो कष्टन हैं अथवा इनकी अनु
भूतिसे हो साधन कह सकते हैं । परमात्मामें रंग जाना
और परमात्मामें विलीन होना वही अन्तिम सिद्धि
का साधन है । तीसरा एक साधन है जो केतसा माध्या
नामिना इन शब्दोंद्वारा कहा है । दूसरे किसी विषयमें
विचार न कराना और परमात्मामें लय करना विचार न
करना, तथा कष्टनमें लय रहना । मन बुद्धिके समर्पण
करके होता है । अस्तु । इच्छा काय अम्बासयोग है
और वह निरंतर किया जानेवाला योग है । निरंतर करनेसे
ही यह सिद्ध होता है । यदि कोई हृद्य समय करे और कुछ
समय न करे तो वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । इस
समय अनुमानकी सूचना निम्नलिखित वाक्योंसे होती है—

सदा तन्मात्रमाधितः । (१)
सर्वेषु कालेषु मय्यर्पितमनोबुद्धिः । (२)

सदा इसी भावसे प्रभावित रहना चाहिये । हर समय
अपने मन और बुद्धिको ईश्वरमें लय करके रहना चाहिये । यही
सदा और सर्वेषु वे शब्द सतत अम्बासकी सूचना
देते हैं । इस सतत अम्बास करनेका नामही अम्बास
है । बारबार और सतत लय करनेकोही अम्बास कहा
कहते हैं । अर्थात् अम्बासयोग का अर्थ सतत और
बारबार परमात्मामें लय करना ' ही यही अन्तिम है ।
जो साधक इस तरह अम्बासयोग करता है वही परमा
त्म-भावमें प्राप्त करता है । वह अपनी अन्तर्मनमें दिव्य
परम पुरुषका भाव देखता है । यही मनुष्यकी अन्तिम
सिद्धि है ।

इस विषयमें हमने एक अनुमान किया था । कई मास
तक निरन्तर दूसरे वह विचार कायम किया कि किस समय
कोई कार्य न होगा उस समय श्रीमन्नयनश्रीलका पाठ
करेंगे । दो मासके निरन्तर पाठसे वह हुआ कि अब कभी
विद्या हृद्यकी वह समय अपनेही आप मयवर्गीयका
कोई न कोई शोक मयमें करने कपता या अर्थात् किसी
समयमें वगवर्गीयका शोक पदवर्गीय मयका काम हो गया
था और वही कार्य दिव्यमें ही चलता रहता था । इससे
पता चलता है कि मन जिस कार्यमें लग जाता है उसीमें
रंग जाता है और लय हो जाता है ।

अन्तः समय

यही अन्तःसमयमें वह ओहोके समय देखा बारबार
कहा है । वह ओहोके वया अर्थ है । इसका अर्थ मनु
है देखा अब समझते हैं । परन्तु मनु मी ओहोकी समझनी
चाहिये । क्योंकि अग्रिम मनु हैमिक धारु (मित्रा) जब
व्याप्तकी मनु (वाक्वसे वाक्वम अग्रि) अन्तःमात्रकी
धारु (वयवयव-विजगमा होय हृद्यरा अग्रिम मित्रा),
व्याप्तकी धारु (महाधारु) आदि अनेक धारु हैं ।
इसमें ओहोकी मनु यही अवस्थिति है । मनुको अन्त
नी कहते हैं । अग्रिम अन्त हैमिक अन्त वयवयवः अन्त
अन्तका अन्त और देहका अन्त आदि अनेक अन्त हैं ।
इसमें किछ अन्तका अन्त यही अवस्थिति है वह वात
विचारनीय है । अस्तुतः अन्त अन्त यही अवस्थिति है ।

हर प्रकारके अन्तके समय परमात्मामें लय करना
चाहिये । यदि कोई इच्छा वह आध्यात्म समझता तो वही

(४) परम पुरुषका ध्यान

कविं पुराणमनुष्ठासितारमणोरणीयांसमनुसरेण ।

सर्वस्य आचारमपि त्यक्त्वा मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रमाणकाळे मनसाऽप्यसेन भक्त्या युक्तो बांगबलेन चैव ।

सुषोर्मध्ये प्राणमावक्ष्य सम्यक् स त परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

यदस्मिन् वेदविदो वदन्ति विद्वन्ति यद्यतनो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तथे पदं समग्रेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि सयम्भ मनो हृदि निरुध्य च । मूर्धन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ॐ इत्येकाधरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुसरन् । यः प्रयाति त्यजन्नेहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वयः— कविं पुराणे अनुष्ठासितारं, अणीयांस सर्वस्य आचारं कवित्वपूर्णं तमसः परस्तात् कवित्वपूर्णं (विद्यमानं पुरुषं) प्रमाणकाळे अत्यन्त मनसा प्रवक्ष्या युक्तः योगबलेन च पूवः शरीरः मनसि सम्बद्धं प्राणं आवेश्य स अनुसरेण यः स दिव्यं परं पुरुषं वदेति ॥ ९-१ ॥ वेदविदो यद वदन्ति वदन्ति वीतरागाः यतनः यद विद्वन्ति (ब्रह्मचरिणः) यद हृच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तथे पदं स समग्रेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥ सर्वद्वाराणि संयम्य भक्त्या य इमे विद्वन् भूमिं ब्रह्मणः प्राणं आधाय योगधारणाम् आस्थिताः ॥ १२ ॥ ॐ इति एकधरं ब्रह्म व्याहरन्, ॐ अनुसरन्, यः वेदं ब्रह्म, प्रयाति सः परमां गतिं याति ॥ १३ ॥

कर्म होगा कि प्रतिष्ठान परमेस्वरका स्मरण करवा चाहिये क्योंकि प्रतिष्ठानही मनुष्यकी सन्तुष्टि ही रही है ।

विज्ञा भी एक मनुष्य है क्योंकि विज्ञा—समयमें इस तरह शरीरको एक प्रकारसे बहसा जाय देती है । किसी किसी समय शरीरभंगा होवेक। अनुभव भी मनुष्यको होवेकगता है । यदि किसी क्षण विचारका स्मरण निद्राके समय मनुष्य को होया तो उत्कर्ष निद्राके समय उठी क्षण विचारका कार्य करता रहेगा । यदि कोई मनुष्य बीमार हो और निद्राके समय में बीरोग है वह विचार करने के समय स्थिर हो जाये तो निद्रापरन्तु बड़ी विचार करने के समय स्थिर रहेगा और कामचोर उसको अनुभव होगा कि पूर्व की अपेक्षा उसे अधिक आरोग्य प्राप्त हुआ है । इसी तरह यदि विज्ञा जायेके समय करने के समय परमात्मका विचार होगा तो निद्रामें भी बड़ी विचल स्थिर रहेगा और उसका कर्म आनन्द प्राप्त होगा । जो व्यक्ति इस तरह अनुभवका अभ्यास करेगा उसके अन्तःकरणमें, मनुष्यके समयमें की का वैसा पार हा

मनुष्यके पास हो मन है वह मन कापुष्टिमें कर्म करता है तथा दूसरा विज्ञा है । जो मन विज्ञामें कर्म करता है वह कापुष्टिमें होता है और जो कापुष्टिमें कर्म करता है, वह विज्ञामें होता है । कापुष्टि के समय में जो उत्कार होते हैं वे निद्राके समय में उत्पत्ती होती हैं और विज्ञाके समय में विचलन कर्म है कि वह उत्कर्ष—विचलन—उत्कर्ष नहीं करेगा । जो मान समयमें जाता है वह वैज्ञाही मानता है और वैज्ञाही पार जाता है । इसीप्रकार मनके सतत क्षण विचार करनेकी आवश्यकता है । जिसके विचारकर्म होने उक्त मन को विचारकर्मको पुष्ट होगा ।

जिसका उक्त मन परमात्मामें विधीय हो जायेगा वह उसके एकपक्षको चारण करेगा । किन्तु वह काम क्षण अन्वयात्मे होता है । वह विचार करनेपर अपने आरोग्य लाभका पता लग सकता है । अपने आपकी उक्त कर्मका मार्ग और परम कामकी प्राप्ति का पता स्पष्ट हो सकता है । इस तरह वह मार्ग मानवीय चरित्रका मार्ग है जो इससे मनुष्यकी ऐहिक तथा धर्मात्मिक उन्नति ही करती है । जब अन्वयात्मा मार्ग चलता जाता है ।

प्रयाणके समयमें स्थिर मनके द्वारा, मस्तिसे युक्त होकर और योगबलके द्वारा दोनों मोहोंके बीच मन्त्री मानि प्राणको स्थिर करके जो सबह पुरातन नियन्त्रा मनुष्ये भी सुखम सबका धारणकर्ता अविमलस्वरूप, अन्धकारसे परे रहनेवाले स्वयंके समान तेजस्वी ईश्वरका स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुण्यके समीप पहुँचता है ॥ ९-१० ॥ यह जाननेवाले जिसने अक्षर कहते हैं विययबासमा रहित योगी लोग जिसमें मग्न रहते हैं ब्रह्मचारी लोग जिसकी प्रासिकी इच्छासे ब्रह्मचर्य मतका आचरण करते हैं उस पक्षको छोड़ते हैं (यहाँ) बताता हूँ ॥ ११ ॥ इंद्रियोंके सब द्वारोंका समय कर मनका हृदयमें निरोध कर, मस्तकमें अपने प्राणको छे जाकर सायक योगकी धारणावस्थामें स्थिर होवे ॥ १२ ॥ यहाँ (उस अवस्थामें) मोक्षारूपी एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और मेरा (परमेश्वरका) चिन्तन करता हुआ जो साधनकर्ता देह छोड़कर जाता है, वह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

भाषार्थ— हँसर सर्वज्ञ है जब उससे कुछ भी बचता नहीं है। वह वाणीज है और प्राणीज काष्ठसे जर्णय प्रदायी सबका नियन्त्रा और साधनकर्ता है। वह सब जगत्का एकमात्र सर्वाधिकारी शासक है। वह सुखमें भी वसिष्ठम है और सबका एकमात्र नाकार है। इसके अर्थक अर्थ स्वरूपका चिन्तन करना बहुत कठिन कार्य है। वह स्वयं जगत् तेजस्वी है इसलिये इसके पास अन्धकार नहीं रह सकता। इसी दिव्य परम पुण्यका सबको प्यान करना चाहिये। ब्रह्मज्ञाकर्त्ते, मस्तिष्क होकर मस्कुटीमें प्राणको बन्धकर जो इसका प्यान करता है वह उस दिव्य परम श्रेष्ठ पुण्यकी प्राप्ति कर लेता है ॥ इसी परम पुण्यको देखनेका लोग अक्षर कहते हैं, निरुद्धांगी लोग इसीमें प्रविष्ट होते हैं इसीकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उस वरम यह परममहाका वसिष्ठछेपसे नहीं वर्णन है ॥ इंद्रियोंका संयम करो सबको हृदयमें स्थिर करो और मस्तकमें अपने प्राणको स्थिर करके आरणाका अव्यास करो। ऐसे मन्त्र भोक्तका जब और परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ जो देह छोड़ता है वह निःसंदेह परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ ९-१३ ॥

प्रमाण-काष्ठ

(९-१३) यहाँ यह बतलाया गया है कि प्रमाण-काष्ठमें परम पुण्यका प्यान किस तरह करना चाहिये। प्रयाणकाष्ठ और जगत्काष्ठका मुख्य अर्थ मनुष्यका समय है। परन्तु इसका गौणवर्ध प्रतिक्षण भी होता है। क्योंकि मनुष्यकी प्रतिक्रिया मनुष्य होती रहती है और प्रतिक्रिया देहका कुछ न कुछ भाग वह होता ही रहता है। प्रत्येक क्षण सदा यहाँमें पूर्ववत्ता बनी रह जाती है, क्योंकि प्रतिक्रियाके मनुष्य वह होकर इनके स्थाय्यमें नये मनुष्य आ जाते हैं। यह परिवर्तन ज्ञान, ज्ञान, प्रतिक्रिया होता रहता है। यदि मनुष्यके अतिरिक्त जोड़ दो मनुष्य हो और वह सदा यहाँमें परिवर्तित हो जाय तो एक दिनमें बहार्त्त लोके मनुष्य वह होकर जगत्में नये मनुष्य आ जाते हैं। इस तरह इनके परमात्माकी मनुष्य मनुष्यकी प्रतिक्रिया होती है और जगत्में नये मनुष्य आते हैं। उपवास करनेसे यह परि १७ (हि. गी.)

वर्तन नीज होता है। यद्यपि मनुष्यमें मनुष्यकी अप्रति परमात्माकी संवर्धन अधिक होता है इसलिये क्षण बहता है और क्षण मनुष्यमें मनुष्यके मनुष्योंकी सत्ता अधिक होनेके कारण क्षण क्षण हो जाता है। जब प्रतिक्रिया जगत्माग आई तोके परमात्माकी मनुष्य होती है तो प्रतिक्रिया क्षण मनुष्य होती है इसका विज्ञान जगत्माग आ सकता है। इस तरह यह क्षणिक मनुष्यी वैदिक मनुष्य है। देहकी इतना ज्ञान प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया करना पड़ता है। देहवागके समय मनुष्यको परमेश्वरका स्मरण करना चाहिये। यदि प्रतिक्रिया परमात्माकी अप्रति देहका जगत् होता रहता है तो प्रतिक्रियाही जगत्माग है।

अन्त-समयकी प्रतिष्ठा

इसके अतिरिक्त यदि मनुष्य प्रतिक्रियाकी जगत्-समय न माने तो इसके वह वत्ता नहीं जगत्माग कि इसका जगत्-समय किस समय मानेवाका है। यदि मनुष्य भी वहाँके बाद देहका जगत् होया ऐसा मानेया तो वह भी निश्चित नहीं

आत्मा वा भरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्त्रव्यो
निदिष्ट्यासितव्यः । आत्मनो वा भरे वर्धनेन
भवनेन मत्या विज्ञानेनेर्त्तुं सर्वं विवितम् ।

(दृ. व. २।४।५)

अत्रमाको देवता और सुनना चाहिये और पञ्चात्
इष्टका मन्त्र और निदिष्ट्यासन करना चाहिये । अत्रमाके
दर्शन प्रथम मनन और विज्ञानके इष्टका ज्ञान होता
है । वही (१) अत्रमाका दर्शन पहिले होना चाहिये
पञ्चात् (२) इष्टका वर्धन सुनना चाहिये तभी (३) इष्टका
मन्त्र ध्यान चिंतन अथवा स्मरण करनेकी योग्यता का
सकती है और तभी (४) इष्टका निदिष्ट्यासन और ड्राव
हो सकता है । वही स्मरणका सीसरा स्थान है, इस बात
पर पाठक ध्याय हैं । पहिले परमात्माका दर्शन करना
चाहिये वत्सात् इष्टका वर्धन सुनना चाहिये और तत्पश्चात्
इष्टका चिंतन ध्यान अथवा अनुस्मरण करना चाहिये ।
वह मुक्तिपुत्र अन्त्यात्मका कर्म है ।

मन्त्रवर्धना न ५ (श्री १९) में वासुदेवाः सर्वे
व्यः हैं । वस्तुदेव अर्थात् ईश्वरीय वस्तु है । वह
भीतका स्वयं मन्त्रव्य है । वही वाच वेदमें—

पुरुष एवेष्ट सत्यम् । (अ. १।१९)

पुरुष परमेश्वरीय वह सत्य है । स्वयं अर्थमें कही है ।
उपनिषद्में भी वही कहा है— आत्मा वा इदं पर्यम्
इत्यादि । तत्पर्यं वह कि वेद उपनिषद् और भीतार्थ
' परमेश्वर वह सत्य है ' देखा कहा है । इष्टका शान केले
मन्त्र करना चाहिये वह विद्या सत्य अन्त्यात्मा में कही है ।
ओ भी कुछ वस्तुमात्र पंचमहाभूतोंसे बना है जिसमें मन्त्र
मुक्ति अर्थकार और चैतन्य हीलता है वह मन्त्र परमेश्वरका
भीतर है वह सत्य परमेश्वरका इष्ट अथवा सकल रूप है
देखा बताया गया है । सात्वत अन्त्यात्मका अन्ती अक्षर मन्त्र
करनेसे वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है । वह ज्ञान प्राप्त हो
जायेपर वह सब परमात्मा का अष्टका विचरुण है देसा
वर्णित होगा और परमेश्वरमें निवेश करना है इष्टका
आत्माकार होगा । और —

भीतरमाः पतयः यत् विप्रमितिः । (२१)

परमेश्वर अति शिव परमात्मा में प्रविष्ट होते हैं ।
वह शान अनुभवमें आ जायगी । परमेश्वरमें प्रविष्ट होके

जिसे पहिले परमेश्वरका दर्शन होना चाहिये । अब
साधककी परमात्माके वक्ष्यक (पुरुष एवेष्ट सर्वे) सगुण
कर्मका दर्शन होगा तब अर्थमें वह इसमें मन्त्र अनुभव
करेगा । परमात्माके अनुभव अथवा सत्यपुत्र प्रवेश है वह
बात इष्ट परमात्मा अनुभवमें आ जायगी चाहिये ।

अब इष्ट परमात्माका दर्शन होगा तब वेद
उपनिषद् चादि शास्त्रोंमें जो अनेकविध वचन किना
गया है वह परमात्माका ही है वह ज्ञान का सत्यता ।
दर्शनके पञ्चात् प्रथम करनेका अधिकार इस तरह प्राप्त
होता है । अब सवही पुत्र है (पुरुष एवेष्ट सर्वे)
वह प्रत्यक्ष होगा तब—

तत्वेवास्ति स्वादित्यस्तद्वापुस्तत्तु अन्त्यात्माः ।

तदेव शुक्रं तद् अन्त्यात्मा वा आपः स प्रजापतिः ।

(वा. व. ३।१।१)

वही अति आदित्य वायु अग्नि पृथक्, वह आप
(जल) और प्रजापति है । वह शान होगा और अन्त्यात्मा
देवताके मन्त्र पढ़कर इसका परमात्मा वर्धन वह वह है
वह अनुभवके विविध होगा, इस रीतिसे—

वेदविदः यत् अक्षर वदन्ति । (२१)

वेदवेदा लोग जिते अक्षर मन्त्र कहते हैं । उस
अक्षर अक्षर वर्धन वेदके सत्यमें सुखमें है । इसका ज्ञान
वत् ज्ञान सत्य हो जायेगा । वह मन्त्र होयेपरही वह
वेद वहने और सुखके अधिकारी होता है । परमात्माके
प्रत्यक्ष दर्शन होके पहिले पहिलेपर भी वेद अक्षरकी
समझमें नहीं आयेगे और अथवा अज्ञानक कारण वह वेद
मन्त्रके देसे अर्थगत अर्थ करेगा कि वचने परस्पर अन्त्यात्मा
वचने आयेगी । वस्तु परमेश्वरका सगुण रूप प्रत्यक्ष होतपर
वह अन्त्यात्मावस्थाका अर्थ वेदमें देवता और इसको स्वयं
और टीक अर्थ प्राप्त हो जायेगा । वही इस प्रत्यक्ष ज्ञानका
अर्थ है ।

वही परमात्माके वक्ष्यका आत्माका वर्धन दिखा है—

कविः ।

कवि सत्यके अर्थ सर्वज्ञ ज्ञानी मुक्तिपुत्र अनु
मन्त्र मुक्तिपुत्रों अर्थसमीप सत्यवत्ती कवि आत्मविमर्श
विचारकज्ञानी मन्त्र श्रुत अर्थ है । आन्तरिकी,
अतीन्द्रियार्थदर्शी को अन्त्यात्मा में ही अर्थका उपको

(५) परम सिद्धि

वनन्यचेताः सतत यो मां स्मरति नित्यम् । तस्याह सुखमः पार्थ नित्यमुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
 मायुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गता ॥ १५ ॥
 ब्रह्मसुखवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽप्येन । मायुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः— हे पार्थ ! मैं नित्यतः वनन्यचेताः (सत्) मां सततं स्मरति तस्य नित्यमुक्तस्य योगिनः सर्व सुख (अर्थ) ॥ १४ ॥ परमां संसिद्धिं गताः महात्मायः मां अपेक्ष्य पुनः दुःखकार्यं जन्माद्यं जन्म न वाप्नुयन्ति ॥ १५ ॥ ब्रह्मेन । ब्रह्मसुखवाप (सर्व) लोकः पुनरावर्तिनः (सति) । हे कौन्तेय ! मां अपेक्ष्य तु पुनः जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥ हे भर्तृन्म ! मय्य कुछ भी नहीं है । ऐसी भावना बनाकर जो सदा मेरा (ईश्वर) ही सतत स्मरण करता है उस नित्यमुक्त योगीको मैं (ईश्वर) सुखमत्तया प्राप्त होता हूँ ॥ १४ ॥ परम स्थि महात्मा लोग सुख (ईश्वर) को प्राप्त होनेके पश्चात्, पुनः दुःखके स्वामरूप जन्माद्यं जन्मको प्राप्त नहीं करते ॥ १५ ॥ हे भर्तृन्म ! ब्रह्मलोक जाति मिलने सब लोक हैं वहाँसे (पुनरावृत्ति) पुनः जन्म होता है, हे कुन्तीनन्धन ! परन्तु मेरे (ईश्वर) पाछ आनेपर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता ॥ १६ ॥

पुनः योगसाधन करता है । मय्य मिलने बचने है वह इस तरह योगनक प्राप्त कर सकता है । सर्वसाधारण मनुष्यको वह योगी प्राप्त नहीं हो सकता । वह योगी जो अपनी इच्छासे अपने मरणकी चेष्टा करता है उसे कोई मनुष्य जन्म प्राप्त जाता है वेचैही योगी हुआ है वह चरण करता है । शरीरपर इन्हीं आनीमया स्थापित करना चाहिये । जो योगाभ्यास करेगा उसीको वह स्थिति प्राप्त हो सकती है । मय्य जो नहि मिलेपर परमेश्वरके गुणोंका ध्यान करेंगे वो उन्हें जन्मसन्तोषसे बन्तमें परमेश्वरका स्मरण रहेगा और वे सुखमय होंगे । पूर्णतः योगमग्न ब्रह्मि अपने स्थि उपनीची नहीं है तथापि इस जन्माद्ययोगके अवलोकनसे सबका उद्धार हो सकता है ।

जिस परम पदका लक्ष्य वेदमें सर्वत्र किया है जिसकी प्राप्तिही इच्छा वैराग्यवृत्त लोग करते हैं जिसका इच्छासे लोग ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उस पदका यहाँ इस तरह लक्ष्य किया है । जब इन्द्रियहाराका संयम और मयका हृदयमें विरोध करने तथा मूर्धामें मलकर्म—ध्यानको ज्ञान करनेका अभ्यास करना चाहिये । इस चरणवाली व्यवस्थामें रहकर योगधरका रूप बना हुआ परमेश्वरका स्मरण करके जो वेदको जीवता है वह विशिष्ट परम अर्थको प्राप्त होता है ।

अत्येक मनुष्य जन्माभ्यासही वह सब कर सकता है परन्तु विशिष्ट अभ्यास करना अत्येकके अधिकारमें नहीं होता । जो वह साधना कर सकता है वे अवलम्ब करें । जो श्रेष्ठता कर सकते हैं, वे उन्नत अवलम्ब करें । परन्तु जिससे

वह जन्मवर्धितोक्तकी योग स्थि न हो वह साधक उन्नत जन्माभ्याससे अवलम्ब करे । पूर्णतः स्वामये जो जन्माभ्यास करता है वह शिरस्य जन्माभ्यासे मलकर्म धारण ही करता है । अस्तु । भगवद्गीतामें वे लोक व्यवस्थित हैं बहुत मिले हैं ऐसा विवृत होता है । वे लोक नष्ट देखिये—

सर्वे वेदा यत्पद्माम्भ्यन्ति तपांसि सर्वानि च पश्यन्ति । यद्विष्णुस्तो ब्रह्मचर्यं ब्रह्मि, तपे पर्व संमहेन ब्रवीमि भीमिल्येन ॥ १५ ॥
 ब्रह्मो विष्णुः शान्मतोऽयं पुरातनः ॥ १६ ॥
 भजोरभीयाग्महतो महीयानामास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ १७ ॥ (अ. ८. १)
 वेदाहमेतं पुरतं महान्तमादित्यवर्षं तनता परस्तात् ॥ ८ ॥ यस्माद्वापीयो न ज्ञातेऽस्ति कश्चित् ॥ १८ ॥ भजोरभीयाग्महतो महीयानामास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ १९ ॥

सब वेद जिस पदका लक्ष्य करते हैं, जिसके स्थि तप करने जाते हैं और जिसके स्थि ब्रह्मचर्यका धारण किया जाता है वह पद संक्षेपसे कहा है, यही जीवन है । वह जन्मा जन्मता मिल जायत और पुरातन है । वह जोवेसे जीव और वेदसे कहा है वह अत्येक जन्मके इच्छामें विधात करता है । वह महान् पदका लक्ष्यसे परे और धर्मके समान देखनी है । न इससे कोई जीव है और न कहा जाता है । इत्यादि लक्ष्य उपनिषद्में मिलता है । पाठक सुकना करके होंगे । इस व्यवस्थामें प्राप्त होने वाला एक भी देखिये—

माध्याय— वहाँ दूसरा कुछ भी नहीं है ऐसा जानकर जो अपना मन सतत ईश्वरमें ही लगाता है और ऐसा अनन्य चित होकर जो सतत ईश्वरका ही स्मरण करता है उस मित्य योगसाधन करनेवाले योगीको ईश्वर सदाहीन प्राप्त होता है। परम भेद सिद्धिको प्राप्त हुए महात्मा काग ईश्वरको पाने के पञ्चाङ्ग पुनः पुनः हुएकमय असाध्यत पुनश्चमका मित नहीं प्राप्त होते। बह्मकोटसे केकर मिलने की कोश हैं उनमें पहुँचे सिद्ध पुनः पुनः कोट बताते हैं, परम्यु को सिद्ध पुनः ईश्वरका प्राप्त होते हैं, उन्हें कोटका नहीं पड़ता अर्थात् उन्हें पुनः जन्म नहीं लेना होता ॥ १४ १६ ॥

ईश्वर-स्मरण

(१४ १६) ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर प्राप्त होता है ऐसा कहा है। (स्मरति) ईश्वरका स्मरण करनेसे किन्तु अधिक ईश्वरका अनुभव होगा चाहिये क्योंकि स्मरण अनुभव विषयका ही होता है। का विषय किसी तरह की मनुष्यके अनुभवमें न आना हो वह उसका स्मरण कैसे कर सकेगा ? मनुष्यके पास काय त्वचा, नेत्र, शिखा और माला के पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं; मन समन करनेकी इन्द्रिय है; चित्त करनेकी बाकी इन्द्रियका नाम चित्त है, आज ग्रहण करनेवाकी सुवि है, हमसे किन्ती इन्द्रियद्वारा ज्ञानका समी इन्द्रियोंद्वारा ईश्वरका ग्रहण पहिले होना चाहिये ज्ञानका चित्त किसी तरह ग्रहण हो सके उसी तरह ईश्वरकी भासि करनी चाहिये। ग्रहण होनेके पञ्चाङ्गी स्मरण हो सकता है। इस निबन्धमें इससे पूर्व (९ से १३ श्लोकोंकी व्याख्याके अंतर्गत) को किया है वह भी पालक देखें। इस रीतिसे ईश्वरका स्मरण करनेसे ईश्वर सुकमपत्ता प्राप्त हो सकता है।

नित्य-स्मरण

(नित्यशः सततं स्मरति) नित्य बार सतत स्मरण करना चाहिये अर्थात् प्रतिदिन और प्रतिप्रसम स्मरण होना चाहिये, बीचमें अन्तर नहीं होना चाहिये। निरंतर स्मरण करना मनुष्यके किन्तु कैसे संभव है ? क्योंकि मनुष्यके जीवनमें ऐसे कई क्षण पड़े जाते हैं कि जिनमें वह ईश्वरका स्मरण नहीं कर पाता। फिर कैसे ईश्वर प्राप्त होगा ?

हमलिये बचाव नहीं है कि ईश्वरके किन्हीं अनया जीवन समर्पण करना चाहिये। ईश्वरके किन्तु सेहून जीवन समर्पण करनेसे इस जीवनमें को कुछ चिन्ता जाबगा उससे परामरका स्मरण होता रहेगा। वह कहे हो खरेगा इसका बर्धन प्रत्यक्ष जाले करेंगे। परम्यु नहीं हवमाही स्मरण कि ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण करने

का एकमात्र उपाय आत्मसमर्पण ही है। आत्मसमर्पण करनेसे अपना कुछ विषय नहीं रहता जिसका कि वह स्मरण करे। अन्य कोई पदार्थ ही स्मरण करनेके लिये नहीं रहता जो कुछ रहता है वह ईश्वर ही ईश्वर रहता है। ऐसी अनन्य अवस्था होनी चाहिये। जिस अवस्थामें ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य नहीं है, ऐसा निश्चय हा जाता है उसको अनन्य अवस्था कहते हैं। जब चित्तकी ऐसी अवस्था हो जाती है, तब उसे अनन्य-चेता कहते हैं। इसी अवस्थामें अनन्यचता साधक ईश्वरका सतत और नित्य स्मरण कर सकता है।

अनन्य-चेता

प्रायः मनुष्य अनन्यचेता होत है। मैं अभीसे भिन्न हूँ और अन्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं। जब पदार्थ परस्पर भिन्न हैं इस प्रकार मनुष्य सदा भिन्नताका दर्शन करता है। नहीं हुएका कारण है। पाठक विचार करें और देखें कि को कुछ समय के आनंदीय जीवनमें हो रहे हैं वे सबके सब इस भिन्नताके कारण ही हो रहे हैं। अतः अनन्य का दर्शन होना चाहिये। कोई अन्य नहीं है ऐसा अनुभव ही अनन्य दर्शन है। मुझसे भिन्न कोई नहीं है वह अनुभव मनुष्यका हो सकता है। वह काह कल्पनिक बात नहीं है। सत्यताकार्य मनुष्य अनन्यचेता होत है, उन्हें अनन्यचता बनाना चाहिये। आ ऐसा अनन्यचता बनैगा वहीं मनुष्य (नित्यशः सततं स्मरति) नित्य और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है। नहीं कोह शंका करनेवाक एक सत्य है कि वह किम तरह निय और सतत ईश्वरका स्मरण कर सकता है ? देखिये ईश्वरसे भिन्न नहीं हमारा कुछ भी नहीं है ऐसा एत निश्चय हो चुका है। एकदम आ ऐसा निश्चय कर चुका उसी जब कुछ भी स्मरण होना तब परमेश्वरका ही स्मरण होगा क्योंकि हमारे किन्ती पदार्थोंके स्मरण करनेसे किन्तु उसका मानने जानेकी

(९) प्रश्न-सोक

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षिब्रह्मणा विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तां तेष्वहारात्रविदो जनाः ॥१७॥
 अम्यक्ताश्चकम् सर्वा प्रभवन्त्यहारागमे । रात्र्यागमं प्रलीयन्ते तत्रैवाभ्यक्तसङ्गे ॥१८॥
 मृतप्रायः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवस्यः पार्थ प्रभवत्यहारागमे ॥१९॥

परमार्थः— यत् यं नहोरात्रविदः जनाः सहस्रयुगपर्यन्तं ज्ञातव्यः नहः तां युगसहस्रान्तां रात्रिं च विदुः ॥१७॥ अत्रान्ये
 सर्वाः अम्यक्ताः अम्यक्ताश्चकम् (पुनः) रात्र्यागमे तत्र अभ्यक्तसङ्गे एव प्रलीयन्ते ॥१८॥ ते पार्थ स एव सर्वे मृत
 प्रायः भवन्ति (मृत) भूत्वा मृत्वा रात्र्यागमे प्रलीयन्ते (पुनः) नहारागमे अवस्यन्ति ॥ १९ ॥

धनान्धमानी नहीं है । इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा
 कि वही मनुष्य ईश्वरका स्मरण किये और मरण कर सकता
 है कोई अन्य नहीं । क्योंकि जन्मभोगेता ईश्वरका स्मरण
 मरण और किये नहीं कर सकता । जो जन्मभोगेता होता
 वही ईश्वरका मरण और किये स्मरण कर सकता है । इस
 सोचके जन्मभोगेताः पक्षी यह महत्त्व व्याप्त होनेको
 है ।

नित्ययुक्त योगी

जो इस तरह ईश्वरका किये और मरण स्मरण करता
 है, उसका नाम योगी है । योगीका कार्य है सुख हुआ ।
 जो जन्मभोगेता होता है जिसके कियेमें जन्मभोगका
 मरण नहीं है और केवल जन्मभोगकाही मरण है उसमें
 जिसका व होनेके कारण वह समझता है कि वह सब सुख
 हुआ है । वह अपने आपकी भी ईश्वरके साथ सुख हुआ
 अनुभव करता है । मरत वह अपना योगी (सुख हुआ)
 कहता है । वह (नित्ययुक्त योगी) किये ईश्वरके साथ
 संयुक्त रहता है । ७८॥ इससे ज्ञित नहीं होता । वह एक वही
 महत्त्वकी बात है । ईश्वरके साथ किये ईश्वर रहता कोई
 सहज कार्य नहीं है परन्तु जन्मभोगिका कर्तव्य मर्त्य
 कारण करनेवालेही ईश्वरके साथ कियेयुक्त हो सकते हैं । वही
 जन्मभोगीका महत्त्व है ।

इस प्रकार जो (जन्मभोगेता) जन्म मरण कोकर
 रहनेवाला (नित्ययुक्त) किये संयुक्त योगी होता है
 वह (नित्ययुक्त) सदाते स्मरति । किये और मरण
 ईश्वरका स्मरण करता रहता है मरत । (तत्त्व सुकम्)
 वसतो ईश्वर सुकम् है अर्थात् वसतो ईश्वर कहनाही

गान्त होता है वसतो वह दूर नहीं रह सकता ।

महात्मा

इस तरह पक्षी यदि साधक परमेश्वरके (ईश्वर-युक्त)
 परम पदार्थ केवले वह महात्मा कह जाता है । इसके
 पूर्व उसका नाममात्र जन्म (जन्मभोग) रहता है । स-
 मेकवारकी श्रुतिके साथ उसका मेक हो जानेके पर
 पूर्वात्मा दिना महात्मा हो जाता है और (परम)
 स्थितिमें रहता । वही परम स्थिति प्राप्त हो जाती है ।
 वह उच्चस्थिति अन्तिम अवस्था है । वह अवस्था जिसमें
 प्राप्त होती है उसको (अष्टाध्याय द्वाव्याध्याय पुनर्जन्म
 न) नस्त्यिर और पुनर्जन्म पुनर्जन्म वस्तुतः प्राप्त नहीं
 होता क्योंकि वह जन्मभोगके कारणसे मुक्त हो जाता है ।
 इस जन्मभोगके मुक्त होनेही मनुष्यजन्मका अन्तिम जन्म
 है ।

जन्मभोग वह जन्मभोग रहता है क्योंकि जन्मभोग इसमें
 इति मेदमात्रे मुक्त होती है, तत्त्वतः इसको पुनर्जन्म जन्म
 ही पक्षी है । परन्तु जिस समय इसके कियेमें जन्म
 साथ दूर होजायेगा वही समय वह महात्मा और जन्मभोग
 नेता हो जायेगा और तत्त्वतः वही जन्मभोगके जन्म
 नहीं योगेमें पड़ेगा । महाजन्मभोग कियेमें भी जीव है, जो
 पुनर्जन्म देनेवाले हैं । जन्म योगोंको जो साथ होते हैं उन्हें
 पुनर्जन्म जन्म कहतेपर पुनर्जन्म केनाही पड़ता है ।
 परन्तु श्रुतिके रीतिसे ईश्वरको प्राप्त करनेके पक्षी पुन-
 र्जन्मके वह योगनेकी धन्यवाणी हर जाती है । जो पर
 महाजन्म आदि कोकोका स्वकर्म वसतो है वह पर
 देविके—

महोरात्रका प्रमाण जाननेवाले लोग जानते हैं कि सहस्र युगोंका ब्रह्माका एक दिन और सहस्र युगोंकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है ॥ १७ ॥ ब्रह्माके दिनके आरम्भमें अव्यक्त प्रकृतिसे सप्त व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रिके आरम्भमें वही अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं ॥ १८ ॥ हे भर्तृन् ! वही सृष्टीका समुदाय पल्लववासे (पल्लव होकर) बार बार उत्पन्न होकर, रात्रि होतेही लीन हो जाता है और दिन होनेपर फिर उत्पन्न हो जाता है ॥ १९ ॥

भाषार्थ— कृत्त वेदा, ह्यपर और कश्चि मे चार युग हैं इन चारों युगोंका नाम मिळकर महा युग है। ऐसे एक सहस्र महायुगोंका ब्रह्माका एक दिन और इतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रि होती है [अर्थात् ब्रह्माका एक महोरात्र दो सहस्र महायुगोंका होता है। ऐसे ३६ महोरात्रोंका एक वर्ष और १ वर्षोंकी ब्रह्माकी जातु होती है।] ब्रह्माके दिनके आरंभ होते ही अव्यक्त प्रकृतिसे सप्त सृष्टीकी उत्पत्ति होजाती है और दिनकी समाप्ति होकर रात्रिका आरंभ होनेसे समय छव सृष्टीका कथ वही अव्यक्त प्रकृतिमें हो जाता है। जो सृष्टीका समुदाय हम देखते हैं वह उत्पन्न होने और कथ होनेमें स्वर्तन नहीं है। वह निश्चयकसे अचीन है अर्थात् परवर्तन है। अतः ब्रह्माकी रात्रिके प्रसंग मे अव्यक्त होकर अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और ब्रह्माके दिनके आरंभमें अव्यक्त होकरही उत्पन्न हो जाते हैं। वह कम अर्थात् अक्षय रहता है। कितनेके समर्थ यदि उत्पन्न होने या लीन होनेकी इच्छा न हो तो भी इसका कुछ बन्ध नहीं पक सकता और वह अनन्ति अक्षयमें ब्रूमताही रहता है ॥ १७-१९ ॥

ब्रह्माका दिन

(१७-१९) इस स्थानमें ब्रह्माका दिनका वर्णन है। यह काल गणनाका विषय है। कृत्तयुगकी अवधि ४ वैधी वर्ष वेदा युगका प्रमाण ३ वैधी वर्ष ह्यपर युगका प्रमाण २ वैधी वर्ष और कश्चियुगका प्रमाण १ वैधी वर्ष माना गया है। सब मिळकर १ वैधी वर्ष होते हैं। एक युग समाप्त होनेकी दूसरा युग आरंभ नहीं होता। बीचमें संवत्सरक भी होता है। इस संवत्सरककी अवधि विभिन्न प्रकार मानी गयी है। कृत्तयुगके अर्द्धि अन्तमें बार बार छी वर्ष मिळकर ४ वर्ष वेदाके अर्द्धि अन्तमें छीव छीव छी वर्ष मिळकर १ वर्ष ह्यपरके अर्द्धि अन्तमें दो दो छी वर्ष मिळकर ४ वर्ष और कश्चियुगकी अर्द्धि अन्तमें छी छी वर्ष मिळकर १ वर्ष छव मिळकर १ वर्ष संवत्सरक प्रमाण में हैं। मुख्य चार युगोंका समय १ और संवत्सरकके १ वर्ष मिळकर चारों युगोंका कुल समय १२ वैधी वर्ष होता है। वह चतुर्युगीका समय है इसीकी एक महायुग कहते हैं। इस चतुर्युगीके कितने मानवीय वर्ष होत हैं, देखिये—

मानवी ३६ दिनोंका १ वैधी दिन होता है। इस तरह मानवी ३६ वर्षोंका १ वैधी वर्ष होता है। अतः १२ × ३६ = ४३२ मानवीय वर्ष सृष्टीके चतुर्युगके होते हैं। इसका प्रमाण यह है—

१८ (दि नी)

३६ मानवी दिन = १ मानवी वर्ष = १ वैधी दिन
३६ वैधी दिन = १ वैधी वर्ष
१२ वैधी वर्ष = १ चतुर्युग = १ महायुग
४१ महायुग = १ मन्वन्तर
१४ मन्वन्तर और } = ब्रह्माका १ दिन अवधि
१५ संवत्सरक } १ महायुग

१४ मन्वन्तरोंके (१४ × ४१) ५७४ महायुग हुए जात अति मन्वन्तरोंके पश्चात् कृत्तयुग श्रितवा (४ वैधी वर्षोंका) संवत्सरक होता है। ऐसे १४ मन्वन्तरोंमें १५ संवत्सरक होते हैं। अतः (१५ × ४१ मिळकर =) ६ महायुग संवत्सरकके मिळकर (५७४ + ६) = १ महायुग एक ब्रह्माके दिनमें होता है।

इससे पूर्व महायुगका प्रमाण (१२ + ३६ =) ४३२ मानवीय वर्ष बताया है। ऐसे एक सहस्र युग ब्रह्माके एक दिनमें होते हैं अतः ४३२ × १ = ४३२ इतने मानवीय वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनेही समयकी ब्रह्माकी एक रात्रिके होती है। अर्थात् ब्रह्माके महोरात्रका समय ८६४ मानवीय वर्षोंका है। मनुस्मृतिमें इस विषयमें कहा है—

ब्रह्मस्य तु सप्तार्द्धस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकया युगानां तु त्र्यस्यस्तत्रियोपत ॥ १८ ॥

(८) पुनरावर्तनका समय

यत्र काले त्वनाहुविमाहुरिषि चैव योगिन । प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्षभ ११
मद्भिर्न्यातिरह शुक्ल पण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो वना १२
पूर्वो रात्रिस्तथा कृष्ण पण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्भोगी प्राप्य निवर्तते १३
शुक्लकृष्णे गती द्वेते अगतः श्वाश्वते मते । एकया यात्यनाहुचिमन्मयाऽऽवर्तते पुनः ॥२१॥

अन्वया— हे भरतर्षभ ! यत्र काले तु प्रयाता योगिना अनाहुतिं वाहुरिषि च एव यान्ति तं कालं वक्ष्यामि ॥११॥
भगिनि ज्योतिः ब्रह्म शुक्लः (पक्ष) पण्मासाः उत्तरायणं तत्र (काले) प्रयाताः ब्रह्मविदः अनाहु ब्रह्म गच्छन्ति ॥१२॥
पुनः रात्रिः तथा कृष्णः (पक्षः), सप्तमासाः दक्षिणायनं तत्र (काले प्रयाताः) भोगी चान्द्रमस इति प्राप्य निवर्तते ॥१३॥
अगतः एते हि शुक्लकृष्णे मयी आश्वते मते । एकया अनाहुतिं बलि अन्वया युवा आवर्तते ॥ २१ ॥

हे भरतर्षभ ! जिस समयमें प्रयाण करनेसे योगी लोग फिर लौटकर नहीं आते और (जिस समयमें प्रयाण करनेसे) पुनः आते हैं वह समय मैं तुझे बताऊंगा ॥ ११ ॥ भगिनि, ज्योति विना शुक्ल पक्ष उत्तरायणक कः महीने, इस समयमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥ पून रात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणायनके कः महीने इस समयमें जानेवाले कर्मयोगी चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वापस लौटकर आते हैं ॥ १३ ॥ अगत्के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग समाप्त हैं । एकले लौटकर नहीं आना पड़ता तथा वृत्तरेले पुनः लौटकर आना ही पड़ता है ॥ २१ ॥

भावार्थ— जिस समयमें वेद स्वाध्यासे लौटकर आना पड़ता है और जिस समयमें प्रयाण करनेसे लौटकर नहीं आना होता इस विषयमें वह शिक्षण है कि उत्तरायणके कः महीनेके शुक्ल पक्षमें जिसके ब्रह्मज्ञमें भगिने रहते रहनेके समयमें जो ब्रह्मज्ञानी इस देहको छोड़कर चले आते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और लौटकर वापस नहीं आते । तथा दक्षिणायनके कः महीनेके कृष्ण पक्षमें रात्रीके अन्धेरेके समयमें जिसके पुन वैकालेके समयमें जो कर्मयोगी देह छोड़कर आते हैं, वे चन्द्रमाको प्राप्त होकर पुनर्गम लेते हैं । इस अगत्की ये शुक्ल और कृष्ण मति साधन हैं । एवमेव पुनर्गम और वृत्तरेले मोक्ष मिलता है ॥ ११-१३ ॥

परमेष्ठर किसी दूधरे स्नायते आकर प्रसन्न नहीं होता । उसके वह अल्पत्व होनेका आशयही वह है कि वह परमेष्ठरका एक भाग बनता है (समेष्टांशः । म १५।७) । वह परमेष्ठर का एक बननेपराही असम्भव ' हो सकता है । जो अल्प होगा वह कदापि असम्भव नहीं हो सकता । जो स्वभावसे असम्भव होगा वही असम्भव हो सकता है । अतः कहा है कि—

तदपदपदं, तद्वमपदं तदासीत् । (बा न १२)

तत्तन तत्त प्रसन्नता द्वा, एकमेव वह रूप प्रसन्न बन गया । क्योंकि वह बहिरिकसी प्रसन्नता । यदि वह स्वयंप्रसन्न बन गया तो कदापि प्रसन्न न बनता था, इच्छाकिये बन गया । अस्तु । इस तरह—

पर-पुरुष

पर-भाव

परमेश्वर

पर-अवस्था

अवस्था (अवस्थान)

गुणभावना

प्रकृति

अवस्था

अवस्था

अवस्था

अवस्था

विषय (मूलादि)

रूप महाद्वय

जो परम पुरुष है वही परम गति प्राप्त करने वाला पुरुष, परम भाव आदि प्राप्तोंसे वर्णित होता है । जो मनुष्योंको प्राप्त करना चाहिये ।

वहां अध्यात्म' शब्द देखी प्रकृति जोत अक्षर परमात्मा इन दोनों अर्थोंमें आता है । अतः (अवस्था अर्थ ' अवस्था') एक अवस्थामें हस्ता अवस्था, देहावस्था अवस्था अक्षर प्रकृति विषयमें कहा है । अवस्था अर्थमें जोमो अर्थ केनेसे अवस्था स्वयं हो सकती है । तोमो अवस्था अर्थ भी हवी तरहसे हो अर्थोंसे ताप मनुष्यता है हस्ता अनुपस्थान वाक्य अवस्था को ।

अब मरनेके पश्चात् पुनर्गम प्राप्त होने का व होनेके विषयमें जो काकरी अवधि निवृत्त है इन अर्थोंमें वही है—

(७) परम धाम

परस्त्वस्मात्तु माधोऽन्योऽन्यकोऽन्यक्कात्सनातन । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति १०
 अन्यकोऽपर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते सङ्ग्राम परमं मम - ११
 पुरुषः स परः पाथ भक्त्या सम्यस्त्वनन्यया । यस्तान्ताःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं तत्तत् १२

अर्थः— यः तु सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति, यः तस्मात् अन्यकात् अन्यः अन्यकात् सनातनः सः सः (अस्ति) ॥ १० ॥ यः भगवत् (माध्व) भक्त्या इति शब्दः तं परमां गतिं आहुः (शान्तिः) यं प्राप्य न निवर्तन्ते सङ्ग्राम परमं मम (अस्ति) ॥ ११ ॥ हे पार्थ ! भूतानि वरव भन्ताःस्थानि (स्थिति) येन सर्वं तत् तत् सः तु तत् तत् सम्यया भक्त्या कर्मभिः (अस्ति) ॥ १२ ॥

ओ सच भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता, वह उस अन्यकसे भिन्न अदृश्य और सनातन एक इकरा माध्व है दूसरा पदार्थ है १० ॥ अस्तर नामसे प्रसिद्ध अन्यक माधवकी ही परम गति कहते हैं। हाँ तो मिले प्राप्त करके फिर नहीं छोड़ते वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ११ ॥ हे पार्थ ! सच सच जिसके भन्दर हैं जिसमें यह सब व्याप्त है वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है १२ ॥

माधवार्थ— ये संपूर्ण भूतमात्र माधवको प्राप्त होते हैं। इस सबके बाद होनेपर भी एक तरह ऐसा रहल है जिसका कभी भी नाश नहीं होता। इस प्राकृतिक अन्यकसे भी कुछ को सनातन विक्रमका अन्यक पदार्थ है वही अन्यके भव है। जो अस्तर नामसे सुप्रसिद्ध अन्यक तब है वही परम गति है वही परम पद है और वही परम धाम है। इस सब धामको प्राप्त होनेवाले शान्तिबोधों को फिर पुनर्जन्म नहीं केना पड़ता। वही ईश्वरका भव धाम है। इसके भन्दर संपूर्ण भव हैं और वही सब भूतोंमें व्याप्त है। वही परम पुरुष केवल अनन्य भक्तिसे प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति का दूता कोह कथान नहीं है ॥ १०-१२ ॥

वाराणस्यां तु सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
 तस्य तायच्छती सख्या सख्याश्च तयाविधः ॥ ११ ॥
 इतरेषु सत्संध्येषु सत्संध्येषु च त्रिषु ।
 एकप्रायेण वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ १२ ॥
 यदेतत्परिसंख्यातमाश्रयेण चतुर्गुणम् ।
 एतद् द्वादशसाहस्रं वेदानां युगमुच्यते ॥ १३ ॥
 द्वाविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
 ब्राह्मेकयज्ञैर्धैर्यं तावतीं शान्तिमेव च ॥ १४ ॥
 ततः युगसहस्रात् ब्राह्मं पुण्यमहर्षिषु ।
 शान्तिं च तावतीमिव तेऽहोरात्रविश्वो जनाः ॥ १५ ॥
 (अनुसूति अ १)

वह ब्रह्माके दिन और शान्ति का समय है। कृत युगका समय बार सहस्र वर्षों का है। इसका संवत्सर भी बार में वर्षों का है। अन्य युगोंका समय बालेकमें एक एक मध्य वर्षोंके भूत और प्रायेकका संवि-काल की की वर्षोंमें समान भूत होगा। अनुसूति के चतुर्गुणों की वक्ष्यता

बारह सहस्र वर्षोंकी है। वही देवोंका एक युग है। ऐतरेय एक सहस्र वर्ष होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है और वतवाही समय शान्ति का होता है वह महोत्सवकी लक्ष्य करनेवालोंका भव है। वही बार सप्त सप्त १०, १० ५ में वही गयी है। भक्तवद्गीताका सहस्रयुगसंज्ञा भावि (८१०) कीक भिन्नमें भी मिलता है। वही कालगणना महाभारत आदिपर्व अ १२१ और पूर्व सिंहाय १-१५-२ में वही गई है।

ब्रह्माका दिन मारंभ होते ही संपूर्ण पृथ्वी उत्पन्न होती है और ब्रह्माकी शान्ति मारंभ होते ही सब भगवत्संख्य हो जाता है। इस तरह उत्पत्ति और सब सब होते हैं। ब्रह्माके दैत्यों को वर्ष वर्षोंका होनेपर द्वादश ब्रह्मा जाता है। वह सब ब्रह्माका एक एक रहता है। इसका भव नहीं है। अतः इस ब्रह्माकोको प्राप्त करनेके ब्रह्मा की शान्ति नहीं है। ब्रह्माका एक एक वतवाही रहता है। वह चतुर्गुण भव कभी नहीं रहता। इसके इत्येका कथान भव पदोंके

परम धामकी खोज

(१ - २२) इस श्लोकमें परम धामका वर्णन है ।
परम धामकी खोज करनेके लिये जहाँ अपने चारों ओर देखना चाहिये । चारों ओर जगत् पदार्थ हीबसे हैं । सब इस विविध पदार्थमें परम धाम है । नहीं । ये सभी पदार्थ देखे हैं जो पक्षि वही ये किसी कममें बरपक हुए हैं और कुछ समयके पश्चात् मर हो जायेंगे । बरपक होना रहना बचना परिणत होना लीन होना और नाश होना इन सब पदार्थोंकी ये छ वस्तुएँ होती हैं । जो पदार्थ विचारमात्र और वाच्यमात्र हैं वह परम धाम कहलाने योग्य नहीं हो सकते । परम धामकी प्राप्ति जो अविनाशी सत्तात्म होमेके ही होती है । यदि हमने परम धामके बहके कोई ऐसा निकारी वाक्यान् पदार्थ प्राप्त किया तो वह हमें क्षणमात्र धुल देगा और कुछ समयके पश्चात् वह स्वयं मर हो जायगा । ऐसे बकर पदार्थके भला क्या काम होगा ? और ऐसी बकर वस्तु प्राप्त करनेके लिये हमने परिश्रम करनेकी भी क्या आवश्यकता है । अतः जो परम धाम हमें प्राप्त करना है वह इस बकर वस्तुको नन्दर नहीं हो सकता ।

हम अतिदिनके बहुमनसे ऐसा कह सकते हैं कि ये सब पदार्थ वह हो जायेंगे हैं । सब एक पदार्थ मर हो जाये हैं, अतः केवल व्यक्त वस्तु परम धाम नहीं हो सकती । इससे परे अन्धकार है । समयतः वह अन्धकार परम धाम होगा । परन्तु वही अन्धकार दो प्रकारके कहे जाते हैं । एक तो वह है जो इस सब अन्धकार वस्तुओंका उपात्त कारण महत्त्व जगत् गुणसत्त्वा मूल प्रकृति है । उसके निरीक्षे केभी कारण धर्मसत्त्व सब वस्तुएँ बनती हैं और वहीके निरीक्षे भिन्न जायेंके समान सब वस्तुएँ लसीं कीज हो जाती हैं । इस महत्त्वको जोत गुणसत्त्वा प्रकृतिको भी अन्धकार कहते हैं परन्तु यह अन्धकार भी परम धाम करने योग्य नहीं है क्योंकि वह एक समय अन्धकार स्थितिमें रहता है और दूसरे समय अन्धकार स्थितिमें परिणत होता है क्योंकि अन्धकार एकसा नहीं रहता । जो एकसा नहीं रहता उसके आश्रयपर हम कैसे विचारत रह सकते हैं । अन्धकारके लिये देखिये आकाशपर अनेक दिग्गज यदि किसीके विचार किया तो निश्चय जायेपर वह उड़ अकलें

हम जायगा । क्योंकि वह एक एक समय दिग्गजके कक्षा हो जाता है और दूसरे समयमें पहाड़ी बन जाता है । इसी तरह वह गुणसत्त्वा प्रकृतिको अन्धकार है वह एक समय अन्धकार रहता है और दूसरे समयमें अन्धकार रूप धारण कर लेता है । अतः वह परम धाम होने योग्य नहीं है ।

परम धाम ऐसा होना चाहिये जो अकल एकदम एकदम और एकस्थितिवाला हो । वही विनाशयोग विनाशरूपान् हो सकता है । मूल प्रकृतिको अनेक पदार्थोंमें एक ही ऐसा नहीं है । इधीका वर्णन इस श्लोकमें इस प्रकार किया है—
अध्वक्यात् अन्धः अध्वक्याः सत्तात्मनः परः भावः । (२०)

इस गुणसत्त्वा मूल प्रकृतिसे (अन्धकार प्रकृतिसे) दूसरा एक सत्तात्म अध्वक (आत्मतम) है वही सत्ता केवल सत्य है । ' वही सत्ता परम धाम कहलाने योग्य है क्योंकि वह सदा एकरस, अकल और सत्तात्म है । वह ऐसा भाव है वैसाही एक या और वैसाही अविनाशमें रहेगा । सर्वत्र वाक्यान् पदार्थोंमें वही अविनाशी है । सबके साथ होनेपर भी वह एकसा बना रहता है । वह विचाररहित है । इसीको—
अध्वक्यो अक्षर इत्युक्तः
अन्धकार अक्षर कहते हैं । और इसी अन्धकार अक्षरको—
परमां गतिं माहूः । (२१)
सत् परम धाम । (२२)

परम गति और परमधाम कहते हैं । वही अन्तिम प्राप्ति है । वही पदार्थनेपर कि (व प्राप्ति न विद्यते) इन्हीं कीटना नहीं पड़ता । वही अकल आनन्द प्राप्त होता है । वही परमसत्ताका पद है । इसीको ईश्वरकी सत्ता कहते हैं । वही अक्षरपद है । वही (परा पुण्या) पर प्रकृत परम प्रकृत कहलाता है । इसीमें सब भूत हैं और सब भूतोंमें वह रहता है । वही सर्वत्र व्याप्त है । (अन्धकार्या प्रकृत्या अन्धः) अन्धकार अक्षरही वसती प्राप्ति हो सकती है । जिसमें अन्ध भाव नहीं है, वह अन्धकार भाव है और उसके साथ जो भक्ति होती है वह अन्धकार भावकी भक्ति है । मैं ईश्वरके भिन्नक नहीं हूँ, मैं ईश्वरके भिन्न नहीं ईश्वरके अन्ध नहीं ऐसे भावके जो भक्ति होती है जो सेवा होती है वह अन्धकार भक्ति है । जो ऐसी अन्धकार सेवा करता है उसको परमेवर प्राप्त होता है क्योंकि वह परमेवरसे अन्धकार होता है अन्धकार होनेके कारणही वह सदा प्राप्त रहता है । वही

(८) पुनरावर्तनका समय

यत्र काले स्वनाशुचिमाशुचिं चैव योमिन । प्रयाता भान्ति त काल वक्ष्यामि मरतर्पम २१
मग्निर्ज्योतिरह शुक्ल पण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना २४
भूमो रात्रिस्तथा कृष्ण पण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते २५
शुक्लकृष्णे गती द्वेते भगताः क्षाभ्यते मते । एकया यास्यनाशुचिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

अर्थः— हे मरतर्प ! यत्र काले तु प्रयाता योमिन। अनाशुचिं आशुचिं च एक काल, तं कालं वक्ष्यामि ॥२१॥
मग्निः ज्योतिः ब्रह्म शुक्ल (पक्ष) पण्मासाः उत्तरायणं तत्र (काले) प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ॥२४॥
भूमः रात्रिः तथा कृष्णः (पक्षः), उत्तरायणः दक्षिणायनं तत्र (काले प्रयाताः) योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते ॥२५॥
भगताः द्वेते हि शुक्लकृष्णे गती क्षाभ्यते मते । एकया अनाशुचिं वति अन्यया पुनः आवर्तते ॥ २६ ॥

हे मरतर्पेण ! जिस समयमें प्रयाण करनेसे योगी लोग फिर छोटकर नहीं आते और (जिस समयमें प्रयाण करनेसे) पुनः आते हैं वह समय मैं तुझ वताऊंगा ॥ २१ ॥ मग्नि, ज्योति विन शुक्ल पक्ष उत्तरायणक छः महीने इस समयमें प्रयाण करनेवाला ब्रह्मजानी ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ भूम रात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणायनके छः महीने इस समयमें आगेवाले कर्मयोगी चन्द्रमाकी ज्योतिस्को प्राप्त होकर वापस छोटकर आते हैं ॥ २५ ॥ भगत्के ये शुक्ल और कृष्ण नामक मार्ग समाप्त हैं । एकसे छोटकर नहीं आना पड़ता तथा दूसरेसे पुनः छोटकर आना ही पड़ता है ॥ २६ ॥

आचार्य— जिस समयमें वह आनेसे छोटकर आना पड़ता है और जिस समयमें प्रयाण करनेसे छोटकर नहीं आना होता इस विषयमें वह सिद्धांत है कि उत्तरायणके छः महीनेके शुक्ल पक्षमें जिसके ब्रह्मजानी ब्रह्मके प्राप्त होवेक समयमें जो ब्रह्मजानी इस देहा कोकर कले जाते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और छोटकर वापस नहीं आते । तथा दक्षिणायनके छः महीनेके कृष्ण पक्षमें रात्रीके अन्तरेके समयमें ज्योतिस् पक्ष केकालके समयमें जो कर्मयोगी देह छोडकर जाते हैं, वे चन्द्रमाकी प्राप्त होकर पुनः प्रयाण करते हैं । इस जगत्की ये शुक्ल और कृष्ण गति क्षाभ्यते हैं । ऐसे पुनः प्रयाण बार दोबारा ही भोज निकला है ॥ २३-२६ ॥

परमेश्वर किसी दूधरे लानसे जाकर प्राप्त नहीं होता । इसके वह अन्य होमेका जायवही वह है कि वह परमेश्वरका एक भाग बनता है (मतेर्मात्रा । म १५०) । वह परमेश्वर का एक बननेवाही अन्य हो सकता है । जो अन्य होगा वह कहाँ अन्य वही ही सकता है । आ स्वभावसे अन्य होगा वही अन्य हो सकता है । अतः कहा है कि—

तत्पश्यत्, तदभयत् तदासीत् । (पा व ३१)
इसमें तम ब्रह्मका देहा हैकनेपर वह स्वयं ब्रह्म बन गया । क्योंकि वह वहिकेही ब्रह्मका । वहिके स्वयं ब्रह्म न होता की कहाँ ब्रह्म न बनता आ इति किं वन गया । अस्तु । इस तरह—

पर-पुनः	पर-आय	पारोक्षिक
पर-अन्य	अन्य (अनाय)	गुणनाय
		वृद्धि

अन्य	अन्य	महात्मा
अन्य	विष (मृता)	पक्ष महात्मा
जो परम पुनः है वही परम मति नाम काय बन		
पुनः परम भाव आदि नामसे वर्णित होता है । वही		
मनुष्योंको प्राप्त करवा चाहिये ।		

वही अन्तर्यामि अन्तर देवी प्रकृति और अन्तर परमात्मा इन दोनों अर्थों का भाव । अतः (अन्तर्यामि अन्य अन्तर्यामि) वह अन्यसे पुनः अन्य, देहाया अन्य अन्तर ब्रह्मके विषयमें कहा है । अन्तर अन्तर है दोनों अर्थ केनेसे अर्थकी स्पष्टता ही सकती है । अन्तर अन्तर अन्तर ही अन्तर अन्तर के दो अर्थोंके साथ मनुष्य होता है इसका अनुसंधान वादक अवश्य करें ।
अथ मरतर्पेक ब्रह्म पुनः प्रयाण प्राप्त होने और व होमे विषयमें जो काकी अवधि विवत है वन सर्ववने वने है—

(२३-२४) किस समयमें श्राप्य होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है और किस समय मृत्यु होनेसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है इसका संकेत यहाँ किया है । कटरावणके छः महीनोंमें मुख्य पक्षमें दिवसे समय हवनाग्नि की ज्योति बनी ठेक रहनेके कारणमें मध्यरात्री देह छोड़ते हैं और वे जीवे मछको प्राप्त होते हैं । क्षिण्यापणके छः महीनोंमें कृष्य पक्षकी रात्रिके समय हवनाग्नि तुलनेके पञ्चांग को पूर्ण चैकठा है उस समय जो कर्मयोगी देह छोड़ते हैं वे कर्ममात्रो प्राप्त होकर वायस औरवक जाते हैं । इनको पुनर्जन्म केना पड़ता है । मध्यरात्रिकी गति प्रकाशगति कहलाती है और दूसरीकी पूज गति कही जाती है । वे दोनों गतिवा इस जगत्में सत्तन कल्पसे चक रहते हैं जो नर्षिराशि प्राप्ते जाय हैं वे मुक्त होते हैं और पूज मार्गसे चले जाते हैं वे वीर्यकर वायस जाते हैं ।

इस मार्गका अधिक विचार करना चाहिये । साधारण व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करनेसे पूरा प्रतीत होता है कि प्रकाशके समय मार्ग चलनेसे दक्षिण दिशा दिव्य इस स्थलमें लक्ष्मी राह पशुच सक्त है । यदि वह गाढ बंधकारकी रात्रिमें पूर्ण चैकनैके समय जबकि हिम चैकनैके समय प्रकाश कारणके छिने चका जायगा तो उसका मार्ग नहीं दृष्टिगो, ठेक जायेगा, गिरोग और ज्ञानात्म स्थापको न पशुच वायसकी कीट जायेगा । यदि बंधकारमें वह अपने सत्त्व दीप डेकर चलेगा तो अपने मार्गके सुगमताके साथ कर्म सकेया लक्ष्मी ज्ञानात्म स्थापको पशुचनैके छिने प्रकाशकी वायसकता है वह वाय सत्त्व व्यवहारमें तथा अनुभवमें लानेवाली है ।

जसि ज्योति दिन छुट पक्षकी चमित्रका वे ज्ञान मार्ग दृष्टिक प्रकाशके सूचक हैं और मूस रात्रि जने। कृष्य पक्ष न छन्द मार्गकोचक जन्मेरेके सूचक है । यहाँ कर्मोंका दृढ न करते हुए यदि प्रायकी और ज्ञान दिना जाय तो पता कम जायगा कि वे छन्द केवक प्रकाश और लंघरेके सूचक हैं । कटरावणमें वृद्धि नहीं होती जिसके निचनैके मार्ग छुट जाते हैं तथा प्रकाशके छिने सुगमता हो जाती है । इसी राह दक्षिणवर्तमें वृद्धिके कारण प्रकाशमें अनुविना होती है । लक्ष्मी प्रकाशके मार्गमें प्रकाशकी सुगमता है और कृष्यमार्गमें प्रकाशकी कटिबता है । वह वाय विचारधीन पाठक लक्ष्मी बहार घमस सकते हैं ।

यहाँ जा हमें प्रकाश करना है वह मध्यरामका प्रकाश है । यदि इस प्रकाशमें प्रकाश हमारा साथी रहा तो सुगमता होगी और यदि प्रकाश न रहा और जन्मेरेमें द्योक्क पडा तो बडा मुक होगा । इसछिने ज्ञानाधिमक मध्यरामके मार्गमें भी प्रकाशकी मध्यवता जायत जायद्वक है । यहाँ ज्ञानाधिमक मध्यरामके मार्गमें प्रकाशके मार्गमें प्रकाश कीनता है । सगुह ही मुख्य प्रकाश देनेवाका जन्मिके समान ठेकःकेम्भ है । इसीकी ज्ञानकय ज्योति सायकके मार्ग दिखाती है । जबतक इस सगुहके ज्ञानकय प्रकारमें सायक रहता है, जबतक उसे दिवके समान प्रकाश निकला है । यही ज्ञानाधिमक प्रकाशके पथिकता दिव है । मुख्य पक्षमें रहनेका लक्ष्य यही है कि कभी मध्यर पक्षका जायत न करना मन्त्रिय पक्षके छिने जबकी छति कवापि समर्पित न करना । हर समय विचार करते रहना चाहिये कि मैं छुट पक्षमें हूँ लक्ष्मी मध्यर पक्षमें । इस राह जो सगुहकपी सुर्वके ज्ञानकय प्रकाश से प्रकाशित दिवमें रहता है और सदा छुट पक्षका पक्षपत्नी है उसीका उत्तर-अपन होता है लक्ष्मी (उत्तर-उत्तर) अधिक कंठा (अपन) गमय होता है वह उत्तर लक्ष्मीको प्राप्त करता है । इस प्रकाश मार्गसे जानेवाके ज्ञानी जीवे मछको प्राप्त करते हैं ।

जब इसके विपरिण को सगुहके प्राप्त नहीं करते वे याद व्यवहारको रात्रिमें धूमलूवके समय प्राप्त हो जाते हैं मार्ग नहीं देख सकते (रात्रि = रमयित्री) रमयाम होना- योग योगना चाहते हैं योग योगते और योगोंसे रोपी होते चले जाते हैं । इसका होनेके पक्षर ने मध्यर मन्त्रिय (कृष्य) पक्षमें समिक्षित हो जाते हैं । इनके छिने कोई मार्गदर्शक नहीं होता और न वे स्वयं मार्ग देख सकते हैं, इस राह चारों ओरसे वह योगते हुए ठेकें जाते हुए (वसिष्ठ-अपन) दक्षिण-गतिसे प्राप्त होते हैं । दक्षिण वह पितरोंकी गति है यह सगुहकी गति है वह बारबार छुट योगेकी गति है । वे इसी लक्ष्मीगतिको प्राप्त होते हैं । यहाँ कर्मको कोई प्रकाश नहीं निकला । यहाँ इनके योगी और योगीही साथी होते हैं जो कभी छुट पक्षमें संमिक्षित नहीं हो सकते । येही पक्षमें संमिक्षित होनेके कारण वे जन्मेरेही ठेकें जाते हैं । इस प्रकार प्रकाश मार्गसे हुए हो जलैपर इनको कुछ प्रकाश दृष्टता है । वह प्रकाश रचयप्रकाशी मध्यरारी वादित्यका नहीं है श्राप्य परप्रकाशी

(९) मोह निरास ।

नेते सुती पार्थ ज्ञानन्योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ १३ ॥

वेदेषु युजेषु तप सु चैन दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताप्रवचनसंग्रहः अष्टाध्यायः श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अर्थः — हे पार्थ ! ऐसे सुती ज्ञानयुक्त कश्चन योगी न मुह्यति तद्वत् । (१३) सर्वेषु कालेषु योगयुक्त भव । १३ ॥ योगी हर्षं विदिता वेदेषु यजेषु तपःसु दानेषु च यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं, तत् सर्वं ज्ञेयं, ज्ञानं सत् यत् स्थानं उपैति ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जाननेवाला कोई योगी कदापि मोहको प्राप्त नहीं होता, इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कालोंमें योगसे युक्त हो ॥ १३ ॥ योगीसे इसको जानकर वेद यज्ञ तप और दानके पुण्य फलसे परे आकर, मात्र और परम वस्तु स्थानको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

बहुभोगी होनेके कारण मित्युक्तकी चन्द्रमाकी सुखकी सोचनी है । बेचारा चन्द्रमा जोबाला अकाश सुखसे प्राप्त करके वसुधैसे भी कुछ अपने जिने रखकर बृहत्तरोको जोबाधाही है पाता है । उसकी भावी जातु तो कभी भवस्थायिनी नहीं जाती है । वह पूर्व जातुमें जबकि भोग भोगके कारण राज-वहमाके पीछे हुए था पश्चात् सोमादि भोग विहीन होकर बने कुछ तेजस्वी बन जाता है । इस प्रकार स्वयं अग्रज, पदा पर पुरमें रहनेवाला पर-भक्ताकी चन्द्र कुछ मार्मिक बनता है और इसकी सोचनीये के अग्रज पक्षके भोग अपना मार्ग काटते बने जाते हैं । चन्द्रमाके अग्रजके अग्रजका सहायता होना अर्थात् है क्योंकि कुछ दिव अग्रज देकर वह स्वयं हीन हो जाता है फिर इसकी भी अग्रज नहीं मिलता फिर वह अकाश बृहत्तरोको वचा मार्ग दिखा सकता है । इसलिये अर्जुन अग्रज मिला तो मार्ग पकवा और अग्रज न मिला तो स्वयं अग्रजमें रहना होता है बारबार कहती होती है । कोई कार्य पूर्ण होगा वह भी विचार नहीं हो पाता । कार्यको अग्रज जोक वापस जाता पड़ता है । इस तरह वह जायागमके कहें तो मार्ग है । एक अग्रज होता है और दूसरा अग्रज होता है । इस प्रकार अग्रज वापसमें विचार स्वाभाविक के नाम मान्य है—

सत्यम्	महापदम्
संयुक्तम्	हीन पदम्
अग्नि ज्योति	ब्रह्म, अग्रजम्
सूर्य	चन्द्रमा
अग्रज-अग्रज	वह्नि-अग्रज
अग्रज-अग्रज	अग्रज-अग्रज
दिव	रश्मि
अग्रज	अग्रज
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः
अग्रजः	अग्रजः

इत्यादि अग्रजों को मार्गोंकी दीक दीक करके से सकती है । इन अग्रज और अग्रजवालोंकी गति है ही ही है वह नहीं बतायी गई है । इन अग्रजोंके अग्रजोंकी गति का विचार हो सकता है ।

अगो १५ में अग्रजवादी देवी और अग्रजरी देवीका विभाग बताया है । उसके बाद इन दो अग्रज गति और अग्रज गति का विचार करने के अग्रज गति का विचार हो सकता है । देखिये—

अग्रज गति	अग्रज गति
अग्रज पद	अग्रज पद
अग्रज-अग्रज	अग्रज-अग्रज

साधाय— जो हूय दोनों छुटक और कृष्ण मार्गोंको जानता है और जाननेके कारण किसी प्रकार किसी भी मोहमें नहीं फँसता । जरा छदा सर्वदा योगका अवलम्बन करता योग्य है । इस तरह जो छदा सर्वदा योगमार्गका अवलम्बन करता है वह वेद वज्र तप और दानके भिक्षुनेवाले पुण्यको छोड़कर आग जाकर भास परम उच्य स्थानको प्राप्त करता है और वही विराजता है जिससे भेद और कोई भेद स्थान नहीं है ॥ २७-२८ ॥

नित्य योग

(२७-२८) जो पूर्णतः छुटक और कृष्ण तत्वोंको जानता है वह किसी भी प्रसन्न मोहित नहीं हो सकता क्योंकि छुटक पक्षमें रहनेसे और सक्रिय पक्षमें रहनेसे क्या होगा इसका उसे बबाल् ज्ञान ही जाता है । जरा सक्रिय पक्षमें प्रवृत्ति होनेका उसे मोह नहीं होता । इसका स्पष्ट कर्तव्य यह है कि सक्रिय पक्षका परिणाम कैसा धनात्मक हो सकता है वह बात उसे मात्तम होती है । इसी कारण वह अपने आपकी उच्च हीन मर्त्यसे बचाता है मोहित होकर उद्यम गिरता नहीं पड़ता । दोनों मार्गोंका परिष्कृत स्पष्ट स्पेन वसने सम्मुख होनेसे वह हीन मार्गमें मोहित नहीं होता ।

इस अवस्थात करनेवाले मोहसे छुटकारा पानेका एक मात्र तरीका ब्रह्म है कि सर्वदा योगके अनुष्ठान अपना आचरण करे । जो छुटक करना हो वह योगके अनुष्ठानही करे । उद्यम वेदना सोचा चक्रवा, संसारका कार्य करना राजका कार्य करना जवना जो भी छुटक करना हो वह छय योगके आदेशानुसारही करे । अत्येक क्षण योगसेही जुक्त रहे । योगका लक्ष्य कर्मकी छुटकता छुक्त छुक्तके विषयमें समुत्ति और योगके विषयमें असाक्षि है । पवित्रता जो छुटक कर्म हो वह छुटकतासे समतासे और असाक्षिसेही हो । इसीका नाम छदा योगजुक्त रहना है । जो इस तरह सर्वदा योगजुक्त होय है वह कभी मोहमें नहीं फँसता । योगका दूसरा लक्ष्य योग्य कर्म है । प्रवृत्तमय

मनुष्य अपने आपसेही पूछे कि मुझे इस प्रसन्न क्या करना योग्य है ? इस प्रसन्न जो उत्तर मिले तब अनुष्ठान कर्म करे । मय सुसंछुक्त रहेगा, जो उत्तर भी योग्य मिलेगा । मनुष्यकी उक्ति है कि वह अपने आपकी निज योग जुक्त रहनेका चत्त करे । पहिले पहिले इस बातमें कठिनाता प्रतीत होगी परंतु बारबार अभ्यास करनेसे वह अपने स्वभावका अम वच आयेगी ।

ऐसा किम योगजुक्त होयेसे जोनसा काम होना संभव है इसका उत्तर भगते छोड़में दिया है । वेद पढ़ने वज्र बाग करने कृष्णब्रह्मचर्य तप करने दान देने इत्यादिसे जो पुण्य प्राप्त होता है उससे भी (अत्येति) अधिक पुण्य नित्यजुक्त लक्ष्य अर्थात् अत्येक क्षणमें योग पद्धतिके अनुसार आचरण करनेसे मिलता है और अन्तमें (भाव्य) पद्धिका और भेद स्थान प्राप्त होता है । वही मनुष्यका मात्तम्य है ।

आपका लक्ष्य पद्धिका आदिम प्रथम मुख्य स्थान है । जबसे प्रथम और सचसे भेद स्थान प्राप्त करनेके छिये केवळ एकही उपाय है कि योगपद्धतिके अनुष्ठान अपने सपूर्ण धनधन्यता योगयोग उपयोग करता अपना जो करना हो वह योगक्षयमें करना योगजुक्त बचता अपना स्वभावही देखा बबाना कि अपने द्वारा जो हो वह योगही हो ।

अन्तर बबाने छाय आपका संयोग करानेके छिये वह नित्य-योग्य नहीं कहा है । रातक इसका आचरण सदा करें अत्येक कर्म योगपद्धतिसे करें और पद्धिका और भेद स्थान प्राप्त करें ।

इस प्रकार भीमजगन्धीणाकपी उपविष्टमें कथित महा-विद्यासे विभिन्न रूप,

योगजातविषयक भीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें असुरजगन्धीयोग

नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायका मनन

अक्षर-ब्रह्म-योग

इस अष्टम अध्यायका विषय अक्षर-ब्रह्म-योग है अर्थात् इस अध्यायमें अविद्याकी प्रकाश साथ मित्र जानेकी युक्ति कही गयी है। इस दृष्टिसे यह अध्याय अर्थात् महारथका है। 'योग' का अर्थही युक्ति है। प्रत्येक प्राणी का इस संसारमें आना है इस अक्षर ब्रह्मक साथ मित्र जानेके विषयेही आना है। अतः यह अक्षर विषय अर्थात् साथ है। सकल है अमुक्तको उसे आवना कहिये।

अक्षर ब्रह्मका स्वरूप

अक्षर परम ब्रह्म इस चीज चार्त्तमें अक्षर ब्रह्मका स्वरूप बताया है। ब्रह्म का अर्थ अक्षर चरित्रका साथ है। जो एक साथ सबसे विद्याका सबसे अक्षर सबसे समर्थ और सबसे बड़े है, उसको ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्मका अर्थही है ब्रह्म। यह सब साथ सबसे बड़ा है। किसी प्रकारकी अप्रत्यक्ष स्थिति का हीना इसमें नहीं है। अतः इसको परम ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म कहते हैं। सबसे अक्षर कहने मात्रके इसकी महत्वाची वक्ष्यता होती है वस्तु स्वस्वरूप ही वृत्त कहना नहीं होती बही करनेके विषये बही अक्षर अक्षर का है।

अक्षर का अर्थ ही प्रकाश हो सकता है। एक अक्षर अर्थात् अ-विनाशी और अक्षर अक्षर-रूप आत्म विषयमें समीप है। अविनाशी अर्थ अमूर्त ब्रह्म बताया है और आत्म विषयमें समीप है, इस सबसे मूल ब्रह्म स्थिति होता है। वे मूर्त और अमूर्त ब्रह्म मित्रकारी अक्षर परब्रह्म होता है। विषये—

आत्म धारणाधीनार्थीभावका होका भोक्तृ भोगाद्युत्पाद। अक्षरभारमा विभक्त्या हाकर्ता अर्थ यदा विभक्त ब्रह्मेति ॥ (के ४ १५)
 एक (४) सर्व ईश्वर है अक्षर (ब्रह्म)
 अक्षर अक्षर है अक्षर (अक्षर) वृत्ति है जो

इसके भोगके विषये काम जाती है। इसमें जो अक्षर ईश्वर है वह (विभक्त्या आत्मा अकर्ता) विभक्त्या अक्षर अकर्ता है। इस चीजोंका जो (विभक्त) भोग होता है, उसका नाम ब्रह्म है।

इस तरह ब्रह्ममें वृत्ति—आत्म बीज भाव और विषय-भाव (अर्थ विभक्त) एकत्र एक हुआ है। इसमें अक्षर और परमात्माका एक अक्षर भावमें है। इसी अक्षर-आत्मा (अ-क्षर) अविनाशी अमूर्त करने कहा जाता है। भोग्य प्राकृतिक पदार्थ (अक्षर-र) अक्षरही अक्षरका करिवाले दोषोंसे विनाशी मूर्त समझे जाते हैं। इस पर मूर्तमूर्त ब्रह्म है।

इस पाप ब्रह्मणो रूपे मूर्त वेदामूर्त ॥

(४ ४ २१॥)

ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त है और दूसरा वृत्त है। देवा जो उपनिषद्में कहा है यह इस तरह है। मूर्तिमान् रूपमें आत्म समीप है। इसविषये उक्त अक्षर अक्षर-रूप अक्षरमें होता है और अक्षर अक्षर अविनाशी होनेसे वसका वर्णन अ-क्षर ' अक्षरमें होता है। ब्रह्म मूर्तिमान्, मूर्तिमान् होनेसेही अक्षर विषये अक्षर उपनिषद्के वचनमें विभक्त्या आत्मा कहा है। विषय जो रूप है, वह रूप इस अक्षरका है और बही इस अक्षरका रूप है। इसी आत्मके जो रूप वीक्षण है यह अक्षरका या परमात्माका है। जो कुछ दिखाई देता है वह रूप विभक्त्या इसी आत्माका है। यह विषयका रूप किसी मूर्तका नहीं है। यह विषयका रूप अक्षर अक्षरमें वक्ष्य किया है आत्मा इस विषय रूपमें वह दिखा है। जैसे अक्षर अक्षरका अक्षरमा इस अक्षरका रूप आत्म आत्म है। जैसेही इस विषय परमात्मा विषय-रूप आत्म आत्म है। यह विषयका देता है इसका वर्णन आत्मा अक्षरमा अक्षरमा अक्षरमा है। बही इसका अक्षर विषयमा अक्षर

बर्बद है। इस जघ्पापमें जो बिश्व रूप नात्माका स्वरूप कथन किया है वह स्वरूप बिश्वरूपसे हमारे सामने दीक्षा रहा है।

अधर प्रहका स्व-भाष

इस अक्षर तालिका स्वभाव असम है। स्व-भावका अर्थ है
जबना मत, अपना धर्म। यह इसका भिन्न भाग है
जो कभी बदल नहीं सकता। इसीको अमर्यतम कहते हैं।

अध्यात्म का अर्थ है ज्ञानमात्रे के उपर प्रकट होना । जैसे जलमे करीमें जो बीज रहता है उसका प्रयास हीनिय, प्रयास और समुद्धि द्वारा प्रकट होता है । वही इस करीमें हीनमेवाका अध्यात्म है क्योंकि वही इस करीमेवाकी ज्ञानमात्रे के उपर हीनमेवाका ज्ञानमात्रे के ज्ञानसे करीमे के अन्दर रहता है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है ।

इसी तरह ब्रह्माण्डमें जो विश्वरत्ना जलवा परमात्मा है उसका स्वभाव किंवा उसका ब्रह्मण्यम यदि बालु, रवि चन्द्र आदिद्वारा प्रकट होता है। जैसे धरतीमें जोल है वैसेही ब्रह्माण्डमें सूर्य है। इसी तरह सूर्य सृष्टि के मध्यमें सब पदार्थोंमें जो जलवा जलवा स्वभाव है वह इसी विश्वरत्नाके कारण है। जो बलुमात्रका स्वभाव है और सूर्य मित्रका स्वभाव है वह सब (आधि-आत्म) इस जलवाका ही भाव है, क्योंकि ब्रह्मा कोई पदार्थ नहीं है ही नहीं जिसका कार्य भाव प्रकट हो सके।

यहाँ कई बातें करेंगे कि इस केकके आरंभमें जीव ईश्वर और प्रकृति के तीन पदार्थ हैं ऐसा कहा और जब दबकी पदार्थ है ऐसा भी कहा जा रहा है। जब यह वस्तुपर विरोध नहीं है। इसके अन्तर्गत इसबाड़ी कहा जा रहा है कि स्पष्ट मृत जीव-जगत् और परमात्मा के तीन पदार्थ क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम अर्थात् ज्ञान वर्तित हैं। के तीन पदार्थ वस्तुपर भिन्न नहीं हैं। इस विषयमें अन्तर्गत अन्वयार्थें बारबार कहा गया है। जैसे (आमका) कर्णमार्गात् स्पष्ट आकार (आमकी) मिश्रण और दोहरेके मिश्रणसे दोहरेका आकारके के तीन अन्वयार्थ हैं, वस्तु अन्तर्गत भिन्न नहीं है। इसी तरह घर (स्पष्ट मृत) अक्षर जीवजगत् (स्पष्ट जीव) और (दोहरेका अन्वय) अन्तर्गत है यह। पुरुषोत्तम वस्तुपर भिन्न नहीं है, दबकी वस्तुके भाव है। अक्षर और अन्तर्गत के दो अन्वयार्थ भिन्न हैं वस्तु वस्तु दबकी है। बहुत कोन जानते हैं कि

विषयी अनुकूलतामें रह करही कुछ कार्य कर सकती हैं । यदि वे विरोध करने लगेंगी तो सबका नाश हो जायगा ।

छोटेसे पुनर्जन्ममें रहनेवाला मनुष्यका प्राण एक विश्व व्यापक मानका वह कितना छोटा बन्ध है ? मनुष्यकी आँख सूर्यका कितना छोटा बन्ध है ? मनुष्यका संपूर्ण देह विश्वक, कितना बन्ध बंध है ? विचार करनेसे पता चल जायगा कि मनुष्यकी शक्ति बसंत अवस्था है । ह्मीकिये वह विश्व रूपके साथ विरोध नहीं कर सकता । कुछकी एक छाया जगदा पतनके मनुष्यके शिरपर गिरने मात्रसे इसमें क्षीरका नाश हो सकता है । हमीकिये विश्वरूप परमेश्वरका जो विश्वव्यापक कर्म चल रहा है, उसके साथ अनुकूल होकर मनुष्यका कर्म करना चाहिये । (भक्तकर्मकृत गी ११.५५) मनुष्य ईश्वरके कर्ममें सहायक हो ऐसा जो बारबार कहा है उसका नहीं करना है । तन्मयमें रहनेवाला एक ब्रह्मविदु संपूर्ण सद्गुरुका शिरोध कैसे करेगा ? ऐसेही विश्वकर्ममें रहनेवाला एक ब्रह्मविदु मनुष्य संपूर्ण विश्वकर्मका शिरोध कैसे कर सकेगा ? यह सम्भव नसंभव है ।

यहाँ मनुष्यके कर्मका निश्चय हो सकता है । जो विश्व कर्मके अनुकूल है वह मनुष्यका कर्म है और जो प्रतिशुद्ध है वह अवर्त्म है । इसका निश्चय करनेके लियेही यहाँ परमेश्वर इसका स्वभाव इसका उद्धारक कर्म, अक्षरकर्म और प्राण इसका अधिष्ठाता पुरुष और जीवनरूपी ब्रह्मके अधिष्ठता आदित्य सदैव यहाँ बसाया है । वह बतायेका यही उद्देश्य है कि मनुष्यका अपनी शक्तिका पता लगे और वह विश्वकर्मका विरोध करनेका साहस कदापि न करे । अपने सुकले प्रसवे विश्वकर्मका विरोध करनेवाला मिच्छाद्वै मुक्त है और ह्मीकिये सब कोई अपने आपके शिष्टतेवाके भित्ति बाल बनने । यही हम उपदेशका उद्देश्य है । वादक ह्मीपर विचार करें ।

मनका धर्म

मनकी शक्ति बड़ी विस्तारण है । मन जिसका चिन्तन करता है उसी जगत् बनता है । मन उत्साहकर मनकरही किसी वस्तुका अनुभव कर सकता है अतः मन जिसका चलाव करने लगता है उसको चलाव करता है । यदि वह बीरताका चलाव करेगा तो बीर बनेगा और यदि कमजोरताका चलाव करेगा तो कामजोर बनकर रह हो जायगा । वह मन

कमजोर है क्योंकि यहाँ जो कल्पना की जायगी वह प्रकटीभूत होगी । मनकी यह विस्तारण शक्ति होनेसे इसका उपयोग यही साधनाधीनके साथ करना चाहिये । यदि अच्छा उपयोग किया जाय तो भका होगा अच्छा नाश होनेमें फाई देरही नहीं लगेगी । मनमें बड़ी शक्ति है इसीलिये इसका साधनाधीनके साथ अच्छा उपयोग करना चाहिये ।

मनका स्वभावही सतत मनन करनेका है । ऐसा एक क्षण भी नहीं जाता कि जिस समय मन किसी न किसीका विचार नहीं करता । यदि ऐसा है तो अच्छेसे अच्छे तरहका ही मनन क्यों न किया जाय ? परमेश्वरही सबसे भेद है इस भेदक मनसे मनुष्यका मन भेद बने इसी हेतुसे ईश्वरस्मरणका चिन्तन मनुष्यके सामने रखा गया है ।

मनका प्रभाव

मनुष्यका मन (तन्मात्र-मायितः) सबके विषयक प्रभावसे प्रभावित होता है और तन्मय हो जाता है । यह मनुष्यकी उन्नतिकी कुली है । एक व्यक्तिी जगत् । समाज को जगत् बसाया चाहते हैं ऐसा बनाया जा सकता है । मनुष्यके मनके तन्मय जैसा चिन्तन रहेगा वैसा वह बनेगा । अतः मनुष्यके सामने सदा जगत् उन्नत चेतन रहना चाहिये । उस उन्नत चेतनमें वह चिन्तना प्रग्न रहे जगत्ही उन्नत हो जायगा । जो मनुष्य मिथ्या हाँते ई बनका मन पाहके मिथ्या बन जाता है जो मनुष्य रोगी होते हैं बनका मन पहिके रोगी हो जाता है जो मनुष्य भेद महत्तमा बचन हैं उन्नत मन भेद बना होता है । जो अपनी उन्नति चाहते हैं वचनो हम मनके कर्मका विचार करना चाहिये । इस मनके कर्मका नाश होवही अपनी उन्नतिका साधन करनेका ज्ञान हो सकता है ।

यदि मनुष्य वह समझता कि मन जिसका चलाव करता है उस जगत्ही बन जाता है तो अपनी उन्नति चाहनेवाला मनुष्य कदापि अज्ञान विचारको अपने मनमें चलाव नहीं देगा । क्योंकि अज्ञान विचार मनमें आतेही मन अज्ञान हो जाता है और उसका शीघ्रान्त भोगवाही बरता है । हमीकिये यहाँ बारबार कहा है कि—

शिव-सकल्य

तन्मे मना शिवसकल्यमस्तु (वा न ३३.१-६)

मरा मग शिवसंकल्पपुत्र हो पर पत्नी क्यों किया है ? इसीप्रकार कि शिवसंकल्प करनेसे मग शिवसंकल्प बन सकता है । और कैसा मग होता है वैसाही मनुष्य बनता है । अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मनुष्योंके मन और मोक्षका कारण मनही है । अतः इस तरह पीठाने उक्तविषय भाष्य कहा गया है । मरनेके समय भी यदि ह्युम संकल्प मरने हो तो ह्युम गति बनव देती है । इस ह्युम संकल्पका ह्युमा मरव है । परन्तु मानेके समय ह्युम संकल्प रहनेके किये मरनेके पूर्व भी ह्युम संकल्प बरत करनका अन्वयत करवा चाहिये नहीं अन्वयत करनेकी सुचना मगसूत्रोक्ताने की है—

अन्वयतयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

(गी ८१८)

दुःखमिच्छा होकर वह अन्वयतयोग करनेसे मग ह्युम संकल्पको पालन कर सकता है । यदि ह्युम गति चाहिये तो ह्युम संकल्पको बरत करना पड़ेगा । अह्युम गतिमें ही मनुष्य जागता अह्युम विचार बरत करती रहे है । साधारण मग बनता अह्युम विचारोंके पालनका अन्वयत करती है । मनुष्यमान इस अन्वयतमें मग है । साधारण कहत हैं कि यदि किसी न किसी विचारके पालनका अन्वयत करगारी है तो ह्युम विचारको क्यों न बरत किया जाये ? यदि किसी न किसी साधारण गतिमें अह्युम जागती रहगारी है तो उरव गतिमेंही क्यों न रहता जाय ? संक्षेपसे चारुचं यह है कि परम पुत्रका चिन्तन करनेसे साधारण परम पुत्रका भाव प्राप्त कर सकता है ।

परम पुत्र कौसा है ?

परम पुत्र सर्वत्र (कवि) , सदा विद्यमान भूत ब्रह्मणः अस्मिन्मन्त्रे इत्यवस्था (पुराणः—पुरा अग्नि मन्त्र) मन्त्रका भावक (अनुशासिता) मन्त्रके मन्त्र (अणोः अग्नीषान्) मन्त्रका भावक (घाता) चिन्तन करनेके किये कवि (अग्निमयक) तन्त्रकी (आदित्यपूर्ण) आरम्भकालमें वर (तन्त्रम परः) है । जो भावक परम पुत्र इव गुणोंका पालन करता उसके मन्त्रे इव गुणोंको परम होनेसे उरवका मग इव गुणोंकेही पुत्र हो जायेगा । इव गुणोंके पुत्र बननेका सर्वोर्ध्व परम पुत्रकी भाँति

है । परम पुत्रकी प्राप्ति होनेका मग है कि सर्व परम पुत्र बन जाय । जिसमें परम पुत्रके गुण मिल हो उन्ने है वह परम पुत्रकी बन जाय है ।

प्रयाणकी रीतारी

प्रयाण—कर्मों इस परम पुत्रके स्थापन करनेके गुण जाय है । प्रयाण—काक मनुष्यसमयका नाम है । मनुष्यके इस परम पुत्रका पालन हीन प्रकार संभव हो इसके किये पहाड़ी इसका पालन करनेका अन्वयत करना चाहिये । मन्त्रके किये पालनका संभव अन्वयत होगा उहीका स्थापन रह जायेगा ।

यदि मन्त्रके द्वारा किसी न किसीका पालन उदा होयती है तो वह उत्तम पुत्र का पालन क्यों न करे ? मनुष्य उदा अह्युम और अह्युमकाही पालन करता रहता है ही किये मनुष्य अह्युम का पालन बन जाय है । यदि वह उत्तमका पालन करेगा तो निश्चय उत्तम बनय । वह रहत है उत्तम पुत्र अह्युम परम पुत्र के मन्त्र के मन्त्रका । पाठक इसका विचार करें । क्या कमी कोई मनुष्य मन्त्रका काकी एक सकता है ? जब मन्त्र कवि के (रिक्त) नहीं रह सकता तो उसमें उत्तम पुत्र को क्यों न सुपुत्रित किया जाये ?

इस समय जो चाहें तो विचार मन्त्रमें जाते हैं और मनुष्यका विराटेही रहत है । मग अह्युम होकर किसी न किसी विषयका विचार करता है फिर उसका उत्तम पुत्र का विचार करनेमें क्यों न लगाया जाये ? मन्त्र करने मन्त्रके मन्त्रका ब्रह्मणः काक मन्त्रके मन्त्रोंमें होता हीन अह्युम काम होगा ।

मनुष्य बहका अन्वयत बरत है मन्त्रका मन्त्र मन्त्र है शिवायका पालन करते हैं अह्युम मन्त्र करने है उरव मन्त्रका नहीं मन्त्रमन्त्र है कि मन्त्रमें मनुष्यका रानी मन्त्र आ मन्त्र और मन्त्रमें परम पुत्रकी आ परम वरकी मन्त्र है । (गी ८१९)

अह्युम मन्त्रमन्त्र रहनेके किये पुत्रार्थ करते हैं वह मन्त्र उरव है परन्तु उनको पालनकाही रीतारी करनेका चाहिये । अन्वयतमन्त्रमें मन्त्रका पालन होनेका मन्त्र मन्त्रका मन्त्रमन्त्र रहता चाहिये और मन्त्रमन्त्रके मन्त्र मन्त्र को मन्त्र गुणमन्त्रका मन्त्र मन्त्रमन्त्र करान रहता चाहिये ।

उसी अन्तस्समयमें परमेश्वरका स्मरण हो सकता है । अतः इसकी उपाय तैयारी पहिलेसेही करनी चाहिये ।

प्रयाण-काल का अर्थ प्रामाण्य या वृत्तान्त करनेका समय भी है । इस स्वकालमें समय भी ईश्वरका स्मरण करना चाहिये । इस स्वकालमें एक दिनमें अनेकवार करते हैं । इस समयमें भी यदि मनुष्य ईश्वरका स्मरण करता रह जाय ईश्वरके गुणोंका विचार करता जाय तो उसका भित्त छूट होना इसमें संदेह नहीं है ।

ईश्वर-स्मरणका स्वरूप

इस-समय ईश्वरका स्मरण करना चाहिये ऐसा मतधार कहा जाता है । स्मरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति किस तरह होती है ? यह संका कहा उत्तर हो सकती है । उसकी निहितिके बिने ईश्वर स्मरणमें किस गुणोंका स्मरण करना पड़ता है इसका विचार पहिले करना चाहिये । वही नयम ओकमें परमेश्वरके मिल गुणोंका कथन किया है वे गुण ये हैं—

(१) ' कवि '

परमेश्वर सत्य है इसमें सन्देह शून्य गुणका स्मरण करना होता है परमेश्वर सत्य जानता है । मुझ यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये यह पहिली सूचना है । कवि के और अर्थ अन्वयार्थी दूरदर्शी अर्थविज्ञायाधर्मी ये हैं । मनुष्यके हितियोंकी अर्थात्क वस्तु है उससे भी पर परमेश्वर ऐक्यता है । यह कविकी पवि मुझ प्राप्त करनी चाहिये यह दूसरी सूचना कहा प्राप्त होती है ।

(२) ' पुराण '

ईश्वर प्राचीन होता हुआ भी वर्तमान (पुरा अपि सत्यः) है । मनुष्यको वही अति प्राप्त करनी चाहिये । मनुष्य ब्रह्म क्षेत्र पर भी तत्त्व जैसा जानाही और कायस्थ बना रहे ज्ञान विचार और धर्ममें पुराण होता हुआ भी वर्तमानही रहे । पुराणिकी वचन प्राप्त मिकाया रहे । यह तीसरी सूचना मिलती है ।

(३) ' अनुशासिता '

ईश्वर सत्त्व अनुकूल अवर्ण्य हितकारी प्रामाण्य करता है । अवका बचायोग्य प्रामाण्य करता है । मनुष्य भी इसी तरह अनुकूल प्रामाण्य अव प्रामाण्य करे । शरक कोनोंका प्रामाण्य कोनोंका शत्रुके कोनोंका अनुकूल प्रामाण्य करनेका था । मनुष्य

को शिखा भी अधिकार प्राप्त हो उसने अधिकारतक हित कारक कामन कर यह वही चौथी सूचना है ।

(४) ' सर्वस्य धाता '

ईश्वर सबको धारण करता है । मनुष्य अपने अन्तर इस तरहकी धारक शक्ति धारण करे । मनुष्यको अपने परिवार, अपनी जाति तथा अपने राष्ट्रका धारण करना होता है । इसलिये अपने अन्तर धारक शक्ति बढ़ाकर इसको बचायोग्य धारण करवका वचन करे यह वही पांचवी सूचना है । इस धारणमें धारण प्रामाण्य और पोषणका अन्तर्भाव है यह बात वही सूचना चाहिये ।

(५) ' अणो अणीयान् '

ईश्वर सूक्ष्मसंघो सूक्ष्म है । मनुष्य सूक्ष्म घटसं विचार कर सकता है अतः विचारोंकी सूक्ष्मता मनुष्य करे नार कसमें पूर्णता प्राप्त करे । वही यह छठी सूचना मिलती है । अपने ज्ञाना भी सूक्ष्म है सूक्ष्मही ज्ञाना नहीं है ऐसा विचार कर अपनी सूक्ष्म अतिवृद्धि सामान्य रखे अनुभव करे और वचनको बढ़ाव ।

(६) ' आदित्यवर्णः '

ईश्वर सूर्यके समान तजस्वी है । मनुष्य भी अपने अंतः तजस्विता धारण करे । स्वर्ग क्षेत्रकी वन हमोंको तजस्वी बनाने स्वर्ग मार्ग रखे और हमोंका मार्गप्रदक बने । यह सातवी सूचना है । मनुष्य सूर्यके समान मिर्दित बने सूर्यके ज्ञाना वसिष्ठा करे नार पवित्र रह ।

(७) ' समस्तः परः '

ईश्वर अन्धकारक्षेपरे है । मनुष्य भी अन्धकारन बरे रहे । वही अन्धकार वा तम घटसं तमागुणका सूक्ष्म है और तमोगुणजातस अज्ञानवादि अयोगविज्ञाका वासुकी भावों का सूक्ष्म है । मनुष्य आसुकी सचिपिरे दूर रहे यह आठवी सूचना वही मिलती है ।

(८) ' उत्तम पुरुष '

ईश्वर उत्तम पुरुष है । मनुष्य सबसे उत्तम बननेका वचन करे । उत्तम पुरुष बननेका प्रामाण्य करनेकी वही नवम सूचना है ।

(०) ' अचिन्त्यरूप '

ईश्वर अचिन्त्यरूप है। मनुष्य भी ऐसे कुछ कार्य करे कि लोग आश्चर्यसे चकित हो जायें। दूसरोंको कल्पना भी न हो कि वह कार्य इतने कैसे किया। अद्भुत कुशलतासे 'अचिन्तनीय रूप' बन जाये। वही कीर्तक बनायेकी इसरी सूचना मिलती है।

इस प्रकार ब्रह्मचरके गुणोंका स्मरण और मनन करनेसे अनेक अद्भुत सूचनार्थ मिलती हैं। जिसका वैदिक व्यवहार में भी उपयोग करके मनुष्य अपना अद्भुतकार सकता है। अतः स्वच्छान्तर हृदयान्तर अथवा आत्मन्तर करनेके समन हुनका इस तरह मनन करना निःसन्देह निश्चयकारी होगा। उत्तरार्थ यह है कि मनुष्य अपने मनको इस ईश्वरीय छत्र गुणोंसे भर के। शान्त हृदय प्राचीन और नवीनका अगम शासनसाधन्ये आरम्भोपयोग सूक्ष्मविचार लक्षितता समानुसारे दूर रहना उत्तम मनुष्य बनना कुशलता से इस ईश्वरी गुण हैं। हुनका मनन करनेसे और हुनकी शक्ति करनेसे मनुष्यको बजाते होनेमें कोई संदिग्ध नहीं है। ईश्वरसमाधका सधर्मने वही स्वकण है। ईश्वरके जितने भी गुण हैं उसकी धारणा इस तरह मनुष्यकी करनी चाहिये जवका उपचाग वैदिक व्यवहारमें करना चाहिये और ईश्वरके गुणोंसे अपने आपको परिपूर्ण बनाना चाहिये। ईश्वरके गुणोंका जो कवन करने समर्थमें बलवत्ता किया गया है उसका सर्वत्र अद्भुतकारके साथ भी है और निःसन्देह के साथ भी। इस उपासनाके विषयपर इसी प्रकार विचार करना चाहिये।

इस रीतिसे जो परमेश्वरका सगुण स्मरण करता है उस के गुणोंको अपने जीवनमें दृष्टता है। उसको सगुण ईश्वर स्मरण होनेम उसकी पुण्य गति होती और ऐसे समनवा द्वायीको अद्भुत समर्थमें भी ईश्वरका स्मरण रहता है जिससे उसका काम भेद गति मिलती है। वही ब्रह्मचर शक्ति और अचिन्त्य मिष्टि है।

ईश्वरका दृष्टन

वही वाक्य—

आमेव अमरम् । (गी ४।५)

मो काराग निरपरा । (गी ४।१७)

इस रीतिसे ईश्वरके स्मरण करनेके निरर्थक कहा है। स्मरण तो सदा पूर्ण आत्ममें वह निरवकाही होता है। जो विषय अद्भुत नहीं उच्छन्न स्मरण नहीं हो सकता। अतः वही ईश्वरका स्मरण करनेको कहा है इतनेसे दृष्टि होता है कि ईश्वरका साक्षात्कार स्मरणके पूर्व होनी चाहिये। इसी स्थरीकरणमें (अक्ष-र) की प्रकृति में लक्षका धृतिमान होता बताया है। जिसमें ईश्वरके साक्षात्कारका विषय स्वयं है। वहाँ जो रूप भी पूर्ण रूप है वह ईश्वरकाही विषय-रूप है और इस विषयके रूपमेंही मनुष्यको ईश्वरका साक्षात्कार होता है। अपने 'विषयरूपी आराधण' का करना है। एक विचारों कि जो रूप इस विषयमें दीखता है वह कति है या अक्षरित । उन्हें पता लग जायगा कि वह विषय रूप अक्षरित है वही स्थाय कही नहीं वहाँ रूप नहीं। अक्षरित वह बहुचली है वहाँही रूप विद्यमान है। जो अक्षरितका अवलोकन है वही विषय है। इस रिकरने हमारे रूपका भी अवलोकन है इस बातका सदा स्मरण करना चाहिये। कोई पाठक भी इस विषयमें दृष्ट नहीं है।

देशिक आत्मरूप

जो निरवकण इस समनवक कहा है वह देशिक है अर्थात् देशके साथ संबंध रखता है। जिसका देश है वही वह विषय है। जिस विषयमें देशीय उस विषयमें वह विषय दिया है। किसी भी विषयमें वही की रचना देना नहीं है कि वही वह विषय नहीं है। इस देशिक विषयके साथ अपना अभेद संबंध देशिक अव्याप्त करका हमारा कर्तव्य है। जिस समय वह भेद प्रकट होगा वही समय सत्य धर्मका ज्ञान होगा। जिस समय वह अवयव प्रकट होगा वही समय—

सम को मोहः का द्वाका द्वाकायमनुपरयतः ।

(भा. ५. १०)

इस द्वाका साक्षात्कार करनेवालेका कोट भाग भाग देके होंगे। याद और मोह वही वही वही नहीं देंगे। क्योंकि जिसका निरवकण है वही वही वही अवयव है। वही कोट अवयव नहीं है वह आकाश जो आवेग किसीको भाग देके हो सकता है। वही वही

उद्धारका मार्गही कमजोर है। केवल एकही मार्ग है और वह यह है कि वह विश्वरूपमें अपने आपको समर्पित कर दिया जाय। भगवद्गीतामें अपनी इच्छा समझी जाय और ईश्वरके कार्यमें अपना समर्पण कर दिया जाय। इसीसे वह ईश्वररूप बनकर अपने आपको कृतार्थ कर सकता है।

संपूर्ण मृतमान इस तरह जायामानसके चक्रेमें प्रीत होत रहते हैं कोई एकाग्र साधक अपने आपको मनुष्यी भगवद् सत्त्वमें समर्पित कर पाता है और—

मन्त्रस्तु न विमर्शयति । (गी ६।१९)

वाक्य होनेवाले अनेक मूर्तोंमें जो अविद्याशील सत्त्व है उसको प्राप्त करता है और चक्षुः होता है। जिसमें अमृत भूत है और जिसमें वह सब विश्व फैलावा है वही परम पुण्य है और वह इस तरह की भगवत् (भगवत्स्याः सत्त्वस्य स्वरूपस्य) गी ६।१९) अधिकारी प्राप्त होनेवाला है और इसकी प्राप्त करनाही मनुष्यका एकमात्र सुख कर्तव्य है।

दो मार्ग

मनुष्य दो मार्गोंसे चल करे है। एक सुख मार्गसे जाते हैं और दूसरे कृष्ण मार्गसे जाते हैं। जगत्के सभी मनुष्य इन दो मार्गोंके पथिक हैं। अतः कहा है कि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगताः शान्तिमते मते ।

(गी ६।२६)

यह सुक्ल और कृष्ण गति इस जगत्में प्राप्त करके चली जाती है। कई कोक सुक्ल (सुख) मार्गसे जाते हैं और कई कृष्ण (अशुख) मार्गसे जाते हैं। इनकी राय और सुखके मार्ग भी कह सकते हैं। सुक्ल मार्ग साधु मार्ग है और राय मार्ग अशुद्धरागभक्त कृष्ण मार्ग है। पुण्यमार्गसे (अनाहुति पाति) भिक्षा प्राप्त होती है और दूसरे अशुद्ध मार्गसे (पुनः आर्तते) चक्रवर्त्तमें कैलाश पड़ता है।

सुख पक्ष (सुक्ल पक्ष) और कृष्ण पक्ष (कुटिकताका पक्ष) इनके अर्थ हैं। पाठक अपनी प्रायमें अवस्था अपने देखमें देख सकते हैं कि कितने लोग कुटिकताके पक्षमें जाते हैं और कितने सरलताके पक्षमें जाते हैं। वहाँ सुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के नाम महीनक १५ दिक्के हैं और इनमें छेद नहीं है वह भगवत्प्राप्त नहीं कर पाता है। वे तो मानव आदि के धुर और अशुर भेदरूपिके दर्शन हैं। भागे १६ में भगवत्प्राप्त में देवी और आधुरी उपनिषद्का वर्णन आये जाया है। देवी पक्ष सुख सरल वृत्तिवाला पक्ष है और

आधुरी पक्ष कुटिक हिंसक वृत्तिवाला। इसी कारण देवभूत-सुख अनागत है। दिन रात, यकाज-बन्धोरा सुख-दुःख के नाम इन देवभूत मन्त्रोंके दोषक हैं। देवी मनुष्यमें सुक्ल और कृष्ण गति हैं।

सुख मार्गसे चलेनेवाला मनुष्य विविध स्वतन्त्र गति चला है और अशुद्ध मार्गसे चलेनेवाला मनुष्य हर स्वतन्त्र पर नहीं पहुँच सकता यह बात भगवद्गीतामें भी स्पष्ट होती है। अतः सुक्ल पक्ष (सुख पक्ष) में रहकर जगत् के विविध मार्गोंसे चलेनेवाला (अन्त-तन्त्र-मन्त्र) जगत्-तर गतिको प्राप्त होता है। वहाँ अन्तर जगत् ' जगत्-पर ' चला जाता है व कि सर्वका एक अन्त मत। अतः यकाज दिन सुक्ल पक्ष अन्तरात्मन आदि अन्त-तन्त्र मार्गसे सूचक हैं। वे देवी उपनिषद्मार्गोंका मार्ग बताते हैं। इस तरह ब्रह्म राशि कृष्ण पक्ष और अविद्यात्मन के अन्त आधुरी मार्गोंके कोनोंके अन्तर्गतके सूचक हैं। वे ऐसे गतिभी बताते हैं क्योंकि देवाधुर भेद अनागत है। इन की कोकमन्त्रवृत्तमें देखते हैं कि अन्तर और अन्तरक पक्षों में किसी एकका बाध नहीं होता। इस तरह दोनों पक्षों अनागत होना अशक्य है।

इन दोनों मार्गोंके विषयमें वेद और उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा गया है—

ये अर्थात् सत्यमुपासते ते आर्षिर्भित्तमं वसति, आर्षियो अहम्, अहं आपूर्वमात्रपक्षं आपूर्वमात्रपक्षस्तु यावत् पञ्चमासान्द्विष्वक्पक्षे पक्षे मासेभ्यो वेदलोके वेदलोकावस्थितं आदिस्थायैष्ठुतं ताम्बैष्ठुतान् पुरुषो मात्रसत्त्वः अक्षलोकात् गमयति तेषु अक्षलोकेषु पक्षे परावर्तते वसति तेषां पुनरावृत्तिः परावर्तते यद्येन— सोऽक्षवसति ते धूममभि संमन्वित, धूममन्त्राणि रात्रेरपक्षीयमात्रपक्षं अपक्षीय मात्रपक्षस्तथावत् पञ्चमासान्द्विष्वक्पक्षे पक्षे, मासेभ्यः पितृलोके पितृलोकावस्थितं ते वसन् प्राप्य अर्धं भवति तांस्तत्र देवा मन्त्रयन्ति— आकाशाश्वान् पायोवृद्धिः वृष्टेः पृथिवीं पृथिवीं प्राप्य अर्धं भवति ते पुनः पुनरावृत्तिं दृश्यन्ते ततो योषायां जायन्ते सोऽक्षमात्र त्वायिमस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते अथ य पत्नी

पन्थाती न विपुस्ते कीटाः पतगा धावेर्व
बन्धुशूकम् ॥ १६ ॥ (इ उ १।१)
छांदोग्य उपनिषद्में भी यही वचन कुछ भेदके साथ
मिले हैं ।

ये अग्ना तप इत्युपासते ते अर्विचममि सं
भवन्ति, अर्विचोऽहः । अह आपूर्वमाणपक्षं
आपूर्वमाणपक्षाद्यान् पञ्चदशैवेति मासांस्तान्
॥ १० ॥ मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरावावृत्त्यं,
आविष्वाधमद्रमसं, अमद्रमसो विद्युत तत्पुरुषो
मानवः स एवाम्नामस्य गमयति, एष देवयानः
पन्था इति ॥ १ ॥ अथ ये वचमिस्तुपासते ते
धूमममि संभवन्ति धूमाद्रग्निः, रात्रेरपरपक्षं,
अपरपक्षाद्यान्वह इक्षिमेति मासांस्तान् एते
संवत्सरममि प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥ मासेभ्यः
पितृलोकं पितृलोकादाकाशं आकाशाधमद्र
मसं एष सोमो राजा तदेयामामर्षं, सं
देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥ तक्षिभ्यामृतं पतत
मुपित्वा अमृतमेवाप्वान पुनर्मिर्वर्तन्ते अथे
तमाकाशा आकाशाद्धार्यं वायुर्मृत्वा धूमो
भवति धूमो मूर्त्वा अन्नं भवति ॥ ५ ॥ अन्नं
मूर्त्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति तद्ब्रह्म
मीहिषया मोषधिवनस्पतयस्तिक्ष्णमाया इति

आपन्ते यो हि अन्नमसि यो रेताः सिञ्चति,
तस्य एष भवति ॥ १ ॥ (छं उ ५।१)

जो अग्ना और सत्त्वकी उपासना करते हैं, वे (अर्विः)
अन्नमसि प्राप्त होते हैं, मकाससे दिन, विचसे (आपूर्वमाण
पक्ष) पूर्ण पक्ष पूर्ण पक्षसे उत्तर त्रिकामें पूर्व आमेमके छः
मसोंको उत्तराष्वसे सत्त्वसरको (देवलोका) संवत्सर
से आदित्यको आदित्यसे चन्द्रमाका चन्द्रमासे विद्युतको प्राप्त
होते हैं । इससे भी आगे मानस पुरुषके साथ जाकर हुए
महालोकाके प्राप्त होते हैं । वहाँ वे सर्वत समवतक रहते
हैं । वहाँसे पुनर्जन्म नहीं होता । जब दूसरा मार्ग वह
है— जो पक्षसे अनेक लोकोंको जीतते हैं वे धूमका प्राप्त होते
हैं, धूमसे रात्रि रात्रिसे अथपक्ष इससे पूर्व इक्षिण विज्ञानमें
अनेकाले छ मासोंको इक्षिणासे पितृलोक पितृलोकसे
चन्द्रको प्राप्त होकर अन्नकप बनते हैं । देव वह अन्न भक्षण
करते हैं । वहसि आकाश वायु इति पृथिवीको प्राप्त
होकर अन्नद्वारा दुक्लमें पश्चात् दीर्घकालसे जमीनमें पविष्ट
होकर माधव अमृतको प्राप्त होते हैं । इस तरह सकाम कर्म
करनेवाले धृष्टिके चक्षुमें अन्नकप करते रहते हैं । इन दोनों
मार्गोंको जो नहीं जानते वे कुम्भि कीट बनते हैं ।

इस प्रकार हुए दोनों उपनिषद्में परस्पर मार्गका
वर्णन है । इसका स्पष्ट बोध होमेके किन्ने फिरते वहाँ
कीटक कर्मसे होते हैं—

अर्विरादि मार्ग

(छांदोग्य उपनिषद्के अनुसार)

१ महालोक

| (मानस पुरुषके साथ)

२ विद्युतलोक

३ आदित्यलोक

४ देवलोक

५ उत्तराष्वसे छः महीने

६ आपूर्वमाण पक्ष (शुद्ध पक्ष)

७ अहः—दिन

८ अर्विः—मकास (वयोति)

९ अहः—सत्त्वोपासना

अर्विरादि मार्ग

(छांदोग्य उपनिषद्के अनुसार)

१ महालोक

| (मानस पुरुषके साथ)

२ विद्युतलोक

३ चन्द्रलोक

४ आदित्यलोक

५ संवत्सर

६ उत्तराष्वसे छः महीने

७ आपूर्वमाण पक्ष (शुद्ध पक्ष)

८ अहः—दिन

९ अर्विः (वयोति, मकास)

१० अहः—तप-उपासना

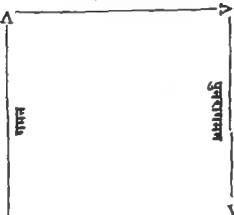
वहाँ मर्त्यमें हृद्द्वारस्थानमें कहा देखकोक कहा है वहाँ छांदोग्यमें संवत्सर कहा है । तथा भाष्यसे विद्युत्में अग्नि का वर्णन हृद्द्वारस्थानमें है वहाँ छांदोग्यमें बीचमें अम्बकोक का एक पहाड़ अग्नि कहा गया है । यदि देखकाक का नाम संवत्सर माना जाय और आदित्यके पहाड़

अम्बकोक का पहाड़ करकेही विद्युत् रूप अपना सत्य मान जाय तो दोनोंमें कोई भिन्नता मालूम नहीं होती । इस तरह दोनोंकी संगति ही सत्यही है । इसी तरह का कल का व ३।१५५-६ में भी है । वहाँ इसका नाम देवराज कहा है । अब भूमिमार्गका विचार करते हैं

भूमिमार्ग (हृद्द्वारस्थानक उपनिषद्के अनुसार)

पुनरागमस्य

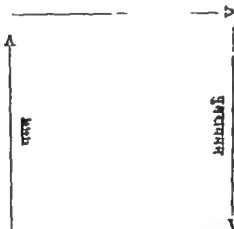
- १ देवोद्गाता अक्षयकण
- २ सोम अक्ष
- ३ अम्ब (सोम)
- ४ विद्युत्कोक
- ५ इक्ष्वाक्यपुत्र
- ६ क्षीर पहाड़
- ७ रात्रि
- ८ भूमि
- ९ अक्ष



- १ आकाशमें अवस्थान
- ११ वायुमें "
- १२ इक्ष्मिमें "
- १३ पृथिवीमें "
- १४ अक्षमें "
- १५ पुनरुत्पत्ति
- १६ क्षीर गार्गाक्षयमें
- १७ मनुष्य-रूपमें अक्ष

भूमि-मार्ग (छांदोग्य उपनिषद्के अनुसार)

- १ देवोद्गाता अक्षयकण
- २ सोम-अक्ष
- ३ अम्ब (सोम)
- ४ आकाश
- ५ विद्युत्कोक
- ६ संवत्सर
- ७ इक्ष्वाक्यपुत्रके छ महीने
- ८ अपरा पहाड़
- ९ रात्रि
- १ रात्रि



- ११ आकाशमें अवस्थान
- १२ वायुमें "
- १३ अक्षमें "
- १४ अक्षमें "
- १५ देवमें
- १६ इक्ष्मिमें
- १७ मीहि वादि अक्षमें
- १८ अक्ष आनेवाले उत्तरमें
- १९ क्षीर गार्गाक्षयमें
- २० मनुष्य-रूपमें

इन मार्गोंमें कुछ अक्षयकी अविवक्षता है परंतु उसके कोई भेद नहीं है । इन वर्षोंका विचार करनेसे मुक्त होके वाका इष्ट गतिमें कैसे गच्छ होगा है और पुनरागमके

प्रक्रममें पुनरागम आनेवाला कैसे वापस आता है इसका पता भी लग सकता है । अम्ब उपनिषद्में श्री देवराज और विद्युत्कोक के संबंधमें कहा है—

संवत्सरो वै प्रज्ञापतिस्तस्याप्यमे दक्षिणं
चोत्तरं च । तथे ह वै तद्विद्यापूर्ते कृतमित्यु
पासते ते चाम्द्रमक्षमेव लोकमभिजयन्ते ।
त एव पुनरावर्त्यन्ते तस्यादेते क्षययः प्रज्ञा
कामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रथिर्वयः
पितृयाणः ॥१॥ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण
अध्याया विद्ययाऽऽत्मानमम्बिष्यादित्यमभि
जयन्त एतद्वै प्राणाभामायतनमेतद्वक्ष्यतममय
मेतत्परायणमेतत्तस्यास पुनरावर्त्यन्ते ॥ १२०॥
मासो वै प्रज्ञापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रथिः
शुक्लः प्राचा ॥ १२१॥ अहोरात्रो वै प्रज्ञापति
स्तस्याहरेव प्राप्नो रात्रिरेव रथिः ॥ १२॥

(प्रश्न ४ १)

संवत्सर प्रज्ञापति है उसके उत्तर और दक्षिण वे दो
बचन हैं । जो कर्ममार्गी कर्म करते हैं वे कर्मलोकको प्राप्त
होते हैं वे बारबार पुनर्जन्मको प्राप्त होते रहते हैं । अतः
जो प्रज्ञानी ह्मन् करते हैं, वे ह्मन् पितृबन्ध मार्ग रथि
मार्गका अवलंबन करते हैं ॥ दूसरे कवि तप ब्रह्मचर्य
अद्या और विद्याह्मन् आत्माकी जीव करते हैं वे आदित्यको
प्राप्त करते हैं । यह आदित्य प्र लोका जागत है और वही
अमृत अमय और पराचम है । इसे प्राप्त करनेवाले फिर
कीटकर नहीं जाते ॥ महीमा प्रज्ञापति है उसका कृष्ण पक्ष
प्राप्त है बार कृष्ण पक्ष रथि है ॥ अहोरात्र प्रज्ञापति है
उसका दिन प्राप्त है और रात्रि रथि है ॥ वहाँ स्पष्ट कहा
है कि एक प्राणमार्गसे जानेवाले और दूसरे रथिमार्गसे जाने
वाले होते हैं । इन दोनोंकी गतिवा भिन्न भिन्न होती हैं ।
शुद्धकोपनिषद्का बचन है—

सत्येन छम्पस्तपसा होय आत्मा सम्पन्नानेन
ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अमृतधारी ज्योति
र्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतयः क्षीण
श्रोत्राः ॥ ५ ॥ सत्यमेव जयते नामृतं सत्येन
पण्या विततो देवपालः । येनाकमन्पुण्ययो
द्याप्तकामा यत्र तासत्यस्य परमं निधानम्
॥ ६ ॥

(शुद्धक ३ ११)

सत्य तप ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे यह आत्मा प्राप्य
हो सकता है । यह धारीके अमृत स्वादित्य प्राप्त है ।

जिसे पवित्र पति देखते हैं । सत्यकी वच होती है
असत्यकी नहीं । सत्यदेही देववान मार्गपर गति हाती है ।
आप्तकाम कवि इसी मार्गसे जाते हैं और सत्यके परम
पदको प्राप्त करते हैं । वहाँ देवचान-मार्ग कहा है, वही
सत्य आत्मातक पञ्चबानेशान मार्ग है । अर्थात् इसस
भिन्न जो दूसरा मार्ग है वह मनुष्योंकी मोदी जीवनमें
कंचाका है ।

एष देवपथो ब्रह्मपथः । (भा. उ ३/१/१६)

देवपथका नाम वहाँ ब्रह्मपथ दिया है । जो ब्रह्मके पद
प्राप्त है वह देवपथ है, वही ब्रह्ममार्ग है । ब्रह्मोत्तक उप
विषयलोकका विचार है । ह्मन् केन कद माह्वन्, तैत्ति
रीय देवदेव केठाचर आदि उपनिषद्में देवचान पितृबन्धके
विषयमें स्पष्ट नहीं किया है । प्रश्न शुद्धक काहीय और
बृहदारण्यकमें कम्यः अविद्यमिन्न वर्जन है । अतः कल्पना
होती है कि वह कल्पना पीछेसे बहाई गयी है । वही
हृत्की नहीं थी । बृहदारण्यकसे भी जाने ब्रह्मचर पुराणोंमें
वह विषय बहुतही बहाया गया है । हमसे यह कल्पना
पीछेसे बहाई जायेकी बात और अधिक सिद्ध हो जाती है ।
कपोपनिषद्में लिखा संक्षेपसे कहा है—

हस्त त इयं प्रबक्ष्यामि शुद्धं ब्रह्म समातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति मौक्तम् ॥६॥

योनिसम्ये प्रपद्यन्ते धारीरथाय देहिनाः ।

स्वाशुमस्येऽमुलंसमिति यथाकम यथाभूतम् ॥ ७ ॥

(कठ उ १/५)

मरणके बजाय अमृतकी कैसी गति होती है यह
शुद्ध बात कहना है । कई आत्मा दूसरा दृढ प्राप्त
करके छिने धर्मको प्राप्त होते हैं और दूसरे स्वाशु
प्राप्तको प्राप्त होते हैं । कैसा शिष्टका कम और कैसा
जितका श्राव कैसी गति होती है । वहाँ कर्ममार्गसे
पुनर्जन्म होता है और ज्ञानमार्गसे मुक्ति होती है यह समझा
देनाही इसका उद्देश्य है । वही मूक कल्पना है । वही बात
अविद्या और विद्याके वर्णनमें ह्मन्कोपनिषद्में भी सूचित की
गई है देखा कई लोग मानते हैं । तत्रापि वहाँ विद्या अ
विद्याका जर्म आत्मज्ञान बात बहुतविज्ञान है । अतः वहाँके
वर्णनका केन्द्र दूसराही है । इस तरह देखनेसे बात चकता
है कि वह अर्थ और ज्ञान मार्गका वर्णन माध्वमें कुछ
और वा और पीछेसे बहा दिया गया है ।

वेदमन्त्रे हि मासोक्तिं विप्रवर्गे कथा है-

ये धृती मष्टयजं पित्र्यामह वेद्यानामुत
मायामाम् । ताभ्यामिदं विप्रमेखरसमेति
यदन्तरा पितर मातरं च ॥ (ब १ ८८११५)

‘ मनुष्यों की वच, पितर ने (इ धृती) दो प्रकारकी गतिर्वा होती है ऐसा हम सुनते जाये हैं। अर्थात् इस माता पिताद्वयी (यात्राविधीके मन्त्रके) दो भागोंमें जाता है। वहाँ दोही गतिर्वा बतलाई गई है। वेदमें इससे अधिक नहीं कहा गया है। उषीका विस्तार काष्ठमिक उपविषोमें अधिक किया गया है। पुराणोंमें विवेचक गुरु पुराणों से एक एक दिनकी गतिका बतल है। इसके लक्षणा सत्य होवें लक्षा हो सकती है। उधर धाकके उतरमें हम कह सकते हैं कि सभी बातें जो किसी जाती हैं सत्य नहीं होती। उपनिषद्में कई देवी बातें हैं जो लक्षणा सत्य नहीं जानी जा सकती। उदाहरणके लिये सूर्यके ऊपर चन्द्रका होना ।

कस्मिन् कञ्च माप ओताम् ओतामेति
वाची गार्गीति । कस्मिन् कञ्च वायुप्रेतम्
प्रेतमेति अन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति ।
कस्मिन् कञ्च अन्तरिक्ष लोका ओताम्
प्रेतामेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति । कस्मिन्
कञ्च गन्धर्वलोका ओताम् प्रेतामेति
मादित्यलोकेषु गार्गीति । कस्मिन् कञ्च मादि
त्यलोका ओताम् प्रेतामेति अश्वलोकेषु
गार्गीति । कस्मिन् कञ्च अश्वलोका ओताम्
प्रेतामेति वैष्णवलोकेषु गार्गीति । कस्मिन् कञ्च
वैष्णवलोका ओताम् प्रेतामेति इन्द्रलोकेषु
गार्गीति । कस्मिन् कञ्च इन्द्रलोका ओताम्
प्रेतामेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्
कञ्च प्रजापतिलोका ओताम् प्रेतामेति ब्रह्म
लोकेषु गार्गीति । (इ १ १११)

एक बातमें वायु अन्तरिक्षमें अन्तरिक्ष नैपथ्यलोकेमें गन्धर्वलोके मादित्यलोकेमें मादित्य अश्वलोकेमें अश्व वैष्णवलोकेमें वैष्णव इन्द्रलोकेमें इन्द्रलोके प्रजापतिलोकेमें और प्रजापति ब्रह्मलोकेमें ओतपोत हुए हैं। यह वर्णन लक्षणा सत्य मानना कठिन है। क्योंकि मादित्यलोका

वायार चन्द्रकोक नहीं है अर्थात् वह वर्णन सत्य नहीं अनुभवके विरुद्ध है। तथा—

यदा पुरुषोऽस्मात्प्रोक्तोऽस्तीति स वायुवा
गच्छति । स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमा
गच्छति । स ऊर्ध्वमाक्रमते स अश्वमसमा
गच्छति स ऊर्ध्वमाक्रमते स लोकाग्रामगच्छति
अश्वोऽकमहिंसं तस्मिन्वसति ह्याम्बती सता ।

(धृ ५११)

जब मनुष्य मरता है तो वायुमें पहुँचता है वही वह ऊपर सूर्यको गच्छ होता है सूर्यसे वह ऊपर अश्वमसे माक्रम करता है वहीसे वह अश्वलोकेमें पहुँचता है। वहीसे वह अश्व लोके अश्व सत्यवत रहता है। वही सूर्यसे अश्व अश्वलोके होकर आने है। वा तो वह अश्वलोके वह अश्व अश्वमा नहीं है अथवा कुछ औरही व्यवस्था है। जो कुछ हो वही वह बात स्पष्ट है कि वह एक वर्णन सत्य उपाचारसे दिखाई देता है ऐसा नहीं है। वही वर्णन श्रीमन्महाभारतमें भी है—

अण्डमध्यगता सूर्यो धावाऽस्योर्ध्वमन्तरम् ।
सूर्याण्डगोक्षयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ।
(श्री महाभारत ५२१ १११)

यसं चन्द्रमा अर्धेऽग्रास्तिभ्य उपरिधाऽङ्गु
पोस्तत उपरिभ्यमात्र १९ ॥ तत उपरिधा
रिभ्योऽप्योजनतो नक्षत्राणि १११ ॥ तत
उपरिधाऽप्युपरा विष्वक्पोजनता १११ ॥
(श्री महाभारत ५२१)

महाभारतके मध्यमें सूर्य है सूर्यसे अण्डमध्यकी गति विंशति कोटि कोट्य है। अश्वमा एक काक्ष कोट्य सूर्यके ऊपर है उसके ऊपर तीन काक्ष कोट्य लक्ष है, उनके ऊपर दो काक्ष कोट्य ह्युक्त है। इत्यदि बहुत बड़ा वर्णन है। यह वर्णन आधुनिक विज्ञानसे विरुद्ध नहीं होता और यदि कोई सिद्ध करेगा तो उसकी इच्छा पूरा होकर लक्ष करवा पड़ेगा। वही हमने ऊपर कहा है कि इच्छा लक्षणा सत्य मानना कठिन है। किसी वर्णन पक्षय विज्ञान कुछ संभवित भी हो उससे दूसरे विज्ञान प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिये वेदक चन्द्रमा कोही

रिधितिका वर्णन दत्तचित्त विह्व होवेपर ही मुख्य सिद्धान्तों का ब्याख्या हो सकती है। मुख्य सिद्धान्त का ब्याख्या रिधितिका है वह ब्याख्या है। इत्यादि है। अस्तु ।

इससे इतना ही बताना कि जो मरणोत्तर द्विविध गति का वर्णन किया है उसका उपनिषद्में काश्चित्क अर्थ कदा पाहिजे व कि उक्तान् अर्थान् मान्य । इस काश्चित्क अर्थके विवरणक अर्थ के हैं—

पुण्य पक्ष	कृष्ण पक्ष
हृद पक्ष	कृष्ण पक्ष
हृद मार्ग	कृष्ण मार्ग
आर्त्तमार्ग पक्ष	अपराधिमार्ग पक्ष
अज्ञा तप	वज्र
तप अज्ञानार्थ विद्या	कर्ममार्ग
ज्ञानमार्ग देवभाव	वित्तभाव
उत्तर अर्थ	दक्षिण अर्थ
उत्तर मति, उत्तरवर्तगति	दक्षिण मति

ये अर्थ काश्चित्क अर्थके अर्थ हैं। एकका नाम पुण्य और दूसरेका नाम कृष्ण है। वही दोनों अर्थोंके स्वरूपका विवरण हो सकता है। आर्त्तमार्ग का अर्थ मरणका। पुण्य अर्थका और अपराधिमार्ग का अर्थ कर्म करने का है। जो हृद मार्ग है उससे जानेवाले अपने आपको प्रतिममय परिपूर्ण होके अनुभव करते हैं और कृष्ण मार्गसे जानेवाले क्रोध अपने आत्मीय होके अनुभव करते हैं। वही के पुण्यपक्ष के कर्म होके पक्षान् वे स्वर्ग गति गति करते हैं। एक मार्गमें अज्ञान और विद्या है और दूसरे मार्गमें देवत्व कर्म है। एक मार्गसे (उत्तर उत्तर) उत्तर होके सत्त्वमय है और दूसरे मार्गसे वैश्व सत्त्वमय नहीं है अस्तु आत्मा आपस आत्मा विवरण है। इस उत्तर के अर्थ दोनों अर्थोंका स्वरूप बताने हैं। इस अर्थान पर जो कर्ममार्गका अर्थ है उसके अर्थमें उपनिषद् कहते हैं—

एहि एहिंति तमाहुतयाः सुयवसाः सुयवसाः
रविमयिपञ्चमान ददाति । शिवां वाचमभि
वदस्योऽप्यवस्य एव यः पुण्याः सुकृतो ब्रह्म
लोकाः ॥ (मुण्डक ४ ११८)

आधो आधो वह उत्तर पञ्चमानको वसती आहुति का
होती है और सुयव की शिवासे उसे बचाती है सीटा

आधो आधो है। यह पुण्यपक्ष पञ्चमानके अर्थ है।
इस विषयमें और आगे कहा है—

अधिष्ठाणमन्त्रे वर्तमानाः स्वयं पीराः पश्चित्त
मन्त्रमनाः अध्यायमनाः परिपश्चित्त मूढा
अध्यायमय मयिमाना पयाग्याः ॥ (मुण्डक ४ ११८)
ये कर्ममार्गों को गणना करनेमें अध्याय अज्ञानसे
भरपूर भरे होते हैं, परंतु अपने आपको बड़ा बुद्धिमान्
और पश्चित्त मानते हैं अतः वे मूढ गिरते ही जाते हैं।

यह कृष्ण मार्गसे जानेवालेका वर्णन है। आन्धकारमें
पीके आन्धकारमें जाते हैं। यह हृद मार्गमार्गीका वर्णन है।
इससे स्पष्ट होता है कि कर्ममार्ग अज्ञान है और कर्ममार्ग
कर्ममार्ग है।

एक मार्ग अज्ञा तप अज्ञानार्थ, विद्या ज्ञानका है और
दूसरा है अज्ञान विद्यातप कर्मका। वही मार्गोंकी सिद्धता
स्पष्ट हो गयी है। हृद मार्ग देवी सपत्निका है और दूसरा
आधुनी सपत्निका। अतः एकको प्राज्ञ का मार्ग और
दूसरेको अवि (अज्ञान) का मार्ग कहा है। अज्ञानमें
कर्मसे गिरावट होती है इसीलिए सीटमें सीटोंपर आना
सकि रहनेको कहा है।

मगद्वीपाय पक्ष, संन्यास योग आदि अर्थ
वर्णन और विशेष अर्थोंके साथ प्रमुख अर्थ गये हैं
देखे ही देवभाव सिद्धांतके अर्थ पक्ष और कृष्ण पक्ष तथा
वर्णन और पूरा आदि सब अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ अर्थ
प्रमुख अर्थ गये हैं। यदि इसके अर्थान अर्थ अर्थ अर्थ
तो अर्थमार्गीका। अर्थमार्ग अर्थमार्ग अर्थमार्ग अर्थमार्ग

पुण्य और कृष्ण गति

ये दो अर्थमार्गी अर्थमार्गी स्वरूप अर्थमार्गी हैं। एक
मार्गसे जानेते अर्थमार्गी अर्थमार्गी है और दूसरे मार्गसे
जानेते कृष्णमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी है। अर्थमार्गी जो अर्थमार्गी
पीके पीके रहे हैं वे कृष्ण मार्गसे जानेवाले और जो अर्थमार्गी
अर्थमार्गी और अर्थमार्गी पीके पीके रहे हैं वे हृद मार्गसे
जानेवाले हैं। हृद मार्गसे अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी
अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी

हृद मार्गसे जानेते वे दो अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी हैं। एक
मार्गसे जानेते अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी है और दूसरे मार्गसे
जानेते अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी अर्थमार्गी

कभी मोहित नहीं होता। अर्थात् कृष्ण मार्गके योगोंमें न फसता हुआ। त्वांके हृद मार्गसे उन्नत होता चका जाता है।
वशात्पुनश्च नश्वर और श्वसे जो पुनश्च प्राप्त होता है।

इससे कई गुना अधिक फल प्राप्त त्वांमार्गका वर्तमान
अर्थात् कमकष्टत्वात्क कारण करनेसे होता है। एत
अध्यायमें नहीं समीचीन है।

॥ यद्वा अष्टम अध्यायका समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

अष्टम अध्यायके सुभाषित

(१) कर्मका फल

भूतमाद्योजयकरो विसर्गः कर्मसंविद्यः ॥

(म नी १३)

शक्तिमात्रके करने जिस स्वभावकी उन्नति करनेका जो
विशेष प्रयत्न है उसका नाम कर्म है। प्रत्येक प्राणीका
हृद विशेष हृद पुन कर्म स्वभाव होता है, इससे उत्पन्न
करके बलवद्भी नाम कर्म है।

(२) सतत समनका प्रभाव

यं यं वापि स्मरन्मार्थं त्यजत्यस्त्ये कश्चेत्परम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तज्ज्ञातव्यमाविता ॥

(म नी ८१२)

जिस भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य है वह जोहवा
है उस भावसे प्रभावित होकर कभीको प्राप्त होता है।
मनुष्य जेहा विचार करता है वही प्राप्त होता है।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मांसेवैष्यत्यसंशयम् ॥

(म नी ८१३)

ईश्वरमें मन बुद्धि अर्पण करनेसे विशदत्व ईश्वर
प्राप्त होता। क्योंकि मन और बुद्धिमें सतत जो ध्यान
रहेगा, वहीही मनुष्य बनेगा।

अभ्यासयोगबुद्धेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुनर्यं दिव्यं याति पार्ष्णानुबिन्दनम् ॥

(म नी ८१४)

चित् एवम् कर ईश्वरस्मरणका सतत वर्तमान करने
मनुष्य दिव्य पुन परमेश्वरको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति विस्वताः ।

तस्याहं सुखम् । पार्थ नित्यमुक्तस्य बोधिना ॥

(म नी ८१५)

एकामचित् होकर जो सतत जिस ईश्वरका स्मरण
करता है उसको ईश्वर सुखमकाले प्राप्त होता है।

(३) ईश्वरस्मरण

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥ (म नी ८१६)

जदा ईश्वरका स्मरण कर और युद्ध कर। एतद्वि
ईश्वरका स्मरण कर और एकात् युद्ध जाति कथन कर।

(४) कामका महत्त्व ।

नैते स्तुती पार्थ ज्ञानम् योगी मुञ्चति कदाच ॥

(म नी ८१७)

हम नतिको ज्ञानकेका बोधी कदापि मोहकी प्राप्त
नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीता-पुरुषार्थ-बोधिनी

अष्टम अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अज्ञान-मय-योग	५३३	पुत्रान् सासक, अणु, बाण जन्मिनः	५३४
(१) छा प्रश्न (श्लोक १-२)	५३३	आश्रित्यर्च्यं तमस परे	५३४
(२) एकके छा माय (श्लोक ३-४)	५३३	तमसा विचार	५३४
ज्ञान क्या है ?	५३४	तम और प्रकाश बोध-बक	५३५
ज-ज्ञान और अज्ञान	५३४	(५) परम सिद्धि (श्लोक १४-१६)	५३६
अवधारणा क्या क्या है ?	५३४	ईश्वर-स्मरण विषय-स्मरण	५३७
कर्म क्या है ?	५३५	अज्ञान-वेला	५३७
भूतभावका वृत्त्य	५३५	विषयबुद्धि योगी	५३८
अविद्युत क्या है ?	५३६	(६) अज्ञानको (श्लोक १७-१९)	५३८
ज्ञान भाव	५३६	महत्तमा	५३८
अधिदैवता क्या है ? अविषय की है ?	५३६	अज्ञानाका विषय	५३९
(७) अस्तकालका साधन (श्लोक ५-८)	५३७	(७) परम धाम (श्लोक १०-१२)	५५०
पुरुष-बक	५३७	परम धामकी शोभा	५५१
अज्ञान-समयकी पैगारी	५३८	दो अवस्था परम धाम और परम गति	५५१
मनके भावका प्रभाव	५३८	(८) पुनरावर्तनका समय (श्लोक २३-२६)	५५२
अज्ञानाबोध	५३९	परपुरुष परमात्मा परदेवर	५५२
मनबुद्धि-समय	५३९	अज्ञानाका बन्धन, दिन और रात्रि	५५३
अज्ञानधर्म	५३९	दो मार्ग	५५३
दो अवस्थानोंके मर्म	५४	(९) मोक्षनिरास (श्लोक २७-२८)	५५४
(८) परम पुरुषका स्थान (श्लोक १-१३)	५४०	छान्द और कृष्ण गति	५५४
प्रधानाका	५४१	विषययोग मोक्षके पुरुषका	५५५
अज्ञान हैमिक और महा मृत्यु	५४१	अष्टम अध्यायका मर्म	५५६
अज्ञान-ममत्वकी प्रतीक्षा	५४१	अज्ञान-मय-योग	५५६
प्रधान-समय	५४२	अज्ञान अज्ञाना स्वयं अज्ञानके दा स्वयं	५५६
माझई अज्ञान स्वयं अज्ञान-स्वयं	५४२	अज्ञान अज्ञाना स्वयं	५५७
परमभावका स्वयं अज्ञानस्वयं	५४२	अज्ञानस्वयं विचारमा	५५७
अज्ञानाका स्वयं	५४३	वीन वराध (जीव स्वयं और अज्ञान)	५५७
आधुनिक मर्म वदिका अज्ञानके प्रतीक करि	५४३	आधुनिक गुण और अज्ञान	५५७

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
महाका कर्म	५५७	अकल्पित कर्म	५११
हर माय	५५७	ईश्वरका इर्ष्य, वैदिक आरम्भकर्म	५११
पुरुष ब्रह्म-पुरुष	५५८	महाकाकका निश्चक्षण कष्टमा त्याग	५१३
ब्रह्मर हर स्वभाव	५५८	दो मार्ग	५१३
ब्रह्म पुरुष ब्रह्म	५५८	दो मार्गोंके विषय	५१५
विषये प्राप्त विरोध	५५८	पुनरागमके विषय	५१६
मन्त्र कर्म, मन्त्रका प्रभाव	५५९	देवपथ, वक्रपथ दो तटिर्था	५१७
द्विचर्चकर्म	५५९	मागधर्मे कर्मोक्त	५१८
परम पुरुष कैसा है ?	५६	अविद्याका माय	५१९
मन्त्रकी वैशरी	५६	छन्द और छन्द गति दो भिन्न परिणाम	५१९
ईश्वर-स्वात्मका स्वरूप	५६१	अष्टम अध्यायके सुभाषित	५२०
कवि पुराण ब्रह्मसिद्धा	५६१	१ कर्मका कष्टफल	५२
बाण ब्रह्म, आदिपञ्चम	५६१	२ अष्टम अध्यायका मन्त्र	५२
तमसे परे	५६१	३ ईश्वर-स्वरूप	५२०
उत्तम पुरुष	५६१	४ आत्मका महत्त्व	५२

अथ नवमोऽध्यायः राजविद्या-राजगुह्य-योग

(१) पवित्र अविनाशी रामधर्म

श्रीमद्भगवानुवाच-

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनघ्ययवे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यन्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽष्टमात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदंमुक्तमम् । प्रवधाषगमं धर्मं सुसुखं कर्तुमश्वयम् ॥ २ ॥
अभद्रधानाः पुरुषा धमस्यास्य परंतप । अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युससारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वयः— पद ज्ञात्वा (१) अष्टमात् मोक्षयसे (तत्) तु इदं गुह्यतमं विज्ञानसहितं ज्ञानं अतस्तु त्वे ते प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ इदं (ज्ञानं) राजविद्या राजगुह्यं कर्तुं पवित्रं अभद्रं प्रवधाषगमं कर्तुं सुसुखं धर्मं य (अस्ति) ॥ २ ॥ हे परंतप ! अस्व धर्मस्य अभद्रधावाः पुरुषाः मां अप्राप्य मृत्युससारवर्त्मनि निवर्तन्ते ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवान् बोले— मैं मत्सररहित तुझे यह अत्यन्त गुप्त ज्ञान विज्ञानसहित बताये देता हूँ । इसका ज्ञान हो जानेपर तू (सदा) मनुष्यसे दूर रहेगा ॥ १ ॥ यह ज्ञान सब विद्याओंमें मुख्य, सब गुह्योंमें गुह्य उत्तम पवित्र अविनाशी अत्यन्त अनुमूल्यमं जानेवाला और सुखसे आचरण करनेयोग्य पूर्णतया धर्मरूप है ॥ २ ॥ हे तपस्वी मनुज ! धर्मपर अज्ञान रखनेवाले मनुष्य सुखको न पाकर छोट छोटकर इस मृत्युमय संसारके मार्गमें ही अन्धर लगाते रहते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ— सब ज्ञान और सब विज्ञान जाननेवाली मनुष्य अत्यन्त अवस्थासे बच सकता है । वही विज्ञानबुद्ध सब ज्ञान सबसे श्रेष्ठ विद्या सबसे श्रेष्ठ ज्ञान तथा सबसे गुह्य तत्त्वज्ञान है । वही मायबोध सबसे उत्तम अविनाशी सर्वार्थ विरहात् रहनेवाला पवित्र और अत्यन्त कष्टसे दूरपक्षके अनुभवमें जानेवाला तथा सुगमतासे आचरण होने योग्य श्रेष्ठ धर्म है । जो इस अविनाशी परमोक्त धर्मपर अज्ञान नहीं रखते उन्हें ईश्वरस्वरूपकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती और वे इस संसारमें बारबार मृत्युका दुःख भोगते रहेंगे ॥ १-३ ॥

[राजविद्यापरक धर्म— जिस राजविद्याको जाननेसे मनुष्योंको कभी दुरवस्था नाह नहीं होती वह अनेक गुप्त ज्ञान विज्ञानसे भाग युक्त होता है ॥ १ ॥ (राजविद्या) यह राज्यशासनकी विद्या है, वह श्रेष्ठ राजाबोध (राजगुह्य) राज्यशासन तकनीका गुह्य ज्ञान है वह मनुष्योंको (उत्तम) उत्तम और (पवित्र) पवित्र करनेवाला ज्ञान है (अ-धर्म) इष्टमें कोई अधिक स्वयं नहीं होता इससे उत्तम जान होता है इसका (अत्यन्त-अवधर्म) अत्यन्त अनुमूल्यमं अत्यन्त कर सकता है, वह (कर्तुं सुसुख) आचरण करनेके कष्ट भी जानने सुगम है ॥ २ ॥ जो इस राजविद्यापर विज्ञान नहीं रखेंगे वे पूर्ण- (धर्म-) लको प्राप्य नहीं होंगे और मृत्यु तथा विविध दुःखोंको भोगते रहेंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— यह राज्यशासन तकनीकी मुख्य विद्या है । इस प्रकार राज्यकार्यसे मनुष्योंको अन्धत कष्टनाश प्राप्त होता है और कभी मनुष्योंकी दुर्दशा नहीं होती । यह राज्यशासनकी गुह्य विद्या है वह मनुष्योंको विद्वद्भूषणें प्राप्त करनी चाहिये । अर्थात् इस तरह राज्यशासन ज्ञेय है वहकि मनुष्य श्रेष्ठ होंगे और अधिक पवित्र होते चाहेंगे । इस प्रकारके राज्यशासन तकनीके किये किसी प्रकार भी अधिक स्वयं नहीं करता पदता मनुष्य अत्यन्त आसनोंकी अपेक्षा वह राज्यशासन मूल्य धर्मवादी तकनीका का सकता है । इससे मनुष्योंका हित होता है वह बात दूरपक्षके अनुभवमें या सकती है । यह राज्यशासन तकनीका बड़ा सुगम है । जो लोग इस राज्यशासनपर विज्ञान नहीं रखेंगे वे अल्प सुख नहीं कहावेंगे और वे धर्मत दुःख की भोगेंगे ॥ १-३ ॥

न अपने पास संग्रह करके नहीं रखेंगे । अथिष्ठ सची कोग अपने अपने कर्मोंके द्वारा उत्पादित फलोंको प्रजापति (प्रजापाकक राजा अथवा राजघातक देवता) को समर्पित कर देंगे ।

मन्त्राय सचिप, वेदव द्युह, विद्यावादि सच कोग अपने अपने (सहस्र बर्गसे प्राप्त) कर्मोंमें अथवा उत्पत्ति कर पूजना प्राप्त करेंगे जो कम करेंगे इसे नग्नान्त कुञ्जकवाये (योगस्थाः कुञ्ज कर्मणि । गी १।३८) योगा कर्मस्तु कौशाक्षम् । गी १।५) करेंगे । सिद्धि हो वा बध्निधि, उसकी किन्ता न करते हुए अपना कर्तव्य करना अपना धर्म है देवा मानकर हारक अपना अपना कर्तव्य पावेंगे । (सिद्धयसिद्धयोः सप्तो मूत्वा गी १।३८, १।८१९) सब कोग अपने कर्मोंके फलोंको (प्रजापत्ये । गी. ३।२३) प्रजापतिके छिने वर्णन करेंगे और कोई भी उन्हें अपने उपनोपके छिने अपने पास संग्रहीत करके नहीं रखेगा ।

प्रत्येक मनुष्य समझेगा कि अपने अपने कर्मोंमें वे वर मेवारी सेवा कर रहा हूँ । (स्वकर्मणा तत्तत्पथ्य सिद्धि सिद्धिमानवाः । गी १।८३१) । वेद रोगीकी पित्रिजा हठी भावसे करेगा कि इस रोगीके कर्मों परमे वारी मेरे सामने जावा है और हठीकी सेवा स्वकर्म द्वारा करना मेरा कर्तव्य है । अन्धकार सिन्धका हठी भावसे शिका-वेगा कि ' ईश्वरी हृद सिन्धके कर्मों मेरे सम्मुख जावा है और अन्धकारक कर्मोंके द्वारा इस सिन्धकरी ईश्वरी सेवा करना मेरा धर्म है । ज्ञात्वाचीन्ध ही समझेगा कि वारी और पतिवारी को मेरे सामने जाते हैं वे इन कर्मोंमें परमे वारकी प्रसन्न रूप हैं और पञ्चापाहृष्ट ज्ञात्वा करके मैं हठीकी सेवा करकेके क्षिपरी वही वेदा हूँ । वी कहेंगी कि मैं अपने कील्लके पतिकरी परमेवारी सेवा कर्तव्य और पति कोया कि वरमेवारी कील्लमें सार्थी वनकर मेरे सम्मुख जावा है अतः अपने पतिकर्मद्वारा उसकी सेवा करना और वनको संतुष्ट रखना मेरा धर्म है । इसी तरह बुद्धभूषित भाकर कहेवाला और समझेगा कि ' ईश्वरी हृद प्रति राजेविके कर्मों मेरे सामने जावा उपनिवत है और उत्तम गुरुकर्म कर्म करके उत्तमी सेवा करना मेरा धर्म कर्तव्य है । इस तरह हारक मनुष्य स्वकीय कर्म उत्तम रीतिसे करके परमेवारी सेवा करेगा और उत्तम भिक्षिको प्राप्त होगा । अपना कर्तव्य करवाही वरमेवारी सेवा है ।

(मानुषी तनुमाधितं भूतमहेम्बरं भजन्ति । गी १। ११-१३) मानवीय शरीर वासन करके ईश्वरी पंच बर्गोंके कर्मों मेरे सामने है पूजा मानकर उत्तमी बधायोग्य सेवा करना हारकका कार्य होगा । अपना अपना कर्तव्य पाकन करनेपर भी कोई उत्त कर्मका चक्र निष्ठ उपयोगके छिने अपने पास संग्रहीत करके नहीं रखेगा परंतु सबका सब कर्मक प्रजापतिके छिने समर्पित होगा ।

प्रत्येक मनुष्य बहि बह जीमन्त्रगवत्रिणिक राजवर्ग रहेगा, जो जन्म भावसे सेवा करेगा —

मन्त्राः पर्युपासते । (गी १।२२)
जन्म्येनैव योगेन उपासते । (गी १।१६)
मै जन्म हूँ और जो मेरे सम्मुख उपरिष्ठ है वह जन्म है देवा मान छोड़कर इस सबके भिन्नेसेही वह बिराट् पुरुष वना है, सब भिन्नकर एकही (बाहुदेवः सबम् । गी ३।१२) सहस्तु है इस जन्म भावसे अपने अपने स्वभावविशेष कर्मद्वारा परमेवारी सेवा करेंगे । इस तरह भिन्नसेवा करना उत्तका निष्ठ धर्मे निष्ठ कर्तव्य और पद्धत कर्तव्य होगा ।

इस राजवर्ग राजघातक निवसन करनेवाकी प्रजापति अपना होगी और उत्तका भिन्नात्मक प्रजापति होगा । इसीका दूसरा नाम गणधरवा और उत्तका निवन्मक गणधरि कह सकते हैं । इसमें कार्य स्ववशावसे मनुष्य (धर्मात्मानु धर्मा गुणकर्मज्ञः । गी ३।१३) गणोंकी व्यवस्था होगी । प्रत्येक गणमें छिने वी गुरु वरक और उत्तम हैं इनकी उत्तम रीतिसे नियंत्री होगी । कीन कहा है उत्तका काय वना है ह्मादि सनका हिसाव रहगा । गणधरवाके बाहर कोई न होगा । प्रत्येक गणका एक जगद्व होगा उसको गणधरि कहा जावगा । अनेक गणोंका एक गणमंडक होता उत्तका अविज्ञाता गणमंडकाव्यक्त कहवावेगा और इन सबका निवसन प्रजापति करेगा ।

प्रत्येक गण वना कार्य करता है उसका चक्र वना होगा उत्तका विनिर्भोग केही करना चाहिये ह्मादि सब वाठोंका विचार गणधरि तथा गणमंडकाव्यक्त करेंगे । वरपरवा वह सब कार्य प्रजापतिधरवाद्वारा प्रजापतिही करेगा ।

गणमें रहनेवाकी सब कोग अपना अपना कर्म उत्तम रीतिसे करेंगे । अपना कर्म उत्तम रीतिसे करना (नम्यपेयाधि कारतेते । गी १।३०) ही हारक मनुष्यका कार्य होगा ।

(२) अम्यक्तका प्रभाव

मया तत्तमिदं सर्वं जगदम्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेभ्यवस्थित ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृश च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अर्थः— अम्यक्तमूर्तिना मया इदं सब जगत् उत्पन्न । सर्वभूतानि (सन्नि), अहं च तेषु न अवस्थितः ।
(अस्ति) ॥ ४ ॥ भूतानि च मत्स्थानि न (सन्नि) मे देवर्षे योगं पश्य । अहं भूतभृश (अवि) भूतस्थः । मम
मात्मा च भूतभावनः । (अस्ति) ॥ ५ ॥ तथा सर्वत्रगो महान् वायुः विश्वं आकाशस्थितः (अस्ति) तथा सर्वाणि भूतानि
मत्स्थानि (सन्नि) इति (त्वं) उपधारय ॥ ६ ॥

अम्यक्तमूर्ति में (ईश्वर) ने इस संपूर्ण जगत्का विस्तार किया है । सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं
उनमें नहीं हूँ ॥ ४ ॥ तथा सब भूत मुझमें नहीं भी हैं । यह मेरा ईश्वरीय योग तू देख । मैं सब भूतोंका
मरणपोषण करनेवाला हूँ तो भी मैं उनमें नहीं हूँ । तथापि मेरी आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाली है ॥ ५ ॥
जैसे सर्वत्र गमन करनेवाली महान् वायु निरपेक्ष आकाशमें रहती है वैसेही सब भूत मुझमें रहते हैं,
यह तू ध्यान रख ॥ ६ ॥

भावार्थ— ईश्वरने संपूर्ण जगत्का विस्तार किया है और वह उसमें स्थित है । संपूर्ण पदार्थ मात्र उसके आवलपर है
पंडित यह ईश्वर इन भूतोंके आधारपर नहीं है क्योंकि वह अपेक्षही रहित है । सब पदार्थ यद्यपि उन्हीं में तथापि न
हीनेके समान हैं । वही ईश्वरीय योगका प्रमाणा है । ईश्वर सबका पाकपोषण करता है तो भी वह उनमें किंचा नहीं
है । हवाकी भासा, भूतोंकी उत्पत्ति और विकास करनेवाली है । जैसे इस आकाशमें वह वायु है इसी प्रकार न सब
पदार्थ ईश्वरमें हैं । सावक इस बातपर विचार करें ॥ ४-६ ॥

{ राजविद्यारूपक अर्थ— (अम्यक्तमूर्तिना) अमूर्त राजसत्तासे (इदं सर्वं जगत्) वह संपूर्ण जगत्विशाला राज
पावन (तत्) तक रहा है और वही अमूर्त राजसत्ता राज्यमें सर्वत्र फैल गयी है । (सर्वभूतानि) सब लोग इसी
(अम्यक्तमूर्ति) राजसत्ताके आधारसे रहते हैं, पंडित यह राजसत्ता (तेषु न अवस्थितः) कोनेके आधारसे नहीं रहती अर्थात्
वह कोनेके आधारसे रहती हुई भी स्वतंत्र है ॥ ४ ॥ (भूतानि मत्स्थानि) तथा सब लोग राजसत्ताके आधारसे रहते
हैं भी स्वतंत्रसेही हैं । वही राजसत्ताका (देवर्षे योगं पश्य) देवर्षेयोग देखनेयोग है । राजसत्ता सबका (भूतभृश)
आवरोधन करती है तथापि वह उसमें (न च भूतस्थः) वह नहीं है । राजसत्ताकी ओ (ममात्मा) भासा है वह राज्यके
(भूत-भावनः) प्रातिमात्रका अनुप्राण करनेवाली है ॥ ५ ॥ (तथा) जैसे (आकाशस्थितः) आकाशमें (वायुः) वायु
होती है और अदृश होती हुई (सर्वत्रगो) सर्वत्र गमन कर सकती है (तथा) वही तरह (अम्यक्तमूर्ति) अर्थात् राज
पावनमें वही रहनेपर भी स्वतंत्रताके साथ प्रगति कर सकती है ॥ ६ ॥

काहेने तथा हम राजविद्याका समस्त अनुसार राजपावन
कर सबका सुखी कामा काहेने ।

निर्मलस्वर पृथिव्यासको उपदेश

वही राजा राजा काहेने कि वह इन्द्रो (अम्यक्तमूर्ति) ।
मी १११) [अर्थात् अर्थात् मातरादि देवताय दूरी
का राज्य महान होना आदि शेषोंका प्रमाण अर्थात्
होगा है उनको अम्यक्तमूर्ति कहन है इस प्रकारके]
निर्मलस्वर निर्द्वेष आत्मा दूरीके अर्थसे अर्थात् होनेवालेकाही

दिया गया है । वही सब उपदेशका अधिपति है । जो लोग
दूरीसे ज्ञान करते हैं, इन देखते हैं और जो दूरीका
अर्थ महान नहीं कर सकते वे लोग हम उपदेशपर विचार
नहीं कर सकते और न हम उपदेशके अनुसार वह सकते
हैं । ऐसे अधिपति अनुप्राण पुर्णोंको भोगनेके दिवसी
अधिक रहन है ।

अर्थात् हमी ज्ञानपावनका वचन गुण शक्तिसे करने है
वह अनुप्राण अर्थसे देखिये—

इस कर्मके फलका विचार प्रजापति करेगा। क्योंकि जो जोय इस तरह अपने अपने कर्ममें रत रहेंगे और अपने कर्मका फल अपने पास नहीं रखेंगे बल्कि योगयोग प्रजापतिही चलावेगा—

तेषां मित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।
(गी ९।१९)

इस तरह निज अपने कर्ममें व्यपशित हुए कर्मियों को गौंका योगयोग प्रजापतिद्वारा चलाया जायगा। किसीको अपने योगयोगकी बिठा करनेकी आवश्यकता नहीं है। राजप्रबंधद्वारा जिसको जैसी आवश्यकता होगी उसको वैसाही मिळता रहेगा और इस प्रकार सबका योगयोग उपम चलाया रहेगा।

हर एक मिर्कॉम वृत्तिसे रहेगा मोर्गोंका जाला करेगा सर्वद्वय तथा अस्तेज आदि वृत्तिमें रहेगा इस कारण सबकी आवश्यकतापूर्ण कम होंगी। इसीप्रकार जगते की कम होंगी और सब लोग आवश्यकमें रहेंगे।

इस तरह श्रीमन्नक्षत्रिणमें राजविद्या का प्रकाशमें वर्णन है। यदि इसका विस्तारसे वर्णन किया जाय तो बहुत बड़ा प्रश्न हो जायगा। जहां पढ़ा वरिष्ठकेपक्ष इस भगवद्गीतोक्त राज्यप्रणालीकी विद्या के अनुसार चलावे राज्यमें किस तरहका क्रोड्यवहार होगा वह बताया गया है। पांडव विचार करके देखें और बहालक जाये उपदेशको राज्यप्रणालीमें बढावें तो सबको स्वर्गही अकिन्मममगवान्के राज्यकाचयकी उपम करवा हो सकती है। यह राजविद्या अर्थात् राज्यकाचय चलावेकी विद्या है और नहीं राजगुह्य अर्थात् राजाके उत्तम आचयका गुह्य है। वही गुह्य ज्ञान है जिससे राजा जार मन्त्रीको बर्धित मुक्त भिक्त सकता है। यदि इस प्रकारका राज्यकाचय चलाया रहेगा तो कामे देला होगा कि धरकतसेही सब जालचमकहार जायही जाय चलाया रहेगा। कार्य होता रहनेपर भी सब कोम बलपूर्वक अनुभव करेगा। इसमें राज्य वह है कि जहां राजा और राजगुह्यको कोई कार्य करना पड़े और राजाज और स्वराज्य स्वभावसे चलाया रहे।

गुप्त ज्ञान

यह राज्यकाचयका गुप्त ज्ञान (राजगुह्य) है वही गुह्य गुह्यम साधन है और यह श्रीमद्भगवद्गीताके प्रारम्भमें

अमृतक कहा होनेपर भी प्रकट नहीं है। क्योंकि यह गुप्त श्रुतिसेही कहा गया है।

सुख देनेवाला धर्म

विद्यका ज्ञान होनेसे मनुष्य (अनुमात् मोक्षसे) बलवत्तासे दूर रह सकते हैं और पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकते हैं यह विज्ञानग्रहित ज्ञान नहीं कहा जायगा। यह (कर्तुं सुसुखं) आचारणमें जानेके लिये अत्यंत सुकरावक है, सहजहीसे हो जायेवाका और अत्यंत सुकरावक है। इसका मतलब अनुभव (प्रत्यक्ष-अभ्यास) किना का प्रकटा है। वहां इस कर्ममें कर्म करो मरनेपर स्वर्गमें उसका सुख मिलेता बल्कि अत्यंत कर्ममें सुख मिलेता ऐसी लभ्यव्यवस्था नहीं नहीं है। वहां भीते की प्रत्यक्ष सुकराव अनुभव हो सकता है।

स्वस्वमप्यस्य धर्मस्य प्रापते महतो मयात् ।
(गी ९।४)

इसका बोधना आचार्य भी वही सबको दूर कर सकता है। इसीप्रकार वह सबको (सुसुख) उगत सुख देनेवाका ज्ञान है। यह सबको (पवित्र) पवित्र करनेवाका है सब प्रकारके दोषोंको दूर करनेवाका और अनुसुत बर्धन सुख देनेवाका है। यह कर्ण्य मनुष्योंका (धर्म्य) धर्म है। इससे सबके कर्ण्य स्वयं हो जाय हैं। इन कर्ण्योंका राज्य करनेसे मनुष्य सुखी और आनन्द हो सकता है इसमें शिंद नहीं है।

अविद्यासियोंको दृष्ट

श्रीमन्नक्षत्रिणमें अत्यंत सुकरावकी मानवधर्म प्रर्थक प्रकटसे कहा है। परंतु यह लोग अविद्यासी होते हैं। जो इस समयपर पर अज्ञा नहीं रखते और कर्मकर्म लोगमें और अपने बल योगयोगप्रव करनेका जल करते हैं (मय्य धर्मस्य जगद् धारात्) देखें लोग इस सरवमपर विचार नहीं रखते और योग योगमें प्रवृत्त होते हैं। वे ईश्वरके (अमाप्य मां) कनी माप्य नहीं होते और (सृष्ट्युत्सादधर्मसि शिर्वर्ते स्ते) मायुके हुःखदायी मार्गवर्ती चकते जाते हैं, अर्थात् उनको बारबार जलत हुआ होते रहते हैं।

इस प्रकार जो लोग इस मार्गको छोड़ अन्य मार्गपर चकते हैं वे दुःखके योगी होते हैं। इस वस्तुका विचार कर सबको ईश्वरके कर्मकर्मकाके मार्गवर्ती चलाया

उस कर्मके फलका विचार प्रजापति करता। क्योंकि जो लोग इस तरह अपने अपने कर्ममें रत रहेंगे और अपने कर्मका फल अपने पास नहीं रखेंगे उनका योगक्षेम प्रजापतिही बचायेगा—

तेषां मित्राभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।

(धी १।२९)

इस तरह भिन्न अपने कर्ममें लक्षित हुए कर्मविह कोर्ग्य योगक्षेम प्रजापतिद्वारा बचाया जायगा। किसीको अपने योगक्षेमकी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। राज्यव्यवहारा जिसको बेटी आवश्यकता होगी उसको बैधारी मिलता रहेगा और इस प्रकार सबका योगक्षेम स्वयं चला रहेगा।

हर एक मित्रोंम दृष्टिसे रहेगा योगोंका ज्ञान करेगा सद्वृत्त तथा अस्तेय आदि दृष्टिमें रहेगा इस ज्ञान एककी आवश्यकताएं कम होंगी। इसीछिन्ने छानने भी कम होने और सब लोग आनन्दमें रहेंगे।

इस तरह श्रीमन्नृत्तिमें राजविद्या का संक्षेपमें वर्णन है। यदि इसका विस्तारसे वर्णन किया जाय तो बहुत बड़ा मंत्र हो जायगा। अतः वहाँ अतिशयेसे इस भगवद्गीताका राज्यप्रवचनकी विद्या के अनुसार चक्राने राज्यमें किस तरहका कोट्यन्वहार होया वह बताया गया है। प्रत्येक विचार करने देखें और बर्हातक जाये उपदेशको राज्यप्रवचनमें बढाएँ तो उसके स्वर्णही श्रीकृष्णवचनानुके राज्यकायकी स्वयं कल्पना हो सकती है। वह राजविद्या बर्हात राज्यकायन चक्रानेकी विद्या है और वही राजगुह्य बर्हात राजाके स्वयं ज्ञानका गुह्य है। वही गुह्य ज्ञान है जिससे राजा और प्रजाको अर्धक्षित युक्त मिल सकता है। यदि इस प्रकारका राज्यकायन चक्राने रहेगा तो जागे पूरा होगा कि प्रजापतिसे सब कायकमन्त्रवहार आपसी ज्ञान चक्राने रहेगा। कार्य होता रहनेपर भी सब लोग नन्दतुल्यका अनुभव करेंगे। स्वयं राज्य वह है कि वहाँ राजा और राजपुत्रोंको कोई काम करना पड़े और सुराज्य और स्वराज्य स्वभावसे चक्राने रहे।

गुह्य ज्ञान

वह राजराजसयका गुह्य ज्ञान (राजगुह्य) है वही गुह्यका गुह्यतम प्राचन है और वह श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रारम्भसे

अन्ततक कहा होनेपर भी प्रकट नहीं है। क्योंकि वह गुह्य रीतिसेही कहा गया है।

सुख देनेवाला धर्म

विषयका ज्ञान होनेसे मनुष्य (मनुमात्र मोक्षसे) नन्दतुल्यसे दूर रह सकते हैं और पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकते हैं वह विज्ञानप्रदित ज्ञान वहाँ कहा जायगा। वह (कर्तुं सुसुखं) आचरन्ते कालेके छिन्ने अत्यंत सुखदायक है सबकीछिन्ने हो जायेवाक्य और अत्यंत सुखप्रद है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव (प्रत्यक्ष-अनुभव) किया जा सकता है। वहाँ इस ज्ञानमें कर्म करो मरनेपर स्वर्गमें उड़ना सुख छिन्नेगा जबका जगत् ज्ञानमें सुख छिन्नेगा ऐसी अन्तर्गच्छना वहाँ नहीं है। वहाँ जीते जी प्रत्यक्ष सुखका अनुभव हो सकता है।

स्यकपमप्यस्य धर्मस्य जायते ममता भवात् ।

(धी १।४)

इसका बोधार्थ आचार्य जी बने सबको दूर कर सकता है। इसीछिन्ने वह सबको (सुसुखं) स्वयं सुख देनेवाला जाय है। वह सबको (पवित्रं) पवित्र करेवाला है, सब प्रकारके दोषोंको दूर करेवाला और अद्भुत अत्यंत सुख देनेवाला है। वह अत्यंत मनुष्योंका (धर्म) धर्म है। इसके सबके कल्याण तक हो जाय है। हम कर्तव्योंका पालन करनेसे मनुष्य सुखी और शास्त्र ही सकता है इसमें अविह नहीं है।

अविद्यासियोंको बुद्ध

श्रीमन्नवाक्ये अत्यंत सुखदायी मानवधर्म पूर्णतः प्रकटसे कहा है। परंतु वह कोय अविद्याधी होते हैं। जो इस धर्मवचन पर बड़ा नहीं रहते और कर्मचक्र मोपने और अपने नाम भोगसेप्रद करनेका स्वयं करत है, (धर्म धर्मस्य बर्हात धर्मात्) पूरे लोग इस धर्मवचनपर विचार नहीं रहते और भोग मोपनेमें मग्न होते हैं। वे ईश्वरको (अप्राप्य मां) कभी प्राप्त नहीं होत और (मृत्युसत्सारवर्त्मनि निवर्त म्ये) मनुष्ये दुःखदायी मार्गपरही चकते जाते हैं, जबका उनको वास्तविक नन्दतुल्य होत रहते हैं।

इस प्रकार जो लोग इस मार्गको छोड़ कर स्वयं मार्ग पर चकते हैं वे दुःखके भागी होते हैं। इस नाकका विचार कर सबको ईश्वरको कल्याणका मार्गपरही चक्राने

(२) अध्यात्मिका प्रभाव

मया ततमिदं सर्वं जगदध्यात्मकमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वमस्मिन् ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृश च भूतस्थो यमात्मा भूतमाधनः ॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सधाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अध्यायः— अध्यात्ममूर्तिना मया हर्षं प्रथमं कथं ततम् । सर्वभूतानि (समित) अहं च तेषु न अवस्थितः (अस्मिन्) ॥ ४ ॥ भूतानि च मत्स्थानि न (समित) मे देवता भोगे पश्य । अहं भूतभृश (अस्मिन्) भूतस्थः न । मया मत्स्थानि च भूतमाधनः (अस्मिन्) ॥ ५ ॥ यथा सर्वत्रगो महान् वायुः किरणं आकाशस्थितः (अस्मिन्) तथा सधाणि भूतानि मत्स्थानि (समित) इति (त्वं) उपधारय ॥ ६ ॥

अध्यात्ममूर्ति मे (ईश्वर) ने इस संपूर्ण जगत्का विस्तार किया है । सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ ॥ ४ ॥ तथा सब भूत मुझमें नहीं भी हैं । यह मेरा ईश्वरीय योग नू देख । मैं सब भूतोंका भरणपोषण करनेवाला हूँ तो भी मैं उनमें नहीं हूँ । तथापि मेरी आत्मा भूतोंकी उत्पत्ति करनेवाली है ॥ ५ ॥ जैसे सधत्र गमन करनेवाली महान् वायु बिस्पही आकाशमें रहती है वैसेही सब भूत मुझमें रहते हैं यह नू ध्यान रख ॥ ६ ॥

भावार्थ— ईश्वरने संपूर्ण जगत्का विस्तार किया है और वह उसमें व्याप्त है । संपूर्ण पदार्थ मात्र उसके आधारपर हैं वायु वह ईश्वर इस मुझे आचारपर नहीं है क्योंकि वह अपनीही शक्तिके है । सब पदार्थ वसति उसीमें हैं तथापि न होनेके समान हैं । यही ईश्वरीय योगका प्रभावकार है । ईश्वर सबका शरणपोषण करता है, तो भी वह उनमें प्रभा नहीं है । ईश्वरकी आज्ञा भूतोंकी उत्पत्ति और विकास करनेवाली है । जैसे इस आकाशमें वह वायु है इसी प्रकार न सब पदार्थ ईश्वरमें हैं । आत्मक इस बातपर विचार करें ॥ ४-६ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— (अध्यात्ममूर्तिना) अमूर्त राजसत्ताके (इह सर्वं जगत्) वह संपूर्ण प्रसिद्धिवाला राज प्रभाव (त्वं) एक रहा है और वही अमूर्त राजसत्ता राज्यमें सर्वत्र फैल पथी है । (सर्वभूतानि) सब लोग इसी (मत्स्थानि) राजसत्ताके आधारपर रहते हैं, परंतु वह राजसत्ता (तेषु न अवस्थिता) कोनोंके आधारपर नहीं रहती क्योंकि वह कोनोंके आधारपर रहती हुई भी स्वतंत्र है ॥ ४ ॥ (भूतानि मत्स्थानि) तथा सब लोग राजसत्ताके आधारपर रहते हुए भी स्वतंत्रवेही हैं । यही राजसत्ताका (देवर्षि भोगे पश्य) देवत्वयोग देवत्वयोग है । राजसत्ता सबका (भूतभृश) धारणपोषण करती है तथापि वह उसमें (न च भूतस्थः) एक नहीं है । राजसत्ताकी जो (आत्मा) आज्ञा है वह राजसत्ता (भूत-माधनः) प्राप्तिमात्रका अनुग्रह करनेवाली है ॥ ५ ॥ (यथा) उच्छे (आकाशस्थितः) आकाशमें (वायुः) वायु होती है और अहं इसी तरह (सधत्रगः) सबत्र गमन कर सकती है (तथा) इसी तरह (सर्वभूतानि) प्रभा राज प्रभावमें वही रहनेवाली स्वतंत्रताके प्राप्त प्रभावों कर सकती है ॥ ६ ॥

अध्याय तथा इस राजविद्याको प्रभाव तदनुसार राज्यप्रभाव नही सबका प्रभाव करना चाहिये ।

निर्मत्सर पृथिव्याको उपदेश

यही प्रभाव रखता चाहिये कि वह उपदेश (अमृतमुपदेशः) भी ॥१॥] अमृत अर्थात् मायातुष्टि हेतुमात्र हमने का उपदेश यह न होना चाहि दोषोंका जिनमें अभाव होता है उनको अमृतमुक्त कहल है, हम प्रचारके] निर्मत्सर । यही जो हमने उपदेशके प्रभाव होनेवालाकाही

दिखा गया है । वही सब उपदेशका अर्थिकारी है । जो कोय हमने माया काय है इस फैलाते हैं बार को हमनेका उपदेश यह नही कर सकते वही जो हम उपदेशपर विचार नहीं कर सकन और न हम उपदेशके अनुसार एक सकते हैं । ऐसे अधिवासी प्रत्यक्ष दुष्टोंको भीमनेक दिवही कोविद रहल है ।

अगत्वा ही मानवप्रभाव कथन मुख गाविते चाहिये है, वह अमृत अमृत दिव्य—

भाषार्थ—रामक्यायन ऐसा हो कि जो सपूर्ण रामके प्रत्येक स्थानमें जीवा जागता रह। उसके बाधारसे सबके कार्य स्वयंभार चले रहें। परन्तु किसी स्थानमें वह स्वयं बहू न हो। सर्वत्र उसका कार्य होता रह, परन्तु किसीत्र वह शक्ति न होवे। स्थानस्थानमें ईश रहें और उनका एक अधिपति ईश-वर रहे। इस प्रकार इष्टीय योगके वह रामक्यायन चला रहे। सब दूतोंका मरण पोषण होता रहनेपर भी रामा किसीमें बाधक न हो सब कामोंमें सक्रम रहे। सक्रम रहनेपर भी सबका प्रेरक बाधक और सम्मुखकर्ता रहे। मानो बाकाय रामक्यायन है और सबमें बाध प्रभा है। बाध बाधकके बाधारसे रहता है बाधकमें विचरता है बाधकमें रंभी होनेपर भी विचरन करनेके लिये उसे अपने स्वयंभार है इस प्रकार रामक्यायन प्रभा रहे। उक्ति कर और बीचयको सार्वक बनावे ॥ ४-१ ॥

नित्य सर्वत्र

(४-१) यहाँ सबसे पहले वह समझ लेना चाहिये की तत्त्वज्ञानके विद्वान्मोका अधिभूत और अध्यात्म विधासे क्या समझ है। जबतक इस सर्वत्रका सम्यक् ज्ञान नहीं होगा, जबतक भगवद्गीतामें जो गुह्य राजविद्या ' भरी है उसका आविष्कार नहीं हो सकता। भगवद्गीतामें रामक्यायन और रामगुह्य दोनों हैं वह इस अध्यात्मके प्रारम्भिकी वर्णन किया है। अतः इसमें संदेह नहीं हो सकता। परन्तु पाठकोंको यह संदेह हो सकता है कि इस अध्यात्ममें राजविद्या का वर्णन है वा नहीं। प्रायः कोसोंका यही मत है कि इसमें रामक्यायन वर्णन नहीं है। यदि कोई इसको बतानेका प्रयत्न भी करेगा तो उसे बीजाचार्यजी समझने लगेगे। किन्तु यदि वे इसे बीजाचार्यजी समझते हैं तो इसमें उनका कोई अपराध नहीं है क्योंकि इस समस्तक प्रभाइसी सेवा तक रहा है। इस अध्यात्ममें रामक्यायन वर्णन है वह बात इस प्रमत्तक किसीने भी नहीं कही। अतः जो काल इस विषयमें लड़क करेगे उनको शेष नहीं दिया जा सकता।

बाक्यमें इस अध्यात्ममें का तत्त्व वतमान है उसका सम्यक् ज्ञान होनेपर वह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें रामक्यायन भी सुन्दर वर्णन है जिसका प्रतिपादन बरादि आध्यात्मिक अनुष्ठान स्वयं सिद्ध हो जाता है ऐसे—

वेद अनिष्टद, भगवद्गीता तथा अध्यात्म तत्त्वज्ञानक प्रयोगों को पारब्रह्म कहा है वह अधिदेवत अधिभूत और अध्यात्म इस बीम विभागमें विभक्त है। कई रचनाओंमें इनमेंसे प्रत्येक दृष्टी विभागात्मक वर्णन किया है कई रचनाओंमें दोनों विभागोंका वर्णन है और कई रचनाओंमें तीनोंका वर्णन भी है। जहाँ तीनोंका बराबरीय वर्णन है उस स्थान वद्वत्

ही कोते हैं। अतः परित्यक् यह है कि किसी एक विभागक वर्णन देखकर उसके अनुसंधानसे अन्य विभागोंका ज्ञान भी समझ लेना चाहिये।

बुद्धधर्मसूत्र और काव्योप उपनिषदोंमें अध्याधिदेवत महाध्यात्म ' इत्यादि बतानेके कुछ विभागका बार केना वर्णन है वह समझना है। परन्तु ऐसे स्पष्ट बहुरही कम हैं। इस विचारको ठीक ठीक समझनेके लिये इस बातका ध्यान होना चाहिये कि तीनों स्थानोंके विषय एकही लक्ष्य हैं तथा एक स्थानके विषयोंका ज्ञान होनेपर दूसरे स्थानके विषयों का ज्ञान आपसी आप हो सकता है। तत्त्वज्ञानके अन्य विषयोंकी वह सार्वभौमिकताही विषय प्रत्यक्षी वद्वत् है। वह सार्वभौमिक प्रत्यक्षता समझमें आनेपर भगवद्गीतामें पारब्रह्मके रामक्यायनके विषय केसे जाने जा सकते हैं, वह बात स्वयं प्रकट हो जाती है।

तीनोंय एक नियम

(१) अधिदेवत के परमत्तमा और अध्याधि देवत्वमोका विचार होता है। (१) ' अधिभूत के प्राणोत्पत्तिक विचार होता है। भूत प्रपद यहाँ प्रकटता प्राणोत्पत्तिक है तथापि इससे मायव-समाजका बोध होता है और तभी इससे रामक्यायन वर्णन किया जा सकता है। (१) स्वच्छिन्नीरमें जो जीवतमा और इन्द्रियवर्णन है अध्यात्म के उनका सर्वत्र प्रकट हो जाता है। त्रिगुणोंके वह समझना चाहिये कि इस तीनों क्षेत्रोंमें एकही विषय वर्णन कर रहे हैं। उन्हें आत्मसुनिवेसि देखकर प्राणोंमें प्रवेश किया है। इसीलिये वह तत्त्वज्ञान अटक बार प्रभाव है। अथ न विषय है कि—

अधिदेवत	अधिभूत	अध्यात्म
परमत्तमा	महाप्राण	वर्णन जीवतमा

प्रकृति-सहायक	मन्त्री परिषद्	बुद्धि
विद्युत्	वित्तमन्त्र अधिकारी	मन्त्र
सूचना-द्वारा	प्रामाण्योपदेष्टा अधिकारी	व्यक्ति-व्यक्ति
अन्त-पक्ष	प्रजापति	छात्र

संश्लेषण यदि इत्यादि अर्थवादी प्राप्त हो जाय तो वही पर्याप्त है। जिस प्रकार परमात्मा सब जगत्का अधिपति, नाटक और पाठक है वैसे ही छात्र अपने छात्रागमका और बीनरमा अपने दृष्टका अधिपति है। परमात्माकी मन्त्र्य करनेवाली महत्त्वपूर्ण बुद्धि के स्थापने राजाकी मन्त्र्य करनेवाली मंत्रीपरिषद् दृष्टावापरिषद् अथवा प्रजा प्रतिनिधियोंकी परिषद् है और उन्हीं प्रकार अध्यापनमें बीनरमाकी बुद्धि है। जैसे परमात्मा अधिपतिवृत्तमें कति वायु सूर्यदि देव अपने अपने कार्यक्षेत्रमें नियत कार्य करते रहते हैं, वैसेही वेद अर्थ इत्येतादि बुद्धिगम छात्रोंके अन्तर अपने नियत कार्यक्षेत्रमें बीनरमा अधिपतिवृत्तमें अपना दृष्टावित्त करने करत है और उन्हीं प्रकार अध्यापक अधिपतिवृत्तमें भी प्रामाण्य मातापीत केमानीय वादि वशाधिकारी अपने अपने कार्यक्षेत्रमें नियत कार्योंको करते हैं। जैसे मन्त्र पक्ष इन्द्रियोंका विधायक है उन्हीं प्रकार राज्यव्यवहारमें मुख्य प्रमाण अथवा विधायक है और जिसमें सबका नियामक विद्युत्पक्ष है। इस प्रकार विचार करनेसे अत्यन्त स्पष्ट हो जायगा कि तीनों स्थापनोंमें किस तरह एक ही विधान है।

राज्यव्यवहार परमात्मा काही अन्तः प्रकृतता किंवा वास्तव्य है। इस अन्तः प्रकृतता कारणों विचार करनेसे राज्यविद्या ज्ञान होगा और अध्यापनक्षेत्रमें विचार करनेसे वैयक्तिक वस्तुविक्रय विधायक ज्ञान होगा। इसी तरह यदि किसीको वास्तविक ज्ञानका पता नहीं है तो वह अपने कर्ममें होनेवाला परमाण्वीका निरीक्षण करे तथा उसके अनुसंधानसे विचार और राज्यमें केवल व्यवहार होगा वास्तविक दृष्टका अनुमान करे।

इस प्रकार अध्यापनक्षेत्रसे सिद्धांत ज्ञान करनेसे अथवा राज्यव्यवहार किंवा वास्तविक ज्ञान करनेसे राज्यविद्या के अर्थ सिद्धांत ज्ञान करनेकी समस्त व्यवस्था समझमें आ जायगी। इसी विषयके अर्थ सब रचनेवाला समझ-ज्ञान वादि अनेक विधान अमरवादीयोंमें इसके पूर्व कहे हैं।

कोय समझते हैं कि वे केवल मायापार स्वर्ग और अपवर्गके विषयी हैं परंतु यह मिथ्या विचार है। वे सबके सब नियम छात्रागम और शास्त्रागममें उपयोग करनेके विषयी कह सके हैं। इस विषयोंका उपयोग बहुत कष्टसे आयोगे नहीं किया इसलिये बायोका अन्त-पक्ष हुआ। जैसे तो सिद्धांतसहित इत्यादि परिपूर्ण छात्र ज्ञान अपने पास होनेके कारण बायोके पक्ष होनेका कोई कारण नहीं था। परंतु जब मुख्य व्यवस्था मानवीय व्यवहारमें आनाही बंद हो गया और अथवा उपयोग केवल मरमोपारकी कल्पनिक व्यवस्था विद्येवक विषयी होने लगा तब मानवीय व्यवहार की विधिक हो गये। परन्तु यदि इसी तरह व्यवस्था और गुण राजविद्याका मूल होता रहता, तो अनेक अनुसंधानोंमें बीनर और आमत इस वस्तुविक्रय छात्रोंकी तरह आरंभवादी भी सबका बीनर और आमत रहता।

अनुसंधानोंकी आवश्यकता यह धारणा है कि व्यवस्थाका राज्यविद्याविषयों कोई अर्थ नहीं सामाजिक और औद्योगिक उद्योगोंके अर्थ की व्यवस्थाका कोई अर्थोकार नहीं। परंतु भारतीय अधिपतिवृत्त सब मानवीय व्यवहारोंको व्यवस्थाके अर्थ सुवर्णत समझते थे। इसीलिये उनके मन काय वेष्टाका बंधन राज्यविद्याका वादि अर्थी प्राप्त व्यवस्थाके मुख्य वास्तविक रच गये थे। अतः बीनरगवर्गोपार (प्रत्यक्षद्वयम्) प्रत्यक्ष अनुभवमें मानवीय व्यवहारमें आनेवाला प्राप्त समझें और उसमें मुख्य विधिक राज्यविद्या मरी है वह समझें। आत्मा परमात्माका अर्थ अर्थात् परमात्मा और प्रकृतिक विषयों कोई राज्यव्यवहारमें परिणत करके दृष्टाने राजविद्या हो जाती है। राज्यव्यवहारके अर्थमें कही होनेके कारण यह राज गुणराजविद्या है वह अर्थतः अमर राज्यविद्याका अर्थ है। जिसका प्रत्यक्षकरण व्यवस्थाका मानवीय व्यवहारमें करनेके उपरान्त उत्पत्ती हो जायगा। अब अब प्रत्यक्ष अर्थोंका समझ करके वही व्यवस्थाके अर्थ कह मानवीय विद्य सिद्धांतोंकी विवेचना करेंगे।

[१] अर्थव्यवस्थासहित इत्ये सर्व जगत् उत्तमम्। (४) अर्थव्यवस्था वरमैवकारा इत्ये सर्व जगत् उत्तमम् इत्यादि वा है और यह वक्तव्य वास्तविक है। इसी तरह अर्थव्यवस्थाका अर्थ यह वादी अर्थव्यवस्था और वही है और यह अर्थव्यवस्था

इस क्षीरमें स्थापक है अर्थात् प्रत्येक अंग अवश्य और समुचित होना चाहता है । तबमें परमात्मा और देहमें जीवात्माका यह कार्य दृश्यमान है । जब इससे राजविद्याका व्यवसाय उत्पन्न होता है वह व्यक्ति—

परमेश्वर अपनी बलवत् शक्तियों से सबका विस्तार करता है और सबमें स्थापक है, क्योंकि कोई भी मनुष्य स्वयं अपने स्थापक नहीं हो सकता । वेदेही राजघराणा भी बलवत् है जो राजा है अर्थात् जो व्यक्ति राजगद्दीपर बैठता है, वह असुर राजमण्डलका समुच्चय जाकार रूप है । वह निश्चय ही शासन करनेवाला है तथापि उसकी शक्ति सीमित है । जो सच्ची राजघराणा है वह इस व्यक्तिकी शक्तियों से अधिक बड़ी और अधिक प्रभावशाली है । वही वही असुर बलवत् राजमण्डलका विकास किया गया है । राजगद्दीपर बैठनेवाला व्यक्ति सीमित रहे वा मर जाय किन्तु वह असुर राजघराणा राज्यमें अनेक रूपोंमें कार्य करती रहती है । वह असुर राजघराणा इस राज्यको प्रकाशित है और राज्यके प्रत्येक स्थानमें प्रत्येक अधिकारीमें रहकर सब कार्य करती है ।

[१] तत्त्वानि सर्वभूतानि

न च तत्तेष्ववस्थितम् । (१)

उस ईश्वरमें सब भूतमात्र हैं परन्तु वह ईश्वर सब भूतमात्रोंमें नहीं है अर्थात् सब पदार्थ उस ईश्वरके आधारपर हैं परन्तु वह पदार्थोंके आधारसे नहीं है वह स्वतंत्रतासे अपनी निज शक्तिपर अवस्थित है । परन्तु अन्य सब पदार्थ उसके आधारसे रहे हैं । उसकी शक्तियों से जो कोई अन्य पदार्थ रहे नहीं सकता । शक्तियों की जीवन्मत्ता के आधारसे सब ईश्वरी क्षीरके सब अवयव अपने अपने स्थानमें और कार्यक्रम अवस्थायें रहते हैं परन्तु ईश्वरी और अवयवोंके आधारसे जीवन्मत्ता ही उत्पन्न है । इसी तरह राजमण्डलमें भी प्रजापति शक्तियों से सब पञ्चाधिकारी कार्य करते हैं जसमें वेदस्थिता रहती है और राष्ट्रों सब प्रकारकी उत्पत्ति होती है । परन्तु पञ्चाधिकारियों वा राजाके कार्य व्यवहारपर राजाकी शक्ति अवलंबित नहीं है स्वतंत्र है । राजघराणा राजाके सब कार्य प्रकाशित है राजघराणा उत्पन्न हो जो लोकपाल भी राजा बड़ा प्रभु और प्रभावशाली हो जाता है । इस तरह राजविद्याकी शक्तियों से सब दृश्यमान है ।

[२] न च तत्स्थावि भूतानि । (२)

परन्तु उद्यममें सब भूत नहीं हैं । अर्थात् सब भूत भूतमात्र परमेश्वरके आधारसे और परमेश्वरोंमें हैं, तथापि उनकी जोड़ी स्वतंत्र शक्तियाँ भी हैं । जैसे कार्यक्रम योजना बनाया जाता है । योजना कीजमें है वह भी उत्पन्न है और कार्यक्रम प्रवृत्ति भी उत्पन्न शक्तियाँ हैं, वह भी एक स्थिति उत्पन्न है । इसी तरह जीवन्मत्ताके आधारसे ईश्वरी हैं, परन्तु उनकी कुछ स्वतंत्र शक्तियाँ भी हैं । वह सब राजमण्डलमें अधिक स्पष्ट हो जाती है । राजघराणाके आधारसे राजघराणा को केन्द्रीय पञ्चाधिकारी कार्य कर सकते हैं, वह किन्तु ही उत्पन्न है तथापि उनकी जोड़ी स्वतंत्र शक्तियाँ भी हैं । राजा उत्पन्न के निचम केन्द्र में हैं तथापि अधिकारके स्वतंत्र रहनेवाले मनुष्यपर उनकी परिभाषा अवलंबित रहता है, वह आधार वही प्रभावशाली चाहिये ।

[३] पश्य वेम्बरं योगम् । (३)

वह मनुष्यका योग है । मनुष्य होनेका सामर्थ्य वही है । ईश्वरका वही असुर योगसामर्थ्य है । जीवन्मत्ता राष्ट्रपाल और परमात्मासे वह राज्य समस्त प्रत्येक क्षमता है । जैसे क्षीरमें जीवन्मत्ता असुर योगवत् ही रहता है वेदेही राज्यमें राष्ट्रपाल सामर्थ्य प्रकाशित होता है ।

[४] भूतसूत्रं न च भूतसमा । (४)

भूतोंका पोषण करता है तथापि वह भूतोंके आधार पर नहीं रहता । वह स्वतंत्र अपनी विमलशक्तियों रहता है । परमात्मा सर्वभूत भूतमात्रका प्रभुत्व पोषण प्राप्त तथा सर्वभूत करता है तथापि वह स्वतंत्रतासे रहता है । इसी तरह जीवन्मत्ता भी क्षीर ईश्वरी और अवयवोंमें प्रभुत्व प्राप्त करता है, परन्तु उनकी अवस्था क्षीर ही निज शक्तियों से हैं । राजामें राजघराणाके विषयमें भी वह बात उत्पन्न है । राजमण्डलसे सर्वभूत राजाका प्रभुत्व, पोषण प्रकाशित होता है, परन्तु राजघराणा अपनी शक्तियों से ही वह सब प्रभुत्व प्रकाशित करता है ।

[५] भूतभाषणः आत्मा । (५)

आत्मा सब भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला है । वह सब विषय उद्यमों में अपनी शक्तियों द्वारा और प्रभुत्व किया है । जीवन्मत्ता भी प्रभुत्व उत्पन्न करता है प्रभुत्व करता है । राजा भी राष्ट्रको प्रभावशाली बना देता

(३) कल्यादि और कल्पखण्ड

सर्वभूतानि कीन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिहाम् । कल्पखण्डे पुनस्तानि कल्यादी विसृजाम्यहम् । ७॥
 प्रकृतिं स्वामषष्टम्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्विधात् ॥८॥
 न च मां तानि कर्माणि निष्पन्नान्ति घनजम् । उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
 मयाऽप्यधेयं प्रकृतिः क्षयते सपराधरम् । हेतुनाऽनेन कीन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अन्वया— हे कीन्तेय । सर्वभूतानि कल्पखण्डे मामिहाम् प्रकृतिं यान्ति । पुनः जगत् कल्यादी तानि विसृजामि ॥ ७ ॥
 (अर्थ) त्वाम् प्रकृतिं अवधारय प्रकृतेः पश्चात् अवशं इमं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः विसृजामि ॥ ८ ॥ हे घनज !
 तेषु कर्मसु असक्तं उदासीनवदुदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु निष्पन्नान्ति घनजम् । ९ ॥ हे कीन्तेय ! मया अल्पकाले प्रकृतिः
 सपराधरं क्षयते, अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुन्तीपुत्र भर्तृन् ! सब भूत कल्पके अन्तर्गते मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और फिर मैं कल्पके
 आदिमें उन भूतोंको उत्पन्न करता हूँ— बाहर छोड़ देता हूँ ॥ ७ ॥ मैं अपनी प्रकृतिके वश होकर
 पराधीन भूतोंके इस संपूर्ण समुदायको पुनः पुनः उत्पन्न करता हूँ— बाहर प्रेरित करता हूँ ॥ ८ ॥
 हे पुत्रमें विजयी भर्तृन् ! हम कर्मोंमें आसक्तिरहित होनेके कारण उदासीन रहनेवाले मुझको ये कर्म
 बंधनमें नहीं आते ॥ ९ ॥ हे कुन्तीपुत्र । मेरी अप्रसन्नतासे यह प्रकृति जब और चेतन जगत्का निमाण
 करती है और इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है ॥ १० ॥

भावार्थ— सब वने हुए पदार्थ कल्पके अन्तर्गते ईश्वरीय प्रकृतियों कीव होते हैं और कल्पके आदिमें पुनः सब की
 उत्पत्ति होती है । ईश्वर अपनी प्रकृति का भाग्य करने संपूर्ण जगत्को उत्पन्न करता है और यह जगत् प्रकृतिके बाधीन
 बर्तव्य पराधीन होता है । ईश्वर हम कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, इसलिये हम कर्मोंमें बंधन नहीं पाता । ईश्वरकी
 अप्रसन्नतासे इसकी प्रकृतिही नष्ट और नष्ट वस्तुमानका उत्पन्न करती है जिस कारण जगत्में यह परिवर्तन हो
 रहा है ॥ ७—१० ॥

[राजविधापरक अर्थ— (सर्वभूतानि) सब प्राणिमात्र (कल्पखण्डे) संकल्पित विविध कार्यक्रमकी समाप्तिपर
 केवल अपनी (प्रकृतिं) स्वभावस्थितिमें छोड़ देता होनेके पश्चात् पुनः (कल्प आदौ) नवीन संकल्पित विविध
 कार्यक्रमकी योजनाका प्रारंभ करने राजा अपनी प्रजाको उस कार्यक्रममें प्रेरित करे ॥ ७ ॥ राजा अपनी (प्रकृतिं)
 प्रजाके साथ रहता हुआ अपनी अपनी विविध स्वभावप्रकृति अनुसार पराधीन होकरके चक्रेवाले प्राणिमात्रको इसी
 तरह पुनः नव विविध (कल्पे) संकल्पित कार्यक्रममें प्रेरित करता रह ॥ ८ ॥ राजा इस कार्यक्रममें (असक्तं)
 आसक्तिरहित रहे उदासीन (अपने विभिन्न लोगके विषयमें) और पूरा विश्राम रहे । इससे उन कर्मोंका दोष उठे नहीं
 कहेगा ॥ ९ ॥ राजा प्रजा [प्रजा] का अप्रसन्न है वह अवश्य राजा अपनी (प्रकृतिः) प्रजाके चराचर वस्तुमात्रकी
 (क्षयते) क्षयके कारण ही हेतुसे इस जगत्में (विपरिवर्तते) विशेष परिवर्तन होते रहते हैं ॥ १० ॥

हे पापिरा देवा दे । अज्य तेजस्वी राजा राष्ट्रका निर्माण
 करता है उसे बकाय है और प्रभावशाली बना देता है ।

[७] यथाकाशास्थितो यायुः सर्वभगः
 तथा सृतामि तत्स्थितिम् । (९)

आकाशमें रहता हुआ वायु जैसे सर्वभगवत् कर
 करता है वैदेही परमात्मामें से सब भूतमात्र हैं । जैसे
 आकाशमें वायु भरी रहने लगे होते हैं वही
 ७१ (हिं नी)

इस तरह सर्वभगवत् अमूर्त अक्षिप्त अद्वैत ब्रह्माच है ।
 वायु इस तरह विचार करने सब अद्वैत जान सकते हैं ।
 आगेके छोकमें इसी अर्थपर विवरण वर्णन है—

भाषाण— राजा अपने सब प्रजाजनोको अपने अगम संकल्पपूर्वक विधित किये हुए उच्चतरे कार्यक्रममें बन्ते बार उनको अगम योगक्षेमकी ओर प्रेरित करे। पहिले विधित किया कार्यक्रम समाप्त हो जाय और प्रजाजनोका कोई कार्यक्षेत्र न रहे तो व पुनः अपनी मूल विधित वृत्तिपर आ जाते हैं और विवाहीन बन जाते हैं। ऐसी स्थिति बनेपर राजा पुनः अपनी सुलोकवित्त आपोचना करे और विधित कार्यक्षेत्रमें सब प्रजाको लगावे। उनको विवाहीन बंधन बन्धनार्थमें बन्धी न रहने दे। राजा सदा अपनी प्रजाको साथ रहे प्रजाको कावकर दूर देखें जाकर न बसे। प्रजाजन अपने अपने स्वमात्रवर्त्मक आधीन रहनेके कारण पराधीनते रहते हैं अतः उनको बारबार अपने अपने उच्चतरे कावकर्ममें संकल्पपूर्वक लगाये रखना चाहिये। यह राजसंस्काराकी कर्तव्य है। इन प्रजाजनोके विविध कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भोगोंपर बन्धी राजा अपनी दृष्टि न रखे उन भोगोंको स्वयं न भोगे। उनके विषयमें उपासीन अर्थात् निरपेक्ष रहे। ऐसी निरपेक्ष वृत्ति रहनेवाला राजा विष्कम्भक रहता है। राजा ही सब प्रजाजनोका अधिपतिता है। वह अपनी सुवर्णय मेरुवासे अपने प्रजाजनो द्वारा बार और अपार बहुमुद्रावासे ऐसी उच्चति करावे कि विषये उदयकी बार राष्ट्रा परिचर्चन होता रहे ॥ ७-१ ॥

कल्प

(७-१) वहाँ कल्पकें आदिमें परमेस्वर मेरुवा करता है और कल्पके अन्तमें सबको विनाश देता है देता क्या है। अतः कल्प की कल्पना दीक्ष हो जानी चाहिये 'कल्प' शब्द का अर्थ कोष्ठमें इस तरह दिया है— (१) पवित्र विषय, पवित्र धात्रा (२) निश्चय विधित कार्यक्रम सकलवित्त कार्य (३) जगत्का अन्त, (४) प्रजाका विन।

'वस्तु' पशुज कल्प शब्द बनता है। इस पशुज अथ योग्य होना, समझ होना पूर्ण करना सिद्धि प्राप्त करना, विजय प्राप्त करना सुखवस्था करना होना बनाया सिद्ध करना अनुकूल करना योग्यकरण, उत्पन्न करना है। वह आदर्श प्यासमें पान करनेके कष्ट शब्दका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है— योग्यता प्राप्तार्थ पुनरा सिद्धि विजय भवदत्ता अनुकूलता योग्यता उत्पत्ति ।

कल्प शब्दके ये अर्थ भावमें प्राप्त करनेके कष्ट शब्दका ही अर्थ प्यासमें ना लड़ना है। परमेश्वर कल्पके आदिमें जगत्की उत्पत्ति करता है और कल्पके अन्तमें सब मूल अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ प्रकृतिमें क्षीय हो जाते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह है कि परमेश्वर द्वारा कल्पमें अपना कावकमर्षार्थमें मरुत्त जीवोकी उच्चतिका विधित सुभक्त्तित कार्यक्रम इच्छाया होता है। इस सकलवित्त काव को चक्रान्तक किये कुछ पवित्र विषय बनाये होते हैं वही धमनिषय कहलाते हैं। इन पवित्र विषयोके अनुसार चक्रान्त मानव जीव समर्थ आत्मा सुगन्धवाच होते हैं पुन राजा है सिद्ध करने विजय प्राप्त करते और अनुकूलता

साथ उच्चत होते हैं ।

कल्पमें मन्त्रा इस उच्चतकी उच्चति इसकिये करता है, कि इसमें उत्पन्न हुए जीव अपना सुखिका मार्ग स्वर्गीय को और पूर्ण विजयी तथा सिद्ध बनें। इस कल्पवासे परमेश्वर इस विषयका निर्माण करता है, इसीकिन् इस कावकमर्षार्थमें 'कल्प' कहते हैं। इस संपूर्ण कल्पमें परमेस्वरकी यह मूलभूत कल्पना और परमा कार्य कायी रहती है। इस कारण कल्पके आदिमें ईश्वरके मानवपुत्र प्रकट होते हैं, अनेक प्रजापति अपने अपने विधित कार्यमें लग जाते हैं और छोटे छोटे देव देवता विभूति आदि अपना कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। इन सबका उद्देश्य वही होता है कि परमेस्वरके संकल्पके अनुसार सब कार्य हों और उनकी त्रेमालुकार संसारमें कार्यबनाइमें पड़े हुए जीवोकी यथे विधित उच्चति हो। वही परमेश्वर राजा है और जीव उच्चतकी प्रजा है तथा मानवपुत्र प्रजापति देवदेवता और विभिन्न परमेश्वरके पदाधिकारी हैं, जो ईश्वरके संकल्पके अनुसार कल्पकी मार्गा समाप्त होनेतक अपना काव करते रहते हैं।

ईश्वर और राजा

इस कल्पके अन्त ईश्वरपर संकलित कावक्रम चक्रान्त आता है और उस महात् कार्यक अन्त ईश्वरके ओवस्वी प्रजाजनोकी उच्चतिका अन्त होता है वरि वह अत संक अमकर्ममें आ जावगी तो राजा अपनी प्रजाकी उच्चतरे किन् वना को वह वात जी स्वर्गदी राह हो जावगी। तुलनाक किये वही निम्न लिखित कोष्ठमें परमेश्वर और राजाके उच्चतरी तुलना करते हैं—

परमेश्वर	राजा
प्रकृति	प्रजा
प्रकृतिरक्षण	प्रजापति
(कल्याण) जीवोंकी	(कल्याण) प्रजापति
मुक्ति के किये	अमृतपत्र के किये
सृष्टिरचना	सृष्टि प्रसार
सृष्टि रचना	प्राथमिकी (राजकर्मचारी
(कार्यकर्ता)	कार्यकर्ता)
सृष्टिरचना विधेय	प्रजापतिप्रदानद्वारा
	कार्यक्रम करना
जीवमुक्ति	प्रजापति वधनविधुति

इस छोटे से कोष्ठक में विचार के लिए पद्य संश्लेष है । विचारपूर्वक इसकी देखा जाए तो परमेश्वर के महाराज के व्यवहार के अनुसार राजा की देखा राज्यव्यवहार करना चाहिए इसका ज्ञान हो सकता है । वेद उपनिषद् और गीता अर्थात् शास्त्रों को परमेश्वर और प्रकृति का कार्य बताते हैं वह कब परमेश्वर का व्यवहार जानने के किये नहीं है क्योंकि केवल परमेश्वर के कार्यव्यवहार को जानने से मनुष्यमात्र के कल्याण होने की संभावना नहीं है । मनुष्य को नरने वाराणस बनना है अतः परमेश्वर के व्यवहार को अपने अन्दर मानवीय व्यवहार में अर्थात् राज्यव्यवहार में शब्दा चाहिए । परमेश्वर के गुणों का विचार इस किये करना चाहिए कि वे गुण अपने ही और राज्यव्यवहार में कैसे आ सकें । इस तरह विचार करने से स्पष्ट होगा कि परमेश्वर का व्यवहार वचन उपपन्न आदर्श सामने रखने के किये किया गया है और इसी आदर्श राज्यव्यवस्था भी प्रकट होती है । इसी विषय का विचार हम अंतर्गत इस प्रकार है-

१ अहं कल्याणो सर्वभूतानि विमुञ्चामि । ७

(मैं [ईश्वर] कहने कादि में सब भूतों का विशेष प्रकार प्रकाशनाई छोड़ता हूँ ।) अब जीव मुक्ति प्राप्त करें अमृतपत्र विधेयता साधन करें इस सकलित उद्देश्य से इस उक्त प्रकाशक कर्मप्रदाई प्रेरित करता है । इसी प्रकार प्रजा करना अमृतपत्र एक एक करवाना करें इस प्रकृतित उद्देश्य से राज्य विधि का प्रकाश प्राप्त करने के उद्देश्य प्रकाश प्रीति को । देखा ईश्वरीय राज्य में (न हि

कश्चित् अहमं कश्चित् सति । गी १५) कोई जीव कम किये बिना नहीं रह सकता ऐसे ही राजा अपने राज्य में किसी को कामचपले बिना विधिपत्र व्यवस्थामें न रहने द । पद्य प्रकाश कर कि किसी को वैधानिक कष्ट न हो सके । ईश्वर के राज्य में कोई जीव कर्म किये बिना रह नहीं सकता अर्थात् कार्य बकार नहीं है । राज्य में राज्यव्यवहार वैधानिक प्रणाली निर्माण होना चाहिए । राजा अपनी प्रजा की वधति की कोई योजना तैयार करे और उक्त में सब प्रजापति को कगले ।

२ कल्याण सर्वभूतानि प्रकृतिं यान्ति (७)

कल्याण की समाप्ति के समय सब भूत प्रकृति में लीन हो जाते हैं । सकलित काय की समाप्ति पर सब भूत प्रकृति की स्थिति प्राप्त हो जाते हैं । राजा की योजना से प्रजा की वधति का कार्य चलता जाता है उक्त सकलित कार्यक्रम के प्रमाण हो जाते पर सब प्रजापति विधान व्यवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, बकार हा जाते हैं ।

प्रकृति की व्यवस्था गुणव्यवस्था है इसमें किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती । सब भूतों का प्रकृति में लीन हो जायेगा अर्थात् विद्या में लीन हो जाया है विधानीय हो जाना है । सकलित कार्य की समाप्ति पर प्रजापति की वही स्थिति हो जाती है । अतः एक कार्य प्रमाण हमें यह पद्य द्वारा कार्यक्रम तैयार करना योग्य है । सभी जनता की वधती व्यवस्था विधानीयता ही होगी । राज्यव्यवस्था किस तरह परिपूर्ण होना चाहिए वही इसकी कल्पना हो सकती है ।

हम अंतर्गत में प्रकृति व्यक्त हो गए हैं । एक स्थान पर इससे मूल प्रकृति गुणव्यवस्था व्यवस्था विधानीय व्यवस्था विधानीय है । दूसरे स्थान पर इसका प्रकृतित्व प्रमाण विधान व्यवस्था है । राजविधान में प्रकृति व्यक्त कार्य प्रजा है और प्रजा अर्थात् विधानव्यवस्था में तथा विधानीय वधती की स्थिति भी है । अर्थात् व्यवस्था अनुसार योग्य व्यवस्था प्रतीति करके प्रकृति का ज्ञान समझना चाहिए ।

३ प्रकृतिं स्वामयष्टम्य विमुञ्चामि पुन पुन । (८)

[मैं (ईश्वर) अपनी मूल प्रकृति का ज्ञान करके प्रकृति को वाराणस प्रकाश करता हूँ ।] ईश्वर अपनी विधानमूल-

प्रकृतिक भाव बन कर वस्त्रों के अंतर्गत ही बँधी उद्योगिक क्रिया के संकल्पित योजनाद्वारा सृष्टि की रचना करता है। सृष्टिके प्रवाहमें माया भी बन कर अपनी परम उद्योगिकी प्राप्ति के क्रिये विशेष पुरुषार्थ प्राप्त करते हुए परम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं। यही ईश्वर का कल्प घटक कल्पना भाषायोग्यता है। इसी तरह रामानुज उचित है कि वह अपनी प्रभामें रहे और संपूर्ण प्रभाकी परम उद्योगिक क्रियेके क्रिये संकल्पपूर्वक भाषायोग्यता को बार उस कार्यक्रममें सब प्रभाको कल्पने। सम्पूर्ण प्रभा की इस विशेषता, संकल्पित भाषायोग्यतामें रहकर अपनी उद्योगिकी करें। एक योजनाके पक्षपर हृष्टि योजना बनाकर बारबार उससे उसमें कार्यक्रमकी रचना करने उस क्रममें प्रभावकोंको उत्पन्न करावे और ऐसा प्रक्रम करने कि जिससे सबको उच्चम सुख परम भाग्य और परम उत्कर्ष प्राप्त हो सके।

४ भूतप्राप्तामिमि कृत्स्नमवष्टु प्रकृतेर्वेषात् (८)

संपूर्ण प्राप्तिमात्र अपनी प्रकृतिके आधीन है। इस कार्य में उन्हें पराधीन भी बना जा सकता है। प्रत्येक प्राणीकी निज प्रकृति होती है वह सार्वत्रिक राज्य और राज्य होवे उसे वह प्राणी सार्वत्रिक राज्य और राज्य हो सता है। प्राणी अपनी निज प्रकृतिके अनुसार ही कार्य व्यवहार करता है। गौ सार्वत्रिक हूँ होती है सिंह स्वामाधि हूँ करता है। सार्वत्रिक हूँ होनेसे अनुभव कम-कम आधियों उत्पन्न रहते हैं। राज्य प्रकृतिमात्र अनुभव प्रपन्नकी होते हैं और समोन्मुखी अनुभव आच्छादी और अपवित्र होते हैं। अनेक प्रवाल करवेपर की वह प्रकृति बहकती नहीं। अतः भगवान्ने कहा है कि—

यद्वहंकारमाधित्य न योस्त्व इति मन्यसे ।

मिथ्यय ध्ययसायसे प्रकृतिस्त्वं त्रियोक्ष्यति ।
स्वमायसेन कौस्तेय निययः स्वेन कमया ।

कनु नेच्छसि यममाहात्म्यकार्यशोऽपि तत् ।
(गी १८।५८-६)

बहंकारवश तब वह मानता कि मैं कुछ नहीं सकता। यह मिथ्या विज्ञाप है। ऐसा स्वभावही तुझ उस बार वस्त्रों के अंतर्गत है। वह अहंकार । अतः स्वभाव उच्च क्रमोंसे बंधा हुआ तू जिस कार्यको मोहवश करता नहीं पा रहा। उसेही वाचक हाकर कराया।

इस तरह प्रत्येक अनुभव अपनी प्रकृतिके स्वभावके अनुसार चल सकता है, प्रकृतिके अनुकूल ही कार्य कर सकता है। चाहे कितना भी प्रयत्न किया जाय किन्तु अनुभव अपनी निज प्रकृतिके निरुद्ध कुछ नहीं कर सकेगा। बर्बर समोन्मुखी अनुभव सार्वत्रिक और राज्य कार्य कराए नहीं कर सकेगा। इसी तरह सार्वत्रिक अनुभवको राज्य कार्य करावा संभव है। इस विधिसे पता चय जायगा कि अनुभव तथा अन्य प्राणी अपनी प्रकृतिके आधीन होनेके कारण पराधीन हैं। जो जिसका प्रकृतिके स्वभावमें है उद्योगिके अनुसार उच्चता स्वर्गमें होगा। यही स्वर्ग उच्चत स्वर्गमें है और यही उच्चता करना आधिपति।

राजप्रक्रमद्वारा सम्पूर्ण प्रभावकोंकी उद्योगिकी को विद्याका भाषायोग्यता बनायी है वह इस स्वभावमें स्व प्रकृतिवर्ग बनाया निजवर्गका विचार करेही बनायी आधिये। बर्ण्य सार्वत्रिक प्रकृतिवर्गोंको सार्वत्रिक कार्य राज्य प्रकृतिवर्गोंको राज्य कार्य और समोन्मुखी प्रकृतिवर्गोंको समोन्मुखी कार्य दये आधिये। इससे काम की रीति होमा और उसकी संकल्पता और सुकल्पता की भीति ही प्राप्त होगी।

ऐसा न करके एकही कार्यमें सबको परीक्षा के क्रमोंके कार्य भी विद्या जायगा और उच्चता निरुद्ध भी बनेगा। इसलिये प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृतिके आधीन-परधीन है वह बात जानकरही उद्योगिकी भाषायोग्यता बनायी आधिये। प्रत्येक उद्योगिकी और राजविद्याका वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षण है जो प्यायमें रचना आधिये।

५ तेषु कर्मसु असक्यं उदासीनवद् आसीनं मां तानि कर्माणि न निबध्यन्ति (९)

(ईश्वर हम कर्मोंमें उदासीन और उदासीन रहता है अतः हम कर्मोंका दोष उसका नहीं करता।) परमेश्वर प्रकृतिद्वारा सब कर्मोंको कराता है। इससे उच्चता तेषु हयगाही होता है कि सब जीवोंके क्रिये अपनी उद्योगिकी कार्य सुका हैं। इससे अतिरिक्त उच्चता उत्पन्न अपने प्रेम बनाया नहीं होता इस कारण हम कर्मोंमें वह कर्मोंके नहीं होता। यही विशेष नियम यह है कि कम कर करावे परन्तु उच्चत उच्चतभावमें न लिपट जान पड़ता स्वर्ग

(४) मूढ राक्षसोंकी अवतति

मवजानन्ति मां मूढा मानर्षी तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं धिताः ॥ १२ ॥

प्रलय न करे जाद्विहित और उदाधीन रह । परमेश्वर
इस तरह कमजोरके ऊपर जग्राहक है इसलिये विर्षोप
है । जो इस तरह कमजोरपर जग्राहक रहेगा वह भी
शेषाहित होगा । इस विषयको दृष्टकर राजाभी अपने
मन्त्रजनोंको विविध कर्मोंमें धेरित करे उनसे विविध
कर्म करावे अमुरण और मिथ्यवचन कर्मोंमें उनको उत्पन्न
करे, परन्तु स्वयं इन कर्मोंके फलसे विरक्त रहे जग्राहक
और उदाधीन रहे । इन कर्मोंके फलोंको अपने उपयोग
लिये न रख प्रत्युत स्वयं उदाधीन रहकर प्रजाका समानता
सुख और शान्ति वढ़ावे । सर्व प्रजासे समानता कर्म करावे
परन्तु इनके फलोंपर स्वयं जग्राहक न होवे । क्योंकि फलभोग
में जाद्विके कारणही राजाभोग विषय की प्रजापर हमला
करते इनको मूर्खते और उग्र करने अपने भोग वढ़ावे
है । यह सब मोघाशक्ति बचन-कारक है । राजा प्रजासे
सुभोग कर्म करावे और इन कर्मोंका भोग स्वयं न करे ।
अर्थात् प्रजाको सुखी करनेके लिये सब कुछ प्रजाकाही
धर्मवित्त करे । इस तरह राजाको ईश्वरके समान भावना
करना चाहिये ।

६ अथध्येण प्रकृतिं सूयते सचराचरम् ।

(१०)

परमेश्वरकी कृपाशक्तिके सहकर प्रकृति स्वावर और अवयवको
उत्पन्न करती है । परमेश्वर प्रकृतिके देवी शक्तिका अधि
पति है । और उन्नीकी प्रेरणा द्वारा प्रकृतिसे स्वावर और
कामकी उत्पत्ति होती है । यहाँ सूयते का अर्थ 'सु
पचय-दहन' है । इस शक्तिके कारण प्रलय-व्यपत्ति होता
और देवर्षि प्राप्त करता होता है । अर्थात् परमेश्वरकी
कृपाशक्तिके सहकर प्रकृति स्वावर जंगम शक्ति उत्पन्न करती है
और इन शक्तिके देवव्यपन्न करती है । राजा भी
अपने राष्ट्रीय देवकी कार्यव्यवहार करे । स्वयं प्रजाकी
सब कार्य समितियोंके व्यवहारका निरीक्षण करे हरएक
प्रजाकी प्रशासन देने उनकी उत्पत्ति करके। राज्य करे
यहाँ प्रजाकी शक्ति प्रत्यक्ष प्रतीत होती है यहाँ अपनी शक्ति

देकर कामको वढ़ाव दृष्ट रीतिसे हरएक कार्यव्यवहारको
वढ़ावे प्रत्यक्ष पर पदार्थों अर्थात् गौ गोव्य मायव आदिकी
उत्पत्ति करावे तथा अन्तर पदार्थ अर्थात् कलाकौशल्यके
पदार्थ उत्पन्न करावे । राजा अपने राज्यमें ऐसे कार्यकर्म चकम्प
है जिससे प्रजाजन पर अन्तरकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ
स्वावर और जंगम उत्पत्तिको प्राप्त हो और देवव्यपन्न हो ।

विचार करनेपर पता लग जायेगा कि पर अर्थात्
जंगमकी उत्पत्ति और अन्तर अर्थात् स्वावरकी उत्पत्ति कैसे होती
है । यह सब शक्ति कमयोगसे अर्थात् कौशल्यवर्धन कर्मोंसे
करनी चाहिये । अतः राष्ट्रीय कौशल्य वढ़ावा और सब प्रजाको
कर्मोत्पन्न करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है ।

७ हेतुनानेन जगत् विपरिवर्तते । (१०)

इस हेतुसे जगत्में विषय परिवर्तन होता है । परमेश्वरकी
कृपाशक्तिके सहकर प्रकृति स्वावरकी उत्पत्ति और समृद्धि
करती है, इसलिये जगत् में विषय परिवर्तन-वैशेष्य हो
रहा है । तथा विश्व राष्ट्रीय राजाकी अवस्था कोर्षीकी प्रेरणासे
कलाकौशल्य वढ़ावा उस राष्ट्रीय परिवर्तनभी प्रीति होता
रहेगा । क्योंकि कौशल्यका अन्तर्गत अधिक शौच्यकी
निर्मिति है । इस तरह जगत् अधिक शौच्यका निर्माण
करने लगेगी तो सभीके जीवनमें विशेष रीतिसे परिवर्तन
होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

इस प्रकार परमेश्वरकी कृपाशक्तिके सहकर प्रकृतिमें और इस
लक्षित हो रहा है उन्ने दृष्टकर राजा अपने राष्ट्रीय प्रशासन
के काम करता है । यहाँ इसका प्रत्यक्ष मात्र है । विचार
करनेसे अधिकाधिक सुखसाधक व्यवहारोंका पता लग
सकता है । इसीसे सुखव्यवस्थाका भी बोध हो सकता है ।
यहाँ विषय कृपाशक्तिके द्वारा प्रकृति है । प्रत्यक्ष शक्ति है ।
इसका विचार करके पाठक गुहाधमविषयक ज्ञान भी प्राप्त
कर सकते हैं ।

इस उपदेशको न जानेका न भ्रम निरास है इसका
वर्णन जागेके हकीकतमें किया है—

मातृपीं तनु आभित भूतमहेश्वरं (११)

महेश्वर मानवीय शरीरक आधित है । प्रत्येक मानवीय शरीरमें ईश्वर रहता है । वही बात वेदमें कही है

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ३१७
पुरुष एवेह सर्वं यद् भूतं यच्च मम्यम् ३१८
आक्षिपोऽस्य मुखमासीद्वाङ्मनसोऽस्य ३१९
ऊरु तदस्य यद्वक्षः पद्भ्यां श्रोत्रो भ्रज्यायत ३२०

(म. १ - १)

एक पुरुष (ईश्वर) है उसके हजारों मुख, हजारों पाँच और हजारों पाँच हैं । जो हुआ था जो है और जो होनेवाला है वह वह पुरुष (ईश्वर) ही है । हम पुरुष (ईश्वर) का मुख प्राण वाङ्मनसि ऊरु वक्ष और पाँच श्रोत्र हैं । इस तरह वेदमें भी मातृपीय शरीरमें परमेश्वर रूप करता है वह बात कही है । वह मुखका कार्य आक्षिपोमि करता है वाङ्मनसि आक्षिपोमि करता है पद तथा ऊरुमोका कार्य वक्षोमि करता है और पाँचोंका कार्य श्रोत्रोमि करता है । अर्थात् धूर्त्त मानवीय शरीरोंमें वह है और कार्य करता है । प्राण वाङ्मनसि वक्ष और श्रोत्र परमेश्वरके शरीर हैं । इस तरह प्रत्येक मानवीय शरीरमें भी वह विद्यमान है और कार्य करता है । साधककी स्थिति है कि मातृपीय शरीरमें रहनेवाले और वही कार्य करनेवाले भूतमहेश्वरको देखें और उसका अनुभव करें ।

महेश्वर मानवीय शरीरमें है और कार्य कर रहा है वह भूत मनुष्य नहीं देख पाते । व समझते हैं कि ईश्वर किसी धाममें आसमानमें है, भक्तोंमें विराज करता है और मानव वस्त्र विकटुक विष्ट हैं । ऐसा मानकर व भूत लोग भक्तोंकी किम्बा करत हैं उनको कुछ देत हैं उनको दमते हैं और हा तरहसे दमते घातत हैं । जन्म मनुष्यों को उनके मनुष्यके व्यवहारपर पाठक प्रभाव है । वस्तुतः मनुष्योंमें ईश्वर है ईश्वर जन्मेक मानवीय रूप धारण करके हमारे सम्मुख जाता है । उसको ध्यानात्म्य मनुष्य मानकर हमेंका ध्यान करना उसको कष्ट देनेका ध्यान करना किन्तु मूढ़ता है । ईश्वरके वही हमके किये काम नहीं मिलेगी अतिष्ठ यथायोग्य दण्ड मिताय ।

यदि किसी समय कोई राजा गुप्त वेदसे हमारा सम्मुख

जा जाए तब हम उसके साथ गुप्त व्यवहार करें तो उस हमारे गुप्त व्यवहारको राजा प्रसन्न देखेगा और उसका किय वह योग्य दण्ड भी होगा । कभी काम नहीं करेगा । परंतु यदि मनुष्य वही समझ कि राजा काय किस वपसे हमें कब देख क इच्छा पता नहीं है वता हमें अधिक है कि हम सदा सुयोग्य व्यवहार करें तो ऐसा मनुष्य सदाही योग्य व्यवहार करनेके कारण उन्नत होगा और दूसरोंको उन्नतवाला लक्ष्य होय ।

इसी तरह प्रत्येक मनुष्यमें ईश्वर है जन्म ईश्वरही जन्मेक मनुष्योंका रूप धारण करके हमारे सम्मुख जाता है । वह कभी मनुष्यमें जाता है कभी मित्रकर्ममें कभी शिकर्ममें तो कभी पुत्रकर्ममें जाता है । प्रत्येक जन्मके कर्तव्य मित्र होते हैं, जो यथायोग्य रीतिसे करने चाहिये । यदि धनुके कर्ममें ईश्वर उपस्थित हुआ तो उसको क्या योग्य दण्ड देवाही चाहिये, विकटुक काम नहीं करनी चाहिये । तभी वह परीक्षा उत्तीर्ण कर सकता है । जैसे बर्तुमने शीकर्मके ध्यान और पुत्र किया था । यदि वह उस समय पुत्र न करता तो शीकर्म प्रसन्न न होते और उसे बर्तुमकी प्राप्ति भी न होती । शीकर्म मित्रकर्मके उल्लेख सम्मुख कह दे । बर्तुमने उनके ध्यान मित्रताका वर्तव्य करने उसको प्रसन्न किया था । वही यथायोग्य वर्तव्यका पाठ पाठकोंको सिख सकता है ।

जो मनुष्य सम्मुख जाता है वह उस कर्ममें ईश्वरही होता है । शिकर्मके सम्मुख रोमीके कर्ममें ईश्वर जाता है । पत्निके सम्मुख पत्निके कर्ममें ईश्वर जाता है । मातृपितृके सम्मुख पुत्रकर्ममें परमेश्वर जाता है । वह किसी समय धनुकर्ममें भी जाता है और किसी समय भूत रूप धारण करके भी जाता है । वही समझना चाहिये कि वह परीक्षाका समय है । इस परीक्षामें जो उत्तीर्ण होगा वही भद्र बनेगा । प्रत्येक स्थानमें हमारा कर्तव्य क्या है इसका विचार करके देवाही व्यवहार करना चाहिये । कर्तव्यकर्म न करनेपर अयोग्य और यथायोग्य कर्तव्य करनेपर उन्नति होती है ।

उदाहरणके किये आत्मापीके कर्म परमेश्वर हमारे सम्मुख आजाए, और हाथमें धनु के छेद हरदण्डन वक्ष करके हमें तो उसका वक्ष करना हमारा धर्म है । यदि हमने

उसका बच कर दिया तो हम अपनी परीक्षाओं उत्तीर्ण होने और यदि उससे बचकर भाग गये जयवा वह परमेस्वर है इस किसे पुन रहस्य तो हम अनुत्तीर्ण हो जायेंगे। इस तरह यह परीक्षा चारों ओर हो रही है। भगवान् ने जर्जुनसे कहा कि औरतपक्षके सभी लोग परमेस्वरके विषयमें हैं, पापु बहुत ही क्षात्रात्मकी परीक्षाका वह समय है। परमेस्वर इतने रूपों में सम्पन्न आकर परीक्षा के रहा है। यदि इस समय जर्जुन कुछसे निवृत्त हो जाय। तो परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जाय। जर्जुनने विषयके दुर्लभ करनेके पक्षावृत्ति कुछ किया है क्योंकि वही समय उसको विज्ञान हुआ कि मन्त्र परमेस्वर सम्पन्न उपस्थित होनेपर कुछसे भाग जाया बिना मूर्खता है। इस समय तो कुछ करना ही एकमात्र उपाय है।

पाण्डवोंका राज्य जीवकर औरत अपने हाथमें बचाकर बैठे थे और पाण्डव अपना मरणात्म्य प्राप्त करना चाहते थे। दोनों पक्षोंके मानवीय क्षीरोंमें ईश्वर था। पाण्डव यदि कुछ न करते जयवा उपाय कुछ करते औरतोंको परास्त करके उनके हाथोंसे अपना राज्य न जीव लेते, तो पाण्डवोंको स्वराज्यकी प्राप्ति न होती। वही परमेस्वर औरतोंके रूपमें आकर पाण्डवोंकी परीक्षा के रहा था, कि वे पाण्डव स्वराज्य प्राप्त करने और उनकी रक्षा करनेके योग्य हैं या नहीं इस परीक्षामें पाण्डव उत्तीर्ण हुए और उत्तीर्ण होकरही उनके स्वात्म्य प्राप्त हुआ। वही पक्ष जगत् है कि परमेस्वरके विषयमें जानू भी है। उनके प्रायः कैसा वर्तन जानूके किया है या ही करना चाहिये। जो भी स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं उनकी उपाय स्वराज्य नहीं मिलेगा जयतक कि वे कुछ करने विजयी न होंगे और कुछ भी पक्ष प्रत्यक्ष करना चाहिये जयतक उसमें न्यूनता नहीं रखनी चाहिये।

मानवीय क्षीरोंमें परमेस्वर है (मानुषी तनु आधिपतं भूतमहोत्तरं। गी. ५।११) वह बात देखनी चाहिये और धरा ध्याने रखनी चाहिये। जयके मानवीय धाम हमारा संबंध होता है वह सबक योग्य रीतिसे होना चाहिये क्योंकि इन मानवीय क्षीरोंमें ईश्वरके परमेस्वरके प्राप्य

हमारा संबंध होता है। इस परीक्षामें उत्तीर्ण होना चाहिये।

राजविद्याके पक्षमें अमूर्त राजधरा छोटेमोटे मोहदेवताके उभ मानवीय क्षीरोंमें आश्रित रहकर कार्य करती है। इसकिसे मनुष्यका क्षीर धामधरा उसका अपना धाम उचित नहीं क्योंकि अमूर्त राजधरा वही है।

अमूर्त परमेस्वरीय मानवीयक्षीरोंमें ही और अमूर्त राजधरा अधिष्ठात्रियोंमें है जो योग वह भी नहीं जानते वे मूर्ख हैं। इस जगत्के कारण वे जयके मन्त्रके कुछ आत्मन करे हैं। उसका एक जयको भोगना पड़ता है। इसकिसे मन्त्र है कि उनकी आध्यात्मी, उनके कर्म और उनके धाम (मोक्षाध्याः मोक्षकर्मिका, मोक्षधामाः) धर्म होते हैं। यदि वे सब धर्मोंमें ईश्वरमन्त्रको देखें तो उनकी मन्त्रमूर्त उनके कर्म और ज्ञान सफल आर सफल हो जायेंगे। वही एक बात न समझ पानेके कारण उनकी मोह होता है और इस मोहके उनकी राजधरी और आध्यात्मी बहुरि होती है। इससे किसे एक उपाय है—

उभ मनुष्य परमस्वरीय मानवीय परिपूर्ण हैं, समस्तधाम धाममें परमेस्वर भरा है इस दृष्टिसे उभ एक ही हैं। ईश्वर मानवीय एक दृष्टिके जगत् परस्पर चोरी काय जगत्, सुखेकी बहुरि जीवना आदि दोष समस्तमें वही रह करे। फिर वे दोष किध समस्तमें रह करे हैं? किध समस्तमें योग उभ धर्मोंमें परमेस्वरमानवीय वही मानते, और मन्त्र स्वनिष्ठ मित्र किध है परमेस्वर किन्हीं स्वतंत्र स्वार्थों है वह प्रत्यक्ष स्वनिष्ठमें वही है वह मानते हैं वे ही एक दृष्टिके मन्त्रिका जय करते हैं चोरी जगत्मानवीय स्वनिष्ठ आदि करते हैं। इस जगत्में ही राजधरी और आध्यात्मी बहुरि रहती है। इस आध्यात्मी उपस्थित कार्य आगे १९ में जगत्मानवीय होता। कई मानवीयोंमें ही मूर्ख आध्यात्मी दृष्टि दिखाई देती है। वे ही योग जगत् में जयके उपाय न मानते हैं। हममें इस दृष्टिके दोषका कारण मानवीय देखें जगत्मानवीय प्रत्यक्ष न मानना और न देखना है।

इस किसे जगत् के अमूर्त आश्रित स्थापन करनेकी दृष्टि से तो उभ धर्मोंमें आश्रित मानवीय देखनेकी विना धीवनी चाहिये।

(५) महात्माओंका स्वभाव

महात्मानस्तु मां पार्य देवीं प्रकृतिमाभिता । मञ्जन्त्यनन्यमनसा ह्यात्वा भूतादिमप्ययम् ॥ (३॥

सतत कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः । नमस्सन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

ज्ञानयष्टेन चाप्यन्ये यजन्तो माग्न्यासत । एकत्वेन पृथक्त्वेन यदुभौ विश्वतोमुखम् ॥८९॥

अस्त्वयाः— इ पात्रं । देवी प्रकृतिं आभिवाः महाप्रायः तु मां मूर्धनि वक्ष्यम ज्ञात्वा वक्ष्यममवयः । (मां) भजन्ति ॥ १३ ॥ (ते) निम्बकुशाः अथवा मां सततं कीर्तयन्तः वतन्तः च दण्डका वयस्यन्त मां उपासते ॥ १४ ॥ अथैव च विप्रावत्येव वसन्तः एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विचिंत्यन्तं उपासते ॥ १५ ॥

हे भक्त्युय । देवी प्रकृति-स्वरूपा-के आधित महात्मा लोग तो मुझही भूतोंका आधिकारण और अभ्यय समझ अनन्य मतवाल हो मेरा ही (ईश्वरका) भजन-सेवन करते हैं ॥ ११ ॥ वे नित्य योगाचरण करनेवाले महात्मा मण्डिसे मेरा (ईश्वरका) सतत कीर्तन करते हैं तथा प्रयत्नशील दृढमती बमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ और दूसरे लोग भी वानयज्जद्वारा यजन करनेवाले पण्डितसे पूज्यमानसे अर्थात् अनेक प्रकारसे मुझ सर्वतोमुख (ईश्वर) की उपासना करते हैं ॥ १३ ॥

साधारण—महत्मा को जहाँ स्वभाववाक होते हैं। उसको विज्ञान होता है कि परमेश्वर अपने मूर्तों का आधिकारिक है और वह कविताही है। वे इस परमेश्वरको अपना कर्तव्य मानकर अत्यन्तमात्र मर्त्य धारण करते उसकी सेवा करते हैं। वे विम कोणका आचरण करते हैं। सदा सकलजीव पुत्रधारी होते हैं स्वकी अर्थात् नियमपात्रवर्ग दक्ष होत हैं। वे परमेश्वरको वमस्कार करते हुए उसकी अर्चना सेवा करते हैं। हमारे कोण ज्ञानवश करते हैं। हमें बहुतसे पुरुष मायको देखकर बहुतसे पुत्रवधवा अनुभव करते अनेकों प्रकारोंसे ईश्वरकी उपासना कर सेवा करते हैं। अस्तु परमेश्वर सर्वोत्तम है ॥ १२-१५ ॥

॥ राजविद्यापराक भर्तृ- (ऐसी प्रकृति जातिवाः) दूरी स्वभाववाले पुत्र (महप्रभावः) महप्रभा होते हैं वे समूचे राजसिद्धि (भूत-बाहिं) प्रमितामकी उच्चिका जादिकारम नीर (व-व्यव) व्यव न करनेवाकी जर्ग्य जादिक सुसिद्धि करनेवाकी जगते हैं। जव (जव-जव-जवः) उस राजसिद्धि के लाभ जगन्मयिष्यवाक होकर जर्ग्य उद्यमे अपने जलकी विभिन्न व भावते हुए उड़ीमें जगना बिज कपाकर उड़ीकी सेवा करत हैं ॥ १३ ॥ (विष्णु-वृषभ) सदा नीम जर्ग्य कीछकपुत्र कर्म करते हैं। (जयवा) भक्ति जर्ग्य सेवामात्रसे उड़ीकी वजन करते हैं। (वरुणाः) उड़ीके विषयमें प्रभाव करते हैं। (उरु जवाः) सुभ मित्रोंका सुपुत्रका साथ पावन करते हैं। (वनस्वतः) वन जर्ग्य सेहोको वनम सब प्रकारके वन नीर दुहोको प्रसक्त करत ह्येक विचार करत हुए उड़ी राजसिद्धि की सेवा करत हैं ॥ १४ ॥ ज्वरे कह सव (जगन्मय) जावका विस्तार करते हैं। वज्रके कोण (पदमेव) एकतासे जर्ग्य संवसारके नीर बहुल कोण (पुण्यमेव) पावनके भावसे जर्ग्य स्थितिभावसे तथा ज्वरे रीतिपोंसे उड़ीकी सेवा करते हैं। वह राजसिद्धि तो (दिक्कामुख) सर्वतोमुखी है जर्ग्य प्रसक्त मनुजमें रहनेवाकी जगता जनकविष्ट है ॥ १५ ॥

माधार्थ- ऐसी स्वभाववाले अत्युच्च राजघराणे माननीय समाजके अग्रगण्यका हेतु आर मूल्य व्यवस्थे अधिक काम पहुँचानेका भाव समझते हैं। वे ऐसी राजघराणेका साथ मिलकर जनताके हितकारक कार्य करते हैं। न सिवा औद्योगिक कार्य करते वगैरे सेवाभावसे कार्य करते हुए, उपहार्य करनेका उदाहरण भारत सरकार विधायिका दृष्टिको मान पाकर कार्य करना व्यवहार करते हैं। वे अर्थको साथ रखताका व्यवहार करते हैं। सबका आनेके लिये बल देनेका काम करते हैं और दुष्टोंको दृष्ट करते हैं। आत्मका विस्तार करते हैं, अपने उपार्थोंके वैयक्तिक और सामाजिक उत्थिति करते हैं क्योंकि वे भावते हैं कि सर्वोपार्थी उत्थिति होनेसे ही सबका उपार्थ सम्पन्न होता है ॥ १३-१५ ॥

रहा। इस सभके सिरे आरम्भसमर्पण करना इसका
समान कार्य उपरवाकं साव इससे संबंध रखनेवाले कठिन
करना पड़ी भाकि वही कही है। महारमा योग जो ईश्वर
भाकि करते हैं वह वही भाकि है। इसीका नाम सत्य भक्ति
है आर इसी भक्तिके माधवसमाधिका उद्धार हो सकता है।

ज्ञानार्थ-समाप्त अष्टम मूलप्रकरण है । वही आराधना का
 रूप है । वही ईश्वर का सगुण रूप है । इस माधुरी अनुभूति
 नामित ईश्वर को महिमा ज्योति (गी ११/१११)
 प्रकाश ज्योति है तथा वही (अष्टम्यर्थ) आधिपत्य रूप
 है ऐसा अनुभव करते हैं । इसीका (कीर्तयन्ताः) वर्णन
 करते हैं । इसीके विषे (यतन्ताः) प्रवर्णन करते हैं । इसीका
 कार्य करनेके विषे (हृदयन्ताः) हृदयको निबन्धनात्मक
 करते हैं । इसीको (मन्त्रस्यात्मनस्त्याज्यं) सेवा आश्रये
 समस्त करते हैं, इसीके कार्यमें (नित्ययुक्ताः) नित्य
 रूपे रहते हैं इसीका (ज्ञानयथोक्तं यजन्ताः) ज्ञानप्रसार
 द्वारा प्रवर्णन करते हैं सामर्थ्याद्वारा इसीकी (उपासते)
 उपासना करते हैं, (एकत्वेन) ऐक्यभावसे तथा
 (पूजयन्तेन) वैभक्ति प्रवर्णनासे भी अर्चन (बहुधा)
 बहुधा विविध (विभक्तोमुखं) अवतारमयकी
 सर्वतोमुखी अनुभूति परमेश्वरकी (उपासते) उपासना
 सेवा बार नष्ट करते हैं ।

राज्यविधाका रहस्य

ईश्वरसबधी इतना निश्चय करनेके पन्नाह इस ओरोंमें
बर्लिन राजविद्याके तत्त्वका वर्णन करते हैं ।

(द्वैती प्रकृति भाषिता) द्वैती संघटिताके सत्यक
मनसा लोग (अनन्य-मनसा) अनन्यमन होकर
राजवाङ्मयी (महात्म्य) धरा करते हैं। राजवाङ्मयी राज्ञ
अनेक मनुष्यक स्वामी है। वह जाकर अपने भावों
उपदे धार (अनन्य मनसा) अनन्यभावसे संवर्धित
पूर्व दृक्कर्म समस्त उद्योगी सेवा करते हैं। सेवामें
अप्रमदमयक, प्रमद दाय और स्वर्गस्वराज्य भाषि धार
पतिव्रत है।

महाराज लोग जानते हैं कि वह राष्ट्रपति (श-व्याय) एवं वकीलवादी हैं अर्थात् सरकारी कार्य सम्बन्धी अन्य सब रिजर्वों का प्रस्ताव इस विशेष विधि भावनी राज्य पर विधि राष्ट्रपति के द्वारा कथित रूप से होता है : और

(भूत-मादि) प्राथिमाशकी उत्पत्ति उच्यते उत्कर्ष
वादि वाचिकसे अधिक होता है, ह्यक्षिपे यह शम्भुदासन
सर्वोत्कृष्ट है। अतः वे महत्तमा शोभ इत्येके छिपे आत्म
समर्पण करते हैं ह्यक्षी सेवा करनेके छिपे जीवन देत हैं
और उत्तरदाके प्राय इषी शम्भुपदातिमें (यत्तन्तः) कार्य
करते हैं। इषी शम्भुदासके छिपे (हृदयताः)
ह्यक्षिपयके उद्योग करते हैं विषमादिना पाकन करत
हैं। वे जानते हैं कि यह शम्भुपदाति कर्मत कामदायक है,
ह्यक्षिपे वे ह्यका (कीर्तयन्तः) गुण गाव करत हैं
हसके गुण सबको समझाते हैं तथा (नित्य-युक्ताः) विष
कुलकलापूर्णक हसके छिपे प्रवत्य करते हैं। तथा शम्भु
दासमें प्रवत्य करते रहवा वे अपना वाचक्य कर्तव्य
समझते हैं।

(नमःस्थान) नमन करते हैं महारामा लोग नमन करते हैं। यह वास्तुईश्वरकामी राष्ट्र-मुख्य जगद्बीज बाराह जका स्वरूप है ऐसा समझ हूँ ऐसी रात्मसाधनद्वारा रात्म साधनका कार्य करना उचिती सेवा करना है ऐसा मे मानते हैं और इसी कारण मे इसको (पमः) नमन करते हैं। इस नमः के तीन अर्थ हैं (१) नमन (२) नम्र और (३) श्रद्धा। ये तीनों अर्थ महारामाजोके नमनमें प्रतिक्रिय हैं। महारामा लोग सदा नम्र होते हैं अतःजोकि सम्मुख वो नमते ही रहते हैं। बुद्धिवादीकी धुवा घाल्य करनेके क्रिये अर्थात् उनको पनास मात्रामें नम्र होनेके क्रिये न सदा परबन्ध होते हैं। वेकारीको दूर करने कदा भीदक की उक्ति करनेके क्रिये और कृपि नाशिका मुधार करनेके क्रिये मे सम्यक् करते हैं। ये महारामा जोम कष्टसे दृग्दृष्टाव बुद्धीको बशोचित दृष्ट भी देते हैं। जोर सुतेर कुछ नादि पापकर्म करनेवालोंका दण्डि दृष्टद्वारा निषमन भी करते हैं। हूँ तब हूँ हमके नमनमें मे तीनों क्रियामें अन्तभूत होती हैं जो जगत्की सुस्थितिसे क्रिये अर्थात् आवरण है। महारामा लोगोके नमनका यह प्रभाव है। इससे समजनेका समार होना है बुद्धिवादीको नम्र मिथ्या है वेकारी नम्र होती है तथा बुद्धीको भी बशोचित मात्रामें दृष्ट मिथ्या जाता है।

ये बहुभया कोम जनको (प्रामथ्यंन यज्मत्तः)
जानहारा मयाम करते रहे हैं । यह एक प्रकारकी जगमगा
जगमगाती लवारी है। ये कोम इसीके (उपासक) इसीके

(१) ईश्वरका स्वरूप

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वप्नाऽहमहमौषधम् । मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमपिरहं हुतम् ॥ १६ ॥
 पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥ वेद्यं पवित्रमोकारं शब्दं सामं यजुरेव च ॥ १७ ॥
 गतिमेतां प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । प्रमथः प्रलयः स्थान निधानं धीमजमस्य च ॥ १८ ॥
 तपाम्यहमहं वर्षं निगूहाम्युत्सृजामि च । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसञ्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अभ्युप्या— अहं क्रतुः अहं यज्ञः अहं स्वप्ना अहं औषधं, अहं मन्त्रः अहं एव अज्यं, अहं अपिः अहं हुतम् ॥ १६ ॥
 अहं अस्य जगतो माता पिता धाता पितामहा वेद्यं (वेदः) पवित्रं (पवित्रः) शब्दः सामं यजुः एव
 च (अग्निः) ॥ १७ ॥ (अहं) गतिः मर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् प्रमथः प्रलयः स्थानं निधानं
 तपाम्य अहं (च अस्मि) ॥ १८ ॥ अहं अहं । अहं तपामि अहं वर्षं निगूहामि उत्सृजामि च अहं एव अमृतं मृत्युः च
 (अहं एव) सदं असत् च (अस्मि) ॥ १९ ॥

मैं क्रतु, यज्ञ स्वप्ना औषध मन्त्र धूम्र और हुतमकर्म हूँ ॥ १६ ॥ मैं इस जगत्का माता
 पिता धारणकर्ता, पितामह वेद्यं वस्तु पवित्र वस्तु मोकार शब्दवेद्यं सामवेद्यं और यजुर्वेद्यं हूँ ॥ १७ ॥
 मैं अस्मिन् गति पोषकता, स्वामी साक्षी, निवासस्थान शरण आनेयोग्य मित्र उत्पत्तिकर्ता
 लयकर्ता मथनकी अवस्थिति मर्ता स्रवको रहनेके लिये स्थान देनेवाला भण्डार और अविनाशी
 धीम हूँ ॥ १८ ॥ हे अर्जुन ! मैं (सूर्यरूपसे) तपता हूँ मैं पञ्चम्यको रोकता हूँ और पञ्चम्यको गिराताभी
 हूँ । मैं अमरता हूँ और मृत्यु भी हूँ । मैं सत् और असत् हूँ ॥ १९ ॥

भाषार्थ— ईश्वर सन कृष्ण है । भूत वर्तमान और भविष्यत् कालमें जो कृष्ण वा तपः है और योग्य वह सब
 ईश्वरी है । ईश्वरी सबका धीम उत्पत्ति और लय है । वही अमरत्व और मृत्यु सब और सब कृष्ण है ॥ १६-१९ ॥
 [राजविद्यापरक अर्थ— राजसत्तामयी प्रजापतीका कर्मकर्ता चारणकर्ता औरही वस्तुतः प्रजापतिसे प्रजापति
 दूर करनेका सब करकेका उद्यम करनेका और अर्थमय होता है । १६ ॥ राजसत्तामयी राजका प्रजापति,
 धाता और पितामहकर्म है । राजसत्तामयी कामनेयोग्य वस्तु है पवित्र वस्तु है तपः रक्षक भी है । सूर्य्ये ज्ञान
 राजसत्तामयी होता है ॥ १७ ॥ प्रजापतीकी अस्मिन् गति राजाही है वही सबका पोषक सबका स्वामी, सकल
 निवास सबका आश्रय सबका उत्पत्तिकर्ता और पालनकर्ता है वही सबको रहनेके लिये स्थान देता है सब
 प्रजापतीकी विधि है सबकी उत्पत्ति सबका मूल धीम है ॥ १८ ॥ वही हुतको वृत्तकर्म तप देता है वही अमरत्व
 मर्तव्यकर्ता और अमरताका भीम देनेवाला है । वही संपूर्ण जगत् ही मृत्यु तथा अमृत है । वही सत् और असत् है ॥ १९ ॥

उपासना मायत है । बहुतेके महात्मा लोग इस अनदेखा
 अथवा विचित्राकी (एकमेव) एक-मात्रसे अर्थात्
 सधमात्रे करत हैं तथा बहुतेके (पुण्यफलसे) प्रथममात्र
 से अर्थात् वैयक्तिक मायसे करते हैं, अथवा (बहुधा)
 अनेक प्रकारोंसे विभिन्न साधनोंसे अथवा मिश्रित विधि-
 नोंसे करत हैं इस सत्यसे वे (विभ्रान्त मूख उपासते)
 सर्वतोमुखी राष्ट्रपति, अथवा या अथवा राजाईकी
 सेवा करते हैं ।

दोनोकी एकता

प्रायः राजाधिका रहस्य देनेके लिये पता लगा कि विच

करी परमेश्वरी उपासना और राष्ट्रपति सेवा एकही
 है क्योंकि विचकरी परमेश्वरीको जो प्रणाम कर मनुकोत्तरा
 उपासित होनेयोग्य है वह बार वरोंसे होनेका राष्ट्रपति
 ही है इसकी वनावोग्य सेवा करनेके लियेही राजकी
 सुव्यवस्थाका निर्माण हो गया है । वही ईश्वरीप्रजा
 और राष्ट्रपति एक स्वतन्त्र मित्र नहीं है । अथवा
 अर्थमें ईश्वरी उपासना और राष्ट्रपति एकही है और
 वही सबका अधिकारी है ।

इस तरह महात्माओंके कार्य बतलाकर अब ईश्वर
 सबका स्वयं करत है ।

साध्या— राजघडिही प्रजाका उद्धार करनेवाली भवना नाम करनेवाली है। यदि राजघडि प्रजाका हित करती है तो जगत्में प्रजाका बहुत अस्तुत्वन होता है और यदि नहीं विरोध करने छगे तो बहुत प्रजाजन जननति के पुत्र बनें या मिरते हैं कि वहीसे उनका निकलना कठिन हो जाता है। इसलिये कहा है कि राजघडिही प्रजाकी अन्तिम गति और सब कुछ है ॥ १६-१९ ॥

(१६-१९) वक्ष्ये स्वधाकार, स्वाहाकार इत्यन्यौ नीपथिवीकं प्रग्रहं मयं पूजं तन्नि नीर इत्यन्ये कर्म इत्यन्येऽपि भाववत्कथा होती है। कर्तुं नीर यत्न यत्नकेसे से है। ये सब एकही अक्षरवत्क रूप हैं। इससे पूर्व नहीं ज्ञान कहा गया है—

प्रजापत्यं प्रजा इति प्रजापतिः प्रजापत्या इत्यम् ।

प्रजापत्येन गन्तव्यं प्रजाकर्मसमाधिना ॥

(गी० ११५५)

वर्णन इत्यन्ये तन्नि इत्यन्ये गयी वस्तु नीर इत्यन्ये करनेवाला व सब ज्ञान है। इस ओरमें भी वही बात करी है। इक्षीक कृपापति देसा किना गया है—

हरिर्वाता हरिर्मोक्षा हरिरर्चं प्रजापतिः ।

हरिर्विप्रसीदतीत्यु मुक्तं मोक्षयति हरिः ॥

हाता मोक्षा अथ प्रजापत्यक नामनेवाला, जानन किनेवाला नीर विनोक्त सीर सब ईश्वरी है। इसका अर्थ यह है कि जो कुछ वस्तुमात्रमें भव दिक्ता है देहा है वह सब नहीं है। यद्यपि वस्तुमें अनेक चीजें हैं वनानि ये सब एकही अस्तुत्वन रूप हैं। जैसे एकही मोनेक अनेक केरा बनाये जाते हैं तथा अनेक जवरीके कर्मोंमें एक ज्ञानवर भी मोना पूर्ववत्ही बना रहता है उसक कर्मों मूलमें भवना स्वकर्ममें कोह भेद नहीं होता इसी तरह जो बड़ा सबका ईश्वर है वही हम सब वस्तु नीके कर्मों हमारे अस्तुत्वन उपस्थित है। दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं है। फिर वह कर्तुं यत्न स्वधा नीपथि मयं पूजं तन्नि इत्यन्ये वनानि किने भी कर्मोंमें दिक्ता है वे सब वस्तु एकही है। यद्यपि यह वस्तुनीका भव दिक्ता है तथा है यद्यपि वस्तुना सब नहीं है।

परमेश्वर ह्य जगत्का मातापिता है क्योंकि वह इसका वनान है। धारण बना पोषण करनेके कारण इसीको माता कहते हैं। वह पितानीका जो पिता है इसाकसे इसका नाम पशाम है। वह सब माता पाठकी प्यायें वा प्रकृता है क्योंकि वह सब है। (वेदः) जगत्प्य जानन

योग्य, अनुष्णोंके अन्न ग्रहण करनेक पश्चात् वही एक ईश्वर जाननेयोग्य है। नीकार वही है। इसको नीकार कहते हैं। (ग्रहति हति मी) जो सबका मयायोग नीतिसे संरक्षण करता है वही ईश्वर है। नीकारमें व-ड-म् 'व' अक्षर उत्पत्ति-स्थिति-कर्मक वाचक है। जो उत्पन्न होता है जो पश है नीर जिसका छप होता है वह सब वस्तुमान परमेश्वरकाही रूप है। इस प्रकार नीकारक कई भय हैं जिन सबका विचार करनेकी पश कोह भाववत्कता नहीं है।

अग्नेय धामवत् नीर वस्तुमें ही वही ईश्वर है। अग्नेयके मन्त्रपर आहोरात्रोह तथा अन्नप्राशनपादि गायत्रक स्वरोंक क छक कानसे नामवेदके मन्त्र होते हैं। इसलिये कहा है कि—

या अङ्क तस्मान् । (छां ४)

जो ज्ञाना है वही साम है। इस तरह अग्नेय नीर नामवेदकी एककमता स्पष्ट हो जाती है। अथः अग्नेय नीर वस्तुमें छप रहे। अन्वयमें वृत्त (सु-उक्त) सुवचन है नीर वस्तुमें सुकर्म है। सुवचन नीर सुकर्मोंक वरस्वर तन्नि निकट संबध है। प्रथम सुविचार होता है पश्चात् सुवचन बोका जाता है नीर अन्तमें सारकम किना जाता है। इससे स्पष्ट है कि सुविचारकाही कर्मात्तर सारकम है। अथ व बोनों वा सीनों एकही है। क्योंकि कृपापति वस्तु अनेकविध होवेपर भी एकही हुना करती है।

ईश्वरी सबकी मति है अर्थात् सब आकर अन्तमें उनीमें विधीन होत हैं क्योंकि उससे परे नीर कोई नहीं है (प्रता) वह सबका पाकन-पोषण करता है (प्रभु) वह सबका रक्षामी है (साक्षा) वह सबके कर्मोंको पशाम देखाता है (निपाता) वह सबको मयायोग नीतिसे स्थान वृत्ता है (धारण) सबको उनीको धारण पश करनी चाहिये अर्थात् उनीकी धारण जानेवही सबके वद दूर हो सकत हैं। (मुहत्) वह सबका मित्र है वही सबका हितकर्ता है (प्रमया) वह सबका

वत्पादक है, तथा (प्रज्ञया) सबका नाश करनेवाला है वही भवका (मित्राण) मित्रि है इसलिये वहीसे सबको बचावोक्त वस्तुएं प्राप्त होती हैं और वही सब जगत्का (अमृतं यज्ञ) अभिवाही यज्ञ है अर्थात् वहीकी प्रतिक्रिया बिना कुछ भी नहीं बचता और विनाशता भी नहीं है। जो कुछ बच रहा है भवका विनाश रहा है वह वहीकी प्रामर्शसे हो रहा है।

यह पूर्व-क्रमसे बहीतपनी है यह बुद्धिका विरोध करता है और वही बुद्धि करता है। सबको अमरत्व देनेवाला और सबकी मृत्यु करनेवाला वही एक पशु है। मत् और वसत् कारण और कार्य वही है। वद्यों कहा है—

तदेवाभिस्तदासिस्तथापुस्तु चम्पूमा ।

तदेव शुक्र तद् प्रज्ञ ता आपः स प्रजापतिः ।

(भाष ३१/१)

वही शुक्र अग्नि पूर्व वायु चन्द्रमा, एक प्रजापति और शुक्र है व सब उत्पत्ति के हैं। वही अग्नि होकर जगता है पूर्व होकर तपता है वायु होकर शुक्ला है, चन्द्रमा होकर आर्द्र होता है एक होकर वरुणा है प्रजापति होकर प्रजाका पालन करता है और शुक्र होकर सबका बल बढ़ाता है। वेदमंत्रके इस कवचवाही अक्षतः क्पात्तर पीठाके इस श्लोकमें किवा गया है। इस तरह यह सब ईश्वरवादी कम है।

राजविद्यासंबंधी शोध

प्रजापतियोंके सब (क्रतु) कार्य और पुरुषार्थ प्रयत्न (पक्ष) सब सर्वोपकारक वस्तुविशुद्ध अवस्थातक कार्य सब प्रकारकी (स्वप्ना) अपनी चारणाकी क्षणिकों सब ब्रह्मकी (मोक्षविन्दोत्पत्ति) शोध बोधेवाली अर्थात् पवित्रता करनेवाली विधिनी (मंत्रः) मन्त्र करनेबोध्य गुप्त विद्या (मातृयं) दृष्टिसे प्रतिक्रिया वद्यों (अग्निः) उष्णता तेज और प्रकाश करनेवाले पदार्थ (हृत्) सब प्रकारके समर्पण और दान सब राजाके आचरणी होत हैं। यदि राजा उत्तम प्रजाहित-उत्तर और शांतिहित करनेवाला होगा तथा राज्यकायम प्रजाकी उन्नति करनेवाला होगा तो ये सब राजकर्मिके संवर्धित होते रहते हैं। वही राज आश्रय प्रजाके हितका विरोध करनेवाला होता है वही इन सबका शोध शोध है और प्रजा कायमके प्रकाश होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि श्लोकमें नदं कम्पदं, दृक् नदं मगवान् जीह्वन्म जगता ईश्वर सक्ता है। इसका सबका राजकर्मिकी और गया हो सकता है। प्रश्न है। मगवान्गीतामें जो राजविद्या गुप्त रीतिसे (राजविद्या राजगुप्त) परी है वह वही रीति है। जो जो कम ईश्वर परमात्मा कायमा, सब नादिक वाचक नहीं बर्ये, वहाँ उक्त शब्दोंके अर्थमें राजा राजकर्मि, दृष्ट्यै राज्य राज्यकायम नादिक धार देखावेसे वेही राजा राजकर्मिकेकाय हो सकते हैं। यह इस गुप्त विद्याके प्रकट कारणका विचार है। इस विचारको ध्यानमें रख मगवान्गीताका अर्थका करनेसे ही प्रत्यक्ष राजविद्याकी गारी बाये स्पष्ट हो जाईगी। ईश्वर कम्प संस्कृतमें वेसे परमात्माका वाचक है वेसेही राजका वाचक भी है। उत्पत्ति के वद्यों वहाँ नदं कम्प दृष्टु हुका है। मगवान् जीह्वन्म जहाँ जहाँ नदं कम्प दृष्टु करने हैं, वहाँ वद्यों ईश्वरभाषसे शुक्ली उत्पत्ति कार्य रहत है। अतः परमात्मपक्षमें उत्पत्ति कार्य परमेश्वरका जीह्वन् पक्षमें उत्पत्ति कार्य शरीरवाही जीह्वरक और राजविद्याके पक्षमें राजा अथवा राजसंस्थापरक समझना चाहिये। ऐसा

अहं ब्रह्म जगत् माता पिता पितामहा माता (अग्नि) ५ (१७)

इसके विषय प्रकारसे तीन अर्थ हो सकते हैं—

(१) परमात्मापरक अर्थ—

परमात्मा— परमेश्वर इस विषयका सत्प्रयत्न विद्वान् और सब प्रकारके वाचकवादी है।

(२) जीवात्मपरक अर्थ—

जीव—जगत्मा इस (जगत्) पक्षमें विवेचनेसे शरीरका सत्ताविद्या विद्यामहके समान विद्यवाही किवा जगत्की जीव सब प्रकारसे इस शरीरका कारण करनेवाला है। क्योंकि जीवात्मा व रहें तो इस शरीरकी स्थिति कथमय की थी यह प्रकटी जीवका सर्वत्र हृत् मानने यह शरीर बढ़ने काका है और शरीरकी नहीं रह जाता।

(३) राजपरक अर्थ—

राजाही राजका सत्ताविद्या विद्यामह और राजका सत्त प्रोत्पन्न और संवर्धन करनेवाला है। राज्यकायम प्रकाश हृत् हृत् करनेसे प्रजाकी उन्नति होती है। अतिशुद्ध राजकर्मिके

होने पर राष्ट्र की जयगति होती है। अराजक राष्ट्र भी बनकर होता है। जहाँ सुराज्य और स्वराज्य है वहाँही उन्नति प्रभव है।

इस प्रकार किसी स्वामय पर जहाँ समुद्र हो अथवा ईश्वर या परमप्रायः समुद्र ही। तो जयजयाने कोई स्वत्व बन ही होता। राजा का भी ईश्वर कहते हैं और ईश्वर को भी समुद्र का राजा समुद्र का राजा कहा जाता है अथवा राजा के मुखमेंही यह शक्ति है एका समुद्र का शक्ति है और उन्नत। जय में (राजाही इस राष्ट्र का) मातृपिता पितामह और शक्ति का है। एका जय समुद्र में ही वही जय निकलता है। उत्पन्न यह है कि समुद्रोंवाले जो राजविद्या मुक्त रीति से समुद्र में ही है वह इस तरह जय हो सकती है। मया पूर्णतः प्रकट यह उत्तर है।

यह राजविद्या ज्ञाननेयोग्य है

यह राजविद्या हर एक समुद्र का (विद्ये) जाननी चाहिये, क्योंकि इससे इसका अपने अधिकारों का ज्ञान हो जाता है। एकात्म्यव्यवहार के नियम तथा सामान्य के विविधियम हर एक समुद्र को ज्ञाननेयोग्य है। हर एक समुद्र उन्नत रीति से इस स्वकीय व्यवहार नहीं जान सकता, परन्तु इस ज्ञान-विद्ये के अनुसार अपने कितने अधिकार हैं, यह तो हर एक का निश्चित होना चाहिये। हर एक को अपने अधिकारों का ज्ञान होनेयोग्य विद्या अवश्य प्राप्त करनी चाहिये इससे वह भी अनुमान हो सकते हैं।

(पवित्र) राष्ट्रकात्मक तथा राजसत्त्व के समुद्रों की प्रकृति स्वाभाविक होती समय है इसलिये वह राजसत्त्व का प्रकृत पवित्र है। (भोकार- भवति इति भो) भो का अर्थ संरक्षण है भोकार का अर्थ संरक्षण कार्य है। राज सत्त्व में सब प्रजाजनों की उन्नत रक्षा होती प्रभव है। भोकार अनेक अर्थ हैं यह सबका विचार नहीं करनेकी आवश्यकता नहीं है। रक्षा के अर्थ जय सब प्रकार की उन्नति या सफलता है। जय भोकार के द्वारा जय नहीं करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो राष्ट्र अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहें व भोकार के जय अर्थ स्वकार स्वकीय राजविद्या में प्राप्त है।

(अथ साम प्रभु) राष्ट्र में अथवा सामाजिकता और शक्ति

समा चक्राना और उन्नत करना राजसत्त्व का कर्तव्य है। (गति) राजा की सबकी गति है अर्थात् अन्तिम प्राप्ति राजा का पास आकरही की जाती है। राजा के पास प्रभुत्व से सर्वोपरि विराजित अन्तिम प्राप्ति होती है। अधिकारी के द्विजे अथवा एक परिभाषित राजा के पास जानेसेही होता है इसलिये भी इसका अन्तिम गति कह सकते हैं। (भर्ता प्रभु) राजा की सब राष्ट्र का भरण पोषण करे। राजसत्त्व का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य के सब प्रजाजनों को उन्नत बन उन्नत प्राप्त करने के लिये जो भी उन्नत हो करे। राष्ट्र में कोई युद्ध न रह देना प्रकृत करना राजसत्त्व का कार्य है।

(साक्षा) राजा साक्षी के समान रहे किसी प्रकृत प्राप जय का स्वयं न रखे। साक्षी के समान सब कार्य और स्वयं हाँको बचाकर निरीक्षण करे। जैसे साक्षी किसी प्रकृत प्राप न निकलकर प्रकृत स्वयं और प्रकृत शोकता और कल्याण है वैसेही राजा विपन्न होकर सब कारणों से नाराज बनना कर्तव्य करे। एका (निपासः शरण) सब प्रजाजनों को अपने लिये योग्य स्थान द्य और प्रकृत प्रकृतगत को योग्य रीति से प्रदायता करे। (सुहृत्) अपने दुष्ट का भाव उन्नत रहे सबका मित्र बनकर रहे।

(प्रजय) प्रजा का उन्नत करे (प्रलय) प्रभु का नाश करे (स्थान) सबका स्वाभाविक स्थान देव (निधान) अपनी शक्ति परिपूर्ण रखे क्योंकि विधिके लक्ष्य ही राजा का सामान्य ब्रह्मा है। (अर्थयं धीज) अधिकारी धीज राजा अपने पास रखे, मानवी उन्नतिके जो जो भाव हैं उनका अधिकारी धीज प्रकृत धीज वह अपने पास रखे। इस धीजे से वह अपनी राजा की उन्नति कर और उन्नत प्रकृत और प्रकृत करे। यदि राजा के पास उन्नतिके धीजों का नाश हो गया हो तो वह प्रकृत उन्नतिके कर सकता है। जय यह नारा उन्नतिके प्रकृत धीज अपने पास रखे प्रिये राष्ट्र की अन्तर्गत उन्नति हा सफल और राज्य का सामान्य प्रकृत ब्रह्मा रह।

राजा कहे कि (अर्थ उपनिषद्) मैं एक एक दुष्टों को ब्रह्मा हूँ जय वह दुष्टों का उन्नत प्रकृत स्व। इस तरह दुष्टों का प्रकृत स्व का सब प्रकृत प्रकृत का तथा (नि-गृह्यामि उन्नतप्रामि) राजा कहे कि मैं प्रकृत प्रकृत प्रामि

(७) कामकामी और अनन्यमत्त

त्रैविद्या मां सोमपा पूषपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गं वि प्राचक्षन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवमोमान् ॥ १० ॥

ते स भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीये पुण्यं मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयी-धर्ममनुप्रपन्ना गतामर्गं कामकामा लभन्ते

॥ १२ ॥

अनन्याभिन्त्यन्तो मां ये जना पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां कामधेम ब्रह्महृम् ॥ ११ ॥

अन्वयः— त्रैविद्याः सोमपाः पूषपापाः मां ब्रह्म इत्या स्वर्गं प्राचक्षन्ते । ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकं मासाद्य विवि दिव्यं देवमोमान् लभन्ति ॥ १० ॥ ए त विद्यां स्वर्गलोकं पुण्यं पुण्ये क्षीये (सति) मर्त्यलोके विशन्ति एवं त्रयी-धर्मं अनुप्रपन्नाः कामकामा मतामर्गं लभन्ते ॥ ११ ॥ अन्वयः— अभिन्त्यन्तः ये जनाः मां पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां कामधेमं ब्रह्महृम् ॥ ११ ॥

तीनों विद्याओं का ज्ञानमेवाळे सोम बीपधिका रक्ष पीमवाळे निष्पापी लोग मेरा (ईश्वर का) बड़ो ह्वाय पञ्च करके स्वर्गमें गति प्राप्त करनेके लिये मेरी प्राथेमा करते हैं । वे पुण्यसे प्राप्त होनेवाले देवेन्द्रलोकको प्राप्त होकर उस स्वर्गलोकमें विष्य देवयोगोंको भोगते हैं ॥ १० ॥ वे उस विस्तृत स्वर्गलोकमें सुख भोगकर पुण्य समाप्त हो जानेपर मृत्युलोकमें जाते हैं । इस प्रकार तीनों विद्याओंके अनुयायी कामोपमायी लोग ममताग्राममें केन्द्रको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ११ ॥ मन्व्य होकर विचार करनेवाले जो लोग मरी ईश्वर की उपासना करते हैं उन विष्य योगयुक्त लोगोंका धामसेम मैं (ईश्वर) ब्रह्मा हूँ ॥ ११ ॥

प्राचार्य— जो लोक हृद्य लोकमें भोग भोगते हैं और परलोकमें भी भोग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वे इन लोगोंका अपने अपने सुकृतक अनुसार प्राप्ति करते हैं । परत सुकृतकी समाप्तिपर फिर उनके लिये वैदिक मोक्ष मन्त्र हो जाते हैं वेसे ही स्वर्गमें भोग भी प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि इन भोगेच्छालोकोंको लक्षण सुख प्राप्त नहीं हो सक्य । परंतु जो ईश्वरसे ब्रह्म होकर ईश्वरकी उपासना करते हैं उन विष्य बोधियोंका पूर्ण योगसेम ईश्वरी ब्रह्मा है तथा उनके भावदक्ष क्षय कदापि नहीं होता ॥ १ - ११ ॥

[राजविद्यापरक मर्थ और प्राचार्य— जो भी कामकी भोग मन्त्र होते हैं और लभते उन्हें हृद्य मोक्ष प्राप्त है । परत जो निराश्रम बुद्धिसे ब्रह्म होकर सेवा करते हैं, उनकी लक्षण सुख भिन्नता है ॥ १ - ११ ॥]

कहा है और प्रत्युक्तोंमें सुख करना है । वही राजवर्त्ता का कार्य है राजवर्त्ताहृमा कर्त्तव्य निग्रह होने और लक्ष्म-नोंके सब उचितके कर्म करनेके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता रहे । (भूमृते मृत्युः) राजा प्रत्युक्तोंको निर्मल कर और हुकोंको धृत्तु ब्रह्मण देवे । (सत्-असत्) राजाके पास सब और ब्रह्म दोनों ब्रह्म हैं । राजमें सब ब्रह्म दोनों होते हैं, दोनोंका वह ब्रह्मभारम गतिमें परीक्षापूर्वक रहे और अपना राजवर्त्तायन ब्रह्मके ।

वही राजविद्याका भाव्य है । हृद्य विषयका अधिक विवेचन होना चाहिये । परन्तु स्वात्मात्मिक कारण विवक्षया है । पाठक इस संबंधमें इस विषयका भाव्य सम्य करके स्वर्ग बहुत कुछ ज्ञान सकते हैं ।

(१ - ११) तीनों विद्याओंके ज्ञाता लोग अपने धर्म ब्रह्मकी इच्छासे भी सुख करत हैं वही उद्यम लक्ष्म है-

तीन विद्याएं

अविद्या भूय (सु ब्रह्म) सुमायकमेवा है, बुद्धिचार विद्या है । बर्त्तुर्विद्या सार्वभूविद्या है । मानविद्या उपलब्धा विद्या है । इन तीनों विद्याओंसे मनुष्य सुधैर्यस्वरूप ब्रह्मा है । अविचार सार्वभू और प्रत्युपासनासे मनुष्य अपने भोग ब्रह्मा चाहते हैं । अविचारोक्त प्रचार करते मनुष्य सार्वभू करनेकी और प्रवृत्त होते हैं और अनुपासनासे अपना मुक्त ब्रह्मकी इच्छा करत हैं । योगेच्छासे मुक्तको मनुष्य अपने विचारों कर्मों और अपनी ब्रह्मभारोंसे अपने भोग ब्रह्मका प्राप्त करते हैं । वेसे कोम मन्त्रमें बहुत है ।

यह मित्रता है इसीलिये जो बन्धन करती है, यन्त्रकाम-
मेके कियेही जो अपने उद्योग करत हैं और यथादि भाग
प्राप्तिही ह्मन्ते ही का उपासना चाहि करती हैं वे सब
काम उपासक हैं। हमें सोमपा एक अर्थ है।
सोमनाम करनेवाले वे लोग होते हैं। सर्वार्थ यज्ञपात्र
करनेवालोंका यही उपकृत्य है मानवी उन्नतिके लाभ
सर्वार्थ यज्ञपात्रोप पवित्र संभव है। नरमेव मानवीय
उन्नतिके साहायक है अन्तमेव राष्ट्रीय विभिवन करनेके
लिये होता है, राजसूय यज्ञमें नये राजाका चुनाव होता
है राजनेतृके सबको यज्ञपात्रका दात मुक्त है सर्वमेकमें
जनताकी उन्नतिके लिये सर्वस्वका समर्पण होता है। इस
प्रकार वे नष्ट मानवीय उन्नतिके साधक होते हैं, परंतु
हमें अपने वैदिक-सोम और पारमार्थिक-सोम बढाने
का हेतुही प्रमुख होता है। सोमपात्र करनेवाले लोगोंका
सर्वार्थ कर्मोंमें यही हेतु होता है। वे लोग कहे (पूतपापाः)
विप्राय होते हैं, परंतु मैं जो कर्म करूंगा उसका फल
मुझेही मेरे उपभोगके लिये मिलेगा चाहिये यही मान
सुखवत्ता इसके सब कर्मोंमें होता है।

वे लोग सुकर्म करते हैं नार इस अनेक समानही
सर्वार्थकर्मों की फल प्राप्त करते हैं- अनेक लोग योगते
हैं नारद मन्त्रते हैं। परंतु कर्मकी समाप्ति होनेपर
उनके कष्ट वैदिकी बने रहते हैं। जैसे मूल कालेपर जोरन
पकते हैं उससे मूल छांट करते हैं फिर मूल कमठी है
और यही बन्धन चकावा पड़ता है। वह बन्धन भारी जानु
कालेपर भी समाप्त नहीं होता। यही इस कर्मों का
हेतु है। अतः इसके साधन सुख नहीं हो सकता।

राष्ट्रधर्मके लिये सेवा रही जाती है। उद्यी वैश्वके
लिये प्रथम बढाने जाते हैं। उनसे धनुर्बलोंको पदाय
किया जाता है। धनु भी अधिकाधिक दात बढाते हैं।
अतः करनेको भीतिर रखनेके लिये धनुर्बलोंके बन्धन
प्रदाय रखने चाहिये। इस तरह मन्त्रके व्यक्ति और
मन्त्रके राष्ट्र अपने प्रदाय ह्मन्ते अधिक बढाने लगे
थे उसकी मर्यादा कहां समाप्त होगी? इस संरक्षणके नारके
भीषेही कोय द्रव मार्गों और हुआही होगे। इस तरह
संरक्षण भी बाधक हो सकता है। इसी प्रकार वे यज्ञोप
सोम बढानेके सुखसाधन भी ऐसे भारक्य करते हैं कि
उठ (हिं नी)

उसके नीचे प्रमुख द्रव जाता है नार बन्धन हुआही होता
है। मोगी छोड़नेके द्रवक सुखसाधनोंकी यही बखला
है। अतः इसके सुख-प्राप्तिके पल भी तुल्य बढानेवाले
होते हैं। इसलिये क्या किया जाय?

अनन्यमात्रसे निष्काम कर्म

प्रकाम कर्मोंसे उपरिबर्तित हुआ होता है अतः अनन्य
मात्रसे निष्काम कर्म करने चाहिये ऐसा वेद उपनिषद्
और भगवद्गीताका उपदेश है। पहा अनन्य 'अन्यका
प्राप्त करवाही मुक्त है। मैं (अन्-अन्या) दूसरा नहीं
हूँ, ऐसा समझनेका नाम अनन्य होता है। जो प्रमुख अपने
जातको अपने समाजके मित्र नहीं मानता, वह अपने सुख
बढानेके लिये समाजको हानि नहीं पहुँचा सकता। अनन्य
होनेका यह काम है। इसके विपरीत प्रमुख मैं अका
हूँ और अन्य लोग दूसरे बन्धन हैं ऐसा मानता है, वह
अपने सुखके लिये समाजकी हानि कर सकता है। अन्य
मात्र धारण करने और अनन्यमात्र धारण करनेका यह
परिणाम है। अनन्यमात्र धारण करनेवाले लोग दुःख
बढानेके दृष्ट ही सकते हैं परंतु जो लोग अनन्यमात्र
धारण करते हैं वे कदापि दूसरोंको कष्ट नहीं देने क्पोंकि
अनन्य होनेके कारण उनके सम्मुख अपनेसे मित्र दूसरा
कोई नहीं है। दूसरोंको कष्ट देनेपर वह परापरा अपने
कोही मिलता है ऐसा इनका मत है। प्रत्येक यही अन्य
मात्र और अनन्य-मात्र के इस भेदपर विचार करें।
अनन्य मात्र धारण करनेवाले काग भोगेच्छा बढानेके
दृष्टक नहीं होते अतः वे निष्काम कर्म करत हैं।

इस तरह अनन्य मात्र धारण करनेवाले लोग निष्काम
मात्रसे और ईश्वरार्पणसे उपास्यार्थ कर्म करते हैं और
इनका यह कर्म पुरेही सतत चलाता रहता है। वे जो कुछ
करते हैं वह प्रबन्धी धर्माधिके लियेही करते हैं। अतः
इनका अपना योगक्षेम कैसे चलेगा? यदि य सब अपने
लिये कार्य न करेंगे और सभी कथ परमेस्वरके लिये करेंगे,
तो इनका योगक्षेम कैसे चलेगा? इसका उत्तर यही है कि
इनका योगक्षेम परमेस्वरही कल्पेगा। यही वाच—

योगक्षेम वहाम्यहम् । (२१)

इस श्लोकमें कहा है। जो परमेस्वरके लिये अपने कर्मका
समर्पण करता है उसका योगक्षेम परमेश्वर चकाता है।

(८) अन्य देवताओंके मन्त्र

येऽप्यन्यदेवतामक्ता वदन्ते भद्रयाऽन्विताः । तेऽपि मामेव क्रीन्तेय वदन्त्यभिधिपूर्वकम् ॥२३॥
 अहं हि सर्वमज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तथेनातद्रूपमवन्ति ते ॥२४॥
 यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्पुन्यान्ति पितृव्रता । भूतानि यान्ति भूतेन्या यान्ति मघाजिनोऽपि मां २५

अर्थः— अति व अन्यदेवतामक्ताः अहंता अभिधाः वदन्ते ते अति हे क्रीन्तेय ! अभिधिपूर्वकं मां एव वदन्त ॥ २३ ॥
 ॥ २३ ॥ हि अहं सर्वमज्ञानां भोक्ता च प्रभुः । एव च (अति) मां तु वदन्ते न अभिजानन्ति अतः हे क्रीन्तेय ॥२४॥
 देवव्रताः देवान् यान्ति पितृव्रताः पितृन् यान्ति भूतेन्या भूतानि यान्ति मघाजिनः अति मां यान्ति ॥ २५ ॥

जो कोई अन्य देवताओंकी भज्जाते कुछ होकर मन्त्र करते हैं हे क्रीन्तेय भद्रुन ! विधिविहीन ही क्यों न हो पर वे मेरा (ईश्वरका) ही भजन करते हैं ॥ २३ ॥ क्योंकि मैंही सब पक्षोंका भोक्ता हूँ ।
 व मेरे सस्य काको नहीं पहचानते अतः (वे अन्यदेवताओंके पीछे पड़कर) गिरते हैं ॥ २४ ॥
 देवताओंके व्रत करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं पितरोंके पूजक पितरोंको प्राप्त करते हैं, भूतदेवताओंके
 उपासक भूतदेवताओंके प्राप्त होते हैं और मेरे (ईश्वरके) याचक मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

भाषार्थ— अहंसे किसी की देवताकी पूजा की जाय पर व समझते हुए भी वह ईश्वरकीही पूजा होती है क्योंकि
 केवल एकही वाहिनी ईश्वर सब अकारमात्रप्राणिका तथा स्वामी है । परन्तु सब समझे केवल ईश्वरकी नहीं पहचानते
 अतः गिरते हैं । जो विद्वान् अनुप्राणी होता है वह सबके समान होता है । अतः देव विचर भूत देवताओंके अनुप्राणी
 दोनों पितरों भूतों की प्रेक्षित सदा आचारवाले होते हैं, इसलिये अपत्य उपासक उपासते उपास पुनः प्राप्ति ॥२३॥ २४॥

[राजाधिपापदक अर्थ किसी की अधिकारीय आचारसत्कार सम्पन्नताका अथवा मुख्य राजाकी आचारसत्कार
 होता है ॥ २३ ॥ क्योंकि संपूर्ण सम्पत्ति एकही मुख्य राजा धनके किये आदर्शीय होता है और वही एकमात्र प्रथम
 स्वामी और अन्तिमिकारी भी होता है । परन्तु सब समझे इसको नहीं जानते इसलिये (अधिकारियोंके पीछे पड़कर)
 गिरते हैं ॥ २४ ॥ जो विद्वान् अनुप्राण करता है वह सबकी पता है; परन्तु मुख्य राजाको प्रथम करनेवाला
 राजाकोही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥]

बैद्य किसी स्वामीका सबक स्वामीके किये काम करता है
 जो ब्रह्मका योगक्षेम स्वामीही चलाता है वैसेही एकभिन्न
 भक्तका योगक्षेम परमेश्वर चलाता है ।

हम भोक्तृका राजाधिपत्यक भाव स्पष्ट है । राष्ट्रों
 की स्वार्थी भोगी कला बुझके कारण बन्ते हैं और सि-
 र्स्वार्थी परोपकारी मातृपुत्र अक्षयवर्धितकामी होते हैं । वे
 निष्कामी स्वर्णपक्षक देवतादिकी भज्जा न करते हुए
 राष्ट्रैवा राज्यवेवा तथा सर्वजनसेवा करते हैं । अतः
 इनका योगक्षेम राजाका अथवा राज्यसत्ताको चलाता
 चाहिये । इसका विधान अनेकवार निष्काम भावके सर्वमो-
 क्त प्रसंगोंसे आ गया है इसलिये इसका वही अन्तिम सर्वमो-
 क्तकारी कोटि आदर्शपद्धति नहीं है । जो लोग राज्यकी
 अवस्था राष्ट्रकी सिं स्वार्थी सेवा करते हैं, अथवा योगक्षेम
 राज्यको अथवा राष्ट्रका चलाता चाहिये ।

जो लोग योगक्षेम ही होकर कार्य करते हैं, उनका योग-
 क्षेम चलातेका भार राज्यसत्ताके ऊपर अथवा राष्ट्र नहीं
 है । क्योंकि वे स्वार्थी अपने उत्तरदायित्वपर कार्य करते हैं
 और कर्मका फल अपने प्राप्त अपने मोक्षके किये अर्पित
 करते ब्रह्मका भोग करते हैं । इस अक्षयमोक्षकी अवस्थितके
 राजा योगक्षेम हीवा है अतः अपने भोक्तृकी भावितके किये
 पुनः कार्य करते हैं । इनका वह कर्म चलातेभक्तके
 चलाता रहता है । इनके परोपकार उत्तरदायित्व राष्ट्रका
 अथवा राजाधिपत्य नहीं है ।

वे लोग ही भक्तकार हैं । कामकोमिलोंकी भज्जा
 अवस्थायी लोग ब्रह्म हैं वह बात स्पष्ट है । इस बात
 देव दोनों प्रकारके भोक्तृका विवेचन करके ब्रह्मत्व एवं अन्य
 देवताओंके भक्तोंकी भक्ति विवेचन करते हैं—

साधारण— राज्यमें एकही राजा सर्वाधिकारी होनेसे बड़ी छत्र छत्रिसे आदरसत्कार और संभावके योग्य है परन्तु राजाकी शक्ति केवली छत्र अधिकारी अपना कार्य करते हैं इसलिये हममें भी राजसत्तिका भंग रहता है । अतः जो उच्च सत्कार होता है, वह परंपरा राजघराणाकी उत्तरा है क्योंकि यदि उनके पीछे राजसत्ता न हो अपरा ने अधिकारपर न रहें तो इस अवस्थामें उनका जैसे आकार होनेकी संभावना नहीं है । इससे सिद्ध है कि अधिकारियोंका सम्मान होनेसे राजाकाही सम्मान होता है । अज्ञानी लोग इस मुख्य बातको नहीं जानते और समझते हैं कि वह अधिकारी पूर्ववत् स्वतन्त्र है । वही अज्ञान पक्षकी गिरलतका मूल कारण है । जो मित्रका अनुसरण करता है वह इसीसे लाभ प्राप्त कर सकता है । जो अधिकारियोंके आश्रयपर रहत हैं उनकी अधिकारियोंके अधिकारतक ही सीमित काम मिलता है । जो सरलकोके पीछे पड़ते हैं, उनका स्वतन्त्र संरक्षण होता है । जो मन्त्राओंके सिद्धि प्राप्त करते हैं वे मन्त्राका एक मात्र करते हैं और जो राजाकी शक्ति संभाव्य करते हैं वे राजाके लक्ष्यें पुक्त होते हैं ॥ २३-२५ ॥

(२३ २५) ये श्लोक अर्थ और साधारण समझनेसे स्पष्ट बात होनेवाले हैं । अतः इनका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । परमेश्वरका मित्रकर्म सर्वत्र गवारहमें अन्त्यामें जानेवाला है इसकी सूचना द्वितीय अष्टावले मिलने लगी है और अन्त्यमें अन्त्यामें (वासुदेवाः सत्त्वम् । गी ७।३९) ईश्वरी छत्र कुछ है ऐसी योजना करने बड़ी बात कही है । ईश्वरी छत्र कुछ है इसी कथनका विस्तार गवारहमें अन्त्यामें मित्रकर्मवर्णनद्वारा होनेवाला है । इसी बात अन्त्यामें जानेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस अष्टमें ईश्वरसे मित्र कुछ भी नहीं है । श्रीमद्भगवद्गीताकी यह अपूर्ण शिक्षा है । इसको हम समझ केना वह स्पष्ट रीतिसे अनुमान कर सकते हैं कि एकही ईश्वर छत्र कुछ है और दूसरा कोई पदार्थ नहीं है । यह जाननेके पश्चात् ही ईश्वरकी लब्ध कदाचित्ता हो सकती है । ईश्वरके स्वाधरर दूसरे किसी मित्र पदार्थकी उपस्थिति होना समझ नहीं है ।

परन्तु वह कोम समझते हैं कि ईश्वर किसी सातमें अष्टावलेमें विशेष स्थानपर स्थित है और वहां अष्टमें एकके देवपुत्र करते हैं अतः उनके बूढ़ोंकी भी अनुभव निम्न करनी चाहिये । इसी हेतुसे वे कोम अन्त्याम् देवताओं रिताओं पूजो पिछाओं और लक्ष्मणश्रीओं उपासना करते हैं । इनको इस बातका ज्ञान नहीं है कि इनमें यदि परमेश्वरकी आत्मा न कार्य करती तो इनका अस्तित्वकी संभव नहीं था । इसलिये कहा है कि अन्त्याम् देवोंकी पक्षात्ता भद्राये करनेका साधन ईश्वरी ईश्वरकी विधिविधीय उपासना करना है । जब पाठकोंको इस विधानका अर्थ स्पष्ट रीतिसे ज्ञान हो गया होगा ।

इस अष्टमें एकही मनु परमेश्वर है दूसरा उससे मित्र कुछ नहीं है जो कुछ हीन रहा है वह इसीका मित्रकर्म है । अतः वही एक अवका उपास्य पूज्य समान्य और नमस्कृत्य है । इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता । कोम आश्रिते अन्त्याम् उपदेवोंकी उपासना करते हैं और उक्त ज्ञान न होनेसे उनकी गिरलतही होती रहती है ।

जो मित्रकर्म अनुपासी होता है, वह इसका एक मात्र करता है । ऐवोंके उपासक देवी लक्ष्मी पुक्त विद्वत्कर्म देवक लक्ष्मी पुक्त लक्ष्मीके अनुपासी भूतदेवोंके लक्ष्मी पुक्त होते हैं और परमेश्वरके मन्त्र परमेश्वरके अष्टम लक्ष्मी पुक्त होते हैं । पाठक वहां देखें कि छोटे छोटे लक्ष्मी करनेकी अपरा वहां एक मात्र करवाही अवसर है ।

राजविद्याकी बात

गृहीतकोके वर्णनसे राजविद्याकी गुप्त बातें स्वयं स्पष्ट हो सकती हैं क्योंकि पाठक भी परममन्त्रिणाको इसकर राजविद्याके उपदेव अन्त्यामें अन्त्याकी ही ही गये होंगे और इन अन्त्यामें जो उपदेव दिना गया है वह अन्त्य स्पष्ट होनेसे इन अन्त्यामें देवों मन्त्राके पात्र अन्त्या सुगम भी है, तथापि स्पष्ट अन्त्यामें किने वहां कुछ राजविद्याके निरवर्तनी भी लिखते हैं ।

राजमें सर्वप्रधानारी सर्वाधिकारी राजा होता है । इस अनुवीचिक राजगरीका अधिकारी वर्याधिकारके हो या मन्त्राद्वारा विमुक्त हुआ हो इसमें अल्प राजघराणाकी शक्ति केन्द्रित होती है । इससे योही योही लक्ष्मी प्राप्त करके छोटे मोट अधिकारी अपने अपने वर्गोंके कार्य करते हैं, इसलिये वे अधिकारी छोटे इस हैं और सर्वप्रधानारी राजा महा-ईश्वर है । यह बात समझमें आनेसे वहां उक्त प्रकटा है

(९) आत्म-समर्पण

पत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमभ्यामि प्रवृत्तात्मनः ॥ २१ ॥
 यत्कराणि यदभ्यासि यज्जुहोषि यदासि यत् । यथपश्यसि क्रीन्तेय तस्मिन्मय मदर्थकम् ॥ २२ ॥
 शुभाशुभकृत्तरेव मोक्षयसे कर्मवन्धने । सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २३ ॥

किं किसी अधिकारीका वह प्राप्त करना जीवन यापने
 राजाकाही वह प्राप्त करना होता है । क्योंकि इनके अन्तर
 कर्म करनेवाली राजाकीही सत्ता होती है । किसी
 अधिकारीकी अपनी सत्ता नहीं होती सत्ताका राजाही एक
 केन्द्र है जिसको मनु और कर्मका भोक्ता कहा जाता
 है । जो इस मूल तत्त्वका ज्ञाते हैं वे प्रत्येक नहीं पकते
 पान्दु अथ कोय राजाको पुरस् समझकर पदाधिकारी
 नहीं है, इसको बलमें करनेसे मेरा कार्य होता देखा मानकर
 ब्रह्मकार्यविद् ब्रह्म और सभी दृष्टिसे उनको बलमें करते
 हैं और अपना कार्य साधन करते हैं । इससे उक्त मन्त्र
 की गिरावटसे अनुधारही उस पदाधिकारीकी भी गिरावट
 होती है । अतः पदाधिकारीके पीछे कमकर किसीको भी
 गिरावा दत्त नहीं है ।

जैसे अधिकारियोंके पीछे पीछे कर्मकाके कार्यसाधक
 मनुष्योंके ऊपर अधिकारी प्रसक्त होकर उनके कार्यसाधनमें
 सहायक होते हैं, वैसी पाकके (पुत्तिसि) पीछे
 पीछे इहमेवाक स्वामी कोनोंकी रक्षा पाकक जोन करते
 हैं और इस तरह इनके दोष छिने रहते हैं । इस प्रकार
 स्वार्थका प्रापण करनेवाले कोय अपनी स्वार्थकी इच्छासे
 रक्त गिरते हैं और अधिकारियोंको भी गिराते रहते हैं ।
 इस तरह परंपरा राजसत्ताधारियोंका अनावरण होता है ।

बहुवर्त के लोग इस तरह अधिकारियोंके पीछे नहीं
 कगते अपितु वे प्रजापतियोंके हितके छिने अपना सर्वस्व
 अपन करते हैं । ऐसे प्रजाहित-सत्तर कोनोंको प्रजाका एक
 मित्रता है और वे लोग कोकमात्र महत्त्वा और जनताके
 वरदा बन जाते हैं । यह भी एक बड़ा भाग सामर्थ्य है ।
 (भूतानि) भूत करके कार्य नहीं प्रजा किया है । इस

भूत अर्थका इसका अर्थ भूतदेवके समान पूर दुराचारी
 लोग भी है । कई कोय पूरे अथम कोनोंको अपने अधीन
 करके उनसे प्रजापक दुराचार करते हैं । उनको भी उन
 दुराचारी पाकक वह प्राप्त होता है । परन्तु वह उनकी
 गिरावटका अन्त हाथ है । इसी तरह वह काम भूतोंका

वर्षाएँ पंचमहाभूतोंका वह प्रियाकी सहायकते ब्रह्म
 करते हैं । पृथिव्यामें ब्रह्म भूय उरुय भूयदमिररक्त
 अपने एक सुख बना सकते हैं और जनताको सुखी कर सकते
 हैं । परन्तु सुखकाकला वह जालेसे किसी किसी प्रसक्त
 इससे भी पान होता संभव हो सकता है और वे
 पृथिव्यापारंपर्य लोग भी मिरते हैं । इसलिये इनको वा
 साधनान् इत्थं रक्षता वाहिये । भूत अर्थके कई जाले
 हैं । पराधिकार्य प्रजापत्य भूतदेव और पंच भूत इ-
 नेही छिने हैं । इस तरह कोय अपनी बलि बहायेक कर्म
 करते हैं । वे अल्पसाधिके वपाकक कमी व कमी गिराते हैं

इससे कई कोय प्राधिकार्यपंच होकर संरक्ष कर्तियों
 का मूल कोय को मुख्य कर्तिसंपन्न महाराजा है इनके
 कार्यमें एकविहसे कर्मते हैं । निःस्वामी करेकनेक
 स्वर्णदेवकोंका दोषक्षेम ब्रह्मका राजाका कामपक कर्म
 है । अतः कहा है कि राजाके वपाकक राजाकोही राजमें
 करते हैं । राजाके बलमें हो जाने पर संयुक्त राजेकर्म ब्रह्म
 होमेंमें ही नहीं कगती । अस्तु ।

वर्षाकक हुन कोनोंमें जाया हुआ राजसत्ताका विरप
 समाप्त हुआ । अब हमारी कोनोंके ब्रह्मवर्तके महाभक्तके
 श्लोक देखिये-

महापं शिनिक्पठं च पाश्चात्या देवता स्मृता ।
 मनुस्वयंयाः संवत्तो मामवैष्यन्ति यत्परम् ॥

(य मा अठि ३१।१५)

महा शिव अपना दूसरे देवताओंकी बलसे
 आपु पुत्र भी मुख ईश्वरोंकी का मित्रते हैं । 'तथा-
 ये यजन्ति पित्र्यं देवान् मुकदेषैवातिथीस्तथा ।
 गात्रैव द्विजपुत्र्यां पृथिवीं मातरं तथा ॥
 कर्मणा मनुसा याथा विष्णुमेव यजन्ति त ।

(य. म. अठि २५। २६ २७)

देव पित्र्य मुख अतिथि, मन्त्राज और गो मनुष्यों
 देवा करनेवाक परमेश्वरकाही प्रजन करते हैं । इस तरह
 अन्त्याज शीर्षों भी मनवहोवोव भाव मित्रता है ।

अभ्युपार्थ— वा. मन्त्रायां पूर्णं पुनः फलं लोभ मे प्रपच्छति तस्य प्रयत्नात्मनः भक्त्या उपहृतं तत् सर्वं भक्षामि ॥ १६ ॥
हे कौन्तेय ! वह करो कि वह भक्षायि वह लुहोपि वह भक्षायि वह उपस्थिति, तत् सर्वपूर्णं कुक्ष्य ॥ १७ ॥
पुनः (फले धति) पुनः पुनः फलं कर्मभक्ष्यैः मोक्षयैः संन्यासयोगबुद्ध्या विमुक्त (सुखा) मोक्ष उप-पन्नसि ॥ १८ ॥

मुझे (ईश्वरको) भक्तिसे जो पत्र फूल फल भक्ष्या अन्न भक्षण करता है शुद्ध चित्तपात्रे मन्त्रद्वारा जाया हुआ वह पदार्थ मैं ग्रहण कर लेता हूँ ॥ १६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अन्तुन ! तू जो कुछ करता है जो भक्षण करता है जो हवध करता है जो दान देता है, जो तप करता है वह सब मुझे (ईश्वरको) भर्पण कर ॥ १७ ॥ इस प्रकार सब कर्म मुझे (ईश्वरको) भर्पण करनेपर तू शुभ और अशुभ कर्मवधनोंसे मुक्त हो जायगा और इस रीतिसे फलसंन्यासयोगमें तेरा अन्तःकरण मुक्त होकर, तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

माधार्थ— परमेश्वरको भक्तिसे समर्पित करनेपर अन्तःकरणवाले पदार्थको भी ईश्वर स्वीकार कर लेता है । अन्तुन को कुछ करता है वह सब परमेश्वरको भर्पण करे । इस तरह सब कर्म ईश्वरकी समर्पित होनेपर कर्ताको शुभ और अशुभ कर्मोंका बंधन नहीं लगता और वह मुक्त हो जाता है ॥ १६-१८ ॥

[राजविधायारक्त धर्म— जो कुछ अन्तुनके पास हो उसका वह अपने राष्ट्रके हितके लिये समर्पण करे अन्तःकरणवाले किन्तु उपनोमी पदार्थ भी राजधर्ममें स्वीकृत हो जाते हैं ॥ १६ ॥ अन्तुन को कुछ भी करे वह स्वराज्यके हितके लिये करे ॥ १७ ॥ इस प्रकार सब कर्म अपने राष्ट्रके लिये करनेवाका निर्दोष होता है और उसे कर्मके बंधन नहीं होते ॥ १ ॥

माधार्थ— अन्तुन अन्तःकरणवाला हो जबका वही अन्तःकरणवाला वह अन्तःकरण लिये स्वराज्यके हितके लिये करना देखी चाहिये । स्वराज्यके लिये हर एक मन्त्रकी भक्ति का उपनाम होता है । इस तरह जो लोग अपने स्वराज्यके लिये पूर्णतया आत्मसमर्पण करते हैं, अपने सब कर्मोंके सब फल राष्ट्रको समर्पित करते हैं, उनको उनके पुनःपुनः कर्मोंक दोष नहीं लगता ॥ १६-१८ ॥]

(१६-१८) को अन्तुन पत्र पुनः फल भक्ष्या अन्नका भक्तिसे ईश्वरको समर्पण करता है वह लुहतामा होता है और उसका वह भर्पण ईश्वर स्वीकार कर लेता है । वही पत्र पुनः फल और सब मे सम्पन्न है हृषीकेयक हृषीही पदार्थ भर्पण-भोग्य होते हैं वही देखा जाऊँगा नहीं है । वह एक उपलब्धतामात्र है । हृष पदार्थोंके अतिरिक्त कोई वस्तु देता है कोई भोग्य वह भी ईश्वरद्वारा स्वीकृत हो जाण है । वही परमेश्वरको देनेका अर्थ क्या है ? क्या मे पदार्थ स्वयं परमेश्वरको चाहिये ? नहीं ईश्वरको हृषकी आत्मत्वकता नहीं है क्योंकि ईश्वर मिश्रकृत है । फिर मे पदार्थ ईश्वरको देने लिये जाई ? वह एक प्रथम है जिसका हर एकका भिन्नता का अर्थ है ।

परमेश्वरके नामसे एक भवता पुन्यके भरण करनेसे परमेश्वरको प्राप्त होना देखा जाता था करता है । परन्तु मोक्षका एक भर्पण किना पुन्य अन्नके दान वहा दिया था

अन्तुन कुछ किना तो वह परमेश्वरके पास पहुँचा है, हृषक वस्तुपत्त क्या है ? वह कैसे पहुँच सकता है ? वह एक विचारणीय विषय है ।

मूर्ति-पूजा

वहाँ पत्र पुन्य फल और एक ईश्वरका भर्पण करनेकी ओ बात कही है वह मूर्तिपूजाके साथ प्रत्यक्ष रहती है । श्रीमन्नगराज्याके पूर्व समनसेही मूर्तिपूजा शुरू की देखा हृषके प्रतीत होया है । अन्तुन पत्र, फल और सब भर्पण करनेके विधानकी प्रमाणवाही नहीं हो सकती ।

मूर्तिको पुष्पादिका समर्पण करवा एक भावनाका विषय है । जो कीम मूर्तिपूजा करते हैं वे वस्तुतः मिथ्या पथपर पीतक चढ़ी, सोना चांदीकी मूर्तिकी पूजा नहीं करते । वह तो आत्मके लिये एक प्रतीक रखा होता है, वस्तुतः उस नामकी विपुलिकी जो आत्मा होगी है

हस्तोंके वरिष्ठसे सब पदार्थ सब अप और हवन होते हैं । अतः मूर्ति-पूजा अन्त-पूजा है ऐसा कहनेवाले अशुद्ध विचार फैलते हैं । मूर्तिको फलन करने के लिये मूर्तिपूजा का मतवादी पूजा जाती है । परंतु इन्हें यहाँ मूर्तिपूजाके विषयका विचार नहीं करना है । यहाँ केवल हत्याही कहना पर्याप्त है कि वह लोक मूर्तिपूजाका सूचक दीकटा है अतः हम कह सकते हैं कि, जिस समय वह लोक वीरगोत्रों के विचार तथा हवन समर्थके पूर्व ही पत्र पुण्य फल और अशुद्ध समर्थन करने के पूजा करनेकी विधि प्रारंभ हो चुकी थी ।

परमेश्वरकी विभूति

इसका और भी एक अन्तराष्ट्र विचार हो सकता है । परमेश्वर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इत्येव सब वर्णोंके करनेमें है । ब्राह्मण हस्तका मुक्त क्षत्रिय उसके पास वैश्य हस्तका वेद और शूद्र हस्तके पत्र हैं । वह सबके वेदोंके लेकर मयव्रतवादी एक समान करने में है । नहि ब्राह्मणानि मूर्तिना ईश्वरकीही मूर्तिना हैं तो हमको फल जाति देनेसे वह ईश्वर को देवता ही प्रकटा है । एतद्विको कह देना सूचक फल देना, विहायको पुण्य समर्थन करना सीमा परमेश्वरकी अर्थन करना है । नो जाति पञ्चमी परमेश्वरकीही मूर्तिपूजा है यह बात बगले अध्यायमें बतायी जायगी । इसलिये यो जाति पञ्चमोंके पुण्य पत्रे जाति देनेसे वे परमेश्वरकी समर्पित होंगे । इस तरह वे पदार्थ जोयन राजको समर्पित करनेसे परमेश्वरकी समर्पित होते हैं नमोक्ति परमेश्वर 'सर्व' है और परमेश्वरकीही वे सर्व मूर्तिना हैं । इन बीती जायगी मूर्तिपूजाके ओहकर अन्तर्ही उपासना करना उचित नहीं है और इन परमेश्वरकी मूर्तिपूजाके तो इन बीतीके ब्रह्म काम हो सकता है ।

सीधन-समर्थन

इसका और भी एक अर्थ है (तोय-जीवन) वह का अर्थ जीवन है । ईश्वरको एक समर्थन करना अपने जीवनके समर्थन करनेका सूचक है । मनुष्यको उचित है कि वह अपना धर्म जीवन परमेश्वरको समर्पित कर दे । (फल-कर्मफल) यही फलका अर्थ कर्मफल है । परमेश्वरको फल समर्थन करनेका अर्थ अपने कर्मफलका ईश्वर को देने समर्पित करना है । यही उपासना कर्मफलमय है । यही पुण्य हवनकर्म है । हमारे पास हवनकर्मकर्म एक

पुण्य है जो अशुद्ध ईश्वरकीही समर्थन करनेयोग्य है । जो ईश्वरको अपना हवन अपन करता है, नमो वह अपन अपूर्ण जीवनही समर्थन कर देता है । किन्तु अशुद्ध हो यदि मनुष्य अपना हवन (पुण्य) कर्म और अपना (तोय) जीवन ईश्वरकीही समर्पित कर दे । वह हा पत्रसमर्थन । पत्र और पत्र एकही है । पीठाष्ट्र-

छन्दांसि यथा पर्णांसि ॥ (यो १५१)

छन्द अर्थात् वेद सिद्धा ज्ञान के पत्र अथवा पत्र हैं । यहाँ अपने ज्ञानकी पत्तोंके परमेश्वरको समर्थन करनेका उपाय स्पष्ट रूपसे है अर्थात् ईश्वरस्वरूपही तथा हमारे ज्ञानमें से, पृथक् जाग्रती रूप रहेगी नहीं । यदि मनुष्यको उन्नत होना है तो ऐसाही करना चाहिये । पत्र पुण्य फल और एक ईश्वरको समर्थन नहीं उपाय है देना हमारा विकास है । पत्रक इस विचारका ज्ञानपूर्वक मयन करें ।

अतएव जो मयन मनुष्य परमेश्वरके अर्थन की जायगी, उसके परमेश्वर स्वीकार कर लेना और उसके लक्ष्य उपाधि हो जायगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । वह अर्थन केवल पत्र पुण्य जाति पूर्वक प्रकर अशुद्ध पदार्थोंकी ही पूजा बात नहीं है । जो कुछ भी मनुष्य करता है, करता है पीठा है ओम्मा है हवन फल है हवन देना है उप करना है सोता है, उन्मा-वेद्य है जोफता है अथवा है पुन्र काया है वह सब ईश्वरके अर्थन करने करता चाहिये । (गी ११२०) मनुष्यके धर्म हस्तक परमेश्वरके विधेही होनी चाहिये, यही इसका उपाय है ।

वैधन सिद्धांति

इस तरह धर्म जीवन परमेश्वरको समर्पित हो करनेका शुभाशुभफलदेय मोक्षसे कर्मफलमय ॥ १८ ॥ हम जानना अशुद्ध फल-जाति फल कर्म-वैधनके मनुष्य मुक्त हो जाता है । अर्थात् वह कर्मांश के हवन अशुद्ध फल नहीं मिलते । इसके लिये एक उपायन विचार कर सकता है । एक राजा के लिये पैसापति उमा वैधन पुन्र करते हैं । इसमें मनुष्यके अर्थन वचन होता है, परंतु वह वचन राजा के लिये होवेक कारण वे वचन वैधन

(१०) ईश्वरभक्तिये सबका तारण

समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्भ्यवसितो हि सः ॥३०॥
धिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ३१
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । क्षिप्रो नैव्याप्तव्यो मम आश्रितः ३२
किं पुनर्ब्रह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । अनित्यमसुखं लोकाभिर्मम प्राप्तं भजस्व माम् ३३

भावपदः—जहाँ सर्वेसु भूतेषु सम, न द्वेषः मित्रः न न शक्ति (परं) तु मे मां भक्त्या भजन्ति, ते मयि च अहं नमि
तेषु (न) ॥ २९ ॥ सुदुराचारः अपि मां अनन्यभाक् भजते चेत् सः साधुः एव मन्तव्यः सः हि सम्यग्भ्यवसितः । (भक्ति)
॥ ३० ॥ हे कौन्तेय ! (सः) क्षिप्रं धर्मात्मा भवति ज्ञाप्य श्रोतुं निगच्छति मे भक्तः न प्रणश्यति, (इति त्व)
प्रतिजानीहि ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! ये अपि हि पापयोनयः क्षिप्रं नैव्याः तथा पुनः स्युः स अपि मां व्यपाश्रित्य पर
गतिं यास्यि ॥ ३२ ॥ किं पुनः पुण्या भक्ताः ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः ? (उरगत्य) एवं भक्तिं असुखं ह्यं लोकं प्राप्य
मां भजस्व ॥ ३३ ॥

उक्त वचनप्रमाण कर्मके फलके मुक्त रहते हैं क्योंकि वे सब
धैर्यिक अपने कर्मफलको राजाके किये वृत्तया समर्पित कर
देते हैं । अतः जहापञ्च राजाकीही होयी है धैर्यिक उक्त
समाप्त कर्मके गुणहीनोते सदा मुक्त रहते हैं । इसी तरह
अपना जीवन ईश्वरार्थ करनेवालोंके समाप्त कर्मोंका
सर्वत्र ईश्वरके साथ होता है और कर्ता उससे मुक्त हो
जाता है । परमेश्वरके सदा—मुक्त होनेके कारण वही कोई
शेष रहती नहीं सकता । वह महत्त्व है और अपने कर्म
ईश्वरार्थ करनेवाली वह सब हो सकता है । इसीका नाम
सम्पादयोग है ।

सम्पादयोगयुक्ताराम विमुक्तः । (२८)

इह संयासयोगकं अनुष्ठानकं साधकं शुद्धं और शुद्ध
वचन मुक्त हो जाता है । और पञ्चादः—

मां उपेक्ष्यति । (२८)

ईश्वरका नाश करता है । अथवा ईश्वरमें जा
मिलता है मां वह ईश्वरकी हो जाता है । जो ईश्वरको
नाश कर जाता है वह ईश्वरकी बन जाता है । यदि कहा
अपिसे वास्तविकता की अस्मिन् हाथ । पञ्चाद अस्मिन्
गुणवर्गोंके मुक्त हो जायगा । ईश्वरका नाश होनेका अर्थही
यह है कि ईश्वरके गुणवर्गोंका धारण करके ईश्वरके गुण
बन जाय । जोधर्म सत्य चित् और आनन्द के गुण संयोजित
हैं । वेही गुण वह अनेक ईश्वर—भाव हो जाते हैं । अनुप

इस सम्पादयोगके वही प्राप्त करता है और कृतज्ञ हो
जाता है ।

राजविषाका भाव

राजाका भजने द्वारा शुद्ध भावके (प्रयत्नारम्भ)
स्वभावक्य धर्मादि विषय किसी पत्र पुत्र फलकर्मों प्राप्त हो
वने स्वीकार कर कया चाहिये । अन्तर्मा भी इसी कर्मों
स्वीकार किया जाय चाहिये और उनके वनेके पञ्चादी
रक्षा करनी चाहिये ।

जो वस्तुकर्मों कारण हैवेमें अन्तर्मा ही, वे राजाके किये
मुक्त कर्मों की करें । इसकाही नहीं अस्मिन् राजाके कियेही जिसे
राजाके कियेही जाये आर सिद्धे उप करें और हान दें
अर्थात् अपना जोबवही राजाके किये समर्पण कर दें ।

इस तरह जो राजाके किये एव आनन्दसमर्पण कर्मों
उनके सब कर्म उनके किसी मुक्तके किये नहीं होने अनुप
के सधर्म राष्ट्र किये हों । इसकिये इन कर्मोंका समाप्त
कर्म इनका नहीं भोगना पड़ेगा । व सर्वया कर्मोंपरिणामके
मुक्त हों । इस तरह कर्मोंके दोषोंके मुक्त शुद्ध वे महत्मा
कोन पञ्चाद राजाके अधिकारीका प्राप्त होते हैं । वे स्वर्ग
राष्ट्र कर्ता भर्ता बनते हैं ।

इस प्रकारका राजविषादिवचन भाव हन छोड़के प्राप्त
होता है । पाठक विचार करके इससे अधिक ज्ञान प्राप्त कर
सकते हैं । वह भी राजविषादमें आनन्दक सम्पादयोगही है

मन्त्रया— एवं मन्त्रया, मन्त्रया मन्त्रया (च) मन्त्र या मन्त्रया मन्त्रया (सन्) एवं मन्त्रया मन्त्रया मन्त्रया मन्त्रया ॥ १४ ॥

मुझमें मन लगा मेरा मन्त्र मन मेरे निमित्त पञ्चन कर, मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें पराधन होकर मेरे साथ आत्माका याग करनेसे तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥ १४ ॥

भाषार्थ— ईश्वरमें मनकी लगीपवा करण ईश्वरकी सेवा करना, ईश्वरक किये समर्पण करना ईश्वरकीही मन्त्र करना चाहिये । इस तरह ईश्वरपराधन होकर अपनी आत्माको ईश्वरके साथ निजमुक्त करनेसे वह आत्मक ईश्वरकीही मन्त्र कर लेगा है ॥ १४ ॥

राजविद्यापरक कार्य और भाषार्थ— राष्ट्रहितके कार्यमेंही मन लगाकर मनसे राष्ट्रहितके कार्यका निष्पन्न करने राष्ट्रसेवा करने, राष्ट्रहितके किये आत्मबल-आत्मसमर्पण करने राष्ट्रहितके सम्मुख बल होकर अपने मन्त्रसे राष्ट्र और राज्य यदि अपने सर्वस्वको समझकर छोड़ राष्ट्रकार्य करेंगे तो वे निश्चिन्त अपने राष्ट्रका नव निर्माण करनेमें सक्षम हो सकेंगे ॥ १५ ॥

(१४) ईश्वरमन्त्रमें मन्त्रका सेवा प्राप्त हो जाता है । आत्मक अपना मन ईश्वरपर लगावे मन्त्रमें ईश्वरका ज्ञान रहे ईश्वरके निमित्त कोई पदार्थ मन्त्रमें न जाने जाने ईश्वर की सेवा करे तो कुछ करीये हो वह सब ईश्वरके कियेही करे ईश्वरके किये बल्य करे ईश्वरकीही आत्मसमर्पण को तो कुछ भी प्राप्त हो वह सब ईश्वरकी अपना कर दे, ईश्वर को छोड़कर किसी अन्यकी मन्त्र न करे किसी वस्तुको मन्त्र न करे केवल ईश्वरके सम्मुखही मन्त्र करनेके किये सिर झुकते ईश्वरभावमेंही अपना मन लगीव रहे सब ईश्वरपराधन होकर रहे । इस तरह जो मन्त्र अपनाकर ईश्वरपराधन करने रहेगा वह ईश्वरकी मन्त्र होना अवश्य वह मुक्त हो जायगा ।

राजविद्याके निष्पत्तियों की वही मन्त्र है । जो राजाकी सेवा करेगा जो राष्ट्रहितके किये आत्मसमर्पण करेगा तब राजमन्त्र प्राप्त होगी । वही राष्ट्र राज्य राजा और राज्य आत्म परस्पर विरोधी नहीं हैं अन्तिम परस्पर हितकारी

हैं यह बात प्रत्यक्षमें राजकी चाहिये । जो राज्यकाय प्रजाका हित करता है, जिस राज्यकायमें राजाका और प्रजाका एकही हित हो वह राजाकीही प्रजा आत्मसमर्पण करे । यदि कोई देश वैसा राजा प्रजाका वाद करे उसे तो इसके किये आत्मसमर्पण नहीं करना चाहिये । क्योंकि वेदने भी कहा है कि—

मा व स्तेन ईक्षत । माघरा रत (वा व ॥ १)
हे प्रजापति ! तुम्हारा राजा चोर न हो वही तुम्हारे व हो । अर्थात् जो राजा चोर और चारी हो और जो प्रजाके सम्मुखमें वाद करता हो उसको जो राज्यही इस देश चाहिये । इसके आत्ममें रहना उचित नहीं । ऐसे हुए राजाको छोड़कर सुचेम प्रजाहितके किये नव करनेवाले राजाको आत्मसमर्पण करना उचित है ।

इत्यादि राजविद्याके गुण अर्थका ज्ञानकर उद्बुद्ध राजकी को व्यवहार करना चाहिये ।

इस प्रकार जीमन्तकहोवाकरी उपनिषद्में कथित मन्त्र-विद्याके विहित हुए बोधमन्त्रविषयक जीमन्तक और अर्जुनके शिष्याई राजविद्या-राजगुणयोग नामक मन्त्र व्यवहार समझ हुआ ॥ १४ ॥

नवम अध्यायका मन्त्र

अध्यात्म और राज्यशासन

महाभूताके उपदेशका उद्देश्य मनुष्यके आध्यात्मिक दिग्ग जीवका विकास करना है। इस नवम अध्यायका भी वही उद्देश्य है। परन्तु आध्यात्मिक दिग्ग जीवमें वैयक्तिक और सामुदायिक दो प्रकारका जीव होता है। सामुदायिक जीवमें राष्ट्रीय जीवन 'राष्ट्रीय जीवन' एक महत्वपूर्ण भाग है। जीवात्मिकताका उद्देश्य मनुष्यका राष्ट्रशासनवर्तक सुचारु रूप से उसकी दिग्ग आध्यात्मिक बनकर उसका दिग्ग जीवका विकास करनेका कार्य सुचारु करना है। इसी उद्देश्यसे इस नवम अध्यायमें पवित्र राजगुरु राजविद्या गुण रीतिसे कही गई है। इसमें वचनमय अध्यात्मविद्या है किन्तु इससे अन्तर गुण रीतिसे राजविद्या-वर्णन है। इसलिये ऐसा किया गया है कि महाभूताका मुख्य विषय दिग्ग अध्यात्म-जीवनही है। अध्यात्मशास्त्रके आधारपर राष्ट्रशासनकी चर्चा भी यहाँ कर दी गई है। इसका विशेषण नवम अध्यायके स्वीकारके प्रक्रममें ही कियाही गया है, किन्तु अभी कुछ अधिक मन्त्रकी आवश्यकता है। अध्यात्मके विद्वान् राष्ट्रशासनमें जिस प्रकार कागू किये जा सकते हैं वही नवम विचारजीव विषय है।

गीतादासको माननेसे लाभ

महाभूतामें कहा है कि जो लोग इस उपदेशका आधारमें करते हैं उनका उद्धार होता है और जो अनिष्टाभी होता है उनका नाश होता है—

ये म मतमिदं मिश्रमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
अद्याप्यतोऽनस्यतो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ११
ये त्येत्तद्व्यस्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानमिदंस्तस्मिन्नि मदानयेत्ततः ॥ १२ ॥
(गी. अ. १)

जो लोग अज्ञान और हानि होकर इस नीतिक मानका अनुसरण करते हैं वे अन्तमें मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो लोग इसमें हानि पाते रहकर इसका अनुसरण नहीं करते वे अज्ञानी मूर्ख मानका प्राप्त

होते हैं। यह धर्म आध्यात्मिक उन्नतिके विषयके साथही साथ राष्ट्रीय उन्नतिके विषयमें भी सत्यही है। और भी अधिक—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतच्च श्रुत्वा बुद्धिमान्भ्याम् कृतकृपस्य भारत २०
(गी. १५)
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारता ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परं गतिम् २१
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।
आत्मा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाहंति २२ ॥
(गी. १५)

यह वर्णन गुह्य शास्त्र है। इसकी जानकारी मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृप हो जाता है। जो मनुष्य इस शास्त्रविधिको छोड़कर स्वच्छन्दता करता है उसे सुख सिद्धि अथवा परम गति प्राप्त नहीं होती। कार्याकार्य-विषयमें मनुष्यके किये धारणी प्रमाण है अथ मनुष्य इस शास्त्रको जाने और वैधानी व्यवहार कर। राष्ट्रशासनके विषयमें वर्णन और अर्थव्यवस्था है इसका विषय भी इसी शास्त्रके ज्ञानसे ही प्रकट है। मनुष्यके विकासके जो भी मार्ग हैं उन सबके विषयमें मनुष्यको यह शास्त्र ऐकाग्रही करने कृतकृत्यताका निर्देश करना चाहिये। गीताके अनुसार राष्ट्रशासनके स्वयंका विचार करत हुए राजाओं की नीतिका आधारही गुण होने चाहिये वही विचारजीव है—

आत्माक और राजाके गुण

मिश्र सर्वगतः स्यात्पुरुषोऽय सनातनः ।
अव्यक्तोऽयमविम्वोऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
(गी. १२.२ २५)

अथवा निरा सर्वगत स्थिर अचल अनात्म अन्ध, अविम्व और अनिष्टाही है। ये अन्धमाक गुण हैं राजाकी भी हन्ती गुणोंसे अन्ध होना चाहिये—
(१) राजा राजाका आध्यात्मिक (सत्य-गता) सर्व स्थायमें सब मनुष्योंक कर्तृता होना चाहिये। जिस स्थाय्य आध्यात्मिकता की न होनी वही वही विरोध और

मैं सब मूर्खक प्रति समभाव रखता हूँ मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं है । जो मुझ मूर्खसे मज्जते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ॥ १९ ॥ पहले ब्रह्मा बुराचारी भी यदि अनन्यभाषसे मेरा भजन करेगा तो यह समझ लेना चाहिये कि यह साधु हो जायेगा । क्योंकि वह अब सम्पूर्ण व्यवसायमें भाग्यशाली है ॥ १० ॥ ह कुन्तीपुत्र ! यह भीमदी धर्मात्मा ब्रह्मा है और अमृतक प्राप्त करता है । मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता यह तु निश्चय समझ ॥ ११ ॥ हे अर्जुन ! पापयोगिभारों जीव शिवाँ वैश्य तथा शूद्र भी यदि मेरा आश्रय ग्रहण करेंगे तो उत्तम गतिको प्राप्त होंगे ॥ १२ ॥ फिर पुनश्चात् भक्त, ब्राह्मण और राजपरिषदका तो पूजनाही क्या ? अनन्य इस अनन्य और सुखदहित लोकमें जन्म लेकर तु मेरा भजन कर ॥ १३ ॥

भाषार्थ— ईश्वरका भक्त सब सुखोंके लिये समान है । अतः वह किसीको ब्रह्मा शत्रु वा मित्र नहीं मानता, मनुष्य सबको समदर्शिवेदी देखता है । जो मूर्खोंके ईश्वरकी सेवा करते हैं वे ईश्वरमें मग्न हो जाते हैं । और वह जो स्वयं हैही कि हममें भी ईश्वरका निवास है । बुराचारी भी यदि परमेश्वरकी अनन्यभावसे भक्ति करने लगे तो वे उसी समय सत्पुत्र हो जाते हैं क्योंकि वे धर्मात्माके अवलम्बन कर लगे होते हैं । वे उत्कृष्ट धर्मात्मा बनकर फिर उत्तम प्राप्त करते हैं । यह एक जबरन स्वयं है कि ईश्वरके अपने भक्तोंकी कभी दुर्बल नहीं होती । कोई भी पापयोगि शिवाँ, वैश्य बनवा शूद्र हो वे भी ईश्वरकी भक्ति उन्नतिको प्राप्त होते हैं, फिर जो पुण्य कर्म करनेवाले महात्मा, क्षत्री भक्त और क्षत्रिय हैं उनकी उन्नतिके विषयमें कदाही क्या है । अतः इस अनुशोचनीय मनुष्य ईश्वरका भजन करे ॥ १९ ॥ ११ ॥

[राजविद्यापरक अर्थ— राजा सब मनुष्योंको समदर्शिवे देखे किसीको न ब्रह्मा मित्र समझे और न शत्रु । जो कोई मूर्खसे सेवा करे उसको अपने आज्ञावर्त्तमें रखे और स्वयं उसके साथ रहे ॥ १९ ॥ यदि कोई पहिले बुराचारी हो किन्तु अब अनन्यभावसे सेवा करने लगा तब तो उसको सम्मन्वही मानना चाहिये क्योंकि वह अब जो भक्त कर्म करेवेही जगत् है ॥ १ ॥ ऐसा मनुष्य उत्कृष्टही धर्मात्मा बन जाता है और भक्त ब्रह्मके प्राप्त करता है । वह विशुद्ध (महात्मा) रहें कि अनन्यभावसे सेवा करनेवालेका कभी शक नहीं होता ॥ ११ ॥ पापी शिवाँ वैश्य शूद्र कोई भी क्यों न हो जो राजाकी अनन्य सेवा करेंगे उनकी उन्नति अवश्य होगी ॥ १२ ॥ फिर जो क्षत्री और शूद्र भक्त कर्म करनेवाले उत्तम लोग राजाकी अनन्यभावसे सेवा करेंगे तो उनकी उन्नति होगी इसमें शंकाके किन्तु ज्ञानी स्वयं हैं । अतः यदि तब लोग अपने बलिष्ठ और दृढात्मा व्यवहारोंको छोड़कर राजाके आज्ञावर्त्तमें रहें और पुरुषार्थके उन्नत कर्म करें तो निश्चयेन उनकी शुद्ध प्राप्त होगी ॥ १३ ॥

भाषार्थ— राजा कभी किसीका पक्षपात न करे । सबको समभावसे देखे । पक्षपात करने किसीका मित्र करना ब्रह्मा किसीको दुश्मन देना राजाको कभी योग्य नहीं है । जो योग्य सेवा करे उसका योग्यसे राजा ब्रह्मा क्योंकि ऐतरेय ऐतरेयसे राजाकी सुस्थिति और राजाके द्वारा पूरे वैभवाँकी सुस्थिति होती है । यदि कोई मनुष्य अब अपने कर्म करने लगा हो तो उसके पूर्व समस्त दोष निकल निकल कर उसको शुद्ध सेवा योग्य नहीं । मनुष्य अब क्या कर रहा है इष्टीय और दैवता योग्य है । पूर्व समस्त मनुष्य सेवा भी नहीं करेगा यदि वह अब अपना कर्म करने लगा है, तो वह सुख युक्त है । उसको तो समग्र पर योग्य सम्मान मिलना चाहता चाहिये । इससे उसकी रुचि उत्कर्ममें बढ़ी रहेगी और वह फिर विमर्शय नहीं । उपनिषद् यह कि जगत्में यह निवास उत्पन्न हो जाना चाहिये कि किसी उत्कर्म करनेवाले मनुष्यको कभी दुश्मन प्राप्त नहीं होगा । क्षी हो वा पुनश्च वहिके पापी रहा हो वा पुनश्चात् यदि वह अब योग्य स्थितिसे सेवा कर रहा है, तो उसकी उन्नति होवेही चाहिये । उसकी उन्नतिमें कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये । यदि योग्य पारितोषिक मिलता जायगा तो सब लोग राजाकी योग्य सेवा करेंगे और हरएक प्रकारकी उन्नति कर लेंगे ॥ १९ ॥ ११ ॥

(११) ईश्वर-मक्ति

मन्मना भव मद्रकरो मद्याजी मां नमस्कृत । मामेवेप्ससि युक्तस्त्वैवमात्मान मत्परायण ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

राजविद्या- राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ईश्वरका सम भाव

(१९ १३) ईश्वर सबको समभावसे देखता है, अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करता । जो पक्षपाती होता है वह किसीको मित्र मानकर बसका हित करता है और किसीको दुश्म मानकर बसको नुकसान ही करता है । वे सब उसकी व्यवस्थाके विषय हैं । ईश्वरमें वे दोष नहीं हैं । वह सबके साथ सम रहित रहता है और किसीका पक्षपात नहीं करता ।

हरदककी हृदय कमलमें देवदेही विष्णु होकर स्वरुप रहता चाहिये । (न मे लेप्सोऽस्ति न म्रियते) मेरा कोई घम भी नहीं है । और भिन्न भी नहीं है । देवदेविष्णु भक्तों में (तुम सब) ईश्वर विराजत करता है और (भविष्यते) वे ईश्वरमें विराजत करते हैं ।

कोई मनुज प्रथम बापुमें दुराचारी रहा हो और पश्चात् ईश्वरमें मक्ति करने लगे (भवत्यस्य मक्तिः) अवश्यसे वह सब बातें जो प्रसन्नता चाहिये कि वह बापुकी वय तथा है देवी भवत्यामें उसकी पूर्ण बापुपर दक्षिण करवा दीक नहीं । यमिके बसने बापुके ही होगी जब जो वह परिशुद्ध मार्ग नहीं वा मया है । मनुज परमेस्वरकी मक्ति करनेके लक्ष्य परिशुद्ध होकर धर्ममात्रा वय जाता है । इसका चित्त क्षान्त होकर वह उन्नत हो जाता है । सबको वह विद्या दत्त करता चाहिये कि परमेस्वरके लक्ष्य कभी बाध नहीं होता । पत्नी भी वैवाही दुराचारी नहीं न हो एकवार यदि वह परमेस्वरकी मक्तिमें कम जावे तो प्रसन्नता चाहिये कि वह पुनः हो जाता है । फिर चाहे वह भी हो वा पुनः बाध हो वा इव हीन प्राणीव ह्य वा उच्चप्राणीव भवता किसी भी व्यवस्थाका हो वह परमेस्वरका भक्त होवेही उन्नत हो जाता है । जब हीन जतिवाले भी उन्नत होवे हैं फिर भेद शक्ति इन्हीं उन्नत हुए लोग यदि ईश्वरमक्ति करने का योग्य हो वे उन्नत हो जायेंगे इसमें संशयही नपा है ।

जब उन्नत होवेका एकमात्र उपाय यह है कि मनुज परमेस्वरकी मक्ति करें । इसमें मक्तिमें सब दोष दूर करनेकी ७९ (हिं भी)

और सब दुःख त्यागन करनेकी शक्ति है । ईश्वरकी मक्तिही मानवकी उन्नतिका एकमात्र उपाय है ।

राजविद्याका संदेश

राजा सब जातिके और धर्मके मनुजोंके साथ सम भावसे व्यवहार करे । किसीके साथ पक्षपातसे राग वा द्वेष न करे । इस तरहका वर्णन करेवाला राजाही राजपदपर रह सकता है जो श्रेष्ठ शासकका कार्य अवश्य मचिते करते हैं इसका योगक्षेम राजा चाहिये, क्योंकि राजाका यही एकमुक्त कर्तव्य है । इस कारण अवश्य सेवक और राजामें कोई भेद ही नहीं है । राजा इसके रूपमें है और वे राजाके रूपमें हैं । इस तरह सबका व्यवहार संभव है ।

यदि कोई दुराचारी मनुज अवश्य सेवक बनकर अपना कर्म दीक प्रकार करता है तो इसको वह समस्त दुराचारी नहीं प्रसन्नता चाहिये । क्योंकि वह सुचारु कार्यमें कम जुका है । जो सुयोग्य बन जाता है उसकी दुराचारी कष्टना कभी भी उचित नहीं क्योंकि एक बार सदाचार रत होनेपर मनुजकी उन्नतिमें सम्भव नहीं रहता । जोनोंमें देवा विराजत होता चाहिये कि इस राज्यप्रबंधमें सदाचारी सबके समुपलब्ध कभी बाध वा बाध नहीं होगा । जिस राज्यमें अवलम्बी देवी वाचना होगी कि इस राज्यप्रबंधमें सबके मनुजको कभी कष्ट नहीं हो सकता नहीं सत्ता धर्मरक्षण कहलायेगा ।

मनुज किसी राज्यके किसी जातिके या रंगके हों, गुण कर्माग्राहकी उनकी योग्यता समझी जाय देवी सुवचस्या राज्यप्रबंधमें होनी चाहिये । जहाँ जन्म जाति, रंग चाहिये कारण उन्नतता दुराचारी जाती है वहाँ गुणोंकी और कम प्यान हिये जन्मके कारण नहीं अवस्था हो जाती है । अर्थात् मनुज बडे पदोंपर पहुँचते हैं और राज्यमें गडबड पचा देते हैं । इसलिये गुणकर्मको प्रधान स्थान देना चाहिये और जन्म कुछ बल चाहिये गीन नहीं इन सब श्रेष्ठों का वाञ्छन है ।

अन्तर्यामि— एवं मन्त्रमा, मन्त्रका मन्त्रादी (च) मन्त्र मन्त्राद्यन्तर्यामिः (छन्दः) एवं अन्तर्यामिं पुनराचर्य
एव एवमेति ॥ १३ ॥

मुझमें मन्त्र छपा मेरा मन्त्र बन मेरे विभिन्न यज्ञम कर, मुझे मन्त्रकार कर इस तरह मुझमें परावर्त
होकर मेरे साथ आत्माका योग करनेसे तू मुझे प्राप्त कर देगा ॥ १४ ॥

आचार्य— ईश्वरमें अपनी तल्लीनता करवा ईश्वरकी सेवा करना ईश्वरके किये समर्पण करना ईश्वरकोही समझ करना
चाहिये । इस तरह ईश्वरपरावर्तन होकर अपनी आत्माको ईश्वरके साथ विस्मृत करनेसे वह आत्मक ईश्वरकोही प्राप्त कर
देता है ॥ १५ ॥

राजविद्यापरक अर्थ और आचार्य— एतद्विदिते कार्यमैही मन्त्र कणाकर मन्त्रके राष्ट्रवित्तके कार्यका विचार करने
राष्ट्रसेवा करने, राष्ट्रवित्तके किये वास्तवमन्त्र-वास्तवसमर्पण करने राष्ट्रवित्तके सम्मुख ब्रह्म होकर अपने मन्त्रनेष्ट एव और एक
पक्ष अपने सर्वस्वको कणाकर कोष राष्ट्रकर्त्तृ करने तो वे विरहित अपने राष्ट्रका वच-विमर्श करनेमें व्यस्त हो सकेंगे ॥ १६ ॥

(१७) ईश्वरमन्त्रिसे सम्मुखता सेवा बार हो जाता है ।
आत्मक अपना मन ईश्वरपर लगावे मन्त्रमें ईश्वरका स्थाप
रहे ईश्वरके सिद्ध कोई पदार्थ मन्त्रमें न जाने पाये ईश्वर
की सेवा करे तो कुछ शरीरके हो वच सर्वईश्वरके कियेही
करे ईश्वरके किये ब्रह्म करे ईश्वरकोही वास्तवसमर्पण करे
तो कुछ भी प्राप्त हो वह वच ईश्वरको अपना कर दे ईश्वर
को छोड़कर किसी मन्त्रकी मन्त्रि न करे किसी मुझको
ब्रह्म न करे केवल ईश्वरके सम्मुखही ब्रह्म करनेके किये
छिद्र छूटने ईश्वरमात्रमेंही अपना मन तल्लीन रहे सदा
ईश्वरपरावर्तन होकर रहे । इस तरह जो सम्मुख अपनेआपको
ईश्वरपरावर्तन करने रहता वह ईश्वरको प्राप्त होया अर्थात्
वह मुक्त हो जायगा ।

राजविद्याके विषयमें भी बड़ी बात है । जो राजाकी
सेवा करेगा जो राष्ट्रवित्तके किये वास्तवमन्त्र करनेवा उन्हे
राजविद्या प्राप्त होगी । वही राष्ट्र राज्य राजा और राज्य
कायम परस्पर मिलोधी बनी हैं, अविच्छिन्न वास्तव वित्तवर्ती

हैं यह बात व्याप्तमें रहनी चाहिये । जो वास्तववास्तव
मन्त्रका वित्त करता है वित्त वास्तववास्तवमें राजाका अर्थ
मन्त्रका एकही वित्त हो उन्हे राजाकोही राजा वास्तवमन्त्र
करे । यदि कोई वेद वैद्या राजा मन्त्रका वास्तव करने उन्हे
तो उन्हे किये वास्तवसमर्पण नहीं करना चाहिये । क्योंकि
वेदमें भी कहा है कि—

मा न स्तेन ईश्वर । मन्त्राद्यन्तर्यामि (या न ११)
है मन्त्रवाच्य । पुनराचर्य राजा कोर न हो पत्नी पुनराचर्य
न हो । अर्थात् जो राजा कोर और पत्नी हो और जो
मन्त्राके कार्यमें ही वाचा ब्रह्मता हो उन्हे तो राजाकीही
इया सेवा चाहिये । वरके वास्तवमें रहना वित्त नहीं ।
ऐसे कुछ राजाको छोड़कर सुचेतन मन्त्रावित्तके किये वच
करनेवाले राजाको वास्तवसमर्पण करना वित्त है ।

इत्यादि राजविद्याके गुण अर्थात् वास्तव वित्तवर्ती राजा
को वास्तववास्तव करना चाहिये ।

इस प्रकार जीमूतगह्वरीयाकी उपनिषद्में कथित मन्त्र-विद्याके विभिन्न रूप योगवाचाविषयक
जीमूतगह्वरी अर्थात् केनवास्ये राजविद्या राजगुहायोग नामक
वचन अन्वयान प्रकाश हुआ ॥ १७ ॥

नवम अध्यायका मनन

अध्यास्य वीर राज्यशासन

महाबहीराके उपदेशका अक्षय मनुष्यके आध्यात्मिक
विषय जीवनका विकास करना है। इस नवम अध्यायका
भी वही अक्षय है। परन्तु मावशीय आध्यात्मिक विषय
अन्यत्र नैतिक और सामुदायिक दो प्रकारका जीवन
होता है। सामुदायिक जीवनमें राष्ट्रीय व्यवसाय राजकीय
जीवन ' एक महत्त्वका भाग है। जीवनपद्धतीका अक्षय
मनुष्यका राज्यशासनमार्ग सुझाने का उसको विषय आत्मा
शिक्षण बनाकर उसके विषय जीवनका विकास करनेका
मार्ग सुझाने का है। इसी अक्षयसे इस नवम अध्यास्यमें
विविध राजगुण राजविद्या गुण तीक्ष्ण कही गई है।
इसमें प्रत्येकनये अध्यास्यविद्या है किन्तु उसके अन्तर गुण
तीक्ष्ण राजविद्या-वर्णन है। इसविषये ऐसा किया गया है कि
महाबहीराका मुख्य विषय विषय अध्यास्य-जीवनही है।
अध्यास्यशासनके आचारपर राज्यशासनकी चर्चा भी
यहाँ का ही मर्म है। इसका निष्कर्ष नवम अध्यास्यके
स्वीकृतके अंतर्गतों को कियाही गया है किन्तु जारी कुछ
अधिक समझकी आवश्यकता है। अध्यास्यके सिद्धांत
राज्यशासनमें किंच प्रकार काम करने का कहते हैं वही
नवम विचारजीव विषय है।

भीताशासकी माननेसे काम

महमहाशयों के है कि जो लोग इस उपदेशका
आत्मने करते हैं उनका उद्धार होता है और जो
अभिप्रायी होते हैं उनका नाश होता है—

ये म मतमिह मिहमनुविप्रसिद्धि मानवाः ।

अज्ञास्योऽज्ञस्यस्यो मुच्यन्ते तेऽपि कमाभिः ॥१॥

ये त्वेतद्व्यस्यस्यो जानातिप्रसिद्धि मे मतम् ।

सर्वथावयिमुद्धासाभिद्वि अज्ञास्येतत् ॥ १२ ॥

(गी ५ ३)

जो लोग महाबुद्ध और हराहित होकर हम भीलोक
मार्गका अनुसरण करते हैं वे अज्ञानसे मुक्त हो जाते हैं।
बाद का लोग हमसे होकर-हैं राजकर हमका अनुसरण
आचार्य नहीं करते व अज्ञानीय यह आत्मका भाव

होते हैं। यह अज्ञान आध्यात्मिक उन्नतिसे विषयके बाधनी
आम राजकीय उन्नतिसे विषयमें भी बाधनी है। और भी
देखिये—

इति शुद्धतम शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽद्य ।

पठतु बुद्ध्या बुद्धिमान्कामा कृतकृत्यस्य भारत १०

(गी १५)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारता ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परं मतिम् ११

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।

शास्त्रा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हं ॥१२॥

(गी १५)

यह अर्थत गुण आका है। इसको जानकर मनुष्य
इतिमात्र और कृतकृत्य हो जाता है। जो मनुष्य इस
आत्मविधिको छोड़कर स्वैच्छाकार करता है उसे सुख
सिद्धि अथवा परम गति प्राप्त नहीं होती। कार्याकार्य
विवर्त्यमें मनुष्यके विषे आकाही प्रमाण है, अतः मनुष्य इस
आत्मके आने और पैदाही व्यवहार करे। राज्यशासनके
विषयमें सर्वत्र और अक्षर्यत्र कहा है इसका विषय भी
इसी आकाके अन्तर्गत हो सकता है। मनुष्यके विकासके
को भी अर्थ है, उन सबके विषयमें मनुष्यके यह आका
देखकरही अपने कृतकृत्यत्वका विवेक करना चाहिये।
गीताके अनुसार राज्यशासनके स्वरूपका विचार करते हुए
राज्यों की गीलोक अरमत्वेही गुण होने चाहिये वही
विचारजीव है—

आरमाके और राजाके गुण

विद्याः सर्वपातः स्थानुष्टयकोऽप्य सनातनः ।

अभ्यक्तोऽयमभिनयोऽयमभिरूपोऽयमुच्यते ॥

(गी ११३-१५)

आत्मा विद्या सर्वपात, स्थान अष्टय सनातन
अभ्यक्त, अभिनय और अभिरूप है। ये अरमाके
गुण हैं राजाके भी इन्हीं गुणोंसे अभ्यक्त होना चाहिये—

(१) राष्ट्रे राजाका प्राधान्यविकार (सर्व-गता)

सर्व अरमाके सब मनुष्योंतक पहुँचा होना चाहिये। जिस
स्थानपर प्राधान्यव्यवस्था सीक न होती वहाँही विद्रोह और

राज्यभ्यधिकी समाधत्ता रहोगी । राजूके कोने कोनेतक राजाका प्रासनाधिकार जीवित और मृत्युपर्यन्त रहना चाहिये । एक भी मनुष्य ऐसा न हो जो राज्यसाधनका विरोध करे और धर्मविरुद्ध रह सके ।

(२) राज्यसाधन (सनातनः) सदाक किये समाधत्ता चाहिये अर्थात् उसमें एक स्थानपर एक प्रकारका दूसरे स्थानपर दूसरे प्रकारका ऐसा वैषम्य नहीं होना चाहिये । एक समय एक प्रकारका और दूसरे समय दूसरेही प्रकारका नहीं होना चाहिये । अर्थात् उसमें सुख और दुःखति होनी रहे, पशु विषमता उत्पन्न न हो जाय । मदा प्रजाकी उन्नतिकी साधन समाधत्ता चाहिये होता रहे ।

(३) राज्यसाधनकी भक्षा (ख्याणुः) सुरिधर और (भयल्लः) अर्धचक्र हो । सुरिधर राज्यसाधन वह है कि जो उपद्रवी लोगोंकी वधमृत्युवृत्त देनेका और छत्रजनों क परिपालनका वाय योग्य रीतिसे कर सक । राज्य भक्षामें अचलता न रहे प्रजाका स्वतन्त्रावृत्त सदा एकमात्र वाय भिक्तता रहे (नित्यः) निरन्तर सदाके किये सुव्यवस्थापक और सुसंरक्षित उभयसाधन समसाधक होता रहे ।

(४) राज्यसाधन (अधिकारी) विष्णुसुक्त सेतुसुक्त न हो । राज्यसाधक विचरकाही चाहिए अनेक योग हैं । ऐसे विवाह राज्यसाधनमें न होने चाहिये ।

(५) राज्यसाधन किस व्यवस्थाके किस प्रकार चल रहा है इस बातका (अधिभ्यः) किसीको पता न जाये । कोह धन हस्तक गड अडका न जानने काय । (अध्यल्लः) भव कायें न दृष्टी अन्तर प्रमुखक प्रथम चकती रहें । अने छरीमें अन्न जाता है पचन होता है मार छरीर पुष्ट होता है पशु वह अन्तराह न रह होता रहता है । उसी प्रकार राज्यव्यवस्थाके भव अन्तराह न दृष्टी अन्तर निराध चकत रहें । भव राज्यव्यवस्थाकी और मार मागत अन्तर होता रहता हुआ अन्तर भाव भी

अन्तर नित्य शाश्वताऽऽ पुराणा

म ह्यभ्यस्त दृश्यमाय दृष्टीरह । (गी. ३)

अन्तरा अन्न या नित्य आचरत और पुराण के छरीमें क बाध होनेसे या मायक बाध नहीं रहता ।

(६) राजा भी अन्न है । वही अन्न का भव है अचलक । अन्न राज्यभावे को राजा अन्न भाव

जीवन धीकता है वह उत्तम राज्यव्यवस्थाकेही संभव है । छरीमें अन्तरा रहनेतकही छरीर हस्तक काया है स्वे ही राष्ट्रपर सुयोग्य राजा रहनेतकही राष्ट्रकी भवति उन्नति पचपर हो सकती है ।

(७) राजा पुराण भी होना चाहिये । ' पुराण का अर्थ (पुरा अपि नवः) पुराना होता हुआ भी नवीन-भेदा होता है । राज्य कितना भी पुराना क्यों न हो उसमें नवीनक समाधत्ता रहना चाहिये । और भी—

अमृतमस्त इमं देहा नित्यस्योक्ताः दृष्टीरिवा ।

(गी १।८)

पासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नयानि पुनराति भरोऽपरायि ।

तथा दृष्टीरपि विहाय जीर्णानि

अम्यानि संयाति नयानि नृही । (गी १।१९)

ये वस्तुवाके देह नित्य अमरते हैं । जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्र केककर नवीन धागा कर केता है वैसी अन्तरा पुराने देहोंका त्याग करके नये देहोंको प्राप्त करता है ।

(८) राज्यसाधनमें भी जीवन कार्यकालिक सारण नये उत्तम कार्यकाली भाव है और नये राष्ट्रक स्वर पुराना होता हुआ भी नवीन बना रहता है । राजा हस्त रहनेपर मर जाता है, वस्तक स्थानपर उमका अन्न पुष्ट भा जाता है । इसी तरह मंत्री सेनापाव आदि के भी पुराने देह नष्ट हो जात हैं और राज्यव्यक्ति नये देहोंमें उमड होके रहती है । राज्यसाधन भावत और अन्न के सन्तु विव देहोंके द्वारा वह काय करती है । ये देह नष्ट हो जानेवाक हैं । मर हो जानेवाक वस्तुपि अमरि दृष्टीमें अविच्छिन्नी भवतव्य अमृत नित्य शाश्वतक काय करती है । वस्तु एक परिवर्तनकीको अन्तराहने मार भी दृष्टा है । उमके अन्तरा दृष्टा भा जाता है मार कार्य करने समता है, वस्तु एक परिवर्तनकीको देह नष्ट होकर अन्तर राज्यव्यक्ति छरीमें नही हो सकता ।

माय दृष्टि—

अपि पुराणमनुशासितमारम्यात्स्वीयांगम

नृदमरपदा । अथवा पातारमायमवक-

मादिरवर्षे ममय परकायुः । (गी १।९)

‘अयम् अग्निं पुराणं अनुशासिता बभूवुः भी बभूवुः
प्रवक्ता वारकः अधिपत्यकम् तेजस्वी तवः । अज्ञानके वरे है ।
इच्छे राजाकं गुणं भी पठा कण्ठे है ।

(१) राजा कवि अर्थात् राजा की शिक्षा हो बुरदर्शी हो
सूक्ष्मदर्शी हो राज्यशासन की दृष्टिवाले साथ चलावा हो ।

(१) राजा अनुशासिता अर्थात् प्रजाके अनुकूल
कायब करनेवाला हो, राज्यशासन भी प्रजाके हित
कर हो ।

(११) राजा ‘अयोः अणीयान् अर्थात् सूक्ष्मसे
सूक्ष्म विचार करनेवाला हो सूक्ष्मसे सूक्ष्म कर्ममें गति
होकर वहाँ कार्य कर सके । राज्यशासन, सूक्ष्मसे सूक्ष्म
बालों की उत्तम व्यवस्थाके कार्य करनेमें समर्थ हो ।

(१२) राजा प्रवक्ता वारक-पोषण करता हो (सर्व
स्य धाता) राज्यशासनमें सब प्रजाका कायब पोषण
पथा पक्कन होता रहे । किसीकी भी बुरबस्था न हो ।

(१३) राजा ज्ञानका उत्तेजक प्रसारक और (तमसा
परः) अज्ञानका नाश करनेवाला हो । साधारण
बहुल्य शिक्षा विचार भी नहीं कर सकता ऐसे अतर्क्य
मर्म (अधिपत्यकम्) द्वारा राज्यको उत्तम रीतिसे
चलाये जिससे सबका परम कल्याण हो ।

व्यक्त और परमाव

प्रजाके अन्तर्गत और परमाव अर्थात् अज्ञानके विचलने
इस प्रकार कहा है—

व्यक्तं व्यक्तमापन्नं मन्त्रान्ते मामनुजयः ।
परं मावमजानन्तो ममावयमनुजयम् ॥

(गी ७।२७)

व्यक्त व्यक्त है परन्तु मूढ़ अनुजय उसे व्यक्त
मान्ते हैं और उसको उत्तम अज्ञान, अवयम मावको नहीं
जान पाते ।

(१४) वयं राजा (व्यक्तं आपन्नः) व्यक्त होता
है तथापि हमसे (अनुजयः) अमूर्त राजघरा होती है ।
विद्वद् लोग इस अमूर्त प्राणार्थको नहीं जान्ते । वस्तुतः
यह अमूर्त प्राणार्थ ही उत्तम अज्ञान और अविद्या ही होता है ।

सपका मूढ़ कारण

सूक्ष्मदर्शियों द्वारा उचितता ज्ञान विहित है हम विषय
में पड़ा है—

जीवन् सर्वभूतेषु तपश्चाक्षि तपस्विषु ॥ १ ॥

धीज् मां सर्वभूतानां विधिं पापं समातनम् ।

सुखिषु विमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

यत्नं बलवतामस्मि कामपागयिष्विमतम् ॥ ११ ॥

ये वैव सारिषका माथा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति ताम्बिषि न त्वहं तपु ते मयि ॥ १२ ॥

(गी. ७. ७)

‘अज्ञानकी कछिही सर्वत्र जीवन् तेनेवासी प्रवक्ता
उचितता भी उचितताओं की उचित तेजस्विताओं की तेजस्विता
बलवताओं का बल है । सारिषका राजस और तामस माथ
तो कम व्यापारके प्रभावसे ही होते हैं । इसी प्रकार
राजघराके कारण सब प्रजाकी उचित होती है—

(१५) सब प्रजाजनोंके जीवनका बीच राजघरामें
विहित है । सबकी उचितता बीच उचितताओं की उचित
तेजस्वी लोगोंका तेज बलवानोंका बल सब कुछ राज
घरापर निर्भर है । प्रजाके प्राथमिक राजस और तामस
माथ राजघराके कारण ही हैं । अर्थात् प्रजाका प्राथमिक
राजस अथवा तामस बलवान राजघरापर ही निर्भर है ।
प्रतिष्ठा राजघरा हो तो प्रजा समोपजीव बनकर पचित
हो जाती है और अनुकूल राजघरा हो तो सब प्रजा उन्नत
हो जाती है । राजा सुदम्य हो तो जोय विविधवर्गी हो
जाते हैं और राजा मूढ़ हो तो प्रजा परास्त होकर अल्प
सुख पोषणी है । इस तरह विचार करनेपर पथा कम
सकता है कि प्रजाजनों की उचित अथवा अवयव राजघरा
पर ही अवलम्बित है । राजघरा अनुकूल हो तो प्रजा
उन्नत होती है और प्रतिष्ठा हो तो प्रजा अवयव होती
जाती है । इसलिये प्रजा की उचित (सत्य) अधोगति
(तम) अवयव मध्यम अवस्थिति (रजः) राजाके
अपराधी निर्भर है राज्यमें राजघराका इतना महत्व है ।
अब राजा और राजके छोट मोटे अधिकारियोंके सम्बन्धमें
देखिये—

राजा और अधिकारी

राजकी मुख्य अधिकारधरा राजाके अधीन होती है
चाह पक्ष राजा अनुसंधान हो या प्रजाद्वारा नियुक्त हो ।
राजा अवयव काय प्राम-प्रणयोंमें करनेके लिये प्राम-
धिकारी मंत्री प्रधानी अदि रचता है और सबको

अध्यायों एक छुट मार्ग है और दूसरा अछुट। छुट मार्गपर चढ़तेसे सुख मिलता है और अपवित्र कृष्ण मार्गपर चढ़तेसे दुःख मोचना पड़ता है। राजकीय क्षेत्रमें तथा मानवीय व्यवहारमें भी यह सत्य है। मनुष्य पवित्र छुट विषय निर्दोष मार्गसे चढ़े और कृष्ण अपवित्र, अछुट, पारम्य शोषयुक्त अधर्म मार्गको छोड़े। राजसत्ताका सर्वोप्य है कि वह राज्यमें ऐसा प्रयत्न करे कि कोई दुर्घटन न कर सके और सब लोग सत्यपथसे चलतेसे मार्गपरही चढ़ते चले जायें।

बलभार्याके कपडेपर कदमपि नीच नचनेकी मागि हो
सकती है इसकिये बहुते मनुष्य इस मार्गपर चले जाते हैं।
परन्तु राज्यप्रबंधद्वारा इसको बचावोभ्य इच्छाहि निकसे
यस कोग बलभार्याके विरुद्ध हो सकेत है नीच सचको
बलभार्याकी बलवा पहना है।

प्रकृति-प्रज्ञा-धर्म

प्रकृति और प्रजाति समीक्षा करने में निम्न स्तरों में विभाजित है—

सहस्रं वेष्टे स्वस्याः प्रकृतेर्निधानाणि ।

महर्षिं यास्मिन् मूत्रानि निग्राह्य किं करिष्यति ॥

(श्री बाबू)

शायी मनुष्य अपनी मज्जितिके अनुसारही कार्य करता है। सब मूल भी अपनी मज्जितिके अनुसारही कार्य करते हैं, फिर विमर्शके क्या बनेगा ?

प्रजातन्त्रके लिये संस्कार होना चाहिए। उसको माना गया होना ये देखा नहीं हो। इसलिए उनको कुछ देनेसे पूर्व उनको संस्कार दीजिए वही वा नहीं। इसलिए भी विचार करना चाहिये। जिसके संस्कार हीन हैं जो समाजको बसावट बना नहीं पाया, उसको लेवक कुछ देनेसे क्या होगा ? वरतः राष्ट्रवाद्याको दक्षिण है कि वह ऐसे संस्कारहीन लोगोंको बहिये सुप्रचारसम्पन्न करें तथा ज्ञानी वक्ताओं और पीछे उनके ऊपर बोध कार्य करनेका भार दायें। राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्यों देखा कुछ भी अनुभव न करे कि जो संस्कारहीन तथा हीनसंस्कार हो। एक कि जो संस्कारहीन तथा हीनसंस्कार हो।

कर्मण्य

मज्जोऽपि सन्नध्ययात्मा भूतावामी न्वरोऽपि सय।

मङ्गलिं स्वामिपिष्टाय संमन्त्राम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥३॥

परिभाषाय साधनां विद्याशाय च दुष्कृताम् ।

अमसंस्थापनायाय समवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

(गी ४)

भूतोंका हूँकर स्वयं भावा है और वहाँ धर्मकी स्थापि
और अधर्मका उन्नाशन होया है, वहाँ धर्म राज्य स्वाम्य
करवा है। यह साधुबोली रक्षा दुर्जनोका विनाश और
धर्मकी स्थापना करवा है।

राजा जोर शहायिकायितोंका भी यही काम है। राजा और अधिकारी अपने अधिकारके समझमें न बैठे रहें। वे अपने राज्यमें स्वयं जाकर प्रजाकी स्थिति देखें। बिचारों काही जगमें हो रहा है। कौन कुछ उपद्रव करता है। इसका निवारण करके बरसालोकमें सुख दें। जायही परजनोंके परछायाका प्रभाव भी करें और धर्मके राज्यपालन बकाये। राजा अपनेही राजसमयमें विकास न करता रहे सभी और महामंत्री अपने अधिकारके समझमें न रहें। वे नीचधर्मीय लोगोंमें जाईं बसैं रहें सबकी अवस्था देखें और उनके बहाराका कार्य करें।

अर्थ बालक संभक्त परमेश्वर जब दुर्लभको
 लक्ष देखेको थियो त्यस अवस्थामा उपस्थित होकर बल कारणा
 है तो उभरि उठेर राजा अपने माथको देखे बलम रत्न
 लक्ष्य है ? उभरना भी नहीं कहना है । यह हृदय कर्तव्यको
 न करोमा तो अपने कर्तव्य-प्रज्ञ होकर पति हो जायमा ।

पिता-माता

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः॥१७॥

गविर्मर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुखम् ॥

प्रमथा प्रथया ह्यार्त्तमिषादे वीजमभ्ययम् ॥१८॥

अमृत वैज मृत्युञ्जय सहस्रनामस्तुत ॥ १९ ॥

(गि ज ९)

ईश्वर सबका माता पिता विरामद बाबा (बोध) भर्ता भक्तपोषण कर्ता प्रभु प्राप्ति विचार धारण भावयोग मित्र डाकर्स-कर्म समुद्र समुद्र मार्गि है। रागा भी प्रभुके हृद गुणोभा विचार करके भक्त कल्याण निर्धारित करे।

वह माता पिता और सितमहर्षे समान सब प्रजाका प्राकृत कर सबका धारक मरण-योषण करे। सब काम प्राणीके समान उदस्य रहकर देके प्रजाका सदा आश्रय बना रहे। अथवासे प्रजा मित्र बन कर व्यवहार करे। सब कोयोंके उत्कर्षका हेतु बने दुष्टोंका नाश करे सबको उसके योग्य स्थानमें रहे सबकी वृद्धिका मूक शीघ्र (कारण) हो कभी भी अयोग्य कर्ममें व्यवह न करे सज्जनोंको कोषण और दुष्टोंको मनुदण्ड दे इसी तरह सब और सब व्यवहारको ईच्छता हुआ प्रजाप्राकृतके नियममें व्यवसा करने के।

अमस्यास्मिन्पन्तो मां ये जनाः पशुपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं धर्माभ्युदयम् ॥

(गी १।१२)

बलवत् होकर जो लोग अपने करते हैं उन नियम योग कर्तव्य करनेवालोंका योगक्षेम प्रभु करता है।

राजा भी अपने राज्यमें जो जो काम निज कर्तव्य करनेमें वृत्तचित होते हैं जो स्वयं अन्नमन्नमर्पण करके अपना कर्तव्य करत हैं उनका सब प्रकारका योगक्षेम करे। राज्यमें कर्तव्य करनेवाले लोग मूख न रहें देखा योग्य प्रबंध राजाको करना चाहिये।

समर्पण

यत्करोषि यज्ज्ञासि यज्जुहासि यदासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्त्ये तत्कुर्वन्मन्वर्पणम् ॥

(गी १।१०)

तु जो भी करे चाहे हवन करे दान दे तप और छो सब कुछ ईश्वरको समर्पण कर। जो कुछ मनुष्य करे वह ईश्वरको समर्पण कर दे। वही नाम राष्ट्रीय दृष्टिसे देखा जाय तो मनुष्य का कुछ करे वह राष्ट्रहितके लिये करे। अपना जीवन राष्ट्रहितके लिये अर्पण कर दे जो कुछ किया जाय वह राष्ट्रहितके लिये किया जाय। अपना जीवन राष्ट्रके सब लोगोंकी बर्द्धाईके लिये दे देखा मनुष्य समझें और वैरागी भावजन करें। देना करनेपर-

सुमाशुमपक्षरेणै मोक्षयसे कर्मवृत्तये ।

सम्पाद्ययोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यासि ॥१८॥

(गी १९)

तु प्रभु और ब्रह्म कर्मों बन्धनसे छुट जायगा और कर्मवृत्तव्यवहारी धर्मवत् मानका श्रेष्ठ होकर तुझसे

विमुक्त होकर ईश्वरको प्राप्त करंगा। जो मनुष्य धर्म अधिक श्रेष्ठ राष्ट्रहित चाहिये करनेवाले कार्य करना वह कर्मोंके बंधनसे मुक्त हो जायगा।

सम-व्यवहार

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे ब्रह्मोऽस्ति न मित्रा ।

(गी १।२९)

ईश्वर सब मूर्तोंके नियममें सम भाव रखता है, किसीसे भी द्वेष वा प्रेम नहीं करता। राजाका राज्यके अधिकारियोंका भी सबके साथ वैरागी वर्तन रहे। द्वेष और मित्रिके दूर रहकर सम भावसे सबका प्रायश्चित्त करने सेही योग्य स्थितिमें कर्तव्य-प्राकृत हो सकता है। इसी सम-व्यवहार कहते हैं।

अध्यय

मयाऽध्यसेषं प्रकृतिः स्वयते सत्काराचरम् ।

हेतुमाऽनेक कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

ईश्वरकी व्यवहारात्मै प्रकृति चराचर सृष्टिकी रचना करती है। इसी हेतुसे जगत्में परिवर्तन होता है।

इसी तरह राज्यमें राजाही व्यवसा व्यवहृत है। उसकी प्रेरणासे सब कार्य चलाये जाते हैं। इस लिये कर्मोंके फल राज्यमें बनेक परिवर्तन होते हैं। राज्यमें वृत्ति विज्ञानें वृत्ति परिवर्तनोंके लिये प्रयत्न होता रहे। राजा अपनी व्यवहारात्मै सबकी वृद्धिके कार्य प्रयत्न करे।

राजा भी मनुष्य है केवल इसीलिये कोई उच्छन्न न बनाने न करे। ज्योंकि उसमें विशेष अधिकार रहते हैं।—

अवज्ञानमिदं मां मूढं मानुषीं तनुमाभितम् ।

परं भावमज्ञानतो भम भूतमहोन्मत् ॥

(गी १।११)

मूक कोम मानवकी अवज्ञाकारी ईश्वरकी अवज्ञा करते हैं क्योंकि वे महारु ईश्वरका भेद भाव नहीं मान पाते। राज्यमें भी वैरागी होना है। मूक लोग प्रयत्नमें हैं कि वह राजा एक मनुष्यही है वह व्यवसा भी एक मनुष्यही है वह अधिकारी भी एक मनुष्यही है। वस्तु ने नहीं जानते कि हमने मनुष्य एक मनुष्य अधिक कार्य कर रही है। इसी अज्ञानके कारण मूक लोग राजा और अधिकारियोंका मनुष्य मानकर व्यवसा करत हैं और हानि उठाते हैं—

मोघाशा मोघकर्माप्नो मोघहाया विघेतसा ।
राक्षसीमासुर्यं चैव प्रकृति मोहिनी । अथा ॥

(पी ५१२)

' जो राक्षसी और आसुरी प्रकृतिवाले मोहित कोय है उसकी आशाएं, उसके कर्म और उनके ज्ञान व्यर्थ होते हैं । क्योंकि वे ज्ञानविध होत हैं । अतः, इस प्रकार राज्यमें मनुष्यके समर्थ एक अनुभूत व्यक्ति कार्य कर रही है ऐसा अनुभव करना चाहिये और उस व्यक्तिका महत्व समझना चाहिये ।

राक्षसी और आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंका जन्ममें पाप हो जाता है । इसकी पहिले उक्ति होती है ऐसा ही कहा है, परन्तु इसकी उक्तिही इसके बाकका श्रेय होती है । इसके उक्तमें राजशासन-व्यक्ति जलन महत्व होता है । ये राक्षसी प्रकृतिवाले कोय उस व्यक्ति विरक्त करत हैं और इस कारण जन्ममें इसका बाध होता है । यद्यपि राजव्यक्ति उपयोग क्या है, प्रजाव्यक्ति उपयोग क्या है दोनोंके परस्पर सहायक हो जानेपर क्या काम होगा और दोनोंके विरोध होनेपर क्या हानि होगी इस प्रश्न पूछ विचार करना चाहिये और राक्षसी प्रकृति हठकर मान्योंमें देवी प्रकृति बहानी चाहिये । देवी प्रकृतिवाले कोयही उच्च हो सकत है । राष्ट्र मनुष्योंके उत्थार देवी और इस होने चाहिये । वही वही उपदेश निकला है ।

राजा और प्रजा

राजा और प्रजाका क्या संबंध है इसका उपर्युक्त निम्नलिखित श्लोकोंमें है—

मया ततमिव सद्य जगद्व्यक्तमूर्तिना ।

महद्यानि सद्यभूतानि मयाह तेष्व्यवस्थितः ॥ ४७ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतसृष्ट च भूतस्थो ममामा भूतमात्मनः ॥ ५ ॥

पथाऽऽकाशस्थितो विस्रं पायुः सर्वजगो महान् ।

तथा सर्पाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

(गी ७० ५)

येसे १६ वायु प्रलय है और उसमें सब शक्ती रहत हैं, राजपदा की वहीही सर्वव्यापक है उसमें सब प्रजाजन रहते हैं । जेसे वायुके आकारसे वाही है वहीही राजपदाके आकारसे प्रजाजन हैं । व्यक्त आत्मा सब जगत्का विस्तार

करती है सब मूल उद्गीठे आकाशसे रहते हैं, परन्तु उसकी स्थिति भूतोंके आकारसे नहीं है । इसी प्रकार अमूर्त राज सत्ताके द्वारा सब प्रजाका शासन प्रस्थापना जाता है सम्पूर्ण प्रजा उसी अमूर्त राजसत्ताकी शक्ति केकर विविध कार्य करती है परन्तु वह राजसत्ता व्यक्तिः प्रत्यक्ष व्यवहारित नहीं है । प्रजा भी जबकि राजसत्ताके आकारपर विभक्त है, ऐसा भी नहीं है । वह दोनोंका एकात्म्य है । अर्थात् प्रजा और राजा इन दोनोंका संयोग इस देश-मोघसे हुआ है । ये एक दूसरेपर व्यवहारित रहते हुए भी व्यवहारित नहीं हैं । परमात्मा (भूतमात्मनः) भूतमात्रकी उक्ति कर्मेवाका है । भूतोंका (भूतसृष्ट) परमोपयोग कर्मे वाका होनेपर भी (भूतस्थः न) वह भूतोंपर विभक्त नहीं है इसी तरह राजसत्ता सब प्रजाकी उक्ति करती है प्रजाके परमोपयोगका विचार करती है, तथापि वह व्यक्तिः प्रकारपर विभक्त नहीं है ।

इस तरह वही आत्मज्ञानके सिद्धान्तोंके साथ राजशासनका उपर्युक्त दिया गया है । इसका मंगल करनेपर इस राज्यशासनके उत्तरका ज्ञान हो सकता है । दिव्यशक्तिके शिब सब व्यक्तोंका राज्यशासनपरक कार्य केकरही किन्हीं विचार करते हैं—

१ अम्यक्त-मूर्ति (राजसत्ता)

राजशासन अम्यक्त, अमूर्त रहता है जो राजा है उसकी मूर्तिके अन्तर वह केंद्रित रहता है तथापि उस राजाके द्वाराही राजसत्ताका स्वतंत्र प्रवृत्त वास्तव्य है । राजसत्ता अमूर्त है । वही वह मंगल रहना चाहिये ।

२ अम्यक्तमूर्तिना सर्वं जगत् तत्प

अमूर्त राजसत्ताके सब जगत् (मानवसमाज) का शासन-विस्तार किया गया है । जगत् का कार्य 'मनुष्य और मानव-समाज' है । जगत्का सर्वविध है वह सब मानवही है, उद्गीठे साथ मनुष्य और मनुष्य-समाज वह कार्य भी है । वही राज्यपरक कार्यमें मनुष्य और मनुष्य-समाज 'व्यक्ति' कहा चाहिये । परमात्मपरक कार्यमें विभक्त जगत् कहा व्यक्ति है । अम्यक्त राज्यसत्ताद्वारा मानव-समाजका शासन विस्तार किया जाता है । सब समाज इस शासनके अन्तर रहता हुआ उक्ति करता है विस्तार करता है ।

३ तत्स्थानि सर्वभूतानि

एव भूत वर्णत् एव मानवजाति के लोग सब समूह राजसत्तामें रहते हैं। उस राज्यशासनके बाहर कोई नहीं है। यद्यपि और प्रायों रहनेवाले तथा यद्यपि रहनेवाले सब मानव सब शासनमें रहते हैं।

४ न च तत् तेष्ववस्थितम्

वह राज्यशासन सब समूहोंमें नहीं है क्योंकि स्वच्छिन्ना प्रजाओं का कारण नहीं रहता। उसकी प्रजाके प्रत्यक्ष शासन है। वह प्रजाके कारणके बिनाही संभव है। विष्णु राजसत्ता प्रजाके विरुद्ध भी उभर कर शासन करती है, इसी कारण अनेक देश पारस्परिकमें बने रहते हैं। राजसत्ता सुलेपित होती है और प्रजा अलेपित होती है। अतः प्रजापर राजसत्तात्मक शासन चलता है और इसी कारण नहीं कहा है कि (तत्) वह राजसत्ता (तेषु) प्रजाके कारणके (न अवस्थित) नहीं रहती।

५ न च तत्स्थानि भूतानि

इसका होनेपर भी (तत्स्थानि) राजसत्तामें ही सब (भूतानि च) मानव जति रहती है ऐसी बात नहीं। कई कमल करनेवाले लोग राजसत्ताके क्षेत्रके बाहर भी होते हैं। महामत्ता मुक्तता भी राज्यशासनके क्षेत्रके बाहर होते हैं। किसी समय प्रजा भी राज्यशासनके विरुद्ध हो उठती है। अतः सब प्रजा राजसत्ताके अन्तर् रहते हुए भी बाहर ही है ऐसा समझना योग्य है।

६ योम एष्वर पश्य

वह ईश्वरयोग है। ऐश्वर्ययोगका सब प्रभावयोग है। राजकी एक प्रभु ईश्वर-राजाके आधीन रहनेकी वह सुक्ति है। सब राजकी एक राजसत्ताके आधीन रहनेकी जो एक अर्थ सुक्ति है उसका नाम ऐश्वर-योग है। यही एश्वर-योग इस नवम अध्यायमें कहा है। इसका अर्थ इस अध्यायके मार्गमें देखा गया है—

अभ्यस्य राजविद्या

इह तु न शुद्धतमं प्रवक्ष्याम्यवसुधये ।
यामं विद्यामसद्वितं यज्ञात्मा मोक्षस्यऽनुभात् १
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिह सुप्रसभम् ।
प्रत्यक्षावगमे धर्म्ये सुसुखं कर्ममध्यमम् २ ॥

अभ्यस्य राजविद्याः पुरुषा धर्मस्यास्य परतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते स्यात्सुसंसारवामनि ॥ १ ॥

(टी ५ १)

वह राजविद्याका ज्ञान वर्णत् राज्य कक्षाके शासन विद्याका ज्ञान तथा गुह्य है क्योंकि गुह्य (गुह्य) है शासन करनेयोग्य है। निष्करो अर्थात् न हो रही इसका अधिकारी है। इस ज्ञानके अनुसार राजसत्तात्मक व्यवस्था अथ तो सिद्ध होई किसी प्रकारका अज्ञान कह नहीं होया। वह ज्ञान निश्चय प्रदत्त है। अर्थात् इसमें अज्ञानज्ञान है और अज्ञान विज्ञान भी है। (धर्म) यही धर्ममार्ग है, शासन करनेपर (सुसुख) वह सुख देनेवाका है। और इससे राज्यशासनका (न-प्राप्य) अर्थ भी स्पष्टसे स्पष्ट होता है। जो इसका आचरण करेगा, उसे प्रसन्न (प्रसन्न) अवगम (काम) सिद्ध होया। (अर्थ) यही अर्थ है राजसत्तात्मक मार्ग है। जो इसपर अज्ञा नहीं रहने से इसका वास्तव करने।

इस नवम अध्यायमें राज्यशासनकी विद्या गुह्य सिद्धि नहीं है। प्रत्यक्ष सिद्धि जो वह अर्थवत् प्रत्यक्षिक शासनका स्वरूप बता रहा है। पान्थु इसी उद्देशके अन्तर् गुह्य सिद्धि राज्यशासनका अर्थ देना है। राजसत्ता इसका विचार करे और गीतोक राज्यशासनका ज्ञान इस अध्यायके अर्थसे प्राप्त करे।

समदृष्टि

इस गीतोक राज्यशासनमें समदृष्टि का बहुत अधिक महत्व है। इस समदृष्टिके विषयमें अनेकधर्म विमर्शिकिष्टि ओक बहुत महत्वके हैं—

विद्याविमयसंपदे प्राक्षणे पवि हस्तिभिः ।

शुभि चैव भव्याके च पाण्डिताः समदृष्टिभिः ॥ १ ॥

इदं चैव सगो सगो साम्ये स्थितं मता ।

निर्दोषं हि समं मया तस्माद्भक्तिं ते स्थिता ॥ १ ॥

(टी ५ ५)

शुद्धाभिप्रायवासीधर्मस्यैवैष्यन्नुप ।

साधुप्यपि च पापेपु समदृष्टिर्बुद्धिपत् ॥ १ ॥

आत्मीयपदेव सर्वेव समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ १ ॥

(टी ५ ५)

विहार माध्यम बाधक भी इसी और कुछ बाधित समझि रहती चाहिये । मित्र उदासीन मध्यम बनू बनू मातु और पापीर भी समझि रहती चाहिये । अपने समान समयावधि को सबको दृष्टते हैं सबको अपनेही समान सुखदुःख होते हैं ऐसा को मानते हैं वेही परमयोगी हैं । मित्रका सब हृष्ट सदासँ रहते हुए सम हो गया, मातां उन्मोदि नम्रमात्रके दुःख जीत किये हैं, सर्पात् वे भगते अभिजारी हो गये जबका उनका मध्यकोक प्राप्त हुआ है ।

इस समझिके विषयमें जबतकमें वही अनुसूच कल्पना कैसी है । सबको समान माननेकी वही कल्पनाही नहीं है । विहार माध्यम अवाही, बाँहाक और कुछा का बिछी इनको समझिये देखना चाहिये इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब समान हैं, अथवा इनके साथ समान वर्तन करना चाहिये । वही यह बाधक नहीं है । इसी प्रकार मित्र अनु मध्यम उदासीन आई हेवी, छातु और पापी इनको समझिये देखना चाहिये इसका अर्थ यह भी नहीं है कि पापीको जो दृष्ट मित्रका चाहिये वह छातुका भी मित्रवाही चाहिये । जो पारिवोचक मित्रको ऐसा चाहिये वही छातुको भी ऐसाही चाहिये । समवर्तक उपरुच नहीं नहीं है । वही माध्यम और गीकासमान-दृष्टि देखना बचाया है वही गीके सामने जते बाध तथा बाधा है वेही माध्यमके सामने लब्धा चाहिये अथवा माध्यमको जेते पावसपरीका भोजन देते हैं, वही गीकी दूना चाहिये यह भाव इस समझिमें नहीं है । गीकाक शावघासवपदति इस समझिपर रही गयी है अथा इस समझिका अर्थ विरोध मयवृत्तक समझना चाहिये ।

इस समझिका अर्थ समझनेकी एक युक्ति 'अभ्योपगम' नामसे पढ़ी कही है । जो कर्म करना है वह अपनी उपमा देकर अपनी उपमाद्वारा विचार कर करना चाहिये । वह कर्म करनेसे मुक्त मुक्त होगा अथवा मुक्त मुक्त होगा इसका निश्चय अपने आपको उपमा की अवस्थामें जाकर करना चाहिये । इसमें कर्मव्य कर्तव्यका निश्चय ठीक प्रकार हो सकता है ।

माध्यम बाँहाक भी पुनः पल्ल, वही मित्र, छातु कोई ही उनके साथ व्यवहार करनेके समक अपने आपको उनके समान पर रहकर विचार करें, और अपनेको जया

परीत होया वैसाही उनको भी पतीत होया देना मापकर मनुष्य व्यवहार करें ।

उदाहरणके किये जलजोंके साथ जो व्यवहार किया जाता है, वह योग्य है वा अयोग्य है इसका निश्चय करनेके किये अपने आपका व्यवहार समझ कर विचार करना चाहिये कि यदि किसीने मुझसे वैसा व्यवहार किया तो मुझे कैसा लगेगा ? यह विचार करनेसे प्रीप्रही अपने अन्तर समझिका दृष्ट होया है और अपने कल्पक निश्चय हो जाता है । पशुपक्षियोंके साथ व्यवहार करते समय भी अपने आपको उनके स्थानमें समझे ली उनके साथ जो व्यवहार किया जा रहा है, वह योग्य है वा अयोग्य, इसका ठीक निश्चय हो सकता है । यी, घोडा कुछा अप्रियपशुओंके साथ अस्वीकृत्य व्यवहार करके देखिये वैसा व्यवहार करनेसे इसका परिणाम मनुष्यके आचरणमें भी लक्षाक दिखाई देता है । जो पशु मनुष्यका अनु मानते हैं, वेही मित्र वरत हैं, और मानदेसे समीप जाते हैं, और जो मित्रवत् आचरण करते हैं, वह एक वृत्त चलाका (पुनः) मेमसे जाग्रत होता है ।

मनुष्योंके साथ व्यवहार करनेके समय भी वह मित्र है वह पुत्र है वह वधु है ऐसा समझकर उनका एक समर्थन करना और जो अनु हैं उनके गुण भी न रचना वह अनुचित व्यवहार है । इसीसे जनेक समक उत्पन्न होते हैं, और इस ककदृष्टिका विपदारा कभी नहीं हो सकता जबको समभावसे देखने, अपने आपको उनके स्थानपर रखने और अस्वीकृत्य दृष्टिसे सब व्यवहार करनेसेही सच्चा व्यवहार हो सकता है ।

मुक्त और कुछ जेसे अपनेको होया है वेही भी बोरोंको भी होया है पूजा अनुभव करनेका नाम समझि अथवा समभाव है । वह एक बचामारी योग्य है और इस एक समक योग्येही मनुष्य मुक्त हो सकता है ।

मैं बार दूरा केवक दृष्टेही मरते मनुष्यकी दृष्टि कसुपित हो जाती है । समझि नहीं रहती । वह समझि धर्मरा सब समान रहती चाहिये वही योग्यव्यवहार है । यदि इस समझिके शावघासम चचाया जावगा तो वह स्वयंका शाव होगा । इतिहाससे स्पष्ट है कि इस समय दृष्टि अभ्योपगम दृष्टिके अभावक कारण किनभी कदाही,

द्वारा हीक करे लधन लभ उपायोंद्वारा उल्लेख करने
थे।

मनका बलमें होता कठिन है, परन्तु अभ्यास द्वारा वैराग्य पूर्वक प्रयत्न करनेसे यह बलमें आ जाता है (गी २।३५)।
इस तरह प्रयाजन मन बलमें करनेका व्यवहार सर्वसम
यमें सहायारी रहे और सहायतावाचक बने। इस तरह
समयी बननेसे मानवोंकी सब प्रकारकी उन्नति होती है। इस
विषयमें कहा है—

उच्छिद्येथा पतास्मानः स्रवभूतद्विष रताः ॥

(वी ५३५)

‘ जो सबसी-आमदेवसी हैं जिवका हठभाष धूर हो
 पुझ ई वे सर्वभूतोंका हित करनेसे तय होकर परमोच्च
 गति पाते हैं मृतमानोंका हित करनेसेही परमाश्रयेष्टा
 होकर मानवोंकी उन्नति हो सकती है, मृतमा कोई माय
 नहीं है। भूतहित करनाही मगधजति है। वह भूतहित
 सबसी ही कर सकता है। इहलोक मगधजितोक्त राज
 आश्रयसे संवत्सक स्थान प्रभाव है।

इसियदमन करने काम और कोचको हू करमेका वहाँ
 उपदेक है। गृहस्थाको सुखताम उत्पन्न करनेके कार्यके
 लिय काम जगद्वयक है, उत्पत्ती कार्य वससे केवा
 योग्य है। धर्मशास्त्री वही मर्वादा है। मय्यहोषोक
 राज्यशासनप्रथाकीमें जगताको इस मर्वादाकी रक्षा करने
 काही उपदेक सिवा जावता। इस प्रकार इतिहासकी पुनर्वाही
 इस राज्यशासनप्रथाकीमें विद्युक्त होये और व वही
 मर्वादा बचावेंगे। इसमें कालकोचोंके लोगोंके सहमेका
 साक्ष्य है—

शपभोतीह्य यः सोऽयं प्राक्शरीरविमोक्षभात् ।

कामक्रोधोद्वेगं यम स युक्तः स सुखी मतः ॥

(વી ખપ્પ)

आ कामक्षोपक वेग छहन कर सकता है वही मुकी होगा है। वरगु जो मयकापक वेगसे बह जाता है वयक मुकी हाथमें कई छिदवही नहीं है। वही कमजोर राखी अवस्था है। जिस राखी कामको बहकाना जाता है कमकुता बनावेदाक व्यवहार बनावे जात है वह रागु कायक बगसे मारा जाता है। वयको मुक मय हाथमेंको जाता नहीं है। लोच कीर बिजबिदा बनाव बालपोमें वयसे भी वही अवस्था हो जाती है।

वहाँ मध हो सकता है कि काम और क्लेशका संयम किछ तरह किया जाया है। इसके बरतमें इतनाही कहा जा पर्याप्त होगा कि काम पान व्यवहार, ज्ञान विज्ञान, सत्कार आदिसेही इसका संयम होगा। तदर्थिक मान बढनेसे संयम होगा और राससिकता बढनेसे कामका प्रकीर्ति होगी। ऊँछ बापुका योग बढनेसे सुधर्मि हिकने कमसे हैं, परतु मंजिर नहीं हिकते, क्योंकि हममें स्वैर होता है इसी तरह मनुष्य अपने बर्माभावपर स्थिर रहेंगे तो कामक्लेशके योगमें वह नहीं आयेगे। अगब्रह्मोक्त राजकर्मवृत्तामि जगताको यही बात इस तरह समझावी जायगी—

हृदियस्येन्द्रियस्यार्थे तगद्वेपौ व्यवस्थितौ ।

तयोन् वक्षमागच्छेत्ती ह्यस्य पारपग्निभौ ॥

(गी ३.३४)

इंद्रियोंका नियंत्रण रागद्वेष मिश्रित है उनके आधीन मनुष्य न हो पावे क्योंकि वे उनके शत्रु हैं। शत्रुका आधीन हो जाना योग्य नहीं है। शत्रुका अपने अधीन करना चाहिये। वही बात भगवद्गीताका आशयवश्यासे अवलोक्य समझाया नहीं है। केही प्रती उपदेशों द्वारा वही बात समझायी गई जबकि कामधे भक्त्यासेवाका उपदेश नहीं दिया जाने आर संनमक। वासुदेवक वश्या-का प्रत्यक्ष दिया जाये।

ध्रुवदुःखे समे कृत्वा कामाख्यामौ अवामपो ।
ततो युवाय युग्यस्य नैव पापमवाप्स्यसि ॥

(गो २।३८)

सुख दुःख हानि-काम भय-प्रायश्चित्त समान
मानकर बुद्धि सर्ववर्त्म करतः कथित है। इसका नाम
समबुद्धि है। जब भिक्षुने परमव्रत हो जाता है और भय
न रहने पर पापकर्म का प्रसार होता है। वही तो भय
रक्षा बहुत पुनी है। इस हानि का परवशावेसि कर्मका
वदना और भयने कर्मकर्म करनेकी बुद्धिसे रक्षण योग्य
है। परमव्रत ही ज्ञानपर प्रयुक्त मिठा है और विष्णुवाचक
ज्ञानपर भी कर्मकर्मकर्म हो जाता है। जयः समुत्थोक्त सम-
बुद्धिसे रक्षाधीन रहने और कर्मकर्म करनेकी प्रिया
देवी कथित है। यही भयवशोक्त साम्प्रदायिक होना ।

मानस चमत्ति

आवसे वि सम्पदमनुष्यमावसी ववति हासी हे ।

ज्ञानसेही बनवसे विवृति होती है और मनुष्य सुखको प्राप्त कर सकता है । यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है, यथा कहा है—

यथाकाशप्रधानस्य संशयात्मा विमृशयति ।

मार्गं कोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मकम् ॥८०॥

योगसंस्पृष्टकर्माणि क्षान्तसंश्लिख्यसंशयम् ।

आत्मवत्तु यं कर्माणि निबध्नास्ति धर्मेभ्यः ॥८१॥

तस्माद्विज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिमात्मकम् ।

क्षित्वैवं संशयं योगमातिष्ठोच्छिद्य भारत ॥८२॥

(गी. अ. ३)

ज्ञानहीन और अज्ञान व शक्येवाके संशयप्रमाका प्राप्त हो जाता है । संशयप्रमाका तो इस कोकमें संकटका मिश्रणी है न परकोकमें सुख मिश्रणी है । यथा ज्ञान प्राप्त करने कीदृश दूर कर और योगसुख होकर कर्म कर । जो ऐसा करता है उसको कर्मोक्त शेष नहीं लगता । हृत्स्थिमे हृत्स्थमे स्थित ब्रह्मज्ञानसे उत्पन्न हुआ संशय ज्ञानसे दूर करने जरूरी ब्रह्मज्ञानसे स्थिति उद्योग कर । है भारतीय । यह पुनरावर्तनीय है ।

अर्थात् भारतवर्षीका कर्मोक्त है कि ये ज्ञान प्राप्त करें संशयको हटकर अपने कर्मोक्त करने उद्योग हों । यही ज्ञानसे ब्रह्मज्ञानका प्राप्त करनेका उद्देश है । यमश्रुति-लोक शास्त्रशास्त्रमें यही ज्ञान सब जगत्को दिया गया है । जो इसे प्राप्त करनेमें समर्थ है उस स्थितिको भी इससे कदापि रक्षित नहीं रखा गया । धर्मोक्तिक ज्ञानवान्, इस ज्ञानवत्तु एक मुख्य भाग है । ज्ञान ज्ञानका अधिकांश ज्ञानसे ही नहीं रखा गया है । यथा कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यतम् ।

अध्यात्मोत्सृज्यते ज्ञानं तत्परं संयतेभिन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां प्राप्तिमधिष्ठेय्याधिगच्छत्यसि ॥

(गी. अ. ३१८-३१९)

ज्ञानके समान इस जगत्में कोई दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है । अध्यात्म और धर्ममी मनुष्यही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जिसका ज्ञान प्राप्त होता है उसे ज्ञान भी प्राप्त होती जाती है ।

इस जगत्में ज्ञानही पवित्र वस्तु है जिसे यह प्राप्त होता है वह पवित्र बन जाता है । हृत्स्थिमे भगवद्गीतोक्त

शास्त्रशास्त्रमें ज्ञानका ज्ञान दूर पवित्र बनना ज्ञान है । कोई भी ज्ञानहीन नहीं रखा गया । कोई बमरी भी समाप्त ज्ञानसे रक्षित रह गया तो वह उद्योग शेष होगा । शास्त्रमय ज्ञानका उत्तरदायी नहीं होगा । यही पापीको भी ज्ञान देकर सुख दिया जायगा—

अपि चेत्सि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमम् ।

सर्वं ज्ञानश्रयेनैव धूम्रिणं सम्हरिष्यसि ॥

(गी. अ. ३१५)

पापीसे पापी मनुष्य क्यों न हो उसके भी ज्ञान दिन करने पर उस ज्ञानसे उसके सब पाप दूर हो जायेंगे । पुनरावर्तना कोकमें भी उत्तर ज्ञानसेही होता यह कर्मोक्त शेष नहीं है । ज्ञान, देव श्रुति ज्ञानका कर्म भी से, उसके ज्ञान मिश्रणी और यह ज्ञानसे जरूरी उद्योग कर जायेगा । अर्थात् गीतोक्त शास्त्रमयजगत्में ज्ञानको ज्ञान कि रेकी सुविधा होगी । यही ज्ञानका कर्म यथा स्थिति देना चाहिये क्योंकि यह ज्ञान दोनों कोकमें सुख देने वाला है, कर्मक पारलौकिक सुखही देनेवाला नहीं । यथा ज्ञानका दिया जानेवाला जीवन ज्ञान है, इसका संशेपसे उद्योग इस प्रकार है—

भूमिरापोऽनङ्को वायुः क्षं मनो बुद्धिरथ च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ३॥

अपरेपमितस्त्वय्यां प्रकृतिं विद्धि मे परम् ।

जीवभूतां महाबाहो ध्येयं धार्यते जगत् ॥ ५॥

(ब. गी. ५)

पृथ्वी ज्ञान तत्र वायु वाक्छान्द्र मन बुद्धि ब्रह्म और अहंकार ये पदार्थ और इनमें व्यत्ययवाक्छान्द्र परमज्ञान मिश्रकर द्रव पदार्थ ज्ञानसे चाहिये । हृत्स्थिमे ज्ञानसे ज्ञानमें भी कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगार्जं पश्यज्ज्ञायं मयं मम ।

(गी. अ. १३१)

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञानही परमेश्वरका ज्ञान है । अर्थात् परमेश्वरका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करवा चाहिये । इस परमेश्वरके ज्ञानमें पृथ्वीविद्या जलविद्या अग्निविद्या, वायु विद्या वाक्छान्द्रविद्या अथोविज्ञान बुद्धिज्ञान ब्रह्मज्ञान जीवनोक्तज्ञान और परमेश्वरज्ञान इत्यादि सब विद्यार्थ हैं । भगवद्गीतामें ज्ञानका ज्ञान ईश्वरको ज्ञानका ज्ञान

परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये मनुष्यज्ञान
कामना चाहिये ऐसा कहा है इस ज्ञानमें इतनी विद्याएं
पढानेयोग हैं वह नहीं भूकना चाहिये । ईश्वरके
ज्ञानमें ईश्वर और उसकी मनुष्यविका ज्ञान सम्पूर्ण है ।
ईश्वरकी मनुष्यविका अथवा मनुष्य ज्ञान जोरका सम्पूर्ण है ।
विचार करनेपर पता चल जायगा कि यदि इस आदेशानुसार
पढनेविधि पढानी आवश्यक तो उसमें आवश्यक जो विद्याएं
पढानेयोग्य समझी जाती हैं वे सब तो पढानीही होंगी
परन्तु सबके साथ ज्ञानविद्या भी पढानी होगी । अथवा
उसमें इतनी बड़ी पढनेविधि है, जो गीतिका राजव्यवस्थाकी
पढनाकाबोमें पढानी जायगी । वही कहीं एक एक विद्यामें
बनेक पाठ्य विद्यन हैं जहां अधि-विद्यामें अधि-विद्यु-
सूत्रिकरण आदि बनेक विद्याओंका सम्मिश्रण है । इसी
प्रकार सम्मान्य विद्याओंमें भी समझना चाहिये । वह
पढनेविधि बड़ी भारी है और वह सब ज्ञान मनुष्यकी ऐश्वर्य
करनेवाला है ।

महाविद्यालय ज्ञानं तेषां मुद्रास्ति अन्तर्गतः ॥ १५ ॥
ज्ञानेन तु तद्विद्यां तेषां वाच्यतामात्मनः ।
तथाभाविस्त्वयज्ज्ञानं मन्त्राद्यपि तत्परम् ॥ १६ ॥
(गी ५)

ज्ञानके अन्तर्गत एक ज्ञानपर लोग मोहित हो जाते
हैं, क्योंकि उनका कर्मकाण्डमयका रीति ज्ञान नहीं रहता
बल्कि वे पठित हो जाते हैं । परन्तु ज्ञानका ज्ञान प्राप्त हो
जाता है व सर्वज्ञानमें रची वस्तुका समान परमेश्वर
मन्त्राद्यपि कर लेते हैं कि वे लौकिक सब ज्ञान करने
इसमें कीचड़ी क्या है ? नहीं इस ज्ञानका महत्त्व है ।
यही ज्ञान मनुष्यका सब प्रकारके उद्धार कर सकता है ।
इसीलिए गीतिका राजव्यवस्थामें वही और अपरा विद्याका
ज्ञान सबका दिक्कती मुक्ति होती है ।

अपरा विद्यामें सब प्रकारकी इहलोकका मुक्ति बढाने-
वाली विद्या जाती है । परा विद्यामें बीजव्यवस्था ज्ञान होता
है और परापर विद्यामें परमेश्वरका ज्ञान होता है । इस
कारण इसमें इहलोकमें मुक्ति और परलौकिक ज्ञान प्राप्त होता
है । जिस समय व सब विद्याएं ज्ञानतामें एक जाती हैं
यह ज्ञान सब कोद्वारा इस विद्याओंके सुसंस्कार होते

हैं तब इस ज्ञानमें पूरी सुरिपति होती है, यही निम्नलि-
खित उपनिषद्वाक्योंमें वर्णन की है-

म मे स्तेनो जनपदे न कस्यस्य न मघपो नाना
हिराणि, मायिहान्, न सरी स्त्रीरपी कुता ॥
(अ ५.११.१)

इस ज्ञानमें और कुछ मघपो इतन न करनेवाला
अभिहान्, स्त्रीपारी और स्त्रीपारिणी की नहीं होती ।
सब लोग मनुष्यका व्यवहार करेंगे और परस्पर हकविधि
सहायक होते हुए सब अपनी धर्म्यमीन उन्नति करेंगे ।
यह सब ज्ञानके प्रकारपर अवलम्बित है ज्ञानमें जहां
ज्ञानका प्रचार होगा वही इस ज्ञानकी स्थिति होगी ।
आत्मिक ज्ञान, कलह और समझोका ज्ञान फैलता है इस
लिए समझ का उपद्रव बढ रहे हैं । यदि परिशुद्ध ज्ञानका
प्रचार होगा तो जगत् जहाँ परिशुद्ध मार्गसे चलेगी ।
मनुष्यजीवन उद्देश्य है कि ऐसा परिशुद्ध ज्ञान जगत्में
फैल जाय और सबका कल्याण हो ।

उद्योगसे उन्नति

प्रत्येक करनेवाली सब कुछ बनता है । सबके करने को
योग किना बाधा है उसका नाम उद्योग है । इसीका
कम कहते हैं इस विषयमें कहा है-

भूतभायोद्वयकरो यिसर्गः कमसंहितः ॥
(गी ५.११)

मृत का अर्थ है निर्मित वस्तु-मात्रा । इन वस्तुओंका
जो अस्तित्व है उसका नाम मृत मात्र है । इस वस्तु
मात्रके अस्तित्वका जो उद्-भव करार होता-उत्पन्न
होता है क्योंकि विकास है, वही मृतमात्रा है । इस
विकासका करनेवाला जो वि-घर्ष वर्तमान विघ्न
ध्वज है वहीका नाम कर्म है । कर्म उसको कहते हैं कि
जिधसे सबकी उन्नति होती है, उत्पन्न होता है उन्नति स्थिति
होती है । गीतिका राजव्यवस्था में समस्त जगत्का सब कोद्वारा
विद्या की जायगी । अतः इस ज्ञानमें कोद्वारा विघ्न
होना कि-

पार्थ नैवेह मासुन विनाशस्तस्य पिपत ।
म हि कस्याप्यहुरकस्मिहगति तात गच्छति ॥
(गी ५.११)

अथ कर्म करनेवालेकी कमी दुर्बल नहीं होती ।
अथ कर्म करनेवालेकी सहा उन्नतिही होती रहती है ।
इस प्रकार विचारते हुए शस्त्रका हस्तक मनुष्य सदा शुभ
कर्ममें प्रवृत्त होगा । शुभकर्म करनेवालेकमें पात्रिका अर्ध
योगशुभ कर्म है जिसका अर्थ यह है—

मातृभक्तस्तु योगोऽस्ति न चैकाग्रमनसस्ततः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव ध्यातुम् ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखाहा
॥ १७ ॥ (पी न १)

जति योग्य जति उपवास जति शिक्षा जति कामराग
न करते हुए, योग्य आहारविहार करके योग्य विद्या और
कामराग करते हुए जो लोग योग्य रीतिसे उपकार्य प्रयत्न
करते हैं, उनका दुःख दूर होता है । यह योग्यता फल
है । यह लोग हस्तक कर्ममें निष्ठा का प्रकट है और प्रत्येक
शुभ कर्मसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है । पीछे
राज्यमें मनुष्यको ऐसे कर्म करनेकी शिक्षा प्राप्त होती ।

इस पीछे राज्यात्मनमें जो कर्मकी शिक्षा दी जाती
उससे सब मनुष्य जन्ममार्ग करनेवाले सब जीवते । ऐसा
गीतामें कहा है—

ब्रह्मेष्टममात्मनो नारमात्मनश्चैव यत् ।
नारमैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मनश्चैव येनारमैवात्मना जितः ।
मवात्मनस्तु सत्तुल्ये वर्तेतारमैव धामुषत् ॥ ६ ॥
(पी न १)

एक अपना बंधन अपनेकोही करना चाहिये । ऐसा
कोई कारण करना नहीं चाहिये जिससे अपनी अवगति हो ।
क्योंकि मनुष्य स्वयंही अपना मित्र अपना शत्रु होता है ।
जिससे अपना संबन्ध कर लिया है वही अपना मित्र है, और
जो अपनी उपेक्षा करता है वह अपनाही शत्रु होता है ।
इस तरह प्रत्येक अपना शत्रु या मित्र स्वयंही होता है ।
वह जैसे व्यक्ति व्यवहारमें उत्तम है वैसीही समाज और
राष्ट्रके व्यवहारमें भी उत्तम है । जो आत्मनिष्ठाही है वही
कर्मके दोषोंसे अपने आपकी रक्षा करता है । उसका अर्थ
इस प्रकार है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा श्रितमिन्द्रः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(पी ५७)

योगके अनुसार व्यवहार करनेवाला अश्रमनिष्ठा,
विशुद्धित्व का सर्व भूतोंकी आत्मा जिसकी आत्मा है, वह
कर्म करनेपर भी बोधोसे किस नहीं होता । वही शुद्ध
शुभ सर्वभूतोंकी आत्मा अपनी आत्मा व्यवहारी है । आत्मा-
रक्षण प्रत्येककी आत्मा उन्नतिही व्यक्तिगत होती है, वही
आत्मा सर्वगत होनेका मनुष्य है । मरी आत्मा, जो
व्यक्तिके समाज प्रभावित नहीं बसित वह सर्वप्रत्येक
आत्मा है अर्थात् सर्व व्यक्तिवोंकी आत्मा एक है अर्थात्
मित्र होनेपर भी आत्मा मित्र नहीं है । यह बात होनेपर
मनुष्यकी दृष्टिही मित्र हो जाती है । इस अवस्थामें जिसे
एक कर्म निर्दोष होते हैं । पीछे राज्यात्मन वह शिक्षा अब
जाको दी जाती है और इसकी दृष्टि विस्तृत की जाती ।

वही व्यवसायारम्भका बुद्धिरेकेह (पी १११)
उत्तम उपकार्य करनेकी एकही बुद्धि स्थिर होती । सर्व
व्यक्तियोंकी व्यवसाय वही नहीं होती । तथा व्यवसाय वह
शिक्षा दी जाती कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सयोऽस्त्यकर्मणि ॥

(पी ११०)

कर्म करवाही प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है, उसके
फलपर उसका अधिकार नहीं कर्मके फलका उत्पन्न करने
कोई कर्म न करे और कर्म न करनेकी ओर भी निर्दोषी
कर्म न हो । सबको दक्षिण है कि—

योगात्मा कुत कर्माणि । (पी ११६)

योग अपनी कुशलतासे कार्य किया करे । जिसकी
कुशलता हो सकती है उसकी कुशलता संसार के अपने
अपने कर्म कारण हस्तककी दक्षिण है । कोई मनुष्य कर्म
किये बिना न रहे । सब लोग जन्म कुशलतासे सब उत्तम
कर्म करें ।

कोई जीवन्मुक्त अवसर भी कर्म किये बिना नहीं रह
सकता (पी ११५) जब सबकी प्रकृति अपने कर्म
का ही केंद्र है फिर मनुष्य शुभकर्म जन्म कुशलतासे
कर्म न करे ? मनुष्यताको विगत कर्म करवाही चाहिये ।

कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है कर्म न करनेसे क्षीर-पात्रा भी नहीं चलेगी कर्मके बिना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता, अतः मनुष्य अपना भित्त कर्म उत्तम कुशलतासे साध करे । कर्म करनेकी व्यवस्था बार्हस्पति ब्राह्मण द्वारा हुई है (गी ३।१) यदि वे कर्म न करते तो इसका क्यापि सिद्धि प्राप्त न होती । अतः हर एक मनुष्यको व्यवहारिकीका उदाहरण अपने धर्मरूप रखकर प्रयत्नशील होना चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्य अपने धर्मका निष्ठान करे । यह निष्ठान करनेकी सिद्धि गीता का १० वें और १८ वें अध्यायोंमें प्राप्त—रज-तम-सिकृपण प्रदर्शनें करी । अपने अक्षर उद्योग गुण है रजोगुण है वा तमोगुण है, इसका निष्ठान करके अपना धर्म निष्ठित करे और जो धर्म निष्ठित हो उसके अनुसार अपना कर्मेव्य कर्म करता रहे । अपने प्रकृतियुक्त मनुष्यको जो कर्म होना चही उत्तम रीतिसे ही चलेगा । प्रकृतियुक्त प्रतिकूल कर्मका उत्तम कर्मे ही उत्तम अर्थसाधक है । अतः अपने प्रकृतियुक्त निष्ठान करना और उत्तम कर्म करना योग्य है ।

गीताके आत्मिक शिक्षाविभागमें देवी विद्या ही आत्मिक शिक्षा है। हर एक मनुष्य अपने प्रकृति-स्वभावका निष्ठान कर सके और उत्तम कर्म नियत कर्म करने अपना और सब अन्तर्गत करनेमें समर्थ होकर प्रवृत्त हो ।

यह सर्वसाधारण कर्मोक्तक निष्ठान विचार हुआ । गीताकी जो शिक्षा है वह कर्मोक्तका ही है । कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकार है फलपर उसका अधिकार नहीं है वह हमके पूर्व कहा गया है । वह कर्मोक्तसाधन गीताके आत्मिक विभागमें देवी विद्या आत्मिक विभाग में ही निष्ठान करत है ।

कर्मफलत्याग

इस कर्मोक्तसाधन विभागमें गीताका वह भाग विशेष महत्व करने योग्य है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनोनिधः ।

अभ्यस्यपवित्रमुक्ताः परं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(गी २।११)

(कर्मजं फलं त्यागना) कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके (मनोनिधः) बुद्धिमत् लोग यह

७७ (हि. गी.)

त्यागना प्राप्त करत हैं । कर्मसे फलका त्याग करना चाहिये अपने प्राप्त अपने कर्मका फल समझत करने नहीं रखना चाहिये । कर्मफलके संग्रहमें दोष होता है और कर्मफलवापसे निर्दोषता होती है, यह इसका तात्पर्य है । अतः कर्मका फल छोड़ना है, इसका विचार करना चाहिये—

आज्ञात विद्यादान करता है अज्ञित शास्त्रा सरक्षण करता है वैश्य कृषि, मोरक्षा और वाणिज्य व्यवहार करता है ब्राह्मण कलाकीय और परिचर्य करता है इस तरह सब मनुष्य अपने अपने कर्म करते हैं । इस कर्मका फल हमको देवतके कर्मे प्राप्त होता है । यह देवत धनकर्ममें हो वा अन्य किसी कर्मे भी हो सकता है भिन्नता है । यह धन कर्म करनेवाला अपने प्राप्त संग्रह करने रख या न रखे ? इस विषयमें गीताके आत्मिक विभागमें यह आचार्य है कि नहीं कोई भी कर्ता अपने कर्मका फल अपने प्राप्त संग्रहित करके न रखे क्योंकि उससे दुःख बढ़ेगा अतः सब लोग अपने कर्मसे फलका त्याग कर दिया करें ।

सब अन्तर्गत कर बर्णोंमें निष्ठान हुई है और उनके कर्म निष्ठान और नियत हैं । प्रत्येक कर्म होतही उसके अन्तर्गत फल कर्ताको निष्ठानही चाहिये । कर्ता सब फलको छोड़े परन्तु अपने प्राप्त उसका संग्रह करने न रखे उसका त्याग करे त्याग करे समर्पण करे । संग्रह करनेमें दोष और त्यागके लाभका विचार करनेके बिना मान लीजिये कि एक अध्यापक सरस्वत देवत प्राप्त करता है एक अज्ञित हो उत्पन्न व प्राप्त करता है एक कर्मचारी वृत्त व प्राप्त करता है । व क्रमेण अपना अन्तर्गत अपने प्राप्त संग्रह करके अपने कर्म से पहिले ही प्रतिमात्र संग्रहो व चारोंपक्षों जॉयेंगे और तीसरा कर्मक इस व ही प्राप्त कर सकेगा । इसीमें उसका आत्मिक स्वयं भी होगा । अर्थात् पहिले दो चली व चारोंपक्षों और तीसरा निर्दोषता रहेगा । चलीके द्विष्ट अपने प्राप्त धन मुरा श्रित रखवाही एक समस्तता वन आत्मिक और आदिमें पूर रखनेकी चिन्ता उत्पन्न चली रहेगी । जो विषय और भूमे है, वे हम आत्मिकीको मूर्त केव हैं । इससे हेतु होता है और वाभाव बहता है । वे विषय देवता न करे हस्तक्षिप्त रखक पाकक धन, सेवाकी वना आचार्यवत् कर्मचारी आदि

उसका विचारही नहीं करवा चाहिये। उसके बाद
कर्मका पार काष्ठवर्षत्वार शेषा, और सब कोण (स्वे
स्वे कर्मव्यभिचरः) अपने अपने कर्मोंमें रुक रहेंगे
(स्पष्टसर्वपरिग्रहः । गी ३।११) सब वस्तु समझकी
सुझिका त्याग करेंगे, (विमरस्तराः । ३।११) मरसररहित
होंगे ईर्ष्याद्विषये दूर रहेंगे (अमिक्कत) सबका अपना
निजी गृह भूमि आदि कुछ नहीं होगा (यक्षायाश्चरतः
कर्म समग्रं गी ३।१२) सब कर्म बन्धक कियेही करेंगे
किष्कीकी (न कर्मफलं स्पृहाः । गी ३।१३) कर्मके फलकी
इच्छाही नहीं होगी। इस तरह मीतोष्ठ राज्यमें सबका
धनहार होया। इस विषयमें बहो संख विस्तार करनेकी
आवश्यकता नहीं है। इससे विचारसे सब बातें जानी जा
सकती हैं।

यहाँ ऐसा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जिससे
मान्य इस मीतोष्ठ राज्यशासनमें होने, उसमें सबके सब
कर्मफलवासी होंगे। उनमें कुछ फलभोगी होंगे उनका
नाम सक्रम कर्म करनेवाले हैं और जो कर्मफलवासी हैं
उनको निष्क्रम कर्म करनेवाले कहते हैं। यद्यपि मीतोष्ठ
राज्यशासनकी विशेषता निष्क्रम कर्म तथा कर्मफल
भोग है। तथापि ज्ञान मान्य इसकी कर सकेने वह कठिन
पटित होया है अतः सक्रम कर्मका मार्ग गोचर रूपसे कहा
गया है। वे विचकी श्रेणीक कोय सक्रम कर्म करें, उसके
दुःख भोगों और दुःखोंका अनुभव होते हुए निष्क्रम
कर्मभोगमें प्राप्त कर लें। इस तरह विचकी श्रेणीके
भोगोंका भी बहो संबंध किया गया है तथापि सब कर्म
कर्मफलवादी की ओर है। जो विचार करना चाहते हैं
वे इस कर्मको पदार्थमें रखकर विचार करेंगे तो उनकी
मीतोष्ठ राज्यशासनकी विशेषताका पता लग जायगा।

यहाँ हमने जो विचार किया है वह कोई परिपूर्ण विचार
नहीं है, इसमें अनेक न्यूनताएँ होंगी। इस मीतोष्ठ राज्य
शासनके विषयमें बहुतही विचार करने सब शासन-विषयक
संबंधका निश्चय करना चाहिये। वह विचार ऐसे ऊँचे
ऊँचे नहीं होगा तथापि यहाँ मोक्षार्थ दिग्दर्शन कराया है,
जिससे पाठक विचार करके मीतोष्ठ राज्यशासनके संबंधक
विषयमें कुछ न कुछ जान सकें।

यहाँ कर्मफलका अवसीकार अधिकतम बर्बाद अपनी
निजी संपत्ति भूमि, घर आदि न होगा सबका योगक्षेम
राज्यशासनव्यवस्था कहना इत्यादि बातें देखकर वह कर्मके
बोझविशियोंकी आशय-प्रवाची है, ऐसा कोई न समझ,
क्योंकि वह ईश्वरहीन राज्यशासन है और मीतोष्ठ राज्यशासन
ईश्वरकी अधिपत्य मानकर चलता है। इससे दोनोंका
एकिकोण बहुतही प्तिष्ठ है। दूसरे यह उससे सहजों रूप
पूर्वकी राज्यप्रवाची है। अथर्वगीतम् ११ में अथर्वामें
ईश्वरका विचक्षण बताया है वह समझमें आयेके राजा
मीतोष्ठ राज्यशासनका विचार पाठक कर सकेंगे। अतः
मिथेय है कि यह परमेश्वरका विचक्षण पाठक जाननेके
पश्चात् उस विचक्षणपर राज्यशासन कैसे स्थिर हुआ है
इसका भव्य करें। अथर्व विचक्षणका दीक दीक ज्ञान नहीं
होना अथर्वप्रथा प्रजापति, प्रजापति-सत्त्वा आदिका ज्ञान
नहीं हो सकेगा। इसलिये जानेके निष्पत्ति भोग अध्यापक
अध्ययन करनेके राजा विचक्षणका ज्ञान करें भार धर्म
देविक कर्म हवी विचक्षणकी विचार्य कैसा आनंद है वह
जायनेका भव्य करें।

यहाँ केवल सूत्रभाषा सूत्ररूपसे कहा है और उसमें
अतिसंक्षेपके कारण जो अनेक दोष रह गये हैं व आगेके
अध्यायोंके स्पष्टीकरणसे दूर हो सकेंगे।

यहाँ अथर्व अध्यापक भवन समस्त हुआ है १५

नवम अध्यायके सुभाषित

(१) ज्ञानविज्ञानसे अशुभकी निवृत्ति ।

ज्ञानविज्ञानसहित ज्ञात्वा मोक्षोऽशुभात् ॥ (१)

विज्ञानसहित ज्ञान प्राप्त करनेसे अशुभकी निवृत्ति हो सकती है ।

(२) राजविद्याका प्रत्यक्ष फल ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिव सुष्ठमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्मं सुष्ठु कर्तुमभ्यस्य ॥ (१)

राजविद्याअर्थात् राजविद्या पवित्रता करनेवाली बहुत प्रशस्त है। इससे प्राप्त करनेवाली धर्मप्राप्ति अत्यन्त सुष्ठु है। अतः इसे अभ्यास करनेसे ही और कोई अन्यसे नहीं होसकती है ।

(३) अष्टाङ्गकी प्रेरणा ।

अभ्यसेन प्रकृतिः सृजते स्वरात्मनम् ।

हेतुमाऽनेन समक्षिपरिवर्तते ॥ (१)

अभ्यसेन द्वारा प्रकृतिमें प्रेरणा होती है और अष्टाङ्ग अभ्यासे परिवर्तन होता है । प्रकृति अष्टाङ्ग अभ्यास द्वारा प्रेरणा करनेवाली होना चाहिये ।

(४) कार्यकर्ताओंका योगक्षेम ।

असम्प्राप्तमस्त्यन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (१)

असम्प्राप्त होकर जो लोग मेरा कर्म करते हैं उनसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ।

इससे परमेश्वर अपने भक्तोंका योगक्षेम करता है देखो राजा अपने सेवकों और स्वयंसेवकोंका योगक्षेम करता है ।

(५) उपासक उपासके समान वक्ता है ।

यस्मिन् देवमता वेदाम् पितॄन् यस्मिन् पितृमताः ।

मृतानि यस्मिन् भूतेभ्यः यस्मिन् मद्याजिनोऽपि माम् ॥

(१)

एकसे उपासक देव वक्ता है, पितृव्यक पितासे

समान होते हैं मृतदेवोंके पुत्रक मृतदेवोंके समान होते हैं, और ईश्वर उपासक ईश्वरको प्राप्त होते हैं । जो वेदा उपासकादि व्यवहार करता है वह वैसा वक्ता है ।

(६) समता धारण करो ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न मित्रः ॥ (१)

'सब मामिमानेके सम मेरा द्वेष नहीं है न मित्र । कोई मेरा मित्र है और न शत्रु । सबको अपने सम देखो ही सम मात्रसे व्यवहार करना चाहिये ।

(७) साधुका उपास ।

यपि चेत्सुतुराचारो मज्जे मामभ्यस्यमाह ।

साधुरेव स मत्तभ्यः सत्यम्यवसितो हि सः ॥ (१)

मनुष्य बुराचारी भी क्यों न हो, यदि वह ईश्वर भज करने लगा तब और सत्यक वाचन करने कहे तो समझो वह साधु ही होना है । निष्का वाचन अच्छा है और जो ईश्वरका भक्त है वह साधु है ।

(८) भक्तका नाश नहीं होता ।

क्षिप्तं भवति क्षमायाः शम्भुच्छातिं निपद्यति ।

क्षीन्तेऽपि प्रतिजानीहि न मे मक्ता भवन्ति ॥ (१)

ईश्वरकी भक्ति करनेवाला भक्तक क्षमाया वक्ता है और क्षमा प्राप्त करता है । देखे भक्तक कभी नाश नहीं होता ।

(९) पापियोंका उद्धार ।

मां हि पाप्यं व्यवधित्य येऽपि स्युः पापयोग्याः ।

क्षियो वेद्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यस्मिन् पतं गतिम् ॥

(१)

ईश्वरकी भक्तिके वाचन से वेदों पारी पापयोगी उद्धार भवना देखो क्षत्र और क्षिप्त भी वरम अहं नित्यो प्राप्त होती है । इसलिये ईश्वरभक्ति करना सबकी योग्य है ।

भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी

नवम अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
राजविद्या-राजगुह्य योगः	५७३	अनन्यघटि	५९
(१) पवित्र अधिनाशी राजधर्म (श्लोक १-३)	५७३	केवा करेनेम्य ईश्वरके रूप	५९०
गुह्ययोग राजविद्या	५७४	अतुल्यार्थ राजविद्याका रहस्य	५९१
राज्य कर्मके विद्या	५७४	(६) ईश्वरका स्वरूप (श्लोक १६-१९)	५९२
अपने कर्मसे ईश्वरसेवा	५७५	होनोंकी एकता	५९२
प्रजापतिधर्म और मन	५७५	ब्रह्मके पदार्थ साम और ज्ञान	५९३
गुह्य-ज्ञान गुह्य देनेवाका धर्म	५७६	वही अधिनाशु	५९३
अभिधासिनोंके दुःख	५७६	राजविद्याधर्मकी बोध	५९४
(१) अम्यकका प्रभाव (श्लोक ४-९)	५७७	परमात्म-अविनाश-राजपरक वर्ण	५९४
निर्मलर हृदितोके उपरुख	५७७	वही राजविद्या आध्यात्मिक है	५९५
विश्व धर्म	५७८	(७) कामकासी और अनन्यमल (श्लोक १०-१३)	५९६
सीधोंमें एक निवस	५७८	तीव विद्यार्थ	५९६
अविदेवत अधिभूत अध्यात्म	५७८	अनन्य-भावके निष्काम कर्म	५९७
अनन्यकर्म	५७९	(८) अम्य देवताओंके भक्त (श्लोक ११-२५)	५९८
अनन्यके सबभूतके देवार्थ योग	५८०	योगयोग	५९८
भूतभूत व च भूतस्वा	५८०	राजविद्याकी बल	५९९
भूतभावन अर्थ	५८०	(९) आत्म-समर्पण (श्लोक २६-२८)	६००
(३) कर्मादि और कर्मफल (श्लोक ३-१०)	५८१	मूर्ति-एव	६१
आकाशमित वायु	५८१	परमेष्ठिनी विद्युति	६२
कर्माधी अधि, अष्टका दिव	५८२	अविनाश-समर्पण अथ विद्युति	६३
ईश्वर और राजा	५८२	(१०) ईश्वरमलिकसे सबका कारण (श्लोक ११-१३)	६०३
कर्मादि कर्मफल प्रकृति	५८३	राजविद्याका भाव	६३
भूतभाव कर्ममें अर्थ	५८४	ईश्वरका धर्म भाव	६५
(४) भूत राजाओंकी भयमति (श्लोक ११-१३)	५८५	(११) ईश्वरमलिक (श्लोक १४)	६५
अनन्य जगत्का परिचरन	५८५	राजविद्याका संकेत	६५
माहेवरी भाव भूतभावोंमें ईश्वर	५८६	अथ नव अध्यायका मर्म	६०७
(५) महात्मियोंका अभाव (श्लोक १३-१५)	५८७	अनन्य और राजविद्याका	६०
प्रह्लाद काय	५८७	गीताध्यायके आध्यात्मिक काम	६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
आत्मार्थ और राज्यार्थ गुण	६ ७	अमरद्वि	६१४
अर्थ और वरभाव	६ ९	अर्थ और मिथ्याचार	६१६
अर्थका मूल कारण	६ ९	कामार्थ और मोक्षार्थ	६१६
राजा और अधिकारी	६ ९	आपसे उन्नति	६१७
चार प्रकारके लोग दो वर्गोंमें	६१	उद्योगसे उन्नति	६१९
बहुवि-प्रका-प्रज्ञे अर्थार्थ विद्या वाता	६११	महान् अर्थार्थार्थ सुभाषित	६१९
अमर्त्य अम अर्थवहार अर्थवहार	६१२	(१) आत्मविद्यासे अमर्त्यकी विद्वत्ति	६१९
राजा और प्रजा	६१३	(२) राजविद्याका अमर्त्य फल	६१९
१ अर्थार्थ-सूक्ति (राजप्रज्ञा)	६१३	(३) अर्थार्थसे प्रेरणा	६१९
२ अर्थार्थ सूक्तिसे अर्थ काय्य उत्पन्न	६१३	(४) अर्थार्थार्थार्थार्थ बोधार्थ	६१९
३ अर्थार्थसे अर्थसूक्तानि	६१४	(५) अर्थार्थ अर्थार्थसे अर्थार्थ वार्ता है	६१९
४ अर्थ अर्थार्थार्थार्थार्थ	६१४	(६) अर्थार्थ अर्थार्थ करो	६१९
५ अर्थ अर्थार्थार्थार्थार्थ	६१४	(७) अर्थार्थ अर्थार्थ	६१९
६ अर्थ अर्थार्थ पश्य	६१४	(८) अर्थार्थ अर्थार्थ	६१९
अर्थार्थ अर्थार्थार्थ	६१४	(९) अर्थार्थार्थ अर्थार्थ	६१९

अथ दृष्टमोऽध्याय

विभूति-योग

(१) महत्त्वपूर्ण उपदेश

मीमांसानुवाच—

भूय एव महाबाहो कृणु मे परम वचः । यत्सेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरमया प्रमथ न महर्षयः । ब्रह्मादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वेषु ॥ २ ॥

यो मामममनार्दि च वेत्ति लोकमहेम्बरम् । असमृद्धं स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे महाबाहो ! भूयः । एवं मे परम वचः कृणु । प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
सुरमयाः महर्षयः । न मे प्रमथ न विदुः । अहं हि देवानां महर्षीणां च सर्वेषुः आदिः । (अग्निः) ॥ २ ॥ यः सो अमं अमार्दि
लोकमहेम्बरं च वेत्ति । यः मर्त्येषु लोकेषुः (मृता), सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

मगवान् बोले— हे महाबाहो ! मेरा एक हितकारी वचन और मुझ : मुझे मेरे वचनोंसे संतोष होता है, यह देख मैं तेरे सामने किये कुछ और उपदेश देता हूँ ॥ १ ॥ वेदवाच और महर्षि-मण मी मेरी कृपाधिको नहीं जानते क्योंकि मैं देवों और महर्षियोंका भी आधिकारक हूँ ॥ २ ॥ जो मुझे अमर्या, अमार्दि और सब लोकोंका स्वामी समझता है, वह इस संसारमें अज्ञानसे कुछ ज्ञानसम्पन्न हो सब पापोंसे मुक्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— वही एक विशेष महत्त्वका वचन यह है कि वह परमेश्वर सब देवों और ऋषियोंका आदि कारण है । इसलिये उसे न तो वे देव जानते हैं और न ऋषिही जानते हैं । ईश्वर कभी पैदा नहीं होता ; वह अमार्दि और अमं है तथा सबका स्वामी है । वह जो जानता है वह अपना ज्ञानी और विचार होकर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १-३ ॥

(१-३) अर्जुन प्रकारद्वि होकर अमवान् मीमांसनीयके वचनोंसे कुछ कुछ और अनुज्ञा होने लगा । इसलिये उसके कल्याणकी इच्छासे अमवान् कि एक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं । वचन यह बात अर्जुनसे पृथी नहीं की परन्तु महर्षिको सब दृष्टमो इच्छा नहीं हुई । अतः अमवान् वचनसे उसके कल्याणकी बात क्यों न कहते ? जी अमवान् इच्छा इच्छा माताका इच्छा है जो सब प्रवृत्ति कल्याणकी चाहता है । इस माताके वचनसे अमवान् केवल अर्जुनके कल्याणकी इच्छासे उसे यह एक विशेष महत्त्वकी बात बताने हैं । देवमण और ऋषियण ईश्वरकी कृपाधिको नहीं जानते ईश्वर कहते हैं कि प्रकाश उत्पन्न हुआ इत्यादि इच्छासे वे नहीं जानते । वे क्यों नहीं जानते ? इसका कारण यह है कि इसी ईश्वरसे इन देवोंकी उत्पत्ति है । अतः वह ईश्वर अपने जन्मके भी पूर्वकाकेही विद्यमान है । अतः ईश्वर निया है और देव तथा ऋषि उसके पुत्र हैं । पुत्र सिधके

जन्मकी देवे जात सकते हैं । इसी प्रकार वे देव और ऋषि ईश्वरकी कृपाकी आधिकारिकी वचनए नहीं जान सकते ।

जो अनुभव इस लोकमें महेश्वरको अमर्या अमार्दि तथा अमं जानता है, वही अम जानता है वही ज्ञानी कहलाता है । ईश्वरकी अवधि वचन जानवारी सत्य ज्ञान है । वह ज्ञानी अनुभवोंमें कृपणता होता है, उत्तरद्वि होता है और मुक्त भी होता है । ईश्वरको अमार्दि अमण आधेदे अनुभव विष्णव किप्र प्रकाश होता है वह विचार करनेकी बात है । इसका एकमात्र कारण इच्छाही है कि ईश्वर, अमार्दि अमं और सब प्रकारसे परिपूर्ण होनेपर भी सब शक्तियोंके उत्पत्तिके किप्र अमवान्पादि कार्य विष्णव मातृके करता रहता है । इच्छा बसा होता हुआ भी अर्जुनके अर्जुनकी दृष्टिके किप्र पूर्ण बोधना करता है, वह वचनकी वचनता है । वह वचन अनुभव भी अमनेके अर्जुनकी

(२) विभूतियोग और उसका फल

पुद्गिर्ज्ञानमसमोहः क्षमा सत्य दम क्षम । सुखं दुःख मघोऽभावो मयं चामममेव च ॥४॥
 अहिंसा सयता तुष्टिस्तपो दानं यज्ञोऽप्यथ । भवन्ति मावा भूतानां मय एव पूजयिष्यामः ॥५॥
 महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मञ्जाया मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ॥६॥
 एतां विभूतिं योग य मम यो वेति तत्त्वतः । सोऽधिकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अन्वयः—इति ज्ञानं अविभक्तमोहः क्षमा सत्यं, दमः क्षमः सुखं दुःखं मयः अभावः अयं च अमय एव च ॥ ४ ॥
 अहिंसा सयता, तुष्टिः तपः दानं यज्ञः अप्यथ (इत्ये) पूजयिष्यामः मूलार्थः आत्माः मया एव पूजयिष्यामः ॥ ५ ॥
 पूर्वं सप्त महर्षयः तत्त्वां अन्वयः मनवः मञ्जायाः मानसाः जाताः येषां लोके इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥ यः मम एतां विभूतिं योगेन च
 तत्त्वतः वेति स अधिकम्पेन योगेन युज्यते अत्र संशयः च ॥ ७ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अमृतता, क्षमा सत्य, इन्द्रियनिग्रह ममःशान्ति सुख दुःख, उत्पत्ति विनाश मय
 और अमय अहिंसा क्षमाता, सत्योप तप दान यज्ञ और अप्यथ ये प्राणिमोमें उत्पन्न होववाले
 मित्र मित्र प्रकरके सबके साथ सुख (ईश्वर) सेही उत्पन्न होते हैं ॥ ४-५ ॥ पूर्व काष्ठमें सात कवि
 और बार मनु मेरे (ईश्वरके) मनसाया उत्पन्न माय हैं जिससे इस लोकमें वर्णित सब प्राणियोंकी
 उत्पत्ति हुई है ॥ ६ ॥ ओ मेरी (ईश्वरकी)— इस विभूतिको और एजवाकी कोशकपूर्ण शक्तिको बचने
 कर्में आत्मता है यह अविच्छिन्न योगसे पुष्ट होता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ७ ॥

भावाद्य— बुद्धि ज्ञान वादि सर्वत्र माय को प्राणिमात्रमें दिखाई देते हैं वे ईश्वरसेही उत्पन्न होते हैं । सब कर्म
 और मनु भी ईश्वरके मायक मन्त्रही हैं जिससे वह सब प्रजा उत्पन्न हुई है । ये सब ईश्वरकी विभूतिना हैं और इन
 विभूतियोंको उत्पन्न करनेकी कोशकपूर्ण शक्ति ईश्वरकी है । इसी शक्तिके इस मिश्री सब विभूतिना उत्पन्न होती हैं । ओ
 भोग वह जानते हैं कि वे सब विभूतिना ईश्वरकीही हैं और इन विभूतियोंकी उत्पत्ति वचकी बहुत कोशकपूर्ण शक्ति
 होती है अकाली भोग सुख होता है ॥ ४-७ ॥

अज्ञानता कर्म उत्पन्न हित कर्म । वह उपदेश जो केते हैं और
 फिर उठे अपने आचरणमें परिणत करते हैं वे विष्णवा
 बनते हैं और परिणत होते हुए सुख हो जाते हैं ।

ऐस ईश्वरकी नहीं जानते क्योंकि वे उनके पञ्चाय
 उत्पन्न हुए हैं । वह सब अज्ञेयमें भी नहीं है—

को भन्ना वेद क इह प्रलोकात् कुत या जाता
 कुत इयं विष्णुभिः । अर्चयिष्या अस्त्य विजयिष्याय
 को वेद यत भावमूय ॥

(अथेव १ ॥ १२९१६)

यत्ना वह विद्वान् लोकात् विरजार किछी और
 कहाये हुवा ? इसे कबिक विस्तरपूर्वक कीन कहेगा ? इसे
 कन विजयपूर्वक जानपा है ? ऐस भी इस पृथिवी समयेके
 पञ्चायकी उत्पन्न हुए हैं फिर वह कीन जान सकता है कि
 नृति कहाये उत्पन्न हुई ।

इस तरह अज्ञेयका भी वह कथन है कि वेद उठके
 पञ्चाय उत्पन्न होनेके कारण उत्पन्नी अज्ञानता नहीं जानते ।
 वेदकीही वह बात अज्ञानता नहीं नीतामें इतराई है ।

इसकी शक्तिके पञ्चाय अज्ञानता अज्ञानता अज्ञानता
 है । वह अज्ञानता अज्ञानता अज्ञानता तथा विचारणीय है,
 क्योंकि वह नीताके मनुष्य भावकी अभिप्राय है—

(४-७) इन कोकोंमें बुद्धि ज्ञान वादि सब का
 जो मनुष्योंमें दिखाई देते हैं, सब ईश्वरसेही उत्पन्न होते
 हैं ऐसा कहा है । ये सब ईश्वरके विष्णुवारी मयके उत्पन्न
 हुए (मञ्जायाः मानसाः जाता) मायक माय हैं,
 वे सब अज्ञानता अज्ञानता हैं । वह ईश्वरकी विभूति है
 और नहीं ईश्वरकी शक्तिका अद्भुत बोन है । जो इसमें
 ईश्वरकी विभूति और शक्तिके अद्भुत भोगक बहुत
 करता है उसका विचार भोग उच्चम प्रकर साथ हो जाता

है। वही इस आशका कव है इसलिये, इसका विशेष विचार करना चाहिये। यहाँ कुछ बीस भाग कहे हैं इनमें बार अमावसाचक हैं और सोकड़ भावसाचक हैं। बिच बारह भावोंके प्रतिबोमी अमावसाचक भाव गीताके कोष्ठोंमें दिये गये हैं, उनके अमावसाचक कव्योंकी कल्पना यहाँ करनी चाहिये वा नहीं, यह यहाँ पृथकी संका होती है। सुविचारके लिये नीचोक्त कव्य स्मृक कव्योंमें और प्रति बोमी भावोंमें क्रमिगत कव्य सूक्त कव्योंमें दिये गये हैं—

१ सुखि	(कसुखि)
२ आर्ष	(कआर्ष)
३ असंमोहा	(संमोहा)
४ क्षमा	(कक्षमा)
५ सारथ	(कसारथ)
६ क्षमा	(कक्षमा)
७ शमः	(कशमः)
८ सुखे	९ सुःखः
१० भावाः	११ समारा
१२ मय	१३ समय
१४ महिषा	(हिषा)
१५ समता	(विमता)
१६ सुखि	(कसुखि)
१७ सपः	(कसपसिवा)
१८ दान	(कदान)
१९ यथाः	२० अथायः

यहाँ गीतामें कहे गयेके गीते क्रमांक दिये गये हैं।

सुख	सुःख
भाव	अभाव
मय	अमय
यथा	अयथा

यदि ये भाव होयें सबोमी और प्रतिबोमीके कव्योंमें दिये हैं तो—

भाव	अभाव
सुख	सुःख

हमारी हृदये भाव क्यों होयें कव्योंमें व दिये गये ? कथित नहीं है कि ये सब भाव होयें कव्योंमेंही किये ७८ (हि. पी)

आयें। हृदयाही नहीं, किन्तु यहाँ अपनी गमित मानवीच मनमें समस्त समस्त भावोंका प्रत्यक्ष किया जाना चाहिये। क्योंकि व्यवहारमें संभव हृदयेही भाव तो नहीं। प्राप्तिमेंकि व्यवहारमें अवश्य भाव विचार है तो ई उक्त प्रत्यक्ष विचार होना चाहिये, जैसे—

असौय	कोष
असम	काम
सावि	असावि
असंसार	संसार
निर्ममल	समल
स्य	कोम

हृदयि अनेक भावस भाव है। सभी भाव ईश्वरीय जोसभाके होते हैं। ऐसा कोई भाव नहीं है कि जो ईश्वरके साथ संभव नहीं रहता। अतः यहाँ जो बीस भाव गितामें हैं, वे केवल उपकल्प भाव हैं, तथा संयोगी प्रतिबोमीके रूपमें दिये गये भाव भी मानवीच समस्त संभव भावोंके विवरणकी हैं। इनसे अन्य भावोंके भी सबोमी और प्रतिबोमी भाव के कहे चाहिये। इसी उद्देश्यसे कहा है कि—

भूतात्मां पृथग्विधया भावाः सप्त दश भवन्ति ।
(पी १ १५)

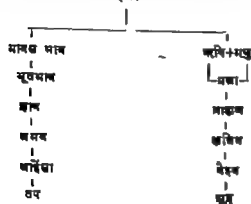
‘ भूतकि पृथक् पृथक् अनेक भाव ईश्वरकेही उत्पन्न होते हैं। कम भूत प्रत्यक्ष असत् निर्मलता मय, शुद्ध हृदय के सभी भाव ईश्वरके होते हैं। इनमें एक भी भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरके न हुआ हो। आगे कहा जानेवाका विभूतिभोग और विभक्त्यर्थम कधी समस्त समस्तमें जानेवा जब ये भाव समस्तमें जा जायेंगे। यह समझना भी अनुचित न होगा कि यहाँ संक्षेपसे विभूतिभोग और विभक्त्यर्थमयोगकी कल्पना किया गया है।

सर्ववि और मनु ईश्वरके समस्त पुत्र हैं। इनसेही हृद कोकभी मया रची गयी है अर्थात् यह मया भी ईश्वरकेही उत्पन्न हुई है। यह भी विभूतिभोगी है और वही विभक्त्यर्थमयोगकी परिकल्पना होनेवाका विचार है।

(१) सतत योगका लक्षण ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मघ सर्वं प्रवर्तते । इति भगवा भवन्ते मां भुधा भावसमन्विता ॥ ८ ॥
 मन्विता मद्भुतप्राया बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां निस्पृह्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
 तेषां सततपुक्तानां ममतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि मुद्रियोगं त तन माप्नुयान्ति ते ॥ १० ॥
 संपामेवानुक्म्पार्थमहममृजानञ्च तम् । नाश्रयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन मास्वता ॥ ११ ॥

ईश्वर



इस तरह ईश्वरसे मानस भाव हुए और उस मानस भावसे मन्त्रा की कुछ हुई । ईश्वरसे ज्ञान उत्पन्न हुआ उससे कुछ मन्त्रा भाव हुए । ईश्वरसे निर्मलता हुई उससे निर्मलवृत्तियोग के कर्म बने । ईश्वरसे भाविका हुई उस भाविका अर्थात् पाकन भावसे कुछ पञ्चपाकन करनेवाले बने हुए । ईश्वरसे तप हुआ और इस कर्मका कार्य करनेवाले हुए हुए । ईश्वरसे इष्टी तरह ज्ञान तथा मनु हुआ उससे कुछ ज्ञानी मनु हुए । इष्टी प्रकार ज्ञानात्म भावसे विपरीत भावना आये ।

ईश्वरसे मुक्तता मानस भाव उत्पन्न हुए, और उस मुक्ततासे भाव करनेवाले ज्ञानात्म भाव प्राप्ति तथा ज्ञानात्म भाव उत्पन्न हुए । इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि इस मूलमें जो जगत भाव है वे सबके सब ईश्वरसे बने हैं, यद्यपि वे सब ईश्वरकी विभूति हैं और इष्टी कारण विभक्त वह रूप इस ईश्वरकाही विभक्त है ।

ये ईश्वरकी विभूति हैं और वह ईश्वरीय सामर्थ्यका बहुत बौद्धिकयोग है । (वासुदेवः सर्वम् । गी ७।१०) पूर्व ज्ञानात्म भावसे वासुदेव अर्थात् ईश्वरही सब कुछ है ऐसा

कहा गया है । इष्टीका स्वीकार है । वह सब कुछ ईश्वर अर्थात् (वासुदेवः सर्वम् ।) के है । इस प्रकारके ज्ञान गीतामें कहा है कि सर्व जगत् ईश्वरके लक्षणसे मानस भाव उत्पन्न हुए और जगत्से भाव करनेवाले ज्ञानात्म भाव, वेदों के सब प्राप्ति हैं । यद्यपि वेदों उनकी विभूति हैं और वेदों उसका विभक्त है और इष्टीसे वासुदेव ही सब कुछ है ।

अधिकम्पित योग

जो वह सब ज्ञानता है उसका योग स्थिर हो जाता है, क्योंकि योगका कार्य ईश्वरसे प्राप्त भिन्न ज्ञान है । मुक्त-मुक्त ज्ञान-जगत्, मन-जगत् आदि सब भाव परनेवाले हैं और सब भावोंसे कुछ सब ज्ञान ईश्वरसे मानस-भावनैव ही है । अब मनुष्यको वह विभक्त ज्ञान हो जाता है वह उसके सामने जो भी भाव जगत् मूल भाव हैं वही वह भावसे वेदों भाव प्राप्ति होते हैं । इस तरह उसका परनेवाले ज्ञान उससे जगत् योग हो जाता है क्योंकि उसके ज्ञाने विभक्त हर एक भाव ईश्वरकाही भाव है । फिर वह ईश्वरसे दूर कैसे होगा ? वही कारण है कि वह सब ज्ञानसे—

सः अधिकम्पेन बोधेन मुपयते ॥ (गी १।१४)

वह अधिकम्पित योगसे कुछ होता है । अर्थात् उसका उस ईश्वरसे प्राप्त योग बढा होता है । जो वह ज्ञान, वह ज्ञान विभक्त वह विचार करेगा, वह ईश्वरसे प्राप्त ही अधिक होगा । इष्टीका नाम अधिकम्पित योग है । जगत् सब भाव ईश्वरकाही हैं, वह ज्ञान जगत् वही हो जायगा जगत् ही ज्ञानात्म योग विभक्त जगत् जगत् योग होगा । परन्तु अब ज्ञानी ज्ञान ईश्वरसे है वह ज्ञान विभक्त जगत् होगा उस इसका योग ज्ञान विभक्त अधिकम्पित जगत् स्थिर योग होगा । इसका जगत् ज्ञानसे—

अवस्था— जहाँ सर्वस्व प्रत्यक्ष (भाषि) मरता सर्व प्रसूते, इति मरणा युवा आचमनप्रतिष्ठा; मां मज्जते ॥ ८ ॥
विष्णुः सद्रूपः परस्पर बोधः कथयन्तः च विष्णुं तुष्टयि च समिति च ॥ ९ ॥ (एव) सततयुक्तानां प्रीतिपूर्वकं
अर्थं तेषां च बुद्धियोग इदमिति चेत् ते मां उपवाप्सि ॥ १ ॥ तेषां एव अनुकम्पार्थं जहं जगन्मातृस्थः (सम्) मातृणां
गर्भस्थेन ब्रह्मानन्दं तमः वाद्ययामि ॥ ११ ॥

मैं (ईश्वर) सबका उत्पत्तिकर्ता हूँ, मुझ (ईश्वर) से ही सब कुछ प्रवृत्त होता है यह जानकर
हामी लोग भ्रष्टासे मेरा (ईश्वरका) भजन करते हैं ॥ ८ ॥ मुझ (ईश्वर) में विश्व छगाकर प्राणतक
हूँ (ईश्वरके छिये) ही समर्पण करके परस्पर बोध करते हुए और मेरा (ईश्वरका) धर्पण करते
ही और नित्य संतुष्ट तथा मानसित रहते हैं ॥ ९ ॥ इस प्रकार सतत इस योगको करनेवालों और
सम्पूर्ण मेरा (ईश्वरका) भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूँ जिससे वे मेरे (ईश्वरके)
पाद आ जाते हैं ॥ १० ॥ जबकी हर ऊपर क्या करनेके छिये मैं उनकी आत्माक भाव (बुद्धि) में रहता
हूँ, प्रकाशमय आनन्दीयसे उनके भ्रष्टावज्जन्म अन्धकारका नाश करता हूँ ॥ ११ ॥

माधार्थ— ईश्वर सबको उत्पन्न करता है, सबको देता देता है, उसकी देण्डसे ही वस्तुमान अपने अपने कार्यमें
मग्न हैं । वह आचमन प्राणक भ्रष्टावज्जन्मे मुक्त होकर परमेश्वरका चक्र करते जाते हैं । ईश्वरमें विश्व स्थिर है । ईश्वरके
कार्यके छिये अपना जीवन समर्पण करें अपने ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करके वह ज्ञान दृष्टांको देनेका यत्न करें । ईश्वरके गुणोंका
संकीर्तन करें । ईश्वरके गुणमयमें आनन्द प्राप्त होनेका अनुभव करें । इस तरह जो लोग सतत योग करेंगे उनकी ईश्वरमें ही
एक अच्युत बुद्धियोग प्राप्त होगा जिससे वे ज्ञाता ईश्वरके साथ रह सकेंगे और ईश्वरसे कदापि दूर न होंगे । उनकी आत्मबुद्धिमें
सब ज्ञान प्रकाशित होगा और इस कारण उनका भ्रष्टाव पूर्ण रूपसे दूर हो जायगा और वे स्वतन्त्र हो जायेंगे ॥ ८-११ ॥

(८-११) ईश्वरके सबकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि
उत्पत्तिकर्ता वही है वही एक सबका उत्पन्न करनेवाला है ।
वही ईश्वरके सर्व वस्तुओंकी प्रवृत्ति होती है अर्थात्
ईश्वरकी प्रेरणसे सब विश्वके पदार्थ अपने अपने कार्यमें
मग्न होते हैं । इस सर्वव्यपि के कारण एक ही पदार्थ
वही है कि जो ईश्वरकी प्रेरणसे रहित सर्वव्यपि स्वतन्त्र
रूपसे प्रवृत्त हुआ हो । अतः वह विश्वक आनन्द प्राप्तिके
लिए जो कुछ इस विश्वमें प्रवृत्ति हीवरी है वह वही एक
व्यपिही ईश्वरके हुए है ।

प्रवृत्तिक आदिकारण परमेश्वर है ऐसा स्वतन्त्रता विहित
हो जानेपर परमेश्वरपर भ्रष्टा भाषि और लटक विनाश
स्थिर हो जाता है और ऐसे ज्ञानी भक्त सतत उसीका
भजन करने लगते हैं ।

वे ज्ञानी ईश्वरमें विश्व लगाते हैं, वहीमें सब स्थिर करते
हैं, अपना सबका विश्व विराट् वहीपर लगा रहता है । उच्च-
के मित्रकोई वस्तु न होनेके कारण वही विश्वकमेया उनको
वही ईश्वरका ही भाव प्रतीत होता । जो भाव उनके ध्याने
आता है वह ईश्वरका ही भाव होनेसे ईश्वरको सर्वत्र प्रत्यक्ष
करके कर्मक उनका मन वही ईश्वरहीमें स्थिर रहता है ।

उनके प्राण भी ईश्वरके छिये समर्पित होते हैं । ईश्वरका
कार्य करनेके छिये उनके प्राण लगा जाते हैं, अर्थात् उनका
सर्व जीवन ईश्वरके कार्यके छिये समर्पित होता है । उनका
जीवन किसी स्वार्थके छिये नहीं होता प्रत्युत ईश्वर-देवाके
छिये होता है । ईश्वरका कार्य करते हुए वह वही वस्तु भी
जाग्राय तो उनकी परम आनन्द होता है ।

वे स्वयं ईश्वरके बहुमुख धाममयका विचार करते हैं
उस धाममयके समक्षते हैं और वहाँको समझते हैं । वे
इस ज्ञानको दृष्टांको देना भी अपना कर्तव्य समझते हैं ।
इसीछिये वे उपदेश देत रहते हैं ईश्वरत्वका ज्ञान
संप्राप्त करने रहते हैं प्रवचन करते हैं और ऐसा मन वे
करते हैं, जिससे ईश्वरके गुण मनुष्योंको विदित हों । वे
इसी गुणमयसे सतत होते हैं और प्रसन्न होते हैं ।

सतत योगी

जो पूर्णतः ईश्वरविषयक तत्त्वज्ञान प्राप्त उपदेश
करते हैं और वहीमें समते हैं जिसका विश्व ज्ञाता वही
ईश्वरमें लगा रहता है और जिसका जीवन परमेश्वरको
समर्पित हुआ होता है तथा जिसका शरीर, मन आत्मा
जहाँ ईश्वरमय होता है उनका सतत बोधी वही

(४) किस किस भावमें ईश्वरका चिंतन करना चाहिये ?

अर्जुन उवाच—

पर ब्रह्म पर धाम पवित्र परमं महान् । पुरुष धामात् दिव्यमाविदेवमजं विशुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामुपयः सर्वे दूषयिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतद्वत् मन्ये यन्मां वदसि केनचन । न हि ते भगवन् व्यर्किं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्स्य त्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन भूतेश देवदेव अमृत्यते ॥ १५ ॥
घक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या आरमयिभूतयः । यामिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्तवं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिस्त्वं सदा परिचिन्तयन् । केतुकेषु च भाषेत्तु चिन्तोऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विमूर्तिं च जनार्दन । भूयः कथय तस्मिन् विभूतौ नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अन्वयः— अर्जुन उवाच— भगवान् पर ब्रह्म परं धाम परमं पवित्र (अखण्ड) । सर्वं जगत् । त्वां काचतं विष्णुं लोकेषु
जगं विष्णुं पुरुषं आहुः ॥ १२ ॥ तथा देवर्षिः नारदः अखितः देवकः व्यासः (कथयति) त्वं च स्वयं एव मे ब्रवीषि ॥ १३ ॥
दे कथय । परं मां त्वं वदसि तत् वदस्व सर्वं (यह) जगत् मन्ये । हे भगवन् ! देवः दानवाः (वा) ते व्यर्किं न हि
विदुः ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ! त्वं स्वयं एव जगत्मा आत्मा देव ॥ १५ ॥ (वक्तुं)
पात्रिः विमूर्तिभिः त्वं इमांश्च लोकान् व्याप्य तिष्ठसि (ताः) विभूतिभिः जगत्समिपुत्रवा हि लोकेषु वक्तुं शक्नुषि ॥ १६ ॥
हे योगिन् ! सदा परिचिन्तयन् त्वं त्वां कथं विद्याम् ? हे भगवन् ! केतुकेषु च भाषेत् त्वं मया कित्वाः वदसि ? ॥ १७ ॥
हं जगत्पते ! भगवन्तः योगं विमूर्तिं च ज्ञानं विस्तरेण कथय । (पश्य) अमृतं भूषणं हि मे मुक्तिः न अस्ति ॥ १८ ॥

अर्जुन बोले— आप परब्रह्म हैं परम धाम हैं और परम पवित्र हैं । सब जगत् आपकी धामात् दिव्य
आवि देव अजस्रमा विष्णु और उत्तम पुरुष कहते आये हैं ॥ १२ ॥ दूषयि माण् असित, देवक और व्यास
भी यही कहते हैं और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कह रहे हैं ॥ १३ ॥ हे केनचन ! आप जो भी मुझसे
कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन् ! देव और दानव आपका स्वकृप नहीं जानते ॥ १४ ॥

बाता है । उसकाही जीवन पूर्ण भोगमय होता है उसकाही
घरा बार वर्षात भीम हुआ करता है । किन्तु जगत्पते के
रहते उस जगत्पतेमें उसका भीम होता रहेगा वह अखित
नहीं होता । ईश्वरके किन्तु जगत्पतेमें रहनेमें उनकी
मेम होता है और मेम परे किचले के सदा वह भोग करते
रहते हैं । दूसरे जगत्पतेमें कहा जा सकता है कि उनके द्वारा
स्वभावासे वह भोग होता रहता है ।

इस अर्थ को पियोकी बुद्धि इसी योगसे अनुभव होती है ।
मार्गे उनकी बुद्धिमें दृष्टा । कुछ विषय रहवाही नहीं । इस
कारण वे सदाही परमेश्वरके पास रहते हैं परमेश्वरका पूर्णता
मात्र कर लेते हैं । उनकी जगत्पतेमें कहायि रहते नहीं रहती
क्योंकि वह हरकत नहीं जानती नहीं ईश्वर प्राप्त होगा ।
इस जगत्पतेका धाम बुद्धिधाम है । वह बुद्धिधाम जिन्हें
पाठ होगा है वे सदा ईश्वरसे संयुक्त रहते हैं उनके उपर

परमेश्वरकी अनुकम्पा होती है । वे जोम ईश्वरकी दृष्टिमें लय
होते हैं । उनकी जगत्पतेमें परमेश्वर आगता है देवा लय
जाता है । लय तो वह है कि परमेश्वर को सभी जगत्पते
नहीं निरंतर आगताही रहता है परंतु उनकी जगत्पतेमें
अनुभव लय महाभुक्तकोही होता है जो पूर्णक इति
योगसे युक्त होते हैं । इस तरह जगत्पतेमें सदा परमेश्वर
की ऐसी आगति होवेपर तो कुछ ज्ञान इति ईश्वरकी लय
कने लगता है और जगत्पतेका प्रकाश होतेही जगत्पते
नष्ट हो जाता है । इस तरह जगत्पतेका नाश होनेसे जगत्
कथा मुक्ति प्राप्त होती है ।

श्रीभगवान्के सुधारविषये इतना विवेचन अथय करनेपर
अर्जुन ईश्वरकी सर्वत्र उपविष्ट माननेका पाल करने लगा ।
इस पाल करनेको जगत्पतेमें उसको मनमें कुछ संशय पर
स्थित हुई, वह जब उनकी भगवान्के सम्मुख रहता है—

हे पुरुषोत्तम, मूलोंके उत्पादक, मूलोंके ईश्वर, वेचोंके देव और जगत्के स्वामिन् । आप स्वयंही अपने आपको जानते हैं ॥ १५ ॥ अतः मुझसे अपनी उन विषय विभूतियोंका वर्णन पूरा रूपसे करिये, जिन विभूतियोंद्वारा आप इन लोगोंको व्याप्त कर रहे हैं ॥ १६ ॥ हे योगिन् ! निम्न आपका चिन्तन करत हुए मैं किस तरह आपको जान सकूँगा ? हे भगवन् ! किन किन भावोंमें मैं आपको चिन्तन करूँ ? ॥ १७ ॥ हे अनार्यन् ! अपने कौशलयोगका और अपनी विभूतियोंका फिर मेरे किये विस्तारसे वर्णन कीजिये । यह असुखरूप वर्णन सुननेपर मी मेरी दृष्टि नहीं हो रही है ॥ १८ ॥

भाषार्थ— पर ब्रह्म परम नाम, परम पवित्र स्वरूप एकही है। उस अर्थात् उसी ईश्वरको सम्राट्त्व दिव्य, पवित्र देव, अन्तर्मा, अन्तर आत्म और मुख्य मुख्य कहते हैं। उसका यह वर्णन सर्वही है परन्तु उस ईश्वरको बर्णन करते आत्ममें उल्लेख दिव्य रूपों को ही समर्थ नहीं है। यही सबका उत्पत्तिकर्ता, और प्रकाशक है। वह स्वयं अपने आपको जानता है। वह हृव सब कोकोकमण्डलीको किं किं विभूतियोंद्वारा व्याप्त कर रहा है, वह विशेष विचारणीय है। किं किं विभूतियोंके रूपमें जाकर उसे देखे पड़ता है और समझे कि वह इस रूपमें परमेश्वरही है। आत्मको ईश्वरके उस विभूतियोंको समझानेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १२-१८ ॥

(१२-१८) परमेश्वरकोही पर ब्रह्म, परम नाम और परम पवित्र कहते हैं। ' पर ब्रह्म का अर्थ वेद कहा व्यासक समर्थ ' है। परम नाम का अर्थ वेद व्यास यह आत्म विद्याय पृथ है और परम पवित्र ' का अर्थ है अर्थात् ब्रह्म, किसी प्रकारकी विद्यार्थीय मित्रावरण रहित । जो अस्तित्व वस्तु है वह देखीही है ।

इसीको आत्म अर्थात् कहा एक जैसा रहनेवाला सम्राट्त्व चित्तम्, दिव्य अर्थात् पुष्पोंमें आकाश में फैला हुआ, प्रकाशमान, ऐश्वर्यी सबको प्रकाश देने वाला । आदि देव अर्थात् पवित्र देव सबके पूर्व को रहता था और सबके बाद को रहेगा ; अज अर्थात् (अ-ज-) अनवरहित जो उल्लेख है तथा जो (अजस्र) हृत्कृत का प्रेरणा करता है जो प्रकाश है ; ' विभु अर्थात् जो विशेष प्रकाशकारी व्यापक प्रमाण पुष्ट है ; ' पुरुष अर्थात् (पुरि अस्तित्व) इस विश्वकी प्रतीति व्यापक और सर्वत्र विद्यमान कहते हैं ।

यस अर्थात् तथा बारह अक्षित देवक व्याप्त आदि मी इस वस्तुका देखाही वर्णन करते हैं। यहाँ प्रकाश ईश्वरका कहना है वह ही देखाही है। ईश्वरका कथन और अर्थात् पुरुष वर्णन इसके विषयमें एक है इसमें कोई अन्तर्भाव नहीं है। प्रत्येक व होवेके कारण वह अन्तर्मा मानना चाहिये ।

इसका हानेपर मी देव और आत्म ईश्वरका पूर्ण रूपसे मानते हैं, यथा नहीं कहा जा सकता । नहीं हानेवाला

नाम जाना है । अतः यह संका हो सकती है कि वस्तुओंकी अन्तर्मा कहनेकी समझवाही नहीं है । इस विषयमें इच्छाही कहा जा पाता है कि देव आत्म असुर, देव और राक्षस एकही गुणकर्मों दिया प्रदान करते हैं । इस विषयमें आत्मेश्वर उपनिषद्में देखा अन्तर्मा है—

तज्जोमये देवास्तुता अनुनुनुदिर, ते होनुर्गन्त तमात्माब्रह्मण्यिच्छामो यमात्मानमभिव्य सवो अ कोक्षमाप्नोति सवोअ कामान्, इति इन्द्रो देव देवात्मा मिम्रक्षमाज विरोचनोऽस्तुतायां तो हासविदावावेव समित्यापी प्रजापति सखाधामाजगमनु ॥

(जी व ८।१।१)

इस और असुर ने दोनों अन्तर्मा आत्मेश्वर कहने को वनोंके आत्माका ज्ञान होवेके सब कोओं और सब अन्तर्माओंकी प्राप्ति होती है। दोनोंके इन्द्र और असुरों में विरोध ने दोनों इस विद्याके अध्ययन करनेके किये प्रजापतिके गुणकर्मों पढ़ें। ये दोनों वरीय वर्तक इस प्रजापतिके गुणकर्मों अध्ययन करत रहे । इस तरह शिव है कि वह आत्म आदि एक विद्याकर्मों कहा करते हैं इसीकिये नहीं कहा है कि दोनों और आत्मेश्वर ही परमेश्वरका बर्णन ज्ञान नहीं होता है ।

इस देवी अर्थात् पुष्ट इन्द्रों के और असुर आत्मा आत्माकिये पुष्ट होवे हैं। दोनोंकी संकल्पित मित्र होती

है शोकविध्वंस मित्र होते हैं। मेहके ने सब विद्वत् स्पष्ट हैं, परंतु वे एक निष्ठाधर्म से एका करते थे, इसमें कोई संदेह नहीं। वे दोनों आत्मस्वीही कोच करनेके किने गुणकुलमें रहते थे। देव अमर और राजस भोगकामी होनेके कारण आत्मज्ञान प्राप्त होनेतक गुणकुलमें नहीं रहते थे परंतु देव अमरत्व पूर्व होनेतक गुणकुलमें रहते थे। पूर्वोक्त प्रमाणों के निमित्त गुणकुलमें निरोधन अमर केवल ३२ वर्षों की रहा परंतु देवोंका इन्द्र सौ वर्षतक रहकर अमरत्व करता रहा। निरोधन केवल प्रथम मयेन्द्रवरीका कर्णों करके ही अमरत्व प्रोक्त दिवा। परंतु इन्द्रदेवने जागेकी चीनों परीक्षा के उपरान्त की और अमरत्व प्राप्त किया। अतः और देवोंमें यही मेह है। यही प्रकृत, रावण आदि अमरोंमें भी बड़े विद्वान् थे यह सुप्रसिद्ध है। अतः उनके निष्ठाधर्म वन करनेमें कोई संका नहीं है। इक्ष्वाकुने गीताके इस अध्यायमें कहा है कि देवों और दानवोंको भी परमेश्वरका ज्ञान अमरत्व पदार्थ रीतिसे विहित नहीं होता।

परमेश्वर पुत्रोंमें उत्तम है भूतोंका कर्ताहक है सबका छत्रम् है। देवोंका देव अर्थात् देवोंको भी प्रकाश देनेवाला और संपन्न करनेवाला स्वामी है। यही अपने आपको पदार्थ रीतिसे जान सकता है।

तथापि वह परमेश्वर अपूर्ण विद्वान् पूर्ववत् व्याप्त है वह किसी स्थानपर न हो ऐसा नहीं है तथापि किसी किसी स्थानपर वह अपनी शक्ति अधिक प्रकाशित कर देता है। सर्वत्र परमेश्वरकी भूति है परन्तु जहाँ उसकी शक्ति विशेष प्रकाशित होती है वहाँ उसकी वि-भूति है ऐसा कहा जाता है। यही भूति और वि-भूति में मेह है। ईश्वर सब जगत् है वह किसीको ब्रह्म नहीं जानता परन्तु जहाँ ब्रह्मका सामर्थ्य अधिक है वहाँ ब्रह्मका पता लग जाता है। जैसा अधिष्ठान सर्वव्यापक है तथापि नाम, विष्णु और सूर्यमें ब्रह्मकी शक्ति प्रकट होनेसे इन तीन स्थानोंमें ब्रह्मकी विभूति है ऐसा कह सकते हैं। अतः यहाँ अत्र पृष्ठ रहा है कि हे अमरम्। आप किन किन विभूतियोंसे इन लोकोंको व्याप्त कर रहे हैं ? अतः परमेश्वर सब अमरोंमें भी व्याप्त है इसलिये वह किन विषय स्थानोंका व्याप्त कर रहा है ऐसा प्रश्न करना अनुचित है। इस समस्तक अनेक स्थानोंपर परमेश्वरकी

सर्वव्यापकता कही है—

विरयः सर्वगतः स्थानुः । (गी १।१४)

ऐसे स्थानोंपर वह सर्वगत अर्थात् सब जगत्को ही व्याप्त है, ऐसा स्पष्ट कहा है। जो सर्वगत है, वह निम्न निम्न स्थानोंमें प्रकाशित होता है। वह प्रथम वस्तुता कोई स्थान नहीं रहता। वास्तविक रूपमें ऐसा बात तो सर्वत्र वह प्रथम अमरत्व है। तथापि इसने विज्ञाना इन्द्रिये मन किया है और विज्ञानोंके मर्ममें वह भी एक अमरत्व मानती है। अधिष्ठान सर्वत्र है तथापि आम विद्वान् और पूर्व यह विशेष प्रकट होती है। इसी तरह अमर परमेश्वर सर्वत्र है तथापि किन किन स्थानोंपर वह अधिक प्रकाशित है ? इस विज्ञाना-भावसे वह प्रथम अमर है। आचार्य महोदयके अनुसार यमें इस विषयमें अनेक पदार्थ उल्लेख होते हैं, परन्तु परमेश्वर किसी स्थानपर दिखाई नहीं देता इसलिये यहाँ प्रथम किया है कि ब्रह्मका विशेष प्रकाश जहाँ देखा जायिते।

आचार्य परमेश्वरका चिन्तन करना चाहता है, लक्ष्य वह किसका चिन्तन करे ? सर्वव्यापक, अमर, अक्षय्यका चिन्तन कैसे किया जाय ? चिन्तन करनेके लिये कोई तो वस्तु सामने रहे जो वस्तुके अन्तर हो उसका चिन्तन ही प्रकाश हो ? अतः पूछा है कि किन किन वस्तुओंमें सर्वप्रथम हम परमेश्वरकी विभूति देखें ? परमेश्वरकी प्रकाश वहाँ कैसे अनुभव करें ? परमेश्वर तो कन स्थित है निराकार है ऐसा सभी मानते हैं। इस स्वरूपको हम किस रूपमें देखें ? इस निराकारको हम किस रूपमें देखें और कैसे प्रकाश करें ? यहाँ किस प्रकार कल्पना करने श्वरका भाव है ? और वह हम कैसे जान सकते हैं ? यही इस अध्यायका आशय है।

परमेश्वरकी (विभूति) विशेष भूति कहा है। और उसकी अनुसृत शक्तिका कोशकमय कोश यहाँ दिखाई देता है। वह प्रथम है। इसका उत्तर अनेकसे ही व्याप्त के पहिले यात ओकोंमें वा चुका है। वह प्रकृतकी अस्तुतमे विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छासे प्रथम किया है। इस अध्याय उत्तर मयका भीष्टन विस्तारसे अब दते हैं। वह अनुसृत व्याप्त अमरका सार्वक करमेवाका उपदेश है—

(५) परमेश्वरकी विभूतियाँ

भीमगजानुवाच—

इन्त ते कथयिष्यामि दिव्या आत्मविभूतयः । प्राधान्यतः कुरुभ्येष्ट नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
 अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताद्यवस्थितः । अहमादिभ्य मभ्य च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
 आदित्यानामह बिष्णुर्ज्योतिषां रविर्भूमाव् । मरीचिर्मेरुतामसि नक्षत्राणामहं सृष्टी ॥२१॥
 वेदानां सामवेदोऽसि देवानामसि वासवः । इन्द्रियाणां मनश्चासि भूतानामसि चेतना ॥२२॥
 रुद्राणां शक्रश्चासि विष्वक्ते यक्षरक्षसाश्च । वज्रानां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
 पुरोचरां च मुख्यं मां विधिं पार्थ बृहस्पतिम् । सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
 महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्यैकमक्षरम् । यज्ञानां अथयज्ञोऽसि स्वावराणां हिमालयः ॥२५॥
 अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथ सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
 उच्चैःश्रवसमन्वानां विद्विभ्याममृतोद्भवम् । ऐरावतं गन्धेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
 आपुषानामह वज्र वेनुनामस्मि कामधुक् । प्रलम्बश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकि ॥२८॥
 अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादवसामहम् । पितृणामयमा चास्मि यमः सयमतामहम् ॥२९॥
 प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां काळः कलयतामहम् । भृगाणां च भृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पशुष्याम् ॥३०॥
 पवनः पवतामस्मि राम शङ्खमुतामहम् । क्षत्राणां मकरश्चास्मि क्षौवसामस्मि बाह्वी ॥३१॥
 सर्गाणामादिरन्तश्च मभ्य वैवाहमर्जुन । अप्यात्मविद्या विद्यानां वाक् प्रवदतामहम् ॥३२॥
 वज्राणामकारोऽसि इन्द्रः सामासिकस्य च । अहमेवाक्षयः काळो चाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
 मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्रवश्च भविष्यताम् । कीर्तिं श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेवा वृत्तिः धमा ॥३४॥
 बृहत्साम तथा साङ्गां गायत्री छन्दसामहम् । मासानां माघशीर्षोऽहमुत्तां हस्तमाकरः ॥३५॥
 धूर्तं छलयतामस्मि तेजस्तेजसिनामहम् । ज्योतिषि व्यवसायोऽस्मि सत्त्व सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
 इष्णीनां वासुदेवोऽसि पाण्डवानां धनञ्जयः । मुनीनामप्यहं व्यास कपीनामुद्यना कविः ॥३७॥
 दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि भिगीपताम् । मोनं वैवास्मि गुह्यानां ज्ञान ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
 यथापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यस्मान्ममया भूतं परापरम् ॥३९॥
 नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप । एष तदेकतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

भावार्थ— हे कुरुभ्यः ! इन्त दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः ते कथयिष्यामि ये विस्तरस्य हि अन्तः नास्ति ॥१९॥
 हे गुडाकेश ! अहं सर्वभूताद्यवस्थितः आत्मा भूतानां आधिः अर्थः च अन्तः च अहं एव (अस्मि) ॥ २० ॥ अद्वितीयतां
 विन्दुः अहं ज्योतिषां अक्षुण्णमहं रविः अहं मरुतो मरीचिः अक्षराणां सृष्टी च अहं अस्मि ॥ २१ ॥ वेदानां सामवेदः
 (अहं) अस्मि देवानां वासवः अस्मि इन्द्रियाणां मनः अस्मि भूतानां चेतना च अस्मि ॥ २२ ॥ रुद्राणां शङ्करः
 यक्षरक्षसां च विष्वक् अस्मि यक्षानां पावकः शिखरिणां मेरुः च अहं अस्मि ॥ २३ ॥ देवर्षीणां भृगुः पितृणां पितोऽहं मुख्यं
 बृहस्पतिं मां विधिं वेदाधीनां नारदः अस्मि अस्मि ॥ २४ ॥ महर्षीणां भृगुः पितोऽहं मुख्यं बृहस्पतिं मां विधिं वेदाधीनां नारदः अस्मि अस्मि ॥ २५ ॥

पञ्चाशोऽवपयः, स्वावराणां हिमाक्षयः च अस्मि ॥ २५ ॥ सर्ववृक्षाणां वनतया देवर्षिणा च वारदा, नन्दानां विरल
 शिक्षाणां कपिका मुनिः (अहं अस्मि) ॥ २६ ॥ जगतां जगद्विजय उपचैःअवस मनेन्द्राणां देवावते, नानां नन्देन
 च मां विदि ॥ २७ ॥ जाम्बवानो बहोर्जं येनूनां कामधुक् (अहं) अस्मि प्रजयः कर्प्यः अस्मि, तपानां वसुभिः
 अस्मि ॥ २८ ॥ बागानां वनतः वादो वक्त्रेण च अहं अस्मि पितृनां नन्दमा च अवमतां वमः च अहं अस्मि
 ॥ २९ ॥ देव्यानां प्रह्लादः कञ्जवती काञ्च च अहं अस्मि युगाणां युगेन्द्रः पश्चिमां देवतेषां च अहं (अस्मि)
 ॥ ३० ॥ पचतां पचयः अस्मि कञ्जयुतां च रामाः अहं (अस्मि) प्रजापतां मकरः अस्मि कोततां गङ्गावी च (अहं)
 अस्मि ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सर्गाणां नादिः मध्यं च अस्तः च पृथ्वी अहं (अस्मि), विद्यानां अथवात्मविद्या, तदहोर्जं वादः
 अहं (अस्मि) ॥ ३२ ॥ अक्षराणां अकारः सामासिकव्ययं च द्रष्टुः अक्षयः काञ्च अहं पृथ्वी च विजयोमुक्तः वता च
 अहं (अस्मि) ॥ ३३ ॥ सर्वहरः शत्रुः अभिषेकां वज्रवः च अहं, वारीणां च कीर्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मया उभिः
 क्षमा (च अहं अस्मि) ॥ ३४ ॥ धातां वृहत् सप्त तथा ऊर्ध्वतां पावनी अहं मत्तानां मार्गशीर्षं वक्ता च
 ऊर्ध्वमकरः अहं (अस्मि) ॥ ३५ ॥ ऊर्ध्वतां पूतं तेजस्वितां तेजः च अहं अस्मि तथा (अहं) अस्मि न्यवतः (अहं)
 अस्मि कञ्जवती वनं अहं (अस्मि) ॥ ३६ ॥ वृक्षीणां वासुदेवः पाण्डवानां वनवतः (अहं) अस्मि सुवीर्यं वमि
 स्वाद्यः अहं कवीनां वक्त्रा कविः (अहं अस्मि) ॥ ३७ ॥ वनवतां वृहत् अस्मि त्रिनीपतां नीतिः अस्मि, पुष्पाणां
 मीनं, ज्ञानवतां ज्ञानं अहं अस्मि ॥ ३८ ॥ हे अर्जुन ! सर्वभूतानां कर्तृवीर्यं त्वं वसि अहं (अस्मि), त्वं कर्तारं
 मूलं स्वाय त्वं मया दिवा च अस्ति ॥ ३९ ॥ हे परं त्वं ! मम विद्यानां विमूचीनां अन्तः च अस्ति पृथः ॥ विमूतां विरल
 मया वरेवतः शोकः ॥ ४० ॥

श्री भगवान् बोले— अर्जुन, मम मैं अपनी मुख्य मुख्य विमूर्तियों तुझे बताऊँगा क्योंकि स्वयं
 विस्तारक तो अन्तही नहीं है ॥ २५ ॥ हे गुहाकेन्द्र अर्जुन ! मैं सब प्राणियोंमें रहनेवाला अहम् ।
 मूर्तोंका नादि मध्य अस्त श्री मेही है ॥ २६ ॥ मैं नादियोंमें विष्णु हूँ ज्योतियोंमें वनकनेका
 सूर्य हूँ मर्त्योंमें मरीचि और मनुष्योंमें अमर हूँ ॥ २७ ॥ मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, वेदोंमें इन्द्र हूँ इन्द्रियोंमें
 मन और प्राणियोंमें बेतमा श्री मेही हूँ ॥ २८ ॥ मैं वक्त्रोंमें वाक्, पक्ष और राक्षसोंमें ऊँचेर हूँ, मैं वज्र-
 षोमें पावक अग्नि हूँ, मैं पर्वतोंमें मेरु पर्वत हूँ ॥ २९ ॥ हे पाप ! तू छसे पुरोहितोंमें मुख्य वृहस्पति
 ज्ञान मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और अक्षाद्यनोंमें सागर हूँ ॥ ३० ॥ मैं महर्षियोंमें सुगु, वापीमें पृथ्वी
 हूँ वक्त्रोंमें अपयज और स्वावरोमें हिमाक्षय हूँ ॥ ३१ ॥ मैं सब वृक्षोंमें अमर्य देवर्षिओंमें वारद
 गंधर्वोंमें शिक्षरथ और सिद्धोंमें कपिक मुनि हूँ ॥ ३२ ॥ मैं अश्वोंमें अश्वत्थसे उत्पन्न वक्त्रैःअवा, हाथियोंमें
 देवावत और मनुष्योंमें राजा हूँ, देसा तू मान ॥ ३३ ॥ मैं इषियारमें वज्र हूँ गोबोंमें कामधेनु हूँ
 प्रजा उत्पन्न करनेवाला काम हूँ और जपोंमें वासुकी मेही हूँ ॥ ३४ ॥ मैं बागोंमें जवत नामक वज्र
 भार अक्षयोंमें वक्त्र हूँ पितृतामें नन्दमा और त्रिषमम करनेवालोंमें पम मैं हूँ ॥ ३५ ॥ मैं देवोंमें
 प्रह्लाद और सख्या करनेवालोंमें काञ्च हूँ पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गङ्गा हूँ ॥ ३६ ॥ पावक
 करनेवालोंमें मैं वक्त्र हूँ, वाक्धारियोंमें राम हूँ, मछलियोंमें मगरमच्छ और मनुष्योंमें मैं गंगावरी हूँ ॥ ३७ ॥
 हे अर्जुन ! मैं सृष्टियोंमें नादि मध्य अस्त हूँ, विद्याओंमें अथवात्मविद्या और विद्या करनेवालोंमें
 मैं वाद हूँ ॥ ३८ ॥ मैं मनुष्योंमें अकार, समासोंमें द्रष्टृ वक्त्र काञ्च और सर्वतोमुक्ती सबका नावार हूँ
 ॥ ३९ ॥ सबका संहार करनेवाली मृत्यु और अभिषेकमें उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण मेही हूँ ।
 मैं क्षियोंमें कीर्ति छद्मी वापी स्मृति मेधा धृति और क्षमा हूँ ॥ ४० ॥ सामोंमें वृहत् वामक सप्त
 तथा ऊर्ध्वोंमें मैं पापनी ऊर्ध्व हूँ, महिमांमें मार्गशीर्ष और अमूर्तोंमें मैं वसन्त जात हूँ ॥ ४१ ॥
 मैं छछ करनेवालोंमें पूत तेजस्वितांमें तेज अथ तथा विध्य (शिव संकल्प) हूँ और उत्पन्नवाला

सुख ही मैत्री है ॥ १६ ॥ मैं सुखियोंमें साधुदेव और पाण्डवोंमें भक्त हूँ सुनियोंमें व्यास और कृष्णोंमें उग्रना कवि हूँ ॥ १७ ॥ शासन करनेवालोंमें मैं दण्ड हूँ, विजयके इच्छुकोंमें नीति गुप्त वारोंमें मोन और क्षानियोंमें ज्ञान मैं हूँ ॥ १८ ॥ हे भक्त ! मैत्री सब भूतोंका पीज हूँ स्थावरजंगम वस्तुमात्र सुखस रहित नहीं है ॥ १९ ॥ हे परतप भक्त ! मरी विषय विभूतियोंका भ्रम नहीं है । विभूतियोंका यह विस्तार मैंने कबल विद्वन्मनक लिये किया है ॥ ४० ॥

भाषार्थ— ईश्वर सब भूतोंका आत्मा है वही सबका आविर्भाव सत्त्व सत्त्व है सब भूतोंका बीज भी वही है । ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें नहीं है जो ईश्वरसे विरहित हो । ईश्वरकी शक्ति केकारी सब पदार्थ बने हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी विभूति है । तथापि जहाँ ईश्वरका विशेष प्रभाव दिखाई देता है उसकोही विभूति कहा हो तो संशय पदार्थोंमें सर्व वस्तुओंमें वस्तु ईश्वरोंमें सब गणोंमें विचित्र वस्तुओंमें रामा पशुओंमें सिंह पक्षियोंमें गह्वर वृक्षोंकी कीलोंमें राम, सुखियोंमें व्यास इस प्रकार ईश्वरकी मुख्य मुख्य विभूतियों की वस्तु हैं । इस विभूतियोंको ईश्वरकी विभूति मानकर, उनकी शक्तियोंके विस्तारवाला परमेश्वरका ध्यान कराव आदिमें और परमेश्वरको जानना चाहिये ॥ १९-४ ॥

(१९-४) वही भगवान् अपनी विभूतियाँ कहत हैं । एक भूति है और दूसरी विभूति है । भूति का अर्थ— होवा, कुछ विषय जन देवत्व महत्त्व शक्ति आदि है और विभूति का अर्थ विशेष प्रभावित होवा विशेष गुण वहा विविधजन विशेष देवत्व विशेष महत्त्व विकल्प शक्ति आदि होवा है । ईश्वरकी भूति बर्बाद ईश्वरकी शक्त तो अनुरूपमें प्रत्येक वस्तुमें प्रत्येक पदार्थमें है वस्तु उसका विशेष प्रभाव कोही पदार्थोंमें अनुभव होता वा सकल है । इसीको विभूति कहा जाता है । बर्बाद अनुभवकी दृष्टिसे यह विभूति है । क्योंकि ईश्वर तो सब आशेष सर्वत्र है—

सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ॥

(गी १६.२०)

समोऽहं सर्वभूतेषु ।

(गी १२.१)

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥

(गी १३.१४)

इस प्रकार सम आशेष अवस्थित ईश्वरको समुप्य पदार्थ नहीं पता । वस्तु जहाँ अधिक प्रभाव दिखाई देता है वहाँही वह ईश्वरकी शक्तका अनुभव कर सकता है । ईश्वरकी शक्ति प्रत्येक वस्तुमें है सब जितने पदार्थ हैं उतनी ईश्वरकी भूति है । जिसमें पदार्थ अनंत है, इसलिये ईश्वरकी विभूतियाँ भी अनंत हैं । इसीलिये कहा है कि—

मे विस्तारस्य भान्तः आदितः । (गी १.१५)

ईश्वरकी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं क्योंकि प्रत्येक विस्तार उसकी विभूतिही है । समुप्य कहाँक

गिवाती करे । इसलिये (प्राधान्यता) मुख्य मुख्य विभूतियाँ विरचनके लिये कही जाती हैं—

सब भूतोंका आत्मा

परमेश्वर सब भूतोंका आत्मा है और सबके बीचमें, सबके अन्तःकरणमें रहता है । सब भूतोंका और वस्तु मायका आविर्भाव सत्त्व, सत्त्व वही है इससे प्रत्येक वस्तुका सर्वत्र वस्तुसे विभूति है । वह सब भूतोंका आत्मा है, ऐसा कहनेसे सब भूतोंमें उसका प्रभाव है वह स्वतः हो चुका है । कोई देवा पदार्थ नहीं जहाँ वह नहीं है और जहाँ उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता । परंतु देवदेवाओंकी दृष्टि अत्यंत होती है इसलिये देवदेवाका पृथक्ता है कि सत्ता उसका प्रभाव कहा दिखाई देता है वह स्थान वताओ । वस्तुता देवा पृथ मी अनुभूत नहीं है जहाँ उसका विकल्प प्रभाव न होसका हो । इसीलिये कहा है कि जो भूत बर्बाद वस्तु पदार्थ हैं उसका आविर्भाव, सत्त्व और सत्त्व वही है । आविर्भाव सत्त्व सत्त्वमें सब पदार्थोंकी सब वस्तुता का चुकी है ।

सबका बीज ईश्वर है और उसका विस्तार यह विस्तार है । वस्तु सब विस्तारकी वक्षकी दिव्य विभूति है । परंतु जिसको वह नहीं दिखाई देता और उसका प्रभाव नहीं समझता उसको समझातेके लिये संक्षेपसे दिग्देवकपसे जहाँ कुछ विभूतियाँ गिवा देते हैं । उनके नामकर विचार करनेसे प्रत्येक वस्तु ईश्वरकी विभूतियाँ केही हैं, इसका पता का जायगा ।

जब ब्रह्म जो विमूर्तिवा है, उसका सर्वाकार्य करने एक एक प्रकारकी विमूर्तियाँ कमलएक धृक्क होते हैं जिससे विचार करनेमें सुविधा हो ।

धृत्रिय-विमूर्तियाँ

विमूर्तिवत्तया	विमूर्ति	वर्णनाय-श्लोक
४० रामः शक्रभृतामहम् ।	(१०।११)	
४१ धृष्ट्यानां वासुदेवोऽस्मि ।	(१०।१७)	
४३ पाण्डवाणां धर्मजयः ।	(१०।३६)	
४६ अरण्यां च मरुधियम् ।	(१०।१७)	
४० सर्पाणामस्मि वासुकिः ।	(१०।१८)	
४१ अनन्तव्याप्तिमि नागाणाम् ।	(१०।१९)	
४५ महाव्याप्तिमि वैद्यानाम् ।	(१०।२०)	

सकलपारिवर्तोंमें राम धृष्टियोंमें कुल्य राक्षसोंमें अर्जुन मनुष्योंमें राजा सर्वजातियोंमें वासुकि, नागवर्तियोंमें वज्रम वैद्योंमें महावृक्ष में मेरी विमूर्तियाँ हैं ।

संपूर्ण सकलपारी बीरोंमें राम ईश्वरकी विमूर्ति है । मातुलमें जितने भी सकलपारी बीर हैं उनमें राम विशेष प्रधानताकी बीर है वरुण सब बीरोंमें इसकी विमूर्ति मानी गयी है । धृष्टिर्वर्तियोंमें वासुदेव (कुल्य) वह विमूर्ति है और पांच पांडवोंमें अर्जुन विमूर्ति है । वहाँ एक एक विमूर्ति के अधिकारकी व्यापकता विचारपूर्वक देखनी योग्य है । रामका विमूर्तिमत्त्व संपूर्ण सकलपारी बीरोंमें है, इसकी हमकी मान्यता समझनी चाहिये । वासुदेवकी महता धृष्टिर्वर्ती जनपदोंमें है और अर्जुनका महत्त्व देवक पाण्डवोंमें है । बर्षान्तर बगलक सकलपारी बीरोंमें अर्जुनकी वह प्रतिष्ठा नहीं जो भीरुओंमें प्राप्त है । इस तरह विचार करनेपर एक स्पष्टता जो विमूर्ति है वह हमारे धर्ममें विमूर्ति नहीं मानी जाती । वह बात ध्यानमें ला लकरी है ।

ममें राजा विमूर्ति है । वामुन जिस राजा को राजा है वह उस राज्यमें विमूर्ति हो सकता है । वनोंके राजाकी पूजा अपने देवोंमें ही होती है । बाहर रहकर बाग्य कर छत्रही नहीं हो सकता । सर्वजाति और बाग्यजातियों केमन्त्र का मुकी और वज्रम के करने राजा होनेसे विमूर्ति है । वहाँ मर और बाग्यके मानवोंकीही हो जातिवर्त मानकर विचार किया गया है । जो लोग वज्रकी मर्प माय

कर विचार करना चाहें वे वैसा कर सकते हैं । शक्तमर्प सर्व और बाग्य में मनुष्य-जातिके लोग के देखा गया है और कई स्थानोंमें इसको सत्य भी कहा है । वे दोनोही मान लिये जा सकते हैं । बाग्यमन्त्राओंका विचार करने में सुविधा है । सर्पोंके पांच बाग्योंके मुक्त बाग्य होनेका भी कर्म है । इसलिये हमने वहाँ इसको मानव-जातीय माना है । वासुकि सर्पोंका राजा व वज्रम बाग्योंका राजा व वज्रमर्प वज्रम सर्प, बाग्य इस बाग्यवर्तियों में सत्य है । अर्जुनका बाग्युर इसादि मानवमान वज्रम स्वरण दिया रहे है ।

वैद्य भी एक मनुष्य-जातिही हैं । वे लोग मनुष्यों को करनेवाले के इस बाग्य इनके देव किना बाग्य । महावृक्ष इसका राजा वा वज्रमर्प इतिवत्ता होने ईश्वरकी विमूर्ति माना गया है । वज्रम महावृक्ष राज्य कला वा वज्रम वैद्योंके बाग्य बाग्यों और देवोंका मुक्त वही हुआ और वज्रमर्प जातिवर्ती । इसलिये महावृक्ष ईश्वरकी विमूर्ति माना गया है ।

स्त्री-विमूर्तियाँ

५१ कीर्तिः धीराणां च तपसां स्मृतिर्मेवा
पूतिता क्षमा । (१०।१४)

धियोंमें कीर्ति भी वाक्, स्मृति, मेवा छवि हम, वे ईश्वरकी विमूर्तियाँ हैं । वह कीर्ति वज्रकी राक्षस नहीं है । इन वामोंकी देवता किर्ति भी । कीर्ति, भी स्मृति, मेवा छवि पुत्रि जन्म किना क्षमा और मर्पि ने एक एककी (व. मा. वादिवर्ष १६।१३-१४) कर्मों की इसमेंसे बहिरी ५ वहाँ गिराई है । इन विमूर्तिवर्तियों का संक्षेपसे वर्णन पुराणान्तरोंमें देखे मिच्छा है—

कीर्ति— एकमन्त्रावर्तियों कम्पा धर्मवर्ती (म. मा. वादि १६) विमर्षत राजाकी वज्रम पम्प (मनेष १६।१।११) वही वज्रमर्प भी ।

२ स्त्री— मनुष्य और वज्रवर्तियों कम्पा । वह मनुष्य विमर्षत प्रधान की भी । कीर्तिवाग्यसे वज्रम हुन करनी । इसी वारावर्त धी-वज्रम के मुहदिवर्तों किन नादम काले माने जाते हैं ।

३ वाक्— बाग्यमर्प वज्रकी पुत्री (म. १।१।१५ वज्र की छवि) कम्पा । ज्ञानवर्तों अह कम्पा और वज्रवर्ती विचारवादी छी ।

४ स्मृति- दक्षकी कन्या अगिरास् जगिनी जमेपत्नी ।

५ मेघा- दक्षकी कन्या धर्मकी पत्नी ।

६ धृति- धर्म जगिनी की अनुग्रामके एक कन्या की ।

७ सम्रा- दक्षकन्या, पुत्र दक्ष जगिनी की मन्त्रापालकी कन्या ।

यह पुराणोंमें इन छिन्नोके वर्णनका संक्षेप है । इससे अधिक विस्तार यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्राचीन कालमें सुप्रसिद्ध धार्मिक छिन्नोमें इनकी सम्प्रदाय विशेष अधिक होवेछे इनकी मन्त्रा ईश्वरकी विभूतियोंमें की गयी है । वे नाम छिन्नोके ईश्वर यक्ष जादिके वाचक नहीं हैं, इनकी यहाँ स्वरूप रचना जादिके । इन ७ छिन्नोकी पिता यहाँ की है दक्षजित्वा जल-ईश्वराक्षमें छिन्नोमें केवल अगिनी छिन्नो हो चुकी थी और इनसे अधिक नहीं ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहाँ संक्षेपसेही विभूतियोंकी मन्त्रा की है । जल छिन्नोमें इनसे अधिक नी विभूतियाँ होना स्वाभाविक है ।

मन्त्रा-विभूतियाँ

११ पुरोचरां च मुख्य मां विप्रि पाथं
पृथस्तितिम् । (१०।१४)

१२ देवर्षीणां च नारदः । (१०।१५)

१५ कवीनामुद्यमा कविः । (१०।१७)

१६ महर्षीणां भृगुरहम् । (१०।१८)

२३ छिन्नार्णां कपिका मुनिः । (१०।२३)

१४ मुनीनामप्यहं व्यासः । (१०।२४)

पुरोहितोंमें मुख्य पृथस्तिति देवजगिनीमें नारद कविमें कविना महर्षियोंमें भृगु छिन्नोमें कविक और मुनिमें व्यास ईश्वरकी विभूतियाँ हैं ।

इसका बहुत प्रासंगिक पृथस्तिति अस्ति है । ईश्वरोंका प्रासंगिक मुख्यपाथ जितको कवि रचना कहते हैं, विष्णुवात है । ईश्वरोंका पाथ धर्मकी विद्या थी और ब्रह्म-ईश्वरकी योगविद्या वह जायते थे । नारद धर्मका आचरणके थे और ब्रह्मका धर्मका करनेमें सदा इनकी यही सहायता रहती थी । भृगुधर्मकी बातें समुदाय करनेमें वे बड़े प्रवीण थे । कविक मुनि वह वाचके थे जो व्यास मुनिसे प्रारम्भिक प्रारम्भिक कविना थे । इन विद्वान् कविके कारणही इनका विभूतियों में मन्त्रा गया है । विद्वान् कविके विद्या कोई विभूतियाँ न

नहीं सकती ।

देवोंमें-विभूतियाँ

६ देवानामसि वासवः । (१०।२१)

४९ आताऽहं विभक्तोमुखाः । (१०।२३)

१ आदिष्ठानामहं विष्णुः । (१०।२१)

२ ज्योतिषां रश्मिर्गुमान् । (१०।२२)

९ उग्रार्णां शंकरश्चास्मि । (१०।२३)

१९ पञ्चमः पञ्चतामसि । (१०।२१)

३ मरीचिर्महतामसि । (१०।२१)

१२ वक्राणां वायसामहम् । (१०।२५)

१४ सेनावीर्यामह स्कन्दः । (१०।२४)

११ वसुधां पावकश्चास्मि । (१०।२३)

४ वसुधापायामहं वासी । (१०।२१)

१९ मन्त्रवाक्यास्मि कंहर्षः । (१०।२८)

पितरोंमें विभूति

३३ पितृणामथमा आदिमः । (१०।२९)

यक्ष-राक्षसोंमें विभूति

१० विसेद्यो यक्षरक्षसाम् । (१०।२१)

गन्धर्वोंमें विभूति

२२ गन्धर्वाणां विभक्तयाः । (१०।२६)

देवोंमें इनमें सर्वोत्तम जल आदिस्थोंमें विष्णु, तेजस्विनोंमें सूर्य यज्ञोंमें यक्ष पावन करनेवालोंमें यक्ष प्रकृतियोंमें यक्ष जलधरोंमें वक्र सेनावाकोंमें स्कन्द वसुधोंमें पावक यक्ष यक्षधरोंमें स्कन्द यक्षधर करनेवाकोंमें यक्षधर पितरोंमें नारद यक्षराक्षसोंमें कुबेर गन्धर्वोंमें विभक्त ये सब देवोंमें ईश्वरकी विभूतियाँ हैं ।

भृगुधर्म आदि गन्धर्वधरोंमें नारद आदि युक्तोंमें नारद देवोंमें सप्त मित्रधर ३३ देव हैं । इनमें आदि वसु नारद यक्ष और नारद आदि सप्त मित्रधर इच्छीत और इच्छीत तथा मन्त्रापाथ मित्रधर ३३ देव होत हैं । किसी वक्रा गिनीकरा व ३३ हैं । इनमें वक्रयुक्त विभूतियाँ हैं । इनमें भी पितर यक्ष राक्षस गन्धर्व देवोंमें मित्र जातिवा हैं । जल विभूतियाँ देवोंमें हैं । पितरोंकी विभूति यक्षमा है गन्धर्वोंकी विभूति है यक्ष राक्षसोंमें कुबेर है और यक्ष देवोंकी विभूतियाँ यक्ष ही गयी हैं ।

५९ अयोऽस्मि । (१०।१६)
 ६० व्यवसायोऽस्मि । (१०।१६)
 ५७ धृत छन्दयतामस्मि । (१०।१६)
 प्राप्तिर्वासे ज्ञान विवाहकोमें बाह्य गुणोंमें भी
 हमन करमेवाकोमें दण्ड तेजस्विनीमें तेज सत्यवाकोमें
 धर्मगुण विजयवाकोमें नीति ज्ञान करमेवाकोमें जय
 व्यवसायोमें वयवसाय जयवा मित्राय, छन्द करमेवाकोमें
 धृत ते इत्येवकी विमूर्तिर्वा है ।
 उत्तम ज्ञान उत्तम वादविवादकी उत्तम गुणता,

उत्तम दण्डवाधन उत्तम तेजस्विता उत्तम दण्ड उत्तम
 नीति उत्तम जय उत्तम मित्रव बौर उत्तम छन्द, ये सब
 गुण ईश्वरकी विमूर्ति हैं । ये गुण गुणी पुरुषोंमें रहते हैं ।
 इसी अर्थात्के प्रारम्भमें (श्लोक ७ सं ५ तक) कृति
 ज्ञान बलमौह ज्ञान धर्म दम धर्म सुख दुःख भय
 (तपः) ज्ञान (कप), भय ज्ञान ज्ञान
 ज्ञानता तुष्टि तप दम यज्ञ ज्ञान ये मात प्राप्तिर्वा
 होते हैं वे ईश्वरकी विमूर्ति हैं देवा कहा हैं । इसीका
 स्वीकारण कहा किया है । वह स्वीकारण इस तरह है—

[सं १०।१६-५]
 १ बुद्धिः
 १ ज्ञानं
 १ असंमोहः (मित्राय)
 ४ क्षमा
 ५ सत्यं
 ६ दमः
 ७ धर्मः
 ८ धृतं
 ९ बुद्धिः
 १० मया (तपः)

११ ज्ञानाय

१२ भय
 १३ ज्ञानं
 १४ अहिंसा
 १५ क्षमा
 १६ धृतं
 १७ तपः
 १८ दमः
 १९ धर्मः
 २० व्यवसायः

[सं ७ ९ १०, ११, १७]
 बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि । (७।१०)
 ज्ञानं ज्ञानयतामस्मि । (१०।१८)
 व्यवसायोऽस्मि । (१०।१८)
 क्षमा क्षमा । (१०।१८)
 सत्यं (देवी सपत् ।) (११।१)
 सत्यं (देवी सपत् ।) (११।१)
 दण्डो दण्डयतामस्मि । (१०।१८)
 दमः - (देवी सपत् ।) (११।१)
 देवी सपत्तिमोक्षाय । (११।१)

अहमादिभ्य मय्यं च । (१०।१०)
 अहमादिः । (१०।१)
 दण्डयत्य मयिष्यताम् । (१०।१८)
 यथापि सत्यमूलात्कीर्तयेत्तद्वत् । (१०।१९)
 कीर्तय मां सत्यमूलानाम् । (७।१०)
 सूताक्षामन्त यथ च (जह) । (१०।१०)
 मृत्युः सत्यहरन्माहम् । (१०।१८)
 धृत छन्दयतामस्मि । (१०।१६)
 अमय - (देवी सपत् ।) (११।१-२)
 अहिंसा (देवी सपत् ।)
 क्षमाऽहं सत्यमूलेषु । (११।१)
 तपस्यास्मि तपस्विषु । (११।१)
 वानो स्थितिः सति स्थिति चोत्पत्ते । (१७।१७)

हंसारकी विभूतिर्षी हैं । कामदेवका जब पत्नी अन्नम
यो है जो चाहे बिना समय हुए दे देती है छात्र नहीं
मारती । उन्हे प्रसाद जब वह है जो अमुक पारसे लाता है
जिसे अर्था करती घोषा कहते हैं । अर्था ' अन्नम और
अन्नम अन्नम एकही है । हाथियोंमें पुराण नामक
केत हाथी को अन्धेदेखते मिलता है । वे सब हंसारकी विभू-
तिर्षी हैं, क्योंकि हममें छान गुणोंकी विशेषता है ।

स्वाधरोंमें विभूति

११ मेका शिखरिष्णामहम् । (१०१३३)
११ स्थावराणां हिमाक्षयः । (१०१३५)
२० अम्भारयाः सर्वभूषाणाम् । (१०१३६)
' शिखरिष्णो पर्वतोंमें मेकपर्वत स्थावरोमें हिमाक्षय
जब बुझोंमें अक्षय्य हुआ हंसारकी विभूतिर्षी हैं । मेक-
पर्वत और हिमाक्षय अपने मौज्ज् और कचेपनमें विशेषता
रखते हैं, इसमें कोई संदेहही नहीं है । बुझोंमें अक्षय्य
विशेष महान् रक्ता है । अतः वे सब विभूतिर्षी हैं ।

जलस्थानोंकी विभूति

१५ खरसामसि सागरः । (१०१३४)
४१ ओतसामसि जाह्नवी । (१०१३५)
घोषोंमें समुद्र और नदियोंमें गगनवती हंसारकी
विभूति है । इनका महान् स्वर है ।

इन्द्रियोंमें विभूति

७ इन्द्रियाणां मनश्चास्मि । (१०१३६)
' इन्द्रियोंमें मन हंसारकी विभूति है । क्योंकि जगदी
इतना हममें है कि वह मनुष्योंको सुख भी कर सकता है
और बह भी । मनही मनुष्योंको सुख देता है और दुःखमें
भी सुखा देता है ।

अस्त्रोंमें विभूति

१३ भायुधानामहं बज्रम् । (१०१३८)
अस्त्रोंमें बज्र हंसारकी विभूति है । क्योंकि वह सब
बायुधोंमें अहं बज्रम् है ।

अन्नमृत्युकी विभूति

५१ उज्ज्वल्य भाविष्यताम् । (१०१३९)
५० मृत्यु सर्वहरायाहम् । (१०१४०)

३४ यमः सत्यमतामहम् । (१०१५५)

अपत्ति मृत्यु, सत्यमन करमेवाकोंमें यम वे परमेश्वर
की तीन विभूतिर्षी हैं । अन्नम और मृत्यु इस जगत्में
धीकते हैं और वे परमेश्वरसे होते हैं । हममें परमेश्वरका
विशेषण आतुर्य और अजुव घाति धीकती है । हमकी
अजुव घातिका पहा पता लगता है । यम अन्नम वहां अन्न
मन नियमन अर्थात् स्वाधीन रक्ताका भाव बताता है ।
अपत्ति सत्यमन अर्थात् धारण और नाश वे तीन भाव
सर्वत्र धीकते हैं । अन्नम, स्थिति और अन्न य हंसारसेही
होते हैं, जिससे जगत्की स्थिति हो रही है ।

कालकी विभूति

४८ महामेवाक्षयः कालः । (१०१३९)
११ कालः कलपतामहम् । (१०१४०)
५५ मासार्ता मार्गशीर्षोऽहम् । (१०१४५)
५६ अर्था कलुषाकारः । (१०१४५)

अक्षय काल नियमेवाकोंका काल मरिचोंमें मास
और कलुषोंमें बलव वे हंसारकी विभूतिर्षी हैं ।
जगत् कलुष रथाहं अर्थात्में भी कहा है कि—

कालोऽस्मि ओषधयस्तुल्यवृद्धा । (पी ११३३)

' ओषधोका अन्न करमेवाका काल मैं हूँ । वह वास्तव भी
वही देकमेवोषध है ।

धीन और विस्तार

७० एकवापि सर्वभूतार्ता धीनः त्वहमनुज । (१०१४१)
४१ सर्गावामादिरण्यम मध्यं ज्योतिरहमनुज । (१०१४३)
८ भूतामामसि खेतपा । (१०१४२)

अन्न भूतोंका धीन धनका बाढ़ि मध्य और अन्न
और भूतमात्रकी खेतपा वे सब हंसारकी विभूतिर्षी हैं ।
अन्नका बाढ़ि मध्य और अन्न इतना कहनेसे सर्वत्र विभूति
कर्मों का गवा है । क्योंकि बाढ़ि मध्य और अन्न कहा है
वह हंसारकी विभूति है वह कलन प्रसक्त वस्तुमात्रमें उग
सकता है । हमने वही ३० विमान किये हैं और हममें
विभूतिर्षी निम्नलिखित प्रकारमें रही हैं—

(५) विभूतिका लक्षण

यद्यद्विभूतिमस्तस्य श्रीमद्भूतिमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश्नसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैवेन किं ज्ञातुं तवात्तुन । विदम्बाहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्वितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्बोधिनी अष्टाध्यायी योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतिबोधो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १ ॥

सम्बन्धः— ३९ वत् ४० वत् ४१ वत् विभूतिमत्, श्रीमद् कर्मिणे एव वा (भक्ति) एव त्वं मम तेजोऽश्नसम्भवं (भक्ति इति)

एवं व्यवस्थ ॥ ४१ ॥ हे अर्जुन । अथवा एतेन बहुधा ज्ञातेन तव किं ? अहं इदं कृत्स्नं जगत् एकंशेन विदम्यं स्विता

(भक्ति इति त्वं विद्वि) ॥ ४२ ॥

७ क्षत्रियोर्मै	विभूतिर्वा	१ प्रणवा सर्ववेदेषु ।	(७८)
१ क्षीणास्त्रिमै		७ पुरुषं वृत्तु ।	(७८)
(इत्येवं ७ क्षत्रिणि नाम है)		८ जीवन् सर्वभूतषु ।	(७९)
१ ब्राह्मणकी		९ तपस्यासि तपस्विषु ।	(७९)
१९ देवोर्मै		१० बुद्धिषु क्षिप्रतामसि ।	(८०)
१० गुणरूप		११ तेजस्तेजस्विनामहम् ।	(८०)
८ विद्याकी	"	१२ बलं बलवतामसि	
९ पशुपक्षिर्वा		कामरागद्विषमिहम् ।	(८१)
१ व्याघ्रकी		१३ अर्माविक्रमो भूतेषु कामोऽसि ।	(८१)
१ अक्षरमानकी	"	१४ बीजं मां सर्वभूतानां बिम्बं	
१ इन्द्रियोर्मै	"	पार्यं समस्तजं ।	(८२)
१ शक्तोर्मै		१५ ये चैव सारिणका प्राबा राजसत्ताकामसाध	
१ अमममयुकी		ये । तस्य पश्येति तागिबिदि ।	(८२)
४ काष्ठकी			
१ बीजं नीर विस्तारकी			
७०			

कुल छतर विभूतिर्वा वही गिनाई है । इत्येवं क्षत्रियोंकी छात्र विभूतिर्वा कही है उषकी गणना करनेसे ७९ विभूतिर्वा दशमाध्यायमें कही है । वही वैद्यों नीर शूद्रोंकी विभूतिर्वा वही है । यह एक बिम्ब करनेयोग्य बात है । इसका बहिर्गति गीतके अन्तमें अध्यायमें कुछ विभूतिर्वा गिनी है उषका भी वही परिगणन योग्य है । क्योंकि छतरका बिम्ब होमेसे वषायोग्य मग्न हो छतरा है । व है—

१ पुत्रयो गन्धा धूमिष्याम् ।	(७९)
१ हस्तोऽहमप्यु ।	(७८)
१ तेजस्यासि विमावकी ।	(७९)
४ प्रमाऽसि शशिचक्षुषाः ।	(७८)
१ शम्भुः खे ।	(७८)

पृथ्वीतलमें पत्थ वस्तुतलमें तल बहिर्गतमें प्रणव, सूर्यचन्द्रमें प्रमा वाक्कावतलमें अहम्, वेदोंमें मन्त्र बौद्ध मनुष्योंमें पौष आनिर्गमि जीवन् तपस्विर्वा है, बुद्धि भावोंमें बुद्धि तेजस्विर्वामें तेज वक्ष्यावर्तमें अक्षरानिर्गम वक्ष्यते छात्र अनुकूल काम, सब भूतोंका वषाव्य बीज नीर सब जगत्में बीजदेवाके आत्मिक राज्ञ नीर काम्य भाव भी परमेश्वरकी विभूतिर्वा है । प्रणव बीज, हस्त, काम बीज ये विभूतिर्वा दशमाध्यायमें भी कही गयी है केवल वही है । इन सब विभूतिर्वाका बिम्ब करनेपर विभूतिबोधका ठीक ठीक ज्ञान हो छतरा है । वही अहम् नीर वक्ष्यते अध्यायका छात्र छात्र बिम्बर करवा चाहिये ।

वही गिनाई विभूतिर्वा केवल (उद्देश्यता प्रोक्ता) विभूतिर्वाका है । इन विभूतिर्वाकी वक्ष्यावर्तमें विषयमें भी मग्नमात्र जागे कहिये है—

जो जो वस्तु वैभवयुक्त, शोभायुक्त और प्रभावयुक्त है वह सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है ऐसा ज्ञान ॥ ४१ ॥ अथवा हे अर्जुन ! इस वस्तु विस्तारको क्षामसे तुझे क्या क्षाम होगा ! यह समझ ले कि मैं इस सारे जगत्को अपने (केवल) एक अंशसे व्याप्त कर रहा हूँ ॥ ४२ ॥

साधारण - जहाँ वैभव शोभा और प्रभाव है वहाँ परमेश्वरकी विभूति है । यह विभूतिका छद्म है । इससे विभूति जाही आ सकती है । परन्तु इस बातका इतना विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ! ऐसा समझो कि ईश्वर इस जगत्को अपने एक अंशसे व्याप्त कर रहा है । अथवा शान्त हुआ तो पचाँच है ॥ ४१-४२ ॥

(४१-४२) परमेश्वरकी विभूति कहाँ है और कहाँ नहीं है वह जाननेके लिये छद्म है । जहाँ विशेष देववर्ष है वहाँ भी अर्थात् विशेष शोभा है और जहाँ विशेष प्रभाव या बल है वहाँ परमेश्वरकी विभूति है । विभूतिका नहीं छद्म व्याप्त करनेकी शक्ति विभूति है और शक्ति नहीं इसका निश्चित ज्ञान हो सकता है । विभूति मनुष्योंमें हो पशुपक्षियोंमें हो स्थावरोंमें हो अपने देवोंमें हो अथवा देवताओंमें हो, वहाँ वह विभूति है और वह नहीं है इसकी परीक्षा करनेकी लीज कभीरवों वहाँ नहीं है । इसका विचार करने काया का सकता है कि वह विभूति है और वह नहीं ।

वहाँ देववर्ष वहाँ जहाँ शोभा नहीं और जहाँ प्रभाव नहीं शिखरा विकसित और ह्रस्वता है वहाँ विभूति नहीं है ।

कई विचारक वहाँ लंका करते कि पूर्वस्वर्गमें जहाँ एक करवेवालोंका पूरा ईश्वरकी विभूति है । (गी १ १२६) ऐसा कहा है वहाँ पूर्वमें वैभव शोभा और प्रभाव वहाँ है और वह पूरा ईश्वरकी विभूति कैसे हो सकता है । इस विषयमें हमारा यह कथन है कि एक कपट करनेवालोंके पास एक कपटके अनेक साधन होते हैं, उनमें वृद्धी एक ऐसा साधन है कि जहाँ विशेष एक और कपट होता है । इसलिये वह विभूति है कैसे ही हृद्य भी समझना चाहिये । एक-कपटमें वैभव और प्रभाव तो है किन्तु सार्वत्रिक वैभव सार्वत्रिक शोभा और सार्वत्रिक प्रभाव नहीं है । इस जगत्में जो जो सार्वत्रिक, राजाधिक और सामाजिक भाव है वे सब ईश्वरसे होते हैं ऐसा म गी ७११ में कहा है और जगत्का भावि मध्य ईश्वरकी है ऐसा कहनेसे परमात्मिका का कपट भी ईश्वरकी ही विभूति है ऐसा मान्यकी पड़ता है । वहाँ एकमात्र परमात्मिका होनेसे विभूतिमय है ।

वहाँ एक लंका उपस्थित होती है कि यदि सबका समावेश बीज (गी ७-१) परमेश्वर है और यदि सार्वत्रिक राजस तथा सामाजिक भाव ईश्वरसे होते हैं (गी ७-११) और यदि सबका भावि मध्य मध्य ईश्वरकी है (गी १-२) तो प्रत्येक वस्तुही ईश्वरकी विभूति है । और नहीं भाव ईश्वर एक अंशसे सर्व जगत्को व्याप्त कर रहा है (गी १-२९) इस कथनमें भी भी स्पष्ट है । फिर पाँचवेंमें अर्जुनकी विभूति है ऐसा क्यों कहा ! क्या अन्य पाँचवें विभूति नहीं हैं ! यदि इन्द्रियोंमें वासुदेवकी विभूति है तो इस लालिने अन्य भी क्यों विभूति नहीं । इन्हीं तरह प्रत्येक विभूतिके विषयमें प्रश्न उत्पन्न हो सकता है । इस विषय में पाठक यह विचार समझें कि प्रत्येक वस्तु ईश्वरकी विभूति है वही बात स्पष्ट है परन्तु यह बात एकदम हार्दिक मनुष्य के मनमें ठीक प्रकार बैठ नहीं सकती केवल इच्छाशक्ति वहाँ विभूतिशोका परिपक्व है । वस्तुतः जैसे जलुन विभूति है वैसीही चमराक भी विभूति है । परन्तु मार्गमें विवेकशायी और विवेक करने वह विभूति है ऐसा कहा है जब जाते स्वारथमें अथवायमें शीघ्रजन धनार्थ करने कि सब विषयही ईश्वरकी विभूति है और वही सत्य है ।

एकसामेकमात्रो विभूतिः ।

अनेकेष्वक्षराणामुत्पत्तिर्मात्रो योगः ॥

अर्थात् एकका अनेक हो जाना विभूति है । विभूति अर्थात् देववर्ष अनेक हैं, ईश्वर एक है । इस प्रकार ईश्वरका संसार की अनेकवादी उसका देववर्ष है । अतः एकका अनेक हो जाना विभूतिका अर्थ है वही सिद्ध होता है ।

अनेकोंकी अनेकता की कपेका काने एकवरपर प्रति किए कर केनाही योग है । इस विभूतिमय संसारमें एक अनेक धारकी शोभ करनाही योगसाधन है ।

इस प्रकार भीमव्रजश्रुति कायक उपनिषद्में काविल महाविद्याले निश्चित हुए, योगसाधनविषयक

शीघ्रजन और अर्जुनके संवादमें विभूतियोग नामक एकदम अन्त्याव समाप्त हुआ ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायका मनन

विभूतियोग

भगवद्गीताके दशम अध्यायका नाम विभूतियोग है सोय का अर्थ है कौण्डक और विभूति का अर्थ है ऐश्वर्य सोमा और प्रसाद । विभूतियोग का अर्थ ऐश्वर्य सोमा और प्रसाद प्रगट करनेका कौण्डकमय ईश्वरीय सामर्थ्य । यह सामर्थ्य कहाँ दिखाई देता है इसका विचार इस अध्यायमें किया है ।

आत्मक परमेश्वरका ज्ञान करना चाहते हैं । परमेश्वर हमको प्रसाद हुआ नहीं है, ऐसी अवस्थायें वे कहाँ दिखाका ज्ञान करें । परमेश्वर सर्वत्र व्याप्तक है इसका कहने मात्रसे यह प्रसन्न नहीं हो सकता । उसे दिव्य दृष्टिसे देखना चाहिये । परम दिव्य दृष्टि प्राप्त होनेक कथा किया जाये । इसका उत्तर इस विभूतियोगमें दिया है । दिव्य दृष्टि प्राप्त होनेक और विश्वके कर्ममें ईश्वरका आकाश्वर होनेक इस अध्यायमें परमेश्वरकी विभूति देखनी और उसका ज्ञान करना चाहिये वही ज्ञानका प्रथम अवस्थायें है ।

जहाँ विशेष ऐश्वर्य प्रगट हो रहा है, जहाँ विशेष अधिक सोमा दिखाई देती है और जहाँ विशेष प्रसाद अनुभवमें आता है वह इसका विभूति है । उक्त विभूतिकी पूजा करनेसे परमेश्वरकी पूजा होती है । इस साधनारम्भमें साधक किसका स्वाग करें । इसका उत्तर यह है कि साधक किसी भी विभूतिकी उपासना करे और समझ कि वहाँ के ईश्वरीय गुण प्रकट हुए हैं और इन गुणोंके कर्ममें यह सुखे ईश्वरका साक्षात्कार हो रहा है ।

मूर्तिपूजा

यहाँ मूर्तिपूजाका उत्तर प्रगट हुआ है । जलपाशियोंमें सामग्र्य विभूति है और दृष्टि-बन्धियोंमें भीष्मण विभूति है ।

जन्मार्थके पुरुषकी पुरुषकी सब प्रजाको वारं व व मुक्त करनेका यदि जलक गुण भीष्मणमें है ।

भगवाद् भीष्मणमें भी वेष्टे हैं। सर्वत्र गुण है । इन गुणों कारण के विभूतियों अपने अपने बीच-प्रसन्न हो जलमें प्रसन्न गयीं । इनकी पूजा हो उनके शीघ्र-मनमें ही प्रकट हुई थी । और उनके ज्ञानात्मक प्रतिष्ठान भी हुई थी ।

इसी प्रकार जलक वीर जलक उत्पत्तामी जलक उत्पत्तन और जलक विष्णुकी विभूतियों हो चुकी हैं, जिनके पूजा का स्वाग पारतीय जलपाशियोंमें अपने अपने जलमें मिल रहा है । जल इस समय ईश्वरमें जो मूर्तिपूजा प्रकट है उसका मूल इस विभूतिपूजा और इस वीरपूजामें ही है । जहाँ ऐश्वर्य सोमा और प्रसाद विशेष है वह विभूति पारतीय जलकी यही है । जलकी जलक जलक विष्णु जलक जलक जलकी पूजा हिंदु करते हैं जलकी वीर जलके जलकपूजमें और बाह्यके जलमें निक्षेपण है । वे जल पुरुषक वीर-विभूतिवर्ती हैं । इस विभूतिमें जलका अनुभव हो करके उनके सुखी किया जा और प्रसाद प्रगट किया जा । इस सर्वत्रके इतिहास पुराणोंमें लिखे हुए अध्यायों में मिलते हैं । वह प्राचीन इतिहास हृदय देना चाहिये और जलक चाहिये कि इस विभूतिमें जलके बीचमें सर्वत्र-विष्णुकी कोणका कार्य किया जा । ऐतिहासिक पुराणोंमें ऐसी कोई विभूति नहीं थी जो सर्वत्र-विष्णुके वर नहीं हो । सर्वत्र-विष्णु दिव करनेके प्रसन्न-जलक अर्थमें विष्णुमें जलका और प्रकट किया जलकीही जलका विभूतिमें हुई है ।

गाकी पूजा पीपलकी पूजा वज्रकी पूजा, नवान्नाकी पूजा, समुद्रकी पूजा हिमालयकी पूजा सभी छक हो गयी इसका कारण भी उनकी जलका विभूतिमें हो जायती है समुद्रके किंचित भी जलक जलकी है वेनेही जलक स्थावर जंगल विभूतिवर्ती हैं । इस जलकीगताके कारण जल वरकका महाव शिख होता है और उक्त वरुकी पूजा छक होती है ।

पूजा कैसे करनी चाहिये वह मन्त्र स्मरण है। हमें वहाँ हस्तादी ईश्वरा चाहिये कि उक्त मन्त्रों के सम्मन्धमें आदर नहीं उत्पन्न हो जाता है। अपनी परिस्थितिके कारण हर एककी पूजाविधि भिन्न हो सकती है। पूजाविधियों भिन्न होनेपर भी आदरमें भ्रम नहीं हो सकता। यौकी पूजा और विद्वान्की पूजा विभिन्न होनी, परन्तु मन्त्रों आदर-भाव समान होना।

विद्वान् आदर्य मान्य हावी हुआ और पांडित्यमें समभवतया मन्त्रमात्र देखना चाहिये। (गी ५।१४) यह पीठासे कहा है। इतीत्य आर्य उसे मन्त्रकी विभूति अनुभव करता है। परन्तु एकदम वह अनुभव हो नहीं सकता हृदयिके कहा है कि जो विज्ञेय उक्त तरङ्गाली विद्वान् होया तो विज्ञेय कीरणाके कम कहेया जो गाय उक्त हृदयदेवाकी और मन्त्रों रहनेवाली हो जो कुचा विज्ञेय गुणधरक हो उक्तकी ईश्वरकी विभूति मानना चाहिये। यदि एकदम ऐसे मन्त्रोंमें ईश्वरका भाव देखने का सम्भाव हुआ तो पन्नाय नहीं सम्भाव्य बनना जा सकता है और आपने मन्त्रों के मन्त्रोंमें ईश्वरभाव क्या जा

सकता है। अर्थात् विश्वकर्ममें ईश्वरका आभाकार होनेके पूर्वकायमें, कर्मयोग्य सम्भाव विभूतियोगद्वारा बताया है।

परमेश्वर अपने एक कर्ममें हृदय विभवमानमें स्थाप हो रहा है। उक्त सांख्यिक-राजस-तामस भाव भी उचित हो रहे हैं। विज्ञेय जो वस्तुएँ दीक्षा रही हैं, उनका आदि मन्त्र मन्त्र उचित हो रहा है। उक्त मन्त्रों कीचमें ईश्वर ही आत्माके रूपमें रहती है। सुखदुःखादि सभी भाव ईश्वरक होते हैं। हस्तादी वहाँ वहाँ ईश्वरका संवर्ण नहीं पूजा एक भी स्वरूप भाव नहीं नहीं है। अर्थात् हर एक मन्त्रोंमें ईश्वरका भाव है। वह वहाँ विभव रूपमें है उसकी विभवता। मन्त्रोंके किसे उक्तकी विभूति कहाँ किसी है उक्तका विवरण हृदय आत्मायमें किया गया है।

हृदय सम्मन्धमें वहाँ अधिक सम्भाविकी भावव्यवस्था नहीं है, क्योंकि हृदयके आत्माका स्वरूप ही सम्भाव्य विभवक स्वरूप है और उक्तके विवरणमें हृदय सम्मन्धकी सभी बातें विवरण रूपमें दृष्टादी जायेंगी। हृदय कर्म वहाँ हृदय सम्भाव्यक मन्त्र हस्तादी पञ्चि समझते हैं।

हृदय सम्भाव्यक मन्त्र समझ हुआ ॥ १० ॥

दशम अध्यायके सुभाषित

ईश्वरसे सब भाव प्रकट होते हैं।

कुदि मान सर्वमोह कमा छल दम, कम मुख हुआ उत्पत्ति विवाह, कम विधायता आदिछा समया संयोग उप दम मन्त्र अवयव (गी १।१४-५) एक नीति मीन (गी १।१४) ऐक्य, अथ व्यवस्थापक (गी १।१४), आदित्याह अन्धकारमिति (१।१४) दीक्ष कीदक उप काम और अन्धकार्य अथ अतिरक्त रात्रक और काम्य भाव मुख (ईश्वर) कीदी उत्पत्ति

होते हैं (गी ५।१-१२) ऐसा आदर हृदयको स्थायीय करना चाहिये। क्योंकि ये मेरे मन्त्रों हैं और मैं उनके मन्त्रों वहाँ हूँ (गी ५।१२)।

हृदय कामकी छाया मन्त्रों आदर्य रखकर हृदय सब करने चाहेंगे अपने आधीय रखना योग्य है (५।१२) स्वर्ण कमी हृदय आधीय न होना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थ-बोधिनी

दशम अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विभूति-बोध	११७	विभूति विभूति	११५
(१) महत्त्वपूर्ण उपदेश (श्लोक १-३)	११७	यस्य राजस्योर्मि विभूति	११५
यथाशक्ती ज्ञानमेवाका मुक्त होता है	११७	राजस्योर्मि विभूति	११५
(२) विभूतिप्राप्त और उसका फल	११८	सर्वधौमिक विभूतिर्वा	११५
(श्लोक ४-७)		गुणिवर्ति गुणोंमें विभूतिर्वा	११५
कुछ आदि भाव ईश्वरसे होते हैं	११८	विद्यामें विभूतिर्वा	११५
अविद्विष्यत योग	११८	यः कारका विचक्षण	११५
(३) सत्तत योगका अर्थ (श्लोक ८-११)	११८	पञ्चक्रियाओंमें विभूति	११५
महापुरुष आधिकार्य	११८	स्वात्मरोंमें विभूति	११५
अवत पोषी	११८	अकारणोंकी विभूति	११५
(४) किस किस भावमें ईश्वरका चित्त		हृत्स्थिमें विभूति अर्थात् विभूति	११५
करना चाहिये ? (श्लोक १२-१८)	११८	अत्मस्थिमें विभूति	११५
हृत्स्थि	११८	अत्मकी विभूति	११५
(५) परमेश्वरकी विभूति	११८	जीव और विचार	११५
(श्लोक १९-२०)	११८	(६) विभूति का अर्थ (श्लोक २१-२२)	११८
परमेश्वर वर्णन है ।	११८	दशम अध्यायका मर्म	११८
विभूतिोंके अनेक वर्णोंका वर्णन	११८	विभूतिप्राप्त	११८
यस्य अर्थात् आत्मा	११८	विभूतिप्राप्त का अर्थ	११८
अर्थ-विभूति	११८	विभूति का अर्थ	११८
अर्थ-विभूति	११८	पुरुषका	११८
अर्थ-विभूति	११८	दशम अध्यायके सुमापित	११८
देशोंमें विभूति	११८	ईश्वरसे सब भाव प्रकट होते हैं	११८

विश्वरूपदर्शनयोगः

(१) अध्यात्मज्ञानसे मोहका नाश

मनुज उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंश्रितम् । यत्प्रयोक्तुं नृपस्तेन मोहोऽप्यविगतो मम ॥ १ ॥

मयाप्ययौ हि भूतानां भूतौ विस्तरश्चो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाभ्यस्यम् २
एषमेतद्यथाऽऽस्य त्वमात्मानं परमेश्वर । ब्रह्मुभिमृच्छामि ते रूपमेश्वर पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

मन्यस यदि तच्छब्दस्य मया ब्रह्मुमिति प्रभो । योगेश्वर तस्य मे त्वं दर्शयात्मानमभ्यस्यम् ॥ ४ ॥

भावार्थः— ब्रह्मो उवाच— त्वया महानुग्रहाय अध्यात्मसंश्रितं यत् परमे गुह्यं वचः । उक्तं, तेन मम ज्ञानं मोहः
निगतः ॥ १ ॥ हे कमलपत्राक्ष ! भूतानां भवाप्ययौ मया रचयः विस्तरश्चो मुनी हि, अभ्यस्य महत्तमं अपि च (मुत्तमं)
॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! मया एवं त्वं ज्ञायमानं ज्ञाय एतत्, हे पुरुषोत्तम ! ते ईश्वरं कथं ब्रह्मुभिमृच्छामि ॥ ३ ॥ हे योगेश्वर
प्रभो ! मया तत् ब्रह्मं त्वत्त्वं इति त्वं यदि सम्बोधे, तदा मे अभ्यस्यं ज्ञायमानं दर्शय ॥ ४ ॥

अर्थान्तरं वाच्यं— आपने मुझपर कृपा करने अध्यात्म—संघर्ष जो परम रहस्य सुनाया है उससे मेरा यह
मोह दूर हुआ है ॥ १ ॥ हे कमलमपन ! भूतोंकी उत्पत्ति तथा विनाशके सम्बन्धमें मैंने आपसे
विस्तृत बातें तथा आपका आभिभाषी माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! आपने अपने विषयमें
जो कुछ कहा है उसी आपके ईश्वरीय रूपको देखनेकी मुझे अभिलाषा है ॥ ३ ॥ हे योगेश्वर प्रभो !
यदि आप इसे संभव समझते हैं कि मैं आपके उस स्वरूपका दर्शन कर सकूँ तो मुझे अपने आभिभाषी
आत्मस्वरूपका दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

भावार्थ— अध्यात्म ज्ञानको जाननेसे सब प्रकारका मोह दूर होता है । मनुमात्रकी उत्पत्ति स्थिति और सब कंस
होते हैं और सबमें परमेश्वरका सामर्थ्य कैसे प्रकट होता है वह जाननेसे परमेश्वरकी इस अनूत शक्तिप्रत्यक्ष ज्ञान हो
जाता है । इस महाशक्तिका प्रचण्ड कार्य देखनेसे मनुष्यके मनमें ईश्वरके रूपको साक्षात् करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है ।
बहोतक इस ईश्वरके रूपको प्रसन्न देखनेकी संभावना हो बहोतक मनुष्यको प्रत्यक्ष करके उस आभिभाषी आत्म्याके
रूपको देखनेका यत्न करना चाहिये । इसक कथने देखनेसेही मनुष्य कुलकुल हो सकता है ॥ १-४ ॥

(१-४) भीमवचनहीनताका यह कारणहै अध्यात्म सब
अध्यात्मसिं मुक्त है क्योंकि वैदिक धर्म गीताधर्म और
मानवधर्मका जो ध्येय वा प्राप्त्य है वह साध्यको प्राप्त
करना चाहिये वह गीता भी इसमें बतायी गयी है । साध्यक
के कृतार्थ होनेकी प्राप्ति भी इस अध्यात्मसे स्पष्ट की
गई है । इस अध्यात्मके समझनेके पश्चात् ज्ञातव्य प्राप्त्य
का इच्छा कुछ भी छेप नहीं रहता । वह अध्यात्म मानो
गीताधर्मसे अधिपर परम अनूत करके किये कहा है ।
गुरुकी वह परम दया है । यह अध्यात्म समझनेके पश्चात्
अधिपर मोह पूर्णरूपसे दूर हो जाता है । यह अस्मत्

अर्थ अध्यात्म है, अतः इस अध्यात्मका सबकी मौलि अध्यात्म
करना चाहिये ।

बहोतक मनुमात्र कीकृपामें गुह्य ज्ञाप्यमान कर दे
उसे सुन ब्रह्मका मोह दूर हो चुका है । इसी तरह पूर्णतः
इस अध्यात्मको जो पढ़ेंगे सुनेंगे और मनन करेंगे उसका
भी सब मोह दूर हो जायगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं
है ।

मनुमात्रका जन्म और सब कंस होता है तथा उनकी
पाकना कैसे होती है यह सब इस समस्तक विस्तारपूर्वक
कहा है जिसका भजन ज्ञान और निर्दिष्टात्मन करनेसे
परमेश्वरका अपूर्व माहात्म्य समझमें आ सकता है । एतन्म

(२) ईश्वरके अनेक रूप और दिव्य ब्रह्म ।

श्रीमद्भगवानुवाच—

पद्म मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाङ्गीनि च ॥५॥
पद्मादिस्थान्यस्रन्तद्रानसिनी मरुतस्तथा । बहून्यहदपूर्वाणि पद्माश्चर्वाणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्य अमस्कृत्स्न पद्माय सचराचरम् । मम देहे गुणाकेश यथान्मब्द्रष्टुमिच्छति ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पद्म मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्त्यावर्णे (को १ से ११ तक, कर्मा अन्त्यावर्णे को १ से १ तक अष्टम अन्त्यावर्णे को १० से ११ तक सप्तम अन्त्यावर्णे को १ से १० तक हृष प्रकाश अनेक आत्मोत्तर) आत्मकी और श्रुतीकी वरति स्थिति और विचारका वर्णन करने अनेक प्रकारसे परमेश्वरके आह्वयका वर्णन किया है ।

जो वहाँ तथा अन्त्यावर्णे वर्णन किया गया है वह अविच्छिन्न है; क्योंकि ईश्वरकी महिमा अक्षय्यवीच है अक्षय्य है, अविच्छिन्न है । फिर भी वरसेसे कुछही वहाँ वरतई गई है । इतनी महिमा आत्मकेके प्रकाश ऐसे अविच्छिन्न परमेश्वरका सप्तस्वकर्म कैसा है वह आत्मकी इच्छा साचकके मर्ममें होनी स्वाभाविकही है । वैसीही इच्छा अर्जुनके मर्ममें भी हुई है । इसके अतिरिक्त अर्जुनके साथ भगवान् निम्न रहते हैं वरके वित्तके विषे हरएक कर्म करते हैं । अर्जुनकी वह सब महिमा है और अर्जुनका वह अर्जुन साधर्म्य है ऐसा आत्मकेके अर्जुनके मर्ममें विशेष आत्मके बुद्धा और वह मर्ममें विचार करने कमा कि जहाँ ! वह इच्छा वैशाखीदेवका यह वित्तुम मर्ममोहन शरीर है तथा इच्छाका वह अविच्छिन्न अक्षय्य मर्ममात्र है जो इच्छा सप्तस्वकर्म भी कुछ विशेष अर्जुनही होगा चाहिये । मैं क्यों न उसे देखूं ? मैं भगवान् मुझपर कर्मों वरकार करते हैं फिर अपने ईश्वरीय कर्मके हैं मुझे क्यों न दिखायेंगे ? ऐसा विचार करते अर्जुन मर्ममात्रके साथ भगवान्के कहने कमा कि ' वहि आपका ईश्वरीय रूप मैं देख सकूँगा, जो वरकेके देवकेकी मेरी अभिलाषा है आप कृपा करके वह मुझे दिखाइये ।

भगवान् जो अर्जुनपर सब प्रकारका अनुग्रह करनेके लिये ठेका है ही । जहाँ से अर्जुनके आत्मके अपने रूपका वर्णन करने लगे ।

वहाँकी अक्षय्योत्तरा विशेष विचारणीय है ।—

हे परमेश्वर ! ते देव्यर रूपं द्रष्टुं इच्छामि ॥ (१)
यदि तत् मया द्रष्टुं शक्यं (ठीक) त्वं मे तत् अक्षय्य आत्मामं दर्शय ॥ (४)

“ हे परमेश्वर ! आपके ईश्वरीय रूपके देखनेकी मेरी इच्छा है, वह रूप यदि मेरे द्वारा देखा जाय सम्भव है तो आप उस अपने अक्षय्य आत्मामें दिखाइये । ” वहाँ तो ही मर्म पूछे गये हैं—

१ ईश्वरीय रूपको देखना है और

२ अक्षय्य आत्मामें देखना है ।

इस दो आत्मोत्तरावर्णे जोका मेर है । वहाँ अक्षय्य आत्मामें दर्शन करनेकी इच्छा है और वरसेसे वरसे करनेके देखनेकी अभिलाषा है । अक्षय्य आत्मामें निरन्तर निर्विकार अक्षय्य अक्षरीय दर्शनविषय प्रसिद्ध है, वह अक्षय्य विषय नहीं है (न तत्र चाधुर्गाच्छति) जहाँ वरके नहीं पहुँचती ऐसा स्पष्ट कहा है । इस अक्षय्यवीचका दर्शन करनेकी अभिलाषा वहाँ प्रकाश की गई है और वरके वरसे ईश्वरके रूपको भी देखनेकी इच्छा है । वहाँ अक्षय्य अक्षय्य वह अक्षय्य विषय होना संदेहाहित है । वहाँ अक्षय्य अक्षय्य विषयमात्र वह है कि— अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्य अक्षय्य और अक्षय्य भी कहा आत्मोत्तरावर्णे अक्षय्य वरसेसे जो वरसे और अक्षय्य मर्ममात्र है वह सब मर्ममात्र हो जाय ।

वहाँ देवकी रूप और ' अक्षय्य आत्मामं ' के रूप अक्षय्य अक्षय्यकी हैं । ईश्वरकी एक जो बहुत अक्षय्यी वरका है वहाँ वरसेही देखनेकी इच्छा मर्ममात्र की गई है । वहाँ एक अक्षय्य कर्मके मर्ममात्रके आत्मकेके वीच प्रकार मर्ममात्र चाहिये । वहाँ अनेक कर्ममात्र— वरसेवरके विविध रूप— वरसेकी इच्छा नहीं है । अक्षय्य आत्मामें जो एक अक्षय्य कर्म है वरसेही देखनेकी आत्ममात्र वहाँ प्रकाश की गई है । अक्षय्य इच्छा आत्मके आत्मामें वरसे अक्षय्यमात्रके वरसेविषय करमा चाहिये ।

अम्बुपुत्रः— हे पार्य ! मैं नावाभिधाभि नावावर्णाङ्गीभि विष्वाभि च धारयः अथ सहस्रसः कृपाभि पश्य ॥ ५ ॥ हे भारत । आदिमान्, वसुन्, इन्द्रान्, अग्निनी तथा मरुतः पश्य अथ दूर्वाभि बहुभि आश्वर्वाभि च पश्य ॥ ६ ॥ हे गुडाकेय ! इत्यथ सप्ताश्वी जगत्, वत् अम्बुत्, च द्रुम्बुं इच्छति तत् (अग्नि) इह मम देहे द्रुमरश्च अथ पश्य ॥ ७ ॥ अनेन एव स्ववस्तुना तु त्वं मां द्रुम्बुं च धारयसे (अथ एव) दिव्यं वस्तुः ते दद्यामि मे देवर्षं धीर्यं पश्य ॥ ८ ॥

हे पार्य ! मेरे अनेक प्रकारके मित्र मित्र रंगों और मित्र मित्र आकृतियोंसे युक्त सैकड़ों और हजारों दिव्य रूपोंको देखा ॥ ५ ॥ हे भारत ! ये आदिश्व वसु रुद्र आग्निनी और मरुत् देखो, पहिले कभी न देखे हुए अर्जुन आश्वर्य यहाँही देखा को ॥ ६ ॥ हे गुडाकेय ! संपूर्ण व्याघर जंगम जगत् तथा और भी जो कुछ तुम देखना चाहते हो वह सब (दृश्य) आज मेरे एकही देहमें विद्यमान् देखा को ॥ ७ ॥ इस अपने चर्मपङ्खसे तुम मुझे नहीं देख सकते । इसलिये मैं तुम्हें दिव्यदधि दिय देता हूँ । उससे तुम मेरा ईश्वरोप योग-सामर्थ्य देखो ॥ ८ ॥

भावार्थः— ईश्वरके अनेक भेद रंग और आकृतियोंवाले सैकड़ों हजारों और लाखों रूप हैं । ये आदिश्व वसु, रुद्र आग्निनी मरुत् आदि सब इसीके कर हैं । इसमें ऐसे अर्जुन वस्तु आश्वर्य हैं जो कभी पहिले देखे नहीं होंगे । संपूर्ण स्वारज्यम जगत् और इससे मित्र भी जो कुछ है वह सब यही इस ईश्वरके देहमें एकएक बनकर स्थित है । सर्वज्ञ आदि कर्तोंकी भिन्नता इस चर्मपङ्खसे मनुष्य देख सकता है परन्तु वह सब अनेकविध भेद यही एक होकर कैसे स्थित है, वह इस चर्मपङ्खसे नहीं देखा जा सकता । अतः भेदोंमें भविष्यताका दर्शन करके किन्हे दिव्यवस्तु प्राप्त करना चाहिये । वह दिव्यवस्तु जब प्राप्त होगी तभी ईश्वरका निस्संकाश दिखाई देगा और उसमें ईश्वरीय योग भी प्रतीय होगा ॥ ५-८ ॥

(५-८) अर्जुनका प्रश्न वा (येभ्यर्क्षं रूपं द्रुम्बुं इच्छामि) मैं ईश्वरका रूप देखना चाहता हूँ, तथा (अम्बुयं भारमार्जं पृथीयं) अम्बुय भरमाका दर्शन करानो । ईश्वर वा अम्बुय आत्मा एकही है और वह अविधीय है । अर्जुनको इस एक भरमाके रूपको देखनेकी इच्छा हुई है । अर्जुनका प्रश्नका विजय वा कि ईश्वरका रूप एकही होगा और वह किसी मुक्तिसे भगवान् भीकृप्य द्यायेगे ।

अर्जुनका प्रश्न सुनकरै भगवान् भगवान् कृपा उत्तर देते हैं ॥ निश्चरणीय विषय है । उत्तर इस प्रकार है ।

अर्जुन— हे भगवान् ! मैं आपके अम्बुय आत्माका ईश्वरीय रूप देखना चाहता हूँ कृपया मुझे दिखाइये ।

भगवान् भीकृप्य— हे अर्जुन ! देखो मैं सूर्य वसु रुद्र मरुत्, अग्निनी आदि सैकड़ों हजारों और लाखों अनेक रूपों और आकृतियोंवाले अनेक अर्जुन आश्वर्य यहाँ देखो । मैं सब को कभी ही ।

अर्जुन ईश्वरका (एक) रूप देखना चाहता है, उसका प्रश्न सीधा और सरल था । अर्जुनको कल्पनातक नहीं है कि ईश्वरके हजारों रूप होंगे । ईश्वर एक है इसलिये उसका रूप भी एकही होगा चाहिये वह अर्जुनका भावप है । परन्तु भगवान् अर्जुनके आश्वर्यको समझकर उसका अनेक दर्शनवा मित्रानेके किये करते हैं कि 'ईश्वरके सैकड़ों, हजारों लाखों और करोड़ों रूप हैं ये सब सूर्य चंद्र पञ्चम वायु, रुद्र वारुह आदि सब ईश्वरकेही अर्जुन रूप हैं । यही अर्जुन आदिश्व हैं । अपनी महामाकाश वह आदिश्व दिव्य समय हमारे सम्मुख होता है । उसी प्रकार लाखों आदिश्व इस आकाशमें उड़ते हैं । ये सब आदिश्व ईश्वरके रूपही हैं । सब वसु वर्णाग्नी अग्नि वायु, अग्निदिग्ध धी मधुस्र अम्बुना और आदिश्व ये सब वस्तु हैं । (घ. भा. १.१। १२) आश्वर्यको देखनेवालोंकी गजना अम्बु प्रकारसे भी की है विष्णुपुराणमें कहा है—

धरो ऋषयश्च सोमश्च अद्वैतपानिसोऽनकः ।

मत्पुण्यश्च प्रमासह्य यमयोऽपि स्मृताः ॥

(विष्णुपुराण)

' धरा (पृथ्वी) चन्द्र (चन्द्रतारा) सोम (चन्द्र)
 बरु (दिन) वायु, अग्नि मायूष (सूर्य) और
 यमराज (मकरास) के ज्ञात वस्तु हैं । सबकी बसानेके
 कारण इन्हें वस्तु कहा है । ये ज्ञात वस्तु ईश्वरके रूप हैं ।

इसी प्रकार ये सब वस्तु जगत् सब प्रकारके प्राण भी
 ईश्वरके रूप हैं । ये मेघमंडलमें शीखनेवाले तथा सम्य
 करनेवाले मेघ भी ईश्वरके रूप हैं । ये मण्डल अर्थात्
 सब प्रकारकी वायु भी ईश्वरके रूप हैं, ये अग्निवी देव—ये
 सो तारे ईश्वरके रूप हैं । इस जगत्में विद्यते भी आधर्य
 हैं ये सब अस्त्वज आत्माके ईश्वरीय रूप हैं । इस विषयमें
 सभी आश्चर्य भरे पड़े हैं । सूर्यका महान् भीषकी हृदयक
 जलका प्रभाव पृथ्वीकी उत्पादक शक्ति आदि सबको
 आश्चर्य इस विषयमें प्रतिक्षण हो रहे हैं ये सब आश्चर्य—ये
 सबकी सब बहुमुद्र बदनाम् परमेश्वरकी रूप हैं । वहाँ जो
 वाता रंग वाता आकृतियाँ वाताविध अपूर्व चमत्कार
 दिखाई दे रहे हैं ये सबके सब ईश्वरकी भावा हैं । वहाँ
 कोई भाव ऐसा नहीं कि जो ईश्वरका न हो । अर्थात्
 समस्त चराचर जगत् ईश्वरकी रूप है ।

अर्जुन एक ईश्वरका एक रूप देखना चाहता है और
 उसके प्रभस भी वही भाव स्पष्ट होता है । परन्तु मनभाव
 भीकृष्णके उचरते ईश्वरके अवयव रूप होनेका स्पष्ट पक्ष
 है । वह सुनकर अर्जुन चकित हुआ और समझी मनमें
 आश्चर्य करने लगा कि एक ईश्वरके ये अवयव रूप कैसे हो
 सकते हैं ? इस जगत्में इतनी विविधता है और परस्पर
 विरोधी भाव भी इतना है कि ये सब भाव एकही
 अहम्भके हैं ऐसा मानना कठिन है । अग्नि और जल एकही
 ईश्वरके रूप हैं दिन और राति एकही अहम्भके स्वरूप हैं
 ऊँच और गहल एकही प्रभुके भाव हैं कष्ट और मित
 एकही हैं इस विषयमें जो अवयव भाव दिखाई देते हैं ये सब
 एकही सविधान्त अक्षरक एकरस परमेश्वरके रूप हैं
 पर कहे भल्ले । प्राण और अप्राण धृष्टा और भीकटा
 उदात्ता और कुलपता दया और क्रोध ये सब एककेही भाव
 कैसे हैं ? अर्जुनके मनमें इस प्रकारकी खोज उत्पन्न होना
 स्वाभाविक था । अर्जुनके मनमें उत्पन्न इस खोजको देख
 कर भगवान् भीकृष्ण अर्जुनको समझानेकी इच्छासे कहते
 हैं—

इह मम देहे सद्यराचर कृत्स्नं जगत्
 एकस्यै पश्यम् । (७)

इस मेरे (ईश्वरके) देहमें स्थावर जगत् सब
 जगत् एकस्य होकर स्थिर हुआ है, यह देख । तो वहाँ
 अक्षर अक्षर टुकड़े नहीं हैं वहाँ मिश्रता नहीं, वहाँ सबकी
 एककपता हुई है भेदभावके सब पदार्थ वहाँ एककपताके
 प्राप्त हो गये हैं । इस तरह अर्जुनके प्रभके प्राण उत्पत्ती
 संगति है । यद्यपि प्रारम्भमें भीकृष्ण भगवान्ने अपने भवेक
 रूपमें दिखाया तथापि उनको मिश्र मिश्र व देखते हुए
 एककप देखनेके लिये उन्हींने कहा । इसका उत्तर यह है
 कि यद्यपि सामान्य दृष्टिसे वहाँ अनेकविध पदार्थ विचर्य
 देते हैं तथापि व पदार्थ विभिन्न नहीं हैं; ईश्वरके अहम्भ
 देहमें ये एककप होते हैं । सामान्य दृष्टिसे वहाँकी
 विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है परन्तु दिव्यचक्षु प्राप्त होनेपर
 यह भेद मित जाता है और सबका मिश्रक परमेश्वर
 एक अक्षरकपकी दिखाई पड़ता है ।

उदाहरणके लिये हम ऐसा विचार कर सकते हैं कि
 भारतीयोंमें वैष्णव और सिक्ख आदि भेद लीकते
 हैं तथापि भवको हम हिन्दु किंवा भारतीय कहे
 एककपमें ही देख सकते हैं । भारतीय माननेके समस्त
 अहम्भ भेद मित जात है और अहम्भ भेदोंको माननेके स्वरूप
 भारतीयोंकी एककपता दूर हो जाती है । हम अपने
 धर्ममें जो धर्म वाक वाक हाव वाच पद अग्नि वस्त्र
 एककप मानने देखते हैं । वह वाता व्यवहारोंकी विभिन्न
 रहते हुए भी वहाँ में एककी एककपता अवयव है । इस
 में एककी एककपतामें सब भेदभाव दूर जाते हैं । इसी
 प्रकार और एक उदाहरण है— एक गाड़ी है उसको
 गाड़ी के रूपमें देखनेसे चक्र, चारे चोप रस्सी अग्नि
 जो अनेक पदार्थ गाड़ी—विभागमें कहे हैं उनकी मिश्रता
 मित जाती है परन्तु जिस समय हम चक्रोंको अलग करते
 हैं चारे अलग करते हैं रस्सियाँ और कील अलग करते
 हैं तो एकही गाड़ीमें अनेक विभिन्न पदार्थोंकी अवस्थिति
 मिश्रताका अनुभव होता है । वहाँ एकक वस्तुओंका अनुभव
 करना वह सामान्य दृष्टि है और सब एक भाव होकर जो
 स्वभाव उत्पन्न हुआ है उसका अनुभव करना और विभिन्न

(३) विश्वरूपका दर्शन

संक्षेप उपाध—

एषमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः । दर्शयामास पार्ष्णी परम रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
 अनेकनक्षत्रनयनमनेकावसुतदर्शनम् । अनेकदिग्भामरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
 दिव्यमास्त्रापरधरं दिव्यगणानुलेपनम् । सर्वाभयमय देवमनन्त विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
 दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्पिता । यदि भा सखी सा साग्नासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
 तत्रैकसं जगत्कृत्स्न प्रविमक्तमनेकधा । अपश्यदेवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
 ततः स दिव्याविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जय । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिमापत ॥ १४ ॥

अन्वया— संक्षेप उपाध— हे राजन् । एष उक्त्वा ततः महायोगेश्वरः हरिः पार्ष्णी परमैश्वरं रूपं दर्शयामास ॥ ९ ॥
 अनेकनक्षत्रनयनं अनेकवसुतदर्शनं अनेकदिग्भामरणं दिव्यानेकोद्यतायुधं दिव्यमास्त्रापरधरं दिव्यगणानुलेपनं सर्वाभयं
 मयं भवेद्युगपदुत्पिता (अर्हन् अपश्यत्) ॥ १०-११ ॥ यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः पुणपद् उत्पिता भवेत्
 तर्हि सा तदा महात्मनः भासः सखी स्यात् ॥ १२ ॥ तदा अनेकधा प्रविमक्तं कृत्स्नं जगत्, तत्र देवदेवस्य शरीरे
 एकसं जगत्कृत्स्नं ॥ १३ ॥ ततः दिव्याविष्टः हृष्टरोमा साः धनञ्जयः देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः जमापत ॥ १४ ॥

संक्षेपने कहा— हे राजा भूतराज ! इस प्रकार कह करके महायोगेश्वर कृष्णने भर्जुनका अपना परमश्रेष्ठ
 ईश्वरीय रूप दिखावाया ॥ ९ ॥ उसके अनेक मुख और अनेक नेत्र थे उसमें अनेक बहुत दृश्य थे उसपर
 अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्रकार थे और उसके पास अनेक दिव्य आयुध थे उसपर अनेक दिव्यपुष्प-माळार्प
 णों और उत्तम वस्त्र थे दिव्यगंध छगाये हुए थे और वह अनेक भास्वर्योत्पन्न भर्तृ तथा सर्वतोमुख देव
 था (उसे भर्जुनने देखा) ॥ १०-११ ॥ यदि आकाशमें एक हजार सूर्योक्ति प्रभा एक साथ प्रकट हो तो
 वह उस महान् आत्माकी कान्तिके समान कदाचित् दीख पड़े ॥ १२ ॥ भर्जुन उस समय अनेक प्रकार विमक्त
 हुए खारे जगत्को उस देवाभिवेषके शरीरमें एकनितला वस्त्रमें लगा ॥ १३ ॥ उससे आश्चर्यसे युक्त
 होनेके कारण भर्जुनका शरीर रोमांचित हो गया और वह मस्तक नमस्कार नमस्कार करके हाथ
 जोड़कर देवसे कहने लगा ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्हन्को भगवान् श्रीकृष्णने दिव्यरश्मि ही और उसके अपना ईश्वरीय विश्वरूप दिखावा दिया । उसमें
 अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक दंत अनेक अङ्गुली अनेक वसुत अनेक पुष्प और अनेक मातृपु, अनेक वस्त्र अनेक
 प्रकारके वस्त्र और उत्तम तथा विविध प्रकारके अनेक भास्वर्य थे । इत्यादी नहीं परन्तु उसके मुख सब
 ओर दिखाई देते थे । आकाशमें सहस्र सूर्योक्ति प्रभा उदित होनेके समान उसकी प्रभा थी । सात । विविध
 आभूषणोंमें रंजित हुआ जगत् उसमें एकवस्त्र दिखाई देता था । उस दृश्यसे भर्जुन आश्चर्यमय हो गया उसका शरीर
 रोमांचित हुआ उसने उस विश्वरूप प्रभुके सामने अपना शिर झुकाया और हाथ जोड़कर उसकी स्तुति करने लगा ॥ १-१४ ॥

पराधीन होते हुए भी उसमें एक अनेक सत्ताको देखना
 दिव्यप्रभुका कार्य है । इसकी समझनेका नाम करना चाहिये ।
 भगवान् श्रीकृष्ण नहीं दिव्यरश्मि भर्जुनको दे रहे हैं ।
 यह दिव्यरश्मि प्रभु होतेही अनेक वस्तुओंके अन्तर एक
 रूप भा है इतनाही नहीं परन्तु वस्तुओंकी अनेकता
 वास्तविक नहीं है किन्तु एकही तत्व विविध वस्तुओंके
 कर्णोंको ककर विश्वरूप बनकर हमारे सामने खड़ा है वह
 अनुभव हो जायगा । नहीं दिव्यरश्मि अनुभव है । वह
 दिव्यरश्मि भर्जुनको केवल प्रभु हुई और भर्जुनने परमेश्वरके
 विश्वरूपको देखे देखा इसका भाग मनोऽत्र दर्शन है—

(१-१४) यदि प्यामपूर्वक देखें तो इस बातका स्पष्ट पता लग जायगा कि यहाँ दिव्यरश्मि की इतनाही वर्धन है परन्तु वह कैसे की किस रीतिसे हो वह क्या पशु भी इनका वर्धन नहीं है। दिव्यरश्मिका स्वरूप अथवा कथन यहाँ नहीं बताया। वह दिव्यरश्मि वहाँ गुप्त रही गयी है। वह दिव्यरश्मि क्या भी सबको यह जालनेकी शक्तवा होती है। हमजिसे हमका भी बोझना विचार कर उठा चाहिये।

यहाँ दिव्यरश्मि संभव अर्जुनकोही की गयी भी ऐसा वर्धन है। यदि केवल अर्जुनका गुप्त रीतिसे काममें करी हो और किसीने वह न सुनी हो तो संभवतः विभक्त्यका वर्धन किस प्रकार हुआ? क्योंकि वह वर्धन संभव करने विध करके द्योत कर रहा है। दिव्यरश्मि न प्राप्त होनेकी अवस्थामें विभक्त्यवर्धन होनेकी संभावना नहीं है। यह पाठ तो भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट करी है और इसीविषये उद्गमि द्वाभावासे अर्जुनको दिव्यरश्मि दिने। यदि दिव्य रश्मि किता किसीको विभक्त्यवर्धन होनेकी सम्भावना होती तो अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णका विभक्तता होनेके कारण उसको वह वर्धन हो सकता था। यहाँ भगवान् के विभक्तताओं की अवलोक दिव्यरश्मि प्राप्त हुए पशुवत विभक्त्य के वर्धन यहाँ हुए। अतः दिव्यरश्मि प्राप्त होनेके विना विभक्त्यवर्धन असंभव है ऐसा सिद्ध होता है। फिर संभवने जो विभक्त्यका वर्धन किया वह कैसे किया वह प्रकाश यहाँ उपस्थित होती है।

मुद्रका प्राप्त होनेके समय भीमार्जुनद्वयभीने भोजनसे कहा था कि जो वृद्धाश्रम मुद्राश्रममें होता रहगा वह दुर्गह प्राप्त होगा। इस पावनक अनुसार अनुभव दिव्यरश्मि जिस समय प्रदान की करी अथवा समझा की उसी समय वह ज्ञान संभवको हुआ होगा। भगवा भीमार्जुन की अनुभव साथ बाधपीत सबको सुनने लोग सुनी जायाजई होनेके कारणही भगवद्गीता सबको प्राप्त हो गई थी। भीमार्जुनद्वयजी उस वीरको जिध सक्त। हमीमें दिव्यरश्मिका प्रदान करना भी है अतः यह ज्ञान संभवको भी सभी समय मिश्रता स्वाभाविक है। मुद्रकी अपूर्व को भोजनका विरहितहमी थी। मुद्रका प्राप्तभमें भाषा होता करी की और सभी भमें ही वह दिव्यरश्मि प्रदान की

गई। अतः वह प्रथम संभवको उसी समय विरहित हुआ। अर्थात् जिस रीतिसे अर्जुनको दिव्यरश्मि की गयी वह उन्ही प्रकार संभवको भी प्राप्त होगई।

संभवको दिव्यरश्मि प्राप्त होनेके कारणही वह वरदानसे विभक्त्यका वर्धन करनेमें समर्थ हुआ। और केवल उन्ही देखा देता उसने पतराष्ट्रको बतका दिया। पतराष्ट्रसे प्रत्यक्ष विभक्त्य दिखाई दिया था वहीं वह हम सब की सफलें क्योंकि उसको तो समझतु भी नहीं थे। अतः केवल करनेसे उसको विभक्त्यका वर्धन हुआ होगा, देखा नहीं कहा था सफलें क्योंकि कथका वर्धन करनेके विषये उन्ही को चाहिये। भिन्न इतनाही है कि इन बातोंसे हीचनेवाली वस्तुओंकी परस्पर मिश्रता मित्र ज्ञान और एककता की मोचर हो। वह तो वांछनाओंकोही हो सकता है, वह पतराष्ट्रको संभवके समझानेपर भी प्रत्यक्ष विभक्त्यका वर्धन नहीं हुआ।

यही केवल संभवकोही विभक्त्यवर्धन हो गया, देखा नहीं है प्रसुप्त उस मुद्राश्रममें उपस्थित कई वीरोंको वह विभक्त्य दिखाई दिया और वे अपनापे देखा की जाते केवल कहा है—

कर्म महत्ते बहुवक्त्रमेव महायाहो बहुवक्त्रं
कपावम्। बहुवक्त्रं बहुवक्त्रं कपावम् इत्यादि
प्रस्यथितास्तथाऽहम् ४ ११ ॥

जिस विभक्त्यमें अनेक जेव बाहु उर, पाँच देव रंज्यन् हैं उस ईश्वरक मयावक विभक्त्यको देखकर जेव में उर गया है वेसे वे सब लोक भी भवपीत हुए हैं। अर्जुनके इस वचनके अनुसार देखा मानना जरूर है कि मुद्राश्रममें अर्जुनने और यहाँ उपस्थित हुए अन्य वीरोंमें भी विभक्त्यवर्धन किया था। संभवने भी किया। एवं अर्जुनको दिव्यरश्मि प्राप्त भगवान् देवी की यह उपरोक्त संभवने सुन किया और उसका भाव ज्ञान किया और उन पदविसे अनुसार विभक्त्यका अनुभव किया। अब वह बात रही कि यहाँक अन्य वीरोंमें विभक्त्यवर्धन किया वह कैसे किया?

इस प्रश्नका विचार करनेपर देखा गयीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनक मधोचर जीम जावाजई नहीं हुए थे। संभवतः सभी जावाजई हुए हगि कि जो जावाजई

प्रमीपस्थ १ -१५ मनुष्योंको सुनाई है। इसलिये जो प्रथम धनुष पकड़ा या धीर जो उधर भगवान् देखे वे वह धनुषको सिवाय वहाँ उपस्थित नभ्य बीरोंको भी सुनाई देता होगा। इस तरह धनुष मुख्य ओटा या संभव ऐसा ओटा या कि जो पुनःकी लक्ष्य वहाँ जान, जाता वा इस रीतिसे सज्जने गीतोपदेश काव किया। जब जो बीर धनुषके लक्ष्य कापसाथ थे उन्होंने भी भगवान्का उपदेश मन लगाकर कुतूहलसे सुनाई होगा। उनके भी उससे विषयचिन्ता लक्ष्य नर्वात् मेहोंमें जानेई वर्णन करनेका लक्ष्य ज्ञान विरहित हुआ होगा। अन्त्यथा विश्वकर्म-वर्णनसे उन बीरोंकी कबराहट होनेका लक्ष्य कारण नहीं दीकता।

विश्वरूपि

वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने धनुषको विश्वरूपि की भी इष्टमें संदेह नहीं है। वह बात सज्जने सुनी की और वह बलि इक्षिमात् होनेसे उसने उस विश्वरूपिका लक्ष्य जान किया या इसमें भी संदेह नहीं। क्योंकि भगवद्गीताके लक्ष्यमें भी वह फिर कहा है कि—

तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमल्लभ्यते ।

विस्मयी मे महात्माजगद्भ्यामि च पुन पुनः ॥

(गी १८।७०)

श्रीहरिके इस विषय विश्वकर्मका कारण करके मुझे बताया जिसका हुआ है। " विश्वकर्मवर्णन सज्जने केक कभी समझ किया ऐसा नहीं है। उसका स्मरण उसको पीछे भी रहा वह कम इष्टनी इष्टतासे उसके मनमें कम गया था।

वह कौनसी मुक्ति है जिससे मनुष्य ईश्वरके विश्वकर्मको देख सकते हैं? संपूर्ण गीतामें ईश्वरीय लक्षणका लक्ष्य वहाँ कही है परन्तु जो विश्वरूपिकी मुख्य बात है वह कही जानेपर भी श्रीव्यासदेवजीने क्यों नहीं किया? संपूर्ण गीताकी किति करनेवाले व्यासदेवजीको इतनाही विषयबद्ध का ज्ञान कैलबद्ध करनेमें क्यों कठिना प्रतीत हुई? प्रतीत तो ऐसा होता है कि संपूर्ण गीता कितनेवालेको वह ज्ञान किन्ना अर्धमय नहीं था। तथापि मैं विषय बहुत देता हूँ? (विषय इष्टाभि से बहुत) इतना कह कर भी वहाँ वह मुक्ति नहीं दी गई है। ऐसी महाशक्ति बात क्या छोड़ी नहीं? इसमें कौनसा हेतु होगा वह कहा मेरी प्रथम है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात श्रीव्यासदेवजीने छोड़ी नहीं न कितना मुक्त गये। परन्तु यहाँ न किन्नेका कारण यह है कि वह बात इससे पूर्व कही गयी है इसलिये दुहराई नहीं। संपूर्णको बात यहाँ कभी चाहिये थी और जो पूर्वस्थानमें कही जानेके कारण यहाँ प्रिस्त नहीं कही गयी वह हम पीछेसे पुनः उपूठ करते हैं वह विषय इतिहास विषय ऐसा है—

वासुदेवः सर्वम् ॥ (भ गी ७।१९)

परमेष्ठर सब कुछ है। " जो कुछ वस्तुमान् यहाँ है वह सब परमेष्ठर है। वह कैसे देखा जाय? इसका कैसे अनुभव कर सकते हैं? इसका उधर इस रीतिसे दिया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः च मनो सुक्षिरेष च ।

अहकार इत्येवं मे मिथ्या प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अपरमितिस्तत्त्वम्प्रां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवन्मृतां महाबाहो ययव धारयि जगत् ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाण्योत्पद्यधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रसवः प्रलयस्तथा ॥६॥

(गी ७)

परमेश्वरकी प्रकृति— नर्वात् उसका करीर दुष्पी काय तेक वायु, आकाश सब इति अहंकार और जीव इस तरह बचविय है। इससे सब भूत उत्पन्न हुए हैं जवः परमेष्ठर संपूर्ण जगत्का उत्पन्नकर्ता और प्रलयकर्ता है।

बहि परमेष्ठरका करीर इन लक्ष्य लक्ष्योंका क्या है तो मे लक्ष्य जहाँ होगा वह परमेष्ठरका सतीही है इसमें संदेह नहीं। इस सिद्धान्तको प्यासमें रखकर देखें कि कौनसी वस्तु इन लक्ष्यसे नहीं बनी है। प्रत्येक वस्तु इनही लक्ष्योंकी बनी है जब प्रत्येक वस्तु ईश्वरके जहाँ सतीमें समाविष्ट है। जयथा विश्वभारत सब पदार्थ मिळकर नर्वात् जहाँ आसने उसमें समाविष्ट होनेसे वह सब ईश्वरकाही करीर है।

बहि मूलरी रीतिसे विचार किया जाय तो ऐसा कह सकते हैं कि हम जो भाव विष्टा मेक लक्ष्य करने सब इति अहंकार और जीवकसे अनुभव करते हैं जयथा कुछ है ऐसा देखते हैं वह सब परमेष्ठरकी है। उलीको हम ईश्वरके चखते चखते स्पर्श करते सुचते मनन करते जानते अहंकार भावसे अनुभव करते और जीवककसे

देखत है। क्योंकि हम अपनी अपूर्ण क्षमियोंद्वारा परमेश्वर काही अनुभव करते हैं।

यहाँ कई पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि हम जो इन्द्रियोंद्वारा जगत्का अनुभव करते हैं वह 'छोटी, टुकड़ी' का अनुभव है वास्तविकता का अनुभव नहीं है। और परमेश्वर वास्तव एकमात्र बहुत बड़े वस्तु है इसलिये ऐत्रादि इन्द्रियोंसे उसका अनुभव कैसे कर सकते हैं? यह प्रश्न जगत् इतिहास से है परन्तु इन्द्रियोंका अनुभव भी बड़ोंका अनुभव नहीं है उनके भी वास्तव एकमात्र एकही वस्तुका अनुभव होता है।

उदाहरणके लिये मेजका अनुभव लीजिए। निम्नरतों जल अपनी जालों से जलके लहरों एकमात्र बहुत कमका अनुभव होता। मनुष्य जलसे नीचे पीछे काँटोंकी कल्पना करता है वह सत्य है, परन्तु वह उसका अनुभव नहीं है। पुनः अपनी जालों से जलके के काँटे, और देखें दो वस्तुओंके झरोके के जलका अनुभव नहीं होता। यदि दो वस्तुओंके बीचमें जलका जमान नहीं है तो वस्तुएँ मिश्र होती हुई भी जल जलकाही अनुभवमें जाता है। एक वस्तुका जल जहाँ समाप्त हुआ वहाँसेही दूसरी वस्तुका जल शीतला शुरू होता है उसके समाप्त होवेही तीसरी वस्तुका जल शीतला है। इस तरह जोडासा विचार करनेपर पता लग जाता है कि इस विश्वका जल संश्लेष नहीं है, टुकड़ोंवाला नहीं है। इस विश्वमें अलख और एकरस रूप है। जिस प्रकार जलकी लहरों एकरसता है वैसेही तीव्र रस स्वयं सत्व मन्त्रज अहर्कर्मज और जीवन आदिकी लहरों एकरसता है। टुकड़ों जगहों विभागोंका जो अनुभव है वह जागतिक अनुभव व्यापक इतिहास है वह सत्य अनुभव नहीं है इसलिये हम कह नहीं सकते कि विश्वमें विभाजनका अनुभव है। क्योंकि अनेकविधोंसे जो अनुभव होता है वह अलखकाही अनुभव है।

हस्तीके अ-दिशि कहते हैं। अ-दिशिका अर्थ अ-लक्षित है। मनुष्य सदा वही अनुभव लेता है परन्तु न जानता हुआ क्या है। एकरसका अनुभव न करता हुआ वह अनुभव लेता है। किंवा एकरसका अनुभव करता हुआ एकरसका अनुभव हुआ ऐसा मानता है। वही इसका

अज्ञान है। इस विवरणसे सिद्ध है कि हम जो भ्रमण कर रहे हैं वह एकही परमेश्वरमें और एकही परमेश्वरसे व्यापक करते हैं। क्योंकि यहाँ वही एक बड़ा वस्तु है। नाक उसीकी सूंघती है, बिड़वा उसीका रस लेती है, मित्र उसीका जल पीते हैं, जलका उसीकी स्पर्श करती है, कम उसीकी सुन्ते हैं मग उसीका भजन करता है, उसी उसीको जानती है वही मैं कहती है और उसीका जीवन उसको जीवनकर्ममें जीव रहा है।

यही अर्थ प्राप्तुवेका सर्वम् (गी ११.१) है वयापा है और यही अर्थ निम्नलिखित श्लोकोंका है—

अज्ञात्पञ्च भद्रा हविर्विद्यान्मो अज्ञाया हुतम् ॥

(गी ११.१)

अहं कुरुतुं यज्ञः स्वधाऽहमहमौपधम् ।

मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमभिरहं हुतम् ॥ (गी ११.२)

यज्ञ यज्ञ, अर्पण, हविर्ज्य, मन्त्रि, इवम्, अज्य, औपधि यज्ञ, यी यह सब यज्ञ, (अहमा, मैं, ईसा) ही है। क्योंकि हमें जो अनुभव है वह अहम्, अज्य ११ वस्तुकाही अनुभव है।

यस्मिन्सर्वार्थो भूतान्प्राप्तमैवाभूद्विज्ञानता ।

तत्र का मोहा का शोक एकस्वमनुपश्यता ॥

(बा ग १०)

जब विशेष ज्ञानीके लिये सब मृतमज एकही जगत्का हुआ तब वह एकजगत्का मनुपश्यन करनेसेभी शोक और मोह कैसे होगा?

इस वेदमंत्रका भी अनुभव वही है। सर्ववस्तु-भूतजगत् (अ गी १०) वह अनुभव भी इसी जगत्से होता है। सब भूतोंकी जगत्मा जितनी जगत्मा हुई, अर्पण सबकी अज्ञान एक जगत्मा है ऐसा अनुभव मात्रा हमें शोक-मोह पूर्वकता दृष्ट ज्ञते है। वही वात निम्नः सर्वगतः (जगत्मा)। गी ११.२५ 'एक सर्वगत सर्वज्ञात्क जगत्मा है, ऐसा कहकर कही है। सर्वत्र सर्वत्र अन्त एकही जगत्मा है और वह विद्वत् उसका स्पष्ट करी है, जिसको हम भवस्थि इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्धि नो जगत्में दृश्य है वस्तुतः वह एकही अज्ञान है। हमारी इन्द्रियोंके अज्ञानपूर्वक कारण हमें अनेकमें अज्ञान अनुभव होता है।

बस्तु । इस तरह इष्ट विश्वके विविध भेदोंमें अभिन्न एक वस्तुका वर्णन हो जाता है । यह अभिन्न ब्रह्मण्ड वस्तु परमेश्वर है यह विश्व उसकाही शरीर है अतः इस विश्वका रूप उसी परमेश्वरका रूप है, सब रूपकोही विश्वरूप ' कहते हैं ।

विविध मिश्रतामें इस तरह अभिन्न वस्तुका वर्णन करनेवाकी दृष्टिका नामही ' दिव्यदृष्टि या दिव्यचक्षुः ' है । इस विश्वमें ब्रह्मा कुण्डलीक-मेधाभासका मिश्रताका जो वर्णन करता है उसके नाम संसारदृष्टि, प्रपञ्चदृष्टि, जर्मचक्षुः एवमदृष्टि आदि अनेक हैं ।

संसारवा यह भगवान् भीष्मण और अर्जुनका चार्वाकाप संक्षेप और बहाने ब्रह्मण्य बीरोंमें भी सुग किया होगा और उनके भी भेदोंमें अनेक देखनेकी परदृष्टि प्राप्त हुई होगी । इसी कारण संक्षेपमें विश्वरूप देखा और बहाने ब्रह्मण्य बीरोंमें भी देख किया परन्तु कुण्डलीकपर उप स्थित सभी क्षत्रियोंमें नहीं देखा क्योंकि अर्जुन भीष्मण्यकी बलवीर्य छवोंमें नहीं सुनी थी किन्तु सुनी और सुप्रभ भी किनकी समझमें जागरी उनकेही यह विश्व परमेश्वरका एक ब्रह्मण्यरूप है यह सिद्धांत ठीक प्रकार समझमें आ गया ।

विश्वरूपका वर्णन

इस प्रकार दिव्यदृष्टिकी परदृष्टि समझाकर महायोगेश्वर भीष्मण्य अर्जुनको अपना परम देशरीवरूप-विश्वरूप-दिखा दिया । यह जो विश्वरूप रूप है वह अपनाही ब्रह्मण्य रूप है ऐसा अर्जुनको समझाया । जो हाथोंको इस विश्वमें दीकटा है वही परमेश्वरका विश्वरूप है वह किसी हृत्कोरुप नहीं है वह रूप अर्थात् विभिन्न पदार्थोंका नहीं है, प्रत्युत एक ब्रह्मण्य विश्व ब्रह्मण्य परमेश्वरकाही है । वहाँ विभिन्न पदार्थोंमें अभिन्न तत्त्वका वर्णन करना है यह तत्त्व जाननेके पश्चात् जो विश्वरूप अर्जुनने तथा समझने हैं कि देखा ब्रह्मण्य वर्णन इष्ट तरह उन्होंने किया है—

उस देवाधिपते परमेश्वरके अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक रूप हैं उसपर अनेक दिव्य आभूषण हैं इन्हें अनेक दिव्य वस्त्राभूषण किये हैं (१) दिव्य पुण्य

और दिव्य माङ्गल उस प्रभुके शरीरपर हैं उत्तम सुवासिक ध्वज और उड्डण उसके शरीरपर कंगे हैं, उसके मुख सब ओर हैं उसमें अनेक आभरण हैं । (११) आकाशमें सहस्रों सूर्योंका प्रकाश एकत्रात्र प्रकाशित होनेके समान इसका तेज चमक रहा है (१२) अनेक प्रकारसे अथ वस्तुओंमें विभक्त हुआ समूर्ण्य भस्म इष्ट प्रभुके देहमें एक होकर स्थित है । अर्थात् प्रभुके देहमें भगवत्की विभक्तता दृढ़ गयी है । सब प्रकारके भेद यहाँ नष्ट हो गये हैं और सबका मिश्रकर ब्रह्मण्य एकत्र एकही रूप हुआ है (१३) ।

जो विश्वरूप अर्जुनने और समझने देखा वह यह है । इसी प्रकार अर्जुनके रूपके समीप उपस्थित कई बीरोंमें भी इसे देखा । अर्जुन हाथ जोड़कर उस देवाधिपते प्रभुकी स्तुति करने लगा ।

परमेश्वरके रूपमें अर्जुनने और समझने क्या देखा । अनेक मुख अनेक नेत्र अनेक अर्जुन रूप अनेक भाव, पक्ष, अनेक उदात्त आभूषण उत्तम पुष्पमाङ्गल चंद्रम और उड्डण प्रकाश और विभिन्न पदार्थोंकी एकत्रता, इसवाही अर्जुनने देख किया । इसका अर्थ इसवाही है कि वहाँ कुण्डलीककी सुवस्मृतिपर अनेक बीर इच्छे हुए थे, उन अनेक बीरोंके अनेक मुख अनेक नेत्र और अनेक प्रकारके रूप थे उन्होंने अनेक आभूषण प्राप्त किये थे उनके हाथोंमें अनेक उदात्त वस्त्राभूषण थे उनके शरीरपर उत्तम पुष्पमाङ्गल भी, उनके शरीरपर उत्तम चंद्रम और उड्डणोंके छेप कंगे थे सब ओर उनके मुख दिखाई दंत थे आकाशमें सूर्य प्रकाश चमक रहा था अनेक आभरण विश्वमें वीर रह थे और यह सब विभिन्नता प्रभुके विश्वरूपमें एकत्र होकर दिखाई देती थी ।

यह बहानेही कुण्डलीककी स्मृतिपर दिखाई देनेवाला दृश्य था । किसी अन्य प्रकारका ब्रह्मण्य स्थानका दृश्य नहीं था । उस बीरोंके विभिन्न देहोंमें व्यापनेवाला अभिन्न परमेश्वर है यह ज्ञान पूर्ण दिव्यदृष्टिकी रीतिसे अर्जुनको प्राप्त हुआ । और वह ज्ञान होतेही इस विभक्त विश्वके रूपमें एकत्र परमेश्वर है और उसीका यह सब रूप है ऐसा उद्भक्त मिश्रण हुआ । किन्तु दिव्य आभूषण उदात्त हैं देहे वीर उड़ी कुण्डलीकमें उड़ी समस्त अर्जुनके चारों ओर

(४) विश्वरूपका वर्णन

भर्तुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंघान् ।
 प्रक्ष्णामसीञ्च कमलासनस्थमूर्षींश्च सर्वांस्तुरगांश्च विश्वान् ॥ १५ ॥
 अनेकबाहुदरवक्त्रनेत्र पश्यामि त्वां सर्वतोऽन्तरूपम् ।
 नान्तं न मध्यं न पुनस्तथादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥
 किरीटिनं गविनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
 पश्यामि त्वां तुर्निरीक्ष्य समन्ताहीनानलार्कमुत्तिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥
 त्वमध्वर परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 त्वमम्बयः क्षाश्चतुर्धर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
 अनादिमध्यान्तमनन्तपीर्यमनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम् ।
 पश्यामि त्वां दीप्तहुताश्वपक्ष्य स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
 घाघापृथिव्योरिदमन्तर हि न्यास्य त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
 दृष्ट्वाऽद्भुत रूपमुग्र सवेदं लोकत्रयं प्रभ्यधितं महारमन् ॥ २० ॥

उवाचत है । उसकोही भर्तुनने देखा और जो विश्वदृष्टिका नाम उसको प्राप्त हुआ था उसको द्वारा उन्होंने देखा कि वे विभिन्न बीर परमप्रमाद क्षीरमें उल्ल मकर नामिष्ट हैं क्योंकि वे सब परमेश्वरकी लक्षणा लक्षणा लक्षणा प्रकटिकही रूप हैं । उस लक्षणा प्रकटिक भिन्न कोई नहीं है । जहां भर्तुनकी दृष्टि गयी वहां उसको परमेश्वरकी लक्षणा प्रकटिकी दृष्टिगोचर हुई उससे भिन्न कुछ भी लक्ष्य पदार्थ उसे नहीं दीक्षा । इसलिये उसने कहा कि वह अनेक मुख, अनेक मंत्रबाह्य, अनेक आभूषण और आभुष बाणा सर्वतोमुखी देवही मेरे सम्मुख लक्ष्य है । इन सब बीरोंके रूपमें परमेश्वरही मेरे सम्मुख उपस्थित है ।

अतएव रई कि इस समय तक अनुबन्धी दृष्टिगत विवरणकी बात नहीं गयी थी । आभुष उवाचें हुए पाग मरु बीरोंकोही वह दृष्ट्य रहा था, ह्रीमिक्रिय उसने कहा कि (दिव्य भनक उद्यत-आभुष) अनेक दिव्य आभुष वस्त्र वह देख रहा है । यदि उसकी दृष्टि कुछछत्रक बाहर दृगमय पर्वतपीठों को उसकी वही ईश्वर किमी स्थानपर प्रादुर्भासिक रूपमें अभ्युत्पन्न कर रहा है तबसे परमेश्वर देवदेविक रूपमें बाह्यलक्ष्य कर रहा है तीव्र स्थानपर प्रकट

के रूपमें परिचर्या कर रहा है तबसे स्थानपर प्रादुर्भासिक रूपमें लीला कर रहा है और पाँचके स्थानपर किमी रूपमें लीके कार्य कर रहा है ऐसा अनुभव होगा । पाग विश्वदृष्टि प्राप्त होवेही उसने अपनी भावों अपने लक्ष्य लक्ष्य लक्ष्य बीरोंपर दाबी और वहां देखा तो उसको अपने ईश्वरही आभुष उवाचें बंदन लगाय मन्त्रा रहने वरुण दर्शन दीप्त पड़ा । अलग अलग अनेक बीरोंका भाव लक्ष्य रहा और सबका मिकाकर एक विश्वरूप उसको प्रकट हुआ । देवाधिपक विद्वत्की विद्वान् क्षीरमें वे बीर अपने भगवन्कर स्थित हैं वह बात वहां उसने प्रत्यक्ष देख ली ।

उसको आत्मन हुआ वह स्थान चकित हो गया, उसने रोते रोते हो गये और दृष्ट्य जोर वह उस प्रभुकी लुप्ति करने लगा । उसकी दृष्टि जेष्ठ देखे विद्वत्में प्रवृत्त लगी, वेस वेस प्रभुका विवरण ज्येष्ठ है इसका भी पता उसको होने लगा । अर्थात् जो भर्तुन ईश्वरका स्वरूप प्रकटलक्ष बीरोंतकही दृष्ट्य रहा था, वही आने जाका उसी देवदेव देवका स्वरूप तत्त्व विद्वत्में और तीनों कर्णोंमें लक्ष्य है ऐसा लक्ष्य लगा । अब वह अपना अनुभव देखे लक्ष्य रहा है वह भी विद्वत् पाठ दर्शने—

अमी हि त्वां सुरसंघा विदन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जल्यो गृणन्ति ।
 स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥
 रुद्रादित्वा वसवा य य साध्या विश्वेऽधिनी मरुतद्योग्मपाश्च ।
 गंधर्वयक्षामुरासिद्धसंघा भीषन्ते त्वां विविक्तामैव सर्व ॥ २२ ॥
 रूपं महते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुपाहूलपादम् ।
 पद्मदरं बहुदंष्ट्राकराल इत्था लोकाः प्रप्यधितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
 नमस्पृष्टं दीप्तमनकवर्णं व्याप्ताननं दीप्तविद्यालनेत्रम् ।
 इत्था हि त्वां प्रप्यधितान्तरात्मा घृतिं न पिन्दामि क्षमं च विष्णो ॥ २४ ॥
 दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
 दिष्टो न जाने न लभे च शमं प्रसीद देवेश अगमिबास ॥ २५ ॥
 अमी च त्वां घृतराष्ट्रस्य पुत्रा सर्वे सहैवावनिपालसपैः ।
 भीष्मो द्रोणः धृतराष्ट्रस्तथासौ सहस्रदिवैरपि योषमुस्मै ॥ २६ ॥
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विदन्ति द्रष्टृकरालानि भयानकानि ।
 केचिद्विलम्बा दृष्टनान्तरेषु संदृश्यन्ते भूमितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
 यथा नदीनां बहुवाऽम्बुवेगां समुद्रमेवामिमुखा ब्रवन्ति ।
 तथा त्वामी नरलोकोपीरा विदन्ति वक्त्राण्यमिर्विज्वलन्ति ॥ २८ ॥
 यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पर्वगा विदन्ति नाशाय समुद्रवेगा ।
 तथैव नाशाय विदन्ति लोकास्तथापि वक्त्राणि समुद्रवेगा ॥ २९ ॥
 केसिन्मते प्रसमानः समंताल्लोकान्तमग्नान्वदंज्यस्तस्मिन् ।
 तेजोभिरापूर्वं अगस्तमग्रं भासस्तयोग्राः प्रवपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥
 आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते दयपरं प्रसीद ।
 विद्यामुमिच्छामि भवन्तमार्थं न हि प्रजानामि तव प्रशुचिम् ॥ ३१ ॥

अम्बुपाः— हे देव । (अहं) तव देहे सर्वान् देवान्, तथा भूतदेवतासु, कमकामस्तत्त्वं ईशं प्रपन्नं च भवति, अपीन् विष्णुः उरगात् च वक्ष्यामि ॥ २५ ॥ (अहं) त्वां अनेऽवाहूय वक्ष्यामि सर्वतः अवतर्क्य वक्ष्यामि । हे विश्वस्य विधेभर । पुनः अहं अन्तं मन्त्रं आदि च यं पश्यामि ॥ २६ ॥ त्वां किरीटिणं गरिष्ठं अस्त्रिणं वज्रोराष्ट्रं सर्वतः दीप्तिमन्तं अमृतं दीप्तामकां सुष्ठु अग्रमेकं कुर्वितीहर्षं च पश्यामि ॥ २७ ॥ त्वं देवित्वं परमं लभते त्वं अत्र विश्वेन परं विधानं त्वं अग्रतः आश्रितधर्मगोत्रा त्वं भगवानः पुत्रवः मे मतः ॥ २८ ॥ आदिमप्याह अर्कवर्षं अमृतं वातु चक्षिर्बर्षं दीप्तामकां सुष्ठु अग्रमेकं कुर्वितीहर्षं च पश्यामि ॥ २९ ॥ हे महत्प्रभु । तथा एतेन अन्तापिष्णोः हृदं अन्तं स्वाहं अग्रं दिताः च (अन्ताः) हृदं तव अन्तुं तव हृदं दृष्ट्वा लोकं सर्वं प्रप्यधितं हि ॥ ३० ॥ अमी हि सुरसंघा त्वां विदन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जल्यो गृणन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ॥ ३१ ॥ रुद्रादित्याः वसवाः य य साध्याः विश्वे अधिनी य मरुताः यक्षपाः च

गंधर्वगन्धामुरसिद्वंसबाः । न सर्वे विधिषा एव त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥ हे महाबाहो ! गन्धर्वजनैः वज्रबाहुवर्यः गह्वरे वज्रहस्त्यकार्थं ते महर्षे कर्म इच्छ्वा कोक्याः प्रप्यविधाः तथा बह (अपि स्वविधाः अपि) ॥ २३ ॥ हे विष्णो ! त्वं नमस्तुभ्यं शीघ्रं अनेकजनैः प्रपाद्यानं, वीर्यविधाकनैः इच्छ्वा हि (बह) प्रप्यविधान्तरमा (भूत्वा) वृत्तिं कर्म च न विदामि ॥ २४ ॥ हे देवेश ! हे जयविभास ! काजानकसंविधाभिः शृङ्गाकराकाभिः ते मुखाभिः इच्छ्वा एव (नरैः) शिषः न जाने सर्वं न य कने (अतः सर्वं) प्रवीक्ष ॥ २५ ॥ अमी न सर्वे ह्यस्यप्यस्य पुत्राः अवविपश्चरस्यै न्य एव तथा भीष्माः श्रोणः असीं मृतपुत्राः असादीये अपि योबभूवुः सद्यः त्वां (विचक्षि) ॥ २६ ॥ इच्छ्वाकराकभिः जयानकाभिः वज्राभिः श्वरमात्राः विक्रान्तिं केचित् इक्ष्वाक्यन्तरेण विक्रान्ताः वर्णिते उत्तमायेः (पुत्राः) इत्यन्ते ॥ २७ ॥ यथा मदीनां बहवः बभूवुः श्वरमात्राः अस्मिन्नेवाः अभिमुखाः अस्मिन् एव प्रवृत्तिं तथा अमी वरकोकवीराः तव अभिदिग्धकृतिं वज्राभिः विचक्षि ॥ २८ ॥ यथा परंगमाः सद्यःवेगाः नाद्याव प्रवीक्षे ज्यकर्म विचक्षि तथा एव कोक्याः समुद्रवेगाः, यथाव न्य अपि वज्राभिः विचक्षि ॥ २९ ॥ हे विष्णो ! समंशत् ज्यकृतिः बहवैः समंशत् कोक्याः प्रसमायाः त्वं वीक्षिष्यसे । न ज्ञानाः भवतः तेजोमि। समं जगत् आपूर्णं प्रवर्णयि ॥ ३० ॥ हे देववर ! ते यमा अस्तु (त्वं) प्रवीक्ष, जगत् कर्मणः कः (अस्ति) ? (एव) मे ज्ञानमाहि। (बह) चापं यवर्णं विचक्षुं इच्छामि। तव प्रवृत्तिं हि नरं न प्रजानामि ॥ ३१ ॥

हे ईश्वर ! तुम्हारी देहमें मैं सब देवताओंको विविध प्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको पेशेरी कमखासनपर बैठे हुए सबके सामी प्रक्षेपके सब क्षणियोंकी और दिव्य सूर्योंकी देख रहा हूँ ॥ २५ ॥ मैं अनेक पाहु अनेक उत्तर अनेक मुख और अनेक नेत्रवाले तथा अनेक रूपोंवाले आपकी चारों ओर देखता हूँ । हे विश्वरूपी विश्वेश्वर ! आपका न तो भय न मध्य, न आविही मुझे दण पड़ता है ॥ २६ ॥ मुकुट गदा तथा शक धारण करनेवाले तेजके पुत्रके समान शीकनेवाले चारों ओर प्रमा फैलाये हुए विशेष प्रवीर अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी अपरिमित और कठिनतासे दिवार देनपाके तरे रूपको चारों ओर देख रहा हूँ ॥ २७ ॥ एकमात्र जातव्य परम अधिनाशी (अग्नि) इस विश्वक अन्तिम आधार, शाश्वतधर्मके सारक और सनातन पुरुष मैं आपकोही मानता हूँ ॥ २८ ॥ जिसका भारि मध्य तथा अन्त गहरी है जिसका बल अनंत है जिसके अन्त बाहु हैं अमरूप जिसकी आर्त्तें हैं प्रवीर अग्नि जिसका मुख है और अपने तेजसे इस विश्वको तपानेवाला आपकी मैं देख रहा हूँ ॥ २९ ॥ हे महात्मन ! सकल आपनेही आकाश और पृथ्वीके बीचका अन्तर व्याप्त कर रखा है । इसी प्रकार समस्त विश्वोंको भी आपने ही भर दिया है । आपका यह और रूप देखकर तीनों लोक स्थित हुए हैं ॥ ३० ॥ य देवताओंक समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं । कुछ मयभीत होकर हाथ जोड़ प्रार्थना कर रहे हैं महावीरों और सिद्धोंक समूह स्वस्ति स्वस्ति कहते हुए अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ यद्र भावित्य वसु साम्यगण विश्वेदेव होनो अभिषी कुमार, मरुद्वय उग्रप-विश्वर गम्भर्ष और यक्ष असुर और सिद्धोंके सद्य सबही विस्मित होकर तुम्हारी ओर देख रहे हैं ॥ ३२ ॥ हे महाबाहो ! अनेक मुखों और मनोपाये अनेक पाहुओं जपामों और पैरोंवाले अनेक उरोंवाले अनेक शरीरोंके कारण विकरास तुम्हारे इस महान् रूपको देखकर सब लोग स्पाकुल हो गये हैं और मैं भी मयभीत हो रहा हूँ ॥ ३३ ॥ हे व्यापक देव ! आकाशको स्पर्श करनेवाले प्रकाशमान अनेक रंगोंवाले जड़ फेलाय हुए प्रवीर विशाल नेत्रवाले तुमको देख कर मेरी अन्तरात्मा ध्वस्त गह है इस कारण मैं शीघ्र और शान्ति नहीं रख सकता ॥ ३४ ॥ हे दयाधियेव ! हे अगाधियाम ! प्रलयकालकी आगिके समान विकरास दाहोंस मुझ तुम्हारे इन मुखोंको देख कर न तो मैं विश्वोंको जान पा रहा हूँ और नही मुझ शान्ति मित्र रदी है । अतः मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ ३५ ॥ ओर य पतपयूक सब पुत्र राजाओंक समूहों

सहित मीन्य द्रोणाचार्य वीर यह सुश्रुत (कर्ण) हमारी ओरके मुख्य मुख्य योजनाओंके साथ भापके (मुखमें घुस रहे हैं) ॥ १९ ॥ तुम्हारे विकराज दाहोंपाछे मर्यकर मुखोंमें ये वीर शीघ्रतासे घुस रहे हैं कोई कोई तो दाहोंमें भी अटक गये हैं । उनके चूरचूर हुए सिर भी दिखाई पड़ रहे हैं ॥ २० ॥ जैसे मयियोंके बड़े बड़े अङ्गप्रवाह समुद्रकी ओर चखते चखे जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य-जोकके ये वीर भापके अङ्गसे हुए मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥ जैसे पतंग अपने नाशके छिये पड़े वेगसे खलती हुई आग्नियोंमें गिरते रहते हैं, वैसीही ये सब छाग बड़े वेगके साथ मरनेके छियेही तुम्हारे जपहोंमें घुसते चखे जा रहे हैं ॥ २९ ॥ हे व्यापक देव । आरों ओरसे अपने प्रगल्भित मुखोंके द्वारा सब लोगोको निगलकर जीम खाइ रहे हो । भापकी उग्र प्रभाई अपने तल्ले सब जगत्को व्याप्त करके आरों ओर बमक रही हैं ॥ ३० ॥ हे देवाधिदेव । तुम्हें तमस्कार करता हू । तुम प्रसन्न हो जाओ । भाप उमस्वरूप कौन है ? यह मुझे बतलाओ । भाविपुरुष भाप कौन है यह मैं जानना चाहता हू । भापकी इस प्रकृतिको मैं बिछकुल नहीं जानता ॥ ३१ ॥

भाषार्थ— ईश्वरकी देहमें सब देवता सब प्राणियोंके समुदाय सब क्षत्रि और सब जातिके सर्व समन्वित हुए हैं । इस कारण वह ईश्वर जनेक बाहु जनेक पैर, जनेक मुख जनेक नेत्रबाजा और जनेक पैरोंबाजा हुआ है । जता उसको जनेक कर्णोंबाजा कहते हैं । ईश्वरका भावि मध्य मध्य कुल भी नहीं है । वह जगत् उज्ज्वली, जानने योग्य सबका जगत्विम भावात जागृत वर्त्मका रक्षक और सनातन पुरुष है । ईश्वरका वह अपरिमित है उसके बाहु जगत्विम हैं और पूर्वजन्म उसके पैर हैं अग्नि उद्यम मुख है और उसीके तल्ले सब विश्व तेजस्वी हो रहा है । सब जाकाज जगत्विम इन्हीं तथा विद्या-उपरिद्या इस सबमें परमेश्वर एतदा व्याप्त हुआ है । इस तरह वह सब विश्वव्यापक रूप उसी परमेश्वरका है । जो इस विश्वव्यापक रूपको फैलते हैं वे भवभीत हो जाते हैं क्योंकि उन्हीं जाते हैं वहाँ यह पड़केसेही उपस्थित होता है । सभी प्राणि तथा इतर स्वभाव पदार्थ ईश्वरमें एतदा प्रविष्ट हुए हैं । अविशोग उसीकी प्रार्थना/ कर रहे हैं सिद्धयोग भी उसीकी स्तुति करते हैं । सब व्यष्टि ईश्वर पितर गणर्व सब अमुर ये सब ईश्वरकीही ओर देख रहे हैं । और जिनको ईश्वरके इस रूपका पता लग गया है, वे उसे ईश्वरक जगत्विम विभित हुए हैं । अपनी जनेक मर्यकर दाहोंसे वह विकराज मुखबाका सहाकर ईश्वर सबको निगल रहा है । अपनी विकराज दाहोंसे वह भावो सबको चूर चूर कर डाल रहा है । वह देखकर मन भ्रष्टान्त होता है और सब धीरज नष्ट हो जाता है । भीम शोक कर्ण भावि उमय पक्षोंके सब धीर इसकी विकराज रूपमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो रहे हैं । जैसे नदियों समुद्रमें जा मिटती हैं वैसीही वे सब धीरोंके समुदाय इसके अङ्गसे हुए मुखोंमें घुस रहे हैं । पतंगोंके अग्निमें चूरनेके समान वे सब इसी मुखमें निगल होकर प्रवेश कर रहे हैं । इससे वह इनका बचाव नहीं हो सकता । इस ईश्वरकी उग्र प्रभाई सब विश्वभरमें फैल रही है और सब विश्व इसीसे प्रकाशित हो रहा है । यह जीम है और वह क्या कर रहा है नहीं तो हरपक्षके छिये विचार करनेयोग्य प्रश्न है । ॥ १५-३१ ॥

(१५-३१) जडुनने जिस विश्वकण्ठा वर्णन किया उसकाही वहाँ वर्णन है । पहले वर्णनमें कर्ण मुखभूमिमें स्थित वीरही ईश्वरीय रूपमें संमिश्रित होनेका भाव है बालु भव जडुनकी दृष्टि अधिक विस्तृत हुई प्रतीत होती है जता वह ईश्वरीय रूपमें (सर्वाङ्ग भूतविशेषसधान्) सब प्राणियोंका समावेश कर रहा है । इसी दृष्टिसे इस वर्णन का विचार करना चाहिये ।

हे देव । तप देह सर्वाङ्ग व्यापन् तथा सर्वाङ्ग

भूतविशेषसधान्, सर्वाङ्ग व्यापन्, सर्वाङ्ग उदगान् च पश्यामि । (१५)

ईश्वरके देहमें सब देव और सब प्राणी सर्वाङ्ग पश्यन् अर्थात् पश्युषी सर्व-भाग इति कीज पदों का भावि सब प्रकारके प्राणी दिखाई देते हैं । वहाँ कर्ण वीरही स्थित हैं वह भाव नहीं है सब भूतके समुदाय ईश्वरके देहमें समाव हुए हैं । वहाँ सब देव पाई हैं उनके साथ सब अविश्व मानवआदिक सब योग सर्वव्यापिक

सब प्राणी सब पशु सब पक्षी सब प्रकारके जीवजन्तु सब स्त्रीपुरुष तथा नरुपक, नीर आर भीर सभी प्राणी ईश्वरके देहमें समाविष्ट हुए हैं कोई हथ ईश्वरके देहके बाहर नहीं है।

अब सभी प्राणी उसके देहके अवयव हैं तो जिसदेह उसके देहमें अनेक नेत्र अनेक कान, अनेक पाद अनेक मुख अनेक बाहु अनेक वेद अनेक हाथपाँव अनेक उपाय और अनेक पैर होना स्वाभाविकही है। वही सर्वज्ञ—

अनेक बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्र (१६) अनन्त
वीर्य अनन्तबाहुं (१७) बहु वक्त्र-नेत्रं
बहुबाहुं पार्श्वं बहुदरं बहुवर्णानुरागं (१८)
अनेकवक्त्रं मननं (१९)

इस धर्मोद्धार किता गया है। इस धर्मोद्धार देखी मूर्तिकी कल्पना करना अनुचित होगा कि जिसको दो पाँव एक पैर और अनेक मुख हों ऐसी मूर्तिवाँ बन्धुमुखी महादेव, बन्धुघी पराक्रम, त्रिमुखी पञ्चाशेन भाषि है, इनके दो पाँव एक पैर और अनेक मुख होते हैं। इस विश्वकर्मकी ऐसी मूर्ति नहीं है। वहाँ तो पैर भी अनेक हैं (बहुवर्णं अनेकबाहुदरं) पैर अनेक कैसे हैं वह प्रश्न हो सकता है। उत्तर इतनाही है कि जबत प्राणि परमेश्वरकी देहमें समाविष्ट हो रहे हैं। जितने प्राणी सम्यक्विष्ट हुए हैं उतनेही इसके पैर हुए, उनके जितने पैर होंगे उतने इसके पैर हुए, उनके जितने हाथ मुख नेत्र अधि होंगे उतनेही अवयव इसके भी मान्ये पड़ेंगे। इस तरह इसका अनेक उदर अनेक पाँव और अनेक मुखदि अवयवोंवाला होना इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है क्योंकि सब प्राणियोंके मुखपाँव अवयव उनीके अवयव हैं। इस तरह वह विश्वकर्मदर्शन प्रत्यक्ष है।

विश्वकर्म परमेश्वरका दर्शन करना हो तो पड़िके सब प्राणियोंका समूह मिथकर उसका प्रकाश देह होना है (तदे भूतसंघान्) यह कल्पना दीक प्रकार समझमें आ जाती चाहिये। देखें भी ऐसाही कहा है—

महधर्याणीं पुरुषाः सहस्रांशं महधपाण्।
स भूमि विभक्तो पुराण ॥ १ ॥

पुरुष पण्ये सर्वे यत् भूतं यत् मध्यम् ॥ १ ॥
प्राणायोऽस्य सुखमासीद्वाह्यं राक्षसाः कृताः ।
ऊकतवस्य यद्विष्य पञ्चपांशुः अजायत ॥ १ ॥
(आयेव १ १५)

जिसको सहस्रों मस्तक सहस्रों नेत्र और अनेकों पाँव हैं ऐसा एक पुरुष है उसने पृथ्वीको व्याप्त कर रखा है। यह पुरुषही सब कुछ है जो भूतकालमें या बलिकालमें होगा (और जो वर्तमान कालमें है) इस कालकालकाल मुक्त माण्डव, बाहु कल्पित कर देख और छल पाँव हैं। माण्डव कल्पित देख और छल वे इसके अवयव हैं इसीकिने इसके अवयव हजारों और कालों हैं ऐसा कहा गया है। वही वैदिकी विश्वकर्मकी कल्पना वही भगवद्गीतामें भी विधित है। वही प्रभु—

असीतकपाः । विश्वकपाः । (१६)

असीतकपाँवाला और विश्वका रूप प्राप्त करनेवाला है। "विश्वमें जो भी रूप दिखल दे रहा है वह सब इसीका रूप है। इस तरह सब रचनाएँवाला परमेश्वरही रूप है वह सब सिद्ध हो जाती है।

शशिस्वर्णनेत्र वीर्यवृत्ताशयकर्म (११)

सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं प्रदीप्त जलित जिसका मुख है ऐसा वह ईश्वर है। वही प्राणियोंका बाह्यदे परार्थ भी ईश्वरके अवयव हैं वह बात कही है। वही वह आयेवके परमेश्वर है—

अश्वमा मनसो ज्ञातव्योः सूर्यो अजायत ।
मुखादिप्रभाभिश्च प्राणाद्यासुरजायत ॥ १ ॥
नाभ्या माखीयंवरिष्ठं श्रोत्र्योऽपि समवर्तत ।
पद्मपांशुमिदं च आजायता शोकां अकल्प
यन् ॥ १६ ॥ (अयेव १ १५)

वही मंत्र सब देखोंमें कुछ धर्मोद्धारके साथ आ रहे हैं। वही पूर्व संदर्भसे विभक्तिकर बहल करके सर्व अवयव होना है। जैसे अश्वमा मनसो ज्ञातव्ये सूर्य दे के रथानमें जलित मुखके रथानमें बार पशु प्राणिक रथानमें है। नाभि जन्तुविष्ट है मुखके मस्तक के पार्श्व रथाना भूमि के बार दिखल जान है। "आयेवमें हम वरम परमेश्वरके विश्वकर्मका दर्शन है। इसी दर्शनका उक्त अर्थ

मगवद्गीतामें बड़ा बताया है और कहा है कि सूर्यचन्द्र
उपके जेष्ठ हैं, जमि सुख है। इत्यादि। इससे पाठकोंकी
समझमें था सकेगा कि विश्वरूपकी भाव भगवद्गीतामें
विश्वरूपवर्णनके प्रसंगसे वर्णित है।

जैसे सब मनुष्य इस परमेश्वरके देहमें समाविष्ट हैं उसी
प्रकार सब देव भी उसीके अङ्गाण्ड-देहमें समाविष्ट हुए
हैं। इसका वर्णन करते हुए—

ब्रह्माण्मयीञ्ज कमलासनस्थ

पद्म्यामि देवास्तथ देव देहे । (१५)

ये सत्य कहे हैं। कमलासनस्थ अर्थात् तपा
जनक देव परमेश्वरके देहमें हैं। वह बात अनुभवके किञ्च
मकर चिह्नित हुई वह एक महत्त्वपूर्ण प्रभ है। आगे भी
कहा है—

यमी हि त्वां सुरसंघा विशम्भि

केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गुणयि । (१६)

ये सब देवके सब इस प्रभुके देहमें घुस रहे हैं
और कुछ तो भयभीत होकर हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे
हैं। तथा— यह आदित्य वसु साध्य जम्बवी मधु
कम्पन-विश्व मधुर्ष पञ्च अक्षुर सिद्ध ये सब विभिन्न
होकर इस परमेश्वरकी ओर देख रहे हैं। वह वर्णन भी
अनुभव किञ्च तरह कर रहा है? क्योंकि हममेंसे कुछ तो
बाल्य हैं, कुछ मृतकांडे हैं अनुभवके पूर्व हो चुके थे।
यि अनुभवसे विश्वरूपमें इस सबको कैसे देखा?
इस प्रकारके निश्चयसे बचर इस प्रकार दिया जा सकता है—

ओमित्येतद्व्युत्तरमिह सर्वं । भूत मधुमविष्य

दिति सर्वमोकार एव । यथाभ्यासिकाळा

तीत तदुप्योकार एव । सर्वं होतब्रह्म अथ

मसमा ब्रह्म । (भाष्यन व १-२)

ओंकारसे जात्मा बनकर ब्रह्मका मोह होता है, वह
ब्रह्मी तो सब कुछ है। भूत भविष्य वर्तमान काळमें
को ब्रह्मका भी परे है वह सब ब्रह्मही है। ' यही
कर्मन बड़ा किया है। कमलासनस्थ अर्थात् तपा
अग्नि जो मृतकांडों हो चुके थे इस विश्वरूपमें संमिश्रित
किये गये हैं। अनुभवकी स्थितिमें ये थे इसलिये उस
स्थितिमें इस समय आगुति हुई और वह उसको इस

विश्वरूपमें देखने लगा। विश्वरूप कर्मक वर्तमान
कर्मकाही नहीं है वह जेसा वर्तमान काळका है जेसाही
भूत और भविष्यका भी है। जो पढ़िके हो सुका था वह
भी इस विश्वरूपमें संमिश्रित होना योग्य है और जो
जागे सोनेवाला होगा वह भी इस विश्वरूपमें संमिश्रित
होगा। विश्वरूप तो सब कुछ है। जो था जो है और जो होगा
वह सब विश्वरूप है। इसलिये भूत काळके सब देवी भाव
जो अनुभवके स्थितिमें थे वे वहां संमिश्रित हुए हैं।

इसी प्रकार मरुत, चंद्र आदि ब्रह्मण देवताओंको भी
वहां इस विश्वरूपमें संमिश्रित किया है वह एक महत्त्वपूर्ण
विषय है। जैसे एवम पदार्थ विश्वरूपमें हैं वैषेही ब्रह्मण
पदार्थ भी हैं। ईश्वरकी देहमें सब कुछ है। मरुत वायु
हैं और चंद्र मास हैं। दोनों अरूप पदार्थ हैं। इनका
समावेश विश्वरूपमें कैसा किया है, ऐसी लंका बड़ा हो
सकती है। इसके उत्तरमें हमनाही करना है कि वहां जो
विश्व-रूपमें रूप ब्रह्म है वह कर्मक आत्मिककी
विषय है ऐसी बात नहीं है। वायुका ज्ञान एतद्विषय
होता है अधिक ज्ञान ब्रह्मका होता है ये सब अरूप
होते हुए भी परमेश्वरके अरूपमें संमिश्रित हैं। विश्व-रूप
अरूपसे वह केवल आत्मिकाही विषय है ऐसी बात नहीं है।
पंच आर्षेयोंमें और मनुष्यके जो भी ज्ञात होता है वह
परमेश्वरका स्वरूप है। वहां बड़ी आश्चर्य है। इसीलिये जैसे
भूतभविष्यकाळके पदार्थ इसमें संमिश्रित होते हैं वैषेही
आत्मके न हीकनेवाके रूपविहीन पदार्थ भी उसमें संमिश्रित
होते हैं। विश्व सत्यसे जो ज्ञात होता है वह सब
परमेश्वरकी देहमें संमिश्रित है और वह परमेश्वरका रूप
है।

इसका आदि मध्य और अन्त नहीं है। वहां ये सत्य
जैसे स्वरूपायक हैं वैषेही काकवायक भी समझे जाने चाहिये।
आदि अन्त भूतकाळका मध्य अन्त वर्तमानकाळका और
अन्त अन्त भविष्यकाळका वाचक समझनेसे ईश्वरमें तीनों
काळ नहीं है ऐसा भाव विषय होता है। दूसरी दृष्टिसे
ऐसा भी कह सकते हैं कि ईश्वरमें केवल वर्तमानकाळही
है और भूतभविष्य ईश्वरकी दृष्टिसे नहीं है।

आदि सत्यका नवें उत्तरवि मध्य सत्यका नवें स्थिति
और अन्त सत्यका नवें प्रकट है। ईश्वरभावसे इस विश्व-

रूपमें उत्पत्तिस्थितिजन्य नहीं है। क्योंकि वह जैसाका जैसा ही है। इसके पूर्व—

महमादिभ्य मध्य च भूतानामभ्य एष च ।

(गी. १. १९)

ईश्वर सबका आदि मध्य अन्त्य है ऐसा स्पष्ट कहा है वह व्यवहारभाष्य है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, कुछ समय रहती है और अन्त्यमें गम भी हो जाती है। प्रत्येक वस्तुके ये तीनों भाग हैं परन्तु समष्टि न उत्पन्न हुआ और न गम होगा। वह सर्वकल्पसे जैसा था वैसाही है और वैसाही रहेगा। जैसे यदि सोनेके आभूषण बनाने कायें तो वे आभूषण एक समयपर बने कुछ काक रहेंगे और बादमें वह भी हो जायेंगे परन्तु इन तीनों अवस्थानोंमें सोना एकही कल्पसे रहता है। इसीप्रकार व्यवहारभाष्यमें आदि-मध्य-अन्त्य शीकते हैं परन्तु समष्टिभावसे वे नहीं होते। अतः दोनों प्रकारके वर्णन सत्य हैं वह वायु पादकोंकी समष्टयमें जा जावनी।

सत्ताहमें मंत्रमें मुकुटधारी मृदाधारी चक्रधारी त्रैलोक्यी एसा जो वर्णन किया है वह भगवान् भीकृष्णका वर्णन स्पष्ट है सायही सत्य सब और उल्लेख विश्वरूपमें ऐतिमित्व है इसीप्रकार उनके किरित उनकी गवायें, उनके चक्र और वक्रव त्रैलोक्य इस विश्वरूपमें ऐतिमित्व होनेसे साक्षात्परभावसे भी वह वर्णन सत्य है ऐसा कह सकते हैं।

जैसे अद्वैतहमें मन्त्रमें भी 'अक्षर (वेदितव्य) तत्त्व, विश्वका विधान अन्त्य तत्त्वतः पुण्य और आश्रयतत्त्वमे गोप्ता आदि छन्दोद्वारा परमेश्वरकाही वर्णन है। वे सत्य इनके पूर्व भी जन्मेक बार जा चुके हैं अतः वही इसकी विशेष चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है। आश्रयतत्त्वमे गोप्ता वह एकही छन्द यह विशेष महत्त्वका है। पीतवर्ण आश्रयतत्त्वमे कहा है और उत्तरी रक्षा परमेश्वरकी करणा है वह वायु वही बलापी है। वह आश्रयतत्त्वमे आनवा मनुष्यका कर्तव्य है। वही मनुष्यका महज धर्म है। महज धर्मका अर्थ स्वभावधर्म है। मनुष्यकी प्रकृति सार-रज-तमोगुणतमक होती है और सार-रज-तमोगुणोंके धर्म विभिन्न हैं व बदले नहीं जाते अतः इनके कारण जो स्वभावधर्म बनता है वह प्रकृति धर्म होवसे आश्रयतत्त्वमे है और वही सनातन होना स्वाभाविक है। इन आश्रय

धर्मकी रक्षा परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई कर नहीं सकता। मनुष्य इस आश्रयधर्मका उत्पन्न नहीं है। क्योंकि प्रकृति धर्म मनुष्यनिर्मित नहीं है।

आवागुमिणीके बीचका सब अवकाश, और सब दिशाओंमें अन्तरका अवकाश ईश्वरने व्याप्त कर दिया है। (को. २) इसका अर्थ स्पष्टही है। अतुल्यके अन्तर वह व्याप्त है इसीप्रकार प्रत्येक पदार्थका रूप उत्तीर्ण रूप है। देख जो पूर्व स्थलमें कहा है वही वही भिन्न प्रकाशसे लक्ष्य गया है। आकाश और पृथ्वीके अन्तरके सब पदार्थोंमें लक्ष्य प्रविष्ट है अर्थात् सब पदार्थ उसके बाहरी आकाश है, जो वक्रता विश्वरूप है। विश्वरूपमें कठित कर्णोंका भग्न नहीं है। विश्वमें रूप कठित शीकता नहीं है रूप जो दीप्त है वह अर्कचितही शीकता है। यदि कोई कहेगा कि रूप कठित शीकता है तो दो कर्णों शीकते स्वरूप विश्वरूप शीकता चाहिये। परन्तु रूपके बिना कोई भाग है। छि-गोचर नहीं होता। इसीप्रकार कहना पड़ता है कि रूप अर्क-चित है। और वह सर्वत्र शीकतेवाका अर्कचित रूप उत्तीर्ण है जो सर्वत्र व्याप्त है क्योंकि वही सर्वत्र व्याप्त होकर लक्ष्य कर्णोंका हेतु होता है। इसीप्रकार वह सब रूप उत्तीर्ण रूप है।

यदि पादकोंको यह कल्पना हो ज्ञानी और अज्ञान-रूप रूप उनके प्रत्यक्ष अनुभवमें जा जावना तो इसलिये जो अर्कचित प्रकार रूप शीकता वही ईश्वरका स्वरूप होता। इसका विश्वरूपवासी विश्वरूप शीकतेवर जो लक्ष्य रूप प्रकार अर्कचित रूप विश्वरूपका है ऐसा मानने और अपने आपको भी उल्लेख अन्तर ऐतिमित्व हुआ देखना एकको बड़ा कर लीगा कि कहा। यह देखा निश्चय अनुभव रूप है। अर्कचित रूप देखकरही भगवान् लक्ष्य है कि—

उभय मनुभूत रूप दृष्ट्या साकल्य प्रपद्यितम् । (११)

उभय भवकर शिखरमङ्गल (परमेश्वरका विश्वरूप) देखकर तीनों कोक अर्कचित व्यवस्थित हुए हैं। वही सर्व भवभीन हुआ है। भवभीन होनेपर इसे ऐसा मानना कि तीनों कोकोंके बीच भवभीन हुए हैं। लक्ष्य तीनों कोकोंमें रखेवाके सब जीवोंको विश्वरूपी वास्तव का साक्षात् दर्शन हुआ ऐसा माननेको कोई समझ नहीं है।

अतः वह अर्जुनका कदवा केक अपने आन्तरिक भावको व्यक्त करमाही है। हृदयक मनुष्यको ऐसाही प्रतीत होता है। जिस समय वह मयभीत होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विष मयभीत हुआ है और जिस समय वह हर्षित होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सब विष हर्षित हुआ है। इसी प्रकार यह अर्जुनका भाव है।

बागे बककर (छो २१-२२ में) कहा है कि ये देखो कि समूह इस वरमेधरके रूपमें घुसे हैं कुछ तो नीचिसे हाथ जोड़े हैं मर्नि स्तुति कर रहे हैं क्षयवि देव निरर बधुर बादि सब विधिवि रूप हैं यह सब इसके अपनेही मन्त्रके भाव हैं। क्योंकि सब देवगाथ तो परमेधरके कमरें संमिश्रित हैंही। कौन उससे प्रयत्न है? परन्तु अर्जुन इसके प्रयत्न भावसे देखकर उसके विषयमें अपनी कल्पनाके अनुसार बोल रहा है। अविगण ईशस्तुति करते हैं बधुर राक्षस विरोध कर रहे हैं, सिद्धगण सिद्धिके किसे प्रभावहीन हो रहे हैं यह सब उसीमें हो रहा है। उसे मनुष्य सोठे सत्य कावत केवा है और बाबा भाग बांके मागापर रहवा है अपना किसी समय इसके विपरीत करवा है परन्तु नीचे अवका ऊपर उठीका भाग होता है। इसी तरह बाबा समझना चाहिये। सब उसीके रूप होमेपर फेन उससे बाहर है और कील उसमें संमिश्रित है। अतः सुर संवेति निषयमें अर्जुनके जो कल्पना की है वह सब यदना विश्वकम्पी प्रयुक्त विश्वकम्पीही हो रही है और यह अर्जुन अपनी जोरसे कल्पना कर रहा है ऐसा समझना चाहिये। अर्जुन अपने इस विश्वव्यापी कल्पके देखकर मयभीत हो चुका था और इस काल उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि सभी स्थितिके भागी ध्वनीय हैं। बागेके तीनों छोकेमें यह इभी अपने आन्तरिकका नीचिका वर्णन कर रहा है।

जनेक मुख मेघ बाहु पाथ पेद और रंध्राकाका वातावरणक व्याप्त रूप देखकर और उसमें अनेक रंध्र उत्तम स्थिति मरे रहनेके कारण उसका विश्वध्वन सीर्य्य बह रहा है बागे और प्रकाश भरपूर हो रहा है सभी ओर अनेक मुख और मेघ कार्य कर रहे हैं कई आनोपर उसके विषाचक भाव कार्य कर रहे हैं यह सब विश्वमें बका रहा है यह एकही ईश्वरका प्रभाव है ऐसा देखकर अर्जुनका वातावरण ध्वनिके कंपित हो रहा है क्योंकि इस देवक अन्तरही वह अपने आपको अनुभव कर रहा था

और इसको त्याग कर बाहर जानेका मार्ग भी उसको नहीं दीकवा था। अर्जुन इस समय बुद्धिमें बका रहनेके कारण उसको परमेधरका संहात स्वल्प प्रकपकाकी भावि (काकालकलविम) के सहाय दिखाई दिया इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। सम्भव उस समय भावनाका विश्वकम्पी कुटोन्नपर प्रकपकाका रूप लेकरही बका था।

बागेके दो छोकेमें यह ऐसा वर्णन कर रहा है कि मैं औरधर्पावके विधिविगोवि और सबके सब परमेधरके इस विश्वकम्पी परवच होकर प्रवेश कर रहे हैं। कैसे पतंग अग्निमें झूटे हैं उसी प्रकार प्रकपकाकी विध्वनाक रंध्रामें मरनेके किसे वेगस प्रविष्ट हो रहे हैं। ऐसा एक समय कावही है जिस समय बुद्ध अपरीहारी हो जाता है। पूर्व कर्मोंका ऐसा परिणाम हो जाता है कि कोई उस बुद्धके बाध नहीं सकता। जब बुद्ध होता है उस समय मत्तो वह विश्वकम्पी परममत्ताकी विध्वनाक बाइही कैली रहती है और उसमें बहाने कीर प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय कौन इनका बचाव कर सकता है? अर्जुनके मनमें इस समय बड़ी कल्पना जाती है कि वह बुद्धयुति भी उस विश्वकम्पी परममत्ताकी कैलापी हुई मयावक दृष्टा है और उसमें दोनों ओरके वीरगाव वेगस प्रवेश कर रहे हैं। अपना विगाध देखते हुए भी वे उसके अन्तर प्रविष्ट होनेसे अपने आपको बचा नहीं सकते। यह है विश्वकम्पी परमेधरकी बद्धुत गति इसी गतिसे सब विष बक रहा है। कैसे बहिनो बचत होकर वेगसे समूहमें जाकर यह होनेके किसे दीहरी है अपना कैसे पतंग मरनेके किसेही अग्निमें झूट पड़ते हैं, इसी तरह वे सब दोनों पक्षों कीर इस विश्वकम्पी परमेधरकी कर्मरंध्रामें झूट रहे हैं।

कैसे सिंह व्याघ्र बादि विंशपक्ष अवका भव्य काकन भीम चाटते बडे रहते हैं वेसेही यह विश्वकम्पी काकपुत्र इन सब विरोको भक्षण करके भीम चटवा हुआ चका है। यह मत्तो अरक बुद्धका परिणाम देखकर अर्जुनके मनके अन्तर वह कल्पना हुई है और यह कल्पना प्रत्य भी है। विश्वव्यापक दृष्टिसे देखेपर ऐसाही दीवेगा।

भावि (छो २१) में अर्जुन इस विश्वकम्पी परमेधरको वचन करके उसका नाम और उसका कार्य एक रहा है और प्रकाश होनेकी प्रार्थना कर रहा है। अर्जुनका यह पक्ष धुनकर भावनाक अन्तर है रहे हैं—

(५) कालका अवतार

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
 अतोऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रस्थनीकेषु बोधाः ॥ १२ ॥
 तस्मात्प्रवृत्तिष्ठ यश्चो लभस्व वित्वा क्षत्रद्वन्द्वस्य राज्यं समृद्धम् ।
 मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सम्प्रसाधिन् ॥ १३ ॥
 द्रोणं च भीष्मं च कर्णद्रुपं च कर्मे तथाऽन्यानपि बोधविराट् ।
 मया हतास्त्वं बहि मा व्यथिष्ठा युष्मत्सु खेतासि रणे सपत्नान् ॥ १४ ॥

अन्वयः— श्रीभगवाद् उवाच— (अर्थ) लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि इह लोकान् समाहर्तुं प्रवृत्तः (अस्मि) त्वां कृते अपि प्रस्थनीकेषु ये बोधाः अवस्थिताः ते सर्वे न भविष्यन्ति ॥ १२ ॥ तस्मात्, हे कर्णद्रुप, त्वं वृत्तिष्ठ यश्चो लभस्व वित्वा समृद्धं राज्यं युंक्व । तथा एव एते सर्वे एव निहताः त्वं निमित्तमात्रं भव ॥ १३ ॥ त्वं द्रोणं च भीष्मं च कर्णद्रुपं च कर्मे तथा मया हताम् अन्यान् अपि बोधविराट् बहि मा व्यथिष्ठाः युष्मत्सु रणे सपत्नान् कृताः बलि ॥ १४ ॥

श्रीभगवान् बोध— (मैं) लोकोंका नाश करनेवाला बड़ा हुआ काल हूँ । यहाँ लोगोंका संहर करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । खेतार्थ जो वीर कहे हैं वे सब तेरे (युद्धके प्रयत्नके) बिना ही अपने वाल नहीं हैं ॥ १२ ॥ इसलिये हे सम्प्रसाधी भर्तृन् । तू उठ पड़ा प्राण काट, क्षत्रजनोंको जीत कर समृद्ध राज्यका उपभोग कर । मैंने इनमें पहिलेही मार डाला है, इसलिये तू केवल निमित्तके लिये बाने वा ॥ १३ ॥ द्रोण भीष्म अयद्रुप कर्मे तथा अन्य वीरोंको मैंने पहिलेही मार डाला है, उन्हीं तू मार घपरा मठ युद्ध कर तू युद्धमें क्षत्रजनोंको जीतेगा ॥ १४ ॥

भाषार्थ— प्रभवकर्ता परमेष्ठ कालयुक्तके रूपमें युद्धभूमिपर कार्य करता है । कोई एक वीर युद्ध करे वा न करे, उससे युद्ध नहीं टक सकता । इस प्रकारका युद्ध अपरिहार्य हुआ जाता है, वह सब राष्ट्रोके कर्मोंका फल होता है । हे वीर तू अपने कार्योंके द्वाराही मारें हुए होते हैं । युद्ध करनेवाले वीर तो जाते निमित्तमात्र कहे होकर युद्ध करते हैं । अतः देखे युद्धोंके वीर मित्र न हों वरएक वीर अपना कर्तव्य करे और विजयके लिये करने प्रयत्नको परमप्रयत्न पहुँचा दे ॥ १२—१४ ॥

(१२-१४) ईश्वरमें कल्याणक कालिक सावही संहारक शक्ति भी है । युद्धके समय कक्षकी संहारक शक्ति कार्य करती है । जैसे देहमें फोटा होवेपर उध मांसको कटकर फेंक देते हैं, फोटा अपने देहका भाग है इसलिये उसकी रक्षा करनेका पल कोही नहीं करता उसी तरह विषकपी पिराट् पुरण्ड विषईहके ऊपर देखे युद्धप्रयोग कोडे पुष्पीके समान है । ये टक नहीं सकते इसलिये उधे फल कर ईश्वरी चाहिये । जैसे युद्धमायवासे मनुष्योंकी रक्षा करनेका भाव करनेसे मातवी धमाके कठोर बरंगीही । इसलिये देखे युद्धभिमानी लोगोंका युद्धके द्वारा कितना

बीज नाश होता उचवारी अच्छा है । उनकी मृत्युसे बचाएँ बचवायेँ मृत्यु व्यवस्था प्रवृत्त होती और उधे कषणको सामाजिक राष्ट्रीय और धार्मिकीय स्वतन्त्रताय होता । देखे धर्म कितनी वीरसे युद्ध किया बचवा कितनी न किया उससे उध धर्मवकी वसिष्ठिमें युद्ध भी नृकषिण नहीं हो सकता । क्योंकि उध धर्मवकी वसिष्ठिमें ही समस्तके उध धर्मके सामुद्रिक कर्मोंके वकी होती है । उधम मवाद कील टोक सकता है ? इसलिये वारक वीरको उचित है कि वह अपना धर्मका कर्तव्य उधम लिये करे और जो परिणाम हो उसका जीकार करे । वह कर्म

संक्षेप उपाख—

एतच्छ्रुत्वा भवन केशवस्य कृपाबलिर्षेपमानं किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृप्यं सगद्गदं भीतभीतं प्रणम्य ॥ ३५ ॥

(६) स्तुति और आत्मनिवेदन ।

संक्षेप उपाख—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या अगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रधासि मीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्सन्ति च सिद्धसंघा ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मनारीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्षे ।
अनन्त देवेश अगमिवाप्त स्थमधर सदसचत्पर यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्य च परं च चाम त्वया तत्तं विश्वमनतरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्वर्मोऽग्निर्वैष्णवः क्षत्राक्षः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहम् ।
नमो नमस्तोऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूवोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

संक्षेप उपाख— केशवस्य एतत् वचने स्थाने वैपमानः किरीटी कृतस्त्रयः कृप्यं वयः कृत्वा भीतभीतः प्रणम्य च भूयः
एव सगद्गदं वाह ॥ ३५ ॥

संक्षेप कहने लगा— श्रीमद्गवान्ने इस वाक्यको सुनकर, कांपता हुआ अर्जुन हाथ जोड़कर
श्रीकृष्णको नमस्कार करता हुआ भयभीत होनेके कारण नम्र होकर बारंबार गद्गद कंठसे फिर कहने
लगा ॥ ३५ ॥

भाषार्थ— परमेश्वरके बहुत कमलर इकट्ठे और उमड़ी सहस्रता करने कीकील कार्यमें है वह वाक्य मनुष्य
गद्गद हो जाता है, अपने आपको कृतार्थ मानता है और ईश्वरके सामने नम्र हो जाता है ।

विपत्तयः वसन्त उदयमानः । हृषी उद्देश्ये अगत्प्रहृष्य
श्रीकृष्णके भीष्मके (उद्योग-पर्वमें) कहा था कि—

काशयन्मामिदं मय्ये सर्वं क्षणं अनावृतम् ।

(म मा उ १२७३९)

है कृष्ण । वह पुनः काशके परिपन्न होकर ठेकार
हुआ सब घटिवर्तोंका कर्मचक्री है । इसको शाक्य कर्मि
है ।

अर्जुन पुनः को और विषय प्रस्तुत करने वचनोप
रिधिसे राज्यका धारण करे । धर्मका राज्य छूट करनेका
परिणाम करे । जो धर्मका राज्यधारण छूट करनेमें सहायता
करे है उसकी निन्दा होती है । इसके शत्रु परमेश्वरके
हमारी मारे जाते हैं, वह केवल निमित्तमात्र पुनश्चमिपर
जवा होता है । परित्यजि उसके किये ऐसी अनुपम हो

जाती है कि वह वहां भी जाये वहां उसके विजयही
मिलता है । परन्तु वह लसी होगा जब धर्मका राज्य
वहमेंके किये अत्यन्त करवनेके समय यदि अत्यन्तकता
हो तो अपने धर्मरक्षण के लिये किये की कर्मवद् हों ।

(३५) अर्जुनने अथवा श्रीकृष्णका पूर्वोक्त भाषण
ध्यान किया विशेषकर तुम्हारे शत्रु देने मार रहे हैं केवल
निमित्तमात्र जागे हो जाओ और वध करनाओ ऐत वाक्य
अर्थ करने उसके समर्थ एक विद्वान् भाव उत्पन्न हुआ,
परमेश्वरके मेरे किये इतना किया है परन्तु मैं कैसा होन
हूँ कि हाथमें बिना वध स्वीकारनेको भी ठेकार नहीं हूँ
वह इसको अनुपम होने लगा । इस कारण वह गद्गद हो
उठा सापही छाव अर्थ करने भी लगा । नम्रतासे हाथ
जोड़कर प्रणाम करने लगा और कहने लगा—

माते हैं। और सब सिद्ध पुरुषोंके संघ तुमको नमस्कार करते हैं ॥११॥ हे महात्मन् हे अनन्त देवाधिपति ! तुम जैसे प्रभुदेवसे भी भेद्य भावि कारणके सामने थे कैसे मन्न नहीं होते ? हे अगशिवास ! सत् और असत् और (उन दोनोंके) परे जो अक्षर है वह भी तुमही हो ॥ १७ ॥ तुम भाविप्रेष पुराणपुरुष इस जगत्के परम आधार, ज्ञाता और क्षेत्र तथा तुमही भेद्य स्थान हो । हे अनन्तरूप ! तुमनेही इस जगत्का विस्तार किया है अथवा व्याप्त कर रखा है ॥ १८ ॥ तुमही वायु यम मग्नि धरुण चन्द्र प्रजापति (अर्थात् सबके दादा प्रभुदेव) और सबके परदादा तुमही हो । तुम्हें हजार बार नमस्कार है । और फिर तुम्हें बारबार नमस्कार है ॥ १९ ॥ हे सर्व ! तुम्हें सामनेसे और पीछेसे नमस्कार है सभी ओरसे भी तुम्हें नमस्कार है । हे अनन्तधीर्य ! तुम्हारा पराक्रम अनुत्तमीय है । तुम सबको सम्पत्तया प्राप्त होते हो इसलिये तुम्ही सर्व हो ॥ ४० ॥ तुम्हारी इस महिमाको न जाननेके कारण मैंने मित्र समसकर हे कृष्ण हे बाद्य हे सक्ता ऐसा जो भी कुछ भूखसे या प्रेमसे कहा हो ॥ ४१ ॥ हे मन्थुत ! आहार विहारके भी समय खाने बैठनेके समय, हास्य विनोदके समय, भकेके मधवा अनेक मनुष्योंके समक्ष मैंने जो तुम्हारा अपमान किया हो उस (अपराध) के लिये मैं अनन्तम्बरूप आपसे क्षमा माँगता हूँ ॥ ४२ ॥ हे अनुत्त प्रमाथ ! तुम्हीं इस स्थिरचर जगत्के पिता हो तुम सबके पूज्य और गुरु सबके भी भेद्य गुरु हो । तीनों लोकोंमें तुम्हारे बराबर कोई नहीं है फिर तुमसे अधिक भेद्य कहाँसे होगा ! ॥ ४३ ॥ हे देव ! इसलिये शरीर झुका कर, नमस्कार करके मैं स्तुतियोग्य ईश्वररूप आपकी प्रार्थना करता हूँ कि जैसे पुत्रके (अपराध) पिता मित्रके (अपराध) मित्र प्रियके (अपराध) प्रिय क्षमा करता है, वैसेही मेरे सब अपराधों की क्षमा करनेके लिये आप समर्थ हैं ॥ ४४ ॥ हे देवाधिपति अगशिवास ! तुम्हारा पहिले कमी न देखा हुआ पद्म (विम्बरूप) देखकर मैं मत्तत हर्षित हुआ हूँ । और व्याकुल भी हो गया हूँ इसलिये हे देव ! प्रसन्न हो जाओ ! और वही पहिला रूप दिखा दो ॥ ४५ ॥ हे सहस्रबाहु ! और हे विम्बमूर्ति ! मैं तुमको (पहिलेके समानही) किरीट और गदाधारी हाथमें शक्र लिये हुए दक्षिणा पाहता हूँ । (अतः) उसी अनुभूत रूपसे प्रकट हो जाओ ॥ ४६ ॥

माचार्य—परमेश्वरके गुणोंका वर्णन करनेसे मनुष्यको सच्चा मार्ग प्राप्त होता है और जैसा जैसा वह उन गुणोंका मनन करता जाता है वैसी उसकी प्रीति उस विषयमें बढ़ती जाती है । सज्जनही ईश्वरकी भक्ति करते हैं । परन्तु दुर्जन ईश्वरसे सदा दूर रहते हैं । ईश्वर सबका गुरु कारण है वह सत् असत् और अक्षर अर्थात् सब कुछ है । ऐसे सर्वव्यापिमात्क सम्पुक्त सब कोई नष्ट होकरही रहेंगे । सबका भाविप्रेष जब सबका पूर्वज सबसे बड़ा सबका माता, दादा और क्षेत्र सबको ज्ञान देनेवाला ईश्वरही सब जगत्का विस्तार करता है और सर्वत्र व्यापक होकर रहता है । अग्नि वायु भावि सब क्षेत्रोंक कर्त्तोंमें वही प्रकट होता है इसलिये उसको अनेक बार प्रणाम करते हैं । वही ईश्वर सब कुछ है इसलिये उसको अनन्तकमवाका कहते हैं । ईश्वरकी वह महिमा कोई नहीं जानता और कुछ तो अपने ज्ञानके कारण उसकी बलहेतुता भी करते हैं परन्तु अन्तमें सबको उससे क्षमा-माचना करनी पड़ती है । क्योंकि ईश्वरही सबका रक्षक और गुरुओंका भी गुरु है । उसकी समताका कोई नहीं है फिर उससे बहक क्यों होगा ! अतः सबको उचित है कि वे बड़े लज्जयाचक परमेश्वरको प्रणाम करें और अपने अपराधोंकी क्षमाके लिये उसकी प्रार्थना करें ॥ ११-४९ ॥

(११ ४६) इन ग्यारह श्लोकोंमें विम्बरूप पूर्वजक सर्वप्रथम निम्नलिखित छन्द आलौत महावक्ते हैं—
(हे) सर्व (४०)
सर्वः भक्ति (४०)

अनन्तरूप (१८)
विम्बमूर्ति (४६)
ईश्वर सब कुछ है उसका नाम सर्व है उसके रूप अनन्त हैं और विम्ब की उसकी मूर्ति है । अर्थात् सब

कुछ जो बड़ा है, वह सब बड़की सृष्टिवाँही है। 'ये पाद ध्वज स्पष्टगणे वरा रणे हैं कि जो इस विषयें वस्तुमात्र हैं वे सब परमेस्वरकी सृष्टियाँ हैं अर्थात् सब विषय परमेस्वरका कर्मही है। इस बात धर्म्योकी बर्णना करनेका होनेसे परमेस्वरक विषयकर्मकी हीन हीन कल्पना हो सकती है। ये ध्वज बड़े महत्त्वके हैं। और इस दृष्टिसे इस सप्तगुणका महत्त्व समझना चाहिये।

यदि सर्व (सब) परमेस्वर है, यदि 'विषय सृष्टि' (विषयकी सृष्टि) परमेस्वर है, तो विश्वान्धेह उन्ही परमेस्वरका वह सब रूप है। जो रूप वहाँ दिखाई देता है वह सब उन्हीका रूप है। जब पाठक पूछेंगे कि वहाँ कैसा वास्तवों का रूप दिखाई देता है वैसामी औरवोंका भी दीकता है। क्या दोनों रूप परमेस्वरके हैं ? हाँ दोनों रूप परमेस्वरकेही हैं क्योंकि वहाँ दूसरा कोई नहीं है—

मेह बानास्ति किंचन

वहाँ बनेक पदार्थ नहीं है। एकही पदार्थ है और उन्हीक ये सब रूप हैं जो वहाँ दीक रहे हैं। सब विषयों एकही वस्तु है जिसके ये सब रूप हैं। विषयकर्मकी कल्पना हीन प्रकृत मर्ममें दिख करती हो तो उसके प्रथम वहाँ एकही वस्तु है और उसके ये सब रूप हैं वह बात समझनेका मतलब करना चाहिये।

वहाँ दूसरा कोई नहीं है इसीलिये कोकसंग्रह कल्पना बाध करवा बर्न कहा जाया है। जिसकेवा अपनीही सेवा है और निष्करोह भी अपनीही ग्राह है। यदि ब्रह्मण की आज्ञा तो भी अपनीही ब्रह्मण है और निष्कृता भी अपनीही निष्कृता है। इसी मुख्य विचारपर सब मायकर्मोंकी रचना की गयी है। इस मुख्य विचारका मन्त्र करने और इसी दृष्टिसे विचार करने मायकर्मोंके सिद्धांत समझ लेना मतलब करना चाहिये।

परमेस्वरके गुणोंका (प्रकीर्ण) वर्णन करनेसे सब जगत्को (प्रक्षुब्धति) हर्ष होया है और उस वर्णनमें सब (ब्रह्मरूपते) रमता भी है। मनुष्य वस्तुका समझते हुए जबका व समझते हुए ईश्वरकाही वर्णन करते हैं। क्योंकि यदि किसी वस्तुके वचन गुणोंका वर्णन किया जायगा तो वह समझाए जायगा परंपरता परमेस्वरकाही वर्णन होगा। वस्तुमात्रमें विभूतिमय, भीमत् और

ऊर्ध्व देते भी जो माय हैं व सब (भी १०-११) ईश्वरकी माय हैं। मनुष्य जिस किसीका वर्णन करता है उसमें वह कुछ वर्णनीय माय देखा है। उससे उक्तमन्त्र सब ओर आकर्षित होता है वह आकर्षित करनेवाला माय बर्णन विभूतिमय ईश्वरकाही होता है। एक करनेवाला सब, मायकोंका रमन करनेवाला चमत्कारा ये दोनों ईश्वरकी विभूतियाँ हैं। इसीमें सब कुछ का माता है। अतः फिर है कि इसके वर्णनीय माय ईश्वरकी विभूति है। मनुष्य जो आकर्षित होता है वह ईश्वरके विभूतिमयकेही आकर्षित होता है परन्तु वह अनुसंधान उन्हीं की रहता, सब सब वस्तु है वह उन्हीं अनुभव वहाँ हो जाता। यदि वह सब सब करने वही पाते करेगा तो उन्हीं मुक्ति प्राप्त लेगी। मनुष्यका सब (जगत् ब्रह्मरूपते) जो जगत्में रमता है वह ईश्वरकी रमता है, परन्तु इस बातका उन्हीं सब वहाँ है, वहाँ कोक १२ में जो जगत्, जगत् है वह धर्मपूर्ण प्राप्तिोंका वाचक है। विषय समझनेके लिये सब वहाँ जगत् का वर्ण मनुष्यमात्र इतनाही लेते हैं। (जगत् प्रक्षुब्धति अनुरूपते च) मनुष्यमात्रके जो हर्ष होया है और मनुष्यमात्र जो रमता होया है वह (सब प्रकीर्ण) ईश्वरके गुणवर्णनकेही है। वहाँ सब होती है कि सर्वपूर्ण प्राप्तिमात्र जबका मनुष्यमात्र परमेस्वरक वर्णन करतेही कहाँ हैं ? कहीं तो परमेस्वरके वस्तुत्वको ही वही जानते। जो ईश्वरके वस्तुत्वको भी वही जानते वे उक्तका वर्णन कैसे करेंगे ?

इस संक्षेपे वचनमें निवेदन है कि परमेस्वर सब है। (सर्व) है, अतः मनुष्य जिसका भी वर्णन करे वह जाने वह वर्णन ईश्वरकाही होगा और मनुष्य जिस किसी ब्रह्मण हो जाने वे ईश्वरकेही रूपमें ब्रह्मण होवे। क्योंकि वहाँ दूसरा कोई रूप है ही नहीं। यद्यपि मनुष्यमात्र में वर्णन करते हैं और प्रेम करते हैं वह केवल ईश्वरक वर्णन करते हैं और ईश्वरकोही प्रेम करते हैं वगैरि उन्हीं सब बातका वता नहीं है। व प्रथमसे हुए वे वह सब करते हैं, अतः महत्त्वसे संक्षिप्त रह जाते हैं। यदि विषयकर्मका अनुभव करने कमें तो वक्को वता का जगत् कि वे ईश्वरकाही वर्णन करते और ईश्वरकोही प्रेम करें हैं। परन्तु वह ब्रह्मणकी ओर कोमोंको वता होया है।

राज्य विषये मजबूत होकर भाग जाते हैं और सिद्धि के प्रभु विषे मजबूत करते हैं वह एक ही अज्ञानवाक्य प्रभु है जो निम्न के रूप में सबके सम्मुख उपस्थित है। ईश्वर (ब्रह्मणः आदिकर्ता) अज्ञानवाक्य भी आदिकर्ता है सबका आदिकर्तृत्व है वह स्वयंशिव है, जहां उससे राज्य नहीं बनता है। और सिद्ध प्रभु उभे नहीं मजबूत नहीं होते। ईश्वरी यही हो रहा है। सिद्धि मजबूत को ईश्वर है उसीसे राज्य करते हैं।

वही देव अमरहित (अमर) है सब देवोंका देव भी वही है, वही अमरका आत्मन है। अ-अमर अमरवाही है और अमर-अमरोंके समान होवेयोग्य भी वही है। अमर अमर और उससे परे भी को कुछ है, वह सब उलीका अमर है। वहां अमर का कार्य 'अमर' नहीं है, जहां अमर एक पदार्थ है वैसाही उलीका अमर मात्र अमर है और सब अमरके परे को है वह भी उली पदार्थका विसरा भाग है। वह वात समस्त के जलके सिधे एक उदाहरण लेते हैं। अपने सामने मिथीका देका रखते और उसकी ओर देखते। उसका मिश्रण अमर है क्योंकि उलीके कारण मिथीके मिथीका भाग मात्र हुआ है। उसका जो स्पष्ट रूप है जो मिश्रणसे स्पष्ट अमरवर्ण आता है वह अमर है क्योंकि वह अमर है एकमात्र नहीं रहता। अमर को मिश्रण है वह मिश्रणसे प्रभु किता जाता है और अमर को स्पष्टता है वह स्पष्टता अमर के अमर होनी है। मिश्रण हीनोके प्रभु होनेके कारण इसमें अमरवाही भाग वा होनी है। अमर मिश्रण और देका मिश्रण नहीं होते। दोनोका एक कारणपर होवाही अमर-अमरके परे रहनेवाका भाग है जिसे मिथी कांठ अमरका अमर नामोंके हम सब जानते हैं। अमर- (मिश्रण) अमर (देका), अमरके परे रहनेवाका भाग (मिथी) है। यदि मिथीको वात केक अमर (मिश्रण) करेंगे तो उसमें अमर (स्पष्ट देका) भी मिश्रण है यदि अमर (देका) ही करेंगे तो उसमें अमर (मिश्रण) भी है, दोनोके अमरोंके होनेवाका दोनोके मिश्रण हीनका देका भाग है। इसी तरह अमर, अमर और उससे परे के तीन पदार्थ एक अमरवाही तीन भाग हैं वह वात अमर-

में भा लकरी है।

यही प्रभु (आदिकर्ता) सबके पूर्वकार्यमें रहनेवाका है। अमर ईश्वर (पुराणः प्रभुः) अमर पुराण-प्रभु सबके पूर्वकार्यमें रहनेवाका और (विश्वस्य परम मिश्रण) इस विषय परम आधार अर्थात् मिश्रण वह विषय स्थित है, मिश्रण यह विषय है ऐसा हीनता है जिसके आधारके बिना विषयका अस्तित्व रह नहीं सकता वही एक प्रभु सबका परम आधार है।

वही (विषय विषय) अमर और देव है, अमर को अमर है वह अपने आपकोही वहां आत्मन काय करता है क्योंकि वहां अमर कोई पदार्थ न होनेसे वह स्वयं आत्मनका और स्वयंही आत्मनोमय देव वस्तु होती है और स्वयं अमरवाक्य भी है। अमर अमर देव और अमर वहां एक ही पदार्थके साथ संभव रहते हैं।

वही परमभास है वही सबका आत्मन है, कोई किसी और भाग काय वह उसीमें आत्मन पाया है। इसीने (विषय वस्तु) वह अमरविषय विषय है और वही उसमें अमर है। इसकाही नहीं वही इस विषयके अमर अमरोंके अमर पदार्थों और देका है अमर उसमें (अमरवाक्य) अमर अमरोंका अमर है। जो अमर वहां दिखाई देते हैं वे सब अमर उलीके हैं क्योंकि सब विषय अमर उलीका अमर है।

अमर अमर, अमर अमर अमर प्रजापति (अमरवाक्य) (अमरवाक्य) पराधारा अमरविषय, अमर अमर सब वही प्रभु है। वे सब देव उसीका अमर हैं। वे देव मिश्रण वही पदार्थ अमरके अमर विषय होनेके कारण उली एकके वे विषय नाम हो गये हैं। ईश्वर एक ही मनुष्यको अमर अमर विषय, अमर अमर पराधारा भास, अमरवाक्य पति अमर अमर भास है अमर नाम होनेपर भी वह एक ही होता है, इसी तरह वे नाम अमरके मिश्रण अमर और मिश्रण अमर रहे हैं अमर अमर एक ही है। इस प्रभुके सिधे हम सबका अमरवाक्य दो क्योंकि यही एक अमरवाक्य देव है।

वही (अमरवाक्य) अमर अमरवाक्यके अमर है (अमरविषय) उसका पराधारा अमरविषय है कोई अमर अमर अमर नहीं कर सकता। यह (अमर)

समाप्नोति) सबको सम्पन्नता प्राप्त होता है, क्योंकि वह सर्व वस्तुओंमें पूर्ण व्यापक है अतः उसको सर्व कहते हैं। वह सबका रूप धारण करके स्थित है इसलिए उसका नाम सर्व हुआ है। उसके नाम कर्णोक्त कहे जाँच करिकी सिद्धा करते करते थक गयी अतः कविने उसे उभयो सर्व कहा और अपना वर्णन समाप्त किया। उसका पदार्थ वर्णन सर्व सम्प्रदाशी हो सकवा है अतः अन्त उसका पूर्ण वर्णन करनेमें असमर्थ ही हैं। ऐसे सर्व नामक परमेष्ठको हमारा वरम्भकार है।

जबुन कहता है कि हे प्रभो ! हे कुन्दा ने वामन द
सका है मित्र ! जादि मामोसँ मैने आपको पुकारा था
उस समय आपकी वह महिला मुझे विविध नहीं थी न
जायसे हुए हास्य-विमोहमें तथा केवल कुछ समय आसन्न
भोजन आदिसे प्रसंगमें एकान्तमें जयवा साहजिक
प्रसंगोंमें मैंने जो आपका उपहास किया हो उसके लिये
मुझे क्षमा कीजिये । आपकी महिला इतनी बड़ी है इस
वाक्य मुझे पताही नहीं था । इस कारण मेरे द्वारा वह
प्रमाद हो चुका है प्रभो ! क्षमा कीजिये आपके सिवाय
दूसरा कौन क्षमा करेयुक्त है ?

जर्जुन इस प्रकार मनुकी प्रार्थना कर रहा है। जाना है कि जर्जुनही इस प्रकार प्रमत्ती या ऐसी बात नहीं है। मनुष्यमात्र प्रवृत्तियोग्य क्या कर रहा है? इसी के कारणों और सम्पत्ति व्यवहार करते समय मनुष्य परमेश्वरकी सम्मतिमाना जानना हुआ और उसको अपने सम्मुख सदा उपस्थित मानकर कदा व्यवहार करता है। सब सामर्थ्य उससे प्राप्त करता हुआ भी मनुष्य उससे विमुख रहनेके समान व्यवहार करता है और अपने व्यापारण्यके मनुका उपहासही करता है। अतः जर्जुनके उपहास किया या और दूसरे किसी भी यह बात नहीं है प्रायः हर एक मनुष्य परमेश्वरका उपहास करनेमें जर्जुनसे बढकर है परन्तु जर्जुनको यहां पूर्ण पञ्चापण हुआ। अतः इसका अन्तःकरण पवित्र बन गया। अन्तःकरण उपहास करते हैं परन्तु उपहास करनेका भाव उनको नहीं होता अतः उनके अन्तःकरण देखेही अपवित्र रहते हैं जैसे परिच्छेद पे। पाक वहाँ अपना व्यवहार देखें और इससे बोध लें।

परमेश्वर (पराशरस्य पिता) स्मिराचरन् पिता है। सबका पूजक है सबका प्रिय गुह है, ईश्वरके समान दुःख कोई नहीं है फिर उधरसे अधिक कहाँ मिलेगा। तीनों ज्योतिर्भि ईश्वरकाही प्रभाव व्यपसिम है। इसलिये उहीसे सबको प्रार्थना करनी चाहिये। जैसे पिता अपने पुत्रके अपराधोंको क्षमा करता है, जैसे मित्र अपने मित्रके अपराध क्षमा करता है वैसे प्रिय अपने प्रिय मित्रके अपराधोंके मुक्त होता है उसी तरह वह प्रभु मर्त्यके अपराध क्षमा करता है। वह परम दयालु है और भक्त, करमते को क्षमा पाचना करता है उसकी क्षमा कर देता है। तथा हर एक मनुष्य अपने अपराध क्षमा करनेके लिये नमनालसे उससे प्रार्थना करे।

जलुस कहना है कि वह कभी न देखा हुआ बहुत ल
मिने देखा और मेरा हृदय भवसे कंपने लगा है। वह
प्राणना है कि हे प्रभो सुखपर नाप प्रसन्न हो जायें। और
बपना बही दर्शन सौम्यरूप मुझे दिखा दीजिए। वहाँ
जलुसके सम्मुखही भगवाद् श्रीकृष्ण उपस्थित थे स्वर्ण
यसके बीच प्रभुके विष्णुरूपपर को रूप थे इसलिये उसे
सम्मुख उपस्थित भगवान् श्रीकृष्णकी करीब निकल
सा हो गया था। उसकी समग्रि ईश्वरके विष्णुरूप
कगी थी वहाँसे उसको विद्वत् करना था। उसकी छि
समग्रि करीपर कगी थी वहाँसे वह श्रीकृष्णकी वह
करीपर उसकी छि आ जानवी उस समय वह श्रीकृष्ण
की वह करीरके देख सकेगा। वहाँ हल प्रभव से
रोक रहा है वह समग्रिपर ध्यान कराने बहुत रोक रहा
है, पश्य वहाँ हृदयही अनुसंधान करें।

अर्जुन कहता है कि विरिध्वजारी गाहाधारी, कलशाली
 गौर चतुर्भुज कर्णों मगबाण भीष्मकृष्ण कम में देखना जबर
 है। हे सहजवाहो हे विजयमूर्ति! वह भयपा रुन डूने
 विनाहृषे। वहां मारबा करता हुआ अर्जुन यन्त्रार
 भीष्मकृष्ण चतुर्भुज कम देखना चाहता है। परन्तु
 भीष्मकृष्णभीका कम बिभुभी वा गौर चतुर्भुजी कम वही
 था। महाभारतमें बिभुभी मानवकम भीष्मकृष्ण के ऐसी
 नकल है। वह अर्जुनको पता था परन्तु उधड़ी छमाधि इक
 समय विजयमूर्ति विजयकरी छमाधिकम इंचपर हो चुकी थी,

(७) सौम्य व्यष्टिरूप दर्शन

श्रीमगवानुवाच—

मया प्रसभेन त्वार्जुनेद रूप पर दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमय विश्वमनन्तमाद्य भमे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाभ्ययनैर्न दानैर्न च क्रियामिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवरूपः शक्य भई तूलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढमात्रो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृक्ममेदम् ।
अपेतमी* प्रतिमनाः पुनस्त्व तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संक्षेप उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तयोक्त्वा सर्वं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेन भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

भावार्थ— श्रीमगवान् उवाच— हे अर्जुन ! पर त्वदन्येन दृष्टार्हं न तद् दृष्ट मे तेजोमय विश्वं अनन्तं कार्यं पर कर्म प्रसभेन मया आत्मयोगात् तव दर्शितम् ॥ ४७ ॥ हे कुरुप्रवीर ! भई एवरूपः तुलोकं वेदयज्ञाभ्ययनैः च दानैः च क्रियया च, उग्रैः तपोभिः च न त्वदन्येन द्रष्टुं शक्यः ॥ ४८ ॥ मम इदं ईशुक् घोर कर्म दृष्ट्वा ते व्यथा मा (अस्तु) विमूढमात्रं च मा (अस्तु) । त्वं अपेतमीः प्रीतमनाः (भूत्वा) पुनः पर एव इदं मे रूपं प्रपश्य ॥ ४९ ॥ संक्षेप उवाच— महात्मा वासुदेवः इति तवा अर्जुनं उवाच। भूयः त्वत्वं कर्म दृष्टवामास । पुनः च सौम्यवपुः भूत्वा भीतं एव आश्वासयामास ॥ ५० ॥

श्रीमगवान् बोले— हैं अर्जुन ! जो तरे सिखाय और किसीने पहिले देखा नहीं था एसा तेजोमय विश्वस्वरूपी, अनन्त माद्य मेरा घेष्टरूप प्रसभ होकर मैंने आत्मयोगके द्वारा तुझे दिखाया है ॥ ४७ ॥ हे कुरुघेष्ट ! मुझे इस प्रकारके रूपमें इस मनुष्यलोकमें देखाप्ययनसे वहाँसे दानोंसे कर्मोंसे अथवा कर्म तपोंसे तुझे छेड़कर मम्य कोई भी नहीं देखा सकता ॥ ४८ ॥ मेरे इस घोर रूपको देखकर तू अप्रियत मत हो आस्तिमें मत पड़ । तू डर छोड़कर समुद्र समसे मेरे उली पहिले रूपको दृष्ट ॥ ४९ ॥ संक्षेप बोला— महात्मा वासुदेवने इस प्रकार अर्जुनसे कहकर फिर अपना पहिला रूप दिखाया। मर्यात् पुनः सौम्य धारीरवाला होकर इस भयभीत (हुए अर्जुन) को घोरत घटाया ५० ॥

भावार्थ— परमेवार्के विश्वरूपको कोई बिराही देखा सकता है आत्मयोगसेही इस वेदवली ब्रह्म आद्य परमभेद रूपको देखा संभव है। आत्मयोग न करनेपर मनुष्य मम्य आद्यव मर्यात् वेदपद ब्रह्म इत्य कर्म पर आदि कितना भी करे उससे इस विश्वरूप दर्शन नहीं हो सकता। परमेवार्का विश्वरूप देखकर उसके असीम भावक कारण कोई भी न करे और नाही विस्मृत हो जाने। वहाँ तो इस रूपमें मयका कोई कारण नहीं है, वह तो प्रसन्नताकाही हो है ॥ ४७-५० ॥

उप मुंघमें वह इस सम्य लोक रहा है, जतः उसको हिमूनी कमवाका भीकृष्ण है अत्रवा चतुर्भुजी रूपवाका है इस विषयमें निस्पृधि हुई प्रतीत होती है। जैसे किसीको निजा वा मूलां काही है उस समय कुछ प्रथ एसा जाय, जो वह वेदका कतर दे देता है अर्जुनकी समानि विश्वरूपी ४७ (हिं गी)

परवीरपर कम जायेके कारण बेसीही स्थिति इस समय हो गई थी। इसलिये वह हिमूनी भीकृष्णको चतुर्भुजी कह रहा है। आध्यात्मिक मुंघमें ऐसा बुझाही करता है। इस प्रकार ब्रह्मकी प्रार्थना मयव करक परम रूपतु मगवान् ममपूर्ण पहिले अर्जुनसे कहते हैं—

(१०-५) यही विस्वकर्मपदार्थ किंस प्रकार होता है यह बात कही गई है । यही विशेष महारथकी बात है ।

(१) आत्मयोगसे और (२) परमेश्वर प्रसन्न होनेसे परमेश्वरका विस्वकर्म साधक देख सकता है । परमेश्वरकी प्रसन्नतासे साधकोंका साधनही इस साक्षात्कारकी साधना है । जो मनुष्य इस साधनाको करेगा वे विस्वकर्मका साक्षात्कार कर सकते हैं । आत्मयोगका अर्थ है आत्मका बहुत संबंध जानना और उसका अनुभव करनेका यत्न करना । परमेश्वरकी प्रसन्नता परमेश्वरके कार्यके क्रिये आत्मसमर्पण करनेसेही हो सकती है । वरस यही साधन बर्तुवने किया था । बर्तुवने अपने भापको परमेश्वरके

साधुकोंका परिचय बुझकर विचारण और चरित्रात्मकता प्रस्थापन इस विधिपर कार्यके क्रिये समर्पित किया था । तथा अपना संबंध अर्चनसे परमेश्वरके साथ जोड़ दिया था । परमेश्वरका वह सका बककर व्यवहार करता था । इस कारण परमेश्वर उसपर प्रसन्न हुआ और उसने अपना विस्वकर्म अर्जुनको दिया था । और इस प्रकार उस मन्त्रके अन्तर्गत जाय अष्टपूर्व तैजोमय समग्र रूप देख लिया । जो नी मन्त्र इस तरह आत्मसमर्पण करेगा वह इस विस्वकर्मको इसी तरह देख सकता परन्तु यदि कोई कहेगा कि केवल प्रथमे अध्यायमेंसे द्वादश श्लोकसे विधि विचारण करनेसे और अनेक कठोर तप करनेसे मैं विस्वकर्मको देख सकूँगा तो यह असम्भव है । बिना परमेश्वरकी प्रसन्नतासे और आत्मयोग करनेके कोई इस कर्मको नहीं देख सकता । यह कर्म विद्वत् है अर्थात् संपूर्ण वा समग्र है । इसमें अपूर्णता नहीं है अन्त नहीं है । अर्चन पकड़त बहुत अनुभव सम्पूर्ण निश्चय हो जाता आदि । ऐसा अनुभव आत्मयोगसे हो सकता है वह नहीं अन्त महारथकी बात कही है ।

यह विस्वकर्म (स्वहृत्प्रेम म अष्टपूर्व) १०) तैजोमय निज किसी आत्मे इस समभवत देखा नहीं था ऐसा जो यहाँ कहा है, यह पूर्ण अर्थसे ऐसा उचित नहीं है क्योंकि इसी पुरुषार्थमें अर्जुनने वह विस्वकर्म देखा देखा । यैसाही तैजोमये भी देखा था और उन्मेषि श्लोक ९ से १३ तक उसका वर्णन भी किया था । निज श्लोकमें अंत्य कहते हैं कि—

तच्छ सस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरे ।

विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ।

(श्री १८।१०)

इस तरह 'उस ईश्वरके अद्भुत रूपका स्मरण करने समय भी पुनः पुनः आश्चर्यचकित हो रहा था । अर्थात् तैजोमये उस विस्वकर्मको देखा था इसमें संदेह नहीं है । अर्जुनके वर्णनसे प्रसंगसे—

रूपमहते हृष्या श्लोकाः प्रमथितास्तदाहम् ।

(श्री १८।११)

परमेश्वरका बड़ा विस्वकर्म देखकर सब श्रेष्ठ प्रतीत हुए हैं । इस कथनमें ईश्वरका विस्वकर्म सब कोयले देखा था यह बात स्पष्ट है । यहाँ बर्तुवने कर्ममें कुछ अधिक वर्णन हुआ होगा इसमें संदेह नहीं है क्योंकि सब श्रेष्ठ मन्त्रभीत हुए ऐसा जो बर्तुवने कहा करने स्थानपर वहाँके कुछ श्रेष्ठ मन्त्रचकित हुए ऐसा कहा सकते हैं । ऐसा माननेमें कोई अशुक्ति नहीं है और इसका तो भाव अर्जुनके वर्णनमें अवश्यही होता । वह नम आचरणपर भी अर्जुन और संकल्पको श्रेष्ठकर कुछ अन्य उन्मेषि कर्मसे कम अर्जुनके रथके चारों ओर कटे पुष्पसिंहे जो मनुष्यनि इस विस्वकर्मको देखा था और वे भी कर्म हुए वे इसी बात विनिवार सिद्ध है ।

इस प्रकार कुछश्रेष्ठनी पुरुषार्थमपर अर्जुन संकल्प और कुछ अन्य और परमेश्वरके विस्वकर्मको देखनेमें उत्तम हुए थे । इसका होयपर नी (स्वहृत्प्रेम म अष्टपूर्व रूप) अर्जुनसे निज किसीने वह रूप इस समभवत देखा नहीं था ऐसा कहा है अतः इस कथनका अर्थ कुछ श्रेष्ठनी समझना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बात बर्तुवने को विस्वकर्म विचार दिया था । वेदों श्रुत (या ११) तथा अष्टादश नारायणके विस्वकर्म वर्णन (या १।१९) अतिस्पष्ट है । अन्त्याय पुत्रार्थमें भी विस्वकर्म वर्णन है । और भी सिद्धि देखाही होता । इन्हीं अर्जुननेही केवल इस समय वह विस्वकर्म देखा था और किसीने इस समभवत विस्वकर्म देखा नहीं था, वह कथन बर्तुवना प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिये गौतमसिंहने इसी प्रत्यक्ष मानना कथित है ।

(८) आनुपूर्वक ईश्वरमें प्रवेश

अर्जुन उवाच—

इद्वैवं मानुषं रूपं तव सौम्य अनार्दन । इदानीमास्मि संवृधः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

भीमगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । दद्या अप्यस्य रूपस्य नित्य दर्शनकाक्षिणः ॥ ५२ ॥

नाहं वदेनं तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवविभो ब्रह्मु दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

मत्स्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । स्नातु ब्रह्मु च तत्त्वेन प्रब्रह्मु च परंतप ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सुगन्धितः । निर्धरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति भीमजगन्नीलमूर्तिविपश्चिद्विद्याविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जवसंवादे विषयवर्णनो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अन्वयः— अर्जुनः उवाच— हे अनादरे ! तव इदं मानुषं सौम्यं रूपं दृष्ट्वा अहं इदानीं नैवेद्या संवृधः प्रकृतिं गतः अस्मि ॥ ५१ ॥

भीमगवानुवाच— यत् मम सुदुर्दर्शं इदं रूपं दृष्ट्वा अपि नित्यं कल्पे कल्पे दद्याः अपि नित्यं दर्शनकाक्षिणः (कसि) ॥ ५२ ॥

तव यथा मां दृष्ट्वा अपि पूर्वविधः अहं न वेदेः न तपसा न दानेन न च ज्यया शक्यं ब्रह्मु दृष्टवः (अस्मि) ॥ ५३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! अहं एवविधः तत्त्वेन स्नातु ब्रह्मु प्रब्रह्मु च अनन्यया मत्स्या (एव) शक्यः (अस्मि) ॥ ५४ ॥

हे पाण्डव ! यः मत्कर्मकृन् मत्परमः सुगन्धितः सर्वभूतेषु निर्धरः मद्भक्तः (कसि) सो मां पृति ॥ ५५ ॥

अर्जुनने कहा— हे अनादरे ! तुम्हारे इस मानुषीय सौम्य रूपको देखकर मैं भय सखत होकर अपनी स्वामाविक स्थितिमें आगया हूँ ॥ ५१ ॥

भीमगवान् बोले— देखनेमें अत्यन्त कठिन जिस मेरे रूपको तुमने देखा है उस रूपको देखनेकी श्रेय भी इच्छा किया करते हैं ॥ ५२ ॥

तून प्रीता मुझे देखा है ऐसा मुझे यहाँसे तपसे दानसे अथवा ज्यसे भी कोई नहीं देख सकता ॥ ५३ ॥

हे शत्रुको ताप देनेवाले कीर अर्जुन ! मुझे इस तरह तपसे जानना देखना और मुझमें प्रपन्न करना कबल अनन्य मत्स्यसेही शक्य है ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे लिये कर्म करता है जो मुझे परम श्रेष्ठ मामता है जो (भोगोंका) मग ग्रहण है और सब भूतका विषयमें वैराग्यवित्तवा है मेरा वही भक्त मुझ प्राप्त हो सकता है ॥ ५५ ॥

आगे भगवान् कहते हैं कि इस वीरकनको देखकर जो मयाभीय दिव्यरूप मय वन डरके दूर कर मय प्रसन्न कर जो मयाभीय दिव्यरूप मेरा पदका रूपही फिर देखा । इस तरह कहकर भगवान्ने अपना वीररूप अर्जुनको दिखाया दिया और भीरु दिया तथा सौम्यरूपसे फिर उसके सामने आठ हो गये ।

वह वर्णन भी समझना नहीं समझना चाहिये । क्योंकि दिव्यरूपमें एही डरनेकी और प्रसन्नकी बातही क्या है ?

वह वर्णन दिव्य कहें, अथवा एक वस्तु है इत्यादि अनुभव होनेपर उसमें डर लगने और मयाभीय दानकी बातही क्या है ? इस प्रकारके विवेका जो रूप दीखता है वही

विषय है । कलक इसमें इसमें अलग अलग अवस्थाएँ पार्थ दीखते हैं और दिव्यरूपमें इत्यादि अलग अलग अवस्थाएँ दीखती हैं । अनेक पदार्थ इत्यादि दिव्यमें डर नहीं है और वह सब पदार्थ एक अलग मयाभीय पवित्र वस्तु तो डर लगने लगता है और मयाभीय रूपसे देखनेवाला मयाभीय होता है या उचित प्रतीत नहीं होता ।

इसलिये इसका जायब भी गोम नृपसद्वी गमसना चाहिये । वह एक कल्पमय वर्णन है इत्यादी भाव नहीं समझना चाहिये ।

आगे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ फिर बातें कर रहे हैं—

माधार्थ— ईश्वरका विभक्त्युप शेषका अति कठिन कार्य है। उस अतुल्य रूपको देखनेके लिये ऐश्वर्यात्मक भी न जात रहते हैं। वह विभक्त्युप वह क्षण तप अन्वयन आदिसे नहीं की जा सकता। केवल (अनन्य भावसे) मैं हुआ था इस भावसे होनेवाली जो (भक्ति) विभक्त्येवा है उसीसे वह विभक्त्युप की जा सकता है। अतः जो साधक भक्त परमेश्वर के कर्म करता है परमेश्वरकी सर्वोपरि भावना है भोषणका संग जोड़ता है, और सब भूतोंके ऊपर वैराग्य प्रेमभाव रखता है वही विभक्त्युप परमेश्वरका साक्षात्कार कर पाता है ॥ ५३—५४ ॥

(५३—५४) अर्जुनसे श्रीमद्भगवान् का माधुरी सौम्य रूप देख लिया और उसको सुभाषण हुआ उसका घर दूर हुआ और उसे धैर्य प्राप्त हुआ। अतः वह निश्चय होकर पूर्ववत् चला हुआ। वह देखकर भगवान् करके कौ— ऐश्वर्यात्मक भी इस मेरे विभक्त्युपको देखनेकी इच्छा करते हैं परन्तु उनको वह रूप दीखता नहीं क्योंकि वह ऐश्वर्यात्मक अति कठिन है। पहा जो कठिनता वर्णन की है वह दृष्टिकोणकी कठिनता है। वह एक विशेष प्रकारका दृष्टिकोण है जिससे परमेश्वरका दिव्य विभक्त्युप दीखता है वह दृष्टिकोण केवल प्रभुके पहलेसे लक्ष्य क्षण तप करनेसे प्राप्त होता है। इस प्रकार परमेश्वरका साक्षात्कार प्राप्त करनेसे भक्त कमा लेते पदा क्षीरगार होनेसे नहीं प्राप्त होता। वह तो गुणों द्वारा समसाधनेपराधी प्राप्त हो सकता है।

अनन्यभक्ति

अनन्यभक्तियेही परमेश्वरका विभक्त्युप देखा जा सकता है। यह अनन्यभक्ति क्या है? अपने आपकी जन्म व मरणसे और न समस्तसे दूर जो विभक्त्युप भगवान् की सेवा की जाती है वही अनन्यभक्ति है। विभक्त्युप प्रभुका साक्षात्कार करनेका वही एकमात्र उपाय है। अन्य सबसाधनाएँ सब उपाय गौण उपाय हैं परंपरासे अर्थात् दूरसे वे सहायता करते हैं मायात्मक काम इसी उपायसे हो सकता है। अन्य भावसे जो विभक्त्युपकी सेवा करनी है उसीका दूसरा नाम विभक्त्येवा है। इस विभक्त्येवाकी तुष्टि मनुष्यमें उत्पन्न करनेके लिये सबसाधनाएँ अन्वयन उपाय परंपरा सहायक होते हैं। अतः अनन्य होकर विभक्त्येवा करनेसेही ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है।

ज्ञान-दर्शनपूर्वक प्रवेश

(प्रातः प्रभु प्रवेश) परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये परमेश्वरका दर्शन करना चाहिये और परमेश्वरमें प्रवेश करना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करना वह वैदिक साधना

ईश्वर है प्रत्यक्ष दर्शन करना वह दृष्टिकोण साक्षात्कार है और उसमें प्रवेश करना वह अनन्य होनेका ही अन्वय है। ये परमेश्वरके तीनों साक्षात्कार मनुष्यको हो सकते हैं, इन्हें कोई संदेह नहीं है। इसके लिये मनुष्यको अपने अन्तर अनन्य भाव अर्थात् मैं उससे दूर नहीं हूँ वा ज्ञान किंवा पहा अनेकविध पदार्थ नहीं हैं परन्तु इसी पदार्थ है वह भाव निष्कलपूर्वक मनमें धारण करना चाहिये। इसी वह अन्तिम सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

ईश्वरके ज्ञान-दर्शनपूर्वक उसमें प्रवेश करनेका साक्षात्कार करना वही ऐश्वर्यदेका अन्तिम साधना है। उल्टी वही भगवद्गीतामें इस तरह वर्णन किया है। इसी सिद्धिके उपाय इस प्रकार समझाया वर्णन करते हैं।

मत्कर्मकृत

मत्कर्मकृत वह पहिका उपाय है इसके लिये मनुष्य ईश्वर प्राप्तिकी अन्तिम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। पहा कर्मयोगी बनना कर्मयोग है। मत्कर्म का अर्थ है ईश्वरके कर्म करना। मनुष्य सदा अपने कर्म करता है वह अपने कर्म करना जोड़ दे और परमेश्वरके कर्म को किंवा परमेश्वरके लिये कर्म करे। परमेश्वरके लिये कर्म करनेकी कर्म करता रहे। परमेश्वरके कर्म यन्त्रकी लिये विभिन्न हैं (१) धर्मयोगका परिष्कार, (२) धर्मयोगी विनाश और (३) धर्मकी स्थापना। ये तीन कर्म परमेश्वरके हैं। इसकी सिद्धिके लिये आवश्यक जो जो अनन्य अनेकविध कार्य होंगे वे सब परमेश्वरकी कार्य होंगे। अर्थात् धर्मयोगी बन करवा वह परमेश्वरका कर्म है। यह करनेके लिये सब साधना करनी थी उन्नीस साधक कार्य है इस तरह धर्मयोगी-धर्मकी इच्छा प्रकटकी सहायता करना भी परमेश्वरका ही कर्म है। इस प्रकार जो जो कर्म धर्मके लिये परमेश्वरके कार्योंके धारण होयिगे सब परमेश्वरकी कार्य हैं। उनको उपायसे उपाय

रिचिते (बोधनः कर्म कृत) करवा मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्य के कर्म करे। इसके करनेसे उसका उद्धार हो जायगा।

उपनिषद्वाक्यका अर्थ ईश्वरोंका वाच और धर्म-संस्थापना के तीन कार्य परमेश्वरके हैं। ये कर्म परमेश्वरके हैं ऐसा मानकर कर्म करनेसे तथा इसके सहायक सब कर्म परमेश्वरके प्रयोजनके किये करनेसे मनुष्यकी कुलकुलता होती है। मनुष्यकी जानुभारके सब सत्कर्म इस तीन कार्योंमें समाहित हो सकते हैं। इन कर्मोंकी हृदयी व्याप्ति होना सम्यक् है। अतः मनुष्य बनना जीवनवही परमेश्वरके कार्योंके किये समर्पित करे, परमेश्वरके समुद्र करनेके किये कर्म करे और जो कर्म करे वह परमेश्वरको समर्पण करे। कर्मयोग एवं साधनं कर्म नियमोंका अनुसंधान प्राप्त नहीं करें और कर्म करनेकी विधि निश्चित करके तथा समुदाय करके कुलकुल न करें।

मत्परमः

परमेश्वरकोही जो परम अर्थात् परतम अथवा प्रथम मानता है, जिसके किये परमेश्वरके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं रह जाता जिसके किये परमेश्वरही अथवा प्रारम्भ अन्तिम हो जाता है, जो अपना सब कर्म इसी आदितीय परमेश्वर पर कर्मात् रक्ता है जिसके समर्थ परमेश्वरको जोहकर दूसरा विचारही नहीं जाता जिसकी सब ईश्वरों परमेश्वरके किये कार्य करती हैं जिसका संपूर्ण जीवन परमेश्वरके कियेही समर्पित रक्ता है वह अथ परमेश्वरके किये कर्म करके कुलकुल होता है।

मनुक्तः

परमेश्वरका जो अर्थ होता है कुलकुल होता है। अथ इसको कहते हैं कि जो उत्पत्तापूर्वक सेवा करनेवाला हो। 'मनु-सेवा' इस धातुसे वह अर्थ बनता है। सेवा करनेका अर्थ नहीं है कि जिसकी सेवा करनी है उसके किये करनेयोग्य कार्य करना। स्वाामीक कार्य स्वाामीका मन मस्त होनेयोग्य रीतिसे करना। स्वाामीक व कहानपर भी उसके कार्य सेवायोग्य रीतिसे करना। स्वाामी उपरिपठ रात्रे व रात्रेकी अवस्थामें उसके कार्य जैसे करने चाहिये ऐसे करना और उसके बहके कुछ प्राप्त करनेकी हृष्टा न करना। जो धर्मगुरु भक्ति करता है वह उसका फल अपने किये प्राप्त करनेकी हृष्टा करता है परन्तु

जो निष्काम भक्त होता है, जो स्वयंसेवक होता है वह अपने किये कर्मका फल अपनेको मिलना चाहिये ऐसा नहीं कहता और इसीकिये ऐसे निष्काम मानस सेवा करनेवाले स्वाामीको अधिक प्रिय होते हैं। ऐसे अथ कुल कुल होते हैं।

समवर्जितः

संगीत ईष्टा व करनेवाला। संगीत कर्म है मोगोंका संग कर्मक कर्मोंका उपभोग देनेका संग, कर्मक फल मुखे उपभोगक किये मिलने चाहिये वह कामना। इस भोगकामनाको व रजकर कर्म करनेवाला निष्काम कर्म योगी कुलकुल होता है।

सर्वभूतपु निवरः

सर्व भूतोंके विपत्तमें वैराग्यका आत्म करनेवाला किसीसे वैराग्य करनेवाला किसी भी कारण किसीसे द्वेष न करनेवाला। जिसके समर्थ द्वेषभाव वैराग्य अनुभाव नहीं होता ऐसा मनुष्य कुलकुल होता है।

नहीं 'सर्वभूत' अर्थ है। भूत अर्थका अर्थ प्राणी है और सब अर्थक रूप पदार्थ ऐसा भी इसका अर्थ है। सब प्राणियोंके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये उसी प्रकार किसी पदार्थ या किसी वस्तुके साथ भी द्वेष नहीं करना चाहिये। समर्थसे एतत्त्वा द्वेषभावको हटा दना चाहिये।

प्राप्त नहीं वह समर्थ कि मनसे द्वेषभावको पूर्णतया हटाना यह भी विवेक-वक्षण है। इसका विधिकक्षण यह है कि सबपर अलोक प्रेम करना। सब द्वेषक अभावसे कार्य नहीं होगा नहीं प्रेमका समाप्त चाहिये। सब भूतोंपर प्रेम करनेवाला मनुष्यही अन्तिम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। द्वेषका अभाव बड़ा आशी करनक समाप्त है केवल बड़ा आशी करनेसे कार्य नहीं हा भवता उस रूप मीमा भी अहम् आदिसे भरकर रक्ता चाहिये।

जो साधक (१) परमेश्वरके कार्य करता है (२) जो परमेश्वरको परम धर्म मानता है (३) जो परमेश्वरकी अलोक भक्ति (सेवा) करता है (४) जो भोगोंका संग छोड़ देता है और (५) जो सब भूतोंसे द्वेष नहीं करता अथवा सब भूतोंपर अलोक प्रेम करता है—

५ विद्यायिनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि वैश्व आपाकं च पंडिताः समदर्शिनः ॥

(गी ५।१४)

६ सर्वत्र समदर्शिनः ।

(गी ६।१५)

७ समोऽहं सर्वभूतेषु ।

(गी ९।१९)

८ वासुदेवः सर्वम् ।

(गी १०।१९)

९ विश्वाम्पाहमिदं कृत्स्नमेकाग्रोऽस्मि स्थितो जगत् ।

(गी ११।१९)

१० अमतरूप, विश्वरूप ।

(गी ११।२०)

११ सर्वं सर्वम् ।

(गी ११।२०)

(१) प्रारम्भमें हिंदीय अष्टावक्रों ने कहा है कि 'सर्वगत' नाम है ।

जगत् । है । जगत् सर्वगत-सर्वव्यापक है—इतना कहने

मात्रसेही वह विश्व जगत्का रूप है ऐसा स्पष्ट होता है ।

(२) वही बात मूलमें अष्टावक्रों ने सर्वगत-सर्वव्यापक-

विश्वव्यापक ब्रह्म है ऐसा कहकर बताया है । दोनों

वचनोंका उद्देश्य एकही है ।

(३, ४) बागें बहुत और बहुत अष्टावक्रों ने 'वर्णन'

हम करि, इनमें बहुत बड़ा एकका औपनि-धमिना जाति

हमनीय औपनि धम भी सब जगत्माही है ऐसा कहा

है । ये सब एकही एकके रूप हैं । वही जगत्का विश्वरूप

विश्व सर्वरूप है ।

(५) आगे वंश अष्टावक्रों ने ब्राह्मण जगत्का

भी हाथी और कुत्ता इतने एकहीको ब्रह्म समझनेसे

ऐक्यता बयिसे देखा कहा गया है । वही भी समझनेसे

अद्वैतत्व ब्रह्मके ने विश्वरूप रूप है ऐक्यही जगत् विश्वरूपी है ।

(६) अष्टे अष्टावक्रों ने सर्वत्र समदर्शन अर्थात् ब्रह्म-

दर्शन करनेका उपदेश दिया है । सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका अर्थ

सर्वत्र हरता कोई परम नहीं है केवल एकही ब्रह्म है, ऐसा

देखा है ।

(७) एक मूलमें समाप्तता अगत्वाची अवस्थिति है ।

(८) इतना कहकर 'एक वासुदेवकाही रूप है ऐसा

प्रारम्भ अष्टावक्रों ने स्पष्ट कहा गया है ।

(९) एषं अष्टावक्रों ने परमेश्वरने एक अंशसे सब

विश्वको व्यापक कहा है और ये सब उसकी विभूतियां हैं

ऐसा वर्णन है ।

(१) इतना कहनेसे पताच एषं अष्टावक्रों ने अष्टावक्रों ने कहा है कि परमेश्वरका सब रूप है वह विश्वरूपी प्रभु है वह सब कुछ है उसमें निश्चय कुछ भी नहीं है । जो कुछ भी रूप हीनता है वह उसीका रूप है । जो कुछ है वह सब वही है ।

पाठक यहां हैं कि किस प्रकार अष्टावक्रों ने मीठने उपदेशमें वह परमेश्वरने विश्वरूपकी कल्पना करी गई है । प्रत्येक अष्टावक्रों ने वही परमेश्वरका विश्वरूप बतावने के लिये उपदेश दिया गया है । गीताका संपूर्ण तात्पर्य इसी एक कथनपर संक्षिप्त है । इस 'विश्वरूप' का अर्थ-विश्ववर्तमान इतना महत्त्व है ।

अब हमें एषंता है कि वह विश्वरूपी ईश्वरकी कल्पना वेदमंत्रों में भी है अथवा यह अगत्वाचीताही कल्पना है ? वेदके मंत्रों में भी परमेश्वरका विश्वरूप कहा गया है । प्रथमतः आगेवर्तमान मंत्रोंका विवरण कीजिये—

अग्नेवदं विश्वरूपी ईश्वर

सहस्रशीर्षां पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स सूर्यं विश्वतो बृत्वाऽऽसतिष्ठद्दृष्ट्वांशुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एषेष्टं सर्वं यदुत्तं यच्च मध्यम् ॥ २ ॥

पारुष्यं व्यधुः कतिधा व्यकल्पयत् ।

मुखं किमस्य कीं वाहू का ऊरु पादा उच्येते ॥ ३ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राज्ञ्यः कृतः ।

ऊरु तदस्य यद्वैश्वं यदूनां शूद्रो भजायत ॥ ४ ॥

अश्वमा मनसा आतब्रह्मोः सूर्यो भजायत ।

मुखाविष्णुर्वायोर्यश्च प्राप्याश्वायुर्ज्वायत ॥ ५ ॥

मात्रा आसीत्तरिक्षं दीर्घ्यां दीः समपर्वत ।

यदूनां भूमिर्विशः शोभास्तथा लोकैर्भ्यकल्पयत् ॥ ६ ॥

(अग्नेवदं १०२०)

अधर्षयेत् पाठ— सहस्रबाहुः पुरुषः ।

इस पुरुषसूक्तका आद्य अष्टावक्रों ने अष्टावक्रों ने उपर्युक्त अष्टावक्रों ने परमेश्वरका विश्वरूप बताया है । हजारों शिर हजारों वाहू हजारों नाक हजारों पांशुका यह आत्मा पुरुष परमात्मा परमेश्वर है । वह भूमिक पर्वतों और कैलाश है । पृथु, कर्तव्य और अनिष्टकर्मक सब रूप को

धीकता है वह उसीका रूप है वह भाव पहिले तो मंत्रोंका है। (मं १-२)

जो मनुष्यादि हजारों प्राणी हैं उनके हजारों और काको शिर बाहु हाथ, पैर और पाँव उसी प्रभुके अवयव होमेले उससे हजारों और काको अवयव करोड़ों अवयव हैं ऐसा उक्त मंत्रोंमें कहा है। इस विषयमें किसीको संका उत्पन्न न हो इसलिये उसी सूक्तमें इसका विशेष स्पष्टीकरण आलोक मंत्रोंमें किया है—

इस पुरुषके वर्णवर्ण कल्पना किस प्रकार की गई है? उसका मुख कान्ता है? उसके बाहु कौन्से हैं? उसके ऊरु कौन हैं और उसने पाँव कौन हैं? (मं ११) इन प्रश्नोंको देखनेसे भी पता कमठा है कि उत्तर क्या होना चाहिये। जो वर्णवर्ण प्राणी इस आराधन पुरुषके अवयव हुए हैं उनमेंसे कौन उनके मुखके आकारमें हैं कौन उनके बाहुओंके आकारपर हैं और कौन अन्त्यात्म अवयवोंके स्थानों पर हैं? इसके उत्तरमें मंत्रही कहता है कि—

मास्य इसके मुख अग्नि इसके बाहु वैश्व इसके ऊरु और अक्ष इसके पाँव हैं। अर्थात् परमेश्वरका मास भीम समाजमें यह निश्चयही है। जो इस भूमिपर प्राणी हैं वे इस विश्वकपी आराधनके हजारों मुख हैं जो शूर, वीर और पुत्र्य अवतारी रक्षा करनेके कार्यमें अपने आपको धर्मरहित करते हैं वे काको अग्नि उस परमेश्वरके बाहु हैं, जो आनयानके लिये कुम्भादि द्वारा भक्ष उत्पन्न करते हैं और व्यापारद्वारा सर्वत्र पहुंचा हिंसे हैं वे काको वैश्व उसी विराट् पुरुषके पैरोंके स्थलमें तथा ऊरुओंके स्थानमें समस्तदेवयोग हैं और जो कलक जन्मोंकी सेवा कर सकते हैं अर्थात् इससे अधिक कंचा कार्य कर नहीं सकते वे सहस्रों अक्ष उस परमात्माके पाँव हैं। भाव्य समाजके वे चार मांग इस विराट् पुरुषके चार अवयव हैं। भाव्य समाजमें ईश्वरका वही निश्चय है।

वहाँ निश्चयमें गौ बोले आदि पशु पक्षी तथा वृक्ष-वनस्पति आदि भी समाविष्ट हैं तथा सूर्य चंद्र आदि ग्रह नक्षत्र भी हैं। इस विश्वकपा भिन्नैक पूर्वोक्त सूक्तमें निम्न-लिखित प्रकार बताया है—

मम कर्मा बाँध सूर्य मुख ईश और अग्नि मास बाहु, नाभि अन्तरिक्ष शिर सुकोक नाँव धूमि और कल

विद्यार्थ है इसी तरह अन्य कोक अवयवोंके स्थानपर हैं। (मं २४)

यह बाँध जगत्में परमेश्वरका निश्चय है। पशु, की, वृक्ष वनस्पति ग्रह, नक्षत्र इन सबमें चार वर्ण मय्ये हैं उन वर्णोंमें आनयने परमेश्वरकी विभूति वर्ण केने है इसका ध्यान हो सकता है। वही वर्णवर्ण कुछ देखके जगत् सुविक्रोपाभिप्रायमें है—

अग्निर्मूर्धा सधुपी अम्बुसर्पां विद्या ओमे वाग्निवृताक्ष वेवाः ॥ वायुः प्राणो हृत्त्रिभ्यमस्य पद्मर्षां पृथिवी क्षेत्रसर्वभूताम्तरात्मा ॥ (बृहदश्वे १।१।१)

‘अग्नि सर्वा सूर्यचन्द्र बाँध विद्या काय वे वेद, वायु प्राण विष हृत्त्र पृथिवी पाँव है, इस वर्णमें सब सर्वभूताम्तरात्मा हमारे सामने है। बाँध इस वर्णमें भगवद्गीताके वर्णनके साथ मिलकर हैं। वही वर्णवर्ण अन्त्यात्ममें इस प्रकार बताया है—

इन्द्रायपो बाह्व्य आहुवक्षा कर्णौ विद्या श्रीमन्मनुष्य शब्दः ॥ मासत्स्यक्षौ परमन्नासो ध्रायोऽस्य गन्धो मुखमभिरिन्द्रः ॥११॥ घौरक्षिणी सधुत्तमूल्यतंगा पद्मापि विष्णोरहनी उमे च । तदृभ्विजुम्मा परमेष्ठि विष्ण्वमापोऽस्य तारू रक्ष एव जिह्वा ॥१०॥ (श्री भागवत १।१।)

परमात्मके बाहु इन्द्रादि देव हैं कल विद्यार्थ ओमेविष कल्य है अग्निर्मनुष्य आहुवक्षा है, अन्त्यात्मक है मुख मनुष्य अग्नि है, मुखके बाँध है कर्ण केनेविष सूर्य है पक्षके विचारत है अक्षतरव वक्षकी वक्ष है और वक्षतरव जिह्वा है बाँध वक्षकी घोरिता निष्प है। ऐसा वह परमेश्वर विस्तृत है।

यह ईश्वरका निश्चयही है जो वेदमंत्रोंके व्यवहार श्रीमन्नात्मकमें किया है। बाँध श्रीमन्नात्मकका वह वर्ण है ऐसा नक्षत्रोंमें वर्णोंके जो अन्त्यात्मके मंत्रों वा वही श्रीमन्नात्मकमें वक्षका किया गया है। इस तरह वह अन्त्यात्मके सूक्तमें विश्वकपी आराधनका स्थान बताया है। इसी तरह अन्त्यात्ममें अनेक स्थानपर परमेश्वरका निश्चय बताया है—

विश्वतश्चक्रुत विश्वतो मुक्तो विश्वतो
बाहुस्त विश्वतस्यात् । स धातुभ्यां धमति
स पतनैर्धावामी अनयन्नेय एकः ॥

(अ १ १८११३)

परमेष्ठारके (विष्टः) सच और बाहु हैं सच और
मुक्त हैं सच और बाहु हैं और सच और पांच हैं । वह
अपने अन्त बाहुओं और अन्त बाँधों से सचको धरना
करता है, वह मुक्तों और पृथ्वीको अपने उलट करनेवाला
एकही देव है । वहाँ इस ईश्वरके नाँव मुक्त बाहु और
पाँच सच और हैं ऐसा कहा है वे इसके अन्वय कहीं
हैं? मान्वादि प्राणियोंके नाँव नाक काय मुक्त हाथ पैर,
पाँव आदिही इस विश्वकी परमेष्ठारके अन्त अन्वय हैं ।
वह सर्व मूलत्वरत्ना एकही देव होनेसे सब भूतों और सर्व
प्राणियोंके संपूर्ण अन्वय उन्नीके अन्वय हैं । यदि प्राणिमात्रका
मिथकर एक मूलत्वरत्ना देव है ऐसी कल्पना पाठक
कर लेंगे तो विश्वही उनको अन्त मुख बाहु उदर
रक्षिते मुक्त मर्दादेही विश्वकी परमेष्ठारकी कल्पना हो
सकती है । वसों विष्टया इत्मीही है कि इनको अलग
अलग व साथे हुए प्रत्येक एकस और एकही मानना
चहिये । पूर्व कल्पना हो सकनेपर वह केवल कल्पवाही
तौगी । परन्तु वह विश्वकय जगत्माही वैदिक कल्पना हीक
हीक वसों स्थिर होनेके पश्चात् उस नाचकको उसकी
एकसत्ताप्रमाण अनुभव हो जायगा और वह अपने
बापको भी उसीमें अविष्ट अनुभव कर सकेगा । अस्तु ।
अब हमें देवे विश्वकय वर्णनके कुछ शब्द देखिये—

इह त्वद्यारमष्टिय विश्वकयस्युप ह्ये ।

(अ ११२११)

अमीष्टं कृतानैर्विश्वकयं हिरण्यहाम्यं यजतो
बृहस्पतम् ।

(अ ११२१२)

उत्तम (लडा) कारीगर जो विश्वकी परमेष्ठार के
उपकी हम वहाँ प्रार्थना करते हैं । (कृतानैः अमीष्टं)
अनेक बाहुधियोंसे देता हुआ अथ विश्वकी देव सुवर्णके
कमान तेजस्वी महान् ब्रह्मीय है । इस तरह विश्व-
की ब्रह्मा देवका वर्णन ज्येष्ठके प्रथम अष्टकमें स्पष्ट
अर्धमें आया है । अनेक प्रकारसे वर्णन होनेके कारण
इसका आशय स्पष्ट हो सकता है । अब और देखिये—

८१ (वि. पी.)

सनेम ये त ऊतिमिस्तरस्तो विश्वाः स्युष
आर्येण वस्युन् । अस्मभ्य तस्याप् विश्व
रूपमरन्ध्रया साध्यस्य त्रिताय ॥

(अ ११२१२)

जो (वेऊतिभिः) ठेरी रक्षाओं द्वारा (विश्वाः स्युषः
तरन्वा) सच समुच्चि पार होते हैं और जो (आर्येण)
आर्योंके द्वारा (वस्युन्) दुर्घाका परामर्श करते हैं उनके
साथ (अस्मभ्य) मित्रता करनेके लिये हमें (तप् त्वाप्
विश्वकयं) इस अष्टके कारीगर विश्वकी देवका रूप
दिखाओ । तथा—

अर्हमिभमर्षि सायकानि धर्मार्हशिष्क यजत
विश्वरूपम् । अर्हमिद द्यसे विश्वमस्य न वा
भोजीयो वद् स्ववृत्ति ॥ (अ ११२१३)

‘ हे देव ! तु कष्टों नाशक किं पशुपतना धारण
करता है तैरा वह तेजस्वी पूजनीय (विश्वकयं) सर्वकय है
तुही इस विश्वका ज्ञान करता है अतः तेरेसे अधिक बड़
बाप वृत्ता कोई नहीं है ।

इसका वर्णन ज्येष्ठके द्वितीय अष्टकमें है । अब तृतीय
अष्टकमें विश्वकयका वर्णन देखिये—

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अमुपमिष्टयो वत्ता
नम्यरति स्वरोधिः । महत्तद् भुष्यो असुरस्य
नामा विश्वकयो अमृतानि तस्यी ॥

(अ ११२८१)

(विश्वे) सब (आतिष्ठन्तं परि अमुपमिष्टयो) स्थिर
रहनेवाले उस देवको सुकृपित करते हैं । वह (स्व-रोधिः)
स्वर्णकाधी देव (श्रिया वसताः धरति) विश्व
कोधारोंको धारण करता हुआ विचरता है । उस (भुष्य
असुरस्य महत्तद् नाम) धामर्ण्यकाधी मानसक ईश्वरका
अमुपमिष्ट देव है वह (विश्वकयः अमृतानि तस्यी)
विश्वकी ईश्वर अन्त अमृतोंको धारण करता है ।
वहाँ उस विश्वकी परमात्माको विश्वकय कहा है
और असुर भी कहा है वहाँ असुरका गर्भ (अमु-न)
मानसक जीवनदाता देया है । अन्त मेंछोटे इस भयका
वर्णन अधिक स्पष्ट है और वहाँका विश्वकय तद् हीक
हीक गीताके विश्वकयवर्णनकाही मात्र बड़ा रहा है तथा—

देवस्थानं सविता विश्वरूपः पुण्यं प्रज्ञाः
पुरुषा ज्ञानान् । इमा च विश्वा मुद्यमानस्य
महदेवानामसुरत्वमिहम् ॥

(अ ३।१५।२९)

(त्वष्टा देवः) करीगर ईश्वरने (पुण्यः प्रज्ञाः
ज्ञानान्) अनेक प्रकारोंसे विविध प्रकारोंकी उत्पत्ति की
और (सविता विश्वरूपः पुण्यं प्रज्ञाः) सर्वज्ञा विश्वकृती
वही देव उस सबका पोषण भी करता है । ये सब
मुद्यम करीने हैं और इस देवताका वह भीषण-प्रभावकृती
महा बह्मसुत कर्म है । वही छविता विश्वरूपः हृष
सर्वोद्धार (सविता) है सर्वस्य प्रसविता । अ मा)
सबका उत्पन्नकर्ता विश्वकृती परमेश्वरी वर्णित है । तथा—

त्रिपात्रस्यो बृषमो विश्वरूप उत श्रुषा
पुरुष प्रज्ञावाक् । इयमीकाः पत्यत माहिना
वाप्तस्तेतोषा बृषमः शम्भतीनाम् ॥

(अ ३।१६।३)

(त्रि-पात्रस्यः) तीन प्रकारकी कछियोंसे बृष
(श्रुषा) तीन पोषक कछियोंसे बृष (शम्भतीकाः) तीन
बकोसे बृष (बृषमा विश्वरूपः) ब्रह्मण विश्वकृती
देव (तेतोषा) ब्रह्मवर्षको धारण करनेवाला अनेक
प्रकारोंसे बृष है । वही देव सबका पालन करता है ।
वहाँ तीन तीन कछियाँका देव विश्वरूप है देखाही कहा
है । इसकी तीन तीन कछियोंका वहाँ विचारण करनेकी
भावनाकता नहीं है । तथा—

बृषम सर्वजीनां विश्वरूपमवाम्यम् ।

बृहस्पतिं वरेष्यम् ॥ (अ ३।१७।१५)

(सर्वजीनां बृषम) प्राणियोंमें सबका, (अ-
वाम्यम्) न करनेवाले (वरेष्यं बृहस्पतिं) वैश्वदेवपति
(विश्वरूपः) विश्वकृती परमेश्वरकी हम मार्गवा करते
हैं । वही विश्वकृती सर्वज्ञ ईश्वरकीही पूजा बड़ाई गई है ।
इतने में ही पृथीय संकर्म हैं । बाये वाम मन्त्रकृतक मन्त्र
नहीं है अतः इसम मन्त्रकर्म मन्त्र देखिये—

गर्भे सु मां जनिता दम्पती कर्तव्यस्थानं सविता
विश्वरूपः । (अ ३।१८।१५)

उस करीगर सबके उत्पत्तिक विश्वकृती परमेश्वरी
गर्भमेंही इसे दम्पती बनाया है । ' वहाँ विश्वकृती बह्म
रचना करनेवाले ईश्वरका वर्णन विश्वरूप सम्पन्नता मिल
है ।

इतने में ही साक्षात् ब्रह्मा परपरासे परमेश्वर मिलन
है वही भाव बता रहे हैं । विश्व है कम विश्व का
विश्वरूपका वर्ण है । सर्वरूप परमेश्वर है जो जो
इच्छा वाञ्छा हो सकता है । जो रूप होकर है जो सब
ईश्वरकर्मों का है । जो वास्तव श्रीमद्भागवद्गीतामें स्वार्थ
ब्रह्मावर्षों विश्वरूपके वर्णनसे द्वारा बताया है, वही भाव इस
करनेवाले मेंमें है ।

देवताका वही विश्वकृती होना अन्य वर्णनसे हम
कारणों भी बताया है । वह वर्णनकी विशेषता
वेदोंकीही है, अतः उस वर्णनसेकीके कुछ कहने वही विश्व
वाते हैं —

हन्त मित्र वक्ष्यमग्निमाहुरवो विष्टा स
सुपर्णो यक्षमाह । एकं सद् विमा बहुधा
ब्रह्मस्यसि यमं मातरिस्त्वावमाह ॥

(अ ३।१९।१५)

हन्त मित्र, वक्ष्य वक्षि दिव्य सुपर्ण यक्षमाह,
यम मातरिस्त्वा ये सब एककी एक बलुके सब को
कर्म हैं । इस विविध वर्णोंसे ज्ञानी लोग एकही ईश्वर
मार्गवा करते हैं । सब जानते हैं कि हन्त विश्वकी है, वक्ष्य
वक्ष्य है मातरिस्त्वा बलु है और वक्षि बलु है । तथा ये
सब एकही हैं ? नहीं एक नहीं हैं, वस्तु एक बलुके के
अनेक रूप हैं । एकही बलुके इतने रूप धारण किये हुए
हैं । इतने विविधकर्मोंसे वह एकही सत्त्व प्रकट हुआ है,
अतः ज्ञानी लोग सब एकही सत्त्वको के सब सब रहे
हैं । इस तरह देखनेसे सहज ही सिद्ध हो जाता है कि एक
बलुकेका हन्तमि वक्ष्य को जो वहाँ प्रकट हुआ है वही
विश्वरूप है । क्योंकि इतने वर्णोंसे अन्य नाम भी
अपकथित हो जाते हैं तैसा कि कहा भी है—

तत्त्वोवाग्निस्तत्त्वविद्युस्तत्त्वामुसुतु धन्त्रमा ।

तत्त्वो मुक्तं सद् ब्रह्म ता मायाः स प्रज्ञापति ॥

(अ ३।२०।१५)

वह एकही छद्म वस्तु अग्नि आदिशः, वायु अन्न, छन्दः, मन्त्र (वाग्) अक्ष और प्रकाशवि बनी है। सबको वह भिन्नभिन्न विधिसे है कि (आदिशः) सूर्य और (वाग्) अक्ष एकही परास्त्री नहीं है, परन्तु यहाँ एकही छद्म परास्त्री के रूप धारण करे हैं ऐसा असद्विषय रीतिसे कहा गया है। इसका स्पष्ट जवाब यही है कि क्षिप्र कर्णोंका वह भिन्न बना है जबमें एक सत् आध्यामी हृदये कर्णोंमें प्रकट हुआ है। इस दो मंत्रोंमें अितरे देवता विनाश के हैं केवल उपनेही कर्णोंमें वह परमात्मा प्रकट हुआ है अथ कर्णोंमें नहीं देखी बात नहीं है। वहाँ दोनों मंत्रोंमें उप कर्णार्थ घोरेले नाम गिकाये हैं केवल परास्त्रीको कल्पना करने की बात प्रकटी है। इस तरह विचार करनेपर वह सिद्ध हो जायगा कि इन मंत्रोंमें परमेश्वरका विचक्षणही वक्ष्यता गया है। इसी तरहके कुछ मंत्र और देखिये—

त्वमग्ने शुभिस्रमाशुशुभस्त्रिस्त्रिमन्त्रपस्य-
मक्षमस्त्रिपति । त्व वनेभ्यस्त्रिमोषीभ्यस्त्रि-
पति नृपते कामसे शुभिः ॥

(अ १।१।२)

अग्निदेव (नृपति) मनुष्योंका राजा है वह (शुभिः) पवित्र देव ठेकोते उर्ध्वस्थ पत्नीय कर्णों और औपविर्षिके प्रकट होता है। अर्थात् वह देव प्रकाश अक्ष अथवा वन और औपविर्षिके कर्णोंमें हीकता है। अग्नि हृदये कर्णों प्रकट होता है। अग्नि अक्षके कर्णों में औपविर्षिके कर्णों में और सूर्यके कर्णों में और राजाके कर्णों में ही है। क्या—

तवाग्ने होर्ध्वं तव पोषमृत्विष तव नेधू
त्वमग्निहतापतः । तव प्रशास्य त्वमप्यरीपासि
मन्त्रा वासि गृहपतिश्च गो वने ॥

(अ १।१।२)

अग्नि (वाग्) हमारे वने (गृहपति) गृहस्वामी अर्थात् वनमान है और नहीं होता पोषा अश्विज मेधा अग्नीम प्रशास्य अर्थात् मन्त्रा वासि वाजक गालोंका कर्म करनेवाला भी है। अर्थात् वनमान और अश्विज वेधव अग्निवही रूप है। इस विषयमें गीताक श्लोक देखिये—

मन्त्रार्पणं मन्त्र इयिर्मन्त्राग्नी मन्त्राणां हुतम् ।

(अ मी ३।१०)

वाहं हवुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमीयधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवायमहमस्मिन्न हुतम् ॥

(अ मी १।१६)

मन्त्राही कार्यम्, इति अग्नि और आहुति है, अहमाही अथवा यज्ञ स्वधा औपविर्ष मंत्र, यी अग्नि और आहुति है। यही भाव अथवा अर्थोंद्वारा पूर्णतः दोनों मंत्रोंमें है। अग्निही राजा अक्ष ठेक, अथवा वन औपविर्ष, होता अथवा अग्नि सत् अश्विज और अक्षरूप है। वनमान भी नहीं है। गीता और वेदका कवन कितावा समीप है। और देखिये—

त्वमग्ने इन्द्रो वृषमा त्व विष्णुः त्वं
प्रशास्य त्वं विधर्तः ॥ १ ॥ त्वमग्ने
राजा वदणः त्वं मित्रः त्वमर्षमा
त्वमग्ने ॥ ४ ॥ त्वमग्ने त्वष्टा ॥ ५ ॥
त्वमग्ने वदो अमुरो त्वं पूषा ॥ ६ ॥
त्वमग्ने अविष्णोवा त्वं देवाः सविता
त्व मगाः त्वं पायुः ॥ ७ ॥ त्वमग्ने
विष्पति त्वां राजानं ॥ ८ ॥ त्वमग्ने
पितरं त्वं पुत्रा त्वं सखा ॥ ९ ॥
त्वमग्ने अमुः ॥ १० ॥ त्वमग्ने अदिति
त्वं भारती त्वमिन्द्र त्वं
वृषहा सरस्वती ॥ ११ ॥ त्वमग्ने
ययः । त्वं वाजा त्वं रयिः ॥ १२ ॥

(अग्ने १।१)

अग्नि एवं इन्द्र विष्णु, मन्त्रा, विवादा वदन, मित्र कार्यमा अक्ष त्वष्टा वृष पूषा अविष्णोवा सविता अम पायु (विष्पतिः) मन्त्राप्रक राजा पिता, पुत्र सखा (अमुः) भारीवर अदिति (भारती) भारी (इन्द्र) अग्नि वृषवधर्ता सरस्वती अक्ष वन और वन है। एकही देव हृदये कर्णोंमें प्रकट होता है। अथवा व एकही देवक रूप है एकही देवका वह भिन्नरूप है। जैसे यहाँ अग्निका अथवा देवकी प्रत्येक कर्णोंमें इन्द्र प्रतिकर हुआ है पूषा वेदमें कहा है। वह मंत्र है—

रूपकर्म प्रतिकर्यो यन्मूष तदस्य रूपं अति
अभ्युपाय । इन्द्रो मायाभिः पुदरूप इत्येते युक्ता
इत्येते इत्येते इत्येते ॥ (अ १।१०।१८)

' इन्द्रदेव (रूप कर्म) प्रत्येक रूपमें (प्रतिरूपा बसूत) प्रकट हुआ है । (वत् बसूत कर्म) वह उस इन्द्रका रूप (प्रतिप्रधानाव) प्रत्येकके वर्णनके किये है । इन्द्र (मायाभिः, पुनरुपाः ईषते) अपनी पुनरुपासे अनेक रूपोंको धारण करता है क्योंकि उद्यक हुआ (हरणः) किन्तु बलके साथ है [जो अनेक रूपोंमें उसे प्रकट करते हैं ।]

बह मत्र विष्णुक स्थ है ईश्वरेष अपने स्वाभाविक लीपयकसे हर एक कर्मको चालन करता है। वह बहुपक्ष-सर्वतन्त्र स्विकल्प सम्मत् प्रकट होता है। ये इसका कर्म देखकर उनके गुण जाने जाते हैं और इसके लक्ष्यसे उचीका वर्णन होता है। यहाँका प्रकल्प 'सम्प' विष्णुक कभी वर्णन है। यही प्रकल्प सम्प इसी वर्णन से वर्णन अनेक बार बताया है उनमेंसे भी कुछ मन्त्र हैं—

स्थितेभिरङ्गैः पुनरप्युपपन्नं तच्च मुक्तमि
पिपिशं हिरण्यैः । ईशानादस्य मुक्तस्य
मूर्तेः पादयोपद्रवादस्यम् ॥ (अ. १।३।१९)

(पुष्कमः) कनेक कप जतय कनेवाला कर्वात्
गिरफ्तारी डम (मुद्राभिः स्थिरेभिः हिरण्यैः मयीः)
बक्यात् स्थिर मुक्कसराक मपोसे (मिपिके) कोमित होण
दे। (मस्य भूतेः मुपसस्य) इह वने मुववके (इंजानात्
क्यात्) कासक छारेके (ममुर्म न पोषत्) वक कमी
दूर नहीं हो सक्या कर्वात् वह क्या सामर्थ्यहीही
रह्या है।

अद्वय विचरणी है अर्थात् सब विषय इस एक एवम्बन्धी रूप में हैं। इसका वस्तु ज्ञान वस्तुओं के संश्लेष का विचार करने के समान बताया जायगा। अद्वैतवादी विपुलियों का यह वर्णन वा वस्तुओं के १९ में जाया है जो गीतार्थे गवारहमें अन्धकार के साथ टुकड़ा करके देखनेयोग्य है। वहाँ इस संश्लेष केवल ज्ञान के रूपों को ज्ञान करनेवाला अद्वैत है इत्यादी देखना है। और भी देखिये—

त्वामग्ने अतिरिषि पूर्वम् विष्टाः प्राक्षिप्येष्टा
 यद्वर्णि नि पेक्षिर । इहत्क्षुं पुरुषं धनस्यूर्तं
 सुशर्माणं स्वयम् अरक्षिषम् ॥ १ ॥ त्वामग्ने
 पुरुषो विष्टेविष्टा यया वधासि प्रलया

पुरुषुत। पुरुष्यणा सहसा वि राजासि त्विषि।
सा ते तित्विपायस्य नाधूये ॥ ५ ॥ (अ ५४)

हे अग्निदेव ! तू (पूर्व) पुरातन (अग्नि) जल
गति हेनेवाळा अथवा पूर्व (कोपिलेख) हून जल
वाळा (गृहपाति) गृहस्वामी (ब्रह्मदेव) वरून जल
पुत्र, (धनसूत) धन हेनेवाळा (सुधर्मज) जल
सूत्र हेनेवाळा (सु-अथर्व) उत्तम संस्कार, (पुत्र्य)
अनेक-अथर्व रूप धारण करनेवाळा हे। त्या हे जो
तू (पुत्र्यः) अथर्व क्रमोको धारण करने (विश्वोविश्व वर)
ब्रह्मासि) प्रत्येक प्राणीको प्रत्येक मनुष्यको जल देण हे।
हे अनेक प्रकल्प प्रसिद्ध देव ! तू अनेक अर्थोंसे विराज्य
हे तुम्हारा ठेक जोई सद्य नदी कर सकय।

इस संशोधन में भी अत्यन्त परमात्मिका का कार्य करने का है। अतः सर्वोपरि ध्यान करने का ही निष्कर्ष निकलता है।

इस तरह जगदीश जी हंसारके विचक्षणता वर्णन है। कवि हमने विचारार्थ रूपसे संक्षेप दिये हैं। प्रत्यक्ष इसका विवरण करने और हमसे जो मजह हंसारके जगत्प्रकरण प्राप्त करनेमें उपदेश कर रहे हैं उसकी तुलना मीठाक विचक्षणता वर्णन करें। जगति ईश्वर जगति देवताओंके बहाने एकही लक्षणता का वर्णन होता है। यह बात जगत्प्रकरण ११२५५५ है स्पष्टतासे साफ कही है जगत् जगति ईश्वर जगति प्रमाणों प्रमाणों होनेका कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि वे सब जगत् जगति प्रमाणों वाचक होते हुए भी जगति जगति जगत् जगत् जगत् करनेवाले प्रमाणोंके भी वाचक है। वर तो देवता सिद्धांतही है। यह सिद्धांत विमलके जगत्प्रमाणों की प्रमाण वा जगत्प्रमाण उसको प्रमाणोंका विचक्षण करनेके लिये विशेष प्रमाण करनेकी भी जगत्प्रमाण नहीं है। यह जगत्प्रमाणों द्वारा प्रमाण होता है इसीलिये इस एक देवताके जगत्प्रमाण वाचक होते हैं और देवताके जगत्प्रमाणों द्वारा एक देवताका वर्णन होता है। यदि यह जगत्प्रमाणों जगत्प्रमाण वा जगत्प्रमाण तो उसको जगत्प्रमाणोंकी माति भी नहीं हो सकती थी।

इस प्रकार आग्नेयमें विषाकपी ईश्वरका वर्णन है। अथ
पश्चिममें विषाकपी ईश्वरका वर्णन आया है सो देखते हैं।

पुनस्तु ननुर्वेदं मी हे, परन्तु उसका विवेचन करनेके लिये वर्तमानप्रसंगमें तो चुका है। अब यह देवताका विश्वरूप को ननुर्वेदमें जाया है यह देखते हैं—

यजुर्वेदमें विश्वरूपवर्णन ।

उग्रदेवताका विश्वरूप ।

ननुर्वेदमें यह देवताका विश्वरूप बताया गया है। यह वर्णन वा ऐहिका ११ अध्यायमें है। काव्य तथा ऐहिकीय ऐहिकामें मी यह देवताका वर्णन है। यह मी कथ्यम इसी प्रकारका है। कुछ पाठनेत्र है, परन्तु अब पाठनेद्वयमें कुछ विवेचना नहीं। अब पाठनेद्वयमें कुछ कथ्य हमने जायेके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें रखे हैं। अग्नेद्वयमें अध्याय नहीं है तथापि अग्नेद्वयोंका यह है जो कुछ पाठनेद्वयोंके साथ देखाया है। ऐहिकीयोंका खड़ी अग्नेद्वयोंके बिना है। जिस अध्यायमें यह वर्णन है उसमेंसे विश्वरूप वर्णनके कुछ मन्त्र नहीं दिये जाते हैं। इनमेंसे मन्त्र। 'अष्ट-अकम करके जेप संवत्सराग हमने नहीं दिया है—

द्विरन्ववाहणे संवत्सरे दिसां पठने बुधेभ्यः। हर्मिषेभ्यः। पञ्चमां पठने कर्मिष्यन् रविप्रीयते पथीनां पठने हर्मिष्यन् वपरीतिषे पुत्रानां पठने मन्त्रः ॥ १० ॥

बन्धुहान्येव पठने वज्राणां पठने मन्त्रः ॥ ११ ॥

रोहिताय कपठने बुधजां पठने सुगन्धके वारिषकुलाय वीरवीनां पठने मर्मिषे वामिष्यन् कश्चाणां पठने वपरीतिषां वाक्यन्वते वपरीणां पठने मन्त्रः ॥ १२ ॥

हस्ताय पठने वास्ते सन्ध्यां पठने मन्त्रः ॥ १३ ॥

वज्रपथे वरिषपथे स्वाध्यायं पठने मन्त्रः ॥ १४ ॥

वज्रपथे वरिषपथे स्वाध्यायं पठने मन्त्रः ॥ १५ ॥

विश्वरूपः विश्वरूपः स्वपथः। जाग्रतः। सवितेभ्यः। वासीनेभ्यः। विष्टेभ्यः। धावतेभ्यः। मन्त्रः ॥ १६ ॥

समावृत्तः समावृत्तिः। अग्नेभ्यः। अग्नेपतिभ्यः। वाग्ना। विनीम्नः। विविधपतिभ्यः। उग्राभ्यः। पुनः। मन्त्रः ॥ १७ ॥

गग्नेभ्यः। गगनाभ्यः। वातेभ्यः। वातपतिभ्यः। गृध्रेभ्यः। गृध्रपतिभ्यः। विक्रान्तेभ्यः। विश्वरूपेभ्यः। मन्त्रः ॥ १८ ॥

सेनाभ्यः। सेनानिभ्यः। राविभ्यः। राविभ्यः। भृगुभ्यः। संमहीपुत्रः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः ॥ १९ ॥

तद्यन्त्रः। तद्यन्त्रः। कुकाभ्यः। कर्माभ्यः। विप्राभ्यः। पुनिभ्यः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः ॥ २० ॥

अभ्यः। अपतिभ्यः। अवाप। अवाप। अवाप। पञ्चपथे। वीक्रीणाप। विष्टेभ्यः। मन्त्रः ॥ २१ ॥

कपतिभ्यः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः। मन्त्रः ॥ २२ ॥

हस्ताय वामनाय वृष्टे। वरिषे। वृष्टे। वृष्टे। वृष्टे। वृष्टे। वृष्टे। मन्त्रः ॥ २३ ॥

वाग्नेभ्यः। वाग्नेभ्यः। वाग्नेभ्यः। वाग्नेभ्यः। वाग्नेभ्यः। वाग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २४ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २५ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २६ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २७ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २८ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ २९ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ ३० ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ ३१ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ ३२ ॥

अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। अग्नेभ्यः। मन्त्रः ॥ ३३ ॥

अङ्गुली पङ्कपतये उग्राय भीमान् वीर्यवान् वीरवधान्
इत्ये इतीत्ये इत्येऽन्वः हरिकेशेभ्यः पाराय वमः ॥ ३३ ॥

अम्भवाय मधोमवाय अङ्गुलाय मयस्कराय सिन्धाय
सिन्धवराय वमः ॥ ३३ ॥

पार्श्वे अर्धार्धाय उत्तरभाय उत्तरभाय तीर्थाय कृष्णाय
कृष्णाय केन्धाय वमः ॥ ३३ ॥

पिङ्गपाय मयाङ्गाय किरणिकाय अक्षपाय कपर्दिने
पुङ्गवतये हरिश्वाय मयस्त्राय वमः ॥ ३३ ॥

अम्भाय गोहवाय लक्ष्म्याय सैन्धवाय इक्ष्म्याय मिषेष्म्याय
अक्षपाय गङ्गेहाय वमः ॥ ३३ ॥

क्षुब्धभाय हरिकान् पाण्डुष्म्याय रक्तभाय अर्धेष्वाय
उक्ष्म्याय अम्भाय वमः ॥ ३५ ॥

पार्श्वे पार्श्वेहाय उत्तुरमाभाय अर्धेष्वाय आशिर्दते
प्रशिर्दते इक्ष्म्यायः अक्षुष्म्याय किरिकाऽन्वः देवाभाय
इक्ष्म्यायः मिषिष्म्यायः मिषिष्म्यायः आशिर्दतेऽन्वः
वमः ॥ ३३ ॥ (वा पङ्क्त्यं ३३)

इह अम्भान्तरे अक्षेष्टका विवक्ष्यते । वहाँ
अक्ष अम्भसे परमात्मा परमेश्वरकाही प्रहस्य करता
अक्षिप्त है । अक्ष कितने रूप हैं उनकी गिनती वहाँ की
पाई है । इह संक्षेपमें अनेक अक्ष कहे गये हैं । इनके चार
अक्षोंमें विभाग करने वहाँ बगलते हैं और चार अक्षोंमें
मिष अक्षेष्टकाप्रति अक्षुष्मका अक्षग विचार करेंगे ।
प्रथमतः विहाय, ज्ञानी अक्षग वर्गी अक्षेष्टकाके विम्व
विशिष्ट अक्ष हैं—

ब्राह्मणवर्गके अक्ष

ध्रुव- भुविषाक्षमें विहाय

अथ प्रतिअक्ष- ये दो अक्ष अथय प्रतिअक्षय
वायविहाय अथि करनेमें अक्षुर विहायमें
वाचक हैं ।

मन्त्रिण- संवत्सा देवोंमें अक्षय राजाका संवत्

मन्त्रिण- विचारणीय पंडित वा विपक्षयय करनेवाका
विहाय

स्वोपय सुपक्षिद विहाय

प्रास- इतिमाय

पुष्टपति- इतिमायोंके अक्षय

पुष्टपति- अथि

समुद्र- विचारणीयवि विष्णुय पठितेवि धाय अक्षे
वक्षे पुवा

पुष्ट- अथयों अथि

सम्भापति- सम्भाका अथय

समा- अथय सम्भाय

याम्य- वमविषयका सायय करनेवाका

क्षेम्भ- अथयय करनेवाका अथयय पक्षय अक्षे

अक्षिप्त- अक्षिप्त अक्षिप्तका

अक्षिप्त- व अक्षेष्टकाके, अक्षिप्त

प्रतरण- अक्षेष्टका पार के अक्षेष्टका

आतार्य- अक्षय करनेवाका पार के अक्षेष्टका

तीर्थ- पक्षि अक्षयों अक्षेष्टका

उत्तरण- अक्षय अक्षयलसे संसारअक्षयसे पार
करनेवाके

शंगु- अथयय करनेवाका

आसीन- योगाक्षयों अथयय करनेवाका, अक्षेष्टका

विष्णु- पक्षययों अक्षय अक्षेष्टका

यक्षेष्ट- मिश्रिणुयों विराजमान गुहाविषावी अक्षी

उपवीतिन् अक्षेष्टका- उपवीति चारय अक्षेष्टका
अक्षेष्टका अक्षय करनेवाका

कपर्दिन्- अक्षेष्टका

अक्षेष्टका- अक्षिप्तका, अथयय

इह नामोंके आक्षेप अक्षिप्त देवे नाम हैं जो अक्षे
आक्षेपय अक्षुष्मों और अक्षिप्तोंकी भी वाचक हो अक्षे
हैं । विचारणीय अक्षय अक्षय अक्षयय अक्षयय अक्षे
हैं । अक्ष अक्षिप्त वर्गके अक्षेष्टका हैं—

अक्षिप्तवर्गके अक्ष

अक्षिप्त वर्गके अक्ष वहाँ अक्षिप्त विस्तारके धाय अक्षे हैं,
अक्षिप्त अक्षेष्टका अक्ष-अक्षे अक्षे अक्षेष्टका अक्षेष्टका
अक्षेष्टका हैं । इह अक्षययों अक्षय करनेवाके अक्षेष्टका
अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका
अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका अक्षेष्टका
अक्षिप्तोंके अक्षेष्टका हैं—

शूर- शूरवीर

पुष्प- चैवंशास्त्री अथवे पक्षी तथा करनेवाका

सहसा- अनुबोको परामर्श करनेवाका

मीम- अनुको मन्वीय कर देनेवाका

र- अनुको कानेवाका

महाय- मितका विचारण करना अथवाच है

मदक्य गरीये वैदकर करनेवाका

अप्रेष- समुच्च रहकर अनुका वच करनेवाका

दूरेवच- दूरेसे अनुका वच करनेवाका

नृ-इती- पुरुषों प्रहार करनेवाका

विषा-इत्- अनुका हव्य करनेवाका

मस्यत्- अनुपर वाचको केनेवाका

विस्तृजत्- अनुके दमनार्थ वच केनेवाका

माक्षित्- प्रक्षित्- अनुको हुक देनेवाका

मातताभिन्, माततायिन्- उद्यत अनुवाका

अनुप हीचनेवाका

माहवन्- वाच्य करनेवाका

शर्ष- वाच करनेवाका

व्याधिन्- अनुबोको वेचनेवाका

हन्ता- अनुको मारनेवाका

हनीपत्- अतिवच हन्य करनेवाका

विष्यापी, विविष्यन्ती- विवेचन वेचनेवाका

विष्यत्- अनुबोको कस्य वेचनेवाका

विष्यायिन्- अनुबोको आत्म वेचनेवाका

वाप्याधिन्- समन्वय वेचनेवाका

विहन्तामां पति- केवल करके पराका धन हरनेवाका

विवाचती इत्युपनय पाठ्य करनेवाका

वाप्याधिनीमां पति- सब प्रकारसे प्रहार करनेवाकी

दूर सेनाबोका पाठक

मातम्बान- अनुबोके दमनार्थ अनुपर तथा

वाचनेवाका

माकन्वयत्- अनुबोको कानेवाका

मापच्छत्- हुके दमनके विहित अनुको वाचनेवा

करनेवाका

ममिज्जत्- अनुबोका धारक

मममेदिन्- अनुका हुक देनेवाके

मयमिम्बत्- अनुका मेव करनेवाका

सुधम्वा- मेह अनुवाची

शतधम्वा- बहुत धनुष धारण करनेवाका

धम्वापी धम्वापी- धनुष धार केकर करनेवाका

तीक्ष्णेषु- तीक्ष्ण वाचवाची

मिपद्- उपद्रवकारिणोंपर कष्ट करनेवाका

वहरी- रथमें घोषण स्थानपर रहनेवाका वीर

सूकापी सूकापी वच केकर करनेवाका

स्वामुध- कोमल अनुप मिष्ट वादि धारण करनेवाका

वर्मी- वक्त्र धारण करनेवाका

रपी- प्रसंसित रचवाका

विहमी- विरस्ताव धारण करनेवाका

प्रतिवचान- अनुपर वाच करनेवाका

कवची- कवच धारण करनेवाका

मायुची- सुदृढादि वायु धारण करनेवाका

इपुधिमान्- वाचवाची

इपुमान्- वाच धारण करनेवाका

मसिमान्- कर्णवाची

माभुरय- वीर करनेवाके रचवाका वीर

अरय- रचवाची वीर

माभ- मोघ

अभपति- अर्धको अविपति

भनि- कुचोंको छान करनेवाका

मुन- कुचा

अपति- कुचकुचोंका अविपति

पधुपति पधुतां पति- वीरोंके पाठ्य करनेवाका

सेमाभी- सेवामात्रक

सेना- सैनिकधनुष

सुतसेन- अधिक सेवामात्रक

मासुपेय- वीर करनेवाकी सेवामात्रक

मिपाद्- गिरिवाची वीरवादि

पुक्षिष्ठ- पुष्कलित्य सेवामात्रक

गणपति- गर्वको अविपति

गण- सैनिक सुतगण

उग्र- अनुबोके मारनेके क्रिये अनुप करनेवाका

उगण- उच्छ्रित वाचकानुवाची सेनामें स्थित सैनिक

वृत्- वृत्कर्मवर्ती

पुषानां पति- वृक्षवाले मनुष्योंका स्वामी

भरण्यानां पति- वनार्थका पाकक

भक्षणां पति- भक्षार्थका पाकक

जगतां पति- संसारका पाकक प्राणियोंका रक्षक

विद्यां पति- विद्याबोधका ज्ञापिपति

पपीतां पति- माणोंका रक्षक

पक्षीनां पति- एक एक हाथी तीन दोड़े पांच
पैरुका नाम पति है, इस प्रकार केवा-
विधेयका पाकक

सत्त्वनां पति- प्राणियोंका पाकक

वनानां पति- वनोंका पाकक

कृत्ताणां पति- केना बाहुबोधका रक्षक

प्रातपति समुद्रोंका ज्ञापिपति

प्रात- समुद्र गज

वास्तव्य वास्तुप- वस्तु घरका पाकनेवाला

नीप्य- परवर्तक नीचे भागमें स्थित नीर

सेवाणां पति- भूमिका पाकन करनेवाला

स्वपति- गृहादिका पाकक

पृक्षाणां पति- वृक्षोंका रक्षक

यम्य- वनमें होनेवाला

भोवपीतां पति- भोवपिबार्थका पाकक वैद्य ज्ञयका
रक्षक

रथकार- रथ निर्माणकारी उत्कृष्ट कला

घम्यकृत् घनुकृत्- धनुषका बनानेवाला

इपुकृत्- बाणका बनानेवाला

क्षत्ता- रथका निर्माता कर्त्तव्य

वृक्षा- काष्ठकी विस्तारिकाका ज्ञाननेवाला

कर्मार ओहक घट बनानेवाला

कुक्षस सर्वश्रेष्ठ मृत्तिकाका पाक बनानेवाला

पुगुभ्य- रथक बांधनेवाला

मृत- मारपी

हिरण्यवाहु- भुजार्थमें सुवर्ण धारण करनेवाला

उर्ध्वी- उर्ध्वीर एगड़ी धारण करनेवाला सम्य

समहीता रत्न्यामयी हृष्टा करनेवाला

सगुणम- रत्न्यामयी वदनेवाला

सोम्य- मनुष्य-कोकमें होनेवाला

उरुषैर्घोष- बड़ा उग्र शब्द करनेवाला

उद्गुरमाण- निरंतर वधमी

शीघ्रीय शीघ्र्य- वेगवाला

परिषर- किरनेवाला

मज्जिर- गतिशील

घावत्- वेगवाल्

जाम्प- ज्ञाननेवाला

कक्ष्य- कक्षमें स्थित

कृत्स्नापतया घाघते- हमारी रक्षाके निमित्त क-
र्षित धनुष खेंकर वायव्य
होनेवाला नीर

मात्रिय बन्ध्य- प्रथम स्वाममें स्थित

अवसाम्य- अन्तिम स्वाममें स्थित

मृगयु- मृगोंकी कलवावाला मृगवा करनेवाला

तत्कृपाणां पति- चोरोंका स्वामी

मुष्णतां पति- बन्धादिका हरण करनेवालोंमें मुख्य

स्वाधृतां पति- गुप्त चोरोंके प्रमुख

स्तेनानां पति- गुप्त चवहारी ज्योंका मुखिया

वक्षत्- स्त्रियोंका प्रमुख

परिषम्यत्- स्वामीको जपदा विचर्य निजान्न
प्यवहारमें इनको बहान करनेवालोंका मुख्य

कुसुञ्चानां पति- एक वक्ष कीचलके वृक्षोंकी वृ-
द्धिमादि हरण करनेवालोंका मुख्य

विशीणक- क्षीणवा करनेवाला

विशिण्यक- क्षीण करनेवाला

निषंद- जपहारकी बुद्धिसे निरता किरनेवाला

मर्कषरत्- राधिमैं किरनेवाला वस्तु

मृष्टतामां पति- करनेवालोंका प्रमुख

गिरिश सर्वत-विहारी

गिरिषय- सर्वतः द्रव्य करनेवाला

गिरिषर- गिरिवर्ष किरनेवाला

काट्य- दुर्गम मार्गमें स्थित

विरूप- विद्वत् रूप वा विविध कथना

प्रातःक क्षमिषोके वर्यका विषयक वर्णन है। यहाँ
उत्तरां भादि क्षमिषोके अष्टाविकाके कारण उदात्तक और
उत्तरां और भादि क्षमिषोद्वारा मिश्रण करनेके कारण इस
नामों रहे हैं। वे सब अष्टकी विमृष्टिना हैं अथवा यह
हृन्ने रूप वारण करके हमारे सम्मुख आता है। पाठक
अपने चारों ओर इस देखके से रूप देखें और अष्टका यह
विषयक अनुभव करें। कितना अष्टावकीयामें अष्टावकाकी
वारात्मकता उदात्तक विषयक कहा है उससे अधिक
विस्तारके साथ वही अष्टका अष्टा-विषयक वर्णन किया
है। जो वेदमें विषयक देवता चारों से वही देख सकते हैं।

वैश्य-वर्गके उद्ग

वैश्य-वर्गमें भी अष्ट है। स्वयं अष्टिक भी अष्टकी
विमृष्टि है। यहाँ भी भादि पाठ पाठना, उनके गोष्ठमें
रचना, कृति करने के प्रत्यक्ष प्रमाण करना भादि नाम पाठक
देखेंगे। इन नामोंमें जो कृति होते हैं वे भी यहाँके अष्टकी
हैं। वाम्य वेपार करनेवाला अष्टको पीछलेवाला, पकने
वाला वे सब अष्टके रूप है। तथा हृन्ने साथ साथ जो
कृति पीछे रहते हैं वे भी अष्ट हैं। इसी दृष्टिसे पाठक इस
नामोंका विचार करें।

आयिक-व्यापारकर्ता

मज्य पुत्र्य- योजनमें विद्यमान
मोष्ठय- गोष्ठमें विद्यमान
इपीमत्- बाल्यमें होनेवाला
गोष्ठ- वामें विद्यमान
करीय- वपवाक भूमिमें होनेवाला
कर्म्य- उर्व भूमिमें होनेवाला
इरप्य इरिष्य- पुत्राहित उत्तर भूमिमें विद्यमान
अर्य- बाल्य-विषयक स्थानमें होनेवाला
स्य- सूरके प्राय होनेवाला

कृमिफोटकरूपी उद्ग

अष्ट कृमि भी अष्ट हैं। वे विभिन्नमें होनेवाले अष्टमक
हैं अथवा अष्टमें होनेवाले कृमि हो हैं सब अष्टकी। पाठक
मित्र नामोंमें हृन्ने देख सकते हैं—

तस्य- अष्टममें विद्यमान अष्टमक
मठिसर्य- बाधुवर्णमें विद्यमान
शप्य- कुच अष्टाविकामें विद्यमान

हरिय- हरे पक्षे भाविमें विराजमान
हरिकेश- पर्णक अष्ट बाधोंमें होनेवाला
शर्मिष्य- बाधपुत्र्य पितृवर्गवाला
उल्लय- पुत्रमें विद्यमान
वृक्ष- वृक्षरूप
पर्व्य, पर्व- पापमें विद्यमान
पर्णशय पर्णशय- पर्वमें उत्पन्न श्रीशक्ति
मिषेष्ट्य- मिषेष्टनके स्थानमें होनेवाला
किरिष्य- कुम्भक करनेवाला
वास्त- वास्तुप्रसादमें होनेवाला
मिषिकण्ड- बीजकण्डवाला
नीलमील- नीलवर्ण प्रीतिवाला
कोप्य- अगम्य देवामें विराजमान
गुण्य- सुखे अष्टाविकामें विराजमान
रेषिय रेप्य- रेखामें होनेवाला
प्रप्य- बहुविधमार्गमें विद्यमान
दीप्य- दीपमें होनेवाला
पार्य- समुद्रके पार भी विद्यमान
अथार्य- इस पार रहनेवाला
अथर्व्य- बुद्धिहित स्थानमें होनेवाला
आतप्य- धूप वा प्रकाशमें होनेवाला
मीष्टुष्टम- वर्षा करनेवाला
मेप्य- मेघमें होनेवाला
विपुल्य- विष्कम्भीमें होनेवाला
वर्षीयस् वर्ष्य- वर्षाकी चारामें स्थित
शीन्य- अक्षप्रसादमें विद्यमान
अयय- स्थिर अष्टमें विद्यमान
सरस्य- सरोवरमें होनेवाला
वैद्यन्त- अष्ट अष्टमें स्थित
कुर्य कुर्य- नहरमें स्थित
आध आध- नदी भाविके प्रसादमें होनेवाला
प्रसाध- नदी भाविके प्रसादमें होनेवाला
कुर्य- कुर्यमें होनेवाला
केर्य- पाणीका केरमें होनेवाला
ऊर्य- अक्षतरंगमें होनेवाला
सुर्य- कर्ममें विद्यमान
अवस्थय- स्थिर अष्टमें विद्यमान

संश्लिष्ट कल्पका विस्तार मात्र है। पुस्तकसूत्र और व्याख्याके विवेचनमें यही समझना उचित है। अतः जो पुस्तकसूत्रमें छोटेपे बर्णित है वही व्याख्यामें विस्तारके कहा गया है। इतना विस्तार करनेसे परमेश्वरके संपूर्ण विश्वरूपका वर्णन हुआ ऐसा मानना भी सर्वथा अपोष्य है। क्योंकि यह विश्वरूप वर्णन है। अवस्थाका वर्णन सामान्य अर्थ किंतु तरह कर सकते हैं? केवल कल्पनाके विवेची से सब वर्णन पढ़ा तथा अन्य ग्रंथोंमें लिखे गये हैं। विश्वमें स्थित संपूर्ण रूप उस ईश्वरकेही है सब रूप निकलकर एक ब्रह्म एकस्य परमेश्वरकाही रूप है और उसमें कोई वस्तु छुटी नहीं है इतना अवश्य समझ लेना चाहिये। तब विश्वरूपकी कल्पना ठीक ठीक हो जायगी।

चतुर्वेदे परमेश्वरके विश्वरूपी ज्योतिषके विषयमें एक उक्तम मंत्र आता है—

ज्योतिरसि विश्वरूप विश्वेषां वेदानां सारित् ॥

(वा व ५।३५)

हे ईश्वर! तू विश्वरूप ज्योति है। जहाँ सब देव सिक जाते हैं वेदा वेदाही तेज है। सब वेदांमें देवोंका तेज मिलमें मिला है ऐसा विश्वरूपी तेज परमेश्वरकाही है। इस भ्रममें विशेष कर वह भाव कदावा गया है कि सब देवोंको उस ईश्वरके तेजसेही तेज प्राप्त होता है। अतः सब देवतागण उस ईश्वरकी रूप हैं, इष्टीका नाम विश्वरूप अवस्था सर्वरूप है। और एक मंत्र देखिये—

भातिष्ठन्त परि विश्वे भूमृष्यो ज्ञान
अरति स्वरुचि। महत्तुष्ट्यो अक्षुरस्य
नामा विश्वरूपो अमृताति तस्थौ ॥

(वा व ३।१९)

(भातिष्ठन्त) सब और उदरे हुए उस ईश्वरको (विश्वे परि भूमृष्य) सब अन्य देव सब ओरसे धृष्ट पित करते हैं। वह (स्वरुचि) स्वयं अपने विश्व तेजसे पुष्ट तथा (भिवा ज्ञान) ज्योति श्रोत्रार्थोंको धारण करनेवाका है। उस (अक्षुरस्य) ब्रह्माका मान्यता ईश्वरका वह (महत्तुष्ट्यो) महत्त्व है क्योंकि वह (विश्वरूप) सब रूपोंका धारण करनेवाका परमेश्वर (अमृताति तस्थौ) अनेक अमर भावोंको धारण करता है। " अतः प्रकारके अमृत उलीक पाव है।

इसमें विश्वरूपी ईश्वरका कितना उक्तम वर्णन है। परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है सर्ववेदांमें देवता अपने आभूषण हैं वह सबको जीवन देनेवाका है उक्त रूप और सामान्य विष्ठाक है विश्वमें स्थित रूप हैं वे सब इष्टी परमेश्वरने धारण किये हुए हैं संपूर्ण अमरत्व उस ईश्वरके ही पास है क्योंकि हमारा जोई देता भी है जिसके पास अमरत्व रह सके।

वह एकही मंत्र परमेश्वरका विश्वरूप दोष वर्णन करनेका साध सिद्ध कर रहा है। विश्वरूप अर्थमें दोष यह है कि वह और रूप। रूप अर्थका समान अर्थ प्रसिद्ध है विश्व 'अमृत' अर्थ 'अमृत' अर्थ कि वह ही देनेवाका विश्व होता है। अर्थात् विश्वरूप 'अमृत' अर्थ सर्वरूप सबका रूप विश्वरूप रूप ऐसाही होता है। विश्वमें जो रूप विचार देता है वह किसका है? प्रत्येक वस्तुका जो रूप है वह किसका रूप है और सब निकलकर जो ब्रह्म रूप इस विश्वमें दृष्ट रा है वह किसका है, वह क्या महत्त्वका प्रथ है। कि अर्थ है कि वह सब रूप परमात्मका है। सब तेज परमात्मका है, सब वस्तु परमात्मका है। इष्टीके उक्तमें विश्वरूप स्वरुचि, महत्त्व कहा जाता है। चतुर्वेदे और दो मंत्र देखिये—

स्वप्ने पुत्ररूपाय स्वाहा विश्वे तिस्रुवपाय
स्वाहा ॥ (वा व १।११)

स्वप्नारमिन्द्र वेदं भिर्जं सुपजं पृथग्भिवम्।
पुत्ररूपं सुरेतसं ममोषम् ॥ (वा व १।१५)

(लहे) कर्माय (विष्णु) व्यापक (मि-पुत्र) सबके भीति होकर सबका पावनकर्ता (सुपज्) उक्तम बनानेवाका (पृथग्भिवम्) उदके प्रमाण सबकी सेवा करनेवाका (सुरेतस्) उक्तम प्रभाववादी (ममोषम्) महान्, सबके विद्याक (मिपज्) सबकी विशिष्ट करनेवाका सबके योग दूर करनेवाका (इन्द्र देव) यह ईश्वर (पुत्ररूप) ज्योति रूपवाका है।

इस मंत्रमें मनु परमेश्वरके अनेक गुण लहे हैं और अर्थमें वह पृथु (विश्वरूप) पृथु रूप है अर्थात् अव्यक्त रूप है ऐसा कहा गया है। इस तरह चतुर्वेदे परमेश्वरका विश्वरूप कहा गया है। पुस्तकसूत्र चतुर्वेदे

३.१ में अष्टाध्यायि है। इस प्रत्ययसूत्रके मन्त्र अष्टाध्यायि के प्रत्यय सूत्रके अर्थप्रसंगमें आते हैं इसलिये उक्तका पुनः वहाँ विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब अष्टाध्यायि ईदृशका जो विश्वरूप बताया गया है उसका विचार करते हैं—

अष्टाध्यायिमें विश्वरूप

अष्टाध्यायिमें कई मंत्र परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन करनेवाले हैं। वे मन्त्र देखिये—

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गारुडम् ॥

(अध्याय १।१।१५)

इस अष्टाध्यायिक मंत्रमें 'विश्वरूप' का अर्थ बताया है। वह विश्वरूप सर्व-रूप है। सब कितना भी रूप है वह सब अर्थात् विश्वरूपही है। इसीका नाम 'गारुड' है जो नाम इतिवृत्ति प्रणीत होवेवाला जो रूप है वह सब 'गारुड' सर्वरूप अथवा विश्वरूप' कहा जाता है। यहाँ वेदवेदी विश्वरूप सत्त्वका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इतिवृत्ति प्रणीत होवेवाला जो सब रूप है वही विश्वरूप है। और वह सर्वरूप रूप है। इस वाद विश्वरूपका नाम स्पष्टताके साथ करके सर्वत्र विश्वरूप कहा है वह निम्नलिखित मंत्रमें बताया गया है—

पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

अन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥

विमि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥

देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥

लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ (अध्याय १।१।१५-१९)

पृथिवी अन्तरिक्ष पृथिवी देव और लोक अर्थात् मानव प्राणी आदि सबमें वह विश्वरूप है। यैसा विश्वरूप पृथ्वीपर है वैसाही आकाशमें है देवताओंमें है और वैसाही लोकोमें तथा मनीषी अथवासुत आदि रूपमें है। परन्तु पृथ्वी रूपमें अष्टाध्यायिमें तथा प्रत्ययसूत्रमें देखें। यद्यपि वह अष्टाध्यायि विश्वरूप कहा गया है और यह अर्थनेत्र मन्त्रमें विश्वरूपका विशेष्य किया है तथापि यह सब लक्षणी है और वहाँ इस विश्वरूप लक्षके सिद्धांत कुछ भी नहीं है। अतः अन्य देवताका विश्वरूप और अष्टाध्यायिक विश्वरूप इन दो अर्थोंमें विश्वरूप इतिवृत्ति देखें कोई भेद नहीं है। प्रत्ययसूत्रमें प्रकृत, नारायण

विराट् आदि नामोंमें विश्वरूपका वर्णन है, अष्टाध्यायिमें अष्टाध्यायिक विश्वरूप और वहाँ अष्टाध्यायिका विश्वरूप तथा अन्य सूत्रोंमें अष्टि इह आदि देवताओंका विश्वरूप कहा गया है। वे सब देवतावाचक नाम एकही सत्त्वके वाचक हैं और उसी एक सत्त्वका वह सब विश्वरूप है ऐसा अनुसंधान करनेपर देवताओंके अनेक नामोंसे यवरा जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ और मंत्र देखिये—

यत्परममवम पञ्च मध्यमं प्रजापतिः सत्त्वमे

विश्वरूपम् ।

किपता स्वर्गः प्रविशेत् तत्र पञ्च प्राविशत्

किपत्तत् प्रभूयः ॥ (अध्याय १।१।१८)

प्रजापतिने जो (परमं मध्यमं अवनं विश्वरूप) सबके ऊपरका, नीचेका और सबके निम्नका विश्वरूप (सत्त्वमे) निर्माण किया, उसके (किपता) कितने भागमें (स्वर्गः) सर्वोच्च परमप्रभा प्रविष्ट हुआ है और (यत् प्रमदिविषय) जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ देवा विश्वरूपका भाग (यत् किपत् प्रभूयः) कितना है ? अर्थात् वह सब विश्वरूप परमेश्वरने उत्पन्न किया वह इस सबमें प्रविष्ट है अथवा कुछ बोधे भागमें है। क्योंकि वही विश्वरूप ऊपर आकाशमें है नीचेके अन्तरिक्षमें भी है और पृथ्वी और उसके नीचे भी है। इस विश्वरूपका उस परमप्रभाने निर्माण किया है वह सब है, परन्तु क्या वह इस सबमें व्याप्त है अथवा उत्तम कुछ हिस्सेमेंही व्याप्त है ? वह विश्वरूपकी व्याप्ति सर्वत्र है ऐसा कहा है क्योंकि परम-मध्यम-अवन में सब दिव्य वा पुका है। अन्यत्र उपनिषदोंमें—

सत्त्वपृथ्वा सदेवामुप्राविशत् । (उ० उ० १।१।१९)

इस विश्वरूपके उत्पन्न करने पर परमात्मा उल्लेखमें प्रविष्ट हुआ है, ऐसा जो कहा है वह इसी मंत्रके अनुसंधान कहा है। अब एक मंत्र इस विश्वरूपके अर्थमें देखिये—

यत्पृथ्वी पतति यत्पृथ्वी तिष्ठति प्राणप्राण
पिमिपञ्च यत् प्रभूयः । तत् प्राणार पृथिव्यां
विश्वरूपं तत् प्रभूयः अयत्तेकमेव ॥

(अध्याय १।१।२१)

सूर्य- ऊर्ध्वमें विराजमाण
 सूर्य- भुव मर्त्यमें स्थित
 सिक्तस्य- रैतीमें विद्यमान
 पांसव्य- पृथ्वीमें विराजमाण
 रजस्य- पुष्कराशयमें विद्यमान
 अपरस्य- रज वर्णात् पुष्करित्व स्थानमें होवेवाला
 किंशिक- कंकरादिमें विद्यमान
 बुभ्रिय बुध्य- रजस्यमागमें स्थित
 उद्गुरमाण- कण्ड करवेवाला
 धीम्य- महाप्रकाश वा जोर जगत्कारमें स्थित

छोटे बड़े रुद्र

छोटे बड़े पहिले जन्मके ज्येष्ठ कविज्ञ सही यह हैं ।
 इन नामोंमें जगत्के सब पदार्थ का ज्ञान है क्योंकि एक
 ज्येष्ठ होगा तो दूसरा बड़ा होगा । वे सभी रुद्र हैं—

मध्यम- सबसे सुख
 मध्यम- मध्यमें स्थित
 ज्येष्ठ- छोटे भुव इति कीट
 महत्- बड़े कर्मात्मा
 इत्य- कर्मात्मा
 इहत्- मर्त्यात्मा
 भुव- ज्येष्ठ
 धामन- संकुचित अवस्थावाला ज्येष्ठ
 ज्येष्ठ- ज्येष्ठ
 कनिष्ठ- कनिष्ठवा वा कनिष्ठकर्म
 मध्यम- ज्येष्ठ
 अपराधम- जो विशेष बुराई नहीं है
 माधु- धीमत्ता करवेवाला ज्येष्ठ
 स्वपत्- सोनेवाला
 मापाम- सुखी अवस्थामें स्थित
 रोहित- ज्येष्ठ
 बभ्रुश- बभ्रुश- कनिष्ठकर्म
 ताज- कर्म रजमात्रा
 अरुण- कर्म रजमात्रा

ईशरक्षाक रुद्रके नाम

ईशरक्षाक रुद्रके नाम जोर उभयमें प्रकट होवेवाला
 परमेश्वरका रूप सब विमलकिशित नामोंमें देखिये । वहाँ

पहिला नाम विश्वरूप है और अन्तिम नाम
 और रूप है । वह हरपक्षके रूपमें है वतः वरते ।
 होनेसे सबका कर्मात्मा इतीका रूप है । वहाँ इस
 नामोंमें परमेश्वरके विश्वरूपका दर्शन हो सकता है—

विश्वरूप- विश्वरूप रूप भारत करवेवाला
 पूर्वज- नामोंमें विद्यमान
 देवानां इत्य- देवताओंमें इष्टवत्कर
 शिव शिवतर- कर्मात्मा करवेवाला
 शम्भु- सुखदायी
 शम्भु- कर्मात्मा
 शंकर- सुख करवेवाला
 मयस्कर- सुख देवेवाला
 मयोधु- सुखका उत्पन्न
 मयोध- सुखदाता
 तार- तारवेवाला
 महित- हितकर्ता
 शिपिविष्ट- किरणोंसे व्याप्त
 सहस्राक्ष- सहस्रकोष
 सोम- कर्मात्मामें स्थित और उमासहित
 विश्विम्ब- रूपके रूपसे रहवेवाला
 मय- कर्मात्मा उत्पन्न-कर्मा
 मुचलित- धूमन्तकमें रहवेवाला
 मयस्य हेति- संसारका जलुब बर्णात् संसार जित
 भागिर्हृत- जो इस नहीं होता
 इष्ट इष्ट- हरपक्षके रूपमें स्थित

रुद्र-वृषाका विश्वरूप

इस तरह ज्येष्ठवत्ताका विश्वरूप वक्तुर्बेदे इस जगत्
 नहीं बताया गया है । निश्चय जो रूप है वह सब जगत्
 रूप है । वह विश्ववैका उपदेश इस जगत्मात्रमें मिल
 गया है । इस जगत्मात्रमें जो उर्ध्व प्री नाम है । जगत्
 जगत् वैका कारिभरोंसे फैल पशुपती जीवजन्तु, इति
 कीटसक सब जगत् है । इसकाही यही पंथ इति, कर्मात्मा
 स्वात्मा कांक्ष सही नाम वहाँ माने है, कर्मात्मा वैका
 रूप यह वैकात्माका रूप है ।

वहाँ सुख, जगत्मात्र उपदेशक वैका, राजको लोके
 राजा कविज्ञ यह और और वैका वैकात्मा पुत्रजन्त,

भीर, चाकर, चोर बाहु, मोठे गौ क्षामिकीठ पर्यग बल्लर, रोके कम मिठी बासि सब रूप रूद्र देवताके हैं ऐसा स्पष्ट कहा है। भगवद्गीतामें कितने रूप गिनाये गये हैं, क्योंकि अधिक शब्दा इस अध्यायमें वर्णित हैं। इसमें भिन्न हुआ कि परमेश्वरके विश्वरूप की मूल कल्पना विस्तारके साथ देवदेवी कही है। उसका एक नाम भगवद्गीतामें दिया है। भगवद्गीतामें संसार करनेवाले कामस्वरूप ईश्वरका विश्वरूप वर्णित है, अर्थात् वह पूर्ण ईश्वरका परिपूर्ण विश्वरूप नहीं है। क्योंकि परमेश्वर जैसे संहार करने वाला है, वैसीही उत्पत्ति और पालन-पोषण करनेवाला भी है, अर्थात् उत्पत्ति स्थिति पोषण संहार नामोंमें जो जो रूप प्रकट होते हैं वे सब उसीके रूप हैं। परमेश्वर कर्म है और मूल भी है जैसे कर्मको ईश्वरमात्रका प्रकटीकरण माना जाता है वैसीही मूल भी ईश्वरकाही एक भाव है। कर्म, मूल और अमरण वे सभी भाव उन्हीं ईश्वरके हैं। वेदोंमें परमेश्वरका मूल नाम अनेक स्थानोंमें दिया गया है। भगवद्गीतामें कामस्वरूप बताया है अर्थात् वह ईश्वरके एक भावका वर्णन है। अध्यायमें उससे बहुतही अधिक भावोंका वर्णन है।

महारहस्य, स्नेह कविह, उच्च नीच पाठ ब्रह्म बल्लर के छन्द ओ अध्यायमें बाने हैं, बहुतही महत्वके हैं। इसमें छन्द प्रकटके क्योंकि समावेश होता है। एक भी रूप सूझा नहीं है। कुछ रूप तो महान् में जाते हैं और कई छन्दों में जाते हैं। वेदों में परमेश्वरके विश्वरूपका नाम मिलने लगा जान तो अध्याय गिने पढ़नेवालेकी शक्ति भी तो परिमिती है। अर्थात् बहुत छन्द ऐसे छन्द रखकर वह विश्वरूपका वर्णन समझ किया जाता है। भगवद्गीतामें भी सर्व ही कहा है वेदों में परमेश्वरको सर्व कहा है। विश्व पदशब्दोंमें भी सर्व ही परमेश्वरका नाम दिया है। अनेक पुस्तकोंमें भी—

पुस्तक पद्य इव सर्वम् । (आवेद १५)

उपरी वह सब है ऐसा कहा है। यदि उपरी वह सब है तो उपरके रूपसे जो क्या रह जाता है? उपर शब्द सामान्यवाची और इदं सर्वं विश्ववाची है। जो शक्ति है जो अनुभवमें जाता है वह सब परमेश्वरका

रूप है। इस शब्दको परमेश्वरका रूप जानकर और उस रूपमें अपना भी समावेश करने, मैं उससे भिन्न नहीं हूँ ऐसा विचार जान अनेकभावसे अध्याय अन्त्य (नन्त्य) भागसे उसकी सेवा करनी चाहिये। भगवद्गीता अध्याय अध्याय वेदोंमें ओ कहा गया है उसका ठीक ठीक भाव है। विश्वरूप जानकर विश्वरूपमें अपना भी समावेश होता है यह अनुभव करके अन्त्यभावसे विश्वरूपी परम अध्यायकी सेवा करनी चाहिये। वेदों में इसीकिने परमेश्वरके विश्वरूप बताया और इसी कामके छिने भगवद्गीतामें भी ईश्वरका विश्वरूप दिखाया है। पुस्तकमें पठा कहा है कि वेदों को रूद्रदेवताका विश्वरूप वर्णन किया है वह भगवद्गीताके वर्णनसे अधिक विस्तृत है।

अनुवेदके इस अध्यायका देवता रूद्र है। यह रूद्र देवता भी संहारक देवता है। भगवद्गीताका देवता 'कीक-छन्द'का है अर्थात् वह देवता भी संहार करनेवाला ही है। दोनो स्थानके देवता—जिनका कि विस्तारसे विश्वरूप वर्णन किया गया है—संहारक देवताही हैं यह एक अनुभव सम्म है। यह सम्म होनेपर भी अनुवेदका वर्णन अधिक विस्तृत है। वह इस बातको सिद्ध करता है कि वेदोंकी सेवा अधिक पूर्ण है। जो समझते हैं कि यह विश्वरूपवर्णनका रंग कम इस भगवद्गीतामें ही रखा है उसको इस अध्यायपर अवश्य विचार करना चाहिये।

पुस्तकमें भी विश्वरूप बताया गया है परन्तु अति संक्षेपसे आद्य अध्याय वैश्व छन्द के चार वन हम जग अमरीक नागवन्दे इव शिखरपुत्र-मुल बाहु ठक और पांव के चार अक्षर हैं वही संक्षेपसे पुस्तकका अन्त है। पुस्तकमें चारों वेदोंमें है इनके चारों वेदोंमें अमरीक नागवन्दे इस विश्वरूपकी कल्पना अभिमत है। अति संक्षेपसे पुस्तकमें कहा हुआ विश्वरूप ही विस्तारसे अध्यायमें कहा गया है और वही पाठों में भी वर्णित है।

नागवन्दे देवताका मुख आद्य है ऐसा कहकर मय शायी ओम उम देवताके मुखस्थानमें शिखरके हैं वह सिद्ध होता है। वही वन्दे वन्दे उदरपद निरदृ मंथी जगती शुभ आशिक नामोंकी गिनती कर यदि वह ही जान तो कोई नहीं जान नहीं है। वह तो करक उन्नी

संक्षिप्त कथनका विस्तार मात्र है। पुण्यपुण्य और पुत्रा-
ध्यायके विवेचनमें पढ़ी समझना उचित है। अतः जो
पुण्यपुण्यमें संक्षेपसे वर्णित है वही व्याख्यायमें विस्तारसे
कहा गया है। इसका विस्तार करनेसे परमेश्वरके संपूर्ण
विश्वकर्मका वर्णन हुआ ऐसा मानना भी सर्वथा न्यायोपेक्ष है।
नबोकि यह विश्वकर्म वर्णन है। अन्तर्गतका वर्णन प्राग्य
ज्ञान किन्तु तरह कर सकते हैं? केवल कथनका विवेचनी
से सब वर्णन यहां तथा अन्य प्रयोगों किन्ते प्ये हैं। विश्वमें
स्वित संपूर्ण रूप उस ईश्वरकेही हैं सब रूप मिश्रकर एक
वर्णन प्रकार परमेश्वरकाही रूप है और उसमें कोई
वस्तु छूटी नहीं है इसका अवश्य समझ लेना चाहिये। यह
विश्वकर्मकी कल्पना ठीक ठीक हो जायगी।

यजुर्वेदमें परमेश्वरके विश्वकर्मो ओषधिके विषयमें एक
उत्तम मंत्र आया है—

अपोतिरसि विश्वकर्मं विश्वेषां देवानां समित् ॥

(वा य ५।१५)

हे ईश्वर! तू विश्वकर्म ओषधि है। कहां सब देव मिल
जाते हैं ऐसा वेदाही वेद है। सब धर्मों किन्ते देवोंका वेद
विश्वमें मिश्र है ऐसा विश्वकर्मो देव परमेश्वरकाही है।
इस मंत्रमें विशेष कर यह भाव कलाया गया है कि सब
देवोंको उस ईश्वरके ठेककेही ठेक प्राप्त होता है। अतः सब
देवताएँ उस ईश्वरकी रूप हैं। इसीका नाम विश्वकर्म
कथना सर्वकर्म है। और एक मंत्र इतिहे—

आतिष्ठन्त परि विश्वे अभूवन्मृत्यो वसान
अरति स्वरोषिः। महात्तृण्यो अमुरस्य
वामा विश्वकर्मो अमृतामि तस्यौ ॥

(वा य ३३।११)

(आतिष्ठन्त) सब और उभरे हुए उस ईश्वरको
(विश्वे परि अभूवन्) सब अन्य देव सब ओरसे घुस
विष करते हैं। यह (स्व-रोषिः) स्वयं अपने मित्र
वेदके पुत्र तथा (भिदः वसानः) वर्णन सोमाओंको चारण
करनेवाका है। उस (मृत्युः अमुर-ए-स्य नाम) वज्रकाही
प्रत्यक्षता ईश्वरका वज्र (महात्) महात् है। नबोकि यह
(विश्वकर्मः) सब कर्मोंका चारण करनेवाका परमेश्वर
(अमृतामि तस्यौ) अनेक जगत् भक्तोंको चारण करता
है। अथ प्रकारके बहुत उद्धीक पाथ हैं।

इसमें विश्वकर्मो ईश्वरका चित्ता उचन वर्णन है।
परमेश्वर सर्वत्र उपस्थित है सर्वथाहि देवता उभे
आमृपण हैं वह सबको जीवन देनेवाका है उचन यह
और सामर्थ्य विशाका है विश्वमें किन्ते रूप हैं वे एव
इसी परमेश्वरने चारण किन्ते हुए हैं संपूर्ण जगत् सब
ईश्वरके ही पास है नबोकि दूसरा कोई देता नहीं है
विश्वके पास जगत्पत् रह पड़े।

यह एकही मंत्र परमेश्वरका विश्वकर्म ऐसा वर्णन
कलके साथ सिद्ध कर रहा है। विश्वकर्म जगत्में से
पह है विश्व और रूप। रूप जगत्का रक्षण
वर्णन प्रसिद्ध है, विश्व ' जगत्का वर्णन वर्णन सब किन्ते
पह हीकनेवाका विश्व होता है। नबोकि विश्व-कर्म
जगत्का वर्णन सर्वकर्म, सबका रूप विश्वकर्म का
देवाही होता है। विश्वमें जो रूप विशाई देता है वह
किसका है? प्रत्येक वस्तुका जो रूप है वह किसका रूप है
और सब मिश्रकर जो जगत् रूप इस विश्वमें ही रह रहा
है वह किसका है, यह क्या महारूप प्रक है। वेद कहता
है कि यह सब रूप परमात्मन्य है। सब देव परमात्मन्य
है, सब वस्तु परमात्मन्य है। इसीकिन्ते उचनके विश्वकर्म
स्वरोषि महारूप कहा जाता है। यजुर्वेदके और दो मंत्र
इतिहे—

त्वष्ट्रे पुत्रकपाय स्वाहा विष्णवे विमृषपाय
स्वाहा ॥ (वा य २१।१)

त्वष्टारमिष्टु देवं भिषजं सुयज्ञं घृतभिषिम्।
पुत्रकपे सुदेवस्य मघोनम् ॥ (वा य २१।१)

(त्वष्ट्रे) कर्तार (विष्णु) चारण (वि-मृषपाय)
उचनके नीचे होकर सबका पाकमर्त (पुत्रकपे) उचन
वर्णन करनेवाका (सुयज्ञः) उचनके प्रमाण उचनकी बोधा
कलावेवाका (सुदेवस्य) उचन प्रभावकाही (मघोनम्)
महात्, सबको विशाका (मिषजं) उचनकी विनिष्ठा
करनेवाका, उचनके रोग दूर करनेवाका (इष्टु देवं) यह
ईश्वर (पुत्रकर्म) वर्णन कथवाका है।

इस मंत्रमें प्रभु परमेश्वरके अनेक गुण कहे हैं और
अन्तमें यह कृष्ट (विश्वकर्म—) वस्तुका है नबोकि
अन्तर्गतकर्म है देता कहा गया है। इस तरह यजुर्वेदमें
परमेश्वरका विश्वकर्म कहा गया है। पुण्यपुण्य यजुर्वेदमें

३१ में अष्टादशमें है। इस पुनस्तुत्ये मन्त्र आदेशक पुनस्तुत्ये सर्वप्रथममें आन है इसलिये उसका पुनः यहाँ विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अब अष्टादशमें ईश्वरका जो विश्वरूप बताया गया है उसका विचार करते हैं—

अष्टादशमें विश्वरूप

अष्टादशमें कई मन्त्र परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन करनेवाले हैं। वे मन्त्र देखिये—

पठति विश्वरूपं सर्वरूपं गोकुपम् ॥

(अथर्व १७।१५)

इस अष्टादशमें मन्त्रों 'विश्वरूप' का अर्थ बताया है। वह विश्वरूप सर्व-रूप है। सब जितना भी रूप है वह सब अच्छा विश्वरूपही है। इसीका नाम 'गोकुप' है जो नाम इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो रूप है वह सब 'गोकुप' सर्वरूप अथवा विश्वरूप' कहा जाता है। वहाँ वेदनेही विश्वरूप छन्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इन्द्रियोंसे प्रतीत होनेवाला जो सब रूप है वही विश्वरूप है। और वह सर्वका रूप है। इस तरह विश्वरूपका मात्र स्पष्टताके साथ कहकर सर्वत्र विश्वरूप कहा है यह निष्पत्तिविर मन्त्रोंमें बताया गया है—

पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

अन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥

दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥

व्येपु विश्वरूपम् ॥ १० ॥

लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ (अथर्व १७।१५-१९)

पृथिवी अन्तरिक्ष दुर्लोक देव और लोक अर्वाच मानव प्राणी आदि सबमें वह विश्वरूप है। जैसा विश्वरूप पृथ्वीपर है वैसाही आकाशमें है देवताओंमें है और वैसाही लोकोंमें राजा मंत्री सभासद आदि रूपमें है। वातक इसी रूपको अष्टादशमें तथा पुनस्तुत्येमें देखें। यद्यपि वह अच्छा विश्वरूप कहा गया है और वह सर्वत्र मिथ्या विश्वरूपका विश्वरूप किया है यद्यपि वह सब अच्छी है और वहाँ हुए विश्वमें अच्छे सिवाय कुछ भी नहीं है। अतः अन्य देवताका विश्वरूप और अष्टादशका विश्वरूप इन जो वर्णनोंमें विश्वरूप दर्शनही रहित कोई भेद नहीं है। पुनस्तुत्येमें पुनः बताया

विराट् आदि नामोंसे विश्वरूपका वर्णन है अष्टादशमें अष्टादशका विश्वरूप और वहाँ अष्टादशका विश्वरूप तथा अन्य सूक्तोंमें अग्नि इन्द्र आदि देवताओंका विश्वरूप कहा गया है। वे सब देवतावाचक नाम एकही पदस्तुत्ये वाचक हैं और उसी एक सत्त्वका वह सब विश्वरूप है ऐसा अनुसंधान करनेपर देवताओंके अनेक नामोंसे भवता जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। कुछ और मन्त्र देखिये—

पारममममम यथा मध्यमं प्रजापतिः सत्त्वमे
— विश्वरूपम् ॥

क्रियता स्कंधाः प्रविशेष्ट मत्र यथा प्रादिशत्
क्रियत्तद् वसूष ॥ (अथर्व १७।१६)

प्रजापतिने जो (परमं मध्यमं अथर्व विश्वरूपं) सबसे ऊपरका बीचका और सबसे निचका विश्वरूप (सत्त्वमे) निर्माण किया उसका (क्रियता) कितने नामोंमें (स्कंधाः) सर्वांगार परमममा प्रविष्ट हुआ है और (यत् न प्रविशत्) जिसमें प्रविष्ट नहीं हुआ ऐसा विश्वरूपका भाग (यत् क्रियत् वसूष) कितना है? अर्थात् वह सब विश्वरूप परमेश्वरने उत्पन्न किया, वह इस सबमें प्रविष्ट है अथवा कुछ छोटे भागमें है। क्योंकि वहाँ विश्वरूप ऊपर आकाशमें है बीच अष्टादशमें भी है और पृथ्वी और उसके नीचे भी है। इस विश्वरूपका उस परममामने निर्माण किया है वह सब है परन्तु क्या वह इस सबमें व्याप्त है अथवा उसका कुछ हिस्समेंही व्याप्त है? वह विश्वरूपकी व्याप्ति सर्वत्र है ऐसा कहा है क्योंकि परम-मध्यम-अथर्व में सब विश्व का हुआ है। अन्यत्र उपनिषदोंमें—

तत्सृष्ट्या तदेयानुप्रादिशत् ॥ (ठे उ १।१।२)

इस विश्वको उत्पन्न करके वह परमममा उसीमें प्रविष्ट हुआ है ऐसा जो कहा है वह इसी मन्त्र अनुसार कहा है। अब एक मन्त्र इस विश्वरूपके सर्वप्रथम देखिये—

यजति पठति यक्ष्यति पृथिवीं प्राणद्वयम्
यिमिषत् यद् भुषन् ॥ यद् आपारं पृथिवीं
विश्वरूपं तत् संभूय ममस्यक्रमय ॥

(अथर्व १७।११)

(अ) जो (दृष्टि) दिक्ता है जो (पश्यति) भीषे गिरता है जो (तिष्ठति) डहरा है जो (प्राणाय) प्राण धारण करता है, जो (अभाष्य) प्राणसुख नहीं है, जो (विमिष्य) एकदं दिक्ता है जो (भुव्य) होवा है (एव प्रमिरी विद कर्म दायार) वह युमि और विद्वक्क्य को धारण करता है (एव संभूय) वह सब मिक्क (एव एव पश्यति) दृष्टी है । इस अर्थमें जो अनंत प्रकारका रूप है उसमें कुछ दिक्तेवाका है कुछ प्रमण करनेवाका है कुछ न दिक्तेवाका अर्थात् स्वाधर है कुछ प्राण धारण करता है और कुछ प्राणरहित है, किसीकी भाँतिही एकदं दिक्ती है और कुछ दृक्क न करनेवाका है, वह पृथ्वीपर क्या अन्वय नी विराजमान है । पश्यति यह विविध प्रकारका अनेक रंगरूप आकाशवाका है तथापि यह सब मिक्कर एकही रूप होता है । उसमें वह जेहनाय नहीं रहवा । जेहनाय हीछवा भी है तो वहाँ सब मिड जाता है ।

विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ।

यह संभवाय बहुवृत्ती महारका है । सम्पूर्ण विश्वरूप मिक्कर एकही रूप होता है वही तो विश्वरूपकी कल्पना है । इस विश्वमें विविध प्रकारके अनंतरूप हैं । सबके मिक्कर परमेश्वरकाही एक अर्थात् अनंत बहुत विश्वरूप बनवा है । और वही उसको धारण करता है । जेहनायके वही विश्वरूपकी कल्पना विराज्य एव ही है । उसमें किये जेह प्रसन्न दीखते हैं वह नी कहा है और वे सब जेह नष्ट होकर अब सबका एक अर्थात् रूप होता है ऐसा भी कहा है । प्राणधारण करनेवाका और प्राणधारण न करनेवाका ह्यापि प्रकारका जेह अन्वयहमें दीखता है, परन्तु वह सब जेह उस परमात्माके अर्थात् रूपमें मिड जाता है अवशिष्ट नहीं रहवा । भगवद्गीतामें जो विश्वरूप वर्णित है वही इस तरह इस मन्त्रमें कहा गया है । अन्वयहमें दीखनेवाके जेह परमार्थमें नहीं रहते । कर्मोंकी विविधता और अर्थता होवेपर भी (एव एव एव पश्यति) वे सब एकही अवशिष्ट बहुत रूपमें हो जाते हैं । वह अवशेषन हाएकको समान रचना पाविये ।

अनर्थादेवमिदं विश्वरूपं धाम्नाहारा दृक्तेही मंत्रोंमें ईदवा रूपरूपका कथन किया है । अब पुनरुक्त धाम्नाहारा

वही बात कही हुई विम्वक्किता मंत्रमें देखिये—

विधायां ब्रह्म पुरुषं वि तद्धे तेन जोषति प्रविश्यात्तत्तत् । (अथर्व १।१।११५)

ब्रह्म पुन अर्थात् अनंत कर्मोंवाका विधायां है, जेह चारों दिक्ता विविधा जीवित रहती है । 'तद्धे पुनरुक्त है' इष्टीका जय ब्रह्म विश्वरूपी है ऐसा होता है । जिये रूप हैं वे सबके सब ब्रह्मकेही रूप हैं वे अनंतरूप जेह हुए भी एकही ब्रह्मके रूप हैं और सब रूप मिक्कर ब्रह्मका अर्थात् पुरुषरूप बहुत रूप हो जाता है । इस विषयमें एक विम्वक्क मंत्र देखिये—

त्रीणि धाम्नासि कथयो वि येतिरे पुरुषं वर्धत विम्वक्कसुखम् । आपो वाता भीषच पस्त्याप्येकस्मिन्पुन आर्पितानि ।

(अथर्व १।१।११०)

त्रिसका कवि कोण तीष प्रकारके कर्मोंमें वर्धन करते हैं वह (पुरुषमें विश्वरूपमें वर्धते) वर्धनरूप पुन वर्धनीय विश्वरूप है । (आषः) ब्रह्म, (वाता) वायु और (भीषचः) भीषविषयस्त्रिमां (क्षामि) ने जेही पस्तुमाय (एकस्मिन् पुनरे) एकही पस्तुमें—पुनही सहायुमें (आर्पितानि) समर्पित हुई है । "

यह सब वर्धन एव है । एक परमात्मा है, उस एकमें वर्धन कवि जेग अनेक कर्मोंमें करते हैं । उस परमात्मा यह अनंतकर रूप वर्धनीय बहुत रूप है, इष्टीका नाम विश्वरूपी परमेश्वरका वर्धन है । जो विश्वमें दीखनेवाके सब वायु जोपवि वादि अनंत पदार्थ हैं वे उनके रूप इस एक धाम्नामेंही समर्पित हैं । अर्थात् इन सबका रूप उस विश्वरूपमें समर्पित होता है ।

इस तरह अनर्थादेवमें विश्वरूपी परमात्माका वर्धन है । यह वर्धन गीताके विश्वरूपी परमात्माके वर्धनके रूप मिकांमें और देखें कि जेहकाही वर्धन गीतामें जेह कल्पतरित हुआ है । अब अनर्थादेवके कुछ मंत्र इसी विषयमें देखनेयोग्य है—

१ अथ अर्थादेवमा जेह चर्मे समर्पितः ॥ ११ ॥

२ अथ अर्थादेवमा जेह यात्रा विधेजि ।

तज्जे अर्थादेवानेके मन्त्रादीदो विदुः ॥ १२ ॥

३. यस्य चतुष्पादः प्रविष्टो नाक्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ॥ १५ ॥

४ यस्य क्षिप्रो वैश्वानराभ्युदयः सोऽभवत् । जज्ञानि
यस्य दास्यः स्वर्ग्यं तु नृदि कृत्यः क्षिप्रैव सः ॥ १५ ॥

५ यस्य मय मुक्तमादुर्निहा मशुकलामुत ।
विश्वमयो यस्मादः स्वम् ॥ १९ ॥

१. यथादिभाष्ये व्यासस्य वचनस्य समाधिना ।
 सूत्रं च यत्र सार्धं च सर्वे श्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ २२ ॥

॥ पश्य भूमिः प्रताम्बरिङ्गमुदीरम् ।
दिवं वज्रके सूर्यायं तस्मै श्रेष्ठाय वज्रके नमः ॥ ३९० ॥

६ वसवः सूर्यस्य भ्रातृव्यः ।
 अग्निं पश्यन्त आत्सवं तस्मै ज्योत्स्व्यं प्राप्नुवे वसवः ॥ ३३ ॥

१ वस्त्र बाधः प्रत्यापत्नी चतुर्द्विष्योऽयम् ।
 द्विषो वस्त्रोऽप्यातीत्यस्मै लोच्यमानं वस्त्रमेवम् । ३३४४

(१) जिस परमात्म्याक अंगमें ऐतिस्य रूप आसय

[illegible]

मार्गों हैं। (४) विप्लवों और क्रांति का एक संगठन
है और जिसके अन्दर से समाजवादी कार्यकर्ता

(५) निम्नका मुख मान्य है और निम्न मनुष्य है

यथा विराज मित्रक दृग्पश्यते । (१) यथा अविद्य
यत्न और यत्न स्थित है यथाही भूत वर्तमान यथा भविष्य

जोत क्षेत्र कोम प्रसिद्धि हुए हैं। (०) ग्रामि निवासियों
 पर है जोत बन्दारिद्ध बंदर है उसने सुकोकरो धिर बन्दार

विद्यार्थी है। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी है। (८) विद्यार्थी
आप मूर्ख है और अज्ञ (विद्यार्थी) बुद्धि: बलीयत बलवती।
के अति विद्वान् है।

है। मान और अपमान विषयक बातें हैं जो कि जंगल में
विचारों विषयकी प्रथा है। मान और अपमान विषयक विषय

वह परमात्माका वर्णन है। इसे ध्यानमें रखकर

मूर्धा— पुच्छोक्त (सं ३९)

सिर— जप्रि (मं १८), पुणेक (म ११)

प्रश्ना—विष्ठा (मं ३४)
 भाष्य—अग्निरसु (मं १५, ३४)

सूर्य जगत् (मं ३३)
मुक्त— ब्रह्म ब्राह्मण (मं० १९);

शिवा— मनुष्या (म १९)
प्राण्य— बापु (म १७)

अपान—, ११
स्तन— विराज विराज (मं १९)

पेढ—अन्तरिक्ष (म० ३९)

शरीरावयव—, यस्मिन्मात्रं पदार्थं

(सं २५)

वह महाका स्वयम् है। परमात्मा

। इसका बीचमें अवसरवत्पुत्र सब कोकोकान्तर समझने

प्रश्न में समाप्ते हैं। ऐसा नहीं कहा गया है। यदि उसकी

है तो ज़रूर इसका जवाब है। यदि वास्तु इसका प्रमाण है तो वास्तु इसका जवाब है। यदि वास्तु इसका प्रमाण है तो वास्तु इसका जवाब है।

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के विकास हो रहा है।

यह विश्वरूप नहीं है ! परमात्मा विश्वदेही है विश्वरूप
नहीं बहुरूप है, पुरुषरूप है किंवा सर्वरूप है। वेदका नहीं

संज्ञात नहीं स्पष्ट किया है। इसी प्रकारका चर्चम कनेक
कालोसि वैदुमजोसि जाया है। इन सब संज्ञोको पहा
ने के लिये

आता भी परमात्मा ब्रह्महृषी कल्पना हो सकती है ऐसा ही हैमचन्द्रजी कहा है किन्तु—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्त यिदुः परमेष्ठिनम् ।

सूर्यश्चाभ्युपार्ताः प्रार्थं शुद्धस्य वि मेजिरे ॥
(अथर्व १३।५।३१)

तस्माद्वै विद्वान् पुष्पमिव ब्रह्मेति मम्यते ।

सर्वा अस्मिन्नेयता पावो गोष्ठ इवासते ॥

(अथर्व ११।८।१२)

जो इस देहमें मछली के बान्ते हैं वे परमेष्ठी परमहमा-
को जानते हैं । इस देहमें सूर्य अक्षु तथा वायु प्राण बमकर
स्थित हैं । इसी कारण इस पुष्पको मछ कहते हैं ।
क्योंकि सब देवता इसमें इसी प्रकार रहते हैं जैसे गोमू
गोबालामें रहती है । ' अर्थात् सब देवता परमात्म्यके
समक्ष देहमें रहते हैं और उनके अंश जीवात्म्यके इस
व्यष्टि देहमें रहते हैं । व्यष्टि समष्टिकी इस तरह समाधवा
देखनेसे साधकको विश्वरूपी परमात्म्यकी उच्चतम कल्पना
हो सकती है । यहां समष्टिनेकी सुविधाके लिये निम्न प्रकार
कोष्टक रक्त सकते हैं—

परमहमाका समाधिदेह

जीवात्म्यका व्यष्टिदेह

मछालक	विण्ड
परमह	मछ
परमात्मा	अहमा
परमेष्ठी	जीव
सूर्य	मेघ
अक्षु	मय
जल	मिथु
विज्ञा	काम
भोजन	खोम
वायु	प्राण
वह्नि	अग्नि
अव्यष्टि	देह
भूमि	वह्नि

इस प्रकार परमेशी प्रजापतिका मछालक देह और
जीवात्म्यका विण्ड देह इसकी तुलना की जा सकती
है । परमात्म्यका मछालक देहका मूलम अक्षु विण्ड देहमें
आकर स्थित रहा है । जो विण्डमें है वह मछालकमें है और
जो मछालकमें है वही विण्डमें है । विण्ड देहमें आँख है
मछालकमें सूँ है । इसी तरह अन्त्यात्म विद्याम जाने जा
सकते हैं । मछालक देहकोही विद्य कहते हैं । मछालक देहका
कर है हर्मिष्ठिके वल्लोके विश्वरूप कहते हैं । वायव्य अथवा
देहमें देवताओंके विद्यामको प्रत्यक्ष देखकर मछालक देहमें

विद्यात्मरूपमें इसीकी कल्पना कर सकते हैं । जो वह जान
सकते हैं वेही विश्वरूपी परमेश्वरको ब्रह्मत्वं अक्षु रूप
कट्टर रूपसे जान पाते हैं ।

विश्वरूपी परमात्म्यको जानना सरल सुगम है तब
पूर्वग्रह पूर्व-ब्रह्मात्मका कारण प्रत्यक्ष रहनेके कारण जो
सुबोध वाय भी दुर्बोध हो गयी है और बहुधा गों
कोम इसको जाननेका बल करते हैं । वेदेष्टुता इस भिन्न-
स्वरूपी परमात्म्यकी उच्चतम कल्पना करनेसे प्रकट करने
कल्पनापार्थ प्रकाशित हुई । वही उपनिषद्में ब्रह्मिक एत
की पूर्ण और वही भगवद्गीतामें इस अन्त्यात्ममें कही है ।

गीताके कवचमें वेदेके उपदेष्टकी अपेक्षा कुछ भी न्यून-
विक्रम नहीं है । वेदाकाही आत्म्य अन्त्यात्ममें अन्त्यात्ममें
इस अन्त्यात्ममें कहा गया है ।

महापुरुष वेदेके विश्वरूप वर्णनका विचार है । पर जो
विश्वरूप उपनिषद्में विद्य गीतामें वर्णित है जो देखने—

उपनिषद्में विश्वरूप वर्णन

(१) ईश उपनिषद्में विश्वरूप ।

ईश उपनिषद्में निम्नलिखित मंत्र है जो परमात्म्य
स्वरूप बताया है—

यस्मिन्सर्वथापि भूतान्प्राप्तेषामभूद्विजावतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकस्वमनुपश्यतः ॥

(ईश वा १।४)

“ (यस्मिन्) जिस अवस्थामें (सर्वथापि भूतानि) सब
भूतमात्र (अहमा एव अमूर्त) अहमाही हो गये (कः)
किस अवस्थामें (विजावतः) विजायी और (एकस्वमनु-
पश्यतः) एकत्वका अनुभव करेवाले आत्मीको शोक और
मोह किस हो सकता है ? ”

इसके पहलेका भी वर्णन है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्प्राप्तमप्रेयानुपश्यति ।

संयभूतेषु आत्मानं ततो न विदुमुपसते ॥

(ईश वा १।४)

जो सब भूतोंको (आत्मानं अनुपश्यति) परमात्म्यमें
देखता है और सब भूतोंमें परमात्म्यको देखता है वह वही
निश्चिन्त नहीं होता । वही सब भूत और परमात्म्य

दृक् दृक् है और वे एक दूसरेमें हैं ऐसा कहा है। वही दृक्स्वका अनुभव है। इससे स्वरक इतनेपर जो अनुभव जाता है उसमें दृक्स्वका अनुभव नहीं होता परन्तु (एकमें अनुपपत्तः) एकस्वका अनुभव होता है और इसमें सब मूल तथा परमात्मा एकत्व है ऐसा अनुभव भी होने जाता है। वही विश्वक परमात्मका अनुभव है।

सब मूर्तोंका सर्व पंचमहामूल सब प्राणी तथा सब वस्तुमान है। वह सब पदार्थमात्र परमात्मसत्तासे दृक् है ऐसा एक अनुभव है इसमें भेदभावका अनुभव होता है। परन्तु एक अवस्था इसके पश्चात् ऐसी जाती है जब वह भेदभाव मिट जाता है और मूर्तमात्रही परमात्मा है ऐसा प्रतीत होने लगता है उस अवस्थामें परमात्मका स्वकणही वह मूर्तमात्र बन जाता है। वही विश्वक परमात्मका ज्ञान है।

पक्षिणी अवस्थामें मिश्रित होता और मिश्रण से दो पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु पश्चात् मिश्रण ठेकेसे दृक् नहीं है ऐसा प्रतीत होतेही मिश्रणका एक कणही मिश्री है ऐसा ज्ञान होता है। वही एकस्वका ज्ञान है और वही अन्तिम तथा सत्य ज्ञान है। इस अवस्थामें क्या रहितगा ? मिश्रणकाही विश्वक मिश्री है ऐसा शीघ्रगा। इसी तरह सब मूल परमात्मसे दृक् है वह पञ्चम ज्ञान और सब मूर्तही परमात्मा हैं और परमात्माही सब मूल है वह दूसरी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त विचारकी दृष्टिसे देखें। जब सब विश्व दृक्को सब मूर्तही परमात्मा है और परमात्माही सब मूल है ऐसा दिखाई देना उस क्षण परमात्माही इस विश्वमें विश्वक रूप प्राप्त किसे हुए है ऐसा प्रतीत होगा। वही परमात्मका विश्वक रूप ही उपनिषद्में कहा है और एक मात्र होनेपर भी विश्वक रूपकी दृष्टिसे वह स्वयं परिपूर्ण है।

केम उपनिषद्में विश्वकणी ईश्वरका जलन एवम अभ्युत्थि नहीं मिलता।

(२) कठीपनिपद्वर्मे विश्वरूप

यदेवेह तद्वसुध यद्वसुध तद्विश्वह।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

मनसैवेहमाप्तं मेह मानासि किंचन।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति

॥११॥ (कठ उ २।१०)

५० (वि जी.)

‘जो यहाँ है वही वहाँ है, और जो वहाँ है वही यहाँ है। मनसेही वह जानना चाहिये कि (किंचन माना इह वासि) कित प्रकर भी बनेकत्व यहाँ नहीं है। जो यहाँ (माना पश्यति) अनेक देखता है वह एक मृत्युके पीछे दूसरे मृत्यु कोही प्राप्त करता है।

इस विश्वमें अनेक भूत हैं अनेक वस्तुमान हैं अनेक पदार्थ हैं इससे परमात्मा मिश्र है; अर्थात् विश्वमें मिश्राई देनेवाले भूत और परमात्मा वे दो पदार्थ परस्पर मिश्र हैं ऐसा हर कोई देखता है। परन्तु वह सत्य ज्ञान नहीं है जो विश्वमें—जो मूर्तमें है वह परमात्मामें है और जो परमात्मा में है वही विश्वके रूपमें है। मनसेही वह एकका भावनी चाहिये। क्योंकि दुष्टिसे दृक्स्वकी कल्पना हर कोई अनुभव करवाही है। परन्तु साधक यहाँ इसका निम्न रखे कि वहाँ (वाचा नासि) अनेक पदार्थ नहीं हैं। जो वाचा पदार्थ माधकर भेदभावको मनमें स्थान देता है वही मृत्युके बन्धमें हो जाता है अर्थात् वह कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीका और विचार देखिये—

अग्निर्न्ययैको भुवन प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिक्रपो बभूव।

एकस्त्वया सर्वभूताम्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिक्रपो बहिः ॥ ९ ॥

वायुर्न्ययैको भुवन प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिक्रपो बभूव।

एकस्त्वया सर्वभूताम्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिक्रपो बहिः ॥ १० ॥

एको यही सर्वभूताम्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा या करोति।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः।

तेषां सुखं शान्तिरत नरेषाम् ॥ १२ ॥

(कठ उ २।५)

जैसे अनेकी वायि इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप सेही होकर स्थित है वैसेही सब मूर्तोंका अन्तरात्मा एक है भार वही प्रत्येक रूपमें उस रूप सेही होकर उसमें स्थित है और बाहर भी वैयाही है। जैसे एक वायु इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें उस रूप सेही स्थित है, वैसेही सब मूर्तोंका अन्तरात्मा एक

तस्माद्देविद्वान् पुण्यमिह ब्रह्मेति मन्यते ।

सर्वा अस्मिन्नेवता गाधो घोष्ठ इवासते ॥

(अर्थ ११।६।३२)

जो इस देहमें ब्रह्मको मानते हैं वे परमेश्वी परमात्मा-को मानते हैं। इस देहमें सूर्य चन्द्र तथा वायु प्राय वनकर स्थित है। इसी कारण इस पुण्यको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि सब देवता इसमें बसी प्रकार रहते हैं जैसे गीर्ध गोधाकायें रहती हैं। ' बर्वात्' सब देवता परमात्माके समष्टि देहमें रहते हैं और उनके बंध जीवात्माके इस स्थिति देहमें रहते हैं। स्थिति समष्टिकी इस तरह समस्तता हैकसे साधकको विद्वत्की परमात्माकी उन्नत कल्पना हो सकती है। वहां समष्टिकी सुनिश्चित छिने किन्तु प्रकार ओहक रह सकते हैं—

परमात्माका समष्टिदेह

जीवात्माका अप्रतिदेह

ब्रह्माण्ड	सिन्ध
परब्रह्म	ब्रह्म
परमात्मा	ब्रह्ममा
परमेश्वी	जीव
सूर्य	वेद्य
चन्द्र	मन
वायु	बिम्ब
विद्या	कर्म
जीवधि	कोम
वायु	मान
वसिष्ठा	कर्मविधि
अन्तरिक्ष	देह
भूमि	पाँव

इस प्रकार परमेश्वी महापशिका ब्रह्माण्ड देह और जीवात्माका सिन्ध देह इसकी तुलना की जा सकती है। परमात्माके ब्रह्माण्ड देहका प्रथम अक्ष सिन्ध देहमें बाहर स्थित रहा है। जो सिन्धमें है वह ब्रह्माण्डमें है और जो ब्रह्माण्डमें है वही सिन्धमें है। सिन्ध देहमें जीव है, ब्रह्माण्डमें पूर्व है। इसी तरह अन्त्यान्व विभाग करने जा सकते हैं। ब्रह्माण्ड देहकोही निच कहते हैं। ब्रह्माण्ड देहका रूप है इन्द्रियके पदको निचकन कहते हैं। वास्तव करने देहमें देवताओंके विद्याको प्रत्यक्ष देखकर ब्रह्माण्ड देहमें

विद्याकरूपमें बसीकी कल्पना कर सकते हैं। जो वह जान सकते हैं वही विद्वत्की परमेश्वरको वास्तव्य कल्पन कल्पन बहुत रूपसे जान पाते हैं।

विद्वत्की परमात्माको जानना सरल सुमम है परन्तु पूर्वप्रद पूर्व-ब्रह्माका वास्तव्य प्रयत्न करनेके फल न सुबोध वाय भी बुनोच हो पानी है और बहुपरी कोरे कोम इसको माननेका बाल करते हैं। वेदोक्तता इस विद्वत्की परमात्माकी उन्नत कल्पना सबसे प्रथम करने कल्पनापूर्ण प्रकाशित हुई। वही उपनिषद्में बलिह तब की गई और वही भगवद्गीतामें इस ब्रह्माण्डमें की है।

गीताके कथनमें देहके उपदेशकी अपेक्षा कुछ भी मूल्य विद्य नहीं है। देहकाही वास्तव ब्रह्म ब्रह्ममें ब्रह्मत्वमें इस ब्रह्माण्डमें कहा गया है।

बर्वात्क देहके विद्वत्क वर्त्मक विचार है। तब की विद्वत्क उपनिषद्में किन्ति रीतिसे वर्त्मक है जो देखिये—

उपनिषद्में विद्वत्क वर्त्मक

(१) ईह उपनिषद्में विद्वत्क ।

ईह उपनिषद्में विद्वत्क विचार मंत्र है जो परमात्माके लक्षण बताया है—

पस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवामृजिजावतः ।

तत्र को मोहः का शोक एकत्रमनुपश्यतः ।

(ईह वा ४ । १०)

(पस्मिन्) जिस ब्रह्मत्वमें (सर्वाणि भूतानि) इन भूतमान (ब्रह्मा एव ब्रह्म) आत्माही हो गये (तत्र) तत्र ब्रह्मत्वमें (विद्यावत्) विद्याकी और (एकत्र) एक-पश्यतः) एकत्रक अनुभव करनेवाले आत्मीको शोक और मोह कैसे हो सकता है ?

इसके पहलेका भी वर्त्मक है—

पस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवामुपपश्यति ।

सर्वभूतेषु आत्मानं ततो न विभुगुप्यते ॥

(ईह वा ४ । ११)

जो सब भूतोंके (आत्मनि अनुपपश्यति) परमात्माके देखता है और सब भूतोंमें परमात्माको देखता है वह वही विद्वत् नहीं होता। वही सब भूत और परमात्मा

एवम् एवम् हे और व एक दूसरेमें हैं ऐसा क्या है। यही प्रत्यक्षका अनुभव है। इससे ऊपरके दुर्गेपर जो अनुभव जाता है उसमें एवमस्वका अनुभव नहीं होता परन्तु (वृक्षम् अनुपपन्नः) एकत्वका अनुभव होता है और इसमें सब मृत तथा परमात्मा एकत्व में ऐसा अनुभव भी होने लगता है। यही विचक्षण परमात्मका अनुभव है।

सब मूर्खोंका अर्थ एकमात्र मृत सब प्राणी तथा सब वस्तुमात्र है। वह सब पदार्थमात्र परमात्मामात्रसे एवम् हे ऐसा एक अनुभव है इसमें भेदभावका अनुभव होता है। परन्तु एक अवस्था इसके पश्चात् ऐसी जाती है जब वह भेदभाव मिट जाता है और मृतमात्रही परमात्मा है ऐसा प्रतीत होने लगता है उस अवस्थामें परमात्मका स्वकही यह अनुभव बन जाता है। यही विचक्षण परमात्मका ज्ञान है।

बहिष्ठी अवस्थामें मिथीका देका और मिटास ने हो पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं ऐसा प्रतीत होता है परन्तु पश्चात् मिटास सेकेसे एवम् नहीं है ऐसा प्रतीत होतेही मिटासका स्पष्ट कमही मिथी है ऐसा ज्ञान होता है। यही एकताका ज्ञान है और यही अन्तिम तथा सत्य ज्ञान है। इस अवस्थामें क्या शीघ्रता ! मिटासकाही विचक्षण मिथी है ऐसा शीघ्रता। इसी तरह सब मृत परमात्मामें एवम् हे वह पक्षका ज्ञान और सब मृतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब मृत है यह दूसरी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त विचारकी दृष्टिसे देखें। जब उस सिद्ध प्रकृतिसे सब मृतही परमात्मा हैं और परमात्माही सब मृत है ऐसा दिखाई देगा उस समय परमात्मामें इस विषयमें भिन्नका रूप ज्ञान भिन्ने हुए है ऐसा प्रतीत होगा। यही परमात्मका विचक्षण ईश्वर रूपविषयमें कहा है और एक जगत् होनेपर भी विचक्षण वर्णनकी दृष्टिसे वह स्वर्ग परिपूर्ण है।

केन उपनिषद्मै विचक्षणो ईश्वरका वर्णन स्पष्ट कह्योमें नहीं मिलता।

(२) कठोपनिषद्मै विचक्षण

पद्मेन सङ्मुख यद्भुज तद्विन्द ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेक पश्यति ॥१०॥

मनसैवमाप्तव्यं नह नानास्ति किंचन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेक पश्यति

॥ ११ ॥ (कठ उ १०)

०० (हि नी.)

‘ओ यही है यही यही है, और ओ यही है यही यही है। मनसेही यह जानना चाहिये कि (किंचन नाना इह नास्ति) किंच प्रकार भी अनेकत्व यही यही है। ओ यही (नाना पश्यति) अनेक देखता है वह एक मृत्युसे पीछे दूसरी मृत्यु कोही प्राप्त करता है।’

इस विषयमें अनेक मृत हैं अनेक वस्तुमात्र हैं अनेक पदार्थ हैं इससे परमात्मा भिन्न है; अर्थात् विषयमें दिखाई देनेवाले मृत और परमात्मा वे जो पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसा हर कोई देखता है। परन्तु वह सत्य ज्ञान नहीं है जो विज्ञानमें—ओ मूर्खोंमें है वह परमात्मामें है और जो परमात्मा में है यही विज्ञानके रूपोंमें है। मनसेही यह एकता जाननी चाहिये। क्योंकि बुद्धिसे प्रत्यक्षकी कल्पना हर कोई अनुभव करताही है। परन्तु मायक यही इसका निवारक कि यही (नावा नास्ति) अनेक पदार्थ नहीं हैं। ओ नाना पदार्थ मायक भेदभावको मनमें स्थान देता है यही मृत्युसे बचने हो जाता है अर्थात् वह कभी मृति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीका और विचार देखिये—

अग्निर्पृथ्वीको भुवन प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बभूव ।

एकस्त्वया सर्वभूताम्वरात्मा

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बह्विध ॥ ९ ॥

वायुर्पृथ्वीको भुवन प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बभूव ।

एकस्त्वया सर्वभूताम्वरात्मा

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बह्विध ॥ १० ॥

एको यही सर्वभूताम्वरात्मा

एकं रूपं बहुधा या करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीराः

तेषां सुखं शान्धर्त नतरेषाम् ॥ १२ ॥

(कठ उ ११)

जैसे बरफी जल इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें बस रूप वैसीही होकर जल है वैसीही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक है नाव यही प्रत्येक रूपमें उस रूप वैसा होकर उसमें स्थित है और बाहर भी वैसाही है। जैसे एक वायु इस भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपमें बस रूप वैसाही स्थित है, वैसीही सब भूतोंका अन्तरात्मा एक

बहो ममक रूपमें उद्य रूप लेना होकर स्थित है और भी है। यह एक परमात्मा सबको अपने वशमें करनेवाका मय मूर्तिका अन्तरात्मा हर एक रूपको प्रकटोका बनाता है। उसको जो अपने अहमामें है, उनकोही आश्रय मुख प्राप्त होता है दूसरोंको तोता।

तं जेसे प्रत्येक पदार्थमें है और उस पदार्थक रूपमेंही होता है उसी प्रकार परमात्मा सब पदार्थमें रहकर व पदार्थोंके रूपोंमें प्रकट होता है। यह अमूर्त विश्वमें : सबको विश्वका रूप धारण करनेके प्रकट होनेके विश्वरूप कहते हैं। इस तरह कट उपनिषद्में माक विश्वरूपका वर्णन किया गया है। ईश उपनिषद् ऐसा बड़ा अधिक विस्तार है, परन्तु यहां कोई बड़ी नहीं कही जो ईशउपनिषद्में कहा जा रही वही [किया गया है।

(३) प्रभोपनिषद्में विश्वरूप

प्रोपनिषद्में विश्वरूप अग्नि देव ह ऐसा आरम्भमेंही है—

एव संशानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-
त्ययत ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिर्णं जातमेहं
रायण अयातिरक तपस्तम् । सहस्ररक्षिः
तथा पतमानः प्राणः प्रजानामुद्यपत्येव सूर्यः
८ ॥ (मध ७ १)

यह वैशानर अग्नि विश्वरूप प्राणही है। यह विश्वरूपी ते शोक हरण करनेवाका, छाया उपमेवाका इकारों मरका प्रजाओंका प्राणही सूर्यरूपसे उदयको प्राण है।

इसी अग्नि-विपुल अग्नि अमृत रूपोंको धारण करता। इतनाही बड़ी परन्तु सूर्यमात्रामें तथा इस गृष्ठीपर मे भी पदार्थ है वे सबक सब सूर्यकही बने हैं। सूर्यके व सब प्रह उपग्रह बने और उनपरक पदार्थ भी उसी से बने हैं। मागे सूर्यही गृष्ठी बनस्यति और रूप बनकर प्रकट हुआ है। अथवा यह गृष्ठी अग्नि सूर्यमात्रिका सूर्यकही विश्वरूप अथवा सर्वरूप है। इसी परमात्माका यह विश्वही विश्वरूप है। प्रभोपनिषद्में १६। विश्वरूप बताया है व मंत्र इस प्रकार है।

एषोऽभिसप्तपत्येव सूर्य एव परमेशो
ममयामेव वायुरेव पृथिवी रविर्देवः स
सन्नामृत च यत् ॥ ५ ॥ प्रजापतिश्चरसि
गर्भे त्वमेव प्रतिज्ञायसे ॥ ७ ॥ ईशस्त्वं प्राण
तेजसा दग्धोऽसि परिरक्षिता । त्वमतारिसे
चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिर्वा पतिः ॥ ९ ॥ ब्रह्मा
त्वमभिर्षयस्येमाः प्राप्स्यते प्रजाः । आनन्द-
रूपास्तिष्ठन्ति कामायाचं भविष्यतीति ॥ १० ॥
प्राणस्त्वं प्राणैकमपरिच्छा विश्वका सत्यतिः ।
ययमाद्यक्ष दातारः पिता त्वं माताग्निहः
॥ ११ ॥ (मध ७ १)

प्राणही अग्नि है यह सूर्य बनकर सृष्टिकर्म करता है यह परमेश्वर मन्त्र, वायु, गृष्ठी रवी, देव सत्य, असत्य और अमृत है। यह प्राणही प्रजापति है, यह गर्भमें प्रविष्ट होकर उत्पन्न होता है। वही तेजस्वी इन्द्र, धरमक यह है और ज्योतिर्वा स्वामी सूर्य भी वही है। जब यह प्राण परमेश्वर होकर वृद्धि करता है जब जब प्रजा आनन्दित होती है। जब बहुत सब उत्पन्न होता यह अमृतता वा विश्ववही उनको आनन्दित कर देता है। वह प्राणही (प्राण) अमृतता अग्नि (अक्ष) भोका विश्वपति सबका पिता है।

बहो प्राणका विश्वरूप कहा है। अथर्ववेदमें प्रामुख्य है। (ऐको, अथर्ववेद ११/११-१९) उसके आवासर यह प्रह उपनिषद्का विषय बना गया है। वहां भी प्राण-का विश्वरूप कहा है और वही वहां विश्वाके मय कहा गया है। प्राणही इन्द्र जब वायु, सूर्य, ज्योति रविश्च मेव गृष्ठी रवी अग्नि अग्नि रूपसे प्रकट होता है। वह प्राणका विश्वरूप है।

इस तरह प्राणका विश्वरूप प्रभोपनिषद्में कहा है।

(४) सुण्डक उपनिषद्में विश्वरूप

यह सुण्डकोपनिषद्में जो परमात्माका विश्वरूप वर्णन किया है उसे देखिये—

यनोर्जनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोरचयः
संभवसिध । यथा सतः पुष्पावलीयकोमणि तथाऽ-
क्षरात्पदवहीह विश्वम् ॥ (सुण्डक ७ १११०)

परैरक्षन्त्यं यथा सुदीक्षात्पात्रक्यादिस्तुष्टिग्याः अहजपाः
 प्रभवन्ते सक्रियाः तथाऽक्षरादिविधाः क्षोभ्य भावाः
 प्रभावन्ते तत्र वैवायि बन्ति ॥ २ ॥ दिव्यो ह्यमूर्ता
 पुत्रः ॥ बाह्यान्वन्तो ह्यजाः ॥ अत्राणो ह्यमयाः
 ह्यो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ २ ॥ एतस्मज्जायते प्राणो
 मय सर्वेन्द्रियाणि च ॥ बाहुर्योर्विषाणः प्रविषी
 विषस्य चाग्निं ॥ ३ ॥ अग्निर्मूर्ता चक्षुरी चक्षुः
 एवै दिवा भोक्ते वायिबहुला वैवाः ॥ वायुः प्राणो
 ह्येष दिक्मस्य पञ्चो प्रविषी क्षेप सर्वभूतान्तरात्मा
 ॥ ४ ॥ एतस्मात्तत्र वैवा बहुधा संमृताः शाब्दा
 मनुष्याः पञ्चो बर्गसिः ॥ प्राण्यप्राणो मीहिबर्गो
 तत्र भद्रा सन्तः प्रक्षर्य विविध ॥ ५ ॥ अत
 समुदा गिरवत् सर्वेऽस्मत्प्राण्यन्ते सिम्बवः सर्व-
 क्पाः ॥ अतः सर्वा बोधयो रसज वैवै भूते
 स्थित्ये ह्यन्तरात्मा ॥ ६ ॥ पुत्र एवै विष कर्मा
 यो ह्य परामुत्तम् ॥ एतयो वैव विहित गुहायां
 योऽस्थिर्ब्रह्म विविधरीह पोत्य ॥ ७ ॥ (सू ३ १११)

प्रक्षीनेदमधुतं पुरस्तात् कक्षं पश्चात् कक्षं वक्षिणतः
 भोचोरेण । अथप्रोक्ष्यं च प्रधुतं प्रक्षीनेदं विश्वमिदं
 वरिष्यम् ॥ ११ ॥ (सूक्तक उ २१९)

म बो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद प्रज्ञैव भवति । तदपि
 षोडं विमुक्तोऽभूतो भवति ॥१॥ (सुण्डक उ ३१)

“ जिस तरह मकड़ी अपनेमें से धूल उत्पन्न करती है, जिस तरह पृथ्वी से जीवजिवा उत्पन्न होती है और धर्म से केवल धर्म होते हैं उस प्रकार अज्ञान परमात्मा से यह विश्व उत्पन्न होता है ।

“ यह धर्म है कि प्रदीप्त जलिले साक्षर विचारधारा
उत्पन्न होती है उसी प्रकार अक्षर परमात्माके विभिन्न
भाव प्रकट होते हैं और ये जमीनें जीव हो जाते हैं ॥
यह दिव्य जगन्मा परमात्मा बाहर भीतर सबमें भरा है
यह प्राण और मनके विरहित स्वच्छ अक्षरहित और मनके
अप्य है ॥ इसीसे प्राण मन सब ईश्वरों आकाश वायु
स्फोटि जात सृष्टि के सब उत्पन्न होते हैं ॥ इस
परमात्माकी मूर्ति जलित है सर्वभूत आद्य है विद्या काम
है वस्तु है ॥ वायु प्राण है इत्यन्त अत्यन्तस्थानीय

विश्व है, पाँच पृथिवी है। ऐसा यह सर्वभूतस्वत्वात्मा है ॥ इसीसे अनेकदेह धारण समुच्च पद्म पक्षी, प्राणायान नाचक और जो तप-भक्त सब ब्रह्मचर्य और विधि शपथ हुए हैं ॥ इसीसे धर्म पर्वत और सब नदियाँ बहती हैं इसीसे सब प्रकारकी जोपधियाँ और जलमें रस भी बना है। यह सबकी अन्तरात्मा हृदय भूतेषु साध स्थित है। (प्रकृत्यः एव हृदं विश्वं) परमात्माही वह सब है। कर्म, तप, परब्रह्म और अमृत भी वही परमात्मा है। जो यह जानता है उसकी नविचारमधि दूर होती है। अमृतस्वी मग्नही जागे पीछे, दायें बायें और नीचे ऊपर सब जगह है। (ब्रह्म एव हृदं विश्वं) मग्नही वह विश्व है। वरिष्ठ मग्नही यह सब है। जो इस मग्नको जान जाता है वह (ब्रह्म एव भवति) मग्नही हो जाता है उसका शोक दूर हो जाता है वह मुक्त होकर भ्रमर बनता है।”

इस तरह शुद्धज्योतिषा कथन है। इसमें विभिन्नविध
वचन समीप है—

१. मनुष्य है वह क्या जीव जोम होमेके समाज परमहमा
 से यह विश्व बनवा है अतः वह विश्व इक्षीका कम है।

२. जपिसे मैरे स्मरणे के लिये परमात्मासे कह बिश्व है,
जतः यह बिश्व और यह परमेश्वर पृच्छी है ।

३. सब भाव उस परमात्मासे उत्पन्न होते हैं और सभी में लीन हो जाते हैं। अतः वे उससे पृथक् नहीं हैं।

४ प्रात्य मय इन्द्रियां पंचभूत ये हसीक भाव हैं ।

५ वे सब इस सर्वसूत्रान्वयसमाप्ते भववन्ती है—

मूर्धा-सिर- भस्त्रि

भाषा — समस्त सूर्य

ज्ञान — विद्यार्यं

याणी — पर

प्राण — वायु

हृदय — विभ्य (जम्भारिध)

पाँच — पृथिवी

यह उस परमात्मका विश्वस्वही है । यह उमीका रूप है ।

६ सब प्रश्नी पशु पक्षी मनुष्य अपि मुनि प्राजा
 पात सब धात्र्य तप धर्या भादि तथा परत
 समुद्र नदिया औपधिया बडीस बनी हे यह बनी

विश्वामयत पदार्थ उत्पन्न होते हैं जीवित रहते हैं जो।
जन्ममें विद्यमान काय सिद्ध जाते हैं वह पदार्थ मज्झी है।
उदाहरणके लिये सुवर्णके आभूषण के सुवर्णके आभूषणसे
रहे और सुवर्णमेंही जन्ममें वा मिले, अर्थात् दोनों कायमें
सुवर्णके सुवर्णपदार्थमें कोई भेद नहीं। इसलिये आभूषणोंकी
वैधाय सुवर्ण मज्झा है, वैधायी विधाय पदार्थोंकी अपेक्षा मज्झा
मज्झा मज्झा है जिससे कि वे पदार्थ बनते रहते हैं, और
जन्ममें जीव होते हैं। अर्थात् जो वही विधायें रूप निर्यात
देता है वह उदीका है कि जिससे इसका बनाया जीवा
और निर्यातका सिद्ध होता है। इस तरहके जन्मसे वही
विधायी मज्झा है ऐसा कहा है। और—

स यज्जगत्पुरुषे । यज्जगत्तादाहिते । स एकः ।

(षे उ ३१२ १७)

वह जो इस पुरुषमें है और जो यह सूर्यमें है वह
एकही है। मज्झामें और सूर्यमें एकही वस्तु है। अर्थात्
मज्झामें और सूर्यादि विशाल सब पदार्थोंमें जो एक है
वह विशिष्ट नहीं है, मज्झा एकही एक ही सब पदार्थोंमें
है किंवा एकही वस्तुके वे विभिन्न रूप के लिये हैं। सब
विभिन्न वस्तुओंमें वही एक अनिष्ट एक है किंवा उस
एक अनिष्ट वस्तुकेही वे विभिन्न पदार्थ हैं। इस तरह उस
अन्यथाही सत्त्वमज्झा वह विशिष्ट है। जैसे पुरुष और
निर्यात वे दो रूप एकही सत्त्वमज्झा हैं। वैधायी उपपत्त्यमज्झा
सब पदार्थ उदी सत्त्वमज्झा रूप हैं।

इस तरह वैधायी उपपत्त्यमज्झा विशिष्टमज्झा निर्यात मज्झा
मज्झा है।

(७) ऐतरेयोपनिषद्में विश्वरूप

ऐतरेयोपनिषद्में प्रथम श्रुतिके साथ इस विश्वरूपी वर
मज्झाका जो स्वरूप बताया है, उसे देखिये—

मज्झा वा इदमेक एवाम आसीन्नात्मनिकचन निर्यात
स ईक्षत कोकापु च्छा इति ॥ तस्याभिपत्यस्य सुखं
निरभिषयत यज्जगत् सुखाहात् बाधो अग्निः ।
नाधिक निरभिषेता नाधिकार्या प्राणः । प्राणोहात् ।
नाग्निमी निरभिषेता नाग्निर्वा अग्निः अग्निप
चारिणः । कर्मा निरभिषेता कर्माग्निर्वा भोगः भोगा-
रिणः । तस्य निरभिषयत स्वर्गो भोगाग्निः भोगमज्झ
भोगविधयस्तथा । इत्यत्र निरभिषयत इत्यन्वयमज्झा,

मज्झा मज्झा । नाभिर्निरभिषयत, नाग्नि अर्थात्
अर्थात् मज्झा । सिद्ध निरभिषयत, सिद्धाग्निर्वा रेतस
बाधः ॥ (षे उ ११२-४)

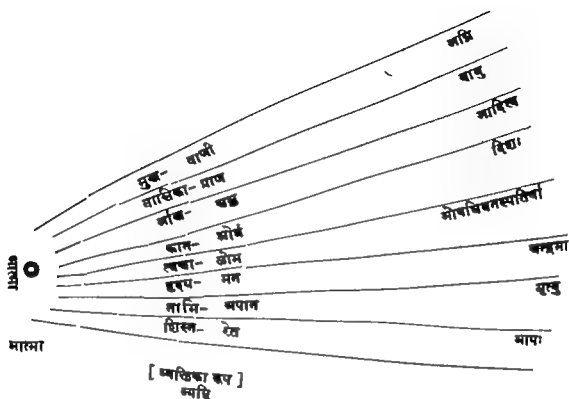
मज्झा प्रारम्भमें एकही था वृद्धा कुछ भी दिखने
कुछनेवाला नहीं था। उस आत्मामें प्रोधा कि मैं जोकोई
उत्पन्न करूं। उसके लक्ष होकर मज्झा सुख गया। सुखसे
बाधो निर्यात और बाधोसे अग्नि और नागिका बनी। नागि
कासे प्राण हुआ और प्राणसे वायुका निर्माण हुआ। नागि
बनी नागसे अग्नि और अग्निसे अग्नि हुआ। दोनों काय
निर्माण हुए, कर्माग्नि भोग और भोगसे विद्यमान प्रकट
हुई। स्वर्ग बन गयी, स्वर्गसे भोग और भोगसे भोगवि-
धयस्तथा हो गयीं। इत्यत्र वन गया इत्यत्रसे मन और
मनसे मज्झा हो गया। नागि हुई मज्झासे अर्थात् और
अर्थात् मज्झा हो गया। सिद्ध निर्माण हुआ सिद्धसे रेत
और रेतसे मज्झा निर्माण हो गया।

[हम वर्तमानका सविज्ञ कोष्ठक ० १ में पुनः देखिये]
इस कोष्ठकमें देखनेसे पादकोंमें पता चलेगा कि मज्झा
का विशिष्ट रूप मज्झा-नागिका-मज्झा-कर्म-स्वर्ग-इत्यत्र-
नागि विद्यते और विशिष्ट रूप अग्नि-वायु-अग्नि-विद्या-
भोगविधयस्तथा-मज्झा-मज्झा-बाध है। इसी कारण
मज्झाको सर्व कहते हैं। क्योंकि इसमें सबका अन्तर्भाव
होता है। यह विशिष्ट मज्झामें जीव होता है और
मज्झासेही प्रकट होता है। अर्थात् मज्झामें विशिष्टमज्झा
प्रकट हुआ है। इसी विषयमें इस उपनिषद्में और भी कहा
है—

कोऽयमज्झाग्निः सवसुपात्मने कथारः ॥ मज्झा ।

एव मज्झा इह एव प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमावि च
पञ्च मृतावि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतीवि
इमेनामीमामि च छत्रमिभ्रान्तीव पीडानीवरावि
केशरावि चाण्डकावि च वाक्कावि च स्वेदकावि चोद्वि
कावि चाका गावाः पुण्या इत्येते चर्तिकेर्दे प्राणि
जगाम च पशवि च वन्य जगाम सर्वे तज्जगामेर्दे
मज्झा मज्झा । (षे उ १)

वह जीवही मज्झा है जिसकी हम उपासना करें ? वह
मज्झाही मज्झा है वही ईश्वर है वही प्रजापति है वही सब
देवता है पृथ्वी पायु, वाक्का अथ वेज वन्यमज्झा



[विश्वरूप] समष्टि

यही है छद्म मित्र और जो इतर बीच है अण्डज (पक्षी) जराजुज (मानव वृद्ध आदि) क्षेत्रज (क्षुब्ध आदि) जनिज (हृद्यदि) जोड़े गौर्ध मनुज्य हाथी और जो क्षत्रीय हिकमेवाके उदयेवाके और स्थावर हैं वे सब प्रकृति द्वारा चलाये जाते हैं वह प्रकृतिकारी मनु है।

यही आत्मा अथवा प्रकृति इन्द्र प्रजापति तथा संपूर्ण देवताकर्म है प्रसिद्धादि पंचमहाभूत भी यही है सब प्राणि सब वनस्पति और सब स्थावर यही है। इस कर्ममें वह सब विश्वही आत्मका व्यक्तकर्म है ऐसा स्पष्ट कहा गया है। यही विश्वकर्म कर्म ऐतरेय उपनिषद्में भी है।

(८) छांदोग्य उपनिषद्में विश्वरूप

छांदोग्य उपनिषद्में विश्वकर्म आत्मका कर्म अनेक

प्रकृतसे जाता है। उच्यते कुरु यदा देखिये—

गायत्री वा इदं सर्वं मूर्तं परिदं किं च ।

(छां उ ३।११)

सर्वे आदिवर्गं ब्रह्म । (छां उ ३।१२)

जो कुछ यही है वह सब गायत्री है वह सब विश्वकर्म मनु है। इस तरह वह सब ध्यमान विश्व वह सब विश्वकर्म मनुही है ऐसा स्पष्ट कहा है। और देखिये

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

तदेतत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽख्यत ॥

तत्तज्ज वेक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्पाऽ

ख्यत ॥ ता आप यक्षत बहुपा स्वाभ

प्रजायेमहीति ता अभ्यसृजन्तः (छां उ ३।१३)

' हे मित्र मित्र ! मारमर्मे एकही सत् तत्त्व था हुआ कुछ भी नहीं था । उसने देखा और कहा कि मैं बहुत हो सका । उसने ठेक उठाए किया । उस ठेकने देखा और कहा कि मैं अनेक बनूँ और उसने अक निर्माण किया । उस अकने देखा और कहा कि मैं अनेकविध बनूँ और उसने अक निर्माण किया । ' इस तरह अनेकविध धृति उसी एक अद्वितीय प्रकृतिके निर्मित हुई । वह अनेकविध धृतिही विध है अतः वह निश्चय्य इसी एक प्रकृतिके रूप है । इस प्रकृतिके विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीय होता है कि वह निश्चय्य इसी एक आत्माकाही पूर्ण रूप है । और भी देखिये—

स प एषोऽपिमा, ऐतदारम्यमिदं सर्वम् ।
तत्सत्यं स आत्मा तत् त्व मसि श्वेतकेतो ।
(छां उ १।८।१-७)

वह जो सूत्र तत्त्व है वह इसी आत्माके बना है । वही प्रकृतिके है वही आत्मा है श्वेतकेतो ! वह तू है ।

इसमें एक अक्षरतत्त्वके तत्त्व बना है और वही तू है । जैसे श्वेतकेतु वही तत्त्व है, वैसीही तुक भी वही तत्त्व है । अन्य मित्र भी वही तत्त्व है, अन्य मालक तथा प्राणी भी वही तत्त्व है और सब वस्तु भी वही तत्त्व है । इसे विष्णु प्रकाशके देखना चाहिये—

तत् त्व मसि, श्वेतकेतो ।
तत् सः मसि ।
तत् भद्र मस्मि ।
तत् एव सर्वे सन्ति ।
एतदारम्य इदं सर्वम् ।

वह तू है, वही तू है वह मैं हूँ वही सब है वही सब है अर्थात् केवळ श्वेतकेतुही वह आत्मा है । ऐशाही केवळ वही है प्रकृतिके वस्तुमात्र वह आत्मा है । जैसे श्वेतकेतुका रूपही उस आत्माका रूप है उसी तरह वह सब वस्तुमात्रका रूप भी आत्माकाही रूप है अतः वह निश्चय्य आत्माका रूप है । आत्माही निश्चय्य बना है । और देखिये—

(१) स एवावकाश उपनिषत्सु वक्ष्यते पुरातनम्
दक्षिणम् । स उत्तरम् । स एवेदं सर्वं हृति ।

(२) अहमेवावकाश उपनिषत्सु पञ्चादं पुरस्ताद्
दक्षिणतोऽहमेवेदं सर्वं हृति ।

(३) अहमेवावकाश उपनिषत्सु पञ्चादं पुर-
स्ताद् आत्मा दक्षिणत् अहमेवेदं
सर्वमिति ।

(४) अह येऽप्यवाऽतो निदुरन्त्यामानस्ते ध्यवकोका
मयन्ति ॥ (छां उ ७।१५)

(५) आत्मत एवेदं सर्वं हृति ॥ (छां उ ७।१६)

(१) वह ही ऊपर नीचे, आगे, पीछे दावें और बायें है और वही वह सब कुछ है । (२) मही ऊपर नीचे आगे पीछे दावें और बायें हैं और मही वह सब कुछ हैं । (३) आत्माही ऊपर नीचे आगे पीछे दावें और बायें है और आत्माही वह सब कुछ है । जो इससे भिन्न ज्ञान आये हैं वे किसीके अजीब होते हैं अर्थात् वे परतप्त होते हैं अतः वे नाशके प्राप्त होते हैं । (५) आत्माकेही वह सब (विध) बना है ।

वही सः अहं आत्मा वे सब उसी एक वस्तुके नाशक हैं जिससे यह विध बना है ।

इस रीतिसे अहोमय उपनिषद्में निश्चय्य आत्माका वर्णन है । इसका मन्त्र करके और निश्चय्यमें उस आत्मा का दर्शन करके अपनी अनेक सत्ताका अनुभव करना चाहिये ।

(९) एतदारम्यकोपनिषद्मं विश्वरूप
एतदारम्य उपनिषद्में अनेक प्रकारसे परमात्मा
निश्चय्य है देखा बताया है । मारमर्मेही कहा है—

आत्मा एव इदमम आसीत्पुनरविधः ।
ओऽपुत्रीह्य—अहमेवावकाश उपनिषद् - ॥ १ ॥
ओऽपि विचारमात्रेकाही विवेचि सहायकीभाषके,
अहमेवावकाश उपनिषद् विवेचि ॥ २ ॥ स
द्वितीयमेच्छन् स एवावकाश वया श्रीपुत्री
उपनिषद्मै ॥ स इममेवावकाश देवा शतवत् ततः
पतिव परी चावकाश ॥ ३ ॥ (छां उ १।१७)

' मारमर्मे एकही आत्मा था उसने देखा कि अपनेसे
भिन्न दूसरा पदार्थ कुछ भी नहीं है । वह हर मन्त्र केवळ
करता है । उसने सहायकी भाषा की वया

सोचा कि यदि मुझसे मित्र दूसरा कोई भी नहीं है तो मुझे किससे भय होगा ? उसने दूसरे की इच्छा की वह ऐसा था कि जैसे क्षीपुष्य मिथुन रहते हैं उसने अपने अपने जापकोही दो प्रकारका बनाया जिससे भी और पुरुष हो गये । बागे इस क्षीपुष्यसे सब विष बन गया ।

इस उपनिषद्क बचनमें स्पष्टताके साथ कहा है कि प्रारम्भमें एकही जात्रा था दूसरा कुछ भी नहीं था दूसरा होता तो भय हो सकता था दूसरा नहीं था इसलिये उस जात्राको भय नहीं था । वह विधेय था । उसने अपनेसेही क्षीरनिर्माण की और वे मङ्गलितपुरुष-क्षीपुष्य-होकर रहने लगे । इस कोरेसे जात्रेकी छवि बन गयी । जो भी कुछ जात्रेकी छवि बनी वह उस एक जात्रेकी जात्राके जमी पेशवाई इस बचनका उत्तर है । निराश्रय छवि बनी है और जात्रासे मित्र और दूसरा कोई पदार्थ नहीं है । फिर छवि किससे बनी और वह विविध विध केसे बना ? उस एकही जगहसे बना वह बात निमित्त है । इत्यादी इस इहदाश्रयके बचनका आशय है । इस तरह विचक्षण एक जात्राकाही है । क्योंकि उससे मित्र कोई बन्तु है ही नहीं । वही बात जाने भी स्पष्ट की है—

एतस्मैव सा विशुद्धिः । एव उ शेष सर्वे देवाः ॥

(ब्र उ १।११६)

वह जिसप प्रकारकी छवि हठीकी है । वह भी निश्चय है कि सब देव वही है । इसका आशय स्पष्ट है वह पृथि वह विष उससे मित्र नहीं है वे कन्नादि देव भी विभिन्न गुणधर्मोंके होनेपर भी उससे निमित्त नहीं हैं परन्तु वे सब देव वही है क्योंकि उसीके रूप है । क्या वह उस जात्राका विचक्षण नहीं है ? उक्त उपनिषद्बचनका आशय स्पष्ट है । और इत्ये—

ब्रह्म वा इन्द्रमग्र आसीत्, तदात्मानमवापदाऽहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत्सपत्नमभवत् । तदी तत्पदपञ्चपरिधामव्ययं प्रक्षिपेद् अहं मनुरभवत् । तदप्यतर्हि यं पथं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स ह्यस्ये भवति ॥ अथ योऽभ्यासं पृथगाभ्यासेऽभ्यासापन्थाऽहमस्मीति न स पदं यथा पमुरयं स ज्ञानात्मा ॥ (ब्र उ १।१।६)

प्रारम्भमें ब्रह्मही था उसने अपने अपने जात्रेमें मैं था ऐसा काम किया उस जात्रेसे वह वह सब बना । तरह तान मात कर बामदेव कबिले अनुभव किया मैं मनु हूँ और मैं सूर्य हूँ इत्यादि । इस समयमें जो जात्रेगा कि वह ब्रह्ममें हूँ वह वह सब हो जात्रा को उपासक उपास्य देवता मुझसे मित्र है और उपास्य देवतासे मित्र हूँ ऐसा मानना है वह कुछ नहीं जात्रा । वह देवोंका योग्य पक्षही है ।

वहाँ एकही ब्रह्म कहा गया है और वह ब्रह्मही विष बनता है । निमित्तको वह ज्ञान हो जाता है वह भी बन जाता है । जात्र भी जिसको वह ज्ञान होता वह बन जात्रा । प्राचीन कालमें बामदेव कबिले वह हुआ और वह ब्रह्म बन गया जब उक्त ब्रह्म हो अनुभव हुआ उस समय उसने इस तरह कहा—

अहं मनुरभवत् सूर्यब्राह्म कक्षीर्वा ऋषिरसि विद्वाः । अहं कुरुक्षमाभ्युत्थेयं मृग्येऽहं कबिकशना पक्ष्यता मा ॥ १ ॥

अहं भूमिमवदामार्यावाहं वृद्धिं दाशुपे मर्त्याधि । अहमपो अनय वाक्शामा मम देवास्तो अनु केतमायत् ॥ २ ॥

अहं पुरो मन्वसाता व्यर्त नव साकं नवती शयस्व । शततम बन्ध सत्ताता दिवोदास मतिथिग्वं यवायम् ॥ ३ ॥ (अन्वेद १।१।१-३)

बामदेव कहते हैं (बर्षात् प्रजापती बननेके वह ब्रह्मका होकर करते हैं)— मैं मनु हुआ था मैं हुआ था मैंही वृद्धिवाक् कक्षीवाक् ऋषि था । मैंही मां के पुत्र कुसलको बचने किया था और मैंही उद्यम कवि मुक्त देवों ॥ मैंही जात्रोंके मृगि ही है मैंही दाता मनु के किले वृद्धि बना हूँ मैंही प्रकाशित उदकको ॥ कहा है । देव मरी इच्छाके अनुसार चकट है । मैं आनन्दके साथ धन राक्षसक विन्वाको कीले तोड़ दिये और उद्यम लोभा नगर रहनेके योग्य बना दिया था । मैं मैंही अतिविश्व तथा दिवोदासका पुत्रों सराधन मि था ।

बुद्धाचार्यक उपनिषद् तथा छतपथ ब्राह्मणके केन्द्रक इन मंत्रोंका जय इस प्रकार समस्त पथे। यदि किसी अन्य विद्या के द्वारा जय मंत्री हुआ तो वह करे परंतु हम इस समय छतपथब्राह्मणके केन्द्रक प्राशस्त्य अतिकारी जय केते हैं। ये इन मंत्रोंको नामदेव अथिक ब्रह्मरूप होनेक बादक अनुभव समस्त है। ब्रह्मरूप होतेही नामदेव अथिको मिश्रक हुआ कि मैही मनु इन्द्र सूक्ष्म वह बाहु, मृमि मनुष्य मेव आदि हैं। मृतकालमें और बलकर मैने पुत्र किये थे इस समय ये सब मैनी लक्षणा कर रहे हैं। छतपथ ब्राह्मणकार छात्री देखे हैं कि आज हम समयमें भी यदि कोई मनुष्य ब्रह्मज्ञानी होगा तो वह भी ब्रह्मभावको प्राप्त करके इसी प्रकार अनुभव करेगा। 'यह अनुभव भेदभावयुक्त वपस्त्रवा करनेवालेको अर्थात् मैं अपने उपान्वृत्तवासे भिन्न हूँ, ऐसा मानकर उपासना करनेवालेको नहीं हो सकता क्योंकि वह देववासेके परम वस्तु बनता है।

अस्तु। वहां हमें अन्य बातोंका विचार करनेक किये अब कम नहीं है। हमें तो इतनाही दखना है कि मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेक पश्चात् वह ब्रह्मभावसे संपन्न होता है और ब्रह्मभावसे युक्त होतेही उसको मैही वह सब भिन्न हूँ, ऐसा अनुभव आता है। उक्त देव-मंत्रोंके तथा पूर्वोक्त बुद्धाचार्यकोपनिषद् (छतपथ-ब्राह्मण) के बचनसे यह आशय स्पष्ट सिद्धि होता है। जो ब्रह्मसे जानता है वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है और ब्रह्म बनतेही मैं वह सब हूँ, यह अनुभव भी हो जाता है।

विश्व धर्म में यह सब हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जब समय मेराही यह विश्वरूप है ब्रह्मकाही वह विश्व रूप है आत्माकाही वह विश्वरूप है। ऐसाही प्रत्यक्ष ज्ञान होता हममें कहेह नहीं है। हम प्रकार बुद्धाचार्यकोपनिषद् का आशय समझ कर मनन करना चाहिये। वह महत्त्वका विषय है इसको देखही नहीं छोड़ देना चाहिये। मनक पूर्वमद कोरकर प्राचीन मंत्रोंको बधावगु जाननेका काम करना चाहिये। अब जाने और बचन देखिये—

ह वाव प्रक्षणा रूप मूर्त धैर्यमूर्त च
मर्त्य सामूर्त च। (बु उ २।३।२)
ब्रह्म ही रूप है। एक अमूर्त रूप है और बुद्धा मूर्त रूप है एक विचारक है और दूसरा साकार है, एक रूप

रहित है और दूसरा रूपवान् है एक अनिनाशी है और दूसरा मातृवात् है। यदि य दोनों रूप प्रकटमें हैं तो तत्पर्यं साकारवासे रूपवासे दृश्य स्वरूपवासे पदार्थ, जो हम विषयमें दीख रहे हैं प्रकटके रूप हुए और यह विषयका रूप प्रकटकाही रूप है वह बात भी सिद्ध हुई। इस तरह इतने बातसेही परमात्माका विश्वरूप यह दीखनेवाला और प्रकट होनेवाला विश्वका रूपही है वह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मका मूल रूप है इतना इस बचनमें पहलेके पञ्चात् भी जो इस विश्वक रूपके परमेश्वरका अथवा प्रकटा रूप नहीं मानते उनके हृदय की कोई मर्यादाही नहीं है। अतः उनका मत विचारमें भी केना योग्य नहीं क्योंकि बचनप्रामाण्यकी दृष्टिसे बुद्धाचार्यकोपनिषद्की जगहोंका उनका मत अधिक बल नहीं रख सकता। ब्रह्मका रूप मूर्तिमान् है, इतनाही कह कर उपावपत् स्वी नहीं है परन्तु इस बातका उल्लेख स्वयं अधिक लाक्ष्मण किया है। उसे देखिये—

तदेतन्मूर्तं यदन्यथाप्योक्तं तदित्याह्वय।

(बु उ २।३।२)

बापु और अन्तरिक्षको कोरकर जो हमसे भिन्न पृथ्वी आप सेव चाहि हैं वह प्रकटा मूल रूप है। इस मूर्त रूपमें पूर्वोक्त ब्रह्म ब्रह्मवत्सत्ति पशुपक्षी मनुष्य आदि सभीका अन्तर्भाव होता है। जो आँखसे दिखाई देता है वह सब प्रकटा मूर्त रूप समझना चाहिये। प्रायः, बापु, आदि जो अमूर्त रूप है ये इस मूर्त रूपसे भिन्न हैं।

पाठक हमका विचार करें कि वहां प्रकटा मूल रूप कोरता है और अमूर्त रूप कोरता है ? मूर्त रूपमें विश्वरूप का समावेश कैसे होता है वह भी विचारपूर्वक समझें। आत्मिक दृष्टिसे ऐसा जान तो अमूर्त रूप अर्थात् बापु प्राय आदिक भी विश्वरूपमें समावेश होता है परन्तु वह बात हम यहां विचारमें न लें कम कोरका विषय होने वाले विश्वरूपकाही इस समावेश करें और सब प्रथम इस विश्वरूपकी हीक सीक करवाना मनमें निर करें। अस्तु। अब और देखिये—

वरच पृथिवी घरीरं वरच आवा घरीरं एव अग्निः
घरीरं वरचः पृथिवी घरीरं वरच वायुः घरीरं वरच
वाः घरीरं वरचादित्यः घरीरं वरच दिवा घरीरं

यस्य कम्पवारणं करीरं, यस्वाकाशः करीरं यस्य
तमः करीरं यस्य तेजा करीरं यस्य सर्वाणि भूतानि
करीरं यस्य प्राणा करीरं यस्य वाक् करीरं यस्य
चक्षुः श्रोत्रं मनः त्वक् विज्ञानं तेजः करीरं एव त
वात्मा अन्तर्बान्धवतः । (बु उ ३१३ २३)

करीर (किये) पृथ्वी वायु तेज वातु आकाश
अद्विष्ट सुकोट आदिज विद्या, कम्पवारण आकाश
तम तेज सब भूत (जगत्) प्राण, वाक् चक्षुः श्रोत्र,
मन त्वका विज्ञान, तेज आदि सब इस अन्तर्बान्धी वात्मा
करीर हैं । इस तरह वह सब बिच इस विश्वजगत्
करीर है क्योंकि वह अन्तर्बान्धी वात्मा होवेवे संपूर्ण बिच
अन्तर्बान्धों बिच है और संपूर्ण बिच उसके बाहर है
इससे वह संपूर्ण बिच बनता करीर है । और कम करीर-
गाही होता है इसलिये विश्वजगत् करीरका कर्ण संपूर्ण
देखता जो कम है वह उसी विश्वजगत् कम किया बिच-
प्य है । इस तरह इस अन्तर्बान्धी वात्मा में विश्वजगत्
बैठकर बसता गया है । परन्तु इसका अच्छी तरह मनन
में और बिचकनी परमेश्वरका साक्षात् दर्शन करें ।

इस प्रकार ब्रह्महान्धकोपविष्टमें बिचकनी परमात्मका
दर्शन करता गया है ।

(१०) श्वेताश्वतरोपनिषद्में विश्वरूप

वेदान्ततर उपनिषद्में कहा है, (अ) आग्नेवाका ईक्ष
(अ-अ) न आग्नेवाका भीम और (अका) प्रकृति
हैं हीन पदार्थ हैं । तीनों कहा एक होते हैं वह एक है ।
इसी कमके समन (वात्मा विश्वरूप) वात्मा विश्वकनी
है ऐसा स्पष्ट कहा है । वह वचन देखिये—

आदौ द्वावजातीयोऽसींशावजा द्यौर्य मोक्षन्
मोगार्थपुष्पा । अमन्ताश्चात्मा विश्वरूपो
ह्यन्तर्ता नमं पद्मविन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ (वे उ १-५)

(अ-असी) एक आका है और दूसरा अक्ष है,
(ईक्ष-असी) एक ईश्वर है और दूसरा अक्षमर्थ है ।
परन्तु वे दोनों न अमन्तेवाक हैं । (एक अका) तीसरी
एक न अमन्तेवाक प्रकृति है वह भीनके योगके लिये है ।
इस तरह ईक्ष भीम और प्रकृति वे हीन पदार्थ हैं ।
(अमन्ता विश्वरूपः अन्तर्ता वात्मा) एक अमन्त अन्तर्ता

विचकनी वात्मा है । वे तीनों भिन्नमेव सब कहते हैं ।
वही वक्षों परमात्मा-बीम-प्रकृति संमिश्रित है ऐसा
कहा है । तीनोंही अमिमिक एकताही एक है ।

इस मंत्रमें अमन्त वात्मा (विश्वरूपः) विश्वरूप है
ऐसा कहा है । विश्वका रूप किससे ज्ञात किया है, ऐसा
वात्मा है । विश्वरूप ज्ञात करनेका नमं क्या है ?
विश्वरूप-वक्षरूप-प्रकृति सर्वरूप-अमन्तरूप इन चारोंमें
नमं एकही है । जो वे रूप दिखाई देते हैं वे सब कम उत
वात्माकेही हैं । वह परमात्मा सब कमोंके सम्वर है । उसके
कारणही सब कम रूपरूप हो पाते हैं ।

इस तरह सर्वत्र वह विश्वरूपका सर्वत्र मिळता है ।
वेदान्ततरके कम वचन देखिये—

सर्वमिमिश्रोमीया सर्वभूतगुहाश्रयाः ।

सर्वध्यापी स भगवान्परमात्मसर्वगतः सिद्धः ॥

(वे उ ३११)

सर्व भूत स्थिर और प्रीवाचोंके भूत, सब भूतोंकी
गुहाओंमें निवास करनेवाला सर्वव्यापी वह भगवान् सब
कम विराजमान है और वह भगवत्स्वरूप है । इस
मंत्रमें सर्वत्र भूत-स्थिर और सर्वत्र भूत अर्थात् सर्वत्र
हाथों पावों पैदलोंके भूत वह सर्वव्यापी वात्मा है वह कहा
गया है । इसका नमं स्पष्ट है कि वह (सर्व भूत-गुहा
कया) सब प्राणियोंके हृदयोंमें रहनेके कारण सब प्राणि-
योंके लिये स्थिर भूत कम वेद गया इस कम
होने से सबके सब उसी सर्वगत सर्वव्यापक परमात्मकेही
अंग अमन्तके आदिषे । ऐसा माननेपरही वह परमात्मा
(सर्व-अमन्त मिश्रो-मीया) सब भूत-स्थिर-प्रीवाचका हो
जगता है । वही नमं विश्वरूप अमन्त वात्मा हम
कर्मोंके ज्ञात होता है । वही किस्मके ज्ञात हो कर्मों
है कि सब प्राणियोंके अन्तर सब परमात्मके किम तरह हो
जगते हैं ? इस ज्ञानके निराकरणके लिये निम्नलिखित मंत्र
देखिये—

एवो ह देवा आदिकोऽयुः अर्थात् एवो ह वातः स उ
नमं अमन्तः । स एव वातः स अविश्वमन्तः प्रसङ्ग-
क्यास्तिस्रह्रि सर्वभूतगुहा ॥ ११ ॥ यो देवो अजी
योऽयुः यो विष्णुः सुवचमविश्वः । न ओषधीनु यो
वयस्पतिनु ययौ देवाय नमो नमः ॥ १२ ॥ (वे उ १)

विषयमनुसृत विषयानुसृत विषयानुसृत विषय-
स्वर। सं बाहुभ्यां चमति स पतनैर्वावाभूमी
कमपन्नेव पृष्ठाः ॥ १ ॥ सर्वानपविशोऽग्निः सर्वभूत
पुष्टाकाः ॥ २१ ॥ (ये उ ३)

'वह देव सब दिशाओं उपदिशाओं में है वह पक्षि
कम्पा वा और वह सिर गर्भमें जाया है वही पक्षि
हुवा वा और वापी भी होगा, वह प्रत्येक मनुष्यमें रहता
है उसका मुख मन और है ॥ जो देव जग्नि जाप
प्रोषति वनस्पतिमें है, जो सब सुचर्मोंमें प्रसिद्ध है उस
देवताके किन्ने वनस्पति है ॥ जिस देवके बाहु मुख बाहु
पांश सब और हैं वही एक बुद्धके और मुक्तकेका
नवानेवाका देव है ॥ वह सब मूर्तों-प्राणियों-की इन्द्रियें हैं
और वह सब मुख सिर और प्रीतिवाका है ।'

मूलकाकमें वह प्राणीके रूपसे कम्पा वा इस समस्त
वह गर्भमें है और अधिष्ठात्मकमें भी कम्पेगा। जगत्
वही प्राणिकोंके पारम करवा है इसी कारण सब प्राणि-
योंके मुख सिर कण्ठ, उदर पांश हाथ किन्ने भी होंगे
वे सबके सब उस देवताके-उस बाह्याके ही हैं। इसी कारण
उसके मुख हाथ पांश सब और हैं। क्योंकि सब और
सब प्रकारके प्राणी रहते हैं और उसके मुखानि अवयव
सब और हैं। इस भावको ध्यानेमें कानिसेही वे सब
समस्तमें था सकते हैं। एतत्तु लीनों सब वैदमें हैं और
वैदसेही उपनिषद्में किन्ने हुए मंत्र वे भी वहां साथ साथ
देखने योग्य हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषा सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि विष्वतो भूताऽऽपतिष्ठद्वाष्ट्रकम् ०१४०
पुरुष एवेह सर्वं पश्यन्तं यत्तु मध्यम् ॥ १५ ॥
सर्वता पामिषायं तत्सर्वतोऽक्षिधियोमुखम् ।
सर्वता भुविमहोके सर्वमायुष्य तिष्ठति ॥ १६ ॥
(ये उ ३)

सहस्रो सिरों सहस्रो अक्षों सहस्रो पांशोंवाका
देव भूमिके चर्मों और वनस्पति है। मूल वर्तमान और
मध्यमें रहनेवाका वह पुरुषही सब कुछ है। इस देवता
के पांश हाथ अक्ष सिर मुख और काय (सर्वता) सब
और हैं, क्योंकि वह सबको वैदकर रहता है ।

'इस प्रकार विचार करनेसे यह वर्णन स्पष्ट हो जाता है।
इस मूर्तकपर विषय प्राणिमात्रक कितने भी हस्तादिदि
अवयव हैं वे सबके सब इसीके हैं। सर्वत्र व्याप्त होनेके
कारण सबके अवयव इसीके अवयव हैं। यदि पाठकोंके
मनमें यह कल्पना ठीक प्रकार जम जायगी तो मनुष्य
विषयक ठीक समझमें आ सकता है। पाठक वह विषयकी
प्रमुखी कल्पना बारबार इन मन्त्रोंका मन्त्र करने समझनेका
प्रयत्न करें। क्योंकि इसी कल्पनापर सब ध्यातव्य वर्णकी
रचना हुई है। पृष्ठी ईश्वर विविध प्रकारका विषय किन्ने
तरह बजाता है इसके लक्ष्मीकरणमें इस उपनिषद्में एक
उपमा दी है—

एको वर्णो बहुधा लक्ष्मिर्वाग्
वर्णानेकाक्षिद्विधापो वृषाति ॥ (ये उ ११)

एकही रंग विधेय लक्ष्मि कारण बनेक प्रकारके
बनेक रंगोंके कारण करता है। एक रंगसे बनेक रंग
प्रकट होते हैं। एक नेत्र वर्णमें विकीर्ण प्रीति रश्मिसे
उससे बनेक रंग दीखते हैं। वे बनेक रंग एकही रंगके
रूप हैं। बनेक रंगोंका विधेय प्रमाणसे समीक्षण होनेसे
नेत्र वर्ण दीखता है और नेत्र वर्णका पुनःकरण करनेसे
विविध रंग प्रकट होते हैं। इससे पाठक आत्मासे वह सब
विषय किन्ने तरह प्रकट होता होता इसकी कल्पना कर सकते
हैं।

एक वर्णसे मूल तीन वर्ण होते हैं और तीन वर्णोंसे
अनेक रंग होते हैं इन्ने अनेक रंग एकही नेत्र रंगमें केहे
रहे हैं यह एक रहस्यही है। इसी उपनिषद्में आये कहा
है—

स विष्णुरूपः ॥ (ये उ ५०)
तं विष्णुरूपं । (ये उ ६५)
अनाद्यनन्त विष्णुस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ॥

वह आत्मा विषयक है। वह जगदि जगत् है।
विषयी रचना करनेवाका और बनेक रूपवाका है। वह
अनंतकालक वर्णक विष्णुक स्वर है और परमात्मके अवयव
रूप केहे होते हैं वह भी इस विधेयवसे स्वर हो सकता है।
विधेय लक्ष्मीकरणसे किन्ने इस उपनिषद्में दो उपमाएं दी
हैं—

यस्तुर्धनाम इव तस्तुमिः प्रथामग्रीः स्वमाधतः ।

वेय एकः स्यमावृजोतिः । (इषे अ १।२)

एक बीज बहुधा यः करोति ॥ (श्वे अ ५।१२)

एक (कर्मवामी) मकड़ी अपने झरीमेंसे छगु निकालकर उससे बाहर बचायी है। जहू परमात्मा अपने झरीमेंसे छगु निकालकर छति रक्खा है। मूखी अपना बीजकी है। एक बीज दुसरा होकर बनेक बीजमें परिणत होया है।

ये दोहों उद्गाहक वहाँ केवल इसकाही सुविष्ट करनेके
 किये दिये गये हैं कि वह विनम्रपण उसी परमात्मामें वच
 मया है। वह बात पाठकोंके मर्ममें स्थिर हो जाय। अस्त।

वेदाधरोपनिषद्में इस ङांछे परमात्माके विचक्षण होनेकी बातें बर्णित हैं। यहाँतक स्वतः उपनिषद्में जो विचक्षणा वर्णन जाता है वह संक्षेपसे दिया है। इसका बहुत विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम मुख्य उपनिषद्में विचक्षणी परमात्माका स्वरूप बताया गया है। इसीसे यहाँ लिखा जा। जो वेदब्रह्मोंमें है वही उपनिषद्में और वही मीमांसे में लिखा गया है। इसीसे यहाँ प्रस्तुत हम इसका भी कह सकते हैं कि वेद और उपनिषद्में जो ब्रह्मिक विस्तारके साथ कहा गया है वही संक्षेपके साथ महाभारतमें कहा हुआ है। पाठक यहाँ विवेचन करनेकी तुकना करेंगे तो वे इसी परिणामको पहुँचेंगे। हम स्वतः उपनिषद्में विचक्षणी परमात्माके वर्णन एक बार देख लेंगे प्रमाण मुख्य उपनिषद्में इस विषयके वर्णन देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि पाठकोंकी सुविधाके लिये यहाँ विचक्षणी परमात्माके वर्णनके कुछ वाक्य मदन करनेके लिये देते हैं—

१ एष वै विश्वरूप आत्मा । (छां. उ. ५.१३.१)

१ अन्वसामूपमो विश्वरूपा । (८ व १३।१)
महानाता ७५)

१ भगवन्तव्यात्मा विश्वरूपः । (बणे अ ११९)

४ त विश्वरूप मयभूतमीश्वरम् । (श्लो ४ १५)

५ विष्णुरूपं हरिण्य जातयेवसम् । (मैत्री उ १।८;
मध्य उ १।८)

६ ते विष्णुरूपाय नमः । (मैत्री च १०)

७ विश्वरूपाय वि नमः । (महाभारत ११।१)

८६ एष वैश्वामनो विश्वरूपः । (अथ ३ १७)

१ विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्थः । (बिरम् ४ ८)

१० वैष्णवरो विभ्वरूपः । (प्राणाग्नि उ १)

११ स्थाप्यो विभ्वरूपः । (ब्र ४ ११/१३, ४१/१३)

१२ विष्णोश्चर विभ्यरूप । (य मीठा ११११)

(१) यह ज्ञाना विग्रहके विषयकी है, (२) कर्मोंमें विग्रह ज्ञानाका वर्णन है (३) जगत् आत्मा विग्रह है (४) उत्तरार्धके सब श्रुतोंद्वारा स्तुति करनेयोग्य यह विषयकी ज्ञाना है, (५) सबका इश्वर करनेवाका विग्रह ज्ञाना ज्ञानाका वाक्ता है (६-७) विग्रहकी ज्ञानाके विग्रह समस्तकार हो (८) अपूर्ण विग्रहों को परब्रह्म ज्ञाना है यह विषयकीही है (९) जो प्रकृति है यह विषयकी है, (१०) विग्रहा ज्ञाना की विषयकी देखी है (११) जो सब कर्मोंको ज्ञानावाका है वही विषयकी देख है (१२) जो विग्रहा इश्वर है यह विषयका देख है ।

इस तरह उपनिषद्में विष्णु वरनाम्नाके संस्कृत स्पष्ट विवेक है। वे संक्षेपमें वर्णित हैं, इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। जब जगत् केवला एक उन्मिष्ट सृष्टि है उसका बोझा विचार करते हैं—

अथर्ववेदका उच्छिष्ट एक

उच्छिष्टे वास्य ह्यं चोच्छिष्टे लोके वासिषा ।

उच्छिद्य इत्युच्चारणं विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥

उच्छिष्टे वात्स्यायिनी विषं सूत प्रमादितम् ।

भाषा: असुद्ध उच्छिष्टे चन्द्रमा वायु आदिना ॥ १ ॥

समुष्णिगे वसन्तोमौ मृत्तुर्वाजः प्रजापतिः ।

कीर्त्या उपरिहृत्वा यथायथा भवति भवति ॥ २ ॥

होती है। यह किमती मूल्य का प्रमाण है।

नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

निम्नलिखित कथनों में से सही उत्तर चुनिए।

विद्यार्थी प्रत्येक वर्ष में एक बार परीक्षा देता है।

कविभ्यो नमः।

राजभूषणं राजपीथमादिहोमस्तुवध्यः ।

जकार्वाभमेधापुष्टिः श्रीमद्विर्मसिन्धुः

ममवद्गीतामें वर्णित है । इस तरहका साम्य देखनेसे मन्त्रोंके अर्थ और गीतमें बन्धनोंके अर्थ मिश्रित हो सकते हैं । इस तुलनाका यह काम है । अब अष्टावक्रका विवरण देखिये—

अष्टावक्रका विवरण

जैसे साक्षात् परमेश्वर है और उसका विवरण स्थिररूप और संपूर्ण विष्ट है वैसेही अष्टावक्र है और उसका विवरण संपूर्ण अष्टावक्र ही । ज्येष्ठ अष्टावक्र का विवरण समझानेके लिये सत्त्वगुणका सत्त्वगुणिको विवरण पक्षके समझ लेना चाहिये । इसके समझानेसे परमेश्वरके विवरण का ज्ञान होता है ।

ज्येष्ठ अष्टावक्र	शब्द अष्टावक्र
विश्वरूप	विश्वरूप
संपूर्ण वस्तुसृष्टि	संपूर्ण अष्टावक्रसृष्टि

इस तरह ज्येष्ठ अष्टावक्र के विवरणके समान अष्टावक्रके विवरणकी समझाता है । अतः अष्टावक्रके विवरणकी अर्थात् सम्पूर्ण सत्त्वगुणिकी योग्य कल्पना हो गई तो ज्येष्ठ अष्टावक्र की विवरणकी सम्पूर्ण वस्तुसृष्टिकी कल्पना हो सकती है । उपलब्धमें कहा है—

य एकोऽयमो यदुष्वा शक्तियोगाद्वर्णानमेका
प्रतिष्ठाप्यो वधाति । यिषेति शान्त विश्व
मादौ स देवः स ना दुष्वा शुभया सयुज्ज ॥

(श्वे ४ ३१)

(एक अवर्ण) एक वर्णहीन (यदुष्वा शक्तियोगात्) अपनी शक्तिसे (अनेकान् वर्णान्) अनेक वर्णोंके (विहितावैः वधाति) मिश्रित देवतां पारण करता है । (सः देवः) वही देव वही ईश्वर (यिषेति) संपूर्ण विश्वको इच्छा करता है । वह देव हमें शुद्ध बुद्धिसे युक्त करे ।

इसमें प्रथम भागमें कहा है कि एक अवर्ण अनेक वर्णोंको उत्पन्न करता है अर्थात् एक पक्षिकिया एक अष्टावक्र अष्ट अनेक रूप अष्टोंका निर्माण करता है । वही अष्टावक्र का विवरण है ।

द्वितीय पक्षमें वर्णहीन होती है परंतु वह मिश्रित अवस्थाके अष्टोंमें परिणत होनेपर मिश्रित अवस्था प्रकट

करनेमें समर्थ हो जाती है । यह अष्टावक्र उत्पत्तिका क्रम है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो मुक्त
विश्रुत्या । मनः कायाभिमाहृति स प्रेरयति
मादतम् ॥ १ ॥ मादतस्तुलति चरमम्
अवयते स्वरम् ॥ ७ ॥ सोरीर्णो मूर्ध्निमिहतो
अवयमापद्य मादतः ॥ ८ ॥ वर्णान् अवयते तेषां
विभागः पञ्चका स्मृतः ॥ ९ ॥ (पाल्मीय विद्या)

आत्मा बुद्धिसे साथ समुक्त होकर कुछ मनको प्रकट करनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है । वह मन क्षीर क्षयित्वा वायु करता है वह अग्नि वायुको मेरुता करता है वह वायु छातीमें श्वासा करने लगता है और मन्त्र स्वर उत्पन्न करता है । वह मुक्तमें विभिन्न स्थानोंमें अलग विभिन्न वर्णोंको उत्पन्न करता है ।

इस तरह एक स्वरके अनेक स्वर हो जाते हैं एक वर्णके अनेक वर्ण होते हैं । एक अवस्थासे अनेक अवस्था प्रकट होते हैं । वही अष्टावक्र अवस्थाएं छिन्नी है जो देखिये—

१ सबसे प्रथम आत्मा बुद्धिसे साथ मिश्रित कुछ मन प्रकट करना चाहता है वह वहकी अवस्था है । वही अष्टावक्र आत्मा बुद्धिरूपही है ।

२ वह आत्मा बुद्धिसे अनेकी इच्छासे मनको नियुक्त करता है वही मनको कुछ संश्लेष मिश्रता है । वह दूसरी अवस्था है । वही अष्टावक्र मनका रूप प्रकट किया है ।

३ मन आत्माका संश्लेष प्रकट करनेकी इच्छासे क्षीर क्षयित्वा वायु करके वायुको मेरुत करता है । इस तीसरी अवस्थामें अष्टावक्र वायुका रूप प्रकट किया है । वह वायु अष्टावक्र अष्टावक्र होनेके समर्थ मन्त्र सत्त्व करता है ।

वर्णोत्पत्ति (एक अवर्ण) वर्णहीन रूप इस अवस्था होता है । वही अवर्ण अष्टावक्र अनेक वर्णोंसे युक्त अष्टावक्र उत्पत्ति करेगा । उसका क्रम देखिये—

४ वही आत्माका अष्टावक्र प्रकट करनेके लिये जो मन्त्र अष्टावक्र छातीमें हुआ, वह अष्टावक्र वायु, मूर्धा, श्वासा और श्वासा अष्टावक्रोंमें जाकर इन अष्टावक्र वर्णोंमें परिणत होकर है ।

वही (एकः अवर्गः जनेकान् वर्णान् वृधाति) एक
न वर्ग जनेक वर्णोको धारण करता है ऐसा कहा है ।
वही वह ध्वन् प्रकट हो जाता है और अपने अन्तरसे जाये
हुए अतमाक आध्वपको प्रकट कर देता है । अस्पृष्ट ध्वन्
स्पृष्ट ध्वन्में परिणत हो जाता है । हम ध्वन्का विकास
और विकास इस तरह होता है—

१ आत्मा-मुक्ति की विवक्षा

२ मनमें अतमाका प्रवेश

३ अग्निहारा धेरित वायुमें स्थिति

४ हृदयमें वायुसे मन्त्र सन्धकी उत्पत्ति

५ मुक्तमें विभिन्न स्वरोंमें विभिन्न अक्षरोंसे प्रकट
सन्धकी उत्पत्ति

६ इस अक्षरोंसे ध्वन् और अक्षरोंसे संपूर्ण भाषाभाषा
विस्तार ।

असह्य ध्वन्से स्पष्ट ध्वन् पूछे जाते हैं और संपूर्ण
भाषाभाषा विवक्षय इस तरह बना है । आत्मासे वायु
तक जो ध्वन् है वह अन्धकार स्थितिमें है अक्षरोंसे प्रकट
होनेपर उसे स्पष्ट स्थिति प्राप्त होती है । स्पष्ट अत
अन्धकार एकही ध्वन् है । अन्धकार ध्वन्मुक्ति एकही अन्धकार
ध्वन्का प्रकट रूप है । वह जो ज्ञानते हैं वे ध्वन्ध्वका
विवक्षय जान सकते हैं । इनका और विवरण देखिये—

उदाहरणमें अब वायु संचारित होता है तब कुछ
ध्वन् प्रकट होता है । वह ध्वन्में प्रवेश करता है तब
सबसे प्रथम कण्डमें ध्वन्ध्व जन्म लेते हैं । यद्यपि उसी
ध्वन्ध्व ध्वन्ध्व वायु मूर्धा स्थल लोच्य बल बन जाते
हैं किन्तु जागे बहुत भाषाविस्तार होता है ।

१ कण्डमें सबसे प्रथम न अक्षर प्रकट होता है ।

२ वही न अक्षर वायुस्थानमें है कारका कण
धारण करता है ।

३ वही न अक्षर मूर्धा स्थानमें न अक्षरका कण
लेता है ।

५५ (हिं गी)

४ वही न अक्षर स्थानमें है ' अ ' कारका रूप
स्वीकारता है ।

५ और वही न ' अ ' कार लोच्यस्थानमें ' उ ' बनता है ।

इस तरह एकही अक्षर स्थानमें रहे न हू न
न उ हू न पांच वर्णोंमें परिणत होता है । न ' कारका
विवक्षय वे पांच स्वर और उनके ध्वन्-दीर्घ-सुष्ठ
अनुदात्त-अनुदात्त-स्वरित तथा साधुनासिक-विराधुनासिक
आदि भिन्नोसे अनन्त रूपोंमें प्रकट होता है ।

मूल स्वर ' अ '

अक्षरोंसे बने पांच स्वर— न हू न उ उ
हू से बने पांच स्वर— ह व र ल ष
येही वर्ण अक्षरोंके बने

स्वाध्वक धाध— घ ङ ङ ध म
हकारका स्वाध्व ध्वन् करनेसे— ग ङ ङ द ध
स्वाध्व बहुत कम करनेसे— क ङ ङ त प
हकारका कुछ स्वाध्व धाधनेसे— ख ङ ङ ब क
पाठमें उच्चारण करनेसे— च य य ष ण

इसमें स्वर ध्वन्से प्रत्येक ध्वन्ध्वक ध्वन्ध्व कम धाध
अक्षर बनते हैं । इस तरह सबों अक्षर एक अक्षरों
क्यान्ध्वित बन जाते हैं एकही अक्षर इतने ध्वन्ध्वों
अक्षरोंके रूप धारण कर लेता है ।

इतने अक्षर ध्वन्ध्वक ध्वन्ध्व एक या जनेक अक्षर ध्वन्ध्व
ध्वन्ध्व बनते हैं और जनेक ध्वन्ध्वोंकी भाषा बन जाती है ।
भाषामें बने बने ध्वन्ध्व भी बनते रहते हैं । एक न
कारका वह ध्वन्ध्वविस्तार देखनेसे न अक्षर विवक्षयकी
कल्पना पाठकोंको हो सकती है । जयमें विजयी भाषा
है उनका सब ध्वन्ध्व इसी तरह एकही अक्षरोंके रूप है अतः
गीतामें कहा है—

अक्षराणांमकारोऽस्मि । (गी १.१३)

सब अक्षरोंका मैं अक्षर हूँ । अर्थात् त्रैना एकही
अक्षर संपूर्ण अक्षरोंमें परिणत होकर भाषाध्व बन गया
उसी प्रकार एकही विवक्षय विविध ध्वन्ध्वोंके रूप बनकर
विवक्षयकी बन गया है ।

वस्तुवाचिक ध्वन्ध्व भी इसी अक्षरोंके रूप है ।
विजय भी ध्वन्ध्व है वे सब इसी अक्षरोंके रूप है । अर्थात्

इस प्रकारका विश्वरूप भाषा है। इस भाषामें कई अल्प उक्तिंग कई शीर्षिक कई बहुसकलिक होते हैं। इसी तरह इस विश्वरूपमें कई पुरुष कई विद्या और कई बहुपुरुष होते हैं। इस प्रकारका धाम्य देखने योग्य है।

इसने विस्तृत विवरणमें पादक अल्पब्रह्मका विश्वरूप जान गये हेमि। जो नहीं समझे हेमि उनको विचार करके इसे जान केना उचित है। अब अल्पका विश्वरूप धाम्यमें या भाषाया उस सूत्रे विश्वरूप भी उसी तरह समझमें या आयेंगे।

माय पानी और बर्फ (जोके) के तीन पदार्थ हैं परन्तु वे तीनों पदार्थ एकही जगते रूप हैं। बर्फकी बर्फ मूर्तियां बलनीं या सफ़ी हैं वे सब जगते विश्वरूप हैं। माय पानी और बर्फके गुणधर्म भी विभिन्न हैं एकही जगते इसने विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ हो सकते हैं। वस्तु एक होवेपर भी उचित विभिन्न गुणधर्मवाले पदार्थ होते हैं और उचित विभिन्न प्रयोगधर्म भी सिद्ध हो सकते हैं। अर्थात् विभिन्न अनुभव होनेसे मूल वस्तुधर्मों में भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

एकही सोनेके आभूषण बर्तत होते हैं कई मस्तकमें कई छत्रीपर कई हाथमें और कई कमरमें चारच छिने जाते हैं। मस्तकमें रहनेका आभूषण कमरमें नहीं रहना या सफ़ा इतना भेद होवेपर भी उन सबकी स्वर्णता ही नहीं हो सकती। इसी तरह अर्थोंकी विविधता होने पर भी वे सब सत्य एकही प्रकारके विभिन्न रूप हैं वह भी पूर्णतः रीतिसे सिद्ध है।

यहां कोई प्रश्न पूछ सकता है कि बरकरके रूप बदलनेके छिने मुख्यतः कम्पासि स्थान कारण होते हैं सोनेके आभूषण बननेके छिने सुगर आदि कारण हो सकते हैं। इस तरह अनेक ब्रह्मका विश्वरूप होनेमें कोई दूसरा कारण होनेकी संभावना नहीं है। तो फिर लौकिक ब्रह्म विश्वरूप कैसे हुआ। वह प्रश्न बुद्धिभूत है। इसका उत्तर मांहुष्य उपनिषद्में अनुष्णाद् वाग्याक वर्णनसे दिया है—

१ आगरितस्थाना यद्विःप्रज्ञः।

२ स्पमस्थामोभ्यताःप्रज्ञः।

३ सुपुसस्थानाः एकीभूतः प्रज्ञानधम एवान्मयः।

४ अद्वैतं वस्तुर्न मन्वते। इ मात्मा।

(मांहुष्य १-५)

आग्रति स्थान सुपुसि और सुपुसि सुपुसिना ये चार वस्तुवादी वाग्याकीही हैं। अर्थात् आग्रतिमें दीक्षते वाका वस्तु संसार स्थानमें दीक्षतेवाका भात सुपुसिमें होनेवाका वाग्याक ये सब वाग्याकीही रूप हैं। अर्थात् यहाँ सुपुसि कोई वस्तु नहीं है एकही एक वस्तु है, जिन्हे वे विभिन्न रूप हैं। उपनिषद् एकही इस वस्तुधर्म वर्णन करते हैं—

१ [सर्वं होतव्यं ब्रह्म] अथमात्मा ब्रह्म।

[सोऽयमात्मा वस्तुष्णाद्]

२ अहं ब्रह्मास्मि।

३ तत्त्वमासि।

४ सर्वं काचित् ब्रह्म।

ये सब महावाक्य हैं और वे सब वाक्य उपनिषद्वाक्य जाते हैं। एक वस्तुकी सत्ता सर्वत्र है वह वात रूपसे सिद्ध होती है।

जिह्मके बर्तत पाद तबि पीतजके वस्तु वर्णन पानी सोनेके अनेक आभूषण कम्पासने वस्तु सब कम्पासने बर्तत वस्तु इसी तरह एक ब्रह्मका वह सब विश्वरूप है। सूत्रम विचार करते करते अनुभव देखते देखते, देखते देखते वस्तुधर्मोंका प्रत्यक्ष करते करते वह वात ब्रह्ममें या प्रकटी है कि ब्रह्मका वस्तु वाग्याका वह सब विश्वरूप कैसा है।

वैदिक-धर्मका तरह वग्यात् वाग्याके छिने वाग्याक विश्वरूप वाग्याकी बर्तत वाग्याकका है। इसके वाग्याके विद्या वैदिक धर्मका कोई सिद्धांत वग्यात् वाग्याका वस्तुधर्म है। इसछिने पीतका विश्वरूपधर्म वैदिक धर्मका तत्त्वधर्म वग्यात् वाग्याकी सूत्री है।

अनुष्णाद् विश्वरूप

वह विश्वरूप अक्षरत वाग्याका अक्षरत रूप है इस विश्वरूपमें मेरा रूप अस्मिन्नित है अतः मैं भी विश्वरूपमें संमिश्रित हुआ हूँ मैं विश्वरूपमें टूटव नहीं हूँ। मेरे अर्थात् सबके रूप इस अक्षर विश्वरूपमें एकत्र हो चुके हैं। इस विश्वरूपमें मैं और मुझसे त्रिज देखी जात

वस्तु है नहीं है। सब मिश्रकर एकही अक्षरक बहुत अन्तर
विशेष है।

वैदिक धर्मके सिद्धान्त।

हमना माननेपर वैदिक धर्मके सिद्धान्त केसे स्पष्ट होते
हैं वह बात अब देखिये—

प्रश्न— अहिंसा का पाठन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—यहाँ एकही अक्षरक वस्तु होनेसे किसीकी हिंसा
करनेका प्रयत्न करनेसे वह हिंसा अपनीही हिंसा होती है।
अपना प्राप्त कामा सर्वशक्तिमें अवलम्ब है, यथा अहिंसाका
पाठन करवा मनुष्यका धर्म है। हिंसावृत्तिसे दूसरेका नाश
होया है ऐसा दिखाई देता है, परन्तु कर्ममें अपनाही नाश
होया है क्योंकि वही दूसरा कोई है ही नहीं। एकही
ब्रह्मा है वह अपनी हिंसा करेगा तो आत्मवत्सही होगा।
अज्ञानी मनुष्य अज्ञानके कारण हिंसा करते हैं और दुःखपते
हैं। यथा अहिंसा धर्म है।

प्रश्न— सब का पाठन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर— मनुष्य हृदीकिये बलका शोकाया है कि वह
मानवा है कि सुखसे मिश्र दूसरा मनुष्य है वह सुखसे
मिश्र है मैं इसके साथ असम-कर्म-एक आदि कर्मका तो
उत्पत्ति सुखे काम होया। इस कामेच्छासे वह अक्षरशोकाया
है। यदि उसे विरहित हो जाय कि वही एकही ब्रह्मा है
वही दूसरा कोई मिश्र पदार्थ नहीं है हृदीके साथ अक्षर
स्वरूपता करना अपने आरम्भों ही अन्त्या है तो वह कदापि
अक्षर स्वरूपता करेगा ही नहीं। क्योंकि वह समझेगा कि
मैं अक्षर स्वरूपता मैं हृदीके साथ कर्मका वह मेरे साथही
होगा। इस तरह सब—पाठन मनुष्यका धर्म है।

प्रश्न— वास्तव अक्षर शक्ति क्यों करना चाहिये ?

उत्तर दूसरेकी वस्तुकी चोरी होती है। जब सब विश्व
एकही आत्माका रूप बनेगा तब कौन किसकी चोरी करेगा ?
अपनीही वस्तुकी चोरी तो कोई कर नहीं सकता। हमी
शस्त्रसे चमूरेमें कहा है

यस्मिन्मर्त्यानि भूताभ्यामैवाभुविजायत ।

तत्र का माहा क शाक एकावमनुपपद्यत ॥ ७ ॥
(का वस्तु ५, ईश ४)

सब भूत आत्माही हैं ऐसा ज्ञाप हो जानेपर उस सब
वस्तुमें (एकमेव अनुपपद्यत) एकवक्ता वर्जन करनेवाले उस
जानीको जोक और मोह नहीं कर हो सकता है। " जैसे
शोक मोह नहीं होते वेसेही उसको स्तेय करनेका भाव भी
नहीं होगा। क्योंकि चोरी करना मोहकाही परिणाम है।
सब एकही अक्षरक वस्तु है ऐसा ज्ञान होवेही हिंसा अक्षरक,
चोरी आदि करनेके भाव स्वयं हट जाते हैं।

प्रश्न— ' अक्षरचर्य ' का पाठन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—संपूर्ण विश्व अक्षरका रूप हो चुकनेपर सभी पाठन
अक्षर अक्षरचर्यकाही होता है। उदात्ति स्वरूपता अक्षरचर्यमें
भी सर्वत्र एक अक्षरक वस्तुही है ऐसा ज्ञान होनेसे सभी
अक्षरक होता है। इसलिये सत्त्व। अक्षरचर्य विश्वरूपके ज्ञानके
पञ्चावली होता है, वस्तुतः उस आधिकारको प्राप्त करनेके लिये
चौमोक्षाक्षर अक्षरचर्य पाठन करना आवश्यकही है। वस्तुतः
सभी हृदीकोका स्वयंही अक्षरचर्य है। अक्षरचर्य—अक्षरका नाम
व्यभिचार है। वह व्यभिचार परनेवाका अक्षरक एकतरफ
का कामसे धर्मवही नहीं है। क्योंकि जिसके साथ व्यभिचार
किंवा व्यापना वह भी ईश्वरका रूप है ऐसा ज्ञानसे उसका
व्यभिचारी भावही समूहक वह हो जायगा और उसका अक्षरक
अक्षरचर्य सिद्ध होगा, इसमें क्या संदेह है ?

प्रश्न— अचरिग्रह का पाठन क्यों करना चाहिये ?

उत्तर—अचरिग्रह धर्म भागसाधकोंका समग्र है। भोग
साधकोंका अपने पास अक्षरचर्य समग्र करनेका नाम अचरिग्रह है।
इस अचरिग्रहका भाव वह ज्ञानके कारणही अवसन्तुमें हृदीकी
वृद्धि होती है। क्योंकि जो मनुष्य अपने पास भोगसाधन
बढ़ाता है वह हृदीके उठने भोग छीनता है इसलिये
अचरिग्रहवृद्धि सब हृदीका आरम्भ है। यथा मानवसमाजको
सुख पहुँचानेके लिये अचरिग्रहवृद्धि भाव्य करनी चाहिये।
सुखवात वह है कि छापी विश्व एकही अक्षरक ब्रह्मा हो तो
हृदीके भोग छीनना और अपने पास भोगसाधन बढ़ाना
इसका व्यापन अपने भाव छीनना और बढ़ाना ही दुःख
बढ़ाया हो जाता है। इसलिये अचरिग्रहका पाठन मानव
धर्म है।

हृदी वह अक्षरचर्य धर्मचर्यकोका पाठन करना सभी
आवश्यक है इस बातका निश्चय विश्वकी एक सब है

सम्पूर्ण मानवसमाज परमेश्वरका विश्वरूप है जवना-
अवार्हका रूप है और वह सबका उपासक भी है इसमें
कमरेहरी नहीं है। यथापि औरत जैसे कुछ लोग समाजको
कह देने लगे अपमानका विचार करने लगे तो उनको
समाजकी राष्ट्रपुरुष कहकर छोड़े फुसिमां मानकर काननाही
धर्म होता है। अर्हणको विश्वरूप बनाकर उस विश्वरूपमें
औरत पाण्डवोंको संमिश्रित हुए बलकाकर अर्थात्
कारवपाण्डवोंको विश्वरूपका एक भाग बलकाकर किया
औरवपाण्डवोंको परमेश्वरक रूपका एक अंश बलकाकर
पचाए औरतोंको पुत्रमें मारा है। औरत विरभू पुरुषक
देहके बलबबही ने इनमें कोई संदेहही नहीं है यथापि
पाण्डव रक्षा करने योग्य और औरत मारकर मृत करने
योग्य समझे गये।

संपूर्ण मानवसमाजको परमेश्वरका अन्तः विश्वरूप मान-
नेक बलाए भी एक विभागका दूसरे विभागतः कुछ होगा
मध्यमवीच है वही धर्म वहाँ बलाए। औरवपाण्डवोंको
परमेश्वरक विश्वरूपमें संमिश्रित हुए समझनेपर भी कुछ
रक नहीं सका। इतनाही नहीं अपितु कुछ करना अर्हणका
और हीक्षणका धार्मिक कर्तव्य हुआ वह बात वहाँ
देखनी चाहिये।

अन्तः एकही विश्वरूप होनेपर भी सकल ज्ञान और
भौतिक अन्तः स्वीकार किया जाता है। भौतिक अन्तःका
ज्ञान और सकलको स्वीकार वहाँ किया जाता। पाण्डवोंको
वह बात झीक झीक समझ लेनी चाहिये। सभी ईश्वरक
रूप है यथापि घाम गावको भी। पूर मनुष्यको देना होता
है। घाम और पूरक प्रत्यक्ष रूपसे भेदेह नहीं है
यथापि घाम मनुष्यको नहीं ही जाती। वहाँ योगवलाक
विचार प्रमुख है।

यव मानव प्रत्यक्ष रूपसे भी औरतको पूर देना
और मानवको पारितोषिक देना धर्म है। इसक विरहीत
बचमें होता है।

चोको पूर देते समय भी उस प्रत्यक्ष मानवक
बलायोग पूर देना चाहिये मनुष्य या अर्धिक पूर देना
योग्य नहीं। ईश्वरी प्रत्यक्ष (देनागो वलन नमः वरुणेंद्र)
बचने मानने प्यारका रूप धारण करके जाती वहीक्षा करनेक
विषय आता है मेरे पूर देनकी निष्पक्षताका विवेक

वहाँ होगा, ऐसा विचार करके योग्य पूर देना उचित
है। इन शीघ्रसे विचार करनेपर पाण्डवोंको स्पष्ट होगा
कि परमेश्वरका यह सब विश्वरूप है ऐसा माननेपर
मनुष्यको निर्दोष व्यवहार हो सकता है पक्षपात चादि
योग्य व्यवहारमें होगी नहीं, छलकपट पूर्ण रूपसे दूर
होगे। इसादि अनेक लाभ विश्वरूप परमेश्वरको देखनेसे
हो सकते हैं।

राज्यक सब कर्मचारी प्रजाप्राजाको परमेश्वरका सगुण
रूप मानेंगे तो कितना प्रेमका राज होना। सब प्रजाजन
भी राज्यक कर्मचारीको परमेश्वरका ही रूप मानेंगे तो
कितना अन्तः होगा। परन्तु आजकल राष्ट्रपुरुष चाहते हैं
कि हम तो प्रजाक अन्तःकरणमें परमेश्वरकी स्मृतिवां करें,
परन्तु हमारे किये प्रजा बचभाए बन इस काल सब अन्तः
असंगोप रह रहा है। सांति और समाधान तो सब होमा
कि जब राष्ट्रपुरुष और प्रजाजन सब मिलकर अपने आप
को परमेश्वरक विश्वरूपमें संमिश्रित देखें और परस्पर
अन्तः वहाँ कोई दूसरा नहीं देना मात्र धारण करके
अपना व्यवहार पूर करके बलायोग करें और सब अपने
आपको परमेश्वरक अर्धक समझने लग जाय।

परमेश्वरका विश्वरूप देखनेक पचाएही सबकी अन्तः
एकता है वह ज्ञान होता है और सबकी अन्तः एकताही
मानवधर्मकी एकता भी है। जो मानवधर्म इसपर
अधिष्ठित होगा वही समझमें है जो इसक विद्वत् होगा
वही अन्तः है इसीन धर्माधर्मका निर्णय बचार्थ शीघ्रसे
हो सकता है।

अध्यापकका विद्यार्थियोंको बहाल है। जो बचनक
किये बहालें इति व लक्ष्य अध्यापक हो नहीं सकते क्योंकि
उनका उपासक वेतन होता है। जब अध्यापकका मानेंगे
और समझेंगे कि मेरे सामने या विद्यार्थी उपस्थित है वे
प्रत्यक्ष परमेश्वरक रूप हैं प्रत्यक्ष ईश्वर नर मनुष्य विद्या
विद्योक्त करार उपस्थित हुआ है मरी विद्या बहालेंकी वहाँ
परीक्षा होती है परमेश्वरक मनुष्य में करार करके किये
तरह बहालेंमें बुद्धि कर सकता है या उससे कुछ पूरही
होया अब विद्वत्तर आबसे बलायोग और सर्वोत्तम
शीघ्रसे विद्या बहालें मरा धर्म है। हम भावसे जब अध्या
पकवले कार्य करणा या विद्यार्थीजिन हम सुवाच देना

होगे इसकी व्यवस्था पाठक कर सकते हैं । ऐसी पाठन-प्रणाली बड़ा होयी बहाली नरका मारत्यन होना संभव है ।

ईश्वर भावसे सब विद्वन्की और देखरेखी हर-एक क्षणमें अपना कीमता करैव्य है वह ज्ञात होना है, और किसी प्रकारका संशय नहीं रहना ।

वैद्य वा डाक्टरके सम्मुख एक रोगी जाता है । जबतक वह वैद्य उस रोगीको अपनेसे भिन्न दूसरा मैं नहीं अर्थात् मुझसे भिन्न कोई अन्य मानता है अर्थात् उससे अन्य भाव रखता है तभीतक उसकी चिकित्सा करनेमें कुछ कष्ट करता है, तभीतक उसकी चिकित्सा ठीक ठीक नहीं हो सकती । इस तरह भिन्नभाव अन्यभाव भेदभाव पुनःभाव मानवेषेही हर एक स्थानमें होव हो जाते हैं । हुआ कदमोका पही करण है ।

जिस समय वह वैद्य वा डाक्टर वह समझेगा कि वह रोगी पक्षधर परमेश्वर इस कण्ठसे मेरे सम्मुख मुझसे सेवा केमेके किसे उपस्थित हुआ है । वही समझता है और वही ईश्वरके विष्णुकण्ठका अंश है जिसका मैं भी अंश हूँ । यह रोगी और मैं जबकी एकही सत्त्वमे-एकही विश्वकणी अहमाके अन्वय भाव है । मैं उससे भिन्न नहीं और वह मुझसे भिन्न नहीं । उसको रोगमुक्त करना मानो अपने आपको मुक्त करना ही है और उसे सम्पत्तिविशिष्ट रखना अपने आपको दुःखी रखना है । रोगीकी सेवा करना अपने आपकी सेवा करना है रोगीकी सेवा करना प्रभुकी सेवा करना है इस तरहके पवित्र मित्रता जो कारण करेगा बहाली सत्त्व चिकित्सक होना और वही (स्वकर्मार्थ परमव्ययम् । गी १८।२६) अपने स्वभावविषय कर्मसे परमात्माकी पूजा करेगा ।

इस तरह प्रत्येक मनुष्य स्वकर्म करता हुआ उसी स्वकर्मसे परमात्माकी पूजा कर सकता है । मनुष्य जो कर्म करता है वही कर्म इस तरह परमात्माकी पूजाकण हो जाता है ।

उत्तर वैद्यके उदाहरणमें वैद्य रोगी रोग जीववि जीवविबोधना ये सब एक अक्षण अहमाकेही कण हैं हममें परमव्यय है । अहमाही अहमापर अहमाद्वारा भव तरह कार्य करता है—

प्रक्षारण्य मल्ल हविर्मह्यद्री मल्लाना हुतम् । गी

इसी तरह मल्लही वैद्य रोगी रोग जीववि जीव चिकित्सा बाहि है । वहाँ दूसरा कोई नहीं है । इस दूसरेके आपसेही भव होता है अतः कहा है—

श्रित्तीयार्थि मयं भवति ॥ (६ अ १।११२)

दूसरेकी उपस्थितिसेही भवही उत्पत्ति होती है । मैं उससे भिन्न हूँ और वह मुझसे भिन्न है इस द्वैतभावसे ही सब दुःख होते हैं । अगएके सर्व्वं दुःख इस द्वैतभावके कारण हुए हैं । अतः कहा है—

यन्मव्ययत्वात्ति कस्मान्नु विमेमि ?

तत् पवास्य भय बीयाय कस्मान्मयेभ्यम् ?

(६ अ १।११२)

जब मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है तो मुझे भय किसका है ? अतः मेरा भय दूर हुआ मैं अब किससे डरूँगा अब कि मुझसे भिन्न कोई दूसरा वही है ही नहीं ।

इसीको एकत्रममव्ययता कहते हैं । एकही आत्मा है दूसरा कोई पदार्थ नहीं वैद्य भी नहीं है, रोगी भी नहीं है जीवण भी नहीं है जीवण देवेदका और केवेदका वही है एव्य करने करलेताका वही है । इस तरह एकत्रममव्यय होनेपर अममव्यय स्थिर हो जाता है और जो कर्म होया है वह कर्म भी प्रकल्पही होता है और वही प्रकल्प सत्य है ।

वैद्य वा डाक्टर रोगीको जीवण देवेके बहावे उत्तकभी खर सकता है जबतक स्वयं द्वैतभाव हो जब एकत्र ममव्य हो जायगा तब कौन किसे खरेगा और भिन्न हैपुके खरेगा ? वह है विश्वकणी परमात्माके दर्शनका महाकर्म ।

इस तरह सत्त्वव्ययवाति सर्व्वं धाम्नायिक और एहीव व्यवहारमें पाठक देख सकते हैं कि एकत्रममव्यके भिन्नत्व अपूर्ण काव होना संभव है और एकत्रममव्य न होनेके निरर्थक दुःख जिस तरह बह रहे हैं वा बिना कारण बहने जा रहे हैं ।

राष्ट्रीय और सामायिक जीवणके हरएक पदक्षय विस्तार पूर्वक वहाँ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । एकत्रममव्य होनेपर ऐसी जीवण होया ऐसी सत्त्विके नामसे चिकित्सा करने अगव्यहीतक १६ में अन्त्यामें किता है वह एकत्रममव्यका फल है । द्वैतभावका परिणाम बाधुरी

जीवनमें होता है जो हेतुभाब मानते हैं उनके अन्तर स्वर्ण मोगमावकी वृद्धि होनेके कारण किस तरह आसुरी जीवन पैदा होता है और इससे जगत्में कितने कष्ट उत्पन्न होते हैं इसका भी वर्णन इसी गीताके १९ वें अध्यायमें आ गया है।

देवी और आसुरी जीवन धर्माधर्म-निर्णय इस तरह होता है। एकप्रमप्रत्यनकाही नाम लक्ष्मणकी परमेश्वरका दर्शन है। हमसे देवी जीवनका विकसित होता है और इसके अन्तर्गत आसुरी जीवन होता है। पात्रकोंको इसका योग्य विचार करना चाहिये।

देवी गृहस्थी-जीवन

श्रौत रीतिसे विचक्षणदर्शन होनेके पश्चात् गृहस्थ-आश्रम भी आरम्भ रीतिसे हो सकता है। पतिपत्नी और पुत्रके वर्म बहादी एवं रूपसे देवी आश्रमके सिद्ध हो सकते हैं। वही पति अपनी धर्मपत्नीको परमप्रमाणा कन्या मानता है और धर्मपत्नी भी अपने पतिको उन्नी तरह परमप्रमाणा कन्या समझती है। दोनों तरफतः लज्जित अर्थात् लज्जित होकर गृहस्थाश्रम करते हैं। जिसमें तरफतः भेदभाव नहीं रहा वही लक्ष्मणचरित्रका योग्य किस तरह उत्पन्न हो सकता है। दोषका कारण भेदभाव है। पति अपनी पत्नीसे छिपकर कुछ कुकर्म करता है और पत्नी भी अपने पतिको अनुपस्थितिमें कुछ दुराचार करना चाहती है। परन्तु जिस पतिपत्नीमें हेतुभाबकी न रहा हो और जिसको एकप्रमप्रत्यन हो पुत्र हो, उन्में स्वमित्रमार्गसे दोनोंकी सेवाबन्धन भी कहे हो सकती है।

पस्मिन्सर्वाणि भूताम्यामेवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शाक एरुपमनुपश्यतः॥

(बा न ३।०)

जिसमें सब भूतमात्र एकही जगत्मा हो गये उस एकप्रम प्रत्यन दर्शन करनेवालेको शोक मोह नहीं कर हो सकता है। अर्थात् ऐसे एकप्रमप्रत्यनकी गृहस्थोंको न शोक होगा और न मोह होगा क्योंकि स्वभावचरणी स्वयं आश्रम निष्कर्मक होगा और किसी तरह वही ऐसी ही समझना नहीं रहेगी। देवी आश्रम गृहस्थी होने।

जब पुत्र जन्मता है उस समय न पतिपत्नी समझेंगे कि अपने घरमें परमात्माने अवतरा किया है, गर्भ होनेके समय वे समझेंगे कि-

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानः बहुधा विजायते। (बा न ३।११-अथर्व १।१।११)
एषो ह देवः पदिशोऽनुसर्षाः पूर्वो ह जातः स त गर्भे अन्तः। स एष जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मनास्तिष्ठति सयतोमुखः॥ (श्वे क १।११)

प्रसन्न प्रजापति जो सर्व दिशाओंमें भरपूर भरा है वही जब गर्भमें जागता है। अपने गर्भमें वही है। प्रसूति होनेपर वह कहे कि (स एष जातः) वह अब उत्पन्न हुआ है। वही बचेगा और वही सब जगत्में है।

इस तरह वे वे मान अपने पुत्र या पुत्रीके विषयमें भाव्य करेंगे। जिसको अपने पुत्रमें प्रसन्न परमप्रमा दिवाह देता है वे अपना बहोभाग्य समझते हैं, पुत्रकमसे परमप्रमा अपनी सेवा केनेके लिये बाधा है, देता समझकर उस बाधककी सेवा करनेके लिये अपनी पराकाष्ठा करत है। कम संघर्षमें कमी नहीं रहने देव। इसी तरह पुत्र भी अपनी मत्वापिताके विषयमें इसी प्रकार ईश्वरभाव धारण करता है और वह बच्चा—

मातृदेवा भयः पितृपयो भयः।

इस आश्रमके अनुसार मत्वापिताको साक्षात्परमेश्वर मानता है और उनकी वसीही लक्ष्मण-भावसे सेवा करता है। पश्चात् वह इसी रीतिसे अध्यात्मको गुह्येव मानता हुआ विद्याकी अमृत प्राप्ति करके मन्त्रमुक्त बनता है।

माता समस्तवी है मेरा पति सम्पूर्ण परमेश्वर है वही मुझ पत्नीमें गर्भकण रहकर पुत्ररूपसे जन्मी हुई है।

पतिर्भार्या समप्रिदय गर्भो भूयैव जायत।

जायायास्तदि जायात्य यदस्या जायत पुनः।

(मनु १।४)

हम तरह वह समझती है और परमप्रमाभावसे पति और पुत्रीकी सेवा करती है। जिस गृहस्थीके घरमें हम तरह लक्ष्मण-भावसे धर्माचरण होगा व वह गृहस्थीका घर सन्त्रमुक्त लक्ष्मणमा होगा है। वहीं लक्ष्मण मुक्त रहता है और देवीही गृहस्थी निर्माण करनेके लिये धर्मका बाध

भांय हुआ है। कोई यह न समझे कि यह कयाही बात है व्यवहारमें नहीं जा सकती। इसे व्यवहारमें कानेके छिन्ने ही तो वेद और गीताकी प्रकृति है।

ज्ञानोत्तर कर्म

ज्ञान होनेके पश्चात् कर्म होना संभव है वा नहीं वह बात बहुत दिनोंसे चर्चा रहा है। परन्तु इसमें कुछ भी वास्तविक योग्य नहीं है। जन्मको विद्वत्कर्म रचन हुआ और ज्ञानोपदेष्ट हुआ और उसके पश्चात् उसने पुनश्च कर्म किया है। अर्थात् विद्वत्कर्म-रचन होनेके पश्चात् और एक जन्माका प्रसव हो जानेके पश्चात् सब विद्वत्कर्म एक ही जन्माका कर्म है यही अक्षरशः एकरस विद्वत्कर्म है मैं उसमें समिक्छित हूँ और संपूर्ण विद्वत्कर्म सब कर्म उन्हींमें समिक्छित हैं इस तरह अक्षरशः एकरस अनन्य भाव होनेके पश्चात् ही वैसी जीववत्कर्म हो सकते हैं। तत्त्वतः सत्ये धर्मका ज्ञान होना और सत्त्वा अनन्य भाव उत्पन्न होना भी संभव नहीं।

भगवद्गीतामें अनन्य होकर ही कर्म करनेका उपदेष्टा किया गया है, ये वचन देखिये—

१ भव्यासपोमयुक्तन जेतसा माय्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थाजुस्मिन्निव ।

(गी ८।८) /

२ भवम्यचेताः सततं या मां स्मरन्ति नित्यम् ।

तस्याहं सुखभाः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गी ८।१४)

३ पुरुष स परः पाप भक्षया छम्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थासि भूतानि यन सर्षमिद् तवम् ॥

(गी ८।१५)

४ महात्मानस्तु मां पापं वर्णीं प्रकृतिमाधिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसां ध्यात्वा भूतादिभक्ष्ययम् ॥

(गी ९।१३)

५ भवम्याभिस्तयस्ता मां य जना पर्युपासत ।

तथा नित्याभियुक्तानां योगक्षमं वहाम्यहम् ॥

(गी ९।१५)

६ अपि यस्तु पुराचारो भजत मामन्यभाक् ।

सा पुरव न्य मन्मथ सस्यस्यसिता हि सा ॥

(गी ९।१६)

७ भवस्या त्वनन्यया शक्यं महमेवविधाऽर्जुन ।
कार्तुं प्रपुं च तस्त्वेन प्रवेपुं च परतप ॥

(गी ११।१७)

८ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सम्बन्धयन्त्यस्य ।
भक्त्येवैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

(गी ११।१८)

९ मयि खान्मययोगेन भक्तिरभ्यभिचारिणी ।
विबिक्खेशोऽपि त्वमरतिर्जनार्णसादि ॥

(गी ११।१९)

(१) 'अनन्यगामी विद्वत् कर्त्ता विद्वत् विद्वत् ज्ञान भाव नहीं है उस विद्वत्से जब जन्मासंयोग करता है तब वह दिव्य परम पुरुषका किन्तव करता हुआ उन्हीं पुरुषको प्राप्त होता है ॥ (२) भवम्यविद्वत् कर्त्ता विद्वत् विद्वत् ज्ञान भाव नहीं है उस विद्वत्से जब ईश्वरका निम्न स्मरण होता है तब उस विद्वत्पुरुष को ही वरनेका सुकर्मवत्से प्राप्त होता है ॥ (३) भवम्य-मयिसे कर्त्ता विद्वत् ज्ञान भाव नहीं है उस विद्वत्से प्रभुकी प्रप्ती होती है ॥ (४) भवम्य-मय कर्त्ता विद्वत् ज्ञान भाव नहीं है वे ही सबके वादि ईश्वरको भजते हैं ॥ (५) भवम्य भावसे सेवा करनेवालोंका योगक्षम ईश्वर कर्त्ता है ॥ (६) पुराचारी भी अनन्य-भावसे कुछ हो जब वो उसको प्राप्ती प्राप्तवा चाहिये ॥ (७) भवम्य मयिसे ही (विबिक्ख) ईश्वरको जानना देखना और उसमें प्रवेष्ट करना शक्य है ॥ (८) जो भवम्ययोग करनेवाले ईश्वरका ध्यान ईश्वर-उपासना करते हैं वे सब कर्म ईश्वरार्णवी करते हैं ॥ (९) ईश्वरमें अनन्य योगसे अन्धविचारिणी भक्ति करते हैं वे सिद्धिसे प्राप्त करते हैं ॥

इस तरह गीतामें अनन्यभावका महत्व कहा है। अनन्य (न+अन्य) होनेका अर्थ है उपासका साग पृथक् कोई नहीं है प्रभुकी वरनेका एक है और उन्हीं एक अविच्छिन्न प्रभुका कर्म इस छत्रमें विवका कर्म है मैं और सब उन्हींमें है। यहाँ मैं और सब वह ईश्वरभाव भी नहीं यहाँ वरि कुछ है तो अन्त-अन्य भावही है कर्त्ता ही पुरुष-भाव है। इस भावसे सब कुछ होनेके पश्चात् ही पूर्ण १ छोड़के बड़े अनुष्ठान स्वभावका होने है। इस

फोर्सेस धोखासा जयिक मयम करनेकी आवश्यकता है;
इन्निसे—

- १ जनस्य चित्तस्य अभ्यासयोगद्वारा ईश्वरका चिन्तन करना
 - २ जनस्य चित्तस्य परमेश्वरका स्मरण करना
 - ३ जनस्य भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्तिकी मुक्तभवा
 - ४ महत्तमा योग जनस्य मनसे ईश्वरकी भाण्ड विद्या करते हैं
 - ५ जनस्य होकर योग ईश्वरकी उपासना करते हैं
 - ६ जनस्य भाव होनेपर पुराधारिका साधु बनता है
 - ७ जनस्य भक्तिसे ईश्वरका ज्ञान स्थान और उममें प्रवेश होता है,
 - ८ जनस्य योग करनेवाके पञ्चम उपासनाहि सप्त कर्म परमेश्वरको समर्पण करते हैं
 - ९ जनस्य योगस्य अन्त्यधियात्रिणी भक्ति होती है
- इस वी श्लोकोंका यह भास्य हैकनेछ पता लगता है कि मनमें जनस्यमान स्थिर होनेके पश्चात्तही चित्त स्थान मन्त्र भक्ति उपासना साधु-बाप्तार ज्ञान-स्थान-प्रवेश समर्पण आदि कर्म होते हैं । इसमें सब शुभ कर्म का लक्ष्य है ।

अन्वययोग अन्वयभक्ति, अन्वयभित्त अन्वयमन
अन्वयभाव इन सब अन्वयों का आधार एक ही है। जो सब
कामों में अपने से भिन्न दूसरे ईश्वर के अन्व ईश्वर जो
अन्व भाव बना है वह अन्वभाव भिन्नक मन्त्रों के
रोग से ही इस अन्वययोग का आधार बन सकते हैं।
यिष्ट समय अन्व-भाव मनस हृद आता है उस समय
अन्वभाव स्थिर हो सकता है और उसकी विचरणा
पञ्चमरी गीता का उपदेश जीवन में बसना संभव है।

वृद्धारण्यक क्रिये देखिये ऊपर कहा है कि भव्याम
चारिणी भक्ति (गी १३.११) काली चाहिये ।
भक्तिचारिणी भक्ति सब तक हा सकती है कि जब तक
व्यामर्श उपपात्य मे रह जा आर भयक उपपात्य हो । भयक
उपात्य देख दोनक कारण मनुष्य बुरकी भक्ति छोड दूसरकी
भक्ति करनेका निचार करता है हम कारण भक्तिमें
भक्तिचारि प्राय उत्पन्न हो सकता है ।

अब देखें विश्वक विश्वमें अत्यन्त भाव स्थिर और
पुष्ट हो जायगा और अब सर्वत्र एकही अर्थ हो सकेगा

भारत है यह बात किसीको प्रसन्न हो जायगा तब उसमें जयमहिम्नारिणी भक्ति होगी व्यभिचारिणी भक्ति नहीं होगी। एक भर्त्सक सत्ता प्रसन्न देखनेवाला नार उससे साथ जयना जयम्भ (दुःख नहीं यह) मात्र भय भय करनेवाला व्यभिचारिणी भक्ति करही नहीं सकता। दूसरी सत्ता है पूसा माननेवाली व्यभिचारिणी भक्तिकी संभावना है यह बात स्पष्ट है।

अवस्थमावस्थित होके पञ्चात् म और सारा विश
मिच्छर एकही अलंक सत्ता है म अथ यह भाव वहाँ
मिद जाहा है परमात्मा विश म काहि सब एक अलंक सत्ता
है । मैं इस परमात्माके अवस्थ (अवस्थ) हूँ परमात्मा
काहि सारा विश यह अलंक कय है म-दू-यह यह ध्याव
हासिक भद वहाँ नहीं है सकल अवस्थभाव (अवस्थभाव
अवस्थभाव) है यहाँ कोई किसिसे भिन्न नहीं ह । सब
एकही सत्ताक भाव है । इन तरह एक अवस्थ भाव होकर
नाम अवस्थभाव है । इस अवस्थभावकी स्थिरता होनेके
पश्चात् मनपरही सब सर्वका प्रकाश पडता ह और उस
किन्नी भी बिचसे नैह वा लोकमोह नहीं होते ।

दा भिन्न दृष्टियाँ

सब कल्याणकी परीक्षा यह है कि अन्वयभावसही करता है। वही वे जो भिन्न दृष्टियों हैं वह पाठक में भूँछें। एक अन्वय-दृष्टि और दूसरी अन्वय-दृष्टि। हम दो दृष्टियों में भिन्नता अनुभव भिन्निक प्रकारसे आता है। हम विषयमें इस तरह विचार होता है—

अनन्य-दृष्टि	अन्य दृष्टि
अभेदका अनुभव	भेदका अनुभव
उपास्य उपासकका ऐक्य	उपास्य उपासक भेद
उपास्यसे अभि	उपास्यसे भेद
विभक्त्यर्थे अभि	विभक्त्यर्थे भेद
व्यवहारार्थ समभाव	व्यवहारार्थ विभक्तता
समस्तैव	विभक्त्यर्थैव
अव्यभिचारिणी भक्ति	व्यभिचारिणी भाव
समता	कष्ट विभक्तता
आनन्द	दुःख

अमृतमे जा पु न्म बह रह हे न विरमभायक कारण बह रह हे। वही विरमभाय दह जाजा हे नार मईच ममभाय

सुस्मिर हो जाता है। इसकिये बुझका कामजही न रहनेसे बुझ किस तरह हो सकेगा ?

यह मेरा घर है ये मेरे कहते हैं यह मेरा परिवार है यह मेरा है ये दूसरे हैं दूसरोंको छुटकार में अपने संबंधियों का भका कइया। यह यात्र सज्जामें कार्य कर रहा है। इसे जन्मप्राप्त (विवाह हैतप्राप्त मेधप्राप्त) कहते हैं यही सच बुझाको देत है। इस भावके कारणही इस जन्म में छुटकार प्राप्त विविध रीतिसे कर रहा है। अतः इस हैत भावकोही वास्तवमें ही वांछनी कर और बजाल कहा है।

[illegible]

छक कपट दूसरेसे किया जाता है अपने आपसे नहीं । जबरन जन्म-मरण होता है तभीतक छक कपटकी सेवा मना है पकवार जन्ममरण हुए बुद्धा और जन्म-मरण सुखिर बुद्धा से छक कपटका कामगरी शुरू हो जाता है । सर्वज्ञ हीन भाव सर्वज्ञ आसुरीभाव इस तरह जन्म-मरणका उदय सोठेरी गड़ हो जाते हैं ।

अनन्य-भावसे कर्म ।

वहाँ बहुलको प्रकाश होती है कि इस तरह कल्पनात्मक त्रिमय समस्त सुस्थिर होगा उससे इस विषयमें कर्म होगा या नहीं ? तबस कर्म नहीं होने पैसाही बहुलको का विनाश है परन्तु वह भ्रम है । कल्पनात्मक मयमें विनाश होनेके पश्चात् ही ही मरणात्मक पोषक सत्ये कर्म होते हैं । सत्यी विनाशका का वहाँतरी प्रारंभ होता है ।

वह अपने पुत्रों का शासन करेगा वरन्तु ऐसी बुद्धिसे
करेगा कि जिससे कारण वह दूसरोंको दुःखानेक वाचसे बच

जायगा। वह अपने घरका पाछव उद्यम रीतिसे करेगा परन्तु दूसरोंके घरोंका कमानेके पानसे बचेगा। वह अपनी नायिबी रक्षा करेगा परंतु दूसरी नायिबीका बाधन नहीं करेगा। वह अपने राष्ट्रकी रक्षा करेगा परन्तु दूसरे राष्ट्रोंका बाधन करनेकी इच्छात्मक नहीं करेगा। विश्वकी एकजुट सेवा करना हुआ उस विश्वसेवाने अविराजते अस्सीवींसी सेवा करेगा।

[illegible]

परन्तु जिसमें अल्पमात्र का प्रारंभ हो जाता है (बड़े मात्रा का जहाँ प्रारंभ हुआ) वे लोग विमर्शना करने के लक्ष्य करी होते हैं। उनकी योजना क्षेत्र अल्पमात्र विमर्शना अर्थात् है। जहाँ विमर्शना करने के लक्ष्य हो जाता है वे अल्पमात्र-मात्र प्रारंभ करने के लक्ष्य करी होते हैं। जहाँ इस विमर्शना के लक्ष्य हो जाता है वे लोग-वे अल्पमात्र प्रारंभ करने के लक्ष्य करी और अल्पमात्र करने के लक्ष्य हो जाता है अल्पमात्र प्रारंभ करने के लक्ष्य करी नहीं सकते।

हृषिकेशे लक्ष्मण लज्जामसृष्टाया अनुभवं करवेष्टते
 क्षणमैव विहसते लपसी ललवाका साक्षरकम् मलवेष्टकरी
 लक्ष्मण विहसतेषा कर्ण प्रकटे हे । वे कोश वैसा ह्रस्व जीम
 निर्दोष कर्म कर प्रकटे हे वैसा निर्दोष कर्म प्रत्योक्षे लब्धि
 हो सकला ।

यद्दमेयाधस्तात्तुपरिष्ठाद्धं पञ्चाशद् पुरस्ताद्धं
क्षितिगताऽहमुच्यते तौऽहमेव ह्यसमिति ॥१२॥
आरम्भेनाधस्तात्तुमापरिष्ठात्तुमा पञ्चाशत्मा

पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेह
सर्वमिति ॥ १॥ (अद्वैत ३ ७१५)

मैं नीचे मैं ऊपर मैं पीछे, मैं आगे मैं दक्षिणकी
और मैंही उत्तरकी ओर हूँ क्योंकि मैंही यह सब हूँ ।”

आत्मा नीचे आत्मा ऊपर, आत्मा पीछे आत्मा आगे
आत्मा दक्षिणकी ओर आत्मा उत्तरकी ओर है क्योंकि
आत्माही सब कुछ है । 'इही एव—

हूँकर नीचे, हूँकर ऊपर हूँकर पीछे हूँकर आगे
हूँकर दक्षिणकी ओर और हूँकरही उत्तरकी ओर है
क्योंकि हूँकरही सब कुछ है । देखोही आत्मा परमात्मा
अविच्छेद एकता कहा जा सकता है । क्योंकि मैं
आत्मा परमात्मा आत्मा हूँकर अविच्छेद एकता वस्तु
विभिन्न नाम हैं । वर्यापि हममें जोका भद्र है तथापि
अन्यथाव विर होवेही वह भद्र नहीं रहता ।

इस तरह एकत्वव्याप्त्य होके पञ्चाक्षर अन्वयभाव
होता है और अन्वयभाव विर होके पञ्चाक्षरी निर्दोष
कर्म होते हैं । सभी विश्वसेवा इसका फलही होती है
एवम् अन्वयमति इसका पञ्चाक्षरी होती है और अन्वय
होवेही वरका वाराण्य होता है जीवनका सिद्ध होता है
हूँकरभावको वह प्राप्त होता है ।

विश्वसेवाका मर्म

विश्वसेवाका उद्यम आनन्द अनेक किये जोकासा अपने
धारीक विचार करना चाहिये जिससे विश्वसेवाका मर्म
आत्ममें जानक किये सुविधा होगी ।

अपने धारीमें देखिये । मनुष्य कह सकता है कि मैंही पाँच
हूँ, वेद हूँ, सिर हूँ छाती हाथ आदि मैंही हूँ । अनेही आँख
पाँच काम, जिह्वा, पाँच मूत्रा छोटी पीठ वेद, पसकियाँ
पेटके, वक्त्र, नाभि जोका सुन्दरे चिकित्सा पाँच अंगुलि
क्या अन्य अवयवोंके रूप धारण किये हैं, क्योंकि मैंही
अनेही धारिके हूँ विविधकर्मोंमें मग्न हुआ हूँ । इसलिये
हूँ विभिन्न अवयवोंमें मैं अनेकाही अभिप्रायसे स्थित हूँ ।

वह ऐसी अवस्थामें मैं अन्वयव्यवस्थाकी सेवा देखे हो
सकती है ? विचार करिये अन्वयव्यवस्थाकी सेवा देखे की
जा सकती है ? क्या कोई मनुष्य एकहीकी सम्पूर्ण सेवा

करना चाहे तो उसके सम्पूर्ण अंगों, अवयवों विभागों
और इन्द्रियोंके सबकी क्यायोग सेवा एकही समयमें कर
सकता है ? कभी नहीं । किसी एक मनुष्यकी सम्पूर्ण सेवा
एकही समयमें कोई कर नहीं सकता । परन्तु यहाँ किसी
भी अंगकी सेवा की तो उसकी सेवा हो जाती है और
इसी रीतिसे इस विश्वमें सब कोई सेवा किया करते हैं ।

किसीक पाँचोंकी मासिक की किसीको पानी पिकाया,
उत्तम लक्ष दिया, कपड़े धोने मकान स्वच्छ किया इस
तरह उसके एकाग्र्यकी सेवा की तो उसकी सम्पूर्ण सेवा
की ऐसाही होता है । जो सबक रखे जाते हैं, वे एक
लक्षकी सेवा करके कियेही रखे जाते हैं, क्योंकि हर
कोई एकाग्र्यकी सेवा कर सकता है । सम्पूर्णका सेवा
होना असम्भव है । वही विवम सन्तान समझना चाहिये ।

हो इससे वह बात अवश्य है कि अन्वय अवयवोंका
विभाग न करते हुए एक अवयवकी सेवा हो । जैसे पाँचकी
मासिक करी हो तो सिरपर कपड़ी मारना उचित नहीं ।
अन्वय विभागोंकी प्रतिक्रिया न करते हुए एक विभागकी
सेवा की तो वह सेवा सम्पूर्णकीही होती है । गुदकाँकी
सेवा की तो गुदकी सेवा होती है, गुदकाँका मर्मन वेवारा किया
गुदके कपड़े धोये, गुदका स्वच्छ स्वच्छ किया इनमेंसे एक
एक कार्य किया तो भी सम्पूर्ण गुदकी सेवा की ऐसाही
होता है । अवयवकी सेवा अन्वय भागसे करनेसे अवयवकी
की सेवा होती है । वह विवम वैश्व धर्ममें है वैश्वही
सम्पूर्ण और विश्वमें है ।

राष्ट्रके मुख वक्त्र वेद और पाँच मन्त्रा ज्ञानी एव
व्यापारी और कारीगर हैं इनमेंसे किसी एक राष्ट्रव्यवस्थाकी
अन्वयभावसे सेवा की जा मनुष्य राष्ट्रकी सेवा होती है ।
वही अन्वय-भावसे सेवा करना विशेष आनन्द देयक वार्य
है । राष्ट्रमें मुखस्थानमें बारी है और पाँच स्थानमें एवम् है ।

कुछ लोग एवम्की उक्ति करना चाहते हैं एवम्की
सेवा करके उनका मुख बहाना चाहते हैं परन्तु वे माध्यम-
अधिवर्तियों विरा करते हुए उनसे एवम्की एवम् मानकर
एवम्की मरहता करना चाहते हैं । इनसे हूँ वरका है
और राष्ट्रका नाम होता है क्योंकि वह अन्वय-भाव
नहीं है । माध्यमअधिवर्त अन्वय है, राष्ट्र अन्वय है एवम्

मानकर एकपर पैम और दूसरेका हेष करनेका नाम अवल्य सेवा नहीं है। वह तो अव्य भाव (हैवभाव) की सेवा है। वह तो आधुनी भावकी सेवा होनेसे माध्य करनेवाची है।

अव्यभावसे पड़ी सेवा हो सकती है। माध्य-अव्य-वैश्य सूत्र मिथकर एक अव्यव्य अद्वय राष्ट्रैव है उस अव्यव्य राष्ट्रकी सेवा अविराज्यसे करनी है। किसी भी अव्यव्यकी सिद्धा की तो सम्पूर्ण राष्ट्रकी सिद्धा होती है किसी एक व्यक्तिका जोह किया तो वह राष्ट्रका जोह होता है ऐसा मानकर सब राष्ट्रकी अव्यव्यभावसे सेवा करनेके लिये मै राष्ट्रके पांव को सूत्र हैं उनके उद्धारका पथ करनेके लिये उनकी सेवा करना है ऐसे अव्यव्यभावसे जो सेवा करेगा उससे सम्पूर्ण राष्ट्रवैद्य सम्पूर्ण रीतिसे हो जायगी और कभी राष्ट्रकी हानि नहीं होगी। अव्यव्यभावसे सेवा बंधवा कोई कार्य करनेका उत्पत्ति यहां पाठकों के ध्यानमें ला-सकता है।

एक अव्यव्य भाव करने दूसरी व्यक्ति का काम करनेका पथ करनेका नाम अव्यभावसे प्रयत्न करवा और किसीका विरोध न करते हुए सबकी मझाईके विचारके साथ किसी एक व्यक्ति की उन्नतिके लिये प्रयत्न करना अव्यव्यभावसे सेवा करना है। राष्ट्रमें पक्षोपपक्ष उत्पन्न करने परस्पर विरोध बढ़ाकर एक दूसरेकी मिराजकके लिये कल करते हुए अपने हाथमें अधिकार प्राप्त करने दूसरेका नाश करने अपने पक्षवालोंकी उन्नति करेगी ऐसी मनोकल्पित धारणा करने को प्रयत्न होते हैं वे सब प्रयत्न अव्यभाव (हैवभाव इन्द्रभाव) के प्रयत्न हैं। ऐसे प्रयत्नोंसे जगतामें दुःखही बढ़ेगी। वही प्रयत्न मनुष्योंको असुर बनानेवाले हैं।

परंतु किसीका विरोध न करते हुए, प्रतिपक्षके साथ भी पूर्ण वैभीभावपूर्ण सम्प्रत्यक्ष संबंध करना परस्पर सहाय्य धृति बढ़ाते हुए, एक दूसरेकी अधिक उन्नति अविराज्यसे करनेका कल करना अपने हाथमें जासनायिकार जानेपर सपका हित करनेकारी उद्देश्य रखना इत्यादि प्रकारके जो प्रयत्न होगे वे अव्यव्यभाव (अवैद्यभाव इन्द्राणीयभाव ऐश्वर्यभाव) के प्रयत्न हैं और वहां अव्यव्यभावके प्रयत्न मनुष्योंको देवता बनानेवाले हैं।

इससे पाठकोंको स्पष्ट होगा कि अव्यव्यभाव मग्नमें स्थिर होनेके पश्चात् जो विचार्य कार्य होंगे वेही मानवोंकी पूर्ण उन्नति करनेमें समर्थ होंगे।

अव्यव्यभाव मग्नमें स्थिर होनेके पश्चात् कोई कर्म नहीं होगा ऐसा जो कहते हैं वह उधका कहना कितावा मिथ्य है वह बात इतने विचरमसे सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः अव्यव्यभाव मग्नमें स्थिर होनेपराही विशेष महाव्यपूर्ण और सार्वभौमिक सत्य के हितके कार्य हो सकते हैं। इसलिये अव्यव्यभाव मग्नमें स्थिर होनेवाले व्यक्तिपक्षमें राष्ट्रमें प्रारम्भ होनी चाहिये। सबका पथ हनी दिखाने होगा चाहिये।

अव्यव्यभावसे दिखानेवा करना अव्यव्य पथ है। जो विचरम राष्ट्रसेवाका विवरण करते हुए बताने हैं, वेही विचरम अधिक विस्तारके साथ विचरम करनेके समर्थ पाठक करने चाहिये। अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समर्थ अव्यव्य राष्ट्रको दृष्टा देने परतन्त्र करने उनकी सहाय्य करने का विचार अव्यव्यभावसे उत्पन्न होते हैं। यदि अव्यव्यभाव मग्नमें एकबार स्थिर हो जाय तो अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेके समर्थ अव्यव्यको परतन्त्र करनेका विचार वह क्लेशही नहीं। क्योंकि अव्यव्यभावकी दृष्टिसे अव्यव्यको परतन्त्र रखनेका कार्य परंपरावा अपने जातको परतन्त्रतामें रखनाही होता है। इसलिये जो राष्ट्र दूसरोंको परतन्त्र रखनेमें मग्न हैं वे राष्ट्र अव्यव्य रीतिधर्म अपने जातको बहुत क्लेशों काको ला रहे हैं ऐसा स्पष्ट दीखता है। क्योंकि सभी विश्व एक अव्यव्य अद्वय सत्ता है इस कलम उच्छेद एक विद्यालयको कह पाहुँके तो उसका अधिक परिचय अव्यव्य विद्यालयोंके भोगवादी चाहिये। इसलिये अब एक एक युगिपर एक राष्ट्र पक्षधरित अव्यव्यमें रहेगा और अब एक दूसरोंको पक्षधरित अव्यव्यमें रखनेका विचार इन्द्राणीय राष्ट्रोंमें रहेगा तब तक इस कल्पमें प्रुक्त समाधान अति और मार्ग कभी प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि वहां सब किसी अव्यव्य एक छाया है। वह—

मेह नामास्ति किंचित्त यो इह मानेय पश्यति
सुखाः च सुखसुमाप्नोति ॥
वही माना-विमिश्र-अव्यव्य-हैव नहीं है जो वही अव्यव्य विमिश्र वस्तु है ऐसा मानना है वही मेहवर्धन

कार्य करने हुआ होना है।" वहाँ सम्पूर्ण विषयों परचर पकटा है एकही बहुत बस्तु है अतः उसका एक यागको बकरा भावकर अलग समझकर विरोधी भावसे जो कार्य होता है वह सबका कुछ बढ़ानेवाला होता है।

इसकिये सब विषयों की बहुत बहुरूप प्रकृत पकटा देखकर अल्प अल्प बहुत भावनायें ही अपने सब कार्य करने चाहिये। सभी विधियों कार्य हो सकते हैं और सभी अल्प भावसे किये कर्मोंसे ही सबका भला विषयका अल्प और अल्पका द्वि हो सकता है। सबके अन्तर्गत एक ही कार्य नहीं सत्ता और विधियों नहीं एक साथ है।

समझा जाता है कि राजा प्रजा अधिक-बोझ उच्च-पीठ नीची-गरीब अधिकारी-अधिकारी यदि एक परस्पर मित्र हैं। परंतु वस्तुतः अधिकारमें इसकी भिन्नता नहीं है। अतः अधिकारमें अपनी बहुरूप प्रकृतता से नहीं देखो। अतः इसमें विवेक और अल्पता बढती ही जाती है। राजा और प्रजा के एक ही है क्योंकि दोनों अधिकारके अन्तर्गत है ऐसा भावकर परस्पर अधिक और अल्प है इसका अनुभव करते हुए जो राज्यशासन बनाया जाता है वही राजाप्रजाका एक ही एक बना लेगा। राज्य अर्थात् राज्यशासन आधुनिक न्यायके अनुसार होना नहीं दिव प्रतिदिन हुआ ही बढता जाता है।

अब तो यह है कि अल्पभावे ही सभी विषयों का होना संभव है। राष्ट्रसेवा भी इसी अल्पभावे होती। सब स्थानमें अल्प भाव ही कुछ बढ़ानेवाला सिद्ध हुआ है। आत्मिक राज्यशासन अल्पता इसका अनुभव ही हुआ है इसका प्रधान कारण है कि हममें प्रजा राजा और राजा प्रजा के मित्र है। जिस समय राजा-प्रजा अल्प भावसे कुछ होकर अल्प होते सब अधिक धन करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहेगी। और वह जब प्रजा की सुधार करनेके कर्मोंमें धन करना संभव होगा। अतः हम राज्यशासनकी (अल्प) कम धनसे चलेवाला (गी १२) कहा है तथा वह धन (सुख के कर्त) धनके किये सुगम है कुछ बढ़ानेवाला है। इस तरह जो भवभूतोक्त राज्यशासनकी प्रतीति पूर्णतः अल्प अध्यापकों की है यह धर्म है, ऐसा ही विचार करने पर

सबको प्रतीति होगा। सबको कुछ देनेवाला वह अल्प भावका राज्यशासन है इसमें सदेव ही नहीं है। तथापि अल्पतामें अल्प भाव स्थिर नहीं हुआ और अल्प भाव बढ़ावा आ रहा है इसकिये वह भवभूतोक्त राज्यशासनका प्रचारमें नहीं आ सकती, और अतः इसका प्रचार नहीं होता अतः कुछ भी तुर नहीं हो सकता यह निश्चित बात है।

हमने विचारनेसे निश्चय हुआ कि अल्प भाव, बहुत भाव अधिक भाव अल्पताभाव सममें स्थिर होनेके पश्चात् वैयक्तिक धार्मिक जातीय प्राचीन प्राचीन, राष्ट्रीय और जागतिक उचितके प्रत्यक्षतम कर्म मनुष्य कर्म रीतिसे कर सकता है और सम्पूर्ण संसार इसी धर्म व्यवस्थाकी प्राप्ति किये अल्पता अनुभव है। सम्पूर्ण मानवीय व्यवस्था इसी किये हो रहे हैं परंतु अब विचारों को योग्य मार्ग दीजना ही नहीं इसी किये वे विचार मार्गों पर रहे हैं।

यदि श्रीमद्भगवद्गीतोक्त अल्पभावाकी शिक्षा सर्वत्र हो जाय और इस सुखिच्छासे सब अल्पता सुखिच्छा धन जाय तो विश्वमें सब योगोंमें अल्प भाव स्थिर हो जायगा और सम्पूर्ण अल्पता अल्प भाव प्रत्यक्ष कर सकेंगी जिसकी इसको बड़ी बल है।

इसकिये कोई यह व समझे कि अल्प भाव होनेके बाद जो अल्प भाव मनुष्यक सममें स्थिर होनेवाला है वह होनेके पश्चात् मनुष्य कर्मप्रवृत्त बनैगा। वस्तुतः सब तो यह है कि वह परिच्छिन्न अल्प भाव सममें स्थिर होनेके पश्चात् ही मनुष्य सभी राष्ट्रसेवा सभी विषयों और सभी भावसेवा कर सकता है। अल्प भाव होनेके पश्चात् ही मनुष्यका कार्यक्षम अधिक विस्तृत होता है। अल्प भावसे अल्पता के अन्तर्गत सभी वही विचार क्षेत्रमें प्रवृत्त जाता है।

अल्प भाव या अल्पता अधिक कार्यक्षम यह विस्तार है।

विषय और अल्प

यहाँ पाठकोंकी सुविधाके किये विषय और अल्प में जो धर्म है उसका लक्ष्य करना आवश्यक है। अल्प और विषय से धर्म समाज अर्थवाले नहीं हैं अतः समाज सभी को हमसे समाज अर्थ मनुष्य करव है।

जगत् बह्मकेवासा है और विश्व बैसा नहीं है। जगत् सिध्दा है परंतु विश्व कायस्थ है। इसलिये इसके अर्थात् का पृथक् भेद समझ लेना। जगत्-वचन है।

इस श्रीमद्भागवतमें परमेश्वरका विश्वरूप कहा है। जो विश्वरूप है वह जगत् रूप नहीं है। कुछ लोग दोनोंको एकही मानकर बड़ी गड़बड़ करते हैं बजाही भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसलिये इसका भेद विचार करना चाहिये।

परमेश्वर-निर्मित विश्व है, परन्तु बैसा जगत् नहीं है। जगत् मानवनिर्मित है। इस विषयके कई उदाहरण केसर विचार करना चाहिये उन यह विषय स्पष्ट हो जाय संभव है। देखिये—

बृक्ष परमेश्वरने बनाये हैं, इसलिये वे विश्वके भाग हैं, परंतु बृक्षकी कंकडियां काटकर चौरस चौवाही पेटी बहुत हार बिछवी बाँधि जो बर्तन चीजें बनाई जाती हैं उनका सम्बन्ध जगत्में होता है। यह मनुष्यनिर्मित है। इसी तरह सुवर्ण परमेश्वरकी निर्मित है उसको केसर सुवर्णकार कनेक चायूध बनाया है, वह जगत् है, तथा मानवनिर्मित है। मिट्टी ईश्वरनिर्मित है तथा वह विश्वरूप है परन्तु वह। बस्ती दीवारें बाँधि मानवनिर्मित चीजें जगत्में संमिश्रित हैं। इस तरह विचार करनेसे विश्व क्या है और जगत् क्या है इसका विचार हो सकता है।

जगत् माध्वय है वह सिध्दा है और वह ईश्वरके विश्व रूपमें मण्डलित नहीं है। जो परमेश्वरनिर्मित हैं उनके कर्मोंको धारण करके परमेश्वर विश्वरूपी बन गया है। यही मानवनिर्मित होनेसे वह जगत् रूपी है और विश्वरूपी नहीं है तथापि उसकी मिट्टी विश्वरूपमें संमिश्रित है इस तरह वह जगत् रूप है परंतु मिट्टी और काष्ठ विश्वरूप है। यही विचारही सूक्ष्मताके साथ विचार करके इस भेदको जानना चाहिये नहीं तो यह स्वहीकरण भी पुर्णबोली होता जायगा। इसलिये इसका विवरण दूसरी शीटिसे करते हैं—

जो और पुष्प ईश्वरनिर्मित हैं इसलिये वे विश्वरूप हैं परंतु पत्ति-पत्ती और इनके बननेवाले अनेक वाते वे सब मानवकर्मित और मानवीय व्यवहारके कारण उत्पन्न हुए हैं जब वे प्रायिक व्यवहार प्रायिक हैं। कपड़ा-पामा काकी-मामी चप्पा-चप्पी दाया-दायी बाँधि सभी वाते प्रायिक व्यवहारके हैं इसलिये वे सिध्दा जगत्के भाग हैं। विश्व

भाषको वे मिट्टीवाले हैं विश्वरूपपर वे जगत्मिष्ठ हैं। वस्तुतः इनमें समता नहीं है। किसी पुष्पको परमेश्वरने पत्ति करके उत्पन्न नहीं किया और किसी कीको उसकी पत्ती करके भी उत्पन्न नहीं किया। मानवोंने अपने व्यवहारके कारण वे वाते उत्पन्न किये हैं। विचार करनेपर वे वाते सिध्दा हैं ऐसा हरएकको स्पष्ट हो जायगा। परमेश्वरने जो अपने विश्वरूपमें की और पुष्प उत्पन्न किये हैं वे जो स्थायी हैं परंतु पत्तिज और पत्तीज जगत् रूप होनेसे सिध्दा है और विश्वरूप हीनमें बाध भी है।

ईश्वरने मनुष्य निर्माण किये हैं और वे विश्वरूपमें संमिश्रित भी हैं। परंतु राजा अमात्य, मंत्री सेनापति व्यापारीक सैनिक सेवक, सुत व्यापारी क्रीडारत किसान चोर, साधु स्तुत्य जस्तुत्य गरीब सब जो व्यवहारिक व्यवसाय प्रायिक भेद हैं वे अपने सब जगत् रूपी हैं तथा सिध्दा हैं। मानव विश्वरूपमें संमिश्रित होनेसे सब हैं। परमेश्वरने किसीको जगत् रूपके निर्माण नहीं किया और किसीको सेवक करके भी उत्पन्न नहीं किया। जो-पुष्प भेद ईश्वरनिर्मित है, तथा वह सब विश्वरूपमें संमिश्रित है परंतु स्थायी और सेवक वह भेद प्रायिक व्यवहारके कारण बना है इसीलिये वह सिध्दा है। किसी राजाकी कुत्ता हुई जो सेवकका कारण बनता महामंत्री भी सब समता है परंतु राजाकी कुत्ता होनेसे पुष्पकी की बन नहीं सकती, इससे विश्वरूपकी प्रायिकता सब छाटा और अन्यसे व्यवहारिक संबंधकी सिध्दाकता स्पष्ट हो सकती है।

मनुष्य और कारकावदार वे व्यवहारिक जगत्के भेद हैं तथा वे सिध्दा हैं। इसी कारण जो मानव मनुष्य है वह जोके सिध्दा वाद कारकावदार बनता है परंतु दोनों मानव हैं इसलिये उन दोनोंका मानवत्व विश्वरूपमें संमिश्रित है और मनुष्यत्व तथा कारकावदारी प्रायिक व्यवहारके कारण उत्पन्न होनेसे सिध्दा है।

जब जो सारा है वह एक उस कार्यसे इत्यादि जाता है क्योंकि उसकी साराही प्रायिक व्यवहारसे उत्पन्न हुई होनेके कारण सिध्दा है। परंतु उसका मानवत्व इतकर उसपर भेदकत्व नहीं जाता क्योंकि मानवत्व ईश्वरनिर्मित होनेसे सब है।

छंपूर्ण भूमि परमात्मविर्मित होनेसे विचकनी होनेके कारण एक है परन्तु उस भूमिपर ये आहतवर्ग चीज विकृत भावि जो देख हैं वे मानवीय प्रयत्नसे और कल्पनासे सम्पादनासे होनेके कारण वायविक व्यवहारसे उत्पन्न हुए हैं। उन राष्ट्रोंमें जो प्रामाणिक संधावाप हैं उन प्रामाणिकों को वैयक्तिक स्वाभिव्यक्त भूमिभिन्नांग हैं वे सबसे सब जागतिक व्यवहारसे मानवीय कृतिसे उत्पन्न होनेके कारण अमर्युप हैं और ज्ञान् मिथ्या होनेसे वे सब मिथ्या हैं। विचकनी की समझ इस जागतिक भागोंमें नहीं है।

विचकनी भूमिमें एक मनुष्य कहता है कि इसका भूभाग मेरा है इसका दूधरेका है इसका तीसरेका है यह सब मिथ्या व्यवहार है। लोग इस मिथ्याकोही एक मानते हैं और उड़ीपर कितनी जाति-व्यव करते हैं। यह सब अज्ञान है यह सब झुठका हेतु है। मेरा यह झुठका हेतु है। वस्तुतः कुछ भी मेरा नहीं है। यह सब प्रभु का है। जो प्रभुका है उसे मेरा कहना अज्ञान है। इस मेरा कहने के कारण कितने दुःख उत्पन्न होते हैं इसका पाठक विचार करें और इस उच्छिन्न व्यवस्थाके अमर्युप मानकर इसका निचकनी केन्द्र विरोध है यह देखें और निचकनी परचाय करना धर्म है। यह मेरे पक्ष को हटानेकी और अर्थक निचकनीय सत्ताको जाचनेकी दृष्टि दिखानेकी है। निचकनी दृष्टिमें मेरा घर मेरी भूमि यह बात नहीं है। वहाँ सब परमात्माका अक्षर एकल निचकनी है। इस अक्षर निचकनी सत्तामें अक्षर करनेका कार्य मैं मेरा ए मेरा ये बात कर रहे हैं। वही मिथ्या कात् है।

कहें (मन्त्रमात्राधर्म) कहता था कि ये मीथ्याद्वेष-दुर्बोधनमें मेरे गुण पिठमह अर्थात् स्वभावीय अंगमन्त्री वासिवातिक कम हैं इच्छित है इनको मरणा पाप है। स्वभावोक्त यह नहीं करना चाहिये। उसको मगवात् औष्ठ्यने रिचकनी ही और अक्षर परमात्माका अक्षर एकल निचकनी बघावा जिसमें छंपूर्ण मानव समिकित है ऐसा कहने देका। उसे अक्षर एकल नकही निचकनी रिचार् रिच, रिच कममें ये मेरे आश्रयकी हैं यह अर्जुनका वायविक व्यवहारका भ्रम मित्र मया और निचकनीमें सब प्रमाण हैं ऐसा बोध हुआ। इससे कल्पित पारिवारिकता

कारण उत्पन्न होनेवाला उसके मलका मोह दूर हुआ। इस से अर्जुनका मन अगच्छमसे विगटा हुआ था उसको विचकनी-वृत्तमसे परिशुद्ध किया गया वह बाव पाठकों मन्त्रमें विस्ताररूपसे आ जावगी। वही अगच्छ और विचकनी है किंवा एक मिथ्या-दृष्टि है और दूसरी सत्य-दृष्टि है।

इसीको हम कोटि काव्यधर्म और स्पष्ट कर देते हैं। एक दृष्टिसे सब वाक्य राष्ट्रों हैं यह निचकनी दृष्टि है। दूसरी दृष्टिमें हर एक वाक्य उसके मातृप्रियाका है यह अगच्छ दृष्टि है। ये दोनों दृष्टिवा परस्पर मित्र हैं और इनका परिणाम भी विकृत मित्र है। देखिये निचकनीसे सब वाक्य राष्ट्रों हैं राष्ट्रही उन सबका बघावोग्य पाठक करें उनको बघावोग्य सब भोगोपभोग देखें और राष्ट्रीय छत्र संस्कारोंसे सपन्न करें। इस निचकनीसे न कोई वाक्य गरीब है न कोई बगवान् है, सब समान हैं सबका पाठक-प्रेम समानवत्ता होनेवाला है। इस समतामें जो जाति है उसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं।

दूसरी जागतिक दृष्टि है। उसमें कई वाक्य विवेक हैं कई बड़े बगवान् हैं, कई स्पष्ट हैं कई अस्पष्ट हैं कई सरावरीके हैं और कई परदक्षिणिक हैं कई स्वतंत्रोंके हैं और कई परतन्त्रोंके हैं। मन्त्रोंके वाक्य मूकें भर रहे हैं बलिबलि वाक्य आतामसे फैल कर रहे हैं सरदारोंके वाक्य अन्तसे दूसरोंपर काखन कर रहे हैं और परदक्षिण गुलामोंके वाक्य अन्तसे गुलामीमें खर रहे हैं अस्पष्टबलि वाक्य स्पष्टबलि पाठ्याकारों में नहीं जाते और राजाका पुत्र अन्तसेही राजा होनेका गर्व करता है। यह अगच्छव्यवहार है निचकनी पारमार्थिक दृष्टिसे यह मिथ्या है। अन्तिकारक है अज्ञान है, अन्तर्धर्मों केदलेवाका है और दुःख बढाने वाला है।

जो निचकनी रिचकनीय व्यवसाय है वहाँ सब वाक्य राष्ट्रों दृष्टिसे समान और राष्ट्रों द्वारा पाके पोछे और सज्जन किमें जाने योग्य हैं। वहाँ हर एकको अपने मुक्ति बघपर जवा होनेका मार्ग सुझा होना वही अक्षरदृष्टि है और सबका मुक्त बढानेवासी और सबका हित करनेवासी रिचकनी दृष्टि है। अक्षरधर्मममें वही निचकनी दृष्टि थी। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जावगा कि आधर्ममें अक्षरधर्म वागवत्त और सन्ध्याधर्म वही समदृष्टि

काय करती है इसी कारण हूँ तीन आश्रमोंमें उच्च नीचता नहीं मानी जाती थी। इतिह सुहामा भी महाबली श्रीकृष्णजीके साथ युद्धकुक्षमें पड़ा था बायमस्थयमें भी समाप्त इतिहासी व्यवहार था।

विद्याविनयसंपन्नो ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

गुनि वैश्व भूपते च पशुनाः समदर्शिनः॥

विद्वानी ब्राह्मण कर्णक और चण्डाल समाप्त-इन्होंने इसे ज्ञाते हैं। सभी विषयमें समाप्त होछें हैं वहां विषयताही रहि। इही नहीं समझी। वहां विषयता रहिमें सभी रूप एक बहिरीय ईश्वरक रूप हो जायें वहां इतिहासी विषयता कहा रहेगी। इस तरह इतिहासी समाप्तता वहां प्रभाव है।

जमें परिपक्वी पुत्र मार्ग बहिस बाहि समझी विषयकी परमात्मके प्रत्यक्ष रूप हैं एकही ईश्वरके रूप समझकर उच्च पञ्चभोग व्यवहार होने लगा तो आत्मका एक हुनरेको इश्वरके विषयताका बुझावानी व्यवहार रहेगाही कहा। हरएक अपने अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये उत्पन्न रहे हैं क्योंकि सब व्यवहारमें हनुमान है अर्थात् वहां हनुमान है वहां बुझावानी भाव है। परंतु सब लोग वहां बहिरीय परमात्मके विषयके समान बंध हैं वहां हनुमान रहेगाही कहा। वहां तो सब एकही परमात्मके रूप हुए। इस तरह निर्गुण स्थिति होनेके पश्चात् सभी आत्मके अर्थात् अपनेही रूप हैं तो लगभगका करवानी क्या रहा। इस तरह हनुमान मूढ़की कल्पना है। यदि कोई हनुमानका रहा तो वहां पर भाव रखनेवाला कहेके समान बुझाव रहेगा उच्चको इश्वरानी पड़ेगा। परंतु यदि सब कोगें इस तरह आत्मकाकी एककपता बोधित और प्राप्त रही तो जमें आत्ममन्त्रात्म सब व्यवहारमें रहेगा और वह गृह परम आत्मका स्थापन होगा।

राहमें भी राजा प्रजा राजपुत्र तथा अन्योन्य कोश इस विचारमें पुत्र होकर सर्वत्र विषय देखने लगे तो राजा प्रजाक समझे रहेंगे कहा। आत्मक तो सभी भोग परस्पर पर भावके देख रहे हैं इससे चारों ओर समुदासी बंध रही है। वह पर भाव हट गया और एकत्र का भाव का गया तो सर्वत्र आत्मभावही

व्यवहार होगा। राजा कहेगा कि मैंही प्रजा हूँ मेरे लिये प्रजाही परमात्मा है क्योंकि सभी परमात्मके विषयमें समिद्धि हैं। उस विषयके कोई बाहर नहीं है। वहां राजा और प्रजा इस तरह एक हो गये वहां एक हुनरेको चायेगा यह कैसे हो सकता है। एक दूसरेपर व्यवहार उत्पन्नही करते हैं अवतक पर भाव कार्य करता है, एकत्र भावका उत्पन्न होनेपर आत्ममन्त्रात्म व्यवहार होने लगे तो वहां सभी विषयका मार्ग समझा चाहिये, वहां किसीको अपने अधिकार सुरक्षित रखनेके लिये बुझ करनेकी आवश्यकताही नहीं है। वहां तो कोई दूसरा हैही नहीं वहां तो अव्यवस्थ (अन्-व्यवस्थ) कोई दूसरा नहीं स्वयं मैत्री सब हूँ किन्ता परमात्मकी एक कल्प है। वह भाव सर्वत्र होगा और उस कारण लगे अपना अधिकार हरएक सुरक्षित रखा है, उसी तरह सबके अधिकार आपसी भाव सुरक्षित रहेंगे। समूर्ण राष्ट्र इस विषयके स्वर्गवास बन जायगा और आत्मिक विषया व्यावहारिक इतिहास कारण जो अर्थात् सबके उत्पन्न होते हैं उच्चको एक ही लगता नहीं होगा क्योंकि सब व्यवहारमें कोई ऐसी नुति रहेगीही नहीं।

ऐसे विचारविचारके लक्षणमें न चोर होगा न छत्र न व्यवहारी, न दुराचारी न लकी न कपटी न चोखेचाल न कोई स्वार्थी (सुहृद्), न आत्माही होगा सब बंध-बोध्य व्यवहार करनेवाले होंगे अतः न व्यापककोई आवश्यकता रहेगी न संरक्षक सैन्यकी आवश्यकता क्योंकि किसीपर किसीका अत्याचार होनेकी संभावनाही नहीं रही है। वहां तो सबही मनुष्य विचारमाकी सेवा करने रहेंगे और सभी निर्दोष व्यवहार करते रहनेक कारण किसी प्रकारके पाप आचरणमें होनेकी संभावनाही नहीं। वह राज्य पूर्ण पुष्पोंका होगा अतः उच्चमें हनुमान ही होगा।

पाठक कहेंगे कि वह स्वर्गीय साम्राज्यकी आत्मिक कल्पना दीखनेके लिये अच्छी है परंतु वह इस व्यवहारमें किसी उत्तरी है। इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि अपविष्टताका एक राजा विषयके इसी तरह अपने राज्यकी व्यवस्था की थी इसकी छाया देता है—

म मे स्तेनो जलपत्ने न कक्ष्यो न मघपा
नामाहिताग्निः न स्वीरी द्वायेरिणी कुतः।

“मेरे राज्य में चोर नहीं है, छुपन नहीं है, मछली नहीं है, स्वेराचारी नहीं फिर स्वेराचारी की भी कैसी मिलेगी ? इस तरह वह राजा अपने राज्य का वर्णन कर रहा है । इस राजा को छोड़ी रावती देवेक कोई कारण नहीं था और बाब भी किसीने इसमें असमझा होनेकी कल्पना नहीं की है हल्काही नहीं इस देशके विषयमें अन्य देशीयों को इतिहास किताब है उसमें ग्रीस देशवालों ऐसा ही किताब है कि भारतवर्ष में चोरी नहीं होती इसलिये लोगों को उसके कल्पनेका विचार भारतवर्ष में नहीं है । वो सड़क बर्य एवं बर्य ग्रीक लोग नहीं जाये थे उस समयका वह वृत्त है । इसी तरह स्वेराचारके कालाव कालिके विषयमें भी समझा किताब है सफ़ी है । जर्मन को यूरोप राजा ने अपने राज्यके विषयमें कहा था वह सच होनेमें संदेहही नहीं है ।

यदि एक राज्य ऐसा पूर्ण पुरस्को हो सकता है तो निःसंदेह अन्य राज् भी ऐसे परिशुद्ध हो सकते हैं । श्री मन्त्रागृहीतों को पूर्ण पुष्पके कल्पन करे हैं वे केवल कल्प करनेके सिधेही नहीं करे हैं वे आचारवर्ग कालिके सिधे करे गये हैं । और यदि आचारवर्ग कालिके सिधे साम्प्रतिक रूपसे प्रचलन होगे, तो निःसंदेह वे सद्गुण मनुष्यों में पा सकते हैं क्योंकि सब मनुष्योंका आचारवर्ग शुद्ध यदि किसी भीदिके होना संभव हो तो इसी आध्यात्मिक नीतिसे ही हो सकता है । अतः वह आध्यात्मिक नीति मनुष्योंके आचारवर्ग कालिके सिधेही उपविपरीत और अपगृहीताने करी है । वेदों में भी सबसे प्रारम्भमें यही नीति कही है । मगवात् श्रीकृष्णका अवतार इसी आध्यात्मिक नीतिको जनताके आचारवर्ग कालिके सिधे था ।

इस तरह विचार करनेसे परमार्थमाका विधकप मनुष्योंकी इष्टिमें आ सकता है परन्तु इसलिये राष्ट्रीय प्रवर्तकोंकी आवश्यकता है । जो नीतियों कहा है कि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यत्नसि सिद्धये ।
इहो मनुष्येण कोई किराही इस सिद्धिके सिधे पल करण है । वह तो समस्तके व्यवहारमें प्रसिद्ध है । हममें बहुत बह वर्तमान काकका प्रयोग है । कारकों के दोहे हुए का हीन समाजव्यवस्था हो चुकी थी उस समय मनुष्यों मनुष्योंके दृष्टि मनुष्य सिद्धिके सिधे पल करण होय आवश्यक कदाचित् सचों मानवों एक

मिलेगा भी नहीं परन्तु कारकोंमें एकत्र मिल जायगा । परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि यदि राष्ट्रीय शिक्षाप्रवृत्ति गये धार्मिक रूपसे रची जाय और समुपगुकी प्रभावी शुद्ध करनेके सिधे सामूहिक रूपसे राष्ट्रीय प्रचलन ही और सब राष्ट्र उसी ध्येयसे प्रेरित होकर चल करें तो वह आध्यात्मिक नीति मानवोंके व्यवहारमें अवश्य जायगी । उस सिद्धिके सिधे वैसेही प्रचलन होने चाहिये । वैध प्रचलन होगे तो अवश्य वैसा पूर्ण पुरस्को समान बनेगा ।

आकलन प्रचलनही विरुद्ध सिद्धांते होते हैं इसलिये एक कदुबे जाते हैं । इससे पूर्ण पुरस्को समान कदापि नहीं बन सकता ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है । अस्तु ।

जो विधकप देशकेकी विध्म दृष्टि है उसका सार्वदेशिक प्रचार किया जाय तो वह विध्म दृष्टि सब मानवोंको प्राप्त हो सकती है और जिनमें विधकप देशकेकी दृष्टि उचित हो सकती है, वे पूर्ण पुरस् बन सकते हैं इसमें कोई संदेहही नहीं । परन्तु कबक प्रचारकोंकीही कमी है ।

यदि विध्म दृष्टि प्राप्त होकर सब परमार्थमाका विधकप देश सकता है और संवयन कदुबेपर बड़े पुराणदुको भी उसकी कुछ कल्पना आ सकती है (गी. अ. ११) और यदि यज्ञोत्तमाकाको भी परमार्थमाका विध्म विधकप दीप्त सकता है (भीमव्रजपर्व) और यदि अज्ञानके रथके चारों ओर खड़े रहे वैपिकोंको भी विधकप दर्शन हो सकता है (गी. ११) तो अन्य मनुष्योंको वह विधकप क्यों न दीयेगा । अवश्य अवश्य दीयेगा और सार्वदेशिक प्रचलन करनेपर वह समुपगु राष्ट्रभरमें अवश्य प्रारंभ होगा । परन्तु उसक सिधे बोध सिद्धांते प्रचलन करने चाहिये । अस्तु ।

इस कारण वह मगवात्तोंके विधकप-वर्णन होनेका शुभ व्यवहार मानवी व्यवहारमें पालित हो मन्त्रा या नहीं इस विषयमें किसीको संका करना बोध नहीं है । उसका दीप्त प्रचलन करनेपर सिद्ध होनेवाली वह बात है । प्रचलन किया तो सिद्धि होती न किया तो नहीं होगी इसबाही सब संकाके विषयमें उत्तर है ।

इस तरह भीमव्रजपर्वानामें प्रत्यक्ष परमेश्वरका विधकप दर्शन करनेका उपदेश दिया है जो सर्व जगद्गिरी है । अब नीताके जगद्गिरी अन्यप्रयोगों में विधकप-प्रचलन

धरतीपरके धर्म के रोमांचमें सब ब्रह्माण्ड धूमिल थे
प्रभु उठके धरतीपरके ऊपरविष्णु थे उसका मन्त्रार्थमें १३
कोटि है वह थे उठके एक भागमें १४ भुवन स्थित थे ।
इस तरह वह विश्वकी विभाजक है । वह वर्णन भी वेदके
पुरुषसूक्ते वर्णनके समान दीखता है । पाठक इसकी तुलना
गीताके वर्णनके साथ करें । गणेशपुराणमें और एक स्थापनमें
विश्वरूपवर्णन है वह अब देखिये—

मुखमध्ये वदार्धस्य विश्व विश्वस्वकापिणः ।
सप्तद्वीपा वसुमती पुरप्रामवनाकराम् ॥ ४२ ॥
ब्रह्माण्डं भास्करं शेषे विष्णुं परंतत्सागराम् ।
गणधाम्यसुरार्धासि मुनिपसिगणानपि ।
नदीधापीतहागामि मनुनपी वसुमपि ॥ ४३ ॥
शशिचूर्णानिहोनि सचेतनमचेतनम् ।
पाताकाभ्यपि सप्तानि स्वर्गानप्येकचिंशतीन् ४४
एवं त्रिभुवनं दृष्ट्वा मुमुक्षुं गिरिजा तवा ४५ ॥
(गणेशपुराण श्रीब्रह्मण्ड व १२)

पारंगीमे विश्वकी गणेशके मुखमें संपूर्ण विश्व
देखा । सप्त द्वीप, भूमि नगर ग्राम सब ब्रह्मा सूर्य शेष
विष्णु, वर्तत क्षमार् संचरं यह साक्ष्य सुनि पक्षी
नदी कुम्भ, पाताल मनु, आठ वसु अम्ब सूर्य ब्रह्म
सब सचेतन और अचेतन सात पाताक इक्कीस स्वर्ग
त्रिभुवन वह सब देखा ।

वह वर्णन बालविक विश्वरूपका वर्णन नहीं है वह
ब्रह्माण्ड अक्षिओंकी विण्डमें दृष्टानेवाला वर्णन है । विण्डमें
भी वही सचित्रा है जो ब्रह्माण्डमें है । उस अक्षिओंका
वर्णन हमनेभीने वर्णने पुत्र भीमनेश्वरीके शरीरमें किया ।
ऐसा वर्णन करनेके स्वाभाविक किमनेवालेने बहुरूप कल्पनाके
कारण अथवा विश्वरूपकी ठीक ठीक कल्पना न होनेके कारण
भीमनेश्वरीके मुखमें उमादेवीने विश्व देखा देखा कहा ।
बधुता जो विश्वरूपवर्णन है वह अक्षि के मुखमें नहीं देखा
ब्रह्मा वह तो विश्वब्रह्माको विश्वरूपमें देखा होता है ।
परन्तु किमनेवाला साक्षात्कारी नहीं होते और कल्पनाके
जो प्रतीत होता है किम देव है । विश्वरूपी परमेश्वरका
नामही विश्वब्रह्मा अथवा सर्वार्थ है उस सर्वार्थमाके
संपूर्ण रूपमें देखा है विश्वार्थमाका अनुभव विश्वरूप का
करना है । वही मुखमें विश्व वीरवर्णकी कल्पना बधुता है ।

इसी तरह भीमब्रह्माण्डमें भी कहा है, वह विषय अब
देखिये—

पीतमायस्य जननी सा तस्य दन्तिरस्मितम् ।
मुखं जाळयती राजन् जूम्मातो वदशे इदम् ॥ १५ ॥

हं रोदसी ज्योतिरसीकमाशाः

सूर्येभुवद्विभ्यसनाम्भुर्धाम् ।

द्वीपाधगास्तद्भुद्विभुर्धामि

भूतानि यानि स्थिरजंगमानि ॥ १६ ॥

सा वीर्य विश्व सहसा राजस्संजातवपुः ॥ १७ ॥

(भीमब्रह्माण्ड १ १८)

यगवाम् भीष्मने जमुदाई की तब उसकी माताने
उसके मुखमें बाकप्र वापु, अग्नि उल्लूक पृथ्वी दिवा
सूर्य अम्ब सप्त द्वीप पवन नदियां सब स्थावर जगम
भूतोंको देखा और उसके मुखमें सब विष द्रव्यक वह
कृष्णकी माया कल्पने करी ।

वह विश्वरूप कृष्णके मुखमें देवकी कल्पना की विण्डमें
ब्रह्माण्ड तब दिवादेव अक्षिओं की मई है । कई लोग हमका
नाम विश्वरूपवर्णन करते हैं, परन्तु वह विश्वरूपवर्णन नहीं
है ।

भीमब्रह्माण्डमें विश्वार्थके विश्वरूपका वर्णन करनेके
प्रकारसे जाना है उसका संक्षेपसे वही उल्लेख किया जाया
है ।

भीमब्रह्माण्डमें विश्वरूप

एकही परमात्मा ब्रह्मा विष्णु-शिवक रूप प्राप्त करता
है । इस विषयमें भीमब्रह्माण्डवर्णन करते हैं—

सर्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैः ।

युक्ता परा पुरुष एक इहास्य भक्त ।

स्थित्याद्यो हृदिपिरिम्बिहरति संज्ञाः ।

धेयांसि तत्र शान्तु सर्वतनानुर्वा स्युः ॥ १३ ॥

(भी मा स्क १ ११२३)

यत्न रज और तम ये तीन गुण परमात्माकी प्रकृतिक
है इन गुणोंके पुत्र होनेके कारण एकही परात्पर पुरुष
ब्रह्मा, विष्णु और शिव वह तीन भगवत् धारण करते उत्पत्ति
विधिवि ब्रह्म करवाते और संपूर्ण मानवार्थ कल्याण
करवाते ।

पराधरेणो महद्वशुष्को
असोऽपि जातो भगवाम्पथाभिः ॥

(भीमजागृत ३१।१५)

पापुधेवादि दान्त और राक्षसादि क्रूर रूप ईश्वरकी ही है। जब दान्त कर्णोंकी क्रूर कर्णोंसे पीड़ा होती है तब वह स्पर्श भङ्गमा होता हुआ भी अपनी मङ्गलिके साथ उत्पन्न होता है । ” वही दान्त और क्रूर दोनों परमात्मामे रूप हैं। मनुर्वेदे ज्ञानके उद्भवकी परमेश्वरके धोर (क्रूर) और शिव (दान्त) ऐसे रूप हैं ऐसा कहा है वही बात वही व्यक्तित्व है । महर्षेका कथन है—

मम उग्राय च मीमाय च ।

मम शिवाय च शिवतराय च ॥ (प १६७ - ७२)

क्रम और शिव के दो प्रकारके रूपकी रूप हैं । और वही च जन्ममेवका होनेपर भी जन्मता (अतोऽपि ज्ञात) है । वह बात भी महर्षेद्वन्द्वके ही है जैसा देखिये—

मजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा
विजायते । (वा य ३१।१९)

च जन्म केमेवका मजापति गर्भमें होकर अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है । वही अन्तर्जायमानः विजायते के महर्षेदेके जन्म अतोऽपि ज्ञात के समानही हैं ।

इस तरह भीमजागृतमें विभक्त्यर्थक है । जब विष्णुपुराणमें विभक्त्यर्थक देखिये—

विष्णुपुराणमें विभक्त्यर्थक

पुराणोंमें विष्णु-पुराण बहुत प्राचीन है । इस पुराणमें अनेक स्थानोंमें परमात्मामे विभक्त्यर्थक वर्णन आया है । वह बहुत बोधार्थ विषय है—

यद्वन्तु वैष्णवाः कायस्ततो विप्र वसुधरा ।

पद्माकाप समुद्रभूता पर्यताभ्यादिचमुता ॥१७॥

ज्योतीषि विष्णुर्भूयमानि विष्णु-

भनानि विष्णुर्गिरयो विप्रश्च ।

मयः समुद्राश्च स एव सर्वे

यद्वन्ति यद्वाप्ति च विप्रवर्ष ॥ १८ ॥

पावस्वरूपो भगवाम्पतोऽसा

वधोपमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।

ततो दि शैलाम्बिधरादिमेवात्

जामोहि विज्ञानयिन्निभतानि ॥ १९ ॥

एक सर्वैक परमा परेशः

स वासुदेवो न यतोऽप्यवस्ति ॥ ४४ ॥

(विष्णुपुराण अं १ अ १९)

‘ विष्णुका जो लक्ष्मी धारी है, उससे पूर्वों और समुद्रोंकेविषय पृथ्वी उत्पन्न हुई । ज्योतिषां भूतन वन पूर्वत दिशाएँ, नदियां समुद्र वह सब विष्णुकी है । जो कुछ है वह सब विष्णुकी है । विष्णु जलस्वरूप होनेसे वह लक्षण रूप है तथापि वह वस्तुस्वरूप किंवा परार्थाकार नहीं है, उसके लक्षण रूपसे पूर्वत समुद्र पृथ्वी आदि मह विश्वावकेही विकास हैं ऐसा समझो । वही एक सत्त्वक्य वही परमेश्वर वासुदेव है जिससे एषक् और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है ।

पृथ्वी आदि पदार्थ भगवान् विष्णुकी रूप हैं । जब तो (वैष्णव काया) विष्णु भगवान्का रहती है । संवित वस्तुमात्र भगवान् नहीं है परन्तु लक्षण-लक्ष्य रूप भगवान्काही रूप है । सब कुछ वासुदेवकी है उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । एषोक्त कोकोमें से सब बातें कही हैं । और भी देखिये—

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः

सप्तपथो ये मनुजसुवन्ध

हन्मन्ध योऽपि विप्रोद्यमसूतः

विष्णोरशेषास्तु विप्रुत्पत्तताः ॥ ४५ ॥

(विष्णु अ १ अ १)

समस्त देवता मनु सखिर्गण मनुके पुत्र सब देवों-का अभिपति हन्मन्ध के सब विष्णुका लक्षण लक्ष्यवि वि ज्योतिषां हैं । वही भी वही बात कही है । देव-मानवादि सप्त वर्तिका परमेश्वरकीही हैं अर्थात् देवमानवादि समस्त लक्षण विभक्त्यर्थक परमेश्वरकाही विभक्त्यर्थक है ।

पाकाय भोऽक्षिस्वमुपति कोकाभिमर्ति पृथ्वीपु रण्यपारभा । शम्भुर्द्विपरी परिपाति विभ्रमर्केशु रूपश्च तमो हियसि ॥ ८७ ॥ कपोति धराः भ्रमसमस्वरूपी क्षाकस्य दृति च जडाधरूपी । दृवाति विभ्रस्थितिस्तस्यितस्तु सपावकाय च नभस्वरूपी ॥ ८८ ॥ यस्तुज्यत सर्गकृद्भारमर्षय यः पाकपते पाकयिता च दृवा । विभ्रामक स्वर्द्धियतेऽन्तकारी पृथक् वयस्यास्य च योऽप्यपारभा ॥ ८९ ॥ (विष्णु अ ५ अ १)

वमिरूप भवत्यस्य तस्मै बह्मजायते यमा ॥ ४५ ॥

विहस्यमानो यो बापा न बापुर्वापि तं वरम् ।

बापुर्वस्य भवेद्भूयं तस्मै बाधवज्रमने ममा ॥ ४६ ॥

भ्योऽस्मि विहति यो विलेभ्याम् वेति न तं हरम् ।

स्याम वत्स्य भवेद्भूयं तस्मै भ्योऽस्मायने ममा ॥ ४७ ॥

सूर्यं विहति यो देवो न सूर्यो वेति दीकरम् ।

वत्स्य सूर्यो भवेद्भूयं तस्मै सूर्योऽयने ममा ॥ ४८ ॥

वज्रन्द्रे विहति सिंभुजन्द्रो वेति न धाक्कतम् ।

चन्द्रो वत्स्य भवेद्भूयं तस्मै चन्द्रायने ममा ॥ ४९ ॥

(सूर्य पुराण अ २)

मम विश्वका एकही प्रभु है उसका नेत्र और मुख सब भार है । वह ईश्वर तुम्हो काप ठेक बापु जाकाय सूर्य, चन्द्रमें रहता है परन्तु तुम्हो काप बादि उखे जानते नहीं परन्तु तिसका रूप तुम्हो भाव ठेक बापु जाकाय सूर्य और चन्द्र हैं उस विश्वजमाके बलस्का है ।

वही तुम्हो काप ठेक बापु जाकाय, सूर्य चन्द्र ये परमात्माके रूप हैं ऐसा कहा है । वही विश्वका रूप परमात्मा का रूप है । ब्रह्मात्मकापमिपक्षमें ब्रह्मर्षीमी आकाश है वही वही विश्व अधिक विस्तारक माय कहा है । इसी पुराणमें बार दिये—

ब्रह्मणे विश्वकाय नमस्तु परमात्मने ।

रवमाधरो महादेव । तं ब्रह्म महेश्वरा ।

परमेष्ठी शिवा घाम्ना पुरतो निष्कको हरा ॥ ११ ॥

मुनिराशिऽनको पापुष्पासाहकार एव च ।

वत्स्य कर्षं वमस्वाभि भवन्ते ब्रह्मसंश्रितम् ॥ १२ ॥

बाध वारभरगमूर्धो वारी तुष्ठी दिखो मुखा ।

आकाशसुरा तस्मै विशाख प्रणमाम्यहम् ॥ १३ ॥

(गुरुपुराण अ ३३)

विश्वकरी परमात्मा ब्रह्म जिये नमस्कार है । गुरु ईश्वर महादेव परमात्मा महादेव परमात्मी शिव घाम्ना पुरुष निष्कक हर है । तुष्ठी काप बाधि बापु जाकाय बहकार वह वम ब्रह्मका रूप है । वमको महा बलस्कार है । जिसकी मूर्धो जाकाय है तुष्ठी पाँच है दिखो भुजा हैं आकाश उर है उम विश्वक नेत्रना हरारक जिये ऐसा ब्रह्माय है ।

वही पर चार विश्वकरीका बल है और वमक वारीमें कायम बलवत कीव है वह भी इसीका है । इसकी मुखका पाँच मुख एकक बलवत माय (अ ११) के । वहीक

वही बलवत वही किया है । सूर्यपुराणमें ऐसाही और एक स्थानपर बलवत है ।

सहस्रधीर्वा पुरुषः सहस्राङ्गुतिरीकरः ।

सहस्रनयनो देवः सहस्रचरणः शिवः ॥ १२ ॥

सहस्रबाहुर्विश्वजमा शिखरी दीप्तकोकिलः ।

ईश्वरकालवदनः परमशठगुः शिवः ॥ १३ ॥

(सूर्यपुराण अ ११)

वह तो पुरुषसूक्तका कल्पवृक्षही है । सहस्र मल्लक, ज्वल आङ्गुति सहस्र नयन सहस्र चरण सहस्र बाहुशलाक विश्वात्मा है । वह परमशठक करीत है । अब शिवपुराण का विश्वकय बलवत देखिये—

शिवपुराणमें विश्वरूप

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहता ।

सा सा विश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरा ॥

(शिवपुराण वा स उ अ ५१०)

हरपक पदार्थमें एक शक्ति रहती है, वह शक्ति महेश्वरी है और वह पदार्थ महेश्वर है । इस तरह एक शक्ति मुख्य तत्त्व कहा है । इसी ब्रह्मावर्तमें तथा बलवत मुख बलवत है परन्तु वह सब वही उद्भूत करनेकी कोई बाधकता नहीं है । इसी शक्तिसे सब पदार्थोंका महेश्वरक होना शिद होता है । वह शक्ति मनबलवत पाठक देखो तो उन्को हरपक पदार्थ किस तरह शिवस्वरूप है इसका बयाने ज्ञान होना ।

अग्यान्व पुराणोंमें भी विश्वकर बलवत बलवत बलवत है तथापि इन सबको वही उद्भूत करनेकी कोई बाधकता नहीं है । क्योंकि व सब बलवत एक उद्भूती हैं और इसमें कोई विशेषता नहीं है । अतः पुराणवचनोंमें बाध विश्वक बलवतका विषय वही समझ करते हैं ।

वेद आकाश आत्मावक उपाधिर्ब्रह्मविद्या भी श्रुत्यार्थोंमें परमात्मका विश्वकयका विषय है । और सर्वव ब्रह्मक समावही है । सब संपत्तिका इस विश्वमें देखना है अतः इसको ऐसाही मानना चाहिये इसमें श्रेष्ठ नहीं हो सकता ।

भगवद्गीताका निदरूप

भगवद्गीताक विश्वकरबलवत गुरु विश्वकका बलवत नहीं है केवल विश्वाक काकारकरी परमात्माक विश्वक बलवतकाही बलवत है । अतः इसका बलवत बलवत बलवत

उचित नहीं है। परमेश्वरके उत्पत्ति स्थिति संसार आदि बनेक गुण और तत्सुसार कार्य हो रहे हैं उनके अनुसार विषयें उसके रूप प्रकट हो रहे हैं। वे सबके सब रूप परमात्माके विश्वरूपमें समिहित हैं और जिस समय साधक जब सब रूपोंको परमात्माके रूपमें समिहित देखेगा उसी समय उसको परमात्माके विश्वरूपका ज्ञान हो सकता है।

इससे निम्न हुआ कि भगवद्गीतामें विवक्षा विश्वरूपका वर्णन है, वह विशेष कर ईश्वरके संसारमात्रका है। छवि स्थितिका वर्णन नहीं। छवि संश्लेषसे है अतः वह परिपूर्ण नहीं है, वह अज्ञानावकाही वर्णन है। विश्व प्रकारका वर्णन नहीं किया है और जो वर्णन आत्म्यात्म्य संश्लेषमें है उसका अनुसंधान करके पाठक बार साधक परमात्माके विश्वरूप को संश्लेषता अपनी कल्पनामें का सकते हैं। परमेश्वर अमन्य है और उसका विश्वरूप भी अमन्य है इसलिये उसको अमन्य मानना समझना और कहनाही पचायें वर्णन हो सकता है। अर्थात् विवक्षा भी मनुष्यकी कल्पनामें का सकता है और विवक्षा मनुष्य वर्णन कर सकता है, वह भी उसके विश्वरूपका एकही भाग होगा। भगवद्गीतामें क्या और किसी अन्य ग्रन्थमें क्या इसका समग्र वर्णन होना संभव नहीं है। क्योंकि अमन्यका समग्र वर्णन करना है तो विश्व सर्व आदि सम्पत्तिही होना संभव है।

धर्माधर्मनिश्चय

इस स्वीकारके परमात्माके विश्वरूपकी कल्पना पाठकों को हो गयी होगी। यह विश्वरूपका विषय अमन्य महत्त्व का है और सर्वत्र धर्माधर्मका निश्चय इसी ज्ञानसे होता है। इस कारण हरएक पाठकके उचित है कि वह प्रयत्न करके इसको ब्यापोग्य समझनेका प्रयत्न करे और समझनेपर उधका पचास मन्त्र करे तथा मन्त्रमें वह ज्ञान स्थिर करे। अपने जीवनके हरएक पक्षमें इस दिव्य दृष्टिसे देखना अपने कर्तव्यको जाननेका प्रयत्न करे और जो कर्तव्य इस दृष्टिसे निश्चित होगा उसको पूर्ण दृष्टिसे निभावेकी परा ध्या करे। इससे जीवनकी पूर्णता हो सकती है।

मक्षया त्यमन्यया शक्या अहमन्ययिष्योऽर्जुन।

प्राप्तुं प्रपुं च तत्त्वेन प्रवेपुं च परतप ॥

(गी ११५७)

॥ स्वाराहर्षे अष्टावक्रा मन्त्र समाप्त ॥११॥

अमन्य दृष्टिसेही (अर्थ) परमेश्वर (प्रविचः) इस तरह विश्वरूपमें दीक्षका प्रयत्न है और उसका उत्पत्ति ज्ञान प्राप्त और उस परमेश्वरमें अपना प्रवेश है यह अनुभव होना भी संभव है। अमन्य साधका कार्य है, मैं उससे निश्चय नहीं। वह मात्र पूर्णतः प्रथम विश्वरूप-वर्णनसेही निश्चय हो सकता है किसी अन्य दृष्टिसे नहीं।

धर्मज्ञानपद्धतिमें (१) अमन्य भाव, (२) विश्वरूप परमेश्वरका ज्ञान (३) विश्वरूप परमेश्वरका दर्शन और (४) विश्वरूप परमेश्वरमें अपने प्रवेशका साक्षात् अनुभव व चारों बातें प्रथम अनुभव की हैं। इस तरह साधकको परमेश्वरका साक्षात्कार हरएक स्थानमें हो सकता है और यही वरको नारायणस्वरूप जाननेका है। इसीसे—

मत्कमकृमन्परमा मङ्गलः संगयजितः।

निर्यरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

(गी ११५५)

साधक ईश्वरका कर्म करे ईश्वरका परम भद्र समझ ईश्वरकी दृष्टि करे लोगोंका संग जोड़ दे बार किसी भूत के साथ बैर न करे। जो ऐसा आचरण करेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा।

वह ईश्वरकी दृष्टि उध प्रकार विश्वरूपकी परमात्माका साक्षात्कार होवेही हो सकती है और मनुष्यमात्रक धर्म मार्गका निश्चय इसीसे हो सकता है। मनुष्यकी कृपाकृपा होकेका यही एकमात्र सत्य साधक है।

मनुष्यको यह ज्ञान हो ज्ञानपर अपने कर्तव्य कर्म करनेके निश्चयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता। यही दिव्य ज्ञान मनुष्यको कर्तव्यवृत्त संस्कारादि और धोक्मोहरादि करनेका है।

अर्जुनको दिव्य विश्वरूपका दर्शन होनेके पश्चात् उसने कोई कर्तव्यविषयक प्रश्न नहीं किया। इसका कारण यही है कि उसको इस दिव्य ज्ञानसे अपने कर्तव्यका निश्चय हुआ और कोई संदेह नहीं रहा। इसीही नहीं परन्तु कर्तव्य-कर्तव्यनिश्चय करनेकी क्षमता भी उधक ध्यानमें आ गयी।

अतः पाठकोंसे विवेचन है कि वे निश्चारादि होकर इस विश्वरूपविज्ञानको पक्षमें अनुभव करें और अपने जन्मके सार्थक बचावे।

‘ जो बन्धनरामा जल पकानेके लिये नदि डुबा है जो
पृथ्वी बनकर सब विश्वका धारक कर रहा है जो इन्द्रादि
रूपसे विश्वका पावन करता है और जो सूर्य-चन्द्रादि रूपसे
सूर्य अन्धकारका नाश करता है । जो आल प्रकाश रूप
बनकर सब प्राणियोंमें फैला करवा है, जो जल और सब
बनकर सबकी दृष्टि करवा है तथा जो आकाशरूप धारण
कर सबकी स्थिति करवा है । जो सृष्टिकर्ता होकर आपसी
जपनी रचवा करवा है जो जगत्का पावन करनेवाला
होकर जपनीही पालना करवा है और संहारकारी होकर
अपने आपकभी संहारन करता है तथापि जो उत्पत्ति-स्थिति
जैसेके पुष्प वर्तमान है । ”

इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे कहा है कि वह नदि आदिक
रूप धारण करके विश्वका सब कर्म करता है । नदि आदि
रूप धारण करनेवाली उत्पत्ति विश्वरूप होना है । वह
परमात्मा भूमि जल नदि वायु, आकाशके रूप धारण
करवा है वह वायु पान्क ध्वजमें कायेंगे तो उनको परमे
श्वरका विश्वरूप सहजही समझमें आ सकता है । वही आत्मा
और प्रकाशसे देखिये—

तस्य पयोनिधयश्शेखरसरितस्तथ वनानि च ।
मेदिनी गगनं घाघरापोऽग्निस्त्व तथा ममः ॥११॥
बुधिरव्याकृतप्राजाः प्राणेशस्त्व तथा पुमान् ।
पुंसां परतरं यच्च व्याप्य जगन्निष्कारयत् ॥१२॥
त्वष्टोऽस्यः सपिणरो यज्ञगन्धर्वकिचरा ।

सिद्धाश्चाप्सरसस्त्वन्तो मनुष्याः पशवः खगाः ॥१५॥
सरोरुपा मृगाः सर्वे यन्तः सर्वे महीरुहाः ।

यच्च भूतं मयिष्यं च किंचिद्वज्रचराचरम् ॥१९॥
मूर्तामूर्तं तथा चापि स्थूल सूक्ष्मतरं तथा ।
तत्सर्वं त्व जगत्कर्ता नास्ति किंचिदस्थया यिना ।

॥ १३ ॥ (विष्णु बं ५ अ २३)

हे प्रभो ! इसी समुद्र पर्यंत नदियां वन पृथ्वी
आकाश वायु जल नदि और मम है । बुद्धि अध्याकृत
प्राण प्राणीका अर्धोप पुष्प और पुष्पसे जो परे है जो
विकारहित है वह सब तूही है । हे प्रभो ! तुमसेही
इसका निर्गमन बल मयके किंचिद्वज्र चर्यागल
मनुष्य पशु वही महीरुह मृग सब वृक्ष आचर सब
भूतमात्र मूर्त और अमूर्त स्थूल सूक्ष्म वह सब उत्पत्ति

हुना है । यह जो कुछ है वह सबका तूही जगत्कर्ता है । ऐसे
विश्व नहीं और कुछ भी नहीं है । यह सब बहुपत्नी
रूप है जो पृथिवी आदि रूपसे दिखाई दे रहा है । वह
सर्वत्र विकसित स्पष्ट है । प्रभु जगत्कर्ता है, वह सब
विकसित श्रोत्रोंमें कही है । ये श्लोक भी बहुत महत्त्व-
पूर्ण हैं—

त्व कर्ता च यिकर्ता च स्रष्टा प्रभवोऽप्ययः ।
जगतां त्व जगत्पूः स्तूपते त्व किं तथा ॥ ११ ॥
व्याप्तिरव्याप्य विद्या कर्ता कार्यं च मगवान्वा ।
सर्वभूतात्मभूतस्य स्तूपते त्व किं तथा ॥ १२ ॥
परमात्मा च भूतात्मा त्वमात्मा आध्वनो मवात् ।
यथा तथा स्तुतिर्वाप्य किमर्थं ते प्रवर्तते ॥ १८ ॥

(विष्णु बं ५ अ १९)

हे प्रभो ! तू जगत्कर्ता विकर्ता, पोषक और
धारक है । तू जगत्पू है । व्याप्ति व्याप्त विद्याकर्ता और
कार्यरूप तूही है । तूही परमात्मा, भूतमात्रा और अध्वन
आत्मा है ।

इस श्लोकमें त्व जगत्पूः ये शब्द विशेष महत्त्व हैं ।
तू विश्वरूपी है इस अर्थमेंही ये शब्द कहा कैं गये हैं ।
वर्षा अर्थात् और विश्वमें बोधा देव है तथापि वह जेव
वही व्यापक नहीं रखा है और दोनों अर्थ समानार्थक
माने गये हैं । परमात्मा भूतमात्रा और जीवात्मा जी
पक्षी अहमा है और यह भेद कल्पित है ऐसा भी नहीं
कहा है । और देखिये—

नमस्ते पुंखरीकास्त भक्तानाममयंकर ।

सनातनतमन् सर्वोत्तम भूतात्म भूतमात्म ॥१६॥

सम्प्रा राभिरहो मूर्तिगगनं वायुरम्बु च ।

इवाज्ञानो ममा बुद्धिर्मुवादिस्त्व तथा चतु ॥१७॥

सर्गस्थितिविमाशानां कर्ता कर्तृपतिर्भवात् ।

महाविष्णुशिवाक्याभिरात्ममूर्तिमितीश्वर ॥ १८ ॥

देवा देव्यास्तथा पशरा राक्षसा सिद्धपञ्चगा ।

कुम्पाण्ड्याश्च पिशाचाश्च गन्धर्वा मनुजास्तथा ॥ १९ ॥

भूतगुणमखता बहया समस्तास्मृजजातयः ॥२०॥

स्थूला मध्यास्तथा सूक्ष्मास्तस्मात्सूक्ष्मतराश्च ।

बृहद्भद्रा मयान् सर्वे ये कश्चित्पुंगवाश्चया ॥२१॥

(विष्णु बं ५ अ ५५)

'ह प्रभो ! हे सदाशिव स्वल्प ! हे सर्वात्मन् ! हे भूतस्वल्प ! हे भूतमात्र ! ऐसे ममस्कार हैं। उम्पा, तामि दिन मृमि, भाकण, बाधु बधु नमि मय कुमि बहकार ये रूप उम्भतेही हैं। यही चक्षिर्का मझा पाकनका निष्पु और संहारका शिव है। ये सब रूप उम्भतेही हैं। देव ईश यह राक्षस मित्र पन्नग कृमालव, पिशाच गारुड मलय वृक्ष गुह्य जला समस्त भूतवर्षिना स्पृक मन्त्रम और सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मम जो भी हैं ये सब देहमेवसे जाग्रहीके रूप हैं। वही देहमेवसे एकही परमात्मा सब कनोका आचरका है यह बात कही है।

त्वया यवभयं दत्त तद्वत्तमखिलं मया ।
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रुपुमहंसि शंकर ॥४७॥
योऽहं स त्व जगत्केवं सनेवासुरमातुयम् ।
मत्तो नाम्पद्वयेय यत्तस्व क्षातुनिहार्हसि ॥४८॥
मविधामोहितात्मातः पुढया भिन्नवर्षिना ।
बह्वसि मेवं पश्यन्ति बाधयोरन्तरं हर ॥४९॥

(निष्पु के ५, व ३३)

हे शंकर ! आपने जो जन्म दिया है वह मैंनेही दिया है। आप अपनेको मुझसे सर्वथा अनिष्ट कहेंगे । जो मैं (निष्पु) हूँ सोही आप हैं तथा वह सपूर्ण जगत् देव बधुर मनुज बादि सब कोई मुझसे मित्र नहीं है। जिन कोशोक्त शिव बविधाते मोक्षित है वे मेवको वैकृते हैं और वेही मेवका वर्णन करते हैं। वस्तुतः भगवान् निष्पुही सपूर्ण शिवकमी हैं जगत् वही परस्पर मित्र कोहं बल नहीं है। जो मेवकी पुत्र हैं वे सबके सब अनिष्टा-मस्त मनुज हैं और मेवका अनुभव ब्रह्मलका कर है।

सिंगपुराणमें विश्वरूप

सिंगपुराणमें निम्नलिखितप्रकार शिवजीका विश्वरूप कहा है—

निष्कोऽनिष्कोऽहमनयो ब्रह्माऽह ब्रह्मणस्पति ११
विश्वश्च विविशब्दाह प्रकृतिश्च पुममहम् ॥
त्रिपुत्रश्चगन्धनुष्पुष्प छंदोऽह तन्मयाः शिवाः ॥१२॥
सखाऽहं सर्वगः शास्त्रश्चेताभिगीरहं गुहा ।
गौरहं गह्वरब्दाहं सितं गहमगोचर ॥ १३ ॥
पापोऽह मगधानीयस्तेजोऽहं येहिरप्यहम् ॥१४॥

अग्येयाऽहं यजुर्बेदः सामवेधोऽहमात्मन् ।
मयर्षयोऽहं मंत्राऽहं तथा चांगिरसां वर ॥१५॥
इतिहासपुराणानि कस्योऽह कल्पनाऽप्यहम् ।
अक्षर च क्षरं बाह क्षांतिः शांतिरहं क्षमा ॥१६॥
गुह्योऽह सर्वधेयेषु वरुण्योऽहमजोऽप्यहम् ।
पुष्करं च पवित्र च मय्यं खाह ततः परम् ॥१७॥
बहिष्बाह तथा बान्तः पुरस्तादहमध्ययः ।
ज्योतिश्चाह तमश्चाह ब्रह्माविष्णुमहेश्वरः ॥ १८ ॥
पुत्रिश्चाहमहंकारस्तन्मात्रापीमिन्द्रियाणि च ।
एव सर्वं च मामेव यो वेद सूरसत्तमाः ॥ १९ ॥
स एव सर्ववित्सर्वं सर्वात्मा परमेश्वरः ॥ २० ॥

(सिंगपुराण व (१८ उपरिभाग)

मैं (ईश्वर) निम्न अनिष्ट निष्पाप ब्रह्मा ब्रह्मण-स्पति शिवा विविधा प्रकृति पुष्प त्रिपुत्र जगति बज्रपुष्प सख शास्त्र शिव शिवादि गुह्य गौ गह्वर अक्षर वेदो जन्मेद बह्वेद सामवेद मयर्षवेद मन्त्र इतिहास पुराण कल्प और कल्पना क्षर बक्षर क्षांति क्षांति क्षमा सर्व वेदोंमें गुह्य जगत् पुष्कर अग्नि मध्य बन्त बहि बान्तः, ज्योतिः तम विष्णु महेश्वर इति बह्वकार तन्मात्रा ईदिव हूँ। इस तरह जो मनुज्य मुझ ईश्वरकोही सब कुछ जानता है वह सर्वज्ञ होता है और यह सबको परमात्मा वा परमेश्वर जानता है।

इस शीघ्रिसे सिंगपुराणमें ईश्वरके विश्वरूपका वर्णन है। इस पुराणमें जनेक स्थानोंपर इस तरहके वर्णन हैं परन्तु सबके सब वही उद्बुध करवेकी कोहं आवश्यकता नहीं है। इस एक उल्लेखसे पाठक जान सकते हैं कि इस प्रथमें विश्वरूपका वर्णन किस शीघ्रिसे किया गया है।

सूर्यपुराणमें विश्वरूप

सूर्यपुराणमें निम्न प्रकार विश्वरूपवर्णनका वर्णन है—
विश्वतश्चक्षुरीधावक्षिण्णौ विश्वतोमुखः ।
जनका सर्वसूतानामेक एव महेश्वरः ॥ ११ ॥
शुचिष्वां विधति विष्णुः शुचिबी वेति नच तदा
कर्म च शुचिबी वर्य तस्मै श्रूयानमेक वनः ॥ १२ ॥
अप्सु विधति वैधापस्व विष्णुः परमेश्वरम् ।
जागो कर्म च परस्वैव वमश्चस्मे उक्तमने ॥ १३ ॥
योऽग्नौ विदमनेवामा न तं वेति कदाचन ।

अप्रिय भवेद्यस्य तस्मै बहुशत्रुमेव भवति ॥ ४५ ॥
 तिष्ठन्नकरो भो बाहो न बाधुर्बेति तं परम् ।
 बाधुर्यस्य भवेद्भूयं तस्मै बाधवश्रमेव भवति ॥ ४६ ॥
 ध्योमि तिष्ठति यो विलम्बो ध्योम वेति यत् हरम् ।
 ध्योम वत्य भवेद्भूयं तस्मै ध्योमश्रमेव भवति ॥ ४७ ॥
 धूर्णे तिष्ठति यो हेबो न धूर्णे वेति श्रमश्चरम् ।
 वत्य धूर्णे भवेद्भूयं तस्मै धूर्णश्रमेव भवति ॥ ४८ ॥
 यश्चन्द्रे तिष्ठति विमुञ्चन्ने वेति न क्षात्रवत् ।
 चन्द्रो यस्य भवेद्भूयं तस्मै क्षत्रश्रमेव भवति ॥ ४९ ॥
 (सूर्यपुराण अ १)

सब विश्वका एकही प्रभु है उसके नेत्र और मुख सब ओर हैं। यह ईश्वर दृष्टी आप ठेक बाधु जाकास सूर्य चन्द्रने रहता है परन्तु दृष्टी आप बाहि उबो जाके नहीं परन्तु जिसका रूप दृष्टी आप ठेक बाधु जाकास सूर्य और चन्द्र हैं उस विश्वमाके बसका है।

वही दृष्टी आप, ठेक, बाधु जाकास सूर्य चन्द्र के परमात्मामे रूप हैं देखा कहा है। वही विश्वका सब परमेस्वर सब है। इह शत्रुत्वकोपविषय हैं जन्तुर्मांसी माक्षक है वही वही विश्व अधिक विस्तारके साथ कहा है। इसी पुराणमें और देखिये—

महात्मे विश्वकाम्य बभूवो परमात्मने ।
 त्वमांशो महादेव परं ब्रह्म महेश्वरः ।
 परमेष्ठी शिवा ब्रह्मा पुनरो विष्णुको हरः ॥ ११ ॥
 भूमिरतोऽनयो बाधुर्ध्योमश्रमश्चर एव च ।
 यस्य कर्म बभूवस्मि भवन्ते ब्रह्मसंज्ञितम् ॥ १२ ॥
 वत्य सारमवभ्यूषां पादौ दृष्टी विद्यो मुखाः ।
 आकाशसूत्रं तस्मै विराजे प्रभवाम्यहम् ॥ १३ ॥
 (सूर्यपुराण अ १३)

विश्वकामी परमात्म्य—ब्रह्मके शिबे बभूवकार है। तूही ईश्वर महादेव परमात्म महेश्वर परमेष्ठी शिव ब्रह्मा पुनर विष्णुको हर है। दृष्टी आप अति बाधु जाकास जहकार यह उन ब्रह्मका रूप है। उसके मेरा बभूवकार है। विश्वकी सूर्या जाकास है दृष्टी पांव हैं विजापे मुखा हैं आकास उदर है उस विशेष उग्रस्त्री ईश्वरके शिबे मेरा प्रभाव है।

वही परमेस्वर विश्वकाम्यका वर्णन है और उसके शरीरमें कामध भवपन और हैं वह भी दर्शाता है। इसकी तुलना बादक पुरुषसूक्त वर्णन साथ (अ १ १९) करें। जहाँकि

वही वर्णन वही किया है। सूर्यपुराणमें ऐसाही और एक स्थानपर वर्णन है।

सहस्रकीर्वां पुरुषः सहस्राक्षमिरीश्वरः ।
 सहस्रजयतो देवाः सहस्रचरमः शिवः ॥ १२ ॥
 सहस्रबाहुर्विश्वतया शिष्टोऽपीक्षकोत्तमः ।
 ब्रह्माक्षरमवधुः परमहंससुः शिवः ॥ १३ ॥
 (सूर्यपुराण अ ११)

यह तो पुरुषसूक्तका कथान्तरही है। सहस्र मल्लक, जहज जाक्षति सहस्र जयन सहस्र चरम सहस्र बाहुजका सब विश्वतया है। वह परमहंस करी है। अब शिवपुराणका विश्वकाम्य वर्णन देखिये—

शिवपुराणमें विश्वकाम्य

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिकयाहता ।
 सा सा विन्धेन्मयी देवी स त सर्वो महेष्वरः ॥
 (शिवपुराण वा अ ३ अ ५१०)

हरएक पदार्थमें एक शक्ति रहती है, वह शक्ति तहेलरी है और वह पदार्थ महेस्वर है। इस तरह एक शक्ति सृजन उत्पन्न कहा है। इसी जगत्तमें तथा जगत्त खुद वर्णन है परन्तु वह सब वही उद्भूत करनेकी कोई बाधकता नहीं है। इसी शक्तिसे सब पदार्थोंका महेस्वरन होना सिद्ध होता है। वह शक्ति सबवर्णके पदार्थ देखिये तो उनको हरएक पदार्थ किस तरह सिद्धस्वरूप है इसका बनावे जान होगा।

जगत्तया पुराणमें भी विश्वकाम्य वर्णनके बहुतसे वर्णन हैं तथापि अब एकको वही उद्भूत करनेकी कोई बाधकता नहीं है। क्योंकि ये सब वर्णन एक केसेही हैं और इनमें कोई विशेषता नहीं है। जहां पुराणवचनमें आप विश्वकाम्यकाम्य विषय वही समाप्त करते हैं।

वेद माक्षक बारम्बारक उपनिषद्, इतिहास और इतने-प्रबंधमें परमात्मका विश्वकाम्यका विषय है। और सर्वत्र वह विश्वकाम्य ही है। सब प्रबंधोंका इस विश्ववर्णन पैदाज है, जहां इसको देखाही मानना चाहिये इसमें संदेह नहीं हो सकता।

भगवद्गीताका विश्वकाम्य

भगवद्गीताके विश्वकाम्यवर्णनमें द्रष्टव्य विश्वकाम्य वर्णन नहीं है केवल विश्वात्मक कामस्वरूपी परमात्मके विश्वात्मक स्वरूपकाही वर्णन है। जहां इसको परिपूर्ण वर्णन समझना

उचित नहीं है। परमेश्वरके उत्पत्ति स्थिति सेहतर भावि बनेक गुण और तत्पुनसार कार्य हो रहे हैं, उनके अनुसार विचरें उसके रूप प्रकट हो रहे हैं। वे सबके सब रूप परमात्मके विश्वरूपमें संमिश्रित हैं और किस समय सात्विक इन सब रूपोंको परमात्मके रूपमें संमिश्रित हैवेगा। उसी समय उसके परमात्मके विश्वरूपका ज्ञान हो सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि मग्नब्रह्मत्वमें श्रितवा विश्वरूपका वर्णन है वह विशेष कर ईश्वरके संहरमात्रका है। छवि स्थितिक वर्णन वहाँ अति संक्षेपसे है अतः वह परिपूर्ण नहीं है, वह बंधभाषाकारी वर्णन है। जिस प्रकारका वर्णन यहाँ किया है और जो वर्णन जन्मात्म्य श्रेष्ठोंमें है उसका अनुपमान करके पाठक और सात्विक परमात्मके विश्वरूप को संपूर्णता अवधी कल्पनामें ला सकते हैं। परमेश्वर जन्म है और उसका विश्वरूप भी जन्म है। इसलिये इसके जन्म मात्रका समझना और कहनाही बनावे वर्णन हो सकता है। अर्थात् श्रितवा भी मनुष्यकी कल्पनामें ला सकता है और श्रितवा मनुष्य वर्णन कर सकता है वह भी उसके विश्वरूपका एकही लक्ष होगा। मग्नब्रह्मत्वमें क्या और किसी जन्म प्रवर्गमें क्या इसका समग्र वर्णन होना नशमयही है। क्योंकि जन्मका समग्र वर्णन करना है तो विश्व वर्ग भावि सम्प्रतिष्ठी होना संभव है।

धर्माधर्मनिश्चय

इस एतद्गीताके परमात्मके विश्वरूपकी कल्पना पाठकों-को हो गयी होगी। वह विश्वरूपका विषय जन्ममय महत्त्व का है और संपूर्ण धर्माधर्मका मिश्रण इसी ज्ञानके होता है। इस कारण हरएक पाठकमें उचित है कि वह प्रत्यक्ष करके इसके बनावीग्य समझनेका प्रयत्न करे और समझनेपर उसका पर्याप्त समझ करे तथा प्रथम वह ज्ञान स्वर को। अपने जीवनके हरएक पक्षमें इस दिव्य दृष्टिसे देखकर अपने कर्तव्यको जाननेका प्रयत्न करे और जो कर्तव्य इस गीतिसे निश्चित होगा उसको पूर्ण रीतिसे निभानेकी परा-काश करे। इसीसे जीवनकी पूर्णता हो सकती है।

मत्स्या त्यक्तम्या सापयः आहमवधिविधोऽर्जुन ।

कातु प्रपुं च तत्त्वेन प्रयेपुं च परतप ॥

(गी ११.५४)

॥ प्यारहर्षे जन्मात्मका भग्न समाप्त ॥११॥

जन्ममय मत्तिसेही (अर्ध) परमेश्वर (एवमिव) इस तरह विश्वरूपमें हीलगा सात्विक है और उसका उत्पत्तः ज्ञान वर्तन और उस परमेश्वरमें जन्मा प्रवेश है वह अनुभव होना भी संभव है। "जन्ममय सात्विक वर्णन है, मैं उससे निश्च नहीं। वह सात्विक पूर्वोक्त प्रकार विश्वरूप-दर्शनसेही सिद्ध हो सकता है किसी जन्म रीतिसे नहीं।

श्रीमद्भागवतगीतामें (१) जन्ममय भाव, (२) विश्वरूप परमेश्वरका ज्ञान (३) विश्वरूप परमेश्वरका वर्तन और (४) विश्वरूप परमेश्वरमें अपने प्रवेशका साक्षात् अनुभव व चारों वर्तों प्रत्यक्ष अनुभव की है। इस तरह सात्विकको परमेश्वरका साक्षात्कार हरएक स्थानमें हो सकता है और यही भग्नो नारायणस्वरूप बनावेका है। इसीसे—

मत्स्यमकृष्णस्वरमा मत्स्यका सग्रावजितः ।

निर्वैरा सर्वभूतेषु पा स मामेति पाण्डव ॥

(गी ११.५५)

सात्विक ईश्वरका कर्म करे ईश्वरको परम भेद समझे ईश्वरकी भक्ति करे भोगोंका संग छोड़ दे नार किसी भूत के साथ वैर न करे। जो ऐसा वाचराय करेगा वह ईश्वरको प्राप्त होगा।

वह ईश्वरकी प्राप्ति उक्त प्रकार विश्वरूपकी परमात्माका साक्षात्कार होवेही हो सकती है और मनुष्यमात्रक धर्म मार्गका मिश्रण इसीसे हो सकता है। मनुष्यकी कृतकृत्यता होनेका यही एकमात्र प्रत्य साधन है।

मनुष्यको वह साध हो जानेपर अपने कर्तव्य कर्म करनेके निर्वयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता। यही दिव्य ज्ञान मनुष्यको कर्तव्यदृष्ट संहराहित और सांक्रमोहरहित करेवेका है।

अर्जुनको दिव्य विश्वरूपका दर्शन होनेके पश्चात् अपने कोई कर्तव्यविषयक प्रश्न नहीं किये। इसका कारण यही है कि उसको इस दिव्य ज्ञानसे अपने कर्तव्यका मिश्रण हुआ और कोई संदेह नहीं रहा। इसनाही नहीं परन्तु कल्याण-कर्तव्यनिर्णय करनेकी कठौरी यी उद्यमस्थानमें ला गयी।

अतः पाठकोंसे निवेदन है कि वे निकराहित हाकर इस विश्वरूपविज्ञानको पहचानें अनुभव करें और अपने जन्मको धार्यक बनावें।

म्यारहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विषयरूपदर्शनयोग	१४९	अथ देवताका विषय	१९
(१) आत्मज्ञानसे मोक्षका माद्य (श्लोक १-४)		अथर्ववेदमें विषय	१९१
(२) ईश्वरके अनेक रूप और विषय दृष्टि (श्लोक ५-८)	१५०	परमात्मका समष्टिदेह	१९१
देखर रूप अल्पव्यक्तमा		मीमांसकाका पञ्चिदेह	
बसुलोडी गिरली	१५१	उपनिषद्में विषयवर्धन	
(३) विषयरूपका दर्शन (श्लोक ९-१४)	१५१	ह्योपनिषद् अयोपनिषद्	१९४
विषय दृष्टि, बासुदेव। सर्वस्व	१५५	प्रयोपनिषद् मुण्डकोपनिषद्	१९६
अविधि-अवधिता	१५६	माण्डूक्योपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद्	२
विषयरूपका दर्शन	१५७	ऐतरेयोपनिषद्	७१
(४) विषयरूपका वर्णन (श्लोक १५-२०)	१५८	आत्मा-व्यक्ति-समष्टि (विन)	७२
(श्लोक २१-३१)	१५९	छन्दोगोपनिषद्	
अनन्तरूपविषय	१६१	नुबदारण्यकोपनिषद्	७३
(५) कालका अवतार (श्लोक ३२-३४)	१६१	केताकरोपनिषद्	७६
(श्लोक ३५)	१६३	विषय आत्मा	७७
(६) स्तुति और आत्मनिवेदन		अथर्ववेदका उच्छिष्ट सूक्त	७८
(श्लोक ३६-४६)		गीता और उच्छिष्ट सूक्त	७९
सर्व-विषयुक्ति-अनन्तरूप	१६९	अष्टावक्रका विषय	७९
नेह नामास्ति किंचन	१७०	अ स्वरका विषय	७९
(७) सौम्य व्यधिकरूपका दर्शन	१७१	अष्टावक्र विषय	७९
(श्लोक ४७-५०)		वैदिक धर्मके सिद्धान्त	७९
(८) ज्ञानदर्शनपूर्वक ईश्वरमें प्रवेश	१७१	व्यक्ति-धर्मका विषय राष्ट्रधर्मका विषय	७९
(श्लोक ५१-५५)		देवी पुराणी जीवध	७९
अनन्त-अधि	१७६	ज्ञानोपर कर्म	७९
ज्ञानदर्शनपूर्वक प्रवेश अन्तर्मुख		दो भिन्न दृष्टि-अनन्त दृष्टि अन्त-दृष्टि	८०
अनन्तः अज्ञः संगर्भित	१७७	अनन्त-मात्रके कर्म	७९
सर्वभूतेषु भिन्नैः		विषयैषाका मर्म	७९
मः सो दृष्टि	१७८	विषय और जगत्	७९
म्यारहवें अध्यायका मर्म		गणेशगीतामें विषयवृत्तन	७९
अनन्त आत्मा		विद्यावक्रका विषय दर्शन	७९
अनन्तमें विषयकी ईश	१७९	विद्यवक्राण्डका वर्णन	७९
अनन्तमें विषयपरब्रह्म	१८५	श्रीमद्भागवतमें विषय	७९
अनन्तताका विषय	१८५	एकके अनेक रूप विद्या १८५	७९
अनन्तताके अथ अविषयके अथ	१८६	विष्णुपुराणमें विषय	७९
वैदिकताके अथ अविषयके अथ	१८७	किंगपुराणमें विषय पूर्वपुराणमें विषय	७९
अनन्तताके अथ अविषयके अथ	१८८	सिंहपुराणमें विषय	७९
अनन्तताके अथ अविषयके अथ	१८९	भगवद्गीताका विषय	७९
अनन्तताके अथ अविषयके अथ	१९०	अनन्तविषय	७९

ब्राह्मोऽध्यायः ।

भक्ति-योग

(१) कीन भेष्ट भक्त हैं ?

भर्तुं उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यध्वरमभ्यर्क्तं तेषां के योगविदमाः ॥१॥

अभ्यर्था— भर्तुं उवाच— (हे भगवन् !) एव सततयुक्ताः ये भक्ताः तां पर्युपासते ये व अपि भगवत् भेष्ट (पर्युपासते) तेषां (मध्ये) * योगविदमाः (सन्ति) ? ॥ १ ॥

भर्तुं बोधे— (हे भगवन् !) इस तरह सतत योग करनेवाले जो भक्त आप (स्वयं) की उपासना करते हैं और जो अभ्यक्त आधिनाथी (भारतमाफी उपासना करते हैं) उनमें कौनसे योगी अधिक भेष्ट हैं ? ॥ १ ॥

माध्वार्थ— सतत योगसाधन करनेवालोंमें कई उपरमक सगुण कमकी-व्यक्तकी-उपासना करते हैं और कई उपरमक अभ्यक्त मित्रुल मित्राकार भक्तकी उपासना करते हैं । इस दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौनसे योगी अधिक भेष्ट हैं ? व्यक्तकी उपासना करनेवाले भेष्ट हैं वा अभ्यक्तकी उपासना करनेवाले भेष्ट हैं ? ॥ १ ॥

उपासकोंके दो भेद

(१) साहचर्ये अभ्यासमें निधकमका वहीन कराकर यही विभक्तकी ईश्वर मनुष्यके किये युक्तमात्र उपासन है ऐसा क्या है । इससे पूर्व नाममें अभ्यास (गी ८।१२) में कहा है कि भगवत् भक्तमवलम्बी परम गति है । ये दो उपरमक परस्परविरोधी प्रतीत होते हैं इसलिये भर्तुं मन्त्र करता है कि— हे भगवन् ! आप जेठ व्यक्त ईश्वरकी मनुष्य उपासना करनेवाले भक्त भेष्ट हैं अभ्यास अभ्यक्त भक्तमवलम्बी उपासना करनेवाले भक्त भेष्ट हैं ?

श्रीगीत अभ्यासमें जाइये अभ्यासक भक्तमवलम्बी अभ्यक्त है ऐसा कहेकर कहा है । इससे अभ्यक्तकी उपासना करी चाहिये ऐसा प्रतीत होता है—

१ कविवाशिष्ठ उवाचि केन सर्वमिदं यत् । (गी. १।१०)

१ भगवन् हमे देहा मिलत्योक्तः । करीरिणः ।

भगवन्मोक्षमपेक्ष ॥ (गी १।१८)

१ भक्तो निराः काश्चलोऽनं पुराणो ।

व हन्यते हन्यमाने करीरे ॥ (गी १।१९)

१ भगवन्मोक्षमपेक्षोऽनं भगवन्मोक्षमपेक्षोऽनं भगवन्मोक्षमपेक्ष ॥

(गी १।१९)

१ देही निराभयमोऽनं देहे सर्वमपि भावः ॥ (गी १।२०)

१ इतिवैष्णवः परं जगः । मयस्तु परा- बुद्धिर्नो दुर्दैः परवस्तु यः ॥ (गी १।२१)

१ सर्वमूलस्थमात्मार्थं सर्वभूतानि ध्यामि ॥ (गी १।२२)

८ कथमा अपरा प्रकृतिः ॥ (गी १।२३)

८ जीवभूता परा प्रकृतिः ॥ (गी १।२४)

९ कर्तुं कृत्स्नस्व- भगवत् प्रभवाः प्रकृतस्तथा ॥ (गी १।२५)

१ मयि सर्वमिदं प्रोक्तं मूने मणिगमा ॥ (गी १।२६)

११ तसोऽहमन्तु कौन्तेय भगवन्मिदं प्रक्षिप्तमूर्धनः ॥

(गी १।२७)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।२८)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।२९)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३०)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३१)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३२)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३३)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३४)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३५)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३६)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३७)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३८)

११ भगवन्मिदं प्रकृतमपि मयि मयि ॥ (गी १।३९)

(२) भेद मर्कोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । भद्रया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

अजन्मा भार पुराण है, अतः क्षीरके मांस होनेपर भी वह सदा एक जैसा स्वाधी रहता है (३) वह अल्पक अर्थित और नविकारी अहमा है, (५) देहमें आत्मा अवस्थ है (१) ईश्वर-मन-बुद्धिसे आत्मा परे और वेद ह, (७) सर्व भूत आत्मामें और सर्व भूतमें अहमा है, (८) ईश्वरकी प्रकृति परा और अपरा देखी हो प्रकारकी है और (९) ईश्वरकी सबकी उत्पत्ति करता है (१) सुप्रमैं ममि रहनेके समान परमेश्वरमें वह सब निश्च है, (११) जन्ममें उस चतुर्मुखकी प्रथा ईश्वरकी विद्युति है (१२) अल्पकत स्वस्ववाले ईश्वरको मूर्ख लोग अल्पक मानते हैं और ईश्वरके भेदभावको जानते तक नहीं (१३) मम अक्षर है और सब भूत क्षर है, (१४) यह सब अल्पकत ईश्वरने बनाया है (१५) ईश्वर इस जगत्का अल्पक है और वह सब कष्टाक्षरको उपास करता है (१६) ईश्वरका भद्र भाव न जानते हुए मानवी क्षीरको मांस हुए उसका अपमान करते हैं ।

इस तरह अनेकानेक बचनोंमें अल्पकत अक्षरक्षरकी प्रशंसा की गई है । इस तरह अल्पकत आत्माकी उपासनाका महार एकांकर एकारहमें अन्धानमें सम्पूर्ण विश्वरूपी परमेश्वर सबका उपास्य है पूरा असंविष्ट गीतिसे कहा गया है । अतः अर्जुनके मनमें एका उत्पन्न हुई कि इन दो प्रकारके भेदोंमें अर्थात् अल्पक आत्माकी उपासना करने वाले आर सगुण विश्वरूपकी उपासना करनेवालोंमें कौनसे मन्त्र अल्प है ?

वस्तुतः देखा जाय तो क्षर और अक्षर मिश्रकरही आध्यात्मिक पुराणम है । वही दिव्य दहि भगवद्गीता-मं उदी है । वही दिव्य दहि भगवद्गीतामं ० में अन्धानके गमनाधी गई है और एकारहमें अन्धानमें विश्वरूपी परमेश्वरका दर्शन कराया गया है । जब अहमा प्रकृति परमेश्वरकी प्रकृति है (गी १४) तो पृथ्वी अत्य आरिष्ट बननवाक मभी रूप उनी ईश्वरीय प्रकृतिही हुए । वही किसी अल्पक रूप नहीं है आर अहमा प्रकृतिस भिन्न अक्षर परमजमा किसीके अनुभवमें जाना भी असंभव है । त्रिम तरह धारक साथ अक्षर रहता है उनी तरह जको-

में रस है । अक्षर रस विभिन्न नहीं किया जा सकता । कोई मनुष्य केवल रस कीही उपासना करना चाहे और अक्षरको स्पर्श भी न करे तो उसकी वह कामना कैसे सिद्ध हो सकेगी ? रस देनेके समर्थ एक केवाही रहेगा । इसी तरह अल्पक आत्मामें प्राप्त करनेके लिये अहमा प्रकृतिसे किसी न किसी रूपको प्राप्त करनाही चाहिये । यदि ऐसा है तो अल्पक अक्षर उपासक और अल्प के उपासक इवमें (योग-विद्-उपमा) सबसे अधिक योग जाननेवाले कौन है वह प्रथ सुसंमत् कैसे हो सकता है ?

सब गीतिसे देखा जाय तो वह प्रथ उत्पन्न नहीं होगा । सातवें अध्यायसे लेकर एकारहमें अन्धानवक्त्र उपासक धीक प्रकार समझमें आ गया और—

वास्तुदेवा सर्वे (सब कुछ वास्तुदेव है)

यह योग्य गीतिसे अन्धानमें आ गया तो पञ्चात् अल्पकी उपासना और अल्पककी उपासना भिन्न है और उनमें एक वेद है और दूसरी निष्कृष्ट है वह सब कल्पना ध्वंस होती है । क्योंकि क्षर और अक्षर वे दो कल्पवाद् भिन्न है क्यापि एक और रस अहमा सिमीका केक और मिठास के समान वे दोनों परस्पर भिन्न नहीं परन्तु निम्नरूपे वे दोनों क्षर और अक्षर की कल्पवाद् एकही पुष्पोत्थम पर आश्रित हुई है । इस कारण क्षर और अक्षर परस्पर भिन्न नहीं है पर एकही सत्पुत्र वे दो पक्ष है ।

पाठक इस तरह विचार करके जानें कि वह प्रथ एवं स्वाधर्म दिया ज्ञानविज्ञान न समझनेके कारणही उत्पन्न हुआ है । परन्तु केवल अर्जुनही वह प्रथ कर रहा है ऐसी बात नहीं है । अल्प-दृष्ट की उपासना करनेवाले और अल्पक-अक्षर- की उपासना करनेवाले दो उपासकोंके दो भेद माने जाते हैं और उनमें भद्र कविह दर्जा समझा जाया है । इस समझके कारण बड़े विचार भी होते जाते हैं हगकिसे इस प्रथका विचार सार्वमानिक महार रहता है । अतः इसका उच्च भगवाद् अधिष्ठान किस तरह देते हैं वह हमें मनचतुर्दक्ष देखना उचित है । हमका उच्च मनके ओकमें दिया है—

भावना— श्रीमहात्मन् उवाच— (हे भर्तृन् !) मयि मनः आवेक्ष्य निम्नयुक्तः (सन्तः) ये परमा भद्रया उपेताः
मं उपासते ते मुक्तमाः मे मत्ताः ॥ १ ॥

श्रीमहात्मन् पाठे— (हे भर्तृन् !) मुझ (मेरे व्यक्त रूप) में मन लगाकर निम्न योग करते हुए जो
भेष्ट भद्रासे युक्त होकर मेरी (व्यक्त रूपकी) उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ योगी हैं ऐसा मेरा मत है ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो मन एकत्र करने परमेश्वरके व्यक्त रूपकी वही वचन भद्रासे उपासना करते हैं वे सत्सुख श्रेष्ठ योगी
हैं । बर्णाद् साधर रूपकी उपासना वही भद्रासे करते हैं, वेही भद्र योगी हैं ॥ १ ॥

श्रेष्ठ मत्क

(१) जो परमेश्वरके सगुण रूपमें मन लगाकर निम्न
परमेश्वरकी सगुण अस्तिमें उत्तर होकर परम भद्रासे ईश्वर
की सगुण उपासना करते हैं वे (मुक्तमाः) योगियोंमें
श्रेष्ठ योगी हैं । यह अपना निम्न मत है (भि मुक्तमाः
मत्ताः) ऐसा महात्मन् श्रीकृष्ण कहते हैं । बर्णाद् समानात्
श्रीकृष्णके मतसे व्यक्त रूपकी उपासना करनेवाले योगी
श्रेष्ठ होते हैं यह बात विस्मय है ।

श्रेष्ठ योगी होनेके किये जो बातें आवश्यक हैं वे ये हैं—

१ मनः आवेक्ष्य = ईश्वरमें मन लगाया ।

१ निम्नयुक्तः = ईश्वरसे निम्न योग संबंध करना
कुलकटाके साथ करी करना ।

१ परमा भद्रया उपेताः = श्रेष्ठ भद्रासे युक्त होना ।

ईश्वरका रूप वही है जो इस विश्वमें दिखाई देता है ।
जो भक्तसे दिखाई देता है विश्वका वही रूप परमप्रमाद
वचन रूप है । वह रूप अमल है उसमें जो अपनी उपा
सनाके किये योग है वही किना बाधे और उसमें अपना
मन पूर्णतः ध्याय लगावा जलै मनमें उसके निश्चयमें अवि-
चार निम्न और सुख रहे और जो कुछ किना जाय वह
भरक भद्रासे किना जाने । इस तरह जो भक्ति होती है
वही श्रेष्ठ भक्ति है । वहाँ तीन बातें मुख्य हैं—

(१) मन लगाया । जब मन किसी विषयमें लग जाता
है तब अन्त्यात् इन्द्रिय उसीमें लग जाती हैं सब प्रतीति
वर्णन हो जाता है । मन लगनेपर अपने पास और कुछ
बदलित नहीं रहता । मनहीसे आधुनिक संपूर्ण व्यापार
होते हैं अतः मन परमेश्वरकी किसी विभूतिमें लग जानेक
कारण आधुनिके सभी व्यापार उस विभूतिको समर्पित हो
जाय हैं ।

(१) निम्न योग करनेसे अपने सम्पत्ता समर्पण हो जाता
है । अपने पास जो समय है वह सब निम्न सत्त्वसे
जाया जाता है । निम्न उपासना करनेका अर्थ वही है कि
अपना संपूर्ण समय उसके किये दे देना अपने समयमें
दूसरा कुछ न करना । अपने पास जो जानु है वह सब
' निम्न ' सत्त्वसे पोषित होती है । निम्न-योग करनेका
भावना वही है कि अपनी सत्त्वमें जानुमें ईश्वरके साथ
संपुष्ट रहना उससे विमुक्त न होना । वहाँ अपनी जानु
का समर्पण हुना है । अपनी जानुमें सब कार्य सदा
कुलकटाके साथ करना ।

(२) इस तरह मन और जानुका समर्पण होनेके पश्चात्
वह समर्पण किस प्रकार करना चाहिये आगे इसका उत्तर
परम भद्रासे ऐसा दिया है । भद्रासे बनावही
अपना दिखावही रीतिसे नहीं । बर्णाद् अन्तर्गत उत्तरासे
वह समर्पण होना चाहिये । तर्क-वितर्क-कुलक-छेदकर भद्रा
से अन्तर्गतसमर्पण होना चाहिये ।

जो अस्तिमागकी सुकलताके किये तीन बातें आवश्यक हैं
वे ये हैं— (१) अपने मनका समर्पण (२) अपनी जानु
का-जीवनका समर्पण और (३) परम भद्रासे उपासना
करना । इसीसे सुकलता प्राप्त होती है और मनुष्य अप्स
भक्त बन सकता है ।

वहाँ मयि (मुझमें) ऐसा कहा है । महात्मन्
श्रीकृष्ण वही अपने व्यक्त रूपके निश्चयमें बोल रहे हैं ।
इससे व्यक्त रूपकी उपासना सूचित होती है । मुझमें मन
लगावो इसका अर्थ जो पाँचवेंके प्राप्त कार्य कर रहा है उस
श्रीकृष्णके व्यक्त रूपमें मन लगावो बर्णाद् इसी तरह जो
परमेश्वरकी विभूतिमेंसे रूप है उस रूपमेंसे किसी रूपपर
मन लगावो । किसी भी विभूतिपर मन स्थिर किना उस
विभूतिके किये अपना तब मन भव वर्णन दिया तो वही
सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।

यहाँ हमने विभूतिसे कथन करके किसी विभूतिपर मन स्थिर करनेका विधान किया है। परंतु इससे भी जो उद्धत हुए हैं और जिनको विश्वकामी परमेश्वरका स्वरूप प्राप्त हुआ है वे किसी विश्वरूपपर भी अपना मन स्थिर कर सकते हैं। कोई रूप हो वह उसी एक अद्वितीय अग्रमाका रूप है और इसकी भक्ति करनेसे उस अद्वितीय आत्माकी भक्ति हो सकती है ऐसे मूर्ख विधाससे जो अपना मन उस विश्वरूपके ऊपर स्थिर करता है अपनी भावु उसकी भक्तिके बिने सर्वत्र करता है और परम धन्यासे उसकी सेवा करता है वह भी जेष्ठ पक्षी प्राप्त कर सकता है।

इस तरह हम विश्वरूपमें जैसे रामकृष्णादि विभूतियाँ हैं उसी तरह ब्रह्मण्य अग्नि भी हैं पीछे रहे सृष्टादि भी हैं लहनेवाले भी हैं समाप्तमें कायक हुए तैविक हैं अन्य रीतिसे भीमार हुए रोगी हैं वी आदि पक्ष हैं तथा बुद्ध वनस्पति भी हैं। विश्वमें जो भा सकता है वह सब इसका उपास्य हो सकता है। अथवा परमात्मका एक सगुण रूप वह सब विश्व है तथा सगुण एक रूपकी उपासना करनेवालोंके बिने प्रसन्नी स्थिरता करने योग्य भावककी स्मृता नहीं है। कुछ लोग देशको स्वर्ण करनेवाले धीरात्मकाङ्क्षके अपना उपास्य समझेंगे उसी तरह कुछ अन्य उन बुद्धमें लहनेवाले छोटे मोटे वीर वानरोंकी भी उपासना करनेके बिने असुख होंगे। इसी तरह इस समय दृष्टव्य करनेवाले भग्न पुरुषोंकी वधाभक्तिसत्ता करना भी ईश्वरकी सगुण उपासनामें समीकृत है इसमें संदेह नहीं है।

हम महान् बर्षों पूर्व हुए श्रीरामकृष्णही परमेश्वरकी विभूति हैं वीर वीर सा बर्षों पूर्व उत्पन्न हुए श्रीसिवाजी महाराज अथवा रत्ना प्रताप विभूति नहीं हैं ऐसा नहीं है। और हम समय को राष्ट्रेश्वरका प्रमाण कर रहे हैं वे विभूति नहीं हैं ऐसा भी नहीं है। प्राचीन काकक मध्य काकक और वर्तमान काकक सब भग्न पुरुष और महत्तमा लोग विभूति हैं और भक्ति सेवा करनेयोग्य हैं। विश्वतः हम वर्तमान समयमें जो कार्य कर रहे हैं उनके विश्वमें आमन समारर दर्शाया जायश्चक है।

वर्षा पक्षा तथा मभी कथपरमेश्वरका सगुण रूप है तो हममें प्राचीन काककाही एक विशेष रूप लोग है

वीर अर्वाचीन काकका रूप योग्य नहीं ऐसा मान्य अयोग्य है। सभी रूप परमात्माके सगुण रूप हैं और अलग भावसे सेवा करने योग्य हैं। जो किसी ऐसे सेवा करे वह विचारणीय और मननीय प्रथ है। जो श्रीरूपके उपयोगी वस्तु निर्माण कर सकते हैं वे उस कार्यको कुशलतासे करने श्रौंकी सेवा करें। जो विश्वामें अनुपपन्न रहकर उनके योग्य कार्य कर सकते हैं, वे सेवा करें। जो उनकी इति अवस्थाओं रहे सृष्टीका उद्धार कर सकते हैं वे उनके उद्धारका कार्य करने विश्वसेवा करें। जो भिक्षुता कर सकते हैं वे हर प्रकारके तमिर्बोकी उत्तम भिक्षुता करके विश्वसेवाका विपत्ता भाग अपनेसे हो सकता है उसका उत्तम रीतिसे करें। वहाँ एकही कार्य हरएकके करना चाहिये ऐसी बात नहीं है। जो मिलके हो एकत्र है वह अपना तब-सब सब कार्य करके विश्वसेवाभाव है परम धन्यासे करे। इससे सगुण भक्ति होगी।

(मनः बाधेन) उसी कार्यमें अपना मन कलाक, (निवृत्तः) निवृत्त कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए (वरावा कदावा उपेयः) उत्तम धन्य भक्तिके विश्वसेवा-मनसे अपना कर्तव्य करना चाहिये। इसमें हरएक स्वतन्त्र अनुप्य अपना कर्तव्य करके परमेश्वरकी भक्ति कर सकता है। वही ईश्वरकी सेवा है। सगुण परमेश्वरकी वह प्रत्यक्ष सेवा है।

सगुण भक्तियें प्राचीन काककी विभूतियोंकीही सेवा जाती है वह विचार इस समय बहुत लोगोंमें प्रचल हुआ है और इस कारण उनकी मूर्खता बढा बढा कर बहुत बढा भक्तियोगी कहाया जा रहा है। इस कारण इस समय प्रत्यक्ष रूपमें जो परमेश्वर अनेक रूपों द्वारा अपने प्रभुत्व उपस्थित हुआ है उसकी वधायोग्य सेवा जोन नहीं करते। वह कियता विधि है इसका विचार बाधक करे। इन समय उपस्थित प्रत्यक्ष परमेश्वरका रूप छोड़ना और दृष्ट रात्र दृष्टार वर्षों पूर्व हुए उसी ईश्वरकी विभूतिकी रीते कथना कियता अविचारका कार्य है। वही हम प्राचीन विभूतिकी पूजाका नियम नहीं करते परन्तु वर्तमान समयमें उपस्थित हुए विश्वरूपमें समीकृत प्रत्यक्ष ईश्वरके रूपकी विशेष सेवा होती चाहिये वही वधाना चाहते हैं। हम विश्वमें वही उदाहरण देखने को हैं।

मत्तासिपाके भीषित होनेके समान उनकी बधायोग्य सेवा न करना पान्थ उनके मृत्युके पश्चात् उनके नामसे राम प्राप्त कराने करना । वहाँ मन्त्रोत्तरक्रियाका नियम नहीं है बरिपु पितरोंकी भीषित दशामें उनके बधायोग्य उत्कार करनेकी आवश्यकता बढानेका उद्देश्य है ।

संकर विष्णु वाराह इह वक्ष्य भावि प्राचीन विभूतियों को तथा रामकृष्ण नामन जादिको परम उपास्य मानना पान्थ इतिहास-कर्ममें उत्पन्न हुए जीसिवाजी रामदास तथा मत्ता जादिकोंको वैसा न मानना और इस समयके राष्ट्रार्थ करनेवालोंका अनुगामी न होना यह अनुचित है । परमेश्वरकी विभूति हजारों वर्षोंके पूर्वही हो चुकी थी और इस समय परमेश्वरकी विभूति कोई नहीं है ऐसा मानना एक महा भ्रम है ।

मत्तम अश्विन वैद्य और भूख विराट् पुष्पके सिर बाहु बंद और दाँव हैं यह करवेद (अं ३ १९ ११२) का कथन इस विषयमें स्पष्ट है । इसमें कोई संदेहही नहीं है । ये सब विराट् पुष्पके रूप हैं । ये प्रसन्न रूप हैं । अनेका येक रीतिमेंसे इनकी सेवा की जा सकती है । अपने राष्ट्रे मत्तम अश्विन वैद्य और भूखोंकी सेवा करनेका अवसर ओढ़ना और इनको भूखों मरते देखकर अन्य उपासनादि व्यवहार करना उचितकही हो सकता है जबतक मनुष्य ईश्वरके सन्ने और प्रसन्न सगुण रूपमें न जायता हो ।

अपने घरमें पुष्पके छिन्ने की और कीक छिन्ने पुष्प के मगबाण्डके सगुण कम्पदी बनने चाहिये । इसी तरह मत्ताको उब और पुष्पको मत्ता, परमेश्वरके सगुण कम्पदी बनने चाहिये; प्राममें अपने जन्मापक जनदिकर्ता कोश के सब ईश्वरके रूप हैं; राष्ट्रमें राष्ट्रहितकारी कार्यमें अपना सर्वस्व वर्जन करनेवाले प्रथम ईश्वरके सगुण रूप हैं । इनको ओढ़ना और सर्व कष्ट प्राचीन विभूतियों कीसे पचना अपनी विभूतिपूजा का सगुण व्याप्तना नहीं है ।

प्राचीन विभूतियोंकी पूजा उपयोगी है इसमें संदेह नहीं । पान्थ वह उपयोग कीजना है इसका विचार होना चाहिये । ये प्राचीन विभूतिनां आदर्श विभूति का मूर्त रूप रही हैं । सेवा श्रीमन्नम्रमे उद्य समर्थके ३३ करोड़ ईश्वरार्थिक कोयोंको राखकी परतबजासे मुक्त किया और स्वायंभु दिया । इस उदाहरणसे हम मान्यताकी

विभूतियोंकी परीक्षा कर सकते हैं और इस समयकी विभूतियोंका भी विवेक कर सकते हैं । इस तरह निश्चय करके इस समयकी विभूतिनां मानना और उनके अनुगामी बनना चाहिये । उप-भासना का कार्य उसके पास पहुँचना उद्यका अनुगामी होना उनकी सहायता करना, उनका सिद्धान्त आचरणमें लाना है ।

इसके अतिरिक्त भी सगुण उपासना है । संपूर्ण विश्वरूप परमत्माकाही सगुण रूप है वह मानवेपर जबतक और क्लेशमुक्त स्थितिमें रहनेवाली अवता भी उस विश्वरूपमें जाती है यह बात समी जाय सकते हैं । मनुष्यकी सेवा करनेमें उसके उस अवतारकी सेवा है कि जिस अवतारको क्लेश होते हों और जिसको भारताम पशुचानेकी आवश्यकता विशेष है । पाँच हुआ हो तो उस पाँचकी माकीर्ष करना हाथपर लग हुआ हो तो हाथपर मईमपही लगाकर उस स्थानपर आरोग्य स्थापित करना । इस तरह जहाँ भारताम पशुचाना चाहिये वहाँ भारताम पशुचानेका बन्ध करनेका काम सेवा उपासना बनना अति है ।

गुरुको भारताम पशुचानेकाही नाम गुरुभक्ति है । इस तरह विचार करनेपर वह बात निश्चित होगी कि परमत्माके जिस भागको विशेष क्लेश हो रहे हैं उसको भारताम देनेका काम करनेका कामही परमेश्वरकी भक्ति है ।

परमात्माका सगुण रूप यह सब विश्वरूपही है । हम विश्वरूपमें सब मानवजाति सब पशुपक्षियोंकी जाति सब कीटपतंगोंकी जाति सब वृक्षपत्तत्यसियोंकी जाति संमिश्रित हैं । सबकी सेवा एक मनुष्य का नहीं सकता इसलिये जो उससे हो सकता है उतनीही सेवा इसको करनी चाहिये । परमेश्वरके किस विश्वरूपके भागको क्लेश हुआ अवस्था कष्ट हो रहे हैं ? अपने पक्षी अतिरिक्त दूरिद्री कष्टमत्त आदिनां हैं अपने राष्ट्रमें लोगियोंकी सख्या बढ रही है । ये सब कहीं कोश परमेश्वरके विश्वरूपके भाग हैं वा नहीं ? यदि सब विश्वरूप परमेश्वरका रूप है तो उस विश्वरूपमें ये क्लेशमुक्त कोश आते हैं या नहीं ? क्या ये उद्य विश्वरूपही परमत्माके रूप हैं ? क्या इन रूपोंमें उपस्थित होकर आपसे सेवा देनेके छिन्ने परमेश्वर आपसे पाय नहीं का रहा है ? इस तरह सच्चा ईश्वर आपसे सत्तमे उपस्थित होनेपर आप सच्चाकी सेवा कर रहे हैं अथवा उसको

(३) अव्यक्तके उपासक

य त्वधरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमधिन्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
 सनियम्यन्द्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
 क्लृप्तोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिदुःखदेहवाङ्मिरावप्यते ॥ ५ ॥

अव्यक्त के रहने हैं ? और उसकी सेवा करनेके स्थानपर प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी सेवा करनेके किये सेकड़ों हजारों और लाखों रुपये खर्च कर रहे हैं ? ये सब विचारणीय समस्याएँ हैं ।

वेदके लेकर भगवद्गीता तकके सपूर्ण ग्रन्थसंग्रहमें परमेश्वरके विश्वरूपका वर्णन किया है और संपूर्ण अमृतता उस विश्वरूपमें संनिहित है ऐसा अवशिष्ट रीतिसे कहा है । उस अमृतताके रूपसे आपका परमेश्वर हर समय आपके सम्मुख उपस्थित है उसका जिस भागको अधिक कह पड़ता रहे है उसकी सेवा अवश्य भावसे (मैं उससे पूजक नहीं हूँ भावसे) करना आवश्यक कर्तव्य है । क्या वह आप कर रहे हैं ? उस कर्तव्यको न करते हुए जो अन्य श्रावण आप उपासनादि नामसे कर रहे हैं उसका क्या उपयोग हो सकता है ? वही सच्ची सगुण उपासना है । वहाँ आप प्रत्यक्ष परमेश्वरका सगुण रूपमें दर्शन कर सकते हैं मैं उससे भिन्न नहीं वह अव्यक्तभावकी प्रत्यक्षता यहाँ है सेवा किस तरह करनी चाहिये वह भी स्पष्ट हो सकता है । वह विश्वरूपकी उपासना न करना और उसके स्थानपर किसी प्राचीन विभूतिकी उपासना करना वह क्रिया अज्ञान है । वहाँ विभूतिकी मूर्तिकी उपासनाका निरर्थक नहीं है परन्तु सच्ची विश्वेश्वरस्वरूप बताया है । पाठक इस दृष्टि इसका विचार करें ।

आ सगुण उपासना करनी चाहिये वह वह विश्वेश्वरकी है । उपासक आज इस सच्ची सगुण उपासनामें अर्थात् सच्ची विश्वरूप उपासनामें अपनी हृदयसेवाके किये हुए सब हुए हैं वह पाठक देखें और मोक्ष प्राप्त करने उपासनाका मार्ग जानकर उस सच्ची उपासनाका अनुष्ठान करें ।

वही सच्ची विश्वरूपवाङ्मय सच्ची सगुण उपासना श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित उपासना है । आ तीन बातें इस सगुण उपासनामें होनी चाहिये पूजा हम छोड़ें कहा है वे तीनों बातें इस सगुण उपासनामें प्रत्यक्षता प्रत्यक्ष ही मिलती है और अपनी सेवाके ईश्वर समुद्र हुआ है वा

वहीं इसका भी पूजा वहाँ उपासकको प्रत्यक्ष रूप मिलता है । जो तीन बातें विशेषतया आवश्यक हैं, वे ये हैं—

(१) सब कार्यरूप = सब क्रियाकर उपासना करना वह बात इसी विश्वसेवा-मार्गमें हो सकती है । क्योंकि उपासनासे प्रत्यक्ष ईश्वर ईश्वर हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव वहाँ जा सकता है और जैसे जैसे अनुभव होता जाता है वैसीही वैसी सब की उसी उपासनामें मिल हो सकती है । (२) निष्कामता = सदा इस भावित्यको करना वह इसी विश्वसेवामें हो सकता है क्योंकि विश्वमें वहाँ वहाँ वह सब परब्रह्मता वादि विरक्तिों रहती हैं वहाँ वहाँ जा कर उस विषयोंको मुक्त पुरुषवाङ्मय की ओर विश्वसेवा है वह इसकी है कि कितने उपासक इसमें अतिसमर्पण करनेके किये जा जायेंगे उपासकों सदाही आवश्यकता रहेगी अर्थात् वह भक्ति कहा हो सकती है कोई कठिनाई नहीं है । किसी मूर्तिकी पूजा अथवा किसी सेवा-मार्गकी सेवा योही देर तकही हो सकती है वह निरर्थक होना अवश्य है । परन्तु वह विश्वसेवा सदाही हो सकती है । (३) परमा भक्ति अथवा = सेवा अर्थात् मुक्त होकर भक्ति करना, यह इस विश्वसेवा मार्गसे मुक्त होकर भक्ति करना, यह इस विश्वसेवा मार्गमें आवश्यकता होनेवाली बात है क्योंकि अपनी की ईश्वर सेवा परमेश्वरको प्रत्यक्ष पुरुष रहती है वह इस विश्वसेवामें प्रत्यक्ष दीक्षा है । अतः हर समय उपासककी भक्ति सदा होती जाती है । किसी मूर्ति-विषयकी जो पूजाभक्ति है वह ईश्वरको पुरुषकी है वा नहीं इसमें आवश्यकता नहीं है वह तो एक विश्वामय मानी जानेवाली बात है । परन्तु निरर्थक सेवा विश्वरूपको प्रत्यक्ष पुरुषकी है और उपासक उसकी अनुति होती है वह उपासक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । अतः उसकी भक्ति अनुभवसे बढ़ती जाती है ।

इस रीतिसे सगुण उपासनाकी दोनों बातें इस विश्वसेवाकर उपासनामें प्रत्यक्ष मिल हो सकती है । इस तरह विश्वरूपवाङ्मय उपासना करनेवालेही भक्त बोली होत हैं । अब अव्यक्त उपासनाका मार्ग देखिये—

अवस्था— यद्यु सर्वभूतहिते रता सर्वत्र समनुहका (सन्धः) इन्द्रियमार्गं च संनिधय्य जगत्क अविश्वं अविर्देव सर्वत्रां कृत्स्न अथवा सर्व अर्थां च उपासते ते मां पूष प्राप्नुयन्वि ॥ १-५ ॥ अध्ययकसकचेतनां तेषां वायिकवर के। (अति ते) इहवज्जि अध्ययका गतिः दुष्क भवाप्यत वि ॥ ५ ॥

ओ सब प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर होकर, सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए सब इन्द्रियोंका सपम कर अध्ययक अधिभूत अवर्णनीय सचम्यापक सर्वोपरि स्थित अथवा स्थिर और अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं वे मुझेही प्राप्त होते हैं ॥ १-४ ॥ अध्ययकपर जिनका विश्व छगा है उसको बहुत कष्ट होते हैं क्योंकि वहप्राणियोंको अध्ययककी प्राप्ति बहुतही कष्टसे होती है ॥ ५ ॥

भाषार्थ— ओ सब प्राणियोंका हित करनेमें इच्छित हैं और जिनकी दृष्टि सम हो चुकी है वे अध्ययकी उपासना करैवर भी ईश्वरकोही प्राप्त होते हैं परंतु मनुष्योंको अध्ययकी उपासना करना बड़ा कष्टप्रद है ॥ १-५ ॥

(१-५) अध्ययके उपासक (अर्था) अविनाशी (अविर्देव) निर्देव करने वा ब्रह्म करने समझनेके किने कर्मिन् (अध्यय) अथवा (अवर्णना) अवर्णनापक, (अधिभूत) मय्य करनेके किने कर्मिन् (अथवा) च द्विजनेवाले अर्थात् (सर्व) स्थिर परानु (कृत्स्न) सबसे उच्च मानमें स्थित ऐसे जगत्सर्व परमात्माकी उपासना करते हैं। वे लोग साकार सगुण उपासनाका उपाहास भी करते हैं और साकार सगुणकी उपासना करनेवालोंको हीन भी समझते हैं, तथा अपने आपको विराकार अध्ययकी उपासना करनेके काल उच्च भी समझते हैं। वे व्यवहार जगत्में फकी रहे हैं।

विशेष परमात्माके उपासकोंमें इस समयतक किसी भी मूर्तिवां लोकी है मूर्तिरूपकोंको कितने कष्ट दिने हैं, कितने दुःख किने हैं इसका कोई विचारवा नहीं है। इतिहासके इस ह्य बुद्धि बर्धनके बारे परे हैं। परन्तु हम बनेके इतनाही पूजना चाहते हैं कि जिस समय जोका नद करके आप ध्यान लगायका चल करते हैं उस समय अधिभूत किम्वत् आप केसे करते हैं। अविर्देवका निर्देव किम्वत् उर हो सकया है। जोका नद करनेके बाहर का धन विषय हद जाया है वह धन है परन्तु बाहरका धन विषय हद गया तो उसनेहीसे अद्वयका साक्षात्कार होगा है वह बात धन नहीं है।

जब सर्व आपका कष्टका भी जोका नद करके बैठता है और धन सर्वोका हृद मनुष्य भी जोका नद करया है। परन्तु जोका नद करने ध्यान किम्वत् किया जाता है और रीक रीक ध्यान होगा है वा नहीं, इसका विचार हरएकने करदी देकरा है। कई लोग सुभाजन लगाकर ध्यान

किने बैठते हैं कई लोग सुदनोंपर कटे रहकर ध्यान करते हैं कई लोग उठते बैठते निर मृगिपर टिकते हैं और इस तरह जरीको टिकाकर ध्यान करनेका धन करते हैं और कई तो ज्योत्सव प्रकाशे जांके नद करने ध्यानका धन करते हैं। परन्तु इस कोषोंमें कितने लोग सकलतापूर्वक ध्यान लगा सकते हैं वह एक बड़ा कर्मिन् मय्य है।

मूर्तिरूपा व की जाय इस तरहके किने कर्मने तो विश्ववारीकी भी विद्या की और मनुष्यका विश्व बनाने तकको अपराध मान किना है। इससे एक कला बह हुई इतनाही धन है परन्तु उच्च सम्मुख सत्य परमात्माका साक्षात्कार किम्वत् हुआ है वह एक समस्याही है।

विश्व वा मूर्ति व बनानेके तथा जांके नद करनेसे स्पूक कम धामनेके हद तकते हैं परन्तु इसका करनेके अध्यय परमात्माका साक्षात्कार होया है वह बात असंभव है। जोकोको नद करनेके धामनेका स्पूक धन हद जाया है परन्तु विश्वधनके अन्तर को मनपर कते हुए रहते हैं वे जाग उठते हैं और मय्य धम्मक वे मानसिक धन खडे हो जाते हैं। जोका नद करने स्पूक धनको इतना सहज है पर मानसिक और कालनिक धनको इतना उतना सहज नहीं है। मनुष्य श्रितना करनेमें जाय और श्रितनो जोका नद करे और श्रितना स्पूक धनको इतनाका धन करे उसनेही स्पष्टताके साथ मानसिक धन उच्च सम्मुख खडे हो जाते हैं। विश्व रंग विविध सुदर धन उसके धम्मक इस तरह जोका नद करके वा जाते हैं। इन मानसिक धनको इतना असंभव हो जाया है।

ओ लोग नृपवरह भिनेपही जांके नद करके बैठते वा उठते-बैठते-शिर नमाने हैं और अध्ययकी उपासनाका

अभिमान करते हैं उनके विषयमें नहीं कुछ भी छिन्ननेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस प्रकार विवेकीयें ध्यान किया जाता है और उदये बैठनेमें कितना समय जाता है इसका हिसाब देखनेसे उनकी व्यर्थता उपासनाकी वक्ष्यमा समीचीन हो सकती है। वे विचारों गुणपर अज्ञात स्वरूप बैठते हैं अज्ञान समारोहों, बाँधों बंध करके हैं हाथ जोड़ते हैं और मंत्र बोलते हैं। लक्ष्य समझमें आ गया तो उसका भजन करते हैं और इतना करनेको ही अस्मिन् परमात्मका ध्यान मान लेते हैं। जो विचारसे उद्ये अस्मिन्-का कितना मान बैठते हैं वे अज्ञातों चाहे वैसा मान के उसका विचार इतनेकी इच्छा हमें नहीं है परन्तु यदि वे अभिमानसे ऐसा करेंगे कि हम जो करते हैं उससे अस्मिन्का ध्यान हुआ है और जो वैसा नहीं करते वे जल्दमें जायेंगे तो हम हमसे पूछेंगे कि हम अपने समय भावका मन विकलुक्त निर्विषय हुआ था जबका उस समय भावक मनमें कोई विषय था? यदि कोई विषय था तो फिर कथविषय को इतनेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध हुआ? एक कथविषय इतनेसे— अर्थात् बाँधों बंध करनेसे— कथविषय की पूर्णतासे इतना नहीं और अन्य विषय नहीं करते वह तो प्रसङ्गहीन है। फिर अस्मिन्का ध्यान हम कात है वह अभिमान किस तरह लक्ष्य हो सकता है?

उत्तर: इसका ज्ञान तो अव्यक्तकी मात्त उपासना करनेवालोंके किये योगसाध्य है। अस्मिन्मेंसे प्रसङ्गके वक्ताके मत आत्मिक सहाचार सिद्ध करके संवत् सिद्ध किया जाता है। आत्मिक आध्यात्मिक लक्षिकों आधीन किया जाता है आत्मामय आत्मिकों करने आधीन करते हैं आत्मामय सब इन्द्रियोंके विषयोंसे बाँध कर आधीन करते हैं। इस तरह अपने सब अक्षरस्व व्यवस्था आत्मिकों और सबका अपने आधीन करनेका कार्य किया जाता है। (निर्विकल्प इन्द्रियार्थ) सब इन्द्रियोंका संवत् करके जो चाहे मोही विषय मनमें आये जबका न चाहनेपर मन निर्विषय भी किया जाय वह सिद्ध प्राप्त करनेका कार्य हम समय किया जाता है।

इस समय बाँधों बंधों तो आसानी भाव सुदूर दृष्ट ॥ मूल उचितत होत है कथपर प्रथम किया तो मधुर भावक अन्तरा अन्तरा मुनाई देता है जिह्वापर संवत्

करनेपर सुप्तपुर मोहो रस प्राप्त होनेका अनुभव होने करता है स्पष्टविषयपर संवत् करनेसे निर्विषय सुप्तस्वप्न प्राप्त होने का अनुभव होता है। अर्थात् कितने विषय दूर करनेका कार्य किया जाय उतने विषय अन्तरा अन्तरा प्राप्त होने लगते हैं। अतः मन निर्विषय करनेका कार्य केवल बाँधों बंध करनेसे तो प्रकट होताही नहीं परन्तु अन्य इन्द्रिय संवत् करनेसे भी नहीं होता।

जो इस वीर्य निवेद्य बाँधों बंध करके कुछ नष्ट करनेको ध्यान करना मान लेते हैं वे जो मनमें आये जाते हैं परन्तु जो ध्यायधरणापर्यंत बोधसाध्य करते हैं उनके पलायन एक निर्विषय होनेका अनुभव नहीं होता। इच्छाही नहीं अस्मिन् वक्ताके ध्यान और चरणा करनेवालोंको भी निर्विषय मन होनेका अनुभव नहीं जाता। फिर एक निवेद्य बाँधों बंध करनेवालोंके हाथों जो जाता होम न वेही जाय सकते हैं।

किसी पक्ष वस्तुपर विषय जगतेका नाम ध्यान है, विषय एक स्थावर स्थिर करनेका नाम ध्यान है। इसकी स्थिरता सब जाती है तो ध्यान स्थिर हो जाता है। जैसे किसी वाक्काव्य वक्तापर विषय स्थिर करनेका नाम ध्यान है। वही ध्यान स्थिर होनेके पक्षके केवल वही एक पक्ष है जब दूसरा कोई पक्ष नहीं है, ऐसा जो एक-ताका संवत् होता है उसका नाम ध्यान है। जब सब विषय दूर जाये अर्थात् बंध उड़ी एक ध्यान आत्मिका विषय वक्ता चाहिये सब ध्यान होता है।

आत्मिक हर एक मनुष्यका पुरुषका अति कर्मि कर्म है, परन्तु समस्त जीवितों कि कोई मनुष्य ध्यान करनेमें प्रवीण है तो भी अस्मिन् परमात्मका उद्ये आत्मिक हुआ है ऐसा कहना अयोग्य है क्योंकि उद्येका मन उड़ी ध्यान विषयके आत्मिकका उद्ये समय बना होता है। वह परमात्मका ध्यान नहीं है। योगसाध्यने ध्यानकी सिद्धि एक उद्ये सिद्धि है उसका पक्षक ध्यायिनी एक है। ऐसी उद्ये ध्यानकी सिद्धि प्राप्त करनेके किये प्रतिनिध वक्ताके एकमयध्यानपूर्णक व्यवहार करना चाहिये। वीर्यमें लक्ष्य प्राप्त होनेकी संभावना है। और इसका प्रमाण करके ध्यान सिद्ध होनेपर भी अव्यक्तकी उपासना हो गयी इसका कदाप्य है क्योंकि ध्यान तो किसी स्थूल विषयकारी है।

अध्यात्म परमहमका साक्षात्कार तो बहुतही दूर है। जो स्वयंसेवक हठयोग साधन करते हैं, उनको ध्यानसिद्धितक अध्यात्मिकी उपासना साध्य नहीं होती फिर जो विनम्र हृदय बचवा बनेकवार हस्तपाद सिद्धि बाँटें वंद्य करके बैठे हैं और उस समय कुछ मंत्र बोलते बचवा सर्वोका सर्व मन्त्रों विचारते हैं उनको कितनी मिथि मिलनी है, वह एक विचारणीय प्रश्न है।

ध्यात्मिक ओ पशुवर्त है उनको कससे कम दो तीन वर्षोंका विद्यमपूर्वक अभ्यास आवश्यक होता है और इसीदिन कई वर्षोंतक अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यासक करके समय आध्यात्मिक सिद्धिबोधें बहुत अनुभव होते हैं, जो साधकको काम पशुवर्त है। इस तरहका बोधो बनेक बलवत्तर भी करता है। परन्तु ध्यान रहे कि सिद्धितक उसने विराट्काल परमात्मिकी उपासना कि, ऐसा ध्यान बर्ज्य है क्योंकि ध्यात्मिक साक्षात्कार ही साधन है।

जब ध्यामने एकदमका प्रभव आता है और वह बहुत कष्टकर स्थिर रहता है तब आध्यात्मिक मन मुक्तिवत्ता हो जाता है बचवा अपना कार्य करना छोड़ देता है। तब वह स्वयंसेवक मनोभूमिकासे उच्च भूमिकासे पशुवर्त जाता है। यही ध्यात्मिक पञ्चाङ्ग सिद्धिबोधो सनाधि है। आध्यात्मिक मन जो बनेपर और मनोभूमिक उन्मत्त बचवा प्राप्त होनेपर निर्विकल्पक स्थिति होती है इसमें शैश्व नहीं है। परन्तु वह परमहमका साक्षात्कार समझना अवश्य है क्योंकि मनस से बुद्धि और बुद्धिसे पर (काम और कामसे पर) बचवा है। वह तो बहुतही दूर है अतः वह समाधिक अनुभव प्राप्त होनेपर भी कल्पितही रहेगा।

इससे प्रत्यक्षमें मनमें वह बात स्पष्ट हो जावनी कि अध्यात्मिकी उपासना कोई सहज बात नहीं जो माद वर्षोंका प्रयत्न भी बाँटें बंद्य करके सहज कर्में कर सक और सिवा योगाभ्यास मात्र वर्षोंका विवेकान्मात्र मात्र भी रूप विभव धर्म बंद्य करके कर सक। इसीविषे कहा है कि—

अध्यात्मसकलधेतुता तत्ता अधिकतरतः कलशः ।

देहवर्तिः अध्यात्म गतिः बुद्धि अध्यात्मतः । (५)

अध्यात्म विषय स्थिर करकेका ध्यान करनेवालोंको

अध्यात्म श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि देहपारी मनुष्योंका अध्यात्ममें गति बर्ज्य बुद्धिबोधो प्राप्त होती है।

जो कोय हठयोगका साधन करते हैं उनकोही पता है कि उनमें कितने कह हैं कितने निषम हैं और कितने आवाम हैं। बीचमें बोधीसी अष्टादि रही तो बनेक प्रकारका मय होनेकी भी संभावना है। इससे आवाम सहन करनेपर भी ध्यानसिद्धितक विराट्काल अध्यात्म परमहमका साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि बड़ातक साक्षात्कारही ध्यात्म करता होता है। ममाधि विद्वद्गुरु तो भी आध्यात्मिक मनको स्वस्थ करनेतकही साधक पशुवर्त है उससे बहुत परे परमहमा है। ममाधिमें जो निर्विकल्पता होती है उसीको परमहम—साक्षात्कार कोई मानवा चाहे तो वह वैसा माने परन्तु आध्यात्मिक मय स्वस्थ होनेपर एकदम मानने परमात्मदर्शन होता असंभवही है। क्योंकि—

मनसस्तु परा बुद्धिः पुच्छेद्यारमा महात्मरा ।

मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे महात्मा बचवा है। वह एकदम मय स्वस्थ होवेही अनुभवमें कैसे आ सकता है। और उस अवस्थामें परमहमका अनुभव हो जाता है ऐसा माननेपर भी वैसी सम्यक्सिद्धि कितने साधकोंको हो सकती है वह एक प्रश्न है और भाग्य बंद्य करनेवाक अर्थात् मन्त्र उपासकोंको क्या प्राप्त होता है वह भी एक बड़ी भारी समस्या है।

अध्यात्म उपासनाके पीछे पढ़नेवालोंको इससे ज्ञान सहन करने पड़ते हैं और इससे आवाम करनेपर भी निर्विकल्पक अध्यात्मका साक्षात्कार हांगा ऐसा भी मानना कठिन है। अतः देहपारी मांयोंको अध्यात्मकी ओर जानेका मार्ग बहुत ही दुःख—साध्य होता है।

हमारा मनुष्योंमें कई थोड़ेही इस हठयोगका साधन करनेक कितने प्रयत्न होते हैं और जो साधकका प्रारंभ करते हैं उनमें थोड़ेही सिद्धितक बहुत मन्त्रों हैं। इसविषे थोड़ी देर बाँटें बंद्य करके देहवर्तियों मिथि मिथि मन्त्रों दे देसायापना अवश्य है फिर पुनःपराती एक विचारमें एकवारसे काम करनेवालोंकी मिथि विषय पशुवर्त है क्या है? यहकही सोच सकें हैं कि ऐम कष्टम विराट्काल उपासकोंमेंसे कितने परमहमका प्राप्त हुए हंग।

वहाँ पाठक पूछ सकते हैं कि 'यदि ऐसी अवस्था है तो क्या विराहकर उपासना करनेवालोंके किये कोई छुम गति प्राप्त होमेकी संभावना नहीं है ?' अवश्य उनके छुम यदि दिखेगी क्योंकि वे ईश्वर है ऐसा मानतेही हैं। ईश्वरकी सत्ताको माननेवालों और उच्छ्वी प्राणिके क्षिप संवसादि धावन करनेवालोंकी कदापि अथवायति नहीं होती। ईश्वरपर विचारन रखकर उच्छ्वी प्राणिके किये वैदिक मुक्तोंका भाग करना वह कोई छोटा उप नहीं है और इस उपके करनेके काल्प इव विराहकारके उपासकोंको अवश्य छुम अवस्था प्राप्त होती है परन्तु हम मार्गमें भ्रातृत्व और परिचय अधिक है।

निश्चित मार्ग

ये हृदयोगी किन्तु मार्गके क्लेश को हृदको ईश्वरकी प्राप्ति हो सकें। इस प्रश्नके उत्तरमें कहा है कि (ये साधका) सर्वत्र सममुद्रितः सर्वभूतहिते रताः (अथर्व) वे मां (ईश्वर) एव प्राप्नुवन्ति ॥ (१)

जो साधक सर्वत्र सममुद्रित रहते हैं और सर्वभूतोंका हित करनेमें उत्तर होते हैं वे साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। अर्थात् अन्त्यकी उपासना करनेवालोंमें जितने साधक सर्वत्र सममुद्रित रह सकते हैं अर्थात् सर्वत्र भ्रमणमात्र रह सकते हैं और जो सर्वभूतोंका हित करनेमें उत्तर रहते हैं वेही साधक परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। अन्त्य साधक अर्थात् जो सर्वत्र विषमभावना रहते हैं और जो सब भूतोंका हित करनेके कर्मोंमें अपने आपको समर्पित नहीं करते उनके अनेक आवासके धावन करने पर भी परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् (१) सर्वत्र सममुद्रित सर्वत्र सममुद्रित और (२) सर्वभूतहित करनेमें उत्तरता। परमात्माका साक्षात्कार करनेके ये ही साधक हैं।

इन साधनोंका स्वरूप

य जो साधक परमात्माकी प्राप्ति के लिये अर्थात् अन्त्यरूपक हैं। इन दो साधनोंमें ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। अन्त्यरूपक नहीं। अन्त्य साधक ध्यानधारणा कितनी भी करें कितनी देर भाग्यें बह करके बैठें, कितनीही मूर्तिबोका विष्णुधर करें अथवा कितनी अन्त्य साधनार्थ करते रहें अवश्य उनके मुद्रिमें समता नहीं आ जाती और अवश्य सब भूतों-सब

प्राणियों-का हित करनेके कर्मोंमें वे अपने आपको समर्पित नहीं कर देते तबतक उनके परमेश्वरप्राप्ति नहीं हो सकती। अतः हम दो साधनोंमें क्या होता है वह देखना चाहिये-

सर्वत्र सम मुद्रि, सम दर्शन

अर्थात् सममुद्रि रहना वह साधक पहिला है। सममुद्रिका पाठ पहिले दिया हुआ है—

सुहृन्मित्रार्थुनासोममध्यस्थोऽप्यवशुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(म गी ११५)

विद्याधिनयसंपन्ने ब्राह्मण्य गति इति ।

मुनि वैश्व श्रुपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(म गी ५१६)

हितैषी मित्र कषु निष्पक्षपाती होवों पक्षोंका पक्ष करवैवाका, द्वेषी बन्धु, मातृ तथा पत्नी इन सबके संबंधों को सममुद्रि रहता है वह श्रेष्ठ है। निष्ठा और विषयके कुछ ब्राह्मण भी हाथी कुत्ता और कुत्ता जाने वालेके विषयमें क्षत्री कोप समर्पित रहते हैं।

वही सममुद्रि रहनेवाले साधक (ये सर्वत्र सममुद्रितः मां [ईश्वर] एव प्राप्नुवन्ति) ईश्वरको प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है। सममुद्रिका अर्थ है समान मनोवृत्ति। परन्तु वहाँ सर्वत्र सममुद्रिका अर्थ सर्वत्र सममुद्रिही विवक्षित है—

इष्टैव तर्जिताः सर्वो तर्गा साम्ये स्थितं मनः ।

निर्वोयं हि नमः ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि त स्थिता ॥

(म गी ५१९)

'विवक्ष्य मन समत्वमें स्थिर हो चुका है अन्तर्निःसङ्गमें समानको भील किया है। ब्रह्म निर्वाण और सर्वत्र सम है। इसलिये सर्वत्र सममुद्रि रहनेवाले साधक उनी ब्रह्ममें स्थिर हुए होते हैं।

ब्रह्म सर्वत्र सम है ब्रह्मके बिना कोई वस्तु नहीं है सभी वस्तुओंमें समान ब्रह्म विद्यमान है। इसलिये सर्वत्र समर्पित रहनेवाले अर्थ सर्वत्र ब्रह्मको देखनाही है। जो साधक सर्वत्र समत्वमें वस्तुओंमें समान ब्रह्मभाव देखते हैं वेही साधक परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।

सर्वत्र ब्रह्मभाव देखनेवाले अर्थात् विवक्ष्यमें परमात्माको अन्त्यः परमात्माको देखना है। विवक्ष्यमें ब्रह्मरूपक करनेका

(४) सर्वकर्मसमर्पणपूर्वक मक्ति

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात् । मयामि न चिरात्पार्थ मय्यावेक्षितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आपत्स्व मयि बुद्धिं निवेश्य । निवसिष्यासि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वयः— ये तु मत्पराः (मत्परा) सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य (मां) ध्यायन्तः अनन्येन योगेन एव मां उपासते ॥ ६ ॥ हे पार्थ । मयि आवेक्षितचेतसो तेषां अहं मृत्युससारसागरात् न चिरात् समुद्धर्ता मयामि ॥ ७ ॥ मयि एव मनः आपत्स्व मयि बुद्धिं निवेश्य अत ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यासि (नव्य) संशयः न ॥ ८ ॥

जो मरे विषयमें तत्पर होकर सब कर्मोंको मुझ समर्पण करके मेरा ध्यान करते हुए, भक्त्ययोगसे मतीही उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ हे पार्थ । मीर मुझमेंही श्रितिका श्रित जगता होता है उनका मृत्युकी ससारसागरसे मैं उद्धार करता हूँ ॥ ७ ॥ मुझमेंही मन लगा मुझमें बुद्धि स्थिर कर ऐसा करनेसे तू इसके पश्चात् मुझमेंही निवास करेगा इस विषयमें कोई संदेहही नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ— अनन्यभावसे ईश्वरमक्ति करते हैं उभय सब कुछ परमेश्वर दूर करता है । जो ईश्वरमें अपना मन और बुद्धि स्थिर करेगा वे परमेश्वरमेंही निवास करेंगे ॥ ६ ८ ॥

सर्वही भक्त सगुण रूपकी उपासना करना है । शिवरूप उपासनामें शिवाका उपासनाका संकेतही नहीं जाता है । पार्थ वहाँ कहा है कि जो भक्त शक्तिवत् भक्तिवत् भक्तवत् भक्तकी उपासना करते हैं यदि वे सर्वत्र सम-बुद्धि रखने लगे तभी वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे सर्वत्र समबुद्धि रखने लग जाय तभी वे ईश्वरको प्राप्त करते हैं । जो शिवरूपमें भक्तभाव देखते हैं वेही ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं । वहाँ भक्तवत् भक्तकी उपासनाक स्थानपर शिवरूप भक्तकीही उपासना हो जाती है केवल भक्तकी उपासना नहीं रह जाती वह पात विशेष मूलम स्थिति देखनेयोग्य है ।

दूसरा उपाय

जो सर्वत्र समबुद्धि शिवरूपमें भक्तभाव नहीं देख सकते वे मायक बना करें । वह एक प्रथम वहाँ उपस्थित है । प्रथम है । उभय उच्छर्ष कहा है कि—

(ये) सर्वभूतहितं रताः न मां (ईश्वर) एव प्राप्नुयन्ति ॥ (५)

जो मायक सब प्राणियोंका हित करनेमें समभाव होते हैं वे ईश्वरको प्राप्त होत हैं । यदि सब भक्तवत् न हुई तो वे सब प्राणियोंका हित करनेक कार्य अपने आपका परामर्श करें । वह भी शिवभावही है । शिवभावके शिवमें

हमसे एव बहुत कुछ श्रिता गया है । शिवसेवा शिवरूपमें भक्तभाव देखनेके पश्चात्ही उच्छर्ष स्थिति हो सकती है परन्तु सर्वत्र समबुद्धि न होनेकी अवस्थामें भी यदि कोई मायक सब प्राणियोंके हितक कार्य करेगा तो वह मायक भी ईश्वरको प्राप्त होगा ।

सर्वत्र समबुद्धि (समबुद्धि) रखना और सब प्राणियों का हित करना ये दो कार्य करनेवालेही परमेश्वरको प्राप्त होते हैं अथवा भेद सिद्धि प्राप्त करते हैं । वह शिवाकार उपासना नहीं है । सब प्राणियोंको परमात्माके रूप मान कर सब प्राणियोंमें परमात्माकी उपासना करना सगुण उपासनाही है ।

भक्तवत्की उपासना करनेवालोंको सर्वत्र समबुद्धि होवे ई पार्थ शिवरूपमें परमात्माको देखकर सब प्राणियोंका हित करनेवालेही ईश्वरको प्राप्त करत हैं वही महावक्ता गाराक है । माकार-शिवाकार-उपासनाक विषयमें प्रगट करनेवाले हमका उचित मनन करें और हमसे उचित भाव करें ।

उद्धारका निश्चित मार्ग

(६ ८) अतुल्यका मन संप्रदायमय देखकर और भक्तकी उपासना तथा भक्तवत्की उपासनाक समझमें अर्थन न देस इसविषे भगवान् भीहृष्य समुप्यक उद्धारका निश्चित मार्ग उभे बताते हैं । वह मार्ग हम उद्धारक है—

(६) ईश्वरके लिये कर्म करना

अभ्यासऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमा भव । मद्दर्शमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(७) कर्म-फलत्याग

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतारम्भान् ॥ ११ ॥

अभ्यासः— (७) अभ्यासे अपि असमर्थः असि (ये) मत्कर्मपरमाः भव । मद्दर्शं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिं लब्ध्वाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तू इस अभ्यासके करनेमें भी असमर्थ हो तो (कमसे कम) मेरे (ईश्वरके) किये कर्म करनेमें तो तत्पर रह मेरे (ईश्वरके) किये कर्म करनेसे भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥
 भाषार्थ— जो साधक अभ्यासयोग करनेमें अपने आपको असमर्थ मानता है, वह परमेश्वरके किये सब कर्म को छोड़ कर परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ ११ ॥

अभ्यासः— कथं एतत् अपि कर्तुं शक्यः असि ततः यतारम्भान् मद्योगं आश्रितः (तत्) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ॥ ११ ॥

यदि इसक करनेमें भी तू असमर्थ हो तो अपना संपन्न करता हुआ मेरे (ईश्वरके) आश्रय आश्रय करके ही सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

भाषार्थ— जो साधक परमेश्वरके किये कर्म करनेमें भी अपने आपको असमर्थ समझता है वह अपना उच्चतम संन्यास करे और परमेश्वरके साथ योग करनेकी इच्छासे सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

और सत्यकर्मोंके उपदेशसे स्थिर हो जाता है ।

अभ्यासका अर्थ ज्ञानैः ज्ञानैः पाठकर्मोंके द्वारा बताया है । इस अभ्यासयोगसे साधक न होनेवाली कोई विद्या नहीं है । सभी विद्याएँ इसी अभ्यासयोगसे प्राप्त हो सकती हैं । अतः जो पाठक पूर्णतः अभ्यास योग न कर सकते हैं वे अभ्याससे उत्तम साधक करें । अभ्यासद्वारा ज्ञानैः ज्ञानैः प्राप्ति होकर अभ्यास योग करना सुगम हो सकता है । पाठक इस रीतिसे अभ्यास करने लगनेमें जो म्युक्तता हो सकती पूर्णतः करें । अभ्यास सफल करना चाहिये नहीं तो अभ्यासका कोई फल नहीं हो सकता ।

(१) एवं कोर्कोमें अभ्यास करनेसे असाध्य बात सुझाव होती है ऐसा कहा है परन्तु वह अभ्यास विषय पूर्वक बार सफल प्रसिद्धि करना चाहिये बात बोका किता भी हो गयीने छोड़कर कुछ किता तो कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः जिससे विषयपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता वे बना कर वे किता बुद्धिसे अपना उद्धार करें यह प्रश्न अपने सम्मुख जा सकता है इसक उत्तरमें योग्यात् श्रीहृत्पदके कहा है कि विषयपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता उसमें कुछ बाधाएँ जाती हैं प्राकृतिक कीदृशिक सामाजिक अथवा अन्य विज्ञ उत्पन्न होते हैं ये—

मत्कर्मपरमो भव ।

मद्दर्शं कर्माणि कुर्वन् सिद्धिं मवाप्स्यसि । (१०)

मेरे किये कम करनेवाला हो मेरे किये कर्म करता हुआ तू सिद्धिके प्राप्त होया । जो साधक पूर्णतः सिद्धि विषयपूर्वक अभ्यास नहीं कर सकता वह अपने सब कर्म परमेश्वरको अर्पण करे ।

मनुष्यके कर्म तो होतेही हैं कर्म किये विना मनुष्य जीवितही नहीं रह सकता । अतः जो कर्म होता वह परमेश्वरको समर्पण करनेका कम रखनेसे ज्ञानैः ज्ञानैः अपने कर्म होने कर्मोंगे और उचितके पक्ष पर प्राप्ति होती अवनी ।

मात्र कीजिये कि कोई मनुष्य अक्षत किञ्च कर्म करता है यदि वह अपने कर्म सम्प्रतिपत्ति सर्वेश्वरके किये समर्पण करता है तो इसी कर्मके समर्पणसे उच्च कर्म सुचारुते चलेंगे तब कर्म छोड़नेका विचार उसके मनमें एक होता जायगा और एक प्रसन्न पक्ष वह परिशुद्ध बचकर साधु पुत्र बन जायगा । अतः अपने सब कर्म सर्वज्ञ सर्वज्ञमर्थ परमेश्वरको अर्पण करनेमात्र है । मनुष्य सुधारने कयला है और उसके उद्धारका मार्ग एक जाला है । वास्तवमें वह मार्ग अक्षत सुगम भी है क्योंकि जो कर्म होता वही ईश्वरार्पण कर देना है । इसमें कोई विषय बाधन करनेकी बातनहकता नहीं ।

(८) शान्तिकी प्राप्ति

अथ हि ज्ञानमभ्यासाच्छानाद्विज्ञानविशिष्यत । ध्यानात्कर्मफलस्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

अन्वयः—अभ्यासात् ज्ञानं भवति (ज्ञप्तिः) ; ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते; ध्यानात् कर्मफलभागः (विशिष्यते) ; अन्तराभावात् शान्तिः समर्थं हि ॥ १२ ॥

अभ्यासयोगसं ज्ञानयोग अधिक धेयस्वरूप इ ज्ञानयोगसे ध्यामयोग अधिक धेयस्वरूप इ ध्यामयागसं कर्मफलस्यागकी विशेषता अधिक इ, इस कर्मफलस्यागसे जीमद्वी शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अभ्याससे ज्ञान ज्ञानक ध्यान ध्यानसे कर्मफलभाग प्राप्त है क्योंकि कर्मफलभाग जीमद्वी शान्ति मिलती है ॥ १२ ॥

(११) जो कर्म हो रहा है वह कर्म परमेश्वरको समर्पण कानाही सुगमसे सुगम उपाय है । तथापि जो मनुष्य इसका भी अवलम्ब नहीं कर सकत वे क्या करें ? इन मनुष्य उतरमें मगबाह् कहत हैं कि जो लोग अपने कर्म भी इश्वरायन नहीं कर सकते वे क्यासक्ति (बराह्म-वात्) ब्रह्मसत्त्व करके इश्वरक साथ योग करवेकी (मर्गात् ज्ञप्तिः) इच्छा करके (मय-कर्म-फल त्यागं कृतं) सर्व कर्मोंके फलोंका त्याग करें ।

मनुष्य कर्म करता है और उस कर्मका फल उस मिलता ही है । कम भला हो या बुरा, थोडा हो वा अधिक जेमा फलमिद वैभारी इश्वरको समर्पण कर दे । इससे फल-भोग भी इच्छाका संभव होगा । फलभोगकी इच्छाछेही मनुष्य जुरे कर्म करनेमें मजबूत हो जाता है । मैं कर्म करता हूँ उसका फल मुझे अपने भोगके लिये नहीं दिये ऐसा विचार त्रिविक्रममें हो वह अपने पाप भोगोंकी समुद्धि करनेकी इच्छासेही सब माने कर्म करता है । यदि जुरे कम करके पण विकनेकी संभावना हो तो वह जुरे कर्म भी कर सकता है ।

परन्तु यदि वह विषय कर क कि कर्मके फलका वह सब भोग नहीं करेगा प्रत्युत उसका परमेश्वरक त्रिविक्रम कर देगा तो इस कर्म-समर्पणसे उसकी भोगविलास की इच्छा मर्णाशित और संवर्धित होती जायगी बार उभ भोगी पुनरुक्त कल्याण संवर्धनी पुनर्जन्म हो जायगा । अतः कर्मफलभाग करनेसेही मनुष्य उद्यत रहने लगता है । मनुष्य कर्मफलका भोग करता है और भागमें रूपाय जाता है कहा : जो कर्मफलभाग करेगा वह भोगमें नहीं रूपायगा और संवर्धनमहारा कमजोर उद्यत होता जायगा ।

कर्मफलभाग और कर्मफलभोगका विवेचन इससे पूर्व मरक बार हो चुका है अब वही इस विषयको अधिक

व्याप्तिकी ओर लक्ष्यकरता नहीं है ।

(१२) अभ्यास-योगसे ज्ञानयोग अवसर है ज्ञान योगसे ध्यामयोगकी विशेषता अधिक है ध्यामयोगसे कर्म-फलका त्याग अधिक उद्यत है इस कर्मफलका त्याग करके जीमद्वी शान्ति मिलती है ।

छठे श्लोकमें ब्रह्मयोग करनेका उपाय है और इसीका विवरण ४ वें श्लोकक किया है । जिससे वह ब्रह्मयोग नहीं हो सकता वे बारबार अभ्यास करके निश्चि प्राप्त करें ऐसा सब श्लोकमें कहा है अर्थात् ब्रह्मयोगभले वह अभ्यासयोग सुगम है ।

इस अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग और ज्ञानयोगसे ध्यामयोग अधिक धेयस्वरूप है इसमें संदेह नहीं है । द्वितीय ब्रह्मत्वमें सबसे प्रारंभमें वह ज्ञानयोग कहा है ध्यामयोगका बोधना सर्वत्र छठे अध्यायमें वा चुका है और इसीका विवेचन इस १२ वें अध्यायमें ४ वें श्लोकमें सब और बुद्धिके परमत्वमें जगत्केका उपाय करके किया है । जिससे वे भोग नहीं हो सकते वे सर्वकर्मफलभाग करें ऐसा ११ वें श्लोकमें कहा है । सबसे सुगम और सबसे परिणामकारी योग इस कर्मफलभागकी विशेषता है । कर्मफलभाग किये बिना कोई अन्य योग सफल और मुक्त नहीं हो सकता । वह कर्मफलभागयोग सबसे सुगम है और सब अन्य योगोंके साथ सर्वत्र एकतेयाय भी है । सब अन्य योगोंकी सफलता इसीसे ही सकती है । अतः सुगमता और सर्व योगोंके लिये उप योगिता होनेके कारण कर्मफलभागका महार सर्वोपरि है ।

कर्मफलभागछेही अपनी शान्ति प्राप्त हो सकती है । फलभोगक बिना शान्ति नहीं मिल सकती । इस तरह कर्म-फलभाग कर्मफलभाग और कर्मफलभोगका महार है । वह जानकर सब साधक कर्मफलभाग करके शान्तिकी प्राप्त करें ।

१ मत्पराः (ईश्वरपराः) = ईश्वरकोही परम भेद मानो ईश्वरकोही अपना भेद प्राप्तव्य समझो ईश्वरको छोड़ कर अन्य कुछ भी मनमें न छोड़ो ।

२ मां (ईश्वर) आभ्यस्त-ईश्वरकाही ध्यान करो ।

३ मयि (ईश्वरे) भावसिद्धयेताः ईश्वरमें अपने धितको स्थिर करो ।

४ मयि (ईश्वरे) मया आभ्यस्त ईश्वरमें अपना मन लगाओ ।

५ मयि (ईश्वरे) बुद्धि विवेचय- ईश्वरमें अपनी बुद्धि स्थिर रखो ।

६ सर्वान्नि कर्मानि मयि (मत्पराणि) संन्यस्य = अपने सब कर्मोंको ईश्वरक समर्पण करो ।

७ अकर्मण्य एव योगोऽय उपस्तते जगन्म अर्थात् मैं उससे मित्र नहीं हूँ इसी योगसे ईश्वरकी उपासना करो ।

ये शत्रु राज्य मनुष्यक उद्धारके साधनी शक्तिया पड़ो दे रहे हैं । इनको भी इस इस तरह संश्लिष्ट कर सकते हैं-

८ ईश्वरकोही सर्वोपरि मानकर उसीको अपना सर्वस्व मानो ।

९ ईश्वरका मनुष्य ध्यान करो और अपने धित मन तथा बुद्धिको उसीमें लगाओ ।

१० ईश्वरकी शरण करनेके लियेही अपने सब कर्म करो ।

११ अपने भागको ईश्वरसे मित्र न समझो और अकर्म भावसे कर्तव्य करते रहो ।

संक्षेपसे यही मनुष्यके उद्धारका मार्ग है । इसमें (१) ईश्वरलक्षण (२) ईश्वरक साथ अपना अकर्मभाव और (३) ईश्वरको अपने कर्मोंके समर्पण के तीन बातें मुख्य हैं । यही नामचीन ब्रह्मसूत्र का मार्ग है । जो इस भावसे कहेगा उसका उद्धार निश्चय प्रकार हो जायगा-

१ तेषां ब्रह्मसंसारमाराद्व्यमुद्धर्तुं बह्व्यभिः-मृत्यु और संसारकी क्षारधरे में उदका उद्धार कर देता हूँ ।

२ अतः कर्म्य मयि (ईश्वरे) एव विचिन्त्यन्ति न संशया-इसके पश्चात् ए ईश्वरमेंही विश्वास करेगा इसमें संदेह नहीं है ।

उस मृत्युका भय नहीं रहेगा संसारसे वह उदरेगा यही और वह मरने ईश्वरमेंही विश्वास करेगा यही वह उद्धारका

स्वभाव है । अर्थात् वह निर्भय होकर ईश्वरमेंही विश्वास करेगा । संक्षेपसे वह एक ब्रह्मही प्रकटीभवी है ।

परन्तु यहाँ जो मार्ग बताया गया है उसे बलवत्तया अकर्म विशाकाकी उपासना नहीं कहा जा सकता वह धर्म भाव हैयोग्य है ।

ईश्वरको भेद मानना, ईश्वरमें वाम विष्णु रक्षा अपना धित मन बुद्धि ईश्वरमें स्थिर करना, अपने कर्मों ईश्वरको समर्पित करना और अकर्म होकर उपासना करना इस विधियोंमें एक भी ऐसी नहीं है जो विशाका की उपासनामेंही पायेजाती हो । परन्तु जो अकर्मयोग का विश्वास नहीं किया है, वह तो साकार ईश्वरकी स्तुति करने मात्रही सुलभ होवेनाका है । देखिये- ईश्वरसे अकर्म होवेनाका वह उपासक ईश्वरकी शक्ति और शक्तु है । वह उपासक ईश्वरसे अकर्म है अर्थात् उसके विश्व अपना प्रपञ्च नहीं है उससे एकक है । इसका तब वह हुआ हैना वह (ईश्वर) है दूसरी वह (उपासक) है उसके अन्तर वह उसके साथ मिश्रितनुकैवाका है । वरि यहाँके ईश्वरको केवल बलवत्तया अकर्म अकर्मही तब तो उसमें वह अपने विष्णु और शक्त उपासक एकक और अकर्म अर्थात् दूसरा न बने वा मित्र न हो वह कैसे हो सकता है ! उसके अतिरिक्त अकर्म होवेने लिये वह उपासक उसके साथ एकक हो जयेनाकाही होना चाहिये ।

जब विश्वकी ईश्वरकी विश्वध्यानक मनुष्य करने साथ एकका कीजिये, उसमें उपासकका वह शक्तु कन एकक हो सकता है वा नहीं ! विश्वकर्मों विश्वकर्मों उपासक का कन एकक नहीं है । विश्वकर्मों हरएकका कन अतिरिक्त ही रहता है अतः वह उपासक विश्वकी उपासक ईश्वरके साथ अकर्म हो सकता है । इससे स्पष्ट है कि यहाँ शक्तु मत्कार विश्वकी ईश्वरकी यथिही विश्वधित है । यही विश्वधिया है और वह विश्वधिया विश्वके अपनेको एकक न मानकर की साथ तो वह उपासक उपासकईश्वरमें विश्वधिया और शक्तु तथा संसारका भय इस नहीं रहेगा वह स्पष्टही है ।

समर्पण कर्म इसी विश्वाकासे समर्पित करने चाहिये इसी विश्वधियाको अपना परम कर्तव्य मानना चाहिये

(५) अध्यास-योग

अथ चित्त समाधातु न शक्नोषि यथि स्थिरम् । अध्यासयोगेन तदा मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥१॥

अभ्यासः— हे धनञ्जय ! अथ यदि स्थिर चित्त समाधातु न शक्नोषि, तदा अध्यासयोगेन मां आप्तुं इच्छ ॥ १ ॥

हे धनञ्जय ! यदि तू मुझ (इन्द्र) में अपना चित्त स्थिर करनेमें असमर्थ है तो अध्यासयोगद्वारा मुझे (इन्द्रको) पानेकी इच्छा कर ॥ १ ॥

भाषार्थ— जो साधक अपना चित्त परमेश्वरमें स्थिर करनेमें असमर्थ है व अध्यासयोगद्वारा इन्द्रको पानेका ध्यान करें ॥ १ ॥

अथ चित्त मयं बुद्धि और ध्यात, इसीकी सेवामें लगाये रखना चाहिये और अपने ध्यानको उससे भिन्न न समझकर निश्चयेना करनी चाहिये । अपने ध्यानको उससे इच्छा व समझना लज्जाही अपने ध्यानको उसमें संमिश्रित समझना है ।

यह कर्म परमेश्वरको समर्पण करने जायेंगे इसलिये सब कर्म उत्तमसे उत्तम हों वह बात स्वयं समझमें आ जायी है । जैसे कोई मनुष्य किसी राजाकी तुष्टिक किय कुछ कर्म करता है तो उससे जिनका उत्तम हो सकता है उसका वह करता, वह स्वभावतः ही होता है । किन्तु यदि वह चित्तकामी परमेश्वरको जो सब राजाओंका राजा है कर्म समर्पण करना चाहे तो वह चित्तभी कुछकटा कियने जाय और चित्तके निष्कारक साध करेगा इस विषयमें अधिक विचारनेकी आवश्यकताही नहीं है । परमेश्वरकी सेवामें अपने कर्म समस्त समर्पित होने हैं यह निश्चय होनेके पश्चात् उसक कर्म सर्वोत्तम होंगे और अर्पण कुछकटाके साथ होंगे इसमें संशयही नहीं है ।

इस प्रकारका आत्मसमर्पणपूर्वक वह अध्यासयोग किया जा सकता है और यही समस्त मानव समाजकी उत्पत्ति करनेवाला है, इसमें कोई संशयही नहीं है । वह अध्यासयोग । सब योगोंमें श्रेष्ठ है —

(१) साधनें शोकेन (यदि आनेछित्त-वृत्ततां) मुञ्च इष्टार्थे यथाचित्त कर्मात्मका उत्तेज है । इस तरह जो साधक इष्टार्थे यथाचित्त स्थिर करते हैं उनका उद्देश्य परमेश्वर का है । परन्तु जो अपना चित्त इष्टार्थे स्थिर नहीं कर सकते और इष्टार्थे अपना अध्यासभाव अनुभव नहीं कर सकते उनक उद्देश्यका मार्ग कीमता है ? इस शंकाक र्थात्तम यथाभीकृष्णका कथन है कि ऐसे अध्यासयोग

न कर सकनेवाले साधक अध्यास-योग करें ।

यह अध्यासयोग कित्त भीजका नाम है ? यह इसका विचार करना है । अध्यासका अर्थ बारीक उत्तम विषयक साथ परिचय करना है । जो विषय न जाना हो, उसे बारीक करनेसे उनका अध्यास हो जाता है और वह विषय जानी जाता है । हर एक कष्टाकुसकता और विषय समझनेका अध्यास करनेसे ही जानी है । इसी तरह इससे पूर्व जो अध्यास योग कहा गया है यदि वह उसी समय साध्य नहीं भी होता तो समझनेका अध्यास करनेसे साध्य हो सकता है ।

उस अध्यास योगमें कई बातें कही गयी हैं । चित्त परमात्मामें स्थिर करना वह ध्यानयोगका विषय है इन्द्रयोगमें वह ध्यान साधनी बात है । यदि वह ध्यान स्थिर न होता हो तो समझनेका अध्यास-माध्यममात्र प्रत्याहार धारणाका अध्यास करते रहनेसे अध्यास होनेके पश्चात् चित्त जहाँ चाह वही स्थिर किया जा सकता है ।

इसी तरह मन्त्रबुद्धिको परमात्मामें प्रकाश करना भी यदि मुश्किली साध्य न होता हो तो समझनेका अध्यास करके मन्त्रद्वारा मन्त्रको और ध्यानयोगद्वारा बुद्धिको प्रकाश किया जा सकता है ।

सब कर्मोंका इष्टार्थमें समर्पण करनेका भी इसी तरह अध्यास किया जा सकता है । विशेष महत्त्वक कर्म और उसक पश्चात् प्रत्येक कर्मको भी समर्पित करना चाहिये । उपजाय अपना मन्त्रपूर्ण जीवनही इष्टार्थार्थ कर देनेसे उसमें होनेवाले सब कर्म भी परमेश्वरको ही समर्पित हो जायेंगे ।

इसी रीतिसे अध्यास भाव बर्त्ता में परमेश्वरक भिन्न नहीं है वह भाव भी समझनेका विचारक समयसे

(६) ईश्वरके लिये कर्म करना

अभ्यासऽप्यसमर्थाऽसि मत्कर्मपरमो भव । सर्वकर्मणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(७) कर्म-फलत्याग

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाभितः । सर्वकर्मफलत्यागं तव कुरु वतात्मवान् ॥ ११ ॥

अभ्यासः— (६) अभ्यास बलि असमर्थः असि (केव) मत्कर्मपरमः भव सर्वकर्मणि कुर्वन् बलि सिद्धि मवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि तु इस अभ्यासक करनेमें भी असमर्थ हो तो (कर्मसे कम) मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेमें तो तत्पर रह मेरे (ईश्वरके) लिये कर्म करनेसे भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥

भाषार्थ— जो साधक अभ्यासयोग करनेमें अपने आपको असमर्थ मानता है, वह परमेश्वरके लिये सब कर्म को उसे इसीसे परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥

अभ्यासः— अब दूसरा बलि कर्तुं अशक्तः अस्मि एतः वतात्मवान् मद्योग आभितः (७) सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ॥ ११ ॥

यदि इसके करनेमें भी तु असमर्थ हो तो अपना संयम करता हुआ मेरे (ईश्वरके) योगका आश्रय करकही सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

भाषार्थ— जो साधक परमेश्वरके लिये कर्म करनेमें भी अपने आपको असमर्थ समझता है वह अपना उत्तम संयम करे और परमेश्वरके साथ योग करनेकी इच्छासे सब कर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

और समुच्चयोंके अपेक्षसे स्थिर हो जाता है ।

अभ्यासका अर्थ समैःकर्मैः पाठकोंको सुझ सकता है । इस अभ्यासयोगसे भाव्य न होनेवाली कोई विद्या नहीं है । सभी विद्याएँ इसी अभ्यासयोगसे प्राप्त हो सकती हैं । अतः जो पाठक पूर्णतः अवश्य योग न कर सकते हैं वे अभ्याससे उसके साध्य करें । अभ्यासद्वारा समैः-कर्मैः प्रगति होकर अनन्य योग करना सुभव हो सकता है । पाठक इस विधिसे अभ्यास करके अपनेमें जो स्थिरता हो उठती पूर्णता करें । अभ्यास उत्तम करना चाहिये नहीं तो अभ्यासका कोई फल नहीं हो सकता ।

(१) पूर्व श्लोकोंमें अभ्यास करनेसे असाध्य बात सुसाध्य होती है ऐसा कहा है परन्तु वह अभ्यास नियम पूर्वक बार छठ प्रतिदिन करना चाहिये मात्र थोड़ा किया और हो महीने दोहर कुछ किया तो कुछ भी प्रगति नहीं हो सकती । अतः जिससे नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता वे क्या करें वे किछ मुक्तिसे अपना उद्धार करें वह प्रथम अपने समुदाय भा सकता है इसक उत्तरमें भगवान् भीकृष्णसे कहा है कि नियमपूर्वक अभ्यास नहीं हो सकता उसमें कुछ बाधाएँ जाती हैं प्राथमिक औद्योगिक सामाजिक अपना अभ्य विज्ञ उत्पन्न होत है तो—

मत्कर्मपरमो भव ।

सर्वकर्मणि कुर्वन् सिद्धिं मवाप्स्यसि । (१०)

मेरे लिये कम करनेवाला हो मेरे लिये कर्म करना हुआ ए सिद्धि को प्राप्त होगा । जो साधक पूर्णतः स्थिर नियमपूर्वक अभ्यास नहीं कर सकता वह अपने लक्ष्य में परमेश्वरको अर्पण करे ।

समुच्चयके कर्म तो होवेही हैं कर्म दिने बिना समुच्चय जीवितही नहीं रह सकता । अतः जो कर्म होगा वह परमेश्वरको समर्पण करनेका क्रम रखनेसे कर्मैः कर्मैः अपने कर्म होने काँगे और उच्चतरेके पथपर प्रगति होही सक्ती ।

माम जीविते कि कोई समुच्चय बलंत किछ कर्म करत है यदि वह अपने कर्म उत्तमचित्तान् सर्वेश्वरके लिये समर्पण करता है तो वही कर्मोंके समर्पणसे उत्तम कर्म सुधारते जायेंगे तुरे कर्म कोवमेका विचार उसके कर्मों तक होता जायगा और कुछ धनके वस्तु वह परिहृत बनकर साधुपुरुष बन जायगा । अतः अपने सब कर्म सर्वज्ञ सर्वशर्म परमेश्वरको अर्पण करनेवाले हैं समुच्चय सुधारने कयता है और इसक उद्धारका मार्ग तब प्राप्त है । वास्तवमें वह मार्ग अर्धत सुगम भी है क्योंकि जो कर्म होता वही इश्वरार्पण कर देना है । इसमें कोई नियम पाठ्य करनेकी आवश्यकता नहीं ।

(८) आध्यात्मिक प्राप्ति

अथा हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानादुत्थानं विशिष्यत । अभ्यानात्कर्मफलस्यागस्त्यागाभ्यान्तिरनन्तरम् १२

अभ्यासः— अभ्यासस्य ज्ञान भेदा (अर्थित) ; ज्ञानस्य ध्यान विशिष्यते; ध्यानात् कर्मफलस्यागः (विशिष्यते) ; अन्तर आगात् आध्यात्मिकः सर्वसिद्धिः हि ॥ १२ ॥

अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग अधिक भेदस्वरूप है ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक भेदस्वरूप है ध्यानयोगसे कर्मफलस्यागकी विशेषता अधिक है इस कर्मफलस्यागसे हीमयी शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥

भावार्थ— अभ्याससे ज्ञान ज्ञानसे ध्यान ध्यानसे कर्मफलस्याग केन्द्र है क्योंकि कर्मफलस्याग हीमयी शान्ति मिलती है ॥ १२ ॥

(११) जो कर्म हो रहा है, वह कर्म परमेश्वरको समर्पण करवाही सुगमसे सुगम उपाय है । तथापि जो मनुष्य इच्छा की अवधारणा नहीं कर सकत वे क्या करें ? इस सम्बन्ध उचितमें भगवान् कहते हैं कि जो लोग अपने कर्म की ईश्वरापन नहीं कर सकते, वे व्यापारिक (व्यापार-धन) व्यवसाय करके इश्वरक माथ योग करनेकी (सर्वोपरि धर्मितः) इच्छा करके (अथ-कर्म-फल-त्यागं कृतं) सर्व कर्मोंके फलोंका त्याग करें ।

मनुष्य कर्म करता है और उस कर्मका फल उस मिलेगा ही है । कम मिला हो वा बुरा प्योडा हो वा अधिक मिला फल मिले वैसाही ईश्वरको समर्पण कर दे । इससे फल-भोग की इच्छाका क्षय होगा । फलभोगकी इच्छाछेदी मनुष्य उसे कर्म करनेमें प्रवृत्त हो जाता है । मैं कर्म करता हूँ उसका फल मुझे अपने भोगके लिये चाहिए ऐसा विचार तबिक मनमें हो वह अपने पास भोगोंकी लालस करनेकी इच्छाछेदी सब माने कर्म करता है । यदि उसे कम करके थक विफलकी संभावना हो तो वह उसे कर्म भी कर सकता है ।

परन्तु यदि वह नियम का कि कर्मोंके फलका वह स्वयं भोग नहीं करेगा मनुष्य उसका परमेश्वरक लिये समर्पण कर देगा तो इस कर्म समर्पणसे उसकी भोगलालस की इच्छा समाप्त और संतुष्ट होटी जावगी और उस योगी पुनरुक्त कृतान्तर संतुष्टी पुनर्प्राप्ति हो जावगी । कर्मक फलफलस्याग करनेछेदी मनुष्य उन्नत होने लगता है । मनुष्य कर्मफलका भोग करता है और भोगमें कैसता जाता है अथवा जो कर्मफलस्याग करेगा वह भोगमें नहीं कैसता और संतुष्टता का कमायः उन्नत होता जावगा ।

कर्मफलस्याग और कर्मफलभोगका विशेषतः इसका पूर्व भवेत् वा हो चुका है अथवा नहीं इस विषयको अधिक १७ (हिं पी.)

वहानीकी कोई अवधारणा नहीं है ।

(१२) अभ्यास योगसे ज्ञानयोग अवसर है, ज्ञान योगसे ध्यानयोगकी विशेषता अधिक है ध्यानयोगसे कर्म-फलका त्याग अधिक उन्नत है इस कर्मफलका त्याग करनेसे हीमयी शान्ति मिलती है ।

उत्ते श्लोकमें ' अवस्थापय ' करनेका उपदेश है और उल्लेख विवरण ८ में श्लोकमें किया है । जिससे वह अवस्थापय नहीं हो सकता वे बारंबार अभ्यास करके विधि प्राप्त करें ऐसा कथन श्लोकमें कहा है अर्थात् अवस्थापयसे वह अभ्यासयोग सुगम है ।

इस अभ्यासयोगसे ज्ञानयोग और ज्ञानयोगसे ध्यानयोग अधिक अवसर है, इसमें संदेह नहीं है । द्वितीय अभ्यासमें सबसे बारंबार वह अवस्थापय कहा है ध्यानयोगका योडाता वर्जन छे अभ्यासमें वा युक्त है और उल्लेख इस १२ में अवस्थापय ८ में श्लोकमें मन और बुद्धिको परमात्मना में कथनका उपदेश करके किया है । जिससे व भोग नहीं हो सकते हैं सर्वकर्मफलस्याग करें, ऐसा ११ में श्लोकमें कहा है । सबसे सुगम और सबसे परिणामकारी होना इस कर्मफलस्यागकी विशेषता है । कर्मफलस्याग लिये विद्या काई अन्य भोग प्रकट और सुकट नहीं हो सकता । वह कर्मफलस्यागयोग सबसे सुगम है और सब अन्य योगोंके साथ सबैक सम्बन्धवाला भी है । सब अन्य योगोंकी प्रकटता हीसे हो सकती है । अतः सुगमता और सब योगिक लिये सब योगिता होनेके कारण कर्मफलस्यागका महत्व सर्वोपरि है ।

कर्मफलस्यागछेदी अपनी शान्ति प्राप्त हो सकती है । फलस्यागके बिना शान्ति नहीं मिल सकती । इस तरह कर्म फलस्याग कर्मफलस्याग और कर्मफलस्यागका महत्व है । वह जानकर सब आर्थिक कर्मफलस्याग करके शान्तिकी प्राप्त करें ।

(९) प्रिय भक्त

अष्टा सर्पभूतानां मैत्र कर्ण एव च । निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
 सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा इदमिच्छय । मय्यर्पितमना बुद्धिर्बो म भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
 यस्मान्नोद्विजते लाकः लोकाश्चोद्विजत च य । हर्षामर्षमयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
 अनपथं ह्युचिदंश्च तदासीनो गतस्त्वय । सर्वारमपरित्यागी वा भक्त्यक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
 यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति । शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
 सम श्रद्धां च मित्रे च तथा मानापमानयोः । शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सगविर्भक्तः ॥ १८ ॥
 तुल्यमिन्दास्तुतिर्मानां सन्तुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिर्महत्किमान् मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥
 ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पश्युपासते । भक्षयान् मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु अष्टमोऽध्यायः श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अन्वयः— (१) सर्वभूतानां अष्टौ मैत्र कर्ण एव च निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी सर्व
 समुहः योगी यतात्मा इदमिच्छयः भक्तिर्बोदमनोबुद्धिः सः भक्तः स मे प्रियः (अस्ति) ॥ १३-१४ ॥ कोकः वस्त्र
 न उद्विजते यः च कोकः न उद्विजते यः च हर्षामर्षमयोद्वेगैः मुक्तः सः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १५ ॥ वा भक्त्यक्तः यथोक्तं
 ह्युचिदंश्च तदासीनो गतस्त्वयः सर्वारमपरित्यागी सः मे प्रियः ॥ १६ ॥ वा न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति
 यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् (अस्ति) सः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १७ ॥ (वा) सगो मित्रे (वा) तथा मानाप
 मानयोः समः शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सगविर्भक्तः (च अस्ति) तुल्यमिन्दास्तुतिः सौम्यो (वा) येन केनचित्
 संतुष्टः (अस्ति) अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् सः नरः मे प्रियः (अस्ति) ॥ १८-१९ ॥ ये तु भक्षयान् मत्परमाः
 भक्ता इदं यथोक्तं पश्युपासते ते मे अतीव प्रियाः (अस्ति) ॥ २० ॥

जा सब प्राणियोंका द्वेष न करनेवाला सबका मित्र व्यापार ममतारहित धर्मद न करनेवाला
 सुख और दुःखका समान माननेवाला क्षमाशील सदा सन्तुष्ट योग्याभ्यास करनेवाला सबकी और
 हृदयमिच्छयी है मार जिसने अपने मन और बुद्धिका मुझे (ईश्वरको) अर्पण कर दिया है वह मेरा
 (ईश्वरका) भक्त मुझे (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १३-१४ ॥ छात्र जिससे वाद्विग्न नहीं होता जो जोयोंसे
 उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष कांक्ष भय तथा उद्वेगस मुक्त रहता है वह मुझे (ईश्वरको) प्रिय है
 ॥ १५ ॥ जो मरा (ईश्वरका) भक्त हृष्टारहित पवित्र हृष्ट उदासीन ध्यपारहित और सकाम-कर्मोका
 आग्रह न करनेवाला है वह मुझ (ईश्वरको) प्रिय है ॥ १६ ॥ जो हर्ष नहीं मानता और द्वेष भी नहीं करता
 जो शांति नहीं करता और न आशा करता है गुण तथा अशुभ दोनोंका त्याग करनेवाला भक्त मुझ
 (ईश्वरका) प्रिय है ॥ १७ ॥ जो शत्रु और मित्रके विषयमें सम और अपमानके विषयमें सम भाव रखता
 है शीत उष्ण सुख दुःखके विषयमें सम भाव धारण करता है जिसकी ओगोंसे भावक्ति नहीं है जो
 मदा और स्तुतिक विषयमें सम भाव रखता है जो मान धारण करता है जो मित्र आज उसीसे जो वतुष्ट
 रहता है जिसका भगना कोई स्थान नहीं है जिसकी बुद्धि स्थिर है ऐसा जो भक्तिमान् मनुष्य है वह
 मुझ (ईश्वरका) प्रिय है ॥ १८-१९ ॥ जो भक्षा रखनेवाला और मुझ (ईश्वरका) परम भक्त माननेवाला
 धर्मयुक्त भक्त जाता यहाँ कहा धर्मयुक्त इस अमर शानका सधन करते है य मुझ (ईश्वरका) अत्यन्त
 प्रिय दात है ॥ २० ॥

मापार्थ— जो किसीका द्वेष नहीं करता सबके साथ मित्रक समान वर्तन करता है सबपर दया करता है ' वह मेरा और वह मेरा नहीं देना साथ कभी नहीं रखता कभी पसन्द नहीं करता सुखदुःखको समान समझता है धर्मा करता है नरा मनुष्य रहता है मित्रमपूर्वक योगसाधन करता है इष्टिबोध मित्रद करता है यह मित्रवत् अपना कर्तव्य करता है, अपने मन-बुद्धिको ईश्वरके कार्यमें व्यर्थ करता है जिसके दूसरोंको उद्वेग नहीं होता और जो कर्मोंसे उद्भिन्न नहीं होता, जिसके अन्तर हर्ष श्लोष भय और उद्वेग भावि विकार नहीं होते जो योगेष्टका नहीं रखता पवित्र रहता है कर्तव्यमें दृढ रहता है काम-हासिक विषयमें उदासीन रहता है जिसके कष्ट नहीं होता जो अपने भाग बढ़ानेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता जो साक और द्वेष नहीं करता जो कर्मयोगकी भासा नहीं रखता जो सुख और अशुभ दोनोंका त्याग करता है जो धनु मित्र मान-व्यमान नीत-उप्य सुख-दुःख स्तुति मित्राके सम्बन्ध होनेपर मनकी समान बुद्धि पालन करता है जो योगीवर आश्रित नहीं है अहम्मे को प्राप्त हो उससे समुद्र होता है जो मोक्ष पारण करता है जिसका अपना कोई स्वाम नहीं है जिसकी बुद्धि चञ्चल नहीं है जो अद्याप्य ईश्वरकोही परम भेद मानता है और उसकी भक्ति करता है और जन्मावृत्त प्राप्त करके तत्पुनार आचरण करता है वह भक्त परमेश्वरको कहा मित्र होता है प १३—१ ॥

(१३-२) जो भक्त ईश्वरको अर्थात् मित्र होता है उसका कल्याण वहाँ बसाये हैं । वे सभी कल्याण पृथ्वी भस्ममें सेवे चाहिये देना नहीं । इनमेंसे जिसने भी हो इतनेही पयास है, क्योंकि किसी एक भस्ममें कोई एक कल्याण पृथ्वीक साथ भा जानेपर भस्म कल्याण उसका साथ साथ मृत्युना-यिक प्रमात्रमें जाने लगते हैं । वे कल्याण उत्तम भस्मक हैं क्योंकि वे कल्याण पूर्व उत्पन्न भी हैं । पूर्व पुण्यही उत्तम भस्म होता है और वह कैसा आचार विचार करता है वह इन कल्याणोंके साथ हो सकता है । अतः इन कल्याणोंके प्रिय अनुभवक भस्मके उत्तम कल्याण प्राप्त हो सकते हैं वैसीही उत्तम सामाजिक व्यवस्था भी समझमें आ सकते हैं । इस दृष्टिसे इन इन कल्याणोंका वहाँ मोड़ाना विचार करव है—

१ अष्टेष्टा

किसीका द्वेष नहीं करना चाहिये । परन्तु जगत्क अन्तः को देखी शीलता है व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाजमें द्वेष वह रहे है वह ठीक नहीं है । वह दुःखका मूल है । द्वेष छोड़ देना चाहिये । सबसे द्वेष निकटतम भा जानेपर अनुत्पन्न उत्तम भक्त बन जाता है । द्वेष छोड़ना उत्तम भक्त का नवम कल्याण है । परन्तु द्वेष छोड़ देना यह निश्चय कल्याण है क्योंकि द्वेष छोड़नेमें कुछ करना नहीं होता अतः इसका निश्चिन्तन देना चाहिये जो आगेही कहा है

२ प्रेष्टः

नवम मात्र मित्र भावने वर्तन करता चाहिये । सबका

मित्र बनकर रहना चाहिये । श्रुत कोटनक पश्चात् जो करना है वह इस सत्यद्वारा बताया है । सबका द्वेष करना चाहिये । जिस मित्र द्वेष करता है वैसीही प्रालिमात्रका द्वेष करना चाहिये । जिसका द्वेष जिसमें है वह तबतब वैसाही करना चाहिये—

३ कुरुण

करुणा दया मनमें पालन करनी चाहिये । यह गुण भी द्वेष छोड़नेक साथ पालन करनेवाला है । यह गुण न रहे तो न मित्रता मित्र होगी और न द्वेष छोड़नेमेंही सफलता हो सकती है ।

४ निमम

समाजको छोड़ देना चाहिये । वह मेरा है वह मुझ चाहिये वह दूसरका है वह मेरा नहीं है इस प्रकार द्वेषाचारका समान कहते हैं । हम समाजक कारणही सब द्वेष उत्पन्न होत हैं । वह स्थान मेरा है जो वह दूसरका है । उमने मरी भूमिमें अधिकतम किया है हम दूसरा द्वेषका मार्ग हो जाता है और द्वेष बरतन मित्रता का कल्याण यह हो जाती है । अर्थात् समस्त द्वेषका दनु दे हममित्र उस छोड़ देना चाहिये ।

जब हम इस समस्तद्विद्वि समाज उत्पन्न मात्रा विचार करते हैं तब हमें सब भूमि सब पर सब उत्पन्न यह पत्र राजाका है जो किसी व्यक्तिका नहीं देसीही । मान

भवत्वा स्वीकारणी नयेगी ।

५ अनिकेत

किन्धीका स्वास्तित्व (विच्छेदः) बरपर (न) नहीं है ।
बड़ा गुरुवाचक विकेत सम्प्रपञ्चाचक सब कामोंका उप-
सङ्गणक है । बरपर किन्धी अन्धिका स्वास्तित्व नहीं है, वैच्छेदी
शुद्धि, कृपि तो वैक बोधे सब तथा सम्प्र वस्तुचोपर भी
किन्धी अन्धिका स्वास्तित्व न हो, वे सब राजाके स्वास्तित्वमें
रहें और वे सबको राजस्वियमसे व्यवहारके लिये लियें ।
कोई अपने अजीब कुछ भी सब न रखे सब सब राजाका
हो और वह सबकी भर्तृहृदये लिये व्यव हो । समाज
व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसमें कोई अपना सम्प्र
किन्धीपर न रख सक । हृष परहके समाजमें सम्प्रसे और
अपना कर करके रहनेसे जो को विह्वल रहते हैं वे नहीं
होते ।

आजकल सम्प्रान्ती और वैरागीभी कि किनको अपना
बरवार नहीं होता और किनके पास सम्प्रके कसे रखनेके
योग्य कोई वस्तु नहीं होती वे भी आपसमें लड़ मारते हैं ।
परन्तु वह अज्ञानवशके कारण होता है । पूर्णतः समाज-
व्यवस्थामें यदि पर्याप्त ज्ञान सबको दिया जाय तो वे शेष
क्यावि नहीं वह मर्त्ये हृषलिये हम कहते हैं कि अमरवृत्ति-
को वैसी समाजवाचना अभीष्ट है जिसमें किन्धीका अपना
परावार न हो और कोई मनुष्य वह वस्तु लेती है
देमा न कह सके, परन्तु समाजके अन्तर्गत रहनेवाले सभी
कोमोंका योग्यतम राज्यव्यवस्थाही उत्तम रीतिसे चले ।

६ निरहंकारः

अहंकार न रह चमक न रहे । अहंकारछेदी दूसरेकी
विश्व की जाती है । हृष सम्प्र और अहंकारका संबंध
बड़ा चिह्न है । अहंकारसे सम्प्र अज्ञानसे दूसरेकी
विश्व और विश्वसे हृष होता है । वह संबंध वैयक्त्वा अहंकार
छोड़नेका प्रयत्न होना चाहिये ।

७ सतत सन्तुष्टः, सन्तुष्टा येन केनचित्

महा सम्प्र रहना चाहिये जो जिसे उसमें सम्प्र
रहना चाहिये । अमरवृत्ति हृष और सम्प्र होते हैं

अमरवृत्तिसेही अमरवृत्ति बचती है और अमरमें हृष प्रत्य
हो जाता है । अमरवृत्तिसे अमरवृत्ति सर्वाधिक रहती है
मेरे सोमके लिये मुझे यह चाहिये ऐसा अमर वृत्तिसे
अमरवृत्ति बढने लगाया है । जो भिन्न ज्ञान उसीमें अमर
हो जाय तो मुझ भिन्न सकला है । संतोष तो तभी होगा
जब मर्त्ये किन्धी मर्त्यकी अवस्था हृष और आत्मा न हो ।
हृषलिये कहा है—

८ अनपेक्ष

सुखयोगकी हृषका-अपेक्षा-आत्मा नहीं करनी चाहिये ।
किन्धी अपेक्षा कम हो सके उत्तरी कम करनी चाहिये
तभी अमरवृत्ति होगा और सम्प्रपर जो भिन्न ज्ञान उसमें
सन्तुष्टि होगी । यदि भोगकामना वह ज्ञान तो चले जो
भिन्न ज्ञान उसमें अमरवृत्ति नहीं हो सकेगा । ऐसी स्थितिमें
सत्तव प्रमादात्त रहना भी असम्भव है । अतः भोगोंकी
हृषकाको सर्वाधिक करके रखना चाहिये ।

९ सत्तारमा

इस सम्प्रसे अपना संबंध करनेका उपदेष्टा है सम्प्र
जो लिये उसीसे संतोष हो जाय अमरवृत्ति सम्प्रवृत्ति
संबंध हो सकला है । अमरवृत्तिमें अज्ञानमें भोग्य
नयेगी और पूर्णतः सब शेष उत्पन्न होयि तथा समाज भी
जभी सुखी नहीं हो सकला । इसलिये सम्प्रका अमर
करना अज्ञान आवश्यक है ।

१० समभाव

[१ समस्तसुखः, २ समः शत्रो न मित्रं च ३ नान्य
प्रमाणयोः समः ४ क्षीणोष्णमुक्तबुद्धौ न समः ५ तुल्य
मिन्नामुनिः ६ न हृष्यति न हृष्टि ७ न प्रोचति न कथयति ।]

सर्वत्र सम बुद्धि सम भाव सम रहि जयती चाहिये । सुख
तुल्य क्षीण उत्पन्न मित्रा सुखि हृष्यते शोक (विश्रांति)
और आत्मा मान-अपमान क्षुब्ध-विह्वल हृष हृष्यते स्थितिमें
सबकी सम बुद्धि रहनी चाहिये । इनमेंसे कोई भी शक्त
हो पर अपना मन प्रभावित नहीं होना चाहिये । सुख हो
अपना तुल्य अपने कर्तव्यसे कभी पराङ्मुख नहीं होना
चाहिये । इन्हीं तरह कोई मित्रा कर अपना सुख क्षीण

हो वा इन्द्र, अपना मान हो अपना कोई अपना अपना
को कोई हैर को अपना व को अपनी विराटा हो वा
बाबा सीसे प्रभुके साथ अपना मित्रके साथ सामना हो,
अपना कर्तव्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये। वहाँ सबकी
सम स्थिति इह है, अपनी समता स्थिर रखनी चाहिये एक
कोर छुटका नहीं होने देना चाहिये वही बात यहाँ मुख्य
है। एक कोर मनुष्य छूट जाय तो गिरनेका सब रहता है।
उस पक्षसे दूर करनेके कियेही सम स्थिति प्राप्त करनी
चाहिये। किन्तु मनुष्यकी वह सम स्थिति नहीं होती वह
बलवत् बुद्धि प्राप्त होनेपर उस बुद्धिको न सह सकनेके
कारण उस बुद्ध्यापातसे मन भी जाता। इसी तरह
बलवत् कार्यसे होनेसे अपना हर्ष अत्यधिक होनेसे भी
मनुष्य मर जाता है। इस तरह जो इन्द्रके आघात से
नहीं जले उसका वही एकमात्र कारण है। उसकी बुद्धि
मन नहीं हुई, अतः सम भाव रखनेका उपदेश गीतामें
सर्वत्र किया है। हरएक इन्द्रका इस तरह विचार करके
पादक जानें कि सम भावसे किस तरह काम हो सकता
है और सबका मन भाव न रहे तो किस तरह पतन हो
सकता है।

११ वृद्धनिश्चयः

एव निश्चयसेही वह सम वृत्ति रखी जा सकती है।
निश्चयकी उदया न रहे तो मन विचलित हो जायगा और
हरा वा उबार फिर जायगा। अतः इस अवस्थिति रखनेके
लिये एव निश्चय अत्यन्त आवश्यक है। एव निश्चय वास्तविक
जगद्गुरुमें भी उपबोधी है और हरएक स्वामनमें निश्चय
प्राप्त करनेके लिये एव निश्चयकी अत्यन्त आवश्यकता है।

१२ स्थिरमतिः

विशुद्धि मनुष्यके लिये स्थिरमति होना अत्यन्त आवश्यक
है। अल्प बुद्धिवाला मनुष्य कोई विशेष कार्य पूर्ण
नहीं कर सकता। जिसकी बुद्धि स्थिर परिस्थितिमें भी
अल्प नहीं होती वही कुछ उच्चतमके मार्गपर अग्रसर हो
सकता है।

१३ सगणितमति

योगकी संयम प्रवेशवाला जिसने अपनी योगकायमा
संयमित की है जिसने योग योगसेही हृष्टा त्याग की है

उसीकी मति स्थिर हो सकती है। अतः संग छोड़ना
उच्चतमा साधक है। अपने भोगोंके विषयमें विष्कामता
अपना अनासक्ति मनुष्यकी उच्चतम करनेवाली होती है।

१४ हर्षामर्षमयोद्वेगः मुक्तः

हर्ष क्रोध मम और उद्वेग आदिमें भी छोड़ देना चाहिये।
अत्यधिक हर्ष अत्यधिक क्रोध अत्यन्त मम अपना अतिशय
उद्वेगसे तो मनुष्य पागल हो जाता है अपना मर भी जाता
है। अतः इनके आधारासे पराक्त नहीं होना चाहिये।

१५ क्षुमाशुभपरित्यागी

क्षुमा और क्षुमा हृष्ट होनेका काम करनेवाला अर्थात्
जो क्षुमा तथा क्षुमा करनेमें न क्षिप्यता हो उसेही क्षुमा
मन समझना चाहिये। क्षुमा करनेके विषयमें ज्ञानकी
कमता सब लोगोंके समझमें आ सकती है परन्तु क्षुमा
करनेमें क्षिप्यतेकी कमता सहजहीसे समझमें नहीं आ
सकती। इसलिये इस विषयमें योगे अधिक स्पष्टीकरणकी
आवश्यकता है।

समस्त क्षिप्यते कि योगसाधन करना एक क्षुमा करने में है।
उसे क्षुमावाक साय एक साधक करना चाहता है। उसने
कुछ साधन इच्छे किये किसीने उनका पाद कर दिया तो
उस समय वह वह उसमें अत्यन्त क्षिप्य हुआ होगा,
तो उसे अत्यन्त क्रोध आ जायगा। वह क्रोध क्षुमाका पाद
करेगा। इससे पादक ज्ञान सकते हैं कि क्षुमा करनेमें
क्षिप्यता भी पतनका हेतु बनता है। इसलिये कहा है कि
क्षेपे क्षुमायें नहीं क्षिप्यता चाहिये वेसेही क्षुमामें भी
नहीं क्षिप्यता चाहिये। योगसे मनुष्यके समान ज्ञान
रहना चाहिये।

१६ उदासीनः

उदासीन मध्यस्थ जैसा रहना चाहिये। किसी वस्तुके
भाव मिळना नहीं चाहिये। दोनों विरुद्ध पक्षोंके शेष
मध्यस्थ उदासीनके पास नहीं जाते हैं इसलिये उदासीन
जैसा रहनेसे मुक्तकाय होता है।

१७ क्षुधिः

भुक्त वरिष्ठ निर्मल रहना चाहिये निश्चय निश्चय
होना चाहिये।

१८ दृष्टः

कठिणको दृष्टान्ते साध करवा चाहिये। दृष्टता म
हनेसे अनुश्रिता होती है और वस्तु नहीं मिलता अतः
दृष्टता मर्याद आवश्यक है।

१९ सर्वात्मपरिस्थापनी, गतुःस्थः

सम्पूर्ण सकाम कर्मोंके भारभका त्याग करनेवाला
अर्थात् अपने योग बढानेके लो लो कर्म हैं उक्तका भारभका
न करनेवाला इतना हृष्टादित दृष्टिवाला जो भक्त होगा
वही श्रेष्ठ भक्त हो सकता है। इसमें अपने भोगोंकी
काफ़ीसा विचित्रता कम हो जाती है और विष्णुभक्त कर्मयोग अवा-
मन्त्रित करनेकी दृष्टि अधिक होती है। यही हमकी श्रेष्ठता-
का हेतु है।

२० वस्मात् लोकः न उद्विजते,

यं न लोकात् न उद्विजते

सिंसले कोयोंको उद्वेग नहीं होता और जो कोयोंसे
उद्विग्न नहीं होता वही भक्त है यही श्रेष्ठ है। अथ
तथा मुक्त आचारान्तरही वह परिणाम हो सकता है।

२१ ईश्वरे अर्पितमनोबुद्धिः, योगी

ईश्वरमें मन और बुद्धिको समर्पण कर देना चाहिये।
जिसमें मन अर्पण कर दिया उसमें अपना सर्वस्व अर्पण कर
दिया। जो दुर्लभमनमें अपना मन अर्पण करता है वह

मुक्त बनता है इसी तरह जो अनुष्ठान करता मन ईश्वरमें
करता है वह ईश्वरभावसे मुक्त हो जाता है।

२२ क्षमी

क्षमीक दो अर्थ हैं एक सामाजिक अर्थात् अपराधोंकी
क्षमा करनेवाला और दूसरा वह सहन करनेमें क्षम।
दोनों अर्थ वहाँ अवस्थित हैं। सत्कर्म्म करनेके समय दोषोंके
कष्ट सहन करनेका सामर्थ्य जिससे क्षमा होता है वही
उत्तम हो सकता है, तथा जो क्षम होकर दण्ड न करता हुआ
क्षमिले कार्य करता है वह भी भारभका अनुभव कर
है। अतः वे दोनों गुण उच्चातिशय अनुष्ठानमें होने चाहिये।

२३ धर्म्मामृतं यथोक्तं पशुपासते

सर्वोक्त धर्म्म बहुत उपदेश आचरणमें कानिवाले उक्त
महापरी वन्दते हैं और उक्त होते जाते हैं।

२४ मत्परमा अह्मना मक्ता

ईश्वरकोही परम श्रेष्ठ माननेवाले मदानुक्त अच्छी श्रेष्ठ
और ईश्वरके भिन्न भक्त हैं।

वे श्रेष्ठ मन्त्रोंके उद्घरण हैं। वे कल्पन व्यक्तियों और
समाधियों परास्पर देखने चाहिये। इस तरह विचार करनेसे
वैयक्तिक महापार विषय तरह होता चाहिये और सामाजिक
महापार कैसा होता है इसका ज्ञान हो सकता है। परन्तु
हम कल्पनोंका इस रीतिसे विचार करने उचित सोच के
सकते हैं।

हम प्रथम धीमन्नमपरीक्षाकी उपनिषदोंमें कथित महाविद्यासे मिलित हुए योगशास्त्रनिबन्धक

धीमन्नम और अज्ञानके लयात्ममें प्रतियोगा नामक वस्तुओं

अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश अध्यायका मनन

भक्तियोग

ग्याहूँ कल्याण परमेश्वरका विचक्षण-पूर्ण

किन्ना अर्थात् परमेश्वरका सगुण साकार ध्येय रूप प्राप्त। परमेश्वरके इस विचक्षणमें सपूर्ण मानव जाति संपूर्ण पशु पक्षियोंकी जाति संपूर्ण वृक्षवनस्पतियोंकी जातियों और जो कुछ जलचर है जो इस विषयमें संश्लिष्ट है वह सब जलजन्तु रूपसे संश्लिष्ट है।

परमेश्वरका यह स्वकृप प्राप्त होवेपर उसकी सेवा किस तरह करनी चाहिये इसका विचार करना आवश्यक है। इस कल्याणमें यही विचार किन्ना गया है। यदि परमेश्वरका एक रूप विचक्षो है तो इस विचक्षणकी सेवा विमलसेवाही होगी चाहिये इसमें संदेह नहीं हो सकता। तथापि इस समकाल रूपक विषय और उसमें व्यापक दृष्टि प्राप्त हो तो निश्चय निश्चय पशुओं में ऐसा पारंपारिक कहा है। अतः जहां उपलब्ध होती है कि इस रूप कर विचक्षी सेवा करना तो अत्यन्त आवश्यक है। सामयिक रीतिसे ऐसा जान तो सुझाव अत्यन्त अक्षर वात्सल्यकी सेवा करनी चाहिये। यही प्रथम अर्जुन प्रथम अध्यायमें किया है—

अर्जुनने पूछा कि— इस तरह जो भक्त निरंतर ध्यान करते हुए आपकी उपासना करते हैं (रात्रि पशुप्रायसे) और जो आपके लविवाही (वे अक्षर अमर उपासते) अमर-रूपका ध्यान करते हैं उनमेंसे कौन (क योग विष्णु)। कौनो भेद कहनाये योग्य है ?

अर्जुन यही उतर चाहता था कि अमर अक्षर आत्माक उपासक भेद है ऐसा भगवान् भीष्मजी कहेंगे। क्योंकि पूर्व स्वयंसे मगध युद्ध और युद्धसे आत्मा पर भीम भेद है ऐसा कहा गया है। अतः अक्षरी उपासना करनेवाले भेद और भिक्षुकी उपासना करनेवाले भिन्न हैं। यही अर्जुनका उद्देश्य था।

वासुदेवका रूप

प्रथम अध्यायमें वासुदेवः अर्जुन (गो ३।१९) वासेपर मगध युद्ध है ऐसा जो कहा था वह अर्जुन भूक

गया श्रीकृष्ण है जो ग्याहूँ कल्याण भगवान् का रूप वह विचक्षण है ऐसा जो कहा वह भी उसके ध्यायमें दीक्षित नहीं रहा वह प्रतीत होता है। क्योंकि सर्व वास्तु देवः ऐसा कहनेपर और वह सब रूप वास्तुदेवका ही ऐसा कहनेपर उपासका विमल स्वरूप और अवेहरहित रीतिसे हुआ है। एक मात्र विचक्षता करवाही विमलवर्ण विचक्षण परमात्मनो उपासना करना है। इसमें कदाही क्यों कर उपरिगत हो सकती है ?

ध्येय रूपकी उपासना करनेवाले भेद अथवा अमरकी उपासना करनेवाले भेद ? यह प्रथम ध्येय और अमरमें समानता सेव होवेपर हो सकता है वस्तुतः यहाँ ध्येयमय सबही रूप परमेश्वरका सिद्ध हुआ यहाँ वह प्रथम कहे हो सकता है। वस्तुतः ध्येय और अमर रूप परमात्मका ही है तथापि ध्येय रूपसे अमरकी भेदता होनेसे अर्थात् ध्येय रूप धार-मात्रवात् है और अमर रूप धार-अविवाही है वाच्यवात् उपासकों अविवाहीक उपासक भेद होनेकी संभावना है अतः अर्जुनकी प्रश्ना इम रीतिसे देवी जान तो लीकरी है।

यदि इस दृष्टिसे कोई विचार कर तो पूर्वोक्त सकात्म उतर अक्षर उपासकों अक्षर उपासक भेद है ऐसा ही कहा जा सकता है वस्तुतः भगवान् भीष्मजी इसका उतर दूसरीही रीतिसे दे रहे हैं—

सगुण उपासना

श्रीभगवान् बोले— जो निश्चय ध्यान धारत हुए सुसज्ज मन लगाकर अज्ञापूर्वक मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं अक्षर योगी मानता हूँ। (२) तथा— प्रथम ईश्वरोंको वक्ष्यते रक्षक सर्वत्र धर्म बुद्धि रक्षक जो इस जलज पीर अकिंचित्त सर्वेज्यारी अमर अमरनीय अविवाही स्वकृप की उपासना करते हैं, वे सर्व वास्तविक हितमें बड़े हुए सुखे वा भेद हैं। निष्का पित्त अमरमें धीम है उन्हें

कह भविष्य होते हैं। देहधारी मनुष्य जन्मक शक्ति को कहते हैं वा सत्त्वा है। (३ ५)

इसका उत्तर यह है कि जो अज्ञात सगुण साकार की उपासना करते हैं वे ज्ञेय भक्त हैं जो सब भूतोंका हित करनेमें दृष्टिपूर्वक हैं सर्वत्र सम बुद्धि रखते हैं तथा जो भगवत्प्रीति उपासना करते हैं वे भी ईश्वरको प्राप्त करते हैं, परन्तु जो भक्त भगवत्प्रीति ही बिना लगाते हैं उनको बहुत ही कहते हैं।

यहां भगवत्प्रीति उपासनाके सुकष्ट और भगवत्प्रीति उपासनाके कष्टका साथ ईश्वर-प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है। यहां तीन प्रकारके उपासनाके बर्णन है—

१ सत्त्व किसी विभूतिक अनुगामी होकर उसी विभूतिक ज्ञानेकापुत्ररूप स्वरूप उसकी उपासना करनेवाले भक्त,

२ ईश्वरसंभ्रम कर सर्वत्र सम बुद्धि रखना सर्व भूतोंका हित करते हुए सर्वभूतोंका भगवत्कर्मजमाकी उपासना करनेवाले भक्त,

३ सर्व भूतोंका हित न करते हुए केवल सर्वभूतोंका भगवत्कर्मजमाकी उपासना करनेवाले भक्त।

परिच्छेदों प्रकारके भक्त परमेश्वरको प्राप्त करते हैं तीसरे जो हैं वे भगवत्प्रीति उपासना करनेके कारण जलंत कहते भगवत्कर्मजमाकी प्राप्त करते हैं। इस उत्तरसे स्पष्ट होता है कि भगवत्प्रीति उपासनाकी अपेक्षा भगवत्प्रीति उपासना करनेसे अधिक काम है और वरमेश्वरकी प्राप्ति अधिक सुकष्टका के साथ हो सकती है। इस तरह श्रीमद्भगवद्गीता भगवत्प्रीति उपासनाका पक्षपात नहीं करती है। इसी कारण किसी प्राचीन विभूतिकी मूर्तिकी उपासना भी भगवद्गीतामें वर्णनसे बिल्कुल नहीं मानी गई है। यहां जो उपासना कही है वह है—

मध्यावेश्य मत्ता य मा निष्प्रयुक्ता उपासते।

अदृष्टा पश्योपेतास्त मे सुकृतमा मताः ॥

(गी १११)

भ्रीकुष्णक दो रूप

यहां मयि मां वे भक्त सर्व भगवान् भ्रीकुष्णकें शोधक हैं। मुख्य मय भगवान् मेरी निज उपासना करते हैं। वह भगवान् भ्रीकुष्णक संबंधमें ही कहा गया है। भगवान् भ्रीकुष्ण दो रूपोंमें भगवद्गीतामें विचार्य देते हैं—

१ (मूर्त्तिनां वासुदेवोऽस्मि । गी १ १२) =
वृत्तिर्वाचिर्मे वसुदेव नामक विभूति भगवान् भ्रीकुष्ण है। इससे विभूति—एवा स्मृति होती है।

२ (वासुदेवाः सर्वम् । गी ७ १२) = भगवान् भ्रीकुष्ण विभक्त हैं। सर्वत्र विभक्ती भगवान् कर्म हैं। [इस विभक्तमें चारों वर्ण चारों जातों सब मनुष्यों का हि सब भगवत् एक रूपमें समिधित समाने पाविते ।]

व दोनों रूप सगुण साकार भक्त और भक्त हैं। (मयि मया वावेश्य) मुख्यमें मय भगवान् देवा को कहा गया है वह हय दो रूपोंमें किसी एक सगुण रूपर सब भगवान् इसी जातका शोधक हैं। यहां विभूतिरूपा हो भगवा विभक्त—उपासना हो वह प्रत्यक्ष दीवित भगवत् प्राचीन देहधारी विभूतिकी उपासना है। भ्रीकुष्णके जीने की उसका अनुगामी होना उनके उपदेकापुत्ररूप स्वरूप कर्म करना उनके कर्मजमें मय विभक्त कर्मज की उपासना है। विभक्त उपासनाओं की विभक्त विभूति कर्मज राक्षसी समाजकी कर्म जनोंमें भगवा निजी भगवत् भगवत् कर्मज विभूतिकी प्रत्यक्ष देहधारी है।

यहां जो भक्ति कही है वह इसी तरहकी सेवा कही है वह प्राक्तन व भूतों।

जीवित विभूति—एवा

भगवत्कर्म को भक्ति कही और समझी जाती है वह प्राचीन कर्मकी किसी विभूतिकी मूर्तिकी पूजा कही और समझी जाती है। प्रत्यक्ष किसी विभूतिकी भक्ति नहीं। वह भगवत् भगवद्गीताकी शक्तियों और भगवत्कर्मकी प्रकृतियों में है वह भगवत् रक्षण पाविते। मूर्तिरूपके निज योग्य स्वरूप उपासनामें है और मूर्तिनां केही प्राचीन कर्मकी विभूतिकी को प्रकृति है वेदीकी कर्मज कर्मकी विभूतिकी की हो प्रकृति है और वह मूर्तिरूपा भगवा मूर्तिरूपका भगवत्कर्म केही मार्गदर्शक भी हो सकता है और वह विभूतिरूपा तथा मूर्तिरूपा सब देवोंके इतिहास कोनोंको समझ भी है। इतना मात्र पर भी भगवद्गीतामें यहां जीवित विभूतिवाक्य और जीवित विभूति केही उपासना करके माना है वह भक्त कही भूतना कही पाविते और

यही बात विशेष विचार करके देखने योग्य है। भाग्य-
हीनाके विमूर्ति-व्यक्तियों में ऐसी प्राचीन काष्ठकी विमूर्तियाँ
कहीं हैं? ऐसी इस समयके वर्तमान काष्ठकी भी कहीं हैं
देखिये—

महर्षीणां भृगुः । (१५)

वेदार्थीणां च नारदः । (१६)

गण्यर्थाणां विश्वरूपः । (१७)

नारदाणां च नारायणः । (१८)

कृष्णाणां वामदेवः । (१९)

पाण्डुबालाणां धर्मदत्तः । (२०)

मुनीनामप्यहं व्यासः । (२१) (गी. अ. १)

अग्निर्वेदिं ययुः, ऐश्वर्यवेदिं नारदः, सुविषयं व्यासः
ये ब्रह्मवेदिं विमूर्तिर्वा शिववेदिं विश्वरूपः कृष्णवेदिं
वामदेवः, पाण्डुवेदिं धर्मदत्तः मनुष्यवेदिं राजा ये अग्निर्वेदिं
विमूर्तिर्वा हैं। ये विमूर्तिर्वा भगवान् श्रीकृष्णके समय
जीवित और कार्यक्षेत्रमें प्रसन्न कार्य करनेवाली थीं। इन
प्रसन्न इच्छाकेवाली ईश्वर-स्वरूप विमूर्तियोंकी उपासना
करना अर्थात् उनके पास जाना उनके उपदेशमें अपना
मन लगायना उनके वादेवाचनार करके करना, उनकेही किये
कर्म करना और उनके किये कामसमर्पण करना यह इस
समयकी सगुण उपासना थी।

विश्वरूप छविसे इस समयकी जनताके किसी भाग
के मन दूर करनेके किये अपना जीवन ध्वसीत करते
हुए अपने कर्मसे ईश्वर-उपासना हो रही है ऐसा अनुभव
करना भी सगुण उपासनाकाही कार्य था।

यमवान् श्रीकृष्ण को सगुण उपासना कह रहे हैं वह
सगुण उपासना उस समयके अंध पुत्रोंके जीवित कालमें
करनेकी थी वह बात कभी मुझसेयोग्य नहीं है। वह
जीवित पुत्रोंकी उपासना करते हुए और विश्वरूप
उपासना करते हुए, वह उपासना विश्वरूपकी उपासना हो
रही है ऐसा मानना और अनुभव करना योग्य है।

वर्तमान यमवान् श्रीकृष्णकी उपासना जीते-जी कर रहा
था और श्रीकृष्ण वर्तमानकी उपासना भीते-जी कर रहे थे।
होयों एक दूसरेको उपास्य और एक दूसरेके किये विमूर्ति
थे। होयों को विमूर्तिपूजा कर रहे थे वह जीवित जीतोंकी
ही उपासना थी। धीमावकी हनुमावहारा जो उपासना

१५ (वि. मी.)

हूँ थी वह भी इसी तरह जीवित अवस्थामेंही उपासना
थी। इन सब उपासकोंमें अपने उपास्यके किये कर्तव्य
समर्थन किया उपासकोंके कार्य किये उपास्यके साथ
वार्तालाप किये वाग्निवाद किये उनके किये कामसमर्पण
समर्पण किया। वास्तवमें यह कि वह प्रसन्न विमूर्तिकी उपासना
थी।

प्रत्यक्ष सेवा

इसके साथ विदित होता है कि इस समयके कामके
उपासकोंको भी आनेकेसमय जो विमूर्तिर्वा यहाँ उपस्थित
हैं उनकी प्रसन्न सेवा करनी चाहिये। जीवित विमूर्तिर्वा
इस समय भी हैं। जो जनताके इश्वरका कार्य नि स्वार्थ
भावसे कर रही है, के ही इस समयकी विमूर्तिर्वा हैं उनके
उपदेश सुनने चाहिये उनके किये कर्तव्य कर्म करना
चाहिये उनके किये कामसमर्पण करना चाहिये उनके
को असीद्ध कार्यक्षेत्र हों उनके उद्यम कुशलताके साथ
करना चाहिये। यही सगुण उपासना है और यही सगुण
उपासना भगवद्गीतामें कही है।

कामकर्म इस क्या कर रहे हैं? प्राचीन कालमें जिन
विमूर्तिवेदिं और बीरोवेदिं कार्य किये हैं उनकी मूर्तियों
हमने बनवायी हैं और उनकी पूजा अर्चा वार्ता वार्ता
कर रहे हैं और इसीको हम सगुण उपासना कहते
हैं। आजकी जीवित विमूर्तिवेदोंका विरोध करते हैं और
हम प्राचीन विमूर्तिवेदोंकी मूर्तियोंको पूजनेमें काँचों
हथोंका व्यवहार करते हैं। इस बीरोमूर्तिकी पूजासे एक
काम अवश्य है। वह है उनके पुत्र इतिहासके स्मारकसे
अपने विचारोंकी स्फूर्ति होना। इस मूर्तिपूजासे यही काम
होता है।

परंतु जो सगुण उपासना प्रसन्न ईश्वरकी उपासना
नामसे भगवद्गीतामें कही है वह जीवित विमूर्तिवेदोंकी
जीवित बीरोकी और विश्वरूपके जीवित भागकी ही उपा
सना है। वह प्रसन्न वरदापित्री भी होती है। यहाँ उपासक
उपास्यसं पुरुषा है उसको क्या चाहिये और क्या नहीं हमका
हमें पता क्या लगता है जो चाहिये तो हमको वह क्या
योग्य समयमें दे सकता है उससे उपदेश केता है तदनुसार
आचार्य करता है उसकी सेवा करके इसे मुक्त पुरुषावा

हे अपास्तकम वह नीलित, कामस प्रपद्य सर्वथ अपास्तके
साध होता है, जो भयवह्नीयाको जयी है ।

प्रत्यक्ष विभूतियाँ ।

मगवह्नीयामें उस समयमें प्रत्यक्ष हीकसेवाकी अपास्त
विभूतियोंकी सामान्यकी ही है इनको यहाँ गुण देवना
जात्यस्य है—

- १ भाविमाना विष्णुः । (१०११)
- २ ज्योतिषां रविः । (१०१२)
- ३ पवनः पञ्चताः । (१०१३)
- ४ यक्षानां पावकाः । (१०१४)
- ५ मक्षराणां शयी । (१०१५)
- ६ मेका शिखरिणा । (१०१६)
- ७ स्वाधराणां हिमाक्षया । (१०१७)
- ८ मन्त्राणां सव्यवृत्तायाः । (१०१८)
- ९ सूर्यां सागरः । (१०१९)
- १० कोतक्षां आहवी । (१०२०)

भाविर्लोमि विष्णु, ज्योतिर्वेदि सूर्य वहवेदाङ्गोमि वायु
वसुधोमि अग्नि वहवेमि अथ विस्वरवाङ्गोमि मेकवर्त स्वास्वो
मै वायु वसुधोमि हिमाक्षय दूर्ध्वोमि मन्त्राणां ज्योतिर्वेदि सागर और
रंगावदी ये विभूतियाँ नाम भी प्रत्यक्ष हैं । बाह भी मनुष्य
हमसे आत्मिकी प्राप्ति कर सकता है इसके पाद बाह्य
वस्त्रे काम उद्यम सकता है । अर्थात् वह प्रत्यक्ष अपास्तकी
अपास्तता है ।

युगुपि नाद विस्वर वासुधैव धार्ढ्य और स्वास्त तथा
राक्ष्म राक्षो हे अपास्त विभूतिने कर्मों उद्यम समय विद्य
मान थे और इसके राष्ट्रकराणा वह राष्ट्रके प्रत्यक्षकोमि
अपास्तके कर्मों नाम भी विद्यमान है । हरएक राष्ट्रमें कोई
न कोई शासक रहताही है । जो सिङ्गपरी शासक है वही
प्रत्यक्ष अपास्त देव है, इसमें संदेह नहीं है और ऐसे शासका
बड़ा प्रकार उद्यम प्रत्यक्ष करतैही रहते हैं ।

गुणरूप विभूतियोंकी प्रत्यक्षता

जो गुणरूप विभूतियाँ हैं वे ऐसी वस्तु समय थीं वही
ही नाम भी प्रत्यक्ष है किन्तु उद्योग इस तरह विद्य
गता है—

- १ शानवतां ज्ञान । (१०२०)
- २ प्रवृत्तां वायु । (१०२१)
- ३ ब्रह्मवतां वृष्णः । (१०२२)
- ४ तेजस्विनां तेजः । (१०२३)
- ५ सत्यवतां सत्यः । (१०२४)
- ६ क्षम्यतां द्यूत । (१०२५)
- ७ शिरीषतां नीतिः । (१०२६)
- ८ शुद्धानां मीनः । (१०२७)
- ९ ज्ञायां व्यवसायाः । (१०२८)
- १० यमां सयमतां । (१०२९)

‘ज्ञान वाद-कौशल्य, द्यूत (राज्यशासन), ज्ञेयत्व,
सत्य-वक्तृ द्यूत नीति मीन ज्ञान-विकल्प व्यवसाय
उद्योग यमम ये सबही गुणरूप विभूतियाँ वही शास्त्र
कार्यों की देखीही नाम भी गुणी लोगमें हैं । अर्थात्
इसकी प्रत्यक्षता इस समय भी देखी जा सकती है ।
तथा—

- १ अघ्यात्मविद्या विद्यानां । (१०३०)
- २ मक्षराणां मक्षराः । (१०३१)
- ३ गिरां एकं भस्वरः । (१०३२)
- ४ वेदाणां सामवेदः । (१०३३)
- ५ साम्नां बृहत्सामः । (१०३४)
- ६ क्षम्यतां गायत्री । (१०३५)
- ७ सामासिकस्य द्वन्द्वा । (१०३६)
- ८ यक्षाणां अपयक्षाः । (१०३७)
- ९ इंद्रियाणां मयः । (१०३८)
- १० उद्भवकां भविष्यतां । (१०३९)
- ११ मृत्युः सर्वहरः । (१०४०)
- १२ भस्त्रया काष्ठाः । (१०४१)
- १३ काष्ठा कक्षयतां । (१०४२)
- १४ मासामां माघेस्तीर्थाः । (१०४३)
- १५ क्षम्यतां कुक्षुमाकराः । (१०४४)
- १६ सर्वभूतानां जीवः । (१०४५)
- १७ भूतानां भवता । (१०४६)
- १८ सर्गाणां आविरमताः मय्यं वा । (१०४७)

विद्यालोमि अघ्यात्मविद्या विद्या मक्षविद्या मक्षोमि
मक्षरा वाणिज्योमि एक भस्वर वेदोमि सामवेद वक्तोमि

हस्तात्म्य, कर्मोंमें गावधी समाप्तमें इन्द्र, बज्रोंमें जपपत्र इतिवर्तिमं मन उत्पन्न होनेवालोंका काम और मरनेवालोंकी मृत्यु सबका बखर्ब करके समय, महीवर्तिमं मार्गशीर्ष ऋतुओं में वसन्त ऋतु सर्व मृतोंका बीच बर्बाद कीये जावि जिससे प्राणी उत्पन्न होते हैं मृतोंकी चेतना वस्तुमात्रक जावि मध्य और अन्त ये सबही विभूतिर्वाँ कैसी भगवान् श्रीकृष्णजीक समय की बैसीही आज भी है और इनकी सहाय्यसे आज भी उपासक आज प्राप्त कर सकता है।

यहां इतनाही कहना है कि ये विभूतिर्वाँ प्रत्यक्ष हीकने वाली हैं मनुष्य इनकी प्रसन्नता सेपाद्य कर सकता है और इनसे काम भी प्राप्त कर सकता है।

उपासनाकी रीति

मनुष्यको ऐसे उपास्य है चाहिये कि वह उनके पास आ सके और उनके प्रत्यक्ष करके उनके काम प्राप्त कर सके। हमेंसे सब विभूतिर्वाँ ऐसीही प्रत्यक्ष करके देनेवाली हैं। हरकृषी प्रसन्नता करनेके मार्ग अन्तमें है वह बात हरएक प्रत्यक्ष विचारसे जान सकता है। जोही जल-वायुकी प्रसन्नता अपनी सुखता रखनेसे होती है वीर्यकी प्रसन्नता मज्जाकर्षण से सकती है इत्यादि प्रकर उनके विषयमें जानना योग्य है। ये विभूतिर्वाँ मनुष्यकी सहायक हैं मनुष्यको प्राप्त होनेवाली हैं और इनसे मनुष्य अपनी प्रत्यक्ष उन्नति कर सकता है।

५ वासुदेव, भूय वासुदेव व्यास चित्राच अर्जुन ये विभूतिर्वाँ भगवान् श्रीकृष्णके समय की परंतु ये आज प्राचीन हो चुकी हैं। इसी तरह पांडवोंके समय की कई विभूतिर्वाँ प्राचीन हो चुकी हैं जैसे- वासु (१।३३) शक्रः (१।१९), बर्मा (१।१९) कुबेर (१।३३), ये संभवतः उनके प्राचीन कालकी विभूतिर्वाँ होंगी। चंद्र चंद्र स्कंद वासव (इंद्र) ये विभूतिर्वाँ अर्जुनके समयकाही माननी होंगी क्योंकि इन्द्रके दो अर्जुनका कर्मही हुआ और भीसकरके उन्होंने विविध लक्षण प्राप्त किये थे। इसका विचार करनेकी हमें यहां आवश्यकता नहीं है परंतु इतना अवश्य ज्ञान देना चाहिये कि इसकी विभूतिर्वाँमें दो प्राचीन ऐसी हैं जो अत्यन्त उपा प्राचीन कालकी हैं और जेब सबकी सब वो वर्तमान

समयकीही हैं। हमें इसके वह बोध प्राप्त करना चाहिये कि हमारे उपासकोंमें दो बार प्राचीन कालके देवता हैं और जेब सब हमारे समयमें उपस्थितही होने चाहिये।

विश्वकर्मदेवसे भी यही दिखाई देता है। जिस समय हमें विश्वकर्ममें परमेश्वर देवनेका सम्भास होगा उस समय हमें प्रत्यक्ष वर्तमान कालमें दिखाई देनेवाका विश्वकर्म कपी हमारा उपास्य होगा। किसी अत्यन्तप्रत्यक्ष विचार नहीं प्रमाण नहीं होगा है।

जैसे अर्जुनके किये श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके किये अर्जुन प्रत्यक्ष थे जैसीही इस समय रोगियोंके किये वैद्य और वैद्यके किये रोगी प्रत्यक्ष विश्वकर्ममें उपस्थित हैं। इसी तरह अन्त्यात्म्य कर्मोंकी कल्पना करनी चाहिये।

सृष्टिपूर्वाका स्थान

यहां प्रत्यक्ष पता सकते हैं कि प्राचीन कालकी विभूति रोंके किये की कोई स्थान है वा नहीं? उत्तरमें निश्चय है कि प्राचीन कालकी विभूतिर्वाँके किये स्थान अवश्य है, ये आर्य पुत्र हैं उनके चरित्र हमारे सामने हैं। उनके आर्यसे हम हम समयक महापुरुषोंमें कौनसी विभूतिर्वाँ हैं और कौनसी नहीं इसकी परीक्षा कर सकते हैं। इस दृष्टिसे हम प्राचीन विभूतिर्वाँकी उपासना किंसंदेह अत्यन्त लाभक है। परंतु केवल प्राचीन विभूतिर्वाँकीही उपासना अथवा और वर्तमान समयकी विभूतिर्वाँके बुर रहना कदापि योग्य नहीं है। हमारी उपासनामें वर्तमान समयकी विभूतिर्वाँ अधिक आवी चाहिये। वैसा इस समय नहीं हो रहा है। इसलिये विभूतिपूर्वाका अर्थात् सगुण उपासनाका यथार्थ स्वल्प किंवा व्यावहारिक है और इसमें व्यवहार-साधनसे यथार्थ-साधन कैसे हो सकता है, यह दिखातेके किये नहीं इतना विस्तारसे किन्ना पता है।

नाम-ध्वज

आत्मक सगुण उपासनामें प्राचीन विभूतिर्वाँकी किसी सृष्टिकी पूजा और नामध्वज आदि पाठोंकी आवी है। मंदिर बनवाना सृष्टि स्थापन करना पूजायन्त्र करना उद्योग नामका जप करना, ये अनेक विधि हम समय प्रचलित हैं। प्रत्यक्षहीवर्तिमं यथार्थ जपकोटिम्। (गी १।१५) बज्रोंमें अत्यन्त ईश्वरकी विभूति है। इसमें जप

का प्रमुख स्थान माना है। अपना अर्थ किसी विधुति के नामका उप भी हो सकता है किसी संज्ञक उप भी हो सकता है किसी अर्थ विचारका चरंचार मय भी हो सकता है। मनको स्वाधीन करनेके लिये इस 'अप' का विशेष उपयोग है। किसी नामका अप करनेसे मनको अतीतिक बलका प्राप्त हो सकती है इसमें कोई संदेहही नहीं है। वह अप किंवा नामअप अर्थात् मुक्तन साध्य है अथ। इसमें हरकोई नाम के सकता है और अपूर्व नामान्द्र प्राप्त कर सकता है।

इमर्सनका अनुमध

उपलब्धानी इमर्सनमें भी अपने अनुमधमें लिखा है कि मैं अपनेही नामका अप करता हूं और इस अपके नामके अपसे मैं ऐसी अतीतिक धूमिकमें पहुँचता हूँ कि जो सत्य और नामान्द्रमय है और वह इस आगति के अवस्थामों बहुतही उच्च अवस्था है। यह उपलब्धानी कवि यूरोप अमेरिकामें बड़ी मान्यताके स्थानपर विराजमान है। अतः हरकोई नामअपसे अतीतिक नामान्द्र प्राप्त कर सकता है इसमें संदेहही नहीं है। भारतवर्षमें जो नामअपकी बहुत परिपक्वी है और उसमें संमिश्र होबेनाके लोग भी इस अतीतिक नामान्द्रके प्राप्त करने सम्मुख हुए होकर हैं। इस तरह नामअपकी अच्छा विधिवाद है।

नामअपका हवा मनुष्य भगवद्गीतामें बर्णन किया गया है तथापि प्राचीन विधुतिकी मूर्ति करने उसकी पूजा आदिका बर्णन गीतामें नहीं है और भगवद्गीतामें जो सगुण उपासना मानी है वह भूतकात्मकी विधुतिरहितकी मूर्तिकी उपासना नहीं है परन्तु भगवान् श्रीकृष्णकी अनुमधकी बलीसे जो सगुण उपासना कही गयी है वह वर्तमान समयके महापुरुषोंकी नीति मूर्तिनीही उपासना है।

त्रिगुणारमक प्रकृतिमें ईश्वरका अस्थायत्व

जो ईश्वर सत्त्वगुणमायक अथवा प्रकृतिमें इस उपासनेके सम्मुख प्रकट हुआ है वही उपासकी सगुण मूर्ति है और उसीही उपासना सगुण उपासना कहलाती है। इतिविध भगवद्गीतामें स्थान स्थानपर अह (मैं) मयि (मुझमें) मां (मुझे) मे (मेरी) इत्यादि अर्थ होते हैं। इनका आरंभिक अर्थ मेरी ऐसी विधुति मेरे जैसे प्रकृतिमें प्रकट हुआ ईश्वर आदि है। राम

अथवा कृष्ण रूपमें उपासकके समयमें अथवा मूर्तिमें प्रकट हुआ ईश्वरोंत वह अर्थ अपरके 'मैं' अर्थात् कर्त्ताका है। श्रीरामचन्द्रने केले ११ करोड़ देवमनोंकी विधुती राजकी परतंत्रावसे मुक्ति की, भगवान् श्रीकृष्णने विधुत कर बुद्धोंका निर्दय करके प्रजनोंकी रक्षा की उठी प्रकार जो महापुरुष इस समय प्रकटतम कार्य कर रहे हैं, वे सगुण इस समयमें लोगके उपासक हैं वह वाच्य रूप सगुणोंमें है। पाठक इसपर विशेष विचार करें और योग बोध प्राप्त करें।

भगवान् श्रीकृष्णके (मन्मथान्द्र) मेरे लिये कर्म का (मन्त्रका) मेरी भक्ति कर (मन्त्रमय) लूके केक मात इस कथका वह संकुचित अर्थ नहीं है कि सर्व-सत्ता श्रीकृष्णकी करन जानेसे सब कुछ कृष्णान्द्र प्राप्त होती है परन्तु श्रीरामचन्द्रको भी वैसीही करनानी करनेसे वैसीही परम पति हो सकती है इत्यादि अर्थ उक्त कथकमें है। अर्थात् किसी ईश्वरके सगुण कपी केना करने के वैसीही संकल्पना हो सकती है इत्यादि अर्थ उक्त कथकमें है। नहीं तो कुछ लोग वह सर्व समझ लेंगे कि श्रीकृष्णकीही उपासना करनी चाहिये और श्रीरामचन्द्रकी करनेसे वह पति नहीं मिलेगी। ऐसा संकुचित मत भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशमें नहीं है।

अहाँ अन्य देवताके पक्ष भी कुछ (ईश्वर) कोही प्राप्त होते हैं (म गी ५.२३) ऐसा क्या है नहीं अन्य विधुतिरहित उपासक ईश्वरके प्राप्त नहीं होते, देव अर्थ केले माता या सकता है ? अतः अन्य श्रीरामचन्द्रकी विधुतिरहित उपासक भी उच्च अवस्था प्राप्त कर सकते हैं, वही मानना चाहिये। अर्थात् उपासककी रिति और अपने लिये उपासकका निर्दय करवा आदि भर्ते अवस्थान विधुत करने योग्य हैं इसमें विवाद नहीं हो सकता। उत्तर में अधिकारी आज प्रचलित है उच्छेद बहिक ध्यानक यदि मार्ग भगवद्गीतामें कहा गया है वह बात नहीं बहिकोंके प्यासमें रखनी चाहिये।

श्रीविधुति-पूजा

श्रीमन्नमस्त्रयीकी सगुण उपासना: श्रीविधुतिरहितकी उपासना है वह बात बहिक अर्थ है। निरुक्तकी उपासना श्रीविधुतिरहितकी उपासना है। निरुक्त-उपासना

जैसे बोहेरे विश्वकर्म के प्रयासी अथ बुने जाते हैं और विश्व कर्म उपासकमें सभी अथ उसी बहिरीय आत्माके हैं, ऐसा माना जाता है। जैसा मुनीनां कवि कई व्यास (वी १।१) इसके अनुसार अनेक मुनियोंमें व्यास विद्युति है, ऐसा माना जाता है और विश्वकर्म उपासकमें सभी मुनियोंमें वही एक बखंड विश्वकर्म है। ऐसा मानकर मुनिकर्मोंकी सेवा की जाती है। दोनोंकी सेवा बीबित रचमेंही होनी है वह सब सगुण उपासकोंको व्यासमें रक्षनी चाहिये। बीबित विद्युतियोंकी सेवा करवाही हमारी उपासकमेंसे इत बुझा है इस कारण सगुण उपासकमेंसे किताब हो सकता है उतना काम हमें इस समय माग नहीं हो रहा है। सगुण उपासका से हमारी चरवा मापीय विद्युतियोंकी प्रतिमाओंकीही उपासका एक बीबित हो चुकी है। अतः उसका फल भी हमें उतनाही प्रयुक्त मिळता है। जिस समय सगुण उपासका का भावन बीबित विद्युतियों और बीरोंको उपासका होना उस समय हमारी उपासकमें सब बीबन आजायगा और हमें प्रत्यक्ष काम भी मिलेगा। उपासकाका फल जो अहम माननेकी वरिवादी पद गयी है उसके आत्मपर इससे उपासकोंको वह फल नी प्रत्यक्ष दिखाई देगा।

प्रत्यक्ष रूप

परमेवारे विश्वकर्ममें वैद्य और योगी अन्धकार और सिध्द रात्रा-रात्रिकुल बार प्रकाशक बहिकारी और नौकर कनी और बनहीन स्वामी और भूख सेनापति और सैनिक मातप्रिया और पुत्र इस तरह अनेक रूप समिष्ठ हैं। ये सब प्रत्यक्ष उपासक हैं। जैसे पत्नीको पति उपासक देख है जैसे ही पत्नीको वत्नी उपासक देखी है। जैसे सिध्दोंको अन्धकार काचार देख है जैसेही अन्धकारको जिसे सिध्दगण भी ईश्वरोंकी है। हनी तरह सबको परस्पर समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष स्वर्गधाम

यदि राजकुल सब प्रकाशकों ईश्वरों मानकर अपना उपासक प्रत्यक्षमें तो राजघाटन अर्थात् बहिन बन जायगा। आत्मक वैद्य और डाक्टर रोगियोंको सुखेका प्रवचन करते हैं उसका स्वात्मपर अपने रोगियोंको परमेवारे विश्वकर्म सब समझकर सेवा करें तो वही मृत्युको

स्वर्गधाम बन जाय। इसी तरह यदि अन्धकार-गल अपने विचारियोंको ईश्वरों मानकर सबसुख उसी भावसे उतकी उपासका करेंगे तो सब विचारक स्वर्गकी प्रतिकृति बन जावेंगे। माता अपने पुत्रको ईश्वरों मानकर सेवा करेगी तो धरमेंही उतके स्वर्गसुख मिलेगा। इसी तरह सब कोम इस बीबित और आत्म सगुण मूर्तियोंकी ओते-भी उपासका करें तो अपने जीवनमें सगुण उपासकाका प्रत्यक्ष फल पा सकते हैं। अथवाहीवामें विद्युतियों और विश्वकर्मपूर्ण इन अन्धकारोंमें वही सगुण उपासका कही है। इसको मूलमेंसे कारण हमारी बर्तन हाथियों हुई हैं।

हरी सगुण उपासकासे ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। जिन को इसपर विश्वास न हो वे क्या करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्व भूतोंका हित करनेके कार्य करें।

सर्व भूत हितके कार्य

ते सर्वभूतहिते रताः समबुद्धयः (इश्वरं)

प्राप्नुयन्ति ॥

जो बीबित विद्युतियोंको तथा बखंड विश्वकर्मको नहीं पदचान सकते वे क्या करें और वे किस मार्गसे अपना उद्धार करें? इसके उत्तरमें कहा है कि वे सर्वत्र सम दृष्टि रखें और जैसा अपनेको दुःख होना है वैसाही अन्धोंको होना है ऐसा समझकर अन्य सब भूतोंका हित करनेके कार्यमें उत्तर रहें।

वहीं अन्य सब भूतोंको ईश्वरका विश्वकर्म नहीं माना है परंतु प्रत्यक्ष देखते जहना निज है सुख जैसा सुखदुःख होना है वैसाही सब अन्य जीवजन्तुओंको होना है इसलिये मैं दूसरोंको कह नहीं पहुँचाऊँगा प्रत्युत दूसरोंका हित ही करनेके कार्य करूँगा। अपने समान सब अन्य जीव हैं इसीही सम दृष्टि नहीं है और अन्धोंका हित करनेके कार्य करवाही इसका कर्तव्य है। जो ऐसा करेंगे वे भी ईश्वरको प्राप्त होंगे।

जो विश्वकर्म विश्वकर्मको जानकर सर्व भूतोंको बखंड विश्वकर्मका रूप मानकर उसकी सेवा करेगे वे तो जेह-आत्मा कोमा होंगे। उनका विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है। जो अन्धक विश्वकर्मको नहीं पचानते परंतु प्रत्यक्ष जीवको दुःख दुःख आत्मा मानते हैं और सबको सुख-

दुःख समान होता है ऐसी सम दृष्टि रखकर सबका हित करनेके कार्य करनेके किये आत्मप्रमर्श करते रहते हैं जब सर्वभूतहितकारी साधकोंकाही वहाँ विचार करना है। ऐसी योग सर्वभूतहितकारी कार्यके किये अपने सबका हान करते हैं, अपनी सन्धिका धर्मपण करते हैं, अपने हानका व्यव करते हैं तथा अपने करीरके बालवक कर्म करते हैं। सर्व प्राणियोंके हितके किये अपनेसे जो हो सकता है करते हैं। ऐसे साधक बहुत हैं। हममें तथा और कम्पनाका साध विवेक होता है और पूर्व दशानाके प्रेसित होकर के योग सर्व प्राणियोंका भका करनेके किये प्रवृत्त होते हैं। ये भी इस कार्यके करनेके कारण परसेपरको प्राप्त होते हैं। यह जीवितोंकीही उपासना है क्योंकि जीवित प्राणियोंकाही हित किया जा सकता है।

सम दृष्टि

उपासनामें सर्व प्राणियोंके हितकी कल्पना कियी उन्मत्तक है वह वहा देखा जा सकता है। सर्व प्राणियोंको अपने बैसाही सुख-दुःख होता है ऐसी सम दृष्टि बनान करना और सब प्राणियोंका हित करनेके कर्तव्य अपना समान धर्म करना ये दो बातें जान भी सर्वत आत्मवक है। इस तरह कार्य करनेवाले न होनेके कारणही आज यह विषय बचसा हो गयी है।

जिस समाजमें इस तरहकी सम दृष्टि करनेवाले लोग होंगे और जिस समाजमें सर्व प्राणियोंका हित करनेके धर्म कर्मको अपना कर्तव्य समझकर करनेवाले होंगे वह समाज अधिक सुखी होगा इसमें क्या संदेह है ?

यदि इससे और जागे बढ़कर सब प्राणियोंको विचारना का अन्तर्गत सब मानकर सेवा करनेवाले महात्मा जिस समाजमें अधिक होंगे उस समाजकी स्थिति तो स्वर्गात् स्थितिके समानही दिव्य होगी इसमें संदेहही क्या है ?

इस तरह उपासनामें सर्व प्राणियोंका हित करनेका भाव प्रधान स्थान रखता है यह बात वहाँ सिद्ध है। सर्व प्राणियोंका हित करनेका मामही ईश्वरकी उपासना है वह भाव अपने समाजमें कब प्राप्त होगा ? सब प्राणियोंको सुख-दुःख अपने जले होते हैं और सबका हित करनाही ईश्वरकी उपासना करना है वह भागवद्गीताका उपदेश हीमही मनुष्योंको आचार्य का आदेश है।

दो प्रकारके उपासक

वर्तमान दो उपासकोंके भेद कहे हैं। पहिले उपासक विभूतियोंकी सगुण उपासना करते हैं और दूसरे प्रकारके उपासक सब प्राणियोंको अपने समान मानकर सब प्राणियोंका हित करनेमें अपना एक भाव बन लगाते हैं। ये दोनों प्रकारके उपासक बहुतों सगुण ईश्वरकी उपासक हैं और ईश्वरको प्राप्त करते हैं। (दोषो को २ और १-१)

इससे सिद्ध व तो विभूतियोंकी उपासना करते हैं और व सर्व प्राणियोंका हित करनेके कार्यका महती अपने कम करते हैं परन्तु केवक विराक्त मानकर आत्माकाही भाव करनेमें अपने आपको लगाते रहते हैं। उनको (नकेको अधिकतरलेवां ११५) बहुत क्लेश होता है, क्योंकि ईश्वरकी मनुष्योंकी विराक्तता महामात्रक नहीं होता क्या कठिन कार्य है।

इस तरह विराक्त विभूतियोंकी उपासना करनेवालोंको बहुत कष्ट होते हैं और सगुण साधककी जीवित कला उपासना करनेवाले दोषों प्रकारके उपासकोंके मिलित परमेष्वासाहि होती है। एक तरहके वहाँ धनु उपासकमही आदेश है और केवक विभूत विराक्तकी उपासनाकी कठिनता विद्यापी है। सर्वसाधारणको सगुण उपासनाही आदरान्य है वह इस विषयका उत्तर है। योगात्मकसे कोई भी विभूतका व्यव समाविष्टता नहीं कर सकता वह विवेक नहीं नहीं किया गया है। केवक सर्वसाधारण को दोषी मानकर व्यवहार करते हैं—

(१) एक जीवित विभूतियोंकी सेवा

(२) दूसरी अपने समान सब भूतोंको मान कर जीवित प्राणियोंका हित करनेके कर्ममें अपने आपको कम कर सब भूतोंकी सेवा करना।

वहाँ सगुण उपासनाके ये दोही प्रकार कहे हैं। (१) निरकर्ममें विचारणाकी उपासना करनेका एक तीव्रता उच्च प्रकार है परन्तु वह विषयवृत्तियोंकीही प्राण्य है, क्योंकि किये उस दोही प्रकार योग्य है।

अनन्ययोग

कोक १ और ७ में इस अन्त्ययोगका उपदेश किया है। वहाँ कहा है कि— सुखे भेद मानकर सब कर्मोंको

मुझे समर्पण करने बलव्यभावसे मेरा ध्याय करते हुए जो मेरी उपस्थिति करते हैं मुझमें विनका चित्त लगा रहता है उन्हें स्तुत्युपचारसमासे में क्षीप्रही पार कर देता हूँ। अर्थात् मैं उनको बाल्य और मुक्त देता हूँ।

यहाँ बपासकमें बलव्यभाव स्थिर होवेका विशेष महत्त्व है। बलव्यभाव क्या है? बपासक जग बपास्य प्रपक्व है। धन बीज परस्पर प्रपक्व है ईश्वर जगत्से प्रपक्व है इस तरह प्रपक्व मात्र धारण करनेका नाम बलव्यभाव है। इस बलव्यभावको धारण करनेवाले साधक सर्व मायिकोंका शिव करनेका कार्य करें ऐसा (छो ४ में) पहले कहा गया है। शिवके बलव्यभाव वह बलव्यभाव प्रपक्वभाव मित्र मात्र ही हो चुका है और शिवको अधिक भावसे सर्व शिवकप देवताकी दिव्य-रश्मि मित्र चुकी है और शिवको बलव्य ब्रह्मत्व मानिष्ठ मात्रसे अलक्ष्य शिवकर्ममें अलक्ष्य शिवत्वाको देवताकी दृष्टि प्राप्त हुई है वे अपने सब कर्मोंको ईश्वरार्थमें करें वे अलक्ष्य शिवेश्वरका ध्याय करें परमेश्वर शिवसे ही उदय उद्धार करेगा। (छो १-७)

ईश्वरार्थ मन कमाओ ईश्वरार्थ अपनी दृष्टि समर्पण करो ऐसा करनेसे धावक ईश्वरार्थही विनाश करेगा, (छो ८) इसमें संदेह नहीं है। क्योंकि मन कहाँ स्थिर बिना जाता है वैद्यकीय रूप जाता है। धावकका मन ईश्वरार्थ कम जाय तो उसमें ईश्वरभाव जा सकता है अतः वह ईश्वरार्थही बसता है ऐसा कहाँ कहा है। इस छोटीमें मन ईश्वरार्थ स्थिर करने को को कहा है वह (मनि २० मुझमें अर्थात्) किसी विमूर्तिमें अथवा शिवकर्मके किसी विशेष प्रभावी लक्ष्यमें स्थिर करनेको कहा है। अर्थात् वह बलव्यत्वकी बपासना नहीं है, वह व्यक्त सगुण ईश्वरकी ही बपासना है।

यदि इस तरह किसी विमूर्तिमें अपना मन स्थिर करना किसीको धर्मपथीय प्रतीत नहीं होता तो वह धावक अपना मन स्थिर करनेका धर्म-जन्मः अभ्यास करे। अभ्याससे धर्मिण बात भी सुगम प्रतीत होती है। अभ्यासका धर्म धारण करना है। इस प्रकार धारण करनेसे विशेष बलव्य होना है और धर्मपथीय प्रतीत होनेवाली बात भी धर्मपथीय प्रतीत होने लगती है। (छो ९)

यदि इस तरह धर्म अभ्यास करना संभव न हो तो अपने धर्म ईश्वरको समर्पण करो। कर्म परमेश्वरको समर्पण

करनेसे ही वे कर्म परिशुद्ध हो जाते हैं। कोई कर्म साधारण व्यापिक क्रिये करना हो तो वह बलव्यपा किया जाता है परन्तु यदि वही कर्म किसी महात्मा व्यापिक क्रिये करना हो तो करनेवाला उसे विशेष परिधमसे किया करता है। फिर यदि वह अपने सब कर्म सर्वव्याप परमेश्वरके क्रिये करने छे तो किसी उत्तमताका साथ करेगा यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। इस तरह परमेश्वरको अपने कर्म समर्पण करनेसे कर्म परिशुद्ध होने लगते हैं करनेकी पद्धति अधिक कौशलमय होने लगती है। इससे साधक सब ओर से उदय होने लगता है। अतः ईश्वरार्थ कर्म करना मानवीय उदयिके क्रिये एक बहाली उत्तम साधन है। (छो १)

यदि कोई साधक अपने कर्म ईश्वरार्थ करनेमें असमर्थ है, तो वह अपने कर्मोंके एक अपने भोगक क्रिये अपने पाद संयुहीत करने लगे। अपने कर्मोंके फलोंको सर्व मायिकोंके हितके क्रिये लगा दे। इस तरह कर्मकल्याण करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है। इसका हेतु यह है कि अपने व्यापिकता भोग बहानेकी दृष्टिसे मनुष्य की भिरावट होती है। इससे बलव्यके शिवही कमजोरका ध्याय करनेके क्रिये कहा है अर्थात् इससे भोगकल्याण कम होती और दोष मूल्य होते जाते हैं। (छो ११)

साधक ईश्वरका ध्याय करे ध्याय नहीं होना हे तो उसका बलव्य करे अभ्यास नहीं हो सकता तो अपने धर्म कर्म ईश्वरको धर्मार्थ करे वह भी नहीं हो सकता तो अपने कर्मकल्याणके लक्ष्य द्वाये दान करनेका अभ्यास करे। यही सुगमसे सुगम साधन है।

ज्ञानमार्गसे ध्यायमार्ग सुगम है ध्यायसे अभ्यास करना सुगम है, ध्यायमार्गसे कर्मयोग सुगम है उससे कर्म कल्याण सुगम है। कर्मकल्याणसे उन्नी समय छाति मित्र जाती है। अपना कर्म सर्व मायिकोंके हितार्थ दान करनेसे यह सबी ज्ञानाभी प्रसन्नता होती है। यही छातिशुद्ध है। (छो १२) यदि कर्मकल्याण न हो सके तो समझ को कि ज्ञान, ध्याय अभ्यास अथवा कर्मयोग कुछ भी शिद्ध नहीं हो सकता। इस ज्ञानमार्गसे ही शिद्धि मिलती है इस क्रिये कर्म-कल्याण सब साधनोंमें सुगम और सुख साधन है।

प्रथम हो सकता है कि वह कर्मकर्मकाग सुगम कैसे है ? उत्तरमें निवेदन है कि किसीने कुछ कर्म किया उस कर्मका वेतनरूप फल उसे मिला गया वह मिलनेही वह फल धन का धन बनया उसका कुछ भंडा सर्व भूतेकि हितार्थ अर्पण करनेका विधान करना और वैसा अर्पण करना कोई असम्भव बात नहीं है। इस तरह सर्वभूतहित होता जाया है। अर्थात्

वह सुगमसे सुगम साधन है।

जब बागे मार (को १३ से १ तक) छोड़ेंगे तब मन्त्र के कथन करते हैं। इसको मन्त्राः वहीं देते हैं और धन धान देवी संपत्तिके कथन को ११ वें अध्यायमें बाल्यको है वे भी देते हैं। इससे पाठकोंको स्पष्ट हो जायगा कि उक्त मन्त्रों के कथनोंमें देवी संपत्ति किध तरह निकलित होती है—

भक्तके लक्षण

(अध्याय ११)

- १ भद्रेष्टा सर्वभूतानां (११)
- २ मैत्रः (११)
- ३ कृपणः (११)
- ४ निमग्नः (११)
- ५ अनिकेतः (११)
- ६ निरहकारः (११)
- ७ सतत सन्तुष्टः (११)
- सन्तुष्टो येन केनचित् (११)
- ८ अनपेक्षः (११)
- ९ यतारमा (११)
- १० समदुःखसुखः (११)
- समा शत्रौ च मित्रे च (१८)
- तथा मानापमानयोः (१८)
- शीतोष्णसुखदुःखेषु समा (१८)
- तुल्यमिन्द्रास्तुतिः (१९)
- न हपति न द्वेष्टि (१७)
- न शान्ति न कांक्षति (१७)
- ११ दृढमिच्छयाः (१४)
- १२ स्थिरवृत्तिः (१९)
- १३ संगवर्जितः (१८)
- १४ हर्षमपमयेन्द्रियैः मुक्तः (१५)
- १५ शुभाशुभपरिहारी (१७)
- १६ उदासीनः (१६)
- १७ मुक्तिः (१६)
- १८ वृत्तः (१६)
- १९ गतभ्यधाः (१६)
- १० सर्पात्मपरिहारी (१६)

देवी संपत्तिके लक्षण

(अध्याय ११ अध्याय १)

- भगवत् (१) [न द्वेष्टि १५७]
- अहिंसा (१) अश्रोता (१६)
- व्या भूतेषु (१) मार्दन (१)
- अखोत्सुर्धन (१) [निमग्नः २७१]
- [निरहकारः १७१]
- [आत्मन्येवात्मना मुक्तः १५५]
- शान्तिः (१)
- [विहाय कामान् निःस्पृहः १७१]
- वमः (१) [इन्द्रियाणि मयैभ्यः लहरते १५८]
- [यस्य इन्द्रियाणि बधे १६१] वैराग्यं १५८
- [दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतदुःहा १५६]
- नातिमानिता (१)
- [नातिमन्वति न द्वेष्टि १५७]
- [स्थितप्रज्ञः १५५] [स्थितधीः १५६]
- [सर्वान् मनोयतान् कामान् प्रजहाति १५५]
- [विषयाः विनिवर्तन्ते १५९]
- अश्रोता (१) [शीतरागमयक्रोधः १५६]
- हर्म (१) [शुभाशुभ नाभिमन्वति १५७]
- [सर्वान् भवमिहोदः १५७]
- सस्यसमुक्तिः (१) शीघ्र (१)
- आमा (१)

११ यस्मात् षोडः न उद्भिजते ।

या न लोकात् न उद्दिश्यते । (१५)

११ (ईश्वरे) अर्पितमनोबुद्धिः ((१४)

२३ समी (१३)

१४ षोढी (१४)

२५ मौली (१९)

१६ चर्म्यामृतं पथोक पर्यपासते (१०)

२७ अध्यायानाः सत्परमाः (२०)

महिमाम् (१७), भक्ताः (२०)

समा (₹)

योग्यवस्थितिः (१)

[युक्तः २।६२]

[मुनिः २५४]

ज्ञानव्यवस्थितिः (१) स्वाध्यायः (१)

[मत्पर २।५१]

इस तरह १९ में बच्चा-बत्नें बर्बल दिखे ऐसी छंपणिके गुणोंके साथ इस १९ में बच्चा-बत्ने के बीच मतलबके गुणोंका मेल है। यहाँ १९ में बच्चा-बत्नें कुछ अधिक गुण कहे हैं जिसका साम्यविर्द्ध १३ में बच्चा-बत्नें नहीं है, तथापि ये गुण ऐसे नहीं हैं जो ऐसी छंपणिके साथ बिरोधी हों। जैसे मछिमाला, अरुणालः के गुण ऐसी छंपणिके बर्बलके समान १९ में बच्चा-बत्नें नहीं कहे तथापि मत्ता और मत्ति के गुण ऐसी छंपणिके साथ बिपरीत नहीं हैं मत्तल ऐसी छंपणिके साथ मिलनेवाले ही हैं। इसी रीतिसे एक बच्चाधीन, ईश्वरार्पितमनोबुद्धि स्थिरमति दृढनिश्चय यन्त्रि गुण भी ऐसी छंपणिके साथ रहनेवाले ही हैं। यहाँ मत्तले और ओकहमें बच्चा-बत्नें ऐसी छंपणिके सभी अंगरह गुणोंके बर्बलोक दृढके बरिपूर्ण रीतिसे किना गया है ऐसा नहीं समझना चाहिये। तबस्तद्वत् अन्य गुण भी उसी बर्बलकीरमें मिले आने चाहिये। ऐसा बिचार करनेपर वह बात स्पष्ट होगी कि ये बत्तले कछन और ओकहमें बच्चा-बत्नें कहे ऐसी छंपणिके कछन परस्पर एक समान हैं जोमे दृढबुद्धिके साथ रहनेवाले हैं।

स्वित्त्वप्रश्नके लक्षण

[illegible]

में ऐसी उपस्थिति के सब कक्ष परस्पर मिलते हैं। ऊपरके कोष्ठकों में वे हीनों स्थानों के सब कक्ष प्रस्तुत हैं। पादक इनकी तुलना करने परस्पर मिलकर दोहों और तीन प्रकार जमाते कि (अ २) ज्ञानमार्गी (अ १५) नक्षिमार्गी और (अ १६) देवमार्गी कक्ष होनेपर एक कैदेही होते हैं और उनमें कोई भेद नहीं रहता।

वेपथुसुरमार्ग

यहाँ देवमार्गी कहनेसे पाठक चकित न हों। भगवद्गीता में वैशेष ब्रह्ममार्गी भक्तिमार्गी कर्ममार्गी कहा है वैशेषी देव मार्गी जसुरमार्गी राजसमार्गी विद्यामार्गी ज्ञानमार्गी भी कहा है। देवमार्गी 'वैशेषी संपादिक कल्याणको वारण करने से स्वीकृत होता है वैशेषी जसुरमार्गी बाह्यी विपत्तिके कुकल्याणको वारण करनेसे वर्गीकृत होता है। इसी तरह राजस विद्यामार्गी भूय-मार्गी भी मनुष्य स्वीकार करते हैं। इसका भी कुछ दक्षिण भगवद्गीतामें बताया है। जसुर राजसमार्गी मार्गी कोबने चाहिये और वैशेषी मार्गी स्वीकार करना चाहिये। यहाँ इसविशेषी से कल्याण कहे गये हैं। मैं किछ मार्गीपर चक रहा हूँ। इन कल्याणिक विचारसे इसका विचार हारकोई कर सकता है और अपने जसुर मार्गी को छूट कर प्रकटा है। इन कल्याणिक विचारसे वही बात फिर होती है।

पिप्रहारापना

जात्रकक धातिमानेकेकद्वय विम्वाराधना प्रविम्वृत्ता
नम्यनप नावि मसिद्ध है, परंतु विम्वाराधना प्रविम्व-

एसा आदिवाक्य उल्लेख भी संपूर्व भगवद्गीतामें नहीं किया गया है। साधक भीषित विमृष्टियोंकी भक्ति करें वही भी भगवद्भक्तिवाक्य उल्लेख दीखता है। विप्रहारावका प्रतिभापूजा और मूर्तिपूजा वर्तमान वास्तव रहस्यके कार्यमें साधक हैं इसमें संदेह नहीं परंतु उनका ज्ञान भीषित विमृष्टियोंकी पूजाके बीजे है। मातापिता समस्त भीषित रहस्यवक उन विमृष्टियोंकी सेवा करनी चाहिये उनकी सुरबुके पत्राक्ष उनके विशिष्ट उपाय समस्त करने उनका वास्तव प्रकट कर सकते हैं। परंतु प्रत्यक्ष मातापिताकी सेवा और कुछ माता-पिताका वास्तव रूप दो प्रकृतियों प्रत्यक्ष बीजेकी होनेवाली उपासना विशेष महत्वकी है इसमें संदेह नहीं है।

इसी तरह भीषित और, भीषित उपदेशक भीषित संत आदिभी प्रत्यक्ष भक्ति करना वह भगवद्भक्तिवाक्य विशेष प्रतीय होता है। विमृष्टि जन्मावस्थों हृष्टी हृष्टावस्थे भीषित विमृष्टियोंकाही उल्लेख अधिक है वार प्राचीन भूतकालकी विमृष्टियोंका उल्लेख वर्तमान जन्म है। प्राचीन कालकी विमृष्टियोंके विमर्शकी कारणवश्या निर्देशक भी एव कहते भगवद्गीतामें नहीं है। लोकहृत् जन्मावस्थों वही वास्तु विपणितके कथन करते हैं वही—

नामपञ्च अथवा पञ्च

धनमानमदाग्निताः यजन्ते नामयज्ञैस्ते
धर्मेनाविधिपूर्वकम् ॥ (गी ११/१०)

जब मान और धनके कुछ होकर वे वास्तुरी लोग धर्मके और अधिविधि नामपञ्चोद्देश्य बनाने करते हैं। वही नामपञ्चका उल्लेख है। इससे कुछ लोग मानते हैं कि नामक्य करनेके विरुद्ध गीताकी यह ध्वनि है। परंतु यह तथ्य नहीं है नामक्यकी सेवा वेदोंके अन्तर्गत हुई है। अग्नि और अथर्ववेदोंमें नामक्यका विधान किया हुआ है, अथर्व वेद अथर्वसंहिता है। विमृष्टियोंके १ में जन्मावस्थों नामपञ्च ईश्वरकी विमृष्टि है ऐसा कहा है वही वही वप ११ में जन्मावस्थों वास्तुरी संपत्तिक कथन नहीं हो सकता।

यही (धर्म अधिविधिपूर्वक) ईश्वर और विधिको छोड़कर जो नामपञ्च है, उपाय विशेष है। ईश्वर और धर्म छोड़कर बनाविधि धर्मभावका ज्ञान किसे जानेवाले नाम

पञ्चका वही विशेष (११ में जन्मावस्थों) नहीं किया गया है।

इसका जन्मसे नाम पड़ते देता जो पञ्चैव दो सकता है जिसके नामक्यका कोई संबंध नहीं रहा और पञ्चके बनाने करते हैं इत्यादी धर्म होता है। वर्तमानकी वर्तमान और ईश्वर अधिविधिपूर्वक वही वर्तमानके ज्ञान वही वही वर्तमानकी रचना करने बनाने करते हैं। ऐसा इस पञ्चैवसे आशय निकलता है। वही 'जन्म' पड़ते वही नामक्यका विशेष है, वह मानना वर्तमान है। इसके अतिरिक्त जैसे वही वर्तमानके विभिन्न वस्तु तत्त्व जैसे, जैसे नामक्य वही किने वा सकते इसलिये जो 'नाम' और वही: वे पद एकत्र मानकरही इस कोक्य वर्तमानका अधिक सुनिश्चित प्रतीय होता है।

पुष्पावलीकी सिद्धि

यही जो पहले कथन करते हैं वे इसी उल्लेख करते हैं कि हाथ प्रमुखके वास्तवमें मानार्थ और जन्मावस्थों प्रत्यक्ष हैं। वे कथन केवल जन्मावस्थान्तर्गत लिये नहीं करते हैं। जन्म समान लिये कथनके कुछ ज्ञान लिये वे कथन वे हैं—

अर्थ

यदिवा कथन ज्ञेय है। वास्तवमें करनेवाले कोषके जन्मावस्थों अधिक कुछ होया जन्मा वास्तवमें व करनेवालेके जन्मावस्थों अधिक कुछ होया इसका लिये प्रत्यक्ष संबंधी कर सकते हैं। लिये जन्मावस्थों कोई वास्तवों है नहीं करता वही जन्मावस्थों अधिक मुक्ति हो ज्ञेय है। वही सर्वभूतार्थों अर्थवा ऐसे पद हैं लिये वर्तमानके लिये है न करनेका अर्थ है। किन्तीका कोई है न करे। व करनेमें किन्तीका और व किन्ती जन्म जन्मावस्थों किन्ती जन्मिका है न। लियेके जन्मों है नमाने वही है, व वर्तमान पुष्पा 'वास्तव' पुष्पा है।

मित्रभाव और दया।

जब और कथन वे दो कथन जन्मे करते हैं। इसमें अपने वास्तवकोषों पर दया करती है और मित्रत्व की रचता है। केवल अपने वास्तवकोषों पर ही करनेवाली इत्यादि वही वर्तमान वही है। वही वही हुई दया और मित्रत्व

रहित धार्मिकता है। इस प्राणिमात्रके साथ बना और मित्र
रहिका कर्णाव होना चाहिये। स्वधर्मियों, स्वजनों स्वकीयनों
के इशाराय और मित्रभावका व्यवहार करनेवाले इस कर्णाव
में बहुत हैं। परन्तु ये केवल कर्मकाण्डीयों विदेशियों और
विनाशियोंके ऐसी झूठवादा व्यवहार करते हैं कि उसकी कोई
धीमशी नहीं रहती। स्वधर्मियोंपर प्रेम करनेवालेही
विधर्मियोंके पक्षे करते हैं स्वदेशियोंपर मित्रवत्
रहनेवालेही विदेशियोंपर अनुयाय रहते हैं। अतः यह मित्र
रहित और कर्मका भाववृत्तिवादी कधीन नहीं है। यहाँ जिस
मित्रवत्ति और जिस कर्मकाका बहस है वह सब प्राणि-
मात्रके साथ होवेवाकी है। हरएक प्राणीको मित्रवत्तिसे
देखना चाहिये और हरएक प्राणीपर कर्मका करनी चाहिये।
जिसमें स्वभावसे दोषा मित्रभाव और कर्मकायाव होना है
वही पूर्ण पुत्र है। पूर्ण-पुत्रोंके मित्रभाव और कर्मका-भाव
देव-कर्म-व्यति-कर्म चाहिये समित नहीं हैं। सब
पशुओंके सुविधा देकर इन्हीं पशुवत्तों मित्रवत्ति और
कर्मका उद्द उन्के अन्तःकरणोंमें हो ऐसी व्यवस्था
करनी चाहिये।

ममस्व-त्याग

निर्मम विरहकरके आग भी ऐसीही वैयक्तिक और
आत्मिक व्यवहारमें कल्पेयोग्य है। वह जेठा है वह जेठा
पत्नी है, इस आगका नाम ममत्व है और इस आगके
व होखेका नाम निर्मम होता है। इसीका दूसरा नाम
व-सिद्धेय है। इसका अर्थार्थ है 'अपना कोई वर न
होगा। वही वर का लब्ध' 'अब सीकट माफ देक
गोदा बनीम प्यारी एक मजिद आदि जिसपर अपना
ममत्व छिक छकटा है वह वस्तु, देखा है। अपनी ऐसी
कोई वस्तु न हो इसका नाम है व-सिद्धेय वृष्टि।
इस तरह अपनी कोई वस्तु न रहें वही निर्ममता
पिद हो सकती है।

अ-निष्कर्ष

कर्मणः कपनी बन्धुपुं होनेके उपरि आप मज्जन रहेया
ही और कर्मणः मज्जन रहेया तबतक निर्मम होया
बलवत्त है। दुष्टिने न-भिक्षु धर्माज्जनवत्त हो जानेपर
उप धर्माज्जन निर्मम दुष्टिने भोग एवमावत्त हो
नये हैं। उप धर्माज्जनके वति संन्यासी भुक्तिकारके
विष्णु प्राचीन कालके वैरागी भये आपु विरहकारी

बाधि सच लोग इधी अ-सिक्केत' बीरब संस्थाक बाजकम्मे
बबोधेप है। एक समय था जब हूज लोगनि अमिकस' पन्ति
का बीरब सामूहिक कम्मे स्पटीत करवा मारंभ किया था।
बाजकम्मे के सच अवगत हुए हैं परंतु एक समय पेछा था
जिस समय वे संघर्ष आरंभ पुनर् वर्तक समझी जाती
थीं। जनेक कारवोले सपूर्ण समाजचना अवगत होनेके
पराय थेभी गिर गये।

हृदय समान रहितियों 'कम्पुनित' करने को समाप्त-
 पायावाले मस्तिष्क एक ईश सुक हुआ है वह भी न-
 निकेत 'पदमिच्छा' ही पथ है। किसी व्यक्ति का कोई घरबार,
 केतवारी, सुमि, वच या करवाना नहीं है परंतु सब कुछ
 सरकारका है और सबका योग्योम सरकारही चकती है।
 सब मातृवचने राष्ट्रके अर्थात् राष्ट्रासक संस्थाक हैं किसी
 व्यक्ति का कोई घर नहीं। इस पदमिच्छे यह मेरा है (ममत्व)
 ऐसा करनेके किये कोई बलुही नहीं होती, अथः हमने
 स्वभावसे ममत्व 'की भावना नहीं रहती। अर्थात्
 हमने निर्दय और न-निकेत वृत्ति-कम्पुनित होती है।

बौद्ध भिक्षुओंके माथेपर संस्कारोंके तथा वैरागियोंके
बढ़ी छाविक वस्तु निरहंकारी निर्मम जीवन व्यवहारमें
कला था। बौद्ध भिक्षुओंके हृदय श्रितवा प्रचार किया
बचना किसीने नहीं किया था। परंतु इसमें 'अपरा' ऐसा
कोई पराश नहीं रहा, हृदयके गुणोंका उत्कर्ष करनेकी
मेरवा मनुष्योंके नहीं होती और अन्तमें उनकी गिरावट
हो जाती है। बौद्धोंकी गिरावट इसी गुणोन्मत्तकी मेरवाके
अपरावके कारण हुई। हृदयमें जी अ-विकृत अवस्थाके
गुणोन्मत्तकी मेरवा नहीं होती वह अनुभव वाचके कारण
बढ़ी उन्मत्ति वैयक्तिक व्यवहार करनेकी आज्ञा किसी
धर्ममें कुछ भी है। जो कुछ हो छाविक अ-विकृत
जीवन-व्यवहारहीन जीवन-गुणोन्मत्तके किने देरक नहीं
होता। हृदयके दो उपाय अपने वैयक्तिक धर्ममें बड़े हैं—

शुणपोषणमे वाधा

१) कर्म करवा मनेकदा अधिकांश है बर्ताव हाएकको कर्म करवाही मनेहो जैह (योगस्य कुव कर्माणि। पी १।४८) बर्ताव औपकर्म साव कर्म करवा हाएकदा कर्तव्य है। वह भगवद्गीतामें कहा है। हाएक मनुष्य अपना कर्तव्य कर्म समझकर (योगस्य कर्म) औपकर्मसुख कर्म करे, विषयी औपकर्म की मुक्ति हो सके उतनी करे।

गीतामें कर्मकौशल बताना हरएकका जन्मद्वय कर्तव्य माना है। उसका कर्मजही यह है कि ब-विशेष बर्णात् परवार जनहीकृत कोई अपना नहीं है पृथ्वी मायका होवेपर कौशलनृत्ति करनेका कोई हेतुही नहीं रहता नबोधि—

कर्मज्येवाधिकारस्ते

मा फलेभ्यु कदाचन ॥ (गी १।४०)

मनुष्य कर्म को परंतु उस कर्मका देववक्ष्य कक वह न केन। योग्य वतवक्ष्य कर्मकृत व सिद्धिपर उस कर्मको उत्तम कुशलतासे करनेकी और कर्ताकी उदासीनता होती है। यदि कोऽकनुरुक्त कर्म करनेपर वतनमें वृद्धि होवेकी संभावना हो तभी मनुष्य अपना कौशल बढावेका कत्य करता है। परंतु भगवद्गीताको देखी फलसहित पदंय नहीं है। कर्मकृतका त्याग ही भगवद्गीताने पुरस्कृत किया है। जो योग्य कर्तव्य समझकर अपने कर्ममें कुशलताकी वृद्धि करेगा वही इस कर्मकृतस्यापके मार्गमें सफल हो सकते हैं। जन्म लोग कर्मकृतस्याप कर नहीं सकते। जरा वे सकाम कर्मके अधिकारी हैं ऐसा भगवद्गीताने माना है।

अर्थात् कर्मकृतस्यापके मार्गमें असंगतवृत्तिवाले उत्तम कोशिके पुरुषही प्रगति कर सकते हैं। जन्म साधारण मनुष्योंके वही का कर्तव्यपाठ्य नहीं हो सकता इसलिये उन्हें सकाम कर्म का मार्ग स्वीकार करना चाहिये। इसी उद्देश्यसे वर्णाश्रमवर्गकी व्यवस्था निर्माण हुई है। ब्रह्मचर्य आश्रमस्थ और संन्यासमें निर्मम निरहंकार सामूहिक जीवनका विधान है। वही कुछ भी अपना नहीं रखा है। समाजक द्वारा ब्रह्मचारी नाम प्ररथी और संन्यासी भिक्षुर्वाका योगश्रेम चकनेवाला है। गृहस्थाश्रममें वैयक्तिक परवार केतवाही प्यानाश्रमा काक पत्र कमान और कोशलकी वृद्धि करनेक श्रिदे पवसि क्षेत्र है। इस तरह वैयक्तिक और सामूहिक जीवनका योग्य समग्रश्च इस आश्रमव्यवस्थामें किया गया है। जरा वही प्याप्या मानवीय हित करनेमें समर्थ है इसमें संशय नहीं।

आश्रम-समाजसत्तावाद् व्यवस्थितताका नाक करता है ऐसा मान आश्रमव्यवस्थाके नहीं होता। इस वर्णाश्रम व्यवस्था में सार्वत्र समाजसत्तावाद् है भार पुनः सार्वहित वनाश्रमावाद् भी है। सर्वोका अधिकार होनेके कारण वही वर्णाश्रमव्यवस्था सब धर्मोका हित करनेवाली है।

गृही और अ-निकेतनी

निर्मम निरहंकार और अनिकेत होवेक जो उत्प्रेक्ष भगवद्गीताने किया है, उसको व्यवहारमें कालेके लिये वही वर्णाश्रमव्यवस्था निर्मित हुई है और इस व्यवस्थाने ऐसे सुषोष्य बंधुके उत्तम वातें समाजमें गांधी हैं कि इनको देवकपर विच प्रसन्न होता है। वरतक ब-विशेष वृत्तिके साथ आश्रमव्यवस्थाका मिश्रण करके देखने लो इनको पता लगा जगता कि चार आश्रमोंमें ब-निकेत मानके आचरणमें कालेवाके हीम आश्रम हैं और वृद्धी गृहस्थाश्रम है जिसको पृथ्वी कहते हैं, इसमेंही अपने स्वामिनी परवार केतवाही की जाती है। यह दोभोंका मेक बढाही सुबोध है।

सुग-वर्जन

ब-निकेतन जीवनका नाम संगतिवर्जित है। भोगिके साथ व्यवस्थिक संग नहीं होना चाहिये। योग उत्प्रेक्षी भोगके चाहिये कि जिससे करीर बीतोन कुप और हीर्षाशुचाका होवे। अधिक भोग भोगवेके लेय हिंसे व्यवस्थ बढेगे और हिंसा होवी। जरा कदा है कि वरतं संतुष्टः देवकेवमिन् संतुष्टा वर्णात् यह शावक कव्य वतुष्ट रहे जो समचपर मित्रे उद्योते संतुष्ट रहे जमि योगेच्छा न करे, वरि वह इस तरह संतुष्ट न रहेगा जो भोगी वमकर विविध कष्टोंमें पड़ेगा और वह पूर्ण नहीं बन सकेगा। जलरोष अपूर्वताकाही प्रकट है। जरा उल्लेखमि रहनेसे अपनी पूर्वता सिद्ध होती है। वही बात वनकेक धाम्प्यसे बढापी है। आवश्यकतापुं कम करने चाहिये। अप्यार्थोंकी वृद्धि नहीं करनी चाहिये। आरत्यकतापुं कम किने विवा सेतोषकी स्मरण नहीं हो सकती।

आये वततया वर्णात् द्विर्बोधा देवम करने जीव की स्वाधीनता तथा अपने छप द्विर्बोको करने बढमें करक चाहिये। जिसकी द्विर्बो बढमें न होनी उबकी आवश्यकतापुं बढेगी आवश्यकतापुं बढनेपर व्यव व्यक्ति करना पड़ेगा व्यव बढनेपर और उतनी भाव न रही जो जमणोष होय और जमणोषके विचवृद्धि बढाने हो चाहगी। इसलिये जमणसंयम आवश्यक है। जन्म संयमोंकी अपेक्षा दशाद्वय व्यवहारके द्विर्बो संयम जमण आवश्यक है। स्वाद्वय होमस जन्म संयम हो सकते हैं।

सम वृत्ति

जो सम वृत्ति बनवा सम बुद्धि चारण करनेका उपदेश दिया है। मुक्त-मुक्त सन्तु-मित्र मान-अपमान क्षीत-उप्य मित्रा-स्वुति हर्ष-शोक, हृष्टा-हृष सुख-बसुध मय-अमय इत्यादि इन्द्रोंको समान समझकर अपनी मनोवृत्ति विचलित नहीं होने देनी चाहिये।

क्षीत-उप्य समान समझनेका अर्थ क्या है? वस्तुतः क्षीत और उप्य के दो पदार्थ विनिष्ठ हैं वा अधिक हैं? पात्रक कहते कि निष्ठ हैं। पदार्थ पात्रक ऐसे कि बर्क उग्रा वह उप्य वह क्षमि के पदार्थ क्षीत हैं वा उप्य हैं? बर्कसे वह उप्य पदार्थ है अथवा वह उप्य कहा जा सकता है, और कठरी आगसे भी अधिक उप्यता निर्माण से सकती है उससे बर्क की भाव क्षीत है। अथ क्षीत उप्य कोई विनिष्ठ वस्तु नहीं है। वह एक तुल्यतात्मक वस्तु यह है। जो इस क्षीत कहते हैं वह किसी अन्य अधिक क्षीतसे उप्य है और जो इस भाव उप्य करने कहते हैं उससे दूसरा उप्य पदार्थ होनेसे उसे क्षीत कहना पड़ता है। इस प्रकार क्षीत-उप्य विनिष्ठ वस्तु नहीं हैं। समबर्क वस्तुतः हम किसीको क्षीत और किसीको उप्य कहते हैं अथ क्षीत-उप्यकी स्वतंत्र कृत् भी सत्ता नहीं है। मित्रकी स्वतंत्र सत्ता नहीं इसका विचारही क्या करना? बनवा यह कह सकते हैं कि जिसको हम क्षीत और उप्य कहते हैं वे पदार्थ भूतार्थिक क्षीत हैं अथवा भूतार्थिक उप्य हैं। बर्कसे क्षीत उप्य वह एकही पदार्थ है परंतु भूतार्थिक अर्थोक्त भेद है। हम अपने क्षीरिका अन्त्यासु बर्कसे तो क्षीतत्व ही से कह भी नहीं दे सकते। इस विषे हमका भावत सहन करनेका अन्त्यास करना चाहिये जिससे अपने कर्तव्य कर्म करनेमें इनसे बाधा उत्पन्न न हो।

इसी तरह मान-अपमान होनेपर भी अपनी कर्तव्य कर्म करनेका मत दृष्टा नहीं चाहिये। मान होनेपर भयवृत्ति और अपमान होनेपर दुःखसे अपने कर्तव्य करनेमें छति नहीं होती चाहिये। इसका वह अर्थ नहीं कि आत्मसमान अपनी भाविक समान अथवा अपने देशके अंत्यासका भाव भी शोक देना चाहिये और कोई अपमान भी करे तो उसे चुपचाप सह लेना चाहिये। आत्मसमानका भाव सदा आत्मन

रक्षणाही चाहिये। जो अपमान करे उसका योग्य प्रतिकार भी करना चाहिये परंतु यह सब करते हुए अपने मनकी समता विचलित नहीं होनी चाहिये। मान अपमान, प्रमान समझनेका अर्थ यह नहीं है कि अपमानको भी विच्छिन्नताके साथ सह के परंतु अपने अच्छे कर्म करनेपर यदि कोय विधा भी करें तो उस समय उससे अपने शुभ कर्ममें बाधा नहीं होने देनी चाहिये।

सन्तुमित्रको समान समझनेका भी पदार्थ नहीं है। वस्तुतः सन्तु और मित्र समान कैसे हो सकते हैं? परंतु जो मित्र होता है उसके दोषोंको भी मनुष्य सूख जाता है और जो सन्तु होता है उसके गुणोंका भी प्यास नहीं रहता। इससे उच्छिन्नी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिसे बचनेके विषे सन्तु और मित्रको सम मानसे देखना चाहिये जिससे दोनोंके गुण और दोष हमारे सामने बराबरीमें रीतिसे, स्पष्ट रूपसे या भावों और हम उनका किसी तरह पक्षपात न करें। पक्षपातसे बर्था गुणदोषनिर्णय नहीं हो सकता।

इसी तरह अन्य इन्द्रोंका विचार करने उनके निष्ठ तरह समान मानना चाहिये इसका विचार कर लेना चाहिये। यह सम मान मनमें स्थिर हो जाय तो मनुष्य आपत्तिसे प्रभव भी अपने कर्तव्यसे प्युत नहीं होता। इसी स्थिर वृत्तिमें मनुष्यकी वृत्ति है इसविषे इन्द्रोंके विषयमें वह सम मानना मनुष्यके उद्धारकी साधक कही जाती है।

इतिश्रव्य और स्थिरमति के नामके गुण भी इसी समान मानके साथ रहनेवाले गुण हैं। इन्द्रसे मन विचलित न होवनी मति स्थिर हो सकती है और मनका विषय सुरक्ष रह सकता है।

समवर्तिव होनेका विचार पूर्व कर्ममें किया है। हर्ष, शोक मय और उद्वेगसे मुक्त रहना भी मन्मथीन इतिश्रव्य साधक है। अधिक हर्ष हो बहुत शोक आत्मान अन्त्यधिक मन छेदे तो मनुष्य तन्त्राक मर भी जाता है कभी कभी पात्रक हो जाता है। इसविषे हमसे बराबर नहीं होना चाहिये।

हर्ष शोक मय और उद्वेगसे लोगोंको सहन करके अपने धार्मिक कर्तव्यसे पक्षपर स्थिर रहना चाहिये। मनुष्य शोध और मयको जीव सकता है। विश्वसमय शोध करने लगाता है उस समय उसे सुनिष्ठ रीत्येका अन्त्यास करनेसे अपना

कर रहा हो, केवल उसके नामका रूप करनेसे क्या होगा ? उसके उद्देश्य छोड़ नहीं होगा। जो कार्य वह करना चाहता है उसके उद्देश्य कुछकदमसे समझ करना उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना, उसके उपदेशानुसार चलना, उसका पक्ष बहनेका पक्ष करना वही उसकी सन्तोषकारी मति है। जो कोय महात्माओंके नामोंका 'अपत्यकार' करते हैं, परन्तु उनके उपदेशानुसार आचरण नहीं करते उनके अत्यन्तकारसे महात्माओंको मुक्त नहीं हो सकता। यदि वे उनके नामोंका अत्यन्तकार न करते हुए उनके उपदेशानुसार आचरण करें तो उनके अधिक लाभ होना। वही बात सब विमुक्तिमें विद्यमान है। इससे भक्ति किन्तु तरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है।

मन्त्रिका जन्म सेवा है। महात्मा जो कार्य करना चाहते हैं उसको करना उसकी सहायता करनाही सेवाका कार्य है। विमुक्ति क्या चाहती है ? समझनेकी तथा दुर्लभ विद्या और भर्त्सकी प्रत्यापना ये तीनोंही कार्य करनेके लिये विमुक्ति वा महात्मा लोग इस जगत्में जाते हैं। इस तरहके जो कार्य वे करना चाहते हैं उन कार्योंमें जिसका फल करनेसे हो सकता है उसका करनेका नामही उनकी सेवा अथवा भक्ति है।

कीर्ति कीर्तियोंकी भक्ति करनी चाहिये इसकी बात धर्ममें रखनेसेही भक्ति किन्तु तरह करनी चाहिये इसका निर्णय हो सकता है। अपने मातृका आत्माकी विधुतिमेंकी पूर्तिमेंकीही भक्ति करनेकी योजना यह हुई उसके प्रत्यक्ष आधारका महत्त्व कुछ हो गया है। विमहात्मायका कार्य जिसकी विमता है और कीर्ति-संग-विधुतिमेंकी भक्ति के अन्तर्गत हो सकती है। यह मातृका अन्तर्गत सब बात होगी उसी सब प्रकारकी भक्ति लोग मार्गके हो जाती है। मातृका एक भाग रहा है और दूसरा बंध हुआ है।

वर्तमान प्रत्यक्ष विमुक्ति-धीकृत्य समान-के सत्य करनेके क्या कारण, समझना, दुर्लभ-विद्या और भर्त्सनायका कार्य किया। उस समयके अन्तिमुद्देशमें वन्ति अथवा धीकृत्यके द्वारा अपना कार्य किया। विमुक्ति-एवा किन्तु तरह करनी चाहिये इसका यह उद्देश्य है। इसका भी भक्त था। उसने श्रीरामचन्द्रकी सेवा उनके समझ की अपरिचितानुसार करनेके कार्यका प्रमुख भाग उसने अपने ऊपर किया और उसे निभाया। यद्यपि वे उद्देश्य सभी जानते हैं, परन्तु सेवा करते नहीं। इसकाही परन्तु विद्वद्गी करते हैं। इस समय जो बड़े पुण्य राष्ट्रीय समझदार, समझदार कार्य सर्व मामलोंके दित करनेके कार्य, मातृकी उचितके प्रत्यक्ष कर रहे हैं वन्ति अपने आपसे समर्थित करवाही सत्य भक्ति है। सेवाका वही भक्ति मुख्य है।

विमुक्तिपूर्वका तथा वीरपूजाका विचार छोड़कर जब विश्व की विचारमात्राकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है, तब तो (सर्वभूतहिते रता) जब प्रार्थनाके दितमें मान्य माननेका कार्य स्वही हो जाता है और सब प्रार्थनाके दितके कार्य करवाही प्रत्यक्ष भक्तिका मार्ग है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। विद्वत् लोग विचारियोंको विद्या पढाकर देश और जनता को रोगियोंकी चिकित्सा करने सभी कोय विवेकी सहायता करके, तथा अन्त्यात्म कोय अपने हस्त कार्यके सर्व भूतोंका दित करने करने सभी सर्व भूतोंका दित हो सकता है। सर्व प्रार्थनाके दितके कार्य करना ही प्रार्थना भक्ति है। मातृकाकी भक्तिसे वह प्रत्यक्ष फल हट गया है, इसलिये सर्वभूतहितकी भावना इस भक्तिसे नहीं हो रही है।

प्राक्त भक्तकीवही इस भक्तिपर वर्तमान विचार करें प्रत्यक्ष करें और सब प्रार्थनाके दित करनेके जो जो कार्य करनेके हो सकते हैं वन्ति अवश्य करें। इसी भक्तिसे परमात्माकी वीरुति हो सकती है और सबका कल्याण भी इसीसे हो सकता है।

बारहवें अध्यायके सुभाषित

(१)

सर्व भूतोंका हित करनेके उपाय

सधियन्प्रेम्निप्रियप्राप्त सर्वत्र समनुयया ।

ते प्राप्नुयन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(मी ११।७)

जपने इन्द्रियोंका समन करने सर्वत्र सम हृदि रहकर जो साधक सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं वेही ईश्वरके प्राप्त होते हैं ।

(१) इन्द्रियसंयम करनेके (२) सर्वत्र सम हृदि रहने के और (३) सर्व भूतोंका हित करनेमें तत्परता जतन करनेके परमेश्वरकी प्राप्ति होती है । ईश्वरको प्राप्त करनेके ये साधन हैं ।

(२)

अभ्यक्तासाक्षिसे मायिक क्लेश

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामभ्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अभ्यक्ता हि वसितुर्गुणं देहबन्धिरबाण्डवः ॥ (११।८)

जो लब्धकभी उपासमानें चित्त बनाते हैं उनके बलव क्लेश हो सकते हैं । देहबन्धी व्यक्तियोंके लब्धकमें बलि लब्धव कहचेही हो सकती है । इसलिये लब्ध उद्युक्त कभी उपासना करना योग्य है । क्योंकि देहबन्धी मनुष्योंमें दुष्टी उपासना होना बलवत करिब है ।

(३)

व्यागसे शांति

व्यागाच्छमस्तिरमन्तरम् । (मी ११।११)

“ लब्धके व्यथित भांति निकटी है । जहाँ व्याग वर्धित रहता था वही है वहाँ कांति-सुख भी वहीं निकल सकता ।



वारहर्वे अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मक्ति-योग	७३९	इच्छाका प्रथम	७५३
(१) श्वेत मल्ल श्रेष्ठ है ? (श्लोक १)		प्रकल्पागते धाम्नि	"
उपाध्व्येके हो मेह		(१) श्वेत मल्ल (श्लोक १३-१०)	७५४
अध्वकलपी उपाध्व्ये		१ अश्वे	७५५
अपाध्वर युक्तोचन	७४	२ श्वेतः	
(१) श्रेष्ठ मल्लोके छद्मत्व (श्लोक १)		३ कलः	
बाधुदेव सप्त कुल है	"	४ विर्मयः	"
श्रेष्ठ मल्ल	७४१	५ अविच्छेदः	७५६
रामकृष्णादि विमूर्तिर्वा	७४२	६ विरहकलः	
अगुण मक्ति		७ अलंकारे अन्तुः अन्तुः दोषकेनचित्	
विराट् युक्तके रूप		८ अक्षरेणः	
परमत्माका अगुण विमल्ल	७४३	९ अलंकारः	"
(१) मल्लकके उपाध्व्ये (श्लोक १-५)	७४४	१० अलंकारः	
मूर्तिपुत्रा अध्वक उपाध्व्ये	७४५	११ अलंकारः	७५७
दोषकाक्ष	७४६	१२ अलंकारः	"
आत्मकाक्ष	"	१३ अलंकारः	
विमल्ल मार्ग	७४८	१४ अलंकारः	
इय अलंकारके रूप		१५ अलंकारः	
अलंकार सप्त कुल, सप्त अलंकार	"	१६ अलंकारः	
इय अलंकार अलंकारके रूप	७४९	१७ अलंकारः	
(४) अलंकारके अलंकारके रूप (श्लोक १-८)		१८ अलंकारः	७५८
अलंकारा विमल्ल मार्ग		१९ अलंकारः	"
विमल्लाप अगुण रूप	७५	२० अलंकारः	
(५) अलंकार-योग (श्लोक १)	७५१	२१ अलंकारः	
अलंकारयोग		२२ अलंकारः	
अलंकारयोग		२३ अलंकारः	
अलंकारयोग		२४ अलंकारः	
(१) अलंकारके अलंकार के रूप (श्लोक १-१०)	७५२	अलंकार अलंकारके रूप	७५२
(७) अलंकार के रूप-अलंकार (श्लोक ११)		अलंकारयोग	
(८) अलंकारके अलंकार (श्लोक १२)	७५३	बाधुदेवका रूप, अगुण उपाध्व्ये	
		अलंकारके रूप, अलंकार विमूर्ति-रूप	७६
		अलंकार के रूप	७६१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रत्यक्ष विभूतिर्वा	७११	सुख	७७
गुणरूप विभूतिर्वा प्रत्यक्षवा		स्वभावहारकी सिद्धि	"
व्यासनामी-रीति	७१३	कष्ट	"
सुनिर्वाक्य स्वतः		मित्रता और दया	"
ममत्व		ममत्वमत्त्व	७७१
हमसंबंधा अनुभव	७१४	अ-मिच्छा	"
विगुणमत्त्व प्रकृतिमें ईश्वरका प्रत्यक्षत्व		मुक्तपोषणमें बाधा	"
बीजित विभूति-पूजा	"	कर्मफलवाद और अर्थगुण	७७२
प्रत्यक्ष रूप प्रत्यक्ष स्वीकृति	७१५	पूरी और अविच्छेदनी	"
सर्वज्ञ-हितके कार्य		उपचयन वस्तुमा	"
सम दृष्टि	७१६	सम-वृत्ति	७७३
दो प्रकारके व्यापक	"	कृपित और दया	७७४
अकर्मयोग		अभिन्न स्वरूप	"
यत्नके कष्ट	७१६	अभिन्न कार्य सेवा	७७५
सैरी संपत्तिके कष्ट		सर्व वृत्तिहरण	"
विशेषज्ञके कष्ट	७१७	बारहवें अध्यायके सुभाषित	
देवाधुरमार्ग		(१) सर्वभूतोंका हित करनेसे उन्नति	७७६
मित्रतावशा	"	(२) अन्वयप्रसिद्धि के अधिक श्रेष्ठ	"
वातवत्त्व अथवा वायु	७७	(३) व्यापके अग्नि	"



अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोगः ।

(१) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार

श्रीमद्भगवानुवाच—

इदं धरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतयो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यच्चज्ज्ञानं मत्तं मम ॥ २ ॥

अन्वयः— श्रीमद्भगवान् उवाच— हे कौन्तेय ! इदं धरीरं क्षेत्रं इति अभिधीयते । यः पृथक् वेत्ति तं क्षेत्रज्ञः इति तद्विदः प्राहुः ॥ १ ॥ हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु मां अपि च क्षेत्रज्ञं विद्धि । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं त्वत् (२४) मम ज्ञानं मत्तं (भक्ति) ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवान् बोले— हे कुन्तीपुत्र भर्तृन् ! इस धारोत्तको क्षेत्र कहते हैं । जो इसे जानता है, तत्त्वज्ञानी लोग उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ १ ॥ हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें रहनवाले मुझे (ईश्वरको) व क्षेत्रज्ञ समझ । जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही मेरा ज्ञान है ॥ २ ॥

भावार्थ— हम करीबन नाम क्षेत्र है और जो इस क्षेत्रको जानता है, उसका नाम क्षेत्री जाननेवाला है । ईश्वर सब क्षेत्रोंमें रहता है और सब क्षेत्रोंको पचावत् जानता भी है । जो इस क्षेत्र और क्षेत्रीबादकी विद्या है उसीको सत्य ज्ञान कहना योग्य है ॥ १-२ ॥

क्षेत्र और क्षेत्री करनेवाला

(१-२) इस अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्री करने-वाला इस दोनोंका विचार किया है । इसलिये इस अध्याय का नाम क्षेत्र+क्षेत्रज्ञ+विभाग योग है । क्षेत्र और क्षेत्री करनेवाला कृपिवक्ता इस दोनोंका योग उत्तम रीतिसे किस तरह हो सकता है इसका विचार हम अध्यायमें है । क्षेत्र कीवला है इस बातको उत्तम उपमाके किये बनाया जा सकता है और क्षेत्रको उत्तम काव् आदि न देखेके किये उसकी बरबात हो जाती है किन्तु अपने क्षेत्रको सर्वोत्तम उत्तम उपमाके किये बना सकता है । कृपिवक्ता अपने क्षेत्रको किस तरह जाने और पहचाने वह उस क्षेत्रमें किस प्रकारका बीज बोने कीवला भाग्य किस तरह वाके बीजसे कुछ किस तरह कपावे और उसकी वृद्धि किस रीतिसे करे ? अपने क्षेत्रमें किसकी उपपत्ति होने न दे अपने क्षेत्रके उत्पन्न हुए भाग्य एक पुत्र आदिकी रक्षा केले को और अपने किस प्रकार अपना काम धारण करे ? ये सब विचारोंमें बड़ा उपपत्ति है ।

क्षेत्र

यहाँ क्षेत्र कीवला है ? इनारा (इदं धरीरं क्षेत्रं) वह धरीरही क्षेत्र है, वह धरीर छोटासा हीलका है परन्तु इसमें बहुत प्रकारके फलफूल और सब उत्पन्न होत है । इसमें जो वस्तु कोई जाने उसीकी उपपत्ति होती है । पादक इस अपने क्षेत्रकी महिमा समझे और उसकी योग्यतापर ध्यान दे । यह क्षेत्र बहुत फल देनेवाला है । जिनमें कालेसे नर नारायण नम सकला है । अतः इस क्षेत्रको अच्छी तरह संभालकरा सर्वोत्तम जावश्यक है ।

कृपिवक्ता

(पृथक् पा वेत्ति च क्षेत्रज्ञः) जो इस क्षेत्रका जानता है अपनी जिसके पास वह क्षेत्र है उस क्षेत्रज्ञ कहते हैं । अपने क्षेत्रको पचावत् जाननेवाला कितान होना चाहने । अपना क्षेत्र किसका है उसमें क्या पैदा होता है और क्या पैदा नहीं होता, इसके धनु और निश्र काम है इसके क्या काम हो सकता है, इत्यादि बातोंका निश्चय पका नहीं है वह उस क्षेत्रको पूरे काम नहीं उपा सकता ।

कदा: केतके स्वामीको अपने केतका ज्ञान अवश्य होना चाहिये ।

वहाँ वह 'केत' है और आत्मा क्षेत्रज्ञ है । आत्माही वहाँका किसान है । अतः देहवासीको अपने देहका ठीक पता अवश्य होना चाहिये । देहकमी क्षेत्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक देहवासीका मुख्य कर्तव्य है ।

(एवमेवेष्टु क्षेत्रज्ञं नो विधिः) एवं क्षेत्रज्ञेति मैत्री क्षेत्रज्ञं ह । वहाँका मैं जगत् ईश्वरवाचक है । एवं शरीरेति ध्यात इत्यत्र वहाँका ठीक ठीक ज्ञान स्वप्नेवाला एकमात्र ईश्वरही है । प्रत्यक्ष वहाँ विश्वकमी ईश्वर का ध्यान करें । विश्वकमी ईश्वर विश्वकमी सर्वत्र विरहोको यथालब्ध वाक्य है उसको कुछ भी अज्ञात नहीं है ।

जब वरकम नारायण अपना पुस्तकका पुस्तकोत्तम होता है उस समय वह भी अपने आपको महामोक्षज्ञ मान सकता है । इस अवस्थामें वहाँका मैं जगत् ईश्वर वाक्यको किये भी माना जा सकता है । जिस समय साधक जगत्मात्रासे युक्त हो जाता है और उठे ऐसा अनुभव होता है कि मैं विश्वकमी पुस्तक नहीं हूँ उस वही (सर्वमेवेष्टु क्षेत्रज्ञः) एवं क्षेत्रज्ञेति क्षेत्रज्ञ कहना सकता है और उस समय जगत्मात्रासुक्त वह मनुष्य एवं क्षेत्रज्ञेति मैत्री क्षेत्रज्ञ हूँ ऐसा कह सकता है । क्योंकि जगत्मात्रा होनेपर वहाँ द्वारा कोई भाव अवधि रहवाही नहीं ।

इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है । यही ज्ञान ईश्वर मनुष्यको कल्पनेयोग्य है । वही सच्चा ज्ञान है । इससे भिन्न सब अज्ञानही है । अज्ञान का मिथ्या ज्ञान मनुष्यका नाश करनेवाला है । मानवोंकी धर्मा उन्नति करनेवाला तो वही एकमात्र ज्ञान है । वही सत्य तथा आनन्दक ज्ञान जगत्मात्र जीवन्मुक्त वहाँ का रहने है ।

मैं ज्ञान कहता हूँ ऐसा कहकर श्रीमद्भागवद्गीतामें नाम स्थानपर कुछ विवेक ज्ञानोपदेश किया है । ये चारों स्थान पाठ्य वहाँ देखें—

(१)

ज्ञान तऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यथोक्ता ।

पद्मसूता मेह भूयोऽप्यज्ञातम्यमवशिष्यते ॥१॥

भूमिरापोऽनखो वायुः क्षमनो बुद्धिरिव च ।
अहंकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरहदा ॥४॥
अपरेपमितस्त्वय्यां प्रकृतिं विधि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो वन्दे धर्म्यते जगत् ॥५॥
एतद्योगीनि भूताणि सर्वाण्यस्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्थ जगताः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
मत्तः परतरं नाभ्यर्त्तिकश्चिदस्ति धर्मजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सुखे भविष्यादा इव ॥७॥

(गीता व ७)

मैं विज्ञानमहित वह ज्ञान एवं तीक्ष्ण पुस्तके कदा हूँ कितने जावनेके पत्राल कुछ भी ज्ञानयोग्य अवधि नहीं रहता । वंच महाशुल मन बुद्धि, अहंकार वह जगत्मात्रा प्रकृति और जीवकम स्वप्न प्रकृति विज्ञान तो प्रकाशकी ईश्वरीय प्रकृति है । ईश्वरकी इसी वरवि प्रकृति से एवं मूल सत्य होते हैं । ईश्वरकी वाक्यका उत्पत्ति स्थिति-कम करनेवाला है । जैसे सुखमें मति होते हैं उसी प्रकार विज्ञानमैं वह सब विधि है ।

जिस प्रकार शरीर और आत्मा हैं उसी प्रकार जगत्मात्र और पुस्तक हैं । इन्हींसे सबकी उत्पत्ति स्थिति और रूप होता है । अर्थात् सम्पूर्ण विश्व इन्हींसे बना है । इसी उप देवता धार (गी व ७-११ में) वासुदेव सर्वम् एवं कुछ वासुदेवही है इस समयसे विज्ञान मया है ।

(१)

द्वारा ज्ञानोपदेश वरम ज्ञानमैं हुना है । वह भी देखिये—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यस्मात्ता मोक्षयतेऽधुनाम् ।
मया तत्तमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वाभूतानि न चाहं तेभ्यज्जिह्वा ॥४॥
प्रकृतिं स्वामपद्यम्य विद्युज्जामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवर्णं प्रकृतेर्ब्रह्मा ॥८॥

(गीता व ९)

“ मैं वह विज्ञानमहित गुह्य ज्ञान तुम्हें कहता हूँ । इसके ज्ञानसे जगत्मात्रा मति नहीं होती है । अपनी (वरवा) प्रकृति का नाश करके ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति करता है । मैं सब मूल उसमें हूँ परन्तु वह इसके ज्ञानसे नहीं है ;

(२) क्षेत्र और क्षेत्रशक्ति प्रभाव

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभाष्य तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
अविमर्शद्वा गीत छदोमिविविधैः पृथक् । अथासूत्रपदैर्यैव हेतुमन्निर्दिनिश्चितैः ॥ ४ ॥

सम्बन्धः— एष्य क्षेत्रे यत् च, सादृक् च यत्किमपि (च), यत्तः च यत्, सा च ना, यत्तु समाना च (जलित) एष्य, (यत्) समान्येन मे श्रुता ॥ ३ ॥ (इदं ज्ञानं) आपिभिः बहुधा, तथा विविधैः कर्मोभिः पुनश्च हेतुमन्निः विविचिन्तेः प्रसूतवर्गैः च गीतं एष ॥ ४ ॥

वहाँ भी नहीं बात पुकाराई गई है। एक प्रकृति है, दूसरा पुष्प। पुष्प प्रकृतिमें प्रेरणा करके सब विचरती रहता करता है। इस तरह दूसरोंकी प्रकृतिसे निज हृत्त विचरमें और कुछ भी नहीं है। दूसरीय प्रकृतिवर्ती ये निमित्त कर रहे। वहाँ प्रकृति है वहाँ पुष्प है और वहाँ पुष्प है वहाँ प्रकृति है। जहाँ इस (गी. ११८) रहने-के समानही प्रकृतिमें पुष्प है। इसीलिए वास्तुदेवकी सब कुछ है वही पक्ष वहाँ इतराया गया है।

(2)

सिखरी वार हूँ (१३ में) अण्वाचमें श्लोक और श्लोक
कर्मणि वही शब्द कहा जा रहा है। वहाँ श्लोक 'प्रकृति' और
श्लोक 'अण्वाच' नाम है। प्रकृति-पुरुषके समावही वह
कर्म है, परन्तु कर्मोंका भेद है इसमें इसकीही विशेषता
है। इसका विशेष कर्मण् हूँ अण्वाच (१३ में) श्लोक
५ के ११ तक आनेवाला है। अतः हम विषयमें वही
वर्णिक किशोरी आनन्दकता गयी है।

(*)

पैरहों बन्धनमें भी बड़ी उन्नत काम किया करता था।
 है वह भी संक्षेपसे बड़ा प्रहस्य है—

परं भूयाः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
 यथाज्ञात्वा मुक्तयः सर्वे परां सिद्धिमिहो गताः ॥
 मम योगिर्माह्वयः तस्मिन्ममैव ब्रह्मण्यहम् ।
 संमथा सर्वभूतानां ततो मयति मारुत ॥१॥
 सर्वयोगिषु कीर्त्येव मूर्तयः संमथन्ति याः ।
 तासां ब्रह्म महद्योगिरिव धीरमवः पितरः ॥ ४ ॥

(गीता ७-१४)

उक्तप्रमाणे उक्तप्रमाणे ज्ञान प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार ही
 सब सुविधें प्राप्त हैं। इस प्रकार ही सब सुविधें प्राप्त हैं।
 हे प्रिय है। इस प्रकार ही सब सुविधें प्राप्त हैं।
 बलवत् होती है। सब सुविधें प्राप्त हैं।

होते हैं जब उनकी उत्पत्ति वह मनुष्यिणी है। इसमें
बीज एकात्मिका परम पिता परमेश्वरही है।

प्रकृति और पुनर्वसु मिश्रित बिज उत्पन्न होता है यह जावही बहारा कहा हुआ उल्लेख था। अर्थात् पारो स्थानों में एक ही जगह है, उसका तालमेल यही है कि एक सर्वव्यापी ईश्वर है उसकी प्रकृति भी प्रकार की है ईश्वरी शक्तिसे प्रकृतियों बीजाधारणा होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति होती है । हम सृष्टिमें जो कुछ भी देखते हैं वह सभी का माँ । दोनों ही उत्पत्ति प्रकृतियोंने ही और सबसे बड़ी विशाखा सुचक्रणमें स्थित है । विशाख्याके आधारस्थिति पर सब सृष्टि है जैसे मानको मणि सूत्र के आधार से घूमे रहते हैं, वेधेदी लक्ष्यमानके आधार से वह सब सृष्टि है ।

इस अभ्यासमें यही ध्यान क्षेत्र और क्षेत्रकी संज्ञाएँ
 कहा गया है। यही क्षेत्र नाम मञ्जुशिका है और क्षेत्रक
 नाम आत्माका है। आत्माही इस मञ्जुशिकी क्षेत्रको अपने
 नाम है। यह इस मञ्जुशिकी नामका है उसमें जो चाहे वह
 विमान करता है, सबके मन्त्रको पुनर्वास करता है और
 देश प्रदान करता है।

हम जगन्नाथके प्रारंभमें कई लोग इस स्तंभका पत्थर करते

धर्मार्थ उपाय—

प्रकृतिं पश्यन् यैष सोऽथ मोक्षवाप्येव च ।

एषोषितमिच्छामि धानं वेपथुकेषाञ्च ॥

वर्ष— बहूबन्धने पूजा कि— मुझे प्रकृति पुनर शेष
 शेषका काव और शेषके बाजनेकी हृष्टता है जो वरकामो।
 परन्तु सब आत्मकार हम शेषको प्रशिक्षित मानते हैं अतः
 हम भी इसको शेष केते हैं। अस्तु ।

हम क्षेत्रक स्वरूप क्या है और क्षेत्रकका प्रभाव क्या है यह देखिये—

यह क्षेत्र क्या है, यह किस प्रकारका है इसमें कीमसे विकार हो जाते हैं, इसमें कहाँसे क्या हो है यह क्षेत्र कीन है और उसका प्रभाव क्या है, यह सब पुरुषसेपसे मुखसे सुन ॥ १ ॥ यह १ अध्यायोंमें अनेक प्रकारसे, तथा विविध छंदोंमें पृथक् पृथक् और हेतु दिखाकर निश्चित मर्मबाह्य प्रत्यक्ष के पक्षोंसे भी गाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— इस क्षेत्रका स्वस्व क्या है यह क्षेत्र किस प्रकारका है, इसमें कीमती विकृतिवा होती हैं, इसमें कि कारखसे क्या गुणदोष होते हैं, यहाँ इस क्षेत्रको जाननेवाला कीन है और उसकी शक्ति क्या है यह सब हम चाहिये । यही ज्ञान है और इच्छेदी कृतिप्रतिबन्धि विविध छन्दोंद्वारा दर्शाया है तथा कार्यकारण दर्शाकर विविध किम बतानेकर प्रत्यक्षस्वस्वका निर्णय करनेवाले भाषणोंमें भी यही वर्णित हुआ है ॥ १-४ ॥

(१-४) यह क्षेत्र क्या है अर्थात् इसका स्वस्व क्या है कहाँसे कीमते हैं, यह किस प्रकारका है इसमें अन्तर्गत क्षेत्र किमते हैं और इस क्षेत्रमें विकार क्या होते हैं ? इसमें कीमसे परिवर्तन हो जाते हैं और ये परिवर्तन किस तरह होते हैं ? उसमें किससे क्या होता है ? इतने प्रश्न क्षेत्रके सम्बन्धमें यहाँ पूछे गये हैं । इन्हीं सब प्रश्नोंका विचार यहाँ करना है ।

इसी तरह यहाँ क्षेत्र कीन है और उस क्षेत्रका प्रभाव क्या है ? उसका प्रभाव यहाँ कैसे अनुभवमें आ सकता है ? यह संक्षेपसे इस अध्यायमें देखा है । जो ज्ञान और विज्ञान करके कहा जाता है वह यही है । अनुभवको वह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और इस ज्ञानका उपयोग अपने जीवनमें करना चाहिये । इसलिये अनुभवकी प्रारंभिक आशुमें वह ज्ञान हमको प्राप्त करही देना चाहिये । प्रारंभिक आशु प्रत्यक्षपरिचयकी होती है इसमें विद्यापचयनका काम २५ वर्षकी आशुतक माता है अर्थात् आठवें वर्ष उपनयन होकर गुरुगृहमें प्रत्यक्षी जाता है और यहाँ १६ वर्ष १६कर १५ में वर्ष विद्या प्राप्त करके वापस आता है । इस काममें जो ज्ञान उस प्रत्यक्षीको मिलता है वह क्षेत्र और क्षेत्रका ही ज्ञान होता है । प्रकृति पुरुष रूपक मूलम देव देही अपरा और परा प्रकृति इस तरह अनेक छन्दोंद्वारा एकही भाव बताना आता है । प्रकृति की विद्या और पुरुष की विद्या वेही सम्बन्धन करनेयोग्य विद्याएं हैं और जो भी कुछ बताना आता है वह इसीक सम्बन्धित होता है ।

आमदक अनेक ज्ञान बहुतही उलट हो गये हैं परन्तु ये ज्ञान प्रकृतिविद्याकी अन्तर्गत हैं । प्रकृति के अर्थको

क्षेत्र जानते हैं और उसका एक ज्ञान क्या देते हैं । जब विद्याएं कियीं भी हों उनका समावेश प्रकृति-पुरुष-विद्या सम्बन्धी हो जाता है । क्षेत्रक्षेत्रज्ञक ज्ञानमें सब ज्ञान ज्ञान समाया हुआ है, वह बात मुझकी यही चाहिये ।

अतिमिर्बहुधा शीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्

अनेक कृतिबन्धि विविध छंदोंद्वारा एक एक पुरुष, जो प्रकारसे इस ज्ञानका वर्णन किया है । अनेक प्रकारसे और विविध अर्थ रचे गये हैं और पक्षोंकी सुविधासे नि निषाके अवैत अर्थ प्रसंग निर्माण किये गये हैं ।

प्रत्यक्षमें भी हेतुपूर्वक विविध भासन प्रकृति ज्ञाने वाहरावपने कई प्रकार रचे हैं । इस प्रकार अनेक कृतिबन्धि विविध ज्ञानोंद्वारा इसी क्षेत्र और क्षेत्र ज्ञानका विस्तार किया है ।

वेद-शास्त्र-पुराण-दर्शन तथा अन्त्यात्म ज्ञान जो भी प्राप्त करते हैं वह इसी क्षेत्रक्षेत्रज्ञकी प्रतिबन्ध है जो जो अर्थ विविध शास्त्रवैविध्यके किये बताने आ रहे और बताने जायेंगे उनमें भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी निप होगी ।

परन्तु यहाँ इतनाही समझना चाहिये कि प्रकृतिविद्या ज्ञान हम समय बहुत बड़ रहे हैं प्रकृतिविज्ञानों बहुत प्रगति हो रही है और ज्ञानमविद्या की ओर प्रगति कम है तथापि जो भी कुछ जागरूकता हो रही है वह प्रकृति पुरुष ज्ञान क्षेत्रक्षेत्रज्ञक सम्बन्धमें ही हो रही है । इसी विचार रखिये—

(२) क्षेत्रका स्वरूप

महाभूतान्तरकारो बुद्धिरभ्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेपं सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः । एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अव्ययः— महाभूतादि अन्तरकारः बुद्धिः अभ्यक्त एव च पञ्च इन्द्रियाणि च एकं (मयः) इन्द्रियगोचराः पञ्च च
इच्छा द्वेपः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः एतत् सविकारं क्षेत्रं (मया) समासेन उदाहृतम् ॥ ५-६ ॥

पञ्च महाभूत अन्तरकार बुद्धि (महात्) अभ्यक्त (प्रकृति) पञ्च (सूक्ष्म) इन्द्रियाणि एक मन, तथा
पञ्च विषय इच्छा द्वेप, सुख दुःख संघात, चेतना और धारणा शक्ति (यह इच्छासप्त प्रकारका) यह
संघटने सविकार क्षेत्रका वर्णन है ॥ ५—६ ॥

भाषार्थ— बुद्धि ही ज्ञान, वेद बाहु आकाश ये पञ्च महाभूत, अन्तरकार बुद्धि अभ्यक्त प्रकृति, पञ्च सूक्ष्म इन्द्रिय-
गोचरी (पञ्च इन्द्रियाणि और पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मिश्रकर) एक मन सत्त्व स्वर्ग रूप रस गन्ध ये पञ्च विषय इच्छा
द्वेप सुख दुःख संघात अर्थात् संघटा समूह चेतन्यशक्ति ज्ञान धृति अर्थात् धारणाशक्ति यह इच्छासप्त प्रकारका क्षेत्र
है । इन्हीं और भी विविध विकार होते हैं । इनका बहुत वर्णन हो सकता है परन्तु यहाँ नाममात्र उल्लेख किया गया
है । वस्तु हर एक विभागका विशेष विचार करके विवेक ज्ञान प्राप्त करें ॥ ५-६ ॥

क्षेत्रका वर्णन

(५-६) पृथ्वी जल तम वायु आकाश ये पञ्च
महाभूत, अन्तरकार बुद्धि अभ्यक्त प्रकृति, नाशिका रसना,
नेत्र तथा और कई ये पञ्च इन्द्रियाणि; हाथ पञ्च सुख,
दुःख और गुदा ये पञ्च कर्मेन्द्रियाः मन; संघ रस रूप
स्पर्श धम्य ये पञ्च विषय; इच्छा, द्वेप सुख दुःख
संघात चेतना और धृति (धारणाशक्ति) ये सप्त भाग
मिश्रकर इच्छासप्त प्रकारका क्षेत्र है—

पञ्च महाभूत	५
अभ्यक्त बुद्धि अन्तरकार	१
कर्मेन्द्रियाणि	५
विषय	५
इच्छाद्वेपधृति भाग	३

मिश्रकर ३१ प्रकारकी प्रकृति है ।

एही प्रकृतिको क्षेत्र प्रकृति घर जगि अनेक नाम
दिने हैं । यह (धारिकां क्षेत्र) विभक्तिमुख क्षेत्र है ।
विभक्ति विकसता अने परिवर्तन बहुत डेरकर है । इनका
एक दूधोवर वसिष्ठमान होता है और परिवर्तन होता है ।
ये क्षेत्र विभक्ति अने विभक्तिके गीली हो जाती है और
यह रस रसि रसनेसे घटता भी प्राप्ति हो जाता है ।

इसी तरह सुखे सुखकाइको अग्नि जगनेसे यह रूप जाता
है । गीला रस वायुमें रसनेसे सूख जाता है । किसी
स्वामनें जल हो तो कुछ दिनोंके बाद यह सूख जाता है । कुछ
बढते हैं और सूख भी जाते हैं । इस रीतिसे अनेकानेक
परिवर्तन बढा हो रहे हैं । येही विकार हैं ।

सत्त्वपूर्ण चक्षुमार्गमें ये विकार हो रहे हैं । (जागते)
हरक होजा है (अस्ति) है (बढते) बढता है, (विपरी
अवस्था) परिणामसे प्राप्त होता है (अवस्थीयते) क्षीय
होता है और (विवर्धयति) बढ हो जाता है । ये छः विकार
इस चक्षुमें हो रहे हैं । इन्में अवत भेद हैं और इन विकार
भेदोंका विरीक्षण करचही अनेक घास बने हैं ।

जैसे भूस्तराद्या, मृगर्भद्याद्य बाहुविद्या कवित्रद्या
आदि आद्य पृथ्वीक आद्य सम्बन्ध रखनेवाले हैं । जल-
विद्या जलधामविद्या गीताधामविद्या जलचिन्मिता रस-
विद्या, नीलचिन्मिता इत्यादि आद्य जलधामक आद्य सम्बन्ध
रखनेवाले हैं । अग्नि-विद्या विष्णुधाम, सूर्यकिरणचिन्मिता
वसुधैविद्या इत्यादि आद्य आग्नेय धामक आद्य सम्बन्ध
रखनेवाले हैं । वायुधामविद्या विमानधाम आकाशधाम,
वायुधामविद्या वायुधामविद्या आदिका सम्बन्ध वायुधाम
क साथ है । अक्षरधाम ध्वनिविद्या अक्षरधाम ध्वनिक-
विद्या गानविद्या वस्तुधाम आदि अनेक विद्याएं जल
क साथ सम्बन्ध रखनेके कारण आकाशधामक आद्य सम्बन्ध

ज्ञानके लक्षण

- १ बहिष्ठा कष्टरूप
- २ समाधिस्थ
- ३ अस्मिन्मय
- ४ क्षान्ति क्षमा
- ५ शान्ति सरलता
- ६ आचारमार्गस्थान गुह्यसेवा
- ७ शौच, सुखा, पवित्रता
- ८ स्वयं स्थिरता
- ९ अस्मिन्मय अस्मिन्मय, मनोविमल इन्द्रियदमन
- १० इन्द्रियाभ्यां वैराग्य भोगोंके विषयमें ब्रह्मस्थिता
- ११ अद्वैतपरः
- १२ कर्म क्लृप्त, बरा और व्याधिमें दुःखों और दोषोंके देखना
- १३ अस्तिक, अवास्तिक
- १४ पुत्र-दत्त-पुत्रादिमें (अनभिषेकः) मोह और ममता न रहना
- १५ दृढ-अभिमान सदा समचित्त होना
- १६ ईश्वरमें अन्वययोगके अन्वयविचारिणी भक्ति
- १७ एकान्त-शेवन करना
- १८ अस्मिन्मयमें आनेकी अक्षति
- १९ किंच अन्वयविचारमें मग्न होना
- २० एकान्तमें मोक्षरूप अद्वैतका दर्शन करना
- २१ दृष्टका नाम ज्ञान है।

१८ (ईं जी)

अज्ञानके लक्षण

- १ हिंसा, क्रूरता
- २ मायित्व बलवत्
- ३ अस्मिन्मय भ्रम
- ४ अस्मात् अस्मात्मान क्षमा न करना
- ५ क्रुद्धता, डेहापन
- ६ गुह्यके साध विरोध
- ७ अपवित्रता अक्षिप्तता
- ८ अचलता अस्थिरता
- ९ अद्वैतम स्वैराचार इन्द्रियोंकी अन्वयवृत्तकता
- १० इन्द्रियोंके भोगोंमें अत्यंत आसक्ति
- ११ अद्वैतपर
- १२ दुःख और दोषका विचार न करना
- १३ भावोंपर आसक्ति
- १४ पुत्र की पुरादिकोंपर मोहित होना स्वयं ममत्व रहना
- १५ दृढ-अभिमान अस्मिन्मय विषयविषय होना, दृष्टका भेद और अविज्ञान द्वेष करना
- १६ ईश्वरको न मानना अक्षय अन्वयभाव रहना सबको परस्परभिन्न समझना या तो अक्षिप्त न करना अथवा अविचारिणी भक्ति करना
- १७ एकान्त-शेवन न करना
- १८ अस्मिन्मयमें आनेकी क्षति
- १९ अन्वयवृत्तका विचार न करना
- २० एकान्त न सुनना और अक्षय अद्वैतका भी विचार न करना
- २१ दृष्टीका नाम अज्ञान है।

सब कम उछीके हैं और उछीके बिच-कपमें समाने हुए हैं। बिचकपसे थिच किसीका कम नहीं है। अतः उससे मुख-मासिकादि अवयव चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थानोंपर किया गया है।

विभ्रतश्चाधुस्त विभ्रतो मुखो

विभ्रतो बाधुस्त विभ्रतस्यास्त।

सं बाधुस्या धमति संपतनै

घांघामूमी जनपत्येव एका ॥ (आपेक्ष १ १४१३)

सब ओर कट्टु मुख बाधु और पांच हैं ऐसा एकही परमाहमदेव इस सब बिचका उत्पत्त्यक है। ' वहां भी वही बात कही है। जहां आपेक्षमें बिचका पर है वहां भी वही सर्ववः ' है और दोनोंका वर्ण एकही है।

(२) सर्वे आधुस्य तिष्ठति । (१३)

यह परमत्रा त्रिपके हाथ पांच मुख सब ओर हैं वह सब बिचको घेरे हुए है। कोई वस्तु इससे एकत्र नहीं है। इस बिचकी सब वस्तुओंको उसने घेर रक्खा है। इससे न घेरा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इससे कुछ भी एकत्र नहीं है इसीलिसे सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसके अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(३) सर्वेन्द्रियगुणामासं

सर्वेन्द्रियविधमिति । (१४)

सर्वे इंद्रियोंके गुणोंका आमास उसमें होता है तथापि वह सर्व इंद्रियोंसे रहितही है। इससे पूर्व कहा है कि सब ओर उसके हाथ पांच मुख कम बाक आदि अवयव हैं। इन सर्वत्र स्थित अवयवोंको देखकेदेही वह है ऐसा दिखाई देता है। यदि क्षान्तिप्रिया और कर्मेन्द्रियां तथा अन्तःकरण कार्य न करता जगत्में किसी स्थानपर इनका कार्य न दिखाई देता तो अत्रमात्रका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पांच आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आमास है यह बात सत्य है तथापि ये इंद्रियधराप्रकृतिही हैं। आज ई और कच नहीं रहोगी अतः उस अधरमें ये इंद्रिय ई ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसके धर इंद्रियोंके गुणोंका आमास होता है और इन आमाससे उसका प्राण भी होता है वह सत्य है। तथापि वह अक्षर तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहितही है। गुडका किडान गुडके आकारका नहीं होता तथापि गुडके रूपमें लूक आकारमें वह दिखाई

देता है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इंद्रियोंका आमास प्रतीय होता है, किन्तु उसके कुछ स्वस्वमें ये इंद्रिय नहीं हैं। उस भिन्नमें इंद्रियगुणोंकी आमासा भी कैसे मल्ल या सक्की है !

जैसे आकाश वटेमें कदाकार और चरमें गृहाकार दीकत है, परन्तु आकाशका कोई अपना आकार नहीं है। जैसे कर्मों से लक्षक्य हुआ दीकता है परंतु उसका भी कोई आकार नहीं होता। जैसे तेज दीपमें दीपकके आकारका दीकता है उसी तेजका स्वरं कोई आकार नहीं होता। अन्तही ज्ञान ही वहने कगी तो भी जैसे कल देहा नहीं होता तथा वह लक्ष मन आदि इंद्रियोंके कार्य करता हुआ दीकतेके कारण इंद्रियोंके गुणवर्णोंसे युक्त होनेके समान दीकता है कल्प वस्तुतः वह इंद्रियवर्णोंसे रहितही है। उपनिषद्में कहा है—

कतमा च आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राप्तेषु
ह्ययन्तर्ज्योतिःपुस्तकः स समाप्तः सधुमी लोका
वनुसंहरति ध्यापटीव लेखापटीव ॥

(ह उ ४१३०)

अपाणिपादो जघनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः श्रु-
त्तुष्णोत्पकर्णः । स वेत्ति वेद्य न च तत्साक्षि
वेत्ता तमाहुरण्यं पुस्तकं महास्तम् ॥

(ह्ये उ ३१२९)

जो प्राप्तिमें विज्ञानमय है वह हृदयमें अन्तर्ज्योति है तथा ज्ञान करता हुआसा वेदा करता हुआसा दीकता है। उसके हाथ पांच न होते हुए भी वह वेदाभा और लक्षके पकड़नेवाला है आंख न होते हुए भी वह सबको देखता है कान न होते हुए भी वह सब कुछ सुकता है वह सब जानता है परंतु उसको ज्ञाननेवाला कोई नहीं है। ऐसे पुस्तकके अग्रपत्र महात् पुस्तक कहते हैं।

वहां इंद्रियरहित होनेका उसका वर्णन है परंतु उही अत्रमाके कारण सब इंद्रियोंके कार्य करनेमें समर्थ होती हैं और इंद्रियोंके कार्य देखकर उस ईश्वरका अर्थात् अत्रमाका अनुमान होता है। इसलिये कहा जाता है कि सब इंद्रियोंके गुण-पणोंका आमास उस अत्रमामें है। सब इंद्रियोंके कार्य उसीसे हो रहे हैं तथापि उसमें कोई इंद्रिय नहीं है वह प्राण इस तरह स्पष्ट हो जाती है।

(४) अस्तपत्त (१४)

वह मध्य सर्वत्र है, तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है । जैसे सुवर्णका आभूषण बनावे जाने तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके अथवा उस आभूषणके साथ वह आसक्त नहीं होता । इसका वह आकार हूँ हुआ और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो भी उसे उसमें कोई रायदेय नहीं होता । इसी तरह वह भ्रष्ट मध्य सब जाकारोंमें समान अवस्थित होनेपर भी किसी आभूषणके साथ कियदा हुआ नहीं है वह किसीमें आसक्त नहीं होता ।

(५) सर्वभूत् (१४) भूतमर्तु (१५)

वह मध्य सब भूतोंका भरण-पोषण-धारण करता है उसीसे सबका भरण पोषण-धारण हो रहा है वही मध्य भगवान् भी नहीं पड़ें—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन
जातामि जीवन्ति । य प्रयस्यमिन्नविश्व
स्तीति तद्विद्विद्यासत्यं तद्विद्वेति ॥ (छं उ)

जिससे वे सब भूत बनते हैं जिससे बननेपर जीवित रहते हैं और विनष्ट होकर जिसमें जीव होते हैं वह मध्य है । यहाँ मिथिसे पटा बनता है मिथीके आधारसे रहता है और हृदयेपर उलझी मिथीही बन जाती है । तथा जैसे सुवर्णके आभूषण बनता है सुवर्णके आधारसेही वह रहता है और हृदयेपर सुवर्णकेही रूपमें परिणत हो जाता है । इसी तरह वे सब भूत मध्यसे बने हैं मध्यसेही इनका भरण-पोषण हो रहा है और अन्तर्गत् वे मध्यमेंही आसिद्धिने । इसलिये मध्यको सर्वभूत् सर्वात् भवका धारण-पोषण-धारण करनेवाला कहा गया है ।

(६) मिश्रण गुणमोषत् च । (१४)

वह मध्य मिश्रण है परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है । वह मध्य स्वयं धार-रक्त-काम आदि गुणोंवाला नहीं है तथापि इन गुणोंका भाग उसमें होता है । जैसे आभूषणका मध्य सुवर्णमें होता है, सुवर्ण उस आभूषणको धारण भी करता है परन्तु आसक्तमें देखा जाय तो सुवर्णका आभूषण-क साथ कुछ भी संबंध नहीं है । ऊपर भोग और मोह के धार-रक्त-कामके गुण हैं, वे विषयकमें मध्यपर शीघ्रत हैं, मध्यक काम उदीक आधारसे रहते हैं परन्तु वस्तुका वे रखते वा रखते नहीं हैं ।

(७) भूतानां बहिः भग्नाः च । (१५)

वह मध्य सब भूतोंके अन्तर और बाहर है । 'अर्थात् वह सबमें व्याप्त हुआ है, सबके अन्तर बाहर और बीचमें अर्थात् सर्वत्र है । एक अणुसे भी ऐसी नहीं है जहाँ वह न हो । जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या स्थूल उसीसे व्याप्त है, उसके अन्तर बाहर वही व्याप्त हुआ है ।

(८) तत् तूर्य्यं भान्तिके च । (१५)

वह मध्य दूर भी है और पास भी । सर्वव्यापक होनेका ही वह बन्धिका स्वरूपक है । जो जानते नहीं उनके लिये वह बहुत दूर है, परन्तु जो जानते हैं वह उनके निकटतम निकटही है । अर्थात् वह स्थानसे भी दूर और पास है और ज्ञानसेभी दूर और समीप है ।

(९) तत् सखर खरं पृथ । (१५)

वह मध्य अथक अर्थात् स्थिर भी है और अथक भी है ।

वह स्वयं अथक अर्थात् न हिलनेवाला होता हुआभी सबका चकड़ा है इसलिये अथक भी है । वह अथक अथक अथक-अथ स्थिर-अथ होवों मध्यका अन्तर्भाव है । वह मति-मात् वस्तुबोधोंमें पतिमात्-सा शीघ्रता है और स्थिर वस्तुबोधोंमें स्थिर-सा शीघ्रता है । इसका वर्णन ईशोपनिषद्में इस तरह किया गया है—

अनेकैकं मनसो जयीषो मैतदेवा आप्नुयन्
पूर्वमर्थात् । तदाबवोऽभ्यामत्पेति तिष्ठतास्मि
द्यो मावतिभ्या वृषाति ॥ ४ ॥

तदेवाति तथैवति, तद् दूरं तद्वन्तिके ।

तद्वन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य साक्षतः ५
(ईश उ)

वह स्वयं न हिलनेवाला एक है तथापि मनसे भी वेगवान् अथ होइनेवालापेति जाने जाता है तथापि वह स्थिर है ॥ वह चकड़ा है तथापि स्वयं हिलता नहीं वह दूर भी है और समीप भी है वह सबके अन्तर भी है और सबके बाहर भी है ।

यह ईशोपनिषद्का और गीताका वर्णन एक प्रामाणी है । वही वर्णन मध्यकोपनिषद्में इन तरह है—

सूक्ष्मं तद्विष्यमभिमत्यरूप सूक्ष्मरूपं तत्
सूक्ष्मतरं विमोचति । दूरस्तदूरं तद्विद्वान्तिकं च
पश्यतिस्वदेयनिहितं शुद्धायाम् ॥

(मध्यक उ १.१.१०)

अन्वयाः— यद् श्रेयं यद् श्रद्धा (बीजा) अमूर्तं अक्षुण्णं, तत् प्रवक्ष्यामि । तत् अनादिमत् परं ब्रह्म सत् न असत् च न हृति उच्यते ॥ १२॥ कोके तत् सर्वथा पाप्मिपार्श्वं सर्वथा अक्षिप्रिरोमुक्तं सर्वथा कुप्तिमत् (अस्ति) सर्वं च बाह्यत् विद्यते ॥ १३॥ (तत्) सर्वत्रियगुणभावं सर्वत्रियविबर्जितं, असत्त्वं, सर्वसुखं च पूष, निर्गुणं, गुणभोक्तृ च (अस्ति) ॥ १४॥ इदं भूतानां वसिः अन्वाः च (अस्ति) अर्वां वरं च पूष (अस्ति), तत्, सूक्ष्ममात्रं अक्षिप्रं (अस्ति) दूरस्य च अक्षिप्रं च (अस्ति) ॥ १५॥ तत् श्रेयं अविमर्शं भूतेषु विमर्शं इव स्थितं मूलभर्तुं च प्रसिष्णुं च प्रमथिष्णुं च अस्ति ॥ १६॥ तत् ज्योतिषां वसि ज्योतिः (अस्ति), तमसाः वर उच्यते (तत्) शानं श्रेयं, शानमर्थं (अस्ति), (तत्) धर्मस्य इति विक्षिप्तं (अस्ति) ॥ १७॥

यह श्रेय जिसके जाननेसे जीव अमृतत्व प्राप्त करता है, मैं तुमसे कहता हूँ । यह अनादि पर ब्रह्म है, उसने न सत् कहते हैं और न असत् ॥ १२॥ इस लोकमें उसके सर्वत्र हाथ पांव सब ओर बांध कर और मुख और सब ओर कान हैं । यह सर्वत्र व्याप कर रहा है ॥ १३॥ उसमें सर्व इंद्रियोंके गुणोंका आभास है तो भी यह सब इन्द्रियरहित है । यह सर्वत्र आसक्तिरहित सबका भरणपोषण करनेवाला गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है ॥ १४॥ यह सब भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी वह स्थिर भी है और चल भी यह सूक्ष्म होनेके कारण जाननेमें कठिन है । वह दूर भी है और पास भी ॥ १५॥ यह श्रेय आत्मा अविमर्श होता हुआ भी सब भूतोंमें विमर्श फैला रहता है । यह सब भूतोंका पोषण करनेवाला, नाश करनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥ १६॥ यह ज्योतिषोंकी भी ज्योति है उसे अमरकारसे परे कहा जाता है यही ज्ञान है, यही आध्यात्मयोग्य है और यही ज्ञानसे ज्ञानयोग्य है । यह सबके हृदयोंमें रहता है ॥ १७॥

भावार्थ— रात्रेकरही जाननेयोग्य है उसके ज्ञानके जीव अमर भावको प्राप्त होता है । यह परब्रह्म अनादि है, उसको सत् वा असत् कहना उपयोग है । उसके हस्तपाद आदि अवयव सर्वत्र हैं वह सर्वत्र व्याप्त है, यद्यपि सर्व इंद्रियोंके गुण उच्यते हैं, तथापि वह सर्व इंद्रियरहित रहित है । यह सर्वत्र आसक्ति न करनेवाला तथापि सबका भरणपोषण करनेवाला निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है । यह अक्षुण्ण अक्षय सर्वत्र है । यह दिक्नेवाला होनेपर भी स्थिर है अति सूक्ष्म होनेके कारणसे कठिन है और वह जैसा दूर है वैसाही पास भी है । वह अक्षिप्र है, अल्प प्रत्येक भूतमें अक्षिप्र—या इच्छता है । यही सबकी उत्पत्ति स्थिति और नाश भी करता है । सब देवता भी वहाँसे उद्योते तेज निकलता है, उसके पास अमरकार नहीं है क्योंकि वह उसके परे है । यही ज्ञान आध्यात्मयोग्य और ज्ञानक्षि प्राप्त्य है । ऐसा वह परब्रह्म सबके हृदयोंमें व्याप रहता है ॥ १२-१७॥

किसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ?

(१२-१७) मनुष्यको किसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये ? इस जीवधर्म मनुष्यका श्रेय अर्थात् ज्ञानयोग्य क्या है ? इसका विचार अब करते हैं । जिसका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य उसके किये अर्थात् धर्मरूपक है, वह अवधि परब्रह्म है । वहाँ इष्ट परब्रह्म धर्म किया गया है—

(१) सर्वथा पाप्मिपार्श्व, सर्वथा अक्षिप्रिरोमुक्त सर्वथा भूतिमत् (१३)

इष्ट परब्रह्मके हाथ, पांव बांध कर और मुख और कान सब ओर है । बाहक वह विषयकी परब्रह्मका

वर्त्म है ऐसा समझें । ये सब ओर जो हाथ पांव और मुख आदि अवयव हैं, वे केवल कल्पनाके नहीं हैं वे सत्य अवयव हैं । क्योंकि परब्रह्मका विषयकमें सब भाव सब पक्ष पक्षी और सब अल्प स्थूल सूक्ष्म जीवजन्तु समाने हुए हैं । इन सब प्राणियोंके जो हाथ पांव, मुख आदि अवयव हैं वेही इष्ट विषयका अवयव है अतः कहा है कि इसके हाथ पांव बांध कर और कान आदि अवयव सब ओर हैं । बाहक अपने चारों ओर देखें— उनके धर्ममुख अनेक प्राणी सींसें और उनके अनेक अवयव इति ये सब अवयव इस विषयका अवयव सूक्ष्ममात्रकी हैं, क्योंकि सब प्राणियोंके हृदयमें यही विषयमात्र अनुस्यूत है, इससे कोई टूट नहीं है

सब रूप उसीके हैं और उसीके विष-रूपमें समाने हुए हैं। विषरूपसे मित्र किसीका रूप नहीं है। अतः उसके मुख-वासिकानि अवश्य चारों ओर हैं ऐसा वर्णन अनेक स्थावरोपर किया गया है।

विश्वतश्चास्तुत विश्वतो मुखो

विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां घमति संपतथै

घांवाभूमी जनयन्नेव एका ॥ (अथर्व १ । ४११३)

सब ओर चक्षु मुख बाहु और पाँव हैं ऐसा एकही परमहमदेव इस सब विषका उत्पत्त्य है ।' यहाँ भी वही बात कही है। जहाँ अथर्ववेदों विषका पद है वहाँ गीतमें सर्वेश्वर 'हैं और दोनोंका कार्य एकही है।

(१) सर्वे आभूत्य तिष्ठति । (१३)

वह परमेश्वर जिसके हाथ पाँव मुख सब ओर हैं वह सब विषको घेरें हुए है। कोई वस्तु इससे घृण्य नहीं है। इस विषकी सब वस्तुओंको इसने घेर रखा है। इससे वेदा हुआ कोई पदार्थ नहीं है। इससे कुछ भी घृण्य नहीं है इसीलिसे सबके अवयव इसीके अवयव हैं और इसी कारण इसने अवयव सब ओर हैं ऐसा कहा जाता है।

(१) सर्वेन्द्रियगुणामासं

सर्वेन्द्रियविशक्तिः । (१४)

सर्वे इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें होता है तथापि वह सर्वे इंद्रियोंसे रहितही है। इससे पूर्व कहा है कि सब ओर उसके हाथ पाँव मुख चक्षु आदि अवयव हैं। इस सर्वेश्वर विषव अवयवोंको देखतेदेखी वह है ऐसा विश्वास होता है। यदि मानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों तथा आत्म-करण कर्म व करवा अमर्त्य किसी स्थानपर इसका कार्य न दिखाई देता तो अज्ञातका अस्तित्व भी नहीं माना जाता। अतः हाथ पाँव आदि इंद्रियोंके गुणोंका उसमें आभास है वह बात सत्य है तथापि ये इंद्रियधर प्रकृतिकी हैं। आत्म हैं और कर्म नहीं रहेंगी अतः उद्य अक्षरमें ये इंद्रिय हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है। उसके अक्षर इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है और इस आभाससे उसका हाथ भी होता है वह सत्य है। तथापि वह अक्षर तत्त्व इन इंद्रियोंसे रहितही है। मुख्य मिदस मुख्यके आकारका नहीं होता तथापि मुख्यके रूपसे स्पष्ट आकारमें वह दिखाई

देता है। इसी तरह उस परमात्मामें इन इंद्रियोंका आभास प्रतीय होता है, किन्तु उसके मुख स्वरूपमें ये इंद्रिय नहीं हैं। उस विष्णुमें इंद्रियगुणोंकी संभावना भी कैसे मानी जा सकती है ?

सबसे आकाश वनेमें अकार और वरमें गृहाकार दीक्षते, परन्तु आकाशका कोई अथवा आकार नहीं है। जैसे वनेमें एक अक्षरका हुआ दीक्षता है परंतु उसका भी कोई आकार नहीं होता। जैसे वेद दीपमें दीपकके आकारका दीक्षता है तथापि दीक्षका स्वरूप कोई आकार नहीं होता। अक्षरी वता दीक्ष वहने करी तो भी जैसे अक्ष देता नहीं होता तथा वह अक्ष सब आदि इंद्रियोंमें कार्य करता हुआ दीक्षके कारण इंद्रियोंके मुख्यमेंसे कुछ होकेके समस्त दीक्षता है परन्तु वस्तुतः वह इंद्रियधर्मोंसे रहितही है। उपनिषदोंमें क्या है-

कतमा न आत्मेति योऽय विज्ञानमयः प्रायेतु
हृष्यन्तर्गोतिः पुरुषः स समानः सख्यमौ लोका
बनुत्संभरति व्यापटीय छेद्यत्यतीत ॥

(इ उ ३।१०)

अप्रापिपावो अथवा प्रसीता पश्यत्यक्षतः स
मुषोत्पकर्षः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्मादित
वेत्ता तमाहुरन्त्यं पुरुषं महात्मन ॥

(इवे उ ३।१५)

' जो प्राणमें विज्ञानमय है वह हृदयमें अन्तर्गोति है तथा व्याप करता हुआ तथा वेद्य करता हुआ अक्षर दीक्षता है। उसके हाथ पाँव व होते हुए भी वह वेदात्म्य और तत्त्वों परमेश्वरका है आक्ष न होते हुए भी वह अक्षोंके देखा है कार्य व होते हुए भी वह अक्ष कुछ सुकता है वह सब आत्मा है परंतु उद्यको आभवेवत्ता कोई नहीं है। ऐसे पुरुषको अक्षयमय महात्मा पुरुष कहते हैं ।'

यहाँ इंद्रियरहित होनेका वक्ष्य वर्णन है, परंतु उसी आत्मामें कारण सब इंद्रियों कार्य करनेमें समर्थ होती है और इंद्रियोंके कार्य देखकर उद्य इंद्रका अर्थात् आत्मका अनुमान होता है। इसलिसे कहा जाता है कि सब इंद्रियोंके गुणधर्मोंका आभास उद्य आत्मामें है। सब इंद्रियोंके कर्म उसीसे हो रहे हैं तथापि उसमें कोई इंद्रिय नहीं है वह बात इस तरह स्पष्ट हो जाती है।

(४) असत्तत्त्व (१७)

वह ब्रह्म सर्वत्र है तथापि वह किसीके साथ आसक्त नहीं है। जैसे सुवर्णका आभूषण बनाना चाय तो उस आभूषणमें वह सुवर्ण रहता हुआ भी आभूषणके स्वरूपके बंधन उस आभूषणके साथ वह आसक्त नहीं होता। उसका वह आकार रहता और दूसरा कोई आकार उसे प्राप्त हुआ तो भी उसके उसमें कोई रक्षण नहीं होता। इसी तरह वह शेष ब्रह्म सब जगत्में समान अवस्थित होनेपर भी किसी आभूषणके घन स्वरूप हुआ नहीं है वह किसीमें आसक्त नहीं होता।

(५) सर्वभूत (१४) भूतमर्त्य (१५)

वह ब्रह्म सब भूतोंका सारण-पोषण-धारण करता है उसीसे सबका सारण पोषण-धारण हो रहा है वही सब भूतोंका भी वही भूत है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । ए प्रपत्यम्यमिसंविद्य मीति तद्विजिज्ञासस्य तद्भवेति ॥ (अं ३)

जिससे वे सब भूत बनते हैं जिससे जननेपर जीवित रहते हैं और विद्युद् होकर जिनमें जीन होते हैं वह ब्रह्म है। वही मिट्टीसे बना बनता है मिट्टीके भाकारसे रहता है और दूधनेपर उसकी मिट्टीही बन जाती है। तथा जैसे सुवर्णसे आभूषण बनता है सुवर्णके आधारसेही वह रहता है और दूधनेपर सुवर्णकेही रूपमें परिणत हो जाता है। इसी तरह वे सब भूत ब्रह्मसे बने हैं ब्रह्मसेही इनका धारण-पोषण हो रहा है और अन्तमें वे ब्रह्मसेही आसक्तेंगे। इसलिये ब्रह्मको सर्वभूत भर्ता परब्रह्म धारण-पोषण-धारण करनेवाला कहा गया है।

(६) निर्गुण गुणभोक्ता (१४)

वह ब्रह्म निर्गुण है परन्तु गुणोंका भोग करनेवाला है। वह ब्रह्म स्वयं सार-रस-धम चापि गुणोंवाला नहीं है तथापि इन गुणोंका भोग उसमें होता है। जैसे आभूषणका भोग सुवर्णमें होता है सुवर्ण उस आभूषणको धारण भी करता है परन्तु अन्तमें देका चाय तो सुवर्णका आभूषण-क साथ कुछ भी संबंध नहीं है। ज्ञान भोग और मोह के धम-रस-धमके गुण हैं वे विकल्पमें ब्रह्मपर दीकत हैं, ब्रह्मके धारण नहीं आनतसे रहते हैं परन्तु वस्तुतः वे उसके वा उसमें नहीं हैं।

(७) भूतार्ता बहिः अन्तः च । (१५)

वह ब्रह्म सब भूतोंके अन्तर और बाहर है। ' भर्ता' वह सबमें व्याप्त हुआ है, सबके अन्तर और बाहर में व्याप्त सर्वत्र है। एक भूतार्ता भी ऐसी परी है जहां वह न हो। जो कुछ है वह सूक्ष्म हो या दृश्य उसीसे व्याप्त है उससे अन्तर और बाहर वही व्याप्त हुआ है।

(८) तत् तूरस्थं भस्तिके च । (१५)

वह ब्रह्म दूर भी है और पास भी। सर्वव्यापक होनेका यह अधिक स्पष्टीकरण है। जो जगत् नहीं उसके छिपे वह बहुत दूर है, परन्तु जो जगत् है वह उसके निकट निकट ही है। भर्ता वह स्थानसे भी दूर और पास है और जगत्से भी दूर और समीप है।

(९) तत् अन्तर चरं च । (१५)

वह ब्रह्म अन्तर् भर्ता स्थिर भी है और चल भी है।

वह स्वयं अन्तर् भर्ता व हिंसनेवाला होता हुआ भी सबका चलाता है, इसलिये चल भी है। वह अन्तर्-चल अन्तर-चर स्थिर चर दोनों प्रकारका भासता है। वह गति-मान् वस्तुओंमें गतिमान्-सा दीकता है और स्थिर वस्तुओंमें स्थिर-सा दीकता है। इसका वर्णन ईशोपनिषद्में इस तरह किया गया है—

अनेकैक ममसो असीयो वैमहेवा भानुवन् पूर्वमर्षण् । तन्नाशतोऽभ्यान्त्येति तिस्रस्तस्मि श्रपो मातरिभ्या वृधाति ॥ ४ ॥ तदेवति तत्रैवति, तत् पूरे तद्भस्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तद्गु सर्वस्यास्य बाह्यतः ५

(ईश ३)

वह स्वयं व हिंसनेवाला एक है तथापि ममसे भी वेगवान् अन्य दीकनेवालोंसे जगत् जाता है तथापि वह स्थिर है। वह चलता है तथापि स्वयं स्थिर नहीं वह दूर भी है और समीप भी है वह सबके अन्तर भी है और सबके बाहर भी है।

वह ईशोपनिषद्का और गीताका वर्णन एक जैसे ही है। वही वर्णन मुण्डकोपनिषद्में इस तरह है—

गृह्यत तद्विध्यमभिम्यस्य रूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतर विभाति । दृष्टस्तदूर तद्विद्वान्तिके च पश्यसि बहव निहितं गुहायाम् ॥

(मुण्डक ३ ३.१.१०)

‘ वह मध्य बडेसे बड़ा और सूक्ष्मसे सूक्ष्म है । वह दूर भी है और समीप भी है देखनेवालोंके किये वह उनके अन्तःकरणमें ही है । ’ वह सर्वव्यापक होनेसे सर्वत्र उपस्थित है ।

(१०) सूक्ष्मस्यात् तत् अविधेयम् । (१५)

अति सूक्ष्म होनेसे वह आवेगके किये कठिन है । सर्वत्र है, इधरकिये वह कबसे सूक्ष्म है और अतिसूक्ष्म सबसे सूक्ष्म होनेसेही आवेगके किये धनसे कठिन है ।

(११) (तत्) अविवर्तकं (परन्तु) भूतेषु विमर्त इव स्थितम् । (१६)

वह मध्य वस्तुएँ अविवर्तक अर्थात् अकण्ठ है, उसमें टुकड़े नहीं हैं वह सर्वत्र एकत्र है, तथापि सब भूतमें विमर्त ऐसा होकर स्थिर है । अर्थात् एकत्र होनेपर भी अविवर्त विविध रस जैसा दीकटा है । एक होनेपर भी अनेक जैसा प्रतीत होता है ।

जैसे सुखके अनेक प्रकारके आशुचम अन्वयों आते हैं कुछ समयमें चरण करनेके, कुछ समयमें कुछ गड्ढों कुछ छातीपर कुछ हाथोंमें कुछ समयमें शायम करनेके होते हैं । सुखमेंही दृष्टिके समयमें एकत्रता है तथापि धारणकी रीति से उसमें विविधता और भेद है ।

जैसे एकही कण विवेक मनुष्य दिन एक मास अथवा मास मेंसे कुछ प्रतीत होता है, एकही जीव अथवा वायु धारणपादि मेंसे विमर्तता प्रतीत होता है, इसी तरह वह एक तत्त्व विभक्ते सब कर्मोंमें विभक्त होता है ।

इन्द्रो मायाभिः पुष्कर ईषते । (अथर्व ६।१०।१८)

इन्द्र अर्थात् अन्तः एक होता हुआ भी अनेक कर्मों-वाक्यादि विभक्त होता है । और भी देखिये—

पत्र हि द्वैतामिव भवति तद्विरर इतरं पश्यति शृणोति अस्मिन्वृत्तिः—मनुते विज्ञानाति पत्र वा अस्प सर्वमारमिदामुच्छस्तेन कं क्रियेत् तत्केन क पश्येत्, तत्केन कं शृणुयात् तत्केन क समिधेत् तत्केन कं मन्वीत तत्केन क विज्ञानीयात् येन सर्वं विज्ञानाति त केन विज्ञानीयात् विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयात् ॥ (६ अ १।१।१७)

वहाँ द्वैतता होता है वहाँही एक कर्मके देखना सुनना कदा विचारता और जानता है । परन्तु वहाँ क्व ज्ञानाही हो जाये तब कौन किसको देखे, कौन किसको सुने, कौन किसको जाने ? किससे जाना जाता है उसे कौन जाने ? और विज्ञातको कौन कैसे जाने ? वहाँ दोनों अन्तर्भावोंका वर्जन है एक एकत्वकी अवस्थाका और दूसरा हैककी अवस्थाका । एकही वस्तु एकही होती हुई अनेक कौन कौन होती है इस कारण ऐसा अनुभव होता है । इसी तरह—

मनसैवानुग्रहस्य मेह बानास्ति किञ्चन ।

सुप्तोऽसं मुत्सुमाप्नोति य इह मत्नेव पश्यति ॥ १९ ॥

एकसैवानुग्रहस्यमेतत्प्रमेयं भुवम् ।

विरक्तः पर आकाशाद्वा आत्मा महान्तुः ।

॥ २० ॥ (६ अ १।१।१९-२०)

मनसेही वह अनुभव करना चाहिये कि वहाँ अनेक वस्तुएं नहीं हैं । जो वहाँ गया वस्तुएं देखता है वह वस्तुके एक वार्तापर मोघता है । वह अन्तरेव भुव ज्ञाना एकही है ऐसा देखना चाहिये । वह आत्मा आकाशके भी अन्तः है ।

इस तरह वह अन्तः अनेक नहीं है । वह एकत्र एक और अर्थात् है । परन्तु एक होता हुआ अनेक-ता विभक्त होता है अकण्ठ होता हुआ अविच्छेद-ता दीकटा है एक-रस होता हुआ विविध रसवाक्या-ता प्रतीत होता है ।

(११) तत् प्रभविष्णु प्रविष्णु च । (१६)

वह मध्य सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबको प्राप्त कर आवेगका अर्थात् वाक्य करनेवाला है । और (वृक्षसर्व सर्ववृत्) सबका वाक्य करनेवाला भी है । इस रीतिसे वही सबकी उत्पत्ति विधाय और सब करनेवाला है । वह एकही इस तीनों कर्मोंके करता है इच्छाके उद्ये एकमे सृष्टिकर्ता विनिर्धाय और कवकर्ता करता है । इसी कर्मके कारण उद्ये एकमे नाम ज्ञाना, विष्णु और रुद्र हुए हैं । वे तीव्र नाम होते हुए भी वह एकही है । तीव्र विविध सब होनेके कारण वह तीव्र अकण्ठक नहीं है । वह एक होना हुआ भी वे तीनों कार्य करता है ।

(११) तत् ज्योतिषां अपि ज्योतिः ।

तत् तमसा परं सम्पद्ये । (१०)

‘ वह मध्य तेजका भी तेज है और अतः वह अन्धकारसे परे है । इहवातन्मयत्वेन कथा है—

तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः । (बृ ४।३।१४)
माहोत्सवर्षे तमसः परस्तात् । (श्वे ३० ३।४)
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । (श्वे ३० ३।१४)
यदावित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽभिकम् ।
पञ्चभूममसि यज्जाग्रीततेजो विधि मामकम् ।
(गीता १५।१२)

वह मध्य ज्योतिषोंकी भी ज्योति है । वह सूर्यके प्रकाश तेजकी और अन्धकारसे परे है । उसी मध्यके तेजसे वह सब विश्व प्रकाशित होता है । सूर्य चन्द्र जगि जगिमें जो तेज है जिस तेजसे यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, वह ईश्वरकी ही तेज है । इस प्रकार अन्धकार भी ऐसा ही इस मध्यका वर्त्मन है ।

(१४) सर्वस्य हवि विधितम् । (१७)

यह मध्य सबके हृदयमें स्थित है । सबके अन्तःकरणमें सबकी बुद्धिमें विद्यमान है । यीशमें आगे कहा है कि— ‘ सर्वस्य वाहं हवि संविभूतः । (गी १५।१५) परमेश्वर सबके हृदयमें उपस्थित है । तथा—

ईश्वर सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयमसर्वभूतानि यन्माकृष्टानि मायया ॥

(गी १८।११)

ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें स्थित है और सबको धारण करता है ।

इस तरह सर्वत्र ईश्वरके सबके हृदयमें होनेका वर्त्मन है । वह केवल हृदयमें रहता है और बाहर नहीं ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वजन्ममें अन्धकार बाहर उसके होनेका स्पष्ट उल्लेख है । अतः हृदयमें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसके सब कार्य अन्धकारीसे होते हैं ।

(१५) तत् केयं ज्ञानगम्य ज्ञानं (अदित)

(१७)

यह मध्य सबको जाननेयोग्य है ज्ञानसे समझमें जानेवाला है क्योंकि यही ज्ञानरूप है । यहाँ ज्ञेय और ज्ञान एक ही है और ज्ञाता भी उसीमें संमिश्रित होता है । ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान यहाँ एक होनेके कारण इस त्रिपुटी-का भेद नहीं बनी होता है - अतः वह विषय समझनेके

लिने कश्चित्त है । परन्तु यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वह स्वयं ज्ञाता है अपनाही ज्ञान प्राप्त करना है इसलिये ज्ञान विषय भी स्वयंही है और स्वयं किरस्वरूप होनेसे ज्ञान भी अपनाही स्वरूप है । इस तरह विचार करनेसे यहाँ भी ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान स्वयं होता है, ज्ञाता यहाँ है ज्ञेयाही उस स्थानमें वह ज्ञेय, ज्ञानगम्य और ज्ञान है ऐसा जो कहा है, उस विषयमें समझना चाहिये ।

(१६) तत् न सत्, न असत् उच्यते । (१९)

यह मध्य सत् किंवा असत् है ऐसा नहीं कहा जाता, ‘ यह असत् उच्यते परे है । सत् असत् यह बलीसे कहा जाता है, परन्तु मध्य जो बलीका विषय नहीं है— यद्यो बायो विवर्तन्ते अपाण्य ममसा यद् । (तै उ २।१।९) उस मध्यसे बली निकल होती है, क्योंकि बलीसे वर्त्मन करनेका विषय मध्य नहीं है, तथा—

अम्यत् पृथ तद्विबितात् अयो भविद्वितात् अभि ।

(केन उ १।३)

यह मध्य ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न है अर्थात् वह ज्ञात भी नहीं और अज्ञात भी नहीं है । क्योंकि वह—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् । (ब्रह्म उ ३।१९)

ककारहित और क्रियाहित है । इसलिये उसका वर्त्मन करना लक्ष्यम है । जो बलीसे कहा जा सकता है वह सत् है या असत् है ऐसा कहा जायगा, परन्तु जो बली का विषय नहीं है उस विषयमें क्या कहा जा सकता है ? अतः यहाँ कहा है कि वह न सत् है और न असत् है । यीशके—

सर्वसत्त्व्याहम् ॥ (गीता ९।१९)

इस श्लोकमें बताया है कि मैं ईश्वर सत् और असत् हूँ और यहाँ बताया है कि—

तत् न सत् न असत् । (गी १३।३२)

‘ वह ईश्वर सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है । क्या यह विरोध नहीं है ? इसका निवार करनेके लिये हमें सत् और असत् सहोक्ति अथवा मयन करना चाहिये—

सत् न भक्त, गुण कविवाची कष्ट न स्थित भक्त्यत्तत्त्व ताव अक्षर ।

(९) ज्ञानका फल

इति श्रुत्वा तथा ज्ञानं श्रेयं चोक्तं समासतः । मङ्गलं एतद्विज्ञाय मङ्गलाबोधपक्षे ॥१८॥

(७) पुरुष और प्रकृति

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वन्नादी उभावापि । विकाराश्च गुणाश्चैव विश्वि प्रकृतिर्विश्वमा ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां योक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

अन्वयः— इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं क्षेत्रं च समासतः उक्तं एतत् विज्ञाय मङ्गलं मङ्गलाबोध उपपद्यते ॥ १८ ॥

इस तरह क्षेत्र ज्ञान और क्षेत्रके विषयमें संक्षेपसे कहा गया है। इसे जानकर भेद भक्त भेदे (ईश्वरके) भावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ १८ ॥

भाषार्थ— यहाँ अतिरिक्तसे क्षेत्र क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रीका ज्ञान और जाननेयोग्य क्षेत्र वस्तुका वर्णन किया गया है। इस ज्ञानकी सहायतासे ईश्वरका यत्न ईश्वरपक्षमें प्राप्त करता है। ॥ १८ ॥

असत् = बुद्धि अमुक्त नगर मृत्यु नास्तिक,
एव सत्-सत्ति धार ।

ये जगत्को जगत् देखनेसे बड़ा करता है कि सत् और असत् के अर्थ अनेक हैं, अतः उक्त कथनमें परस्पर असंगति नहीं है।

जहाँ नवन जगत्में कहा है यहाँ सत् असत् का अर्थ क्रमसे सुप्त और अमुक्त अमृत और मृत्यु इस प्रकारका है। इसी क्षेत्रमें—

अमृतं चैव मृत्युश्च सर्वसत्त्वाहमर्जुन । (१।१९)

ईश्वर अमृत और मृत्यु दोनों है। इसी हृदयके प्राय संगत होनेवाला सुप्तसुप्त सब रूप परमेष्ठिकाही है विश्वकर्ममें सुप्त भी है और अमुक्त भी है दोनों रूप ईश्वरके हैं यहाँ यही वाच्य है। और यहाँ १।१९ में ईश्वर और अमृतके परे ब्रह्मत्मा है ऐसा कहनेका भी यही उत्तर है। अतः दोनों स्थानोंमें अथवा सत् और असत् वेही सत्त्व प्रयुक्त हुए हैं अथवा उक्तका आशय दोनों स्थानोंमें एक पक्षसे प्रकट है। अतः यह विरोध नहीं है।

इस प्रकार ऊपर क्षेत्र वस्तुका वर्णन किया है। इसी क्षेत्र वस्तु पर सत् सत्त्व, ब्रह्मत्मा अथवा आदि अन्य नाम हैं। इसका वर्णन प्रारम्भसे इस समयतक अनेक प्रकारोंसे अनेक स्थानोंपर किया गया है। पाठक सबका विचार करके इस सत्त्वपक्षमें जलने और उक्तके प्राय अथवा अनन्त भाव देपकर उनी अनन्त भावसे उसकी सेवा भक्ति अथवा उपासना करें।

अब क्षेत्र और क्षेत्रके ज्ञानका फल कहते हैं सो देखिये—

(१८) यहाँ क्षेत्र क्या है, ज्ञान किसे कहते हैं और क्षेत्र नामका जो मनुष्योंको जाननेयोग्य वस्तु है, उसका उल्लेखसे वर्णन किया गया है। इसका मन्त्रसे साबक करने पाठके क्षेत्रके गुणकर्म यहाँ ज्ञान प्राप्त करें और क्षेत्रके साबकका पक्ष करें। क्षेत्र जाननेके पक्षसे उक्तके अथवा अनन्त भाव कैसा है यह देखें और मैं उक्तके अनन्त है, पर ज्ञानकर उक्त परमपक्षमें अपने विलय क्षेत्रपर विचार करें।

यहाँ क्षीरकनी अथवा क्षेत्र अर्थात् क्षेत्र है। इस क्षेत्रमें अपनेको क्या बोधा चाहिये कीवसा धाम्य बोधा चाहिये, कीवसा फल प्राप्त करना चाहिये कीवसा यहाँ बोधा है इसका विचार प्रत्येक साबकको कर देना चाहिये। अपनी उक्तके किये साबकको धाम्य वा फलही उक्तमें उपासना चाहिये। धाम्यका प्राप्त करनेवाला ज्ञान फल इस देना चाहिये। सर्वथा धाम्यकीधनकम एक देना चाहिये धुविधर्मोंका कैस उक्त जाने देते काम करने चाहिये।

इस क्षेत्र और क्षेत्रके ज्ञानके प्राय ईश्वरकी भक्ति करते ईश्वरपक्षमें प्राप्त हो सकता है। परंतु जो मनुष्य इस ज्ञानको जानता नहीं वह सत्त्वभाव अमृतभाव नवरा पशुभावसे युक्त बनता है। अतः साबकभाव रहकर मङ्गला ज्ञान प्राप्त करने अपने अन्तर मङ्गलाभावको देखकर अपने साबकको मङ्गल अन्तर्गत बनकर अनन्त भावसे उपासना करने कृतकृत्य होना चाहिये।

इसके विषयमें अपना ज्ञानका उपदेश करनेके क्षेत्र प्रकृति और पुरुषका ज्ञान अग्राह्य देते हैं इसे अब देखिये

पुरुषः प्रकृतिस्पो हि श्रुंके प्रकृतिज्ञान्युषान् । कारणं गुणसंगोऽस्य सदसयानिजन्मसु ॥२१॥

सम्प्रदायः— (७) प्रकृति पुरुष च उभौ अपि ज्ञानि विदि । विकारान् च गुणान् च प्रकृतिर्जन्मान् एव विदि ॥१९॥
प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोगकृत्वे हेतुः उच्यते ॥ २ ॥ पुरुषः प्रकृतिः (सत्)
प्रकृतिज्ञान् गुणान् भुंजते हि । गुणसंगः जस्य सदस्योभिजन्मसु कारणं (भस्ति) ॥ २१ ॥

प्रकृति और पुरुष इस दोनोंको न् अभावि समझ । तथा विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं
यह भी प्यास रख ॥ १९ ॥ प्रकृतिही कार्य तथा कारणका हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखका
भोगका हेतु माना जाता है ॥ २० ॥ पुरुष प्रकृतिमें रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंका भोग करता है ।
यही गुणोंका संग इसके उत्तम मध्यम अधम योनिमें जन्म होनेका कारण है ॥ २१ ॥

माभार्य—प्रकृति और पुरुष के दोनों व उत्पन्न हुए ऐसे ज्ञाते हैं और प्रकृतिसे गुण तथा विकार होते हैं ।
एव कालोंका तथा सब कारकोंका मूल हेतु यही प्रकृति है । पुरुषही सुखदुःखका भोग करता है । पुरुष प्रकृतिसे प्राप्त
सम्पन्न करने प्राकृतिक गुणोंका भोग करता है । इसी गुणोंके भोगके संगके पुरुषको उत्तम मध्यम अधम योनिमें जन्म
केका वदता है ॥ १९-२१ ॥

(१९-२१) प्रकृति और पुरुष के दोनों ज्ञानि हैं ।
प्रकृति जड़ है और पुरुष केवल । प्रकृतिमें पुरुष स्थित होकर
क्रिया है और यह प्रकृति पुरुषकी महा शक्ति है । जेका
कर्ममें रस, स्वर्गमें तेज वैरागी प्रकृतिमें पुरुष है ।

इस प्रकृतिमें धर्म रस और तम के तीन गुण हैं । इस
प्रकृतिमें बनेक विकार भी हो जाते हैं । मूल प्रकृति
महत्त्वम बर्हत्तम तन्मात्रा पंच-महामूल संपूर्ण सृष्टि के
धर्म प्रकृतिमें विकार हैं । मूल सूक्ष्म प्रकृति त्रीमूल
होकर कमरे स्थित होती है और सब विकारें पदार्थ बनाती
है ।

इस कार्यकारणपरंपराके यह रचना चक रही है । प्रकृति
कारण है उसका कार्य महत्त्वम है महत्त्वमकारण है उसका
कार्य है बर्हत्तम बर्हत्तम कारण है उसका कार्य तन्मात्रा,
तन्मात्रा कारण है उसका कार्य पंचमहामूल पंचमहा
मूल कारण है उसका कार्य है यह सृष्टि । इस प्रकार यह
कर्म-कारण-परंपरा चक रही है । जो पुरुषका कार्य है वही
पुरुषका कारण होता है । इस तरह कार्य और कारणका
विचार करना चाहिये । इस कार्य-कारण-परंपराका मूल
हेतु मूल प्रकृति है ।

इस तरह यह सृष्टि मूल प्रकृतिसे बनी है । मूल सूक्ष्म
रूप बन होते होते मूल प्रकृतिही स्थूल सृष्टिके रूपको
प्राप्त हुई है । इस रंगके सृष्टिकी उत्पत्तिका विचार पाठक
को ।

इसका पुरुष है, जो जन्ममें रस रहनेके समान सब
प्रकृतिमें रहता है । इसी तरह प्रकृति भी पुरुषके साथ
पुरुषकी शक्ति बनके रहती है । यह सम्पन्न हीन प्रकार
समस्त केका चाहिये ।

यह पुरुष सुखदुःखका भोग करता है । सुख या
दुःखका अनुभव पुरुषकोही हो सकता है । शरीरमें यह
देही-पुरुष व इका जो शरीर निर्मात हो जाता है और
जिस वह सुखदुःखका अनुभव कर नहीं सकता । इससे
स्पष्ट है कि यह पुरुषही प्रकृतिमें रहकर सुखका भोग
दुःखका अनुभव कर सकता है ।

यह पुरुष जन्मा-मरुतिमें रहता है देहमें रहता
है, क्षेत्रमें कार्य करता है, उस कारण प्रकृतिसे प्राप्त-
रस-तम इस तीनों गुणोंके साथ उत्तम सम्पन्न
होता है और इस प्रकार धर्म-रस तमके साथ सम्पन्न
होनेके कारण इसकी उत्पन्न सत्यम और निरुद्ध गति होकर
इसका मूल भवता अक्षय योनिमें जन्म होता है ।

क्षेत्रमें कार्य करनेका यह ऋक है । इस तरह सुमानुष
चक इसीके कर्तृत्वे इस पुरुषको प्राप्त होता है यह जान
कर मनुष्य धारधारिकी साथ अपने धारको अक्षय फल
बनाये और गुण गति प्राप्त करे । इस तरह पुरुषको उसका
ज्येव भवाकर बने परमरमाका ज्ञान देते हैं—

(८) परमात्मा

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च सर्वा मोक्षा महेश्वर । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्मुक्तः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूबोऽभिजायते ॥२३॥

(९) आत्मवर्धन और उपासना

अप्यनेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये स्वैवमजानन्स धृत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्यु भुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्वयः— उपद्रष्टा अनुमन्ता सर्वा मोक्षा महेश्वरः अपि च परमात्मा इति उक्तं परा पुनः कस्मिन् देहे (बलि)

॥ २२ ॥ यः एवं पुन्यं मुनेः सह प्रकृतिं च वेत्ति सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूया च अभिजायते ॥ २३ ॥

वेत्तनेवाका अनुमोदन करनेवाका पोषण करनेवाका मोक्षा महेश्वर और परमात्मा इस देहमें है ॥ २२ ॥ जो इस तरह पुरुषको और गुणोंके साथ रहनेवासी प्रकृतिको पयायत् जायता है वह सब तरह रहनेपर भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

भाषार्थ— इस देहमें जो परम पुन्य है उसीको सर्वश्रेष्ठी अनुमोदक, पोषक मोक्षा महेश्वर और परमात्मा कहते हैं। जो प्रायक इस परम पुन्यको और पुन्यश्री प्रकृतिको ठीक ठीक जायता है वह किसी भी प्रकारका कर्म जो उसे पुनर्जन्ममें नहीं जाता होता ॥ २२-२३ ॥

(२२-२३) जो इस देहमें ब्रह्मा कर्मात् वेत्तनेवाका है, वही रहकर अनुमोदन करता है, इसका भरण-पोषण-मात्स्य करता है वही रहकर योग करता है वही सबका मशहूर ईश्वर है जो परमात्मा कहा जाता है वही इस देहकामी प्रकृतिमें परम पुन्य करते विद्यते हैं। इसका जायक वह है—

(देहमें)	(ब्रह्माण्डमें)
ब्रह्मा (देहवेवाका)	ब्रह्मा
अनुमोदक करनेवाला	अनुमोदककर्ता
भरणकर्ता	ब्रह्माण्डका भरणकर्ता
भरीमें मोक्षा	ब्रह्माण्डमें मोक्षा
भरीरक्त स्थानी	ब्रह्माण्डका महेश्वर
भरीमें जाता	ब्रह्माण्डमें परमात्मा
देहमें पुन्य	ब्रह्माण्डमें परम पुन्य

जो परमात्मा ब्रह्माण्डमें है वही देहमें भी है कोई छूटा नहीं। जैसे एकही व्यक्तिगत जगत्में वरमें प्रथममें और निचमें है उसी तरह परमात्मा देहमें है और वही निचमें भी है। वह देहमें देहकय भरण किये रहता है और निचमें निचकय। देहमें उसे देही कहते हैं और निचमें उसीही

विचरता कहते हैं। विचरताका अंशही देहता है।

(श्री २५)
जो इस तरह पुन्यको और तीनों गुणोंके साथ मशहूर होता है वह कैसा भी वर्णन करने को भी नहीं कर सकत कय नहीं कैसा पक्का कर्मात् वह झूठ हो जाता है। वही जो कैसा भी वर्णन करनेपर झूठ हो जाता है, कैसा कहा है, कय प्रसंगिक कय है। उसका सत्य भाव यह है कि वह इत्यादि विस्तृत होता है कि उसके कभी अन्त्य अन्त्य होखी नहीं। स्वभावसेही अचोत्य अचरित होना कर्तव्य हो जाता है।

प्रकृति-पुन्यका ज्ञान होनेसे पुन्यकी अद्भुत दक्षिण कय कम जाता है और वह अद्भुत दक्षिणका पुन्य वही मीठी है ऐसा विज्ञान हो जाता है। और वही ब्रह्म ज्ञान जो इस योग्य है वह अन्त्यही सारमर्त्यके योग्य है ऐसा वाक्य वह कय सारमर्त्यके गुरे कर्ममें नहीं करता। जो कर्म हो रहा है वह प्रकृति हो रहा है ऐसा देखकर अपने वाक्यके प्रकृतिमें विद्या कर्ता अनुपम करने, वह अपनी विस्तृत कयका का अनुपम करता है। इसीसे वह निष्कलंक होकर मोक्षक भवता हो जाता है।

जब इस वाक्यमर्त्यक करनेका वर्णन करते हैं—

(१०) सम-दर्शनका फल

वावस्सज्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्वाधरज्जगमम् । क्षेत्रस्यैव त्वत्तयोगाच्चक्षिन्नि मरत्तर्पम् ॥ २६ ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्स्यात्समात्मानं सतो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—केचित् ध्यायेत् आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यति । अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मनं पश्यन्ति) अपरे । कर्मयोगेन (आत्मनं पश्यन्ति) ॥ २६ ॥ अन्ये तु एवं अज्ञाकण्डाः आत्मैव्याः शुद्धा उपाधये वै मुक्तिपरायणाः च अस्मि ॥ अस्मिन्मि पृथ ॥ २७ ॥

कोई ध्याय यागसे अपने आत्माद्वारा आत्मानं आत्माको देखते हैं, दूसरे साधक ज्ञानयोगसे आत्मा से देखते हैं और अन्य साधक कर्मयोगसे आत्माको देखते हैं ॥ २६ ॥ दूसरे कुछ इन मार्गोंको न जानते पृथ, अन्य (विद्वानोंसे) सुझकर उपासना करते हैं । वे सुने हुए उपदेशमें तल्लीन होनेवाले साधक भी हस्तुसे पार हो जाते हैं ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—कुछ साधक ध्याय-मार्गसे कुछ ज्ञानमार्गसे और कुछ कर्ममार्गसे अपने अन्तर हृद आत्मको देखनेका प्रयत्न करते हैं । जो इन मार्गोंको जानतेही नहीं वे विद्वानोंसे जो कुछ सुनते हैं, उसीमें तल्लीन होकर उपासना उपासना करते हैं, वे साधक भी मुक्तुसे परे हो जाते हैं ॥ २७-२८ ॥

(२६-२८) कुछ साधक ध्याय करते हैं और अपने अन्तर स्वर्ग अपनी आत्मको देख लेते हैं । वे साधक कम विद्वान्, आध्वन, आध्यात्म आध्यात्म, आध्यात्म ध्याय करते हैं । प्रज्ञाद्वारा वे आत्म विचित्र हृद जाते हैं और अपनी आत्मा-से वचनीही आत्मको ध्याय करने आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं ।

अन्य साधक सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगसे आत्मको अनुभव करते हैं । प्रकृति विम गुणोंसे मुक्त है आत्मको कर्म नष्ट है, इसका उपासना ज्ञान प्राप्त करने उनके मनसे रहस्य और पुरुषको एवं कर्मसे ज्ञान लेते हैं । ज्ञान-मनके द्वारा आत्मार्थ आत्मको अनुभव करत हैं ।

तीसरे प्रकारके साधक कर्मयोगद्वारा उन्नति करते हैं । अथवा अथवा—अन्य आत्मका उदनुसार कर्म करते हुए और अपने कर्म परमेश्वरको समर्पण करने, तथा कर्मकर्मकाय करने अथवा अथवा अथवा कर्म करते हुए उन्नतिको प्राप्त होते हैं ।

चौथे साधक ऐसे होते हैं जो स्वर्ग आत्मार्थको जानते नहीं, स्वर्ग बहुत विद्वान् नहीं होते वे दूसरी विद्वानोंके आश्रय और प्रवचन सुनते हैं, अपने उपासनाकी विधि भीजते हैं और वैद्या सुनते हैं वैदीही उपासना करते हैं ।

उसमें हृदकी अज्ञा-यक्ति रखते हैं कि मर्त्य तर्क-वितर्क-कुतर्क कुछ भी न करते हुए, अपने गुणर अनुभव अज्ञा रखते हैं उसके उपदेशमें उत्तर रहकर उपासना करते हैं । यदि कोई स्वर्गी अज्ञा हृदयेका मर्त्य करे तो भी वे उस मार्गको नहीं छोड़ते और उपासना करतेही जाते हैं । केवल देवी अज्ञा रखनेवाले भी अपने अज्ञावशले सहारे मृत्युके पार हो जाते हैं । क्योंकि हृदकी उन्न अज्ञासे हृदका अन्तःकरण सुद हो जाया है और अन्तःकरणकी निर्मलतासेही वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं ।

कुछ लोग हृदको अन्तःकरणसे अज्ञे हृदका उपासना करते हैं । परन्तु उपासना करनेवाले अज्ञाद्वारे अन्तःकरण पीछे रह जाते हैं और वे अपनी अन्तःकरण अज्ञाके अन्तःकरण उन्नत होते रहते हैं ।

इस प्रकार साधकोंके उन्नत होनेके ये विविध मार्ग हैं । इन सब मार्गोंमें प्रवचनी सबका आधार है । जो प्रवचन करेगा वही उन्नतिको प्राप्त होगा । जो कुछ भी नहीं करेगा वह कैसे उन्नत होगा ? ये सब योग हैं । योगका अर्थ है कुशलताके ध्याय प्रवचन करना ।

जाये सम दर्शनका महत्त्व बताते हैं—

(११) अकर्ता आत्मा

प्रकृत्येष च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

अन्वयः— यः च मङ्गला एवं कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि (सन्ति इति पश्यति) तथा आत्मायं अकर्तारं पश्यति, सः पश्यति ॥ २९ ॥

प्रकृतिद्वाराही सब कर्म सब प्रकारसे किये जाते हैं और आत्मा अकर्ता है ऐसा जो देखता है यही सत्यको देखता है ॥२९॥

मायार्थ— आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं करता परंतु मङ्गलिही सब कुछ कर्म करती है ऐसा जो जानता है, यही हीन कीक जानता है ॥२९॥

यस्य प्रत्यक्ष दीक्षती है यही सब देखता है और जिसको वह बात नहीं दीक्षती वह जाँचें होनेपर भी अन्धारी है । प्रत्यक्ष सभी मनुष्य इसी प्रकारके अन्धे हैं सबको तो स्वयं कोई देखता है ।

इस तरह सर्वत्र सम आनंदसे अवस्थित ईश्वरको देखना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है । योग्य हुक्के मभीष जाकर दिव्य दृष्टि प्राप्त करके जो मनुष्य देखेगा उसको उस प्रकार ईश्वरका दर्शन हो सकता है । परन्तु मनुष्य इस प्रकार दर्शन करना चाहताही नहीं और अन्ध्यान्ध उपवासनाओंमें व्यस्त रहता है सरक मार्गपर गच्छकर ठेके मार्गपर जाया पड़ेकराता है ।

यह कोई उत्साहका दोष नहीं है । जो ज्ञाता हैं उनको चाहिये कि वे उपदेश, प्रवचन अथवा व्याख्यान-सभाजन-हारा इस दिव्य दृष्टिक प्रचार करें और सब ईश्वरका सब स्वरूप कोसोंको समझा दें । यदि प्रचारक विपरीत ज्ञान करता है तो प्रचारसेही सब ज्ञान भी बहेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है ।

जिस छात्रको इस तरह दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई और जिसने उस दिव्य दृष्टिके द्वारा संपूर्ण विविध पदार्थोंमें एक ब्रह्म परमेश्वरका दर्शन किया उसका जन्म सफल हुआ मन्त्रिये । परमात्माका सर्वत्र ऐसा भावप्रसार करनेवाला भावक करने जायको भी उससे अन्य नहीं समझता और समस्त माध अपने जायको अन्ध अन्धकार करता हुआ अपनी अज्ञानसे उन्नीचे उल्टीका अन्ध-देखकर अपनी अज्ञानसे भी बसाही अन्ध और अन्ध अन्धकार करता हुआ (अज्ञान अज्ञान ग द्रव्यस्थि) अज्ञानसे अपनी

अज्ञानका भाव नहीं करता, अर्थात् परमात्माके साथ अपनी अज्ञानको भी अज्ञानी देख देता है ।

जो ऐसा नहीं देखता यही आत्मघाती है यही अज्ञानका भाव करता है क्योंकि वह देखके साथ आत्माके भावको समझता है । वह उसके अज्ञानका एक है । अतः जिसने ज्ञानाग्निसे अपने अज्ञानका भाव किया है उसका अज्ञान परमात्माके साथ सदा अन्ध अन्धसे संलग्न होनेके कारण अन्ध होता है । इसीका नाम आत्मघाते द्वारा अज्ञानकी हिंसा व करना है । वह भविष्या सिद्ध होनेपर उसे परम मति प्राप्त होती है ऐसा कहते हैं । अज्ञान अन्ध बन्धक वह भेद गतिको प्राप्त होता है इसमें क्या संदेह है ?

अज्ञान सर्वत्र सम आनंदसे है ऐसा करनेसे धंका उपपन्न होती है कि सबके प्रथमके कर्मोंके कारण अज्ञानको भी कलक लगता होगा । इसका विचारण करनेके लिये आत्मा विच्छिन्न किंसा वह रहता है इसका विवेचन अब करते हैं । सबके लिये आवश्यक होनेके कारण पाठक इस विषयको व्याख्ये देखें—

(२९) मङ्गलिही सब कर्म करती है आत्मा केवल देखता है कर्मोंका कर्ता अज्ञान नहीं है वह जिसको तथा वह अनुभव होता है, उसीको सब ज्ञान हुआ है ऐसा समझना चाहिये । आँख देखती है और कान सुनता है क्योंकि आँख और कानका वह प्रकृतिस्वभावही है । उनकी रचनाही ऐसी है कि वे सब कर्म करें । आत्मा तो सत्य है अज्ञानकी छानि वा उपस्थितिके कान सुनता हो और आँख देखती हो परंतु अज्ञानकी छानि होनेपर भी कान द्रव्य

(१२) एकमें पृथग्भाव

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वय— यदा भूतपृथग्भाव एकस्थ च ततः एव च विस्तारं अनुपश्यति, तदा ब्रह्म संपद्यते ॥ ३० ॥

अब (कोई साधक) प्राणियोंके भेदभावको एकही आधारमें स्थित (देखता है) और उसीसे सबका विस्तार हो रहा है यह देख लेता है, तब वह ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥३०॥

भावार्थ— सब जगती भिन्न भिन्न है वह प्रत्यक्ष है । इस भिन्न भावका आधार एक अधिक सम्बन्ध है और उसी भावसे सबके सब भेदोंकी उत्पत्ति है । वह जो हीन हीन जगत्त्व है वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

यही सफा और साफ़ सुन नहीं सकती क्योंकि उसकी प्रकृतिही वैसी है । इस तरह विचार करनेपर विदित होता कि सब कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं अतः ब्रह्मा ब्रह्म ही है । इस कारण ब्रह्मा विभिन्न विच्छेदक और विद्वेध है ।

इस तरह ब्रह्मा ब्रह्म ही होनेके कारण विच्छेदक होनेपर उसको ब्रह्मत्वकी प्राप्ति कैसे होती है ? आगे इसका विचार करते हैं । वह इस प्रकार है—

(३) इस विषयमें अन्वय पदार्थ है । ये विभिन्न पदार्थ परस्पर पूरक हैं ऐसा सामान्य अनुभव देखते हैं । वस्तु यह भ्रम है । वह विभेद सत्य नहीं है वह एकही आधारसे उत्पन्न हुआ है उसी एक आधारसे ये सब अन्वय पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । अतः जब सब पूर्वोक्त पूरक भाव एक ब्रह्मामें है और उसी ब्रह्मामें इस पूरक भावका विस्तार होता है । जैसा—

जब एक है उसी एक जगत् अन्वय छहरीका उत्पन्न होती है ये जगत् आधारसे रहती है आर जगत्सेही फैलती है । पूर्व एक है वस्तु उसकी किन्हीं अवस्था हैं उन किन्हींका आधार एकमात्र पूर्व है मूर्तसे ये किन्हीं निकलती हैं । और उसीसे चारों ओर फैलती हैं । छरीरके अवस्था विभिन्न हैं वस्तु उसको छरीरकाही आधार है और ये छरीरसेही विरहित होते हैं । सबके धुमाधुम भाव किन्हीं विभिन्न हैं वस्तु ये सबके सब सबमें एकत्व होते हैं । सबसे उत्पन्न होते सबके धाव रहते और सबसेही फैलते हैं । अग्निसे चिनगा रीना उत्पन्न होती है परन्तु उन सबका आधार अग्नि ही है ।

इसी प्रकार सब प्राणिमात्र विभिन्न ही होते हैं परन्तु वे सब एकही आधारके प्रकट हुए हैं सबमें एकही आधारभाव

है और एकही आधारका वह विस्तार है । जिससे जगत् सब सिद्धांत स्थिर होता है, वह स्वयं ब्रह्म ही सब जगत् है । क्योंकि जैसे अन्वय धातु और अन्वय पदार्थ ब्रह्मका विस्तार है वैसी ही वह देखनेवाला भी ब्रह्मसेही फैला हुआ है । वह जो जगत् है वह स्वयं अपने आपको ब्रह्ममें देखता है । ब्रह्मने सब वस्तु सब करता है ब्रह्मने फैलनेका सम्पूर्णकार करण है और अपने आपको ब्रह्म ही जानता है । इस तरहका ज्ञानी अपने आपको ब्रह्मसे भिन्न किस तरह मान सकता है ? जब जगत् भिन्न दूसरा कोई पदार्थकी नहीं रहा तो वह अपने आपको उससे भिन्न दूसरा किस तरह मान सकता है ? जिससे सबही ब्रह्मत्व ही करने का उद्देश्य अपने का एक रूप के ही होगा ।

परस्मिन्सर्वाणि भूतान्प्राप्तैवाभूजिज्ञासतः ।

तब को मोहक का छोड़ एकत्वमनुपश्यत ॥

(वा व ४ ॥ १० ॥ ईश उ ७)

' भिन्न अवस्थामें सब भूत जगत्मा ही हो गये उन एकत्व का अनुभव करनेवाले ज्ञानीको छोड़ और मोह कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् वह शोकोमोहरहित हो जगत् है ।

आचार्यों के अनुसार सबों को विच्छेदक सबैव किया है उसमें भी यही ब्रह्मत्वका चिह्न होती है । कोई उससे एकत्व नहीं है और सबही ब्रह्मत्वमें संमिश्रित हुए हैं । वह बात ही जगत्मा ही सामान्य नहीं यही भी कही है । यही ज्ञेय-ज्ञेय किंवा प्रकृति प्रकृतका भिन्नत्वमें वर्णन होनेपर भी अन्वय एकत्वतामें किन्हीं तरह समावेश है वह यही सर्वोत्तम है । प्रथम अर्थ और क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति और प्रकृतका अन्वय अर्थ वर्णन किया जाता है, और वह को प्रत्येकका अनुभव है ही । परन्तु जैसे जगत् सब आचार्यों के निम्न वैसी ही

(१३) आत्माकी निर्लेपता

अनादिस्वाभिर्गुणत्वात्परमात्माऽममयः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ३१
यथा सर्वगतं सौम्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३२
यथा प्रकाशयत्येकं कृत्स्नं लोकमिव रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३

अर्थः— हे कौन्तेय ! जब परमात्मा अनादिस्वभाव, निर्गुणभाव, अमयः (नाशित) शरीरस्थः (सत्)
न कर्त्तव्य, न (न) लिप्यते ॥ ३१ ॥ यथा सर्वगतं आकाशं सौम्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः
अत्मा न उपलिप्यते ॥ ३२ ॥ हे भारत ! यथा एकः रविः हमें कृत्स्नं लोक प्रकाशयति तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं
प्रकाशयति ॥ ३३ ॥

हे कुन्तीके पुत्र ! यह परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविनाशी है अतः यह शरीरमें
होता हुआ भी कुछ नहीं करता और किसीसे लिप्य भी नहीं होता ॥ ३१ ॥ जैसा सर्वव्यापी आकाश
वस्तु होनेके कारण किसी तरह कलंकित नहीं होता वैसीही सब वेहोंमें रहनेवाली आत्मा भी किसी
प्रकार कलंकित नहीं होती है ॥ ३२ ॥ हे भारतीय ! जैसे सूर्य इस संपूर्ण जगत्को प्रकाश देता है, वैसीही
सभी सारे क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— परमात्मा अव्यय अविनाशी और निर्गुण है । वह सब शरीरमें है तथापि स्वयं कुछ भी नहीं करता
कतः किसीके कलन कलंकित भी नहीं होता । जैसे आकाश अविभूत और सब वस्तुओंमें व्याप्त होनेपर किसी कलन
मग्न नहीं होता, वैसीही सब वेहोंमें आत्मा है तथापि वह मग्न नहीं होती । जैसे सूर्य सब जगत्की
वस्तुओंको प्रकाशित करता है वैसीही वह पुण्य सब प्राणिक विषयोंको प्रकाशित करता है परन्तु वह किसीके संस्पर्श
मग्न नहीं होता ॥ ३१-३३ ॥

मेघ केवल कलनवाक्यी मेघ है । जैसे जलके घात इसकी
एककला है चांदसे मिश्रण पुनर् नहीं है, वैसीही केवलसे
केवल, प्रकृतिसे पुनरुत्पत्ति अनिच्छता है । ऐसा अमेघ मानने
वाली हंसोपविष्ट (कनका वा नन्दोद न ३ में)
की सब वस्तुओंकी एककलाका सिद्ध हो सकती है । एकही
मन्त्रसे सबकी उत्पत्ति और उन्नीमें सबकी स्थिति होती है
यह देखनेपर देखनेवाला स्वयं मन्त्रही बनता है । अन्तरमें अज्ञ
मात्र अनुभव करनेका वही ध्यान है । अज्ञ स्वयं निर्लेप है,
यह निर्लेपता स्वयंस्थित है, अज्ञ इसीकी निवेचना करते हैं—

(३१-३३) यह परमात्मा अव्यय है वह किसी क्षम
कलाप हुआ और उससे पड़िके नहीं का देखी बात नहीं है
यह धराते है । यह अव्यय है, अर्थात् वह अर्थात् है इस
का वाक्य नहीं होता । इसका भावि नहीं और अमय भी
नहीं है । अतः वह धराते पुनरुत्पत्ति है । अव्यय अव्यय
अर्थ है कि इसका व्यव नहीं होता इसमेंसे कुछ भाग व्यव
नहीं होता इसमें कुछ न्यून नहीं होता है कम नहीं होता
इसमें क्षोभता नहीं होती । इस तरह वह परमात्मा
धराते एक ऐसा रहता है ।

इसमें सत्य-रज-तम ये गुण नहीं हैं । इसमें ये गुण
नहीं हैं, अतः इसको निर्गुण कहते हैं । निर्गुणका अर्थ
इसमें कोई भी गुण नहीं देखा नहीं है, क्योंकि कोई गुण न
होना वह भी एक गुणही है । इसलिये निर्गुण धर्मका
आशय है कि सत्य रज तम इन तीन गुणोंमेंसे एक भी गुण
इसमें नहीं है ।

इस परमात्माका भावि नहीं, इसकी कल्पना नहीं
इसका व्यव नहीं—इसका वाक्य नहीं इसमें क्षोभता नहीं
होती अतः वह धरा एक ऐसा अव्यय पुनरुत्पत्ति है । इसी
तरह इसमें प्रकृतिसे सत्य-रज-तमभाव गुण नहीं हैं । इसमें
कुछ उत्तम (ज्ञान) कुछ मध्यम (रज), कुछ कनिष्ठ
(तम) भाग है देखा भी नहीं अर्थात् यह सब अव्यय
पुनरुत्पत्ति सदा सत्य है ।

यह जैसा शरीरमें है वैसीही बाहर भी है यह सर्वत्र
व्यापक है सर्वत्र ओद्योत है । कोई वस्तु इसके विना नहीं है ।
यह परमात्मा भूतमात्रके शरीरमें है इस कारण यह
शरीरके दोषोंसे वह शोधित नहीं होता । शरीरमें रहनेवा
भी वह न रहनेके समान अविभक्त और अकर्ता है । शरीरके

सब कार्य होते हैं परन्तु इन कार्योंका कर्तव्यसंबन्ध इस ज्ञानमार्गके साथ नहीं है अतः यह निर्वैयर्थ्य है।

यही बात समझानेके लिये (श्लोक ३२ और ३३ में) उदाहरण देते हैं। जैसे आकाश सबसे सूक्ष्म है और सर्व-व्यापक भी है वैसीही परमात्मा सबसे सूक्ष्म है और सब विषयमें व्यापक है। ये दोनोंके समान धर्म हैं। आकाश भी धरेमें रहनेके कारण घटाकाज धारें रहनेवाला आकाश मटाकाज कहा जाता है। किसी धरेमें हूय रखा किसीमें मघ रखा और किसीमें मिथी रखी तो उस कारण उसमें रहनेवाला आकाश धुरा-भका नहीं हो जाता। आकाश एक वैसाही निर्वैयर्थ्य और अक्षय्य रहता है। कहेकी उत्पत्ति, स्थिति बचवा बाध हो जाय उसमें कुछ रखा जाय वा न रखा जाय किन्तु आकाशकी निर्वैयर्थ्यताके साथ कोई सम्बन्ध नहीं जाता। धरेमें हूय रखनेपर वह छेदुद्ध और गोबर रखनेसे वह बलदुद्ध नहीं होता। कहेके बचने विगडनेपर आकाशकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। इसी तरह पृथ्वी परमात्मा धीरेके देहमें मनुष्यके देहमें और हाथीके देहमें रहता है। ये देह बचने विगडनेसे ज्ञानमाकी पुरुषवृत्तमें कोई मृगुवाचिकता नहीं होती। इन देहोंके जो चाहे बलघन बच्चे कर्म हों या धुरे हों जहमा विकडुक भक्या और निर्वैयर्थ्य रहता है। देह बन्ध्यावस्थामें हो तो वह ज्ञानमा बाध नहीं हो जाता और देहकी साधन-धार्मिक अवस्थाओंसे भी उसकी स्थितिमें कोई भेद नहीं होता। देहोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें वह एक वैसाही रहता है।

दूसरा उदाहरण और भी अधिक लक्ष्यपूर्ण देखने-वाग्य है। सूर्यदेही पृथिवी आदि ग्रह बने हैं पृथ्वीके कण्डू बना है अर्थात् सूर्यदेही ने छोटे छोटे टुकड़े हैं। पृथ्वी बननेके पश्चात् उसपरके वर्षा बरिषां समुद्र कुछ बलस्थितिवां पक्षपक्षी और मनुष्य आदि सब बने हैं। अर्थात् वर्षावा इन सबकी उत्पत्ति सूर्यदेही हुई है। तथापि इन सबमें जो है सूर्यमें है वैया किसी अन्यमें नहीं है।

यही सूर्य सब बलुमात्रके प्रकाशित करता है। सूर्य तो सूर्यदेही है परन्तु अन्य वृषिवादि पदार्थ भी सूर्यदेही जस है अतः कोई वह भी कह सकता है कि सूर्यदेही

बचने जापको प्रकाशित कर रहा है तो वह कथन भी समझी है। क्योंकि सब क्षेत्रकोकस्तर सूर्यदेही जस है, पूर्ण सूर्य बलकथन सूर्यको प्रकाशित करता है।

इस लोकमें— इस भूलोकमें कुछ पदार्थ बच्चे, उच्च कहयेयोग्य हैं कुछ मध्यम हैं और कुछ निम्न हैं। वह उच्चमत्ता मध्यममत्ता और निम्नमत्ता हमने अपनी अवस्थाने स्थिति की है। सूर्यके बल होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिमें उनमें व कोई उच्चम है व मध्यम और व कोई निम्न है। क्योंकि मूकताः ये सूर्यदेही बल है।

अब सूर्यके किरण कभी और कुछ विषय उच्चम पदार्थों पर गिरीं कुछ मध्यम पदार्थोंपर गिरीं और कुछ निम्न पदार्थोंपर गिरीं तो भी मूकता वह उच्चमत्ता-मध्यमत्ता-निम्नमत्ता किसी पदार्थमें व होनेके कारण और वह हमारी कल्पित होनेके कारण तथा सूर्यकी दृष्टिमें वे सभी पदार्थ सूर्यके बचने विषय बलकथनी होनेके कारण सूर्यकी दृष्टिमें किसी पदार्थपर गिरनेसे सूर्यको ज्ञानम्व होता और किसी पदार्थपर गिरनेके कारण सूर्यको क्ल होता देनी कल्पनी नहीं रह जाती क्योंकि वह तो बचने ज्ञानपदारी रूप प्रकाश कर रहा है। उसमें हीनता और उच्चमत्ताकी कल्पनाएक नहीं है।

अतः कहा है कि सूर्य जैसे सब विषयको प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री-जहमा- क्षेत्रका स्थानी- जन्तु क्षेत्रको प्रकाशित करता है। बलुता जहमाही क्षेत्र है परन्तु व्यवहारकी सुगमताके लिये हमने उसमें सब कल्पना की है। इसी तरह मनुषि-अर्थात् माण्डविक धारिके— वह उच्च प्रकाशित करता है परन्तु मनुषि तो पुरुषकी धारिकी है। क्या धारिकी धारिकीके पुरुष हो सकती है? पुरुषकी धारिकी मनुषि है।

जैसे बलबल्लोंका वह सुदिमानोंकी बुद्धि होती है वैसीही पुरुषकी वह मनुषि है। अतः पुरुष सर्वत्र है जहाँ उसकी मनुषि-वहकी लक्षि उसीके साथ सर्वत्र विद्यमान है। मनुषितो सब कुछ सृष्टि बन रही है इसका वाक्य नहीं है कि उसीकी धारिकी सब कुछ सृष्टि बनी हुई है। जहाँ इसका सबको प्रकाशित करनेसे इसका व कुछ बलम है और व विगडता है। जैसे इसकी मनुषि बननेसे मूढ़ता कुछ भी विगडता नहीं है वैसीही वहाँ भी बनना कर लेनी धारिकी है।

(१४) परम-पद-प्राप्ति

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरपमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मसिद्धान्ता योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अन्वया— ये एवं ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं (ज्ञानं) भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुर्यान्ति ते परं प्राप्ति ॥ ३४ ॥

इस तरह अपने ज्ञानचक्षुषा द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको भेदको और प्रकृतिबंधनसे प्राप्तिपक्षोंके मुक्ति होनेके उपायको जो जानते हैं वे परब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

माधारी— अपनी ज्ञान-चक्षुसे क्षेत्र और क्षेत्रके जाननेवालेके भेदको जानना चाहिये और प्राकृतिक बंधनसे प्रत्येकको मुक्ति कैसे होती है इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । जो इसको जानते हैं वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकपी उपनिषद्में कथित ब्रह्मसिद्धान्त विभिन्न हुए,
योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
नामक तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

इस तीसरे विचार करके आत्माकी निर्देयता जाननी चाहिये और अपनी आत्मा भी निर्देयही है वह ब्रह्मकर अपने बालको भी निष्कलंक अनुभव करना चाहिये और ब्रह्ममें कलंक-पल्लव धालत इस संसारमें निष्कलंक होकर रहना चाहिये । इससे परम परम पदकी प्राप्तिसे विषयका वर्जन है—

(१४) ज्ञानचक्षुसे द्वारा, दिव्य दृष्टिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीचों को अन्तर है, जो भेद है उसको ब्रह्मब्रह्म ब्रह्मकर और मूलमात्रकी को प्रकृति है, जो उसका निज स्वभाव है उससे मुक्त होनेकी बुद्धि भी ब्रह्मकर जो मुक्त होनेका बाल करते हैं, वे परम पदको प्राप्त होते हैं ।

ज्ञान-चक्षु

पक्षि ज्ञान-चक्षु प्राप्त करने चाहिये । इसी अध्यायमें क्षेत्र ४६ ॥ १८ ॥ ज्ञानकी परिभाषा की गई है । वह ज्ञान ही एक प्रकारकी मूल्य दृष्टि होता है । उस मूल्य और दिव्य दृष्टिसे प्राप्त करना चाहिये :

“ इस शून्यदृष्टिसे सब दृश्य और हिंसा दूर हो जाती है ।
आत्मा और प्रकृति जाती है ।
परिचय स्थिरता और संक्रमण की छिद्र हो जाती है ।
सबकुछ ज्ञान प्राप्त होती है ।
भोग्य विषयमें विरक्ति होती है ।
ब्रह्मकर दूर हो जाता है ।
अमरब्रह्मब्रह्मप्राप्ति-बुद्धिमें शेष ही करने लगते हैं ।
भोग्यमें आसक्ति नहीं रहती ।

१० (दि. पी)

पुनश्चीदृष्ट इत्यादिके विषयमें असंगत विचार हो जाती है ब्रह्म-ब्रह्मिष्ठ सभीमें विचार सम रहता है ।

इसमें अन्वयविचारही अन्वयमात्र होती है ।

एकत्वस्वाभाव परम होता है, अनसंभवं जानेकी ब्रह्म होती है ।

एकत्वमें रहकर अध्यात्म-विचार करनेसे ध्यान प्राप्त होने लगता है ।

एकत्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले परम पदका वर्णन होता है । ”

वे ज्ञानके कक्ष हैं । इस ज्ञानसे एक प्रकारकी निष्कलंक और दिव्य दृष्टि मिलती है । इस ज्ञानदृष्टिसे प्राप्त करना प्रायःकलम पक्षि का काम है ।

ज्ञानके इन चक्षुषोंसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ प्रकृति और पुरुष-का जो अन्तर है वह जानना चाहिये । इसमें पूर्वोक्त प्रकार कल्पनागत भेद है बस्तुगत भेद नहीं । इसका ब्रह्मब्रह्म मन्त्रसे प्राप्त होता है । काल और मिठासमें कल्पनागत भेद है वह और रसमें भी कल्पनागत भेद है ब्रह्म और ब्रह्ममें भी वैराही भेद है । आत्मा और प्रकृतिमें भी प्रकृति आत्माकी अक्षिही होनेके कारण वैराही कल्पनागत अन्तर है बस्तुगत भेद नहीं है । तथापि इस भेदको देखनेसे स्वब्रह्मका प्रापण अच्छा होता है इस कारण क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेदज्ञानसे उत्तम अनुप्राण प्रापण करके, भूत-प्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे प्रायःकलमे परम पद प्राप्त हो सकता है ।

यह शरीर मेरा क्षेत्र है इसमें छुभाछुभ करके लोगों का भीकारोपन किया जाता है इस क्षेत्रका यथायोग्य उपयोग करनेसे यहाँ बहुत फलकी उत्पत्तिही बड़ी होगी यह बात जानकर जो अनुग्रह करेगा उसके किने यह क्षेत्र तारक बन जायगा। यह ज्ञान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योग्य विचारसे प्राप्त होता है। जानरहिते यह ज्ञान प्राप्त करना और अनुसार अनुष्ठान करते हुए जाये वहना सब साधकोंको योग्य है। साधन करनेके बिने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी कल्पना वायल उत्तम है।

इसी साधनसे मूर्खोंकी मूर्खिसे मोक्ष हो सकता है।

मृतमूर्खिका जब वंचमहावृत्त और सब दृश्य मूर्खोंक स्वभाव है। वही स्वभाव मनुष्यको मोर्खोंकी ओर लीकता है। इस मूर्खिसे कष्ट, स्वार्थ, ऊपर रख, और नीच ने को स्वयम् है, येही योग बनकर जीवको अपने ज्ञान बाँध देते हैं। जब इस मृतमूर्खिसे बर्बाद वंचमहावृत्तके सुखरूप मोर्खिसे मुक्त होयिका साधन को जानते हैं वेही उक्त साधनज्ञात परम गतिको प्राप्त होते हैं।

किन्तु तरह इनसे मुक्ति होगी ? जलन-दुष्टिसेही मुक्ति हो सकती है। यह जानकर ज्ञानरहितसे जब मूर्खता जाने जायक परम मोक्ष गति बर्बाद मोक्षको काम न लज्जा है।

॥ तेरहवें अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

तेरहवें अध्यायका मनन

इस तेरहवें अध्यायमें प्राग्भिसे भक्तवत्सल श्री भगवान्का ही उपदेश ब्रह्मण्ड धरा-महाविषे चल रहा है। अतः उप-देशकी प्करसताकी दृष्टिसे इस अध्यायका विशेष महत्त्व है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

इस अध्यायमें "क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ" का विचार और साधनको अपनी उक्तिके किने ज्ञानरूप साधनाका उपदेश है। पहिलेही श्लोकमें कहा है कि (इहं कर्त्री क्षेत्रम्) यह शरीर क्षेत्र है और (वत्सवः क्षेत्रज्ञः) इस क्षेत्र को जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वामी हमीका इस अध्यायमें विचार है। इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विचारको यथावत् जाननेके बिने सबसे बड़िसे हमका अर्थ समझ केना पाविये। इस समपत्तक इस भाष्यको प्रकट करनेवाले जो शब्द आगत हैं वे ये हैं—

१ सगुण	निर्गुण (गी ११:१३)
२ तम	उपोतिः (गी ११:१०)
३ जड	ध्वन
४ क्षर	अक्षर (गी ११:१५)

५ स्थूल	सूक्ष्म (गी ११:१५)
६ व्यक्त	अव्यक्त (गी ११:१५)
७ प्रकृति	पुरुष (११:१५-१६)
८ मूल	आत्मा (गी ११:१५)
अभिभूत	पुरुष (गी ११:१५)
सर्वसूत	माह (गी ११:१५)
मूलपुरुषमात्र	परब्रह्म (गी ११:१५)
९ ब्रह्म	देही (गी ११:१५)
देह	अधियज्ञा (गी ११:१५)
१० क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ (गी ११:१५)
	क्षेत्री (गी ११:१५)

इस ईगसे जलके चर्योंज्ञाता गीतानें मूर्खिदुष्टनजरी भाष व्यवस्थित किया गया है। यद्यपि इस चर्योंमें ब्रह्मण्ड पृथ्वी भाष व्यवस्थित होता है तथापि प्रत्येक शब्दमें जलके कुछ न कुछ भेद अवश्य है। इस भेदको देखता नहीं जलवत् भाषवत् है। अतः हम बड़िसे प्राकृतिक क्षेत्रज्ञी विचार करते हैं—

प्राकृतिक क्षेत्र

प्राकृतिक क्षेत्रों में 'प्रकृति शून्य' है। क्षेत्रों में वनस्पति
मूल्य है और सगुण समाज का धर्म, स्थल, व्यवस्था, 'ये
वस्तु योग हैं।' इनका अर्थ यह है—

- १ प्रमुख- सचिव, रक्ष, तथा इन् तीन गुणोंसे युक्त
२ तथा- अज्ञान सम्प्रकार ज्ञानप्रधानों अज्ञानमय
३ वह- ऐतन्मरहित, स्थिर,
४ हर- वाद्यवाद्य, शब्दवाद्य,
५ स्पर्श- श्रोत्र, चक्षुः आकाशाका,
६ स्पर्श- प्रकाश (विद्युत्वाद्य)

ये प्राकृतिक वस्तुओंके गुण हैं। अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपने-अपने स्थान पर रहती है। अब आप बार-बार इनके नामों को देखिये—

- ० मङ्गल- मूक मङ्गल दुखकी खनातन घण्टि, जिससे विशेष दुःख होती है ।
- ४ मूव- मङ्गलसे बना पदार्थ बनी वस्तु ।
- १ देह- प्राणीका शरीर । संभवसे बना ।
- २ देह- देह जिसमें कुछ प्राणिक होता है ।

ये धम्म विरोध करने के लिये है। हममें भी भूत 'धम्म' का कार्य बना हुआ और वेह धम्मका कार्य सचसे निर्वाह हुआ है। ये धम्म कोई विरोध मनुष्यकी लुब्धता नहीं देते। येव हो ही धम्म रहे हैं जो विरोध विचार करने योग्य हैं। प्र-कृति धम्मसे विरोध कृति करनेका पापव, विरोध विरोध करने को सफल है, यह भाव स्थित होता है या धर्म धम्मसे केवल उसमें जो धर्म चाहे सोना या धर्म है केवल स्वामी को चाहे कुछ हममें लगा धर्म है और उसके धर्म प्राप्त कर सकता है। यह भाव धर्म होता है।

प्रकृति धीर क्षेत्र

इस विरासत से शर्मको को पता लगा सकना है कि शक्ति और श्रेष्ठ ने दो धर्म (मिथे) महत्त्वका उपदेश दे रहे हैं। वे दो ही धर्म (मिथे) १२१-२३। १५-२४) मुख्य तथा वहाँ इस दोहमें अन्धकारमें प्रयुक्त विवेक मने हैं। इसका १२४ उपदेश बड़ी है कि, छाया अन्ध ने रहकर आध्यात्मिक नियम कर्म को और श्रेष्ठ मने तथा रहकर श्रेष्ठमें देखे योग बाने हैं। उपरोक्त उक्त कर्म केवल दोहरा दूधे मिथे ।

इस क्षेत्रमें जो बीज बोया जाय, वैसेही फल इस साधन-
को मिलेगे यह निश्चय है। यदि इसमें कुछ हो रहा है तो
निश्चय जानिये कि इसमें बुरा बीज बोया था। भागे साध-
नान रहे और प्रयत्न करते अच्छा बीज को देने जिससे
इसको अच्छे फल मिलेगे और आनन्द प्राप्त होगा। कुछ
बुराका हेतु कोई दूसरा नहीं है। अपने पैरमें बाधना
कमानेपर काम नहीं मिलेगी यह ध्यानमें रखना चाहिये।

क्षेत्रका महत्त्व

केवल एक 'शेव' घन्टसे उन्नति करनेक किये किया जाबा मगई सामने आ जावा है वह देखिये। साथक समझे कि यह मेरा खेत है इसमें जो चाहे बीज मैं बाक सकता हूं और इस क्षेत्रमें अधिक उपजाऊ बनाकर बहुत अच्छा फल प्राप्त कर सकता हूं। प्रत्येक साधकको यही बाधा देनेक किये यहाँ इस अच्छाईमें 'शेव' (खेत) घन्टाका प्रयोग किया गया है।

अपना एक लेख है 'देवी कहरना करनेसे बागे की कहरना'। आपही आप हो जायी है और अपना कर्तव्य स्पष्ट रूपसे सामने आ जाया है। लेखमें भी उत्तम मध्यम कविष्ठ प्रकार की प्रगति रही है। विशेषी यहाँ देहप्रवृत्तिसे मारितक राक्षस और तामस जीव प्रकाशक क्षेत्र होता है। विद्वत् लेखमें भी उत्तम प्रत्यक्ष और उत्तम आपादिद्वारा उत्तम बचाया जा सकता है। इसी तरह यहाँ तामस प्रवृत्तिसे उत्पन्न यम विद्वत्प्राकृत, बोधसाधन उपासना कर्मिद्वारा समितक प्रवृत्तिमें कलाप्रवृत्ति किताब जा सकता है। जैसे उत्तम नरक उत्तम कृषि होती है। उसी प्रकार यहाँ उत्तम जीववत् उत्तम कर्म प्राप्त हो सकते हैं। वत् उत्तम कृषिसे पंचधाम्य संपन्नता हो सकती है। उसी प्रकार यहाँ भी इस मुक्तप्रमद किने शुभ बलीव-धर्मकर्मसे शुभ कर्म बचरव प्राप्त हो म 4 व है।

पहाका क्षेत्र छय हवना उच्चत उपदेय दे रहा है और अपनी अपनी तकसिला साधन अपने हाथमें है यह बात स्पष्ट कर रहा है। पाठक इसका विचार करें और अपनी भविष्य कार्य अपने हाथमें जमा चमड़ा केमा चरनका प्रदान करें।

पुरुषरूपा सामान्यं

क्षेत्रका विचार किया जब पुरुषका विचार करना।

बेहमी परीक्षा करनी चाहिये ।

अनेक कपि—सुमिरैनि इस शेषका बहुतही वर्णन किया है । विविध कपि अनेक छन्दोंमें कुशल थे । इसी तरह मयमयानि प्रमाणोंसे निश्चितता करनेवाले अनेक सुनि हो गये हैं । उन्में अनेक हेतु दर्शाकर इस शेषकी महत्ता विविध प्रकारसे वर्णन की है । इस तरह प्राचीन राजा इस शेषका वर्णन करते रहे हैं इसको देखतेसे भी इस शेषकी योग्यता सहजमेंही ज्ञात हो सकती है । (छे ४)

क्षेत्रका स्वरूप

वर्षाणक क्षेत्र और क्षेत्रके स्वकर्मका विचार किया और उससे जो बोध निकला है उसको देखा । जब क्षेत्रमें विषय समानोष्ठ होता है उसका विचार करना है । इसका विचार इस बन्धावके छेक ४ और ५ में किया है । वहाँ जो क्षेत्रका स्वकर्म बताया है, वह यह है—

१ पंचमहाभूत—पृथ्वी वायु तेज वायु, आकाश के पांच महाभूत पांच तत्त्व (५)

२ बर्हकार—जई (जै) ऐसा जो कहना है, वह वैयक्तिक सत्ता फिर रखता है । इससे एक सत्ताकी दूसरी सत्तासे प्रभु सत्ता स्थापित हो रही है । (१)

३ इन्द्रि—ज्ञानमहत्त्वसि ज्ञानकति (१)

४ मयमय प्रकृति मूक प्रकृति (१)

५ ग्वाह इन्द्रियमय—पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय । मात विष्णु नेत्र रक्ता और काम के पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और हाथ पांच मुख उपर्य और गुरा के पांच कर्मेन्द्रिय हैं । मय ग्वाहवाही इन्द्रिय है । (११)

६ पांच विषय—छन्द स्वर्ग कर्म, रस और गंध के पांच भोगविषय हैं । पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे इन पांच विषयोंका ग्रहण होता है ।

काय से ग्रहणका ग्रहण होता है ।

स्पर्श " स्पर्शका "

स्नेह कणका

विष्णु " रसका " "

मात गंधका ,

७ भी भोग है और इनके भोगसेही मनुष्य भोगी होकर बह होता है । (५)

८ इच्छा—वाधवा, बाधमध्या, भोग प्राप्त करनेकी मयीया (१)

९ हेतु—कनुष, दूर करनेकी मयीया (१)

१० सुख—(सु+ख) जिससे इन्द्रियोंको समाधान मिलता है । (१)

११ दुःख—(दु+ख) जिससे इन्द्रियोंको समाधान नहीं होता (१)

१२ संभाव—समूह बनाकर रहनेकी चाह जैसे क्षीर और इन्द्रियोंका संयोग एक संभाव है । (१)

१३ चेतना—चेतन, इच्छाका प्रयत्न, ज्ञानपूर्वक प्रयत्न (१)

१४ चक्षि—धारणाशक्ति, सबको बाधकर देखकर संभाव लेकी सामर्थ्य (१)

यह ११ प्रकारका विकारसुख होनेवाला क्षेत्र है । इसमें विकार इस प्रकार होते हैं । विकारका जन्म विगाह है । इस क्षेत्रविभागोंमें जो विकार होते हैं वे इस तरह होते हैं—

क्षेत्रके विकार

पंच—महाभूतोंमें पार्थिव भाग और एक भाग एक दूसरेके साथ मिलनेसे अथवा जल—वायुके संयोगसे स्रवण सुक होती है, सूक्ष्मिजोंसे पृथ्वीपर घुसकता होती है, वायु भी सबको घुसा देता है । इस तरह इनमें अनेक प्रकारके विकार हो जाते हैं । बुद्धयवस्थति तथा पसुपक्षियों के क्षीर बनते हैं बहते हैं और विमटते भी हैं । वे भी पांच—भौतिक विकारही हैं । एक दूसरेके साथ मिलनेसे अर्थात् विकार होते हैं, इन विकारोंका धाधही रसायनधाय है ।

सुखमें विकार होते हैं । कुछ भोग दुर सुखिवाले होते हैं । सुखिभी दुःखता एक बड़ा घाती विकार है । (सुखिजाने) इच्छति । मयु । इन्द्रि मयसे मुक्त होती है । मयय दृष्टक विकार ज्ञानसे दूर होते हैं ।

अन्धकार—मूक प्रकृति महत्ताय—बहकार इनमें विकार होकर स्रवण होती है, सुखमें भी अर्थात् विकार हो रहे हैं । वह वात यहाँ हुआ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

ग्वाह इन्द्रियोंमें विविध विचार योग भाषात बाध होते हैं, वह वात मनुष्यके अनुभवकी है । इन तोगोंके विचारके बिने वायुर्देही रक्ता हो गयी है । इससे इनमें विकार होनेकी वात सिद्ध होती है ।

धर्म-स्पर्धामें विविध विकार होनेका भी अनुभव मनुष्यको है। विद्वत् धर्म विद्वत् गण विद्वत् रूप मनुष्यके धामने भाते हैं। इसी प्रकार इच्छा-वैषम्यमें भी अल्प विकार हैं, यह बात पोटवसा विचार करनेसे प्रत्येक पाठक जान सकते हैं।

अतः यह सब क्षेत्र स-विकार वर्णित विकार होनेवाला विद्वत् व्यवसायका विगाहनेवाला परिवर्तन होनेवाला है, ऐसा यहां कहा है। साधक इस अपने क्षेत्रको विकारवात् जानें और उसमें विकार कम होनेयोग्य अपनी चेष्टाएं करें।

चेतमें धाम्यके साथ वास्तव उगता है अद्विष्ट अविद्विष्टिसे दानि होती है अनेक धाम्यके रोग होकर विगाह होता है इस तरह चेष्टी करनेवालोंको अनेक विकारोंका अनुभव है। इसी प्रकार इस अध्यात्म-क्षेत्रमें भी अनेक विकार होते हैं और वहाँकी अध्यात्मकी छविका विगाह होता है यह साधकको जानना और यह विगाह अपने चेत में न होनेके लिये साधकान्तराणा चाहिये।

मेरे इस अध्यात्म-क्षेत्रके पंचमहाभूत उनकी सम्मत्ता ग्राह्य है इन्द्रिय इन्द्रियके भोगविषय के विकारहित हों। मेरा मन मेरी इच्छा और मेरे मन्त्र बोधरहित हों मैं यहां ऐसा आचरण करूं कि, मेरे आचरणसे वहां किसी प्रकार भी विगाह उत्पन्न न हो। मैं साधकान्तराणा कहकर वहाँकी आध्यात्मिक चेष्टी करूं और मोक्षकर्म करूं वहाँसे ही प्राप्त करूं।" इस प्रकारकी आकांक्षा साधक मनमें धारण करे। जो साधक इस तरह साधक रहेगा उसके क्षेत्रमें विकार नहीं होंगे। विकार न होनेसे उसका क्षेत्र उत्तम स्थितिसे सुखेगा और चलेगा। वहाँ पर्यन्त चेष्टी करना इष्टीक अधीन है।

इतने विचारके बादमें ध्यानेमें यह आगाह होगी कि, इस क्षेत्रका इतना निवर्तन करनेका प्रयोजन क्या है। जो साधक इस क्षेत्रको वचावत् जानेंगे और अपने आपको

क्षेत्री नर्पात् क्षेत्रके स्वामी तथा क्षेत्र ज - इस धर्मका मान्यार धर्ममें क्षेत्रका उपभोग करनेकी विधा को वचावत् प्राप्त करेंगे उसके लिये वह क्षेत्र सुख-दायक होगा इसके असीम आनन्द मिलेगा और वरम अहं स्वयं प्राप्त होगा।

साधकोंकी सिद्धि उनके पुनर्यागपर अवलंबित है, वे साधक पुनर्याग करनेके लिये स्वतंत्र हैं, यह बात यहां फिर दोहराई है। और वही बात वक्तव्यके लिये उक्त करी क्षेत्र है और साधक स्वयं उस क्षेत्रके स्वामी हैं यह अपने यहां विचार करना है।

ज्ञानका परिणाम

साधक और उक्त कार्यक्षेत्र इच्छा इच्छा निवर्तन करनेसे परमार्थ सब साधकको जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिये वह कहते हैं। यह ज्ञान साधकको प्राप्त होनेसे इस ज्ञानसे साधकको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसका निश्चय हो सकता है। अतः वहां इसका निश्चय विचार करना चाहिये।

यहां श्लोक ७ के ११ तक जो कहा है उसके (पञ्च ज्ञान) 'ज्ञान' कहा है परन्तु विचार करनेसे वहां कहेया कि ज्ञान ज्ञानसे साधकके मनमें वहां कहे ज्ञान स्थिर होते हैं और उस ज्ञान न होनेसे इसके विपरीत मान्य होते हैं।

जब कुछ वास्तुदेव है (गी ७।१५) ज्ञान मनुष्य ईश्वरकी मनुष्यि है जिससे सब कुछ विद्यमान है। (गी ७।१८-१९) विद्याका सब रूप ईश्वरकर्म है और उस विद्याकर्ममें मेरा रूप संमिश्रित है, इसलिये मैं उससे अविरत हूँ मैं उससे अकल्प हूँ। (गी ७।१९) इसका नाम ज्ञान है। इस ज्ञानका उपदेव द्वितीय अध्यात्म के अन्तर्गत अध्यात्मक विद्या है। इस ज्ञानकी मयमें निवृत्त होनेसे विद्याका मन अकल्प धारण परित्यक्त हुआ है इसके मयमें अमावस्य 'आदि भाव स्थिर होते हैं। इस ज्ञानी पुनर्याग अवस्थावस्तुतः मन इव निराकारित भावोंसे पुनर्याग होता है—

१ अहिंसा

जानी पुनर्याग अहिंसा-वृत्तिवाला होता है। यह धर्मकर्म है कि जब विद्यमान अकल्प परमार्थ है उसमें मैं अहिंसा हूँ, मैं उससे अकल्प हूँ, अतः इसमें ही द्वितीय द्विधा की, जो वह मेरी ही हिंसा होती। हिंसाभावसे धर्मका स्थिर नहीं रह सकता। जब प्राणियोंके अधन होना चाहिये। जिस समाजमें निर्मलता रहती है वही समाज कुछ प्रगति कर सकता है। वही विचार करके ज्ञानी पुनर्याग (नया सर्वेभ्यः अन्तर्गत) सुखसे सबको भेदे अधन कर दिया है।

देसा करकर पूर्व बर्हिसाधीक होता है।

परन्तु जो बच्चापी है वह कहता है कि मैरी ओका हूँ, दूसरोंका बातपाठ करने में योग्य योग्य। दूसरोंका नाम करना दूसरोंको छुड़वा और मैं अपने योग बहाक्या। इस तरह बच्चापके विद्या करनेकी वृत्ति बहनेसे निन्द्य बर्हिषि बहती है। निन्द्यें छुड़ बूँये विद्या पुत्र बहनेपाठ बहते हैं और किसीकी भी भीषितकी सुरक्षितता नहीं रहती। बच्चापके ऐसे बर्ह्ये होये लगते हैं।

इसविषये सप्त ज्ञान मनुष्यको प्रदा करवा चाहिये और बर्हिषाधीक मनुष्यकी बर्हिषे।

२ अमानिस्व

मायी व होमा अपना बहापन विचकलेकी जिसे इच्छा नहीं होती कोयमि अपना महत्त्व कायित हो बाल ऐसी महत्त्वकाय जिसे नहीं होती, कोम मैराही सत्त्वमर को, और किसीका व करें ऐसी जिसमें इच्छा नहीं होती बहको 'अमायी' कहते हैं। अपने बन्धु विद्या ज्ञान बहनें बर्हिषे ज्ञान पुत्र बहनेपर भी तथा अपनी योग्यता सिद्ध बहनेपर भी जो अपना विद्याका बहानेका बाल नहीं करता उसमें अमानिस्व गुण है, ऐसा कह सकते हैं। जो ज्ञानी होते हैं वे अमायी होते हैं।

परन्तु जो बच्चापी होते हैं, जिनमें सप्त ज्ञान नहीं होता, वे अपना बहापन बर्हिषिक शिक्षालेके जिसे पात्र करते हैं प्रसीक स्थानमें जाते जाते बहते हैं अपनेको प्रसूक स्थान मिके इच्छे जिसे मयलकी पराकाया करते हैं और अपनी योग्यता न होवैपर भी बहें स्थानपर जाकर ईश्वरका बाल करते हैं। इससे वह बर्ह्ये विगहता है और इसकी भी बर्हिषा होती है।

३ अदुमिस्व

इष्ट व होमा इष्ट व करना ज्ञानीका कथन है। इष्टका बर्ह्ये मिष्टापात्र अपने बन्धु को बर्हिषाव नहीं है, वह है ऐसा जो बहता है बहका नाम इष्ट है। स्वर्ग योग्यताका न करते हुए 'मैं योगी हूँ' ऐसा बहता और योगका उपदेश करता है। स्वर्ग प्राप्ताकारी न होते हुए अपने बर्ह्येका बर्हिषाकारी बहापन इष्ट है। बर्हिषापी इष्ट करते हैं। इष्टको हानि होती है, यह

देखकर ज्ञानी कभी इष्ट नहीं करते। इष्टको बहता फसती है मोहित होती है और दुष्टके पीछे पड़कर फंस जाती है। इष्टको ऐसा बर्ह्ये होता है वह देखकर ज्ञानी बर्ह्ये इष्टको दूर रखते हैं और जो बन्धु होता है बर्हिषा बाहर बहते हैं। इष्टी कोम बाहर बहा बाहम्बर रखते हैं और बहताको उगते हैं। वह इष्टी बर्हिषापी होता है और ज्ञानी कभी इष्ट नहीं करता।

४ आर्जिव = सरलता

ज्ञानी सरक-स्वभाव होता है। उसमें कुटिलता नहीं होती। वह जो कहता है नहीं करता है। सरकता और बहता ज्ञानीमें बहने स्वभावसे रहती है। इसके विरुद्ध मानहीन मनुष्य कुटिल होता है कपट करता है, दूसरोंको झगता है। कुछ कहता है कुछ और करता है।

ऐसा कुछे हुए कुछकी सुगंध, स्वभावसेही फैलती है बैतेही ज्ञानीका सरक स्वभाव बर्हिषा जाप बहानेके अनुभवमें जाता है। वह अपना सरक सप्त बहने कर्हिषी विनासकोच प्रकट करता है। उसमें कोम कपट और टेढापन नहीं होता बर्हिषा विषय और बहता होती है वह छेदवर्हिषा भाषन करता है। बर्हिषाकरमें कुछ और बाहर कुछ ऐसा जाब जिसमें नहीं होता वह सरक-स्वभाव होता है। ज्ञानीकी ऐसीछेही मनुष्य ऐसा हो सकता है।

परन्तु जिसमें सप्त ज्ञान नहीं है वह कपटी कुटिल कोयी देवा अभिमानी बनेकी होता है। उसका वह स्वभाव इसके बाबर्हिषेही दीक बहता है। वह सप्त बर्हिषाका प्रभाव है।

५. शांति, धमा

शांति का अर्थ धमा है धमाका बाधन भी बहने करनेका धामार्थ है। दूसरोंके जिसे अपराधोंका प्रतिकार न करना धमाका एक बाधन है। और बर्हिषावमें होवैवाके कठोंको बहने करनेका धामार्थ भी धमाके बर्हिषेही जाता है। ज्ञान होनेके प्रज्ञात् मयमें बर्हिषा भाव स्थिर होता है, इस कारण जिसे दूसरा कहा जाय ऐसा कोई बहानी नहीं इच्छे जिसे जो अपना बर्हिषेका द्वारा होते हैं, उनमें भी अपना भाव है, ऐसा प्रतीत होता है। अपनी अपूर्णताके कारण उसमें अपूर्णता रही बहा उससे

दोष मेरी बाएँवाले कारण हुए ऐसा उठे अनुभव होने लगता है। ऐसा माननेवाला मनुष्य दूसरोंको दुष्ट देखे दे सकता है? वह दुष्ट करेगा तो अपनेकोही करेगा और दूसरोंको तो क्षमाही करेगा। इसलिये ज्ञानी ब्रह्मब्रह्मण करता है और दूसरोंके विषयमें क्षाति चारण करता है।

इसके विपरीत ज्ञानहीन मनुष्य दूसरोंका दोष देखतेही क्रुद्ध हो जाता है चिन्ता है आश्लेष करता है, दूसरोंको पीटा देता है और इस तरह कगलमें बसाण्डि उरपण करता है। वह स्वयं बलाय होकर दूसरोंको भी बलाय करता है। अहमसीकता तो इसमें रहतीही नहीं। अहमिष्ठ और परपीडन के भाव बलायके कारण बढते हैं और कगलमें बलायितको बढते हैं।

६ आचार्योपासना

ज्ञानी साधक सगुरुकी सेवा करता है। सगुरुके ज्ञान प्राप्त होगा है इसलिये वह उसकी भक्ति करता है सेवा करता है और इससे उसको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ज्ञानके भक्ति बढती है और भक्तिये ज्ञान बढता है। इस तरह एक दूसरोंकी इन्दि होकर वह साधक पूर्ण ज्ञानी होता है।

यहां आचार्यकी उपासना कथ्य है। आचार्य उसका नाम है कि जो (आचार्य प्राहति आधिकेति बर्णन्। विष्णु) उपाचारका प्रहण करता है, जल जलों का संग्रह करने के लियेको देता है। वह सदाचार है वह दुराचार है। उपाचारके प्रहणके ये काम हैं, दुराचारके ये हानियां हैं ऐसा समझकर जो अपने चिन्तोंको उपाचारकी बनाता है उस आचार्यकी योग्यता बहुत बढी है। गुरु और अभ्यास विद्या पढाते हैं परन्तु आचार्य विद्या पढानेके ज्ञान साथ सदाचारकी शिक्षा भी देता है। ऐसे आचार्यकी सेवा-छात्रता करना अथवा उसकी सारसंगठिमें रहना जो शिष्य करते हैं उनको सत्य ब्रह्मज्ञान मिलता है और उनके अहमकी धक्कता होती है। इस तरह ज्ञानीका व्यवहार है।

ज्ञानहीन लोग गुरुके कहते हैं उसके लक्ष्यकार करते हैं उनकी किन्ता करते हैं। गुणभक्ति उनमें नहीं होती बलः वे प्रसन्नतासे संविष्ट रह जाते हैं।

७ शौच-पवित्रता

इस पवित्रताका संकेत केवल धारीरिक स्वच्छताके प्रापरी नहीं है। प्राङ्गि, मन इन्द्रियां शरीर पर प्राम

वादि धनकी स्वच्छता और निर्मलता वहां बनी रह है। शरीरकी पवित्रता विचारोंकी शुद्धता कर्मकार्योंके निर्मलता व्यवहारकी पवित्रता भावात्की निष्कलंका, रसकलहकी स्वच्छता व्यापारकार्योंकी शुद्धि एवं कलह इष्टमें समावेश होता है। जिस समय मानवी भाव-व्यवहारमें वह पवित्रता पूर्ण रूपसे सिद्ध होगी उस समय मनुष्यसमाज उच्च स्थितिमें बचना बाधक व्यवहारमें लेना। यही बाधक समाज-स्थिति वांछनीय व्यवहारमें अपने लिये प्रयत्न होना चाहिये। ज्ञानसेही वह समाज-स्थिति सिद्ध हो सकती है।

जिस समाजमें सत्य ज्ञान नहीं है, उस समाजके लोगोंमें अपवित्र विचार होते हैं, उनकी भाषा अस्मक होती है, व्यवहार अशुद्ध होते हैं कर्मकार्यें मलिन होती हैं, व्यापारविचार कलंकित होते हैं, रसकलह अपवित्र होते हैं, व्यापारकार्योंमें झूठिकता और दूसरोंको क्षामेकी अपवित्र शुद्धि होती है। ऐसे समाजमें किसीको भी कुछ मल होनेकी भाषा नहीं करनी चाहिये। दूसरोंको ज्ञानक कोई प्रकार मनुष्य बचवाध वा अस्मान् मुक्ती हुआ है ऐसा ईशोपा, उपाधि अशुद्धि व्यवहारसे मानकोंको भित्तानी कुछ प्राप्त होता अर्थात्तव है। इसीलिये शुद्धिजन्य व्यवहार ज्ञानमें किया गया है।

८ स्वर्यव्यवस्था

चक्रकलाका बसाव स्थिरता, एक कार्यमें स्थिर रहना, एक ओरका और दूसरा करना दूसरा ओरकर तीव्रता बल करना ऐसा व करना परन्तु एकही पुन कार्य बल करना और उसीको बलपटक पुनृचाना वह ज्ञानसेही हो सकता है। ज्ञान-हीन मनुष्य चक्रक बलवत्त्व स्थिर दुस्विता होता है। अस्थिरतासे हानि और स्थिरताके ज्ञान होता है।

कोई मनुष्य कुछ स्थापन करता है। यदि उसका बल विचार रक्षणेयोग्य स्थिर व रहा तो व्यवहारमें स्थाप कोई विचार नहीं रहेगा और इसी कारण उसकी व्यवहारमें बलकला रहती। जो अपने बचनपर स्थिर रहेगा वही व्यवहारमें धक्क होगा।

स्वर्यका अर्थ है शरीरकी स्थिरता, जो बढने लगती होती है। पहले मनुष्य अपने स्वार्थमें स्थिर रहता है,

निर्बन्धी बरखे बंधक हो जाता है सिविक हो जाता है और अपना कार्य नहीं करता। अपने स्वामयें उबर भी नहीं पकड़। अस्थिरता निर्बन्धताकी सूचक है और स्थिरता बन्धताकी होनेकी सूचक है। इसीलिए यहाँ कहा है कि ज्ञानसे बंध प्राप्त करनेके अपने स्वामपर स्थिर रहना चाहिये। बुद्धमें निश्चय प्राप्त करनेके लिये बुद्धमें अपने स्वामयें स्थिर रहना चाहिये सुनि-हिर की ही निश्चय होगी। स्थिरपद्म ज्ञानके साथ बड़ा वनिष्ठ संबंध है क्योंकि ज्ञानसे संसार-बुद्धमें निश्चय प्राप्त होती है।

९. आत्म-वि-नि-ग्रह

ज्ञानसे आत्म-विनिग्रह किया जा सकता है। आत्म-विनिग्रहका अर्थ अपना विशेष नियम अर्थात् संयम। अपना विशेष प्रकारसे संयम करना ज्ञानसेही सिद्ध हो सकता है। आत्मसंयम मनोनिग्रह इन्द्रियसंयम यह मानवीय उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। इस संयमके बिना मनुष्यकी उन्नति असंभव है।

आत्मरहित मनुष्य स्वैराचार करता है अपनी इन्द्रियोंको और ओहकर हुए जलसमयों में फंसाता है इससे व केवक उनीम बहिर होता है मनुष्य उसके बंधनोंको भी तोगी होना पड़ता है। अनिच्छारी मनुष्य उपर्युक्त शिरोमंड परित होना है इससे उधको पीना तो होसीही है परन्तु उधके अतिमय रोम उधकी सन्तानोंको भी पीना देते हैं। स्वैराचारक आत्मिकतक परिपक्व इसी कोकमें प्रवृत्त होकरा है। ओकनेके स्वैराचारसे अनीम होता है इसी तरह अन्त्या इन्द्रियोंके स्वैराचारसे-असंयमसे अनात्म परिणाम भोमने पड़ते हैं। अज्ञानी कोम स्वैराचारकोही सुकक धावन मानकर अपना धाक करते हैं और अन्तमें पड़ताते हैं।

यहाँ यहाँ कहा है ज्ञानसे आत्मनिग्रह अर्थात् अपना संयम करना अपने आत्मको अपने स्वाधीन रहना भइकने व हैय, आचारके अंत्यमयें रहना चाहिये। विशेष रीतिसे अपना संयम करनेसेही आत्म सुख प्राप्त हो सकता है जो स्वैराचारियोंके कभी नहीं मिळ सकता। आत्मसंयमके बिना किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती।

१० इन्द्रिय-मोर्गोंके संयममें वैराग्य

मोर्ग इन्द्रियका भोग मिश्रित हुना है, बीडा येन रूप ११ (हिं गी)

कभी भोग कर सकता है काम सम्पत्का भोग कर सकता है, इसी तरह अन्त्या इन्द्रियोंके भोग मिश्रित हैं। येही भोग इन्द्रियोंके अर्थ हैं। जिसको सत्य ज्ञान नहीं है वह समझता है कि अपना अन्त्या इन्द्रिय भोग भोगनेके लियेही है। वह भोग भोगनेके मंत्र पढ़ता है मोर्गोंका विचार करता है और वारंवार विचार करनेसे अपने शरीरकी अस्थि झीन करता है। जीमोमकी कर्मात् सुभनेसे और वारंवार उमके कमक विंशन करनेसे मनुष्यका वीर्य झीन होता है और उधकी जावुही इस मानसिक भोगसुण्यासे झीन होती है इसका अनुभव बहुमोर्गों है। क्या अपनाही नास्त करना मनुष्यके लिये योग्य है। कदापि नहीं।

मनुष्यकी मोयसक्ति मर्वाहित है। अन्त्याभोगकेही विषयमें देखिये। मनुष्यने अपने पास कितने भी अन्त्या समग्र किया तो भी वह प्रतिदिन तेर दो घरही जा सकता है। मान कीलिये ५ सेर का सकेगा तो भी वह भोग मर्वाहितही है। जितना मर्गमें जा जाय उधना भोग करना उधके लिये असंभव है। इस कारण मनुष्यकी मोयसक्ति मर्वाहित है। जिसे यह मनुष्य जितना चाहे उधना अन्त्या भोग नहीं कर सकता उधी प्रकार जीमोम करनेकी बाति तो उधकी उधसे भी अधिक मर्वाहित है। अन्त्या भोग भी वह अमर्वात् प्रमाण में करनेमें असंभव है। कपडे धरीरपर धारण करने हैं परन्तु वह भी वह एक समय एकही कोट पहन सकता है और एकही छात्र शिरपर धारण कर सकता है। धरमें हजारों कपडे रहें परन्तु इसकी उपभोगसक्ति मर्वाहित होनेसे वह अधिक उपभोग के नहीं सकता।

परन्तु मनुष्य जब अपने पास आत्मिक भोग वस्तुओंका समग्र करता है तब उधने भोमके वर्या दूसरोंके मिळते नहीं और उधने मनुष्य आत्मिक भोगोंसे हुए होते हैं। वह अनीम अपरिमित भोगसुण्यासे होता है। इसकी कितनी भी अपरिमित भोगसुण्या हो तो भी वह अपरिमित भोग भोगही नहीं सकता। फिर अपरिमित भोगसाधन अपने पास उपगृहीत करने रखनेसे हुये वना काम होगा। तयापि मनुष्य अपनी भोगसक्ति मर्वाहित है वह व जानकर अपने पास आत्मिक भोगवस्तुओंका समग्र करनेके लिये अनीम परिक्रम करता है। इस कारण अन्त्या कोय भोगोंसे बंधित रहते हैं और इस कारण इस अनायमें सदा अनात्मि रहती

है, एक दूसरेसे द्वेष करना है। परस्पर शत्रुताका भाव बढ रहा है यही इसका कारण है।

यद्यपि भोगच्छक्ति मर्यादित है तथापि अमुक्त अधिक भोग भोगवैकी बराकादा करता है। यद्यपि अपनी मर्यादासे अधिक भोग करता है। मोक्ष भी अधिक चाहा है। परन्तु गामी न होना हुआ अधिक खीझप्राप्त करता है। इस अधिक भोगसे भी यह रोगी होता है और दुःखकोही बढ़ता है। अतः मोक्षोका विवक्षा सेवम निम्ना आप्य कतथा ॥ कामदायक है। इतिनिष्ठे कहा है कि इतिनिष्ठे भोगोक्ति सेवजने बराम्भ प्राप्त करना चाहिये। इतिनिष्ठे स्वैराचारी और मोक्षी ब्रह्मा हाधिकारक है।

श्रावस्तीन लोग ओपोंमें फसते हैं और अपनी जातुकारी पास कर लेते हैं। अतः इष्टियोंके अर्थोंके विषयमें विरक्त रहना योग्य है। इष्टिभोगोंके विषयमें ऐकमेवे समुप्य उभ ओगोंके दूर रह सकता है। जैसे मित्रात ऐकमेवे कानेकी इच्छा प्रयत्न होती है परन्तु उद्यमें विप मित्रा है ऐसा श्राव होनेसे वह इच्छा विवृत्त होती है। इसी तरह उभ ओपोंके विषयमें शोच-यति होनेसे वैराग्य प्रयत्न स्थिर रह सकता है।

समस्यायें सुख और समाधान सुनिश्चित होना चाहिये ऐसी हफ्ता होनी तो योगोंकी प्रत्यक्ष वास्तवा मर्यादित करना चाहिये । योगवास्तवा मर्यादित करनेके लिये योगोंमें जो दोष हैं वस्तुतः त्याग प्राप्त करना चाहिये । इससे योगोंकी वास्तवा मर्यादित होगी मर्यादित प्रमाणायें भोग लक्ष्यके प्राप्त हो सकेंगी और योगवास्तवाही मर्यादित होनेके कारण मिलने भोग मिळेंगे उन्हींसे तृप्ति होगी और समस्यायें सुख तथा समाधान सदा सुनिश्चित रहेगा ।

इस तरह लोगोंके विषयमें वैराग्य छमाजके स्वाभाविके
छिने जलजल आवश्यक है। जिस छमाजमें लोगोंकी वासना
जलवायु बढ़ती जाती है, आज वह भोग मुझे मिला एक
पह प्राप्त कहूँगा। पृथ्वी प्रकट वासना जिस छमाजमें बढ़ती
जावगी वह समाज जल्दसे और वादसे कहहमें हुए वासना
और सदा जलप्रतिमेंही छल्ला जावगा। इस कारण जलके
हारा जलमर्ममय इतिवृत्तमय मनोविग्रह करने इतिवाप्यो-
क विषयमें वैराग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

११ निरभिमानिवा

અહારકા બર્થ થર્થ સમીક અધિભાગ છે । હસ્યે

आत्मका बाध होता है। जहकर वही है वही ज्ञान की
रह लक्ष्य। जैसे बाध बढ़ता है सूर्य चमकता है वंश-
की बढ़ रही है वृक्ष छाया देता है, वह ध्व स्वभावे
होता है, उसमें स्वयं कोई निमित्त नहीं होता। जैसे
स्वभावसे विरमिमात्र होकर जुग कर्म करवा पावने।
मनुष्यके मनमें विचारमें उच्छ्वासमें और बाधमें ज्ञान
विरमिमाली वृद्धि रहनी पावने।

जहाँकारसे मनुष्य अपने आपको जन्म निश्चये हुए मानता है। मैं निश्चये निश्च हूँ, मैं मोक्ष हूँ और जन्म मे उपभोग है, इस विपरीत व्यवस्थके कारण मनुष्य अपने आपको निश्चये पुनर्जन्म समझता है और जन्म मानने हुए होता है। सब धर्मसिद्धान्त मनुष्य जन्म निश्चये जन्म नपुनर्जन्म है अर्थात् माना है इस सिद्धान्तपर बलवन्ति हैं। जहाँकारसे मनुष्य अपने आपको निश्चये पुनर्जन्म निश्चये निश्च, निश्चये जन्म मानता है इस कथन इससे मानक व्यवस्था करनेसेही इसमें अज्ञानकी बुद्धि होती है और वही इल्लस भव दुःखोंका कारण है। इससे स्पष्ट होता कि जहाँकार को माना करवा जायिये।

कनक अर्चन मनुष्यके मनमें है। इसे है स्वयं मनुष्यके मनमें अद्वयभाव उत्पन्न नहीं होता। ईश्वरके आकाशके सब विषय अद्वय हैं, वह भावही सब परात्माका मूल है। वही धातु हृद जलके अमितामी और महती मनुष्य आकाशके अविस्मरणी होती नहीं सकते। इस अद्वय विविधता हृदि प्रत्यक्ष करनी चाहिये समावर्ति विविधताही क्या केना चाहिये।

१२ वन्मसुत्पुञ्जराभ्यामिदुःखदोषानुदर्शन

कमरसे केकर धारुणक बरा आदि, पुत्र भी हो
होते हैं। इनको पहिचनेही देवता और इनके इत्येक
अवाक ज्ञानसे कन्या आदि। ज्ञान-सम ज्ञान होयेही
(जरा) ब्रह्म कन्या वर भी का सकती है, वाक्य
अर्थकर्म योगाचार्यसे किया जा सकता है। योगज्ञानसे
धीन बरा नहीं जाती और पुत्रसेही भी अधिक बनती
होता।

योगसाधनके चौथि वसिष्ठ नेत्रि आदिछे एवा आत्म-
साधनसमके सम्प्रदायसे व्यापि आटीही रहीं और जानी छे

भीम इराणी का सक्ती है । भोगसाधन व्याधिसमयका उपग्रह साधन है । इनसे वो मृत्युलक्षकों दूर किया जा सकता है फिर बरकाद दूर होना सहज ही होनेवाली बात है ।

भौतिक और सामाजिक दुःख कैसे होते हैं विविध प्रकारके जैविक, रासिक और सामाजिक दोष किस प्रकार होते हैं, इनके मूल कारणों की खोज ज्ञानसेही हो सकती है । इसका मूल कारण देखकर उसका नाश करनेसे दुःख और दोषोंका उपशम हो सकता है ।

ज्ञानहीन मनुष्य जरा व्याधि और दुःख जानेके पछाड़ उपाय करनेके लिये शीघ्रता है अतः वह अपने आपको इस दुःखोंसे मुक्त नहीं कर सकता । परन्तु ज्ञानी मनुष्य जरा जानेवाली है व्याधि समस्तमें फैली ही संभव है वह दुःख परिणामों होना संभव है वह सब पहिलेही जानकर उससे दूर करनेके लिये जो जो उपाय लिये जाने चाहिये वे पहिलेही कर लेता है । इस कारण अन्य लोग दुःखोंसे पीड़ित होनेपर भी वह ज्ञानी दुःखोंसे दूर रहता है । योगदर्शनमें कहा है—

हेयं दुःखमनागतम् । (योगदर्शन)

जो दुःख जाता नहीं है उसका प्रसिर्बन्ध जानेसे पूर्व ही करना चाहिये । ' दुःख ज्ञानेपर उसको भोगवादी पड़ता है । अतः जो ज्ञानी दुःख-दोष होनेके पूर्व ही प्रसिर्बन्ध उपाय करते हैं वेही दुःखोंसे अपने आपको बचा सकते हैं ।

कर्मसे केकर मृत्युलक्षक क्या होता है ? शरीर भीम होता है, व्याधियोंसे पीड़ित होता है अनेक दुःखोंसे पीड़ित होता है, अनेक दोषोंसे विविध कष्ट होते हैं । मनुष्य विचार करेगा तो उसे कर्मसे केकर मृत्युलक्षक बार बार ही सब पष्ट रहा है ऐसा अनुभव हो जायगा । ज्ञानी मनुष्य समझती नहीं कि बागायी बापसिधे किस तरह इत्यादि करते अतः वह बापसिधे जानेतक कुछ भी नहीं करता बापसिधे जानेपर दुःखसे पीड़ित होकर छाती पीटता है दुःखसे निवृत्त होता है कहेंगे बागक बनता है और सब सब केस है । परन्तु ज्ञानी पहिलेसेही सोचता है कि अब यह दुःख जानेवाला है, इसके प्रसिर्बन्धके लिये वह उपाय करना चाहिये । वह उपाय करता है और उपाय ठीक होनेपर दुःखसे बच जाता है । ज्ञानसेही यह हो सकता है अतः

कहा है कि जरा-व्याधि-दुःख-दोषोंको पहिलेसे देखना चाहिये और उसकी निवृत्तिका उपाय सोचना चाहिये ।

१३ अनासक्ति

आसक्ति न करना, भोगोंपर आसक्त न होना इस भावसे अन्तर अनासक्तिये सब व्यवहार करना कष्टदा भारम न करना अत्यवश्यक है । भोगासक्तियेही सब कष्ट होते हैं । अतः कहेंगे अपनेके लिये अनासक्तियेही सब व्यवहार करना चाहिये । सब दुःख दूर करनेके लिये अनासक्तियेही एकमात्र उपाय है ।

ज्ञानी मनुष्य प्रत्येक कर्म आसक्तिये करता है, कर्मकल्पर आसक्त होता है और दुःख भोगता है । आसक्ति के होनेपर दुःखोंसे बचनेका उपाय नहीं है । अतः वही कहा है कि आसक्ति छोड़ देनी चाहिये ।

इस आसक्तिके साथ ईश्वरार्थेय वैराग्य वह छोड़ ८ का निश्चय तथा छोड़ ७ का अस्मदविमोह ' वे दोनों उपदेश अवश्य देखने चाहिये, क्योंकि इन दोनोंका अनासक्तिके साथ बड़ा सम्बन्ध है । वैराग्य और अस्मदविमोहके बिना अनासक्ति सिद्ध होना अशक्य है ।

अनासक्त मनुष्य सुखदुःख, हानिकाम आदि इन्द्र प्राज्ञ होनेपर समचित रहता है क्योंकि वह सुखपर आसक्त नहीं होता, अतः दुःखसे इच्छा भी नहीं होता । समाजमें योगी मनुष्य वह जानेपर भोगोंके कारण कष्ट भी वह करते हैं परन्तु समाजमें अनासक्त-वृत्तिवाले मनुष्य संस्कारों अधिक हो जायें तो उस समाजमें उस प्रमाणसे आधिक्य अधिक बृद्धि होती । क्योंकि भोगासक्तिये अनासक्तिये सब है और वह अनासक्त वृत्तिवाले समाजमें नहीं होती । अतः अनासक्ति समाजहित-वर्धक है ।

१४ पुत्र-स्त्री-गृहादिमें असंग

पुत्र भी घर आदिमें आसक्त ना प्रेममन्त्र न होना चाहिये । क्योंकि प्राचा सब जगत् की जोय पुत्र भी और बरही प्रेममन्त्रवाले कारणही अन्त अपराध करते हैं । स्त्री-पुत्रादिक मरण-दोषम मृत्युपदिके लिये भुरेभक्ष व्यवहारसे बचावकी कमाई करते हैं और विविध प्रकारके अपराधी होकर अनेक दुःख भोगते हैं । वह पुत्र मेरा है और वह

दूधका है इसकी काय पक्षपात किया जाता है और पक्षपातसे अन्धत्व होना स्वाभाविक है। यह मनुष्य मेरी जातिका है और यह भव्य जातिका है इस कारण कितना गुस्ति व्यवहार इस जगत्में हो रहा है, यह पक्षक देखेंगे तो पता लग जायगा कि श्री-पुरु-गुहादिकी प्रमाणवशसे कारण जगत्में कितना अनर्थ हो रहा है। यह सब अज्ञान है। ज्ञानी मनुष्य जब विषयमें प्रेमाग्न्ध नहीं होता। वह समझता है कि मैं भी परमप्रभुके विश्वकृपयन्त्री अक्ष हैं इनमें कोई भेद नहीं है। ऐसा मानकर सबपर सम दृष्टि रखता है और हम सर्वत्र सम दर्शनमें वह मोहित नहीं होता और हम काय उससे कोई अवस्था, अन्धत्व अथवा दोष भी नहीं होता। वह निर्दोष होता है और सर्वत्र सम भाव रखकर काय विषयवशमें होमकाक्ष दोषोंसे मुक्त रहता है। जानते यह बहुत काम होता है।

१५ इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति हानेपर नित्य समचित्त हाना

मनुष्य दृढ वस्तु चाहता है और अनिष्टक वृत्त रहनेकी इच्छा करता है। हमसे प्रेम और अनिष्टका द्वेष करता है। इतिवत् दृष्टि प्राप्ति होकर समय उसके मनकी प्रवृत्ति ऐसी होती है उससे विपरीत स्थिति अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर होती है। वही मनका विक्षय हुआका होता है। इस विक्षय-क कारण मनकी चक्षि क्षीय होती है और मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है।

हमी हेतुक जिये वही कहा है कि ऐसा अन्धत्व करो कि जिससे दृढ अथवा अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर चित्त समचित्त नहीं रह। जिसपर ज्ञानी अवधारणमें कोई परिणाम न हो। बाह्यकी परिस्थिति कभी भी इस विपरीत हो अथवा अनुपपन्न अथवा मन मन अवधारण रहना चाहिये।

विषय विशेषमें व वषय मानवीय अन्धकारका विनाश होता है पशु मनुष्यका प्राणीयक एवाग्य भी विनाश जाता है। जहां मनको सम अवधारण रहना स्वाभाविक रहित भी असम वावश्यक है। जिस सामाजिक परिस्थिति में मानवीय मन भरा मिश्रितता रहता है वह परिस्थिति तो मनुष्योंमें फलक बना देगी। जहां वही उपदेष्टा होता है कि अनुपपन्न अथवा विपरीत परिस्थितिमें अथवा विषय पन रहा। विषय कभी अवधारण न हो।

१६ अनन्य योगसे अन्धविचारिणी यदि मैं दृष्टि नहीं हूं ऐसा समझकर जपया (योग- योग कर्मसु कोषक) कर्मव्य करना अवश्य-योग (अर्थ- अन्ध-योग) है। परमेश्वर विश्वकृप है और मैं उससे एक अक्ष हूं अर्थात् उससे भिन्न नहीं हूँ, उससे दृष्टि नहीं हूँ, उससे अन्ध नहीं हूँ, उससे भिन्न नहीं हूँ, ऐसा अनुभव करने, उसके साथ जपया अर्थात् सर्वत्र देखकर उसके काम जपया अवश्यभाव जाकर जपया कर्मव्य करना चाहिये। इसीका नाम अवश्य-योग है। इस अवश्य-योगसे करनेसे मानव स्वभाव उन्नतिके मार्गपर चक्र लगता है।

इस अवश्ययोगमें सर्वत्र मानवप्राप्ति परस्पर बहुत सर्वत्र से अक्षमिष्ठ कीवर्तमें संयमित हुए हैं, सब अन्ध कीवर्त भी मानवीय साथ और परस्पर बहुत सर्वत्र संयमित हैं कोई किसीसे दृष्टि अन्ध या भिन्न नहीं सबका दिव्यव्य एक दूसरेके साथ जुड़ा है। कोई अन्धोंसे दृष्टिकोकर अपने साथको अन्ध मानकर विषय-भावका व्यवहार क्यों से दृष्टि पड़िया रह नहीं सकता। जहां अन्धभाव हुआ रहनेवाला और अवश्यभाव मुक्ततामें देवेवाला है। सब विश्व परह परस्पर जुड़ा हुआ है वह जाननेका नामही अवश्ययोग है। हममें कहीं भी ' अन्ध ' का भाव नहीं होता सर्वत्र एकत्वकाही भाव है। एक बार हम अवश्य-योगकी एक ठोक कल्पना ध्यातमें आ जाए तो फिर प्रेमावशसे किये कोई स्थान रहवाही नहीं।

अवश्ययोग को कर सकते हैं परमेश्वरके विश्वकृपसे जो जपने साथको अभिन्न अनुभव करते हैं वे जो भाव हमें वही अवश्यमक्ति होती वही अव्यभिचारिणी मक्ति होती। व्यभिचारका अर्थ है दूसरेके संबंध ज्ञानसेव विच्छेद सहजान। अवश्यमक्ति करनेवालोंमें कोई अन्ध न होनेके समान विच्छेदीय कोई वस्तु देही नहीं। सब एक अक्ष व अभिन्न अवश्यवस्तु है ऐसा निश्चय माननेपर उससे अव्यभिचारिणी मक्तिही होती। व्यभिचार तो भिन्न भावसे हुआ करता है।

ज्ञानका माध्यम वही अवश्यभाव और परमेश्वरकी अव्यभिचारिणी भाव है। वादक हम अवश्यभावको दोष उठाने और पचासि भगवद्गीताके मुख्य मिश्रणकी वह सब मनुष्य मिश्रण है। सब भगवत्ता मुक्तता प्राप्त निरिद्वितीय होती है।

अध्यात्मज्ञान मुख्य है इसका कारण यह है कि इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष मनुष्यके स्वास्थ्य-मुख्य-समाधानके साथ है। मनुष्यको स्वास्थ्यार्थि मुख्य चाहिये इसलिये उसको अध्यात्मज्ञान भी आवश्यक चाहिये।

अध्यात्मज्ञानमें (१) आत्मिक ज्ञान (२) बुद्धिकी चिकित्सा ज्ञान (३) मनोविज्ञान मनोचिकित्सा, मानस चिकित्सा ज्ञान (४) विषयसंश्लेष-कार्यकार आदि चिकित्साका ज्ञान (५) प्रत्येक इन्द्रियका ज्ञान वर्णानुवर्ण तथा है किन्ना कार्य करता है स्वस्थ आरोग्यसंपन्न कैसे रह सकता है रोमी और शीघ्र कैसे हो जाता है, अधिक कार्यक्षम कैसे हो सकता है इत्यादि संबंधका ज्ञान, (६) शरीर का ज्ञान शरीरसंरचना आरोग्य कैसे प्राप्त होया रोम क्यों होते हैं रोगनिवृत्ति कैसे होती है आरोग्य किस तरह सुरक्षित रह सकता है इत्यादि विषयका जो साक्ष है उसका नाम शरीरविज्ञान है। (७) शरीरसे बाहर जो अपनी चिकित्सा का रही है और कार्य कर रही है अपनी मानसचिकित्सा बाहर बाहर जो कार्य करती है उसको भी जानना चाहिये। इस सभी ज्ञान और निदानका अन्तर्भाव अध्यात्मज्ञानमें है।

इसके प्रत्यक्षमें जो पता लग जायगा कि अध्यात्मज्ञान क्या है और मानवीय स्वास्थ्य-मुख्य-समाधानके लिये इस अध्यात्मज्ञानका प्रबंध क्या है। प्रत्येक मनुष्यके पास कितना यह ज्ञान होगा उतनाही उसको स्वास्थ्यका लाभ करना संभव हो सकता है। सर्वसाधारण अवस्थामें इस अध्यात्मज्ञानका बोझाला भी बंध ज्ञान नहीं होता इसी कारण ये ज्ञा दुष्कर्में बूझ रहे हैं।

उदाहरणके लिये देखिये शरीरशास्त्रका ज्ञान मनुष्यको हुआ तो शरीरको स्वस्थ इस पुष्ट बीरोग रखनेमें वह समर्थ हो सकता है। मनुष्यको हृत्पत्र कुछ भी आवश्यक न हो तो शरीरकी स्वस्थता को अवश्यही रखनी चाहिये। शरीरशास्त्रका कुछ भी ज्ञान मिले नहीं है वह अपना स्वास्थ्य सुरक्षित किस तरह रह सकता है। रोमोंके संचार होनेके समय क्या करना चाहिये आनुवंशिकसंरक्षणके समय क्या करना चाहिये अन्ध बाहरके शरीरकी पवित्रता कैसे करनी चाहिये यह सब ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येकको यह सब ज्ञान सर्वप्रथम प्राप्त होना चाहिए है तथापि मुख्य

आवश्यक ज्ञान तो प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अध्यात्मज्ञानका जिस विचार करना चाहिये ऐसा जो नहीं कहा है, उसका अपने आरोग्यके साथ कैसा संबंध है, इसका प्रत्यक्ष नहीं विचार करें। और इस अध्यात्मज्ञानके ज्ञान अपने मुख्य-समाधानका कितना संबंध है यह देखें।

शरीरशास्त्रकी अवस्था मानसचिकित्सा ज्ञानका मानवीय मुख्यसमाधानके साथ अधिक सम्बन्ध है। शरीरमें बीमारी होनेके पूर्व मन रोमी होता है और मन रोमी होनेके कारण शरीर रोगी होता है। अतः शरीरवास्तविकमें मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। इसीलिये मनासंयम करना, मनमें निरवस्थान रहना सम्बन्धोंकी संयमि करना कुछ विचारोंको दूर रखना जहाँ जहाँ विषय बनाने गये हैं। मन समस्त कुछ होता है यदि ज्ञानसे परित्र होती है, इत्यादि जो विषय चर्चावाचमें कहे हैं वे इसीलिये हैं। ये सब मनुष्यका मुख्य स्वतन्त्रता हैं। अध्यात्मज्ञानका जिस विचार करके सब अपनी चिकित्साके विषय विचार करना है। अपनी चिकित्सा विचार करनेसे वह चिकित्सा कैसे उन्नत की जाती है, इसका भी विचार होताही है।

कई लोग अध्यात्मज्ञानका कार्य 'केवल अन्तर्गत ज्ञान केवल ईश्वरका ज्ञान' मानते हैं वह विचार अनुचित है। अध्यात्मज्ञानमें अन्तर्गत तथा परमार्थका ज्ञान साथ है, परन्तु पूर्वोक्त सब अन्य चिकित्साका ज्ञान भी उतने अध्यात्म होता है। क्योंकि अन्तर्गतकी सभी चिकित्साका ज्ञान नहीं संश्लेषित होता है।

अन्तर्गत का कार्य केवल अन्तर्गत ज्ञान है और अध्यात्मज्ञान का कार्य पूर्वोक्त सब ज्ञान है। क्योंकि जो जो चिकित्सा अन्तर्गतका बाह्यारे हैं उन सबका ज्ञान अध्यात्म-ज्ञान कहलाता है। प्रत्यक्ष बोझाला विचार करेंगे तो उतने पता लग जायगा कि इस अध्यात्मज्ञानके साथ मानवीय मुख्यसमाधानका कितना सम्बन्ध है। कोई मनुष्य इस ज्ञानके बिना पूर्व सूची नहीं हो सकता है। अध्यात्मज्ञानसे मनुष्य हुआसे पूर्व मुख्य हो सकता है, ऐसा जो करते हैं उतनी प्रकृति नहीं इस प्रकार सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष हृत्पत्र अधिक विचार करें।

मित्र अध्यापकज्ञानका मन्त्र करना चाहिये, इसका उत्तर यह है कि अपनी शक्तियोंका विचार सदा करना चाहिये। इससे आत्मविश्वास बढ़ता है अपनी शक्तिके प्रयोग सिद्ध किये जा सकते हैं, अपनी शक्तियों किसी कारण मृत्युता हो रही हो तो उसकी पूर्णता करनेका योग किया जा सकता है। उत्तर यह है कि अध्यापकज्ञानके मन्त्रसे अर्थ काम है अपना जो कुछ उद्योग होना सम्भव है वह इस अध्यापकज्ञानसेही हो सकता है।

पेटमें दर्द हो रहा है काम हुआ रहा है स्वप्नमें वीर्यवाह होता है, क्षीरकी कमजोरी है, मक्खी बुलबुलता है, स्तनबद्धिक कम हो रही है इन सबके किये अपनी पूर्ण शक्तियोंका मन्त्र करनेसे और उनको जीरोप और स्वस्थ रखनेका विचार करनेसेही उपाय हो सकते हैं। उत्तर यह है कि अपना सब प्रकारका कल्याण अध्यापकज्ञानसेही हो सकता है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये और उसका मन्त्र करना चाहिये।

२० तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन

पृथिवी धातु त्रेत्र जगदि जनेक तरह है। उन तत्त्वोंकी विचारना नाम तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानका जो अर्थ हुआ मोक्षमन्त्र पुनर्जात है, उसको तत्त्वज्ञानार्थ कहते हैं। इस मन्त्र प्रयोगसेही बड़ा अपने सामने रखना चाहिये। अर्थात् वह अपना प्राण है और वह प्राण तत्त्वज्ञानसेही प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय करना और इसकी सिद्धिके किये तत्त्वोंका व्यापकोप्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

हमें मोक्ष अर्थात् विविध दुःखकी अपावन्त निवृत्तिकर केवल पुनर्जात प्राप्त करना है, वह करनी नहीं मुकना। जो कुछ प्रत्यक्ष हो वह हमसे छिपेही करना चाहिये।

विभिन्न दुःख-एक आध्यात्मिक दुःख दुष्टता आधिभौतिक दुःख और तीव्रता आधिदैविक दुःख। अध्यापक शक्तिपूर्वका प्रथम अध्यापकज्ञान (१९) के प्रसंगमें किया है अर्थात् अध्यात्मिक दुःख उद्दि मन्-हृदय-धरीत आदिमें उत्पन्न होनेवाले दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख प्राथमिकसे उत्पन्न होते हैं जेष्ठ माननेके बादमके प्रगते अथवा विद्वत्प्राप्त-रिचोड उपर्युक्त आदि। आधिदैविक उपर्युक्त भूषाक अति दुःख बनाहति, अग्निहोत्र आदि है। इन सब तीनों प्रकार

के दुःखोंको दूर करनेके लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पृथिवी धातु त्रेत्र जगदि तत्त्वोंके गुणधर्मोंका ज्ञान प्राप्त होनेसे उनका उपयोग करके हम दुःखोंको दूर करनेका उपाय समझमें आसकता है। सर्वप्रथम दुःख इसी तरह दूर किये जा सकते हैं। यह काम बड़ा भारी है।

मनुष्यको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये और तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाले मोक्षमन्त्र अर्थात् कल्प सदा अपनी रहितें रखना चाहिये अर्थात् अपना ध्यान उससे दूर नहीं करना चाहिये।

वह सब ज्ञान किंवा ज्ञानका साधन है इससे जो विपरीत ज्ञान है उसको अज्ञान कहते हैं (को ११)। इस ज्ञानके वर्णमन्त्र साथ साथ अज्ञानका भी वर्णन किया है। वे ज्ञानधर्म साथ ही होनेवाली बातें हैं। अज्ञानी लोग जो किया करते हैं, उसका अनुमान इसके विरोधके अनुमानसे पसलों को हो सकता है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वह ज्ञान मनुष्यमात्रके हितके लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो इस ज्ञानका विरोध करते हैं अपना जो इस ज्ञानसे दूर रहते हैं वे अनेक प्रकारसे दुःखग्रही भली हो सकते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

ज्ञाननेयोग्य वस्तु

अब छोटे ११ से १० तक सबको ज्ञाननेयोग्य वस्तुका वर्णन है। बड़ी अग्रमा अथवा परममत्ता है। बड़ी एक मनुष्यमात्रके लिये ज्ञाननेयोग्य वस्तु है। इसको ज्ञाननेसे मनुष्यको (अमृत वस्तु) अमरत्व प्राप्त होता है। वह अमरत्व कैसे मिलता है, इसका बोधना विचार करना चाहिये।

विपक्षोंमें अधिमन्त्र

भूतेषु अधिमन्त्र (प्रश्न) विपक्षमिय स्थितम्।
(गी १३।१५)

प्रश्न सब भूतोंमें अधिभक्त होनेवाली विपक्षके प्रमाण स्थित है। अर्थात् वह वस्तुतः अधिमन्त्र, अकण्ड और दृढत्व है तथापि वह विभिन्न कण्डित और अनेकतर ज्ञेया है। वह भिन्नमें अधिमन्त्र कण्डितमें अधिमन्त्र अनेक रसमें पुरुष है। व्यवहारदृष्ट्या अधिमन्त्र होनेवाली आध्यात्मिक दृष्ट्या अधिमन्त्र है वह वात पुरुषा समस्त केही आदि।

बन्धि कोशके किये अनेक पट्टपट्टी जानकर आदि एकही भी वस्तुएं बनायी जाती हैं किंतु कोशकेके व्यवहारमें प्रत्येक वस्तु मित्र मानकरही खेपा जाता है। इस व्यवहार इसमें प्रत्येक वस्तु मित्रही है, परन्तु जिस समय एकहीके भावसे उनकी मित्रि करकेस समय आजाय उस समय उस सब मित्रियोंकी मित्रता एक एकहीकीही एकतामें एककय हो जाती है। इससे पादकोंको पता लगा जायगा कि जब इतवृत्तामें विमोह रहनेपर भी परमात्मैकतामें अनेक किस तरह हो जाता है। यह बात केनेपर परमात्मा विमोहमें अविमोह किस तरह रह सकता है इसका ज्ञान पादकोंको हो सकता है।

विमोहमें वस्तुनेह कितना भी हो परन्तु सबमें एकस परमात्मा है वह बात जानेपर विषयी वस्तुओंमें मैं भी एक हूँ और मैं पुण्य नहीं हूँ यह ज्ञान हो जाता है। यदि सबमें एकस परमात्मा है, तो वह सुखमें भी है और यदि सब विषयक उसी परमात्माका है तो मेरा दुःख भी उसीमें संश्लिष्ट है। किसी तरह मैं पुण्य नहीं हूँ। यह अत्यन्तमात्र अब समझें फिर हो जायगा। उस परमात्माके अन्तर अन्तर होनेके कारण वह भी अन्तर और अन्तर हो जायगा। इसीकिये कहा है कि (यत् शब्दा नमुनं नमुने) जिस ब्रह्मके जानेसे नमुन्य अमत्यको प्राप्त होता है और जिसको न जानेसे नमुन्य मरणवर्माही रह जाता है।

परमात्माके जायका वह महत्व है। परमात्मा सर्वत्र एकस है। मैं उससे अत्यन्त हूँ इसकिये मैं उसीका अंश हूँ (मम एव अंका जीवकोके जीवमूलाः अन्तराः। गी. १५।७) क्योंकि परमात्माका एक अंश जीव है अतः यह जीव पुण्य नहीं है। जब वह एककमताका पता लगा जाता है और वह स्वयं ज्ञान अविमोह रूपमें आत्मने केह जाता है उस वह साधक भी अन्तर भावसे पुण्य होता है, क्योंकि वह अपने आपको अन्तर परमात्माके अंश अत्यन्त अणुपण्य अथवा अविमोह समझता है।

मनुष्यके किये परमात्माही एकत्रेय वस्तु है उसको जानेसे छे छापकका इस तरह काम होता है। वह ज्ञान न होनेकी अवस्थामें जो साधक अपने अन्तरको मरणवर्मा मानता है

वही साधक वह ज्ञान प्राप्त हो जानेपर अपने आपको बल मानने लगता है।

वह ब्रह्म (अवादिमत्) अवादि ब्रह्म (पां) अपने ब्रह्म (ब्रह्म) सबसे बड़ा सबसे ज्यादा रहनेका, (असत्त) अवास्तविक (सर्वमूर्त मूर्तमूर्त) स्वयं अत्यन्त करकेबाका सबका एकक (सुखमोक्ष) मुक्तिक योग करकेबाका, परन्तु स्वयं (विगुण) गुणवर्ती है। वह ब्रह्म (मूर्तानां बहिः अन्तः च) मूर्तके अन्तर और बाहर है वह (अचरं चर) अचर है और चर भी है, स्थावर जंगम भी वही है। (दूरत्वं अस्थिते च) वह वैसा दूर है, वैसाही समीप भी है। वह अवि (दूरत्वात् अस्थिते च) दूर होयेके भावनेके किये अस्थित है (दूरत्वं अस्थितं अवि विमोहं ह्य विमोहं ह्य विमोहं) उस विमोह अस्थितोंमें अथवा उस विमोह वस्तुओंमें वह अन्तर अस्थित रहनेपर भी विमोहक समझती किन्तु है अविमोह होनेपर विमोह वैसा हीचला है (ममविमोहं मूर्तमूर्तं अस्थितं च) वह ब्रह्म सबकी उत्पत्ति करकेबाका एककमोक्ष करकेबाका और अन्तर करकेबाका है। वह (अविमोहं अस्थितं) ऐक्यही वस्तुओंको ऐक्य होकेबाका और (अन्तराः अस्थितं) अन्तराकारसे परे अर्थात् स्वयंमोक्ष है, वही स्वयं ज्ञान ऐक्य और ज्ञानसे बाधा जानेपोग है। वह सबके इष्टमें मिल है।

वह ब्रह्म सत्य और असत्यके विच्छेद है क्योंकि सत्य और असत्य के उत्पत्ति लक्ष होयेबाके मात्र हैं। वह (सर्व-इष्टि-विमोहं) सर्व इष्टिमें रहित है अर्थात् सबमें एक भी इष्टि नहीं है तथापि सब इष्टिमें किन्तुका मात्र उसमें विच्छेद देता है। अर्थात् वह सब और सब बल मुक्त विर अंश अथवा शक्ति अथवा विमोह पुण्य है क्योंकि विमोहकी परमात्मा सब प्राणिमें है इसकिये सब प्राणिमें अथवा उसी परमात्माके अन्तर अन्तर होते हैं। अतः वह अन्तर इत्यादि अथवा विमोह पुण्य है।

वही सब प्राणिमें सब अथवा उसी परमात्माके अथवा है वैसा कहा है इसमें पादक अपने आपको भी संश्लिष्ट समझें। जिससे वे अपने आपको उससे अत्यन्त-अत्यन्त अनुभव करके काम अर्थमें और वस्तुतः अपनी इष्टि की वहीकी इष्टिमें है वैसा ज्ञान होकर अन्तरों अपना अर्थ

हो हो जायगा। साथ ही अपने आपको इस तरह परमात्मा के एकत्र अनुभव कर सकता है जिससे वह परमात्मा के समर्थ अपने आपको जगत् अनुभव करेगा। फिर उसे मरण की भीति किस तरह सता सकती है? इस रीतिसे वह इस मन्त्रात्मके जगत् होता है। वह अविनाशित अवस्था है जो जगत्को प्राप्त हो सकती है। वही जगत्को प्राप्त होने का सर्वात्मभाव है। एकत्रमात्रमें मरण और धर्मात्म मायमें जगत् है। पादक हृदय की दीक रीतिसे समस्तनेका मरण करे क्योंकि इसी जगत्को मरण नारायण भव सकता है।

मन्त्रात्मक पतद्विषय मन्त्राचार्योपपद्यते ॥

(श्री १३/१८)

परमात्मका मन्त्र इस जगत्को प्राप्त करके ईश्वरभावको प्राप्त करता है। ईश्वरी ईश्वर हो जाता है। ईश्वरत्वकर्ममें अपने आपको संमिश्रित अनुभव करता है। ईश्वरीका वक्षः मन्दिर बन्ना है, उसमेंसे प्रत्येक ईश्वर अपने आपको जगत् मन्त्रकर बना होने की ओर जाता है। वह मन्त्रिज जगत्की वही रहता है। हृदय प्रकार ईश्वरी जगत्भावपुत्र होनेसे मन्त्रिज वह हो जाता है। परन्तु वही ईश्वर अपने आपको पुत्रक मन्त्रात्मक ईश्वर, अपने आपको मन्त्रिजभावसे कुछ भावने की अपने आपको मन्त्रिजमें जगत् समस्तने की ओर मन्त्रिजमें मन्त्रिजकर होनेमें अपने आपको कृपा भावने की वही उभय मन्त्रिजभाव प्राप्त हो सकता है। इसी तरह वह अपने आपको वारायणसे अनुभवक अनुभव कर अपने आपको जगत् समस्तकर अपना जीवित उभयमें संमिश्रित देखे तो वह मन्त्रिजमें मरण वारायणभावको प्राप्त होता है।

वर्षात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेयका विचार किया। अब वही ज्ञान प्रकृति-पुरुषके कर्ममें देते हैं।

प्रकृति और पुरुष

एतत् क्षेत्र ही प्रकृति है और एतत् क्षेत्रज्ञ ही पुरुष है। वर्षात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कर्ममें प्रकृति-पुरुषकी विचार एवं स्वामें किया है। अब वही विचार परमात्मके समर्थ स्थिर करने जगत् जगत् हमकिये पुनः प्रकृति और पुरुषके स्वस्वभाव कर्ममें करते हैं। पादक हृदय दोनों कर्मोंकी प्रकृति करे और उभय दोनोंका एकत्र समर्थ है वह वाच मरणके कर्ममें।

१२ (वि. जी.)

प्रकृति पुरुष क्षेत्र विज्ञानादी उभाधयि।

(श्री १३/१९)

प्रकृति और पुरुष वे दोनों जगत् हैं। वही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वे दोनों जगत् हैं। वही जगत् है। एक पक्षसे या और दूसरा पक्षसे उत्पन्न हुआ ऐसी बात नहीं है। दोनों जगत् और जगत् हैं। वे एक दूसरेसे प्रकृति है वा एकत्र है। इसका विचार वही कर जगत् चाहिये।

मिथीका देका और मिथ्या वे दोनों जगत् हैं वे दोनों एक साथ रहते हैं। इनमेंसे एक पक्षसे या और दूसरा पक्षसे हुआ, ऐसी बात नहीं है। वही मीमांसा और देका वे पुरुष और प्रकृति के वाच समर्थसे जिससे प्रकृतिपुरुष के कर्मवाच्य वेद और वस्तुगत जगत्की दीक कर्मना हो जायगी। प्रकृतिमें पुरुष उभय प्रकार है जैसे जगत्में रस होता है। जगत् रस और जगत् वे जगत्की जगत् है। ऐसा करनेसे कर्मनामें हो वस्तु जगत् है। परन्तु यह है वस्तु कर्मनामें ही है, वास्तविक जगत् जगत् रसका वस्तुगत जगत् है। इससे पुरुषकी शक्ति प्रकृति है वस्तु वही कर्मवाच्य वेद होवेपर भी शक्ति और शक्तिनाम्ना वस्तुगत जगत् है वह वाच सिद्ध हो जाती है। अब प्रकृति का कर्म करते हैं—

विकारार्थ गुणार्थ विधि प्रकृतिसमयान् ॥

(श्री १३/२०)

विकार और गुण वे प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। गुण का जगत् उत्पन्न-उत्पन्न-उत्पन्न वे तीन गुण हैं और विकार का जगत् है क्षेत्र क्षेत्र, मरण बुद्धि ईश्वर जगत् का जगत् वाचमें होनेका विचार। वे गुण जगत् वे विकार प्रकृतिमें होते हैं, ऐसा समझना चाहिये और अनुभव करना चाहिये। वे विकार जगत्को नहीं हैं। इससे किन्हीं एक उत्पन्न होते हैं—

मिथीका देका किन्हीं जगत्में मिथ्या है। उस देका के वाच वाच हुक्के कीजिये। हुक्के हो जानेपर भी मिथ्यामें कोई न्यायविषय नहीं हुआ। वस्तु देका के कर्ममें मरण हुआ है। इस देका के विचारकर किसी पुरुषकी भी जाह्नगिमें वाच दिया तो उस देका के पुरुषकी वाच प्राप्त हुआ। परन्तु मिथ्यामें कोई न्यायविषय नहीं हुई। फिर उस देका के विचारकर वाच का दिया तो भी मिथी पुरुषकी वही उभाधयि मिथ्या वैसाही रहा। वही उभाधयि है और

मिठास पुनः है। धन और श्रेष्ठ व भी नाम यहाँ समस्त मा मन्त्र है। प्रकृति में वा श्रेष्ठों विचार होनेपर पुनः धन्य भवता अहमों कोई मूल्यमिष्ट नहीं होता है अर्थात् प्रकृति विकारी है और पुनः अविकारी है यह बात बड़ी मायम सिद्ध है।

इस प्रकृति में विचार होते हैं इतीक्षिणे (कार्यकारण-कर्तृ व हनुः प्रकृतिः । गी १३।२) कार्य और कारण परंपरा इस प्रकृति में होती है। अथा उपरकृष्टी उदाहरणों में हमारे कि मिथीको विचारकर उसका रस बचाया, तो उस रसका कारण मिथी है और इस मिथीका कार्य वह मीठा रस है। यह कार्यकारणभाव इतीक्षिणे सिद्ध होते हैं कि वह विकारी है। इसी तरह वनमहाभूतों में लुहि वनी है अतः पचभूत कारण और मूत्रि कार्य है। यह कार्य-कारणभाव इतीक्षिणे सिद्ध होते हैं कि, वे वनभूत विकारी हैं। इसी तरह सब प्रकृति और उससे बने पदार्थों विकारी हैं। इसीक्षिणे कार्यकारणपरंपरा हममें चक रही है। इस प्रकृतिक विकारी होनेकसाथ पुनःका कार्य सम्भव नहीं है क्योंकि पुनः अहमा अथवा श्रेष्ठ विकारी नहीं है वहकने बाका नहीं है।

पुनः। सुखदुःखानां मोक्षद्वयं हनुः।

(गी १३।२)

पुनः मुखदुःखोंक भोगका हेतु है। क्योंकि वह सब प्राणवाद है अतः है ज्ञान सकला है। इसीक्षिणे इस समय वह मुखदुःखक है और वह दुःखदुःखक है अतः वह ज्ञान सकला है। प्रकृति ज्ञान है अतः है अतः नहीं है इसीक्षिणे वह मुखदुःखको ज्ञान नहीं मन्त्रों और पुनः वनमन्त्र है इसीक्षिणे मुखदुःखका ज्ञान कर सकला है। पुनः प्रकृतिक माय इहक (पुनः प्रकृतिस्थः प्रकृतिज्ञान-मन्त्रमुक्तः । गी १३।२) प्रकृतिक ज्ञानक हनु गुणोंका भाग बना है। अतःक वह पुनः प्रकृतिस्थ ज्ञानक हनु गुणोंका भागिक नहीं हाता इस गुणोंका भाग करनेमें व अन्त नहीं हाता अतःक वह पुनः इन गुणोंके सामर्थ्यक बाँटा नहीं जाता। परन्तु ज्ञान अथवा वह सब भाग्यवशात् तो व अन्त ही अन्त है अतः अन्त वह सब गुणोंके सब सामर्थ्यक बाँट दिया जाता है और इस कारण उस पुनःको व अन्त ही अन्तका ही भागी है।

अस्य सत्त्वगोमिदम्भसु कारण मुक्तं नमः।
(गी १३।११)

इस पुनःका भाग वा अन्त गोमि में अन्त होनेक कारण वही गुणोंके भाग होनेकाका इहक भाग है। इहकी भागिक ज्ञान गुणोंका भागी है अब गुणोंके अन्तक इहकी अवस्था होती है। सत्त्विक गुणोंका भागक होनेक भागिक रागस गुणोंमें वह होनेपर रागस और अन्त गुणोंपर लुब्ध होनेपर वह पुनः रागस वनमिदमि में अन्त केला है अथवा पदुंनका है। अतः इस पुनःको अन्त है कि वह किसी प्रकृतिके गुणोंका भागिक व हो अन्तक व हो गुणोंका भाग करनेकी अविकारा व को करने वालों अधीन रहे अथवा अन्तक को इतिवृत्तक को अन्त बाधनाओंको स्वेराचारों माने व है। ऐसा करनेसे अन्त अन्तगोमि में अन्त होनेका कष्ट दूर होता।

देहमें परमात्मा

इस देहमें जो पुनः है वह ज्ञान अन्तक वनमन्त्रिक को जाता है अब उही पुनःको परम पुनः करने अन्त है।

अन्त	रागस
अहमा	रागसभा
पुनः	परम पुनः व पुनः
	परम पुनः
इह	इह अन्तक
मन्त्राद	अन्त्राद

इस तरह अहमाही अन्त्राद होनेपर परमभा अन्त जाता है और मन्त्राद अन्तमें उन्नी जाती अन्त है। जैसे वनकाका मन्त्राद और भागक अन्त्रादिकेकी होता है। जैसे सब भागकही है परन्तु अन्तमें ज्ञान भागक होता है अन्तका वनकाका हनु भाग है। इसी तरह देहमिमानके अहमा और विचक परमभा अन्त जाता है।

वही (वनका) सर्व देहदेहाका (अन्तका) अन्तुदेह देहाका (अन्त) भागक वनकाका (अन्त) भाग करनेका (अन्तका) अथवा इह परमभा है। वही पुनः है और वही अन्तका भागका है (अन्त ११)

एष रीतिसे जो साधक इस पुरुषको जानता है और अनुभवपूर्ण प्रकृतिको भी समझता जानता है वह कैसा भी व्यवहार करे वो भी बारबार जन्म नहीं लेता । क्योंकि इस देवा जलममलसे व्यवहार करता है कि उसको कभी जन्म नहीं पड़ता वह सदा निर्दोष रहता है, वह दोषों से निरता नहीं । (श्लोक २३)

आरम्भदर्शन

कुछ लोग इस ब्रह्मको इस पुरुषको ध्यानेसे अपनी ब्रह्मत्वा में देखते हैं, कुछ साधकयोग-ज्ञानयोगद्वारा और कुछ कर्मयोगद्वारा देखते हैं । कुछ स्वयं ज्ञानविज्ञानको जानते हुए भी दूसरोंसे अच्छे उपदेश सुनते हैं और दूसरा विचार करते हुए वैसाही व्यवहार करते हैं वे भी पुरुष पर होते हैं क्योंकि अन्ततः प्राप्त कर लेते हैं ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । (श्लोक २४-२५)

सर्वस्वी उत्पत्ति

जो कुछ ब्रह्ममात्र नहीं है वह स्वाध्याय हो वा ज्ञेयम् वह सब प्रकृति और पुरुषके (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्) प्रयोगसे बना है । सब व्यापारजगत् बस्तु (स्थान-जगत्) प्रकृतिपुरुषके प्रयोगसे बनी है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें त्रैयी प्रकृति है वैसाही पुरुष भी है । कई लोग समझते हैं कि, ज्ञेयम् प्राप्तिमेंही पुरुष प्रकृत्य अथवा क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्रज्ञ जीव है, वैसा स्वाध्याय पदार्थोंमें नहीं है परन्तु यह भ्रम है । क्योंकि (स्वाध्यायजगत्) जगत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् संभावते । गी १३.१९) सर्वज्ञ विराजः पदार्थमात्र प्रकृतिपुरुषात् प्रयोगसेही बनते हैं । इस विषयमें कोई भ्रम न करें । वह पदार्थोंमें पुरुष है देवा सब मानतेही हैं अब यहाँ कहा है कि, स्थिर जगत् पदार्थोंमें भी ब्रह्मा है पुरुष है । ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जो प्रकृतिपुरुषके संयोग से बना बनी हो । वह असंदिग्ध कथन है जो इसको ठीक प्रकार समझना चाहिये ।

इस तरह इस कथनसे सभी वस्तु क्षेत्रज्ञ हो गई हैं और सभीमें प्राकृतिक जगत् भी है । सभी क्षेत्रज्ञ और सभी पर है । जो समझते हैं कि कुछ पदार्थ क्षेत्रज्ञ हैं और कुछ पर है भ्रम करते हैं । वास्तव में यहाँ सूचित कि यदि सभी पदार्थोंमें प्रकृति पुरुष क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जगत् प्रकृतिक संयोगसे हुए है तो प्रकृतिक पदार्थ ही क्षेत्रज्ञ हैं और प्रकृतिक नहीं वह क्षेत्रज्ञ ?

अनुपपत्त्यापी — एवं चेतन
पञ्चपञ्ची — चेतन
बृहन्नवस्वरिति — सुष्ठु चेतन
पञ्चर चादि — अत्रकृत चेतन

चेतन्य वा पुरुष इव चार स्थानोंमें चार प्रकारसे प्रकृत है । अनुपपत्तिप्रमाणोंमें वह पुरुष एवं जाग्रत हुआ है और अपना ज्ञान व्यापक ज्ञानमें समर्थ है । पञ्चपञ्चीमें किंचित् जाग्रत है केवल में ही, सुष्ठु वह चाहिये इतनाही ज्ञान सत्ता है इन दोनोंमेंमें वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है । बृहन्नवस्वरितिमें वह सुष्ठु व्यवस्थामें है और पञ्चर चादिकोंमें अत्रकृत व्यवस्थामें है और विज्ञान पदार्थ है । इन चार अवस्थाओंमें अन्ततः पुरुष अपना क्षेत्रज्ञ हसी पर प्रकृत हुआ है ।

यही विद्यतमात्रा विभक्त है यही विद्यतमा मानवोंमें स्वयंमात्र होकर प्रकृत हुआ है पञ्चपञ्चीमें करक चेतनता प्रकृत कर रहा है । बृहन्नवस्वरितिमें सुष्ठु विद्यति है और पञ्चरादि पदार्थोंमें सुष्ठु कर्म रिवत् है । यही विद्यतमा मानवोंमें एवं करके प्रकृत होकर अपने आपको जानता है अपनी अधिमात्रा अनुभव करता है और जन्म प्राप्तिमें केवल ज्ञानमात्र है । विद्यतमाकी स्थिति यहाँ चार प्रकारकी वर्णन की गयी है । इसीसे जगत् है कि प्रत्येक वस्तु प्रकृति-पुरुषके संयोगसे बनी है । यहाँ पुरुष-ब्रह्मा नहीं पदार्थ पदार्थ भी वस्तु नहीं है ।

सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् परमेष्ठ्यम् ।

यिनश्चरस्त्वस्मिन्त्वस्मिन् वा पश्यति स पश्यति ॥

(गी १३.१०)

सब भूत नाम होनेवाले हैं सब वस्तु पदार्थोंमें प्राप्त होती हैं इन सब वस्तुओंमें अधिमात्रा परमेष्ठ्यम् विद्यतमा है वह जो व्यापक ज्ञानता है यही मन्त्र देवता है " जगत् क्षेत्रज्ञोंमें रहकर भी जगत् है । माताको प्राप्त दानशाली वस्तुओंमें विद्यतमा अधिमात्रा है । माताका प्राप्त दाना बिकारको प्राप्त होता अथवा बनना वा विगटना वह सब प्रकृतिका कार्य है । इस प्रकृतिक व्यापक पदार्थ है जो व दोनों निकट सब प्रकृतिक पदार्थ बनाता है ।

अब जगत्में हम है देवता प्रकृतिक पदार्थ है । पदार्थ वर्तन का जगत् हम वर्तनोंमें तथा तो जगत् विभाग हुए पर ३

रस सबमें एक जैसा ही है अन्धके विभाग होनेपर भी उसके विभाग नहीं हुए। वैचेद्वी प्रकृतिपुरुषको संयोगसे सब विशिष्ट बनत पड़ाई बने हैं, प्रकृति विशिष्ट होकर नामा कर्णोंको धारण करनेपर भी ज्ञाना वा पुरुष उन सबमें अविभक्त ही रहा है। पदार्थ इस बातको समझनेका बल करे। इसके समझनेसेही परममात्रा विशिष्ट होनेवालोंमें अविभक्त कैसा है और विभक्त होनेवालोंमें अविभाक्षी कैसा है वह बात समझमें आ जायगी यही बात धनको जानने योग्य है और इसीके जाननेसे अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है।

सब विशिष्ट नामाविध विषय पदार्थोंमें परमेस्वर सम है यह जो जानना है वह विशिष्टतामें भी समता धारण कर सकता है विषय परिस्थितियों उसका मन सम रह सकता है सुख दुःखमें तथा इति काममें वह सम रहकर रह सकता है। इस तरह समरसको प्राप्त हुआ मनुष्य परम यशिको प्राप्त होता है सबसे उत्तम स्थिति प्राप्त कर सकता है। (श्री १९)

सब कर्म प्रकृतिस हो रहे हैं सब किये जानेवाले उद्योग प्रकृति कर रही है, उन सब कर्मोंको होनेपर भी ज्ञानमा अकर्ता है निर्दोष है निर्दोष है ऐसा जो देखता है वही सम देखता है। जिनको वह ज्ञान नहीं है वे ज्ञानों होने पर भी अन्धे हैं। सुख अनेक वक्त बनने लगे तो भी कष्टों को जसा वक्ष्यत्र बाधित नहीं कर सकता वैसाही प्रकृतिस विशिष्ट पदार्थ बननेपर ज्ञानमा निर्दोष रहता है। (श्री १९)

भूतोंका पुरुषमात्र एकही अज्ञातका आश्रयसे है (एकस्थं पुरुषमात्रं अनुपश्यति) ऐसा वह अनुभव होता है और सबका विस्तार उसी एकसे होता है (तदा एव विस्तारं) ऐसा समझमें आ जाता है उस समय आपका भी विस्तार उसी एक अद्वितीय अक्षर अक्षरमात्र हुआ है ऐसा उसको स्पष्ट देखने लगता है और इससे उसको अपना मूल अक्षर है और मैं अक्षर ही हूँ ऐसा स्पष्ट प्रतीय हो जाता है। यही जीवका अक्षर होता है।

जब सभी वस्तुएं अक्षरसे विस्तारित हुई हैं ऐसा ज्ञान हो जाता है तब धन वस्तुओंमें मैं हूँ वह स्पष्ट स्पष्ट हो जाता है और जो सब वस्तुओंका धीज है वह अक्षर मेरा धीज है वह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह अपने आपको अक्षर

अक्षर समझने लगता है। इसीका नाम है (वदाम्यसंपद्यते) अक्षरको प्राप्त होना। यही ज्ञान सुविचाररसको सब सुख हो जाता है उस समय उसे सब वस्तु वस्तुओंका अक्षर एकसम अक्षरमात्र ही होती है वरने बाकी उन्हीं वस्तुओंका देखता है और सब वस्तुओंको अक्षरका विशिष्ट अनुभव करता है। इस समय—

अस्मिन्सर्वार्थाणि भूतानि आत्मीयमाभूद्विज्ञानतः।

तब जो मोहा का शोक एकत्रमनुपपद्यते।

(भा ग १०)

‘ जिस समय सब मूल ज्ञानाही हुए वह अवस्था उसे प्राप्त हो जाती है तो फिर प्रत्यक्ष वक्ष्यत्रका दर्शन करनेसे उस विज्ञानीको शोक और मोह क्यों कर लगाने? शोक मोह तो जेहमात्रही उत्पन्न होते हैं, जिसे सब जेह एकत्रमें कीज हो चुके उसे सुख बाधही प्राप्त होता, इसीका उद्देश है। एकही अक्षर अनेकविध विषय विस्तृत होता है और वह अनेकविध विषय उस एकही अक्षरमें फिर मिल जाता है। कैसे सोचने अक्षर और फिर अक्षरको अक्षर होता है। दोहों अवस्थाओंमें जोनेका सोचने के लिये अक्षर रहता है वैचेद्वी पूर्वोक्त दोहों अवस्थाओंमें अक्षर अक्षर अक्षर रहता है। विशिष्ट विस्तार होने व होनेमें अक्षरों अक्षरमें कोई भेद नहीं होता।

यही अक्षरकी अक्षर एकसम समता सदा है। इसमें आप अपना अस्थिर भी स्थिर है तो अपने आपसे उन्हीं अक्षर अनुभव करनेमें आप समर्थ होंगे। (श्री १०)

जगत्तु अक्षर विगुण परममात्रा यही है। वह क्षीरमें होनेपर भी न कुछ करता है (क्षीरकोऽपि न करोति) और न क्षिप्त होता है (न क्षिप्यते)। आपूषण होनेपर क्षीरमें किसी तरह शोच नहीं होता, वह सोबा जैसेका देवाही है। इसी तरह विगुण परममात्रा क्षीरमें रहनेपर भी अनुपपद्यताही होता है। वह अनुपपद्यता क्षीरकी प्रकृति ही है, ज्ञान वैसाही अक्षर अक्षर और विगुण है। मिथीके नेत्र बन्धने से मिथीका मिथीपन हटता नहीं और न मिथीही कम होती है। इसी तरह अक्षर क्षीरमें भेद होनेपर भी उसमें परममात्रा एकसम अक्षर अक्षर अक्षर है और वैसाही अपने अक्षर भी है। (श्री ११)

कैसे बाकायत सूख है और सर्वत्र एक जैसा है सब वनोंमें वही बाकरवाका और सब पत्तोंमें वही बाकरवाका है तथापि किसी वनके या घरके दूठने में तुम्हेंसे उस बाकायत में कुछ भी भ्रूयाधिक नहीं होता। वैसेही सब मिश्रित वस्तुओंमें एकत्र जमा होनेपर भी वस्तुयुक्त होयके वह योग्य नहीं होता। वस्तु प्रयोग हो ना निर्होय पर वह जगत्ता प्रदा विध्वंसक है। (छो १५)

कैसे एकही सर्व सब दिक्को प्रकाशित करता है वैसेही वह पुनः प्रकृति को प्रकाशित करता है। जहाँ अक्षय्य क्षेत्रको प्रकाशित करता है। जगत्ता क्षीरको चेतन्य देता है। जहाँ कैसे अनेक दुःखके पदाचार प्रकाश जगत्ताके कारण सर्वको कोई दोष नहीं जगाता। वैसेही अनेक पदार्थोंके जगत्ताके प्रकाश करनेके कारण जगत्ताको कोई दोष नहीं जगाता। (छो १६)

ज्ञान-वस्तु

क्षेत्र और क्षेत्र्य प्रकृति और पुनः देह और जगत्ता वह और क्षेत्र, रत्नी और मालका वह अन्तर जहाँ वह भेद (ज्ञानप्रभुता) ज्ञानकी वाक्येही मनुष्य देखें क्योंकि वह कल्पनाय भेद है। वस्तुयुक्त भेद नहीं है। कैसे काँच और मिश्रणका भेद ज्ञानप्रभुके देखा जानेवाला है। काँच और मिश्रण जगत्ता जगत्ता कभी हो नहीं सकती। ये एकही वस्तुके दो पक्ष हैं। वैसेही प्रकृति यह पुनः प्रकृति काँच होने के कारण एक वस्तुके ही ज्ञान है। जगत्ता उनमें कल्पनाय अन्तर है। वस्तुका अन्तर नहीं। वहाँ जो वह अन्तर ज्ञान-प्रभुके ही देखनेको कहा है उसको और पाठ्य विशेष ज्ञान है क्योंकि वह अन्तर जगत्ता नहीं है केवल कल्पनाय ही भावमान होनेवाला है। जो वह जगत्ता है कि वह क्षेत्र कल्पनाय भेद ज्ञानप्रभुके ही देखनेवाला है। प्रकृति और पुनः अन्तर रहनेवाली पुनः दो वस्तु नहीं हैं। वही प्रकृतिसे युक्त होनेका जगत्ता जगत्ता है और ये परमज्ञको गम करते हैं। (छो १७)

प्रकृति-मोक्ष

वही प्रकृति-मोक्ष को जगत्ता और परमज्ञको गम होना इसका बाधन है। जगत्ता प्रकृति-मोक्ष का ही ही विचार समझनेके किने हो कल्पनाओं का मगल करना चाहिये।

१ मूलप्रकृति-वचनं।

२ मूलप्रकृति-मोक्ष।

सम्पूर्ण जगत्ता अन्तर होनेवाली ये कल्पनाय ही ही समझनेसे भूतप्रकृतिमोक्ष क्या है वह समझने ला सकता है। मूल प्रकृति जगत्ता 'मायिमात्र' है। वस्तुमात्र जगत्ता जो कुछ क्या हुआ पदार्थ है। वह अर्थ भी हम के सकते हैं परन्तु जगत्ता विचारका विचार करनेके किने प्रायिमात्र जगत्ता पदार्थ है। इस मूलकी विचार प्रकाशकी प्रकृति होती है। उदाहरणार्थ सिंहप्रायकी मूल प्रकृति गाव-बोले की लौम्ब प्रकृति। मनुष्योंमें भी देखिये कि कुछ मनुष्य सार्विक, कुछ राजस और कुछ तामस प्रकृतिवाले होते हैं। यह प्रकृतिस्वभाव मूलोंके पीछे क्या हुआ है यह त्रिगुणमय स्वभाव सबके साथ क्या हुआ है मनुष्योंके साथ तो है ही। कीच इस प्रकृतिस्वभावसे बच सकता है। जो गुण-वीर्य होगा वही इससे बच सकता है। प्रकृतिके गुणोंसे जो बचता होता है, उसको मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय गुणवीर्य हीवाही है। वहाँ इस विचारसे मूलप्रकृतिसे मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय पाठकोंकी समझमें ला गया होगा।

सर्व्व पदार्थ सर्व्व प्राणी जगत्ता मनुष्यमात्र प्रकृतिसे ही ही गुणोंसे बचे हुए हैं। जो गुणवीर्य होगा वही भूत प्रकृतिसे मुक्त हो सकता है। समझिये कि जगत्ता १५ में जगत्तायें गुणवद्विभागका विचार किया है और वहाँ गुण-वीर्य होनेका उपाय भी कहा है। वहाँ ही विस्तारपूर्वक पाठकोंको गुणवीर्य होनेके महारका पता लग जायगा। गुणवीर्य होनेसे यह कष्ट निकला है—

समस्तुःस्तुः स्वस्थाः समस्तुःस्तुःस्तुःस्तुः।
गुणप्रियाप्रियो धीरस्तुःस्तुःस्तुःस्तुःस्तुः। १४
मानाप्रमानयोस्तुःस्तुःस्तुःस्तुः मिथारिपक्षयोः।
सर्गारिप्रारिस्थायी गुणातीतः स उच्यते ॥ १५ ॥
मां च योऽध्यमिचारेण भक्तिपागेन सेवतः।
स गुणाभ्रमतीत्येतात्प्रपन्नभूयाय कल्पते ॥ १६ ॥
(गी १४)

मुक्त-हु-मिथी-मोक्ष मित्र-मित्र मित्र-स्तुति माय-अपमाय मित्र छत्र इसप्रति इन्द्रोः विद्वत्ते सम वृत्ति रक्तके पराधरकी वन्यमदिररक देवा करने के तथा सकाम स्वार्थयोगके किने कर्म न करनेसे मायक

गुणातीत होता है और मनुष्य को मोक्षको प्राप्त करता है ।

गुणातीत होना और मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करना एक ही बात है क्योंकि मनुष्य गुणातीत है इसीलिए मोक्ष है । अतः जो गुणशील होगा वह मोक्ष नही पाएगा ।

गुणों के अधीन न रहना चाहिये, गुणों के बाहर रहकर गुणों का एक देखना चाहिये गुणों को अपने अधीन कर रक्खना चाहिये । गुणों के बाह्य में मनुष्य कहे हैं, वे सब गुणों के स्वामी बनें तो तभी अपनी कष्टिका अनुपपन्न कर सकते हैं । अवश्य वे गुणों के बाह्य में बने रहेंगे तब तक उनकी

परतन्त्रता के कारण अपनी कष्टिका अपने को बना नहीं सकते । परतन्त्रता अपनी कष्टिका बाध करनेवाली है । इसीलिए यत्ने की प्रकृति से परतन्त्रता प्राप्त करनेका उपाय (भूत-प्रकृति-मोक्ष विधुः) किया गया है । जो इसका साधन करते हैं वे (परं वाग्नि) मोक्ष मनुष्यत्वको प्राप्त करते हैं ।

अब आगे १४ में अध्यात्म में प्रकृति के गुण की ओर है वे मनुष्य को कैसे बाँधते हैं और किन्हीं मुक्तियों मनुष्य उनके बंधन से मुक्त हो सकता है, इसका विचार है ।

यहाँ तेरहवें अध्यायका अन्त समाप्त हुआ ॥११॥

तेरहवें अध्यायके सुभाषित

(१) आत्मा की ओर ।

इह शरीरं क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं । यह आत्मा का क्षेत्र है इसमें आत्मा जिस प्रकार की चाहे क्षेत्री करने का काम कर सकता है । क्षेत्र का स्वामी आत्मा ही है ।

(२) क्षेत्र का स्वामी ।

यत्तपो वेत्ति तु प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदुः ॥ १ ॥

इस क्षेत्र के को ब्रह्मज्ञान जानता है उन्हे ही इस क्षेत्र का स्वामी समझना है ऐसा कहते हैं । " प्रसिद्ध क्षेत्र का एक स्वामी होता ही है । परन्तु क्षेत्री का कार्य अत्यन्त करनेवाले स्वामी बहुत ही छोटे होते हैं ।

(३) क्षेत्र में विघाट की संभावना ।

अग्नें समासेन सन्निकारमुवाहृतम् ॥ १ ॥

इस क्षेत्र में विघाट होने की संभावना है यह बात सचेतने जाननी चाहिये । क्षेत्र का स्वामी प्रायः प्रायः न रहे तो इस क्षेत्र में अनेक प्रकार के विकार होकर क्षेत्री का बाध होगा अतः क्षेत्री करनेवाला सदा दृढ़ रहे और अपने क्षेत्र में विघाट न होने दें ।

(४) ज्ञान ।

अध्यात्मज्ञानमित्यस्य तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

यत्तज्ज्ञानमिति श्लोकमज्ञानं यदतोऽन्वया ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञान और तत्त्वज्ञान को श्लोक क्षेत्रज्ञान के श्लोक कहते हैं इसको प्रत्यक्ष करने का नाम ही ज्ञान है । अध्यात्मज्ञान से भिन्न और श्लोक से शिरोही को भी ज्ञान है, यह सब अज्ञान है ।

(५) समन्वित ।

मित्यं च समन्वितस्त्वमिष्टाविद्योपपत्तिषु ॥ १ ॥

" इस अथवा समन्वित इत्येते को ही अवस्था प्राप्त होने पर चित्त की समता फिर रखना । चित्त की समता के बिना तब तक अवस्था में फिर रखनी चाहिये ।

(६) सबका पोषण करना ।

असक्तं सर्वभूतैष्य ॥ १४ ॥

अपने भोगों में बाध न होना परन्तु सबका सब पोषण-पारण तथा भोग करना चाहिये । अपने भोगों में मित्युक्त होना चाहिये परन्तु सब भोगों की चाहिरी में अपने भोग मित्रों देली व्यवस्था करनी चाहिये ।

(७) भाविमल्ल होनपर विमल्लसा व्यवहार ।

भाविमल्ल य भूतेषु विमल्लमिव य स्थितम् ॥१६॥

अन्तर्गामी भाविमल्ल रहनेपर भी बाहरके व्यवहारमें निमल्ल वैसा भावना करना । बाहर विमल्लके समान व्यवहार करनेपर भी अन्दरके वस्तुता भाविमल्लही रहना चाहिये ।

(८) सम भाष ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेष्वरम् ।

या पश्यति स पश्यति ॥१७॥

“सम भूतोंमें परमेश्वर सम भाषके रहता है ।” ऐसेही भाषक सम प्रसिद्धिमें विचरते सम भावना करना करे ।

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवास्थितमीश्वरम् ।

न दिनस्स्यात्प्रमात्मात्मा ततो याति परं गतिम् ॥८॥

परमेश्वर समभावसे सर्वत्र है वह जावनेवाला स्वयं प्रामाण्य नहीं करना और श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है । जो मनुष्य सबको समभावसे देखता है, वही श्रेष्ठ होता है ।

(९) पुण्यभाषमें एकता ।

भूतपुण्यभाषमें एकस्यामनुपश्यति ॥१०॥

भूतोंके पुण्यभावको भी एकत्वमें जानिये देखना चाहिये । व्यक्तिमें भिन्नता भी भेदभाव हो परन्तु सबमें जो एकत्वमें केन्द्र है वहीकोही ध्यानमें रखना चाहिये ।

(१०) निर्दोषता ।

यथा सर्वगत सौम्यावाकाशो नोपलक्ष्यते ।

सर्वभाषास्थितो वृद्धे तथात्मा नोपलक्ष्यते ॥११॥

“जैसे आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापक होनेपर भी निरूपक है, वैसीही आत्मा सब देहोंमें रहनेपर भी निर्दोष रहित है ।” इसी प्रकार साधक सर्वत्र प्रचार करके भी अपने भाषको निर्दोष निष्कलंक और निर्दोष रखे । सबके साथ संबंध होनेपर भी किसीके दोषके दोषी न होवे ।

(११) प्रकाश हो ।

प्रकाशयत्येका कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री कृत्स्नं प्रकाशयति ॥१२॥

सूर्य सब क्षेत्रोंकी प्रकाशित करता है, क्षेत्री अपने क्षेत्रको प्रकाशित करता है ।” इसी प्रकार मनुष्य अपने अन्तर प्रकाश बढाकर उसे दृष्टरोंमें देखे ।

(१२) श्रेष्ठ गति प्राप्त करो ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिसोऽथ ये विदुर्यामि ते परम् ॥१३॥

जो ज्ञानरहि प्राप्त करेये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ केद ज्ञानी और पच भूतोंके प्रकृतितत्वावसे अपनी मुक्ति करेंगे, वे श्रेष्ठ भक्तिके प्राप्त होंगे ।” ज्ञान प्राप्त करी क्षेत्र और दक्षका स्वाधी हुक्म परस्पर संबंध व्यापमें रहो और योगोंके संबंधसे अपने भाषको सुखाकी हृदना करनेसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी ।

तरहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोः	७७९	क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-गुराण-वर्धनप्रकाश	७८१
(१) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार (सू० १-९)		(१) क्षेत्रका स्वरूप (सू० ५-९)	७८१
क्षेत्र और क्षेत्री करनेवाला		क्षेत्रका वर्णन	”
क्षेत्र क्षीरवत्	”	११ प्रकारकी प्रकृति	”
ज्ञान और मिथ्या	७८	७१ भावविभक्त अनेक भाष	”
(१) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभाव	७८१	(७) ज्ञानका स्वरूप (सू० ७-११)	७८४
(सू० १-४)		ज्ञान और अज्ञान	”
इष्ट और प्रकृति	”	ज्ञानके कल्याण, अज्ञानके कल्याण	७८५

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्ञानके परिणाम	७८१	क्षेत्रज्ञ महत्त्व पुष्पका सामर्थ्य	८१
आदर्श धार्मिक जीवन		क्षेत्रकी परीक्षा	८१
(५) क्षेत्र क्या है ? (श्लो० ११-१७)	७८६	क्षेत्रका स्वरूप	८५
क्षेत्रका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ?	७८७	३१ प्रकारका क्षेत्र क्षेत्रके विभिन्न रोग	"
नरकक्षेत्रे इत्येव पापे भावि		क्षेत्रका परिणाम सब कुछ समुद्देश्य है वर्तमान	८६
आकाश अदम्यकाष्ठ मरुत्काष्ठ	७८८	अमानित्य कार्यमित्य	८७
क्षेत्रका प्रत्यक्ष-वैयर्थ्य करनेवाला	७८९	आर्च्य = अस्मत्का भांति क्या	"
एकमे अनेक रूप	७९	आचार्योपासना क्षेत्र = परिणता	८७
सबके हृदयमें विद्या, सत्य, असत्य	७९१	क्षेत्र = क्षेत्रता	"
असत्य और सत्य	७९२	ईश्वर-भोगोंके सर्वत्रसे वैराग्य	८९
(६) ज्ञानका फल (श्लो० १८)	"	ब्रह्मविधिग्रह	"
(७) पुण्य और प्रकृति (श्लो० १९-२०)	७९३	निगमिमाविद्या	"
(श्लो० २१)	७९६	अमृतमुखाभ्यासिदुःखदोषापुरार्च्य	८१
प्रकृतिके तीन गुण, सुखदुःखोंका योद्धा		अवाकति पुनः-क्षेत्र-प्राप्तिसिद्धि अर्च्य	८१
(८) परमात्मा (श्लो० २२-२३)	७९४	इश्वरिणी प्राप्तिमें निरत कमचिन्ता होता	८१
देह और प्रकृतिक		अव्यक्तयोगसे अव्यक्तचित्तिनी मति	"
(९) आत्मवर्णन और उपासना (श्लो० २४-२५)		एकत्वसेव्यक्त अवसंभवेमें जानेकी शक्ति	८१
प्रकृतिपुष्पका ज्ञान		अव्यक्तमन्त्रावर्धने निरत कवि	"
(१०) समवर्णनका फल (श्लो० २६-२८)	७९५	उत्पत्त्याचार्य वर्धन आत्मवेद्योक्त वस्तु	८१
अनेक साधकोंकी साधना		विभक्त्यर्थे अविभक्त	"
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसे सबकी उत्पत्ति	७९६	प्रकृति और पुष्प	८१
ईश्वरकी समस्त शक्ति		ईश्वर परमात्मा	८१
(११) अकर्ता आत्मा (श्लो० २९)	७९७	अव्यक्तसेव्यक्त सबकी उत्पत्ति	८१
प्रकृति सब कर्म करती है		क्षेत्र अनेकवर्ण, क्षेत्रज्ञ प्रकृतिमोक्ष	८१
(१२) एकमेव पुण्यमात्र (श्लो० ३०)	७९८	भूतप्रकृतिवर्ण और भूतप्रकृतिमोक्ष	"
क्षेत्रका भ्रम सब भूत आत्मज्ञानी हो गये	७९९	तेरहवें अध्यायके सुमापित	८२
(१३) आत्माकी निर्मलता (श्लो० ३१-३३)		आत्माकी क्षेत्री क्षेत्रज्ञ स्वाधी	"
परमात्मा अवादि है		क्षेत्रमें विद्याकी संभावना ज्ञान अविभक्त	"
(१४) परमपद प्राप्ति (श्लो० ३४)	८०१	सबका पोषण करना	"
तेरहवें अध्यायका मंगल	८०२	अविभक्त होनेपर विभक्तता व्यवहार	८२
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अलग-विर्गुण		समभाव भूतमात्रमें एका विभक्तता	"
प्रकृतिक क्षेत्र प्रकृति और क्षेत्र	८३	प्रकाश ही क्षेत्र गति प्राप्त करी	"

गुण-त्रय-विभाग-योग ।

(१) उत्तम ज्ञान

भीमयथानुवाच—

परं भूय प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानसूचकम् । यच्छात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता । सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

(२) पिता और माता

मम नोनिर्महद्दृष्टं तस्मिन्मर्म दधाम्यहम् । सभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वभोनिषु कौन्तेय मूर्त्यः संभवन्ति साः । तासां प्रष्टुं महद्योनिरह बीजप्रदः पिता ॥४॥

अन्वयः— भीमगवान् उवाच— यह ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः (१) ज्ञानानां उत्तम परं ज्ञानं (२) प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥ (३) इस ज्ञाने उपाश्रित्य मम साधर्म्यं आगताः (४) सर्वे अपि न उपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

भीमगवान् बोले— जिसको जानकर सब मुनिवोंने यहाँसेही परम सिद्धि प्राप्त की सप ज्ञानमें उत्तम और श्रेष्ठ उसी ज्ञानको फिरसे (मैं तुझ) कहता हूँ ॥१॥ (जो) इस ज्ञानका आश्रय करके मरे (ईश्वरके) समान धर्मको प्राप्त हुए (वे) न तो उत्पत्तिके समय जन्म लेते हैं और न प्रलयकालमें कहीं भी भोगते हैं ॥ २ ॥

मातापै— श्रेष्ठ ज्ञान वही है जिससे परम श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है वही ज्ञान बार बार मुनयों मुनयों चाहिये । जिस ज्ञानसे बरका बारात्मन बनता है और जन्ममरणके कष्ट दूर होते हैं वही ज्ञान श्रेष्ठ है और उसेही प्राप्त करना चाहिये ॥ १-२ ॥

अन्वयः— हे भारत ! महद् प्रष्टुं मम बोधिः (जसित) ; तस्मिन् जहं गर्भं दधामि ; ततः सर्वभूतानां समव भवति ॥३॥ हे कौन्तेय ! सर्वभोनिषु साः मूर्त्यः संभवन्ति तासां बोधिः महद् प्रष्टुं [जसित] जहं बीजप्रदः पिता [च जसित] ॥४॥

ईश्वरसे साधर्म्य

(१-२) इस अध्यायमें उत्तमसे उत्तम ज्ञान कहा जा रहा है । इस ज्ञानको प्राप्त करके प्राचीन कालके अनेक जपियों मुनियों विद्वानों और भोमियों उत्तमसे उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी । इस तरह यह ज्ञान केवल वर्तमें जपया विचारमें ही रहनेवाला नहीं है मनुष्य मनुष्य व्यवहारमें उत्तमसे उत्तम सिद्धि देनेवाला है । इसी कारण इसकी योग्यता प्रत्यक्ष चकराही होनेके कारण विशेष है ।

जो ज्ञान जब कहा जायगा उस ज्ञानसे बारबार जन्म मानके दूख नहीं भोगने पड़ेगे । यह एक काम तो है ही इससे भी अधिक महत्त्वका एक काम और है वह है—

१ १ (हिं गी.)

(ईश्वरस्य) साधर्म्यं आगताः । (३)

ईश्वरके जो धर्म हैं उस धर्मके समान इसका धर्म होता है । जैसे तथा हुआ बोधा अरिजक गुणधर्मोंसे युक्त होता है उसी तरह ईश्वरकी पवित्र धर्मोंसे तथा हुआ यह साधक ईश्वरके पवित्र और शुभ गुणधर्मोंसे युक्त हो जाता है अर्थात् ईश्वरही बन जाता है । क्योंकि जो ईश्वरके साथ समानधर्मा हो जाता है उसका ईश्वर बननेमें कमी ही क्या है ? अर्थात् वह ज्ञान नरको नारायण कर देनेवाला है । अब यह ज्ञान प्रत्येक साधकको व्यवहरी प्राप्त करना चाहिये इसलिये जागे जो ज्ञान कहा जानेवाला है उसका मनमूर्च्छक पदार्थ धिक् होकर ग्रहण करना चाहिये ।

हे भरतकुलमें उत्पन्न वीर ! महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिही मेरे छिये गर्भ-स्थापनाका स्थान है, उसमें मैं गर्भ स्थापना करता हूँ, उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥१॥ हे कुन्तीपुत्र ! सब बोधियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन सबका उत्पत्तिस्थान महत्-ब्रह्म अर्थात् मेरी प्रकृतिही है और मैंही उसमें बीज डालनेवाला पिता हूँ ॥४॥

मार्थाध—एक तो ईश्वर है दूसरे उसकी महती शक्ति प्रकृति है। ईश्वर अपना बीज इस प्रकृतिमें डालता है। उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् ईश्वरक बीजसे प्रकृतिमात्रामें गर्भधारणा होकर सब शक्तिकी उत्पत्ति होती है। जहां सब शक्त अपने आपको परमात्माक बीजसे उत्पन्न जाकर इस बातको ब भूतों कि उन्हें भी अपने जनकके समानही समर्थ बनता है। १ १

सबका उत्पत्ति-स्थान

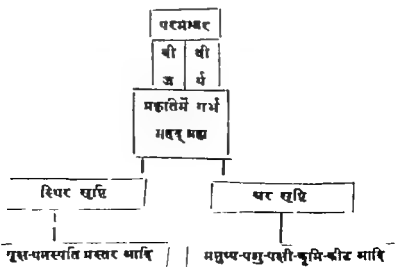
(१४) सब विश्वका पाकक एक ईश्वर है उस ईश्वरकी एक प्रकृति है उसको महद्ब्रह्म कहते हैं। वह अनित्य अचल है। अपरंपार अबाध सन्निव होनेसे तथा इसका पार कोई भी नहीं पा सकता इस कारण इसको महद्ब्रह्म कहते हैं। महद्ब्रह्म का जन्म नहीं है और मरण का कार्य भी विश्वका विस्तृत है। जहां महद्ब्रह्म-मरणक जन्म है वही विश्वका विस्तृत अस्तित्व है। वह ईश्वरकीही शक्ति है। ईश्वर जैसा महद्ब्रह्म है वैसाही उसकी शक्ति भी महती है।

वही ईश्वरकी महती प्रकृतिही सब विश्वधारक [बोधि] उत्पत्तिस्थान है। इसीसे सब वेदा होते हैं और जन्ममें हमीमें जा मिलते हैं। कोई देवी बन्धु नहीं है जो इस प्रकृति से उत्पन्न न हुई हो। अर्थात् स्थिर चर मूर्त अमूर्त तथा शक्ति-के अन्तर्गत सब पदार्थ इसी ईश्वरीय प्रकृतिसे वेदा हुए हैं।

मायो ईश्वर (बीजप्रदा पिता) गर्भाधान करनवाला पिता है और वह प्रकृति गर्भका धारकपोषण करने प्रसन्न

करनेवाली (जब महद्ब्रह्म बोधि) माता है। इस प्रकृतिकी बोधियोंमें ईश्वरका बीज जाता है। वहां उससे गर्भधारणा होती है और छहोंके लक्ष चक्र और अक्षर, सजीव और निर्जीव (सूर्यवा संभवित) पदार्थ बन जाते हैं। (समस्त सर्वव्यापी) सबो भवति। गी १४।१) संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति इसी तरह होती है।

इस छहियों मनुष्य पक्ष पक्षी, कीट पंथ जलचर त्वक्-चर लोचर वृक्ष वनस्पति आदि जन्मते बोधियाँ हैं। अनेक जातियोंमें जन्मते उपजातियाँ हैं। इनकी मिश्रणी नहीं हो सकती। अनेक बोधियोंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका स्वभावपूर्ण भिन्न भिन्न होता है। अनेक उपजातियोंमें उत्पन्न होनेवालोंका स्वभावपूर्ण भी भिन्न होता है। वेदे संपूर्ण जन्मते बोधियोंमें उत्पन्न होनेवाली जन्मते मूर्तियोंकी महाबोधि वर परमात्माकी प्रकृतिही है और परमेश्वरही इस प्रकृतिमें सब सबका बीज डालता है। निजसे सब छहियों हीननेवाली मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं।



(३) तीन गुणोंका बंधन

सर्वं रजस्वम इति गुणा* प्रकृतिसमवा । निषघ्नन्ति महाबाहो देहे दहिनमभ्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सर्वं निर्मलस्वात्प्रकाशकमनामयम् । सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासगसमुद्भयम् । तन्निषघ्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादात्तस्य निद्रामिस्तन्निषघ्नाति भारत ॥ ८ ॥
सर्वं सुखे सञ्चयति रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमानृत्य तु तम* प्रमादे सञ्चयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वया— हे महाबाहो ! सर्व रजः तमः इति गुणः प्रकृतिसमवाः (संगित ते) देहे अभ्ययं देहिनं निषघ्नन्ति ॥ ५ ॥
देवत्व । तत्र अनामयं प्रकाशक सर्वं निर्मलस्वात् (वास्तव्य) सुखसंगेन आनन्दसंगेन च बध्नाति ॥ ६ ॥ हे कौन्तेय ! रागात्मक रजः
तृष्णासगसमुद्भवं विद्धि । तत् देहिर्न कर्मसंगेन निषघ्नाति ॥ ७ ॥ हे भारत ! तमः तु सर्वदेहिनां मोहन बलवान्न विद्धि ।
तत् (देहिने) प्रमादं ज्ञानस्य-निद्रामिः निषघ्नाति ॥ ८ ॥ हे भारत ! सर्वं (देहिने) सुखे संचयति रजः कर्मणि उत
तमः तु ज्ञान आनन्द प्रमादे संचयति ॥ ९ ॥

हे महाबाहो ! सस्व, रज और तम ये गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले हैं ये देहमें भवितायी
देहपारीको— (जीवको)— बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥ हे निष्पाप ! इसमें नीरोगता देनेवाला और प्रकाश करने
वाला सस्वगुण अपनी निर्मलताके कारण आत्माका सुखसे और ज्ञानसे बाँधता है ॥ ६ ॥ हे कुन्तीपुत्र
मर्जुव ! रजोगुण प्रेम करनेवाला होनेसे तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न करता है पला तू समझ ।
वह देहपारीको कर्मपाशमें बाँध देता है ॥ ७ ॥ हे भरतकुलोरपक्ष ! तमोगुण तो सब देहिओंका मोहमें
हालनेवाला है और वह भ्रमज्ञानसे उत्पन्न होता है । वह देहीको प्रमाद आत्मस्य और निद्रामें बाँध देता
है ॥ ८ ॥ हे भारत ! देहपारीको सस्वगुण सुखमें रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानका हक कर प्रमादमें
कहा देता है ॥ ९ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ स्थिर हो या चल हो
उसमें प्रकृतिक बल है और साथ साथ परमात्माके
आनन्द शीर्षका भी बल है । परमात्माका शीर्ष केवल सजीव
मृतिमें है और शीर्ष मृतिमें नहीं ऐसा नहीं है दोनोंमें
बलका शीर्ष है । जैसे सजीव वृक्ष मिथि प्रकाशकी है
वैसेही मिथि मृति भी । दोनोंका बीजराश परम पिता
परमात्माही है । साथक वही समझें कि अपने अन्तर
राज्यमाका भीज है साथही साथ वह भी समझें कि
अपने अन्तर परमात्माका भीज होनेसे वह विकसित होकर
परको आत्मन बना देदेवाका है । मैं परमात्माका अमृत
पुत्र हूँ जब मैं परम पिताके साथमेंको धारण प्राप्त
करूँगा । वह निश्चय है । जैसे प्रायक पुत्र पिताके साथमेंको
पुत्र होगी है वैसे मैं उसका अमृत पुत्र उभय
अनन्तके अन्तरही प्राप्त होऊँगा । उसका अन्तरपनको प्राप्त
करनाही मेरा जीवन—उद्देश्य है । जब परम पिता परमा-

त्माके शीर्षका स्वभावही ऐसा है कि वह कमल परमात्माके
साथमेंको पुत्र होनाही (साथमें भागना । १३१२)
कितने भी विघ्न शीर्षका जा जावें तो भी उन मूर्ख विघ्नकि
परास्त करके परम पिताक साथमेंका वह अवश्य प्राप्त
होगा । सर्व विघ्नोंकी पराजय होकर और परमात्माक
बीजकी शिखर होकर वह पुत्रवाके माय बढगा ।

अपने अन्तर यही अमृत सामर्थ्यपुत्र परमात्मबोध है
यह समझकर और जैसे बरहीनये बहसही होता है जगि
प्रकार मैं भी बरका आराधन पुत्रका पुत्राचम नीचमाका
परमात्मा जीवका शिव अवश्य बनूँगा ।

इस ज्ञानसे साथक समझें यह निश्चय हो जाना और
उभय आत्मविधान निःसन्देह यह जानना । बहोतक
जीवका विचार करके अब इसकी प्रकृतिका विचार करते
हैं—

माधार्थ—प्रकृतिमें सरल रस और तम ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण देहकी उत्पत्ति साधरी देहमें जाते हैं और इन गुणोंके मेलसे देहधारी जीवका स्वभाव प्रभाव है। सरलगुणसे निर्मलता भीरोगका प्रकाश मुख और श्वा प्रसन्न होता है। रजोगुणसे विषयोंपर प्रेम तुल्य भोगोंपर आसक्ति और कर्मोंके साथ संग होते हैं, तथा उसे गुणसे मोह प्रमाद बहुधादि कावत्स्य विद्या ब्रह्म आदि होता है। इन गुणोंको अपनेमें देहकर मनुज अपनेमें किस गुणकी प्रधानता है इसकी परीक्षा करे ॥ ५-९ ॥

प्रकृतिका स्वभाव

(५-९) परमात्माकी एक प्रकृति है जिसमें परमात्मा के बीचहला सब घटिका उत्पत्ति होती है। इस प्रकृतिमें तीन गुण हैं। इनके नाम सरल रस और तम हैं। ये तीन गुण सब तम मात्रमें रहते हैं तभी इस प्रकृतिमें एक प्रकृति गुणसाम्या प्रकृति करते हैं। इस गुणसाम्यावस्थामें इससे वा इसमें कोई कार्य नहीं होता। कार्य होनेके क्षिणे इसमें कुछ व कुछ विपरीतता उत्पन्न होती। चाहिये और इस प्रकृतिकी गुण साम्यता इतकर गुण-विपरीतता उत्पन्न होती भी आवश्यक है।

उत्पन्न रस—तम इन तीनों गुणोंके कुछ विचार करने होते हैं—

सर्वगुण

यह निर्मल किर्त्तन प्रकाशक मार्गदर्शक ब्रह्ममय भीरोगता स्वात्मन करनेवाला ध्यायिनीको हृदयेवाला मुख देवेवाला इंद्रियोंकी सुस्थिति रखनेवाला ज्ञान देवेवाला (सत्य)वक ब्रह्मदेवाला है।

रजोगुण

यह राग बर्त्तन विषयोंपर प्रीति उत्पन्न करता है। गुण्य प्राप्त अपना चाह उत्पन्न करता है। सुख यह चाहिये और वह चाहिये ऐसी जो मर्त्ये बुद्धि उठती है। वह इसी रजोगुणसे उठती है। भोगोंके साथ संग करनेकी अभिलाषा होती है। वह रजोगुणी मनुज्य भोगोंका संग छोड़ना नहीं चाहता। भोगोंको अपने पास इच्छा करता जाता है। भोगोंकी प्राप्तिके क्षिणे विविध प्रकारके छोटे मोटे कर्मकरना शुरू कर देता है। एक कर्म समाप्त होनेपर दूसरा दूसरेके बाद तीसरा ऐसेही विविध कर्मोंको प्रारम्भ कर देता है। यही रजोगुणका स्वभाव है।

तमोगुण

तमोगुणसे अज्ञान होता है; ज्ञानमहत्सक्ति उठ जाती है। घेरी जाती है। वह अपना कार्य नहीं कर सकती। ज्ञान व होनेसे मोह होता है, मोह होनेसे काव और कर्त्तव्यका निष्पन्न नहीं हो पाता तथा करना चाहिये और करना नहीं करना चाहिये वह वह जान नहीं सकता। इसी कारण वह प्रमाद और अज्ञादिना

करता है उसे आवश्यक निरुत्साह और सुस्ती जाने उठती है। वह रातदिन सोता रहता है कुछ भी उपार्जन नहीं करता पका रहता है। कठिन कार्य और मयके कर्म करनेमें अक्षम होती है। वह तमोगुणका स्वभाव है।

संक्षेपसे जानना चाहें तो सरलगुणसे मुख तमोगुणसे विविध कर्म और तमोगुणसे ज्ञान आहत हो जानेके कारण प्रभाव होते हैं।

उत्पन्न विषयों इस तीन गुणोंका एक एक रहा है। रस विषयों किगुणोंके इस विकासको पटक देव सकते हैं। प्रत्येक प्राणी प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणोंसे बनी है। किसीमें किसी गुणका विकास है और दूसरेमें मूल्य। मूल्य हो वा अधिक किन्तु इन तीनों गुणोंका निवास सब स्थिति परावर्त्तित हैं। एक प्रकृतिमें ही ये तीनों गुण हैं अतः प्रकृतिमें उत्पन्न विविध परावर्त्तितों में वे उपस्थित हैं।

सरलगुणसे मुख होनेपर मनुज्य मुख चाहता है। रजोगुणसे मुख होनेपर उसे कर्म करनेकी इच्छा होती है और तमोगुणसे वैधिय होनेपर वह सुस्त पका रहता है। किमोदक गुण्य प्रभाव होनेपर अल्प गुण नहीं होते ऐसी बात नहीं है परन्तु बने होते हैं और प्रधानता उसी गुणकी हो जाती है।

यदि कोई मनुज्य निर्मल निर्मल भीरोग प्रकाश और प्रार है तो समझो कि उसमें सरलगुण प्रधानताकी है। यदि कोई मनुज्य वह चाहिये वह धर्मिये, देता करता है और योग-वस्तुओंकी प्राप्तिके क्षिणे विचारात् प्रत्यक्ष करता है तो उस सत्ता अज्ञान मनुज्यमें रजोगुणका प्रभाव बहुत बड़ गया है ऐसा धमसत्ता उचित है। जिसमें कुछ भी बुद्धि नहीं है तो मुख है विचारात् सोता रहता है, विकटक प्रभाव नहीं करता यदि कुछ करने लगता है, तो उसमें बनेक प्रभाव कर देता है तो उसमें तमोगुण बड़ गया है ऐसा धमसत्ता चाहिये।

इस रीतिसे किन्तु मनुज्यमें कौनसा गुण बड़ गया है इसकी परीक्षा हो सकती है। साधक इस तरह अपनी परीक्षा करे। किसीएक गुणकी बुद्धि होनेका कार्य अल्प गुण बने हुए है नहीं समझना चाहिये।

(४) तीनों गुणोंके लक्षण

रजस्तमभामिभूय सस्य भवति मारुत । रजः सस्य तममैव तम* सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
 सर्वशरीरेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते । ज्ञान यदा तदा विधाद्विद्वद सस्यमित्युत ॥ ११ ॥
 लोम प्रवृत्तिरारमः कर्मणामश्रमः स्पृहा । रजस्येतानि जायन्ते विबुधे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
 अग्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च । तमस्येतानि जायन्त विबुधे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वयः— हे मारुत ! सस्य रजः तमो भामिभूय (स्वयं) भवति, रजः सस्य तम च (भामिभूय स्वयं भवति) तथा तमो, सत्त्वं रजः च (भामिभूय स्वयं भवति) ॥ १० ॥ उत यदा अस्मिन् देहे सर्वशरीरेषु प्रकाशः ज्ञानं च उपजायते तदा सत्त्वं विद्वद् इति विद्यात् ॥ ११ ॥ हे भरतर्षभ ! लोमः प्रवृत्तिः कर्मणां आरमः अश्रमः स्पृहा एतानि (विधावि) रजसि विबुधे (सति) जायन्ते ॥ १२ ॥ हे कुरुनन्दन ! अग्रकाशः अप्रवृत्तिश्च प्रमादः च मोह एव एवमि (विधावि) तमसि विबुधे (सति) जायन्ते ॥ १३ ॥

सस्यगुण रज और तमोगुणको पराश्रित करके (स्वयं प्रभावित) होता है खैरे ही रजोगुण सस्य और तमको (पराश्रित करके स्वयं प्रभावित होता है) तमोगुण सस्य और रजोगुणको (पराश्रित करके स्वयं प्रभावित) होता है ॥ १० ॥ जब इस देहमें सब द्रवियोंमें प्रकाश और ज्ञान उत्पन्न होता है तब सस्यगुणको बड़ा हुआ समझना चाहिये ॥ ११ ॥ हे भरतर्षभ ! लोम प्रवृत्ति कर्मोंका आरम द्रवियोंकी अश्रम और स्पृहा ये चिह्न रजोगुणके लक्षणपर होते हैं ॥ १२ ॥ हे कुरुगुण भर्तृ ! प्रकाशका प्रभाव, कर्म करनेकी प्रवृत्ति न होना प्रमाद और मोह ये चिह्न तमोगुण लक्षणपर होते हैं ॥ १३ ॥

भाषार्थ— वर्या प्रवृत्तियोंमें तीनों गुण लक्ष्य रहते हैं तथापि समय समयपर कस्य गुण स्वयं ज्ञात हैं और किसी एक गुणके विशेष प्रभाव हो जाता है । किसी समय रजोगुण तथा तमोगुण स्वयं ज्ञात हैं और सस्यगुण प्रभावशाली होकर कर्म करता है । दूसरे समय सस्यगुण और तमोगुण स्वयं ज्ञात हैं और रजोगुण बहकर प्रभावी हो जाता है । इसी समय कभी सस्यगुण और रजोगुण स्वयं ज्ञात हैं और तमोगुण बहकर प्रभावी हो जाता है । हम तरह स्व प्राकृतिक गुणोंका श्रेष्ठ चकटा रहता है । जब देहमें प्रकाश और ज्ञान होता है तब सस्यगुणका प्रभाव है ; जब लोम प्रवृत्ति मोदककला कर्मोंकी प्रवृत्ति अश्रम आदि चिह्न होते हैं तब रजोगुणका प्रभाव है ; तथा जब अज्ञान अप्रकाश अप्रवृत्ति प्रमाद मोह आदि होते हैं तब तमोगुणका प्रभाव है ऐसा समझना चाहिये । इससे साधक अपने मन पर जिस समय किस गुणका प्रभाव है वह जान सकता है ॥ १०—१३ ॥

(१ - १३) एक गुण प्रभावशाली हो तो दूसरे स्वयं ज्ञात हैं । अर्थात् दूसरे गुणोंको दबाकर ही कोई एक गुण प्रभावी होता है ।

सस्यप्रभाव रजःप्रभाव तमःप्रभाव
रज-तम सस्य तम सस्य-रज
 जो गुण प्रभावी होता है वह दूसरोंको दबाए रखता है पर उसको उठने नहीं देता । इसलिये उस स्वयं रूप गुणोंमें उठनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और ये जान करता है और जो कर्मिक जो एक छटा है वही अधिक प्रभावशाली बनता है और दूसरोंको दबाए रखता है । इस प्रकार तीनों गुणोंका

लेख चकटा रहता है । (को १)
 इस देहकी सम्पूर्ण इन्द्रियधारोंमें जब प्रकाश होता है सर्वत्र प्रकाशता अनुभव होती है अज्ञानमय अन्ध होने लगता है स्वाभाविक नीरोगता रहती है मरिहरीहव ज्ञान क्षमिन्द्रियों द्वारा होता है उस समय सस्यगुण उस देहमें बह गया है और प्रभावशाली हुआ है ऐसा समझना चाहिये । (को ११)

जिस समय इस देहमें लोम उत्पन्न होता है वह मुझे भिकना चाहिये ऐसी इच्छा प्रवृत्ति हो जाती है किसी वस्तुकी प्राप्ति के लिये कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है उत

(५) तीनों गुणोंका फल

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं यासि देहमृत । तदोद्यमविदां लोकानमलान् प्रतिपश्यते ॥ १४ ॥
 रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
 कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् । रजसस्तु फल दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
 सत्त्वात्सजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च । प्रमादमोही तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
 ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा । अधन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अन्वयः— यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे (सति) देहभूयः प्रलयं याति तदा उद्यमविदां अमलान् लोकान् प्रतिपश्यते ॥ १४ ॥
 (देहभूयः) रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते । तथा [सः] तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥ सुकृतस्य
 कर्मणः सात्त्विकं निर्मलं फलं रजसः फलं तु दुःखं तमसः च फलं अज्ञानं [इति] बाहुः ॥ १६ ॥ सत्त्वात् कर्म संकल्पे
 रजसः लोभः एव च [संजायते] तमसा प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानं च एव भवति ॥ १७ ॥ सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति
 राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति अधन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधो गच्छन्ति ॥ १८ ॥

अब सत्त्वगुणकी वृत्ति होनेपर देहधारी देहको छोड़कर ही तब वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥ रजोगुणकी वृत्ति होनेके समय जब मृत्यु हो जाती है, तब वह कर्मसमी क्षेत्रमें अन्त होता है । वैसेही तमोगुणके वकनेपर मृत्यु हो जाय तो मूढ योनियोंमें उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥ सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्वाण होता है रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है । ॥ १६ ॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है रजोगुणसे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद मोह और अज्ञान होता है ॥ १७ ॥ सात्त्विक उन्नत होते हैं राजस बीचमें रहते हैं और तमोगुणी लोग अधोगतिकी जानेवाले और नीचे होते हैं ॥ १८ ॥

भाषार्थ— सत्त्वगुणका प्रभाव रहनेपर मृत्यु हो तो जगका अन्त ज्ञानियोंमें होता है रजोगुणके प्रभावके समय तब तब हुआ तो कर्म करनेवालोंमें अन्त होता है और तमोगुणोंके प्रभावके समय मृत्यु हुई तो मूढ जड़ियोंमें उत्पत्ति होती है । अब सत्त्वगुण अपनेमें ब्रह्मा कामदायक है । सत्त्व रज और तमोगुणोंका फल क्रमशः सुख अज्ञान और अज्ञान है । सत्त्वगुणसे ज्ञान रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञानभागी मोह और अज्ञान होता है । सत्त्वगुणी लोग उन्नत होते हैं रजोगुणी बीचकी अवस्थामें प्रवल करनेमें इच्छित होते हैं और तमोगुणी लोग अधोगतिकी प्राप्त होते हैं । इसलिये सात्विकसे अपनेमें सत्त्वगुणकी वृत्ति करनेका बतल करना चाहिये ॥ १४ १८ ॥

भोगकामसादी वृत्तिके लिये विविध कर्मोंका प्रारंभ किया जाता है । एक कर्मसे भोगकी प्राप्ति न होनेपर एकके पीछे दूसरे कर्मके कर्म प्रारंभ किये जाते हैं । इंसियोंका संकल्प करनेका बलवत् नहीं होता । परन्तु इस अज्ञान-क्षेत्री उन्नतिकी भावना समझा जाता है । मृत्यु वह चाहिये ज्ञान भरेपल वह है एक उन्नतों प्राप्त करके परसों वह मिलेगा और उस समय मैं बहुतही सुखी हो जाऊँगा इस तरहकी भावना कामना तथा भोगलुब्धा अब बढतीही जाती है उस समय उस देहमें रजोगुणको बढा हुआ समझना योग्य है । (को १५)

अब देहके कुछ कार्य न किये जायें लुपपाप पड़े रहें कुछ भी इच्छा न करें जो जाय आनन्दमें पड़े रहनेकी

समोवृत्ति हो जाय । क्या करना चाहिये और क्या नहीं इस विषयमें कुछ भी विचार न हो पाये मन्त्रिकके विषयमें नयी भावोंके सामने विद्युत्कृष्ण बन्धेराही दीखता हो उन्नतकी एक भी किरण सामने न हो जो कुछ भिन्ना जाय इसमें प्रभाव और अज्ञानसेही भरी हो कभी एक भी कर्म निर्माण न हो पाये मोह अज्ञान अविद्याही मन्त्रों के रे रहती हो, उस समय वह रजोगुण प्रबल हुआ है ऐसा समझना चाहिये ।

इस वर्णमेंसे अपने अन्तर किस समय कोकता गुण प्रबल है और किस समय अपना जीवन विद्युत् गुणके प्रभावमें या गया है वह निश्चित हो सकता है । सात्विक गुण परह अपना परीक्षा करे और जाने कि अपने जीवनमें आनन्द करनेवाला गुण कीकता है ।

(६) ब्रह्मका गुणातीत होना

नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा ब्रह्माऽनुपश्यति । गुणेभ्यश्च पर वेचि मद्भाष सोऽधिगच्छति ॥१५॥
गुणानेवानतीत्य श्रीन्देही देहसमुद्भवान् । जन्ममृत्युजरादुद्धैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

(१७-१८) धरत रज और तम ये गुण प्रभावशाली होनेपर मृत्यु हो जाय तो अगला जन्म किस प्रकारकी परिस्थितिमें होता है इसीका विचार आगे है ।

धरतगुण प्रबल होनेके समय मृत्यु होनेसे वह जीवभ्रमा उद्यम विरक्त विर्योप शान्ति कोयोंके पारमें उत्पन्न होता है वहाँ उद्यमसे सब प्रकारकी सार्विक परिस्थिति मिछती है और वह उद्यम उद्यमियों प्राप्त होता है ।

जिस समय रजोगुणकी प्रबलता होती है उस समय मृत्यु होनेपर वह जीवभ्रमा विविध कर्म करनेवालोंके जरमें जन्म लेता है और वहाँ विविध सेषु पुनर्प्राप्त करता हुआ अनेकानेक भोग प्राप्त करता है ।

इसी तरह तमोगुणकी वृद्धि होनेके समय जिसकी मृत्यु होती है वह मृत जातिवर्गमें जन्म लेता है और वहाँ कदाचित् कुछ होकर प्रमाद और काकश्यमें सञ्चला हुआ अज्ञान दुर्बलियों प्राप्त होता है ।

वहाँ प्रब हो सकता है कि मृत्यु होनेके पश्चात् भी पूर्व जन्मके गुणपर परिणाम लेते भोगना पड़ता है । इसका उदाहरणवाही है कि स्पृक सुहस और अरज ऐसे देहधारीके तीन देह होते हैं । जो गुण प्रभावशाली होता है वह इन तीनों देहमें प्रभावशाली होता है । स्पृक शरीर अजन्म देह है । सुहस देह बाष्पवायव्य मनोमय और श्वायमय है । ये देह एक दूसरेके अन्तर होते हैं । सबसे बाहर स्पृक देह वह अजन्म पड़ता है । इसके अन्तर सुहस वायव्य-देह और मनोमय देह है और उसके भी अन्तर कारण देह पचवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप देह है । जिस समय धरतगुण प्रबल होता है उस समय शरीरही धार्मिक गुणवृत्त होय है और मन जाति रज वा तम गुणसे मुक्त होते हैं ऐसा नहीं होता । स्पृक सुहस और कारण इन देहोंमें रहती गुण प्रभावशाली होता है । इस कारण स्पृक शरीर एतनेपर जन्म से शरीर जीववैतन्यके प्राप्ति रहते हैं और उन्में वही गुण प्रभावशाली रहता है जो मृत्युके समयपर प्रभावी था । वस्तुतः देहा जाय तो स्पृक शरीरकी अपेक्षा

सुहस और कारणदेहके गुणोंका प्रभाव अधिक हुआ करता है । अतः मृत्युके पश्चात् सुहस देहोंके अन्तरके गुण इसको अपने समय भावर्षित करते महावर्धमाना हो वहाँ पड़ना देते हैं । हमसे स्पष्ट है कि मृत्युके समय प्रभावशाली हुआ गुण मृत्युके पश्चात् दूसरा देह मिच्छनेक और दूसरा देह धारण होनेके पश्चात् भी प्रभावशाली रहता है । इसीप्रकार भरणके समय जो गुण प्रभावशाली रहेगा, उसका महत्त्व अधिक है ।

जैसे मित्रा भावोंके समय जो गुण प्रभावी रहेगा उसका परिणाम पुनः प्राप्त होनेक रहता है और सत्त्वगुणके समय मित्रा भा जाय तो सत्त्व और गात्र मित्रा भावी है उद्यम स्वास्त्व रहता है और ज्ञानरूपका अनुभव होता है । रजोगुणके समय मित्रा भा जाय तो अनेक स्वप्न आते हैं भवनीय करनेवाले उद्यम हीकते हैं भोग स्वप्न आते हैं और जीवमें बलान्ति रहती है । इसी तरह तमोगुणके समय मित्रा भा जाती तो वैदोषी छापी रहती है । इस तरह जिवली देहक मित्रा भावेगी उद्यमी देहक उसी गुणका प्रभाव रहता है, जो गुण मित्रा भावेके समय प्रभावी था । वही महावित्रा मृत्युके समय समझना उचित है ।
(स्तो १७-१८)

धार्मिक कर्मकर विर्योप पुनर्प्राप्ति कर रजोगुणमुक्त कर्मका फल गुण धार रजोगुणी कर्मकर फल अज्ञान और सुखी है । धरतगुणसे ज्ञान रजोगुणसे श्रेय और तमोगुणसे अज्ञानरूप प्रमाद और मोह होते हैं । इस कारण सत्त्वगुणसे उच्छति रजोगुणसे मध्यम स्थिति और तमोगुणसे अधोगति होती है । (स्तो १९-२०)

इस तरह इन तीनों गुणोंका प्रभाव और परिणाम जानकर मनुज अपने जायको व्यवस्थित करनेवाले गुणोंसे बचावे और अपने अन्तर उच्छति करनेवाले गुणोंकी वृद्धि करनेका पालन करे । इस तरह पाल करनेपर निश्चयही उसकी उच्छति हो सकती है ।

आगे इस गुणोंके बंधनोंसे मुक्त होनेके उपायका उपदेश करते हैं ।

अन्वयः— यदा ब्रह्मा गुणेभ्यः कर्म्यं कर्तारं न अनुपपन्नमि गुणेभ्यः न पर (आत्मा) वेति तदा सः मन्त्रं बलि-
गच्छति ॥१९॥ देही एवात् वेदस्मृत्यन्तर्गतं जीव गुणान् बलीक जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः विमुक्त्य (सर्व) बभूव बभूवे ॥१॥

अब प्रश्न इन गुणोंके अतिरिक्त दूसरा कोई (कुछ) करनेवाला नहीं है यह प्रत्यक्ष देख लेता है और गुणोंके परे रहनेवाले (आत्मा) को भी देख लेता है तब वह मेरे (ईश्वर) स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ (वह) वेद-धारी वेदसे उत्पन्न होनेवाले इन तीनों गुणोंसे पार होकर जन्म मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त हो जाता है, सभी यह समस्तत्वको भी प्राप्त कर लेता है ॥१९॥

मायार्थ— जब साधक देखता है कि नहीं वे तीन गुणही सब कुछ कर रहे हैं इनके अतिरिक्त नहीं दूसरा कोई कर्ता नहीं है तब वह जान आता है कि इन गुणोंसे सदा पुनर् रहनेवाला जन्म मर्त्य है और नहीं ईश्वर है तो वह स्वयं अपने जन्ममें बकर्मत्वको अनुभव करके ईश्वरीय भावसे मुक्त हो जाता है । जब साधक इन तीनों गुणोंसे पर होता है तब वह जन्म मृत्यु जरा यदि गुणोंसे मुक्त होकर ईश्वरीय जन्म साधक मुक्त हो जाता है ॥ १९-१ ॥

(१९-१) साधक ऐसा विचार करे कि मेरे सरीरके जन्म मर्त्य मेरे स्वक स्वप्न और कारण वेदमें किंवा मेरी ईश्वरिणी मर्त्य बाधना और बाधनामें तथा बुद्धिमें जो गुण प्रवक्त रहते हैं वेदेही उसमें कर्मविचार और बाधना कामना नाहि होते रहते हैं । वह जो इन गुणोंका लोक है । उसीगुणी वेद और उसीगुणी मर्त्ये सदागुणी कर्म और विचार होता अर्धमय है । इस कारण नहीं जन्म है कि वे गुण यहाँके सब व्यवहारोंके लिये कर्ता हैं । आत्मा इन गुणोंके परे है इन गुणोंके ऊपर है अतः वह बकर्मही है ।

वे प्रकृतिके गुण हैं । प्रकृतिका यह सत्त्वगुणप्रत्यय स्वभावगुणकर्म है । वेही एक दूसरेको ब्रह्म और स्वयं प्रभावसाक्षी बनकर कार्य करते हैं । परन्तु जो कार्य होता है उसका फल जीवको भोगना पड़ता है । जैसे उसीगुणके प्रभावी रहनेपर मृत्यु हो जाना तो उसका जन्म जन्माही बोगोंमें होता । इस कारण जो हीन परिस्थिति होती उसमें कष्टोंका अनुभव देहवारी जीवकोही करना पड़ेगा । अतः कदा है—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुबन्धयते ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिरूपो हि मुक्तो प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसंगोऽस्य स्वस्वधोनिग्रहमाप्तुः ॥ २१ ॥

(म गी १३)

प्रकृतिके कार्यकारणपरमा प्रारम्भ होती है और पुरुष सुखदुःख भोगता है । पुरुष इस प्राकृतिक क्षरितमें रहकर प्रकृतिके उपाय इन गुणोंका भोग करता है । उसमें इस गुणसंगके कारण पुरुषको उपाय और जीव बोधितोमें जन्म

लेना पड़ता है ।

पुरुष जीव और ब्रह्मा एकही है । प्रकृतिके गुणों लय कर्म करते हैं और ब्रह्मा केवल देखनेवाला है । जब वह ब्रह्मा अपने आपको केवल ईश्वर मानता है, कर्मके लय अपना कोई संबंध नहीं है, कर्म जो तब तीनों गुणोंके होते हैं वह बाध अर्धविद्यु रीतिसे अनुभव करता है तो उस ब्रह्मको परमात्मभाव प्राप्त हो जाता है । उस लय वह करके नारात्म्य बन जाता है ।

साधक जब वेदसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको नीचे ले कर ऊपर उठता है, तब वह जन्म-मृत्यु-जरा और मृत्युसे मुक्त होकर अनुभवको प्राप्त होता है अर्थात् ईश्वरत्वको अपनाता है । वे तीनों प्रकृतिके गुण हैं इनमें लोक देहेही होता रहेगा मैं इसके पुनर्क हूं, ऐसा जब वह स्वयं देखेगा, तब वह इन गुणोंका संबंध तोड़कर स्वतंत्र हो जायगा और नहीं अनुभव है न नहीं मृत्यु है और न दुःख । नहीं सबसे तब प्रसन्न बन रहा है ।

नहीं सब उपर्युक्त प्रकृति गुणको परस्पर विद्यमान प्राकृतिके सुबोधना जान देवेही प्रकृति किंवा है । ब्रह्मा सत्त्व-रज-तम के गुण धर प्रकृतिके हैं । वह प्रकृति गुणको सक्ति है सक्ति सक्तिवारीये पुनर् कदाहि नहीं होती । इसी कारण पुरुष और प्रकृति एकही पुनर्बोधमें दो पदक हैं । ऐसा होनेके कारण वे तीनों गुण पुरुषके पुनर् नहीं हैं, तथापि प्राकृतिके सहज बोध करनेके लिये ब्रह्मा जीव जीव प्राकृतिक गुणोंका नहीं भेद करने के लिये किंवा पदक है । वह भेद बुद्धिगम्य है वस्तुगत नहीं ।

(७) गुणातीत कैसा होता है ?

मईल उवाच—

कैलिंगीस्त्रीन्गुणानेवानसीतो भवति प्रमो । किमाचारः कथं चैतास्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीमगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांश्चित् ॥ २२ ॥

उदासीनपदासीनो गुणैर्मो न विचारम्यते । गुणा वर्तन्ते इत्येव योऽप्रतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः । तुल्यप्रियाप्रियो वीरस्तुल्यनिंदात्मसत्तुति ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः । सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

व्याख्यान— अनुवाच उवाच— हे प्रमो ! पताच श्रीगुणात् अतीतः (बीबा) कै। किमैः (शाता) भवति ? (स च) किमाचारः ? (स) एतात् श्रीगुणात् कथं भवतिवर्तते ॥ २१ ॥ श्रीमगवानुवाच— हे पाण्डव ! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहं एव च संप्रवृत्तिं न द्वेष्टि निवृत्तिं च न कांश्चित् ॥ २२ ॥ यः उदासीनपदं वासीन गुणैः न विचारम्यते यः च गुणाः वर्तन्ते इति (मत्वा) एव भवतिवर्तते (च) न इच्छते ॥ २३ ॥ (यः) समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः तुल्यप्रियाप्रियो वीरः तुल्यनिन्द्यात्मसत्तुति ॥ २४ ॥ (यः) मानापमानयोः तुल्यः मित्रारिपक्षयोः तुल्यः सर्वारंभपरित्यागी (च भवति) सः गुणातीतः उच्यते ॥ २५ ॥

मईलने पूछा— हे प्रमो ! इन तीन गुणोंसे परे रहनेवाले की पद्धति किन असम्यक्त होती है ? वह कैसा साधारण करता है ? और वह किस तरह इस तीनों गुणोंसे परे पहुंच सकता है ? ॥ २१ ॥ श्रीमगवानुवाच कहा कि—हे पण्डित पुत्र ! प्रकाश (सत्य), प्रवृत्ति (रक्षा) और मोह (तम) ये तीनों गुण प्राप्त होनेपर जो दुःख नहीं मानता और इन तीनोंके निवृत्त होनेपर जो इनको चाहता नहीं जो उदासीनके समान रहनेके कारण इन गुणोंसे हिंसाया घृणा जाता गुणही अपना कार्य करते हैं एसा मानकर जो स्वस्थ रहता है और कंपासमान नहीं हो जाता । जो दुःखदुःखको सम मानता है जो अपनेमेंही आनंदित रहता है जो मिट्टी पर्यट और सुवर्णको समान मानता है जो मित्र भयवा अमित्रकी प्राप्ति होनेपर सम भवस्थानमें रहता है जो धैर्यवान् होता है, जिसको अपनी निन्दा और स्तुति समान प्रतीत होती है जिसको अपने मान और अपमान समान होते हैं जो मित्र और शत्रुके साथ समभावसे वर्तन करता है, जो सब कार्यात्मोंको त्याग देता है वही इन तीनों गुणोंसे परा होता है ॥ २२-२५ ॥

नाबार्थ— जिसको दुःख-दुःख हासि-काश वही-निर्वण सृष्टि-विदा जय-पराजय मित्र-अमित्र मान-अपमान वज्र-मित्र समान होते हैं जो इन दृष्टियोंसे निष्कलित नहीं होता जो इनको उदासीनके समान देखता है वही गुणातीत है । इसी कथनों और वाचनोंसे प्रायः गुणातीत हो सकता है ॥ २१—२५ ॥

ये गुणोंके बाधीन नहीं हैं परंतु गुण मेरे बाधीन हैं ये हासोंके बाधीन नहीं, परंतु हास मेरे बाधीन हैं, ऐसा माननेवाले केसे अपना प्रभुत्व सिद्ध होता है और अपना प्रभुत्व सिद्ध होनेपर केसे अपनी शक्ति बढती है, वैसीही गुणातीत होनेसे प्रायःकी शक्ति बढती है । उल्लेख अर्थात् शक्तिका अनुभव मिलता है । वही अनुभवकी वा हारभावकी

प्राप्ति है ।

यहां प्रथम हो सकता है कि गुणातीत कैसे हो सकते हैं और गुणोंका शैल कैसे देखा जा सकता है और अपने आपको अपने प्रभुत्व केसे स्वकर्मोंसे किस रीतिसे अनुभव किया जा सकता है ? वही प्रथम वर्तन करना चाहता है और भगवान् श्रीकृष्ण अनुभवका समाधान करते हैं :—

(८) शाश्वत धर्मका आधार

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवत ॥ स गुणान्तमतीत्यैवा ब्रह्मभूयाय कल्पत ॥ १६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥ शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्नगवह्रीताव्यभिचारसु भक्तिविधानां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवासे गुणव्यव-
विभागयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अन्वयः— १ : मां च अव्यभिचारैव भक्तियोगेन सेवते सा पुराण गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १६ ॥
चतुर्थस्य अन्वयस्य च अन्वयः, शाश्वतस्य च धर्मस्य ऐकान्तिकस्य सुखस्य च हि अर्हं प्रतिष्ठा (अस्ति) ॥ १७ ॥

जो एकनिष्ठ भक्तिभावसे मेरी (ईश्वरकी) सेवा करता है वह इन गुणोंको छोड़कर ब्रह्मके महत्त्वको प्राप्त करनेपाव्य बन जाता है ॥ १६ ॥ अमर और अमर्य्य ब्रह्मका शाश्वत धर्मका और उच्च सुखका स्थान मैं (ईश्वर) ही हूँ ॥ १७ ॥

(१६ १७) कहें प्रस करवा है कि गुणातीतकी पहचान किन कछनोंसे होती है ? वह कैसा आधार करवा है ? और कैसे इन गुणोंसे बंधा रहता है ? (इको १६) वह प्रस सुखकर भगवान् श्रीकृष्ण मन्त्रक कल्याण करनेकी इच्छासे इस गुण ब्रह्मको सुबोध लक्ष्येष्टिशा करता है ।

सत्त्वगुणके प्रकाश रजोगुणके कर्मबहुति और तमोगुणके मोह उत्पन्न होना स्वाभाविक है । इन गुणोंसे वे परिणाम होतेही रहते हैं । (समबुद्धाणि न हेति) वे हों तो जो उसका द्वेष नहीं करवा और (निवृत्ताणि न काङ्क्षति) नहीं हुए तो जो हमकी आकांक्षा भी नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है । स्वभावसे जो एक रहा है उसमें म्बुन करने की वा अधिक करनेकी ओ अधिकता नहीं करता, परंतु जो गुणोंका एक एक रहा है उसे कम्य ह्वा होकर देखता है जो (उदासीनवद आधीन) उदासीनके समान देखता रहता है तत्त्वगुणका एक में सम्मुख हो और तमोगुणका न हो किते देना नाश नहीं होता सत्त्वगुणके साथ जानेसे जो असक्त नहीं होता और तमोगुणके चारोंसे जो कुद नहीं होता जो भी मात्र जाने उक्त इन गुणोंका स्वाभाविक एक मात्रकर उदासीनके छयाव देखता है और (गुणैः न विचल्यते) गुणोंके कारण विषयों हककक ना बराबर नहीं होती (गुणान् वर्तन्ते) वे गुण हैं और वे देखेही सेक करते रहें देना जो मात्रा है और जो इन गुणोंके केकोंमें अक्षक नहीं होता वह गुणातीत कहलाने योग्य है । (अतो १६)

सुख देखेवाले परमगुण और दुःख देखेवाले रजोगुणके

साथ त्रिसक्त रामहोच नहीं है जो हमके सम्मुख जाने व जानेपर भी एक बैसा रहता है जो (स्व-स्वः) बराबरी चाहिते रहता है जिसको वे गुण बंधातेक नहीं करते जो इन गुणोंके कारण अपने स्वावसे जह नहीं होता, जो कुछ प्राप्त होवेपर तब नहीं करवा दुःख प्राप्त होनेल विना नहीं करता कर्म करनेके समय बस नहीं होता मित्र बसु मिके जो इतिव नहीं होता और अमित्र विविध ईहनेका बरकर जाने जो भी दुःखी नहीं होता, मर्का होये कगे जो जो प्रसक्त नहीं होता और विना हो जो त्रिसका मय उद्विष्ट नहीं होता जो पत्नर मिही और छोयेको समभावसे देखता है, बर्बाद सुखमें मिक जान जो इतैके उन्मत्त नहीं होता और अपने वास्तव सुखमें कम जान और हाथमें मिही वा जान जो त्रिसका इतब नहीं करता, वह गुणातीत कहलाता है ।

मात्र जो अन्ता अपमान मित्र साथ रहें अथवा अनुका प्रामावा करवा पडे दोनों अवस्थानोंमें जो मयकी स्थिति समान रह सकता है वह गुणातीत है । जो मैं कर्ता हूँ, देना बर्बाद करके कर्म नहीं करता वह गुणातीत कहलाता है ।

बहीवक गुणातीतके कछन करकर गुणातीत कैसा आधार करवा है किसे बोलका चकता है देना व्यवहार करवा है इसका कर्म ब्रह्मा है । इससे गुणातीत पहचाना जा सकता है । इन कछनोंसे धावक बरबी परिष्ठा में और उच्चतिमें कहीवक पहुँचा हूँ इसका मित्र्य करें जाने ईश्वरसेयत्ना कर्म है ।

माधार्प्य— जो एकविध मन्त्रिसे ईश्वरकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको पीछे छोड़कर भागे बहता है और ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है । अथवा ब्रह्म शाश्वत धर्म और उच्च सुखका कर्मा ईश्वरही है ॥ ११—१० ॥

(११-१०) जो ब्रह्म मन्त्रिसे परमेश्वरकी सेवा करता है वह इन गुणोंको पीछे छोड़ देता है और भागे बहकर ब्रह्मभाव प्राप्त करता है । ब्रह्म, ब्रह्मचर्य उत्तम सुख और शाश्वत धर्मका आचार यही एकमात्र परमेश्वर है । इस परमेश्वरके साथ जो ब्रह्म हो चुका है वह उससे ब्रह्म ब रहनेके कारण उससे वृषट् ब रहनेके कारण उसी ईश्वरीय भावसे पुच्छ हो जाता है । क्योंकि सब एकही ब्रह्मचर्य सत्ता है उसमें कण्ड नहीं है । उसमें यह मैं वह दृष्टि, ऐसा भेदही नहीं है । इस तरह जिसके अन्तर यह ब्रह्मभाव स्थिर हुआ वह ईश्वरके साथ ब्रह्म ब्रह्मिष्ठ होनेके कारण ईश्वरभावसेही पुच्छ होता है ।

अब प्रकटकी सेवा बही कर पाता है, जो अपने आपको

उससे ब्रह्म ब्रह्म ब्रह्मिष्ठ समझता हो । जो अपने आपको भिन्न तथा अन्य मानता है वह सच्ची ब्रह्मसेवा ब्रह्म ब्रह्म मन्त्रि करही नहीं सकता । अतः यह सच्ची ब्रह्ममन्त्रिही ब्रह्मभावको प्राप्त करमेवाकी है । यही ब्रह्म भावसे की जानेवाली विभक्तिया सबको शाश्वत सुख देनेवाली है । क्योंकि ब्रह्म, ब्रह्मचर्य शाश्वत धर्म ब्रह्मचर्य सुखका एकही आचार है । विभक्त्यी विभक्त्याके साथ ब्रह्म ब्रह्मिष्ठ और ब्रह्मिष्ठ होनेसेही सात्विक ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है । यही जीवका अन्तिम साध्य है, जो गुणगीत होवेसे सिद्ध हो सकता है । अब जीव इसी सिद्धिके लिये बल कर रहे हैं । जो ब्रह्मभावसे प्रबल करेंगे वे ब्रह्मचर्य एककता प्राप्त करेंगे ।

अर्थात् ब्रह्मचर्य समझ हुआ ॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

चौदहवें अध्यायका मनन ।

सब सब—सब के लीनों गुण बिकके सपूर्ण परात्में किस तरह विद्यमान हैं इसका ज्ञान इस अध्यायमें उत्तम प्रकार किया गया है । प्रत्येक गुणका क्या उद्भव है और परिणाम क्या है यह भी यहां दिखाया गया है । ये गुण मनुष्यमें हैं और मनुष्यका स्वभाव इसकेही बनता है । मनुष्यकी उन्नति अथवा अवगति होना सर्वथा इन्हीं गुणोंपर निर्भर है । इस कारण इस विगुणविषयक ज्ञानकी साधकको बड़ी आवश्यकता है ।

इस ज्ञानसे साधकको परम—सिद्धि मिलती है और साधक परमेश्वरके गुणधर्मोंको अपने अन्दर प्राप्त करने परम उपाय अर्थात् 'वराका नारायण' बन सकता है ।

शुद्ध धीव ।

सपूर्ण विद्याका एकही स्वामी परमपिता परमात्मा है और उसकी महाशक्ति अथवा भावि शक्तिका नाम मूक प्रकृति है । इसका नाम आदिमाता और परमेश्वरका नाम आदितिया है । ये दोनों मिलकर सपूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं । परमेश्वरका मूक धीव प्रकृतिमें जाकर सब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । यह धीवही धीर्ब है । धीर्बमें पिताके सब गुणधर्म अद्यकल्पसे जाते हैं और पुत्रके विकासके साथ उस गुणका भी विकास होता जाता है ।

बहुधा पिताके अवयवोंके समस्त पुत्रके होते हैं । इसका कारण बड़ी है । पिताके धीर्बमें पिताके अवयवोंका अद्यकल्प धार रहता है और वह विकसित होकर पुत्रके अवयव पिताके समान हो जाते हैं । पिताके धीर्बका प्रभाव वहां पाठक देखें और अपने अन्दर परमपिता परमात्माका धीर्ब है हममित्र मेरा विकास होकर मैं भी परमपिता परमात्माके समस्त होनेवाला हूँ, मैं इस समय वह हूँ परन्तु भविष्यमें नारायण बनूँगा क्योंकि मेरे अन्दर नारायणका धीर्ब बाव धर रहा है मैं पुत्र हूँ अतः मैं पूर्ण उत्तम

होकर पुत्रोत्तम वर्गा में जीव हूँ और विद्यमान हूँ । इस तरह विचार करनेसे परमेश्वरोंको पता क्या लगता कि भगवद्गीता परमात्माकाही धीर्ब प्रकृतिमें जाकर वह सब उत्तम बना है ।

जिसका धीर्ब होता है उसीके समस्त पुत्र होता है । वह विद्यमान सपूर्ण बिकमें सदा अनुभवमें आता है । मनुष्यके धीर्बसे मनुष्यका पुत्र होता है इसी तरह परमात्माके धीर्बसे जो पुत्र होता वह परमेश्वर स्वयंही बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है । जिस कारण मेरे अन्दर परमात्माके धीर्ब है उसी कारण मेरी पूर्णता परमेश्वर बननेमें होती । हर एक मनुष्यके अन्दर परमात्माका धीर्ब है वह वरद्वेष्ट वरद्वेष्ट भगवद्गीतासे हर एक मनुष्यको वह विद्या दिला है कि वह अवश्यही वराका नारायण बनेगा । अथवा वह न कल्पसे नारायणही अवस्थामें हुआ है ।

इस उपदेशका ग्रहण करने, इस समस्तको धरि, धीव आनुष्ठान सब परमसिद्धिको प्राप्त हुए और परमेश्वरके साधकमें पुत्र हुए देना जो वहां कहा है उक्तका उत्तर यह है कि पिताके धीर्बसे उत्तम हुआ बालक अद्यकल्पसे सिद्धाही होता है, पिताकी वाक्यकल्पसे अवस्थामें होता है वह दूसरा कोई नहीं होता । परन्तु वह स्वयं पुत्रकल्पे आया होता है । इसी तरह परमपिता सपूर्ण बिककल्पे अवस्थामें हुआ है क्योंकि वह मायवत्परसे भी अवस्थामें हुआ है । और साधक भी बड़ी है ।

बादक वह मूक ज्ञान अन्तःकरणमें जाकर वहां और विचारों समान करें पुत्रः पुत्रः सममें स्थिर करें बात देखें कि हम ज्ञानसे, ज्ञानमहाशक्ति विचार विचार बनता है । बहिरों को प्रतीत होता था कि मैं बाह्यविषय धीव धीव हूँ पुत्र हूँ वह विचार दूर होता है बार मैं परमात्माके धीर्बसे उत्तम होनेके कारण परमात्माके

जग हूँ और बरिहूँ होकर परमेश्वरके आकाशमेंसे पुन
जिह्वा इस समय भी कथपि मैं परमेश्वरका पुन हूँ,
अपनि वही इस समय बरिहूँ हुआ है इत्यादि विचार
रक्त होनेके कारण अपनी अपनी कथिका बया कथता है ।
और वही अष्टावक्रा नाममात्रकी अपनी कथिका देख है ।

रक्षासामर्थ्य ।

कैसे बीच रक्षक चाहिये वैद्यही रक्ष भी उत्तम चाहिये ।
एतन्ना स्वाधर्मे बीजके प्रभावका वर्णन किया, अब रक्षके
प्रभावका विचार करने हैं । परमात्माकी आदिशक्तिवही वहाँ
रक्षाशक्ति है परमात्माके बीजको वह रक्ष अपने अन्दर
लेता है और उसके मेरुके पुन उत्पन्न होता है । यह रक्ष
परमात्माकी आदिशक्तिवही होनेके वहाँका रक्षासामर्थ्य भी
वया निश्चय है । परमात्माके बीच बीज और परमात्मा
कथिका रक्षा वहाँ संयोग हुआ है । अर्थात् बीजकयके
परमात्मा हमसे अन्दर है और रक्षकयके परमात्माकथि
हमसे अन्दर है । अथ पिता और माताकी ओर देखा

जाय तो हमारा सामर्थ्य कम नहीं है ।

ये आदिशक्ति मूल प्रकृति है, उसमें तीन गुण हैं, जो
कि सत्त्व-रज-तम नामसे प्रसिद्ध हैं । सत्त्वगुण मूल देनेके
कारण मूलसंगसे देहप्राप्तीको बांध देता है, रजोगुण विविध
कर्मोंमें प्रेरित करनेके कारण विविध पुनप्राप्तिमें देहप्राप्तीको
बांध देता है, और तमोगुण प्रमाद, अज्ञानादि दोषोंमें
बांध देता है । इस तरह के तीनों गुण देहप्राप्तीको बांध
देते हैं । और इसके पाशोंके बंधनसे कुरवाही इसका पुनर्प्राप्ति
है वही मुक्ति इसके प्रकृति करती है ।

सब प्रकारके बंधन इस प्राकृतिक तीनों गुणोंसे होते हैं,
सब प्रकारके दुःख इस गुणोंसे पगले कारण होते हैं और
सब प्रकारकी कष्टावस्था इस गुणोंसे होती हैं इस कारण
इसका बंधन दूर किए तरह हो सकता है और आत्मकके
इस गुणोंकी अद्वैतता किं रीतिसे निक सकती है इसका
विचार करना अत्यंत आवश्यक है । अथ इस तीनों गुणोंका
लेना स्वभाव है वह देखेंगे—

तीन गुणोंका स्वभाव

सत्त्वगुण
निर्मल (१, १५)
विशुद्ध
निष्कलंक
प्रकाश (१, ११)
विज
अनामय (१)
मरिचिगता
सुख (१)
ज्ञान (११, १७)
वैराग्य
दृष्टा न होना
निष्काम कर्म
उत्साह
मोह न होना
अप्रमाद
निर्लोभता

रजोगुण
मलिनता
दोषयुक्त
कलंकित
धृष्टप्राकृत्य
संश्लिप्तमय
रोग होकर विभूत होना
" "
दुःख (१५)
कर्मप्रवृत्ति (१)
राग (प्रीति) (७)
दृष्टा
कर्मसंगसे बंधन
सदा प्रयत्न
किंचित् मोह
" प्रमाद
लोभ (१२, १७)

तमोगुण
मलीन
दोषयुक्त
कलंकित
अन्धकार
रागी, अप्रकाश (११)
आमय, रोगी होना ।
रोगमय
दुःख
महान (८, १६)
—
—
कर्महीनता
मादस्य निद्रा (८)
मोह (१७)
प्रमाद (१, १७)
—

शान्ति
मिथ्यास भाष
शम, वम
उत्तम ओगोमें जम्स (१४)
कर्ण्यगति (१८)

प्रवृत्तिः
कर्मोक्त्य प्रारम्भ
अष्टासः
कर्मोक्त्योर्मि जम्स
मध्यम स्थिति (१८)

अष्टासः (११)
प्रसाद, मोह,
—
मूढयोनिमें जम्स
अष्टोमाति (१८)

गुणोक्त्य इस तरहका प्रमाण है। सत्यगुणको निन्द्य
हमोगुण है और रजोगुण दोनोंके मेलसे होता है। तमोगुण-
में अस्वस्थ होनेसे इससे रजोगुण, उसकी कर्मप्रवृत्तिके
कारण अस्वस्थ है परन्तु इस रजोगुणमें अस्वस्थिके बुद्धि है।
अतः इससे भी सत्यगुण निन्द्यगुणवादी होनेके कारण
अस्वस्थ है। परन्तु ये तीनों गुण न्यूनाधिक प्रमाणसे प्रत्येक
कालमें रहतेही हैं।

प्रत्येक मनुष्य तमोगुणका आश्रय करके विभ्रान्ति कैला
है, रजोगुणका आश्रयसे प्रवृत्त करता है और सत्यगुणको
आश्रयसे आश्रयका अनुभव करता है। ये तीनों इस तरह
मनुष्यके सहायक भी हैं। परन्तु जब इसका प्रमाण सिद्ध
जाता है तब इसीसे वंचन होता है जैसा मनुष्यको
विज्ञान-विज्ञा चाहिये परन्तु यदि कोई मनुष्य विज्ञान
विज्ञानवादी करता रहेगा तो वही वंचन होगा। इसी तरह
मनुष्यको प्रवृत्त करवादी चाहिये परन्तु अविज्ञान रहकर
राष्ट्रिय प्रवृत्त करता रहेगा, तो विज्ञानका अभावसे कारण
वह प्रवृत्तकीला उसकी हानि करेगी और वंचनका हो
जायेगी। इसी प्रकार मनुष्यको सुख और आश्रय चाहिये
परन्तु जब वह सुखका अभाव हो जाय तो तब स्वार्थसे परि-
वृत्त होनेके कारण वह अपने सुखके लिये समाजकी हानि
करता है तब इसका वह सुख अवकी हानि करने लगाता
है और वंचनका देण होता है। इस रीतिसे वेही सत्य रज
तम मनुष्यके सहायक भी होते हैं और विनाशक भी।

मनुष्यको सब कार्य इस गुणोक्त्य ही होते रहते हैं। परन्तु
मनुष्यको इनके आश्रय नहीं हो जाना चाहिये अतिसु-
खका मनुष्यके आश्रय रहना योग्य है। साधक इस
अवस्थमें इन तीनों गुणोंका कार्य करने पर रहते हैं वह ऐसे
और अपने आपको समझा हुआ उनके स्वार्थ उनका
निरीक्षण अनुभव करे। तभी वह गुणोंके पर रह सकेगा
और संशुद्ध हो कर कृत्तव्य परमात्मनो अर्पण

करेगा। जबतक वह साधक इस गुणोक्त्य ही
रहा है तबके पीछे उनका अनुभासी होता उरने
भीया आकर पराधीनता हो रहा है तबतक इसके लक्षण
होनेके कारण इसको आश्रय प्राप्त होनेकी कोई ताका नहीं
है। अतः इसको अपना स्वार्थ स्वार्थ स्थापन काया आश्रय
है। इस स्वार्थका प्रमाण करनेकी बुद्धि निम्न है—

स्वार्थका स्थिति।

साधक जब पूर्ण उद्यत होता है तब उसके निन्द्य
अवस्था प्राप्त होती है इस निन्द्य स्थितिमें वह इन तीनों
गुणोंका कार्य देखता रहता है सबसे होनेवाले प्रकाश
और आप रजोगुणको होनेवाले कोश और कर्म तथा तमो-
गुणको होनेवाले प्रसाद और मोहको वह देखता है। इनमेंसे
निन्द्यको वह चाहता हो ऐसा भी नहीं है और न प्रकाश
हो ऐसा भी नहीं है। इनमेंसे कोई इसके लक्ष्य करने से
वह अपने लक्ष्य नहीं करता और न अपने लक्ष्य करता है।
जैसे उदासीन मनुष्य स्वस्थ रहता है वैसीही वह भी
स्वस्थ रहता है।

अपना अपना कार्य करते हुए गुणोंको वह देखता है और
उनको अपना कोई अर्थ स्थिर करना नहीं चाहता। इनमेंसे
गुण का कार्य तो भी दीक है और न जाने तो भी दीक है
ऐसी उदासीन बुद्धि कारण करता है। वह अपनी मनुष्यकी
लक्ष्य है किसी बुद्धिके मनुष्यका नहीं अतः वह जैसी है
वैसी रहे ऐसा साधक अपने अन्तर ईर्ष्या ईव नहीं होने
है। उनके लक्ष्य वह लक्ष्य नहीं होता। इसका लक्ष्य
किसीवादी नहीं न वह पर वह वायुवगले पर्यन्तके लक्ष्यके
प्रमाण स्थिर रहता है।

सुख दुःख विनाशित निश्चिन्तास्थिति मानात्मक निन्द्य
अनु अनुवर्तमानों चाहिये अतिसुख होनेपर वह तम स्थितिमें
रहता है। किसी भी परिस्थितिमें इनमें कोई हानि नहीं

ऐसा। इसकी मनोवृत्ति विपरीत परिस्थितियों में भी सम रहती है। इस प्रकार ईश्वरभावमें स्थिर रहनेवाक मेखमर्त्य-के समान सुस्थिर व्यक्तिको गुणमयी कहते हैं। यही हम गुणोंका स्वामी है यही गुणोंके परे है और वही ईश्वरभावसे युक्त है।

अव्ययभावसे ईश्वरभक्ति करनेवाका भी इसी तरह

ईश्वरभावसे युक्त होता है क्योंकि अव्यय सुख और अहङ्का नहीं एक आधार है वही आधार इसे प्राप्त होता है। अतः वह ईश्वरभावयुक्त हुआ ऐसा कहा जाता है।

आगे अठ्ठदहवें अध्यायतक हम तीनों गुणोंका विचार विविध प्रकारसे होनेवाका है। इसलिये इसका मन्त्र हम आगे विधेयक्रमसे करेंगे, यहाँ इतनाही पर्याप्त है।

चौदहवें अध्यायका मन्त्र समाप्त ॥ १४ ०

—०—

चौदहवें अध्यायके सुभाषित

(१) सात्त्विक भावसे उन्नति ।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सखस्या

मध्ये तिष्ठन्ति राखसा* ।

अधन्यगुणवृत्तिस्था

अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

सात्त्विक लोगोंका उत्कर्ष होता है शकस लोग मध्य स्थितियों रहते हैं, और तामस लोगोंकी अधोगति होती है। अतः मनुष्य अपने अन्तर आधिक्यमान बढावे ।

(२) त्रिगुणोंमें न फसो ।

गुणानेवानतीत्य श्रीम्

देही देहसमुद्भवान् ।

अन्मयसुखराहुन्मै—

विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहमें उत्पन्न होनेवाले हम तीनों गुणोंको उक्तांच कर अन्मयसुख प्राप्त करनेमें मुक्त होकर मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होता है। अतः हम गुणोंमें न फँसना साधकोंको बोध है।

(३) अक्यभिचारिणी भक्ति ।

मां च योऽभ्यभिचारेण

भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्सनतीत्यैतान्

ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

अभ्यभिचारिणी भक्तिसे जो ईश्वरकी सेवा करता है वह भी तीनों गुणोंके बंधनोंको तोड़कर ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त करता है। ' ईश्वरभक्तिही वह महिमा है

श्रीमन्नगवद्गीताके चौदहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
गुणत्रय-विभाग-योगः	८२५	कृत्रुके पञ्चाद	८११
(१) उत्तम ज्ञान	"	(१) प्रज्ञाका गुणातीत होना ।	"
(स्लोक १—२)	"	(स्लोक १९—२०)	"
ईश्वरसे सावर्ध	"	मित्राके पूर्व गुणोंका ज्ञान	"
(२) पिता और माता (स्लोक ३—४)	"	दुष्ट और बोर प्रज्ञा	८१२
सबका उत्पत्ति-स्थान	८२६	(७) गुणातीत कैसा होता है ?	८१३
ईश्वरकी महती प्रकृति	"	(स्लोक २१—२२)	"
स्विराज छहिका चित्र	"	(८) शास्त्रों धर्मका आधार	८१४
(३) तीन गुणोंका बंधन (स्लोक ५—९)	८२७	स्लोक (२३—२४)	"
प्रकृतिका स्वभाव	८२८	अतुर्बोध अध्यायका समन	८१५
सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण	"	हुद बीज	"
(४) तीनों गुणोंके लक्षण	८२९	बेला बीज बेला दुष्ट	"
(स्लोक १०—११)	"	रजःप्रमाण	८१६
सावर्धमज्ञ रजःप्रमाण, तमावर्धमज्ञ	"	तीन गुणोंका स्वभाव	"
(५) तीनों गुणोंका फल	८३०	स्वात्मन्वकी स्थिति	८१७
(स्लोक १४ १८)		बीजहर्षे अध्यायके सुभाषित	८१८

पञ्चदशोऽध्यायः ।

पुरुषोत्तम-योगः ।

(१) अथत्व-इष्ट ।

श्रीमपवानुवाच- ऊर्ध्वमूलमधःशास्त्रमथर्वं प्राहुरग्नयम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अथर्धोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाहाः ।

अथथ मूलान्यनुसृततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वयः— श्रीमपवान् उवाच— ऊर्ध्वासि यस्य पर्णानि (सन्ति तं) अथर्व ऊर्ध्वमूलं अधःशास्त्रं अथर्वं प्राहुः ।
तां वेदं सा वेदवित् (इति उच्यते) ॥ १ ॥ तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवाहाः शाखाः अथः ऊर्ध्वं च मसृताः (सन्ति)
अथ च मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि अनुसृततानि (सन्ति) ॥ २ ॥

श्रीमपवान् बोले— सब छन्द जिसके पते हैं उस अन्वत्यकी ऋत ऊपर है और शाखा नीचे फैली है इसे अविनाशी कहते हैं । जो इसे जानता है, वही वेदवित् कहा जाता है ॥ १ ॥ उसकी (सस्वादि) गुणोंसे बनी हुई और (छायादि—) विषयोंके क्रमिक पङ्क्तियोंसे युक्त शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, और नीचे मनुष्यलोकमें कर्मोंके साथ संबंध रखनवाली उन्हें बहुत फैली हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—छंदारका वृक्ष जगत्में जगत् चारों ओर फैला है, इसके शाखकी पत्ते सबको छीटक छाया देनेवाले हैं अथर्व ऊपर नीचे फैली है इसमें अथर्व-तम-गुणोंका एक मरुत मरा है अथर्व-सर्व-रूप-तम-गोचर विषयोंके प्रवृत्तियों केमक बंधुर जो है और इसकी कर्मोंसे संबंध जोड़नेवाली उन्हें चारों ओर फैली हुई हैं ॥ १-२ ॥

ससारका वृक्ष ।

(१-२) यहाँ वृक्ष पदार्थमें अध्यायमें वृक्ष ससारको अथर्व वृक्ष मानकर बना सुंदर वर्णन किया है । “ इसकी मूल ऊपर है शाखाएँ नीचे हैं इसके पते सब प्रकारके रूप हैं ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ फैली हैं । अथर्व-तम-गुण-तम-गुणोंसे इन सब शाखाओंका पावन होता है । अथर्व-सर्व-रूप-तम-गोचर के विषय इन शाखाओंके क्रमिक बंधुर बन रहे हैं इसकी जड़ें बहुत गहरी गयी हैं और नीचे उबका कर्मोंके साथ संबंध हुआ है । मनुष्यलोकमें वही अथर्व वृक्ष है सब मानव इसीके आश्रयमें हैं ।

वह वर्त्मन बना अर्धपूर्ण है । इसका विचार हम चाहे करें । वृक्षों पर वृक्ष तरह संसारको वृक्ष कहकर कहा करी वर्त्मन किया है वे वर्त्मन देखेंगे । पहिले कथोपनिषद्का वर्त्मन देखिये—

ऊर्ध्वमूलोऽर्धविशाख एषोऽन्वत्यः ससारतमः ।

तदेष्ट धूर्तं तत् स्रष्ट तदेवावृतमुष्पते ॥

तस्मिंस्तोकाः श्रिताः सर्वे तनु नात्येति कश्चन एतस्मिं तत् ॥ (कठ उ १.१)

“ जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचेकी ओर हैं वह ससारतम अथर्व वृक्ष यह है । वही वृक्ष वही वृक्ष और वही अमृत है ऐसा कहते हैं । इसीमें सब कोक बाधय भिजे हुए हैं । इसको कोई उच्छेदय नहीं कर सकता वह विनाशमें नहीं है ।

अथर्वहीनके श्लोकका अर्थ समझनेके लिये इस वचनका अनुसंधान आवश्यक करना चाहिये । इस वृक्षको यहाँ अन्वत्य कहा है और यीशाने अन्वत्य कहा है दोनोंका अर्थ एकही है । इससे यह सिद्ध होता है कि वह वृक्ष अमरमर नहीं है । वह ससारतम है और अन्वत्य अर्थात्

अविनाशी है। बहुत लोग इसको क्षणमग्नुर कहते हैं परन्तु यह क्षणमग्नुर क्षणारम्भ कल्पना सेव उपनिषद् और गीता की नहीं है। भगवद्गीता तो परमात्माम्बे विश्वरूप मास्ती है अतः परमात्मा अनादि अनन्त है और अविनाशी है वैदेही परमात्माम्बे विश्वरूप-संसार भी अनादि अनन्त और अविनाशी है। यही भाव इस बृहको सत्तात्म और अमृत कहनेसे स्पष्ट हो रहे हैं। पाठक से कष्ट अवश्य रहे।

इसी अर्थसे यहाँ इस उपनिषद्के बचनमें इसी अर्थ बृहको मुक्त मूक और अमृत कहा है। यह बृह मूकवाही रूप है यही मुक्त तथा ब्रह्मासी है और अमृत अर्थात् मरणाश्वरहित है। इसको जो बंधनकारक समझते हैं वे भूल करते हैं इसका विचार जागे बिना कायगा। यहाँ प्रथम अन्त्यात्म आनन्दपर इस बृहको विवरणमें कहा है वह देखेंगे। मुख्य उपनिषद्में बृहत्का वर्णन इस तरह है—

आ सुपर्णा सयुक्ता सखाया
समार्णं बृहं परिवस्वजाते ।
तपोरम्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्पन्नमधम्यो बभिक्षाकधीति ॥ १ ॥

(कन्दे १।१।१०१९, मुख्य ३।१)

समाने बृहते पुरुषो विमग्नोऽनीघापा
शोचति मुक्षामासः ।

सुष्टं यदा पश्यत्यस्यमीशमस्य
महिमामभिति वीतशोकः ॥ १ ॥

(मुख्य ३।१९)

उत्तम पक्षवाले छात्र छात्र रहनेवाले हो पक्षी एक दूसरे पर छात्र साथ रहते हैं उनमेंसे एक पक्षी उध बृहत्का मीमांसा कर जाता है और दूसरा बृहत् भी ब्रह्मा हुआ प्रकाशित होता रहता है। इस बृहत्पर रहनेवाला पुण्य इस बृहत्के कर्मों विमग्न होकर मोहित हो जाता है और अपने स्वामी व होनेके- अपने धामार्थहीन होनेके- अपने विवेक होनेके विषयमें शोक करता रहता है। जब वह दूरी सचे स्वामीका दर्शन करता है और उसकीही वह महिमा है ऐसा जान लेता है तब इसका शोक दूर हो जाता है।

यहाँ भी एक बृहत् है और उसपर एक बीज और दृष्टा शिव देखे दो पक्षी बड़े हैं बीज नामक पक्षी दृष्टका प्रत्यक्ष करता है इसलिये इसमें चक्रभोगकी वास्तविकता है, और वास्तविकता के कारण मोहको कहते हैं और अपने बड़ही होनेका विचार बारम्बार उसे कह द्या है। अतः जब अपने साथी दूसरे शिवसंबन्ध पक्षीकी वह सब महिमा है ऐसा वह बीजपक्षी जान जाता है तब चक्रभोगके लोभों नहीं फैलता और शोकरहित होकर बीजपक्षी सफला प्राप्त करता है।

इस संकीर्ण बृहत्का गीतामें श्लोकोंके साथ करनेके बचनकी पूर्णता होती है जार मुक्तिके मार्गका भी सा करता है। अर्थात् (श्लो १५।१) से बृहत्का ज्ञान करनेका जो उपाय गीतामें बताया है उसका सर्वत्र उसके चक्रभोगके साथ है, वह वाय (पिप्पलं स्वाद्वत्पन्नमधम्यो) मीमांसा कर जाता है इस अर्थसे बचनसे स्पष्ट हो जाती है।

महाभारतके आत्मवेदिक पर्वमें प्रह्लादभक्तका वर्णन इस तरह किया है—

प्रह्लादपुत्रं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
आनन्दार्थं दृष्टितोषमन्तःशेषहृदमास्करम् ॥ १९ ॥
येऽधिगच्छन्ति तत्सन्तुष्टेषां नास्ति पुनर्मम ।
ऊर्ध्वं आपन्नं तिर्यग्य तस्य नास्त्योऽधिगम्यते ॥ १७ ॥

महाभा भाष्य अ २८ (अष्टमी)

इस विचारका अर्थ प्रह्लादभक्तमें प्रह्लाद नामक बृहत् है उसपर मोक्षकर्मी एक कथे हैं शान्तिरूप ब्रह्मकी ज्ञान है वे ब्रह्मका आनन्द करनेयोग प्राप्त हैं दृष्टि देनेवाला बीज-अर्थात् यही उपनिषद् है। और श्रेष्ठ परमात्म प्रकाश भी यहाँ पक रहा है। जो लोग इस बचनमें जाते हैं उनका पुनर्मम नहीं होता इस बचन ऊपर नीचे तिरस्त्र तथा किसी भी ओर लम्ब नहीं मारीत होता। " वह इस प्रकारका ब्रह्मा मारी करण है। यहाँ एक अर्थ बृहत्के स्थावर अमृत बृहत्के महाभक्तका वर्णन है। जो मुक्तिके अधिकारी होते हैं वे इस बृहत्पर जाते हैं ऊर्ध्वको लेक-कपी एक प्राप्त होता है। अथवागीतामें जिस अर्थ बृहत्का वर्णन है उसको अर्थात्सत्ताके कहना है वह बृहत् रूप

बनमें नहीं है इस बनमें पशुपतेबाकोंको मोक्षकरी अमृत-
फल मिला है और किसी बुद्धकी किसी दहलीकी काठनेकी
आवश्यकता नहीं है। अर्थात् य बुद्ध मानवी प्रगतिमें
समस्त हाकनेवाले नहीं है और अगणहीतार्थमें वर्णित
मकल-बुद्धका विस्तार साधककी उन्नतिमें रक्षण कर-
पडा है। अतः उसे अंतर्गत करने काय्या पडता है। वही
हम दोनों बुद्धों स्वयंमें भेद है मिथका विचार पाठकोंको
करना चाहिये। अथ वेदक कठिण संघोंका विचार करते
हैं—

(कपि-कुमारो धामाययः । देवता-यमः)

यस्मिन्नुत्तरे सुप्रकाशे देवैः संपिबते यमः ।

अत्रा नो दिश्यति । पिता पुराणी अनु येनति ४१४
पुराणी अनुवेनस्तं चरुतं पापयाऽमुषा ।

अस्ययम्यथाकथा तस्मा असूहयं पुनः ॥ २ ॥

(अध्याय १ १२५)

'विश्व इतम पेवते मुक्त बुद्धपर बैठकर सब प्रजाओंका
पक्षमर्का पिता यम अल्प देवोंके साथ रसपान करता है
और अपने साथ प्राचीन पित्रोंको चाहता है। प्राचीन
पित्रोंको चाहनेवाले और पानी बुद्धिके साथ विचारनेवालोंको
य चाहनेवाले वमका मैं एकबार बुद्धी किया और उसका
मि दर्शन करना चाहता हूँ। इस मंत्रमें एक बुद्ध है
उपर सबका पाकक देव बैठा है और उसके साथ अल्प
देव भी हैं वे सब वही रसपान कर रहे हैं और वह पाकक
कर्ता देव पुराने लोगोंको वहां चाहता है। संभवतः उनको
भी रस मिलाता चाहता हो। साथही वह पानी बुद्धिके
फल श्रमेबाकोंको नहीं चाहता अर्थात् मिथ्या बुद्धिवाकोंको-
ही चाहता है वहांका वह बुद्ध असंगतको काठने योग्य
नहीं है; क्योंकि वहां अमृतदिशके अमृत रूप जाते हैं और
परमविद्या साथ जो देवधमा बैठे हैं उसमें प्रवेश पाते हैं
ज्या वे सब मिथ्या अमृत इसका पान करते हैं। इस
कारण वह बुद्ध पूर्ण महाभारतमें कहे प्रजाबुद्धके अंतर्गत
रिक्ता है इसको वही पकाश' कहा है। गीतोक बुद्ध
अल्प है पानु वह के समान उसका वर्णन है।

यद्यपिप्यज मरुतो वि धृनुय ॥ (अ ५५११२२)

गीतक बुद्धको मरु देव हिलात रहते हैं। ऐसा एक

स्थानपर कहा है। संभवतः ऊपरके मीठे फल गिरानेके
कियेही वे इस बुद्धको हिलाते होंगे? यह स्वर्गाय वीपक
है इसमें संदेह नहीं है। नौत देखिये—

अम्वरयो देवससुमस्सुतीयस्यामितो दिधि ।

तजामुसस्य अक्षयं देवाः कुसमधन्यत ॥

(अध्याय ५११३) १५१३५१३)

'अथत्य बुद्ध देवोंके रहनेका स्थान है वह लीखे
सुकोकमें रहता है, उस अमरत्व देवोंके कुसुमे देवोंके
प्राप्त किया। इस मंत्रमें अथत्यको देवोंका घर बताया है
और इसका एक स्थान पृथीय सुकोक है। कृत्ति इसके
आसपसे देवता रहते हैं इसकिय इस बुद्धकी आकाप
देव्य करकेही आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ऐसा कि
गीतमें असंगतको अथत्य बुद्धको काठनेको कहा है।
अस्तु ।

इस तरह वैदिक सारस्वतमें बुद्धके आसपसे देवताओंके
निवास आदिके विषयमें भी वर्णन है। वहां बुद्ध' आदि
अल्प आत्माकारिक मान दृष्टि हैं और वहांके 'पथी
भी आकाशमें उठनेवाले पंचमुख प्राणी नहीं हैं वह वायु
स्वहरी है। अतः इसके आत्माकारिक मानते हुए वहांतक
जो अथत्य हमने देके उसका संक्षेपमें आस्य देवकर उसका
योका मन्त्र भी करना उचित है।

अलकारका स्वरूप ।

१ जिसकी जड़ें ऊपर हैं और नीचे आकार हैं ऐसा
एक अथत्य बुद्ध है, इसके पते अल्प-वेद-हैं।

(गीता ५५१३; अ ५१३)

२ इस बुद्धकी आकार नीचे और ऊपर फैली हैं इनमें
अल्प-रस-तमका भाव रसकर्ममें प्रारुत है। भावों इस
रसही इस आकाशविस्तारका पोषण हो रहा है।

(गी ५५१२)

३ इस आकाशोपर विषयकरी मुरर पठन इसकी घोमा
बनाते हैं और मोक्षधामके धाम्यत्वोंको गुरु देते हैं। इनके
कारणही इस बुद्धकी संस्मरता वह गयी है। (गी ५५१२)

४ इस बुद्धकी जड़ें मनुष्योंके कमोंके साथ संबध रखती
हैं अर्थात् कर्मकरी धूमिमें जड़ें जाती हैं और वहांसे इस

बुद्धका पोषण और संवर्धन होता है। (गी १५।२)

५ जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे हैं वह अवस्थ-बुद्धी सामर्थ्यबुद्धि अमृत मण्ड है इसीका आश्रयसे सब जीव सुरक्षित हैं और कोई इसका उच्छेदन नहीं कर सकता। (क ३ १।१)

६ एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हैं उनमें एक एक खाता है और दूसरा कुछ भी न खाता हुआ चमकता रहता है, अर्थात् भोग न करनेवाला ऐकस्वी है और भोग करनेवाला मूढा है। (क १।१३१२ सुष्ठ १।१)

७ इस वृक्षके फलका भोग करनेमें जो उत्तर होता है वह मोहसे शोक करता है अपनी विवर्धनतासे दुखी होता है, जब दूसरे ऐकस्वी पक्षीका पर्वण करता है और खाता है कि वह फलभोग न करनेके कारण ऐकस्वी और धनर्त है वह उसकी वह धन मझिया है ऐसा जानकर जोकरहित वर्णांश दुखी होता है। (सुष्ठ १।२)

८ इस हरेभरे वृक्षके नीचे टंडर सब देवोंके साथ पत्र रक्षपाल करता है वहां हमारे प्राचीन पूर्वज विभूति देवताओं के प्राप्त किया वे भी उक्त समाने उपस्थित रहते हैं। (क १।१३५।२)

९ यह सब निष्कला देव वायव्यी बुद्धिको पश्य नहीं करता वह पुण्यवती बुद्धिहीन पशु करता है। इस देवता का जो एकवार दर्शन कर लिया है उसके बारंबार उसीका दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा होती है क्योंकि उसका दर्शन ही देवा मुंदर है। (क १।१३५।२)

१० अवस्थ वृक्षपर देव रहते हैं और वह अवस्थ पृथ्वीय धुकाकमें है। महोदी अमृतका श्रोत है। (अथर्व ५।१।३)

संश्लेषमें पशुपति दिने कर्मोंका नहीं भाजन है। वह वृक्षही अक्षर है। इस अक्षर-वृक्षपर कई जीवकमी पक्षी बैठे हैं उनमें कई मिलनूत आश्रयका और अवस्थ-बुद्धिसे रहनेवाले हैं वे भार्गवी और ऐकस्वी होते हैं। अन्य जीव भोगी हैं वे विष्णुमें मात्र मोहसे प्राप्त बुद्धिके संवर्धन और आधिष्ठापितसे शीतल हैं। वहां पता लगता है कि भोगकाम्यसे बुद्धि और अवस्थान्तसे सुख प्राप्त होता है।

जो ब्रह्मा मुक्ती है वह (अवस्थ) मोक्षमें अवस्थ है और (वय) संवर्धनी है। इधमें उसने सुखका बीज है। अवासाधित बुद्धिका श्रोत है। एकरी वृक्षपर देवोंके दो पक्षियोंमें जब अवासाधितो सुख और आश्रयको प्राप्त होता है जब बुद्धी जीवोंको उचित है कि वे अवस्थान्त रहें और मुक्ती हो जाय। जो अवस्थान्त और धनर्त है, नहीं ईक्ष है। भोगी ईक्ष होती नहीं छकता क्योंकि जोसे होनेका कार्य वह अपने आपको हीन हीन और अपूर्ण समझता है। जो अपूर्ण है और बाहरसे कष्ट मानने को पुष्टि होनेकी कल्पना वा भावना करता है वह धनर्त और पूर्ण किंचित्तरह हो सकता है। और जो धनर्त न लेवत वह ईक्ष भी किंचित्तरह हो सकता है।

वहां कर्मकलत्रात् क गीताके सिद्धांतका वैदिक मूल हमें प्राप्त हुआ है। इस संसारमें जीवोंको सुख देनेवाली ज्ञाना बहोसैही प्राप्त होती है। अन्वरी ज्ञाने (एकवि) पक्ष्य है साक्षात्स्वित्तरा सब वही देवस्थित है। आश्रयसे और सुखसे इस ज्ञानमें जीव रहते हैं और वेदमार्गके अनुसार चकते चकते अपने मार्ग निकला जाता है।

साक्षात् पक्ष्य जड़ें और वृक्षकी स्थिति देखी एक वृक्षके साथ मिली हैं कि उनके अन्तर लटक हुआ पक्षी बाहर लुको वायुमें था वहीं लकवा क्योंकि उसने अपनी नहीं निकवा। कर्म करो उसका सुख भोगो, जैसे भी कर्म करो बार फिर सुख भोगो फलसंग्रह करो उसका रक्षण करो उसको भोगो इस तरह बनेक करो और वायव्योमें कंसा हुआ वह जीव बाहर कैसे निकल पड़े। इसके पास इतने हैं कि उनसे बाहर निकलवा उसे निर्वर्ण कठिन होता है।

छोटेपक्षमें अज्ञानमें रहता है। धारणमें जीवोंको क्षिप्त जाता है। आगे वाक्यसे होते हैं नीचे उनके विवाहके मंगलकार्य हैं मित्र हैं, धने हैं सबकी हैं बुद्धि और शोक हैं वैयक्तिक और सामूहिक कर्म हैं, एक कर्म समस्त होता है तो वृक्षपर मारंभ हो जाता है इस तरह इच्छे इच्छे पुत्रनेकाही मार्ग नहीं हीन पाता। एकरी ज्ञान है कि वह (वय) संवर्धनी बने और (अवस्थ) भोग भोगनेका इच्छुक न रहे। इस अंतर्गद्गुह्यसे रहनेकी इसका मार्ग लुप्त चकता है।

(२) असमसंख्ये ब्रह्मका छेदन ।

न रूपमस्यैह तपोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सप्रतिष्ठा ।

अथत्यमेन मुनिरूढभूलमसंगशस्त्रेण बडेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमाणित्वं यस्मिन्नात्ता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाप्य पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी ॥ ४ ॥

सम्बन्धः— (पदा सर्वं वर्जितः) तथा अस्य रूपं इह न उपलभ्यते । (अस्य) अतः न भाविः च न संप्रतिष्ठा च न (उपलभ्यते), मुनिरूढभूल एव अत्यन्तं बडेन असमसंख्येन छित्त्वा ततः ' यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसूता तं एव भावं इतरेषां सर्वेषां (इति) तत् परं परिमाणित्वं' चक्षिन् तदाः भूयः न निवर्तन्ति ॥ ३-४ ॥

(इस सम्बन्ध ब्रह्मका यहाँ जिस तरह वर्णन किया है) उस तरह इसका स्वरूप यहाँ ब्रह्म रूपसे नहीं दीखता, यहाँ तो इसका अन्त भावि और आधार दीखताही नहीं भव्यत गहरी जड़ोंस युक्त इस सम्बन्ध नामक ब्रह्मको सुदृढ़ असमरूप शस्त्रसे काटकर, ' जिससे पुरातन कालसे प्रवृत्ति चलती आ रही है मैं उसी भाषा पुरुषकी धारण जाता हू । (ऐसी भावना करके) पश्चात् उस पदको छूटना चाहिये कि जिसमें गये हुए फिर धारधार धापिस नहीं पाते ।

मायार्थ— इस सत्ताब्रह्मका भावि अन्त और आधार कहाँ है इसका पता नहीं लगाया और इसका ठीक ठीक स्वरूप भी सर्वव्यापक भी समझमें नहीं आता । इसलिये वैराग्यवृत्ति छलसे इसको काटना चाहिये और जिस चीजसे वह ब्रह्म बनकरि जायते इतना कैल रहा है मैं उसी भाषा जगदीश ईश्वरकी धारण जाता हूँ ऐसी बात माननासे उसकी धारण जाकर मैं आनन्दो हूँना चाहिये कि जहाँ पुरुषमेपर बारबार आपस जाकर कुछ योगना नहीं पड़ता यहाँ तो जहाँ अन्त और आधार निकला रहता है ॥ ३-४ ॥

कह उपनिषद्में जो कहा है कि वह अत्यन्त ब्रह्मही (कुछ अपूर्व मन्त्र) अत्यन्तब्रह्म अत्यन्तमम मन्त्र है वह मन्त्र है क्योंकि (वासुदेवा उवाच ॥ ७।१९) वासुदेवही सब कुछ है और (उपर पदे सर्वम् । अ ॥ १९।१२) उपर सर्वमेवही सब कुछ है तब तो वही ब्रह्म है और दूसरा कुछ भी नहीं है वही सब कुछ है । हम अलग होकर भोग भोगना करते हैं । हम भोगी भुक्तिमें डूब जाते हैं । मृत्यु हमें भिन्न है और मैं उनको इलाक भोग भोगना इस भुक्तिमें सब डूब जाते हैं । यदि इसके मनमें अत्यन्तमात्र फिर होगा भी । यहाँ अन्त कोई नहीं है सब एकही अत्यन्त है, मैं और अन्त सब उसीमें अत्यन्त है । यहाँ कोई पुरुष नहीं है । हम तरहक अत्यन्तभावसे यदि वह रहने को ही अत्यन्तब्रह्म होनेके कारण सबका अर्थ और पुरुषम मुझी मुक्त मन्त्र ही सफल है । अन्त अत्यन्तभाव और अत्यन्तभाव कारण करवाही उचित है ।

जो बात हमारे पीछे छे है वे और किसीके बनाने नहीं है वे जो सब भोगसत्त्वभुक्तिसे अत्यन्तभावे अर्थ

हमारेही कारण बनाने गये हैं । भोगी भोग करने चाहती स्वरूप बनाने हैं और अपने आपको उसीमें बाँध देते हैं, बाँधा जानेपर स्वयं सोते हैं, चित्तसे हैं और पीछे हैं और कहत हैं कि हे देव ! हमें छोड़ दो परन्तु विचार नहीं करते कि किससे बाँधा है ? पाश किसने निर्माण किया है ? यहाँ तो बाँधनेवाला और छोड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है । स्वयंही लगभुक्तिसे बाँधा जाता है और अत्यन्तब्रह्मसे स्वरूप बनत हूत जाते हैं । अतः कहा है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं पदमोक्षयाः ।

मन्त्री मनुष्योक्ति वचन और मोक्षका हेतु है । फिर यह ! कहो वचनेवाला और कहो वचनेवाला वचन है ! अपने मन्त्री भुक्ति है जो यह सब करती है उद्धार करनेवाला भी स्वयं बार अत्यन्त वचनवाला भी स्वयंही है ।

असमसंख्ये सब प्रकारकी उचितता मन्त्री मुक्त जाता है और मनुष्यभुक्तिसे सब प्रकारक कह दोत है । वही भाव अत्यन्त भी ब्रह्म भाव बनाने है—

(१४) यहाँ जिस अत्यन्त दुष्का वर्णन किया गया है, उसका रूप साधारण मान्य जायते नहीं । वे तो चारों ओर देखते हैं और उनको सर्वत्र सुदूर समीप योगही भोग हीनते हैं सब ओर सुदूर जगत् है उसमें भोग-विकास भरे हैं, प्रयत्न करो, भोग भोगो बान्धव करो, तुम रोओ मारो काओ, जो मर्त्य हो वह करो जाओ पीओ भाग्य छोड़ो, मरनेके पीछे किसने देखा है ? ज्ञान करो और भी जाओ इस तरह विचारोंसे बन्धनेवाले लोग मोहबद्ध अनेक वर्णन करतेही रहते हैं, उनको तो इस बुद्धका (न कर्म उपजन्मते) दर्शन भी नहीं हो पाता । यहाँ दृश्य न होनेका तात्पर्य नहीं है कि उनको इसकी कल्पनात्मक नहीं है । वे तो बुद्धको मुख माननेवाले बलिष्ठको जिस मान्य कर विचार न करते हुए पकड़ते हैं ।

परन्तु जो जीवनका विचार करते हैं, उनको अपने बंधनकी कल्पना हो जाती है और वे सोच विचार करने लगते हैं । विचार करते करते उनको पता लगता है कि (न जन्मः न म्रितिः न संशयश्च) जिसका जाति जन्म नहीं है और जिसका जाति भी नहीं है वेते वने जगत्में हम बटक गये हैं । चारों ओर बुद्धबलियाँ हैं मार्ग तो किसी जगह नहीं हीनता । करो जाँच क्या करें इस पंचकले किस तरह मुक्त हो सकते हैं ? देखा ओखते ओखते उसको पता लगता है कि (इमेन अर्जुनस्योक्तं शिवा) अर्जुनकर्म मुदर धातुसे इस बन्धको काट सकता है । जब इसका पता उनको लग जाता है और जाने कबकर कई पुष्पांशो जीवने इनी अर्जुनस्यसे इस बन्धको काटता और मार्ग खोज दिया है देखा वे देखते हैं, वो वे वांछित जीवन भी अपने क्रिये मर्त्य पैदा करते हैं । इस पीछे मार्ग बनता है और बहोंको स्वतंत्रता इही असंगमृच्छिसे प्राप्त हो सकती है । जिसका भी पता जंगल क्यों न हो वह मुदर धातुसे काटा जाता है । और बलमैत्रि सीधा मार्ग बनाना था लगता है । इहीका नाम पुष्पांशे है और वह हरएक मनुष्यको करगही चाहिये ।

वह प्रथम अथवा संसारकपी बुद्ध है और वह (सु-नि कृ-मूक) यथा मुदर मूर्खोवाता है अर्थात् इसकी जड़ नहीं गहरी गई हुई है । तबारी किसीको डरना डबित नहीं है क्योंकि वह जिसकी मुदर क्यों न हो अर्जुनस्य

कल्पनेपर वह प्रतिबन्धक नहीं होता । अज्ञानबद्ध उन्मत्तों पथिकका मार्ग सीधा हो जाता है । इसक्रिये भोगी इति रहनेतकही इसका बंधन कष्ट देता है भोगमृच्छि हृदय और अज्ञान अथवा जगत्सक बुद्धि बन्ध गयी तो वह इस पेछाही रहनेपर भी कोई कष्ट नहीं हो सकता । मरनेमें यहाँ एक बुद्धपर हो पड़ी देखनेका वर्णन है, यहाँ जो अज्ञान करमेवाका पकड़ी है वही लोकमस्त है परन्तु जो एकभोग नहीं करता वह बान्धवसे बन्धनका रहता है । एकही बुद्धपर एक सुखी और दूसरा दुःखी है । इसका ज्ञान है कि एक जोयी है और दूसरा व्यापी । वह ज्ञान एक पक्षी श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिक स्पष्ट कर दिया है । यहाँ स्पष्ट है कि बुद्ध देखेका देखा रहनेपर भी संमृत्ति और बलमृच्छिसे वेध और मोक्ष होते हैं और वही असंगमृच्छिसे बुद्धके कल्पनेका स्पष्ट तात्पर्य है ।

अर्जुन नामक कोई ज्ञान नहीं है जिससे बुद्धके कल्पनेमें संभावना है । बुद्धके एकत्र भोगका ज्ञान करनेकही नाम असंगमृच्छिसे बुद्धको काटना है । ज्ञान प्राप्त वह न हल्ले कि वह अत्यन्त बुद्ध किसी क्षम्य काय मान्य और कभी वह बुद्ध बिकटुक न होगा । पास्तवमें देखा कभी नहीं होगा । वह अत्यन्त बुद्ध यह संसारबुद्ध कहा लैय्य, परन्तु जो यहाँ एकभोग करतेकी बातका ज्ञान देगा उसके क्रिये वह न रहनेके समान उपग्रहद्विज अथवा सहायक बनकर लैय्य और इससे उपायके कोई बंधन नहीं होगा । इतनाही मान्य असंगमृच्छिसे इस बुद्धके कल्पनेमें है । पक्षक विचार करने इसका ठीक ठीक भाव्य ज्ञान ।

ईश्वर उपासना ।

कर्मयोगकी वास्तव्य पुराणी और विमृष्ट रहनेकी स्थिति प्राप्त हो गयी, वो यह स्थिति चिरकाक (जनेके सिधे ईश्वर-उपासनाका अन्वेषण करना चाहिये, अन्वेषा यन्त्र स्वभाव बंधक होनेक कारण वह अग्रगण्य कराचिद्वि स्था कपल नहीं रहेगी और फिर भोगमृच्छि वह जायगी । देखा न हो इसक्रिये बड़ा है—

यथा पुराणी प्रवृत्तिः प्रवृत्ता
त माध पुरुर्य एव प्रपद्ये ।
जिससे पुराणन काकले इस सत्ताकी प्रवृत्ति कभी जायी है वे उही माध पुरुर्य वाममना-नामैवारी ज्ञान

(३) आश्वत पदके अधिकारी ।

निर्मानमोहा अितसगदोषा अघ्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा ।

इन्द्रैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंनिर्गच्छत्यमृताः पदमन्ययं तत् ॥ ५ ॥

न उद्गासयते सूर्यो न शशांको न पावक । यद्गत्वा न निर्वर्तन्ते तद्गाम परम मम ॥ ६ ॥

अन्यय — निर्मानमोहा अितसगदोषाः अघ्यात्मनित्या, विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंनिर्गच्छः इन्द्रैः विमुक्ताः अमृताः, तत् पदमन्ययं पद गच्छन्ति ॥ ५ ॥ न सूर्यः न शशांको, न पावकः (५) तत् (पदं) प्राप्तवते । पद गत्वा न निर्वर्तन्ते तत् मम परमं मम ॥ ६ ॥

जिनका अमिमाम और मोह नष्ट हो चुका है जिन्होंने विषयासक्तिके दोषोंको जीत लिया है जो निष्ठ आत्मामें रहते हैं, जिनकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं जो सुख-दुःख भावे द्रष्टांते सुख हो चुके हैं और जो शानी हैं, वेही उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥ स्वयं, अमृता अथवा अग्नि उस पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है । जहां जानेपर बाधित आना नहीं पड़ता वही मेरा (ईश्वरका) परम धाम है ॥ ६ ॥

भाषार्थ— जो अमिमावरहित मोहरहित अनासक्त अग्रनिष्ठ योगवासना-रहित इन्द्रमात्रसे दूर और शानी है वे उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं । जहां सूर्य अमृता अथवा अग्नि प्रकाश नहीं पहुंचता वहां ईश्वरका परम धाम प्रकाश रहा है क्योंकि इसका प्रकाशसेही सूर्य अमृता और अग्नि प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

कण हैं और वह सुख उस अमृत स्वादमें फिरकाए रहे । उस पावकको देखी मनोभावनासे ईश्वरकी प्रार्थना करते हुए धारण आना चाहिये । धारण करनेमें अपनी सब ब्रह्मकी बुद्धिका इगा होना है । अपने आपको परमात्मना के लिये समर्पित करवा अमरचक्राजागतिसेही होगा है ।

मित्र स्वाध्याय पदक अथवा मित्र बाधित नहीं आना होता उस पदको प्राप्त करवा अनुपपन्न कर्तव्य है और वह मित्र प्राप्त किया जाता है, ईहा जाता है अथवा किया जाता है और अमरचक्राजागतिसे वह मित्रवत् प्राप्त भी होता है । अपने ब्रह्मकारका इस तरह पद किया जाता है और सूर्य अमरचक्राजागतिसे ही प्राप्त होता है । जिनको वह स्थिति प्राप्त होती है वही आश्वत पदके अधिकारी हैं । इसका ध्यान आगे के दो श्लोकमें किया है वह ध्यान भी मन्त्रीय है—

अन्यय पदके अधिकारी ।

(५ १) अन्यय परमात्मक स्थापको कीज प्राप्त करते हैं वही इसका ध्यान किया हुआ है—

अमृताः पदमन्ययं पदं गच्छन्ति ।

' जिनकी सुरता दूर हुई है वेही परमात्मके अमरच

पदको प्राप्त होते हैं । मृता रहनेवक, अर्थात् अज्ञान रहनेवक परमात्मका अमरचक्र पद प्राप्त नहीं हो सकता । जिनका अज्ञान दूर हो चुका है उनका अमरचक्र पदक इसी श्लोकमें देखें—

(१) निः—मान-मोहाः ।

जिनके अमिमाम दूर हुआ है और मोह भी दूर हुआ है वे परम पदके अधिकारी हैं । अज्ञानसेही अमिमाम और मोह होते हैं अमिमाम धर्मक अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेवकही रहते हैं । अमिमामका अर्थ ' मैं हूं मैं दूसरोंके उपर हूं, मैं भोग भोग्या इससे दूसरोंकी हानि हो तो भी मुझे बराबरी पचाह नहीं है । इत्यादि मान अर्थात् होते हैं । वह सब अज्ञानही है, मोह भी इसी कारण होता है, मैं और दूसरा इस हेतुभाववकही एक मोह है वह मेरा है और वह दूसरेका है, इस कारणही अनुपपन्न मोहित होते और पाप करते हैं । वह सब अज्ञान है । ज्ञान वही है जिसे वे सर्वत्र अमरचक्राजागति होता है सर्वत्र पृथ्वी अग्रम तथा है उसे छोड़कर उसे मित्र कोई वस्तु नहीं है देखी पृथ्वीमरुति स्थिर हो गई, तो सर्वत्र अर्थात् और मोहक जिसे कोई स्थान नहीं मिलेगा जहां सर्वत्र ब्रह्ममयमम ना

गया वह किसी पास करेगा और किससे दूर होगा ?
 जवा: यमंड लोक मोह उससे पास नहीं रहेंगे।

(२) सुखदुःखसमैः हृन्दैः विमुक्ताः ।

‘ सुख और दुःख नामक हृन्दोंसे जो मुक्त होते हैं ,
 सुखदुःख हर्मिकाम अवपराकष आप-पर आदि अनेक
 हृन्द हैं, वे व्यापीकोही कष्ट देते हैं । जिसमें सभी ब्रह्मके
 रूप हैं विषयमात्रे विषयमें विद्यने सबकी एकता देखी,
 उसको हृन्दके सब प्रकार एकही अमित ब्रह्मके बर्णन रूप
 होनेके कारण उस अवस्थामात्र प्राप्त करनेवाले सामने
 कोई हृन्द भद्रकषसे रहनेही नहीं। अतः हृन्दोंसे वह मुक्त
 होता है । जब सब हृन्द ब्रह्मरूप होंगे, तब उसका हृन्द
 होनेका शेष दूर हो जाता है और वे हृन्दभावसे मुक्त हो
 जाते हैं ।

(३) वि-निवृत्त-कामाः ।

त्रिकक अन्तःकरणसे मोहोकी कामनाएं जिसके मन्त्रसे
 सब प्रकारकी कामनाएं दूर हो चुकी हैं जो निष्काम हैं
 जिनमें वृष्णा नहीं रही वे परम वरके अधिकारी हैं ।

(४) जित-संग-दोषाः ।

योगसाधक होशोके शिन्नेनि जीत लिया है अर्थात्
 जिनमें क्लमोगवास नहीं रही है जो भिलगुप्त हैं, बाध-
 काम हैं, क्लम हो चुक हैं वे परम वरके अधिकारी हैं ।

(५) अध्यात्मनिस्त्या ।

(अवि-व्यग्रता) आत्माकी जो अधिकारी प्रकट होती है
 उसका जो निरासन करते हैं उसको आत्माकी अनुप
 अधिकार पदा उगता है और उस कारण आत्मामें उसकी
 अज्ञा दिवोदिन बढती जाती है । आत्माकाही वह सब
 आविष्टार है ऐसा हृन् कोनोंके निश्चय हो जाता
 है और वे एक आत्मतावत् सर्वत्र वर्तमान करते हैं अतः इस
 तरह आत्माका सर्वत्र व्यापकता करनेवाला आत्मामें अवस्थ
 वरके प्राप्त होते हैं, अर्थात् मैं उस आत्मामें वृष्ण नहीं हूं
 वह मान उनमें मुद्रा होनेक कारण व आत्मारूप बनते हैं ।

यस्मिन् संपाद्य भूतानि
 आत्मा एव धर्मुः शिखानव ।
 तत्र का माहः का शाक
 एकावमनुपपत्ता ॥ (ईश उ १)

जिस समय प्रव दूत आत्मा हो चुके सब वस्तु सब
 एकतरफका एकाग्र करनेवाले विज्ञानी पुरुषको लोक और
 मोह किस तरह हो सकते हैं ? ऐसी अवस्था किसी
 होती है वे परम अवस्थ वरके अधिकारी होते हैं ।

विरहिमायी मोहरहित हृन्दोंके समभावसे देखनेवाले,
 निष्काम, योगोके विषयमें अवस्था और आत्माकी अधिक
 सत्ता प्रव करनेवाले आत्मामें वयायोग रीतिसे जलते
 हैं जोक-आत्मज्ञान होनेसे वे स्वयं आत्मज्ञान बनते हैं,
 स्वयं आत्मा बननेसे वे आत्मामें अवस्थ होते हैं और तब
 करते अवस्थ होनाही परमब्रह्माका अवस्थ वर प्राप्त
 है । वेहो कष्ट हृन् समवस्था भगवद्गीतामें अनेक बार
 चुके हैं, अतः इसका अधिक स्पष्टीकरण जो यहां दिया है,
 वह भी पटक नहीं देखें और हृन् विरहिमायिना अवि
 गुणोका प्रवृत्त जायें । वे गुण प्राप्त होनाही केव अवस्थ
 प्राप्त होनेका कष्टन है ।

परम पदका संक्षेप ।

जब परम पदका कष्टन बताते हैं । जहां पूर्वका प्रकाश
 नहीं पहुंचता और व जहां कष्टना और अधिक उन्मोक्त
 कर पायी है । जहां पहुंचनेपर वासिष्ठ नहीं जाता लोका
 नहीं परमब्रह्माका केव प्राप्त है । वह परमब्रह्माका कष्टन
 है ।

पूर्व कष्ट और अधिक प्रकाश नहीं नहीं पहुंचता
 जबवा नहींके देखने सामने हृन्का प्रकाश बहुतही प्रकाश
 है क्योंकि उसीके देखने पूर्वार्ति पदार्थ देखनाही है, अतः
 पूर्वार्ति पदार्थ नहीं प्रकाश नहीं प्राप्त करते ।

जहांके वासिष्ठ जाना नहीं होता वह परमब्रह्म है ।
 वासिष्ठ आनेका उत्तरमें हुआमें गिरा है । गुण को देखने
 ही विलीना है जहां है व रहा पुरुषानुभवका अवस्थ
 भाव नहीं स्थिर हो जब नहीं वासिष्ठ आत्म गुणका अनुभव
 करना केव समभव हो सकता है ? एकबार जिते अनेक
 अनुभव हुआ हो वह देखें आनेमाही नहीं क्योंकि उसकी
 कष्टनामें है व रहेगाही नहीं । जैसे अनेक वस्तु विज्ञानी
 नहीं हैं किंतु जिसक मनमें उन सबका विभीकन निरा
 है, वह उनमें विविधता देखे अनुभव कर सकता है । अतः
 एकबार एकतरफा, अवस्थ होनेका अनुभव हो जाय को रहे

(४) ईश्वरीय अंश जीव ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । मनःपद्धानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
 शरीरं यदाश्रमेति यद्याप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाश्रयात् ॥ ८ ॥
 भोजं यक्षुः स्पर्शेन च रसने घ्राणमेव च । अधिष्ठाय मनश्चाप विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
 उत्क्रामन्त्ये स्थितं वाऽपि सुखान वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः १०
 यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । यतन्तोऽप्यकुतास्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ११

अन्वयः—(अर्थात्) जीवलोके मम एवं सनातनः अंशः जीवभूतः (अर्थात्) प्रकृतिकांति ममःपद्धानि इन्द्रियाणि कर्षति ॥ ७ ॥ अथ (एवम्) ईश्वरः शरीरं यदाश्रमेति अर्थात् यदा उत्क्रामन्ति (एवं) वायुः आश्रयात् गन्धान् इव अर्थात् गृहीत्वा सयाति ॥ ८ ॥ अथ (जीवः) भोजं यक्षुः स्पर्शेन च, रसने आश्रये मम च एवं अधिष्ठाय विषयात् उपसेवते ॥ ९ ॥ अथान्यत् स्थितं वा सुखान् गुणान्वितं वा अर्थात् विमूढा न अनुपश्यन्ति, ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥ १० ॥ यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्ति, अचेतसः अकुतास्मानः च यतन्तो अर्थात् यतः न पश्यन्ति ॥ ११ ॥

इस मनुष्यकोकर्म मेरा (ईश्वरका) ही सनातन अंश जीव जनक स्थित है वह प्रकृतिमें स्थित एतेवांशो जीव इन्द्रियों और छंदे ममको अपनी ओर आकर्षित करता है ॥ ७ ॥ अथ यह शरीरका शरीरको प्राप्त करता है अथवा जब उसे छोड़ता है तब वह वायु पुष्पांसे सुगंध के आनेके समान, इव इन्द्रियोंको अपने साथ ले जाता है ॥ ८ ॥ यह जीव कान स्पर्श नेत्र, जिह्वा, नाक और मनका आश्रय करके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ९ ॥ शरीरको छोड़नेवाले शरीरमें रहनेवाले विषयोंको भोगनेवाले अथवा सुगंधोंसे युक्त होनेवाले इस जीवको मूढ़ जब देखते नहीं परन्तु ज्ञानी ज्ञेयही इसे देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करनेवाले योगी अपने अन्तर रहनेवाले इस आत्माको देखते हैं परन्तु जो बिचारहीन और उत्क्रांहीन होते हैं वे प्रयत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं देख सकते ॥ ११ ॥

भावार्थ—जीव ईश्वरका ही एक अंश है वही वाता शरीरमें जीवभावसे रहता है, वह अपने पास इन्द्रियोंको आकृषित करके रहता है । जैसे वायु अपने आप सुगंध लाता है, वैसे यह जीव शरीरधारणके समय अपने साथ इन्द्रियोंको लाता है और शरीर छोड़नेके समय इन्को अपने साथ ले जाता है । यह जीव इन इन्द्रियोंका आश्रय करके ही सब प्रकारके विषय भोगता है । वह किसी समय शरीरको छोड़ता है, किसी समय शरीरमें रहता है, रहकर भोग भोगता है, एतको अपने पास लाता है । इतना करने पर भी मूढ़ मनुष्य इसे नहीं पहचान पाते परन्तु जो ज्ञानचक्षुसे देख सकते हैं, वे ही इसे देख पाते हैं । योगी जो मन्त्र प्रयत्न करनेपर इसे देख सकते हैं परन्तु ज्ञानी और उत्क्रांहीन मनुष्य यत्न करनेपर भी इसे देख नहीं सकते ॥ ७-११ ॥

इन्द्रिय मान होवा अर्थात् यह है । अतः वह परम यह ऐसा है कि जिसे एकबार पहचाननेसे फिर छोक मोह होतेही नहीं । वही परम बुद्धि कि यदि देखा एक ठग है, तो जीवका जीवभाव कहाँ छिप हो सकता है, इस अंशके उद्धार करते हैं कि जीव भी परमात्माकाही अंश है ईश्वर—

ईश्वरका सनातन अंश ।

(७-११) ईश्वरका सनातन अंश इस मानव कोकर्म जीवभावसे प्राप्त हुआ है । अर्थात् जीवभूत प्रकृति नहीं है वह ईश्वर का ही अंश है । वह भीमन्नगव्रीहाका सिन्हात्त है । जैसे महाकायमें एक कककिन्तु, जैसे सूत्र प्रमाये एक किरण जैसे वही प्रत्यक्ष अग्निमें एक चिह्नमाती

बैद्येही परमात्मामें जीवतमा है । अपूर्व सत्त्वतम अनेकतमका अन्तर्धानी आत्माही ईश्वर है उसीका व्यक्तिगत अंश जीवात्मा है, जैसे आकाशमें मठाकाश और मठाकाशमें बटा काश होता है, वैद्येही विश्वतमामें राष्ट्रतमा और राष्ट्रतमामें वैयक्तिक आत्मा है । वेदमें कहा है—

एषो ह देवः प्रविशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह ज्ञाताः स व गर्भे भवता ।
स एष ज्ञाताः स अभिष्यमाणाः
प्रत्यङ्मनाक्षिप्रति सर्वतोमुखः ॥

यह एकही प्रभु सब दिशा-अपदिशाओंमें है, वही पूर्व समक्षमें और इस समयमें गर्भमें जाता है । वही पश्चिमे जन्मा था वही इस समय जन्मता है और बागे भी वही जन्मेगा । उसीका मुख सब ओर है और वही प्रत्येक मनुष्यके अन्तर रहता है । तथा—(वा पठ ३१।७)

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर-
ज्यायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तापिन् ह तस्युर्मुबनानि विश्वा ॥

(वा प ३१।१५)

प्रजापति परमपिता परमेश्वर गर्भमें अन्तर संचार करता है वह जगत् ब्रह्ममा होता हुआ भी अनेक प्रकार से और विभिन्न रीतिसे जन्मता है । इसका भूक ज्ञान ज्ञानी ओप देखत है और इसीमें सब भुवन स्थित हैं ।

परमात्मका जन्म करते हुए ही वह न जन्मनेवाला होयेपर भी जन्म केता है ऐसा कहा है । आत्मा तो जन्म जर्णव जन्ममा है फिर भी वरमें जाने आकाशके समान क्षीरमें जाया जन्ममाके अंश क्षीरके घाव जन्मता है । वह एक रूपक है इसके इन्हांही बताया है कि विष्णु एकरस आत्मामें जन्म ही जीव रूप बनकर (मम एव जन्मः दी जीवमूया) इस रिक्तमें नायाक्य कारण करते हैं, इसी कारण उसको सर्वतो मुखा विचरो-मुखा विचरतश्च विचरस्यात्, विचरोबाहुः कहा है—

विश्वतश्चभुक्त विश्वतामुक्षो
विश्वतोबाहुस्त विश्वतस्थात् ।
सं बाहुभ्यां घमति सं पतत्रैर्घावाभूमौ
जनयन्त्य एकाः । (वा प ३१।१५)

यदि वह प्रभु सब क्षीरमें व हो तो उसके जब ओर मुख सब ओर हाव, सब ओर चक्षु और सब ओर तन कैसे हो सकते हैं ? जो वही परमात्मका जन्म जीवतमा है ऐसा नहीं मानते और जीवतमाको परमात्मामें सर्वत्रा पुष्क मानते हैं इसका परमात्मा विचरोमुख विचरोबाहु विचरस्यात् किस तरह हो सकता है ? क्योंकि जो मुख बाहु पांव चक्षु आदि अवयव धीकते हैं वे तैस्त्रिंशो पक्षमें जीवतमाको है व कि परमात्मामें । अतः हावर्षावबाहुमुख ये अवयव जीवतमाके होनेके कारण किसी तरह परमात्मामें हो नहीं सकते । परन्तु वही परमात्मका ही वर्णन विचरोमुख आदि शब्दोंद्वारा किया है अतः मानना पड़ेगा कि व जन्मने-वाला परमात्मा विभिन्न रीतिसे जन्म केता है, (जन्मजन्मः बहुधा विजायते) और विचरोमुखी बनता है । वही जन्मक्षीरताकी मायामें परमात्मका विचरूपजन्य है, जब रूप उसीमें धारण किया है । अस्तु ।

परमात्मका जन्म जीवतमाके रूपमें जीवतुष्टिमें जन्मता है, वह गीताका कहा इस तरह वैद्ये भी प्रमाणित होता है । परमात्मका जन्म 'ऐसा करनेसे क्षरितव जन्म नहीं समझा जाता परन्तु जैसे आकाशका अंश समझना या पटाकाशमें क्षरितव होयेपर भी अंश कहा जाता है, जैसे पक्षी भी समझ केता चाहिये क्योंकि परमात्मा अर्थात् एकरस है उसके टुकड़े हो नहीं सकते । परन्तु क्षीरमें जन्मत करनेके कारण उसका अंश वह समझानेक किने वहां क्या है, वेदमें भी ऐसाही कहा है—

पावोऽस्य विश्वा भूतानि

विपावस्याऽमुव विधि ॥ ३ ॥

विपावूर्ध्वं सर्वस्तुतपः

पावोऽस्यैवाभवत्सुता ॥ ४ ॥ (वा प ३१)

पुष्प जर्णव परमात्मका एक पात्र जर्णव अंश इस विधमें विभक्त्य बना है और बारबार विभक्त्य बनता है और तीन पात्र जर्णव तीन पात्र पुष्पोंमें अपने स्वरूपमें रहते हैं । यही भी पात्र सत्त्व अंशवाचकी है और त्रि अंश वा पात्र सत्त्व टुकड़ेका वाचक नहीं है, परन्तु एकरस पदार्थके कुछ अंशका वाचक है ।

यह परमात्मका समावेश अंश मम, कान, त्वचा चक्षु

विष्णु और वासुका हृत् कः हृत्त्रियोंको अपने पास आकर्षण करके हृत् उन्हें हृत्त्रियोंको अपने पास रखता है और हृत्, हृत्त्रियोंसे सत्य-स्पर्श-रस-रस-गंध विषयोंका भोग करता है। जीव हृत् हृत्त्रियोंको अपने पास आकर्षण करके विविध भोग भोगता है। मनुके साथ हृत् हृत्त्रियों मिश्रकर जीवमात्रका किंवदं होया है। वस्तु जेसे फूलोंका सुगंध अपने साथ ले जाता है इसी तरह जीव एक क्षीरको छोड़ता और दूसरे क्षीरको प्राप्त करता है उस समय हृत् किंवदंसे साथ बर्बाद मनु जाति उन्हें हृत्त्रियोंसे साथ एक क्षीरले दूसरे क्षीरको जाता है। जब यह एक क्षीर छोड़ता है तब उस देखकी मनु जाति हृत् हृत्त्रियोंको अपने पास आकर्षण करके लेता है और जब यह दूसरे देखमें प्रवेश करता है तब उस देखमें हृत् हृत्त्रियोंको सुरक्षित रखता है। बर्बाद बनेका जीवमात्र किमी देखको छोड़ता नहीं और किसी देखको एकजवा भी नहीं। जब देखको छोड़ता है उस समय मनुके साथ हृत् हृत्त्रियोंको छोड़ता है और जब किसी देखमें प्रवेश करता है तब ओ हृत् हृत्त्रियोंसे साथ ही प्रविष्ट होता है।

यहां पाठक स्मरण रखें कि जो आत्मा है वह सर्वगत (गी १।१७) कर्पात सत्त्वमात्रक है तथा उसका बंध वा इच्छा होता नहीं क्योंकि वह अक्षय्य प्रकार है। तथापि पुरातनकालमें अनेक जटोंमें आकाश रहनेके समान सर्वगत आत्माका बंध अनेक देखोंमें विराजता है। यदि देख आत्माका बंध क्षीरकी उपस्थिति रहता तो भी उसको जीवमात्र कहानि प्राप्त न होता क्योंकि अक्षय्य प्रकार आत्मामें एक वा अनेक क्षीर साथे व्यवसा न जाने तो जटोंमें कोई परिचय होना संभवही नहीं है।

एतद् अब यह आत्मा अपने साथ मनु जाति हृत् हृत्त्रियोंको आकर्षित करता है और उन हृत् हृत्त्रियोंसे मात्रा भोग भोगनेका कार्य करता है तब मैं जाता हूं ऐसा उद्ये अनुभव होता है और नहीं जीवमात्र है। बर्बाद मनु जाति हृत् हृत्त्रियोंसे साथ रहनेसेही अपने भोगा होनेका अनुभव उद्ये हुआ और इसी कारण जीवमात्र उसमें प्रतीत होने लगा। जवा यह उनके कारण प्रतीति है। मनुके विना हृत्त्रियों हुए भी कार्य कर नहीं सकती, तब मनुके साथ रहने से आत्माके जटमें मैं भोगा हूं और अन्य भोग हैं देवा साथ हुआ और जीवमात्रका धारण हुआ। यह मनुका जो

है अथा मनुकेही बंधन और मोचनका हेतु कहा जाता है।

काय, लब्धा भांज, रसवा पात्रिका और मनुके ऊपर जाति छाया होकर इनके द्वारा यह सत्य-स्पर्श-रस-रस-गंध यदि विषयोंका उपभोग करता है और मैं उपभोग करनेवाला हूं तथा वे उपभोगके विषय हैं, ऐसा अनुभव करता है। नहीं जीवमात्र है। भोगकामना जीवमात्रका महत्वका कथन है। इसी कारण वास्तविकपक्षे मोक्षकी प्राप्ति संभव नहीं होती है।

क्षीरको छोड़ते समय क्षीरमें रहते समय भोग करते समय तथा छायादि गुणोंसे युक्त होते समय आत्माको ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालाही देखते हैं परंतु जो ज्ञानदृष्टिसे रहित मूढ़ हैं उनको आत्माका पताचक नहीं होता।

क्षीरमें जो कर्म होते हैं उनके देखनेसे आत्माका पता लगता है यदि क्षीरमें होनेवाले कर्मोंका अनुसंधान न किया जाय तो आत्माका ज्ञान होनेका दूसरा कोई साधन नहीं है। इस दृष्टिमें स्थिर और चर स्वावर-अग्रम विज्ञान सजीव देखे हो भाव दीकते हैं। पत्थर पर्वत जाति स्थिर-स्वावर जबवा विज्ञान कहलाते हैं और जीव कुमि कीद पर्वत पक्षी, पशु मात्तव जातिकोंके सजीव-जिनमें जीवम है-देवा कहते हैं। यह सजीव-विज्ञान-वेद स्पष्ट है और हरएक मात्तव इसका अनुभव स्पष्टतःके साथ कर सकता है। यदि सजीव दृष्टिमें विज्ञान देवेवाके इच्छा होय कुछ कुछ और मपरव 'न देखे बांय तो हृत्ते भिन्न जीवमात्र जयवा आत्माके जावनेका और कोई कथनही नहीं है।

वे कथन देखनेसेही सजीवोंमें जीवमात्र-आत्मा है बार स्वावरोंमें आत्मा नहीं है देवा मनुष्य कहते हैं। यहां हृत्तमा सत्य है कि जीवोंकी हृत्तकसे आत्माका बांध होता है परंतु इससे जो अनुमान किया जाता है कि जीवोंसे भिन्न स्थानोंमें आत्मा नहीं यह अनुमान बहुत है। उदा हरएके किने बाप देखते कि कुछ दिक्ते हुए दृष्टिसे धातु-के अस्तित्वका पता लगता है हृत्तमा साथ है परंतु यदि कुछ न दिक् किना किसी स्वावर वृक्षी न रहे तो वहां धातुही नहीं है देवा अनुमान करना अनुचित है। इसी तरह प्राणिमोंकी हृत्तक देखनेसे आत्माका ज्ञान होता है यह सत्य है, परंतु जहां प्राणी न हो जबवा प्राणीकी हृत्तक

(५) सम्यक् हृदयोंमें ईश्वरका निवास ।

यदादिस्वगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यथाग्नौ तत्तेजो विद्मि मामकम् ॥ १२ ॥
 गामाविश्य च भूतानि घारयाम्यहमोजसा । पुष्पाणि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
 अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाभितः । प्राणायानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
 सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहन च ।
 वेदैश्च सर्वैरहमव वेद्यो वेदान्तकृद्विदेव चाहम् ॥ १५ ॥

य हो वहाँ जायता नहीं है ऐसा अनुमान करना अवगोच है ।

अतः मरनेके साथ साथ क्षीरते जायता चला गया, जन्म केनेपर उसमें जायता जाता अनुक्त क्षीरते जायता योग करता है और अनुक्त क्षीरते जायता अनुक्त गुणोंके पुत्र है वह सब भाषा अनुक्त है । जायता सर्वगत (गी १।५४) है इसलिये जायता तो सबमें और सर्वत्र है य वह किसी में रहिके न होता हुआ फिर जाता है और य किसी स्थान पर रहिके होता हुआ फिर चला जाता है । वह कहा जायता एक जैसा एकरसी है । जाया जाता होकर न होता और न होकर होता वह उसके लिये जसंभव है ।

कैदा देखिये एक स्थानपर अनेक बड़े रके हैं । तो क्या सबमें रहिके जायता नहीं या ? और क्या जायतने उनमें पचाइ प्रवेश किया ? तथा उनमेंसे कई बड़े हुए गये तो क्या बड़ाई जायता भास गया ? के एक जायतने शोकनेके प्रकार उत्पन्नहोके जायता है । जायतने रहिकेसेही सर्वत्र एक जैसा है । बड़े उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य ब्रह्म-कृतके विषयमें अपनी कल्पनाके जैसा चाहे जैसा शोकोते हैं । कैदा जायतने बड़े कैदेही परमात्मामें जीवोंके वे क्षीरते हैं । वे क्षीरते अनेक अथवा न हो जीव पर परमात्मामें कोई मूलता या अधिकता नहीं होती । अतः जायता अनेक अथवा चला अनेक वह भाषा केवल व्यवहारकीही भाषा है उसमें पारमार्थिक धारणा नहीं है । तीनों व्यक्तियों में जायता सर्वगत है वही बात धारणा है । एकका एक जायता है न वह जाता है और न जाता है ।

इतना होनेपर भी जायताका अस्तित्व जाननेके लिये धर्मीय प्राणियोंका निरीक्षण करना आवश्यक है और इस कारण जीवच मरण भोग और गुणका विचार करना भी आवश्यक है । क्योंकि इसके बिना जायताके अस्तित्वका भी बात नहीं कहा सकता । अतः कहा है कि जायतनेका

योग प्राणियोंके उत्पन्न भोग व्यवसाय जायतने निरन्तर करने जायताके पदचरण है, परंतु जिसके पास जायतने नहीं है वे प्राणियोंकी इच्छाके देखनेपर भी जायताके नहीं जान पाते अतः मनुष्योंके लिये है कि वे बिना जायतने अपने अन्तर जायतनेका विचार करके इस जायताका साक्षात्कार करें ।

जो कुलजा बोयी होते हैं वे सब जायतनेका लिये प्रयत्न करते हैं एवं वे अपने अन्तर ही जायताके देखते हैं । परंतु जो बहुजायता और बोयी होते हैं उनके प्रयत्न करनेपर भी उनके जायताका साक्षात्कार नहीं होता । वहाँ कुलजा और बहुजायता भोग है इसका लोचना विचार कर केना चाहिये । बिना जायतने जायतनेका अनुमान समर्थनमात्रि जायतने, अनुकूलन तथा अन्तर्गत-विधिप्राप्त को करते हैं वे अपने जायतने वयायोग लुपित वयागके कारण कुलजा कहे जाते हैं । तथा जो अनेक अपने उदाहरणके लिये योग अनुमान नहीं करते अपना जायताका के मार्गों ही चकते हैं वे । बहुजायता कहे जाते हैं । इनको जायताका विचार भी नहीं सूझता ।

जायताके जायता भोग करनेवाले बोयी जीव जो जायताका विचाररत नहीं करते वे बोयी होते हैं ।

इस तरह एक सर्वगत जायताकी निमित्त क्षीरते में सब जायतने ईश्वरोंका अविद्यावा होकर प्रत्येक क्षीरते जायताका के कर्तों मन्त्र होता है । इस तरह इस जायताके कर्तों विद्याप्राप्त सब क्षीर जायतने लिये हैं और वही एक जायता निरन्तर विद्याप्राप्त बना है । जायताकी निमित्त धर्मीय जायतनेकी बोयी इसको अपने अन्तर भी देख सकते हैं, कैदेही सर्वत्र इसका साक्षात्कार कर सकते हैं परंतु जिसके निमित्त नहीं है उनको इसका ज्ञान नहीं होता । वही निमित्त अनेक रीतियों स्पष्ट करते हैं—

अन्वयः—यत् आदिश्रवणं तेजः अधिकं अपरं माधुर्यं यत् च चन्द्रमसि, यत् च अग्निं (स्थितं बलि) तत् प्रमत्तं तेजः (बलि इति च) विधि ॥ १२ ॥ यह च गां आदिश्रवणं बोजका भूतानि धारयामि । रसात्मकं सोमः भूत्वा सर्वाणि भोजनानि पुष्पामि ॥ १३ ॥ यद्वा प्राप्तिना देहिं धारितः प्राण्यपावसामुक्तः वैश्वानरः भूत्वा अतुर्विधं अन्नं पचामि ॥ १४ ॥ यह सर्वान्नं च इति संनिविष्टः (बलिम्) मघः (सर्वस्य) स्मृतिः ज्ञानं अपोहनं च (भवति), अहं च एव सर्वैः वेदैः वेद्यः (बलिम्), अहं एव वेदान्तकृत् वेदविद् च (बलिम्) ॥ १५ ॥

आ सूर्यमें रहनेवाला तेज सब जगत्को प्रकाशित करता है जो अश्वप्रमार्में और जो अग्निमें है, वह तेज मेघ (ईश्वरका) है ऐसा तू समझ ॥ १२ ॥ और मैं पुष्पोंमें प्रवेश करके अपने बख सबसे भूतोंकी धारण करता हूँ । तया रसकूप सोम बनकर सब जीवधियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं (ईश्वर) प्राणियोंके देहोंमें आकर, प्राण और अपावसे पुष्ट वैश्वानर अग्नि बनकर अतुर्विध अन्नका पावन करता हूँ ॥ १४ ॥ मैं (ईश्वर) सबके हृदयोंमें रहता हूँ, मुझसेही सबको स्मरण, ज्ञान और हनका अभाव (विस्मरण और अज्ञान) होता है, मैं ही (ईश्वर) सब वेदोंके द्वारा ज्ञानप्रयोग्य हूँ, और मैं (ईश्वर) ही वेदान्त शास्त्र विमर्श करेवाला और वेदका ज्ञाता हूँ ॥ १५ ॥

भाषार्थ—सूर्यकण और अग्निमें जो तेज है वह ईश्वरका है । सूर्यी जिस वखसे सब भूतोंका धारण करती है वह सब ईश्वरका है । जिस रस से सब जीवधियां पुष्ट होती हैं वह रस परमेश्वरका है । जो जगत्प्राणि प्राणियोंके देहोंमें अन्न का पावन करती है वह वैश्वानर अग्नि परमेश्वरका ही रूप है । जिससे मनुष्योंको ज्ञान और स्मरण, ज्ञान अज्ञान और विस्मरण होता है वह ईश्वरका ही सामर्थ्य है । वही ईश्वर वेद और वेदान्तका निर्माता और ज्ञाता है और वेदमें इष्टीका प्रथम है ॥ १२—१५ ॥

(१२—१५) परमात्मा हरएक कर्मों के जला वह विद्यमान विवक्ष्य है, इसका कहने मात्रसे हरएक जादुियोंमें सुनिमें कर्मों अतीरमें वह विद्यमान है वह बात सिद्ध होती है । और यदि वह हरएक वस्तुमें है, तो वही सर्वत्र विद्यमान कर्म चक्रा है इसमें क्या संदेह हो सकता है ?

इसी बात माननेपर आदिश्रवणं कण्ठमार्ग और अग्निमें जो तेज है वह ईश्वरका ही तेज है इस विषयमें शंकाही नहीं हो सकती इसका ही नहीं परन्तु सब वातावरणोंमें क्या हीरकमें जो तेज है वह सब तेज परमेश्वरके ही अर्पण है । जहां जहां तेज, प्रकाश अन्धकार तोड़नी हीरक ही वह सब परमेश्वरके वहां जाई है । वह तेजके विषयमें यह कहा है तेजके धामना ही सूर्यकी रीच आपतलका रस धातुतलका स्पर्श और आकाशतलका छन्द ये भी परमेश्वरके कारण ही वही सिद्ध हैं वह बात हृदयमें सर्व ही वही जानुकी है—

गुण और गुणी

रसोऽहमस्तु कीन्तेय प्रमाथ्येयं शशिधृषयोः ।
प्रपन्नः सर्ववेदेषु छन्दः खे पीकथं नृप ॥ ८ ॥

पुष्पो रंघा पूषिष्ठा च तेजःश्रास्ति विभावसी ।
जीवन् सर्वभूतेषु तपःश्रास्ति तपस्विषु ॥ ९ ॥

(य नी ०)

जलोंमें रस सूर्यकण और आग्नीकी प्रमा आकाशमें छन्द सूर्यकीते रंघा वेदोंमें प्रपन्न मनुष्योंमें पीकथ सब प्राणियोंमें जीवन् तपस्विजनोंमें तप यह सब परमेश्वरका ही रूप है ।

~इष्टीको सर्वत्र ईश्वरका आदिने और वहां जो केवल प्रकाशके विषयमें कहा है वह ईसा तेजस्वयके प्रकाशगुणके विषयमें प्रत्य है, ऐसा ही अकतलकी छन्द विषयमें और अन्धकार-तलके अन्धकार गुणके विषयमें भी प्रत्य है ऐसा विचार पूर्वक जानना चाहिये । वह बात जागे स्पष्ट करते हैं—

(गां आदिश्रवणं) सूर्यीमें परमेश्वर प्रविष्ट होकर सब प्राणियोंको धारण करता है, (जीवन्) पुष्पामि) सूर्यीपर उत्पन्न होनेवाली सब जीवधियोंका पोषण करता है और रसात्मक सोम (रसप्रमत्तः सोमः) बनकर जीवधि हृद-स्थितियोंमें प्रचार करता है । वैश्वानर बनकर अर्वात् परमेश्वर

(६) धर+अधर = पुरुषोत्तम ।

द्राविमौ पुरुषौ लोके धरमाधर एव च । धरं सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽधर उच्यते ॥ १५ ॥
उत्तम पुरुषस्त्वन्यं परमात्मेत्युदाहृत । यो लोकत्रयमाविश्य विमत्संभ्य इधर ॥ १७ ॥
यस्मात्परमतीतोऽहमधरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्वयः—(अस्मिन्) लोके धरा अधरः च एव इमौ द्वौ पुरुषौ (सः) सर्वाणि भूतानि धरः, कूटस्थः च अधरः उच्यते ॥ १५ ॥ उत्तमः पुरुषः तु अन्यः (अस्ति) सः परमात्मा इति उदाहृतः सः अधरः । इधरः लोकत्रयं आविश्य (तत्) विमर्शितं ॥ १७ ॥ यस्मात् परमं त्वं धरे अतीतः अधरात् अपि च उत्तमः (अस्ति) अतः त्वं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः इति प्रथितः आस्मि ॥ १८ ॥

इस लोकमें धर और अधर ये दोही पुरुष हैं । सब भूतोंको धर कहते हैं और कूटस्थ (जीव) को अधर कहते हैं ॥ १५ ॥ उत्तम पुरुष तो (इन दोनोंसे) भिन्न ही है उसे ही परमात्मा कहते हैं, वही भावि माया ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है ॥ १७ ॥ मैं (ईश्वर) सरसे परे और अधरसे भी उत्तम हूँ इसी कारण (ईश्वर) लोक और वेदोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रथित हूँ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—इस विषयमें एक धर पुरुष और दूसरा अधर पुरुष है । सब भूतोंका नाम धर पुरुष है और जीवैकान्तका नाम अधर पुरुष है । धर और अधर ये जिसमें एक होते हैं वह पुरुषोत्तम है; और वहीको परमात्मा कहते हैं । वह परमात्मा सपूर्ण विषयोंमें प्रविष्ट होकर उसका धारण और पोषण करता है वह परमात्मा केवल सरसे ऊपर और केवल अधरसे नीचे उत्तम है क्योंकि इसमें धर और अधर एककला को प्राप्त हुए हैं । अतः इसको सब वेद और सब लोक पुरुषोत्तम कहते हैं १५-१८ ॥

अब विष्णु के नाम से सब कार्य प्रवर्तित होते हैं (मा विष्णो देवं भाविताः) आश्रय कर रहा है और वही आत्म-वपल आविष्ट होकर (सर्वं पश्यति) सब प्रकारके अज्ञानका नाश करता है ।

परमेश्वरका कार्य ।

इस रीतिसे सर्वत्र प्रविष्ट होकर वह परमात्मा सब भूत-मात्रोंको कार्य हो रहा है उसको चकता है परंतु वह मनुष्य समझते हैं कि सर्वं प्रकाशित होता है, अज्ञान-हित होता है, पुष्पी सबका धारण करती है वायु सुकावा है इत्यादि । परंतु वस्तुतः देखा जाय तो इस सबमें परमेश्वर है और वही वह सब कार्य करता है । इसी बातको और अधिक स्पष्ट करते हैं—

वेद-वेद्य ।

(सर्वं त्वं इमि धमितिष्ठः) परमेश्वर सबके हृदयमें—मध्यमें भीष्में प्रविष्ट हुआ है, उद्योते सबकी स्थिति ज्ञान और

विस्तृति हो रही है । सब वेदोंके ज्ञाता (वेदो वेदा) आत्मवेद्योक्त वही परमेश्वर है क्योंकि सब वेद उद्योत वस्तु कर रहे हैं । वही वेदज्ञानकर्ता वेदवेद्या और ज्ञानी है ।—

सबके हृदयमें रहकर सबको ज्ञान प्रसंसारित कर स्मरण होकर पुनः विस्मरण आविष्ट होता परमेश्वरज्ञाता ही होता है । वेदवेद्या वेदज्ञानप्रदीप्त ज्ञानी वही है क्योंकि वही दूसरा कोई है ही नहीं । स्मरण ही वही करता है और विस्मरण भी उद्योत करण होता है । पश्यन्तीको हृदय आविष्ट होगा अतः एक उदाहरण देत हैं । एकको करण विचारण होते हैं वह सब ज्ञानते हैं । सर्वके प्रकाशके विषय वस्तु स्वाभाविक हैं परंतु विषय वस्तुवेद्यी करण रति वस्ती है वह भी उद्योताही स्पष्ट है । इसी तरह स्मरण और विस्मरण एकहीको हुआ करता है । वस्तु । पुरुषोत्तम—परमेश्वर—परमात्मासे वह सब होता है । सब वह पुरुषोत्तम का स्वयम् देखिये—

(७) सर्वमायसे मञ्जन ।

यो मामेषमसम्बुद्धो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भ्रष्टति मां सर्वमात्रेण भारत ॥ १९ ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ । एतद् बुध्त्वा बुद्धिमान्स्वात्कृतकृत्य भारत ॥ २० ॥
इति श्रीमन्नारदगीतासुपनिषत्सु मङ्गलिकायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अनुवचन— हे भारत । मैं जलसेबुद्धि मां पुरुषोत्तम एवं जानाति, तः सर्वविद् (भूत्वा) मां सर्वमात्रेण मञ्जति ॥ १९ ॥
हे अनाम ! इति गुह्यतमं शास्त्रं मया कर्तुं, हे भारत । एतद् बुध्त्वा (श्रीमः) बुद्धिमान् स्वकृतकृत्यः भूत्वा ॥ २० ॥

हे भारतीय वीर ! जो ज्ञानी मुझे (ईश्वरको) इस तरह पुरुषोत्तम समझता है वह सर्वज्ञ होकर मेरी (ईश्वरकी) संपूर्णमायसे सेवा करता है ॥ १९ ॥ हे सिन्ध्याप वीर ! इस प्रकार वह अत्यंत गुह्य शास्त्र मैंने तुझे बताया है । हे भारतीय वीर ! इसे जानकर जीव बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

भावार्थ— जो पुरुषोत्तमको इस तरह समझता है वह सर्वज्ञ होकर संपूर्णमायसे ईश्वरकी सेवा करता है वही कृतकृत्य है वही जलसेबुद्धि मनुष्य ज्ञानी बनकर कृतकृत्य हो जाता है । इस ज्ञानसे मनुष्यका जीवन धार्मिक हो जाता है ॥ १९-२० ॥

परन्तु कल्पवृक्ष सेव है वह वस्तु वहाँ ज्ञानसे प्राप्त करनी चाहिये । कोई ज्ञानी वा विज्ञानी केवल धर को एक ओरकमें और 'केवल ब्रह्म को दूसरी ओरकमें भर कर अपना अपना वहीं रख सकता । क्योंकि वे इस तरह प्रपञ्च करनेवाले विभिन्न पदार्थ हैं ही नहीं ।

जैसे मिठाई और मिनीका केका वे दो पदार्थ कल्पवृक्ष से एक ही मात्रे का सकते हैं परन्तु वस्तुतः एक ही नहीं है मिनीका केका और मिठाई धरा एक ही नहीं है वही तरह धर और ब्रह्म एक-केवल वे पुरुषोत्तमसे निकलनेसे धरा एक ही नहीं है । पुरुषोत्तम ही एक कल्पवृक्ष है और धर ब्रह्म वे समझानेके लिये कल्पवृक्षके बरतन बरतन माने गये हैं । जैसे एक और रस मित्र कल्पवा होकर भी वस्तु एक ही है वैसी ही पदार्थ भी समझना चाहिये ।

इस रीतिसे धर और ब्रह्म वे दो मित्र कल्पवृक्ष हैं दो मित्र वस्तु नहीं हैं । दोनों मित्रकर धरवस्तु एक ही होती है जो दोनोंसे प्रपञ्च पुरुषोत्तम करी जाती है । वही धरवस्तु है और जो वरिष्ठ दो वस्तु नहीं भी वे कल्पवृक्ष केवल विज्ञानोक्तके लिये—समझानेके लिये कही गयी थी ।

हर एक वस्तुके दो पदार्थ होते हैं । एक इस ओरक परध और दूसरा दूसरी ओरका । वे एक दूसरेके समुपरी हैं । तथापि वे दोनों पदार्थ निकल के कल्पवृक्ष वस्ती है वह दोनों पदार्थके एक ही होती है, इसका कारण यह है कि किसी भी एक पदार्थसे वह कल्पवृक्ष जलित मूल्य की होती है ।

इसी तरह धर+ब्रह्म=पुरुषोत्तम होनेसे पुरुषोत्तम का मूल केवल धरके मूलसे और केवल ब्रह्मके मूलसे विभक्तिके लिये है । परन्तु धर और ब्रह्म एक दूसरेके एक ही करानेवाले हैं, वे केवल धरवस्तुके लिये माने हैं । इसीसे धर ही पुरुषोत्तम धर है और धरके दोनों कल्पवृक्ष हैं क्योंकि पुरुषोत्तमसे प्रपञ्च धरा इतनेसे निकलती भी नहीं है ।

यह पुरुषोत्तम ही धर है । इसी पुरुषोत्तमका कल्प सर्वमायसे धरके कराना वरिष्ठ है । वह जैसे कराना चाहिये वह देखिये

सर्वमायका महत्त्व

(१५२) वहाँ सर्वमाय से ईश्वरको कल्पवृक्ष और सर्वमायसे ईश्वरकी सेवा करने का उपदेश किया गया है ।

मनुष्य अपने आराम के प्रयत्न मानता है और अन्य किसी को
बर्बरते प्रयत्न मानता है । मैं प्रयत्न हूँ और मुझसे मित्र
को मित्र है वह मुझसे प्रयत्न है वह असर्वभाव बनना
बर्बरता मनुष्यके अपने सदासर्वदा रहता है और वहीं
बर्बरता-असर्वभाव-अपूर्णता अपने बर्बरताका है ।
इसीसे सब कुछ हो रहे हैं और सब आपसियों वह रही
है ।

इसी किये यहाँ कहा है, कि परमेश्वरको (एव सर्वभा-
वन पुनरोत्थन आवाप्त) इस तरह सर्वभावसे जानना है
वह (सर्वविध) सबको जाननेवाला होता है और सबको
करनेके पक्ष (सर्वमानन पुनरोत्थन भवति) वह सर्व
भावसे परमेश्वरकी सेवा करता है । परमेश्वरको सर्वभावसे
जानना और उसकी सर्वभावसे सेवा करना यहाँ मुख्य
है ।

वही (पुनरोत्थन साधन) आर्यत गुणसाधक है वह साधक
को बचाए जातवा है वह बुद्धिमान और कुतूहल होता
है । अर्थात् बुद्धिमान और कुतूहल होनेका एकमात्र
साधन सर्वभावसे परमेश्वरको जानना और सर्वभावसे
उसकी सेवा करना ही है । कुतूहल होनेका दूसरा कोई
साधन नहीं है । सर्वभावसे ईश्वरको जाननेकी ही साधक
(सर्व-विद्) सब कुछ जाननेवाला होता है अर्थात् उसके
किये कुछ भी जाननेयोग्य अवशिष्ट नहीं रहता ।

बस यहाँ विचार करना है कि सर्वभावसे जानना और
सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य क्या है ? और इसके विष-
यि समझनेका आसय क्या है ? इसका तात्पर्य समझने
बनेक किये एक उदाहरण देते हैं—

एक गुप्त वा और उसके दो शिष्य थे । सेवा करनेकी
बुद्धिमानों के बारंबार समझा किया करते थे । उनका
कमना मित्रके किये गुप्तने कहा कि छीरीका एक भाग
एक शिष्यका है और दूसरा दूसरेका है । मान्येक शिष्य
करने अपने भाग की सेवा किया करे और इस बातपर न
कहे । इस तरह समझीला होनेपर दोनों शिष्य अपने अपने
गुप्तके छीरीक भाग की सेवा करने लगे । एक समय गुप्त
रातें रातों रातें पाँचपर रुककर आताम कर रहे थे । वह
रातें रात की सेवा करनेवाले शिष्यने सेवा भार कोपसे

आकर गुप्तके रातें पाँचको पीटना आरंभ किया । और
कहने लगा कि तुम मेरे अपात्य अवयवपर बैठनेवाले कौन
हो । यह मूढ़ भविष्यवाणी देकर ब्रह्म हुआ गुप्त शिष्यसे
कहने लगा कि ' हे शिष्य ! तुम मेरी सेवा कठिंतभावसे कर
रहे हो जोकि तुझे बर्बरतावसे अर्थात् सर्वभावसे करनी
चाहिये । जैसे दामाँ पाँच मेरा है वैसीही दामाँ पाँच भी
मेरा ही है । यद्यपि यह पाँच दूसरेको सेवाके किये दिया
है तथापि वह भी मैं ही हूँ । अब तुमने दूसरे पाँचका
ताकड़ किया इससे मुझे ही कष्ट भोगने पड़े । अतः यह
तुम्हारा मूढ़भाव है । सर्वभावसे सेवा करोगे तभी तुम्हारी
सेवा सफल होगी और अब तुम बर्बरतावसे सेवा करोगे
तो वह गुप्तमोह ही होगा ।

इस बातसे असर्वभाव अपना लज्जाभावसे सब लोग
ईश्वरसेवा कर रहे हैं । सर्ववैयर्थ्यके अपात्रताविषयक
साधने सबको पता है मनुष्यमानके हाथों भी इसी कारण
होते हैं । यदि इस अपात्रताको सर्वभावसे ईश्वरका स्वरूप
समझाया जायेगा और सर्वभावसे उसकी सेवा करनेकी
रिधि प्राप्त होगी तो कोई हाथके कारण ही नहीं
रहेगा ।

सर्वभाव क्या है ? यह एकही सद्ब्रह्म है जिसमें पुनरो-
त्थन ईश्वर परमेश्वर आदि नाम हैं । उस एक ब्रह्मका
स्वरूपही यह विश्वरूप अपना सर्वरूप है । जो रूप
हीछता है वह उसी सद्ब्रह्मका है । उस सद्ब्रह्मको छाँटकर
यहाँ-तुम्हारी बसारी नहीं है । जो भी कुछ यहाँ है वह
उसका ही प्रकटीकरण है । वहीं ईश्वर है और वहीं सब कुछ
है । इसीका नाम सर्वभाव है । वहीं सर्वभावसे उस एक
आधिपीन सद्ब्रह्मको जानना है । सर्वभावसे उसकी
अपामना करना भी इसी तरह है । सबकी अपामना एक
समय तो हो ही नहीं सकती । अपात्रक की छवि बर-
होनेस वह विश्वरूपके किसी छोटेसे बँधकी ही सेवा कर
सकता है । परन्तु जिस बँधकी सेवा करनी है वह बँध
जस पूर्णका बस है ऐसा जानकर और यह बस बँधसे
पृथक् नहीं है ऐसा मानकर इस बँधकी सेवा हो सकती
है । इस तरह सर्वभावसे सेवा करनी चाहिये । जैसी
मनुष्यके किसी अवयवकी सेवा करनेसे उसकी सेवा हो
सकती है इसी तरह विद्यामात्रके किसी बँधकी अपामनावसे

सेवा करनेसे ही निभानेकी सेवा हो सकती है। यह है सर्वभावसे सेवा करनेका तात्पर्य।

अबमानसे असर्वभावसे सेवा करनेकी बात तो सब जानतेही हैं मैं पुनश्च ई मेरा उपास्य जन्म विश्वसे प्रसङ्ग है जन्म विश्व मर जाय तो भी पराई नहीं केवल मेरी, मेरी भाविकी और मेरे उपास्यकी प्रविष्ट हो इस तरह जो किया जाता है वह अबमानसे सेवा है। यही अपूर्ण अर्थात् असर्वभाव सब जन्मोंका मूल है अतः सब दुःख इन्हींसे उत्पन्न होते हैं।

इसी कारण यहाँ कहा है कि जो सर्वभावसे पुरुषोत्तम को जानता है वह (अ—संयुक्त) ज्ञानविज्ञानरूपक होता है और यही (सर्वविद् भवति) सब कुछ जाननेवाला होता है। यही उत्कृष्टतम ज्ञान है इन्हींके जानेसे अनुपम

कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका भाव्य यह है कि जिस रीतिसे कर्म करता चाहिये उस रीतिसे वह कर्म कर सकता है। कर्तव्य उत्तम रीतिसे वह करता है। अनुपम भावसे वह कुछ भी नहीं करता क्योंकि वह सब जानता है और उसमें किसी प्रकारका व्यङ्ग्य रह जाती नहीं।

कृतकृत्य होनेके लिये सर्वभावसे विश्वकर्मको जानना चाहिये और सर्वभावसे उसकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जाननेवाला अपने आनन्दो विश्वकर्मों संश्लिष्ट देखता है और विश्वकर्मको भी अपनाही रूप जानता है। जीवन अर्थात् पुरुष है ऐसा जानेपर अनुदि होनेकी सम्भवाती नहीं है। अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करना भी विश्वको विश्वसेवा प्रतीत होती है और विश्वसेवा भी विश्वको अपनीही सेवा करनेके समान प्रतीत होता है, जो सर्वभावसे व्यवहार करता है और यही कृतकृत्य होता है।

॥ यही पंचदशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥



पन्द्रहवें अध्यायका मनन ।

पुरुषोत्तमयोग ।

इस पराहर्षे अध्यायमें 'पुरुषोत्तमयोग' कहा है । पुरुषोत्तमके साथ अपना योग करना अथवा पुरुषोत्तमके में निभ नहीं है इसका अनुभव करवाही इस अध्यायका ध्येय है । इसका अनुभव करनेके लिये पुरुषोत्तमका स्वरूप जान लेना चाहिये । इसका निम्न प्रकार है ।

पुरुषोत्तमका स्वरूप ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरावपि चोत्तमः ।

यतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गी १५।१८)

क्षर-पुरुष और अक्षर-पुरुष ऐसे दो पुरुष हैं, इन दोनोंमें से जो दो है उसका नाम पुरुषोत्तम है । क्षरपुरुष अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ऐसे तीन पुरुष हैं, उनमें जो उत्तम पुरुष है वह हीमें पुरुषोत्तम होनेसे उसको पुरुषोत्तम कहते हैं । यह स्पष्ट होनेसे स्पष्ट नहीं है परंतु क्षर और अक्षर वच पुरुषोत्तममें एकत्र हुए हैं । इस विषयको समझानेके लिये एक उदाहरण देते हैं—

घासमें एक है और मिथी है । यहाँ एक-मिथी-अक्षर में दो वर्याएँ हुए । एक एक वस्तु है मिथी दूसरी लाल है, एकसे अक्ष और मिथीसे उत्तम एक तीसरी वस्तु है उसका नाम धरतल है । इसमें एक और मिथी एकत्र हो गयी है । इसी लिये धरतल कह सकता है कि भूमि में एकसे अक्ष और मिथीसे भी उत्तम है । यह बात स्पष्ट है कि एक एकसे धार केवल मिथीसे अर्थात् इन दोनोंसे धरतल उत्तम होता है तथा ये दोनों पदार्थ धरतलमें एकत्र होकर रहते हैं ।

इसी तरह क्षर पुरुष (पंचभूत मन, बुद्धि और अहंकार) तथा अक्षर-पुरुष (जीवतत्त्व) व दोनों पुरुष हैं । परंतु ये पुरुष ऐसे नहीं हैं कि जो स्पष्ट रूपसे दो वस्तुओं में भिन्न रह सकने हैं । वे सर्वत्र एक रूपके साथ दृक्ताव मिळे रहते हैं, वगाने कल्पनासे इनका भेद विहित होता है ।

जैसे देखा और मिश्रित थे कभी पृथक् न होनेवाले पदार्थ परस्पर भिन्न हैं ऐसीही आध्यात्मिक बुद्धिको धीरता है । इनका जो एकत्वमें मेक है वही पुरुषोत्तम है, क्योंकि इसके रूपमें क्षर भी है और अक्षर भी है ।

क्षर + अक्षर = पुरुषोत्तम ।

$\left\{ \begin{array}{l} \text{पंचभूत} \\ \text{मन-बुद्धि-} \\ \text{अहंकार} \end{array} \right\} + \text{जीवतत्त्व} = \text{उत्तम पुरुष ।}$

इस तरह पुरुषोत्तममें क्षर भी आगया अक्षर जीवतत्त्व भी आगया और दोनोंका मेक होकर होनेवाला पुरुषोत्तम भी इसीमें आगया है । इस तरह पुरुषोत्तममें पृथ्वी-वायु-तेज-वायु-आकाश-मन-बुद्धि-अहंकार-जीवतत्त्व इन सब तत्त्वोंका एकत्र होक है ।

ये एकत्र रहके यहाँ थे और पञ्चभूत मिळे ऐसी बात भी नहीं है । सदासर्वदा ये सब आसमान तरह एकत्र ही हैं । जबिकेक कारण हमें जो भिन्नता प्रतीत हुई वह विवेकसे दूर होगई इतनाही समझना चाहिये ।

जैसे जलजल बर्फ बनाया जाय अथवा जलकी भाव बनाई जाय तो बर्फ-जल-भावमें भिन्न भिन्न रूप अनुभव होत है तथापि आंतरावस्थेके ये रूप हैं अथवा मिथीके विभिन्न पदार्थ बनाये जायें तो भी, विभिन्न पदार्थोंका ज्ञान होते हुए भी उन सबका मिथीत्वन कदापि नहीं हट सकता । इसी तरह एक सत्यतु-एकही पुरुषोत्तम - जनेक रूपोंमें प्रकट हो भी जाय तां उनमें भिन्नता किसी भी रीतिसे नहीं आ सकती ।

विशुद्धकरण

आत्मककी विज्ञान एकमयक कहती है कि विमुक्तों (हृदयमुक्त) से ही विशुद्ध सब वस्तुएं बनी हैं । यही विमुक्त्यन्य वस्तुओंके कर्मों हमारे धर्मगुरु उपरिपत्र

हैं। विजयी, विजयीके तार विजयीके स्वयं विजयीके दीप
बाद सब विजयकोसे ही बने हैं।

ये पदार्थ अनन्त हैं विभिन्न गुणधर्मवाले हैं तथापि वे
एकही सत्त्वसे बने हैं। यही बात—

इन्द्र = विद्युत्

‘ इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयत । (ऋग्वेद)

इन्द्र अपनी सामर्थ्यसे सर्ववस्तुओंमें प्रकट होता है

यहां इन्द्र नाम विद्युत्वाही है। विज्ञानसे जो बात
कहा यही वेदने इतने सहजों बच्चोंके पूर्व कहा था। वस्तु ।
इस तरह एकही पुरुषोत्तम शिवकर्ममें प्रकट हुआ है।

अखंड विश्वरूप

क्या इस विश्वरूपमें हमारा रूप नहीं है ? अवश्य है तो
फिर हमारा रूप किसका रूप है ? उत्तरमें कह सकते हैं कि
विश्वका यह अखंड—विश्वरूप है वह रूप भी उसीका है।
जहां दूसरी वस्तुही नहीं वहां दूसरे किसका रूप हो सकता
है ? अर्थात् मैं तू, वह वह सब अन्वहान् पुरुषोत्तमकेही
रूपमें हो रहा है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरुषोत्तम

जीवतत्त्व

अहंकार

मनबुद्धि

आकाश

वायु

तेज

आप

पृथ्वी

पुरुषोत्तमही स्वयं प्रत्येक स्वरूप कर्मों परात् स्वयं हो
रहा है। जिस तरह एकही ‘ व ऊपर सर्व सर्वमन्त्रमन्त्र का
धारण करने पश्चात् बाह्यमन्त्र अनेक कर्मोंमें प्रकट होता है,
वही तरह यही समग्रता चाहिये। एकही व कर्मों का
वर्तमानता यही है तो भी अनेकों विभिन्न बर्ण होते ही हैं,
इसी तरह एकही सत्त्वका सब विश्व बना होनेपर भी
उसमें इन्द्रमात्र प्रकट हुआ है किन्तु उसमें कोई बाधार्थ नहीं
है कारण यह है कि—

ये वैध सांख्यिका भाषा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्निधिं न स्थहं तेषु ते मतिः ॥

(म नी १११)

जो सारिख राजस और तामस भाव इस विश्वमें
प्रकट हो रहे हैं वे सबके सब आप्तासे ही हो रहे हैं । ”
केवल सांख्यिक भाव तामसासे हुए और तामस भाव किसी
दूसरे सैदानसे हुए हैं ऐसी बात नहीं है। सब कुछ वह एक
आत्माही है सैदान नामकी दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।
वस्तु एकही सत्त्वतुसे वे सब विभिन्न भाव उत्पन्न होते हैं
यह शिख है।

इस आत्माकाही वह विश्वरूप है और यही है हम सब
संमिश्रित हैं। वस्तु हम सब उससे भिन्न नहीं है। वह
विश्व उसीका धरीर है। प्रत्येक मनुष्यका अन्वहान् प्रतीत्य
एक धरीर होता है। वह प्रतीत्य, आत्माका दर्शन जो
किसीको होता ही नहीं दर्शन जो उस प्रतीत्य धरीरकामी
होता है, इससे स्पष्ट है कि आत्माका आत्मतत्त्व उसकी
महत्त्वमें ही होना चाहिये। वस्तु इस विश्वतत्त्वकी महत्त्व
कीमती है इससे पहले जान लेना चाहिये। विश्वतत्त्वकी
इस महत्त्विका वजन इस तरह किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीय मे सिद्धान् प्रकटिरूपया ॥ ४ ॥

अपरैर्यमितस्त्वस्यां महतिं विधिं मे पराम् ।

जीवभूतां महाभाहो यथेवं ध्यायते सगद् ॥ ५ ॥

एतद्योगीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कस्मत्स्य जगताः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

(म नी ०)

यहां कहा गया है : क परमेश्वरकी महत्त्व बनाविध है। इन्हीं
आप तेज वायु आकाश मय सुख, अहंकार और जीव

एवम् इत्युक्तं पुरुषोत्तमका यह पञ्चविध शरीर है ।
शरीरमें सत्य भूषणान्न है सत्य विषय है, इससे मित्र
कोई सत्य नहीं है । प्रकृतिका हो दूसरा अथ शरीर है ।

हमारे शरीरमें पञ्चभूष- मन, बुद्धि, अहंकार और जीव
मात्र है, जो पुरुषोत्तमक शरीरके पदक ई बेही पदक हमारे
शरीरमें भी हैं । पुरुषोत्तमका शरीर विश्वव्यापक है उसीका
शोभासा भाग लेकर हमारा शरीर बना है । अतः कहा है—

ममैवाद्या जीवलोके जीवभूता समालम्बा ।
मनस्यह्नाग्निमिन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्पसि ॥७॥
शरीरं पदयान्नोति यत्कथापुस्तकामर्षिद्वयम् ।
गृहीत्वैतानि स्याति पापुर्गन्धभिवाद्यायात् ॥८॥
भोजं सङ्गं स्थानं च रसनं प्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चाप विषयानुपेक्षयेत् ॥ ९ ॥
(अ पी १५)

इत्याकाही अर्थ— अर्थात् यहाँ जीव पुरुषोत्तमकाही
अर्थ हुआ । वह यहाँ शरीरमें प्रकट होकर पांच भागोंमें विभक्त
कहे गये हैं अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाणि, कर्पसि ।
कहा जाता है यद्यपि मित्र शरीरमें बाहर जाता है बाहु
बन्धने अपने साथ के जानेके समान यह इंद्रियोंको अपने
साथ के जाता है । अथवा अर्थात् स्थान रसन प्राण और
मन इन इंद्रियोंपर यह अधिष्ठान शरीर सब विषयोंका
केवल करता है । इस तरह वर्णनोंसे स्पष्ट होता है कि
शरीरमात्र एक अथ इस शरीरमें जीव होकर स्थित है ।
यही शरीरमात्र है और अंतर्जीव । अथ अंतर्जीव मित्र
नहीं हो सकता ।

अपने शरीरमें जो सत्य पार्थिव भाग है वह विश्वामात्रके
पार्थिव शरीरका अथ है अपने शरीरमें जो प्रकाशरूपसे
प्रकाश है वह मित्रमात्रका आत्ममय शरीरका अर्थ है ।
अपने शरीरमें जो ठंडाई भाग है वह सत्यमात्रके ठंड
पार्थिव अर्थ है । हमी तरह अपने अंतर् बाहुकरी प्राण है
और अहंकार रूप अहंकार है मनस्य अहंकारा मन है प्राण
प्राण अहंकारा बुद्धि है और अहंकार भी अहंकारि में
रूपसे स्थित है । वे सब अथ विश्वामात्रके विश्वव्यापक प्राण
अहंकार मन अहंकार और अहंकारक अर्थ है । हमारे
प्राण जो कुछ है वह विश्वामात्रके विश्वव्यापक शरीरमें ही विषय

हुता है । जो पुरुषाः विश्वशरीरमें है वही अस्तवः हमारे
शरीरमें भी उपस्थित है और जो अस्तवः हमारे शरीरमें
है वही पुरुषाः विश्वामात्रके विश्वशरीरमें विद्यमान है । यह
पञ्चभूषणमात्र विश्वशरीर परमात्माका है इस विषयमें जैसा
पहले अगच्छोपायमें कहा है, वैसाही पृथक्पृथक् उपनिषद्में
विस्तारसे कहा है—

यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरं ...
यस्याग्निः शरीरं यस्यावापिर्भूतं शरीरं
यस्य वायुः शरीरं यस्य सौः शरीरं
यस्याक्षिपः शरीरं यस्य विद्यः शरीरं
यस्य पञ्चगारक शरीरं यस्याकाशः
शरीरं यस्य उग्रः शरीरं यस्य तेजः
शरीरं यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं
यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक्शरीरं
यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्र शरीरं
यस्य मन्त्रः शरीरं यस्य त्वक्शरीरं ...
यस्य विचारः शरीरं यस्य रेतः शरीरं
यः ... अन्तरो यमयति एष त अहमा
अन्तर्पश्यत्युग्रः (५५) ब्रह्मा भोगा
मन्त्रा विज्ञाता एष त अहमाह्वात्मन्युग्रः ।

(इ उ १।५।१—१३)

परमात्माका शरीर “ पृथिवी - अप - अग्नि - अन्त
रिक्ष - वायु - सौ - आक्षिप - विद्य - पञ्चगारका -
आकाश - उग्र - तेज - सर्वभूत - प्राण - वाक् - चक्षु
- श्रोत्र - मन - त्वक् - विचार - रेत है । यह परमा-
त्मा इनके अन्तर् रहता हुआ इनका विश्वमय करता है,
वही अनुभूतका अन्तर् अहमा है, वह ब्रह्मा, भोगा मननकर्ता,
ज्ञाता है ऐसा अहमा भी नहीं है ।

अगच्छोपा (अ ७।५—९) में नवविध शरीर कहा
है और वही इन्द्रिय वस्तुओंकी मित्र भी है । अतः अधिक
वस्तुओंके मित्रके विषय स्पष्टीकरण ही हुआ है नवविध
वस्तुओंमें से व अनेक पदार्थ बने हैं । अतः । वहाँ वस्तुओंकी
परमेश्वरके विश्वशरीरकी कल्पना हो सकती है । इस पुरुषो-
त्तमके विश्वशरीरमें ही सब पार्थिव शरीर समावे हुए
हैं और हमारे शरीर भी वही विश्वशरीरक अर्थ है । इस
से स्पष्ट कोई नहीं है ।

सर्वे विष एकही बलवत्तीवन है, ऐसा वही कहा है और यही विद्याया पुनरोत्थन है। जन्मसे और मरणवाले भी उद्योग हैं। जन्म और मरण सतत होवेपर भी विद्याया स्थितिमें कोई स्पृशकिका नहीं होती। वह कैसा था, वैसा है और वही वैसाही रहेगा।

इस विद्यायाकाही यह सब विषय है। क्या यह विषय सायकसे अनुभवमें आ सकता है? वह मेराही कथ है, क्या सायक कभी ऐसा अनुभव कर सकता है? वह बलवत् वही उत्पन्न हो सकती है। हमने उत्तरमें विवेचन है कि यह अनुभव सायक भी कर सकता है। पहिले विद्यारम स्वयंका ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये और पश्चात् उसका अन्वेषण करके स्वयंका ज्ञान चाहिये और उसे व्यवहारमें भी लाकेका पार करना चाहिये।

वही प्रथम हो सकता है कि इस ज्ञानको व्यवहारमें कैसे लाया जा सकता है? इसके उत्तरमें कह सकते हैं कि यह ज्ञान व्यवहारमें प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह ज्ञान इसी क्रिये कहा गया है कि व्यवहारमें प्रयोग किया जावे और इस ज्ञानसे विद्वेष व्यवहार होता रहे। यह अर्थ ज्ञान है और इस ज्ञानसे जो व्यवहार होगा वह भी भिन्न ही होगा। जो इस ज्ञानको ठीक ठीक अन्तर्मार्ग करेगा उससे सर्वोप व्यवहार हो ही नहीं सकता।

पश्चिमसर्पानि भूतानि

आत्मा एव अभूविज्ञानतः । (भा. ष. ४. ७)

प्रियतम किसे सब भूत आत्मा ही हो गये हैं उसकोही (विज्ञानतः) सच्चा ज्ञान हुआ है। इस समय उसको सब भूत—सब पदार्थ आत्मा ही रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष होगा जबका आत्माही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष होगा जबका ईश्वर ही सब कुछ रूप धारण करे हैं ऐसा दिखाने देगा जबका वह सब भाव ही रूप है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा। ये सब भाव एकही आत्मबलसे दिये रहे हैं यह सब भूतका उचित नहीं है। उपाकासकृत होकर वह अनुभव हो जायेगा तबतक वह ज्ञान करके अन्तर्गत ही रूपमें रहेगा।

पराशरकृत मन्त्र ।

(पारिषा अनुभव)

गुरुके नामसे ज्ञान प्राप्त होव ही जबका सर्वज्ञे ज्ञाता

हृदिप्राप्ता इस ज्ञानके समझमें जायेगी ओ अनुभव होगा, वह वह है—

पुरुष पर्येव सर्व । (भा. १. १५. १९)

आत्मा वा इदं सर्वं । (भा. ३. ७. १५)

नारायण इदं सर्वं । (भा. ३. १)

ब्रह्म सत्त्वित्वं सर्वं । (भा. ३. ३१)

वासुदेवा सर्वं च । (भा. ३. ३१)

पुरुष आत्मा नारायण ब्रह्म वासुदेव ये जितके नाम हैं वह सहाय इस विषयके रूपमें प्रकट हुई है। यह सब पृथिव पुनर्वर्णन प्रयोग है। वह ईश्वर इन विषयानोंमें प्रकट हुआ है। ईश्वर करके कोई है वह कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ परन्तु उपासकमार्गसे वह दे देखा में मिला है जोत वही विषयक क्या है वह भी अनुभवमार्गसे में स्वीकार करना है। इस तरहके पृथिव पुनर्वर्णन (वह करके कहे हुए) को वेदवचन होते हैं उक्त नाम भुक्ति है। गुरुके उपदेशके भवन करके वही ज्ञान प्राप्त हुआ है। वह विषय प्रत्यक्ष नहीं हुआ। वह केवल भुक्ति है केवल ऐसा अनुभव प्राप्त है। ईश्वर करके कोई है उसको अन्तर्गत प्रकट पार पार देखाकर आदि कहते हैं वही सब कुछ भूत अन्तर्गत सर्वोपकारक विषय क्या है वही सबका आत्मा है। यह अन्तर्गत ज्ञान है इसे जीव मान कहते हैं।

इसको सबसे प्रथम प्रकट करना चाहिये। इसीका ज्ञान करना और इसीको प्रत्यक्ष करना है। इन्हीं मन्त्रोंसे 'परोक्ष कृत मंत्र' कहते हैं। जसि ही परोक्षकृत मंत्र है।

प्रत्यक्षीकृत मन्त्र ।

(बृहदार अनुभव)

जानक जब गुरुमुखसे सुनता है कि सब भूत आत्मा ही है जब वह इसका ज्ञान करने लगता है तब अनेकवार उसे संदेह होता है कि (अन्तर्गत भूतमय आत्मा एव) सब भूत आत्मा कैसे हो सकते हैं? भूतमय बनने निम्न कव है और आत्मा अजय एकत है ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? ज्वी बनत संकल्प सायकके मनमें उठती है, वह अपने गुरुसे प्रकट करता है गुरु उसका समर्थन करता है और उसका समर्थन करने दूर होती जाती है और एकका अनुभव होता जाता है।

साहके शक्ति तरकी एकता ऐसी जाती है, यथात् वायु
५ विद्यमानों में से ऐसी प्रतीति होती है, तदनंतर तेज
स्वर स्रव है इसका अनुभव सर्वत्र रूपरङ्गमय रूप
होता है। रूप तेजस्वरका ही गुण है और वह रूप स्रव
है, कोई ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ रूप नहीं है अतः
सर्वत्र तेजस्वर तरकी होनेका निश्चय होता है। इसी तरह वायु
वायव्य मन बुद्धि अहंकारका होना प्रत्यक्ष अनुभवों
मार्फत है। सर्वत्र भवकाय की उपस्थिति है यह तो तेज
स्वरके समानही प्रत्यक्ष होनेवाली बात है। इसी तरह
अहंकार भी सर्वत्र है। प्रत्येक कृमि कीट ' मैं हूँ ' ऐसा
कहता है, इससे भी बसत्यविमूर्तिमें प्रत्येक वस्तु ' मैं
हूँ ' और मैं सर्वत्र बहुत होकर फैलता। (एकोऽहं बहु स्या)
ऐसा कहता है। ' मैं हूँ ' यह अहंकार कोई छोड़ना नहीं
पारता वहाँ कोई मरना नहीं चाहता सब कोई बढ़ना
चाहते हैं। इस तरह अहंकारको सबत्र देखनेसे छाने। छाने।
सर्वत्र अहंकारक अनुसंधानसे एकत्रप्रमथय होने लगता
है।

यस साधकको हृत्वा प्रत्यक्ष अनुभव हो जाय है तब
वह ध्यायक कहता है कि हे ईश्वर ! तुमही सब कुछ हो
६ मेरा—

एष अहं परमं यदित्यस्य

स्यमस्य पिभ्यस्य परं निधानम् ।

एषमध्ययः श्याम्भतधार्मगोसा

समातनस्यं पुरुषो मतो मे ३१८७ (गी ११)

स्यमादिदेवः पुरुषः पुराजः ३ (गी १४१८)

हे ईश्वर ! तू ही अविनाशी श्रेष्ठ बसु है तू ही इस
विराज्य परम कामय है तू ही सत्तावन है और श्याम्भत
धर्मका रक्षक है। तू ही मादिदेव और पुराज पुरुष है। इस
तरह यद्यपि हम धन्य परमेश्वरका प्रायश्चित्त पुकारनेवाली
मत्ता छोड़ता है।

यह सर्वत्र परमेश्वरको उपस्थिति देखता है और ' ये
प्रभो और यह है ' ऐसा प्रायश्चित्त अनुभव करता है। अपने
घोरीकनी रस्पर अपनी सहायता करनेके लिये वह बप
मित्र है और अपनी सहायताके लिये इससे धन कुछ कर
रहा है, हम साधको ध्यायक इस समय प्रायश्चित्त देखता है।
सिद्धि स्वाभार वह ध्यायक देखे को वही वह ईश्वर माध्या

है ऐसा वह देखता है। इसलिये साधक इस समय ईश्वर
को तू करके पुकारता है प्रायश्चित्त स्वर करनेका अनुभव
लेता है प्रभुके प्रेमका अनुभव करता है गह्वर हो जाता
है। यह साक्षात्कार की अवस्था है। इस समय उसकी
माध्या इस तरह होती है—

यि न इन्द्र मृधो जहि

नात्वा यन्त्र पृतम्यता ।

यो यस्मानभिदासति

अधर गमया समः ३ (स १ १५१३)

हे प्रभो ! हमारे धनुषोंका नास करो सेनाहारा हमारे
ऊपर हमका करनेवालोंको पराजित करो और जो हमको
शान बनाना चाहता है उसको अपनेमें भ्रष्ट हो भ्रष्ट
उसकी दुर्गति करो। ' यथा—

स्वमय सर्वं मम देयदेय ।

हे प्रभो ! तू ही मेरा सब कुछ है। हावादि रीतिसे
प्रत्यक्ष देवताको संमुख रखकर बोझके समान भक्त देवता
साथ बातचीत करता है मांगता है, माँगना करता
है ४

इस समय देवता हमको प्रत्यक्ष होता है परतु इस
समय देवता देनेवाला और मैं देनेवाला यह भावना रहती
है। इसका पचाय भी अच्छी उक्ति होती रहती है और
आगे आकर वह देवतासे अपना साक्षात् अनुभव करता है
यह उपलब्धि उपलब्धि मूर्ति है।

अहंकारादेयके मंत्र ।

(माध्यात्मिक वेपथका अनुभव)

इस समय ध्यायक देवतासे साक्षात् प्राप्त करता है।
देवतासे अपना अनेक—सर्वत्र अनुभव करता है। इस
अनुभवके मंत्र है—

महमिन्द्रो न पराजित्यः । (अनेक)

मैं इन्द्र हूँ मेरी पराजय नहीं होगी। हम तरहके
संग माध्यात्मिक होते हैं। अर्थात् हममें देवताका साथ
अनेकका अनुभव होता है। हम सर्वत्र नाम देव
होता है क्योंकि हममें देवताका प्रायश्चित्त मान हुआ होता
है। भुक्ति और वेदमें यह धैर्य है। स्वयं देवतासे होनेका
अनुभव ध्यायकको इस तरह होता है। भगवद्गीतामें भी
वही दर्शाता है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽक्षितम् ।
 यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तसेजो विश्वि मासकम् १९
 गामादिष्व य भूतासि चारुषाम्यहो जसा ।
 पुष्पाणि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा एसात्मकः २०
 भव वैभानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
 प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् २१४॥
 सर्वस्य चाहं हविः सन्निविष्टो
 मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
 वेदेभ्य सर्वैरहमेव वचो
 वेदान्तकण्ठेऽविदेव चाहम् २१५॥ (म गी १५)

‘ जो तेज सर्व जगत् और अग्नि में है, वह मेरा तेज है ।
 मुझमें प्रविष्ट होकर मैं अपनी शक्तियों द्वारा अन्न को पच कर सब भौतविषयोंको पुष्ट करता हूँ । मैं सब विषयका नेता होकर सब प्राणिकोंके देहमें रहकर प्राण और अपाणसे कुछ होना कुछ चतुर्विध अन्नका पाचन करता हूँ । मैंही सबके इन्द्रिय हूँ, मुझसे ही स्मरण ज्ञान और विस्मरण होता है । सब वेदोंके द्वारा मैंही जानने योग्य हूँ और मैंही वेदान्तका कर्ता और वेदका ज्ञाता हूँ । ’

वह धातक इस समय विश्वात्मके स्वरूपमें भिन्न होता है, विश्वात्मके अभिन्न होता है मैं ही ऐश्वर्यात्म हूँ वह अन्तर्ध्यातुमय इस समय इसके आगत है । वे तीनों अनुमय उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे कहे हैं । विश्वकी सुबोधताके किये पाठक इस वचनोंको यही अवश्य देखें—

१ स एवाचस्तात्स उपरिष्ठात् पश्चात्स पुरस्तात्स वक्षिणत् स उत्तरत् स एवेहै सर्वमिति ॥

२ अथातोऽहंकारादेशः—

अहमेवाचस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चात्स पुरस्तात्स वक्षिणत् स उत्तरत् स एवेहै सर्वमिति ॥ १ ॥

३ अथात आत्मादेशः—

आत्माचस्तात्स उपरिष्ठात्स पश्चात्स पुरस्तात्स वक्षिणत् स उत्तरत् स एवेहै सर्वमिति ॥

४ स या एष एष पश्यत्येव मय्याम एषं विज्ञानप्रामरतिरात्मन्निष्ठ आत्ममिथुन

मात्मानन्दः स स्वराह भवति । तस्य सर्वेषु क्षेत्रेषु कामभारा भवति ।

५ अथ येऽन्यथातो विदुः सम्पराज्जगत्स हृदय क्षेत्रा भवन्ति तेषां सर्वेषु क्षेत्रेषु कामभारो भवति ॥

(कां व ७/१५/१—२)

(१) अब वह सत्यसे वह ज्ञान कहे हैं ‘ स (ईश्वर) नीचे यही ऊपर, यही पीछे यही जाने पर दूरों और दूरों ओर अर्थात् यही सब कुछ है ।

(२) अब वह सत्यसे यही कहे हैं—
 मैं नीचे मैं ऊपर मैं पीछे मैं जाने मैं दूरों ओर मैं दूरों ओर अर्थात् मैं ही सब कुछ हूँ ।

(३) अब आत्मा सत्यसे यही ज्ञान कहे हैं—
 आत्मा नीचे आत्मा ऊपर आत्मा पीछे आत्मा जाने आत्मा दूरों ओर और आत्माही दूरों ओर अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है ।

(४) जो इस तरह देखा है इस तरह जाना है इस तरह जाना है वह आत्मा में एता है आत्मा में श्रिया करता है, आत्मासे निकला है और आत्मासे आर्पण होना है । इस समय वह स्वराह— [स्वर्ग राजा—स्वर्ग मन्त्र स्वर्ग] होता है । इसकी गति सब क्षेत्रोंमें स्वेच्छासे होती है ।

(५) परंतु जिसको यह ज्ञान नहीं है वे दूसरोंको राम माननेवाले अर्थात् दूसरोंको अपना स्वामी माननेवाले बर्तन होते हैं उनके अन्तर को कभी नहीं निकला उनके पर तत्त्वका कारण उनकी गति सब क्षेत्रोंमें नहीं हो सकती ।

इस क्षेत्रीय उपविष्टमें स्पष्ट कहा है कि अन्तर मैं ही विश्वका आत्मा हूँ ऐसा अन्तर्ध्यातुमय नहीं होता, जब तक धातक दूसरोंको अपना अधिपति माननेवाला बर्तन ही रहता है । वह जिस समय जानता है कि मैंही आत्मा हूँ तब वह स्वतन्त्र और मुक्त होता है । इस वचनमें (कां) वह (जहां) मैं और आत्माके निर्देशसे दूरी अन्तर्ध्यातुमय ज्ञान कहा है । इसमें (जहां) मैं के निर्देशसे जो कहा है वैसा ज्ञान जिस समय धातकको होता उसी समय वह अपने आपकी ही सर्वव्यापक समझेगा और अपनेसे जिस क्षेत्र

हूयी बल नहीं है ऐसा अनुभव करा हुआ पूरा स्व
वैराग्य अनुभव करेगा ।

परिका अनुभव- वह ईश्वर सब कुछ है,

सूत्रा अनुभव- ईश्वर सब कुछ है,

अन्तिम अनुभव- मैं सब कुछ हूँ ।

परिणामों को अनुभव अपनी अस्मिता के ही तीसरा अनुभव
अपनी पूर्णता है । इस पूर्णता के अनुभवमें ही 'मो
क्षमार्ग' है वह मेरा है ऐसा कह सकता है । इस तीसरे
साधक को विशिष्टता अनुभव प्राप्त हो जाता है । प्रत्येक
साधक इस अनुभवकी कठोरता से अपनी परीक्षा कर सकता
है और अपनी किसी उन्नति हो चुकी है, इसका विम्वर
कर सकता है ।

अपि कुटुंब आदि, देश राष्ट्रवादात्मक अथवा स्वयं
कोई एक साधारणता अनुभवकी उन्नति असाध्य है ।
अनुभव कुटुंब 'मानवकी वृत्ति संस्थासाधनमें करनेकी प्रथा
अर्थव्यवस्था वर्तनीहीनतावादीको समझानी है । इसके पश्चात्
एकसाधक के भी मेरा ही है, हवादि छोटी है । पाठक
इसका विचार करें और अपनी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करें ।

अथवा अहमस्वरूप हेतुनेका व्यवहार कैसे कर सकता
है ? वह भी एक प्रथम प्रयोग किया करते हैं ।

मान कीजिये कि किसी साधक को पुनरोत्थान-योग
भी प्राप्त है मैं ही सब कुछ (वह सब ही सब) हूँ
ऐसा बात निश्चित हुआ । वह मानो पुनरोत्थानकही है ।
वह सबसे पुनरोत्थानक अथवा अथवा ही कर मानेगा ।
उन्हीं क्षणों में अस्मिता प्रत्यक्ष हुआ तो समझेगा कि पुनरो
त्थान की प्रत्यक्षता अस्मिता अथवा है अथवा मैं ही प्रत्यक्ष
रूप में प्रत्यक्ष नाम है । दोनों अवस्थाओंमें यह निष्कर्ष
आयेगा अस्मिता होगा । क्योंकि अपनेहीसे तो कष्ट हो नहीं
सकता ।

एही तरह पुनरुत्थान नामों की आगरी वेद या आचरण के
क्षमों से ही भाषा अस्मिता के समान प्रजापति आगरी
अस्मिता के क्षमों से ही अस्मिता हुआ अथवा राजा के क्षमों
से ही अनुभव अथवा तो सब अस्मिताओंका व्यवहार
एक निष्कर्ष आयेगा । जिसका निष्कर्ष व्यवहार करने
आप किसी हो सकता है उन्हीं निष्कर्ष और भी

व्यवहार अस्मिता के साथ हो नहीं सकता । सर्वप्रथम अथवा
व्यवहार होगा सभी ऐसा ही व्यवहार हो सकता है ।

जो आनी होगा वह सर्वप्रथम अथवा ज्ञान कर सब अथवा
से ही सब और निष्कर्ष व्यवहार कर सकता है, अथवा
उन्हीं सब व्यवहार सब हो सकता है । परंतु सब अथवा
योग भी सबका आत्मा एकही है यह सब एक अथवा
अथवा बुद्धि द्वारा ज्ञान कर आनीको अपना आदि मान
कर सब व्यवहार करें । इन तरह अस्मिता के सब एक
कष्ट पूर्णता कर हो सकता है । इस तरह इस पुनरोत्थान
-विद्याको व्यवहारमें आया जा सकता है । अथवा और
आत्ममार्गमें मार्गमें यह पाठ भिन्न है । पूरा ज्ञान न
होते हुए भी अस्मिता के पाठन से अनुभव ज्ञान आने के
समान ही उन्हीं व्यवहार करनेमें समर्थ होता है । अथवा
अस्मितामें रहनेका साधक अपने अस्मिता के निष्कर्ष
आदि, अथवा अस्मिता के आदि करता है । और पुनरो
त्थान-स्वरूपको पथार्थ देखते आनेका अस्मिता अपनी
सब वृत्ति के अस्मिता के अथवा और अस्मिता के होता
है । अथवा अस्मिता के आदि वृत्ति उन्हीं समर्थ उन्हीं ही
वर्तनी । अस्मिता के अथवा जो आचार सब वृत्ति के होता
है वही आचार अथवा अस्मिता में प्रत्येक अनुभवों के प्रत्यक्ष
कराया करता है । इससे पाठकों को आश्चर्य हुआ होगा कि
पुनरोत्थानयोग अस्मिता के अथवा क्या होगा और उन्हीं एव
के आचार्य कराया होगा ।

जो विशिष्ट अथवा अस्मिता ११ में अथवा वर्तनी गया
है, वह सब विशिष्ट अथवा अथवा अथवा वह सब एव
करने के ही वर्तनी है । वही एकही वस्तु है अथवा
इन विशिष्ट अथवा अथवा कर रहा है । विशिष्ट अथवा
नहीं है परंतु पुनरोत्थानक ही है । अथवा सब ही पुनरो
त्थानक है ऐसा मानकर जो आचार व्यवहार करेंगे
उन्हीं अथवा अनुभव होनी नहीं सकती । क्योंकि उन्हीं
का सब व्यवहार पुनरोत्थानक साथ ही होता है । जो अथवा
अथवा व्यवहार अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा
अथवा अथवा अथवा अथवा उन्हीं अथवा अथवा अथवा
होगा अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा

अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा (गी. १८१६)
का जो अथवा है वह भी अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा

अथवा सब कर्मोंको परमेश्वरके रूप माननेका ही आदेश है। मनुष्य को कुछ करता है वह परमेश्वरकी पूजा करनेकी भाँति सपासे ही करे। पृथिव मनुष्यको जकड़िवा तो वह परमेश्वरको ही दिया है मृते मनुष्यको जकड़िवा, तो वह परमेश्वरको ही दिया है। ऐसे कर्मोंसे परमेश्वरकी पूजा होती है। प्रायश्च परमेश्वरके ये रूप हमारे सामने आते हैं। हम से हम को व्यवहार करते हैं वह प्रायश्च परमेश्वरसे ही व्यवहार हो रहा है। जो मनुष्य अथवा पशुपक्षी हमारे सामने आता है वह परमेश्वरका प्रायश्च रूप है। उससे हम कैसा व्यवहार करते हैं। स्वकर्मसे उसकी पूजा करते हैं या उसको कुछ पहुँचा देते हैं। प्रायश्चको इसका विचार करना चाहिये।

परमेश्वरस व्यवहार ।

दूरतोंपर जात्याचार किया जाता है दुराचार किया जाता है छद्माचार की जाती है चोखेबाजी की जाती है वह सब व्यवहार परमेश्वरसेही होता है। फिर इससे कैसा और कसे पक सकेगा। प्रायश्च मनुष्य का व्यवहार करनेसे उस अपराधसे बचनेका कोई साधन नहीं है। पुण्योत्तमयोग तो हो रहा है परंतु वह योग हो कैसे रहा है। जो चक रहा है वह सब पुण्योत्तमसे ही योग हो रहा है परंतु जो जानेंगे व निर्दोष जाचरण करनेवाला पुण्योत्तमकी पूजा करने और दूसरे पुण्योत्तमको कुछ देनेके कारण स्वयं कष्टमें पड़ेंगे। व्यवहारमें यही हो रहा है। आज दूसरेको सुखदेवाका कुछ दान लुप्त जाता है और उस समय कष्ट पाता है। परंतु वह तो अपना ही कम या।

पुण्योत्तमका विचक्षण जानकर और अपने कर्मोंस उद्योगी पूजा करनेका मत करके पुण्योत्तमकी सेवा करनी चाहिये। इस एक जाचरण इस कसौटीस परला जाचगा। सभी निर्दोष जाचरण होगा। साधन साधनसे अभिव रक्षाकर्मसे वैश्व भवदानस और पूज अपने सेवाकर्मसे परमेश्वरकी ही सेवा समा करता है। श्रुतिपर चद्वनपुत्र चद्वनेका काग पूजा समझत है। वह पूजा साधन नहीं है। जो साधनार्थ प्राणि-पौष्ट व्यवहार हो रहा है वही साधन पूजा करनेकी विधि है। हम विधिसे हर एकको साधन भगवान्की सेवा करने का भयान प्राप्त होता है। उम भयममें वह सेवा कर रहा

है, यही विचारणीय विषय है। इसका विचार प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिये। वह एक निवम मनुष्यका जाचरण वस-योग्य करनेवाका है।

जैसे संपूर्ण विश्वका पुण्योत्तम है वैसाही पूर्णतः बर्ण करारहेसे वह सब विश्वका (बर्ण) मेराही रूप है। जैसे पुण्योत्तम इस विश्वकर्ममें प्रकट हुआ है वैसेही बहुकता-रूपसे इस सब विश्वकर्ममें मैं ही प्रकट हुआ हूँ जो कुछ विधमें हो रहा है वह आत्मस्वकी मुद्रसे ही हो रहा है वह जाचर विश्वसेवाका बहुत मार्ग जाता जाता है। विधमें जो कुछ कथनावृत्त है वह तो ठीक है ही उस विधमें जो विशेष जोड़नेकी आवश्यकता है ही नहीं परंतु जो कुछ क्षान्तिकारक अहितकारक असहकारक है वह सब मेरे चम्वरके योग्य कारण हुआ है इसलिये उससे ठीक करनेके लिये आत्मसमर्पण आत्मगुप्ति अथवा विश्वसेवा करना मेरा कर्तव्य होता है। विश्वमें मेरे स्थितिक दृष्टा कोई नहीं है अतः जो वहाँ-जुरा भला हो रहा है वह मुझसेही हो रहा है इसमें कोई संदेहही नहीं है। पर साधनी बड़ा जो कुछ भला है वह तो होनाही चाहिये वा इसलिये उससे विषयमें कुछ कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु जो अहित हुआ हो वह मुझे जोड़कर कोई बन्ध बड़ा व होनेसे मेरे कारण ही हुआ है अतः उसके निराकरणके लिये यथासंभव इस अपने कर्तव्यसे विदरसेवा करनेके लिये कतिबहु होना अपना कर्तव्य हो जाता है। उस कर्तव्य करनेके द्वारा विश्वतमाकी मक्ति—सेवा—पूजा करना प्राप्तकता कर्तव्य हो जाता है। इसी कारण साधक विदरसेवा करता रहता है। विश्वकी अज्ञानाका यथार्थ ज्ञान होनेके पश्चात् कर्तव्य स्वयं बड़ा विस्तार हो जाता है। प्रायश्च अपना जीवन विदरककी सेवाके लिये जर्पन करता है आर जो कथा है वह निष्कर्मभावसे ही करता है।

विदरमें कुछ कष्ट और म्यूवता देखकर वह दूरतोंको रोप नहीं देता क्योंकि उसके लिये हम विदरमें दृष्टता काह होताही नहीं। सब विदरकही उसका अपना रूप है। अतः जहाँ कहीं वह म्यूवताका अनुभव जाता है उसे अनर्थ ही देखता है। जब इसको अपनेमें रोप हीतया सब वह हमाराही दोष नहीं कर दे मरता है। इसलिये वह

बपवा होय जानकर बपवाही होय बुर करता है, वह कहापि
ह्मोंकी निंदा नहीं करता क्योंकि कोई दूसरा तो नहीं
नहीं । त्रिष समय (सर्वाणि मृताणि जन्तमा एव बभूव)
सब मृत भगवाही हुए उस समय अपने कृत्ययुक्त संस्कारों
कोई थोक मोह नहीं होते । इसको उसका सीधा कृत्य
स्पष्ट ही कहा है । (वा य ४ १०)

सर्वभूतमात्र जाननेसे परमेश्वर करनेका कोई प्रयोजनही
नहीं रहता और स्वकर्मण्य करनेमें होय भी नहीं रहते ।
यन्त्र सबका जन्मा एक है अथवा सब रूप परमेश्वरके हैं
ऐसा मानकर व्यवहार करके देखें । इससे उनका व्यवहार एवं
निर्माण हो सकेंगे ।

सर्वभाव ।

यो मामेयमसंभूतो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्वज्ज्ञाति मां भवमायेन भारत ॥

(गी १५१५)

जो इस तरह ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको जानता है वह
ब्रह्म होता है और सर्वभावसे परमेश्वरकी पूजा करता है ।
यहां पूज्यकी दो निधियां निहित की हुई हीसकी हैं । एक
सर्वभावसे पूजा करना और दूसरा असर्वभावसे किंवा
कर्मभावसे पूजा करना । इन दोनोंका परिणाम कैसा होता
है वह हम अब देखेंगे ।

जो कर्मभावसे पूजा करता है वह किसी मूर्तकी
पूजा करता है । जिस प्राममें वह मंदिर हो वहां जाना
रूप व्यापार ईश्वर नहीं है ऐसा मानना वह मूर्ति
मुद्रसे भिन्न है मैं भिन्न हूँ ऐसा मानकर तथा अन्य
जन्मा उससे भिन्न है ऐसा मानकर और एक व्यापारही
उपमा विनाम मानकर मूर्तकी उपासना होती है । वह
यह उपासना असर्व-भावसे है । इसलिये मूर्तिमें ईश्वर
है अन्य जन्ममें नहीं एसी शुद्ध होती है और शुद्ध
व्यवहारमें लक्ष्मी करके मंदिरमें स्थित मूर्तिपर हमारा
परोक्ष बहारे—समर्पण किया जाते हैं । असर्वभावसे
पूजा हो गयी है । जो साहूकार अपने लक्ष्मीको लूटता है
वही मंदिरमें जाकर पूजाका धन भर्त्तन करता है क्योंकि
वह ममप्रिया है कि मंदिरमेंही द्रव्य है साधक बाहर
देवता नहीं है । जो अपने लक्ष्मी हैं उनको लूटकर धन
कमाना और मंदिरकी मूर्तिपर पतना यह सबही होगा

अब मंदिरसे बाहर देवताका आश्रय न माना जाय ।
असत्यसे संपूर्ण पातक असर्वभावसे माननेके कारण हो रहे
हैं ।

अब सबभावसे माननेसे कैसे परिवर्तन होता है वह भी
देखिये । संपूर्ण विश्व एक अलग-अलग वस्तुका प्रकीर्णन है
मैं भी उसीमें हूँ । संपूर्ण विश्व और मैं मिश्रकर एक अलग-अलग
भाव है जिसका नाम सर्व है । वह सर्वभाव मारा है ।
उपासक उपास्य सब इसी सर्वभावमें समिद्धि हैं । वहां
पृथक् कोई नहीं । सब मेरे अथवा ईश्वरकी रूप हैं ।
ऐसा निश्चय होमपर कौन किस कटे कौन किससे करत
करे । जहां दूसरा होती नहीं वहां सब एकही सत्ता
हुई, वहां कौन किसका छक करे । इस प्रकार सर्वभावसे
निर्गुण व्यापार होता है । इसलिये सर्वभावसे भक्ति करने
वाले निर्दोषी होते हैं । सर्वभावसे व्यवहार करनेपर निर्दोष
व्यवहार होता है । वैयक्तिक कौटुम्बिक, सामाजिक तथा
राजकीय सब प्रकारके व्यवहार सर्वभावसे करनेवाली झगड
नहीं होंगे । जो जात्रक झगडे बढ रहे हैं उसका कारण
असर्वभावसे अर्थात् मैं व्यक्ति अलग हूँ और सब विश्व
अलग है ऐसा मानकर सब व्यवहार हो रहे हैं वही सत्ता
पता है । सत्य धर्म शुरूमें इस सर्व भावपर अधिष्ठित है,
तथापि आगे जाकर परमेश्वरक असर्वभावही मानने
क्याते हैं इसलिये परमेश्वर मानसे सबक खदे होते हैं ।

उदाहरणके लिये इसामसीहने अपना ईसाई धर्मकी
पुस्तकमें कहा है कि जिस समय सामने कोई भिक्वारी बुझी
कही धारुनी आजाय तो उसको परमेश्वरका कर मानकर
उसकी सेवा करना चाहिये । ऐसा कह धर्मसेवक ईसाई
करत भी हैं परन्तु सर्वसाधारण प्रचारक इन विश्रमनाद
विश्वकपको जानते तक नहीं । और वजायत हुए किन धर्म
का प्रचार करते हैं पता नहीं ।

भारतवासी आर्यधर्मके अपवा दनात्मक धर्मक वेद्वर्मा
मुदावी वेदको उपनिषद्वादी और योगयोगीको मान्यते की
अधिक गुरुत्वान् मानते हैं । पशु विश्वकपकी उपासना
नहीं करते । इसवादी नहीं परन्तु जन्मेही धर्मके भावोंका
इतना बुर रण्य है कि त्रिपदा बुर रण्यका विश्रमनाद
परमेश्वरको माननपर योग्य है । पूजा भिन्न करनेका प्रचार
करत है जोकि असत्य है—

प्रभावकोंन देखेही असोय हीसिसे कनेक समोंका प्रचार किया है अतः सभसे प्रथमभारतस कोग बहुत तुर हो गये हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके मर्चोंको उचित है किने परमेस्वर के विद्वत्पक्षको जानें उसको ब्रह्माण्य समझें और वह विद्वत्पक्ष अथवा एकरस तथा अन्तर्य है और सर्वसाधको विद्वत्पक्षकी उपासना करनी चाहिये, यह ठीक ठीक समझ कर बैसा बर्माचार्य करें। स्वकर्मसे विद्वत्सेवा करें और कृतकृत्य बनें।

उत्पन्नमूल अक्षरार्थ ।

इस अन्धकारमें उत्पन्नमूल अक्षरार्थ बुझका सर्वत्र मार्गमे तीन श्लोकोंने किया है। यह अक्षरार्थ—ब्रह्म कौन है। इसकी आकाश ऊपर नीचे फैली है अर्थात् ऊपर है आकाशविस्तार नीचे फैला है। यह विविध पुत्र है कहाँ? ऐसा प्रश्न विद्वत्पक्ष पाठक अवश्य करेंगे।

यह बुझ हरएक मनुष्यके शरीरमें है। (Nervous system) नाडी संस्थान इसका नाम है। ऊपरमस्तकमें—मस्तिष्क इसकी अर्थ है और सपूर्ण शरीरभरमें जगत् छोटी मांटी साकारमें फैली है। इसका नाम देखा फैला है कि एक सूईकी नोक जितना स्थान भी इससे जाकी नहीं है। ऊपर नीचे आकाशविस्तार वही अक्षरार्थ है। इसका (उत्पन्नमूल) सूत्र ऊपर है वह भी स्पष्ट है। ये तीन गुणोंसे पुष्ट है (शुक्ल-प्रबुद्धाः) देखा जो इसका सर्वत्र है वह वही अक्षर अन्तुममें जाता है। (विषयप्रवाहाः) विषयक अन्तुमें पुष्ट होमा भी इसका सिद्धी है क्योंकि इसका सर्वत्रमें किसी न किसी विषयके अवश्य जाता है। अन्तुमें कर्मोंसे आत्मा इसका सर्वत्र जाताही है क्योंकि यदि इस नाडीमें शिवाङ्ग हुआ तो उससे होनेवाले कर्म हो नहीं पाते और उक्त मरत्राङ्ग द्वारा प्रहय किने जानेवाला विषयोंका ग्रहण भी नहीं होता। मानो मनुष्यका मनुष्यत्व इस सब नाडीकर्मों परही निर्भर है।

इस बुझके पर्यं (उद्भासि पश्य वर्णानि) उद्ग है। उद्ग का अर्थ उद्ग बार उद्गका अर्थ ज्ञान है। उक्त नाडीतन्तुओं का भी प्रयोजन ज्ञान प्राप्त करवाही है। शरीरके किसी भी भागपर किसी प्रकारका रक्त हुआ तो उक्त उसका ध्यान हमही नाडीतन्तुओंसे होता है। यदि हमने बहिरत्वा भागभी ही ध्यान होमा वह हा जाता है। अर्थात् सब प्रकारका ध्यान प्राप्त करमा हम नाडीकर्मोंके कारणही होता है। उद्ग

उत्तामें इनका कितना कार्य है यह वही पाठक देखें और इस नाडीतन्तुओंका महत्त्व जानें।

ये नाडीतन्तु सब शरीरभरमें फैले हैं। वेरी ज्ञान से ज्ञान पहुँचाने और कर्मकी प्रस्था करते हैं। (कर्माङ्गुली नि मनुष्यकोने) मानवकोई जो कर्म हो रहे है उसका मुख्य सर्वत्र इससेही है।

यह नाडी—संस्थान मनुष्यकी जितनी सहायता करता है उतनी सहायता और किसीसे नहीं हो सकती। यह अन्ध-पन्था करता है परन्तु साथ साथ विचरनेसे बांध जी देता है योगकाकसा बहाला है वही धूममें धूम ठकं कनेक कार्य करता है। धूमन विचार करना हम्ही नाडीकेकर्मोंसे नाशीय है। इसके सिवाये धूमन तन्तु हीं उतनी विचारशक्ति कती है और विचारशक्ति बढनेसे अन्धता कम होती जाती है। नाडी-कर्मोंका कार्य विचार तथा सर्वत्र बहाला है। इसके बहुत बढ जानेसे उतनी प्रमात्तमें अन्धता और मक्ति बृद्ध जाती है।

इसका परिणाम मुख्य विचार बढ जानेमें होता है और अन्तुमें मनुष्य नाशिकता की हरएक पहुँच करता है। अन्तुमें वह बढे जाक फैलता रहता है और अन्धता तो होतीही नहीं। विषयका (मन्तो व बाहिर्य व संरक्षित) बाहि ज्ञान भी और विषयकी प्रविष्टा भी कोई नहीं देखी तब निकल, कुलकभी सेलिया चलीही हैं और अन्तुमें प्रम नब जाता है। ओमप्रभाव और कुलकप्रभाव जीवन बढता जाता है और सर्वत्र अवस्थागतकी बुद्धि होती है। क्या करें क्या कर आनि किस तरह निकल सको है इसकी निवेचना बुद्ध हो जाती है और हृत्त समय निवेचनासे अन्त हुआ मनुष्य गुणकी कारण जाता है और अन्तनी अवस्था उसे निवेदन करता है।

असमाककसे इस अक्षरार्थ—बुझके आकाशविस्तारको धर्मों यह उपदेश गुणसे प्राप्त होता है और यह उपदेश कोय भी करता है। सर्वत्रका आकाशविस्तार कटते ही अन्तिप्रदा का हार्दिक भाव उचित होता है। मरत्राङ्ग जाकोंकी यदि धूमनता बढ होकर हरएककी गभीरता बढाई जाती है। इस तरह अन्धका उद्ग होवेपर परदेवरकी ओज प्राप्त होती है। अन्तुमें उतनी स्थान— वरम पद को प्राप्त करता है।

वही पाठकोंके ध्यानमें वह बात आगयी होगी कि यह बुझ अन्तुमें ही शरीरमें है जिसके तन्तुत्राङ्ग बढनेसे अन्तु

यसि बह काशी है और आक कम होयेक प्रगति होती है ।
 पर्यया की सक्ति बहनेसे भासिकी म्युपता और भसिके बह
 बनेसे तर्ककी म्युपता होती है । पूर्ण पुरुष होयेके किये
 होयेका सम निरूपण होया चाहिये । अतः कहा है कि
 बर्णमयबहसे उतगारी इसका शास्त्रविस्तार कलया चाहिये
 (सुविबुधसूक्त सित्ता) कि जिससे (सत्यद परिमार्मिसत्यं)
 इस स्वात्मका अपनया मार्ग दीखने लग जाय । उक्त कुछ
 शक्यता सब नहीं काट देना चाहिये । परंतु उसकी छायाप
 उतगी ही कटवी चाहिये कि जिससे अपनया मार्ग सुख बाने
 और अपनया बलव्य स्वात दीखने लगे और हम आसानीसे
 बाने बह सकें ।

अथर्वक तर्क को चाहिये और प्राश्नव्य स्वात्मके मार्गपर
 रसि स्थिर रहनेयोग्य प्रसि की चाहिये । उक्तें कुछ मार्ग
 की और आकर प्रज्ञासे जेव मार्गपरसे चकना चाहिये ।
 इस तरह तर्क और प्रज्ञाकी प्रज्ञापना केवा हुना साधक
 बाने बहना है ।

अथर्वके बन्दर वह अथर्व कुछ माडीतन्तुबोका संस्थाप
 ती है । इसका नाम 'अथ-अ' अर्थात् जिसमें बोधे
 कले हुए देया है । बोधे इतिबोको कहते हैं । हमारे सब
 इतिबोको बोधे इती माडीतन्तुबोको बने हुए हैं । वह इस
 अ-अ-अ भी है अर्थात् वह कलकल रहेया देसा निरूप
 यती है । सत्यं धरीरकी नाक होयेकी अवस्थाका बर्णन
 अ-अ-अ कर रहा है । इस रीतिसे इस बृक्षका
 बर्णन बालक अपने ही बन्दर देस सफेते हैं ।

जो व्यवस्था धरीरमें है वही ही और उससे भी
 निवेव गूढ व्यवस्था निरूपमें है । इस धरीरमें रहनेवाके
 माडीतन्तुबोकी व्यवस्थासे संपूर्ण धरीरके अवयवोंकी पृथक्ता
 सिद्ध हुई है । धरीरक किसी स्वात्ममें कुछ भी हो उधका
 पता छुट लग जाता है वह इती माडीतन्तुबोकी ही है ।
 थोटा धर्ममें जो हममें कये था धीरमें कये उधका ज्ञान
 कर होता है । जिसस्य अवयवोंमें भी वह जो इतनी पृथक्ता
 है, इसका कलम बेही शास्त्रवाहक माडीतन्तु है ।

बैद वह मनुष्य पुरुष कहकाया है, वैद ही निरूप-
 उकाका नाम विराट् पुरुष है । अतः विराट् पुरुषमें
 हमो माडीतन्तु-प्रज्ञा-व्यवस्थाके समस्त कुछ व कुछ
 व्यवस्था होनी चाहिये । जिसको हम ज्ञान कहते हैं उसमें

भी समीपता दिखाई देती है । भूमिपर गोबर वा निद्रा
 पदमेसे स्वर्ण उधपर मिठी का काशी है, पातुबोका मारण
 अर्थात् विवेक निरूपणमेसे मरण होता है । अतः वहाँ इस
 निरूपमें कोई ज्ञान वा निर्वाण नष्ट नहीं है । संपूर्ण निरूपमें
 निरूपणमा अपनी जीवबलसक्तिसे साप रहनेसे संपूर्ण निरूप
 ही समीप है । अतः उस निरूपमें किंवा विराट् पुरुषमें कुछ
 व कुछ पुरुष माडीके ज्ञानवाहक केन्द्र होति ही । इस निर-
 व्यापक पुरुष माडीका धीर सूर्यकोकमें है मय चन्द्रकोकमें
 है । प्रज्ञाबलके अन्तमें सूर्य है वहति सूर्यमाडी-प्रवाह
 उसकी किरणोंके साप संपूर्ण प्रज्ञाबलमें जाता है ।

'सुविधा यन्मैः पृथिवीमरम्भात् । (कौषेद)

देसा वेदमें कहा है । वहाँका ब्रह्म ब्रह्म स्वयं काले
 निरूपण सक्तिका बाधक है । तथा—

स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।
 (प्रश्न ४ १७)

देसा उपनिषद्में सूर्यके निरूपमें कहा है । सूर्यनिरूप
 द्वारा संपूर्ण प्रप्रेषप्रप्रेषका निरूपण होता है । भूमिपर जो
 स्थिरचर जीवकन्तु तथा बस्तुवस्तु है, उसका संपूर्ण जीवब
 सूर्यके ही होता है । सबके जीवबके साप सूर्यके संप्राप्तका
 संबंध है । जैसे माडीरस मालीके धारीरमें है वैसेही सूर्यका
 संप्राप्त इस सूर्यमाकमें सबके जीवनका आधार है ।

इस स्थिरबलसे पादकोकि ध्यत्मके विराट् पुरुषके समीप
 होनेकी कल्पना का सक्तती है । इसके बाधिरिक यदि विराट्
 पुरुष ज्ञान और सत्यवत् है तो उसके जीवबके जीवित रहने
 बलके हम उसके जीवबके बिना जीवित किस तरह रह सकते
 हैं ? इससे जो संपूर्ण निरूप अथर्व जीवबसे समीप है,
 वह बाध व्यापमें का सक्तती है ।

वही विश्वमायी अथर्व माडीसोप है जिसके वेद (ईश
 सि बर्णानि) परमें है विष्णुमयी ध्यातार्थ (पुरुषसूक्त)
 धारों और कौडी हैं जिसका मायवीय (मनुष्यकोके कर्मा
 सुवर्णानि) कर्माके साप सुदृढ संबंध है । बर्णभाषासे ही
 इसके वे बलम दूर हो सकते हैं, इत्यादि बर्णन बाधिरिक
 धीरसे देखना योग्य है ।

परमात्माका एक बंध (समर्थाको जीवकोके जीवधृता)
 वही जीव बलकर कार्य कर रहा है । वह अक्ष अपने साप

श्रीमद्भगवद्गीताके पन्द्रहवें अध्यायके सुभाषित

[१]

शाश्वत पदकी सोज ।

ततः पदं तत्पत्तेर्मागतिर्दृश्य
पस्मिन्माता न निवर्तन्ति भूयः ॥ (गी १५७)
' उस पदको प्राप्त करना चाहिये जहाँसे वापिस नहीं
जाना होता । '

ऐसे स्वात्पर वैद्यक चाहिये जहाँसे उठना न पड़े । ऐसा
स्वप्न प्राप्त करना चाहिये जहाँसे दूसरा कोई अपनेको न
हम शर ।

[२]

आविपुरुषकी उपासना ।

उभेय चाप मुदय प्रपद्ये ॥ (गी १५८)

' उस आविपुरुषकी सतज जाला चाहिये । ' आदि
इस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये ।

उपासना करनेसे समस्त वह उपास्य आदि पुरुष है वा
यही इच्छा मिश्र करवा चाहिये और वह आदिपुरुष
हो वही उच्छकी उपासना करनी चाहिये ।

[३]

ज्ञानसे शाश्वत पदकी प्राप्ति ।

पच्छन्त्यमूढाः पदमध्ययं तत् ॥ (गी १५९)

" जो मूढमानसे मुक्त होते हैं वे अध्ययन आदिक पदको
प्राप्त करते हैं । " अर्थात् ज्ञानसेही प्राप्त पद मिळता है ।

पशुत्वा न निवर्तन्ते

तयाम परमं मम ॥ (गी १५९)

" जहाँ पशुत्वेपर वापिस नहीं जाना पड़ता वह श्रेष्ठ
वाम है । " अर्थात् जहाँ स्वात्मभावके कारण रहनेका स्थान
नहीं होता वह अष्ट वाम नहीं कहलाता ।

[४]

अहंकी सोज ।

पदैव सर्वत्रमेव येदा । (गी १५१५)

' सब जेहोंसे नई की ही कोम की गयी है । " ये
कीव हूँ इसकी कोमसे ही सब बाब बंधन हैं ।

[५]

उत्तम होनेका उपाय ।

परस्मारसरमतीतोऽहमसरदापि शोचतमः ।

अतोऽस्मि छोके बेदे व प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

(गी १५१६)

अहमत्वासे परे और बहिर-भावसे उत्तम होनेसे वैदमें
और कोममें मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं ।

विवादी होनेका कारण हर भाव दूर करने और जन्म
वाशिवीमि (बहिर भावमें) उत्तमता प्राप्त करनेसे सर्वो
त्तमता (पुरुषोत्तम-भाव) की प्राप्ति होती है ।

[६]

सर्वभावसे भक्ति ।

सर्वविद्भक्ति सर्वभावेन । (गी १५१७)

जा बल्लभे पूर्ण रूपसे जानना है, वही सर्वभावसे
उत्तम सेवन कर सकता है । "

जो जिस बल्लभे शिवना जानता है उक्तमही उस बल्ल
का वह उपयोग कर सकता है । जहाँ पूर्णतः पूर्ण उपयोग
करके पूर्ण भव प्राप्त करनेके शिवे बल्लका सर्वपूर्ण भाव
प्राप्त करना चाहिये ।

[७]

कृतकृत्य होना ।

गुह्यतम शास्त्रं गुह्या

सुखिमां स्यात्कृतकृत्यम् ॥

(गी १५१८)

" गुह्यमिं गुह्य (अत्यन्त) शास्त्र जानकर समुक्त दुःखि
मात्र और कृतकृत्य होता है । " अत्यन्तशास्त्र जाननेसे
समुक्त ज्ञानसेवन और कर्तव्यात् हो सकता है ।

विचकी संपूर्ण छात्रिणीके अद्य काया है उसमें माहीके अद्य भी बहाते ही काया है । अतः इसका संबंध परमात्मके विद्यम्बापक शरीरसे स्पष्ट है । जीवका प्राण विद्यम्बापक मात्मका अद्य है । जीवका शौचभौतिक शरीर विद्यम्बापक शौचभौतिक विराट् शरीरका अंश है । इसी तरह जीव शरीरकी छव लक्ष्मी विराट् पुस्तकी छात्रिणीसे संबंधित हैं । इस विचारसे भी जीवका शिवसे अलंब और अवश्य संबंध ज्ञात हो सकता है । इसी अवश्य संबंधका ज्ञान करना चाहिये ।

जीव परमात्मका अंश है इसी कारण अंधको अज्ञी परमात्मके किने आत्मसमर्पण करना चाहिये । अंधकी इति कर्तव्यता अज्ञीकी सेवा-अपराधसे और अव्यवहारसे कर भेजे ही हो सकती है । दूसरा कोई कृतकृत्यताका उपाय ही नहीं है । अन्त जीव है और विद्याया पुस्तोत्तम है पुस्तोत्तमका अंश जीवपुस्त है । इस जीवका पुस्तोत्तमसे अलंब और अवश्य योग है । इसका ज्ञान प्राप्त करना उच्च योगका अनुभव करना मनुष्यकी पूर्णताके किने अत्यंत

आवश्यक है । जीवमाका परमात्मके प्राप्त अक्षर को अवश्य संबंध कैसा है वही अर्थ है इस अध्यायमें दिना गत है । इस संबंधको अपने अक्षर देखना और उसका अनुभव करना, तथा इस पुस्तोत्तम विद्याकी सिद्धा देना इस अध्यायका उद्देश्य है ।

इति शुद्धतम शास्त्रे इदमुक्तं मयाऽत्मनः ।

पठद्बुद्ध्या बुद्धिमान् स्थाकृतकृत्यश्च भाव्य ।
(मी १५१)

यह पुस्तोत्तम-विद्या अत्यंत मुक्त विद्या है । तथा न (गुह्य-तम) सदा बुद्धि (गुहा) में धारण करनेसे ही ज्ञान है । यह विद्या ज्ञानसे मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है । क्योंकि संपूर्ण विश्व अक्षर और अवश्य है । पढ़ी वही अक्षर विद्याया य । है ।

इस प्रकार विचार करके पाठक इस पुस्तोत्तमके अक्षर भाषण ज्ञान और अवश्य-भावसे विज्ञानका करके अपनी कृतकृत्यता संपादन करें ।

॥ यहाँ पंद्रहवें अध्यायका अन्त समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

अथ पौन्योऽध्यायः ।

दैवासुरसंपत्तिभागयोगः ।

(१) दैवी संपत्तिका स्वरूप ।

श्री भगवानुवाच—

अथ सत्त्वसद्गुद्विघ्ननिषेधयोगव्यवस्थितिः । दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग आन्तिर्यग्येष्टनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं क्षीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता । भवन्ति सप्त दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच—अथ ये सत्त्वसद्गुद्विघ्नः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः दानं, दमः च यज्ञः च स्वाध्यायः च सत्त्वसद्गुद्विघ्नः ॥१॥ अहिंसा सत्यं अक्रोधः, त्यागः आन्तिर्यग्येष्टनम् अलोलुप्त्वं मार्दवं, क्षीरः क्षीरचापलम् ॥२॥ तेजः क्षमा धृतिः शौचं, अद्रोहः नातिमानिता (इति एतानि सप्तमाणि) दैवी सप्त अभिजातस्य (बुद्धस्य) भवन्ति ॥३॥

श्री भगवान् बोले—अथ, अन्तःकरणकी शुद्धता प्राप्तमात्र और योगमार्गमें विशेष स्थिति दान दम, यज्ञ स्वाध्याय अर्थात् आत्मविद्याका अभ्ययन, तप सरलता ॥१॥ अहिंसा सत्य अक्रोध (कमफल) त्याग आन्ति, युगली व करना भूतांपर दया, अलोलुपता, मृदुता (घुरे कम करनेकी) क्षीरचापल्य चापल्य व होना ॥२॥ ते आत्मीय । तेजस्विता क्षमा धृति पापित्वा द्रोहका अभ्यास निरतिमानता ये सप्त दैवी संपत्ति लेकर उत्पन्न हुए मनुष्यमें होते हैं ॥३॥

अथार्थ—जो मनुष्य दैवी भावसे युक्त होता है वह निर्भय होगा उसका अन्तःकरण पवित्र होगा वह सदा शान्तुक्त योगमार्गमें रहेगा उदार बुद्धिसे दान होगा, इन्द्रियदमन करेगा यज्ञार्थ कर्म करेगा अतः—अथहमाकी विद्याका अध्ययन करेगा धर्ममार्गमें होवेवाले कह वह रहेगा सरलतासे वर्तयेगा किसीकी दिहा नहीं करेगा सत्यका पाठन करेगा कभी क्रोध नहीं करेगा कर्मफलका त्याग करेगा आन्तिर्यगे रहेगा युगली नहीं करेगा सब भूतांपर दया करेगा क्षेम नहीं करेगा उसका हृदय मृदु होगा शुद्ध करनेमें कामिष्ठ होगा संशयकासे कारण उसके कर्ममें बिगाड नहीं होगा वह तेजस्वी होगा, सत्यमें सहजकहि होगी अथवा वह क्षमाशील होगा धैर्यवान् होगा पवित्र आचार करेगा द्रोह कदापि नहीं करेगा अधिमात्र उसमें नहीं होगा । किसीके किसी दैवी संपत्ति है इसका विध्वन्य हुए गुणोंके प्रमाणका विचार करनेसे हो सकेगा ॥१॥ २॥

(१) मनुष्य राक्षस व वनकर देवताएकदम बने हुएकिसे धर्मसे निषेध बनाने गये हैं । मनुष्योंमें हो प्रकाशके मानवीय स्वभाव है । एक दैवी बुद्धि और दूसरी राक्षसी बुद्धि कायगुणसे दैवी बुद्धि और राक्षसगुणसे राक्षसी बुद्धि बनती है । वह बुद्धिवां सारी और अनेकी धर्मार्थों की उम्मेदें बनी होती हैं और सहज बदकती भी नहीं । हम जैसे बानुरी मनुष्यका मनुष्य सहजही दैवी मनुष्यका

नहीं सब सफटा तथापि गुणोंका आरूप भार बरकरे होता संभव है । नहीं काय धर्म करता है । दैवी मनुष्यका उत्कर्ष करना और राक्षसी बचका बानुरी मनुष्यका । अथवा करके उसके मर्कादित और धार्मिकगुण प्रमादित करना, वह धर्मका कार्य है । सब धर्मधर्मोंमें हमी उदरवध सब आचारधर्म वर्तित होत हैं ।

वही पाठन 'एक सफटे हैं कि दैवी मनुष्य और बानुरी

श्रीमद्भगवद्गीताके

पन्द्रहवें अध्यायकी विषयसूची

X—O—X

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१) पुरुषोत्तम-योग	८७१	(१) सार+असार = पुरुषोत्तम	८५१
अम्बरय दृष्ट		(स्लोक ११-१८)	१
(स्लोक १-१)		उत्तमः पुरुषः अम्बः ।	८५५
संसारका दृष्ट	१	(७) सर्वमायसे भजन	८५१
बलभरका स्वरूप	८७३	(स्लोक १९-२०)	५
(१) अर्द्धांशसे दृष्टका जेवन	८७५	सर्वमायका महत्त्व	५
(स्लोक १ ४)		पन्द्रहवें अध्यायका मनन	८५९
ईश्वर उपासना	८७६	पुरुषोत्तमका स्वरूप	५
(१) शाश्वतपदके अधिकारी	८७७	विमुक्त	५
(स्लोक ५-६)		इन्द्र = विमुक्त	८६
अम्बर पदके अधिकारी	१	अर्धव विचक्षण	
(१) वि-मान + मोहाः ।		परोक्षकृत मत्त	८६२
(१) सुखदुःखदोः हन्तैः विमुक्तः ।	८७८	अत्यन्तीकृत मत्त	५
(२) वि-विमुक्त-अमः ।	५	अईकतादृष्टके, मत्त	८६३
(३) वि-वि-मोहाः ।		परमेस्वरके व्यवहार	८६६
(५) अम्बरमन्त्रिताः ।		सर्वमाय	८६७
परम पदका कक्ष		अर्धवृत्त अक्षर	८६८
(४) ईश्वरीय भंश जीव	८७९	पञ्चदश अध्यायके सुभाषित	८७१
(स्लोक ७-११)		आचय पदकी ओर	५
ईश्वरका अनाद्य भंश	५	आदि पुरुषकी उपासना	१
(५) सयके हृदयोंमें ईश्वरका निवास	८५१	ज्ञानके आचय पदकी प्राप्ति	
(स्लोक ११-१५)		अईकी ओर	
गुण और गुणी	८५३	उत्तम होवैका उपास	
परमेस्वरका कार्य देखेय	८५७	सर्वमायसे भक्ति	५
		कृतकृत्य होय	५

देवद्विजगुह्याङ्गपूजनं शौचमार्थम् ।
 ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
 मनुवेगकर वाक्य सत्यं प्रियहितं च यत् ।
 स्वाध्यायान्मनसं चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥ १५ ॥
 मनःप्रसादः सौम्यार्थं मौनमात्मविमिश्रणं ।
 भावसंशुद्धिरित्यतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
 मज्जा परया तप्तं तपस्तत्प्रतिषिद्धं भवेत् ।
 मरुताकाक्षिभिर्युक्तैः सांख्यिक परिचक्षते ॥ १७ ॥
 सत्कारमानपूजार्थं तपो व्रजेन चैव यत् ।
 क्रियते तद्विह प्रोक्तं राजसं क्लृप्तमप्युच्यते ॥ १८ ॥
 मूढमाहोपात्मनो यस्तीक्ष्ण क्रियते तपः ।
 परस्पोत्सादमार्थं वा तत्तामसमुवाच तम् ॥ १९ ॥
 (म पी १०)

शारीरिक तप ।

देवीकी पूजा करना द्विर्गोत्रा सम्भार करना पुत्र
 भोगभार करना विधेय जानी कोनोंका सेवा करना
 पवित्रता करना सरसता बालन करना मद्यकर्म और
 बहिष्कारा पाकन करना ये शारीरिक तप हैं ।

वाचिक तप ।

दुर्गोको उद्गोम न पहुँचायेका भाषन करना जो शक
 हो विष हो और हितकारक भी हो देखा भाषन करना
 मित स्वाभाव करना यह वाचिक तप है ।

मानसिक तप ।

बचरी प्रवृत्ता मरकी सौम्यता जर्पात् कोमकता,
 मौन बालन करना आत्मविमर्श मरके भावोंकी परीक्षितता
 यह मानसिक तप है ।

सांख्यिक तप ।

जो तप राज भद्राये किया जाता है उसके भी तीन भेद
 होते हैं । जो तप कर्मयोगकी हृष्टा मरमें न भारत करते
 हुए किया जाता है उसको सांख्यिक तप कहते हैं ।

राजस तप ।

जो बड़े ईश्वर किया जाता है अपन प्रकार होके
 करना मय बड़े और अपनी पूजा चाली और हो इस
 तरीके किया जाता है उस बहिषार और कष्ट तपको
 राजस कहते हैं ।

तामस तप ।

मूढगले अपनेआपको पीका देकर जो तप किया जाता
 है तथा जिसमें दुस्तरका नाश करनेका उद्देश्य होता है, उस
 तामस तप कहते हैं ।

बहा ! इस तपके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं कि जो यह
 तामस तप कहा गया है उसमें देवी भाग भाग्य है, आसुरी
 भावही इसमें बहुत है— इस तरहका तप देवी संपत्तिमें
 नहीं आयेगा । निश्चय यह तप है परंतु यह आसुरी
 भावसे पुन है ।

इस तरह विचार करके कौनसा तप इस देवी संपत्तिमें
 केवलोग्य है इसका विचार करना चाहिये । जो सांख्यिक
 तप है वही पूर्ववत् देवी संपत्तिमें अन्तर्भूत हो सकता है ।
 इसके साथ साथ बहिष्कार, शौच (पवित्रता) मार्जव (सर
 कता), सत्य मार्ग (सौम्यता) अविमर्शिता अचापव्य
 (कर्तुष) इत्यादि देवी संपत्तिमें गिनाये कष्ट तपके
 विवरणमें भी आये हैं । यह देखकर ये कष्टन केवल साधा
 रण कष्टन होनेके लिये गिनाये हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है ।
 जैसे तपमें ये देवी संपत्तिके साथ आये हैं उनी तरह
 आत्म्या देवी कष्टनोंमें भी अन्तर्भूत देवी भावोंकी संकीर्णता
 दिखाई देती । इसका कारण यह है कि ये कष्टन एक दूस
 रसे अन्तर्भूत हुए नहीं रह सकते । एक कष्टन होनेके साथ
 साथ अन्त्यान्त कष्टन भी साथ साथ होते ही हैं । जैसे
 बहिष्कार के साथ सत्य मार्ग पूजा क्षमा आदिका
 होना स्वाभाविक ही है । इसी तरह पाकन अन्त्यान्त कष्टनोंके
 विषयमें भी विचार करके जान सकते हैं ।

(३) दम ।

हृष्टिब्रह्ममनःसंयमः अन्तर्धर्म इत्यादि भाव हममें
 हैं । मरके वेगोंका प्रत्यक्ष करना मरके वेगोंको अपने
 आधीन रखना अपनी ओरोपेक्षाको प्रत्यक्ष और नियमित
 करना यह सब इस दममें आता है ।

इस दमपर ही मनुष्यकी सम्पत्ता अवलंबित है । इस
 दम बर्बाद होनेमें बड़ी शक्ति होती है । हममें मानवी
 मर्यादकी उत्तम भावना करनेका सामर्थ्य है । यदि किसी
 क्षमामें दम कम होता तो उस क्षमामें स्वेर भोगवृत्ति
 की छुट्टि होगी और वह क्षमा कभी स्थिर नहीं हो पाती ।

वर्णमूलका है ही नहीं । एकही आत्मसत्ता सर्वत्र है, एकही वह सर्वत्र है, अतः न कोई दूसरोंके दान करता है और न कोई दूसरोंको दान दे सकता है । दूसरोंको दान देना वह आत्मीय अनुभव और अज्ञानमूलक है । विषयको बाधे किये आत्म प्रवेश करनेका आकाश स्वयं अपने कियेही देना है । वहाँ सब सम्भव होनेसे दान न देना आत्मपाठ करना है, इस कारण आत्मपाठसे सबकेके किये दान देना आत्मत आत्मस्वरूप है । परंतु वह सत्तात्ममें देना चाहिये अन्वया उपान्तमें देना दान विःसम्भेद पञ्चिमी और समाजकी हाथि करेगा ।

मिसमें देवी संपत्ति निश्चित हुई है, वह जानना है कि सत्तात्ममें दान देना किसका काम है और उपान्तमें दान क्यों नहीं देना चाहिये । सत्तात्ममें दान देना देवी संपत्तिबाधकेका समाप्त ही है । वह योग्य समस्त योग्य दान किये देना नहीं रहेगा ।

(७) यज्ञ ।

यज्ञ एक देवी मन्त्रिणा है कि जो सबके उद्धारका वेद हो सकती है । यज्ञमें दान, कर्म, उप, स्वाध्याय, बहिर्सा आदि प्रथम मिश्रण उत्तम रीतिसे होता है । यज्ञका काम 'अन्तर' है इसका अर्थ बहिर्सा किंवा अन्तःप्रतिष्ठा है । वही अन्तःप्रतिष्ठा यज्ञ है । हिंसा किसीकी न हो किसीके काम अन्तःप्रतिष्ठाका व्यवहार न हो यज्ञमें वही वृत्ति होती है । यज्ञके किये उपकी आवश्यकता होती है बहिर्सा को । यज्ञका स्वरूपही है । अन्तःप्रतिष्ठा भी आत्म (सर) कर्म) कर्म वृत्ता नाम है । यज्ञसे तो अनेक अज्ञान पञ्चिमीका काम होता रहता है । वहाँ हवन किया तो पूरा हवन वस्तुवृत्ति होती है और उससे अनेक काम करने रहते हैं । योग्य स्वाध्याय समकी अज्ञानके किये कुर्मी औरय यज्ञ है, उससे पानी निकालकर कर्म है उस पानीका दूसरोंमें देना दान है वहीकी पवित्रता-मात्र-अज्ञान करवा (जीव) मुद्रा है । इससे यज्ञ-दान-उपकी कर्मता पाद कोको हो सकती है । यज्ञ-दान-उप-के कर्म कर्म स्वाध्याय नहीं चाहिये वे सब अवस्थाओं करनेयोग्य हैं, क्योंकि वे मानवोंमें पवित्रता करनेवाले हैं (यी १८१५) यह भीत्या काम है । अतः भीत्याही यज्ञमय ब्रह्मा चाहिये । अपनी परम वृत्तिसे यज्ञही होता रहे देवी शिक्षा यज्ञमयको

मिथनी चाहिये । यज्ञसे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनकी पवित्रता सिद्ध होती है ।

(८) आर्जव ।

आर्जवका अर्थ सरलता सरलता अनुप्रतिष्ठा, रेखेयका न होगा है । यह मात्र यज्ञके अर्थमें गवाही देना मना है । इस तरह सरलता यज्ञका एक भाग है । अर्थात् बहिर्सा और सरलतासे देना यज्ञ ही नहीं सकता । अतः बहिर्सा का भी यज्ञसे साथ साथही विचार करना चाहिये ।

(९) बहिर्सा ।

बहिर्सा पञ्चका एक प्रमुख भाग है । बहिर्साका अर्थ है अपने द्वारा दूसरोंको किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना यदि कष्ट पहुँचाया अपरिहार्य हो तो मृत्युसे मृत्यु कष्ट पहुँचानेका व्यव करना । बहिर्सा सम्बन्धी परमाध्यात्मिकी सीमा है । कोवला समाज अधिक सम्म है ? ऐसा, प्रश्न पूछनेपर उत्तर नहीं देना जानना कि जो अधिक बहिर्साका प्रत्यक्ष कर सकता है वही अधिक सम्म है । आत्ममें सम्मत्ता और वर्णोंमें सम्मत्ता अधिक बहिर्सा आचारमें करते हैं । अतः वर्णों की अपेक्षा वे अधिक सम्म समझे जाते हैं । हिंसाके अधिक होनेसे सम्मत्ता बढती है क्योंकि हिंसा आत्मीय वृत्तिका गुण है ।

(१०) अक्रोध ।

क्रोधका न होना बहिर्साके किये अन्तः आत्मस्वरूप है, क्रोधसेही हिंसा होती है क्रोध सबका भाव है वही हिंसाके रूपसे बाहर परिणत होता है । क्रमकी अन्तःप्रतिष्ठासे क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोधसे हिंसा होती है दूसरेका सकारण व्यवसाय विव्यवहार बाधपाठ किंवा आवा है । इस किये हिंसाको दूर करनेके किये क्रोधको दान करना चाहिये, अतः अक्रोधकी गणना देवी संपत्तिमें की गई है क्योंकि अक्रोधसेही बहिर्साकी सिद्धि होती है और बहिर्सासे परम उपर आत्मता सिद्ध होती है । अतः मात्मीय परम-उपरा सम्मत्ताको प्राप्त करनेका परम साधन अक्रोध है ।

(११) अद्रोह ।

बहिर्साकी शिक्षाके किये क्रोधका न होना भी अन्तः आत्मस्वरूप है । क्रोध करनेसे हेतुवृत्ति नष्ट जाती है मिथसे

हरण करेगी और फिर धर्म बना रहेगी और अन्तमें
अन्तहीन समाज बने जायेगा । अतः मानवीय सम्बन्ध
हमपर निर्भर है ऐसा जानकर हरण मनुष्य हर्षितव्यम
करके प्रयत्न करे ।

(४) सत्य सञ्चयि ।

अपने सत्यकी छद्मता । अपने अन्तर को सहीर मन
बुद्धि बाह्यमें मञ्ज होमे हैं, उनको दूर कामका नाम सत्य
की परिभाषा है । पूर्ण पुण्य करनेके लिये सत्यकी परिभाषा
बाह्यमें । जिसके सत्यकी परिभाषा हो गई है, वह ठीक
सोचगा और कर्म भी ठीकी करेगा । उसके अन्तर अशुद्ध
विचार बाह्यमें ही रहें । सत्यताके कारण अशुद्ध विचार
मनमें जाते हैं और अशुद्ध कर्म होते हैं वे गिरावटके कारण
हैं । अतः सत्यसंशुद्धिके लिये प्रयत्न होना चाहिये । पूर्ण
धर्मकर्मोंका उद्देश्य मनुष्यका सत्य परिशुद्ध करनाही है ।
सत्यसंशुद्धि करनेका साधन सुखवृत्ता ज्ञानयोगका आचार्य
है—

(५) ज्ञानयोगव्यवस्थिति ।

ज्ञानयोग और कर्मयोगमें विशेष उल्लास स्थिर रहना
अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगका निश्चय बुद्धिसे आचार्य
करना यह एकमात्र उल्लासकी सुखताके लिये सुख्य साधन
है ।

वेदमें अर्थात्में श्लोक ७ से ११ तक ज्ञानकी व्याख्या
की गई है पाठक उसको वहाँ देखें । वही ज्ञानमार्ग है ।
भगवद्गीतामें अनेक स्थानोंपर कर्ममार्गका वर्णन है । उस-
को कर्ममार्ग कहते हैं । इस ज्ञानमार्ग और इस कर्ममार्गमें
साधकोंकी सुविधि रहनाही उनके लिये जबके एकमात्र
साधन है । ज्ञानियोंके लक्षण को १३ में अर्थात्में कहे हैं
वे ये हैं—

ज्ञानके लक्षण ।

१ धर्मात्मन २ अद्वयम् ३ निर्दिष्टा ४ क्षमा ५ धरकता
६ गुणधेया ७ पवित्रता-शुद्धता ८ स्थिरता ९ आत्म-
संयम १० इन्द्रियविषयके धर्ममें वैराग्य ११ कोई
कार-वर्मेक न होना १२ अन्त-मृत्यु-करा व्याधि-शुद्ध-
सोचोंका अनुभव करना १३ पुन-भी-पुन बाह्यमें आसक्ति
और भयम् न होना १४ हृदयस्थितिके विषयमें धर्ममात्र

रहना, १५ ईश्वरमें अग्र्य भाक्ति १६ दृक्काल-वैयम् १७
अनर्थमें जायेके विषयमें अद्वि १८ अन्तमार्गमें निम
मनको स्थिर करना १९ उल्लासके साथ होयेके लक्षण-
का ध्यान करना इस सबको ध्यान कहते हैं इसके जो
विषयीय होया है उसको ज्ञान कहते हैं ।

(भ नी ११।१-११)

वही ज्ञानके १९ गुण कहे गये हैं । वही अर्थात् अन्त
करते हुए (भ १६।१-३ में) १९ गुणोंका अन्त निम
है । वे दोनो लक्षण परस्पर मिलते हैं । धर्मात्मन,
निर्दिष्टा अर्थात्, (निर्दिष्ट) धरकता, (जीव) शुद्ध लक्ष्य
(स्थिरता-अग्र्य) २० (संयम) बाह्य तो दोनो लक्ष्य
में एक लक्ष्य ही है अन्त गुण भी परस्पर मिलनेवाले ही ।
इस तरह जो ज्ञान है वही ईश्वर ध्यान है और जो ईश्वर
ध्यान है वही ज्ञान है । अर्थात् आत्मीय संयम और अन्त
के समावर्त्य अन्त अशुद्ध लक्षणों में आने का लक्षण है ।
अन्त । यह ज्ञानयोगमें व्यवस्थिति लक्षण है । निम
लक्षणमें ईश्वर ध्यानके विचार होता है उसकी स्थिरता
वैयम् ज्ञानमें होती है वैयम् ही योगमें होती है ।

(६) दान ।

दानका अर्थ देना । जो अपने पास होया उसका अपने
अन्यके लिये समर्पण करना दान है । हमारी स्थिति इस
दानव्य निर्भर है । पुन विचार्य दान देना है आत्मनिक
अपना जीवनही समर्पण करने हैं इस तरह लक्षणों और
हजारों लक्षण अज्ञान मानकों और अन्तर्निमित्त इनका
आस्थित्य निर्भर है । यदि वे हमारे लिये दान न दें तो हमारा
जीवनही समाप्त हो जाय । अनेका पूर्वही अन्तर्मात्र
जीवन न दें तो अन्तर्मात्र ही मर जायें । इसीके लक्षण
केरही हम हीविद्य रहते हैं । इसी लिये मनुष्यकर्मसुद्धि
हमें उचित है कि हम अपनी कर्मिके लक्षणों को धरती हैं,
अपनी अन्तर्मात्र लिये आत्मसमर्पण करें । जो मनुष्य कर्मके
अन्तर्मात्रिका है वह भी कुछ न कुछ विचारेगा नहीं
अन्तर्मात्र है । फिर जिसके पास ज्ञानव्यक्ति निमिष अन्तर्मात्र
सामर्थ्य है वह अन्तर्मात्र करनेमें अन्तर्मात्र अन्तर्मात्र, अन्तर्मात्र
अन्तर्मात्र दान को, वह अन्तर्मात्र नया आत्मसमर्पण है ।
अन्तर्मात्र दानवैयम् जीविद्य रहनेवालेको उचित है कि वह भी
अन्तर्मात्र लिये आत्मसमर्पण करे । वरिष्ठ वहाँ कोई दान

ये दोनों ही वह अन्तरात्माको स्रजाने लगाता है । साथ कहते ही ये स्नेह दूर हो जाते हैं । साथसेही सब सिद्धियाँ मिलती हैं यद्यः सत्यपराक्रमका मज्जन्त जागकर और आत्मो-
बलिदे बिये उसकी आवश्यकता और उपयोपिता देव
का हाथक साधकको सत्यपराक्रममें लयस्थ होना चाहिये ।

(१८) शौच [पवित्रता]

पुष्पाङ्कुरा बरपे पवित्रता है। यह अनेक प्रकारकी है। पारिषद पवित्रता मुद्रा बन्दे की जाती है इन्डियोंकी पवित्रता संभवसे होती है, मनकी शुद्धता सम्पन्ने होती है, इन्द्र ब्रह्मसे हृद होती है तथा विद्या और तपसे आत्मशुद्धि होती है—

मद्रिर्गात्राणि शुष्यन्ति ममः सत्येन शुष्यति ।
 विषादपोण्यां भूतहमा बुद्धिर्दानेन शुष्यति ॥

(मल ५/३ ९)

पुरिसे कनेक साधन हैं छुटठा करीरमें हो सो करीर भीरों राहा है। करीरमें मकसदबाव हो बाप सो विविध रीय होने क्यते हैं। इसी तरह सुबुवायेही बाधुरी वृत्ति हर रीय इसी धाव बहने लगते हैं।

(१९) श्री ।

उसे कर्म करनेके लिये कन्या होगी चाहिये । इसीका फल ही है । इससे मनुष्य बड़े कष्टोंसे दूर रह सकता है जिससे इसकी वरधि होती है । किन्तु समय बड़ा कुशल करनेमें इसको कन्या नहीं होगी, उस समय यह बहुत बुरा होगा । क्योंकि यह (ही) कन्या कुलवर्धिका पचानेवाली है ।

(२०) प्रति ।

एकैका कार्य है वेदों । कार्य करनेके बिन्धे किसीसे न करनेका नाम इति है । इस नृसिंहे ही सावक अपने धार्मिक कर्तव्य निरंतर होकर करता रहता है । ऐसी संप्रतिष्ठा नृसिंहे के बिन्धे इष्ट नृसिंही अत्यंत आश्चर्यकरता है । यदि वह धार्मिक कर्म करनेमें कठ्ठा करेगा और अधार्मिक कर्म करनेमें न करेगा तो हमें आत्तुरी नृसिंहा वही सावरी । यह बहाने वेदोंके देखकर निरहता न समझते हुए शुद्ध धार्मिक कर्तव्य करनेमें जो निरहता आश्चर्यकर है वही वह इति है देवा मानवा उक्ति है ।

(२१) धामा ।

इसका लक्ष्य के दो अर्थ हैं। एक दूसरे की अपासों की प्राप्ति से बचा करवा और धर्मकर्म करने के समय जो बड़ हो उनको सहज करने की शक्ति अपने में उत्पन्न करवा। ये दोनों गुण मनुष्यको अपने में बढाने चाहिये। दूसरे अर्थ से अपनी धर्मकर्म करने की शक्ति बढाओ है और पहिले अर्थ से स्वीकार करयेसे निर्बैराग प्रिय होती है। दोनों अर्थ सहायक हैं।

(२२) खेज ।

टेकस्त्रिणा टेकस्त्री कृति मनुष्यमे रहनी चाहिये कभी
 भी अपमान सहन नहीं करवा चाहिये। कुछ मास बहिष्ता
 अथवा छमा जादि कष्टोंसे तथा विशेषतया 'मस्तिमा
 मित्रा' और 'मायायामावो' तुल्य। इस बर्णसे अपमान
 सहन करना और कुछ कह जादि भी सहायेही जावा
 ऐसा बर्ण मानते हैं और अपमान होनेपर भी वे सहाये
 हैं परन्तु भगवद्गीताको यह अभीष्ट नहीं है। टेकस्त्रिणाके
 साथ वाचिमार्गिकाका संबंध देखना चाहिये। इसी अर्थसे
 टेकस्त्रिणा रहनी है आध्यात्मिकताके बिना टेकस्त्रिणा कैसे
 रहेगी ! अर्थात् टेकस्त्रीयत्व ऐसी संघटिका प्रवाल अर्थ है,
 माय-अपमानको तुल्य माननेका अर्थ इसकाही है कि समाज
 होने अथवा अपमान होनेपर अपमान कर्ममें नहीं झेड
 देना चाहिये दोषोंको समाज मानकर अपना मन इसका
 न होने देना चाहिये। मित्रमे भी ऐसी गुण हैं वे कभी
 भी टेकस्त्रिणाके शिरोधार्य नहीं हैं।

(२३) अन्धपल्ल !

चक्रवर्त्तकानां सर्वं चक्रवर्त्तकं हे भवन्ति इत्येव श्रुत्यै एक
 और दूसरें श्रुत्यै दूसराही कुछ करने लग्यो। किसी एक
 अनुष्ठानके स्थिर होवे तो कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो
 सकती। अतः चक्रवर्त्तकका त्याग करते अनुष्ठानका स्थैर्य प्राप्त
 करना चाहिये। सिद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता
 है।

(२४) मार्गष ।

हृदयकी कोमलता । दुःखकी हिंसा करनेके समय मनकी कठोरता कार्य करती है कोमलता—सार्द्ध—रहे तो हिंसा, कार्य श्रेष्ठ होती नहीं सकते । मनुष्याचे सभी भागी

कोय बहना और हिंसा भी होती है । इसी कारण जोह भावकी शिवली आसुरी वृत्तियाँ होती हैं । अतः उद्भूत होने वाले मनुष्योंको उचित है कि वे अजोहवृत्ति अपने अंदर बहने और अपने अंदर देवी शक्तिकी परिपुष्टता करें ।

(१२) अपेक्षुन ।

पुण्यकी करनेकी वृत्ति का नाम अपेक्षुन है । एककी पुष्ट मात्र होने मात्रसे दूसरे तक पहुँचाना और इससे अपने काम साधन करना पुण्यकी का स्वयं है । पुण्यकोरसे समाजमें अशांति फैलती है एक दूसरेका बाधपाद करनेकी प्रवृत्ति बहती है और कोय बहकर हिंसक वृत्तिही फैलती है जो मानवताकी हानि करती है । इस कारण सिद्धवशासे दूर करना आवश्यक है । यह कोयको दूर करनेकेही होगा समर्थ है, अतः अस्वमेयका अभिजात करना चाहिये ।

(१३) अलोमुपन ।

विर्गोमवृत्ति का नाम अलोमुपन है । अलोमुपन कोष्ठक व होता कोयका त्याग वे इससे आशय है । जो कोयी होता है, वही पुण्यकी करके अपने कोयकी पुर्विक साधन करता है । किसे कोयकी व होगा वह पुण्यकी कोय ही नहीं ? कईकोला स्वभावही पुण्यकी करनेका होता है परंतु इसकी बहने देना त्याग तो स्वार्थ कोय अवश्य हीकेना । अतः विर्गोमवृत्ति रहे तो पुण्यकी करनेका दुर्गुण दूर हो जानेका और इससे भावके दुष्परिणाम भी नहीं होते ।

(१४) त्याग ।

त्यागभावका अर्थ योग्यता है । त्यागी योग्यता त्यागी धरणा त्याग है । इसीका नाम कर्मचलत्वाय है । फलभोगकी को अगम्युति है उसका त्याग करनाही बड़ा भारी साधन है । इस त्यागभावसे विर्गोमवृत्ति अर्थात् अलोमुपन-मिद होता है और इससे बन्धात् फलसे अपेक्षुन अलोय और अहिंसा सिद्ध होती है । अतः त्यागभावका महार उचितकी साधनमें अधिक है । त्यागभावकेही देवी शक्ति सिद्ध हो सकती है । वहाँ त्याग नहीं वहाँ आसुरी वधि प्रबल है वह अममता चाहिये ।

(१५) नातिमानिता ।

अतिमात्री होना योग्य नहीं है । कईकर बलक गर्व

मात्रीपन वे सब एकही भावके भावक अर्थ हैं । मनुष्यके अहमसम्मानकी रक्षा करनाही चाहिये । भावे 'वेदरिक्क भावव्यक्त है, ऐसा बतायेंगे । ऐश्वर्यपनके धाम भाव-क्षेमाय विद्यता रह सकता है उसका तो मनुष्यको चाहिये । इससे जो अधिक अतिमात्रीपन है अति गर्वी स्वयं है, अत्यधिक बहकार है, वह दूर कर देना चाहिये । अतिमात्री मनुष्य अति कोयी भी होता है, अतिमेही मनुष्य अपने कृत्यके कारण अति-हिंसक होता है । हिंसाय बर केवळ भीमहिंसा करनाही नहीं है परंतु दूसरेको पुनरेवसे खण्ड बोधना भी हिंसा है । अतिमात्री मनुष्य अपनी गर्वी वृत्तिके कारण दूसरोंसे ऐसे खण्ड बोधना है कि वे इससे हृदयसे पुन्य करते हैं । अर्थात् अतिमात्री मनुष्य शरत्ता हिंसक होता है । अतः साधकको उचित है कि वह अपने अन्तरसे अतिमात्री वृत्ति कम करे । वहाँ ऐश्वर्यता शरत्ता अहमसम्मानका भाव धारण करनेका विरोध नहीं हुआ है, इसका परमकोको ध्यानेमें रक्षना चाहिये ।

(१६) भूतेषु दया ।

अहिंसा अर्थ हिंसाय व होता इसका विरोधका दार वगैरा है । हिंसा व करनेकी अवस्थामें बना करना चाहिये, वह 'अहिंसा खण्डने नहीं बगैरा । इसकी पूर्वका भूतेषु दया अवश्य की है । भूतेषु दया करनी चाहिये । यह अहिंसाले विरोधका भावकी विचारक प्रेरणा है । अहिंसा तो पाक्य करनीही चाहिये परंतु साथ साथ सबपर दयापति भी रखनी चाहिये । अहिंसाले हिंसाय विरोध किना परंतु कर्मव्य वस्तुका दर्शन नहीं करना परंतु भूतेषु दया खण्डने अहिंसाकी स्थितिमें बना करना चाहिये वह अतकाला है । भूतेषु दया विचारका साधन स्वरूप है ।

(१७) सत्य ।

सत्य सत्यताका नाम है सत्यही सत्य देवी शक्तिका आधार है । सत्यही सत्यका आधार है । सत्य नहीं तो कुछ भी नहीं है । अतः सत्यका ऐसा पाक्य करना चाहिये कि विश्वमें कोई मूल्यता व रहे । विश्वी अपनी अहिंसे उद्योगी अगाकर सत्यका आधार होना चाहिये । सत्य रहेगा तो सब अर्थ देवी शक्तिके गुण रह सकेंगे । सत्यका पाक्य व हुआ तो कोई अहिंसा नहीं होगी । सत्यका पाक्यही अहम पाक्य है । धारणाधम व होवेपर अहमपाय होता है । अहम

प्रजापतिरिह सयं तपसैवायुज्जगत्प्रभुः ।
तथैव वेदानुपयस्वपसा प्रतिपेदिरे ॥ २ ॥
तपसैव ससर्जान् फलमूलानि यानि च ।
बीजाकास्वपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥ ३ ॥
मौपयाम्यनशादीनि तिस्रो विधाश्च सस्कृताः ।
तपसश्च हि सिद्धयन्ति तपोमूलं हि साधनम् । ॥ ४ ॥
यदुदात्तार्थं दुरात्तस्य दुराधर्मे बुद्धस्तहम् ।
तत्सर्वं तपसा शक्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ५ ॥
ऐश्वर्यं क्षय्यं प्राप्तास्तपसैव न सञ्चयः ।
आहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नामशमात्परम् ॥ ६ ॥
क्षय्यं पितरो देवा मनुष्या भगपक्षिणः ।
यानि ज्ञान्यानि भूतानि स्थायराणि चराणि च ॥ ७ ॥
तपा पराधनाः सर्वे सिध्यन्ति तपसा च ते ।
इत्येव तपसा देवा महत्स्यं प्रतिपेदिरे ॥ ८ ॥
इमानीष्टविभागानि फलानि तपसां सदा ।
तपसा शक्यते प्राप्नु देवस्वमपि निश्चयः ॥ ९ ॥
(म गा खी क २५९)

“तपसा मूलं तप है । तप किसे बिना किसीको भी कुछ फल प्राप्त नहीं होता । प्रजापति भी तपसेही इस सबको उत्पन्न किया । ऋषियोंको तपसेही वेद प्राप्त हुए । फल मूल फल सब कुछ तपसेही प्राप्त किया जाता है । तपसेही सिद्ध हुए महात्मा जीनों कोकोई साक्षात्कार करते हैं । मौपयिषी तथा दोनों विधार्थ तपसेही सिद्ध होती हैं । तपही सबका साधन है । जो बुद्ध्यात्त है जो दुरात्तस्य है, जो सिद्ध होता कठिन है और जिसके विषयमें उन्मादभोग होता है वह सब कुछ सिद्ध होता है । ऋषिओंमें तपसेही पूर्वर्ष प्राप्त किया था । आहिंसा सत्यवचन दान इन्द्रियनिग्रह इन सब भी तप प्राप्त है । अनशन वर्षात् योगसे दूर रहनाही शक्य तप है । ऋषि पितर देव, मनुष्य पशु पक्षी और जो मृत हैं वे सब तपसेही दिव्यलो प्राप्त करते हैं । देवीका जो महत्त्व है वह सबको तपसे कारणही प्राप्त हुआ है ।

सपूज इष्ट फल तपसेही प्राप्त हो सकते हैं । तपसे जो मनुष्य देवराजतक प्राप्त कर सकता है ।

इसी कथित वचनोंसे तपका महत्त्व पाठकोंको विनिर्दिष्ट हो सकता है । तपकी गणना देवी सपत्तिमें क्यों हुई है इसका पही कारण है । सब उच्चतमो तपसेही सिद्ध होने-वाली है । अब उसका वर्णन देखिये—

सत्य ।

धर्मो साधारणः सत्य सर्ववर्णेषु भारत ॥ १ ॥
सत्य सत्तु सदा धर्मः सत्य धमः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्तेत सत्यं हि परमा गतिः ॥ २ ॥
सत्य धर्मस्तथा योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यद्वा परः प्रोक्तः सर्वे सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

सत्यं त्रयोदशविध सर्वलोकेषु भारत ॥ ४ ॥
सत्यं च समता चैव द्वमक्षैव न सञ्चयः ।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्यस्तिविष्ठाऽनसूयता ॥ ५ ॥
त्यागो ध्यानमथार्थस्य भूतिश्च सततं दया ।
आहिंसा चैव राज्ञश्च सत्याकारात्मनोदरा ॥ ६ ॥

आत्मनीये तथाऽभिदे रिपो च अमता तथा ।
हृच्छाद्वय सत्यं प्राप्य कामक्रोधसयं तथा ॥ ७ ॥
दमो नाभ्यसूहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अशाठ्यं क्रोधवसनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥ ८ ॥
अमातरस्य पुषाः प्रादुर्दन्ति धर्मं च सधमा ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥ ९ ॥

अक्षमायाः क्षमायाश्च त्रिषाणीहात्रिषाणि च ।
क्षमता सर्वतः साधुस्ततः प्राप्नोति सत्यताम् ॥ १० ॥

त्यक्तमेहस्य यक्ष्यागो धिययाणीं तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागा मयति नाभ्यया ॥ ११ ॥
आयता नाम भूतानां यः करोति प्रपन्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो यीतरागस्तथैव च ॥ १२ ॥
अत्रोदः सर्वभूतपु कम्पना मनसा गिरा ।
अनुमदश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

करी नृपिवा दूर होती है इसलिये यह कोमकता सहा-
यक होती है ।

(२५) अमय ।

विमंभता तो पूर्वोक्त गुणोंके साथ प्राप्त होती ही है । जो
सत्यत्व वास्तव करता है जो झूठ नहीं करता जो पवित्र
होता है वह विमंभ भी होताही है । यह तो बाहरसे
प्राप्त होनेवाली वस्तुवत्ता है । परंतु वहाँ जो अमय कहा है
वह इसरीको प्राप्त होनेवाला अमय है । यह आचर्य सबको
अमय है उसी यह सबकी कोरसे भी अमय प्राप्त कर
सकता है । बर्माचरण करनेके समय मनुष्य विमंभ रहे
किन्तीछे व करे । अत्यपाक्यके किये किन्तीछे व करे किन्तीछे
नवमीछ व हो और इससे भी किन्तीको भय व हो ।
इस तरहकी विमंभ वृत्ति हैवी संघटिका परमविकसल
होनेके सम्यक् ही सिद्ध होती ।

(२६) क्षान्ति ।

पूर्वजाके क्षान्ति प्राप्त होती । वही सबकी अन्तर्वाक्य
क्षान्ति है । व कोई इससे वैर करेगा और व वह किन्ती
छे वैर करेगा । अन्तर्वाक्य किन्ती भी वक्षान्ति हो पर वह
आचर्य वाय क्षान्तिसे युक्त होगा । क्योंकि इसकी क्षान्ति
प्राप्त करनेका कोई कारण इसके पास आवेगाही नहीं ।
वही पूर्वजाका क्षान्त है ।

इस तरह वे हैवी संघटिके कक्षक हैं । वे कक्षक केवल
सूचना मात्र हैं । और भी बहुतसे कक्षक हैं जो वहाँ नहीं
लिखे हैं । महाभारतके क्षान्तिपर्वमें कई हैवी गुणोंका वर्णन
है वह वहाँ देखियोग्य है—

दमका वर्णन ।

दमो निःश्रेयसं प्राहुर्यथा निमित्तवर्जितम् ॥ ७ ॥
मावाप्तस्य विद्यासिद्धिर्यथावतुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा धनान्धनैर्लं क्षातिवर्तते ॥ ८ ॥
दमस्तेजो वर्धयति पथिर्च व दमः परम् ।
विद्याम्मा सेज्जता पुक्कः पुक्कयो विन्तते महत् ॥ ९ ॥

दम—सिंघानि ।

समा धृतिर्द्विधा व समता सत्यमार्तव्यम् ।
हृदिप्रयामिजयो वाक्यं मार्तव्यं धीरत्वापलम् ॥ १० ॥

अकार्षण्यमसरम्भः सतोः प्रियवादिता ।
अविहिंसाऽमत्या आप्येवां समुद्बो दमः ॥ ११ ॥
गुरुपूजा व कीरत्य दया भूतेष्वरिमुद्यम् ।
अनवापसूयानावसुतिनिम्बाविशज्जम् ॥ १२ ॥
कार्म कोष व क्षोभ व र्प स्तम्भं विरक्तवम् ।
रोपमीप्स्यविमार्ध व नैव दातो भिषेवते ॥ १३ ॥
अभिभिदो अक्षामात्मा मास्तेष्वर्धव्यपूयक ।
समुद्रकम्पः स मरो न कर्ष वाव पूर्वते ॥ १४ ॥
एक एव वमे दोषो द्वितीयो गोपयद्यते ।
यदेनं दमसंयुक्तमद्यन्त मन्वते जनः ॥ १५ ॥

(स मा क्षान्ति व १५४)

दमका वर्णन करते हुए नीत्यारिगमह बुधिमिरके करते
हैं— दम निःश्रेयस मोक्ष देनेवाला है । जो दम वास्तव
नहीं करेगा उसको कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होगी । दान का
और अक्षयवसे दमका महत्त्व अत्यन्त अधिक है । दमसे
देखनी वृत्ति होती है पवित्रता रहती है दमसे मनुष्य
विद्याप होकर महत्त्वको प्राप्त होता है । दम सिद्ध
होनेसे जो कष्टक प्राप्त होते हैं वे वे हैं— ' दमो दमि,
वर्हिंसा क्षतया सत्य सरकया, ईद्विचयन दक्षया सुयुक्त
(कोमकता) ही (कुकर्मेर्लं कम्मा) अक्षयव (लैर्ध)
क्षयवताका व होता, रोगका व होता संयोग विव मात्त,
असुवाका व होता गुणका सत्कार करनेकी वृत्ति, कृत्यका
सुगच्छी व करना वृत्ता वातविवाद न करना अर्ध सिद्ध
वृत्ति करते व रहना वे सब कक्षक दमके होनेके लक्षण हैं,
इसके पता लगा सकता है कि इस मनुष्यमें दम है वा
नहीं ।

जो दमयुक्त है वह काम कोष कोष करे, सिद्धा
ईर्ष्या तथा दूसरोंका अपमान करी नहीं करता । दमयुक्त
मनुष्य समुद्रके समान संकीर रहता है । इस दममें दक्षी
दोष है वह यह कि दमयुक्त मनुष्यको क्षामत्य लक्ष
वक्षक समझते हैं । इसको छोड़कर दममें कोई दोष नहीं
है । अब आपके विषयमें देखिये—

तप ।

सर्वमित्तस्योमुख कथया परिचक्षते ।
न ह्यतप्ततया मुक्ता किम्याफलमवाप्नुते ॥ ११ ॥

देवी भाव

भव

अवसुप्ति

आत्मव्यतिथि

योगव्यतिथि

दान

दम, अवम

द्वय

स्वप्न

द्वय

कार्य (अवम)

वर्षा

द्वय

वर्षा

द्वय

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

आमुरी भाव

भव

अवसुप्ति

आत्मव्यतिथि

योगव्यतिथि

दान

दम, अवम

द्वय

स्वप्न

द्वय

कार्य (अवम)

वर्षा

द्वय

वर्षा

द्वय

वर्षा

वर्षा (अमुरीकोरी)

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

वर्षा

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

अवसुप्ति

पूर्वोक्त देवी संपत्तिके विवेचनमें जो देवी संपत्तिके ७५ वस्तुने मये हैं उन्में अमुमान करके जाने जायेवाले ये आमुरी वस्तु हैं । इसका विचार करदेसे पादकोंको देवी संपत्ति कीकी है और आमुरी विपत्ति कीकी है इसका ज्ञान हो सकता है । यद्यपि यहाँ बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण बगोने मये हैं तथापि इसका विचार करदेपर अन्वय बहुतसे दोनों ओरके गुणावगुण ध्यानें जा सकते हैं । पादक हस्त परह अधिक विचार करके देवी संपत्ति और आमुरी विपत्तिका स्वकय विचारके जानेवाला पान करें ।

यहाँ प्रारम्भमें देवी संपत्तिका वर्णन करते हुए ११ देवी

(९) आसुरी विपत्तिका रूपः ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अर्थः— हे पार्थ ! दम्भः, दर्पः, अभिमानः च क्रोधः, पारुष्यं, एव च अज्ञानं च (एतानि सप्तमिनि) आसुरीं संपदं अभिजातस्य (पुरुषस्य भवन्ति) ॥ ४ ॥

हे मर्जुन ! आसुरी संपत्तिके साथ सत्य ही मनुष्यमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, विधुरता और अज्ञान ये युग्म होते हैं ॥ ४ ॥

आपार्थ— आसुरी भावनाके मनुष्यमें होना बड़ा है, अभिमान, क्रोध, क्रूरता तथा अज्ञान होता है । इन गुणों प्रभावसे किस पुरुषमें कितना आसुरी भाव है इसका ज्ञान हो सकता है ॥ ४ ॥

एते ब्रह्मोद्भाकाः पृथक्सत्यैककृपाः ।

मज्जन्ते सत्यमवेह दृढपते च भारत ॥ १२ ॥

नास्ति सत्यात्परो भूमौ मानुषात्पातकं परम ।

स्थितिर्हि सत्य धर्मस्य तस्मात्सत्यं न कोपयेत् ॥ १४ ॥

(म मा० संधि ११)

सत्यवाक्य सर्वज्ञाधारण मानवोंका धर्म है । सत्यही सत्यतम धर्म है । सत्यही परम सत्य है । सत्यही धर्म सत्य भोग, सत्यतम भक्षण, तथा सत्य है क्योंकि सत्यही सत्य कुछ प्रतिष्ठित हुआ है । यह सत्य ठोस प्रकृतका है— समता हम सत्य न करना क्षमा ही (दुःखमें लगे हुए) विविधा (सहस्रधा) अनसूचना (दूसरेका उत्कर्ष देकर संतोष होना) त्याग त्याग आवृत्य नृति (सत्यमें पैर) देना आदिता के ठोस सत्यके रूप हैं । नष्टता पराया दृढ-अविच्छेद विषयमें समता अर्थात् विधिकार होना हृष्टद्वेषका और कामक्रोधका क्षय करने इतिवृत्तिका दमन करना अधीरता, धैर्य सहता न करना अग्नि ज्ञान से विद्व होत है । अन्तर न करना क्षमता करना क्षमतामें ही सत्य के सत्य पावनके हो सकते हैं । क्षमा भक्षमा म्रिय अथिष दृढके विषयमें विधिकार क्षमता स्थिर होनेके साथका पावन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है । भोगा नास्ति प्रोक्तः, रागद्वेषोंके दूर करके जो विषयोंका त्याग होता है वही सत्य त्याग है । आर्षेय उसका नाम है कि जिससे सब भूतोंका भक्षण करनेके लिए सत्य निरक्षय प्रपात होता है और भोगेच्छाका त्याग होता है । अज्ञेय वह है जिससे सब प्राणिमोक्ष मन वाणी और कर्म द्वारा अनुमद दिया जाता है दान दिया जाता है, वही सत्य

धर्म सत्यतम धर्म ही है । के ठोस सत्यके रूप हैं । सत्यके साथका पावन और सत्य धर्मकी वृद्धि होती है । सत्य सत्यके वर कोई धर्म नहीं है, और अत्यन्त मोह दृष्टा कोई नहीं है । धर्मका आधार सत्यही है, दृढ सत्य किसीको भी सत्यका त्याग नहीं है ।

वहाँ परमके ध्याने वह बात बतानी होती कि सत्य एव सत्य आदि के धर्मोंमें आदिता, अक्षय्य क्षमा, त्याग क्षमता आदि जातुके हैं । इसका कारण यह है कि सत्य ही गुणोंका परस्पर संबन्ध दृष्टता वसिष्ठ है कि किसीके धर्मके दृष्टके सत्य अत्यन्त गुण स्वयं ही होते हैं इनमें से केवल किसी एकके केवल अर्थमय है । अर्थात् इन्होंने जो अनुभव पाते हैं वे अनुभव पाते हैं अनेकाने कोई नहीं आता । इसी तरह स्थिति होनेपर सब अनुभव अपने अपने हैं सब भी अनेकाने अनेकाने नहीं आता अनुभव अनुभवही पाते हैं । अतः साधकको साधनाय सत्य आदिने और देना अनुभव करना चाहिये कि जिससे देवी संपत्तिके धर्मगुण धर्मों वरते जाय । अब आसुरी सत्यका स्वरूप देखिये—

(४) देवी संपत्तिके मनुष्यमें दम्भ नहीं होता नहीं होता धर्म नहीं होता क्रोध नहीं होता विदुरता नहीं होती इसका कारण उद्यम सत्यज्ञान होता है । आसुरी नृत्तिके मनुष्यमें सत्यज्ञान नहीं होता, दृढ कारण इसमें दम्भ गर्व अहंकार क्रोध द्वेष आदि राक्षसी गुण होते हैं । इनके देखनेसे कि मनुष्यमें कितनी अनुराग है इसका निश्चय किया जा सकता है । वहाँ देवी और आसुरी नृत्तिके पक्ष निश्चय करना चाहिये वहाँ दृष्टके देवी गुणोंके विरोधी आसुरी भाव कोनेके हैं वर देखिये—

(३) देवी और आसुरी प्रकृतिके फल ।

देवी सपदिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता । मा शुचं सपद् देवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

(४) आसुरी विपत्ति ।

द्वौ मृतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च । देवो विस्तरश्च प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः । न शौच नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसभूत किमन्यस्का महेतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रमवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिता ॥ ९ ॥

अन्वया— देवी सपद् विमोक्षाय, आसुरी (संपद् च) निषादाय मता । हे पाण्डव ! (५) देवी सरपं अभिजातः
वि मा शुचः ॥ ५ ॥

अन्वया— हे पार्थ ! आदिम लोके देवा आसुरा एव द्वौ मृतसर्गौ (स्ता, तत्र) देवः विस्तरश्च प्रोक्तः आसुरं
मे शृणु ॥ ६ ॥ आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः तेषु च न शौचं च आचारः न अपि सत्यं विद्यते ॥ ७ ॥
एवमप्यसत्यं अप्रतिष्ठं नवीश्वर अपरस्परसंभूतं किमहेतुकं (च अस्ति) अन्यत् किं (इति ते) आहुः ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिं अवष्टभ्य नष्टात्माः अल्पबुद्ध्याः उग्रकर्माणां, अहिताः क्षयाय प्रमवन्ति ॥ ९ ॥

देवी वृत्ति बधनसे छुड़ानेवाली और आसुरी वृत्ति बधनमें डाकनेवाली है ऐसा माना जाता है ।
हे पाण्डवे पुत्र ! तू देवी उपस्थिते युद्धही पैदा हुआ है अतः शोक मत कर ॥ ५ ॥
हे मर्त्यन ! इस लोकमें देवी और आसुरी यह दो प्रकारकी वृत्ति उत्पन्न हुई है इसमें देवी वृत्तिकी
वर्णन विस्तारसे किया गया है अब आसुरी वृत्तिकी वर्णन मुखसे सुन ॥ ६ ॥ आसुरी लोग प्रवृत्ति और
निवृत्तिको नहीं जानते उनमें पवित्रता नहीं होती सदाचार नहीं होता और नाही सत्य होता है ॥ ७ ॥
यह जगत् भ्रष्ट है निराधार है और यहाँ कोई परमेश्वर नहीं है तथा परस्परसंबंधके बिना ही
यहाँ सब उत्पत्ति होती है इसलिये धिपयमोगके छोड़कर इसका कोई हेतु नहीं है ऐसा भी ये
करते हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकारके दृष्टिकोणको स्वीकार करनेवाले मष्टात्मा मन्वन्ति भयानक कर्म करनेवाले
और जबका अहित करनेवाले जगत्का विनाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

साधारण— देवी भाव बधनका नाश करता है और आसुरी भाव बधनको बढ़ाता है । जो देवी भावसे युक्त है वह
कर्म करने समय विपाद न करे क्योंकि उसका कर्म उसे बधनसे मुक्त करनेवाला होगा ॥ ५ ॥

पुनर्लोको भविक करनेका प्रयत्न करें । इस तरह क्रमशः
करते रहनेसे मनुष्यकी आसुरी तथा राक्षसी भावसे मुक्ति
प्राप्त होगी और देवी भावकी स्थापना हो सकती है ।

इसीसे नाम राका मारुपण होता है तथा—

जगतां धरते प्राणं देवत्वमपि विभवाः ।

(म भा धा १५१)

प्राण देवावतक प्राण हो सकती है ऐसा जो कहा है
उपश्रवणसे हम पढ़ते हैं हो सकती है । अब देवी तथा
आसुरी वृत्तिके बह दृष्टिके—

(५) देवी वृत्तिसे बधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी
तथा राक्षसी वृत्तिसे बधन बढ़ते जाते हैं । इसलिये प्राण
कको उचित है कि वह आसुरी वृत्तिसे दूर रहनेका और
देवी वृत्तिको अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न करे ।

जो साधक देवी वृत्तिसे युक्त हो व अपने प्राणको
आसुरी वृत्तिसे प्रकोभनमें व कसने । क्योंकि आसुरी
वृत्तिसे मनुष्य शिराही है । साधकको हम आसुरी वृत्तिको
एक बार जान कर इससे सावधान रहना चाहिये । अतः
इसका वर्णन दृष्टिके—

गुणोंकी गणना की है और आसुरी वृत्तिका वर्णन करनेके प्रसंगमें वेदक १ ही जगद्गुणोंका विवरण किया है । वास्तवमें आसुरी भाव बोधे नहीं हैं तथापि आसुरी जगद्गुणोंका वर्णन जानबूझ कर बोधा किया है । इसका हेतु यह है कि कुछ गुणोंका अधिक विस्तार भी नहीं करना चाहिये ।

मनुष्यका मन ऐसा है कि वह जिसका चिन्तन करता है उसीके गुणधर्मोंसे मुक्त हो जाता है । इस सिद्धान्तके अनुसार अगवहीताको उचितही था कि वह सद्गुणोंका वर्णन निश्चयसे करे और गुणधर्मोंका वर्णन केवल विद्यामात्र करकेही छोड़ दे । यही वहाँ किया गया है । तथापि आगे आसुरी वृत्तिक भवान्तक परिणाम इसी अन्तर्भावमें छोड़ उसे एक बटाने है । इसका कारण यह है कि पाठक इस भवान्तक परिणामको देखकर अपने आपको आसुरी प्रवृत्तिसे बचावे ।

अगवहीतामें दैवी और आसुरी इन दो ही भावोंका वर्णन किया गया है परन्तु गणकलीतामें दैवी-आसुरी राक्षसी इन तीन वृत्तियोंका वर्णन है । वहाँ उसका संभव होनेसे वह वर्णन देखिये—

दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिक्रियाया नृणाम् ।

सातां क्रान्तिं विद्वानि सक्षेपादेऽपुना मुने ॥ ११ ॥

नैवेद्यम् द्वाऽऽर्चोधाऽवापन्य द्युतिशार्चयम् ।

तेऽऽमयमदिसा च क्षमा सौचममागिवा ॥ १२ ॥

हस्तादि विद्वमाद्याना आसुर्याः शृणु सौम्यम् ।

अतिवाहोऽभिमानस्य द्योऽङ्गल सक्षेपवा ॥ १३ ॥

आसुर्या एवमाद्यानि विद्वानि प्रकृतनूर ।

मिथुरार मन् मोहोऽहकारी च ॥ १४ ॥

होरो दिसाऽद्वा श्रेष्ठ मोहश्च नृणां वीर्यता ।

आभिचारिक कर्तृर्ह्यङ्गलमशतित्यथा ॥ १५ ॥

अनिधाय सतां वाचनेऽशक्तिर्ह्यङ्गलीयता ।

मिथुरार च देहानां मत्तानाममुद्विष्टाम् ॥ १६ ॥

मुनिधामिपिग्राजं तथा द्युतिगुरावधायः ।

पाकण्डशारे विधासः सगाधर्मक्षिमासमा ॥ १७ ॥

अङ्गलमङ्गलं नृणां एतद्वा च पापशृणु ।

अनेककामाचार्य सर्वशान्तवृत्तावधाय ॥ १८ ॥

परो कर्पावद्विष्णुः पाकण्डवराहनि ।

इ वाया बहुधर्मस्य शतशः प्रहजगुण्यः ॥ १९ ॥

(गणकलीता अ १)

मनुष्योंकी दैवी, आसुरी और राक्षसी ऐसी तीन प्रकारकी प्रकृति होती है सक्षेपसे उनके चिह्न ये हैं—

दैवी प्रकृतिके लक्षण ।

पुण्यकी व करना द्या अक्षेप अक्षयवत् (स्वेवं) चैवं, सरकस्वभाव ऐक्यवीचन निर्मपता आदिवा, क्षम, श्रद्धा अमानिता ये दैवी वृत्तिके लक्षण हैं ।

आसुरी प्रकृतिके लक्षण ।

अतिवाह (बहुत वाह करना) अभिमान दर्व (धमक), अज्ञान श्रेष्ठ ये आसुरी वृत्तिके लक्षण हैं ।

राक्षसी प्रकृतिके लक्षण ।

मिथुरा मन् मोह अहंकार, गर्व द्वेष, दिसा, विदं पला श्रेष्ठ मोहश्च नृणां व होना पावसाव कला क्रूर कर्ममें प्रीति सद्भावधर्म अक्षि अविष्णव अङ्गलीयता (हीनकर्म करना) वेदोंकी शिन्धा करना होयि अर्चोकी शिन्धा करना मुनिमोक्षिप विद तथा स्तुतिगुराजों की निंदा करना पाकण्डवावधाय विधास मक्षिमासामों की लगति दम्भके साथ कर्म करना परदम्भका अवहन करना अनेक कामनाओंका पालन करना सदा क्षम आपन करना द्वासेकी उचितिके देकर मुता क्षमा, दृष्ट देके प्रारभ किंहे कर्मोंमें विरम करना इत्यादि राक्षसी वृत्तिके लक्षण हैं ।

इस तरह गणकलीताये माववीय स्वभावक तीन विभाग किये हैं । तथापि आसुरी और राक्षसी वृत्तियोंके एकही कोष्ठकमें विव कर माववीय स्वभावके होही विभाग योग्य है क्योंकि आसुरी और राक्षसीमें अधिक वारम्भ देखने की कोई आवश्यकताही नहीं होयती ।

इस तरह आसुरी तथा राक्षसी वृत्तिनामोंका वर्णन पाठक द्योँ और ये गुणधर्म करने अङ्गद परि हों तो उनके दूर करनेका यत्न करें तथा दैवी गुणोंकी जरूरतमें दृष्टि करनेका अनुष्ठान करते रहें । प्रयत्न करनेपर उचित हो सकयी है । मनुष्योंको ११ी भाव ये है और आसुरी तथा राक्षसी भाव ये हैं येवा वहाँ हमकिंहे कहा है कि मनुष्य एव अरनी परीक्षा करें अपने अङ्गल के गुणधर्म देखें और अपनी स्थान कहा है इसका निश्चय कर । तथा लक्ष्ये अङ्गदके आसुरी गुणोंका कम आर ११ी

तानहं द्विपत कूरान्ससारथे नराधमान् । क्षिपाम्यञ्जमश्रुमानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

आसुरी योनिमापन्ना मूढा अन्मनि जन्मनि । मामत्राप्येव कौन्तेय ततो यान्त्पधर्मा गतिम् २०

अन्मनि—आन् द्विपतः कूरान्, अश्रुमान्, नराधमान्, संसारिण आसुरीषु एव योनिषु अन्मनि नरा क्षिपामि ॥ १९ ॥ ये
कौन्तेय ! आसुरी योनिं आपन्नाः जन्मनि जन्मनि मूढाः (सन्ताः) नान् अत्राप्येव ततो यान्त्पधर्मा गतिं प्राप्स्यन्ति ॥ २० ॥

इन बीच द्वेयी कूर मश्रुम नराधमोंको मैं (ईश्वर) इस संसारमें आसुरी योनिमें बार बार डाकता
रहता हूँ ॥ १९ ॥ हे अर्जुन ! इस तरह हर एक जन्ममें आसुरी योनिमें प्राप्त होबिधाके ये आसुरी लोग
मूढ होत हुए मुझे (ईश्वरको) न पाते हुए, अधम गतिमें ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ— इस लोकमें देवी वृत्ति और आसुरी रुचि ऐसी दो वृत्तिवाले मनुज उत्पन्न हैं । देवी वृत्तिवालोंका
गर्भ इससे पूर्व किया गया है, जब आसुरी वृत्तिवालोंका गर्भ करने हैं । आसुरी वृत्तिवालोंको प्रवृत्ति अथवा विपुत्ति
रहा है, इसका ज्ञान भी नहीं होता है । वे सदा अपवित्र और दुराचारी होते हैं । जन्में सत्य नहीं होता । इस जन्ममें
अपवित्रजन्में उत्पन्न है देसा के मानतेही नहीं । यह जन्म पाँही हुआ और यह आचारके बिबाही स्थित है । परमेस्वर
इस भी नहीं है और यह कार्यकारणवाचके बिबाही बचता है देसा के आसुरी वृत्तिवाले कोम माधते हैं । इस जन्मका
कोई निर्वाण नहीं है वह केवल हमारे विषयोपयोगके किये ही बना है । देसा माननेवाले के दुष्टदुष्टिवाले आसुरी कोम
एकजगद्विष होकरही कार्य करते हैं और सदा जन्मका नाश करनेके उद्यममेंही कने रहते हैं । इनकी भोगवासना
सदा व्युत्पन्न रहती है । वे दुष्टसाध जातन करते हैं, सदा अपवित्र कर्मोंमें कने रहते हैं और बर्तते सदा मरुत्तम रहते
हैं । काम्यभोगमें सदा मस्त रहते हैं । सदा विविध आकाशोंसे बने हुए जन्मस्थले भी अपने मोनोंके किये धनसंजन
करते रहते हैं । जान यह कमाया, कक यह कमाऊंगा परछों इसके भोगूंगा और देसा सुखी होऊंगा सो देसा इस जन्म
में केन है ? मैं कने कसंगा और उपभोग कसंगा उनके मन्त्रमें सदा बही विचार रहते हैं । जो करते हैं ईश्वरसे करते
हैं । जगदीश ईश्वरसे रहनेके कारण इनकी अज्ञा कर्ममें होतीही नहीं । परंतु अपने नामके किये ही वे कुछ न कुछ कम
करते रहते हैं । सर्वव्यापक परमात्माको वे मानते नहीं जर्मकी विदा करते हैं वे जगत्क कूर धर्मकी आसुरी कोम
जगत्क होते हुए बरकमें ही जाते हैं ॥ १—२ ॥

(१-२) सपुन्य धर्ममें सदा विरोधताः मानवजातिमें
देव और असुर ऐसे दो प्रकारके मनुज उत्पन्न हुए हैं ।
देवोंके कर्म इससे पूर्व कने गये हैं । असुरोंके संकेपके
ही कने हैं अथवा जब असुरोंके कर्मज विस्तारसे जब कने
कने हैं । पतक इस कर्मजोंके देखकर अपने पासकी जग
धर्म कीम असुर है इसका निर्णय करें तथा अपने असुर
को असुर मान हों उनका असुरमय कने उनको दूर कर
देना जान करें । देखिये आसुरी मानवोंके कर्मज के हैं—

(१) आसुराः जनाः प्रवृत्तिं विपुत्तिं च न विदुः

आसुरी वृत्तिवाले लोगोंको प्रवृत्ति अथवा विपुत्ति
रहा है इसका ज्ञान नहीं होता है । किस कर्ममें प्रवृत्ति
और दोष चाहिये किस कर्ममें विपुत्ति होना चाहिये, यह
कने प्रीक प्रकार आसुरी लोग जानते नहीं इस किये वे जगत्क

कर्ममें बिना सोचते हुए प्रवृत्त होते हैं । इस कारण गिरते
हैं । प्रायः इनकी कुम प्रवृत्ति रहतीही नहीं मोमी रुचि
होती है इसकिये अपने भोग बढ़ानेके किये चाहे देसा
वीच कर्म करने करते हैं सर्वत्र तो इनको किसी प्रकार
नहीं होता है । जगत्क राष्ट्रीय दृष्टिसे किस कर्ममें प्रवृत्त
होना दितकारी है और किस कर्ममें विपुत्त होना दितकारी
है इसका विचार इन आसुरी वृत्तिवाले मानवोंको नहीं
होता है ।

(२) न धीर्न नाति जायतते न सत्यं तेषु विपद्यते ।

उन आसुरी वृत्तिवालोंमें न पवित्रता, न आचारमुद्रता
और न सत्यविषय होती है । अधिक आचार मतिन रहना
और जगत्क व्यवहार उनका चिह्न है । वे असुर लोग ऐसे देखनेके
किये बाधा दिक्कतेसे पवित्र और सत्य हीके, पातु सत्य

काममाभित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता । मोहादुपगृहीत्वाऽसद्व्याहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिप्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाधिता* । कामोपभोगपरमा एतावदिति निमिताः ॥११॥
आशापाशमृतैकदा* कामक्रोचपरायणा* । ईहन्ते काममोगार्थमन्याभनार्थसचचान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिम प्राप्त्ये मनोरथम् । इदमस्तीव्रमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हत शुश्रूहनिष्ये चापरानपि । ईश्वराऽहमह भोगी सिद्धोऽहं बलनान्मुनी ॥१४॥

आत्मोऽभिजनवानासि कोऽन्योऽस्ति सद्यो मया ।

यस्ये दास्यामि मोक्षिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः । प्रसक्ता* काममोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंमाधिता स्वच्छा धनमानमदान्विताः । यत्रन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोचं च संमिता । मामात्मपरदेहेषु प्रक्षिप्तोऽन्मद्यकाः ॥१८॥

अन्वयः—दुष्पूरं काम आभित्य मोहाद् बन्धुगृहम् गृहीत्वा अशुचिप्रताः दम्भमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥
(८) अपरिमितो प्रलयान्तो चिन्तां कपाधिता कामोपभोगपरमा, एतावत् इति निमिताः ॥ ११ ॥ (९) आशा-
पाशमृतैः कदा, काममोगार्थं अन्याभनार्थं सचचान् ईहन्ते ॥ १२ ॥ अद्य इव मया लब्धं इदं
मनोरथं (१३) दास्यामि इदं (यत्ने अज्ञान) अस्ति, (इदं) अस्ति धनं च मे पुनः भविष्यति ॥ १३ ॥ अहो अशुः
मया हतः अपराधं अपि च इति मे अहं ईश्वरः अहं भोगी अहं सिद्धः बलवान् मुनी (च अहं अस्ति) ॥ १४ ॥
आत्मोऽभिजनवान् अस्ति मया सद्यो कः अन्यः अस्ति ? (अहं) यत्ने दास्यामि मोक्षिष्ये इति अज्ञान
विमोहिताः (१५) ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृता काममोगेषु प्रसक्ताः ८ अशुचौ नरके
पतन्ति ॥ १६ ॥ आत्मसंमाधिताः स्वच्छाः धनमानमदान्विताः ८ दम्भेन विधिपूर्वकं नामयज्ञैः यत्रन्ते ॥ १७ ॥ अहं
कारं बलं दर्पं कामं क्रोचं च संमिताः आत्मपरदेहेषु (स्थित) मां प्रक्षिपन्तः अन्मद्यकाः च (८ भवन्ति) ॥ १८ ॥

कभी दत्त न होनेवाली काममाभित्यो कारण करनेवाले मोहसे अनेक दुष्ट इच्छाओंको धारण करके
अशुद्ध आचरण करनेवाले दम्भी मानी और मज्ञान योग कर्म करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥
ये प्रलय होमतक समाप्त न होनेवाली अपरिमित चिन्ताओंसे प्रसे हुए काममोगोंकोही परम और सर्वस्व
माननेवाले होते हैं ॥ ११ ॥ ऐकहो आशाओंके जाओसे बचे हुए, कामी और क्रोधी अपने उपभोगके
लिये मध्याह्न ही बहुतसा भनसचय करते हैं ॥ १२ ॥ आज भिने यह प्राप्त किया उस मनोरथको
कल प्राप्त करूंगा यह धन इस समय मेरे पास है और कल मेरे पास यह धन हो जायगा ॥ १३ ॥ इस शत्रुको
भिने मारा है इसी तरह भव्य शत्रुओंको भी मैं मारूंगा मैंही हथवर हूं मैंही भोगी मैं सिद्ध हूं
भार मैंही बलवान् तथा मैंही सुहृद् हूं ॥ १४ ॥ मैं भीमान् और कुसीम हूं, मेरे जैसे वृष्ट कीव है ? मैं
यह करूंगा मैं दान दूंगा भार मैंही माँज करूंगा इस तरहके अज्ञानसे मोहित हुए ये भासुरी लोग
होते हैं ॥ १५ ॥ अनेक चित्तविभ्रान्तोंमें पड़ हुए मोहजाओंसे घरे हुए, कामोपभोगोंमें आसक्त होकर ये
साग भगविश्व नरकमें मिरल हैं ॥ १६ ॥ अपनेको बड़ा माननेवाले मध्याह्न धन और मानके मदसे मत्तः
ये भासुरी लोग दम्भस विधिहीन रूपसे कलकल नामके लिये ही यह करते हैं ॥ १७ ॥ अहंकार बल
धर्मह काम मद्यका भाध्य करके अपने तथा परायं दोनोंमें रहनेवाले मेरा (इत्यरका) द्वेष करनेवाले
ये लोग सदा निरा ही किया करते ह ॥ १८ ॥

विपत्तियों से आधुनी लोग प्राप्त होते हैं । विपत्तिका सिंहापन हमारे पास कुछ भी मुक्त नहीं होता, क्योंकि इनके सिंहापन ही विपत्तियों के बहनेवाले और पानिपका नाश करनेवाला होते हैं । मोक्षप्राप्तता न्यून करनेसे ही साम्प्रित मिलती है अलखण्ड मोक्षों की प्राप्तता बढ़ते रहनेसे अस्मित कैसे मिलेगी ? मोक्षप्राप्तताओं की वृद्धि करनेसे विपत्ता कष्ट सखत परिश्रम बहानि सेवनी, परस्पर-संघर्ष परस्पर युद्ध मार-काट परस्परका अपमान ही बढ़ता जायगा । असुरोंमें सदा वही रहता है विपत्ता और अशान्ति बहती है ।

(४) कामोपभोगपरमाः पलायन् इति निश्चिन्ताः ।

ये मानते हैं कि कामोपभोग ही मानवोंका एकमात्र ध्येय है । और कामोपभोग बढ़ानेका मनुष्य प्रयत्न भी करते हैं । परंतु अन्तमें बलता क्या है ? कामोपभोग ही इनका योग्य फल इन्हींका का करते हैं और हाथ हाथ करते हुए वे आधुनी लोग आपसक संघर्षमें मर जाते हैं । कामोपभोग ही अपने जीवको हृदयका ध्येय माननेसे वे सब जनसंख्या होना संभव है । अतः कामोपभोगोंका समन करना चाहिये ।

(५) कामको बरतानाः आद्यापास गतेः बहूः ।

काममोर्गार्थं अन्त्यापेन अयसं चवान् ईहन्ते ।

अपने कामोपभोग बढ़ानेवाले काम प्राप्त व हो तो सब कोष करनेवाले योगसाधक पाशोंसे सदा बद्ध होकर रहते अपने कामोपभोगोंके क्षमकार्य वधि व्यापक बन व मिले तो हर एक प्रकारक अन्त्यापेन अयोध्याके कामेवाले वे आधुनी वृत्तिक लोग होते हैं । जगत्में देखे लोगोंकी संख्या बहुत है । हर एक प्रकारक अन्त्यापेन अयोध्याके कामोपभोगोंके प्रयत्न इच्छा रहती है । स्वयं कहते बड़ा काम प्राप्त करनेक कारण ही कितने अन्त्यापेन हो रहे हैं । पाश-प्रयत्न संघर्ष आर्थिक-सम्पत्तियोंके संघर्ष ही वृत्तिक परिश्रम है । इनकी आधुन्य जन्य होती है और सफलता व हो तो वे पूरक करने कहते हैं और अपने भोग बढ़ाने के लिये जन्य अन्त्यापेन करते हैं ।

(१) मया हर्षं अथ कथम्

का इमं मनोरथं प्रापये

मे हर्षात् हर्षं धनं वसिष्ठ

पुनः मे हर्षं यत्तु यथैवसि ।

जैसे वह योग्य काम प्राप्त किया है कष्ट इस मनोरथको

प्राप्त करूँगा मेरे पास आज यह धन है फिर योही समयमें मेरा हृदय धन हो जायेगा । इस भोगसाधना की वृद्धि करनेक लिये इनके विचार बढते रहते हैं । भोज यह धन कमाया, आज इसको देना छूट इसक विपद देनी मुक्त्युत्पत्ती की उपको ऐसा कैसापा इसे ऐसे दगा, इस ईश्वर मैं इस वर्ष इतना धन कमाऊंगा बार भागे भरा हृदय धन हो सकेगा सदा—

(११) अतो सन्तु मया इतः

अपराह नवि हनिष्यामि ।

इस सन्तुको मैंने मारा है इसी तरह दूसरे सन्तुकोंको भी मारूँगा । मेरे सामने कोई सन्तु ठहर नहीं सकता । मेरी शक्ति इतना बढी है कि मैं सन्तुओंको जैसा कहूँगा वैसाही वे मान लेंगे । मेरे सामर्थ्यक सामने कौन डरेगा ? सन्तुओंका मैं निश्चय करूँगा लोगोंको प्राप्त करूँगा । उन अक्षय्य लोगोंको मैं ही लक्ष्मी भोगूँगा । मेरे सिवाय दूसरा इस भोगोंको भोगनेवाला कौन है ? मेरी ह्वासे हूँकरे कोय भोग भोगे तो भोगे । मेरी ह्वासे व हो तो उनको भोग प्राप्त हो ही नहीं सकता । देख विचार आधुनी लोगोंक मनमें जाते रहते हैं ।

(१२) बर्ह ईधराः बह मोयी बह विद्वः

बह वक्त्रान्, बह सुवी, बर्ह जायतः

बह प्रभिज्जनवान् वसिष्ठ ।

मैं इस सबका स्वामी हूँ मैं ही भाव भोगनेका अधिकारी हूँ मैं ही मित्रवर्तियोंके प्राप्त करवानेवाला हूँ, मेरे पास कितना बल है उतना अन्त्यापेन प्राप्त नहीं है । मैं सुवी हूँ मुक्त मुक्त ही मिलना चाहिये, मैं अष्ट हूँ मैं संघर्ष हूँ और मैं ही ऊँची हूँ । इसलिये मेरी योग्यता अन्त्योको केवल प्राप्त हो सकती है । मेरी समर्थ भार अष्ट हूँ । मेरे पाछही सब कामोंको जाना चाहिये और मेरी सहायताक लिये मेरी प्रायता करने चाहिये । इस तरह मेरी प्रार्थना करनेक लिये अन्त्य छाग आयेय मेरी ह्वासे भागी बननेमें वे अन्त्य आपको सख्त समर्थों फिर मेरे सामने कौन सामर्थ्यसाधो हागा ? जहाँ पृथी अन्त्य है मेरा यह है और मेरा ही प्रभाव है । मेरे जेठ मैं अष्ट ही हूँ । यह मेरा वक्त्र है मैं ही ऊँचा पर्वत और हर्ष हूँ । इस ईश्वर आधुनी वृत्तियोंके मनुष्यक विचार बढते रहते हैं ।

(६) शास्त्रप्रामाण्य ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्मान्छास्त्रप्रमाणसे कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु मूल्याध्यायार्थे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे वैवाहिक-संपत्तिनामयोगो नाम

चौदशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अन्वयः—यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य कामकारतः वर्तते साधन सिद्धिं न सुखं न च परां गतिं नवाप्नोति ॥ २३ ॥
तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्र प्रमाण (जसिध) शास्त्रविधानोक्त कर्म करवा (तत् त्व) इह कर्तु मर्हसि ॥ २४ ॥

काम कोष और काम ये तीन प्रकारके आत्मशक्तिका नाश करनेवाले नरकके द्वार हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग करवा चाहिये ॥ २३ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष यीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपनी आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाना आचरण करता है उसे न सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न परम भोग गतिही प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये हमें शास्त्र प्रमाणही मानना योग्य है । सुखे शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, इस भोक्तमें वही कर्म करना चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—काम कोष और काम ये तीन मयोविकार मनुष्यकी शक्ति क्षीय करनेवाले हैं इस कारण मनुष्य इनका त्याग करे । इनको दूर करनेके लिये शास्त्रकी उक्ति हो सकती है ॥ २३-२४ ॥

भावार्थ शास्त्रविधि छोड़कर कर्म करनेवालेकी अज्ञानता होती है इसलिये इसका मनुष्य शास्त्रकी प्रमाण माने और वैसा शास्त्रमें कहा है, वैसा कर्म करने उचितको प्राप्त हो ॥ २३-२४ ॥

(२३-२४) काम कोष और काम ये तीन बरकमें पड़नेवाले तीन द्वार हैं । इनसे दूर रहकर जो अपने भोक्तका आचरण करता है, वही परम भोग गतिको प्राप्त होता है ।

इस वैसा आचरणके लिये शास्त्र बचन प्रमाण मानना चाहिये यह सूचित करनेके लिये शास्त्र-प्रामाण्यका भाग दिखाते हैं ।

(२३-२४) बाह्यी इतिवाक्ये काम शास्त्रविधिको छोड़कर हान्यके सब कर्म करते हैं इसलिये उनको योग्य सिद्धि प्राप्त नहीं होती, न सुख प्राप्त होता है और न भोग मिलती मिलती है । उनको सदा येचैवी चिन्ता और अज्ञान ही योग्य बचती है । यदि वे बाह्यी काम अपना हट छोड़ें और शास्त्रवाक्ये अनुसार कार्य करते जाय,

तो निःसंशय उनको सुख क्षान्ति और सिद्धिसे साधन परम पति ही अवश्य प्राप्त हो जाय ।

शास्त्र क्या है ? शास्त्र प्राचीन ज्ञान पुस्तकोंका अनुसरण कहा जाता है । इसलिये शास्त्रबचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक बाध पुस्तकोंके अनुसरणका काम निकल जाता है और शास्त्र वैद्यकीको न माननेसे इतने अनुभवसे संबंध रहनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियां योग्यनी पड़ती हैं ।

शास्त्र-प्रमाण माननेसे अनेक काम ई और शास्त्रपुस्तकोंकी ओर दुर्लभ करनेसे अनेक हानियां हैं । इसलिये ज्ञानी कोयोगी प्रमाणोंमें शास्त्र-प्रमाणको महत्त्वका स्थान दिव्य है । इससे जति प्राचीन काकसे इस समयतक अनेक ज्ञान पुस्तकोंकी संमति एकट्ठी मिलती है और उसका विचार करनेसे बहुतही संकटोंसे बचाव होनेकी संभावना होती है ।

(५) नरकके तीन द्वार ।

त्रिविधं नरकस्थेदं द्वारं नाश्नमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्वमेव ॥२१॥
एतन्निमुक्तं कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर । आचरत्पापमनः भयस्ततो वासि परां गतिम् ॥२२॥

अन्वयः— कामः क्रोधः तथा लोभः इति त्रिविधं पापमनः वाहनं नरकस्थ द्वारं (नस्ति) ; तस्मात् एतत् त्रयं त्वमेव ॥ २१ ॥ हे कौन्तेय ! एतैः त्रिविधैः तमोद्वारैः त्रिमुक्तः नरः, आत्मनः भयः नाशयति ततः परां गतिं वासि ॥ २२ ॥

(१२) पहले दास्यामि मोदिष्ये ।

मैं पद्म कल्याण मैं दान दूँगा और मैंही कामदेवमोग
लूँगा यह सब करनेका कामधर्म मुझमेंही है । मेरे सख्त तीन
दान देनेवाका है । मेरे समान पद्म करनेवाका भी कौन
है । मेरे सख्त मोग भोगनेवाका भी कौन है । बासुरी
भोग देसाही धर्मक करते रहते हैं ।

(१३) इति ब्रह्माविमोदिताः मोहबन्धनमाहुः ।

अनेकविधविभ्रान्ताः कामभोगेयुः

प्रसज्याः बहुधा बन्धे पतन्ति ।

इस तरहके भ्रान्तासे मोहित हुए विविध मोहवालोंके
गुण अनेक बिजोंके विभ्रमोंके भाण्ड हुए कामभोगोंके
विशेष आसक्त होकर पीछे गिरते जाते हैं और अन्तमें
अपवित्र प्रायमें गिरते हैं । ये बासुरी भोग को करते हैं
पर उबकी गिरावटके जिवेही होजाते हैं । इनकी ऐसी भ्रान्तक
भवस्था हो जाती है ।

(१४) आत्मसमाविताः स्वतयाः धर्मात्मनः साविताः ।

इत्येव नचिद्विपूर्वकं नामकथैः वक्ष्यते ।

अपने आपको सर्वभेद भावनेवाके अक्षय्य धन और
मानके समस्त धर्मोंके हुए, अन्तमें विधिके छोटकर कमक
नाममात्र धर्मोंका वजन करते हैं । अर्थात् इनमें समस्त अत्य
धिक होनेसे तथा विधिविधान की पद्धति न करनेके कारण
अन्तमें जो न करते हैं वह केवल नाममात्रकेही बख्त होते
हैं । सख्त वक्ष्यकोंमें अहिंसा सत्य निर्माणा विधि का
परबन्ध पादिसे । इन सख्तोंमें तो वे दूर रहते हैं, अतः
इससे होनेवाके सब साथ होते ही नहीं और न वे सख्तके सब
धर्मोंमें समस्त होते हैं । क्योंकि वक्ष्यके किने आत्मसमर्पणका
म न चाहिये और इसके बिना इनमें तो आत्मभोगका आन
दका दुभा रहता है । इसलिये इनसे अपना सब होना
बख्तपरी है ।

(१५) नरकाः यच्च इति काम क्रोध च संविताः ।

‘नरकाः यच्च यच्च काम क्रोध क्रोध वादिक कामधर्म करने’
वे बासुरी भोग करते वजनमें आकर बगलका बख्त करनेका
करना होते हैं । इनके अन्तर आत्मभोग सर्वधर्मोंके भोगनेका
भाव होता भी नहीं रहता । वे लोग अतः इनकोके अन्तर
कर अपने मोग बख्तके बख्त करते रहते हैं ।

(१६) शम्भुयुक्ताः आत्मपरादेहेषु यं (इहं) प्रविष्टाः ।

वे बिंदु करनेवाके बासुरी बख्तके भोग अपने तथा
दूसरोंके देहमें रहनेवाके ईश्वरकी निर्मलता करते हैं । उन
मान करते हैं और हेतु करते हैं । क्योंकि निचकरी जगत्त
है अतः हरएक कन उलकाही कन है । किसीके साथ एक कन
करना परमेस्वरके साथ ही एक कन करना है । अर्थात्
ईश्वरके समान भावसे देवता और वही उलका अनुमान करते
उलका आदर करना हरएकको अधिक है । परंतु वे बासुरी
भोग देखा क्यों करते । क्योंकि वस्तुमें मरे हुए वे बासुरी
भोग देखा क्यों करते । क्योंकि वस्तुमें मरे हुए वे बासुरी
भोग दूसरोंके समानसे देखते तक नहीं और उनका एक
करनेमें बान्धव मानते हैं ।

वे हैं बासुरी बख्तोंके कथन । वे बहुत कोन अन्तमें
पारों और मरे पडे हैं । वास्तव इनके अपने पारों और देह
सकते हैं ।

ये हैं बासुरी स्वयम्भवाकोंके पूर और वाचन होनेके
काण्ड ईश्वर चित्राकाके किने अष्टम बोधिमें केक देखा है ।
बासुरी अवन अनुमान बोधमें पडे हुए वे जीव लोभ
भोगमें हुए हुए बखते हुए, ईश्वरका विचारक न करते
हुए अवन गतिके प्राप्त होते हैं । अर्थात् हरएक भ्रान्ताकी
अधोगतिके प्राप्त होते जाते हैं । ऐसी भ्रान्तक अवस्था
बासुरी मनुष्यताकाही होती है । इस कारण वस्तुमें
अधिक है कि वे इस आपत्तिसे अपने आपको बख्तों भा
देही सपत्तिके पथपर अपने आपको स्थिर करें ।

आगे नरकके तीन द्वारोंका स्वरूप देखिये—

(६) शास्त्रप्रामाण्य ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । श्वात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे शैबामुद्रा—संपादिभागयोगो नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अन्वयः—यः शास्त्रविधिं उत्सृज्य कामकारतः वर्तते सः न सिद्धिं न सुखं न च परां गतिं लब्धमाप्ति ॥ २३ ॥
तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रं प्रमाणं (अस्ति) शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तव्यं (उद् २४) इह कर्तुं अर्हसि ॥ २४ ॥

काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके आत्मशाक्तिका नाश करनेवाले भरकके द्वार हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ॥ २३ ॥ हे कुन्तिपुत्र ! इन तीन तमोद्वारोंसे विशेष रीतिसे मुक्त हुआ मनुष्य अपनी आत्माके कल्याणके लिये योग्य आचरण करता है इस कारण वह उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

जो शास्त्रविधिको त्याग कर मनमाना आचरण करता है उसे न सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न परम श्रेष्ठ गतिही प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ इसलिये कर्तव्य और भक्तव्यका निर्णय करनेके लिये हमें शास्त्र प्रमाणही मानना योग्य है । तुमने शास्त्रमें जो कहा है उस कर्मको जानकर, इस भोक्तमें वही कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

अन्वयः—काम क्रोध और लोभ ये तीन भरोषिकार मनुष्यकी धाँक धीन करनेवाके हैं, इस कारण मनुष्य इनको दूर करे । इनको दूर करनेसेही शास्त्रकी उचित हो सकती है ॥ २३-२४ ॥

अन्वयः शास्त्रविधि कोटकर कर्म करनेवालेकी अनोचति होती है इसलिये शरदक मनुष्य शास्त्रको प्रमाण माने और केवल कर्ममें क्या है, वैसा कर्म करके उचितको प्राप्त हो ॥ २३—२४ ॥

(११-२२) काम क्रोध और लोभ ये तीन भरकमें पहुँचनेसे तीन द्वार हैं । इनसे दूर रहकर जो अपने भोक्तका आचरण करता है, वही परम श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ।

इस केवल आचरणके लिये शास्त्र बचन प्रमाण मानना चाहिये वह सुक्ति करनेके लिये शास्त्र—प्रामाण्यका मयाग दिखाते हैं ।

(२३-२४) आसुरी दृष्टिवाले लोग शास्त्रविधिको कोटकर हृदयसे दूर कर्म करते हैं । इसलिये उनके योग्य सिद्धि शून्य बनी होती, न सुख प्राप्त होता है और न अन्न मिलती मिलती है । इनको क्या वेचनी किन्वा योग असाध्य ही भोक्तनी पड़ती है । यदि वे आसुरी क्रोध अपना हृदयसे दूर और शास्त्रवाले अनुयाय कर्म करते जाँच

लो गतिसेही उनके मुक्त शास्त्र और सिद्धिके साथ परम गति भी लब्धय प्राप्त हो जाय ।

शास्त्र क्या है ? शास्त्र प्राचीन ज्ञान पुस्तकोंका अनुभव बताया है । इसलिये शास्त्रबचन प्रमाण माननेसे अनेकानेक आत्मा पुस्तकोंका अनुभवोंका काम निकल सकता है और शास्त्र विचारोंको न माननेसे हलके अनुभवसे संनित होनेके कारण अनेक प्रकारकी हानियाँ भोगनी पड़ती हैं ।

शास्त्र—प्रमाण माननेसे अनेक फायदा है और शास्त्रबचनोंकी ओर दुर्लक्ष करनेसे अनेक हानियाँ हैं । इतकिये ज्ञानी लोगोंने प्रमाणमें शास्त्र—प्रमाणको महत्त्वका स्थान दिया है । इससे अति प्राचीन काकथें इस समयतकक अनेक ज्ञान पुस्तकोंकी संमति इकट्ठी मिलती है और उचित विचार करनेसे अनुवही संनितसे बचाव होनेकी संभावना होती है ।

इसीलिए सबको कर्तव्य भार बर्ताव्यका निश्चय करने में छात्रावस्थाका प्रमुख सामना योग्य है —

कार्यान्वयणवस्तुतै ते साक्षात् समान ।

शास्त्र कहता है कि यह कार्य करनेयोग्य है और वह करनेयोग्य नहीं है। इस शास्त्रविधिको देखकर शास्त्रविधिने क्या कहा है इसका विचार करके जो निश्चय होगा वह कामा हरद्वक के द्विसे कायकारी है।

यहाँ कुछ पढ़ने कि हम छात्रचरणों की परव्रता क्यों मानें ? क्यों हम स्वयं विचार से अपने कर्तव्याकर्तव्य विचार न करें ? इस विषयमें उभर यह है कि छात्रचरण न मानने से अपरवार सङ्घटन काये। संकटोंसे अपने आपको बचावेकी ह्मका है तो आपको ज्ञात बचनोंका प्रमाण मानना ही चाहिये। इसमें शुद्धानी या पारदर्श्य नहीं है प्रत्युत जनसङ्घर्षके अनुभवसे काय उदया है।

हर एक मनुष्य स्वतन्त्रतासे विचार करके अपना कठम्य कर्म करे ऐसा कहना बड़ा सुगम है परन्तु आचरणमें क्या बड़ा दुःखि करनेवाला है। ऐंजेलो—एक बाळक अछारकेसान जानना चाहय ह उसको गुह्यनीने न अछर बतवा। आप प्रश्न होता है कि वह उन न अछर न ऐलाही है ऐला विश्वास करे वा न करे और न विश्वास करे सो लछरसि ज्ञान किस रंगसे प्राप्त करे? आप कहने कि बाळकोको गुह्यनीके बचनपर विश्वास रखनाही चाहिये। यदि बाळ कोका अछरविज्ञानक सीखयेक समय बाळ पुररुके बच मोपर विश्वास रखना चाहिये अन्यथा उसको ज्ञान नहीं हाया ऐला कई सो जाण्यप्रतिक ज्ञानधन्ये सो बाळक सेह लछरान ई उसको भी अन्वयप्रतिक ज्ञानी गुह्यनीपर परा दियाका पाठ केयेक समय बैठा ही विश्वास रखना चाहिये। यही सिद्धांश मायना छात्रबचनोपर विश्वास रचना है।

आमृतका स्थापना भी अतः आवश्यक विचार रखनेके विना नहीं चलता। जैसे—किसीको किसी एक ग्रामको जान ह माने बिना ही उसी कक्षरपासे वह पृथ्वे पृथ्वे इस ग्रामको पहुँचाते हैं। यदि वह किसीके मार्ग-पृथ्वेपर और प्रत्येक ग्राम बलावर वह अधिवास को जीए रख अनुभव किन दिना किसीपर विचार्य या रज

मेका मिश्रण करे तो वह अचिवासी अपने हृदय में
पहुँचेगा !

किस्तीके घरमें एक मनुष्य बड़ा बीमार है, उसका मित्र कहता है कि बहुत तेज इस रोग की चिकित्सा करना चायेगा है उसकी चिकित्सासे इसको आरोग्य होगा। बहुत जल्दे लोग ऐसे लक्षणोंपर विश्वास करते आरोग्य पाते भी हैं; परन्तु यदि हर एक मनुष्य कहे कि बहुत जल्दे चिकित्सा है विश्वास नहीं करूँगा तो वह किस चिकित्सकको बुकारेगा। इसका तो किसीपर विश्वासही नहीं है। विश्वास न होनेके कारण वह मनुष्य करनेवाला किसीको भी बुका नहीं लखेगा और अविश्वासिके घरका रोगी चिकित्साके बिना वैद्य ही मर जायेगा।

विद्यालय रखनेवाले भी-कमते हैं परंतु बहिष्कातियोंके अधिक दुरु-भोगना पड़ता है क्योंकि उनको डिग्री भी तो पढ़ाया नहीं मिला करता। अतः विद्यासिंघों की अपेक्षा बहिष्कातियोंको अधिक यह भोगने पड़ते हैं। इसी कारण कहा है कि शास्त्र धर्मोपर विद्यालय रखना चाहिये।

पाठक विचार करेंगे तो डबको खिंच होना कि जो किछीवर भी विश्वास नहीं करते डबको तो कमजोर कह दिया। संभव है। इसदिने बास मुन्नाई बन्नीवर बर्षाव साम्राज्यनोवर विश्वास रखकर अपने कर्मजाक-मकानिर्भर करना और भेसा निर्भर हो जगदार्थक बेमानी करना सब साधकोंको योग्य होगा।

हैं प्रथम अनुभव करनेके समय यह अच्छा है वा नहीं इसका बहुत विचार करके निश्चय करना योग्य है। छात्र-व्यवस्थापनमें कीवसा साधनरचना आवश्यक है, इसका भी निम्न आगच्छ होकर करना चाहिये। अन्तर्गत अन्तर्गत वरा चक्र आगच्छो और यह अनुभव है हानिकारक भिन्न होती। वगैरि इसका करनेपर अन्तर्गत साधनरचना आवश्यक है वगैरि के बिना हितकारक सिद्ध होगा।

साधारणतः न मानते हुए अपने ही जादूकारक वक्तों
होकर चलेनेवाले जादूगर्हक कोय मात्र पुरनों के अनुभवका
नाम न मिलके कायल इधर उधर भटकते हुए अनेक
वक्तानोंमें टरकर पाल हुए कुल भोगत चले जाते हैं। इन
पुरोंका वर करनेका एकही मांस है जोर यह है साध

बचनोंको, बाह्य बातोंको मानना और उपर विधास करके स्वकी ओरिमें अपना मार्ग तय करवा ।

बाह्य पुरुषके बचनोंपर विधास रखनेवालोंको भी बोधनेका अवसर नहीं होता है ऐसा नहीं । प्रत्येक जब स्वमें कुछ न कुछ अनुभव होताही है और उसको अनुभव करके बायें बहना सुगम होता है । बीच बीचमें प्यारे पुरुषोंके मन्त्रों से ध्यान करते हुए अपने बहनेसे मार्ग सावधानीसे तय किया जा सकता है ।

बाह्यबचनोंपर विधास रखकर अनुष्ठान करनेवालोंको जो विधासका बन्ध और भविष्यका कष्ट छिये परिश्रमसंबंधी विस्तारहित ध्यानि भिक्ती है, वह भविष्यासियोंको कष्टाणि नहीं मिष्ट सकती । "

सारांश यह कि बाह्यबचनोंपर विधास रखनाही सदा सर्वदा कामदायक है । अतः साधक ऐसा ही करे और हृदयकोमें सुख साधि और भिक्षुको प्राप्त करके परलोकमें परम उच्च गति अर्थात् देवसी अवस्था प्राप्त करे ।

यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

सोलहवें अध्यायका मनन ।

देवी वृत्ति ।

श्रीमन्नगभट्टीवाले सोलहवें अध्यायमें मनुष्योंके दो विधाओंका वर्णन है । एक देवी वृत्तिवाले लोग होते हैं और दूसरे रामजी अथवा बामुरी वृत्तिवाले होते हैं । देवी वृत्तिवाले ओमेंमें विमलता पवित्रता ज्ञानमें रुचि, योग्यतामें उत्तरता श्रम देनेकी इच्छा इतिवद्भजन कर देवी इष्टता चामसमर्पणकर यह करनेकी अधिकारता वायव्यमान करनेकी इच्छा भेद कर्म करके समस्त शोचनेके कष्ट बाधनेसे सहनेकी वृत्ति, सरल स्वभाव करिवा सम्यक्ज्ञान कोष न करना, कमफलका संग न करनेका स्वभाव समस्त स्वभाव जुगकी न करना भूतद्वारा जिनमें भाव मनकी कोमलता कुकर्म करनेमें कष्टात्कष्टात् न होना तेजस्विता क्षमा शैवं सुदृढा विभीषा शोध न करना समस्त न करना, आदि छत्र गुण होते हैं ।

ये सबके सब छत्र गुण हरएकमें होते हैं ऐसा भाव नहीं बरों है । कुछ गुण लघुप्रतिष्ठ प्रमात्रमें होते कुछ नहीं की होनि कुछ अधिक प्रमात्रमें होते तो कुछ लघु प्रमात्रमें होते । तब ही बहुतसे गुण होतेही ।

ये गुण अनेके नहीं रहते एकसे होनेसे दूसरेका होना स्वाभाविकता होता है इस कारण एक गुण बहनेसे दूसरे गुण स्वयंही आकर बसने लगते हैं ।

इस तरह वह देवी संपत्ति मानवताकी उच्छेदे उच्छेद कोटिका कक्षक है । उच्छेदे उच्छेद उच्छेदे उच्छेद मनुष्य कीमता है इसका उत्तर नहीं है कि जिसमें ये देवी छत्र गुण उत्कर्षसे रहते हैं वह मनुष्य उच्छेद है नहीं भेद है और उसीमें मानवताका पूरे विकास हुआ है । नहीं मोक्षक अधिकारी है और उसीक पास बचन नहीं रह सकते । अस्तु । नहीं देवी संपत्ति है ।

आसुरी वृत्ति ।

अब बामुरी वृत्तिका वर्णन देखिये । बामुरी वृत्तिवालों में कर्तव्यकर्तव्यका विचार न होना अपवित्र व्यवहार सहायताका अभाव सबका पावन न करना ईश्वरों न मानना वह जगत् विषयाके बिना चक्र रहा है पर्य मानना वह अपने उपभोगके छिये ही है ऐसा मानना अपने भोग बढ़ानेके छिये बडे बडे कर्म कर देना, जगत्का संहार करके भी अपने भोग बढ़ाना ईश्वर मान मरुद गुण होकर भोग बढ़ानेवाले कर्ममें रत रह । मोहसे नमूदकी मुद मानना,

श्रीमद्भगवद्गीताके

सोलहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
देवासुरवधिविभागयोग		(१) भासुरी विपत्तिका स्वरूप ।	८८१
(१) देवी संपत्तिका स्वरूप ।	८७३	(श्लोक ४)	
(श्लोक १-३)	,	देवी माध, बासुरी भय	८८१
१०० वृत्ति के कथन	८७४	देवी वक्रचिह्ने कथन	८८१
शरणार्थ		बासुरी	"
वर्ण—	८७५	राक्षसी	,
भारीक वर्ण		(३) देवी और भासुरी प्रकाशक फल	८८१
बलिक वर्ण		(श्लोक ५)	"
मानविक वर्ण	,	(४) बासुरी विपत्ति । (श्लोक १-९)	"
भारिक वर्ण		(श्लोक १०-१८)	८८१
राज्य वर्ण		(श्लोक १९-२०)	८८३
वामन वर्ण		(५) नरकके तीन द्वार ।	८९०
रथ	"	(श्लोक २१-२२)	"
गोवधुति	८७६	(६) शास्त्रप्रामाण्य ।	८९१
मानवयोगध्वनिविनि	"	(श्लोक २३-२४)	
मानके कथन रथ		मानहयें अध्यायका मनन ।	८९१
वज्र आश्रय बलिमा बलिध	८७७	देवी वृत्ति बासुरी वृत्ति	"
कथोद बलिध बलिमुपरा रथ	८७८	नव बारतिवोंका मूक	८९१
मानवध्वनि ध्वनेषु रथ भय		मानहयें अध्यायक तुमापित ।	८९१
ध्वन (ध्वनिता) की वृत्ति कथन देव	८७९	(१) वध बार मोक्ष	"
अध्यायक मार्ग		(२) मूर्खोंका अध्याय	"
अध्यायक अध्याय	८८०	(३) नाक-द्वार	"
रथका ध्वन		(४) ध्वन गति की ध्वनि	"
रथ १०८.११ वर्ण	"	(५) ध्वनध्वन न मानवध्वन ध्वनि	"
ध्वन	८८१	(६) ध्वन ध्वन ध्वन ।	"

अथ सप्तपञ्चोऽध्यायः ।

श्रद्धात्रयविभागयोगः ।

(१) त्रिविध भद्राका स्वरूप ।

महंम उवाच—

यः श्राद्धविधिभिरसुज्य यजन्ते भद्रयान्विताः । तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सप्तमाहो रजस्तम ॥१॥

श्रीमगवानुवाच—

त्रिविधा भवति भद्रा देहिनां सा स्वभावजा । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सत्ताल्लरूपा सर्वस्य भद्रा भवति भारत । भद्रामयोऽयं पुरुषो यो यच्छृणु स एव सः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यध्वरक्षांसि राजसाः । प्रेताभूतमर्षाभान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वया— महंम उवाच— हे कृष्ण ! ये शास्त्रविधि उत्तुज्य, भद्रयान्विता (सत्ता) यजन्ते तेषां तु का निष्ठा !
फलं रजः तातो तमाः ॥ १ ॥ श्रीमगवानुवाच— देहिनां वा स्वभावजा भद्रा सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी
च एव इति त्रिविधा भवति तां शृणु ॥ २ ॥ हे भारत ! सर्वस्य धर्मात्पुरुषा भद्रा भवति यत्वं पुरुषः भद्रामयः
(भक्ति) वा यच्छृणु । यवति सः एव सः (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवाः यजन्ते राजसाः यध्वरक्षांसि यजन्ते
तामसाः जनाः प्रेताः भूतमर्षा च यजन्ते ॥ ४ ॥

महंमते पूज्य— हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर (परंतु) भद्रासे युक्त होकर, यजन
करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है— सात्त्विक राजस या तामस ॥ १ ॥

मगवानुवाच— स्वभावतः प्राणिमानकी जो भद्रा होती है वह सात्त्विक राजसी और तामसी
ऐसी तीन प्रकारकी होती है उसका वर्ण्य सुख ॥ २ ॥ हे भारत ! जब लोगोंकी भद्रा अपने अपने
स्वभावके अनुसार भर्त्ता प्रकृति—स्वभावके अनुसार होती है । यह मनुष्य भद्रामय है । जिसकी जैसी भद्रा
होती है, वह (जीव) वैसाही होता है ॥ ३ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं । राजस लोग यज्ञों
और राक्षसोंका यजन करते हैं, इसके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे लोग प्रेतों और भूतमर्षोंका यजन
करते हैं ॥ ४ ॥

माधार्थ— इस लोग सात्त्विकिसे अनुसार जो कर्म नहीं करते परंतु जो कर्म करते हैं वह वही भद्रासे करते हैं
उन्को निष्ठा कैसी भवनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें विवेचन है मनुष्योंके प्रकृतिके अनुसार तीन भेद होते हैं
उन्को सात्त्विक तामस और तामस कहते हैं । जिसकी प्रकृति सात्त्विक होती है वे देवोंकी उपासना करते हैं जो राजस
प्रकृतिसे युक्त होते हैं वे यध्वरक्षाओंकी पूजा करते हैं और जिसकी प्रकृति तमोगुणी होती है वे भूत मय पिशाचोंकी
पूजा करते हैं । जिसकी जैसी प्रकृति होगी उसकी वैसीही कृति भवना उपासना होगी । अपनी प्रकृतिसे विपरीत कोई
कृत नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥

अनुष्ठानोंका पाठन करना बिम्बाको बहानेवाले बहुतसे कर्म करनेका प्रयत्न करना कामयोग बहानेका उपक्रम करना, कामी श्रीजी आद्यापद्योति बहूत, कुकर्मों, कर्मों, कामुग्री लोग अपने योग बहानेके छिन्ने ब्यापके धन व विषय तो ब्यापवसे धन प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहते हैं उस प्रयत्नमें किम्बा भी प्राप्तपात हो हुआ तो भी इनका उद्योगी चिन्ता नहीं होती ।

यह आज कमाया है उस धनको मैं कुछ प्राप्त कहेगा परसों उद्योग परामर्श करके खर कर धन के जाटका आज मरी बहूत हृष्टा सख्त हुई है कुछ मैं उद्योग मजोरधको मुक्त करूँगा । मैं अपना सामर्थ्य बहा रहा हूँ । मेरा सेवा बहूत बहा है सार्वजनिक तथा सामाजिक बहूत मैंने बहाया है मेरी समस्त अनुष्ठान है उसके सामने कोई उद्योगवाला नहीं है जो मेरा सामर्थ्य करेगा उसके मार करकर हवा दूँगा । सब जगत् पर ज्ञान तो भी मुझे पराई नहीं, मुझ लोग प्राप्त होते हैं वा नहीं बही देखना है ।

मैं सब अनुष्ठानोंका बहूत करूँगा जब प्राप्त करके सबको खर मार कर बसेष उपयोग देवा दूँगा । मेरा सामर्थ्य बहा हुआ है, मेरे सामने उद्योगवाला बहूत कोई नहीं है, मेरे सखाय प्रयासवाली हैं मेरे सैनिक मुक्तिसार्व है मेरे पास विद्याका धनका और मानवोंका बहुत बहूत है फिर मुझे किसकी पराई है? कमजोरोंपर मैं आक्रमण करूँगा उनका राग पीन लूँगा उनके पादाक्रान्त करूँगा उनके दबाकर लूँगा उनको उठने नहीं दूँगा, उनके देखोंमें हमारे देखक विजयी और लूट संचार करेंगे उनके को रोकेंगे उनके समस्त का दिया जायगा । व मित्र लोग तो कःपदाय हैं उनके जीवित रहना अच्छा उनके मारना हमारी हृष्टापर निर्भर है । हमें रोकनेवाला कौन है? यदि कोई खरा होगा तो उसका नामविद्यावतक नहीं रहने देंगे । जिस राष्ट्रक स्वपराका प्राप्त करेंगे हमके धन पीनमेक उपाय भोजने उनके धनसंग्रह करने नहीं देंगे हरहक मागसे उनके धन नहीं बहने देंगे ।

जिन्हें कोनोंके दबावे रहेंगे । जब तो सब जगत्के राज पावनकी बानधोर हमारा हाथमें है जिन्हें हम उद्योगोंकी बही ऊपर रहवा, जिन्हें हम मारना चाहेंगे वही मार जायगा, सब कुछ का हमारे ही मकानुष्ठान होगा । जो हमारा राज-

विद्या नहीं रहेंगे मारे जायेंगे । हमारे कोनही बोन कोनेमें । अन्तोंको कौन पृथका है ? वे चाहे मरें चाहे रोयी हों, जो जो कुछ हो उनके उपयोग कीनकर हमारी मुक्त मोनेने ।

पात देना हो तो हमही देंगे बहूत करना हो तो हम जैसे कहेंगे वैसेही करना होगा हम जितना चाहेंगे उतनाही बिद्या पचाई जायगी, हम जितना चाहेंगे उतनाही वे मित्र लोग बहूत कर देंगे उतनाही केवल किन्हे उतनाही लोग भोगेंगे हमारी दृष्टापर उनका जीवित रहेगा । वह हमारी दृष्टाही सर्वोपरि है ।

हम हरह बर्षक करते हुए वे लोग मोहमात्रमें बंदे हुए बनेक दुराचार, बनावार और बलाचार करते हैं और सख्तविधि की पराई नहीं करते ।

वे मूर अवध और हीनावादी लोग प्रतिदिन अपने ही कर्मोंके बंधनमें कैदके जाते हैं । जो अपनी उद्योगिक स्थिति के बरत हैं वही इनको प्रतिदिन बंधनमें डाकटा है वह इस तरह वे बनेक बाला बिम्बा बहूतमें कैदके हुए प्रतिदिन हीनतर अवस्थाको पहुँचते हैं और अन्तमें देखे गहनें मिले हैं कि बहाड़े कभी उठ नहीं सफेते ।

सब आपत्तियोंका मूल ।

हम अनुष्ठानिकाओंका आचार-स्ववहार देखनेके हमें काम कोच और कोच के हीनही भाव प्रबल हैं देवा लल रिचाई देवा है और देवी बुद्धिवाकेंति देवी कीन वाच बहूत मित्र और धर्मानुष्ठान करते हैं । देव और अनुष्ठानोंकी बही वेद है । पाठक हूय वेदको विचारकी दृष्टिके टीक प्रकर देखें । और अपने चारों ओर इसका अनुभव करें । हृष्टा कःसे पचाई हूय जगत्में अपने चारों ओर काम-कोच-कोनेमें और प्रभुत होनेके किम्बा अवश्य दिया है वह भी अवश्य देखें और अपने अन्तर तथा अपने धनमात्रमें काम-कोच कोनोंको रहर होने बहूत । हमका धन्यव करवाही सम्पत्ति का पिदा है । और हमका अवधम बनावारका काम कोने-वाका है ।

वही आद्यमर्षादा है । अतः आद्यमर्षादाका अवधम बहूत अपने कर्मवाकठमका निर्भर करना, बहूत आचार स्ववहार धर्मवाकठमपर करना हरहक भवोर्षिक स्थिति कोच है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके सुभाषित

(१) ब्रह्म और माध ।

हैषी संपद्विमोक्षाय
विषं चापासुरी मृता ॥ (गी १६।५)

“हैषी गुणोंसे बंधनकी निवृत्ति होती है और आसुरी
वृत्तिसे बंधनोंकी वृद्धि होती है ।

(२) मूढोंका अधःपात ।

मूढा जग्मसि जग्मसि
धात्स्यधर्मा गतिम् ॥ (गी १६।६)

“मूढ लोग जन्म जन्ममें अपनी मूढताके कारण
नशापतके प्राप्त होते हैं ।”

(३) नरकद्वार ।

विनिर्घं नरकस्येवं द्वारं नाशनमात्मनः ।
क्षमः क्षोद्यस्तथा क्षोभस्तसादेतत्तव तथजेत् ॥
(गी १६।११)

“क्षम श्रेय और क्षोभ ये नरकके द्वार हैं । इनमें
रहित होनेसे आत्माका बचाव होना है । अतः इनसे
बचने बातका बचाव करना चाहिये ।

(४) परम शक्तिकी प्राप्ति ।

आचरत्यात्मनः श्रेयः
ततो यानि परां गतिम् ॥ (गी १६।१२)

जो अपने श्रेयका आचरण करता है, वही परम उच्च
बचस्वाको प्राप्त होगा ।

(५) शास्त्रवचन न माननेसे हानि ।

यः शास्त्राधिधिमस्त्युज्य वर्तते कामकारता ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न मुक्तं न परां गतिम् ॥
(गी १६।१३)

जो शास्त्रोंके आदेश छोड़कर स्वयं वर्तन करते हैं,
उनको सिद्धि, मुक्त तथा उन्नति प्राप्त नहीं होती ।

(६) शास्त्रप्रमाण मानो ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं कार्याकायव्यवस्थितं ।
आत्मा आत्माधिधानेन कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गी १६।१४)

“कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय शास्त्रवचनोंसे हो सकता
है अतः शास्त्रोंके कर्म करो ।”

श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
देवासुरसप्तविंशतिनाशयोगः		(१) बासुरी विपत्तिको स्वरूप ।	८८१
(१) दैवी संपत्तिका स्वरूप ।	८७३	(स्लोक ४)	१
(स्लोक १-३)	"	दैवी भाव बासुरी भाव	८८१
दैवी दृष्टिके कथन	८७४	दैवी प्रकृतिके कथन	८८१
दशम्याव		बासुरी	"
उप—	८७५	राक्षसी "	१
धार्मिक उप		(३) दैवी और बासुरी प्रकृतिके फल	८८१
वैयर्थिक उप		(स्लोक ५)	"
साधनिक उप	१	(४) बासुरी विपत्ति । (स्लोक १-९)	"
धार्मिक उप		(स्लोक १०-१८)	८८१
राजस उप		(स्लोक १९-२०)	८८३
तामस उप		(५) मरकके तीन द्वार ।	८९०
दम		(स्लोक २१-२२)	
सावकमुद्रि	८७६	(६) शास्त्रप्रामाण्य ।	८९१
ज्ञानयोगस्य प्रतिपत्ति	"	(स्लोक २३-२४)	
ज्ञानके कथन दान		सोलहवें अध्यायका मन्त्र ।	८९१
धर्म, ज्ञान, अहिंसा, अश्रेय	८७७	दैवी दृष्टि बासुरी दृष्टि	"
कर्मोद अवैगुण अकौमुदय त्वाग	८७८	अव आपत्तिबोका मूक	८९१
नास्तिमर्त्येना भूतेषु दाना, लय		सोलहवें अध्यायका सुभाषित ।	८९५
छोच (पवित्रता) ही दृष्टि अना लेखः	८७९	(१) अथ और मोक्ष	"
अपारक मार्ग		(२) मूर्खोंका अथापार	"
अभय, धार्मिक	८८०	(३) नाक-द्वार	"
दुःख, अर्थ		(४) परम गति की शक्ति	१
दम अिगमि अथ		(५) आध्यात्मिक न माननेसे हाथ	"
मार्ग	८८१	(६) आद्य प्रमाण मानो ।	"

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

श्रद्धात्रयविभागयोगः ।

(१) त्रिविध भद्राका स्वरूप ।

मनुज उवाच—

यं ब्राह्मविधिमुत्सृज्य यजन्ते भद्रयान्विताः । तेषां निष्ठा तु का कृष्य सत्त्वमाहो रजस्तम ॥१॥

श्रीमद्वायुवाच—

त्रिविधा भवति भद्रा देहिनां सा स्वभावज्ञा । सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य भद्रा भवति मारुत । भद्रामपोऽयं पुरुषो यो यच्छृणु स एव सा ॥३॥

यजन्त सात्त्विका द्रवन्मधुरसांसि राजसा । प्रेताभूतगणाधान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वया— मनुज उवाच— हे कृष्ण ! वे ब्राह्मविधि उत्सृज्य, भद्रयान्विताः (जन्ता) यजन्ते, तेषां तु का निष्ठा ?
 सर्वे रजः भक्षो तमाः ॥ १ ॥ श्रीमद्वायु उवाच— देहिनां वा स्वभावज्ञा भद्रा सा सात्त्विकी च राजसी च तामसी
 च एव इति त्रिविधा भवति तां शृणु ॥ २ ॥ हे मारुत ! सर्वस्य सत्त्वानुरूपा भद्रा भवति सर्व पुरुषः भद्रामपः
 (वसिष्ठ) वा यच्छृणुः भवति सा एव सा (जीवः) ॥ ३ ॥ सात्त्विकाः देवाश्च यजन्ते राजसाः यक्षरक्षसि च यजन्ते
 कर्मे धामनाः जनाः प्रेताश्च भूतगणान् च यजन्ते ॥ ४ ॥

मनुज पृच्छा— हे कृष्ण । ओ लोग शास्त्रविधिको छोड़कर (परतु) भद्रासे युक्त होकर यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी होती है— सात्त्विक राजस या तामस ॥ १ ॥

मनुवाच बोधे— स्वभावज्ञा प्राणिमात्रकी ओ भद्रा होती है वह सात्त्विक राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकारकी होती है उसका वर्णन सुन ॥ १ ॥ हे मारुत ! जब लोगोकी भद्रा अपने अपने स्वभावके अनुरूप अर्थात् प्रकृति-स्वभावके अनुसार होती है । यह मनुष्य भद्रामप है । जिनकी जैसी भद्रा होती है, वह (जीव) वैसाही होता है ॥ २ ॥ सात्त्विक पुरुष देवोंका यजन करते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसोंका यजन करते हैं, उसके अतिरिक्त ओ तामस पुरुष हैं, वे जना प्रेता और भूतगणोंका यजन करते हैं ॥ ३ ॥

माधार्थ— कुछ लोग शास्त्रविके अनुसार तो कर्म नहीं करते परतु ओ कर्म करते हैं वह चरो भद्रासे करते हैं उनसे निष्ठा कीवसी समझनी चाहिये । इस प्रश्नके उत्तरमें विशेषण है मनुष्योंके प्रकृतिक अनुसार तीन भद्र होते हैं उनसे ब्राह्मण, राजस और तामस कहते हैं । जिसकी प्रकृति सात्त्विक होती है वे देवोंकी उपासना करते हैं जो राजस प्रकृति युक्त होते हैं वे यक्षराक्षसोंकी पूजा करते हैं और जिनकी प्रकृति तमोगुणी होती है वे मृत प्रेत पिशाचोंकी पूजा करते हैं । जिसकी जैसी प्रकृति होती उसकी वैसीही प्रकृति भवना उपासना होगी । अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई कर्म नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥

(२) अशास्त्रीय रीतिसे तप करनेवाले आसुरी लग्न ।

अशास्त्रविहित धोर तप्यन्ते य तपा जनाः । इम्भाहकारसयुक्ता कामरागबलान्विताः ॥५॥
 कर्षयन्त शरीरस्थ भूतग्राममध्वस । मा चैवान्त'शरीरस्थ तान्विच्छयासुरनिश्चयान् ॥६॥

अन्यथा— इम्भाहकारसयुक्ताः कामरागबलान्विता ये जनाः अशास्त्रविहितं धोरं तपः तप्यन्ते ॥ ५ ॥ अध्वसस च ये शरीरस्थं भूतग्रामं अन्तःशरीरस्थं मां च कर्षयन्तः । तां च आसुरनिश्चयान् विच्छि ॥ ६ ॥

औ लोग धम्म और अहंकारसे युक्त हो कामभोगकी भासाकिके संगत प्रवाचिन होकर शास्त्रविद्वत् महाधोर तप किया करते हैं ॥ ५ ॥ तथा औ अधिवेकी पुरुष शरीरस्थ पञ्चमहाभूतोंके समुदायको तथा शरीरान्तगत औ म भयात् भारमा है उसको भी कर्षयते हैं, उनको आसुरी निश्चयवाक समझो ॥ ६ ॥

भाषार्थ— आसुरी स्वभावको लोग धम्म और धमइस युक्त होकर कामभोग भोगवेकी अस्तित्वसे कात्त विद्वत् महाधोर तप करते हैं । ये लोग शरीरमें विद्यमान पञ्चभूतोंको तो ताप देवेही हैं परंतु उनके अन्तर्गामी औ ईर्ष्याह वलमा है उसको भी कर्षा ताप देते हैं । इनका विद्वत् निःसन्देह प्रसक्त होता है परंतु वह आसुरी निश्चय है ॥ ५—६ ॥

(१-२) साक्षोक्त कर्म करनेवालोंके सारिधक-राजस तामस मेद किस तरह पहचाने जाते हैं इसका वर्णन पूर्व अध्यायमें किया । ताप साय साक्षरिषिसे अनुसार हरएक कर्म करनेकी प्रसंभा और साक्षविधिकी ओरकर नजमाकी रीतिसे कर्म करनेवालोंकी विंशती भी की गई । तथापि एक सजा देसी रह गई कि कई लोग साक्षविधिकी बात को जानवेही नहीं परंतु जो करते हैं वह बड़ी धर्मभवासे करते हैं । उनके मर्ममें बड़ी धर्मप्रज्ञा होती है । ऐसे पद्माक्ष लोग जो पञ्च दान तप करते हैं उनके सारिधक राजस ब्रजया तामस किस विभागमें रवेंगे ? अर्जुनकी इस शकाका विचारण करनेके किंच मगधान श्रीकृष्ण कहते हैं—

हरएक मनुष्यमें जो अज्ञा हावी है वह सारिधक राजस और तामस देसी तीन प्रकारकी होती है । अज्ञाका मर्म मवक धुच्छ विकास है तथा मवकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम अज्ञा होता है । कितना भी प्रसरण किया जाय तथापि जो मवःप्रवृत्ति बहकती नहीं उसका नाम अज्ञा है ।

शरीर इतिवों मव आदिकी जैसी सारप्रवृत्ति होती है उस प्रकार वह प्रवृत्ति शुद्ध अथवा अधुद्ध रहती है और उनके अनुसार सारिधक राजस और तामस अज्ञा प्रकट होती है । यह सारप्रवृत्तिके ऊपर अवकर्मिन होनेके कारण जैसी अज्ञाकी प्रवृत्ति का अधुद्धि होगी वैसीही वह अज्ञा होती है । इसमें स्पृह का अधिष्ठ नहीं हो सकती ।

मनुष्य पूर्वज्ञा अज्ञाके आधीन होता है । जैसी जिसकी

अज्ञा अर्थात् मवःप्रवृत्ति होती है वह वैसाही होता है । मवकी मवःप्रवृत्तिके प्रवृत्तिके कोई विषय कितनीक जाने जाये तो वह उसकी समसमेंही नहीं जाता । मनुष्य मवकी प्रवृत्तिके इतना आधीन रहता है । मू प्रवृत्तिका मनुष्य मू कर्म करनेमें कोई दोष रहजाही नहीं तब तामस प्रवृत्ति मनुष्य कमी शुद्ध जैसा मू कर्म करनेमें प्रवृत्ति नहीं होगा । वह अज्ञासे होनेवाकी स्वभावप्रवृत्तिसे होता है ।

साधारणता सारिधक लोग देवताओंका मजज्जन करते हैं राजस लोग बहाराप्रसक्ति अनुसारही होकर बड़ी शक्ति प्राप्त करते हैं और उनके हाथ मोग बहानेका बल करते हैं । तामसी पुरुष भूत वेद विज्ञान कबरस्यान आदिकी पूजा करते हैं । कौन कैसी उपासना करवा दे वह देवकर वह मनुष्य किस प्रवृत्तिके है इसका ज्ञान हो जाता है ।

सारिधक प्रवृत्तिवालोंको मेतपूजन पसंद नहीं होता और क्रमसी अज्ञावाकोंको सारिधक देवपूजा पसंद नहीं होती । इसी कारण अध्वेदविध उपासना प्रचारमें जायवी है वह मनुष्योंकी भितर्य-प्रवृत्तिकी प्रोत्तक है ।

अथ अशास्त्रविहित धोर कर्म करनेवालोंकी अवस्था देखिय—

(५-६) कई लोग अशास्त्रविहित धम्म अहंकारसे युक्त होकर धमइस आधीन होकर कामोपभोग भोगवेकी सक्ति बहानेके लिये बड़ा कष्टोर तप किया करते हैं । इन्हींसे कई लोग हाथ ऊपरही धरते हुए उसे सुनाते हैं कई

(३) त्रिविध भोजन ।

आहारस्तपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय । यद्यस्तपस्तथा दान तथा मेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःपरायणारोग्यसुखप्रोतिविष्वर्चना । रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।
कद्रव्यलवणारूप्युष्णतीक्ष्णकृषिदाहिनः । आहारा राजसस्पष्टा दुःखशोकामयप्रदा ॥ ९ ॥
वातयाम गतरसं पृथि पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

अन्वयः— सर्वस्य प्रियः आहारः अपि तु त्रिविधः भवति तथा यद्यस्तपः तथा दानं च (सर्वस्य त्रिविधं भवति)
(१) तपः इमं नमः शृणु ॥ ७ ॥ आयुःपरायणारोग्यसुखप्रोतिविष्वर्चना रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विक-
प्रियाः (सन्ति) ॥ ८ ॥ कद्रव्यलवणारूप्युष्णतीक्ष्णकृषिदाहिनः आहाराः राजसस्पष्टाः (भवन्ति)
॥ ९ ॥ यत् वातयाम गतरसं, पृथि, पर्युषितं च उच्छिष्टं अपि च चामेध्यं भोजनं तत् तामसप्रियं (भवति) ॥ १० ॥

सबको प्रिय लगनेवाला भोजन भा तीन प्रकारका होता है तथा इसी तरह सबके यद्वा तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं उनका मेद बतलाता है सुनो ७ ७ ॥ आयुः सत्य यज्ञ आराध्य सुख भाग्य प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त स्निग्ध गरीरमें स्थिर रूपसे रहनेवाले और मनको प्रसन्न करनेवाले आहार सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं ८ ॥ कद्रु भर्षात् चटपट, कड़े नमकीन उष्ण तक्षि दाहकारक तथा दुःख शोक मोद रोग बढ़ानेवाले भोजन राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं ९ ॥ जो कुछ कालका रहा हुआ नीरस दुर्गन्धयुक्त बासी जूठा तथा अपवित्र भोजन होता है वह तामस लोगोंको अत्यन्त प्रिय होता है ॥ १० ॥

भाषा— जिसकी बैसी प्रशंसा होती है उसको बैसाही भन्न प्रिय होता है । यज्ञ दान तप भी प्रशंसित मनुष्यकी प्रिय करते हैं । सात्त्विक लोग आयु, सत्व वक्त आरोग्य सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले स्निग्ध रसदार यज्ञ सेवन करते हैं । कद्रु लीके जड़ उष्ण दाहकारक यज्ञ राजस लोग पसन्द करते हैं बार बानी अपवित्र नीरस जड़े दुर्गन्धयुक्त यज्ञ तामस लोग पसन्द करते हैं ७-१० ॥

इसी प्रकार जड़े रहकर मम आप करते हैं कई जो होय रहकर मम पूर्वमें चारों ओर बलि बकाका बीचमें बैठकर जा करते हैं कई जो लोके कहोंगरी बैठते हैं कई जलमें या पार पड़े जड़े होकर मम करते हैं कई गुफाओं में गए हुए मनुष्यन करते हैं कई कठोर उपवास करत हैं कई अनेक प्रकारके बड़े सहर कुट सावन करते हैं, कई कोष रखे जड़े रहकर जप करते हैं कई भूमें जड़े रहकर पूजमान करते हैं कई बहुत दिन विराहार रहते हैं इस तरह अनेक प्रकारके मम भोगते हुए साधन करते हैं ।

इसी हृद्या विधिप बल प्राप्त करनेकी होती है । यह एक बल करनेवा सुभ बल आय प्राप्त होगा ऐसा इनका मान मोमबत्त विचार रहता है और इस विचारकी पूर्ति करनेके लिये अपने घरकी व कापल कष्ट देते हैं । इनके इस बलाधीन बलक कारण छतीसह मम भूतोंको जमेक इस समय होते हैं । मापही बलाधीन परमात्माको जो बल

है उसको भी इन बलाधीन और तपस्याके कारण बल बढ़ होते हैं जब इस तरह बलाधीन की अतक बल होत है तब उनको प्रसन्नता किन तरह प्राप्त होगी ? अत ये मम अवसन्न स्थि कोषस भर जाकेस करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं । उनका जो मनुष्यन करते हुए भी कष्ट होते हैं बार मनुष्यात्मक पशुत्व भी कष्टही होत है ।

य आयुही कुछ बलाके रोगमुक्ती या तमोगुणों काय सदा पु कर्मही मन्त्रते रहने हैं । इसलिये साधकोंको उचित है कि ये पक्ष बलाधीनविधि दुःख बढ़ानेवाले माय वि अपने आपको न केतार भार जहातक हो मने सात्त्विक साधन की ओर मुञ्जनेस प्राप्त करें । जन्मों मानसिक प्रवृत्ति मनुष्यक और योग्य सात्त्विक उपामात्र साधन दिया रहे । इस तरह पाकी नी माय-वर्तुनि दहवृक्ष हा आप ता ग । धन बने । बहनी जावनी और कभी न कभी जम पृथि ॥ उच्च साध-गुणमें विकास हाया ।

(५-१) मनुष्यका विविध भाव भोजनसे भी विहित होता है । विषमको जो भोजन मनसे प्रिय प्रतीत होता है, उस भोजनसे उस मनुष्यका वर्ग कौनसा है, यह निश्चय हो सकता है ।

कई मनुष्योंको स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय लगता है कई मनुष्य तीक्ष्ण कटु और बिहारी भोजनमें रुचि रखते हैं और कई मनुष्य बासी घटा हुआ चूड़ा और अपवित्र भोजन प्रेमसे खाते हैं । यह उभय प्रकार प्रकृति स्वभाव है । बात करनेपर भी यह नहीं बदल सकता । जो मनुष्य मनसे कटु तीक्ष्ण कटु बिहारी चटपटे पदार्थोंका सेवन करना चाहते हैं उसको स्निग्ध रसदार मीठे मधुर पदार्थ दिवें जायें तो वे उनको पसन्द नहीं कर सकते । इस समय भी ऐसे मनुष्य अपने समाजमें हैं जो हैंगामीय वृत्त (शाका भी) केवल भाजनका बदबूदार भी ही प्रेमसे खाते हैं । आज वैतारण्ड रोटी व काफिर बासी कामा अधिक रोचक मानकर खाकरसे खाते हैं ।

इतिहासके काल में चूड़ा कटु का केले हैं, अपवा बासी रोटी खाते हैं उभय प्रथ ही स्वभाव है यह उभयका व्यवहार असहायताके कारण होता है । वस्तु करने निकुल अपवि होने पर और बायें सात्त्विक भोजन केलेके किने पत्रित उस रहनेपर भी जो कदपरा उषा बासी कटु स्वास्ते सेवन करते हैं, उनकी प्रकृति ही यह बात चाहती है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इस तरह कटुकी अमिच्छा मनुष्यकी परीक्षा करनेमें सहायक हो सकती है । मनुष्य सात्त्विक है वा राक्षस अथवा तामस इसकी परीक्षा इस स्वाभाविक अमिच्छासे हो सकती है ।

प्रत्येक प्राणीको कोई न कोई आहार स्वाभाविक प्रिय होता है । मनुष्य भी कोई इस विषयमें अपवाद नहीं है । स्वाभाविक ही मनुष्यकी परीक्षा होती है । इस तरह होने वाली परीक्षामें बहुविध नहीं होती क्योंकि यह परीक्षा स्वाभाविक अनुरूप होती है ।

भोजनप्रियतासे होनेवाली परीक्षा गहनही हो सकती बाकी है इसमें पदार्थ किने कथन होनेकी संभावना नहीं है । एक ही दिन कोई मनुष्य दिखानेके किने एक पदार्थका सेवन न करे हुए दूसरे पदार्थका सेवन कर सकता है वस्तु सराके किने कोई भी मनुष्य आत्मन्यसे विरक्त न

सेवन नहीं कर सकता । इसकिने यह परीक्षा गहन हो जानेवाली है ।

यद्यपि इन उपके द्वारा भी परीक्षा हो सकती है परंतु कोनोंको दिखानेके किने कोई मनुष्य मनमें कुछ और लेने हुए अवकाशके दिखानेके किने दूसरा यह कर सकता है । और इस कपटका किसीको भी पता नहीं लग सकता । बात और उप भी मनाप्रवृत्तिसे विरक्त किसी भी समय किने जा सकते हैं । किन्तु भोजनसे विरक्तमें ऐसा नहीं है । स्वात्मविद्वद् भोजन करना बड़े तो समझकर भी हो जाता है, क्योंकि करीर हा उसको बाहर केलेका कार्य करता है । सात्त्विक पुत्रकी तामस अपवि वृत्त वाले यह कार्य पदे तो समझ होनेमें कोई संदेह ही नहीं । इस कारण इससे मनुष्यके गहन स्वाभावकी परीक्षा हो सकती है ।

किसी मनुष्यकी परीक्षा कोई दूसरा कर सके वा न कर सके, परंतु हाकीय अपवा परीक्षा स्वयं कर सकता है, इसमें संदेह ही नहीं है । आत्मपरीक्षा करनेमें निरर्थक यह कभीभी सहायक होती है । मनुष्य दूसरोंको क्या करता है परंतु कोई अपने आपकी नहीं टमा सकता । स्वयं अपने आपको पता रहता है कि इसे स्वाभाविक सात्त्विक न कि विष है अथवा राक्षस वा तामस; इस आत्मपरीक्षाकी प्रतीति यह आहारपरीक्षा सहायकी है ।

सात्त्विक भोजन

रसदार होता है स्निग्ध अर्थात् चूकी मात्रा कभी अधिक होती है, हृदयका आत्मन् चरमेवात्म होता है करीरमें स्थिरता— शीर्षकी स्थिरता—करनेवाला होता है । सात्त्विक कटुके शीर्ष जालु ग्राह होती है, कथन अमिच्छा नीचपका वह गहरा है करीरकी कटि कटती है अमोघ ग्राह होता है सुखकी वृत्ति होती है और मासिक प्रसवता होती है । स्वाभाविक सात्त्विक कोनोंको यह भोजन प्रिय प्रिय होता है ।

विष कटुमें अमिच्छा प्रिय न हो बहुत कटुईय हो, बहुत कटु न हो जो अति कथन अमिच्छा और अति तीक्ष्ण न हो जो कथा घृणा न हो अकते हुए प्रत्येक करनेवाला न हो वस्तुोंका देखा प्रियता हो कि मिष्टसे अकते कर पया जा जाय बहुत देरसे पया हुआ न हो नीरस कथ

कुछ हुआ व हो। ताम्र ववा हुआ हो, पुनश्चिपुन व हो। प्रियं चराय हो, ओ उपिष्ट न हो अपिष्ट न ही। ओ स्वच्छ मित्र, रक्षित हो देखेदेखे मन प्रसन्न करनेवाला हो जिसका दर्शन पवित्र हो जा सदा रहते हुए दिव्य और हृदयमय हो। देखे अन्नको सारिक भक्ष करते हैं और सारिक मनुष्योंको वह स्वभावसे प्रिय होता है। इसके सेवन करनेवालोंको दीर्घायु, धनधनसिद्धि वज्र वारोण्य मुक्त और प्रसार प्राप्त होता है। शरीरकी स्वस्थता रक्षितोंका मुक्त और मयकी प्रसन्नता इसकेही सिद्ध होती है।

राजस भोजन ।

राजस भोजन अत्यंत मित्र, उत्पन्न अर्थात् अति ममक वर्ण हर्षक तीक्ष्ण रसकी मात्रा अधिक होती है। अति रस वह भोजन अति शीत अति तीक्ष्ण और अति कष्ट वर्ण लुप्ती उत्पन्न करनेवाला अन्न राजस होता है। यह वह भोजन खातेही उत्कण्ठ उत्पन्न करता है। इससे देवी उत्कण्ठ होती है कि मुझसे भागसे और भागसे शरीर निकलने लगता है। वेदमें पशुकेपर वही भी उत्कण्ठ वसुध होने लगता है। इस उत्कण्ठ ही राजसिक लोभको उत्पन्न करता है। वह उत्कण्ठ व हो तो वे करते हैं कि वह भक्ष निकलना कीका है न इससे मित्र है न ममक। ऐसा कीका भक्ष वे खाही नहीं सकते।

एव राजस भोजन लुप्तीही प्रभावता होती है। अर्थात् शरीर में भक्ष के लक्षे हुए रसही उत्कण्ठ होते हैं। ऐसे नहीं होता रसही उत्पन्न नहीं होता जिससे व्यास बढ़ती है। शरीर शरीर भी व्यास नहीं उत्पत्ति, देखे ओ। एव करनेवाक बढ़ाई होते हैं व राजस भक्ष होते हैं। इसके तोनोंही बुद्धि होती है। रोगोंसे दुःख और शोकोंकी वृद्धि होती है और अन्धे नज़रोंकी प्राप्ति होती है।

राजस भोजन शरीरकी क्षमता बढ़ती है। शरीरके पञ्च भागमें विभक्तता वह जाती है। जिससे शरीर और ममक होवेमें ओह देरी नहीं लगती। देखे वह राजस भोजन सेवसे करते हैं और अनेक प्रकारका दुःख मोये हैं।

राजस भोजन वायुमय क्षीय होता है। धाम्नीय होता है। रोगोंके कारण वज्र करता है, आरोग्य नहीं रह पाता, इस कारण मुक्त और मयकी प्रसन्नता इसके कभी

प्राप्त नहीं होती। इस तरह राजस भोजन अनन्त वसत होते हैं। इसप्रकार प्रयत्न करने राजस भक्षता जितने न्यून प्रमाणमें सेवन किया जा सके उतने न्यून प्रमाणमें करना उचित है। स्वभाव राजस होनेपर भी और मित्रस्वभावक कारण राजस भक्षही प्रिय होनेपर भी मनुष्यको उचित है कि वह ममक मित्र काटती मात्रा कम करके अपने भाव में स्वस्थता अभिरुचा रसमयताका प्रमाण बढ़ावे। प्रयत्न करनेपर थोड़ा थोड़ा मुखा होनेकी समावृत्ता रहतीही है। इसका विचार करने मनुष्यको उचित है कि वह भोजन करके सारिक अन्नका सेवन करनेका ध्यान करे और जहाँ तक हो सके वह राजस भोजन दूर ही रहनेका प्रयत्न करे।

शरीरको प्रवृत्ति वही वजनतर होती है, तबारी मनुष्य एक ठे धाम प्रयत्न करेगा तो उसको कुछ न कुछ सक्षमता वधारण प्राप्त हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं है।

तामस भोजन ।

सका हुआ वही दूधका पका हुआ, कृमिकीटास अपवित्र हुआ, वायु वायुके स्वच्छसे रोपमुक्त, अपवित्र दुर्गन्धि युक्त उपिष्ट अन्न तामस होता है। वह हृदय प्रकारके रोगों और अस्वास्थ्यका कारण होता है। सुदृक्के मक्षिण करता है वायुकी क्षीयता बढ़ता है और हृदय प्रसारके कष्ट उत्पन्न करता है। इससे मनुष्य सुख मक्षिण और प्रसादी होता है और इस कारण वह अनन्त हो जाता है।

तामसी लोभ भी अन्नको इस भवानक परिणामक जाने और जहाँ तक भक्ष हो इसके दूर रहनेका ध्यान करें। इससे पोषाका भी वधान हो सके तो वहां भक्षे तक जाता है।

प्रतानियम ।

राजसी और तामसी कोनोंकी वृद्धि करनेक सिद्ध ही भव और मित्रम रने गये हैं। उपवासक दिन और तामसी क्षीयता सारिक देवताओंकी सात्त्विक पूजा-अर्घा आदि धर्मविषय मनुष्योंकी सात्त्विक और तानत्रिक वृत्तिवा प्रयत्न होने और तामसीक वृत्ति बढ़ानेके सिद्ध हैं।

उपवाससे शरीरक मनुष्य जगने जात है और ममक रयान पर सारिक भक्षके मनुष्य भर दिने करते हैं। उपवासक दिन वृद्धी पीना चाहिये। लेकमें लक्षे वृद्धा नहीं ध्यान चाहिये। आदि विषय शरीरक राजस और तामस मनुष्योंको जगता

(४) त्रिविध यज्ञ ।

अफलाकांक्षिमिर्यज्ञो विधिदृष्टा य इज्यत । यष्ट्यभ्यस्येति मनः समाधाय स सारिवकः ॥११॥

आभिसन्धाय तु फल दम्भार्थमपि चैव यत् । इज्यत मरतश्रेष्ठ त यज्ञ विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टाभ मन्त्रहीनमदक्षिणम् । भद्राचिरादित यज्ञ तामस परिचक्षते ॥१३॥

सम्प्रदायः—अफलाकांक्षिनिः (पुरुष) यष्ट्यस्य एव इति मन्त्रः समाधाय विधिदृष्टः यः यज्ञः इज्यते सः सारिवकः (वज्र-मन्त्र) ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फल तु आभिसन्धाय अपि यः दम्भार्थं एव यत् इज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥ विधिहीनं मन्त्रहीनं मन्त्रहीनं अदक्षिणं अद्राचिरादितं यः यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

फलकी भाषा छोड़कर अपना कर्तव्य समझकर मन शान्त रखकर शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! फलात्ता भ्रममें धारण करके तथा दम्भसं जो यज्ञ किया जाता है उसको राजस यज्ञ समझो ॥ १२ ॥ शास्त्रविधिके विरुद्ध अज्ञानान्न करत हुए मन्त्रविहीन तथा दक्षिणारहित अथवा न हात हुए जो यज्ञ किया जाता है उसको तामस यज्ञ कहत है ॥ १३ ॥

भावार्थ— फलात्ता न रखते हुए कर्तव्य करनेके उद्देश्यसे चान्दविधिद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार होनेवाला यज्ञ सारिवक है । फलमांसीकी इच्छासे दम्भसे अपना ऐश्वर्य व्यक्त करनेके छिपे जो यज्ञ होता है वह राजस यज्ञ है । ज्ञान विरुद्ध अज्ञानान्नहित मन्त्रविहीन दक्षिणान्न करने हुए जो यज्ञ किया जाता है उसके तामस यज्ञ करते हैं ॥ ११-१३ ॥ उसके स्थानमें सारिवक अनुबोली सत्त्वा बढानेके लिये है ।

कृष्णप्रापण आदि प्रायश्चित्त वकाशुभक्षण पूज वन्य वृक्षपान, फलभोज आदि लोपोपासनिषेध इसी तरेइपकी पूजवांछे किं श्रिये गय हैं । अपने सारीकी अनुकूलताके अनुसार इनका प्रयोग करनेके निःछद्म कामे होता है । इससे सारीकी तामस और राजस प्रवृत्ति कम होकर सारिवक प्रवृत्ति बढती है ; यह परिवर्तन अति धीमे नहीं होता बीसियों वर्षोंके परिधमसे कुछ परिवर्तन होता है । क्योंकि सारीकी प्रवृत्ति बढी बढती होती है बढी नहीं पड़कती । पल वर्षोंमें सारिवक सब परमाणु बढकर पूसरे नव आकाश है । यदि राजस और तामस परमाणुओंके उप-पासादि द्वारा उकाकर सारिवक अवशेषक द्वारा सारिवक परम सुबोकी क्षीरमें भर दिया जाय तो सभर दे कि कुछ वर्षोंके पश्चात् अमल सफरता हो सके ।

सारीकी प्रवृत्ति कार्यतमक होनेके कारण इस परिवर्तन में बहुत परिवर्तन नहीं होता क्योंकि सारी ही नहीं आहवा और उबरदातीके परिवर्तन फलना चाह तो सारी मास नहीं रता और किसी य १३वीं तरह । १३वीं मास वह आता है और इस मासकता नहीं मिटती ।

इस कारण पुच्छिसे और मन्त्री अनुकूलताके साथ यह प्रवृत्तिमादिका प्रयोग करना उचित है । इस किता जान तो दम्भ और सिन्ध्याचार होकर हाथी ही होगी । इससे बहुत परिवर्तन करनेकी इच्छा न करते हुए मित्रता मन्त्री अनुकूलतासे हो उतनेहीपर भुग्न रहना चाहिये ।

बहुत परिवर्तन न भी हो तो भी अपनी निरर्थकपुच्छिसे अनुकूलन अपने वर्णके अनुसार कम कारिका सिद्ध करके बार उस कमकी इष्टावृत्तिसे करनेसे हरकोई प्रमुख परम सिद्धिको प्राप्त हो सकता है । अतः बहुत परिवर्तन न होनेपर भी कुछ करनेका कोई कारण नहीं है । अतः जब यज्ञके निषेधमें देखें ।

(११-१३) यज्ञ भी करनेवालेकी प्रकृति अनुसार तीन प्रकारके होते हैं । उनके नाम सारिवक यज्ञ राजस यज्ञ और तामस यज्ञ है । १२व यज्ञ सारिवक या राजस है देखा नहीं परन्तु यह करनेवालीकी मनःप्रवृत्तिसे कारण देता कहलता है ।

सारिवक यज्ञ ।

फलका अपने भोगके लिय उपयोग करनेकी अपेक्षा न रखते हुए प्राप्तमें जो शिधि किसी है उसके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है और इस समय यह यज्ञ कामकी

(५) त्रिविध तप ।

दशद्विजगुरुप्राप्त्यन शीघ्रमार्जवम् । प्रसन्नचर्यमहिंसा च शरीर तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत् । स्वाध्यायाम्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यस्य मौनमात्मविनिग्रहः । भावसमुद्धिरित्येतदपि मानसमुच्यते ॥१६॥

अन्वयाः— दशद्विजगुरुप्राप्त्यन शीघ्र मार्जव प्रसन्न चर्यमहिंसा च इति शरीर तप उच्यते ॥ १४ ॥ यत् अनुद्वेगकर
अन विपहित वाक्य च (यत्) स्वाध्यायाभ्यासश्च च (उच्यते) एव वाङ्मय तपः इति उच्यते ॥ १५ ॥ मनःप्रसादः
भावार्थ मोक्ष, मनविनिग्रहः भावसमुद्धिः इति पठत भावस तप उच्यते ॥ १६ ॥

देवता द्विज गुरु भौर ज्ञानियोंकी पूजा गुरुता रखता प्रसन्नचर्य और अहिंसाका कायिक तप कहते हैं ॥ १४ ॥ जो मनफा उद्वेग न करनेवाला सत्य प्रिय तथा हितकारक भाषण है भार जा स्वाध्यायका अभ्यास करना है उसको वाचिक तप कहते हैं ॥ १५ ॥ मनकी प्रसन्नता रखना सौम्यता धारण करना मान अवलम्बन करना आत्मनिग्रह और आत्माकी सम्यक् गुरुता करना यह सब मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

वाचिक नहीं होता इस प्रकारसे कहिये है एसा मानकर मन्त्री समाधानरूपि रचते हुए जो वज्र किया जाता है वचने वचिक तप कहते हैं ।

इससे शरीरों पर भोगकी कामना नहीं है वृद्ध नहीं निष्काम नहीं, अपना देवर्ष दिवानेकी इच्छा नहीं कोय यदि मनके लक्षमावाचक प्रकार नहीं है व सारिवकताक वचन है ।

राजस तप ।

यद्यपि यत्न मे भोगक क्रिये निष्काम चाहिये पूर्वी योग्यमप्य मयमे रत्नकर तथा दृग्मते और अपने पक्षका ह्य राजनिक क्रिये जो यत्न किया जाता है या अपना भव्य व होते हुए भी वचक दियावक क्रिये जो वज्र किया गया है उसका नाम राजस तप है । इस तपके करनेक समय कर्माका मन सन्नत नहीं होता यवका मय्य होनेके समय उद्विग्न हुआ रहता है । मानवमानक कारण मोधा-निधि पक्ष होता है जगमान कर्माका माय करनेकी मायना तथा मयमे भाग्य होती है इत्यादि अनेक कारणोंसे मन व्यग्र रहता है । इस कारण व राजस तप गुरुशरी हुआ करते हैं ।

तामस तप ।

ये वच व्यग्रमान किया जाता है साधनविधि और एवं गुरुव कर दिया जाता है अज्ञान तथा दक्षिणाध

दान क्रिये नहीं होता बार योगरीतिसे मयमे उच्छासन भा जिनमें नहीं किया जाता उस तपका नाम तामस तप है । इससे न करनेवाको यथा मिकया है और न दृग्मतेका दित होता है । इससे जो शरीरों अहितही होनेकी समाधानही रहती है ।

इसविध तामस तपके अर्थत हीन माना गया है, क्योंकि इससे सब प्रकारकी हानि ही होती है । व हीन प्रसादक तप है इनका पाठक विचार करें । इत्येक कम की हसी हीन प्रकारका हो सकता है ।

सारिक कर्मक कथन— यत्नान्तिका न होना कर्म साधनविधि अनुकूल और कथन समझकर करना ।

राजसिक कर्मक कथन— यद्यपि भावस होता अपने भोग ज्ञानक क्रिये कम करना दृग्मते कर्म करना दिया मेक क्रिये करना ।

तामसिक कर्मक कथन— यद्यपि कर्मका विचार छोड़ना साधनविधि विचारही न जाना विविध छोड़ करती कर । अज्ञान धार कर्मकर्माके योग दक्षिणा न देना अर्थ का न होना और मयमे कम न करना व तामस कर्मक कथन है ।

इत्येक मनुष्य इनका विचार करके अपने शरीर जो कम होत है व किस प्रकारक व है इसका निश्चय कर सकता है । अतः । जब त्रिविध तपका विचार दक्षिणे-

(६) त्रिविध दान ।

दातृममिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्रियं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥
अद्वेषकालं यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवध्यातं तच्चासमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः—दातृममिति यत् दानं देश च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्रियं च दीयते तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ यत् दानं अव्यक्तं अथ
कर्तृ, अद्वेषकाले अवाप्रेयं च दीयते तत् तामसं उदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें
प्रत्युपकार न करनेवालेको भी दिया जाता है यह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी भांशासे फल
मायकी इच्छासे तथा बड़े कष्टसे जो दान दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान
मिन्ना करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया
जाता है यह तामस दान कहा जाता है ॥ २२ ॥

भाष्य—ईदृश दानकर देश काल और सत्पात्र देखकर प्रत्युपकारकी भांशा सेकर दिया जानेवाला दान सात्त्विक
है प्रत्युपकारकी भांशासे फलमायकी भांशासे तथा दान देनेकी इच्छा मग्न होकर दान देनेसे दान
दिया जाता है और दूसरोंका अपमान करने लगे और बाधोष करते हुए, मित्रा करते हुए पात्रपात्रादि विचार न
करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान होता है ॥ २ —२२ ॥

तपका प्रभाव ।

तपोमूलमिव सर्वं दैवमानुषक सुखम् ।
तपो मय्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेदवागीभिः ॥
ब्राह्मणस्य तपो धर्मः तपोः शूद्रस्य वस्त्रम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपोः शूद्रस्य सेवकम् ॥
औरपायगदो विद्या देवा च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्धयति तपसैव हि साधनम् ॥
यद्वृत्तं यद्वृत्तं यद्वृत्तं यच्च तुल्यम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि तुरतिक्रमम् ॥
महापातकिनश्चैव शोषाद्याकायकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषात् ॥

(मनु च ११ ओ २३४-२३९)

“ वरसे सब हाकने प्राप्त होता है सब सुख तपसे ही
प्राप्त है । ब्राह्मण का धर्म साधनी है, क्षत्रिय का तप प्रजापति
रक्षण करना है वैश्य का तप भ्रातृभयवहार है और
शूद्र का तप वार्ता करना है । सब प्रकार की विद्या विभि-
न्न रूपों की तप तपसे ही साध्य है । जो व्याप्य है

वह सब तपसे प्राप्त हो सकता है महापातकी और अपाय
कारी भी तप करनेसे ही सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ।
देखा तपका प्रभाव है अतः मनुष्योंको उत्तम सात्त्विक तप
करना उचित है । अब दानका विचार करिये—

(२ - २२) दान देना अपना कर्तव्य है ऐसा देखकर
देश-काल-परिविधिका विचार करके जो दान सत्पात्रमें
दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं । नाम हा
फल प्राप्त हो इससे प्रत्युपकार होता रहे इस मयोमात्र
वाले चरत कहते जो दान दिया जाता है उसका राजस
दान कहते हैं । दान-काल-परिविधिका विपरीत मित्रा का
हूय दूसरोंका अपमान करके दुष्टाग्रमें जो दान दिया जाता
है उसको तामस दान कहते हैं ।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है राजस दानसे
दाताका लोभकार बढ़ता है और तामस दानसे देनेवाला धार
लगेवाकी हाथि होती है । वह जानकर उदात्त हो तप
वहीतक प्रयास करके दानमें तामस भाव कम हो भार
सात्त्विक भाव अधिक हो ऐसा बन करना चाहिये ।

अन्धया परया तप्त तपस्तत्त्रिविधं नरैः । अफलाकांक्षिमिथुनैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दमेन धैर्यं यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चक्षुःशून्यम् ॥ १८ ॥
मूढप्राद्व्याप्तमनो यत् पीडया क्रियते तत् । परस्पात्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वय — अफलाकांक्षिभिः पुनैः नरैः परया ब्रह्मणा तप्तं यत् त्रिविधं तपः । तत् सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥ कल्प-
मानापूजार्थं दमेन च यत् तपः क्रियते तत् ब्रह्म राजसं चक्षुःशून्यं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥ मूढप्राद्वेन आत्मनः पीडनं,
परस्पर उन्मादार्थं वा यत् तपः क्रियते तत् तामसं उदाहृतम् ॥ १९ ॥

फलमार्गकी भावना कि न रखनेवाले योगायकम्भी साधकोंके जो उत्तम अन्धासे तीनों प्रकारोंका तप किया जाता है उसको सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥ जो तप अपने सत्कार मान और पूजाके लिये ब्रह्मसे किया जाता है उस अस्थिर और चञ्चल तपको राजस तप कहते हैं ॥ १८ ॥ मूढतासे दुःप्रमद स्वयं कष्ट करके तथा दूसरोंको उन्मादनेके लिये या तप किया जाता है उसे तामस तप कहते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—अन्धासे देवताओंकी पूजा करना छुड़वा रखना शरक स्वभाव महाकर्ष और बर्षिताका बाध करवा वह धारीरिक तप है । शिव शिव शिव और सौम्य भाव्य करना और लक्ष्मिपूजन करना वाचिक तप है । मनको प्रसन्न करना, ध्यात्मिका बद्ध करने करना भोज धारण करना सपन करना और ब्रह्मसुखि करना मायसिक तप है । फलमोर्षी भावना कि रखनेवाले योगायकन करनेवाले उत्तम अन्धासे पुष्ट होकर जो वे तीनों प्रकारके तप करते हैं उनके धारीक तप कहते हैं । इससे सबको मुक्त होता है । जो अपनी प्रविष्ट माय और ऐश्वर्यके विज्ञानके लिये इन्मसे किया गया है वह राजस तप चञ्चल और अस्थिर होता है, उसका एक कमी साधक नहीं होता । जो तप मूढता और दुःप्रमदसे किया जाता है जिसमें स्वयं जो कष्ट छड़े जाते हैं और दूसरोंको भी दुःख दिया जाता है वह तामस तप होता है । इससे सबको दुःखही होता है ॥ १७-१९ ॥

त्रिविध तप ।

(१७-१९) तपके सात्त्विक, वाचिक और मायसिक, तीन भेद होते हैं । धारीकसे किया जानेवाला तप सात्त्विक, वाचिकसे होनेवाला तप वाचिक और मनसे होनेवाला तप मायसिक है । सात्त्विक तपमें भी मनका प्रयोग कि-
तुक नहीं होता एही बात नहीं है । परंतु वही मुख्य धार-
णकी अपेक्षासे वे नाम दिये हैं ।

धारीरिक तप ।

हिंसोंकी बर्षा, बाधन क्षत्रिय वैश्योंकी सेवा करना प्राप्ति और व्यापारियोंका सेवास करना देवताओंकी पूजा करना गुरु भगवाण शिक्षक आश्रयन करनेवालोंका आश्रय करना जो विशेष शालीजन हैं । ऐसी विधानों प्रवी-
कता रखते हैं उन सबकी पूजा करना उनका आश्रय
सहाय करना उनकी हर एक प्रकारकी सहायता करना यह
धारीरिक तप कहलाता है । क्योंकि इसमें धारीरिक
परिभ्रमशास्त्री यह सेवा की जा सकती है । महाकर्ष
धारीरिक तप इत्यर्थ है कि इससे धारीक की प्रवृत्ति

धीरेका संरक्षण होता है और महाकर्षणाके बीचका बाध
होनेसे धारीक भी बाध हो जाता है ।

कुछिना पवित्रता सुखता वही धारीक अपेक्षित है जो
धारीक ब्रह्मोंसे की अपेक्षाकी है । सरकता (धर्म)
वही धारीक है परंतु (शीघ्र) छुड़वा और (धर्म)
सरकता वैसी धारीक होती है वैसीही वाचिक और माय-
सिक भी होती है ।

हिंसा दूसरेके धारीकता बाध करनेसे होती है जो धारीक
है परंतु हिंसा और आदिता यह वाचिक और माय-
सिक भी होती है । इसलिये वही जो धारीक कर रहा
है वह विज्ञानात्मक समझना चाहिये । सेवा न समझनेसे
किन्हींके मनमें वाचिक हिंसा वही होती है सेवा भाव है
अकृपा है वह अनुद भाव है । हिंसा वाचिक भी है, इसी
तरह शीघ्र और धर्म वाचिक विषयमें समझना योग्य है ।

वाचिक तप ।

दूसरेको कष्ट देनेवाला भाव न उत्पन्न करना कष्ट
शिव और शिवशरक भाव्य करना । विद्यापूजन करना वह
वाचिक तप है । दूसरेके हृदयको पीडा होने योग्य भाव

अग्नि नहीं करता चाहिये । यह बाष्पीका संयम है । इससे दोषपूर्ण भावनाका उद्धार नहीं होगा । इसके अन्तर्गत क्या बोधना चाहिये और कैसा बोधना चाहिये वह प्रश्न उपस्थित होता है उसका उत्तर है कि सत्य मित्र हित भावना करना चाहिये । जो बोका आप वह साथ हो, सुमनेबाकको मित्र को और बोकने तथा सुमनेबाकको अन्तर्गत हित हो प्रत्यक्ष हित हो और किसीका अन्तर्गत अहित न हो । ऐसा संयम करना हो तो बड़ी सावधानी करनी चाहिये ।

पश्चिमी सत्यवादी सत्यासत्यके नियमों करनी चाहिये । यह नियम नहीं हो सकता । जहाँ कल्पोंके साथ सत्यनिर्णय होय संभव है । सत्यनिर्णय होनेपर भी वह कठु नहीं प्रकट चाहिये मित्र बननेबाका उच्चतम रीतिसे बोधना चाहिये । साथ सत्यही रहे परंतु बोधनेकी पद्धति मनुष्य हो ।

ईश्वर को मनुष्य भावना करनेकी इच्छासे असाध्य तथा अशक्यतापूर्ण बोधने हैं वह बहुतही दुरा होता है । वह कष्ट नहीं होता । अस्तु । इस तरह सत्य और मित्र बोधना चाहिये यह इसका आशय है ।

सत्य और मित्र बोधनेके साथ और एक सर्त है वह हित प्रकट भावना करनेकी है । साथ भी हो मित्र भी कहता हो परंतु हितकारक न हो तो वह बोधना उचित नहीं है । जो जो सत्य हो वह सत्य बोधनी देना चाहिये उसी बात नहीं है वैयर्थी जो मित्र हो वह भी अवश्य बोधना चाहिये वैयर्थी भी बात नहीं है । परंतु जो हितकर हो वह सत्य साथ मित्र बनने योग्य मनुष्य पद्धतिसे बोधना योग्य है । इस प्रकार सत्य-हित भावना करना चाहिये । जो साधक इन तीन तरीकोंसे परीक्षित हुआ आशय करेगा उच्चतम भावनाकर उपर हो उसकी उन्नति होगी । बोधनेके समय जो मैं बोधना चाहता हूँ क्या वह साथ है ? क्या वह मित्र है ? क्या क्या वह हितकर है ? ये तीन प्रश्न पूछकर यदि इन तीनों प्रश्नोंका अनुकूल उत्तर जागता सा वह भावना करना चाहिये । इन तीन प्रश्नोंसे सुपरीक्षित भावना कर देवे अनुकूल भावना करनेकी आवश्यकताही नहीं रहेगी भोग मनुष्यकी उन्नति छक्ति वच जायगी । छक्ति वचनेसे वच जायगा अपनी अन्तर्गत उन्नतिसे उन्नति जायगा । जो मनुष्य बहुत बोधने हैं वे अपनी छक्तिसे वच

वचन करते हैं और अपनी ही अनुकूल छक्ति बिना योग्य कारणके मरु करते हैं । इस तरह विचार करनेपर पता लग जायगा कि वह वास्तव्य तप अवश्य मनुष्यकी उन्नति करनेबाका है ।

स्वाध्यायका मूल अर्थ 'स्व' नामक एक अक्षर तथा 'या' उपसर्ग अर्थात् अर्थान्तरण । इस स्वाध्यायका अर्थ 'स्व' करना वास्तव्य तप है । इस स्वाध्यायमें किन किन विधानोंका समावेश होता है इसका विचार करना यही अर्थान्तरण आवश्यक है ।

स्व 'स्व' अक्षर का वाचक है और अक्षरका प्रभाव मनुष्य विद्यान्तर्गत सब वस्तुओंपर पडा है । कोई वस्तु इस प्रभावसे दूर नहीं, इस कारण स्वाध्यायमें सत्य विद्यान्तर्गत विविधी विद्याएं हैं उन सबका अन्तर्भाव होता है । कोई सत्यादि ऐसी नहीं कि जो स्वाध्याय में नहीं जाती है । सब सत्य सत्यादिओंका अन्तर्भाव स्वाध्यायमें होता है । और सत्य सत्यादिओंका अन्तर्भाव-अन्तर्भाव करना स्वाध्यायान्तर्गतसर्वमें समाविष्ट होता है । इसका विचार कर के पाठकोंको ज्ञात हो सकता है कि स्वाध्यायान्तर्गत सब उन्नतिसाधक विद्याओंका अन्तर्भाव देना है जो मनुष्य मात्रको अवश्यही करना चाहिये ।

सत्यं ध्यायामि ध्यायामि ध्यायामि ध्यायामि ध्यायामि ।

मित्रं च नानृत ध्यायामि ध्यायामि ध्यायामि ।

(मनु ४।१३८)

अन्तर्भावभावन न किया जाय अहितकर भावन न किया जाय अमित्र करने रीतिसे भावन न हो, जिससे सबकी दुःख हो कैसा न बोका जाय वह सब मैं बोधनेयोग्य है और किया क्या जाय ? तो सब सत्य विद्याओंका स्वयं अन्तर्भाव करके उस सत्यप्रकार का वचन करनेका अर्थ किया जावे । यही वास्तव्य तप है जो हितकरके जाना चाहिये ।

मानसिक तप ।

प्रत्यक्षविषय रहना, किसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त हुई तो भी मनको अत्यन्त न होने देना मनकी भीष्मवृत्ति द्वारा स्थिर रहना मनमें कूट वृत्ति उदने न देना अपना मनोविषय इन्द्रियविषय आत्मसेवक करना अपनी मन छक्तिसे स्वाधीन रहना (मात्र-सं-मुखि) अपनी अन्तर्गत उन्नतिसे उन्नति रहना और मोक्ष प्राप्त करना मानसिक तप कहलाता है ।

मीन धारण करनेसे एक जो अपनी बाजीके दोबोंके कारण जो बर्तन होने संभव होगि वे नहीं होते और दूसरी बात यह है कि अपनी सत्तिका व्यर्थ व्यर्थ नहीं होता वह सत्ति समझीत होती है। हम जो भाषण करते हैं उस कारण दगरी बहुतही सत्ति वह हो जाती है। अतः यदि अपनी सत्तिका व्यर्थ होनाही है तो उस भाषणका संयम करनेसे अपना नियमित प्रयोग करनेसे अपनाही काम है। मीना बर्तनसे अपनी आरिभक्त सत्तिका काम होता है। मीन-धारण एक प्रवक्त बोगसाधन है। समस्त साधन मीन धारण करनेसे बड़े काम होते हैं परंतु समस्तमें एक दिन मीन धारण करनेसे भी बड़ा काम होता संभव है। मत्स्यायके समानार्थ मीनाबर्तन करवा योग्य है।

आत्मविग्रहमें समस्तकर्म ईष्टियसंभ्रम मनोविग्रह आदि का समावेश होता है। अपनी संपूर्ण आत्मियोंकी स्वाधीनता करनेसे अपनी सत्तिका वृद्धि होती है। आत्मविग्रहसे तो स्वेच्छाकार होता है वह सत्तिका स्वीकृता करनेवाला है अतः भक्तमित्राह करनेसे सत्तिका स्वीकृता नहीं होती।

भास्वसुनि का कार्य अपने अन्तःकरणकी पवित्रता है। मन्त्रके अन्तर जो भाव होते हैं वे परिशुद्धही हैं मन्त्रों कभी भुरे भाव न उन्हें मन्त्रों कभी बहुत कमना न उत्पन्न हो ऐसा करनेका नामही भास्वसुनि है। जिसकी भास्वसुनि हो गई हो उससे कृष्णकलाका अन्तर कभी नहीं हो सकता। भास्वसुनि होनेपर मनुष्यकी आरिभक्त उन्नति हो गई है ऐसा समझही केना चाहिये।

मन्त्रक संयमवचन अहिंसाका मन्त्रिक है। हिंसा मृत्युसे होती है। इसके विरुद्ध मन्त्र संयम-आत्म भावसे युक्त हो काम तो उससे हिंसा नहीं होती। संयम स्वभाव भावकीव पूर्ववत्ता योग्य है।

इस तरह वह सांख्यिक तप है। मनुष्य परम तपसा साधनादेही इस सांख्यिक तपको कर सकता है। वह आरिभक्त आत्मिक और सांख्यिक तप आरिभक्त-सामय-सामय अर्थात् विविध हुआ करता है इसका वर्णन मन देखिये—

सांख्यिक तप।

जो तप परम अज्ञाते किया जाता है जिसमें कष्टका लब्ध उपयोग करनेकी आकांक्षा नहीं होती जो कर्तव्य समझ

करही किया जाता है जिसमें अपना देवर्ष मित्रात्मक अभिप्राय नहीं होती जिसमें दृग्भक्त केव भी नहीं होना, अपना भागसंयम बहादेकी हृष्टा जिसमें नहीं होती अपने किन्हे तथा दूसरोंको पीडा होनेकी समझवाही जिसमें नहीं प्रयुक्त जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, जब जन्माकी सुस्थिरता जिससे सबका हित होनेकी संभावना है, जब जन्माकी सुस्थिरता जिससे सिद्ध हो सकती है ऐसा जो परम तप तप है उसको सांख्यिक तप कहा जाता है।

राजस तप।

अपना मान बड़े हृष्टने हृष्टना हृष्ट दिवा है इसकी योग्यता चारों ओर होती रहे ऐसी प्रवक्त हृष्टन किन्हे अन्तर है, हृष्टने अपना अन्तर चारों ओर होता अन्तर ऐसी अन्तरात्मा किम तपके करनेसे पदिके मन्त्रों उत्पन्न हुई भी और जिसकी प्रेरणासे वह तप करनेकी लक्ष्मी हुई तप तपसे जो उपयोग प्राप्त हो उसका योग केव तप प्रयुक्त प्राप्त करकेना ऐसा योग बहादेका मान किम करनेसे पदका अन्तर रहता है जो बर्तनसे और मित्रात्मक किन्हे किया जाता है तप तपको राजस तप करते हैं।

तामस तप।

जो दृष्टान्ते दृष्टान्तसे किया जाता है जिसमें करनेके के किन्हे पीडा होती है, और देखनेवालोंको भी कष्ट होते हैं, जिसमें सबके हितकी भावना तो होतीही नहीं परंतु इसके विरुद्ध हृष्टनेको बर्तन उन्नत देखनेकी प्रवक्त हृष्टन रहती है उसको तामस तप करते हैं। तामस करने करने कोकी वेसी मनोवृत्ति होती है वेसीही तपको उन्नत देखनेवालोंकी भी मनोवृत्ति होती है।

कर्मयोगकी हृष्टा व होनेसे आरिभक्त, मन्त्रक कर्मयोगकी आकांक्षसे तामस और दृष्टान्ते तामस कर्म होता है। इन कर्मयोगोंके निवारणस्थिति देखकर करने द्वारा किम तपके कर्म होते हैं हृष्टन किम हृष्टनको करवा आदिने। जो नदि निवार सांख्यिक हो तप तो सीकरी है, परंतु यदि तामस अन्तर तामस हो तो अपनी धारणसुनि करनेका लक्ष्य हृष्टनको करवा आदिने। प्रवक्त करनेपर कृष्ण व कृष्ण धारणसुनि अन्तरही हो अन्तरात्मा हृष्टने अन्तरही नहीं है।

(६) त्रिविध दान ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देहे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलप्राप्तये वा पुनः । दीयते च परिक्षिप्तं तद्दानं राजस स्मृतम् ॥२१॥

अदेहकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवधत्तं तच्चात्मसमुदाहृतम् ॥२२॥

अन्वयः—दातव्यं इति यद् दानं देहे च काले च पात्रे (च) अनुपकारिणे दीयते तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलं उद्दिश्य वा, पुनः परिक्षिप्तं च दीयते, तद् दानं राजस स्मृतम् ॥ २१ ॥ यद् दानं अदेहकाले यद् दानं, अदेहकाले अपात्रेभ्यश्च च दीयते तद् दानमसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना अपमान कर्तव्य है देना समझकर जो दान योग्य देशमें, योग्य कालमें और योग्य पात्रमें प्रत्युपकार न करनेवालेको भी दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ॥ २० ॥ प्रत्युपकारकी भाशासे फल-सोपकी इच्छासे तथा बड़े कष्टसे जो दान दिया जाता है उसे राजस दान कहते हैं ॥ २१ ॥ जो दान निम्ना करते हुए तथा अपमान करते हुए अयोग्य देशमें अयोग्य समयमें और अयोग्य पात्रमें दिया जाता है वह आत्मस दान कहा जाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—कर्तव्य जानकर देह काल और सापात्र देह पर प्रत्युपकारकी भाशा छोड़कर दिया जानेवाला दान सात्त्विक है, प्रत्युपकारकी भाकासे फलप्राप्तिके लक्ष्यसे तथा दान देनेकी इच्छा मनमें न होते हुए बड़े मनस्वपसे दिया जान वाला दान राजस है, और दूसरोंका अपमान करते कोच और अपमान करते हुए, निम्ना करते हुए पत्तापात्रादि विचार न करने से दान दिया जाता है वह आत्मस दान होता है ॥ २०-२२ ॥

तपका प्रमाण ।

तपोमूलमिदं सर्वं वैद्यमाहुः सुखम् ।
तपो मर्त्यं कुपैः प्रोक्तं तपोऽमृतं वेदवार्त्तिभिः ॥
ब्रह्मस्य तपो ज्ञानं तपः सत्यस्य रक्षणम् ।
वैश्वस्य तु तपो वार्ता तपः शत्रुस्य खेधनम् ॥
औरपाभ्यगदो दिया देवा च त्रिविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्धयति तपसेन हि साधनम् ॥
यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि पुच्छिकमम् ॥
महापातकिन्येव शेषाद्याकार्यकारिणः ।
तपसैव सुखतेन मुच्यन्ते सर्वकिंश्चिदाप ॥
(मनु ० च ११ को १२०-१२९)

तपसे सब उत्कर्ष प्राप्त होता है, सब सुख तपसे ही निकलता है । ब्रह्मस्य तप ज्ञानही है, अथवा तप प्रज्ञाका रक्षण करना है वैश्वस्य तप भ्रातृपारम्पर्यकार है और औरपाभ्यगदो दिया देवा च त्रिविधा स्थितिः । तपसे ही प्रसिद्धयति तपसेन हि साधनम् ॥ यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं यत्पुच्छं । सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि पुच्छिकमम् ॥ महापातकिन्येव शेषाद्याकार्यकारिणः । तपसे ही सुखतेन मुच्यन्ते सर्वकिंश्चिदाप ॥

यह सब तपसे प्राप्त हो सकता है महापातकी और अत्याचारी भी तप करनेसे ही सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । देवा तपका प्रमाण है अतः मनुष्योंको उत्तम सात्त्विक तप करना अधिक है । सब दानका विचार करिये—

(१-२९) दान देना अपमान कर्तव्य है देना देहकाल देह-काल-परिस्थितिका विचार करने से दान सत्पात्रमें दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं । दान हा फल प्राप्त हो इच्छासे प्रत्युपकार होता रहे इस मनोभाव पात्रे परत कहते जो दान दिया जाता है उसको राजस दान कहते हैं । देह-काल-परिस्थितिके विपरीत निम्ना करने हुए दूसरोंका अपमान करने कुपात्रमें जो दान दिया जाता है उसको आत्मस दान कहते हैं ।

सात्त्विक दानसे सबका कल्याण होता है राजस दानसे दाताका कईकर बढ़ता है और आत्मस दानसे देनेवाले का उन्मत्तकी हाथि होती है । यह जानकर अत्यधिक हो तप महापातक प्रकरण करने दानमें आत्मस भाव कम हो मार सात्त्विक भाव अधिक हो देना पल्ल करना चाहिये ।

(७) ओं तत्सत् ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः । ब्रह्मणास्तेन वेदाश्च ऋक्षाश्च विहितः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रिया । प्रवर्तन्त विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फल यज्ञतपःक्रिया । दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यत । प्रशस्ते कर्माणि तथा सञ्छन्दः पार्थ युज्यत ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चाप्यसे । कर्म चैव सदर्शीर्य सदित्येवामिधीमते ॥ २७ ॥

अन्वयः— ओं एवं सत् इति ब्रह्मणा त्रिविधः निर्देशः स्मृतः । तेन ब्रह्मणाः वेदाः ऋक्षाः च पुरा विहिताः ॥ २३ ॥
तस्मात् ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपःक्रियाः ॐ इति उद्गृत्य सततं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥ मोक्षकाङ्क्षिभिः एवं इति
(उदाहृत्य) फल अनभिसंधाय त्रिविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च क्रियन्ते ॥ २५ ॥ (आदिभिः) सत् इति एतत्
सद्भावे च साधुभावे च प्रयुज्यते, तथा हे पार्थ । प्रशस्ते कर्माणि सत् सञ्छन्दः युज्यत ॥ २६ ॥ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः
सत् इति च उच्यते । तदर्थाय च कर्म सत् इति अभिधाप्यते ॥ २७ ॥

‘ओं तत् सत्’ ऐसा ब्रह्मका तीन प्रकारसे निर्देश किया जाता है । इसीसे पूर्व समयमें ब्रह्मण वेद
भीर यज्ञ निर्मित हुए ॥ २३ ॥ इस कारण ब्रह्मवादी लोगोंके यज्ञ दान, तप और कर्म सतत—भीकारक
उच्चारण करके किये जाते हैं ॥ २४ ॥ मोक्षप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले लोग तत् शब्दका उच्चारण करके,
फलकी ओरगुम्मा छोड़कर विविध यज्ञ तप और क्रियाएं क्रिया करते हैं ॥ २५ ॥ जानी लोग सत्
शब्दका प्रयोग सद्भाव और साधुभावके अर्थमें करते हैं इसी प्रकार हे पार्थ । प्रशस्त कर्मोंके अर्थ में
सत् शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥ यज्ञ तप और दानमें जो स्थिर साधना रखनी होती है उसको
भी सत् कहते हैं । तथा उसके निमित्त या कर्म होता है उसको भी सत् ही कहते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ— ब्रह्मका निर्देश ॐ एवं सत्, इन तीन शब्दोंसे किया करते हैं । इस कारण यज्ञ दान तप कर्म जल्दा
बेरोचकार्य करके समस्त ॐ कहा जाता है । तत् कहकर विष्णुस भावसे कर्म करते हैं जिससे मोक्ष प्राप्त
हो सकता है । अस्तिरव ज्ञानुवा और प्रत्यक्ष कर्मके अर्थमें सत् शब्दका प्रयोग होता है तब तप ; दानमें इत्यदि
होनेको भी सत् कहते हैं तब इसमें जो शुभ कर्म करते हैं उसका नाम भी सत् ही है । इस तरह ॐ तत्सत् का
निर्देश ब्रह्म—वेद—कर्मका वाचक है और यह परम पवित्र निर्देश है ॥ २३—२७ ॥

(२३—२७) ब्रह्मका निर्देश ओं-एवं सत् इन तीन
पदोंसे करते हैं । एवं का अर्थ वह । वह जो
वरण है वही सत् है अर्थात् भिकाऊवाधित है तीनों
कालोंमें एक जैसा रहनेवाला है किसी भी कालमें उसमें
परिवर्तन नहीं होता । वही एक सत्त्व वस्तु है और उसीका
जो नाम है । जोकर उसी उद्गस्तुका वाचक है ।
जोकर जो ही है । वह शब्द ॐ जो ओम् एवं
। किया जाता है । इसके अनेक अर्थ हैं जो सबके सब भगव
करनेयोग्य हैं इसमेंसे कुछ कहा दिये जाते हैं—

ओंकारक अर्थ ।

मांहुव्य उच्यते में अ-+ उ- य् इन ओंकारक

अन्वयके तीनों अक्षरोंका अर्थ कमसे जगृति+स्वधर्मविधि
—श्रुतिसे लेकर कहा है कि जात्याकी वह तीन अवस्थाएं
हैं अर्थात् इन तीन स्थितियोंमें जन्मजन्मी जन्मि मर
होती है तब अर्थमात्रात्मी को जगृति शुभं भवत्या है वह
उपकी स्वकय-स्थिति है । अर्थात् जगृति इत्यं श्रुति
और शुभमें मर्य होनेवाली सत् प्रति जात्यात्मीही है ।
जो सत्यके वही अर्थ मांहुव्योच्यतेमें किया है । इन
अक्षरोंके अन्य अर्थ ये हैं—

अ— (जगति इत्यति जगति सत्त्वज निष्ठमिति इति
ना) आदिम प्रथम अवस्था पहिला (मांहुव्य)
सत्त्व व्यापक सर्वत्र प्राप्त होनेवाला । मर्यादित

यत्तु वेदवाच्य, मूक तत्त्व । आगुति । आगुतिमें होवेवाका अनुभव ।

२- अर्थ, इतम स्थिति आदि अन्तको जोड़नेवाकी मध्य स्थिति समय अवस्थाओंका संग्रह (साम्बाधन) कर्तृ । विषय मन्त्रा, कर्तृकता । स्वप्नस्थिति, स्वप्नमें होवेवाका अनुभव ।

३- परिमाण, कथं अस्तिम अवस्था । समय । विषय, कर्तृ मन्त्रा विष्णु, विषय यम । अर्थ मूक वाच्य । सुपुष्टि-स्थिति सुपुष्टि स्थितिमें जानेवाका अनुभव । अस्त्वकथं स्थिति ।

(बर्तनाका) अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञानकी मूक अवस्था ।

ये जोकारके तीन पद और चतुर्थ अक्षरमात्रके अर्थ हैं । मध्यमे इस विषयमें जो ज्ञान मिथ्या है वह आगुति स्वप्न और सुपुष्टि इस तीन अवस्थाओंमें ही प्राप्त होता है मनुष्य इसके विषय और किसी अवस्थाका अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये इस तीन अवस्थाओंका निवृत्तक जोकारही सर्वव्यापका प्रत्येक मात्रा जाता है । और-

ओमित्येतद्वृत्तमिव सर्वम् ।

मूल मन्त्रविषयवृत्ति सर्व ओंकार पद ३

(मां ३ १)

यह प्रश्न ओं इस एक अक्षरका अर्थ है । मूल सर्वमान्य के कल्पिकारणमें होवेवाका सब कुछ जोकारही है । तन्मू रोमी कोई वस्तु हमारे ज्ञानमें नहीं जा सकती कि उसे ओंकारमें समाविष्ट नहीं होती । जगत् को कुछ है वह सब ओंकारसेही व्यक्त हो सकता है वह जोकारही है । ओंकारसे विद्य नहीं कुछ भी नहीं है ।

इसीलिये वहाँ कहा है कि ओं (एत् एत्) वह एतत् है क्योंकि सब कुछ जो है उसका नाम ओं ही है । एत् / ओं कर्तृका मूक अर्थ की देखनेयोग्य है-

यद्यपि इति ओम् ।

ये एतका अर्थ-। एत करे एतको ओं कहते हैं । जगत् के अर्थ ये हैं- जगत् = रक्षण-गति-कामि-मीति-पुष्टि-अवयव-मन्त्र-अवयव-स्वात्म्य-वाच्य-विषय-इष्ट-रीति-अवधि-आदिगण-हिंसा-भारत-भाम-वृत्ति ।

१ रक्षण-संरक्षण करना,

२ गति-इच्छा करना,

३ कामि-मीति करना प्रिय होना

४ प्रीति-संतोष करना संतोष तथा

५ पुष्टि-समाधान करना,

६ अवयव-वाच्य ज्ञान प्राप्त करना

७ प्रवेश-प्रवेशना स्वागत करना,

८ अवयव-सुखा

९ स्वान्वयार्थ, सामर्थ्य-अधिकार अन्तर्गत, स्वामी होना समर्थ होना

१० वाच्यता-मीमा

११ क्रिया-कर्म करना

१२ इच्छा-इच्छा करना

१३ वीर्य-प्रकाशित होना

१४ अवाप्ति-प्राप्त होना

१५ आदिगण-आदिगण करना

१६ हिंसा- (विरोधीका) नाश करना

१७ आवाह- (प्रहय)-स्वीकार करना

१८ भाव-होना अस्तित्व रखना

१९ वृद्धि-वृद्धा

२० भाग (मञ्जरीय)-भाग होना खेद करना

२१ वृद्ध-वृद्धा ।

ये सब अर्थ अन् आगुते हैं और इस अन् आगुते ओं होवेके कारण ओं के अक्षर की ये सब भाव हैं । आगुति-स्वप्न सुपुष्टि तथा उत्पत्ति-स्थिति-अवयव अवस्थाविष्ट होवेवाके ये सब भाव हैं । इसी लिये ओंकारके अर्थमें इस सब आर्थोंका समावेश किया जाता है । अर्थात् ओं कारसे (एत्) वह एतव अवस्था जाता है कि जो एत है उसके विषय और कोई एतत् नहीं है । एतना ओं एत् एत् का आशय है । वह परमेस्वरका अर्थ नाम है जो हरएक कर्मके आदि अन्तमें होता जाता है, ताकि उस कर्मकी उत्तम उपलब्धि हो और उस कर्मके द्वारा कर्ता को शुभ फल प्राप्त होकर कर्ता कुलङ्कित होवे ।

ओं तत्सत् इति आशय निर्देश ।

ओं एतत् वह मन्त्रा-परममन्त्रा-परममन्त्रा-परमेस्वरका निर्देश अवयव संकेत है । इस निर्देशमें मन्त्राओं

(८) असत् ।

अभद्रया हुत दत्त तपस्सर्गं कर्तुं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो ह ॥२८॥
इति श्रीमन्नगवहीतापुरुषविराज्जगद्गुरुप्रसादात्प्रसिद्धा श्रीकृष्णानुबर्तमाने अद्यात्राचार्यमानवोपो नाम सङ्ख्यबोधानः ॥१२॥

अन्वया— हे पार्थ अभद्रया हुतं दत्तं तपः तप्तं, यत् च कर्तुं तत् असत् इति उच्यते; एतद् वैतलं ह ॥ (नरि) च (चक्रप्रदे) नो (भवति) ॥ २८ ॥

हे पार्थ ! अभद्राजे किया हुयन दत्त तप या अन्य जो कुछ भी कर्म हो, उसका निर्देश 'असत्' शब्दसे किया जाता है, वह मरनेके पश्चात् और इहलोकमें सुफलता देनेवाला नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

भावाध— अभद्राजे जो किया जाता है वह असत् होनेके कारण किसी प्रकार भी फलकर नहीं होता है ॥ २८ ॥

देहों और यज्ञोंका विधान होना का रहा है, क्योंकि यज्ञको कामदेवका माध्यम है । यज्ञका वर्णन देहोंमें है और कर्म रूप यज्ञ ही यज्ञकनही है । यज्ञदेही उत्पन्न होनेके कारण माध्यम वेद और यज्ञोंका वह जो तत्सत् संकेत हुआ है । इसी कारण भौतिकता उच्छासन करकेही यज्ञकारी काम यज्ञ प्राप्त तप आदि कियात् करते हैं । भौतिकता ही इसी कारण वर्णन समिक्ता मानी गई है । ईश्वरं यज्ञ-यज्ञका मूल भौतिकता है जिससे सब अन्वयन वेदादिकी उत्पत्ति हुई है ।

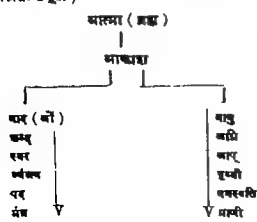
अतएव यज्ञात्मकतत्त्वसे सब सर्व यज्ञ पुरुषी वातु आदि उत्पन्न होते हैं और आकाश अन्नमाद्ये तथा है । इस तरह वस्तु और नाम पुरुषी उत्पत्ते आभिष्कार है । (अन्नमया आकाशः संयुताः)

और दूसरी ओर उड़ी आकाश-उरवसे पञ्चमूत उत्पन्न होकर पानिचोकी उत्पत्ति हुई है । नामरूपरसगन्ध विष इह तरह परस्पर संबन्धित है ।

चक्रसमयी कामया होकर यज्ञ तप और विविध यज्ञात् प्राप्त तप (वह परब्रह्म परमहमा सत्य स्वकन है) एवं यज्ञका उच्छासन करने के लिये उक्त परब्रह्मकी कृपे के बिनाही वह सब किया जाता है ऐसा संकल्प करने, बिना करते हैं । इस सबका समर्थन उक्त परब्रह्मके बिना होनेके कारण चक्रमोयके कारण होनेवाके दोष कर्ताको नहीं करते ।

एतद् अन्वये सर्व अस्तित्व होता पुन प्रकृत कर्म से होते हैं । तथा यज्ञ, तप दत्त और ईश्वरार्थ बुद्धिसे किया हुआ कर्म वह ही सत् 'अन्नमया कर्म' है ।

जो एतद् सत् के से सब सर्व पार्थों कानेके इहमें सब कुछ छुमर्ममक साधनों और धावबोधे कानेके होता है । इस आकाशको कानेके प्रत्येक कर्मका प्रारंभ करनेके समय जो एतद् सत् कर्ता कहते हैं वह पाठकोंकी समझमें का सकता है । भौतिकवाचक नहीं एक वस्तु अथवा सत्य प्राप्त है । उसके साथ अन्वयमान प्राप्त करनेके बिना में वह प्राप्त तप आदि कर रहा है । इसका एक एक कदमके बिना समर्थित हो और इस समर्थनके लिये वह आकाश माध्यम-स्थिति प्राप्त हो । वस्तुतः धावक नहीं तुल्यता को और जो यज्ञात्के उच्छासनपूर्वक सब शुभ कर्म करते अथवा आत्मको कुलकुल करे । इस तरह एतद् का विचार हुआ । अब कसत्का विचार देखिये ।



इस तरह आकाशकनवसे एक ओर आदित्य हुई है

(१८) जो अग्निसे किया जाता है वह तो ' अग्नि ' है, पानु जो अग्निसे किया जाता है- फिर वह पक्ष हो पानु हो, तप हो अथवा अग्नि कुछ भी कर्म हो- उसको अग्निहीनताके कारण ' अग्नि ' कहते हैं । इस तरह जो अग्नि होता है उसका पक्ष व इस ओरमें मिलाता है व पाकोरमें मिलाता है । क्योंकि वह अग्निहीनता जाता है । इस कारण जो कुछ किया जाये वह अग्निसे किया जाये,

अग्निहीनतासे किया जाये । इससे अनुपपन्न कुछकृत हो सकता है । यदि कुछ कर्म करना है तो अग्नि मक्ति और आत्म विधिके अनुसारही करना चाहिये । अग्निहीनतासे करनेसे धर्मादिका ध्वज तो होगाही साबही इहलोक और पाकोरमें भी कुछ पक्ष नहीं मिलेगा । पाठक इस तरह अग्निहीनता महत्व जानकर अग्निहीनता अपनी कृतकृत्यता करें और पूर्णता प्राप्त करें ।

सतरहवें अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

सूचना

अब इस समस्त विचार जागे १८ वें अध्यायमें होयेगा, वह विचार इस अध्यायके कथनके साथ आपस संबन्धित है । इसलिये इस अध्यायके इस कथनका विशेष विचार १८ वें अध्यायके विचारके साथ किया जायगा ।

श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके सुभाषित

(१) सत्त्वानुरूप भद्रा ।

सत्त्वानुरूपता सर्वथा भद्रा भवति ॥

(म गी १०१३)

" पाठक अनुसूच ही सबकी मनोवृत्ति होती है ।

अन्तःकरणकी वसिष्ठता अथवा अविश्रान्तके समानही सबकी मनोवृत्ति हो जाना करती है । वैसा मन वैसी वृत्ति ।

(२) भद्रामय अनुपपन्न ।

भद्रामयोऽयं पुरुषो

या यध्युद । स एव सा ॥

(म गी १०१३)

" वह अनुपपन्न भद्राकृत ही है । वैसी जिसकी अग्नि होयी है अनुपपन्न वैसाही होता है ।

(३) सत्त्वमें स्थिति ।

एव तपसि दान च श्रितः सविति प्राप्यत ।

कर्म यप तदर्थेय सत्त्वस्थेयामिधीयते ॥

(म गी १०१०) । है ।

" पक्ष तप दान धर्म कर्ममें जो स्थिति होती है उस को सत्त्व कहते हैं । अर्थात् पक्ष तप, दान और कर्म करनेमें जो अपना उद्योग जाता है, वह अकारणमेंही जाता है । तथा इसके विपरीत कर्ममें जो आसुका ध्वज होता है वह अग्नि कहलाता है ।

(४) असत्त्वा रूप ।

अभद्रया हुत दत्तं तपस्तप्तं दत्तं च यत् ।

असत्त्वमुप्यत पार्थ न च तत्रेय मा इह ॥

(म गी १०१४)

अग्निहीनतासे जो दान तप दान और कर्म किया जाता है उसका नाम अग्नि है वह नहीं और पाकोरमें पक्ष पावक नहीं होता । "

अग्निहीनतासे किया हुआ कर्म अग्नि हीनकारक निष्फल होता ।

इस कारण सबकी अग्निहीनतासे अग्निहीन कर्म करना बर्जित

श्रीमद्भगवद्गीताके

सतरहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१) त्रिविध भयका स्वरूप । (श्लोक १-४)	८३७	त्रिविध तप कारीक तप बाह्यिक तप मायधिक तप छात्रिक तप रत्न तप तामस तप तपका प्रभाव	१३ ॥ ॥ १५ १६ ॥ ॥ ॥ १७
(२) मशास्त्रीय रीतिसे तप करनेवाले आसुरी लोग (श्लोक ५-९)	८३८	(१) त्रिविध दान (श्लोक १०-११)	॥ ॥
(३) त्रिविध मोक्ष (श्लोक ७-१०)	८३९	(७) तत्सत् (श्लोक २३-२७) मोक्षके सर्व	१०८ ॥
सात्त्विक मोक्ष रत्न मोक्ष तामस मोक्ष सर्व विधाय	९ ११ ११ ११	(८) असत् (श्लोक २८)	११० ॥
(४) त्रिविध ब्रह्म (श्लोक ११-१३)	९०२	सतरहवें अध्यायके सुभाषित (१) शब्दावृत्त भवा । (२) अज्ञानमय मनुष्य । (३) अर्थमें स्थिति । (४) अक्षयका रूप ।	११० १११ १११ १११ १११
सात्त्विक ब्रह्म रत्न ब्रह्म तामस ब्रह्म	९१ ९१ ९१		
(५) त्रिविध तप (श्लोक १४-१६) (श्लोक १७-१९)	९०३ ९०४		

अथ अष्टावशाऽध्यायः ।

संन्यासयोगः ।

(१) संन्यास और त्यागके लक्षण ।

महान् उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिपूदन ॥ १ ॥

भोगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यास कथयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

धन्व्या— बहूनां उवाच— हे महाबाहो केशिनिपूदन हृषीकेश ! वह संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुं इच्छामि ॥ १ ॥ भोगवानुवाच— कथयोः काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः विचक्षणाः च सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः ॥ २ ॥

महान् बोले कि—हे महा मुखाबाहे, केशि वैत्यका नाथ करनेवाले और हृषीकेशो स्वाधीन रखनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं संन्यास और त्याग का रहस्य पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥ भगवान् श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि— बानी छोड़ काम्य कर्मोंका त्याग करनेको 'संन्यास' कहते हैं और शिष्टान् छोड़ सब कर्मोंके फलके त्याग करनेको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

मार्थार्थ— संन्यास और त्यागके लक्षण ये हैं । अपने योग बहानेके किये जो कर्म किये जाते हैं उनका त्याग करनेका नाम 'संन्यास' है और संपूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेका नाम त्याग है । संन्यासमें कर्म त्याग जाते हैं और त्यागमें फल त्याग जाते हैं ॥ १-२ ॥

संन्यास ।

(१-२) संन्यास किये कहते हैं और त्याग का अर्थ त्याग है इसका विवेचन यहाँ किया है । कर्मोंमें काम्य कर्म और निष्काम कर्म देखे दो मुख्य भेद हैं । अपने योग बहानेकी इच्छासे जो जो कर्म किये जाते हैं, वस्तुके काम्य कर्म कहा जाता है । निष्काम कर्म केवल करने जोशोकी विरपेक्षयासेही किये जाते हैं, इसकिये वे कर्मोंको बाधक नहीं होते । बाधक होनेवाले सकाम अथवा काम्य कर्मोंही हैं । अतः इस सकाम कर्मोंका त्याग करने का इरादा सर्वप्रथम ही किया गया है । सकाम कर्मोंका त्याग हो सके अथवा त्याग करना चाहिये । अर्थात् अपने

योग बहानेके किये जो जो कर्म करने होंगे उनको सर्वा-
नित करना चाहिये इस इच्छाका संयम करना चाहिये ।

दुष्टोंकी शक्ति न हो दुष्टोंकी उपद्रव न पहुँचे इस दृष्टिके समुपलब्ध अपने कर्मोंकी परीक्षा जब करने छयेगा तब उसके ध्यानमें वह बात या आशय ही कि काम्य कर्मोंसे ही दुष्टोंको यह पहुँचते हैं और जगहमें दुःख बढ़ते हैं । स्वार्थसे देखिये होकर जब समुपलब्ध अपने पास भोगसमृद्ध करनेकी इच्छा करता है तब यह अपयत्न मात्र अस्वार्थिक भोग बढ़ाता है । इस कारण उसके दुःखों में भोग कम होत है । इस कारण जगहमें दुःख बढ़ता है । यदि वह समुपलब्ध अपने पास भोगसमृद्ध न करेगा अर्थात् वह अस्वार्थिक-

हृदिसे रहेगा, जो इसको संन्यासप्रवृत्तता का प्रत्यक्ष प्रमाण माने और वह भोगसंग्रह करनेके पापसे अपने आपको बचा सकेगा ।

परिमहृषिहीन सब पापोंका कारण है । परिमहृषि जिस व्यक्तिमें बचता जिस राष्ट्रमें रहती है, वही पाप करता है और वही पापसे वहीं बच सकता है । मेरे भोगके जिसे मेरे पास भोग वस्तुओंका संग्रह होता चाहिये वह प्रकृत कर्म बचता सकता है क्योंकि किंचित् कारण होती है और यही भोगेच्छा पापमहृषिहीन जननी है । इसी किये कहा है कि—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं ब्रह्मणो विदुः ॥

काम्य कर्मों को छोड़के ब्राह्मी भोग संन्यास कहते हैं । सर्वाण्य संन्यासमें स्वकीय भोगेच्छा बचायेवाले सकाम कर्मोंका संवत्सरीय संग्रह संन्यास करना होता है । अतः इस संन्यासमें अपनी भोगेच्छापर सर्वादा रहनी पड़ती है भोग भोगके ही इच्छाका त्याग करना पड़ता है । इस तरह संन्यास—जैसे विश्वमें घुल बहनेका हेतु होता है । मरणा संन्यासी संपूर्ण कर्मोंका त्याग नहीं करता परंतु अपने भोग बहनेके किये जो सकाम कर्म करने होते हैं उनकाही त्याग करता है सर्वाण्य ब्रह्मणे कोटता है ।

जिससे अग्राह्य उपकार हो जिससे अग्राह्य प्राप्त होते वेसे विवर्तन कर्मोंका त्याग करनेकी संन्यासीको बाध पड़ता नहीं है । अपनी भोगकामनाके हेतुसे जो जो कर्म (काम्यानां कर्मणां न्यासं) होते हैं उनकाही त्याग करना चाहिये । इस तरह विचार करनेपर प्रतीत होगा कि संन्यास में काम्य कर्मोंकाही निषेध है । काम्य कर्म बहोतक हो सके बहोतक कम किये जाय वही यहां मुख्य कह्य है ।

काम्य कर्मोंमें भोगेच्छा होती है और वह भोगेच्छा अपने किये भोग भोगके ही इच्छा है । इसका एक उदाहरण देखिये कि मनुष्य मात्र ब्रह्मणि भोगोपरही जीवित रह सकता है अर्थात् भोग न मिलनेपर वह मर जायगा । यतः जीवनेके किये आवश्यक भोग स्वीकारनेमें दोष नहीं है क्योंकि वह तो जीवनेके किये आवश्यक ही है । परंतु मनुष्य इष्टमें ही सतृप्त नहीं होता और वह अपने बाह्य भोगसंग्रह करता जाता है । यही भोग अपने बलसे बल्य प्रीति है और काम्य मार्गवाच्यता चाहते हैं । इससे गति-

बोधो काम्य न्यून भिद्यता है और उनको मुखा रहना वह है इससे अग्राह्य दुःख बढ़ता है । इसी तरह काम्य भोगोंके संग्रह करनेमें जो दोष हो सकते हैं उनका निषेध पाठक कर सकते हैं और जान सकते हैं कि, भोगसंग्रह करनेकी मनोवृत्तिके केहे दोष हो सकते हैं और अर्थात् हृदिस्थि ही जिस तरह घुलती वृद्धि हो सकती है । वह अर्थात्—वृत्ति संन्यासमें होती है, जिससे कर्म कर्म किये जाते हैं । वही काम्य कर्मोंका संन्यास है सर्वाण्य संन्यास में काम्य कर्मोंका संन्यास करना है व कि संपूर्ण कर्मोंका पाठक संन्यासका वह कर्मक प्रत्यक्ष प्रमाण है, काम्य कर्मों

त्याग ।

अब त्यागका विचार करना है । त्यागमें कर्मोंका त्याग नहीं है । कर्म काम्य हों अथवा निष्काम हों, किन्तु का भी त्याग करना नहीं चाहिये । परंतु अब कर्मोंके एक भिन्न भाव उस कर्मका त्याग करना चाहिये जब उस कर्मका उपसोय स्वयं कर्मकर्ताको केवल उचित है । इस कर्मकर्मोंके सब अवस्थाकी मर्यादाके किये कर्मों करना चाहिये । त्यागका वह जब सबको निषेध ही मर्यादा के योग्य है ।

संन्यास में कर्म कर्मोंको छोड़ना होता है, न कि त्याग में सब कर्मोंको करके उनके कर्मोंका उपसोय ही किये समर्पण करना होता है । इससे संन्यासमें सब कर्म नहीं होते परंतु त्यागमें सब कर्म होते हैं और उनके कर्मोंका सब अवस्था समर्पण किया जाता है । त्यागमें कर्मोंके विस्तृत होता है और संन्यासमें काम्य कर्मोंका संग्रह ही होता है इसलिये संन्यासकी अपेक्षा त्याग इच्छा है । सर्वत्र संन्यासकी अपेक्षा त्याग कर्म है, क्योंकि उसमें सब कर्म होनेके बजाय उसको व भोगसे हुए सबकी प्रकृतिके कि समर्पण करना होता है ।

कर्मभोगकी इच्छासे भोगोंके संग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती है । वह भोगेच्छा ही इस त्यागमें संग्रहित की जाती है । कारण कर्म करनेपर ही कर्मकाय कर्म प्राप्त किया जाता है । वह त्यागकी विशेषता है । संन्यासमें कर्म को छोड़े जाते हैं इस कारण उन कर्मोंसे होनेवाले दुःखका त्याग ही यवदा वंचित रहती है । परंतु त्यागमें काम्य कर्म करने के बजाय उसका एक समर्पण किया जाता है इससे काम्य

(२) यज्ञ-दान-तपका त्याग न करो ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निमग्नं शृणु मे तत्र त्यागो भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सप्तकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पाथ निश्चितं मतमुचमम् ॥ ६ ॥

अन्वयः— एक मनीषिणः कर्म दोषवत् (अस्ति तस्मात्) त्याज्यं इति प्राहुः अपरे च यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं इति (अस्ति) ॥ ३ ॥ मे भरतसत्तम । तत्र त्यागे मे विद्वद्भिर्ब्रूतु । हे पुरुषव्याघ्र । त्यागो हि त्रिविधः सप्तकीर्तितः (अस्ति) ॥ ४ ॥ यज्ञः दानं तपः कर्म न त्याज्यं, तत् कार्यं एव । यज्ञः दानं तपः कर्माणि मनीषिणो पावनानि (एव सन्ति) ॥ ५ ॥ एते तु यज्ञानि कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति, इ पाथ । मम निश्चितं उच्यते मत् (अस्ति) ॥ ६ ॥

कर्म विद्वान् कहते हैं कि सब प्रकारके काम दोषयुक्त हैं अतः उनको त्यागना योग्य है । दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ दान और तप रूप कर्म त्यागनयोग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ हे भारतीयोंमें से प्रेक्ष धीर । इस त्यागके सर्वधर्मों में मेरा निर्णय सुन । हे पुरुषसेष्ठ । त्याग तीन प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥ यज्ञ दान और तपकरी कर्म त्यागने नहीं चाहिये, ये कर्म करनेही चाहिये । कारण यह है कि यज्ञ दान और तपकरी काम मनको स्वाधीन रखनेवालोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ ये सब कर्म भासकि और फलमेंगेछानके छोड़ कर करने चाहिये ऐसी ही पाथ । मेरी निश्चित और उत्तम सम्मति है ॥ ६ ॥

भाषार्थ— कर्मके विषयमें विद्वानोंके अनेक मत हैं । कई विद्वान् कहते हैं कि अत्येकसुनायुक्त कर्म दोषपूर्ण है अतः सब कर्मोंसे त्यागना चाहिये । दूसरे विद्वानोंका मत है, कि यज्ञ दान और तप इन कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये । इस विषयमें निर्णय यह है कि यज्ञदानतपकरी कर्म हरएक मनुष्यको करनेही चाहिये । क्योंकि इन कर्मोंसे मनुष्य पवित्र होता जाता है । अतः ये कर्म त्यागनेसे मनुष्यका अन्धःपात घीर इन कर्मोंके करनेसे मनुष्यकी पवित्रता होनेका काम बढ़ति होती है । अतः इन कर्मोंको सोमासन्निका तथा अपने पास फलसंग्रह करनेकी इच्छाका त्याग करके करना चाहिये, यही निश्चित रहस्य है ॥ ३—६ ॥

कर्मोंसे अन्धका काम होता है और फल भी अन्धकी अन्धता से मिले बाँटा जाता है । इससे स्पष्ट हुआ कि संन्यास की चेष्टा त्याग अधिक कामकारी है ।

छेन्वादी साधक कुछ कर्म (काम्य कर्म) करपाही नहीं तब त्यागी काम्य कर्म भी करेगा और उपर्युक्त कर्मोंका फल अन्धकी धकारोंसे मिले दे देगा ।

छेन्वादी और त्याग एक नहीं है । संन्यासी काम्य कर्मोंसे दूर है, काम्य कर्मोंसे दूरे होने, इस अर्थसे वह उनको करता नहीं । सोनू त्यागी साधक आवश्यक सब कर्म करता है और उन कर्म फलमेंभी मग्न रहित होत है वह जानकर इन कर्मोंके फलोंसे अपने पास न रखता हुआ सब अनवादी पक्षाधिक मिले बर्णन करा है ।

अनाहृत्यार्थं दैक्षिणे— एक व्यास-महर्षि कहनेवाला है । वह व्यासको काम्य कर्मसमग्र काम होनेकी इच्छासे किया करता है ऐसा देखकर व्यास काशी छोड़ देता है ; परन्तु त्यागी मनुष्य उत्तम व्यास करता व्यास स्वस्थपद धारणकरेगा उसमें चोखा नहीं करेगा और उत्तम आ काम होता वह सब अनवादी पक्षाधिक मिले बर्णन करेगा । जिससे इसका समय भी धनुष्यहारा में आपगा और फल मय अनवादीके दितके मिले बाँटा अनेक कारण अनवादी इससे अधिक दित होता ।

यहाँ संन्यासीका व्यापाररूप कर्मोंको छोड़ना और त्यागीका उक्त काम सुयोग्यरीतिसे करके उचित कामका धमपन करना इन दोनोंकी तुलना साफ अलग करे । इस तुलनासे पाठक संन्यास और त्यागका स्वल्प अन्तर जान सकते हैं ।

कर्मस्वागसे शेष ।

(१—१) कर्मोंका त्याग करनेसे शेष होते हैं । काम्य कर्मोंसे शेष होत हैं इस कारण संन्यासार्थी लोग इन कर्मोंको नहीं करते । परंतु वह विचारपद्धतिही शेषशुद्ध है । भोग कामनाको हटाकर इन कर्मोंको करनेसे कोई शेष नहीं हो सकता । वह उत्पन्न जायकर कर्मैककला हान कर देनेसे कोई शेष नहीं बचा सकता । त्यागी इस उत्पन्नको बधार्थ रीतिसे जानता है और संपूर्ण कर्म करके जो दोषोंका भागी नहीं होता । अतः त्यागवासी उत्पन्नजायक अनुसार कर्मका त्याग करनाही शेष बचानेवाला है ।

यह हान उप के कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये । हर एकको ये कर्म करनेही चाहिये, ऐसा कह उत्पन्नजायकोंका विमिश्र मत है । वहाँ ब्रह्म हान और उत्पन्न उत्पन्न जायका जायद्वयक है । तथा ' का सर्वं कश्चिद् ' है । परिक्रम, धाम कर्मोंके करनेमें जो जायद्वयक कह होते हैं उनको उप कहते हैं । उपके बिना कुछ भी कर्म हो नहीं सकता । हान जायद्वयक सर्व देना है अपनी वस्तुको दूसरेके हितके लिये सर्वन करनेका नाम हान है । और यहाँ वह है कि जिसमें ' सत्कार-धर्मि और उपकार ' होता है । इन दोनों शब्दोंके न मूल अर्थ हैं ।

इसमें उपके कह स्वयं भोग्ये कहते हैं । एकले लिये दूसरा उप करे वह नहीं हो सकता । हान अपनी वस्तुका हान करनेसे सिद्ध हो सकता है । हाता देव वस्तु और वाचक इन तीनोंका सर्वत्र हानसे होता है और हातासी वस्तु वाचकके पास जाती है अर्थात् वस्तुपरका एककला स्वात्मित्व आकर उपपर दूसरेका स्वात्मित्व उत्पन्न होता है । वहाँ वाचक छद्मसे पाचका करनेवाला मिश्रक ही चाहिये ऐसा नहीं । किसीने अपनी जो किसी गुणकृष्ण धर्म्याको हान की तो भी वह हानही होता है । वहाँ गुणकृष्ण अत्मा कोई पाचक या मिश्रक नहीं है । अर्थात् गुणकृष्णमें अनेक जायक पदत है इसलिये कदा अत्माको गीर्वाही अनेका रहती है अतः उस अत्माको गीर्वाही हान करना योग्य है । योद्धा स्वामी गीरवाका अपना स्वात्मित्व छोड़ता है और गुणकृष्ण स्वात्मित्व वसपर कर देता है । वह हान है ।

ब्रह्म इससे विकल्पक है । आध्यात्ममार्गमें—

अनुसंधिषु व्याधिर्जायते ।

अनुसंधिषु यथाः कियते । (गोप्य मन्त्र)

अनुसंधिषु व्याधिर्जायते ही बार उनके विचारको लिये अनुसंधिषुवर्गके समय ब्रह्म लिये जाते हैं । ' ये ब्रह्म जो लिये जाते हैं उन ब्रह्मोंसे वायुकी प्रसन्नता होती है, उनसे सर्वत्र जगत्का काम होता है । वहाँकी एक विमिश्र जायक लियेकही इच्छिते देखनी योग्य है । एकले ब्रह्म दिया, वह ब्रह्मसे वायुकी शुद्धता और प्रसन्नता हो लगी इस वायुपुच्छि से जगत्को आरोग्य प्राप्त हुआ, परंतु ब्रह्मका जो ली नहीं कि किसीको किस तरह आरोग्यकाय हुआ है और आरोग्यकाय करनेवालोंको भी पता नहीं कि जिससे कर्मसे मुझे आरोग्यकाय हुआ है । यद्यपि जो जगत्का काम होता है उसमें वह प्रसन्न रहती है ।

ऐसा हान देनेवाला और देनेवाला वे परस्पर पाच लगे और देखते हैं धना ब्रह्मक कर्ता और यद्यपि काम देनेवालोंका संबंध नहीं होता । उपकारकर्ता और उपकृत देनेवाला परस्परको पदचामने भी नहीं परंतु अमूर्त संबंध से जुड़े होते हैं । वह यद्यपेही जगत्कार होता है ।

और एक उदाहरण देखिये । एकले मार्गपर बर्तमान बधार्थ और कुर्वा लुपता । कई वर्षोंके पत्ता नहीं एक प्रवासी जाया और उस बर्तमानमें रहा और उस कुर्वा लक पीकर जायद्वित हुआ । कुर्वा बधार्थका और पानी पीनेवाला काकले और स्थायक भी दूर रहने हुए इस कर्मके द्वारा एकत्रित हुए होते हैं । अतः वह मूल और धर्मशास्त्रको विमिश्र करवा एक प्रकारका ब्रह्मरी है ।

अब एक अनुसंधिषु उसी स्वात्पर जाया है और कुर्वा पानी पिनाककर कई छोपोंको देता है इसमें पानी पिनाकमें उले कर्म हुए वह उसका उप है और पानीका देना वह उसका हान है । वहाँ पाचक उप हान और ब्रह्म उत्पन्न जाय सकते हैं । अन्तर्धर्मों इनकी गीवती की है और कहा है कि वह उप है वह हान है और ये ब्रह्म हैं । परंतु हमें इनकी गीवती करके हरएकका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । वहाँ केवल मूल उत्पत्ती देखना है वह उपके उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा । अतः इस तरह पाचक ब्रह्म हान और उपके ज्ञान और जगत् स्वयं जगत् ।

(१) तीन प्रकारका त्याग ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परिस्थागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
 दुःखमित्येव यत्कर्म कार्यकृच्छ्रमवाप्तयेत् । स कृत्वा राजस त्याग नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
 कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वयः—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परिस्थागः तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ यः दुःखं इति (सत्त्वा) एव यत् कर्म कार्यकृच्छ्रमवाप्तयेत् स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं नैव लभेत् ॥ ८ ॥ दुःखं इति (सत्त्वा) एव यत् नियतं कर्म संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है । यदि कोई मज्जामग्न नियत कर्मका त्याग करेगा तो वह त्यागको तामस त्याग कहते हैं ॥७॥ बुद्धि समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, वह 'राजस त्याग' है इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥८॥ है सर्वज्ञ । अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर जो नियत कर्म बाधकि और फलमोहोच्छा छोड़कर किया जाता है वह त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कर्म कर्मका त्याग मज्जासे किया जाय तो वह तामस है, दुःखसे बचने किया जाय तो वह राजस है और नियत कर्म करने को छोड़कर त्याग करना है वह सात्त्विक त्याग कहलाता है ॥ ७-९ ॥

बड़ो विष्णुः प्रजापतिः । (श्रीमद् ३ ११९)

पञ्चतपः । (म वारा ८११)

शरीरं पञ्चः । (म वारा १ १२९)

पञ्चैव हि देवा विश्वं गताः पञ्चमाधुराणामधुना पञ्चैव हि कण्ठो निवा मन्त्रिक पञ्चैव सर्वं प्रसिद्धिं तस्मात्पञ्च पादं वदन्ति । (म वा १११)

पञ्चः सर्वं ज्ञातः । (म वा १११)

सर्वे शरीरे पञ्च परिवर्तमानि ॥ (प्राणाग्नौ १)

पञ्च अथर्व और श्राव्ये कर्मके तीन आधार हैं ।

मनुष्यका जीवन ही पञ्च है । जो सबकी परिचर्या करता है वह पञ्च है । पञ्च बीजाभिके इत्यनेके शिष्ये पाते हैं । अथर्व कर्म ही एक पञ्च है । पञ्चमें उल्लिखिते अश्विनोके दूर भगवा पाता है । मैत्रि पञ्च हूँ (मेरा जीवन पञ्चक्य हो) । वाल्मी मेघ प्राण और मय ये कमका आत्मपञ्चके दोहा अथर्व उल्लिखता और पञ्चा है । पञ्च ही प्रजाका पावन करता है । विज्ञान पञ्चका निरतार करता है । पञ्च ही परमेश्वरसकमी प्रजापञ्च करमेका है । पञ्च तप है । शरीर ही पञ्च है । पञ्चके दोषोंके त्याग प्राज्ञ किता पञ्चके अश्विनोके दूर भगवा पञ्चके शत्रु मित्र बनते हैं पञ्चमें सब कुछ रहा है इसलिये पञ्चकी सबसे भड्का मानी है । अथर्वक और प्राज्ञोका

आम वह पञ्चही हैं हैं । अपने शरीरमें पञ्च परिवर्तित करवा चाहिये ।

इस तरह पञ्च श्राव्य और तपका कर्मन उपनिर्वाह किया है । इसका इसका महत्त्व होनेके ही इसके आचरणसे सब कुछ है ऐसा कहा है और इसी शिष्ये सब अथर्वे आधारपञ्च पञ्च-श्राव्य-तप कभी छोड़ने नहीं चाहिये और इसका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है ।

पञ्चदानतपकर्म स त्यागस्य कार्यमेव तत् ।

पञ्चो दान तपश्चैव पाधंशानि मूर्धनिवाह ॥

(श्री १८११)

क्योंकि पञ्च श्राव्य और तपके मनुष्योंकी परिचर्या होती है इसलिये इतक मनुष्यको अपनी परिचर्याके शिष्ये इसका पावन अवश्यमेव करना आवश्यक है ।

इन कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु पञ्चयोगका संन्य कर्मका विचार छोड़ना चाहिये अपने भीम बहादुरके हेतुसे इसका आचरण कोई न करे प्रत्युत कर्तव्य समझकर इसके करे और कर्मके पञ्चात् जो फल मिले वह अपनाकी कर्माईके शिष्ये वर्ज्य करे । ऐसा करनेसे मनुष्य कुलकुल हो सकता है ।

अथ त्यागका विविध रूप देखिये—

(७-२) वहाँ कर्मका त्याग करनेके तीन भद्र बताये हैं । कर्मका त्याग ' सात्त्विक, राजस और तामस ' ऐसा तीन प्रकारका है । राजस और तामस त्याग बड़ा हाथि करनेवाला है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है ।

सौमिस त्याग ।

' निवृत्त कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करना नहीं चाहिये परंतु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका भी त्याग करते हैं, अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते और कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको संन्यासी बतलते हैं वह बड़ा त्याग तामस अर्थात् अज्ञानजन्य है (भी १८।७) । राजस त्याग हाथिकारक है क्योंकि (बाणो गच्छन्ति तामसाः । भी १९।१८) तामस लोग बचकन होते हैं ऐसा स्वप्न कस है । जो अपना कर्तव्यकर्म छोड़ देते हैं उनकी विसंशय कल्पेयि होनी इसमें क्या संदेह है ?

यह कर्तव्यकर्मका त्याग होवेसे दुःखदायक है । जो त्याग भी वे कत्तेका लोभसे दिया है वह त्याग वह नहीं है । वह कर्मके छक्का त्याग है । उसके करनेसे जन राधा दुःख म्लूव होता समझ है परंतु कर्मकाही त्याग करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे अपने जीवनके किये जल्य आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरों पर पड़ता है, इस काल कर्तव्यत्याग करनेवाले संन्यासी मान्यता दुःख बताते हैं । इसका एक उदाहरण देखिये—

कर्तव्यत्यागसे दुःख ।

जल्य मनुष्यके जीवनित रहनेके किये जल और जलकी व्यवस्था है, इस कारण संन्यासीको भी जल और जलकी व्यवस्था विधान्य है । जानपानकी भाँतिके किये जो कुछ बान करना आवश्यक है वह तो करनाही चाहिये । यदि यह संन्यासी कुछ भी नहीं करेगा तो इसके जीवनविवर्धके किये दूसरोंको कह उठावानी पड़ेगा । इससे दूसरोंमें अपने जीवनके किये तथा इसके जीवनके किये पान करनेका पार पड़ना पड़ेगा । इस तरह जनताके कह इसके कर्तव्यत्यागसे बर्धे ।

एक मनुष्यके कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि कल्पेयि कह पड़े है, तो ऐसे कर्मत्याग करनेवाले बहुत हुए तो वह

समाज दुःखी होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है । यह कोई आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना जल पकने और अपने किये पापी भर कावे । इसके किये कोई दूसरा वे कर्म करे परंतु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जनता सत्यज्ञानसे मुक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ बने । ऐसा सत्यज्ञानका प्रदान करनेवाला जो होना वह अपने जानपानके किये दूसरोंकी सेवा के सकता है । जस्तु । इस तरह विचार करनेपर कर्तव्यका त्याग करनेसे जगत्में दुःख किस तरह बढ़ सकता है इसका पता पाठकोंको हो जायगा । वह तामस त्याग अज्ञानसेही होता है ।

राजस त्याग ।

राजस त्याग दुःखके मयसे होता है । कर्म करनेमें जो दुःख होता और जो शरीरको कह होंगे उनके करने जो कर्म छोड़ जाते हैं वह राजस त्याग है । शरीरकी सुंदरतामें निगड होना कारकोंकी स्वच्छता और बाकोंकी सुंदरता निगडैगी इसकिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड़ देते हैं उसको राजस त्याग कहते हैं । कई सुबक भवानाम आत्ममें जाते नहीं और वहाँ इसकिये मनुष्य (कुल्ली) केकते नहीं कि शरीरको और अर्धोंको मित्रे क्य जाव और ज्ञानमें म्लूतता आजाव । शरीरकी सुंदरता और कोम अताकी रक्षा करनेके किये शरीरका स्वास्थ और बलका ज्ञान वे लोग करते हैं । शरीररक्षास्थ और बल काम जावक है ऐसी कोमकता कामकारी नहीं । परंतु वे राजस मनुष्यके लोग धर्मिक सुखकी आशासे साधन सुखको त्यागते हैं । और पचाव वह होता है कि साधन सुख को मित्रकारी नहीं, परंतु जिस सुखकी आशा वे करते हैं, वह धर्मिक सुख की उतको नहीं मित्रता । इस तरह दोनो सुखोंसे बंथित होते हुए वे जल्य दुःखमें गिरते हैं ।

राजस त्याग यह हम प्रकार दुःखका हेतु बनता है । यह राजस त्याग करनेपर भी उनको त्यागका सुख मित्रता नहीं क्योंकि वह कर्तव्यकाही त्याग है । कर्तव्यका त्याग करनेसे ज्ञान कैसा होगा ? इस तरह तामस और राजस त्याग हाथिकारक है । अब सार्विक त्यागका विचार करते हैं—

सार्विक त्याग ।

सार्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उद्यम रीतिसे दिया जाता है परंतु उस कर्मक फलका स्वयं भोग करनेकी इच्छा भी

(३) तीन प्रकारका त्याग ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहाच्चस्य परित्यागस्त्यागसः परिकीर्तितः ॥७॥
 दुःखमित्येव यत्कर्म कायकृच्छ्रमवाप्यजेत् । स कृत्वा राजस त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
 कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन । सग त्यक्त्वा फलं वैव स त्याग सात्त्विको मतः ॥९॥

अन्वयः—नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागः त्यागसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ वा दुःखं इति (सत्त्वा) एव यत् कर्म कायकृच्छ्रमवात् त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा रत्नामफलं न एव लभेत् ॥ ८ ॥ वा दुःखं । कार्यं इति (सत्त्वा) एव यत् नियतं कर्म सग फलं न एव त्यक्त्वा क्रियते सः त्यागः सात्त्विकः मतः ॥ ९ ॥

नियत कर्मका त्याग करना उचित नहीं है । यदि कोई अज्ञानवश नियत कर्मका त्याग करेगा तो वह त्यागको रामस त्याग कहते हैं ॥७॥ दुःख समझकर शरीरको कष्ट होनेके डरसे जो कर्मोंको त्यागते हैं, यह राजस त्याग है, इसलिये त्याग करनेपर भी उसे त्यागका फल नहीं मिलता ॥८॥ वे मूर्ख । अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर, जो नियत कर्म भासक और फलभोगेच्छा छोड़कर किया जाता है उस त्यागको सात्त्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कर्म कर्मका त्याग अज्ञानसे किया जाए तो वह रामस है, दुःखके डरसे किया जाए तो वह राजस है, और नियत कर्म करके जो फलभोगेच्छा त्याग करना है वह शारीरिक त्याग कहलाता है ॥ ७-९ ॥

यद्यो विष्णुः प्रजापतिः । (मैत्री उ १।११)

यज्ञस्तपः । (म नारा ८।१)

शरीरं यज्ञः । (म नारा २।१२)

यज्ञेन हि देवा दिवं गताः यज्ञेनाधुरात्मपापुर्मुक्त यज्ञेन
 विष्णो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं वरमायज
 परम वदन्ति । (म नारा २।११)

यज्ञः क्षत्रं यज्ञः च । (म नारा उ १।१)

एते शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि ॥ (भाषाणि १)

' यज्ञ' अथर्वन और दान के धर्मके तीन आधार हैं ।

मनुष्यका जीवन ही यज्ञ है । जो सबकी पालनपालन करता है वह यज्ञ है । यज्ञ और धर्मके ही हमने किने बातें हैं । यज्ञ धर्म ही एक यज्ञ है । यज्ञमें उन्नतिपक्षे मनुष्योंको दूर भगाया जाता है । मेहि यज्ञ हूँ (मेरा जीवन यज्ञरूप हो) । बाली यज्ञ प्राण और मन के यज्ञः आत्मयज्ञके होता अथर्व उन्नत्या और यज्ञ है । यज्ञ ही प्रजाका पावन करता है । विज्ञान यज्ञका निरतार करता है । यज्ञ ही परमेस्वररूपी प्रजापावन कायेवाका है । यज्ञ तप है । शरीर ही यज्ञ है । यज्ञसे देवोंसे स्वर्ग प्राप्त किया । यज्ञसे अमृतोंको दूर भगाया यज्ञसे धनु मित्र बनते हैं यज्ञसे सब कुछ रहा है इसलिये यज्ञ ही सर्व धेनुवा मानी है । धर्मयज्ञ और साधनयज्ञ

यज्ञ यह यज्ञ ही ही है । अपने शरीरमें यज्ञ परिवर्तित करवा चाहिये ।

इस तरह यज्ञ दान और तपका सर्वव उपनिर्माण किया है । इनका इतना महत्त्व होनेसे ही इनके आचरणसे सब कुछ है ऐसा कहा है और इसी लिये सब अथर्व आचार्य यज्ञ-दान-तप सभी करने वही चाहिये, और इनका आचरण अवश्यमेव करना चाहिये ऐसा कहा है ।

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यद्यो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणां ॥

(मी १।१५)

क्योंकि यज्ञ दान और तपसे मनुष्योंकी पवित्रता होती है । इसलिये हर एक मनुष्यको अपनी पवित्रताके लिये इनका पावन अवश्यमेव करना आवश्यक है ।

इस कर्मोंको करना तो योग्य है परंतु फलभोगका रस करनेका विचार छोड़ना चाहिये अपने भोग वदनेके हेतुसे इनका आचरण कोई न करे मनुष्य कर्तव्य समझकर इनको करे और करनेके बजाय जो फल मिले वह अवलम्बी बकाईके लिये अपना करे । ऐसा करनेसे मनुष्य कृष्णरूप हो सकता है ।

यज्ञ त्यागका विविध रूप देखिये—

(७-९) वहाँ कर्मका त्याग करनेके तीन भव्य बताये हैं ।
कर्मका त्याग ' सात्त्विक राजस और तामस ' ऐसा तीन
प्रकारका है । राजस और तामस त्याग बड़ा हानिकारका
है, क्योंकि इसमें कर्म ही त्यागा जाता है ।

तामस त्याग ।

निरत कर्तव्यकर्मका त्याग कभी करवा नहीं चाहिये
परन्तु मोहसे और अज्ञानसे जो लोग आवश्यक कर्तव्यकर्मका
भी त्याग करते हैं अर्थात् कर्तव्य भी नहीं करते और
कर्तव्य त्यागनेके कारण अपने आपको सम्भासी बताने हैं
वह उनका त्याग तामस अर्थात् अज्ञानवश है (भी १८।७) ।
तामस त्याग हानिकारक है क्योंकि (जहाँ व्यक्तित्व तामसः ।
भी. १७।१८) तामस लोग जबरन होते हैं, ऐसा स्पष्ट
कहा है । जो अपना कर्तव्यकर्म छोड़ देते हैं उनकी निःसंशय
व्यक्तिसे ऐसी हृदयें बना सहे ह ।

वह कर्तव्यकर्मका त्याग होनेसे दुःखदायक है । जो
त्याग न ही ने कालेका भावसे लिया है वह त्याग वह
नहीं है । वह कर्मके फलका त्याग है । उसके करनेसे जब
काम हुआ मूल्य होता समझ है परन्तु कर्मकाही त्याग
करनेसे और अपना कर्तव्य न करनेसे अपने जीवनके किये
जब आवश्यक कर्तव्य भी न करनेसे उसका भार दूसरों
पर पड़ता है इस कारण कर्तव्यत्याग करनेवाले सम्भासी
बनता । दुःख बसाते हैं । इसका एक उदाहरण देखिये—

कर्तव्यत्यागसे दुःख ।

अनेक अनुपपत्ते जीवित रहनेके किये जन्म और मरणकी
कारणका है इस कारण सम्भासीको भी जन्म और
मरणकी भावप्रकटा मिश्रित है । कामपावनी सात्त्विक
किये जो कुछ परम करवा आवश्यक है वह तो कर्मकाही
छोड़िये । यदि वह सम्भासी कुछ भी नहीं करेगा तो इसके
दौरमिर्वाहके किये दूसरोंको कह उठावाही पड़ेगा । इससे
दूसरोंमें अपने जीवनके किये तथा इसके जीवनके किये
पर करनेका भार पड़ना पड़ेगा । इस तरह जगत्का कष्ट
इसके कर्तव्यत्यागसे बढ़ेगा ।

वह अनुपपत्ते कर्तव्यकर्मके त्यागसे यदि अन्योक्ति कह
पारें हैं तो वेसे कर्मत्याग करनेवाले बहुत हुए तो वह

समान दुःखी होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है । वह कोई
आवश्यक नहीं है कि संन्यासी अपना सब पकने और
अपने किये पाणी भर लावे । इसके किये कोई दूसरा ये
कर्म करे परन्तु संन्यासी ऐसे कर्म करे कि जिससे जगत्
सन्तानासे मुक्त हो और अपना कर्तव्य करनेमें समर्थ बने ।
ऐसा व्यवसायका प्रदान करनेवाला जो होया वह अपने
कामपावके किये दूसरोंकी सेवा के सक्ता है । अस्तु । इस
तरह विचार करनेपर कर्तव्यका त्याग करनेसे जगत्में दुःख
किस तरह बढ़ सकता है इसका पता पाठकोंको हो जायगा ।
वह तामस त्याग अज्ञानसेही होता है ।

राजस त्याग ।

राजस त्याग दुःखके भयसे होता है । कर्म करनेमें जो
दुःख होगा और जो शरीरको कष्ट होंगे उनके डरसे जो
कर्म छोड़ जाते हैं वह राजस त्याग है । शरीरकी सुदृढ़तामें
विगाह होगा, कर्तव्यकी स्वच्छता और कर्मोंकी सुदृढ़ता
विगाहगी इसलिये जो लोग कर्तव्यकर्म करना छोड़ देते
हैं उसको राजस त्याग करते हैं । कई मुक्त व्यावसाय-
कात्ममें जाते नहीं और वहाँ इसलिये मजबूत (कुपरी)
केन्द्रे नहीं कि शरीरको और कपड़ोंको मिथी छत्र बाध
और शक्तों मूल्यता जायगा । शरीरकी सुदृढ़ता और काम
जवाबी रक्षा करनेके किये शरीरका स्वास्थ्य और बकका
जाना ये काम करते हैं । शरीरस्वास्थ्य और वह काम
दायक है वैसी कोमकता आवश्यक नहीं । परन्तु ये राजस
प्रवृत्तिके लोभ अधिक मुक्तकी जापासे प्राप्त मुक्तकी
त्यागते हैं । और पताच वह होता है कि आवश्यक मुक्त तो
मिळवाही नहीं, परन्तु जिस मुक्तकी जासा वे करते हैं, वह
अधिक मुक्त भी उनके नहीं मिळता । इस तरह दोनों
मुक्तोंसे संवित होते हुए वे तबत दुःखमें मिरते हैं ।

राजस त्याग वह इस प्रकार हुआ है कि वह बहुत मुक्त
राजस त्याग करनेपर भी उनके रोगका मुक्त मिळता
नहीं क्योंकि वह कर्तव्यकाही त्याग है । कर्तव्यका त्याग
करनेसे काम कैसा होगा ? इस तरह तामस और राजस त्याग
हानिकारक है । जब सात्त्विक त्यागका विचार करते हैं—

सात्त्विक त्याग ।

सात्त्विक त्यागमें कर्तव्यकर्म उत्तम रीतिसे किया जाता
है परन्तु उस कर्मक फलका सब भोग करनेकी इच्छा भी

(४) सत्त्वा त्यागी ।

न द्रष्टव्यकुशलं कर्म कुशले नानुपज्यते । त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अन्वयः— (१०) त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः (११ भवति सः) अकुशलं कर्म न ह्येतं कुशले च न अनुपज्यते ॥ १० ॥ देहभृता ज्ञेयतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं यः तु हि कर्मफलत्यागी सा त्यागी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

जो त्यागी सत्त्वयुक्त बुद्धिमान् और संदेहरहित होता है, वह कुशलत्वारहित कर्मका श्रेय नहीं करता और कुशलतायुक्त कर्ममें रममाण भी नहीं होता ॥ १० ॥ देहधारण करनेवाले मनुष्यके छिन्ने कर्मोंका संपूर्ण त्याग संभव नहीं है अतः जो कर्मफलका त्याग करता है वही त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— जो ज्ञाती और जो विशेदेह होकर कर्मका रहस्य जानता है वह सार्विक त्यागी किसी कर्मका विशेष प्रकार और दूसरेका निरादर नहीं करता क्योंकि हाथक बिना कर्मका कुछ न कुछ उपयोग होताही है, वह उस का जावता है । वस्तुतः देहा जाव तो मनुष्य संपूर्ण कर्मोंका त्याग करी कर नहीं सकता, क्योंकि जीवन की एक कर्मही है अतः कर्मफलका त्याग करनाही सत्त्वा और भेद त्याग है ॥ १० — ११ ॥

नहीं की जाती और कर्मका सब फल जगताकी यकाईके छिन्ने समर्पण किया जाता है । इस कारण वह कर्म विरहित होता है और बसके सत्त्व भक्त होता है ।

इस धार्मिक त्यागी कर्मका त्याग नहीं होता, मनुष्य कर्मफलका सबके दिए करनेके छिन्ने पूर्णतया समर्पण होता है । ऐसा कोई फलका त्याग करने के लिए और फलोंकी प्राप्ति होनेपर उन फलोंको पुनःकुछने विचारविरोधों को अर्पण करे । यहाँ कर्म तो हुआ परंतु फलका त्याग हुआ और फलभोगका देव भी नहीं रहा । जिस राष्ट्रमें ऐसे धार्मिक त्यागी बहुत होंगे उस राष्ट्रमें जगता अधिक सुखी होगी । इस छिन्ने वह सार्विक त्याग सबकी उन्नति करदेवाका है इसी कारण (कर्म फलछिन्न सत्त्वस्थाः) की (१८।१८) धार्मिक लोगोंकी उन्नति होती है ऐसा कहा है वह मनुष्यही है । वहाँ सबके उपकारके छिन्ने स्वयं का करता होता है स्वयं का भोगकर दूसरोंको सुखी करनेका बन्ध होता है । राक्षस मनुष्योंमें जातीयिक कहते अथवाही कर्म छोड़े जाते हैं और प्राप्त प्राप्तियोंमें बहानेके कारण कर्म छोड़े जाते हैं । राक्षस वहाँ प्राप्त राक्षस और सार्विक कर्मत्यागका लक्षण पायें । धार्मिक त्यागी सत्त्वा त्याग है । राक्षस इसका लक्षण विशेष सूत्र रीतिसे देखें—

सत्त्वा त्यागी ।

(१ - ११) सत्त्वा त्यागी कैसा होता है । वह नहीं

उत्तम और स्पष्ट कहतीं कहा है । वह सत्त्वा त्यागी (मेधावी) बुद्धिमान् होता है चारमावती बुद्धिवा नाम मेधा है । जो बलवत्त्व दिया है उसको मस्तिष्कमें जो बात का सकता है और जो अपना जाव दया मेकस्वी रहता है, सदा उपस्थित रह सकता है भूक्य नहीं, वह मेधावी है । ऐसा मेधावीही सत्त्वा त्यागी हो सकता है । इसके अर्थ जानने कारण वह (छिन्न-संशय) संदेहरहित होता है वह अपनी मक्त बुद्धिके कर्तव्यकर्तव्य की वरह का करता है, कर्म करनेकी रीतिसे विषयों को कोई धेरा नहीं होता । जो करता है जगमविचारसे करता है । जो करता है कर्तव्यबुद्धिके करता है । जो करता है की वरह करता है अपना निरर होकर करता है । बुद्धिमत्ता और संदेहवि-रता ये दो गुण वहाँ सत्त्वे त्यागीके हैं ।

इसके बजाय वह (सत्त्व-समाविष्ट) सत्त्वकी मक्त युक्त होता है । सत्त्व नाम उस बलका है जिसके वरिष्ठ मत्त्व और बुद्धिकी चारमा होती है । वही सत्त्वा वह है जिसके जीवन चारमा होता है ।

वे तीन गुण (मेधावी छिन्नसंशय) सत्त्वसमाविष्ट) सत्त्वे त्यागीमें जगमत्त्व रहने चाहिये जिसके फलत्याग करनेका सामर्थ्य उस धार्मिक मनुष्यमें निरर रह सकता है । जिस मनुष्यमें वे गुणगुण रहेंगे उसमें बजाचारण सामर्थ्य उत्पन्न होगा इसमें संदेहही नहीं है, क्योंकि बहाने लगे

(५) कर्मका त्रिविध फल ।

अनिष्टमिष्ट मिथ च त्रिविध कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिना कश्चित् ॥१२॥

अन्वय — भविष्य एवं मिथ च इति त्रिविध कर्मणः फलं प्रेत्य अत्यागिनां भवति, सन्यासिनां तु कश्चित् न (भवति)

॥ १२ ॥

अभिष्ट. इष्ट और समिधित (इष्टमिष्ट) ऐसा कर्मका तीन प्रकारका फल, कमफलका त्याग न करने पाओको होता है । परन्तु कर्मफलका त्याग करनेवाले सन्यासियोंको उन तीनों फलोंकी प्राप्ति किसी समयमें भी नहीं होती ॥ १२ ॥

माधार्थ्य—मनुष्य जो कोई कर्म भोगकाजसाधे करता है उस कर्मका उसके कभी सुख एक मिष्टता है, कभी समुप निष्ठता है और कभी समिधितता मिष्टता है । परन्तु जो मनुष्य विष्णुभक्तभावसे फलभोगकी कामना त्याग करके भगवान् मिष्ट कर्म करता है उसकी उस कर्मके साथ भोगराजसाधन रहनेके कारण उसको ऐसा कोई फल नहीं मिल सकता, क्योंकि फल तो उसने त्यागही दिया होता है, फिर वह एक सुख हो या समुप, उसका उसके साथ कोई संबंधही नहीं होता ॥ १२ ॥

अन्य कारणोंसे वह कुछ गुण मनुष्यकी प्राप्ति पाठसे हैं इत्येव एक एक मनुष्यको निर्बल करनेवाला है फिर जहाँ वे तीनों त्रिविध गुण रहेंगे, वहाँकी शोचनीय निर्बलताका मित्राधीन क्या होगा ! अतः ज्ञान बुद्धिमत्ता, संवेदनादिवत्ता अथ अथवा य गुण मनुष्यका सामर्थ्य बढ़ाते हैं इस कारण भी मनुष्यक विना त्यागका होना असम्भव है इसलिये अथ त्यागक किये हुए गुण गुणोंकी आवश्यकता है ।

कर्मत्याग—असम्भव ।

इहमृता अमृतता कमप्यत्यक्तु न शक्यं । (११)

इहानी मनुष्य अथ कर्मोंका त्याग करनेमें असमर्थ होता है । असम्भव कामसे उसका श्रापही होगा । इस शिष्टे अमृतता इत्येव किये कुछ न कुछ कर्म करवाही चाहिये । अथवा फल कम अथवा अथवा फल मिष्ट होनेपर वह कम फल किता जाय और उस फलक शोचनीय किस तरह करने कायसे बचाया जाय नहीं रहना चाहिये । मनुष्य कम या शत्रु उनका फल जलवाकरी जगदीशक किये समर्थ हो तबना उस फलप्रत्यक्षतामात्र उस कर्मक सब शोच पूरे करने और कर्म विद्वत् होकर विराजता । अतः—

यः कमकृत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते च (१२)

जो कमक कर्मका त्याग करता है वही त्यागी त्यागी कहा जाता है । मनुष्य फलप्राप्त होनेपर उसका हान सम्पूर्ण

१११ (हिं)

अथवा त्याग कर सकता है । ऐसा किसी ऐसेसे श्रेय किता और उस श्रेयका कृतीक कर्म करनेसे उसको प्राप्तकी फल प्राप्त हुआ । इस समय उसका हान प्राप्तपर अथवा हुआ । वह अथवा श्रेयके प्राप्तकी वह उसका हान करे हान करे, समर्थ करे अथवा त्याग करे । इत्येव जो चाहिये सो किया जा सकता है । सब लोग मान करनेवाली होते हैं इसलिये भोगेच्छाक कारण वे सब फलको अपने सम्पूर्ण हृदय करनेमें लगते हैं और श्राप हो जाते हैं । यदि वे फलका त्याग करेंगे तो किससे वह निर्दोष होंगे । इसका संशयसे मात्र यह है कि कर्मक फलको अपने पान सम्पूर्ण करके त्याग नहीं चाहिये उनका त्याग ईश्वरकी प्रीतिक किये कर्मकबुद्धि करवा चाहिये ।

अब कर्मफलका स्वरूप बतलते हैं । कर्मका फल त्रिविध प्रकारका होता है उसका अब विचार करेंगे—

त्रिविध फल ।

(११) प्रायेक कर्मका त्रिविध फल है एक फल मिष्ट मिष्ट अर्थात् इष्टमिष्ट फल होता है । द्विती कर्मक इष्ट फल होगा द्वितीसे त्रिविध होगा और त्रितीय इष्टमिष्ट फल होगा । वह त्रिविध फल द्विती प्राप्त होता है और द्वितीको नहीं वह भी त्रिविध हुआ हुआ है ।

अत्यागिनां कमप्य फल भवति

सन्यासिनां तु न । (१२)

जो कमक फलका त्याग नहीं करने उसका सम्पूर्ण इष्ट-

(६) पाँच कारण ।

पञ्चैतानि महामाहो कारणानि निषाध मे । सांख्ये कृतान्त प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥११॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चैष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१२॥

शरीरवाङ्मनोमिर्त्यस्कर्म्म प्रारभते नरः । न्याय्य वा विपरीत वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

अन्वयः—हे महामाहो ! सर्वकर्मों सिद्धये कृतान्ते (कृत+अन्ते) सांख्ये प्रोक्तानि हमानि पञ्च कारणानि मे निबोध ॥११॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता, पृथग्विधे करणं च, विविधाः पृथक् चैष्टाः अत्र दैवं ईश्वरं ईश्वरं एव (अर्थात्) ॥ १२ ॥ नरा शरीर-
पाङ्गानोमिः न्याय्यं वा विपरीतं वा अथ कर्म प्रारभते, तस्य (एते) पञ्च हेतवः (उच्यते) ॥ १५ ॥

हे महामाहो ! सांख्ये अर्जुन ! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये, कर्मके दोषका अन्त करनेवाछे सांख्य शास्त्रमें, ये पाँच कारण बताये हैं उनको तु जान ॥ ११ ॥ आध्यात्मिक कर्ता अनेक प्रकारके साधन अनेक प्रकारके क्रियाएँ, ये चार और यहाँ पाँचवाँ दैव होता है ॥ १२ ॥ मनुष्य शरीर वाणी और मनके द्वारा योग्य अथवा अयोग्य जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पाँच हेतु होते हैं ॥ १५ ॥

निष्ठ कर्मयोग योगमें रहते हैं । अतः हृत्कर्मके कुछ और अनिष्ठ कर्मके कुछ योगवा उसके लिये आवश्यक होना है । उदाहरणके लिये देखिये भूमिमें हँसकी कोठी की उससे बहुत कुछ पैसा हुआ वह सब उसने अपने उपयोगके लिये किसी स्थावर संग्रहीत किया, वस्तुएँ इति इति और उस स्थावर पाकी मर गया और सब कुछ खराब हुआ । वह उसके वास्तव्य हुआ उसको हृत्कर्मके योग्य । वही कि उसने अपने कर्मके फल संग्रह करने पाछ कर रखा था । यदि वह कुछ भी किसीसे उसे बहुत कम प्राप्त हुआ तो उसे बड़ा बालू होमा । इस तरह हृत् तथा अनिष्ठ अवस्थाओंमें वह हिकार और सुखदुःख भोगता रहता है । इसमें सुखिका मर्मा पृथ्वी है और वह वह है कि वह कर्मफलका त्याग करे । देखिये इसका उदाहरण यह है—

इसी किसानने एक वर्ष सब अपना सब कुछ सब अनजानी सेवा करनेके कुछ भावसे राजाके पास दान किया । राजाकी अपनी आज्ञा—अन्यथासे इस सुखका उपयोग प्रजापाकमें किया जायगा तथा इस कर्मकर्ताकी भी पात्रक राजप्रत्यक्षसेही होता रहेगा । इस सुखके दान करनेकी उसकी राजाकी भिन्ना उसको नहीं रही इस कारण अकर्मफलसे सुखके बाध होनेका कुछ भी उसको नहीं रहा । सुखिकीसे प्राप्त होनेवाला अथ रक्षण करनेका कष्ट भी नहीं रहा अपने योग्यताकी भी भिन्ना नहीं रही क्योंकि सब प्रकारसे राजप्रत्यक्षद्वाराही उसका योग्य होवाही रहेगा वह उसका विषयही है ।

इस तरह कर्मका एक प्रजापतिके समर्थ करनेमें ही प्रजापतिद्वारा सबका योग्यता करनेमें सबका कार्य है और फलसमके दोषसे सब योग्य ही एक उपायसे सुख हो सके हैं । कर्मफलका विनिर्माण तो कई रीतियोंसे हो सकता है—

- १ कर्मफल—दाय कर्मका एक विधिसे विशेष उद्देश्य होता
- २ कर्मफल—त्याग कर्मके फलका त्याग करना और उस परका अपना अधिकार छोड़ना,
- ३ कर्मफल—समर्पण कर्मके फलको पूर्ण रीतिसे किसीके वाच्य करना
- ४ कर्मफल—स्वीकार कर्मके फलका संपूर्ण रीतिसे त्याग करना अर्थात् किसी स्थावर उसको सुरक्षित रखना, अपने पास नहीं, यदि नहीं वह सुरक्षित रह कर अपनी भलाईके कार्यमें कष्ट बाध देने स्थावर रखना ।

ऐसी अनेक रीतियाँ कर्मफलकागी हैं । किसी भी पक्षसे त्याग किया जाय तो वह कर्मके लिये साम्प्रित देवेवाकाही होय है । हृत्कर्मके नहीं कहा है कि कर्मफलका त्याग न करनेवालों कोही कष्ट होता है कर्मफलके संन्यास वा त्याग करनेवालों को कोई कष्ट नहीं होते । पात्रक इसका विशेष मग्न करे और वह उपाय किछ तरह व्यवहारमें लाया जा सकता है इसका विचार विचार करें । अथ और कर्मका विचार देखिये—

साधार्थ- सांख्यशास्त्र कर्मोंके दोषोंका समूह नास करनेवाला साध है। उस साधमें कर्मके पांच कारण कहे हैं। धर्म साधन किया और देव। शरीर यानी और मनसे मनुष्य जो कर्म करता है, उसमें ये पांच हेतु होते हैं। फिर कर्म प्रमाणपूर्ण हो जयवा प्रतिकूल ० १३-१५ ॥

कृतान्त सांख्य ।

(१३-१५) सांख्यशास्त्रमें कृतान्त कहे हैं, इसका मत यह है कि उस सांख्यशास्त्रके अनुसार समस्तपुण्यकर्म करनेसे यह कर्म निर्विघ्नतासे अमृतक पशुपता शीघ्रमें किसी प्रकार विघ्नोकी बाधा नहीं होती और ऐसे विघ्नोसे कार्यकी छति भी नहीं होती। सांख्यशास्त्रका यह महत्त्व है।

इस कृतान्त सांख्यशास्त्रमें सब कर्मोंकी विवक्षाके लिये जो मत कहे गये हैं वे ये हैं—(१) अविद्या, आचारक्षेत्र-
(२) कर्मा, (३) कारण अनेक प्रकारके साधन, (४) अनेक प्रकारकी किमार्थ, और (५) पांचवां देव। ये पांच कारण हैं जिनसे हर एक प्रकारके कर्मकी सिद्धता होती है।

अविद्या ।

इस पांच साधनमें गौण क्षेत्रमें हैं और मुख्य साधन क्षेत्रमें हैं इसका विचार यहां करना चाहिये। सबसे प्रथम अविद्या है। अविद्याका अर्थ आचारक्षेत्र। कर्माके कारण के कुछ साधन चाहिये। उसीका नाम अविद्या है। इसी वार कर्मके साधन रखनेके लिये और किमा करनेके लिये भी साधन चाहिये। उदरनेके क्षिपही साधन न रहा तो कर्मा अपना कर्म कहा करेगा? इसलिये उक्त पांचों साधनोंमें अविद्या मुख्य है इसी लिये इसको सबसे प्रथम मिला है।

कर्मा ।

इसके शब्द कर्मा मुख्य है। क्योंकि कर्माही कर्म करता है कर्माही सब प्रकारकी किमार्थ कर सकता है साधनोंका उपयोग करनेवाला कर्माही होता है। साधन न रहे तो कर्माही उनको निर्माण करके उनका उपयोग कर सकता है। इसलिये कर्मा का महत्त्व आवश्यक है। विविध वेदा और देव इन तीनों की अपेक्षा कर्मा की प्रधानता विशेष है। क्योंकि इनके द्वारा ही कर्मोंका कर्मा है और अपनी कुशलतासे इनकी हीमता ही करमा उनका कर्माही कर सकता है। इन तीनों कर्माका महत्त्व पाठक जानें।

कारण ।

कर्माके पश्चात् (उपरिर्वा कर्म) विविध प्रकारके साधनों का विचार होता है। कर्माके ये साधन्यक होते हैं, जैसे सुतार लक्ष्यके अहायक विविध प्रकारके यन्त्र होते हैं, कुम्हार के साधन चक्र मिश्री आदि होते हैं, विधकारक साधन बर्ण चक्रक आदि होते हैं ये सब करम अथवा उपकरण हैं। ये साधन जिससे अच्छे होते उसका कार्य अच्छा होगा और इसमें यदि दोष रहे, तो कार्यमें भी दोष होंगे। साधनों- कई दोष कर्मा दूर कर सकता है, इसमें संदेह नहीं है परन्तु उसके लिये कर्माको अपनी सक्ति जगानी पड़ती है और निर्दोष साधनोंकी उपस्थितिमें उतनी कर्माकी प्राप्ति बच जाती है। इसलिये कर्मोंकी निर्दोषता अवश्यही रहनी चाहिये।

विविध वेदा ।

कार्यके करके लिये कर्मा इन साधनोंको अपने पास लेता है और उनसे विविध वेदा करता है। इन वेदाधर्म कार्यकी सिद्धि होती है। अविद्या, कर्मा और सब साधन तथा देव इन सबकी अनुकूलता रहनेपर कर्मा विविध आवश्यक वेदाधर्म की या कार्यसिद्धि करी नहीं पाता। जो किमा देव कोही प्रधान मानते हैं उनको आवश्यक है कि वे इन कर्माको वेदाधर्मोंका महत्त्व जानें जिनके दिना कोई कार्य बनानेकी संभावनाही नहीं है।

देव ।

देव यह अस्तित्व कारण है। देवका अर्थ परित्याग- की अनुकूलता। उसमें साधनसंपन्न कुर्ममें जन्म होता। उसमें कुछक कोमोंके पतने जन्म होता उसमें कर्मपात्र पुरुषोंके देवमें जन्म होता यह देवयोगसही होता है। पत्ता का प्रधान भार देवकी अनुकूलता इनपर कमकी निधि अवलंबित है।

पुनराप्य भव अथवा देव भव यह बार बहुतही प्रयत्न है कई कारण पुनराप्यको प्रधान मानते हैं और कई कारण देवको प्रधान मानते हैं। परंतु यीतार्थ देव का पादरी कारण माना है यहिज नहीं माना। सूर्यमें अच्छा

(७) कर्ता और अकर्ता ।

तत्रैव सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकुतशुद्धित्वात् स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहकुतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यत । इष्यापि स इमांल्लोकांश्च हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वयः— तत्र एवं सति यः तु केवलं आत्मानं कर्तारं पश्यति सः दुर्मतिः अकुतशुद्धित्वात् न पश्यति ॥ १६ ॥ यस्य भावः अभावः न यस्य बुद्धिः न लिप्यते, सः इमांल्लोकांश्च हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यह सत्य होते हुए जो केवल अपने आत्माको ही कर्ता मानता है वह हीन मतिवाला संस्कारहीन बुद्धिके कारण कुछ भी नहीं जानता ॥ १६ ॥ जिसको महत्कारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि में दोष नहीं है वह, इन सब जगोंका वध करनेपर भी वध न करनेके समानही (निर्दोष) है अतः वह ब्रह्ममें नहीं पड़ता ॥ १७ ॥

भाषा— प्रत्येक कर्मको एक पांच कारण हैं यह वैज्ञानिक सत्य है, इसका न मानना और अपनेको कर्ता समझना यह बुद्धिहीनता और संस्कारहीनताका लक्षण है । इसलिये जिसको वह कर्तृत्वाभिमान नहीं है जिसकी बुद्धिमें दोष नहीं है उसने सबका वध किया तो भी उस वधके दोषसे वह दोषी नहीं होता बल्कि उसे ब्रह्ममें ही पड़नेका काल नहीं है । अर्थात् महत्कारके त्यागसे सब दोष नष्ट होते हैं ॥ १६ १७ ॥

आर्त्तामें पुण्यार्गके प्रधान और दैवको गौण माना है । परंतु जो मानते हैं कि दैव कुछ भी नहीं है वे ठीक नहीं मानते । कर्मका फल दैव होकर पीछे लगता है यह ठीक है परन्तु वह दैव ब्रह्मके वशसे ही चलता है ।

जैसा एक भोजनमें अत्यधिक अन्न कावा जिस पुण्यार्ग का परिणाम वायु दैवकपल होकर आग अग्नि ही हुआ और पेट दहनसे जला । यह ही कर्मका फल है । पुण्यार्गका परिणाम है इसमें संदेह नहीं है परंतु एक बार पुण्यार्गका दैवमें कालान्तर हुआ तो वह दैव पीछे लगता है । अन्त्य-तम कालसे पेट दहन करने लगा तो उसे भोगवादी चाहिये । इसी तरह सब प्रकारके दैवके विषयमें जानना योग्य है । यह दैव प्राकृत्य अथवा किमन्यत्वात् प्राणिप्रकारसे अनेकविध होता है । इसी तरह उपादान कारण निमित्त कारण समुपाय कारण भावि कारणोंमें भी अनेक प्रकार हैं । परंतु इन अर्थात् विचार करनेकी यही हमें आवश्यकता नहीं है । ये पांच कारण हैं इत्यादी वही देवता और समस्तमा चाहिये और इनका परस्पर संबंध जानना चाहिये ।

प्रमुख अपने अतीत आतीत भवों को कुछ धारण करता है यह कम स्मरण हो या अस्मरण हो वह धर्म ही या अधार्मिक हो वह वा य हो वा अधार्मिक हो उसका ये पांच देव ही हैं । इन पांचों हेतुवर्ग निर्दोष ब्रह्मसे ही

वह कर्म उत्पन्न करता है । इसका विचार हर एक साधकको आवश्यक करना चाहिये ।

अपना अधिष्ठान कैसा है अपना कर्तृत्व कैसा है, ब्रह्मे साधन कैसे है अपनी विविध चेष्टाएं कैसी होती हैं और दैवकी अनुकूलता है वा प्रतिघ्नता है इन सबका विचार हर एक साधकको करना चाहिये । क्योंकि इनमें वही जिज्ञासा होना चाहिए, वही उत्तरी सिद्धिमें लब्धता लब्ध होनी ।

कर्ता और उसका साधनका यह विचार हुआ । कर्ता अपना कर्म निर्दोष हीसे कैसे कर सकता है वह इस विचारसे ध्यानमें ला सकता है । जब निर्दोष कर्ता कर्मा हो सकता है इसका विचार करते हैं । कर्म कर्म ही न करनेके समान कर्ता निर्दोष किस तरह रह सकता है, इसका विचार अवश्य होगा—

कर्मके साधन ।

(१६-१७) अधिष्ठान कर्ता, साधन ब्रह्म और दैव ये पांच साधन प्रत्येक कर्मके द्वारे रहते हैं । इन पांचों के होनेसे ही हर एक कर्म होता है । इसलिये किसी कर्मके अनुभावात् होनेका कर्म ही पांचोंमें से ही होता है । ऐसा होते हुए कर्ता अपने आपको महत्कारम किमी कर्मका पूर्व कर्ता किम तरह मान सकता है ? प्रमुख महत्कारम

बपने बापको कर्ता मानताही हे धीर जिस समय कोई काम विशेष मजबूरीय होता है, उस समय तो 'यह काम मैंने किया'

पैरी इसका कर्त्ता हूँ। ऐसी घसीट मारवा हूँ परतु ऐसे समन बह सोचना चाहिये कि इस कमीक बननेमें अधिष्ठाता कर्त्ता। तबपि साधन विविध थे। और पैरका माग प्रियता है। तबोका माग कितना ब्यार करतका माग कितना है इसका विचार करना चाहिये।

इस सब पाँचों देतुओंमें कर्ता को प्रभाव मानने और अन्य चारोंकी गौण माननेपर भी अल्प चारोंके प्रति कुछ होनेपर अकेला कर्ता कुछ भी कर नहीं सकता, इसमें संदेह ही नहीं है। अतः जो कर्म पाँचोंकी अनुकूलतासे हुआ है उसका चलनेके विषयमें अकेले कर्ताको अभिमान बताना करना अयोग्य है।

इसमें भी देखकर अनुसूक्त होनेमें मेरा कोई हाथ नहीं है
परिचाय तो परिष्कृत ही है चेष्टा करनेकी शक्ति सम्य
ध्मिनीकी निर्माण की है, सब साधनोंका माग भी कर्मके
ऐसेमें निष्पत्ती है, इस तरह जो कर्म मैंने किया वह बल
पक्ष किये मेरे पूर्वसही कसी अनुसूक्तता बनती जायी है,
इसका विचार कदाको करना चाहिये ।

उदाहरण किं देखिये । आज मैंने रोटी बनायी है ।
 फिर मेहुँकी पक रोटी बनाई गयी इनक निर्माण करनेक क्रिये
 मैकहाँ और सजाँ मावनोंक परिश्रम छनो है । छोट लैपार
 खरमें, हकनिमाखमें खेती करमें गहूँ पीसमें जक काने
 कदि कर्मोंक सेकड़ों मानवोंक परिश्रम प्रहायक हुए है ।
 वन रोटीका निर्माण करवा मेर अन्नकेक परिश्रमका काव
 निवृत्त नही है । अतः रोटीक निर्माण करनका अहंकार
 नो जाय करता है वह व्यथ धारण काठा है हकमें संदेह
 नही । इसी तरह अन्य अन्य कार्योंक विषयमें जायना चाहिये ।

इमंविष्य (कपकं ज्ञायमान कर्तारं पश्यन्ति स दुर्मतिः)
 एक जपनको कर्ता मानना सबक ज्ञानमार्गो कर्तासमस्तता
 पर भईकारमय दापपुत्र पुत्रिका सोलक है । वही ज्ञानुर्म
 मित्य है वह विराधार महकारक कारण बुद्धा है स्वर्गो अहं
 करक ध्यान मति दुष्ट दुष्ट है । जैसा मैं वही हूँ विसा जपन
 कारको मानना यह दुष्ट मतिमयी दाता है । प्रत्येक कर्मका
 धर्म जपन पास कितना है और कितना नहीं इसका विचार

करनेसे मनुष्यको स्पष्ट शक्त होगी कि मनुष्यक पास आईकार करनेयोग्य कर्तृत्व नहीं है जो कुछ कर्तृत्व मनुष्यक पास आसकता है वह अधिकसे अधिक पांचवीं शिखा है और वह भी अन्धोन्धी अनुकूलतासेही प्रभावित होनेवाला है। इस शिखे जो अपने कर्तृत्वकी प्रशंसा करता है, उसकी प्रशंसा उपयोग है, अस्थानमें है असत्य है। अतः सबन पक्षिके वह आईकारक याव मनुष्यको अपन अन्तःकरणसे दूर करना चाहिये। इस आईकारके अपनी सतिष्ठे होपसुक्त बनाना किसीको भी उचित नहीं है।

कर्ता होमेपर भी बर्कवा होवेके समान वह निर्दोष रहता है। संभावितके आसक्त मीचे रहनेवाके सैविक पुद्गलमें अनेक सन्तुषीरोंका बंध करते है परंतु वह सब सेना पतिही आश्रय होला है। इसलिये किसी सैनिकको किसी सन्तुषीरका बंध करनेका शोध नहीं कगावा जात और नहीं क्य सक्ता। वह सैविक भी अपने आपको उनका बंधकर्ता नहीं कहता क्योंकि वह अपनी रक्षप्रदाय वह बंधकमें नहीं करता है परंतु सेनापतिकी आशय वह कबल गोली बकाता है त्रिमल सन्तुषीर भरते है।

समुद्र के किनारे बीरको मारने का बर्तन इसमें नहीं था। इसलिये उसके बचका वह नहीं करी है। अहमदाबादी कम्यून का दावा होता है इसलिये जिनमें अहमदाबादी लोग हैं वहाँ का दावा भी अहमदाबादी लोगों का ही होता है। कम्यून लोगों को बचने का वह एकमात्र साधन है जिनमें अहमदाबादी लोग निरहमदाबादी का दावा करके अपने दावा का समर्थन कम्यून के दावा में ही कर रहे हैं। यह कुछ असुखी लोगों का दावा है—

(८) त्रिपुटीकी त्रिविधता ।

ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना । करण कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसमूहः ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिविधं गुणभेदतः । प्रोच्यते गुणसंस्थानं यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

(९) त्रिविध ज्ञान ।

सर्वभूतेषु यनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविमर्कं विमर्केषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् । वेति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यसु कुरुत्वदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकम् । अतस्त्वं सर्वदस्य च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

भावार्थ—ज्ञान, ज्ञेय, परिज्ञाता इति त्रिविधा कर्मचोदना (अस्ति) करण कर्म कर्ता इति त्रिविधः कर्मसमूहः (अस्ति) ॥ १८ ॥ ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिविधं एव गुणभेदतः गुणसंस्थाने प्रोच्यते तात्पर्यं यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

भावार्थ—वेत्त (जीवः) विमर्केषु सर्वभूतेषु अविवर्क, एक अव्ययं भावं ईक्षते तत् सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥ यत् ज्ञान पृथक्त्वेन सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधात् भावाभावात् वेति तत् कार्यं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥ यत् तु एकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकं अतस्त्वं सर्वदस्य च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता यह त्रय कर्मकी प्रेरणामें हैं तथा साधन क्रिया और कर्ता ये तीन प्रकारके कर्मिक अंग हैं ॥ १८ ॥ ज्ञान कर्म और कर्ता गुणके त्रिविध भेदके कारण तीन प्रकारके होते हैं, उनका वर्णन वैसा है वैसा तु अव्यय कर ॥ १९ ॥

जिससे जीव परस्पर विमर्क सक्तमूर्तमें अविमर्क और अविवर्णी भावको देखता है यह ज्ञान सात्त्विक है ऐसा तु समझ ॥ २० ॥ जिस ज्ञानसे पृथक्त्वका अनुभव होवेके कारण सब भूतोंमें विविध प्रकारके नाना भाव देखे जाते हैं यह ज्ञान राजस है ऐसा तु ज्ञान ॥ २१ ॥ जो तो एकही कार्यमें यही सब कुछ है ऐसा मानकर नासक्त होना है जो हेतुहित रहस्यहीन और भय होना है यह ज्ञान तामस कहलाता है ॥ २२ ॥

भाषार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह कर्मत्रय त्रिपुटी है; करण (वाचक) कर्म और कर्ता यह त्रिपुटी कर्मसमूह है । एतत् त्रय तम इत् गुणभेदके कारण इनके तीन भेद होते हैं कबका विचार अवश्य करना योग्य है ॥ १८-१९ ॥

भाषार्थ—विमर्कमें अविमर्क अक्षय्य वृद्धि अविवर्णी भाव देखना सात्त्विक ज्ञानसे होता है । पृथक्त्वका अनुभव होनेका कारण यमस ज्ञान है और जो सत्त्वहीन विषया ज्ञान होता है वह तमोगुणी समग्रता योग्य है ॥ २०-२२ ॥

(१८-१९) ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता कर्ता कर्म और करण इस तरहकी त्रिपुटी अव्यय होती है । एतत्-त्रय तम भेदसे इनके त्रिविध भेद होते हैं । उनका वर्णन अब करते हैं—

(२०-२२) यही एतत्-त्रय-तम भेदसे ज्ञानके तीन भेद होते हैं कबका वर्णन है । सात्त्विक ज्ञान राजस ज्ञान और तामस ज्ञानके कथन ये हैं—

सात्त्विक ज्ञान ।

इस विमर्कमें अनेक विविध भूत हैं । अनेक भूत अन्तर्में प्रकट हैं वस्तुओंकी विविधताकी विचका स्वभाव है । इस विविधतामें इस पृथक्त्वमें इन विमर्क वस्तुओंमें एकत्वके भावका अनुभवका अविमर्क ज्ञानका जिससे अनुभव होता है वह सात्त्विक ज्ञान है । अर्थात् सात्त्विक ज्ञानसे अनेक विमर्क वस्तुओंमें एक अविवर्णी भाव एतत् तम

होता है। अनेक पृथक् पृथक् वृत्तसे शिक्षा वस्तुओंमें एक बलवत् भावका दृष्टान होता है अर्थात् अनेक वेदोंमें समिष्ट सत्ताका अनुभव होता है।

बड़ाहरमन्त्र क्रिये देखिये कि सन्मुखमें जलैक जोर
पासर मित्र कहारिबों एकही जग मारपुर भर रहा है
सः। एक करी दूसरी करारिसे मित्र होवी हुई भी जग
कनकी एकही सत्ता बन सवने है। सब विभिन्न कहारिबों
सकसक जलैव देखनेका नाम सारिक ज्ञान है।

सुप्रसंगे विविध लक्षणों का बनावे से वास्तव मिश्र है और एक ही उपयोग भी मिश्र मिश्र ही है। परंतु इन सबमें एक ही चीज सुप्रसंगी सत्ता है, वह एक सत्ता विविध पृथक् भावों में देखने का नाम सार्वजनिक भाव है।

एक मिट्टी के बने हुए बरतने वाले हर एक बनेका अस्तित्व मित्र है, क्योंकि यह धरती में मिट्टी की सत्ता एक प्रेमी है। इस तरह बनेकें एक ही देखा जा सकता है। सार्वजनिक जगहों पर भी होता है।

कपासक जनेकविध सूत्र बनाने और उसके गुणवैधी
विधिबे करीबीके विविध करने बनावे । इस करवों की
विधिका विस्तार है इस विधिबेमें सबै कपासककी
बस्तुकी दृश्य सजाका दर्शन करनेका नाम कारिब
मन्त्र दर्शन है ।

एक राष्ट्रमें हिंदु, बौद्ध, जैन, मुसलमानीय, सिखी, यहुदी
 आदि विभिन्न वर्ग माननेवाले तथा संस्कृत, हिंदी, मराठी,
 पंजाबी, बंगाली, कन्नड़ी आदि विभिन्न भाषा बोलनेवाले
 कब-कब होते हैं। यह मानवोंकी विविधता निःसंदेह है। इस
 विविधताके दोषे हुए इस धर्ममें भारतीय होनेका अर्थ
 मात्र देखकर ये सब भारतीय धर्ममें समाव हो ऐसा मानकर
 इस धर्मके समान व्यवहार करना यह सार्वजनिक ज्ञानसेही
 होता है।

एवमयम राज्ञी वसुपत्नी कीदृ, एवमयमे परस्परमिह
है। एतद् द्वये एक मोर अन्वह जीवतएव है नह देखकर
उप जोर मानये हन सबको समान मानना जीत सबको
जीवतएव सबको समान अहमभोज्यादि बन्धनोप रीतिसे
समानरी चाहिये सबका जीव सबको मित्र है सबको मूल
एवमयम है एवमयमको समान कहिये मणीत होवा

हे इन विविध प्राप्तिबोधों में जीवबुद्धि यह समझता देखता सात्त्विक ज्ञानसे होता है।

इसी तरह सूर्य विखरी विविध वस्तुओं की पुनर्सृष्टि के
अवस्था का अथवा अज्ञान के अभाव में अविवक्षित भाव से
साक्षिक ज्ञान से होता है ।

सांख्यिक ज्ञानका स्वयम् इय बहारायके विवेकके पाठ-
कोमें सुस्थिर हो सकता है। सांख्यिक ज्ञानका एक बहुत
भेद और सच्ची उपयोगिता साधक होता है, इसका विचार
माने किया जायगा। जब राजस ज्ञानका कथन देखिये—

राखस ज्ञान ।

भेदका ज्ञान पृथग्भावका ज्ञान प्रत्येकके लाना लाजोके।
अनुभव राजस ज्ञानसे होला है। राजस ज्ञानसे हरएक मूल
से लुप्तमसे लुप्त भेद दिखाई देले हैं। एकही वस्तु
राजस ज्ञानसे विविध भेद दिखने लगले हैं और हमने
पृथक् होवेका प्रत्यक्ष अनुभव होला है।

एकही मायब बसियेँ मज्जन-धम्मिणी बर्ममेद मज्जन-
—पुहस्वादि भाजमेद, हिंदुमुसलमानी बर्ममेद हिंदु
कई बानि मायामेद एही बहाना बा किछा रक्खा बसि
चिह्नमेद इस तरहके भेदोंपरही एहि रक्खन बौर उन
भेदोंको बहाकर तथा उन भेदोंकी मित्रताको कैलाश को
भेदोंकी बुझि करवा होवा है वह राम्रज जावके कारण
होवा है ।

राजस दहिक धर्मक हक परह भेद बहानी बाणी है। हक
कारण एक दूसरेके साथ भेद होमा भर्त्सक हो जाता है।
जहाँ भेद होया वहाँ राजस दहिक बहान होवेके भेद
किर्मान्त्र इति जीव वे बहने बाणी।

आतिथिक दृष्टिकोणसे कहा कि वह भुक्त सुंदर है तो रामस दृष्टिकोण उसी क्षण कह उठेगा कि वहाँ तो नाक के काम है नाक के सिद्धा है, होठ हैं नाक हैं, बोरी है छिर है ये भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। यहाँ नापके कमनाकु-सार भुक्त कहा है? इस तरह रामस दृष्टिकोण क्षणमा करकेके छिने कहा होगा। किसीने कहा कि वह रूप है तो रामस दृष्टिकोण कहेगा कि वहाँ चक्र, भद्र, उरा, नाभन अग्नि ही भिन्नभिन्न वस्तुएँ हैं। पासी करके कोई एक वस्तु कहा है। इस तरह मस्तिष्कात्मक करवा हुआ वह कहनेके छिने ही पैकार होगा।

यह भारतीय मानवसमाज है, ऐसा किसीने कहा तो वह राजस दंडबाजा करेगा कि यहाँ तो हिंदु सुसंस्कृत मानविकी आदि विभिन्न जातियाँ हैं इसका मेक नहीं होगा, यहाँ भारतीय मानवसमाज काके एक समाज नहीं है ।

इस तरहकी जो मनोवृत्ति होती है जिससे भेदही भेद पजर जाने हैं, वह राजस ज्ञानकी वृत्ति है । इससे भेदही भेद हीकहे हैं भेद ही बनावेकी वृत्ति होती है एकता कर केके जिसे प्रयत्न नहीं होते भेदोंमें भेद देखनेकी वृत्ति भी नहीं होती ।

राष्ट्रमें भेद नष्ट रहे हैं यह देखकर समझ सकते हैं कि उस राष्ट्रमें राजस वृत्ति नष्ट रही है । यदि किसी राष्ट्रमें सार्वजनिक मनोवृत्ति बनेगी तो भेद होते हुए भी एकताकी मनोवृत्ति बढ़ती जायगी और संघटनकार फैलाना होगा । राजस मनोवृत्तिसे विघटन होता है और मेकनिकान अस्त भव हो जाता है ।

अब सामस ज्ञानका अध्ययन देखिये—

सामस ज्ञान ।

(अ-वैतुर्क) जिसमें कार्यकारणका पञ्चांगोपबोध नहीं होता तथा (अ-उपार्थक्य) जिसमें सत्य उत्पत्ति भी ठीक ठीक बोध नहीं होता है और जिसमें संपूर्णके समाज ही एक अंशमें भावविशुद्ध मात्र रखा जाता है उसको सामस ज्ञान कहा जाता है ।

कार्यकारण-भावकी गौडमात्र होता वह ज्ञानका अध्ययन है । इसी ज्ञानका नाम सामस ज्ञान है । सामस ज्ञान वस्तुतः सुख अज्ञान है किंवा उसे मिथ्या ज्ञान भी कह सकते हैं । मिथ्याज्ञान विपरीत ज्ञानको कहते हैं । सामस ज्ञानमें विपरीत भावना और अनुष्ठान भावना दोनों रहते हैं । कार्यकारण-भावका पञ्चांगोपबोध ज्ञान ही सत्य ज्ञान है । वह इसमें नहीं रहता वह सामस ज्ञानका पहिला बोध है ।

सामस ज्ञानका दूसरा बोध इसमें (अ-उपार्थक्य) अथ उत्पत्ति बोध नहीं होता । या तो विपरीत बोध होगा जबवा अवरोध ही होगा परंतु पञ्चांगोपबोध उत्पत्ति ज्ञान कभी नहीं होगा । सामसी मनुष्य प्रत्येक वस्तुके विषयमें विपरीत कल्पना करता हुआ अग्रगण्य रहेगा और अपनीही मत्त मरणा है ऐसा करेगा ।

तीसरा बोध सामस ज्ञानमें वह है कि (अ-स्वभाव-स्मिन् कार्ये सत्यं) वस्तुमें पूर्णकी भावनाका अनुभव सामसी मनुष्य करता है । वह समझता है कि अपनी उपर्युक्त ही तो अपने कुर्बियोंको तुल्य हो चुकी । अपने कुर्बियों सुख हुआ तो अपनी प्राम सुखी हो चुका । अपनी आदिम सुख बढ़ालेके लिये सामसी लोग सब सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये भी तैयार होते हैं । इस तरह ये सामसी लोग सर्वमें स्वाभावपर अक्षय्य मानकर बसकी संपत्तिके लिये संपूर्ण श्रम करनेको भी प्रवृत्त होते हैं । अतः इस कारण वह सामस ज्ञान नामके लिये कारण होता है । अंशमें (सत्यं) स्वभाव वास्तव होता और उस वास्तविके कारण संपूर्ण विद्वत् हो चुका ऐसा मानकर संपूर्णके विषये विचरने में उदासीन रहता यह चोर परिणाम इस सामस ज्ञानके होता है ।

सत्य और तम ।

इस तरह ये तीन ज्ञान हैं । सार्वजनिक ज्ञान अवेकमें-परस्परविभिन्नतामें एकत्र देखता है और उसके अंतर्गत विपरीत यह सामस ज्ञान एकमें भी भवभाव देखकर संपूर्ण स्वाभावपर उसके अक्षय्य अक्षय्य मानकर अंशके लिये ही भावना प्रारम्भ करने संपूर्णका स्वागत करता है । सत्य और तम इनमें वह भेद है इसका पाठक विचार करें ।

यह ज्ञान ठीक तरह समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं । जर्मन कर्म मानता है कि मास्टर, एजिप्ट, देव और धृष्ट ये चार वर्ग मानवी सुलेखन समाजमें उनके एक कर्मोंके कारण होते हैं । सुलेखनोंके ये चार वर्ग होनेके लिये किन्हीं अक्षय्य कोनोंका एक पाँचवा तम भावना पड़ता है । इस तरह इन पाँच वर्गोंमें अक्षय्य मानवी अक्षय्य मैदी है । इसकी ओर सार्वजनिक मनुष्य देखता है और इन पाँच वर्गोंमें मैदी हुई विविध भावनाओंमें मानवमात्रसे एकता है वह सार्वजनिक ज्ञानमें वह देखता है और इस एकताके वह सबकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है । इसके विपरीत सामस मनुष्य मास्टरमास्टरपर धृष्टमास्टर देखे अक्षय्य निक भेद बढता हुआ अपनी आदि उपजातिमें ही संपूर्ण मानवसमाज धमास हुआ है, ऐसा मानकर जो कार्य संपूर्ण अक्षय्यके लिये करने चाहिये वे अपनी उपजातिके लिये करता है और अपनी उपजातिके दिवसे लिये संपूर्ण अक्षय्य

(१०) त्रिविध कर्म ।

नियत समरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु क्रमेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुन । क्रियत बहुलायास तत्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुशयं ध्रुवं हिंसायनपेक्ष्य च पौरुषम् । माहादारम्भत कम यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अर्थ—अफलप्रेप्सुना यत् नियत कम संगरहित मरागद्वेषतः कृतं तत् सात्त्विक उच्यते ॥ २३ ॥ पुनः यत् तत् क्रमेप्सुना साहंकारेण वा बहुलायास कम क्रियते तत् राजसं उदाहृतम् ॥ २४ ॥ अनुशय ध्रुवं हिंसा पौरुषं च तामसम् उच्यते ॥ २५ ॥

फलकी इच्छा न करते हुए जो नियत कर्म आसक्तिरहित और रागद्वेषरहित होकर किया जाता है उसको सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ २३ ॥ परन्तु जो कर्मफलकी इच्छासे अधिकतरसे और बड़े मायासे किया जाता है, उसे राजस कर्म कहते हैं ॥ २४ ॥ परिणाम हानि हिंसा और अपना सामर्थ्य इनका विचार किये बिनाही मोहसे जो काम किया जाता है, उसे तामस कर्म कहते हैं ॥ २५ ॥

भाषार्थ— जो कर्म निष्काम भावसे रागद्वेषरहित होकर होता है, वह सात्त्विक कर्म है । जो भोगवृद्धिसे जड़े फलेसे होता है वह राजस कर्म है । परिणामका विचार न करते हुए अज्ञानसे किया माहसे होता है वह तामस कर्म है ॥ २३—२५ ॥

वक्षि होनेकी कोई चिन्ता नहीं करता; इसकाही नहीं अपनी प्रत्यक्ष हितके लिये किसे उपर्य मासव्यक्तिको कुछ देना करना कल्पही समझता है । इस कारण इस तामस ज्ञानसे किसी कष्ट बचते जाते हैं ।

इस प्रकारके सात्त्विक और तामस ज्ञानका ठीक ठीक रासमको कथन करता है । पाठक देखे कि सात्त्विक-तामस-तामस इन तीन प्रवृत्तियोंसे समग्र त्रिविध हुआ है और उनके ज्ञानविज्ञान और आचारविचारमें भी बड़ी भेद रीत्य है । वह देखकर साधक अपनी प्रवृत्ति जानें और अनुसार करने कर्मका तथा गुण वर्मका निश्चय करें ।

यदि सात्त्विक ज्ञानसे उन्नति राजस ज्ञानसे मध्यम स्थिति और तामस ज्ञानसे अवधि होनेका वर्णन (गीता-प १७ । २८) में कहा है तथापि सात्त्विक ज्ञानके विक-रित होनेका राजस और तामस ज्ञानका कोई उल्लेख नहीं देखा बात नहीं है । केवल देखिये—सात्त्विक ज्ञानसे संख्या हो सकती है राजस ज्ञानसे हरण विमोहका दृष्ट हो रहा संभव है इसका ठीक ठीक ज्ञान होता है सब विज्ञानकी उन्नति विमोहकी विमोहताओंको पहचाननेकी हो सकती है । विज्ञानके लिये पुण्यविषय भावा भावोंके पुण्य पुण्य मानकी भी वर्णन आवश्यकता है और तामस

ज्ञानसे हरण अपने अपने अवकाश विचार कर सकता है । इस तरह अनिमोहसे सब कष्ट उन्नत होनेसे मक्की उन्नति होना संभव है । अर्थात् इस तीनों ज्ञानोंका मानकी उन्नति में स्वाय है परंतु इनके मर्यादाके अधिक बढ़नेसे हानि की समाधान हो सकती है ।

ज्ञानकी त्रिविधताका यह विचार है । अब त्रिविध कर्मका विचार देखिये—

(२३ २५) सात्त्विक कर्म राजस कर्म और तामस कर्मका स्वरूप बड़ा बतावे हैं । जो नियत कर्म आसक्तिरहित होकर तथा रागद्वेष छेदकर और उमका कष्ट अपने अंतर्गत लिये केनेकी इच्छा न करते हुए किया जाय वह सात्त्विक कहा जाता है । अर्थात् सात्त्विक कर्मके लिये कष्ट मोहकी इच्छाका त्याग करना चाहिये राग और द्वेष छोड़ना चाहिये वह शुद्ध बात है । राग अर्थात् भोगकी प्रीति द्वेष अर्थात् दुःखकी कायिक बाधिका मानावक हिंसा करने की वृत्ति वह सब मानवक अपागमिक साधन हैं । इनके होनेसे हुए नास्तिक कर्म होया वर्मभव है । रागद्वेष मन कंपासमान होता है राजसे अनुशय धोमकी ओर जाता है और द्वेषसे वैरके प्रभावमें कंपता है । इत्यदि रागद्वेषोंके कारण असाधितमें कंपता है । अतः रागद्वेषों को दूर कर

(११) त्रिविध कर्ता ।

मुक्तसमोऽनहवादी धृष्टुस्साहसमन्वित* । सिद्धपसिद्धयोर्निर्विकार* कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२१॥
 रागी कर्मफलप्रेप्सुलुब्धो हिसात्मकोऽशुचिः । हर्षशोकान्वित* कर्ता राजसः परिकीर्तित* ॥२७॥
 अयुक्तः प्राकृतः स्तब्ध शठो नैष्कृतिकोऽलस* । विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

मनको सम्पन्न करना चाहिये । इस मनकी प्रधानता सिद्धि से जो कर्म होता है, वही सात्त्विक कहा जाता है ।

इसके विपरीत जो कर्म फलभोग करनेकी प्रवृत्ति—
 चापासे किये जाये हैं किन्तु फल इसलिये अपने पाछे संलग्न
 हित करनेका यत्न किया जाता है कि इसका भोग अपने
 पोड़ी सदा मिलता रह किये भी परिश्रम हों और
 साधन पक्षों से भी उनकी पूर्वाह्न न करते हुए बड़े आवा-
 सोंको सहते हुए भी जो कर्म किया जाता है और जिसमें
 अपने कर्तृत्वकी वसंत बहुत ही रहती है वह राजस कर्म
 है ।

अब सात्त्विक और राजस कर्मोंके लक्षण देखिये—

(सात्त्विक कर्म)

अहंकारहित होकर

फलभोगका विचार छोड़कर ।

वासति छोड़कर

रागद्वेष छोड़कर

(राजस कर्म)

अहंकारसे किया

फलभोगही इच्छासे

वासतिसे

रागद्वेषसे

राज्य और सात्त्विक कर्मोंके ये लक्षण बखाने योग्य हैं ।
 इनका विचार करतेसे हम कर्मोंके परिणामोंकी भी कल्पना
 हो सकती है । जिसमें अहंकार वासति, रागद्वेष और
 भोगवासना होगी वे राजस कर्म हुए बहनेवाले होंगे
 इसमें कोई भ्रष्टही नहीं है । अतः जो कर्म फलभोगकी
 कामना छोड़कर अहंकार न धारण करते हुए वासति हित
 छोड़ और रागद्वेषराहित होकर किये जायेंगे वेही मनुष्यका
 गुण बढानेके इत्यर्थमें सदैव नहीं है ।

अब तामस कर्मका लक्षण देखिये जो कर्म अपना
 लाभ है वा नहीं है इसका विचारपूर्वक विचार न करते हुए
 हानि और हिंसाका विचार भी छोड़कर परिणाम क्या होगा
 इसका अनुमान न कराते हुए मोहसे किये जाये हैं न
 तामस कर्म तथागमियों के लिये किये जाये हैं । क्योंकि
 धर्मही हम कर्मोंके करनेका मासधर्म न होनेपर जो कर्म कि-
 -यत्न के अर्थमें ही रहेंगे और उनपर स्वयं हुई आन-
 दर्श ही जानगी इत्यर्थमें मोह नहीं है । इसमें अब हानि

और हिंसा कितनी होगी इसका विचार न करते हुए जो
 कर्म किये जायेंगे, वे भी किसी समय विमर्श ही किये
 तथा हमका परिणाम क्या होगा इसका यदि परिके विचार
 न किया जायगा तो सम्भवतः वे कर्म भवानक परिणाम
 करनेवाले सिद्ध होंगे । इसलिये तामस कर्म अपने हानि
 न होते पुरा धर्म ह्रास करनेका करना चाहिये ।

मनुष्यकी मनुष्यिक अनुभार उससे कर्म होते हैं ।
 सात्त्विक मनुष्यके मनुष्यसे सात्त्विक कर्म होता राजस
 मनुष्य राजस कर्म करेगा और तामस मनुष्यके मनुष्यसे
 तामस कर्मही सम्भावित है । यह तो स्वभावसेही होता ।
 परंतु राजस और तामस कर्मोंसे हानि होनेवाली है वह
 जानकर यदि बोधी साधनानीके साथ वेही कर्म किये
 जायेंगे तो हानि कम होगी । धर्म नहीं करता है । तामस
 कर्मोंसे भित्ति हानि होता संभव है उसकी हानि होने न
 देना कर्मका कार्य है ।

उदाहरणके लिये देखिये— एक तामसी मनुष्य है वह
 मोहपुष्ट होनेसे बहानी है । उसे लाभ न होनेके कारण
 उससे अनेक अनुसंधान होना शक्य है । हम मोहसे छोड़
 कर जो हर्षमें लब्ध दुर्गुण अर्थात् अपनी छात्रिका भवितव्य
 हिंसा और हासिकी उपद्रव परिणामकी ओर दुर्लक्ष्य किये
 जाते हैं, उनका भवानक परिणाम दूर कावेत्त किये धर्म-
 त्रिभिन्नी योजना करना पड़ती है । इसलिये तामसी लोग
 भी धर्मविशिष्ट अनुभार धरने कम करते औरों से
 उनको खतरी हानि भोगकी नहीं पड़ेगी, जिसकी कि वे
 धर्मको छोड़कर वर्णन करनेपर इनको भाग्यी बढती । एक
 तामसी मनुष्य तामस-उपायना करता है और इनका
 तामसी मनुष्य सम्मानना आचार करता है । इसकी उपा-
 यनामें बहुत होनेके कारण उस उपायनका प्रयोगही उसकी
 हानि नहीं करेगा कि जिसकी हानि दूसरोंको भोगकी बढती ।
 इससे अनेक द्वारा राज्य और तामस कर्म भी किस तरह
 कम हानि करनेवाले हो सकते हैं इसका विचार हो गऊ
 है । अतः अब त्रिविध कर्ताका विचार देखिये—

मन्त्रपा—मुक्तसगः भवद्वादी भूयुस्ताहसमन्वितः सिद्धसाक्षिभ्यो विधिकारा कर्ता सार्विकः उच्यते ॥ ११ ॥ रागी, कर्मकर्मण्युः सुखा, विद्यताका, वसुधिः हर्षसोकाभितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ १२ ॥ वसुधः प्राहता, स्वयं प्रयः, वैकुण्ठिकः वसुधः विप्रादी, दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते ॥ १८ ॥

जो मासिक और महीनारखे रहित धैर्य और उत्साहसे युक्त, सिद्धि और मसिद्धिके विषयमें हृष्ट हो न माननेवाला है वह सार्विक कर्ता है ॥ ११ ॥ जो भोगी कर्मकर्मकी इच्छा करनेवाला, छामो विचारशील भद्रुद्ध हृष्टशोक करनेवाला है, वह राजस कर्ता है ॥ १२ ॥ जो अल्पवस्थित-भद्रुद्ध, सत्कार-रहित, सुस्त शठ नीच-परोत्कर्ष सहन न करनेवाला आलसी, विप्रादी दीर्घसूत्री कर्ता है उसे तामस कर्ता कहते हैं ॥ १८ ॥

माधार्थ—यमद और भोगाक्षरहित उत्साहयुक्त हृष्टोंके विषयमें सम याव रखनेवाला कर्ता सार्विक है। भोगी कोही विद्वत्, वसुध और शोक तथा हर्षयुक्त कर्ता राजस होता है और यमादी आलसी सुस्त कर्ता तामस समझना योग्य है ॥ ११—१८ ॥

सार्विक कर्ता ।

(११—१८) जिसमें भोगकी आसक्ति (मुक्तसगः) नहीं है, जिसमें (अद्वादी) अहंकार नहीं है, जो धैर्य और उत्साहसे (यमुस्ताहसमन्वित) युक्त है तथा जो सिद्धि और मसिद्धिके (सिद्धसाक्षिभ्यो विधिकारा) विषयमें विधिकार रहता है अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेपर विश्व वसव नहीं होती और असिद्धि होनेसे जो निरुत्साह नहीं होता वह कर्ता सार्विक कहलाता है। जो कर्मक कर्मके अपने मोक्षके विषये अपने पास समर्पित करने रखता नहीं चाहता हृष्टवादी नहीं परंतु जो कर्मकर्मका ईश्वरार्पण मुक्तिसे समर्पण करता है अपने कर्मक कर्मको अपना व यमद परमेश्वरका मानता है और उसे परमेश्वरका भाग यमद प्रवहा करता है वह आसक्तिरहित समझना चाहिये ।

कर्मका अधिमान जिसमें नहीं कर्म करनेके कारण जो अपने आपको परमोच्च नहीं समझता, मही ऐसा कर्म कर उच्छा है दूसरे धरे मुक्तकर्ममें हीन है क्या कर सकते हैं देश को कभी नहीं मानता नहीं अधिमानरहित कहलाता है। अधिमानव हृष्टोंके साथ देश उत्पन्न होता है। हृष्ट विषये जो विधिभिमानी होता है, वह अपने आपको हृष्टसे क्या करता है ।

सार्विक मनुष्य धैर्य और उत्साहसे युक्त युक्त होता है शक्ति धैर्य और उत्साहका भाव करनेवाले कोकमोहारी विद्वत् उमक पाय नहीं होते । सिद्धि अधिमानकी विमता रवध घटाती नहीं हृष्टविषये सिद्धि होनेसे उसको वसव

नहीं चहती और असिद्धि होनेसे उसका निरुत्साह भी नहीं होता । ऐसा सार्विक कर्ता सब कर्ताओंमें प्रथम है ।

राजस कर्ता ।

जब राजस कर्ताका विचार करेंगे। राजस कर्ताका स्वयं पहिजाककण उसका भोगी होता है। भोग भोगनेकी आसता उसके मनमें तीव्र रहती है। भोग भोगनेके क्षिप ही वह कर्म करता है। उसके कर्म करनेके बन्धन भाग भोगनेकी मनुष्यही रहती है। भोगोंपर आसक्ति होनेसे ही वह अपने कर्मक कर्मोंकी अपने उपभोगके क्षिपे अधिकांश मनमें जाण करता है। कोम हृष्टक मनमें रहता है वह तो कइनेकी आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि भोगी भार कलातक मनुष्य कोभी होने ही । (हर्षसोकाभितः) मा । माह होनेसे वह हर्षसे जाचने कगेया और भोग दूर हानत वह ऐसा जोकेमें मन होता कि उसका वनेन होना कदिन है। हर्षसे एक ओर उसका मन मुनेगा वो कोकसे दूसरा ओर चका जायगा । हृष्ट तरह वह सदा अज्ञान ही रहेगा ।

जिध समय ऐसे अज्ञान मनवाले मनुष्यके प्रवन्ध कर वेध भी उसको भोग मिच्छनेमें पाया होती है वह पर वधा कोष करता है और उस कोषक वधमें (हिसममक) दिता करनेमें भी वह मनुष्य हो जाता है । जो उनकी भाग शक्तिमें विपन्न करता है उनका मात करनेका वह पाव करता है । हृष्टसे देश वधता है और दिता भी जाती है । भोगी राजस कृषिका नहीं परिणाम है ।

दिता जहां होती वहां अमुद्धता होतीही । हृष्ट काय राजस कर्ता (अयकि) अमुद्ध होता है ऐसा कहा है ।

(१२) त्रिविध बुद्धि ।

पुद्गेर्मेदं घृतेष्वेव गुणवस्त्रिविधं शृणु । प्राप्स्यमानमद्येवैष पृथक्त्वेन घनञ्च ।

॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कायाकार्ये मयाभये । घनं माद्यं च वा वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥१०॥

वही भोग कोय और दिसा होमी वही काया बाया मन सुख रहना कहिय है । इस तरहका राजस कर्मा योगी बुद्धिसे काय भोगी होता है । कर्मफलमहाके कारण उस पक्षसे संसृजकी विम्वारसे दुःखी होता है, कोयो होनेसे वह हीन-भुविवाका होता है । विम्वार होनेसे भूत बनता है । अनुभुति का कारण भवविष होता है, हर्षकोकप्रसव होनेसे कारण भवक होता है । भवोत्पन्न सब कारणासे वह दुःखी होता है । वह कदापि शान्त नहीं रह सकता । अज्ञानि वैचरीका ही नाम है ।

तामस कर्ता ।

जब तामस कर्ताके कल्याण देखिये । तामस कर्ताका प्रधान लक्षण अज्ञान और मोह है । इस कारण उसमें भोग अर्थात् कर्मका कौशल्य नहीं हो सकता । जगत् उसको (ज-युक्त) कर्मकी कुप्रकृता जिसमें नहीं ऐसा अकुशल कर्माकौशल्य हीन पुस्तक कहते हैं । कर्मकौशल्य जिसमें नहीं होगा, उससे कोई भी कर्म बलायोग रीतिसे नहीं हो सकता और भोग रीतिसे कम्य होनेके कारण अक्षयता भी उसको नहीं प्राप्त हो सकती ।

तामस कर्ता अपने अज्ञानके ही कारण (प्राकृतः) संस्कारहीन होता है । अनुपपन्न सुसंस्कारप्रपन्न रहनेसे ही वह अचम नागरिक हो सकता है । संस्कारहीन पुण्य प्राकृत विद्या पराकृत अर्थात् समाजसे दूर रहने योग्य समझा जाता है । समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये अनुपपन्न पुण्य संस्कारोंसे प्रपन्न होना चाहिये । ये पुण्य संस्कार ज्ञानके ही हो सकते हैं । परंतु तामस मानवके पास तो ज्ञान रहना ही नहीं प तु मोह भरपूर रहता है । इसलिये भ्रमसरसा रीति न होना ही तामस कर्ताकी स्वाभाविक स्थिति है ।

त्रिपक्ष पास कर्मकौशल्य नहीं और ज्ञानरूप्य भ्रम संस्कार भी नहीं वह क्या करेगा ? वह तो स्वभावका भावस्थान परा रहेगा और सुस्ती ही उसका प्रधान लक्षण बना रहेगा । जब इस तामस कर्ताको वही (संस्कार) रक्षक कहा है । न वह ज्ञानकी बातें बोल सकता है न वह कुछ

कटाके कर्म कर सकता है न वह कुछ विचार फैल सकता है, इस तरह जिस क्षेत्रमें हो उस क्षेत्रमें वह भ्रम और स्तब्ध रहता है । स्तब्धताके कारण उसके कोई नये कर्म नहीं होय और वह हीन स्थितिमें रहना जाता है । सुस्त होनेके कारण (अक्षयः) वह अक्षय्य होता है । कर्म करनेमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती फिर उससे कैसे होगी ?

जब अपने पुद्गार्यसे अपनी उन्नति कर केकेस सत्यमें किसीमें नहीं होता तब उसकी बुद्धि टेढ़ी पक्षों पक्षों अक्षय्य है और वह अक्षय्यमें छल बनता है, अज्ञानका मल करके इस कर्मावेका पाल करता है परंतु वह भी साध्य करनेके लिये कौशल्य तो आवश्यक चाहिये । वह उसके पास नहीं होता है । इस कारण वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । अपनी व अक्षय्यताका विचार मानता है और दूसरे लोक प्रपन्न नये रूप देखकर वह अक्षय्य भी देख करके जाता है । इस तरह वह नीच बनता है, दूसरेके उत्कर्षसे बाध माननेकी वदाराता उसमें नहीं होती इसीसे नैकस्थिक कहते हैं । इस कारण यह अनुपपन्न सदा विपन्न माननेवाला सदा दुःख करनेवाला और उत्कर्षको पक्षोंकेबाटे दुःखोंका द्वेष करनेवाला होता है ।

जिसके पास किसी प्रकारका ज्ञान नहीं, कौशल्य नहीं, कर्म करनेका उद्योग नहीं विचारसे विवेक सब बिना हुआ है, वाक्यके कारण जिससे कुछ कार्य बनता नहीं वह एक काम करनेमें दीर्घसूत्री होना सामान्यिक है । दीर्घसूत्री का भाव यह है कि जिस कामको एक वप्य करानेवाला है, वही कार्य करनेके लिये आठ दश बन्दे लगाकर भी वह अर्थ ही रहना । इससे अक्षय्यताकी कोई जाका नहीं होती ।

तामसी कर्ताकी वह बनता है इसकी उन्नति निर्भवनीय ही नहीं है । हरपक्ष कार्यमें अक्षय्य होनेके कारण उसकी सदा अवनति ही होती रहेगी ।

इस तरह कर्ताके तीनों भद्रोंका वह विचार है । सब त्रिविध बुद्धिका विचार देखिये —

यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽहृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
(१३) त्रिविधं भूति ।

॥३३॥
 ॥३४॥
 ॥३५॥

अभ्युप— हे चर्मजव । तुझे उठे: व एक गुजरा: त्रिभिर्भेद जसेवेज पूजकवेज मोख्यमाने जसु ॥२९७॥ हे पार्थ । या इति: प्रभुर्भेद कर्माकार्ये भवामने जर्मन् मोक्षे च वेति सा भागिनी (मता) ॥२९८॥ हे पार्थ । यदा च (तुजया जीव:) चर्म जवमं च कर्म जवमं च जववावत् प्रमानादि सा बुद्धि: राजसी (मता) ॥२९९॥ हे पार्थ । या तमसा जाहता (बुद्धि:) चर्म चर्म इति सर्वार्थान विपरीताव च सम्बन्धे सा बुद्धि: कामसी (मता) ॥३००॥

अन्वय — हे पार्व ! (नराः) यथा जन्ममिच्छासिवा पुत्रा मनाःपार्श्वेतिपक्षिणा योगेन चारवते सा धृतिः साऽखिनी (नरि) ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! यथा यन्मा प्रसेगेन चक्राकांक्षी (सन्) धर्मकामार्थान् (नराः) चारवते, सा धृतिः एवैषी (नरि) ॥ ३४ ॥ हे पार्व ! शुर्मेना (नराः) यथा स्वप्न भयं लोक विपाद भयं वृष च न विमुञ्चति सा धृतिः कामिनी (नराः) ॥ ३५ ॥

हे धनस्य ! बुद्धि और धृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार के सेव होते हैं उनका पूर्ण और पृथक् वर्णन करता हूँ, यह तुझ ॥ १९ ॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति मिथ्या काय मत्काय मय-अमय वंध-मोक्षको यथायत् ज्ञानती है वह सार्विक बुद्धि है ॥ १० ॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धिसे जाव धर्म-अधर्म काय मत्कायका भव यथाय रीतिसे नहीं जानता वह राजसी बुद्धि है ॥ ११ ॥ हे पार्थ ! जो मज्जानसे पिपी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सब धर्मोंको विपरीत बतलाती है यह तामस बुद्धि है ॥ १२ ॥ हे पार्थ ! मनुष्य जिस एकनिष्ठ धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियक्रियाओंका साम्य धृतिसे धारण करता है वह सार्विक धृति है ॥ १३ ॥ हे अर्जुन ! जिस धृतिसे भासक बुद्धिसे कलभोगकी भाकांक्षा करता हुआ धर्म धर्म और कामको मनुष्य धारण करता है वह राजस धृति है ॥ १४ ॥ हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धि-धाता मनुष्य जिस धृतिसे मित्रा मय शोक, खेद और मदको नहीं छोड़ता वह तामस धृति है ॥ १५ ॥

भाषार्थ—बुद्धि और धृति की सार्विकराजसी मरौं तीन प्रकारकी है । सर्वव्याप्यका विचार ठीक तरह करनेवाली बुद्धि सार्विक जिससे कलभोगकलभ्यका विचार शोक नहीं होता, परंतु त्रिनये त्यागकी अपेक्षा मोक्ष पदज्ञ विद्या बाण है, वह बुद्धि राजस का। माद मज्जानक कारण जो मज्जानको ही ज्ञान मानती है और सब बाओंको विपरीत बतलाती है वह तामस बुद्धि है ॥ १९—३१ ॥

[illegible]

લગ્નનો મોજા બીર મોજાનો વચ્ચે સ્વાસ્થ્યનો પાલખ બીર
 પાલખનો સ્વસ્તિકા આર્ચાન મિત્ર ગુરુદિ સત્ત્વ પ્રાપ્ત મ હોવર
 મિત્રના પ્રાપ્તિ હોવા છે જિવનનો એ એવા મહી છે લગ્નની
 પ્રતીક હોવા છે વધ સાચવ ગુરુ છે । વચ્ચે બાપુત મુર
 બાપુત મુર મુર ગુરુદિનો વચ્ચે વચ્ચે વિચારનો પ્રતીક
 હોવી છે બીર ગુરુ મિત્રના પ્રાપ્ત વચ્ચે મહી હોવા છે । હવ
 વચ્ચે વચ્ચે ગુરુદિના પ્રાપ્તિનો વિચાર મહી વચ્ચે
 છે વિચાર ગુરુદિ મિત્ર છે । અવ પ્રાપ્ત મિત્ર મહી દેશને—

(१४) त्रिविध सुख ।

सुख त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ । अम्मासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
 यच्चदग्ने विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादसम् ॥३७॥
 विषयेन्द्रियसंयोगाद्यच्चदग्नेऽमृतापमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
 यच्चदग्ने चानुषं चैव सुखं मोहनमात्मनः । निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तच्चात्मसमुदाहृतम् ॥३९॥

अन्वय — हे भरतर्षभ ! इदानीं तु त्विदं सुखं मे शृणु, यत्र (सुखे जीवः) अम्मासात् रमते दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यच्चदग्ने विषं इव परिणामे अमृतोपमं आत्मबुद्धिप्रसादज (सत्त्विक) तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥ यच्च विषयैन्द्रियसंयोगात् चदग्ने अमृतोपमं परिणामे च विषं इव (सत्त्विक) तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यच्चदग्ने च चानुषं चैव आत्मनः मोहन निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत् सुखं तामसं उदाहृतम् ॥ ३९ ॥

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकारके सुखके मेरे सुनसे तु सुन । इस सुखमें जीव अम्मासासे रमता है और दुःखका नाश होता है ॥ ३६ ॥ जो आरंभमें विषके समान लगता है परंतु परिणाममें अमृतके समान होता है और जो आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतामें उत्पन्न होता है उसको सात्त्विक सुख कहते हैं ॥ ३७ ॥ जो विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोग होनेसे उत्पन्न होकर आरंभमें अमृतके समान लगता है, परंतु अन्तमें जो विषके समान होता है वह सुख राजस है ॥ ३८ ॥ जो आरंभमें और अन्तमें आत्माको मोहने वाला है और जो निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है उसे तामस सुख कहते हैं ॥ ३९ ॥

भाषार्थ— सम-बुद्धिसे इन्द्रिय-छाड़िका चारण करनेका नाम सात्त्विक धृति है । फलभोगकी इच्छासे धर्माधिकारोंको चारण करनेका नाम राजस धृति है और निद्राभ्रमझोकाधिकी न छोड़नेका वासन धृति है ॥ ३६-३९ ॥

भाषार्थ— जिस सुखमें जीव सदा रमता है और जिसको प्राप्त होनेसे दुःखका नाश होता है वह सुख भी जीव प्रकारका है । जो आत्मबुद्धिकी प्रसन्न धृतिमें उत्पन्न होता है वह सात्त्विक, जो भोगसे उत्पन्न होता है वह राजस और जो मोह निद्रा आलस्यसे होता है वह तामस सुख है ॥ ३६-३९ ॥

(३६-३९) छविका कर्म चारण करनेकी छक्ति । छरीमें मन-बाल इन्द्रियोंकी छिन्नाभौका चारण जिस छक्तिसे हो रहा है उस छक्तिका नाम धृति है । जिस छक्तिसे योगीक छरीमें मन प्राण और इन्द्रियोंकी छक्ति योगीक सम धृतिसे अर्थात् समरिधितिसे चारण होता है अर्थात् मन प्राण और इन्द्रियों परस्पर सहायक योग्य और संपर्क होता है उस चारणछक्तिको सात्त्विक कहते हैं । आत्मज्ञ धृतिसे फलोंका भोग में कर्मका फलोंका समर्थ करने उद्योगिक छक्तिसे अपने पास बहालीका इस तरह जो आत्मचित्त धर्मक कर्म करने अथवा उपार्जन भी योग के कियेकी करना और कामधृतिकी धृति हो देखेही कार्य करना वह जिस छक्तिसे होता है वह राजस धृति है । आत्मज्ञ धृतिसे अर्थात् समोपगुणी चारणछक्तिसे समुपगुणी

बहुत धिया, धितस्वप्न भीति, बहिराह, डर घात, रोनेमें मनुष्य अन्य कारणसे रो पड़ना देह विनाश दुःख अकारण दुःख करने रहनेकी धृति और मनुष्य धर्मक उत्पन्न होती है । इस धृतिसे समुपगुणी अर्थात् देखनेके समर्थ कहते हैं कि इसमें समोपगुणी धृति रहती है । सात्त्विक, राजस और तामस धितिक व कथन है । अब त्रिविध सुखका विचार किया जाता है—

(३६-३९) सुख भी तीन प्रकारका है एक सत्त्विक सुख दूसरा राजस सुख और तीसरा तामस सुख । तामस सुखमें दुःखकी समझना धितिक है निगच्छे वह दुःखमें उत्पन्न करता है । इन सुखोंके अन्तर अपनी प्रकृतिसे मनुष्य सार जीव रमता है और दुःख नूर दुःख ऐसा समझता है ।

भाषार्थ— ऐसी एक भी वस्तु नहीं है कि जिसमें सात्त्विक राजस अथवा तामस भाव न हो अर्थात् प्रत्येक वस्तु में किसी न किसी गुणका भाव होजाही है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— चार वर्गोंके गुण भी सत्त्वजनमरूप प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक ही हैं । जमदग्न आदि प्राणियों, कोशटेज आदि पक्षियों, केटी व्यापार आदि वैश्यके और सेवा करने जातीयिका करना चाहने स्वभावपरि कर्म हैं ॥ ३१-३४ ॥

(३) इस पृथ्वीपर जन्मरिद्धमें तथा आकाशमें जो भी वस्तुएं हैं वे सबकी सब सत्त्व रस और तम इन तीनों प्राकृतिक मार्गोंसे पुष्ट हैं । एक भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसमें इनमेंसे एक भी भाव न हो । मनुष्य संपूर्ण जिसमें इन तीनों गुणोंका केन्द्र और मध्य दोनों और मानव जातिमें भी वे तीनों प्राकृतिक गुण हैं इसका अनुभव करें । कई मनुष्य सत्त्वगुणविरहित कई रजोगुण विरहित और कई तमो गुणविरहित होते हैं । अपनी प्रकृतिके अनुसार हरएकके गुण कर्म हुआ करते हैं इसलिये मानवजातिके चार भेद होना स्वाभाविक है । इन चार विभेदोंका वर्णन इस तरह है

(३१-३४) मानव जातिमें सत्त्व-रज-तमो-गुणोंके कुछ भेद होना स्वाभाविकही है । जिसकी ऐसी प्रकृति होती है वैसे उसके गुण और गुणोंके अनुसार कर्म होना स्वाभाविकही है । यहिके कहाही है कि—

सहस्रं श्रेष्ठे स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवासिपि ।

प्रकृतिं पाल्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

(मी ३।३३)

ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिस्वभावके अनुसार कर्म करता है प्रकृतिस्वभावके अनुसार मृत्योका वर्णन होता है, अतः निग्रह क्या करेगा ? ” इस तरह प्रकृति-स्वभावकी प्रकृता बतानी है । जिसकी प्रकृति सात्त्विक है वह राजस तामस कर्म करनेमें अक्षमही होगा तथा जिसकी प्रकृति राजस होगी वह सात्त्विक अथवा तामस कर्म नहीं कर सकेगा इसी तरह जिसकी तामस प्रकृति होगी वह सात्त्विक और राजस कर्म करनेमें पूर्ण अक्षमही होगा ।

यही वर्ण ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करता रहेगा फिर जो ज्ञानी नहीं है, ऐसी अवस्था अपनी प्रकृतिके अनुसार कभी नहीं रहेगी इसमें श्रेष्ठही क्या है ?

मनुष्योंके चत्वार प्रकृतिके गुण-वृत्तिके अनुसार अनेक भेद होते हैं, इसी लिये एक मनुष्यका स्वभाव दूसरेके साथ भिन्न होता है । वे भेद क्षीर-दूध-अन्न-पुष्टिरी स्वभाव प्रकृतिके अनुसार भिन्न हुआ करते हैं । जो मनुष्यप्रकृतिमें जो विगुणोंका मिश्रण अ १० में तथा अ १८ में किया है वह मनुष्योंकी स्वभावप्रकृति कैसी है, इसकी परीक्षा करनेके लियेही कहा है । अ ती अ १८ में सत्त्व-रज-कर्मा-पुष्टि-पुष्टि-सुख-के भेदोंका वर्णन किया है । इस वर्णनके साथ अ १० का विगुणोंका वर्णन भी देखने योग्य है । वही सत्त्व-रज-तामस-अज्ञान-अहं-अव-आत्मके वर्णनके इसी विगुणमयी मानवी प्रकृति का वर्णन है । मनुष्यकी परीक्षा इन कर्माधीनोसे हो सकती है । वह परीक्षा हजारों भी कर सका है और पञ्चरात्रादिव होकर करने अपनी परीक्षा भी की जा सकती है । अपनी प्रकृति सात्त्विक है, राजस है या तामस है वह स्वयं अपने आपको भी इस परीक्षाद्वारा ज्ञात हो सकता है । वह परीक्षा हजारोंके लिये नहीं की जाती परंतु चार्मिक क्षेत्रमें अपनी स्थिति किस धीवीर-किस सुमित्रापर-है वह ज्ञाना का सकता है । और वह जानना साथ चरमधेरीके लिये अत्यंत आवश्यक है । यह परीक्षा किस तरहकी है यह अब देखना है । यह निम्नलिखित कोशके ज्ञान हो सकता है—

सत्त्व	सात्त्विक
रजस	रजोगोपाधना
तामस	रजस विरक्त-इत
अज्ञ	निष्काम भावसे
अहं	देसकामोचित

राजस	तामस
पञ्चरात्रगोपाधना	पुष्टिगोपाधना
वीर्य-रक्त	अष्टिगोपाधना-पुष्टिगोपाधना
अज्ञान	अज्ञान
अहं	अहं
अव-आत्म	अव-आत्म

म० १८	साहित्यिक
कर्मकाय	पञ्चरात्रगुण
ज्ञान	विमर्शमें अविमर्श
	भारता ज्ञान
कर्म	विप्लव मासिक विद्या
कर्म	निष्काम कर्म
शुद्धि	कार्यकारण
शुद्धि	धर्मशास्त्र
शुद्धि	कार्यशुद्धि प्रसारक

संविधान मनुष्यकी परीक्षा करनेकी कमीदिनां के हैं।
मिसालों देखना हो तो गोपा २० और १८ में एक
पढ़ने हैं। जिस मनुष्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, वह
देखकर उसमें सरल रक्त या तम हृदय गुणोंमें किंचित् गुणका
मनुष्य है, इसका निर्णय इस परीक्षाका हो सकता है।
एसीसे स्वयं अपनी भी परीक्षा को जा सकती है। मनुष्य
एक कर्म की राह है क्या करना है, क्या चाहता है इसका
निर्णय करनेसे उसका प्रवृत्ति निश्चित का जा सकती
है।

हम चाहें मनुष्यके तीन वर्ग होते हैं। कई मनुष्य
कर्मिक कई राजस का कई तामस होते हैं। ये मनुष्य
कीर्ति वृद्धि के जा सकते हैं। परन्तु कई लोग हीनते भी
पानी इसी संसारगुण है देना दिखावा करते हैं इस
कारण वह परीक्षा समाजमें कदाहो रही है।

सामान्य गुणवत्ताकी योग्यता समाजमें अधिक समझा
जाती है इसलिये करने वालेको सामान्य न हाँकें हुए न
कमील करनेसे हृदय कर्मोंमें होनेके कारण समाजमें वह
शुद्धि परीक्षा का एक पहचानना कठिन हो रहा है जो
मनुष्य स्वयं जानबूझ करके अपनी निम्नवृत्ति को दबा
कर अपनी वृत्ति अपनेमें होनेका होना चाहता है वह अपनी-
ही बात करता है। उदाहरणके लिये देखिए कि किसीने
पानी निम्नवृत्ति कमीगुणा होनेपर भी अपने राजस या
तामस रक्तका होना किता जो अच्छेमें अपनीका हाँकें
लेयी। समाजमें मनुष्य हाँका उससे राजस वृत्तिके गुण
कार्य होना भी नहीं। और वह न होनाका बात न उनाका
बनेगा। हमको अपने प्रवृत्ति का हीनता जिस दर्जा का
पानी बात करना है और समाजका भी बात करना
है।

राजस	तामस
शुद्धि भवसे	मोहसे
शुद्धि रक्त शान	मिथ्या शान
सकल कर्म	हिंसादि शोचगुण
शोभी कथा	विशाल शोचपूर्ण
अथय शानगुण	विपरीत मानगुण
कथाशोभी	लोकोपयोगगुण
विपश्यन्	विज्ञानशोचक

यद्यपि स्वयं-रक्त तम के तीनहा गुण हैं तथापि हम
नीच गुणोंके कारण मानवोंमें चार भेद होत हैं। सरलगुण
रिवा है और समागुण शुद्ध है इसलिये एक सरलगुणी
और दूसरे समागुणी देखे हो भद स्पष्ट हाँकें हैं।
मानवोंके ये दो भेद पहिले जानना चाहिये। तीसरा गुण
रक्त गुण है वह स्वयं चल्चक है इसलिये वह रक्तगुण
अपनी चल्चक वृत्तिकारण एक समय सरलगुणका और
मुक्त हाँका है और दूसरी ओर रक्तगुणका और मुक्त होता
है। हृदय मुक्तके कारण दो प्रकारका रक्तगुण समाजमें
दिखाई देता है। इसलिये रक्तगुणका दो भेद और सरलगुण
तथा समागुणके दो भेद मिलकर मानवोंके मुक्तता चार
भेद हुआ करते हैं। इसका नाम चातु र्व है।

सरलगुण	सरलमिश्रित	समोमिश्रित	समोगुण
रक्तगुण	रक्तगुण	रक्तगुण	रक्तगुण
माध्यम	कर्मिक	कर्मिक	कर्मिक

हम प्रकार गुण भेदने अर्थात् विभिन्न भेदों पर ध्यान
होगा है। इन चार वर्गोंमें हम तीनों गुणोंका संवेतना का
समाज इस तरह होता है—

धर्म	निजस्वभाव-गुण		
१ साधक	सर्व	सर्व	सर्व
२ कर्मिक	सर्व	सर्व	सर्व
३ कर्मिक	सर्व	सर्व	सर्व
४ कर्मिक	सर्व	सर्व	सर्व
५ कर्मिक	सर्व	सर्व	सर्व
६ कर्मिक	सर्व	सर्व	सर्व

१. समाजके रक्तमिश्रित वर्ग — तम हृदय का
समाजके रक्तमिश्रित वर्ग का नाम है।

२ अग्निपदे दशमाधिक कर्म चौबीं तेज, चौबीं दक्षता
पुरुषमें स्वर रहना व मागवा हान स्वाभिमान स्वाभिख ।

३ बहुरके स्वाभिधिक कर्म— अग्नि गोशुद्ध चाभिख ।

४ द्वात्रिंश स्वाभिधिक कर्म— सेवा बहवा हुना कर्म ।

मित्र स्वभावगुणोंके अनुसार स्वाभिधिक कर्म य है ।

तर्वात् त्रिष्वक मन्दर लक्ष्मण भोगा उसमें कमहमाद्
जुहवी होगि त्रिमये मातृवत् रजोगुण भोगा उसमें क्षीपात्
ऊर्ध्वी होगे, त्रिमये तामस रजोगुण भोगा वह वाल्म्य
धरमा पश्य करेगा अर्थात् त्रिष्वक देखा उससे जलिक
जना चाहेगा । इसी तरह त्रोगुणों अपनी व किसीका
दास ही बनेगा । उनमें जो रजःशिवशक्त हमा वह
गुनरके कार्य करना चाहेगा । इन विचारसे पाठक जान
ल्ये है कि मित्र गुणोंके अनुसार कर्म करना मनुष्यके
द्विषे दशमाधिक है बार रेकी कर्म उनमें उत्तम हो सकेगे ।
मित्र गुणके विपरीत कर्म करनेका कोई फल नही होगा सो
उससे वे कर्म होंग नहीं और यदि बलात् करनेका फल
डिवा जायगा, वो उस प्रकारमें असफलताही प्राप्त होगी ।

हम चातुर्विध संवत्सर विवरण भी य, जो १३
१ प्रकाशमें पाठक लेंगे ।

प्रत्येक मनुष्यके मूलाधिक प्रमाणसे सरल व जटिल
होते हैं । हम सब मनुष्यके चातुर्विध मूलाधिक
गुण ही करता है । इस का ज प्रत्येक मनुष्य जोडा सम
नमें दक्षि रजनवाला जोडा पूर और जोडा उषाममें
जा दू जगामें दक्षि रजनवाला और जोडा परस्पर सेवा
सम ज्ञा होनाही है । भास्त्रमें भी एक सम है गुण दोहोही
। बिनाही सरलगुण अधिक होता है । प्रत्येक मनुष्यमें
। पता चारों वर्षोंके कर्मका मात रहता है परंतु जो गुण
उसमें विद्यमान होता है, उसकी प्रकृति रहती है ।

इस कारण कमहमादि गुण भास्त्रमें एक चिह्नित और
भाव पर्योमें कुछ भूय, इसी तरह अन्य वर्षोंके कर्मोंके
। वर्षमें जानना उचित है । अतः समस्त पुरुषमें नहीं हा
। ऐसे देखा कोई न सगच्छ । होके जो है परंतु हब होके
। इसी जिये राष्ट्रपर जगाले का भाव जो ५५ कोण
। पता कर उठ सके हो लक्ये है उस समय चारों
। ५५ भागका भाव कार्य जगाले जाके पञ्चांग जगवा
। ५५ भाव प्रत्येक वन करता जायगा ।

हमसे राष्ट्रीय शिक्षा किय तरह देनी चाहिये इस
विषय हो सकता है । हरएकमें चारों वर्ष सामान्य है ।
इसके सामान्यतः प्रत्येकको चारों वर्षोंके कर्मोंके एक
कर्म जान देना सामान्य शिक्षा सब राष्ट्रीय देनी चाहिये ।
इस सर्वसामान्य शिक्षाके पञ्चांग त्रिष्वमें जो विशेष गुण है,
उसके विधानके योग्य उसको विद्यय शिक्षा मित्रकी चाहिये
सर्वसामान्य और विद्यय शिक्षा राष्ट्रमें सुक करेकी रीति
इससे ज्ञात हो सकती है ।

सामान्य शिक्षा ।

प्रत्येक मनुष्यमें तीनों गुणोंका मिश्रण १२ भाग है, एक
मातृवत् सरल एक तम प्रत्येकमें बार बार जाने मिश्रण
बार बार जाने १२ उक्त वर्षका गुण बार जाने मिश्रण १२
भागे मनुष्य होता है । इनके सर्वसामान्य शिक्षा तीनों
गुणोंके कर्मोंकी हरएक स्वाध्यायोंके लक्ष्य प्रथम विधान
चाहिये । अतः—

ईश्वरोंका सम समका सम पवित्रताका भाव होके
नहन करनेकी शक्ति सरलतासे सरलता करना, भाव-
शिक्षा अस्तिगुण और उषामनाकी रीति, पूर-शिवके
भाव करनेका अन्तर्गत लेखविद्याकी हृदि वारकालिक
संगोपन रहता, पुरुषमें शिव रहकर बुद्ध करना, बुद्ध व
भासना । इन द्वा, स्वाभिमान अधिकर्म जोडा, मातृ
व्यवहार करीगरी और सेवागुणोंका भावि चारों वर्षोंके
सामान्य कर्मोंकी शिक्षा राष्ट्रके सब बच्चों के हृदयोंमें
देनी चाहिये ।

इसका विचार करके सुविचारनी पाठक वनसमस्त
कार्यक्रम विस्तारपूर्वक बना सकते हैं । प्राथमिक पत्रों
सर्वसामान्य भावोंको इस तरहकी देवेन जो वक्तव्य
अपने मित्र स्वभाव गुण विशेष प्रकारके वक्तव्ये अपने
। स्वभावोंके विद्यय शिक्षा देना उचित है ।

इससे वह नहीं भिन्न होता कि जीवोंकी चारों गुण प्रमाण
में न रहें और कमहमादि पुरुषमें न हों । सब गुण अपने
मूलाधिक रहते ही हैं, इनके विधित करना भाग्यश्री
है । परंतु जागे जाकर कई बच्चों देखे हों कि जो ज्ञान
विज्ञानकी जगामें प्रवीण हो सकेगी वो बुद्ध भित्तों देके
नहीं हो सकते कई ऐसे होते कि जो बुद्धका ही विद्यय

(१७) स्वकर्मसे सिद्धि ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिस्त ससिद्धिं लभन्ते नरः । स्वकर्मभिरस्त सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४९ ॥
नत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वेभ्यः ततम् । स्वकर्मणा तमम्पर्य सद्धिं विन्दति मानसः ॥ ५० ॥

अन्वयः— स्वे स्वे कर्मणि अभिस्तः नरः ससिद्धिं लभन्ते । स्वकर्मभिरस्तः (मनः) यथा सिद्धिं विन्दति तच्छृणु ॥ ४९ ॥
नतः प्रवृत्तिः (वर्तित) येन सर्वेभ्यः ततम् (वर्तित), तं (ईश्वरं) स्वकर्मणा तमम्पर्य मानसः सिद्धिं विन्दति ॥ ५० ॥

अपने अपने कर्ममें जो तत्पर रहता है वह नर उत्तम सिद्धिको प्राप्त होता है । स्वकर्म तत्पर रहने वालेको जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है वह अश्वत्थ ॥ ४९ ॥ जिससे सब भूतोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सब (संसार) व्याप्त हुआ है उस (ईश्वरको) स्वकर्मद्वारा पूजनसे मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

ऐसी और उनकी बुद्धि वात्सल्यमें नहीं चलेगी तीसरे कोई ऐसे होंगे जिनको कृषि अपना वात्सल्यही जिन होकर यहाँके बीजें लगानेमें उनकी आज्ञा होगी, जेब कई ऐसे होंगे, कि जो कारीगरोंमें मधीन होंगे और कई सहाय्यभूषण के कार्यमें लगे रहेंगे । ऐसे महीनाने छात्रोंको इन विषयोंकी शिक्षा व्यवस्थित देना चाहिये । इस विधेय शिक्षासे जो उनकी विशेष गुण होगा, उसमें सचयन करना चाहिये । इस विधासे राष्ट्रिय शिक्षा किस ढंगसे राष्ट्रमें देनी चाहिये इसका निर्णय हो सकेगा ।

चारों वर्णोंके छात्रोंको सर्वसाधारण सामान्य शिक्षा देनेसे सबको समानता प्रबल सिद्ध होगी और तत्परभाव वर्णों को विशेष शिक्षासे स्ववर्णभावकी उत्पत्ति होती है पहले वर्णों वर्णवर्गका विकास होगा । हर एक वर्णके वर्णोंसे राष्ट्रकी सेवा होती है, इसलिये राष्ट्रसेवाकी विधेय संस्कार वर्णोंकी आवश्यकता निर्दिष्ट है । सामान्यतासे युक्त समस्त छात्रपाठ्यक्रम विशेष महत्त्व स्वाध्यायव्यवस्था से बन कमालमें वैदिकोंका महत्त्व, ज्ञान विज्ञानकी कोख और राष्ट्रसे राष्ट्रका अविच्छेदका शिक्षा करनेमें माध्यमोंका महत्त्व होता है । इस तरह देखनेसे छात्रवर्गका किसी एक वर्गका महत्त्व है ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

ऐसा करीबों की विचार करनेके कार्यके समय मनुष्यका महत्त्व, देखनेके कार्यके समय ज्ञानोंका महत्त्व कहनेके समय राष्ट्रोंका महत्त्व, हाइनेके समय पाठ्यक्रमका महत्त्व होता है । सर्व साधारण मनुष्य और शिक्षा में रहनेवाले ज्ञान-कार्यिका

महत्त्व को सबदाही विशेष होता है ।

इसी तरह यद्यपि समस्तविधेयमें हर एक वर्ण विशेष महत्त्वका होता है और सर्वसाधारणतया सब वर्णवर्गोंकी राष्ट्रिय विधेय आवश्यकता समानतया है तथापि ज्ञानी और श्रद्धा की आवश्यकता अलगसे अधिक है इनमें भ्रष्ट ही नहीं है इनमें भा श्रद्धा की ओर ज्ञानियोंका महत्त्व विशेष है । ब्रह्मर्षी आचार्य छात्र रहें वा छात्रपाठीन व्यवस्थित रहें, इसका निर्णय माध्यमोंका आचार्य छात्र रहें नहीं आवश्यकतासे किया है । सर्व कार्य नहीं मान्य ज्ञान योग्य है ।

राष्ट्रमें जिन विधेय समयमें वैदिकोंका शासन (मार्ग) का) युक्त होता है उस समय राष्ट्रके लोगोंको घरे कष्ट होते हैं । इसका वर्णही यह है कि जनता क्षात्रशासन सम नहीं करती, परंतु माध्यमवर्गी पक्ष करती है । जिन देशों में क्षात्रशासनका अधिक महत्त्व समझा जाता है उन देशोंमें एक एक विचारोंका परिपोष नहीं होता उच्च स्वतंत्र विचारोंका पोषण होनेक विधेय माध्यमवर्गी रहना चाहिये । असाध्य शासन को क्षम्य नहीं करेंगे परंतु ये माध्यमोंको अपने ऊपर मानने हुए करेंगे ।

अपने अपने स्वभाववर्गमें अनुसार हर एक अपने निश्चित कर्तव्य देखे और उनको करना रहे इसीसे राष्ट्रकी जनता सुखी होगी । अपने निश्चित कर्तव्यसे ही हर एक व्यक्ति राष्ट्र की सेवा करे इस विषयमें आगे के अधोर्धमें उत्तरा उपदेष्ट दिया है—

न करता हुआ प्रत्येक करवा कर्म करनेमें लक्ष रहता है ।
 करवा कर्म दोष्य गित्तिये कारेसेही परमश्रमपूजा हो जाती
 है । पूजा कारेके लिये दूसरे साधनोंकी इच्छा करनेकी
 आवश्यकता नहीं है ।

कष्टा भी परमश्रमकर्मही है । जगद्गीता नारायणसेही ये
 शार सर्व उपाय हुए हैं—

सहस्रशीर्षां पुरुषः सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
 स मूर्ध्नि विश्वतो वृत्ताऽप्यनलसहस्राक्षसुखम् ॥१७॥
 पशुपदं ध्यात्वा कतिपया भ्यक्ष्यत्यनम् ।
 मुञ्चं किमस्य कौ याहु का कुरु पावा उच्येते ॥१८॥
 ब्रह्मणाऽप्य मुञ्चयातीत्याहु राजस्यः इत ।
 कुरु तदस्य यज्ञेऽस्य पद्भ्यां शूरो भज यत ॥ १९ ॥
 (भागवद् १ । १५)

हजारों सिर हजारों जाँहें हजारों पाँव जिसको हैं
 ऐसा एक पुरुष है वह पृथ्वीव जारों और पैदा है । इस
 एक वाहु एक और पाँव कोनसे हैं ? ब्राह्मण इसका मुख
 है अग्नि इसके वाहु हैं वदन इसकी जघाएं हैं और एत
 इसके पाँव हैं ।" अर्थात् वह मानवसमाजकपी प्रत्यक्ष
 ईश्वरका ही पुरुष है । पशु पक्षी एक जाति की इसीक
 बरबर है तथापि अपने नियन्त्रके प्रतिपादके लिये इसे
 शाररश्रमाजका ही वर्ग विचार करना भाग्य है । इसीका
 सर्व उपायविशेष है इस तरह किया है ।

यन्निर्मूर्धा चक्षुरी चाम्बुमूर्धौ ।
 विश्वः श्रोत्रे वाग्बिषयाश्च चक्षुः ॥
 वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य ।
 पद्भ्यां पृथिवीं क्षेपं सधभूतास्तारामा ॥
 तन्माध्वं वा बहुधा सेवयता ।
 साध्या मनुष्या पशवो वयासि ।
 माषापातो मीहिपयो तपध ।
 मदा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिभिः ॥

(मुण्डक १४०)

' यन्निर्मूर्धा परमात्माकी मूर्ती है जोकि सर्व और चक्षु
 है, श्रोत्रादेकाद है वह उसकी बाजी है वायु उसका प्राण
 है हृदय वाक् चक्षुः श्रोत्रादि है और पाँव ही वह पृथ्वी है ।
 पशु वरंभू

रमादि देव साध्य मनुष्य पशु, पक्षी हुए हैं, और प्राण
 जपान वायव्य जो तप आता प्रत्यक्ष ब्रह्मचर और पशु
 विधि भी उसीसे प्राप्त हुए हैं वेदों को पुरुष पुरुषमें
 कहा है वही मुण्डकोपनिषद्में इसी तरह कहा है । अर्थात्—

पुरुष एवेवं विश्वम् । (मुण्डक १ । १)
 पुरुष पश्य सर्वम् । (अ १ । १५ । १२)
 यह भागवत् पुरुषही परमेश्वर है पक्षी जपान वेदोंमें
 ब्रह्मण इस तरह कहा है—
 एकं या इव विश्वं समुद । (अ ८ । ५८ । १)
 या विश्वा मुक्ता समुद । (अ ४ । १६ । ५)
 इन्द्रा माषाभि पुरुषं पश्यते ॥ (अ १ । १० । ८)

एकही सत्त्व यह सब विश्व शिष्य गित्तिये हुआ है ।
 जो परमात्मा सब सुखन बना है । इन्द्र जपान अन्तः
 योनि अनेक करोवाका हुआ है । वही भी एकही सर्व
 है जिसके ये सब रूप हैं । अतः उसका नाम ' विश्वरूप
 है । ब्राह्मण अग्नि-वैश्वं सूत्र ये मानव इस नारायणक
 मुख वाहु—चक्र पाँव हैं इसी का ज इवक हजारों सिर
 हजारों वाहु इसको जघाएं आर हजारों पाँव हैं ऐसा कहा
 है । अन्तः । पक्षी अन्तःवाहुर वा (प्राण मानवों द्वारा उपा-
 सना करने वाला है ।

पुरुषाक चरों और वही जगत्कारी देव है पृथ्वीके
 पाँव और वही रूप पैदा है । इस सब उमाक विना देहके
 जग है अतः इसे उसीकी सेवा स्वकर्मसे करनी चाहिये ।
 इस तरह अतीत्येकदि इन्द्रिय शरीरकी सेवा स्वकर्मसे करी
 है वैसी ही ब्राह्मण अतीत्य ' देव पशुओंको इस विना
 पुरुषही सेवा क वा पाहव । ब्राह्मण अपने ब्राह्मणसत्त्वके
 द्वारा ब्राह्मण अपने वायुचक्रसे रक्षा करने द्वारा वैश्व ब्रह्मण-
 त्वकी उत्पत्ति करने हान और सूत्र करीगरी तथा जघा
 भूजाद्वारा सेवा करे । प्रत्येक मनुष्य उसकी मरणाजतमममक
 प्रकृतिसे अनुकर जो काम कर सकता है वह कर्मसे द्वारा
 वह इस विनाशकृती सेवा करे । इसी सेवाद्वारा प्रत्येक
 मनुष्य ब्रह्मण हो सकता है ।

सद्यःकर्मणा ते अभ्यस्य,
 स्वकर्मनिरत मिति धिम्ति,
 स्ये स्ये कमण्यामरतः ससिद्धिं क्षमत् ।

(गी १८ । १५-१६)

(१८) स्वधर्मकी श्रेष्ठता ।

धेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिद्वत्
सहस्रं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषा धूमेनाग्निरिव हृताः
असक्तपुद्गिः सर्वत्र शितात्मा विगतस्पृहः । नैककर्म्यसिद्धिं परमां सन्त्यासनाच्चिगच्छति

अन्वयः—विगुणः स्वधर्मोऽनुष्ठितात् परधर्मात् धेयान् (अस्ति), स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नान् विचिन्तय
आप्नोति ॥ १३० ॥ हे कौन्तेय । सहस्रं कर्म करोति अपि न त्यजेत्, धूमेन अग्निः इव हि सर्वारम्भा दोषेन नाप्युत्तम (लभ्य)
॥ १३१ ॥ सर्वत्र असक्तपुद्गिः शितात्मा विगतस्पृहः (वरा) परमां नैककर्म्यसिद्धिं सन्त्यासेन आचिगच्छति ॥ १३२ ॥

गुणहीन सा प्रवृत्त होनवाळा स्वधर्म, पाश्चात्य कालमें सुप्रसंगे प्रवृत्त होनेवाले परमधर्मसे
अपेक्षक रहता है । स्वभावसे नियत हुआ कर्म करने-वाही मनुष्यको प प नहीं लगता ॥ ४४ ॥ इ कुन्तीपुत्र ।
सहस्रं कर्म सदोपम हृदयेपर भी छोड़ना नहीं चाहिये । जैसा धूमेन अग्नि इसी तरह सर कर्मोंका प्रारंभ
करना योग्यसे व्याप्त रहता है ॥ ४८ ॥ अस्तिपुद्गि पुद्गि कहीं भी आसक्त नहीं है जो चिन्तित्व है, जो
निःस्पृह हुआ है वह मनुष्य नैककर्म्यका परम अस्तिपुद्गि सन्त्यास द्वारा प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

भाषा— गुणवान् परमधर्मसे गुणहीन स्वधर्म अथ है और कामकारक भी है । स्वधर्म करनेसे किसीको लाभ नहीं
होता । वरना सदोपम कर्म भी छोड़ना नहीं चाहिये क्योंकि दोष तो सब कर्मोंमें रहते ही हैं । जो आसक्तिविहिन अस्तिपुद्गि
और निर्विकल्प है वही सन्त्यासद्वारा नैककर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है ॥ १३०-१३२ ॥

इस ओपमामें जो कहा है उसका अर्थ यही है
प्रत्येक मनुष्य वार-बार कर्मों का अन्तर किसी न किसी धर्ममें
होता है और धर्मात्मविभागे अनुकूल उसका कुछ न कुछ
कर्म भिन्न ही होता है । वही उसका सहस्र कर्म है वही
कर्म इसके अन्तर्गत है इसके पास बाधा होता है । जो
विघ्नका विघ्न कर्म है वही अन्तर्गत हीसे करनेसे उसको
अधमोत्तम सिद्धि प्राप्त होती है । अपना कर्म सुयोग्य हीसिद्धि
करनेसे ही परमममोक्षा हो जाती है । ईश्वरपूजा वृत्ति नहीं
है । स्वधर्म कर्म करना ही अपनी इच्छा है ।

किसीका स्वधर्म सुख होता है और किसीका दुःख
होता है, इसलिये दुःख कर्मका त्याग करने सुख कर्म कर
नेकी और मनुष्यप्रवृत्ति होना स्वाभाविक है । परन्तु ऐसा
करना योग्य है वा नहीं इसका विचार आज मगना
करते हैं—

(१३०-१३१) अपना निजधर्ममनुष्ठान कर्तव्य कितना भी
दुःख, अर्थसे अपना गुणहीन हो और दूसरेका कर्तव्य
कितना भी सुख भिन्न भवना मनुष्य ही जो किसी एक-
त्वमें अपना निजधर्म त्यागकर परधर्मका अवलम्बन करना
योग्य नहीं है । क्योंकि प्रत्येक कर्ममें एक न कुछ दोष

होते ही हैं । इसलिये एक अर्थसे कर्मका त्याग करने
कोईका काम हो सकता है ?

मान कोचिने कि एक प्रवृत्तिमें कुछ एक रहा है और
धेयपतिसे अपने धर्मिकोंसे अपनी हृत्पादुसार विघ्न
विघ्नसे त्यागकर रहा है । अब प्रत्येक धर्मिकका कर्तव्य है
कि वह अपने स्वाधर्म रहे और बहिरंग अपना कर्तव्य
करे । अनुभा हमका होयेपर अपने ऊपर धर्मिकों का रही
है ऐसा देखकर अपना स्वाधर्म छोड़कर अपना और दूसरे
मित्र होना योग्य नहीं है । मनुष्य अपने स्वाधर्म पर
करते हुए मरनाही सम्भव ही होता करना है । वह धर्मिक
धर्म स्वाधर्म रहा गया है बहिरंग प्राप्त करने
नहीं है मनुष्य बहिरंग पर नुद करना और प्राप्त करने
तो मरनाही करतव्य है । अपना कर्तव्य दुःख अर्थसे और
गुणहीन होयेपर भी नहीं करना चाहिये और दूसरेका कर्म
निर्दोष सुख और कामदायक होयेपर भी अपना छोड़कर
दूसरेका कर्म करना नहीं चाहिये । क्योंकि अपना कर्तव्य करने
ही अपना काम है अपना कर्तव्य छोड़नेसे किसीका काम
नहीं है । धर्मिक अपना स्वाधर्म छोड़ने का कर्म तो प्राप्त
होनेमें छोड़े ही नहीं है । इस तरह एकका प्राप्त करने

(१९) परम सिद्धि की प्राप्ति ।

सिद्धिं प्राप्नो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
 बुद्ध्या विदुर्द्रया धुको हृत्यात्मानं निषम्य च । शुद्धादीनि पर्यास्त्यक्त्वा रागाद्रेषौ ब्युदस्य च ॥ ५१ ॥
 विविक्तसेवी ब्रह्माशी यत्नाकाशमानसः । ध्यानयोगपरा नित्यं परार्ण्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
 बहिरारं बलं दर्शयन् कामं क्रोधं परिग्रहम् । विदुष्य निर्ममं क्षान्तां ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥
 ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न क्षोभति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मङ्गाकिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
 महत्या मामभिजानाति यावान्यथास्मि तत्त्वतः । सतो मां त्यजतो ज्ञात्वा विद्यत तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥
 सर्वकर्मण्यपि सदा कर्तुं शोः मद्भ्यवाभयः । मत्प्रसादादज्ञानोति ज्ञातव्यं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

बन्धु—इ श्रीमतेषु । निदि प्रासः (भावः) यथा ब्रह्म ज्ञानोति, तथा मे समापन्न एव विबोध, वा न (हृष्ये
 भगवति) सा ब्रह्मस्व परा विध्या वदते ॥ ५० ॥ विष्णुदया बुद्ध्या बुक्ता जन्वा ब्रह्मार्थं निपत्य च प्रव्याहीन् विष्णुः
 तत्तत्, रामोऽपि स्युस्त्व च शिवस्तथैव कृष्णादी ब्रह्मात्मन्यमात्मना, ब्रह्मं ध्यायन्नोपरः । वैराग्यं समुपप्रेषितं च
 सर्वद्वेषं वदं हृष्यं कामं श्रोत्रं परिश्रेष्ठं च विमुच्य, शिरोमां कल्पतः (नरा) ब्रह्मभूषणं वदन्ते ॥ ५१—५३ ॥ (सः)
 ब्रह्मस्य प्रवृत्तता (मनु) न कोऽपि न कोऽपि च सर्वेषु सृष्टेयु समः भूत्वा परां गङ्गां कथते ॥ ५४ ॥ (किं च) पात्रान्
 वा च वदति वे सं तत्त्वतः भक्त्या कमिजानात् ततः तद्वत्ता मां ब्रह्मा वदन्तरं (मां) विदते ॥ ५५ ॥ मनुष्यात्मनः
 यथा सर्ववर्माणि वदति सर्वतः समस्तमात्रात् जायते मनुष्यं परं ब्रह्मणेति ॥ ५६ ॥

भावने किन्तु कादम्ब होया है। अतः स्पष्टावले भागवतसे
 एकदा धर्मवचन बचान हो जायगा, परन्तु सेनामें यम भावनेकी
 भी ध्वनी और सब शास्त्रका परामर्श हो जायगा। अतः
 यम धरोप और बचान करके किन्तु कठिन होवेगा भी
 और शस्त्रक कठिनी धर्मिकता करके है। इसमें सेनापति
 से बचायी धर्मिकता किन्तु प्रमाण है। सेनापतिकी भावने
 धर्मिकता करके निमित्त हो युद्ध। वह कठिन कठिन हो
 म युद्ध हो करवायी एकदा यम है।

॥ श्री गुरुभ्यो नमः ॥
 श्री गुरुवर्ये श्री गुरु-राज-समाज्यक प्रभुति
 अनुसार हाष्टक सहाज विजयवर्धन विभित होता है
 यंत्र वरी उत्तम कथा वारिधे । विजय प्रभुतिवर्धन विभित
 होय कर्मवीर सुकृता अथवा सुकृतावर्धन यंत्र
 होय वरी वारिधे । इस तरह हाष्टक अनुष्ठान कथा कर्त-
 व्य होय दया तो समाजमें हृदी अनुविधा होयी कि
 हाष्टक सिद्धवादी वरी ।

मनुष्य बुद्धर कर्म करना नहीं चाहता परा सुख
कर्म करना चाहता है इसलिये कर्म करना मनुष्यकी
स्वभाव है।

बहुत भीड़ होगी और दुकान कम की ओर जाएं बाबागोरी नहीं। इस कारण कई काम नहीं हिन और काम न होनेके कारण कामसे कह यह बाबागोरी। अतः काम करना न करना अनुभवकी इच्छापर छाड़ना अवश्या है। इसलिये यहाँ कहा है कि अनुभव स्वयंसे लब्ध करने और कभी उपका त्याग न करे इससे करवेसेही अनुभवको परम उन्नति होती है।

स्वभावविषय कर्म करनेमें हिंसा हो जवना जो कुछ होनेवाला है वह होवे (किंचित् न चाप्येति) उसको करनेके मनुष्यको पाप या शोक नहीं लगते । जैसा कान्ति बोध निज महावर्ममुख है मुझमें हिंसा होतीही है वयसि हिंसासे पाप लगता है वयापि क्षतिवशे धर्म मुझमें की हुई हिंसासे उसको पाप नहीं लगता । जका कहा है कि अशोक कम होनेपर भी उसको त्यागना किसीको भी उचित नहीं जिसका वह निश्चय होगा उसको वह करनाही चाहिये । क्योंकि संपूर्ण कर्मोंके सम्भूत कुछ न कुछ शोक होनेही है । जता शेषोंके भयसे कर्म छोड़ना हो तो सभी कर्म छोड़ने रहोगे परंतु सब कर्म छोड़ना मनुष्यके लिये असंभवही है ।

हे कुन्तीपुत्र ! सिद्धि को प्राप्त होनेवाला मनुष्य जिस तरह मन्त्र को प्राप्त होता है सुन । यह जो मन्त्र की प्राप्ति है वह इनकी पराफ़ा है ॥ ५२ ॥ विमुक्त बुद्धिसे युक्त भ्रष्टे आत्माका नियमन करके शब्दादि विधियों का त्याग करके रागद्वेषका अंत कर, एकान्तसे स्व मिताहारी होकर, मन धन्य और शरीरका संपन्न रखकर सदा ध्यानयोगमें उत्तर रहकर, अभय करनेवाला अहंकार परम रूप काम कोष और तथा समग्रदुःख इन सबका त्याग करके समस्त रहित होकर जो शांतिसे युक्त होता है वह मन्त्र को प्राप्त होता है ॥ ५३-५४ ॥ मन्त्रप्राप्त को प्राप्त हुआ मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर किसीका शोक नहीं करता और किसीकी दुःखा भी नहीं करता और सब स्व-मानके विषयमें समभाव धारण करके भेरी (ईश्वरकी) ओष्ठ मन्त्रिको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ और जिसका बड़ा और जेता है ईश्वर ॥ उतना और पैसा उत्सवः मुक्त (ईश्वरका) मन्त्रिके जाता है और पश्चात् मुक्तमें (ईश्वरमें) प्रविष्ट होता है ॥ ५५ ॥ मेरा [ईश्वरका] आश्रय करनेवाला सदा सब कर्मोंको करता हुआ भी भेरी [ईश्वरकी] दृष्टिसे शाश्वत और अव्ययप्राप्त को प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

आध्याय—ज्ञानी पराक्रान्त नाम मन्त्र की प्राप्ति है । वह इस तरह प्राप्ति होती है । बुद्धिकी पवित्रता करना, बलवर्धन करना विषयमार्गोंका त्याग करना प्रीति वार द्वेषके परे होना एकान्तसेवन करना मिताहारी होना कला वाचामयके छापीन रहना ध्यानयोग करनेमें उत्तर होना वैराग्ययुक्त होना बहका वादिका त्याग करना समतारहित होना, स्वयं शांति प्राप्त होनी है और यही मन्त्रप्राप्त की वाग्वता है । इस समय वह जो कुछ दूर हो जाता है भागेपड़ाये भी दूर होना है सबको समभावसे देखता है और ईश्वरकी ओष्ठ मन्त्र करता है । तत्पश्चात् कैसा ईश्वर है वसाही उसमें जाता है और उसकी अनन्तमन्त्रिक करने उसमें प्रविष्ट होता है । परमेश्वरका आश्रय करने सब प्रकारके कर्म करनेपर भी ईश्वरकी ज्ञाने कारण वह शाश्वत आनन्द अव्यय पक्षों प्राप्त होता है । यही अन्तिम सिद्धि है ॥ ५५-५६ ॥

ऊपर आशक्ति न रहकर सर्वत्र मित्रों मनुष्यका चारण करने वार अपने ईश्वरोंका समान करने कर्म करनेसे जो चक्रमोमकी कामना का सम्बन्ध होता है वह मोक्ष-प्राप्त का त्याग होता है । उससे प्राप्त निष्कर्म सिद्धि प्राप्त होती है यही उत्तम अवस्था है । परमसिद्धि की प्राप्ति विषयमें जाने बड़ा सुदूर गहन है वह जान इच्छित—

(५-५६) इसमें पूर्व अनेक बार कहा है कि सिद्धि प्राप्त होगी सिद्धि प्राप्त होती है इसका अर्थ मन्त्र प्राप्त होता है ऐसा है मन्त्र प्राप्त होनेका अर्थ भी सब ज्ञान की पराक्रान्त होता है । परम मन्त्र ज्ञान पूर्णता प्राप्त होना ही मन्त्र प्राप्त होना है । मन्त्रकय होना वार वाणी होना और सिद्ध होना अथवा सिद्धि प्राप्त होनेका आश्रय पक्षों है । इस प्रकारका ज्ञानी मनुष्य क्या करता है कैसा वर्तता है व्यवहार कैसा करता है वह बात सब कही जाती है—

प्रश्नान्तिक लक्षण ।

(१) विमुक्त्यः पुण्या युक्त ।

ज्ञानी छद्म बुद्धिसे युक्त होता है । इसकी बुद्धिमें कदादि

होत होत नहीं विचार सब ज्ञान सम्यक् बुद्धिमें होता है ।

(२) पूर्या आत्मानं नियम्य

ज्ञानी बड़े घबसे आत्माका नियमन करता है । मनसंनय ईश्वरपूजन आत्मसेवन करने अपने यह आत्मसिद्धिमें अपने असीन रहता है । आत्मसेवन करनेसे सिद्धि बड़े ईश्वरी आनन्दकटा रहती है क्योंकि प्रकोपन समुद्र जानेपर जल ही केवलसे सिद्धि बड़ा ही पैदा करता है । इस ईश्वरी वह प्रकोपनोंको दूर करता है और अपना संनय करने छापीन रहता है ।

(३) शास्त्रादीन् विषयान् त्यक्त्वा

कदापि विषयोंका त्याग करता है क्योंकि अन्त आनन्दकय जितना भोग है उतनाही करता है अधिक भोग करना नहीं और अपने पास योग्य पदार्थोंका संग्रह भी नहीं करता ।

(४) रागद्वेषो ह्युत्थ

भोगोंके विषयमें तत्त्व नहीं चारण करता और अधिक चक्षुका द्वेष भी नहीं करता रागद्वेषोंका त्याग करता है

इसके अनुकूल नपना प्रतिष्ठित परिस्थिति प्राप्त होयेपर भी उसकी व्यवहार नहीं होती और उसकी समास्थिति सदा व्यवहारी है । इस कारण उसकी चञ्चलता बुर होती है और इन्हीं कारणोंसे उसकी क्षति भी क्षीण नहीं होती ।

(५) विधिकसेवी ।

आभी एकाग्र सेवन करता है, एकान्तमें उसे आनन्द मिळता है, अस्वस्थमें वह रहना नहीं चाहता परंतु आवश्यक होयेपर वह जनसमाजमें भी यह जाता है । क्योंकि वह इसका पूर्व होता है कि वह जनसमाजमें रहा तो भी उसकी वृत्तियां चञ्चल नहीं होती तथा उसपर जनसमाजमें न आनेका नवन नहीं है तथापि वह समाजसे जागे जागे करना नहीं चाहता ।

(६) छायाशरी ।

कबु भोजन करता है, मिठाशरी होता है, जो भोजन करना हो वह अपनी छुआ और पाचनक्रिया अनुकूल परिस्थिती करता है । अस्वस्थता होय उससे नहीं होता ।

(७) पतवाक्यायमानसः ।

आभी, शरीर और मनको स्वाधीन रखता है बहुत बोजला भी मरने आवश्यक बलोंको सोचता नहीं और शरीरको बलवत्के संगमें रक्ता भी नहीं संवमित वृत्तिसे सदा बलवत्के रहता है ।

(८) विलसं ध्यानयोगयतः ।

सदा ध्यानयोगमें उत्तर रहता है समय मिलनेपर ध्यान योगी करता है, उसका सदा ध्यानयोग चञ्चल है ।

(९) वैराग्यं समुपाश्रितः ।

वैराग्यका आश्रय करता है भोगोंपर उसकी आसक्ति नहीं होती भोगोंमें दोषदृष्टि वह रहता है और इनसे सदा दूर रहता है ।

(१०) सर्वकार धर्मं पूर्णं कामं शीघ्र परिग्रहं च विमुच्यते ।

सर्वकार धर्मणं पूर्णं शब्दका पुष्पयोग आभी शक्ति योग और भोगछाननेके संग्रहका त्याग करता है । आभी कभी धर्मणं नहीं करता अपने बलका पुष्पयोग नहीं करता अपने आभी नहीं होता कोय आभी नहीं होता अपने पाप भोगछाननेका संग्रह करते दूसरोंको आवश्यक भोगोंसे वंचित नहीं रहता ।

(११) विममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कस्यते ।

ममत्वमुक्ति विधीपर नहीं रहता है और मेरा वह भाव

कोय दृष्टा है जिससे वह सबके साथ समभावसे वर्तता है । वह इस कारण शान्त होता है । इस तरहका मध्यमानी ब्रह्मके महारथको प्राप्त होता है । मानो वह मछरी होता है ।

(१२) ब्राह्ममूढ प्रसन्नारमान शोच्यति न कांक्षति ।

जो ब्रह्मरूप बनता है वह सदा आनन्दपुष्ट होता है और इसी कारण न कभी शोक करता है और न कभी किसी भोगकी प्राप्ति की आकांक्षा वालन करता है । वह निरव गृह और सदा आनन्दमय रहता है ।

(१३) सर्वेषु भूतेषु समः ।

सब भूतमात्राति साथ समवृत्तिसे व्यवहार करता है न उसको कोई स्वकीय है और न कोई परकीय है न उसका किसीके साथ द्वेष है और न मित्रता है । तथा वह सबके साथ समान व्यवहार करता है और इस कारण उसका भाव रण निरौष होता है ।

(१४) परं ब्रह्म किं क्षमते ।

आभी पुनर भी ईश्वरकी जेठ भक्ति करता है क्योंकि नहीं जानता है कि ईश्वरका उत्पन्न स्वकम क्या है और उसका अपना संभव कैसा है और उसके सर्ववर्षों अपना कर्तव्य उत्तम रीतिसे किस तरह करना चाहिये ।

(१५) पाचान् या च (महं ईश्वर) भस्मि तं मां तपयताः मन्त्रस्या भविजानाति ।

ईश्वर विलना क्या है और उसका वास्तविक स्वकम क्या है वह उसको साथ दृष्टिसे मन्त्रम है और उसकी भक्ति कर मेहता वह उसका अपना अनुभव होता है और भक्तिसे ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है उस परमेश्वरका भिःसन्देह जान होता है ।

(१६) तपयताः मां (ईश्वर) शान्त्या तत्पूजतं (मां) विप्राते ।

सब दृष्टिसे ईश्वरको जानकर वह आभी परमेश्वरमें ही प्रवेश करता है ईश्वरमें प्रविष्ट होता है वह अपने आपको ईश्वरके विभिन्न नहीं देखता । अपने आपका ईश्वरमें ही समुत्पन्न करता है । अपने शरीर और परमेश्वरको अनुभव करता है और अपने आपको विभिन्न भी न बना है । परंतु एक ही स्वयं भगवत्स्वरूप सर्वत्र है वह उस प्रत्यक्ष श्रीगंगा है और वही उसका अनुभव भी है ।

(२०) सब संकटोंको दूर करनेका उपाय ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तं सततं यत् ॥
मच्चित्तः सर्वं दुर्गाणि मत्प्रसादापरिण्यसि । अथ चरममहंकारात्तु भ्राम्यसि दिनस्त्रासि ॥

(२१) प्रकृतिका वेग ।

यदहंकारमाश्रित्य न योरस्य इति यन्मते । मिथ्येयं व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोजयति
स्वभावजनं कौन्तय निबद्धः स्वनं कर्मणा । कर्तुं नच्छसि यमोहात्करिष्यस्ववशाऽपि तत्

अन्वयाः — (२०) सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य मत्परः (२१) बुद्धियोगं उपश्रित्य सततं मच्चित्तं यत् ।
(२०) मच्चित्तः (२१) सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् परिण्यसि । अथ त्वं महंकारात् न भ्राम्यसि चेत्, निबद्धसि ॥ ५६ ॥

अन्वयाः — यत् महंकारं आश्रित्य न योरस्ये इति मत्प्रसादे (२०) एव ते व्यवसायः मिथ्या (२१) यत् मत्परः, यत्)
त्वां नियोजयति ॥ ५७ ॥ हे कौन्तेय ! स्वभावजनेन स्वेन कर्मणा निबद्धः (२०) यत् मोहात् कर्तुं न च इच्छसि
वचनः (२१) न च करिष्यसि ॥ ५८ ॥

तू सब कर्मोंको अपने मनसे ही मुक्त (ईश्वर) में समर्पण करके मुक्त (ईश्वर) में स्थिर रहकर, बुद्धि योगका आश्रय करके सतत मुक्त ईश्वर में चित्त लगा ॥ ५७ ॥ तू मुक्त (ईश्वर) में सदा संकटोंको मेरी कृपासही पार करेगा । और यदि तू भ्राम्यमानसे न सुनेगा तो नाशका प्राप्त होना ।

यदि महंकारका आश्रय करके मैं नहीं छाड़ूंगा ऐसा समझोगे तो वह भावना मिथ्याही हो क्योंकि तेरी प्रकृतिही मुझे (इस मुझमें) नियुक्त करेगी ॥ २९ ॥ हे कुन्तीपुत्र ! अपने स्वभाव कर्मसे घना हुआ तू मोहवश आ करनेकी इच्छा नहीं करता उसीको परतंत्रता होकर बंद करेगा ॥ ५० ॥

माचार्य — अपने सब कर्म परमेश्वरके किये कर ईश्वरमें अपना चित्त स्थिर कर और बुद्धियोगका आश्रय करके ईश्वरप्राप्त हो निबद्ध सब संकट दूर होंगे । यदि कोई महंकारसे ऐसा नहीं करेगा तो उसका नाश होगा ॥ ५०-५६ ॥

(२७) महाप्रपाश्रयः सदा सर्वाणि कर्माणि कुर्वन्निः ।

ईश्वरका आश्रय करता हुआ सदा सब कर्मोंको करता है शान होनेके कारण वह अपने कर्मोंमें कभी भी त्यागता नहीं । उचित प्राप्तिप्राप्ति वह सब कर्मोंको यथायोग्य करता है और कर्मोंको करता हुआ भी ईश्वरके आश्रयको सदा स्मरता है अर्थात् ईश्वरका आश्रय है उसके बिना कुछ भी नहीं है वह सुख ही सिधे जाकता है ।

(२८) मत्प्रसादात्तु स्यात्सर्वं भव्यार्थं पूर्वं अयाप्नोति ।

इस तरह कर्मोंको ईश्वरकी प्रसन्नताके कारण प्राप्त और अत्यन्त म्वाय भिन्नता है अर्थात् वह कभी च्युत नहीं होता है ।

बुद्धिका परिणता चरममहंकार ईश्वरवत्तम मनकी स्वा-

धीकता लक्ष्यादि विषयोंका त्याग करना रामोच जेठ एकलत खेवव करना शिरसित पन्थमोचव करना जो योगमें मनकी स्थिरता रहना वैराग्यकी वृत्ति महंकार त्याग कामक्रोधादौ त्याग मोक्षप्राप्तिको प्राप्त न कर मत्प्रसादको प्राप्त करिष्य पक्षप्रतिष्ठ रहना अथ मूर्च्छा का प्रमत्तता ईश्वरको याचकर उसमें अपने याचको देकरा ईश्वरार्थ बुद्धिसे सब कर्म करना है महाज्ञानी कहना है इच्छाको निवृत्त करने और नहीं महाकर्म होता है ।

(५०-५६) सब संकटोंको दूर करनेके उपायका कर्म करते हैं । ईश्वरका प्रसाद होनेसे सब संकट दूर होते । (मत्प्रसादात् सर्वं दुर्गाणि परिण्यसि) परमेश्वरकी प्रसन्नता केही हो सकती है इस प्रसन्नताके उत्तरमें अपनायत् कर्म है नि-

(२२) ईश्वर-धारणागतिसे धाम्भव सुख ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यत्रारब्धानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव श्रम गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥
इति ते ज्ञानमास्मात्सं गुह्यात् गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदश्रेयेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अवस्था—हे अर्जुन ! यंत्रारब्धानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् हृदये तिष्ठति ॥ ६१ ॥ हे भारत ! (२२)
तमेव श्रम गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥ इति गुह्यात् गुह्यतरं मया
हे ज्ञानमास्मात्सं गुह्यात् गुह्यतरं मया । विमृश्यैतदश्रेयेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन ! यंत्रपट भाकट रूपके समान सब भूतोंको अपनी शक्तिसे घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतोंको
हृदये पास करता है ॥ ६१ ॥ हे भरतपुत्र ! तू उसी (ईश्वर) को सर्वभावेन धारण जा । उसके प्रसा
दसे परम शान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ यह गुह्यसे गुह्य ज्ञान मैंने तुझे कहा हम
द्वारा अच्छी तरह विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा कर ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—प्रकृतिस्वभाव देवा प्रवक्तृ है कि जो न कानेन विद्यत मनुष्य करता है उसीको और प्रकृतिस्वभाव
के प्रवक्तृ के वाता है । मनुष्य करने स्वभावसे बंधा हुआ है, अतः प्रकृतिस्वभावके अधीन रहकर जो कुछ होगा
करना जाता है ॥ ५९-६१ ॥

भाषार्थ— ईश्वर कभी मनुष्य के बन्धके साथ नहीं जुड़ाती जाती है उसी तरह सब विषयकी मनुष्य विषयकारक नहीं
है और इनको परमेश्वर अपनी मायासे घुमाता है । इस ईश्वरको सर्वभावेन धारण करना चाहिये जिससे पण्डित और
मनुष्य वद प्राप्त होता । वह गुह्य ज्ञान जलकर मनुष्य जैसा इच्छा हो वैसा करे ॥ ६१ ६२ ॥

- (१) केशवा सर्वकर्माणि मयि (ईश्वर) भ्रामयन्
- (२) मया मतेन च । (ईश्वरपरः ईश्वरचितः) भूत्वा ।
- (३) इन्द्रियोन् वपाभिस्तु सर्वतः मय ।
- (४) मयसे अपने सर्वपूर्ण कर्मोंको और इनके कर्मोंको
स्पर्श करो (५) अपना मन परमेश्वरपर लगाओ
- (६) सब बुद्धिबोग करो जहाँ सब समचित होकर
करो ।

ऐसा करनेसे परमेश्वरकी प्रवृत्ता होगी और उसकी
प्रवृत्तासे सब फल दूर होंगे । सर्वपूर्ण कर्मोंको दूर कर
करा नहीं एक उपाय है । साधक इसका भजन करें ।

(५९ ६) यदि धर्मव करता हुआ कोई मनुष्य
उसे धरेगा कि मैं कुछ नहीं करूँगा क्योंकि इस विषयमें
मैंने (ईश्वर) के किये जो वास्तविक कुछ है वह भी नहीं करूँगा
यहाँ मैं सब कर्मोंका त्याग करूँगा तो समझो कि वह
अप्य मिथ्याही है क्योंकि समयपर प्रकृतिही प्रवृत्ति कर
धर्म प्रवर्तनी । प्रकृतिसे गुणोंसे बंधा हुआ मनुष्य भावइवही
धर्म प्रवर्तनी । कर्मत्याग अर्थभव है ।

अपने स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मोंसे मनुष्य बंधा हुआ
है । इस परवृत्तासे कारण मनुष्य प्रकृतिसे अधीन रहकर
कर्म करावाही रहता है । कर्मत्यागको वाँटे होना असम्भव है ।

अर्जुन जन्मसे और गुणकामसे धारण वा । बुद्धि
आनेपर वह बुद्धका दृष्ट देखनेके पश्चात् इनका बुद्धत्वाग
का निश्चय स्थिर रहता असंभव था । इसलिये प्रसादात्
कहते हैं कि हे अर्जुन ! बुद्ध न करनेका मयसे साधकका
निश्चय कायम शिक्वा बुद्ध भुक्त होनेपर कठिन है । बुद्धका
दृष्ट देखनेके पश्चात् मयका कायम बाहु स्त्रुम हावेही बुद्ध
के किये स्वर्ग तैयार होकर उठेवाही । इसलिये कर्मत्यागकी
वाँटे बर्ध है ।

हरपुरुषका प्रकृति-स्वभाव देवा प्रवक्तृ होता है कि यह
उपलक्ष्य कर्म करावाही न । इसका प्रकृतिक देय है निश्चय
निश्चय बना कठिन और कठिन करीब असम्भवही है ।
इसलिये अपना स्वभावकर्म कर्म छोड़ना किसीको उचित
नहीं है ।

(६१ ६२) सब विषयका निर्वन्ध ईश्वर एक है । नार
वद इनके सर्वगोत्रि विवात कर रहा है । उद्यक संभावक

(२३) गुह्य उपदेश ।

सर्वगुह्यतमं भूय शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे हृदमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्
मन्मतां भव मझ्क्तो मघाञ्जी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यासि सस्य ते प्रतिजाने प्रियाऽसि मे॥
सर्वभर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१६॥

अन्वयः— सर्वगुह्यतमं परमं वचः मे भूयाः शृणु । म हर्षे इहः अस्मि इति तव ते हितं वक्ष्यामि ॥ १५ ॥ मन्मतां मझ्क्तः मघाञ्जी (च) भव मां नमस्कुरु (एक कृपा रह) मां एक पृथग्नि । (इति) ते सारं प्रतिजाने (वचः मां) मे प्रियाः नसि ॥ १५ ॥ (१६) सर्वभर्मान् परित्यज्य मां एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि (त्वं) मा शुचः ॥ १६ ॥

सत्यसे अधिक गुह्य ऐसा मेरा श्रेष्ठ वचन तु फिरसे सुन । तू मेरा अत्यंत प्रिय है इसलिये यह तेरे हितको बात कहता ॥ १५ ॥ गुह्य (ईश्वर) मे मम ज्ञान मेरा (ईश्वरका) भक्त बन तुझे (ईश्वर को) नमस्कार कर ऐसा करनेसे तू मुझे (ईश्वरको) प्राप्त होगा । यह मरी सत्य प्रतिज्ञा है । तू मुझे प्रिय है (इसलिये यह कहता है) ॥ १६ ॥ तू अब सर्वाको छोड़कर मुझ भक्त (ईश्वर) को शरण आ मैं तुझे सब पापोंस मुक्त करूंगा, तू मत शोक कर ॥ १६ ॥

सब विषय एक विषयसे एक रहा है जेना कर्म-पुत्रकियां पक्षके धुमायेसे पूनवीं है और विविध बाधिकां करती दुर्ग दीक्षती है । परंतु सब से यह है वह कर्मपुत्रकियां सब अपनी गतिसे पूनवीं नहीं परंतु वेदकी गति सबको पूनवीं है और वेद-पुनर्वाकाही वापुः वेदद्वारा सबको धुमाया है । इसी तरह परमेश्वरी शक्तिसे वह विषयका वेद पून रहा है और उसमें रहनेवाले सब भूत उसकी गतिसे धुमाये जा रहे हैं ।

सर्वभावसे शरण ।

इस सबसे निवामक ईश्वरको भक्त करनेसे सर्वभावसे शरण जाना योग्य है । वही उसको केवल शरण जानेको नहीं कहा है परंतु सर्वभावसे शरण जानेको कहा है । वह शक्तिवा विषय है उसका इस परमात्माका रूप है जो वह लक्षण पुरजत है । इसमें किसी प्रकारका लक्ष्य नहीं है । वह सब निककर पृथ्वी कीवच है ऐसा समझना सामान्य और जानना सर्वभाव मयमें स्थिर होनेसे हो पड़ता है । इसका नाम सर्वभाव है । इस सर्वभावसे ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये । वही सर्वभावसे किये स्थायी नहीं है । यदि मनुष्य सर्वभावसे ईश्वरको शरण जानना छोड़ी ईश्वरप्रसन्न होया और उसकी प्रसन्नता होनेसे इसको क्षान्ति

प्राप्त होकर शाश्वत रक्ष स्थाय इस भक्तको प्राप्त होना । वही गद्य ज्ञान है । जो इसको पचासव वाला है जो अपने मन्त्री प्रवृत्तिसेही जैसा स्थाय हो जैसा कहा है और उसकी प्रवृत्ति बसुद्ध नहीं होती ।

(वचन इच्छति ज्ञानांशु) कैसी इच्छा होती जैसाही कर वह ज्ञानी प्रत्यक्ष कर जायदा जिस समय इसका मम हृद होया, और इसको सर्वज्ञान बनाकर होगा और सर्वभाव उसमें मयमें स्थिर होगा और उस सर्वभावसे वह ईश्वरमयि जेना ।

जब वह पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती बसवच मनुष्य शास्त्रीकी आज्ञासे प्रमाण मानकर (शास्त्रं प्रमाणं ते) शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करता रहे । ज्ञानी मनुष्यके किये शास्त्रीकी सर्वांग पाठन करनेका वचन नहीं है, बल्कि अपने ज्ञानांतरालके श्रुत्यसे अनुसार कहे । क्योंकि इसके ज्ञानांतरालमें जो प्रवृत्ति होती है वही ज्ञानके किये सर्व-आचरणजन्य जेना प्रमाण होता है । इसलिये अपने अपने श्रुत्यसे अनुसृत कहेमें कोई दोष नहीं । अन्य मानवोंका ज्ञान बल्लभ होता है बल्लभके कारण उसमें ज्ञान दोष होते हैं, इसलिये उसकी मया-प्रवृत्ति प्रदोष होती है, वह कारण है कि जिसके कारण उसको प्राप्त अनुसृत कहेना पड़ता है और ईश्वरभक्त मनुष्यमय बना पड़ता है ।

(२४) इस तत्त्वज्ञानका प्रचार ।

इदं ते नातपस्काय नामकाय कदाचन । न चाशुभ्रुपनेषाञ्च न च मां योऽभ्यस्यति ॥२७॥
य इदं परमं गुह्यं मज्जत्कृत्प्रमिषास्यति । मर्त्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसृष्टय ॥२८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृतम । भविता न च मे तस्मादन्वयः प्रियतरो भुवि ॥२९॥

अन्वयः—इस ते व अतपस्काय (२७) व अमकाय, न च अशुभ्रुपने न च यः अभ्यस्यति (२८)
आत्मन वाच्यम् ॥२७॥ व इमे परमं गुह्यं (२८) मज्जत्कृत् प्रमिषास्यति (२८) मयि परां भक्तिं कृत्वा
कर्मकः (सन्) मां एव अभ्यस्यति ॥ २८ ॥ मनुष्येषु च कश्चिन् तस्मात् प्रियकृतमः मे न (कश्चित्) तस्मात् अन्वयः
भविष्यति मे न भविता ॥ २९ ॥

यह ज्ञान तुल्य जो तपस्वी नहीं है जो भक्त नहीं है जो सुमना नहीं चाहता अथवा जो मेरा (ईश्वरका)
प्रेम करता है उसे कमी नहीं कहना ॥ २७ ॥ जो यह परम गुह्य ज्ञान मेरे भक्तों को कहेगा, वह मुझ
(ईश्वर) में इतना भक्ति करके स्विहृष्ट होकर मुझ (ईश्वर) को ही प्राप्त होगा ॥ २८ ॥ मनुष्यों में
कोई भी उससे मेरा अधिक प्रिय करनेवाला नहीं है और उससे अधिक प्रिय करनेवाला इस पृथ्वीपर
कोई भी नहीं होगा ॥ २९ ॥

भावार्थ— सबसे गुह्य परम कल्याणकी और मनुष्यमात्रके हितकी बात यह है कि पापक ईश्वरराजन होने ईश्वरका
न क बने ईश्वरकोही सत्य ज्ञान ईश्वरकोही आभारार्थन करे सिवाये वह ईश्वरकर होगा। यही सत्य तत्त्वज्ञान है। अन्वय
यह तत्त्वज्ञानोंका त्याग करके यही एक मार्गका अवलंबन करनेसे मानवोंका परम कल्याण हो सकता है। पापसे
रक्षेका वह बने आनन्दमनुष्य होकर न करता हुआ इष्टीका आनन्दन करे ॥ २७-२९ ॥

— भावार्थ— गुह्य ज्ञान सुयोग्य विषयकोही होगा योग्य है, ऐसे सन्धिके जो वह गुह्य ज्ञान देगा वह ईश्वरका सचा
पक्ष समर्थनमें आने करेगा और वहाँ इस ज्ञानप्रचार करनेवाले भक्तके समर्थन और ईश्वरका प्यारा कोई नहीं होगा
॥ २७-२९ ॥

यथा पूर्वाजानी मनुष्यही अपनी अन्तःकरणकी प्रभुति
की शक्तिसे अनुकूल विला वाहे विला व्यवहार करके भी
निर्माण हो सकता है क्योंकि उसके अन्तःकरणमें अशुद्ध
रूपमें उत्पत्ती नहीं होती ।

(२७ २९) जब और भी गुह्य ज्ञान कहते हैं । अन्वय
कर्मोंसे सबसे महत्त्वका उपदेश देते हैं—

- (१) ईश्वरसे भयना भय सदा सर्वदा भया
- (२) ईश्वरकी भक्ति सदा कर
- (३) ईश्वरकोही भक्तिकार कर,
- (४) ऐसा कर्मसे ईश्वरकी भक्ति होती वह सत्य है ।
- (५) परमेश्वरसे प्रसिद्धापूर्वक वह कहा है
- (६) जब अन्वय कर्मोंका त्याग कर और एक ईश्वरको
ज्ञान जा ।
- (७) वह भक्तोंको सब पानोंसे मुक्त करेगा इसमें
संदेह नहीं है ।

(४) ईश्वरपर देखा उद्विग्नतात रणों और लोक
करना छोड़ दो ।

ये सारगर्भित वाक्य हैं इसलिये इनका अधिक विवरण
करना अनावश्यक है । पाठक बारम्बार इनका मनन करें
और इन गुह्य उपदेशोंको अपनाईं । इस उपनिषद् का सब
अवगमने प्रचार करनेको भी कहा है—

(२७-२९) इस गुह्य ज्ञानका अपार अगम्यताके इस
परम सत्य उपनिषद् का फैलाव और प्रचार करना चाहिये ।
यह ज्ञान सच्ची सुखसाधित देनेवाला है और सब संकटोंको
दूर करनेवाला है इसलिये मनुष्यमात्रक पशुपक्षना योग्य
है । मनुष्य इस पापका अवलंबन को मरण को निर्दि
ष्टता को इस ज्ञानको अवलंबने और इसका इतना प्रचार
के प्रचार को । उपदेश द्वारा केवलज्ञान तथा अन्वय
वाचनों द्वारा प्रचारको प्रचार करना चाहिये । यमक
श्रीगुरुके अवज्ञानक अनुनाह अब मानवोंके वैपत्तिक, कोदु

(२५) अध्ययन और प्रवचनप्रवण ।

अध्येष्यते च य इम धर्म्यं सवावमावयाः । ज्ञानयज्ञेन तनाहमिष्टं स्थापिति मे मतिः ॥३८॥
अज्ञानानन्दस्य मृष्टमादपि यो नरः । सोऽपि मुक्तः शुभांछोकान्प्राप्नुवात्पुण्यकर्मणा

(२९) मोह दूर हुआ ।

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्यं स्वयैकाग्रेण चेतसा । कश्चिदज्ञानसंमोहं प्रनष्टस्तु जनजय ॥३९॥
मर्त्य उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा स्वप्नसाहान्मयाऽभ्युत । स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥४०॥

अन्वयः—यः यः ज्ञानयोः इमे धर्म्यं सवावमावयाः तेन ज्ञानयज्ञेन अहं इष्टं स्थापिति मे मतिः ॥ ३८ ॥
अज्ञानान्दस्य मृष्टमादपि यो नरः (इह) मृष्टमादपि यो नरः (इह) पुण्यकर्मणा मुक्तात् लोकं प्राप्नुवात् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे पार्ष्णि ! त्वया एतत् एकमेव केषां श्रुतं कश्चित् ? हे जनजय ! ते अज्ञानसंमोहः प्रनष्टः कश्चित् ? ॥३८॥
अनुवः उवाच— हे अभ्युत ! त्वमज्ञानान्द मे मोहः नष्टः मया स्मृतिः कम्पा (अहं) गतसंदेहः स्थितः कश्चित् (इहानीं)
तव वचनं करिष्ये ॥ ३९ ॥

और जो हमारे इस धर्म्यसुख संवावका अध्ययन करेगा उससे इस ज्ञानयज्ञसे मेरी (हृदयकी) इष्टा की है ऐसी मेरी संमति है ॥३८॥ अज्ञानान्द ज्ञेय न करनेवाला जो मनुष्य इसको अध्ययन करेगा, वह मुक्त होकर पुण्य कर्म करनेवालोंके शुभ फलोंको प्राप्त करेगा ॥३९॥

हे श्यामे पुत्र ! क्या तुने यह एकप्रश्नसे अध्ययन किया है ? हे जनजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ३९ ॥ अर्जुनसे कहा हे अभ्युत ! तेरी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ मुझे स्वकर्मकी स्मृति प्राप्त हुई मैं संदेह रहित हुआ हूँ, अब मापके वचनसे मनुसार करेगा ॥ ४० ॥

भाषार्थ—जो इस वीरका अध्ययन करेगा और प्रचार करेगा वह ज्ञानयज्ञसे ईश्वरका वचन ही करेगा । इस वीरसे अध्ययन करनेसे पावन पुत्र ज्ञानको प्राप्त करेगा इसमें संदेह नहीं है ॥ ३९-४० ॥

भाषार्थ—इस बातको एकप्रश्न पित्तसे अध्ययन करनेसे एवं प्रचारका मोह नष्ट होना संदेह दूर होना और मनुष्यका अपना कर्तव्य पालन करनेमें मनुष्य उत्तर रहेगा ॥ ३९-४० ॥

वैक, सामयिक राजकीय और जागतिक व्यवहार कर्मों तबही मनुष्योंको अपनी क्षाति और अपना मुक्त भिक्षुता उत्पन्न मुक्तकी भावा करवा लगेगा है । जागतिक सामयिक स्वात्मता करना सर्वथा प्रचारकोंने परित्यक्तकी विमर है ।

इतलिये वही कहा है कि इस तरह समयवर्तीकले उत्पन्नताका प्रचार करनेवाला भयवाक्यसे उत्पन्न भिन्न होता है और इसके प्रचारसे भी प्रचारकता परित्यक्तकी प्राप्त हो सकता है ।

अर्थात् समयवर्तीकले उत्पन्नताका प्रचार करनेवाला क्षाती होकर मुक्त हो सकता है ।

(४०-४१) जो मनुष्य इस भागवतीका अध्ययन करेगा वह भी ज्ञानयज्ञहोता परमात्माकी पूजाही करेगा और

जो सुमेय वह भी मुक्त होगा अथवा सुभाषिको प्राप्त होगा ।

(४१-४२) इसका अर्थ ज्ञान देनेके पञ्चाद ज्ञानयज्ञसे अर्जुनसे पूजा कि " त्वया इह ज्ञानयज्ञानके निरूपणसे मुक्त भिक्षु तेरा मोह नष्ट हुआ या नहीं अपना नहीं और मुक्त पूजा है ?

इस प्रश्नको सुनतेही अर्जुन एकदम बोध इस कि भयवाक् ! जागकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हुआ अज्ञान दूर हुआ स्वकर्म करनेका भाव मेरे मनमें बैठ गया है, मुझे अब स्वकर्मसे विचरने कोई संदेह नहीं रहा । अब मैं कैसा जागै कहा उसी प्रकार अपना पुण्यकर्म स्वकर्मसेवित करने करेगा ।

यही भगवाद् और अर्जुनका प्रचार समझ होता है ।

(२७) रोमाञ्चकारी सभाद ।

उत्तर उवाच—

इत्थं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मन । संवादमिममभौषममुत रोमहर्षणम् ॥७४॥
 म्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् । योगयोगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयत् स्वयम् ॥७५॥
 राजन्सस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममञ्जुतम् । केशवार्जुनयाः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
 तत्र सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यञ्जुतं हरे । विस्मयो मे महाश्रावन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
 यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुषर । तत्र श्रीविष्णो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥
 इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु महाविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अन्वयः— संवत्सः उवाच— इति मह वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च हरेः अमुत रोमहर्षणे संवादं कर्तव्यम् ॥ ७४ ॥
 म्यासप्रसादात् स्वयं योगं कथयत् योगेश्वरात् कृष्णात् पृथक् परं गुह्यं महं साक्षात् श्रुतवान् ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! (महं)
 केशवार्जुनयोः इमे पुण्यं अमुत संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुः मुहुः हृष्यामि ॥ ७६ ॥ हे राजन् ! हरेः तत् च अमञ्जुतं
 तत्र संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयो (अचरित) महं पुनः पुनः हृष्यामि च ॥ ७७ ॥ यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुषरः
 पार्थः, तत्र श्रीः विजयः, श्रीः, स्वका नीतिः च इति मम मतिः (मति) ॥ ७८ ॥

संक्षेपेन कहा— यह मैंने वासुदेवका महात्मा पार्थके साथ हुआ अमुत रोमाञ्चकारी संवाद
 सुना ॥ ७४ ॥ म्यासजीकी कृपासे स्वयं कहावेवाले योगेश्वर कृष्णसे यह ओष्ठ गुह्य ज्ञान मैंने साक्षात्
 प्रत्यक्ष किया ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! मैं केशव और अर्जुनके इस पुण्यकारक अमुत संवादकी बारंबार
 स्मरण कर करके बारंबार हर्षित होता हूँ ॥ ७६ ॥ हे राजन् ! श्रीकृष्णके उस अमुत विस्मयरूपका बारंबार
 स्मरण कर करके मुझे बड़ा विस्मय हुआ है और पुनः पुनः आनन्द भी होता है ॥ ७७ ॥ जहाँ योगेश्वर
 श्रीकृष्ण है और धनुर्धारी पार्थ है वहाँ श्री है, वहाँ विजय है, वहाँ ऐश्वर्य है वहाँ ही स्थिर नीति भी
 है, यह मेरा मिश्रित मत है ॥ ७८ ॥

भाषार्थ— यह अमुत रोमाञ्चकारी संवाद सबका आनन्द बढ़ानेवाला है । जहाँ ईश्वर उवाचक है और वहाँ वर्तमानके
 ईश्वर वाचक कथनवाला कवि है वहाँ निःसंदेह विजय श्री ऐश्वर्य और स्थिर मर्म नीति है, ऐसा समझकर हरएक मनुष्य
 पवित्रकी छावना करे और विजयी बने ॥ ७४-७८ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताकी उपनिषद्में कवित्व महाविद्याके निमित्त हुए, योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण
 और अर्जुनके संवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अष्टादशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

(७४-७८) अब राजा उत्तराश्रमे बैस करके कहते हैं कि हे
 एका एताह ! यह रोमाञ्चकारी संवाद अर्जुन बार भगवान्
 श्रीकृष्णके शीर्षमें हुआ, वह मैंने ऐसा सुना वैशाही बापके
 मित्रान् किया । इस अमुत संवादके उपदेशका स्वरूप
 करनेसे अब भी मेरे धीरपरा रोने काटे हो रहे हैं । भगवान्
 पर यह आश्चर्यमय विचित्र को मैंने ऐसा बसाका करण
 करनेसे भी मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है ।

मैं तो विचित्रसे बड़ी कहता हूँ कि वहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण
 ध्यायक हैं और जिस पक्षमें धनुर्धारी पार्थ बैठा और है
 वही पक्षके श्री, ऐश्वर्य स्वका नीति बार विजय होय,
 अष्टादशोऽध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

इसमें कोई संदेह ही नहीं है । अतः विजय प्राप्त करनेकी
 लक्ष्य धारण करनेवाले पक्षके उचित है कि वह अपने प्रथम
 अपने पक्षके परसेवरका छात्राण्य प्राप्त करनेका तत्त्व करे
 पक्षात् चर्चके किये कहनेवाले उत्तम और अपने पक्षमें
 निर्माण करे जब ये दोनों अपने पक्षमें होंगे तब बध, विजय
 और ऐश्वर्य मिलनेमें संदेह ही नहीं है ।

इस तरह विजयी होनेका तत्त्वज्ञान इस मंत्रमें कहा
 है जो वहाँ समाप्त होता है और सबके विजयका मार्ग
 बताता है । मनुष्य जाने तदनुसार धारण करे और विजयी
 बने ।

श्रीमद्भगवद्गीताके

अठारहवें अध्यायका मनन ।

यह अठारहवीं अध्याय ध्यावहीतका अन्तिम अध्याय है । इसमें विशेषता 'संन्यासयोग' का विचार किया है और अन्तिम सद्व्यवस्थे के उपदेश भी कहा है । समस्त प्रथम संन्यास और त्यागका विशेषण इसमें किया है । भगवद्गीता के पूर्व काष्ठमें त्याग शब्दका कार्य कर्मत्याग करके कई भाष्य सब कर्म छोड़कर अपने आपको कुतर्क समझते थे और त्यागी भी समझते थे । श्रीमद्भगवद्गीताने कहा कि वह सत्य त्याग नहीं है । सत्य त्याग वह है जिसमें—

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विदुस्तथा ॥

(गी १८।२)

सब कर्मों के फलोंका पूर्ण त्याग होता है वहां त्याग और संन्यासका भेद दर्शाया है । वह भिन्न महारका है इसलिये हम स्वावरर इसका धोखासा अधिक विचार करना योग्य है ।

संन्यास और त्याग ।

१ संन्यास —

काम्यानी कर्मणां भ्यासं संन्यासं विदुः ।

२ त्याग —

सयकर्मफलसत्यागं प्राहुस्त्यागम् ।

(गी १८।२)

काम्य वर्णात् अपनी इच्छानुष्ठित किये करने कामके किये किये जानेवाले सब कर्मोंको छोड़ देना संन्यासका कथन है । इसमें सेपूज काम्य कर्मोंका त्याग किया जाता है । जबकि नि काम कर्मों ही हम व्यवसायी हो उठते हैं । सब काम्य कर्मोंको छोड़ना संन्यासका कथन है ।

त्यागी लोग सत्याधर्मोंके मित्र हैं । त्यागी लोग काम्य भयना निष्कामताओं प्रकारके कर्म करते रहते हैं परंतु किसी भी कामका फल अपने किये करने पाने संग्रहीत करते

नहीं रहते । त्यागमार्गमें कोई कम छूटा नहीं । त्यागमार्गमें काम्य कर्म छूटा है और केवल निष्काम कर्मों किया जाता है । त्यागमें सब प्रकारके कर्म किये जाने हैं, परंतु किसी कर्मके फलकी कांक्षा कर्ताको नहीं रहने देती । फल प्राप्त होनेपर भी कर्ता उसे अपने उपयोगके लिये नहीं स्वीकारता ।

संन्यासमार्गमें सब सकाम कर्म छोड़ने परते हैं परंतु त्यागमार्गमें सकाम कर्म छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इच्छा के प्रकारके कर्म साधक को परंतु उन्हे स्व करने किये न केने । अपने पास मोक्षसाधनों संग्रह रहे, वह सुख प्राप्त नहीं है ।

अव्ययोपकी इच्छाके कारणही सब दुःख होते हैं । यद्युक्तके दुःख जो वह रहे हैं, उसका विचार किया जाय, तो अब सब दुःखोंका मूल कारण मोक्षसाधनोंका—वर्णा कर्मफलोंका अपने पास संग्रह करवाही है । इस दुःखों की सब कारिका किये हम त्यागमार्गमें कर्मके फल त्याग किया जाता है ।

संन्यास — मार्गमें काम्य कर्म छोड़ने होते हैं । और त्याग — मार्गमें कर्मोंके फल छोड़ने होते हैं । दोनों मार्गोंकी वह विशेषता फल के स्वरूप रहे । त्यागमार्गमें फलका कार्यके कारण काम्य कर्मोंको भी निष्काम कर्मका स्वरूप प्राप्त होता है । इसलिये संन्यासकी अवस्था त्यागमार्ग की अवस्था है क्योंकि उसमें सभी कर्म किये जाने हैं और उन्हे करनेपर भी संन्यास नहीं होता । संन्यासमें काम्य कर्मोंका उर रहता है अपने द्वारा काम्य कर्म न हों, वह अधिक भाव इसमें रहता है । परंतु त्यागमार्गमें देखे विचार होते हैं कि ये सब प्रकारके कर्म करने हुए भी फलमोक्ष न करनेके कारण उन कर्मोंके वर्णाश्रम सदा बलिष्ठ रहते हैं । क्या संन्यासकी अवस्था त्यागमार्ग में है । (गी १८।१)

कर्मका त्याग उचित नहीं ।

सम्पन्न और त्याग हूँ तो माँगो। मरनेवाला हूँ तो कर्मका कारण विचार सहायका है । संन्यासमार्गी करते थे, वे हम पञ्च-दान-तप के कर्म काय्य होनेके कारण करते नहीं । इससे वह बंध हुए दान भी बंध हो गये और तप भी करना छोड़ने को दिला । पञ्च-दान-तप बंध होनेके कारण सब समाज घटिहिन हो गया । देखिये—तप न होनेके कारण शीत-उष्ण सहन करनेका सामर्थ्य कम हुआ, इस काल जलवा वायुपिक कोमल और सुकुमार बच गयी । घोड़ी-सर्प-गर्भी होनेपर भी लोग बीमार होने को बाल्य कार्य करनेकी सक्ति हट गयी । दान न देनेका मान बढा देनेके कारण गरीबों के कष्ट बढ़ने लगे; शिक्षा गुमरा दानपरही होता था, वे भूखे मरने लगे । और बल न होनेके कारण कामगोटा खराब होना बढ हुआ, शैलदल न होनेके कारण विपन्न दुक हुआ और आपसमें भिन्नता बढ़ने लगी । इस तरह पढ़ने न होनेसे बड़ा नुकसान होने लगा ।

एक समाज पञ्च-दान तप पर अवस्थित रहता है । वे कर्म बंध होतेही सब समाज सिध्द हुआ । उस समय क सम्पन्नमार्गीजनि पञ्च-दान-तप के तीनों कर्म करना छोड़ दिया, इसलिये वह नष्ट हुआ । वह बात उस समयके जर्मनीमें देखी और वे सोचने लगे कि क्या किया कम । सोचते सोचते उनके स्वानमें आ गया कि वह बलवत्या संन्यासियोंके कर्मत्यागके कारण समाजवर बाधती है । समाजकी सुरक्षाके लिये वे कर्म जरूरतही होने चाहिये ।

कर्म तो करनेही चाहिये परन्तु उनकी बाधकता दूनी चाहिये । वह किस तरह होगा इस विषयमें सोचते सोचते वे विचार करने लगे तब उनको पता लगा कि कर्मोंकी बाधकता उनका कष्ट रचने योग्यनेक कारण है । यदि कर्मयोगके विरुद्ध दूर रहा जाय, तो स्वर्ण कम किसी प्रकार बाधक हो नहीं सकते । कर्मोंमें बाधकता नहीं है बल्कि गुणककर्मयोगकी दृष्टिमें बाधकता है । वह दृष्टि संश्लिष्ट हो जाय तो कर्मोंकी बाधकता दूर हो जायगी ।

जब इस बातका प्रकाश उस समयके सुविश्व बुद्धोंके चक्षुषोंमें पड़ा तब उन्होंने इस कर्मकल्याणके नामकी घोषणा की । इसीका सीधिल नाम त्यागमार्ग है । हन

कारण त्यागमार्ग संन्यासकी अपेक्षा भद्र है ।

इस तरह त्यागकी सम्प्रपञ्चता निजिज्ञ होकर पञ्चाद संन्यासियोंमें भी व्यापक अन्तर कल्याणकी बात स्वीकृत की और वे त्यागियोंकी बराबरी करने लगे । इसी कारण बागे वे दोनों सदा समाजार्थमें प्रयुक्त हुए होखते हैं । परन्तु प्रारम्भमें इनमें यह भ्रम था कि हम भद्रको त्यागमें खारज करते हैं इन दोनों माँगोंका विचार पाठकोंको करना चाहिये ।

संपूर्ण समाजकी सुस्थिति पञ्च-दान-तप पर कही है वह सबसे प्रथम देखना चाहिये । इसका ज्ञान होते ही संन्यासियोंकी निर्वकता और त्यागियोंकी श्रेष्ठता किस बातमें फैली है इसका पता लग सकता है । पञ्च-दान-तप न होनेपर कोई समाज सुरक्षित रह ही नहीं सकता । मर्यादा विचारके कर्मत्यागके कारण सब समाज निरक्ष हुआ था । उसमें बकरी पुनः स्थापना करनेका पवित्र कार्य त्यागियोंने किया । इसीमें त्यागियोंकी श्रेष्ठता है ।

कर्मत्यागके तीन भेद ।

कर्मत्यागके तीन भेद हैं । एक सार्विक कर्मत्याग दूसरा राजस कर्मत्याग और तीसरा तामस कर्मत्याग । यही सार्विक राजस और तामस कर्मत्याग देव, भ्रातृ, सना चाहिये । पञ्च दान और तप के त्यागके वाच्य कम नहीं हैं, वे मनुष्यकी परित्रता करते हैं परन्तु फलसम्पन्न लाय करते वे कर्म करनेके मनुष्यकी उन्नति होती है । (गी १६। ४)

वे पञ्च, दान और तप सबत्यागके व्यवहारमें भी होते हैं । दानके किसी एक वयसमें एक सार्वजनिक दूर है सब लोग समीक्षे पानी भरते हैं । यदि हाग दान हाग कि पूजकी सार्वजनिककी ओर स्थापन करते हुए दान ही बचक करते रहेंगे तो वे अवशेष होनेव बढ ही पानी समझ जायेंगे । योंकि वे दूसरेके लिये कमका फल उपभोगते रहेंगे । इसी किसी दूसरेके वनवाला व फलभोग करते हैं । उस लूटेके किंचि कुछ भी न करते हुए उनका भोग भोगना अवशेष है भाववही बड़ा पाप है ।

यदि कोई स्वयं प्रत्यापे उस दूसरा मार्ग स्वीकृत करेगा कि वह दूसरेके जागृताका स्थापन करने करेगा यदाकि वहने

य प्रा पानी दूर जाय देवी सुखीय व्यवस्था करेगा तो उस सार्वजनिक सभाईके किये जो उसका कष्ट उठाना है वह उनका तप है । ऐसा तप करनेसे उस बूढ़ेसे पानी डेरेका प्राप्तिहार उसे प्राप्त हो सकता है ।

यदि वही कोई दूर मनुष्य पानीके किये का जाय तो उसको पानी निकाल कर वह देव तो उसका वह दान होगा और उस बूढ़ेके पास उत्तम उद्यान वा गृह सबके उपयोगके किये बनवाया जाय तो वह उसका पक्ष है ।

इस तरह पक्ष दान-तप करनेसे प्राप्तका वह स्थापन सबके उद्देश्यके किये चिरकाल तक सुंदर बन सकता है । यदि प्राप्तसे सब लोग इस तरह स्वर्ण-वेदके बंध-दान-तप करते रहग तो मरवेकका अन्तःकरण प्रसिद्धि पवित्र होनेसे सब प्राप्तके लोग अधिक सुखी और अधिक समृद्ध हो सकते हैं । और यदि उनमें एकसंगम्याय करनेवालोंकी सख्या अधिक हो तो उस प्राप्तका सुख अधिक बढ़ेगा और उक्त प्राप्तमें पक्ष-दान-तप न करने दूसरोंके किये हुए कर्मका फल स्वयं मांगनेवाले होने तो उस प्राप्तमें प्रसिद्धि हुआकही अधिक बढ़ता जायगा ।

पक्ष दान और तप मनुष्यका सुख किस तरह बढ़ाते हैं और अथवा बढ़ाता और अथवा तप लोग क्यों हुआ करते हैं इसका सूक्ष्म कारण यह है । पाठक हर एक दिनके स्वयं धर्म पञ्चदानतपका स्वल्प किस तरह हो सकता है, इसका विचार करें । स्वर्ण दूसरोंके दान देना, परंतु जहातक हो जहातक प्रत्यक्ष करके दूसरोंके दान स्वर्ण न देना स्वयं तप करना अपौरुष दूसरोंके हित करनेके किये स्वर्ण कष्ट उठाना परंतु जहातक हो उनके जहातक अपने किये दूसरोंके कष्ट न देना स्वर्ण अपने कर्मका फल सब जगत्को मिले देवी व्यवस्था करना परंतु जहातक हो जहातक बन्ध करके दूसरोंके कर्मोंके फलोंका स्वयं उपयोग न करना इत्यादि भाव बड़ा है पञ्चदानतप करनेका यही उत्पत्ति है कि स्वर्ण दूसरोंके कर्मोंमें न जाया परंतु दूसरोंकी छायावाला हर समय करना । यही उच्छेद मान्यवर्तनी है । (श्री २८१५)

कर्तव्य करो ।

जो अपना कर्तव्य है वह तो मरवेक मनुष्यको करनाही चाहिये । अपना कर्तव्यकर्म न करना और आकलनमें समय प्रतीत करना ठामम प्रवृत्तिका मान्यवर्तनी है इससे

विशमन्वेद उसकी अधोगति होती है । यथा एकही कोई न जाने । (श्री १८१७)

कर्म करनेके समय बड़ा दुःख होय है, इसलिये पीडासे बचनेके उद्देश्यसे जो कर्म छोड़ना है, वह तपस्व्या है क्योंकि इसमें दुःखके भयसे कर्म छोड़ दिया है । अपना जो कर्तव्यकर्म है, वह दुःखों और कष्टोंकी शक्ति न करते हुए करना और उमका फल अपनेकोही प्राप्त हो केन भाव न प्राप्त करना इत्यादि ही नहीं मनुष्य उमका फल दूसरोंके समर्पित करना क्षीरवत् प्रवृत्तिका कर्म है । (श्री २८१८)

अपना जो कर्तव्य है उसकी कदापि निन्दा नहीं करने चाहिये । अपना कर्म उत्तम मध्यम, क्षीर केन जी हो वह अपने किये उत्तमही है ऐसा मानकर सबके काल रक्षकरही करना योग्य है । क्योंकि मनुष्य स्वयं स्वयं है, तबतक वह कर्मोंका त्याग करही नहीं सकता उनके द्वारा कर्म होते ही रहेंगे । मनुष्य यदि कुछ त्याग कर सकता है, तो वह कर्मका त्याग नहीं, अपितु उस कर्मके फलका त्याग कर सकता है । मनुष्यका जो निज कर्तव्य है, वह कर्म नहीं उत्तम कुलकला प्राप्त करे और उत्तम कुलकलासे वह अपना कर्तव्य को और उस कर्मका जो फल मिलनेवाला है वह क्षीरवत् त्याग दे सबकी सभाईके किये जोड़ दे । (श्री १८१९-२०)

एक बात यह है वह चिकित्सा तथा वाक्पिता उक्त रीतिसे कर सकता है वह अपनी विद्यामें उत्तमोत्तम कुल कला प्राप्त करे और उसे गरीब निर्धन ब्रह्महत्या रोमी का जाय उसकी अपनी चिकित्साद्वारा सेवा करे और इस सेवाका फल न लेवे । यह है कर्मफलत्यागका अर्थ । स्व मनुष्य परमेश्वरकी श्रुतिवादी है । उनमें जो ब्रह्मवर्त है, उनके बन्धके बन्धके उत्तमसे उत्तम चिकित्सकोंकी छायावा उन ब्रह्मवर्तोंको प्राप्त हो सकती है इसलिये उनकी सेवा करनेके किये वैद्योंको त्याग करनेकी मान्यवर्तनी नहीं है परंतु जो परमेश्वरका फल प्राप्त करे सेवा लेनेके किये और आपकी सेवा केवल आपका जीवित अपने भावीवर्तके फलक और सुखक करनेके किये आपके पास उपस्थित हुआ है वह गरीब निर्धन और ब्रह्महत्या रीतिमें जो जाता है नहीं है । आपको कुलकला करनेके किये वह आपके पास जाय

है, इससे किये जाय बचना कर्तव्य करें, वह कर्म परमेधरको
नैन करानेकी सुझावसे करें । उस कर्मसे जो फल भाषको
मिल सकता है, उस फलका भाषको त्याग करना उचित है ।
यह फलका भी भाष ईश्वरके ही किये समर्पण करेंगे तो
धन्य बन्धा होगा ।

कर्मका त्याग करना अयोग्य है फलका त्याग हो सकता
है । जो पूर्वोक्त प्रकार करना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य इस
व्यवस्था करने और फलका त्याग करके अपना जीवन सफल
भी सुख कर सकता है ।

कर्मके पांच कारण ।

कर्म करनेके किये पांच कारण होते हैं । (१) कार्यका श्रेय,
(२) कर्मका कर्ता (३) कर्म करनेके विविध साधन
(४) कर्म करनेकी क्रियाएं और (५) दैव अवगुण कर्म
के किये अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति । प्रत्येक कर्म करनेके
कर्म इन पांच कारणोंका उसके साथ संबंध जाता है
और इससे प्रत्येकके उत्तम मध्यम कथित होनेके कर्म-
के परिणाम भी देखे जाते हैं । इससे पांच कारण प्रत्येक
कर्मके किये होते हैं वह देखकर प्रत्येकको विवश हो सकता
है कि कर्मका कर्ता केवल अनेका हैं ही नहीं हैं ।
कर्मके उक्त पांच हेतुओंका संबंध उस कर्मके साथ सदा
है । जो कर्म बार बार कर्मोंका विचार छोड़कर अपने भाषको
ही मन्थि कर्मका कर्ता मानने लगता है, तो समझना
चाहिये कि उसकी बुद्धिके कुछ व कुछ होय उत्पन्न हुआ
है । क्योंकि कोई भी बुद्धिमान पुण्य जो कार्य पांचोंके
साथ हुआ है, उसके एकका अभाव नहीं मान सकता ।

(गी १८।१२-१९)

पांचोंकी उत्तम व्यवस्थासही प्रत्येक कार्यकी सफलता
और सुखसा हो सकती है । उन पांचोंमें अनेका कर्ता
कि वरह उस कर्म करनेकी धर्मक भार सकता है । और
अपने कर्मका बचवाही है, ऐसा किस तरह मान सकता है ?
इससे अपने कर्मकाही धर्मक करना सर्वथा अयोग्य
है ।

सात्त्विक ध्यान ।

जिस व्यक्ति सब विविध मूर्तोंमें विविध वस्तुओंमें
विविध भावका ज्ञान होता है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहना
चाहिये । प्रत्येक मनुष्य दूसरोंमें भिन्न है प्रत्येक मनुष्यकी

अन्तःप्राप्तिमें भिन्न है, प्रत्येक मनुष्य प्राप्तिमें भिन्न है ।
प्रत्येक जन्म पदार्थ मनुष्योंमें भिन्न है । यह तो विधर्म
मेवमात्रका अनुभवही है । ज्ञानमें हम यही देखते हैं
सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देता है । इस भेदके अन्तर,
अनेक विविध पदार्थोंके अन्तर एक समान अन्तिम ज्ञान-
का सूत्र कार्य कर रहा है । वस्तुओंका भेद होनेपर भी
उस सर्वव्यापक जीवनमें कोई भेद नहीं होता । इस तरह
विश्वमें विविध सत्ताका वर्णन करना सात्त्विक ज्ञान
होता है । जिसमें यह सात्त्विक ज्ञान पडा है वह विभक्तियों
व्यापनेवाली अवस्था सत्ताओं जान सकता है ।

(गी १८।१९)

राजस ध्यान ।

प्रत्येक वस्तु दूसरे वस्तुओंमें भिन्न है प्राकृतिक दृष्टिमें
से भिन्न दैव दृष्टिमें भिन्न है । वस्तुओं और स्थितियों
में भिन्न मनुष्य पदार्थोंमें भिन्न पदार्थ पदार्थोंमें भिन्न वस्तुओंमें,
वस्तुओंमें भिन्न वस्तुओंमें भिन्न है । इस प्रत्येक ज्ञानमें
भी सुख भेदमें उपभेद बहुत है । जैसा देखा वस्तुओंमें जाग
हमकी पक्ष यह विषयका ज्ञान वस्तु परस्पर भिन्न है ।
पक्षियोंमें कीटा मोर गीत कोकिल, तोता गजक आदि
अनेक उपजाति हैं । पक्षोंमें भी सिंह व्याघ्र घोडा गाय
मेढ बकरी आदि अनेक जातियां हैं । इस प्रत्येक उपजाति
में भी गीतोंमें गीत जातिकी गाय पंजापी गी महाराष्ट्रीय
गी भिन्न हैं । घोडोंमें भी बाल कालिकावादी राजपूताना
मीमवादी आस्ट्रेलियन ऐसे अनेक भेद हैं । प्रत्येक जातिमें
उपजाति उपजातिमें उपभेद, उपभेदोंमें गुणधर्मभेद
ऐसे सर्वत्र भेद दृष्टिगोचर होते हैं । इनका कारण
राजस मनोभाव है । राजस दृष्टि भेदपूर्ण है । वह राजस
दृष्टि भेदोंको अन्तर्भावही है और भाष अन्तर्भावही है ।
यहां पाठक सात्त्विक ज्ञान देख सकता है और
राजस ज्ञान भेदोंको बढाता है यह विचारपूर्वक देखें ।

(गी १८।२१)

तामस ध्यान ।

तामस ज्ञानको वस्तुएं अज्ञानही कहना चाहिये ।
उसमें अन्तर्भाव नहीं है इससे ज्ञान नामक नहीं कहा
गया है । तामस ज्ञानका मनुष्य कर्ममें बढाही भाग
रहता है विभक्तियोंके साथ शत्रुता करता है । धर्म गीत

यं च सारहित कर्मों सदा समता है और उसीको कहा मारी कर्म मानता है। परवर्षसे जिसमें कोई सार नहीं है अथवा जो स्वस्थता हीन है, सबकी मज्जाईका जिसमें कोई संबंध नहीं है किसी एक विभागके हितकारी जिसमें सम्बन्ध होगा, ऐसा संकुचित विचार जिसमें प्रयुक्त है, उस कर्ममें प्रवृत्ति वामस आनन्द होती है। इसादिने वामस प्रवृत्ति सबकी हानि और व्यर्थिका अनुमान होता है।

(नी १८१९९)

सात्त्विक कर्म ।

जो जिसके किये विषय अर्थात् आनन्दक कर्मों हो, धर्मसे चार सहस्र स्वभावसे जो प्राप्त हो वह उसके किये सात्त्विक कर्म कहलाता है। सात्त्विक मनुष्य उस विषय कर्मको रागद्वेष आदिकर करता है। फलकी आसक्ति नहीं और हानिका डेप नहीं, इस समवृत्तिसे वह अपना विषय कर्म करता है। कर्मफलका भोग करनेकी वह इच्छा नहीं करता इत्यादी नहीं प्रयुक्त जो फल प्राप्त होया उसका समकी मज्जाईके किये त्याग भी करता है जिससे फलके मोहमें वह कदापि फँस कर नहीं रहता। फल मुझे ही प्राप्त हो, ऐसी वह इच्छा भी नहीं चाल करता जबवा फलविषयमें वह पूर्ण उदासीन रहता है। परंतु फलके विषयमें उदासीन हानिपर भी जो कल्पकर्म करना है वह उपाय कुशलताके साथ और निश्चय पद्धतिसे करता है इस प्रकारका जो कर्म होता है वह सात्त्विक कर्म है। (नी १८१२३)

राजस कर्म ।

अकारक साथ कर्मफलका भोग करनेकी इच्छासे बहुत मायावसे आत्म किया जाता है, उसको राजस कर्म कहते हैं। इसमें कर्ता अपने कीसककी धमक करता है मेरे जीवा कर्मकर्ता कोई दूसरा नहीं है ऐसा वह मानता है। अपने कर्मोंक सब फल अपने पास समग्रहीत कर लेता है और फलसत्ता न हानक कारण कर्मकी विह्वला करामें उसे बड़े भावाने पकड़ है।

अथ योगिक कर्मोंक कडाके अपनी जीवनवासा हो रही है इनकिये अपने कर्मोंक फल दूसरोंकी मज्जाईके किए अपना कर्म पाहिज वह विचार उस राजस वृत्तिवाक मनुष्यक मर्या नहीं आता इसादिये वह अपने योग बहानक जिन

विषय कर्म करता है अपने फलका भोग सब करके रहता है जबकी रक्षाकी चिन्ता करता है होनेसे चुकी होता है, उसको ऐकमेसे बाध्य इसके भोगसंप्रत्यक्षों देखकर दूसरे लोग इसका डेप करते हैं। इस तरह वह दुःखोंको बहता है और फँसता जाता है। राजस कर्मका बड़ी परिणाम

(नी १८१९९)

तामस कर्म ।

परिणामका विचार न करते हुए इसके करनेमें पाप और हिंसा कितनी होगी, इसका बहाना कोरह, कितनी होगी इसका विचार न करके अपना और दूसरेका पौकर कितना है अपनेसे वह निम कर्म है न नहीं इसका कुछ भी विवेक न करने, बल्कि मोहों के कर्म किया जाता है वह तामस कर्म कर्ताकी भी समी करता है और जिसके साथ उसका संबंध जाता है, उसकी भी हानि करता है। (नी १८१२५)

सात्त्विक कर्ता ।

जो कर्ता कर्मोंके फलोंका स्वयं भोग करनेकी इच्छा नहीं चाल करता परंतु फलसेवेच्छा कोकरक वृत्त रहता है, जो कर्म करनेका फलसाधिका अथवा विविध कर्मकर की चाल करता अकारकका पूर्ण त्याग करता है, सिद्धि और लक्षितिक विषयमें पूर्ण निर्विकार रहता है, निदि होनेकी समवृत्तिसे रहता है और लक्षितिक हुई को भी समवृत्ति ही रहता है, इन्हींका परिणाम अपने समग्र कर्मों से नहीं देता तथा सदा सदैव और ब्रह्मादेके पुत्र किन्तु भी बड़ा भव प्राप्त हुआ को भी जो करता नहीं और कैसी की विपरीत परिस्थितिमें जिसके अपने उदात्तनिवाका निवारक कर्म नहीं जाता जो उदात्ततादेके निवारकों प्रत्यक्ष रहता है उन्हीं सात्त्विक कर्ता कहते हैं। (नी १८१९९)

राजस कर्ता ।

अपने भोगोंको बहानेवाका अपने कर्मोंके फलोंको अपने भोगकिये अपने बाल आनन्दिक प्रमाणमें समग्र करनेके किये सदा अनुस भोगोंक पीछे पडनेवाका जोभी वातपक्ष और देता करनेवाका अनभिज्ञ मायाव करनेवाका, काम होनेक हर्षव माधमेवाका और हानि दोनवर चुकते इत्यादि होने वाका, काम होनेवर अनि समग्र करके बाध्यके मूर्ख

होनाका, क्या हमारे होकर प्राप्त होने के लिये भी तैयार होनेका, जिसके समर्थ समभावना विकसित नहीं है, ऐसा हो नहीं होता है, उसे राजस कर्ता कहते हैं (गी १८।७)

तामस कर्ता ।

जिसमें कर्म करनेकी कुतसहा नहीं है, जिसपर कोई छुट्टी करवा नहीं हुए जो सुख और सदा आनन्दसम समस्त निष्ठा है करना करनेवाका, कुतसहा नीच, कर्म करनेकी इच्छा करनेवाका सुख किछ और उदास तथा थोड़ेसे कर्म के लिये जो बहुत समय कागारा है ऐसे अन्धवशित कर्मों तामस कर्ता कहते हैं। इसके कर्मोंसे पैदा इसकी इच्छा होगी पैदाई इसके साथ जिसका संबंध ज्ञानेवा वस्तु जो इच्छा होगी। (गी १८।२८)

सात्त्विक बुद्धि ।

जिस बुद्धिसे किछमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिससे निवृत्त होना चाहिये, कौनसा कर्तव्य करना चाहिये और कौनसा नहीं करना चाहिये, जिसमें मय होवेवाका है और जिससे निर्मलता होगी जिससे अपना बंधन होगा और जिससे बन्धने निवृत्ति होगी जिससे अपनी सभी उच्छति होगी और जिससे बन्धन होगी इसका अर्थ ज्ञान होता है, वह बुद्धि सात्त्विक कहाली है। नहीं बुद्धि मानवी बुद्धिका सम सागी साधकको बुद्धाती है, जिससे ज्ञानसे बहुत ज्ञानी परम उच्छति कर सकता है। (गी १८।३)

राजस बुद्धि ।

जिस बुद्धिसे जर्मको अन्धम और अन्धममें जर्म अन्धम ज्ञान है क्या कर्तव्यको अन्धम और अन्धममें कर्तव्य ज्ञान पड़ता है जिस बुद्धिसे विपरीतही ज्ञान होता है उसका नाम राजस बुद्धि है। वह बुद्धि कुछ उत्पन्न करने-वाकी है क्योंकि वह विपरीत कर्म करनेमें प्रवृत्त होती है जिसका परिणाम मय। कुतसहा बुद्धि किछदेह है।

(गी १८।३९)

तामस बुद्धि ।

जिस बुद्धिसे कर्मकर्तव्यके विपरीत ही ज्ञान नहीं होता मय किछके विपरीत विपरीतही भावना सदा होती है कभी मय ज्ञान होता ही नहीं सत्यज्ञान जिसने समझाया है भी जिसे वह विपरीत ही प्रतीत होता है उसका नाम

तामस बुद्धि है। वह निरी बुद्धिहीनता है निर्बुद्धता भी इसे कह सकते हैं। सब प्रकारकी मयोगति इससे होना संभव है। (गी १८।३२)

सात्त्विक धृति ।

सत्त्व योगसाधन करनेकी इच्छा, धार्मिक प्रतियोग करके जगत् प्राप्त निवमपूर्ण करनेकी धृति मय प्राप्त इन्द्रियक्रियाओंकी उत्तम चारणा जिससे होती है, जिससे मय प्राप्त और इन्द्रियों परस्पर सहाय्यक आचरण होता है उस समचारणाका नाम सात्त्विक धृति है। (गी १८।३३)

राजस धृति ।

जर्म काम और कर्मकी चारणा विवेक कर प्रकमोयकी इच्छासे होती है। अर्थात् कदावा धर्म करनेसे कदावा प्रकमोयको मुझे मिलेगा ऐसी इच्छा भाव करके, उस प्रकमोयकी कामनाका ध्यान करते हुए वह उस कर्म को करता है। इसमें प्रकमोयकी कामना बड़ीही प्रबल रहती है। इसलिये इसको राजस धृति कहते हैं।

(गी १८।३४)

तामस धृति ।

जिसमें तामस धृति होती है, वह मित्रा, मय, लोक, जिज्ञासा मय (बहोषी) को छोड़ता नहीं अर्थात् उत्तरी होयुक्त बुद्धि इन कुछ गुणोंसे व्याप्त रहती है। अर्थात् जो आत्मीय सुख लोभमय किछ रहता है उसकी तामस धृति है ऐसा मानना योग्य है। (गी १८।३५)

सात्त्विक सुख ।

जो सुख प्राप्त होनेके समय विपदा प्रतीत होता है परन्तु जिसका परिणाम अन्धमता होता है और जिससे भासा, बुद्धि मयकी प्रसन्नता रहती है वह सार्विक सुख होता है। उदाहरणके लिये सिधाका सुख। सिधावाहि करनेके समय बड़े कष्ट प्रतीत होते हैं परन्तु प्राप्त होनेपर उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है, वह अर्थात् होता है तथा इससे अपना बुद्धि प्रसन्नता भी होती है। अतः वह सुख सार्विक है। इसी तरहके जो अन्ध सुख हैं वे सब सार्विक कहलाते हैं। (गी १८।३७)

राजस सुख ।

जो सुख विषयोंसे इन्द्रियोंका सर्वत्र होनेसे मिळता है, सुख प्राप्त होनेके समय बहुत कैसा प्रसीत होता है परंतु परिणाम विषय कैसा होता है, उस सुखका नाम राजस सुख है । उदाहरणके लिये देखिये—कोई मनुष्य भोजन बंद कर जाता है, कानिसे समय तो उसे विह्वल्य भाव प्रसिद्ध होता है, परंतु विह्वल्य बस हो जानेसे वह मर्यादाको उल्लंघन कर का खाता है और बजीब होनेपर रोना रहता है । कानिसे समय बहुत-सा खाता, परंतु भोगबेके समय विषय कैसा हुआ । इसी कारण इसका नाम राजस सुख हुआ । (गी १८१८)

तामस सुख ।

प्रारंभसे अल्पकाल तामस सुख मनको सुखित करनेवाला है किन्तु उत्पन्न करता है प्रमाद और होय विमर्श करता है सुखीसे कुछ लगता नहीं, इस तरह बर्तमानतामें सदा वह कैसा रहता है । इस तरह का अल्पकाल उत्पन्न हुआ यदि सुख कहा जाय तो वह तामस सुख है । (गी १८१९)

त्रिगुणोंकी व्याप्ति ।

वह जो इस तीनों गुणोंका वर्णन किया है उसका विचार पाठक करें और विद्यमें देखें कि इन गुणोंका एक इस विद्यमें सर्वत्र कैसा बस रहा है । कोई वस्तु इन गुणोंके बिना नहीं है । जो वस्तु समुच्च आ जाय उसमें कीमता गुण कार्य कर रहा है, वह पाठक अवश्य देखें । प्रत्येक वस्तुमें कोई न कोई गुण अवश्य दिखाई देगा । (गी १८१७)

पाठक काये अन्तर ही देखें अस्वास्थ्य मनुष्योंमें जो देखें और पहचाननेका वाक्य करें कि किछमें कीमता गुण कार्य कर रहा है । मनुष्यका अहम् कर्म कीमता है इसका निर्णय इस गुणव्यवस्थाका सुविचारके हो सकता है । त्रिगुण सत्त्वगुणकी प्रभावता है उसमें जो अभावताः स्वरित कर्म होते वे कर्म राजस गुणकी प्रभावतासे मनुष्यका स्वाभाविक कर्मोंसे भिन्न होते और तमोगुणवाले मनुष्यके कर्म तो उन दोनोंसे सर्वथा भिन्न ही होते ।

साधनगुणवाले भी प्रवृत्ति उदाहरणों और समाधानमयी होगी रजोगुणवालेकी प्रवृत्ति हिंस्रक भीरु होती है और तमोगुणवालेकी प्रवृत्ति सुप्त होती है । तथा इससे जानेवाले महत्त्व कर्म एक उच्च नहीं हो सकते इसलिये मनुष्योंके चार भेद माने गये हैं । (गी १८१८)

चार वर्णोंकी व्यवस्था ।

सत्त्वगुणका अधिकत्व जिसमें होगा, वह ब्राह्मण व्यवस्थित, रजोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें अधिक होगा वह क्षत्रिय होगा, तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण जिसमें होगा वह वैश्य होगा, और जिसमें तमोगुणकी अधिकता रहेगी वह शूद्र कहावेगा । पूर्वोक्त वर्णों में जो गुणों के म्यूलाधिक्यसे होनेवाले अल्पकाल के हैं उनका निश्चय करनेसे किछमें कीमता वर्ण है इसका निर्णय किया जा सकता है ।

माध्यम्य सत्त्वगुण परम उत्कृष्ट होगा और अन्य दोनों गुण ऐसे हूयेंगे । अथवा जिसमें सत्त्वगुण प्रमत्तिय है और अन्य गुण ऐसे हैं, वह ब्राह्मण है । (गी १८१९)

क्षत्रियमें रजोगुणकी प्रधानता होगी परंतु उस रजोगुणका अल्पत्व सत्त्वगुणकी ओर अधिक होगा । जिसमें सत्त्वगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा उसका वर्ण क्षत्रिय होगा । (गी १८१७)

वैश्यमें भी रजोगुणकी होगी परंतु उसका अल्पत्व रजोगुणकी ओर होगा । इस तरह जिसमें तमोगुणकी ओर झुकनेवाला रजोगुण होगा उसकी वैश्य-वर्णमें गिनती होगी । (गी १८१७)

जिसमें तमोगुणकी प्रधानता होगी उसका शूद्र वर्णमें धरती होगी । क्योंकि उसको किसी अन्य वर्णमें स्थान ही नहीं है ।

वास्तविक सत्त्व-रज-तम है अथवा 'गुण-कर्म स्वभाव-ज' ऐसा जो कहते हैं, उसका वह भाव है । वाक्य रज, तम ये गुण हैं । जिसमें जो गुण होगा उनके अनुसार उससे कर्म होंगे । वही गुणोंके कारण कर्म करनेका स्वभाव प्रत्येक मनुष्यमें स्थिर रहता है । यह सीधे बर्तनेवाला नहीं होता । धरेरे सत्त्वगुण रहा तो आत्मको रजोगुण हो नहीं सकता । यावत् वह एक एक जन्म तक स्थिर रहता है वह केवल प्रभाव किया जाय तो जन्म भर वाक्य करनेपर भी बदलता है ऐसी बात नहीं है । इसलिये जो जिसका गुणोंसे क्या हुआ स्वभाव है वैसे उसका जन्मे कर्म वास्तविकमें निश्चित किये हैं । क्योंकि स्वभाव बदलनेका बल करनेपर भी बदलेगा नहीं इसलिये यह न होनेवाली बात किये

अणुका मास करना कोई बुद्धिमत्ताका बात नहीं है। अतः इस प्रकार अण्मात्रमास बद्धधर्मका धारण न करना और जो स्वभाव होया उसीके अनुसार शास्त्रसे निश्चित हुआ कर्म स्वीकारना और नहीं करते जाना । इसकाही नहीं परंतु दूसरे कर्मकी ओर देखना भी नहीं । (गी १८।१५)

अण्मात्र-अण्विय वस्त्र-द्रव्य ये गुणकर्म स्वभावसे मान्य कर्म हैं । किसी मनुष्यका कर्म निश्चित करना हो, तो पहले प्रथम उसमें कौनसा गुण प्रबल है, उस गुणका अनुकार किन ओर है कौनसे गुण से हुए हैं और कौनसे विकलुब्ध बन्ध हुए हैं, इसका परिचय पूर्व कहे परीक्षाओंसे करना चाहिये । और इस परीक्षासे जो कर्म निश्चित हो जाय उसके अनुसार जो कर्म निश्चित हुए हैं उनके ही करते जाना चाहिये । अपना कर्म कितना भी निरास हो और दूसरोंका कर्म कितना भी सारथार्थ हो अपना कर्म छोड़ना नहीं और दूसरोंका केना नहीं । इससे मनुष्य निश्चित होता है और अपने कर्म करने लगता है । यह कर्म कर्म या वह वेदी किन्ना उसे लगती नहीं ।

मनुष्यका स्वभाव निश्चित है, स्वभावके अनुसार कर्म निश्चित है, और इन कर्मोंका त्याग करना नहीं चाहिये यह भी निश्चित है । अपने सहज स्वभावसे प्राप्त कर्मसे ही अपनी कृति होगी यह निश्चय भी निश्चित है, स्वकर्म त्यागने से बर्त्तव्य और स्वकर्म करते हुए मनुष्य जानैसं भ्रम गति होय भी निश्चित है, स्वकर्म करनेसे उछी कर्मद्वारा परमेश्वरकी एका और उपलब्धा होती है वह भी निश्चित ही है । और यह ईश्वरका मनुष्यका उद्धार करनेवाली है । मनुष्य अपने अन्तर गुण कैसे हैं यह देखे जानना गुण विकसित हुआ है इसका निश्चय और उस गुणके अनुसार कौनसा अपना कर्म हुआ अपने द्वारा कौनसा कर्म हो सकता है इसका भी निर्णय करे और प्रसन्न कि यही अपना स्वाभाविक कर्म है यही अपनेको करना चाहिये । वह मनुष्य उस कर्मको करे और अपना जीवन कृतार्थ बनाये । (गी १८।४६-४८)

वर्षसंस्कार ।

यह वर्षसंस्कार कैसा होता है, वह भी देखना उचित है । धर्म्य जीविने कि किसी मनुष्यके अन्तर सारणगुणकी और हृद्येयका रजोगुण है तो उसका वर्ष अशुचि हुआ । राग-रस-मेधाविभागमें प्रवेश कर पुनः करना चाहिये उसका कर्म

वर्षावृत्त्य हुआ । यदि वह मनुष्य अपने गुणकर्मनुसार प्राप्त यह कर्म नहीं करता और किसी कारण दृष्टादी कर्म करता है, तो उसके अन्तर वर्षसंस्कार होता है । उसका गुणकर्म-नुसार उसका जो कर्म निश्चित हुआ है, उसका अनुकूल कर्म न करता हुआ, वह दूसरे वर्षके कर्म करता है । इसकिये सामाजिक वर्णके संस्कारोंमें कर्मबन्ध वर्णके संस्कार मिश्रित हैं, और वही दो वर्णोंका संस्कार हो जाता है । यह वर्षसंस्कार मनुष्यत्वकी दृष्टि करनेवाला है ।

अतः अपना जो गुणकर्मनुसार कर्म निश्चित हुआ है, उसीके अनुसार जो कर्म है वही करना चाहिये उसीसे इस मनुष्यकी उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि वे कर्म अपने गुणोंके अनुसार होनेसे वे उससे उत्तम रीतिसे हो सकेंगे और उस कारण उसमें सुख संस्कार होते रहेंगे । यही उन्नतिका उदात्त अण्मात्र साधन है । वर्षसंस्कार न करते हुए अपने नियत कर्म करनाही मनुष्यको उचित है ।

प्राश्नार्थका कर्तव्य ।

ईश्वरोंका धामन सबका सबान, वर्त्तकर्म करनेके समय होनेवाले कर्मोंके सहज करनेका उप, पवित्रता-मन्त्रके परि शुद्ध विचार वालोंकी सुद्धता और शरीरकी विहीनता शरीरकी अंतर्गति और बहिर्गति, सहजकीकता, मरक जागरण, उत्पन्नान विज्ञान और अस्तित्व बुद्धि ये अण्कर्म स्वाभाविक हैं । जिसके अन्तर उत्पन्नान प्रभावदायी होता है उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इस कर्मों करनेकी ओर होती है । (गी १८।४९)

अश्रितके कर्तव्य ।

जीविते अश्रितता के है दृष्टता सुद्धमें स्थिर रहकर धनुषके कर्मका धार देना स्वामी होनेका मात्र ये अश्रितके स्वाभाविक कर्म हैं । अश्रितमें रजोगुण होता है, परन्तु वह सारणगुणकी ओर झुका हुआ होता है अतः उसका विचार अण्मात्रमर्त्यकी ओर अधिक होता है । जन्मादी दृष्टाके किये जीविते कर्मकरना मनुष्यके प्राथमिकतः सुद्ध करना अण्मात्रमें अपना धाम देना वैयर्थ्य धनुष रहका करना अपने पाप जो बन्धनि होय वह हीनोको दृष्टाताके प्राथ देना इत्येक कर्म दृष्टाताके प्राथ करना और ये इस देखना स्वामी हैं देना मानकर उसकी सुरक्षाके किन अण्मात्रक कार्य करना ।

वे क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं । वं सर कर्म रजोगुणके हैं, परंतु इनके साथ सारिवक्रताका बड़ा प्रतिष्ठ संबंध है ।

(गी २८।३२)

वैश्यके कर्म ।

वृषिकर्म केटीका काम, गोवादि पशुओंका पालन और वणिज्य इष्टदेहाश्रयमें जाकर उपाहार करवा या अपने देसमें व्यापार करवा ये कर्म वैश्यवर्णके स्वाभाविक हैं । विशम्भेर विश्व कर्मोंमें वक्की प्राप्ति होती है । ऐसी कर्म वैश्य करता है क्योंकि उसके अन्दर जो रजोगुण है, वह रजोगुणकी ओर मुक्त हुआ है इच्छित्वे वह प्रचार देखे करता है कि जिससे व्यवस्था अपनेआप अधिक हो ।

(गी २८।३३)

सूत्रके कर्म ।

परिवर्षा अथवा सेवा-कर्मसे आजीविका करनाही सूत्रमात्र सूत्रका कार्य है । इसमें आत्यंतिक रजोगुण होनेसे वह सुलभ होता है और उदाह्र आदि सुम सुम इसमें नहीं होते । इच्छित्वे प्रसन्नकर्म इसके नहीं होते, अतः अन्य वर्णोंकी सेवा करके वह अपनी आजीविका करता है ।

(गी २८।३४)

सूत्र-वर्णमें एक सम्पूर्ण और सुखा मज्जकृष्ट ऐसे दो अर्थ माने गये हैं । उत्तम सूत्र और अधम सूत्र ऐसा इसका आशय माना जा सकता है । जो उत्तम सूत्र है वे विविध करिगरीके कर्म करके अपनी आजीविका चलाते हैं वे व्यवहार कैदही स्वयं और सम्मान्य हैं कि जैसे पूर्वोक्त तीनों वर्णोंके हैं । अतः कई व्याकरण इस सम्पूर्णको वैश्वमिच्छित्वे समान आजीव्यवर्णक विशेषीय धारणक अधिकार देते हैं । अथवा बिना उपपन्नके भी इसका व्यवहार होता है जैसा कि विदुरका हुआ था । विदुर सूत्र होकर भी बहुत पदा हुआ । आश्रयक था । वह विदुर सम्पूर्णका उत्तम उदाहरण है । इसका व्यवहार इस समयके द्विजों जिनका हुआ था, भगवान् प्रजापतिमार्गके समान यह मिश्रण था ऐसा कई कहते हैं । उत्तम न भी हो उपग्रहि वैश्वम्य और व्यवहारका अपना ज्ञाता वह था और उस समयकी राजममाका वह प्रदत्त थी था । कार्ये राजर्षी शूद्रकी नियति उक्ति हो सकती थी इसका कार्य ही विदुरके उदाहरणसे ज्ञात होता है । विदुरकी उक्ति किनी भी रीतिसे हम समयके

अथ द्विजसे बहुत कम न थी ।

द्विजोंके कर्तव्य ।

ब्राह्मणोंका कर्तव्य अध्ययन अध्यापन नियम होना ही विद्यामय नीधम धर्मराज भगवान् कीकृत्य वे क्षत्रिय वर्णके धर्मोपदेश करनेवाले करते ब्रह्मिष्ठ रहे । उनके साथ विदुरकी भी तुलना करवा योग्य है । प्रोत्साहार्थ ज्ञातार्थ तथा मज्जामाचार्य वे ब्राह्मण होनेपर भी क्षत्रियसे ऊपर चतुर्विधार्थें मिश्रण थे, और सुद विद्यामें भी प्रवीण थे । हमसे छिद्र होता है कि परस्परके कर्म परस्पर वर्णोंके करते नहीं थे, ऐसा नहीं है ।

इससे भी प्राचीन कालमें ब्रह्मराज्य जति ब्रह्मराज्यमें उत्पत्ता करते थे । इसके आश्रयपर उन्नत क्षत्रियोंमें इसका किता, सब जनोंमें पुनरात्मक प्रवेश करते जब वैश्वमिच्छित्वे नाक काव आँखोंमें मानके सिक्के जारी करीक तुल्ये जाने-बोझ कुछ बड़ा चलाया, जिससे वह क्षत्रिय वर्ण परास्त होकर भला गया और क्षत्रियोंका व्यवहार सुरक्षित रहा । इससे पता चलता है, कि जति प्राचीन कालके ब्राह्मण की सत्ताका चकला मानते थे, इसकी भी जति प्रजापतिगुणकर्मों में सुदविद्या द्विजानेवाके वाक्यें सब ब्राह्मणकी होती थे । जो क्षत्रियोंको ब्रह्मराज्य-विद्या और सुदविद्या दत्तते थे ।

अतः ऊपर जो ब्राह्मणोंका धर्मब्रह्मिच्छित्वे कर्म क्षत्रियोंका वैश्वमिच्छित्वे कर्म कहा है वह तो उनकी विशेषता ही बात है । ब्राह्मण रूप कर्मोंमें विशेषता बात ही और क्षत्रिय रूप कर्मोंमें विशेषता प्रदत्त करे । एक दूसरेके कर्मोंमें स्वर्ण न हो । ब्राह्मण क्षत्रियका पंदा (पंदा) व भी और क्षत्रिय ब्राह्मणका (पंदा) पंदा न करे । इसी तरह अन्य वर्णोंमें स्वर्ण न हो । वह मुख्य वर्णवर्ण वर्णव्यवहारका है । कोई अध्ययन न करे, वह इसका उत्तम नहीं है । समयपर चारों वर्णोंके भी क्षत्रियोंकी भी ब्रह्मराज्य कार्य वृत्ति है और राष्ट्रवर कतिन प्रदत्त जलेश्वर चारों वर्णोंके सत्प्रचारण करवा व्यवहारक होगा वह तो राष्ट्रके लक्ष्य व्यवहारके सत्प्रचार विद्याका प्राथमिक शिक्षण तो अवश्यही मिलना चाहिये । ऐसा सबको सत्प्रचारण शिक्षण मिले, परंतु क्षत्रिय उसमें विशेषता प्रदत्त कर और वह वह विशेषताके कारण राष्ट्रकी रक्षा करे । इसी तरह व्यवहार वर्णोंके विशेषार्थ मानना योग्य है ।

स्वतंत्रिक रूपसे नहीं बर्तोंके रूपसे तथा अन्त्यात्म विद्यस्वित्त वस्तुमात्रके रूपसे ईश्वर मनुष्य मात्रको प्राप्त है। जो जिस कुल कर्ममें प्रवीण है वह उस कर्मके द्वारा इस ईश्वरकी संतुष्टी होने योग्य उसकी सेवा को इसीके उसकी कृपा प्राप्त होगी। अपने जीवन समर्पणसे मनुष्योंका पक्षपादितोका मुक्त और आरोग्य रहने। दूसरोंकी प्रशंसा एवं नहीं बर्तोंको प्रसन्न रखे। एक वास्तु तथा भूतद्वारोंको प्रसन्न रखे वहाँ मनुष्य बाहर आनन्द प्राप्त कर सके। जगत्सेवा ही ईश्वरसेवा है, ऐसा जो कहते हैं वह वास्तविक सत्य है। मनुष्य विचार कोणा से उसका अपने जीवनद्वारा विद्यसेवा करनेके लिये समर्थ होना चाहिए। अपने जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, उनमें ईश्वरकी प्रसन्नता किस प्रमाणसे हो रही है, इसका विचार करनेको करना चाहिये। और वस्तुमान अपने कर्तव्यकर्म करनेसे परमेश्वरसेवा होगी है। इसी ईश्वरको अपने कर्मोंके एक सम रस करने चाहिये ऐसा करनेसे वही इसका योग्य होय प्रकाश होगा।

मनुष्यस्वभावोचित कर्ममें उत्तम प्रवीणता अपनाय कर प्रवीणतासे व धर्म कर्मके अनुष्ठान को अपने कर्मोंके जोड़ा जगत्कारी प्रार्थनाकी लक्ष्योके लिये समर्पण कर जिससे संतुष्ट और प्रसन्न हो कर वही इसका योग्योत्तम उत्तम रीतिसे प्रकाश होगा।

विशिष्ट समाजपद्धति ।

इस रीतिमें विचार करनेपर एक विशिष्ट प्रकारकी समाज-पद्धति हममें मिले हुई है ऐसा प्रतीत होगा। प्रत्येक मनुष्य अपने कम उत्तम प्रमाणतासे साथ मिलने उत्तमसे उत्तम हो सके है। उनके उत्तम को वह ने सब कर्म उत्तम उत्तमकी ईश्वर। मनुष्योके लिये समर्पण करे इन कर्मोंके द्वारा ही अपने उपयोगके लिये अपनेपात्र समर्पित करने न रख प्राप्त इन कर्मोंको भी ईश्वर ही के लिये समर्पित करे जगत्समाजकी परमेश्वर प्रत्येक इस तरहके ईश्वरसेवाका योग्योत्तम प्रमाण है। इसके इस तरहके विचार समाजका एक रूप कैसा होगा।

विश्वही परमेश्वर है (विश्वं विष्णुः) यह विचारकी सुविधाके लिये हम मान्यप्रमाणको ही रूप मान कर वहाँ विचार करेंगे।

इस मान्यप्रमाणकी ईश्वरका मुक्त ज्ञानी बन है, ईश्वरके बाहु धार प्रकृत हैं, उसी ईश्वरके पैर ध्यानी और उसी ईश्वरके पाँव करीगर हैं। वे उसके अन्तर और ईश्वर अवयवी हैं। कोई मनुष्य ईश्वरके इस व्यापक सारीके रूप नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अंत है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने कर्तव्यकर्ममें प्रवीण रहे जो यथाये अपना कर्तव्यकर्म को अपना कर्तव्य करने के लिये द्वारा जगत्कारी परमेश्वरकी प्रसन्नता को उसीकी प्रसन्नता लिये अपना कर्तव्य को इसका कोई अपना जीवनोद्देश्य व लिये कर्तव्यकर्म को परंपरा उसके लिये कोई वक्ष्य व लिये अवैतनिक सेवा करे।

ज्ञानी सज्जन अपना ज्ञान जगत्कारी मर्काईके लिये देना रहे बिना वेतन लिये अन्त्यात्म को परम उपदेष्टा के रूपसे उपदेश को ज्ञानका फैलाव करनेके लिये उत्तम होने अपने उपयोगका अवकल्पन करके ज्ञानका प्रसार ज्ञानी बन कर रहे। परंतु वेतन व लिये केवल ईश्वरसेवाके भावसे वह कार्य करें।

यह पुरुष अपने जीविके जगत्कारी सुरक्षा को कोई प्राप्त नहीं रक्षा को कोई वनों और उपवनोंकी रक्षा करें कई एक स्थानोंको सुरक्षित रखे। कई वैश्विक वनों और वस्तुओंके रक्षण करके जगत्को सुरक्षित रखे। जहाँही दुर्जनोत्तम वस्तु हो और उत्तमोत्तमी रक्षा करकेका कर्म उपस्थित हो वहाँ यह और स्वयंसेवक बनकर जीव और दुर्जनोत्तमी सुरक्षित सज्जनोत्तमी रक्षा करें। इस कार्यको ईश्वरसेवाके माध्यम करें और इस कार्यके लिये कोई वेतन व लिये।

कृषीवक कोही उत्तम कृषकतासे करें ज्ञान प्रकाशे उत्तमोत्तम प्राप्त ज्ञान एक एक कर्मकर्म-ज्ञान केवल को और जगत्को अर्पण करें। व्यापारम्यद्वारा करनेवाले वैश्वसमाजमें और प्रमाणप्रमाणों वहाँ जगत्कारी व हो, वहाँ के जगत् और वहाँकी जगत्कारक वस्तुवस्तु। कर्मोत्तम कोम मुक्तकतासे विविध करीगरीकी वस्तुएं बनाएँ।

ही पगली है, उसकी सब क्रिया ईश्वरके निये होती है
 क्योंकि वह उससे पृथक् नहीं रहता। जो वह करता है
 ईश्वरके निये करता है। (गी १८।१७)

परतु को जहकार करयेबाका मानव बमण्ड करके अपना कर्तव्यकर्म करण नही, जीर में यह कर्म नही करुंगा ऐसा कहता है वह कर्म हीनताके कारनही वह प्रव्र होना है। क्योंकि वह विद्वकपी ईश्वरका विरोध करता है। जो विद्व धर्मिष्ठे विरोध उरेगा वह जीवित रह नही सकता। कर्म न कर्ष्य देता हमने अपने आपको स्वस्थ मानकर कहा, परंतु उसको प्रकृति स्वर्ण है वह उसको घसीट कर अपनी प्रकृति के लक्ष्यक कर्म करायेगी। इस कारण उस सम्व वह पराधीन होकर कर्म करेगाही। फिर प्रबमसे ही ज्ञानवा स्वमत्प्रतिबन्ध कम करनेमें क्या होप था ? इसलिये इस प्रकृतका कर्म स्वागत रह करवा किसको योग्य नहीं है।

(गी १६/५४-६)

हृदयनिवासी ईश्वर ।

धर्मके इस्वीन ईश्वर विचार करता है और वह कहते
 सबको बताता है। जैसे किसी देश पर कठपुतलियाँ लगाई
 होती हैं और सबके बुझनेके वे सब पुतलियाँ अपनी जगहकी
 गतिसे घूमती हैं। उसी तरह इस विश्वके ईश्वर सब भूत
 जगत्में हैं और ईश्वर उस देशको सुनाकर सब भूतोंकी
 सुनाता है। वह सब विन्हाई एक बड़ा देश है और उस
 महादेशका एक पुर्वा में हूँ। मैं स्वयम् नहीं हूँ, विश्वका
 महादेशका प्राय मुझे भी सुनाया जाति है और सबकी
 मुकदमा और सज्जताही एक पुर्सेही सुनकर सब समझता
 है। वह जानकर अपना अधिकार छोड़ना चाहिये और

विश्वमित्रात्मकी इच्छाकी सकलताके लिये अपने समर्पित करना चाहिये। विश्वकी परमेश्वरसे ज्ञान-समर्पण करके स्वयं उसकी शरण जाकर, मैं स्वयं ही और उसकी इच्छाकी पूर्तिके लिये हूँ, वह जानकर, स्वयं सत्पुत्रीके लिये अपने जीवनका बलि करवा चाहिये। एकी तरहके आह्वानवाले मायवी जीवनकी सकलता होती है।
(पी १५१६ १३)

बह सत्य ज्ञान प्राप्त होनेके पश्चात् जिसने अपना जीवन हृद्य शास्त्रोंके पुण्य ब्रह्माणा है, वही अपनी हृद्योंके अनुष्ठान कार्य कर सत्यता है क्योंकि उसकी हृद्य परमेश्वर की ही हृद्य होती है वह परमेश्वर रूप ही उस समय बना होता है।

उस समय उसका मन परमेस्वरमें बना होता है जब उसी ईश्वरकी सेवा करता है, ईश्वरके लिये ही वह आभयवाक करता है, ईश्वरकोही वह समन करता है और आत्ममें वह ईश्वरमेंही एकत्व हो जाता है। जब कल्प वह किसी आत्म कर्तव्यका विचार करता नहीं, एक ईश्वरको धरम करता है और उसी धरमायलिये वह सब बातें करता। पाकर ईश्वरधरममें मिल जाता है।

(94124-24)

अभिप्रेतः ।

हृषी राज-जायका मगार मित्र वरम रिखि हो ल
(रिखि कथा चरिने । कथकथ कथानन केकीरव भव-
कथन केकथ कथा मयनन हारा हल सत्य जावके मनुष्य
मयननक पणुथला चरिने । कथोकि हरीते मनुष्यजायका
वरम कथनन होयेका है । (नी १५ । १०-११)



श्रीमद्भगवद्गीताके

अठारहवें अध्यायके सुभाषित ।

(१) कर्मत्याग न करना ।

ब्रह्मक्षततपः कर्म न त्यज्यम् । कार्यमेव तत् ।

(गी १८।५)

ब्रह्म क्षत तप के कर्म कभी त्यागने नहीं चाहिये प्रत्युत
। कर्म अवैही चाहिये ।

पञ्चो वास तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(गी १८।५)

पञ्च वास तप के कर्म मनुष्योंको पवित्र बनाने वाले
होते हैं । इनके करनेसे मनुष्य शुद्ध होता है ।

(२) कर्म करो ।

कर्माणि सर्वा कलाणि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि ।

(गी १८।६)

कर्मोंको मोर्कोंकी भाँति छोड़ और कर्मोंका त्याग करने
करना चाहिये ।

नियतस्य कर्मणः सम्यासो ज्ञोपपद्यते ॥

(गी १८।७)

बनने कर्तव्यका त्याग करना ज्ञोपपद्यते ।

(३) कर्मत्याग अशुभ है ।

न हि देहभूता शक्य स्वयमु कर्माण्यशोपयः ।

(गी १८।११)

मनुष्यके हिने कर्मोंका पूर्ण त्याग करना असंभव है ।

(४) संन्यासी कीन है ?

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयत ॥

(गी १८।११)

जो कर्मफलका त्याग करता है वही त्यागी संन्यासी
कहा जाता है ।

(५) स्वकर्मसे सिद्धि ।

एतं स्व कर्मण्यभिरता संसिद्धिं लभते मरुः ।

(गी १८।१५)

‘ स्वकर्ममें जो मनुष्य उत्तर रहता है वह उत्तम सिद्धिसे
प्राप्त होता है ।

(६) स्वकर्मसे ईश्वरपूजा ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतार्ता येन सचमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवाः ॥

(गी १८।१६)

जो सर्वत्र व्याप्त है और जिससे ये सब प्राणी हुए हैं
उस परमात्माकी पूजा अपने कर्मद्वारा करनेसे मनुष्यको
सिद्धि प्राप्त होती है ।

(७) स्वधर्मकी भेष्टता ।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परमधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

(गी १८।४०)

शुद्ध और गुणवान् परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म गुणहीन
होनेपर वही अश्रेष्ठ है ।

सहजं कर्म कौन्तेय सहायमपि न त्यजेत् ।

(गी १८।४८)

सहज स्वकर्म छोड़नेपर भी उसका त्याग करना
अयोग्य है ।

स्थभावनिवर्तं कम कुबलाप्नोति किञ्चनम् ।

(गी १८।४०)

स्थभावसे निवृत्त हुआ कर्म केना भी हो वह करनेसे
फल नहीं लगता ।

(८) प्रक्षमाप्ति ।

निर्ममः शान्तो प्रक्षमायाव कल्पते ।

(गी १८।५३)

ममता छोड़कर जो शान्त रहता है वह प्रक्षमा प्राप्त
होता है ।

(९) भेष्ट मत्त ।

ममः सर्वेषु भूतषु मज्जति जयते पराम् ।

(गी १८।५४)

‘ सर्वं मूर्तेषु निपद्यते सो धर्ममात्रं धारयन् करुणा हैव ही
ईश्वरका केन्द्र मध्य होता है ।

(१०) ईश्वरपर विश्वास ।

मच्छिन्नाः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तारिष्यसि ।

(गी १८।५८)

ईश्वरपर भक्त्या सब रक्तोगे सो उखीकी कृपासे सब
घंटोंको छेदोगे ।

(११) स्वमात्रं वसवान् है ।

स्वमात्रमेव कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं मेच्छसि धर्मोद्धारकरिष्यस्यवशोऽपि तत् ।

(गी १८।५)

‘ स्वमात्रसे क्या हुआ मनुष्य को कर्म नहीं करना चाहता
वही परब्रह्म होकर करता है ।

(१२) ईश्वर सबको चलाता है ।

ईश्वरा सर्वसूतां हवेद्योऽजुंन तिष्ठति ।

आत्मपम्पसर्पभूताणि यथाकृच्छाणि मायया ॥

(गी १८।६१)

‘ ईश्वर सबके हृदयमें है वही सबपर चलाती कठपुतली
किन्हीं की तरह सब को चलाता है ।

(१३) ईश्वरको धरुम जा ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

(गी १८।६२)

‘ ईश्वरको सर्वभावसे धरुम जा ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि

शाश्वतम् (गी १८।६३)

उसी ईश्वरके प्रसादसे केन्द्र कांति और शाश्वत स्थान
प्राप्त होगा । ’

सर्वधर्मात्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

महं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

(गी १८।६४)

‘ सब धर्मोंका त्याग करके एक ईश्वरको धरुम जा । मैं
उसे सब पापोंसे मुक्त करेगा सोच मत कर ।

(१४) विजयी कौन होगा ।

यत्र धनिश्चरत कुप्यो यत्र पार्थो बहुर्धरा ।

तत्र श्रीर्बिजयो सूतिर्मुखा नीतिर्मतिर्मनः ॥

(गी १८।६८)

जहाँ धोयेधर परमेधर महाबल है और जिस राहमें
कहनेचला बहुधर है वही सब श्री विजय विजय
होगा । ’

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
संन्यासयोगः ।	११३	(९) त्रिविध ज्ञान । (श्लोक १०—१२)	११३
(१) संन्यास और त्यागके अन्तर ।		सार्वत्रिक ज्ञान ।	
संन्यास ।	"	राजस ज्ञान ।	११४
(श्लोक १—२)	"	तामस ज्ञान । भय और उद्वेग ।	११६
त्याग ।	११४	(१०) त्रिविध कर्म । (श्लोक १३—१५)	११४
(२) यज्ञ-दान-तपका त्याग न करो ।	११५	सार्वत्रिक कर्म राजस कर्म तामस कर्म ।	"
(श्लोक ३—६)		(११) त्रिविध कर्ता । (श्लोक २६—२८)	११०
कर्मयोगके शेष ।	११६	सार्वत्रिक कर्ता राजस कर्ता	१११
यज्ञ दान तप ।		तामस कर्ता ।	१११
(३) तीन प्रकारका त्याग ।	११८	(१२) त्रिविध बुद्धि । (श्लोक २९—३१)	"
(श्लोक ७—९)		(१३) त्रिविध धृति । (श्लोक ३१—३५)	१११
शामस त्याग । कष्टवत्त्वागते बुद्धि ।	११९	(१४) त्रिविध सुख । (श्लोक ३६—३९)	११४
राजस त्याग । सार्वत्रिक त्याग ।		(१५) सर्वकी श्रियायता । (श्लोक ४०)	११५
(४) सत्त्वा त्यागी ।	१२०	(१६) स्वमापन्न कर्म । (श्लोक ४१—४३)	
(श्लोक १०—११)		प्रकृतिसे दीन भेद ।	११६
भक्त्या त्यागी ।	"	प्रकृतिसे वरीता ।	११७
कर्मदान कर्मभय ।	१२१	अनुष्ठीयते दीन वर्ग ।	"
(५) कर्मका त्रिविध फल ।		कामुर्धन्य ।	"
(श्लोक १२)		माद्यमके शान्तिविक कर्म ।	"
त्रिविध फल ।		छत्रिके " "	११८
(६) पाँच कारण । (श्लोक १३—१५)	१२२	वस्त्रिके " "	"
ज्ञान लोक अधिष्ठान कर्ता	१२३	यज्ञिक	"
राम त्रिविध वेद सब ।		सामान्य विद्या	
(७) कर्ता और भक्तता ।	१२४	(१७) स्वयमेव विदित । (श्लोक ४५—४६)	१२९
(श्लोक १६—१७)	"	स्वकर्मेव ईश्वरपूजा ।	१३०
कर्मका श्रियायता ।	१२६	(१८) स्वयमेव भोक्तृता (श्लोक ४७—४९)	१३१
(८) त्रिपुरीकी श्रियायता ।	"	(१९) परम श्रियायकी प्राप्ति ।	१३३
(श्लोक १८—१९)		(श्लोक ५०—५१)	
		महाकायिक अन्तर	१३४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
(१०) सब संकटोंको दूर करनेका उपाय (श्लोक ५७—५८)	१३६	वामन कर्मा	१३७
(११) प्रकृतिका योग । (श्लोक ५९—६०)	"	सारिक बुद्धि । शास्त्र बुद्धि । वामन बुद्धि । ^१	
(१२) ईश्वरदाराजागतिसे शाश्वत सुख । (श्लोक ६१—६२)	१३७	सारिक बुद्धि । शास्त्र बुद्धि । वामन बुद्धि । ^२	
सर्वमायसे छलन	१३८	सारिक बुद्धि । शास्त्र बुद्धि । वामन बुद्धि । ^३	
(१३) गुह्य उपदेश । (श्लोक ६३—६४)	"	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^४	
महाराजा उपदेश ।	१३९	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^५	
(१४) इस व्यवस्थानका प्रचार । (श्लोक ६५—६६)	"	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^६	
(१५) अभ्यसन और प्रवचनअभ्यसन । (श्लोक ७०—७१)	१४०	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^७	
(१६) मोह दूर हुआ । (श्लोक ७२—७३)	"	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^८	
(१७) रोमांचकारी संवाद । (श्लोक ७४—७८)	१४१	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^९	
विजयी होनेका अवश्यत्व ।		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१०}	
अठारहवें अध्यायका मंगल ।	१४२	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{११}	
संन्यास और त्याग ।		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१२}	
कर्मका त्याग उचित नहीं ।	१४३	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१३}	
कर्म त्यागके तीन भेद ।		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१४}	
कर्तव्य करो ।	१४४	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१५}	
कर्मके तीन कारण ।	१४५	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१६}	
सारिक बुद्धि । शास्त्र बुद्धि । वामन बुद्धि । ^{१७}		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१७}	
सारिक कर्म । शास्त्र कर्म । वामन कर्म ।		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१८}	
सारिक कर्मा । शास्त्र कर्मा ।	१४६	वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{१९}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२०}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२१}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२२}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२३}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२४}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२५}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२६}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२७}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२८}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{२९}	
		वामन कर्मा । शास्त्र कर्मा । शास्त्र कर्मा । ^{३०}	

श्रीमद्भगवद्गीता ।

[पुरुषार्थबोधिनी भाषा-टीका]



अध्याय	पृष्ठ	अध्याय	पृष्ठ
१ पहिला अध्याय	५-६४	१० दशमो अध्याय	६१३-६४८
२ दूसरा अध्याय	६५-१७१	११ ग्यारहवाँ अध्याय	६४९-७३८
३ तीसरा अध्याय	१७१-२६०	१२ बारहवाँ अध्याय	७३९-७७८
४ चौथा अध्याय	२६१-३७४	१३ तेरहवाँ अध्याय	७७९-८२४
५ पाँचवाँ अध्याय	३७५-४०४	१४ चौदहवाँ अध्याय	८२५-८४०
६ छठा अध्याय	४०५-४९०	१५ पन्द्रहवाँ अध्याय	८४१-८७२
७ सातवाँ अध्याय	४९१-५११	१६ सोलहवाँ अध्याय	८७३-८९५
८ अठारवाँ अध्याय	५११-५७१	१७ सत्रहवाँ अध्याय	८९६-९११
९ नववाँ अध्याय	५७१-६१६	१८ अठारहवाँ अध्याय	९१२-९३८



